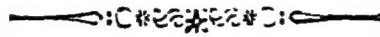


तत्र ह्रस्वाकारादिशब्दसङ्कलने प्रथमो जागः।



श्रीसर्वज्ञप्ररूपितगणधरनिर्वर्तिताऽथ श्रीनोपलज्यमानाऽशेषसूत्र-
तद्वृत्ति-लाप्य- निर्युक्ति-चरण्यादिनिहितसकलदार्शनिक-
सिद्धान्तेतिहास-शिष्टप-वेदान्त-न्याय-वैशेषिक-
मीमांसादिप्रदर्शितपदार्थयुक्तायुक्तत्वनिर्णायकः ।

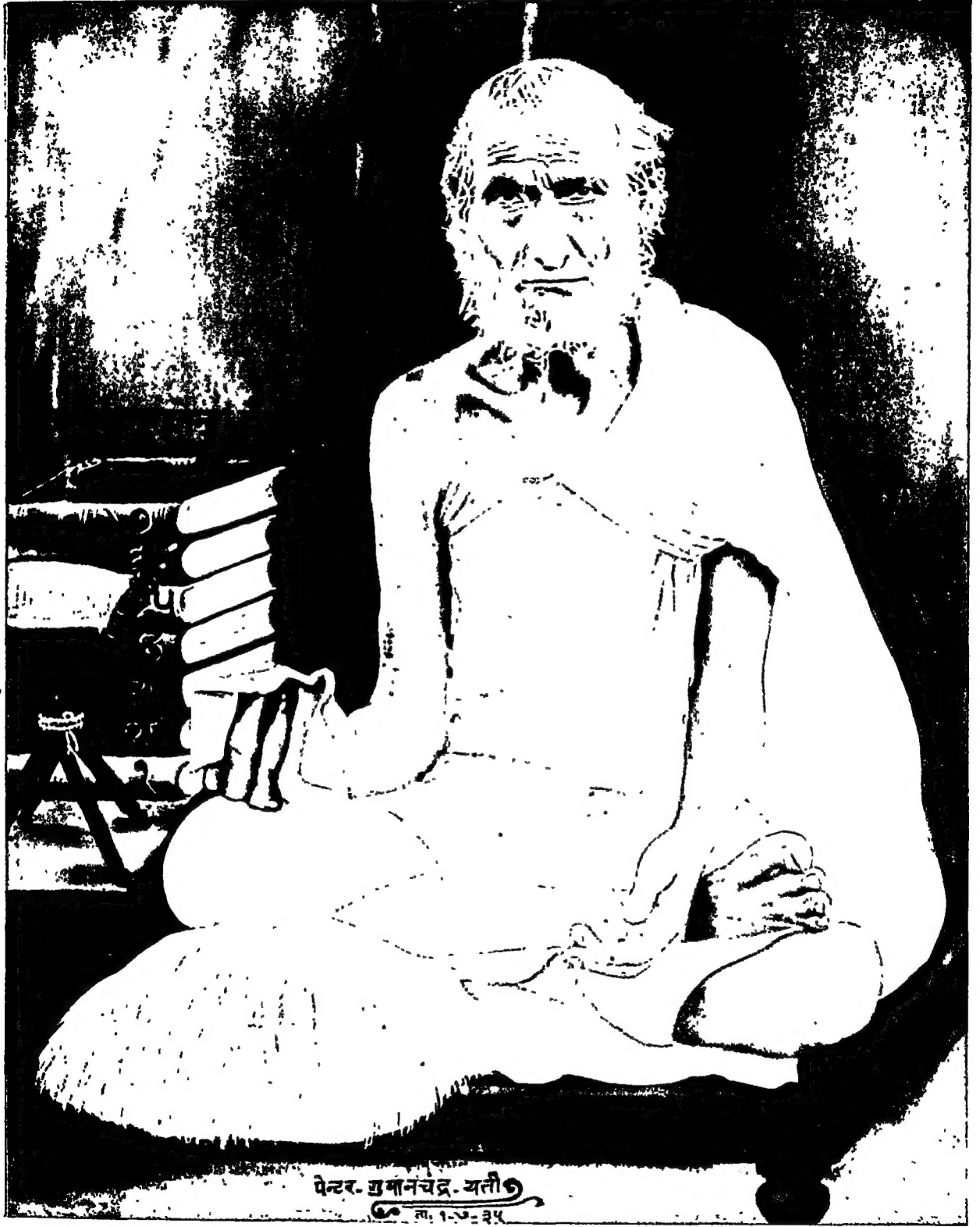
संशोधितः ।

श्रीजेन श्वेताम्बरसमस्त-सङ्घेन महापरिश्रमतः-प्राकाश्यं नीतः।

*** श्रीजैनप्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम-***

{ श्रीवीरगंवन् ५४४० } यन्त्रालये मुद्रितः। { श्रीविक्रमानन्दः १९५८ }
{ श्रीराजन्द्रसूरिसंवन् ७ } मूल्य रु० २५) { विष्णुानन्दः १९१३ }

सुविहितसुरिशक्रचक्रचडामणि-कलिकालमर्वजंकल्प-परमयोगिराज—
जगत्पूज्य-गुरुदेव-प्रभुश्रीमद्-विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ।



पेन्टर. शुभानचंद्र. यती

ता. १-७-३५

द्वसभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पश्चाननग्रामणी-राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात्सन्दीप्तजैनश्रुतः ।

सङ्खस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः, कोऽन्यः सुरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ? ॥ १ ॥

जन्म सं० १८८३ भगतपुर (यू. पी.)	पंच्यासपद सं० १९०९ उदयपुर (मेवाड़)	क्रियोद्धार सं० १९२५ जावरा (मालवा)
दीक्षा सं० १९०३ उदयपुर (मेवाड़)	श्रीपूज्यपदवी सं० १९२४ आहोरे (मारवाड़)	निर्वाण सं० १९६३ राजगढ़ (मालवा)

आभार-प्रदर्शनम् ।



सुविहितसूरिकुलतिलकायमान-सकलजैनागमपारदृश्व-आबालब्रह्मचारी-जङ्गमयुगप्रधान-प्रातःस्मरणीय-परमयोगिराज-क्रिपाशुरूच्युपकारक-श्रीसौधर्मवृहत्तपोगच्छीय-सितपटाचार्य-जगत्पूज्य-गुरुदेव-जट्टारक श्री १००८ प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने 'श्रीअजिधानराजेन्द्र' प्राकृत-मागधी महाकोश का सङ्कलनकार्य मरुधरदेशीय श्रीसियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया। इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्ता के मुख्य पट्टधर शिष्य-श्रीमदधनचन्द्रसूरिजी महाराजने भी आपको बहुत सहायता दी। इस प्रकार करीब साढ़े चौदह वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत वृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र-शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्रीसूर्यपुर (सूरत-गुजरात) में बनकर परिपूर्ण (तैयार) हुआ।

गवालियर-रियासत के राजगढ़ (मालवा) में गुरुनिर्वाणोत्सव के दरमियान संवत् १९६३ पौष-शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी-मुनिश्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनिमहाराजाओं की अध्यक्षता में मालवदेशीय-छोटे बड़े ग्राम-नगरों के प्रतिष्ठित-सद्गृहस्थों की सामाजिक-मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि-महंम-गुरुदेव के निर्माण किये हुए 'अजिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महा-कोश का जैन और जैनेतर समानरूप से लाभ प्राप्त कर सकें, इसलिये इसको अवश्य छपाना चाहिये, और इसके छपाने के लिये रतलाम (मालवा) में सेठ जसुजी चतुर्जुजजीत्-मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रखवदासजीत्-जागोरथजी, बीसाजी जवरचंदजीत्-प्यारचंदजी और गोमाजी गंजीरचंदजीत्-निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों की देख-रेख में श्रीअजिधानराजेन्द्र-कार्यालय और 'श्रीजैनप्रचारप्रतिष्ठान' स्वतन्त्र खोलना चाहिये। कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का

समस्त-भार महंम-गुरुदेव के सुयोग्य-शिष्य-मुनिश्रीदीपविजयजी (श्रीम-
छिजयचूपेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी को सौंपा जाय । वस,
प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदी ५ के दिन उक्त कोश को
छपाने के लिये रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और
उक्त दोनों पूज्य-मुनिराजों की देख-रेख से कोश क्रमशः छपना शुरू हुआ,
जो सं० १९८१ चैत्र-वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण छप जाने की सफलता
को प्राप्त हुआ ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदजजनकेसरी-
कलिकालसिद्धान्तशिरोमणी-प्रातःस्मरणीय-आचार्य-श्रीमद्भनचन्द्रसूरि-
जी महाराज, उपाध्याय-श्रीमन्मोहनविजयजी महाराज, सच्चारित्री-
मुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्णगुरुदेवसेवादेवाक-मुनिश्रीहुकुमविज-
यजी महाराज, सत्क्रियावान्-महातपस्वी-मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज;
साहित्यविशारद-विद्याचूषण-श्रीमछिजयचूपेन्द्रसूरिजी महाराज, व्या-
ख्यानवाचस्पत्युपाध्याय-मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज, ज्ञानी ध्यानी
मौनी महातपस्वी-मुनिश्रीहिम्मतविजयजी, मुनिश्री-लक्ष्मीविजयजी,
मुनिश्री-गुलाबविजयजी, मुनिश्री-हर्षविजयजी, मुनिश्री-हंसविजयजी,
मुनिश्री-अमृतविजयजी, आदि मुनिवरों ने अपने अपने विहार
के दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे दे कर तन,
मन और धन से पूर्ण सहायता पहुँचाई, और स्वयं भी अनेक
जाँति परिश्रम उठाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आभारी है ।

जिन जिन ग्राम-नगरों के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-श्रीसंघ ने इस
महान् कोषाङ्कन-कार्य में आर्थिक-सहायता प्रदान की है, उनकी शुभ-
सुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है—

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीसंघ-मालवा—

श्रीसंघ-रतलाम ।

श्रीसंघ-वाँंगरोद ।

श्रीसंघ-राजगढ़ ।

” जावरा ।

” वारोदा-बड़ा ।

” भाबुवा ।

श्रीसंघ-वडनगर ।

॥ खाचरोद ।
॥ मन्दसोर ।
॥ सीतामऊ ।
॥ निम्वाहेड़ा ।
॥ इन्दौर ।
॥ उज्जैन ।
॥ महेन्द्रपुर ।
॥ नयागाम ।
॥ नीमच-सिटी ।
॥ संजीत ।
॥ नारायणगढ़ ।
॥ वरड़ावदा ।

श्रीसंघ-सरसी ।

॥ मुंजाखेड़ी ।
॥ खरसोद-वड़ी ।
॥ चीरोला-यड़ा ।
॥ मकरावन ।
॥ वरड़िया ।
॥ (भाट)पचलाना ।
॥ पटलावदिया ।
॥ पिपलोदा ।
॥ दशार्ई ।
॥ वड़ी-कड़ोद ।
॥ घामणदा ।
॥ राजोद ।

श्रीसंघ-भकणावदा ।

॥ कूकसी ।
॥ आलीराजपुर ।
॥ रींगनोद ।
॥ राणापुर ।
॥ पारां ।
॥ टांडा ।
॥ वाग ।
॥ खवासा ।
॥ रंभापुर ।
॥ अमला ।
॥ घोरी ।
॥ नानपुर ।

श्रीसौधर्मवृहत्तपोगच्छीयसंघ-गुजरात—

श्रीसंघ-अहमदावाद ।

॥ वीरमगाम ।
॥ सूरत ।
॥ साणंद ।
॥ वम्बई ।
॥ पालनपुर ।

श्रीसंघ-थिरपुर (थराद) ।

॥ वावं ।
॥ भोरोल ।
॥ धानेरा ।
॥ धोराजी ।
॥ डुवा ।

श्रीसंघ-ढीमा ।

॥ दूधवा ।
॥ वात्थम ।
॥ वासण ।
॥ जामनगर ।
॥ खंभात ।

श्रीसौधर्मवृहत्तपोगच्छीय-संघ-मारवाड़—

श्रीसंघ-जोधपुर ।

॥ आहोर ।
॥ जालोर ।
॥ भेंसवाड़ा ।
॥ रमणिया ।
॥ मांकलेसर ।
॥ देवावस ।
॥ विशनगढ़ ।
॥ मांडवला ।

श्रीसंघ-भीनमाल ।

॥ सांचोर ।
॥ वागरा ।
॥ धानपुर ।
॥ आकोली ।
॥ साथू ।
॥ सियाणा ।
॥ काणोदर ।
॥ देलंदर ।

श्रीसंघ-शिवगंज ।

॥ कोरटा ।
॥ फतापुरा ।
॥ जोगापुरा ।
॥ भाखंडा ।
॥ पोमावा ।
॥ बीजापुर ।
॥ वाली ।
॥ खिमेला ।

श्रीसंघ-गोल ।

„ साहेला ।
„ आलासण ।
„ रैवतड़ा ।
„ धाणसा ।
„ वाकरा ।
„ मोदरा ।
„ भलवाड़ ।
„ भेंगलवा ।
„ सूराणा ।
„ दाभाल ।
„ घनारी ।

श्रीसंघ-मंडवारिया ।

„ बलदूट ।
„ जायाल ।
„ सिरोही ।
„ सिरोड़ी ।
„ हरजी ।
„ गुडावालोतरा ।
„ भूति ।
„ तल्लतगढ ।
„ सेदरिया ।
„ गोवाडा ।
„ भावरी ।

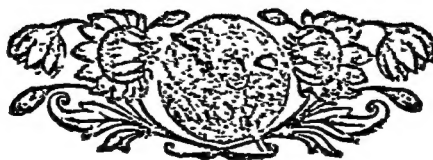
श्रीसंघ-सांडेराव ।

„ खुड़ाला ।
„ राणी ।
„ खिमाड़ा ।
„ कांशीलाव ।
„ पावा ।
„ एंदला का गुड़ा ।
„ चणोद ।
„ डूडसी ।
„ थाँवला ।
„ जोयला ।
„ काचोली ।

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवों के संघों के तरफ से मदद मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है ।

श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय.

रतलाम (मालवा)



अर्हम् ।

ग्रन्थकर्ता का संक्षिप्त जीवन-परिचय ।



रागद्वेषप्रदाकुद्वयदलनकृते वैनतेयत्वमाप्तः,

सूरीणामग्रगण्यो गुणगणमहितो मोहनीयस्वरूपः ।

यः “श्रीराजेन्द्रसूरि”र्जगति गुरुवरः साधुवर्गे वरिष्ठः,

तस्य स्मर्तुं चरित्रं कियदपि यत्नते ‘श्रीयतीन्द्रो’ मुनीन्द्रः ॥ १ ॥



आज हम उन महानुभाव करुणामूर्ति उपशम (शान्त) रसस्वरूप वर्तमान सकलजैना-गमपारदर्शी श्रीसौधर्मवृद्धत्तपागच्छीय प्रवर जैनाचार्य जटारक श्रीश्री १००० श्रीमद्-विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का अत्यन्त प्रभावशाली संक्षिप्त जीवन-परिचय देंगे, जो कि इस चारत जूमि में अनेक विद्वज्जनों के पूज्य परोपकारपरायण महाप्रभावक आ-चार्य हो गये हैं ।

पूवोक्त महात्मा का जन्म श्री विक्रम संवत् १८८३ पौषशुक्ल ९ गुरुवार सुताविक सन् १८९९ ईस्वी दिसम्बर ३ तारीख के दिन ‘अठनेरा’ रेलवे स्टेशन से १९ मील और ‘आगरे’ के किले से ३४ मील पश्चिम राजपूताना में एक प्रसिद्ध देशी राज्य की राजधानी शहर ‘जरतपुर’ में पारखगोत्रावतंस ओश (वाल) वंशीय श्रेष्ठिवर्य ‘श्रीऋषजदास जी’ की सुशीला पत्नी ‘श्रीकेशरी वाई’ सौजाग्यवती की कुक्षि (कुँख) से हुआ था । आपका नाम रत्नों की तरह देदीप्यमान होने से जातीय जीमनवार पूर्वक ‘रत्नराज’ रक्खा गया था । आपके जन्मोत्सव में जगवद्भक्ति, पूजा, प्रभावना, दान आदि सत्कार्य विशेष रूप से कराये गये थे, यहाँ तक कि नगर की सजावट करने में भी कुछ कमी नहीं रखी गयी थी ।

आपकी वाढ्यावस्था भी इतनी प्रभावसंपन्न थी कि जिसने आपके माता पिता आदि परिवार के क्या ? अपरिचित सज्जनों के भी चित्तों में आनन्द-सागर का उद्भास कर दिया, अर्थात् सबके लिये आनन्दोत्पादक और अतिसुखप्रद थी । आपने अपने वाढ्यावस्था ही में सुरम्य वैनयिक गुणों से माता पिता और कलाचार्यों को रज्जित कर करीब दस बारह वर्ष की अवस्था में ही सांसारिक सब शिक्षाएँ संपन्न करलीं थीं । आपके ज्येष्ठ चाचा ‘मा-णिकचन्दजी’ और छोटी बहन ‘प्रेमाबाई’ थी ।

पूज्य लोगों की आज्ञा पालन करना और माता पिता आदि पूज्यों को प्रणाम करना और प्रातःकाल उठकर उनके चरण कमलों को पूजकर उनसे शुभाशीर्वाद प्राप्त करना, यह तो आपका परमावश्यक नित्य कर्त्तव्य कर्म था ।

आपकी रमणीय चित्तवृत्ति निरन्तर स्वाभाविक वैराग्य की ओर ही आकर्षित रहा करती थी, इसीसे आप विषयवासनाओं से रहित होकर परमार्थ सिद्ध करने में और उच्चतम शिक्षाओं को प्राप्त करने में उत्साही रहते थे।

सबके साथ मित्रभाव से वर्तना, पूज्यों पर पूज्य वृद्धि रखना, गुणवानों के गुणों को देख कर प्रसन्न होना, सत्समागम की अभिलाषा रखना, कलह से बचना, हास्य कुतूहलों से उदासीन रहना, और दुर्व्यसनी लोगों की संगति से बचकर चलना, यह आपकी स्वाभाविक चित्तवृत्ति थी।

बारह वर्ष की अवस्था से कुछ ऊपर होने पर अपने पिता की आज्ञा लेकर बड़े भाई 'माणिकचंदजी' के साथ 'श्रीकेसरियाजी' महातीर्थ की यात्रा की, और रास्ते में 'अम्बर' शहर-निवासी सेठ 'सौभाग्यमलजी' की पुत्री के नाकिनी का दोष निवारण किया और जीलों के संकट से सारे कुटुम्ब को बचाया था। इसी सबब से इस उपकार के प्रत्युपकार में 'सौभाग्यमलजी' ने अपनी सुरूपा पुत्री 'रमादेवी' का सगपन (सगाई) आप (रत्नराज) के साथ संयोजन करने का मानसिक विचार किया था। परन्तु यहाँ संबन्धियों का संमेलन न होने के सबब से सेठजी अपने कुटुम्ब सहित घर की तरफ रवाना हो गये। इधर 'माणिकचंदजी' जी अपने छोटे चाई को यात्रा कराकर 'गोरुवाड' की पञ्चतीर्थी की यात्रा करते हुए अपने घर को चले आये।

कुछ दिन घर में रहकर फिर दोनों चाई व्यापारोन्नति के निमित्त अपने पिता का शुभाशीर्वाद ले बङ्गाल की ओर रवाना हुए। क्रमशः पन्थ प्रसार करते हुए दोनों चाई 'कलकत्ते' शहर में आए और सराफा बाजार में आदित्या के यहाँ उतरे। इस शहर में दस पन्द्रह दिन ठहर कर जहाजों में धान (गह्वा) भर, शुभ मुहूर्त में 'सिंहलद्वीप' (सिलोन) की ओर रवाना हुए। मार्ग में अनेक उपद्रवों को सहन करते हुए 'सिंहलद्वीप' में पहुँचे। यहाँ से द्रव्योपार्जन करके कुछ दिनों के बाद 'कलकत्ता' आदि शहरों को देखते हुए अपने घर को आये। तदनन्तर माता पिता की वृद्धावस्था समझ कर उनकी सेवा में तत्पर हो वहाँ ही रहना स्थिर किया।

काल की प्रबल गति अनिवार्य है, यह मनुष्यों को दुःखित किये बिना नहीं रहती। अकस्मात् ऐसा समय आया कि—माता और पिता के अन्तिम दिन आ पहुँचे और दोनों चाइयों को अत्यन्त शोक होनेका अवसर आगया, परन्तु किञ्चित् धैर्य पकड़ कर माता पिता की अन्तिम च्छक्ति करने में कटिबद्ध हो, उनकी सुन्दर शिक्षाएँ सावधानी से ग्रहण कीं, और रातदिन उनके निकट ही रहना शुरू किया, यों करते काल समय आने पर जब माता पिता का देहान्त हो गया, तब दोनों चाई संसारी कृत्य कर विशेष शोक के वशीभूत न हो धर्मध्यान में निमग्न हुए।

तब से आपकी सुरम्य चित्तवृत्ति विशेषरूप से निगन्नर वैराग्य की ओर ही आकर्षित रहने लगी, इसी से आप विषयवासनाओं से रहित होकर परमार्थ सिद्ध करने में और उच्चतम मुनिराजों के दर्शन प्राप्त करने में प्रोत्साहित रहते थे ।

एक समय ' श्रीकल्याणसूरिजी ' महाराज के शिष्य-यतिवर्य ' श्री प्रमोदविजयजी ' महाराज विचरते विचरते शहर 'जरतपुर' में पधारे और आज्ञा लेकर उपाश्रय में ठहरे । सब लोग आपके पास व्याख्यान सुनने आने लगे । इधर 'रत्नराज' जी देव दर्शन कर उपाश्रय में व्याख्यान सुनने के लिये आये । इस सुयोग्य सजा में 'श्रीप्रमोदविजयजी' महाराज ने संसार की कृणिक प्रीति के स्वरूप की बहुत विवेचन के साथ दिखाया कि—
“अनित्यानि शरीराणि, विजत्रो नैव शाश्वतः” अर्थात् इस संसार में शरीरादि संयोग सब कृणिक हैं, याने देखने में तो सुन्दर लगते हैं परन्तु अन्त में अत्यन्त दुःखदायक होते हैं और धन दौलत जी बिनाशवान् है इसके ऊपर मोह रखना केवल अज्ञान ही है, क्योंकि कि—

“ दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिदं भवे गर्जवासे नराणां,

बालत्वे चापि दुःखं मलदुलिततनुस्त्रीपयःपानमिश्रम् ॥

तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभागेऽप्यसारः,

संसारे रे मनुष्याः ! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ? ” ॥ १ ॥

अर्थात् इस संसार में पहिले तो गर्जवास ही में मनुष्यों को जनन के कुक्षि (कूँख) में दुःख प्राप्त होता है, तदनन्तर बाल्यावस्था में जी मलपरिपूर्ण शरीर स्त्रीस्तनपयः पान से मिश्रित दुःख होता है, और जवानी में भी विरह आदि से दुःख उत्पन्न होता है, तथा वृद्धावस्था तो बिलकुल निःसार याने कफ वातादि के दोषों से परिपूर्ण है; इसलिये हे मनुष्यो ! जो संसार में थोड़ा जी सुख का लेश हो तो बतलाओ ? ॥ १ ॥

इसवास्ते आरे जव्यो ! परमसुखदायक श्री जिनेन्द्रप्ररूपित अहिंसामय धर्म की आराधना करो जिससे आत्मकल्याण हो ।

इस प्रकार हृदयग्राहिणी और वैराग्योत्पादिका गुरुवर्य की धर्मदेशना सुनकर 'रत्नराज' के चित्त में अत्यन्त उदासीनता उत्पन्न हुई और विचार किया कि—वस्तुगत्या संयोग मोह ही प्राणीमात्र को दुःखित कर देता है, इससे मुझे उचित है कि—आत्मकल्याण करने के लिये इन्हीं गुरुवर्य का शरण ग्रहण करूँ, क्योंकि संसार के तापों से संतप्त प्राणियों की रक्षा करने वाले गुरु ही हैं ।

ऐसा विचार कर अपने संबन्धियों की अनुमति (आज्ञा) लेकर बड़े समारोह के साथ संवत् १९०३ वैशाख सुदी ५ शुक्रवार के दिन शुभयोग और शुभ नक्षत्र में महाराज 'श्री प्रमोदविजयजी' के कहने से उनके ज्येष्ठ गुरुव्राता 'श्रीहेमविजयजी' महाराज के पास यतिदीक्षा स्वीकार की, और संघ के समक्ष आपका नाम 'श्रीरत्नविजयजी' रक्खा गया ।

महानुभावं पाठकगण ! उस समय यतिप्रणाली की मर्यादा, प्रचलित प्रणाली से अ—

त्यन्त प्रशंसनीय थी अर्थात् रजोव्रण सुहृपत्ती सर्वदा पास में रखना, दोनों काल (समय) प्रतिक्रमण और प्रतिलेखन करना, श्वेत-माने.पेन वस्त्र धारण करना, स्त्रियों के परिचय से सर्वथा बहिर्जत रहना, पठन और पाठन क अतिरिक्त व्यर्थ समय न खोकर निद्रादेवी के वशीकृत न होना, निन्तर अपनी उन्नति के उपाय खोजना, और धर्म-विचार या शास्त्रविचार में निमग्न रहना इत्यादि सदाचारसे अतीव प्रशंसनीय प्राचीन समय में यतिवर्ग था । जैसे आज कल यतियों की प्रथा बिगड़ गयी है, वैसे वे लोग बिगड़े हुए नहीं थे, किन्तु इनसे बहुत ज्यादा सुधरे हुए थे । हाँ इतना जरूर था कि उस समय (१९०३) में जी कोई यति परिग्रह रखते थे, परन्तु महाराज 'श्रीप्रमोदविजयजी' की रहनी कहनी बिलकुल निर्दोष थी, अर्थात् उस समय के और (दूसरे) यतियों की अपेक्षा प्रायः बहुत जागों में सुधरी हुई थी, इसी से पुरुषरत्न 'श्री रत्नराजजी' ने वैराग्यरागरञ्जित हो यतिदीक्षा स्वीकार की थी ।

फिर कुछ दिन के बाद 'श्रीप्रमोदविजयजी' गुरुकी आज्ञा से श्रीरत्नविजयजी ने 'मूँगी सरस्वती' विरुद्धारी यतिवर्य श्रीमान् 'श्रीसागरचन्द्रजी' महाराज के पास रहकर व्याकरण, न्याय, कोष, काव्य, और अलङ्कार आदि का विशेष रूप से अन्यास किया । 'श्रीप्रमोदविजयजी' और 'श्रीसागरचन्द्रजी' महाराज की परस्पर अत्यन्त मित्रता थी । जब दोनों का परस्पर मिलाप होता था, तब लोगों को अत्यन्त ही आनन्द होता था । यद्यपि दोनों का गच्छ जित्त था, तथापि गच्छों के ऊगसों में न परकर केवल धार्मिक विचार करने में तत्पर रहते थे, इसलिये 'श्रीसागरचन्द्रजी' ने आपको अपने अन्तेवासी (शिष्य) की तरह पढ़ाकर हुशियार किया था ।

'सागरचन्द्रजी' मरुधर (मारवाड़) देश के यतियों में एक ज्ञारी विद्वान् थे, इनकी विद्वत्ता की प्रख्याति काशी ऐसे पुन्यक्षेत्र में भी थी, आप ही की शुभ कृपा से श्रीरत्न-विजयजी' स्वल्पकाल ही में व्याकरण आदि शास्त्रों में निपुण और जैनागमों के विज्ञाता हो गये, परन्तु विशेषरूप से गुरुगम्य शैली के अनुसार अन्यास करने के लिये तपागच्छाधिराज श्रीपूज्य 'श्रीदेवेन्द्रसूरिजी' महाराज के पास रहकर जैनसिद्धान्तों का अवलोकन किया और गुरुदत्त अनेक चमत्कारी विद्याओं का साधन किया ।

आपके विनयादि गुणों को और बुद्धिविचक्षणता को देखकर 'श्रीदेवेन्द्रसूरिजी' महाराज ने आपको शहर 'उदयपुर' में 'श्रीहेमविजयजी' के पास बड़ी दीक्षा और 'पन्यास' पदवी प्रदान करवाई थी और अपने अन्त समय में 'पं० श्रीरत्नविजयजी' से कहा कि- " अब मेरा तो यह समय आलगा है, और मैंने अपने पाट पर शिष्य 'श्रीधीरविजय' को धरणेन्द्रसूरि' नामाङ्कित करके बैठाया तो है किन्तु अभी यह अज्ञ है, याने व्यवहार से परिचित नहीं है । इसलिये तुमको मैं आदेश करता हूँ कि-इसको पढ़ाकर साक्षर बनाना

और गच्छ की मर्यादा सिखाना ”। इस शुचि आज्ञा को सुनकर ‘पं० रत्नविजयजी’ ने सा-
ज्जलिबन्ध होकर ‘तहत्ति’ कहा। फिर श्रीपूज्यजी महाराज ने विजयधरणेन्द्रसूरिजी से कहा
कि—‘तुम रत्नविजय पन्यास के पास पढ़ना और यह जिस मर्यादा से चलने को कहें उसी
तरह चलना’। धरणेन्द्रसूरिजी ने जी इस आज्ञा को शिरोधार्य माना।

महाराज श्रीदेवेन्द्रसूरिजी ने तो चारों आहार का त्याग कर शहर ‘राधनपुर’ में अनशन
किया और समाधिपूर्वक कालमहीने में काल किया। पीछे से पट्टाधीश ‘श्री धरणेन्द्रसूरिजी’
ने ‘श्रीरत्नविजयजी’ पन्यास को बुलाने के लिये एक रुक्का लिखा कि पेस्तर ‘श्रीखन्तिविज-
यजी’ ने खेवटकर उदयपुर राणाजी के पास से ‘श्रीदेवेन्द्रसूरिजी’ महाराज को पालखी
प्रमुख शिरोपाव बक्सया था, उसी प्रकार तुम को जी उचित है कि ‘सिद्धविजयजी’ से वन्द
हुआ जोधपुर और बीकानेर नरेशों की तरफ से छड़ी दुशावा प्रमुख शिरोपाव को खे-
वटकर फिर गुरु कराओ, इस रुक्के को वाँचकर ‘श्री प्रमोदविजयजी’ महाराज ने कहा कि-
“सूचिप्रवेशे मुशलप्रवेशः” यह लोकोक्ति बहुत सत्य है, क्यों कि ‘श्री हीरविजय सूरिजी’
महाराज की उपदेशमय वचनों को सुनकर दिह्वीपति बादशाह अकबर अत्यन्त हर्षित
हुआ और कहने लगा कि—“हे प्रज्ञो! आप पुत्र, कलत्र, धन, स्वजनादि में तो ममत्व
रहित हैं इसलिये आपको सोना चाँदी देना तो ठीक नहीं?, परन्तु मेरे मकान में जैन
मजहब की प्राचीन २ बहुत पुस्तकें हैं सो आप लीजिये और मुझे कृतार्थ करिये ”। इस
प्रकार बादशाह का बहुत आग्रह देख ‘हीरविजय सूरिजी’ ने उन तमाम पुस्तकों को आगरा
नगर के ज्ञानजणकार में स्थापन किया। फिर आरुन्धर सहित उपाश्रय में आकर बादशाह
के साथ अनेक धर्मगोष्ठी की; उससे प्रसन्न हो ठत्र, चामर, पालखी वगैरह बहु मानार्थ
‘श्री हीरविजय सूरिजी’ के अगाड़ी नित्य चलाने की आज्ञा अपने नोकरों को दी। तब हीरवि-
जय सूरिजी ने कहा कि हम लोग जंजाल से रहित हैं इससे हमारे आगे यह तूफाण उचित
नहीं है। बादशाह ने विनय पूर्वक कहा कि—‘हे प्रज्ञो! आप तो निस्पृह हैं परन्तु मेरी जक्ति है
सो आपके निस्पृहपन में कुछ दोष लगने का संभव नहीं है’। उस समय बादशाह का अत्य-
न्त आग्रह देख श्रीसंघ ने विनती की कि—स्वामी! यह तो जिनशासन की शोचा और
बादशाह की जक्ति है इसलिये आपके आगे चलने में कुछ अटकाव नहीं है। गुरुजी ने
जी ड्रव्य, क्षेत्र, काल, जात्र की अपेक्षा विचार मौन धारण कर लिया। वस उसी दिन से श्री-
पूज्यों के आगे शोचातरीके पालखी छड़ी प्रमुख चलना शुरू हुआ। “श्री विजयरत्न
सूरिजी” महाराज तक तो कोई आचार्य पालखी में न बैठे, परन्तु ‘लघुक्षमासूरिजी’
वृद्धावस्था होने से अपने शिथिलाचारी साधुओं की प्रेरणा होने पर बैठने लगे। इतनी रीति
कायम रखी कि गाँव में आते समय पालखी से उतर जाते थे, तदनन्तर ‘दयासूरिजी’ तो
गाँव नगर में जी बैठने लगे। इस तरह क्रमशः धीरे-धीरे शिथिलाचार की प्रवृत्ति चलते चलते
अत्यन्त शिथिल होगये क्योंकि पेस्तर तो कोई राजा वगैरह प्रसन्न हो ग्राम नगर क्षेत्रादि

शिरोपाव देता तो उसको स्वीकार न कर उसके राज्य में जीववधादि हिंसा को बुराकर आचार्य धर्म की प्रवृत्ति में वधारा करते थे, और अब तो 'श्रीपूज्य' नाम धराकर खुद खे-वट कराके शिरोपाव लेने की इच्छा करते हैं, यह सब दुःखम काल में शिथिलाचारादि-प्रवृत्ति का प्रभाव जानना चाहिये । अत एव हे शिष्य ! "श्रीपूज्यजी ने जो कुछ लिखा है उस प्रमाणे उद्यम करना चाहिये, क्योंकि बहुत दिन से अपना इनके साथ संबन्ध चला आता है उसको एक दम तोड़ना ठीक नहीं है" । तब अपने गुरुवर्य की आज्ञानुसार पन्यास रत्नविजयजी जी नवीन श्रीपूज्यजी को दत्तचित्त होकर पढ़ाना प्रारम्भ किया और गच्छाधीश की मर्यादानुसार वर्ताव कराना शुरू किया । श्री-पूज्यजी ने अपने गुरुवर्य की आज्ञानुसार पन्यास श्री रत्नविजयजी को विद्यागुरु समझकर आदर, सत्कार, विनय आदि करना शुरू किया । पन्यासजी ने भी श्रीपूज्य आदि सोलह व्यक्तियों को निःस्वार्थ वृत्ति से पढ़ाकर विद्वान् कर दिया । श्रीपूज्यजी महाराज ने अपने विद्यागुरु का महत्त्व बढ़ाने के लिये दफ्तररीपन का ओहदा [अधिकार] सौंपा अर्थात् जो पदवियाँ किसी को दी जायँ और यतियों को अलग चौमासा करने की आज्ञा दी जाय तो उनको पढ़ा पन्यास 'श्री रत्नविजयजी' के सिवाय दूसरा कोई जी नहीं कर सके ऐसा अधिकार अर्पण किया । तब ज्योतिष, वैद्यक और मंत्रादि से जोधपुर और बीकानेर नरेशों को रज्जितकर छड़ी दुशाला प्रमुख शिरोपाव और परवाना श्रीधरणेन्द्रसूरिजी को जेट कराया ।

एक समय संवत् १९१३ का चौमासा 'श्री धरणेन्द्रसूरिजी' ने शहर 'घाणेरान' में किया उस समय पं० श्रीरत्नविजयजी आदि ५० यति साथ में थे परन्तु जितितव्यता अत्यन्त प्रबल होती है करोड़ों उपाय करने पर भी वह [होनहार] किसी प्रकार टल नहीं सकती, जिस मनुष्य के लिये जितना कर्त्तव्य करना है वह होही जाता है, याने पर्युषणा में ऐसा मौका आ पड़ा कि श्रीपूज्यजी के साथ श्रीरत्नविजयजी का अंतर के वास्तव चित्त उद्विग्न हो गया, यहाँ तक कि उस विषय में अत्यन्त वाद विवाद बढ़ गया, इससे रत्न-विजयजी चाद्रपद सुदी २ द्वितीया के दिन 'श्रीप्रमोदरुचि' और 'धनविजयजी' आदि कई सुयोग्य यतियों को साथ लेकर 'नामोल' होते हुए शहर 'आहोर' में आये और अपने गुरु श्री प्रमोदविजयजी को सब हाल कह सुनाया । जब गुरुमहाराज ने श्रीपूज्य को हितशिक्षा देने के लिये श्रीसंघ की संमति से पूर्व परंपराऽऽगत सूरिमंत्र देकर रत्नविजयजी को अत्यन्त महोत्सव के साथ संवत् १९१३ वैशाख सुदी ५ बुधवार के दिन 'आचार्य' पदवी दी और उसी समय आहोर के ठाकुर साहब 'श्रीयशवन्तसिंह' जी ने श्रीपूज्य के योग्य ठकी, चामर, पालखी, सूरजमुखी आदि सामान जेट किया । और श्रीसंघ ने श्रीपूज्यजी को 'श्री विजयराजेन्द्रसूरिजी' महाराज के नाम से प्रख्यात करना शुरू किया ।

श्रीपूज्य श्री विजयराजेन्द्रसूरिजी महाराज अपनी सुयोग्य यतिमण्डली सहित ग्राम

ग्राम विहार करते हुए मेवाड़देशस्थ 'श्रीशंजुगढ़' पधारे। यहां के चौमासी 'श्री फतेहसागरजी' ने फिर पाटोच्छव करा के राणाजी के 'कामेती' के पास जेट पूजा करायी। फिर गाँवों गाँव श्रावकों से 'खमासमणा' कराते हुए संवत् १९१४ का चौमासा 'श्रीसंघ' के अत्यन्त आग्रह से शहर 'जावरे' में किया और 'श्रीजगवतीजी' सूत्र को व्याख्यान में बाँचा। यहां पर जनाणी मीठालालजी प्रमुख श्रावकों के मुख से श्रीपूज्यजी की प्रशंसा सुनकर 'नवावसाहेब' ने एक प्रश्न पुछाया कि—“तुम्हारा धर्म हम अंगीकार करें तो हमारे साथ तुम खाना पीना करसकते हो, या नहीं”?। इसका उत्तर श्रीपूज्यजी महाराज ने यह फरमाया कि—“दीन का और जैन का घर एक है इसलिये चाहे जैसी जातिवाला मनुष्य जैनधर्म पालता हो उसके साथ हम बन्धु से जी अधिक प्रेम रख सकते हैं, किन्तु लोकव्यवहार अस्पृश्य जाति न हो तो हम जैन शास्त्र के मुताबिक खाने पीने में दोष नहीं समझते हैं” इत्यादि प्रश्न का उत्तर सुन और सन्तुष्ट हो अपने वजीर के जरिये मोहर परवाना सहित आपदागिरि, किरणीया, वगैरह लवाजमा जेट कराया। इस चौमासे में 'धरणेन्द्रसूरि' ने एक पत्र (रुक्का) लिखकर अपने नामी यति 'सिद्धकुशलजी' और 'मोतीविजयजी' को जावरे संघ के पास भेजा। उन दोनों ने आकर संघ से सब वृत्तान्त (हकीकत) कहा, तब संघने उत्तर दिया कि—‘हम ने तो इनको योग्य और उचित क्रियावान् देखकर श्रीपूज्य मान लिया है और जो तुम्हारे जी श्रीपूज्य गच्छमर्यादाजुसार चलेंगे तो हम उन्हें जी मानने को तैयार हैं।

इस प्रकार बात चीत करके दोनों यति आपके पास आये और वन्दन विधि साँचवकर बोले कि—आप तो बड़े हैं, थोड़ीसी बात पर इतना जारी कार्य कर मालना ठीक नहीं है, इस गादी की विगड़ने और सुधरने की चिन्ता तो आपही को है। तब आपने मधुर वचनों से कहा कि—मैं तो अब क्रियाउद्धार करने वाला हूँ मुझे तो यह पदवी विलकुल उपाधिरूप मालूम पड़ती है परन्तु तुम्हारे श्रीपूज्यजी गच्छमर्यादा का उल्लंघन करके अपनी मनमानी रीति में प्रवृत्त होने लग गये हैं, इस वास्ते उनको नव कलमें मंजूर कराये बिना अजी क्रियाउद्धार नहीं हो सकता। ऐसा कह नव कलमों की नकल दोनों यतियों को दी, तब उस नकल को लेकर दोनों यति श्रीपूज्यजी के पास गये और सब वृत्तान्त कह सुनाया तब श्रीपूज्यजी ने जी उन कलमों को बाँच कर और हितकारक समझकर मंजूर की और उस पर अपनी सही जी कर दी और साथ में सूरिपद की अनुमति जी दी।

इस प्रकार श्रीधरणेन्द्रसूरिजी को गच्छसामाचारी की नव कलमों को मनाकर और अपना पाँच वर्ष का लिया हुआ 'अजिग्रह' पूर्ण होने पर जावरे के श्रीसंघ की पूर्ण विनती होने से वैराग्यरङ्गरञ्जित हो श्रीपूज्याचार्य श्रीविजयराजेन्द्रसूरी-श्वरजी महाराज ने अपना श्रीपूज्यसंबन्धी ढरी, चासर, पालखी, पुस्तक आ-

दि सब सामान श्रीसुपार्श्वनाथजी के मंदिर में चढ़ाकर संवत् १९१५ आषाढ वदि १० बुधवार के दिन अपने सुयोग्य शिष्य मुनि श्री प्रमोदरुचिजी और श्री धनविजयजी के साथ बड़े समारोह से क्रिया-उद्धार किया, अर्थात् संसारवर्द्धक सब उपाधियों को ढेर कर सदाचारी, पञ्च महाव्रतधारी सर्वोत्कृष्ट पद को स्वीकार किया। उस समय प्रत्येक गाँवों के करीब चार हजार श्रावक हाजिर थे उन सबों ने आपकी जयध्वनि करते हुए सारे शहर को गुंजार कर दिया।

क्रियाउद्धार करने के अनन्तर खाचरोद संघ के अत्यन्त आग्रह से आपका प्रथम चौमासा (संवत् १९१५ का) खाचरोद में हुआ, इस चौमासे में श्रावक और श्राविकाओं को धार्मिक शिक्षण बहुत ही उत्तम प्रकार से मिला और सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति हुई। चौमासे के उतार में श्रीसंघ की ओर से अट्टाई महोत्सव किया गया, जिसपर करीब तीन चार हजार श्रावक श्राविका एकत्रित हुए, जिससे जैन धर्म की बड़ी जारी उन्नति हुई; इस चौमासे में पाँच सात हजार रुपये खर्च हुए थे और जीर्णोद्धारदि अनेक सत्कार्य हुए। फिर चतुर्मासे के उतरे बाद ग्रामानुग्राम बिहार करते हुए 'नीवारु' देशान्तर्गत शहर 'कूकसी' की ओर आपका पधारना हुआ। 'कूकसी' में आसोजी देवीचन्दजी आदि अच्छे १ विद्वान् श्रावक रहते थे, जिनके व्याख्यान में पाँच पाँच सौ श्रावक लोग आते थे, इन दोनों श्रावकों ने आपके पास अव्यानुयोगविषयक अनेक प्रश्न पूछे, जिनके उत्तर आपने बहुतही सन्तोषदायक दिये। उन्हें सुनकर और आपका साधुव्यवहार शुरू देखकर अतीव समारोह के साथ सब श्रावक और श्राविकाओं ने विधि पूर्वक सम्यक्त्व व्रत स्वीकार किया। यहाँ उन्तीस १९ दिन रहकर अनेक लोगों को जैनमार्गानुगामी बनाया। फिर क्रम से संवत् १९१६ रतलाम, १९१७ कूकसी, १९१८ राजगढ़ और फिर १९१९ का चौमासा रतलाम में हुआ। इस चौमासे में संवेगी जवेरसागरजी और यती बालचन्दजी उपाध्याय के साथ चर्चा हुई, जिसमें आपको ही विजय प्राप्त हुआ और 'सिद्धान्तप्रकाश' नामक बहुतही सुन्दर ग्रन्थ बनाया गया। संवत् १९२० का चौमासा जावरा में और १९२१ तथा १९२२ का चौमासा शहर 'आहोर' में हुआ। ये दोनों चौमासे एकही गाँव में एक चारो जातीय जगड़े को मिटाने के लिये हुए थे, नहीं तो जैन साधुओं की यह रीति नहीं है कि जिस गाँव में एक चौमासा कर लिया, उसी गाँव में फिर तदनन्तर दूसरे साल का चौमासा करना, परन्तु कोई लाजालाज का अवसर हो तो कारण सर चौमासा पर जी चौमासा हो सकता है।

संवत् १९२३ का चौमासा शहर जालोर में हुआ, यहाँ पर दूढ़ियों के साथ चर्चा कर सात सौ ७०० घर मन्दिरमार्गी बनाये और गढ़ के ऊपर राजा कुमारपाल के बनाये हुए प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, और कुम्भ सेठ का बनाया हुआ जो चौमुखजी का मन्दिर था, उसमें से सरकारी सामान निकलवा कर बड़े समारोह से शास्त्रीय विधि पूर्वक

प्रतिष्ठा करायी। सम्बत् १९३४ राजगढ़, १९३५ रतलाम, १९३६ चीनमाल, १९३७ शिवगंज, १९३८ आलीराजपुर, १९३९ कूगसी, १९४० राजगढ़, और १९४१ का चौमासा शहर अहम-दावाद में हुआ। इस चौमासे में आत्मारामजी के साथ पत्रद्वारा चर्चा वार्ता हुई और बहुत धार्मिक उन्नति भी हुई।

सम्बत् १९४२ धोराजी, १९४३ धानेरा, और १९४४ का चौमासा 'थराद' में हुआ। यहाँ श्रीजग-वतीजी सूत्र व्याख्यान में वाँचा गया, जिसपर सङ्घ ने जारी उत्सव किया और प्रति प्रश्न तथा उत्तर की पूजा की। सं० १९४५ वीरमगाँम, और १९४६ का चौमासा सियाणा में हुआ, इस चौमासे में 'अग्निधानराजेन्द्र कोष' बनाने का आरम्भ किया गया। सं० १९४७ में गुफा, १९४८ आ-होर, और १९४९ का चौमासा 'निवाहेना' में हुआ। इसमें ढूँढकपन्थियों के पूज्य न-न्दरामजी के साथ चर्चा हुई, जिसमें ढूँढियों को परास्त करके साठ ६० घर मन्दिरमार्गी ब-नाये। सं० १९५० खाचरोद, १९५१ और १९५२ का चौमासा 'अग्निधानराजेन्द्रकोष' के काम चलने से राजगढ़ही में हुए। सं० १९५३ में चौमासा शहर 'जावरे' में हुआ, यहाँ कातिक महीने में बड़े समारोह के साथ संघ की तरफ से अष्टाई महोत्सव किया गया, जि-समें बीस हजार रुपये खर्च हुए और विपक्षी लोगों को अच्छी रीति से शिक्षा दी गयी, जि-ससे जैन धर्म की बहुत जारी उन्नति हुई। सं० १९५४ का चौमासा शहर रतलाम में हुआ, यहाँ भी अष्टाई महोत्सव बड़े धूमधाम से हुआ, जिस पर करीब दश हजार श्रावक और श्राविकाएँ आपके दर्शन करने को आईं, और संघ की ओर से उनकी जक्ति पूर्ण रूप से हुई, जिसमें सब खर्च करीब बीस हजार के हुआ, विशेष प्रशंसनीय बात यह हुई कि पाखण्डी लोगों को पूर्ण रूप से शिक्षा दी गयी, जिससे आपको बड़ा यश प्राप्त हुआ।

सम्बत् १९५५ का चौमासा मारवाड़ देश के शहर 'आहोर' में हुआ, इस चौमासे में भी धार्मिक उन्नति विशेष प्रकार से हुई और इसी वर्ष में श्रीआहोरसंघ की तरफ से 'श्रीगो-कीपार्श्वनाथजी' के बावन ५२ जिनालय (जिनमंदिर) की प्रतिष्ठा और अञ्जनशलाका आ-पही के करकमलों से करायी गयी, जिसके उत्सव पर करीब पचास हजार श्रावक श्रा-विकाएँ आई और मन्दिर में एक लाख रुपयों की आमद हुई। इस अञ्जनशलाका में नौ सौ ९०० जिनेन्द्रबिम्बों की अञ्जेत्तशलाका की गयी थी, इतना जारी उत्सव मारवार में पहिले पहिल यही हुआ। इतने मनुष्यों के एकत्र होने पर भी कुछ भी किसीकी जो हानि नहीं हुई यह सब प्रज्ञाव आपही का था। सं० १९५६ का चौमासा शहर शिवगंज में हुआ। जिस में अपने गच्छ की मर्यादा बिगड़ने न पावे इस लिये इस चौमासे में आपने साधु और श्रा-वक संबन्धी पैतीस सामाचारी (कलमें) जाहर कीं, जिसके मुताबिक आजकल आपका साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध संघ वर्ताव कर रहा है।

सम्बत् १९५७ का चौमासा शहर सियाणा में हुआ। यहाँ श्रीसंघ की तरफ से महाराज

कुमारपाल का वनवाया हुआ 'श्रीसुविधिनाथ जी' के जिनमन्दिर का उद्धार आपही के उपदेश से कराया गया था और आस पास चौबीस देवकुलिका बनायी गयी थी और उनकी प्रतिष्ठा आपके ही हाथ से करायी गयी, इस उत्सवपर मन्दिर में सत्तर ७७ हजार रुपयों की आमद हुई और दिव्य एक पाठशाला भी स्थापित हुई ।

सं० १९५८ का चौमासा आहोर, और १९५९ का शहर ' जालोर ' में हुआ । इस चौमासे में जैनधर्म की बहुत बड़ी उन्नति हुई और मोदियों का कुसंप हटाकर सुसंप किया गया । फिर चौमासा उतरे बाद शहर आहोर में दिव्य ज्ञानजएकार की और एक घूमटदार जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा की । इस ज्ञानजएकार में बहुत प्राचीन २ ग्रन्थ हैं । पैंतालीस आगम और उनकी पञ्चाङ्गी तिवरती (तेहरी) मौजूद है और प्राचीन महर्षियों के बनाये ग्रन्थ भी अगणित मौजूद हैं, और छपी हुई पुस्तकें भी अपरिमित संग्रह की गयी हैं, इसकी सुरक्षा के लिये एक अत्यन्त सुन्दर मार्बुल (पापाण) की आलमारी बनायी गयी है, जिसके चारों तरफ श्रीगौतमस्वामी जी, श्रीसरस्वती जी, श्रीचक्रेश्वरी जी, और श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर जी की मूर्तियां विराजमान हैं । यह जएकार आपही की कृपा से संप्रहीत हुआ है । फिर सूरीजी महाराज आहोर से बिहार कर ' गुने ' गाम में पधारे । यहाँ माघसुदी ५ के दिन 'अचला जी' के वनवाये हुए मन्दिर की प्रतिष्ठा की । तदनन्तर शिवगञ्ज होकर ' वाली ' शहर में पधारे । यहाँ तीन श्रावकों को दीक्षा देकर 'श्रीकेसरिया जी' और 'श्रीसिद्धाचल जी, तथा 'जोयणी जी' आदि सुतीर्थों की यात्रा करते हुए शहर 'सूरत' में पधारे । यहाँ पर सब श्रावकों ने बड़े ज़ारी समारोह से नगरप्रवेश कराया और संवत् १९६० का चौमासा इसी शहर में हुआ । इस चौमासे में बहुत से धर्मजोही लोगों ने आपको उपसर्ग किया, परन्तु सद्धर्म के प्रभाव से उन धर्मजोही धर्मनिन्दकों का कुछभी जोर नहीं चला किन्तु सूरीजी महाराज को ही विजय प्राप्त हुआ । इस चौमासे का विशेष दिग्दर्शन 'राजेन्द्रसूर्योदय' और ' कदाग्रह दुर्ग्रह नो शान्तिमन्त्र ' आदि पुस्तकों में किया जा चुका है, इससे यहाँ फिर लिखना पिष्टपेपण होगा ।

संवत् १९६१ का चौमासा शहर 'कूगसी' में हुआ । इसी चौमासे में सूरीजी महाराज ने हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण को बन्दोबद्ध संदर्भित किया, यह बात उसके प्रशस्तिश्लोकों में लिखी है—

दीपविजयमुनिनाऽहं यतीन्द्रविजयेन शिष्ययुग्मेन । विज्ञप्तः पद्यमयीं प्राकृतविवृतिं विधातुमिमाम् ॥

अत एव विक्रमाब्दे, जैरसैनवविधुमिते दशम्यां तु । विजयाख्यां चतुर्मास्येऽहं कूकसीनगरे ॥

हेमचन्द्रसंरचितप्राकृतसूत्रार्थबोधिनीं विवृतिम् । पद्यमयीं सचबन्दोवृन्दै रम्यामकार्षमिमाम् ॥

अर्थात् मुनिदीपविजय और यतीन्द्रविजय नामक दोनों शिष्यों से बन्दोबद्ध प्राकृत-व्याकरण बनाने के लिये मैं प्रार्थित हुआ, इसीलिये विक्रम सं० १९६१ के चौमासे में आ-

श्विनशुक्ल विजय दशमी को कूकसीनगर में श्रीहेमचन्द्राचार्य रचित प्रकृतसूत्रों की वृत्तिरूप इस प्राकृतव्याकरण को अच्छे छन्दों में मैंने रचा ।

चौमासे के उतार पर गाँव ' वाग ' में ' विमलनाथ स्वामी जी ' की अञ्जनशलाका (प्रतिष्ठा) करायी; फिर माह महीने में शहर ' राजगढ़ ' में ख-जानची ' चुन्नीलाल जी ' के बनवाये हुए ' अष्टापद जी ' के मन्दिर की अञ्जनशलाका (प्रतिष्ठा) करायी । और शहर ' राणापुर ' में ' श्री धर्मनाथस्वामी ' की अञ्जनशलाका (प्रतिष्ठा) करायी । तदनन्तर ' खाचरोद ' शहर में पधारे । यहाँ कुछ दिन ठहर कर शहर जावरे में ' लखवा जी ' के बनवाये हुए मन्दिर की प्रतिष्ठा की, और सम्बत् १९६३ का चौमासा शहर ' खाचरोद ' में किया । इस चौमासे में आपने चीरोलावालों को बड़े संकट (दुःख) से छुड़ाया । ' चीरोला ' मालवे में एक ठोटासा गाँव है, यह गाँव ढाईसौ वर्षों से जातिबाहर था, कारण यह था कि शहर ' रतलाम ' और ' सीतामऊ ' की दो बारातें एकदम एकही लड़की पर आयीं, जिसमें सीतामऊ वाले व्याह (परण) गये और रतलाम वाले योहीं रहगये । इससे इन्होंने क्रोधित हो चीरोलावालों को जातिबाहर कर दिया । फिर वह जगड़ा चला तो बहुत वर्षों तक चलता ही रहा परन्तु जाति में वे लोग न आसके, यहाँ तक कि मालवे जर में सब जगह चीरोलावाले जातिबाहर हो गये । कई मरतवा चीरोलावालों ने रतलामवाले पंचों को एक २ लाख रुपया दए देना चाहा लेकिन जगड़ा नहीं मिटसका, तब वासठ १९६३ के चौमासे में चीरोलावाले सब श्रावक लोग आकर विनती की और सब हाल कह सुनाया, तब आपने दया कर खाचरोद आदि के श्रीसंघ को समजाया और सबके हस्ताक्षर कराकर बिना दए लिये ही जाति में शामिल करादिया । यह कार्य असाधारण था, क्योंकि इसके लिये पहिले बड़े साहूकार और साधूलोग परिश्रम कर चुके थे किन्तु कोई जी सफलता को नहीं प्राप्त हुआ था । आपके प्रज्ञाव ने सहज ही में इस कार्य को पार लगा दिया । इसीसे आपकी उपदेश-प्रणाली कितनी प्रबल थी यह निःसंशय मालूम पड़सकती है; यह एकही काम आपने नहीं किया किन्तु ऐसे सैकड़ों काम किये हैं ।

सम्बत् १९६३ का चौमासा शहर ' बरुनगर ' में हुआ, यहाँ चारो महीना धर्मध्यान का बरुनजारी आनन्द रहा और अनेक प्रशंसनीय कार्य हुए । इस प्रकार क्रियाउद्धार करने के बाद आपके ३९ उन्तालीस चौमासा हुए । इन सब चौमासाओं में अनेक कार्य प्रशंसनीय हुए और श्रावकों ने स्वामीजिक्ति अष्टाहिकामहोत्सव आदि सत्कार्यों में खूब ड्रव्य लगाया । कम से कम प्रत्येक चौमासे में ५००० हजार से लेकर २०००० हजार तक खरचा श्रावकों की तरफ से किया गया है, इससे अतिरिक्त शेष काल में जी आपने उलटे मार्ग में जाते हुए अनेक भव्यवर्गों को रोक कर शुरू सम्यक्त्वधारी बनाया । आपके उपदेश का प्रज्ञाव इतना तीव्र था कि जिसको सुनकर कट्टर द्वेषी जी शान्त स्वभाव वाले होगये ।

रात्रिभोजन नहीं करना, जीवों को जानकर नहीं मारना, चोरी नहीं करना इत्यादि अनेक नियम जिन्होंने आपसे लिये हुए हैं और जैनधर्मविषयक दृढ़ नियमों को परिपालन कर रहे हैं ऐसे आपके उपदेशी केवल जैन ही नहीं हैं किन्तु अन्यमतवाले भी हैं।

यति अवस्था में जी आपने सम्बत् १९०४ का चौमासा मेवारु देशस्थ शहर 'आकोला' में किया था। फिर क्रमशः इन्दौर, उज्जैन, मन्दसोर, उदयपुर, नागौर, जेसलमेर, पाली, जोधपुर, किसनगढ़, चित्तोर, सोजत, शंजुगढ़, वीकानेर, सादरी, जिलामे, रतलाम, अजमेर, जालोर, घाणेराम, जावरा इत्यादि शहरों में चौमासा कर सैकड़ों जवजरी महा-नुचावों को जैनधर्म के संमुख किया।

आपकी विद्वत्ता सारे चारतर्ष में प्रख्यात थी, कोई भी प्रायः ऐसा न होगा जो आपके नाम से परिचित न हो। ज्योतिषशास्त्र में जी आपका पूर्ण ज्ञान था, जहाँ जहाँ आपके दिये हुए मुहूर्त से प्रतिष्ठा और अञ्जनशलाकाएँ हुई हैं वहाँ हजारों जनसमूह के एकत्र होने पर जी किसी का शिर जी नहीं दुखा। आपके हाथ से कम से कम बाईस अञ्जनशलाकाएँ तो बड़ी बड़ी हुईं, जिनमें हजारों रुपये की आमद हुई और छोटी २ अञ्जनशलाका या प्रतिष्ठा तो करीब सौ १०० हुई होंगी। इसके अतिरिक्त ज्ञानजलारों की स्थापना, अष्टोत्तरी शान्तिस्नात्रपूजा, उद्यापन, जीर्णोद्धार, जिनालय, उपाश्रय, तीर्थसंघ आदि सत्कार्यों में सूरि जी महाराज के उपदेश से जव्यवर्गों ने हजारों रुपये खर्च किये हैं और अब जी आपके प्रताप से हजारों रुपये सत्कार्यों में खर्च किये जा रहे हैं।

आपकी साधुक्रिया अत्यन्त कठिन थी इस बात को तो आवालवृद्ध सच्ची जानते हैं, यहाँ तक कि वयोवृद्ध होने पर जी आप अपना उपकरणादिचार सुशिष्य साधु को जी नहीं देते थे तो गृहस्थों को देने की तो आशाही कैसे संज्ञावित हो सकती है। क्रियाउद्धार करने के पीछे तो आपने शिथिलमागों का जी सहारा नहीं लिया और न वैसा उपदेशही किसीको दिया, किन्तु ज्ञानसहित सत्क्रियापरिपालन करने में आप बड़ेही उत्कण्ठित रहा करते थे। और वैसी ही क्रिया करने में उद्यत जी रहते थे, इसीसे आपकी उत्तमता देशान्तरों में जी सर्वत्र जाहिर थी। प्रमाद शत्रु को तो आप हरदम दबाया ही करते थे, इसीलिये साधुक्रिया से बचे हुए काल में शिष्यों को पढ़ाना और शास्त्रविचार करना, या धार्मिक चर्चा करना यही आपका मुख्य कार्य था। दिन को सोना नहीं, और रात्रि को जी एक प्रहर निद्रा लेकर ध्यानमग्न रहना, इसीमें आपका समय निर्गमन होता था; इसीलिये समाधियोग और अनुभवविचार आपसे बढ़कर इस समय और किसी में नहीं पाया जाता है।

शहर 'बरुनगर' के चौमासे में मरुधरदेशस्थ गाँव 'बलदूट' के श्रावक अपने गाँव में प्रतिष्ठा कराने के लिये आपसे विनती करने आये थे, उनसे आपने यह कह दिया था कि 'अब

मेरे हाथ से प्रतिष्ठा अञ्जनशलाका आदि कार्य न होंगे । इसी तरह 'सूरत' में एक श्रावक के प्रश्न करने पर कहा था कि—'अजी मैं तीन वर्ष पर्यन्त फिर विहारादि करूँगा' । इन दोनों वाक्यों से आपने अपने आयुष्य का समय गर्जित रीति से श्रावक और साधुओं को वतला दिया था और हुआभी ऐसाही ।

आपकी पैदलविहारशक्ति के अगाढ़ी युवा साधु जी परिश्रान्त हो जाते थे, इस प्रकार आपने अन्तिम अवस्था पर्यन्त विहार किया, चाहे जितना कठिन से कठिन शीत पड़े परन्तु आप ध्यान और प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ उघाढ़े शरीर से ही करते थे और अपने जीवन में फुलाटीन की साढ़े चार हाथ एक काँवली और उतनीही बड़ी दो चादर के सिवाय अधिक वस्त्र जी नहीं ओढ़ते थे । आपने करीब ढाई सौ मनुष्यों को दीक्षा दी होगी लेकिन कितनेही आपकी उत्कृष्ट क्रिया को पालन नहीं कर सके, इसलिये शिथिलाचारी संवेगी और ढुंढकों में चले गये, परन्तु इस समय जी आपके हस्त से दीक्षित चालीस साधु और साध्वियाँ हैं जो कि ग्राम ग्राम विहार कर अनेक उपकार कर रहे हैं ।

सत्पुरुषों का मुख्य धर्म यह है कि जन्मजीवों के हितार्थ उपकार बुद्धि से नाना ग्रन्थ बनाना, जिससे लोगों को शुद्ध धार्मिक पथ (रास्ता) सूझ पड़े । इसी लिये हमारे पूर्वकालीन आचार्यवर्यों ने अनेक ग्रन्थ बनाकर अपरिमित उपकार किया है तभी हम अपने धर्म को समझकर दृढ श्रद्धावान् बने हुए हैं, और जो कोई धर्म पर आक्षेप करता है तो उसको उन ग्रन्थों के द्वारा परास्त कर लेते हैं, यदि महर्षियों के निर्मित ग्रन्थरत्न न होते तो आज हम कुछ भी अपने धर्म की रक्षा नहीं कर सकते, इसीलिये जो जो विद्वान् आचार्य आदि होते हैं वे समयानुकूल लोगों के हित के लिये ग्रन्थ बनाते हैं । इसी शैली के अनुसार सूरजी महाराज ने जी लोकोपयोगी अनेक ग्रन्थ बनाये हैं ।

सूरजी महाराज के निर्मित संस्कृत-प्राकृत-जाषामयग्रन्थ—

१ 'अजिधानराजेन्द्र' प्राकृतमहाकोश—इस कोश की रचना बहुत सुन्दरता से की गई है अर्थात् जो बात देखना हो वह उसी शब्द पर मिल सकती है । संदर्भ इसका इस प्रकार रक्खा गया है—पहिले तो अकारादि वर्णानुक्रम से प्राकृतशब्द, उसके बाद उनका अनुवाद संस्कृत में, फिर व्युत्पत्ति, लिङ्गनिर्देश, और उनका अर्थ जैसा जैनागमों में मिल सकता है वैसाही जिन १ रूप से दिखला दिया गया है । बड़े बड़े शब्दों पर अधिकार सूची नम्बरवार दी गयी है, जिससे हर एक बात सुगमता से मिल सकती है । जैनागमों का ऐसा कोई जी विषय नहीं रहा जो इस महाकोश में न आया हो । केवल इस कोश के ही देखने से संपूर्ण जैनागमों का बोध हो सकता है । इसकी श्लोकसंख्या करीब साढ़े चार लाख है, और अकारादि वर्णानुक्रम से साठ हजार प्राकृत शब्दों का संग्रह है ।

२ 'शब्दाम्बुधि' कोश—इसमें केवल अकारादि अनुक्रम से प्राकृत शब्दों का संग्रह किया

गया है और साथ में संस्कृत अनुवाद और उसका अर्थ हिन्दी में दिया गया है किन्तु अभिधानराजेन्द्र कोश की तरह शब्दों पर व्याख्या नहीं की हुई है।

३ सकलैश्वर्यस्तोत्र सटीक, ४ खापरियातस्करप्रबन्ध, ५ शब्दकौमुदी श्लोकवद्ध, ६ कव्याणस्तोत्र प्रक्रियाटीका, ७ धातुपाठ श्लोकवद्ध, ८ उपदेशरत्नसार गद्य ए दीपावली (दिवाली) कल्पसार गद्य, १० सर्वसंग्रह प्रकरण (प्राकृतगाथावद्ध) ११ प्राकृतव्याकरणविवृति ।

सूरीजी के संकलित संगीत ग्रन्थ—

१२ मुनिपति चौपाई, १३ अघटकुंवरचौपाई, १४ प्रष्टरचौपाई, १५ सिद्धचक्रपूजा, १६ पञ्चकव्याणकपूजा, १७ चौबीसीस्तवन, १८ चैत्यवन्दनचौबीसी, १९ चौबीसजिनस्तुति ।

सूरीजी महाराज के रचित बालावबोध चाषाग्रन्थ—

२०—उपासकदशाङ्गसूत्र बालावबोध, २१ गङ्गाचारपयन्ना सविस्तर चाषान्तर, २२ कल्पसूत्र बालावबोध सविस्तर, २३ अष्टाहिकाव्याख्यान चाषान्तर, २४ चार कर्मग्रन्थ अक्षरार्थ, २५ सिद्धान्तसारसागर (बोलसंग्रह), २६ तत्त्वविवेक, २७ सिद्धान्तप्रकाश, २८ स्तुतिप्रभाकर, २९ प्रश्नोत्तरमालिका, ३० राजेन्द्रसूर्योदय, ३१ सेनप्ररनवीजक, ३२ षड्द्रव्यचर्चा, ३३ स्वरोदयज्ञानयन्त्रावली, ३४ त्रैलोक्यदीपिकायन्त्रावली, ३५ वासष्ठमार्गणाविचार, ३६ षण्मावश्यक अक्षरार्थ, ३७ एकसौ आठ बोल का थोकड़ा, ३८ पञ्चमीदेववन्दनविधि, ३९ नवपद ओली देववन्दनविधि, ४० सिद्धाचल नवाणुं यात्रादेववन्दनविधि, ४१ चौमासी देववन्दनविधि, ४२ कमलप्रज्ञाशुद्धरहस्य, ४३ कथासंग्रह पञ्चाख्यानसार ।

इस प्रकार उत्तमोत्तम ग्रन्थ बनाकर सूरीजी महाराज ने जैनधर्मानुरागियों पर तथा इतर जनों पर जी पूर्ण उपकार किया है ।

वरुनगर के चौमासा पूरे होनेपर अपनी साधुमण्डली सहित सूरीजी ने शहर 'राजगढ़' की ओर विहार किया था, इस समय आपके शरीर में साधारण श्वास रोग उठा था । यद्यपि यह प्रथम जोर शोर से नहीं था तथापि उसका प्रकोप धीरे २ बढ़ने लगा, यहाँ तक कि औषधोपचार होने पर जी वह रोग शान्त नहीं हुआ, किन्तु श्वास की बीमारी अधिक होने पर भी आप अपनी साधुक्रिया में शिथिल नहीं हुए, और सब साधुओं से कहा कि—“ हमारे इस विनाशी शरीर का भरोसा अब नहीं है, इसलिये तुमलोग साधुक्रियापरिपालन में दृढ़ रहना, ऐसा न हो कि जो चारित्र रत्न तुम्हें मिला है वह निष्फल होजावे, सावधानी से इसकी सुरक्षा करना, हमने तो अपना कार्य यथाशक्ति सिद्ध कर लिया है अब तुम जी अपने आत्मा का सुधाग जिस प्रकार हो सके वैसा प्रयत्न करते रहना ”। इस प्रकार अपने शिष्यों को सुशिक्षा देकर सुसमाधिपूर्वक अनशनव्रत को धारण कर लिया और औषधोपचार को सर्वथा बन्द कर दिया । बस तदनन्तर थोड़े

परमयोगिराज-जगत्पूज्य-जैनाचार्य श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरस्य शुभंशुशयलिखितानि ग्रन्थरत्नानि-

ग्रंथनामानि.	पत्रसंख्या.	विक्रमाब्द.	ग्रंथनामानि.	पत्रसंख्या.	विक्रमाब्द.
१ करणकामधेनुसारणी	१४	१९०५	१९ रसमञ्जरीकाव्य	१२	१०२३
२ गतिछाया-सारणी	९	१९०५	२० कुचलयनानन्दकारिका		१९२३
३ विचारसार-प्रकरण	२०	१९०९	२१ सारस्वतव्याकरणसूत्रात्मकम्	४	१०२३
४ भक्तामरस्तोत्रदीका(पंचपाठ)	८	१९१२	२२ अमरकोश (मूल)	५६	१०२६
५ सिंदूरप्रकाशसटीक	३९	१९१३	२३ महानिशीथसूत्रमूल		
६ श्रीभयहरस्तोत्रवृत्ति	९	१९१३	(पंचमाध्ययन)	१३	१०२७
७ सारस्वतव्याकरण(३ वृत्ति)	३५	१९२४	२४ ललितविस्तारा	२६	१०२९
८ प्रक्रियाकौमुदी(२-३ वृत्ति)	८७	१९१५	२५ अष्टाध्यायी	२८	१०२९
९ प्रक्रियाकौमुदी (१ वृत्ति)	९६	१९१५	२६ सारस्वतव्याकरण		
१० ग्रहलाघव	९	१९१५	स्तवुकार्थ (१ वृत्ति)	६१	१०३२
११ वाक्यप्रकाश	२	१९१६	२७ धातुतरङ्ग (पद्य)	२७	१०३३
१२ होलिकाप्रबंध (गद्य)	२	१९१६	२८ कल्याणमन्दिस्तोत्रम्	६	१०३५
१३ तर्कसंग्रहफकिका	१६	१९१७	२९ प्रमाणनयतत्त्वालोकोक्त्या	३४	१९३५
१४ ज्येष्ठसिंहादेशपट्टकम्	१	१९१८	३० उपदेशमाला (भागोपदेश)	१५	१०३६
१५ कल्याणमन्दिरस्तोत्रवृत्ति			३१ कल्पसूत्र बालावबोध	५४	१०४०
(त्रिपाठ)	११	१०१८	३२ दशाश्रुतस्मृत्यन्वृत्ती	३९	१०४२
१६ लघुसंघयणी (मूल)	२	१९१८	३३ चारैयत संक्षिप्तपीप	७	१०४०
१७ श्रीप्रज्ञापनोपाङ्गसूत्रसटीक			३४ उपयोगीचिन्तीसंग्रहकरण		
(त्रिपाठ)	३३५	१९१९	(बोल)	३०	१०४०
१८ श्रीभगवतीसूत्रसटीक			३५ नवपदपूजा	४	१०५०
(त्रिपाठ)	९९६	१९२०	३६ उपासकदेशाङ्गसूत्रभाषान्तर	२२	१०५०

३७ उपदेशसार (गद्य)	१५	१९५१	ग्रंथनामानि.	पत्रसंख्या.	विक्रमाब्द.
३८ जैवद्वीपप्रज्ञासिद्धीजक	१२	१९५१	३७ भक्तामर (सान्ध्य-टव्वार्थ)	८	०
३९ हीरप्रभोत्तरवीजक	२४५	१९५२	३८ नवपदपूजा तथा प्रभोत्तर	३३	०
४० पंचसप्ततिशतस्यानक-			३९ हेमलशुभक्रिया (व्यंजनसंधि)	५	०
चतुष्पदी	३४	१०५३	४० उपधानविधि	२	०
४१ भक्तामर (सान्ध्य-टव्वार्थ)	८	०	४१ आवश्यकसूत्रावचरितव्वार्थ	२५	०
४२ नवपदपूजा तथा प्रभोत्तर	३३	०	४२ भर्तृगीतकत्रय	१२	०
४३ हेमलशुभक्रिया (व्यंजनसंधि)	५	०	४३ शुद्धसंग्रहणीमूत्रसचित्रटव्वार्थ	१०	०
४४ उपधानविधि	२	०	४४ काव्यप्रकाशमूल	६	०
४५ आवश्यकसूत्रावचरितव्वार्थ	२५	०	४५ गच्छाचारपयनावृत्तिभाषान्तर	१०५	०
४६ भर्तृगीतकत्रय	१२	०	४६ चन्द्रिकाव्याकरण (२ वृत्ति)	५३	०
४७ शुद्धसंग्रहणीमूत्रसचित्रटव्वार्थ	१०	०	४७ कर्तुरीप्तिस्तमं कर्म	४	०
४८ काव्यप्रकाशमूल	६	०	४८ सप्ततिशतस्यानकयंत्र	८	०
४९ गच्छाचारपयनावृत्तिभाषान्तर	१०५	०	४९ अंकोद्धारप्रशस्तिव्याख्या	४	०
५० चन्द्रिकाव्याकरण (२ वृत्ति)	५३	०	५० वर्णमाला (पांच कक्षा)	१०	१९५४
५१ कर्तुरीप्तिस्तमं कर्म	४	०	५१ तेरहपंथीप्रभोत्तरविचार	२	०
५२ सप्ततिशतस्यानकयंत्र	८	०			

25:15
 25:16
 25:17
 25:18
 25:19
 25:20
 25:21
 25:22
 25:23
 25:24
 25:25
 25:26
 25:27
 25:28
 25:29
 25:30
 25:31
 25:32
 25:33
 25:34
 25:35
 25:36
 25:37
 25:38
 25:39
 25:40
 25:41
 25:42
 25:43
 25:44
 25:45
 25:46
 25:47
 25:48
 25:49
 25:50
 25:51
 25:52
 25:53
 25:54
 25:55
 25:56
 25:57
 25:58
 25:59
 26:1
 26:2
 26:3
 26:4
 26:5
 26:6
 26:7
 26:8
 26:9
 26:10
 26:11
 26:12
 26:13
 26:14
 26:15
 26:16
 26:17
 26:18
 26:19
 26:20
 26:21
 26:22
 26:23
 26:24
 26:25
 26:26
 26:27
 26:28
 26:29
 26:30
 26:31
 26:32
 26:33
 26:34
 26:35
 26:36
 26:37
 26:38
 26:39
 26:40
 26:41
 26:42
 26:43
 26:44
 26:45
 26:46
 26:47
 26:48
 26:49
 26:50
 26:51
 26:52
 26:53
 26:54
 26:55
 26:56
 26:57
 26:58
 26:59
 27:1
 27:2
 27:3
 27:4
 27:5
 27:6
 27:7
 27:8
 27:9
 27:10
 27:11
 27:12
 27:13
 27:14
 27:15
 27:16
 27:17
 27:18
 27:19
 27:20
 27:21
 27:22
 27:23
 27:24
 27:25
 27:26
 27:27
 27:28
 27:29
 27:30
 27:31
 27:32
 27:33
 27:34
 27:35
 27:36
 27:37
 27:38
 27:39
 27:40
 27:41
 27:42
 27:43
 27:44
 27:45
 27:46
 27:47
 27:48
 27:49
 27:50
 27:51
 27:52
 27:53
 27:54
 27:55
 27:56
 27:57
 27:58
 27:59
 28:1
 28:2
 28:3
 28:4
 28:5
 28:6
 28:7
 28:8
 28:9
 28:10
 28:11
 28:12
 28:13
 28:14
 28:15
 28:16
 28:17
 28:18
 28:19
 28:20
 28:21
 28:22
 28:23
 28:24
 28:25
 28:26
 28:27
 28:28
 28:29
 28:30
 28:31
 28:32
 28:33
 28:34
 28:35
 28:36
 28:37
 28:38
 28:39
 28:40
 28:41
 28:42
 28:43
 28:44
 28:45
 28:46
 28:47
 28:48
 28:49
 28:50
 28:51
 28:52
 28:53
 28:54
 28:55
 28:56
 28:57
 28:58
 28:59
 29:1
 29:2
 29:3
 29:4
 29:5
 29:6
 29:7
 29:8
 29:9
 29:10
 29:11
 29:12
 29:13
 29:14
 29:15
 29:16
 29:17
 29:18
 29:19
 29:20
 29:21
 29:22
 29:23
 29:24
 29:25
 29:26
 29:27
 29:28
 29:29
 29:30
 29:31
 29:32
 29:33
 29:34
 29:35
 29:36
 29:37
 29:38
 29:39
 29:40
 29:41
 29:42
 29:43
 29:44
 29:45
 29:46
 29:47
 29:48
 29:49
 29:50
 29:51
 29:52
 29:53
 29:54
 29:55
 29:56
 29:57
 29:58
 29:59
 30:1
 30:2
 30:3
 30:4
 30:5
 30:6
 30:7
 30:8
 30:9
 30:10
 30:11
 30:12
 30:13
 30:14
 30:15
 30:16
 30:17
 30:18
 30:19
 30:20
 30:21
 30:22
 30:23
 30:24
 30:25
 30:26
 30:27
 30:28
 30:29
 30:30
 30:31
 30:32
 30:33
 30:34
 30:35
 30:36
 30:37
 30:38
 30:39
 30:40
 30:41
 30:42
 30:43
 30:44
 30:45
 30:46
 30:47
 30:48
 30:49
 30:50
 30:51
 30:52
 30:53
 30:54
 30:55
 30:56
 30:57
 30:58
 30:59
 31:1
 31:2
 31:3
 31:4
 31:5
 31:6
 31:7
 31:8
 31:9
 31:10
 31:11
 31:12
 31:13
 31:14
 31:15
 31:16
 31:17
 31:18
 31:19
 31:20
 31:21
 31:22
 31:23
 31:24
 31:25
 31:26
 31:27
 31:28
 31:29
 31:30
 31:31
 31:32
 31:33
 31:34
 31:35
 31:36
 31:37
 31:38
 31:39
 31:40
 31:41
 31:42
 31:43
 31:44
 31:45
 31:46
 31:47
 31:48
 31:49
 31:50
 31:51
 31:52
 31:53
 31:54
 31:55
 31:56
 31:57
 31:58
 31:59
 32:1
 32:2
 32:3
 32:4
 32:5
 32:6
 32:7
 32:8
 32:9
 32:10
 32:11
 32:12
 32:13
 32:14
 32:15
 32:16
 32:1

गगन-कर-नन्देन्दुमिते विक्रमीयवत्सरे श्रीचक्रमपुरे जगत्पूज्यगुरुदेवस्य प्रभुश्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरस्य शुभंयुशगलिखितस्य यण्मुनिनन्दप्रमितपद्मात्मकस्य सटीकश्रीभगवतिमूर्त्त्यैकविंशतितमपत्रस्य ग्रथमं पृष्ठम् ।

ही दिन के बाद परमोपकारी धर्मप्रचावक आचार्यवर्य श्रीमान् श्रीविजयराजेन्द्रसूरीश्वर महाराजजी ने अपने इस अनित्य शरीर का सम्बत् १९६३ पौष शुक्ल ७ शुक्रवार मुताबिक २१ दिसम्बर सन् १९०६ ई० को समाधियुक्त परित्याग किया, अर्थात् इन नाशवान् संयोगों को छोड़ कर स्वर्ग में विराजमान हुए ।

उपसंहार

महानुभाव पाठकवर्ग ! इस समय जीवनचरित्र लिखने की प्रथा बहुतही बढ़ गयी है इसलिये प्रायः बहुत से सामान्य पुरुषों के जी जीवनचरित्र मिलते हैं किन्तु जीवनचरित्र के लिखने का क्या प्रयोजन है यह कोई जी नहीं विचार करता, वस्तुतः सत्पुरुषों की जीवनघटना देखने से सर्व साधारण को लाभ यह होता है कि जिस तरह सत्पुरुष क्रम क्रम से उच्चकोटीवाली अवस्था को प्राप्त हुआ है वैसी ही पाठक भी अपनी अवस्था को उच्चकोटीवाली बनावे और दुर्जन पुरुषों की जीवनघटना देखने से जी यह लाभ होता है कि जिसतरह अपने कुकर्मों से दुर्जन अन्त में दुरवस्था को प्राप्त होता है वैसा वाचक न हो, किन्तु दुर्जन की जीवनघटना की अपेक्षा से सत्पुरुष के ही जीवनचरित्र पढ़ने से शीघ्र लाभ हो सकता है, इसीलिये पाठकों को महानुभाव सूरीश्वरजी का यह जीवनपरिचय कराया गया है, जिससे आपत्ती ऐसी अवस्था को प्राप्त होकर सदा के सुखजागी बनें, क्योंकि सूरीजी का जीवन इस संसार में केवल परोपकार के वास्ते ही था, न कि किसी स्वार्थ के वास्ते । यदि रागद्वेषरहित बुद्धि से विचारा जाय तो हमारे उत्तमोत्तम जैन धर्म की उन्नति ऐसेही प्रभावशाली क्रियापात्र सद्गुरुओं के द्वारा हो सकती है । आपका जो जीवनपरिचय बहुत ही अद्भुत और आश्चर्यजनक है, उसका यह दिग्दर्शनमात्र कराया गया है, किन्तु बड़ा 'जीवनचरित्र' जो बना हुआ है उसमें प्रायः बहुत कुछ सूरीजी महाराज का जीवनपरिचय दिया गया है, इसलिये विशेष जिज्ञासुओं को बड़ा जीवनचरित्र देखना चाहिये, उसके द्वारा संपूर्ण आपका जीवनपरिचय हो जायगा और इन महानुभाव महापुरुष के जीवनचरित्र पढ़ने से क्या लाभ हुआ सो जी सहज में मालूम पड़ जायगा । इत्यलं विस्तरेण ।

नवरसनिधिविधुवर्षे, यतीन्द्रविजयेन वागरानगरे ।

आश्विनशुक्लदशम्यां, जीवनचरितं व्यलेखि गुरोः ॥ १ ॥



❧ श्री सौधर्म बृहत्तपागनीय पट्टावली ❧

—*—

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक

- १ श्रीसुधर्मास्वामी
- २ श्रीजम्बूस्वामी
- ३ श्रीप्रज्ञवस्वामी
- ४ श्रीसय्यंभवस्वामी
- ५ श्रीयशोभद्रसूरि
- ६ { श्रीसंभूतविजयजी
श्रीजघबाहुस्वामी
- ७ श्रीस्थूलभद्रस्वामी
- ८ { श्रीआर्यसुहृत्सूरि
श्रीआर्यमहागिरि
- ९ { श्रीसुस्थितसूरि
श्रीसुप्रतिबद्धसूरि
- १० श्रीइन्द्रदिन्नसूरि
- ११ श्रीदिन्नसूरि
- १२ श्रीसिंहगिरिसूरि
- १३ श्रीवज्रस्वामीजी
- १४ श्रीवज्रसेनसूरिजी
- १५ श्रीचन्द्रसूरिजी
- १६ श्रीसामन्तजघसूरि
- १७ श्रीवृद्धदेवसूरि
- १८ श्रीप्रद्योतनसूरि
- १९ श्रीमानदेवसूरि
- २० श्रीमानतुङ्गसूरि
- २१ श्रीवीरसूरि
- २२ श्रीजयदेवसूरि

- २३ श्रीदेवानन्दसूरि
- २४ श्रीविक्रमसूरि
- २५ श्रीनरसिंहसूरि
- २६ श्रीसमुद्रसूरि
- २७ श्रीमानदेवसूरि
- २८ श्रीविवुधप्रभसूरि
- २९ श्रीजयानन्दसूरि
- ३० श्रीरविप्रज्ञसूरि
- ३१ श्रीयशोदेवसूरि
- ३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि
- ३३ श्रीमानदेवसूरि
- ३४ श्रीविमलचन्द्रसूरि
- ३५ श्रीजघोतनसूरि
- ३६ श्रीसर्वदेवसूरि
- ३७ श्रीदेवसूरि
- ३८ श्रीसर्वदेवसूरि
- ३९ { श्रीयशोभद्रसूरि
श्रीनेमिचन्द्रसूरि
- ४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि
- ४१ श्रीअजितदेवसूरि
- ४२ श्रीविजयसिंहसूरि
- ४३ { श्रीसोमप्रज्ञसूरि
श्रीमणिरत्नसूरि
- ४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरि
- ४५ { श्रीदेवेन्द्रसूरि
श्रीविद्यानन्दसूरि

- ४६ श्रीधर्मघोषसूरि
- ४७ श्रीसोमप्रभसूरि
- ४८ श्रीसोमतिदकसूरि
- ४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि
- ५० श्रीसोमसुन्दरसूरि
- ५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि
- ५२ श्रीरत्नशेखरसूरि
- ५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि
- ५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि
- ५५ श्रीहेमविमलसूरि
- ५६ श्रीआनन्दविमलसूरि
- ५७ श्रीविजयदानसूरि
- ५८ श्रीहीरविजयसूरि
- ५९ श्रीविजयसेनसूरि
- ६० { श्रीविजयदेवसूरि
श्रीविजयसिंहसूरि
- ६१ श्रीविजयप्रभसूरि
- ६२ श्रीविजयरत्नसूरि
- ६३ श्रीविजयक्षमासूरि
- ६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि
- ६५ श्रीविजयकल्याणसूरि
- ६६ श्रीविजयप्रमोदसूरि
- ६७ श्रीविजयरामजेन्द्रसूरि

—:—



श्रीमद्विजयगजेन्द्रसंग्रहप्रभाकर-चौचक्रवर्ति-आरामरहस्यवेदी-श्रुतस्थविरनाथ-

श्रीलोधनेवृहन्नगेशच्छीष-श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज ।

विठ्ठलेश्वरजनमोदकं प्रमत्तं, शुभप्रदं सुखं निरुद्धमविनाशकम् ।

हृदयान्तनाथकरणे प्रमत्तप्रतापं, यन्मे कलाविश्विन्मं धनचन्द्रसूरिम् ॥ १ ॥

जन्म सं० १८८६ विमलनग (नेतृ) दीक्षोपसंदात् सं० १९०० कावरा (नेतृ) मृगिपद सं० १९०० कावरा (नेतृ)
यतिदीक्षा सं० १९१० धनिस (पुनर्पुत्र) उपाध्यायपद सं० १९२० नाचगोद (नेतृ) स्वर्गागोद सं० १९२० कावरा (नेतृ)
१९२० विमलनगर

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपट्टभाकर-चर्चाचक्रवर्ति-आगमरहस्यवेदी-श्रुतस्थविरमान्य-

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज ।



विद्वच्चकोरजनमोदकरं प्रसन्नं, शुभ्रव्रतं सुकविकैरवसद्विलासम् ।

हृद्धान्तनाशकरणे प्रसरत्प्रतापं, वन्दे कलानिधिसमं धनचन्द्रसूरिम् ॥ १ ॥

जन्म सं० १८९६ किसनगढ (मेवाड़) दीक्षोपसंवत् सं० १९२५ जावरा (मालवा) सूरिपद सं० १९६५ जावरा (मालवा)
यतिदीक्षा सं० १९१७ घानेरा (पालनपुर) उपाध्यायपद सं० १९२५ खाचरोद (मालवा) स्वर्गारोह सं० १९७७ घागरा (मालवा)

॥ प्रस्तावना ॥

इस संसार में ऐसा कौन प्राणी है जो दुःख से मुक्त होने की अजिलापा नहीं करता, किन्तु जबतक उन दुःखों से मुक्त होने के सत्य उपाय उसको मालूम न हों तबतक वह कैसे कृतकार्य (सफल) हो सकता है; इसलिये सच्ची को दुःख से मुक्त होने के सत्य उपाय जानने की बड़ी अभिलाषा रहती है, कि इस अपार संसार समुद्र में निरन्तर त्रमण करने वाले प्राणियों को प्राप्त होने हुए अत्युत्कट [जन्म-मरण-मरण-मरण] दुःखों से बटने का कौनसा उपाय है ?। यद्यपि विचारशाली और तीक्ष्णबुद्धि वाले मनुष्य इसका उत्तर अवश्य देंगे, कि धर्म के सिवाय और कोई ऐसा दूसरा उपाय इन दुःखों से मुक्त होने का नहीं है; किन्तु धर्माधर्म का विवेक करना ही सर्व साधारण को अतिदुष्कर है अर्थात् कौन धर्म है और कौनसा अधर्म है इसका समझना जी कुछ सहज काम नहीं है, क्योंकि इस दुनिया में अनेक धर्मानामधारी मत प्रचलित हो रहे हैं, जिनकी गिनती करना भी बहुत कठिन है तो फिर उनमें किसको धर्म और किसको धर्मान्नास कहा जाय ?। हाँ महानुभावों के आदेशानुसार इतना अवश्य कह सकते हैं कि इस पञ्चमकाद्व में—अर्थात् दुःख-पम आरा में, धर्मान्नासों का प्रायः प्रचार विशेष होना चाहिये और धर्म की अवनाति दशा विशेष होनी चाहिये। इस पर फिर यह जिज्ञासा होगी कि वैसा धर्म कौन है ?। इसका उत्तर यह है कि जिस धर्म के प्रवर्तक पुरुष किसी के द्वेषी अथवा रागी न हों और जो धर्म किसी जीव के [अत्यन्त प्रिय] प्राण का विधातक न हो—अर्थात् जिससे सच्ची जीवों को सुख ही प्राप्त हो उसे ही धर्म कहना चाहिये। यदि ऐसा धर्म वस्तुगत्या देखा जाय तो जैन धर्म ही दिखाई देता है क्योंकि उसके प्रवर्तक जिन भगवान् भी रागद्वेष-विजेता हैं और उस धर्म का ‘अहिंसा परमो धर्मः’ यह सिद्धान्त भी है। यद्यपि अन्य धर्मान्नासों में भी अहिंसा की महिमा है किन्तु प्रधानरूप से उसकी कारणता [जन्मादि] दुःखों से मुक्त होने में नहीं मानी हुई है; और उनमें यदि एकाध अंश में दया है तो अन्यांश में हिंसा भी है। जैसे किसी मत का मन्तव्य है कि यदि कोई पशु पक्षी प्राणी इस भव में दुःख सहता हो तो उसको इस जन्म में मुक्त कर देना ही दया है। अथवा—जब कभी अवसर प्राप्त हो तो यज्ञ में प्राणियों को मारकर उनको उत्तमगति वाला बना देना। अस्तु—विशेष विस्तार इसका इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में ‘अद्भुतकुमार’ और ‘अहिंसा’ शब्द पर जिज्ञासुओं को देखना चाहिये। इसीलिये कहा हुआ है कि ‘पद्मपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु। शुक्तिमद्, वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः’ ॥ १ ॥ और ‘प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयाति शासनम्’ इत्यादि ॥

यह जैनधर्म—दयाधर्म, आचारधर्म, क्रियाधर्म, और वस्तुधर्म से चार जागों में विभक्त है। और इस धर्म का मुख्य कारण शासन है, जो समवसरण में बैठे हुए देवाधिदेव सर्वज्ञ जगवान् श्री तीर्थङ्कर के उपदेश से आविर्भूत होता है और पीछे उन्हीं उपदेशों को श्रीगौतमादि गणधर द्वादशाङ्गी अथवा एकादशाङ्गी—रूप में संदर्भित करते हैं, जिनका ‘सूत्र’ नाम से व्यवहार किया जाता है। ये प्रत्येक तीर्थङ्करों के शासन काल में विद्यमान दशा को प्राप्त होते हैं। यद्यपि पूर्वकाद्व में चौदह पूर्वधर, तथा दश पूर्वधर, श्रुतकेवली आदि महात्माओं को तो किसी पुस्तकपत्रादि की आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि उनके अतिशय से उन्हें मूल से ही अर्थज्ञान हो जाता था परन्तु आगे वाले जीवों के ज्ञान में दुर्बलता होने से और जैन धर्म के विषय अनि गहन होने से उनको स्पष्ट करने के लिये निर्युक्ति—भाष्य-चूर्णि—टीका—आदि रचने पड़े। परन्तु इस समय में जैन ग्रन्थों का इतना विस्तार हो गया है कि थोड़ीसी आयुष्य में अब कोई मनुष्य सांसारिक कार्य करता हुआ गृहस्थक्या विरक्त जी इस जैनशासनसागर के पार को प्रायः नहीं जा सकता। कारण यह है कि पहिले तो सब ग्रन्थों की उपलब्धि सब कहीं नहीं होती और जो मिलते जी हैं उनमें कौन विषय कहाँ पर है यह प्रायः ठीक पता हर एक को नहीं लगता और यदि किसी ग्रन्थ में पता भी लग जाय तो वह विषय दूसरी जगह या दूसरे ग्रन्थों में कहाँ कहाँ पर आया है यह पता नहीं लग सकता। यह कारण तो एक तरफ रहा, दूसरी बात यह भी है कि जिस जापा में जैनदर्शन बना है, वह जापा वही है कि जिसने प्राचीन समय में मातृभाषा से और राष्ट्र-जापा से जारतचूमि में स्थान पाया था, और जिसका सर्वज्ञों से और गणधरों से वरमा आदर किया गया, उसी भाषा का प्रचार इस समय बिलकुल नहीं है और जो नाटकों में जहाँ कहीं दिखाई देता है उसको जी उसके नीचे दी हुई भाषा से ही लोग समझ लेते हैं, और यदि किसीने उसका कुछ अभ्यास भी कर दिया तो उससे जैन धर्म के मूलसूत्रों का अथवा निर्युक्तिगाथाओं का

अर्थ समझ में नहीं आसकता, क्योंकि भगवान् तीर्थङ्करने, तथा गणधरों ने अर्धमागधी भाषा में उन सूत्रों का प्रस्ताव किया है, जो कि सामान्य प्राकृत भाषा से कुछ विलक्षण है। पूर्व समय में तो लोग परिश्रम करके आचार्यों के मुख से सूत्रपाठ और उसका अर्थ सुनकर कण्ठस्थ करते थे तत्ती वे कृतकार्य जी होते थे (इसका संक्षिप्त विवरण पहिले भाग के 'अह्वालादिय' शब्द पर देखो) किन्तु आजकल ऐसी परिपाटी के प्रायः नष्ट होजाने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का अत्यन्त हास होगया है। इस दशा को देखकर हमारे गुरुवर्य श्रीसौधर्मवृद्धतपागच्छीय कलिकालसर्वज्ञकल्प जटारक १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज को बड़ी चिन्ता उपस्थित हुई कि दिनों दिन जैन धर्म के शास्त्रों का हास होता जाता है, इसीलिये बहुत से लोग उत्सूत्र काम भी करने लग गये हैं और अपने धर्मग्रन्थों से बिल्कुल बेखबर से होगये हैं। ऐसी दशा में क्या करना चाहिये? क्योंकि संसार में उसी मनुष्य का जीवन सफल है जिसने अपने धर्म की यथाशक्य उन्नति की, अन्यथा—'असंपादयतः कश्चि-दर्थं जातिक्रियागुणैः। यदृच्छाशब्दवत् पुंसः, संज्ञायै जन्म केवलम्' की तरह हो जाता है। ऐसी चिन्ता हृदय में बहुत दिन रही, किन्तु एक दिन रात्रि में ऐसा विचार हुवा कि—एक ऐसा ग्रन्थ नवीन रूढ़ि से बनाना चाहिये जिसमें जैनागम की मागधी जापा के शब्दों को अकारादि क्रम से रखकर संस्कृत में उनका अनुवाद, लिङ्ग, व्युत्पत्ति, और अर्थ लिखकर फिर उस शब्द पर जो पाठ मूलसूत्र का आया है उसको लिखना और टीका यदि उसकी प्राचीन मिले तो उसको देकर स्पष्ट करना और यदि ग्रन्थान्तर में भी वही विषय आया हो तो उसकी सूचना (भलावन) दे देना चाहिये। इससे प्रायः अपने मनोऽनुकूल संसार का उपकार होगा। तदनन्तर प्रातःकाल होते ही पूर्वोक्त सूरी जी महाराज ने अपनी नित्य क्रिया को करके इस कार्य का भार उठाया, और दत्तचित्त होकर चाईस वर्ष पर्यन्त धार परिश्रम करने पर इस कार्य में सफल हुए, अर्थात् 'अजिधानराजेन्द्र' नाम का कोष मागधीभाषा में रचकर चार भागों में विभक्त कर दिया। इसके बाद कितने ही श्रावकों ने और शिष्यों ने प्रार्थना की कि यदि यह ग्रन्थ भी और ग्रन्थों की तरह भण्डार में ही पड़ा रह जायगा तो कितने मनुष्य इससे लाभ उठा सकेंगे? इसलिये अनेक देश देशान्तरों में जिस तरह इसका प्रचार हो वह काम होना चाहिये। इसपर सूरीजी महाराजने उत्तर दिया कि मेरा कर्तव्य तो पूर्ण होगया अब जिसमें समस्त संसार का उपकार हो वैसा तुम लोगों को करना चाहिये, मैं इस विषय में तटस्थ हूँ। तदनन्तर श्रीसङ्घ ने इस ग्रन्थ के विशेष प्रचार होने के लिये छपवाना ही निश्चय किया। तब इस ग्रन्थ के शोधन का भार सूरीजी महाराज के विनीत शिष्य मुनि श्री दीपविजयजी और मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी ने ग्रहण किया, जो इस कार्य के पूर्ण अभिज्ञ हैं।

जैनधर्म का ऐसा कोई भी साधु--साध्वी--श्रावक--श्राविका--संवन्धी विषय नहीं है जो इस कोश में आया न हो, किन्तु साथही साथ विशेषता यह है कि मागधीजापा के अनुक्रम से शब्दों पर सब विषय रखे गये हैं। जो मनुष्य जिस विषय को देखना चाहे वह उसी शब्दपर पुस्तक खोलकर देख ले। जो विषय जहाँ १ जिस १ जगह पर आया है उसकी जलावन (सूचना) भी उसी जगह पर दी है। और वही १ शब्दों पर विषयसूची जी दी हुई है जिससे विषय जानने में सुगमता हो। तथा प्रमाण में मूल सूत्र १, और उनकी निर्युक्ति २, भाष्य ३, चूर्ण ४, टीका ५ तथा और जी प्रामाणिक आचार्यों के बनाये हुए प्रकरण आदि अनेक ग्रन्थों का संग्रह है। जिनशब्द पर या उसके विषय पर किसी आचार्य या श्रावक की कथा मिली है उसे भी उस शब्दपर संग्रह कर दी है। तथा प्रसिद्ध तीर्थों की और सत्ती तीर्थङ्करों की कई पूर्वभवों से लेकर निर्वाणपर्यन्त कथायें दी हुई हैं; इत्यादि विषय आगे दी हुई संक्षिप्त सूची से समझना चाहिये।

इस ग्रन्थ में जो संकेत (नियम) रखे गये हैं वे इस तरह हैं—

१—मागधीभाषा का मूलशब्द, और उसका संस्कृत अनुवाद, तथा मूल की गाथा, और मूलसूत्र, [जिसकी टीका है] मोटे (ग्रेट) अक्षरों में रक्खा है।

२—यदि कोई गाथा टीका में भी आई है और उसकी जी टीका है तो उसे दो लाइन (पङ्क्ति) में रक्खा है। और मोटे अक्षरों में न रखकर गाथा के आदि अन्त में (" ") ये चिह्न दे दिये हैं। फिर उसके नीचे से उसकी टीका चलाई गयी है। अन्य स्थल में तो मूल मोटे अक्षरों में, और टीका छोटे (पाइका) अक्षरों में दी गई है।

३—जहाँ कहीं उदाहरण में प्राकृत वाक्य या संस्कृत श्लोक आया है उसके आद्यन्त में ' ' यह चिह्न दिया गया है, किन्तु एक से ज्यादा गाथा या श्लोक जहाँ कहीं बिना टीका के हैं वहाँ पर भी दो १ दैन करके उनको रक्खा है। और यदि एकही है तो उसी दैन में रक्खा है। और जहाँ टीका अनुपयुक्त है वहाँ पर मूलमात्र ही मोटे अक्षरों में रक्खा है।

४-जिस शब्द का जो अर्थ है उसको सप्तम्यन्त से दिया है और उसके नीचे [,] यह चिह्न दिया है और उसके बाद जिस ग्रन्थ से वह अर्थ लिया गया है उसका नाम जी दे दिया है। यदि उसके आगे उस ग्रन्थ का कुछ जी पाठ नहीं है तो उस ग्रन्थ के आगे अध्ययन लक्ष्यादि जो कुछ लिखा है वह भी दिया गया है और यदि उस ग्रन्थ का पाठ लिखा है तो पाठ की समाप्ति में अध्ययन लक्ष्य आदि रखे गये हैं, किन्तु अर्थ के पास केवल ग्रन्थ का ही नाम रखा है ॥

५-मागधीशब्द और संस्कृत अनुवाद शब्द के मध्य में तथा लिङ्ग और अनुवाद के मध्य में भी (—) यह चिह्न दिया है। इसी तरह तदेव दर्शयति- तथा चाह- या अवतरणिका के अन्त में भी आगे से संवन्ध दिखाने के लिये यही चिह्न दिया गया है।

६-जहाँ कहीं मागधी शब्द के अनुवाद संस्कृत में दो तीन चार हुए हैं तो दूसरे तीसरे अनुवाद को भी मोटे ही अक्षरों में रखा है किन्तु जैसे प्राकृत शब्द सामान्य पङ्क्ति (लाईन) से कुछ बाहर रहता है वैसा न रखकर सामान्य पङ्क्ति के बराबर ही रखा है और उसके आगे जी लिङ्गप्रदर्शन कराया है; बाकी सभी बात पूर्ववत् मूलशब्द की तरह दी है।

७-किसी किसी मागधीशब्द का अनुवाद संस्कृत में नहीं है किन्तु उसके आगे 'देशी' लिखा है वहाँ पर देशीय शब्द समझना चाहिये, उसकी व्युत्पत्ति न होने से अनुवाद नहीं है।

८-किसी २ शब्द के बाद जो अनुवाद है उसके बाद लिङ्ग नहीं है किन्तु (धा०) लिखा है उससे धात्वादेश समझना चाहिये।

९-कहीं कहीं (व० व०) (क० स०) (बहु० स०) (त० स०) (न० त०) (३.त०) (४ त०) (५ त०) (६ त०) (७ त०) (अव्ययी० स०) आदि दिया हुआ है उनको क्रम से बहुवचन; कर्मधारय समास; बहुव्रीहि; तत्पुरुष; नञ्तत्पुरुष; तृतीयातत्पुरुष; चतुर्थीतत्पुरुष; पञ्चमीतत्पुरुष; षष्ठीतत्पुरुष; सप्तमीतत्पुरुष; अव्ययीभाव समास समझना चाहिये।
१०-पुं०। स्त्री०। न०। त्रि०। अव्य०-का संकेत क्रम से पुंलिङ्ग; स्त्रीलिङ्ग; नपुंसकलिङ्ग; त्रिलिङ्ग और अव्यय समझना।

अध्ययनादि के सङ्केत और वे किन किन ग्रन्थों में हैं—

११—१ अ०— अध्ययन— आवश्यकचूर्णि, आवश्यकवृत्ति, आचाराङ्ग, उपासकदशाङ्ग, उत्तराध्ययन, ज्ञातार्थकथा, दशाश्रुतस्कन्ध, दशवैकालिक, विपाकसूत्र और सूत्रकृताङ्ग में हैं।

२ अधि०— अधिकार— अनेकान्तजयपताकावृत्तिविवरण, गच्छाचारपपन्ना, धर्मसंग्रह और जीवानुशासन में हैं।

३ अध्या०— अध्याय— अव्यानुयोगतर्कणा में हैं।

४ अष्ट०— अष्टक— हारिभञ्जाष्टक और यशोविजयाष्टक में हैं।

५ ल०— लक्ष्य— सूत्रकृताङ्ग, जगवती, निशीथचूर्णि, वृहत्कल्प, व्यवहार, स्थानाङ्ग और आचाराङ्ग में हैं।

६ लक्षा०— लक्षास— सेनप्रश्न में हैं।

७ कर्म०— कर्मग्रन्थ— कर्मग्रन्थ में हैं।

८ कल्प— कल्प— विविधतीर्थकल्प में हैं।

९ ठा०— ठाणा— स्थानाङ्गसूत्र में हैं।

१० खएम्— खएम्— उत्तराध्ययननिर्युक्ति में हैं।

११ क्षण— क्षण— कल्पसुबोधिका में हैं।

१२ काएम्— काएम्— सम्प्रतिर्तर्क में हैं।

१३ छा०— द्वात्रिंशिका— द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका में हैं।

१४ द्वार— द्वार— पञ्चवस्तुक, पञ्चसंग्रह, प्रवचनसारोद्धार और प्रश्नव्याकरण में हैं।

(प्रश्नव्याकरण में आश्रवद्वार और संवरद्वार के नाम से ही द्वार प्रसिद्ध हैं)

१५ पद— पद— प्रज्ञापनासूत्र में हैं।

१६ परि०— परिच्छेद— रत्नाकरावतारिका में हैं।

१७ चू०— चूलिका— दशवैकालिक और आचाराङ्ग में हैं।

१८ प्रति०- प्रतिपत्ति- जीवाभिगम सूत्र में हैं।

१९ पाद- पाद- प्राकृतव्याकरण और उसकी टीका हुण्डिका में हैं।

२० पाहु०- पाहुडा- चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करणदक में हैं।

२१ वर्ग- वर्ग- निरयावदिका, अणुचरोववाई, अन्तर्दृष्टदशाङ्ग में हैं।

२२ विव०- विवरण- पुरुषप्रकरण और पञ्चाशक में हैं।

२३ प्रका०- प्रकाश- हीरप्रश्न में हैं।

२४ प्र०- प्रश्न- सेनप्रश्न में हैं।

२५ श०- शतक- भगवती सूत्र में हैं।

२६ श्रु०- श्रुतस्कन्ध- सूत्रकृताङ्ग, आचाराङ्ग, ज्ञाताधर्मकथा और विपाकसूत्र में हैं।

२७ वक्ष०- वक्षस्कार- जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में हैं।

२८ सम०- समवाय- समवायाङ्ग सूत्र में हैं।

२९ सू०- सूत्र- पञ्चसूत्र में हैं।

१२—जिन जिन ग्रन्थों का प्रमाण दिया है उनके सङ्केत और नाम—

१ अङ्ग०	- अङ्गचूडिका।
२ अणु०	- अणुचरोववाई सूत्र सटीक।
३ अनु०	- अनुयोगद्वार सूत्र सटीक।
४ अने०	- अनेकान्तजयपताकावृत्तिविवरण।
५ अन्त०	- अन्तर्गदशाङ्ग सूत्र।
६ अष्ट०	- अष्टक यशोविजयकृत सटीक।
७ आचा०	- आचाराङ्गसूत्र सटीक।
८ आ०चू०	- आवश्यकचूर्णि।
९ आ०म०प्र०	- आवश्यकमलयगिरि (प्रथमखण्ड)
१० आ०म०द्वि०	- आवश्यकमलयगिरि (द्वितीयखण्ड)
११ आतु०	- आतुरप्रत्याख्यान पयन्ना टीका।
१२ आ०क०	- आवश्यक कथा।
१३ आव०	- आवश्यकवृद्धवृत्ति।
१४ उत्त०	- उत्तराध्ययन सूत्र सटीक।
१५ उपा०	- उपासकदशाङ्ग सूत्र सटीक।
१६ उत्त०नि०	- उत्तराध्ययननिर्युक्ति।
१७ एका०	- एकाक्षरीकोश।
१८ ओघ०	- ओघनिर्युक्ति सटीक।
१९ औ०	- औपपातिकसूत्र वृत्ति।
२० कर्म०	- कर्मग्रन्थ सटीक।
२१ क०प्र०	- कर्मप्रकृति सटीक।
२२ कल्प०	- कल्पसुबोधिका सटीक।
२३ को०	- पाइयलच्छीनाममाहा कोश।
२४ ग०	- गच्छाचारपयन्ना टीका।
२५ चं०प्र०	- चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक।
२६ जै० गा०	- जैनगायत्रीव्याख्या।

२७ जं०	- जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक।
२८ ज्ञा०	- ज्ञाताधर्मकथा सूत्र सटीक।
२९ जी०	- जीवाभिगम सूत्र सटीक।
३० जीत०	- जीतकल्पवृत्ति।
३१ जीवा	- जीवानुशासन सटीक।
३२ जै०६०	- जैनज्ञतिदास।
३३ ज्यो०	- ज्योतिष्करणरुक् सटीक।
३४ हुं०	- हुण्डी (प्राकृतव्याकरण) टीका।
३५ तं०	- तन्दुलवयाद्वी पयन्ना टीका।
३६ तित्थु०	- तित्थुगाद्वी पयन्नामूल।
३७ दशा०	- दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रवृत्ति।
३८ दर्श०	- दर्शनशुद्धि सटीक।
३९ दश०	- दशवैकालिकसूत्र सटीक।
४० द० प०	- दशपयन्नामूल।
"	१ चउसरण पयन्ना।
"	२ आतुरप्रत्याख्यान पयन्ना।
"	३ संधारगइ पयन्ना।
"	४ चंदविज्जा पयन्ना।
"	५ गच्छाचार पयन्ना।
"	६ तंहुलवयाद्वी पयन्ना।
"	७ देविदत्थव पयन्ना।
"	८ गणिविज्जा पयन्ना।
"	९ महापञ्चकलाण पयन्ना।
"	१० मरणविधि पयन्ना।
४१ द्रव्या०	- द्रव्यानुयोगतर्कणा सटीक।
४२ द्वा०	- द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका(वत्तीसवत्तीसी)सटीक।
४३ द्वी०	- द्वीपसागरप्रज्ञप्ति।
४४ दे० ना०	- देशीनाममाला सटीक।

४५ ध० - धर्मसंग्रह सटीक ।
 ४६ ध० र० - धर्मरत्नप्रकरण सटीक ।
 ४७ नयो० - नयोपदेश सटीक ।
 ४८ नं० - नन्दीसूत्र सवृत्ति ।
 ४९ नि० - निरयावली सूत्र सटीक ।
 ५० नि० चू० - निशीथसूत्र सवृत्ति ।
 ५१ पं० चू० - पञ्चकल्पचूर्णि ।
 ५२ पं० भा० - पञ्चकल्प भाष्य ।
 ५३ पञ्चा० - पञ्चाशक सटीक ।
 ५४ पं० व० - पञ्चवस्तुक सटीक ।
 ५५ पं० सं० - पञ्चसंग्रह सटीक ।
 ५६ पं० सू० - पञ्चसूत्र सटीक ।
 ५७ प्र० - प्रवचनसारोद्धारटीका ।
 ५८ प्र० मू० - प्रवचनसारोद्धार मूल ।
 ५९ प्रति० - प्रतिमाशतक सूत्र सटीक ।
 ६० प्रश्न० - प्रश्नव्याकरण सूत्र सटीक ।
 ६१ प्रज्ञा० - प्रज्ञापना सूत्र सटीक ।
 ६२ प्रमा० - प्रमाणनयतत्त्वाज्ञोकाद्वङ्गार सूत्र ।
 ६३ पि० - पिएरुनिर्युक्तिवृत्ति ।
 ६४ पिएह० मू० - पिएरुनिर्युक्ति मूल ।
 ६५ पा० - पाक्षिक सूत्र सटीक ।
 ६६ प्रा० - प्राकृतव्याकरण ।
 ६७ भ० - भगवती सूत्र सटीक ।
 ६८ महा० - महानिशीथ सूत्र मूल ।
 ६९ मएरु० - मएरुलप्रकरण सवृत्ति ।
 ७० यो० वि० - योगविन्दु सटीक ।
 ७१ रत्ना० - रत्नाकरावतारिका वृत्ति ।

७२ रा० - राजप्रश्नीय (रायपसेणी) सटीक ।
 ७३ ल० - लक्षितविस्तरा वृत्ति ।
 ७४ लघु० - लघुप्रवचनसार मूल ।
 ७५ ल० द्वे० - लघुक्षेत्रसमास प्रकरण ।
 ७६ व्य० अ० - व्यवहार सूत्र अक्षरार्थ ।
 ७७ वाच० - वाचस्पत्याजिधान (कोश)
 ७८ व्य० - व्यवहारसूत्रवृत्ति ।
 ७९ ती० - विविधतीर्थकल्प ।
 ८० बृ० - बृहत्कल्पवृत्ति सभाष्य ।
 ८१ विशे० - विशेषावश्यक सजाप्य सवृहद्वृत्ति ।
 ८२ विपा० - विपाक सूत्र सटीक ।
 ८३ श्रा० - श्रावकधर्मप्रज्ञप्ति सटीक ।
 ८४ षो० - षोडशप्रकरण सटीक ।
 ८५ स० - समवायाङ्ग सूत्र सटीक ।
 ८६ संथा० - संथारगपयन्ना सटीक ।
 ८७ संस० नि० - संसक्तनिर्युक्ति मूल ।
 ८८ संघा० - सङ्घाचार जाण्य ।
 ८९ सत्त० - सत्तरिसयठाणा वृत्ति ।
 ९० सम्म० - सम्मतितर्क सटीक ।
 ९१ स्था० - स्थानाङ्ग सूत्र सटीक ।
 ९२ स्या० - स्यादादमञ्जरी सटीक ।
 ९३ सूर० - सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक ।
 ९४ सूत्र० - सूत्रकृताङ्ग सूत्र सटीक ।
 ९५ सेन० - सेनप्रश्न ।
 ९६ हा० - हारिजद्राष्टक सटीक ।
 ९७ ही० - हीरप्रश्न ।

१३-प्राकृतशब्दों में जो कहीं कहीं () ऐसे कोष्ठक के मध्य में अक्षर दिये गये हैं, उन-
 के विषय में थोड़े से नियम—

१-कहीं कहीं एक शब्द के अनेक रूप होते हैं परन्तु सूत्रों में एकही रूप का पाठ विशेष आता है इसलिये उसीको मुख्य रखकर रूपान्तर को कोष्ठक में रक्खा है—जैसे ‘अदत्तादाण’ या ‘अणुजाग’ शब्द है और उसका रूपान्तर ‘अदिष्सादाण’ या ‘अणुजाव’ होता है किन्तु सूत्र में पाठ पूर्व का ही प्रायः विशेष आता है तो उसीको मुख्य रखकर दूसरे को कोष्ठक में रखदिया है; अर्थात्—‘अदत्ता (दिष्सा) दाण, ‘अणुजाग (व) ’ ।

२-कहीं कहीं मागधी शब्द के अन्त में (ण) इत्यादि व्यञ्जन वर्ण भी कोष्ठक में दिया गया है वह “अन्त्यव्यञ्जनस्य” ॥
 ८ । १ । ११ ॥ इस प्राकृतसूत्र से लुप्त हुए की सूचना है ।

३-कहीं कहीं “क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्” ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इस सूत्र से एक पक्ष में व्यञ्जन के लोप होने पर वचे हुए (अ) (इ) आदि स्वरमात्र को रूपान्तर में दिया है ।

४-इसी तरह “अवर्णो यश्चुतिः” ॥ ८ । १ । ८० ॥ का भी विषय कोष्ठक में (य) आदि रक्खा है ।

५-तथा “ख-घ-थ-ध-ज्ञाम्” ॥ ८ । १ । १८७ ॥ इस प्राकृत सूत्र से ख घ थ ध ज अक्षरों को प्रायः हकार हुवा करता

है और कहीं २ हकार न होने का जी रूप आता है तो रूपान्तर की सूचना के लिये (घ) (भ) आदि अक्षर जी कोष्ठक में दिये हैं। यह नियम स्मरण रखने के योग्य है।

६-कहीं कहीं प्राकृतव्याकरण के प्रथमपादस्य १२-१३-१४-१५-१६-१७-१८-१९-२०-२१-२२-४४ सूत्रों के भी वैकल्पिक रूप, और दूसरे पाद के २-३-४-५-६-७-८-९-१०-११ सूत्रों से भी किये हुए रूपान्तर को कोष्ठक में दिया है।

७-“फो भौ” ॥ ८ । १ । २३६ ॥ इस सूत्र के लगने से फ को (ज) या (ह) होने पर, दो रूपों में किसी एक को कोष्ठक में दिया गया है। इसी तरह इसी पाद के २४१-२४२-२४३-२४४-२४५-२४६-२४७-२४८-२४९-२५०-२५१-२५२-२५३-२५४ सूत्रों के विषय भी समझना चाहिये।

८-“स्वार्थे कश्च वा” ॥ ८ । २ । १६४ ॥ इस सूत्र से आये हुए क प्रत्यय को कहीं कहीं कोष्ठक में (अ) इस तरह रखा है। इसी तरह “नो णः” ॥ ८ । १ । २२७ ॥ सूत्र का जी आर्ष प्रयोगों में विकल्प होता है, इत्यादि विषय प्रथमजाग में दिये हुए प्राकृतव्याकरण-परिशिष्ट से समझ लेना चाहिये।

१४-प्राकृत शब्दों में कहीं २ संस्कृत शब्दों के लिङ्गों से विलक्षण जी लिङ्ग आता है—

कहीं कहीं प्राकृत मान कर ही लिङ्ग का व्यत्यय हुआ करता है जैसे तृतीय भाग के ४३७ पृष्ठ में ‘पिडितो वराहः’ मूल में है, उसपर टीकाकार लिखते हैं कि ‘पृष्ठदेशे वराहः, प्राकृतत्वाद् नपुंसकलिङ्गता’। इसी तरह “प्रावृद्-शरत्-तरणयः पुंसि” ॥ ८ । १ । ३१ ॥ इस सूत्र से स्त्रीलिङ्ग को पुंलिङ्ग होता है; और दामन्-शिरम्-नभम् शब्दों को ऋनकर संज्ञी सान्त और नान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं, तथा ‘वाऽङ्ग्यर्थवचनाद्याः’ ॥ १ । ३३ । ‘गुणाद्याः क्लीबे वा’ ॥ १ । ३४ । ‘वेमाञ्जट्याद्याः स्त्रियाम्’ ॥ १ । ३५ । सूत्रों के जी विषय हैं। अन्यत्र स्थल में जी लोक प्रसिद्धि की अपेक्षा से ही प्राकृत में लिङ्गों की व्यवस्था मानी हुई है। जैसे-तृतीय जाग के २०४ पृष्ठ में ‘कट्वाइ (ण)-कृतवादिन्’ इत्यादि को में पुंस्त्व ही होता है। यद्यपि सभा और कुल का विशेषण मानने से स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग भी हो सकता है किन्तु उन दोनों का ग्रहण नहीं किया है; इसी तरह द्वितीय भाग के २७ पृष्ठ में ‘आजक्खेम-आयुःजेम’ इत्यादि को में यद्यपि ‘कुशङ्गं हेममस्त्रियाम्’ इस कोश के प्रामाण्य से नपुंसकत्व और पुंस्त्व भी प्राप्त है तथापि केवल पुंस्त्व का ही स्वीकार है; क्यों कि काव्यादिप्रयोगों में जी लोक-प्रसिद्धि से ही लिङ्ग माना हुआ है, जैसे अर्धर्चादि गण में पद्म शब्द का पाठ होने से पुंस्त्व जी है, तदनुसार ही-‘जाति पद्मः सरोवरे’ यह किसीने प्रयोग जी किया, किन्तु काव्यानुशासन-साहित्यदर्पण-काव्यप्रकाश-सरस्वतीकण्ठा-जरण-रसगङ्गाधरकारादिकों ने पुंलिङ्ग का आदर नहीं किया है।

इस ग्रन्थ के हर एक जागों में आये हुए शब्दों में से थोड़े शब्दों के उपयोगी विषय दिये जाते हैं—

प्रथम जाग के कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘अन्तर’ शब्द पर अन्तर के जेद, द्वीप पर्वतों में परस्पर अन्तर, जम्बूद्वारों में परस्पर अन्तर, जिनेश्वरों में परस्पर अन्तर, ऋषजस्वामी से वीर भगवान् का अन्तर, ज्योतिष्कों का और चन्द्रमण्डल का अन्तर, चन्द्र सूर्यों का परस्पर अन्तर, ताराओं का परस्पर अन्तर, सूर्यों का परस्पर अन्तर, धातकीखण्ड के द्वारों का अन्तर, विमानकण्डों का अन्तर, आहार के आश्रय से जीवों का अन्तर, और सयोगि भवस्थ केवल्यनाहारक का अन्तर इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं।

२-‘अचित्त’ शब्द पर अचित्त पदार्थ का, तथा ‘अच्चेर’ शब्द पर दश १० आश्रयों का निरूपण देखना चाहिये।

३-‘अजीव’ शब्द पर ज्व-क्षेत्र-काद-जाव से अजीव की व्याख्या की हुई है।

४-‘अज्जा’ शब्द पर आर्या (साध्वी) को गृहस्थ के सामने दुष्टभाषण करने का निषेध, और विचित्र (नानारंग वाले) वस्त्र पहि-रने का निषेध, तथा गृहस्थ के कपड़े सीने का निषेध, और सविज्ञास गमन करने का निषेध, पर्यङ्क गादी तकिया आदि को काम में लाने का निषेध, स्नान अङ्गरागादि करने का निषेध, गृहस्थों के घर जाकर व्यावहारिक अथवा धार्मिक कथा करने का निषेध, तरुण पुरुषों के आने पर उनके स्वागत करने का, तथा पुनरागमन कहने का निषेध, और उनके उचिताचारादि विषय वर्णित हैं।

५-‘अणायार’ शब्द पर साधुओं के अनाचार; ‘अणारिय’ शब्द पर अनार्यों का निरूपण; ‘अणुओग’ शब्द पर अनुयोग शब्द का अर्थ, अनुयोगविधि, अनुयोग का अधिकारी, तथा अनुयोगों की पार्थक्य आर्यरक्षित से हुई है, इत्यादि; और ‘अणुवय’ शब्द पर जन्मियों के विनाश देखने के लायक हैं।

६- 'अणेत्यय' शब्द पर स्याद्वाद का स्वरूप, एकान्तवादियों को दोष, अनेकान्तवादियों के मत का प्रदर्शन, अनेकान्तवाद के प्रत्यक्षरूप से दिखाई देते हुए भी उसको तिरस्कार करने वालों की उन्मत्तता, एकान्तरूप से उत्पत्ति, अथवा नाश मानने में दोष, हर एक वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने में प्रमाण, वस्तु की एकान्ततत्त्वा माननेवाले सांख्यमत का खण्डन इत्यादि विषय उत्तमोत्तम दिखाये गये हैं ।

७ 'अस्रवत्थिय' शब्द पर एक जीव एक समय में दो आयुष्य करता है कि नहीं ? इसपर अन्ययूथिकों के साथ विवाद, अदत्तादानादि क्रिया के विषय में विवाद, एक समय में एक जीव के दो क्रिया करने में विवाद, कन्याणकारी शील है या श्रुत है ? इसपर अन्ययूथिकों के साथ विवाद, और अन्ययूथिकों के साथ गोचरी का निषेध, तथा अन्ययूथिकों को भोजन देने का निषेध, एवं उनके साथ विचारजूमि या विहारजूमि में जाने का निषेध आदि विषय आवश्यकीय हैं ।

८ 'अदत्तादाण' शब्द पर अदत्तादान के नाम, अदत्तादान का स्वरूप, अदत्तादान का कर्ता, और अदत्तादान का फल इत्यादि विषय उपकारी हैं ।

९ 'अहगकुमार' शब्द पर आर्चककुमार की कथा, रागद्वेषराहित के भाषण करने में दोषाज्ञाव, बीजादि के उपनोक्ता भ्रमण (साधु) नहीं कहे जाते, समवसरणादि के उपभोग करने पर भी अर्हण जगवान् के कर्मवन्ध न होने का प्रतिपादन, केवल जावशुक्ति ही को माननेवाले बौद्धों का खण्डन, बिना हिंसा किये हुए जी मांस खाने का निषेध आदि विषय प्रदर्शित किये गये हैं ।

१० 'अधिगण' शब्द पर कलह करने का निषेध, उत्पन्न हुए कलह को शान्त करने की आज्ञा, कलह उत्पत्ति के कारण, कलह करके दूसरे गण में जाने का निषेध, गृहस्थ के साथ कलह उत्पन्न होजाने पर उसको बिना शान्त किये पिएनादि ब्रह्मण करने का निषेध इत्यादि विषय स्मरण रखने के योग्य हैं ।

११ 'अप्पावहुय' शब्द पर अल्पवहुत्व के चार जेद, पृथ्वीकायादिकों के जयन्यायवगाहना से अल्पवहुत्व, आहारक और अनाहारक जीवों का अल्पवहुत्व, सेन्धियों का परस्पर अल्पवहुत्व, क्रोधादि कषायों का अल्पवहुत्व, किस क्षेत्र में जीव थोड़े हैं और किसमें बहुत है इसका निरूपण, जीव और पुद्गलों का अल्पवहुत्व, तथा ज्ञानियों का अल्पवहुत्व आदि अनेक विषय हैं ।

१२ 'अमावसा' शब्द पर एक वर्ष में द्वादश अमावास्याओं का निरूपण, तथा उनके नक्षत्रों का योग और उनके कुल, एवं कितने मुहूर्तों के जानेपर अमावास्या के बाद पूर्णमासी और पूर्णमासी के बाद अमावास्या आती है इत्यादि विषय हैं; और 'अयण' शब्द पर अयन का परिमाण, करण का निरूपण, चन्द्रायण के परिज्ञान में करण आदि विषय समणीय हैं ।

१३ 'अहिंसा' शब्द पर अहिंसा का स्वरूपनिरूपण, अहिंसा व्रत का लक्षण, जिनको यह मिलती है और जिन्होंने इसको ब्रह्मण की है उनका वर्णन, अहिंसा पावन में उद्यत पुरुषों का कर्तव्य, अहिंसा की पांच भावनाएँ, प्राणीमात्र की हिंसा करने का निषेध, वैदिक (याज्ञिक) हिंसा पर विचार, प्राणी के न मारने के कारण, जैनों के समान अन्य मत में अहिंसा के अभाव का निरूपण, अन्य मत में अहिंसा को मोक्ष की कारणता मुख्य न (गौण) होना, एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य आत्मा के मानने वालों के मत में अहिंसा का व्यर्थ हो जाना, आत्मा के परिणामी होने पर जी हिंसा में अवरोध का प्रतिपादन, आत्मा के नित्यानित्यत्व और देह से जिन्नाभिन्नत्व होने में प्रमाण, तथा आत्मा के शरीरावच्छिन्न होने में गुण आदि विषय ध्यान देने के योग्य हैं ।

प्रथम भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हैं उनकी नामावली—

'अइमुंतय' 'अज्ज' 'अंमारमइ' 'अंजू' 'अंरु' 'अंवरु' 'अकूर' [कीर्तिचन्द्र नरचन्द्र की] 'अक्खयपूया' 'अक्खुइ' 'अगमदत्त' 'अगहिह्वगराय' 'अचंकारियभट्टा' 'अचल' 'अजिअदेव' 'अज्जगंग' 'अज्जचंदणा' 'अज्जमंजु' 'अज्जमाण' 'अज्जरक्ख' 'अज्जरक्खिय' 'अज्जव' (अरुणार्थिकया) 'अज्जवइर' 'अज्जुमण' 'अट्टण' 'अट्ठावय' 'अट्ठिअगाम' 'अरुवि' 'अणिसिओवहाण' 'अलीयस' 'अणुवेदंधर' 'अणुज्जमवेस' 'असायया' 'असियाउत्त' 'अत्तदोसोवमंहार' 'अत्यकुसल' 'अहगकुमार' 'अप्पमाय' 'अब्बुय' 'अज्जमसेण' 'अज्जकुमार' 'अभयदेव' 'अमरदत्त' 'अरु' 'अरहस्य' 'अरिद्वेनेमि' 'अदोभया' 'अवंतिमुकुमाद' 'असद' 'अस्सावसेहित्थ' 'अहिच्छत्ता' 'अहिणंदण' आदि शब्दों पर कथायें उद्धृत हैं ।

द्वितीय भाग के कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘आज’ शब्द पर आयु के जेद, आयु प्राणीमात्र को अतिप्रिय है इसका निरूपण, आयु की पुष्टि के कारण, और उनके उदाहरणादि देखने चाहिये ।

२-‘आजकाल’ शब्द पर अप्कायिकों के जेद, अप्कायिक के शरीरादि का वर्णन, और उसके सचित्त-अचित्त-मिश्र भेदों का निरूपण, उष्ण जल की अचित्तसिद्धि, अप्काय शस्त्र का निरूपण, अप्काय की हिंसा का निषेध, अप्काय के स्पर्श का निषेध, और शीतोदक के सेवन का निषेध आदि विषय हैं ।

३-‘आउट्टि’ शब्द में चन्द्र और सूर्य की आवृत्तियाँ किस ऋतु में और किस नक्षत्र के साथ कितनी होती हैं इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं ।

४-‘आगम’ शब्द पर लौकिक और लोकोत्तर भेद से आगम के जेद, आगम का परतः प्रामाण्य, आगम के अपौरुषेयत्व का स्वरूप, आगमों के रचे हुए ही आगम का प्रामाण्य, जहाँ जहाँ प्रामाण्य का संभव है वह सभी प्रमाणी-जुत है इसका निरूपण, मूलागम से अतिरिक्त के प्रामाण्य न होने पर विचार, शब्द के नित्यत्व का विचार, जो आगम-प्रमाण का विषय होता है वह अन्य प्रमाण का भी विषय हो सकती है इसका विचार, धर्ममार्ग और मोक्षमार्ग में आगम ही प्रमाण है, जिनागम का सत्यत्वप्रतिपादन, सब व्यवहारों में आगम के ही नियामक होने का विचार, बौद्धों के अपोहवाद का संक्षिप्त निरूपण इत्यादि पचास विषय बड़े रमणीय हैं ।

५-‘आज्ञा’ शब्द पर आज्ञा के सदा आराधक होने का निरूपण, परलोक में आज्ञा ही प्रमाण है, आज्ञा की विराधना करने में दोष, तथा आज्ञाभङ्ग होने पर प्रायश्चित्त, आज्ञारहित पुरुष का चारित्र्य ठीक नहीं रह सकता, और आज्ञा के व्यवहार आदि का बहुतही अच्छा विचार है ।

६-‘आणुपुत्री’ शब्द पर बहुत ही गम्भीर १२ विषय विद्वानों के देखने योग्य हैं ।

७-‘आत्मा’ शब्द पर आत्मा के तीन जेद, आत्मा का लक्षण, आत्मा के कर्तृत्व पर विचार, आत्मा का विभुत्वस्वरूप, आत्मा का परिणाम, आत्मा के एकत्व मानने पर विचार, आत्मा का क्रियावत्त्व, और आत्मा के क्षणिकत्व मानने पर विचार इत्यादि विषय हैं ।

८-‘आधाकर्म’ शब्द पर आधाकर्म शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, तीर्थंकर के आधाकर्म-नोजित्व पर विचार, नौजनादिक में आधाकर्म के संज्ञक होने का विचार, आधाकर्म-भोजियों का दारुण परिणाम, और आधाकर्म-भोजियों का कर्मबन्ध होना, इत्यादि अनेक विषय हैं ।

९-‘आजिणिवोद्विगण’ शब्द पर १३ विषय विचारणीय हैं; और ‘आयंविद्वपच्चक्खाण’ शब्द पर आचामाम्ब-प्रत्याख्यान के स्वरूप का निरूपण है ।

१०-‘आचार्य’ शब्द पर आचार्यपद का विवेक, आचार्य के भेद; आचार्य का ऐहलौकिक और पारलौकिक स्वरूप, भद्राजनाचार्य, और उपस्थापनाचार्य का स्वरूप, आचार्य का विनय करना; आचार्य के ब्रह्मण, जिनके अभाव में आचार्य नहीं हो सकता वे गुण, आचार्य के ब्रह्मचारत्व होने में दुर्गुण, दूसरे का अहित करना भी दुर्गुण है इसका कथन, प्रमादी आचार्य के द्विजे शिष्य को शिक्षा करने का अधिकार; गुरु के विनय में वैद्यदृष्टान्त, आचार्य के द्विजे नमस्कार करने का निरूपण, गुरु की वैयावृत्य, जिस कर्म से गच्छ का अधिपति होता है उसका निरूपण, आचार्य के अतिशय, निर्ग्रन्थियों के आचार्य, एक आचार्य के काल कर जाने पर दूसरे आचार्य के स्थापन में विधि, आचार्य की परीक्षा, आचार्य पद पर गुरु के स्थापन करने में विधि, विना परिवार के आचार्य होने का स्वरूप, स्थापन करने में वृद्ध साधुओं की सम्मति लेने की आवश्यकता, इत्यादि उत्तमोत्तम विषय हैं ।

११-‘आलोचना’ शब्द पर आलोचना की व्युत्पत्ति, अर्थ और स्वरूप, मूलगुण और उत्तरगुण से आलोचना के भेद, विहारादि भेद से आलोचना के तीन भेद, और उसके भी जेद, शल्य के उपचारार्थ आलोचना करने में विधि, आलोचनीय विषयों में यथाक्रम आलोचना के प्रकार, आलोचना में शिष्याचार्य की परीक्षा पर आवश्यकधार, आलोचना लेने के स्थान, गोचरी से आये हुए की आलोचना, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव जेद से आलोचना के चार प्रकार,

आलोचना का समय, तथा किसके निकट आलोचना लेनी चाहिये इस पर विचार, आसन्नमरण जीवों के जी आलोचना लेने में ब्राह्मण का दृष्टान्त, अदत्तालोचन पर व्याध का दृष्टान्त, आलोचना के आठ और दश स्थानक, कृत कर्मों की क्रम से आलोचना लेनी चाहिये, आलोचना न लेकर मृत होने पर दोष, और आलोचना का फल इत्यादि विषय आवश्यकीय हैं ।

१२-‘आसायणा’ शब्द पर आशातना करने में दोष, और आशातना का फल इत्यादि विवेचन देखने के योग्य है ।

१३-‘आहार’ शब्द पर ‘सयोगी केवली, अनाहारक होते हैं’ इस दिगम्बर के मत का खण्डन, केवलियों के आहार और नीहार प्रच्छन्न होते हैं इस पर विचार, पृथिवीकायिकादिकों के आहार का निरूपण, तथा वनस्पतियों का, वृक्षोपरिस्थ वृक्षों का, मनुष्यों का, तिर्यग्जन्तुओं का, स्थलचर सर्पादिकों का, खेचरों का, विकलोन्धियों का, पञ्चेन्द्रियों के मृत्र पुरीषों से उत्पन्न जीवों का आहार; तेजस्कायिक और वायुकायिक के आहार का निरूपण, और सचित्ताहार का प्रतिपादन, यावज्जीव प्राणी कितना आहार करता है इसका परिमाण, आहार के कारण, आहारत्याग का कारण, और आहार करने का प्रमाण, भगवान् ऋषभ स्वामी के द्वारा कन्दाहार, गुणवियों का अनाहार होना इत्यादि विषय हैं ।

१४-‘इन्द्रिय’ शब्द पर इन्द्रियों के पाँच जेद होने पर जी नामादि भेद से चार जेद, तथा छव्यादि भेद से दो जेद, और इन्द्रियों के संस्थान (रचना), इन्द्रियों के विषय, नेत्र और मन का अप्राप्यकारित्व, अवशिष्ट इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व, और इन्द्रियों के गुणागुण दोष का निरूपण आदि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१५-‘इत्थी’ शब्द पर स्त्री के लक्षण, स्त्रियों के स्वभाव जानने की आवश्यकता, और उनके कृत्यों का वर्णन, स्त्रीसंबन्ध में दोष, स्त्रियों के साथ विहार नहीं करना, स्त्री के साथ संबन्ध होने से इसी लोक में फल, स्त्री के संसर्ग में दोष, भोगियों का विरुम्बना, विश्वास देकर स्त्रियों के अकार्य करने का निरूपण, स्त्रियों के स्वरूप और शरीर की निन्दा, वैराग्य उत्पन्न होने के लिये स्त्रीचरित्र का निरीक्षण, स्त्रियों की अपवित्रता, प्राणी का सर्वस्व हरण करने वाली और बन्धन में विशेष कारण स्त्रियाँ हैं, उनके स्नेह में फसे हुए पुरुष को दुःखप्राप्ति, स्त्री का संबन्ध सर्वथा त्याज्य है इसका निरूपण, और उसके त्याग के कारण, स्त्री के हस्तस्पर्श करने का निषेध, तथा स्त्री के साथ विहार, स्वाध्याय, आहार, उच्चार, प्रसवण, परिष्ठापनिका, और धर्मकथादि करने का जी निषेध इत्यादि बहुत अच्छे २० विषय द्रष्टव्य हैं ।

१६-‘इस्सर’ शब्द पर ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का खण्डन, तथा ईश्वर के एकत्व और विभुत्व का खण्डन, अन्य तीर्थियों के माने हुए ईश्वर का खण्डन आदि विषय विचारने के योग्य हैं ।

१७-‘उर्द्धरणा’ शब्द भी द्रष्टव्य है, और ‘उववाय’ शब्द पर ३० विषय ध्यान रखने के योग्य हैं, जैसे-देवता देवलोक में क्यों उत्पन्न होते हैं, अविराधित आमण्य होने पर देवलोक में उपपात होता है, और नैराधिक कैसे उत्पन्न होते हैं इत्यादि विषयों पर विचार है ।

१८-‘उवसंपया’ शब्द पर आचार्यादि के काढ कर जाने पर साधु के अन्यत्र गमन करने पर विचार, हानि और वृद्धि की परीक्षा करके कर्तव्याकर्तव्य का निरूपण, भिक्षु का एक गण से निकल कर दूसरे गण में प्राप्त हो के विहार, तथा इसीका दूसरा प्रकार, कुगुरु होने पर अन्यत्र गमन करना इत्यादि विचार है ।

१९-‘उवसर्ग’ शब्द पर उपसर्ग की व्याख्या, उपसर्गकारी के भेद से उपसर्ग के जेद, और उपसर्ग का सहन, तथा संयमों का रूक्षत्व आदि विषय हैं ।

२०-‘उवाहि’ शब्द पर उपधि के भेद, जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिकों के उपधि, जिन कल्पिक और गच्छवासियों के उपधि में उत्कृष्ट विभाग प्रमाण, उपधि के न्यूनाधिक्य में प्रायश्चित्त, प्रथम प्रव्रज्या के ग्रहण करने पर उपधि, प्रव्रज्या को ग्रहण करती हुई निर्ग्रन्थी के उपधि, रात्रि में अथवा विकाल में उपधि का ग्रहण, भिक्षा के लिये गये हुए साधु के उपकरण गिरजाने पर विधि, स्थविरों के ग्रहण योग्य उपधि, साध्वियों को जो उपधि देता हो उसे उनके आने के मार्ग में रख देना चाहिये इत्यादि विषय उपयोगी हैं ।

२१-‘उसज्ज’ शब्द पर ऋषभस्वामी के पूर्व जन्म का चरित्र, ऋषभस्वामी के तीर्थङ्कर होने में कारण, ऋषभस्वामी का जन्म और जन्ममहोत्सव, ऋषभस्वामी के नाम, और उनकी दृष्टि, और उनका विवाह, पुत्र, नीतिव्यवस्था, राज्याभिषेक, राज्यग्रह, लोकस्थिति के लिये शिष्टपादि का शिक्षण, वाम, तदनन्तर ऋषभस्वामी के पुत्र का

अभिषेक, ऋषजस्वामी का दीक्षाकल्याणक, और उनके चीवरधारी होने का कालप्रमाण, जिज्ञाकाल का प्रमाण, ऋषभस्वामी के आठ भवों का श्रेयांसकुमार के द्वारा कथन, ऋषजनाथ का श्रामण्य के बाद प्रवर्तनप्रकार, श्रामण्यावस्थावर्णन, केवलौत्पत्त्यनन्तर धर्मकथन, ऋषजस्वामी के वन्दनार्थ मरुदेवी के साथ चरत का गमन, और चरत का दिग्विजय, ब्राह्मणों की उत्पत्ति का प्रकार, ऋषजस्वामी की सङ्घमङ्ख्या, और उनके केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद कितने काद्वानन्तर जव्यों का सिद्धिगमन प्रवृत्त हुआ, और कब तक रहा, ऋषजस्वामी के जन्मकल्याणकादि के नक्षत्र, और उनके शरीर की संपत्ति, शरीर का प्रमाण, कुमारावस्था में तथा राज्य करने के समय में और गृहस्थावस्था में जितना काल है उसका गान, ऋषभस्वामी का निर्वाण इत्यादि विषय स्थित हैं ।

इस से अतिरिक्त भी विषय इस भाग में स्थित हैं जिनका विस्तार के भय से निरूपण नहीं हो सकता ।

द्वितीय भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी नामावली—

‘आउ’ ‘आणंद,’ ‘आधाकम्म,’ ‘आपई,’ ‘आभीरवंचग,’ ‘आयरिय,’ ‘आराहणा,’ ‘आरुग्गदिय,’ ‘आलंघण,’ ‘आलोयणा,’ ‘आसाढत्तई,’ ‘इंददत्त,’ ‘इंदत्तई,’ ‘इच्छकार,’ ‘इत्थिपरिसह,’ ‘इत्थी,’ ‘इत्तापुत्त,’ ‘इसिभदपुत्त,’ ‘इसिभासिय,’ ‘इस्सर,’ ‘उत्तवरदत्त,’ ‘उक्कम,’ ‘उवयायमाण,’ ‘उज्जयंत,’ ‘उज्जुमातिववहार,’ ‘उज्जुववहार,’ ‘उज्झियय,’ ‘उएहपरीसह,’ ‘उदयण,’ ‘उदयप्पजसूरि,’ ‘उदेसिय,’ ‘उप्पत्तिय,’ ‘उप्पत्तिया,’ ‘उरव्वन,’ ‘उववूह,’ ‘उवसंपया,’ ‘उवहि,’ ‘उवालंज,’ ‘उस्सारकप्प’ इत्यादि शब्दों पर कथायें द्रष्टव्य हैं ।

तृतीय भाग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘एगद्धविहार’ शब्द पर एकाकी विहार करने में साधू को क्या दोष होता है इस पर विचार, एकाकीविहारियों के जेद, अशिवादि कारण से एकाकी होने में दोषाभाव, गण को ओरु कर एकाकी विहार करने पर प्रायश्चित्तादि वर्णित हैं ।

२-‘एगावाइ’ शब्द पर आत्मा का एकत्व मानने वालों का खण्डन, तथा एक मानने में दोष, अद्वैतवाद (पुरुषाद्वैत) का खण्डन विस्तार से है ।

३-‘एसणा’ शब्द पर १४ विषय दिये हैं वे जी साधू और गृहस्थों के देखने योग्य हैं, जैसे-साधू को किस प्रकार भिक्षा लेना, और गृहस्थ को किस प्रकार देना चाहिये इत्यादि ।

४-‘आंगाहणा’ शब्द पर अवगाहना के भेद, औदारिक शरीर की अवगाहना (क्षेत्र) का मान, द्वित्रिचतुरिन्ध्रियों की औदारिकावगाहना, तिर्यक्पञ्चेन्ध्रियों की औदारिकावगाहना, मनुष्यपञ्चेन्ध्रियों की औदारिकशरीरावगाहना, बौद्ध शरीर की अवगाहना का मान, पृथिव्यादिकों की बौद्धशरीरावगाहना, पञ्चेन्ध्र्यतिर्यक्चों की बौद्धशरीरावगाहना, असुरकुमारों की बौद्धशरीरावगाहना, आहारकशरीरों की अवगाहना का मान, तैजस शरीर की अवगाहना का मान, निगोद जीवों की अवगाहना का मान, धर्मास्तिकाय के अवगाहनावगाह की चिन्ता, एक जगह एकही धर्मास्तिकायादि प्रवेशावगाह है इत्यादि विवेचन है ।

५-‘आसप्पिणी’ शब्द पर अवसर्पिणी शब्द की व्युत्पत्ति, और अवसर्पिणी कितने काल को कहते हैं, अवसर्पिणी काल में संपूर्ण शुभ भाव क्रम से अनन्त गुण से क्षीण होते हैं, और उसी तरह अशुभ जाव बढ़ते हैं, सुषमसुपमा से लेकर दुःषमदुःषमा पर्यन्त अवसर्पिणी के ३ जेद, सुपमादिकों का प्रमाण, भेरुतालादि वृक्ष का वर्णन, अष्टम कल्पवृक्ष का स्वरूप, उस काल में होने वाले मनुष्यादिकों के स्वरूप का वर्णन, और उनकी जवस्थिति, प्रथम से लेकर षष्ठ आरा तक का स्वरूपनिरूपण, जगत की व्यवस्था का वर्णन, भरतजूमिस्वरूप, अवसर्पिणी के तीन जेद इत्यादि विषय दिये हुए हैं ।

६-‘आहि’ शब्द पर अवधि शब्द की व्युत्पत्ति और द्रक्षण, अवधि के जेद, अवधि के नामादि सात जेद, अवधि-क्षेत्र मान, अवधिविषयक छव्य का मान, क्षेत्र और काल के विषय का मान इत्यादि अनेक विचार हैं ।

७-‘कज्जकारणभाव’ शब्द पर कापिन्नादि मतों का खण्डन आदि विषय विचारणीय हैं ।

८-‘कम्म’ शब्द पर कर्म के तीन जेद, और उनके स्वरूप का निरूपण, कर्म और शिल्प में जेद, नैयायिक और वैयाकरणों के कर्म पदार्थ का निरूपण, कर्म के स्वरूप का निरूपण, पुण्य और पापरूप कर्म की सिद्धि, अकर्मवादी नास्तिक के मत

का खण्डन, कर्म के मूर्तत्व पर आक्षेप और परिहार, जगत के वैचित्र्य से भी कर्म की सिद्धि, जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध, कर्म का अनादित्व, जगत की विचित्रता में कर्मही कारण है ईश्वरादि नहीं हैं इसका निरूपण, स्वजाववादी के मत का खण्डन, पुण्य और पाप कर्म रूप ही हैं, पुण्य और पाप के निज ब्रह्मण, कर्म के चार जेद, ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और मोहनीयों का विचार, नामकर्म गोत्रकर्म और आयुष्यकर्म का निरूपण इत्यादि ३७ विषय विचारणीय हैं ।

ए—‘कसाय’ शब्द पर कषायों का निरूपण है ।

१०—‘काउत्सर्ग’ शब्द पर कायोत्सर्ग का अर्थ, किन किन कार्यों में कितने उच्चास मान व्युत्सर्ग है, किस रीति से कायोत्सर्ग में स्थित होना इत्यादि १५ विषय वक्त गंजौर हैं ।

११—‘काम’ शब्द पर काम की रूपित्वसिद्धि, अरूपित्व का खण्डन; तथा ‘कायद्विः’ शब्द पर जीवों की कायस्थिति, जीवों की नैरयिकादि पर्याय से स्थितिचिन्ता, तिर्यक् तथा तिर्यकृस्त्रियों की, और मनुष्य तथा मनुष्यस्त्रियों की कायस्थिति, देव तथा देवियों की कायस्थिति, पर्यायापर्याय के विशेष से नैरयिकों की कायस्थिति, इन्द्रियों के द्वारा से जीवों की कायस्थिति, कायद्वार से जीवों की कायस्थिति, इसी तरह योगद्वार, वेदद्वार, कषायद्वार, लेश्याद्वार, सम्पद्दृष्टिद्वार, ज्ञानद्वार, दर्शनद्वार, संयमद्वार, उपयोगद्वार, आहारद्वार, जापकाजापकद्वार, संहिद्वार, जवस्थितिकद्वार के जेद से जीवों की कायस्थिति, और उदकगर्जादिकों की कायस्थिति इत्यादि ५० विषय हैं ।

१२—‘काल’ शब्द पर कालशब्द की व्युत्पत्ति, काल की सिद्धि, काल का ब्रह्मण, काल के भेद, दिगम्बर की प्रक्रिया से काल का निरूपण, और उमका खण्डन, काल का ज्ञान मनुष्य क्षेत्र ही में होता है इसका निरूपण, काल के संख्येय, असंख्येय और अनन्त भेद से तीन जेद तीर्थकर और गणधरों से कहे हुए हैं, स्निग्ध और रुक्ष जेद से काल के दो जेद, स्निग्ध और रुक्ष के तीन तीन जेद इत्यादि विषय निर्दिष्ट हैं ।

१३—‘किङ्कम्भ’ शब्द पर कृतिकर्म में साधुओं की अपेक्षा से साध्वियों का विशेष, यथोचित वन्दना न करने में दोष, कृतिकर्म में द्रव्य और भाव के जनाने के लिये दृष्टान्त, कृतिकर्म करने के योग्य साधुओं का निरूपण, तथा वन्दन करने के योग्य साधुओं का निरूपण, अव्य-क्षेत्र-काल-जाव से जेद, आचरणा का ब्रह्मण, और पर्याय ज्येष्ठों से आचार्य की वन्दना का विचार, दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण के मध्य में स्तुति मङ्गल अवश्य करना चाहिये, कृतिकर्म किसको करना चाहिये और किसको नहीं इसका विवेचन, पार्श्वस्थादि कों की वन्दना पर विचार, मुसाधु के वन्दना पर गुण का विचार, कृतिकर्म करने में उचितानुचित का निरूपण, कृतिकर्म को कब करना और कब नहीं करना, और कितनी बार कृतिकर्म करना इसका निरूपण, नियत वन्दनस्थान की संख्या का कथन, कृतिकर्म के स्वरूप का निरूपण इत्यादि ५१ विषयों का विवेचन है ।

१४—‘किरिया’ शब्द पर क्रिया का स्वरूप, क्रिया का निक्षेप, क्रिया के जेद, स्पृष्टास्पृष्टत्व से प्राणातिपातक्रिया का निरूपण, क्रिया का सक्रियत्व और अक्रियत्व, मृपावादादि का आश्रयण करके क्रियाकरने का प्रकार, अष्टादश स्थानों के अधिकार से एकत्व और पृथक्त्व के द्वारा कर्मबन्ध का निरूपण, ज्ञानावरणीयादि कर्म को बाँधता हुआ जीव कितनी क्रियाओं से समाप्त करता है, मृगयादि में उद्यत पुरुष की क्रिया का निरूपण, क्रिया से जन्य कर्म और उसकी वन्दना के अधिकार से क्रिया का निरूपण, अमणोपासक की क्रिया का कथन, अनायुक्त में जाते हुए अनगार की क्रिया का निरूपण इत्यादि १८ विषय आये हुए हैं ।

१५—‘कुशील’ शब्द पर कुशील किसको कहना, और उनके जेद, कुशील के चरित्र, कुशीलों के निरूपणानन्तर कुशीलों का निरूपण, पार्श्वस्थादिकों का संसर्ग नहीं करना, और उनके संसर्ग में दोष इत्यादि विषय हैं ।

१६—‘केवलज्ञान’ शब्द पर केवलज्ञान शब्द का अर्थ, केवलज्ञान की सिद्धि, इसका साध्यपर्यवासित्व, केवलज्ञान के भेद, सिद्धि का स्वरूप, किस प्रकार का केवलज्ञान होता है इसका निरूपण, स्त्रीकथा जन्तुकथा देशकथा और राजकथा करनेवाले के द्विये केवल ज्ञान और केवल दर्शन का प्रतिबन्ध इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१७—‘केवलिपञ्च’ शब्द पर केवली से कहे हुए धर्म का निरूपण, केवली के जेद, पहिले केवली हो कर ही सिद्धि को प्राप्त होता है, केवली के आहार पर दिगम्बर की विप्रतिपत्ति आदि विषय निरूपित हैं ।

१८—‘खओवसमिय’ शब्द पर क्षयोपशमिक के जेद तथा औपशमिक से इसका भेद, और उसके अठारह जेद इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१७—‘खरयर’ शब्द पर खरतर गच्छ का संक्षिप्त विवरण; तथा ‘खाणियंवाड’ शब्द पर बौद्धों के मत का संक्षिप्त निरूपण, और खरुन आदि देखने के लायक हैं ।

२०—‘खेत्त’ शब्द पर क्षेत्र का निरूपण, क्षेत्र के तीन भेद, क्षेत्र के गुण, क्षेत्र का आभवनव्यवहार आदि कई विषय निरूपित हैं ।

२१—‘गड’ शब्द पर स्पृशद्गति और अस्पृशद्गति से गति के दो जेद, प्रकारान्तर से जी दो भेद, गति शब्द की व्युत्पत्ति, नारक तीर्थग मनुष्य देव के जेद से गति के चार भेद, प्रकारान्तर से पाँच भेद, अथवा आठ जेद, नारकादिकों की शीघ्रगति आदि विषय दिये हुए हैं ।

२२—‘गच्छ’ शब्द पर गच्छविधि, सदाचाररूपी गच्छ का लक्षण, गच्छ का अगच्छत्व, गच्छ में बसने से विशेष निर्जरा होती है इसका निरूपण, शिष्य तथा गच्छ का स्वरूप, आर्यिकाओं के साथ संवाद का निषेध, क्रयविक्रयकारी गच्छ का निषेध, सुगच्छ में बसना चाहिये, बसति का रक्षण, अष्टगुणगण, गच्छमर्यादा, आचार्यादिकों के अभाव होने पर गच्छ में नहीं बसना, गच्छ और जिनकल्प दोनों की प्रशंसा इत्यादि विषय हैं ।

२३—‘गणह (ध) र’ शब्द पर गणधर का स्वरूप, किस तीर्थङ्कर के कितने गणधर हैं, गणधर शब्द का अर्थ, जिनगुणों से गणधर होने की योग्यता होती है उनका निरूपण किया है ।

२४—‘गर्ज’ शब्द पर गर्ज में अहोरात्रियों का प्रमाण, मुहूर्तों का प्रमाण, गर्ज में निःश्वासोच्छ्वास का प्रमाण, गर्ज का स्वरूप, ध्वस्तयोनि के काल का मान, कितने वर्ष के बाद स्त्री गर्भ धारण नहीं करती और पुरुष निर्बर्हि हो जाता है इसका निरूपण, कितने जीव एक देवा से एक स्त्री के गर्भ में उत्पन्न होते हैं, कुक्षि में पुरुषादि कहाँ बसते हैं, गर्भ में जीव उत्पन्न होकर क्या आहार करता है?, गर्जस्थ जीव के उच्चार और प्रसवण का विचार, गर्भ से जी जीव नरक या देवलोक को जाता है या नहीं इस गौतमस्वामी के प्रश्न का उत्तर, नवमास का अन्तर हो जाने पर पूर्व भव को जीव क्यों नहीं स्मरण करता?, और गर्जगत का शौचादि विचार, स्त्री के गर्भधारण करने के पाँच प्रकार, गर्जपतन का कारण, गर्भपोषण में विधि इत्यादि विषय हैं ।

२५—‘गिलाण’ शब्द पर ग्लान के प्रति जागरण, सचित्ताचित्त से चिकित्सा, ग्लान का अनुवर्तन, वैद्यानुवर्तना, वैद्य का उपदेश, ग्लान के लिये एषणा इत्यादि विषय हैं ।

२६—‘गुण’ शब्द पर मूलागुण, उत्तरगुण, एकतीस सिद्धादिगुण, सत्ताईस अनगार गुण, महाद्विं प्राप्त्यादि, सौजाग्यादि, मृदुत्वौदार्यादि, चान्त्यादि, वैशेषिकसंमत गुण, ज्ञानगुणों का परस्पर अभेद, गुणपर्याय के जेद, गुणपर्याय का ऐक्य, और जैनसंमत गुण इत्यादि द्रष्टव्य विषय हैं ।

२७—‘गुणह्वाण’ शब्द पर चौदह गुणस्थान, कायस्थिति, गुणस्थान में बन्ध इत्यादि विषय हैं ।

२८—‘गोयरचरिया’ शब्द पर जिनकल्पिक स्थविरकल्पिक, निर्ग्रन्थियों की जिज्ञा में विधि, जिज्ञाटन में विधि, आचार्य की आज्ञा, जाने के समय धार्याधार्य और कार्याकार्य, मार्ग में जिस तरह जाना, वृष्टिकाय के गिरने पर विधि, गृह प्रवेश, गृह के अवयवों को पकड़ करके नहीं खड़े होना, अंगुली दिखाने का निषेध, अगारी (स्त्री) के साथ खड़े होने का निषेध, ब्राह्मणादि को प्रविष्ट देख कर के जिज्ञा के लिये प्रवेश नहीं करना, तीर्थकर और उत्पन्नकेवलज्ञानदर्शन बाह्य जिज्ञा के लिये भ्रमण नहीं करते, आचार्य भिक्षा के लिये नहीं जाता, ग्राह्यवस्तु, गोचरातिचार में प्रायश्चित्त, साध्वियों की जिज्ञा का प्रकार इत्यादि विषय बहुत उपयोगी हैं ।

२९—‘चक्रवर्ती’ शब्द पर चक्रवर्तियों की गति का प्रतिपादन, गोत्रप्रतिपादन, चक्रवर्ती के पुर का प्रतिपादन, चक्रवर्ती का वस्त्र, मुक्ताहार, वर्णादि, स्त्रियाँ, स्त्रियों के सन्तान आदि का निरूपण, उत्सर्पिणी में १२ चक्रवर्ती होते हैं, कौन और कैसे चक्रवर्ती होता है इसका निरूपण इत्यादि विषय हैं ।

३०—‘चारित्त’ शब्द पर कुम्भ के दृष्टान्त से चारित्र के चार भेद, सामायिकादि रूप से चारित्र के पाँच जेद, किस तरह चारित्र की प्राप्ति होती है इसका प्रतिपादन, चारित्र से हीन ज्ञान अथवा दर्शन मोक्ष का साधन नहीं होता है, किन कपायों के उदय से चारित्र का लाभ ही नहीं होता और किन से हानि होती है इसका निरूपण, वीतराग का चारित्र न बढ़ता है और न घटता है, चारित्र की विराधना नहीं करना, आहारशुद्धि ही प्रायः चारित्र का कारण है इत्यादि विषय हैं ।

३१-‘चैद्यं’ शब्द पर चैत्य का अर्थ, प्रतिमा की सिद्धि, चारण्यनिकृत वन्दनाधिकार, चैत्य शब्द का अर्थ जो ज्ञान मानते हैं उनका खण्डन, चमरकृतवन्दन, देवकृत चैत्यवन्दन, सावद्य पदार्थ पर भगवान् की अनुमति नहीं होती, और मौन रहने से भगवान् की अनुमति समझी जाती है क्योंकि निषेध न करने से अनुमति ही होती है इसपर दृष्टान्त, हिंसा का विचार, साधु को स्वातन्त्र्य से चैत्य में अनधिकार, द्रव्यस्तव मे गुण, जिनपूजन से वैयावृत्य, तीन स्तुति, जिन भवन के बनाने में विधि, प्रतिमा बनाने में विधि, प्रतिष्ठाविधि, जिनपूजाविधि, जिनस्नात्रविधि, आभरण के विषय में दिगम्बरों के मत का प्रदर्शन और खण्डन, चैत्यविषयक प्रश्नों पर हीरविजय स्मरित उत्तर इत्यादि अनेक विषय हैं ।

३२-‘चैद्यवन्दण’ शब्द पर नैपेधिकीत्रय, पूजात्रिक, भावनात्रिक, त्रिदिङ्निरीक्षणप्रतिषेध, प्रणिधान, अभिगम, चैत्यवन्दनदिक, अवगाह, ३ वन्दना, ३ या ४ स्तुति, जषन्यवन्दना, अपुनर्वन्धकाऽऽदिक अधिकारी हैं, नमस्कार, प्रणिपात-दण्डक, २४ स्तव, सिद्धस्तुति, वीरस्तुति, वैयावृत्य की चौथी स्तुति, १६ आकार, कायोत्सर्ग इत्यादि अनेक विषय आये हैं ।

तृतीय भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

‘एगत्तभावणा,’ ‘एलकक्ख,’ ‘एसखासमिह,’ ‘कणाणयणीय,’ ‘कणीरह,’ ‘कच्चिय,’ ‘कप्प,’ ‘कप्पअ,’ ‘कयणण,’ ‘कवडि-जक्ख,’ ‘कंडरिय,’ ‘कंवल,’ ‘करंड,’ ‘काकंदिय,’ ‘कायगुत्ति,’ ‘काल,’ ‘कालसोअरिय,’ ‘कासीराज,’ ‘किहकम्म,’ ‘कुवेरदत्त,’ ‘कुवेरदत्ता,’ ‘कुवेरसेणा,’ ‘कोडिसिला,’ ‘गंगदत्त,’ ‘गयसुकुमाल,’ ‘गुणचंद,’ ‘गुणसागर,’ ‘गुत्तस्सरि,’ ‘गुरुकुलवास,’ ‘गुरुणिग्गह,’ ‘गोड्डामाहिल,’ ‘चंडरुह,’ ‘चंदगुत्त,’ ‘चंदप्पमस्सरि,’ ‘चंपा,’ ‘चकदेव,’ ‘चैद्यवन्दण’ ।

चतुर्थभाग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘जीव’ शब्द पर जीव की व्युत्पत्ति, जीव का लक्षण, जीव का कथञ्चित् अनित्यत्व, और कथञ्चित् अनित्यत्व, हस्ति और कुन्धु का समान जीव है इसका प्रतिपादन, जीव और चैतन्य का भेदाभेद, संसारी और सिद्ध के भेद से जीव के दो भेद, संसारियों का सेन्द्रियत्व, सिद्धों का अनिन्द्रियत्व इत्यादि विषय वर्णित हैं ।

२-‘जोहसिय’ शब्द पर जम्बूद्वीपगत चन्द्र सूर्य की सङ्ख्या, तथा लवण समुद्र के, धातकी खण्ड के, कालोद-समुद्र के, पुष्करवर द्वीप के, और मनुष्यक्षेत्रगत समस्त चन्द्रादि की संख्या का मान, चन्द्र-सूर्यों की कितनी पङ्क्तियाँ हैं और किस तरह स्थित हैं इसका निरूपण, चन्द्रादिकों के भ्रमण का स्वरूप, और इनके मण्डल, तथा चन्द्र से चन्द्र का और सूर्य से सूर्य का परस्पर अन्तर इत्यादि अनेक विषय हैं जिनका पूरा २ निरूपण यहाँ नहीं किया जा सकता ।

३-‘योग’ शब्द पर योग का स्वरूप, तथा योग के भेद, और योग का माहात्म्य आदि अनेक बृहत् विषय हैं ।

४-‘जोनि’ शब्द पर योनि का लक्षण, और उसकी संख्या, और भेद, तथा स्वरूप आदि अनेक विषय हैं ।

५-‘आण’ शब्द पर ध्यान का अर्थ, ध्यान के चार भेद, शुक्लध्यानादि का निरूपण, ध्यान का आसन, ध्या-तव्य और ध्यानकर्ताओं का निरूपण, ध्यान का मोक्षहेतुत्व इत्यादि विषय हैं ।

६-‘ठवणा’ शब्द पर स्थापनानिच्छेप, प्रतिक्रमण करते हुए गणधर स्थापना करते हैं, स्थापनाचार्य का चालन, स्था-पना कितने प्रदेश में होती है इसका निरूपण, स्थापना शब्द की व्युत्पत्ति, और स्थापना के भेद इत्यादि विषय हैं ।

७-‘ठाण’ शब्द पर साधु और साध्वी को एक स्थल पर कायोत्सर्ग करने का निषेध, स्थान के पंद्रह भेद, बादर पर्याप्त तेजस्कायिक स्थान, पर्याप्तपर्याप्त नैरयिक स्थान, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों का स्थान, भवनपति का स्थान, और स्थान शब्द की व्युत्पत्ति इत्यादि विषय हैं ।

८-‘ठिई’ शब्द पर नैरयिकों की स्थिति, पृथिवीविभाग से स्थितिचिन्ता, देवताओं की स्थिति, तथा देवियों की, भवनवासियों की, भवनवासिनियों की, असुरकुमारों की, असुरकुमारियों की, नागकुमारों की, नागकुमारियों की, सु-र्वेणकुमारों की, सुवर्णकुमारियों की, पृथिवीकायिकों की, सूक्ष्म पृथिवीकायिकों की, आउकायिकों की, बादर आउ-कायिकों की, तेउकायिकों की, सूक्ष्म तेउकायिकों की, बादर तेउकायिकों की, वायुकायिक-सूक्ष्म वायुकायिक-बादर वायु-कायिकों की, वनस्पतिकायिक-सूक्ष्म वनस्पतिकायिक बादर वनस्पतिकायिकों की, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, समूर्द्धिम पञ्चेन्द्रिय तिर्यक्, जलचरपञ्चेन्द्रिय, समूर्द्धिम जलचर पञ्चेन्द्रिय, चतुष्पद स्थलचर-पञ्चेन्द्रिय, समूर्द्धिम चतुष्पद स्थलचर पञ्चेन्द्रिय, गर्भापक्रान्तिक चतुष्पद स्थलचर पञ्चेन्द्रिय, उरःपरिसर्प स्थलचर-पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, भुजपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, समूर्द्धिम भुजपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय-

तिर्यग्योनिक, गर्भापक्रान्तिकभुज०, खचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, समूर्च्छिम०, गर्भापक्रान्ति०, मनुष्यों की, स्त्रियों की, नपुंसकों की, निर्ग्रन्थों की, वाणव्यन्तरों की, वाणव्यन्तरियों की, ज्योतिष्कों की, ज्योतिष्कियों की स्थिति-चन्द्रविम. न में, सूर्य विमान में, ग्रहविमान में, नक्षत्रविमान में, ताराविमान में स्थिति, वैमानिकों की स्थिति, सौधर्म कल्प में, ईशान कल्प में, सनत्कुमार कल्प में, माहेन्द्र कल्प में, ब्रह्मलोक-लान्तक कल्प में, महाशुक्र-सहस्रार कल्प में, आनत कल्प में, प्राणत कल्प में, आरण्यअच्युत कल्प में स्थिति-अधोऽधोग्रैवेयकों की, अधोमध्यमग्रैवेयकों की, अधोपरिग्रैवेयकों की, मध्यमाधोग्रैवेयकों की, मध्यममध्यमग्रैवेयकों की, मध्यमउपरिग्रैवेयकों की, उपरिमाधोग्रैवेयकों की, उपरिममध्यमग्रैवेयकों की, उपरिमउपरिम ग्रैवेयकों की स्थिति-विजयवैजयन्तजयन्तापराजितसर्वार्थसिद्धों में देवों की स्थिति, वेदनीय-कर्मों की स्थिति, पुंनपुंसकों की स्थिति, अकामकायक्लेशतपस्वियों की, व्यन्तरों में उत्पन्न की स्थिति-बाल-मरण से मरे हुये व्यन्तरों की, विधवाओं की, अल्पायुष्यप्रवृत्त व्यन्तरों में उत्पन्न की स्थिति इत्यादि विषय बहुत भेद प्रभेद से निरूपित हैं ।

६-‘एकस्वत्त’ शब्द पर नक्षत्रों की संख्या, इन नक्षत्रों में कब क्या कार्य(गमन प्रस्थानादि) करना, स्वाध्यायादि नक्षत्र-क्षिप्र, मृदु और ज्ञानवृद्धिकर नक्षत्र, चन्द्रनक्षत्रयोग, कितने भाग नक्षत्र चन्द्र के साथ युक्त होते हैं, प्रमदयोगी नक्षत्र, कौन नक्षत्र कितने तारावला है, नक्षत्रों के देवता, नक्षत्रों के गोत्र, भोजन-द्वार, नक्षत्रविजय, सायंकाल और प्रातःकाल में नक्षत्रचन्द्रयोग, अमावास्याओं में चन्द्रनक्षत्रयोग, संवत्सरान्तो में नक्षत्रचन्द्रयोग, और संस्थान(रचना)आदि विषय हैं ।

१०-‘शम्भोक्कार’ शब्द पर नमस्कार के भेद, सिद्धनमस्कार, वीतराग के अनुग्रह से रहित होने पर भी नमस्कार का फलद होना, सिद्ध गुण अमूर्त ही होते हैं, नमस्कार का क्रम इत्यादि अनेक विषय द्रष्टव्य है ।

११-‘नय’ शब्द पर नय का लक्षण, अपेक्षानय, सप्तभङ्गी, वस्तु का अनन्तधर्मात्मकत्व, एक जगह अनेकाकार नयप्रमाणबुद्धि, नयज्ञानं प्रमात्मक है या भ्रमात्मक है इसपर विचार, द्रव्यार्थिक नय, पर्यायार्थिक नय, और उन दोनों का मत, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के मध्य में नैगमादि नयों का अन्तर्भाव, नैगमादि ७ मूल नय हैं और उनके मत का संग्रह, ‘सिद्धसेन दिवाकर’ के मत में ६ नय, नैगम, संग्रह, व्यवहार, अजुसुत्र, शब्दनय, एवंभूत नय, ७०० नय, निचे-पनययोजना, कौन दर्शन किस नय से उत्पन्न हुआ, शब्दब्रह्मवादियों का मत, अद्वैतवादियों का मत, निश्चय और व्यवहार में सभी नयों का अन्तर्भाव, व्यवहार नय से साङ्ख्यमत, वेदान्त और साङ्ख्य का शुद्धाशुद्धत्व, नैगम और संग्रह का व्यवहार में अन्तर्भाव, कणाद और सौगत (बौद्ध) का मत, दिगम्बर मत में नय, शब्दनय, अर्थनय, नयों में सम्यक्त्व, नयफल, ज्ञानक्रियानय, नयपार्थक्य आदि विषय दिये हुये हैं ।

१२-‘नरक’ शब्द पर नरकदुःखवर्णन, नरकवेदना, नरक के बहुत से स्वरूप इत्यादि अनेक विषय हैं ।

१३-‘ज्ञाण’ शब्द पर पाँच ज्ञान, मति श्रुत भेद से ज्ञान के भेद, ज्ञान का साकारानाकारत्व, ज्ञान का स्वप्रकाशकत्व, तत्त्वज्ञान इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं, और ‘णिगन्थ’ शब्द पर निर्ग्रन्थ शब्द की व्युत्पत्ति आदि देखना चाहिये ।

१४-‘तपस’ शब्द पर तप क्या वस्तु है, अनशन व्रत तप कैसे है, बाह्य और आभ्यन्तर तप का निरूपण, तप वैसा करना चाहिये जिसमें शरीर की ग्लानि न हो, तप का फल, तप के चार भेद इत्यादि विषय हैं ।

१५-‘तित्थयर’ शब्द पर तीर्थकर शब्द की व्युत्पत्ति और यह किसका प्रतिपादक है इस का निरूपण, तीर्थकरों के अतिशय, तीर्थकरों के अन्तर, और तीर्थकरों में अष्टादश दोष का अभाव, तीर्थकरों के अभिग्रह और उनकी आदेशसङ्ख्या, आवश्यक, और उनके आहार, जन्मावसर में इन्द्रकृत्य, सभानिवेशन, शक्रक्रिया, देवलोक से उतरने के मार्ग, मेरुगमन, उपकरण-संख्या, उपसर्ग-देहमान(उँचाई आदि)चतुर्विंशति जिनो के अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या, कल्पशोधि, कुमारवास, केवल(ज्ञान)नक्षत्र-केवलनगरी, केवलतप, केवलमास-तिथि, केवलराशि, केवलवृक्ष, केवलवृक्षमान, केवलवन, केवलवेला, केवलिकाल, केवलिसंख्या, गणसंख्या, गणधरसंख्या, गर्भस्थिति, गृहिकाल, गृहस्थावस्था के तीन ज्ञान, गोत्र, चतुर्दशपूर्वी, चक्रित्वकाल, चरित्र, च्युतिनक्षत्र, च्युतिमास, च्युतिराशि, च्युतिवेला, छद्मस्थत्व, छद्मस्थावस्था में वीरतपमान, यक्ष, यक्षिणी, जन्मनक्षत्र, जन्मनगरी, जन्मदेश, जन्ममास, जन्मराशि, जन्मवेला, जन्मारक, जन्मारकशेषकाल, तत्त्वसंख्या, तीर्थप्रवृत्ति-काल, तीर्थोच्छेदकाल, तीर्थकरनाम, ‘चक्रवर्ति, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, तीर्थोत्पत्ति, दीक्षाकाल, दर्शन, दीक्षानक्षत्र, दीक्षापर्याय, दीक्षातरु, दीक्षातप, दीक्षापरिवार, दीक्षापुर, दीक्षाज्ञान, दीक्षामास, दीक्षाराशि, दीक्षालोचमुष्टि, दीक्षावन, दीक्षावय, दीक्षाशिविका, दिक्कुमारीकृत्य, अष्टकुमारियों के नाम, और इनके आसनों का चलन, गमनावसर

में क्या करती हैं, तीर्थकरमाताओं को नमस्कार, इनका कर्तव्य, दक्षिणरुचकवासियों का कृत्य, पश्चिमरुचकवासियों का कृत्य, उदीची में रुचकवासियों का कृत्य इत्यादि, देवदृष्यवस्तु, देवदृष्यवस्तुस्थिति, धर्मप्रभेद, धर्मोपदेशक, नाम तीर्थकरों के, पञ्चकल्याणक, पर्यायान्तकृतभूमि, प्रतिक्रमणसंख्या, प्रथमगणधरनाम, प्रथमप्रवर्तिनी, प्रथमश्रावक, प्रथम-श्राविका, प्रत्येकबुद्धसंख्या, प्रमाद, परिषद्, पारणाकाल, पारणाद्रव्य, पारणादायक, पारणादायकगति, पारणादायकदिव्य-पञ्च, पारणादायकवसुधाराष्ट्रि, पारणापुर, प्रियगति, प्रियनाम, पूर्वप्रवृत्तिकाल, पूर्वप्रवृत्तिच्छेद, जिनों के पूर्व भव, (अ-पभदेव के पूर्वभव 'अपभ, शब्द पर हैं) चन्द्रप्रभ के सात भव, शान्तिनाथ के द्वादश पूर्वभव, मुनिसुव्रत के नवभव, नेमिनाथ के नवभव, पार्श्वनाथ के पूर्वभव, वीर के अष्टाईसभ, शेष जिनों के भव, पूर्वभवगुरु, पूर्वभववाहु, पूर्वभवक्षेत्र, पूर्वभव-चदीक्षा, पूर्वभवजिनहेतु, पूर्वभवद्वीप, पूर्वभवनाम, पूर्वभवपुरी, पूर्वभवराज्य, पूर्वभवविजय, पूर्वभवसर्ग, पूर्वभवसूत्र, मुख्यआसन, मुख्यस्थान, मुख्यतप, मुख्यनक्षत्र, मुख्यपरिवार, मुख्यपथ, मुख्यमास, मुख्यराशि, मुख्यविनय, मुख्यवे-ला, मुख्यारक, मुख्यारकशेषकाल, मुख्यावगाहना, मुनिस्वरूप, मुनिसंख्या, राज्य, रुद्रनाम, लाञ्छन, शरीरलक्षण, जिनवंश, वस्त्रवर्ण, जिनों के वर्ण, विवाह, विहार, संयम, सांवत्सरिक दान, समवसरण, सर्वायु, सामान्यमुनि, सामायिक, सामायिकसंख्या, श्रावकसंख्या, स्वप्न, स्वप्नविचार इत्यादि अनेक विषय हैं ।

१६—' तेजकाइय ' शब्द पर तेज की जीवत्वसिद्धि, अग्नि की जीवत्वसिद्धि, तद्विषयसमारम्भ कटुकफलपरिहारोप-न्यास, अग्निसमारम्भ में नानाविधप्राणियों की हिंसा, तेजस्कायपिण्डप्रतिपादन, तेजस्कायहिंसानिषेध इत्यादि विषय हैं ।

१७—' थंडिल ' शब्द पर स्थण्डिल का विवेचन देखना चाहिये । ' दंसण ' शब्द पर दर्शन की व्युत्पत्ति, सम्यक् और मिथ्या भेद से दर्शन के दो भेद, चायिकादि भेद से तीन भेद, तथा दर्शन का पञ्चविधत्व और सप्तविधत्व, कारक रोचक दीपक भेद से तीन भेद, नवविधदर्शन इत्यादि विषय हैं ।

१८—' द्रव्य ' शब्द पर द्रव्य का निरुक्त, द्रव्य का लक्षण, पदद्रव्यनिगमन, जीवाजीवद्रव्य असंख्य अनन्त, द्रव्य के दो भेद, वैशेषिकीरिति से नव द्रव्य, और उनमें दोष इत्यादि विषय द्रव्य हैं ।

१९—' दान ' शब्द पर दान का विशेष विचार देखना चाहिये ।

२०—' देव ' शब्द पर देवताओं के दो भेद, तीन भेद, चार भेद, पाँच भेद इत्यादि विषय हैं ।

२१—' धम्म ' शब्द पर धर्म शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, धर्म के दो भेद, धर्म का लक्षण, धर्म के भेद और प्रभेद, धर्म के चिह्न, औदार्यलक्षण, दाक्षिण्यलक्षण, निर्मलबोधलक्षण, भैर्यादिकों के लक्षण, धर्म के अधिकारी, धर्म के योग्य, अवश्यही धर्म की रक्षाकरना चाहिये इसका निरूपण, अर्थ और काम का धर्म ही मूल है, धर्मोपदेश का विस्तार, धर्म का माहात्म्य, धर्म का मोक्षकारणत्वप्रतिपादन, धर्म का फल, और वह किसको दुर्लभ है और किसको सुलभ है इसका निरूपण, केवलभाषित धर्म का श्रवण दुर्लभ है, धर्म की परीक्षा, धर्माधर्म का विचार सूक्ष्म बुद्धि से करना चाहिये इत्यादि विषय हैं ।

चतुर्थ ज्ञाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथार्ये आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

' जत्तासिद्ध, ' ' खंदसिरि, ' ' खंदिसेण, ' ' नरसुंदर, ' ' गणगज्जुण, ' ' गणगहत्थिण, ' ' ताराचंद, ' ' दमदंत, ' ' दसउर, ' ' दससभ, ' ' धणमिच्छ, ' ' धणवई, ' ' धणवह, ' ' धणसिरी, ' ' धम्मघोस, ' ' धम्मजस ' ।

पञ्चम भागमें आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१—' पञ्चखाण ' शब्द पर अहिंसाप्रत्याख्यान, प्रतिषेधप्रत्याख्यान, भावप्रत्याख्यान, मूलगुणप्रत्याख्यान, सम्यक्त्वप्रतिक्रमण, सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यान अनागतादि दशविध प्रत्याख्यान, अद्धाप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानविधि, दान-विधि, प्रत्याख्यानशुद्धि, प्रत्याख्यान का षड्विधत्व, ज्ञानशुद्धि, अनुभाषणाशुद्धि, अनुपालनाशुद्धि, आकार, प्रत्या-ख्यान में सामायिक, प्रत्याख्याताकृत प्रत्याख्यान दान का निषेध, निर्विषयक प्रत्याख्यान नहीं होता, श्रावक का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान का फल आदि कई विषय हैं ।

२—' पच्छित्त ' शब्द पर प्रायश्चित्त का अर्थ, भाव से प्रायश्चित्त किसको होता है, आलोचनादि दशविध प्रतिसेवना प्रायश्चित्त, तपोऽर्ह प्रायश्चित्त में मासिक प्रायश्चित्त, संयोजनाप्रायश्चित्त, प्रायश्चित्त देने के योग्य पर्वत (सभा), दण्डानुरूप प्रायश्चित्त, द्वैमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक, पाञ्चमासिक, और बहुमासिक प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्तदानविधि, आलो-चना की सुनकर प्रायश्चित्त देना, प्रायश्चित्त का काल, प्रायश्चित्त का उपदेश इत्यादि विषय हैं ।

३- 'पञ्जुसणाकप्य' शब्द पर पर्युषणा कव करना, पर्युषणास्थापना, भाद्रपदपञ्चमीविचार, क्षेत्रस्थापना, भि-
चाक्षेत्र, संखडि, एकनिर्ग्रन्थी के साथ नहीं ठहरना, अगारी के साथ नहीं ठहरना, इच्छा से अधिक नहीं खाना,
शय्यासंस्तार, उच्चारप्रसवणभूमि, पर्युषणा में केशलोच, उपाश्रय, दिगवकाश इत्यादि देखने के योग्य हैं।

४- 'पडिकमण' शब्द पर प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ, प्रतिक्रामक, नामस्थापनाप्रतिक्रमण, प्रतिक्रान्तव्य के पाँच भेद,
ईर्ग्याप्रतिक्रमण, दैवसिकप्रतिक्रमणवेला, रात्रिकप्रतिक्रमण, पाक्षिकादिकों में प्रतिक्रमण, पाक्षिक प्रतिक्रमण चतुर्दशी ही
में होता है, मङ्गल, त्रैकालिक प्राणातिपातविरति, श्रावक के प्रतिक्रमण में विधि इत्यादि बहुत विषय हैं।

५- 'पडिमा' और 'पडिलेहणा' शब्द देखने चाहिये। 'पडिसेवणा' शब्द पर प्रतिसेवना शब्द का अर्थ,
और भेद आदि का बहुत विस्तार है।

६- 'पत्त' शब्द पर पात्र का लेपकरणादिक देखना चाहिये।

७- 'प्रमाण' शब्द पर प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण का लक्षण, स्वतःप्रामाण्यविचार, प्रमाणसंख्या, प्रमाणफल,
द्रव्यादिप्रमाण आदि विषय हैं।

८- 'परिग्रह' शब्द पर परिग्रह के दो भेद, मूर्च्छापरिग्रह आदि अनेक भेद द्रष्टव्य हैं।

९- 'परिद्ववणा' शब्द पर परिष्ठापनाविधि, पृथ्वीकायपरिष्ठापना, अशुद्ध गृहीत आहार की परिष्ठापना, कालगत-
साधु की परिष्ठापनिका इत्यादि अनेक विषय हैं।

१०- 'परिणाम' शब्द पर परिणाम की व्युत्पत्ति और अर्थ, जीवाजीव के परिणाम, नैरयिकादिकों का परिणाम
विशेष, स्कन्ध और पुद्गलों का परिणामित्व, देवताओं का बाह्यपुद्गलों को ले करके परिणामी होने में सामर्थ्य, पुद्गल-
परिणाम, वर्ण गन्ध रस स्पर्श के संस्थान से पुद्गल परिणत होते हैं, पुद्गलों का प्रयोग परिणतहोना, दण्डक, जीव
का परिणाम, मूलप्रकृति का महदादिपरिणाम, स्वभावपरिणाम, परिणाम के अनुसार से कर्मबन्ध, आकारबोध और
क्रिया के भेद से परिणाम इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं।

११- 'पवज्जा' शब्द पर प्रव्रज्या का अर्थ और व्युत्पत्ति, प्रव्रज्या के पर्याय, दीक्षा का तत्त्व, किससे किसको
प्रव्रज्या देना, किस नक्षत्र और किस तिथि में दीक्षा लेनी, दीक्षा में अपेक्ष्य वस्तु, दीक्षा में अनुराग आदि, लोकविरुद्ध-
त्याग, सुन्दरगुरुयोग, समवसरण में विधि, पुष्पपात में दीक्षा, वासक्षेपादिरूप दीक्षासामाचारी, दीक्षा किस प्रकार से
देना, चैत्यवन्दन, प्रव्रज्याग्रहण में सूत्र, और उसके पालन में सूत्र, प्रव्रज्या में विधि, गुरु से अपना निवेदन, दीक्षा
की प्रशंसा, जिसतरह साधर्मिकों की प्रीति हो वैसा चिह्न धारण करना, दीक्षाफल, प्रव्रजित का आर्यिकाओं के द्वारा
वन्दन, प्रव्रजित को ऐसा उपदेश करना जिसमें अन्य भी दीक्षा लेले, परीक्षा करके प्रव्राजन, एकादशप्रतिपन्न
श्रावक को दीक्षा देना, पण्डक (स्त्रीव) आदि को दीक्षा नहीं देना इत्यादि अनेक विषय हैं।

१२- 'पुढवीकाइय' शब्द पर पृथिवीकायिक की वक्तव्यता स्थित है।

१३- 'पुद्गल' शब्द पर पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, पुद्गल का लक्षण, पुद्गल भिदुरधर्मवाले हैं, परमाणु
का पुद्गल से अन्तर इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं।

१४- 'वन्ध' शब्द पर बन्धमोक्षसिद्धि, वन्ध के भेद, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध, प्रेमद्वेषवन्ध, अनुभागवन्ध, वन्ध में
मोदक का दृष्टान्त, ज्ञानावरणीयादि कर्मों का वन्ध इत्यादि अनेक बातें हैं।

१५- 'भरह' शब्द पर भरत वर्ष का स्वरूपनिरूपण, दक्षिणार्द्ध भरत का निरूपण, और वहाँ के मनुष्यों का स्वरूप-
रूप, भरत के सीमाकारी वैताव्य गिरि का स्थाननिर्देश, और इसके गुहाद्वय का निरूपण, तथा श्रेणि और कूटों
का निरूपण, उत्तरार्द्ध भरत का निरूपण, भरत इस नाम पड़ने का कारण, तदनन्तर राजा भरत की कथा है।

१६- 'भावणा' शब्द पर भावना का निर्वचन, प्रशस्ताप्रशस्त भावना का निरूपण, मैत्र्यादि भावनाओं के चार
भेद, सद्भावना से भावित पुरुष को जो होता है उसका निरूपण इत्यादि विषय आये हैं।

पञ्चम भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथाएँ आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

'पक्षपरीसह,' 'पउमसेह,' 'पउमावई,' 'पउमसिरी,' 'पउमभइ,' 'पउमइह,' 'पुढविचंद,' 'फासिदिय,'
'बंधुमई,' 'भइ,' 'भइणदिन्,' 'भरह,' 'भीमकुमार'।

षष्ठभागमे आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

- १- 'मर्ग' शब्द पर द्रव्यस्तव और भावस्तव रूप से मार्ग के दो भेद, मार्ग का निक्षेप, मार्ग के स्वरूप का निरूपण इत्यादि अनेक विचार हैं ।
- २- 'मरण' शब्द पर सपराक्रम और अपराक्रम मरण, पादपोषणमनादिकों का संक्षिप्त स्वरूप, भक्षपरिज्ञा, बालमरण, कालद्वार, अकाम मरण और सकाम मरण, विमोक्षाध्ययनोक्त मरणविधि, मरण के भेद इत्यादि विषय दिये गये हैं ।
- ३- 'मल्लि' शब्द पर मल्लिनाथ भगवान् की कथां द्रष्टव्य है ।
- ४- 'मिच्छन्त' शब्द पर मिथ्यात्व के छ स्थान, मिथ्यात्वप्रतिक्रमण, मिथ्यात्व की निन्दा, मिथ्यात्व का स्वरूप, द्रव्य और भाव से मिथ्यात्व के भेद आदि निरूपित हैं ।
- ५- 'मेहुण' शब्द पर मैथुन के निषेध का गंभीर विचार है ।
- ६- 'मोक्ष' शब्द पर मोक्ष की सिद्धि, निर्वाण की सत्ता-है, या नहीं, इसका निरूपण, मोक्ष का कारण ज्ञान और क्रिया है, धर्म का फल मोक्ष है, मोक्ष पर साङ्ख्य और नैयायिकों का मत, मोक्ष पर विशेष विचार, मोक्ष पर वेदान्तियों के मत का निरूपण और खण्डन, स्त्री की मोक्षसिद्धि, मोक्ष का उपाय इत्यादि विषय हैं ।
- ७- 'रजोहरण' शब्द पर रजोहरण शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति, रजोहरण का प्रमाण, मांसचक्षु वाले मनुष्यों को सूक्ष्म जीव दिखाई नहीं दे सकते इसलिये उनको जीवदयार्थ रजोहरण धारण करना चाहिये, रजोहरण की दशा (कि-नारी या अग्रभाग) सूक्ष्म नहीं करना चाहिये, रजोहरण के धारण करने का क्रम और नियम, अनिमृष्ट रजोहरण ग्रहण नहीं करना चाहिये इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं ।
- ८- 'रात्रिभोजन' शब्द पर रात्रिभोजन का त्याग, रात्रिभोजन करने वाला अनुद्घातिक होता है, रात्रिभोजन के चार प्रकार, रास्ते में रात्रिको आहार लेने का विचार, कैसा आहार रात्रि में रक्खा जा सकता है इसका विवेक, राजा से द्वेष होने पर रात्रि को भी आहार लेने में दोषाभाव, रात्रि में उद्गार आने पर उद्गिरण करने में दोष, रात्रिभोजन प्रतिगृहीत हो तो परिष्ठापना करना, रात्रिभोजन के प्रायश्चित्त, औषधि के रात्रि में लेने का विचार इत्यादि अनेक विषय हैं ।
- ९- 'रुद्रज्जाण' शब्द पर रौद्रध्यान का स्वरूप, और उसके चार भेद, रौद्रध्यानी के चिह्न आदि अनेक विषय हैं ।
- १० 'लेस्सा' शब्द पर लेश्या के भेद, लेश्याके अर्थ, आठ लेश्याओं का अल्पबहुत्व, देवविषयक अल्पबहुत्व, कौन लेश्या कितने ज्ञानों में मिलती है, कौन लेश्या किस वर्ण से साधित होती है, मनुष्यों की लेश्या, लेश्याओं में गुणस्थानक, अर्धमनियों की लेश्या आदि विषय हैं ।
- ११- 'लोग' शब्द पर लोक शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति, लोक का लक्षण, लोक का महत्त्व, लोक का संस्थान आदि विषय हैं ।
- १२- 'वत्थ' शब्द पर लिखा है कि कितनी दूर तक वस्त्र के वास्ते जाना, कितनी प्रतिमा से वस्त्र का गवेषण करना, याज्ञा वस्त्र और निमन्त्रण वस्त्र की याज्ञा पर विचार, निर्गन्थियों के वस्त्र लेने का प्रकार, चातुर्मास्य में वस्त्र लेने पर विचार, आचार्य की अनुज्ञा से ही साधू अथवा साध्वी को वस्त्र लेना चाहिये, वस्त्र का प्रमाण, भिन्न (फटे) वस्त्र लेने की अनुज्ञा, वस्त्रों के रँगने का निषेध, वस्त्र के सीने पर विचार, अन्ययुथिक और पार्श्वस्थादि कों को वस्त्र देने का निषेध, वस्त्र को यत्न से रखना जिससे विकलेन्द्रियों का घात न हो, वस्त्रों के धोने का निषेध आचार्य के मलिन वस्त्रों के धोने की अनुज्ञा इत्यादि विशेष विचार हैं ।
- १३- 'वसहि' शब्द पर किप्र प्रकार के उपाश्रय में रहना चाहिये इसका निरूपण, उपाश्रय के उद्गमादि दोषों का निरूपण, भिक्षु के वास्ते असंयत उपाश्रय बनावे, अविधि से उपाश्रय के प्रमार्जन में दोष, जहाँ गृहपति कन्दादिकों का आहार करता है वहाँ नहीं रहना, सखीक उपाश्रय में नहीं रहना, रुग्ण साधु की प्रतिक्रिया, जहाँ गृहिणी मैथुन की वाञ्छा करे उस गृहपति के गृह में नहीं बसना, गृहपति के घर में बसने के दोष, प्रतिबद्ध शय्या में बसने के दोष जिसमें घरवाला भोजन बनावे वहाँ नहीं रहना, और जहाँ पर घर का मालिक काष्ठ फाड़े या अग्नि जलावे वहाँ नहीं रहना, जहाँ पर साधर्मिक निरन्तर आते हों वहाँ नहीं रहना, कार्यवश से चरक और कर्पाटिकों के साथ बसने में विधि, वसति के याचन का प्रकार, जहाँ पर गृहपति के मनुष्य कलह करते हों या अभ्यङ्ग (मर्दन) करते हों वहाँ नहीं रहना, कब कहाँ कितना वास करना इसका नियम, जहाँ राजा हो उस उपाश्रय में बसने का निषेध, साध्वियों की वसति में साधू के जाने का निषेध इत्यादि विषय हैं ।

१४- 'विजय' शब्द पर विजय की विशेषवक्त्रव्या देखना चाहिये ।

१५- 'विनय' शब्द पर विनय के पाँच ५ भेद, और सात ७ भेद, विनयमूलक धर्म की सिद्धि, गुरु के निकट विनय की आवश्यकता, आर्थिका के विनय इत्यादि विस्तृत विषय देखने के योग्य हैं ।

१६- 'विमान' शब्द पर विमानों की संख्या, और विमानों का मान, विमानों का संस्थान, विमानों के वर्ण, विमानों की प्रभा, गन्ध, स्पर्श, और महत्त्व आदि देखने के योग्य हैं ।

१७- 'विहार' शब्द पर आचार्य और उपाध्याय के एकाकी विहार करने का निषेध, किनके साथ विहार करना और किनके साथ नहीं करना इसका निरूपण, वर्षाकाल में या वर्षा में विहार करने का निषेध, अशिवादि कारणों में वर्षा में भी विहार करना, वर्षा की समाप्ति में विहार करना, मार्ग में युगमात्र देखते हुए जाना चाहिये, नदी के पार जाने में विधि, आचार्य के साथ जाते हुए साधू की विधि, साधुओं का और साध्वियों का रात्रि में या विकाल में विहार करने का विचार इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१८- 'वीर' शब्द पर वीरशब्द की व्युत्पत्ति, और कथा देखना चाहिये ।

षष्ठ जाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

'मल्लि' 'महापहरिकतर' 'मुणिसुव्वय' 'मूलदत्ता' 'मूलसिरी' 'मेहघोस' 'मेहपुर' 'मेहमुह' 'मेहरिपुत्त' 'रहणेमि' 'रोहिणी' 'रोहिणेयचोर' 'वद्धमाणधुरि' 'वररुइ' 'वराहमिहिर' 'वरुण' 'ववहारकुसल' 'वाणा-रसी' 'विजइंदधुरि' 'विजयकुमार' 'विजयघासे' 'विजयचंद' 'विजयतिलकधुरि' 'विजयसेट्ठि' 'विजयसेण' 'विणयधर' 'विसेसणु' 'वीर' ।

सप्तम जाग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१- 'संसार' शब्द पर संस्तर का विचार है । 'संवर' शब्द पर सम्बर का निरूपण है । 'संसार' शब्द पर संसार की असार दशा दिखाई गई है ।

२- 'सक' शब्द पर शक्र की अद्धि और स्थान, विकुर्वणा, और पूर्वभव, शक्र का विमान, और शक्र किस भाषा को बोलते हैं इसका निरूपण और शक्र की सामर्थ्य आदि वर्णित है ।

३- 'सज्जाय' शब्द पर स्वाध्याय का स्वरूप, स्वाध्यायकाल, स्वाध्यायविधि, स्वाध्याय के गुण, स्वाध्याय के फल इत्यादि विषय हैं, तथा 'सत्तभंगी' शब्द पर सप्तभङ्गी का विचार है ।

४- 'सद्' शब्द पर शब्द का निर्वचन, नामस्थापनादि भेद से चार भेद, चौदों के अपोहवाद का खण्डन, नित्यानित्य विचार, और शब्द का पौद्गलिकत्व, शब्द के दश भेद, मनोज्ञ शब्दों के सुनने का निषेध, शब्द के आकाश गुणत्व का खण्डन इत्यादि विषय हैं ।

५- 'सावय' शब्द पर श्रावक शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, श्रावक के लक्षण श्रावक का सामान्य कर्त्तव्य, निवास-विधि, श्रावक की दिनचर्या, श्रावक के २१ एकविंशति गुण इत्यादि विषय हैं ।

६- 'हिंसा' शब्द पर हिंसा का स्वरूप, वैदिक हिंसा का खण्डन, पङ्जीवनिकायों की हिंसा का निषेध, जिन-मन्दिर बनवाने में आते हुए दोष का परिहार इत्यादि अनेक विषय हैं ।

७- 'हेउ' शब्द पर हेतु के प्रयोगप्रकार, कारक और ज्ञापक रूप से हेतु के दो भेद इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

सप्तम जाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

'संखपुर' 'संजय' 'संतिदास' 'संतिविजय' 'सकह' 'सत्त' 'समुद्दपाल' 'सयंभूदत्त' 'सावत्थी' 'साव-यगुण' 'सिंहगिरि' 'सीलंगावरिय' 'सीह' 'सुकण्हा' 'सुक' 'सुग्गीव' 'सुजसिरी' 'सुजसिन्न' 'सुद्धिय' 'सुणंद' 'सुणक्खत्त' 'सुदंसण' 'सुदक्खिण' 'सुपासा' 'सुप्पभ' 'सुभद्' 'सुभूम' 'सुमंगल' 'सुमंगला' 'सुव्वय' 'सूर' 'सेणिय' 'सोमचंद' 'सोमा' 'हरिएस' 'हरिभद्' इत्यादि शब्दों पर कथाएँ द्रष्टव्य हैं ।



इस तरह से सातों भागों की यह अत्यन्त संक्षिप्त सूची समझना चाहिये, विस्तार तो ग्रन्थ से ही मालूम होगा क्योंकि भूमिका में विशेष विस्तार करके पाठकों का समय व्यर्थ नष्ट करना है ।

अकार से ककार तक शब्दों के अन्तर्गत () कोष्ठक में आये हुए शब्दों की अकारादिक्रम से सूची-

अइइ-अदिइ-अइति-अदिति ।
 अइदिअ-अइदिय ।
 अइकंत-अतिकंत ।
 अइकंत-अतिकंत ।
 अइकंतजोवण-अतिकंतजोवण ।
 अइकंतपच्चक्खाण-अतिकंतपच्चक्खाण ।
 अइगत-अइगय ।
 अइत-अइत-अतीत-अइय-अइय-अतीय ।
 अइतका-अइतका-अतीतका-अइयका-
 अइयका-अतीयका ।
 अइतपच्चक्खाण-अइतपच्चक्खाण-
 अतीतपच्चक्खाण-अइयपच्चक्खाण-
 अइयपच्चक्खाण-अतीयपच्चक्खाण ।
 अइताण-अतिताण-अइयाण-अतियाण ।
 अइताणकहा-अतिताणकहा-अइयाणक-
 हा-अतियाणकहा ।
 अइताणगिह-अतिताणगिह-अइयाणगिह-
 अतियाणगिह ।
 अइयाणिद्धि-अतियाणिद्धि-अइताणिद्धि-
 अतिताणिद्धि ।
 अइताणागयस्साण-अइताणागयस्साण-
 अतीताणागयस्साण-अइयाणागयस्साण-
 अइयाणागयस्साण-अतीयाणागयस्साण ।
 अइमुत्तय-अइमुत्तय ।
 अइयात-अइयाय ।
 अइयार-अइयार-अतियार-अतीयार ।
 अइरत्तकंवलसिला-अतिरत्तकंवलसिला ।
 अइरावण-परावण ।
 अइरित्त-अतिरित्त ।
 अइरित्तसिज्जासणिय-अतिरित्तसिज्जास-
 णिय ।
 अइरेग-अतिरेग ।
 अइरेगसंठिय-अतिरेगसंठिय ।
 अइरेण-अचिरेण ।
 अइरोववणण-अचिरोववणण ।
 अइलोभुय-अतिलोभुय ।
 अइवइत्ता-अतिवइत्ता ।
 अइवाइन्-अतिवाइन्-अइवातिन्-अति-
 वातिन् ।
 अइवापमाण-अतिवापमाण ।
 अइवाय-अतिवाय ।
 अइवाहड-अतिवाहड ।
 अइविज्ज-अतिविज्ज ।
 अइविसय-अतिविसय ।
 अइविसाया-अतिविसाया ।
 अइविसाल-अतिविसाल ।
 अइवुद्धि-अतिवुद्धि ।
 अइसंकिसे-अतिसंकिसे ।

अइसंधाण-अतिसंधाण ।
 अइसंधाणपर-अतिसंधाणपर ।
 अइसंपओग-अतिसंपओग ।
 अइसक्का-अतिसक्का ।
 अइसय-अतिसय ।
 अइसयणाणि-अतिसयणाणि ।
 अइसयमइयकाल-अतिसयमइयकाल ।
 अइसाइ-अतिसाइ ।
 अइसीय-अतिसीय ।
 अइसुहुम-अतिसुहुम ।
 अइसेस-अतिसेस ।
 अइहि-अतिहि ।
 अइहिपुआ-अतिहिपुआ ।
 अइहिवल-अतिहिवल ।
 अइहिम-अतिहिम ।
 अइहिवणीमग-अतिहिवणीमग ।
 अइहिसंविभाग-अतिहिसंविभाग ।
 अइव-अतिव ।
 अउअ-अउय ।
 अउल-अतुल ।
 अकधर-अकहर ।
 अंकिअ-अंकिय ।
 अंगइलि-अंगरिलि ।
 अंगच्छेद-अंगच्छेय ।
 अंगण-अङ्गण ।
 अंगसुहफरिस-अंगसुहफासिय ।
 अंगार-अंगार-अंगाल-अंगाल ।
 अंगारकट्टिणी-अंगारकट्टिणी-अंगालकट्टि-
 णी-अंगालकट्टिणी ।
 अंगारकम्म-अंगारकम्म-अंगालकम्म-
 अंगालकम्म ।
 अंगारकारिया-अंगारकारिया-अंगालकारि-
 या-अंगालकारिया ।
 अंगारग-अंगारग-अंगालग-अंगालग ।
 अंगारमाह-अंगारमाह-अंगालमाह-अंगा-
 रदाह-अंगालदाह-अंगारदाह-अंगालमा-
 ह-अंगालदाह ।
 अंगारपतावणा-अंगारपतावणा-अंगालप-
 तावणा-अंगालपतावणा ।
 अंगारमहग-अंगारमहग-अंगालमहग-अं-
 गालमहग ।
 अंगाररासि-अंगाररासि-अंगालरासि, अं-
 गालरासि ।
 अंगारवई-अंगारवई ।
 अंगारसहस्स-अंगारसहस्स-अंगालसह-
 स्स-अंगालसहस्स ।
 अंगालसोद्धिय-अंगालसोद्धिय ।
 अंगारायतण-अंगारायतण-अंगालायतण ।

अंगारिय-अंगारिय-अंगालिय-अंगालिय ।
 अंगुअ-अंगुअ ।
 अंगुलि-अंगुली ।
 अंगुलिज्जग-अंगुलेज्जग ।
 अंगुलिविज्जा-अंगुलीविज्जा ।
 अंचिअ-अंचित ।
 अंचिअरिज्जिय-अंचियरिज्जिय ।
 अज्जणागिरि-अज्जणागिरि ।
 अजालि-अजली ।
 अंतक-अंतग ।
 अंतकर-अंतगर ।
 अंतकरचूमि-अंतगहभूमि ।
 अंतगत-अंतगय ।
 अंतद्वारा-अंतद्वाराणिया ।
 अंतरकप्प-अंतराकप्प ।
 अंतरणई-अंतरणदी ।
 अंतरदीवग-अंतरदीवय ।
 अंतराइय-अंतराय ।
 अंतरिक्ष-अंतलिक्ष ।
 अंतरिक्षजाय-अंतलिक्षजाय ।
 अंतरिक्षपमिवण-अंतलिक्षपमिवण ।
 अंतरिक्षपासणाह-अंतलिक्षपासणाह ।
 अंतरिक्षोदय-अंतलिक्षोदय ।
 अतावेई-अतावेई ।
 अतिअ-अतिय ।
 अंतेउर-अंतेपुर ।
 अंदोलण-अंदोलण ।
 अंधकार-अंधयार ।
 अंधकारपक्ख-अंधयारपक्ख ।
 अंधिल्लग-अंधेल्लग ।
 अंधरु-अम्मड ।
 अंधरावग-अंधदावग ।
 अंधरिस-अंधरीस ।
 अंधरिस-अंधरीस-अंधरिसि-अंधरीसि ।
 अंधिआ-अंधिया ।
 अंसगय-अंसागय ।
 अकइ-अकति ।
 अकइसंचिय-अकतिसंचिय ।
 अकम्हा-अकम्मा ।
 अकम्हाकिरिया-अकम्माकिरिया ।
 अकम्हादंरु-अकम्मादंरु ।
 अकम्हादंरुवत्तिय-अकम्मादंरुवत्तिय ।
 अकम्हाज्जय-अकम्माज्जय ।
 अकालसज्जायकर-अकालसज्जायका-
 रिन् ।
 अकिरियवाइ-अकिरियावाइ ।
 अकुओमय-अकुतोमय ।

अधम्मक्खाइ-अदम्मक्खाइ ।
 अधम्मजुत्त-अहम्मजुत्त ।
 अधम्मत्थिकाय-अहम्मत्थिकाय ।
 अधम्मदाण-अहम्मदाण ।
 अधम्मदार-अहम्मदार ।
 अधम्मपक्ख-अहम्मपक्ख ।
 अधम्मपज्जण-अहम्मपज्जण ।
 अधम्मपग्गिमा-अहम्मपग्गिमा ।
 अधम्मपलज्जण-अहम्मपलज्जण ।
 अधम्मपल्लोइ-अहम्मपल्लोइ ।
 अधम्मराइ-अहम्मराइ ।
 अधम्मरुइ-अहम्मरुइ ।
 अधम्मसमुदायार-अहम्मसमुदायार ।
 अधम्मसीलसमुदायार-अहम्मसीलसमु-
 दायार ।
 अधम्माणुय-अहम्माणुय ।
 अधम्मिजोय-अहम्मिजोय ।
 अधम्मिड्ड-अहम्मिड्ड ।
 अधम्मिय-अहम्मिय ।
 अधर-अहर ।
 अधरगमण-अहरगमण ।
 अधरिम-अहरिम ।
 अधरी-अहरी ।
 अधरीलोठ-अहरीलोठ ।
 अधरुठ-अहरुठ ।
 अधव-अहव-अधना-अहवा ।
 अधि-अडि ।
 अधिइ-अहिइ ।
 अधिग-अहिग ।
 अधिगम-अहिगम ।
 अधिगमरुइ-अहिगमरुइ-अहिगमरुइ ।
 अधिगमसम्मदं सण-अभिगमसम्मदं सण ।
 अधिगय-अहिगय ।
 अधिगरण-अहिगरण ।
 अधिगरणकिरिया-अहिगरणकिरिया ।
 अधिगरणिया-अहिगरणिया-आहिगरणि-
 या-आधिगरणिया ।
 अधिगरणी-अहिगरणी ।
 अधिगार-अहिगार ।
 अधिहुत्त-अहिहुत्त ।
 अधिछावण-अहिछावण ।
 अधिछेत्ता-अहिछेत्ता ।
 अधिमासग-अहिमासग ।
 अधिमुत्ति-अहिमुत्ति ।
 अधिवइ-अहिवइ-अधिवीत-अहिवति ।
 अधेकम्म-अहेकम्म ।
 अधोहि-अहोहि ।
 अपइछाण-अप्पइछाण ।
 अपइठिय-अप्पइठिय ।
 अपइषपसरियत्त-अप्पइषपसरियत्त ।

अपच्चक्ख-अप्पच्चक्ख ।
 अपच्चक्खाण-अप्पच्चक्खाण ।
 अपच्चक्खाणकिरिया-अप्पच्चक्खाणकि-
 रिया ।
 अपच्चक्खाणि-अप्पच्चक्खाणि ।
 अपच्चक्खाय-अप्पच्चक्खाय ।
 अपच्चय-अप्पच्चय ।
 अपक्कम्म-अप्पक्कम्म ।
 अपडिक्कंत-अप्पडिक्कंत ।
 अपक्किचक्क-अप्पडिचक्क ।
 अपक्किण-अप्पक्किण ।
 अपक्किवज्जंत-अप्पक्किवज्जंत ।
 अपक्किवद्ध-अप्पडिक्क ।
 अपक्किवद्धया-अप्पक्किवद्धया ।
 अपडिक्कविहार-अप्पक्किवक्कविहार ।
 अपक्किवुज्जमाण-अप्पडिक्कवुज्जमाण ।
 अपक्कियार-अप्पडियार ।
 अपक्किरुव-अप्पक्किरुव ।
 अपक्किल्ल-अप्पक्किल्ल ।
 अपक्किल्लसम्मत्तरयणपक्किल्लंम-अप्पक्कि-
 ल्लसम्मत्तरयणपक्किल्लंम ।
 अपक्किल्लेस्स-अप्पक्किल्लेस्स ।
 अपक्किल्लेहण-अप्पक्किल्लेहण ।
 अपक्किल्लेहणासील-अप्पक्किल्लेहणाशील ।
 अपडिल्लेहिय-अप्पक्किल्लेहिय ।
 अपक्किल्लेहियदुप्पडिल्लेहियउच्चारपासवण
 भूमि-अप्पडिल्लेहियदुप्पक्किल्लेहियउच्चा-
 रपासवणभूमि ।
 अपक्किल्लेहियदुप्पक्किल्लेहियसिज्जासंथार
 य-अप्पडिल्लेहियदुप्पक्किल्लेहियसिज्जासं-
 थारय ।
 अपक्किल्लेहियपण-अप्पडिल्लेहियपण ।
 अपक्किल्लोमया-अप्पक्किल्लोमया ।
 अपडिवाइ-अप्पक्किवाइ ।
 अपक्किल्लोण-अप्पक्किल्लोण ।
 अपक्किल्लोण-अप्पक्किल्लोण ।
 अपडिइड-अप्पडिइड ।
 अपडिइणंत-अप्पक्किइणंत ।
 अपडिइय-अप्पडिइय ।
 अपक्किहयगइ-अप्पडिइयगइ ।
 अपडिइयपक्कक्खायपावकम्म-अप्पडि-
 इयपक्कक्खायपावकम्म ।
 अपक्किहयवल-अप्पक्किहयवल ।
 अपक्किहयवरणाणदंसणधर-अप्पक्किहयव-
 रणाणदंसणधर ।
 अपडिइयसासण-अप्पडिइयसासण ।
 अपडिहारय-अप्पक्किहारय ।
 अपडोकार-अप्पक्किकार ।
 अपक्कुरण-अप्पक्कुरण ।
 अपक्कभूमिग-अप्पक्कभूमिग ।

अपत्थण-अप्पत्थण ।
 अपत्थिय-अप्पत्थिय ।
 अपत्थियपत्थय-अप्पत्थियपत्थय-अपत्थि-
 यपत्थिय-अप्पत्थियपत्थिय ।
 अपद-अपय ।
 अपदुस्समाण-अप्पदुस्समाण ।
 अपभु-अप्पभु ।
 अपमज्जणसील-अप्पमज्जणसील ।
 अपमज्जिता-अप्पमज्जिता ।
 अपमज्जिय-अप्पमज्जिय ।
 अपमज्जियचारि-अप्पमज्जियचारि ।
 अपमज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवण
 भूमि-अप्पमज्जियदुप्पमज्जियउच्चार
 पासवणभूमि ।
 अपमज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासंथार-अ-
 प्पमज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासंथार ।
 अपमत्त-अप्पमत्त ।
 अपमत्तसंजय-अप्पमत्तसंजय ।
 अपमत्तसंजयगुण-अप्पमत्तसंजय
 गुण-अप्पमत्तसंजयगुण ।
 अपमाण-अप्पमाण ।
 अपमाणभोइ-अप्पमाणभोइ ।
 अपमाय-अप्पमाय ।
 अपमायपडिल्लेह-अप्पमायपडिल्लेह ।
 अपमायभावणा-अप्पमायभावणा ।
 अपमायबुद्धिजण-अप्पमायबुद्धिज
 ण-अप्पमायबुद्धिजण ।
 अपमायपडिल्लेहणा-अप्पमायपडिल्लेहणा ।
 अपमेय-अप्पमेय ।
 अपराइत-अपराइय ।
 अपरिसाइ-अपरिस्ताइ-अपरिस्तावि-अप-
 रिस्तावि ।
 अपलीण-अप्पलीण ।
 अपवत्तण-अप्पवत्तण ।
 अपवित्त-अप्पवित्त ।
 अपवित्त-अप्पवित्त ।
 अपसंस्सणज्ज-अप्पसंस्सणज्ज ।
 अपसज्ज-अप्पसज्ज ।
 अपसज्जपुरिसाण-अप्पसज्जपुरिसाण ।
 अपसत्थ-अप्पसत्थ ।
 अपि-अपि ।
 अपीण-अप्पपीण ।
 अपुस्सुय-अप्पुस्सुय ।
 अप्पज्ज-अप्पज्ज ।
 अप्पावहुय-अप्पावहुय ।
 अप्फासिय-अप्फालिय ।
 अप्फोआ-अप्फोआ ।
 अप्फोकिअ-अप्फोकिअ ।
 अप्फोव-अप्फोव ।
 अवहुस्सुय-अवहुस्सुय ।

अभंगिता-अभंगेता ।
 अभंतर-अभितर ।
 अभंतरओसचित्तकम्म-अभितरओस-
 चित्तकम्म ।
 अभंतरकरण-अभितरकरण ।
 अभंतरग-अभितरग ।
 अभंतरगणिज-अभितरगणिज ।
 अभंतरतघ-अभितरतघ ।
 अभंतरतो-अभितरतो ।
 अभंतरदेवसिय-अभितरदेवसिय ।
 अभंतरपरिस-अभितरपरिस ।
 अभंतरपाणीय-अभितरपाणीय ।
 अभंतरपुक्खरद्ध-अभितरपुक्खरद्ध ।
 अभंतरपुप्फफल-अभितरपुप्फफल ।
 अभंतरवाहरिय-अभितरवाहरिय ।
 अभंतरय-अभितरय ।
 अभंतरलद्धि-अभितरलद्धि ।
 अभंतरसंयुक्ता-अभितरसंयुक्ता ।
 अभंतरसगमुक्तिया-अभितरसगमुक्तिया ।
 अभंतरोहि-अभितरोहि ।
 अभंतरिया-अभितरिया ।
 अभविय-अभव ।
 अभिह-अभीह ।
 अभिणाय-अभिजाणिय ।
 अभिसंग-अभिस्संग ।
 अभिसंगनेड-अभिसेयभंड ।
 अभिसंगसभा-अभिसेयसभा ।
 अभिहित-अभिहित्य ।
 अभग्घाय-अभाघाय ।
 अभावसा-अभावसा ।
 अभिज्झ-अभेज्झ ।
 अभिज्झ-अभेज्झ ।
 अभिज्झपुण-अभेज्झपुण ।
 अभिज्झमय-अभेज्झमय ।
 अभिज्झरस-अभेज्झरस ।
 अभिज्झसंय-अभेज्झसंय ।
 अभिज्झुकर-अभेज्झुकर ।
 अयपाद-अयपाय ।
 अयसीवण-अयसिवण ।
 अरइपरिसह-अरइपरीसह ।
 अरइपरिसहविजय-अरइपरीसहविजय ।
 अलाभ-अलाह ।
 अलाभपरिसह-अलाहपरिसह-अलाभप-
 रीसह-अलाहपरीसह ।
 अलोग-अलोय ।
 अवायाणुपेहा-अवायाणुपेहा ।
 अविरइवाय-अविरइवाय ।
 अधिसंवायणजोग-अधिसंवायणजोग ।
 अवत्तवगसंचिय-अवत्तवगसंचिय ।
 असंणिहंसचय-असंनिहंसचय ।

असंथरमाण-असंथरंत ।
 असाधारण-असाहारण ।
 असाय-असात ।
 असायण-असायण ।
 असायवेयाणज-असायवेयणिज्ज ।
 असिय-असित ।
 असुज-असुह ।
 असुभकम्मवहुव-असुहकम्मवहुव ।
 असुजकिरियादिरहिय-असुहकिरियादि-
 रहिय ।
 असुभक्कवसाण-असुहक्कवसाण ।
 असुभणाम-असुहणाम ।
 असुभतरंउत्तरणपाय-असुहतरंउत्तरण-
 पाय ।
 असुजत्त-असुहत्त ।
 असुजदुक्खजागि-असुहदुक्खजागि ।
 असुभावेयाग-असुहवेयाग ।
 असुभा-असुहा ।
 असुभाणुपेहा-असुहाणुपेहा ।
 अहत-अहय ।
 अहरुठ-अहरोठ ।
 अहाकर-अहागड ।
 अहिआइ-अहिआइ ।
 अहिगरणकर-अहिगरणकर ।
 अहियार-अहियार ।
 अहिबंध-अहिबंध ।

॥ आ ॥

आअ-आगअ ।
 आअरिस-असअरिस ।
 आइअंतियमरण-आदिअंतियमरण ।
 आइक्खण-आइक्खण ।
 आइज्ज-आदेज्ज ।
 आइज्जमाण-आदेज्जमाण ।
 आइज्जवक्क-आदेज्जवक्क ।
 आइज्जवयण-आदेज्जवयण ।
 आइज्जवयणया-आदेज्जवयणया ।
 आइयावण-आदियावण ।
 आइण-आत्तीण-आदीण ।
 आइणभोइ-आदीणभोइ ।
 आइणवित्ति-आदीणवित्ति ।
 आइणिय-आदीणिय ।
 आउंचणा-आउंटणा ।
 आउकाय-आउकाय ।
 आउस-आउस ।
 आपज्ज-आदेज्ज ।
 आपज्जवक्क-आदेज्जवक्क ।
 आपज्जणाम-आदेज्जणाम ।
 आपज्जवयण-आदेज्जवयण ।
 आपज्जवयणया-आदेज्जवयणया ।
 आपस-आदेस ।

आपसग-आएसय ।
 आकिई-भागई ।
 आगंतुय-आगंतुग ।
 आगामि-आगामि ।
 आगमिस्स-आगमिस्सत् ।
 आगमेत्ता-आगम्म ।
 आगासफलिह-आगासफालिय ।
 आगासफालियसरिस्सपह-आगासफलि-
 हसरिस्सपह ।
 आगासफालियामय-आगासफलिहामय ।
 आघायण-आघयण ।
 आजग-आजय ।
 आजम्मसुरहिपत्त-आयम्मसुरहिपत्त ।
 आजवंजवीनाव-आयवंजवीभाव ।
 आजाइ-आयाइ ।
 आदग-आदय ।
 आदत्त-आरु ।
 आणमणी-आणवणी ।
 आणयणप्पओग-आणवणप्पओग ।
 आणाकारि-आणागारि ।
 आणाजोग-आणाजोय ।
 आणिय-आणीय ।
 आणुपुव्वसुजाय-आणुपुव्विसुजाय ।
 आतंक-आयंक ।
 आतंकदंसि-आयंकदंसि ।
 आतंकविवच्चास-आयंकविवच्चास ।
 आतंकसंपओगसंपउत्त-आयंकसंपओगसं-
 गसंपउत्त ।
 आतंकि-आयंकि ।
 आतंक्खिया-आयंक्खिया ।
 आयंतकर-आतंतकर ।
 आतंतम-आयंतम ।
 आतंदम-आयंदम ।
 आतंव-आयंव ।
 आतंवक्कयण-आयंवक्कयण ।
 आतंभरि-आयंभरि ।
 आतकम्म-आयकम्म ।
 आतगवेसय-आयगवेसय ।
 आतगय-आयगय ।
 आतगुत्त-आयगुत्त ।
 आतच्चाइ-आयच्चाइ ।
 आतच्छुच्चाइ-आयच्छुच्चाइ ।
 आतजम्म-आयजम्म ।
 आतजस-आयजस ।
 आतजोगि-आयजोगि ।
 आतजोणि-आयजोणि ।
 आतज्झाण-आयज्झाण ।
 आतठ-आयट्ठ-अप्पणट्ठ ।
 आतठि-आयठि ।
 आतण-आयण ।

आतनिद्रु-आयनिद्रु ।
 आतनिष्क्रम्य-आयनिष्क्रम्य ।
 आतणीण-आयणीण ।
 आतरण-आयतरण ।
 आततंत-आयतंत ।
 आततंतकर-आयतंतकर ।
 आततत्त-आयतत्त ।
 आततत्तप्पगास-आयतत्तप्पगास ।
 आततरग-आयतरग ।
 आततुला-आयतुला ।
 आतत्त-आयत्त ।
 आतदंरु-आयदंरु ।
 आतदंरुसमायार-आयदंरुसमाचार ।
 आतदरिस-आयदरिस ।
 आतद्दोहि-आयद्दोहि ।
 आतपएस-आयपएस ।
 आतपरिणइ-आयपरिणइ ।
 आतपसंसा-आयपसंसा ।
 आतप्पओग-आयप्पओग ।
 आतप्पओगणिच्चित्तिय-आयप्पओगणिच्चित्तिय ।
 आतप्पभ-आयप्पभ ।
 आतप्पमाण-आयप्पमाण ।
 आतप्पवाय-आयप्पवाय ।
 आताप्पियसंबंधणसंयोग-आयप्पियसंबंधणसंयोग ।
 आतवतत्त-आयवतत्त ।
 आतवल-आयवल ।
 आतववत्त-आयववत्त ।
 आतवाल-आयवाल ।
 आतवोध-आयवोध ।
 आतभाव-आयभाव ।
 आतभाववक्कया-आयभाववक्कया ।
 आतभाववत्तवया-आयभाववत्तवया ।
 आतचू-आयचू ।
 आतरक्ख-आयतरक्ख ।
 आतरक्खा-आयतरक्खा ।
 आतरक्खि-आयतरक्खि ।
 आतरक्खिय-आयतरक्खिय ।
 आतवं-आयवं ।
 आतवस-आयवस ।
 आतवस्स-आयवस्स ।
 आतवायपत्त-आयवायपत्त ।
 आतवि-आयवि ।
 आतविज्जा-आयविज्जा ।
 आतवीरिय-आयवीरिय ।
 आतविसोहि-आयविसोहि ।
 आतवेयावच्चकर-आयवेयावच्चकर ।
 आतसंजम-आयसंजम ।
 आतसंजमपर-आयसंजमपर ।

आतसंजमोवाय-आयसंजमोवाय ।
 आतसंवेयण-आयसंवेयण ।
 आतसंवेयणिज्ज-आयसंवेयणिज्ज ।
 आतसक्खि-आयसक्खि ।
 आतअप्पसत्तम-आयअप्पसत्तम ।
 आतसत्ति-आयसत्ति ।
 आतसमप्पण-आयसमप्पण ।
 आतसमया-आयसमया ।
 आतसमुम्भव-आयसमुम्भव ।
 आतसमोयार-आयसमोयार ।
 आतसरीरखेत्तोगादं-आयसरीरखेत्तो-
 गादं ।
 आतसाय-आयसाय ।
 आतसायाणुगामि-आयसायाणुगामि ।
 आतसिद्ध-आयसिद्ध ।
 आतसुह-आयसुह ।
 आतसोहि-आयसोहि ।
 आतहित-आयहित ।
 आता-अप्पा ।
 आताणुकंपय-आयाणुकंपय ।
 आताणुस्सरण-आयाणुस्सरण ।
 आताणुसासण-आयाणुसासण ।
 आतार्थीण-आयार्थीण ।
 आतावग-आयावग ।
 आतावण-आयावण ।
 आतावणया-आयावणया ।
 आतावणा-आयावणा ।
 आतावित्तए-आयावित्तए ।
 आताविया-आयाविया ।
 आतावेमाण-आयावेमाण ।
 आताभिणिधेस-आयाभिणिधेस ।
 आताभिसित्त-आयाभिसित्त ।
 आतार-आयार ।
 आताराम-आयाराम ।
 आतारामि-आयारामि ।
 आताव-आयाव ।
 आतावाइ-आयावाइ ।
 आतासय-आयासय ।
 आताहम्म-आयाहम्म ।
 आताहिरणवत्तिय-आयाहिरणवत्तिय ।
 आताहिरणि-आयाहिरणि ।
 आताहिय-आयाहिय ।
 आतिण-आतीण ।
 आतीकय-अप्पीकय ।
 आत्त-आताय ।
 आदंस-आयंस-आदरिस-आदस्स ।
 आदंसग-आयंसग-आदरिसग-आदसग ।
 आदंसघरग-आयंसघरग-आदरिसघरग-
 आदसघरग ।
 आदंसतल-आयंसतल ।

आदंसतलोवम-आयंसतलोवम-आदरि-
 सतलोवम-आदसतलोवम ।
 आदंसमंरुल-आयंसमंरुल-आदरिसमं-
 रुल-आदसमंरुल ।
 आदंसमुह-आयंसमुह-आदरिसमुह-आ-
 दसमुह ।
 आदंसलिवि-आयंसलिवि-आदरिस-
 लिवि-आदस्सलिवि ।
 आदर-आयर ।
 आदरण-आयरण ।
 आदरणया-आयरणया ।
 आदरणिज्जा-आयरणिज्जा ।
 आदरतर-आयरतर ।
 आदराइज्जुत्त-आयराइज्जुत्त ।
 आदाण-आयाण ।
 आदाणअट्ठि-आयाणअट्ठि ।
 आदाणगुत्त-आयाणगुत्त ।
 आदाणणिक्खेवदुगुत्तय-आयाणणिक्खे-
 वदुगुत्तय ।
 आदाणनिरुद्ध-आयाणनिरुद्ध ।
 आदाणपय-आयाणपय ।
 आदाणफलिह-आयाणफलिह ।
 आदाणमंडमत्तनिक्खेवणासमिइ-आया-
 णमंडमत्तनिक्खेवणासमिइ ।
 आदाणमंडमत्तनिक्खेवणासमिय-आया-
 णमंडमत्तनिक्खेवणासमिय ।
 आदाणजय-आयाणजय ।
 आदाणजरिय-आयाणजरिय ।
 आदाणया-आयाणया ।
 आदाणवंत-आयाणवंत ।
 आदाणसोयगहिय-आयाणसोयगहिय ।
 आदाणिज्ज-आयाणिज्ज ।
 आदाणिज्जउक्कयण-आयाणिज्जउक्कयण ।
 आदाय-आयाय ।
 आदाहिणपयाहिण-आयाहिणपयाहिण ।
 आदाहिणपयाहिणा-आयाहिणपयाहिणा ।
 आधमण-आहमण ।
 आधरिसिय-आदरिसिय ।
 आधा-आहा ।
 आधाकम्म-आहाकम्म ।
 आधाकम्मिय-आहाकम्मिय ।
 आधाण-आहाण ।
 आधाणिय-आहाणिय ।
 आधाय-आहाय ।
 आधायग-आहायग ।
 आधार-आहार ।
 आधारसत्ति-आहारसत्ति ।
 आधि-आहि ।
 आधिकक-आहिकक ।
 आधिगरणिय-आहिगरणिय ।

आधिगरणिया-आहिगरणिया ।

आधिरेणु-आहिरेणु ।

आधित्थेण-आहित्थेण ।

आधिदेविय-आहिदेविय ।

आधिवंध-आहिवंध ।

आधिभोइय-आहिभोइय ।

आधिरज्ज-आहिरज्ज ।

आधिवेयणिय-आहिवेयणिय ।

आधीगड-आहीगड ।

आधीगरण-आहीगरण-

आधुणिय-आहुणिय ।

आधुय-आहुय ।

आधेय-आहेय ।

आधेवच्च-आहेवच्च ।

आधोरण-आहोरण ।

आधोधि-आहोधि ।

आप-आव ।

आपई-आवई ।

आपईधम्म-आवईधम्म ।

आपगा-आवगा ।

आपगंज-आवगंज ।

आपरुण-आवडण ।

आपरुव-आवडव ।

आपडिग-आवडिग ।

आपरिय-आवडिय ।

आपण-आवण ।

आपणगिह-आवणगिह ।

आपणवीहि-आवणवीहि ।

आपणिग-आवणिग ।

आपणिज्ज-आवणिज्ज ।

आपरण-आवण ।

आपरणपरिहार-आवणपरिहार ।

आपरणसत्ता-आवणसत्ता ।

आपत्त-आवत्त ।

आपत्ति-आवत्ति ।

आपत्तिसुत्त-आवत्तिसुत्त ।

आपद्काल-आवद्काल ।

आपदेव-आवदेव ।

आपमिच्चग-आवमिच्चग ।

आपपिता-आवपिता ।

आपरणिहय-आवरणिहय ।

आपलव-आपिलव ।

आपसरीरअणवकंखवत्तिया-आयसरीर-

अणवकंखवत्तिया ।

आपाग-आपाय-आवाग-आवाय ।

आपाइ-आवाइ ।

आपाण-आवाण ।

आपाणग-आवाणग ।

आपाय-आवाय ।

आपायओ-आवायओ ।

आपायण-आवायण ।

आपायभइय-आवायभइय ।

आपायविया-आवायविया ।

आपाव्वि-आवाव्वि ।

आपाव्वाविय-आपिव्वाविय ।

आपिंजर-आविंजर ।

आपिसव्वि-आविसव्वि ।

आपेक्खिय-आवेक्खिय ।

आमेद्वर-आमेद्वार ।

आमेद्व-आवेद्व ।

आमेद्वग-आमेद्वय ।

आयइ-आयई ।

आयज्ज-आयम्व ।

आयतकणायय-आययकणायय ।

आयतचक्खु-आययचक्खु ।

आयतजोग-आययजोग ।

आयतट्ठित-आयतठ्ठिय ।

आयनतर-आयतयर ।

आरियक्खेत्त-आयरियक्खेत्त ।

आरियछाण-आयरियछाण ।

आरियदंसि-आयरिदंसि ।

आरियदिण-आयरियदिण ।

आरियदेस-आयरियदेस ।

आरियधम्म-आयरियधम्म ।

आरियपणसिय-आयरियपणसिय ।

आरियपण-आयरियपण ।

आरियव्वेय-आयरियव्वेय ।

आयाम-आचाम ।

आयारव-आयारमंत ।

आरजइत्ता-आरमइत्ता ।

आराहग-आराहय ।

आरि-आरिय ।

आरुग्ग-आरोग्ग ।

आरुग्गफल-आरोग्गफल ।

आरुग्गवोहिवाभ-आरोग्गवोहिवाभ ।

आरुग्गवोहिवाभाइपत्थणाच्चित्तुल्ल-आ-

रोग्गवोहिवाभाइपत्थणाच्चित्तुल्ल ।

आरुग्गसाहग-आरोग्गसाहग ।

आव्विग-आव्विग ।

आव्विगण-आव्विगण ।

आव्विविय-आव्विविय ।

आव्विसदंग-आव्विसिदंग ।

आलुग-आलुय ।

आव-जाव ।

आवत-आवत्त-आवड-आवट्ट ।

आवडपञ्चावरुसेद्विपसेद्वियसोत्थिय(सो-

वत्थिय) पृसमाणवरुमाणगमच्छंडमक-

रंरुगजारामाराफुल्लावलिपउमपत्तसाग-

रतरंगवणलयपउमलयभत्तिचित्त-आ-

वट्टपञ्चावरुसेद्विपसेद्वियसोत्थिय (सो-

वत्थिय) पृसमाणवरुमाणगमच्छंडमक-
करंरुगजारामाराफुल्लावलिपउमपत्तसा-
गरतरंगवणलयपउमलयभत्तिचित्त ।

आवतकूड-आवट्टकूरु ।

आवत्तण-आवट्टण ।

आवत्तणपेद्विया-आवट्टणपेद्विया ।

आवतणिज्ज-आवट्टणिज्ज ।

आवतय-आवट्टय ।

आवत्तायंत-आवट्टायंत ।

आवव्वि-आवव्वी ।

आवव्वियणिया-आवव्वियाणिया-आव-
लितणिया ।

आवव्वियपविठ-आवव्वियापविठ ।

आवव्वियपविभत्ति-आवव्वियापविभत्ति ।

आवव्वियवाहिर-आवव्वियावाहिर ।

आवीकम्म-आवीकम्म ।

आसुरा-आसुरी ।

॥ ५ ॥

इइ-इति ।

इइकह-इतिकह ।

इइकायव्वया-इतिकायव्वया ।

इइह-इतिह ।

इइहास-इतिहास ।

इओ-इत्ता-इदो-एत्तो ।

इंगिअ-इंगिय ।

इंगिअमरण-इंगियमरण ।

इंदकाइय-इंदगाइय ।

इंदियत्थकोवण-इंदियत्थविकोपन ।

इक्खाग-इक्खागु ।

इक्खागकुल-इक्खागुकुल ।

इक्खागभूमि-इक्खागभूमि ।

इक्खागराय-इक्खागराय ।

इक्खागवंश-इक्खागुवंश ।

इक्खु-उच्छु ।

इक्खुकरण-उच्छुकरण ।

इक्खुखंरु-उच्छुखंरु ।

इक्खुगंमिया-उच्छुगंमिया ।

इक्खुघर-उच्छुघर ।

इक्खुचोयग-उच्छुचोयग ।

इक्खुजंत-उच्छुजंत ।

इक्खुमालग-उच्छुडालग ।

इक्खुपेसिया-उच्छुपेसिया ।

इक्खुभित्ति-उच्छुभित्ति ।

इक्खुमेरग-उच्छुमेरग ।

इक्खुलट्ठि-उच्छुलट्ठि ।

इक्खुवण-उच्छुवण ।

इक्खुवारु-उच्छुवारु ।

इक्खुवारिया-उच्छुवाडिया ।

इक्खुसालग-उच्छुसालग ।

इक्खुकार-इक्खुकार ।

इच्छामित्त-इच्छामेत् ।
 इक्षि-रिक्षि-इक्षि ।
 इक्षिअप्पवट्ठण-इक्षिअप्पवट्ठण ।
 इक्षिम-इक्षिमत् ।
 इक्षो-इक्षो-इक्षो ।
 इत्थिआणमणी-इत्थिआणमणी ।
 इत्थिकम्म-इत्थीकम्म ।
 इत्थिकला-इत्थीकला ।
 इत्थिकलेवर-इत्थीकलेवर ।
 इत्थिकहा-इत्थीकहा ।
 इत्थिकाम-इत्थीकाम ।
 इत्थिकामभोग-इत्थीकामभोग ।
 इत्थिगण-इत्थीगण ।
 इत्थिगम्भ-इत्थीगम्भ ।
 इत्थिगुम्म-इत्थीगुम्म ।
 इत्थिचिध-इत्थीचिध ।
 इत्थिचोर-इत्थीचोर ।
 इत्थिजण-इत्थीजण ।
 इत्थिजिय-इत्थीजिय ।
 इत्थिट्ठण-इत्थीट्ठण ।
 इत्थिणपुंसग-इत्थीणपुंसग ।
 इत्थिणामगोयकम्म-इत्थीणामगोयकम्म ।
 इत्थितित्थ-इत्थीतित्थ ।
 इत्थिदोस-इत्थीदोस ।
 इत्थिपञ्चाकड-इत्थीपञ्चाकड ।
 इत्थिपणवणी-इत्थीपणवणी ।
 इत्थिपरिणज्झयण-इत्थीपरिणज्झयण ।
 इत्थिपरिण्णा-इत्थीपरिण्णा ।
 इत्थिपरिसह-इत्थीपरिसह ।
 इत्थिपरिसहविजय-इत्थीपरिसहविजय ।
 इत्थिपोसय-इत्थीपोसय ।
 इत्थिपुंसलक्खणा-इत्थीपुंसलक्खणा ।
 इत्थिभाव-इत्थीभाव ।
 इत्थिभोग-इत्थीभोग ।
 इत्थिमज्झगय-इत्थीमज्झगय ।
 इत्थिरज्ज-इत्थीरज्ज ।
 इत्थिरयण-इत्थीरयण ।
 इत्थिराग-इत्थीराग ।
 इत्थिरुव-इत्थीरुव ।
 इत्थिलक्खण-इत्थीलक्खण ।
 इत्थिलिग-इत्थीलिग ।
 इत्थिलिगसिद्ध-इत्थीलिगसिद्ध ।
 इत्थिलिगसिद्धकेवलणाण-इत्थीलिगसिद्ध-
 क्वेवलणाण ।
 इत्थिवउ-इत्थीवउ ।
 इत्थिवयण-इत्थीवयण ।
 इत्थिवस-इत्थीवस ।
 इत्थिविगगह-इत्थीविगगह ।
 इत्थिविणवणा-इत्थीविणवणा ।
 इत्थिविप्पजह-इत्थीविप्पजह ।
 इत्थिविप्परियासिया-इत्थीविप्परियासिया ।

इत्थिविलोयण-इत्थीविलोयण ।
 इत्थिवेय-इत्थीवेय ।
 इत्थिवेयण-इत्थीवेयण ।
 इत्थिसंकिविट्ठ-इत्थीसंकिविट्ठ ।
 इत्थिसंग-इत्थीसंग ।
 इत्थिसंपक्क-इत्थीसंपक्क ।
 इत्थिसंपरिवुड-इत्थीसंपरिवुड ।
 इत्थिसंवास-इत्थीसंवास ।
 इत्थिसंसत्त-इत्थीसंसत्त ।
 इत्थिसद्धा-इत्थीसद्धा ।
 इत्थिसहाव-इत्थीसहाव ।
 इत्थिसेवा-इत्थीसेवा ।
 इत्थाणि-इत्थाणि-इत्थाणि ।
 इध-चिण्ह ।
 इज्जग-इज्जमय ।
 इमी-इमा-इमिआ ।
 इसि-रिसि ।
 इसिदिण-इसिदत्त ।
 इस्सर-ईसर ।
 इस्सरकड-ईसरकड ।
 इस्सरकरुवाइ-ईसरकरुवाइ ।
 इस्सरकारय-ईसरकारय ।
 इस्सरवाइ-ईसरवाइ ।
 इस्सरविभूइ-ईसरविभूइ ।
 इस्सरसरिस-ईसरसरिस ।
 इस्सरियमय-इस्सरियामय-ईसरियमय-
 ईसरियामय ।
 इस्सरियसिद्धि-ईसरियसिद्धि ।
 इस्सरीकय-ईसररीकय ।
 ईसि-ईसि-ईसी ।
 ईसिउत्तावलंवि-ईसिउत्तावलंवि-ईसीउ-
 ट्ठावलंवि ।
 ईसितंविच्छिक्करणी-ईसितंविच्छिक्करणी-
 ईसीतंविच्छिक्करणी ।
 ईसितुंग-ईसितुंग-ईसीतुंग ।
 ईसिपणवणिज्ज-ईसिपणवणिज्ज-ईसी-
 पणवणिज्ज ।
 ईसिपम्भार-ईसिपम्भार-ईसीपम्भार ।
 ईसिपम्भारगय-ईसिपम्भारगय-ईसीप-
 म्भारगय ।
 ईसिपम्भारा-ईसिपम्भारा-ईसीपम्भारा ।
 ईसिपुरोवाय-ईसिपुरोवाय-ईसीपुरोवाय ।
 ईसिमत्त-ईसिमत्त-ईसीमत्त ।
 ईसिरहस्स-ईसिरहस्स-ईसीरहस्स ।
 ईसिविच्छेयकडुवा-ईसिविच्छेयकडुवा-
 ईसीविच्छेयकडुवा ।
 ईसिलिंदपुप्फणगास-ईसिलिंदपुप्फण-
 गास-ईसीलिंदपुप्फणगास-ईसिलिंध-
 पुप्फणगास-ईसिलिंधपुप्फणगास-ई-
 सीलिंधपुप्फणगास ।

॥ उ ॥

उइओइअ-उदिओइअ-उइओदिअ-उदि-
 ओदिअ ।
 उइरण-उदिण ।
 उइरणकम्म-उदिणकम्म ।
 उइणवलवाहण-उदिणवलवाहण ।
 उइणमोह-उदिणमोह ।
 उइणवेय-उदिणवेय ।
 उइय-उदिय ।
 उइयत्थमिय-उदियत्थमिय ।
 उइण-उदीण ।
 उइणा-उदीणा ।
 उइणपाइण-उदीणपाइण ।
 उइणवाय-उदीणवाय ।
 उइत्ता-उदीत्ता ।
 उइरण-उदीरण ।
 उइरणा-उदीरणा ।
 उइरिज्जमाण-उदीरिज्जमाण ।
 उइरिय-उदीरिय ।
 उइरैत-उदीरैत ।
 उंवर-उंवर ।
 उंवरदत्त-उंवरदत्त ।
 उंवरपणग-उंवरपणग ।
 उंवरपुप्फ-उंवरपुप्फ-उंवरपुप्फु-उंवर-
 पुप्फु ।
 उंवरवच्च-उंवरवच्च ।
 उंवररीय-उंवररीय ।
 उउपरियट्ठ-ऊउपरियट्ठ ।
 उउसंधि-ऊउसंधि ।
 उंदुर-उंदुर ।
 उंदुरुमाला-उंदुरुमाला ।
 उक्कट्ठ-उक्किट्ठ ।
 उक्खअ-उक्खअ ।
 उच्चिअकरण-उच्चियकरण ।
 उच्चिअकरणिज्ज-उच्चियकरणिज्ज ।
 उच्चिअकिच्च-उच्चियकिच्च ।
 उच्चिअजोग-उच्चियजोग ।
 उच्चिअट्ठि-उच्चियट्ठि ।
 उच्चिअत्त-उच्चियत्त ।
 उच्चिअत्थापायण-उच्चियत्थापायण ।
 उच्चिअपवित्तिप्पहाण-उच्चियपवित्तिप्प-
 हाण ।
 उच्चिआचरण-उच्चियाचरण ।
 उच्चिआणुट्ठण-उच्चियाणुट्ठण ।
 उच्च-उच्चअ ।
 उच्चण-उच्चण ।
 उच्चूढसरीरगिह-उच्चूढसरीरघर ।
 उच्छेद-उच्छेय ।
 उज्जुग-उज्जुय ।

उज्जुगचूय-उज्जुयभूय ।
 उज्जुगया-उज्जुयया ।
 उज्जुगा-उज्जुया ।
 उज्जुमङ्-रिउमङ् ।
 उज्जुसुत्त-उज्जुसुय ।
 उज्जुसुत्तवयणविच्छेय-उज्जुसुयवयण-
 विच्छेय ।
 उज्जुसुत्ताज्ञास-उज्जुसुयाज्ञास ।
 उच्छिन्न-उच्छिय ।
 उच्छिन्नद-उच्छियदम् ।
 उद्धमग-उद्धङ्ग ।
 उद्धजाणु-उद्धजाणु ।
 उद्धलोग-उद्धलोय ।
 उद्धलोगविभक्ति-उद्धलोयविभक्ति ।
 उष्ण-उष्ण ।
 उष्णइतो-उष्णइतो ।
 उष्णपरिसह-उष्णपरीसह-उसिणपरिस-
 ह-उसिणपरीसह ।
 उष्णपरियाव-उसिणपरियाव ।
 उष्णान्नित्त-उष्णहित्त ।
 उत्तमाङ्गि-उत्तमारिङ्गि ।
 उत्तरकुरा-उत्तरकुरु ।
 उत्तरसमा-उत्तरासमा ।
 उत्तरिज्ज-उत्तरिअ ।
 उत्तरुत्त-उत्तरुत्त ।
 उत्तारुण-उत्तारुण ।
 उत्ताडिज्जन्त-उत्तालिज्जन्त ।
 उदग-उदय ।
 उदगगम्भ-उदगगम्भ ।
 उदगद्वेव-उदगलेव ।
 उदगसीमय-उदगसीमय ।
 उदगहारा-उदगहारा ।
 उदयसायर-उदयसागर ।
 उदर-उदर ।
 उदरगंठि-उदरगंठि ।
 उदरत्ताण-उदरत्ताण ।
 उदार-उदाल ।
 उद्देसिय-उद्देसिउ ।
 उद्धत-उद्धय ।
 उद्भिदिदं-उद्भिदिय ।
 उम्माद-उम्माय ।
 उम्मादपमाय-उम्मायपमाय ।
 उम्मिवीङ्-उम्मीवीङ् ।
 उराल-उराल ।
 उल्लुग-उल्लुग ।
 उल्लुगच्छि-उल्लुगच्छि ।
 उल्लुगपत्तल्लुग-उल्लुगपत्तल्लुग ।
 उल्लुगी-उल्लुगी ।
 उवएसणा-उवदेसणा ।
 उवक्खइत्ता-उवक्खाइत्ता ।

उवगारण-उवयारण ।
 उवगारियालयण-उवगारियलयण ।
 उवचित्त-उवचिय ।
 उवट्टण-उवट्टण ।
 उवट्टणविहि-उवट्टणविहि ।
 उवट्टवणा-उवट्टावणा ।
 उवट्टवणाकप्पिय-उवट्टावणाकप्पिय ।
 उवट्टवणागहण-उवट्टावणागहण ।
 उवट्टवणायरिय-उवट्टावणायरिय ।
 उवट्टवणारिह-उवट्टावणारिह ।
 उवट्टवणी-उवट्टावणी ।
 उवट्टवित्त-उवट्टावित्त-उवट्टवेत्त-
 उवट्टावेत्त ।
 उवरिम-उपरिम ।
 उवल्लीण-उवल्लीण ।
 उववूह-उववूहा ।
 उसभ-उसह ।
 उसभकंठ-उसहकंठ ।
 उसभणाराय-उसहणाराय ।
 उसभदत्त-उसहदत्त ।
 उसभपुर-उसहपुर ।
 उसभपुरी-उसहपुरी ।
 उसन्नसेण-उसहसेण ।
 उसिणपरिसह-उसिणपरीसह ।
 उसिय-उसिय-ऊसिय ।

॥ ए ॥

एङ्-एया ।
 एक्क-एग-एय ।
 एक्कअ-एगअ-एक्कइम-एगइअ ।
 एक्कअ-एगइम-एक्कइय-एगइय ।
 एक्कसि-एक्कसिअ-एक्कइआ-एक्कइआ-
 एगया ।
 एक्कओ-एगओ-एक्कदो-एक्कतो-एगतो ।
 एकओखहा-एगओखहा ।
 एक्कओणंतय-एगओणंतय ।
 एक्कओपमाग-एगओपमाग ।
 एक्कओवंका-एगओवंका ।
 एक्कओवत्त-एगओवत्त ।
 एक्कओसमुवायग-एगओसमुवायग ।
 एक्कओसहिय-एगओसहिय ।
 एक्कंगिय-एगंगिय ।
 एक्कंत-एगंत ।
 एक्कंतओ-एगंतओ ।
 एक्कंतकूरु-एगंतकूड ।
 एगंतचारि-एगंतयारि ।
 एगचरियापरिसह-एगचरियापरीसह ।
 एगतर-एगयर ।
 एगता-एगया ।
 एगदा-एगया ।

एगारस-एगारह ।
 एगूणवीस-एगूणवीसह ।
 एज-एय ।
 एजत-एजयंत ।
 एजणं-एयणं ।
 एजणा-एयणा ।
 एजमाण-इजमाण ।
 एणिज्ज-एणेज्ज ।
 एणिज्जय-एणेज्जय ।
 एणिह-एताहे ।
 एत-एय ।
 एतकम्म-एयकम्म ।
 एतप्पगार-एयप्पगार ।
 एतप्पहाण-एयप्पहाण ।
 एतसमायार-एयसमायार ।
 एतारिस-एयारिस-एतारिच्छ-एयारिच्छ ।
 एतारुव-एयारुव ।
 एतावंति-एयारवंति ।
 एरिक्ख-एलिक्ख ।
 एलकक्ख-एलकच्छ ।
 एलग-एलय ।
 एव-एवं ।

॥ ओ ॥

ओघसिय-ओघसिय ।
 ओघ-ओह ।
 ओचिइय-ओचिच्च ।
 ओचिइयजोग-ओचिच्चजोग ।
 ओदण-ओयण ।
 ओदणविहि-ओयणविहि ।
 ओभासण-ओहासण ।
 ओभासणभिक्षा-ओहासणभिक्षा ।
 ओभासमाण-ओहासमाण ।
 ओरसवद्वसमसागय-उरस्सवलसमसा-
 गय ।
 ओलि-ओली ।

॥ क ॥

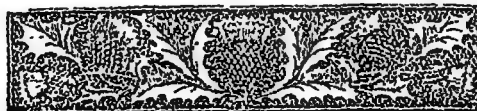
कअगह-कयगह ।
 कइअवपप्पत्ति-कइयवपप्पत्ति ।
 कइअवपेमगिरितडी-कइयवपेमगिरि-
 तडी ।
 कइअविया-कइयविया ।
 कइविया-कइविका ।
 कंकत-कंकय ।
 कंखापओस-कंखप्पओस ।
 कंचणउर-कंचणपुर ।
 कंची-कंचि ।
 कंरु-कंरुग ।
 कंहुगमङ्-कंहुगमङ् ।

कंसपत्नी-कंसपाई ।
 कक्रोर-कक्कोल ।
 कच्छभी-कच्छवी ।
 कच्छु-कच्छू ।
 कच्छुल-कच्छुल्ल ।
 कक्रजोग-कयजोग ।
 ककि-कमी ।
 ककुग-ककुय ।
 ककुगतुंवी-ककुयतुंवी ।
 ककुगफलदंसग-ककुयफलदंसग ।
 ककुगफलविवाग-ककुयफलविवाग ।
 कणगावली-कणगावलि ।
 कणाद-कणाय ।
 कणिआर-कणिआर ।
 कणिफ-कणिय ।
 कणधार-कणहार ।
 कणपाक्षि-कणपाली ।
 कणववहार-कणववहार ।
 कमण-कमन ।
 कमलांगरखंरुवोहय-कमलांगरसंरुवोहय ।
 कमलापीड-कमलामेल ।
 कम्भीर-कम्भीर ।
 कम्मकारि-कम्मकत्ता ।
 कम्मपगनि-कम्मपयडि ।
 कम्मयकायजोग-कम्मणकायजोग ।
 कम्मयणाम-कम्मणणाम ।
 कम्मयवगणा-कम्मणवगणा ।
 कम्मारिय-कम्मारिय ।
 कम्मोपाहिविणिमुक्क-कम्मोवाहिविणिमु-
 क्क ।
 कयणू-कयन्नु ।
 कयविक्रयज्जाण-कयविक्रयंजाण ।
 करणओ-करणतो ।
 करतल-करयल ।
 करतलपग्गाहिय-करयलपग्गाहिय ।
 करतलपग्गविप्पमुक्क-करयलपग्गवि-
 प्पमुक्क ।
 करतलमाइय-करयलमाइय ।
 करतलपरिमिय-करयलपरिमिय ।
 करज-करद ।
 कलसंगलिया-कलसिंवलिया ।
 कलाद-कलाय ।
 कलिकलुस-कलिकलुस ।

कलुसकम्मण-कलुसकम्म !
 कलुसाउलचेय-कलुसाविहचेय ।
 कल्लग-कल्लय ।
 कचिल्लय-कवेल्लय ।
 कविल्लयावाय-कवेल्लयावाय ।
 कह-कहं ।
 कहकहभूय-कहकगभूय ।
 काळण-काळणं ।
 काक-काग ।
 काकंदिय-कागंदिय ।
 काकंदिया-कागंदिया ।
 काकजंघ-कागजंघ ।
 काकजंघा-कागजंघा ।
 काकणि-कागणि ।
 काकाणिमंसग-कागणिमंसग ।
 काकाणिरयण-कागणिरयण ।
 काकाणिलक्खण-कागणिलक्खण ।
 काकतालिज्ज-कागतालिज्ज ।
 काकतुंड-कागतुंड ।
 काकधठ-कागधठ ।
 काकपाल-कागपाल ।
 काकपिंडी-कागपिंडी ।
 काकल-कागल ।
 काकल्लि-कागल्लि-काकली-कागली ।
 काकस्सर-कागस्सर ।
 काणक-काणग ।
 कादंघ-कायंघ ।
 कादंघग-कायंघग ।
 कादंघरी-कायंघरी ।
 कामभोगसंसापओग-कामभोगासंसाप-
 ओग ।
 कामासंसपओग-कामासंसापओग-का-
 मासंसपओग ।
 कायपरिचारग-कायपरियारग ।
 कायरो-कायलो ।
 कारवण-कारावण ।
 कारवाहिय-कारावाहिय ।
 कारविय-काराविय ।
 कालागरु-कालागुरु ।
 कालिग-कालिय ।
 कालिगसुय-कावियसुय !
 काहिगा-कालिया ।
 कालिगावाय-कालियावाय ।

कालोद-काढोय ।
 किरियारय-किरियरय ।
 किसल-किसलथ ।
 कोयकड-कोयगर ।
 कुंजग-कुंजय ।
 कुंभगर-कुंजयार ।
 कुक्खि-कुच्छि ।
 कुक्खिक्किमि-कुच्छिक्किमि ।
 कुक्खिपूर-कुच्छिपूर ।
 कुक्खिवेयणा-कुच्छिवेयणा ।
 कुक्खिसंजूय-कुच्छिसंजूय ।
 कुक्खिसंवल-कुच्छिसंवल ।
 कुक्खिसूद-कुच्छिसूद ।
 कुक्खिहार-कुच्छिहार ।
 कुवेर-कुवेर ।
 कुमुअ-कुमुय ।
 कुमुअवणविबोहग-कुमुयवणविबोहग ।
 कुमुआ-कुमुया ।
 कुमुआगर-कुमुयागर ।
 कुलकर-कुलगर ।
 कुलकरइथी-कुलगरइथी ।
 कुलकरगंठिया-कुलगरगंठिया ।
 कुलकरवंस-कुलगरवंस ।
 कुलतिवग-कुलतिलय ।
 कुवल्लयप्पभ-कुवल्लयप्पह ।
 कुवेणि-कुवेणी ।
 कुसच्च-कुसत्थ ।
 कुहग-कुहय ।
 कुणिय-कोणिय ।
 ककथ-केयय ।
 केकाइय-केगाइय ।
 केवलदंसण-केवलदरिसण ।
 केवलदंसणावरण-केवलदरिसणावरण ।
 कोउहल-कोकहल-कोउहल्ल-कोकहल्ल ।
 कोकस्सर-कोगस्सर ।
 कोमिग-कोमिअ ।
 कोमिगण-कोमियगण ।
 कोत्थुभ-कोत्थुद ।
 कोदंड-कोडंड ।
 कोमुई-कोमुदी ।
 कोमुईचार-कोमुदीचार ।
 कोरंड-कोरंदग ।
 कोलपाल-कोलवाल ।
 कोलपागपट्टण-कोलवागपट्टण ।

आगे से कोष्ठक में शब्दान्तर देने की प्रथा उठा दी गयी है किन्तु उनको ग्रन्थ में ही यथास्थान स्थान दिया जायगा ।
 और 'अन्त्यव्यञ्जनस्य लुक्' इस सूत्र से लुक् हुए वर्ण का शब्दान्तर में समावेश नहीं है ।



आवश्यक कतिपय सङ्केत—

१-प्राकृतशैली से अनुस्वार और मकार (गाथाओं में) समस्त दो शब्दों के मध्य में जी आया करता है, इसीलिये अनेक स्थल पर (टीका में) लिखा रहता है कि 'अनुस्वारोऽत्राद्याक्षणिकः' तथा 'मकारोऽत्राद्याक्षणिकः,' जैसे प्र० भा० ८५८ पृष्ठ में 'असज्भाइय' शब्द पर वृ० की गाथा है—'पंसुयमंसयरुहिरं-केससिलाबुद्धि तह रत्रोधाए' ॥ यहाँ समस्त 'रुहिर' शब्द में जी अनुस्वार है। और ३७५ पृष्ठ में 'अणुजाण' शब्द पर "सीलेह मंखफलए, इयेर चोयंति तंतुमादीसु" । यहाँ 'तन्त्वादिषु' का 'तंतुमादीसु' हुआ। और वृ० भा० ६०३ पृष्ठ में भी 'कुसमयमोहमोहमइमोहिय'- 'कुसमयौघमोहमतिमोहित' इस शब्द पर लिखा है कि—'मकारस्तु प्रकृतत्वात्'। इस पाठ से भी यह बात सिद्ध होती है।

२-बहुत सी जगह गाथाओं में दीर्घ को ह्रस्व, और ह्रस्व को दीर्घ हुआ करता है, उसका कारण यह है कि ऐसा करने से गाथाओं के बनाने में बहुत सुगमता होती है, इसीलिये कहा हुआ है कि—“अपि मापं मपं कुर्यात् षन्दोभङ्गं न कारयेत्” । और व्याकरणकार भी “दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ” ॥ ८ । १ । ४ ॥ इस सूत्र से इस बात का अनुमोदन करते हैं। जैसे 'साद्' को 'सद्', और 'विरुज्झइ (ति)' का 'विरुज्झई [ती]' होता है।

३-कहीं कहीं प्राकृतशैली से अनुस्वार का लोप जी होता है, जैसे विशेषावश्यक ज्ञाप्य के ५०८ गाथा में “समवाइ असमवाई, उव्विह कत्ता य कम्मं च ॥” (उव्विहत्ति) 'अनुस्वारस्य लुप्तस्य दर्शनात्'। प्रायः करके निर्युक्तिकार अपनी गाथाओं में इस नियम को विशेष रूप से काम में लाये हैं, इसलिये उनको गाथा बनाने में अत्यन्त सुगमता हुई है। जैसे वृ० भा० ५१७ पृष्ठ में 'किङ्कम्म' शब्द पर आवश्यकनिर्युक्ति है कि—'गुरुजण वंदावन्ती, सुस्समण जहुत्तकारिं च' ॥ ३३॥ इसकी वृत्ति में लिखा है कि 'अनुस्वारलोपोऽत्र छप्यः' ।

४-प्राकृतशैली से कहीं कहीं बहुवचन के स्थान में जी एकवचन हुआ करता है, जैसे आवश्यकवृत्ति के पाँचवें अध्ययन में 'जरतैरवतविदेहेषु' के स्थान में 'जरहेरवयविदेहे' ऐसा एकवचन किया है।

५-प्रायः सूत्रों में और निर्युक्तिगाथाओं में जो निर्विभक्तिक पद आया करते हैं उनमें “स्यम्-जस्-शसां लुक्” ॥ ८ । ४ । ३४४ ॥ तथा “पठ्याः” ॥ ८ । ४ । ३४५ ॥ इन सूत्रों से अथवा सौत्र सुप् का लोप समझना चाहिये। जैसे तृतीय भाग के ४४६ पृष्ठ में उत्त० ५४ अ० का मूलपाठ है कि—“उहंघण पल्लंघण” इत्यादि। और इसपर टीकाकार लिखते हैं कि 'उजयत्र सौत्रत्वात् सुपो लुक्'। इसी तरह अन्य स्थल में जी समझना चाहिये।

६-सूत्रों में बाहुल्य से प्रथमा के एक वचन में 'अतः सेमोः' । ८ । ३ । १२ । इस सूत्र को न लगाकर “अत एत्सौ पुंसि मागध्याम्” । ८ । ४ । २२७ ॥ इस सूत्र से एकार ही किया गया है, जैसे वृ० भा० ४६० पृष्ठ में है कि—“आहारए दुविहे पण्णत्ते” । इस पर टीकाकार की टीका है कि 'आहारको द्विविधः प्रकृतः' । इसी तरह निर्युक्तिगाथाओं में जी समझना चाहिये—जैसे “वाहे” का अनुवाद 'व्याधः' है।

७-प्रायः करके सूत्रों में आया करता है कि—“तेणं कालेणं तेणं समएणं” और इसपर टीकाकार लिखा करते हैं कि “तस्मिन् काले तस्मिन् समये” इसको हेमचन्द्राचार्य जी सिद्धहेमव्याकरण के अष्टमाध्याय-तृतीयपाद में “सप्तम्या द्वि-तीया” । ८ । ३ । १३७ ॥ इस सूत्रपर अनुमोदन करते हैं कि 'आर्षे तृतीयाऽपि दृश्यते। यथा—'तेणं कालेणं तेणं समएणं' अस्यार्थः—'तस्मिन् काले तस्मिन् समये' । किन्तु रायपसेणी के टीकाकार मलयगिरि लिखते हैं कि 'ते इति प्राकृतशैलीवशात् तस्मिन्निति छप्यम्' एमिति वाक्यालङ्कारे । दृष्टान्तश्चान्यत्रापि—'ए' शब्दो वाक्यालङ्कारार्थः । यथा—'इमाणं पुढवा' इत्यादि । यह पदान्तर जी उनके मत से स्थित है ।

८-व्यवहार, वृहत्कल्प, आवश्यकचूर्णि और निशीथ सूत्र, पं० भा०, पं० चू० आदि में प्रायः करके विशेष रूप से सूत्र निर्युक्ति और चूर्णि में 'तदोस्तः' । ८ । ४ । ३०७ । इस से और आर्पत्वाद् भी वर्णान्तर के स्थान में तकार हो जाता है, जैसे वृ० भा० 'किङ्कम्म' शब्द के ५१४ और ५१५ पृष्ठ में वृहत्कल्प की निर्युक्ति है कि—“ओसंकं भेदं, संकच्छेती उ वातगो कुविओ” । यहाँ पर शङ्काब्दे की दकार को तकार और वाचक की चकार को तकार किया है। इसी तरह “इय संजमस्स विवतो, तस्सेवद्धा ए दोसा य” ॥ इस गाथा में भी व्यय शब्द की यकार को भी तकार किया है। इसी तरह वृ० भा० १०६ पृष्ठ के 'काहिय' शब्द पर निशीथ सूत्र की निर्युक्ति और चूर्णि की व्यवस्था है, जैसे 'तक्कम्मो जो धम्मं, कथेति सो काधितो होई' ॥ ६३ ।

इस निष्ठुक्तिगाया की चूँह है कि—‘एवंविधो चाहितो जवति’। यहाँ पर जी कायिक के ककार को तकार किया हुआ है, इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये। थकार को धकार तो ‘थो धः’ ॥ ८।४। ३६७ ॥ और ‘अनादौ स्वरादसंयुक्तानां कगतयपकां गवदधवभाः’ ॥ ८।४। ३६६ ॥ इत्यादि सूत्रों से होता है।

ए—संस्कृत शब्दों की सिद्धि तो पचास अक्षरों से है, परन्तु प्राकृत शब्दों की सिद्धि चालीस ही अक्षरों से होती है, क्योंकि स्वरों में तो ष्ट, लृ, ऐ, औ का अभाव है और व्यञ्जन में श, ष, तथा असंयुक्त ङ, व आदि कई व्यञ्जनों का अभाव है।

१०—व्यञ्जनान्त शब्दों के व्यञ्जन का ‘अन्त्यव्यञ्जनस्य लुक्’ ॥ ८।१।११ ॥ इस सूत्र से लुक् होजाने पर किसी शब्द का तो व्यञ्जनान्तत्वही नष्ट हो जाता है और किसी किसी का अजन्त में त्रिपरिणाम हो जाता है, इसीलिये ह्रस्वन्त शब्दों की सिद्धि के लिये कोई विशेष नियम नहीं है, केवल ‘आत्मन्’ शब्द और ‘राजन्’ शब्द की सिद्धि के लिये जो थोड़े से नियम हैं उन्हें अन्य नकारान्त शब्दों की भी व्यवस्था की जाती है।

११—यदि किसी ग्रन्थ का पाठ कुछ बीच में ठेरुकर फिर लिया है तो जहाँ से पाठ बूटा है वहाँ पर उसी ग्रन्थ का नाम इस बात की सूचना के लिये चलते हुए पाठ के मध्य में जी दे दिया है कि पाठक त्रम में न पड़ें।

१२—प्राकृत जापा में हिन्दी जापा की तरह द्विवचन नहीं होता, किन्तु “द्विवचनस्य बहुवचनं नित्यम्” ॥ ८।३।१३० ॥ इस सूत्र से द्विवचन के स्थान में बहुवचन हो जाता है, इसलिये द्वित्वबोधन की जहाँ कहीं विशेष आवश्यकता होती है वहाँ द्वि शब्द का प्रयोग किया जाता है; और चतुर्थी के स्थान में षष्ठी “चतुर्थ्याः षष्ठी” ॥ ८।३।१३१ ॥ इस सूत्र से होती है।

१३—गाथाओं में पाद पूरे होने पर यदि सुवन्त अथवा तिङन्त रूप पद पूरा हो जाता है तो (,) यह चिह्न दिया जाता है और जहाँ पाद पूरा होने पर जी पद पूरा नहीं हुआ है वहाँ [—] ऐसा चिह्न दिया है।

१४—बहुतसी जगह गाथाओं में शुद्ध या व्यञ्जनमिश्रित एकार स्वर आता है किन्तु उसकी दीर्घाक्षर में परिगणना होने से जो किसी जगह मात्रा बढ़ जाती है, उसको कम करने के लिये [॰] ऐसा चिह्न दिया गया है। यद्यपि ‘दीर्घ-ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ’ ॥ ८।१।४ ॥ इस सूत्र से ह्रस्व करने पर एकार को इकार हो सकता है, किन्तु वैसा करने से सर्वसाधारण को उसकी मूल प्रकृति का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये ह्रस्वबोधक संकेत किया गया है, इसीतरह व्याकरणमहाभाष्य में जी लिखा है कि—“अर्थ एकारः, अर्थ ओकारो वा इति राणायनीयाः पठन्ति”। और वाग्जटविरचित प्राकृत पिङ्गलसूत्र में भी लिखा है कि—

“दीहो संजुत्तपरो, विन्दुजुओ पाणिओ अ चरणेते।

स गुरु वंक छमत्तो, अणो बहो होइ सुख एककत्तो” ॥

इस तरह गुरु वृत्त की व्यवस्था करके लिखते हैं कि—

‘कथं वि संजुत्तपरो, वणो बहो होइ दंसणेण जहा।

परिहसइ चित्तधिज्जं, तरुणिकहक्खमि णिव्वुत्तं’ ॥

दूसरा अपवाद—‘इहिकारा विन्दुजुआ, एओ मुच्छा अवणमिलिआ वि लहू।

रहवणसंजोए, परे असेसं पि सविहासं’ * ॥

उदाहरण—‘माणिणि ! माणिहिँ काँ फल, ऐँओ जेँ चरण पडु कन्त।

सहजेँ जुअँगम जइ णमइ, किं करिए मणिमन्त ?’ ॥

दूसरा विकल्प—‘जइ दीहो वि अ वणो, बहो जीही पढइ सो वि बहू।

वणो वि तुरियपढिओ, दां तिषि वि एक जाणेहु” ÷ ॥

उदाहरण—‘अरेँ रेँ बाहहि कान्ह ! णाव ओटि डगमग कुगति ण देहि।

तइ इयिँ णदिहिँ सँतार देँ, जो चाहसि सां होहि” ॥

* इकारहिकारो विन्दुयुतो एओ शुद्धौ च वर्णमलितावाप लघु। रेफहकारो, व्यञ्जनसंयोगे परेऽशेषमपि सविभाषम् ॥

÷ यदि दीर्घमपि वर्णं लघुं जिह्वा पठति सोऽपि लघुः। वणौ अपि त्वरितपठितौ द्वौ त्रयो वा एकं जानीत ॥

छन्द की परम आवश्यकता— 'जेषं न सहइ कणअतुला, तिन्नतुलिअं अद्धअद्धेण ।

तेमं ए सहइ सवणतुला, अद्धद्धं छंदभंगेण " ॥

१५—कहीं कहीं गाथाओं में शब्दों के आद्यन्त स्वर को 'लुक्' । ८। १। १० सूत्र से झोपकर कायते हैं, और कहीं आर्षत्वात् भी लोप करते हैं—जैसे एक उदाहरण तृ० जा० ५५६ पृष्ठ में 'किरियावाइ (ण)' शब्द पर सूत्रकृताङ्ग की गाथा है कि—“गइं च जो जाणइऽगागइं च”। इसी तरह अतीत के स्थान में 'तात' लिखा करते हैं, और प्र० जा० ७८९ पृष्ठ में 'अवच' शब्द पर 'वैतियरे अहं तू' और ७७२ पृष्ठ में 'अलाजपरीमह' शब्द पर 'अलाजए होउदाहरण' इत्यादि समझना चाहिये ।

१६—प्रायः बहुत से स्थान पर 'से एणं' इत्यादि मूलपाठों में 'से' शब्द आया करता है, उस पर ज० १३-१-३ (स्था० ५६२-२-५) में लिखा है कि—“से शब्दो मागयंदेशीप्रसिद्धोऽयं शब्दार्थः, कचिदसावित्यर्थे, कचित्तस्येत्यर्थे प्रयुज्यते ।

प्रकीर्णक विषय—

१—ज्योतिष्कारणक में लिखा है कि स्कन्दिशाचार्य की प्रवृत्ति समय में दुःपम आरा के प्रभाव से दुर्निद्र पुरुष जाने पर साधुओं का पढ़ना गुणना सब नष्ट होगया, फिर दुर्निद्र शान्त होने पर जब दो संघों का मित्राप हुआ (जो एक मथुरा में और दूसरा बलभी में था) तब दोनों के पाठ में वाचना जेद हो गया, क्योंकि विस्मृत स्मार्थ के पुनः स्मरण करके संभटन में अवश्य वाचनाजेद हो जाता है ।

२—विशेषावश्यक ज्ञाप्य आदि कई ग्रन्थों में लिखा हुआ है कि 'आर्यवैर' के समय तक अनुयोगों का पार्यक्य नहीं हुआ था, क्योंकि उस समय व्याख्याता और श्रोता दोनों तीक्ष्ण बुद्धिवाले थे, किन्तु 'आर्यराक्षित' के समय से अनुयोगों का पार्यक्य हुआ है, यह बात प्रथम भाग में 'अजरविलय' शब्द पर और 'अणुओग' शब्द पर विस्तार से लिखी हुई है ।

३—तृतीय जाग के ५०० पृष्ठ में 'कालियसुय' शब्द पर काञ्चिकथुत (एकादशाङ्गी) के व्यवच्छेद की चर्चा है कि सुविधि जिन के तीर्थ का सुविधि और शीतल जिन के मध्य काल में व्यवच्छेद हो गया, और व्यवच्छेद का काल एत्योपमचतुर्थजाग माना गया है । इसी तरह और भी पद (ठः) जिनों में समझना, किन्तु व्यवच्छेद काय तो सातो जिनों के मध्य में इस तरह समझना—“चउजागो १ चउजागो २, तिष्ठि य चउजाग ३ पलियमेगं च ४ । तिष्ठेव य चउजागो ५, चउत्थजागो य ६ चउजागो ७” ॥ १ ॥ इति । परन्तु दृष्टिवाद अङ्ग का व्यवच्छेद तो सभी जिनान्तरों में था, और उसकी अवधि भी नहीं की हुई है ।

४—यद्यपि मीमांसादर्शन के तन्त्रवार्तिककार कुमारिल भट्ट ने इस प्राकृतजापा (अर्धमागधी) पर बहुत कुछ आक्षेप किया है, किन्तु वह उनकी अदूरदर्शिता है और व्यर्थ का ही कटाक्ष है, क्योंकि इस कोश के 'पागह' शब्द पर विशेषावश्यक ज्ञाप्य पर टीकाकार का लेख है कि—“ननु जैनं प्रवचनं सर्वं प्राकृतनिवृद्धमिति दुःश्रद्देयम् । मैवं शब्द्वयम्—‘बालस्त्रीमूढपूर्वाणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम् । अनुग्रहाय तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः’ ॥ १ ॥ और यह विचारसहज ही है क्योंकि जो जापा 'राष्ट्रजापा' या 'मातृभाषा' जिस समय होती है, उसीमें जो लोगों को उपदेश मित्रता है उसीसे आवाहवृद्ध पठितापठित स्त्री पुरुष सर्वमाधारण जीवों का विशेष उपकार होता है ।

५—'वागरण' शब्द पर आ० म० द्वि० कार लिखते हैं कि—जगवान् ऋषभ देव ने शक्रेन्द्र से जो व्याकरण प्रथम कहा था वही ऐन्द्र व्याकरण के नाम से प्रख्यात हुआ । तथा कल्पसुबोधिका में लिखा है कि—२० व्याकरण हैं। अर्थात्—१ ऐन्द्र, २ जैनेन्द्र, ३ सिद्धहेम, ४ चान्द्र, ५ पाणिनीय, ६ सारस्वत ७ शाकटायन, ८ वामन, ९ विश्रान्त, १० बुद्धिसागर, ११ सरस्वतीकण्ठाचरण, १२ विद्याधर, १३ कलापक, १४ जीमसेन, १५ शैव, १६ गौर, १७ नन्दि, १८ ज्योत्यस्त्र, १९ मुष्टि व्याकरण, और २० वाँ जयदेव नाम से प्रसिद्ध है । इसीझिये आवश्यक-कवृत्ति के दूसरे अध्ययन में लिखा है कि जब ऐन्द्रादि आठ व्याकरण हैं तब केवल पाणिनीय व्याकरण पर ही आग्रह नहीं करना चाहिये । यद्यपि प्राकृतकल्पलतािका, प्राकृतप्रकाश, हेमचन्द्र, प्राकृत पर्ञ्जा-पाचन्द्रिका, प्राकृतमञ्जरी आदि कई प्राकृत के व्याकरण हैं परन्तु जैसा सिद्धहेम का अष्टमाध्याय उत्तम प्राकृत व्याकरण बना है वैसा प्रायः सकलविषयसंग्राहक दूसरा प्राकृत का व्याकरण नहीं है । तथापि उसके गद्यमय होने से लोगों को कंठस्थ करने में कठिनता पड़ती देखकर इस कोश के कर्ता हमारे गुरुवर्य पूर्वोक्त सूरजी महा-

राज ने अनुग्रह करके सिद्धहेम सूत्रों पर श्लोकवद्ध विवरण रचकर सरल कर दिया, जो कि कोश के प्रथम भाग के परिशिष्टों में संकलित कर दिया गया है। क्योंकि जिस भाषा का ज्ञान अपेक्षित होता है उसके व्याकरण की बड़ी आवश्यकता होती है, अर्थात् बिना व्याकरण के किसी भाषा का पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। इस द्वितीय पदो को एक बार खूब मनन करके पीछे कांश को देखने से विशेष आनन्द आवेगा।

६-यद्यपि महानिर्णीय सू. में टीका या चूर्णि नहीं पायी जाती, तथापि हमारे पुस्तक में चतुर्थीध्ययन की समाप्ति में लिखा है कि-“अत्र चतुर्थीध्ययने बहवः सैद्धान्तिकाः, केचिदालापकान् सम्यक् श्रद्धयत्येवं तैश्च श्रद्धानैरस्माकमपि न सम्यक् श्रद्धानमित्याह हरिजद्रसूरिः, न पुनः सर्वमेवेदं चतुर्थीध्ययनमन्यानि वाऽध्ययनानि। अस्यैव कतिपयैः परिमितैरालापकैश्च श्रद्धानमित्यर्थः। यतः स्थानसमवायगीवाभिगमपञ्जापनादिषु न कथञ्चिदिदमाचक्षे, यथा प्रतिसंतापस्यद्वमस्ति-तद्गुहावासिनस्तु मनुजास्तेषु च परमाधार्मिकाणां पुनः ५ सप्ताष्टवारान् वावदुपपत्तेस्तेषां च तैर्दारुणैर्वज्रशिखापरदृसंपुटैर्मिलितानां परिपीड्यमानानामपि संवत्सरं यावत् प्राणव्यापत्तिर्न जवतीति। वृष्टवादस्तु पुनर्यथा-तावदिदमर्पसूत्रं, विकृतिर्न तावदत्र प्रविष्टा, प्रचूताश्चात्र श्रुतस्कन्धे अर्थाः, शुष्कातिशयेन सातिशयानि गणधरोक्तानि चेह वचनानि, तदेवं स्थिते न किञ्चिदाशङ्कनीयम् ॥ ” इसके बाद फिर ‘ एवं कुशीलसंनगि सन्वापाएहि पयद्वियं ’ इत्यादि एवमाध्ययन का आरम्भ है। इसीतरह कहीं ५ चूर्णि जी मिलती हैं जैसे इसी कोश के प्र० भा० ‘ अरहंत ’ शब्द पर ७५६ पृष्ठ में मूल और चूर्णि दोनों हैं। और ‘ एस समासत्यो ’ ‘ वित्यरत्यं तु इमं ’ ऐसा हमारे पुस्तक के ६ पत्र ५ पृष्ठ ५६ पङ्क्ति में लिखा है।

७-सूत्रकृताङ्ग की गाथाएँ कई अध्ययनों में ऐसी टूटीसी मालूम पड़ती हैं जैसे बन्दोभङ्गवाली हों, किन्तु प्रायः वे जी बन्दोलक्षणविहीन नहीं हैं, क्योंकि बहुत से ऐसे भी बन्द हैं जो पढ़ने में असङ्गत से मालूम होते हैं किन्तु लक्षण से पूर्ण सङ्गत हैं। क्योंकि प्राकृत पिङ्गलसूत्र में चन्द्रलेखा-चित्र-नाराच-नील-चञ्चला-ऋषभगजविलसित-चकिता-मदन-दालिता-वाणिनी-प्रचरलक्षित-गरुडस्त-अचलधृति बन्द जं। विलक्षण हैं। जैसे मदन दालिता का यह उदाहरण है-

“ विज्रष्टसगङ्गितचिह्नुरा धांताधरपुटा,
म्लायत्पत्त्रावलिकुचतटोच्छ्वासोर्मितरला ।
राधाऽत्यर्थं मदनललिताऽऽन्दोलालसवपुः,
कंसाराते रतिरसमहो चक्रेऽतिचटुलम् ” ॥ १ ॥

और यदि कहीं पर किसी भी बन्द का लक्षण सङ्गत न हो तो वहाँ अपि बन्द समझना चाहिये।

पैंतालीस आगमों के नाम, और उनकी मूलश्लोकसंख्या, और हर एक पर पृथक् पृथक् आचार्यों की निर्मित बृहद्वृत्ति, लघुवृत्ति, निर्युक्ति और जाप्यादिक, और उनका श्लोकसंख्याप्रमाण इस रीति से है-

श्रीसुधर्मास्वामीकृत ग्यारह अङ्गों के नाम और व्याख्यासहित ग्रन्थप्रमाण-

१-आचाराङ्ग सूत्र, अध्ययन २७, मूलश्लोकसंख्या ५५००, और उसपर शीघ्राङ्गाचार्यकृत टीका १२०००, चूर्णि ८३००, तथा भद्रबाहुस्वामिकृत निर्युक्तिगाथा ३६७, श्लोक ४५०, (जाप्य और लघुवृत्ति इस पर नहीं है) । संपूर्णसंख्या ५३२५० है।

२-मूलकृताङ्ग सूत्र, श्रुतस्कन्ध २, अध्ययन २३, मूलश्लोकसंख्या ५१००, और उसपर शीघ्राङ्गाचार्यकृत टीका १२८५०, चूर्णि १००००, तथा भद्रबाहुस्वामिकृत निर्युक्तिगाथा ५०७, श्लोक ५५०, (जाप्य नहीं है) संपूर्ण संख्या ५५२०० है। संवत् १५७३ में नवीन श्रीहेमविलसूरि ने दीपिका टीका बनायी है, किन्तु वह पूर्वाचार्यों की गिनती में नहीं है।

३-स्थानाङ्ग सूत्र, अध्ययन (ठाणा) १०, मूलश्लोकसंख्या ३७७०, और उसपर संवत् ११५० में अभयदेवसूरि ने टीका बनायी है, उसका मान १५२५० है, संपूर्ण संख्या १५०५० है।

४-समवायाङ्ग सूत्र, (१०० समवाय तक समवाय मिश्रिते हैं) मूलश्लोकसंख्या १६६७, और उसपर अनयदेवसूरिकृत टीका ३७७६, चूर्णि पूर्वाचार्यकृत ४००, संपूर्ण संख्या ५७४३ है।

५-जगवती सूत्र (विनाहपन्नति), शतक ४१, मूलश्लोकसंख्या १५७५२, और उसपर श्रीअजयदेवसूरिकृत टीका (ज्योत्स्नाचार्य से शोधो हुई) १८६१६, चूर्णि पूर्वाचार्यकृत ४०००, संपूर्ण संख्या ३८३६८ है । संवत् १५६८ में दानशेखर उपाध्याय ने १२००० श्लोक संख्या की लघुवृत्ति बनवाई है ।

६-ज्ञातार्थमकयाज्ञ सूत्र, अध्ययन १६, मूलश्लोकसंख्या ५५००, और उसपर अभयदेवसूरिकृत टीका ४२५२ है । इस समय में १६ कथाएँ दिखायी देती हैं, किन्तु पूर्व समय में साढ़े तीन कराड़ कथाएँ थी ऐसी प्रसिद्धि है ।

७-उपामकदशाज्ञ सूत्र, अध्ययन १०, मूलश्लोकसंख्या ८१२, और इसपर अजयदेवसूरिकृत टीका ६००, संपूर्ण संख्या १७१२ है ।

८-अन्तगरुदशाज्ञ सूत्र, अध्ययन ६०, मूलश्लोकसंख्या ६००, और उसपर अजयदेवसूरिकृत टीका ३००, संपूर्ण संख्या १२०० है ।

९-अणुत्तरोववाइयदशाज्ञ सूत्र, अध्ययन ३३, मूलश्लोकसंख्या २६२, और उसपर अजयदेवसूरिकृत टीका १००, संपूर्ण संख्या ३६२ है ।

१०-प्रश्नव्याकरण सूत्र, ५ आश्रवद्वार और ५ सम्प्रद्वाररूप १० अध्ययन, मूलश्लोकसंख्या १२५०, और उसपर अजयदेवसूरिकृत टीका ४६००, संपूर्ण संख्या ५८५० है ।

११-विपाक सूत्र, अध्ययन २०, मूलश्लोकसंख्या १२१६, और उसपर अजयदेवसूरिकृत टीका ६००, संपूर्ण संख्या २११६ है ।

संपूर्ण ग्यारह अज्ञों की मूलश्लोकसंख्या ३५६५६ है, और टीका ७३५४४ है, और चूर्णि २२७०० है, तथा निर्युक्ति ७०० है, और सब मिलकर १३२६०३ है ।

आचाराज्ञ और सूत्रकृताज्ञ की टीका तो शीलाज्ञाचार्यकृत है और बाकी नवाज्ञों की टीका अजयदेवसूरिकृत है, इसी लिये अजयदेवसूरि का नवाज्ञीवृत्तिकार के नाम से उल्लेख किया जाता है; अजयदेवसूरिजी का चरित्र प्र० भा० ७०६ पृष्ठ में और ' सीतांगायरिय ' शब्दपर शीलाज्ञाचार्य की कथा देखना चाहिये ।

बारह उपाज्ञों के नाम, टीका, और संख्या इस तरह हैं—

१-उववाई उपाज्ञ, (आचाराज्ञप्रतिवद्ध) मूलश्लोकसंख्या १२००, और उसपर अजयदेवसूरिकृत टीका ३१२५, संपूर्ण संख्या ४३२५ है ।

२-रायपसेणी उपाज्ञ, (सूत्रकृताज्ञप्रतिवद्ध) मूलश्लोकसंख्या २०७८, और उसपर मलयगिरिकृत टीका ३७००, संपूर्ण संख्या ५७७८ है ।

३-जीवाजिगम उपाज्ञ, (स्यानाज्ञप्रतिवद्ध) मूलश्लोकसंख्या ४७००, मलयगिरिकृत टीका १४०००, लघुवृत्ति ११००, और चूर्णि १५०० है, संपूर्ण संख्या २१३०० है ।

४-पन्नवणा (प्रज्ञापना) उपाज्ञ, (समवायाज्ञप्रतिवद्ध) मूलश्लोकसंख्या ७७८७, मलयगिरिकृत टीका १६०००, हरिजडसूरिकृत लघुवृत्ति ३७२८ है, संपूर्ण संख्या २७५१५ है ।

५-जम्बूद्वीपपन्नति उपाज्ञ, (जगवतीप्रतिवद्ध) मूलश्लोकसंख्या ४१४६, मलयगिरिकृत टीका १२०००, चूर्णि १८६० है, संपूर्ण संख्या १८००६ है ।

६-चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र, (ज्ञाताप्रतिवद्ध) मूलश्लोकसंख्या २२००, मलयगिरिकृत टीका ६४११, लघुवृत्ति १००० है, संपूर्ण संख्या १२६११ है ।

७-सूरपन्नति सूत्र उपाज्ञ, (ज्ञाताप्रतिवद्ध) मूलसंख्या २२००, मलयगिरिकृत टीका ६०००, चूर्णि १०००, संपूर्ण संख्या १२२०० है । चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति दोनों मिलकर ज्ञाताप्रतिवद्ध हैं ।

८-कल्पिका उपाज्ञ, [उपामकदशाज्ञप्रतिवद्ध] काञ्च, सुकाल, महाकाल, कृष्ण, सुकृष्ण, महाकृष्ण, वीरकृष्ण, रामकृष्ण, पितृसेनकृष्ण, महासेनकृष्ण के नाम से १० अध्ययन हैं ।

ए-कल्पावतंसिका उपाङ्ग, [अन्तगददशाङ्गप्रतिवच्छ] पद्म, महापद्म, भञ्ज, सुभञ्ज, पद्मभञ्ज, पद्मसेन, पद्मगुल्म, न-
क्षिनीगुल्म, आनन्द, नन्दन के नाम से १० अध्ययन हैं ।

१०-पुष्पिका उपाङ्ग, [अणुचरोवार्द्धप्रतिवच्छ] चन्द्र, सूर, शुक्र, बहुपुत्रिका, पुण्यभञ्ज, माणिभञ्ज, दत्त, शिव,
बलि, अनाहत नाम से दश १० अध्ययन हैं ।

११-पुष्पचूडिका उपाङ्ग, [प्रश्नव्याकरणप्रतिवच्छ] श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इलादेवी, सुरादेवी,
रसदेवी, गन्धदेवी नाम से दश १० अध्ययन हैं ।

१२-वह्निदिशा उपाङ्ग, [विपाकसूत्रप्रतिवच्छ] निसङ्ग, अत्रि, दह, वह, पगती, जुति, दसरह, दहरह, महाधनु,
सत्तधनु, दसधनु, नामेसय के नाम से १२ अध्ययन हैं ।

इन पाँचो उपाङ्गों का एक नाम ' निरयावली ' है, और कल्पिका आदि पाँचो उपाङ्गो के ५२ अध्ययन हैं । इनकी
संपूर्ण मूलग्रन्थसंख्या ११०८ है, इनकी वृत्ति ७०० श्री चन्द्रसुरिकृत है । संपूर्ण ग्रन्थसंख्या १८०६ है ॥

इस तरह बारह उपाङ्गों की मूलसंख्या २५४२० है और टीका की संख्या ६७८३६, और द्वाध्वृत्ति ६८३८, चूर्ण
३३६०, संपूर्णसंख्या १०३५४४ है ।

दश पद्मनाम्नों (प्रकीर्णक) की गाथा संख्या इस तरह है—

१-चउसरण पद्मना में ६३ गाथा हैं । २ आउरपच्चक्खाण पद्मना में ८४ गाथा हैं । ३ भत्तपच्चक्खाण पद्मना में
१७२ गाथा हैं । ४ संघारग पद्मना में १२२ गाथा हैं । ५ तंहुवेयाली पद्मना में ४०० गाथा हैं । ६ चन्द्विज्जगप-
इना में ३१० गाथा हैं । ७ देविन्दित्तय पद्मना में २०० गाथा हैं । ८ गणिविज्जा पद्मना में १०० गाथा हैं । ९
महापच्चक्खाण पद्मना में १३४ गाथा हैं * । १० समाधिपरण पद्मना में ७२० गाथा हैं ।

इन दश पद्मनाम्नों की संपूर्ण गाथासंख्या २३०९ है और प्रत्येक में दश दश अध्ययन हैं, और ये दश पद्मना जो
पैतालीस आगम की गिनती में हैं ।

१ वीरस्तव पद्मना गाथा ४३ ।

२ अपिजापित सूत्र संख्या ७५० ।

३ सिद्धिप्राप्तसूत्र संख्या १५०, और इसकी टीका ७५० है ।

४ दीवसागरपन्नत्ति संग्रहणी संख्या २५०, और इसकी टीका २५०० है ।

५ अङ्गविज्जापद्मना संख्या ८८०० (कहीं २ पाई जाती) है ।

६ ज्योतिष्करणरुक पद्मना संख्या १००, इसकी टीका मलयगिरिकृत १४०० है, और २१ पाहुना [प्राचूतक] हैं ।

७ गच्छाचारपद्मना, टीका विजयविमलगणिविरचित, मूलाटीका संख्या ५८५० है, और ४ अधिकार हैं ।

८ अङ्गचूलिया ग्रन्थसंख्या ८००, इसमें लिखा हुआ है कि "आर्यसुधर्मा स्वामी से उन के शिष्य जम्बूस्वामी ने पूछा कि-
ग्यारह अङ्गों की अङ्गचूलिका किस वास्ते हैं ?" इस पर सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया कि-"जिस तरह आनूपणों से अङ्ग शोजित
होते हैं उसी तरह अङ्गचूलिका से एकादशाङ्गी शोजित होती है, इस लिये निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को ये जानने के
ब्यायक हैं और गुरुपरंपरागम से ग्रहण करने के योग्य हैं" । फिर जम्बू स्वामी ने पूछा कि-"गुरुपरंपरागम कैसा ?"
उत्तर में सुधर्मा स्वामी ने कहा कि-"आगम तीन प्रकार के हैं-१ अन्तागम, २ अनन्तरागम, और ३ परंपरागम । अर्थ से तो
अर्हन् जगवान् का अन्तागम है, और सूत्र से गणधरों का अन्तागम है । तदनन्तर गणधरशिष्यों का अनन्तरागम है,
उसके बाद सभी का परंपरागम है " । और अङ्गचूलिका के अन्त में उपाङ्गचूलिका की चर्चा है कि-सुधर्मा-
स्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि-"सेसं उवंगचूलिया तो गहेयव्वं " अर्थात् अवशिष्ट जाग उपाङ्गचूलिका
से लेना चाहिये ।

* कई लिखी प्रतियों में महापच्चक्खाण पद्मना के स्थान में ४३ गाथावाला वीरस्तव पद्मना लिखा है, किन्तु ऊपर कहे हुए
दश पद्मनाओं से पृथक् जो है परन्तु उनकी यहाँ आवश्यकता न होने से केवल नामनिर्देश ही किया है ।

छः वेदग्रन्थों के नाम और उनकी ग्रन्थसंख्या—

१-निशीथ सूत्र, उद्देश २०, मूलश्लोकसंख्या ८१५, और इस पर लघुजाण्य ७४००, और जिनदासगणिमहत्तरविरचित चूर्णि २८०००, बृहद्भाष्य १२००० है, यह टीका के नाम से ही प्रसिद्ध है। जज्जवाहुस्वामी की बनायी हुई निर्युक्ति गाथाएँ हैं। संपूर्ण ग्रन्थसंख्या ४८२१५ है। शीघ्रभञ्जसूरि के शिष्य चन्द्रसूरि ने वि० सं० ११७४ में व्याख्या की है। जिनदासगणिमहत्तर ने अनुयोगद्वारचूर्णि, निशीथचूर्णि, बृहत्कल्पजाण्य, आवश्यकचूर्णि आदि कई एक ग्रन्थ बनाये हैं।

२-महानिशीथ सूत्र, अध्ययन ७, चूलिका २, मूलश्लोकसंख्या ४५००, मतान्तर में इसकी तीन वाचनाएँ हैं—१ लघुवाचना; ४२००; २-मध्यवाचना ४५००; ३-बृहद्वाचना ११८०० है। किन्तु हमारी पुस्तक के अन्त में लिखा है कि—

“ चत्वारि सयसहस्रा, पंचसयात्रो तहेव पंचासं ॥

चत्वारि सिद्धोगा वी, महानिशीहम्मि पाएणं ” ॥ १ ॥ ४५५४ ॥

३-बृहत्कल्पसूत्र, उद्देश ६, मूलसंख्या ४७३ है। इसपर सं० १३३२ में बृहच्छालीय श्रीक्षेमकीर्तिसूरि ने ४२००० संख्यापरिमित टीका बनायी है। जाण्य जिनदासगणिमहत्तरकृत १२०००, लघुजाण्य ८००, चूर्णि १४३२५, संपूर्णग्रन्थसंख्या ७६७५८ हुई। टीका में लिखा हुआ है कि— [कः सूत्रमकार्षीत्, को वा निर्युक्तिं, को वा जाण्यमिति ? । उच्यते—पूर्वेषु यन्नवमं प्रत्याख्याननामकं पूर्वं तस्य यत्तृतीयमाचाराख्यं वस्तु तस्मिन् विंशतिनामप्राञ्जते मूत्रगुणेषूत्तरगुणेषु वाऽपराधेषु दशविधमालोचनादिकं प्रायश्चित्तमुपवर्णितं, कालक्रमेण च दृष्टमानुभावतो धृतिवत्तत्त्ववैयर्थ्यायुःप्रवृत्तिषु परिहीयमानेषु पूर्वाणि दुरवगाहानि जातानि ततो मा भूत् प्रायश्चित्तव्यवच्छेद इति साधनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण जगवता भञ्जवा-हस्वामिना कल्पसूत्रं, व्यवहारसूत्रं चाकारि; उजयोरपि च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ती]

४-व्यवहारदशाकल्पच्छेद सूत्र, उद्देश १०, दो खण्ड, मूलश्लोकसंख्या ६००, टीका मलयागिरिकृत ३३६२५, चूर्णि १०३६१, जाण्य ६००० है। निर्युक्ति की संख्या अज्ञात है। संपूर्ण ग्रन्थ संख्या ५०५८६ है।

५-पञ्चकल्पच्छेद सूत्र, अध्ययन १६, मूलसंख्या ११३३, चूर्णि २१३०, और दूसरी टीका की संख्या ३३००, जाण्य ३१२५, संपूर्ण संख्या ६३८८, और गाथासंख्या २०० है।

६-दशाश्रुतस्कन्धच्छेदसूत्र, मूलसंख्या १८३५, अध्ययन १०, चूर्णि २२४५, निर्युक्तिसंख्या १६८, संपूर्णसंख्या ४२४८ है। टीका श्रीब्रह्मविरचित है, इसका आठवाँ अध्ययन कल्पसूत्र १२१६ है जिसकी टीका कल्पसुबोधिका है *।

७-जीतकल्पच्छेदसूत्र, मूलसंख्या १०८, टीका १२०००, सेनकृत चूर्णि १०००, भाष्य ३१२४, संपूर्ण संख्या १६२३२ है, और चूर्णि की व्याख्या ११२० है, और इसकी लघुवृत्ति श्रीसाधुरत्नकृत ५७००, और तिलकाचार्यकृत वृत्ति १५०० है।

साधुजितकल्पविस्तार ३७५, धर्मघोषसूरिकृत वृत्ति २६५० है, और उसपर पृथ्वीचन्द्रकृत टिप्पण ६७०, और निर्युक्तिगाथा १६८ जज्जवाहुस्वामीकृत है, इसकी चूर्णि और टीकाएँ बहुत हैं, परंतु प्रायः करके वि० सं० १२०० के पीछे की बनी हुई हैं।

चार मूलसूत्रों की संख्या इस तरह है—

१-आवश्यक सूत्र, मूलगाथा १२५, टीका हरिजञ्जसूरिकृत २२०००, निर्युक्ति भञ्जवाहुस्वामिकृत ३१००, चूर्णि १८००० है। दूसरी आवश्यकवृत्ति [चतुर्विंशति] २२००० है, उसकी लघुवृत्ति तिलकाचार्य कृत १२३२१ है, और अञ्चज्ञगच्छाचार्यकृत दीपिका १२००० है, इसका भाष्य ४००० है, आवश्यकटिप्पण मल्लधारि हेमचन्द्रसूरिकृत ४६०० है। संपूर्णसंख्या ८८१४६ है, निर्युक्ति की टीका हरिजञ्जसूरिकृत २२५०० है।

* अर्थतो जगवता वर्द्धमानस्वामिना असमाधिस्थानपरिज्ञानपरमार्थ उक्तः, सूत्रतो द्वादशस्वक्षेपु गणधरैः, ततोऽपि च मन्दमेघसामनुग्रहाय अतिशायिभिः प्रत्याख्यानपूर्वादुद्भूत्य पृथक् दशाध्ययनत्वेन व्यवस्थापितः । दशाध्ययनप्रतिपादको ग्रन्थो दशा, स चासौ श्रुतस्कन्धः । दशाकल्प इति पर्यायनाम । अयं च ग्रन्थोऽसमाधिस्थानादिपदार्थशासनाच्छास्त्रम् । अस्याष्टमाध्ययनं कल्पसूत्रमुच्यते, टीका चास्य कल्प-सुबोधिकेति ।

१-विशेषावश्यकसूत्र, [आवश्यकसूत्र मूल (सामायिकाध्ययन) का विशेष परिकर है] मूलसंख्या ५००० है। श्री-जिनभद्रगणिकमाश्रमण कृत है, और इसकी बृहद्वृत्ति १८००० मन्त्रधारिहेमचन्द्रसूरिकृत है, लघुवृत्ति १४००० को-टाचार्यकृत, या जोणाचार्यकृत है, बृहद्वृत्ति की टीका तर्कानुविद्या जैनस्थापनाचार्य कृत है।

१-पाखी (पाक्षिक) सूत्र, मूल ३६०, सं० ११८० में यशोदेवसूरिकृत टीका ५७००, चूर्णि ४०० है।

१-यतिप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति ६०० है।

२-दशवैकालिक सूत्र, सय्यभयसूरिकृत, मूल ७००, वृत्ति तिलकाचार्यकृत ७०००, दूसरी वृत्ति हरिभद्रसूरिकृत ६८१०, और मलयगिरिकृत वृत्ति ७७००, चूर्णि ७५००, लघुवृत्ति ३७०० है। निर्युक्तिगाथा ४५० है। आधुनिक-सोमसुन्दरसूरिकृत लघुटीका ४२००, तथा समयशुंदरउपाध्यायकृत लघुटीका २६०० है।

२-पिण्डनिर्युक्ति, भद्रबाहुस्वामिकृत, मूलसंख्या ७००, इसपर टीका मलयगिरिकृत ७०००, दूसरी प्रति में ६६०० है, वि० सं० ११६० में वीरगणिकृत टीका ७५०० है और महासूरिकृत लघुवृत्ति ४००० है, संपूर्णसंख्या १७२०० है।

३-ओघनिर्युक्ति, जद्रवाहुस्वामिकृत, मूलगाथा ११७० है, जोणाचार्यकृत टीका ७०००, और इसका भाष्य ३००० है, चूर्णि ७००० है, संपूर्णसंख्या १८४५० है।

४-उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन ३६ हैं, मूलसंख्या २००० है, वादिवेताल ज्ञानिसूरिकृत बृहद्वृत्ति [पाईटीका] १८००० है, दूसरी प्रति में १७६४५ [लक्ष्मीवद्वज्री टीका] है, सं० ११७६ में नेमिचन्द्रसूरि से कृत लघुवृत्ति १३६०० है, भद्रबाहुस्वामिकृत गायानिर्युक्ति ६०७ है, और चूर्णि ६००० है, संपूर्णसंख्या ४०३००।

अब दो चूलिकासूत्र की संख्या और नाम—

१-नन्दीसूत्र, देवार्जिगणिकमाश्रमणकृत, मूलसंख्या ७०० है, इसपर मलयगिरिकृत वृत्ति ७७३५, चूर्णि सं० ७३३ में बनी हुई २००० है, हरिजद्रसूरिकृत लघुटीका २३१२ है, संपूर्णसंख्या १२७४७ है। चन्द्रसूरिकृत टिप्पण ३००० है।

२-अनुयोगद्वारसूत्र, गाथा १६०० है, उसपर मन्त्रधारिहेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति ६००० है। जिनदासगणिमहत्तर कृत चूर्णि ३०००, और हरिभद्रसूरिकृत लघुवृत्ति ३५०० है, इसतरह संपूर्णसंख्या १४३०० है।

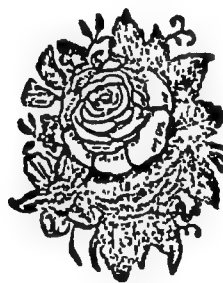
इस तरह ग्यारह अङ्ग, बारह उपाङ्ग, दस पङ्क्ता, षः वेदसूत्र, चारमूलसूत्र, और दो चूलिकासूत्र मिलाकर इस समय पैतालीस आगमों की संख्या हो जाती है। इत्यत्र विस्तरेण।

विशेष विज्ञापन—

इस पुस्तक के संशोधन में हमारे सतीर्थ्य मुनि श्री दीपविजयजी और मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी ने पूर्ण परिश्रम किया है किन्तु लेखकों की लिखी हुई पुस्तकों के अत्यन्त जीर्ण होने से और प्रायः एकही एक प्रंति के मिलने से भी कहीं कहीं त्रुटित गाथाएँ टीका का अवलम्बन लेकर प्रकरण और विषय के अवि-रोध से पूरी की गयी हैं उनमें यदि कहीं पर पाठ भेद हो गया हो तो सज्जनों को उसे ठीककर लेना चाहिये।

निवेदक

उपाध्याय मुनि श्री १०८ मोहनविजयजी



उपोद्घातः

अहम् ।

कः सद्यः सचेतनो जन्मी नाऽस्मात् संसृतिः संसारफलेशादा-
त्मानमपवर्त्तयितुं कामयते ? तथा चास्मिन् भवे चम्पयमाण-
स्य कस्य वा प्रेक्षावतो दुःखमनागतमजिहासितं भवति ? कि-
न्तु हानोपायपरिज्ञानमन्तरा कथं कृतं कोऽपि समापयेत् ? ।
ततो विश्वस्याऽपि विश्ववाचनश्चेतस्तदुपायजिज्ञासायां साऽ-
भिलाषम्-यदेतद्वारसंसारपारावारान्निर्न्तरानिमग्नकलेवर-
धारिणामनवरतोत्कटजन्मजरामरणाऽऽदिबेदनाऽभिभूतानां को-
ऽभ्युपायो मौलो ह्येयमिदं समूलमुन्मूलयति ? । यद्यपि सरनर-
धिपणादीप्तिमाक्षिनो विचारशालिनो नरा घटमुत्तरायितुं प्राग-
हन्यमात्मस्मिप्यन्ते-यद् धर्ममन्त्रेण कोऽप्युपायो न प्रेक्षाप-
थमारोहति तस्मात् परादुमुखीकर्षुम् । परं तु क्षीरनारयोरिव
धर्माधर्मयोर्धिया केचिद्विहंसमपास्य मिश्रणमितयोरन्यतरं धिक्-
कुमसाधारणजनाऽतिरिक्तस्याऽमुकं यवर्त्ति, यतोऽस्मिन् समये
परःशतानि मतानि धर्मवृत्तिं तत इमः प्रवर्त्तन्ति, यानि सं-
ययानुमप्यशक्यानि संख्यावतां महामनीषिणामपि, किं पुनः
पार्थक्येन धर्मोऽयमयं धर्माभास इति प्रदर्शयितुम् । यद्यपि महा-
नुभावानामस्मद्महामान्यानां धन्यतमानामादेशानुसारेणैयद-
वश्यमाभापितुं शक्यते-यदस्मिन् दुःपमागपरपथां पञ्चमे
काले धर्माज्ञासानामेव विशेषतः प्रायशः प्रचारो भवितुमर्हति
धर्मस्य चाऽवनतिदशा नवितुं युज्यत इति ।

पुनरप्यत्र पर्यनुयोगेन स्मृतिसंरणाधिष्ठाने-यत्तेषामन्यतम-
स्तादृशः को नु धर्मानिधेयधुरामधिरोहति ? तत्रेत्यं प्रांतवाक्यमु-
पढौकयन्त्याहताभियुक्ताः-यस्मै प्रवर्त्तकपुरुषा रागद्वेषकलङ्कपद्मा-
द्विताद्विकल्पा भवेयुधर्मश्च कुञ्जरादिपिपिलिकापर्यन्तस्य कस्या-
पि प्राणिनः परमप्रेयः प्राणपरिवर्त्तनोपदेष्टा न स्यात्, प्रत्युत शाश्व-
तमशाश्वतं च श्वःश्रेयसमेव प्रापयितुं प्रभवेत्, न एव धर्मपटोपा-
देयपदवीमङ्गलुक्तुमशक्नुम् । परमार्थतो यदीदृक् परमार्थः परामुच्ये-
त् तदा तत्र जयतां तीर्थकराणामथवा जगवतो वर्द्धमानस्यैवाऽ-
सन्नोपकारित्वेनानेकान्तजयपताका प्रादुर्भूयात् । यनस्त एव धि-
मन्नकयलालोकैः काश्चिन्नयवर्त्तिसामान्यविशेषात्मकानिखिलपदा-
र्थसार्यवेत्तारः, शक्राणामपि जन्मस्त्राचष्टमहाभातिहार्यादि-
संपादनेनार्चनार्हाः, अविश्ववस्तुतत्त्वप्रवक्तारः, शान्तरससरत-
स्वान्तत्वेन रागद्वेषविजयकर्तारः; राक्षान्तश्च तेषामहिंसा पर-
मो धर्म इति ॥

यद्यपि पृथग्भूतेष्वितो धर्माभासेष्वपि किंपाकपाकोपनिषत्पा-
यसदेष्टा हिमागर्भिता अहिंसा भगवती यत्र तत्र विद्वांस्यते-
तस्या जिघृक्षा मधुदिग्धधारकरात्रकरवाद्याप्रलोलरसनानामि-
व जनानां न सुखाकरोतीति एकत्रामत्रे संपृक्तविषमधुकल्पेव
न युक्ता । यतस्तेषु जन्मादिदुःखमुसुच्छूणां प्राधान्येन कारणता
तस्या नोपलभ्यते, अपि तु यद्यंशतस्तत्र दयाऽभिनिविष्टा, हिं-
साऽपि तर्ह्यन्यांशतो जागर्त्ति, यथा संसारमोचकानामिदमैदंपर्य-
म्-यदि नरपशुशकुनिष्वन्यतमः कोऽपि जवेऽस्मिन् संसारवेद-
नामनुभवति, तर्हि तस्येतो देहतः पृथक्करणमेव दयापरवशानां
कर्त्तव्यमिति । सततन्तुप्रवणानां यज्वनां तु तादृक्भवसरमासा-

द्य दयापात्राणामन्यगतिकानां क्षामतिकानां विशसनमेवोर्ध्व
गतिप्रापणमित्यादि ग्रन्थेऽस्मिन्नेव प्रथमभागे " भद्रगङ्गुमार "
" अहिंसा " शब्दयोरुपरि विशेषविस्तरः प्रेक्षणीया जिज्ञासूनामि-
ति । अत एवाभियुक्तानामाभाषकः-

" पत्तापातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।

युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ १ ॥

रागद्वेषनिर्मुक्ता-हन्तं च हृष्यापरम् ।

प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥ २॥ इत्यादि ॥

दयाऽऽचारक्रियावस्तुभेदैर्धर्माऽयमाहंतश्चतुर्धा प्रविभक्तः । नि-
दानमस्या देवनिर्मितसमवसरणसमवसृतस्य देवाधिदेवस्य
भगवतोऽखिलरूपस्य श्रीतीर्थकरस्योपदेशादविभूतं शासन-
मेव । यद्धि श्रीमद्भिर्गीतमादिभिर्गुणैः समनन्तरं कियत्य-
प्यनेहासि समनीने द्वादशाङ्गीरूपेणैकादशाङ्गीरूपेण वा सेद-
जितं सत् सुत्रनाम्ना व्यवहियते, तथा चैतत् प्रत्येकतीर्थकर-
शासनसमयेऽस्तत्त्वदशामासादयति । यद्यपि काले पूर्वस्मि-
न् चतुर्दशपूर्वधर-दशपूर्वधर-धुनकेचलिप्रभृतयो महानुभावा
महात्मानो ये केचनाऽऽसन् तेषामतिशयवैजयवशाद् मूलादे-
वार्थज्ञानं सुकरमतः स्पष्टीकरणप्रवणटीकादिपुस्तकादीनामा-
वश्यकतैव नासीत्, परन्तु तादृशज्ञानविकलानां जीवानामर्वा-
चामचधान्धधुरां बोधुमसमर्थानां विस्मृत्पदार्थसार्थस्मृतिम-
लभमानानां दुर्बोधस्य गहनातिगहनविषयस्य स्याद्वादिक-
दर्शनस्य विशदीकरणाय भगवद्भिः श्रीभञ्जवाहुस्वामिप्रमुखै-
र्यद्यपि निर्युक्ति-भाष्य-चूणि-टीकाऽऽदीनां रचना कृता, तथापि
साम्प्रतं जैनग्रन्थस्य भूयान् विस्तरः समजनि, यदधुना स्व-
र्णायसाऽऽगुप्या न कोऽपि क्रमो मनुष्यः सांसारिकं कृत्यं स-
माचरन् गृहस्थविरक्तान्यतरोऽमुष्माजैनशासनसागरात् पार-
मुत्तरीतुम् । हेतुरयमत्र विभाव्यते-यत् प्रथमतः सर्वेषां ग्रन्थानां
समुपलब्धिर्येन सधर्म समुपजायते, ये चात्पीयांसः कश्चित्
कश्चिदपि समुपलभ्यन्ते, के विषयाः कुत्र तत्र धिन्वस्ता इति
सर्वसाधारणस्य तत्त्वतो ज्ञानमसुकरम् । यदि कस्यापि कास्मि-
न्नापि ग्रन्थे जायेतापि विषयाणां यथाकथञ्चिदुपलब्धिस्तथापि
चेमेऽजिधेया अन्यधान्यत्र ग्रन्थे च कुत्र कुत्र भविष्यन्तीति
परामर्शवैदग्ध्यविधुरधुरामाधिष्ठाल्लब्धवर्णोऽपि ।

कारणान्तरमप्येतत्-यदिदं जैनदर्शनं यस्याम् (अर्द्धमागध्याम्)
भाषायामजनिवचम्, एषा सैव, यथा प्राकृतनसमये भारतभूम्यां
मातृभाषात्वेन, राष्ट्रजापात्वेन च स्थानं प्रापि । यस्याश्च तीर्थ-
करणधरप्रभृतिर्निर्महानादरः कृतोऽमुष्या एव भाषायाः प्र-
चारः प्रचलितसमये कियानपि क्वापि नोपलभ्यते । यदपि
दशरूपकादिषु यत्र तत्र पात्रप्रभेदप्रयुक्ता कतिपयप्रभेदजिज्ञा
प्राकृतभाषा दृष्टपथमधिरोहति, तदपि तस्मिन्नाहितच्छाया-
त एव कार्यं निर्वहन्ति यथाकथञ्चित् सर्वेऽपि पाठकाः ।

यदि केनापि प्राकृतप्रकाशादिव्याकरणदर्शनेन समज्यस्ताऽपि
शुद्धा प्राकृतभाषा, न तावत्या जैनागममूलसूत्राणां निर्युक्तिगाथा-

चूर्णिप्रभृतीनां तात्पर्यमवधारयितुं शक्यम्, यतस्तीर्थकरणघ-
रादिभिरुत्तमागध्यामेवैषां प्रस्तावः प्रस्तुतः, या च सामान्यप्रा-
कृतभाषातो नेदीयसी किञ्चिद् विलक्षणतरा ।

गतवति समये तु गुरुशुश्रूषापरायणाः श्रममविगणयन्ते-
वासिजनाः स्वस्वाचार्यमुखाम्भोजसकाशात् समुपलब्ध-
मधुबिन्दुनिकरसदृक्सूत्रानुपूर्वात्तदर्थान् संचिन्वानाः कण्ठ-
स्थं कुर्वन्त एव कृतकार्या धभूवुः, किन्त्वद्यध्वीनायास्तादृ-
श्याः परिपाठ्याः प्रायशो वैकल्याद् ज्ञानदर्शनचारित्र्याणां भू-
यान् हासः समजनि । संक्षिप्तविवरणं चास्याऽत्रैव प्रथमज्ञागं
“ अहालंदिय ” शब्दे तत्त्वबुद्ध्युत्सुभिर्जिज्ञासुभिर्दृष्टव्यम् ।

निरीक्ष्य चैतादृशीं दुर्दशामस्माकं गुरुवर्याणां श्रीसौधर्मवृद्धत्त-
पागच्छीयकलिकालसर्वज्ञकल्पभट्टारक १००८ धीमदावजय-
राजेन्द्रसुरीश्वरमहाराजानां चेतसि चिन्ताऽतिमहनी समुप-
स्थिता-यत् प्रत्यहमार्हतधार्मिकदार्शनिकशास्त्राणां हानि-
रेवोपजायते, कारणदस्मादेवाज्ञा बहवः सुहृन्मन्वानाः का-
र्यमुत्सूत्रमपि कर्तुमारब्धवन्तः, तथा स्वधर्मग्रन्थेभ्यो विस्मृति-
सरणिमाश्रिता इव । ततः किमस्यामवस्थायां करणीयमस्मा-
भिः?, यतः संसारोऽस्मिन्नसारे तस्यैव मर्त्यस्य जनिः सार्थिका,
येन यथाशक्यमात्मधर्मस्योन्नतिः कृता । अन्यथा-

“ असंपादयतः कञ्चि-दर्थं जातिक्रियागुणैः ।

यदृच्छाशब्दवत् पुंसः, संज्ञायै जन्म केवलम् ॥ ”

अथवा-“ स लोहकारमत्नेव, श्वसन्नपि न जावति ” ।

इति लौकिकोक्तिं सार्थकयति । एतादृशो विमर्शश्चेत-
सि प्रभूतकालमुवास, किन्तु कदाचिदकस्यां कणदायां
सहसा विचारः प्रादुर्बभूव-कोऽप्येकस्तादृशो ग्रन्थः प्रले-
तरशेल्या रचनीयो, यस्मिन् जैनागमसत्क्रमागधीभाषाश-
ब्दानामकाराद्यनुक्रमतो विन्यासं विधाय गीर्वाणभाषायां त-
दनुवादलिङ्गव्युत्पत्तिवाच्यार्थान् निधाय समनन्तरं यथासंभवं
तदुपरि मूलसूत्राणां पाठनिर्देशपुरःसरं समुपलब्धपुगतनटीका-
चूर्ण्यादि विवरणं दत्त्वा स्पष्टयितव्यः । यदि स एव विषयो ग्र-
न्थान्तरेष्वप्युपलभ्येत तर्हि तदनुपदमेव सोऽपि निर्देश्यः । प्रा-
यशोऽस्माद् निजमनोऽनुकूलो लोकस्योपकारो भविष्यतीति ।
अथोर्षसि समुत्थाय सुरीन्द्रः स्वनित्यनैमित्तिकीः क्रियाः
समाप्तास्य प्रकृतकार्यस्य भारमुवाह । समाहितमानसेन
द्वाविंशतिवर्षं यावद् महान्तमपि श्रममविगणय्य तेन कार्यमेतद्
विज्ञानपोह्य संपूर्णतां लम्बितम् । यद्-‘अभिधानराजेन्द्र’ नामा
कोशः प्राकृतभाषाप्रज्ञेदभूतमागध्यां विरचय्य चतुर्षु भागेषु
विभक्तः ।

अथैकदाऽनल्पकल्पाः श्रावकाः शिष्याश्च मुनयः श्रीमद्भु-
पाच्यायमोहनविजयदीपविजयतीन्द्रविजयप्रभृतयः साधवो
विनेयाः साञ्जलिबन्धं प्रार्थनापुरःसरं व्याज्जपन्-भगवन् !
यद्यमपि ग्रन्थो ग्रन्थान्तरत्नमः पुस्तकभाण्डागारेष्वेव नि-
हितः स्थास्यति तदा कियन्तो जना अनर्घ्यस्यास्य प्रवररत्न-
स्येव कोषरत्नस्य लाभभाजो ऋविष्यन्ति ? । तस्मादनेकेषु
देशदेशान्तरेषु यया रीत्या चूयान् प्रचारः स्यात्, तदुपायः क-
रणीय इति गुरुचरणान्ते विहसिपुरस्सरं निवेदयामः ।

तदुत्तरं प्रशान्तगम्भीरया गिरा धीसुरीश्वराः नातिस्तोकव-
ह्वं प्रोचुः-अहमात्मीयं करणीयं. पूर्तिमनयमतः परं येनोपायेन

निखिन्नलोकोपकारः स्यात् स तु युष्माभिः कर्तुमर्हः, किन्तु व-
यमात्रेऽयं तादस्थ्यमुपगताः ।

ततः श्रीसद्देनास्याभिधानस्य विशेषप्रचाराय शीशकाक्षरैः
पुष्टचिकणपत्रेषु मुद्रापयितुमेव निश्चित्य प्रारब्धते स्म ।
पुनरस्य शोधनादिभारः सुरीन्द्राणां विनीताशिष्याभ्यां मुनि-
श्रीदीपविजय-मुनिश्रीयतीन्द्रविजयाभ्यां जगृहे, यावत्स्मिन्
कार्ये पूर्णाऽभिज्ञौ वर्तेते । अतः परं वक्ष्यन्तरं ज्ञाया (हिन्दी)
चुमिकातोऽवसेयम् ।

स्याद्वादनिरूपणेन समवाय-सत्ताऽपोह-वेदाऽपौरुषेयत्व-
जगत्सकृत्कत्व-शब्दाकाशगुणत्वा-ऽद्वैतवादादिखण्डनेन ए-
केन्द्रियाणां भावेन्द्रियज्ञानस्थापनेन च जैनदर्शनस्यातिगा-
म्भीर्यं व्यक्तीभवतीति दिङ्मात्रमिह तद् दर्शयते-

अथ वस्तुनः स्याद्वादात्मकत्वं सप्तभङ्गाप्ररूपणेन सुखोन्नेयं
स्यादिति प्रथमं तस्या निरूपणम्-

एकत्र वस्तुन्येवैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः
समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः
सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गाः ॥

एकत्र जीवादौ वस्तुनि एकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रभवंशाद-
विरोधेन प्रत्यक्षादिवाधापरिहारेण पृथग्चूतयोः समुदितयो-
श्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाङ्घितो
वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गा विहेया ।

सप्तभङ्गाः पुनरिमे-

स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिविकल्पनया प्रथमो भङ्गः १
स्यान्नाऽस्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः २
स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्प-
नया तृतीयः ३ स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद् विधिनिषेध-
कल्पनया चतुर्थः ४ स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधि-
कल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः ५ स्या-
न्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया षष्ठः ६ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्या-
दवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद् विधि-
निषेधकल्पनया च सप्तमः ७

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम् । स्यात्-कथञ्चित्, स्वछव्य-
क्षेत्रकालभावरूपेण अस्त्येव सर्वं कुम्भादि, न पुनः पर-
छव्यक्षेत्रकालज्ञावरूपेण । तथाहि-कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वे-
नास्ति, न जलादिरूपत्वेन । क्षेत्रतः पाटद्विपुत्रकत्वेन, न का-
न्यकुञ्जादित्वेन । काष्ठतः शैशिरत्वेन, न वासन्तिकादित्वेन ।
भावतः इयामत्वेन, न रक्तत्वादिना । अन्यथा इतररूपापस्या
स्वरूपहानिः स्यादिति । अत्र भङ्गे एवकारस्तु अनभिमतार्थ-
व्यावृत्त्यर्थमुपात्तम् । अस्त्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादाने
कुम्भस्य सत्तन्माद्यस्तित्वेनापि सर्वप्रकारेणास्तित्वप्राप्तेः प्र-
तिनियतस्वरूपापुपपत्तिः स्यात्, तत्प्रतिपत्तये स्यादिति प्र-
युज्यते, स्यात् कोऽर्थः-कथञ्चित्, स्वछव्यादिभिरेवायमस्ति, न
परछव्यादिभिरपीत्यर्थः ॥ (२) स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्या-
दिभिरपि वस्तुनोऽस्तत्त्वाभिष्टौ हि प्रतिनियतस्वरूपाज्ञावाद् व-
स्तुप्रतिनियमविरोधः । न चास्तित्वैकान्तवादिभिरत्र नास्ति-

त्वमासिद्धमित्यभिधानायम् । कथञ्चित् तस्य वस्तुनि युक्ति-
सिद्धत्वात् साधनवत् । न हि कथिदन्तित्यादौ साध्ये सत्त्वा-
दिमाधनस्यास्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमन्नरेणोपपन्नम् , तस्य
साधनाभासत्वप्रसङ्गात् । अथ यदेव नियतं साध्यसद्भावेऽ-
स्तित्वं तदेव साध्यानां साधनस्य नास्तित्वमभिधीयते , त-
त्कथं प्रतिषेध्यम् ? , स्वरूपस्य प्रतिषेधत्वानुपपत्तेः , साध्य-
सद्भावे नास्तित्वं तु यत् तत् प्रतिषेध्यम् , तेनाविनाभावित्वे
साध्यसद्भावास्तित्वस्य व्याघातात् तेनैव स्वरूपेणास्ति नास्ति-
चेति प्रतीत्यज्ञादिति चेत् । तदसत् । एवं हेतोस्मिरूपत्वाचरो-
धात् । विपक्षासत्त्वस्य तात्त्विकस्याज्ञात्वात् । यदि चायं ज्ञा-
वाभावयोरैकत्वमाचक्षीत , तदा सर्वथा न कञ्चित् प्रवर्तते ,
नापि कृतश्चिद्वर्तते । प्रवृत्तिनिवृत्तावप्यस्य भावस्याज्ञाव-
परिहारेणासंभवात् , अभावस्य च भावपरिहारेणैति वस्तुनोऽ-
स्तित्वनास्तित्वयोः रूपान्तरत्वमेष्टव्यम् । तथा चास्तित्वं नास्ति-
त्वेन प्रतिषेधेनाविनाज्ञावि सिद्धम् । यथा च प्रतिषेध्यमस्ति-
त्वस्य नास्तित्वं तथा प्रधानभावतः क्रमापितोऽनपत्तादिधर्म-
पञ्चकमपि वक्ष्यमाणं लक्षणीयम् ॥ (३) सर्वामिनि द्विती-
यलक्षणादिहोत्तरत्र चानुवर्त्तनीयम् । ततोऽयमर्थः-क्रमापि-
तस्वपरस्व्यादिचतुष्टयापेक्षया क्रमापिताभ्यामस्तित्वनास्तित्वा-
भ्यां विशेषितं सर्वं कुम्नादि वस्तु स्यात् (कथञ्चित्)
अस्येव , स्यात् (कथञ्चित्) नास्त्येवेत्युल्लेखेन वक्ष्यमि-
ति ॥ (४) द्वान्यामस्तित्वनास्तित्वाभ्यामप्यधर्माभ्यां युगपत्
प्रधानतयाऽपि ताभ्यामेकस्य वस्तुनोऽभिधिसायां तादृशस्य
शब्दस्यासम्भवादवच्छेद्यं जीवादि वस्तुविति । तथाहि-सद-
सत्त्वगुणद्वयं युगपदं कत्र सदित्यभिधानेन वक्तुमशक्यम् ,
तस्यासत्त्वप्रतिपादनासमर्थत्वात् । तथैवासदिति अभिधानेन
न सदं वक्तुं शक्यम् , तस्य सत्त्वप्रत्यायने सामर्थ्याभावात् ।
साङ्केतिकमेकं पदं तदभिधातुं समर्थमित्यपि न सत्यम् ,
तस्यापि क्रमेणाध्वयप्रत्यायने सान्दर्भ्योपपत्तेः । “ तौ सत् ”
३ । २ । १२७ । (पाणि०) इति शब्दज्ञानचोः संकेतितसत्त्व-
वत् । इति सकलवाचकरहितत्वादवच्छेद्यं वस्तु युगपद् स-
दसत्त्वाभ्यां प्रधानज्ञावापिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते । (५) स्व-
द्रव्यादिचतुष्टयाऽऽपेक्षयाऽस्तित्वे सत्यस्तित्वनास्तित्वान्यां सह
वक्तुमशक्यं सर्वं वस्तु ; ततः स्यादस्यैव स्यादवच्छेदमे-
वेत्येवं पञ्चमभङ्गेनोपदर्श्यते इति (६) परस्व्यादिचतु-
ष्टयापेक्षया नास्तित्वे सत्यस्तित्वनास्तित्वान्यां यौगपदेन प्रति-
पादयितुमशक्यं समस्तं वस्तु ; ततः स्यान्नास्त्येव स्यादवच्छे-
मेवेत्येवं षष्ठमभङ्गेन प्रकाशयते (७) सपरस्व्यादिचतुष्टयापेक्षया-
ऽस्तित्वनास्तित्वयोः सतोरस्तित्वनास्तित्वान्यां समसमयमभि-
धातुमशक्यमखिलं वस्तु , तत एवमनेन भङ्गेनोपदर्श्यते इति ॥

उक्तं च-

“ या प्रश्नाद् विधिपर्युदासनिदया याच्युना सत्त्वा,
धर्म धर्ममपेक्ष्य वाच्यरचनाऽनेकात्मके वस्तुनि ॥
निर्दोषा निरदोषा देव । प्रवता सा सप्तमङ्गो यथा,
जल्पन् जलपरणाङ्गणे विजयते वादी विपक्षं कृणात् ॥ १ ॥ ”

अथ सप्तमङ्गोर्दिशतदिशा स्याद्वादास्तित्वम्-

दीपादारभ्य व्यामपर्यन्तं सर्वं वस्तु समस्वरूपम् , यतो व-
स्तुनः व्यपरीत्यात्मकत्वमिति । वाचकमुख्योऽप्येवमेवाह-“ उ-

त्पादव्ययव्यययुक्तं सत् ” । समस्वजावत्वे हेतुस्तु स्याद्वादः ,
नित्यानित्याद्यनेकधर्मशब्दैकप्रत्ययभ्युपगम इत्यर्थः । तदनभ्यु-
पगमे सर्ववस्तूनां स्वरूपहानिप्रसङ्गः , कस्यचित् व्योमादिवस्तु
नित्यमेव , अन्यस्य प्रदीपादिवस्तु अनित्यमेवेत्यस्य प्रतिपेक्ष-
स्तु द्विमात्रमुच्यते-सर्वं ज्ञाया व्ययार्थिकनयापेक्षया नित्याः ,
पर्यायार्थिकनयादेशात् पुनरनित्याः , तत्रैकान्तानित्यनया परै-
रङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्यानित्यत्वव्यवसायनमित्यम् । त-
थाहि-प्रदीपपर्यायापन्नास्तैजसाः परमाणवः स्वरसतः तै-
जस्यात् यानाजिघाताद् वा ज्योतिःपर्यायं परित्यज्य तमो-
रूपं पर्यायान्तरमासाद्यन्तोऽपि नैकान्तानित्याः ; पुनरुल्ल-
व्यरूपतयाऽवस्थितत्वात् तेषाम् । न ह्येतावतैवानित्यत्वं या-
यता पूर्वपर्यायस्य नाश उत्तरपर्यायस्य चोत्पादः । न खलु
मृदूद्यं स्यासक-कोश-कुशूल-शिवक-घटाद्यवस्थान्तरमाप-
द्यमानमप्येकान्ततो विनष्टम् , तेषु मृदूद्यानामुपस्थानादगोपा-
हं प्रतीतत्वात् । न च तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धम् , चाकुपत्वा-
न्वयाऽनुपपत्तेः , प्रदीपालोकवत् । अथ यथाभूयं तत्सर्वं स्वप्र-
तिभासे आलोक्यमेकते , न चैवं तमः , तत्कथं चाक्षुषम् ? नैवम् ।
उल्कादानामालोक्यमन्तरेणापि तत्प्रतिभासनात् , येनैवसदादि-
भिरन्यत्राक्षुषं घटादिकमाक्षोर्कं विना नोपलभ्यते , तैरापि ति-
मिरमालोकायपते , विचित्रत्वाद् भावानाम् । कथमन्यथा पीत-
ध्वनादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आक्षोर्कापेक्षदर्शनाः , प्रदीप-
चन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षाः , इति सिद्धं तमश्चाक्षुषम् ।
रूपवत्त्वात् स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीत्येते , शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात् ।
यानि त्वानविभावयवत्त्वमप्रतिघातित्वमनुद्भूतस्पर्शविशेषत्व-
मप्रतीयमानस्यैव भावयविषयविषयविभागत्वमित्यादीनि तमसः
पौद्गलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्यस्तानि , तानि प्रदी-
पप्रभाद्यन्तैव प्रतिषेध्यानि , तुल्ययोग्यमेवेत्यात् । न च वा-
च्यम्-तैजसाः परमाणवः कथं तमस्त्वेन परिणमन्त ? इति ।
पुद्गलानां तत्तत्सामग्रीसहस्रतानां त्रिसदृशकार्योत्पादकत्व-
स्यापि दर्शनात् । दृष्टं ह्यार्धधनसंयोगवशाद् भास्वरूपस्या-
पि षष्ठेजास्वरूपधूमरूपकार्योत्पादः , इति सिद्धो नित्यानित्यः
प्रदीपः । यद्यपि निर्वाणादर्थोक्तं देदाभ्यमानो दीपस्तदाऽपि
नयनवपर्यायोत्पादविनाशभाक्त्वात् प्रदीपत्वान्वयाच्च नित्या-
नित्य एव ॥ एवं व्योमापि उत्पादव्ययव्ययव्ययव्ययव्ययव्ययव्यय-
नित्यमेव । तथाहि-अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहदानो-
पग्रह एव तल्लक्षणम् , ‘ अवगाहदमाकाशम् ’ इति वचनात् । यदा
चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगतो घिस्रसातो वा एकस्मान्नभ-
प्रदेशात्प्रदेशान्तरमुपसर्पन्ति , तदा तस्य व्योमन्तैरवगाहकैः
सममेकस्मिन् प्रदेशे विभागः , उत्तरस्मिन् प्रदेशे च संयोगः , सं-
योगविभागौ च परस्परं विरुद्धौ धर्मौ , तदनेदे चावश्यं ध-
र्मिणो भेदः । तथा चाहुः-“ अयमेव हि जेदो भेदहेतुर्वा यद् विरु-
द्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च ” इति । ततश्च तदाकाशं पूर्वसं-
योगविनाशलक्षणपरिणामापत्त्या विनष्टम् , उत्तरसंयोगोत्पादा-
व्यपरिणामानुभवाच्चोत्पन्नम् , उभयत्राकाशव्ययस्यानुगतत्वा-
च्चोत्पादव्यययोरैकाधिकरणत्वम् । तथा च ‘ यदप्रच्युतानुत्प-
न्नस्थिरैकरूपं नित्यम् ’ इति नित्यलक्षणमाचक्षते , तदपास्तम् ।
एवंविधस्य कस्यचिद् वस्तुनोऽज्ञात्वात् । ‘ तद्भावाव्ययं नि-
त्यम् , इति तु सत्यं नित्यलक्षणम् । उत्पादविनाशयोः सद्भा-
वेऽपि तद्भावाद्व्ययरूपाद् यन्न व्येति तन्नित्यम् इति तदर्थः-
स्य घटमानत्वात् । यदि हि अप्रच्युतादिवत्क्षणं नित्यमिष्यते ,

तद्गोत्यादव्यययोर्निराधारत्वप्रसङ्गः, न च तयोर्योगे नित्यत्व-
हानिः । “द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया इव्यवर्जिताः । क्व कदा-
केन किरूपाः, दृष्टा मानेन केन वा ॥” इति वचनात् । न चा-
काशेन इव्यम्, लौकिकानामपि घटाऽऽकाशं पटाऽऽकाशमि-
ति व्यवहारप्रसिद्धाकाशस्य नित्यानित्यत्वम् । घटाकाशमपि
हि यदा घटापगमे पटेनाक्रान्तं, तदा पटाकाशमिति व्यवहारः ।
न त्र्यायमौपचारिकत्वाद् प्रमाणमेव, उपचारस्यापि किञ्चित्सा-
धर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । नञसो हि यत् किल सर्व-
व्यापकत्वं मुख्यं परिमाणं तत्तदाधेयघटपटादिसम्बन्धिनियत-
परिमाणवशात् कल्पितभेदं सत् प्रतिनियतदेशव्यापितया व्यव-
हियमाणं घटाकाशपटाकाशादि तत्तत् व्यपदेशनिबन्धनं भवति
तत्तद्वटादिसम्बन्धं च व्यापकत्वेनावस्थितस्य व्योम्नोऽवस्थान्त-
राऽऽपत्तिः, ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थावतोऽपि भेदः, तासां ततोऽ-
विश्वगभावात् । इति सिद्धं नित्यानित्यत्वं व्योम्नः । इति
नैकान्तनित्यपक्षां शुक्तिक्षमः ।

स्याद्वादे तु-पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरि-
णामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा । न चैकत्र वस्तुनि प-
रस्परविरुद्धधर्माध्यासायोगादसन् स्याद्वाद् इति वाच्यम् ?
नित्यानित्यपक्षविरुद्धत्वस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात्, त-
थैव च सर्वैरनुजवात् । तथा च पठन्ति—

“भागे सिद्धो नरो ज्ञागे, योऽर्थो भागद्वयात्मकः ।

तमभागं विभागेन, नरसिंहं प्रचक्षते ॥” १॥

एवं चापस्थितमिदं नित्यानित्यात्मकं वस्तु, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक-
त्वान्यथाऽप्युपपत्तिरिति । तथाहि-सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते,
विपद्यते वा, परिस्फुटमन्वयदर्शनात् । ब्रूतपुनर्जातनस्त्रादिषु अन्व-
यदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन वाध्यमानस्यान्वय-
स्यापरिस्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्र-
त्यज्ञानासद्धत्वात् । ततोऽव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः,
पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तुत्पद्यते, विपद्यते च, अस्खलितप-
र्यायानुज्ञवसङ्गावात् । न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन
व्याभिचारः, तस्य स्खलद्रूपत्वात् । न रज्जु सोऽस्खलद्रूपो,
येन पूर्वाकारविनाशाजहृत्सोत्तराकारोत्पादाविनाभावी भवेत् ।
न च जीवादौ वस्तुनि हर्षमर्षौदासीन्यादिपर्यायपरम्पराऽनु-
भवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद्वाधकस्याभावात् । ननुत्पादादयः
परस्परं जिघ्रन्ते, न वा ? यदि भिद्यन्ते, कथमेकं वस्तु ज्ञात्मक-
म् ? न भिद्यन्ते चेत्, तथापि कथमेकं ज्ञात्मकम् ? । तथाच
“यद्युत्पत्त्यादयो भिन्नाः, कथमेकं त्रयात्मकम् ? ।

अथोत्पत्त्यादयोऽजिन्नाः, कथमेकं त्रयात्मकम् ? ॥ १ ॥”

इति चेत् । तदयुक्तम् । कथञ्चिन्निलक्षणत्वेन तेषां कथञ्चि-
द् जेदाच्युपगमात् । तथाहि-उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्वि-
ज्ञानि, भिन्नलक्षणत्वात्, रूपादिवत् । न च भिन्नलक्षणत्वमसि-
द्धम् । असत् आत्मलाभः, सतः सत्तावियोगः, इव्यरूपतयाऽ-
नुवर्तनं च खलूत्पादादीनां परस्परमसंकीर्णानि लक्षणानि स-
कललोकासाक्षिकाएव । न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्पर-
रानपेक्षाः, खण्डपुष्पवदसत्त्वापत्तेः । तथाहि-उत्पादः केवलो
नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मरोमवत् । तथा विनाशः
केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वान्, तद्वत् । एवं स्थितिः
केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्वदेव । इत्यन्याऽन्या-
पेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथा च क-
थं नैकं ज्ञात्मकम् ? उक्तं च पञ्चाशति-

“प्रध्वस्ते कलशे शुशोच तनया मौलौ समुत्पादिते,
पुत्रः प्रीतिमुवाह कामपि नृपः शिश्राय मध्यस्थताम् ।

पूर्वाकारपरिहृत्यस्तद्वराकारोदयस्तद्वद्वया-

धारश्चैक इति स्थितं त्रयमयं तत्त्वं तथाप्रत्ययात् ॥ १ ॥”

तथा च स्थितं नित्यानित्यानेकान्तः कान्त एवेति । एवं सदसद-
नेकान्तोऽपि । नन्वत्र विरोधः । कथमेकमेव कुम्भादिवस्तु स-
द्य, असद्य जयति ? । सत्त्वं ह्यसत्त्वपरिहारेण व्यवस्थितम्, अ-
सत्त्वमपि सत्त्वपरिहारेण, अन्यथा तयोर्विशेषः स्यात् । तत-
श्च तद्यदि सत्, कथमसत् ? । अथासत्, कथं सदिति ? । तदनव-
दातम् । यतो यदि येनैव प्रकारेण सत्त्वम्, तैवाऽसत्त्वम्, येनैव
चासत्त्वम्, तेनैव सत्त्वमच्युपेयत, तदा स्याद्विरोधः । यदा तु
स्वरूपेण घटादित्वेन, स्वद्रव्येण हिरण्यमादित्वेन, स्वक्षेत्रेण
नगरादित्वेन, स्वकालत्वेन वासन्तिकादित्वेन सत्त्वम्, पररूपा-
दिना तु पटवतन्तुवग्राभ्यन्वगैष्मिकत्वादिनाऽसत्त्वम्, तदा क-
विरोधगन्धोऽपि । ये तु सौगताः परासत्त्वं नाभ्युपयन्ति, तेषां
घटाः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः । तथाहि-यथा घटस्य स्वरूपादिना
सत्त्वं तथा यदि पररूपादिनाऽपि स्यात्, तथा सति स्वरूपादित्ववत्
पररूपादित्वप्रसङ्गेः कथं न सर्वात्मकत्वं भवेत् ? । परासत्त्वेन तु
प्रतिनियतोऽसौ सिध्यति । अथ न नाम नास्ति परासत्त्वम्, किन्तु
स्वसत्त्वमेव तदिति चेत्, अहं ! नूनन. कोऽपि तर्कवितर्ककर्क-
शः समुल्लापः । न खलु यदेव सत्त्वम्, तदेवात्मत्वं भवितुमर्हति,
विधिप्रतिषेधरूपनया विरुद्धधर्माध्यासेनानयोरैक्यायांगात् ।
अथ पृथक् तन्नाभ्युपगम्यते; न च नाभ्युपगम्यत एवेति कि-
मिदमिच्छजालम् ? । नतश्चास्यानङ्गमसत्त्वमेवाकं भवति ।
एवं च यथा स्वासत्त्वासत्त्वात्स्व नस्त्वं तस्य, तथा परासत्त्वास-
त्त्वात्परसत्त्वप्रसक्तिरनिवारितप्रसरा; विशेषाऽभावात् । अथ
नाभावनिवृत्त्या पदार्थो जावरूपः प्रतिनियतो वा भवति,
अपि तु स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनियत एवोपजायत इति किं-
परासत्त्वेनेति चेत् ? । न किञ्चित् । केवलं स्वसामग्रीतः स्वस्वभा-
वनियतोत्पत्तिरेव परासत्त्वात्मकत्वव्यतिरेकेण नोपपद्यत, पार-
मार्थिकत्वासत्त्वासत्त्वात्मकत्वसत्त्वेनैव परासत्त्वासत्त्वात्मकप-
रसत्त्वेनाप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । इति सूक्तः सदसदनेकान्तः । एव-
मपरेऽपि जेदाजेदानेकान्तादयः स्वयं चतुरैर्विवेचनीयाः समंति-
तर्कादिभ्यो विस्तरभयाज्ज्ञेयं प्रतन्यते ।

अतोऽनेकान्तवाद एव सन्मार्गः । यदाह-

“इच्छेयं गरिषिर्गमं, निर्वचं द्ववृद्धिपार्थे नायव्यं ।

पञ्चापण अणिच्चं, निर्वचानिर्वचं च सियवादो ॥ १ ॥

जो सियवायं भासति, पमाणनयपसलं गुणाधारं ।

जावेइ से ण सयं, सो हि पमाणं पवयणस्स ॥ २ ॥

जो सियवायं निंदति, पमाणनयपसलं गुणाधारं ।

भावेण दुडुनादो, न सो पमाणं पवयणस्स ॥ ३ ॥”

अथ समवायखण्डनम्-

अयुतसिद्धानामाधारार्थधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः
समवायः । स च समवयनात् समवाय इति, इव्यगुणकर्म-
सामान्यविशेषेषु पञ्चसु पदार्थेषु वर्तनाद् वृत्तिरिति चाख्या-
यते । तथा वृत्त्या समवायसम्बन्धेन तयोर्धर्मधर्मिणोरितरेतर-
विनिर्लुण्णतत्वेऽपि धर्मधर्मिण्यपदेश इष्यते ।

अत्र जैनाचार्या वदन्ति-

अयं धर्मी, इमे चास्य धर्माः, अयं चैतत्सम्बन्धनिबन्धनं

समवाय इत्येतद् वस्तुत्रयं ज्ञानविषयतया न प्रतिभासते । यथा शिलाशकलशुगलस्य मिथोऽनुसन्धायकं रालादिद्रव्यं तस्मात् त्रितीयतया प्रतिभासने, नैवमत्र समवायस्यापि प्रतिभासनात्; किन्तु द्वयोरेव धर्मधर्मिणोः इति शपथप्रत्यायनी-योऽयं समवायः । किञ्चायं घादिना एको नित्यः सर्वव्यापकोऽ-मूर्तश्च परिकल्प्यते, ततो यथा घटाधिनाः पाकजरूपादयो ध-र्माः समवायसम्बन्धेन समवेताः, तथा किं न पटेऽपि, तस्यैक-त्वनित्यत्वव्यापकत्वेः सर्वत्र तुल्यत्वात् । यथाऽऽकाश एको नित्यो व्यापकोऽमूर्तश्च सन् सर्वैः सम्पन्निधिर्युगपद्विशेषेण संबध्यते, तथा किं नायमपीति ? विनश्यदेकवस्तुसमवायाना-वे च समस्तवस्तुसमवायाऽभावः प्रसज्यते । तत्तद्वच्छेदक-भेदाभ्यां दोष इति चेदेवमनित्यत्वापत्तिः, प्रतिवस्तुस्वभावभे-दादिति । अथ कथं समवायस्य न ज्ञाने प्रतिज्ञानम् ? यतस्त-स्येहेतिप्रत्ययः सावधानं साधनम् । इहप्रत्ययश्चानुभवसिद्ध-एव । इह तन्तुपु पटः, इहात्मनि ज्ञानभेद घटे रूपादय इति प्र-तीतेरुपलम्भात् । अस्य च प्रत्ययस्य केवलधर्मधर्म्यनालम्ब-नत्वादस्ति समवायारूपं पदार्थान्तरं तद्धेतुः, इति पराशङ्काम-भिसन्धाय पुनरुच्यते-त्यन्मते यथा पृथक्त्वाभिसम्बन्धात्पृथ-क्त्वा, तत्र पृथक्त्वं पृथिव्या एव स्वरूपमस्तित्वात् न अपरं वस्तुन्तरम् । तेन स्वरूपैर्ष्व समं योऽसावभिसम्बन्धः पृ-थिव्याः स एव समवाय इत्युच्यते, " प्राप्तानामेव प्राप्तिः समवायः " इति वचनात् । एवं समवायत्वाभिसम्बन्धात्सम-वाय इत्यपि किं न कल्प्यते ? यतस्तस्यापि यत्समवायत्वं स्य-स्वरूपं तेन सार्द्धं सम्बन्धोऽस्त्येव । अन्यथा निःस्वभावत्वात् शशविषाणवदवस्तुत्वमेव भवेत् । ततश्च इह समवाये समवाय-त्वमित्युल्लेखेन इहप्रत्ययः समवायेऽपि युक्त्या घटत एव । ततां-यथा पृथिव्यां पृथिवीत्वं समवायेन समवेतं, समवायेऽपि समवा-यत्वमेवं समवायान्तरेण संबन्धनीयम्, तदप्यपरेणेत्येवं दुस्तराऽनवस्थामहानदी । ननु पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादिसम्बन्ध-निबन्धनं समवायो मुख्यस्तत्र त्र्यतलादिप्रत्ययानिव्यङ्ग्यस्य सं-गृहीतसकलान्तरजातिलक्षणव्यक्तिभेदस्य सामान्यस्याङ्गत्वा-त् । इह तु समवायस्यैकत्वेन व्यक्तिभेदानां जातेरनुद्वन्द्वत-त्वाङ्गीर्णाऽयं युष्मत्परिकल्पित इहेतिप्रत्ययसाध्यः समवा-यत्वाभिसम्बन्धः, तत्साध्यश्च समवाय इति । तदेतन्न विप-श्चिन्धेतश्चमत्कारकारणम् । यतोऽत्रापि जातिरुद्भवती केन नि-रुध्येत । व्यक्तेरभेदेनेति चेत् । न । तत्तद्वच्छेदकवशात्तद्वेदो-पपत्तौ व्यक्तिभेदकल्पनाया दुर्निवारत्वात् । अन्यो हि घटसम-वायोऽन्यश्च पटसमवाय इति व्यक्त एव समवायस्यापि व्यक्ति-भेद इति; तत्सिद्धौ सिद्ध एव जात्युद्भवः । तस्मादन्यत्रापि मुख्य एव समवायः, इहप्रत्ययस्योजयत्राप्यभिचारात् । यदाह-

" अव्यञ्जिचारि मुख्योऽधिकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च ।
विपरीतो गौणोऽर्थः, सति मुख्ये धीः कथं गौणः ? " ॥१॥

तस्माद्धर्मधर्मिणोः सम्बन्धने मुख्यः समवायः, समवाये च समवायत्वाभिसम्बन्धे गौण इत्यर्थं भेदो नास्तीत्यर्थः । किञ्च-योऽयमिह तन्तुपु पट इत्यादिप्रत्ययात्समवायसाधनम-नोरथः, स खल्वनुहरते नपुंसकादपत्यप्रसवमनोरथम् । इह तन्तुपु पट इत्यादिव्यवहारस्याऽलौकिकत्वात्पाञ्चलपादानाम-पि इह पटे तन्तव इत्येवं प्रतीतिदर्शनात् इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात् ।

अथ सत्तानिरसनम्—

अविशेषेण सद्रूपवैधेय्यपि सर्वपदार्थेषु द्रव्यादिष्वेव विषु सत्तासम्बन्धः स्वीक्रियते, न सामान्यादित्रये, इति महतीयं पश्यतांहरता । यतः परिज्ञाव्यतां सत्ताशब्दस्य शब्दार्थः । अस्तीति सन्, सतो भावः सत्ता, अस्तित्वं तद्वस्तुस्वरूपं नि-विशेषमज्ञेयपि पदार्थेषु त्वयाऽभ्युक्तम् । तत्किमिदमर्द्धजर-तीयम्-यद्द्रव्यादित्रय एव सत्तायोगो नेतरन्न इति ? अनुवृत्त-प्रत्ययाऽभावान्न सामान्यादित्रये सत्तायोग इति चेत् । न । त-त्राप्यनुवृत्तिप्रत्ययस्यानिवार्यत्वात् । पृथिवीत्वगोत्वघटत्वादि-सामान्येषु सामान्यं सामान्यमिति । विशेषेणैव बहुत्वादयमपि विशेषोऽयमपि विशेष इति । समवाये च प्रागुक्तयुक्त्या तत्तद्व-च्छेदकभेदादेकाकारप्रतीतेरनुभवात् । स्वरूपसत्त्वसाध्यत्वेण सत्ताऽध्यारोपात्तामान्यादिष्वपि सत्तादित्यनुगम इति चेत्तर्हि मिथ्याप्रत्ययोऽयमापद्यते । अथ भिन्नस्वाधेयत्वेकानुगमो मिथ्यैवे-ति चेद्द्रव्यादिष्वपि सत्ताध्यारोपकृत एवास्तु प्रत्ययानुगमः । अ-सति मुख्येऽध्यारोपस्यासंनयात् द्रव्यादिषु मुख्योऽयमनुगमः प्रत्ययः, सामान्यादिषु तु गौण इति चेत् । न । विपर्ययस्यापि शक्यकल्पनत्वात् । सामान्यादिषु बाधकसंभवात् मुख्योऽनुगमः प्रत्ययो, द्रव्यादिषु तु न द्वाभावात्मुख्य इति चेद्, ननु किमिदं बाध-कम् ? अथ सामान्येऽपि सत्ताऽभ्युपगमेऽनवस्था, विशेषेषु पुनः सामान्यसङ्गाधेस्वरूपहानिः समवायेऽपि सत्ताकल्पने तद्बुद्ध्यर्थं सम्बन्धान्तराभाव इति बाधकानीति चेत् । न । सामान्येऽपि सत्ताकल्पने यद्यनवस्था, तर्हि कथं न सा द्रव्यादिषु ? । तेषा-मपि स्वरूपसत्तायाः प्रागेव विद्यमानत्वात् । विशेषेषु पुनः स-त्ताऽभ्युपगमेऽपि न स्वरूपहानिः । स्वरूपस्य प्रत्युतात्तेजनात् । निःसामान्यस्य विशेषस्य क्वचिदप्यनुपलम्भात् । समवायेऽपि समवायत्वलक्षणायाः स्वरूपसत्तायाः स्वीकारे उपपद्यत एवा-विष्वग्नायात्मकः सम्बन्धः, अन्यथा तस्य स्वरूपाऽनावप्रसङ्गः, इति बाधकानायात्तेष्वपि द्रव्यादिवन्मुख्य एव सत्तासम्बन्धः, इति व्यर्थं द्रव्यगुणकर्मस्येव सत्ताकल्पनम् । किञ्च-तैर्वादि-जिज्ञासो द्रव्यादित्रये मुख्यः सत्तासम्बन्धः कक्षीकृतः, सोऽपि वि-चार्यमाणो विशीर्येत । तथाहि-यदि द्रव्यादिभ्योऽत्यन्तविल-क्षणा सत्ता, तदा द्रव्यादीन्यसद्रूपाण्येव स्युः । सत्तायोगात्स-त्यमस्त्येवेति चेत् । असतां सत्तायोगोऽपि कुतः सत्त्वम् ? सतां तु निष्फलः सत्तायोगः । स्वरूपसत्त्वं ज्ञातानामस्त्येवेति चेत्-र्हि किं शिखाणिना सत्तायोगेन । सत्तायोगात्प्राग् भावो न स-न्, नाप्यसन्; सत्तायोगानु सन्निनि चेद्वाङ्मात्रमेतत् । सदस-त्तिलक्षणस्य प्रकारान्तरस्यासंभवात् । तस्मात् सतामपि स्यात्कचिदेव सत्तेति तेषां वचनं विदुषां परिषदि कथमिव नो-पहासाय जायेत ।

अपोहस्य स्वरूपनिर्वचनपुरस्सरं निरसनम्—

अपोहत्वं च स्वाकारविपरीताकारोन्मूलकत्वेनावसेयम् । अपो-ह्यने स्वाकाराद्विपरीत आकारोऽनेनेत्यपोह इति व्युत्पत्तेः । तत्त्वतस्तु न किञ्चिद्वाच्यं वाचकं वा विद्यते, शब्दार्थतया कथि-ते बुद्धिप्रतिबिम्बान्मन्यपोहे कार्यकारणज्ञावस्यैव वाच्यवाच-कतया व्यवस्थापितत्वात् ।

ननु कोऽयम् अपोहो नाम ? किमिदम् अन्यस्मा-दपोहते, अस्माद्वा अन्यदपोहते, अस्मिन् वा अन्यद-पोहते इति व्युत्पत्त्या विजातिव्यावृत्तं पाह्यमेव विवक्षितं, बु-

ह्वाकारो वा, यदि वा अपोहनमपोह इति अन्यव्यावृत्तिमात्रम्, इति त्रयः पक्षाः । न तावदादिमौ पक्षौ, अपोहनाम्ना विधेरेव विवक्षितत्वात् । अन्तिमोऽप्यसङ्गतः, प्रतीतिबाधितत्वात् । तथाहि-पर्वतोद्देशे वहिरस्तीति शब्दो प्रतीतिविधिरूपमेवेद्विखन्ती लक्ष्यते, नानाश्रितं प्रवतीति निवृत्तिमात्रममुख्यन्ती । यच्च प्रत्यक्षबाधितं न तत्र साधनान्तरावकाश इत्यतिप्रसिद्धम् ।

अथ यद्यपि निवृत्तिमहं प्रत्येमीति न विकल्पः तथापि निवृत्तपदार्थोल्लेख एव निवृत्त्युल्लेखः । न ह्यन्तरजावितविशेषणप्रतीतिविशिष्टप्रतीतिः । ततो यथा सामान्यमहं प्रत्येमीति विकल्पानावेऽपि साधारणाकारपरिस्फुरणात् विकल्पबुद्धिः सामान्यबुद्धिः परेषाम्, तथा निवृत्तप्रत्ययाक्रिस्ता निवृत्तिबुद्धिरपोहप्रतीतिव्यवहारमातनोतीति चेत् ? ननु साधारणाकारपरिस्फुरणे विधिरूपतया यदि सामान्यबोधव्यवस्था; तत् किमायातमस्फुरदभावाकारे चेत्सि निवृत्तिप्रतीतिव्यवस्थायाः । ततो निवृत्तिमहं प्रत्येमीत्येवमाकाराभावेऽपि निवृत्त्याकारस्फुरणं यदि स्यात्, को नाम निवृत्तिप्रतीतिस्थितिमपन्नपेत् । अन्यथा सति प्रतिज्ञासं तत्प्रतीतिव्यवहृतिरिति गवाकारेऽपि चेत्सि तुरगबोध इत्यस्तु ।

अथ विशेषणतया अन्तर्भूता निवृत्तिप्रतीतिरित्युक्तं, तथापि यद्यगवापोह इतीदृशकारो विकल्पस्तदा विशेषणतया तदनुप्रवेशो भवतु, किन्तु गौरिति प्रतीतिः । तदा च सतोऽपि निवृत्तिलक्षणस्य विशेषणस्य तत्रानुत्कलनात्, कथं तत्प्रतीतिव्यवस्था । अथैवं मतिः-यद्विधिरूपं स्फुरितं तस्य परापोहोऽप्यस्तीति तत्प्रतीतिरुच्यते, तथापि सम्बन्धमात्रमपोहस्य विधिरेव साक्षात्निर्नासी । अपि चैवमध्यक्षस्याप्यपोहविषयत्वमनिवार्यम् । विशेषतो विकल्पादेकव्यावृत्तोल्लेखिनोऽखिलान्यव्यावृत्तमीकमाणस्य तस्माद्विध्याकारावग्रहादध्यक्षवद्विकल्पास्यापि विधिविषयत्वमेव नान्यापोहविषयत्वमिति कथमपोहः शब्दार्थो घुस्यते ? ।

अत्रानिधीयते-

नास्मान्निरपोहशब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेतः, नाप्यन्यव्यावृत्तिमात्रम्, किन्त्वन्यापोहविशिष्टो विधिः शब्दानामर्थः । ततश्च न प्रत्येकपक्षोपनिपातिदोषावकाशः । यत्तु गोः प्रतीतौ न तदात्मा परात्मेति सामर्थ्यादपोहः पश्चाद्विचर्यते इति विधिवादिनां मतम् । अन्यापोहप्रतीतौ वा सामर्थ्यात् अन्यापोहोऽवधार्यते इति प्रतिषेधवादिनां मतम् । तदसुन्दरम् । प्राथमिकस्यापि प्रतिपत्तिकमादर्शनात् । न हि विधिं प्रतिपद्य कश्चिदर्थोपपत्तितः पश्चादयोऽहमवगच्छति, अयोहं वा प्रतिपद्यान्यापोहम्, तस्माद् गोः प्रतिपत्तिरिति अन्यापोहप्रतिपत्तिरुच्यते । यद्यपि चान्यापोहशब्दानुल्लेख उक्तः । तथापि नाप्रतिपत्तिरेव विशेषणभूतस्यान्यापोहस्य; अगवापोह एव गोशब्दस्य निवेशितत्वात् । यथा नीलोत्पले निवेशितादिन्दीवरशब्दानीलोत्पलप्रतीतौ तत्काल एव नीलमस्फुरणमनिवार्यम्, तथा गोशब्दादपि अगवापोहे निवेशितात् गोप्रतीतौ तुल्यकाशमेव विशेषणत्वात् अगोऽपोहस्फुरणमनिवार्यम् । यथा प्रत्यक्षस्य प्रसङ्गरूपाभावग्रहणमभावविकल्पोत्पादनशक्तिरेव, तथा विधिविकल्पानामपि तदनुरूपानुष्ठानदानशक्तिरेवाजावग्रहणमभिधीयते । पर्युदासरूपाजावग्रहणं तु नियतस्वरूप-

संवेदनमुनयोरविशिष्टम्, अन्यथा यदि शब्दादर्थप्रतिपत्तिकाले कश्चितो न परापोहः कथमन्यपरिहारेण प्रवृत्तिः । ततो गां बधानेति चोदितोऽश्वादीनपि बध्नीयात् । यद्वोचद्वाचस्पतिः-जातिमत्यो व्यक्तयः, विकल्पानां शब्दानां च गोचरः, तासां च तद्वतीनां रूपमतज्जातीयपरावृत्तमित्यर्थतस्तदवगतेर्न गां बधानेति चोदितोऽश्वादीन् वज्जान्ति । तदप्यनेनैव निरस्तम् । यतो जातेराधिकायाः प्रद्वेपेऽपि व्यक्तीनां रूपमतज्जातीयव्यावृत्तमेव चेत्, तदा तेनैव रूपेण शब्दविकल्पयोर्विषयीभवन्तीनां कथमतद्वावृत्तिपरिहारः ? अथ न विजातीयव्यावृत्तं व्यक्तिरूपं, तथाप्रतीतं वा तदा जातिप्रसाद एव इति कथमर्थतोऽपि तदवगतिरित्युक्तप्रायम् । अथ जातिवत्त्वादेवान्यतो व्यावृत्तम् । भवतु जातिवत्त्वात् स्वहेतुपरम्परावत्ताद्वाऽन्यव्यावृत्तम् । उन्नयथाऽपि व्यावृत्तप्रतिपत्तौ व्यावृत्तिप्रतिपत्तिरस्त्येव । न चागोऽपोहे गोशब्दसंकेतविधावन्योन्याश्रयदोषः ; सामान्ये तद्वति वा सङ्केतेऽपि तदोपावकाशात् । न हि सामान्यं नाम सामान्यमात्रमभिप्रेतम्, तुरगेऽपि गोशब्दसङ्केतप्रसङ्गात्; किन्तु गोत्वम्; तावता च स एव दोषः, गवापरिज्ञाने गोत्वसामान्यापरिज्ञानात् । गोत्वसामान्यापरिज्ञाने गोशब्दवाच्यापरिज्ञानात् । तस्मात् एकपिरुदर्शनपूर्वको यः सर्वव्यक्तिसाधारण इव वहिरध्यस्तो विकल्पबुद्ध्यकारः, तत्रायं गौरिति सङ्केतकरणे नेतरेतराश्रयदोषः । अजिमते च गोशब्दप्रवृत्तावगोशब्देन शेषस्याप्यभिधानमुचितम् । न चान्यापोहान्यापोह्याविरोधो, विशेष्यविशेषणततिर्वा, परस्परव्यवच्छेदाभावात्, सामानाधिकरण्यसद्भावात्, भूतव्यग्रहजावत्त्वात् । स्वाभावेन हि विरोधो, न पराभावेनेत्यावालप्रसिद्धम् । एष पन्थाः शुभ्रमुपतिष्ठते इत्यत्राप्यपोहो गम्यत एव । अप्रकृतपधान्तरापेक्षया एष एव । शुभ्रप्रत्यनीकानिष्ठस्थानापेक्षया शुभ्रमेव । अरण्यमार्गवद्विच्छेदाभावादुपतिष्ठत एव, सार्धदूनादिव्यवच्छेदेन पन्था एवेति प्रतिपदं व्यवच्छेदस्य सुलभत्वात् । तस्मादपोहधर्मणो विधिरूपस्य शब्दादवगतिः, पुनरङ्कशब्दादिव श्वेतिमविशिष्टस्य पन्नस्य । यद्येवं विधिरेव शब्दार्थो वक्तुमुचितः कथमपोहो गीयत इति चेत् ? वक्तुमत्राप्यपोहशब्देनान्यापोहविशिष्टो विधिरुच्यते; तत्र विधौ प्रतीयमाने विशेषणतया तुल्यकालमन्यापोहप्रतीतिरिति । न चैवं प्रत्यक्षस्याप्यपोहविषयत्वव्यवस्था कर्तुमुचिता, तस्य शब्दप्रत्ययस्येव वस्तुविषयत्वे विवादाभावात् । विधिशब्देन च यथाऽध्यवसायमतद्रूपपरावृत्तौ बाह्योऽर्थोऽभिमतः; यथा प्रतिभासं बुद्ध्याकारश्च तत्र बाह्योऽर्थोऽध्यवसायादेव शब्दवाच्यो व्यवस्थाप्यते, न स्ववक्त्रपरिस्फूर्त्या, प्रत्यक्षवद्देशकालावस्थानियतप्रव्यक्तस्वरूपलक्षणास्फुरणात् । यच्छास्त्रम्-

"शब्देनाप्यापृताख्यस्य, बुद्ध्यावप्रतिज्ञासनात् । अर्थस्य दृष्टाविषेति ।"

इच्छियशब्दस्वभावोपायभेदात् एकस्यैव प्रतिज्ञासभेद इति चेत् ? । अत्राप्युक्तम्-

"जातो नामाश्रयोऽन्यान्यः, चेतसाऽन्तस्य वस्तुनः । एकस्यैव कुतो रूपं, भिन्नाकारावभासि तत् ?" ॥ १ ॥

न हि स्पष्टास्पष्टे द्वे रूपे परस्परविरुद्धे एकस्य वस्तुनः स्तः, यत एकेनेन्द्रियबुद्धौ प्रतिभासेनान्येन विकल्पे, तथासति वस्तुन एव जेदप्राप्तेः । न हि स्वरूपभेदादपरो वस्तुभेदः । न च प्रतिभास-

भेदादपरस्वरूपभेदः, अन्यथा तैलौक्यमेकमेव वस्तु स्यात् । दुरा-
सत्त्वेऽपि न शास्त्रिभेद इति चेत्, न धूमः प्रतिभासभेदां निवृत्तस्तुनि-
यतः, किन्तु एकविषयत्वाभावनियत इति । ततो यथार्थाक्रिया-
भेदादिसच्चिवः प्रतिभासभेदः तत्र वस्तुभेदः, घटवत् । अन्यत्र
पुनर्नियमेनैकविषयतां परिहरतीत्येकप्रतिज्ञासो भ्रान्तः ।

एतेन यदाह वाचस्पतिः-न च शब्दप्रत्यक्षयोर्वस्तुगोचरत्वे
प्रत्ययाभेदः, कारणभेदेन परोक्ष्यापरोक्ष्यभेदोपपत्तेरिति । तत्रो-
पयोगि । परोक्षप्रत्ययस्य वस्तुगोचरत्वासमर्थनात् । परोक्षताऽऽ-
श्रयस्तु कारणभेद इन्द्रियगोचरग्रहणविरहेणैव कृतार्थः । तत्र
शब्दे प्रत्यये स्ववक्ष्यं परिरूपयति । किञ्च-स्ववक्ष्यत्वात्मनि वस्तुनि
वाच्ये सर्वात्मना प्रतिपत्तेः विधिनियेधयोरयोगः । तस्य हि
सद्भावेऽस्तीति व्यर्थम्, नास्ति इत्यसमर्थम्; असद्भावे नास्तीति
व्यर्थम्, अस्ति इत्यसमर्थम् । अस्ति चास्त्यादिपदप्रयोगः । तस्मात्
शब्दप्रतिज्ञास्य बाह्यार्थभावाभावसाधारण्यं न तद्विषयतां
कमते । यच्च वाचस्पतिना जातिमद्वैतिकाव्ययतां स्वाचैव
प्रस्तुत्याऽनन्तरमेव न च शब्दार्थस्य जातेर्जावाजावसाधारण्यं
नोपपद्यते; सा हि स्वरूपतो नित्याऽपि देशकालविप्रतीर्णनैकव्य-
वस्थाश्रयतया जायाभावसाधारणीजयवस्ति-नास्ति-संवन्धयो-
भ्या । वर्तमानव्यक्तिसम्बन्धिता हि जातेरस्तिता; अतोतानागत-
व्यक्तिसम्बन्धिता च नास्तितेति संदिग्धव्यतिरेकित्वादैनैकान्ति-
कं भावाभावसाधारण्यमन्यथासिद्धं चेति विलपितम्, तावन्न
प्रकृतकृतिः, जातौ भवं न्यस्यता स्वलक्षणवाच्यत्वस्य स्वयं
स्वीकारात् । किञ्च-सर्वत्र पदार्थस्य स्वलक्षणस्वरूपेणास्तित्वा-
दिकं चिन्त्यते । जातेस्तु वर्तमानादिव्यक्तिसम्बन्धोऽस्तित्वादि-
कमिति तु बालप्रतारणम् । एवं जातिमद्वैतिकाव्ययनेऽपि दोषः,
व्यक्तेष्वेव प्रतीतिसिद्धिः, जातिरधिका प्रतीयताम्; मा वा, न तु
व्यक्तिप्रतीतिदोषान्मुक्तिः ।

एतेन यदुच्यते कौमारिलैः-सभागत्वादेव वस्तुनो न सा-
धारण्यदोषः । वृक्षत्वं ह्यनिर्धारितजावाजावं शब्दादवग-
म्यते । तयोरन्यतरेण शब्दान्तरावगतेन संवध्यत इति ।
तदप्यसङ्गतम् । सामान्यस्य नित्यस्य प्रतिपत्तावनिर्धारितजा-
वाभावत्वायोगात् । यच्चेदं न च प्रत्यक्षस्यैव शब्दानाम् अर्थ-
प्रत्यायनप्रकारो येन तद्वद्वद्वास्त्यादिशब्दापेक्षा न स्यात्, वि-
चित्रशक्तिवात् प्रमाणानामिति । तदप्यैन्द्रियकशब्दप्रतिज्ञास-
योरेकस्वरूपग्राहित्वे मित्रावभासदूषणेन दूषितम्, विचित्रशक्ति-
त्वं च प्रमाणानां साक्षात्काराध्यवसायान्यामपि चरितार्थम् ।
ततो यदि प्रत्यक्षार्थप्रतिपादनं शब्देन तद्वदेवावभासः स्यात्,
अज्ञवंश्च न तद्विषयव्यापनं कमते । ननु वृक्षशब्देन वृक्षत्वांशे
चोदिते सत्त्वाद्यंशनिश्चयनार्थमस्त्यादिपदप्रयोग इति चेत्, नि-
रंशत्वेन प्रत्यक्षसमधिगतस्य स्वलक्षणस्य कोऽवकाशः पदान्त-
रेण; धर्मान्तरविधिनियेधयोः प्रमाणान्तरेण वा । प्रत्यक्षेऽपि प्रमा-
णान्तरापेक्षा दृष्टेति चेत्, भवतु तस्यानिश्चयात्मत्वात् अनभ्य-
स्तस्वरूपविषये, विकल्पस्तु स्वयं निश्चयात्मको यत्र ग्राही तत्र
किमपरेण, अस्ति च शब्दविकल्पान्तरापेक्षा, ततो न वस्तुस्वरू-
पग्रहः । ननु मित्रा जात्यादयो धर्माः परस्परं धर्मिणश्चेति जाति-
लक्षणैकधर्मद्वारेण प्रतीतेऽपि शास्त्रिनि धर्मान्तरवचन्या न प्र-
तीतिरिति किञ्च मित्राभिधानाधीनो धर्मान्तरस्य नीलचलो-
चोत्तरत्वादेव बोधः । तदेतदसङ्गतम् । अखण्डात्मनः स्ववक्ष्य-
स्य प्रत्यक्षे प्रतिभासात् । दृश्यस्य धर्मधर्मिभेदस्य प्रत्यक्षप्र-

तिज्ञितत्वात्, अन्यथा सर्वे सर्वत्र स्यादिति प्रतिप्रसङ्गः । काव्य-
निकेज्जाश्रयस्तु धर्मधर्मिव्यवहार इति प्रसाधितं शास्त्रे; भव-
तु वा पारमार्थिको धर्मधर्मिभेदः, तथाऽप्यनयोः समवायादे-
दूषितत्वाद्गुणकारलक्षणैव प्रत्यासत्तिरेषितव्या । एवं च यथे-
न्द्रियप्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षेण धर्मिप्रतिपत्तौ सकलतद्वधर्मप्रतिप-
त्तिः । तथा शब्दलिङ्गान्यामपि वाच्यवचकादिसंबन्धप्रतिब-
द्धान्यां धर्मिप्रतिपत्तौ निरवश्येपतद्धर्मप्रतिपत्तिर्भवेत्, प्रत्यास-
त्तिमात्रस्याविशेषात् । यच्च वाचस्पतिः-न चैकोपाधिना सत्त्वे
विशिष्टे तस्मिन् गृहीते, उपाध्यन्तरविशिष्टतदग्रहः । स्वभावो
हि द्वयस्य उपाधिनिर्विशिष्यते; न तूपाधयो वा, विशेष्यत्वं वा,
तस्य स्वभाव इति । तदपि प्लवत एव । न ह्यभेदादुपाध्यन्तरग्र-
हणत्वमासङ्गितम् । भेदं पुरस्कृत्यैवोपकारकग्रहणे उपकार्यग्रह-
णप्रसङ्गनात् । न चाग्निधूमयोः कार्यकारणभाव एव, स्वभावत-
एव धर्मधर्मिणोः प्रतिनियमकल्पनमुचितम्, तयोरपि प्रमाणासि-
द्धत्वात् । प्रमाणसिद्धे च स्वभावोपवर्णनमिति न्यायः । यच्चान्न
न्यायभूषणेन सूर्यादिग्रहणे नदुपकार्याशेषवस्तुराशिग्रहणप्रस-
ङ्गनमुक्तम् । तदभिप्रायानवगाहनफलम् । तथाहि-त्वन्मते धर्म-
धर्मिणोर्भेदः, उपकारलक्षणैव च प्रत्यासत्तिः । तदोपकारकग्र-
हणे समानदेशस्यैव धर्मरूपस्यैव चोपकार्यस्य ग्रहणमासङ्गि-
तम्, तत्र कथं सूर्योपकार्यस्य भिक्षदेशस्य च्छान्तरस्य वा दृष्ट-
व्यनिवारस्य ग्रहणप्रसङ्गः सङ्गतः । तस्मादेकधर्मद्वारेणाऽपि व-
स्तुस्वरूपप्रतिपत्तौ सर्वात्मप्रतीतिः, क शब्दान्तरेण विधिनिये-
धवाकाशः । अस्ति च, तस्मान्न स्ववक्ष्यस्य शब्दविकल्पविक्षि-
तिमासित्वमिति स्थितम् । नापि सामान्यं शब्दप्रत्ययप्रतिभा-
सि । सरितः पारे गावश्चरन्तीति गावदिशब्दात् सास्नागृह्ण-
लाङ्गलादयोऽन्तराकारपरिकरिताः सजातीयभेदापरामर्शनात्
संघिण्डिप्रायाः प्रतिज्ञासन्ते । न च तदेव सामान्यम् । वर्णाकृ-
त्यङ्गराकारशून्यं गोत्वं हि कथ्यते । तदेव च सास्नागृह्णा-
दिमात्रमखिलव्यकावत्यन्तविलक्षणमपि स्ववक्ष्येनैकाक्रियमा-
णं सामान्यमित्युच्यते; तादृशस्य बाह्यस्याप्राप्तेर्ज्ञानितरेवासौ;
केशप्रतिज्ञासवत् । तस्माद्भासनावशाद्गृहेरेव तदात्मना विधत्तो-
ऽयमस्तु, असदेव वा तद्वपुं स्यात्, व्यक्त्य एव वा सजातीयभेद-
तिरस्कारेणान्यथा मासन्ताम्, अनुभवव्यवधानात् । स्मृतिप्र-
मोपो वाऽजिघीयताम्, सर्वथा निर्विषयः सत्त्वयं सामान्यप्रत्ययः,
क सामान्यवार्ता ? । यत् पुनः सामान्याभावे सामान्यप्रत्ययस्याक-
स्मिकत्वमुक्तम् ? । तदयुक्तम् । यतः पूर्वपिण्डदृग्दृग्दर्शनस्मरण-
सहकारिणाऽतिरिच्यमानाविशेषप्रत्ययजनिका सामग्री निर्विष-
यं सामान्यविकल्पमुत्पादयति; तदेवं न शब्दप्रत्यये जातिः प्रति-
भाति, नापि प्रत्यक्षे, न चानुमानतोऽपि सिद्धिः; अदृश्यत्वे प्रति-
बद्धलिङ्गादर्शनात् । नापीन्द्रियवदस्याः सिद्धिः, ज्ञानकार्यतः कादा-
चित्कस्यैव निमित्तान्तरस्य सिद्धेः । यदाऽपि पिण्डान्तरेऽन्तराद्ये
वा गोबुद्धेरजावं दर्शयेत्; तदा शावदेत्यादिसकलगोपिण्डाना-
मेवाभाववादभावो गोबुद्धेरुपपद्यमानः कथमर्थान्तरमाक्षेपेत् ?
गोत्वादेव गोपिण्डः, अन्यथा तुरगोऽपि गोपिण्डः स्यात् । यथे-
वं गोपिण्डादेव गोत्वमन्यथा तुरगत्वमपि गोत्वं स्यात्, तस्मात्
कारणपरम्परान एव गोपिण्डो, गोत्वं तु भवतु मा वा । ननु
सामान्यप्रत्ययजननसामर्थ्यं यद्येकस्मात् पिण्डादिनिमित्तम्; तदा
विज्ञातीयव्यावृत्तं पिण्डान्तरमसमर्थम् । अथ मित्रं, तदा तदेव
सामान्यं, नास्ति परं विवाद इति चेत्, आभिज्ञेन सा शक्तिः प्र-

तिवस्तु; यथा त्वेकः शक्तस्वभावो भावः तथा अन्त्याऽपि भवन्
कीदृशं शेषमावहति ? यथा जघतां जातिरेकाऽपि समानध्व-
निप्रसवहेतुत्वाऽपि स्वरूपेणैव जात्यन्तरनिरपेक्षा, तथाऽ-
स्माकं व्यक्तिरपि जातिनिरपेक्षा स्वरूपेणैव भिन्ना हेतुः ।

यत्तु त्रिलोचनः-अश्वत्थगोत्वादीनां सामान्यविशेषाणां स्वाध-
ये समवायः सामान्यम्; सामान्यमित्यभिधानप्रत्यययोर्निमित्त-
मिति । यद्येवं व्यक्तिव्यप्यमेव तथाभिधानप्रत्ययहेतुरस्तु किं
सामान्यस्वीकारप्रगादेन ? न च समवायः सम्भवः ॥

“इहेति बुद्धेः समवायसिद्धि-रिहेति धीश्च द्वयदर्शने स्यात् ।
न च क्वचित्त्रिपये त्वपेक्षा, स्वकल्पनामात्रमतोऽङ्गुपायः” ॥ १ ॥
एतेन येन प्रत्ययानुवृत्तिरनुवृत्तवस्त्वनुयायिनी । कथमत्य-
न्तभेदिनीषु व्यक्तिषु व्यावृत्तिविषयप्रत्ययभावानुपातिनीषु भवि-
तुमर्हतीत्युहाप्रवर्त्तनमस्य प्रत्याख्यातम् । जानिध्वेव परस्परव्या-
वृत्ततया व्यक्तीयमानास्वनुवृत्तप्रत्ययेन व्यभिचारात् । यत् पु-
नरनेन विपर्यये बाधकमुक्तम्, अभिधानप्रत्ययानुवृत्तिः कुतश्चि-
न्निवृत्त्यं क्वचिदेव जघन्ती निमित्तवती । न चान्यत्र निमित्तमित्या-
दि । तत्र सम्यक् । अनुवृत्तमन्तरेणापि अभिधानप्रत्ययानुवृत्ते-
रतद्रूपपरावृत्तस्वरूपविशेषात् अवश्यं स्वीकारस्य साधि-
तत्वात् । तस्मात्-

“तुल्यभेदे यथा जातिः, प्रत्यासत्या प्रसर्पति ।
कविज्ञान्यत्र सैवास्तु, शब्दज्ञानानिवन्धनम्” ॥ १ ॥

यत् पुनरत्र न्यायभूषणेनोक्तम्-नह्येवं भवति यथा प्रत्यासत्या द-
ण्डसूत्रादिकं प्रसर्पति क्वचिन्नान्यत्र सैव प्रत्यासन्तिः पुरुषस्फु-
टिकादिषु दण्डसूत्रत्वादिब्यवहारनिबन्धनमस्तु किं दण्ड-
सूत्रादिनेति । तदसङ्गमम् । दण्डसूत्रयोर्हि पुरुषस्फुटिकप्रत्या-
सन्नयोर्दण्डयोः दण्डसूत्रप्रत्ययहेतुत्वं नापलभ्यते । सामान्यं
तु स्वप्नेऽपि न दृष्टम् । तद्यद्यदं परिकल्पनीयं तदा वरं प्रत्यास-
त्तिरेव सामान्यप्रत्ययहेतुः परिकल्प्यताम्, किं गुर्व्यां परिक-
ल्पनयेत्यभिप्रायापरिज्ञानात् ।

अथेदं जातिप्रसाधकमनुमानमभिधीयते-यद्विशिष्टज्ञानं त-
द्विशेषणग्रहणानन्तरीयकम् । यथा दण्डज्ञानम् । विशिष्ट-
ज्ञानं चेदं-गौरयमित्यर्थः कार्यहेतुः; विशेषणानुभवकार्यं हि
दृष्टान्ते विशिष्टबुद्धिः सिद्ध्यति । अत्रानुयोगः विशिष्टबुद्धेर्निजवि-
शेषणग्रहणानन्तरीयकत्वं वा साध्यम्; विशेषणमात्रानुभव-
नानन्तरीयकत्वं वा ? प्रथमपक्षे पक्षस्य प्रत्यक्षवाधासाधना-
वधानमनवकाशयति वस्तुग्राहिणः प्रत्यक्षस्योभयप्रतिभा-
साज्ञावात् विशिष्टबुद्धित्वं च सामान्यम् । हेतुरनैकान्तिकः ।
निजविशेषणग्रहणमन्तरेणापि दर्शनात्, यथा स्वरूपवान् घटः ।
गोत्वं सामान्यमिति वा । द्वितीयपक्षे तु निजसाधम् । स्वरूपवा-
न् घट इत्यादिघट गोत्वजातिमान् पितृ इति परिकल्पितं मे-
दमुपादाय विशेषणविशेष्यज्ञाधस्येष्टत्वादगोव्यावृत्तानुभवभा-
वित्वात् गौरयमिति व्यवहारस्य । तदेव न सामान्यबुद्धिः ।
वाचकं च सामान्यगुणकर्माद्युपाधिचक्रस्य, केवलव्यक्तिग्राहकं
पटुप्रत्यक्षम् । दृष्ट्यानुपलम्भो वा प्रसिद्धः । तदेवं विधिरेव
शब्दार्थः । स च बाह्योऽर्थो बुद्ध्याकारश्च विवक्षितः तत्र, न बु-
ध्याकारस्य तत्त्वतः संवृत्या वा विधिनिषेधौ, स्वसंवेदनप्र-
त्यक्षगम्यत्वात्, अनध्यवसायाच्च । नापि तत्त्वतो बाह्य-
स्यापि विधिनिषेधौ, तस्य शब्दे प्रत्ययेऽप्रतिज्ञासनात् । अत
एव सर्वधर्माणां तत्त्वतोऽनजिज्ञाप्यत्वं प्रतिभासाध्यवसाया-

ज्ञावात् तस्मात् बाह्यस्यैव साङ्गृतौ विधिनिषेधौ । अन्यथा
संव्यवहारहानिप्रसङ्गात् । तदेवं-

“नाकारस्य न बाह्यस्य, तत्त्वतो विधिसाधनम् ।
यदिरेव हि संवृत्या, संवृत्याऽपि तु नाकृतेः ॥ १ ॥”

एतेन यद्वर्त्तमानं-आरोपितस्य बाह्यत्वस्य विधिनिषेधावि-
त्यलौकिकमनागममताकिंकीयं कथयति । तदपहस्तितम् ।
नन्वध्यवसाये यद्यध्यवस्यं वस्तु न स्फुरति तदा तदध्यवसित-
मिति कोऽर्थः ? अप्रतिभासेऽपि प्रवृत्तिविषयीकृतमिति योऽर्थः ।
अप्रतिभासाविशेषं विषयान्तरपरिहारेण कथं नियतविषया प्र-
वृत्तिरिति चेत् ? उच्यते-यद्यपि विश्वमगृहीतं तथापि विकल्प-
स्य नियतमात्राप्रसूतत्वेन नियताकारतया नियतशक्तित्वात्
नियता एव जगदादौ प्रवृत्तिः । धूमस्य परोक्षाभिज्ञानजननवत् ।

नियतविषया हि ज्ञावाः प्रमाणपरिनिष्ठितस्वभावा न शक्ति-
साङ्ग्यर्थपर्यनुयोगभाजः । तस्मात् तदध्यवसायित्वमाकारविशेष-
योगात् तत्प्रवृत्तिजनकत्वम् । न च सादृश्याद्वारोपेण प्रवृत्ति-
भ्रमः, येनाकारे बाह्यस्य बाह्यं वा आकारस्यारोपद्वारेण दु-
पणावकाशः, किं तर्हि स्ववासनाधिपाकवशादुपजायमानैव
बुद्धिरपश्यत्यपि बाह्यं बाह्ये वृत्तिमातनोतीति विप्लुनैव । तदे-
वमन्याभावविशिष्टो विजातिव्यावृत्तोऽर्थो विधिः । स एव चा-
पोहशब्दवाच्यः शब्दानामर्थः प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयश्चेति स्थितम् ।

अत्र प्रयोगः--यद् वाचकं तत्तत्त्वमध्यवसितातद्रूपपरावृत्तव-
स्तुमात्रगोचरम्; यथेह कूपे जलमिति वचनम् । वाचकं
चेदं गवादिशब्दरूपमिति स्वभावहेतुः । नायमासिद्धः, पूर्वोक्ते-
न न्यायेन पारमार्थिकवाच्यवाचकज्ञावस्याभावेऽपि अध्य-
वसायकृतस्य सर्वव्यवहारिज्रवश्यं स्वीकर्तव्यत्वात् । अन्य-
था सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । नाऽपि विरुद्धः, सपक्षे ज्ञा-
वात् । न चानैकान्तिकः, तथाहि-शब्दानामध्यवसितविजा-
तिव्यावृत्तवस्तुमात्रविषयत्वमानिच्छाद्भिः परैः परमार्थतः-

“वाच्यं स्वलक्षणमुपाधिरुपाधियोगः,
सोपाधिरस्तु यदि वा कृतिरस्तु बुद्धेः ।”

गत्यन्तराभावात् । अधिषयत्वं च वाचकत्वायोगात् । तत्र-

“आद्यन्नयोर्न समयः फलशक्तिहाने-
र्मध्येऽन्युपाधिविरहात् व्रितयेन युक्तः ॥”

तदेवं वाच्यान्तरस्याभावात् । विषयवत्त्वलक्षणस्य व्यापकस्य
निवृत्तौ विषयतो निवर्त्तमानं वाचकत्वमध्यवसितबाह्यवि-
षयत्वेन व्याप्यत इति व्याप्तिसिद्धिः ।

“शब्दैस्तावन्मुल्यमाख्यायतेऽर्थः,
तत्रापोहस्तद्रुणत्वेन गम्यः ।
अर्थश्चैकोऽध्यासतो भासतोऽन्यः,
स्थाप्यो वाच्यस्तत्त्वतो नैव काश्चित् ॥”

अथापोहसिद्धिर्ज्ञानाचार्यैरित्थं पराक्रियते-

“अथ श्रीमदनेकान्त-समुद्घोषपिपासितः ।

अपोहमापिवाभि छाक्, वीक्षन्तां भित्तवः क्षणम्” ॥ १ ॥

इह तावद्विकल्पानां तथाप्रतीतिपरिहृतविरुद्धमध्यासकथ-
ञ्चित्तादात्म्यापन्नसामान्यविशेषस्वरूपवस्तुलक्षणानुपलब्धीकादी-
कृतत्वं प्राक् प्राकट्यत । ततस्तत्त्वतः शब्दानामपि तत्प्रसिद्धमे-

व । यतोऽजलिप युष्मद्भायैः—“स एव शब्दानां विषयो यो विकल्पानाम्” इति कथमपोहः शब्दार्थः स्यात् ? अस्तु वा, तथाऽप्यनुमानवत् किं न शब्दः प्रमाणमुच्यते । अपोहगोचरत्वेऽपि परम्परया पदार्थे प्रतिबन्धात् प्रमाणमनुमानमिति चेत्, तत एव शब्दोऽपि प्रमाणमस्तु । अतीतानागतान्तरसरजोत्पत्तिरप्यसत्स्वपि शब्दोपलम्भान्नात्रार्थप्रतिबन्ध इति चेत्, तर्ह्यचूद्घृष्टिः, गिरिनदीविगोपलम्भात्, भावी भरगुदयः, रेवत्युदयात्, नास्ति राजजगृह्णम्, समग्रप्रमाणैरनुपलम्भात्, इत्यादेरर्थभावेऽपि प्रवृत्तेऽनुमानेऽपि नार्थप्रतिबन्धः स्यात् । यदि वचोत्राच्यापोहोऽपि पारम्पर्येण पदार्थप्रतिष्ठः स्यात्, नदानीं प्रलाङ्घनि मज्जन्तीत्यादिविप्रतारकवाक्यापोहोऽपि तथा भवेदिति चेत्, अनुमेयापोहोऽपि नुल्यमेतत्, प्रमेयत्वादित्यनुमेयापोहोऽपि पदार्थप्रतिष्ठिताप्रसक्तः । प्रमेयत्वं हेतुरेव न ज्ञयति, विपक्वास्तत्त्वतस्तद्वक्तृणाभावादिति कुतस्या तदपोहस्य तद्विद्येतेति चेत्, तर्हि विप्रतारकवाक्यमप्यागम एव न भवति, आसौक्यतत्त्वज्ञानायादित्यादि समस्तं समानम् । यस्तु नासौक्यं वचसि विवेचयितुं शक्यमिति शाक्यो वक्ति, स पर्यनुयाज्यः—किमाप्तस्यैव कस्याप्यज्ञावादेवमभिधीयेत, भावेऽप्यस्य निश्चयाभावात्, निश्चयेऽपि मौनव्रतिकत्वात्, यस्तु चेऽप्यनाप्तवचनात्, तद्वचसो विधेकावधारणाभावाद्वा । सर्वमप्येतच्चावार्थाकादिवाचां प्रपञ्चात्, मातापितृपुत्रभ्रातृगुरुसुगतादिवचसां विशेषमातिष्ठमानैरप्रकटनीयमेव । न च नास्ति विशेषस्वीकारः, तत्पठितानुष्ठानघटनायामेव प्रवृत्तेर्निर्निवन्धनत्वापत्तेः । अथानुमानिक्येवाऽऽतशब्दार्थप्रतीतिः, कथम् ?—

“पादपार्थिवविक्रान्, पुरुषोऽयं प्रतीयते ।

वृक्षशब्दप्रयोक्तृत्वात्, पूर्वावस्थास्वहं यथा ॥ १ ॥”

इति विवक्षामनुमाय, सत्या विवक्षेयम्, आसविचक्षात्वात्, मद्भिषक्वावदिति वस्तुनो निर्णयदिति चेत् । तद्वचतुरक्षम् । अमूहशब्दव्याया अनन्तरोक्तवैशेषिकपक्षप्रतिक्षेपेण कृतिनिर्वचनत्वात् । किञ्च-शाखादिमति पदार्थे वृक्षशब्दसङ्केते सत्येतद्विचक्षाऽनुमानमात्तयेत, अन्यथा वा । न तावदन्यथा, केनचित् कक्षे वृक्षशब्दं संकेतय तदुच्चारणात्, उन्मत्तसुप्तशुक्लशारिकादिना गोत्रस्त्रलनवता चान्यथाऽपि तत्प्रतिपादनाच्च हेतोर्व्यभिचारापत्तेः । संकेतपक्षे तु यद्येव तपस्वी शब्दस्तद्विशिष्टस्त्वेव वदेत्, तदा किं नाम क्षूणं स्यात् । न त्वत्वेपोऽर्थोद्भिमेति । विशेषलाभश्चैवं सति यदेवंविधाननुभूयमानपारम्पर्यपरित्याग इति । यदकथि-परमार्थतः सर्वतोऽव्यावृत्तस्वरूपेषु स्वज्ञज्ञेण्येकार्थकारित्वेनेत्यादि । तदवयवम् । यतोऽर्थस्य बाह्योद्देशादेरेकत्वम्, अद्विरूपत्वं, समानत्वं वा विवक्षितम् ? । न तावदाद्यः पक्षः, परदमुपडादौ कुण्डकाण्डभाण्डादिबाह्योद्देशस्य निष्प्रजिज्ञस्यैव संदर्शनात् । द्वितीयपक्षेऽपि सदृशपरिणामास्पदत्वम्, अन्यव्यावृत्त्यधिष्ठितत्वं वा समानत्वं स्यात् ? । न प्राच्यः प्रकारः, सदृशपरिणामस्य सौगतैरस्वीकृतत्वात् । न द्वितीयः, अन्यव्यावृत्तेरतात्त्विकत्वेन ग्रन्थेयस्यैव स्थलक्षणेऽधिष्ठानासंभवात् । किञ्च-अन्यतः सामान्येन, विजातीयोऽप्यव्यावृत्तिरन्यव्यावृत्तिर्भवेत् ? । प्रथमपक्षे, न किञ्चिदसमानं स्यात्, सर्वस्यापि सर्वतो व्यावृत्तत्वात् । द्वितीये तु विजातीयत्वं वाजिकुञ्जरादिकार्याणां बाह्यदिसजातीयत्वे सिद्धे सति स्यात्, तच्चान्यव्यावृत्तिरूपमन्येषां विजातीयत्वे सिद्धे सति, इति स्पष्टं

परस्पराश्रयत्वमिति । एवं च कारणैक्यं, प्रत्यवमर्शक्यं च विकल्प्य दूषणीयम् । अपि च—यदि बुद्धिप्रतिविम्बात्मा शब्दार्थः स्यात्, तदा कथमनो बहिरर्थे प्रवृत्तिः स्यात् ? । स्वप्रतिज्ञासेऽनर्थोऽर्थोऽध्यवसायाच्चेत् । ननु कोऽयमर्थोऽध्यवसायो नाम ? । अर्थसमारोप इति चेत्, तर्हि सोऽयमर्थानर्थयोरग्निमाणवक्योरिव तद्विकल्पविषयभावे सत्येव समुत्पत्तुमर्हति । न च समारोपविकल्पस्य स्थलक्षणं कदाचन गोचरतामश्नुति । यदि चानर्थोऽर्थसमारोपः स्यात्, तदा बाह्योद्देशार्थक्रियार्थिनः सुतरां प्रवृत्तिर्न स्यात् । न हि दाहपाकाद्यर्थी समारोपितपावकत्वे माणवके कदाचित्प्रयत्नते । रजतरूपताऽवभासमानशुक्तिकायामिव रजतार्थिनोऽर्थक्रियार्थिनो विकल्पात्तत्र प्रवृत्तिरिति चेत् । भ्रान्तिरूपस्तर्ह्ययं समारोपः, तथा च कथं ततः प्रवृत्ताऽर्थक्रियार्थी कृतार्थः स्यात् । यथा शुक्तिकायां प्रवृत्तो रजतार्थक्रियार्थीति । यदपि प्रोक्तम्—कार्यकारणभावस्यैव वाच्यवाचकतया व्यवस्थापितत्वादिति । तदप्युक्तम् । यतो यदि कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः स्यात्, तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमानः शब्दः स्वप्रतिभासस्य भवन्त्येव कारणमिति तस्याप्यसौ वाचकः स्यात् । यथा च विकल्पस्य शब्दः कारणम्, एवं परम्परया स्थलक्षणमपि, अतस्तदपि वाचकं भवेदिति प्रतिनियतवाच्यवाचकभावव्यवस्थानं प्रलयपद्धतिमनुधावत् । ततः शब्दः सामान्यविशेषात्मकार्थावबोधनिबन्धनमेवेति स्थितम् ॥

अथापौरुषेयत्वव्याघातः—

आगमस्यापौरुषेयत्वं स्याद्वादमञ्जरीम् । स हि पौरुषेयो वा स्यादपौरुषेयो वा ? । पौरुषेयश्चेत्सर्वज्ञकृतस्तदितरकृतो वा ? । आद्यपक्षे युष्मन्मतस्याहतिः । तथा च भवत्सिद्धान्तः—

“अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद् रुपा न विद्यते ।

नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो, यथार्थत्वनिश्चयः” ॥ १ ॥

द्वितीयपक्षे तु तत्र दोषवत्कर्तृकत्वेनाऽनाश्वासप्रसङ्गः । अपौरुषेयश्चेन्न संज्ञवत्येव, स्वरूपनिराकरणात्, तुरङ्गगृह्यत् । तथाहि—उक्तिर्वचनमुच्यते इति चेति पुरुषक्रियानुगतं रूपमस्य एतत्क्रियानावे कथं भवितुमर्हति । न चैतत् केवलं क्वचिद् ध्वनदुपलभ्यते, उपलब्धवाच्यदृश्यवक्त्राशङ्कासम्भवात् । नस्माद्यद्वचनं तत्पौरुषेयमेव, वर्णात्मकत्वात्, कुमारसम्भवादिवचनवत् । वचनात्मकश्च वेदः । तथा चाहुः—

“तात्त्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो,

वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च ।

पुंसश्च तात्त्वादि ततः कथं स्या—

दपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः ? ॥ १ ॥” इति ।

श्रुतेरपौरुषेयत्वमुररीकृत्यापि तावद्भवद्विरपि तदर्थव्याख्यानं पौरुषेयमेवाङ्गीक्रियते । अन्यथा अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यस्य स्वर्गसं भक्षयेदिति किं नार्थो, नियमकाभावात्ततोऽवरं सूत्रमपि पौरुषेयमभ्युपगमम् । अस्तु वा अपौरुषेयस्तथापि तस्य न प्रामाण्यम्, आसपुरुषाधीना हि वाचां प्रमाणतति । यत्तु कर्त्रस्मरणं साधनं तद्विशेषणं सविशेषणं वा धर्मेयं, प्राक्तनं तावत्पुत्राणकूपप्रासादारामविहारादिव्यभिचारि, तेषां कर्त्रस्मरणेऽपि पौरुषेयत्वात् । द्वितीयं तु सम्प्रदायान्यवच्छेदे सति कर्तृस्मरणादिति व्यधिकरणासिद्धः, कर्तृस्मरणस्य श्रुतेरन्यत्राश्रये पुंसि वर्त्तमानात् । अथापौरुषेयी श्रुतिः, सम्प्र-

दायाव्यवच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादाकाशवदित्यनुमान-
रचनायामनवकाशा व्यधिकरणसिद्धिः मैवम्, एवमपि विशेषणे
संदिग्धासिद्धतापत्तेः । तथा ह्यादिमतामपि प्रासादादीनां स-
म्प्रदायो व्यवच्छिद्यमानो विलोक्यते, अनादेयस्तु श्रुतेख्यवच्छे-
दी सम्प्रदायोऽद्यापि विद्यत इति मृतकमुष्टिवन्धमन्वकार्षीत् ।
तथा च कथं न संदिग्धासिद्धं विशेषणं विशेष्यमप्युभया-
सिद्धं वादिप्रतिवादिभ्यां तत्र कर्तुः स्मरणात् । न तु श्रो-
त्रियाः श्रुतौ कर्तारं स्मरन्तीति मृषोद्यं श्रोत्रियापसदाः ख-
ल्वमी इति चेन्न युयमाभ्यामस्मरन्ति तावत्ततो 'यो वै
वेदाश्च प्रहिणोतीति प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत्तत्तत्त-
यो वेदा अन्वसृजन्तेति च' स्वयमेव स्वस्य कर्तारं स्म-
रन्तीति श्रुतिं विश्रुतामिव गणयन्तो युयमेव श्रोत्रियापसदाः
किन्न स्यात् । किं च-क एवमाध्यन्दिनितित्तिरिप्रवृत्तिमुनिना-
माङ्किताः काश्चन शास्त्रास्तत्कृतत्वादेव मन्वादिस्मृत्यादिवहु-
त्सन्नानां तासां कल्पादौ तैर्दृष्टत्वात्, प्रकाशितत्वाद्वा तन्ना-
मचिहेऽनादौ कालेऽनन्तमुनिनामाङ्कितत्वं तासां स्यात् ।
जैनाश्च कात्यासुरमेतत्कर्तारं स्मरन्ति । कर्तृविशेषविप्रतिपत्तेर-
प्रमाणमवैतत्स्मरणमिति चेत्, नैवम् । यतो यत्रैव विप्रतिपत्तिः
तदेवाप्रमाणमस्तु, न पुनः कर्तृमात्रस्मरणमपि ।

“वेदस्याध्ययनं सर्वं, गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।

वेदाध्ययनवाच्यत्वाद्-धुनाऽध्ययनं यथा ॥ १ ॥

अतीतानागतौ कालौ, वेदकारविवर्जितौ ।

कालत्वात्तद्यथा कालौ, वर्तमानः समीकृते ॥ २ ॥

इति कारिकोक्तेर्वेदाध्ययनवाच्यत्वकालत्वेऽपि हेतुः कुरङ्ग-
गृङ्गभङ्गुरं कुरङ्गाङ्गीणां चेत इति वाक्याध्ययनं गुर्वध्ययन-
पूर्वकमेतद्वाक्याध्ययनवाच्यत्वादधुनातनाध्ययनवदतीतानाग-
तौ कालौ प्रक्रान्तवाक्यकर्तृवर्जितौ कालत्वाद्बर्तमानकालव-
दिति वेदप्रयोजकत्वादानाकर्णनीयौ सकर्णानाम् । अथार्था-
पत्तेरपौरुषेयत्वनिर्णयो वेदस्य । तथाहि-संवादविस्वादादर्श-
नादर्शनाभ्यां तावदेव निःशेषपुरुषैः प्रामाण्येन निर्णायि, तन्नि-
र्णयश्चास्य पौरुषेयत्वे दुरापः । यतः-

“शब्दे दोषोद्भवस्ताव-द्वक्त्रधीन इति स्थितिः ।

तदभावः क्वचित्तावद्, गुणवद्वक्त्वत्कृतः ॥ १ ॥

तद्गुणैरपकृष्टानां, शब्दे संक्रान्त्यसंज्ञवात् ।

वेदे तु गुणवान् वक्ता, निर्णेतुं नैव शक्यते ॥ २ ॥

ततश्च दोषाभावाऽपि, निर्णेतुं शक्यतां कथम् ।

वक्त्रभावे तु सुज्ञानो, दोषाभावो विज्ञायते ॥ ३ ॥

यस्माद्वक्त्रभावेन, न स्युर्दोषा निराश्रयाः” ।

ततः प्रामाण्यनिर्णयान्यथाऽनुपपत्तेरपौरुषेयोऽयमिति ।
अस्तु तावदत्र रूपणपशुपरम्पराप्राणव्यपरोपणप्रगुणप्रचुरो-
पदेशापवित्रवादप्रमाणमेवैष इत्यनुत्तरोत्तरप्रकारः प्रामाण्य-
निर्णयोऽप्यस्य न साध्यसिद्धिर्विरुद्धत्वात्, गुणवद्वक्त्वतायामेव
वाक्येषु प्रामाण्यनिर्णयोपपत्तेः । पुरुषो हि यथा रागादिमान्
मृषावादी तथा सत्यशौचादिमान् वितथवचनः समुपलब्धः,
श्रुतौ तु तदुभयाज्ञावै नैरर्थक्यमेव भवेत् । कथं वक्तुगुणित्वनि-
श्चयश्छन्दसीति चेत् कथं पितृपितामहप्रपितामहादेरप्यसौ
तस्माद्येन तच्छस्तन्यस्तत्राक्षरेणः पारम्पर्योपदेशस्य चानुसारेण
प्राह्यदेयनिधानादौ निःशङ्कः प्रवर्तयाः, क्वचित् संवादश्चेदत
एवान्यत्रापि प्रतीहि कारीर्यादौ संवाददर्शनात् । कदाचित्

क्वचित् संवादस्तु सामग्रीवैगुण्यात् त्वयाऽपि प्रतीयत
एवं प्रतीताप्तमन्त्रोपदिष्टमन्त्रवत् । प्रतिपादितश्च प्राक्
रागद्वेषाज्ञानशून्यपुरुषविशेषनिर्णयः किं चास्य व्याख्यानं
तावत्पौरुषेयमेवापौरुषेयत्वे भावना नियागादिविरुद्धव्या-
ख्याने जेदाभावप्रसङ्गात्, तथा च को नामात्र विश्रम्भो भवेत्;
कथं चैतद् ध्वनीनामर्थनिर्णीतलौकिकध्वन्यनुसारेणेति चेत्
किं न पौरुषेयत्वनिर्णीतिरपि तत्राभ्यस्यापि विज्ञावनादन्यथा
त्वरज्जरीयम् । न च लौकिकार्थानुसारेण मदीयोऽर्थः स्था-
पनीय इति श्रुतिरेव स्वयं वक्ति । न च जैमिन्यादावपि तथा
कथयति प्रत्यय इत्यपौरुषेयवचनसामर्थ्याऽप्यन्य एव कोऽपि
संभाव्येत, पौरुषेयीणामपि म्लेच्छार्थवाचामेकार्थं नास्ति किं
पुनरपौरुषेयवाचां, ततः परमरूपापीयूषपञ्चावितान्तःकरणः
कोऽपि पुमान् निर्दोषः प्रसिद्धार्थं ध्वनिभिः स्वाध्यायं विधाय
व्याख्यातीदानीं तनग्रन्थकारवदिति युक्तं पश्यामः । अत्रोचाम
च—“वन्दः स्वीकुरुपे प्रमाणमथ चेत्तद्वाच्यनिश्चायकं ।
कञ्चिद्विश्रुतिं न जल्पसि ततो ज्ञातोऽस्य मूल्यक्रयी” इति
आगमोऽपि नापौरुषेयत्वमाख्याति । पौरुषेयत्वाविष्कारिण
एवास्योक्तवद् सद्भावनात् । अपि चेयमानपूर्वी पिपीहिकादीना-
मिव देशकृताङ्कुरप्रकटलकाण्मादीनामिव कालकृता चावर्णा-
नां वेदे न संभवति, तेषां नित्यत्वापत्त्वात् । क्रमेणाभिव्यक्तेः सा
संज्ञवतीति चेत्तर्हि कथमियमपौरुषेयी जवेदभिव्यक्तिः, पौरुषे-
यत्वादिति सिद्धा पौरुषेयी भुतिः ।

अयं जगत्कर्तृत्वविध्वंसः—

यत्तावदुच्यते परैः—दित्यादयो बुद्धिमत्कर्तृकाः कार्यत्वात्
घटवदिति । तदयुक्तम् । व्याप्तेरग्रहणात् । साधनं हि सर्वत्र
व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेदिति सर्ववादिसंवादः ।
स चायं जगन्ति सृजन् सशरीरोऽशरीरो वा स्यात् ? सशरीरो-
ऽपि किमस्मदादिवद् दृश्यशरीरविशिष्ट उत पिशाचादिवददृ-
श्यशरीरविशिष्टः ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधः । तन्मन्तरेणाऽपि च
जायमाने नृपतरुपुरन्दरधनुरज्जादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् प्रमेय-
त्वादिवत्साधारणानैकान्तिको हेतुः । द्वितीयविकल्पे पुनरदृश्य-
शरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणमाहास्विदस्मदाद्यदृष्ट-
वैगुण्यम् । प्रथमप्रकारः कोशपानप्रत्यायनीयः । तत्सिद्धौ प्रमा-
णाभावात् इतरेतराश्रयदोषापत्तेश्च । सिद्धे हि माहात्म्यवि-
शेषे तस्यादृश्यशरीरत्वं प्रत्येतव्यम्, तत्सिद्धौ च माहात्म्य-
विशेषसिद्धिरिति । द्वितीयोक्तस्तु प्रकारो न संचरन्त्येव विचार-
गोचरे; संशयानिवृत्तेः । किं तस्याऽसत्त्वाददृश्यशरीरत्वं, वा-
न्ध्येयादिवत्, किं वाऽस्मदाद्यदृष्टवैगुण्यात्पिशाचादिवदिति नि-
श्चयाभावान् । अशरीरश्चेत्तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यम् ।
घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टाः । अशरीरस्य च
सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यमाकाशादिवत् । तस्मात्सश-
रीराशरीरलक्षणे पक्षद्वयेऽपि कार्यत्वहेतोर्गर्भाप्यसिद्धिः । किञ्च-
त्वन्मतेन कालात्ययापदिष्टोऽप्ययं हेतुः । धर्म्येकदेशस्य तरुविद्यु-
दभ्रदादेरिदानीमप्युत्पद्यमानस्य विधातुरनुपलभ्यमानत्वेन
प्रत्यक्षबाधितधर्म्यन्तरे हेतुजगन्नात् । तदेवं न कश्चिज्जगतः
कर्ता । किञ्च-स ईश्वरः खलु नित्यत्वेनैकरूपः सन् त्रिभुवनसर्ग-
स्वभावोऽतत्त्वज्ञावो वा ? प्रथमविधायां जगन्निर्माणात्कदाचिद्-
पिनोपरमेत । तदुपरमे तत्त्वज्ञावत्त्वहानिः । एवं च सर्गक्रियाया
अपथ्यवसानादेकस्यापि कार्यस्य न सृष्टिः । घटो हि स्वारम्भक-
णादारभ्य परिसमाप्तेरुपान्त्यकृणं यावन्निश्चयनयाभिप्रायेण न

घटव्यपदेशमासादयति । जलाहरणाद्यर्थक्रियायामसाधकतमत्वात् । अतस्त्वज्ञावपक्वे तु न जातु जगन्ति सृजेत्तत्त्वज्ञावायोगाज्ञानवत् । अपि च-नस्यैकान्तित्यस्वरूपत्वे सृष्टिवत्संहारोऽपि न घटते । नानारूपकार्यकरणेऽनित्यत्वापत्तेः । स हि येनैव स्वभावेन जगन्ति सृजेत् तेनैव तानि संहरेत्, स्वभावान्तरेण वा ? । तेनैव चेत्सृष्टिसंहारयोर्योगपद्यप्रसङ्गः, स्वभावाभेदात् । एकस्वभावात्कारणादनेकस्वभावकार्योत्पत्तिविरोधात् । स्वभावान्तरेण चेन्नित्यत्वहानिः । स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः । यथा पाथिवशरीरस्याहारपरमाणुसदृहतस्य प्रत्यहमपूर्वापूर्वोत्पादेन स्वभावभेदादनित्यत्वम् । इष्टञ्च भवतां सृष्टिसंहारयोः शंभौ स्वभावभेदः । रजोगुणात्मकतया सृष्टेः, तमोगुणात्मकतया संहारो, सांघिकतया च स्थितौ तस्य व्यापारस्वीकारात् । एवं चावस्थानेदस्तद्वेदे चावस्थाव्यतिरेकोऽपि जेदाधित्यन्वक्तुः । अथास्तु नित्यः सस्तथापि कथं सतनमैव सृष्टौ न चेष्टेन । इच्छावशाच्चतु ता अपीच्छाः स्वसत्तामात्रनिवन्धनात्मलाभाः सदैव किञ्च प्रवर्त्तयन्तीति स एवोपात्मम् । तथा दम्भोरष्टगुणाधिकरणत्वे कार्यभेदानुमेयानां तदिच्छानामपि त्रिपमरूपत्वाधित्यत्वहानिः केन वार्यते ? किञ्च-प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्ता । ततश्चायं जगत्सर्वं व्याप्रियते स्वार्थात्कारुण्याद्वा ? न तावन्स्वार्थात्, तस्य कृतकृत्यत्वात् । न च कारुण्यात्, परदुःखग्रहाणेच्छा हि कारुण्यम् । ततः प्राक्सर्गाजीवानामिन्द्रियशरीरोपयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य ग्रहाणेच्छा कारुण्यम् । सर्गोत्तरकाले तु दुःखिनोऽधलोपय कारुण्यान्नुपगमे दुःखतरमित्ररेतराश्रयम् । कारुण्येन सृष्टिः, सृष्ट्या च कारुण्यम् इति नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिद्ध्यतीति संक्षेपः ।

अथ शब्दाकाशगुणत्वसंख्येनम्-

अकारादिः पौद्गलिको वर्णः ।

पुञ्जलभावावर्गणापरमाणुभिरारब्धः पौद्गलिकः । पौद्गलिकः शब्द इन्द्रियाथत्वाद्वादिवात् । यच्चास्य पौद्गलिकत्वनिषेधाय स्पर्शश्रव्याश्रयत्वादतिनिविडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातात्पूर्वं पञ्चावयवानुपलब्धेः सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वाद्गगनगुणत्वाच्चेति पञ्च हेतवो यैर्वैरूप्यस्तास्ते हेत्वाभासाः । तथा हि-शब्दपर्यायस्याश्रयो नापावर्गणा, न पुनराकाशः, तत्र च स्पर्शो निर्यायत एव । यथा शब्दाश्रयः स्पर्शवाननुवातप्रतिघातयोर्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलब्धमानानुपलब्धमानानिन्द्रियार्थत्वात्साविधगन्धाधारद्रव्यपरमाणुवत् इत्यसिद्धः प्रथमः । द्वितीयस्तु गन्धद्रव्येण व्यभिचारादनैकान्तिकः । वर्तमानजात्यकस्तूरिकादिगन्धद्रव्यं हि पिहितद्वारापवरकस्यान्तर्विशति बहिश्च निर्याति, न चापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसम्भवाच्चातिनिवृत्तत्वमतस्तत्र तत्प्रवेशनिष्कर्मौ, कथमन्यथोद्धाटितद्वारावस्थायामिव न तदेकार्णवत्वम् ? सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे न तयोः संज्ञव इति चेत्तर्हि शब्दोऽप्येतत्समानमित्यसिद्धो हेतुः । तृतीयस्तु तडिल्लुतोल्कादिभिरनैकान्तिकः । चतुर्थोऽपि तथैव, गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्यन्त्रिचारात् । नहि गन्धद्रव्यादिकमपि नासायां निविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नश्वभुषेरकं दृश्यते । पञ्चमः पुनरसिद्धः, तथा हि-न गगनगुणः शब्दोऽस्मादिप्रत्यक्त्वाद्वादिवादि सिद्धः पौद्गलिकः शब्द इति । अथ नायं शब्दः पौद्गलिकः संगच्छत इति यौगाः सङ्ग्रहमाणाः सप्रणयप्रणयिनीनामेव गौरवाहः । यतः कोऽत्र हेतुः ? स्पर्शश्रव्याश्रयत्व-

म, अतिनिविडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातः, पूर्वं पञ्चावयवानुपलब्धिः, सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वं, गगनगुणत्वं वा ? । नाद्यः पक्षः । यतः शब्दपर्यायस्याश्रये भापावर्गणारूपे स्पर्शाभावो न तावदनुपलब्धिमात्रात् प्रसिद्धाति, तस्य सव्यभिचारत्वात् । योग्यानुपलब्धिस्त्वसिद्धा तत्र स्पर्शस्यानुद्भूतत्वेनोपलब्धिलक्षणाप्राप्तत्वाभावात्, उपलब्धमानगन्धाधारद्रव्यवत् । अथ घनसारगन्धसारौ गन्धस्य स्पर्शाव्यभिचारनिश्चयादत्रापि तन्निर्णयेऽप्यनुपलब्धमादनुद्भूतत्वं युक्तम्, नेतरत्र, तन्निर्णायकाभावात् इति चेत्, मानुसावतन्निर्णायकं किञ्चित्, किन्तु पुञ्जलानामुद्भूतानुद्भूतस्पर्शानामुपलब्धेः शब्दोऽपि पौद्गलिकत्वेन परैः प्रणिगद्यमाने, बाधकाभावे च सति संदेह एव स्यात्, न त्वज्ञावनिश्चयः, तथा च सन्दिग्धासिद्धो हेतुः । न च नास्ति तन्निर्णायकम् । तथाहि-शब्दाश्रयः स्पर्शवान्, अनुवातप्रतिघातयोर्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलब्धमानानुपलब्धमानानिन्द्रियार्थत्वात्, तथाविधगन्धाधारद्रव्यवत्, इति । द्वितीयकल्पेऽपि गन्धद्रव्येण व्यभिचारः, वर्तमानजात्यकस्तूरिकाकपूरकश्मीरजादिगन्धद्रव्यं हि पिहितकपाटसंपुटापवरकस्यान्तर्विशति, बहिश्च निस्सरति, नचापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसंभवेनातिनिविडत्वाभावात् तत्प्रवेशनिष्काशौ, अत एव तदल्पायस्ता, न त्वावृत्तद्वारदशायामिव तदेकार्णवत्वम्, सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे नैतौ संज्ञवत इति चेत्, एवं तर्हि शब्दोऽपि सर्वस्य तुल्ययोग्यतेमत्वात्सिद्धता हेतोरस्तु । पूर्वं पञ्चावयवानुपलब्धिः, सौदाभिनीदामोल्कादिभिरनैकान्तिकी । सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वमपि गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्यन्त्रिचारी । न हि गन्धद्रव्यादिकमपि नास्ति निविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नश्वभुषेरकं प्रेक्ष्यते । गगनगुणत्वं त्वसिद्धम् । तथाहि-न गगनगुणः शब्दः अस्मदादिप्रत्यक्त्वात् रूपादिवादि । पौद्गलिकत्वसिद्धिः पुनरस्य-शब्दः पौद्गलिकः, इन्द्रियाथत्वात्, रूपादिवदेवेत्यतितरां संक्षेपः ।

अथैतखेनम्-

वेदान्तिनस्त्वेवं प्रजल्पन्ति-‘ सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किञ्चन । आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन ’ ॥ १ ॥ इति न्यायादयं प्रपञ्चो मिथ्यारूपः, प्रतीयमानत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा शुक्तिशकले कलधौतम्, तथा चायं, तस्मात्तथा । तदेतद्वाच्यम् । तथाहि-मिथ्यारूपत्वं तैः कीदृग् विवक्षितम् । किमन्यन्तासत्त्वम् उतान्यस्यान्याकारतया प्रतीतत्वम्, आहोस्विदनिर्वाच्यत्वम् । प्रथमपक्षेऽसत्त्व्यातिप्रसङ्गः । द्वितीये विपरीतगत्यातिस्वीकृतिः । तृतीये तु किमिदम् अनिर्वाच्यत्वम् ? निःस्वभावत्वं चेत् निसः प्रतिपेक्षार्थत्वे स्वभावशब्दस्यापि भावाभावयोरन्यतरार्थत्वेऽसत्त्व्यातिसत्त्व्यात्यभ्युपगमप्रसङ्गः । भावप्रतिपेक्षेऽसत्त्व्यातिरज्ञावप्रतिपेक्षे सत्त्व्यातिरिति । प्रतीत्य गोचरत्वं निःस्वभावत्वमिति चेत्, अत्र विरोधः । न प्रपञ्चो, हि न प्रतीयते चेत्कथम् धर्मितयोपात्तः ? । कथं च प्रतीयमानत्वं हेतुतयोपात्तम् ? । तथोपादाने वा कथं न प्रतीयते । यथा प्रतीयते, न तथेति चेत्तर्हि विपरीतव्यतिरिच्यमभ्युपगता स्यात् । किञ्चेयमनिर्वाच्यता प्रपञ्चस्य प्रत्यक्त्वाधिता, घटोऽयमित्याद्याकारं हि प्रत्यक् प्रपञ्चस्य सत्यतामेव व्यवस्थति, घटादिप्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदात्मनस्तस्योत्पादात् । इतरेतराविकवस्तुनामेव च प्रपञ्चशब्द-

वाच्यत्वात् । अथ प्रत्यक्षस्य विधायकत्वात्कथं प्रतिषेधे सा-
मर्थ्यम् । प्रत्यक्षं हि-इदमिति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति, नान्यत्स्व-
रूपं प्रतिषेधति ।

“आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं, न निषेद्धृ विपश्चितः ।

नैकत्व आगमस्तेन, प्रत्यक्षेण प्रवाध्यते” ॥ १ ॥

इति वचनात्, इति चेन्न । अन्यरूपनिषेधमन्तरेण त-
त्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसंपत्तेः । पीतादिव्यवच्छिन्नं हि नीलं
नीलमिति गृहीतं भवति, नान्यथा । केवलवस्तुस्वरूपप्र-
तिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात् । मुण्डभूतलग्रहणे
घटाभावग्रहणवत् । तस्माद्यथा प्रत्यक्षं विधायकं प्रति-
पन्नं तथा निषेधकमपि प्रतिपत्तव्यम् । अपि च-विधाय-
कमेव प्रत्यक्षमित्यङ्गीकृते यथा प्रत्यक्षेण विद्या विधीयते,
तथा किं नाविद्याऽपि इति । तथा च द्वैतापत्तिः । ततश्च सुव्य-
वस्थितः प्रपञ्चः । तदमी वादिनोऽविद्याविवेकेन सन्मात्रं प्रत्य-
क्षात्प्रतीयन्तोऽपि न निषेधकं तदिति ब्रुवाणाः कथं नोन्मत्ताः । इति
सिद्धं प्रत्यक्षवाधितः पक्ष इति । अनुमानवाधितश्च-प्रपञ्चो
मिथ्या न भवति, असद्विलक्षणत्वात्, आत्मवत् । प्रतीयमानत्वं
च हेतुर्ब्रह्मात्मना व्यञ्जिचारी । स हि प्रतीयते न च मिथ्या ।
अप्रतीयमानत्वे त्वस्य तद्विषयवचसामप्रवृत्तेर्मूकतैव तेषां
श्रेयसी । साध्यविकलश्च दृष्टान्तः । शुक्तिशकलकलधौतेऽपि
प्रपञ्चान्तर्गतत्वेन अनिवर्चनीयतायाः साध्यमानत्वात् । किञ्चेद-
मनुमानं प्रपञ्चाद्विन्नम्, अभिन्नं वा । यदि जिन्नं तर्हि सत्यम-
सत्यं वा । यदि सत्यं तर्हि तद्वदेव प्रपञ्चस्यापि सत्यत्वं स्यात् ।
अद्वैतवादप्रकारे खङ्गाप्रतात् । अथासत्यम्, तर्हि न किञ्चि-
त्तेन साधयितुं शक्यम्, अवस्तुत्वात् । अनिन्नं चेत् प्रपञ्च-
स्वभावतया तस्यापि मिथ्यारूपत्वापत्तिः । मिथ्यारूपं च तत्कथं
स्वसाध्यसाधनायावत् । एवं च प्रपञ्चस्यापि मिथ्यारूपत्वा-
सिद्धेः कथं परमब्रह्मणस्तात्त्विकत्वं स्यात्, यतो बाह्यार्थाज्ञा-
वो भवेदिति । अथ वा प्रकारान्तरेण सन्मात्रवृत्तकणस्य परम-
ब्रह्मणः साधनं दूषणं चोपन्यस्यते । ननु परमब्रह्मण एवैकस्य
परमार्थसतो विधिरूपस्य विद्यमानत्वात्प्रमाणविषयत्वम् । अप-
रस्य द्वितीयस्य कस्यचिदप्यभावात् । तथाहि-प्रत्यक्षं तदा-
वेदकमस्ति । प्रत्यक्षं द्विधा निघते-निर्विकल्पकसविकल्पकभे-
दात् । ततश्च निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् सन्मात्रविषयात्तस्यैकस्यैव
सिद्धिः । तथा चोक्तम्-

“ अस्ति ह्याद्योचनाज्ञानं, प्रथमं निर्विकल्पकम् ।

बालमुकादिविज्ञान-सदृशं शुद्धवस्तुजम् ” ॥ १ ॥

न च विधिवत्परस्परव्यावृत्तिरप्यप्यक्षत एव प्रतीयत इति
तैत्तिरिक्तेः, तस्य निषेधाऽविषयत्वात्, “आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं
न निषेद्धृ” इत्यादिवचनात् । यच्च सविकल्पकप्रत्यक्षं घट-
पटादिभेदसाधकं तदपि सत्तारूपेणान्वितानामेव तेषां प्रकाश-
कत्वात् सत्ताद्वैतस्यैव साधकम्, सत्तायाश्च परमब्रह्मरूपत्वात् ।
तदुक्तम्-“यदद्वैतं तद्ब्रह्मणो रूपम्” इति । अनुमानादपि तत्
सद्भावो विज्ञायत एव । तथाहि-विधिरेव तत्त्वं प्रमेयत्वात् ।
यतः प्रमाणविषयभूतोऽर्थः प्रमेयः, प्रमाणानां च प्रत्यक्षानुमाना-
गमोपेमानार्थापत्तिसंज्ञकानां भावविषयत्वेनैव प्रवृत्तेः ।

तथा चोक्तम्-

“ प्रत्यक्षाद्यवतारः स्या-द्भावांशो गृह्यते यदा ।

व्यापारस्तदनुत्पत्ते-रज्ञावांशे जिघृक्षिते ” ॥ १ ॥

यच्चाभावाख्यं प्रमाणं, तस्य प्रामाण्याभावाच्च तत्प्रमाणम् ।
तद्विषयस्य कस्यचिदप्यज्ञावात् । यस्तु प्रमाणपञ्चकविषयः स
विधिरेव । तेनैव च प्रमेयत्वस्य व्याप्तत्वात् । सिद्धं प्रमेयत्वेन
विधिरेव तत्त्वम्, यत् न विधिरूपं, तन्न प्रमेयम् । यथा खरवि-
षाणम् । प्रमेयं चेदं निखिलं वस्तुतत्त्वम् । तस्माद् विधिरूपमेव ।
अतो वा तत्सिद्धिः । ग्रामारामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तः-
प्रविष्टाः प्रतिज्ञासमानत्वात्, यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तः-
प्रविष्टम् । यथा प्रतिज्ञासत्स्वरूपम् । प्रतिज्ञासन्ते च ग्रामाऽऽरा-
मादयः पदार्थास्तस्मात्प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः । आगमोऽपि परम-
ब्रह्मण एव प्रतिपादकः समुपलभ्यते-“पुरुष एवेदं सर्वं यद् जूतं
यच्च भाव्यम्, उतामृतत्वस्येशानो यदन्ननातिरोहति । यदेजति
यन्नैजति यद् दूरे यदन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य
बाह्यतः” इत्यादि । श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्योऽनुमन्त-
व्यः” इत्यादिवेदवाक्यैरपि तत्सिद्धेः । कृत्रिमेणापि आगमेन त-
स्यैव प्रतिपादनात् । उक्तं च-

“ सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन ।

आरामं तस्य पश्यन्ति, न तत्पश्यति कश्चन ” ॥ १ ॥

इति प्रमाणतस्तस्यैव सिद्धेः परमपुरुष एक एव तत्त्वम्, सक-
लभेदानां तद्विवर्तत्वात् । तथाहि-सर्वे ज्ञावा ब्रह्मविवर्ताः, सत्त्वै-
करूपेणान्वितत्वात् । यद्यदपेणान्वितं तत्तदात्मकमेव । यथा
घटघटांशरावोदञ्चनादयो मृद्दपेणैकेनान्विता मृद्विवर्ताः ।
सत्त्वैकरूपेणान्वितं च सकलं वस्तु । इति सिद्धं ब्रह्मविवर्तित्वं
निखिलभेदानामिति । तदेतत्सर्वं मदिरारसाऽऽस्वादगद्गदोक्त-
दितमिवावज्ञासते, विचारासदत्वात् । सर्वं हि वस्तु प्रमाणसिद्धं
न तु बाह्यवृत्तेण । अद्वैतमते च प्रमाणमेव नास्ति, तत्सद्भावे द्वै-
तप्रसङ्गात् । अद्वैतसाधकस्य प्रमाणस्य द्वितीयस्य सद्भावात् ।
अथ मतं लोकप्रत्यायनाय तदपेक्षया प्रमाणमप्यन्युपगम्यते ।
तदसत् । तन्मते लोकस्यैवासम्भवात् । एकस्यैव नित्यनिरंशस्य
परब्रह्मण एव सत्त्वात् । अथास्तु यथाकथञ्चिन्प्रमाणमपि ।
तर्हि प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा तत्साधकं प्रमाणमुररि । कियते ?
न तावत्प्रत्यक्षम् । तस्य समस्तवस्तुजातगतभेदस्यैव प्रकाश-
कत्वात्, आवाद्यगोपाहं तथैव प्रतिज्ञासनात् । ‘यच्च निर्वि-
कल्पकं प्रत्यक्षं तदावेदकम्’ इत्युक्तम् । तदपि न सम्यक् । तस्य
प्रामाण्यानन्युपगमात् । सर्वस्यापि प्रमाणतत्त्वस्य व्यवसाया-
त्मकस्यैवाविसंवादादकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः । सविकल्पकेन तु प्र-
त्यक्षेण प्रमाणज्ञानेनैकस्यैव विधिरूपस्य परब्रह्मणः स्वप्नेऽपि अ-
प्रतिभासनात् । यदप्युक्तम्-“आहुर्विधातृ प्रत्यक्षम्” इत्यादि ।
तदपि न पेशलम् । प्रत्यक्षेण ह्यनुवृत्तव्यावृत्ताकारात्मकवस्तु-
न एव प्रकाशनात् । एतच्च प्रागेव क्षुरणम् । न ह्यनुस्यूतमेकम-
खण्डं सत्तामात्रं विशेषनिरपेक्षं सामान्यं प्रतिभासते, येन
यदद्वैतं तद् ब्रह्मणो रूपमित्याद्युक्तं शोभेत । विशेषनिरपेक्षसामा-
न्यस्य खरविषाणवदप्रतिज्ञासनात् । तदुक्तम्-

“निर्विशेषं हि सामान्यं, ज्ञेयं खरविषाणवत् ।

सामान्यरहितत्वेन, विशेषास्तद्भवे हि” ॥ १ ॥

ततः सिद्धे सामान्यविशेषात्मन्यर्थे प्रमाणविषये कुत एवैकस्य
परमब्रह्मणः प्रमाणविषयत्वम् । यच्च प्रमेयत्वादित्यनुमानमुक्त-
म्, तदप्येतैवैवापास्तं बोध्यम् । पक्षस्य प्रत्यक्षवाधितत्वेन
हेतोः काह्यात्ययापदिष्टत्वात् । यच्च तत्सिद्धौ प्रतिभासमान-
त्वसाधनमुक्तम् । तदपि साधनाभासत्वेन न प्रकृतसाध्यसाधना-
यालम् । प्रतिभासमानत्वं हि निखिलज्ञावानां स्वतः, परतो वा ?

न तावत्स्वतः घटपटमुकुटशटकादीनां स्वतः प्रतिज्ञासमानात्वे-
नासिद्धेः । परतः प्रतिज्ञासमानात्वं च परं विना नोपपद्यते
इति । यच्च परमग्रहीविवर्तवर्तित्वमस्तिभेदानामित्युक्तम्,
तदप्यत्र स्मृतेश्चोपमानाद्विनाभावित्वेन पुरुषाद्वैतं प्रति-
ष्ठात्येव । न च घटादीनां चेतन्यान्वयोऽप्यस्ति, मृदाद्यन्वयस्यैव
तत्र दर्शनात्, ततो न किञ्चिदेतदपि । अतोऽनुमानादपि न त-
त्सिद्धिः । किञ्च-पक्षहेतुदृष्टान्ता अनुमानोपायचूताः परस्परं
भिन्नाः, अभिन्ना वा । जेदे द्वैतसिद्धिरभेदे त्वेकतारूपनापातिः
तत्कथमेतेभ्योऽनुमानमात्मानमासादयति । यदि च हेतुमन्तरेणा-
पि साध्यसिद्धिः स्यात्तर्हि द्वैतस्यापि बाह्याव्रतः कथं न सिद्धिः ।

तदुक्तम्-

" हेतोरक्षेत्सिद्धिष्वेदं, द्वैतं स्यादनुसाध्ययोः ।
हेतुना चेद्विना सिद्धि-द्वैतं बाह्याव्रतं न किम् ? " ॥ १ ॥
" पुरुष एवेदं सर्वम् " इत्यादेः, " सर्वं वै सात्त्विकं ग्रहं " इत्यादे-
भ्यामपि न तत्सिद्धिः । तस्यापि द्वैताविनाभावित्वेन अद्वैतं
प्रति प्रामाण्यासम्भवात् साध्यवाचकभाषसङ्गणस्य द्वैतस्यैव
तत्रापि दर्शनात् ।

तदुक्तम्-

" कर्मद्वैतं फलद्वैतं, लोकद्वैतं विरुध्यते ।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्, वन्धमोक्षद्वयं तथा " ॥ १ ॥
अथ कथमागमादपि तत्सिद्धिः । ततो न पुरुषाद्वैतलक्षणमेक-
मेव प्रमाणस्य विषयः । इति सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः ।

ईश्वरव्यापकत्वखण्डनम्-

ईश्वरस्य सर्वगतत्वं नोपपन्नम् । तद्वि शरीरात्मना ज्ञानात्मना वा
स्यात् । प्रथमपक्षे तदीयैर्नैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वादितर-
निर्मेयपदार्थानामाश्रयानवकाशः । द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता,
अस्माभिरपि निरतिशयज्ञानात्मना परमपुरुषस्य जगत्त्रयक्रो-
डीकरणाभ्युपगमात् । यदि परमेवं भवत्प्रमाणीकृतेन वेदेन वि-
रोधः । तत्र हि शरीरात्मना सर्वगतत्वमुक्तम्- " विश्वतश्चक्षुरत
विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरत विश्वतः पादः " इत्यादिभ्युतेः ।
यद्येकं तस्य प्रतिनियतदेशवर्तित्वे त्रिभुवनगतपदार्थानाम-
नियतदेशवृत्तीनां यथावर्तिमानानुपपत्तिरिति । तत्रेदं पृच्छ्यते ।
स जगत्त्रयं निर्ममाणस्तत्कादिवत्साक्षादेहव्यापारेण निर्मिमी-
ते, यदि वा सङ्कल्पमात्रेण । आद्ये पक्षे एकस्यैव मूढधरादेर्वि-
धाने अक्रोदीयसः काश्चपेस्य सम्भवाद्देहीयसाऽप्यनेहसा न
परिसमाप्तिः । द्वितीयपक्षे तु सङ्कल्पमात्रेणैव कार्यकल्पनायां निय-
तदेशस्यावित्वेऽपि न किञ्चिद् दृष्टव्यमुत्पश्यामः । नियतदेशस्याधि-
नां सामान्यदेशानामपि सङ्कल्पमात्रेणैव तत्तत्कार्यसम्पादनप्रति-
पक्षेः । किञ्च-तस्य सर्वगतत्वेऽङ्गीक्रियमाणेऽप्युचितं निरन्तरमन्त-
मक्षेपु नरकादिष्वेवमपि तस्य वृत्तिः प्रसज्यते । तथा चानिष्टाप-
त्तिः । अथ युष्मत्पक्षेऽपि यदा ज्ञानात्मना सर्वजगत्त्रयं व्याप्नोतीत्यु-
च्यते तदाऽशुचिरसाक्षादादीनामप्युपलम्भसम्भावनात्, नरका-
दिदुःखस्वरूपसंवेदनाऽऽत्मकतया दुःखाऽनुभवप्रसङ्गाच्चानि-
ष्टापत्तिस्तुल्यैवेति चेत् । तदेतदुपपत्तिभिः प्रतिकर्तुमशक्यस्य
धुक्षितिरिवावकरणम् । यतो ज्ञानमप्राप्तकारि स्वस्थलस्थमेव
विषयं परिच्छिनत्ति, न पुनस्तत्र गत्या, तत्कुतो प्रवदुपात्तम्नः
समीचीनः । न हि भवतोऽप्यशुचिज्ञानमोत्रेण तदसाक्षादानु-
भूतिः । तज्ज्ञावे हि स्रक्चन्दनाऽङ्गनारसवत्याद्विचिन्तनमात्रेणैव

तुत्तिसिद्धौ तत्प्राप्तिप्रयत्नवैफल्यप्रसक्तिरिति । यत्तु ज्ञानात्मना स-
र्वगतत्वे सिद्धसाधनं प्राशुक्यम्, तच्छक्तिमात्रमपेक्ष्य मन्तव्यम् ।
तथा च वक्तारो भवन्ति-अस्य मतिः सर्वशास्त्रेषु प्रसरति
इति । न च ज्ञानं प्राप्यकारि, तस्याऽऽभ्यर्थमत्वेन बहिर्निर्गमात् ।
बहिर्निर्गमे चात्मनोऽचेतन्यापत्त्या अजीवत्वप्रसङ्गः । न हि धर्मो
धामेणमतिरिच्य कचन केवलो विलोकिनः । यद्यपि परे दृष्टान्त-
यन्ति-यथा सूर्यस्य किरणा गुणरूपा अपि सूर्यान्निष्कस्य भु-
वनं भासयन्त्येव ज्ञानमप्यात्मनः सकाशाद्बहिर्निर्गत्य प्रमेयं
परिच्छिनत्तीति । तत्रेदमुत्तरम् । किरणानां गुणत्वमनिष्टम्,
तेषां तेजसपुद्गलमयत्वेन दृश्यत्वात् । यद्यपि तेषां प्रकाशात्मा
गुणः स तेषां न जातु पृथग् भवतीति संक्षेपः ।

अथैकेन्द्रियाणां भावेन्द्रियज्ञानसमर्थनेन भावश्रुत-
समर्थनम्-

एकेन्द्रियाणां तावच्चोत्रादिद्वयेन्द्रियाभावेऽपि भावेन्द्रियज्ञाने
किञ्चिद् दृश्यत एव, वनस्पत्यादिषु स्पष्टताद्विज्ञापलम्भात् । त-
थादि-कलकण्ठोदगीर्णमधुरपञ्चमाद्वारभ्रवणात् सद्यः कु-
सुम-पल्लवादिप्रसवो विरहकुट्टादिषु प्रवणेन्द्रियज्ञानस्य व्य-
क्तं लिङ्गमवलोक्यते । तिलकादिनरुपु पुनः कमनीयकामि-
नीकमलदलदीर्घशरदिन्द्रियवत्तलोचनकटाक्षवित्तेषां कुसु-
माद्याविर्भावश्चक्षुरादिन्द्रियज्ञानस्य, चम्पकाद्यङ्घ्रिषु तु विविध-
सुगन्धिगन्धवस्तुनिकुर्यान्मिश्रविमलशीतलसलिलसेकात् त-
त्प्रकटनं प्राणेन्द्रियज्ञानस्य, वकुलादिनरुपेषु तु रम्भातिशा-
यिप्रवरकपवरनरुणजामिनीमुत्तप्रदसस्वच्छसुखादुत्तुरभिवाद्य-
णोग्गन्धस्वादनात् तदागच्छकरणं रसनाग्न्यज्ञानस्य, कुरव-
काद्विदपिष्वशोकादिदुमेषु च घनपीनोन्नतकठिनकुञ्जकुम्भ-
विस्त्रमापन्नाजितकुम्भीनकुम्भरुणर्माणवलचक्षणस्कङ्गाभरण-
नूपितभव्यभामिनीस्तुजलताऽवगूहनसुखात् निषिष्टपद्मराग-
चूर्णशोणतल्लतपादकमलपारिणप्रहाराच्च ऊर्गतिं प्रसूनपल्लवादि-
प्रजवः स्पर्शनेन्द्रियज्ञानस्य स्पष्टं लिङ्गमजिज्ञेयते । ततश्च
यथेनेषु द्रव्येन्द्रियासत्त्वेऽप्येतत्तत्रावेन्द्रियजन्मं ज्ञानं सकल-
जनप्रसिद्धमस्ति, तथा द्रव्यभुताजावे भावश्रुतमपि भविष्यति ।
इत्येतं हि जलाद्याहारोपजीवनाद् वनस्पत्यादीनामाहारसंज्ञा,
संकोचनवल्यादीनां तु हस्तस्पर्शाद्वर्जित्याऽवयवसंकोचनादि-
भ्यो ज्ञयसंज्ञा, विरहक-तिलक-चम्पक-केशराऽशोकादीनां
तु मेघुनसंज्ञा दर्शित्वैव; विस्वपलाशादीनां तु निधानीकृतद्वि-
गोपाग्न्यदमोचनादिभ्यः परिग्रहसंज्ञा । नचैताः संज्ञा जावश्रु-
तमन्तरणोपपद्यन्ते । तस्मात् भावेन्द्रियपञ्चकावरणक्षयोपशमा-
द् भावेन्द्रियपञ्चकज्ञानवद् भावभुतावरणक्षयोपशमसंज्ञावा-
द् द्रव्यभुतानावेऽपि यच्च यावच्च भावभुतमस्यैवैकान्द्रि-
याणामित्यलमतिनरां पल्लवितेन । इत्थं सत्त्वपि प्रसूतेषु जैन-
दाशानिकविषयेषु कथमन्येयस्यस्मिन्नुपोद्घाते पार्यने दर्शय-
तुमिति विरम्यते कतिपयविषयप्रदर्शनेनेति-

निवेदयन्ति
संशोधकाः



॥ श्रीः ॥



दृप्तभ्रान्तविपद्बद्धन्तिदम्भने पञ्चाननग्रामणी-
राजेन्द्राजिधकोशसंप्रणयनात् संदीप्तजैनश्रुतः ।
संघस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः,
कोऽन्यः सूरीपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ॥



॥ अजिधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् ॥

(सिद्धहेमशब्दानुशासनम्)

[अ० ८ पा० १]

नत्वा वीरं चन्द्रचन्द्रं, रागद्वेषयिचर्जितम् ।

प्राकृतव्याकृतितिर्यं, उन्मोचद्धा विरच्यते ॥ १ ॥

अथ प्राकृतम् ॥ १ ॥

अथशब्दोऽधिकारार्थ-आनन्तर्यार्थ इत्यते ।

प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र-भवं, वा तत आगतम् ॥

प्राकृतं, संस्कृतस्यान्ते, तदधिक्रियते ततः ।

सिद्धं च साध्यमानं च, द्विविधं संस्कृतं मतम् ॥

तदयोनरेव तस्येह, सक्षणं, देशज्ञस्य न ।

इति विज्ञापनार्थं हि, प्राकृतस्यानुशासनम् ॥

संस्कृतानन्तरं कुर्मस्तद् धीरैर्यथायताम् ।

विभक्तिः कारकं लिङ्गं, प्रकृतिः प्रत्ययोऽभिधा ॥

समासश्चापि संबन्धः, संस्कृतस्यैव प्राकृतम् ।

ऋ ऋ ल लृ विसर्गश्च, ऐ औ ऊञ्जपाः प्लुतः ॥

एतद्वर्ण्यो वर्णगणो, लोकाद् घोषोऽनुवृत्तः ।

ऊञौ स्वघर्णसंयुक्तौ, वर्णौ च भवतां हि तौ ॥

पेदौतौ चापि केरांचित्, केतवं कैभयं यथा ।

सौन्दर्यं च सौभरिश्च, कौरवाः कौरवा इति ॥

भस्वरं व्यञ्जनं सर्वं, एतन् द्विवचनं तथा ।

चतुर्थ्यास्तु यदुत्वं च, न भवत्यत्र कुत्रचित् ॥

बहुलम् ॥ १ ॥

' बहुलम् ' इत्यधिकृत-माशास्त्रपरिपूरणात् ।

वेदितव्यं, यथास्थानं, तत्कार्यं दर्शयिष्यते ॥

आर्षम् ॥ ३ ॥

ऋपीणामिदमार्थं च, प्राकृतं बहुलं भवेत् ।

तथापि दर्शयिष्यामो, यथास्थानं यथाविधि ॥

क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद् विज्ञाया क्वचिदन्यदेव ।

विधेर्विधानं बहुधा समीप्य, चतुर्विधं बाहुल्यं वदन्ति ॥

दीर्घ-ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ ॥ ४ ॥

स्वराणां दीर्घह्रस्वत्वं, समासे भवतो मिथः ।

तत्र दीर्घस्य ह्रस्वत्वं, पृथं तावन्नगद्यते ॥

' अन्तर्वेदि ' -पदस्थाने, ' अन्तर्वेदि ' प्रयुज्यते ।

सप्तविंशतिरित्यत्र, ' सत्तावींसा ' भवेद्विदम् ॥

क्वचिन्नो ' जुवद्-जणो, ' विकल्पस्तु क्वचिद् यथा- ।

वारो-मई वारि-मई, भुजयन्त्रमथोच्यते ॥

भुञ्ज-यंतं जुञ्ज-यंतं, अथो पतिशुद्धं त्विदम् ।

पई-हरं पई-हरं, अथ वेणुयनं पदम् ॥

' वेणु-वर्णं वेणु-वर्णं, ' इत्येयमजिघीयते ।

अथ दीर्घस्य ह्रस्वत्वं, निभंवसिल इत्यपि ॥

क्वचिद् विकल्पो- जउण-यमं च जउणा यदं ।

नई-सोत्तं नई-सोत्तं, वेद्यं गोरि-हरं त्विदम् ॥

गोरी-हरं, बहु-मुहं, बहु-मुहमुदाहृतम् ।

पदयोः सन्धिर्वा ॥ ५ ॥

संस्कृतोक्तं सन्धिकार्यं, व्यग्रस्थितविभाषया ।

प्राकृते निखिन्नं वेद्यं, तदुदाह्रियते यथा-॥

वासेसं) वास-इसी, विसमाऽऽयवो विसम-आयवो भवति ।

दहि-ईसरो विकल्पद्, दहीसरो, साउ-उअयं तु ॥

साऊ-अयमिति वेद्यं, ' पदयोः सन्धि ' किं ? महद् महद् ।

पाओ, पइ, यथाओ, मुद्धाप चापि मुद्धा ॥

बहुलाधिकारजावात्, क्वचिदेकस्मिन् पदेऽपि यथा- ।

काहिद् काही, पिहओ, धीओ, इत्यादि बोद्धव्यम् ॥

न युवर्णस्यास्वे ॥ ६ ॥

इवर्णोवर्णयोरस्वे, परं वर्णं न संहिता ।

धंदांमि अञ्ज-वहर्, न वेरि-वगो वि अवयासो ॥

दणुदं-कहिर-त्रिचो, सतद् उदंद्, लदद् एसो !

संजवहु भवऊद्, नव-वारिहरो व्य विज्जुलाभिओ ॥

नइ-पभावति अरुणो, वेद्यं चेत्पाद्युदाहरणम् ॥

' युवर्णस्येति ' किं ? गूढो-अर-तामरसप्यभम् ।

' अस्वे ' इति च किं ?, सिध्येत, पुहवीसो यथा पदम् ॥

पदोतोः स्वरे ॥ ७ ॥

एकारौकारयोः सान्ध-नै स्यात् क्वापि स्वरे परे ।

बहुआद् नहुल्लिङ्गे, आधधंतीर्षं कंचुअं अगे ।

मयरुयसरधारणि-धारा-वेअव्य दीसन्ति ॥

उचमासु भगज्जत्ते-न-कलभ-दन्तावहासमूरुज्जुअं ।

तं चेन्न मित्रिभ-विस-दं-न-विरसमालफिज्जमो एपिह ॥

अदो अऊरिअं चापि, ' पदोतोरिति ' किं ?, यथा- ।

अथालोभण-तरत्ता, इयरकईणं जमंति बुद्धीओ ।

अत्यक्षेत्र निरारं-भमंति दिअयं कइन्दाणं ॥

स्वरम्पोदृते ॥ ८ ॥

व्यञ्जनसंपृक्तो यः, स्वरो व्यञ्जनेऽवशिष्यते लुप्ते ।

उदृत्तः स इह स्याद्, न स्वरसन्धिस्तु तत्परतः ॥

गयणे चित्र गंध-उकिं, कुणन्ति, रयणी-अरो यमणुअत्तं ।

निसा-अरो य निसि अरो, बाहुलकात् क्वापि वैकल्प्यम्-॥

कुमारो कुंजअरो च, सुरिसो च सुजुरिसो ।

सन्धिरेव क्वचित् चक्का-ओ च सालादणो यथा ॥

अत एव प्रतिपेक्षात्, समासेऽपि स्वरस्य तु ।

सन्ध्यां भिन्नपदत्वं च, वेदितव्यं मनीषिभिः ॥

त्यादेः ॥ ९ ॥

तिवादीनां स्वरस्य स्यात्, न तु सन्धिः स्वरे परे ।

यथा ' जचति इह ' स्यात्, तथा- ' होइ इह ' स्मृतम् ॥

लुक् ॥ १० ॥

स्वरस्य बहुलं सुक् स्यात्, संहितायां स्वरे परे ।

निःश्यासोन्नासौ नी-सामूसासा च संभवत्यत्र ।

विदशंशः तयसीसो, प्रयुज्यते कौविद्रेरेवम् ।

अन्त्यव्यञ्जनस्य ॥ ११ ॥

शब्दानामन्तिमस्य स्याद्, व्यञ्जनस्येह लुग् यथा ।

तमा जम्मो जसो जाव, ताव चेत्पादि गद्यते ॥

समासे तु विभक्तौनां, वाक्यगानामपेक्षया ।

अन्त्यत्वं चाप्यनन्त्यत्वं, भवतीत्यवगम्यताम् ॥

यथा-सभिक्खू सद्धिचुः, सज्जनः सज्जणोऽपि च ।

एतद्गुणा पअ-गुणा, तग्गुणा तद्गुणा इति ॥

न अत्रुदोः ॥ १२ ॥

अत्रुदित्येतयोरन्यं, व्यञ्जनं नैव लुप्यते ।

यथा-सद्धिहयं सद्धा, उगयं चोन्नयं पदम् ॥

निर्दुरोर्वा ॥ १३ ॥

निर्दुरोरन्यलोपो वा, निस्सहं नीसहं यथा ।

इस्सहो दूस्सहो चापि, इक्खिअो दुहिअो तथा ॥

स्वरेऽन्तरश्च ॥ १४ ॥

नान्तरो निर्झरोऽन्यन्तं, व्यञ्जनं बुध्यते स्वरे ।
निरन्तरं अन्तरऽप्या, निरसेसं दुरुत्तरम् ॥
हुरवगाहमित्यादि, क्वचिद्बुक् चापि दृश्यते ।
यथा अन्तोवरीत्यत्र, रकारो होपमासत्वाद् ॥

स्त्रियामादविद्युतः ॥ १५ ॥

स्त्रियां प्रवर्तमानस्य, शब्दस्यान्यं यदस्वम् ।
तस्य स्थाने भवत्यात्वं, विद्युच्छब्दे तु नेष्यते ॥
प्रतिपत् पाडिवश्चा स्यात्, संपत् संपश्चा च सरित् सरिश्चा च ।
बाहुलकात् 'सरिया' ऽऽद्यपि, 'अविद्युतः' किं?, यथा विज्जू ॥

रो रा ॥ १६ ॥

स्त्रियां रेफान्तशब्दस्य, 'रा' इत्यादेश इष्यते ।
अयमात्वापवादोऽस्ति, यथा रूपं धुरा-पुरा ॥

बुधो हा ॥ १७ ॥

बुधो धस्यास्तु हादेश-स्तेन रूपं 'बुहा' भवेत् ।

शरदादेरन्ति ॥ १८ ॥

शरदादेरन्तिमस्य, व्यञ्जनस्याद् भवेदिह ।
शरद् भिदग् यथा स्यातां, सरश्चो भिसश्चो क्रमात् ॥

दिक्प्रावृषोः सः ॥ १९ ॥

दिक्प्रावृषोः सो भवति, तेन स्यात् पाउसो दिता ।

आयुषोऽप्सरसोर्वा ॥ २० ॥

आयुषोऽप्सरसश्चान्ते, सो वा भवति, तद्यथा- ।
दीहाउसो च दीहाऊ, अचञ्चुराऽचञ्चुरसा भवेत् ॥

ककुनो हः ॥ २१ ॥

ककुनो भस्य 'हः' स्यात्, ककुहा तेन सिद्ध्यति ।

धनुषो वा ॥ २२ ॥

धनुषः षस्य हो वा स्यात्, धणुहं च धणु यथा ।

मोऽनुस्वारः ॥ २३ ॥

अन्तिमस्य मकारस्या-नुस्वारोऽत्र विधीयते ।
जलं फलं गिरिं वच्छं, पेच्छेत्यादि निदर्शनम् ॥
काप्यनन्त्यस्यापि यथा, -वणमि च वणमि च ।

वा स्वरे मश्च ॥ २४ ॥

अन्तस्थस्य मकारस्या-नुस्वारो वा स्वरे परे ।
पक्षे लुगपवादो मो, मस्य स्थाने भवेदिह ॥
उसमं अजिअं वंदे, उसमम् अजिअं च वा ।
बहुलत्वात् तथाऽन्यस्य, व्यञ्जनस्यापि मो भवेत् ॥
साक्षात् सक्खं, यत् जं, तत् तं, विष्वक् च वीसुमथ सम्यक् ।
सम्मं, पृथक् पिहम्, इह-मिहयं चाऽऽलेदुअं वेद्यम् ॥

ह-व-ण-नो व्यञ्जने ॥ २५ ॥

स्थाने उञ्जणानां स्या-दनुस्वारोऽस्वरे यथा- ।
पङ्क्तिः पंती च, पराह-मुखः परंमुहो, कञ्चुकः कंचुओ ।
अपि हाञ्जुनं हंछणं, ऋणमुख इति छंमुहो, जवति ।
उत्कण्ठा तूकंठा, सन्ध्या संजा च, विन्ध्य इति विजो ।
एवं डादिचतुष्टय-निदर्शनं चान्यदपि वेद्यम् ॥

वक्रादावन्तः ॥ २६ ॥

वक्रादीनां च शब्दानां, प्रथमादिश्च यः स्वरः ।

तस्यान्ते स्यादनुस्वारा-ऽऽगमो वक्ष्यानुसारतः ॥

वंकं तंसं अंसं, मंसं पुंसं च कृपलं पंसं ।

गुंसं मुंडा वुंधं, कंकोडो विच्छिओ गिंठी ॥

मंजारो दंसणमि-त्यादिष्वायस्य कार्यमिह वेद्यम् ।

परंसुभा च वयंसो, मणंसिणी चापि माणंसी ॥

मणंसिला चेत्यादि-प्रागमकार्यं भवेद् द्वितीयस्य ।

अणिं वंतयमइमुंतय-मवरि अनयोस्तृतीयस्य ॥

कचिच्छन्दः पूरणेऽपि, 'देवं-नाग-सुवम्भं' ।

कचिन्न-गिंठी मजारो, मणंसिला मणांसिला ॥

आपे 'मणोसिद्धा' रूपं, 'अश्मुत्तयम्' इत्यपि ।

वंकं ज्यसं इमशु पुच्छं, गुच्छं मूर्धा च कुम्भलः ॥

अश्वपरि वयस्यो मा-जारो गृष्टिर्मनस्विनी ।

पर्युगुभश्च ककोटो, दर्शनं गृष्टि-वृश्चिकौ ॥

अतिमुक्कः प्रतिश्रुत्, मनस्वी च मनःशिला ।

इत्यादयो रूरि शब्दाः, वक्रादौ परिकीर्तिताः ॥

क्त्वा-स्यादेर्ण-स्वोर्वा ॥ २७ ॥

क्त्वाप्रत्ययस्य स्यादीनां, प्रत्ययानां च यौ ण-सु ।

तयोरन्तस्त्वनुस्वारो, वा स्यादित्यवधार्यताम् ॥

यथा-काऊण काऊणं, काउभाण पदं तु वा ।

स्यात् काउभाणं, स्यादौ व-च्छेण वच्छेणमित्यपि ॥

तथा वच्छेसु वच्छेसु, 'णस्वोरिति' किम् ? अगिणो ।

विंशत्यादेर्बुक् ॥ २८ ॥

विंशत्यादिपदानां योऽ-नुस्वारस्तस्य लुग्भवेत् ।

तेन स्याद् विंशतिर्वासा, त्रिंशत् तीसा च संस्कृतम् ॥

सक्यं स्याच्च संस्कारः, सकारो विनिगद्यते ।

मांसादेर्वा ॥ २९ ॥

मांसादीनामनुस्वारो, लोपमेति विकल्पतः ।

मासं मंसं, मासलं मंसलं वा,

कामं कंसं, केसुअं किसुअं वा ।

सीहो सिंहो, किं कि, वा दाणि दाणिं,

पासु पंसु वा, कहं वा कह स्यात् ॥

एव एवं नूनं नूणं, समुहं संमुहं तथा ।

इत्राणि वा इत्राणि, स्याद् मांसादीनां निदर्शनम् ॥

मांसं कांस्यं कथं पांसु-मांसत्रः सिंह-किंशुको ।

एवं नूनम् इदानीम् किम्, दाणिम् संमुख इत्यपि ॥

वर्गेऽन्त्यो वा ॥ ३० ॥

अनुस्वारस्य वर्गान्त्यो, वा तद्वर्गे परे भवेत् ।

पङ्को पंको, कञ्चुओ कंचुओ वा,

सज्जा संजा, कण्ठओ कंठओ वा ।

कंडं कण्डं, अन्तरं अंतरं वा,

चन्दो चंदो, कम्पई कंपई वा ॥

इत्याद्यन्यद् वेदितव्यं च लक्ष्यं, वर्गे किं? यत् संसओ संहरेति ।

केचिद् धीराः शब्दविद्याप्रवीणा, एतत्कार्यं नैत्यिकं वर्णयन्ति ।

प्रावृद्-शरत्-तरणयः पुंसि ॥ ३१ ॥

प्रावृद्शब्दः शरच्छब्द-स्तरणिश्चेति ते त्रयः ।

पुंसि स्युस्तरणी चैस, पाउसो सरओ यथा ॥

स्त्रमऽदाम-शिरो-नजः ॥ ३२ ॥

दामन्-शिरो-नभो वर्जं, यत् सान्तं नान्तमस्ति वा ।

शब्दस्वरं तत्सर्वं, पुंलिङ्गमवगम्यताम् ॥

दक्षिणे हे ॥ ४५ ॥

दक्षिणे दस्य दीर्घो हे , परे स्याद् , दाहिणो यथा ।
'ह' इति किं ? , स्याद् दक्षिणो, यथा दीर्घोऽत्र नो भवेत् ।

इः स्वमादौ ॥ ४६ ॥

स्वप्नादिषु भवेदित्व-मादेरस्येह तद्यथा-।
सिचिणो सिचिणो, आप्ते, उकारः-सुमिणो यथा ।
सिचिणो, ईसि, वेसिसो, विलिखं विअणं च उत्तिमो मिरिअं ।
किचिणो तथा मुङ्गो, दिखं चेत्यादि बोद्धव्यम् ।
णत्वानावे न भवति , बहुलत्वादयं विधिः ।
यथा ' दत्तं देवदत्तो, ' नात्रासौ संप्रवर्तते ।
स्वप्नो मृदङ्गः कृपणो, दत्तो मरिच-वेतसौ ।
व्यहोक्-व्यजने ईषद् , उत्तमश्चेह पठ्यते ।

पकाङ्गार-ललाटे वा ॥ ४७ ॥

पक्वाङ्गारललाटे-ध्वादेवेत्यं , यथा-पिक्कं ।
पक्कं , इङ्गालो अ-ङ्गारो , णिडाहं णडालं च ।

मध्यम-कतमे द्वितीयस्य ॥ ४८ ॥

मध्यमे चैव कतमे, द्वितीयस्य स्वरस्य तु ।
इत्वं स्यातां यथा रूपे , ' मज्झिमो ' ' कश्मो ' इमे ।

सप्तपर्णे वा ॥ ४९ ॥

सप्तपर्णे द्वितीयस्या-कारस्येवं विकल्पनात् ।
उत्तिवसो उत्तवसो , स्यातां रूपे इमे यथा ॥

मयट्यङ्गा ॥ ५० ॥

अहर्मयटि प्रत्यये स्या-दादेरस्य तु वा यथा-।
विषमयः-विसमओ , स्याद् विसमओऽपि च ॥

ईहरे वा ॥ ५१ ॥

हरशब्दे हकारस्या-कारं ईहं विकल्पतः ।
यत् समापद्यते तेन , ' हरो हीरो 'ऽभिधीयते ॥

ध्वनि-विष्वचोरः ॥ ५२ ॥

ध्वनिशब्दे तथा विष्वक्-शब्देऽकारस्तु यः खलु ।
तस्योत्वं क्रियते तेन , ' मुणी बीसुं ' च सिध्यतः ॥

चएन्-खएन्ते एा वा ॥ ५३ ॥

चएन्खएन्तयोरस्य , सणस्योत्वं विकल्प्यते ।
तेन चएन् चुडं रूपं , खएन्ओ खनिओ जवेत् ॥

गवये वः ॥ ५४ ॥

गवये तु वकारस्या-कारस्योत्वं प्रसज्यते ।
' गडआ गडआ ' चेति, रूपं सिद्धिमुपागमत् ॥

प्रथमे प-थोर्वा ॥ ५५ ॥

प्रथमस्य पथोरस्य , वोत्वं स्याद्युगपत् क्रमात् ।
पुढुमं पुढमं तेन, पढुमं पढमं तथा ॥

ज्ञो णत्वेऽभिज्ञादौ ॥ ५६ ॥

अभिज्ञादिषु शब्देषु, ज्ञस्य णत्वे कृते पुनः ।
ज्ञस्यैव यस्त्वकारः स्यादुत्वं तस्य विधीयते ॥
यथा-अहिरणू सञ्चरणू, आगमरणू कयणूआ ।
' णत्वे ' च किम् ? , यथा-' सञ्च-जो ' ' अहिजो ' भवेद्विदम् ॥
' अभिज्ञादाविति ' च किम् ? , प्राज्ञः पणो भवेद् यथा ।
यत्रोत्वं ज्ञस्य णत्वे स्यात् , सोऽभिज्ञादिगणः स्मृतः ॥

एच्छयादौ ॥ ५७ ॥

शय्यादिषु भवेदेत्व-मकारस्यादिमस्य तु ।
सेज्जा एत्थ च सुन्देरं, गेन्दुअं चैवमादयः ॥
आपे पुगकम्मं पदं , पुरेकम्मं प्रयुज्यते ।

वल्लुत्कर-पर्यन्ताश्चर्ये वा ॥ ५८ ॥

वल्लुत्करपर्यन्ता-श्चर्येऽकारस्य वैत्वमादिभुवः ।
तेन हि वेल्ली वल्ली, उक्करो उक्करो , भ-ति ॥
परन्तो पज्जन्तो, अच्चेरं अच्चेरिज्जं च ।
अच्चेरिअं अच्चेरं, तथाऽच्चेरिअं विनिर्दिष्टम् ।

ब्रह्मचर्ये चः ॥ ५९ ॥

ब्रह्मचर्ये चकारस्या-कार एत्वमवाप्नुयात् ।
अतो बुधा ब्रह्मचर्यं, बम्हचेरं प्रयुज्यते ॥

तोऽन्तरि ॥ ६० ॥

अन्तः शब्दे तकारस्या-कारस्यैत्वं विधीयते ।
तस्मादन्तःपुरं ' अन्ते-उरं ' विद्वद्भिरुच्यते ॥
अन्तश्चारी भवेदन्ते-आरो , नायं कचिद् विधिः ।
यथा-' अंतगयं ' ' अंतो, वीसम्भो ' विनिगद्यते ॥

आत्पञ्चे ॥ ६१ ॥

आत्त्वमादेरतः पञ्च-शब्दे, ' पोम्मं ' ततो भवेत् ।
पञ्च-छेति । ७।२।११। सूत्रेण , विच्छेपे ' पडमं ' स्मृतम् ॥

नमस्कारपरस्परं द्वितीयस्य ॥ ६२ ॥

द्वितीयस्याऽत आत्त्वं स्यात् , नमस्कारपरस्परं ।
अतो रूपं सुनिष्पन्नं-' नमोक्कारो ' ' परोप्परं ' ॥

वापौ ॥ ६३ ॥

आदेरस्य तु वौत्वं स्याद् , धातावर्षयतौ यथा-।
रूपं ' ओप्पेह अप्पेह , ओप्पिअं अप्पिअं भवेत् ॥

स्वपावुच्च ॥ ६४ ॥

' स्वप् ' धातौ क्रमतः स्याता-मादेरस्यौदुतौ स्वरौ ।
तेन ' सोवइ सुवइ , ' द्वयं रूपं विभाष्यते ॥

नात्पुनर्यादाइ वा ॥ ६५ ॥

नञः परे ' पुनः ' शब्दे , यस्त्वकारोऽस्ति तस्य तु ।
' आ आइ ' इत्यादेशौ वा , स्यातामित्यभिधीयते ॥
' न उणा न उणाइ ' स्याद् , न उणो न उण ' इत्यम् ।
केवलस्यापि यद् रूपं , ' पुणाइ ' कापि दृश्यते ॥

वाऽलाव्वरणे लुक् ॥ ६६ ॥

अलाव्वरणयोर्वाऽऽदे-रकारस्येह लुग्नवेत् ।
लाजं अलाजं वा लाज, अलाज च विकल्पनात् ॥
एवं रणं अरणं स्यात् , ' अत इत्येव ' नान्यथा ।
' आरण-कुज्जरो ' नैवे-त्यादावालोप इष्यते ॥

वाऽन्ययोत्खातादावदातः ॥ ६७ ॥

अन्येषु तथोत्खाता-दिष्वाकारस्य वाऽद् भवेत् ।
तत्राऽन्ये ' जह जहा, ' रूपं ' तह तहा ' तथा ॥
' व वा ' ' ह हा ' ' ऽहवाहव ' -प्रमुखा बहवो मताः ।
उत्खातादौ तु-उक्खायं, उक्खयं , चंमरो तथा ॥
चामरो , कलओ काल-ओ परिघाविओ पुनः ।
स्यात् परिघविओ, संठा-विओ संठविओ पदम् ॥

तलवेण्डं तालवेण्डं, उविओ उविओ भवेत् ।
 तलवेण्डं तालवेण्डं, पायसं पयसं, स्मृतम् ॥
 हलिओ हलिओ, नारा-ओ नराओ च, खाइरं ।
 खाइरं, कुमरो वाच्यः, कुमारो, वलया पुनः ॥
 वलाया, वाम्हणो वम्ह-णो, पुन्वाहो मतान्तरे ।
 पुन्वाहो च, चन्नु चान्नु, दावगी च दवग्यपि ॥
 उत्खातं चामरं ताल-वृन्तं प्राकृतहासिकौ ।
 स्थापितः कालको नारा-चो बलाका च खादिरः ॥
 कुमारो, ब्राह्मणः पूर्वा-ह्येभौ कस्यन्मते ।
 उत्खातादिरयं धीरै-राकृत्या परिगण्यते ॥

घञ्दृष्टेर्वा ॥ ६८ ॥

घञ्निमित्तो वृत्तिरूपो, य आकारोऽस्तु तस्य वाऽद् ।
 'पवाहो पवहो' वा स्यात्, 'पयारो पयरो' तथा ॥
 'पथावो पथवो' कापि, न 'राओ' रागवाचकः ।

महाराष्ट्रे ॥ ६९ ॥

महाराष्ट्रे हकारस्या-ऽऽकारस्य त्वद्विधानतः ।
 'मरहट्टं मरहटो', पुनपुंसकतो भवेत् ॥

मांसादिप्वनुस्वारे ॥ ७० ॥

कृतानुस्वारमांसादा-वाकारो यात्यकारताम् ।
 मंसं कंसं तथा पंस्, पंसणो कंसिओऽपि च ॥
 वंसिओ पंमवो संसि-किओ संजतिओ यथा ।
 'अनुस्वारे' इति कथम् ? 'मांसं पास्' न चाऽदिह ॥
 मांसं कास्यं पांसनं कां-सिकं वांशिकपाण्वौ ।
 पांसुः सांसिकः सांवा-त्रिको मांसादिरिष्यते ॥

श्यामाके मः ॥ ७१ ॥

श्यामाके तु मकारस्य, य आकारोऽस्ति तस्य तु ।
 अदादेशेन श्यामाकः, 'सामओ' विनिगद्यते ॥

इः सदादौ वा ॥ ७२ ॥

सदादिशब्देभित्त्वं स्या-दाकारस्य विभाषया ।
 'सया सह' च वा रूपं, 'कुप्पासो कुप्पिसो'ऽपि च ।
 'निसाओ निसिओ', तथैवान्ये सदादयः ॥

आचार्ये चोऽच्च ॥ ७३ ॥

आचार्यशब्दे चस्याऽऽत-इत्वमन्त्रं च वा भवेत् ।
 रूपं 'आयिओ' तेन, सिद्धम् 'आइरिओ' तथा ॥

ईः स्त्यान-खट्वाटे ॥ ७४ ॥

स्त्यान-खट्वाटयोरादे-रात ईत्वं विधीयते ।
 डीणं थीणं तथा थिणं, खल्लीनो तेन सिद्ध्यति ॥

उः सास्त्रा-स्तावके ॥ ७५ ॥

सास्त्रा-स्तावकयोरादे-रात उत्वं निगद्यते ।
 तेन सास्त्रा भवेत् 'सुएहा', स्तावकः 'शुवओ' भवेत् ॥

ऊक्षाऽऽसारे ॥ ७६ ॥

आसारशब्दे स्यादादे-रात ऊत्वं विभाषया ।
 तेन सिद्ध्यति 'ऊसारो, आसारो' रूपयुग्मकम् ॥

आर्यायां र्यः श्वश्र्वाम् ॥ ७७ ॥

र्यस्याऽऽत ऊत्वं 'आर्यायाम्', 'अञ्जू' श्वश्र्वां ततो भवेत् ।
 'श्वश्र्वामिति' तु किम् ? अञ्जा, साध्वी श्रेष्ठाऽपि भण्यते ॥
 एद् ग्राह्ये ॥ ७८ ॥

ग्राह्यशब्दे भवेदेत्व-मातो गेज्जं ततो भवेत् ।

द्वारे वा ॥ ७९ ॥

ग्राह्यशब्दे भवेदेत्व-माकारस्य विज्ञापया ।
 देरं पक्के दुआरं स्याद्, दारं वारं पदं तथा ॥
 'नेरओ नारओ', स्यातां नैरयिकनारकिकयोस्तु ।
 आर्येऽन्यत्रापि यथा, 'पच्चेकम्म' तथाऽन्यदपि ॥

पारापते रो वा ॥ ८० ॥

भवेत् पारापते रस्या-ऽऽकारस्यैत्वं विकल्पनात् ।
 तेन 'पारेवओ पारा-वओ' रूपद्वयं मतम् ॥

मात्रटि वा ॥ ८१ ॥

स्यान्मात्रद्वयत्ये वाऽऽत-एत्वं रूपद्वयं ततः ।
 एकं 'पत्तिअमेत्तं ए-त्तिअमेत्तं' तथाऽपरम् ॥
 बहुलाद् मात्रशब्दे 'ओ-अणमेत्तं' ततो भवेत् ।

उदोद्वाऽऽर्द्धे ॥ ८२ ॥

आकारस्याऽऽर्द्धशब्दे स्या-दुत्त्वमोत्वं विज्ञापया ।
 'उल्लु ओल्लु' तथा पक्के, 'अल्लु अल्लु' च वा भवेत् ॥

ओदान्यां पङ्क्तौ ॥ ८३ ॥

'आली' शब्दे भवेदात-ओत्वं पङ्क्त्यर्थबोधने ।
 'ओली' पङ्क्तिं विजानीयात्, 'आली' नात्र, सखी यदि ॥

ह्रस्वः संयोगे ॥ ८४ ॥

दीर्घवर्णस्य ह्रस्वत्वं, संयोगे परतो भवेत् ।
 तद्यथादर्शनं वेद्यं, न सर्वत्र विधीयते ॥
 ताम्रं 'तम्बं' आम्रं 'अम्बं', आस्यम् 'अस्सं' प्रयुज्यते ।
 मुनीन्हस्तु 'मुणिन्दो' स्यात्, तीर्थं 'तिथं' तथा पुनः ॥
 गुक्तापाः 'गुक्तावा', चूर्णः 'चुणो' प्रपठ्यते ।
 नरेन्द्रस्तु 'नरिन्दो' स्यात्, 'मिलिच्छो' 'मेच्छ' उच्यते ॥
 अधरोष्ठो 'ऽहर्छ' सं-वेद्यं, नीलोत्पलं तथा ।
 'नीलुत्पलं' विजानीया-देवमन्यद् निदर्शनम् ॥

इत एद्वा ॥ ८५ ॥

संयोगे तु परे वाऽऽदे-रित एत्वं विभाष्यते ।
 पिएरं पेणं च धम्मिहं, धम्मिहं विबुधा विदुः ।
 स्यात् सिन्दूरं तु सेन्दूरं, विण्णु वेण्णु निगद्यते ।
 'पिट्ठं पेठ्ठं' अनित्यत्वात्, 'विता' इत्यत्र नो भवेत् ॥

किंशुके वा ॥ ८६ ॥

एत्वं चाऽऽदेरितो वेद्यं, किंशुके वाचके यथा ।
 'किंसुअं किंसुअं' चेतद्, द्वयं रूपं विडुर्बुधाः ॥

मिरायाम् ॥ ८७ ॥

भवेदेत्वभिकारस्य मिरा मेरा ततो भवेत् ।
 पथि-पृथिवी-प्रतिश्रुन्मूषिक-हरिद्रा-विजीतकेष्वह् ॥ ८८ ॥

पथि प्रतिश्रुत् पृथिवी, हरिद्रा-मूषिके तथा ।
 विजीतके भवेदादे-रितोऽत्त्वमिति भण्यते ।
 पदो च पुहवी पुहवी, परंमुआ मूसओ इलदी तु ।
 वा स्यादत्र हलहा, 'वहेरओ' कापि वैकल्प्यम् ।
 'पथं किर देसित्ते', 'त्यत्र तु पथिशब्दतुल्यवाच्यस्य ।
 पन्थशब्दस्य रूपं, ज्ञातव्यं शब्दविज्ञिरिह ।

शिथिलेद्भुदे वा ॥ ८९ ॥

शिथिलेद्भुदयोरादेरितोऽद् वा संप्रयुज्यते ।

सदिलं जवति पसदिलं, सिदिलं पसिदिलमिहाऽस्त्वैकद्वय्यात् ।
इहुअमहुअमिहुअ-शब्दे रूपद्वयं बोध्यम् ॥

तित्तिरौ रः ॥ ए० ॥

रस्येतोऽस्त्वं तित्तिरौ स्यात्, तेन रूपं हि 'तित्तिरो' ।

इतौ तो वाक्यादौ ॥ ए१ ॥

वाक्यादेरिति शब्द-स्याऽन्त्यस्येतोऽत्र संभवत्यत्वम् ॥

'इअ' जाम्पिआवसाणे, 'इअ' विअसिअ-कुसुमसरोऽपीह ॥

ईजिहा-सिह-त्रिंशद्विंशतौ त्या ॥ ए२ ॥

जिहादिषु इकारस्य, ईकारः संप्रयुज्यते ।

'जीहा' सीहो 'तथा' 'तीसा', यत्र तित्तिर त्या सद ॥

'वीसा' इति जवेद् रूपं, किन्तु कापि न जायते ।

'सिहदत्तो' 'सिहराओ' इति बाहुल्यकान्तम् ॥

लुकि निरः ॥ ए३ ॥

निरो रलोपे दीर्घः स्या-दिकारस्येति शब्धते ।

स्याद् 'नीसासो' 'नीसरइ', एवमन्यनिदर्शनम् ॥

'लुकीति' किम् ? , यथा-निस्स-हाई अंगाई, निरणओ ।

द्विन्योरुत् ॥ ए४ ॥

द्विशब्दे न्युपसर्गे च, भवेदुत्त्वमितो यथा- ।

दु-मत्तो च दु-आई च, दु-रेहो दु-विहो तथा ॥

दुचयणं, वैकल्प्यं च, जवेद् बाहुल्यकादिह ।

दु-वणो वि-उणो चैव, दुइओ विइओ यथा ॥

'कचिन्न' द्विरदः शब्दो, 'दिरओ' स्याद् द्विजो 'दिओ' ।

ओत्वं कापि यथा रूपं, 'दो-चयणं' प्रपठ्यते ॥

स्याद् 'णुमओ' 'णुम-जइ', न्युपसर्गे निदर्शनम् ।

अनित्यत्वाद् 'निवरइ', जवतीत्यादि चुरिशः ॥

प्रवासीकौ ॥ ए५ ॥

इहौ प्रवासिनि तथा, जवेदुत्त्वमितो, यथा- ।

'उचू' 'पावासुओ' चैतद्, द्वयं व्याह्रियते पदम् ॥

युधिष्ठिरे वा ॥ ए६ ॥

युधिष्ठिरे भवेदादे-रित उत्त्वं विकल्पनात् ।

जहुठिलो तत्रो रूपं, विकल्पेन जहिठिलो ॥

ओच्च द्विधा कृगः ॥ ए७ ॥

उत्त्वमेत्त्वं द्विशाशब्दे, वा कृथातावितः परे ।

'दोहा-किजइ' तेन स्यात्, 'दुहा-किजइ' इत्यपि ।

दोहा-इअं दुहा-इअ-मिति, 'कृग' इति किं ? , 'दिहाऽऽगयं' येन ।

कचित् केवलस्य स्यात्, 'दुहा वि सो सुर-वहू-सत्थो' ।

वा निर्जरे ना ॥ ए८ ॥

निर्जरे तु नकारेण, सहेतो वौत्त्वमिष्यते ।

'ओज्जरो' 'निज्जरो' चैता-दृशं रूपं बुधा विहुः ॥

हरीतक्यामीतोऽत् ॥ ए९ ॥

हरीतकीपदे रीका-रस्येतोऽत्त्वं विधीयते ।

रूपं 'हररई' तेन, बुधैरेवं प्रयुज्यते ।

आत् कश्मीरे ॥ १०० ॥

आत्त्वमीतोऽस्तु कश्मीरे, 'कश्मीरा' तेन सिद्ध्यति ।

पानीयादिष्वित् ॥ १०१ ॥

पानीयादिषु शब्देषु, स्यादीतोऽनेत्त्वमधुवम् ।

पाणिअं अविअं ओसि-अंतं जिअइ भाणिअं ॥

विलिअं करिसो वम्मि-ओ तयाणि च जीअइ ।

दुइअं तइअं गहिरं, गहिअं सिरिसो च पलिविअं पसिअ ॥

उवणिअमिति संवेधः, पानीयादिर्गणो विदुषा ।

बाहुलकात् कचिदेषु, स्याद् वैकल्प्यं ततः करोसोऽपि ॥

पाणीअं च अलीअं, उवणीओ जीअइ स्याच्च ॥

पानीयं ग्रीडितं वल्मी-कं तदानीं प्रदीपितम् ।

अवसीददलीकं चा-ऽऽनीतं जीवति जीवतु ॥

उपनीतं गृहीतं च, शिरीषं च प्रसीद च ।

गभीरत्तीयकरो-पद्वितीयादयः स्मृताः ॥

उज्जाणौ ॥ १०२ ॥

जीर्णशब्दे भवेदीत-उत्त्वं जुष-सुरा ततः ।

जिषे भोअणगत्ते च, नात्र बाहुलकाद् भवेत् ॥

ऊर्हीन-विहीने वा ॥ १०३ ॥

ऊत्वं हीने विहीने स्या-दीकारस्य विभाषया ।

हृणो हीणो विहीणो च, विहृणो सिद्धिमाययुः ॥

तीर्थे हे ॥ १०४ ॥

ऊत्त्वमीतो भवेत् तीर्थ-शब्दे हे तु कृते सति ।

तहं, 'हे' इति किं प्रोक्तम् ? , 'तित्थं' नात्र यथा-भवेत् ॥

एत् पीयूषापीरु-विभीतक-कीदृशेदृशे ॥ १०५ ॥

पीयूषापीड-विभीतक-कीदृशेदृशेषु स्यादेत्त्वम् ।

पेठसं आमेलो, बहेडओ केरिसो पेरिसो ॥

नीरु-पीठे वा ॥ १०६ ॥

नीडपीठयोरीतो, वा स्यादेत्त्वं ततश्च सिद्ध्यन्ति ।

नेडं नीडं पेडं, पीडं काप्यन्यथाऽपि स्यात् ॥

उतो मुकुलादिष्वित् ॥ १०७ ॥

मुकुलादीनामादे-रतो भवेदुत्त्वमत्र तेन स्युः ।

मउलं मउलो मउरं, मउडं अगरं गलोई च ॥

जहिठिलोऽथ च गरई, जहुठिलो सोअमल्लमिति शब्दाः ।

कचिदाकारोऽपि स्याद्, यथा-विदुतस्तु 'विदाओ' ॥

मुकुलो मुकुरो गुर्वी, सौकुमार्य-युधिष्ठिरौ ।

अगुरुश्च गुहूची च, मुकुटं मुकुलादयः ॥

वोपरौ ॥ १०८ ॥

उपरौ स्यादुतो वाऽत्त्वम्, अवरिं उवरिं यथा ।

गुरौ के वा ॥ १०९ ॥

गुरोः कृते स्वार्थिके के, वाऽत्त्वमादेरुतो भवेत् ।

गरुओ गुरुओ रूपे, कं विना तु 'गुरु' स्मृतम् ॥

इष्टुकुटौ ॥ ११० ॥

मुकुटौ स्यादुतश्चादे-रित्वं हि 'मिउडी' भवेत् ।

पुरुषे रोः ॥ १११ ॥

पुरुषे रोक्तः स्यादिः, पुरिसो वा पउरिसं ।

ईः जुते ॥ ११२ ॥

धुतं प्रयुज्यते छीअं, भवेदीत्वमुतो यदा ।

ऊत् सुजग-मुसले वा ॥ ११३ ॥

सुजगे मुसले च स्या-दुत ऊत्त्वं विज्ञापया ।

सुहवो सुहवो तेन, मुसलं मुसलं भवेत् ॥

अनुत्साहोत्सन्ने त्सच्चे ॥ ११४ ॥

उत्साहोत्सन्नभिन्ने यौ, शब्दे त्सच्छौ निरीक्षितौ ।

तयोरादेरुकारस्य, नित्यमूत्त्वं विधीयते ॥

ऊसुओ ऊसवो ऊसि-त्तो ऊसरइ, उऊलुक्कः ।
ऊसुओ ऊससइ चे-त्यादि वेद्यं निदर्शनम् ॥
उत्ताहोत्सन्नयोस्तृष्णा-दो उऊओ निगद्यते ।

हुंकि दुरो वा ॥ ११५ ॥

दुरो रेफस्य लोपे स्या-दुत ऊत्त्वं विकल्पनात् ।
दूसहो दुसहोऽपि स्याद्, दूहवो दुहवो तथा ।
सूत्रे हुंकीति किं ? प्रोक्तं, दुस्सहो विरहोऽत्र न ॥

ओत् संयोगे ॥ ११६ ॥

ओत्त्वमादेरुतो नित्यं, संयोगे परतो जवेत् ।
तोएरं मोएरं पोक्खरं कोट्टिमं वा,
कोएदो कोन्तो पोत्थओ बोद्धओ वा ।
बोक्कन्तं वा मोगगरो पोगगवं वा,
मोत्था चैतान्यस्य वक्ष्याणि सन्ति ॥

कुतूहले वा हस्वश्च ॥ ११७ ॥

कुतूहले भवेदात्त्वमुतो हस्वश्च वा ततः ।
कोऊहलं कोऊहलं, कुऊहलमिति त्रयम् ॥

अदूतः सूदमे वा ॥ ११८ ॥

सूदमशब्दे जवेदस्व-मूतो वा तेन सिद्ध्यति ।
सपदं सुपदं तथाऽऽपे तु, 'सुदुमं' संप्रयुज्यते ॥

दुकूले वा वक्ष द्विः ॥ ११९ ॥

डुकूलशब्दे वाऽत्त्वं स्या-दूतो लभ्य द्विरुच्यते ।
डुअल्लं च डुऊल्लं च, 'दुगुल्लं' त्वार्प उच्यते ॥

ईवोऽब्धे ॥ १२० ॥

उद्ब्यूदशब्दे स्यादीत्व-भूकारस्य विभाषया ।
'उब्बीदं' तेन 'उब्बूदं,' द्वयं विद्वद्भिरुच्यते ॥

उर्ध्वहनूमत्कणूय-वातूले ॥ १२१ ॥

उर्ध्वहनूमत्कणूय-वातूलेपूत उर्ध्ववत् ।
ह्रमया हनुमंतो वा-वलो, कणुअइ स्मृतम् ॥

मधूके वा ॥ १२२ ॥

ऊत वत्त्वं मधूके वा, महूअं महूअं यथा ।
इदेतौ नूपुरे वा ॥ १२३ ॥

इदेतौ नूपुरे स्थाता-भूकारस्य विकल्पनात् ।
निउरं नेउरं पक्के, नूअरं संप्रकीर्त्यते ॥

ओत् कूप्पाएनी-तूणीर-कूर्पर-स्थून्न-ताम्बूल-

गुहूची-मूह्ये ॥ १२४ ॥

कूप्पाएनी-स्थूल-ताम्बूल-गुरूची-मूह्य-कूर्परे ।
तूणीरे च भवत्योत्त्वभूकारस्येति दर्शयते ।
कोहएनी कोहली थोरं, तोणीरे कोप्परं तथा ।
मोहल्लं गवोई तंबोलं, व्युत्क्रमेण प्रदर्शितम् ॥

स्थूणा-तूणे वा ॥ १२५ ॥

स्थूणा-तूणयोरोत्त्वभूकारस्य विभाषया ।
थोणा थूणा तथा तोणं, तूणं चैवमुदाहृतम् ॥

अतोऽत् ॥ १२६ ॥

अकारस्याऽऽदिचूतस्य, जवत्यत्त्वमितीर्यते ।
वृषभो वसहो वाच्यो, घृष्टो घट्टोऽभिधीयते ॥
घृतं घयं, तूणं तणं, कृतं कयं, मृगो मग्रो ॥
उहाइअं कृपादिपा-उतोऽवसेयमित्यपि ॥

आत् कृशा-मृडुक-मृदुत्वे वा ॥ १२७ ॥

मृडुक-मृडुत्व-कृशाया-मास्वमृतः स्याद् यथा किंसा कासा ।
माउकं च मउत्तण-मथ माउकं च मउमं वा ॥

इत् कृपादौ ॥ १२८ ॥

कृपेत्यादिषु शब्देषु, भवेदिस्वमृतो यथा ।
किंवा मिठं रसे वाच्यं, मट्टमन्यत्र पठ्यते ॥
दिअयं दिट्ठं सिठं, दिछी सिछी निवो किवो किच्चा ॥
गिट्ठी पिच्छी इच्छी, गिच्छी तिप्पं धिई किच्चं ॥
सिंगारो जिंगारो, मिंगो किसिओ मिऊ घिणा घुसिणं ।
किसरो किई सिआलो, विसी विअहो जिहा किविणो ।
विअ-कई वाहितं, किसो समिच्छी च सइ किसानू वा ॥
हिअं विअओ विअं, इसी निससो च उक्किठं ॥
विच्छी तथा विहिओ, किवाणयं वा कृपादयश्चैते ।
बाहुलकादपि कार्य्यं, वेद्यं सिद्धेद् यथा रिद्धी ॥
कृपा मृष्टं दृष्टं हृदय-भृशु-मृष्टं कृपनृपौ,
घृणा दृष्टिः सृष्टिः कृति-घृस्त्रण-गृष्टिः कृशहृत् ॥
वृसी पृथ्वी कृत्या कृपित-कृपणौ वृश्चिकधृती ।
नृशंसो भृङ्गारः कृशर-सकृतौ व्याहृत-श्रृणी ॥
उत्कृष्ट-गृहित-शृगाल-कृशालु-गृष्टि-
शृङ्गार-गृष्टकवि-वृत्त-कृपाण-तृताः
श्रृद्धि-सृष्टे अथ वितृष्ण-समृद्धि-कृच्छ्र-
भृङ्गास्तु वृत्तिरपि तेऽत्र कृपादयः स्युः ॥

पृष्ठे वाऽनुत्तरपदे ॥ १२९ ॥

स्यात् पृष्ठेऽनुत्तरपदे, वेस्वमृतस्य, तद्यथा-
पिट्ठी पछी पिछि, परि-ट्टविअं संप्रयुज्यते ॥
किमनुत्तरपद इति ?, महिवचं यथा भवेत् ।

मसृणमृगाङ्क-मृत्यु-मृङ्ग-मृष्टे वा ॥ १३० ॥

मृङ्गे मृष्टे मृगाङ्के च, मृत्यौ च मसृणे तथा ।
श्रृकारस्य भवेदिच्चं, विकल्पेनेति दृश्यताम् ॥
स्याद् मिअङ्को मयङ्को वा, मिच्चू मरुच्चू च पठ्यते ।
सिंगं संगं विआनीयाद्, घिट्ठो घट्टोऽपि गद्यते ॥

उहत्वादौ ॥ १३१ ॥

श्रृत्वादीनामृकारस्य, भवेदादेरुकारता ।
ऊऊ पुट्टो परामुट्टो, पउट्टो पुहई भुई ॥
पउत्ती पाउसो बुंदा-घणो बुट्टो च निवुअं ।
पाउओ पाहुडं बुट्टी, उऊज्जु वुत्तन्तं संवुअं ॥
निडुअं निउअं जामा-उओ माउओ भाउओ ।
मुणालं च परडुओ, बुंदं पहुडि निवुई ॥
विउअं उसहो पिउ-ओ, पुहवी च माउओ ।
अतुः परामृष्टमृणालवृन्दा-वनप्रवृत्तिप्रभृतिप्रवृष्टाः ।
वृन्दर्षभम्रातृकमातृकामा-तृकज्जुजामातृकवृद्धिवृद्धाः ॥
विवृतनिवृतवृत्ता-न्ताभृतिप्राभृतप्रा-
वृतपितृकपृथिव्यः, संवृतप्रावृषौ च ।
परभृतनिभृतस्पृ-ष्टानि निवृत्तपृथ्वी,
परिपठति च श्रृत्वा-दि गणं निवृत्तिश्च ॥

निवृत्त-वृन्दारके वा ॥ १३२ ॥

अत उस्वं वा वाच्यं, निवृत्तवृन्दारके पदे तु यथा ।
वृन्दारया च वन्दा-रया निवृत्तं निअसं च ॥

वृषभे वा वा ॥ १३३ ॥

वृषभे वेन साकं स्या-दकारस्योत्वमत्र वा ।
'उसहो वसहो' चैता-दृशं रूपं प्रयुज्यते ॥

गौणान्त्यस्य ॥ १३४ ॥

गुणीभूतस्य शब्दस्य, योऽन्त्य ऋन् तस्य उद् भवेत् ।
स्याद् माउ-मण्डलं, माउ-हरं पिउहरं तथा ।
माउ-सिआ पिउ-सिआ, तथा पिउ-घणं स्मृतम् ॥

मातुरिद्धा ॥ १३५ ॥

मातृ-शब्दस्य गौणस्य, ऋत इत्वं विकल्पते ।
माइ-हरं माउ-हरं, कापि माईणमिष्यते ॥

तदुदोन्मृषि ॥ १३६ ॥

ओदूडुच्च क्रमादेतद्, मुषाशब्दे भवेदनः ।
मोसा मूसा 'मुसा मोसा-वाओ' चेदक् प्रयुज्यते ॥
इदुतौ वृष्ट-वृष्टि-पृथक्-मृदङ्ग-नसृके ॥ १३७ ॥

वृष्टौ वृष्टे मृदङ्गे च, नप्लुके पृथगव्यये ।
ऋकारस्येदुतौ स्यातां, तदुदाह्रियते यथा-॥
स्याद् मिङ्गो मुङ्गो वा, नात्तओ नत्तओ तथा ।
विओ वुओ तथा विङ्गी, वुङ्गी रूपं पिहं पुहं ॥

वा वृहस्पतौ ॥ १३८ ॥

वृहस्पतौ भवेद् ऋतो, विकल्पनादिदुत् तथा ।
बिहप्फई वुहप्फई, बहप्फई च पात्तिकम् ॥ [नगस्वरूपिणी०]
इदेदोदृन्ते ॥ १३९ ॥

ऋकारस्य भवेदित्वमेत्वमोत्वं यथाक्रमम् ।
तेन वृन्तं भवेद् 'विरटं, वेरटं वोएटं' त्रिधाऽऽत्मकम् ॥

रिः केवलस्य ॥ १४० ॥

केवलस्य ऋतो रिः स्याद्, 'रिङ्गी रिङ्गो' ततो भवेत् ।
ऋणऋषुषजत्त्वौ वा ॥ १४१ ॥

ऋणऋषुषजत्त्वौ वा रिः रिणं अणं रिङ्गु ।
वज्जू 'रिसहो वसहो', रिङ्ग उऊ स्याद् रिसी हसी रूपम् ॥

दृशः किप्-टक्सकः ॥ १४२ ॥

किप् टक्-सगन्तस्य दृशो-र्धातोः रिः स्याद् ऋतो यथा ।
'सदृग्वर्णः सरिविषो', सदृशः सरिसो मतः ॥
सदृक्स्तु 'सरिङ्गो' स्याद्, यादृशो जारिसो भवेत् ।
एवं एथारिसो अन्ना-रिसो अम्हारिसो तथा ॥
तारिसो केरिसो तुम्हा-रिसो सन्तीह चुरिशः ।
त्यदाद्यन्यादि-(५।१।१५२) सूत्रोक्तः, प्रत्ययः किविहेष्यते ॥

आहते ङिः ॥ १४३ ॥

आहते तु ऋतो ङिः स्याद्, 'आदिओ' तेन सिद्ध्यति ।

अरिर्दृष्टे ॥ १४४ ॥

हसशब्देऽरिरादेश-ऋकारस्य विधीयते ।
हससिहेन दरिअ-सीदणेति निगद्यते ॥

वृत् इतिः कृत्-कृत्ने ॥ १४५ ॥

कृत्-कृत्नयोरनयो-वृत्तं इतिरादेश इष्यते तेन ।
धाराकिलित्तवत्तं, किलिअ-कुसुमोवयारेसु ॥

एत इद् वा वेदना-चपेटा-देवर-केसरे ॥ १४६ ॥

वेदनायां चपेटायां, देवरे केसरे तथा ।

एत इत्वं विकल्पेन, भवेदित्यवगम्यताम् ॥
विअणा वेअणा वा स्यात्, चवेडा चविना तथा ।
दिअरो देवरो वेद्यः, किसरं केसरं मतम् ॥

ऊः स्तेने वा ॥ १४७ ॥

एत ऊत्वं तु वा स्तेने, धृणो धेणो द्वयं जवेत् ।

एत एत् ॥ १४८ ॥

ऐकारस्यादिभूतस्य, भवत्येत्वं ततो भवेत् ।
वेढव्वं केढवो वेज्जो, सेला एरावणो तथा ॥
तेल्लुकं चैव केलासो, रूपाण्येतानि सन्ति च ।
इत् सैन्धव-शैन्धरे ॥ १४९ ॥

एत इत्वं भवेन्नित्यं, सैन्धवे च शैन्धरे ।
सणिच्चरो सिधवं च, द्वयं रूपं प्रसिध्यति ।

सैन्ये वा ॥ १५० ॥

एत इत्वं तु वा सैन्ये, 'सिअं सेअं' ततो द्वयम् ।

अइदैत्यादौ च ॥ १५१ ॥

ऐतोऽइः सैन्यशब्दे स्याद्, दैत्यादौ च तथा गणे ॥
सैन्यं सइअं संप्रोक्तं, दैत्यादिर्लक्ष्यतेऽधुना-॥
अइसरिअं वइजवणो, वइआहीअं च कइअवं सइरं ।
वइएसो च दइच्चो, चइत्त वइदम्भ-वइसालो ॥
वइएहो च वइस्सा-णरो दइवअं दइअ-वइसाहो ।
भइरव इति दैत्यादि-गणो बुधैर्व्याहृतः पूर्वेः ॥
'विनेपे तु न जवति'—चेइअमिति चैत्य इष्यते रूपम् ।
आपे- 'चैत्यवन्दनं ची-वन्दण-' मुच्यते सङ्गिः ।
दैत्यो दैन्यं भैरवो दैवतं च, वैताद्वीयं कैतवं स्वैर-चैत्यम् ।
वैशालो वैशाख-वैश्वानरो वै-दर्जो वैदेहश्च वैदेश एवम् ॥
ऐश्वर्यं च वैजवनं, दैत्यादिर्गण इत्ययम् ।
आहृत्या गणयते यस्माद्, न संख्यानियमस्ततः ॥

वैरादौ वा ॥ १५२ ॥

वैरादिषु भवेदैतो-ऽइरादेशो विकल्पनात् ।
तेन रूपद्वयं वैरे, 'वइरं वेर-' मीहशम् ॥
कइतासो केलासो, वइसवणो पठ्यते च वेसवणो ।
वइआलिओ च वेआ-लिओ, चइत्तो तथा चेत्तो ॥
कइरवमिति केरवमिह, वइसिअमिति वेसिअं वा स्यात् ।
वइसंपायण-वेस-पायणरूपद्वयं च मतम् ॥
वैरं वैभवणो वैश-स्पायनश्चैत्र-कैरवे ।
केलासो वैशिको वैता-ल्लिको वैरादिरुच्यते ।

एच्च दैवे ॥ १५३ ॥

एत एत्वमश्वत्वं च, दैवशब्दे पृथग्भवेत् ।
देव्वं दइव्वं दइवं, रूपत्रयमुदाहृतम् ॥

उच्चैर्नीचैरित्यत्रः ॥ १५४ ॥

अथ एतादृशादेशो, भवेदैतोऽविकल्पतः ।
उच्चैर्नीचैरिति पदे, नीचअं उच्चअं तथा ॥

ईद् धैर्ये ॥ १५५ ॥

धैर्य-शब्दे जवेदैत-ईत्वं 'धीरं' ततो भवेत् ।
ओतोऽद्वाऽन्योऽन्य-प्रकोष्ठाऽऽतोद्य-शिरोवेदना-
मनोहर-सरोरुहे क्तोश्च वः ॥ १५६ ॥
शिरोवेदनाऽन्योऽन्य-प्रकोष्ठ-मनोहर-सरोरुहातोद्ये ।
ओतोऽइत्वं वा, क-तयो-र्ययासंज्ञवं च वत्वं स्यात् ॥

अन्नं अनुभं, मणोहरं मणहरं, सिरोविभ्रणा ।
सिरविभ्रणा, आवजं, आरजं सररुहं सरोरुहमिति ॥
रूपं भवति पवट्टो, तथा पट्टो प्रकोष्ठशब्दस्त ।
बाहुलकादपि कार्यं, कचिदिह वेद्यं यथास्थानम् ॥

ऊत्सोच्चासे ॥ १५७ ॥

ओत ऊत्वं तु सोच्चासे, सुसासो सिद्धिमृच्छति ।

गव्यउ-आअः ॥ १५८ ॥

‘अठ’-‘आअ’ इत्यादेशौ, स्या-तामोतस्तु गोपदे ।
गउओ गउआ गाओ, ‘गाई एसा हरस्त’ च ॥

ओत ओत् ॥ १५९ ॥

औकारस्यादिभूतस्य, भवेदोत्वमिति स्थितम् ।
कौमुदी-‘कोमुई’ कौञ्च-‘कौचो’ यौवनमेव च ।
‘जोवणं’ कौस्तुभः ‘कोत्यु-हो’ कौशाम्ब्यौ च कौशिकः ।
‘कोसंबी’ ‘कोसिओ’ रूपं, यथाक्रममुदीरयेत् ।

उत् सौन्दर्यादौ ॥ १६० ॥

उदादेशो नवेदौतः, सौन्दर्यादिषु, तद्यथा ।
सुन्दरं सुन्दरिअं, सुगन्धत्तणं कुवारिओ सुओ ।
सुओअणो पुलोमी, मुंजायण-सुवणिओ नवति ।
सौन्दर्य-शौण्ड-पौलोमी-दौवारिक-सौवर्णिकाः ।
मौञ्जायनः शौचोदनिः, सौन्दर्यादिः प्रकीर्तितः ॥

कौक्षेयके वा ॥ १६१ ॥

कौक्षेयकशब्दे स्या-दौकारस्योत्त्वमत्र वैकल्प्यम् ।
कुच्छेयं च कोच्छे-अयं द्विरूपं समुद्दिष्टम् ॥

अउः पौरादौ च ॥ १६२ ॥

कौक्षेयके च पौरादौ, य औकारः प्रपठ्यते ।
तस्य स्याद् अउरादेशः, कउच्छेयमित्यपि ॥
पौरः-पउरो, गौनो-गउमो, सौधो निगद्यते सउहं ।
कौशलमिह कउसलमिति, पौरुपमिह पउरिसं वेद्यम् ॥
स्यात् कौरवः कउरवो, सौराः सउरा बुधैर्निगद्यन्ते ।
मौलिः-मउली, मौनं-मउणं, कौलास्तथा कउला ॥
पौरा गौरः कौशलं पौरुपं च, सौराः कौलाः कौरवो मौन-सौधौ ।
मौलिः पौरादिर्गणो धीरवयं-राक्षसा संख्यायते नेह संख्या ॥

आच गौरवे ॥ १६३ ॥

ओत आत्वम्, अउश्च स्या-दादेशो गौरवे पदे ।
स्याद् गारवं गउरवं, कविभिः संप्रकीर्तितम् ॥

नान्यावः ॥ १६४ ॥

आवाऽऽदेशोऽस्तु नौ-शब्दे, ओतो ‘नावा’ ततो भवेत् ।
एत् त्रयोदशादौ स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन ॥ १६५ ॥
त्रयोदशादिषु संख्या-शब्देषु सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
यथा-तेरह तेवीसा, तेतीसा परिपठ्यते ।

स्थविर-विचकिटायस्कारे ॥ १६६ ॥

स्थविरं च विचकिटं-स्थस्कारे सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
थेरो वेश्लं पकारो, विश्रश्चमपि कचित् ।

वा कदले ॥ १६७ ॥

विज्ञापया तु कदल-शब्दे स्वरयुतेन हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
कयलं कयली केली, केलं रूपचतुष्टयम् ।

वेतः कर्णिकारे ॥ १६८ ॥

कर्णिकारे भवेदेत्वमितो वा सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः कषेरो कषिआओ ॥

अयौ वैत् ॥ १६९ ॥

प्राकृते तु विकल्पेना-ऽयिशब्दे सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
‘अइ उम्मत्तिण’ ‘पे यी-हेमि’ चैवं प्रयुज्यते ।
पेकारस्य प्रयोगोऽपि, प्राकृते तेन बुध्यते ॥

ओत्-पूतर-यदर-नवमालिका-नवफालिका-पूगफले ॥ १७० ॥

पूतर-नवमालिकयो-नवफालिकायदयोश्च पूगफले ।
व्यञ्जनसहितेनाऽऽदेः, स्वरस्य यौत्वं परस्वरेणापि ॥
नोमालिआ पोप्फलं, नोहलिआ पोप्फली तथा घोरी ।
पोरो चोरं रूपं, निदर्शितं कोविदैरेवम् ॥

नवा मयूख-लवण-चतुर्गुण-चतुर्थ-चतुर्दश-
चतुर्वार-सुकुमार-कुतूहलोदूखलोदूखले ॥ १७१ ॥

उदूखले चतुर्वारे, सुकुमारे चतुर्दशे ।
उदूखले मयूखे च, लवणे च चतुर्गुणे ॥
कुतूहले चतुर्थे च, वैकल्प्यं सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
मोहो मऊहो लवणं, लोणं भवति चोगुणो ।
चउगुणो, चउत्थो चो-त्थो, चउहह चोहह ।
चोव्वारो च चउव्वारो, कोउहलं च कोहलं ।
सुकुमालो च सोमालो, ओहलो स्यादुऊहलो ॥
उऊखलं ओफखलं स्या-देवं सर्वमुदाहृतम् ॥

अवापोते च ॥ १७२ ॥

उते ऽत्रेऽपेऽन्ये शब्द-त्रये, वा सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ।
‘ओ मरई’ ‘अव यरई’, तथाऽन्यासो भवेच्च ‘ओआसो’ ।
‘ओ सरइ’ ‘अव सरइ’ ओ-सारिअमवसारिअं चैव ॥
ओ वणं, ओ घणो, उअ-वणमुअ घणोऽथ च बाहुलकात् ।
‘अवगय-मवसहो, उअ, रवी’ न चैत्वं प्रवत्यत्र ॥

ऊत्तोपे ॥ १७३ ॥

उपसर्गे तूपशब्दे, सार्क वा सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्योत्वं तथौद् भवेत् ॥
उवइसिअं ओहसिअं, ऊइसिअं वा उवज्जाओ ।
ओज्जाओ ऊज्जाओ, त्रयं त्रयं चात्र रूपं स्यात् ॥

उमो निपष्टे ॥ १७४ ॥

निपष्ट-शब्दे वैकल्प्य आदेशः सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्योमो विधीयते ॥
गुमण्यो च णिसण्यो च, बुधे रूपद्वयं स्मृतम् ।

प्रावरणे अङ्गवाज ॥ १७५ ॥

‘अङ्गु’ ‘आउ’ इत्यादेशौ, शब्दे प्रावरणे स्मृतौ ।

आदः स्वरस्य स्तः सव्य-ञ्जनस्वरपरस्य, वा ॥
पङ्कुरणं पाङ्कुरणं, पाङ्कुरणमुदाहृतम् ।

स्वरादसंयुक्तस्यानादेः ॥ १७६ ॥

सूत्रं 'स्वरादसंयुक्त-स्यानादेः' निखिलं त्विदम् ।
इतोऽधिक्रियते कार्य-सिद्ध्ये, तद् विचिन्त्यताम् ॥

क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् ॥ १७७ ॥

स्वरात् परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये तेषाम् ।
क-ग-च-ज-प-य-वानां, प्रायो लुक् प्राकृते भवति ॥
के-तिथ्यरो होओ, ने-नयरं स्याद् नओ मयंको च ।
चे-सई कयगहो स्याद्, जे-वा रययं पयावई च नओ ।
ते-जई रसायलं, दे-मयणो, पे-रिक् सुगरिसो च ।
ये-नु विओओ नअणं, वे-लायसं च विउहो च ।
प्रायोग्रहणात् कचिदपि, न जयति यद्वत्-पयागजलमगरु ।
विदुरो समवाओ दा-णवो सुकुसुमं तथा सुगओ ।
स्वरात् परः किं कथितः ?, पुरंदरो संबुडो च संकरओ ॥
नक्कंचरो सगमो, धणंजओ संवरो नात्र ॥
किमसंयुक्ताः ?-अओ, जगो कज्जं तथैव विणो च ।
अचो भुत्तो सव्वं, वज्जं उहाम इति च यथा ॥
कचिदपि संयुक्तस्य च, नक्कंचर इति जवेद् यथा रूपम् ।
रक्ता अनादिभूताः, जारो चोरो तरु वणो ॥
समासे तु विभक्तीनां, वाक्यगानामपेक्षया ।
पदत्वं चापदत्वं च, तत्र लक्ष्यानुसारतः ॥
यथा-आगमिओ आय-मिओ, जलचरस्तथा ।
वाच्यो 'जवयरो' चेरक्, सुहदो सुहओऽपि च ॥
कचिदादेरपि यथा 'सपुनः-सण' स्मृतम् ।
सच सोअ, तथा चिहं इधं चैव प्रयुज्यते ॥
पिशाची तु पिशाजी स्या-श्चस्य जत्वेन कुञ्चित् ।
व्यत्ययो दृश्यते क्वापि, तदुदाह्रियतेऽधुना ।
'एगत्तं' एकत्वम्, 'एगो' एकोऽमुको- 'ऽमुगो' चापि ।
'लोगस्सुज्जोयगरा', 'अमुगो' अमुकोऽपि 'आगारो' ॥
आकारस्तीर्थकरः, 'तिथ्यगरो' 'सावगो' विनिर्देश्यः ।
भावक इति 'आगरिसो', आकर्षः कस्य गत्वेऽत्र ॥
व्यत्ययश्चे- (४४४७) ति सूत्रात्, रूपनिष्पत्तिरिष्यते ।
दृश्यते चान्यदप्यर्थे, चस्य दृत्वविधानतः ॥
यथाऽऽकुञ्जनमित्वन्ना-ऽऽगटणं रूपमृच्छति ।

यमुना-चामुएना-कामुकातिमुक्तके मोऽनुनासिकश्च ॥ १७८ ॥

यमुना चामुएना का-मुकातिमुक्तकपदेषु लुक् मस्य ।
अनुनासिकश्च मस्य, स्थाने स्यादित्युदाह्रियते ॥
'जँउणा' 'काँउओ' 'चाँउ-ना' तथा 'अँणित्तयं' ।
कचिन्न जायते 'अह-मुतयं' 'अहमुत्तयं' ।

नावर्णात् पः ॥ १७९ ॥

अवर्णात्तत्तरस्याना-देर्लुक् पस्य न जायते ।
अपथः- 'सवहो' शापः, 'सावो' नादेः कदाचन ॥
'परउओ' यतो नात्र, पस्य लोपो विधीयते ।

अवर्णो यश्रुतिः ॥ १८० ॥

कगचजे- (४१७७) त्यादिसूत्रात्, लुकि जातेऽवशिष्यते ।
अवर्णाच्च परीभूतो, योऽवर्णस्तस्य यश्रुतिः ।
सयदं नयरं गया मयंको, रययं कायमणी पयावई ।

मयणो नयणं कयगहो, सयलं तिथ्यरो रसायलं ॥
'वायसं' चैव 'पायालं', 'दयालू' इति गृह्यते ।
अवर्ण इति किं प्रोक्तं, 'सउणो' 'पउणो' 'कई' ।
'पउरं' 'निहओ' 'वाऊ', 'राईवं' 'निनओ' तथा ।
यश्रुतिर्नात्र कर्तव्या, नच 'लोअस्स' 'देअरो' ।
जवत्यवर्णादित्येव, कचिद् 'पियइ' इत्यपि ॥

कुञ्ज-कर्पर-कीले कः खोऽपुण्ये ॥ १८१ ॥

कुञ्जकर्परकीलेषु, कस्य वर्णस्य खो भवेत् ।
कुञ्जाभिधेयं पुष्पं चेत्, तदा नैव विधीयते ॥
'खुज्जो' च 'खीलओ' चैव, 'खप्परं' च तथैव हि ।
अपुष्प इति किं प्रोक्तं, 'बंधेउं कुञ्ज-पुष्पयं' ॥
आपेऽन्यत्रापि 'खसिअं' 'कासिनं' 'खासिअं' तथा ।
'कासितं' रूपमप्येवं, विकल्पमिह दृश्यते ॥

मरकतमदकट्टे गः कन्दुके त्वादेः ॥ १८२ ॥

मरकतमदकलशब्दौ, कस्य च गत्वेन सिद्ध्यतः किंतु ।
कन्दुकशब्दस्यादे-रेव च गत्वं विनिर्देश्यम् ॥
रूपं 'मरगयं' मय-गलो 'गैदुअमित्थोप' ।

किराते चः ॥ १८३ ॥

किरातशब्दे चत्वं हि, ककारस्य विधीयते ॥
विधिः पुञ्जिन्द एवायं, 'चिलाओ' इति दृश्यते ।
न कामरूपिणि विधिः, 'नमो हरकिराययं' ॥

शीकरे भ-हौ वा ॥ १८४ ॥

शीकरे तु ककारस्य, ज-हौ स्यातां विकल्पनात् ।
सीभरो सीहरो, पक्षे सीभरो विनिगद्यते ॥

चन्द्रिकायां मः ॥ १८५ ॥

चन्द्रिका चन्दिमा जाता, कस्य मे विहिते सति ।

निकप-स्फटिक-चिकुरे इः ॥ १८६ ॥

निकपे स्फटिके चिकुरे, कस्य हकारो विधीयते तस्मात् ।
निहसो फलिहो चिहुरो, क्रमेण रूपाणि सिध्यन्ति ॥

ख-घ-थ-ध-ज्ञाम् ॥ १८७ ॥

स्वरात् परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये, तेषाम् ।
ख-घ-थ-ध-ज्ञां वर्णानां, प्रायो इः प्राकृते भवति ॥
खे-मेहला च साहा, घे-मेहो जहणमिति तथा माहो ।
थे-आवसहो, नाहो, धे-चाहो चाहई-न्दहण् ॥
भे-थणहरो सहावो, सहा नहं सोह इत्युदाहरणम् ।
स्वरात् परः किं कथितः ?, संखो संघो तथा बंधो ॥
किमसंयुक्ताः ? अक्खइ, अग्घइ कथइ च सिद्धओ बंधइ ।
'गज्जेते ख मेहा', अनादिभूताभिधानेन ।
प्रायोग्रहणाद् अथिरो, पलय-घणो वा नजं च जिणधम्मो ।
सरिसवखलो पणहुम-ओ, कार्यं चेदगिह वेद्यम् ॥

पृथकि धो वा ॥ १८८ ॥

पृथक्शब्दे थकारस्य, स्थाने धो वा विधीयते ।
पिधं पुधं पिहं तद्धत्, पुहं रूपचतुष्टयम् ॥

शृङ्गले खः कः ॥ १८९ ॥

शृङ्गले खस्य कादेशः. सङ्कलं तेन सिद्ध्यति ।

पुत्राग-भागिन्यांगो मः ॥१६०॥

स्यात् पुत्रागे च जागिन्यां, गकारस्य मकारता ।
'पुत्रामाहं वसन्ते च' 'भागिणी' संप्रयुज्यते ॥

छागे छः ॥१६१॥

छागे गस्य लकारः स्यात्, छात्रो छाली च सिध्यतः ।

ऊत्वे दुर्भग-सुचगे वः ॥१६२॥

दुर्भगे सुभगे चोत्वे, कृते गस्य तु वो भवेत् ।
दूहवो सुहवोऽनूत्वे-'दुहवो सुहवो' मतः ॥

खचित-पिशाचयोश्चः स-द्वौ वा ॥१६३॥

खचिते तथा पिशाचे, चस्य तु स-द्वौ विकल्पतो भवनः ।
खसिओ खद्वो तस्माद्, भवनि पिसद्वो पिसाओ च ॥

जटिले जो भो वा ॥१६४॥

जटिले जस्य भो वा स्याद्, भूमिलो जडिलो तथा ।

टो नः ॥१६५॥

स्वरात् परस्यासंयुक्त-स्यानादेष्टस्य डो भवेत् ।
नडो भनो घडो रूपं, घडइ प्रणिगद्यते ॥
अस्वराच्च नवेद् घंटा, खट्टा-संयुक्तदर्शनात् ।
अदिरवेत्यतः 'टङ्को' कचिन्न स्याद् यथा-ऽटइ ॥

सटा-शकट-कैटने ढः ॥१६६॥

सटायं शकटे कैट-ने शब्दे ढस्य ढो भवेत् ।
कढयो सयढो तद्वत्, सढा रूपं पृथक् पृथक् ॥

स्फटिके ढः ॥१६७॥

स्फटिके ढस्य लादेशे, 'फट्टिहो' सिक्किच्छति ।

चपेटा-पाटौ वा ॥१६८॥

चपेटायं च, वा एयन्ते, पटिघातौ च ढस्य लः ।
चविला चविडा फाले-इ फाडेइ प्रसिध्यति ।

ढो ढः ॥१६९॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेष्टस्य ढो भवेत् ।
मढो सढो च कमढो, कुढारो पदईत्यपि ॥
स्वरादित्येव वेकुंठो-ऽसंयुक्तस्यैव चिद्वह ।
अनादेरेव 'हिअण-गइ' चैव प्रयुज्यते ॥

अङ्गोरे ह्यः ॥२००॥

अङ्गोरे ढस्य लो द्वित्व-भूतो भवति तेन हि ।
अक्रोद्धतेल्ल-तुप्पं तु, पदं लोकैः प्रयुज्यते ॥

पिठरे हो वा रश्च नः ॥२०१॥

पिठरे ढस्य हो वा, हस्य योगे च रश्च नः ।
पिहडो पिढरो रूप-द्वयं सिक्किमुपागमत् ।

नो लः ॥२०२॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेष्टस्य ढो भवेत् ।
प्रायो, 'गरुडो' बडवा-मुखं च-'वलयासुह' ।
असंयुक्तस्य किं ?-खगो, स्वरात् किम् ?-मौडमिष्यते ।
अनादेरिति किम् ? डिभो, प्रायः किम् ? कापि वा भवेत् ॥

वलिसं वमिसं णाली, णाडी वाऽस्ति एव एनं ।
दाडिमं दाडिमं आमे-लो आमेडो, गुलो गुडो ॥
कचिन्नैव, यथा-नीडं निविडं गडडो तमी ।
वड् पीडिआमित्यादि यथालक्ष्यं विज्ञाव्यताम् ॥

वेणौ एो वा ॥ २०३ ॥

वेणौ तु एस्य वो वा स्यात्, 'वेल्ल वेणू' द्वयं मतम् ।

तुच्छे तश्च-द्वौ वा ॥ २०४ ॥

तुच्छशब्दे तकारस्य, च-द्वौ वा स्तो यथाक्रमम् ।
तुच्छं तुच्छं तथा तुच्छं, रूपत्रयमुदाहृतम् ॥

तगर-त्रसर-तुवरं टः ॥ २०५ ॥

त्रसर-तगर-तुवर-पदे, तस्य टकारो विधीयते तस्मात् ।
टसरो टगरो टुवरो, रूपत्रयमत्र जानीहि ॥

प्रत्यादौ ढः ॥ २०६ ॥

प्रत्यादिषु शब्देषु तु, तस्य ङकारः प्रवर्तते तस्मात् ।
पडिचन्नं पडिहासो, पडिहारो पडिनिश्चत्तं च ॥
पाडिप्फड्डी पडिमा, पडंसुआ पडिचया च पडिसारो ।
पहुडि पाहुनं ममयं, घहेडओ हरुई पडाया च ॥
डुफुतं डुफुडं त्वापि सुकृतं सुकडं तथा ।
अवहृतं चाऽवहडं, आहृतं त्वा ऽऽहडं स्मृतम् ॥
प्रायः किम् ? प्रतिसमयं पडिसमयं, प्रतीपमिति पडिचं च ।
संप्रति संपड योष्यं, तथा प्रतिष्ठा पड्डा च ॥
प्रति-प्रनृति-मृतक-प्रानृताश्च हरीतको ।
विभीतक-पताका-स्या-पृताः, प्रत्यादिरिष्यते ॥

इत्वे वेतसे ॥ २०७ ॥

इत्वे सति तकारस्य, नः स्यात् शब्दे तु वेतसे ।
वेडिसो, इत्वे इति किम् ? 'वेअसो' नेत्वमत्र तु ॥

गर्भितातिमुक्तके णः ॥ २०८ ॥

गर्भितातिमुक्तकयो-स्तस्य णकारः प्रवर्तते तस्मात् ।
आणिडैतयं गम्भिणोऽपि, कचिन्न-'अइमुत्तयं' भवति ॥

रुदिते दिना एणः ॥ २०९ ॥

रुदिते तु दिना साकं, तस्य णे-रुणमुच्यते । *

सप्ततौ रः ॥ २१० ॥

सप्ततिः सत्तरी जाता, तस्य रे विहिते सति ।

अतसी-सातवाहने लः ॥ २११ ॥

* अत्र केचित् श्रुत्वादिषु द इत्यारब्धवन्तः, स तु शौ-
रसेनीमागधीविषय एव दइत्ये इति नोच्यते । प्राकृते हि
श्रुतुः-'रिक्' 'उक्' । रजतम्-'रययं' । एतद्-'पञ्च' ।
गतः-'गओ' । आगतः-'आगओ' । सांप्रतम्-'संपयं' ।
यतः-'जओ' । ततः-'तओ' । कृतम्-'कयं' । ह (ह)
तम्-'हयं' । इताशः-'इयासो' । श्रुतः-'सुओ' । आकृतिः-
'आकिई' । निवृत्तः-'निवुओ' । तातः-'ताओ' । कतरः-'क-
यरो' । द्वितीयः-'दुह' (ई) ओ' । इत्यादयः प्रयोगा भवन्ति ।
न पुनः 'उद्' 'रयदमित्यादि । कचिद् जावेऽपि " व्यत्य-
यश्च " (४।४४७) इत्येव सिद्धम् । 'दिही' इत्येतदर्थं तु
" धृतेर्दिहिः " (२।१३१) इति वक्ष्यामः ।

अतसी-सातवाहने, तस्य लकारो भवेद्, यथा-अतसी ।
सालवाहणो सात्वा-हणो च सालाहणी भासा ॥

पलिते वा ॥ २१२ ॥

पलिते तस्य लो वा स्यात्, पलितं पलित्रं यथा ।

पीते वो द्वे वा ॥ २१३ ॥

पीते तस्य तु वः स्यात्, स्वार्थलकारे परे विकल्पेन ।
भवति पीवत् पीवन्नमिति, लः किम् ? स्याद् यथा-‘पीत्रं’ ॥

वितस्ति-वसति-भरत-कातर-मातुलिङ्गे द्वः ॥ २१४ ॥

वितस्तौ वसतौ मातु-लिङ्गे भरत-कातेरे ।

पञ्चस्वेषु तकारस्य, हकारादेश इष्यते ॥

विहत्थी, वसही क्वापि-नायं स्याद् ‘वसई’ यथा ।

भरहो काहलो माहु-लिंगं चैतदुदाहृतम् ॥

मेथि-शिथिर-शिथिल-प्रथमे थस्य ढः ॥ २१५ ॥

मेथि-शिथिर-शिथिल-प्रथ-मेपु थकारस्य ढो भवत्यत्र ।

मेढी सिढिलो सिढिलो, पढमो रूपाणि सिध्यन्ति ॥

निशीथपृथिव्योर्वा ॥ २१६ ॥

निशीथे च पृथिव्यां च, वा थकारस्य ढो भवेत् ।

निसीढो च निसीहो च, पुढवी पुढवी तथा ॥

दशन-दष्ट-दग्ध-दोला-दर-दरु-दर-दाह-दम्न-

दर्भ-कदन-दोहदे दो वा रुः ॥ २१७ ॥

दग्ध-दष्ट-दोहदेषु, दोला-दर-दरु-दाह-दम्नेषु ।

दशन-कदन-दर्भेषु च, दस्य डकारो विकल्पेन ॥

दसनं दसनं, डटो दटो, दम्नो च दम्नो च ।

दोला दोला, दम्नो दम्नो, दाहो तथा दाहो ॥

दम्नो दम्नो, दम्नो दम्नो, कडणं च कडणं च ।

अपि दोहलो दोहलो, डरो दरो चेति रूपाणि ॥

दंश-दहोः ॥ २१८ ॥

स्याद् धातोर्देश-दहयो-र्दकारस्य डकारता ।

तेनैव रूपं ‘डसई, नहई’ प्रतिपद्यते ॥

संख्या-गद्गदे रः ॥ २१९ ॥

संख्यावाचिनि गद्गद-शब्देऽपि च रो दकारस्य ।

वारह तेरह पञ्चा-रह रूपं मगारं च यथा ॥

अनादेरित्येव यथा-‘ते दस’ प्रतिप्राप्यते ।

असंयुक्तस्येति यावत्, ‘चउहह’ यथा प्रवेत् ।

कदम्बामरुमे ॥ २२० ॥

अरुमे कदलीशब्दे, दकारस्य रकारता ।

करली, अरुम इति, किम् ?-केली कयली यथा ॥

प्रदीपि दोहदे लः ॥ २२१ ॥

प्रपूर्वे दीप्यतौ धातौ, तथा शब्दे च दोहदे ।

दस्य लः स्यात् पलीवेश, पलितं दोहलो यथा ॥

कदम्बे वा ॥ २२२ ॥

स्यात् कदम्बो कयम्बो वा, कदम्बे दस्य ले कृते ।

दीपौ धो वा ॥ २२३ ॥

दीप्यतौ दस्य धो वा स्यात्, यथा-धिष्णइ दिष्णइ ।

कदर्थिते वः ॥ २२४ ॥

कदर्थिते दस्य वः स्याद्, येन सिध्येत ‘कवद्विओ’ ।

ककुदे हः ॥ २२५ ॥

ककुदे हो दस्य तेन-‘कउहं’ सिद्धिमृच्छति ।

निषधे धो ढः ॥ २२६ ॥

निषधे धस्य ढस्तेन-‘निसढो’ रूपमाप्नुयात् ।

वौषधे ॥ २२७ ॥

वौषधे धस्य ढो वा स्याद्, यथा-ओसढमोसहं ।

नो णः ॥ २२८ ॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेर्नस्य णो भवेत् ।

कयणं वयणं नयणं, मयणो माणइ, तथाऽऽरनालं तु ।

आपै-अनिहो अनहो, नानारूपाणि सन्तीह ॥

वाऽऽदौ ॥ २२९ ॥

असंयुक्तस्य नस्य स्या-दादिनूतस्य वा तु णः ।

णरो नरो, णेइ नेइ, वदयते च णई नई ॥

असंयुक्तस्य किम् ?-न्यायो-‘नाओ’ नैवात्र णो प्रवेत् ।

निम्ब-नापिते द-एहं वा ॥ २३० ॥

निम्ब-नापितयोर्नस्य, द-एहादेशौ यथात्रमम् ।

द्विम्बो निम्बो, एहाविओ तु, नाविओ, सिद्धिमाप्नुतः ।

पो वः ॥ २३१ ॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेः पस्य वो भवेत् ।

प्रायः, सवहो सवो उवसगो कासवो पईवो च ।

उवमा कविलं पावं, कुणवं गोवइ च मदि-वालो [१] ।

पाटि-परुष-परिघ-परिखा-पनस-पारिभद्रे फः ॥ २३२ ॥

पाटिधातुर्यदा एयन्तः, परुषादिश्च यो गणः ।

तयोरेव पकारस्य, फकारादेश इष्यते ॥

यथा-फावेइ फावेइ, फरुसो फलिहो तथा ।

फलिहा फणसो फालि-हहो रूपाण्यमूनि हि ॥

प्रभूते वः ॥ २३३ ॥

प्रभूते पस्य वो वा स्याद्, बहुचं तेन सिध्यति ।

नीपाऽऽपीने मो वा ॥ २३४ ॥

स्यान्नीपाऽऽपीडयोः पस्य, मकारः पाक्तिको यथा ।

नीमो नीवो, तथा-ऽऽमेलो, आमेडो सिद्धिमाप्नुतः ॥

पापर्क्षौ रः ॥ २३५ ॥

पापर्क्षावपदादौ स्यात्, ‘पारर्क्षी’ पस्य रे कृते ।

फो भ-हौ ॥ २३६ ॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेः फस्य वा भ-हौ ।

क्वचिद् प्रकारः स्यादत्र-रेफो रेजो, शिफा सिभा ।

क्वचिद् हकारः स्याद् मुत्ता-हलं, क्वचिदुच्चावपि ।

सभवं सहलं, सेजा-लिआ सेहालिआ तथा ।

वो वः ॥ २३७ ॥

स्वरात् परस्यासंयुक्त-स्यानादेर्वस्य वो भवेत् ।

यथाऽल्लावू अल्लावू चाऽऽल्लावू वस्येह लोपनात् ॥

विसिन्यां भः ॥ २३८ ॥

विसिनी भिसिणी जाता, वस्य भे विहिते सति [२] ।

[१] स्वरादित्येव-‘कंपइ’ । असंयुक्तस्येत्येव-‘अप्पमत्तो’ । अनादेरित्येव-‘सुहेण पढइ’ । प्राय इत्येव-कई रिक्त । एतेन पकारस्य प्राप्तयोल्लोपवकारयोः यस्मिन् कृते श्रुतिसुखमुत्पद्यते स तत्र कार्यः ॥ [२] स्त्रीलिङ्गनिर्देशादिह न प्रवर्ति-‘विसतनुपेत्तवाणं’ ।

कवन्धे म-यौ ॥ २३९ ॥

स्यात् कमन्धो कयन्धो च, कवन्धे यस्य वा म-यौ ।

कैटजे जो वः ॥ २४० ॥

कैटजे मस्य वस्तेन, 'कैटयो' सिद्धिमाभूयात् ।

विपमे मो दो वा ॥ २४१ ॥

विपमे मस्य दो वा स्यात्, 'विसदो विसमो' यथा ।

मन्मथे वः ॥ २४२ ॥

मन्मथे मस्य वस्तेन, वस्महो सिद्धिमृच्छति ।

वाऽभिपन्यौ ॥ २४३ ॥

अभिपन्यौ मकारस्य, वकारो वा विधीयते ।

'अदिवन्तू अदिवन्तू', 'द्वयसिद्धिमुपागमत्' ॥

ध्रुपरे सो वा ॥ २४४ ॥

ध्रुपरे मस्य सो वा स्याद्, भसन्नो भमरो यथा ।

आदर्शो जः ॥ २४५ ॥

पदादेशस्य जादेशः, जलो जाइ जमो यथा ।

बहुलात् सोपसर्गस्या-नादेरपि भवेत् कचित् ॥

संजोगो संजमो यवापि न- 'पञ्चोत्रो' ऽभिधीयते ।

लोपोऽप्यापे-यथाख्यातम्-अद्वयत्वाय प्रयुज्यते ॥

युष्मद्यर्थपरे तः ॥ २४६ ॥

युष्मद्यर्थपरे यस्य, तकारादेश इत्यतः ।

तुम्हारिसो तुम्हकरो, किमर्थपर इत्यदः ? ।

'तुम्हदम्हपरणं' नात्र, शब्दपरो यतः ।

यष्ट्यां लः ॥ २४७ ॥

यष्ट्यां यस्य लो 'लङी', वेणुलङी च भण्यते ।

वोत्तरीयानीय-तीय-कृद्ये उजः ॥ २४८ ॥

उत्तरीयेऽनीय-तीय-कृद्येषु प्रत्ययेषु च ।

द्विरुक्तो यस्य वा उजः स्यात्, तद्धृदाह्रियतेऽधुना ॥

उत्तरिजं उत्तरीञ्च, करणिजं विभाषया ।

करणीञ्च, विद्मो तु वीञ्चो तीयस्य इत्ययम् ।

कृद्यस्य पेञ्जा पेञ्चा च, द्वन्द्वं सर्वमुदाहृतम् ।

गायायां होऽकान्तौ वा ॥ २४९ ॥

अकान्तिचाचकं छाया-शब्दे हो यस्य वा भवेत् ।

वच्छस्स छाही गाया वा, आतपाभाव उच्यते ॥

काह-वौ कतिपये ॥ २५० ॥

यस्य स्यातां कतिपये, काहो वञ्चेत्युभौ क्रमात् ।

कइवाहं कइअवं, द्वयं निर्वर्तते पदम् ॥

किरि-भेरे रो रुः ॥ २५१ ॥

किरि-भेरयोः रस्य डः, किनी भेडो च सिद्ध्यतः ।

पर्याणे ना वा ॥ २५२ ॥

पडायाणं च पल्लार्णं, पर्याणे रस्य डाऽस्तु वा ।

करवीरे णः ॥ २५३ ॥

'कणवीरो' करवीरे, रस्याऽऽद्यस्य तु णो प्रवेत् ।

हरिजादौ लः ॥ २५४ ॥

असंयुक्तस्य रस्य स्याद्, हरिद्रादिगणे तु लः ।

द्विद्दी सिद्धिलो लुक्को दलिदाइ जहुद्धिलो ॥

द्विद्दी मुहलो दालि-इं द्विद्दी च काहलो ।

चलणो धलुणो इङ्गा-लो सकालो च निष्ठलो ॥

सोमालो कलुणो फालि-हहोऽवहाल फालिदा ।

चिलाग्रो फलिहो चैव, भसन्नो वदलो तथा ॥

जटलं चेति रुपाणि, विङ्गयानि मनीषिणिः ।

हरिद्रा दारिचं शिथिर-मुत्तराङ्गार-परिष्ठा,

हरिद्रः सत्कारो जठर-वरणौ रुग्ण-करुणौ ।

किरातापद्मार-भ्रमर-सुकुमाराश्च वरुणो,

दरिद्रातिर्धातुः परिष-वठरौ निगुरमपि ॥

युधिष्ठिरः पारिभञ्जो, दरिद्रः कातरस्तथा ।

हरिद्रादिगणश्चाय-माहृत्या परिगण्यते [१] ॥

स्थूले दो रः ॥ २५५ ॥

स्थूले लस्य रकारः स्यात्, थोरं व्युत्पद्यते तदा ।

यूत्तमहो हरिद्रादित्वे स्थूरस्य सिध्यति ।

लाहल-लाहल-लाहल-ले वाऽऽदेर्णः ॥ २५६ ॥

लाहले लाहले लाहल-ले वाऽऽदेर्णस्य णो प्रवेत् ।

णाहलो लाहलो, णहल-ले लहल-ले च णहल-ले ।

लहलं चेति रुपाणि, लहल-भूतानि चक्षते ॥

ललाटे च ॥ २५७ ॥

ललाटे चादिहृतस्य, लस्य णः संप्रवर्तते ।

णिमासं च णमालं च, चस्त्वादेरिति बोधकः ।

शवरे धो मः ॥ २५८ ॥

शवरे यस्य मत्वेन, समरो सिद्धिमृच्छति ।

स्वमनीव्योर्वा ॥ २५९ ॥

स्वप्र-नीव्योर्विकारस्य, मकारो वा विधीयते ।

सिमिणो सिमिणो, नीमी नीमी व्युत्पत्तिमिति च ।

शपोः सः ॥ २६० ॥

शेषयोस्तु सकारः स्यात् सर्वत्रात्र, निदर्श्यते ।

ससो विससो निदसो, कसाञ्चो दस सोहइ ॥

स्तुपायां एहो वा ॥ २६१ ॥

स्तुपायां यस्य एहो वा स्यात्, ततः 'सुएदा सुसा' इत्यम् ।

दश-पापाणे डः ॥ २६२ ॥

दशन्-पापाणयोर्हो वा, शपयोर्लक्ष्यदर्शनात् ।

दहसुहो दस-मुहो दहयलो दस-यलो ।

दह-रहो दस-रहो वारह-आरह ।

पापाणस्य तु पादाणो, पासाणोऽपि च इत्यते ॥

दिवसे सः ॥ २६३ ॥

दिवसे सस्य हो वा स्याद्, दिवसो दिवहो तथा ।

हो धोऽनुस्वारात् ॥ २६४ ॥

अनुस्वाराद् दकारस्य, घकारो वा विधीयते ।

[१] बहुलाधिकाराक्षरणशब्दस्य पदार्थवृत्तेरेव । अन्यत्र 'चरणकरणं' । भ्रमरे ससंनियोगे एव । अन्यत्र 'भमरो' ।

तथा 'जठरं' 'वठरो' 'निष्ठुरो' इत्यादिपि ।

सिंघो सीहो च संधारो, संहारो, कचिदन्यथा [१] ॥

षट्-शमी-शाव-सुधा-सप्तपर्णेष्वादेशः ॥ २६९ ॥

सप्तपर्ण-सुधा-शाव-शमी-षट्स्वादिमस्य ङः ।

उत्तिवणो हुहा गवो, छमी उठो यथाक्रमम् ॥

शिरायां वा ॥ २६६ ॥

शिराशब्दे भवेदादे-श्चकारो वा, छिरा सिरा ।

दुग्भाजन-दनुज-राजकुले जः सस्वरस्य नवा ॥ २६७ ॥

भाजने दनुजे राज-कुले सस्वरजस्य वा ।

लुगिष्यते, यथा प्राणं भायणं, दणुश्रो दणु ॥

स्याद् रा-उलं, राय-उलं, यथाक्रममुदाहृतम् ।

व्याकरण-प्राकारागते कगोः ॥ २६८ ॥

व्याकरणप्राकाराऽऽगतेषु कगयोस्तु सस्वरयोः ॥

लुग् वा वायरणं वा-रणं च पारो च पायारो ॥

आमो तथाऽऽगओ रूपे, आगतस्येति बुध्यताम् ।

किसलय-कात्नायस-हृदये यः ॥ २६९ ॥

कात्नायसे किसलये, हृदये यस्तु-सस्वरः ।

यकारस्तस्य लुग्वा स्याद्, यथा-कालायसं त्विदम् ॥

कात्नायसं स्यात् किसलयं, किसलं, हिअयं हिअं ।

दुर्गादेव्युदुम्बर-पादपतन-पादपतेऽन्तर्दः ॥ २७० ॥

दुर्गादेव्यां तथा पाद-पतने चाप्युदुम्बरे ।

पादपीठे सस्वरो यो, मध्ये दो, वा स लुप्यते ॥

दुग्गाएवी तु दुग्गावी, उम्बरो स्याद् उदुम्बरो ।

पा-वरुणं च वा पाय-वरुणं संप्रकीर्तितम् ॥

पाय-वीडं तु पा-वीडं, 'अन्तर'-दुर्गा-दरक्तम् । [२]

यावत्तावज्जीवितावर्त्तमानावट-प्रावारक-देवकुड्यै-

वमेवे वः ॥ २७१ ॥

प्रावारके देवकुल एवमेवे च जीविते ।

आवर्त्तमानावटयोस्तथा यावति तावति ।

योऽन्तर्वर्ती सस्वरो व-स्तस्य सुग्वा विधीयते ।

जा जाव, ताव ता, जीअं जीविअं, अवमो अडो ।

अत्तमाणो तथाऽऽवत्तमाणो, देवउलं पुनः ।

देउलं, पारमो पावारओ एमेव तूच्यते ।

एवमेव तथाऽन्तस्तु मेव वस्यास्ति रक्तम् [३] ॥

या ज्ञाषा जगवद्वचोन्निरगमत् ख्यातिं प्रतिष्ठां परां,

यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यमूनि निखिलान्येकादशाङ्गानि च ।

तस्याः संप्रति दुःषमारवशतो जातोऽपचारः पुनः,

संचाराय मया कृते विवरणे पादोऽयमाद्यो गतः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ

श्रीमद्भट्टारक-श्रीविजयरजेन्द्रसूरिविरचि-

तायां प्राकृतव्याकृतौ प्रथमः पादः ।

॥ * अर्हम् * ॥

॥ अथ द्वितीयः पादः ॥

—०*०—

संयुक्तस्य ॥१॥

ज्यायामीत् [२।११५] इत्यतो यावद्, अधिकारोऽयमीरितः ।
यदितोऽनुक्रमिष्यामस्तत् संयुक्तस्य बुध्यताम् ॥

शक्त-मुक्त-दष्ट-रुण-मृदुत्वे को वा ॥२॥

शक्ते मुक्ते मृदुत्वे च, दष्टे रुणे विभाषया ।

संयुक्तस्य ककारः स्याद्, यथोदाह्रियतेऽधुना ॥

सक्को सक्तो, मुक्को मुक्तो, रुक्को तथा दष्टो ।

लुक्को लुगो, माउत्तणं च माउत्तमिति वेद्यम् ।

क्षः खः झचित्तु छ-जौ ॥३॥

कस्य खः स्याद्, ठ-भौ क्वापि, 'खओ' लक्षणमुच्यते :
ठ-भावपि, यथा-खीणं छीणं, भीणं च किञ्चिद् ।

ष्क-स्कयोर्नाम्नि ॥४॥

संज्ञायां षकस्कयोः खः स्याद्, निष्क-पोक्खरिणी यथ
अवक्खन्दा तथा खन्धा-वोरा खन्धो प्रकीर्त्यते ।

शुष्क-स्कन्दे वा ॥५॥

शुष्के स्कन्दे षक-स्कयोः खो, विकल्पेन प्रवर्तते ।

सुक्खं सुक्कं तथा खन्दो, 'कन्दो' चैवमुदाहृतम् ॥

क्वेटकादौ ॥६॥

क्वेटकादिषु शब्देषु, संयुक्तस्यात्र खो भवेत् ।

क्वेटकः खेडओ, क्वोटकः खोटओ ।

स्फोटकः खोरओ, स्फेटकः खेडओ ।

स्फेटिकः खेडिओ चायं, क्वेटकादिरुदाहृतः ॥

क्वेटकः क्वोटकश्चैव, स्फोटकः स्फेटकस्तथा ।

स्फेटिकश्चेति संख्यातः, क्वेटकादिरयं गणः ।

स्थाणावहरे ॥७॥

अहरार्थे स्थाणुशब्दे, खः स्यात् 'खाणू' ततो भवेत् ।

स्तम्भे स्तो वा ॥८॥

स्तम्भे स्तस्य खकारो वा, खम्भो थम्भो प्रभाष्यते ।

य-ठावस्पन्दे ॥९॥

अस्पन्दार्थे स्तम्भे, स्तस्य ठ-थौ स्तो यथा पदं-थम्भो ।
ठम्भो, स्तम्भ्यत इति थ-म्भिञ्जइ ठम्भिञ्जइ स्याताम् ॥

रक्ते गो वा ॥१०॥

रक्ते कस्य गकारो वा, रग्गो रक्तो विभाष्यते ।

शुल्के झो वा ॥११॥

शुल्के कस्य झो विभाषा, सुङ्गं सुक्कं प्रकीर्तितम् ।

कृत्ति-चत्वरे चः ॥१२॥

कृत्ति-चत्वरयोः संयु-क्तस्य चः संप्रवर्तते ।

किष्ठी च चश्चरं रूप-द्वयं सिद्धिं मुपागतम् ।

त्योऽचैत्ये ॥१३॥

चैत्यवर्जे त्यस्य चः स्यात्, पञ्चओ सञ्च-मुच्यते ।

[१] कचिदननुस्वारादपि-दाहः- 'दाधो' । [२] अन्तरिति-
किम् ? दुर्गादेव्यामादौ मा भूत् । [३] अन्तरित्येव । एवमेवे-
त्यस्य न भवति ।

प्रत्यूषे पश्च हो वा ॥१४॥

प्रत्यूषे त्यस्य चः स्यात् तत्सन्निधौ पश्य ह्रस्व वा ।
विधीयते च पचूहो, पचूहो तेन सिध्यतः ॥

त्व-ध्व-द्व-ध्वां च-छ-ज जाः कचित् ॥१५॥

त्व-ध्व-द्व-ध्वां च-ज-ज-जाः कचिदेते भवन्ति हि ।

मुक्त्वा भोष्ठा, ज्ञात्वा णच्चा,

श्रुत्वा सोष्ठा पृथ्वी पिच्छी ।

विद्वान् विज्जं, वृद्धा वृज्जा,

एवं चान्यद् रूपं धेयम् ।

“भोच्चा सयलं पिच्छं, विज्जं वृज्जा अणाययगामि ।

चङ्कण तवं काठं, सन्ती पत्ती सिवं परमं ॥”

वृश्चिके ध्वञ्चुर्वा ॥१६॥

वृश्चिके श्वेः सस्वरस्य, ञ्चुरादेशो विभाष्यने ।

विञ्चुश्चो विञ्चुश्चो, पक्के-विञ्चुश्चो, णोऽत्र वाच्यते ।

छोऽङ्ग्यादाँ ॥१७॥

अङ्ग्यादिषु ठकारः स्यात् संयुक्तस्य, प्रधाप्य खम् ।

आच्छि उच्छू लच्छी कच्छां, गीश्च गीरं कुच्छी दच्छो ।

तेत्तं वच्छं वच्छा कच्छा, जुगणो छारां सारिच्छं च ।

सारिच्छो मच्छिश्चा कुच्छो, ‘अयं वच्छो’ अयं छुरो ।

छुहा, आप्ये तु-सारिच्छं, धक्खु गीरं च उच्यते ।

अत्ती-क्षु-लक्ष्मी-क्षुत-कक्ष-कौक्ष-यकाक्ष-यक्ष-क्षत-दक्ष-वृक्षाः॥

कक्षा-क्षुर-क्षार-सदक्ष-कुक्षि-क्षीर-क्षुधः क्षेप्रमथो क्षृणुष्व ।

सादृश्यं मक्षिका जुगः, कथितोऽङ्ग्यादिरित्ययम् ॥

आकृतिग्रहणाः शब्दाः, न संख्यानियमस्ततः ।

क्षमायां कौ ॥ १८ ॥

पृथिव्यर्थे क्षमाशब्दे, क्षस्य छ्वादेशो दध्यते ।

क्षमा क्षमाऽपि क्षमा भूमिः, क्षान्त्यर्थे तु क्षमा खमा ॥

क्षक्षे वा ॥ १९ ॥

अक्षे कस्य ठकारो वा, रिच्छो रिक्खोऽस्त्रियां मत्तौ ।

वृक्ष-क्षित (१ । १२७) तिसृत्रेण, ‘रक्ख-वृद्धौ’ च सेत्स्यतः॥

क्षण उत्सवे ॥ २० ॥

उत्सवार्थे क्षणे कस्य छः, ‘छणो’ स्यात् खणोऽन्यतः ।

ह्रस्वात् ध्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चये ॥ २१ ॥

ह्रस्वात् ध्य-श्च-त्स-प्सां, स्थाने छो भवति, निश्चले न स्यात् ।

मिच्छा, पच्छा, संव-च्छलो, जुगुच्छश्च लिच्छश्च ॥

ह्रस्वात् किम्? ‘ऊसारिश्चो’-‘अनिश्चल इति किम्?’ च ‘निषादो’येन,

आप्ये-तथ्ये चोऽपि तु प्रवर्तते ततः ‘तच्चमिति रूपम् ॥

सामर्थ्योत्सुकोत्सवे वा ॥ २२ ॥

उत्सुकोत्सव-सामर्थ्ये, वा संयुक्तस्य छो भवेत् ।

सामच्छं वा च सामर्थ्यं, उच्छुभो उच्छुभो तथा ॥

उच्छवो ऊसवो वा स्यात्, पृथगुक्तं द्वयं द्वयम् ।

स्पृहायाम् ॥ २३ ॥

संयुक्तस्य ठकारः स्यात्, स्पृहायां फस्य वाधकः ।

विहा, बाहुलकात् कापि निस्पृहो ‘निष्पिहो’ मतः ॥

द्य-य्य-र्यां जः ॥ २४ ॥

द्य-य्य-र्यानां तु युक्तानां, स्थाने जः संप्रवर्तते ।

(द्य) मज्जं अवज्जं, (य्य) जज्जो च, सेज्जा, (र्यं) भज्जा च भारिभा ॥

अभिमन्यौ ज-ञ्जौ वा ॥ २५ ॥

अजिमन्युपदे न्योजौ, ज्ञश्चाऽऽदेशौ विकल्पनात् ।

अहिमञ्जू अहिमञ्जू, अहिमन्नु तु पाक्षिकः ॥ [१]

माध्वस-ध्य-द्यां जः ॥ २६ ॥

साध्वसे ध्य-द्यांश्च स्याद्, युक्तयोर्जौ हि, सज्जसं ।

सज्जाभो वज्जप जाणं, मज्जं गुज्जं च नज्जश्च ॥

ध्वजे वा ॥ २७ ॥

ध्वजे ध्वस्य ऊकारो वा, ततः स्यातां ‘ऊश्रो’ ‘धश्रो’ ।

इन्धौ भ्ता ॥ २८ ॥

इन्धौ धातौ तु युक्तस्य, ‘जा’ इत्यादेशो दध्यते ।

समिज्जाश्च विज्जाश्च, चेष्टां संप्रयुज्यते ॥

वृत्त-प्रवृत्त-मृत्तिका-पत्तन-कदर्थिते टः ॥ २९ ॥

वृत्ते प्रवृत्ते पत्तने, मृत्तिकायां कदर्थिते ।

संयुक्तस्य टकारः स्याद्, यथा रूपं कवटिश्रो ॥

पयटो मटिश्रा वटो, पट्टणं समुदाहृतम् ।

धूर्त्ताधूर्त्तादाँ ॥ ३० ॥

धूर्त्तादीन् वर्जयित्वा टो, ‘त्त’स्य स्थाने प्रवर्त्तते ।

कवटो नट्टश्च संव-टिश्रं जटो पयट्टश्च ॥

धूर्त्तादाँ तु विधिर्नायं, ततो धूर्त्तादिरुच्यते ।

धुत्ता किस्ती वत्ता, निवत्तश्रो वत्तिश्रो मुहुत्तो च ॥

आवत्तणं च संव-त्तणं च आवत्तश्रो मुत्तौ ।

निवत्तणं च पवत्तण-मुक्तात्तिश्रो वत्तिश्रा कत्तिश्रो च ।

निवत्तश्रो पवत्तश्रो, संवत्तश्रो कत्तरी मुत्ता ।

आवर्तकावर्तनकीर्तिमूर्तिवार्ताप्रवर्तकमुहूर्तनिवर्तकाश्च ।

संवर्तकोत्कर्षितमूर्तधूर्तप्रवर्तनं वार्तिककार्तिकौ च ॥

वार्तिका कर्तरी चापि, संवर्तननिवर्तने ।

निवर्तकमसौ धूर्तादिर्गणः परिकीर्तितः ॥

वृन्ते एटः ॥ ३१ ॥

संयुक्तस्य भवेद् वृन्ते, एटाऽऽदेशो निर्विकल्पकः ।

तालवण्टं च वेण्टं च यथा सिद्धिं समश्नुते ॥

गोऽस्थि-विसंस्थुले ॥ ३२ ॥

विसंस्थुलेऽस्थिशब्दे च, संयुक्तस्य ठकारता ।

अष्टौ विसंठुलं तेन, पृथक् सिद्धिमुपागमत् ॥

स्त्यान-चतुर्थार्थे वा ॥ ३३ ॥

अर्थ-स्त्यान-चतुर्थेपु, वा संयुक्तस्य गो जवेत् ।

टीणं थीणं चरत्थोऽष्टो-ऽधनेऽथो धनवाचकः ॥

एस्याऽनुप्रेष्टासंदष्टे ॥ ३४ ॥

संदष्टमिष्टामुष्टं च त्यक्त्वा एस्य तु गो भवेत् ।

वष्टी मुष्टी सुरष्टा च, कष्टं दष्टो अणिष्ट च ॥

उष्टो दष्टा च संदष्टो रूपमुष्टादिसंज्ञवम् ।

गर्ते टः ॥ ३५ ॥

स्याद् गर्ते ‘ते’स्य टो, ‘गड्डो गड्डा’-‘इयं टस्य वाधकः ।

सम्मर्द-वितर्दि-विच्छर्द-च्छर्दि-कपर्द-मर्दिते टस्य ॥ ३६ ॥

सम्मर्दे विच्छर्दे गर्दि-वितर्दि-कपर्द-मर्दिते च ।

दंस्य ढकारो भवति, सम्मर्दो मडिश्रो छड्डी ।

[१] अग्निग्रहणात् इह न भवति-‘मन्’ ।

सम्महित्रो कवटो, विच्छट्टो छट्ट विच्छट्ट ।

गर्दभे वा ॥ ३७ ॥

गर्दभे दंस्य ङो वा स्याद्, गट्टो गट्टो तथा ।

कन्दरिका-जिन्दिपाले एमः ॥ ३८ ॥

एमः संयुक्तस्य वै जिन्दि-पाले कन्दरिकापदे ।

जिएरुवालो कएरुविआ, द्वयं संसिद्धिमुच्छति ।

स्तब्धे ठ-ढौ ॥ ३९ ॥

स्तब्धे संयुक्तयोः स्यातां, ठढौ, 'ठढौ' यथाक्रमम् ।

दग्ध-विदग्ध-वृद्धि-वृद्धे ढः ॥ ४० ॥

दग्धे विदग्धे वृद्धौ च, वृद्धे युक्तस्य ङो भवेत् ।

दढौ विअढौ वुढौ च वृद्धौ, विद्धो कचिन्मतः [१] ।

श्रद्धि-मूर्धार्थेऽन्ते वा ॥ ४१ ॥

ढः स्याच्छ्रद्धि-मूर्धार्थेऽन्ते संयुक्तस्य वा, यथा ।

सद्धा सद्धा, इद्धी रिद्धी, मुद्धा मुद्धा अहं अहं ॥

मृद्धोर्णः ॥ ४२ ॥

णाणं निष्णं च विष्णानं, पञ्जुष्णो मन्त्रयोणंतः ।

पञ्चाशत्पञ्चदश-दत्ते ॥ ४३ ॥

स्यात् पञ्चाशत्-पञ्चदश-दत्ते युक्तस्य णो, यथा ।

पक्षासा पक्षरह च, दिष्णं त्रयमुदाहृतम् ॥

मन्यौ न्तो वा ॥ ४४ ॥

मन्यौ युक्तस्य वा न्तः स्याद्, मन्तू मन्तू च पठ्यते ।

स्तस्य थोऽमस्त-स्तम्वे ॥ ४५ ॥

स्तम्यं समस्तं च त्यक्त्वा, 'स्त' स्य थादेश इष्यते ।

थोत्तं थोत्तं थुई हत्थो, पत्तथो पत्तथोऽत्थि च ।

तम्बो स्तम्बे, समत्तां तु-समस्तेऽर्थे प्रकीर्तितः ॥

स्तवे वा ॥ ४६ ॥

स्तवशब्दे स्तस्य थो वा, ततो रूपं थवो तवो ।

पर्यस्ते थ-ढौ ॥ ४७ ॥

पर्यस्ते स्तस्य तु स्यातां, थ-ढौ पर्यायजाविनौ ।

पल्लथो वा तु पल्लट्टो, रूपं व्युत्पद्यते द्वयम् ।

वात्साहे थो हश्च रः ॥ ४८ ॥

वत्साह-शब्दे थादेशः संयुक्तस्य विकल्पनात् ।

हस्य रश्चापि, 'वत्थारो,' 'उच्छाहो' सिद्धिमाप्नुतः ॥

आश्लिष्टे ल-धौ ॥ ४९ ॥

संयुक्तयोर्ध्यासंख्यमाश्लिष्टे तु ल-धौ स्मृतौ ।

आलिद्धो ईदृशं रूपं तदाऽऽश्लिष्टस्य जायते ।

चिह्ने न्यो वा ॥ ५० ॥

चिह्ने हस्य तु वा न्यः स्याद् एहं वाधित्वैव, तद्यथा- ।

चिन्धं इन्धं च, चिरहं तु पक्के एहस्यापि संभवात् ।

नस्मात्मनोः पो वा ॥ ५१ ॥

भस्मात्मनोः प्रकारः संयुक्तस्य, विभाषया भवति ।

भप्पो नस्सो, अप्पा अप्पाणो, पाल्लिको 'ऽत्ता' ऽपि ।

रूप-रूपोः ॥ ५२ ॥

अस्य कमस्य च पादेशः, कुञ्जलं कुम्पलं तथा ।

रुक्मिणी-रुक्मिणी, रुक्मी, रूपी कमः कापि इह्यते ।

ष-स्पर्शोः फः ॥ ५३ ॥

फः ष-स्पर्शोर्भवेत्, पुष्पं पुष्पं स्यात्, स्पन्दनं पुनः ।

फन्दनं च प्रतिस्पर्धो पारिष्फट्टी प्रयुज्यते ।

वहुधात् कापि वैकल्प्यं, यथा-रूपं बुद्धिर्ह ।

बुद्धिर्ह च, न कापि-निष्पहो च परोष्परं ।

जीष्मे षमः ॥ ५४ ॥

जीष्मे षस्य फकारः स्यात्, रूपं 'मिष्फो' यथा भवेत् ।

श्लेष्मणि वा ॥ ५५ ॥

श्लेष्मणि षस्य फः, सेफो सिलिम्हो च विकल्पनात् ।

ताम्राग्ने म्वः ॥ ५६ ॥

अस्य म्वः स्यात् ताम्र आग्ने, 'तम्ब' 'अम्ब' च सिध्यतः ।

हो नो वा ॥ ५७ ॥

हस्य भो वा, यथा-जिह्मा जीहा सिद्धिमवाप्नुतः ।

वा विहले नौ वश्च ॥ ५८ ॥

विहले हस्य भो वा स्याद्, विशब्दे वा च वस्य भः ।

जिह्मलो विहलो वा च विहलो च त्रयं मतम् ।

बोधे ॥ ५९ ॥

ऊर्ध्वं युक्तस्य जो वा स्याद्, उर्ध्वं उर्ध्वं च सिध्यतः ।

कश्मीरे म्भो वा ॥ ६० ॥

कश्मीर-शब्दे म्भो वा स्यात् संयुक्तस्य, ततो द्वयम् ।

सिद्धिमृच्छति, 'कम्भारा' 'कम्भारा' चेति पाक्षिकम् ॥

न्मो मः ॥ ६१ ॥

न्मस्य मो वा, यथा-जम्भो वम्भो मम्भं तथा ।

ग्मो वा ॥ ६२ ॥

ग्मस्य मो वा, यथा-युग्मं जुग्मं जुग्मं च कथ्यते ।

ब्रह्मचर्य-तूर्य-सौन्दर्य-शौण्डीर्ये यो रः ॥ ६३ ॥

तूर्य-सौन्दर्य-शौण्डीर्य-ब्रह्मचर्येषु 'र्य' स्य रः ।

ब्रह्मचरं च सुन्दरं, शौण्डीरं तूरमित्यपि ॥

पठ्यते ब्रह्मचरिअं, क्वापि चौर्यसमत्वतः ।

धैर्ये वा ॥ ६४ ॥

धैर्ये र्यस्य रकारो वा, धीरं धिज्जं च सिध्यतः ।

'सूरो सुज्जो' इति कथं ? रूपे स्तः, सूर-सूर्ययोः [१] ॥

एतः पर्यन्ते ॥ ६५ ॥

पर्यन्तशब्दे एतः स्याद् र्यस्य रस्तेन सिध्यति ।

'परन्तो,' एत इति किम् ? 'पञ्जन्तो' परिपठ्यते ॥

आश्वर्ये ॥ ६६ ॥

एतः परस्य रो 'र्य'स्याऽऽश्वर्ये, अच्चेरामिष्यते ।

अतो रिआर-रिज्ज-रीअं ॥ ६७ ॥

अतः परस्याश्वर्ये, र्यस्य 'रिआर-रिज्ज-रीअं'-मादेशः ।

अच्छरिज्ज-मच्छरिअं, तथाऽच्छरीअं च अच्अरं ॥

पर्यस्त-पर्याण-सौकुमार्ये द्वः ॥ ६८ ॥

सौकुमार्ये च पर्याणे पर्यस्ते र्यस्य द्वयम् [२] ।

पल्लट्टं पल्लट्ठं पल्लणं सोअमल्लमिति भवति ।

पल्लिअद्धा पल्लट्टो पल्लट्ठस्यैव रूपं द्वे ।

बृहस्पति-वनस्पत्योः सो वा ॥ ६६ ॥

बृहस्पतिवनस्पत्योः, सो युक्तस्य विकल्पनात् ।
वहस्सई वहष्पई भयस्सई भयष्पई ।
वणस्सई वणष्पई च सिद्धिमश्नुते पृथक् ॥

वार्षे होऽश्रुणि ॥ ७० ॥

स्यादश्रुवाचके वार्षे, संयुक्तस्य दकारता ।
वाहो नेत्रजलं, ' वष्पो-' ऊष्मार्येऽयं प्रयुज्यते ॥

कार्पापणे ॥ ७१ ॥

कार्पापणे दकारः स्यात्, संयुक्तस्येति कथ्यते ।
काहावणो, कचिद् ह्रस्वे कृते रूपं कदावणो [१] ॥

दुःख-दक्षिण-तीर्थे वा ॥ ७२ ॥

दुःखे च दक्षिणे तीर्थे वा संयुक्तस्य हो ज्ञेयम् ।
दाहिणो दक्षिणो, तित्थं तृहं, दुःखं दुहं तथा ॥

कूष्माण्ड्यां प्मो लस्तु एमो वा ॥ ७३ ॥

' प्मा ' इत्येतस्य कूष्माण्ड्यां हः स्याद्, एहस्य तु वा च लः ।
कोहणी कोहली चैतद् ह्यं व्युत्पद्यते ततः ॥

पद्म-इम-प्म-स्म-प्मां म्हः ॥ ७४ ॥

म्हः पद्म-इम-प्म-स्म-प्मां संयुक्तानामादेशः स्यात् ।
पद्माणि स्यात् पम्हाई, कुद्मानः कम्हाणो पठ्यन्ते ।
प्रीप्मो गिम्हो भवेद् 'अम्हा-रितो' अस्यादशः स्मृतः ।
ग्रहा यम्हा, तथा सुप्ताः 'सुम्हा' जातास्तथा पुनः ।
यम्हणो यम्हचरे च, दृश्यते स्त्रोऽपि कुत्राचिन ।
यम्भणो यम्भचरे च, निम्नो रूपं यथा भवेत् ।
कान्निन्न दृश्यते चायं रश्मिः-रस्सी, स्मरः-सरो ॥

सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह-ह-दृणां एहः ॥ ७५ ॥

सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह-ह-दृणां संयुक्तानामादेशो एहः ।
सूक्ष्मे सण्हं (अ) परहो सिरहो
(ण) विरहू जिरहू उण्हं स्यात् ।
(झ) जोएहो एहाओ पण्हूओ च, (ह) घरहो जरहू तथैव च ।
(ह) पुत्रणहो श्रवरणहो च, (ण) सण्हं तिरहं प्रयुज्यते ।
विप्रकर्षे तु कसणो कसिणो कृष्ण-कृत्स्नयोः ॥

हो न्हः ॥ ७६ ॥

न्हः स्याद् हस्य तु कल्हारं, पल्हाओ रूपमीदृशम् ।

क-ग-ट-र-त-द-प-श-प-स-क-पामूर्ध्वं लुक् ॥ ७७ ॥

क-ग-ट-ड-त-द-प-श-पानां, स-क-पानांतयोर्ध्वभूतानाम् ।
संयुक्तवर्णसम्य-न्धिनां लुगनेति शास्ति मुनिः ।
(क) कृत्तं (ग) दुर्कं (ट) पटपदः 'उष्मो' च
(र) खड्गः खमो (त) उष्पलं उत्पलं च ।
(द) मदगुः-मग्गु, मुद्रो-मोगरो च,
(प) सुतो गुतो (श) निश्चलो निश्चलो च ।
(य) गोपी उचो निद्रो च, (स) नेहो च खल्लिओ तथा ।

(५ क) दुःखं दुक्खं (५ य) अन्तःपातः, अन्तर्प्राप्तो निगद्यते ।

अधो म-न-याम् ॥ ७८ ॥

युक्ताधो वर्त्तमानानां, मनयानां तु लुग् भवेत् ।
(म) जुग्मं रस्सी सरो (न) नग्मो, (य) सामा कुट्टं यथा पद्म ।

सर्वत्र ल-व-रामऽवन्दे ॥ ७९ ॥

युक्तस्योर्ध्वमधो वा ये, संस्थिता ल-व-राः क्वचित् ।
वन्द्वान्दं विना तेषां लुक् स्यादित्युपदिश्यते ॥
(ऊर्ध्वम्) (ल) वल्का वल्का, वल्कलं वल्कलं च,
(व) शब्दः सहो, लुब्धको लोभो च ।
(र) अग्ने वग्मो अर्क-वर्गो भवेताम,
(ग्रथः) (ल) शत्रुणं सण्हं, विफलवो विक्रवो च ॥
(घ) पकं पकं च पिकं च, (र) चक्रं चक्रं ग्रहो ग्रहो ।
रात्रिः रत्ती, यथालक्ष्यं, लोपः स्यात् कापि, तद्यथा ।
(ऊर्ध्वम्) उद्विग्नः स्याद् उद्विग्नो, द्विगुणो विडणो तथा ।
कम्मपं कम्मसं, सर्वे-सर्वं, सन्ति सहस्रशः ।
(अधः) काव्यं कव्यं प्रवक्तव्यं, माव्यं मल्लं, द्विपो दिओ ।
पर्यायेण फ्यचित् चारं-चारं चारं प्रचक्षते ।
एचमुद्विग्न उद्विग्नो, उद्विग्नो विनिगद्यते ।
वन्दं पदं तु संबन्धं, संस्कृते प्राकृते समम् ।

डे रो न वा ॥ ८० ॥

ड-शब्दे तु विकल्पेन, लुक् स्याद् रेफस्य तद्यथा ।
चन्दो चन्द्रो च, रुहो रुद्रो, भई भद्रमित्यपि ॥
परिवृत्त्या स्थिते रूपद्वयं वचं ह्रदं यथा ।
छहो दहो, ग्नोपं तु केऽपि नेच्छन्ति सुरयः ।
ये वोहहादयः शब्दास्तन्नाद्याधवाचकाः ।
ते नित्यं रेफसंयुक्ता देह्या एवेति बुध्यताम् ॥

धाज्याम् ॥ ८१ ॥

धाज्यां वा लुग् रस्य, धर्त्ता धारी धाई रत्तोपनात् ।

तीङ्गणे णः ॥ ८२ ॥

तीङ्गण-शब्दे णस्य लुग्या, तिक्खं तिण्हं ततो द्वयम् ।

ज्ञो चः ॥ ८३ ॥

ज्ञस्य सम्यन्धिनां अस्य, लुक् स्यादत्र विभाषया ।
जाणं णाणं, क्वचिन्न स्याद्, विणाणं संप्रयुज्यते ॥

मध्याद्रे हः ॥ ८४ ॥

स्याद् ' मज्जन्तो च मज्जरहो ' मध्याद्रे लुकि हस्य वा ।

दशार्हे ॥ ८५ ॥

दशार्हे हस्य लुक् वेद्यो, दसारो सिद्धिमृच्छति ।

आदेः श्मश्रु-श्मशाने ॥ ८६ ॥

श्मश्रु-श्मशानयोरादे-र्लुगादेशो विधीयते ।
मासू मंसू च मस्सू च, मसाणं चेह सिध्यति ।
आर्ये सुसाणं सीआणं, श्मशानस्य द्विरुपता ।

ओ हरिश्चन्दे ॥ ८७ ॥

अस्य लुक् स्याद् हरिश्चन्दे, ' हरिश्चन्दो ' ततो ज्ञेयम् ।

[१] कथं ' कदावणो ' । " ह्रस्वः संयोगे " [१. ८४] इति पूर्वमेव
ह्रस्वत्वे पाश्चादादेशो, कार्पापणशब्दस्य वा भविष्यति ।

रात्रौ वा ॥ ८८ ॥

रात्रौ युक्तस्य वा लुक् स्याद्, रात्रि रत्नी च सिध्यतः ।

अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम् ॥ ८९ ॥

अनादिचतुर्थयोः शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वमिष्यते ।

तत्र शेषे यथा-कृष्णतरुं हृत्तं प्रयुज्यते ।

आदेशे तु यथा-रुको जक्खो रग्गो निगद्यते ।

क्वचिन्न-कसिणो-ऽनादाविति किम् ? खलिअं यथा ।

द्वित्वं द्वयोरेव न स्याद्, भिरिगपालो च विञ्चुओ ।

द्वितीय-तुर्ययोर्परि पूर्वः ॥ ९० ॥

द्वितीय-तुर्ययोर्द्वित्व-प्रसङ्गे पूर्ववर्तिनौ ।

वर्गस्थौ भवतो वर्णावुपरिष्ठादित्येते ॥

शेषे यथा तु वक्खानं, वग्घो मुच्छा च निज्जरो ।

कठं तित्थं च गुप्फं च, निज्जरो निज्जरो तथा ।

आदेशे तु यथा-जक्खो, (घस्य नास्ति) अक्खी मज्जं च जिम्मदो ।

पट्ठी बुद्धो च हत्थो चाऽऽलिद्धो पुप्फं प्रपठ्यते ।

तैलादौ (१।९८) ओक्खलं, नक्खो नहा सेवादिषु (१।९९) स्मृतम् ।

कइक्खो कइधओ, समासे वा (२।९७) प्रयुज्यते ।

दीर्घे वा ॥ ९१ ॥

दीर्घशब्दे तु शेषस्य, घकारस्य विभाषया ।

उपरि स्यात् पूर्ववर्णो, दिग्घो दीर्घो द्वयं यथा ।

न दीर्घानुस्वारात् ॥ ९२ ॥

दीर्घानुस्वाराभ्यां, लाङ्गणिकाङ्गणिकरूपाच्यम् ।

शेषस्यादेशस्य च, परस्य द्वित्वं विजानीयात् ॥

छूढो फासो नीसासो-ऽलाङ्गणिके यथा-ऽऽस्य-माऽऽसं स्यात् ।

पार्श्वे पासं, शीर्षे सीसं द्वेभ्यो भवेद् वेसो ।

वास्यं वासं, प्रेष्यः पेसो, आङ्गणिराणत्ती ।

अवमाल्यम्-‘भोमालं,’ आङ्गा-आणा, ह्यनुस्वारात्- ।

ज्यस्सं-तंसं, चालाङ्गणिके संभा तु संध्यायाः ।

विज्ञो कंसादो चेत्यादि तु नानाविधं लक्ष्यम् ।

र-होः ॥ ९३ ॥

रेफस्यापि हकारस्य न द्वित्वं स्यात् कदाचन ।

रेफो न शिष्यते क्वापि, तस्मादादेश ईक्ष्यताम् ॥

सुन्देरं बम्हचेरं पेरन्तं शेषस्य इत्थं तु ।

विह्वो स्यात्, तथाऽऽदेशस्य रूपं च कदावणो ।

धृष्टद्युम्ने णः ॥ ९४ ॥

धृष्टद्युम्ने तु न द्वित्वं णस्याऽऽदेशस्य कर्हिचित् ।

धट्टज्जुणो ततो रूपं, प्राकृते सिद्धिमृच्छति ।

कर्णिकारे वा ॥ ९५ ॥

कर्णिकारे न वा द्वित्वं णस्य शेषस्य, तद्यथा-

काणिआरो कप्पिआरो, ज्ञयं सिद्धिसुपागमत् ।

दस्से ॥ ९६ ॥

दस्से शेषस्य न द्वित्वं, दरिओ दस्स उच्यते ।

समासे वा ॥ ९७ ॥

स्यात् शेषादेशयोर्द्वित्वं, समासे तु विभाषया ।

नङ्गामो नङ्गामो, अशेषादेशयोः क्वचित् ।

स-पिवासो स-प्पिवासो, अदंसण-मऽदंसणं ।

तैलादौ ॥ ९८ ॥

तैलादिषु यथालक्ष्यमनादेर्व्यञ्जनस्य तु ।

अन्त्यानन्त्यस्य वर्णस्य, द्वित्वं स्यादिति संमतम् ।

तेल्लं बहुत्तं मण्णुक्को, विद्धा वेद्धमिदमपि ।

सोत्तं पेम्मं जुव्वणं स्यादनन्त्यस्य निदर्शनम् ।

आर्षे तु विस्सोअसिआ, पडिओओ च भूरिशः ।

तैल-प्रभूत-मण्णुका ऋजु व्रीणा च यौवनम् ।

सोतो विचकिद्वं प्रेम, तैलादिः समुदाहृतः ॥

सेवादौ वा ॥ ९९ ॥

सेवादिषु यथालक्ष्यमनादेर्व्यञ्जनस्य वा ।

अन्त्याऽनन्त्यस्य वर्णस्य द्वित्वं स्यादिति कथ्यते ।

सेव्वा सेवा, मेडुं नीमं, नक्खो नहा, निहितो तु ।

निहिओ, वाहिओ वाहिओ, दइव्वं च दइव्वं स्यात् ॥

माउक्कं माउअमे-को एओ कोउहल्ल कोउहलं ।

थुद्धो थोरो हुत्तं हूअं मुक्को च मूओ च ॥

वाउल्लो च वाउओ, तुण्हओ तुण्हओ विकल्पवशात् ।

मुक्को मूओ, खण्णू खण्णू, पिण्णं च थीणं च ॥

द्वित्वमनन्त्यस्य यथा-अम्हक्केरं तथाऽम्हक्केरं च ।

सोच्चिअ सोचिअ वा स्याद्, रूपं तच्चेअ तच्चेअ ।

सेवा नीडो निहित-मृदुक-व्याकुल स्थूढ-भूका

एकस्तूष्णीक-चित्र-नख-चेआऽस्मदीयाश्च दैवम् ।

स्त्यानां हृतो निगदति मुनिः स्थाणु-कौतूहलं च

सेवादिं तद् ग्रहशशिमितं १६ व्याहृतश्चापि शब्दः ।

शार्ङ्गे ङात् पूर्वोऽत् ॥ १०० ॥

शार्ङ्गे ङात् प्रागकारः स्यात्, ‘सारङ्गं’ सिद्धिमश्नुते ।

द्मा-श्लाघा-रत्नेऽन्त्यव्यञ्जनात् ॥ १०१ ॥

अन्तिमाद् व्यञ्जनात् प्रागत् द्मा-श्लाघा-रत्न इष्यते ।

कुमा सलाहा रयणं, सुद्धं सुद्धममाऽऽर्षतः ॥

स्नेहाग्न्योर्वा ॥ १०२ ॥

स्नेहेऽग्नौ यश्च संयोगस्तस्य मध्ये तु वाऽद् भवेत् ।

नेहो सणेहो, अगणी अग्णी रूपं विदुर्वुधाः ।

प्लुक्के लात् ॥ १०३ ॥

अः स्यात् प्लुक्के लकारात् प्राक् ‘पलक्खो’ सिद्धिमश्नुते ।

ई-श्री-ही-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्यास्वित् ॥ १०४ ॥

श्री-ही-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्या-ऽहेषु युक्तान्त्यवर्णतः ।

प्रागिकारो भवेदेषु षट्सु, तल्लक्ष्यतेऽधुना ।

सिरी हिरी, च कसिणो किरिआ दिठ्ठिआऽरिहा,

‘हयं नाणं क्रिया-हीणं’ इत्यार्षे क्वचिदिष्यते ।

श-र्ष-तप्त-वज्रे वा ॥ १०५ ॥

तप्त-वज्र-श-र्ष-शब्दे संयुक्तस्यान्त्यवर्णतः ।

प्रागिकारो विकल्पेन, भवेदित्युपदिश्यते ॥

(शं) आयरिसो आयंसो, सुदरिसणो वा सुदंसणो, (र्षं) वासाः

वरिसा, वासं वरिसं, वरिस-सयं वाससयमिति च ॥

नित्यं क्वचिद् व्यवस्थित-विजाषया दृश्यते-ऽमरिसो ।

हरिसो च परामरिसो, तविश्रो तत्तो, वहर वज्रं ॥

लात् ॥ १०६ ॥

संयुक्तस्य तु लादन्य-व्यञ्जनात् प्रागिकारता ।
किलिन्नं च किलिन्नो च, कचिन्न स्यात्-कमो पवो ॥

स्याद्-जव्य-चैत्य-चौर्यसमेपु यात् ॥ १०७ ॥

स्यादादिषु चौर्यशब्द-तुल्येषु निन्देषु च ।
संयुक्तस्य यकारात् प्रागिदादेशो विधीयते ॥
सिन्ना यथा-सिन्नावाश्रो, भविश्रो चेद्भ्रं तथा ।
(चौर्यसमाः) चोरिभं घेरिभं गम्भीरिभं-सोरिभं घीरिभं ॥

स्वप्ने नात् ॥ १०८ ॥

स्वप्नशब्दे नकारात् प्रागिकारः, सिचिणो यथा ।

स्निग्धे वाऽदितौ ॥ १०९ ॥

स्निग्धशब्दे नकारात् प्राग्, अदितौ स्तो विकल्पनात् ।
सणिद्धं च सिणिद्धं च, पक्वे निरुं निगद्यते ॥

कृष्णे वर्णे वा ॥ ११० ॥

वर्णे कृष्णे णकारात् प्राग्, अदितौ स्तो विकल्पनात् ।
कसणो कसिणो कणहो, विण्यौ कणहो प्रयुज्यते ॥

उच्चादिति ॥ १११ ॥

अर्हत्-शब्दे हकारात् प्राग्, अदिताबुद् भवन्ति च ।
अरहो अरिहो रूप-मरहो चेति सिध्यति ॥
अरहन्तो अरिहन्तो, अरहन्तो च पठ्यते ।

पद्म-लघ्न-मूर्ख-द्वारे वा ॥ ११२ ॥

पद्मे लघ्ने च मूर्खे च द्वारे युक्तान्यधर्णतः ।
प्राग्बुद् वा, पद्मं पोम्मं, छम्मं च उडमं तथा ॥
मूर्खो मुरुखो मुफ्फो वा, दुवारं द्वारमुच्यते ।
पक्वे वारं च देरं च दारं चेति त्रयं स्मृतम् ॥

तन्वीतुल्येषु ॥ ११३ ॥

उदन्ता ङीप्रत्ययान्ताः, शब्दास्तन्वीसमाः स्मृताः ।
संयुक्तस्यान्यवर्णात् प्राग्, उकारस्तेषु पठ्यते ॥
तणुवी लट्ठवी गरुवी, कचिदन्यत्रापि दृश्यते च यथा ।
जुष्टं नवति सुरुधं, आप्ये-सुद्धं तु सुद्धं स्यात् ।

एकस्वरे इवः स्वे ॥ ११४ ॥

एकस्वरे पदे यौ श्वस्-स्व इत्येतौ तयोरिद ।
वकारात् प्राग्, उकारः स्यात्, श्वः कृतं तु-‘सुवे कयं’ ।
‘सुवे जणा स्वे जनास्तु, कुत ‘एकस्वरे’ इति ? ।
स्वजनः-‘सयणो’ नात्र, यतोऽनेकस्वरे स्थितः ॥

ज्यायामीत् ॥ ११५ ॥

ज्या-शब्दे तु यकारात् प्राग्, ईत् स्यात् ‘जीआ’ ततो भवेत् ।

करेणू-वाराणस्योः र-णोर्व्यत्ययः ॥ ११६ ॥

वाराणस्यां करेणवां च, र-णयोर्व्यत्ययो भवेत् ।
वाणारसी, कणेरु, स्त्री-निर्देशात् पुंसि नेष्यते ।

आलाने लनोः ॥ ११७ ॥

ल-नयोर्व्यत्ययादाला-नमाऽऽनाणो प्रयुज्यते ।

अचलपुरे चलोः ॥ ११८ ॥

अचलपुरे तु शब्दे, च-लयोः स्थानभेदतः ।
प्रयुज्यतेऽन्नचपुरं बुधैः प्राकृतवेदिभिः ।

महाराष्ट्रे हरोः ॥ ११९ ॥

‘मरड्डं’ महाराष्ट्रे हरयोर्व्यत्ययाद् भवेत् ।

हदे हदोः ॥ १२० ॥

हद-शब्दे ह-दयोर्व्यत्ययेन रूपं हदो भवत्यत्र ।
‘हरय मह पुणरिण’ इत्याप्ये दृश्यते तच्च ।

हरिताले र-लोर्नवा ॥ १२१ ॥

र-लयोर्व्यत्ययः कार्यो, हरिताले विकल्पनात् ।
सिद्धं ततो ‘हरिआलो, हलिआरो’ इति द्वयम् ।

लघुके लघोः ॥ १२२ ॥

लघुके घस्य इत्वे वा लहयोर्व्यत्ययः स्मृतः ।
ललुभं ललुभं, घस्य व्यत्यये न तु हो भवेत् [१] ॥

ललाटे ल-लोः ॥ १२३ ॥

ललाट-शब्दे लडयोर्व्यत्ययो वा विधीयते ।
णमालं च णलामं च, ललाटे चेति [१२५७] लस्य णः [१] ।

हो होः ॥ १२४ ॥

ह-शब्दे ह-ययोर्वा स्यात् व्यत्ययः सल्ल-गुहयोः ।
सयहो सज्जो, तथा गुहं गुज्जं, रूपे इमे मते ।

स्तोकस्य थोक्-थोव-थेवाः ॥ १२५ ॥

थोक्-थोव-थेवा वा स्युः, स्तोक्शब्दे त्रयः क्रमात् ।
थोक् थावं च थेवं च, पक्वे थोभं विधीयते ।

दुहित्-नगिन्योर्धूआ-वहिण्यौ ॥ १२६ ॥

वा भवेद् दुहितुर्धूआ, प्रागिन्या बहिणी तथा ।
बहिणी भइणी, धूआ दुहिआ च विभाष्यते ॥

वृक्-क्षिप्तयोः रुक्ख-लूढौ ॥ १२७ ॥

वृक्-क्षिप्तशब्दयो-र्यथाक्रमं ‘रुक्ख’ ‘लूढ’ इति वा स्तः ।
रुक्खो वच्छो, लूढं वित्तं, उच्छूढमुक्खित्तं ॥

वनिताया विलया ॥ १२८ ॥

वनिताया विलया वा, विलया वणिआ ततः ।

गांणस्येपतः कूरः ॥ १२९ ॥

ईपच्छब्दस्य गांणस्य, कूरादेशो विज्ञापया ।
चिचव्व कूर-पिकेति, पक्वे स्याद् ‘ईसि’ निर्वृत्तम् ॥

स्त्रिया इत्थी ॥ १३० ॥

स्त्री-शब्दस्य भवेदित्थी वा, ‘इत्थी थी’ प्रयुज्यते ।

धृतेर्दिहिः ॥ १३१ ॥

धृतेर्वा दिहिरादेश-स्ततः स्यातां दिही धिई ।

मार्जारस्य मज्जर-वज्जरौ ॥ १३२ ॥

मार्जारस्य विकल्पेन स्यातां मज्जर-वज्जरौ ।
मज्जरो वज्जरो, पक्वे मज्जारो चाऽभिधीयते ।

वैडूर्यस्य वैरुलिभं ॥ १३३ ॥

वैरुलिभ इत्यादेशो, वा वैडूर्यस्य स्यात् ततः ।
वैरुलिभं वैरुजं च, द्वयं सिद्धिं समश्नुते ।

[१] घस्य व्यत्यये कृते पदादित्वाद् हो न प्राप्नोतीति हक-
रणम् । [२] “ललाटे च” [१२५७] इति आदेशस्य ण-
विधानादिह द्वितीयो लः स्थानी ।

एरिह एत्ताहे इदानीमः ॥ १३४ ॥

इदानीमो भवेद् एरिह, एत्ताहे च विकल्पनात् ।
इआरिण एरिहम् एत्ताहे, त्रयं चैतत् प्ररूपितम् ।

पूर्वस्य पुरिमः ॥ १३५ ॥

पूर्वस्य पुरिमो वा स्यात्, पुर्वं च पुरिमं तथा ।

त्रस्तस्य हित्थ-तट्ठौ ॥ १३६ ॥

त्रस्त-शब्दस्य वा स्यातां, हिट्ठ-तट्ठौ विकल्पनात् ।

हित्थं तट्ठं च तत्थं च, त्रयं सिद्धिं समश्नुते ॥

बृहस्पतौ बहो जयः ॥ १३७ ॥

बृहस्पतौ बहस्य वा भयो निगद्यते पदे ।

भयस्सई जयप्फई भयप्फई ततो भवेत् ।

बहस्सई बहप्फई बहप्फई च पाक्षिकम् ।

इदुच्च यत्र 'वा बृहस्पतौ' (१ । १३८) इति प्रदर्शितौ ।

विहस्सई विहप्फई विहप्फई बृहस्सई ।

बृहप्फई बृहप्फई च तत्र यान्ति सिद्धिताम् ।

मल्लिनोजय-शुक्ति-लुप्ताऽऽरब्ध-पदातेर्मज्ञाबह-

सिप्पि-ठिका-ठत्त पाइक्कं ॥ १३८ ॥

मल्लिनादेर्मज्ञादिरादेशो वा विधीयते ।

मल्लिनं-मल्लिणं मल्लं, उभयं-अबहं च उवहमिति केचित् ।

शुक्तिः-सिप्पी लुत्ती, लुत्तः-ठिको च लुत्तो च ॥

आरब्धश्चादत्तो आरब्धो वा, पदातिरिति तु पदम् ।

पाइक्को च पयाई, 'उभयोऽकालं' जवेदार्ये ।

दंष्ट्राया दाढा ॥ १३९ ॥

दंष्ट्रा-शब्दस्य दाढा स्यात्, संस्कृतेऽप्ययमिष्यते ।

बहिसो बहिं-बाहिरौ ॥ १४० ॥

'बहिं बाहिरमित्येतौ' स्थाने द्वौ बहिसो मतौ ।

अथसो हेडं ॥ १४१ ॥

हेड इत्ययमादेशोऽधसो, हेडमतो भवेत् ।

मातृ-पितुः स्वसुः सिआ-ठौ ॥ १४२ ॥

मातुः पितुः परः स्वसु-शब्दः, तस्य सिआ च छा ।

स्याद् माउच्छा माउसिआ, पिउच्छा च पि (उ) ऊसिया ।

तिरिचस्तिरिच्छिः ॥ १४३ ॥

तिरिच्छिस्तिरिचः स्थान आदेशो विनिगद्यते ।

'तिरिच्छि पेच्छइ' आर्ये-'तिरिआ' ऽपि प्रयुज्यते ॥

गृहस्य घोरोऽपतौ ॥ १४४ ॥

गृहस्य घर आदेशः, पतिशब्दः परो न चेत् ।

घर-सामी, राय-घरं पत्न्यौ-गहवई पुनः ॥

शीलाद्यर्थस्येरः ॥ १४५ ॥

शील-धर्म-साध्वर्थे यो, विहितः प्रत्ययो भवेत् ।

इर इत्ययमादेशः, तस्य स्थाने विधीयते ॥

हासशीलस्तु-इसिरो, रोविरो लज्जिरो तथा ।

जम्पिरो वेविरो ऊस-सिरो च जमिरो ऽपि च ॥

तून एव इरं केचिदिच्छान्ति, नमिराऽऽद्यः ।

तेषां मते न सिध्यन्ति, तूना बाधाऽत्र रादिना ॥

क्त्वस्तुमत्तूण-तुआणाः ॥ १४६ ॥

'तुम-अत्-तूण-तुआणाः' स्युः, स्थाने क्त्वाप्रत्ययस्य तु ।

(तुम) मोत्तुं (अत्) जमिअ (तूण) काऊण,
कट्टा-ऽऽयें (तुआण) जेतुआण च ।

इदमर्थस्य केरः ॥ १४७ ॥

प्रत्ययस्येदमर्थस्य, 'केर' आदेश इष्यते ।

तुम्हकेरो अम्हकेरो, युष्मदीयाऽस्मदीययोः ।

न स्यात् 'मईअ-पक्खे' तु 'पाणिणीया' इहापि च ।

पर-राजज्यां क-मिकौ च ॥ १४८ ॥

प्रत्ययः पर-राजभ्या-मिदमर्थः परोऽस्तु यः ।

तस्य स्थाने भवेतां तु, क-डिकौ केर इत्यपि ॥

परकीयं तु पारक्कं, परक्कं पारकेरअं ।

राजकीयं तु राइक्कं रायकेरं च पठ्यते ।

युष्मदस्मदोऽत्र एच्चयः ॥ १४९ ॥

यः परो युष्मदस्मदज्यां प्रत्ययोऽऽज्जमर्थकः ।

एच्चयस्तस्य, युष्माकमिदं यौष्माकमित्यदः ।

तुम्हेच्चयं स्याद्, आस्माकं जवेदम्हेच्चयं तथा ।

वतेर्वः ॥ १५० ॥

प्रत्ययस्य वतेर्वः स्याद्, 'मुहुरव्व' निदर्श्यते ।

सर्वाङ्गादीनस्येकः ॥ १५१ ॥

सर्वाङ्गात् 'सर्वादेः पथ्यङ्गे' [हेम० ७ । १] त्यादिना य ईनऽस्ति ।

तस्येकः स्यात्, सर्वा-ङ्गीणः-सर्व्वङ्गिओ गदितः ।

पथो णस्येकद् ॥ १५२ ॥

"नित्यं णः पन्थश्च" [हि० ६ । ४] सूत्रेणैतेन यः पथो णः स्यात् ।

तस्येकद् करणीयः, पान्थः पहिओ ततो भवति ।

ईयस्यात्मनो णयः ॥ १५३ ॥

आत्मनः पर ईयो यो, णयादेशोऽस्तु तस्य तु ।

आत्मीयं पठ्यते तेन, बुधेरऽण्णयं पदम् ।

त्वस्य डिमा-त्तणौ वा ॥ १५४ ॥

त्व-प्रत्यस्य वा स्यातां 'दिमा' 'त्तण' इमौ क्रमात् ।

पीणिमा पुप्फिमा, पीणत्तणं पुप्फत्तणं तथा ।

पक्के पीणत्तं पुप्फत्तं, एवमन्यत्तिदर्शनम् ।

इच्चः पृथ्यादि-शब्देषु नियतत्वादयं विधिः ।

तदन्यप्रत्ययान्तेषु साम्प्रतं तु विधीयते ।

पीनता 'पीणया' चेहाऽन्यभाषायां तु 'पीणदा' ।

तेनेह 'दा' तल्लः स्थाने, आदेशो न विधीयते ।

अनङ्गोठात् तैलस्य नेल्लः ॥ १५५ ॥

अङ्गोठवर्जितात् शब्दात्, 'डेल्लः' तैलस्य कथ्यते ।

ककुपल्लं, न चाऽङ्गोष्ठतेल्लमत्र प्रवर्तते ।

यत्तदेतदोत्तोरित्तिअ एतल्लक्कं च ॥ १५६ ॥

इत्तिओ यत्तदेतदभ्यः स्याद् गावादरतोऽरिह ।

परिमाणार्थकस्याऽऽदेशो, लुक् स्यादेतदोऽपि च ।

एतावत् इत्तिअं, तावद् यावत् तित्तिअं जित्तिअं ।

इदंकिमश्च नेत्तिअ-डेत्तिल-नेहहाः ॥ १५७ ॥

शब्दज्यो यत्तदेतदभ्यः किमिदंभ्यां च यः परः ।

अतुर्वा भवतुर्वा स्यात् तस्य स्थाने नित्तयः ।

डेहहो नेत्तिओ डेत्तिलो, भवेदेतदभ्यं लुक् ।

एत्तिअं एत्तिलं एहहं स्यादियत् ।

केत्तिअं केत्तिलं केहहं स्यात् कियत् ।

जेत्तिअं जेत्तिलं जेहहं यावतः ।

तेत्तिभं तेत्तिलं तेदहं तावतः ।
 पत्तिभं पत्तिलं पधमेतावतः ।
 एदहं, चेदशं सुरिजिर्ग्राहतम् ॥
 कृत्वसां हुत्तं ॥ १५८ ॥
 “वारे कृत्वस्” [हिम०७।२] हि सूत्रेण यः कृत्वस्प्रत्ययः कृतः ।
 तस्य स्थाने भवेद् ‘हुत्तं’ ‘सयहुत्तं’ निदर्शनम् ।
 कथं प्रियाजिमुखं तु ‘पियहुत्तं’ प्रयुज्यते ? ।
 हुत्तेनाभिमुखार्थेन रूपसिद्धिर्न विन्यति ।
 आदिबल्लोद्वाला-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा मतोः ॥ १५९ ॥
 आलुर, इल्लो, मणो, वन्त-आल-उल्ल-इरः, तथा ।
 इत्तो, मन्तो, यथालक्ष्यं, नवाऽऽदेशा मतोः स्मृताः ।
 (आलु) नेहालु च दयालु (इल्ल) सोहिल्लो भवति जामइल्लो च ।
 (उल्ल) मंसुल्लो दप्पुल्लो (आल) तथा जमालो च सहालो ॥
 (वन्त) धणवन्त-भत्तिवन्तो (मन्त) हणुमन्तो भवति पुणमन्तो च ।
 (इत्त) कन्वइत्तो माणइत्तो (इर) गन्विरो रेहिरो भवेत् ।
 (मण) स्याद् ‘धणमणो,’ केषांचिद्, मादेशाद् हणुमा मतः ॥ [१]

चो दो तसो वा ॥ १६० ॥

प्रत्ययस्य तसः स्थाने ‘चो’ ‘दो’ वा भवन्तो, यथा ।

सञ्चत्तो सञ्चदो, पक्के भवेद् रूपं तु सञ्चओ ।

त्रपो हि-इ-त्याः ॥ १६१ ॥

प्रत्ययस्य त्रपः स्थाने हि-इ-त्याः स्युरिमे त्रयः ।

निदर्शनं यत्र-तत्र-कुत्राणामिह दृश्यताम् ।

जहि वा जह वा जत्थ, तत्थ वा तहि वा तह ।

कहि वा कह वा कत्या-ऽपत्थ वाऽपत्तिहि वाऽपत्तह ।

वैकादः सि सिअं इआ ॥ १६२ ॥

एक-शब्दात् परो यो दा-प्रत्ययस्तस्य वा त्रयः ।

‘इआ सिअं सि’ इत्येते, आदेशाः स्युर्यथाक्रमम् ॥

स्यादेकदा ‘एकसिअं’, तथा ‘एकसिआ’ऽपरम् ।

‘एकसि’ त्रितयं चैतत्, पक्के स्याद् ‘एगया’ पदम् । [२]

निह्ल-डुल्लौ नवे ॥ १६३ ॥

नाह्नः परौ डिह्ल-डुल्लौ, भवेऽर्थे प्रत्ययौ नितौ ।

गामल्लिआ, उशन्त्यन्ये, आत्वाद्यौ [२।१५६] प्रत्ययावपि । [३]

स्वार्थे कश्च वा ॥ १६४ ॥

स्वार्थे को डिह्ल-डुल्लौ च, नितौ वा प्रत्ययास्त्रयः ।

चन्दओ इहयं, क्वापि द्वित्वं- बहुभ्यं यथा ।

ककारोच्चारणं पैशाचिकभापार्थमिष्यते ।

यथा वतनकं, इह्ल इतोऽप्रे लक्ष्यते स्फुटम् ।

पुरा पुरो-चा ‘पुरल्लो’ ‘पल्लविह्लेण’ इत्यपि ।

उल्लः-पिउल्लओ इत्थुल्ला मुहुल्लं त्रयं मतम् ।

पत्तं-चन्दा इह बहु बहुअं मुहमित्यपि ।

स्यात् कुस्तादिविशिष्टे तु ‘कप्’ संस्कृतवेदेव च ।

यावद्विह्लक्षणः कस्तु, नियतस्थान इष्यते ।

ह्यो नवैकाद्वा ॥ १६५ ॥

नवादेकाश्च वा स्वार्थे संयुक्तां ‘ह्यो’ प्रवर्तते ।

ततो नवल्लो एकल्लो, एओ एको नवोऽपि वा ।

सेवादित्वात् (२।६६) कस्य द्वित्वे ‘एकल्लो’ सिद्धिसृजति ।

[१] मतोरिति किम् ? धणी, अत्थिआं । [२] एकइआ ।

[३] पुरिल्लं, हेडिल्लं, ववरिल्लं, अप्पुल्लं ।

उपरेः संव्याने ॥ १६६ ॥

संव्यानेऽर्थे स्थितात् स्वार्थे ह्यो भवेद् उपरेरिह ।

‘अवरिल्लो’ ‘उरि’ रूपमसंव्याने प्रतिष्ठितम् ।

भुवो मया नमया ॥ १६७ ॥

स्वार्थिकौ प्रत्ययौ स्यातां, भूशब्दाद् डमया मया ।

भुमया भमया चेमौ, शब्दौ सिद्धिमवाप्नुतः ।

शनैमो मिअम् ॥ १६८ ॥

शनैश्शब्दाद् भवेत् स्वार्थे, डिअम् तु ‘सणिअं’ यथा ।

मनाको नवा डयं च ॥ १६९ ॥

डयम् मिअम् च वा स्वार्थे, मनाकशब्दादिमौ यथा ।

मण्यं मणिअं पक्के ‘मणा’ इत्यपि सिध्यति ।

मिश्राह्लादिअः ॥ १७० ॥

मिश्र-शब्दात् तु वा स्वार्थे, ‘नाह्लिअः’ प्रत्ययो भवेत् ।

मीसाह्लिअं तथा पक्के, ‘मीसं’ इत्यपि दृश्यते ।

रो दीर्घात् ॥ १७१ ॥

स्वार्थे दीर्घात् परो वा रः, दीहरं दीहमित्यपि ।

त्वादेः सः ॥ १७२ ॥

‘भावे त्वतल्’ (हेम०७।१) हि सूत्रेण, यः त्वाऽऽदिर्विहितस्ततः ।

स्वार्थे स एव त्वादित्वा, भवेदित्युपदिश्यते ।

मृष्टकत्वेन ‘मउअसयाइ’ अनुवाद्यन्त ।

स्यात् कणिट्टयरो जिट्टयरो रूपं पृथग्विधम् ।

विद्युत्पत्र-पीतान्धाह्लः ॥ १७३ ॥

वा विद्युत्पत्रपीतान्धशब्देभ्यः स्वार्थिकोऽस्तु लः ।

विज्जुला पत्तलं भन्धल्लो च पीवल पीअलं ।

पक्के विज्जू च पत्तं च पीअं ‘अन्धो’ चतुष्टयम् ।

यमलस्य संस्कृतस्य ‘जमलं’ रूपमिष्यते ।

गोणादयः ॥ १७४ ॥

गोणादयो निपात्यन्ते, बहुलं ह्रस्वदर्शनात् ।

गोणो गावी च गौर्वाक्यो, गावीओ गाव उच्यते ।

वड्लो तु वड्डीवर्दः, आळ आप इतीरितः ।

‘पञ्चावणा पणपप्पा’ पञ्चपञ्चाशद्विष्यते ।

तेवणा तु त्रिपञ्चाशत्, तेआलीसा त्रिवेदमित् * ।

विअसगो तु व्युत्सगः, वोसिरणं व्युत्सर्जनम् ।

‘वहिडा’ इत्ययं शब्दो वहिवां मैथुनार्थकः । [१]

‘णामुक्कासिअम्’-इत्येतत् कार्यं, कथम् तु कचित् ।

मुव्वहइ उद्धति, अपस्मारस्तु वम्हल्लो ।

कन्दुट्टं उत्पन्नं, धिक्कधिक्क मिळि मिळि च पठ्यते ।

‘धिगस्तु’ वाक्यमित्येतद् धिरस्य प्रतिभयते ।

पमिसिद्धी पाडिसिद्धी, प्रतिस्पर्धाऽभिधीयते ।

चच्चिकं स्यासकः, साक्षी सन्निधो, जन्म जम्मणं ।

निहेल्लणं तु निलयः, मघोणो मघवानिति ।

महान् महन्तो, आसीसा आशीरिति, भवान् पुनः ।

भवन्तो कुत्तचित् स्यातां इकारस्य डुमौ, यथा ।

वृहत्तरं वड्डयरं, स्याद् हिमरो मिमोरओ ।

ह्लस्य ह्यो दृश्यते क्वापि, कुल्लकः खुल्लओ यथा ।

‘घायणो’ गायनो, उकारडम्-‘अत्थक्कं’ च, वरो ‘वडो’ ।

लज्जावती च लज्जालुडणी फकुदमित्यपि ।

* विचत्वारिंशदित्यर्थः । [१] वहिस्तादयवा मैथुनम् ।

ककुधं, कडुमित्येतत् कुतूहलपदस्य तु ।
 चूता भवति मायन्दो, 'आगया'-असुराः तथा ।
 माकन्दः संस्कृतेऽपि स्यात्, भट्टिभो विष्णुरुच्यते ।
 इमशानं करसी, खेलं खेडुं, अल्लं दिनं तथा ।
 पौष्पं रजस्तु 'तिङ्गिच्छि', समर्थः पक्कलो, वली ।
 उज्जल्लो, पण्णको णेलच्छो, शाखा साहुली मता ।
 कर्पासः पहली, ताम्बूलं मतं ऊसुरं इह ।
 पुंश्चलीं छिडई, चैवं सन्ति वक्ष्याणि भूरिशः ।
 वाऽधिकारात्तु पक्केऽत्र यथादर्शनमिष्यते ।
 तेन गौः- 'गडओ' ईदृशं चापि प्रयुज्यते ।
 गोला गोआवरी चेमौ, गोला-गोदावरी-भवौ ।
 भाषाशब्दाश्च सन्तिह वहवस्तान् ब्रवीम्यहम् ।
 आहित्यो लल्लकको, विट्टिर-पच्चड्डिओ च उज्जल्लो ।
 उप्पेहरु-विहरुप्फरु-मरुप्फरो अट्टमट्टो च ।
 पड्डिच्छिर-इल्लप्फल इत्याद्या भूरेशाऽभिधाशब्दाः [१] ।
 अवयासइ कुम्फुल्लइ, उप्फादेई क्रियाशब्दाः ।
 अत एव कृष्ट-वृष्ट-वाक्य-विद्वत्प्रचेतसाम् ।
 वाचस्पति-प्रोक्त-प्रोत-विष्टरश्रवसां तथा ।
 अग्निचित्-सोमसुत्-सुगल-सुम्बादीनां च नृयसाम् ।
 क्रियादिप्रत्ययान्तानामनुक्तानां तु सूरिभिः ।
 प्रतीतिवैषम्यपरः, प्रयोगो न विधीयते ।
 किंतु शब्दान्तरैरेव, तदर्थोऽत्राऽभिधीयते ।
 वाचस्पतिगुरुः, कृष्टः कुशलो, विष्टरश्रवाः ।
 हरिरित्यादिवद् द्वेष्टो, भवेत् पर्यायसंभवः ।
 सोपसर्गस्य घृष्टस्य, प्रयोगः क्रियते बुधैः ।
 परिघट्टं निहट्टं चेत्येवमादि निदर्शनम् ।
 आर्ये यथादर्शनं तु, न विरुद्धं किमप्यतः ।
 'घटा मठा विउसा, 'तथैव 'सुअ-लक्खणाणुसारेण' ।
 'वक्कन्तरेसु अ पुणो, ' इत्याद्यार्यं विजानीयात् ।

अव्ययम् ॥ १७५ ॥

अव्ययमित्यधिकार आपादपरिपूरणात् ।
 इतः परं ये वक्ष्यन्ते, ते सर्वेऽप्यव्ययाभिधाः ।

तं वाक्योपन्यासे ॥ १७६ ॥

तमिति वाक्योपन्यासे, प्रयोक्तव्यं यथाविधि ।
 'तं तिअस-वन्दिमोक्खं' एवं सर्वत्र बुध्यताम् ।

आम अज्युपगमे ॥ १७७ ॥

आम-शब्दोऽज्युपगमे, वाच्ये साधु प्रयुज्यताम् ।
 तद्यथा- 'आम वहला वणोली' ईदृगुच्यते ।

णवि वैपरीत्ये ॥ १७८ ॥

णवीति वैपरीत्ये स्यात्, तथाहि- 'णवि हा वणे' ।

पुणरुत्तं कृतकरणे ॥ १७९ ॥

'पुणरुत्तम्' इतिशब्दः, कृतकरणेऽर्थे प्रयुज्यते हि, यथा- ।
 'अइ सुप्पइ पंसुलि ! णोसहेहि अङ्गेहि पुणरुत्तं' ॥ [७]

हन्दि विषाद-विकल्प-पश्चात्ताप-निश्चय-सत्ये ॥ १८० ॥

विषादे निश्चये सत्ये, पश्चात्तापे विकल्पने ।

[१] इत्यादयो महाराष्ट्रविद्वद्भादिदेशप्रसिद्धा लोकतोऽव-
 गन्तव्याः । [२] हे पांसुले ! त्वं निःसहैरङ्गैः पुनरुत्तं [वारं
 वारं] स्वपिपि ।

'हन्दि' शब्दः प्रयुज्येत, वक्ष्यमेतद् निश्चयताम् ।

"हन्दि चलणे णओ सो, ण माणिओ हन्दि हुज्ज एत्ताहे
 हन्दि ण होही भणिरी, सा खिज्जइ हन्दि तुह कज्जे" । [१]

हन्दि च गृहाणार्थे ॥ १८१ ॥

'हन्दि' 'हन्दि' इमौ शब्दौ गृहाणार्थस्य वाचकौ ।

यथा- 'हन्दि पलोणसु इमं' हन्दि गृहाण च ।

मिव पिव विव व्व व विअ इवार्थे वा ॥ १८२ ॥

'मिव-पिव-विअ-विव-व-व्वा' अमी इवार्थे च वा प्रयुज्यन्ते ।

कुसुमं मिव, हंसो विव, कमलं विअ, चन्द्रणं पिव च ।

सेसस्स व निम्मोओ, खीरोओ सायरो व्व, पक्के तु ।

नीहुप्पलमावा इव, दिशाऽनया त्वन्यदपि बोध्यम् ।

जेण तेण दक्षणे ॥ १८३ ॥

जेण तेण इत्येतौ, सदा दक्षणे बुधैः प्रयोक्तव्यौ ।

जेण भमररुअं कमलं, 'भमररुअं तेण कमलवणं' ।

एइ चेअ चिअ च अवधारणे ॥ १८४ ॥

'एइ चेअ च चिअ' इमे-ऽवधारणेऽर्थे यथा- 'गईए एइ' ।

जं चेअ मज्जलणं दो-अणाण, ते जेअ सप्पुरिसा ॥

अणुवरुं तं चिअ का-मिणीण, सेवादिदर्शनाद् द्विवे ।

'ते ज्जिअ धन्ना' इत्यपि, स च्च ग्र रूवेण, स च्च सीत्तेन ।

वज्जे निर्धारण-निश्चययोः ॥ १८५ ॥

निर्धारणे निश्चये, 'वले' इतीदं, यथा- 'वज्जे सीहो' । [७]

अथि वज्जे सप्पुरिसो, धणंजओ खत्तिआणं तु । [३]

किरेर हिर किलार्थे वा ॥ १८६ ॥

'किर इर हिर' इत्येते, त्रयः किलार्थे हि वा प्रयुज्यन्ते ।

एते सौदाहरणाः, कथ्यन्ते तेऽवगन्तव्याः ।

'कल्लं किर खर-हिअओ' 'एवंकिल तेण सिविणए ज्ञणिआ' ।

'तस्स इर,' 'पिअ-वयंसो हिर' किल-शब्दोऽपि वा वाच्यः ।

णवरं केवले ॥ १८७ ॥

णवरं तु केवलाय, 'णवरं' 'नवरं' च कुत्रचिद् दृष्टम् ।

'णवरं पिआइ चिअ णि-व्वडन्ति' चैवं प्रयोक्तव्यम् ।

आनन्तर्ये णवरि ॥ १८८ ॥

आनन्तर्ये 'णवरि' प्रयुज्यते, तन्निर्दर्शनं चैतत् ।

'णवरि अ से रहु-वइणा,' 'णवरणवरि' सूत्रमेकेषाम् । [४]

अवाहि निवारणे ॥ १८९ ॥

अर्थे निवारणे 'ऽलाहि,' सुधोभिः समुदीरितम् ।

अवाहि किं वाइण, वेहेणेति निदर्शयते ।

अण णाई नवर्ये ॥ १९० ॥

'अण, णाई' इत्येतौ, बुधैर्नजोऽर्थे परं प्रयुज्यते ॥

अणचिन्तिअममुणन्ती, 'णाई रोसं करेमि' यथा ।

माई माऽर्थे ॥ १९१ ॥

'माई रोसं तु काहीअ,' अत्र माई तु माऽर्थकः ।

[१] हन्दि [विषादे] चरणे नतः सः, न मानितो हन्दि [वि-
 कल्पे] भविष्यति इदानीम् (नवा) । हन्दि [पश्चात्तापे] न प्र-
 विष्यति भणिरी [जगन्शीला] सा खिद्यते हन्दि [सत्यम्] तत्र
 कार्ये । [२] निश्चये-सिंह एवायम् । [३] निर्धारणे । [४]
 केचित्तु केवदानन्तर्यार्थयोः 'णवर-णवरि' इत्येकमेव सूत्रं कुर्व-
 ते, तन्मते उभावप्युभयार्थौ ।

हृषी निर्वेदे ॥ १७९ ॥

‘हृषी’ इति निर्वेदे, हाधिक-शब्दस्य भवति वाऽऽदेशः ।

तस्माद् ‘हृषी इक्षी’ तथा च ‘हा धाह धाह’ इति ।

वेवे भय-वारण-विपादे ॥ १७९ ॥

भय-वारण-विपादेषु, ‘वेवे’ इत्यभिधीयते ।

‘वेवे’ स्ति भयं वेवे, स्ति वारणे जूरेण अ वेवे स्ति ।

उल्लाविरीड धि तुहं, वेवे स्ति मयच्छि ! किं शेषं ? ॥

किं उल्लावेन्तीए उअ जूरन्तीए किं तु जीआए ।

उल्लाविरीए वेवे स्ति तीए भणिअं न विमहरिमो” [१] ॥

वेव च आमन्त्रणे ॥ १८० ॥

वेवे वेव च आमन्त्रणे, यथा-भवति ‘वेव गाले’ वा ।

‘वेवे मुरन्दे वह-सि पाणिअं’ चेदं वाक्यम् ।

मामि हला हले सख्या वा ॥ १८१ ॥

‘हला मामि, हले’ चेत सख्या आमन्त्रणे तु वा ।

पणवह माणस्स हला, ‘मामि’ दु सरिसक्खराणं ‘वि’ च कथितम् ।

‘हले हयास्स’ तथा, पक्के-‘सहि एरिसि’ चिअ गई’ तु ।

दे संमुखीकरणे च ॥ १८२ ॥

‘दे’ तु संमुखीकरणे, सख्या आमन्त्रणे च वक्तव्यम् ।

‘दे’ पसिअ ताव सुन्दरि’ ! ‘दे आ खु पसिअ निभत्तसु च ॥

हुं दान-पृच्छा-निवारणे ॥ १८३ ॥

स्याद् ‘हुं’ निवारणे दाने, पृच्छायां चापि, तद्यथा-

‘अप्पणो चिअ हुं गेरह’ ‘हुं निर्लेज्ज ! समोसर ।

‘हुं च साहसु सज्जाव, एवमादि निदर्शनम् ।

हु खु निश्चय-वितर्क-संभावन-विस्मये ॥ १८४ ॥

‘हु’ ‘खु’ निश्चय-संभावन-वितर्क-विस्मय-पदेषु वक्तव्यौ ।

(निश्चये) ‘तं पि हु अच्चिअसिरी’, ‘तं खु सिरीए रहस्सं च’ ।

ऊहसंशयौ द्वावपि, वितर्क-वाच्यौ (ऊहे) हसह खु पअं सा ।

‘न हु णवरं संगीहआ’ (संशये) खु जलहरो धूमवडलो खु ॥

(संभावने) ‘एअं खु हसह’ इत्यपि, ‘णवर इमंण हु तरीअं’ च ।

(विस्मये) को खु सहस्ससिरो, हुनाऽनुस्वारात् परो वाच्यः ।

ऊ गर्हाऽऽक्षेप-विस्मय-सूचने ॥ १८५ ॥

‘ऊ’ गर्हा-विस्मयाऽऽक्षेप-सूचनेषु प्रयुज्यते ।

(गर्हा) ‘ऊ णिल्लज्ज’ (सूचने) ‘ऊ केण, न विण्णायं गुणं तुह’ ।

(आक्षेपे) ‘ऊ मए भणिअं किं खु’ (विस्मये) ‘ऊ मुणिआऽहयं कह’ ।

आक्षेपः सोऽत्र, वाक्यस्य यद् विपर्यासचारणम् ।

थू कुत्सायाम् ॥ १८६ ॥

कुत्सायां थू, यथा-‘लोओ निल्लज्जो थू’ प्रयुज्यते ।

रे अरे संभाषण-रतिकलहे ॥ १८७ ॥

संभाषणे तु ‘रे’ स्यात्, रतिकलहे संप्रयुज्यते च ‘अरे’ ।

रे हिअय ! मडह-सरिआ, ‘अरे मए मा करेसु उवहासं’ ।

हरे क्षेपे च ॥ १८८ ॥

[१] वेवे इति भये वेवे इति वारणे जूरेण [खेदे] च वेवे इति । उल्लापयन्त्या अपि (मया) तव वेवे इति मृगाकि ! किं ज्ञेयम् । किं उल्लापयन्त्या उत जूरन्त्या किंतु भीतया । उद्व-
दन्त्या (निपेधं कुर्वन्त्या) वेवे इति तथा ज्ञपितं न विसरामः ।

क्षेपे रतिकलहे संभाषणविषये च कथ्यते तु ‘हरे’ ।

(क्षेपे) हरे णिअज्ज ! (रतिकलहे) हरे बहु-
वहह ! दुज्जण ! (संभाषणे) हरे पुरिसा ! ।

ओ सूचना पश्चात्तापे ॥ १८९ ॥

सूचनायां तथा पश्चात्तापे ‘ओ’ इति पठ्यते ।

‘ओ अविण्य तत्तिहे’ (पश्चात्तापे) ‘ओ छाया इत्तिआप न’ ।

उतस्य तु विकल्पाधेवाचकस्यापि ‘ओ’ भवेत् ।

यथा ‘नहयले ओ विरपमीति’ निगद्यते ।

अव्वो सूचना-दुःख-संभाषणापराध विस्मयानन्दादरभय-
खेद-विपाद-पश्चात्तापे ॥ १९० ॥

अव्वो दुःखे सूचनायामपराधे च विस्मये ।

संभाषणे भये खेदे, पश्चात्तापविपादयोः ।

आनन्दादरयोश्चापि प्रयोक्तव्यं हि, तद्यथा ।

[१] अव्वो पुकरधारय ! (२) अव्वो हिययं ददन्ति वयणाणि ।

[३] अव्वो किमिणं किमिणं, अपराधे विस्मये तु यथा-

[४] * अव्वो हरन्ति हिअयं, तह वि न वेसा हवन्ति जुवईण ।

[५] अव्वो किपि रहस्यं, मुणन्ति धुत्ता जणभदिआ ॥

[६] अव्वो सुपहायमिणं (७) अव्वो अज्जम्ह सप्पलं जीअं ।

[८] अव्वो अइअमि तुमे, नवरं जइ सा न जूरिहइ ॥

[९] अव्वो न जामि वेत्तं, पश्चात्तापेऽभिधीयते तु यथा ॥

[१०] “अव्वो तह तेण कया, अहयं जह कस्स साहेमि” ? ।

[११] * “अव्वो नासेन्ति दिहि, पुलयं वट्टेन्ति देन्ति रणरणयं ।

एहिह तस्सेअ गुणा, ते चिअ अव्वो कहणु एअं ? ।

अइ संभावने ॥ २०१ ॥

अइ संभावने, अइ दिअर ! किं न पेच्छसि ? ।

वणे निश्चय-विकल्पानुकम्प्ये च ॥ २०२ ॥

संभावनेऽनुकम्प्ये च विकल्पे निश्चये वणे ।

[निश्चये] वणे देमि ‘वणे होइ, न होइ’ स्याद् विकल्पने ।

दासो न मुचइ वणे, अनुकम्प्यो न मुच्यते ।

[संभावने] ‘नत्थि वणे जं न देइ’ विहि परिणामो’ यथा ।

मणे विमर्शे ॥ २०३ ॥

मणे विमर्शे, ‘मन्ये’ इत्यर्थेऽपीच्छन्ति केचन ।

किंस्वित् सूर्यो-‘मणे सूर्ये’ रूपमीदृश विदुर्बुधाः ।

अस्मो आश्चर्ये ॥ २०४ ॥

आश्चर्येऽर्थे भवेद् अस्मो, ‘अस्मो कह तरिज्जह’ ।

स्वयमोऽर्थे अप्पणो नवा ॥ २०५ ॥

[१] सूचनायाम् (२) दुःखे [३] संभाषणे [४]

अपराधे [५] विस्मये [६] आनन्दे (७) आदरे

[८] जये [९] खेदे [१०] विपादे [११] पश्चात्तापे ।

* अव्वो हरन्ति हृदयं तथाऽपि न द्वेष्या भवन्ति युवतीनाम् ।

अव्वो किमापि रहस्यं जानन्ति धूर्ता जनान्भयकाः ॥

x अव्वो नाशयन्ति धूर्तिं पुलकं वट्टयन्ति ददति रणरणकम् ।

इदानीं तस्यैव गुणा त एव अव्वो कथं नु एतत् ? ॥

‘ स्वयम् ’ इत्यस्य वाच्ये वा, ‘ अप्पणो ’ संप्रयुज्यते ।

‘ अप्पणो विसयं कम-लसरा विश्रसन्ति च ’ ॥

‘ करणिज्जं सयं चेअ, मुणसि ’ स्याद्धि पाक्षिकम् ।

प्रत्येकम् पाणिक् पाणिक् ॥ २१० ॥

प्रत्येकम् पाणिक्, पाणिक् च पदे भवेत् ।

पाडिक् पाडिक्, च पदे-‘ पत्तेअ-’मिप्यते ॥

उअ पश्य ॥ २११ ॥

‘ उअ ’ इत्यव्ययं पश्येत्यस्यार्थे वाऽजिधीयते ।

“उअ निच्चलणिप्फंदा जिसिणी-पत्तम्मि रेहइ वलाआ ।

निम्मल-मरगय-भायण-परिट्ठिआ सङ्ग-सुत्ति व्व” ॥ [१]

इहरा इतरथा ॥ २१२ ॥

‘ इहरा ’ इतरथाऽर्थे, प्रयोक्तव्यं विभाषया ।

‘ नीसामन्नेहि इहरा ’ पक्के-‘ इअरहा ’ इति ॥

एकसरिअं भगिति संप्रति ॥ २१३ ॥

सम्प्रत्यर्थे भगित्यर्थे स्याद् ‘ एकसरिअं ’ पदम् ।

मोरउद्धा मुधा ॥ २१४ ॥

‘ मोरउद्धा ’ इति पदं, मुधाऽर्थे प्रतिपाद्यते ।

दरार्थाल्पे ॥ २१५ ॥

‘ दर ’ इत्यव्ययम् ईषदर्थेऽर्थाय च पठ्यते ।

‘ दर-विअसिअं ’ ईषदर्थे विकसितं तथा ॥

किणो प्रश्ने ॥ २१६ ॥

‘ किणो ’ इत्यव्ययं प्रश्ने, ‘ किणो धुवसि ’ ईदृशम् ।

इ-जे-राः पादपूरणे ॥ २१७ ॥

इ-जे-रा इत्यमी शब्दा उच्यन्ते पादपूरणे ।

‘ न उणा इ च अच्चीइ ’ ‘ अणुकूलं च वोत्तुं जे ’ ॥

स्याद् ‘ गेणइइ र कल्लम-गोवी ’ वाक्ये र-पूरणम् ।

‘ अहो हंढो च हा हेहो, नाम हीसि अहाह च ॥

अहहाऽयि अरिहो ’ इत्याद्याः संस्कृतोपमाः ।

प्यादयः ॥ २१८ ॥

प्राकृते प्यादयः सर्वे, नियतार्थप्रवृत्तयः ।

प्रयोक्तव्याः, यथा-‘ पि ’ ‘ वि ’ अप्यर्थे परिकीर्तितौ ॥

या भाषा भगवद्वचोभिरगमद् ख्यातिं प्रतिष्ठां परां,

यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यमूनि निखिलान्येकादशाङ्गानि च ।

तस्याः संप्रति दुःषमारवशतो जातोऽप्रचारः पुनः

संचाराय मया कृते विवरणे पादो द्वितीयो गतः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ-

श्रीमद्भट्टारक-श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचि-

तायां प्राकृतव्याकृतौ द्वितीयः पादः ।

॥ * अहम् * ॥

॥ अथ तृतीयः पादः ॥

वीप्स्यात् स्यादेर्वीप्स्ये स्वरे मो वा ॥ १ ॥

‘ वीप्साऽर्थकात् पदात् स्यादेः स्थाने मः स्याद् विकल्पनात्

पदे स्वरादौ वीप्सायै परं, इत्युपदिश्यते ।

एकैकं स्यादेकमेकं, पक्के एकैकमिप्यते ।

अङ्गे अङ्गे तथा ‘ अङ्गमङ्गमि ’ प्रतिपाद्यते ।

अतः सेमोः ॥ २ ॥

नाम्नोऽदन्तात् जवेत् स्यादेः सेमो, ‘ वच्छो ’ यथा भवेत् ।

वैतत्तदः ॥ ३ ॥

एतत्तदोरतः स्यादेः सेः स्थाने ‘ मो ’ विकल्पनात् ।

‘ सो णरो ’ ‘ स णरो ’ ‘ एसो एस ’ चैवं निदर्शनम् ।

जशसोल्लुक् ॥ ४ ॥

नाम्नोऽदन्ताज्जगशसौ यौ स्यादिसम्बन्धिनौ, तयोः ।

लुग् जवेत् तद्यथा-‘ वच्छा एए ’ ‘ वच्छे पि पेच्छ ’ च ।

अमोऽस्य ॥ ५ ॥

अतोऽमोऽस्य लुगाक्ष्यो ‘ वच्छं पेच्छ ’ उदाहृतम् ।

टा-आमोर्णः ॥ ६ ॥

अतः परस्य ‘ टा ’ इत्येतस्याऽऽमश्चापि णो जवेत् ।

यथा-‘ वच्छेण वच्छाण ’ द्वयं सिक्किमुपागमत् ।

जिसो हि हिं हिं ॥ ७ ॥

भिसो ‘ हि हिं हिं ’ इत्येत आदेशाः स्युल्लयः क्रमात् ।

रूपं ‘ वच्छेहि वच्छेहिं वच्छेहिं ’ च बुधा जगुः ।

इसस् तो-दो-दु-हि-हिन्तो-ल्लुकः ॥ ८ ॥

अतो इसोऽमी स्युः तो-दो-दु-हि-हिन्तो-ल्लुकोऽत्र पद ।

‘ वच्छाहिंतो च वच्छतो वच्छा वच्छाव च क्वचित् ।

तथा वच्छाहि वच्छाओ दोऽन्यत्रार्थ इष्यते ।

ज्यसस् तो-दो-दु-हि-हिन्तो-सुन्तो ॥ ९ ॥

अतो ज्यसो भवेत् ‘ तो-दो-हिन्तो-सुन्तो-दु-हि ’ क्रमात् ।

यथा-वच्छाव वच्छाहि ‘ वच्छेहि ’ त्रयमीदृशम् ।

वच्छाहिन्तो वच्छेहिन्तो, वच्छासुन्तो वच्छेसुन्तो ।

वच्छतो वच्छाओ चैवं, रूपं विद्वद्भिरुक्तम् ।

इसः ससः ॥ १० ॥

अतः परस्य तु इसः संयुक्तः ‘ ससो ’ भवेदिह ।

यथा-पिअस्स पेम्मस्स, शैत्यमुपकुम्भं त्वदः ।

उवकुम्भस्स सीअलत्तणमित्यजिधीयते ।

मे म्मि हेः ॥ ११ ॥

अतः परस्य डेडित् मे, म्मिश्चाऽऽदेशौ यथाक्रमम् ।

वच्छे वच्छम्मि, देवम्मि देवं, तं तम्मि इत्यपि ।

द्वितीयेत्यादि [३।१३५] सूत्रेणाऽमः स्थाने डिर्विधास्यते ।

जस्-शस्-इसि-तो-दो द्वाभि दीर्घः ॥ १२ ॥

जस्-शस्-इसि-तो-दो-द्वामसु, स्यादकारस्य दीर्घता ।

[१-२] वच्छा [३] वच्छाव वच्छाओ, वच्छा, वच्छाहि वा पुनः

[१-२] जासि शसि च [३] इसि ।

[१] उअ इति पश्य इत्यर्थे, वलाका, विसिनीपत्रे कमलिनीपत्रे राजति । किंभूता वलाका?, निश्चलनिष्पन्दा, निश्चला वहिर्ग्रीवादिना, निष्पदाऽन्तरुच्छासादिना, केव?, निर्मलमरकतभाजनप्रतिष्ठिता शङ्खशुक्तिरिव ।

वच्छाहितो च, वृक्षेभ्यः वच्छसो ह्रस्व [१४] सूत्रतः ।
वच्छाभ्रो वच्छाउ [४।१६], आभि-रूपं 'वच्छाण' सिध्यति ।
उसिग्रहणैव सिद्धे, 'सो दो छु' - ग्रहणेन किम् ? ।
एत्वस्य बाधनार्थाय ज्यसि, तस्य ग्रहो मतः ।

ज्यसि वा ॥ १३ ॥

ज्यसादेशे परे दीर्घो, वाऽकारस्य विधीयते ।
यथा- 'वच्छाहि वच्छेहि', तथाऽन्यदपि बुध्यताम् ।

टाण-शस्पेत ॥ १४ ॥

टाऽऽदेशे-णै च, शसि च, भवत्येत्वमतो, यथा ।
[शस्] वच्छे पेच्छ, [टा-ण] च वच्छेण, ऐति किम् ? अ-
प्यणा यतः ।

भिस्यस्यसुपि ॥ १५ ॥

भिस-ज्यस-सुप्सु भवत्येत्वमतः, नदर्शयाम्यहम् ।
वच्छेहिन्तो च वच्छेहि वच्छेसु त्रयमीरितम् । [७]

इदुतो दीर्घः ॥ १६ ॥

इकारोकारयोर्दीर्घो भिस्-भ्यस्-सुप्सु परेषु च ।
गिरीहिं च गिरीहिन्तो, गिरीसु च तरुसु च ।
तरुहिं च तरुहिन्तो बुद्धीहिं, नापि कुत्रचित् ।
'दिश्रभूमिसु शणजसोऽहिभ्राइ' तु यादृशम् । [८]
चतुरो वा ॥ १७ ॥

उकारान्तस्य चतुरो जिस्-ज्यस्-सुप्सु परेषु वा ।
दीर्घो भवति, चउभ्रो चउभो, चउहिं च वा ।
चउहिं, चउसु स्याद् वा चउसु, इति बुध्यताम् ।

बुसे शमि ॥ १८ ॥

इदुतोः शसि बुसे तु दीर्घो भवति, तद्यथा ।
गिरी बुद्धी तरु घेणु पेच्छ, कैवं निदर्शनम् ।
'बुसे' इति किम् ? 'गिरिणो, तरुणो पेच्छ' यद् ज्ञेयम् ।
इदुनः किम् ? यथा- 'वच्छे पेच्छ' नास्त्यत्र दीर्घता ।
जस्-शस्-[३।२] इत्यादिना योगः शसि दीर्घस्य यः कृतः ।
सोऽस्ति लक्ष्यानुरोधाधो न सर्वत्र प्रयतते ।
णवि [३।२५] प्रतिप्रसवार्थ [३।२५] शङ्काया विनिवृत्तये ।
'बुसे' इति हि योगोऽस्ति, स भ्रमः सूक्ष्मदर्शिनः ।

अक्लीवे सौ ॥ १९ ॥

इदुतोः सौ भवेद् दीर्घः, स चाक्लीवे विधीयते ।
गिरी बुद्धी तरु घेणु, क्लीवे तु स्याद् दहिं महुं ।
विकल्प्य केऽपि दीर्घत्वं तदभावे वदन्ति च ।
समादेशः, यथा सिध्येत्-अग्निं वाडं निर्हिं विहुं ।

पुंसि जसो रुज रुचो वा ॥ २० ॥

इदुतः परस्य जसोऽत्र अत्रो पुंसि वा मितौ ।
अगगत्रो अगगत्र स्याताम्, 'अग्निणो' इति पाक्षिकम् ।
'वायत्रो वायत्र' प्राक्कैः 'वायत्रो' -ऽप्यनिवन्मतम् ।
शेषे त्वदन्तवद्भावाद् अग्नी वाऊ च सिध्यतः ।

वातो रुवो ॥ २१ ॥

उदन्तात् परस्य जसः, पुंसि वा 'ऽवो' द्विदिष्यते ।
साहवो, साहवो पक्के साहु साहव साहुणो ।

[४] सो [५] दो [६] छ [७] भिस्-वच्छेहि, वच्छेहिं,
वच्छेहिं । ज्यस्-वच्छेहि, वच्छेहिन्तो, वच्छेसुन्तो । सुप्-वच्छे-
सु । [८] द्विजभूमिषु दानजवाहितानि ।

जस्-शसोर्णो वा ॥ २२ ॥

इदुतः परयोः पुंसि जस्-शसोर्वाऽस्तु 'णो' इति ।
गिरिणो तरुणो, पक्के स्यातां रूपे 'गिरी तरु' । [१]

उसि-उतोः पुं-क्लीवे वा ॥ २३ ॥

इदुतो वा उसिउतोः, पुंसि क्लीवे च वाऽस्तु 'णो' ।
गिरिणो तरुणो रूपं दहिणो महुणो तथा ।

पक्के 'गिरीत्रो गिरीउ गिरीहिन्तो,' जन्या दिशा ।
अन्येषामपि रूपाणि, हि-लुको न प्रविध्यतः ।

उतो 'गिरिस्स' इत्येकं पक्के रूपं प्रयुज्यते ।

दो णा ॥ २४ ॥

इदुद्व्यां पुंसि क्लीवे च, 'टा' इत्यस्य तु 'णा' ज्ञेयम् ।
गिरिणा च गामणिणा, तरुणा दहिणा यथा ।

क्लीवे स्वरान्म मेः ॥ २५ ॥

क्लीवे स्वराणाद् नाम्नः सेः, स्थाने मो व्यञ्जनं भवेत् ।
दहिं महुं वाणं पेम्मं, केऽपीच्छन्त्यनुनासिकम् ॥ [२]

जस्-शस् ई-ई-णयः सप्राग्दीर्घाः ॥ २६ ॥

नाम्नः परयोर्जस्-शसोः क्लीवे ई-ई-णयस् त्रयः ।
एषु नन्तु भवेत् पूर्वस्वराणां दीर्घता, यथा ॥
घयणाई पङ्क्याई दहीई पङ्क्याणि च ।

स्त्रियामुदोतौ वा ॥ २७ ॥

नाम्नः परयोर्जशसोर् उदोतौ वा स्त्रियां मतौ ।
तयोस्तु परयोः पूर्वस्वरस्येष्टा च दीर्घता ॥
यथा बुद्धीउ बुद्धीमां, सहीओ च सहीउ च ।
पक्के बुद्धी सही चैवमन्येऽप्युणा विचारणात् ।

ईतः संश्चाऽऽवा ॥ २८ ॥

सेजश-शसोश्च वाऽऽकारः, स्त्रियामीतः परस्य तु ।
यथा एसा हसन्तीआ, गोरीआ सन्ति पेच्छ वा ।
पक्के हसन्ती गोरीओ, एवमन्यत्र बुध्यताम् ।

टा-ऊस्-डेरदादिदेद् वा तु ऊसः ॥ २९ ॥

नाम्नः परेषां स्त्रीलिङ्गे, टा-ऊस्-डीनां क्रमात् बुधैः ।
अद् आद् इद् एतद्व्यत्यारः, सप्राग्दीर्घाः प्रकीर्तिताः ।
कथलस्य ऊसः स्थाने, सप्राग्दीर्घो अमी तु वा ।

यथा मुद्धाम मुद्धाः मुद्धाप च कयं विभ्रं ।

कप्रत्यये मुद्धिआश्च, मुद्धिआश्च कथ्यते ।

एवं सहीओ धेरुओ बहुओऽऽदि प्रयुज्यताम् ।

मुद्धाहिन्तो च मुद्धाउ मुद्धाओ चेति पाक्षिकम् ।

शेषेऽदन्ता-[३।२४] तिदेशाद्धि, वा दीर्घत्वं जसादिना [३।२२]

नात आत् ॥ ३० ॥

स्त्रियामातः परेषां तु, उसिटाहि-ऊसां न चाऽऽत् ।

भवेद् 'मालाओ मालाह मालाप' चेति वै त्रयम् ।

प्रत्यये डीर्नवा ॥ ३१ ॥

अणादि [हेम०२।४] सूत्रतो यो डीरुक्तो, वा स स्त्रियामिह ।
आत् [हेम०२।४] इत्याप् च ज्ञेयम् पक्के, साहणी साहणा यथा ।

अजातेः पुंसः ॥ ३२ ॥

अजातिवाचिपुंल्लिङ्गात् स्त्रियां डीर्वा विधीयते ।

[१] जस्शसोरिति द्विन्वामिदुत इत्यनेन यथासंख्यामा-
वार्थम् । [२] दहिं, महुं । स्वरादिति इदुतो निवृत्त्यर्थम् ।

नीली नीला, हसमाणी हसमाणा, इमीए तु ।
स्याद् इमाए, इमीणं तु, इमाणं, अग्निधीयते ॥
अजातरिति किम् ? यद्वत् करिणी एवया अथा ॥
अप्राप्ते तु विभाषेयं, तेन संस्कृतवत् सदा ॥
गौरी 'कुमारी' इत्यादौ, वृधैर्डीः प्रविधीयते ॥

किं यत्तदोऽस्यमामि ॥ ३३ ॥

किं-यत्-तदून्यः स्त्रियां डीर्घा, न सौ आमि तथाऽमि च ॥
कीओ काओ कीसु कासु, कीए काए यथा किमः ॥
तथैव जीओ जाओ च, तीओ ताओ ऽस्ति यत्तदोः ॥
किमऽस्यमामि ? का जा सा कं जं तं, काण जाण च ॥

वाया-हरिजयोः ॥ ३४ ॥

छयाहरिद्रयोरापः, प्रसङ्गे डीर्विकल्प्यते ।
छाही वाया हलदी तु हलदा तेन भग्यते ॥

स्वसादेर्ना ॥ ३५ ॥

डाप्रत्ययः स्त्रियां स्वसादिभ्यः स्यात् तद्यथा ससा ॥
दुहिआ दुहिआहि च, नणन्दा गणआ तथा ॥

हसोऽमि ॥ ३६ ॥

स्त्रियां नाम्नोऽमि ह्रस्वः स्यात्, 'पेञ्ज मालं नहं बहु' ।

नामन्यात् सौ मः ॥ ३७ ॥

आमन्यार्थात् परे सौ तु, नैव 'क्लीवे स्वरान्मसेः' [३।३५] ।
इति सुत्रेण सेमो, हे तण ! हे दहि ! हे महु ! ।

मो दीर्घो वा ॥ ३८ ॥

आमन्यार्थात् परे सौ तु 'अतः सेमो' [३।२] अयं विधिः ।
'अक्लीवे सौ' [३।१६] चेति दीर्घः, द्वयं चैतद् विकल्प्यते ।
यथा-हे देव ! हे देवो ! हे हरी ! हे हरि ! द्वयम् ।
हे गुरु ! हे गुरु ! च, 'हे पदू हे पदू' इत्यपि ।
पशु प्राप्ते विकल्पोऽस्ति, अप्राप्ते त्विह दृश्यताम् ।
हे गोभमा ! हे गोभम !, हे हे कासव ! कासवा !

ऋतोऽद् वा ॥ ३९ ॥

ऋकारान्तस्य वाऽत्वं तु, भवेदामन्त्रणे हि सौ ।
हे पितः ! हे पिअ ततो, पक्के हे पिअरं मतम् ।

नामन्यरं वा ॥ ४० ॥

आमन्त्रणे सौ ऋतः, संज्ञायां वा 'अरं' भवेत् ।
स्याद् हे पितः ! हे पिअरं !, पक्के 'हे पिअ' इत्यपि ।
नाम्नीति तु किम् ? हे कतः !, हे कत्तार ! इति स्मृतम् ।

वाऽऽप ए ॥ ४१ ॥

आमन्त्रणे सौ परे स्याद्, आप एत्वं विभाषया ।
हे माले ! महिले !, पक्के-हे माला महिला ! मता ।
आपः किं तु ? हे पिउच्छा !, हे माउच्छा !, न चेह 'ए' ।
'अस्मो भणामि भणिए' आत्वं बाहुलकादिह ।

ईदूतोर्ह्रस्वः ॥ ४२ ॥

स्यादीदूदन्तयोर्ह्रस्वः, संबुद्धौ सौ परे यथा ।
हे गामणि ! हे समणि !, एवमन्यभिदर्शनम् ।

किपः ॥ ४३ ॥

ईदूदन्तस्य ह्रस्वः स्यात्, क्विन्तस्येति दृश्यताम् ।
गामणिणा खलपुणा, गामणिणो खलपुणो ।

ऋतामुदस्यमौसु वा ॥ ४४ ॥

सि-अस्-औ-वर्जिते स्यादौ ऋदन्तानाम् उद् अस्तु वा ।
जसि 'भत्तू भत्तुणो च जत्तओ भत्तड' स्मृतम् ।
भत्तारा पाक्षिकं रूपं, शसि भत्तू च भत्तुणो ।
भत्तारे चेति, टायां तु भत्तारेण च भत्तुणा ।
भिसि भत्तूहि जत्तारेहि रूपं, डसि भत्तुणो ।
जत्तूहिंतो च जत्तूहि भत्तूओ भत्तूच स्मृतम् ।
भत्ताराहि च जत्ताराहिन्तो पाक्षिकरूपतः ।
भत्ताराओ च भत्तारा भत्ताराड प्रयुज्यते ।
जत्तुस्स भत्तुणो डसि भत्तारस्सेति पाक्षिकम् ।
सुपि भत्तूसु पक्के तु, भत्तारेसु निगद्यते ।
व्याप्त्यर्थत्वाद् बहुत्वस्य नाम्न्यपि क्वाप्युदस्तु वा ।
जस्-शस्-डस्-डसो जामाणो च पिउणो पुनः ।
टायां तु पिउणा रूपं, भिसि रूपं पिउहिं च ।
पिउसु सुपि पक्के तु पिअरा रूपमिष्यते ।
अस्यमौस्विति किं प्रोक्तं?(जस्)पिआरा(अस्)पिअरं(सि)पिआ

आरः स्यादौ ॥ ४५ ॥

ऋतः स्थाने जवेद् आराऽऽदेशः स्यादौ परे, यथा- ।
भत्तारो, चैव भत्तारा, भत्तारं, परिपठ्यते ।
भत्तारे च जत्तारेहि, जत्तारेण डसेस्तया ।
लुप्तस्याद्यापेक्षया तु 'भत्तार-विहिअं' मतम् ।

आ अरा मातुः ॥ ४६ ॥

मातृसम्बन्धिन ऋतः, स्यादौ तु आ अरा, मतौ ।
माआरा माआरा माआ, माआओ माआरा च ।
माआराओ च माआं माआरं इत्यादि साध्यताम् ।
जनन्यर्थस्य आ-ऽऽदेशो देवतार्थस्य स्यादरा ।
यथा-माआए कुळ्ळीए, नमो मे माआराण च ।
'मातुरिद्वा' [१।१३५] इतीत्वेन, रूपं 'माईण' सिष्यति ।
ऋताम्-[३।४४] उक्त्वे तु 'माकए अहं वन्दे समन्निअं' ।
स्यादौ किं तु ? माइदेवो, तथा माइगणो इति ।

नामन्यरः ॥ ४७ ॥

ऋदन्तस्याऽर इत्यन्तादेशो स्यादौ हि नामनि । [१]
पिअरा पिअरं पिअरे, पिअरेण पिअरेहिमिष्यते रूपम् ।
'जामायरा, भायरा,' रूपं पितृतुल्यमनयोः स्यात् ।

आ सौ न वा ॥ ४८ ॥

ऋदन्तस्येह वाऽऽकारः, सौ परे तु विधीयते ।
पिआ ज्ञाया च जामाया, कत्ता, पक्के भवेद् 'अरः' ।
पिअरो ज्ञायरो कत्तारो च जामायरो तथा ।

राज्ञः ॥ ४९ ॥

राज्ञो न-लोपेऽन्त्यस्याऽऽत्वं, वा भवेत् सौ परे यथा ।
राया तथा च हे राआ ! 'रायाणो' चेति पाक्षिकम् ।
शौरसेन्यां तु हे राया हे रायमिति ज्ञाप्यते ।
एवं हे अण्प ! हे अण्प ! इत्यादीनि विदुर्वृथाः ।

जस्-शस्-डसि-डसां णो ॥ ५० ॥

राजन्शब्दान् परेषां वा, जस्-शस्-डसि-डसां हि 'णो' ।
रायाणो जस्-शसोः, राया जसि, राए च वा शसि ॥

[१] संज्ञायाम् ।

डसौ रक्षो राइणो च, पक्के तावन्निशम्यताम् ।
रायाहिन्तो च रायाहिं, राया रायाड इत्यापि ॥
रायाओ (डसि) राइणो रक्षो, पक्के रायस्स पठ्यते ।

दो णा ॥ ५१ ॥

राजन्-शब्दात् विकल्पेन, टा-स्थाने 'णा' विधीयते ।
रक्षा च राइणा, पक्के, रायेणेत्यपि सिद्ध्यति ॥

इज्जस्य णो-णा-डौ ॥ ५२ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्येत्वं वा णो-णा-डिषु कथ्यते ।
राइणो पेच्छ चिद्वृत्ति आगओ वा धणं यथा ॥
राइणा चैव, रायस्मि, पक्के रूपं निशम्यताम् ।
रक्षो रायस्मि रायाणो, रायण रायणा तथा ॥

इणममामा ॥ ५३ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्येणम्, अमाम्भ्यां सह वेप्यते ।
राइणं वा धणं पेच्छ, रायं राइण पाक्षिकम् ॥

ईज्जिस्ससाम्मुपि ॥ ५४ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्येत्वं भिस्-भ्यसाम्-सुप्सु वेप्यते ।
राईहिन्तो च राईहि राईसुन्तो भवेद् ज्यसि ॥
जिसि राईहि, राईणं आमि, राईसु सुप्यदः ।
पक्के 'रायाणेहि' इत्यादीनि रूपाणि चकृते ॥

आजस्य टा-डसि-डस्सु सणाणोप्पण् ॥ ५५ ॥

राजन्-शब्दस्य योऽस्त्याजोऽवयवस्तस्य भवेद् एण् ।
णा-णो-आदेशरूपेषु, टा-डसि-डस्सु वा मतः ॥
टायं रक्षा राइणा, डस्-डस्यो रक्षो च राइणो ।
सणाणोप्पिति किम् ? रायाओ रायस्स च रायण ॥

पुंस्यन आणो राजवच्च ॥ ५६ ॥

अन्नन्तस्य भवेद् 'आण' इति पुंसि विकल्पनात् ।
पक्के तु राजवत् कार्य्ये, यथादर्शनमिष्यते ॥
आणादेशे अतः सेडोः [३ । २] एवमादि प्रवर्तते ।
पक्के तु राजः 'जस्' [३ । ५०] 'टोणा', [३ । २४]
'इणम्' [३ । ५३] एतद् विधित्रयम् ॥

अप्पाणो अप्पाणा, अप्पाणं अप्पाणे ।

अप्पाणाओ अप्पाणासुन्तो पञ्चम्याम् ॥

अप्पाणेण अप्पाणेहि, टायं जिसि यथाक्रमम् ।

अप्पाणस्साऽऽप्पाणाण, रुलि वाऽऽमि क्रमेण हि ॥

अप्पाणम्मि तथा अप्पा-णेषु डौ सुपि चोच्यते ।

अप्पाण-कयं, पक्के तु, राजवत् कार्य्यमीदृयताम् ।

अप्पा अप्पो च, हे अप्पा । हे अप्प । इयसीदृशम् ।

अप्पाणो जसि, अप्पाणो शसि, टायं तु अप्पेणा ।

अप्पेहिं जिसि, अप्पाणो अप्पाओऽप्पाञ्च वै पुनः ।

अप्पाहि अप्पाहिन्तो अप्पा अप्पासुन्तो स्याद् ज्यसि ।

अप्पणो धणम्, अप्पाणं, अप्पे अप्पेसु कीर्त्यते ।

रायाणो चैव रायाणा 'एवं सर्वे विभाव्यताम् ।

पक्के तु राया इत्यादि, जुवाणो च जुआ तथा ।

बम्हाणो पाक्षिको बम्हा, अक्काणोऽक्काऽपि वेप्यते ।

उच्चाणो वा भवेद्-उच्चा, गावा गावाणो वा भवेत् ।

तथैव पूसा पूसाणो, तक्खा तक्खाणो इत्यपि ।

मुक्काणो वा च मुक्का स्यात्, 'साणो सा' इवा प्रकीर्तितः ।

सुकम्माणे पेच्छ, शर्मं सम्मं, क्वीवेऽत्र नेप्यते ।

आत्मनष्टो णिआ णइआ ॥ ५७ ॥

आत्मशब्दाद् हि टा-स्थाने वा 'णिआ' 'णइआ' मतौ ।
अप्पाणिआऽप्पणइआ, पक्केऽप्पाणेण' कथ्यते ।

अतः सर्वादिर्नेजसः ॥ ५८ ॥

भवेददन्तात् सर्वादिर्नेजसः स्थाने मिदेदिह ।

सव्वे अन्ने च जे ते के कयरे इयरे तथा ।

डेः स्सि-म्मि-त्थाः ॥ ५९ ॥

सर्वादीनामतो डेः स्युः स्सि-म्मि-त्थास्तु यथाक्रमम् ।
सव्वत्थ सव्वस्सि सव्वम्मि, अतः किम् ? अमुम्मि तु ।

न वाऽनिदमेतदो हिं ॥ ६० ॥

इदमेतदौ विना सर्वादिदन्तात् परस्य डेः ।

हिमादेशो विकल्पेन, भवेदित्युपदिश्यते ।

सव्वहिं भवहिं, कियत्तद्वज्यः स्याद् हिं खियामपि ।

काहिं जाहिं च ताहिं च, कियत्तद्वज्यो न डी [३।३३] रिह ।

एतद् द्वयं बाहुलकं कार्य्यं, पक्के निशम्यताम् ।

सव्वत्थ सव्वस्सि सव्वम्मि चैवं बुध्यतां परम् ।

खियां तु पक्के काप च, कीए चैवं विचार्य्यताम् ।

इदमेतदारिमस्सि, एअस्सि रूपमिष्यते ।

आमो नेसि ॥ ६१ ॥

अदन्तात् सर्वनाम्नः स्याद्, आमो 'डेसि' विभाषया ।

सव्वेसि अवरोसि च, जेसि तेसिमिमेसिं च ।

पक्केऽवराण सव्वान जाण ताण इमाण च ।

खियां बाहुलकात्-सर्वासां सव्वेसिं प्रयुज्यते ।

किंतद्वज्यां कासः ॥ ६२ ॥

किंतद्वज्यां तु परस्यामः, स्थाने डासो विकल्प्यते ।

तास कास जवेत्, पक्के-तेसि केसि प्रयुज्यते ।

कियत्तद्वज्यो डसः ॥ ६३ ॥

कियत्तद्वज्यो डसः स्थाने, डासाऽऽदेशो विकल्प्यते ।

डसः स्स (३।१०) स्यापवादोऽयं, पक्के सोऽपि प्रवर्तते ।

कास कस्स जास जस्स, तास तस्स प्रयुज्यते ।

आदन्ताज्यां च किंतद्वज्या-मपि डासो विभाषया ।

कस्याः तस्याः कास तास, काप ताप च पाक्षिकम् ।

ईद्वज्यः स्सा से ॥ ६४ ॥

ईद्वज्यः किमादिभ्यो, डसः 'स्सा' 'से' विकल्पितौ ।

टाडस्-[३।१६] इत्यादिसुत्रस्यापवादोऽयं निरूपितः ।

तेन पक्केऽदादणोऽपि प्रवर्तन्ते, निदर्श्यते ।

'किस्सा कीसे कीअ कीआ, कीए कीइ' भवन्ति षट् ।

जिस्सा जीसे जीअ जीआ, जीए जीइ यदो मताः ।

'तिस्सा तीसे तीअ तीआ, तीए तीइ' इमे तदः ।

डेहाहिं काला इआ काले ॥ ६५ ॥

कियत्तद्वज्यस्तु डेः स्थाने, 'हाहे डाहा इआ' त्रयः ।

हिंस्सिस्सिम्मित्यान् अपाकृत्य, काहे वाच्ये भवन्ति वा ।

काहे काला कइआ, जाहे जाला जइआ ।

ताहे ताहा तइआ, पक्के ते चापि मताः * ।

'काहिं कस्सि कम्मि कथ' रूपाणीमानि तत्र च ।

डसेम्हा ॥ ६६ ॥

* ताला जाअन्ति गुणा, जाला ते सहिअपिहिं वेप्यन्ति ।

कियत्तद्भ्यो ङसेः स्थाने, म्हाऽऽदेशो वा विधीयते ।
कम्हा जम्हा च तम्हा च, काश्चो जाओ तु पाक्किम् ।

तदो ङोः ॥ ६७ ॥

तदः परस्य तु ङसेर्नो ' वा, ' तम्हा ' च ' तो ' यथा ।

किमो मिणो-नीसौ ॥ ६८ ॥

किमः परस्य तु ङसे-ङिणो ङीसौ च वा स्मृतौ ।

किणो कीस, तथा कम्हा, ग्रीणि सिद्धिमुपागमन् ।

इदमेतत्-किं-यत्तद्भ्यष्टो मिणा ॥ ६९ ॥

इदं-यत्-तत्-किमेतद्भ्योऽदन्तेज्यस् टो-मिणाऽस्तु वा ।

इमेण इमिणा, जेण जिणा, पदेण पदिणा ।

किणा केण, तिणा तेण, एवं टाया डिणाविधिः ।

नदो एः स्यादौ क्वचित् ॥ ७० ॥

तदः स्थाने ण आदेशः, स्यादौ ब्रह्मानुसारतः ।

' णं तिअन्ना ' तां त्रिजटा, ' पेच्छणं ' पश्य तं यथा ।

तेन जेण, तथा णाप, तैः तामिर् रेहिं णहिं च ।

किमः कल्ल-तसोश्च ॥ ७१ ॥

किमः को भवति स्यादौ, ततसोः परयोस्तथा ।

को के कं के केण, [त्र] कत्थ, [तस] कओ कत्तो कदो यथा ।

इदम् इमः ॥ ७२ ॥

पुंस्त्रियोरिदम् स्यादौ, स्यादिमो, हि ' इमो ' इमा ' ।

पुं-स्त्रियोर्नवाऽयमिमिआ सौ ॥ ७३ ॥

इदम् सौ परे पुंसि ' अयं ' वा ' इमिआ ' स्त्रियाम् ।

इमो इमा भवेत् पक्के, एवं रूपचतुष्टयम् ।

स्सि-स्सयोरत् ॥ ७४ ॥

इदमोऽत्वं विकल्पेन, स्सि-स्सयोः परयोरिह ।

अस्सि अस्स, इमादेशे इमस्सि च इमस्स च ।

बहुलग्रहणादन्यत्राप्ययं संप्रवर्तते ।

पहिं पमिः, आहि आभिर्, एत्तु एत्तु प्रयुज्यते ।

डेर्मेन हः ॥ ७५ ॥

इदम् कृतेमादेशाद्, वा मेन सह होऽस्तु डेः ।

इह, पक्के-इमस्सि च, इमस्मि प्रतिपद्यते ।

न तथः ॥ ७६ ॥

न ' तथः ' [३।१६] स्यादिदमो डेस्तु, इहेमस्सि इमस्मि च ।

णोऽम्-शस्-टा-जिसि ॥ ७७ ॥

इदमो णोऽस्तु वाऽम्-शस्-टा-मिस्सु, णं जेण रेहि रे ।

पक्के इमं इमेणेमेहि इमे सिद्धिमाययुः ।

अमेणम् ॥ ७८ ॥

अमा सहेदमः स्थाने, ' इणम् ' वा स्याद्, इणं, इमं ।

क्लीवे स्यमेदमिणमो च ॥ ७९ ॥

' इदम् ' ' इणम् ' च ' इणमो ', क्लीवे नित्यममी त्रयः ।

स्यम्भ्यां सहेदमः स्थाने, भवन्तीति विभाव्यताम् ।

इदं इणं वा इणमो, धणं चिच्छ पेच्छ वा ।

किमः किं ॥ ८० ॥

क्लीवे प्रवर्तमानस्य, स्यम्भ्यां सह किमोऽस्तु किं ।

किं कुलं तुह, ' किं किं ते पडिहाइ ' यथा भवेत् ।

वेदं-तदेतदो ङसाम्भ्यां से-सिमौ ॥ ८१ ॥

इदम् तद् एतद् इत्येषां, चाऽऽम्भ्यां सह से-सिमौ ।

अस्य तस्य च वैतस्य शीलं-' से सील-मुच्यते ।

एषां तेषां तथैनेषां शीलं-' सि सील-मिष्यते ।

पक्के ' इमस्स चेमेसि इमाण, तस्स ताण च ।

तेसि, पअस्स पपसि एआण ' इति बुध्यताम् ।

कश्चिदामाऽपि से आदेशं वष्टीदंतदोरिह ॥

से-सिमौ त्रिषु लिङ्गेषु, तुल्यं रूपमवाप्नुतः ।

वैतदो ङसेस् तो चाहे ॥ ८२ ॥

एतदः परस्य ङसेस् ' तो, चाहे ' स्तो विकल्पनात् ।

एत्तो एत्ताहे, पक्के तु, पञ्च रूपाणि, तद्यथा— ।

एआहिन्तो च एआहि, एआ एआअ एआओ ॥

त्ये च तस्य लुक् ॥ ८३ ॥

एतदः त्ये परे ' तो चाहे-' जनयोः परयोरपि ।

तकारस्य लुक्, ' एत्ताहे, एत्थ एत्तो ' इति त्रयम् ॥

एरदीतौ म्मौ वा ॥ ८४ ॥

एतद् आदिवर्णस्य, ङ्यादेशे म्मौ अदीच्च वा ।

यथा-अयस्मि ईयस्मि, पक्के एअस्मि भण्यते ॥

वैसेणमिणमो सिना ॥ ८५ ॥

सिना सहेतदो वा स्युः, एसेणम् इणमो व्रवः ।

इणं एसेणमो, एअं एसा एसो च पाक्किम् ॥

तदश्च तः सोऽक्लीवं ॥ ८६ ॥

तदेतदोस्तस्य सः स्या-दक्लीवं सौ परे यथा— ।

सो पुरिसो, सा महिला, एसो एसा पिमो पिआ ॥

वाऽदसो दस्य होनोदाम् ॥ ८७ ॥

अदसो दस्य सौ हो वा, नो [३ । ३] आत् [४ । ४४८]

आए [२ । ४] मअ [३ । २५] नो ततः ।

अह पुरिसो, अह महिला, अह मोहो अह वणं च हसइ सआ ॥

पक्के तु मुरादेशो, [३ । ८८] अम् अम् त्रिषु अम् रूपम् ।

मुः स्यादौ ॥ ८८ ॥

अदसो दस्य तु स्यादौ, मुरादेशोऽभिधीयते ।

अम् पुरिसो, अमुणो पुरिसा, च अमुं वणं ॥

ततो अमुं वणाई, तथाऽमुणि वणाणि च ।

अम् माला, अम्भोऽम्भ मालाओ, ऽमुणाऽतथा ॥

ङसौ अम्भोऽम्हिन्तोऽम्भ, ज्यसि निशस्यताम् ।

अम्हिन्तो अम्भुत्तो, अमुस्स अमुणो ङसि ॥

आमि डौ सुपि चाऽम्भुण स्याद् अमुस्मि अम्भु च ।

म्मावयेऔ वा ॥ ८९ ॥

दकारान्तस्यादसो वा, ङ्यादेशे म्मौ इआऽय च ।

ततोऽयस्मि इयस्मि द्वौ, स्यात् पक्के ' अमुस्मि ' इत्यपि ॥

युष्मदः तं तुं तुवं तुह तुमं सिना ॥ ९० ॥

युष्मदस्तु सिना साकं, तं तुं तुह तुवं तुमं ।

पञ्च रूपाणि सौ विद्या-दग्नेऽप्येवं विचिन्तयेत् ॥

जे तुम्हे तुज्झ तुम्ह तुम्हे उम्हे जसा ॥ ९१ ॥

तुम्हे उम्हे तुज्झ तुम्ह, मे तुम्हे च जसा सह ।

व्मो म्हज्जौ वेति [३।१०४] वचनात् तुम्हे तुज्जे ततोऽष्टकम् ।

तं तुं तुमं तुवं तुह तुमे तुए अमा ॥ ९२ ॥

तुए तुमे तुमं तं तुं, तुवं तुह अमा सह ।

वो तुज्ज तुज्जे तुग्गे उग्गे जे शसा ॥ ९३ ॥

त्रो तुज्ज तुग्गे तुग्गे जे, उग्गे पद्दं शसा सह ।

‘ओम्हो म्हुज्जो वेति’ [३।१०४] वचनात्, तुग्गे तुज्जे ततोऽष्टकम् ।

भे दि दे ते तद् तए तुमं तुमइ तुमए तुमे तुमाइ टा ॥ ९४ ॥

जे दि दे ते तद् तए, तुमाइ तुमए तुमं ।

तुमे तुमइ सार्धं तु, टया रुद्रमितं [११] पदम् ।

भे तुग्गेहिं उज्जोहिं उग्गेहिं तुग्गेहिं उग्गेहिं निसा ॥ ९५ ॥

तुग्गेहिं उग्गेहिं, तुग्गेहिं उज्जोहिं उग्गेहिं ।

जे-‘ओम्हो म्हु-ज्जो’ [३।१०४] सूत्रात्, तुग्गे तुज्जे ततोऽष्टौ स्युः ।

तइ-तुव-तुम-तुह-तुग्गा ङसौ ॥ ९६ ॥

तइ-तुव-तुम-तुह-तुग्गा ङसौ युष्मदो भवन्त्यमी नित्यम् ।

त्तो दो तुहि हित्तो लुक् ङसेयथाप्राप्तमेव स्यात् ।

स्यात् तइत्तो तुवत्तो च, तुमत्तो च तुहत्तो च ।

तुग्मत्तो, ऽत्र तु तुम्हत्तो तुज्जत्तो, पूर्ववत् [३।१०४] पुनः ।

एवं दो-ङ-हि-हित्तो-लुक्वप्युदाह्रियतां पुनः ।

त्वत्तः इत्यस्य तत्तोऽदो रूपमस्ति वलोपनात् ।

तुग्ग तुग्ग तहित्तो ङसिना ॥ ९७ ॥

तुग्ग तुग्ग तहित्तो च, त्रयः स्युर्ङसिना सह ।

तुम्ह तुज्ज च वैकल्याद्, रूपपञ्चकमिष्यते ।

तुग्ग-तुग्गोद्गोद्गोद्गो न्यसि ॥ ९८ ॥

तुग्ग, तुग्ग, उग्ग, उग्ग इत्यमी युष्मदो भ्यसि ।

भ्यसः स्थाने यथाप्राप्तमादेशः [३।६] पूर्वदर्शिताः ।

तुग्मत्तो तुग्गत्तो उग्गत्तो उग्गत्तो ।

तुम्हत्तो तुज्जत्तो वैकल्यात् परूपा ।

त्तो आदेशो यथा चेयं परूपा दर्शिता मया ।

एवं दो-ङ-हि-हित्तो-सुत्तोपूदाह्रियतां त्वया ।

तइ-तु-ते-तुम्ह-तुह-तुह-तुव-तुम-तुमे-तुमो-तुमाइ-दि-

दे-ङ-ए-तुग्गोद्गोद्गोद्गो ङसा ॥ ९९ ॥

तइ ते तु तुहं तुम्हं, तुमो तुमं तुमं तुह ।

तुमाइ तुव दे प इ तुग्गेओम्होद्गोद्गो, वा ङसा ।

विकल्पनात् [३।१०४] तुम्ह तुज्ज उग्ग उज्ज चतुष्टयम् ।

एवं द्वाविंशती रूपाणीह जल्पन्ति कोविदाः ।

तु वो भे तुग्ग तुग्गं तुग्गाण तुवाण तुमाण तुहाण

उग्गाण आमा ॥ १०० ॥

तुग्गं, तुवाण, उग्गाण, तुमाण, तु, तुहाण मे ।

तुग्ग, तुग्गाण, वो, आमा सह स्युर्गुष्मदो दश ।

क्त्वा स्यादे- [१।२७] रित्यनुस्वारे, सानुस्वारं णपञ्चकम् ।

यथा-तुवाणं तुग्गाणं तुमाणं च तुहाणं च ।

उग्गाणं चेति वर्धन्ते पञ्च रूपाणि णस्य च ।

‘ओम्हो म्हु-ज्जो वेति’ [३।१०४] वचनात्, पुनरष्टौ भवन्ति च ।

तुज्जं तुज्जाण तुम्हाण, तुज्जाणं तुम्ह तुज्जं च ।

तुम्हाणं तुम्हमित्येवं, त्रयोविंशतिरामि तु ।

तुमे तुमए तुमाइ तद् तए ङिना ॥ १०१ ॥

तुमे, तुमाइ, तुमए, तए, तद्, ङिना सह ।

तु-तुव-तुम-तुह-तुग्गा ङौ ॥ १०२ ॥

ङौ युष्मदस् ‘तु तुव तुम, तुह तुग्गाः’ पञ्च तु स्युरादेशाः ।

ङेस्तु यथाप्राप्तं स्यादादेशो दर्शितः पूर्वम् ॥

तुम्हि तुयम्हि तुमम्हि च, तुहम्हि तुग्मम्हि चात्र वैकल्यात् [३।१०४]

तुम्हाम्हि च तुज्जाम्हि च, रूपाण्यन्यानि बोध्यानि ।

सुपि ॥ १०३ ॥

सुपि युष्मदस् तु-तुव-तुम-तुह-तुग्गाः पञ्च तु स्युरादेशाः ।

तुसु च तुवेसु तुमेसु च, तुहेसु तुग्मेसु रूपाणि ।

ग्मस्य [३।१०४] विकल्पाद् रूपद्वयं च तुम्हेसु भवति तुज्जेसु ।

सुष्येत्वस्य विकल्पं, केचित् कथयन्ति, तदपि यथा ।

तुग्मसु तुम्हसु तुज्जसु, तुवसु तुमसु तुहसु परसंख्यम् ।

ज्जस्याऽऽत्वमपि परः तु-ग्गासु च तुम्हासु तुज्जासु ॥

ओम्हो म्हु-ज्जो वा ॥ १०४ ॥

युष्मदादेशरूपेषु, यो द्विरुक्तोऽयम् उच्यते ।

तस्याऽऽदेशौ तु वा ‘म्हु-ज्जो,’ स्याताम्, सर्वमुदाहृतम् ।

अस्मदो मि अस्मि अम्हि हं अहं अहयं सिना ॥ १०५ ॥

अस्मि अम्हि मि अहयं, अहं हं च सिना सह ।

अस्मदः पदं तु रूपाणि, सौ जवन्तीति बुध्यताम् ।

अम्ह अम्हे अम्हो मो वयं जे जसा ॥ १०६ ॥

अम्हे अम्हो अम्ह मो जे वयं, पदं स्युर्जसा सह ।

एो णं मि अस्मि अम्ह मम्ह मं ममं मिमं अहं अमा ॥ १०७ ॥

अस्मि अम्ह मिमं णं णं मि मं मम्ह ममं अहं ।

अमा सह दशाऽऽदेशाः संभवन्त्यस्मदोऽत्र तु ।

अम्हे अम्हो अम्ह एो शसा ॥ १०८ ॥

अम्हे अम्हो अम्ह णे च, चत्वारि स्युः शसा सह ।

मि मे ममं ममए ममाइ मइ मए मयाइ णे टा ॥ १०९ ॥

मि मे ममं णे मयाइ, ममाइ ममए मए ।

मइ, चेति नवादेशाः, सार्धं टा-प्रत्ययेन हि ।

अम्हेहि अम्हाहि अम्ह अम्हे एो निसा ॥ ११० ॥

अम्हाहि अम्ह अम्हे णे, अम्हेहि स्युर्भिसा सह ।

मइ-मम-मह-मज्ज्मा ङसौ ॥ १११ ॥

ङसौ परे ‘मइ-मम-मह-मज्ज्माः’ स्युरस्मदः ।

ङसेयथाप्राप्तमेवाऽऽदेशाः स्युः पूर्वदर्शिताः ।

यथा मइत्तो मज्जत्तो, ममत्तो च महत्तो च ।

एवं दो-ङ-हि-हित्तो-लुक्वप्युदाह्रियतां पुनः ।

ममाम्हौ न्यसि ॥ ११२ ॥

भ्यसि स्यातां ममाम्हौ द्वौ, यथाप्राप्तं भ्यसोऽपि च ।

अम्हाहित्तो ममाहित्तो, अम्हासुन्तो ममत्तो च ।

ममेसुन्तो ममासुन्तो अम्हेसुन्तो च अम्हत्तो ।

मे मइ मम मह महं मज्ज मज्जं अम्ह अम्हं ङसा ॥ ११३ ॥

अम्हाऽम्हं मे मइ मम, मज्ज मज्जं महं मह ।

ङसा सह नवादेशाः, संभवन्त्यस्मदोऽत्र तु ।

एो एो मज्ज अम्ह अम्हं अम्हे अम्हो अम्हाण ममाण-

महाण मज्जाण आमा ॥ ११४ ॥

अम्हे महाण मज्जाण अम्होऽम्हाण ममाण णे ।

णो अम्हं अम्हं मज्जं स्युर आमा सार्धं च पञ्च पद् [११] ।

‘क्त्वा स्यादेरिति’ [१२७] वा णस्य सानुस्वारं चतुष्टयम् ।

यथा महाणं मज्जाणं अम्हाणं च ममाणं च ।

मि मइ ममाइ मए मे ङिना ॥ ११५ ॥

मए ममाइ मइ मे, मि, स्युः पञ्च ङिना सह ।

अम्ह-मम-मह-मज्जा ङौ ॥ ११६ ॥

अम्ह-मज्जौ मम-महौ, ङौ स्युरेतेऽस्सदः परे ।

ङेः स्थाने तु यथाप्राप्तमादेशः पूर्वदर्शितः ।

यथा ममस्मि मज्जस्मि, तथाऽम्हस्मि महस्मि च ।

सुपि ॥ ११७ ॥

चत्वारोऽम्हादयोऽत्रापि, ऋवन्ति सुपि तद्यथा ।

यथा ममेसु मज्जेसु, अम्हेसु च महेसु च ।

सुप्येत्वं केऽपि वेच्छन्ति, तन्मतेऽम्हसु मज्जसु ।

ममसु स्यात् महसु च, ततो रूपचतुष्टयी ।

केचिद् अम्हस्यात्वमपि, वाञ्छन्त्यम्हासु तन्मते ।

त्रेस्ती तृतीयादौ ॥ ११८ ॥

त्रेः स्थाने ती तृतीयादौ, प्रत्यये परतो भवेत् ।

तीहन्तो तीसु तिण्हं च, तीहिं चेति प्रकीर्तितम् ।

द्वेदौ वे ॥ ११९ ॥

द्विशब्दस्य तृतीयादौ ‘दो’ ‘वे’ स्तः, दोहि वेहि च ।

दोण्हं वेण्हं च दोहन्तो, वेहन्तो दोसु वेसु च ॥

दुवे दोषि वेषि च जस्-शस्मा ॥ १२० ॥

जस्-शस्भ्यां सहितस्य द्वेः, स्थाने स्युः, दोषि, वेषि, च ।

डवे, दो, वे, ‘दुषि विषि’ संयोगे [१८४] ह्रस्वदर्शनात् ॥

त्रेस्तिष्ठिः ॥ १२१ ॥

जस्-शस्भ्यां सहितस्य त्रेः, स्थाने तिष्ठि प्रयुज्यते ।

चतुरश्चत्वारो चतुरो चत्तारि ॥ १२२ ॥

चतुर इत्यस्य जस्-शस्भ्यां, सहाऽऽदेशास्त्रयो मताः ।

यथा चत्तारि चत्तारो, चतुरो आसि पेच्छु वा ॥

संख्याया आमो एह एहं ॥ १२३ ॥

संख्याशब्दात् परस्याऽऽमो, ‘एह एहं’ एतद् द्वयं ऋवेत् ।

दोएह पञ्चएह सत्तएह, तिण्हं छएह चउएह च ॥

दोएहं तिण्हं चउएहं पञ्चएहं छएहं च सत्तएहं ।

प्रज्ञावाद् बहुलस्येमौ, विशत्यादेर्न चाप्नुतः ॥

शेषेऽदन्तवत् ॥ १२४ ॥

इहोपयुक्तादन्यो यः, स शेष इति कथ्यते ।

तत्र स्यादिविधिः सर्वोऽदन्तवत् सोऽतिदिश्यते ॥

येष्वादन्तादिशब्देषु, पूर्व कार्यं न दर्शितम् ।

तेष्वदन्ताधिकारोक्तो, लुगादि [३ । ४] विधिरिप्यते ॥

तत्र तावत् ‘जस्-शसोर्लुक्’ [३ । ४] विधिरेषोऽतिदिश्यते ।

‘मात्वा गिरी गुरू रेहन्ति वा पेच्छु’ यथोच्यते ॥

‘अमोऽस्य’ [३ । ५] इति कार्यस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

गिरिं गुरुं सहिं पेच्छ, गामणिं खलपुं वहुं ॥

‘टा-ऽऽमोर्णः’ [३ । ६] इति कार्यस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

कयं हाहाण, मालाण गिरीण धणमीदशम् ॥

टायस्तु टो णा [३ । २४] टाङ्स्ङेः- [३ । २६] इत्ययं दर्शितो विधिः ।

‘भिसो हि हिं हिं’ [३ । ७] इत्येतत् कार्यं चाप्यतिदिश्यते ॥

यथा गिरीहि मात्वाहि गुरूहिं च सहीहिं च ।

विद्यादेवं चातिदेशमनुस्वारेऽनुनासिके ॥

‘ङन्तेस् तो-दो-ङु’- [३ । ८] सूत्रस्य विधिरेषोऽतिदिश्यते ।

मालाहन्तो च मात्वाओ वुस्सीओ, हिलुको नहि [३ । २७ । १२६] ॥

‘भ्यसस् तो दो दु’ [३ । ९] सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

मात्वाहन्तो तथा मात्वासुन्तो, हिस्तु निपेत्यते [३ । २७] ॥

‘ङसः स्तः’ [३ । १०] इति सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

गिरिस्सेति गुरूस्सेति दहिस्सेति महस्स च ॥

‘टा-ङस् ङेः’- [३ । ११] इति सूत्रं तु स्त्रियां सम्यगुदाहृतम् ।

‘ने म्मि ङेः’ [३ । ११] इति सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

यथा ‘गिरिम्मि’ इत्यादि, ङेविधिस्तु निपेत्यते [३ । १२८]

‘जस्-शस्-ङसि तो’ [३ । १२] सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

गिरी गुरू गिरीओ च, गुरूओ च गुरूण च ।

‘भ्यसि वा’ [३ । १३] इति सूत्रस्यातिदेशो नोपदिश्यते ।

‘इडतो दीर्घे’- [३ । १६] सूत्रेण नित्यं दीर्घस्य शासनात् ।

टाण-शस्येत् [३ । १४] च ‘भिस-ज्यस्’ [३ । १५]

इत्यतिदेशो निपेत्यते [३ । १२६] ॥

न दीर्घो णो ॥ १२५ ॥

इदन्तोदन्तयोर्जस्-शस्-ङस्यादेशे परे णवि [३ । १२]

न दीर्घः पूर्ववर्णस्य, अग्निणो वाउणो यथा ।

ङसेल्लुक् ॥ १२६ ॥

आकारान्तादिशब्देभ्यो, लुक् नैवादन्तवद् ङसेः ।

मालाहन्तो च अग्नीओ, वाउओ-ऽस्ति निदर्शनम् ॥

ज्यसश्च हिः ॥ १२७ ॥

हिर्नाऽऽदन्तादिशब्देभ्योऽदन्तवत् स्याद् ज्यसो ङसेः ।

मात्वाहन्तो च मात्वाओ, अग्नीहन्तो निदर्शनम् ॥

ङेर्नेः ॥ १२८ ॥

‘ने’ नाऽऽदन्तादिशब्देभ्योऽदन्तवत् ङेर्नैवेदिह ।

यथा-अग्निम्मि वाउम्मि, दहिम्मि च महम्मि च ॥

एत् ॥ १२९ ॥

टा-शस्-भिस-भ्यस्-सुप्सु नैत्वम्, आदन्तादेरदन्तवत् ।

कयं हाहाण, मालाओ पेच्छु, मालाहि वा कयं ।

मालाहन्तो तथा मालासुन्तो मात्वासु अग्निणो ।

वाउणो चेदृशं लक्ष्यं, विविधं प्रतिबुध्यताम् ।

द्विवचनस्य बहुवचनम् ॥ १३० ॥

सर्वासां हि विभक्तीनां, स्यादि-त्यदिप्रवर्तिनाम् ।

स्थाने द्विवचनस्येह, बहुत्वं संप्रयुज्यते ॥

चतुर्थ्याः षष्ठी ॥ १३१ ॥

स्थाने चतुर्थ्याः षष्ठी स्यात्, ‘नमो देवस्स’ ईदृशम् ।

तादर्थ्येऽर्था ॥ १३२ ॥

तादर्थ्येऽङ्गं चतुर्थ्यैकवचनस्य विभाषया ।

षष्ठी, देवस्स देवाय, ‘देवार्थं’ तस्य ब्रुव्यताम् ॥

वधाद् ऋश्च वा ॥ १३३ ॥

वधशब्दात् तु तादर्थ्येऽङ्गं षष्ठी ऋश्च चाऽस्तु वा ।

वहाइ वहस्स वहाय वधार्थं त्रयं मतम् ।

कचिद् द्वितीयादेः ॥ १३४ ॥

द्वितीयादिविभक्तीनां स्थाने षष्ठी क्वचिद् भवेत् ।

सीमाधरस्स चन्दे, तिस्सा भरिमो मुहुस्स, अम्हो अ (द्विती० पष्ठी)
लफो धणस्स, मुक्का चिरस्स (तृती० पष्ठी) चोरस्स वीहइ सा ।
इअराई जाण वहुअक्खराई पायन्ति मिल्लसहिआण ॥ पञ्च० पष्ठी)
' पिट्ठीएँ केस-जारे ' (सप्त० पष्ठी) विचिन्तनीयं बुधरेवम् ।

द्वितीया-तृतीययोः सप्तमी ॥ १३९ ॥

द्वितीयायास्तृतीयायाः स्थाने स्यात् सप्तमी क्वचित् ।
गामे वसामि, नयरे न जामि (द्वि० स०) मइ वेविरीएँ मलिआई ।
लोए तिसु तेसु अलंकिआ अ पुहयी जहा भाइ (तृती० सप्त०)

पञ्चम्यास्तृतीया च ॥ १३६ ॥

क्यातां तृतीया-सप्तम्यौ पञ्चम्याः कुत्रचित् यथा ।
चोराद् विभेति ' चोरेण वीहइ ' प्रतिपाद्यते ।
' अन्तेउरे महाराओ आगओ रमिउं ' यथा ।

सप्तम्या द्वितीया ॥ १३७ ॥

क्वचिद् द्वितीया सप्तम्याः स्थाने सद्भिः प्रयुज्यते ।
जवेदापे तृतीयाऽपि, द्वितीया प्रथमास्थले ।
' विज्जुज्जोयं रत्ति भरइ, ' तृतीया तु-तेण कालेणं ।
तेणं समएणं वा, चउवीसं जिणवरा पि' यथा ।

क्यङ्कोर्यलुक् ॥ १३८ ॥

क्यङ्कन्तस्य क्यङ्कन्तस्य, यस्य वा लुक् भवेदिह ।
गरुआइ च गरुआभइ, अगुरुगुरुभंनति, गुरुरिवाचरति ।
दमदमाइ दमदमाअ-इ, लोहिआइ लोहिआअइ च ।

त्यादीनामाद्यत्रयस्याद्यस्येचौ ॥ १३९ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदस्ति प्रथमं त्रिकम् ।
इचेचौ स्तः, तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि ।
यथा-हसइ हसए, तथा वेवइ वेवए ।
' इचेचः ' [४३१८] इति सूत्रस्य चकारावुपकारकौ ।

द्वितीयस्य सि से ॥ १४० ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां यद् द्वितीयं त्रिकं भवेत् ।
सि, से, च स्तः, तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि ।
यथा-हससि हससे, तथा वेवसि वेवसे ।

तृतीयस्य मिः ॥ १४१ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां यत् तृतीयं त्रिकं भवेत् ।
मिरादेशस्तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि ।
यथा-हसामि वेवामि, भवेद् बाहुलकादिह ।
मिवेमैरिकारलोपो, न मरं न म्रिये तथा ।
' बहुजाणय रुसिउं ' सक्कं ' शक्नोमि गद्यते ।

बहुष्वाद्यस्य न्ति न्ते इरे ॥ १४२ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदस्ति प्रथमं त्रिकम् ।
तदन्त्यस्य त्रयो ' न्ति न्ते इरे ' स्युः पदयोर्द्वयोः ।
हसिज्जन्ति रमिज्जन्ति वेवन्ति च हसन्ति च ।
उप्पज्जन्ते विज्जुहिरे वीहन्ते च पहुप्पिरे ।
एकत्वेऽपि क्वचिदिरे स्याच्च सूसंर इति । [१]

मध्यमस्येत्या-हचौ ॥ १४३ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदस्ति मध्यमं त्रिकम् ।
' इत्था-हचौ ' तदन्त्यस्य, भवेतां पदयोर्द्वयोः ।
यथा-हसित्था हसह, वेवित्था अपि वेवह ।

' इत्था ' अन्यत्रापि बहुलम् - ' यद्यत्ते रोचते ' इदम् ।

वाक्यं ' जं जं ते रोहत्था, ' ईदृशं प्रयुज्यते ।

स्यात् चः ' इह-हचोर्हस्य ' [४३२६८] सूत्रस्यास्य विशेषकः ।

तृतीयस्य मो-मु-माः ॥ १४४ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यत् तृतीयं त्रिकं भवेत् ।

' मो-मु-माः ' स्युस्तदन्त्यस्य, पदयोरुभयोरपि ।

यथा हसामो हसामु हसाम, तुवराम च ।

तुवरामो तुवरामु, तथा अन्यत्रापि बुध्यताम् ।

अत एवैच् से ॥ १४५ ॥

त्यादेः स्थाने तु यौ ' एच्, से ' इत्येतौ परिकीर्तितौ ।

अदन्तादेव तौ स्यातां, नाऽन्यस्मादिनि हि स्थितिः ।

हसए हससे-ऽतः किम् ?, ठाइ ठासि न चेह तौ ।

अदन्ताद् ' एच् से ' पवेत्यवधारणवारणः ।

एवकारस्ततोऽदन्तात् सि-इच्चावपि सिध्यतः ।

अतो ' हसइ हससि ' तथा वेवइ वेवसि ।

सिनाऽस्तेः सिः ॥ १४६ ॥

सिना मध्यत्रिकस्थेन, सहाऽस्तेः सिर्जवेदिह ।

सिनेति किम् ? ' अत्थि तुम ' से आदेशे कृते सति ।

मि-मो-मैर्मिह-म्हो-म्हा वा ॥ १४७ ॥

अस्तेः स्थाने यथासंख्यं, ' मि-मो-मैः ' सह वा त्रयः ।

' मिह-म्हो-म्ह ' इत्यादेशास्तु भवन्ति, तन्निदर्श्यते ।

' एस मिह ' एपोऽस्मीत्यर्थः, गयम्हो च गयम्ह च ।

मुकाराग्रहणात् तस्याऽप्रयोग इति मन्यताम् ।

पक्के-अत्थि अहं, अत्थि अम्हे, अम्हो वि अत्थि च ।

ननु सिक्कावस्थायां, 'म्हो' इति सिक्कं हि पङ्क्तिसुत्र [२३७४] बलात् ? ।

प्रायस्तु साध्यमानाऽवस्था मान्या विभक्तिविधौ ।

नो चेत् ' सच्चे, जे, के, ' इत्याद्यर्थे बहुनि सूत्राणि ।

न विधेयानि स्युरतोऽङ्गीकार्या साध्यमानाऽत्र ।

अत्थिस्त्यादिना ॥ १४८ ॥

अस्तेः स्थाने जवेद् अत्थि-रादेशस्त्यादिभिः सह ।

अत्थि सो, अत्थि ते, अत्थि तुमं, अत्थि अहं तथा ।

अत्थि तुम्हे, अत्थि अम्हे, रूपपदमुदाहृतम् ।

एरेदेदावावे ॥ १४९ ॥

जेः ' अत् एत् आवा आवे ' सन्त्वमी च यथाक्रमम् ।

वरिसइ कारेइ करा-चइ च करावेइ, वा हसावेइ ।

हासेइ हसावइ वा, नैत्वं कापीह बाहुलकात् ।

जाणावेइ, न आवे इत्यादेशः प्रवर्तते कापि ।

तेन भवेदिह रूपं सिद्धं ' पाएइ ' भावेइ ' ।

गुर्वादेरविर्वा ॥ १५० ॥

गुर्वादेरेण् अविर्वा स्यात्, शोषितम्-सोसिअं तथा ।

सोसविअं, तोषितम्-तोसविअं तोसिअं यथा ॥

जमेरानो वा ॥ १५१ ॥

अमेः परस्य जेराइ आदेशो वा विधीयते ।

ममाइइ ममाजेइ, पक्के रूपं निशम्यताम् ।

जमावइ ममावेइ, भामेइ त्रयमिष्यते ।

लुगावी क्त-जाव-कर्मसु ॥ १५२ ॥

णेर्लुग् आवि जवेतां के, प्रत्यये भावकर्मणोः ।

कराविअं कारिअं हासिअं चैव हसाविअं ।

[भावकर्म०] कारीअइ च करावी-अइ कारिजइ तथा कराविजइ ।
हासीअइ च हसावी-अइ हासिजइ हसाविजइ ।

अदेद्वुक्थादेरत आः ॥ १५३ ॥

अद्-पद्-लोपेषु जातेषु, णेरादेरस्य ' आ ' भवेत् ।
पति-कारेइ खामेइ, अति-पामइ मारइ ।
बुकि-कारिअं खामिअं, कारीअइ भवति वा च कारिजइ ।
खामीअइ खामिजइ, किमदेद्वुकि-इति ? कराविजइ ॥
कराविअं च करावी-अइ, आदेः किम् ? यथा संगामेइ ।
व्यवहितान्त्ययोर्न स्यात्-कारिअं, किम् ? अतश्च-दूसेइ ॥
आवे आन्यादेशेऽप्यादेरत आत्वमाह कोऽपि बुधः ।
कारावेइ च, 'हासाविओ जणो सामहीए च' ।

मौ वा ॥ १५४ ॥

अत आत्वं वाऽदन्ताद् धातोर्भवतीह मौ परे हि यथा ।
हसमि हसामि, च जाणमि, जाणामि विहामि, विहामि यथा ।

इच्च मो-मु-मे वा ॥ १५५ ॥

अत इत्वं चाऽऽत्वं वाऽदन्ताद्धातोः परेषु मु-मे-मोषु ।
जणिमु जणामु, भणामो, भणिमो, च भणाम जणिम यथा ।
पक्के तु स्यात् भणमो, जणमु भणम, 'वर्त्तमान' [३१५८] सूत्रेण ।
एत्वे कृते, भणेमो जणेमु सिद्धं भणेम तथा ।

क्ते ॥ १५६ ॥

अत इत्वं के परे स्याद्, हसिअं हासिअं यथा ।
सिद्धावस्थापेक्षणात् तु गयमित्यादि सिध्यति ॥

एच्च क्त्वा-तुम्-तव्य-भविष्यत्सु ॥ १५७ ॥

क्त्वा-तुम्-तव्येषु परतो, भविष्यत्प्रत्यये तथा ।
एत्वम् इत्वम् अतः स्यातां, तत् क्रमेणह दृश्यताम् ।
(क्त्वा) हसिऊण हसेऊण (तुम्) हसेउं हसिउं तथा ।
(तव्य) हसिअव्वं हसेअव्वं (भविष्यत्) हसिहिइ हसेहिइ ।

वर्तमाना-पञ्चमी-शतृषु वा ॥ १५८ ॥

पञ्चम्यां वर्तमानायां शतरि प्रत्यये तथा ।
परतोऽतो विकल्पेन स्थाने स्यादेत्त्वमत्र तु ।
हसइ हसेइ, हसिम हसेम, हसिमु हसेमु इह च भवन्ति । [१]
'हसव हसेउ. सुणउ सुणेव, इति विबुधा हि परिणिगदन्ति । [२]
वा हसन्तो हसेन्तो च, क्त्वन्तो-जयइत्यतः । [३]
आत्वं च दृश्यते क्वापि-सुणाव' इतिरूपतः ।

ज्जा-ज्जे ॥ १५९ ॥

ज्जा-ज्जयोः परयोरस्य भवेदेत्वं ततो जवेत् ।
हसेज्ज च हसेज्जा च, ' होज्जा होज्ज ' अतं विना ।

ईअ-इज्जौ क्यस्य ॥ १६० ॥

चिज्यादीनां भावकर्मविधिरग्रे प्रवक्ष्यते ।
येषां न वक्ष्यते तेषां क्यस्य ईअ च इज्ज च ।
एतौ भवेतामादेशौ, हासीअइ हासिज्जइ ।
हसीअन्तो हसिज्जन्तो, पढिज्जइ पढीअइ ।
हसीअमाणो च हसिज्जमाणो, क्योऽपि वा क्वचित् ।
मए नवेज्ज तु मए नविज्जेज्ज भवेदिह ।

हशि-वचेमीस-डुच्चं ॥ १६१ ॥

हशेर्वचेः परो यः क्यस्तस्य स्तो ' डीस रुच्च ' च ।

[१] वर्तमाना । [२] पञ्चमी । [३] शतृ ।

ईअ-इज्जापवादोऽयम्, यथा ' दीसइ ' वुच्चइ' ।

सी ही हीअ नूतार्थस्य ॥ १६२ ॥

प्रत्ययो योऽद्यतन्यादिर्भूतेऽर्थे विहितो भवेत् ।
तस्य नूतार्थसंज्ञस्य ' सी ही हीअ ' प्रवन्त्यमी ।
व्यञ्जनादीअ [३ । १६३] करणात् स्वरान्तादयमिष्यते ।
' कासी काही च काहीअ ' अकार्पाद् अकरोत् तथा ।
चकारेत्यर्थकाः, आप्ते- ' देधिन्दो इणमव्ययी ' ।
इत्यत्र सिद्धावस्थातः, प्रयुक्ता ह्यस्तनी क्रिया ।

व्यञ्जनादीअः ॥ १६३ ॥

व्यञ्जनान्ताद् जवेद् धातोर्भूतार्थस्य तु ' ईअ ' हि ।
वभूवाभूद्भवदित्यर्थे वाच्यं ' हुवीअ ' तु ।
एवं ' अच्छीअ ' आसिष्ट आसाञ्चके तथाऽऽस्त वा ।
अगृह्णाद् अग्रहीत् जग्राह वा ' गेएहीअ ' कथ्यते ।

तेनास्तेरास्यहेसी ॥ १६४ ॥

नूतार्थः प्रत्ययो योऽत्र कथितः सह तेन हि ।
अस्तेर्धातोः पदे स्याताम् ' आस्यहेसी ' इमौ यथा ।
' तुमं अहं वा सो आसि ' ये आसन्निहि ' आसि ये ' ।
एवम् ' अहेसि ' इत्यस्य, सर्वं वाक्यं विभाव्यताम् ॥

ज्जात् सप्तम्या इर्वा ॥ १६५ ॥

सप्तम्यादेशभूताद् हि, ज्जात् परो वा इरिष्यते ।
' होज्ज होज्जइ ' इत्येतद्- ' भवेत् ' इत्यर्थबोधकम् ।

जविष्यति हिरादिः ॥ १६६ ॥

भविष्यदर्थे विहिते प्रत्यये पर इष्यते ।
तस्यैवादिर्हिरादेशो, यथा ' होहिइ ' इत्ययम् ।
वा जविष्यति भविता, एवं होहिन्ति होहिसि ।
होहिस्था वा हसिहिइ, तथा काहिइ बुध्यताम् ।

मि-मो-मु-मे स्सा हा नवा ॥ १६७ ॥

अर्थे जविष्यति परेषु मु-मो-मि-मेषु
' स्सा हा ' इमौ हि विदधीत तदादिभूतौ ।
वाऽयं विधिर्हिमऽपवाद्य भवत्यतो हिः
पक्षे जवेदिति बुधैः परिज्ञावनीयम् ॥
होस्सामो होहामो. तथैव होस्सामि भवति होहामि ।
होस्सामु च होहामु च, भवति च होस्साम होहाम ।
पक्षे होहिमि होहिम, होहिमु होहिमो च भवति रूपमिति ।
' हा ' न कापि जवेदिह, यथा-हसिहिमो हसिस्सामो ।

मो-मु-मानां हिस्सा हित्या ॥ १६८ ॥

जविष्यति प्रवृत्तानां, मो-मु-मानां पुनर्मतौ ।
' हिस्सा ' हित्या, इमौ धातोः परौ वेत्युपदिश्यते ।
हसिहिस्सा हसिहित्या, होहिस्सा पठ्यते च होहित्या ।
पक्षे होस्सामो होहामो होहिमो च रूपाणि ॥

मेः स्सं ॥ १६९ ॥

धातोः परो जविष्यति काले, मेः स्सं विकल्पतो जवति ।
होस्सं हसिस्सं, पक्षे होहिमि होस्सामि होहामि ।

कृ-दो हं ॥ १७० ॥

करोतेश्च ददातेश्च, परः काले भविष्यति ।
विहितस्य हि ' मेः ' स्थाने ' हम् ' आदेशो विकल्प्यते ।
काहं दाहं करिष्यामि दास्यामीत्यर्थबोधकौ ।

पक्षे रूपद्वयं वेद्यं, यथा-काहिमि दाहिमि ।

श्रु-गामि-रुदि-विदि-दृशि-मुचि-वचि-गिदि-भिदि-भुजां
सोच्छं गच्छं रोच्छं वेच्छं दच्छं मोच्छं वोच्छं जेच्छं नेच्छं
भोच्छं ॥ १७१ ॥

श्वादीनां दशधातूनां, म्यन्तानां हि जविष्यति ।
सोच्छमित्यादयस्तेषां निपात्यन्ते पदे, यथा ।
सोच्छं श्रोष्यामि तथा, दच्छं दृक्ष्यामि, मोच्छं मोक्ष्यामि ।
चोच्छं चक्ष्यामि पुनः, छेच्छं छेत्स्यामि जानीहि ।
भेच्छं भेत्स्यामि तथा, भोच्छं जोष्ये च धीर्वरुरुत्तम् ।
संगच्छं संगस्ये, रोदिष्यामीति रोच्छमिति भवति ।
वेदिष्यामि च वेच्छं, तथैव गच्छं गमिष्यामि ।

सोच्छादय इजादिषु हिलुक् च वा ॥ १७२ ॥

श्वादीनां धातूनां स्थाने सोच्छादयो यथासंख्यम् ।
भविष्यतीजादिष्व-देशेषु स्युर्, हिलुक् वा च ।
सोच्छिह् वा तु सोच्छिहिह्, एवं सोच्छिन्ति सोच्छिहन्ति तथा ।
सोच्छिसि सोच्छिहिसि स्यात्, सोच्छित्था सोच्छिहत्था च ॥
सोच्छिह सोच्छिहिह स्यात्, सोच्छिमि सोच्छिहिमि भवति रूपम् ।
सोच्छिहसामि सोच्छिहामि सोच्छिहसं सोच्छिमो सोच्छं ॥
सोच्छिहमो सोच्छिहसामो सोच्छिहामो सोच्छिहिसा च ।
रूपं च सोच्छिहत्था, एवं सु-मयोरपि द्वेयम् ॥
गच्छिह् वा तु गच्छिहिह्, एवं गच्छिन्ति गच्छिहन्ति तथा ।
गच्छिसि गच्छिहिसि स्यात्, गच्छित्था गच्छिहत्था च ॥
गच्छिह गच्छिहिह स्यात्, गच्छिमि गच्छिहिमि भवति रूपम् ।
गच्छिहसामि गच्छिहामि गच्छिहसं गच्छिमो गच्छं ॥
गच्छिहमो गच्छिहसामो गच्छिहामो गच्छिहिसा च ।
रूपं च गच्छिहत्था एवं सु-मयोरपि द्वेयम् ॥
रुदादीनां च धातूनामप्युदाहार्यमीदृशम् ।

दु सु मु विध्यादिष्वकस्मिन्त्रयाणाम् ॥ १७३ ॥

विध्यादिषूपपन्नानाम्, एकत्वेऽर्थे प्रवर्तिनाम् ।
त्रयाणां हि त्रिकाणां तु, स्थाने स्युः ' दु सु मु ' क्रमात् ॥
हसउ सा, हससु तु, हसामु ग्रहमित्यपि ।
एवं भवति पेच्छामु तथा पेच्छउ पेच्छसु ॥
दकारोच्चारणं भाषान्तरार्थं प्रतिपद्यताम् ।

सोर्हिर्वा ॥ १७४ ॥

कृतस्य पूर्वसूत्रेण सोः स्थाने हिर्विकल्प्यते ।
' देहि देसु ' ततो रूपद्वयं सिद्धिं समश्नुते ।

अत इज्जस्विज्जह्जीज्जे-लुको वा ॥ १७५ ॥

अतः परस्य सोः स्थाने ' इज्जे इज्जसु इज्जहि ' इत्येते लुक् च चत्वार आदेशाः परिकीर्तिताः ।
हसेज्जसु हसेज्जे च हसेज्जहि च वा हस ।
पक्षे-हससु, किमतः ? यथा स्याद् होसु गहि च ।

बहुषु न्तु ह मो ॥ १७६ ॥

विध्यादिषूपपन्नानां बहुत्वेऽर्थे प्रवर्तिनाम् ।
त्रयाणां हि त्रिकाणां तु, स्थाने स्युर् ' न्तु ह मो ' क्रमात् ।
यथा-[न्तु] हसन्तु हसन्तु हसेर्युवा [ह] हसह हसेत वा हसत ।
भवति-[मो] हसामो च हसाम वा हसेम स्युरिति बोध्यम् ।
वर्तमाना-भविष्यन्त्योश्च ज्ज ज्जा वा ॥ १७७ ॥
वर्तमानाभविष्यन्त्योर्विध्यादिषु च यः कृतः ।

प्रत्ययस्तस्य तु स्थाने, ' ज्ज ज्जा ' -ऽऽदेशौ विकल्पितौ ।
[वर्तमाना] हसेज्ज च हसेज्जा च, पक्षे ' हसह ' सिद्ध्यति ।
पदेज्ज च पदेज्जा च, पक्षे ' पदह ' इत्यपि ।
[भविष्यन्ती] पदेज्ज च पदेज्जा च, पक्षे पदिहिह् स्मृतम् ।
[विध्यादिषु] हसेव पक्षे, हसतु हसिज्जा च हसेज्ज च ।
एवं सर्वत्र बोद्धव्यं, तृतीये तु त्रिके यथा ।
अइवापज्जा अइवायविज्जा चेह पठ्यते ।
स्याद् न समणुज्जाणामि, समणुज्जाणज्जा न वा ।
अन्ये तु सुरयोऽन्यासामपि वाञ्छन्ति, तद्यथा ।
लकारदशके ' होज्ज ' भवतीत्यादिवाचकम् ।

मध्ये च स्वरान्ताद् वा ॥ १७८ ॥

धातोः स्वरान्तात् प्रकृति-प्रत्ययान्तरगौ तथा ।
चात् प्रत्ययानां च स्थाने, ' ज्ज ज्जा ' -ऽऽदेशौ विकल्पितौ ।
वर्तमाना-भविष्यन्त्योर्विध्यादिषु च दर्शयते ।
[वर्तमाना] होज्जा होज्जह् होज्जाह् होज्ज, होह तु पाक्षिकम् ।
होज्जा होज्जासि होज्जासि होज्ज, होसि तु पाक्षिकम् ।
[भविष्यन्ती] होज्जाहिह् होज्जहिह्, होज्जा होज्ज च पठ्यते ।
पक्षे ' होहिह् ' इत्येतद् रूपं सिद्धिं प्रयाति च ।
होज्जाहिसि होज्जहिसि, होज्ज होज्जा च होहिहिसि ।
होज्जाहिमि होज्जहिमि, होज्जहिसामि ततः परम् ।
होज्जहामि च होज्जहसं, होज्ज होज्जा-ऽऽदि बुध्यताम् ॥
[विध्यादिषु] होज्ज होज्जउ होज्जाउ होज्जा, भवतु वा जवेत् ।
पक्षे होउ, स्वरान्तात् किम् ?-हसेज्जा च हसेज्ज च ॥

क्रियाऽतिपक्षे ॥ १७९ ॥

क्रियाऽतिपक्षेः स्थाने तु, ' ज्ज ज्जा ' -ऽऽदेशौ प्रकीर्तितौ ।
अतो- ' ऽभविष्यद् ' इत्यर्थे ' होज्ज होज्जा ' प्रयुज्यते ॥

न्त-माणौ ॥ १८० ॥

क्रियाऽतिपक्षेः स्थाने तु, ' न्त-माणौ ' इति भाषितौ ।
अतो ' होन्तो ' च ' होमाणो ' -ऽभविष्यद् ' इति बोध्यौ ॥
" हरिण-छाणे हरिणं ! जह सि हरिणाहिवं निवेसन्तो ।
न सहन्तो धिय तो राहुपरिदवं से जिअन्तस्स " * ॥

शत्रानशः ॥ १८१ ॥

' शतृ-आनश् ' इत्यनयोर् ' न्त-माणौ ' स्तः पृथक् पृथक् ।
[शतृ] हसन्तो हसमाणो च, [आनश्] वेचन्तो वेचमाणौ च ॥

ई च स्त्रियाम् ॥ १८२ ॥

स्त्रियां शत्रानशोः स्थाने, ' ई, न्त-माणौ ' भवन्ति च ।
हसन्ती हसमाणी च, हसई च शतृस्त्रियम् ।
वेचन्ती वेचमाणी च वेचई त्रयमानशः ॥

या जापा जगवद्रचोन्निरगमत् ख्यातिं प्रतिष्ठां परां,
यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यमूनि निखिलान्येकादशाङ्गानि च ।
तस्याः संप्रति दुःपमारवशतो जातोऽप्रचारः पुनः
संचाराय मया कृते विवरणे पादस्तृतीयो गतः ॥

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ-
श्रीमद्भट्टारक-श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचि-
तायां प्राकृतव्याकृतौ तृतीयः पादः ।

* हरिणस्थाने हरिणाङ्ग ! यदि त्वं हरिणाधिपं न्यवेक्ष्यः ।
नासहिष्यथा एव ततो राहुपरिमहं तस्य जीवतः ॥

॥ * अर्हम् * ॥

॥ अथ चतुर्थः पादः ॥



इदितो वा ॥ १ ॥

इदितो धातवः सूत्रे ये वक्ष्यन्तेऽत्र चूरिशः ।

तेषां विकल्पेनाऽऽदेशा भवन्तीत्यवगम्यताम् ॥

कथेर्वज्जर-पज्जरोप्पाल-पिसुण-सङ्घ-बोद्ध-चव-जम्प-

सीस-साहाः ॥ २ ॥

'सङ्घ-बोद्ध-चवाः जम्प-पज्जरोप्पाल-वज्जराः ।

साहो सीसो च पिसुण' आदेशा वा कथेदेश ॥

पिसुणइ सङ्घइ बोद्धइ, उप्पालइ वज्जरइ च पज्जरइ ।

साहइ जम्पइ सीसइ, चवइ कथयतीति संवेद्यम् ॥

'बुक्क जषण' इति धातोरुत्पूर्वस्यैव तस्य उव्वुक्कइ ।

पक्षे 'कहइ' इतीदं रूपं वेद्यं हि कथधातोः ॥

अन्यैरेते तु देशीषु पठिता अपि सुरिजिः ।

'विविधेषु प्रत्ययेषु प्रयुक्ताः' इत्यतो मया ॥

धात्वादेशीकृता ह्येते, तत्सर्वं श्रूयतामिह ।

वज्जरिओ कथितो, वज्जरिअव्वं कथयितव्यमिति भवति ॥

वज्जरणं कथनं, वज्जरिणुणं चापि कथयित्वा ।

कथयन् हि वज्जरन्तो, सहस्रशः सन्ति त्रास्य रूपाणि ॥

संस्कृतधातुवदत्र प्रत्ययलोपागमादिविधिः ।

दुःखे णिव्वरः ॥ ३ ॥

दुःखविषयस्य कथेः, 'णिव्वरो' वा विधीयते ।

दुःखं कथयतीत्यर्थे, क्रिया 'णिव्वरइ' स्मृता ।

जुगुप्सेर्जुण-दुगुच्छ-दुगुच्छाः ॥ ४ ॥

'जुण-दुगुच्छ-दुगुच्छाः' जुगुप्सेर्वा त्रयो मताः ।

जुणइ दुगुच्छइ च दुगुच्छइ, पक्षे भवति वै जुगुच्छइ च ।

लोपे गस्य जुवच्छइ तथा दुवच्छइ जुवच्छइ च ।

बुधुक्षि-बीज्योर्णीरव-बोज्जौ ॥ ५ ॥

बोज्ज-णीरवौ स्यातां, क्विन्त-बीजस् तथा बुधुक्केर्वा ।

बोज्जइ बीजइ तस्माद्, भवति बुधुक्कइ च णीरवइ ।

ध्या-गोर्भा-गौ ॥ ६ ॥

'ध्या गा' अनयोर् 'जा गा' इत्यादेशौ हि, जाइ जाअइ च ।

णिज्जाअइ णिज्जाइ च, जाणं गाणं, च गाइ गायइ च ।

ज्ञो जाण-मुणौ ॥ ७ ॥

जानातेः स्तो 'जाण-मुणौ' स्यातां 'मुणइ जाणइ' ।

क्वचिद् विकल्पो बहुलात्, यथा-णायं च जाणिअं ।

वा जाणिऊण णाऊण, रूपं 'मणइ' मन्यतेः ।

उदो ध्मो धुमा ॥ ८ ॥

उदः परस्य ध्मा-धातोर् 'धुमा' स्याद्, 'उडुमाइ' हि ।

अदो धो दहः ॥ ९ ॥

अत्परस्य दधातेर्दह इति वै 'सहइ' ।

पिवेः पिज्ज-रुद्ध-पट्ट-घोष्टाः ॥ १० ॥

वा 'पिज्ज-रुद्ध-पट्ट-घोष्टाः', एते स्युरत्र वा पिवतेः ।

पिज्जइ रुद्धइ पट्टइ, घोष्टइ, पक्षे 'पिअइ' रूपम् ।

उघातेरोरुम्मा वसुआ ॥ ११ ॥

'ओरुम्मा वसुआ' च स्यातामुत्पूर्व-वातिधातोर्वा ।

'ओरुम्माइ' च 'वसुआइ' च पक्षे भवति 'उव्वाइ' ॥

निघातेरोहीरोड्यौ ॥ १२ ॥

'ओहीर उ[ओ] ह' इत्येतौ, वा नि-घातेः पदे मतौ ।

यथा-'ब[ओ] हइ निहाइ ओहीरइ' भवेत् त्रयम् ।

आघेराङ्घः ॥ १३ ॥

वाऽऽजिघ्रतेः स्याद् आङ्घः, आङ्घइ अङ्घाइ च ।

स्नातेरव्युत्तः ॥ १४ ॥

स्नातेर् 'अव्युत्त' इति वा स्याद् अव्युत्तइ एहाइ च ।

समः स्तयः खाः ॥ १५ ॥

संपूर्वस्य स्त्यायतेः 'खाः' स्यात् 'संखाइ' यथा भवेत् ।

स्थप्रा-थक्-चिट्ठ-निरप्पाः ॥ १६ ॥

'थक्को चिट्ठो निरप्पः, ठा' स्था-धातोः स्युरिमे यथा ।

ठाइ थक्कइ चिट्ठइ चिट्ठिऊण निरप्पइ ।

पठिओ उठिओ पठाविओ उट्ठाविओ तथा ।

क्वचिन्न बहुलात्-थाणं थिअं थाऊण उत्थिओ ।

उदष्ट-कुक्कुरौ ॥ १७ ॥

उदः परस्य स्था-धातोः, स्यातामत्र उ-कुक्कुरौ ।

'उठइ' स्यात् तथा 'उक्कुक्कुरइ' द्वयमत्र तु ।

म्मेर्वा-पव्वायौ ॥ १८ ॥

'पव्वाय वा' इत्यादेशौ, म्मायतेर्वाऽत्र संमतौ ।

'वाइ पव्वायइ' तथा, पक्षे रूपं 'मिवाइ' च ।

निर्मो निम्माण-निम्मवौ ॥ १९ ॥

'निम्माण-निम्मवौ' स्यातां, निर्मिमीतेरिमौ यथा ।

'निम्माणइ निम्मवइ' यथैते सिद्धिमाप्नुतः ।

क्वैणिज्जरौ वा ॥ २० ॥

क्षयतेर् णिज्जरौ वा णिज्जरइ, पक्षे क्विज्जइ ।

उदेर्णेण्म-नूम-सन्नुम-ढक्कौम्वाल-पव्वाद्याः ॥ २१ ॥

'स्युर् ढक्कौम्वाल-पव्वाद्या एण्मो नूमश्च सन्नुमः ।

छुदेर्ण्यन्तस्य वाऽऽदेशाः षडेते, तन्निश्चय्यताम् ।

एण्मइ च नूमइ, एत्वे एण्मइ ढक्कइ च सन्नुमइ भवति ।

ओम्वालइ पव्वालइ, तथा च णायइ निगद्यन्ते ।

नित्रिपत्योणिहोरुः ॥ २२ ॥

निवृगः पतेश्च धातोः, एयन्तस्य तु वा 'णिहोड' इति भवतु ।

यथा 'णिहोरुइ' पक्षे तथा निचारेड, पाडेड ।

दूडो दूमः ॥ २३ ॥

दूडो एयन्तस्य दूमः स्यात्, हिअयं मज्झ दूमेइ ।

धवल्लेर्दुमः ॥ २४ ॥

धवल्लयतेर्ण्यन्तस्य दुमादेशो वा, दुमइ च धवल्लइ च ।

स्वर-[४।२३८] सूत्रेण तु दीर्घे दूमिअमिति धवल्लितं भवति ।

तुलेरोहामः ॥ २५ ॥

तुलेर्ण्यन्तस्य 'ओहामो' वा, तुलइ ओहामइ ।

आदेशास्तु निलीडो धातोः पस् वा प्रवर्तन्ते ।
लुक्क इ लिक्क इ लिक्क इ भवति णिलीडा तथा णिलुक्क च ।
तथा णिरिग्घ इ रूपं, पक्के वेद्यं निलिज्ज इ तु ।

विहीडेर्विरा ॥ ५६ ॥

विरा विलीडादेशो वा, विरा इ विहिज्ज इ ।

रुते रुज्ज-रुटौ ॥ ५७ ॥

रौतेः स्थाने विकल्पेन रुज्ज-रुटौ प्रकीर्तितौ ।

रुज्ज इ रुट इ ततः, पक्के रव इ सिध्यति ।

श्रुटेर्हणः ॥ ५८ ॥

शृणोतेर्वा हणो, हण-इ सुण इ सिद्धिमितः ।

धुगेर्धुवः ॥ ५९ ॥

धुनातेर्वा धुवो धुव इ स्याद् धुण इ पाक्षिकम् ।

जुवेर्हो-हुव-हवाः ॥ ६० ॥

'हो हुव हव' इत्येते जुवः स्थाने विकल्पिताः ।

'हो इ हुव इ हव इ' स्युर्, 'होन्ति हुवन्ति च हवन्ति' बहुवचने ।

पक्के भव इ भवन्ति च, ऋषिर्भं पभव इ च परिभव इ ।

क्वचिदन्यदपि यथा-नत्तं, उच्चुअ इ स्मृतम् ।

अविति हुः ॥ ६१ ॥

विद्वज्जे प्रत्यये 'हु' स्याद्, भुवः स्थाने विज्ञापया ।

यथा हुन्ति, भवन् हुन्तां, किम् ? अविति, 'हो इ' च ।

पृथक् स्पष्टे णिव्वरुः ॥ ६२ ॥

पृथग्भूते तथा स्पष्टे, कर्त्तरि 'णिव्वरु' भुवः ।

पृथक् स्पष्टो वा भवती-त्यर्थे 'णिव्वरु' स्मृतम् ।

प्रजो हुप्पो वा ॥ ६३ ॥

प्रभुकर्तृकस्य जुवः, स्थाने हुप्पो विकल्प्यते ।

प्रभुत्वं च प्रपूर्वस्यै-वाथो ऽवेति विभाव्यताम् ।

अङ्गं चिअ पडुप्प इ, न, पक्के पभव इ च ।

क्ते हुः ॥ ६४ ॥

क्ते जुवो ह्वर् अणुह्वर्, पडुअं ह्वर्मीदृशम् ।

कृगः कुणः ॥ ६५ ॥

कृगः कुणो वा, कुण इ, कर इ स्यात् पाक्षिकम् ।

काणेकिते णिआरः ॥ ६६ ॥

काणेकितविषयस्य तु, कृगः पदे वा णिआर आदेशः ।

काणेकितं करोतीत्यर्थे वाच्यं 'णिआर' इ हि ।

निष्ठम्नावष्टम्भे णिडुह-संदाणं ॥ ६७ ॥

अवष्टम्भे च निष्ठम्भे, कृगः संदाण-णिडुहौ ।

इत्यादेशौ यथासंख्यं, विकल्पनेह बुध्यताम् ।

णिडुह इ तु निष्ठम्भं करोती-त्यर्थवोधकम् ।

'संदाण इ' अवष्टम्भं करोतीत्यर्थवाचकम् ।

श्रमे वावम्फः ॥ ६८ ॥

श्रमविषयस्य तु कृगो, वावम्फो वा विधीयते ।

श्रमं करोति इत्यर्थे, 'वावम्फ' निगद्यते ।

मन्युनौष्ठमालिन्ये णिव्वोलः ॥ ६९ ॥

मन्युनौष्ठमालिन्ये, 'णिव्वोल' कृगोऽस्तु वा ।

माहिनीकुरुते स्वौष्ठं कुधा; 'णिव्वोल' स्मृतम् ।

शैथिल्यलम्बने पयल्लः ॥ ७० ॥

शैथिल्ये लम्बनेऽर्थे च, 'पयल्लो' वा कृगो यथा ।

लम्बते वा च शिथिलीभवति स्यात् 'पयल्ल' इ ।

निष्पाताच्छोटे णीलुञ्जः ॥ ७१ ॥

आच्छोटेऽर्थे च निष्पाते, 'णीलुञ्जो' वा कृगो भवेत् ।

'णीलुञ्ज' निष्पतति, वाऽऽच्छोटयति कथ्यते ।

कुरे कम्मः ॥ ७२ ॥

कुरार्थस्य कृगः 'कम्म', इत्यादेशो विभाषया ।

'कुरं करोति' इत्यर्थे, पदं 'कम्म' इ नष्टयते ।

चाटौ गुललः ॥ ७३ ॥

चाटुविषयस्य कृगो, 'गुललो' वा विधीयते ।

प्रयुज्यते 'गुलल' इ, 'चाटुकारं करोत्यतः' ।

स्मरेर्भूर-भूर-भर-भल-लड-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहाः ॥ ७४ ॥

पम्हुहो विम्हरो भूरः पयरः, सुमरो भरः ।

भलो लडो ऊरो वैते, नवादेशाः स्मरेर्मताः ।

भूर इ भर इ विम्हर इ, सुमर इ पयर इ च पम्हुह इ सर इ ।

भर इ भल इ लड इ ततः, स्मरेर्भवन्तीह रूपाणि ।

विस्सुः पम्हुस-विम्हर-वीसराः ॥ ७५ ॥

'पम्हुस विम्हर वीसर' इत्यादेशो भवन्ति विस्मरतेः ।

'पम्हुस इ विम्हर इ वीसर इ' च सिद्ध्यन्ति रूपाणि ।

व्याहगेः कोक-पोकौ ॥ ७६ ॥

व्याहरेतेर्वा स्याता-मादेशौ द्वौ हि 'कोक-पोकौ' च ।

कोक इ, ह्रस्वत्वे कुक्क इ पोक्क इ, 'वाहर इ' पक्के ।

प्रसरेः पयल्लोवेद्धौ ॥ ७७ ॥

उवेद्धश्च पयल्लो वा, स्यातां प्रसरतेरिमौ ।

उवेद्ध इ पयल्ल इ, पक्के प्रसर इ स्मृतम् ।

महमहो गन्धे ॥ ७८ ॥

गन्धार्थस्य प्रसरतेः, स्थाने महमहोऽस्तु वा ।

'माल इ महमह इ,' गन्धे किं ? प्रसर इ च ।

निस्सरेणीहर-नील-धारु-वरहाडाः ॥ ७९ ॥

निस्सरतेर् 'वरहाडो, नीलो धाडो च नीहरो' वा स्युः ।

वरहाड इ नील इ नीहर इ च धाड इ च, नीसर इ ।

जाग्रैर्जगः ॥ ८० ॥

जागतेर् 'जग' इति तु, स्यादादेशो विभाषया ।

रूपं 'जग इ' तेन स्यात्, पक्के 'जागर इ' स्मृतम् ।

व्याप्रेराअडुः ॥ ८१ ॥

धातोर्न्याप्रियतेः स्थाने, 'आअडो' वा विधीयते ।

आअडु इ तथा 'वाचरे इ' रूपं तु पाक्षिकम् ।

संवृगेः साहर-साहट्टौ ॥ ८२ ॥

संवृणोतेस्तु साहर-साहट्टौ वा पदे मतौ ।

साहट्ट इ साहर इ, पक्के 'संवर इ' स्मृतम् ।

आहडः सन्नामः ॥ ८३ ॥

वाऽऽहडः स्यात् 'सन्नामो,' आदर इ सन्नाम इ ।

प्रहणेः सारः ॥ ८४ ॥

सारः प्रहरतेः स्थाने, वा पहरइ सारइ ।

अवतरेरोह-आंगसौ ॥ ८५ ॥

‘ओह ओरस’ इत्येतौ, वाऽवाचनरतेर्मतौ ।
ओहइ वा ओरसइ, पक्षे ‘ओअरइ’ स्मृतम् ।

शकेश्वर-तर-तीर-पाराः ॥ ८६ ॥

शकेश्वर-तर-तीर-पाराः, चत्वारो वा शकेश्वरे ।
चयस्तरस्तीरपारौ, चयइ तरइ, चयइ च न्यजतेः । [१]

तीरइ पारइ सकइ, चयइ तरइ, चयइ च न्यजतेः । [१]
तरतेरपि तु तरइ वा, तीरयतेरपि भवेत् तीरइ ।
पारयतेरपि भवेत्, रूपं ‘पारइ’ पठ्यते । [२]

फक्कस्थकः ॥ ८७ ॥

यक्कस्तु फक्कतेः स्थाने भवेत्, ‘थक्कइ’ सिध्यति ।
श्लाघः सद्गहः ॥ ८८ ॥

श्लाघतेः सलदादेशो भवेत्, ‘सलहइ’ स्मृतम् ।
खचैर्वैअडः ॥ ८९ ॥

खचनेर् ‘वेअडो’ वा, ‘वेअडइ’ ‘खचइ’ स्मृतम् ।
पचेः सोल्ल-पउल्लौ ॥ ९० ॥

चा ‘सोल्ल-पउल्लौ’ इत्यादेशौ स्नः पचतेः स्थले ।
‘सोल्लइ’ वा ‘पउल्लइ’, पक्षे ‘पयइ’ सिध्यति ।

मुचेरउडावहेन मेह्मास्सिक-रेअव-णिल्लुञ्ज-धंसामाः ॥ ९१ ॥

मेह्माऽवहेडो धंसामो, णिल्लुञ्जोस्सिक-रेअवाः ।
उडावहेते मुचेः स्थाने, सप्तादेशा विकल्पिताः ।
णिल्लुञ्जइ उस्सिकइ, अवहेडइ रेअवइ च धंसामइ ।
उडाइ मेह्माइ, पक्षे ‘मुअइ’ च रूपं तु भवतीति ।

उःखे णिव्वल्लः ॥ ९२ ॥

उःखविषयस्य मुचेर्णिव्वल्लो वा विधीयते ।
‘उःखं मुञ्जति’ इत्यर्थे ‘णिव्वल्लेइ’ क्रियापदम् ।

वञ्जेवेहव-वेहव-जूरवोमच्छाः ॥ ९३ ॥

चा वेहव-वेहव-जूरवा उमच्छाऽपि वञ्जतेः स्थाने ।
वेहवइ वेहवइ जूरवइ उमच्छइ च, वञ्जइ च ।

रचेरुगहावह-विम्विड्डाः ॥ ९४ ॥

धातोः रचेर् उगहावह-विडविड्डाखयो भवन्त्येते ।
विम्विड्डइ उगहाइ च अवहइ, पक्षे रयइ भवति ।

समारचेरुवहत्थ-सारव-समार-केलायाः ॥ ९५ ॥

समारचेर् उवहत्थः, केलायः सारवः समारो वा ।
उवहत्थइ केलायइ, समारयइ सारवइ समारइ च ।

सिचेः सिञ्च-सिम्पौ ॥ ९६ ॥

सिञ्च-सिम्पौ विकल्पेन, सिञ्चतेर्वा पदे स्मृतौ ।
सिक्कं सिञ्चइ सिम्पइ, पक्षे संअइ ज्ञायते ।

प्रच्छः पुच्छः ॥ ९७ ॥

प्रच्छेः स्थाने जवेत् पुच्छादेशः, पुच्छति सिद्ध्यति ।
गर्जेर्युक्कः ॥ ९८ ॥

गर्जतेर्युक्क इत्यादेशो वा, युक्कइ, गजइ ।
[१] हार्नि करोति । [२] कर्म सनाप्नोति ।

वृपे ढिकः ॥ ९९ ॥

वृपे कर्तरि गजैर् वा, ढिकाऽऽदेशो विधीयते ।
‘ढिकइ’ ‘गर्जति वृपः’ इत्यर्थे परिपठ्यते ।

राजेरग्य-उज्ज-सह-रीर-रेहाः ॥ १०० ॥

राजेरग्य-उज्ज-सहो भवन्तु वा राजेः ।
अग्यो रीरो रेहः, उज्जइ सहो भवन्तु वा राजेः ।
अग्यइ उज्जइ रीरइ, रेहइ रायइ च सहइ तथा ।

मस्मेराउड्ड-णिउड्ड-वुड्ड-खुप्पाः ॥ १०१ ॥

आउड्डश्च णिउड्डो, वुड्डः खुप्पश्च मज्जतेर्वा स्युः ।
आउड्डइ च णिउड्डइ, वुड्डइ खुप्पइ च मज्जइ च ॥

पुञ्जेरारोल-वमाडौ ॥ १०२ ॥

आरोलश्च वमालश्च, पुञ्जेरतौ विकल्पितौ ।
आरोलइ वमालइ, पक्षे ‘पुञ्जइ’ सिध्यति ।

लस्जेर्नीहः ॥ १०३ ॥

जीहो वा लज्जतेः स्थाने, यथा-जीहइ, लज्जइ ।
तिजेरोमुक्कः ॥ १०४ ॥

ओसुको वा तिजेः स्थाने, ओसुक्कइ च तेअणं ।
मृजेरग्युस-लुञ्ज-पुञ्ज-पुंस-पुस-पुस-बुह-हुल-
रोसाणाः ॥ १०५ ॥

उगुसो रोसणो लुञ्जः, पुञ्जः पुंसः पुसः ।
लुहो हुलो, नवादेशा विकल्पेन मृजेर्मताः ।
लुञ्जइ पुञ्जइ पुंसइ, रोसाणइ पुसइ तथा लुहइ ।
हुलइ उगुसइ, पक्षे ‘मज्जइ’ इति सिद्धिमेति पदसः ।
मृजेर्वैमय-मुसुमूर-मूर-सूर-मूर-विर-पविरज-
करज-नीरज्जाः ॥ १०६ ॥

मुसुमूरो विरो मूरः, सूरः सूडश्च वेमयः ।
पविरजः करज्जा नीरज्जा वा मज्जतेर्नव ।
मूरइ सूरइ सूडइ, मुसुमूरइ वेमयइ च पविरजइ ।
नीरज्जइ च करज्जइ, विरइ च पक्षे भवेद्-‘मज्जइ’ ।

अनुव्रजेः पणिअग्गः ॥ १०७ ॥

अनुव्रजेः ‘पणिअग्ग’ इत्यादेशो विकल्प्यते ।
‘पणिअग्गइ’ पक्षे तु ‘अणुवच्चइ’ सिध्यति ।

अर्जेर विहवः ॥ १०८ ॥

अर्जभानो विकल्पेन, विहवाऽऽदेश इष्यते ।
प्रयुज्यते ‘विहवइ’ तथा ‘अज्जइ’ पाक्षिकम् ।
युजो जुज्ज-जुज्ज-जुप्पाः ॥ १०९ ॥

युजोः स्थाने ‘जुज्ज-जुज्ज-जुप्पा’ एते त्रयो मताः ।
जुज्जइ जुज्जइ तथा, जुप्पइ ‘सिद्धिमागमम्’ ।

मुजो जुज्ज-जिम-जेम-कम्माएह-समाण-चमह-चड्डाः ॥ ११० ॥

समाणश्चमहश्चड्डः, कम्मो मुजो जिमस्तथा ।
अएहो जेमो, मुजः स्थानेऽष्टादेशाः परिकीर्तिताः ।
‘जुज्जइ जिमइ च जेमइ, चमहइ कम्मइ चड्डइ समाणइ ।
‘अएहइ’ इति मुजधातोः, रूपं वेद्यं सुधीभिरतः ।

वोपेन कम्मवः ॥ १११ ॥

उपेन युक्तस्य भुजेः, ‘कम्मवो’ वा विधीयते ।
तेन सिद्धं ‘कम्मवइ’, ‘उवहुज्जइ’ इत्यपि ।

घटेर्गढः ॥ ११२ ॥

घटेर्गढो वा, गढइ, घडइ स्यात्तु पाक्षिकम् ।

समो गडः ॥ ११३ ॥

संपूर्वस्य घटेः स्थाने, गडादेशो विकल्पनात् ।

ततः सिद्धं 'संगडइ', पक्षे 'संघरुइ' स्मृतम् ।

हासेन स्फुटेर्भुरः ॥ ११४ ॥

हासेन स्फुटेनेऽर्थे तु, स्फुटेः स्थाने मुरोऽस्तु वा ।

हासेन स्फुटतीत्यर्थे, रूपं 'मुरइ' कथ्यते ।

माणेश्चिश्च-चिश्चअ-चिश्चिल्ल-रीरु-टिविदिक्काः ॥ ११५ ॥

चिश्चिल्लश्चिश्चअश्चिश्चो, रीडिपिदिक्कस्तथा ।

एने मण्डेर् विकल्पेन, पञ्चादेशाः प्रकीर्तिताः ।

चिश्चिल्लइ चिश्चअइ, टिविदिक्कइ चिश्चइ ।

रीडइ तथा, 'मण्डइ', इति रूपं तु पाक्षिकम् ।

तुनेस्तोड-तुड-खुड-खुनोक्खुडोल्लुक्-णिद्रुक्-लुकोल्लूराः ॥ ११६ ॥

लुकोल्लूरो तुड-खुडौ, णिल्लुक्खु खुडोक्खुडौ ।

तोडोल्लुको, तुडः स्थाने, विज्ञापा स्युरमो नव ।

तोडइ तुडइ खुडइ, उल्लुक्खु उक्खुडइ णिल्लुक्खु च ।

खुनइ तुडइ उल्लूरइ, लुक्खु रूपं तुनेरेनत् ।

धूर्णो घुल-घोल-घुम्म-पहल्लाः ॥ ११७ ॥

घुलो घोलः पहल्लश्च, घुम्मा धूर्णेरमी मताः ।

'घुलइ घोलइ पहल्लइ घुम्मइ सिद्धयति ।

विवृतेर्ढसः ॥ ११८ ॥

ढंसो वा विवृतेः स्थाने, ढंसइ स्याद् विवृट् ।

क्वथेरट्टः ॥ ११९ ॥

क्वथेरट्टो वा, अट्टइ, पक्षे-कढइ सिध्यति ।

ग्रन्थो गणठः ॥ १२० ॥

ग्रन्थेर्गणठोऽस्तु, गणठइ, गणठी सान्निः प्रयुज्यते ।

मन्थेर्घुसल्ल-विरोल्लौ ॥ १२१ ॥

घुसल्लश्च विरोल्लश्च, मन्थेरेतौ विकल्पितौ ।

रूपं घुसल्लइ विरोल्लइ, मन्थइ इत्यपि ।

ह्लादेर्वअच्छः ॥ १२२ ॥

ह्लादेर्त्यन्तस्यावअच्छोऽण्यन्तस्यापि स्थले भवेत् ।

ह्लादते ह्लादयति वा, 'अवअच्छइ' उच्यते ।

अवेकारस्तु एत्यन्तस्यापि ग्रहार्थः प्रयुज्यते ।

नेः सदो मज्जः ॥ १२३ ॥

निपूर्वस्य सदो मज्जः, 'अत्ता एत्थ णिमज्जइ' ।

छिदेर्दुहाव-णिच्छल्ल-णिज्झोरु-णिव्वर-णिप्पूर-

बूराः ॥ १२४ ॥

वा स्युर् णिच्छल्ल-णिज्झोमौ, णिल्लूरो लूर-णिव्वरौ ।

दुहावश्च षमादेशाः, छिद्-धातोः पदे यथा ।

णिच्छल्लइ णिज्झोडइ, णिल्लूरइ णिव्वरइ दुहावइ च ।

लूरइ इति छिद्-धातोः, पक्षे 'छिन्दइ' मतं रूपम् ।

आडा ओअन्दोहालौ ॥ १२५ ॥

'ओअन्दोहालौ' वा, स्याताम् आडा सहात्र छिद्-धातोः ।

'ओअन्दइ, उदावइ' 'अच्छिन्दइ' इति विकल्पवशात् ।

मृदो मल्ल-मढ-परिहट्ट-खड्ड-चड्ड-मड्ड-पन्नामाः ॥ १२६ ॥

खड्ड-चड्डौ च पन्नाडः, परिहट्टो मढो मलः ।

मड्डश्चापि मृदः स्थाने, सप्तादेशाः प्रकीर्तिताः ।

पन्नामइ मड्डइ च, परिहट्टइ खड्डइ ।

मढइ चड्डइ तथा, मलइ प्रतिपठ्यते ।

स्पन्देर्चुल्लुचुल्लः ॥ १२७ ॥

स्पन्देर्चुल्लुचुल्लादेशो, विकल्पेन प्रयुज्यते ।

सिद्धं 'चुल्लुचुल्लइ' तु, पक्षे 'फन्दइ' इत्यपि ।

निरः पदेर्वलः ॥ १२८ ॥

निःपूर्वस्य पदेः स्थाने, वलादेशो विकल्प्यते ।

'निव्वलइ निप्पज्जइ', द्वयं सिद्धिमगादिदम् ।

विसंवदेर्विअट्ट-विलोट्ट-फंसाः ॥ १२९ ॥

विअट्टश्च विलोट्टश्च, फंसाश्चेति त्रयोऽपि वा ।

विसंपूर्वस्य तु वदेः, स्थाने सन्तु यथाक्रमम् ।

विअट्टइ ततः सिद्धं, विलोट्टइ च फंसाइ ।

विसंवअइ चेतत्तु, पाक्षिकं रूपमिष्यते ।

शदो ऊरु-पक्खोमौ ॥ १३० ॥

शदः स्तो ऊरु-पक्खोमौ, ऊरुइ, वा पक्खोडइ ।

आक्रन्देर्णीहरः ॥ १३१ ॥

आक्रन्देर्णीहरो वा स्याद्, णीहरइ अक्रन्दइ ।

खिदेर् जूर-विसूरौ ॥ १३२ ॥

खिदेर् जूर-विसूरौ तौ, स्यातामत्र विकल्पनात् ।

'विसूरइ' ततः सिद्धं, पक्षे जूरइ, खिज्जइ ।

रुधेरुत्थङ्गः ॥ १३३ ॥

रुधेरुत्थङ्ग इति वा, उत्थङ्गइ च रुधइ ।

निपेधेर्हक्कः ॥ १३४ ॥

हक्को निपेधेर् हक्कइ वा पक्षे निसेहइ ।

रुधेर्जूरः ॥ १३५ ॥

रुधेर्जूरौ विकल्पेन, 'जूरइ' 'जुज्जइ' इत्यपि ।

जनो जा-जम्मौ ॥ १३६ ॥

जा-जम्मौ जायतेः स्थाने, सिद्धं 'जाअइ जम्मइ' ।

तनेस्तम-तड्ड-तड्डव-विगल्लाः ॥ १३७ ॥

तम-तड्ड-तड्डव-विगल्लाश्चत्वारस्तनः स्थले वा स्युः ।

तड्डइ तमइ तड्डवइ, तथा विगल्लइ, 'तणइ' पक्षे ।

तृपस्थिप्पः ॥ १३८ ॥

तृप्यतेस्तु पदे थिप्पः, 'थिप्पइ' प्रणिगद्यते ।

उपसर्पेरल्लिअः ॥ १३९ ॥

कृतगुणस्योपसर्पेः, स्थाने वा 'अल्लिओ' मतः ।

ततः सिद्धम् 'अल्लिअइ', 'उवसप्पइ' पाक्षिकम् ।

संतपेर्भङ्गः ॥ १४० ॥

संतपेर्भङ्ग इति वा, संतप्पइ च ऊहइ ।

व्यापेरोअगः ॥ १४१ ॥

व्याप्नोतेस्तु विकल्पेनाऽऽदेश 'ओअग' इष्यते ।

‘आंअग्ग’ ततः पक्षे, रूपं ‘वावेइ’ सिध्यति ।

समापेः समाणः ॥ १४२ ॥

समाप्नोतेः समाणो वा, समावेइ समाणइ ।

क्षिपेर्गलत्याङ्गुल-सोद्व-पेद्व-णोद्व-हुद्व-हुल-परी-

घत्ताः ॥ १४३ ॥

सोद्वपेक्षौ परी-घत्तौ, गलत्यश्च छुहो हुलः ।

अङ्गुलसो णोद्व इत्येते, नवादेशाः क्षिपेस्तु वा ।

अङ्गुलश्च च गलत्यश्च, सोद्वश्च पेद्वश्च हुद्वश्च हुलश्च घत्तश्च ।

णोद्वश्च ह्रस्वत्वे णुल्लइ परीइ, पाक्षिकं खिवइ ।

उत्तिपेर्गुलगुञ्जोत्यङ्गुल्लत्योञ्चुत्तोत्तिस्सक-हक्खुवाः ॥ १४४ ॥

गुलगुञ्जोत्यङ्गुल्लत्योञ्चुत्तोत्तिस्सक-हक्खुवा वा स्युः ।

उत्पूर्वस्य तु क्षिपेर्, धातोः स्थाने पमादेशाः ।

गुलगुञ्जइ उत्त्यङ्गइ, अल्लत्यश्च हक्खुवश्च च उत्तिस्सकइ ।

उञ्चुत्तइ इति पक्षे, रूपं वेद्यं तु ‘उत्तिस्सकइ’ ।

आक्षिपेर्णीरवः ॥ १४५ ॥

आहपूर्वस्य क्षिपेर्धातोर्णीरवो वा विधीयते ।

ततः सिद्धं ‘णीरवइ’, पक्षे ‘अक्षिपवइ’ स्मृतम् ।

स्वपेः कमवस-लिस-लोद्वः ॥ १४६ ॥

‘कमवस-लिस-लोद्वः’ वा, स्युरमी धातोः स्वपेः स्थले कमशः ।

लोद्वइ लिसइ कमवसइ, भवति तु पक्षे ‘सुअइ’ रूपम् ।

वेपेरायम्वायज्जौ ॥ १४७ ॥

वेपेर् ‘आयम्वायज्ज’ इत्यादेशौ विकल्पनात् ।

आयम्वाइ तथा आयज्जइ, पक्षे तु ‘वेवइ’ ।

विलपेर्कङ्क-वमवमौ ॥ १४८ ॥

विलपेस्तु विकल्पेन, कङ्को वडवडश्च वा ।

कङ्कइ वडवडइ, पक्षे विलवइ स्मृतम् ।

क्षिपां क्षिम्पः ॥ १४९ ॥

क्षिम्पस्तु क्षिम्पतेः स्थाने, ततो क्षिम्पइ सिध्यति ।

गुप्येर्विर-णमौ ॥ १५० ॥

स्थाने धातोर्गुप्यतेर्वा, भवेतां द्वौ ‘विरौ, णडः’ ।

विरइ णमइ पक्षे, गुप्यइ सिद्धिमश्नुते ।

कृपाञ्जहो णिः ॥ १५१ ॥

अवहस्तु कृपेः स्थाने, एयन्तो भवति, तद्यथा ।

‘कृपां करोति’ इत्यर्थे, ‘अवहावेइ’ पठ्यते ।

प्रदीपेस्तेअव-सन्दुम-सन्धुक्काञ्चुत्ताः ॥ १५२ ॥

‘तेअव-सन्दुम-सन्धुक्काञ्चुत्ता’ वा प्रदीप्येतेरेते ।

सन्धुक्कइ अञ्चुत्तइ, सन्दुमइ पर्लावइ तेअवइ ।

क्षुजेः संजावः ॥ १५३ ॥

संभावो लुज्यतेर्वा स्यात्, संभावइ च लुज्जइ ।

खउरः खउर-पडुहौ ॥ १५४ ॥

खउरः पडुहो वा स्तः, क्षुजेर्धातोः पदे यथा ।

खउरइ पडुहइ, पक्षे ‘खुमइ’ सिध्यति ।

आडो रजेः रम्भ-ढवौ ॥ १५५ ॥

आडः परस्य तु रमेः, स्यातां रम्भो ढवश्च वा ।

आरम्भइ आवडइ, पक्षे ‘आरम्भइ’ स्मृतम् ।

उपालम्भेर्जङ्ख-पच्चार-वेदवाः ॥ १५६ ॥

उपालम्भेर्जङ्खो वा स्युर्जङ्ख-पच्चार-वेदवाः ।

पच्चारइ वेदवइ, उपालम्भइ जङ्खइ ।

अवेर्जम्भो जम्भा ॥ १५७ ॥

जम्भेर् जम्भा, न तु वेः परस्य, जम्भाइ भवति जम्भाअइ ।

किम् ? अवेरिति हि निषेधः, ‘सुकेलिपसरो विअम्भइ अ’ ।

भाराक्रान्ते नमेर्णिसुदः ॥ १५८ ॥

भाराक्रान्ते तु कतेरि, णिसुदो वा नमेः स्मृतः ।

णिसुदइ, वा ‘णवइ’, आक्रान्तो नमतीत्यतः ।

विश्रमेर्णिन्वा ॥ १५९ ॥

‘णिन्वा’ विश्राम्यतेर्वा ‘णिन्वाइ, वीसमइ’ द्वयम् ।

आक्रमेरोहावोत्थारञ्चुन्दाः ॥ १६० ॥

आक्रमेः ‘ञ्चुन्दा’ उत्थार ओहावो’ वा त्रयो मताः ।

ओहावइ उत्थारइ, वा अक्कमइ ञ्चुन्दाइ ।

भ्रमेष्टिरिट्ठ-हुण्डल्ल-ढादल्ल-चक्कम्म-भम्मन्-भम-

न्-भमान-तन्नअएट-ऊएट-ऊम्प-जुम्-गुम्-फुम्-फु-

स-हुम्-हुस-परी-पराः ॥ १६१ ॥

चक्कम्मो भम्मन् ऊम्पष्टिरिट्ठो जुम् गुम् ।

हुण्डल्लो भमन् ढण्डल्लो भमाडः फुम् फुसः ।

तलअण्डस्तथा ऊएटो, हुम् हुस-परी-पराः ।

इत्यमी भ्रमेष्टेरष्टादशादेशा विकल्पनात् ।

टिरिट्ठल्लइ हुण्डल्लइ, ढण्डल्लइ तलअण्डइ च ऊएटइ ।

भमडइ चक्कम्मइ भम्मन्इ भमानइ जुमइ ऊम्पइ ।

गुमइ फुमइ फुसइ हुमइ, हुसइ परीइ च परइ जमइ पक्षे ।

भ्रमधातोरेड रूपं, विविधं वेद्यं सुधीजिस्तु ।

गमेरई-अइच्छाण्वज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस-पच्चइ-पच्छ-

न्द-णिम्मह-णी-णीण-णीलुक्क-पदअ-रम्भ-परिअल्ल-

बोल-परिअल्ल-णिरिणास-णिवहावसेहावहराः ॥ १६२ ॥

अई णी पदओऽच्छोऽण्वज्जोऽवज्जोऽक्कुसः ।

पच्चइ णिवहः पच्छन्दोऽवसेहश्च णिम्महः ।

परिअल्लः परिअलो, णिरिणासस्तथोक्कुसः ।

रम्भो णीणश्च णीलुक्कोऽवहरो बोल इत्यमी ।

पक्षविशतिरादेशा गमधातोस्तु वा मताः ।

अण्वज्जइ पच्चइइ, अवज्जसइ अक्कुसइ च पच्छन्दइ ।

णीणइ अईइ रम्भइ, णिरिणासइ णीइ णीलुक्कइ ।

पदअइ णिम्महइ अइच्छइ परिअल्लइ च उक्कुसइ बोवइ ।

अवसेहइ अवहरइ च, णिवहइ परिअल्लइ वा गच्छइ ॥

[णीहम्मइ आहम्मइ, पहम्मइ णिहम्मइ तु तथा हम्मइ ।

‘हम्म गतौ’ इति धातोरमूनि रूपाणि वेद्यानि ।]

आडा अहिपच्चुअः ॥ १६३ ॥

आडा सहितस्य गमेः, स्थाने वाऽस्त्वहिपच्चुअः ।

‘अहिपच्चुअइ’ स्याद् वा, तथा-ऽऽगच्छइ’ पाक्षिकम् ॥

समा अग्निडः ॥ १६४ ॥

समा शुक्तस्य तु गमेर्, ‘अग्निडो’ वा विधीयते ।

सिद्धं ततो ‘अग्निडइ’, पक्षे-संगच्छइ स्मृतम् ।

अन्याङोम्पत्यः ॥ १६५ ॥

उम्पत्यस्तु गमेः स्थानेऽभ्याङ्ग्यां युक्तस्य वा जवेत् ।
' उम्पत्यङ् ' तथा-ऽभ्यागच्छङ् ' रूपद्वयं ततः ।

प्रत्याङ्ग पलोद्ः ॥ १६६ ॥

पल्लोद्स्तु गमेः प्रत्यङ्ग्यां युक्तस्य पदेऽस्तु वा ।
' पलोद्ः ' तथा- ' पञ्चागच्छङ् ' स्यात्तु पात्तिकम् ।

शमेः पडिसा-परिसामौ ॥ १६७ ॥

शमेः पदे तु पडिसा-परिसामौ विकल्पितौ ।
' परिसामङ् ' समङ्, पडिसाङ् ' त्रयं शमेः ।

रमेः संखुङ्-खेङ्गोभाव-किलिकिञ्च-कोट्टुम-

मोट्टाय-ण।सर-वेङ्गाः ॥ १६८ ॥

मोट्टायो णीसरो वेङ्गः, किलिकिञ्च कोट्टुमः ।
खेङ्गोभावौ च संखुङ्गो, रमेर्वा स्युरमी पदे ।
संखुङ्गङ् उञ्जावङ्, किलिकिञ्च कोट्टुमङ् च मोट्टायङ् ।
खेङ्गङ् तथा णीसरङ्, खेल्लङ् पक्के ' रमङ् ' रूपम् ।

पूररग्धानाग्वबोष्णुमाङ्गुमाहिरेमाः ॥ १६९ ॥

' अहिरेमोऽग्वबोऽग्वार उङ्गुमोऽङ्गुम ' इत्यमी ।
पञ्चादेशा विकल्पेन, पूरेः स्थाने प्रकीर्तिताः ।
' अग्वारङ् ' अग्ववङ्, अहिरेमङ् पूरङ् ।
उङ्गुमाङ् अङ्गुमङ्, ' सविकल्पमुदाहृतम् ।

त्वरस्तुवर-जअरौ ॥ १७० ॥

तुवरो जअरश्चेमौ, भवेतां त्वरतेः पदे ।
सिद्धं रूपं तुवरङ्, तथा जअरङ् स्मृतम् ।

त्यादिशत्रोस्तूरः ॥ १७१ ॥

त्वरः शतरि त्यादौ च, तूरः-तूरन्तो तूरङ् ।
तुरोऽत्यादौ ॥ १७२ ॥

त्वरोऽत्यादौ तुरादेशः, तूरन्तो तुरिआ यथा ।

खरः खिर-जर-पजर-पञ्चड-णिच्चल-णिट्टुआः ॥ १७३ ॥

णिच्चलो णिट्टुओ पञ्चडो जरः पजरः खिरः ।
कोरेरेते पमादेशाः, भवन्तीति विभाव्यताम् ॥
पजरङ् पञ्चरङ्, खिरङ् जरङ् तथा ।
णिच्चलङ् णिट्टुअङ्, एवं रूपाणि चचते ॥

उच्छल उत्थलः ॥ १७४ ॥

स्याद् 'उत्थल' उच्छलतेः, रूपम् 'उत्थलङ्' स्मृतम् ।

विगलेः थिप्प-णिट्टुहौ ॥ १७५ ॥

धातोर् विगलतेः स्थाने, वा स्यातां 'थिप्प-णिट्टुहौ' ।
वा थिप्पङ् णिट्टुहङ्, पक्के ' विगलङ् ' स्मृतम् ॥

दलि-वल्पोर्विसट्ट-वम्फौ ॥ १७६ ॥

स्यातां विसट्ट-वम्फौ, वा दलि-वल्पोः पदे यथासंख्यम् ।
ततो ' विसट्टङ् ' वम्फङ्, ' पक्के रूपं दलङ् वलङ् ॥

त्रंशेः फिर-फिट्ट-फुरु-फुड-चुक-चुल्लाः ॥ १७७ ॥

वा स्युर् त्रंशेः चुक-चुल्लौ, फिट्ट-फुडौ फिडः फुडः ।
फिट्टङ् फुडङ् चुकङ्, फिडङ् फुरुङ् भुल्लङ् च भवति रूपम् ॥
पक्के ' भंसङ् ' रूपं, वेद्यं त्रंशेः सुधीमिरिदम् ।

नशेणिरिणास-णिवहावसेह-पडिसा-सेहावहराः ॥ १७८ ॥

णिरिणासश्च णिवहोऽवसेहः पडिसा तथा ।

सेहश्चावहरश्चेते, पमादेशा नशेस्तु वा ॥

णिरिणासङ् णिवहङ् अवसेहङ् पडिसाङ् अवहरङ् सेहङ् ।
पक्के ' नस्सङ् ' इत्यप्यमूनि रूपाणि नशधातोः ॥

अवात् काशो वासः ॥ १७९ ॥

अवात् परस्य काशस्तु, 'वासः,' 'ओवासङ्' स्मृतम् ।

सन्दिशेरप्पाहः ॥ १८० ॥

अप्पाहः सन्दिशेर् वा स्यात्, अप्पाहङ् सन्दिशङ् ।

दशो निअच्छ-पेच्छावयच्छावयज्ज-वज्ज-सव्वव-

देक्खौ अक्खावक्खावअक्ख-पुलोए-पुलाए-

निआवआस-पासाः ॥ १८१ ॥

वज्जो निअच्छ ओअक्खोऽवयच्छः सव्ववो निअः ।

अवयज्जोऽवयज्जः पेच्छो देक्खः पुल्लअस्तथा ॥

अवअक्खः पुलोएश्च पासाऽवक्खो, दशेर् अमी ।

अवयच्छङ् अवयज्जङ्, वज्जङ् पेच्छङ् च सव्ववङ् पासङ् ॥

ओअक्खङ् च निअच्छङ्, देक्खङ् अवअक्खङ् पुलोएङ् ।

अवआसङ् अवक्खङ्, निअङ् च पुल्लङ् चेदशं रूपम् ॥

' निज्जाअङ् ' खरादत्यन्ते निध्यायतेः सिद्धम् ।

स्पृशः फाम-फंस-फरिस-त्रिव-टिहालुङ्खालिहाः ॥ १८२ ॥

आलुङ्खः फरिसः फंसः, त्रिवः फासः छिहालिहौ ।

इत्यमी स्पृशतेः स्थाने, सप्तादेशाः प्रकीर्तिताः ।

फासङ् फंसङ् फरिसङ्, त्रिवङ् छिहङ् आलिहङ् तथाऽऽलुङ्खङ् ।

इति धातोः स्पृशतेरिह, रूपाणां सप्तकं भवति ।

प्रविशेरिअः ॥ १८३ ॥

धातोः प्रविशतेः स्थाने, रिआऽऽदेशो विकल्प्यते ।

सिद्धं 'रिअङ्' पक्के तु, रूपं 'प्रविसङ्' स्मृतम् ।

प्रान्मृश-मुपोर्हुसः ॥ १८४ ॥

प्रात् परस्य तु मुष्णाते-मृशतेश्च म्हुसो भवेत् ।

'पम्हुसङ्' प्रमृशति, वा प्रमुष्णाति कथ्यते ।

पिपेणिवह-णिरिणास-णिरिणज्ज-रोञ्च-चड्डाः ॥ १८५ ॥

णिरिणासो णिरिणज्जो, रोञ्चङ् चड्डुश्च वा पिपेणिवहः ।

रोञ्चङ् चड्डुङ् णिरिणासङ् णिरिणज्जङ् च पीसङ् णिवहङ् ।

भवेत्तुक्कः ॥ १८६ ॥

जपेभुक्को विकल्पेन, सिद्धं भसङ् तुक्कङ् ।

कृपेः कट्ट-साअट्टाञ्चाणच्छायञ्छाङ्छाः ॥ १८७ ॥

कट्टः साअट्ट आट्टोऽयज्जोऽणच्छाऽञ्छ इत्यमी ।

धातोः कृपेः पमादेशाः, विकल्पेन प्रकीर्तिताः ।

आट्टाञ्छाङ् सामट्टङ्, कट्टङ् अञ्चङ् अणञ्चङ् अयज्जङ् ।

पक्के 'करिसङ्' रूपं, कृपधातोर्त्र संवद्यम् ।

असावक्खोरुः ॥ १८८ ॥

अक्खोडस्तु कृपेः स्थाने-ऽथे कोशात् खट्टकर्षणे ।

'अक्खोडङ्' असि कोशात्, कर्पतीति प्रतीतिक्त् ।

गवेपेहुएदुल्ल-दण्ढोल्ल-गमेस-घत्ताः ॥ १८९ ॥

घत्तो गमेसो दण्ढोल्लो, दुएदुल्लो वा गवेपतेः ।

दुएदुल्लङ् दण्ढोल्लङ्, गमेसङ् च घत्तङ् ॥ [१]

[१] गवेसङ् ।

श्लिपेः सामगावयास-परिअन्ताः ॥ १६० ॥

अवयासः सामगाः, परिअन्तश्च त्रयः श्लिपेर्वा स्युः ।
अवयासश्च सामगाश्च, परिअन्तश्च, वा सिलेसश्च च ।

अस्सेथोप्पमः ॥ १६१ ॥

अस्सेस्तु चोप्पमो वा स्याद्, वा मयसश्च चोप्पमश्च ।

काङ्खेराहाहिलङ्गाहिलङ्ग-वच्च-वम्फ-मह-सिह-
विलुम्पाः ॥ १६२ ॥

अहिलङ्गोऽहिलङ्गो वम्फो विलुम्पो महः सिहः ।
आहो वच्चः काङ्खेतेर्वाऽऽपादेदेशा अमी मताः ।
अहिलङ्गश्च अहिलङ्गश्च, आहश्च वच्चश्च महश्च विलुम्पश्च च ।
वम्फश्च सिहश्च च, पक्के-‘कल्लश्च’ इति सिद्धिमेति पदम् ।

प्रतीक्षेः सामय-विहीर-विरमालाः ॥ १६३ ॥

पदे प्रतीक्षेर्वा स्युः, विरमालः सामयो विहीरश्च ।
विरमालश्च च विहीरश्च, सामयश्च तथा पमिक्खश्च वा ।

तक्षेस्तच्छ-चच्छ-रम्प-रम्फाः ॥ १६४ ॥

तच्छश्चचच्छो रम्पो, रम्फश्चेति तु तक्षतेर्वा स्युः ।
तच्छश्च चच्छश्च रम्पश्च, रम्फश्च, तप्फश्च तु वैकल्यात् ।

विकसेः कोआम-वोसट्टो ॥ १६५ ॥

कोआसो वोसट्टो, विकसेरेतौ पदे तु वा भवतः ।
कोआसश्च वोसट्टश्च, तथा विकल्पेन विअसश्च च ।

हसेर्गुञ्जः ॥ १६६ ॥

हसेर्गुञ्जो विभाषा स्याद्, यथा हसश्च गुञ्जश्च ।

संसेट्टहस-निम्भो ॥ १६७ ॥

हसो डिम्भश्च वा स्यातां, संसेट्टातोः पदे यथा ।
हसश्च निम्भश्च तथा, पक्के-‘संसश्च’ सिध्यति ।

त्रसेर्नर-वोज्ज-वज्जाः ॥ १६८ ॥

वोज्जो वज्जो नरश्चेति, वा नवन्तु त्रसेः पदे ।
सिक्कं वोज्जश्च डरश्च, तथा तसश्च वज्जश्च ।

न्यसो णिम-णुमौ ॥ १६९ ॥

न्यस्यतेः स्तो णिम-णुमौ, ‘णिमश्च णुमश्च’ यथा ।

पर्यसः पलोट्ट-पल्लट्ट-पल्लट्टाः ॥ १७० ॥

पर्यस्यतेः ‘पलोट्टः, पल्लट्टः पल्लट्टश्च इति सन्तु हि ।
पल्लट्टश्च पल्लट्टश्च, तथा पलोट्टश्च भवति रूपम् ।

निवसेर्जङ्घः ॥ १७१ ॥

भङ्गो वा निवसेर्, नीससश्च भङ्गश्च च द्वयम् ।

उल्लसेरुसलोसुम्भ-णिहस-पुलआअ-गुञ्जोद्वारोआः ॥ १७२ ॥

कसुम्भ कसलो गुञ्जोद्वारः पुलआअ-णिहसौ ।
आरोओ, वा पद्मादेशाः, उल्लसेस्तु पदे मताः ।
पुलआअश्च गुञ्जोद्वारश्च, ‘गुञ्जुल्लश्च ह्रस्वतस्तु,’ ऊसलश्च ।
ऊसुम्भश्च आरोओश्च, तथा णिहसश्च च उल्लसश्च ।

जासेर्भिसः ॥ १७३ ॥

भासेर् भिसो वा, ‘मिसश्च, पक्के-‘जासश्च’ इत्यपि ।

ग्रमेर्विसः ॥ १७४ ॥

ग्रमेर् विसो वा, विसश्च, पक्के ‘गसश्च’ इत्यपि ।

अवाद् गादेर्वाहः ॥ १७५ ॥

अवाद् गाहेस्तु वाहो वा, ओवाहश्च ओगाहश्च ।

आरुहेश्वर-वलगाँ ॥ १७६ ॥

चमो वलगाँश्चाम् द्वौ, भवेताम् आरुहः पदे ।
वा वलगाँश्च चडश्च, तथाऽऽरुहश्च पाक्किक्कम् ।

मुहेर्गुम्म-गुम्मनौ ॥ १७७ ॥

वा गुम्म-गुम्मनौ स्यातां, मुहेर्धातोः पदे, यथा ।
वा गुम्मश्च गुम्मश्च, पक्के ‘मुज्जश्च’ सिध्यति ।

दहेरहिउत्तावुद्धौ ॥ १७८ ॥

आलुत्तो वाऽहिउल्लश्च, दहेः स्थाने विकल्पितौ ।
अहिउल्लश्च आलुत्तश्च, पक्के-रुहश्च स्मृतम् ।

ग्रहो वन्न-गेएह-हर-पङ्ग-निखाराहिपच्चुआः ॥ १७९ ॥

वन्न-गेएह-हर-पङ्ग-निखाराहिपच्चुआ ग्रहेः स्युरमी ।
अहिपच्चुआश्च वल्लश्च निखाराश्च गेएहश्च हरश्च पङ्गश्च ।

क्त्वा-तुम्-तव्येषु घेतु ॥ १८० ॥

क्त्वा-तुम्-तव्येषु परतो, ‘घेद्’ आदेशो ग्रहमेतः ।
[क्त्वा] स्याद् घेत्तुभाण घेत्तुण, क्त्वा-‘गेएहिअ’ स्मृतम् ।
[तुम्] घेत्तुं [तव्य] घेत्तव्यम् इत्येतत्, त्रिविधं ब्रह्ममीरितम् ।

वचो वोतु ॥ १८१ ॥

क्त्वा-तुम्-तव्येषु पक्के ‘वोत्’, इत्यादेशो विधीयते ।
‘वोत्तुण वोत्तुं वोत्तव्यं’, त्रयं चैतदुदाहृतम् ।

रुद्-भुज-मुचां तोऽन्त्यस्य ॥ १८२ ॥

तः स्याद् रुद्-भुज-मुचां, क्त्वा-तुम्-तव्येषु, तद्यथा ।
भोत्तूण भोत्तुं भोत्तव्यं, ज्ञातव्यमनया दिशा ।

दृशस्तेन दृः ॥ १८३ ॥

दृशोऽन्त्यस्य तकारेण, सह ङः प्रभवेद्, यथा ।
दृष्टूण दृष्टुं दृष्टव्यं, संप्रयुक्तं बुधैरिदम् ।

आः कृगो जूत-भविष्यतोश्च ॥ १८४ ॥

क्त्वा-तुम्-तव्येषु च तथा, काले भूते जविष्यति ।
कृगोऽन्त्यस्य तु ‘आ’ इत्यादेशः स्यादिति कथ्यते ।

‘चकाराकार्यादकरोत्,’ एषु ‘काहीअ’ भाष्यते ।
‘कर्ता करिष्यतीत्यर्थे, पदे ‘काहिश्च’ पठ्यते ।

क्त्वा-तुम्-तव्येषु काऊण, काऊं कायव्यमिष्यते ।

गमिष्यमाऽऽमां छः ॥ १८५ ॥

गमिष्यमाऽऽसामन्त्यस्य, उकारादेश इष्यते ।
गच्छश्च इच्छश्च तथा, सिक्कं जच्छश्च अच्छश्च ।

छिदि-भिदो न्दः ॥ १८६ ॥

न्दः स्यात् छिदि-भिदोर् अन्ते, यथा-छिन्दश्च भिन्दश्च ।

गुध-गुध-गुध-गुध-सिध-मुहां जङ्गः ॥ १८७ ॥

स्यात् गुध-गुध-गुध-गुध-सिध-मुहां द्विरुक्तो ‘जङ्ग’ ईदृशादेशः ।
कुञ्जश्च कुञ्जश्च कुञ्जश्च, गिञ्जश्च सिञ्जश्च च मुञ्जश्च च ।

रुधो न्ध-म्नौ च ॥ १८८ ॥

रुधो न्ध-म्नौ तु चात् ‘जङ्ग’, रुधश्च रुम्भश्च रुम्भश्च ।

सद्-पतोर्डः ॥ १८९ ॥

अन्ते सद्-पतोर्डः स्यात्, सडश्च पडश्च स्मृतम् ।

क्वथ-वर्धो ढः ॥ २१० ॥

क्वथेर् वधेर् अन्तिमस्य, ढः स्यात् कढइ वढइ ।
वृधेः कृतगुणस्येह, वधेश्च ग्रहणं समम् ।

वेष्टः ॥ २११ ॥

‘वेष्ट वेष्टने’ इत्यस्य, धातोः ‘कगट’- [१ । ७७] सूत्रतः ।
पठोपेऽन्त्यस्य ढो, ‘वेढिज्जइ, वेढइ’ इत्यपि ।

समो ल्लः ॥ २१२ ॥

संवेष्टेतरन्तिमस्य, ‘ल्लः’ स्यात्, ‘संवेष्टइ’ स्मृतम् ।

वोदः ॥ २१३ ॥

वा ‘ल्ल’ उद्वेष्टेर् ‘उव्वेष्टइ, उव्वेढइ’ स्मृतम् ।

स्विदां ज्जः ॥ २१४ ॥

स्विदिप्रकाराणां ‘ज्जः’ स्याद्, अन्तिमस्य द्विरूपकः ।
सव्वज्ज-सिज्जिरीय संपज्जइ सिज्जइ स्मृतम् ।
बहुत्वं तु प्रयोगानुसरणार्थमिहैष्यते ।

ब्रज-नृत-मदां चः ॥ २१५ ॥

अन्तिमस्य ब्रज-नृत-मदानां ‘चो’ भवेदिह ।
ब्रज्जइ नच्चइ तथा, मच्चइ सिद्धिमाययुः ।

रुद-नमोर्वः ॥ २१६ ॥

रुद-नमोर् वो, रुवइ, रोवइ नवइ स्मृतम् ।

उद्विजः ॥ २१७ ॥

उद्विजतेरन्त्यस्य वः, उव्वेवो च उव्विवइ ।

खाद-धावोर्लुक् ॥ २१८ ॥

खाद-धावोर्लुक् अन्ते स्यात्, खाइ खाअइ खादिइ ।
स्याद् धाइ धाठ धाहिइ, क्विन्नो-‘धावइ’ स्मृतम् ।
वर्तमाना-भविष्यद्-विध्याद्येकवचनेषु हि ।
तेनेह नैव ‘खादन्ति, धावन्ति’ बहुलग्रहात् ।

सृजो रः ॥ २१९ ॥

सृजो धातोर् अन्तिमस्य, रकारोऽत्र विधीयते ।
वोसिरामि वोसिरइ, तथा निसिरइ स्मृतम् ।

शकादीनां द्वित्वम् ॥ २२० ॥

अन्तिमस्य शकादीनां, द्वित्वं भवति, तद्यथा ।
[शक्] सकइ [जिम] जिम्मइ [लग्] लगइ,
[मग्] मगइ [कुप्] कुप्पइ [लुट्] पलोट्टइ च [तुट्] तुट्टइ ।
[नश्] नस्सइ [अट्] परिअट्टइ [नट्] न-
ट्टइ [सिव्] सिव्वइ, अन्यदपि चैवम् ।

स्फुटि-चत्रेः ॥ २२१ ॥

स्फुटेश्चलेश्च वैकट्यं, द्वित्वमन्त्यस्य भाष्यते ।
फुट्टइ फुट्टइ तथा, रूपं चलइ चल्लइ ।

प्रादेर्मीलेः ॥ २२२ ॥

प्रादेः परस्य मीलेर्वा, द्वित्वमन्त्यस्य बुध्यताम् ।
संमिल्लइ तथा संमीलइ, मीलइ तं विना ।

उवर्णस्यावः ॥ २२३ ॥

अवादेशस्तु धातूनामन्त्योवर्णस्य बुध्यताम् ।
[हुइ] निणवइ [हु] निहवइ, [कु] कवइ प्रभृति स्मृतम् ।

अवर्णस्यावः ॥ २२४ ॥

अवादेश अवर्णस्य, जवेद् धात्वन्तवर्तिनः ।
यथा करइ धरइ, हरइ प्रमुखं मतम् ।

वृषादीनामरिः ॥ २२५ ॥

अरिर्वृषादिधातूनाम्, अवर्णस्य पदे जवेत् ।
वृषो ‘वरिसइ’ कृपो, तथा ‘करिसइ’ स्मृतम् ।
एवं मृषो ‘मरिसइ’, हृषो ‘हरिसइ’ स्मृतम् ।
अरिः संदृश्यते येषां, वेद्यास्ते हि वृषादयः ।

रुषादीनां दीर्घः ॥ २२६ ॥

रुप्रभृतिधातूनां, स्वरस्य दीर्घो भवेद्, यथा रुसइ ।
तूसइ सूसइ दूसइ, पूसइ सीसइ, तथाऽन्यदपि ।

गुवर्णस्य गुणः ॥ २२७ ॥

इवर्णोवर्णयोर्धातो-गुणः कित्यपि कित्यपि ।
यथा जेऊण नेऊण, नेइ उड्डे नेन्ति च ।
कचिन्नायं विधिर् नीओ, उड्डीओ सिध्यतो यतः ।

स्वराणां स्वराः ॥ २२८ ॥

धातुषु स्वराणां स्थाने, जवन्ति बहुलं स्वराः ।
सहहणं सहहाणं, तथा धुवइ धावइ [१] ।
कचिन्नित्यं देइ वेइ, आपे ‘वेमि’ प्रयुज्यते ।

व्यञ्जनाददन्ते ॥ २२९ ॥

व्यञ्जनवर्णान्ताद् धातोर् अन्तेऽकार आगमो भवति ।
भमइ हसइ चुम्बइ उवसमइ कुणइ सिञ्चइ च रुधइ ।
शवादीनां प्रयोगश्च, प्रायो नास्तीति बुध्यताम् ।

स्वरादनतो वा ॥ २३० ॥

अनदन्त-स्वरवर्णान्ताद् धातोर्वाऽस्त्वदागमस्त्वन्ते ।
पाअइ पाइ च, धाअइ धाइ, मिलाअइ मिलाइ तथा ।
उव्वाअइ उव्वाइ च, होऊण च होइऊण इति भवति ।
‘अनत’ इति च किमुक्त्म् ? यथा चिइच्छइ दुगुच्छइ च ।
चि-जि-श्रु-हु-स्तु-लू-पू-धूगां णो हस्वश्च । २३१ ।
चिज्यादीनामन्ते भवति णागमः, स्वरस्य ह्रस्वश्च ।
[चि] चिणइ [जि] जिणइ [श्रु] सुणइ [हु] हुणइ,
[स्तु] थुणइ [लू] लुणइ [पू] पुणइ [धू] धुणइ तथा ।
बहुलात् कापि विकट्यो, जयइ जिणइ उक्किणइ च उक्केइ ।
जेऊण च जिणिऊण च, तथैव सोऊण सुणिऊण ।

नवा कर्म-जावे वः क्यस्य च लुक् ॥ २३२ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तानां, चिज्यादीनां विभाषया ।
व्वाऽन्ते, तत्सन्नियोगे च, क्यस्य लुक् स्यादित्येते ।
चिव्वइ चिणिज्जइ, जिव्वइ जिणिज्जइ,
सुव्वइ सुणिज्जइ, दुव्वइ दुणिज्जइ ।
थुव्वइ थुणिज्जइ, लुव्वइ लुणिज्जइ,
पुव्वइ पुणिज्जइ, धुव्वइ-धुणिज्जइ ।
एवं चिव्विहिइत्यादि, रूपं काले भविष्यति ।

म्मथ्रेः ॥ २३३ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, चिगो धातोर् विभाषया ।
म्माऽन्ते, तत्सन्नियोगे च क्यस्य लुक् स्यादित्येते ।
वर्तमाने ‘चिणिज्जइ, तथा चिम्मइ चिव्वइ’ ।
‘चिव्विहिइ चिणिहिइ, चिम्मिहिइ भविष्यति ।

[१] हवइ हिवइ । चिणइ चुणइ । रुवइ रोवइ ।

हन्-खनोऽन्त्यस्य ॥ २४४ ॥

धात्वोर् हन्-खनोरत्र, भाव-कर्मप्रवृत्तयोः ।
अन्त्यस्य वा स्याद् स्मः, तत्सन्नियोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
[वर्तमाने] यथा हम्मइ खम्मइ, हणिज्जइ खाणिज्जइ ।
[भविष्यति] हम्मिहिइ हणिहिइ, खम्मिहिइ खणिहिइ ।
कर्तर्यपि हनोऽयं स्याद्, हन्तीत्यर्थे तु ' हम्मइ ' ।
कचिन्न दृश्यते- ' हन्तव्व ' ' हन्त्ण ' ' इओ ' यथा ।

ब्धो दुह-लिह-वह-रुधामुच्चातः ॥ २४५ ॥

दुह-लिह-वह-रुधधातूनां ब्धो वाऽन्त्यस्य भावकर्मप्रवृत्तयाम् ।
लुक् च तत्सन्नियोगे क्यस्य, भवेद् उद् चहरेत्य्य ।
स्याद् डुहिज्जइ डुब्भइ, वा लिब्भइ लिहिज्जइ ।
डुब्भइ वहिज्जइ रुब्भइ रुन्धिज्जइ स्मृतम् ।
डुब्भिहिइ डुहिहिइत्यादि काले भविष्यति ।

दहो ज्जः ॥ २४६ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, दहो धात्वोर् विज्ञापया ।
ज्जः स्याद्, अन्त्यस्य तत्सन्नियोगे क्यस्यापि सुग् भवेत् ।
स्याद् वर्तमाने डज्जइ, तथा रूपं डहिज्जइ ।
' डज्जिहिइ डहिहिइ ' इति काले भविष्यति ।

बन्धो न्यः ॥ २४७ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, बन्धधातोर्विज्ञापया ।
ज्जः स्याद् अन्त्ययोस् तत्सन्नियोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
स्याद् वर्तमाने वज्जइ, तथा यन्धिज्जइ स्मृतम् ।
' वज्जिहिइ यन्धिहिइ ' इति काले भविष्यति ।

समनूपाद्बुधेः ॥ २४८ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, समनूपाद् बुधेस्तु वा ।
अन्त्यस्य वा उक्ताः, तत्सन्नियोगे क्यस्यापि लुग् भवेत् ।
संरुग्मइ अण्णुग्मइ, उवर्गुग्मइ भवति, पाक्षिकं तु यथा ।
संरुन्धिज्जइ अण्णुन्धिज्जइ उवर्गुन्धिज्जइ भवति ।
संरुज्जिहिइ संरुन्धिहिइत्यादि भविष्यति ।

गमादीनां द्वित्वम् ॥ २४९ ॥

भावकर्मप्रवृत्तानां, गमादीनां विज्ञापया ।
स्याद् द्वित्वमन्त्यस्य तत्सन्नियोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
[गम्] गम्मइ गमिज्जइ [हस्] हस्सइ हसिज्जइ ।
[भण्] नणइ नणिज्जइ [लुप्] लुप्पइ लुविज्जइ ।
[रुव्] रुव्वइ रुविज्जइ [लब्] लब्भइ लहिज्जइ ।
[कय्] कय्यइ कडिज्जइ [भुज्] भुज्जइ भुंजिज्जइ ।
गम्मिहिइ गमिहिइत्यादि रूपं भविष्यति ।
रुद-[४ । २२६] सूत्रेण कृतवाऽऽदेशोऽत्र रुदिरिष्यते ।

ह-कृ-तृ-ज्जाभीरः ॥ २५० ॥

धातूनां ह-कृ-तृ-ज्जा स्याद्, ईरादेशो विज्ञापया ।
क्यलुक् तत्सन्नियोगे च, भवेदित्युपदिश्यते ।
हीरइ हरिज्जइ, कीरइ करिज्जइ ।
तीरइ तरिज्जइ, जीरइ जरिज्जइ ।

अर्जेविदण्यः ॥ २५१ ॥

अर्जेविदण्यो वा तत्सन्नियोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
विदणइ, विदविज्जइ, आर्जिज्जइ पाक्षिकम् ।

ज्ञो णव्व-णज्जौ ॥ २५२ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, जानातेर्भवतः पदे ।
णव्वो णज्जञ्च वा, तत्सन्नियोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
णव्वइ णज्जइ, पक्के-जाणिज्जइ मुणिज्जइ ।
' म्म-ज्ञोणः ' [२ । ४२] इति णादेशे, णाइज्जइ च सिध्यति ।
नञ्पूर्वकस्य जानातेर् ' अणाइज्जइ ' पठ्यते ।

व्याहगेर्वाहिण्यः ॥ २५३ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, जवेद् व्याहरतेः पदे ।
वाहिण्यो वाऽत्र तत्सन्नियोगे क्यस्यापि सुग् भवेत् ।
वाहिण्यइ तथा वाहारिज्जइ स्यान्निदर्शनम् ।

आरजेरादण्यः ॥ २५४ ॥

आरजेः कर्मभावे स्याद्, वाऽऽदण्यः क्यस्य चास्तु लुक् ।
आदण्यइ भवेत्, पक्के- ' आदवीअइ ' सिध्यति ।

स्निह-सिचोः सिण्यः ॥ २५५ ॥

स्निह-सिचोः कर्मभावे, सिण्यः स्यात् क्यस्य चास्तु लुक् ।
' स्निह्यते, सिच्यते ' इत्येतयोरर्थेऽत्र ' सिण्यइ ' ।

ग्रहेर्घेण्यः ॥ २५६ ॥

कर्मभावे ग्रहेर् घेण्यो, वा भवेत्, क्यस्य चास्तु लुक् ।
यथा ' घेण्यइ ' इत्येतत्, पक्के गिणिहज्जइ स्मृतम् ।

स्पृशेरिदण्यः ॥ २५७ ॥

स्पृशतेः कर्मभावे स्याद्, वा णिण्यः, क्यस्य चास्तु लुक् ।
तेन ' विण्यइ ' संसिद्धं, तथा रूपं ' विविज्जइ ' ।

केनाप्फुष्पादयः ॥ २५८ ॥

आक्रमिप्रवृत्तीनां तु, धातूनाम् अप्फुष्पादयः ।
अप्फुष्पो आक्रान्तः, उक्कोसं उक्कणं, लुग्गो रुणः ।
वालीणोऽतिक्रान्तः, पदद्वयं पल्लोहं वा पर्यस्तम् ।
फुडं स्पृष्टं, विकसितो वोसट्ठो, निमिञ्चं त्विदम् ।
स्थापितं, चप्पिन्नं आस्वादितं, किञ्चं तु ज्जोसिञ्चं ।
निपातितो निसुट्ठो स्याद्, हीसमाणं तु हेपितम् ।
वा प्रमृष्टः प्रमुपितः, पम्मुट्ठो परिपठ्यते ।
ल्लिक्को नष्टो, जडं त्यक्तं, विद्वंसं अर्जितं तथा ।
क्वित्तं स्पृष्टं, लुभं लूनं, भवेद् निञ्जुदम् उदधुम् ।
इत्याद्यां वेदितव्याः, शब्दा लक्ष्यानुसारतः ।

धातवोऽर्थान्तरेऽपि ॥ २५९ ॥

उक्तादर्थान् प्रवर्त्तन्तेऽर्थान्तरेऽपीह धातवः ।
उक्तो वल्लिः प्राणनेऽर्थे, खादनेऽपि स वर्तते ।
यथा ' वल्लइ ' खादति, प्राणनं च करोति वा ।
एवं कल्लिञ्च संख्याने, संज्ञानेऽपि स दृश्यते ।
यथा ' कल्लइ ' जानाति, संख्यानं च करोति वा ।
रिगिर्गतौ प्रवेशेऽपि, ' रिगइ ' विशत्येति च ।
काङ्क्षतेः प्राकृते वप्फो, ' वप्फइ ' खादतीच्छति ।
फक्कतेः स्थक्क आदेशस्ततः सिध्यति ' थक्कइ ' ।
नीचां गतिं करोतीति वा, विलम्बयतीति वा ।
धात्वोर्विदण्युपात्तस्योर् उक्तादेशे तु ' भल्लइ ' ।
तस्यार्थ उपात्तभते, वा विलपति भाषते ।
एवं हि ' पडिवालेइ ' वा रक्षति प्रतीकते ।
केचित् कैश्चिदुपसर्गैर्नित्यमन्यार्थका मताः ।

‘सहरइ’ संवृणोति, स्यात् ‘पहरइ’ युष्यते ।
 ‘अणुहरइ’ तु सदृशीभवतीति ‘नीहरइ’ पुरीपमुत्सृजति ।
 क्रीरति ‘विहरइ’, ‘आहरइ’ च खादति, ‘उच्चुपइ’ चटति ।
 पुनः पूरयति ‘परिहरइ’, स्यात् त्यजनीति ‘परिहरइ’ रूपम् ।
 ‘उवहरइ’ पूजयति, ‘वाहरइ’ तथा-ऽऽह्वयति इत्यर्थे ।
 याति विदेशं ‘पवसइ’, निःसरतीत्यर्थं ‘उल्लुहइ’ भवति ।
 एवं बहुपसर्गात्, वहुर्था धातवो वेद्याः ।

इति प्राकृतभाषा समाप्ता ।

॥ अथ शौरसेनी जाषाऽऽरच्यते ॥

तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य ॥ २६० ॥
 शौरसेन्यां तु भाषायामपदादौ प्रवर्तिनः ।
 तकारस्य दकारः स्याद्, न स युक्तो भवेद् यदि ।
 तदो मारुदिना पूरिद्-पदिञ्जेन मन्तिदो ।
 अनादाविति किम् ? तस्स, तथा, नेह प्रवर्तताम् * ।
 अयुक्तस्येति किम् ? मत्तो, अज्जत्तो, सवन्तले ! ।

अथः कचित् ॥ १६१ ॥

शौरसेन्यां तु वर्णाधोवर्तमानस्य तस्य दः ।
 यथालक्ष्यं, महन्दो निञ्चिन्दो अन्देउरे यथा ।

वाऽऽदेस्तावति ॥ २६२ ॥

तावच्छब्दे तकारस्य दो वा, दाव च ताव च ।

आ आमन्थ्ये सौ वेनो नः ॥ २६३ ॥

इनो नकारस्याऽऽमन्थ्ये, वाऽऽकारः सौ परे यथा ।
 भो सुहिआ ! कञ्चुइआ ! जो तवस्सि ! मणस्सि ! वा । [१]

मो वा ॥ २६४ ॥

आमन्थ्ये सौ परे नस्य, मकारो वा विधीयते ।
 भो रायं ! भो सुकम्मं !, जो भयवं कुसुमाउह ! ।
 पक्के तु भयव ! अन्तेआरि ! चैवं प्रयुज्यते ।

भवज्जगवतोः ॥ २६५ ॥

भवद्-भगवतोर्नस्य, मकारः सौ परे भवेत् ।
 भवं ! चिन्तेदि किं एत्थ, भगवं ! च हुदासणो । [२]
 क्वचिदन्यत्रापि यथा-भववं पागसासणे ।
 कयवं, संपाइअवं सीसो, काहं करमि च ।

नवा यो ययः ॥ २६६ ॥

वा य्यो र्यस्य भवेत् स्थाने, ‘अय्या सुय्या’ प्रपठ्यते ।
 पक्के कज्जपरवसो, अज्जो पज्जाउलो यथा ।

थो धः ॥ २६७ ॥

थस्य धो वा, यथा-णाधो णाहो वा स्यात् कथं कहं ।
 अपदादेव, ‘थामं, थेओ’ नेह धकारता ।

इह-हचोर्हस्य ॥ २६८ ॥

इहशब्दे, हचादेशे [३:१४३] च हकारस्य धोऽस्तु वा ।
 इध, होध, द्वयं पक्के-इह, होह निगद्यते ।

जुवो जः ॥ २६९ ॥

भवतेर्हस्य भो वा स्याद्, भोदि होदि यथा द्वयम् ।

* तथा करेध जधा तस्स रइसिणो अणुक्कणीया होमि ।
 [१] पक्के । [२] समणे भगवं महावीरे ।

तथा भुवदि हुवदि, भवदि हवदि स्मृतम् ।

पूर्वस्य पुरवः ॥ २७० ॥

पूर्वशब्दस्य ‘पुरव’ इत्यादेशो विकल्प्यते ।
 यथा-ऽपुरवं नामयं, पक्के-ऽपुर्वं पदं मतम् ।

क्त्व इय-दूणौ ॥ २७१ ॥

क्त्वाप्रत्ययस्य वा स्याताम्, ‘इय-दूणौ’ यथाक्रमम् ।

यथा ‘भविय’ ‘भोदूण’, पक्के ‘भोत्ता’ प्रयुज्यते ।

कृ-गमो रुमुअः ॥ २७२ ॥

कृ-गमिज्यां परस्य क्वः, स्थाने वा ‘अमुअो’ऽस्तु डित् ।

सिद्धं कमुअ गमुअ, पक्के रूपं निशम्यताम् ।

करिदूण गच्छिदूण, तथा करिय गच्छिय ।

दिरिचेचोः ॥ २७३ ॥

दिर इचेचोः [३:१३६] भवेद्, नेदि देदि भोदि च होदि च ।

अतो देश ॥ २७४ ॥

अतः परयोर् इचेचोः, स्थाने ‘दे दि’ इमौ क्रमात् ।

अच्छदे अच्छदि तथा, सिद्धं गच्छदि गच्छदे ।

अतः किम् ? स्याद् ‘वसुआदि’ ‘नेदि, भोदि’ यथाऽत्र न ।

जविष्यति स्सिः ॥ २७५ ॥

भविष्यदर्थे विहिते, प्रत्यये स्सिः परे भवेत् ।

हिस्ताहामपवादोऽयं, तथा रूपं भविस्सिदि ।

अतो डमेर्मादो-मादू ॥ २७६ ॥

अतः परस्य तु डसेः, ‘मादो डादु’ इमौ नितौ ।

‘दूरादो य्येव’ ‘दूराडु’ द्वयं संसिञ्चिमृच्छति ।

इदानीमो दाणिं ॥ २७७ ॥

इदानीमः पदे ‘दाणिं’ इत्यादेशोऽभिधीयते ।

‘अय्यो दाणिं आणवेडु’, व्यत्ययात् प्राकृतेऽपि च ।

अतस्तत्रापि ‘अन्नं च दाणिं वोहिं’ प्रयुज्यते ।

तस्मात् ताः ॥ २७८ ॥

तस्माच्छब्दस्य ‘ता’ इत्यादेशो भवति, तद्यथा ।

‘माणेण एदिणाऽयं ता,’ ‘ता जाव पविसामि च’ ।

मोऽन्त्यारणो वेदेतोः ॥ २७९ ॥

इदेतोः परयोर् अन्त्याद्, मात् परो णागमोऽस्तु वा ।

[इकारे] जुचं णिमं जुत्तमिणं, [एकारे] किं रेदं वा किमेदं च ।

एवार्थे य्येव ॥ २८० ॥

एवार्थे ‘य्येव’ इति तु, निपातोऽत्राभिधीयते ।

मम य्येव वस्सणस्स, ‘एसो सो य्येव’ पठ्यते ।

हज्जे चेट्याह्वाने ॥ २८१ ॥

चेट्याह्वाने भवेद् ‘हज्जे,’ ‘हज्जे चट्टरिके !’ यथा ।

हीमाणहे विस्मय-निर्वेदे ॥ २८२ ॥

‘हीमाणहे’ निपातोऽयं, निर्वेदे विस्मये तथा ।

[विस्मये] जीघन्त-वश्चा जणणी, मे च हीमाणहे, यथा ।

[निर्वेदे] हीमाणहे पत्तिस्सन्ता, किं दुव्ववसिदेण वा ।

णं नन्वर्थे ॥ २८३ ॥

नन्वर्थे णमिति बुधैर्निपातः संप्रयुज्यते ।

‘अयमिस्सेहिं आणत्तं, पुढमं य्येव णं’ यथा ।

इदम् आर्थे पदं वाक्यालङ्कारेऽपि च दृश्यते ।

नमोऽथुं, जयां च, तथा, चैवमादयः ।

अम्महे हर्षे ॥ १८४ ॥

‘अम्महे’ इति निपातो, हर्षेऽर्थे संप्रयुज्यते ।

‘भवं सुपल्लिगद्धिदो, सुम्मिहाए च अम्महे’ ।

हीही विदूषकस्य ॥ १८५ ॥

हर्षे विदूषकाणां तु, घोत्ये ‘हीही’ निपात्यते ।

‘हीही’ पियवयस्सस्स, भो संपन्ना मणोरथा’ ।

शेषं प्राकृतवत् ॥ १८६ ॥

दीर्घ-[१४]तो दो-[४२६०]जनयोर्मध्ये, सूत्रयोर् यद्यदीरितम् ।
तव सर्वं कार्यमत्रापि चोध्यं, भेदस्तु दर्शितः [१] ।

इति शौरसेनी भाषा समाप्ता ।

॥ अथ मागधी जापाऽऽरज्यते ॥

अत एव सौ पुंसि मागध्याम् ॥ १८७ ॥

मागध्यां सौ परऽकारस्यैकारः पुंसि जायते ।

एषो मेशे एष मेपः, एषो च पुल्लिङ्गे तथा ।

‘भो भदन्त ! करोमीति भवेद् ‘जन्ते ! करोमि भो’ ।

अतः किं तु ? ‘कलो’ रूपं, किं पुंसीति ? ‘जलं’ यथा । [२]

र-सार्ल-शौ ॥ १८८ ॥

ल-तालव्यशकारौ स्तो, रेफ-दन्त्यसकारयोः ।

[र] नलं कवे [स] बुद्धं हंशे (उभयोः) ‘शालशे पुल्लिङ्गे तथा ।

“बृहन्न-वश-नमिन्न-शुन्न-शिल-विश्लिन्न-मन्दाश-त्वायिर्दहि-युगे।
वीह-यिषे पक्खाल्ल, मम शयलमवय्य-यम्बालं” * ।

स-पांः संयोगे सोऽग्रीप्मे ॥ १८९ ॥

संयोगे स-पयोः सः स्याद्, न तु ग्रीप्मे कदाचन ।

ऊर्ध्वलोपादिस्त्राणामपवादाऽयमीरितः ।

[स] इस्ती बुद्धस्पर्दी मस्कर्त्ता पस्त्रश्चदि विस्मये ।

[प] कस्त्वं, विस्त्वं, शुस्क्-दालुं, धनुस्स्पर्णं च निस्फलं ।

‘अग्रीप्मे’ इति किम् ? ‘गिम्ह-वाशश्चे’ नेह सो भवेत् ।

ट-ट्रयोः सूटः ॥ १९० ॥

द्विरुक्त-टस्य, पाऽऽक्रान्त-उभ्य ‘सूटो’ भवति द्वयोः ।

[ट] पस्त्वं, जस्त्वालिका, [ट्र] ‘कोस्त्रागालं, शुस्त्रु कदं’ यथा ।

स्थर्थयोस्तः ॥ १९१ ॥

‘स्थ-र्थ’ इत्येतयोः स्थाने, साक्रान्तस्तनो विधीयते ।

[१] शौरसेन्यामिह प्रकरणे यत्कार्यमुक्तं ततोऽन्यच्छौर-
सेन्यां प्राकृतवदेव भवति । ‘दीर्घ-ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ’ [१४]
इत्यारभ्य. ‘तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य’ [४२६०] ए-
तस्मात् सूत्रात् प्राग् यानि सूत्राणि एषु यान्युदाहरणानि तेषु
मध्ये अस्मिन् तदवस्थान्येव शौरसेन्यां भवन्ति, अस्मिन् पुनरेवं-
विधानि भवन्तीति विज्ञातः । प्रतिस्त्रं स्वयमन्युदाहरणीयः ।
यथा अन्दावेदी । जुवदि-जणो । मणसिला इत्यादि ।

[२] यदपि “ पोरणमद्ध-मागह-भासा-निययं हवद्
सुत्तं ” इत्यादिनाऽऽर्षस्य अर्द्धमागधजापानियतत्वमाज्ञायि वृ-
द्धैस्तदपि प्रायोऽस्यैव विधानान्न वक्ष्यमाणलक्षणस्य । कथरे
आगच्छद् । से तारिसे दुक्खसहे जिह्निदिए इत्यादि ।

* रभसवशनम्रसुरशिरोविगलितभन्दारराजिनाहियुगः ।

वीरजिनः प्रक्षालयतु, मम सकलमवद्यजम्बालम् ॥

[स्थ] उवस्तिदे वुस्तिदे [थं] शस्तवाहेऽस्तवदी यथा ।

ज-द्य-यां यः ॥ १९२ ॥

पदाऽवयवभूतानां, ज-द्य-यानां पदेऽस्तु यः ।

[ज] अय्युणे-दुय्यणे [द्य] मय्यं, अय्यं विश्याहवे [य] यदि ।
आदेयो ज- [१२४५] स्य बाधार्थे, यस्य यत्वं विधीयते ।

न्य-एय-ऊ-ऊजां ऊजः ॥ १९३ ॥

‘न्य-एय-ऊ-ऊज’ अमीपां तु, द्विरुक्तो ऊजो विधीयते ।

[न्य] ऊजा [एय] पुञ्जं च [ऊ] शव्वञ्जं,

[ऊज] अञ्जदी च धणञ्जए ।

व्रजो जः ॥ १९४ ॥

व्रजे जस्य चिरुक्तो ऊजो, यापवादाऽस्तु, ‘वञ्जदि’ ।

छस्य श्रोऽनादौ ॥ १९५ ॥

अनादौ वर्तमानस्य, उस्य श्रः संविधीयते ।

‘पिञ्चिले, उञ्चलाद, पुञ्चदि, गञ्च’ निर्दर्शनम् ।

अयं लाक्ष्मीणकस्यापि, यथा आपन्नवत्सलः ।

‘आवन्नवञ्चले’ चेतद्, भवेद् ‘आवन्नवञ्चले’ ।

अनादाविति किम् ? ‘गले’ नेह अत्वं भवेद् यथा ।

क्षस्य ऋकः ॥ १९६ ॥

अनादौ क्षस्य ऋको जिह्माम्बुयो, ‘लऋकशे’ यथा ।

स्कः प्रेक्षा-चक्षोः ॥ १९७ ॥

प्रेक्षेर् धानोस्तथाऽऽचक्षेः, क्षस्य स्कः ऋकस्य बाधकः ।

आचस्कदि पस्कदि च, द्वयं सिद्धिं समश्नुते ।

तिष्ठश्चिष्टः ॥ १९८ ॥

स्याधातोस् ‘तिष्ठ’ इत्यस्य, ‘चिष्टो’ भवति, चिष्टदि ।

अवर्णाद्वा ङसो ङाहः ॥ १९९ ॥

अवर्णात् परस्य तु ङसः, स्थाने ङाहो विकल्प्यते ।

‘पलिङ्गाह ङगे काली न कम्माह’ प्रयुज्यते ।

‘भोमशेणस्स पञ्चादो दिण्डीमदि’ तु पाक्षिकम् ।

आपो माहँ वा ॥ २०० ॥

अवर्णाद् उत्तरस्थाऽऽमो, विभाषा ‘माहँ’ इष्यते ।

शयणाहँ सुहं, पदे ‘नञ्जिन्दाणं’ इति स्मृतम् ।

इत्यययात् प्राकृतेऽपि स्यात्, तदुदाहरणं यथा ।

ताहँ तुम्हाहँ अम्हाहँ, कम्माहँ सरिआहँ च ।

अहं-वयमोर्हगे ॥ २०१ ॥

‘हगे’ इत्यमादेशः, पदेऽहं-वयमोर् भवेत् ।

‘शक्कावदालतित्थ-णिवाशी च धोत्रेले हगे ।

शेषं शौरसेनीवत् ॥ २०२ ॥

मागध्यां यदनुक्तं तच्छौरसेनीवदिष्यते [१] ।

[१] ‘शेषं प्राकृतवत्’ [४-१८६] मागध्यामपि ‘दीर्घह्रस्वौ मि-
थो वृत्तौ’ [१-४] इत्यारभ्य ‘तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयु-
क्तस्य’ [४-२६०] इत्यस्मात् प्राग् यानि सूत्राणि तेषु यान्यु-
दाहरणानि सन्ति तेषु मध्ये अस्मिन् तदवस्थान्येव मागध्याममू-
नि पुनरेवंविधानि भवन्तीति विभागः स्वयमन्युदाहरणीयः ।

यथा 'हञ्जे' [४१२८१] चदुरिके, हञ्जे चदुलिके, इह ।
इति मागधी जापा समाप्ता ।

॥ अथ पैशाची जापाऽऽरच्यते ॥

ज्ञो ज्ञः पैशाच्याम् ॥ ३०३ ॥

पैशाच्यां भाषायां, ज्ञस्य पदे ज्ञो विधीयते, स यथा ।
पञ्जा सञ्जा सञ्जो विज्ञानं तथा ज्ञानं ।

राज्ञो वा चिञ् ॥ ३०४ ॥

'राज्ञ' इत्यत्र शब्दे यो, झकारस्तस्य वाऽस्तु चिञ् ।
राचिञ्जा लपितं, रञ्जा लपितं, राचिञ्जो धनं ।
रञ्जो धनं, झ इत्येव, 'राजा' नेह प्रवर्तते ।

न्य-ण्योज्ञः ॥ ३०५ ॥

न्यण्योः स्थाने 'ञ्ज' आदेशः, 'पुञ्जाहं, कञ्जका' यथा ।

णो नः ॥ ३०६ ॥

णस्य नः स्यात्, 'गुणगनयुक्तो' यद्वद् 'गुणेन' च ।

तदोस्तः ॥ ३०७ ॥

त-दयोस्तो, [तस्य] भगवती पञ्चती च सतं यथा ।
[दस्य] पतिसो सतनं तामांतरो रमतु होतु च ।
तकारस्यापि तादेश आदेशान्तराधकः ।
'पताका, वेतिसो' इत्याद्यपि सिद्धं ततः पदम् ।

लो लः ॥ ३०८ ॥

लस्य लः स्यात्, कुलं लीलं कमलं सलिलं जलं ।

शषोः सः ॥ ३०९ ॥

श-पयोः सः, [शस्य] सखी सक्का, [पस्य] किसानो विसमो यथा ।
'न कगचेति' [४१३२४] सूत्रस्य, बाधकोऽयं विधिः स्मृतः ।

हृदये यस्य पः ॥ ३१० ॥

हृदये यस्य पस्तेन, सिद्धं 'हितपकं' पदम् ।

दोस्तुर्वा ॥ ३११ ॥

दोः स्थाने तु तुरादेशो, विभाषा संप्रवर्तते ।
कुतुम्बकं ततः सिद्धं, तथा रूपं कुतुम्बकम् ।

क्त्वस्तूनः ॥ ३१२ ॥

तूनः क्त्वाप्रत्ययस्यास्तु, गन्तून हसितून च ।

धून-त्यूनौ ध्वः ॥ ३१३ ॥

'ध्वा' इत्यस्य पदे 'धून-त्यूनौ' तूनस्य बाधकौ ।
नधून नत्यून तधून तत्यून इति स्मृतम् ।

र्य-स्न-ष्टां रिय-सिन-सटाः कचित् ॥ ३१४ ॥

स्न-र्य-ष्टानां सिन-रिय-सटाः स्युः क्रमतः कचित् ।
भार्या तु भारिया वेद्या, सिनातं स्नातमुच्यते ।
कष्टं तु कसटं बोध्यं, त्रयमेतदुदाहृतम् ।
कचिदिति किं ? सुनुसा, सुज्जो तिष्ठो यया भवेत् ॥

क्यस्येय्यः ॥ ३१५ ॥

क्यप्रत्ययस्य तु स्थाने, इय्यदेशोऽभिधीयते ।
रमिष्यते गिष्यते दिष्यते चैव पठिष्यते ।

कृगो कीरः ॥ ३१६ ॥

कृगः परस्य 'कीरः' तु, क्यस्य स्थाने, विधीयते ।
'सम्मानं कीरते सञ्जस्स य्येव' तु निदर्शनम् ॥

यादशादेर्दुस्तिः ॥ ३१७ ॥

यादशादिपदे यो 'दः,' तस्य तिः क्रियते पदे ।
यातिसो तातिसो युम्हातिसो अम्हातिसो तथा ॥
केतिसो एतिसो अञ्जातिसो चैव जवातिसो ।

इचेचः ॥ ३१८ ॥

'इचे चोः' [३१३६] तिः, नेति तेति, वसुआति च मोति च ।

आत्तेश्व ॥ ३१९ ॥

अतः परयोर् इचेचोः, पदे 'ते ति' इमौ मतौ ।
गच्छते गच्छति यथा-ऽऽदिति किम् ? नेति होति च ॥

भविष्यत्येय एव ॥ ३२० ॥

पर्य एव न तु स्तिः [४१७५] स्याद्, इचेचोस्तु, भविष्यति ।
तद्धून चितितं रञ्जा, का एसा तं हुवेय्य च ॥

अतो डसेर्मातो-डातू ॥ ३२१ ॥

अतः परस्य तु डसेः, 'डातो मातू' इमौ मतौ ।
यथा-तूरातु तूरातो, तुमातो च तुमातु च ॥

तदिदमोष्टा नेन स्त्रियां तु नाए ॥ ३२२ ॥

सार्धं टा-प्रत्ययेन स्याद्, 'नेनो' तदिदमोः पदे ।
स्त्रीलिङ्गे तु तयोरेव, 'नाए' इत्यभिधीयते ॥
'नेन कत-सिनानेन तत्थ' पुंसि, स्त्रियां पुनः ।
पातग्ग-कुसुम-प्पनानेन नाए च पूजितो ॥
देति किं ? चिन्तयन्तो ताए समीपं गतो च सो ।

शेषं शौरसेनीवत् ॥ ३२३ ॥

पैशाच्यां यदनुक्तं तच्छौरसेनीवदिष्यते ॥
विशेषो दर्शितः सर्वः, तथापीपन्निशम्यताम् । [१]

न क-ग-च-जादि-पट्-शम्यन्त-सूत्रोक्तम् ॥ ३२४ ॥

क-ग-चः [११७७] पट्-शमी- [११६५] इत्ये-
तयोर् मध्येऽपि सूत्रयोः ।

यत् कार्यं दार्शितं सर्वं, न तदत्र प्रवर्तते ।

मकरकेतू, सगरपुत्त-वचनं, लपितं ।

विजयसेनेन, पापं, आयुधं चैव तेवरो ।

अन्येषामपि सूत्राणामेवमूहं मनीषया ।

इति पैशाची भाषा समाप्ता ।

॥ अथ चूलिकापैशाचिकजापा प्रारच्यते ॥

चूलिका-पैशाचिके तृतीय-तुर्ययोराद्य-द्वितीयौ ॥ ३२५ ॥

जापायां चूलिका-पैशाचिकाख्यायां यथाक्रमम् ।

तृतीय-तुर्ययोर् आद्य-द्वितीयौ वर्गवर्णयोः ।

[१] अथ ससरिरो जगव मकरधजो । एत्थ परिष्मन्तो हु-
वेय्य । एवंविधाए भगवतीए कथं तापस-वेस-गहनं कर्तं ।
पतिसं अतिष्ठपुरवं महाधनं तद्धून । जगवं यदि मं वरं पयच्छसि
राजं च दाव लोक । ताव च तीए दूरातो य्येव तिष्ठो सो आग-
च्छमानो राजा ।

नगरं नकरं तेन, मेघो मेखः प्रयुज्यते ।
एवं पञ्चसु वग्नेषु, लक्ष्यं वोष्यं मनोयिनिः ।
कचिल्लाक्षयिकस्यापि, पदे कार्यमिदं जवेत् ।
दाढा ताढा ततो बोध्या, पमिमा पदिमा तथा ।

रस्य ङो वा ॥ ३२६ ॥

रस्य स्थाने लकारः स्यात्, गौरी 'गौली' हरो 'हलो' ।
“पनमथ पनय-पकुपित-गौली-चलनग-वग्ग-पतिविम्बं ।
तससु नख-तप्पनसुं, एकातस-तनु-यलं लुहं ।
नचन्तस्स य लीला-पातुक्खेवेन कम्पिता वसुधा ।
उच्छलन्ति समुद्रा, सइला निपतन्ति तं हवं नमय” [१] ॥

नादि-युज्योरन्येषाम् ॥ ३२७ ॥

अन्येषां तु मते, धातौ युजि चाऽऽदिमवर्णयोः ।
तृतीय-तुर्ययोराद्यद्वितीयौ जवतो न तौ ।
यथा 'नियोजितं' इत्येतद् अत्रापि 'नियोजितं' ।
गतिर् 'गती' तथा घर्मो, 'घर्मो' विद्वद्भिरुच्यते ।

शेषं प्राग्वत् ॥ ३२८ ॥

अत्रानुक्तं तु यत् कार्यं, तत् पैशाचीवदिष्यते ।
यथेह नस्य एत्वं न, नस्य नत्वं तु सर्वतः ।

इति चूलिका-पेशाचिकभाषा समाप्ता ।

अथापभ्रंशभाषाऽऽरभ्यते ।

स्वराणां स्वराः प्रायोऽपत्रंशे ॥ ३२९ ॥

अपभ्रंशे स्वराणां तु, स्थाने प्रायः स्वरा मताः ।
यथा-वाहा वाह वाहु, किन्नओ च किलिन्नओ ।
'अत्रापत्रंश-भाषायां, विशेषो यस्य वक्ष्यते ।
तस्यापि शौरसेनीवत्, कार्यं प्राकृतवत् क्वचित् ।
इत्यर्थबोधकः 'प्रायःशब्दः' सुत्रे नियोजितः ।

स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ ॥ ३३० ॥

प्रायः स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ, स्तो नाम्नोऽन्त्यस्वरस्य तु ।
[सौ] "ढोल्ला सामन्ना धन चम्पा-वष्णु ।
णाह सुवष्ण-रेह कस-वट्टह दिष्णु ॥
[आमन्त्ये] ढोल्ला ! मई तुहुं वारिया, मा कुरु दीहा माणु ।
निहणै गमिही रत्तमी, दडवरु होइ विहाणु ॥
[स्त्रियाम्] विट्टीए ! मइ भणिय तुहुं, मा कुरु वड्डी दिट्ठि ।
पुत्ति ! सकणी जल्लि जिबै, मारइ दिअइ पइट्ठि ॥
[जसि] एइ ति घांडा एइ थलि एइ ति निसिआ खग ।
पत्थु मुणीसिम जाणिअइ, जो नवि वावइ वग्ग” [२] ॥

[१] प्रणमत प्रणयप्रकुपितगौरीचरणाग्रलप्रप्रतिविम्बम् ।

दशसु नखदर्पणेषु एकादशतनुधरं रुद्धम् ।

नृत्यतश्च लीलापादात्कंपण कम्पिता वसुधा ।

उच्छलन्ति समुद्राः शैला निपतन्ति तं हरं नमत ।

[३] नायकः इयामलः प्रिया चम्पावर्णा ।

ज्ञायते सुवर्णरेखा कषपट्टकं दत्ता ॥

नायक ! मया त्वं वारितो मा कुरु दीर्घमानम् ।

निरुया गमिष्यति रात्रिः शीघ्रं भवति विभातम् ॥

पुत्रिके ! मया त्वं भणिता मा कुरु वक्रां दष्टम् ।

पुत्रि ! सकर्णी भल्लिर्यथा, मारयति हृदयं प्रविष्टा ॥

एते ते घोटका एषा स्थली एते ते निशिनाः खड्गाः ।

अत्र मनुष्यत्वं ज्ञायते यो नापि वाहयति वल्गाम् ॥

अन्यसां च विभक्तीनामेवमूहं निदर्शनम् ।

स्यमोरस्योत् ॥ ३३१ ॥

अत उत्त्वं स्यमोः, 'चउमुहु छंमुहु' सिध्यतः ।

“ददमुह तुवण-भयंकर तोसिय-संकर णिगउ रहवरि चमिअउ
चउमुहु छंमुहु जाइवि एक्कहिं बाइवि णावइ दइवै धडिअउ” [१] ॥

सौ पुंस्योद्वा ॥ ३३२ ॥

नाम्नोऽकारस्य सौ पुंस्योद् वा, 'जो' 'सो' यथा भवेत् ।

“अगल्लिअ-नेह-निवट्ठाहं जोअणवक्खुवि जाउ ।

वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खइ सो गउ” [२] ॥

पुंसीति किम्—

“अङ्गहिं अहु न मालिउ हलि ! अहरै अहर न पत्तु ।

पिय जोअन्तिहे मुह-कमलु एम्बइ सुरउ समत्तु” [३] ॥

एट्टि ॥ ३३३ ॥

टायाम् एत्वमकारस्य, वसन्तेण नहेण च ।

“जं महु दिष्ठा दिअहडा, दइए पवसन्तेण ।

ताए गणांतिऐ अहुलित जज्जरिआउ नहेण” [४] ॥

डिनेच्च ॥ ३३४ ॥

इदेतौ स्तो डिना साकम्, अकारस्य पदे यथा ।

'तले घल्लइ' इत्यत्र, 'तलि घल्लइ' वेध्यते ।

“सायर उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइ ।

सामि सुभिच्चु वि परिहरइ, संमाणेइ खलाइ” [५] ॥

जिस्येद्वा ॥ ३३५ ॥

अत एत्वं वा भिसि स्याद्, 'गुणेहि गुणहि' यथा ।

“गुणहि न संपइ किञ्चि पर फल लिहिआ लुञ्जन्ति ।

केसरि न लइइ बोड्डिअवि गय लक्खेहिं वेप्पन्ति” [६] ॥

उत्सेर् हे-हू ॥ ३३६ ॥

अतः परस्य 'हे हु' इत्यादेशौ स्तो उत्सेः पदे ।

वच्छहे वच्छहु यथा, रूपं वैजायिकं मतम् ।

“वच्छहे गिएहइ फलइं जणु कटुपल्लव वज्जेइ ।

तो वि महहुमु सुअणु जिबै, ते वच्छङ्कि धरेइ” [७] ॥

ज्यसो हुं ॥ ३३७ ॥

अतः परस्य तु पञ्चमी-यहुवचनस्य हुम् एति ।

[१] दशमुखो भुवनजयङ्करस्तोपितशङ्करो निर्गतो रथवरे चटितः ।

चतुर्मुखं परमुखं च ध्यात्वैकस्मिन्नागित्वा ज्ञायते दैवेन घटितः ॥

[२] अगलितस्नेहनिवृत्तानां योजनलक्षमपि यातु ।

वर्षशनेनापि यो मिलति सखि ! सौख्यानां स स्थाने ॥

[३] अङ्गैरङ्गं न मिलितं सखि ! अधरेऽधरो न प्राप्तः ।

प्रियस्य पश्यन्त्या मुखकमलमेवमेव सुरतं समाप्तम् ॥

[४] ये मम दत्ता दिवसा दयितेन प्रवसता ।

तान् गणयन्त्या अहुल्यो जर्जरिता नखेन ॥

[५] सागर उपरि तृणं धरति तले क्षिपति रत्नानि ।

सामी सुभृत्यमपि परिहरति संमानयति खलान् ॥

[६] गुणैर्न संपदः कीर्तिः परं, फलानि क्षिप्तानि लुञ्जन्ति ।

केसरी न लज्जते कपार्दिकामपि गजा लङ्कैर्गृह्णन्ते ॥

[७] वृक्षाद् गृह्णाति फलानि जनेः कटुपल्लवान् वर्जयति ।

ततोऽपि महाद्रुमः सुजनो यथा, तान् उत्सङ्गे धरति ॥

“दूरद्वारे पतिवत् खलु, अप्पणु जणु मारेइ ।
जिह गिरि-सिङ्गहुं पतिवत् सिख अन्नु वि चूरु करेइ” [१] ।

डसः सु-हो-स्सवः ॥ ३३८ ॥

अतः परस्य डसः पदे ‘स्सु सु हो’ इमे भवन्ति ।
‘तसु सुअणस्सु परस्सु वा, दुल्लहहो’ निगदन्ति ।
“जो गुण गोवइ अप्पणो, पयडा करइ परस्सु ।
तसु हउं कलियुगे डल्लहहो वलि किञ्जउं सुअणस्सु” [२] ॥

आमो हं ॥ ३३९ ॥

अतः परस्य ‘हं’ आमः, पदे स्यात्, ‘तणहं’ यथा ।
“तणहं तइज्जी भङ्गि नवि तं अवड-यमि वसन्ति ।
अह जणु लग्गि वि उत्तरइ अह सह सह मज्जन्ति” [३] ॥

हुं चेदुद्व्याम् ॥ ३४० ॥

इदुद्व्यां तु परस्याऽऽमो, भवेतां ‘हुं इम’ इत्यम् ।
सिद्धं ‘सउणिहं’ तेन, ‘तरुहुं’ च पदद्वयम् ।
प्रायोऽधिकाराद् ‘हुं’ काऽपि, सुपोऽपि ‘डुहुम्’ इत्यपि ।
“दइव घडावइ वणि तरुहुं सउणिहं पक्क फलाइं ।
सो वरि सुक्खु पइए णवि, कण्हिं खल-वयणाइं” [४] ॥

डसि-न्यस्-डीनां हे-हुं-हयः ॥ ३४१ ॥

इदुद्व्यां तु परेषां भ्यस्-डसि-डीनां ‘हि-हुं-हयः’ ।
[डसेहं] तरुहे [भ्यसो हुं] तरुहुं रूपं,
तथा [डेहिं] कलिहिं सिध्यति ॥
“गिरिहे सिलायडु तरुहे फलु घेपइ नीसावन्तु ।
घरु मेह्वेप्पिणु माणुसहं तो वि न रुखइ रन्तु ॥
तरुहुं वि वक्कलु फलु मुणि वि परिदणु असणु वदन्ति ।
सामिहुं पत्तिउ अणालउं आयरु भिच्छु गृहन्ति” [५] ॥

आटो णानुस्वारौ ॥ ३४२ ॥

अतः परस्याऽऽयास्तु, णानुस्वारौ मर्ता, पदे ।
‘दइए पवसन्तेण,’ द्वाविमौ सिद्धिमुच्छतः ।

एं चेदुतः ॥ ३४३ ॥

इदुद्व्यां दा-पदे ‘एं’ चात् णानुस्वारौ, मतास्त्रयः ।
अतः सिध्यन्ति रूपाणि, ‘अग्गि अग्गिण अग्गिए’ ।
“अग्गिए उण्हउ होइ जगु, वाए सीयल तेवँ ।
जो पुण अग्गि सीमला, तसु उण्हउण केवँ” [६] ॥

[१] दूरोद्वानेन पतितः खल आत्मानं जनं मारयति ।
यथा गिरिशिङ्गे पतिता शिला (स्वम्) अन्यमपि चूर्णीकरोति ॥
[२] जो गुणान् गोपयति आत्मानः, प्रकटीकरोति परस्य ।
तस्याहं कलियुगे दुर्लभस्य वलिं क्रियं सुजनस्य ॥
[३] तृणानां तृतीया भङ्गी नापि, ततो अवटतटे वसन्ति ।
अथ जनो लगित्वाऽपि उत्तरति अथ सह स्वयं मज्जन्ति” ॥
[४] दैवो घटयति वने तरुणां शकुन्तानां पक्कफलानि ।
तद् वरं सुखं प्रविष्टानि नापि कर्णयोः खलवचनानि” ॥
[५] गिरेः शिलातलं तरोः फलं गृह्णाति निःसामान्यः ।
गृहं मुक्त्वा मनुष्येभ्यः ततोऽपि न रोचतेऽरण्यम् ॥
तरुभ्योऽपि वल्कलं फलं मुनयोऽपि परिधानमशनं लभन्ते ।
स्वामिभ्य इयदर्शयमायं भृत्या गृह्णाति ॥
[६] अग्निनोष्णं भवति जगत् वातेन शीतलं तथा ।
यः पुनराग्नेनाऽपि शीतलस्तस्योष्णत्वं कथम् ? ॥

“विप्पिअ-आरउ जइवि पिउ, तोवि तं आणहि अज्जु ।
अग्गिण दन्ना जइवि घर तो ते अग्गि कज्जु” [१] ॥

स्यम् जस्-शसां लुक् ॥ ३४४ ॥

स्यम्-जस्-शसां लुगत्रास्तु, स्यम्-जसां स्यम्-शसां यथा-
“एइ ति घोडा एह थव्वि एइ ति निसिआ खग्ग ।
एत्थु मुणीसिम जाणिअइ जो नवि वावइ वग्ग” ।

[अत्र स्यम्जसां लुक्]

“जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खइ ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सरु खर-पत्थारि तिक्खइ” [२] ।

[अत्र स्यम्शसां लुक्]

पठ्याः ॥ ३४५ ॥

पठ्याः प्रायो लुगत्रास्तु, तडदाहरणं यथा ।
“संगर-सअएहिं जु वप्पिअइ देक्खु अम्हारा कन्तु ।
अइमत्तहं चत्तडुसहं गय-कुम्महं दारन्तु” [३] ।
पृथग्योगः कृता वक्ष्यामुरेधार्थोऽत्र सूत्रयाः ।

आमन्त्ये जसो होः ॥ ३४६ ॥

आमन्त्येऽर्थे जसः स्थाने ‘हो’ स्याल्लोपस्य बाधकः ।
स्याद् आप्पहो तरुणिहो, तथा तरुणहो यथा ।

जिस्सुपोहिं ॥ ३४७ ॥

भिस्सुपोर् ‘हिं’ भवेत्, [सुप्] ‘मग्गहिं’ [जिस्] ‘गुणेहिं’ प्रयुज्यते ।

स्त्रियां जस्-शसोरुदोत् ॥ ३४८ ॥

स्त्रियां लोपापवादौ द्वाबुदाता जस्-शसोः पृथक् ।
यथा-जङ्गरियाओ अंगुलिउ स्याद् द्वयं जसः ।
‘विलासिणीओ सुन्दर-सव्वङ्गाउ’ शसः स्मृतम् ।
यथासंख्यनिवृत्त्यर्थो, भेदोऽत्र वचनस्य तु ।

ट ए ॥ ३४९ ॥

स्त्रियां टायाः पदे स्याद् ‘ए’ चान्दिमए च कन्तिए ।
“नियमुदकरहिं विमुदकर अन्धारइ पडिपेक्खइ ॥
ससिमएरुव चान्दिमए पुणु काइं न दूरे देक्खइ ?” [४] ॥

डस्-डस्यांहं ॥ ३५० ॥

स्त्रियां ‘हे’ डस्-डस्योः स्याद्, धणहे वालहे यथा ।

न्यसामोहुः ॥ ३५१ ॥

स्त्रियां न्यसामोः स्थाने हुः, ‘वयंसिअहु’ गद्यते ।
डेहिं ॥ ३५२ ॥

स्त्रियां डेहिं, यथा ‘महाम्’ इत्येतत् ‘महिहि’ स्मृतम् ।

कृवे जस्-शसोरि ॥ ३५३ ॥

कृवे ‘इ’ जस्-शसोः स्थाने, ‘गएमाइं’ ‘कुव्वइं’ यथा ।

[१] विप्रियकारको यद्यपि प्रियस्तथाऽपि तमानयाद्य ।
अग्निना दग्धं यद्यपि गृहं ततोऽपि तेनाग्निना महत्कार्यम् ॥
[२] यथा यथा वक्रत्वं लोचनानां इयामला शिक्षते ।
तथा तथा मन्मथो निजशरान् खरप्रस्तरे तीक्ष्णयति ॥
[३] संगरज्ञतेषु यो वर्ण्यते पश्ये मदीयं कान्तम् ।
अतिमत्तानां त्यक्ताङ्कुशानां गजानां कुम्भान् दारयन्तम् ।
[४] निजमुखकरैरपि मुग्धा करमन्धकारे प्रत्यवेक्षते ।
शशिमण्डलं चन्द्रिकया पुनः कथं न दूरे पश्यति ? ॥

कान्तस्यात उं स्यमोः ॥ ३५४ ॥

क्रीवे ककारान्तनाम्नोऽत ' उं ' स्यात् परयोः स्यमोः ।
पसरिभउं तुच्छउं, भगुं चाऽजिधीयते ।

सर्वादेडेसेही ॥ ३५५ ॥

सर्वादीनामकारान्ताद्, डसेही स्याद्, जहां तहां ।

किमो किहे वा ॥ ३५६ ॥

किमोऽदन्ताद् डसेर् या स्याद्, ' किहे, ' रूपं ' किहे ' यथा ।

डेहिं ॥ ३५७ ॥

सर्वादीनामकारान्ताद्, डः स्थाने ' हि ' यथा ' जहिं ' ।

यत्तत्किन्यो डसो नामुर्नवा ॥ ३५८ ॥

यत्तत्किन्यो डसो डसुर्, अदन्तेन्यो विकल्प्यते ।

जासु तासु तथा कासु, सज्जिरेवं निगद्यते ।

स्त्रियां डहे ॥ ३५९ ॥

यत्तत्किन्यो ' डहे ' वाऽस्तु, डसः स्थाने स्त्रियां यथा ।

जहे तहे कहे चैतत्, त्रयं सिद्धिं समप्नुते ।

यत्तदः स्यमोर्भुं त्रं ॥ ३६० ॥

यत्तदोस्तु पदे ' भुं ' ' त्रं ' वा स्यातां परयोः स्यमोः ।

नाहु प्रकृषि चिछदि, धुं अं रणि करदि न ।

इदम इनुः क्रीवे ॥ ३६१ ॥

इनुः स्यादिदमः क्रीवे, स्यमोर्, ' इनु वलु ' स्मृतम् ।

एतदः स्त्री-पुं-क्रीवे एह एहो एहु ॥ ३६२ ॥

स्त्री-पुं-क्रीवे ' एह एहो, एहु ' स्यादेतदः स्यमोः ।

' कुमारो एह ' वा, ' एहु गणु ' ' एहो नरु ' स्मृतम् ।

एज्जस्-शसोः ॥ ३६३ ॥

एतदो जस्-शसोर् ' एहः, ' एह चिछन्ति पेच्छ वा ।

अदस ओइ ॥ ३६४ ॥

अदसो जस्-शसोर् ' ओइ, ' ओइ चिछन्ति पेच्छ वा ।

इदम आयः ॥ ३६५ ॥

आयः स्याद्, इदमः स्यादौ, आयहो आयहं यथा ।

सर्वस्य साहो वा ॥ ३६६ ॥

सर्वशब्दस्य साहो वा, सिद्धं ' साहु वि सञ्चु वि ' ।

किमः काई-कवणौ वा ॥ ३६७ ॥

वा किमः ' कवणो काई, काई दूरे न देखइ ।

' जण कज्जे कवणेण, ' पक्के ' गज्जहि कि सत्त ' ।

युष्मदः सौ तुहुं ॥ ३६८ ॥

युष्मदः सौ ' तुहुं ' इत्यादेशः स्यात्, त्वं ' तुहुं ' ततः ।

जस्-शसोस्तुम्हे तुम्हइं ॥ ३६९ ॥

युष्मदो जस्-शसोस् ' तुम्हे, तुम्हइं ' च पृथक् पृथक् ।

जाणइ तुम्हइं तुम्हे, तुम्हे पेच्छइ तुम्हइं ।

ययासंख्यनिवृत्त्यर्थो, जेदोऽत्र वचनस्य तु ॥

टा-डयमा पई तई ॥ ३७० ॥

' अम टा डि ' इत्येतैः सार्धं, युष्मदस्तु ' तई ' पई ' ।

' त्वां त्वया त्वयि ' इत्येषां, स्थाने वाच्यं ' तई ' ' पई ' ।

भिसा तुम्हेहिं ॥ ३७१ ॥

युष्मदस्तु भिसा साकं, ' तुम्हेहिं ' इति पठ्यते ।

डमिडस्त्र्यां तउ तुज्ज तुध्र ॥ ३७२ ॥

डसि-डस्त्र्यां सह ' तउ, तुज्ज, तुध्र ' च युष्मदः ।

' तव त्वत् ' अनयोः स्थानं, ' तुज्ज ' ' तुध्र ' ' तउ ' त्रयम् ।

ज्यसाम्भ्यां तुम्हइं ॥ ३७३ ॥

युष्मदस्तु पदे, साकं ज्यसाम्भ्यां, तुम्हइं मतम् ।

युष्मभ्यं तुम्हइं वाच्यं, तथा युष्माकमित्यपि ।

तुम्हासु सुपा ॥ ३७४ ॥

युष्मदस्तु पदे, साकं सुपा ' तुम्हासु ' पठ्यते ।

सावस्सदो हउं ॥ ३७५ ॥

अस्मदः सौ परे रूपं, ' हउं ' इत्यभिधीयते ।

' दुल्लइ अहो कज्जुलां हउं तसु ' निदर्शनम् ।

जस्-शसोरम्हे अम्हइं ॥ ३७६ ॥

अस्मदो जस्-शसोर् ' अम्हे अम्हइं ' च पृथक् पृथक् ।

टा-डयमा पई ॥ ३७७ ॥

' अम टा डि ' इत्येतैः सार्धम्, अस्मदस्तु भवेद् ' मई ' ।

' मां मया मयि ' इत्येषां, स्थाने वाच्यं ' मई ' सदा ।

अम्हेहिं जिसा ॥ ३७८ ॥

अस्मदस्तु भिसा साकम्, ' अम्हेहिं ' इति पठ्यते ।

महु मज्जु डसि-डस्त्र्याम् ॥ ३७९ ॥

डसिडस्त्र्यां सह ' महु मज्जु ' स्तोऽत्राऽस्मदः पदे ।

' मत् ममेत्यनयोः स्थानं, ' महु मज्जु ' यथाकमम् ।

अम्हइं ज्यसाम्भ्याम् ॥ ३८० ॥

अस्मदस्तु पदे, साकं ज्यसाम्भ्याम्, ' अम्हइं ' मतम् ।

असभ्यम् ' अम्हइं ' वाच्यं, तथा चास्माकमित्यपि ।

सुपा अम्हासु ॥ ३८१ ॥

अस्मदस्तु पदे, साकं सुपा ' अम्हासु ' पठ्यते ।

त्यादेराद्यत्रयस्य बहुत्वे हिं नवा ॥ ३८२ ॥

त्यादीनां तु विजक्तीनां, यदाद्यं विकमुच्यते ।

तद्बहुत्वस्य ' हिं ' वा स्याद्, धरन्ति-धरहिं ' स्मृतम् ।

मध्यत्रयस्याद्यस्य हिः ॥ ३८३ ॥

त्यादीनां तु विजक्तीनां, यन्मध्यत्रिकमुच्यते ।

तत्राद्यवचनस्येह, हिरादेशो विकल्प्यते ।

' वण्पीहा ! पिउ पिउ भणवि, किस्तिउ ' रुअहि ' हयास ! ।

तुह जलहे महु पुणु वल्लहे, विहुं वि न पूरिअ आस ।

[आत्मनेपदे] वण्पीहा ! कइं वोझिएण, निग्घिण वारइ वार ।

सायरि भरिअइ विमलि-जलि, ' लहहि ' न पक्कइ धार * ।

एवं ' दिज्जहि ' रूपं स्यात्, रुअसीत्यादि पाक्षिकम् ।

बहुत्वे हुः ॥ ३८४ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यन्मध्यत्रिकमुच्यते ।

तद्बहुत्वस्य हुर्वा स्याद्, यथा- ' इच्छहु इच्छह ' ।

अन्त्यत्रयस्याद्यस्य उं ॥ ३८५ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदन्त्यं त्रिकमुच्यते ।

' उं ' तदाद्यस्य वाऽऽदेशो, यथा- ' कट्ठासि कट्ठउं ' ।

* वण्पीह ! प्रिय प्रिय भणित्वाऽपि कियत् रोदिषि इताश ! ।

तव जलधरेण मम पुनर्वल्लभेन द्वयोरपि न पूरिता आशा ।

वण्पीहक ! किं कथनेन निर्वृणं ! वारं वारम् ।

सागरे भृते विमलजलेन त्वभसे नैकमपि धाराम् ॥

वहुत्वे हुं ॥ ३८६ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदन्त्यं त्रिकमुच्यते ।
तद्वहुत्वस्य ' हुं ' वा स्याद्, ' लहुहुं लहियु ' स्मृतम् ॥

हि-स्वयोरिदुदेत् ॥ ३८७ ॥

पञ्चम्या हि-स्वयोर वा स्युर्, ' इदुदेत् ' इमे त्रयः ।
[इत्] "कुञ्जर ! सुमरि म सल्लइव सरला सास म मेल्लि ॥
कवल जि पाविय विहि-वसिण ते चरि माणु म मेल्लि
[उत्] भमरा ! एत्थु वि लिम्बरुइ केवि दियइडा विलम्बु ॥
घण-पत्तलु ग्या-बहुबु फुल्लइ जावँ कयम्बु ।
[एत्] प्रिय ! एम्बहि करि सेल्लु करि बडुहि तुहुं करवालु ॥
जं कावाविय वण्णुमा वेहि अभग्गु कवालु" ॥ [१]
पक्के सुमरहीत्यादि, रूपं बोध्यं मनीषिभिः ॥

वत्स्यति स्यस्य सः ॥ ३८८ ॥

भविष्यदर्थं त्यादीनां, स्यस्य सो वा विधीयते ।
यथा ' होसइ ' इत्येतत्, पक्के होहिइ पठ्यते ॥

क्रियेः कीमु ॥ ३८९ ॥

' क्रिये ' क्रियापदं त्वेतत्, वाऽत्र ' कीमु ' निगद्यते ।
पक्के तु ' किज्जवं वल्लि सुअणस्सु ' प्रयुज्यते ॥

भुवः पर्याप्तौ हुचः ॥ ३९० ॥

पर्याप्त्यर्थं भुवो धातोः, पदे ' हुचः', ' पहुचइ ' ।

भूगो भुवो वा ॥ ३९१ ॥

भूगो धातोर् भुवो वा स्याद्, ' वुवइ ब्रोप्पिणु ' स्मृतम् ।

व्रजेवुवः ॥ ३९२ ॥

व्रजतेस्तु वुजादेशो, वुजेप्पिणु वुजेप्पि च ।

दृशेः प्रस्सः ॥ ३९३ ॥

दृशेर्धातोः पदे प्रस्साऽऽदेशः, ' प्रस्सदि ' पश्यति ।

ग्रहेर्गृहः ॥ ३९४ ॥

गृहहादेशो ग्रहेः स्थाने, ' पढ गृहेप्पिणु व्रतु ' ।

तद्द्यादीनां गोह्यादयः ॥ ३९५ ॥

तद्द्यादीनां तु धातूनां, पदे गोह्यादयो मताः ।
ये क्रियावाचका देश्या आदिशब्दग्रहा हि ते ॥
"जिवँ तिवँ तिकखा वेवि सर जइ ससि गोह्विज्जन्तु ।
तो जइ गोरिहं मुह-कमल्लि सरिसिम कावि लहन्तु ॥
चूसुल्लउ चुष्ठीहोइ सइ मुद्धि कवोव्वि निहिच्च ॥
सासानल-जाल-भल्लकिअउ वाह-सन्निल-संसित्तव" ॥ [२]

[१] कुञ्जर ! स्मर मा सल्लकान् सरलान् इवासान् मा मुञ्च ।

कवला ये प्राप्ता विधिवशेन तान् चर मानं मा मुञ्च ॥

भ्रमर ! अत्रापि निम्ने कियन्ति दिवसानि विवम्बस्व ।

घनपत्रवान् ग्रायावहुयः फुल्लति यावत् कदम्बः ॥

प्रिय ! इदानीं करे सेल्लं कुरु मुञ्च त्वं करवालम् ।

यत् कापालिका वराका तान्नि अभयं कपालम् ॥

[२] यथा तथा तीक्ष्णान् लात्वा शरान् यदि शशी अतक्लिष्यत ।

ततो जगति गौर्या मुखकमलेन सदृशतां कामपि अद्वप्यत ॥

चूटकश्चूर्णीभविष्यति मुग्धे ! कपोले निहितः ।

इवासानलज्वालादग्धः वाप्यसन्निधिसंसिकः ॥

"अभमवंचिउ वे पयइ पेम्मु निअत्तइ जाँव ।

सव्वासण-रिउ-संजवहो कर परिअत्ता ताँव ॥

हिअइ लुलुक्कइ गोरमी गयणि घुसुक्कइ मेहु ।

वासा-रत्ति-पवासुअहं विसमा संकसु पडु ॥

अम्मि ! पओहर वज्ज मा निच्चु जे संमुह थन्ति ।

महु कन्तहो समरङ्गणइ गय-घम मज्जिउ जन्ति ॥

पुत्तं जाणं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुणण ।

जा वण्णीकी भुंहरमी चम्पिज्जइ अवरेण ॥

तं तेत्तिउ जलु सायरहो सो तेवहु वित्थारु ।

तिसहे निवारणु पलुवि नाँव पर धुदुअइ असारु" ॥ [१]

अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ग-त-थ-प-फां ग-घ-

द-ध-व-जाः ॥ ३९६ ॥

स्वरात् परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये, तेषाम् ।

'क-ग-त-थ-प-फ-' वर्णानां स्थाने 'ग-घ-द-ध-व-भाः' प्रायः ॥

[कस्य गः] "जं दिठउं सोम-ग्गहणु असइहिं हसिउ निसड्डु ।

पिय-माणुस-विच्चोह-गरु गिद्धि गिद्धि राहु मयड्डु ॥

[खस्य घः] अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुद्धि चिन्तिज्जइ माणु ।

पिप दिठे हल्लोहल्लेण को चेअइ अप्पाणु ? ॥

तथपफानां दधवजाः यथा-

सवधु करेप्पिणु कधिदु मइं तसु पर सभलउं जम्मु ।

जासु न चाउ न चारहमि न य पम्हउव धम्मु" ॥ [२]

मोऽनुनासिको वो वा ॥ ३९७ ॥

अनादौ वर्तमानस्यासंयुक्तस्य तु मस्य वा ।

स्याद् वोऽनुनासिकस्, तेन कञ्चलु कमलु द्वयम् ॥

अयं लाक्षणिकस्यापि, जेवँ तेवँ इति स्मृतम् ।

वाऽथो रो लुक् ॥ ३९८ ॥

संयोगाऽधःस्थितस्येह, वा रेफस्य लुगिष्यते ।

'जइ केवइ पावीसु पिउ ' पक्के ' प्रियेण ' च ॥

अचूतोऽपि कचित् ॥ ३९९ ॥

रेफोऽत्राविद्यमानोऽपि कचिद् जवति, दर्शयते ।

[१] अनुव्रज्य (मुक्ताहार्य) द्वौ पादौ प्रेम (प्रिया) निवर्तते यावत् ।

सर्वाशनरिपुसंजवस्य कराः परिवृत्तास्तावत् ॥

हृदये शल्यायते गौरी गगने गर्जति मेघः ।

वर्षारात्रिप्रवासिकानां विषमं संकटमेतत् ॥

अम्ब ! पयोधरौ वर्जय मा नित्यं यौ संमुखौ तिष्ठतः ।

मम कान्तस्य समराङ्गणे गजघटा जड्-क्त्वा यान्ति ॥

पुत्रेण जातेन को गुणः अपगुणः को मृतेन ।

या पैतृकी भूमिराक्रम्यते अपरेण ॥

तत्तावत् जलं सागरस्य स तावान् विस्तारः ।

तृषाया निवारणे पलमपि नापि, परं शब्दायतेऽसारः ॥

[२] यद् दृष्टं सोमग्रहणमसतीभिर्हसितं निःशङ्कम् ।

प्रियमानसविक्रोभकरं गिलं गिल राहो ! मृगाङ्गम् ॥

अम्ब ! स्वस्थावस्थैः सुखेन चिन्त्यते मानः ।

प्रिये दृष्टे औत्सुक्येन क आत्मानं चेतयते ॥

शपथं कृत्वा कथितं मया तस्य परं सफलं जन्म ।

यस्य न त्यागो न चारजटी न च प्रमृष्टो धर्मः ॥

“ब्रासु महारिसि एउ भणइ जइ सुइ-सत्सु परमाणु ।
मायहं चलण नवन्ताहं दिविदिवि गङ्गा-एहाणु” ॥ [१]
कचिदिति किम् ? ‘ बरु वासेण वि जारह-सम्भि ’ च ॥

आपद्विपत्संपदां द इः ॥ ४०० ॥

विपदापत्संपदां स्याद्, दस्येकारः कचिद्, यथा- ।
रूपम् ‘ आवइ ’ ‘ संपद् ’ तथा ‘ विवइ ’ इत्यपि ॥
प्रायोऽधिकाराद् ‘ गुणहिं न किति पर संपद् ’ ।

कथं-यथा-तथां थादेरेमेहेथा ऋतः ॥ ४०१ ॥

‘ कथं यथा तथा ’ एषां थादेरवयवस्य तु ।
‘ इह इध एम इम ’ इत्यादेशा ङितः पृथक् ।
अतः ‘ कथं ’ ‘ किह किध किम केम ’ निगद्यते ।
‘ यथा ’ जिह जिधेत्यादि, ‘ तथा ’ तिह तिधादि च ।

यादक्-तादक्-कीदृगीदृशां दादेर्नेहः ॥ ४०२ ॥

‘ यादत्तादक्-कीदृगीदृग् ’ इत्येतेषां तु योऽस्ति दः ।
तदाद्यावयवस्येह, नेहादेशो विधीयते ।
“मइ भणिअउ वलिराय ! तुहुं केहउ मग्गण एहु ।
जेहु तेहु नवि होइ चढ ! सइ नरायण एहु” ॥ [२]

अतां रुइसः ॥ ४०३ ॥

ईदृश-कीदृश-यादृश-तादृशशब्देषु दादिवर्णस्य ।
इइसाऽऽदेशो, जइसो तइसो कइसाऽऽइसां न यथा ।

यत्र-तत्रयोस्त्रस्य ऋदेत्थ्वचु ॥ ४०४ ॥

‘ एत्थु अचु ’ ङितौ त्रस्य, शब्दयोर्वत्र-तत्रयोः ।
‘ जचु तचु जत्थु तेत्थु ’ सिक्कं रूपचतुष्टयम् ।

एत्थु कुत्रात्रे ॥ ४०५ ॥

कुत्राऽत्रयोस् त्रशब्दस्य, पदे ‘ एत्थु ’ ऋदिष्यते ।
केत्थु वि छेप्पिणु सिक्कणु, एत्थु जेत्थु वि तेत्थु चि ।

यावत्तावतोर्वाऽऽदर्भं उं महिं ॥ ४०६ ॥

यावत्तावदित्यनयोर्, वाऽऽदेरवयवस्य तु ।
म, उं, महिं चेत्येते स्युर, आदेशास्तु त्रयो यथा ।
जाउं ताउं, जाम ताम, जामहिं तामहिं तथा ।

वा यत्तदोऽतोर्नेवडः ॥ ४०७ ॥

अत्वन्तयत्तदोर् यावत्तावतौ यौ, तयोः पुनः ।
वाऽऽदेरवयवस्येह, पदे वा ‘ नेवडो ’ ऽस्तु ऋत् ।
“जेवरु अन्तरु रावण-रामहं तेवडु अन्तरु पट्टण-गामहं” ।
पदे रूपं भवति जेत्तुलो, तावच्छब्दस्येह तेत्तुलो ।

वेदं किमोर्यादेः ॥ ४०८ ॥

अत्वन्तेदं-किमोर् ‘ इयत्-कियतौ ’ यौ तयोः पुनः ।
याऽऽदेरवयवस्येह, पदे वा ‘ नेवडो ’ ऽस्तु ऋत् ।
एत्तुलो केत्तुलो रूपं, तथा एवरु केवरु ।

परस्परस्यादिरः ॥ ४०९ ॥

परस्परस्य शब्दस्य, भवेद् आदावद् आगमः ।

‘ अवरोप्यरु ’ इत्येतत्, ततः सिद्धं परस्परम् ।

कादि-स्थैदोतोरुच्चार-त्वाघवम् ॥ ४१० ॥

पदोतोरु लघुताऽस्तु, प्रायः स्थितयोः कादिषु हि ।
सुबे चिन्तितजइ माणु, तसु हउं कवि-जुगि दुल्लहहो ।

पदान्ते उं-हुं-हिं-हंकाराणाम् ॥ ४११ ॥

‘ उं-हुं-हिं-हं ’ इत्यमीषां, पदान्तानां तु भाषणे ।
कर्तव्यं त्वाघवं प्रायो, यथा लहहुं किज्जे ।

म्हो म्मो वा ॥ ४१२ ॥

प्राकृते पङ्क्त- [२७४] सूत्रेण, यो म्हाऽऽदेशो विधीयते ।
तस्य ‘ म्मो ’ वाऽत्र जायते, ‘ गिम्मो सिम्मो ’ यथा पदम् ।

अन्यादृशोऽन्नाइसावराइसौ ॥ ४१३ ॥

स्थाने त्वऽन्यादृशस्यान्नाइसः स्तोऽवराइसः ।

प्रायसः प्राउ-प्राइव-प्राइम्ब-पग्गिम्माः ॥ ४१४ ॥

‘ पग्गिम्ब-प्राइव-प्राउ-प्राइम्माः ’ प्रायसः पदे ।

वाऽन्यथोऽनुः ॥ ४१५ ॥

‘ अनुः ’ स्याद् वाऽन्यथेत्यस्य, पदे स्याद् रूपम् ‘ अन्नह ’ ।

कुतसः कउ कहन्तिहु ॥ ४१६ ॥

‘ कहन्तिहु कउ ’ स्यातामादेशौ कुतसः पदे ।

ततस्तदास्तोः ॥ ४१७ ॥

‘ ततस् तदा ’ इत्यनयोस्, ‘ तो ’ इत्यादेश इष्यते ।

“जइ भग्गा पारकडा, तो सहि ! मज्जु पियेण ।

अह भग्गा अम्हहं तणा, तो ते मादिअडेण” ॥ [१]

एवं-परं-समं-धुवं-मा-मनाक् एम्ब पर समाणु धुवु मं

मणाउं ॥ ४१८ ॥

एवं ‘ एम्ब ’ तथा मा ‘ मं, ’ धुवं धुवु, परं पर ।

मनाक् ‘ मणाउं ’ वक्तव्यं, समम् अत्र ‘ समाणु ’ च ।

किन्नाथवा-दिवा-सह-नहेः किराहवइ दिवे सहं नाहिं ॥ ४१९ ॥

किल किर, अथवा अहवइ, दिवा दिवे, नहि नाहिं ।

सह सहुम, इत्यभिधीयते. प्रायो, नैव सदा हि ।

[सहस्य सहं] “जउ पवसन्ते सहं न गयअ न मुअ विओपं तस्सु ।
लज्जिज्जइ संदेसमा, दिन्तेहि सुहय-जणस्सु” ॥ [२]

पश्चादेवमेवैवदानीं-प्रत्युनेतसः पच्छइ एम्बइ जि एम्बहिं

पच्चिउ एत्तहे ॥ ४२० ॥

पश्चात् पच्छइ, एव जि, इत एत्तहे, एवमेव एम्बइ च ।

भवतीदानीम् एम्बहिं, तथा प्रत्युनेति पच्चिउ ।

विपक्षोक्त-वर्त्मनो वुच-वुत्त-विच्चं ॥ ४२१ ॥

उक्तं वुत्तं, वर्त्म विच्चं, विपक्षं वुत्तम् उच्यते ।

शीघ्रादीनां वहिह्वादयः ॥ ४२२ ॥

शीघ्रादेस्तु वहिह्वादिरादेशोऽत्र निगद्यते ।

शीघ्रं ‘वहिह्वा’ इत्युक्तं, भक्तो घट्टलः स्मृतः ।

[१] व्यासो महर्षिरतद्भगवति यदि श्रुतिशास्त्रं प्रमाणम् ।

मातृणां चरणौ नमतां दिवसे दिवसे गङ्गास्नानम् ॥

[२] मथ-ज्जणितो वलिराज ! त्वं कीदृग् मार्गण एषः ।

यादक् तादक् नाऽपि भवति मूर्ख ! स्वयं नारायण ईदृक् ॥

[१] यदि भग्नाः परकीयास्ततः सखि ! मम प्रियेण ।

अथ भग्ना आस्माकीनास्ततस्तेन मारितेन ॥

[२] यत् प्रवसता सह न गता न मृता वियोगेन तस्य ।

लज्ज्यते संदेशान् ददतांभिः सुभगजनस्य ॥

[घङ्गलः] “जिवँ सुपुरिस तिवँ ऋङ्गलं जिवँ नइ तिवँ वलणाइं ।
जिवँ डोङ्गर तिवँ कोट्टरइं हिआ विसूरहि काइं” । [१]
‘विद्यावो’ऽस्पृश्यसंसर्गो, ‘द्रवको’ प्रयवाचकः ।
आत्मीयोऽप्पण, इत्युक्तो ‘निच्चट्टो’ गाढ ईरितः ।
द्रेहिरु दष्टौ, रवरणस्तु रम्ये, खंडुस्तु क्रूरने ।
स्यात् कोट्टः कौतुके सङ्गलस्त्वसाधारणे तथा ।
अद्भुते ढक्करिः, हेल्लिः हेसखि, नवखो नवे ।
अवस्कन्दे दडवरुः, पृथगर्थे जुअंजुअः ।
सम्बन्धर्थे केर-तणौ, मूढेऽर्थे वढ-नालिऔ ।
मा नैषोरिति मव्वोसा, यथर्थे बुडुर इष्यते ।
‘यद्यद् दृष्टं तत्तद्’ इत्यर्थे जाइठिआ स्मृता ।

हुडुरु-घुग्घादयः शब्द-चेष्टानुकरणयोः ॥ ४२३ ॥

स्युर हुडुरु-प्रभुनयः, शब्दानुकरणे तथा ।
चेष्टाऽनुकरणे घुग्घादयः शब्दा व्यवस्थिताः ।
“मइं जाणिउं बुडूसि हउं पेम्म-ऊहि हुडुरु ति ।
नवरि अचिन्तिय संपन्निअ विप्पिय नाव भुडत्ति ।
अज्जवि नाहु महुज्जि घरि सिद्धत्था वन्देइ ।
ताञ्जि विरहु गवक्खेहिं मक्कसु-घुग्घिअ देइ” । [१]

घइमादयोऽनर्थकाः ॥ ४२४ ॥

‘घइम्’ इत्यादयः शब्दाः, निपाताः परिकीर्तिताः ।
वेद्या अनर्थकास्तेऽत्र, ‘घइं खाइं’ निदर्शनम् ।
तादर्थ्ये केहिं-तेहिं-रेसि-रेसि-तणेणाः ॥ ४२५ ॥
‘केहिं-तेहिं-रेसि-रेसि-तणेणा’ इति पञ्च तु ।
निपाताः संप्रयोक्तव्यास्तादर्थ्यं यत्र गम्यते ।
“ढोङ्गा एह परिहासडी अइम न कवणहि देसि ।
हउं छिज्जं तउ केहिं पिअ ! तुहुं पुणु अअहि रेसि” । [३]

पुनर्धिनः स्वार्थे दुः ॥ ४२६ ॥

‘पुनर् धिना’ इत्येताभ्यां, स्वार्थे दुः प्रत्ययो भवेत् ।
पुनरर्थे पुणु ततो, विनाऽर्थे ‘विणु’ सिध्यति ।

अवश्यमो नै-ढौ ॥ ४२७ ॥

अवश्यमः परौ ‘नै-ढौ,’ स्वार्थिकौ प्रत्ययौ स्मृतौ ।
तस्माद् अवश्यम् ‘अवसै अवस’ स्मर्यते बुधैः ।

एकशसो निः ॥ ४२८ ॥

स्वार्थे डिर् एकशस् शब्दाद्, रूपम् ‘एकसि’ संस्मृतम् ।

अ-रुड-कुल्लाः स्वार्थिक-क-लुक् च ॥ ४२९ ॥

नाम्नः परे-‘ऽरुड इल्ल’ इत्यमी स्वार्थिकास्त्रयः ।
तत्संज्ञियोगे स्वार्थे क-प्रत्ययश्चेह लुप्यते ।

[१] यथा सुपुरुषास्तथा भगवत्का यथा नद्यस्तथा वलनानि ।
यथा गिर्यस्तथा कोटराणि हृदय ! खिद्यसे कथम् ? ।
[२] मया ज्ञातं वृडिष्यामि अहं प्रेमहृदे हुडुरिति ।
केवलमचिन्तित्वा संपत्तिता (संप्राप्ता) विप्रियनौः भुडिति ॥
अद्यापि नाथो ममैव गृहं सिद्धार्थान् वन्दते ।
तावेदेव विरहो गवाक्षेपु मर्कटचेष्टाः ददाति ॥
[३] नायक ! एषा रीतिः अत्यद्भुता न कुत्रापि दृष्टा ।
अहं क्रीये तव हृते प्रिय ! त्वं पुनरन्यस्यार्थे ॥

“विरहानल-जाल-करालिअउ पहिउ पन्थि जं दिट्टउ ।
तं मेलवि सव्वहिं पंथिअहिं सोजि किअउ अग्गिट्टउ” [१] ॥
रुमस्य ‘दोसडा’ इल्लस्य कुकुल्ली निदर्श्यते ।

योगजाश्रैषाम् ॥ ४३० ॥

एषाम् अ-डड-कुल्लानां, योगजदेन निर्मिताः ।
जायन्ते प्रत्यया येऽत्र, तेऽपि स्वार्थे कचिन्मताः ।
[रुमअ] ‘फोमेन्ति जे हिअरुउं’ किसिहेति [१।२६६] यलुक मतः ।
[कुल्लअ] ‘चुक्कीहोइसइ च्चुल्लउ’ कुल्लरुनं शृणु- ।
[कुल्लरु] “सामिपसाउ सलज्जुपिअ सीमा-संधिहिं वासु ।
पेक्खिअ वि बाहु-वल्लुल्ला धण मेल्लइ नासासु” [२] ॥
आमि ‘स्यादौ दीर्घ-रूस्वौ’-[४।३३०] इति दीर्घोऽत्र बुध्यताम् ।
‘बाहु वल्लुल्ल डउ’ तु, प्रत्ययत्रयसंभवम् ।

स्त्रियां तदन्ताङ्गीः ॥ ४३१ ॥

पूर्वसूत्रद्वयोक्तप्रत्ययान्ताद् स्त्रीः त्रियां प्रवेत् ।
“पहिआ दिछी गोरमी दिट्ठा मग्गु निअन्त ।
अंससासेहिं कञ्जुआ तितुव्वाण करन्त” [३] ॥

आन्तान्ताङ्गाः ॥ ४३२ ॥

स्त्रियाम् अप्रत्ययान्त-प्रत्ययान्ताद् ‘मा’ऽस्तु नैव ङीः ।
“पिउ आइउ सुअ वत्तडी कुणि कन्नडइ पइउ ।
तहो विरहहो नासंतअहो धूलडिआ वि न दिट्ठ” [४] ॥

अस्येदे ॥ ४३३ ॥

स्त्रियां नाम्नोऽत इत्वं स्याद् आकारं प्रत्यये परे ।
‘धूलडिआ वि दिछ न’ इति वाक्ये विभाव्यताम् ।

युष्मदादेरीयस्य डारः ॥ ४३४ ॥

युष्मदादिभ्य ईय प्रत्ययस्य ‘डार’ इष्यते ।
“संदेसे कां तुहारेण जं सङ्गहो न मिञ्जिअ ।
सुइणन्तिरि पिणं पाणिणएण पिअ ! पिआस किं मिञ्जिअ” [५] ॥
अम्हारा च महारा च. वंथं चैवं निदर्शनम् ।

अतोर्नेत्तुलः ॥ ४३५ ॥

इदं किंयत्तदेतद्भयोऽतोः स्थाने ‘डेत्तुलो’ भवेत् ।
एत्तुलो केत्तुलो जेत्तुलो च तेत्तुलो एत्तलो ।

त्रस्य केत्तहे ॥ ४३६ ॥

सर्वादेस् त्र-प्रत्ययस्य, पदे स्यात् ‘डेत्तहे’ यथा- ।
“एत्तहे तेत्तहे वीरघोरि लच्छि विणएडुल ठाइ ।
पिअ-पव्वमट्टव गोरडी निच्चल कहिंवि न गइ” [६] ॥

[१] विरहानलज्वालाकरालितः पथिकः पथि यद् दृष्टः ।
तत् मिलित्वा सर्वैः पथिकैः स एव हृतोऽग्निष्टः ॥
[२] स्वामिप्रसादः सलज्जप्रियः सीमासंधौ वासः ।
प्रेक्ष्य बाहुवक्षं नायिका मुञ्चति निश्वासम् ॥
[३] पथिक ! दृष्टा गौरी दृष्ट्या मार्गं पश्यन्ती ।
अश्रूच्छ्वासाभ्यां कञ्जुकं तेमितोद्घातं कुर्वती ॥
[४] प्रिय आगतः श्रुता वार्ता ध्वनिः कर्णप्रविष्टः ।
तस्य ‘विरहस्य नश्यतो’ धूलरपि न दृष्टा ॥
[५] संदेशेन कियत् युष्मद्वयेन शत सङ्गाय न मिल्यते ।
स्वप्नान्तरे पीतेन पानीयेन प्रिय ! पिपासा किं निघ्नते ।
[६] अत्र तत्र वीरगृहे लक्ष्मी विसंस्थुला तिष्ठति ।
प्रियप्रपन्न गौरी निश्चला क्वापि न तिष्ठति ॥

त्व-तलोः पणः ॥ ४३७ ॥

प्रत्यययोस् त्व-तलोः स्यात्, 'पणः', 'वहृपण' स्मृतम् ।

प्रायोऽधिकाराद् 'वहृत्तणहो' इत्यपि सिध्यति ।

तव्यस्य इण्वत्तं एवत्तं एवा ॥ ४३८ ॥

इण्वत्तं एवत्तं एवा' तव्यस्य पदं त्रयः ।

"एउ गृह्णेषिणु धुं मइ, जइ प्रिउ उच्चागिज्जइ ।

महु करिण्वत्तं किं पि एवि, मरिण्वत्तं परं देज्जइ ।

देसुच्चाडणु सिहिक्कदणु, धणकुट्टणु जं लोइ ।

मज्झिदणु अइरसिण, सन्धु संहवत्तं होइ ।

सोएवा परं धारिआ, पुण्णवर्षहिं समाणु ।

जग्गेवा पुणु को धरइ, जइ सो वेउ पमाणु ? " ॥ [१]

क्त्व इ-इउ-इवि-अवयः ॥ ४३९ ॥

'अवि इवि इउ इ' इतीमे, चत्वारः क्वः पदे भवन्ति, यथा ।

[इ] जइ [इवि] चुम्बिचि च [मवि] विद्धोडावि,

[इउ] भज्जित्ता कृपाणि सिध्यन्ति ।

[अवि] "वाह विद्धोडावि जाहि तुहुं, हउं तेवैइ को दोसु ? ।

हिअय-ट्टिउ जइ नोसरइ, जाणउं मुज्ज ! सरोसु ॥ " [२]

एप्पेप्पिण्वेज्येविणवः ॥ ४४० ॥

चत्वारः क्वः पदे 'एप्पि, एवि एप्पिणु ए विणु' ।

सूत्रयोर्यः पृथग्योग उत्तरार्थः स इत्येत ।

"जेप्पि असेसु कसाय-यलु, देप्पिणु अमउ जयस्सु ।

लेवि मइव्वय सिवु लइहि, भाणविणु तत्तस्सु ॥ " [३]

तुम एवमणाणहमणहिं च ॥ ४४१ ॥

'अणहिं अणहं एवं, अण एप्पिणु एविणु ।

एप्पि एवि' अमी अष्टौ, प्रत्ययस्य तुमः पदे ।

"देवं दुक्क निअय-धणु, करण न तउ पमिहाइ ।

एम्भइ सुहु भुज्जणहं मणु, परं नुज्जणहिं न जाइ ।

जेप्पि चएप्पिणु सयत्त धर, लेविणु तवु पालेवि ।

विणु सन्ते तिथेसरणे, को सक्कइ भुवणे वि ? " [४]

गमेरेप्पिण्वेज्योरेल्लुग् वा ॥ ४४२ ॥

गम-धातोः परौ यौ स्तः, 'एप्पि एप्पिणु' इत्यम् ।

तयोद् एनो लुग् अत्रास्तु, विभाषेति विधीयते ।

"गम्पिणु धाणारसिहिं नर, अह उज्जेणिहिं गम्पि ।

मुआ परावहिं परम-पउ, दिव्वन्तरइ म जम्पि " । [५]

[१] एतद् गृहीत्वा यन्मया यदि प्रिय! उद्धार्यते ।

मम कर्तव्यं किमपि नापि, मर्तव्यं परं दीयते ॥

देशोच्चाटनं शिखिकथनं घनकुट्टनं यल्लोके ।

मज्झिष्ठया अतिरक्तया सर्वं सोढव्यं न्वति ॥

स्वपितव्यं परवारिता पुण्यवर्ताभिः समम् ।

जागर्तव्यं पुनः कां विनर्ति यदि स वेदः प्रमाणम् ॥

[२] बाहू विच्छेदय्य यासि त्वं भवतु तथा को दोषः ? ।

हृदयस्थितो यदि निःसरासि जाने मुज्ज ! सरोयः ॥

[३] जित्वाऽशेषं कपाययत्तं दत्त्वाऽभयं जगतः ।

लात्वा महामृतानि शिवं लभन्ते ध्यात्वा तत्त्वम् ॥

[४] दातुं दुष्करं निजकथनं कर्तुं न तपः प्रतिजाति ।

एवमेव सुखं भोक्तुं मनः परं ज्ञोक्तुं न याति ॥

जेतुं त्यक्तुं सकृदा धरां लातुं तपः पालयितुम् ।

विना शान्तिना तीर्थक्षरेण कः शक्नोति भुवनंऽपि ? ॥

[५] गत्वा चाराणस्यां नरा अथोज्जयिन्यां गत्वा ।

मृताः (प्रियन्ते) प्राप्नुवन्ति परमपदं दिव्यान्तराणि मा जल्प ॥

[पदे] "गङ्गा गमेप्पिणु जो मुअइ, जो सिव-तिथ गमेप्पि ।
कीलदि तिदसावास-गउ, सो अम-लोउ जिणेप्पि ॥ " [१]

तृनोऽणअः ॥ ४४३ ॥

प्रत्ययस्य तृनः स्थानेऽणभाऽदेशो विधीयते ।

वोल्लणउ वज्जणउ, तथा जसणउ स्मृतम् ।

इयार्थे न-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणवः ॥ ४४४ ॥

अपञ्चशे 'जाण जणु नाइ नावइ न नउ' ।

इत्यमी पदं प्रयुज्यन्ते, इयार्थे कोविदैः सदा ।

[नाइ] "ववयाववि-निवडण-भएण, धण वड्डवुअ जाइ ।

घल्लह-विरह-महादहो, धाह गवेसइ नाइ ॥ " [२]

लिङ्गमतन्त्रम् ॥ ४४५ ॥

अत्र लिङ्गं व्यभिचारि, प्रायो भवति तेन हि ।

स्त्रीपुंनपुंसकं लिङ्गं, यथेष्टं संप्रवर्तते ।

"अम्भा दग्गा कुल्लारिहिं, पहिउ रउन्तउ जाइ ।

जो पहा गिरि-गिलण-मणु, सां किं अहे धणाइ ॥ " [३]

अत्र अस्नेति पुंस्त्वं हि, ह्रीवस्य प्रतिपादितम् ।

एवमन्यासु गाथासु, स्वयं वृक्ष्या विचार्यताम् ।

शौरसेनीवत् ॥ ४४६ ॥

अपञ्चशे शौरसेनीवत् कार्यं प्रायशः स्मृतम् ।

व्यत्ययश्च ॥ ४४७ ॥

भाषाणां प्राकृतादीनां, लक्षणानि तु यानि हि ।

तेषां च व्यत्ययः प्रायो, भवेदित्युपदिश्यते ।

तिष्ठच्छिष्टेति [४४८७] मागध्यां, यथा कार्यं प्रदर्शितम् ।

तत् पैशाची-शौरसेनी-प्राकृतेष्वपि जायते ।

अपञ्चशे तु रेफस्याघो वा लुक् स्यादितोरितम् ।

मागध्यामपि तत् कार्यं, नवनीति निदर्शनम् ।

न केवलं हि भाषालक्षणानां व्यत्ययः कृतः ।

त्याद्यांशानामपि तु, व्यत्ययो दृश्यते यतः ।

वर्तमाने प्रसिद्धा ये, ते चृतेऽपि भवन्ति तु ।

भूतकावे प्रसिद्धास्तु, वर्तमानंऽपि वीक्षिताः ।

यथा 'पेच्छइ' इत्येतत्, 'प्रेक्षाञ्जकं' क्वचिन्मतम् ।

'आजासइ' 'आवभाषे', इत्यर्थे क्तिपि दृश्यते ।

एवं 'सोहीअ' घनि तु, शृणोतीत्यर्थकं क्वचित् ।

शिष्टप्रयोगतः सर्वं, श्रोतव्यं सूक्ष्मदर्शिभिः ।

शेषं संस्कृतवत् सिद्धम् ॥ ४४८ ॥

प्राकृतादिषु भाषासु, यत् कार्यं नेह दर्शितम् ।

सप्ताध्यायीनिबन्धेन, संस्कृतेन समं हि तत् ।

"हेठ-ट्टिय-सूर-निवारणाय, उअं अहो इव वहन्ती ।

अयइ ससेसा वराइ-सास-दूरक्खुया पुहवी" । [४]

यद्यप्यत्र चतुर्थ्यास्तु, नादेशो दर्शितः क्वचित् ।

तथाऽपि सोऽतिदेशेन, सिद्धः संस्कृतवत् खलु ।

[१] गङ्गां गत्वा यो मृतो यः शिवतीर्थे गत्वा ।

क्रीडति त्रिदशावासगतः स यमलोकं जित्वा ॥

[२] ब्रह्मयावलिनिपतनभयेन नायिका कर्ध्वशुजा याति ।

वल्लजविरहमहाहृदस्य स्ताघं गवेययति इव ॥

[३] अस्त्राणि लग्नानि पर्वतेषु पथिकां रटन् याति ।

य इच्छति गिरिगलनमनाः स किं नायिकायाः धनानि ? ॥

[४] अधःस्थितसूरनिवारणाय क्षुभ्रमथ इव वहन्ती ।

जयति सशेषा वराहश्वासदूरोत्क्रिस्ता पृथिवी ॥

उक्तं चापि भवत्यत्र, कार्यं संस्कृतवत् क्वचित् ।
 'उरे उरम्मि' इत्येतौ, प्रयोगौ प्राकृते मतौ ।
 उरसीत्यपि तस्यार्थे, कापि संस्कृतवन्मतम् ।
 सिरि सिरम्मि सिरसि, सरम्मि सरसि सरे ।
 इत्याद्यपि बुधैरेवं, वेद्यं लक्ष्यानुसारतः ।
 सिद्धस्य ग्रहणं सूत्रे, मङ्गलार्थं प्रकीर्तितम् ।
 येन वाचकवृन्दस्य, नित्यमभ्युदयोऽस्त्विति ।
 या भाषा भगवद्गवाञ्जिरगमत् ख्यातिं प्रतिष्ठां परां
 यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यमूनि निखिलान्येकादशाङ्गानि च ॥
 तस्याः संप्रति दुःपमारवशतो जातोऽप्रचारः पुनः
 संचाराय मया कृते विवरणे पादश्चतुर्थो गतः ॥१॥
 इति श्रीबृहत्सौधर्मतपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञ-
 श्रीमद्भट्टारक—श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचि-
 तायां प्राकृतव्याकृतौ चतुर्थः पादः ।
 तत्समाप्तौ समाप्ता चेयं प्राकृतव्याकृतिः ।

अथ प्रशस्तिश्लोकाः—

श्रीसौधर्मबृहत्तपेतिविदिते गच्छे पुरा धर्मराट्
 संजातः खलु रत्नसूरिरपरः सूरिः क्षमाऽऽख्यस्ततः ।
 देवेन्द्रश्च ततो बभूव विबुधः, कट्याणसूरिर्महान्
 आचार्यः सकलोपकारनिरतः सूरिः प्रमोदस्ततः ॥१॥
 तच्छिष्यो निजगच्छकृत्यविशदीकर्ता स भट्टारको
 राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयने संजातचूरिश्रमः ।
 ग्रन्थानां सुविचारचारुचतुरो धर्मप्रचारोद्यतो
 जैनाचार्यपदाङ्कितोऽहमधुना राजेन्द्रसूरिर्बुधः ॥२॥
 दीपविजयमुनिना वा यतीन्द्रविजयेन शिष्ययुग्मेन ।
 विज्ञप्तः पद्यमयी प्राकृतविवृतिं विधातुमहम् ॥३॥
 मोहनविजयेन पुनः प्रधानशिष्येण चूरि विज्ञप्तः ।
 सकलजनोपकृतिश्चेदेवं करणे महान् लाभः ॥४॥
 अत एव विक्रमाब्दे, भूर्रसैनवविधुमिते दशम्यां तु ।
 विजयाख्यायां चातुर्मास्येऽहं कूकसीनगरे ॥५॥
 हेमचन्द्रसंरचितप्राकृतसूत्रार्थबोधिनीं विवृतिम् ।
 पद्यमयीं सच्छन्दोवृन्दै रम्यामकार्षमिमाम् ॥६॥
 श्रीवीरजिनप्रीत्यै, प्रायो विवृतिः कृताऽवधानेन ।
 स्वखलनं कापि यदि स्यान्मिथ्या मे दुष्कृतं भूयात् ॥७॥

अथ सूत्रनिर्दिष्टानां गणानां नामानि ।

पादे सूत्रे	पादे सूत्रे
२ । १७ अद्यादिः	१ । ७० मांसादिः
१ । ३५ अञ्जद्यादिः	१ । १०७ मुकुलादिः
४ । २५८ अप्फुष्पादिः	४ । ३१७ यादृशादिः
१ । ५६ अभिज्ञादिः	४ । ४३४ युष्मदादिः
३ । १७२ इजादिः	४ । २३६ रुषादिः
१ । ६७ उत्त्वातादिः	१ । २६ वक्रादिः
१ । १३१ ऋत्वादिः	१ । ३३ वचनादिः
१ । १२८ कृपादिः	४ । ४२२ वहिल्लादिः
२ । ६ द्वेष्टकादिः	४ । २३५ वृषादिः
४ । २४७ गमादिः	१ । १५२ वैरादिः
१ । ३४ गुणादिः	१ । २८ त्रिशत्यादिः
२ । १७४ गोणादिः	४ । २३० शकादिः
४ । ४२४ घडमादिः	१ । ५७ शय्यादिः
४ । ४२३ घुग्वादिः	१ । १८ शरदादिः
४ । ३९५ षोडशादिः	४ । ४२२ शीघ्रादिः
४ । ३९५ तद्यादिः	२ । १४५ शीलादिः
२ । ९८ तैलादिः	१ । ७२ सदादिः
१ । ४० त्यदादिः	१ । ४४ समृद्ध्यादिः
२ । १७२ त्वादिः	३ । ५८ सर्वादिः
१ । १५१ दैत्यादिः	२ । ९९ सेवादिः
२ । ३० धूर्त्तादिः	३ । १७२ सोच्छादिः
१ । १०१ पानीयादिः	१ । १६० सौन्दर्यादिः
१ । १६२ पौरादिः	१ । ४६ स्वप्नादिः
२ । २१८ प्यादिः	३ । ३५ स्वप्नादिः
१ । २०६ प्रत्यादिः	१ । २५४ हरिद्रादिः
१ । २९ मांसादिः	४ । ४२३ हुहुर्वादिः

अथ प्राकृतसूत्राणां सूत्रसङ्ख्या ।

पादे	सूत्रसङ्ख्या
१	२७१
२	२१८
३	१८२
४	४४८
४	१११६

[illegible]

पृष्ठ.	सूत्र
७	इत्कपादौ । ८ । १ । १२८ ।
११	इत्वे वेतसे । ८ । १ । २०७ ।
८	इत्सैन्धवशनैश्चरे । ८ । १ । १४६ ।
४९	इदम आयः । ८ । ४ । ३६५ ।
२८	इदम इमः । ८ । ३ । ७२ ।
४६	इदम इमुः क्लीबे । ८ । ४ । ३६१ ।
२०	इदमर्थस्य केरः । ८ । २ । १४७ ।
२८	इदमेतत्कियत्त० । ८ । ३ । ६६ ।
४४	इदानीमो दाणिं । ८ । ४ । २७७ ।
३४	इदितो वा । ८ । ४ । १ ।
२५	इदुतो दीर्घः । ८ । ३ । १६ ।
८	इष्टतौ वृष्टवृष्टिपृ० । ८ । १ । १३७ ।
७	इदेतौ नूपुरे वा । ८ । १ । १२३ ।
८	इदेदोष्टन्त । ८ । १ । १३६ ।
२०	इदं किमश्चडेति० । ८ । २ । १५७ ।
१५	इन्धौ म्ना । ८ । २ । २८ ।
२७	इर्जस्य णोणाङ्गौ । ८ । ३ । ५२ ।
६	इर्भ्रकुटौ । ८ । १ । ११० ।
५३	इवार्थे न-नच० । ८ । ४ । ४४४ ।
३४	इहरा इतरथा । ८ । २ । ३१७ ।
४४	इह इचोर्हस्य । ८ । ४ । ३६८ ।

ई

३२	ईअ-इजौ क्य० । ८ । ३ । १६० ।
६	ईः क्षुते । ८ । १ । ११२ ।
४	ईः स्यान्कस्वा० । ८ । १ । ७४ ।
३३	ई च द्वित्रयाम् । ८ । ३ । १८२ ।
३५	ईतः सेश्वाऽऽवा । ८ । ३ । ३८ ।
२६	ईदुतोर्हस्वः । ८ । ३ । ४२ ।
८	ईदु धैर्ये । ८ । १ । १५५ ।
२७	ईद्विसम्भसां सु० । ८ । ३ । ५४ ।
२७	ईद्वयः स्या से । ८ । ३ । ६४ ।
२०	ईयस्यात्मनो ण्यः । ८ । २ । १५३ ।
६	ईर्जिह्वासिहर्जिश० । ८ । १ । ६२ ।
७	ईर्वोद् व्यूढे । ८ । १ । १२० ।
४	ईर्हरे वा । ८ । १ । ५१ ।

उ

२४	उम पश्य । ८ । २ । २११ ।
५	उः साक्षास्तावके । ८ । १ । ७५ ।
१९	उष्वाहति । ८ । २ । १११ ।
८	उष्वाहति । ८ । १ । १५४ ।
४०	उच्छल उत्पल्लः । ८ । ४ । १७४ ।
६	उज्जीर्णं । ८ । १ । १०२ ।
६	उतो मुकुटादिष्वत् । ८ । १ । १०७ ।
३६	उत्तिपेर्गुलगुम्भो० । ८ । ४ । १४४ ।
९	उत्त सौन्दर्यादौ । ८ । १ । १६० ।
३४	उदष्टकुक्षुरौ । ८ । ४ । १७ ।
८	उद्देन्मृषि । ८ । १ । १३६ ।

पृष्ठ.	सूत्र
७	उट्त्वादौ । ८ । १ । १३१ ।
५	उदोद्वाऽऽर्द्धे । ८ । १ । ८२ ।
३४	उदो धो धुमा । ८ । ४ । ८ ।
३५	उदघटेरुगः । ८ । ४ । ३३ ।
३५	उदधूलेर्गुणः । ८ । ४ । ३९ ।
३४	उदवातेरोरुम्मा० । ८ । ४ । ११ ।
४२	उद्विजः । ८ । ४ । २२७ ।
३५	उन्नमस्त्यङ्गेष्टात्त० । ८ । ४ । ३६ ।
२१	उपरेः संव्याने । ८ । २ । १६६ ।
३८	उपसर्पेरल्लिखः । ८ । ४ । १३६ ।
३६	उपालम्भेर्भङ्ग० । ८ । ४ । १५६ ।
९	उमो निपद्ये । ८ । १ । १७४ ।
७	उर्भूहनुमत्करुण्य० । ८ । १ । १२१ ।
४१	उल्लसेरुसद्योसुम्भ० । ८ । ४ । २०२ ।
४२	उयर्णस्यावः । ८ । ४ । २३३ ।

ऊ

८	ऊः स्तेने वा । ८ । १ । १४७ ।
२३	ऊर्गर्हाऽऽक्षेपवि० । ८ । २ । १६६ ।
९	ऊचोपे । ८ । १ । १७३ ।
११	ऊत्वे दुर्जगसुभगे० । ८ । १ । १९२ ।
६	ऊत्सुभगमुसवे वा । ८ । १ । ११३ ।
९	ऊत्सोच्छ्रासे । ८ । १ । १५७ ।
५	ऊद् वाऽऽसारं । ८ । १ । ७६ ।
६	ऊर्हीनविहीने वा । ८ । १ । १०३ ।

ऋ

१५	ऋक्ते वा । ८ । २ । १९ ।
८	ऋणर्ज्वपभर्तृपौ० । ८ । १ । १४१ ।
३६	ऋतामुदस्यमौ० । ८ । ३ । ४४ ।
७	ऋतोऽत् । ८ । १ । १२६ ।
२६	ऋतोऽद् वा । ८ । ३ । ३९ ।
४५	ऋवर्णस्यारः । ८ । ४ । २३४ ।

ऌ

८	ऌत इतिः कलस० । ८ । १ । १४५ ।
---	------------------------------

ए

४६	एर्जस्यसोः । ८ । ४ । ३६३ ।
४८	ए चक्षुतः । ८ । ४ । ३४३ ।
५२	एकशसो निः । ८ । ४ । ४२८ ।
१६	एकखरे श्वः खे । ८ । २ । ११४ ।
२४	एकसरिभ्रं भगि० । ८ । २ । ३१३ ।
३२	एषक्त्वा तु मत्त० । ८ । ३ । १५७ ।
८	एष दैवे । ८ । १ । १५३ ।
४	एच्छय्यादौ । ८ । १ । ५७ ।
४७	एष्टि । ८ । ४ । ३३३ ।
२०	एरिह एसाहे इ० । ८ । २ । १३४ ।
८	एत इच्छा वेदना० । ८ । १ । १४६ ।
१६	एतः पर्यन्ते । ८ । २ । ६५ ।
४६	एतदः स्त्रीपुं० । ८ । ४ । ३६३ ।

पृष्ठ.	सूत्र
३०	एत् । ८ । ३ । १२६ ।
९	एत् त्रयोदशादौ० । ८ । १ । १६५ ।
५१	एत्तु कुत्रात्रे । ८ । ४ । ४०५ ।
६	एत् पीयूषापीड० । ८ । १ । १०५ ।
१	एदेतोः खरे । ८ । १ । ७ ।
५	एद् ग्राह्ये । ८ । १ । ७८ ।
५३	एप्येप्येवे० । ८ । ४ । ४४० ।
२८	एरदीतौ स्मौ वा । ८ । ३ । ८४ ।
५१	एवं-परं-समं० । ८ । ४ । ४१८ ।
४४	एवार्थे व्येव । ८ । ४ । २८० ।

ऐ

८	ऐत एत् । ८ । १ । १४८ ।
---	------------------------

ओ

६	ओश्च द्विधा कृगः । ८ । १ । ९७ ।
८	ओतोऽद्वाऽन्यो० । ८ । १ । १५६ ।
७	ओत्कूष्माण्नीत० । ८ । १ । १३४ ।
४	ओत्पश । ८ । १ । ६१ ।
६	ओत्पूतरवदर० । ८ । १ । १७० ।
७	ओत्संयोगे । ८ । १ । ११६ ।
५	ओदाह्यां पञ्चौ । ८ । १ । ८३ ।
३३	ओ सूचनापञ्चा० । ८ । २ । २०३ ।

औ

६	औत औत् । ८ । १ । १५९ ।
---	------------------------

क

१०	कगच जतद० । ८ । १ । १७७ ।
१७	कगटततदप० । ८ । ३ । ७७ ।
१२	ककुदे हः । ८ । १ । ३२५ ।
२	ककुभो हः । ८ । १ । २१ ।
३४	कधेवज्जरपञ्ज० । ८ । ४ । २ ।
५१	कथंयथातथां० । ८ । ४ । ४०१ ।
११	कदम्बे वा । ८ । १ । २२२ ।
११	कदर्थिते वः । ८ । १ । ३२४ ।
११	कदल्यामहुमे । ८ । १ । २२० ।
१६	कन्दरिकाभि० । ८ । ३ । ३८ ।
१३	कवन्धे मयौ । ८ । १ । २३६ ।
३५	कमेर्णिहुवः । ८ । ४ । ४४ ।
३५	कम्पेर्विच्छोलः । ८ । ४ । ४६ ।
१३	करवीरे णः । ८ । १ । २५३ ।
१६	करेणुवाराण० । ८ । ३ । ११६ ।
१८	कर्णिकारे वा । ८ । २ । ६५ ।
१६	कश्मीरे स्मो वा । ८ । २ । ६० ।
४१	काङ्क्षेराहाहित० । ८ । ४ । १६२ ।
३६	काणैकिते णि० । ८ । ४ । ६६ ।
५१	कादिस्थैदोतोरु० । ८ । ४ । ४१० ।
४६	कान्तस्यात उ० । ८ । ४ । ३५४ ।
१७	कार्पापणे । ८ । २ । ७१ ।

पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र
३७	कित्तद्वां मासः । ८ । ३ । ६२ ।	३७	कये रट्टः । ८ । ४ । ११६ ।	५	घञ्चवृत्तेर्वा । ८ । १ । ६७ ।
३६	कियत्तदोऽस्य० । ८ । ३ । ३३ ।	२६	कित्रपः । ८ । ३ । ४३ ।	३५	घटेः परिवारः । ८ । ४ । ५० ।
३७	कियत्तद्वां ७० । ८ । ३ । ६३ ।	१४	कः खः काचित्तु० । ८ । २ । ३ ।	३८	घटेर्गदः । ८ । ४ । ११२ ।
५	किञ्चुके वा । ८ । १ । ८६ ।	१५	क्षण उत्तवे । ८ । २ । २० ।	३८	घूर्णो घुल-घोल० । ८ । ४ । ११७ ।
२४	किणो प्रश्ने । ८ । २ । २१६ ।	१५	क्षमायां कौ । ८ । २ । १७ ।		ङ
२८	किमो मिणोमी० । ८ । ३ । ६८ ।	४०	क्षरः खिरभर० । ८ । ४ । १७३ ।	२	ङञ्जनो व्यञ्जने । ८ । १ । १५ ।
४६	किमो किहे वा । ८ । ४ । ३५६ ।	४५	क्षस्य ऋकः । ८ । ४ । २६६ ।	४८	ङसः सुहोस्तवः । ८ । ४ । ३३७ ।
२८	किमः कखत्तसो० । ८ । ३ । ७१ ।	३६	क्षिपेर्गदत्थाङ् । ८ । ४ । १४३ ।	२४	ङसः स्तः । ८ । ३ । १० ।
४५	किमः काहं कव० । ८ । ४ । ३६७ ।	२	क्षुधो हा । ८ । १ । १७ ।	२५	ङसिङसोः पुंस्त्रीवे० । ८ । ३ । २३ ।
३७	किमः किं । ८ । ३ । ७० ।	३६	क्षुभेः खउरप० । ८ । ४ । १५४ ।	४६	ङसिङसभ्यां० । ८ । ४ । ३७२ ।
१०	किराते चः । ८ । १ । १८३ ।	३६	क्षुरे कम्मः । ८ । ४ । ७२ ।	४८	ङसिभ्यस्ङीनां० । ८ । ४ । ३४१ ।
१३	किरिभेरे रो रुः । ८ । १ । २५१ ।	३४	क्षणिज्जरो वा । ८ । ४ । ३० ।	२७	ङसेमर्हा । ८ । ३ । ६६ ।
२२	किरेरहिरकिवा० । ८ । २ । १८६ ।	१८	क्षमाश्लाघारत्नेऽ० । ८ । ५ । १०१ ।	३०	ङसेल्लुक् । ८ । ३ । १२६ ।
५१	किवाथवादि० । ८ । ४ । ४१६ ।	१४	क्ष्वेष्टकादौ । ८ । २ । ६ ।	४७	ङसेहह । ८ । ४ । ३३६ ।
१४	किसल्यकाहा० । ८ । १ । २६६ ।		ख	२४	ङसेस्तोदोदुहि० । ८ । ३ । ८ ।
५१	कुतसः कउ० । ८ । ४ । ४१६ ।	१०	खघयघभाम् । ८ । १ । १८७ ।	४८	ङस्ङस्योर्ह । ८ । ४ । ३५० ।
७	कुतुहले वा ह० । ८ । १ । ११७ ।	११	खचितपिशाच० । ८ । १ । १६३ ।	४७	ङिनेष्व । ८ । ४ । ३३४ ।
१०	कुञ्जकर्परकीले० । ८ । १ । १८१ ।	३७	खचेवैमडः । ८ । ४ । ७५ ।	२७	ङेडाहेनालाइमा० । ८ । ३ । ६५ ।
१७	कुष्माण्ड्यां फो० । ८ । २ । ७३ ।	४२	खादधावोर्दुक् । ८ । ४ । २२७ ।	३०	ङेनैः । ८ । ३ । १२८ ।
४४	कुगमो रुद्धः । ८ । ४ । २७२ ।	३८	खिदेर्जूरविसुरौ । ८ । ४ । १३२ ।	३८	ङेमेन हः । ८ । ३ । ७५ ।
३६	कुणोः कुणः । ८ । ४ । ६५ ।		ग	४८	ङेहि । ८ । ४ । ३५२ ।
४६	कुणो मीरः । ८ । ४ । ३१६ ।	४३	गमादीनां द्वित्वम् । ८ । ४ । २४६ ।	४६	ङेहि । ८ । ४ । ३५७ ।
१४	कुत्तिवत्तरे चः । ८ । २ । १२ ।	४१	गमिष्यमासां ङः । ८ । ४ । २१५ ।	३७	ङेः स्तिस्मिन्थाः । ८ । ३ । ५५ ।
२१	कुत्वसो हुत्तं । ८ । २ । १५७ ।	३६	गमेरईअच्छाणुव० । ८ । ४ । १६२ ।		च
३५	कुत्रो हं । ८ । ३ । १७० ।	५३	गमेरेप्पिरवे० । ८ । ४ । ४४२ ।	४	चण्डखण्डिते णा० । ८ । १ । ५३ ।
३६	कुपोऽवहो णिः । ८ । ४ । १५१ ।	३७	गर्जेर्दुक् । ८ । ४ । ७८ ।	३०	चतुरश्चतारो चउ० । ८ । ३ । १२२ ।
४०	कुपेः ककुसाअ० । ८ । ४ । १८७ ।	१५	गर्ते रुः । ८ । २ । ३५ ।	२५	चतुरो वा । ८ । ३ । १७ ।
१६	कुण्ये वर्ये वा । ८ । २ । ११० ।	१६	गर्दमे वा । ८ । २ । ३७ ।	३०	चतुर्थ्याः पष्ठी । ८ । ३ । १३१ ।
१३	कैटभे भो वः । ८ । १ । २४० ।	११	गर्भितातिमुक्तके० । ८ । १ । २०७ ।	१०	चन्द्रिकायां मः । ८ । १ । १८५ ।
७	कौत्तयेके वा । ८ । १ । १६१ ।	४	गवये वः । ८ । १ । ५४ ।	११	चपेटापाटौ वा । ८ । १ । १६८ ।
३२	के । ८ । ३ । १५६ ।	४०	गवेपेर्दुल्लदंढो० । ८ । ४ । १७९ ।	३६	चाटौ गुल्लः । ८ । ४ । ७३ ।
४३	केनाप्पुणणादयः । ८ । ४ । २५८ ।	६	गव्यत्र आमः । ८ । १ । १५७ ।	४२	चिजिधुस्तुलु० । ८ । ४ । २४१ ।
३६	के दुः । ८ । ४ । ६४ ।	३	गुणाद्याः क्लीबे वा । ८ । १ । ३४ ।	१६	चिह्ने न्धो वा । ८ । ५ । ५० ।
४४	कवं इअ-दूणौ । ८ । ४ । २७१ ।	३६	गुण्येर्विरणडौ । ८ । ४ । १५० ।	४६	चूलिकापैशाचि० । ८ । ४ । ३५५ ।
५३	कव इ इउ इवि० । ८ । ४ । ४३९ ।	६	गुरौ के वा । ८ । १ । १०६ ।		छ
२०	कवस्तुमसूणतु० । ८ । २ । १४६ ।	३१	गुर्वादेरविर्वा । ८ । ३ । १५० ।	३४	छदेर्णेमनूमस० । ८ । ४ । २१ ।
४६	कवस्तूनः । ८ । ४ । ३१३ ।	२०	गृहस्य घोरोऽपतौ । ८ । २ । १४४ ।	४५	छस्य ओऽनादौ । ८ । ४ । २७५ ।
४१	कवा तुम तव्येषु० । ८ । ४ । २१० ।	२१	गोणादयः । ८ । २ । १७४ ।	११	छागे लः । ८ । १ । १६१ ।
२	कवास्वर्गेणस्वो । ८ । १ । २७ ।	१६	गौणस्येपतः कूरः । ८ । २ । १२६ ।	१३	छायायां होऽका० । ८ । १ । २४६ ।
३१	कयडोयेल्लुक् । ८ । ३ । १३८ ।	७	गौणान्त्यस्य । ८ । १ । १३४ ।	३६	छायाहरिद्रयोः । ८ । ३ । ३४ ।
४६	कयस्येयः । ८ । ४ । ३१५ ।	१६	गो वा । ८ । २ । ६२ ।	४१	छिदिभिदो न्दः । ८ । ४ । २१६ ।
३५	क्रियः किणो वे० । ८ । ४ । ५२ ।	३८	ग्रन्थो गणः । ८ । ४ । १२० ।	३८	छिदेर्छाव-णि० । ८ । ४ । १५४ ।
३३	क्रियातिपत्तेः । ८ । ३ । १७६ ।	४१	ग्रसेर्धिसः । ८ । ४ । २०४ ।	१५	छोऽज्यादौ । ८ । २ । १७ ।
५०	क्रियेः कीसु । ८ । ४ । ३८६ ।	५०	ग्रहेर्गृहः । ८ । ४ । ३६४ ।		ज
३८	क्रुधेर्जूरः । ८ । ४ । १३५ ।	४३	ग्रहेर्घण्यः । ८ । ४ । २५६ ।	११	जटिन्ने जो भो० । ८ । १ । १७४ ।
४८	क्लीबे जश्शसो० । ८ । ४ । ३५३ ।	४१	ग्रहो चवगेणहरप० । ८ । ४ । २०९ ।	४५	जघयां यः । ८ । ४ । २७२ ।
२८	क्लीबे स्यमदमि० । ८ । ३ । ७७ ।		घ		
२५	क्लीबे स्वरान्मसोः । ८ । ३ । २५ ।	५२	घमादयोऽन्यकाः । ८ । ४ । ४२४ ।		
३०	क्वचिद्वितीयादः । ८ । ३ । १३४ ।				
४५	कथवर्धो ढः । ८ । ४ । २२० ।				

पृष्ठ.	सूत्र
३०	दुवेदोषिवेषि० । ८ । ३ । १७० ।
३३	डुसु-मु-विध्यादि० । ८ । ३ । १७३ ।
१६	डुहितुनगिन्योर्धू० । ८ । ३ । १२६ ।
३४	दूङ्गे दूमः । ८ । ४ । २३ ।
१८	दृप्त । ८ । २ । ६६ ।
४१	दृशस्तेन दृः । ८ । ४ । २१३ ।
३२	दृशि वचेर्मासकुब्ज० । ८ । ३ । १६१ ।
३५	दृशोर्दावदंशद० । ८ । ४ । ३२ ।
४०	दृशो निअच्छपे० । ८ । ४ । १८१ ।
८	दृशः क्विप्पुत्तस० । ८ । १ । १४३ ।
५०	दृशः प्रस्तः । ८ । ४ । ३९३ ।
२३	दे संमुखीकरणे च । ८ । २ । १६६ ।
३५	दोलेरङ्गालः । ८ । ४ । ४८ ।
१२	दंशदहोः । ८ । १ । २१७ ।
२०	दंष्ट्राया दाढा । ८ । २ । १३६ ।
४६	दूनत्यूनौ प्रः । ८ । ४ । ३१३ ।
१५	द्यय्यर्यो जः । ८ । ३ । २४ ।
१७	द्वेरो न वा । ८ । २ । ७० ।
५	द्वारे वा । ८ । १ । ७६ ।
१८	द्वितीयतुर्ययोरुप० । ८ । २ । ६० ।
३१	द्वितीयस्य सि से । ८ । ३ । १४० ।
३१	द्वितीयातृतीययोः । ८ । ३ । १३५ ।
६	द्विन्योक्त । ८ । १ । ७४ ।
३०	द्विवचनस्य बहुवच० । ८ । ३ । १३० ।
३०	द्वेर्दो वे । ८ । ३ । ११९ ।

ध

२	धनुषो वा । ८ । १ । २३ ।
३४	धवलेर्द्धमः । ८ । ४ । २४ ।
४३	धातवोऽर्थान्तरस्य० । ८ । ४ । २५९ ।
१७	धात्र्याम् । ८ । २ । ८१ ।
३६	धृगेर्धुवः । ८ । ४ । ५९ ।
१६	धृतेर्दिहिः । ८ । २ । १३१ ।
१८	धृष्टुष्मन्ते णः । ८ । २ । ६४ ।
१६	धैर्ये वा । ८ । २ । ६४ ।
३४	ध्यागोर्भागौ । ८ । ४ । ६ ।
१५	ध्वजे वा । ८ । २ । २७ ।
४	ध्वनिविष्वचोरुः । ८ । १ । ५२ ।

न

४६	न कगचजादि० । ८ । ४ । ३३४ ।
२८	न त्यः । ८ । ३ । ७६ ।
१८	न दीर्घानुस्वारात् । ८ । ३ । ६२ ।
३०	न दीर्घो णो । ८ । ३ । १२५ ।
४	नमस्कारपरस्पर० । ८ । १ । ६३ ।
१	न युवर्णस्यास्त्वे । ८ । १ । ६ ।
४२	न वाकर्मभावव्यव० । ८ । ४ । २४२ ।
२७	न वाऽनदिमेत० । ८ । ३ । ६० ।
६	न वा मयूखलव० । ८ । १ । १०१ ।
४४	न वा यो र्यः । ८ । ४ । २९६ ।

पृष्ठ.	सूत्र
४०	नशोर्गिरिणास० । ८ । ४ । १७८ ।
३५	नशोर्विउरुनास० । ८ । ४ । ११ ।
१	न श्रुदोः । ८ । १ । १२ ।
२५	नात आत । ८ । १ । ३० ।
४	नात्पुनर्यादाइ वा । ८ । १ । ६५ ।
४७	नादियुज्योरन्ये० । ८ । ४ । ३१७ ।
२६	नामन्यात्सौ मः । ८ । १ । ३७ ।
२६	नाम्यरं वा । ८ । ३ । ४० ।
२६	नाम्यरः । ८ । ३ । ४० ।
१०	नावर्णात्पः । ८ । १ । १७६ ।
६	नाव्यावः । ८ । १ । १६४ ।
१०	निकपस्फटिक० । ८ । १ । १७६ ।
३४	निद्रातेरोहीरो० । ८ । ४ । १२ ।
१२	निम्बनापिते द्व० । ८ । १ । २३० ।
३८	निरः पदेर्वलः । ८ । ४ । १२७ ।
१	निर्दुरावा । ८ । १ । १३ ।
३४	निर्मो निम्माण० । ८ । ४ । १९ ।
३५	निलीङ्गोर्णिही० । ८ । ४ । ५५ ।
७	निवृत्तवृन्दारके० । ८ । १ । १३२ ।
३४	निवृत्पत्योर्णिदो० । ८ । ४ । २२ ।
१२	निशीथपृथिव्योर्वा० । ८ । १ । २१६ ।
४१	निश्वसेर्भक्तः । ८ । ४ । २०१ ।
१५	निपथे धो ढः । ८ । १ । २१६ ।
३७	निपेधेर्हृक् । ८ । ४ । १३४ ।
३६	निष्प्रभावपृष्मे० । ८ । ४ । ६७ ।
३६	निष्पाताच्छेदे० । ८ । ४ । ७१ ।
३	निष्प्रती ओत्प० । ८ । १ । ३७ ।
३६	निस्सरैर्णाहर० । ८ । ४ । ७७ ।
६	नीमपीठे वा । ८ । १ । १०६ ।
१२	नीपापीठे मो वा । ८ । १ । २३४ ।
३८	नेः सदो मज्जः । ८ । ४ । १२३ ।
१२	नो णः । ८ । १ । २२७ ।
३३	न्तमाणौ । ८ । ३ । १८० ।
१६	न्मो मः । ८ । २ । ६१ ।
४५	न्यययङ्गजां ऽजः । ८ । ४ । २७३ ।
४६	न्यायोर्जः । ८ । ४ । ३०५ ।
४१	न्यसो णिम० । ८ । ४ । १७७ ।

प

४	पकाङ्कारत्नलोटे० । ८ । १ । ४७ ।
१७	पङ्कमश्ममस० । ८ । ३ । ७४ ।
३७	पचेः सोल्लपवल्लौ । ८ । ४ । ७० ।
३१	पञ्चम्यास्तृतीया० । ८ । ३ । १३६ ।
१६	पञ्चाशत्पञ्चद० । ८ । २ । ४३ ।
५	पथिपृथिवीप्रति० । ८ । १ । ७७ ।
२०	पथो णस्येकद् । ८ । २ । १५२ ।
१	पदयोः सन्धिर्वा । ८ । १ । ५ ।
३	पदादपेर्वा । ८ । १ । ४१ ।
५१	पदान्ते उङ्गुहि० । ८ । ४ । ४११ ।

पृष्ठ.	सूत्र
१६	पञ्चम्यामूलद्वारे० । ८ । ३ । ११२ ।
२०	परराजन्त्यां क० । ८ । ३ । १४८ ।
५१	परस्परस्यादिरः । ८ । ४ । ४०७ ।
४१	पर्यसः पलोद्व-प० । ८ । ४ । २०० ।
१६	पर्यस्तपर्याण० । ८ । २ । ६८ ।
१६	पर्यस्ते थटौ । ८ । २ । ४७ ।
१३	पर्याणे मा वा । ८ । १ । २५२ ।
१२	पक्षिते वा । ८ । १ । २१३ ।
५१	पञ्चादेवमेवैवे० । ८ । ४ । ४२० ।
१३	पाटिपरुपपरि० । ८ । १ । २३२ ।
६	पानीयादिभित्त । ८ । १ । १०१ ।
१३	पापद्धौ रः । ८ । १ । २३५ ।
५	पारापते रो वा । ८ । १ । ७० ।
११	पिठरे हो वारश्च० । ८ । १ । २०१ ।
३४	पिधेः पिङ्गल्लु० । ८ । ४ । १० ।
४०	पिपेर्णिवहणि० । ८ । ४ । १८५ ।
१२	पीते वो ले वा । ८ । १ । २१३ ।
२५	पुंसिजसो डव० । ८ । ३ । ३० ।
२८	पुस्त्रियोर्न वाऽय० । ८ । ३ । ७३ ।
२७	पुस्त्यन आणो रा० । ८ । ३ । ५६ ।
३७	पुञ्जराओल्लवामौ । ८ । ४ । १०२ ।
२२	पुणरुक्तं कृतकरणे । ८ । २ । १७६ ।
५२	पुनर्विनः स्वार्थे० । ८ । ४ । ४२९ ।
११	पुत्रागन्नागिन्योर्गो० । ८ । १ । १६० ।
६	पुरुषे रोः । ८ । १ । १११ ।
४४	पूर्वस्य पुरवः । ८ । ४ । २७० ।
२०	पूर्वस्य पुरिमः । ८ । १ । ११५ ।
४०	पूररग्वाडाग्व० । ८ । ४ । १९६ ।
१०	पृथकि धो वा । ८ । १ । १८८ ।
३६	पृथक् रूपे णिव० । ८ । ४ । ११ ।
७	पृष्ठे वाऽनुत्तरपदे । ८ । १ । १२९ ।
१३	पो वः । ८ । १ । २११ ।
२४	प्यादयः । ८ । २ । २१७ ।
३५	प्रकाशोर्णुवः । ८ । ४ । ४५ ।
३०	प्रच्छः पुच्छः । ८ । ४ । ६७ ।
४१	प्रतीकः सामय० । ८ । ४ । १६१ ।
२५	प्रत्यये डीर्नवा । ८ । ३ । ३१ ।
४०	प्रत्याङ्ग पलोद्वः । ८ । ४ । १९९ ।
११	प्रत्यादौ रुः । ८ । १ । २०६ ।
१५	प्रत्यये पञ्च हो वा । ८ । २ । १४ ।
२४	प्रत्येकमः पानि० । ८ । २ । २१० ।
४	प्रथमे पथोर्वा । ८ । १ । ५५ ।
१२	प्रदीपि दोहदे लः । ८ । १ । २२१ ।
३६	प्रदीपेस्तेश्रवसं० । ८ । ४ । १५२ ।
१३	प्रभृते वः । ८ । १ । २३३ ।
३६	प्रभौ हुप्पो वा । ८ । ४ । ६३ ।
६	प्रवासीकौ । ८ । १ । ६५ ।
४०	प्रविशेरिअः । ८ । ४ । १८३ ।
३६	प्रसरेः पयल्लो० । ८ । ४ । ७७ ।

पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र
३५	प्रस्थापेः पट्टवपे० । ८ । ४ । ३७ ।	४८	मिस्तुपोर्हि । ८ । ४ । ३४७ ।	५	मात्रदि वा । ८ । १ । ८१ ।
३७	प्रहणेः सारः । ८ । ४ । ८४ ।	१६	मौष्मिष्मः । ८ । २ । ५४ ।	१३	मामि हला० । ८ । २ । १६५ ।
४२	प्रादेर्मिलिः । ८ । ४ । २३२ ।	३७	युजो जुञ्जजिम० । ८ । ४ । ११० ।	१९	मार्जारस्य मञ्ज० । ८ । २ । १३२ ।
४०	प्राप्त्युशमुयोर्हु० । ८ । ४ । १८४ ।	३६	युवेहोदुवहवाः । ८ । ४ । ६० ।	५	मांसादिपुन्रुखा० । ८ । १ । ७० ।
५१	प्रायसः प्राउ प्रा० । ८ । ४ । ४१४ ।	४४	युवो जः । ८ । ४ । २६६ ।	२	मांसादेर्वा । ८ । १ । १९९ ।
६	प्रावरणे अङ्गवा० । ८ । १ । १७५ ।	५०	युवः पर्याप्तौ हु० । ८ । ४ । ३६० ।	३०	मि मयि ममाङ्ग० । ८ । ३ । ११५ ।
२	प्रावृत्तशरत्तर० । ८ । १ । ११ ।	२८	मे तुम्मे तुज्जम् । ८ । ३ । ६१ ।	१६	मि मे ममं मम० । ८ । ३ । १०९ ।
१८	प्लक्के लात् । ८ । २ । १०३ ।	२६	जे तुज्जेहि उज्जे० । ८ । ३ । ६५ ।	३२	मिमो मु मे स्सा० । ८ । ३ । १६७ ।
३५	प्लावेरोम्बाल० । ८ । ४ । ४१ ।	१६	मे दि दे ते तइत० । ८ । ३ । ६४ ।	३१	मिमोमैम्हि म्हो० । ८ । ३ । १४७ ।
फ		३०	भ्यसश्च हिः । ८ । ३ । १२७ ।	५	मिरायाम् । ८ । १ । ८७ ।
३७	फक्कस्थकः । ८ । ४ । ८७ ।	२४	भ्यसस्तो दो० । ८ । ३ । ६ ।	२२	मिव पिव विव० । ८ । २ । १८२ ।
११	फो भहौ । ८ । १ । २३६ ।	४८	भ्यसामोहुः । ८ । ४ । ३५१ ।	२१	मिथाद् मादिअः । ८ । १ । १७० ।
ब		४६	भ्यसाम्भ्या० । ८ । ४ । ३७३ ।	३५	मिश्रेर्वीसालमे० । ८ । ४ । २८ ।
४३	बन्धो न्यः । ८ । ४ । २४७ ।	२५	भ्यसि वा । ८ । ३ । १३ ।	२८	मुः स्यादौ । ८ । ३ । ८८ ।
२२	बन्ने निर्धारण० । ८ । २ । १८५ ।	४७	भ्यसो हुं । ८ । ४ । ३३७ ।	३७	मुचेरुडुवहे० । ८ । ४ । ९१ ।
१०	बहिसो बार्हि० । ८ । १ । १४० ।	४०	भ्रंशेः फिफिह् । ८ । ४ । १७७ ।	४१	मुहेर्गुम्मगुम्ममौ । ८ । ४ । १०७ ।
५०	बहुत्वे हुं । ८ । ४ । ३८१ ।	१३	भ्रमरे सो वा । ८ । १ । २४४ ।	३७	मुजेरुपुसलुञ्ज० । ८ । ४ । १०५ ।
४६	बहुत्वे दुः । ८ । ४ । ३८४ ।	३१	भ्रमेराडो वा । ८ । ३ । १५१ ।	३८	मुदो मलमढ० । ८ । ४ । १२६ ।
१	बहुलम् । ८ । १ । १२ ।	३९	भ्रमेष्टिरिदिह् । ८ । ४ । १६१ ।	३२	मेः स्सं । ८ । ३ । १६६ ।
३३	बहुषु न्तु ह मो । ८ । ३ । १७६ ।	३५	भ्रमेस्तालि० । ८ । ४ । ३० ।	१२	मेथिशियिरिदि० । ८ । १ । २१५ ।
३१	बहुष्वाद्यस्य० । ८ । ३ । १४२ ।	३१	भ्रुवो मया डमया । ८ । २ । १६७ ।	२६	मे मइ मम मह० । ८ । ३ । ११३ ।
१७	बापे होऽश्रु० । ८ । २ । ७० ।	म		५०	मोऽनुनासिको० । ८ । ४ । ३६७ ।
३	बाहोरात् । ८ । १ । ३६ ।	२६	मइ मम मह म० । ८ । ३ । १११ ।	२	मोऽनुस्वारः । ८ । १ । २३ ।
११	बिसिन्या भः । ८ । १ । १३८ ।	२३	मणे विमर्शे । ८ । २ । २०७ ।	४४	मोऽन्याद् णो वे० । ८ । ४ । २७९ ।
३४	बुभुक्षिवीज्योर्णी० । ८ । ४ । ५ ।	३८	मणेरिश्चिञ्चि० । ८ । ४ । ११५ ।	३२	मोमुमानां हि० । ८ । ३ । १६८ ।
१७	बृहस्पतिवन० । ८ । २ । ६६ ।	७	मधूके वा । ८ । १ । १२२ ।	१४	मोरचल्ला मुधा । ८ । २ । ११४ ।
२०	बृहस्पतौ बहो० । ८ । २ । १३० ।	४६	मध्यत्रयस्याद्य० । ८ । ४ । ३८३ ।	४४	मो वा । ८ । ४ । २६४ ।
१२	बो वः । ८ । १ । २३७ ।	४	मध्यमकतमे० । ८ । १ । ४८ ।	३२	मौ वा । ८ । ३ । १५४ ।
४३	भो बृहलिह० । ८ । ४ । २४५ ।	३१	मध्यमस्येत्था० । ८ । ३ । १४३ ।	१६	म्नज्ञोर्णः । ८ । २ । ४२ ।
१६	भो म्हुजौ वा । ८ । ३ । १०४ ।	१७	मध्याह्ने हः । ८ । १ । ८४ ।	४१	म्मश्चेः । ८ । ४ । २४३ ।
१६	ब्रह्मचर्यैतृयसौ० । ८ । २ । ६३ ।	३३	मध्ये च स्वरा० । ८ । ३ । १७८ ।	२८	म्मावयेऔ वा । ८ । ३ । ८९ ।
४	ब्रह्मचर्ये चः । ८ । १ । ५९ ।	२१	मनाको न वा डो० । ८ । २ । १६६ ।	४१	म्रक्षेष्थोपपडः । ८ । ४ । १९१ ।
५०	ब्रूगां भ्रुवो वा । ८ । ४ । ३६१ ।	३८	मन्थेर्घुसलवि० । ८ । ४ । १२१ ।	३४	म्लेर्वा पव्वायौ । ८ । ४ । १८ ।
भ		१३	मन्मथे वः । ८ । १ । २४२ ।	५१	म्हो भो वा । ८ । ४ । ४१२ ।
३७	भज्जेर्वेमय-मु० । ८ । ४ । १०६ ।	३६	मन्युनौष्ठमा० । ८ । ४ । ६६ ।	य	
४४	भवद्भगवतोः । ८ । ४ । २६५ ।	१६	मन्यौ न्तो वा । ८ । २ । ४४ ।	४६	यत्तत्किञ्च्यो० । ८ । ४ । ३५८ ।
४४	भविष्यति स्तिः । ८ । ४ । १७५ ।	२६	ममाम्हौ ज्यसि । ८ । ३ । ११२ ।	२०	यत्तदेतदोतो० । ८ । २ । १५६ ।
३२	भविष्यति हिराण० । ८ । ३ । १६६ ।	४	मयत्यैर्वा । ८ । १ । ५० ।	४६	यत्तदः स्यमोर्धुं त्रं । ८ । ४ । ३६० ।
४६	भविष्यत्येय एव । ८ । ४ । ३२० ।	१०	मरकतमदकले० । ८ । १ । १८२ ।	५१	यत्रतत्रयोस्त्रस्य० । ८ । ४ । ४०४ ।
४०	भपेष्टकः । ८ । ४ । १८६ ।	१०	मलिनोभयश्रु० । ८ । २ । १३८ ।	१०	यमुनाचामुण्ण० । ८ । १ । १७८ ।
१६	भस्मात्मनोः० । ८ । २ । ५१ ।	७	मसृणमृगाङ्गमृ० । ८ । १ । १३० ।	१३	यष्ट्यां लः । ८ । १ । १४७ ।
३९	भ्रात्राक्रान्ते नमे० । ८ । ४ । १५८ ।	३७	मस्जेराउडुणिड० । ८ । ४ । १०१ ।	५१	यादकृतादकृ० । ८ । ४ । ४०२ ।
४१	भ्रासेर्मिसः । ८ । ४ । २०३ ।	३६	महमहो गन्धे । ८ । ४ । ७८ ।	४६	यादशादेर्दुस्तिः । ८ । ४ । ३१७ ।
३५	भ्रियो भार्वाहौ । ८ । ४ । ५३ ।	५	महाराष्ट्रे । ८ । १ । ६९ ।	३५	यापेर्जवः । ८ । ४ । ४० ।
४६	भ्रिसा तुम्होर्हि । ८ । ४ । ३७१ ।	१६	महाराष्ट्रे हरोः । ८ । २ । ११६ ।	१४	यावत्तावज्जीवि० । ८ । १ । २७१ ।
१४	भ्रिसा हि हिं हिं । ८ । ३ । ७ ।	४६	महु मज्जु डसि० । ८ । ४ । ३७६ ।	५१	यावत्तावतोर्वा० । ८ । ४ । ४०६ ।
२५	भिस्र्यस्तुपि । ८ । ३ । १५ ।	११	माइं मायें । ८ । २ । १६१ ।	३७	युजो जुञ्जजुज्ज० । ८ । ४ । १०९ ।
४७	भिस्र्येद्वा । ८ । ४ । ३३५ ।	८	मातुरिद्धा । ८ । १ । १३५ ।	४१	युधुधुधुधु० । ८ । ४ । २१७ ।
		२०	मातृपितुःस्व० । ८ । २ । १४१ ।	६	युधिष्ठिरं वा । ८ । १ । ९६ ।

पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र
४७	युवर्णस्य गुणः । ८ । ४ । २३७ ।	३६	लुजेः संभावः । ८ । ४ । १५३ ।	१५	वृत्तप्रवृत्तमृत्तिः । ८ । २ । २९ ।
४८	युष्मदः सौ तुहुं । ८ । ४ । ३६८ ।	४६	लोळः । ८ । ४ । ३०८ ।	१५	वृन्ते एटः । ८ । २ । ३१ ।
२८	युष्मदस्तं तुं तुवं । ८ । ३ । ६० ।	२१	ह्यो नवकाद्धा । ८ । २ । १६५ ।	१५	वृश्चिकेश्चर्चुर्वा । ८ । २ । १६ ।
२०	युष्मदस्मदोऽञ्ज । ८ । २ । १४९ ।		व	८	वृषभे वा वा । ८ । १ । १३३ ।
५२	युष्मदादेरी० । ८ । ४ । ४३४ ।	२	वकादावन्तः । ८ । १ । २६ ।	४२	वृषादीनामरिः । ८ । ४ । २३५ ।
१३	युष्मद्यर्थपरे तः । ८ । १ । २४६ ।	४१	वचो वात् । ८ । ४ । २११ ।	३७	वृषे ढिकः । ८ । ४ । ६६ ।
५२	योगजाश्चैवाम् । ८ । ४ । ४३० ।	३७	वञ्चैहववञ्चव० । ८ । ४ । ६३ ।	११	वणौ णो वा । ८ । १ । २०३ ।
	र	२३	वणे निश्चयवि० । ८ । २ । २०६ ।	९	वेतः कर्णिकारे । ८ । १ । १६८ ।
१४	रक्ते गो वा । ८ । २ । १० ।	२०	वतेर्व्यः । ८ । २ । १५० ।	५१	वेदकिमोऽर्यादेः । ८ । ४ । ४०८ ।
३७	रचैरुगाहावह० । ८ । ४ । ९४ ।	३०	वथात् डाडश्च वा । ८ । ३ । १३३ ।	२८	वेदंतदेतदो ङ० । ८ । ३ । ८१ ।
३५	रञ्जः रावः । ८ । ४ । ४९ ।	१६	वनिताया विल० । ८ । २ । १२८ ।	३६	वेपेरायम्बाय० । ८ । ४ । १४७ ।
४०	रमः संखुदुखे० । ८ । ४ । १६८ ।	२	वर्गेऽन्यो वा । ८ । १ । ३० ।	३	वेमाञ्जल्याद्याः० । ८ । १ । ३५ ।
४५	रसोर्लशौ । ८ । ४ । २८८ ।	३२	वर्तमानापञ्च० । ८ । ३ । १५८ ।	२३	वेव्व च आमन्त्रणे । ८ । २ । १६४ ।
४७	रस्य लो वा । ८ । ४ । ३२६ ।	३३	वर्तमानाभवि० । ८ । ३ । १७७ ।	२३	वेव्वे प्रयवारण० । ८ । २ । १६३ ।
१८	रहोः । ८ । २ । ९३ ।	५०	वर्त्स्यति स्यस्य० । ८ । ४ । ३८८ ।	४२	वेषः । ८ । ४ । २२१ ।
३७	राजे रग्य लृज्ज० । ८ । ४ । १०० ।	४	वस्तुत्करपर्य० । ८ । १ । ५८ ।	३५	वेषः परिश्रालः । ८ । ४ । ५१ ।
४६	राज्ञो वा चिञ् । ८ । ४ । ३०४ ।	ए	वा कदले । ८ । १ । १६७ ।	२१	वैकाङ्गः सि सि० । ८ । २ । १६२ ।
३६	राङ्गः । ८ । ३ । ४९ ।	३	वाङ्मर्थवचना० । ८ । १ । ३३ ।	१६	वैमूर्यस्य वेकलियां । ८ । ३ । ११३ ।
१८	रात्रौ वा । ८ । २ । ८८ ।	२८	वाऽदसो दस्य० । ८ । ३ । ८७ ।	२८	वैतत्तदः । ८ । ३ । ३ ।
८	रिः केवलस्य । ८ । १ । १४० ।	४४	वाऽद्रेस्तावति । ८ । ४ । २६२ ।	२८	वैतदो ङसेस्त्तो० । ८ । ३ । ८१ ।
३६	रुते रुज्जरुण्टौ । ८ । ४ । ५७ ।	१२	वाऽऽदौ । ८ । १ । १२६ ।	८	वैरादौ वा । ८ । १ । १५२ ।
४२	रुदनम्मावः । ८ । ४ । २२६ ।	५०	वाऽधो रो लुक् । ८ । ४ । ३९८ ।	२८	वैसेणमिणमो० । ८ । ३ । ८५ ।
४१	रुदभुजमुच्चा० । ८ । ४ । २१२ ।	६	वा निर्भरे ना । ८ । १ । ६८ ।	२६	वोतुङ्गकुम्भे० । ८ । ३ । ६३ ।
११	रुदिते दिना षः । ८ । १ । २०९ ।	५१	वाऽन्यथोऽनुः । ८ । ४ । ४१५ ।	२५	वोतो डवो । ८ । ३ । २१ ।
३८	रुधेरुथङ्गः । ८ । ४ । १३३ ।	२६	वाऽऽप ए । ८ । ३ । ४१ ।	१३	वोत्तरीयानीय० । ८ । १ । २४८ ।
४१	रुधो न्धम्मौ च । ८ । ४ । २१८ ।	८	वा वृहस्पतौ । ८ । १ । १३८ ।	१६	वोत्ताहे थो हश्च० । ८ । २ । ४८ ।
४२	रुपादीनां दीर्घः । ८ । ४ । २३६ ।	१३	वाऽभिमन्यौ । ८ । १ । २४३ ।	१२	वोदः । ८ । ४ । २२३ ।
३३	रे अरे संभाषण० । ८ । २ । २०१ ।	५१	वा यत्तदोऽतोर्मे० । ८ । ४ । ४०७ ।	६	वोपरौ । ८ । १ । १०८ ।
२१	रो दीर्घात् । ८ । २ । १७१ ।	४	वाऽर्णौ । ८ । १ । ६३ ।	३७	वोपेन कम्मवः । ८ । ४ । १११ ।
३५	रोमन्थे रोग्गा० । ८ । ४ । ४३ ।	४	वाऽलावरणये० । ८ । १ । ६६ ।	१६	वोष्वे । ८ । २ । ५६ ।
३	रो रा । ८ । १ । १६ ।	१६	वा विह्वले वौ० । ८ । २ । ५८ ।	११	वोषधे । ८ । १ । २२७ ।
१५	रौस्याधूर्त्तादौ । ८ । २ । ३० ।	४	वाऽन्ययोत्सनाता० । ८ । १ । ६७ ।	४२	व्यञ्जनाददन्ते । ८ । ४ । २३६ ।
४६	र्यस्नष्टां रिय० । ८ । ४ । ३१४ ।	२	वा स्वरे मश्च । ८ । १ । २४ ।	३२	व्यञ्जनादीनां । ८ । ३ । १६३ ।
७	लुकि दुरो वा । ८ । १ । ११५ ।	२	विशत्यादर्लुक् । ८ । १ । २८ ।	५३	व्यत्ययश्च । ८ । ४ । ४४७ ।
६	लुकि निरः । ८ । १ । ६३ ।	४१	विकसेः कोश्रा० । ८ । ४ । १६५ ।	१४	व्याकरणप्राका० । ८ । १ । २६८ ।
१८	शर्पतसवज्जे वा । ८ । २ । १०५ ।	३५	विकोशः पक्खो० । ८ । ४ । ४२ ।	३८	व्यापरोऽग्नः । ८ । ४ । १४१ ।
१८	हृथ्रीन्हीकृत्स्न० । ८ । २ । १०४ ।	४०	विगलः शिप्प० । ८ । ४ । १७५ ।	३६	व्यापरोऽग्नः । ८ । ४ । ८१ ।
	ल	३५	विरूपेर्वोक्का० । ८ । ४ । ३८ ।	३६	व्याहरोः कोक्का० । ८ । ४ । ७६ ।
१६	लघुके लहोः । ८ । २ । १२२ ।	१२	वितस्तिवस० । ८ । १ । २१४ ।	४३	व्याहरोर्वाहिप्पः । ८ । ४ । २५३ ।
१३	ललाटे च । ८ । १ । २५७ ।	२१	विद्युत्पत्रपीता० । ८ । २ । १७३ ।	४२	व्रजनृतमदां च । ८ । ४ । २२५ ।
१६	ललाटे लनोः । ८ । २ । १२३ ।	३५	विरिचरोऽनुष्णो० । ८ । ४ । २६ ।	५०	व्रजेर्बुजः । ८ । ४ । ३६२ ।
३७	लस्सेर्जीदः । ८ । ४ । १०३ ।	३९	विलपेर्भृङ्गव० । ८ । ४ । १४८ ।	४५	व्रजो जः । ८ । ४ । २६४ ।
१६	लात् । ८ । २ । १०६ ।	३६	विलीङ्गेर्विरा । ८ । ४ । ५६ ।		श
१३	लाहललाङ्गल० । ८ । १ । २५६ ।	३८	विवृत्तेर्दसः । ८ । ४ । ११८ ।	४२	शकादीनां० । ८ । ४ । २३० ।
५३	लिङ्गमतन्त्रम् । ८ । ४ । ४४५ ।	३६	विश्रमेर्णिग्वा । ८ । ४ । १५६ ।	३७	शकेश्चयतरती० । ८ । ४ । ८६ ।
३६	लिपो लिम्पः । ८ । ४ । १४६ ।	५१	विषण्णोक्तवर्त्म० । ८ । ४ । ४२१ ।	१४	शक्तमुक्तदृष्टण० । ८ । २ । ३ ।
१	लुक् । ८ । १ । १० ।	१३	विषमे मो ढो वा । ८ । १ । २४१ ।	३३	शत्रानशः । ८ । ३ । १८१ ।
३१	लुगावी कभाव० । ८ । ३ । १५२ ।	३८	विसंवदेर्विअट्ठ० । ८ । ४ । १२६ ।	३८	शदो ऊरुपक्खो० । ८ । ४ । १३० ।
१४	लुग्भाजनदनुज । ८ । १ । २६७ ।	३६	विस्मुः पम्हस-० । ८ । ४ । ७५ ।	२१	शनैसो डिअम । ८ । २ । १६८ ।
३	लुसयरवशाप० । ८ । १ । ४३ ।	२४	वीप्सात्स्यादेर्वो० । ८ । ३ । १ ।	१३	शबरे यो मः । ८ । १ । २५८ ।
२५	लुप्ते शसि । ८ । ३ । १८ ।	१६	वृक्षकिंसयोः रु० । ८ । २ । १२७ ।	४०	शमेः पनिसाप० । ८ । ४ । १६७ ।
				३	शरदादेरत्त । ८ । १ । १८ ।

पृष्ठ.	सूत्र
१३	शपोः सः । ८ । १ । १६० ।
१६	शपोः सः । ८ । ४ । ३०६ ।
१७	शाङ्गं डात्पुवोऽत् । ८ । २ । १०० ।
५	शितिलेहुदे वा । ८ । १ । ८६ ।
१४	शिरायां वा । ८ । १ । २६६ ।
१०	शीकरे भहौ वा । ८ । १ । १८४ ।
५१	शीघ्रादीनां वहि० । ८ । ४ । ४२२ ।
३०	शीघ्राद्यर्थे स्वरः । ८ । २ । १४५ ।
१४	शुल्के ङो वा । ८ । २ । ११ ।
१४	शुष्कस्कन्दे वा । ८ । २ । ५ ।
१०	शृङ्गले खः कः । ८ । १ । १८६ ।
४५	शेषं प्राकृतवत् । ८ । ४ । ३२६ ।
४७	शेषं प्राग्वत् । ८ । ४ । ३३८ ।
४५	शेषं शौरसेनीवत् । ८ । ४ । ३०२ ।
४६	शेषं शौरसेनीवत् । ८ । ४ । ३३३ ।
५३	शेषं संस्कृतवत् । ८ । ४ । ४४७ ।
३०	शेषेऽदन्तवत् । ८ । ३ । १२४ ।
३६	शैथिल्यल० । ८ । ४ । ७० ।
५३	शौरसेनीवत् । ८ । ४ । ४४६ ।
१७	श्रो हरिश्चन्द्रे । ८ । २ । ८७ ।
५	श्यामाके मः । ८ । १ । ७१ ।
३४	श्रद्धो धो दहः । ८ । ४ । ९ ।
१६	श्रद्धार्थिमुर्ध्वाऽर्थे० । ८ । २ । ४१ ।
३६	श्रमे वाक्स्फः । ८ । ४ । ६८ ।
३३	श्रुगमिरुदिविदि० । ८ । ३ । १७१ ।
३६	श्रुदेर्हणः । ८ । ४ । ५८ ।
३७	श्लाघः सलहः । ८ । ४ । ८७ ।
४१	श्लिषेः सामग्गाव० । ८ । ४ । १९० ।
१६	श्लेष्मणि वा । ८ । २ । ५५ ।

ष

१४	पदशमीशावसु० । ८ । १ । २६५ ।
४८	पद्यथाः । ८ । ४ । ३४५ ।
१४	पक्षकयोर्नाम्नि । ८ । २ । ४ ।
१५	पुस्यानुप्रेष्टासंदष्टे । ८ । २ । ३४ ।
१६	पुस्पयोः फः । ८ । २ । ५३ ।

स

१२	संख्यागजदे रः । ८ । १ । ११६ ।
३०	संख्याया आमो० । ८ । ३ । १२३ ।
३७	संतपेर्भङ्गः । ८ । ४ । १४० ।
४०	संदिशेरप्पाहः । ८ । ४ । १८० ।
३५	संभावेरासङ्गः । ८ । ४ । ३५ ।
१४	संयुक्तस्य । ८ । २ । १ ।
३६	संवृगेः साहर० । ८ । ४ । ८२ ।
११	सदाशकटकेट० । ८ । १ । १९६ ।
४१	सदपतोर्दः । ८ । ४ । ३१६ ।
११	सप्ततौ रः । ८ । १ । ३१० ।
४	सप्तपर्णे वा । ८ । १ । ४९ ।
३१	सप्तम्या द्वितीया । ८ । ३ । १३७ ।
३४	समः स्तयः खाः । ८ । ४ । १५ ।
४३	समनूपाद् रुधेः । ८ । ४ । २४८ ।
३६	समा अग्निङः । ८ । ४ । १६४ ।
३६	समापेः समाणः । ८ । ४ । १४३ ।
३७	समारचेष्वह० । ८ । ४ । ९५ ।

१८	समासे वा । ८ । २ । ९७ ।
३८	समो गलः । ८ । ४ । ११३ ।
४२	समो ह्यः । ८ । ४ । ११२ ।
१५	सम्मर्दवितर्दि० । ८ । २ । ३६ ।
१७	सर्वत्र लवराम० । ८ । २ । ७९ ।
४६	सर्वस्य साहो वा । ८ । ४ । ३६६ ।
२०	सर्वाङ्गादीनस्येकः । ८ । २ । १५१ ।
४६	सर्वादङ्केसेर्हो । ८ । ४ । ३५५ ।
४५	सपोः संयोगे सो० । ८ । ४ । ३८६ ।
१५	साध्वसध्याह्वां ऊः । ८ । २ । २६ ।
१५	सामर्थ्योत्सुको० । ८ । २ । २२ ।
४६	सावस्मदो हउ० । ८ । ४ । ३७५ ।
३७	सिचैः सिञ्चसि० । ८ । ४ । ६६ ।
३१	सिनास्तेः सिः । ८ । ३ । १४६ ।
३२	सी ही हीअ भू० । ८ । ३ । १६२ ।
४६	सुपा अम्हासु । ८ । ४ । ३८१ ।
२६	सुपि । ८ । ३ । १०३ ।
३०	सुपि । ८ । ३ । ११७ ।
१७	सुद्धमश्रणक्ष० । ८ । २ । ७५ ।
४२	सृजो रः । ८ । ४ । २५६ ।
१८	सेवादौ वा । ८ । २ । ६६ ।
८	सैन्ये वा । ८ । १ । १५० ।
३३	सोच्छ्रादय इजा० । ८ । ३ । १७२ ।
३३	सोर्हिर्वा । ८ । ३ । १७४ ।
३७	सौ पुंस्योद्वा । ८ । ४ । ३३२ ।
४५	स्कः प्रेक्षाचक्रोः । ८ । ४ । ३६७ ।
१६	स्तब्धे ठडौ । ८ । २ । ३६ ।
१४	स्तम्भे स्तो वा । ८ । २ । ८ ।
१६	स्तवे वा । ८ । २ । ४६ ।
१६	स्तस्य थोऽसम० । ८ । २ । ४५ ।
१६	स्तोकस्य थोक्क० । ८ । २ । १२५ ।
१५	स्त्यानचतु० । ८ । २ । ३३ ।
१६	स्त्रिया इत्थी । ८ । २ । १३० ।
४८	स्त्रियां जसृश० । ८ । ४ । ३४८ ।
४६	स्त्रियां रुहेः । ८ । ४ । ३५६ ।
५२	स्त्रियां तदन्ताङ्गीः । ८ । ४ । ४३१ ।
२२	स्त्रियामादवि० । ८ । १ । १५ ।
२५	स्त्रियामुदोतौ वा । ८ । ३ । २७ ।
४५	स्थर्थयोस्तः । ८ । ४ । २६१ ।
६	स्थविरविचक्रि० । ८ । १ । १६६ ।
३४	स्थप्राथक्क० । ८ । ४ । १६ ।
१४	स्थाणाचहरे । ८ । २ । ७ ।
७	स्थूणात्पुणे वा । ८ । १ । १२५ ।
१३	स्थूले लो रः । ८ । १ । २५५ ।
२	स्नमदामशिरो० । ८ । १ । ३२ ।
३४	स्नातेरन्नुत्तः । ८ । ४ । १४ ।
१६	स्निग्धे वाऽदितौ । ८ । २ । १०६ ।
४३	स्निहसिचोः सि० । ८ । ४ । २५५ ।
१३	स्तुपायां एहो वा० । ८ । १ । २६१ ।
१७	स्नेहाभ्योर्वा । ८ । २ । १०३ ।
३८	स्पन्देश्चुलुचुवः । ८ । ४ । १२७ ।
४३	स्पृशेश्चुलुचुवः । ८ । ४ । २५७ ।
४०	स्पृशः फासफ० । ८ । ४ । १८२ ।
३५	स्पृहः सिहः । ८ । ४ । ३४ ।
१५	स्पृहायाम् । ८ । २ । २३ ।

११	स्फटिके वः । ८ । १ । १९७ ।
४२	स्फुटिचवेः । ८ । ४ । २३१ ।
३६	स्वरभङ्गकूरजर० । ८ । ४ । ७४ ।
४७	स्यमोरस्यात् । ८ । ४ । ३३१ ।
४७	स्यमजस्यसां० । ८ । ४ । ३४४ ।
४७	स्यादौ दीर्घ० । ८ । ४ । ३३० ।
१९	स्याद्भव्यचैत्य० । ८ । २ । १०७ ।
४१	संसर्हसमिम्भौ । ८ । ४ । १९७ ।
४	स्वपावुच । ८ । १ । ६४ ।
३९	स्वपेः कमवस० । ८ । ४ । १४६ ।
१३	स्वप्नोर्व्यावा । ८ । १ । २५६ ।
१९	स्वप्ने नात् । ८ । २ । १०८ ।
२३	स्वयमोऽर्थे अप्प० । ८ । २ । २०६ ।
१	स्वरस्याद्भुत्ते । ८ । १ । ८ ।
४२	स्वराणां स्वराः । ८ । ४ । ३३८ ।
४७	स्वराणां स्वराः० । ८ । ४ । ३२९ ।
४२	स्वरादनतो वा । ८ । ४ । ३४० ।
१०	स्वरादसंयुक्त० । ८ । १ । १७६ ।
२	स्वरेऽन्तरश्च । ८ । १ । १४ ।
२६	स्वस्त्रादेर्मा । ८ । ३ । ३५ ।
२१	स्वार्थे कश्च वा । ८ । २ । १६४ ।
४२	स्विदां जजः । ८ । ४ । ३२४ ।
२८	स्तिस्सयोरत् । ८ । ३ । ७४ ।

ह

४४	हञ्जे चेत्याहाने । ८ । ४ । २७१ ।
४३	हन्त्रानोऽन्यस्य । ८ । ४ । २४४ ।
२२	हन्द् च गृहाणार्थे० । ८ । २ । १७१ ।
२२	हन्दिविपादवि० । ८ । २ । १८० ।
२३	हङ्गी निर्वदे० । ८ । २ । १९२ ।
१९	हरिताले रत्नो० । ८ । २ । १७१ ।
१३	हरिद्रादौ वः । ८ । १ । २५४ ।
६	हरीतक्यामी० । ८ । १ । ६९ ।
२३	हरे कृपे च । ८ । २ । २०२ ।
४१	हसेर्गुञ्जः । ८ । ४ । १६६ ।
३७	हासेन स्फुटेर्मुः । ८ । ४ । ११४ ।
५०	हिस्वयोरिदु । ८ । ४ । ३८७ ।
४४	हीमाणहे विस्म० । ८ । ४ । २८२ ।
४५	हीही विदुषकस्य । ८ । ४ । २८५ ।
४८	हुं चेदुद्भयाम् । ८ । ४ । ३४० ।
२३	हुं दानपृच्छानि० । ८ । २ । १९७ ।
२३	हुं लु निश्चयवि० । ८ । २ । १६८ ।
५२	हुहुर्गुग्गादयः० । ८ । ४ । ४२३ ।
४३	हुहुर्गुग्गादयः० । ८ । ४ । २५० ।
४६	हुदये यस्य पः । ८ । ४ । ३१० ।
१३	हो घोऽनुस्वारात् । ८ । १ । २६४ ।
१६	हो होः । ८ । २ । १२४ ।
१६	हृदे हृदोः । ८ । २ । १२० ।
१५	ह्रस्वात् थ्यश्च० । ८ । २ । २१ ।
२६	ह्रस्वोऽमि । ८ । ३ । ३६ ।
५	ह्रस्वः संयोगे० । ८ । १ । ८४ ।
३८	हादेरचभञ्जः । ८ । ४ । १२२ ।
१७	हो लहः । ८ । २ । ७६ ।
१६	हो भो वा । ८ । ३ । ५७ ।

। इति प्राकृतसूत्राणामकाराद्यनुक्रमणिका ।

॥ श्रीअभिधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् ३ ॥

॥ संक्षिप्तप्राकृतशब्दरूपावलिः ॥

अकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'वृक्ष' शब्दः ।

विभक्तिः	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	वृक्षो ।	वृक्षा ।
द्वितीया	वृक्षं ।	वृक्षे, वृक्षा ।
तृतीया	वृक्षेण, वृक्षेण ।	वृक्षेहि, वृक्षेहिँ, वृक्षेहिँ ।
चतुर्थी	वृक्षाय, * वृक्षस्स ।	वृक्षाणं, वृक्षाण ।
पञ्चमी	वृक्षतो, वृक्षाओ, वृक्षाउ ।	वृक्षतो, वृक्षाओ, वृक्षाउ, वृक्षाहि, वृक्षेहि ।
„	वृक्षाहि, वृक्षाहितो, वृक्षा ।	(वृक्षाहितो, वृक्षेहितो, वृक्षासुतो, वृक्षेसुतो ।
षष्ठी	वृक्षस्स ।	वृक्षाणं, वृक्षाण ।
सप्तमी	वृक्षस्मि, वृक्षे ।	वृक्षेभ्यं, वृक्षेभ्यु ।
संबोधनम्	हे वृक्ष, हे वृक्षो, हे वृक्षा ।	हे वृक्षा ।

आकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'गोपा' शब्दः ।

विभक्तिः	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गोपा ।	गोपा ।
द्वितीया	गोपां ।	गोपा ।
तृतीया	गोपाणं, गोपाण ।	गोपाहिँ गोपाहिँ, गोपाहि ।
चतुर्थी	गोपे, गोपस्स ।	गोपाणं, गोपाण ।
पञ्चमी	गोपतो, गोपाओ, गोपाउ ।	गोपतो, गोपाओ, गोपाउ, गोपाहितो,
„	गोपाहितो ।	(गोपासुतो ।
षष्ठी	गोपस्स ।	गोपाणं, गोपाण ।
सप्तमी	गोपस्मि ।	गोपाभ्यं, गोपाभ्यु ।
संबोधनम्	हे गोपा, हे गोपा ।	हे गोपा ।

इकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'गिरि' शब्दः ।

विभक्तिः	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गिरी ।	गिरिणो, गिरी, गिरउ, गिरओ ।
द्वितीया	गिरिं ।	गिरिणो, गिरी ।
तृतीया	गिरिणा ।	गिरीहिँ, गिरीहिँ, गिरीहि ।
चतुर्थी	गिरिणो, गिरिस्स, गिरये ।	गिरीणं, गिरीण ।
पञ्चमी	गिरिणो, गिरितो, गिरीओ, गिरीउ ।	गिरितो, गिरीओ, गिरीउ, गिरीहितो,
„	गिरीहितो ।	(गिरीसुतो ।
षष्ठी	गिरिणो, गिरिस्स ।	गिरीणं, गिरीण ।
सप्तमी	गिरिस्मि ।	गिरीभ्यं, गिरीभ्यु ।
संबोधनम्	हे गिरि, हे गिरी ।	हे गिरिणो, हे गिरी, हे गिरउ, हे गिरओ ।

ईकारान्तः पुँल्लिङ्गो ' गामणी ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गामणी ।	गामणिणो, गामणी, गामणउ, गामणओ ।
द्वितीया	गामणि ।	गामणिणो, गामणी ।
तृतीया	गामणिणा ।	गामणीहि, गामणीहिँ, गामणीहिँ ।
चतुर्थी	गामणये, गामणिणो, गामणिस्स ।	गामणीणं, गामणीण ।
पञ्चमी	गामणिणो, गामणित्तो, गामणीओ)	गामणित्तो, गामणीओ, गामणीउ, गामणीहिन्तो,
„	गामणीउ, गामणीहिन्तो ।	(गामणीसुन्तो ।
षष्ठी	गामणिणो, गामणिस्स ।	गामणीणं, गामणीण ।
सप्तमी	गामणिम्मि ।	गामणीसुं, गामणीसु ।
संबोधनम्	हे गामणि, हे गामणी ।	हे गामणिणो, हे गामणी, हे गामणउ, हे गामणओ ।

उकारान्तः पुँल्लिङ्गो ' गुरु ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गुरू ।	गुरूणो, गुरू, गुरओ, गुरउ, गुरवो * ।
द्वितीया	गुरुं ।	गुरूणो, गुरू ।
तृतीया	गुरूणा ।	गुरूहिँ, गुरूहिँ, गुरूहिँ ।
चतुर्थी	गुरुवे, गुरूणो, गुरूस्स ।	गुरूणं, गुरूण ।
पञ्चमी	गुरूणो, गुरुत्तो गुरूओ, गुरूउ)	गुरुत्तो, गुरूओ, गुरूउ, गुरूहिन्तो,
„	गुरूहिन्तो ।	(गुरूसुन्तो ।
षष्ठी	गुरूणो, गुरूस्स ।	गुरूणं, गुरूण ।
सप्तमी	गुरूम्मि ।	गुरूसुं, गुरूसु ।
संबोधनम्	हे गुरु, हे गुरू ।	हे गुरूणां, हे गुरू, हे गुरउ, हे गुरओ, हे गुरवो ।

ऊकारान्तः पुँल्लिङ्गः ' खलपू ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	खलपू ।	खलपुणो, खलपू, खलपउ, खलपओ, खलपवो ।
द्वितीया	खलपुं ।	खलपुणो, खलपू ।
तृतीया	खलपुणा ।	खलपूहिँ, खलपूहिँ, खलपूहिँ ।
चतुर्थी	खलपवे, खलपुणो, खलपुस्स ।	खलपूणं, खलपूण ।
पञ्चमी	खलपुणो, खलपुत्तो, खलपूओ)	खलपुत्तो, खलपूओ, खलपूउ,
„	खलपूउ, खलपूहिन्तो ।	(खलपूहिन्तो, खलपूसुन्तो ।
षष्ठी	खलपुणो, खलपुस्स ।	खलपूणं, खलपूण ।
सप्तमी	खलपुम्मि ।	खलपूसुं, खलपूसु ।
संबोधनम्	हे खलपु, हे खलपू ।	हे खलपुणो, हे खलपू, हे खलपउ, हे खलपओ, हे खलपवो ।

ऋकारान्तः पुँल्लिङ्गः ' पितृ ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	पित्रा, पिअरो ।	पित्ररा, पिउणो, पिअउ, पिअओ, पिऊ ।
द्वितीया	पित्रं ।	पित्ररा, पिअरे, पिउणो, पिऊ ।
तृतीया	पिउणा, पिअरेणं, पिअरेण ।	पित्ररोहिँ, पिअरोहिँ, पिअरोहिँ, पिऊहिँ, पिऊहिँ, पिऊहिँ ।

विभक्ति एकवचन ।

चतुर्थी पिअरस्स, पिअणो, पिअस्स ।

पञ्चमी पिअणो, पिअत्तो, पिअओ, पिअठ, पिअहि—)

” न्तो, पिअरत्तो, पिअराओ, पिअराउ, पिअराहि,)

” पिअराहिन्तो, पिअरा ।

षष्ठी पिअरस्स, पिअणो, पिअस्स ।

सप्तमी पिअरम्मि, पिअरे, पिअम्मि ।

सम्बोधनम् हे पिअ, हे पिअरं ।

बहुवचन ।

पिअराणं, पिअराण, पिअणं, पिअण ।

पिअरत्तो, पिअराओ, पिअराउ, पिअराहि, पिअरेहि,

(पिअराहिन्तो, पिअरेहिन्तो, पिअरासुन्तो, पिअरेसु—

न्तो, पिअत्तो, पिअओ, पिअउ, पिअहिन्तो, पिअसुन्तो ।

पिअराणं, पिअराण, पिअणं, पिअण ।

पिअरेसुं, पिअरेसु, पिअसुं, पिअसु ।

हे पिअरा, हे पिअ, हे पिअणो ।

ऋकारान्तः पुँल्लिङ्गो ‘नर्तु’ शब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा भत्ता, नत्तारो ।

द्वितीया नत्तारं ।

तृतीया नत्तुणा, भत्तारेणं, नत्तारेण ।

चतुर्थी भत्तुणो, नत्तुस्स, नत्तारस्स ।

पञ्चमी नत्तुणो, नत्तुत्तो, नत्तुओ, भत्तू, भत्तूहिन्तो,)

” भत्तारत्तो, भत्ताराओ, नत्ताराउ, नत्ताराहि, भ—)

” त्ताराहिन्तो, नत्तारा ।

षष्ठी भत्तुणो, भत्तुस्स, भत्तारस्स ।

सप्तमी भत्तुम्मि, भत्तारम्मि, भत्तारे ।

सम्बोधनम् हे नत्त, हे नत्तार ।

बहुवचन ।

भत्तुणो, भत्तू, भत्तउ, नत्तओ, नत्तारा ।

नत्तुणो, भत्तू, नत्तारे ।

भत्तारेहिं, भत्तारेहिं, नत्तारेहि, भत्तूहिं, भत्तूहिं, नत्तूहि ।

भत्तूणं, नत्तूण, भत्ताराणं, नत्ताराण ।

भत्तुत्तो, भत्तुओ, नत्तूउ, नत्तूहिन्तो, नत्तुसुन्तो, भ—

(त्तारत्तो, भत्ताराओ, नत्ताराउ, भत्ताराहि, भत्तारेहि, भ—

(त्ताराहिन्तो, नत्तारेहिन्तो, नत्तारासुन्तो, भत्तारेसुन्तो ।

भत्तूणं, नत्तूण, भत्ताराणं, नत्ताराण ।

नत्तूसुं, नत्तूसु, भत्तारेसुं, भत्तारेसु ।

हे भत्तू, हे नत्तुणो, हे नत्तउ, हे भत्तओ, हे नत्तारा ।

नकारान्तस्यापि ‘राजन्’ शब्दस्य प्राकृतेऽकारान्तवद् रूपं ज्ञेयम् ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा राया, रायाणो ।

द्वितीया रायाणं, रायं, राइणं ।

तृतीया रायाणेणं, रायाणेण, राइणा, रखा, राणं,

” राएण, रायणा ।

चतुर्थी रायाणस्स, रायाणो, रखो, राइणो, रायस्स ।

” ”

पञ्चमी रायाणत्तो, रायाणाओ, रायाणाउ, रायाणाहि,)

” रायाणाहिन्तो, रायाणा, राइणो, रायाणो, रखो,)

” रायत्तो, रायाओ, रायाउ, रायाहि, रायाहिन्तो,)

” राया ।

” ”

षष्ठी रायाणस्स, राइणो, रखो, रायाणो, रायस्स ।

” ”

सप्तमी रायाणम्मि, रायाणे, राइम्मि, रायम्मि, राए ।

सम्बोधनम् हे रायाण, हे रायाणा, हे रायाणो, हे राअ, हे राआ ।

बहुवचन ।

रायाणो, राइणो, राया, रायाणा ।

रायाणो, राइणो, रायाणे, राए ।

रायाणेहिं, रायाणेहिं, रायाणेहि, राईहिं, राईहिं, रा—

(ईहि, राएहि, राएहि, राएहि ।

रायाणाणं, रायाणाण, राइणं, राइण, राईणं, राईण,

रायाणं, रायाण ।

राइत्तो, राईओ, राईउ, राईहिन्तो, राईसुन्तो, राया—

(णत्तो, रायाणाओ, रायाणाउ, रायाणाहि, रायाणेहि,

(रायाणाहिन्तो, रायाणेहिन्तो, रायाणासुन्तो, रायाणेषु—

(न्तो, रायत्तो, रायाओ, रायाउ, रायाहि, राएहि, राया—

(हिन्तो, राएहिन्तो, रायासुन्तो, राएसुन्तो ।

रायाणाणं, रायाणाण, राईणं, राईण, राइखं, राइण,

(रायाणं, रायाण ।

रायाणेषुं, रायाणेषु, राईसुं, राईसु, राएसुं, राएसु ।

हे रायाणा, हे राइणो, हे रायाणो ।

नकारान्तः पुँल्लिङ्गो ‘आत्मन्’ शब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा अप्पाणो, अप्पो, अप्पा ।

बहुवचन ।

अप्पाणो, अप्पाणो, अप्पा ।

विभक्ति एकवचन ।

द्वितीया अप्पाणं, अप्पं ।

तृतीया अप्पाणेणं, अप्पाणेण, अप्पेणं, अप्पेण, अप्प-

" णा, अप्पाणइआ, अप्पाणिआ ।

चतुर्थी अप्पाणस्त, अप्पस्त, अप्पाणो ।

पञ्चमी अप्पाणत्तो, अप्पाणाओ, अप्पाणाउ, अप्पाणाहि,)

" अप्पाणाहिन्तो, अप्पाणा, अप्पाणो, अप्पत्तो, अप्पा-

" ओ, अप्पाउ, अप्पाहि, अप्पाहिन्तो, अप्पा ।

"

षष्ठी अप्पाणस्त, अप्पस्त, अप्पाणो ।

सप्तमी अप्पाणम्मि, अप्पाणे, अप्पम्मि, अप्पे ।

सम्बोधनम् हे अप्पाणो, हे अप्पो, हे अप्प ।

बहुवचन ।

अप्पाणे, अप्पाणो, अप्पे ।

अप्पाणेहिं, अप्पाणेहिं, अप्पाणेहि, अप्पेहिं, अप्पेहिं, (अप्पेहि ।

अप्पाणाणं, अप्पाणाण, अप्पाणां, अप्पाण ।

अप्पाणत्तो, अप्पाणाओ, अप्पाणाउ, अप्पाणाहि, अप्पा-

(णेहि, अप्पाणेहिन्तो, अप्पाणाहिन्तो, अप्पाणेसुन्तो,

(अप्पाणासुन्तो, अप्पत्तो, अप्पाओ, अप्पाउ, अप्पाहि,

(अप्पेहि, अप्पाहिन्तो, अप्पेहिन्तो, अप्पासुन्तो, अप्पेसुन्तो)

अप्पाणाणं, अप्पाणाण, अप्पाणं, अप्पाण ।

अप्पाणेसुं, अप्पाणेसु, अप्पेसुं, अप्पेसु ।

हे अप्पाणो, हे अप्पाणा, हे अप्पो ।

॥ अथ सर्वादीनां पुँल्लिङ्गे रूपाणि तत्र सर्वशब्दः ॥

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा सव्वो ।

द्वितीया सव्वं ।

तृतीया सव्वेणं, सव्वेण ।

चतुर्थी सव्वस्त ।

पञ्चमी सव्वत्तो, सव्वाओ, सव्वाउ, सव्वाहिन्तो, स-

" व्वाहि, सव्वा ।

षष्ठी सव्वस्त ।

सप्तमी सव्वस्सि, सव्वम्मि, सव्वत्थ, सव्वहिं ।

सम्बोधनम् हे सव्व, हे सव्वो, हे सव्वा ।

बहुवचन ।

सव्वे ।

सव्वे, सव्वा ।

सव्वेहिं, सव्वेहिं, सव्वेहि ।

सव्वेसि, सव्वाणं, सव्वाण ।

सव्वत्तो, सव्वाओ सव्वाउ, सव्वाहि, सव्वेहि, सव्वा-

(हिन्तो, सव्वेहिन्तो, सव्वासुन्तो, सव्वेसुन्तो ।

सव्वेसि, सव्वाणं, सव्वाण ।

सव्वेसुं, सव्वेसु ।

हे सव्वे ।

तथाऽकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'विश्व' शब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा विस्सो ।

द्वितीया विस्सं ।

तृतीया विस्सेणं, विस्सेण ।

चतुर्थी विस्सस्त ।

पञ्चमी विस्सत्तो, विस्साओ, विस्साउ, विस्साहि, वि-

" स्साहिन्तो, विस्सा ।

षष्ठी विस्सस्त ।

सप्तमी विस्सस्सि, विस्सम्मि, विस्सत्थ, विस्सहिं ।

सम्बोधनम् हे विस्स, हे विस्सो, हे विस्सा ।

बहुवचन ।

विस्से ।

विस्से, विस्सा ।

विस्सेहिं, विस्सेहिं, विस्सेहि ।

विस्सेसि, विस्साणं, विस्साण ।

विस्सत्तो, विस्साओ, विस्साउ, विस्साहि, विस्सेहि, वि-

स्साहिं, विस्सेहिं, विस्सासुन्तो, विस्सेसुन्तो ।

विस्सेसि, विस्साणं, विस्साण ।

विस्सेसुं, विस्सेसु ।

हे विस्से ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्ग 'उज्जय' शब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा उज्जयो ।

द्वितीया उज्जयं ।

बहुवचन ।

उज्जये ।

उज्जये, उज्जया ।

विजक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

तृतीया उभयेणं, उभयेण ।

उभयेहिं, उजयेहिं, उजयेहि ।

चतुर्थी उजयस्स ।

उभयेसिं, उभयाणं, उजयाणं ।

पञ्चमी उजयत्तो, उजयाओ, उभयाउ, उजयाहिं, उ-

उभयत्तो, उजयाओ, उजयाउ, उजयाहिं, उजयेहिं, उ-
(भयाहिन्तो, उजयेहिन्तो, उभयासुन्तो, उभयेसुन्तो ।

,, भयाहिन्तो, उभया ।

षष्ठी उभयस्म ।

उभयेसिं, उजयाणं, उजयाण ।

सप्तमी उभयस्मि, उजयस्मि, उजयत्य, उजयहिं ।

उभयेसुं, उभयेसु ।

सम्बोधनम् हे उजय, हे उभयो, हे उभया ।

हे उजय ।

तत्राकारान्तः पुँल्लिङ्गो ' अन्य ' शब्दः ।

विजक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा अणो ।

अणो ।

द्वितीया अणं ।

अणो, अणा ।

तृतीया अणेणं, अणेण ।

अणेहिं, अणेहिं, अणेहि ।

चतुर्थी अणस्स ।

अणेसिं, अणाणं, अणाण ।

पञ्चमी अणत्तो, अणाओ, अणाउ, अणाहिं, अणा-

अणत्तो, अणाओ, अणाउ, अणाहिं, अणेहिं, अ-
(णाहिन्तो, अणेहिन्तो, अणासुन्तो, अणेसुन्तो ।

,, हिन्तो, अणा ।

षष्ठी अणस्म ।

अणोसिं, अणाणं, अणाण ।

सप्तमी अणस्मि, अणस्मि, अणत्य, अणहिं ।

अणेसुं, अणेसु ।

सम्बोधनम् हे अण, हे अणां, हे अणा ।

हे अणो ।

तत्राकारान्तः पुँल्लिङ्गः ' कतर ' शब्दः ।

विजक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा कयरो ।

कयरे ।

द्वितीया कयरं ।

कयरे, कयरा ।

तृतीया कयरेणं, कयरेण ।

कयरेहिं, कयरेहिं, कयरेहि ।

चतुर्थी कयरस्स ।

कयरोसिं, कयराणं, कयराण ।

पञ्चमी कयरत्तो, कयराओ, कयराउ, कयराहिं,)

कयरत्तो, कयराओ, कयराउ, कयराहिं, कयरेहिं, कय-
राहिन्तो, कयरेहिन्तो, कयरासुन्तो, कयरेसुन्तो ।

,, कयराहिन्तो, कयरा ।

षष्ठी कयरस्म ।

कयरोसिं, कयराणं, कयराण ।

सप्तमी कयरस्मि, कयरस्मि, कयरत्य, कयरहिं ।

कयरेसुं, कयरेसु ।

सम्बोधनम् हे कयर, हे कयरो, हे कयरा ।

हे कयरे ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्गो ' अवर ' शब्दः ।

विजक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा अवरो ।

अवरे ।

द्वितीया अवरं ।

अवरे, अवरा ।

तृतीया अवरेणं, अवरेण ।

अवरोहिं, अवरोहिं, अवरोहि ।

चतुर्थी अवरस्स ।

अवरोसिं, अवराणं, अवराण ।

पञ्चमी अवरत्तो, अवराओ, अवराउ, अवराहिं, अ-

अवरत्तो, अवराओ, अवराउ, अवराहिं, अवरोहिं, अ-
वराहिन्तो, अवरोहिन्तो, अवरासुन्तो, अवरोसुन्तो ।

,, वराहिन्तो, अवरा ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
षष्ठी	अवरस्म ।	अवरोसिं, अवराणं, अवराण ।
सप्तमी	अवरस्मिं, अवरस्मि, अवरत्य, अवरहिं ।	अवरोमुं, अवरोमु ।
सम्बोधनम्	हे अवर, हे अवरा, हे अवरो ।	हे अवरे ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्ग ' इतर ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	इयरो ।	इयरे ।
द्वितीया	इयरं ।	इयरे, इयरा ।
तृतीया	इयरेणं, इयरेण ।	इयरोहिं, इयरोहिँ, इयरोहि ।
चतुर्थी	इयरस्स ।	इयरोसिं, इयराणं, इयराण ।
पञ्चमी	इयरत्तो, इयराओ, इयराउ, इयराहि, इयरा-)	इयरत्तो, इयराओ, इयराउ, इयराहि, इयरोहि, इयराहि-
„	हिन्तो, इयरा ।	(न्तो, इयरोहिन्तो, इयरासुन्तो, इयरोसुन्तो ।
षष्ठी	इयरस्म ।	इयरोसिं, इयराणं, इयराण ।
सप्तमी	इयरस्मिं, इयरास्मि, इयरत्य, इयरहिं ।	इयरोमुं, इयरोमु ।
सम्बोधनम्	हे इयर, हे इयरा, हे इयरो ।	हे इयरे ।

पुँल्लिङ्गे यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन
प्रथमा	जो ।	जे ।
द्वितीया	जं ।	जे, जा ।
तृतीया	जेणं, जेण, जिणा ।	जेहिं, जेहिँ, जेहि ।
चतुर्थी	जस्स ।	जेसिं, जाणं, जाण ।
पञ्चमी	जत्तो, जाओ, जाउ, जाहि, जाहिन्तो, जा,)	जत्तो, जाओ, जाउ, जाहि, जेहि, जाहिन्तो, जेहिन्तो,
„	जम्हा ।	(जामुन्तो, जेसुन्तो ।
षष्ठी	जस्म ।	जेसिं, जाणं, जाण ।
सप्तमी	जस्मिं, जस्मि, जत्थ, जहिं, जाहे, जाला,)	जेमुं, जेमु ।
„	जइया ।	„

पुँल्लिङ्गे तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	सां, एो ।	ते, एे ।
द्वितीया	तं, एं ।	ते, ने, ता, एा ।
तृतीया	तेणं, तेण, तिणा, नेणं, ऐण ।	तेहिं, तेहिँ, तेहि, ऐहिं, नेहिँ, नेहि ।
चतुर्थी	तास, तस्स, से, एस्म ।	तेसिं, ताणं, ताण, सिं, नेसिं, नाणं, एाण ।
पञ्चमी	तम्हा, तत्तो, ताओ, ताउ, ताहिन्तो, ता, एम्हा,)	तत्तो, ताओ, नाउ, ताहिं, तेहिं, ताहिन्तो, तेहिन्तो, ना-
„	एत्तो, एाओ, एाउ, एाहि, एाहिन्तो, एा ।	(मुन्तो, तेमुन्तो, एत्तो, एाओ, एाउ, एाहि, ऐहि, एा-
„	„	(हिन्तो, ऐहिन्तो, एामुन्तो, नेसुन्तो ।
षष्ठी	तास, तस्स, से, एस्म ।	तेसिं, ताणं, ताण, सिं, ऐसिं, एाणं, एाण ।
सप्तमी	तास्मिं, तन्थ, तस्मि, तहिं, एास्मि, एाम्मि, एत्य,)	तेमुं, तेमु, ऐमुं, नेमु ।
„	एहिं, नाहे, नाला, नइआ, एाहे, एाला, एइआ ।	„

एकशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा एका ।	एके ।
द्वितीया एकं ।	एके, एका ।
तृतीया एकेणं, एकेण ।	एकोहिं, एकोहिँ, एकोहि ।
चतुर्थी एकस्स ।	एकेसिं, एकाणं, एकाण ।
पञ्चमी एकत्तो, एकाओ, एकाउ, एकाहि, एकाहिन्तो,)	एकत्तो, एकाओ, एकाउ, एकाहि, एकोहि, एकाहिन्तो,
एका ।	(एकोहिन्तो, एकामुन्तो, एकेमुन्तो ।
षष्ठी एकस्स ।	एकेसिं, एकाणं, एकाण ।
सप्तमी एकस्सिं, एकस्मि, एकत्थ, एकहिं ।	एकेसुं, एकेसु ।

प्रकृत्यन्तरेण एकशब्दस्यैवान्यानि रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा एगो ।	एगे ।
द्वितीया एगं ।	एगे, एगा ।
तृतीया एगेणं, एगेण ।	एगेहिं, एगेहिँ, एगेहि,
चतुर्थी एगस्स ।	एगेसिं, एगाणं, एगाण ।
पञ्चमी एगत्तो, एगाओ, एगाउ, एगाहि, एगाहिन्तो,)	एगत्तो, एगाओ, एगाउ, एगाहि, एगेहि, एगाहिन्तो,
” एगा ।	(एगेहिन्तो, एगामुन्तो, एगेमुन्तो ।
षष्ठी एगस्स ।	एगेसिं, एगाणं, एगाण ।
सप्तमी एगस्सिं, एगस्मि, एगत्थ, एगहिं ।	एगेसुं, एगेसु ।

प्रकृत्यन्तरेणैव पुनरेकशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा इको ।	इके ।
द्वितीया इकं ।	इके, इका ।
तृतीया इकेणं, इकेण ।	इकेहिं, इकेहिँ, इकेहि ।
चतुर्थी इकस्स ।	इकेसिं, इकाणं, इकाण ।
पञ्चमी इकत्तो, इकाओ, इकाउ, इकाहि, इकाहिन्तो,)	इकत्तो, इकाओ, इकाउ, इकाहि, इकेहि, इकाहिन्तो,
” इका ।	(इकेहिन्तो, इकामुन्तो, इकेमुन्तो ।
षष्ठी इकस्स ।	इकेसिं, इकाणं, इकाण ।
सप्तमी इकस्सिं, इकस्मि, इकत्थ, इकहिं ।	इकेसुं, इकेसु ।

किंशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा को ।	के ।
द्वितीया कं ।	के, का ।
तृतीया केणं, केण, किणा ।	केहिं, केहिँ, केहि ।
चतुर्थी कस्स, कास ।	केसिं, काणं, काण, कास ।
पञ्चमी कत्तो, काओ, काउ, काहि, काहिन्तो, कम्हा,)	कत्तो, काओ, काउ, काहि, केहि, काहिन्तो, केहिन्तो,
” किणो, कीस ।	कामुन्तो, केमुन्तो ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

षष्ठी कस्स, कास ।

केसिं, काणं, काणं, कास ।

सप्तमी कस्सिं, कम्मि, कत्थ, कहिं, काहे, काला, कइआ ।

केसुं, केसु ।

एतच्छब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा एसो, एस, इणं, इणमो ।

एए ।

द्वितीया एअं ।

एए, एआ ।

तृतीया एएणं, एएण, एइणा ।

एएहिं, एएहिं, एएहि ।

चतुर्थी एअस्स, से ।

एएसिं, एआणं, एआण, सिं ।

पञ्चमी एअत्तो, एआओ, एआउ, एआहि, एआहिन्तो,)

एअत्तो, एआओ, एआउ, एआहि, एएहि, एआहिन्तो,

, एआ, एत्तो, एत्ताहे ।

(एएहिन्तो, एआसुन्तो, एएसुन्तो ।

षष्ठी एअस्स, से ।

एएसिं, एआणं, एआण, सिं ।

सप्तमी एअस्सि, एअम्मि, अयम्मि, ईयम्मि, एत्थ ।

एएसुं, एएसु ।

इदंशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा अयं, इमो ।

इमे ।

द्वितीया इमं, इणं, णं ।

इमे, इमा, णे, णा ।

तृतीया इमेणं, इमेण, णेणं, णेण, इमिणा ।

इमेहिं, इमेहिं, इमेहि, णेहिं, णेहिं, णेहि, एहिं, एहिं, एहि ।

चतुर्थी इमस्स, अस्स, से ।

इमेसिं, इमाणं, इमाण, सिं ।

पञ्चमी इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहि, इमाहिन्तो, इमा ।

इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहि, इमेहि, इमाहिन्तो, इमे-

, ,

हिन्तो, इमासुन्तो, इमेसुन्तो ।

षष्ठी इमस्स, अस्स, से ।

इमेसिं, इमाणं, इमाण, सिं ।

सप्तमी अस्सि, इमस्सि, इमम्मि, इह ।

इमेसुं, इमेसु ।

अदःशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा अह, अम् ।

अमुणो, अमओ, अमवो, अमउ, अम् ।

द्वितीया अमुं ।

अमुणो, अम् ।

तृतीया अमुणा ।

अमूहिं, अमूहिं, अमूहि ।

चतुर्थी अमुणो, अमुस्स ।

अमूणं, अमूण ।

पञ्चमी अमुणो, अमुत्तो, अमूओ, अमूउ, अमूहिन्तो ।

अमुत्तो, अमूओ, अमूउ, अमूहिन्तो, अमूसुन्तो ।

षष्ठी अमुणो, अमुस्स ।

अमूणं, अमूण ।

सप्तमी अमुम्मि, अयम्मि, इअम्मि ।

अमूसुं, अमूसु ।

अथ स्त्रीलिङ्गशब्दाः ।

आकारान्तः स्त्रीलिङ्गो रमाशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा रमा ।

रमाओ, रमाउ, रमा ।

द्वितीया रमं ।

रमाओ, रमाउ, रमा ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

तृतीया रमाए, रमाअ, रमाइ * ।

रमाहिं, रमाहिँ, रमाहि ।

चतुर्थी रमाए, रमाअ, रमाइ ।

रमाणं, रमाण ।

पञ्चमी रमाए, रमाअ, रमाइ, रमतो, रमाओ, रमाउ,)

रमतो, रमाओ, रमाउ, रमाहिनतो, रमासुन्तो ।

,, रमाहिनतो ।

”

षष्ठी रमाए, रमाअ, रमाइ ।

रमाणं, रमाण ।

सप्तमी रमाए, रमाअ, रमाइ ।

रमासुं, रमासु ।

सम्बोधनम् हे रमे, हे रमा ।

हे रमाओ, हे रमाउ, हे रमा ।

इकान्तः स्त्रीलिङ्गो रुचिशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा रुई + ।

रुईओ, रुईउ, रुई ।

द्वितीया रुई ।

रुईओ, रुईउ, रुई ।

तृतीया रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।

रुईहिं, रुईहिँ, रुईहि ।

चतुर्थी रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।

रुईणं, रुईण ।

पञ्चमी रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए, रुइतो, रुईओ, रुईउ,)

रुइतो, रुईओ, रुईउ, रुईहिनतो, रुईसुन्तो ।

,, रुईहिनतो ।

” रुईणं, रुईण ।

षष्ठी रुईआ, रुईअ, रुईइ, रुईए ।

रुईसुं, रुईसु ।

सप्तमी रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।

हे रुईओ, हे रुईउ, हे रुई ।

सम्बोधनम् हे रुई, हे रुइ ।

ईकारान्तः स्त्रीलिङ्गो नदीशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा नई, नईआ × ।

नई, नईआ, नईउ, नईओ ।

द्वितीया नई ।

नई, नईआ, नईउ, नईओ ।

तृतीया नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।

नईहिं, नईहिँ, नईहि ।

चतुर्थी नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।

नईणं, नईण ।

पञ्चमी नईअ, नईआ, नईइ, नईए, नइतो, नईओ, नईउ,)

नइतो, नईओ, नईउ, नईहिनतो, नईसुन्तो ।

,, नईहिनतो ।

” नईणं, नईण ।

षष्ठी नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।

नईसुं, नईसु ।

सप्तमी नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।

हे नईओ, हे नईउ, हे नई, हे नईआ ।

सम्बोधनम् हे नई, हे नइ ।

स्त्रीशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा इत्थी, इत्थीआ ।

इत्थी, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीआ ।

द्वितीया इत्थि ।

इत्थी, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीआ ।

तृतीया इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।

इत्थीहिं, इत्थीहिँ, इत्थीहि ।

* “टाङ्स्तेरदादिदेद् वा तु ङसेः” ॥ ७ । ३ । २९ ॥ स्त्रियां वर्तमानात्ताम्रः परेषां टाङ्स्ङीनां प्रत्येकम् अत्, आत्, इत्, एत् एते सत्वार आदेशाः सप्तागदीर्घा जवन्ति, ङसेस्तु पुनरेते वा भवन्ति । ‘नात् आत्’ ॥ ८ । ३ । ३० ॥ स्त्रियां वर्तमानादा-
दन्तात्ताम्रः परेषां टाङ्स्ङिङसीनामादादेशो न भवति । + ‘अक्तीवे सौ’ ॥ ७ । ३ । १९ ॥ इदुतोऽङ्गीवे नपुंसकादन्यत्र सौ
दीर्घो जवति । बुद्धी । × “ईतः सेआवा” ॥ ८ । ३ । २७ ॥ स्त्रियां वर्तमानादीकारान्तात् सेजस्ससोश्च स्थाने आकारो वा जवति ।

विज्ञक्ति एकवचन ।

चतुर्थी इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।
 पञ्चमी इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए, इत्थित्तो,
 ,, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीहिन्तो ।
 षष्ठी इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।
 सप्तमी इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।
 सम्बोधनम् हे इत्थी, हे इत्थि,

बहुवचन ।

इत्थीणं, इत्थीण ।
 इत्थित्तो, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीहिन्तो इत्थीसुन्तो ।
 ,,
 इत्थीणं, इत्थीण ।
 इत्थीसुं, इत्थीसु ।
 हे इत्थीओ, हे इत्थीउ, हे इत्थी, हे इत्थीआ ।

प्रकृत्यन्तरेण स्त्रीशब्दरूपाणि ।

विज्ञक्ति एकवचन ।

प्रथमा थी, * थीआ ।
 द्वितीया थि ।
 तृतीया थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।
 चतुर्थी थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।
 पञ्चमी थीआ, थीअ, थीइ, थीए, थित्तो, थीओ, थीउ,
 ,, थीहिन्तो ।
 षष्ठी थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।
 सप्तमी थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।
 सम्बोधनम् हे थी, हे थि ।

बहुवचन ।

थी, थीओ, थीउ, थीआ ।
 थी, थीओ, थीउ, थीआ ।
 थीहिं, थीहिं, थीहि ।
 थीणं, थीण ।
 थित्तो, थीओ, थीउ, थीहिन्तो, थीसुन्तो ।
 ,,
 थीणं, थीण ।
 थीसुं, थीसु ।
 हे थीओ, हे थीउ, हे थी, हे थीआ ।

ऊकारान्तः स्त्रीलिङ्गो धेणुशब्दः ।

विज्ञक्ति एकवचन ।

प्रथमा धेणु ।
 द्वितीया धेणुं ।
 तृतीया धेणुअ, धेणुआ, धेणुइ, धेणुए ।
 चतुर्थी धेणुअ, धेणुआ, धेणुइ, धेणुए ।
 पञ्चमी धेणुअ, धेणुआ, धेणुइ, धेणुए, धेणुत्तो, धेणुओ,
 ,, धेणुउ, धेणुहिन्तो ।
 षष्ठी धेणुअ, धेणुआ, धेणुइ, धेणुए ।
 सप्तमी धेणुअ, धेणुआ, धेणुइ, धेणुए ।
 सम्बोधनम् हे धेणु, हे धेणु ।

बहुवचन ।

धेणुउ, धेणुओ, धेणु ।
 धेणुउ, धेणुओ, धेणु ।
 धेणुहिं धेणुहिं, धेणुहि ।
 धेणुणं, धेणुण ।
 धेणुत्तो, धेणुओ, धेणुउ, धेणुहिन्तो, धेणुसुन्तो ।
 ,,
 धेणुणं, धेणुण ।
 धेणुसुं, धेणुसु ।
 हे धेणुओ, हे धेणुउ, हे धेणु ।

ऊकारान्तः स्त्रीलिङ्गो वधूशब्दः ।

विज्ञक्ति एकवचन ।

प्रथमा वधू ।
 द्वितीया वधुं ।
 तृतीया वधूआ, वधूअ, वधूइ, वधूए ।
 चतुर्थी वधूआ, वधूअ, वधूइ, वधूए ।
 पञ्चमी वधूआ, वधूअ, वधूइ, वधूए, वधूत्तो, वधूओ, वधूउ,
 ,, वधूहिन्तो ।

बहुवचन ।

वधूउ, वधूओ, वधू ।
 वधूउ, वधूओ, वधू ।
 वधूहिं, वधूहिं, वधूहि ।
 वधूणं, वधूण ।
 वधूत्तो, वधूओ, वधूउ, वधूहिन्तो, वधूसुन्तो ।
 ,,

* " स्त्रिया इत्थी " ॥ ८।२।१३० ॥ स्त्रीशब्दस्य इत्थी इत्यादेशो वा भवति । पक्षे 'सर्वत्र ब्रह्मवामन्दे' ॥ ८।२।७९ ॥ इति रत्नोपे 'स्तस्य थोऽसमस्तस्तम्ये' ॥ ८।२।४५ ॥ 'स्तम्यं समस्तं च त्यक्त्वा, स्तस्य यादेश इष्यते' । इति 'थी' रूपं निष्पन्नम् ।

विभक्ति एकवचन ।

पृष्ठी वहुआ, वहुअ, वहुइ, वहुए ।

सप्तमी वहुआ, वहुअ, वहुइ, वहुए ।

सम्बोधनम् हे वहु, हे वहु ।

बहुवचन ।

वहुणं, वहुण ।

वहुसुं, वहुसु ।

हे वहुज, हे वहुओ, हे वहु ।

ऋकारान्तः स्त्रीलिङ्गो मातृशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा माआ, माअरा * ।

" "
द्वितीया माअं, माअरं ।" "
तृतीया माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ,)

" माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ ।

चतुर्थी माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ,)

" माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ ।

पञ्चमी माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ,)

" माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ,)

" माअरत्तो, माअराओ, माअराउ, माअराहितो,)

" माअत्तो, माआओ, माआउ, माआहितो, माउ-)

" त्तो, माऊओ, माऊउ, माऊहितो ।

षष्ठी माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ,)

" माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ ।

सप्तमी माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ,)

" माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ ।

सम्बोधनम् हे माअ, हे माअरं ।

" "

बहुवचन ।

माअरा, माअराउ, माअराओ, माआ, माआउ, माआ-
(ओ, माऊ, माऊउ, माऊओ ।माअरा, माअराउ, माअराओ, माआ, माआउ, माआ-
(ओ, माऊ, माऊउ, माऊओ ।माअराहिं, माअराहिं, माअराहिं, माआहिं, माआहिं,
(माआहिं, माऊहिं, माऊहिं, माऊहिं ।माअराणं, माअराण, माआणं, माआण, माऊणं, मा-
(ऊण, माईणं, माईण + ।माअरत्तो, माअराओ, माअराउ, माअराहितो, माअरा-
(सुन्तो, माअत्तो, माआओ, माआउ, माआहितो, माआ-
(सुन्तो, माउत्तो, माऊओ, माऊउ, माऊहितो, माऊ-
(सुन्तो ।" "
माअराणं, माअराण, माआणं, माआण, माऊणं, मा-
(ऊण, माईणं, माईण ।माअरासुं, माअरासु, माआसुं, माआसु, माऊसुं,
(माऊसु ।हे माआ, हे माआउ, हे माआओ, हे माअरा, हे माअ-
(राउ, हे माअराओ, हे माऊ, हे माऊउ, हे माऊओ ।

ऋकारान्तः स्त्रीलिङ्गो दुहितृशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा दुहिआ ।

द्वितीया दुहिअं ।

तृतीया दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।

चतुर्थी दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।

पञ्चमी दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ, दुहिअत्तो, दुहि-)

" आओ, दुहिआउ, दुहिआहितो ।

षष्ठी दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।

सप्तमी दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।

सम्बोधनम् हे दुहिअ, हे दुहिआ ।

बहुवचन ।

दुहिआओ, दुहिआउ, दुहिआ ।

दुहिआओ, दुहिआउ, दुहिआ ।

दुहिआहिं, दुहिआहिं, दुहिआहिं ।

दुहिआणं, दुहिआण ।

दुहिअत्तो, दुहिआओ, दुहिआउ, दुहिआहितो, दुहि-
(आसुन्तो ।

दुहिआणं, दुहिआण ।

दुहिआसुं, दुहिआसु ।

हे दुहिआओ, हे दुहिआउ, हे दुहिआ ।

* बाहुलकाद् जनन्यर्थे आ, देवताऽर्थस्य तु अरा इत्यादेशः । माआए कुञ्जीए, नमो माअराण । + 'मातुरिद्वा' । ८ । १ । १३५ ।
मातृशब्दस्य गौणस्य ऋत इद् भवति वा । कश्चिद्गौणस्यापि । माईणं ।

यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा जा ।

द्वितीया जं ।

तृतीया जाए, जाअ, जाइ ।

चतुर्थी जाए, जाअ, जाइ ।

पञ्चमी जाए, जाअ, जाइ, जत्तो, जाओ, जाउ, जा-

, हिन्तो, जम्हा ।

षष्ठी जाए, जाअ, जाइ ।

सप्तमी जाए, जाअ, जाइ ।

बहुवचन ।

जाओ, जाउ, जा ।

जाओ, जाउ, जा ।

जाहिं, जाहिँ, जाहि ।

जाणं, जाण ।

जत्तो, जाओ, जाउ, जाहिन्तो, जासुन्तो ।

, जाणं, जाण ।

जाणं, जाण ।

जासुं, जासु ।

प्रकृत्यन्तरेण यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा जा * ।

द्वितीया जं ।

तृतीया जीअ, जीआ, जीइ, जीए ।

चतुर्थी जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जिस्सा, जीसे ।

पञ्चमी जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जित्तो, जीओ, जीउ,)

, जीहिन्तो ।

षष्ठी जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जिस्सा, जीसे ।

सप्तमी जीअ, जीआ, जीइ, जीए ।

बहुवचन ।

जीओ, जीउ, जीआ, जी ।

जीओ, जीउ, जीआ, जी ।

जीहिं, जीहिँ, जीहि ।

जाणं, जाण ।

जित्तो, जीओ, जीउ, जीहिन्तो, जीसुन्तो ।

, जाणं, जाण ।

जाणं, जाण ।

जीसुं, जीसु ।

तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा सा, ता, एा × ।

द्वितीया तं, एं ।

तृतीया णाए, ताए, ताअ, ताइ ।

चतुर्थी ताए, ताअ, ताइ, तास + ।

पञ्चमी ताए, ताअ, ताइ, तत्तो, ताओ, ताउ, ताहिन्तो, तो, तम्हा ।

षष्ठी ताए, ताअ, ताइ, तास ।

सप्तमी ताए, ताअ, ताइ ।

बहुवचन ।

ताओ, ताउ, ता ।

ताओ, ताउ, ता ।

ताहिं, ताहिँ, ताहि, णाहिं, णाहिँ, णाहि ।

ताणं, ताण, ताम ।

तत्तो, ताओ, ताउ, ताहिन्तो, तासुन्तो ।

ताणं, ताण, तास ।

तासुं, तासु ।

प्रकृत्यन्तरेण तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा सा, ता, एा ।

द्वितीया तं, एं ।

तृतीया तीअ, तीआ, तीइ, तीए ।

चतुर्थी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिस्सा, तीसे ।

बहुवचन ।

तीओ, तीउ, तीआ, ती ।

तीओ, तीउ, तीआ, ती ।

तीहिं, तीहिँ, तीहि ।

ताणं, ताण ।

* 'कियत्तदोऽस्यमामि' ॥ ८ । ३ । ३३ ॥ सि अम आम वजिते स्यादौ परे एभ्यः स्त्रियां ङीर्वा । जोओ । अस्यमामीति किम् । जा, जं, जाण । × 'तदो एः स्यादौ क्वचित्' ॥ ८ । ३ । ७० । तदः स्थाने स्यादौ परे ण आदेशो भवति क्वचिद् लक्ष्यानुसारेण । स्त्रियामपि । ह्युन्नामिअमुही णं तियटा । तां त्रिजटेत्यर्थः । त्रिणअं च णाए, तयेत्यर्थः । णाहिं कयं, ताभिः कृतमित्यर्थः । + बहुलाधिकारात् कितदभ्यामाकारान्ताभ्यामपि डासादेशो वा । तास ध्रणं । पत्ते ताए ।

विभक्ति एकवचन ।

पञ्चमी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तित्तो, तीओ, तीउ, ती-

, हिन्तो ।

षष्ठी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिस्सा, तीसे ।

सप्तमी तीअ तीआ, तीइ, तीए ।

बहुवचन ।

तित्तो, तीओ, तीउ, तीहिन्तो, तीसुन्तो ।

"

ताणं, ताण ।

तीसुं, तीसु ।

किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा का ।

द्वितीया कं ।

तृतीया काए, काअ, काइ ।

चतुर्थी काए, काअ, काइ, कास ।

पञ्चमी काए, काअ, काइ, कत्तो, काओ, काउ, काहिन्तो,

, कम्हा, कीस, किणो * ।

षष्ठी काए, काअ, काइ, कास ।

सप्तमी काए, काअ, काइ ।

बहुवचन ।

काओ, काउ, का ।

काओ, काउ, का ।

काहिं, काहिँ, काहि ।

काणं, काण, कास, केसिं + ।

कत्तो, काओ, काउ, काहिन्तो, कासुन्तो ।

"

काणं, काण, कास, केसिं ।

कासुं, कासु ।

प्रकृत्यन्तरेण किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा का ।

द्वितीया कं ।

तृतीया कीअ, कीआ, कीइ, कीए ।

चतुर्थी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किस्सा, कीसे ।

पञ्चमी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, कित्तो, कीओ, कीउ, कीहिन्तो ।

षष्ठी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किस्सा, कीसे ।

सप्तमी कीअ, कीआ, कीइ, कीए ।

बहुवचन ।

कीओ, कीउ, कीआ, की ।

कीओ, कीउ, कीआ, की ।

कीहिं, कीहिँ, कीहि ।

काणं, काण, कास, केसिं ।

कित्तो, कीओ, कीउ, कीहिन्तो, कीसुन्तो ।

काणं, काण, कास, केसिं ।

कीसुं, कीसु ।

एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा एसा, एस, इणं, इणमो × ।

द्वितीया एअं ।

तृतीया एआअ, एआइ, एआए ।

चतुर्थी एआअ, एआइ, एआए, से ।

पञ्चमी एआअ, एआइ, एआए, एत्तोः, एआओ,)

, एआउ, एताहिन्तो ।

षष्ठी एआअ, एआइ, एआए, से ।

सप्तमी एआअ, एआइ, एआए ।

बहुवचन ।

एआओ, एआउ, एआ ।

एआओ, एआउ, एआ ।

एआहिं, एआहिँ, एआहि ।

एआणं, एआण, एएसिं, सिं ।

एत्तो, एआओ, एआउ, एआहिन्तो, एआसुन्तो ।

"

एआणं, एआण, एएसिं, सिं ।

एआसुं, एआसु ।

प्रकृत्यन्तरेण एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा एई, एस, इणं, इणमो ।

बहुवचन ।

एईओ, एईउ, एईआ, एई ।

+ “आमो डेसि” ॥ ८ । ३ । ६१ । बहुवाचिकारात् स्त्रियामपि । सर्वेसि, केसिं । * “किमो किणोमीसो” ॥ ८ । ३ । ६८ ॥ × “वैसेणमिणमो सिना” ॥ ८ । ३ । ८५ ॥ एतदः सिना सह एस इणम् इणमो इत्यादेशा वा नवन्ति । एस गई । ÷ “त्ये च तस्यलुक्” ॥ ८ । ३ । ८३ ॥ एतदः त्ये चो चाह परे तस्य लुक् । एत्य, एत्तो, एताहे ।

विभक्ति एकवचन ।

द्वितीया एइ ।

तृतीया एईअ, एईआ, एईइ, एईए ।

चतुर्थी एईअ, एईआ, एईइ, एईए ।

पञ्चमी एईअ, एईआ, एईइ, एईए एइत्तो, एईओ, एईउ,)

एईहिन्तो ।

षष्ठी एईअ, एईआ, एईइ, एईए ।

सप्तमी एईअ, एईआ, एईइ, एईए ।

बहुवचन ।

एईओ, एईउ, एईआ, एई ।

एईहिं, एईहिँ, एईहि ।

एईणं, एईण, ।

एइत्तो, एईओ, एईउ, एईहिन्तो, एईसुन्तो ।

”

एईणं, एईण ।

एईसुं, एईसु ।

इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा इमिआ, इमा * ।

द्वितीया इमं, इणं, एं × ।

तृतीया इमाए, इमाइ, इमाअ, एाए, एाइ, एाअ ।

”

चतुर्थी इमाए, इमाइ, इमाअ, से + ।

पञ्चमी इमाए, इमाइ, इमाअ, इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहिन्तो ।

षष्ठी इमाण, इमाइ, इमाअ, से ।

सप्तमी इमाए, इमाइ, इमाअ, इह ÷ ।

बहुवचन ।

इमाओ, इमाउ, इमा ।

इमाओ, इमाउ, इमा, णाओ, णाउ, एा ।

इमाहिं, इमाहिँ, इमाहि, एाहिं, एाहिँ, एाहि, आहिं,

आहिँ, आहि = ।

इमाणं, इमाण, सिं ।

इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहिन्तो, इमासुन्तो ।

इमाणं, इमाण, सिं ।

इमासुं, इमासु ।

प्रकृत्यन्तरेण इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा इमिआ, इमी ।

द्वितीया इमिं ।

तृतीया इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।

चतुर्थी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।

पञ्चमी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए, इमित्तो, इमीओ,)

इमीउ, इमीहिन्तो ।

षष्ठी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।

सप्तमी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।

बहुवचन ।

इमीओ, इमीउ, इमीआ, इमी ।

इमीओ, इमीउ, इमीआ, इमी ।

इमीहिं, इमीहिँ, इमीहि ।

इमीणं, इमीण ।

इमित्तो, इमीओ, इमीउ, इमीहिन्तो, इमीसुन्तो ।

”

इमीणं, इमीण ।

इमीसुं, इमीसु ।

अदःशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा अह, अमू ।

द्वितीया अमुं ।

तृतीया अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।

चतुर्थी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।

पञ्चमी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए, अमुत्तो अमूओ,)

अमूउ, अमूहिन्तो ।

षष्ठी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।

सप्तमी अयम्मि, इअम्मि, अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।

बहुवचन ।

अमूउ, अमूओ अमू ।

अमूउ, अमूओ, अमू ।

अमूहिं, अमूहिँ, अमूहि ।

अमूणं, अमूण ।

अमुत्तो, अमूओ, अमूउ, अमूहिन्तो, अमूसुन्तो ।

”

अमूणं, अमूण ।

अमूसुं, अमूसु ।

* “ पुंलियोर्न वाऽयमिमिआ सौ ” ॥ ८।३।७३ ॥ पक्षे ‘इदम इमः’ ॥ ८।३।७२ ॥ × ‘अमेणम’ ॥ ८।३।७८ ॥ ‘णोऽमशस्त्ताभि-
सि’ ॥ ८।३।७७ ॥ = “स्ति-स्सयोरत्” ॥ ८।३।७४ ॥ बहुलाधिकारात् अन्यत्रापि जवति । आहि । + “वेदंतदेतदो ङसाभ्यां
स्ते-सिमौ” ॥ ८।३।८१ ॥ ÷ “ङेमै न हः” ॥ ८।३।७५ ॥ इदमः कृतेमादेशात् परस्य ङः स्थाने मेन सह ह आदेशो वा भवति । इह ।

॥ अथ नपुंसकलिङ्गशब्दाः ॥

अकारान्तो नपुंसकलिङ्गो मङ्गलशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा मंगलं ण ।

मंगलाणि, मंगलाई, मंगलाईं × ।

द्वितीया मंगलं ।

मंगलाणि, मंगलाई, मंगलाईं ।

शेषं ' वच्ञ ' शब्दवत् + ।

इकारान्तो नपुंसकलिङ्गो वारिशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा दहिं, दहि, दहिं * ।

दहीइं, दहीईं, दहीणि ।

द्वितीया दहिं ।

दहीइं, दहीईं दहीणि ।

शेषं पुम्बत् ।

उकारान्तो नपुंसकलिङ्गो मधुशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा महुं महु, महुं ।

महूइं, महूईं, महूणि ।

द्वितीया महुं ।

महूइं, महूईं, महूणि ।

शेषं ' गुरु ' शब्दवत् ।

यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा जं ।

जाणि, जाइं, जाईं ।

द्वितीया जं ।

जाणि, जाइं, जाईं ।

शेषं पुम्बत् ।

एवं तच्छब्दरूपाणि ज्ञेयानि ।

एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा एस, इणं, इणमो, एअं ।

एआणि, एआइं, एआईं ।

द्वितीया एअं ।

एआणि, एआइं, एआईं ।

शेषं पुम्बत् ।

इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा इदं, इणं, इणमो = ।

इमाणि, इमाइं, इमाईं ।

द्वितीया इदं, इणं, इणमो ।

इमाणि, इमाइं, इमाईं ।

शेषं पुम्बत् ।

अदःशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा अद, अमुं ÷ ।

अमूणि, अमूइं, अमूईं ।

१ " क्लीबे स्वरान्म सेः " । ८ । ३ । ३५ ॥ × "जस्शस ई-ई-णयः सप्राग्वीर्घाः " । ८ । ३ । ३६ ॥ + " नामन्त्यास्तौ मः " ॥ ८ । ३ । ३७ ॥ * दहि इति सिद्धापेक्षया । केचिदनुनासिकमपीच्छन्ति दहिं । = " क्लीबे स्यमेदमिणमो च " ॥ ८ । ३ । ३६ ॥ इति स्यमज्यां सहितस्य इदम इणमो इणम आदेशाः । ÷ "वाऽदसो दस्य हो नोदाम् " ॥ ८ । ३ । ३७ ॥ "मुः स्यादौ" ॥ ८ । ३ । ३८ ॥

विभक्ति एकवचन ।

पञ्चमी	०
षष्ठी	०
सप्तमी	०

बहुवचन ।

तिचो, तीओ, तीउ, तीहिन्तो, तीसुन्तो ।
तिएहं, तिएह ।
तीसुं, तीसु * ।

कतिशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा	०
द्वितीया	०
तृतीया	०
चतुर्थी	०
पञ्चमी	०
षष्ठी	०
सप्तमी	०

बहुवचन ।

कइ ।
कइ ।
कईहिं, कईहिं, कईहि ।
कइएहं, कइएह ।
कइचो, कईओ, कईउ, कईहिन्तो, कईसुन्तो ।
कइएहं, कइएह ।
कईसुं, कईसु ।

चतुश्शब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा	०
द्वितीया	०
तृतीया	०
चतुर्थी	०
पञ्चमी	०
षष्ठी	०
सप्तमी	०

बहुवचन ।

चत्तारो, चउरो, चत्तारि
चत्तारो, चउरो, चत्तारि ।
चऊहिं, चऊहिं, चऊहि ।
चउएहं, चउएह ।
चउचो, चऊओ, चऊउ, चऊहिन्तो, चऊसुन्तो ।
चउएहं, चउएह ।
चऊसुं, चऊसु ।

गुष्मशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा	तं, तुं, तुवं, तुह, तुमं ।
द्वितीया	तं, तुं, तुमं, तुवं, तुह, तुमे, तुए ।
तृतीया	जे, दि, दे, ते, तइ, तए, तुयं, तुमइ, तुमए, तुमे,)
"	तुमाइ ।
चतुर्थी	तइ, तु, ते, तुम्हं, तुह, तुहं, तुव, तुम, तुमे, तुमो,)
"	तुमाइ, दि, दे, इ, ए, तुज, तुज्ज, तुम्ह, उज्ज,)
"	उज्ज, उम्ह, उउह ।

बहुवचन ।

भे, तुज्जे, तुम्हे, तुज्जे, तुज्ज, तुम्ह, तुय्हे, उय्हे ।
वो, तुज्ज, तुज्जे, तुम्हे, तुज्जे, तुय्हे, उय्हे, जे ।
भे, तुज्जेहिं, तुज्जेहिं, तुम्हेहिं, उज्जेहिं, उम्हेहिं, तुय्हे-
(हिं, उय्हेहिं ।
तु, वो, जे, तुज्ज, तुज्ज, तुम्ह, तुमं, तुज्जं, तुम्हं,
(तुज्जाणं, तुज्जाण, तुज्जाणं, तुज्जाण, तुम्हाणं, तुम्हा-
(ण, तुजाणं, तुजाण, तुमाणं, तुमाण, तुहाणं, तुहाण,
(उम्हाणं, उम्हाण ।
तुम्भचो, तुम्भाओ, तुम्भाउ, तुम्भाहि, तुम्भेहि, तुम्भा-
(हिन्तो, तुम्भेहिन्तो, तुम्भासुन्तो, तुम्भेसुन्तो, तुम्हचो, तु-
(म्हाओ, तुम्हाउ, तुम्हाहि, तुम्हेहि, तुम्हाहिन्तो, तुम्हेहि-
(न्तो, तुम्हासुन्तो, तुम्हेसुन्तो, तुज्जचो, तुज्जाओ, तुज्जाउ,
(तुज्जाहि, तुज्जेहि, तुज्जाहिन्तो, तुम्भेहिन्तो, तुम्भासु-
(न्तो, तुज्जेसुन्तो, तुय्हचो, तुय्हाओ, तुय्हाउ, तुय्हाहि,

* "अत्रास्यादेशेस्वोर्वा" । ॥ १२७॥ अत्राद्याः स्यादीनां च यौ शसु तयोस्तुस्त्रारोऽन्तो वा भवति । चच्छेणं चच्छेण, चच्छेसुं चच्छेसु ।

विभक्ति एकवचन ।

”	तुम्हाहि, तुम्हाहिन्तो, तुम्हा, तुज्जत्तो, तुज्जा-
”	ओ, तुज्जाउ, तुज्जाहि, तुज्जाहिन्तो, तुज्जा,
”	तुम्ह, तुम्भ, तुम्ह, तुज्ज, ताहिन्तो ।
”	”
”	”
पष्ठी	तइ, तु, ते, तुम्हं, तुह, तुहं, तुव, तुम, तुमे, तुमो,
”	तुमाइ, दि, दे, इ, ए, तुम्भ, तुम्ह, तुज्ज, उव्ज,
”	उम्ह, उज्ज, उम्ह ।
”	”
सप्तमी	तुमे, तुमए, तुमाइ, तइ, तए, तुम्मि, तुवम्मि,
”	तुवस्सि, तुवत्थ, तुमम्मि, तुमस्सि, तुमत्थ, तुहम्मि,
”	तुहस्सि, तुहत्थ, तुवज्जम्मि, तुवज्जस्सि, तुवज्जत्थ,
”	तुम्हम्मि, तुम्हस्सि, तुम्हत्थ, तुज्जम्मि, तुज्ज-
”	स्सि, तुज्जत्थ ।

बहुवचन ।

(तुम्हेहि, तुम्हाहिन्तो, तुम्हेहिन्तो, तुम्हासुन्तो, तुम्हेसुन्तो,
(उम्हत्तो, उम्हाओ, उम्हाउ, उम्हाहि, उम्हेहि, उम्हा-
(हिन्तो, उम्हेहिन्तो, उम्हासुन्तो, उम्हेसुन्तो, उम्हत्तो,
(उम्हाओ, उम्हाउ, उम्हाहि, उम्हेहि, उम्हाहिन्तो,
(उम्हेहिन्तो, उम्हासुन्तो, उम्हेसुन्तो ।
तु, वो, भे, तुव्ज, तुम्ह, तुज्ज, तुम्भं, तुम्हं, तुज्जं,
(तुव्जाणं, तुव्जाण, तुम्हाणं, तुम्हाण, तुज्जाणं, तुज्जाण,
(तुमाणं, तुमाण, तुवाणं, तुवाण, तुहाणं, तुहाण, उम्हा-
(णं, उम्हाण ।
तुसं, तुस, तुवेसं, तुवेस, तुमेसं, तुमेस, तुहेसं, तुहेस, तु-
(व्जेसं, तुव्जेस, तुम्हेसं, तुम्हेस, तुज्जेसं, तुज्जेस, तुवसं,
(तुवस, तुमसं, तुमस, तुहसं, तुहस, तुवज्जसं, तुवज्जस,
(तुज्जसं, तुज्जस, तुम्हसं, तुम्हस, तुम्भासं, तुम्भास,
(तुम्हासं, तुम्हास, तुज्जासं, तुज्जास ।

अस्मच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा	अहं, हं, अहयं, म्मि, अम्मिह, अम्मिं ।
द्वितीया	ए, णं, मि, अम्मि, अम्ह, मम्ह, मं, ममं, मिमं अहं ।
तृतीया	मि, मे, ममं, ममए, ममाइ, मइ, मए, मयाइ, ए ।
चतुर्थी	मे, मइ, मम, मइ, महं, मज्ज, मज्जं, अम्ह, अम्हं ।
”	”
पञ्चमी	मइत्तो, मइओ, मइउ, मइहिन्तो, ममत्तो, ममाओ,
”	ममाउ, ममाहि, ममाहिन्तो, ममा, महत्तो, महा-
”	ओ, महाउ, महाहि, महाहिन्तो, महा, मज्जत्तो,
”	मज्जाओ, मज्जाउ, मज्जाहि, मज्जाहिन्तो, मज्जा ।
षष्ठी	मे, मइ, मम, मह, महं, मज्जं, मज्ज, अम्हं, अम्ह ।
”	”
सप्तमी	मि, मइ, ममाइ, मए, मे, अम्हम्मि, अम्हस्सि,
”	अम्हत्थ, ममम्मि, ममस्सि, ममत्थ, महम्मि, मह-
”	स्सि, महत्थ, मज्जम्मि, मज्जस्सि, मज्जत्थ ।

बहुवचन ।

अम्ह, अम्हे, अम्हो, मो, वयं, भे
अम्हे, अम्हो, अम्ह, ए ।
अम्हेहि, अम्हाहि, अम्ह, अम्हे, णे ।
ए, एो, मज्ज, अम्ह, अम्हं, अम्हे, अम्हो, अम्हाणं, अ-
(म्हाण, ममाणं, ममाण, महाणं, महाण, मज्जाणं, मज्जाण ।
ममत्तो, ममाओ, ममाउ, ममाहि, ममेहि, ममाहिन्तो, ममे
(हिन्तो, ममेसुन्तो, ममासुन्तो, अम्हत्तो, अम्हाओ, अम्हाउ,
(अम्हाहि, अम्हेहि, अम्हाहिन्तो, अम्हेहिन्तो, अम्हा-
(सुन्तो, अम्हेसुन्तो ।
ए, एो, मज्ज, अम्ह, अम्हं, अम्हे, अम्हो, अम्हाणं,
(अम्हाण, ममाणं, ममाण, महाणं, महाण, मज्जाणं, मज्जाण ।
अम्हंसं, अम्हेसु, ममेसं, ममसु, महेसं, महेसु, मज्जेसं,
(मज्जेसु, अम्हसं, अम्हसु, ममसं, ममसु, मज्जसं, मज्जसु,
(महसं, महसु, अम्हासं, अम्हासु ।

॥ इति प्राकृतशब्दरूपावलिः समाप्ता ॥

पठन्तु बालकाः सर्वे जैनानामितरे तथा । तस्मान्मयेयं प्राकृत-शब्दरूपावलिः कृता ॥ १ ॥



अभिधानराजेन्द्रः ।

जयति सिरिषीरवाणी, बृहविबुहनमंसिया या सा ।
वत्तव्यं से वेमि, समासञ्चो अक्वरकमसो ॥ १ ॥

अकार

अ-अ-पुं० स्वरसंज्ञके काष्ठस्यानीये स्यनामख्याते वर्णे, एका० ।
अहंति, आद्याक्षरेण तस्य ग्रहणात् सिक्के च । अशरीरेति सि-
क्काचकस्याद्याक्षरेण तद्ग्रहणात् । गा० । अवति रक्षति अतति
सातत्येन तिष्ठतीति वा अव-अत-वा-र-विष्णौ, "अकारो विष्णु-
रुद्दिष्टः" वाच० । शिवे, ब्रह्मणि, धार्या, चन्दे, अग्नौ, ज्ञानौ, कम-
दे, अन्तःपुरे, जूषणे, वरणे, कारणे, रणे, अजिते, गौरवे, एका० ।
अ-अव्य० अव प्रीणनार्था, ङ स्वरादिवाद्यव्ययत्वम् अभावे,
वाच० । प्रतिषेधे, "अमानोनाः प्रतिषेधे" आ० म० द्वि० । सू-
त्र० । अत्रोदाहरणम्, "नियरिसणं अघमो" अकारस्य तन्नाव-
प्रतिषेधे निदर्शनं यथा अघटोऽयमिति न घटो घटव्यतिरिक्तः पटा-
दिकः पदार्थ इत्यर्थः । वृ० १ उ० । "अज्ञावे न ह्यनोनः" इत्यम-
रटीकायां नञादेशोऽयमित्युक्तम् । स च आदेशः नञनमुच्या-
दिनिजशब्दघटके उत्तरपदस्थे हलादौ शब्दे परे भवति । स
तु नञर्थे एव स्थानितुव्यार्थत्वाद्देशस्य । वाच० । स्वल्पेऽर्थे,
अनुकम्पायां, सम्बोधने, अ अनन्त । अधिके, अ पचासि त्वं जा-
हम् । "उपसर्गस्वरविनक्तिप्रतिरूपकाश्चेति" स्वरादिगणसूत्रे अ
इति सिद्धान्तकौमुद्यामुदाहृतं मनोरमायां च अ संबोधने, अधि-
क्षेपे, निषेधे चेति व्याख्यातम् । वाच० । "अपञ्चिममारणंति-
यसंलेहणाजोसणार्हि" अत्र अपञ्चिमाः पञ्चात्कालभाविन्यः ।
अकारस्त्वमङ्गलपरिहारार्थ इति । स० ।

अ-अव्य० कगचजतदपथवां प्रयो लुक्, उ० १। ७७ । इति
सूत्रेण चक्षोपः । न चाऽनादेरेव सः क्वचिदादेरपि विधानात् ।
सो अ-स च० प्रा० । अर्थस्तु चक्षुषे ।

अअ-अज-पुं० न जायते जन-र-न० त० ईश्वरे, जीवे, ब्रह्मणि,
विष्णौ, हरे, ह्यग्रे, मेपरूपे प्रथमे राशौ, माक्षिकघातौ च । जन-
नग्न्ये गगनादौ, त्रि० । आत् विष्णोर्जायते इति । चन्दे, कामे,
दशरथपितरि रघुनृपपुत्रे रामचन्द्रस्य पितामहे सूर्यवंश्ये नृप-
भेदे, वाच० । प्राकृते 'अजातेः पुंसः' उ० ३। ३२ इति जातिपर्यु-
दासाञ्च ङीष्चिकल्पः प्रा० । मेपञ्चिमा, गा० ।

अअगर-अजगर-पुं० अन्नं वागं गिरति गिहति गृ-अच । बृह-
त्सर्पे, । अजगरमगस्त्यशापात् बृहत्सर्पजावापन्नं नहुपमधिकृत्य
रुतो ग्रन्थः अण्-आजगरम् । अजगरकथायाम्, न० । वाच० ।
अआवालग-अजापालक-पुं० ६ त० । वागरक्षकं, अजारक्षण-
प्रवृत्ते प्रवृत्ते, वाचकभेदे च । वृ० ३ उ० । (तदृत्तं किय-
कम्म शब्दे) ॥

अइ-अयि-अव्य० सम्भावने, अइ संभावने ५ । २ । ४ । संजा-
घने अइ इति प्रयोक्तव्यम् । "अइ दिअर ! किं न वेच्छसि," अयि
देवर ! किञ्च प्रेक्षसे प्रा० ॥

गम्-धा० सक० पर० च्वा० गतौ, गमेरु इति उ० ४ । ६१ ।
इति सूत्रेण गमेः अइ आदेशः । अइ-गच्छति प्रा० ।

अति-अव्य० अत-इ-पूजायाम्, उत्कर्षे, अतिक्रमणे, वि-
क्रमे, अवुक्षौ, भृशे, "विक्रमातिक्रमाद्युद्धिभृशार्थातिशयेष्वती-
ति" गणरत्नम् । तत्र विक्रमे अतिरथः । अतिक्रमे अति-
मतिः । अवुक्षौ अतिगहनम् । बुद्धेरविषयः । भृशे अतिसप्तम् ।
अतिशये अतिवंगः वाच० । "अति सर्वत्र वर्जयेत्" यतः "अइ-
रोसो अइ तोसो, अइहासो दुज्जेणेहि संवासो । अइचज्जमो य
वेसो, पंच वि गुरुं पिं बहुं पिं" ध० १ अधि० ॥

अ [दि] इ-[ति] इ-अदिति-स्त्री० न दीयते खण्डयते बृह-
त्वाद्-दो-किञ्च न० त० दातुं वेत्तुमयोग्यायां पुथिव्याम्, दिति-
र्दनुजमाता । विरोधार्थे, न० त० । देवमातरि, सा च दक्षस्य
सुता वाच० । पुनर्वसुनक्षत्रस्याधिपतिर्देवता ज्यो० ६ पाहु० ।
"पुणव्वसु अइ देवयाप पाणत्ते" सू० प्र० १० पाहु० ॥ जं० ॥
"दा अइ" पुनर्वसोर्द्विवादिदितिद्वित्वम् । स्था० २ गा० ॥
अइउक्कस-अत्युत्कर्ष-त्रि० उत्कर्षमतिक्रान्तः । उत्कर्षरहिते,
"तवस्सी अइउक्कसो" तपस्वी साधुः अत्युत्कर्षः अहं तपस्वी-
त्युत्कर्षरहितः । दश० ५ अ० ॥

अइउम्भट-अत्युन्नत-त्रि० अतिशयितचेतश्चमत्कृतिकृति, "अ-
इउम्भटो अ वेसो" ध० २ अधि० ॥

अइंत-अतियत्-त्रि० प्रविशति, नि० चू० १६ उ० । "पदमं
चसन्नं मुहेणं अइंतं पासइ" कल्प० ॥

अइदि [य] अ-अतीन्द्रिय-त्रि० अतिक्रान्तमिन्द्रियं तदवि-
पयत्वात् अत्या० स० वाच० । इन्द्रियज्ञानाऽगम्ये, अष्ट० ॥
अतीन्द्रिया अर्था आगमेन उपपत्त्या च ज्ञायन्ते न केवलया यु-
क्त्या तदुक्तम् । "आगमश्चोपपत्तिश्च, संपूर्णं दृष्टिकारणम् । अ-
तीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये" । १ । विशेष० । दर्श० ॥
कर्म० । अनु० । कथं न युक्त्येति चेत् ॥

ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।

कालेनैतावता प्राङ्गैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ४ ॥

यदि यावता कालेनातीन्द्रिया इन्द्रियागोचराः पदार्था धर्मा-
स्तिकायादयः हेतुवादेन युक्तिप्रमाणसमूहेन ज्ञायेरन् एतावता
कालेन परमात्मभावश्रवणचिन्तननिदिष्यासनादिना स्वात्म-
स्वरूपे उपयोगोऽनुभवः कृतः स्यात् तदा तेषु धर्मास्तिकायादि-
षु शुक्तात्मनि च निश्चयः कृतः स्यात् प्राङ्गैः इत्यनेन परद्वयचि-
न्तनकाव्यमात्रेणात्मस्वरूपचिन्तने स्वपरावबोधो भवति तेन सद्भिः
स्वस्वभावभावने मतिः कार्यं येन निष्पत्त्यासतः स्वपरा “ जे
एगं जाणइ से सव्वं जाणति ” इति वचनात् बोधपरित्यागपरि-
णतिर्भवति ॥ ४ ॥ अष्ट० ॥ (ननु अतीन्द्रिया अर्थान् सत्येवेति
चेन्न । मद्भुक्तश्रमणोपासकेनाप्ययूथिकाप्रतिवातघ्राणसहगत-
पुद्गलरूपादेरतीन्द्रियार्थस्य सत्त्वप्रसाधनात् । मद्भुग मद्भुग
शब्दे तद् छष्ट्यम्) अतीन्द्रियार्थज्ञानं वेदवाक्येन्य ए-
वेति जैमिनीयाः । साक्षादतीन्द्रियार्थदर्शनस्तन्मतेऽभावात् य-
दुक्तम् “ अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद् द्रष्टुं न विद्यते । नि-
त्येन्यो वेदवाक्येन्यो, यथार्थत्वविनिश्चयः ॥ १ ॥ गा० (सम्भ-
वत्यतीन्द्रियार्थज्ञानं सर्वज्ञस्येति सव्वस्य शब्दे उपपादयिष्यते)
अङ्कद्वय-अतिक्रमयुत-न० अत्या० स० अतिशयिते नखै-
र्विलेखने, सूत्र० १ शु० ३ अ० ३ उ० ।

अ [ति] इकंत-अतिक्रान्त-त्रि० अत्या० स० अतिक्रमनीये,
प्रश्न० १ अध० ८० ४ अ० । समुद्रजेटाधिपतौ च पुं० द्वि० ।
अङ्काय-अतिकाय-पुं० अतिक्रान्तः कायात् अत्या० स०
महोरगविशेषे, प्रज्ञा० १ पद० ॥ महोरगेन्द्रे च स्था० २ गा० ।
(अग्रमहिष्यादयः स्वस्वस्थाने) वृद्धचरिरे, त्रि० “ उम्पाविसे
चंमघोरविसे महाविसे अङ्काये महाकाय ” (सर्पवर्णकः) का-
यान् शरीराणि शेषाहीनामतिक्रान्तोऽतिकायः अत एव महाका-
यः । ज्ञा० ६ अ० । अथवाऽतिकायानां मध्ये महाकायोऽतिकाय-
महाकायः ज्ञ० १५ श० १ उ० । अत्युक्तः कायोऽस्य । विक-
टदेहे, त्रि० रावणपुत्रे राक्षसजेदे, पुं० । वाच० ॥

अ (ति) इकंत-अतिक्रान्त-त्रि० अति-क्रम-क- । अतीते,
आचा० १ शु० ४ अ० १ उ० “ जेय बुद्धा अतिक्रान्ता ” सूत्र० १
शु० ११ अ० । तीर्णे, विशेष० । आ० म० प्र० । पर्यन्तवर्तिनि,
जी० ३ प्रति० । औ० । त्यक्तवति, “ सव्वसिणेहाइकंता ” औ० ।
अ (ति) इकंतजोव्वण-अतिक्रान्तजोव्वण-त्रि० अत्या० स०
अतीततारुण्ये, “ अपत्तजोव्वणा अइकंतजोव्वणा ” स्था० ५ गा० ।

अ (ति) इकंतपञ्चवणा-अतिक्रान्तप्रत्याख्यान-न० अति-
क्रान्ते पर्वणि यत् क्रियते तदतिक्रान्तं तच्च तत्प्रत्याख्यानम् ।
प्रत्याख्यानजेदे, ध० २ अधि० । आव० । पञ्चमेवातीते पर्युप-
णादौ करणादतिक्रान्तम् । आह च “ पञ्जोसवणाए तव, जो खलु न
करेइ कारणज्जाप । गुरुवेयावव्वेण, तवस्सिगेव्वणयाए व
॥ १ ॥ सो दाई तवोक्कम्मं, पण्विज्जइ तं अइच्छिण काले । एवं
पच्चक्खणां, अइकंतं होइ नायव्वंति ” ॥ २ ॥ स्था० १० गा० ।
“ अतिक्रंतं णाम पञ्जोसवणाए तवं तेहि कारणेहि ण कीरति
गुरुतवस्सिगिञ्जणकारणेहि सो अतिक्रंतं करेति तहेव विभा-
सा । आ० चू० । आव० ।

अङ्कम्-अतिक्रम-पुं० अति०क्रम-घञ् अतिचारे, “ पाणाश्वाय-
स्स वेरमणं एस वुत्ते अङ्कमे ” ध० ३ अधि० । सूत्र० अतिलङ्घने,

आचा० १ शु० ७ अ० । उपा० । विनाशे, आचा० १ शु० २ अ० । साधुकि-
योद्धने, आव० ४ अ० ।

अतिक्रमव्यतिक्रमादयः साधुक्रियोद्धनरूपास्तत्रातिक्रम-
स्याधाकर्माश्रित्य स्वरूपमित्थम् ।

आहाकम्म निमतण, पडिसुणमाणो अतिक्रमो होई ।

पयजेयाइवङ्कम्-गहिण तइओ तरो गिल्लिण ॥

कोऽपि आहो नाहप्रतिवक्षो ज्ञातिप्रतिवक्षो गुणानुरक्तो वा
आधाकम्म निष्पाद्य निमन्त्रयति । यथा प्रमवन्त्युप्पन्नमित्तम-
स्मद्भूहे सिक्कमन्नमास्ते इति समागत्य प्रतिगृह्यतामित्यादि ।
तत्प्रतिगृह्यति अत्युपगच्छति अतिक्रमो नाम दोषो भवति । स
च तावद्यावदुपयोगपरिसमाप्तिः । किमुक्तं प्रवति । यत्प्रतिगृ-
णोति प्रतिश्रवणानन्तरं चोत्तिष्ठति पात्राण्युद्धति उद्धा च
गुरोः समीपमागत्योपयोगं करोति । एष समस्तोऽपि व्यापारोऽति-
क्रमः । उपयोगपरिसमाप्त्यनन्तरं च यदाधाकम्मग्रहणाय पद-
भेदं करोति आदिशब्दान्मार्गे गच्छति गृहं प्रविशति आधाक-
म्मग्रहणाय पात्रं प्रसारयति न चाद्यापि प्रतिगृह्यति एष सर्वो-
ऽपि व्यापारो व्यतिक्रमः (गहिण तइओक्ति) आधाकर्मणि गृ-
हीते उपलक्षणमेतत् । यावद्वस्तौ समानीते गुरुसमकमाहोचि-
ते भोजनायमुपस्थापिते मुखे प्रक्षिप्यमाणेऽपि च यावन्नाद्यापि
गिहति तावत्तृतीयोऽतिचारद्वयो दोषः । गिहिते त्वाधाकर्म-
ण्यनाचारः । एवं सर्वेष्वप्यौद्देशिकादिषु जावनीयम् । पि० ।
धर्म० । व्य० । स्था० । ध० २० । आनु० । एवं भावना मूलगुणेषु
उत्तरगुणेषु च कार्या । अत्रायं विवेकः । मूलगुणेषु अतिक्रमा-
दिभिर्निष्पन्नैश्चरित्रस्य मालिन्यं तस्य चाहोचनप्रतिक्रमणादिभिः
शुद्धिश्चतुर्थं तु नङ्ग एव तथा च सति पुनरुपस्थापनैव गुण्यते ।
उत्तरगुणेषु चतुर्निरपि चरित्रस्य मालिन्यं न पुनर्भङ्ग इत्युक्ता
मूलोत्तरगुणातिचाराः । ध० ३ अधि० (ज्ञानदर्शनचारित्र्यजेदा-
दतिक्रमादीनां वैषिष्यमिति संकिट्टेस्य शब्दे)

अङ्कमण-अतिक्रमण-न० अति-क्रम-ल्युट्-लङ्घने, विराधने,
ध० २ अधि० । आव० ।

अङ्कमणिज्ज-अतिक्रमणीय-त्रि० अतिलङ्घनीये, सूत्र० २ शु० ७ अ०

अङ्कामित्तु-अतिक्रम्य-अव्य० अति क्रम-त्वा-ल्यप्-लङ्घये-
त्यर्थे, “ तं अङ्कमित्तु न पविसे ” दश० ५ अ० ।

अङ्गंजीर-अतिगम्भीर-त्रि० अतीवातुच्छाशये, पंचा० २ विप ।

अङ्गचण्माण-अतिगच्छत्-त्रि० अति-गम+शतृ प्रविशति,
नि० चू० १ एउ० । ज्ञा० ।

अङ्ग (य) त अतिगत-त्रि० अति-गम् क-प्रक्षिपे, “ जे मि-
क्खु गाहावइकुलं अतिगते ” नि० चू० ३ उ० । प्रासे च । तं ।

अङ्गम-अतिगम-पुं० प्रवेशे, आ० म० प्र० ।

अङ्गमण-अतिगमन-न० प्रवेशमार्गे, ज्ञा० १ अ० ।

अङ्गुरु-अतिगुरु-पुं० अतिशयितो गुरुः पूज्यतमत्वात् प्रा० स०

“ त्रयः पुरुषस्यातिगुरवो भवन्ति पिता माताऽऽचार्यश्चेति ” वाच० ।

अङ्चंद-अतिचन्द्र-पुं० षष्ठे लोकोत्तरमुद्धर्ते, कल्प० ।

अङ्चरा-अतिचरा-स्त्री० अतिक्रम्य-स्थस्थानं सरोऽन्तरं चर-
ति गच्छति चर+अच् पश्चिन्याम, तत्तुल्याकारवत्त्वात् स्थलप-
श्चिन्यां पञ्चचारिण्यां लतायाश्च । अतिक्रमणकारिणि, त्रि० वाच० ।

अङ्घ्रित-अतिचिन्त-त्रि० अतीव चिन्ता यस्मिन्स्तदतिचिन्तम् ।
 अतिचिन्तासहिते, ज्ञा० १ अ० ॥
 अङ्घ्र-अतीत्य-अव्य० अति-इ-त्वा-स्यप्-त्यक्त्वैत्यर्थे, "स-
 त्वाहं संग्राहं अङ्घ्रि धीरे" सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ॥
 अङ्घ्र-गम्-धा० च्वा० प० सफ० । गमेरङ् अङ्घ्रे । ७।४।६१ ।
 इति सूत्रेण गम्धानोरङ्घ्रादेशः । गती, अङ्घ्रि, गच्छति, प्रा० ।
 अङ्घ्र-गच्छ-गच्छ-त्रि० विचरति, अतिक्रामति, उक्त० १७ अ० ।
 अङ्घ्र-अतिक्रान्त-अतिक्रान्त-पुं० अतिक्रान्तप्रथम । तुल्याकारेण
 अत्या० स० । (गतिया) इति प्रसिद्धे स्वहन्तृविशेषे, (ताह-
 मस्याना) इति प्रसिद्धे जलतृणभेदे च । क्षीरस्वामिमते उग्रा
 इत्येव नाम । उग्रातिक्रमकारिणि, त्रि० अतिक्रमेऽप्ययी० उग्रा-
 तिक्रमे, अव्य० घाच० ॥
 अङ्घ्र-पचकराण-अदित्सा (अतिगच्छ) प्रत्याख्यान-
 न० प्रत्याख्यानभेदे, " भिक्षार्हणमदाणा अङ्घ्रं " भिक्षुणं
 जिह्वा प्राभृतिष्वा आदिशब्दाद्विपरिग्रहस्तेषामदाने अतिग-
 च्छेति अदित्सेति वा घञनमतिगच्छप्रत्याख्यानमदित्साप्रत्याख्या-
 नं वा । आ० म० प्र० "अङ्घ्र (च्छ) च्छा पच्यन्ताणं घञमणसमणा-
 णं । अङ्घ्रन्ति " अदित्साप्रत्याख्यानं द्वेप्राण ! द्वेभ्रमण ! अदि-
 त्सेति नाम दातुमनिच्छा ननु नास्ति यद्भवतां याचितं ततश्चादि-
 त्सैव वस्तुनः प्रतिपेक्षात्मिकेति कृत्वा प्रत्याख्यातमिति गाथार्थः ।
 भाव० ६ अ० ॥
 अङ्घ्र-जाय-अतिजा (या) त-पुं० पितुः संपदमतिलक्ष्य जा-
 तः संवृत्तो वाऽतिक्रम्य वा तां यातः प्राप्तो विशिष्टतरसंपदं स-
 मृच्छतर इत्यर्थः । इत्यतिजातोऽतियातो वा ऋषभवत् । सुतभेदे,
 स्था० ४ ग० ॥
 अङ्घ्रि-अतिष्ठित-त्रि० अतिक्रान्ते, उल्लङ्घितवति, उक्त० ७ अ० ।
 अतिष्ठाय-अव्य० अतिक्रम्योल्लङ्घयेत्यर्थे, उक्त० ७ अ० ॥
 अङ्घ्रि-अतिनिश्चय-त्रि० अतीव निष्पक्षमे, पंचा० १५ विव०
 अङ्घ्रि-अतिप्रमदुरत्त-अतिस्निग्धमधुरत्व-न० घृतगुणादिवत् सु-
 खकारित्वरूपे एकोनविंशे वचनातिशये, स० ॥
 अ (ई) (ती) इ (य) त-अतीत-त्रि० अति-इ-त०
 अतिक्रान्ते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आचा० आ० म० प्र० दश० ।
 विवक्षितसमयमवधीकृत्य जृतवति समयराशौ, ज्यो० १ पाठ० ।
 प्राकृते, अतिक्रान्तसमयजाविनि, विशेष० । आतु० (अतीतवस्तु-
 नः सत्त्वविचारः सत्त्वशब्दे) दूरीभूते च उक्त० १५ अ० ॥
 अ (ई) (ती) इ (य) तद्वा-अतीताद्वा-स्त्री० अती-
 तकाले, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अतीतेषु अनतेषु पुरुष-
 परावर्तेषु, अनु० ॥
 अ (ई) (ती) इ (य) तपचकराण-अतीतप्रत्याख्यान-
 न० पूर्वकालकरणीये प्रत्याख्यानभेदे, प्रव० ४ द्वा० । ल० । प्र० ॥
 अ (ति) इ (या) ताण-अतियान-न० नगरादौ राजादेः
 प्रवेशे, स्था० ४ ग० ॥
 अ (ति) इ (या) ताणकहा-अतियानकथा-स्त्री० रा-
 जादेः नगरादौ प्रवेशकथायाम्, यथा " सिय सिंधुरखंधगभो,
 सियचमरो सेयपत्तन्नहो । जणनयणकिरणसेओ, एसो पवि-
 सह पुरे राया " इति स्था० ४ ग० । राजकथाभेदे, (व्याख्या-
 रायकहा शब्दे) ॥

अ (ति) इ (या) ताणगिह-अतियानगृह-न० नगरादि-
 प्रवेशे यानि गृहाणि तेषु, स्था० २ ग० ॥
 अ (ति) इ (ता) याणिहि-अतियानहि-स्त्री० राजा-
 देः नगरप्रवेशे सम्भवन्त्यां तोरणदृशोभाजनसम्मर्ददिलक-
 णायामृक्षौ, स्था० ३ ग० ॥
 अ (ई) इ (ती) [या] ताणाययसाण-अतीतानागतज्ञान-
 न० अतिक्रान्तानुत्पन्नार्थपरिच्छेदने, द्वा० २६ द्वा० ॥
 अङ्घ्र-अतिताल-न० उत्ताले गेयदोषे, अनु० ।
 अङ्घ्र-अतिखरोस-अतितीक्ष्णरोष-त्रि० ६ व० । पुनः पुनः रोषण-
 शीले, दीर्घरोषिणि, वृ० २ उ० ।
 अङ्घ्र-अतितीव्र-त्रि० अत्युत्कटे, पंचा० १ विव० ।
 अङ्घ्र-अतिविक्रमविगम-अतितीव्रकर्मविगम-पुं० ६ त० अत्युत्कट-
 स्य कर्मणो ज्ञानावरणीयमिष्यात्वादेः विनाशे, पंचा० १ विव० ।
 अङ्घ्र-अतिदुष्ट-अतिदुष्ट-न० अतिशयेनापनयने, सूत्र० १ श्रु० १ अ०
 अङ्घ्र-अतिदुष्ट-स्त्री० चतुर्दश्यां रात्रौ, जं० ७ वक्त्र० कल्प० ।
 अङ्घ्र-अतिदुष्ट-न० इदं परं प्रधानमस्मिन् वाक्ये इतीदं परं
 तद्वाच्यं वेदपर्यम् । वाक्यस्य तात्पर्यशक्तौ, पो० १ विव० । पूर्वोक्त-
 तात्पर्यं, पो० १६ विव० । प्राचार्यगर्भे (प्रति०) तत्त्वे, पञ्चा०
 १४ विव० ॥
 अङ्घ्र-अतिदारुण-त्रि० महाभयानके, अष्ट० ।
 अङ्घ्र-अतिदुःख-न० अतिदुःसहे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ।
 अङ्घ्र-अतिदुःख-त्रि० अतीव दुःखमसातवेदनी-
 यं धर्मः स्वभावो यस्य तत्तथा । अत्यन्तासातस्वभावे, " गा-
 दोवणीयं अङ्घ्रिदुःखधर्मं " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । अतिदुःखरूपो
 धर्मः स्वभावो यस्मिन्निति इदमुक्तं प्रवति । अङ्घ्रिनिमेषमात्र-
 मपि काशं न दुःखस्य विश्राम इति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।
 अङ्घ्र-अतिदुर्दिन-न० अतिशयेन मेघतिमिरे, पि० ।
 अङ्घ्र-अतिदुर्दिन-त्रि० अतिशयेन दुष्प्राप्ये, ग० २ अधि० ।
 अङ्घ्र-अतिदुस्सह-अतिदुस्सह-त्रि० अत्यन्तदुर्घ्यासे, उक्त० १९ अ०
 अङ्घ्र-अतिदुर्-त्रि० अतिविप्रकृष्टे, रा० । औ० ।
 अङ्घ्र-अतिदुष्पमा-स्त्री० दुष्पमदुष्पमाऽऽख्ये अवसर्पि-
 र्याः पक्षे उत्सर्पिण्याश्च प्रथमे अरके, एतद्वर्णनञ्च तत्रैव ति० ।
 न० । ज्यो० ।
 अङ्घ्र-अतिदेश-पुं० अतिप्रम्य स्वविषयमुल्लङ्घ्य अन्यत्र वि-
 पये देश अतिदेशः अतिदिश्यते वा करणे कर्मणि वा घञ् "अ-
 न्यत्रैव प्रणीतायाः, कृत्स्नाया धर्मेसंहतेः । अन्यत्र कार्यतः प्रा-
 ति-रतिदेशः स उच्यते ॥ प्राकृतात् कर्मणो यस्मा-त्तत्समानेषु
 कर्मसु । धर्मेप्रवेशो येन स्या-दतिदेशः स उच्यते" इत्यधिक-
 रणमाह्वानाजियुक्तवाक्याके अन्यत्र प्राप्तेऽन्यधर्मे, तत्प्रापके
 शास्त्रभेदे च । वाच० ।
 अङ्घ्र-अतिधर्म-त्रि० अतिशयेन शब्दकारके, नि० चू० १ उ०
 अङ्घ्र-अतिधर्म-अतिधर्म-त्रि० प्राप्ति, अतिवर्तिते च प्रश्न० १
 अघ० द्वा० ३ अ० ।
 अङ्घ्र-अतिधर्म-त्रि० अतीव प्रचूतं धूर्तमष्टप्रकारं कर्म यस्य

सोऽतिधूर्तः । बहुलकर्मणि, सूत्र० २ शु० २ अ० १ उ० ।
अइपंडिय-अतिपरिणत-त्रि० अतीव दुर्विदग्धे, वृ० १ उ० ।

अइपंडुकवद्वसिला-अतिपाणुकुम्बलाशिला-स्त्री० मन्दरप-
र्वतस्य दक्षिणदिग्गतायामभिपेकशिखायाम्, स्था० २४० । “दो अ-
इपंडुकवद्वसिलाओ ” स्था० ४ ग० । पाणुकुम्बलाशिलेत्यस्या
नामान्तरमिति तत्रैव वर्णको दध्यते । जं० २, वक्त्र० ।

अइपडागा-अतिपताका-स्त्री० एकां पताकामतिक्रम्य या प-
ताका साऽतिपताका । ज्ञा० १ अ० । पताकोपरिवर्तिन्यां पताका-
याम्, । दशा० । औ० ।

अइपरिणाम-अतिपरिणाम-पुं० अतिव्याप्त्या परिणामो यदु-
क्तार्थपरिणमनं यस्य स तथा व्य० १ उ० । नि० चू० । अपवादिकम-
तौ, वृ० १ उ० । तल्लक्षणम् ॥

अतिपरिणामकमाह ॥

जो दन्वखेत्तकाल-जावक्यं जं जहिं जया काले ।

तद्वेसुस्सत्तुमई, अइपरिणामं वियाणाहि ॥

छव्यक्तेत्रकालभावकृतं यद्वस्तु यस्मिन् विकृष्टाध्वादौ यदा
कात्रे आत्यन्तिकदुर्भिक्षादौ जणितम् [तद्वेसुत्ति] तस्मिन् द्रव्या-
दिकृते अपवादिकवस्तुनि देइया यस्य स तद्वेइयः पइयामि ।
तावदत्र किमपि निश्चापदं ततस्तदेवावलम्बयिष्यामीत्यपवाद-
कमतिरित्यर्थः । तथा सूत्रादपवादश्रुतादुत्प्रावल्यान मतिरस्येत्यु-
त्सूत्रमतिः । श्रुतोक्तापवादादप्यधिकापवादव्युत्क्रितिरिति भावस्त-
मेवंविधं साधुमतिपरिणामकं विजानीहीति वृ० १ उ० ।

अथ प्रसङ्गादत्रैव परिणामकापरिणामातिपरिणामानां

सहस्रान्तं स्वरूपम् दर्शयते ।

परिणामइ जहत्थेणं, मई उ परिणामगस्स कजेसु ।

विइए न तु परिणामइ, अहिगमइ परिणामे तइओ ॥

परिणामकस्य मतिः कार्येषु याथाथ्येन यथार्थग्राहकतया परि-
णमति । अत एवासौ परिणामक उच्यते । द्वितीये द्वितीयस्याप-
रिणामकस्य मतिर्न तु नैव परिणमते । अत एवासावपरिणामस्तृ-
तीयः पुनरधिकां मतिमधिगच्छतीति परिणामकोऽभिधीयते एत-
देव स्पष्टयति ॥

दोसु विपरिणमइ मइ-मुस्सगववायओ उ पढमस्स ।

विइतस्स उ उस्सग्गे, अइअववाए अ तइयस्स ॥

प्रथमस्य परिणामकस्य मतिरुत्सर्गापवादयोरपि परिणमति ।
किमुक्तं जवति । यः परिणामको भवति तस्योत्सर्गे प्राप्ते उ-
त्सर्ग एव मतिः परिणमते । अपवादे प्राप्तेऽपवाद एव मतिः प-
रिणमते । यत्रोत्सर्गो वहीयान् तत्रोत्सर्ग समाचराति । यत्राप-
वादो वधवान् तत्रापवादं गृह्णाति । द्वितीयस्यापरिणामकस्य पु-
नरुत्सर्ग एव मतिः परिणमते । न पुनरपवादे । तृतीयस्य तु
अति अत्यर्थम् । अपवादे मतिः परिणमते । स च छव्यादिकार-
णे प्रतिसेवनामनुज्ञातां ज्ञात्वा न किञ्चित्परिहरति । कारणमन्त-
रेणापि प्रतिसेवते । अथ यदुक्तमासीत् (अंवाई दिह्णोत्ति)
तदिदानीं ज्ञायते । एतेषां परिणामकादीनां त्रयाणामपि जिज्ञासया
केचिदाचार्याः स्वशिष्यानित्यमभिदध्युः आर्या ! आह्नैरस्माकं
प्रयोजनमस्तीत्युक्ते यः परिणामकः शिष्यः स श्रूयात् ।

चेयणमचेअणं वि य, केदहछिन्न ओकित्तिया वा वि ।

द्वप्पा पुणो व वोच्चं, वीणासत्थं च वुत्तोसि ॥

नगवन् ! थेरात्रैः प्रयोजनं तज्जि किं चेतनानि किं जवितानि

लवणादिजिर्वासितानि उताजावितानि (केदहत्ति) किं प्रमा-
णानि किं महन्ति किं वा दध्वन्ति (छिन्नत्ति) किं पूर्वच्छिन्नानि
किं वा इदानीं त्रित्वा आनीतानि । अथवा (त्रिन्नत्ति) किं
विश्रानि खण्मीकृतानि किं वा सकलानि (किञ्चित्ति) कि-
यन्ति वा गणनायां द्विव्यादिसंख्याकान्यानेकानि वा अपिशब्दा-
त् किं वक्षास्थिकानि अवक्षास्थिकानि वा तरुणानि जरुणानि
वेत्यत्रापि प्रष्टव्यम् । इत्थं शिष्येणाभिहिते आचार्येण वक्तव्यं
सौम्य ! दध्वानि सन्त्यग्रेऽपि मम पुनः पुरा विस्मृतान्यासजिदानीं
स्मृतिपथमवतीर्णानीति । यद्वा पर्याप्तं तावदिदानीं प्रयोजने समा-
पतिते पुनर्भवन्तं वक्ष्यामि भणिष्यामि । अथवा वरस ! किं ममा-
धैः कार्यं विमर्शार्थं किमयं विनीतो न वा परिणामको वा न वेति
विज्ञानार्थमुक्तोऽसीति । यः पुनरपरिणामकः स श्रूयात् ।

किं ते पित्तपद्मावो, मा वयं एरिसाई जंपाहि ।

मा एं परे वि सोइ, कहं पि नेच्छाम एयस्स ॥

भो आचार्य ! किं ते पित्तपद्मावः समजनि यदेवमुन्मत्तवदसं-
वद्धं प्रलपसि यद्येकवारं ममाग्रे जल्पितं बहिर्जल्पितं नाम मा
पुनर्द्वितीयं वारमीदृशानि सावधानि वचनानि जल्पेति । यतो-
“मा णमि” त्येतत्त्वदीयं वचनं परोऽप्यन्योऽपि श्रोष्यति । वयं पुनः
कथमपि नेच्छाम एतस्यार्थस्याप्राप्तयनलक्षणस्य किं पुनः कर्तव्यं
तामित्यपिशब्दार्थः । यः पुनरतिपरिणामकः स एवमभिदध्यात् ।

कालेसिं अइवत्तइ, अहं वि इच्छा न भाणिउं तरिमो ।

किं एचिरस्स वुत्तं, अन्नाणि वि किं च आणेमि ॥

कृमाश्रमणा ! यदि युष्माकमाधैः प्रयोजनं तत इदानीमप्यान-
यामि यतः (सि इत्ति) एषामाभ्राणां काष्ठोऽतिवर्तते अति-
क्रामति । अद्य तावत्तानि तरुणानि वर्तन्ते अत ऊर्ध्वं जरणीन-
विष्यन्तीत्यर्थः । यच्चा अस्माकमप्याभ्राणां ग्रहणे महती इच्छा-
परं किं कुर्मो न वयं यौष्माकीणभयनीता भणितुं किमपि (तरि-
मोत्ति) शक्नुमः । अथवा यद्याभ्राण्यपि ग्रहीतुं कल्पन्ते ततः
किमियतश्चिरात्काष्ठोत्तं वञ्चिताः स्मो वयमियन्तं काष्ठमिति-
भावः । किं वा अन्यान्यपि मातुर्हिङ्गादीन्यानयामीति । अन-
थारपरिणामकातिपरिणामकार्योरेव जल्पतोराचार्येणैदमुत्तरं दा-
तव्यम् ।

नाभिप्पायं गिएहसि, असमत्ते चेव भाससी वयणे ।

मुत्तंविज्जलोणकए, भिन्ने अहवा वि दोच्चंगे ॥

भो मुग्ध ! त्वं न मदीयमभिप्रायं गृह्णासि किन्तूत्सुकतया म-
दीये वचने असमाप्त एवेदं समयविरुद्धं निष्ठुरं वचनं भाषसे ।
मया पुनरेतेनाभिप्रायेणाभिहितम् (मुत्तंविज्ज इत्यादि) मुक्तं
काञ्चित्कं तदेवात्यम्बं मुक्ताम्बं तेन लवणेन वा कृतानि भावि-
तानि मुक्ताम्ललवणकृतानि जिह्मानि च । किमुक्तं जवति । न म-
या जवतः पार्श्वोदपरिणतान्याभ्राणानायितानि किं तु चतुर्थ-
रसिकभावितानि वा लवणजावितानि वा रुच्यतो जावतश्च जि-
ह्मानि परिणतानीति भावः । अथ वा (दोच्चंगत्ति) सामयिकी-
संज्ञा ओदनादिमूलापेक्षया जोजनस्य द्वितीयाङ्गानि राक्षशा-
करूपाणि तानि मया आनायितानीति प्रक्रमः । “अंवाई” इत्य-
त्रादिशब्दसूचितौ वृक्त्वौजहन्ताविमौ । आचार्या भणन्ति ।
आर्या ! “रुक्खेहिं वा पओअणंति ” अत्रापि परिणामकादीज-
ल्पस्तथैवावसातव्यः । नवरम् । अपरिणामकातिपरिणामकौ
प्रति सूरिणा प्रतिवक्तव्यम् ।

निष्पावकोद्वाह—एणि वेमि रुक्खाणि न हरिण रुक्खे ।

अविश्विष्टथाणि अ, भणामि न विरोहणसमस्ये ॥

निष्पावा वृक्षाः कोद्वाः प्रनीतास्तदादीनि (रुक्खाणिचि) रुक्खाणि द्रव्याणि तान्यवाहं व्रीमि न हारितान् तु सञ्चितान् वृक्षान् । तथा बीजान्यपि यानि अस्त्रमावितानि विध्वस्तानि वा व्यवच्छिन्नानि यानि कानि तान्यहं भणामि न विरोहणसमर्थानि पुनरङ्कुलद्वयनशक्तिकानीत्येव आम्नादिद्वयान्तः । कथनाचार्येणाम्भिजिः स्थानैः “मुत्तंवित्र” इत्यादिभिः प्रकारैः कृत्वा पञ्च परीक्ष्य यः परिणामकस्तस्य दातव्यम् । पुनस्तेन श्रोतव्यमित्याह ।

निहाविगहापरिव—जिएण गुत्तिदिण पंजलिणा ।

जत्ती बहुमाणेषु य, लवउत्तेणं सुणेयव्वं ॥

अनिकंखतेण सुभा—सियाई वयणाई अत्यमहुराई ।

विम्बियमुहेण हरिसा—गएण हरिसं जणातेण ॥

निद्रायमाणः सन् न किञ्चिदप्यवधारयति । विकथार्यां क्रियमाणार्यां व्याघातो जवतीत्यतो निष्क्रियकथापरिवर्जितेन श्रोतव्यम् । गुप्तानि स्वस्वविषयप्रवृत्तिनिरोधेन संवृत्तानांन्द्रियाणि येनासौ गुप्तेन्द्रियस्तेन । तथा प्राञ्जलिना योजितकरयुगलेन जक्या बहुमानेन च श्रोतव्यम् । जक्तिर्नाम गुरुणामिति कर्तव्यतायां निषाधारत्ननादिकार्या बाह्या प्रवृत्तिः । बहुमानस्तु गुरुणामुपरि आन्तरः प्रतिबन्धः । अत्र चतुर्जङ्गी । जक्तिर्नामैकस्य न बहुमानः, बहुमानो नामैकस्य न जक्तिः, एकस्य भक्तिरपि बहुमानोऽपि, एकस्य न जक्तिर्न वा बहुमान इति । अत्र च भक्तिबहुमानयोर्विशेषज्ञापकं शिवाख्यवानमन्तरभक्तयोर्मैरुकुण्डिन्द्योरुदाहरणं तथ सुप्रसिद्धमिति कृत्वा न लिख्यते । यदि च भक्तिं बहुमानं वा न करोति तदा चतुर्जङ्गु । तथोपयुक्तेनान्यममत्ता श्रोतव्यम् । “अनिकंखतेण” इत्यादिवचनानि श्रुतव्याख्यारूपाणि सुमावितानि शोभनमणिगतानि अर्थमधुराणि ज्ञावार्थसुस्वादीनि अभिकाङ्क्षता आभिमुख्येन वाञ्छता । तथा विस्मितमुखेनापूर्वापूर्वश्रवणसमुद्भूतविस्मयस्मरचन्दनेन हर्षगतेन अहो अमी जगवन्तः स्वगलतामुशोपमवगणय्यास्मन्निमित्तमेवंविधं सुशर्यस्याख्यानं कुर्वन्ति नानृणी भवेयममीपां परमोपकारिणामहमित्येवंविधं हर्षमागतः प्राप्तो हर्षागतस्तेन । तथा गुरुणामपि स्ववदनप्रसन्नतया उत्फुल्लोच्चनतया च हर्षम् अहो कथमयं संवेगरङ्गतरङ्गिमानसः परमागम्याख्यानेन शृणोतीति तद्वक्त्रं प्रमोदं जनयता श्रोतव्यमिति ।

अथ परिणामकद्वारमुपसंहरन्नाह ।

आधारिपसुत्तयो, सविसेसो दिज्जए परिणयस्स ।

सुपरिच्छिता य सुनिच्छि—यस्त इच्छागए पच्छा य ॥

कल्पव्यवहारदेः सूत्रार्थः सविशेषः सापेवादः स्वगुरुसकाशावधारित आश्रयितः स सर्वोऽपि दीयते परिणतस्य परिणामकस्य शिष्यस्य सुपरीक्ष्य पूर्वोक्ताप्रादिदृष्टान्तैः संपुत्र अविस्वादेन परीक्षां कृत्वा सुनिश्चितस्य प्रारब्धसूत्रार्थं ग्रहीतव्ये कृतनिश्चयस्य । यद्वा ज्ञानदर्शनचारित्र्याणां यावज्जीवमपि विराधनान् कर्तव्येत्येवं संपुत्र निश्चितो निश्चयवान् यस्तु निश्चितस्तस्य दीयते (इच्छागए पच्छाचि) अपरिणामकातिपरिणामकयोः पुनर्यदा सा आत्मीया यथाक्रमं केवलोत्सर्गापवादचर्चितक्षणा इच्छा गता नष्टा जवति तदा पश्चात्तयोः छेदश्रुतानि दातव्यानीति । उक्तं परिणामकद्वारम् । वृ० १ उ० । (अत्रैव मरुद्वयान्तः स च पञ्चशब्दे कारणिकतद्गुणवसरे वक्ष्यते)

अङ्गपाम—अतिपार्श्व—पुं० भरतक्षेत्रजाराजिनसमकावजाते पेरव-तजे तीर्थकरे, “अरजिणवरो य भरहे, अङ्गपासजिणे य परवप ” ति० ।

अङ्गपासंत—अतिपर्यत्—जि० अतीव असाधारणं पश्यति, । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ अ० ।

अङ्गप्पमान—अतिप्रमाण—न० वारजयाऽतीते भोजने, पि० । (अङ्गबहुशब्देऽस्य स्वरूपम्) अतिक्रान्तः प्रमाणम् । अत्या० स० प्रमाणातिक्रान्ते, यस्य यत् प्रमाणमुचितं ततोऽधिकप्रमाणवति, प्रा० स० । अत्यन्तप्रमाणे, वृहत्प्रमाणे, न० वाच० । अङ्गप्पसंग—अतिप्रसङ्ग—पुं० अतिपरिचयं, पञ्चा० १० विव० । अतिव्याप्तिवक्षणायामनिष्टापत्ती, पञ्चा० ६ विव० ॥

अङ्गवल—अतिवह—जि० पुरुषान्तरवक्ष्यान्यतिक्रान्तोऽतिवहः । प्रश्न० अध० ४ अ० । अतिक्रान्ताशेषपुरुषामरतिर्यंबले, । उपा० २ अ० । अतिशययत्ने, औ० । राय० । स० । भविष्यति पञ्चमे वासुदेवे च पुं० ती० । स० । ति० । ऋषभदेवस्य चतुर्थभवे महाबलनाम्नो राक्षः पितामहे शतवहस्य पितरि, “गंधसमिद्धे विज्जाहरनगरे अङ्गबलरखो णत्ता सयवहरायणो पुत्ते महाबलो नाम राया जातो” । आ० म० प्र० । चूएर्या तु “गंधसमिद्धं णगरं राया रायी च विशुद्धणयणो जणवयहिता सतवहस्स रखो णगरं नत्तुतो अतिवहसुतो महाबलो नाम । आ० म० द्वि० । आ० चू० । भरतचक्रिणः प्रपौत्रे च । स्थो० ८ उ० । आ० चू० । अतिशयितं बलं यस्याः ५ ब० । अत्यन्तबलाधायिकायां पीतवर्णायां (वेम्बियाला) इति ख्यातायां हतायाम्, विश्वामित्रेण रामाय दत्ते अस्त्रविद्यानेदे च स्त्री० । अतिशयितं बलम् प्रा० स० अत्यन्ते बले, सामर्थ्ये, सैन्ये च न० । अतिरिक्तं बलमस्य अत्यन्तवहयुक्ते, जि० “जयत्यतिबहो रामो लक्ष्मणश्च महाबल” इति रामा० । अतिरथे च । वाच० ।

अङ्गबहुय—अतिबहुक—न० अतिशयेन बहु—निजप्रमाणाऽन्यधिके भोजने, पि० ।

तत्स्वरूपम् ।

बहुयातीयमङ्गबहुं, अङ्गबहुसो तिन्नि तिन्नि य परेणं ।

तं वि य अङ्गप्पमाणं, जुंजइ जं वा अतिप्पतो ॥

पट्कातीतमतिशयेन बहु अतिशयेन निजप्रमाणाऽन्यधिकमित्यर्थः । तथा दिवसमध्ये यस्मिन् वारान् भुङ्क्ते जिन्न्यो वा वारेज्यः परतस्तद्भोजनमतिबहुशः तदेव च वारजयातीतमतिप्रमाणमुच्यते “अङ्गप्पमाणे” त्यवयवो व्याख्यातः । अस्यैव प्रकारान्तरेण व्याख्यानमाह । छुङ्क्ते यद्वा अत्युत्पन्नं एष “अङ्गप्पमाण” इत्यस्य शब्दस्यार्थः । “अङ्गप्पमाण” इत्यत्र च शान्तप्रत्ययस्ताच्छीत्यविवक्षायां यद्वा प्राकृतवक्ष्णवशादिति पि० ।

अङ्गबहुसो—अतिबहुशंस—अव्य० दिवसमध्ये त्रीन् वारान् जिन्न्यो वा परतो भोजने, पि० । (स्वरूपमन्तरमुक्तम्)

अङ्गवेल—अतिवेला—अ० वेलामतिक्रम्याऽतिवेलम् । यो यस्य कर्तव्यस्य कावोऽप्ययनं वा तां वेलामतिबहुव्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । “नातिवेले उवाचरे” न मर्यादोच्छेदनमित्यर्थः कुर्यादिति आचा० १ श्रु० ८ अ० ।

अङ्गवेला अतिवेला—स्त्री० अन्यसमयातिशायिन्यां मर्यादायाम्, साधुमर्यादायाम् उक्त० ३ अ० ।

अङ्गद-अतिङ्ग-पुं० कस्यचिच्छ्रेष्ठिनः पुत्रे, येन स्त्रीकञ्चदे सति भद्रनामजातुः पृथग्नय गृहाचर्द्धकरणं कृतम् तं० ।

अङ्गद-अतिभङ्ग-अत्र० जङ्गदर्शने, प्रति० ।

अङ्गद-अतिभङ्ग-स्त्री० प्रजासनामगणधरस्य मातरि, आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अङ्गद-अतिजय-त्रि० ऐहलौकिकादीनि जयान्यतिक्रान्ते, प्र-अ० अत्र० १ द्वा० ।

अङ्गद-अतिभार-पुं० अत्यन्तं भारः । गुरुत्वे, पि० । बोद्धुम-शक्ये भारे, प्रव० ५ द्वा० । अतीव जरणमतिभारः । प्रवृत्तस्य पूग-फलादेः स्कन्धपृष्ठादिष्वारोपणरूपे, आच० ६ अ० । धर्म० । ध० । २० । प्रव० । तथाविधशक्तिकलानां महानारारोपणस्वरूपे, उ-पा० १ अ० । प्रथमाण्वतस्य चतुर्थेऽतिचारे, पंचा० १ विव० । “अतिभारो न आरोव्यवो पुर्वि चैव जा चाहणाप जीविगा सा मोक्षवा न होज्ज अन्ना जीविगा ताहे दुपओ जं सयं उक्खिबइ ओयारेइ वा भारं एवं वहाविज्जइ वल्लणं जहा सा-भाविआओ वि भाराओ ऊणो उ कीरइ हलसगरेसु वि चेलाए सुयइ आसहत्थीसु वि एसेव विही आच० ६ अ० चू० ।

अङ्गद-अतिभार-पुं० अतिभारेण वेगेन गच्छति, गम-रु-३ त० खरे, अश्वतरे, गर्हजाद वरुवायां जाते अश्वजेदे, वाच० ।

अङ्गद-अतिभारोपण-अतिभारोपण-न० अतिशयितो जारोऽति-भारो बोद्धुमशक्य इति यावत् तस्यारोपणं गोकर्जरासभमनु-ष्यादेः स्कन्धे पृष्ठे शिरसि वा स्थापनम् । प्रथमाण्वतस्य चतु-र्थेऽतिचारे, ध० २ अधि० । प्रश्न० ।

अङ्गद-अतिभूमि-स्त्री० पलुकात्परजागे, अननुज्ञाता गृह-स्यैयैन्नान्यजिज्ञाचरा नायान्तीत्यर्थः दशा० ८ अ० । (तत्र गमनं निपिद्धमिति गोयरचरिया शब्दे) अतिशयिता भूमिर्मर्यादा प्रा० । स० । अतिक्रमेऽप्यर्थी० मर्यादातिक्रमे, अव्य० । भूमि मर्यादां वाऽतिक्रान्ते, त्रि० वाच० ।

अङ्गद-अतिमञ्च-पुं० मञ्चोपरितने विशिष्टमञ्चे, ‘मञ्चाश्मञ्च-कविर्ध’ औ० । दशा० । द्वा० ॥

अङ्गद-अतिमृत्तिका-स्त्री० कर्दमरूपायां मृत्तिकायाम्, जी० ३ प्रति० ।

अङ्गद-अतिमहत्-पुं० वयसाऽतिगरिष्ठे, व्य० ३ उ० ॥

अङ्गद-अतिमान-पुं० अतीव मानोऽतिमानः । सुभूमादी-नामिव महामाने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । चारित्रमतिक्रम्य वर्तमाने कपायजेदे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अङ्गद-अतिमात्र-त्रि० मात्रामतिक्रान्तः । मात्राऽधिके, उक्त० १६ अ० । आ० चू० ।

अङ्गद-अतिमात्रा-स्त्री० उचितमात्राया अधिकमात्रायाम्, “अङ्गमायाप पाणभोयणं आहारित्ता प्रवइ” उक्त० १६ अ० । प्रश्न० ।

अतिमाया-स्त्री० अतीव माया अतिमाया । चारित्रमतिक्रम्य वर्तमाने कपायजेदे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ॥

अङ्गद (मुक्त) य-अतिमुक्तक-न० मुक्तो जावे कः । अतिश-येन मुक्तं बन्धहीनता यस्य कप् वाच० । वक्रादावन्तः ७।१।१६ । इति तृतीयस्य अनुस्वाराऽऽगमः आप्ते तु न प्रा० । तिन्दुकवृ-क्षे, ताववृक्षे, वाच० । पुष्पप्रधाने वनस्पतौ, जं० १ वक्ष० । वल्ली-जेदे, प्रज्ञा० १ पद । अतिमुक्तमरुपकाः जी० ३ प्रति० । विशेषे० ।

प्रज्ञा० वृताजेदे, आचा० २ श्रु० १ अ० । औ० कंसभ्रातरि, पुं० येन वाल्ये देवकी स्वस्वसा प्रोक्ता ‘त्वमप्र पुत्रान् सदृशान् जन-यिष्यसि’ आ० म० छि० । आ० चू० । पोलासपुरवास्तव्ये विजयराजस्य श्रीनाम्न्यां दैव्यां जाते पुत्रे, स्था० १० गा० । तत्तत्त्व्यता अन्तर्दृष्टाङ्गे यथा ।

तेषां काव्येण तेषां समणं पोलासपुरे णयरे सिरिवणे उज्जाणे तस्स एं पोलासपुरे णयरे विजये नाम शया होत्था । तस्स णं विजयस्स रत्तो सिरि नाम देवी होत्था वण्णो तत्थ एं विजयस्स रण्णो पुत्ते सिरि देवीए अत्तत्त अङ्गमुत्ते नामं कुमारे होत्था सुमाद्व० तेषां कालेण तेषां समणं समणं ३ जाव सिरिवणे उज्जाणे विहर-ति । तेषां कालेण समणस्स भगवओ महावीरस्स जेहे अन्तेवासी इंदज्जती जहा पाणत्तीए जाव पोलासपुरे णय-रे उच्च जाव अरुति इमं च एं अतिमुत्ते कुमारे एहाए जाव विजूसिते वहाहिं दारएहि य भिभएहि य कुमारेहि य कुमारयाहि य सच्चि संपरिवुडे आओ गिहातो पमिनिक्ख-मइ पमिनिक्खमइत्ता जेणेव इंदट्टाणे तेणेव उवागते तेहिं वहाहिं दारएहि य संपरिवुडे अनिरममाणे अभिरममाणे विहरति । तते एं जगवं गोयमे पोलासपुरे णयरे उच्चनी-य जाव अरुमाणे इंदट्टाणस्स अदूरसामंतेण वीतिवयति । तते एं से अङ्गमुत्त कुमारे जगवं गोयमं अदूरसामंतेण वीति वयमाणं पासति पासतिता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवा-गते भगवं गोयमं एवं वयासी । के एं भंते ! तुज्जे किं वा अरुह तते एं भगवं गोयमं अतिमुत्तं कुमारं एवं वया-स। अम्हे एं देवाणुप्पिया समणा निगंथा इरियांसमिया जाव वमज्जचारी उच्चनीय जाव अरुमाणे । तते एं अति-मुत्ते कुमारे जगवं गोयमे एवं वयासी । अह णं भंते ! तुज्जे जेणेव अहं तुज्जे भिक्खं दत्तावेमि ति कट्ठ भ-गवं गोयमं अगुलीति गेएहाति गेएहातिता जेणेव सते गि-हे तेणेव उवागए तते णं सा सिरि देवी जगवं गोयमं एज्जमा-णं पासति पासतिता इहट्टट्टा आसणाओ अञ्जुहेति अञ्जु-द्वितिता जेणेव जगवं गोयमे तेणेव उवागच्छति उवागच्छति-त्ता जगवं गोयमं तिवखुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदति नमंसति विजलेण असणं पाणं खाइमं साइमं पतिलाजति पडिद्वामतिता पमिविसज्जेति । तते एं से अङ्गमुत्ते कुमारे एवं वयासी । कह एं भंते ! तुज्जे परिवसह । जगवं गो-यमे अतिमुत्तं कुमारं एवं वयासी । एवं खट्ठु देवाणुप्पि-या ! मम धम्मपरियत्ते धम्मोवएसए धम्मं नेतारिए सम-णं ३ महावीरे आदिकरे जाव संपाविउकामे इहेव पोला-सपुरस्स नगरस्स वहिया सिरिवणे उज्जाणे य उग्गहं उ-ग्गएहत्ता समणं जाव जावमाणे विहरति । तत्थ एं अ-म्हे परिवसामो । तते णं से अतिमुत्ते कुमारे जगवं गोयमं

एवं वयासी गच्छामि णं भंते ! अहं तुज्जेहिं सच्चि सम-
 रां ३ पायं वंदति अहामुहं तते एं से अश्मुत्ते कुमारे भ-
 गवं गोयमं सच्चि जेणेव समणे ३ तेणेव उवागच्छ-
 त्तं उवागच्छतित्ता समणं ३ तिक्रुत्तो आयाहिणं
 पयाहिणं करोति जाव पज्जुवामति । तते एं जगवं गोयमे
 जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागते जाव पन्दिसेति
 पडिदंसेतित्ता संजमे तवसा आयाहिणं पयाहिणं विहरति ।
 तेषं समणं ३ अतिमुत्तस्स कुमारस्स तीसे य धम्मकट्ठा क-
 ष्से सं अतिमुत्ते समयास्स जगवओ अंतिप धम्मं मोचा नि-
 सम्म हट्ठतुट्ठं जं नवरं देवाणुप्पिया अम्मापितरो आपु-
 च्छामि तते एं अहं देवाणुप्पिया अंतिते जाव पव्वयामि अ-
 हामुहं देवाणुप्पिया ! मा पन्निबंधं करेह । तते एं से अति-
 मुत्ते कुमारे जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागते जाव पव्वतिप
 तते एं अतिमुत्तं कुमारं अम्मापियरो एवं वयासी वालोसि
 ताव तुमं पुत्ता ! असंवेदं किरहं तुमं जाणसि धम्मं ।
 तते एं से अश्मुत्ते कुमारे अम्मापितरो एवं खलु अहं
 अम्मयाओ जं चेव जाणामि तं चेव न जाणामि जं चेव ण
 जाणामि तं चेव जाणामि । तते एं अश्मुत्तं कुमारं अम्मा-
 पियरो एवं वयासी । कहं एं तुमं पुत्ता ! जं चेव जाणामि
 जाव तं चेव न जाणामि तेसि अतिमुत्ते कुमारे अम्मापियरे
 एवं वयासी जाणामि अहं अम्म जाओ जहा जातेण
 तहा अवस्सं मरियव्वं न जाणामि अहं अम्म जाओ काहे वा
 कहं वा कहं वा केव चिरेणेव वा कालेण न जाणामि एं
 अम्म यो मे यातो केहिं कम्मायाणेहिं वा जीवा नेरइयति-
 रिक्खजोणियमणुस्सदंवेसु उववज्जंति । जाणामि एं अ-
 म्म यातो जहा सत्तेहिं कम्मायाणेहिं जीवा नेरइय जाव
 उववज्जंति । एवं खलु अहं अम्म यातो जं चेव जाणामि
 तं चेव न जाणामि जं चेव न जाणामि तं चेव जाणामि
 तं इच्छामि एं अम्म यातो तुज्जेहिं अवणुएणाते समणे
 जाव पव्वतिप । तते एं से अश्मुत्ते कुमारे अम्मापियरो जा-
 हे नो संचाएति बहुहिं आयवति ४ तं इच्छामो ते जाया
 एगदिवसमावि रायसिरिं पासेति पासेतित्ता । तते एं से
 आतमुत्ते कुमारे अम्मापिउवयणमणुयत्तमाणे तुसिणीए
 संचिच्छति । अजिसेओ जहा महावलस्स निक्खमणं जाव
 सामाइयाति एकारस अंगाइ अहिज्जति अहिज्जतित्ता बहुहिं
 वासाति सामएणपरियायं पावणेति पावणिच्चा गुणरयणेणं
 तवाकम्मेणं जाव विपुले पव्वए सिध्दे अन्तं ५ वर्गं ।

अस्य सिद्धिविषयः स्थाविराणां प्रज्ञो यथा-

तेणं कालेणं तेणं समणं समणस्स भगवओ महावीर-
 स्स अंतेवासी अश्मुत्ते णामं कुमारसमणे पगइजहए जाव
 विणीए । तए एं से अश्मुत्ते कुमारसमणे आणया कयाइ

मया बुद्धिकायांसि निवयमाणंसि कक्खपनिग्गहरयहरणमा-
 याए वहिया संपट्टिए विहाराए । तए णं से अश्मुत्ते कु-
 मारसमणे बाहयं बाहयमाणं पासइ पासइत्ता मट्टियपाळिं
 वंधइ वंधइत्ता णावियामेव नाविओ विव णावमयं पन्नि-
 ग्गहयं उदमांसि पवाहमाणे अजिरमइ । तं च थेरा अहक्खु
 जेणेव समणं जगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छं-
 तित्ता एवं वयासी । एवं खलु देवाणुप्पिया एं अंतेवासी
 अश्मुत्ते णामं कुमारसमणे । से णं जंतं ! अश्मुत्ते कुमारसमणे
 कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिहति जाव अंतं करोहिति ?
 अज्जोति समणे जयवं महावीरे ते थेरे एवं वयासी । एवं
 खलु अज्जो ! ममं अंतेवासी अश्मुत्ते णामं कुमारसमणे
 पगइजहए जाव विणीए से णं अश्मुत्ते कुमारसमणे एगेणं
 चेव भवग्गहणेणं सिज्झिहइ जाव अंतं करोहइ । तं मा णं
 अज्जा ! तुज्जे अश्मुत्तं कुमारसमणं हीलह निंदह खिसह
 गरिहह अवमसह तुज्जे एं देवाणुप्पिया अश्मुत्तं कुमार-
 समणं अगिलाए संगिएहह अगिलाए उवगिएहह अगि-
 द्वाएणं जत्तेणं पाणेणं विणएणं वेयावमियं करेह । अ-
 श्मुत्तेणं कुमारसमणे अंतकरे चेव अंतिमसरीरिए चेव ।
 तए एं ते थेरा जगवंतो समणेणं भगवया महावीरेणं एवं
 वुत्ता समाणा ममणं भगवं महावीरं वंदंति वंदंतित्ता अश्मुत्तं
 कुमारसमणं अगिलाए संगिएहइति जाव वेयावमियं करंति

कुमारसमणेति । पञ्चवर्षजातस्य तस्य प्रव्रजितत्वादाह च
 'अञ्जितो पञ्चवस्रो णिगंथं रोइकण पावयणंति' एतदेव चाञ्च-
 र्यमिहाऽन्यथा वर्षाएकादारात् प्रव्रज्या स्यादिति (कक्खपनि-
 ग्गहरयहरणमायाएति) कक्कायां प्रतिग्रहकं रजोहरणं चादाये-
 त्यर्थः । (नावियामेति) नौका क्षोणिका मे ममेयमिति विक-
 लयश्रुति गम्यते "नाविओ विव नायंति" नाविक इव नौवाहक
 इव नावं क्षोणीं (अवंति) असावतिमुत्तकमुनिः प्रतिग्रहकं
 प्रवाहयन्नजिरमते एवं च तस्य रमणक्रिया बाह्यवस्थावला-
 दिति (अहक्खुत्ति) अज्जाजुः हएवन्तस्ते चैतदीयामत्यन्ता-
 नुचिताञ्चेषां दृष्ट्वा तमुपदसन्त इव जगवन्तं पप्रच्छुः । एतदेवाह
 "एवं खलु" इत्यादि (हीलहन्ति) जात्याद्युद्धनतः । (निंदहन्ति)
 मनसा (खिसहन्ति) जनसमक्षम् (गरिहहन्ति) तत्समक्षम्
 (अवमसहन्ति) तदुचितप्रतिपत्त्यकरणेन (परिजवहन्ति)
 कचित्पाठस्तत्र परिभवः समस्तपूर्वाङ्कपदकरणेन (अगिला-
 एति) अग्लान्या अखेदेन (संगिएहहन्ति) संगृहीत स्वकिरुत
 (उवगिएहहन्ति) उपगृहीत उपग्रहं कुरुत एतदेवाह
 (वेयावमियंति) वेयावृत्त्यं कुरुतास्येति शेषः (अंतकरे चेवन्ति)
 भवच्छेदकरः स च दूरतरभवेऽपि स्यादत आह (अंतिमसरी-
 रिए चेवन्ति) चरमशरीर इत्यर्थः भ० ५ श० ४ उ० ।
 अनुत्तरोपपातिकेषु दशमाध्ययनतयोक्ते च स्था० १० वा० ।
 (तदपर पवायं जविप्यतीति संभाव्यते)

अश्मुच्छिय-अतिमूर्च्छित-त्रि० विषयदोषदर्शनं प्रत्यभिमुद्-
 तामुपगते, प्रश्न० आश्र० ४ द्वा० ।

अंमोह-अंतिमोह-त्रि० अतीव मोहो यस्मिन्स्तदतिमोहम् ।
 अतिक्रामाशक्तौ, अतिशयितमोहयुते, ज्ञा० १ अ० ॥
 अयंचिय-अत्यञ्च्य-अव्य० अतिक्रम्येत्यर्थे, स्था० ५ टा० ।
 अङ्ग-अतिगत्य-अव्य० अतिक्रम्येत्यर्थे, आचा० १ शु० ६ अ० ।
 अङ्ग-अत्यदन-न० अतिभक्षणे, “अणुकं पासाण्ययण-
 दुगुञ्जा ” व्य० २ उ० ।
 अङ्ग-अजिका-स्त्री० छगलिकायाम्, वृ० १ उ० ।
 अङ्ग (य) त-अतियात-त्रि० गते, “अङ्गयोः णराहिवो ”
 उक्तं २० अ०

अङ्गारक-अत्यात्मरक्ष- त्रि० अतीवाऽऽत्मनः परैः पापक-
 र्मभिः रक्षायस्यासावत्यात्मरक्षः । अतीवाऽऽत्मानं पापै रक्षति,
 अङ्गारकत्वे दाहिणगामिप नेरइए' सूत्र० २ शु० २ अ० ।
 अ (ई) (ति) (ती) इयार-अति (ती) चार-पुं०
 अतिचरणमतिचारः । ब्रह्मणे, सूत्र० २ शु० ७ अ० । तृतीये अपराधे,
 यो० ११ विव० आ० चू० । अतिक्रमे, अतिक्रम्य गमने, आवा० ४
 अ० । ग्रहणतो व्रतस्यातिक्रमणे, व्य० १ उ० । चारेत्रस्त्वहनविशेषे,
 आ० म० छि० । आ० चू० । देशभङ्गेऽतिचारता यथा ननु
 हिंसैव श्रावकेण प्रत्याख्याता ततो वधादिकरणेऽपि न दोषो
 हिंसाविरतेरपि कृतत्वात् । अथ वधादयोऽपि प्रत्याख्याता-
 स्तदा तत्करणे व्रतभङ्ग एव विरतिखरणात् । किञ्च वधादीनां
 प्रत्याख्येत्येव व्रतेयत्ता विशीर्येत प्रतिव्रतमतिचाराणामाधिक्या-
 दिति एवं च न वधादीनामतिचारतेति ? उच्यते-सत्यं हि सैव
 प्रत्याख्याता न वधादयः केवलं तत्प्रत्याख्यानेऽर्थतस्नेऽपि,
 प्रत्याख्याता दृष्ट्या हिंसोपायत्वात् । तेपामेव चेत्तर्हि वधा-
 दिकरणे व्रतभङ्ग एव नातिचारो नियमस्यापादनान्नैवं यतो
 द्विविधं व्रतमन्तर्वृत्त्या बहिर्वृत्त्या च तत्र मारयामीति विकल्पा-
 न्नावेन यदा कोपाद्यावेशान्निरपेक्षनया वधादौ प्रवर्तते न च
 हिंसा भवति तदा निर्दयतया धिरत्यनपेक्षप्रवृत्तत्वेनान्तर्वृत्त्या
 तस्य भङ्गः हिंसाया अभावाच्च बहिर्वृत्त्या पावनमिति देशस्यैव
 भङ्गनादेशस्यैव पावनमिति चारव्यपदेशः प्रवर्तते तदुक्तम्
 “ न मारयामीति कृतव्रतस्य, विनैव मृत्युं क इहातिचारः ।
 निगद्यते यः कुपितो वधादीन्, करोत्यसौ स्यान्नियमानपेक्षः ।
 मृत्योरनावाञ्छितमोऽस्ति तस्य, कोपाहयाहीनतया तु ज्ञः ।
 देशस्य भङ्गादनुपावनाच्च, पूज्या अतीचारमुदाहरन्ति ” ।
 यच्चोक्तं व्रतेयत्ता विशीर्येत इति तदप्ययुक्तं विशुद्धा हिंसासद्भावे
 हि वधादीनामभाव एव तत् स्थितमेतद्वधादयोऽतिचारा एवे-
 ति । यद्वा । अनाजोगलहसाकारदिनाऽतिक्रमादिना वा सर्वत्रा-
 तिचारता ज्ञेया ध० २ अधि० (आध्यात्मिकातिचारातिचारता
 अङ्गम् शब्दे दर्शिता) अयं चातिचारः संक्षेपत एकविधः
 संक्षेपविस्तरतस्तु द्विविधस्त्रिविधो यावदसंख्येयविधः संक्षेप-
 विस्तरतः पुनर्द्विविधः त्रिविधं प्रति विस्तर इत्येवमन्यत्रापि
 योज्यं विस्तरतस्त्वनन्तविधः आव० ४ अ० । स्था० । ध० ।
 आनु० । एतेषु अतिक्रमादिषु उत्तरोत्तरं दोषाधिक्यं प्राय-
 श्चित्ताधिक्यात् आध्यात्मिका निमग्नितः सन् यः प्रतिशृणोति
 सोऽतिक्रमे वर्तते तद्ग्रहणनिमित्तं पदजेदं कुर्वन् व्यतिक्रमे
 गृह्णानोऽतीचारे भुञ्जानोऽतीचारे । एवमन्यदपि परिहारस्थान-
 मधिकृत्यातिक्रमादयो ज्ञानीयाः एतेषु च प्रायश्चित्तमिदम् ।

अतिक्रमे मासगुरु व्यतिक्रमेऽपि मासगुरु काव्यबधु अतीचारे
 मासगुरु द्वाभ्यां विशेषितं तद्यथा तपोगुरु काव्यगुरु च ।
 अनाचारं चतुर्गुरु यस्मात् गुरुकातीचारः चशब्दोऽनुक्तसमु-
 द्ययार्थः स चैतत् समुच्चिनोति अतिक्रमात् व्यतिक्रमां गुरुक-
 स्तस्मादपि गुरुकोऽतीचार इति । ततोऽप्यतीचारात् गुरुतर-
 कोऽनाचारः ।

तत इत्थं प्रायश्चित्तविशेषः

तत्त नवे न उ सुत्ते, अतिक्रमादी उ वक्ष्या केई ।

चोयग ! सुत्ते गुत्ते, अतिक्रमादी उ जोएजा ॥

तत्र एवमुक्तेन जनेमतिश्चोदकस्य यथा न तु नैव सूत्रे निशी-
 थाध्ययनवक्षणे केचिदतिक्रमादय उपवर्णिताः सन्ति ततः कथं
 चत्वारोऽतिक्रमादयस्तत्रैवाध्ययने सिद्धा इति । सूरिराह चोदक !
 सर्वोप्येव प्रायश्चित्तगणोऽतिक्रमादिषु भवति ततः साक्षादनु-
 कानपि सूत्रे सूत्रितान् अतिक्रमादीन् योजयेत् अर्थतः सूचि-
 तत्वात् व्य० १ उ० ।

अत्रैव प्रायश्चित्तविधिमाह ।

तिन्नि यं गुरुगा मासा,

विसेसिया तिणिण चउगुरु अंते ।

एण चेव य लहुया,

विसोहिकोमीए पच्छित्ता ॥

त्रयाणामतिक्रमव्यतिक्रमातीचाराणां त्रयो गुरुका मासाः । क-
 थञ्चूता इत्याह विशेषितास्तपःकालविशेषिताः । किमुक्तं भव-
 ति । अतिक्रमे मासगुरुव्यतिक्रमेऽपि मासगुरुतीचारेऽपि मा-
 सगुरुरेते च त्रयोऽपि यथोत्तरं तपःकालविशेषिताः । तथा अ-
 न्ते अनाचारवक्षणे दोषे चतुर्गुरु चतुर्मासगुरु प्रायश्चित्तम् ।
 एते च मासगुरादयः प्रायश्चित्ता अतिक्रमादिष्वविशोधिकोऽप्य-
 दृष्ट्याः विशोधिकोऽप्येत एव मासादयो ब्रह्मकाः प्रायश्चित्ता-
 नि । तद्यथा अतिक्रमे मासबधु व्यतिक्रमेऽपि मासबधु अतीचारे
 ऽपि मासबधु नवरमेते यथोत्तरं तपःकालविशेषिताः व्य० १ उ० ।

ज्ञानातिचारादयस्तेषु प्रायश्चित्तम् ।

उद्देसज्झयणसुय-खंधेगु कम्मसो पमाइस्स ।

कालाइकमणासु, नाणावरणासु ॥ ५५ ॥

निब्बीए पुरिमहे, गजत्तमायं विलं च एगादे ।

पुरिमाई खमाणं तं, आगादे एवमत्थे वि ॥ २३ ॥

युगलमिह तपोऽर्हप्रायश्चित्ते ज्ञानदर्शनचारित्र्यतपोवीर्याचार-
 पञ्चकृशनातीचारचक्रमालोच्यम् । तत्राद्यो ज्ञानाचारस्याति-
 चारे ज्ञानाचारातिचारः सोऽष्टविधः तद्यथा अकाले स्वाध्याय-
 करणं कात्यातिचारः ॥ १ ॥ श्रुतमधिजिघांसोर्जातिमदावहेपेन
 गुरुष्वविनयो चन्दनादिरूपाचारस्तस्य प्रयोजनं हीनं वा विनया-
 तिचारः ॥ २ ॥ श्रुते गुरौ वा बहुमानो हार्दः प्रतिबन्धविशेषस्त-
 स्याकरणं बहुमानातिचारः ॥ ३ ॥ उपधानम् आचामांसादि
 तपसा योगविधानं तस्याऽकरणमुपधानाऽतिचारः ॥ ४ ॥ यत्पा-
 श्वं श्रुतमधीतं तं निहृतेऽपन्नपति अन्यं वा युगप्रधानमात्मनोऽ-
 ध्यापक निर्दिशति स्वयं वाऽधीतमित्याचष्टे एवं निहृवनाजिघा-
 नातिचारः ॥ ५ ॥ व्यज्यते अर्थोऽनेनेति व्यञ्जनमागमसूत्रं तन्मा-
 त्राक्षरविन्दुभिर्गुणमतिरिक्तं वा करोति संस्कृतं वा विधत्ते
 पर्यायैर्वा विदधाति यथा “ धम्मो मंगलमुक्किंठ ” मित्यादिस्थाने
 “ पुत्रं कल्लणमुक्कांसदयो संवर निज्जरेति ” व्यञ्जनातिचारः ६ ॥

आगमपदार्थस्यान्यथा परिकल्पनमर्थानिचारः । यथा आचार-
सूत्रेऽन्यथ्ययनमध्ये आचरन्तीं "आचरन्तीं लोगसि विण्मुरानं-
तीति " यावत् केचित् लोकस्मिन् पापगिरुलोकं विपरागम-
न्तीति प्रस्तुतेऽर्थे अन्योऽर्थः परिकल्प्यते " आचरन्ति होइ देसो,
तथ उ अरहट्टकूवजा केया । यट्टी मासा पम्हिदियाहिं, देउत्तं
लोगो विपरागमुसइ ॥ ७ ॥ यत्र च मृत्पाथो हावपि विनश्यते स
तद्भुभयानिचारा यथा " धम्मो मंगवमुत्तिष्ठे, अहिंसा गिरि-
मत्थए । देवा धितं नमंसन्ति, यस्मिन् धम्मो मया मई " "अहागडे-
सु रंघेति, फट्ठेनु रट्ठकारओ । रत्तो जत्तंमि णो जत्थ, गहजो
जत्थ दीसिइ " ॥ ८ ॥ अयं च महीयाननिचारे यतः सृत्वा-
थोभयनाशे मोक्षाभावस्तदज्ञाये श्रीकावैयर्थ्यमिति । एष चाष्ट-
विधाऽपि । ज्ञानाचारातिचारे द्विधा ओघनो विभागतश्च ।
तत्र विभागतः उद्देशकाध्ययनश्रुतस्फन्धाङ्गेषु विषये प्रमादिनः
प्रमादपरस्य काज्ञातिक्मणादिष्वप्यसु ज्ञानाचारातिचारेषु जात-
ेषु क्रमशः क्रमेण तपोनिर्विकृतिकं पुरिमार्यक्रमेण आचम्यं
च । अनागादे दशैकादिकादिके श्रुते उद्देशकानिचारे अका-
लपात्रादिके निर्विश्रुतेकम् । अध्ययनातिचारं पुरिमार्यक्रमेण श्रुतस्फ-
न्धातिचारे एकजन्तमहातिचारे आचम्यमन्त्रित्यर्थः । आगादे
नृत्तग्राध्ययनप्रगवत्यादिके श्रुते एतेष्वेवानिचारस्यानेषु पुरिमा-
र्यदिक्कपणान्तमेव तपो ज्ञाति । एतद्विभागतः प्रायश्चित्तमुक्तम्
ज्ञाति० । स्था० ।

असत्समारम्भप्रत्याख्याता पृथिवीसमारम्भे
वर्तमानो प्रने नानिचरति ॥

समणोवासगस्स एं जंते ! पुब्बामेव तसपाणसमारंभे
पच्चक्खाए जवइ पुढवीसमारंभे अपच्चक्खाए जवइ, से
य पुढवि खणमाणे अण्ययं तमपाणं विहिंसंजा से णं भंते !
तं वय अइचरइ ? णो इण्णट्ठे समट्ठे नो खवु से तस्म अ-
इवायाए आउट्ठइ । समणोवासयस्स एं जंते ! पुब्बामेव
वणण्णइसमारंभे पच्चक्खाए से य पुढवि खणमाणे अण्य-
यस्स खखस्स मूलं विदेज्जा से णं जंते ! वयं अतिचरति ?
णो इण्णट्ठे समट्ठे नो खवु से तस्म अइवायाए आउट्ठइ ॥

जसवधः । (नो खवु से तस्म अइवायाए आउट्ठइत्ति) न
खट्वसौ तस्य असप्राणस्यातिपाताय यथायावर्तते प्रवर्तते इति
न सङ्कल्पवधोऽसौ, सङ्कल्पवधादयं च निवृत्तोऽसौ । न वैवं
तस्य संपन्न इति नासावतिचरति प्रतम् ८० ७ श० ? ३० ।
(द्वैवसिका अतिचाराः काउस्सगशब्दे) (मूत्रगुणातिचारा
उत्तरगुणानिचाराश्च मूत्रातिचारे प्रायश्चित्तमित्यवतरणमाश्रित्य
पच्छिन्नशब्दे वक्ष्यन्ते)

सर्वेऽप्यतीचाराः संज्वलनकपायोदये भवन्तीत्याह ।

सर्वे वि य अइयारा, संजलणायं तु उदयओ होंति ।

मूत्रच्छेज्जं पुण होइ, वारसएहं कसायाणं ॥ १५० ॥

सर्वेऽप्यालोचनाप्रतिक्रमणोज्ञादिच्छेदपर्यन्तं प्रायश्चित्तशो-
भ्याः । अपिशब्दात्क्रियन्तोऽपि च अतिचरणान्यतिचाराश्चारित्र-
विरोधनाविशेषाः संज्वलनानामयोदयतो जघन्ति । द्वादशानां
पुनः कपायाणामुदयतो मूलच्छेद्यं भवति । सूत्रेणाष्टमस्यानवर्तिना
प्रायश्चित्तेन छिद्यतेऽपनीयते यदोपजातं तन्मूलच्छेद्यम् । अशे-
षचारित्रोच्छेदकारीत्यर्थस्तदेवंचूतं दोषजातं द्वादशानामन-
न्तानुबन्धप्रत्याख्यातप्रत्याख्यानावरणलक्षणानां कपायाणामु-

दये संजायते । अथवा इदं मूलच्छेद्यं दोषजातं यथासंभवतो यो-
ज्यते तद्यथा प्रत्याख्यानावरणकपायचतुष्कोदये सर्वविरतिरू-
पस्य चारित्रस्य मूलच्छेद्यं सर्वनाशरूपं भवति । अप्रत्याख्यानक-
पायचतुष्कोदये तु देशविरतिचारित्रस्य अनन्तानुबन्धिकपा-
यचतुष्कोदये पुनः सम्यक्त्वस्येति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ १५० ॥

ज्ञाप्यम् ।

अइआरा छेदंता, सर्वे संजलणहेयवो होंति ।

समकसाओदयओ मूलच्छेज्जं वयारुहणं ॥ १५१ ॥

सप्तमस्थानवर्ती प्रायश्चित्तविशेषच्छेदस्तत्तद्वालोचनादिना छे-
दान्तेन सप्तविधप्रायश्चित्तेनान्तो येषान्ते एकस्यान्तशब्दस्य
लोपाच्छेदान्ताः सर्वेऽप्यतिचाराः संज्वलनकपायोदयजन्या ज-
घन्ति । शेषकपायाणां द्वादशानामुदये मूलच्छेद्यं समस्तचारि-
त्रोच्छेदकारकं दोषजातं जघति । तद्विद्युच्छेद्यं च प्रायश्चित्तं न पु-
नरपि व्रतारोपणमिति ।

अथवा यथासंजघं मूलच्छेद्यं योज्यते इत्येतदेवाह ।

अहवा मंजममूल-च्छेज्जं तइयकलुमादये निययं ।

मम्मत्ताइ मूल-च्छेज्जं पुण वारसएहं पि ॥ १५२ ॥

तृतीयानां प्रत्याख्यानावरणकपायाणामुदये संयमस्य सर्ववि-
रतिरूपस्य मूलच्छेद्यं नियतं निश्चितं जघति सम्यक्त्वादिमूल-
च्छेद्यं तु द्वादशानामप्युदये संपद्यत इति ।

अथ प्रथमाशङ्क्य परिहरन्नाह ।

मूत्रच्छिजे सिध्दे, पुवं मूलगुणघादगहणेणं ।

इह कीस पुणो गहणं, अइआरविनेसणत्थं ति ॥ १५३ ॥

पगयमहक्खायं ति य, अइआरे तम्मि चं व मा जोए ।

तो म्लाच्छिज्जामिणं, सेसचरित्ते निओएइ ॥ १५४ ॥

आह नन्वनन्तरनिर्दिष्टनिर्युक्तिगाथायां " मूलगुणाणं हंजं, न
बहइ मूलगुणघायिणो उदये " इत्येतस्मिन्पूर्वार्द्धे मूलगुणघा-
तिग्रहणेन द्वादशकपायाणामुदये मूलच्छेद्यं सिद्धमेवेति किमिह
पुनस्तद्ग्रहणमत्रोत्तरमाह । अतिचारविशेषणार्थमिति । अति-
चाराणां विशेषव्यवस्थापनार्थमित्यर्थः । इदमेव व्यक्तीकुर्वन्नाह ।
(पगयमित्यादि) इदमुक्तं जघति "संजलणायं उदयं न बहइ
चरणं बहक्खायमि " त्यनन्तरनिर्युक्तिगाथोत्तरार्द्धादिह यथा-
ख्यातचारित्रं प्रकृतमनुवर्तते ततश्च "सर्वे वि य अइआरा संजल-
णायं उदयओ होंति " इत्येतानतिचाराः नन्तरानुवर्त्तमाने यथा-
ख्यातचारित्र एव शिष्यो योजयेत्तदेतन्मा चूततस्तेनेह पुनर-
पि मूलच्छेद्यमेतद्यथाख्यातवर्जितं शेषचारित्रे सामायिकादिके
निर्याजयति । अस्यां हि मूलगाथायां मूलच्छेद्यग्रहणात्पुनः-
शब्दविशेषणाच्चायमर्थः संपद्यते संज्वलनानामुदये शेषचारित्र-
स्य सर्वेऽप्यतिचारा जघन्ति द्वादशकपायाणामुदये पुनर्मूलच्छेद्यं
जघति । यस्यैवास्यां गाथायां मूलच्छेद्यमुक्तं तस्यैवातिचारा अपि
न तु यथाख्यातचारित्रस्य कपायोदयरहितत्वेन तस्य निरतिचा-
रत्वादिति गाथाचतुष्टयार्थः १५४ । विशेषं ३०० पल्लो आ०
८० । आ० चू० । दर्श० ॥

सातिचारस्य चरणस्य विपाककटुकताविचारः ॥

सम्मं वि आरियव्वं, अत्यपदजावणापहाणेणं ।

विसए अ नाविअव्वं, वहु सुअगुरुसयासाओ ॥ १५५ ॥

सम्यक् सूक्ष्मेण न्यायेन विचारयितव्यमर्थपदजावनाप्रधा-

नेन सता तस्या एवेह प्रधानत्वात् । तथा विषये च स्थापयितव्यं तदर्थपदं कुत इत्याह बहुश्रुतगुरुसकाशाज्ञ स्वमनीषिकयेति गाथार्थः ।

एतदेवाह ।

जह सुहृमङ्गाराणं, वञ्जीपमुहाङ्गफलनिष्प्राणणं ।

जं गुरुञ्च फलमुत्तं, एञ्च कहु धमङ् जुत्तीए ॥६६॥

यथा सूक्ष्मातिचाराणां बहुचारित्रापराधानां किञ्चूतानामित्याह । ब्रह्मप्रमुखादिफलनिदानानां प्रमुखशब्दात्सुन्दरीपरिग्रहः आदिशब्दात्तपःस्तेनप्रभृतीनां यदुरु फलमुत्तं सूत्रे स्त्रीत्वं किञ्चिपिकत्वादिति एतत्कथं घटते युक्त्या कोऽस्य विषय इति गाथार्थः । तथा ।

सङ् एअम्मि अ एवं, कहुं पमत्ताण धम्मचरणं तु ।

अङ्गारासयञ्चूआ-ण हंदि मोक्खस्स हेउ चि ॥६७॥

सत्येतस्मिन्नेवं यथार्थ एव कथं प्रमत्तानामद्यतनसाधूनां धर्मचरणमेवं इन्दि मोक्षस्य हेतुरिति योगः नैवेत्यभिप्रायः । किञ्चूतानामित्याह । अतिचाराश्रयचूतानां प्रचूतातिचारवतामिति गाथार्थः ॥

मार्गानुसारिणां विकल्पमाह ।

एवं च यडङ् एवं, पवज्जिउं जो तिगिच्छुमङ्गारं ।

सुहृमं पि कुणङ् सो खलु, तस्म विवागम्मि अङ्गोहो ॥६८॥

एवं च घटते एतदनन्तरोदितं प्रपद्य यच्चिकित्सां कुष्ठादेरतिचारं तद्विरोधिनां किमित्याह सुहृममपि करोति स खलु तस्यातिचारे विपाकेऽतिरौद्धो भवति दृष्टमेतदेवं दार्ष्टान्तिकेऽपि न विविष्यतीति गाथार्थः ।

अतिचारकृपणहेतुमाह ।

पडिक्खवज्जुमवसाणं, पाएणं तस्स खवणहेऊ वि ।

णालोअणाइमिच्चं, तेसि ओहेण तञ्जावा ॥६९॥

प्रतिपक्षाध्यवसानं क्लिष्टाच्छब्दे तुल्यगुणमधिकगुणं वा प्रायेण तस्यातिचारस्य कृपणहेतुरपि यदृच्छयापि ह्युचितादिप्रायोग्रहणं नालोचनामात्रम् । तथाविधभावशून्यं कुत इत्याह । तेषामपि ब्रह्मादीनां प्राणिनामोघेन सामान्येन तज्जावादालोचनादिमात्रज्ञावादिति गाथार्थः ।

एवमपत्ताणं पि हु, पङ्गअङ्गारं विक्खवहेऊणं ।

आसेवणेण दोसो, चि धम्मचरणं जहाभिहिअं ॥७०॥

एवं प्रमत्तानामपि साधूनां प्रत्यतिचारमतिचारं प्रति विपक्षहेतूनां यथोक्ताध्यवसायानामासेवने सति न दोषोऽतिचारकृत्यात् इत्येवं धर्मचरणं यथाऽजिहितं शुद्धत्वान्मोक्षस्य हेतुरिति गाथार्थः ।

अत्रैवेदं तात्पर्यमाह ।

सम्मंकयपणिआरं, बहुअं पि विसं न मारए जह उ ।

योवं पिअ विवरीअं, मारङ् एसोवमा एत्थ ॥७१॥

सम्यक्कृतप्रतीकारमगदमन्त्रादिना बहुपि विषं न मारयति । यथा भक्षितं सत्स्तोकमपि च विपरीतमकृतप्रतीकारं मारयति एषोपमाऽत्रातिचारविचारे इति गाथार्थः ।

विपक्षमाह ।

जे पणिआरविरहिआ, पमाङ्गो तेसि पुण तयं विंति ।

दुग्गाहिअसरोहरणा, अणिङ्गफलयं पिमं जणिअं ॥७२॥

ये प्रतीकारविरहिता अतिचारैषु प्रमाद्विनो ह्यवसाधवस्तेषां पुनस्तद्धर्मचरणं यथोदितं चिन्त्यं न भवतीत्यर्थः । एतदेव स्पष्टयति दुर्गुहीतशरोदाहरणाच्छरो यथा दुर्गुहीतो हस्तमेवावकुन्तति आमण्यदुष्परामृष्टनरकानुपकर्षतीत्यस्माद्विपक्षमप्येतद्धर्मचरणं ह्यव्ययं जणितं मनीषिजिरिति गाथार्थः ।

एतदेव सामान्येन ह्यव्ययमाह ।

खुडङ्गाराणं वि अ, मणुआइसु असुह मां फडं नेअं ।

इअरेसु अ निरयाइसु, गुरुअं तं अन्नहा कत्तो ॥७३॥

क्षुब्धातिचाराणामेवौघतो धर्मसंवन्धिनां मनुष्यादिपञ्चजफलं ज्ञेयं स्त्रीत्वदारिद्र्यादि आदिशब्दात्तथाविधतिर्यक्परिग्रहः । इतरेषां पुनर्महातिचाराणां नरकादिषु गुरुकं तदञ्जफलं काळाद्युभापेक्षया आदिशब्दात् क्लिष्टतिर्यक्परिग्रहः । इत्थं चैतदङ्गीकृतव्यं तदन्यथा कुतकस्तस्य हेतुर्महातिचारान्मुक्त्वेति गाथार्थः ।

उपसंहरन्नाह ।

एवं विआरणाए, सङ् भवेगाउ चरणपरिवुद्धी ।

इहरा मम्मच्छिमप-णितुल्लया दढं होइ दासा य ॥७४॥

एवमुक्तेन प्रकारेण विचारणायां सत्यां सदा संवेगाद्धेतोः किमित्याह (चरणपरिवुद्धिः) करणतया इतरथा खेचाराणामन्तरेण सम्मूचनजप्राणितुल्यता दृढतया करणेन असावत्यर्थं दोषाय भवति ज्ञातव्या प्रव्रज्यायामपीति गाथार्थः । पंचव० ३-छा० (श्रावकव्रतानामतिचाराः सम्यक्त्वातिचाराश्च स्वस्थाने) यस्याष्टावतीचारगाथा नायान्ति तेनाष्टौ नमस्कारा गण्यन्ते परं गाथाया उच्छ्वासा द्वाविंशज्जवन्ति नमस्कारचतुष्कस्यापि तथैव नमस्काराष्टकस्य तु चतुःपट्टिदृच्छ्वासा भवन्ति तत्कथमिति प्रश्ने ? उत्तरं यस्याष्टौ गाथा नायान्ति तस्याष्टनमस्कारकायोत्सर्गः कार्य्यते न तूच्छ्वासमानमिति श्र्य० उच्छ्वा० ६ प्र० । अतिक्रम्य स्वस्वभोगकालमुल्लङ्घ्य चारः राज्यन्तरगमनम् अतिचारः । ज्योतिषोक्तेः भौमादिपञ्चकस्य स्वस्वाक्रान्तराशिषु भोगकालमुल्लङ्घ्य राज्यन्तरगमने, अतिचारस्य-“ रविर्मासं निशानाथः सपाददिवसद्वयम् ” इत्यादिनोक्तभोगकालभेदोल्लङ्घनेन ग्रहणमतिशीघ्रतया अल्पकालेनैव आक्रान्तराशिमुपपृच्छ्य राज्यन्तरगमनम् । वाच० ॥

अङ्गार-अतिरक्त-त्रि० अत्यन्तो रक्तः रक्तवर्णः अनुरागयुक्तो वा अतिहोहितवर्णः, अत्यन्तानुरक्ते च अत्यन्तरक्तवर्णः, पुं० वाच० अतिरात्र-पुं० अतिशयिता रात्रिस्ततोऽस्त्यर्थे अत्र अधिकदिने दिनवृद्धौ, ते च पदं तद्यथा ॥

अङ्गारत्ता पसत्ता तं जहा चउत्थे पव्वे अट्टमे पव्वे पुव्वालसमे पव्वे सालसमे पव्वे बीसइमे पव्वे चउवीसइमे पव्वे ।

(अङ्गारत्तं) अतिरात्रोऽधिकदिनं दिनवृद्धिरिति यावत् चतुर्थं पव्वे आपादशुक्लपक्व एवमिहैकान्तरितमासानां शुक्लपक्वाः सर्वत्र पर्वणाणीति, स्था० ६ ग्रा० । संप्रत्यतिरात्रप्रतिपादनार्थमाह “ तत्थेत्यादि ” तत्र एकस्मिन् संवत्सरे खल्विमे षट् अतिरात्रा प्रज्ञप्तास्तद्यथा ‘चउत्थे पव्वे’ इत्यादि इह कर्ममासमपेक्ष्य सूर्यमासचिन्तायामेकैकसूर्यर्तुपरिसमाप्तावेकैकोऽधिकोऽहोत्रः प्राप्यते तथाहि त्रिंशता अहोरात्रैरेकः कर्ममासः सार्धत्रिंशता अहोरात्रैरेकः सूर्यमासो मासद्वयात्मकश्च ऋतुः ततः एकसूर्यर्तुपरिसमाप्तौ कर्ममासद्वयमपेक्ष्य एकोऽधिकोऽहोरात्रः प्राप्यते सूर्यर्तुश्च आपादादिकस्ततः आपादादारभ्य चतुर्थे पर्वणि एकोऽधिको

उद्देशाश्च ज्ञवत्यष्टमे पर्वणि गते द्वितीयः तृतीयो द्वादशे पर्वणि चतुर्थः पौर्णमासी पञ्चमो विंशतितमः, षष्ठ्यनुविंशतितमः इति । अवमरात्रश्च कर्ममासश्चैवमपेक्ष्य चन्द्रमासचिन्तायां चन्द्रमासाश्च श्रावणाद्यास्ततो वयोकालस्य श्रावणादिरित्युक्तं प्राक् । संप्रति यमपेक्ष्यात्रिरात्रा यं चापेक्ष्य अवमरात्रा जवन्ति तदेतत् प्रतिपादयति ॥

उच्चं व य अङ्गत्ता, आङ्वाओ हवन्ति माणाहि ।

उच्चैव ओमरात्रा, चंदाहि हवन्ति माणाहि ॥ १ ॥

अतिरात्रा भवन्ति आदित्यमपेक्ष्य किमुक्तं भवन्ति आदित्यमा-
सानपेक्ष्य कर्ममासचिन्तायां प्रतिवर्षं पद अतिरात्रा जवन्तीति
(माणाहि) जानीहि । तथा पद अवमरात्रा जवन्ति चक्रात् च-
न्द्रमपेक्ष्य चन्द्रमासमधिकृत्य कर्ममासचिन्तायां प्रति संवत्सरं
पद अवमरात्रा गवन्तीत्यर्थे इति (माणाहि) जानीहि तदेवमुक्ता
अवमरात्रा अतिरात्राश्च चं० प्र० ११ पादु० । ज्यो० । सू० प्र० ॥

अङ् (ति) रत्तकंबलसिद्धा-अतिरत्तकम्बलशिला-खी०म-
न्दरपर्वतस्योत्तरस्यां दिशि वर्तमानायामभिषेकशिलायाम्,
" दो अङ्गत्तकंबलसिद्धाओ " स्या० २ डा० ।

अङ्गा-अचिरा-खी० विश्वसेनभाष्यायां शान्तिजिनेन्द्रस्य मा-
नदि, ती० ए क० । आच० । स० । प्रव० ।

अङ् (ए) रावण-पेरारण-पुं० इन्द्रगजे, को० ।

अङ् (ति) रिक्त-अतिरिक्त-त्रि० अनि-रिक्-क-अतिश-
यिते, श्रेष्ठे, भिन्ने, शून्ये च । तत्र भेदे " अतिरिक्तमथापि यद्
भवेदिति " भाषा० । यस्य यावत्प्रमाणं युक्तं ततोऽधिकत्वे,
वाच० । आच० । अधिके, स्या० २ डा० १ उ० । अतिप्रमाणे,
स० । सूत्र० । अतिरेके, प्रश्न० सं० ५ डा० । भावे-क-अतिशये
आधिक्ये च न०वाच० । नि०चू० ।

अङ् (ति) रिक्तसिद्धाक्षयि-अतिरिक्तशय्याशानिक-पुं०
अतिरिक्ता अतिप्रमाणा शय्या वसतिरासनानि च पीठका-
दीनि यस्य सन्ति सोऽतिरिक्तशय्याशानिकः । चतुर्थेऽसमा-
धिस्थाने, स चाऽतिरिक्तायां शय्यायां ग्रन्थालादिरूपायाम-
न्येऽपि कीटिकादयः (कार्पटिकादयः) आवासयन्तीति तैः
सहाधिकरणत्वादसमाधिस्थानमव सहाधिकरणसम्भवादा-
त्मपरावसमाधौ योजयतीति स० । दशा० । आ०चू० प्रश्न० ।
अङ्गुगय-अचिराङ्गत-त्रि०क्षणमात्रमुक्ते, रा० । प्रथमोदिते,
" अङ्गुगय वि सूर " उक्त० ३ अ० । " अङ्गुगयसमगा-
सुणिद्धचंदद्धसंठियणिडाला " तं० ।

अङ्गुव-अतिरूप-पुं० अतिक्रान्तो रूपम् । रूपवर्जिते परमेश्वरे,
वाच० (एतन्निराकरणमन्यत्र) भूतभेदे च प्रश्ना० १ पद ।

अङ् (ति) रेग-अतिरेक-पुं० अति-रिक्-घञ्-भेदे, प्रा-
धान्ये, वाच० । अतिशये, जी० ३ प्रति० १ उ० । आधिक्ये,
ज्ञा० १ अ० । " अङ्गरेगेहंतसरिसे " " अतिरेकेण राजमा-
नस्सन् सदृशः " कल्प० । कर्मणि-घञ् । अधिकतरे, कल्प० ।

अङ् (ति) रेगसंठिय-अतिरेकसंस्थित-त्रि० अतिरेकेण सं-
स्थितं यस्य सः । अतिशयितया संस्थानवति, " कयलीखंभा-
इरेगसंठिय " जी० ३ प्रति० ।

अङ् [चि] रेण-अचिरेण-अव्य० चिरेणेत्यव्ययस्य न०त०
स्तोके काले, " अचिरेण सिद्धिपासायं " व्य० ८ उ० । विशेष० ।

अङ्गोस-अतिरोप-पुं० अतिशयितक्रोधे, " अङ्गोसो अङ्गोसो,
अङ्गोसो दुज्जणेहि संवासो । अङ्गुमडो य वेसो, पंच वि
गुण्यं पि लहुयं पि " ध० २० ।

अङ् [चि] रोववमग-अचिरोपपन्नक-त्रि० न० त० अचि-
रजाते, आच० ५ अ० ।

अङ्गोहिय-अतिरोहित-त्रि० न० त० । प्रकाशिते, स्फुटेऽर्थे,
अव्यवहिते च वाच० ।

अङ् [ति] लोह्रय-अतिलोह्रय-त्रि० अतीव रसलम्पटे,
उक्त० ११ अ० ।

अङ् [ति] वङ्गा-अति(व्रज्य)पत्य-अव्य० अति-पत्-वज्वा-
फत्वा ल्यप् । अतिक्रम्येत्यर्थे, द्वा० ५ अ० । प्रविश्येत्यर्थे च प्रश्न०
आश्च० ३ डा० ।

अङ्गवटण-अतिवर्तन-न० उल्लङ्घने, आच० १ शु० ५ अ० ६ उ० ।

अङ् [ति] वाङ् [ति] न्-अतिपातिन्-त्रि० अतीव पा-
तयितुं शीलमस्य । हिंसके, सूत्र० १ शु० ५ अ० ।

अङ्गवाङ्गा-अतिपातयितृ-त्रि० अति-पत्-णिच्-शीलाऽर्थे
तृत् । प्राणिनां विनाशनशीले, " खो पाणे अङ्गवाङ्गा भवद् "
स्या० ३ डा० २ उ० ।

अतिपात्य-अव्य० अति-पत्-फत्वा-ल्यप्-प्राणिनो विनाश्ये-
त्यर्थे, स्या० ३ डा० १ उ० ।

अङ्गवाङ्ग-अतिपातिक-त्रि० अतिपतनमतिपातस्स विद्यते
यस्य सोऽतिपातिकः । प्राण्युपमर्दके, सूत्र० १ शु० १ अ० ।

अङ्गवाङ्गा-अतिपातिका-खी० अतिक्रान्ता पातकमतिपातिका
निर्दोषायाम्, पापाद् दूरीकृतायाम्, आच० १ शु० ५ अ० ।

अङ् [ति] वाणमाण-अतिपातयत्-त्रि० प्राणिन उपमर्दय-
ति, सूत्र० १ शु० ५ अ० ।

अङ् (ति) वाय-अतिपात-पुं० अतिपतनमतिपातः । प्रा-
ण्युपमर्दने, सूत्र० १ शु० १ अ० । विमंशे, स्या० ५ डा० । वि-
नाशे, सूत्र० १ शु० १० अ० पा० ।

अतिवाद-पुं० अत्यन्तकथने, वाच० ।

अङ्गास-अतिवर्प-पुं० अतिशयपर्वे, वेगवह्वर्पणे, ज० ३ शु० ६ उ०
अङ् (ति) वाह्म-अतिव्याघात-त्रि० अतीव घाते, दुर्गन्धा-
दिविशिष्टे, वृ० ४ उ० ।

अङ् [ति] विज्ज-अतिविद्स्-त्रि० विदितागमसद्भावे, " त-
म्हा इ (ति) विज्जो णो पमिसंजविज्जा " आच० १ शु० ४ अ० ।

अङ् [ति] विसय-अतिविषय-पुं० प्रबलपञ्चेन्द्रियताम्प-
त्ये, तं० ।

अङ् [ति] विसाया-अति[विस्वादा][विषयगा][वृषाका]
[विषाचा] विषादा-खी० अतिविषादाः दारुणविषादहेतु-
त्वात् १ यद्वा अतीत्यतिक्रान्तो गतोऽकार्यकरणे विषादः क्रो-
धो यासां तास्तथा २ यद्वा अतीति-भृशं विषमतिविषम् आ-
समन्ताद् ददति पुरुषाणां विरक्ताः सत्यः सूक्ष्मांतावदिति
अतिविषादाः ३ यद्वाऽतीति भृशं वीति नानाविधः स्वादो ह्या-
म्पञ्च यासां ता अतिविस्वादास्तथा ४ अतिविषयगा अति-
विषयात् प्रबलस्वाम्यत्वात् पृष्ठां नरकपृथिवीं गच्छन्ति चक्रव

तिंस्त्रीरत्नवत्सुसदमतुवद्वा प्राकृतत्वात्तत्र यद्योपेसन्धिः ५ यद्वा अतिविषादा इष्टपुरुषाप्राप्तौ स्वेष्टियविषयाप्राप्तौ वाऽतिविषादो यासां ताः ६ अतिकोपादत्युग्रं विषमदन्ति प्रकृत्यन्ति इति अतिविषादाः ७ अतिवृषं महत्पुण्यं येषां तेऽतिवृषास्साधवः तेषां कायन्ते यम इवाचरन्ति चारित्रप्राणहरणेनेति ८ यद्वा अतिवृषाणां कायन्ति अग्नीयन्ति संयमग्रहज्वालनेनेति अतिवृषाकाः ९ यद्वा अतिवृषे लोकानां पुण्यरूपमदहने आनृशं चायन्ते चौर इवाचरन्ति यास्तास्तथोक्ताः १० एता दश व्युत्पत्तयः । छुष्ट-स्वभावासु स्त्रीषु, तं० ।

अइ [ति] विसाद-अतिविशाद-त्रि० अत्यन्तविशादे, यम-प्रजशैलस्य दक्षिणपार्श्वे वर्त्तमानायाम् राजधान्याम्, स्त्रो० द्वी० ।

अइ [ति] वृष्टि-अतिवृष्टि-स्त्री० अति-वृष्ट-क्तिन्-अधिकवर्षे, स० । शस्योपघातकोपचविशेषे, दर्श० ।

अइस-ईदृश-त्रि० अयमिव पश्यति इदम् दृश्-कर्मकर्त्तरि-क्तिन् इशादेशो दीर्घः । अतांरुइसः ८ । ४ । ३ इति सूत्रेणाप-अंशे ईदृशशब्दस्य अइसाऽऽदेशः । एतत्तुल्ये, प्रा० ।

अइसइय-अतिशयित-त्रि० विशेषिते, को० ।

अइ (ति) संक्रिेश-अतिसंक्रेश-पुं० आत्यन्तिके चित्तमा-लिन्ये, पंचा० १५ विव० ।

अइ [ति] संधाण-अतिसंधान-न० प्रख्यापने, आच० ४ अ० ।

अइ [ति] संधाणपर-अतिसंधानपर-त्रि० असंज्ञतुगुणं गु-णवन्तमात्मानं ख्यापयति, आच० ४ अ० ।

अइ [ति] संपन्नोग-अतिसंप्रयोग-पुं० गाध्यं, " अतिशयेन छव्येण कस्तूरिकादिना परस्य द्रव्यस्य संप्रयोगः । अतिशय-छ-व्येण छव्यान्तरस्य संप्रयोगे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अइ [ति] सकृणा-अतिष्वकृणा-स्त्री० अग्निर्ज्वलतिविति इन्धनानां समीरणायाम्, नि० चू० २ उ० ।

अइ [ति] शय-अतिशय-पुं० अति-शीङ् अच्-आधिक्ये, अतिरेके, वाच० । प्रकर्षभावे, न० । अतिक्रान्तः शयं इ-स्तम् अत्या० स० हस्तातिक्रमकारके, त्रि० अतिशय-अस्त्य-र्थेऽच् । अतिशयवति, वाच० (आचार्योपाध्यायादीनां तीर्थकृतां चातिशयाः अइसेसशब्दे)

अइ [ति] सयणाणि-[न] अतिशयज्ञानिन्-पुं० अव-धिज्ञानादिकलिते, व्य० १ उ० ।

अइ [ति] समयईयकाल-अतिशयानीतकाल-पुं० अतिश-येन योऽतीतः कालः समयः स तथा (मकरोऽलाक्षणिकः) अतिव्यवहिते काले, स० ।

अइसयसंदोह-अतिशयसंदोह-त्रि० अतिशयान् संदुग्धे प्रपू-रयति यत्तदतिशयसंदोहम् । अतिशयसंदोहवद्धे, अतिशयस-मूहसंपन्ने, पो० १५ विव० ।

अइसरिअ-ऐश्वर्य-न० ईश्वरस्य भावः । अइदैत्यादौ च ८।१।८ इति सूत्रेणैतः अइ इत्यादेशः । अणिमाद्यष्टविधभूतिभेदे, प्रा० ।

अइ [ति] साइ [न]-अतिशायिन्-त्रि० ऋद्धिमत्सु, के-वलमनःपर्यायाऽवधिमच्चतुर्दशपूर्ववित्सु, अमपौपध्यादिप्राप्त-ऋद्धिषु, आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

अइसिरिहर-अतिश्रीभर-पुं० अतिशयिते श्रीभरे, (शोभासमूहे)

" अइसिरिभरपिल्लणविसप्पंतकंतसोहंतचारुकुहं " कल्प० ।

अइ [ति] सीय-अतिशीत-त्रि० अतिशयिते शीते, स्था० ५ ठा० १ उ० । तिशयितं शीतम् प्रा० स० । अत्यन्तशीतल-स्पर्शे, तद्विशिष्टे, त्रि० वाच० ।

अइ [ति] सुहुम-अतिमूढम्-त्रि० अतिशयसूक्ष्मबुद्धिगम्ये, पो० ११ वि० ।

अइ [ति] सेस-अतिशेष-पुं० अतिशये, आचार्योपाध्या-यगणं पञ्च अतिशयाः ।

(सूत्रम्) आयरियउवज्जायस्स एं गणंसि पंच अतिसेसा पसुत्ता तं जहा आयरियउवज्जाए अंतो उवस्सयस्स पाये निगिज्जिय निगिज्जिय पप्फोमेमाणे वा पमज्जेमाणे वा एणइकमइ । आयरियउवज्जाए अंतो उवस्सयस्स उच्चारपासवणं विगिन्चमाणे वा विसोहेमाणे वा एणइकमइ । आयरियउवज्जाए पञ्चउच्चावेयावमियं करेज्जा इच्छा णो करेज्जा । आयरियउवज्जाए अंतो उवस्सयस्स एगराई वा दुराई वा एगामी वसमाणे एणइकमइ । आयरियउव-ज्जाए वाहिं उवस्सगस्स एगराई वा दुराई वा वसमाणे एणइकमइ स्या० १ ठा० २ उ० । व्य० ६ उ० ॥

आचार्यश्चासाधुपाध्यायश्चेत्याचार्योपाध्यायः स हि केषांचिदा-चार्यः केषांचिदुपाध्यायस्तत एवमुक्तं यावता पुनः स नियमा-दाचार्य एव तस्य गणे गणमध्ये पञ्च अतिशेषा अतिशयाः प्र-ज्ञप्तास्तद्यथा आचार्योपाध्यायानामुपाश्रयस्यान्तर्मध्ये पादान् निगृह्य निगृह्य तथा पादा यतनया प्रस्फोटयितव्या यथा धृष्टिः कस्यापि कृपकादेर्न गच्छति एवं शिक्षयित्वा शिक्षयित्वा प्रस्फो-टयतः प्रस्फोटको नातिक्रामति एष एकोऽतिशयः । यथा आचा-र्योपाध्यायान् उपाश्रयस्यान्तर्द्वारं प्रस्नवणं वा विगिञ्चयतो व्युत्सृजतो विशेषक उच्चारदिपरिष्ठापको नातिक्रामति एष द्वितीयस्तथा आचार्योपाध्यायः प्रचुरतो वैयावृत्यमिच्छया कारयेत् न चत्ताभियोगतः " आणा चत्ताभियोगो निगन्थाणं न कप्पए कावमिति " वचनात् एष तृतीयः । तथा आचार्योपाध्या-य उपाश्रयस्यान्तर्मध्ये एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसेत् नातिक्रा-मति नातीचारजाग्नयति एष चतुर्थः । आचार्योपाध्याय उपाश्र-याद्वहिरेकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसेत् नातिक्रामति इत्येष सूत्रसं-क्षेपार्थः (व्य० ६ उ०) आचार्योपाध्यायस्य वसतेरन्तः पादप्र-स्फोटनप्रमार्जने इत्यर्थं प्रथमोऽतिशयस्तत्र भाष्यविस्तरः ।

वहिअंतो विवज्जासो, पणगं सागारिचिच्छे मुहुत्तं ।

विइयपयं विच्छिसे, निरुद्धवसहीए यजणाए ॥

वहिरन्तश्च यदि विपर्यासो वहिरनास्फोटयान्तः प्रस्फोटनरूपस्त-दा पञ्चकं पञ्चरात्रिन्दिवं प्रायश्चित्तमथ वहिः सागारिको व-र्तते ततस्तिष्ठति मुहूर्त्तं व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरन्तर्मुहूर्त्त-मित्यर्थः । अथैतावता कालेन सागारिको नापयाति तर्हि चिती-यपदमपवादपदमाश्रीयते । वहिः पादा अप्रस्फोटाऽप्यन्तर्वसतेः प्रविश्यते तत्र विस्तीर्णं उपाश्रये अपरिभोगे प्रदेशे आचार्य-पादाः प्रस्फोटयितव्याः निरुद्धायां संकटायां वसतौ यत्राचार्य-सत्कवण्टकाद्यवकाशस्तत्र यतनया यथा न कस्यापि धूर्तिवर्गती-त्येवंरूपया प्रस्फोटयितव्याः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुरिदमाह ॥

वाहिं अपमज्जेते, पणिणं गणियो उ सेसए मासो ।

अप्पन्निह दुपेहा, पुच्चुत्ता मच्च जंगा उ ॥

आचार्यः कुलादिकार्येण निर्गतः प्रत्यागत उत्सर्गेण तान्द्रमन्त्र
वसतेर्वहिरैव पादान् प्रस्फोटयति प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति विसर्गः ।
यदि पुनर्निष्कारणं बहिः पादान् प्रस्फोटयति तदा बहिरप्रमार्जने
गणिन आचार्यस्य प्रायश्चित्तं पञ्चकं शेषके साधौ बहिः पादान्
अप्रमार्जयति लघुको मासः प्रायश्चित्तम् । तस्मात् बहिः पादान्
प्रस्फोटयन्तः प्रवेष्टव्यं तच्च प्रस्फोटनं विधिना कर्तव्यम् । स चा-
यं विधिः प्रत्युपेक्षते सतः प्रमार्जयति । अविधिः पुनर्यत्र प्रत्युपे-
क्षते न प्रमार्जयति ॥ १ ॥ न प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति ॥ २ ॥
प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति ॥ ३ ॥ प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति च ॥ ४ ॥
अत्राप्येव विपु भङ्गेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं सासिकं चतुर्थं भङ्गे
भङ्गाश्चत्वारस्तथा दुष्प्रत्युपेक्षते दुष्प्रमार्जयति ॥ १ ॥ दुष्प्र-
त्युपेक्षते सुप्रमार्जयति ॥ २ ॥ सुप्रत्युपेक्षते दुष्प्रमार्जयति ॥ ३ ॥
सुप्रत्युपेक्षते सुप्रमार्जयति ॥ ४ ॥ अत्र चतुर्थो भङ्गः शुद्धः
शेषेषु तु विपु भङ्गेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं पञ्चराशिन्दिचम् पत-
द्वेवाह ॥ अत्रत्युपेक्षणे उपलक्ष्यमेतत् अप्रमार्जने च । तथा
उपेक्षायामवाप्युपलक्ष्यं ज्ञेयमिति दुष्प्रमार्जनतायां च पूर्वो-
क्ताः कल्याण्यनोकाः सप्त भङ्गाः । तत्र श्लोकः प्रायश्चित्तविधिः ।

बहि अंतो विदज्जासो, पणगं सागारिय असंतमि ।

सागारियमि उ चत्ते, अत्यंति मुहुत्तगं थेरा ।

यदि सामारिके असति अविद्यमाने बहिरन्तर्विपर्यासो जवति
बहिरनास्फोटयन्तः प्रस्फोटयतीत्यर्थः तदा गणिनः प्रायश्चित्तं
पञ्चकम् । अथ सागारिको बहिस्तिष्ठति सोऽपि च चक्षश्चक्षो
नाम मुहुत्तमात्रेण गन्ता तस्मिन्सागारिके चले तिष्ठति मुहुत्तक-
मन्त्रार्थे कप्रत्ययोऽल्पं मुहुत्तं किमुक्तं जयति सप्ततात्तातिमात्रं
सप्तपदातिक्रमणमात्रं वा काष्ठं स्थविरास्तिष्ठति ।

थिरविविक्खत्ते सागा-रिय अणुवउत्ते पमज्जिउं पविसे ।

निव्विक्खितुवउत्ते, अंतो अ पमज्जणा तोह ॥

स्थिरो नाम यथावस्थायां ध्रुवकर्मिको व्याकृतः कर्मणि
कर्तव्ये व्याकुलस्तद्विपरीतोऽप्यव्याकृतः । उपयुक्त आचार्यान्
दृष्ट्वा निरीक्षमाणस्तद्विपरीतोऽनुपयुक्तः । तत्र स्थिरे व्याकृतोऽ-
नुपयुक्ते सागारिके विद्यमाने बहिः पादान् प्रमृज्य प्रविशेत्
स्थिरे निर्व्याकृते उपयुक्ते बहिः सागारिकं सति वसतेरन्तः
प्रमार्जना पादानाम् । अथाचार्यस्य पादाः किं स्वयमेवाचार्ये-
ण प्रस्फोटयितव्याः उक्तान्येन साधुना तत आह ।

आजिगाहियस्स अमति, तस्सव रओहरेण अणयरे ।

पाउंछणुप्पिपणव, पुस्संति य अणुप्पुत्तेण ॥

केनापि साधुना अजिग्रहो गृहीतो वर्तते यथा मया आचार्यस्य
बहिर्निर्गतस्य प्रत्यागतस्य पादाः प्रस्फोटयितव्या इति स यद्य-
स्ति तर्हि तेन प्रमार्जनायोपस्थातव्यं तत्र आचार्यस्यात्मीयमन्य-
दौर्गणिकं पादप्रोञ्जनकमन्येन साधुना पादप्रमार्जनेनापरिहृतं ते-
नाचार्यस्य पादान् प्रस्फोटयति । अयाभिग्रहिको न विद्यते तत
आभिग्रहिकस्यास्त्यत्रावे अन्यतरेण तस्यैवाचार्यस्य रजोहरणे-
न और्गणिकेन वा पादप्रोञ्जनकेनान्यष्टकेन पादान् प्रोञ्जयति ।
यदि पुनरव्यापृतोऽपि निष्कारणमाचार्यस्य पादान् प्रमार्जयति
तदा मासवधु । अथात्मीयेन रजोहरणेन पादप्रोञ्जनकेन वाज्य-
पादप्रमार्जनेनः परितृक्तेन प्रमार्जयति तदापि मासवधु । यदि
बहिर्वसतेः सागारिकस्तिष्ठतीत्याचार्यस्य पादा न प्रस्फोटिता-
स्तर्हि वसतेरन्तः प्रविष्टस्य प्रस्फोटनीयास्तत्रायं विधिः ।

विपुलाए अपरिभोगे, अप्पणओ वासए वविष्ठस्स ।

एमेव निक्खुयस्स वि, नवरिं वाहिं चिरयरं तु ॥

यदि विपुला वसतिस्तर्हि तस्यां विपुलायां वसतावपरिभोगे
गर्वकायो आचार्येण स्थित्वा पादाः प्रस्फोटयितव्याः । अथ संक-
टा वसतिस्तर्हि य आचार्यस्य आत्मीयो वण्टकाद्यवकाशस्तत्र
पर्यापथिकीं प्रतिक्रम्योपविष्टस्य पादाः प्रमार्जनीयास्ते च कुश-
त्वेन साधुना तथा प्रमार्जनीया यथा अन्ये साधवो धूल्या न
व्रियन्ते । यथा आचार्यस्योक्तमेवं निष्कारपि कृष्टव्यं नवरं यदि
बहिर्वसतेः सागारिकस्तिष्ठति ततश्चिचरतरमपि काष्ठं प्रतीकृतं
यावच्चक्षुसागारिको व्यतिक्रामति । यदि पुनर्निष्ठुर्वसतेर्वहिः सा-
गारिकाभावेऽपि पादावप्रस्फोटय वसतेरन्तः प्रविशति तदा तस्य
प्रायश्चित्तं मासवधु ॥

निगिज्जिय पमज्जाहि, अभाणंतस्सेव मासियं गुरुणो ।

पायरयवखमगादी, चोयग कज्जागते दोसा ॥

यदि बहिः सागारिक इति कृत्वा वसतेरन्तः पादाः प्रस्फोटयि-
तव्यास्ततः संकटायां वसतौ पादान् प्रमार्जयितुमुपस्थितं सा-
धुमाचार्यो ब्रूते अर्थः ! निगृह्य पादान् प्रमार्जय । किमुक्तं भवति
तथा यतनया पादान् प्रमार्जय यथा पादधूल्या न कोऽपि साधु-
व्रियते । अथैवं न ब्रूते तत एवमभणतो गुरोः प्रायश्चित्तं मास
वधु । तथा पादरजसा कृपकादयः खरएटन्ते तथा सति बह्व्य-
माणाः दोषाः । अत्र चोदक आह आचार्यः कस्माद्बहिर्विच्छति ।
सूरिराह कार्यागते कार्येषु समापतितेष्वगते दोषास्तस्माच्छब्द-
ति । अधुना “पायरयवखमगादी” इत्येतत् व्याख्यानयति ॥

तवसोसितो व खमगो, इहिवबुद्धो व कोवितो वा वि ।

मा भंरणखमगादी, इति सुत्त निगिज्झिए जयणा ॥

तपसा शोषितस्तपःशोषितः कृपकस्तस्य त्वद्वेषेऽप्यपराधे
कोपो जायते ततः स आचार्यपादप्रमार्जनधूल्या विकीर्णः कुपि-
तो जवेत् कुपितश्च सन् जएरुनं कृत्वा अन्यत्र गच्छेत् प्रविशेत्
प्रतिपद्येत वा । अथवा कोऽपि ऋद्धिमान् वृद्धो राजादिः प्रव-
जितः स पादधूल्याऽवकीर्णो रुष्टः सन् जएरुनादि क्रुयान् ।
कोपितो नाम शैक्वकः कोऽपि रुष्टः प्रतिपद्येत तस्मात्कृपकादि-
र्मा भिररुनं कार्यदिति सूत्रं निगिज्झिय निगिज्झियेत्युक्तमस्याप्य-
यमर्थो यतभवेति ।

संप्रति “चोयग कज्जागते दोसा” इति व्याख्यानयति ॥

थाए कुप्पति खमगो, किं चेव गुरुस्स निगमो भणितो ।

भमइ कुझगणकज्जे, चेइयनपणं च पण्वेसु ॥

स्थाने कुप्यति कृपकस्तथा हि स पादधूल्या अवकीर्यते ततो
मा कोपं कार्यात् । किं चेवं गुरोराचार्यस्य निर्गमः केन कारणेन
मणितस्तत्कारणमेव नास्ति येन कारणेन बहिराचार्यस्य निर्ग-
मना आचार्य आह भएयते अत्रोत्तरं दीयते । कुलकार्ये उपलक्ष-
णमेतत् सङ्गकार्यं च बहुविधे समापतिते तथा पूर्वसु पाकि-
कादिषु चैत्यानां सर्वेषामपि नमनमवश्यं कर्तव्यमिति हेतो-
श्चाचार्यस्य वसतेर्वहिर्निर्गमनम् ॥

पुनश्चोदक आह ॥

जति एवं निगमणे, जणाति तो वाहिं चिडिए पुंछे ।

बुच्चति बहि अत्यंते, चोयग गुरुणो इमे दोसा ॥

चोदको जणति यदि एवं कुलादिकार्यनिमित्तमाचार्यस्य निर्ग-
मनं ततो निर्गमने सति प्रत्यागतो यदि वसतेर्वहिः सागारिक-

स्ततस्तावद्वाहिस्तिष्ठतु यावच्चलसागारिको व्युत्क्रान्तो भवति ततो वहिरेव पादान् प्रस्फोट्य वसतेरन्तः प्रविशतु एवं च सति कृपकादिदोषाः परित्यक्ता भवन्ति । आचार्य आह उच्यते उत्तरं नयते हेचोदक ! गुरोराचार्यस्य वसतेर्वाहिः तिष्ठत इमे वक्ष्यमाणा बहवो दोषास्तानेवाह ॥

तएहुएहाविअजाविय, वुद्धा वा अत्थमाणपुच्छादी ।

विणए गिलाणमादी, साहू सन्नी पमिच्छंतो ॥

कुलादिकार्येण निर्गत आचार्य उष्णेन भाविते तृष्णा जायते ततस्तृष्णाभिचूतो वसतिमागतो यदि धर्हिर्वसतेः प्रतीकृते यावत्सागारिकोऽपगच्छति ततस्तृष्णया उष्णेनादिशब्दादनागाढागढपरितापनापरिग्रहः पीडिते मूर्च्छा जायते । आदिशब्दात् वसतिप्रविष्टस्स प्रचुरं पानीयमापिवेत् । ततो प्रकाजीर्णतया ग्लानत्वं जवेदित्यादिपरिग्रहस्तथा वृद्धा उपलक्षणमेतत् बाह्यशैक्षासहायाद्यश्चाचार्ये तिष्ठति प्रतीकृते ते च प्रतीकृमाणाः प्रथमद्वितीयपरिपहाभ्यां पीडिता मूर्च्छाद्याप्नुवन्ति तथा ग्लान आदिशब्दात् कृपकादिपरिग्रहस्ते विनयेन प्रतीकृमाणा भोजनमकुर्वन्त औपधादिकं च गुरुणा विना अन्नजमाना गाढतरं ग्लानत्वाद्याप्नुवन्ति । तथा साधवः केचित्प्राधूर्षका गन्तुमनसस्तथा संज्ञिनः श्रावका अष्टम्यादिषु कृतप्रक्ताः पारणके भिक्षायामदत्तायामपायन्त आचार्य प्रतीकृमाणास्तिष्ठन्ति तत्र साधूनां दिवसो गरीयान् चढति तत्र चोष्णादिपरितापना दोषाः । संज्ञिनां चान्तरायमित्येव गाथासंक्षेपार्थः ॥

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः “तएहुएहादिअभाविअ”

इत्येतद् व्याख्यानयति

तएहुएहाजावियस्स, पडिच्छमाणस्स मुच्छमादी य ।

खप्पादिए गिलाणे, सुत्तत्थविराहणा चेव ॥

आचार्यः स्वरूपत उष्णेन भावितः क्वचित्कदाचित्प्रयोजनवशतो वहिर्गमनात् ततः कुलादिकार्येषु निर्गतस्तृष्णाभिचूतो वसतिमागतोऽपि यदि सागारिकमपगच्छन्तं यावत्प्रतीकृते ततः प्रतीकृमाणस्य तृष्णया उष्णेन च तापितस्य मूर्च्छादयो भवन्ति आदिशब्दादागाढादिपरितापनापरिग्रहस्तथा वसतिप्रविष्टोऽतीव तृष्णाभिचूतः खरस्य प्रचुरस्य पानीयस्यादानं ग्रहणं कुर्यात् प्रचुरं पानीयं पिबेदित्यर्थः । ततो प्रकाजीर्णतया ग्लानो भवेत् तस्मिन् च ग्लाने सूत्राथपरिहाणिर्विराधना च तस्याचार्यस्य स्यात् ग्लानत्वेनाचार्यो म्रियेतेति ज्ञावः । अथवा सूत्रार्थपरिहाण्या अज्ञानतां साधूनां ज्ञानादिविराधना स्यात् । सूत्रार्थाज्ञावतोऽज्ञानन्तः साधवो ज्ञानादिविराधनां कुर्युरिति ज्ञावः ।

अधुना “बुद्धावेति” व्याख्यानार्थमाह ।

बुद्धासहसेहादी, खमगो वा पारणे विजुक्खुतो ।

चिद्धइ पमिच्छमाणो, न भुजेण लोइयमदिट्ठं ॥

वृद्धा वयोवृद्धा असहाः प्रथमद्वितीयपरीपहान् सोढुमसमर्थाः शैक्षका आदिशब्दात् ग्लानाश्चाचार्य प्रतीकृमाणास्तिष्ठन्ति ते च तथा तिष्ठन्तस्तृष्णादिभिः पीडिता मूर्च्छाद्याप्नुवन्ति ग्लानस्य च गाढतरं ग्लानत्वमुपजायते । यदि पुनरागतमात्र एव वसतौ प्रविशति ततो यथायोगं वृद्धादीनामकावहीनं संपद्यते इति न कश्चिद्दोषः अधुना “विनयेगिलाणादि” इत्येतद्व्याख्यानयति (खमगो वा इत्यादि) कृपको वा कोऽपि विक्लिष्टेन तपसा

क्लान्तो विनयेन पारणके वुष्टुकार्तः प्रतीकृमाणास्तिष्ठति न तु भुङ्क्ते अद्यापि नालोचितमाचार्येण च न दृष्टमिति कृत्वा ।

परितावअंतराया, दोसा होंति अभुंजणे ।

चुंजणे अविणादीया, दोसा तत्थ भवंति य ॥

एवं क्षपकस्य विक्लिष्टतपसा क्लान्तस्य प्रतीकृणेनाभोजने महान् परितापो भवति अन्तरायं चोपजायते । अथ लुङ्क्ते तर्हि भोजने तत्राविनयादयो विनयः प्रतीत आदिशब्दाददृष्टाद्यनालोचितभोजने अदत्तादानदोषपरिग्रहो दोषा भवन्ति ।

ग्लानमधिकृत्याह ।

गिलाणस्सोसहादी उ, न देंति गुरुणो विणा ।

ऊणाहिं व देज्जाहिं, तस्स वेज्जा तिगच्छति ॥

ग्लानस्यौपधादिकं साधवो गुरुणा विना न ददति । आदिशब्दात् भोजनपरिग्रहः । यदि वा जनमधिकं वा दद्युस्तस्य च ग्लानस्याचार्य प्रतीकृमाणस्य वेदातिगच्छति ।

संप्रति “साहूसर्षी” इति व्याख्यानयति ।

पाहुणगा गुंतुमणा, वंदिय जो तेसि उएहसंतावो ।

पारणयपमिच्छंते, सप्पे वा अंतरायं तु ॥

प्राधूर्षकाः केचित्साधव आगतास्ते गन्तुमनसस्ते यथाचार्यमवन्दित्वा अनापृच्छ्य गच्छन्ति ततोऽविनयादयो दोषास्ततः प्रतीकृमाणास्तिष्ठन्ति आचार्यश्चिरेण वसतिं प्रविष्टस्तावद्विवस आरुमन्तात्ततोऽभवत् ततो गुरुं वन्दित्वा व्रजतां य उष्णसंतापसंतेषां स आचार्यनिमित्तकस्तथा श्राद्धे अष्टम्यादिषु पर्यसु कृताभक्ते पारणके आचार्यप्रतीकृमाणे अन्तरायं कृतं भवति ।

उपसंहारमाह ।

जम्हा एते दोसा, तम्हा वाहिं चिं तु वसहीए ।

गुरुणा न चिट्ठियव्वं, तस्स न किं दोस होंते य ॥

यस्मादेते दोषास्तस्मात् गुरुणा न वसतेर्वाहिश्चिरं स्थातव्यं भिक्षुणा पुनश्चिरमपि स्थातव्यं यावच्चलसागारिको न प्रयाति ततो वहिः पादान्प्रमृज्यान्तर्वसतेः प्रवेष्टव्यम् । अत्र चोदक आह तस्य भिक्षोः किमेते अन्तरोदिता दोषा न भवन्ति ।

आचार्य आह ।

अण्णेगवहुणिग्गमणे, अब्बुद्धएजाविया य हिंडंता ।

दसविह वेयावच्चे, सग्गामे वहिं च वायामो ॥

सीउएहसहा भिक्खा, न य हाणी वायणादिया तेसिं ।

गुरुणो पुण ते नत्थी, तणमज्झितो य खेयस्ये ॥

अनेकैः कारणैर्वहुनां निर्गमनमनेकवहुनिर्गमनं तस्मिन् तथा गुर्वादीनामच्युत्याने आसनप्रदानादौ च तथा भिक्षार्थं दिएरुमाना ज्ञाविता व्यायामितशरीराः । यदुक्तमनेकैः कारणैर्वहुवारं निर्गमनं तत्र कारणान्याह दशाविधवैयानुत्थानीमित्तं स्वग्रामे वहिः परग्रामे अनेकवारमनेकधा व्यायामोऽभवत् तथा शीतोष्णसहा भिक्षो न च तेषां भिक्षूणां वाचनादिका वाचनादिविषया हा-निर्गुरोः पुनरनेके बहुनिर्गमनादयो न सन्ति ततस्तृष्णाद्यध्यासितुमसाहिष्णव आचार्या वसतेर्वाहिः सागारिके तिष्ठति बहु वसतेरन्तः प्रविशन्ति ततः श्रेयस्तेन कुशलेन पादान् प्रमार्जयन्ति ।

इदानीं भिक्षोरपि द्वितीयपदापवादमाह ।

धुवकम्मियं व नाउं, कजेण्णेषेण वा अणतिपातिं ।

अव्वक्खित्ताउत्तं, न उ दिक्खति वाहिं भिक्खुं वि ॥

वसतेर्वहिः सागारिकं ध्रुवकर्मिकं वा लोहकारादिकमन्येन वा कार्येणान्यमपि सागारिकमनतिपातिनमिच्छन्तं तथा अव्याप्तिमयायुक्तं च ज्ञात्वा भिन्नुरपि बहिर्नोदीक्षेत न प्रतोक्षेत किन्तु वसतिं प्रविश्यात्मीयावकाशे यतनयाऽऽत्मनः पादौ प्रमार्जयेत् । प्रथमोऽतिशयो गतः ।

आचार्योपाध्यायस्य अन्तरुपाध्यायस्य उच्चारप्रवृत्त्यत्यजननामा द्वितीयोऽतिशयः । संप्रति द्वितीयं विभावयिषुरिदमाह ।

वह्निगमणे चतुर्गुणा, आणादी वाणि ए य मिच्छत ।

परिहरणमणाभागे, खरिमुहमरुण तिरिक्खादी ॥

आचार्यो यदि विचारभूमिं बहिर्गच्छति ततः प्रायश्चित्तं च त्वारो गुरुकाः आघ्रादयश्च दोषाः । तथा “वाणि ए य मिच्छतमिति ” वणिजे अभ्युत्थानं पूर्वं कृतं भवति पश्चादकुर्वति केपाश्चिन्मिथ्यात्वमुपजायते । इयमत्र भावना । आचार्यं संज्ञाभूमिं व्रजन्तं ततः प्रत्यागच्छन्तं च दृष्ट्वा वणिजो निजनिजापणे स्थिता अभ्युत्थानं कृतवन्तस्तं च तथा वणिजां बहुमानेनाभ्युत्थानं दृष्ट्वा केचिदन्ये मन्यन्ते गुणवानेप आचार्यो येन वणिज एवमेनमभ्युपतिष्यन्ति तस्मादस्माकमपि पूज्य इति तेऽपि पूजयन्ति । यदा त्वाचार्यः कदाचित् द्वौ वारौ संज्ञाभूमिं व्रजति तदा चतुरो वारान् गमने प्रत्यागमने, चोत्थातव्यं ते चालस्यं मन्यमाना अभ्युत्थातव्यं भविष्यतीति कृत्वा आचार्यं दृष्ट्वा अन्यतो मुखं कुर्वन्ति तांश्च तथा कुर्वतो दृष्ट्वा अन्ये चिन्तयन्ति नूनमेव प्रमादी जातो ज्ञातोऽपि गुणवानपि यदीदृशः पतति तर्हि न किञ्चिदिति ते मिथ्यात्वं गच्छन्ति । तथा आचार्यं लोकेन पूज्यमानं दृष्ट्वा मरुके ब्राह्मणस्य मारुणवृक्षा प्रतिचरणं भवति । ततः संज्ञाभूमिं गतं विजने प्रदेशे मारयेत् तथा खरमुखीं नपुंसकीं दासीं वा प्रापयित्वा उद्वाहं कुर्यात् अनामोगेन वा वनगहने प्रविष्टे तिर्यगादौ च गर्दभ्यादौ कुलटादौ च प्रविष्टायामात्मपरोमयसमुत्था दोषाः एव गाथासंक्षेपार्थः ।

संप्रति “ वाणि ए य मिच्छतमिति ” त्येतद्विभावयिषुराह ।

मुयवंतं पि परित्रा-रवं च वाणिंयंतरवज्जण्टाणे ।

दुष्टाण निगममिमि य, हाणी य परमुहावष्ठां ॥

संज्ञाभूमिं व्रजति ततः प्रत्यागच्छति वा तस्मिन्नाचार्यं श्रुतवानेप परिवारवांश्चेति मन्यमाना अन्तरा निजनिजापरेषु स्थिता वणिजोऽभ्युत्थानं कृतवन्तः तेषां चोत्थानैः लोकस्य च भूयान् बहुमान आसीत् । कदाचिदाचार्यो द्वौ वारौ संज्ञाभूमिं व्रजेत् ततो द्विस्थाने निर्गमने चतुरो वारान् गच्छति प्रत्यागच्छति चोत्थातव्यं ततस्ते आलस्यं मन्यमाना अभ्युत्थानस्य हानिं कुर्वन्ति ते च हानिमभ्युत्थानस्य चिकीर्षवोऽभ्युत्थातव्यं भविष्यतीति कृत्वा तमाचार्यं दृष्ट्वा परमुखा भवन्ति अन्यतो मुखं कुर्वन्तीति भावः । अथवा अवर्णः स्यात्तथाहि द्वौ वारौ संज्ञाभूमिं व्रजन्तमाचार्यं दृष्ट्वा ते वदन्ति नूनमेव आचार्यो द्वौ ब्रह्मविराजसमुद्दिशति तेन द्वौ वारौ संज्ञाभूमिं याति ।

गुणवं तु जत्रो वणिगा, पूयतषे वि सम्मुहा तमि ।

पडियं ति अण्टाणे, छुविह नियत्ती अजिमुहाणं ॥

वणिजां बहुमानेनाभ्युत्थानं दृष्ट्वा केचिदन्ये चिन्तयन्ति । गुणवानाचार्यो यतो वणिजः पूजयन्ति एवं चिन्तयित्वा तेऽन्ये तस्मिन्नाचार्यं सन्मुखा भवन्ति वारद्वयसंज्ञाभूमिगमने वणिजामनुत्थाने ते चिन्तयन्ति नूनमेव आचार्यः पतितः कथ-

मन्यथा वणिजः पूर्वमभ्युत्थानं कृतवन्तो नेदानीम् । तथा च सति तेषामभिमुखानां द्विविधा निवृत्तिस्तथा ये श्रावकवं प्रहीतुकामा ये च तस्य समीपे प्रव्रजितुकामास्ते चिन्तयन्ति यद्येवोऽपि प्रधानो ज्ञाता कुशीलत्वं प्रतिपद्यते तर्हि नूनं सर्वे जिनवचनमसारमिति मन्यमानाः श्रावकत्वाद्गतग्रहणाद्वा प्रतिनिवर्तन्ते मिथ्यात्वं गच्छन्ति ।

संप्रति “ पडियरणमणाभागे ” इत्यादि व्याख्यानयन्नाह ।

आउटं ति व होगे, पडियरिओ उन्नमार ए मरुगो ।

खरियमुहसंगहं वा, लोनेउ तिरिक्खसंगहणं ॥

गुणवानाचार्य इति कृत्वा सर्वो लोक आचार्यस्यावृत्तोऽभवत् प्रणतोऽभूत् धिग्जातीयानां केषांचित्पापीयसां तथा पूजामाचार्यस्य दृष्ट्वा महामत्सरो भवेत् मात्सर्येण संज्ञाभूमिगतमाचार्यं प्रतिवर्त्य छत्रे प्रदेशे मरुको ब्राह्मणः कोऽपि जाविता-द्वपरोप्य गर्त्तादिषु प्रच्छन्ने प्रदेशे स्थगयेत् । तथा खरिका-मुखीं दासीं नपुंसकं वा प्रलोभ्य तत्र प्रेष्य संग्रहं कुर्यात् यथा मैथुनमेव सेवमानो गृहीतस्तत उद्वाहः स्यात्तथा अनामोगेनाचार्यो वनादिगुणिलमवकाशं संज्ञाव्युत्सर्जनाय प्रविष्टः स्यात्तत्र च (तिरिक्खति) तिर्यग्योनिका गर्दभ्यादिका पूर्वगता पश्चाद्वा प्रविष्टा भवेत् तां च केचित्प्रत्यनीका दृष्ट्वा उद्वाहं कुर्युः । मूलगाथायां यदुक्तं (तिरिक्खादीति) तन्नादिशब्दव्याख्यानायमाह ।

आदिगगहणा उग्गा, -मिगा व तह अत्रातिथिगा वावि ।

अहवा वि अस्सदोसा, इवंतिमे वादिमादी य ॥

आदिग्रहणादुद्गामिका कुलटा तथा अन्यतीर्थिका वा परिगृह्यते सा तस्मिन् गहने पूर्वं गता पश्चाद्वा प्रविष्टाऽभवत् । तत्र चात्मपरोमयसमुत्था दोषाः संग्रहणादयश्च प्रागुक्ताः । अथवा इमे वक्ष्यमाणा अन्ये वाद्यादयो दोषा भवन्ति ।

तानेव संजिघृक्षुर्द्वारगाथामाह ।

वादीदंमियमादी, सुत्तथाणं च गच्छपरिहाणी ।

आवस्सगदिहंतो, कुमार अकरंतकरंते य ॥

वादिदण्डिकादयो वादिदण्डिकादिविषया बहुवोदोषास्तथा सूत्रार्थानां गच्छस्य परिहाणिः । अथवा सूत्रार्थानां परिहारिर्गच्छे च ज्ञानादीनां परिहारिस्तथा श्रावश्यकमुच्चारवश्यकं कुर्वन्नकुर्वन्न कुमारो दृष्टान्तः । एव द्वारगाथासंक्षेपार्थः सांप्रतमेनामेव विवरीयुः प्रथमतो वादिद्वारमाह ।

सन्नागतो ति पिट्ठे, जयातिसारो ति चेति परवादी ।

मा होही गिसिक्कभा, वच्चांमि अहं विवाएण ॥

कोऽपि परप्रवादी बहुश्रुतमाचार्यं लोकपूजितं श्रुत्वा तेन समं वादं करिष्यामीत्यागतो भवेत् आचार्यश्च संज्ञाभूमिं तदा गतस्तेन चागतेन वसतौ पृष्ठं क आचार्यः साधुभिः कथितमाचार्याः संज्ञाभूमिं गता एवं श्रुत्वा स परप्रवादी ब्रूयात् स मम भयेन पलायितो यदिवामम भयेनातीसारो जातः । अथ वा मा भवत्वेपां हत्येति व्रजामि अलं पर्याप्तं विवादेन ।

अधुना “ दण्डियमादीति ” व्याख्यानयति ।

चंदगवेज्जासरिसं, आगमणं एय इड्ढिमंतणं ।

पव्वज्जसावज्जदग्ग-इच्चादिगुणाण परिहाणी ॥

यथा इन्द्रपुरे इन्द्रदत्तस्य राज्ञः सुतेन कथमपि पुत्तलिका-चिचिन्द्रकस्य वेधः कृतस्तत्सदृशं “ काकताड्रीयवत् ” राज्ञः

ऋद्धिमतां चान्येषामाचार्यसमीपे आगमनं आचार्ये च संज्ञाभूमिं गते दण्डिकादिरागतो भवेत् ततः संज्ञाभूमिं गतआचार्य इति श्रुत्वा प्रतिनिवर्तन्ते यदि पुनः संज्ञाभूमिं न गता आचार्या भवेयुस्ततो धर्मं श्रुत्वा कदाचित्ते प्रव्रज्यां गृहीयुः प्रव्रजितेषु च राजादिषु महती प्रवचनप्रभावना । तथा आवकत्वं केचित्कदाचित्प्रतिपद्येरन् यथा भद्रका वा भवेयुस्तथा च चैत्यसाधूनां महानुपग्रहः । संज्ञाभूमिगमने चैतेषां गुणानां हानिः । संप्रति “ सुत्तत्थाणं च गच्छे परिहाणी ” इत्येतद्व्याख्यानार्थमाह ॥

सुत्तत्थे परिहाणी, वीथारं गंतुं जा पुणो एति ।

तत्थेव य वोसरणे, सुत्तत्थेमुं न सीयंते ॥

विचारं विचारभूमिं गत्वा यावत् पुनरेति तावत्सूत्रार्थपरिहाणिः इयमत्र भावना संज्ञाभूमिर्दूरे भवेत्सूत्रपौरुष्यामर्थपौरुष्यां चार्द्धकृतायामाचार्यः संज्ञावान् ज्ञातस्ततो गतः संज्ञाभूमिं तत उद्घाट्यायां पौरुष्यामर्थपौरुष्यां कालवेलायां समागतस्ततः सूत्रार्थपरिहाणिः तद्वाचाच्च शिष्याः प्रातीच्छिकाश्चान्यं गणं व्रजन्ति ततो गच्छस्यापि परिहाणिस्तत्रैव पुनरुपाश्रये संज्ञाया व्युत्सजने सूत्रार्थेषु साधवो न सीदन्ति । अत्र चावश्यकं कुर्वन्नकुर्वन् कुमारो दृष्टान्तः ॥

एवमेव भावयति ।

तीरगए ववहारे, खीरगते होंति तदिह उद्घाणे ।

कोसस्स हाणि परचम्मु-पेण्ण रज्जस्स अपसत्थे ॥

कुमारस्याऽऽस्थाने समुपविष्टस्यार्थिनः प्रत्यर्थिनश्च व्यवहारेणापस्थितास्तेषां चोत्तरोत्तरेण व्यवहरतां व्यवहारस्तीरं गतः परं नाद्यापि समाप्तिमुपयाति तस्मिन्नासमाप्ते व्यवहारे सति राजकुमारः संज्ञावान् ज्ञातस्तत उत्थाय संज्ञाभूमिं गतः स च यावन्नायाति तावदर्थिनः प्रत्यर्थिनश्च क्षीरोदकसंयोगादिवदेक्षीभूतास्ततो राजकुमारस्य प्रत्यागतस्य ते ब्रुवते वयं परस्परं स्वस्थीभूताः एवं सदा सर्वत्र समस्तादपि लक्षादिप्रमाणाद् दण्डायपदात् परिभ्रष्टास्ततः कोशस्य हानिर्जाता तां च ज्ञात्वा परचमूः परवलमागच्छेत् तथा च राज्यस्य प्रेरणमेपोऽप्रशस्ते दृष्टान्तः । प्रशस्ते पुनर्दृष्टान्तः स्वयं भावनीयः । स चायं प्रथमत एवावश्यकमुच्चारदेः कृत्वा आस्थाने समुपविशति उपविष्टो यदि संज्ञावान् भवति ततः प्रच्छन्ने प्रदेशे व्युत्सजति एवं तस्य कुर्वतः प्रभूतं प्रभूततरं दण्डायपदं जातं तथा च सति कोशस्य महती वृद्धिस्ततः परवलस्य प्रेरणं राज्यान्तरसंग्रहः । एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः । य आचार्यो वहिस्संज्ञाभूमिं व्रजति तस्य प्रागुक्तप्रकारेण सूत्रार्थपरिहाणिस्तत्परिहाण्या गच्छस्यापि परिहाणिः शिष्याणां प्रातीच्छिकानां चान्यत्र गणान्तरे गमनात् । यस्तु तत्रैवोपाश्रये व्युत्सजति तस्य न किञ्चिदपि परिहीयते इति सर्वं सुस्थम् ।

एतदेवाह ।

वेजं सुत्तत्थाणं, न जंजए दंमियादिकहणं वा ।

पच्छस्सअमयकांसे, पुच्छा पुण सोहणा विणए ॥

यथा वद्विनिर्गन्तव्यमेवं ग्रामादीनामन्तरपि सूत्रार्थानामपरिहाणिनिमित्तं दण्डिकादीनामागतानां धर्मकथाया अविघ्ननिमित्तं च संज्ञाव्युत्सजनाय न गन्तव्यं किन्तूपाश्रयस्यान्तरव्युत्सजनीयं येन सूत्रार्थवेज्ञा न जनाकि, नापि दण्डिकादीनामागतानां धर्मकथनं विघ्नयति । पूर्वमेव उपयोगः कर्त्तव्यः किं मम संज्ञा जवे-

अवा । तत्र यदि शङ्का तदा कृतावश्यकेन सूत्रपौरुष्यामर्थपारुष्यां च सूत्रार्थप्रदानायोपवेष्टव्यं तत्रापि न तावदासितव्यं यावदवश्यमुत्थेयं भवति किन्त्वप्रे । अत्रार्थे निदर्शनमेक आचार्य आवश्यकं शोधयित्वा तिष्ठति दण्डिकश्च धर्मश्रवणार्थमागत आचार्येण धर्मकथा प्रारब्धा स च धर्मकथाङ्कितो राजकुमारो धर्मं गृह्यन्नमीक्षणममीक्षणं कायिकीव्युत्सजनायोत्तिष्ठति आचार्यस्य प्रच्छन्नो सूत्रकोशः समर्प्यते प्रच्छन्नं कायिकीमात्रकं साधवः समर्पयन्ति तत्र कायिकी व्युत्सजति । ततो विनये लोकोत्तरिके बलवति राज्ञः पृच्छा आचार्यस्य कथनमेतदेव विभावयिषुरिदमाह ॥

निद्धाहारो वि अहं, असइं उट्टेमि नेस कहयंते ।

पासगतो तं (सभ) मत्तं, वत्थंतरियं पणामेइ ॥

राजा चिन्तयति मम स्निग्ध आहारस्तथाऽपि कायिकीव्युत्सर्गाय पुनः पुनरुत्तिष्ठामि । आचार्यस्तु कथयन् रुद्धाहारोऽपि कायिकीव्युत्सर्गाय नोत्तिष्ठति नूनं मध्ये य एष आचार्यस्य पार्श्वे स्थितः क्षुल्लकः स तत्कायिकीमात्रं प्रच्छन्नं बखान्तरितं प्रणमयति समर्पयति तत्र कायिकीमाचार्यो व्युत्सजति एतच्च यदि पृच्छयते तर्ह्यविनयः कृतो भवति तस्मादुपायेन पृच्छामीति विचिन्त्येदं पृच्छति ॥

विणओ लोइयलोउ-त्तरिओ त्तिय वडां ततो गंगा ।

कतोमुही अचलंतो, जाणिति निवं आगिति जतो ॥

राजा सुरिमापृच्छति भगवन् ! किं लौकिको विनयो बलीयान् अथवा लोकोत्तरिकः । आचार्येणोक्तमयमर्थः परीक्षतां परमेवं ज्ञायते लोकोत्तरिको विनयो बलीयान् तत्र परीक्षा कर्तुमारब्धा आचार्येणोक्तं यस्तव दृष्टिप्रत्ययो यं वा कृत्वा त्वं जानासि न एष विनयभ्रंसी तं प्रेषय । यथा कुतोमुखी गङ्गा वहतीति ज्ञात्वा निवेदय । ततो राजा य आकृतिमान् यश्च दृष्टप्रत्ययस्तं प्रेषयति ब्रज कुतोमुखी गङ्गा वहति सोऽचलन् तत्रैव स्थितो नृपं भणति यथा पूर्वमुखी गङ्गा वहति लोकोऽप्यन्य एतत् जानाति । तत आचार्यो ब्रूते मम शिष्याणां मध्ये यं त्वं विषमकरणाशादिभिर्विषमं जानासि । उक्तञ्च “ विषमसमैर्विषमसमा, विषमैर्विषमाः समैः समाचाराः । करचरणवदननासा कर्णोष्ठनिरीक्ष-णैः पुरुषाः ” विषमत्वाच्च विनयभ्रंसं करिष्यतीति तं प्रेषय ।

रक्षा पयंसितो एस, वयओ अविणीयदंसणो समणां ।

पच्छागय उस्सगं, काउं आलोयए गुरुणो ॥

एवमाचार्येणोक्ते राज्ञा यो विषमकरचरणादिना अविनीतदर्शनः श्रमणः प्रदर्शित एष व्रजतु कया दिशा गङ्गा वहतीति आचार्येण संप्रेषितः स आचार्यानापृच्छय तत्र गत्वा ततः प्रत्यागत्यैर्यापथिक्याः कायोत्सर्गं कृत्वा गुरोः पुरत आलोचयति कथमित्याह ।

आदिच्चदिसा लोयए-तरंगतणमाइया य पुव्वमुही ।

मोहो य दिसाए मा होउ, पुटो त्तिय जणो तहंव अणो वि ॥

हे भगवन् ! युष्मत्पादानापृच्छथाहं गङ्गातटं गतस्तत्र च गत्वा सूर्यं निर्ध्यातवान् यत आदित्यादिग्विभागः सम्यक् ज्ञायते एवमादित्यदिगालोचनं कृतं तथा तरङ्गैस्तृणादीनि पूर्वाभिमुखान्युद्यमानानि दृष्टानि तत्र कदाचिद्दिग्भोहोऽपि स्यात्ततो मा भूद्दिग्भोह इत्यन्योऽपि जनस्त्रिसंख्याकः पृष्ठः सोऽपि तथैवाह यथा पूर्वाभिमुखी गङ्गा वहतीति । एतच्च राज्ञा प्रत्ययि-

कप्रच्छन्नपुरुषैः परि (भावित) भावापितं तैरपि तथैव कथितम् ततो राजा प्राह ।

बहवंधेयमौरण-निर्व्विषयधणवहारलोगमि ।

भवदंडो उत्तरितो, लञ्छहमाणस्म तो बलिनो ॥

लोके योऽस्माकमाज्ञां भनक्ति तस्य धर्मे लकुटादिप्रहारैस्ता-
मनं वन्धं निगडादिभिश्चेदं कार्यच्छेदादिकं केपाञ्चित् मा-
रणं विनाशनमपरेषां निर्व्विषयकरणमन्येषां धनापहारं कुर्म-
स्तथाऽपि केचिदस्माकमाज्ञां भजन्ति । लोकोत्तरेषु पुनरेषां
भज्यतामेतानि न भयानि सन्ति तथाऽपि परेण प्रयत्नेन लो-
कोत्तरिका आज्ञां कुर्वन्ति तत्र किं कारणमाचार्य आह "भ-
वदंडो" इत्यादि पश्चाद्धं यस्तोर्थकरणगणधरादीनामाज्ञां भनक्ति
तस्य परमवे हस्नच्छेदनादीनि भवन्ति एष लोकोत्तरे भव-
दण्डः अस्माद्धातस्य साधोरुस्तहमानस्य स्वशक्त्यनिगू-
हनेनोद्यमं कुर्वतो विनयो बलीयान् । एवं लोकोत्तरिको वि-
नयो बलिकः ।

अधवापचादमाह ।

वितियपयं असतीए, अण्णए उवस्सय व सागारो ।

न पवत्तति सत्ते वि, जे य समत्था समं तेहि ॥

कुपद्वादीनिगमणो, नातिगभीरं अपच्चवायाम्म ।

योसरियमि य गुरुणा, निसिरंति महंतदंडधरा ॥

द्वितीयपदमपवादपदमधिकृत्य संप्राभूमिमाचार्यो वजेत् ।
तदेव द्वितीयपदमाह । उपाश्रये च पश्चात्कृते संप्राभूमिर्नास्ति
ततस्तस्या असति बहिर्भजेत् । (अष्माणत्ति) यत्र न प्रायते
एष आचार्यस्तत्रापि बहिर्भजेत् । अथवा उपाश्रये सागारिको
विद्यते ततो बहिर्हियति कस्यापि पुनरुपाश्रयस्य पश्चात्कृते वि-
द्यमानेऽपि संप्रा न प्रवर्त्तते सोऽपि बहिर्हियति एतः कारणैर्ब-
हिर्गमनम् तत्र ये समर्थस्तरुणाः साधवस्तैः समं यानि । तत्र
यानि कुपथादीनि कुरथ्यादीनि तैर्गन्तव्यं तैर्गच्छतोऽपि प्रायः
पूर्वोक्ता दोषा न भवन्ति । तत्रापि यन्नातिगम्भीरं नातिविषम-
मप्रत्यवायं प्रत्यवायविग्रहितं तत्राचार्यः संप्रां व्युत्पृजति ।
येषां च सहायानां हस्ते महान्तो दण्डकास्ते महादण्डधरा-
श्चतुर्ष्वपि दिक्षु संरक्षणपरायणास्तित्थि व्युत्पृष्टे च गु-
रुणा पुरीये ते महादण्डधरास्ततस्तारन्ति कस्मादेवं रक्षा
क्रियते इति चेत् कुलस्य तदायत्तत्वात् उक्तञ्च "जम्मि कुलं
आयत्तं, तं पुरिसं आयरेण रक्खाहि" इत्यादि कथं पुनः स
रक्षितव्य इत्यत आह ।

जहं रायां तोसलिआं, मणिपकिमा रक्खए पयत्तेण ।

तह होइ रक्खिव्वो, सिरिधरसरिसो य आयरितो ॥

यथा राजा तोसलिको मणिप्रतिमे च प्रयत्नेन रक्षति तथा
भवत्याचार्यो रक्षितव्यो यतः श्रीगृहसदृश एष आचार्यः ।
अथ के ते प्रतिमे इत्यत आह ।

पडिमुपपत्ती वाणिय, उदहिप्पातो उवायंणं भीतो ।

रयणंणुगे जिणपडिमे, करंमि जइ उत्तरे विगंधं ॥

उप्पाजवममउत्तर-मनिग्घए एकपमिमं वा ।

देवयळंदेण ततो, जाया वितिए वि पडिमा तो ॥

प्रतिमयोस्तपत्तिर्वक्त्रव्यां सा चैवमेकस्य वणिजः समुद्रं प्रव-
हणेनावगच्छत्योत्पात उपस्थितः । ततः स औपयाचितिकं क-

रोति यथा यदेतदौत्पातिकमुपशाम्यति अविघ्नेनोत्तरामि च
ततोऽनयोर्द्वयोर्मणिरत्नयोर्द्वं मणिमयौ जिनप्रतिमे कारयि-
ष्यामि एवमौपयाचितिके कृते देवतानुभावेनौत्पातिकमुप-
शान्तमविघ्नं समुद्रोत्तरणमभूत् स चोत्तीर्णः सन् लोभेन एक-
स्मिन्मणिरत्ने एकां जिनप्रतिमां कारयति ततो देवतया द्वि-
तोये मणिरत्ने द्वितीया जिनप्रतिमा कारिता तथा चाह । देव-
ताच्छब्देन ततो जाता द्वितीयेऽपि मणिरत्ने प्रतिमा ।

तो भत्तीए वणितां, मुस्सुसइ ता परेण जत्तेण ।

ता दीवएण पमिमा, दीमंतिहरा ठ रयणाई ॥

ततः कारापणानन्तरं ते प्रतिमे वणिको भक्त्या परेण यत्ने-
न शुश्रूषते ततः तयोश्च प्रतिमयोरिदं प्रातिहार्यं ते प्रतिमे या-
चद्दीपकः पार्श्वे ध्रियते तावद्दीपकेन हेतुना प्रतिमे दृश्येते ।
तथा दीपकाभावे सप्रकाशे अपि प्रकाशमणिरत्ने दृश्येते ॥

सोऊण पामिहेरं, राया धेत्तूण सिरिहरे बुहति ।

मंगलभत्तीए तो, पूणति परेण जत्तेण ॥

इदमनन्तरादितं प्रातिहार्यं राजा तौसलिकः श्रुत्वा ते प्रति-
मे स्वयमेवात्मीयश्रीगृहके भाण्डारे क्षिपति मुञ्चति ततो
मङ्गलबुद्ध्या भक्त्या च परेण यत्नेन ते पूजयति । यस्मिन्
दिने ते प्रतिमे श्रीगृहमानीते ततः प्रभृति रात्रिः कोशादि-
षु बुद्धिरुपजाना । ततः श्रीगृहसदृश आचार्य इत्युक्तं तत
एवं दृष्टान्तभावना कर्त्तव्या यथा राजा श्रीगृहं प्रयत्नेन रक्ष-
यति एवमाचार्योऽपि रक्षणीयस्ततः कथमत्र मणिमयप्रतिमा-
भ्यां दृष्टान्तभावना कृता उच्यते ॥

मंगलभत्ती अडिया, उप्पज्जइ तारिसाम्मि दव्वम्मि ।

रयणग्गहणं तेणं, रयणव्वत्तो तहारिनो ॥

श्रीगृहे द्रवियं रक्षणीयं मणिमयप्रतिमयोः पुनर्द्रवियमप्य-
निप्रभूतमस्ति मङ्गलबुद्धिश्च तत्रापि परमतीर्थकरभक्तिश्चेति ।
प्रयत्नेन रक्षणे त्रीणि कारणानि तथा चाह । मङ्गलं मङ्गल-
बुद्धिर्भक्तिश्चाधिका दादृशे द्रव्ये समुत्पद्यते ततो रत्नग्रहणं
यथा ते रत्नप्रतिमे कारणत्रयवशाद्विशिष्टेन प्रयत्नेन रक्षेते
शुश्रूषेते च तथा शिष्यैराचार्यः प्रयत्नेन रक्षणीयः शुश्रूषणीय-
श्च । अधैवमाचार्यं रक्षिते शुश्रूषिते च को गुण इत्यत आह ।

पूयंति य रक्खयंति य, सीसा सव्वे गाणं सया पयथा ।

इह परलोए य गुणा, हवंति तप्पयणे जम्हा ॥

गणितमाचार्यं शिष्याः सर्वे सदा प्रयताः प्रयत्नपराः पूजय-
न्ति शुश्रूषन्ते च यस्मात्तत्पूजने आचार्यपूजने इह लोके परलोके
च गुणा भवन्ति इह लोके सुत्रार्थं तद्भूमयमुपयाति परलोके
सूत्रार्थोऽप्यामधीताऽप्यां ज्ञानादिमोक्षमार्गप्रसाधनम् । अथवा
पारलौकिका गुणाः "आयरिणं वेयावच्चं करेमाणे महानिज्जेरं म-
हापज्जवसाणे भवति" इत्येवमोदयः । गतो द्वितीयोऽतिशयः ।
संप्रति तृतीयमाह "इच्चाए पट्ट वेयावमियं करेज्जा" इत्येवमु-
पमतिशयमभिधित्तुराह ।

जेणाहारो उ गणी, संवात्तबुद्धस्स होइ गच्छस्स ।

तो अतिसेसपज्जुत्तं, इमेहिं दारेहिं तस्स भवे ॥

येन कारणेन गणी आचार्यः संवात्तबुद्धस्य गच्छस्याधारस्त-
तस्तस्य भवत्यतिशेषप्रभुत्वमतिशायिप्रभुत्वं तच्चैर्भवेद्वयमा-
नैर्द्धैरैवगन्तव्यम् । ताव्येवाह ॥

तित्यंयरपवयंणे नि-ज्जरा य सावेक्खभंत्तिवोच्छेतो ।

एएहिं कारणेहिं, अतिसेसा होंति आयरिए ॥

आचार्यस्तीर्थकरस्तीर्थकरानुकारी तथा सूत्रतोऽर्थतश्चाधी-
ती प्रवचने तथा तस्य वैयावृत्यकरणे महती निर्जरा भवति ।
तथा शिष्याः प्रातीच्छिका आत्मानुग्रहदुष्टा सुरैर्वैयावृत्यं कुर्व-
न्तः सापेक्षा भवन्ति सापेक्षाणां च चूयान् ज्ञानादिद्वान्नो मह-
ती निर्जरा इतरे त्वकुर्वन्तो निरपेक्षास्तेषां महान्संसारस्तथा
प्रकाशाचार्यस्य क्रियमाणायाम् सकलस्यापि गच्छत्यानुग्रहकर-
णात्तीर्थस्याव्यवच्छेदः कृतो भवति । एतैः कारणैराचार्यस्य सू-
त्रोक्ता अतिशेषा भवन्त्यन्ये च वक्ष्यमाणा इति द्वारगाथासंक्षे-
पार्थः । सांप्रतमेया व्याख्या । तत्र प्रथमे तीर्थकरकल्पद्वारं व्या-
ख्यायति ॥

देविंद चक्कट्टी, मंडलिया ईसरा तलवरा य ।

अभिगच्छन्ति जिणिंदे, ते गोयरियं न हिंदन्ति ॥

जिनेन्द्रा जगवन्त उत्पन्ने ज्ञाने देवेन्द्राः शक्रप्रभृतयश्चक्रवर्ति-
न उपलक्षणमेतत् यथायोगं च वलदेवाश्च तथा माएरुलिकाः
कतिपयमएरुलप्रभव ईश्वरास्तद्वराश्चाभिगच्छन्ति । ततोऽपि
ते गोचरचर्या न हि एरुन्ते ॥

संखादीया कोमी, सुराण निचं जिणे उवासंति ।

संसयवागरणाणि य, मणसा वयसा व पुच्छन्ते ॥

संख्यातीताः सुराणां कोटयो नित्यं सर्वकाळं जिनान् तीर्थकृत
उपासन्ते तथा सततं मनसा वचसा च पृच्छति सुरादिके
मनसा वचसा च संशयव्याकरणानि करोति । ततो भिक्षां न
हिएरुन्ते ।

उप्पणणाणा जह नो अर्दन्ति,

चोत्तीमबुद्धातिसया जिणिंदा ।

एवं गणी अचुणोववेतो,

सत्या व तो हिंरुइ इहिंमं तु ॥

यथा उत्पन्ने ज्ञाने जिनेन्द्राश्चतुस्त्रिंशत् बुद्धातिशयाः सर्वज्ञा-
तिशया देहसौगन्धादयो येषां ते तथा भिक्षां न हि एरुन्ते । एवं
तीर्थकरदृष्टान्तेन गणी आचार्याऽष्टगुणोपेतोऽष्टविधगणिसं-
पट्टपेतः शास्ता इव तीर्थकर इव ऋद्धिमान् न हि एरुन्ते ॥

गुरुहिंदणम्मि गुरुगा, वसभे लहुया न निवारयंतस्स ।

गीतागीते गुरुलहु, आणादोया बहू दोसा ॥

आचार्यं भिक्षामटामीति व्यवसितं यदि वृषभो न निवारयति
तदा तस्यानिवारयतः प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः । अथ
वृषभेण निवारितोऽपि न तिष्ठति तर्हि वृषभः शुद्धः आचार्यस्य
प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । तथा गीतार्थो भिक्षुश्च निवारय-
ति तदा तस्य मासगुरु अगीतार्थस्य भिक्षोरनिवारयतो
मासद्वयम् । आचार्यस्य गीतार्थगीतार्थाभ्यां वारितस्यापि
गमने प्रत्येकं चतुर्गुरु । आज्ञादय इमे वक्ष्यमाणा बहवो
दोषास्तानेवाह ।

वावे पित्ते गणालोए, कायकिलेसे अचितया ।

मेही अकारगे बाले, गणचिता वादिइहिणो ॥

भिक्षामटतो वातो वा प्रकुपितो भवति तथा अत्युष्णपरितापेन
पित्तमुत्पत्तिं भवति । तथा गणस्य गच्छस्य भिक्षाटनपरि-
श्रमत आलोकः कर्त्तव्यो न भवति । तथा भिक्षाटने काय-
क्लेशो भवति तस्माच्च सूत्रार्थपरिहासिस्तथा सूत्रार्थयोरचि-

न्ता भवति । तथा मेहीभूत आचार्यस्तस्मिन् भिक्षामटति
शिष्याणामात्मद्वाराभावात् प्राधूर्षकादीनां वात्सल्यकरणाभा-
वः । तथा अकारकं चेत् छव्यं व्रजते तस्य, व्रजने ग्लानत्वम-
व्रजने परिष्ठापनिकादोषः । तथा भिक्षामटतो व्याहः श्वादिस्थ-
तिष्ठेत तत्र चात्मविराधनादोषस्ततो गणचिन्ता । तथा वादी
कोऽपि समागतः स च भिक्षामटमाचार्यं श्रुत्वा हीलयेत्
उड्डाहं वा कुर्यात् । तथा ऋद्धिमान् समृद्धः आचार्यो भवतीति
च स हि एमापयितव्य इत्येव द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो वातद्वारमाह ॥

भारेण वेयणाए, हिंदंते उच्चनीयसासो वा ।

वाहुकडिवायगहणं, विसमाकारेण सूलं वा ॥

भारेण भक्तभृतभाजनभरेण वेदना भवति । तथा कोऽपि
ग्रामो गिरौ निविष्टो भवेत् तत्र च कानिचित् नीचस्थानानि
तानि भारेण वेदनायां सत्यां हि एडमानस्य इवासो भवति तथा
कटेऽथ वातग्रहणं भवति । तथा ग्रामे विषमाकारेण व्यवस्थिते
यत्र तत्र वा तिर्यक्शरीरं कृत्वा गच्छतः शूलं वा भवेत् ।

अचुणहतावितो उ, खच्छदवाददीय उड्डणाई य ।

अप्यियणे असमाही, गेलखे सुत्तजंगादी ॥

तथा अत्युष्णेन परितापितः सन् खर्द्धं प्रचुरं छवं पानीयम-
तितृषित आददीत । तथा परितापजावतः पुनः पुनः पानीयमा-
पिबेत् तथा चाहारपानीयेन प्लावितः सन् न जीयेत् अजर-
णाच्च वर्द्धनं वमनं भवेत् आदिशब्दात् आहाररुचिर्नोपजायते ।
अथवा पानीयं प्रभूतं न पिबति ततोऽसमाधिः । आहाररुचौ
च पुनर्भोजने ग्लानत्वं ग्लानत्वे च सूत्रप्रज्ञः सूत्रपौरुषीभङ्गः
आदिशब्दादर्थपौरुषीभङ्गश्च । गतं वातद्वारम् ।

अधुना पित्तद्वारमाह ॥

वहिया य पित्तमुच्छा, परणं उएहेण वा वि वसहीए ।

आदियणे उड्डणादी, सो चेव य पोरसीजंगो ॥

उष्णेन परितापितस्य चित्तप्रकृतेर्वहिः पित्तमूर्च्छावशतः तप-
नं भवेत् । तथा च सति भक्तभृतभाजनसाहितस्य उड्डाहः । व-
सतौ वा पित्तमूर्च्छावशतः पतनं तत्र प्रभूतजलपानानन्तरमपि
प्रचुरजलादानं तथा च सति त एव वर्द्धनादयः प्रागुक्ता दोषाः
स एव सूत्रपौरुष्या अर्थपौरुष्याश्च भङ्गः । गतं पित्तद्वारम् ॥

अधुना गणालोकद्वारमाह ॥

आलोगो तिष्ठि वारे, गोणीण जहा तहेव गच्छे वि ।

नट्टं न नाहिति नियद-दीहसोही निसिजं च ॥

यथा गोपालस्तिष्ठेत् वेद्यासु गवामालोकं करोति । तद्यथा
प्राक् प्रसरन्तीनां मध्याहे गायसु स्थितानां विकालवेद्यायां-
गृहं प्रत्यागच्छन्तीनां यदि न करोति तदा न जानाति काचि-
न्नष्टा का वा गतेति एव माचार्येणापि तिसृषु वेद्यासु गच्छे-
त्प्यालोकः कर्त्तव्यः । तद्यथा प्रातर्मध्याहे विकालवेद्यायां च तत्र
यदि प्रातरावश्यकं कृते गणालोकं न करोति तदा मासद्वयं जि-
न्नाचलायां द्वितीयं चारं गणालोकमकुर्वतो मासद्वयं तृतीयं चारं
विकालवेद्यायामप्यकुर्वतो मासद्वयम् । तत्राचार्यो यदि भिक्षां
नाटयति तदा तिसृषु वेद्यासु गणालोकं कर्तुं न शक्नोति भिक्षा-
मटन् कथं कुर्यात् गणालोके चाक्रियमाणे इमे दोषाः । कोऽपि
साधुर्नष्टो भवेत् स च नष्ट इति ज्ञात्वा प्रत्यानीयते गणालोके
पुनरुक्ते नष्ट इत्येव न ज्ञायते । तथा भिक्षाचर्यागमने कः स-

त्रिवृत्तः को वा नेति न ज्ञायते । तथा गणाश्लोके अक्रियमाणे को दीर्घ कालं भिक्षाचर्यं करोति को वा नेति केन ज्ञायते । तथा भिक्षामदत्याचार्यं भिक्षाचर्यात् आगतानामालोचनायां कः शोधं करोति । तथा भिक्षां हिरण्मणे सूरौ कोऽपि गृहनिपट्वा चाहयत्येतन्न ज्ञायते ॥

सो आनसस्यहाणि, करेज्ज भिक्षवाद्यसा व अत्येज्जा ।

तेण तिसंजाहोगं, सिस्माण करेऽ अत्यंतो ॥

भिक्षामदत्याचार्यं ये आवश्यककर्तव्या योगास्तेपांयः प्रमाद-
तो हानिं करोति स न ज्ञायते तथा आचार्य एवास्माकं भिक्षा-
मानेप्यतीति केचित् भिक्षावसा वसतावेव तिष्ठेयुर्न भिक्षाम-
देयुर्यत एवं गणाश्लोकेऽक्रियमाणे इमे दोषास्तस्मात्तिमृष्वपि
संख्यासु शिष्याणामालोक्येतिष्ठन् भिक्षामदिममरुमानः करो-
ति । गतं गणाश्लोकद्वारम् ॥

अधुना कायक्लेशद्वारमाह ।

हिंदंतो उव्वातो, मुत्तत्थाणं च गच्छपरिहाणी ।

नासेहिति हिंदंतो, मुत्तं अत्यं च आणेणं ॥

हिरण्मानः पुनर्भिक्षां महान् कायक्लेश इति (उव्वातोति)
परिभ्रान्तो भवति परिभ्रान्तत्वात्सूत्रमर्थ इति शिष्येषु प्रतीक्षि-
केषु च सूत्रार्थानां परिहाणिस्ततो गच्छस्यापि परिहाणिः शि-
ष्याणां प्रतीक्षिकानां चान्यत्रान्यत्र गणान्तरे संगमात् । तथा
हिरण्मानः सूत्रमर्थ चारेकेणाक्षेपेणात्मनो नाशयिष्यति । गतं
कायक्लेशद्वारम् ।

इदानीं चिन्ताद्वारमाह ।

जा आससिचं भुंजइ, भुत्तो तेयं च जाव परिणेइ ।

ताव गतो सो दिवसो, नटसती दाहिती किं वा ॥

यावद्भिक्षामर्थयित्वा कृणुमात्रमाश्वस्य नृक्के लुक्कोऽपि च खेदं
भिक्षादनपरिश्रमं यावत्प्रतिनयति स्फोटयति तावद्दिवसः सक-
लोऽपि गतस्ततो नास्ति सा वेदा यत्र सूत्रस्यार्थस्य वा चिन्तां
करोति अचिन्तितं च विस्मृतिमुपयाति ततो नष्टस्मृतिः किं दा-
स्यति न किमपीति भावः । वाशब्दो दूषणसमुच्चये । एतदेव
सुव्यक्तं ज्ञायति ॥

एगा नत्थि दिवसतो, रत्ति पि न जगते समुग्धातो ।

न य अगुणेडं दिज्जइ, जइ दिज्जइ संकितो दुहत्तो ॥

नास्ति एको विविक्तोऽवसरो दिवसमध्ये यत्र सूत्रमर्थं वा चि-
न्तयति राज्ञापि समुद्भातः सम्यक् परिभ्रान्तो न जागर्ति । न
च सूत्रमर्थं वा अगुणयित्वा दीयते यदि पुनर्दीयते तर्हि द्विधा-
तः सूत्रतोऽर्थतश्च शङ्कितो भवति । गतं चिन्ताद्वारम् ।

अधुना मेढिद्वारमाह ।

मेढीजूते बाहिं, जुंजण आदेसमाइ आगमणं ।

विणए गिहाणमादि, अत्यंतं मेढिसंदेसा ॥

आचार्यः सर्वस्यापि गच्छस्य मेढीजूतः मेढिरिति वा आधार
इति वा चक्षुरिति वा एकार्थं स चेद्भिक्षां गच्छति ततः साधूनां
वसतेर्वादिर्गच्छत्या भोजनं स्यादेतदनन्तरमेव ज्ञायिष्यते । तत
एवं ज्ञायते केचिदादेशाः प्राधूर्णका आगच्छेयुरादिशब्दा-
त्केचिदलक्षिका लक्षिपरिहीनास्ततस्तेषामादेशादीनामागमनं
ज्ञात्वा कः प्राधूर्णकानां विश्रामणं संदेशं वा कुर्यात् ॥ को
वा लक्षिपरिहीनानां यत्रास्ति तस्य दानं प्राधूर्णकानामि-
तरेषां च वात्सल्याकारणे विनयो न कृतः स्यात्तथा श्लाघ-

स्यादेशश्चात् वाद्यवृक्षासहायानां च कः संदेशप्रदानेन चिन्तां
कुर्यात् तिष्ठति भिक्षामनदत्याचार्यं मेढेः संदेशादादेशात् सर्व-
मादेशादि सुस्थं भवति ।

संप्रति यदुक्तं " बाहिं जुंजणसि " तद्भावयति ॥

आलोयदायणं वा, कस्स करेहासु कं च छंदेपो ।

आयरिए य अदंते, को अत्थि उ मुच्छहे अत्तो ॥

शिष्याः प्रतीक्षिकाश्च भिक्षां प्रविष्टाश्चिन्तयन्ति सूरिरपि
भिक्षार्थं निर्गतो भविष्यति ततो वयं संप्रति प्रतिश्रयं गत्वा
कस्य पुरतः आलोचयिष्यामः कस्य वा भक्तं पानं वा दर्शयि-
ष्यामः के चान्यं साधुं तत्र गताश्चिन्तयामो निमन्त्रयामो यतो
भिक्षामदत्याचार्यं कोऽन्यः साधुः स्थातुमुत्सहते सर्वोऽपि भि-
क्षां यातीति भावस्तथाहि सर्वे साधवो भिक्षामदत्याचार्यं चिन्त-
यन्ति यदि स्वयम्माचार्यो भिक्षां हिरण्मणे काऽस्माकं शक्तिः प-
श्चात् स्थातुं वयमपि यास्यामः । एवं सर्वस्यापि गमने निम-
न्त्रणाऽपि कस्य स्यादिति विचिन्त्य बहिरेव समुद्दिश्य वस-
तावागच्छेयुरिति । गतं मेढिद्वारम् ॥

इदानीमकारकद्वारमाह ॥

एक्कासिते अकारगम्मि, दब्बे पमिसेहणा हवति दुक्खं ।

रायनिमंतणगुणे, विसणवावारणा दुक्खं ॥

भिक्षामदत आचार्यस्य यदकारकं तस्य तत् भिक्षार्थं निष्का-
शितं तस्मिन् अकारके कस्ये भिक्षार्थं निष्काशिते प्रतिषेधनं
भैतदकारकमन्यदेहीति वक्तुं लज्जितो भवति दुःखं यदि पुन-
रल्लंकां मुक्त्वा जगति तदाऽनन्तरं वक्ष्यमाणा गाथाद्वयोक्ता दो-
षास्तथा भिक्षामदत्याचार्यं राज्ञा मन्त्रवारणकस्थितेन दृष्टस्तत
आकारयित्वा जगितो मम गृहे भिक्षां गृहीत स प्रादं न कल्पते
राजपिण्ड इति एवं निमन्त्रणानन्तरमग्रहणे राज्ञाप्यते साधो !
किं तव पतद्ब्रह्मे समस्ति ततो दर्शितेऽन्तर्प्रान्तादिके वासिका-
दौ च राजा तत् दृष्ट्वा खिसनं कुर्यात् । तथा आचार्योऽश्विष्यको
प्रवेत् स चेत् शानादिनिमित्तं शिष्यान् प्रतीक्षिकांश्च व्यापार-
येत् तथा शानादीनां योग्यमानयेति ते चाश्विष्यकं ज्ञात्वा परि-
भवमुत्पादयन्तीति तेषां व्यापारणं दुःखमेवेति चारुगाथासमा-
सार्थः । सांप्रतमेनामेव विवरीषुर्लंकां मुक्त्वा अकारककृष्यप्र-
तिषेधने दोषास्तानेवाह ॥

जेणेव कारणेणं, सीसमिणं सुंदिहं जदंतेण ।

वयणपरवासिणी वि हु, न पुंदिह्या ते कहिं जीहा ॥

येनैव कारणेन हेतुना भदन्तेन गुरुणा तव शीर्षमिदं मुणिरुतं
तेनैव कारणेन तव जिह्वाऽपि वदनगृहनिवासिनी भैतदका-
रकमन्यदेहीति वृथाणा कथं न मुणिरुता येनैवं भाषते यथा ।

गयमागमम्मि लोए, सीसा वि तहेव नस्स गच्छंति ।

सयमेव दुद्धजिम्भा, सीसे धिणइससी केण ॥

गतागतोऽयं स्वजावतो श्लोकः पितृस्वभावं पुत्रोऽनुकरोतीति
ज्ञावः ततो गतागमेऽस्मिन् लोके यथाऽऽचार्यो गच्छति चेष्टते
शिष्या अपि तस्य तथैव गच्छन्ति वर्तन्ते त्वं च स्वयमेवेत्यं दुष्ट-
जिह्वस्ततः केन प्रकारेण शिष्यान्विनेष्यसि शिक्षयिष्यसि नैव
कथञ्चनेति । ततस्तेऽपि त्वत्सदृशा जविष्यन्तीति ।

पमिसेहंतमजोगं, अण्णस्स वि दुद्धइं हवइ जिक्खं ।

सद्धाभंगवियत्तं, जिम्भादोसो अवसो य ॥

अयोग्यमकारकं प्रतिषिध्यमानं महान्तमपगुणं करोति कं

तमित्याह कोऽसौवपगुणं इत्याह अन्यस्यापि साधोर्दुर्लभं
भवति प्रैक्षे नैते यद्वा तद्वा गृह्णन्तीत्यदानात् । तथा अकारक-
स्य प्रतिषेधने कस्या अपि महत्या श्रद्धाया भङ्गः अपरस्या
(अचियत्तं) अग्रीतिस्तत्तस्तद्वशाद्वर्णो जिह्वादोष उत्पद्यते ।
संप्रति यदुक्तं राजनिमन्त्रणाग्रहणखिसनमिति तत्र तदेव
खिसनमाह ।

पुर्वि अदत्तदाणा, अकोविद्या इह उ संकलित्संति ।

काऊण अंतरायं, नेच्छंतिद्वं वि दिज्जंते ॥

आन्तप्रान्तादौ च दर्शिते राजा प्राह पूर्वमदत्तदाना यूयं तत
इहाकोविदा अतत्त्वज्ञाः सन्तः क्लिश्यन्ते । तथाच राजपिएड
इत्यन्तरायं कृत्वा इष्टमपि दीयमानं प्रवन्तो नेच्छन्ति ।

गहणंपरिमेहंजुण, अंजुणं चैव मांसियं लंहुयं ।

संमणुणं अंजुणे वा, विसेज्जं व सेहमादी य ॥

अकारकस्य ग्रहणे संति यद्यन्यैः साधुभिः प्रतिषिध्यमानोऽपि
चुङ्के तदा ग्लानत्वमथ न भुङ्के तदा अभोजने पारिष्ठापनिका-
दोषस्तत्र च प्रायश्चित्तं मांसिकं बंधु । तथा यद्याचार्योऽल-
ब्धिकस्तदा अमनोऽंलाभं वा शैक्कादयः खिसेयुर्न किमपि
कापि गतो लज्जते रिक्तमेतस्याचार्यत्वम् ।

वावारियां गिलाणा-दियाण (गेहह) जोगंति ते तत्रो वेति
तुवने कीस न गेहह, हिंरुतात्रो सयं चैव ॥

आचार्यो ब्रह्मिहीनः सन् शिष्याभ्यातीच्छिकांश्च व्यापारयेते
यथा ग्लानादीनां ग्लानप्राधुर्षकप्रवृत्तीनां योग्यं गृहीत त एवं व्या-
पारिताः सन्तो भुवते यूयं स्वयमेव हिंरुमाना ग्लानादिप्रायो-
र्यं कस्मान्न गृहीत ।

एवाणाए-परिभवो, वेति य दीसति य पाभिरुवं ने ।

आण्ह जाणमाणा, खिसंती एवमादीहि ॥

एवमुपदर्शितेन प्रकारेण आज्ञायाः परिज्व उत्पाद्यते यथा य-
दि यूयं प्रायोग्यं न लभंश्चे वयं कथं क्षप्स्यामहे एवमुक्ते याद्या-
चार्यो ब्रूते आर्या उद्यमेन किं न ब्रूयते तत एवमुक्ते कृषा भुवते
दृश्यते खलु ने भवतां प्रातिहार्यं सातिशयमाचार्यत्वं स्वयमव-
जानतः कस्मान्नानयत एवमादिभिरुच्चावचैर्वचनैः खिसयन्ति
हीलयन्ति । गतमकारकं द्वारम् ।

व्याघ्रद्वारमाह ।

वांशो य माणसादी, दिट्ठतो तत्थं होति उत्तेण ।

द्वोजे य आनिओगो, विसे य इत्थीकए वा वि ॥

भिक्षामदतो व्याघ्रः श्वप्रभृतिकः कदाचिल्लगतिं तदा महत्य-
पभ्राजना तत्र दृष्टान्तद्वारेण यथा वज्रमुपरि ध्रियमाणं शौज-
ते अथः पतितं तु न किमपि एवमाचार्योऽपि बहुभिः परिवारि-
तो गच्छन् शोभते तथा भिक्षाटनप्रवृत्तस्तु श्वादिपरिगृहीतो न
किमपि । तथा प्रतिरूपवानाचार्यो भवतीति लोभेन गांथायां स-
समी तृतीयाथेऽज्ञियोगो वदीकरण-रहितं स्यात् । विषं वा केन-
चित्प्रतिष्ठेन दीयत । एतदेवोत्तरार्थं व्याचिख्यासुराह ।

माणं असंमत्था, वद्धं रुद्धं च नच्चणं कुसिया ।

जुवौतकमणिज्जरुवो, सो पुण सन्वे वि ते संतो ॥

युवतिकमनीयरूपतयाऽशीकदोषसंभावनया अन्यथा वक्तुं
नर्त्तकं नटानां नायकं कुसिता मोचयितुं न समर्थास्तेषां ता-

दृक्स्वजावात्स पुनर्युवतिकमनीयरूपस्तान् कुसितान्सर्वानपि के-
नापि दोषेण वक्षान् रुद्धान्वा मोचयितुं शक्तस्ततो यथा स प्र-
यत्नेन रक्ष्यते एवमाचार्योऽपि रक्षणीयोऽन्यथा दोषस्तथा चाह ।

एमेवायरियस्स वि, दोसा पभिरुववं च सो होइ ।

दिज्जवि स भिच्छुवासो, अभिजोगवसीकरणमादी ॥

एवमेव नर्त्तकस्येवाचार्यस्याप्यरक्षितस्य दोषा प्रवन्ति ।
तथाहि सोऽपि प्रतिरूपवान् भवति ततः कोऽपि जिज्जुपासको
जिनप्रवचनप्रज्ञावनामसाहिष्णुर्विषं दद्यात्स्त्री वा काचिद्रूपबुद्ध्या
अभियोगं कुर्यात् वशीकरणादि वा प्रयुज्जीत यस्मादेते दोषास्त-
स्मात्प्रयत्नेन रक्षणीयोऽन्यथा तदभावे गणस्याप्यभावाप-
त्तिस्तथा चाह ।

नच्चणहीणा वनडा, नायगहीणा च रूपिणी वा वि ।

वक्कं व तुंरहीणं, न हवति एवं गणो गणिणा ॥

यथा नर्त्तनहीना नटा यथा नायकहीना रूपवती स्त्री यथा च
वक्त्रं तुंरहीर्न न भवति एवं गणिनाऽऽचार्येण विना गणोऽपि
न भवति तदेवं व्याघ्रद्वारं गतम् । इदानीं गणचिन्ताद्वारमाह ।

लाभालाजप्पाणि, अकारके वाडवुहमादेसे ।

सेहखमए न नाहिंति, चिट्ठतो नाहिंति न सच्चो ॥

केन पर्याप्तं लब्धं केन वा न लब्धमिति न ज्ञास्यति स्वयं भि-
क्षाटने परिश्रान्तत्वात्तथा अन्धनिर्मोगे परिश्रान्ताः समागमन-
प्राधुर्षकाः तेषामिदं वाऽकारकं तथा बालानां वृक्षान् पूर्वान् गतां-
श्चादेशान् प्राधुर्षकान् तथा शैक्षान् कृपकांश्च करणीयसाराकर-
णतया न ज्ञास्यति । स्वयं भिक्षापरिश्रमणपरिश्रान्तत्वात् ति-
ष्ठन् पुनः सर्वान् यथोचित्येन ज्ञास्यति परिश्रमानावात् । गतं
गणचिन्ताद्वारम् ।

अधुना वादिद्वारमाह ।

सोऊण गतं खिसंति, पभिच्छिज्जंवा य वादिपेह्वेइ ।

अत्यंति सत्थचित्ते, न होति दोसा तवादी य ॥

भिक्षामदितुं प्रवृत्ते आचार्ये वादी कोऽपि समागतस्तेन साध-
व उक्ताः क आचार्याः साधुनिरुक्तं भिक्षाटनाय गतस्ततः स
भिक्षार्थं गतं श्रुत्वा खिसति हीनयति एतावत्तस्य पापित्यं स
स्वयं भिक्षामदति । ततः कृणमात्रं प्रतीकितः स चाचार्य उच्चा-
न्तः समागतस्तं समागतं इष्ट्वावादी प्रेरयति । स च परिश्रान्त-
त्वाद्धुत्तरं दातुमसमर्थस्तिष्ठति । पुनः स्वस्थचिते दोषास्नापादय
आदिशब्दात्तुषितादिपरिग्रहो प्रवति तथा च सति न वादि-
ना तस्य प्रेरणे किं तु जयति । वादी समागतो भिक्षार्थं गत
इति श्रुत्वा यदि गच्छेत्तुं दुपदेशयति ॥

पागडियं माहप्पं, विष्ठाणं चैवं सुष्ठु ते गुरुणो ।

जइ सो विजाणमाणे, न वि तुंभमणादितो हुंतो ॥

भिक्षार्थं गतं इति वृषाणैर्निवृत्तिः सुष्ठु अतिशयेन माहात्म्येग-
रिमवैकृणं विज्ञानं च प्रकटितम् । यदि सोऽपि ज्ञाता भवति
न चैव युष्माकमनोदत्तो प्रयेत् । अधुना “ पभिच्छिज्जंवा य वा-
दि पिह्वेइ ” इति व्याख्यानयति ।

न वि उत्तराणि पासइ, पासाणियाणं च होति परिजुतो ।

सेहादिभत्तगा वि-य, दट्ठं अमुहं परिणमंति ॥

स भिक्षाटनपरिश्रान्तः सन् न वि नैव उत्तराणि पश्यति
परिश्रमेण बुद्धेः सत्यापादनात्तथा च सति स प्राशिकानामपि

सभ्यानामपि परिभूतो भवति ततो ये शैलकादयो ये च भद्रका-
दयस्ते तन्मुखं निरुत्तरं दृष्ट्वा परिणमन्ति विपरिणामं जन्तुः ।
जिह्वार्थमननने पुनरिमे गुणाः ।

सुत्तत्थाण गुणाणं, विज्जामंता निमित्तजोगाणं ।

वीसत्थे पडिरक्खे, परिजिणइ रहससुत्ते य ॥

सुत्रार्थानां तथा विद्यानां मन्त्राणां निमित्तकाराणां योगशा-
स्त्राणां च गुणनं पराचर्ननं भवति । तथा विश्वस्तः सन् प्रतिरि-
क्तं विविक्ते प्रदेशे रहस्यसुत्राणि परिजयन्ति अन्यन्तं स्वच्यस्तानि
करोति तस्मान्न भिक्षार्थमदित्यमाचार्येण गतं वादिचारम् ।

इदानीमुक्तिमद्वहारमाह ।

रग्गा वि दुवक्खरको, उवतो सच्चस्स उत्तमो होति ।

गच्छम्मि वि आयरितो, सच्चस्स वि उत्तमो होइ ॥

राज्ञा द्वयकरको दासो यद्यपि ज्ञात्वा हीनस्तथाऽपि संस्था-
पितः सन् सर्वस्याप्युत्तमो जवति । उत्तमत्वाच्च यथा न कश्च-
न प्रपणनं हिण्डाप्यते सोऽप्येवं यथा तथा गच्छेऽप्याचार्यः स-
र्वस्याप्युत्तमो जवतीति स सुतरां भिक्षां न हिण्मापयितव्यः ।

रायामच्चपुरोहिण्य, सेही मेणावतो तलवरा य ।

अभिगच्छंतायरिण, वहियं च इमं उदाहरणं ॥

यथा तीर्थकरभ्रष्टस्यकालं हिण्माप्तोऽप्युपश्रुते ज्ञाने देवेन्द्रा-
द्यभिगमात्र हिण्मते । एवमाचार्यानापि आचार्यपदस्थापिता-
न् राजा अमात्यः पुरोहितः श्रेष्ठी सेनापतिः तलवराश्चाभिगच्छ-
न्ति ततस्तेऽपि भिक्षां न हिण्मन्ते । अन्यथा दोषस्तत्रेदमुदाहर-
णं तदेवाह ।

सोऊण य उवसंतो, मच्चो रग्गो तणं निवेदेइ ।

राया वितिण् दिवसे, तइण्ऽमची य देवी य ॥

राज्ञोऽमात्य आचार्यसमीपे धर्मं श्रुत्वा उपशान्तः स च राज्ञः
स्वकमाचार्यं निवेदयति । यथा गुणवानतीवाचार्योऽमुकप्रदेशे
तिष्ठति ततो द्वितीयदिवसे राजा अमात्येन सह गतः धर्मं
श्रुत्वा परितुष्ट आगतो निजाग्रमहिष्याः परिकथयति अमात्येना-
प्यात्मीयजार्थायाः कथितं ततोऽमात्यो देवी च तृतीयदिवसे ध-
र्मश्रवणाय समागते आचार्यो जिह्वार्थं गनस्ततः ।

सोऊं पणिच्छिऊण, वगया अहवा पणिच्छणे खिसा ।

हिंमंति होति दोसा, कारण पणिवत्तिकुसलेहिं ॥

भिक्षार्थं गत इति श्रुत्वा ते हीलयित्वा गते । अथवा क्षणमात्रं
प्रतीक्ष्य हीलयन्त्यौ गते । यदि वा यावदाचार्य आगच्छति
तावत्प्रतीक्षमाणे हीलयतः । अथवा प्रस्विन्नशरीरं परिललप-
स्वेदमागतं दृष्ट्वा खिसतो यदि वा क्रमेण सुष्ठु कृतं वन्दनं वा
सोमं कथयतो वा परिश्रमेण न सुष्ठु वचनविनिर्गमस्तत उ-
त्थिते हीलयतो, यथा पिण्डोलक इवैष भिक्षामदति किमाचा-
र्यत्वमेतस्य । एते भिक्षां हिण्डमाने दोषाः । यदि पुनः कारणे
वक्ष्यमाणे भिक्षार्थं गतो भवेत् राजादयश्च तत्र गतास्ते च पृ-
च्छेयुः क्व गत आचार्यस्तत्र ये प्रतिपत्तिकुशलास्तेनैदं प्रतिवक-
व्यं भिक्षार्थं गत इति किंतु चैत्यवन्दननिमित्तं गत इति । यदि
राजादय आचार्यमागच्छन्तं प्रतीक्षेरन् तदा येऽतीव दक्षा गी-
तार्थास्ते सुन्दरं पानकं प्रथमालिकां च सुन्दरं कल्पं चोलपट्टं
च गृहीत्वाऽऽचार्यस्य कथयन्ति । तत आचार्यो मुखहस्तपा-
दादि प्रक्षाल्य प्रथमालिकां पानकं च कृत्वा अल्पं प्रावृत्य पात्रा-
शयन्यस्य समर्प्य तादृशवेधो वसतावानीयते यथाऽनाख्या-

तोऽपि राजादिभिर्होयते एष आचार्य इति । ततो वसतिं प्राप्तस्य
पादप्रोच्छन्नं पादप्रमार्जनार्थमादाय साधव उपतिष्ठन्ति । पादप्र-
मार्जनानन्तरं वसतेरन्तः प्रविश्य पूर्वरक्षितार्थां निषद्यायामुप-
विशति उपविष्टस्य चरणकल्पकरणाय कोऽपि साधुरूपद्वैकते
चरणप्रक्षालनानन्तरं च सर्वे साधवः पुरतः पार्श्वतः पृष्ठतो वा
किंकरभूतास्तिष्ठन्ति यथा राजा चकितस्तिष्ठति । एतदेवाह ।

कारणजिक्खस्स गते, वि कज्जमन्नं निवस्स साहिता ।

निज्जोगनयनपदमा, कमादिधुवणं मणुष्साइ ॥

कारणे वक्ष्यमाणलक्षणे समापतिते भैक्षस्य गतेऽप्याचार्ये नृ-
पस्यान्यत्कार्यं कथयित्वा प्रथमालिकादेर्नियोगस्य नयनं ततः
क्रमादिप्रक्षालनं ततो मनोमयप्रथमालिकावितरणम् ।

कयकुक्कुय आसत्थो, पविसई पुव्वरइयनिसेज्जाए ।

पयया य होति सीसा, जह चकितो होइ राया वि ॥

कृतकुक्कुचः कृतकुलकुल आस्वस्थः प्रविशति प्रविश्य पूर्व-
रक्षितार्थां निषद्यायामुपविशति ततः पादप्रक्षालनसमीपोपवे-
शनप्रयतास्तथा भवन्ति यथा राजाऽपि चकितो जायते ।

अत्र परप्रश्नमाह ।

सीसा य परिच्छत्ता, जोगवयणं कुटुंविसामणिया ।

दिडंतो दंमिण्ण, सावेक्खे चेव निरेक्खे ॥

चोदकवचनमाचार्यं रक्षयित्वा शिष्या भिक्षार्थां प्रेषितास्तर्हि
ते त्यक्ताः । आचार्य आह । अत्र कुटुम्बगृहप्रदीपनदृष्टान्त-
स्तथा दण्डकेन दृष्टान्तः सापेक्षो निरेपेक्षआचार्य एष द्वार-
गाथाक्षरार्थः ।

संप्रत्येनामेव विवरीषुः प्रथमतः "सीसा य परिच्छत्ता"

इति भावयति ।

वायादीया दोसा, गुरुस्स इतरेसि किं न ते होति ।

रक्खपसिस्सच्चाए, हिंरुणतुद्धे असमता य ॥

वातादयो दोषा गुरोर्भवन्ति इतरेषां साधूनां किं तेन जवन्ति
जवन्त्येवेति ज्ञावः । ततो हिण्मने हिण्मनदोषे तुल्ये आत्मनो
रक्षा क्रियते शिष्याणां च त्याग इत्यसमता नेदं समञ्जसमित्य-
र्थः । अन्यच्च ॥

दसविहवेयावचे, निचं अब्भुट्टिया असदभावा ।

ते दाणिं परिभूआ-आणुज्जमंताए दंको य ॥

दशविधे आचार्यादिज्जेदतो दशप्रकारे वैयावृत्ये नित्यं सर्वका-
लमशठजावाः सन्तोऽभ्युत्थितास्ते संप्रति वातादिदोषान्पश्य-
द्भिरपि जिह्वादेन प्रेम्पमाणाः परित्यक्तास्तथा दशविधे वैयावृ-
त्ये नोद्यच्छन्ति ततस्तेपामनुद्यच्छतामाचार्यादिवैयावृत्याकरणे
यथाऽहं प्रायश्चित्तं दणो दीयते तदेवं "सीसा य परिच्छत्ता"
इति भावितम् ॥

इदानीं कुटुम्बिसामणियेति दृष्टान्तं भावयति ॥

बुद्धीधम्मसुजरियं, कोचागारं रुज्जति कुटुंविसस ।

किं अम्ह मुहा देइ, केइ तहियं न अस्सीणा ॥

एकः कौटुम्बिकः स कर्षकाणां कारणे उत्पन्ने बुद्ध्या काष्ठान्तरू-
पया धान्यं ददाति तथा च बुद्ध्या कौटुम्बिकस्य कोष्ठागाराणि
धान्यसुवृत्तानि जातानि । अन्यदा च तस्यैकं कोष्ठागारं बुद्धिधा-
न्यसुवृत्तं वह्निना प्रदीप्तेन दह्यते तत्र केचित्कर्षका विध्मापननि-
मित्तं तत्र प्रदह्यमाने कोष्ठागारे समागतास्तत्र केचित्कथयन्ति

किमेव कौटुम्बिकोऽस्माकं मुधा ददाति येन वयं विघ्नापनार्थ-
मच्युद्यता भवामः ॥

एयस्स पचावेणं, जीवा अम्हेति एव नाकण ।

अस्से उ समद्वीणा, विज्जविण तेसि सो तुट्ठो ॥

अन्ये कर्षका एतस्य कौटुम्बिकस्य प्रभावेण वयं जीवन्तः स्म
जीव अच्युप्रत्ययः जीविता इत्यर्थः । एवं ज्ञात्वा समाधीनास्तत्र
समागता विघ्नापनाय च प्रवृत्तास्ततो विघ्नापिते कोट्टागारे स
कौटुम्बिकस्तेषां तुष्टः । ततः किमकार्षीदित्यत आह ॥

जे उ हायागत्तं, करेसु तेसि अवहियं दिन्नं ।

दट्ठंति न दिण्णिणयेरे, अकासगा दुक्खजीवी य ॥

ये विघ्नापने सहायकत्वमकार्षुस्तेषामवृद्धिकं कालान्तरवृद्धिर-
हितं धान्यं दत्तमितरेषां तु सहायत्वमकृतवतां दन्ध्वमित्युत्तरं
विधाय न दत्तं ततस्ते अकर्षकाः सन्तो दुःखजीविनो जाताः ।
एष दृष्टान्तः ॥

संप्रतिमुपनयमग्निधित्सुराह ॥

आयरिय कुडुवी वा, सामाणियथाणिया जवे साहू ।

वावाहअगणितुद्धा, सुत्तत्था जाण धन्नं तु ॥

आचार्यः कुटुम्बी इव कुटुम्बितुल्य इत्यर्थः । सामान्यकर्षक-
स्थानीयाः साधव आचार्यस्य जिज्ञातने वातादिज्यावाधा अग्नि-
तुल्या सूत्रार्थान् जानीहि धान्यं धान्यतुल्यान् ॥

एमेव विणीयाणं, करेति सुत्तत्थसंगहं थेरा ।

हावेति उदासीणे, किलेसभागी य संसारे ॥

एवमेव कौटुम्बिकदृष्टान्तप्रकारेण ये विनीतास्तेषां स्थविरा
आचार्याः सूत्रार्थसंग्रहं कुर्वन्ति सूत्रार्थान्प्रयच्छन्ति यस्तदुदासी-
नस्तत्र ह्यापयन्तीति न प्रयच्छन्तीति ज्ञावः स चोदासीनो वर्त्त-
मानः केवलं सूत्रार्थयोग्यो भवति ऋक्षेशभागी च संसारे जायते
गतं ध्यापनद्वारम् ।

संप्रति दण्डिकदृष्टान्तं विभावयिषुरिदमाह ॥

उप्पल्लकारणे पुण, जइ सयमेव सहसा गुरू हिंसे ।

अप्पाण गच्छमुज्जयं, परिचयती तत्थिमं नायं ॥

उत्पन्ने कारणे वक्ष्यमाणलक्षणे यदि सहसा स्वयमेव गुरुरा-
त्मानं गच्छमुज्जयं च परित्यजति तत्र चेदं वक्ष्यमाणं ज्ञातमुदा-
हरणम् । तदेवाह ।

सोउं परवल्लमायं, सहसा एक्कागिओ उ जो राया ।

निगच्छति सो चयती, अप्पाणं रज्जमुभयं च ॥

यो निरपेक्षो राज्ये परवल्लमागतं श्रुत्वा वल्लवाहनान्यमेवयित्वा
सहसा एकाकी परवल्लस्य संमुखो निर्गच्छति स आत्मानं
राज्यमुभयं च त्यजति वल्लवाहनव्यतिरेकेण युष्कारम्भे मरण-
भावात् । एवमाचार्योऽपि निरपेक्षः समुत्पन्नेऽपि कारणे सहसा
भिक्षामदन्नात्मानं गच्छमुज्जयं च परित्यजति । उक्ता निरपेक्षद-
ण्डिकदृष्टान्तज्ञावना ।

संप्रति सापेक्षदण्डिकदृष्टान्तभावनामाह ।

सावेक्खो पुण राया, कुमारमादीहि परवल्लं खवियं ।

अजिए सयं पि जुज्झइ, उवमा एसेव गच्छे वि ॥

सापेक्षः पुना राजा प्रथमं कुमारानीन् युष्माकं प्रेषयति ततः
कुमारादिभिः परवल्लं क्षपयित्वा यदा कुमारैर्न परवल्लं क्षपितं तदा
तस्मिन्नजिते स्वयमपि राजा युध्यते एषैवोपमा गच्छेऽपि द्रष्टव्या ।

आचार्योऽपि पूर्वं यतनां करोति तथाऽपि असंस्तरणे स्वयमपि
हिएडते एवं चात्मानं गच्छमुज्जयं निस्तारयतीति ज्ञावः ।
संप्रति यैः कारणैराचार्येण भिक्षार्थमदितव्यं तानि कारणान्याह ।

अप्पाणकक्खमासति, गेल्लसादेसमाइएसुं तु ।

संथरमाणे भइतो, हिंमेज्ज असंथरंतम्मि ॥

अध्वानं प्रपन्नः सार्थेन सममाचार्यो गच्छुंस्तत्र चासंस्तरणे
यदि सार्थिका आचार्यस्य गौरवेण प्रयच्छन्ति ततः स्वयमेवा-
चार्यो हिएरुते एवं कर्कशेऽपि क्षेत्रे भावनीयं तथा असति
सहायानामभावे को भिक्षामानीय ददातीति स्वयं हिएरुते ।
तथा ग्याना बहवस्ततस्तेषां सर्वेषामपि गच्छसाधवः प्रयो-
ग्यमुत्पादयितुमशक्ता अथवाऽज्ञानप्रयोग्यमन्यः कोऽपि न व्रजते
तत आचार्यो हिएरुते एवमादेशाः प्राघूर्षका आदिशब्दात्
वाववृद्धासहपरिग्रहस्तेष्वपि ज्ञावनीयम् । एतेषु विषयेषु असंस्त-
रति गच्छे नियमादाचार्यो हिएरुते अन्यथा प्रायश्चित्तसंभवा-
त्संस्तरति पुनर्मत्तो विकल्पितः हिएरुते कदाचिन्न अच्युद्यत-
विहारपरिकर्मं कुर्वन् हिएरुते शेषकाहं नेत्यर्थः । एष द्वारगा-
थासंक्षेपार्थः । अत्र यदुक्तं संस्तरणे न हिएरुते इति तत्र सं-
स्तरणं त्रिविधं जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं च तत्र जघन्यमधिकृत्याह ।

पंच वि आयरियादी, अत्थंते जहन्नाए वि संथरणे ।

एमेव संथरंतं, सयमेव गणं अरुति गामे ॥

जघन्येऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपे संस्तरणे पञ्चाप्याचार्योपाध्ययप्र-
वर्त्तिस्त्रिरगणावच्छेदिनस्तिष्ठन्ति जघन्येऽपीत्यपिशब्दः संभाव-
ने स चैतत्संज्ञायति । यदि तावत् जघन्येऽपि संस्तरणे प-
ञ्चाप्याचार्यादयस्तिष्ठन्ति ततो मध्यमे उत्कृष्टे संस्तरणे नियमा-
त्पञ्चभिरपि स्यातव्यम् । एवमपि जघन्येनापि संस्तरणेनासं-
स्तरति गच्छे स्वयमेव गणं आचार्यो ग्रामे भिक्षामदति स च
प्रतिलोमपरिपाट्या पर्यन्ते तथाहि जघन्येनापि असंस्तरति प्रथमं
गणावच्छेदको हिएरुते तथाऽप्यसंस्तरणे स्थविरोऽपि हिएरुते
एवमप्यसंस्तरणे प्रवर्त्यपि तथाप्यसंस्तरणे उपाध्यायोऽपि त-
थापि चेन्न संस्तरति गच्छस्तत आचार्योऽपि ।

तत्र प्रथमत उत्कृष्टसंस्तरणमाह ॥

मंडल्लगयामि सूरे, उत्तिष्ठा जाव पछवणवेत्ता ।

ता एति जुत्तासेस-गया च उक्कोससंथरणे ॥

नजोमएरुवस्य मध्यगते सुर्ये मध्याह्ने इत्यर्थः भिक्षार्थमवतीर्ष-
स्ततः पर्याप्तं हिएरुत्वा यावत् तृतीयपौरुष्या आदौ स्वाध्याय-
प्रस्थापनवेत्ता तावत्स निवर्त्तते एतदुत्कृष्टं संस्तरणम् । अथवा तृ-
तीयपौरुष्या आदौ स्वाध्यायप्रस्थापनवेत्तायां स निवर्त्तते एत-
दुत्कृष्टं संस्तरणम् ।

मध्यमं जघन्यं चाह ।

सप्पातो आगयाणं, चउपोरिसि मज्झिमं हवति एयं ।

विसुयाविय मत्तादियो, समतिऽत्थंते जहंस्स तु ॥

मध्याह्नादारभ्य भिक्षार्थमवतीर्णानां पर्याप्तं हिएरुत्वा वसता-
वागतानां जुक्तानां सञ्ज्ञातः सञ्ज्ञाचूमित आगतानां यदि चतु-
र्थी पौरुषी अवगाहते एतत् मध्यमं संस्तरणं भवति । मध्या-
ह्नादारभ्य भिक्षामदित्वा जुक्त्वा सञ्ज्ञाचूमितः प्रत्यागतमात्रेषु वि-
सुयावियसु, विशोधितेष्वस्तमये पुनर्दिने समति जघन्यं संस्त-
रणमवसातव्यं तदेवमुक्तं जघन्यादिभेदज्ञिन्नं संस्तरणम् ।

इदानीं मध्यादिद्वारव्याख्यानार्थमाह ॥

अप्पाणेऽसंथरणे, अकोवियाणं त्रिकरणं पत्तंवे ।

एमेव ककरवन्मि वि, असति चि महायगा नत्थि ॥

अन्येन साधेन समं व्रजतामस्तन्तरणे भिक्षार्थमाचार्यो हि-
गुरुते । अथवा ते सहायाः अकोविदाः साधे च प्रश्रव्यान्विकर-
णीकृतान्यव्यानीकृतानि हन्यन्ते तत आचार्यः स्वयमेव हि-
एकमानस्तानि विकरणानि कृत्वा सन्निवर्त्तने अथवा ददतामु-
पदेशं ददाति विकरणानि कृत्वा दद्व्यमिति । एवमकोविदानां
सहायानां जाये प्रलम्बविकरणानिभित्तमाचार्यो गच्छति । एव-
मेव ककरोऽपि केवे भिक्षार्थं गमनमाचार्यस्य भवति तत्रान्यसं-
स्तरणे अकोविदाः सहायजावे प्रश्रव्यविकरणायां वा गच्छन्तीति
तथा असतीति नाम सहायका न सन्ति ततः स्वयमेव जि-
ह्मामति ।

बहुया तत्थ तरंता, अह गिह्माणस्स सो परं लहति ।

एमेव य आदने, सेससु विनासवुच्चीए ॥

बहुवस्तत्र गच्छे अतरन्तो ग्लानास्ततः सर्वेषां गच्छसाधवः प्रा-
योग्यमुत्पादयितुमशक्ता अथवा ग्लानस्य परं प्रायश्चित्तमन्यां न
लभते किंतु स एवाचार्यस्तनः स हिगडने । एवमेवादेशेषु प्र-
श्रानकेषु शेषेषु च बाह्यवृक्षासहेषु विभाषा विनापणं तच्च शु-
द्धया कर्त्तव्यं तच्चैव यथादेशादयो बहवः सर्वेषां साधवः कर्तुं
न शक्नुवन्ति यदि वा स एवादेशादिप्रायोग्यं लभते नान्यः को-
ऽपि तनः स हिगडने ।

संप्रति " संथरमाणे मइओ इति " व्याख्यानयति ।

अवमुज्जयपरिकम्मं, कुणमाणो जा गणं न वोसिरिति ।

ताव सयं सो हिंरुड, इति भयणे मंयरंतम्मि ॥

अन्युद्यतविहारपरिकर्मं कुर्वन् यावत् गणं न व्युत्सृजति ता-
वत्सयं स आचार्यो हिगडने इत्येषा भजना संस्तरति गच्छे ।

अप्पाणादिसुवेहं, मुहसीलत्तेण जां करेज्जाहि ।

गुरुगा य जं च जत्थ व, सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥

अध्यादिषु अजककंशादिप्यसंस्तरति गच्छेत् सुखशीलत्वेन
सुखमाकाङ्क्षमाण आचार्योऽहमित्यालम्बनमाधाय य उपेक्षा-
माचार्यः करोति जिक्वां न हिगुरुते इत्यर्थस्तस्य प्रायश्चित्तं च-
त्वारो गुरुकाः । यच्च तत्र वा अनागाढपरितापनादि साधवः
प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नमपि तस्य प्रायश्चित्तं तस्मात्सर्वप्रयत्नेना-
ध्यादिप्यसंस्तरणे जिक्वाटनं कर्त्तव्यम् ।

सांप्रतमसंस्तरणयतनामाह ।

असती पमिलोमं तु, सगामे गमणदाणसहेसु ।

पेसति वितिप दिवसे, आवज्जइ मासियं गुर्यं ॥

असति अवमौदर्यादिना गच्छसंस्तरणाभावे प्रतिलोमं गणा-
वच्छेदकादारभ्य प्रतिकूलगमनमवसातव्यं तद्यथा प्रतियुषमादि-
नाऽसंस्तरणे गणावच्छेदकः प्रतियुषमादिभिः सह हिगडते तथा
प्यसंस्तरणे स्वविरोऽपि तथा प्यसंस्तरणे प्रवर्त्तकोऽपि तथा-
प्यसंस्तरणे उपाध्यायोऽपि तथाचेन्न संस्तरति तर्हि स्वग्रामे
दानश्राद्धेषु कुलेष्वाचार्यगमनं भवति तथापि चेदसंस्तरणं
तत आचार्योऽन्यान्यपि गृहाणि । तथा केनापि राधुना कस्मिंश्चि-
त्कुले ग्लानप्रायोग्यं किमपि द्रव्यं याचितं परं न लब्धम् । अथवा
तद्रव्यं तस्मिन्गृहे प्रभूतमस्ति अन्यत्र च न विद्यते तत्रयदि द्वि-
तीये दिवसे तस्मिन्कुले येन न लब्धं तमेवाचार्यः प्रेषयति ततो
गुरुकं मासिकं प्रायश्चित्तम् । तस्मिन् कुले प्रतिलोमं प्रेषयति ।
तद्यथा प्रथमं गणावच्छेदकः प्रेष्यस्तेनालब्धे स्थविरस्तेनाप्य-

लब्धे प्रवर्त्तकस्तेनाप्यलब्धे उपाध्यायस्तेनाप्यलब्धे स्वयमा-
चार्यो व्रजति । यदि वा स गृहप्रभुर्यस्य गौरवं करोति स
प्रेषयितव्यः ।

सांप्रतमस्या एव गाथायाः पूर्वार्द्धं भावयति ।

गणावग्गेदओ पुव्वं, ठवणकुत्तेसुं व हिंरुड सगामे ।

एवं थेरपवित्ति, अभिसेयं गुर्यपमिन्नोमं ॥

पूर्वं गणावच्छेदकः स्वग्रामे स्थापनाकुलेषु हिगडते एवं गणा-
वच्छेदकादारभ्य प्रतिलोमं वक्तव्यं तद्यथा असंस्तरणे स्थविरो-
ऽपि हिगडते तथाऽप्यसंस्तरणे अभिषेक उपाध्यायस्तथापि सं-
स्तरणाभावे गुरुरपि । अधुना "पेसति वितिप दिवसे" इत्यादि
भावयति ।

ओभामिय पडिसिच्चं, तं चेव न तत्थ पडवेज्जा उ ।

पमिलोमं गणिमादी. गारवं जत्थ वा कुणति ॥

केनापि साधुना ग्लानप्रायोग्यं किमपि द्रव्यं कस्मिंश्चित्कुले
अवभाषितं याचितमित्यर्थः । तच्च गृहप्रभुणा प्रतिषिद्धमन्यत्र
तत् द्रव्यं नास्ति किं तु तस्मिन्नेव गृहे ततो चितीयदिवसे तत्र
कुले न तमेव प्रेषयति तु प्रतिलोमं गणावच्छेदकप्रभृतिकं
यथोक्तं प्राक् यत्र वा गृहप्रभुर्गौरवं करोति तं वा प्रेषयत् ।

तित्थकर चि समत्तं, अहुणा पावयणनिज्जरा चेव ।

वच्चंति दो व सगगं, दुवायसगं पवयणं तु ॥

तीर्थंकर इति द्वारं समाप्तम् । अधुना प्रवचनं निर्जरा चेति द्वे
अपि द्वारे समकमेककालं व्रजतस्तत्र प्रवचनं नाम द्वादशाङ्ग-
गणपिटकम् ।

तं तु अहिज्जंताणं, वेयावचे उ निज्जरा तेसिं ।

कस्म भवे केरिसिया, सुत्तथे जहोत्तरं वलिया ॥

ननु द्वादशाङ्गं गणपिटकमधीयानानां वैयावृत्ये क्रियमाणे
तेषां वैयावृत्यकराणां महती निर्जरा तद्वावरणीयस्य कर्मणः क्ष-
यकरणात् महापर्यवसानः पुनरन्यनवकर्ममग्राभावात् । अत्र
शिर्यः ग्राह । कस्य कीदृशी निर्जरा भवति । आचार्यः ग्राह
सूत्रे अर्थे च यथोत्तरं वलिका एतदेव विभावयिषुराह ।

सुत्तावस्सगरादी, वोइतपुव्वाण तह जिण्णाणं च ।

जावे मुद्धममुच्चं, सुत्तथे मंरुद्धी चेव ॥

सूत्रमावश्यकादि यावद्भुतदशपूर्वाणि एतद्द्वारा यथो-
त्तरं महती महत्तरा निर्जरा एवमर्थेऽपि ज्ञावनीयम् । तथा
जिनानामप्येवंविधप्रतिप्रवृत्तीनां यथोत्तरं वलिका निर्जरा ।
इयमत्र ज्ञावना । एक आवश्यकसूत्रधरस्य वैयावृत्यं करोति
अयरो दशवैकाङ्गिकसूत्रधरवैयावृत्यकरस्तस्य आवश्यककरा-
न्महती निर्जरा एवमधस्तनाधस्तनतरश्रुतधरवैयावृत्यकरादुप-
र्युपरितरश्रुतधरवैयावृत्यकरो यथोत्तरं महानिर्जरास्तावदवसेयो
यावत्तयोदशपूर्वधरवैयावृत्यकराश्चतुर्दशपूर्वधरवैयावृत्यकरो-
महानिर्जराः । एवमर्थेऽपि भावनीयं तदुभयचिन्तायां ग्लान-
वैयावृत्यकरादर्थवैयावृत्यकरो महर्हिको नवरं निशीथकल्प-
व्यवहारार्थधराणां वैयावृत्यकरो महानिर्जराः । तथा श्रुतज्ञा-
निवैयावृत्यकरोः । तथा ज्ञावः परिणामस्तस्मिन् शुद्धे अशुद्धे च
तदनुसारेण निर्जरा प्रवर्त्तते । तथा सूत्रार्थे युगपच्छ्रित्यमात्रे यथो-
त्तरं वलिका । तथा मरुद्वीसूत्रार्थवधिकृत्य विचारणीया । इहा-
चार्यः प्रस्तुतस्तमधिकृत्य वैयावृत्यकरणे महती निर्जरा तामाह ।

पावयणी खलु जम्हा, आयरितो तेण तस्स कुणमाणो
महतीए निज्जराए, वट्ठति साहू दसविहम्मि ॥

पावयणी प्रावचनिकः खलु यस्मादाचार्यस्तेन तस्य वैयावृत्यं कु-
र्वन् साधुमहत्यां निर्जरायां वर्त्तते एवं दशविधेषुपि वैयावृत्ये
महानिर्जराकत्वं भावनीयम् । संप्रति यदुक्तं ज्ञावे शुद्धे अशुद्धे
च तदनुसारतो निर्जरा भवतीति तत्र भावो व्यवहारतः शुक्ल-
वस्तुप्रजावाद्भवतीति प्रतिपिपादयिषुराह ।

जारिसगं जं वत्थु, सुयं च तिएहं च ओहिमादीणं ।

तारिसतो च्चिय भावो, उप्पज्जति वत्थुतो जम्हा ॥

यादृशं यद्वस्तु प्रतिमादिकं यस्य यावच्च श्रुतं त्रयाणां चावृ-
द्धादीनां स्वस्थाने ये विशेषास्तस्माद्वस्तुनः श्रुताद्विशेषात्तादृशा-
त् ज्ञावः परिणामो व्यवहारस्तादृश उत्पद्यते तदनुसारेण च
निर्जरा ततः पूर्वं श्रुतचिन्तायामर्थचिन्तायां तथा जिज्ञानां च य-
थोत्तरं वलिका निर्जरोक्ता । तथा चैवमेव व्यवहारनयं प्रति-
पिपादयिषुराह ।

गुणञ्जुड्डे दव्व-म्मि जेण मत्ताहियत्तणं ज्ञावे ।

इति वत्थुतो इच्छति, ववहारो निज्जरं विडव्वं ॥

यत् यतो गुणञ्जुयिष्टं हव्यं ततस्तस्मिन् येन कारणेन मात्रा-
धिकत्वं परिणाम इति अस्मात्कारणात् वस्तुनः प्रतिमाश्रुतादे-
र्यथोत्तरं गुणञ्जुयिष्टात् विपुलां निर्जरामिच्छति व्यवहारो व्यव-
हारनयः । एतदेव स्पष्टतरं ज्ञावयति ॥

दव्वखणजुत्ता पम्मा, पासादीया समत्तलंकारा ।

पट्हायति जह व मणं, तह निज्जरं मो वियाणाहि ॥

या प्रतिमा लक्षणयुक्ता प्रसादी मनःप्रसादकारणं समस्तालं-
कारा तां पश्यतो यथैव मनः प्रह्लादते तथा निर्जरां विजानीहि
यद्यधिकं मनःप्रह्लादिततो महती निर्जरा मन्दमनःप्रह्लादौ तु
मन्देति भावः ॥

सुयवं अतिमयजुत्तो, सुहोचितो तह वि तव्वगुणज्जुत्तो ।

जो सो मणप्पसातो, जायइ सो निज्जरं कुणति ॥

श्रुतवानेयः अत्राप्यनेकं प्रेक्षास्तथा अतिशययुक्तो ऽवध्याद्यति-
शयोपेतोऽत्राप्यवध्यादिविषये बहवस्तरतमविशेषाः सुखोचि-
नोऽपि तपसि स बाह्याज्यन्तरे गुणे ज्ञानादौ च्युक्तस्तपोगु-
णोद्यत इत्येवं योऽसौ यादृशो मनःप्रसादो मनःप्रसत्तिपरिणा-
मो जायते स तादृशीं निर्जरां करोति । तस्माद्वस्तुनो निर्जरेति
व्यवहारनयः । तदेवमुक्तं व्यवहारनयमतम् ।

अधुना निश्चयनयमतमाह ।

निश्चयतो पुण अप्पे, जस्स वत्थुम्मि जायते भावो ।

तत्तो सो निज्जरगो, जिणगोयम सीहआहरणं ॥

निश्चयतः पुनरप्येऽपि महागुणाः गुणान्तराद्धीनगुणेषुपि व-
स्तुनि यस्य जायते तीव्रः शुभो ज्ञावस्तस्मान्महागुणतरविषय-
भावयुक्तात् स हीनगुणविषयतीव्रशुभभावो निर्जरेको महानि-
र्जरतरः सन्नावस्थातीव शुभत्वात् । अत्र जिनगौतम-
सिंह उदाहरणम् । तच्चैवम् “ तिविट्ठत्तणे भयवया वरुमाण-
सामिणा सीहो निहतो, अधिति करेइ खुड्डगणे निहतो हमि-
ति परिभवतो मोयमेणं सारहित्तणेण मणुसासितो मा अधि-
ति करेह तुमं पसुसीहो नरसीहेण मारियस्स तुज्ज को परिभ-
यो एवं सो अणुसासिज्जंतो मतो । ततो संसारं भमिरुण भय-

वतो वरुमाणसामिस्स चरमतिथगरभावे रायगिहे नयरे क-
विलस्स वंभणस्स य वसुगो जातो सो अणुसासितो य जहा एस
महप्पा तित्थं करो एयम्मि जो पम्निवसति सो डुगइ जाति ।
एवं सो उवसामितो तस्स दिक्खा गोयपसामीणा दिन्ना ।

एतदेवाह ।

सीहो तिविट्ठनिहतो, भमिउं रायगिहं कविलवसुग ति ।

जिणवरकहणमणुवसम, गोयमोवस मे दिक्खा य ॥

सिंहखिपृष्टेन निहतः संसारं त्रमित्वा राजगृहे कपिलस्य ब्रा-
ह्मणस्य वटुकोऽनृत जिनस्य वीरस्य कथनं तथाऽपि तस्यानु-
पशमो गौतमेन चानुशासने कृतेऽनृत उपशमो दीक्षा च । अत्र
भगवदपेक्षया हीनगुणेषुपि गौतमे तस्य गुरुपरिणामो जायते
इति महती निर्जराऽभवदिति ।

संप्रति ‘सुत्तथे’ इत्यस्य व्याख्यानमाह ।

सुत्ते अत्थे तदुजए, पुत्तिं जणिआ जहोत्तरं वदिया ।

मंरुदिए पुण भयणा, जइ जाणइ तत्थ नूयत्थं ॥

सूत्रे अर्थे तदुजयस्मिन् स्वस्थाननिर्जरा पूर्वं यथोत्तरं वदिका
वदवती जणिता । संप्रति पुनः सूत्रार्थतदुजयेषु युगपच्चिन्त्य-
मानेषु यथोत्तरं निर्जरा बलवती । सांप्रतं ‘मंरुदी चेवत्ति’ व्या-
ख्यानार्थमाह (मंरुदीए पुण इत्यादि) मण्डल्यां पुनर्भजना वि-
कल्पना यदि जानाति तत्र मण्डल्यां नूतार्थं सन्नूतमर्थं तदा
स महानिर्जरकः । इयमत्र भावना मण्डल्यां पठन्ति पाठय-
न्ति च तत्रावश्यकदि पठतां यथोत्तरं पठन्तो वदिकाः । अथ
जानाति वैयावृत्यकरो यथाऽधस्तनसूत्रपाठको ज्ञानादिभिर्गु-
णैरधिकतरस्ततोऽधस्तनश्रुतपाठकस्य वैयावृत्यकरणे महती
निर्जरा ददतां मध्ये य उपरितनश्रुतवाचकः स ज्ञानादिभिरधिक-
तर इति तद्वैयावृत्यकरणे महती निर्जरा । अथ जानाति वैया-
वृत्यकरो यथाऽधस्तनश्रुतवाचको ज्ञानादिभिरधिकतरस्ततोऽ-
धस्तनश्रुतवाचकस्य वैयावृत्यकरणे वदवती निर्जरा । वाचकप्रा-
तीच्छिकानां मध्ये यो वाचकस्तद्वैयावृत्यकरणे महती निर्जरा
अथ वैयावृत्यकरो जानात्येष प्रातीच्छिक आचार्यां वाचयते
तत्प्रत्युज्वाहनमात्रं यावतां सर्वमेतस्यायाति सूत्रतोऽर्थतश्चा-
धिकतर इति तदा तस्य प्रातीच्छिकस्य वैयावृत्यकृते महती
निर्जरा । इह सूत्रेऽर्थे तदुभये च यथोत्तरं वदवती निर्जरेत्युक्तम्
तत्र यथोत्तरं निर्जराया बलवत्तां ज्ञावयति ।

अत्थो उ महत्ठित्तो, करणेणं घरस्स निप्पत्ती ।

अव्वुड्डाणं गुरुगा, रसो याणे य देवी य ॥

दृष्टान्तः सूत्रात् केवलात् अर्थाद्वा स सूत्रार्थो महर्द्धिकः किं
कारणमिति चेत् उच्यते । अत्र कृतकरणेन गृहस्य निष्पत्तिः
इतश्च सूत्रार्थः स सूत्रो महर्द्धिकः सूत्रमण्डल्यामाचार्यादयः
प्राधूर्षिकप्रभृतीनामन्युत्थानं कुर्वन्ति अर्थमण्डल्यां पुनर्थस्य
समीपे अनुयोगं श्रुतवान् तमेकं मुक्त्वा अन्यस्य दीक्षागुरो-
रन्युत्थाने चत्वारो गुरुकाः प्रायश्चित्तं ततः सूत्रार्थो वर्शयान्
अत्रार्थे राज्ञः शातवाहनस्य याने निर्गमने देवीं दृष्टान्तः । एष
गाथाकारार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विचरीषुः कृतकरणेन गृहस्य

निष्पत्तिरिति दृष्टान्तं भावयति ।

आराहितो नरवती, तिहि उ पुरिसेहिं तेसि संदिशति ।
अमुयपुरे सयसहस्स, वरं व एणसि दायव्वं ॥
पट्टग घेत्तुण गतो, उंमियं विनियो उ तच्चो उभयं ।
निष्फल्लगा दोणि नहिं, मुद्दापट्टे उ सफल्लो उ ॥

एको नरपतिमित्रिः पुनरारोपितस्तनः परितुष्टः स नरपति-
स्नेहं प्रत्येकं संदिशति । यथा अमुकपुत्रं सुन्दरं गृहं शतं सह-
स्रं च दीनारणामित्येषां प्रत्येकं दानव्यमिति तत्रैकोऽमुं संदेशं
पट्टके गृहान्वा लेखयित्वा गतो द्वितीयः (उगुरकां) मुद्रां
गृहान्वा गतस्तृतीय उभयं पट्टके लेखयित्वा गतस्तत्र येन
पट्टके तद्व्यतिरेकेण मुद्राप्रतिबिम्बमात्रं गृहान्ते तौ द्वावपि निष्फलो
जातौ । तथाहि ते त्रयोऽपि तत्रगरं गतास्तत्र य आश्रुकस्तस्य
समीपमुपागताः । पट्टकं मुद्रामुजयं च दर्शयन्ति तत्रायुकेन प्र-
थमो ज्ञातौ मुद्रां न पश्यामि कथं द्वादामि द्वितीयो ज्ञातौ
जानामि राज्ञो मुद्रां न पुनर्जानामि राज्ञः संदेशं किं दानव्य-
मिति । एवं तौ निष्फलो जातौ यस्य तृतीयस्य मुद्रा पट्टकद्वय-
स सफल्लस्तस्यायुकेन यथाज्ञसदानात् पप दृष्टान्तः ।

सांप्रतमुपनयमाह ।

एवं पट्टगसरिसं, मुत्तं अत्थो य उंमियट्ठाने ।
उस्सगववायत्थो, उभयसरिच्चेय तेण वट्ठी ॥

प्रथममुना प्रकारेण पट्टकसदृशं पट्टकस्थानीयं सूत्रम् उगुरका
मुद्रा तत्स्थानीयोऽर्थः उत्सर्गापवादस्य उभयसदृशस्तेन ८ श्रौ-
तस्योजनस्य ज्ञातव्यम् ।

संप्रति 'अमृच्छाणे गुरुगा' इत्यस्य व्याख्यानार्थमाह ।

मुत्तस्स मंरुलीए, नियमा उट्ठति आयरियमादी ।
मुत्तुण पवापंतं, न उ अत्थे दिक्खाण गुरुं पि ॥

सुनमएरुत्थां वाचयन्त आचार्यादय आचार्योपाध्यायप्रभृतयः
प्राच्युपाकादीनामागच्छन्तं सर्वेषामपि नियमादुत्तिष्ठन्ति अत्युत्था-
नं कुर्वन्ति अर्थमएरुत्थां पुनरुपविष्टः सन् यस्य समीपेऽनुयो-
गः श्रुतस्तमेकं प्रवाचयन्तं मुक्त्वा अन्यं दीक्षुणगुरुमपि नाज्यु-
त्तिष्ठन्ति यज्युत्तिष्ठति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः ।
श्रोतारोऽपि यद्याचार्यं अनज्युत्तिष्ठत्यज्युत्तिष्ठति तदा तेषाम-
पि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकं यदि पुनर्यस्य समीपेऽनुयोगं श्रुतवान्
तस्य नाज्युत्तिष्ठति तर्हि तदाऽपि तस्य चतुर्गुरुकम् । अत्र दृ-
ष्टान्तो राज्ञो देवी तं ज्ञाययति ।

पतिलीलं करेमाणी, नोड्डिया सातवाहणं ॥

पुढवी नाम सा देवी, सो य रुद्धो ताहिं निवो ॥

राज्ञः शा (द्वि) तवाहनस्य पृथिवी नाम अग्रमहिषी अन्यदा सा
क्रापि निर्गते राज्ञि शेषामिरन्तःपुरिकाभिर्देवीभिः संपरिवृता
शातवाहनवेषमाधाय राज्ञ आस्थानिकायामुपपतिस्त्रीणां विरम्ब-
मानाऽवतिष्ठते । राजा प्रत्यागतः प्रविष्टस्तस्मिन्प्रदेशे सा च पति-
स्त्रीणां कुर्वन्ती पृथिवी नाम देवी शातवाहनं राजानमायान्तमपि
दृष्ट्वा नोत्थिता नस्या अनुत्थाने शेषा अपि देव्यो नाज्युत्थितव-
त्यस्ततः स नृपो राजा तत्र रुधे ब्रूते त्वं तावन्महादेवी ततो म-
हादेवीत्वेन नाज्युत्थिता एताः किं त्वया वारिता यन्नाशुत्थानम-
कार्षुस्ततो न सुन्दरमेतदिति ।

ततो एं आह सा देवी, अत्थाणीए तवाणहा ।

दासा वि सामियं एतं, नोड्ढति अवि पत्थिवं ॥

ततो राजोत्थनन्तरं सा पृथिवी नाम देवी राजानमाह ।
तवास्थानिकायामुपविष्टा दासा अपि नाथाः संपूर्णगुणा पा-
थिवमपि स्वामिनमागच्छन्तं नाज्युत्तिष्ठन्ति तवास्थानिकायाः
प्रज.व एवैवः । तथाहि ।

तुंवावि गुरुणो मोत्तुं, न वि उट्ठेसि कस्सइ ।

न ते लीला कया ह्वंती, उट्ठती हं स तोसितो ॥

त्वमप्यस्यामास्थानिकायामुपविष्टो गुरुन् मुक्त्वा नान्यस्य क-
स्यापि महीयसोऽज्युत्तिष्ठसि श्रद्धमपि तवास्थानिकायां त्वदीयां
स्त्रीणां धरन्ती समुपविष्टा ततो न सपरिवाराऽज्युत्थिता यदि
पुनस्ते तव स्त्रीणां न कृता स्यात्ततोऽहमज्युत्तिष्ठेयमित्येवं राजा
देव्यां तोषितः । एवमत्रापि तीर्थकरस्थानीय आचार्योऽर्थमएरु-
त्थामुपविष्टः सन् न कस्याप्यज्युत्तिष्ठति ॥

अमुमेवार्थं गौतमदृष्टान्तेन दृढयति ।

कहं ते गायमां अत्थ, मोत्तुं तित्थगरं सयं ।

न वि उट्ठेइ अन्नस्स, तग्गयं चैव गम्पति ॥

न खलु भगवान् गौतमोऽर्थं कथयन् स्वकामात्मीयं तीर्थकरं
मुक्त्वा अन्यस्य कस्यापि उत्तिष्ठति अभ्युत्थानं कृतवान् नष्टं
चेदानीं सर्वैरपि गम्यते तदनुष्ठितं सर्वमिदानीमनुष्ठायते ततोऽ-
र्थं कथयन् न कस्याप्युत्तिष्ठेत् ।

संप्रति भ्रवणविधिमाह ।

सोयन्वे उ विही पुण, अव्वक्खेवादि होइ नायव्वो ।

विकखेवम्मि य दोसा, आणादीया मुण्येयव्वा ॥

श्रोतव्ये पुनरर्थं विधिरव्याकृपादिर्भवति ज्ञातव्य आदिशब्दा-
धिक्यादिपरिग्रहस्तद्व्याकृपे पुनराज्ञादयः । आज्ञानवस्थामि-
थ्यात्वाविराश्वनारूपदोषा ज्ञातव्याः । अत एवाज्युत्थानमपि न
क्रियते तस्मिन्सति व्याकृपादिसंभवात्तथा चैतदर्थमेव द्वारगा-
थाद्वयेनाह ।

काउस्सग्गे विकखे-त्रया य विकहा वि सोतिया पयते ।

उवणय वाउलणा वि य, अक्खेवो चैव आहरणं ॥

आरोवणा परूवण, उग्गह निज्जरा य वाउलणा ।

एणहिं कारणोहिं, अब्बुद्धाणं तु पफिक्कुडं ॥

अनुयोगारम्भनिमित्तं कार्यात्मकं कृते एतैः कारणैरज्युत्थानं
प्रति कुष्टं निराकृतम् । कैः कारणैरत आह । " विषक्षेत्रया य
इति " व्याकृपस्य व्याकृपशब्दस्य ज्ञातः प्रवृत्तिनिमित्तं व्या-
कृप इत्यर्थः । अज्युत्थाने क्रियमाणे व्याकृपो भवति व्याकृपाच्च
विकथा चतुर्विधा प्रवर्तते तत्प्रवृत्तौ चेत्किर्यमनसा विश्रोत-
सिका संयमस्थानप्रावणमिति भावः । तस्मादज्युत्थानमकुर्वन्
प्रयतः शृणुयात् प्रयतो नाम कृताञ्जलिप्रग्रहो दृष्ट्या सुरिमुखार-
विन्दमेवेकमाणो बुध्युपयुक्तस्तथाऽज्युत्थाने क्रियमाणे उपन-
यस्य विषये व्याकुलना उपनयः कस्याप्यर्थं न क्रियेत । उप-
नयग्रहणमुपलक्षणं तेन यद्ग्रहणं जातं तत् व्याकुलनात् भ्रश्यति
पृच्छा वा कर्तुमारब्धा विस्मृतिमुपयाति कावो वा व्याख्यानस्य
शुध्यतीति । तथा निरन्तरमविच्छेदेन ज्ञापमाणेऽस्य शृण्वतो
महान्याकृपस्तीव्रवृत्तपरिणामरूपो जायते अज्युत्थाने च तद्वा
घातस्तथा च सति वृत्तपरिणामभावतो योऽवस्थादिभावः सं-
प्राप्यते तस्य विनाशोऽत्रार्थे चाहरणं ज्ञातं वक्तव्यम् । तथा
आरोपणायाः प्रायश्चित्तप्रकरणे क्रियमाणे अज्युत्थाने व्याघा-
तो भवति, व्याघाताच्च सम्यगवग्रहो ग्रहणं न भवति न कहु

व्याक्षिप्तोऽवग्रहीतुं शक्नोति किं त्वव्याक्षिप्त इति प्रतीतमेतत् ।
तथाऽप्युत्थाने क्रियमाणे व्याकुलना ततः सम्यक् श्रुतोपयोगो
न भवति तदज्ञावाच्च ज्ञानावरणीयस्य कर्मणो न निर्जरा । ए-
तैः कारणैरभ्युत्थानं प्रतिकुष्टम् ।

संप्रतमेतदेव गाथाद्वयं विवरीषुः प्रथमतः “ काउस्सगो
विवस्वेवचा य ” इति ज्ञावयति ॥

लुच्चारियाए नदीए, विक्खेवे गुरुतो जवे ।

अपसत्थं पसत्थं य, दिट्ठतो हत्थिद्वावका ॥

अनुयोगारम्भार्थं कायोत्सर्गो कृते नन्द्यां कृत्वा नपञ्चकरूपाया-
मुच्चारितायामभ्युत्थानेनान्येन वा प्रकारेण यो व्याक्षेपं करो-
ति तस्य प्रायश्चित्तं गुरुको मासस्तस्माद् व्याक्षेपो न कर्तव्यः ।
अत्राप्रशस्ते व्याक्षेपकरणे प्रशस्ते च व्याक्षेपकरणे दृष्टान्ता
हस्तिद्वावकाः हस्ती च शास्त्रिणां द्वावकाश्च । तत्राप्रशस्तं प्रात-
पादयति ॥

जह् सारिं लुणावैतो, कोइ अत्थारिण्हि उ ।

सेयं हत्थि तु दावेइ, धाविया ते य मग्गओ ॥

न लूना अह सारिंओ, वक्खेवेणेव तेण उ ।

वक्खेवावरयाणं तु, पोरिसीए व जज्जइ ॥

यथा कोऽपि कुटुम्बी निजे क्षेत्रे “अत्थारिण्हि तु” ये मूल्य-
प्रदानेन शास्त्रिण्यवनाय कर्मकराः क्षेत्रे क्षिप्यन्ते ते आस्तारिका-
स्तैर्लव्यनकथमपि सप्ताङ्गप्रतिष्ठितं श्वेतमारण्यहस्तिनमागतं
दृष्ट्वा दर्शयति तद्दर्शिते च ने हस्तिनो मार्गतः पृष्ठो धाविताः ।
आगतैरपि हस्तिनो रूपेण क्षितैर्हस्तिरूपं वर्षयन्तिस्तेन व्याक्षे-
पेणा ते शास्त्रियो न लूना एवमिहापि अभ्युत्थानेन व्याक्षेपरता-
नां पौरुषीभङ्गो प्रवति । व्याख्यानं पुनर्न किमपि याति तस्मा-
द् व्याक्षेपो न विधेयः । प्रशस्ते व्याक्षेपाकरणे दृष्टान्तः स्वयं ज्ञाव-
नीयः । स चैवं एकः कौटुम्बिकः शास्त्रिक्षेत्रं द्वावयति तस्य
सत्कथा दास्या शास्त्रि लूनन्त्या सप्ताङ्गप्रतिष्ठितः श्वेतो वनहस्ती
चरन् दृष्टो दास्या ज्ञातं यदि शालिद्वावकानां कथयिष्यामि ततो
हस्तिनं दृष्ट्वा हस्तिनो रूपेणाक्षिप्ता हस्तिनो रूपं वर्षयन्त आसि-
प्यन्ते एष च हस्ती दिनेऽस्मिन्नवकाशे दृश्यते ततः शास्त्रिनं
यविष्यते यदा तु शास्त्रिः परिपूर्णां लूनोऽनवत् तदा सा दासी
हामिनः शास्त्रिद्वावकानां चाचकथत् ततस्तैरुक्तं किं तदा
न ग्रातं तदा दासी प्राह शास्त्रिद्वावितव्यव्याघातो जविष्यतीति
हेतोस्तत एवमुक्ते कौटुम्बिकः परितुष्टस्तेन च परितुष्टेन मस्त-
कप्रक्षालनतोऽदासी कृता । एवमिहापि व्याक्षेपो न करणीय-
स्तथा च सति जगवदाज्ञापरिपादनतः कर्मक्षयेण शिवाम-
स्तकरथो प्रवति ।

संप्रति विकथादिपदव्याख्यानार्थमाह ।

विकहा चउच्चिहा बुत्ता, इदिण्हि विसोतिया ।

अंजझीपगहो चैव, दिट्ठो बुप्फुवजुत्तर्या ॥

विकथा स्त्रीकथादिभेदाच्चतुर्विधोक्ता विश्रोतसिका इन्द्रियै-
रुपवृत्तमेतद् मनसा वाचा प्रयता अञ्जलिप्रग्रहो गुरोर्मुखे
दृष्टिर्बुद्ध्युपयुक्ता च ।

उपनयव्याकुलनेति व्याख्यानयति ।

नस्सते वाउझाना सो, अन्नहा वोवणिज्जइ ।

नार्यं वा करणे वा वि, पुच्छाअट्ठाव जस्सइ ॥

अभ्युत्थानेनान्येन वा व्याकुलनायां स दर्शित उपनयो न-

श्यति विस्मृतिं याति यदि वा व्याकुलनया अन्यथोपनीयते
ज्ञातं वा व्याकरणं वा पृच्छा वा कर्तुमारब्धा अट्ठा वा पौरुषी-
लक्षणा भ्रश्यति आक्षेपव्याख्यानार्थमाह ।

भासतां भावतो वावि, तिक्खं से जायमाणसो ।

लजंतो ओहिद्वंजादी, जहा मुनिवगो मुणी ॥

निरन्तरमविच्छेदेन भाषकः श्रावको वा उत्तरविशिष्टावगाह-
नतस्तीव्रसंजातमानसो जातपरमोत्तेपो यद्यभ्युत्थाने व्या-
क्षेपो नाभविष्यत् ततोऽवधिलाभादिकमलप्स्यत यथा मुडि-
म्बको मुनिस्तथा मुडिम्बक आचार्यः परमकाष्ठोभूते शुभ-
ध्याने प्रवृत्तोऽवध्यादिलब्धिमलप्स्यत यदि तस्य पुष्पमित्रेण
ध्यानविघ्नो नाकरिष्यत परं सर्वसाधुसाध्वीप्रभृत्याकुलमभ-
वदिति तेन ध्यानव्याघातः कृतः ।

अधुना “ आरोचना परूवणेति ” व्याख्यानार्थमाह ।

आरोवणमक्खेवं, दाउं कामो तहिं तु आयरितो ।

वाउलणाए पिट्ठइ, उत्थेतुज्जेणे न ओगेएहे ॥

आरोपणां प्रायश्चित्तं तत्रार्थमण्ठ्यामाचार्यो दातुकामः प्ररू-
पयतुकाम इति तात्पर्यार्थः । यद्यभ्युत्थानं करोति ततो व्याकुल-
नया स्फिडति व्याकुलनेन प्रायश्चित्तप्ररूपणा न तिष्ठतीति भाव-
स्तथा अवग्रहीतुमना अभ्युत्थानेन व्याकुलनातो नावगृह्णाति ।

एकगो ओगिएहइ, विक्खिण्णंतस्स विस्मृतिं जाइ ।

इंदपुरे इंददत्तो, अज्जुणतेणो य दिट्ठतो ॥

एकाग्रः सन् अवगृह्णाति अभ्युत्थानेन पुनर्व्याक्षिप्यमाणस्या-
वगृहीतमपि विस्मृतिं याति कुतोऽनवगृहीतार्थावग्रहणव्याक्षे-
पाच्च विस्मृतिगमने इन्द्रपुरपत्तने इन्द्रदत्तस्य राज्ञः सुताः द-
ष्टान्तस्तथा च तेषां कला अज्यस्यतां प्रमादविकथादिव्याक्षेपाच्च
किमप्यवगृहीतमभूत् यदपि किंचिदवगृहीतं तदपि विस्मृति-
मुपगतमत एव तै राधावेधो न कर्त्तुं शक्तिः । तथा अजुन-
स्तेनश्च दृष्टान्तस्तथाहि सोऽजुनकस्तेनोऽगडदत्तेन सह युध्य-
मानो न कथमप्यगडदत्तेन पराजेतुं शक्यते ततो निजज्ञार्याऽ-
तीव रूपवती सर्वालंकारविभूषिता रथस्य तुण्डे निवेशिता
ततः स्त्रीरूपदर्शनव्याक्षेपात् युद्धकरणं विस्मृतिमुपगतमिति
सोऽगडदत्तेन विनाशितः । एवमिहापि व्याक्षेपात् श्रुतोपयोगः
प्राणविनाशमाप्नोति ।

एए चेव य दोसा, अब्भुट्ठाणे वि होंति नायव्वा ।

नवरं अब्भुट्ठाणं, इमेहिं तिहिं कारणेहिं तु ॥

यस्मात् श्रवणे कर्तव्ये व्याक्षेपादिषु क्रियमाणेष्वेतेऽनन्तरोक्ता
दोषास्तस्माद्व्याक्षेपादिरहितैः श्रोतव्यम् । एते एव च व्याक्षे-
पादयो दोषा अभ्युत्थानेऽपि क्रियमाणे भवन्ति तस्मादभ्यु-
त्थानमपि न कर्त्तव्यं नवरमभ्युत्थानमेभिर्वैद्यमाणैस्त्रिभिः का-
रणैः कर्त्तव्यं तान्येवाह ।

पगयसमत्ते काळे, अज्जभयणुहेस अंगसुयखंधे ।

एएहिं कारणेहिं, अब्भुट्ठाणं तु अणुयोगो ॥

प्रकृते समाप्ते तथा काले समाप्ते अध्ययनोद्देशाङ्गश्रुतस्कन्धेषु
वा समाप्तेषु यदि प्राधूर्षकाद्यागमनं भवति तदैतैः कारणैरभ्यु-
त्थानमनुयोगो भवति तत्र कालोऽध्ययनादिकं च प्रतीतं न
प्रकृतमिति । कल्पे व्यवहारे च प्रकृतप्रतिपादनार्थमाह ।

कप्पमि दांणि पगया, पलंवसुत्तं च मासकप्पे य ।

दो चैव य व्यवहारे, पदमे दममे य जे जणिया ॥

कल्पे कल्पाध्ययने द्वे प्रकृते तद्यथा प्रलम्बसूत्रं मासकल्पनञ्च
च व्यवहारे द्वे प्रकृते ये जणिते प्रथमे आरोपणासूत्रं दशमे
पञ्चविधव्यवहारसूत्रम् । न केवलमेतदेव प्रकृतं किञ्चन्यदपि
तथा चाह ।

पाँठियातो य मन्वातो, चूलियातो तदेव य ।

निष्पत्ती कप्पनामस्म, ववट्टारस्म तदेव य ॥

सर्वाः प्रकल्पकल्पादिगताः पाँठिकास्तथा सर्वाश्चलिकास्तथा
कल्पनाम्नो व्यवहारस्य च तथा चैवेनि वचनादन्येषां च दश-
बैकालिकप्रभृतीनां च निर्युक्तयः प्रकृताः ।

अत्रैवादेशान्तरमाह ।

अप्पो वि य आप्पो, जो रायणितो य तत्तय सोयव्वे ।

अणुअणुगधम्मयाए, किञ्कम्मं तस्स कायव्वं ॥

अन्योऽपि चादेशो मतान्तरं तत्र श्रोतव्ये यो रत्तिको रत्ता-
धिकोऽनुजापक इत्यर्थः तस्य नन्वामुच्चारितायामनुयोगधर्म-
तया कृतिकर्म वन्दनं कर्तव्यम् । तथा ।

केवलिमादी चोदस, दसनवपुव्वी य उट्टण्णिज्जो उ ।

जे तीहि ऊणतरंगा, समाणे अगुरुं न उट्टंति ॥

अर्थमपि कथयता समागच्छन् केवली अभ्युत्थातव्यः । आ-
दिशब्दात् मनःपर्यवधानी अवधिधानी च परिगृह्यते तथा ये
तेभ्यो नवपूर्वधरादिभ्य ऊनतरास्तेनपपूर्वधरादिरभ्युत्थानी-
यस्तथाहि कथको यदि कालिकभुनधारी तर्हि तेनार्थमपि क-
थयता नवपूर्वो दशपूर्वो चतुर्दशपूर्वो वाऽभ्युत्थातव्यो नवपूर्वधिणा
दशपूर्वो दशपूर्वधिणा चतुर्दशपूर्वोति । तथा यदि समागच्छन्
समानः समानभुनोऽगुरुश्च तदा नेतरेऽभ्युत्तिष्ठन्ति । तदेवं प्र-
वचने निर्जरा चेति द्वारद्वयं गतम् ।

इदानीं सापेक्षद्वारमाह ।

सावेक्खे निवेक्खे, गच्छे दिट्ठंतामसगमेण ।

राज्जकज्जनिउत्तं, जह् गामेणं कयं सगरं ॥

अस्सामिनुच्चियाए, पफियं सडियं व न वि य रक्खंति ।

रखाएत्ते दमो, सयं न दीसंति कज्जेसु ॥

आचार्यस्य शिष्यैः प्रातीच्छिकैश्च सर्वं कर्त्तव्यं ते च तथा कु-
र्वन्तः सापेक्षा उच्यन्ते ये तु न कुर्वन्ति ते निरपेक्षास्तत्र सापे-
क्षे निरपेक्षे च गच्छे दृष्टान्तो ग्रामशकटेन तद्यथा एकस्मिन्
ग्रामे ग्रामेयकैः पुरुषैः राजकुलकार्यानि युक्तं शकटमेकं कृतं ततो
यत्तेन राजकुलेनाज्ञाप्यते धान्यं घृतघटादि वा नेतव्यमानेतव्यं
वाऽस्मिन् शकटे आरोप्य आनयन्ति नयन्ति वा । तथा नास्य क-
श्चित्स्वामीत्यस्वामिबुद्ध्याऽऽत्मनोऽपि कार्याणि तेन कुर्वन्ति अ-
स्वामिबुद्ध्यैव पतितं शटितं वा तस्य शकटस्य नापि रक्षन्ति
ततः कावेन गच्छता जगम । अन्यदा राजकुलेन ते आज्ञप्ता धा-
न्यमानय तैः शकटाज्जावान्नानीतं तत आज्ञाभङ्गोऽकारीति तेषां
दण्डः कृतः कार्येषु वा समापतितेषु स्वयं ते न दृश्यन्ते । एष
दृष्टान्तः ।

अयमर्थोपनयः ।

एवं न करेंति सीसा, काहंति पमिच्छयत्ति काण्ण ।

ते वि य सीसत्ति ततो, हिंरुणपेह्दिमुं भिगो ॥

एवं ग्रामेयकदृष्टान्तप्रकारेण शिष्याः प्रातीच्छिकाः करिष्यन्ती-

ति मत्वा न कुर्वन्तीति तेषुपि च प्रातीच्छिकाः शिष्याः करिष्य-
न्तीति बुद्ध्या न कुर्वन्ते ततः सीदन्नाचार्यः स्वयं शिष्यामपति
स्वयं चोपकरणप्रेक्षादिकं विधत्ते इति हि एवमेव प्रेक्षादौ च निर-
पेक्षाः शिष्याः प्रातीच्छिकाश्च शकटनियुक्तभृत्य इव दण्डनी-
याः प्रवन्ति विनाशं चोपयान्ति ।

अथ सापेक्षे दृष्टान्तमाह ।

सारावियं जेहिं सगरं रम्हा ते उक्करा य कया ।

इय जे करेंति गुरुणो, निज्जरलाभो य कित्ती य ॥

अपरस्मिन् ग्रामे द्वितीयके ग्रामे ग्रामेयकैः राजकुलकार्यानि युक्तं
शकटं कृतं तेन राजकीयं धान्यघृतघटानयन्ति नयन्ति च तच्च
शकटं तैः सम्यक् सारापितं ततो न कदाचिदाज्ञाभङ्गः कृत इति
परितुष्टेन राज्ञा ते उत्कराः करविहीनाः कृताः । एष दृष्टान्तोऽयम-
र्थोपनय इति एवमुक्तेन प्रकारेण शिष्याः प्रातीच्छिकाश्चात्मानु-
ग्रहबुद्ध्या ये गुरोः कृत्यं कुर्वन्ति तेषां महान् धूयान् ज्ञानादि-
दानः कीर्त्तिश्च गतं सापेक्षद्वारम् ।

संप्रति प्रक्तिव्यवच्छेदद्वारमाह ।

दव्वे जावे जत्ती, दव्वे गणिगाउ दूति जाराणं ।

जावम्मि सीसवगो, करेति जत्तिं सुयधरस्स ।

आचार्यस्य भक्तौ क्रियमाणाय तीर्थस्याव्यवच्छेदो नक्तावकि-
यमाणाय तु तीर्थव्यवच्छेदः सा च प्रक्तिर्हिंसा द्रव्ये भावे च ।
तत्र यन्नाम गणिका भुजङ्गानां प्रक्तिं कुर्वन्ति द्रव्यो वा
जाराणां सा द्रव्ये द्रव्यभक्तिर्भावे जावविषया भक्तिः पुनरियं
यत् शिष्यवर्गः श्रुतधरस्य भक्तिं करोति । यद्यपि चान्योऽपि
गुरोर्भक्तिं करोति तथापि ममापि निर्जरा स्यादित्यात्मानुग्रहबु-
द्ध्याऽन्येनापि प्रक्तिः कर्तव्येति बोद्धार्यगौतमदृष्टान्तेन जावयति ।
जइवि य दोहसमाणो, गेएहइ खीणंतराणो उंछं ।

तह वि य गोयमसामी, पारणए गेएहए गुरुणो ॥

यद्यपि च दोहसमानो बोद्धार्यः क्रीणान्तरायस्य जगवतो वर्द्धमा-
नस्वामिनः सदैवोऽन्तर्मेपणीयप्रज्ञादिकं गृह्णाति । तस्य भग-
वद्वैद्यावृत्त्यकरत्वात् उक्तं च । “धनो सो लोदुज्जो खंतिखमो
पवरलोहसरिचो जस्स जिणो पत्ता तो इच्छइ पाणीहिं हुत्तुं
जे ” तथापि गौतमः स्वामी स्वपारणके गुरोर्वर्द्धमानस्वामिनो
योग्यं गृह्णाति एवमन्येनापि वैद्यावृत्त्यकरभावे यथायोग्यं गुरोः
कर्तव्यम् । तदेवं भक्तिव्याख्याताऽधुना तस्यां क्रियमाणाय यथा
तीर्थस्याव्यवच्छेदो भवति तथाह ।

गुरुअणुकंपाए पुण, गच्छो अणुकंपितो महाजागो ।

गच्छाणुकंपयाए, अण्वोच्छित्ती कया तित्थे ॥

गुरोरनुकम्पया अनुग्रहेण गच्छो महाचिन्त्यशक्तिरनुकम्पितो
गृहीतो भवति गच्छानुकम्पया चाव्यवच्छित्तिस्तीर्थस्य कृता ।

कह तेण नु होइ कयं, वेयावच्चं दसविहं जेण ।

तस्स पत्ता अणुकं-पितो उ थेरो थिरसहावो ॥

कथं तेन दशविधं वैद्यावृत्त्यं कृतं येन स्थविर आचार्यः स्थविर-
स्वजावोऽनुत्सुकस्तस्य दशविधस्य वैद्यावृत्त्यस्य प्रयोक्ताऽनुक-
म्पितोऽनुगृहीतस्तत्करणे कृतं तेन दशविधमपि वैद्यावृत्त्यं
तत्प्ररूपणायास्तदधीनत्वादिति भावः । तदेवमव्यवच्छेदोऽपि
जावितः । अधुना ‘अतिसेसा पंच आयरिए’ इति व्याख्यानयति ॥

अन्ने वि अतिथि जगिया, अतिसेसा पंच होंति आयरिए ।

जो अन्नस्स न कीरइ, नयातिचारो असति सेसे ॥

अतिशेषाः पञ्च भवन्त्याचार्ये इत्यनेन वचनेनान्येऽप्यतिशयाः पञ्चार्थतो जगिताः सन्ति यः पञ्चानामन्यतरोऽप्यन्यस्यानाचार्यस्य न क्रियते न च शेषेऽनाचार्ये पञ्चानामेकतरस्मिन्नप्यक्रियमाणेऽतीचारः । तानेव पञ्चातिशयानाह ॥

जत्ते पाणे धुव्वण, पर्ससणा हत्थपायसोए य ।

आयरिए अतिसेसा, अणातिसेसा अणायरिए ॥

उत्कृष्टं जक्तमुत्कृष्टं पानं मलिनोपधिधावनं प्रशंसनं हस्तपादशौचं च । एते पञ्चातिशेषा अतिशया आचार्ये अनाचार्ये त्वनतिशया अनाचार्ये एते न कर्तव्या इति ज्ञावः ।

संप्रति रक्तादिव्याख्यानार्थमाह ।

कालसहावाणुमयं, जत्तं पाणं च अचित्तं खेत्ते ।

मलिणमलिणा य जाया, चेलादी तस्स धोवंति ॥

यत् कालानुमतं स्वभावानुकूलं चेत्यर्थः भक्तमाचार्यस्य आदेयमिति प्रथमोऽतिशयः । तथा यत् यत्र क्षेत्रे अचित्तं पानीयं तत्संपाद्यमाचार्यस्येति द्वितीयोऽतिशयस्तथा चेलादीनि मलिनमलिनानि जातानि तस्याचार्यस्य प्रक्षाल्यन्ते किं कारणमिति चेदत आह ।

परवादीण अगम्मे, नेव अवधं करिंति सुप्मेहा ।

जह अकहितो वि नज्जइ, एस गणी एज्जपरिहीणो ॥

यथा परवादिनामगम्यो ज्ञावति यथा च शुचिशैक्वाश्चोक्षिशिष्याः अवज्ञानं न कुर्वन्ते यथा चाकथितोऽपि ज्ञायते एष गणी आचार्यस्तथाऽनुद्यमसौन्दर्यतत्परिहीनो मलिनमलिनवस्त्रप्रक्षालनं कर्तव्यं न च एवं विभूपादोषप्रसक्तियत आह ।

जह उवगरणं सुज्जइ, परिहरमाणो अमु च्छतो साहू ।

तह खट्ठु विसुद्धभावो, विभुस्सवासाण प रजोगो ॥

यथा साधुरूपकरणं कर्मोपकरणममूर्च्छितः सन् परिहरन् परिभोगयन् शुद्ध्यते न परिग्रहदोषेण क्षिप्यते अमूर्च्छितत्वात्तथाऽऽचार्योऽपि विशुद्धवाससां परिभोगेन विशुद्धज्ञावः सन् शुद्ध्यतीति गतस्तृतीयोऽतिशयः ।

संप्रति प्रशंसनमाह ।

गंभीरो महवितो, अणुवगयवच्छलो सिवो सोमो ।

वित्थिष्ठाकुनुप्पन्नो, दाया य कयमुतो सुयवं ॥

खंतादिगुणोवेत्तो, पहाणणाणतवसंजमावसतो ।

एमाइसत्तगुरुगुण, विकत्थणं संसणातिसये ॥

गम्भीरोऽपरिश्रावी मार्दवितो मार्दवोपेतस्तथा अच्युपगतस्य शिष्यस्य प्रातीच्छिकस्य वत्सलो यथोचितवत्सल्यकारी तथा शिवोऽनुपप्लवस्तथा सोमः शान्ताकृतिः तथा विस्तीर्णकुलोत्पन्नो दाता कृतज्ञः श्रुतवान् तथा कान्त्यादिगुणोपेतः प्रधानज्ञानतपः संयमानामावसथौ गृहे एवमादीनां सतां गुरुणां नाविकत्थनं श्लाघनमेवं चतुर्थः प्रशंसनातिशयः अथवा प्रशंसनस्य फलनात् ।

सग्गुणुक्कित्तणाए, अवस्सवादीण चेव पम्पिघातो ।

अवि होज्ज संसईणं, पुच्छाज्जिगमे दुविह्वलाज्जो ॥

सद्गुणोत्कीर्तनायां महती निर्जरा ज्ञावति तथा सद्गुणकीर्तनयः अवर्णवादिनां प्रतिघातः कृतो भवति । अपि भवेद्यं

महान् गुणो गुणवन्तमाचार्यं श्रुत्वा बहूनां राजेश्वरतत्त्वचरप्रवृत्तीनां पृच्छार्थमजिगमो भवति । पृच्छानिमित्तमाचार्यसमीपमागच्छन्त आगताश्च धर्मं श्रुत्वा अगारधर्ममनगारधर्मं वा प्रतिपद्यन्ते इति द्विविधद्वयः ।

पञ्चमातिशयप्रतिपादनार्थमाह ।

करचरणनयणदसणा, ईधावणपंचमो उ अतिमेसो ।

आयरियस्स उ सययं, कायव्वो होति नियमेण ॥

करचरणनयनदशनादिप्रक्षालनं पञ्चमोऽतिशयः सततमाचार्यस्य नियमेन ज्ञावति कर्तव्यः । अत्र पर आह ।

मुहनयणदंतपाया-दिधोवणे को गुणो त्ति ते बुद्धी ।

अग्गिमतिवाणिपड्डया, होइ अणोत्तप्पया चेव ॥

मुखनयनपदादिधावने को गुण इति एषा ते बुद्धिः स्यात् अत्रोच्यते मुखदन्तादिप्रक्षालनेऽग्निपटुता जातराग्निप्रावर्त्यं मतिपटुता वाक्पटुता च नयनपादादिप्रक्षालने “अणोत्तप्पया” अवज्जनीयशरीरता भवति । एष गुणो मुखादिप्रक्षालने एते चातिशयाः पञ्च । उपलक्षणमन्यदापि यथायोगमाचार्यस्य कर्तव्यं तथा चाह ॥

असदस्स जेण जोगा-ए संधाणं जह उ होइ थेरस्स ।

तं तं करेति तस्स उ, जह संजोगा न हायंति ॥

यथा स्थविरस्याशठस्य सतो येन येन क्रियमाणेन योगानां सन्धानं भवति तत्तत्तस्याचार्यस्य साधवः कुर्वन्ति तथा (से) तस्याचार्यस्य योगा न हीयन्ते न हानिमुपगच्छन्ति ।

एए पुण अतिसेसे, उवजीवे न यावि को वि दददेहो ।

निदरिसणं एत्थ जवे, अज्जसमुहा य मंगू अ ॥

एतान् पुनरतिशयान् कोऽप्याचार्यो दददेहः सन् नोपजीवति यस्त्वदददेहः सोऽशठो जृत्वा उपजीवति न तु तैरतिशयैर्गर्वं करोति इहं वा मनसि मन्यते । अत्र निदर्शनं ज्ञावत्यार्यसमुद्रो महत्वाचार्यश्च ।

एतदेव निदर्शनद्वयं भावयति ।

अज्जसमुहा दुव्वल, कितिकम्मा तिप्पि तस्स कीरंति ।

सुत्तत्थपोरिसिसमु-ड्डियाण तइयं तु चरमाए ॥

आर्यसमुद्राः सुर्यो दुर्वज्ञा दुर्वज्ञशरीरास्ततस्तेऽतिशयानुपजीवितवन्तोऽनुपजीवने योगसंधानकरणाशक्तेस्तथा च तस्य प्रतिदिवसं त्रीणि कृतकर्मणि विश्रामणारूपाणि क्रियन्ते तद्यथा चे सूत्रार्थपौरुषीसमुपस्थितानां तृतीयं कृतकर्म चरमायां पौरुष्यामियमत्र भावना सूत्रपौरुषीसमाप्त्यनन्तरं यावन्निषद्या क्रियते तावत्प्रथमा विश्रामणा द्वितीयाऽर्थपौरुषीसमाप्त्यनन्तरं तृतीया चरमपौरुषी पर्यन्ते कालप्रतिक्रमणानन्तरम् ।

सद्गुणेषु य तेसिं, दो वंगादी उ वीसु घेप्पंति ।

मंगुस्स न किइकम्मं, न य वीसुं घेप्पए किं वि ॥

आदिकुलेषु जनेषु तेषामार्यसमुद्राणामाचार्याणां योग्यानि कुरादीनि द्वितीयाङ्गादौ मात्राकादौ विष्वक् गृह्यन्ते आर्यमङ्गोः पुनराचार्यस्य न कृतिकर्म क्रियते नापि तद्योग्यं पौद्गलिकादि किञ्चित् विष्वक् मात्रके गृह्यते किन्तु यदापि श्राद्धकुलेष्वपि जनेषुत्कृष्टं लभ्यते तदपि गृहीत्वा ज्ञातोत्थपतद्गृहे क्षिप्यते विष्वगानीतमपि न जुङ्गेतौ च छावप्याचार्यौ विहरन्तावन्यदा सौपारकं गतौ तत्र च द्वौ श्रावकावेकः शाकटिकोऽपरो वैकटिको

वैकटिको नाम सुरास्तन्धानकारी तौ द्वावपि श्रावकावार्थममु-
जाणां योग्यमतिशायिपौद्गत्रिकप्रभृतिकं विष्णुका मात्रके गृह्यमाण-
मार्थमङ्गनां पुनर्योग्यमेकस्मिन्नेव पत्रङ्गे गृह्यमाणं पश्यतो दृष्ट्वा-
ऽऽचार्यमङ्गुस्तीपमागच्छताम् ।

वेति ततो णं सहा, तुच्च वि वीमुं न घेप्पण कीस ।

तो वेति अज्जमंगु, तुब्बे त्रिय इत्य दिट्ठंता ॥

ततः समीपागमनान्तरं तौ धावकीं ब्रूवात किमर्थं समुद्रा-
णामिव युष्माकमपि विष्णुक् प्रायेतयं गृह्णते न नो ब्रुवन्त्यर्थम-
ब्रुवः आचार्या अत्रार्थं यूयमेव दृष्टान्तः कथमित्याह ॥

જા જંમી દુવ્વજ્ઞા જ, તં તુન્ને વંધઃ પ્યયંતણ ।

न वि बंधव बलियाउ, दुब्बलबलिण व कुंरी वि ॥

भद्रे शाकटिक ! या तव भगमी गन्त्री दुर्घञ्जा तां यूयं प्रयत्नेन
 यक्ष्णीथ । ततः सा यक्ष्नि यदि पुनर्यक्षाद्यालने नदा विनश्य-
 ति या पुनर्यलिका तां नैव यक्ष्णीथ । यन्धनव्यतिरेकेणापि तस्या
 बहनत् । वैशकटिकं प्रणि श्रुते भो वैशकटिक ! या तव कुएमी
 दुर्घञ्जा तां वंसाद्वर्णयन्वा तत्र नयं संश्रय या तु यक्षिका कुएमी
 तस्य, यन्धमंश्वावपि तत्र संश्रानं कुरुथ "द्वयवर्णयन्वा व कुमी
 वि " एवं कु कुरुयपि दुर्घञ्जा यक्षिका च जगमीचत् यक्ष्म्या ।
 उक्ता दधान्तः ।

सांभतमुपनयमाह ।

एवं अञ्जसपुद्गा, दुग्धलक्ष्मी च संवयणात् ।

धारंति सरीरं तु, बलिभंमीसरिसगवयं तु ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण दुर्बलमगम्री दुर्बला गम्वी चात्मीयं शरीरं संस्थापनया धारयति नेतरथा ततस्तेषां योग्यं विष्वक् मा-
त्रके गृह्यते ययं तु वक्षिकजाज्ञीखट्वास्ततो न शरीरस्य सं-
स्थापनामपेक्षामहे ।

निष्पडिकम्पां वि अहं, जोगाण तगामि संथाणं काउं ।

नेच्छामि य वितियंगे, वीसुं इति वेति ते मंगू ॥

निष्प्रतिकर्माऽपि योगानां संधानं कर्तुं शक्नोति ततो नेच्छामि
द्वितीये भक्षे गात्रके विष्णुं गृह्यमाणमिति ते मद्ग्याचार्या भवते ।

न तरन्ति य तेण विणा, अज्जसद्दा उ तेण वीसं तु ।

इय आतिसेसा यरिण, सेसा पंतेण द्वाढेति ॥

आर्यसमुद्राः पुनराचार्यास्तेन विष्वक् प्रायोग्यग्रहणेन विना योगानां सन्धानं कर्तुं न शक्नुवन्ति । तेन तत्प्रायोग्यं विष्वक् गृह्यते एवं शेषाणामपि इत्यस्मात् कारणात् अतिशेषा अतिशया आचार्ये भवन्ति शेषाः पुनः साधवः प्रान्तेन बाह्यान्त आत्मानं यापयन्ति गतस्तृतीयोऽतिशयः । आचार्योपाचार्यस्य वसतेरन्तर्यद्विर्वा एकाकिवेन वास इति चतुर्थपञ्चमावतिशयौ ।

संप्रति चतुर्थपञ्चमावतिशयावाह “ श्रंतो नवस्सयस्स एगरायं
वा पुरायं वा ” इत्यादिवक्कणं (पूर्वोक्तं) विज्ञावधिपुरिदिमाह ।

अंतो वहि व वीसुं, वसमाणे मासियं तु निक्खुस्स ।

संजमआयविराहण, सुखे अमृजोदतो हांइ ॥

यदि भिन्नरूपाश्रयस्यान्तरपवरके विन्ध्यवसंतियदि वा बहि-
रूपाश्रयात् शून्यगृहादिषु तदा तस्य प्रायश्चित्तं मासिकं न केव-
लमिदं प्रायश्चित्तं किन्तु दोषाश्च तानेवाह । अन्तर्बहिर्वा शून्य-
स्थाने वसतोऽप्युभोदयोऽशुभजन्मोदयो ज्ञवति तद्गवाच्चात्म-
विराधना संयमविराधना च । एनामेव ज्ञापयति ॥

तद्व्यावृत्तयोगेण, रहिण कम्मादि सजमे जेदो ।

मेरावलंविद्या मे, वेहाणसमादिनिवेदा ॥

तस्य ज्ञावस्तज्ञावः पुंवेद इत्यर्थः । तस्मिन्पुयोगस्तेन तद्ज्ञा-
वोपयोगेन विज्ञेन स्थाने च वर्त्तमानः सहायरहितो हस्तकर्मा-
दि कुर्यात् एष संयमे संयमस्य भेदो विराधना । तथा कोऽप्य-
तिप्रवृत्तपुवेदोदयपीडित एवं चिन्तयेत् यथा मया मर्यादा सक-
लजनसमकं गुरुपादसमीपेऽवलम्बिता संप्रति चाहमतिपीडित
आसितुं न शक्नोमि तदा निर्वेदात् वैहानसमुत्कलम्वनमादि-
शब्दादन्यद्वा आत्मघातादिकमाचरेत् एषा आत्मविराधना ।
तथा बिह्वरता वा एकाकिना न स्यातव्यमाह यदि संयमाभिर्गत-
ज्ञावस्तनस्तस्य सहाया अपि किं करिष्यन्ति तत आह ॥

जइ वि य निगयजात्रो, तह वि य रक्खिबज्जए स अस्सेहिं ।

वंसकाडिह्वे जिन्ने, विवेणुतो पात्रप न मडि ॥

यद्यपि च स संयमात् निर्गतभावस्तथापि सोऽयैहस्तकर्मादि
वैहानसादि वा समाचरन् रक्ष्यते अत्रैवार्थं प्रतिवस्तूपमाह ।
(वंसकर्मिणेति) वेणुको वंदो महीं न प्राप्नोति अत्रैरन्यैर्वै-
हैरपान्तराले स्वस्थितत्वात् एवं संयमभावा निर्गतोऽपि शेषसा-
धुभिः सर्वथा पतन् रक्ष्यते तदेतद्विक्रोकम् ।

इदानीं गणचन्द्रिकाचार्ययोराह ॥

वीमु वसंते दग्धा, गणित्रायारिण य ह्येति एमेव ।

मृत्तं पुण कारजियं, जिकलुस्य वि कारणे गुन्ना ॥

विष्यकृ द्दर्पात् कारणमन्तरेण गणिनि गणावच्छेदकं आचा-
र्यं च एवमेव त्रिकोरिव प्रायश्चित्तं संयमात्मविराधने च भव-
तः । यथैव तर्हि सूत्रमनयकाशमत आह । सूत्रं पुनः कारणि-
कं कारणमधिष्ठृत्य प्रवृत्तं ततो नानयकाशं न केवलं गणावच्छे-
दकान्वार्ययोः कारणे वसतेरन्तर्यहिर्वा वसनमनुज्ञातं किं तु भि-
न्नोरपि कारणे बहिरन्तर्वा वसनस्यानुज्ञा ।

अथ किं तत्कारणं यदधिकृत्य सूत्रं प्रवृत्तमत आह ।

विज्ञाणं परिवार्त्तं, पञ्च एष य दैति आचार्यः ।

मासञ्चमासियाणं, पञ्च पुण होइ मज्जंतु ॥

आचार्याः पर्याणि विद्यानां परिपाटीर्देदति विद्याः परावर्त्तन्ते इति भावः । अथ पर्यं किमुच्यते तत आह मासार्द्धं मासयोर्मध्यं पनः पर्व्व भवति । तदेवाह ।

पक्वस्स अरुणी खन्नु, मारास्स य पक्खियं मुण्येयवं ।

आम पि होइ पवनं, उवरागो चंदसूराणं ॥

अर्द्धमासस्य पञ्चात्मकस्य मध्यमाऽष्टमी सा खलु पर्व । मास-
स्य मध्यं पार्श्विकं पक्षेण निर्वृत्तं ज्ञातव्यं तत्र कृष्णचतुर्दशीरु-
पमयसान्नायं तत्र प्रायो विद्यासाधनोपचारभावात् बहुला-
दिका मासा इति वचनाच्च न केवलमेतदेव पर्व किञ्चित्पुनरपि
पर्व भवति यत्रोपरागो ग्रहणं चन्द्रसूर्ययो रेतेषु पर्वसु विद्या-
साधनप्रवृत्तिर्यथेवं तत एकरात्रग्रहणं तत आह ।

चण्डसीगहो होइ, कोई अहवा वि सोलसिगहणं ।

वत्त त्र अणुज्जंतो, होइ पुरायं तिरायं वा ॥

कोऽपि विद्याया ग्रहश्चतुर्दश्यां भवति अथवा पौनश्चर्यां
शुक्लपक्षप्रतिपदि विद्याया ग्रहणम् । किमुक्तं जघति कोऽपि
विद्याग्रहश्चतुर्दश्यां कृतः कोऽपि प्रतिपदि क्रियते इत्येव
त्रिरात्रवसनमथ च केन दिवसेन व्यक्रमज्ज्ञापमानं वि—

(जिनकल्पिकस्य चै अतिशयौ) "डुविहो तेसि" (जिनक-

ल्लिकानाम्) "अइसओ नाणाइसओ सरीराइसओ य । णाणा-
इसओ ओहि , मणपज्जवलुत्तथ तडुनयं च । निवड्डी अभि-
न्नवच्चा, सारीरा होति अइसेसा " पं० चू० ॥ (तीर्थरुतः च-
त्वारः मूलातिशयाः) "अपायापगमातिशयो ज्ञानातिशयः पूजा-
तिशयो वा गतिशयश्च " पं० सु० । २०। स्या० । नं० ।

बुद्धस्य (तीर्थरुतः) चतुर्लिशदतिशयाः ।

चोत्तीसं बुद्धाऽसेसा पणुत्ता तं जहा अवद्वियकेसमं-
सुरोमनहे १ निरामया निरुवलेवा गायलद्धी २ गोक्खीर
पंशुरे मंससोणिए ३ पउमुप्पलगांधिए उस्सामनिस्सासे ४
पच्छन्ने आहारनीहारे अदिस्से मंसचक्खुणा ५ आगा-
सगयं चकं ६ आगासगयं वत्त ७ आगासगयाआं सेय-
वरचामराओ ८ आगासफालियामयं सपायपीढं सीहा-
सणं ९ आगासगओ । कुरुभीसहस्सपरिमंनियानिरामो
इंदज्जओ पुरओ गच्छइ १० जत्थ जत्थ वि य णं अर-
हंता जगवंता चिद्धंति वा निसीयंति वा तत्थ तत्थ वि
य णं तक्खणादेव सच्छन्नपत्तपुप्फपल्लवसमाज्जो सच्छत्तो
सज्जओ सघंठो सपमागो असोगवरपायवे अभिसंजायइ
११ ईसिं पिट्ठओ मउरुट्ठाणम्मि तेयमरुलं अभिसंजायइ
अंधकारे वि य णं दस दिसाओ पनासेइ १२ बहुसमरम-
णिजे भूमिजागे १३ अहोसिरा कंटया जायंति १४ उळ
विवरीया सुहफासा भवंति १५ सयिलेणं सुहफासेणं सु-
रज्जिणा मारुणं जोयणपरिमंरुलं सव्वओ समंता संपम-
ज्जिजइ १६ जुत्तफुसिएणं मेहेण य निहयगयरेण पकि-
ज्जइ १७ जलथलयभामुरपचूतेणं विट्ठट्ठावियदसप्पवन्नेणं
कुसुमेणं जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते पुप्फावयारे किज्जइ १८
अमणुत्ताणं सदफरिसरसरुवगंधाणं अवकरिसो भवइ
मणुत्ताणं सदफरिसरसरुवगंधाणं पाउव्भाओ जवइ १९
उज्जओ पासिं च णं अरहंताणं जगवंताणं दुवे जक्खा
करुगतुनियथंभियज्जुया चामरुक्खेवणं करंति २० पव्वा-
हरओ वि य णं हिंययभमणीओ जोयणनीहारी सरो २१
भगवं च णं अद्धमागहीए जासाए धम्ममाइक्खइ २२ सा
वि य णं अद्धमागही जासा जासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं
आरियमाणारियाणं दुपयचउप्पयमियपसुप्पक्खिसरीसि-
वाणं अप्पप्पणो हियसिवसुहदाए जासत्ताए परिणमइ २३
पुव्ववद्धवेरा वि य णं देवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसाकिं-
नरकिंपुरिसगरुद्धगंधवमहोरगा अरहओ पायमूले पसंत-
चित्तमाणसा धम्मं निसामंति २४ अन्नतिथियपावयणिया
वि य समागया वंदंति २५ आगया समाणा अरहओ
पायमूले निप्पडिवयणा हवंति २६ जओ जओ वि य णं
अरहंतो भगवंतो विरहंति तओ तओ वि य णं जोयण-
पणवीसाएणं ईती न जवइ २७ मारी न जवइ २८ सच-
कं न जवइ २९ परचकं न जवइ ३० अइवुट्ठी न भवइ ३१

अणवुट्ठी न भवइ ३२ दुब्भिकखं न भवइ ३३ पुव्वुप्पन्ना
वि य णं उप्पाइया वाही विप्पामेव उवसमंति ३४ । स। ३५

अथ चतुर्लिशदसमस्थानकं किमपि विख्याते (बुद्धाऽसेसस्ति)
बुद्धानां तीर्थरुतामप्यतिशेषाः अतिशयाः बुद्धातिशेषाः अव-
स्थितप्रवृत्तिस्वभावं केशाश्च शिरोजाः स्मश्रूणि च कूर्चरोमाणि
च शेषशरीरद्वोमानि नखाश्च प्रतीता इति द्वन्द्वैकत्वमित्येकः १
निरामया नीरोगा निरुपलेपा निर्महा गात्रयष्टिस्तुल्यतेति द्विती-
यः २ गोक्षीरपाण्डुरं मांसशोणितमिति तृतीयः ३ तथा पयं च
कमलं गन्धद्रव्यविशेषो वा यत्प्रकाममिति रुद्धमुत्पलं च नीलो-
त्पलमुत्पलकुण्डं वा गन्धद्रव्यविशेषस्तथोयं गन्धः स यत्रास्ति
तत्तथोच्चासनिःश्वासमिति चतुर्थः ४ प्रच्छन्नमाहारनिर्हारम्
अन्यवहरणमूत्रपुरीषोत्सर्गं प्रच्छन्नत्वमेव स्फुटतरमाह अदृश्यं
मांसचक्षुषा न पुनरवध्यादिलोचनेन इति पञ्चमः ५ पतच्च द्विती-
यादिकमतिशयचतुष्कं जन्मप्रत्ययम् । आकाशके चक्रं पठ्यं तथा
आकाशगतं व्योमवर्ति आकाशकं वा प्रकाशमित्यर्थः चक्रं धर्म-
चक्रमिति पठ्यः ६ आकाशके उन्नमिति सप्तमः एवमाकाशगं उन्नं
उन्नत्रयमित्यर्थः ७ आकाशके प्रकाशे श्वेतवरचामरे प्रकीर्णके
इत्यष्टमः ८ (आगासफालियामयसि) आकाशमिव यदत्यन्त-
मच्छं स्फटिकं तन्मयं सिंहासनं सहपादपीठमिति नवमः ९
(आगासगमोत्ति) आकासगतोऽत्यर्थं तुल्यमित्यर्थः कुड्मि-
ज्जिह्वपुपताकाः संभाव्यन्ते तत्सहस्रैः परिमणिरुतश्चासावभि-
रामश्चानिरमणीय इति विग्रहः (इंदज्जओत्ति) शेषध्वजापे-
क्षयाप्रतिमहत्वादिन्धश्चासौ ध्वजश्च इन्धश्च इति (पुरओत्ति)
जिनस्याग्रतो गच्छतीति दशमः १० " चिद्धंति वा निसीयंति
वेत्ति " तिष्ठन्ति गतिनिवृत्त्या निपीदन्त्युपविशन्ति (तक्खणा-
देवसि) तत्क्षणमेवाकाशहीनमित्यर्थः पत्रैः संभिन्न इति वक्त-
व्यं प्राकृतत्वात् संछन्नपत्र इत्युक्तं स चासौ पुष्पपल्लवसमाकुल-
श्चेति विग्रहः पल्लवा अङ्कुराः सच्छन्नः सध्वजः सघण्टः सपताका-
ऽशोकवरपादप इत्येकादशः ११ (ईसिंत्ति) ईषदत्पं (पिट्ठओत्ति)
पृष्ठतः तश्चाङ्गागे (मउरुट्ठाणमिति) मस्तकप्रदेशे तेजोमणेरुलं
प्रभापटलमिति द्वादशः १२ बहुसमरमणीयो चूमिभाग इति त्रयो-
दशः १३ (अहोसिरत्ति) अधोमुखाः कण्टका भवन्तीति चतु-
र्दशः १४ श्रुतवां विपरीताः कथमित्याह । सुखस्पर्शा भवन्तीति
पञ्चदशः १५ योजनं यावत् क्षेत्रशुद्धिः संवर्तकवातेनेति षोडशः
१६ (जुत्तफुसिएणत्ति) उचितविन्दुपातेनेति (निहयगयरे-
णुयंति) वातोत्खातमाकाशवर्ति रजो भूवर्ती तु रेणुरिति ग-
न्धोदकवर्षाभिधानः सप्तदशः १७ जलस्थलजं यद्वास्वरं प्र-
भूतं च कुसुमं तेन वृत्तस्थापिता ऊर्द्धमुखेन दशाङ्गवेणुं प-
ञ्चवर्णेन जानुनोरुत्सेधस्य उच्चत्वस्य यत्प्रमाणं यस्य स
जानूत्सेधप्रमाणमात्रः पुष्पोपचारः पुष्पप्रकर इत्यष्टादशः १८
तथा (कालागुरुपवरकुंडुरुक्ततुरुक्कधूवमधमघंतगंधुद्धयाभि-
रामे भवइत्ति) कालागुरुश्च गन्धद्रव्यविशेषः प्रवरकुन्दुरुक्क-
श्च चीडाभिधानं गन्धद्रव्यं तुरुक्कं च शिह्वाभिधानं गन्ध-
द्रव्यमिति द्वन्द्वस्तत् एतल्लक्षणो यो धूपस्तस्य मधमघायमा-
नो बहुलसौरभ्यो यो गन्ध उद्धूत उद्धूतस्तेनाभिराममभि-
रमणीयं यत्तत्तथा स्थानं निषीदनस्थानमिति । प्रक्रम इत्येको
नविंशतितमः १९ तथा उभयोः "पासिं च णं अरहंताणं भग-
वंताणं दुवे जक्खा कडयतुडियथंभियमुया चामरुक्खेवणं क-
रंतिस्ति " कटकानि प्रकोष्ठभरणाविशेषास्तुष्टितानि बाह्याभर-
णविशेषास्तैरतिबहुत्वेन स्तम्भिताविच स्तम्भितौ भुजौ श्रयो-

स्तौ तथा यज्ञौ देवाविति विंशतितमः २० कुंह्र्वाचनोयामन-
स्तौस्तौमतिशयद्वयं नाधीयते अतस्तस्यां पूर्वेऽष्टादशैव अम-
नोज्ञानांशब्दादीनामपकर्षोऽभाव इत्येकोनविंशतितमः १६ म-
नोज्ञानां प्रादुर्भाव इति विंशतितमः २० (पच्चाहरओत्ति) प्रव्या-
हरतो व्याकुर्वतो भगवतः (हिययगमणीउत्ति) हृदयङ्गमः (जो-
यणीनहारीत्ति) योजनातिक्रमी स्वरइत्येकविंशः २१ (अद्भमा-
गहीयत्ति) प्राकृतादीनां षष्ठां भाषाविशेषाणां मध्ये या मागधी ना-
म भाषा 'रसोलसौ' मागध्यामित्यादिलक्षणवती सा असमा-
श्रितस्वकीयसमग्रलक्षणैर्द्वमागधीत्युच्यते तथा धर्ममाख्याति
तस्या एवातिकोमलत्वादिति द्वाविंशः २२ (भासिजमाणीत्ति)
भगवताऽभिधीयमाना (आरियमणारियाणंति) आर्यानार्यदे-
शोत्पन्नानां द्विपदा मनुष्याश्चतुष्पदा गवादयः मृगा आटव्याः
पशवो ग्राम्याः पक्षिणः प्रतीताः सरीसृपा उरःपरिसर्पा भुजप-
रिसर्पाश्चेति तेषां किमात्मन आत्मतया आत्मीययेत्यर्थः भाषा
तया भाषाभावेन परिणमतीति संबन्धः । किं भूताऽसौ भा-
षेत्याह हितमभ्युदयः शिवं मोक्षः सुखं अचणकालोद्भवमा-
नन्दं ददातीति हितशिवसुखदेति त्रयोविंशः २३ पूर्वं भवा-
न्तरेऽनादिकाले वा जातिप्रत्ययवद्धं निकाचितं वैरमभिभवा-
वो येषां ते तथा तेऽपि च आसतां मध्ये देवा वैमानिका अ-
सुरा नागाश्च भवनपतिविशेषाः सुवर्णाः शोभनवर्णा एते
च ज्योतिष्का यत्नराक्षसकिन्नराः किंपुरुषाः व्यन्तरभेदाः ग-
रुडागरुडालाञ्छनत्वात् सुपर्णकुमारा भवनपतिविशेषाः ग-
न्धर्वा महोरगाश्च व्यन्तरविशेषा एव एतेषां द्वन्द्वः (पसंत-
चित्तमाणसत्ति) प्रशान्तानि समझतानि चित्राणि रागद्वेषा-
द्यनेकविधविकारयुक्ततया विविधानि मानसान्यन्तःकरणा-
नि येषां ते प्रशान्तचित्रमानसा धर्मं निशामयन्ति इति चतु-
र्विंशः २४ वृद्धवादतया इदमन्यदातिशयद्वयमधीयते यदुत अ-
न्यतीर्थिकप्रावचनिका अपि च एं वन्दन्तो भगवन्तमिति ग-
म्यते इति पञ्चविंशः २५ आगताः सन्तोऽर्हतः पादमूले नि-
ष्प्रतिवचना भवन्ति इति षट्त्रिंशः २६ (जओ जओ वि य-
णंति) यत्र यत्नापि च देशे (तओ तओ त्ति) तत्र तत्राऽ-
पि च पञ्चविंशतियोजनेषु इतिर्व्याख्याद्युपद्रवकारी प्रचुरमे-
षकादिप्राणिगण इति सप्तविंशः २७ मारिर्जनमारक इत्यष्टा-
विंशः २८ स्वचक्रं स्वकीयराजसैन्यं तदुपद्रवकारि न भव-
तीति एकोनत्रिंशः २९ एवं परचक्रं परराजसैन्यमिति त्रिंशः
३० अतिवृष्टिरधिकवर्ष इत्येकत्रिंशः ३१ अनावृष्टिर्वर्षणाभाव
इति द्वात्रिंशः ३२ दुर्भिक्षं दुष्काल इति त्रयस्त्रिंशः ३३ (उप्पा-
इयावाहिति) उत्पाता अनिष्टसूचका रुधिरवृष्ट्यादयस्तद्धे-
तुका येऽनर्थास्ते औत्पातिकास्तथा व्याधयो ज्वराद्यास्तदु-
पशमोऽभाव इति चतुस्त्रिंशतमः ३४ अन्यच्च " पच्चाहरओ " इत
आरभ्य येऽभिहितास्ते प्रभामण्डलं च कर्मक्षयकृताः
शेषा भवप्रत्ययेभ्योऽन्ये देवकृता इति एते च यदन्यथाऽपि
दृश्यन्ते तन्मतान्तरमेव मन्तव्यमिति सम० ३४ स० (इदमत्र नि-
गमनं चत्वारो जन्मप्रवृत्तित एकोनविंशतिः देवकृताः एका-
दश घातिकर्मणां क्षयाद्भवन्तीति चतुस्त्रिंशदतिशयाः उक्ताः
दर्श०) । सत्यवचनस्य पञ्चत्रिंशदतिशयाः ।

पणतीसं सच्चवयणाइसेसापणत्ता ।

पञ्चत्रिंशत् स्थानकं सुगमं नवरं सत्यवचनातिशया आगमेन
दृष्टा एते तु ग्रन्थान्तरे दृष्टाः संज्ञावितवचनं हि गुणवद्वक्तव्यं
तद्यथा संस्कारवत् १ उदात्तं ५ उपचरोपेतं ३ गम्भीरशब्दम् ४
अनुनादि ५ दक्षिणम् ६ उपनीतरागं ७ महार्थं ८ अव्याहतपौ-

र्वापर्यम् ९ शिष्टम् १० असंदिग्धम् ११ अपहृतान्योत्तरम् १२
हृदयग्राहि १३ देशकालाव्यतीतम् १४ तत्त्वानुरूपम् १५ अप्र-
कीर्णप्रसृतम् १६ अन्योऽन्यप्रगृहीतम् १७ अभिजातम् १८
अतिस्निग्धमधुरम् १९ अपरमर्मवेधितम् २० अर्थधर्माज्यासा-
नपेतम् २१ उदारम् २२ परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्तम् २३ उपग-
तश्लाघम् २४ अनपनीतम् २५ उत्पादिताच्छिन्नकौतूहलम् २६
अद्भुतम् २७ अनतिविज्ञम्बितम् २८ विभ्रमविक्षेपकिलिकिञ्चिता-
दिविमुक्तम् २९ अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रम् ३० आहितविशे-
षम् ३१ साकारम् ३२ सत्त्वपरिग्रहम् ३३ अपरिखेदितम् ३४
अव्युच्छेदम् ३५ चेतिवचनम् महानुभावैर्वक्तव्यमिति । तत्र
संस्कारवत्त्वं संस्कृतादिब्रह्मण्युक्तवत् । उदात्तत्वमुच्चैर्वृत्तिता २
उपचारोपेतत्वमग्रास्यता ३ गम्भीरशब्दं मेघस्येव ४ अनुनादित्वं
प्रतिरवोपेतता ५ दक्षिणत्वं सरलत्वं ६ उपनीतरागत्वं माद्व-
कोशादिग्रामरागयुक्तता ७ एते सप्त शब्दपेक्षा अतिशयाः ।
अन्ये त्वार्थाश्रयास्तत्र महार्थत्वम् बृहदभिधेयता ८ अव्याहत-
पौर्वापर्यत्वम् पूर्वापरवाक्याविरोधः ९ शिष्टत्वम् अभिमत-
सिद्धान्तोक्तार्थता वक्तुः शिष्टतासूचकत्वं वा १० असंदिग्धत्वम्
असंशयकारिता ११ अपहृतान्योत्तरत्वम् परद्रूपणाविषयता १२
हृदयग्राहित्वम् श्रोतृमनोहरता १३ देशकालाव्यतीतत्वम् प्रस्ता-
वोचितता १४ तत्त्वानुरूपत्वम् विवक्षितवस्तुस्वरूपानुसारिता
१५ अप्रकीर्णप्रसृतत्वम् सुसंबन्धस्य सतः प्रसरणम् अथवाऽ
संबद्धाधिकारित्वातिविस्तरयोरजावः १६ अन्योऽन्यप्रगृहीतत्वम्
परस्परपेक्षया पदानां वाक्यतां वा सापेक्षता १७ अभिजातत्वं
चक्षुःप्रतिपाद्यस्येव चूमिकानुसारिता १८ अतिस्निग्धमधुरत्वम्
घृतगुणादिवत् सुखकारित्वम् १९ अपरमर्मवेधित्वम् परमर्मा-
नुद्धटनस्वरूपत्वम् २० अर्थधर्माज्यासानपेतत्वम् अर्थधर्मप्रति-
बद्धत्वम् २१ उदारत्वम् अभिधेयार्थस्यातुच्छत्वगुम्फं गुणवि-
शेषं वा २२ परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्तत्वमिति प्रतीतमेव २३
उपगतश्लाघत्वम् उक्तगुणयोगात् प्राप्तश्लाघता २४ अनपनीत-
त्वम् कारककालवचनविज्ञादिव्यत्ययरूपवचनद्रोषापेतता २५
उत्पादिताच्छिन्नकौतूहलत्वम् स्वविषये श्रोतृणां जनितमविच्छिन्नं
कौतुकं येन तत्तथा तद्भावस्तत्त्वम् २६ अद्भुतत्वमनतिविलम्बि-
तत्वं च प्रतीतम् २७—२८ विभ्रमविक्षेपकिलिकिञ्चितादिवि-
मुक्तत्वम् विभ्रमो वक्तृमनसो भ्रान्तता विक्षेपस्तस्यैवाभिधेयार्थ
प्रत्यनासक्तता किलिकिञ्चितं रोषभयाजिज्ञासादिज्ञावानां युग-
पच्चा सङ्कलनमादिशब्दान्मनोदोषान्तरपरिग्रहस्तैर्विमुक्तं यत्त
तथा तद्भावस्तत्त्वम् २९ अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रत्वम् इह
जातयो वर्णनीयवस्तुरूपवर्णनानि ३० आहितविशेषत्वम् वच-
नान्तरापेक्षया दौकितविशेषता ३१ साकारत्वम् विच्छिन्नवर्ष-
पदवाक्यत्वेनाकारप्राप्तत्वम् ३२ सत्त्वपरिग्रहीतत्वं साहसोपेतता
३३ अपरिखेदितत्वम् अनायाससंज्ञवः ३४ अव्युच्छेदित्वं विव-
क्षितार्थसम्यक्सिद्धिं यावदनवच्छिन्नवचनप्रमेयतेति ३५ सम० ।

सूत्रार्थाद्यतिशयाः ।

सुत्तये अइसेसा, सामायारी य विज्जजोगाइ ।

विज्जाजोगाइ सुए, विसंति दुविहा अओ होंति ॥

इहातिशयास्त्रिविधास्तद्यथा सूत्रार्थातिशयाः सामाचार्यति-
शयाः विद्या योगा आदिशब्दान्मन्त्राश्चेति त्रयोऽतिशयास्तत्र-
विद्या स्त्रीदेवताधिष्ठिता पूर्वसेवादिप्रक्रियासाध्या वा योगाः
पादद्वेपप्रवृत्तयो गगनगमनादिफलाः । मन्त्राः पुरुषदेवताः,

पठितसिद्धा वा । यत्न विद्या यागाश्चान्मन्त्राश्च धुने एवं
विशन्ति अन्तर्भवन्ति अने द्विविधा अनिदायाः भवन्ति तत्र
सूत्रार्थातिशयाः सामान्त्र्यातिशयाश्चैतेनैवामनिशयानामुपल-
ब्धिः प्रवाचनाचार्यपर्युपासनया भवति वृ० १ उ० । अच-
ध्यादौ, श्रौ० । कर्मणि प्रत्ययः अतिक्रान्ते, स्था० ४ ता० १ उ०
अनिशिष्यते कर्मणि घञ् । स्वर्पाऽवशिष्टः, याच० ।

अइमेसइष्टि-अतिशेषि-पुं० अतिशेषा अवधिमनःपर्याय-
ज्ञानामर्षापर्यादयोऽतिशयास्ते तेषां ऋक्षिरस्याऽऽत्मा अतिशे-
षिः । प्रथमे प्रवचनप्रज्ञावेकं, प्रच० १४ हा० । नि० च० । दश०
अइसेमपत्त-अतिशेषप्राप्त-त्रि० आमर्षापर्यादिलब्धिः प्राप्ते,
कल्प० ॥

अइनेसपटुत्त-अतिशेषप्रवृत्त-न० अतिशयाप्रवृत्त्ये, व्य० ६ उ० ।
अइनेसि (न)-अतिशेषिन्-त्रि० स्फोते, श्राव० ।

अइसेमिय-अतिशेषित-त्रि० अतिशयिते, व्य० ६ उ० ।

अइ (ति) हि-अतिथि-पुं० न विद्यन्ते सततप्रवृत्त्या विश-
दैकाकाराऽनुष्ठानतया तिथयो दिनविभागा यस्य सोऽतिथिः
" तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे, त्यक्ता येन महात्मना । अनिधिं तं
विज्ञानायाच्छेषमभ्यागतं विदुरित्युक्तलक्षणे (ध० २ अधि०)
तिथिपर्वोदिलौकिकव्यवहारपरिचयके भोजनकालोपस्था-
यिनि भिन्नविशेषे, ध० २ अधि० । श्राव० । श्रा० । आनु० ।
प्रति० । आचा० । आगन्तुके, भ० ११ शृ० ६ उ० ।

अइ (ति) हिपूत्रा-अतिथिपूजा-स्त्री० ६ त० आहारादि-
दानेनातिथेः सत्कारलक्षणे लोकोपचारविनयभेदे, द० ५
अ० " यलिवइस्सदेवं करेइत्ता अनिहिपूयं करेइ करेइत्ता
तस्यो पच्छाअण्णा आहारमाहारेइ " भ० ११ शृ० ६ उ० नि०,
अइ (ति) हिवन्न-अतिथिवन्न-न० अतिथेः शक्युपचये,
आचा० १ शृ० २ अ० २ उ० । प्रति० ।

अइ (ति) हिम-अतिहिम-न० अतिशयितहिमे, पिं० ।

अइ (ति) हिवणीमग-अतिथिवनीपक-पुं० अतिथिमा-
धित्य वनीपकः । अतिथिदानप्रशंसनेन तद्वक्त्रात् लिप्स्यमाने
वाचकभेदे, स्था० ५ हा० ।

सांप्रतमतिथिमहानां पुरतोऽतिथिप्रशंसारूपं वनीपकत्वं
यथा साधुर्विदधाति तथा दर्शयति ।

पाएण देइ लोगो, उवगारिसु परिचिएसु कुसिए वा ।

जो पुण अच्चाखिन्नं, अतिहिं पूएइ तं दाणं ॥

इह प्रथेण लोक उपकारिषु यद्वा परिवितेषु यदि वा अश्रु-
यिते आश्रिते ददाति भक्तादि यः पुनरध्वखिन्नमतिथिं पूज-
यति तदेवं जगति दानं प्रधानमिति शेषः । पिं० । नि० चू० ।

अइ (ति) हिंसंविभाग-अतिथिसंविभाग-पुं० तिथिपर्वो-
दिलौकिकव्यवहारत्यागाद् भोजनकालोपस्थायी आचक-
स्यातिथिः साधुरुच्यते तस्य संगतो निर्दोषो न्यायागतानां
कल्पनीयान्नपानादीनां देशकालश्रद्धासत्कारक्रमयुक्तः पश्चा-
त्कर्मादिदोषपरिहारेण विशिष्टो भाग आत्मानुग्रहबुद्ध्या दान-
मतिथिसंविभागः । यथा संविभागापरनामके चतुर्थे शिक्षा-
व्रते, ध० ३ अधि० (तत्त्वं च)

अतिहिसंविभागो नाम नायागयाणं कृष्णज्जाणं अन्नं

पाणाइणं दव्वाणं देसकावसद्धासकारकमनुत्तं पराए
भत्तीए आयाणुगहवुच्छीए संजयाणं दाणं ॥

नामशब्दः पूर्ववत् न्यायागतानामिति न्यायो द्विजज्ञविश्व-
दृष्टद्वाराणं स्ववृत्त्यनुष्ठानं स्ववृत्तिश्च प्रसिद्धैव प्रायो लोकव्यव-
हार्या तेन तादृशा न्यायेनागतानां प्राप्तानामनेनान्यायेनाग-
तानां प्रतिषेधमाह । कल्पनीयानामित्युद्गमादिदोषवर्जिताना-
मनेनाकल्पनीयानां निषेधमाह अन्नपानादीनां द्रव्याणामादि-
ग्रहणाद्विषयप्राप्तयेपजादिपरिग्रहः अनेनापि हिरण्यादिव्य-
वच्छेदमाह । देशकालश्रद्धासत्कारक्रमयुक्तं तत्र नानाग्रीहि-
कोद्रवकद्रुगोधूमादिनिष्पत्तिभाणदेशः, सुभिन्नदुर्मिच्छादिः कालः,
विशुद्धचित्तपरिणामः श्रद्धा, अश्रुत्थानासनदानवन्द-
नानुव्रजनादिः सत्कारः, पाकस्य पेयादिपरिपाठ्या प्रदानं
क्रमः, एभिर्देशादिभिः युक्तं समन्वितमनेनापि विपक्षव्यव-
च्छेदमाह । परया प्रधानया भक्त्योत्पन्नेन फलप्राप्तौ भक्तिरु-
तमतिशयमाह । आत्मानुग्रहबुद्ध्येति न पुनरित्यनुग्रहबुद्ध्येति
तथा ह्यात्मपरानुग्रहपरा एव यतः संयताः मूलगुणोत्तरगु-
णसंपन्नाः साधवः तेषां दानमिति सूत्राक्षरार्थः आच० ६
अ० । अत्र बुद्धोक्ता सामान्तरी आवकेण पोषधं पारयता
नियमात्साधुभ्यो दत्त्वा पारयितव्यमन्यदा पुनरनियमो दत्त्वा
वा पारयति पारयित्वा वा ददाति तस्मात्पूर्वं साधुभ्यो दत्त्वा
पश्चात्पारयितव्यम् । कथं यदा देशकालो भवति तदात्मनो
चिभूयां कृत्वा सार्धैस्तत्प्रश्रयं गत्वा निमन्त्रयते भिक्षां गृही-
तेनि । साधूनां का प्रतिपत्तिरुच्यते । तदा एकः पटलकमन्यो
मुखानन्नकमपरो भाजनं प्रत्युपेक्षते मा अन्तरायदोषाः स्थाप-
नदोषा वा भवन्तु स च यदि प्रथमायां पौकण्यां निमन्त्रयते
अस्ति च नमस्कारसहितप्रत्याख्यानीयस्तनस्तद्गृह्यते । अथवा
नास्त्यसौ तदा न गृह्यते यतस्तद्गोढोढ्यं भवति । यदि पुनर्ध-
नें लगेत्तदा गृह्येत संस्थाप्यते च यो बोद्धात्पौकण्यां पारयति
पारणकयानन्यो वा तस्मै तद्दीयते पश्चात्तेन आवकेण समं
संघाटको व्रजत्येको न व्रजेत् प्रेषयितुं साधुपुरतः आवकस्तु
मार्गतो गच्छति ततोऽसौ गृहं नीत्वा तावासनेनोपनिमन्त्रयेत
यदि निविशेते तदा सप्रमथ न निविशेते तथाऽपि विनयः प्रयु-
क्तो भवति ततोऽसौ भक्तं पानं च स्वयमेव ददाति अथवा
भाजनं धारयत्यथवा स्थित एवास्ते यावद्वसंतं साधु अपि
सावशेषं गृहीतः पश्चात्कर्मपरिहरणार्थं ततो दत्त्वा वन्दित्वा
च विसर्जयत्यनुगच्छति च कतिचित्पदानि ततः स्वयं भुङ्क्ते
यच्च किल साधुभ्यो न दत्तं तत् आवकेण न भोक्तव्यम् ।
यदि पुनस्तत्र ग्रामादौ साधवो न सन्ति तदा भोजनवेलायां
दिग्वलोकनं करोति विशुद्धभावेन च चिन्तयति यदि सा-
धवोऽभविष्यस्तदा निस्तारितोऽहमभविष्यमिति विभाषेति
गार्थार्थः ३१ पंचा० १ विव० । ध० २० । ध० । श्रा० । " एसा
विही णाणांसु वंसयारीसु भत्तीए गिही उगहं कुज्जा पारि-
उकामो य वरं इह परलोगे य दाण फलं " श्रा० चू० ४ अ० ॥

अस्य पञ्चातिचाराः ।

तयाणंतरं च एणं अहासंविभागस्स पंच अइआराजा-
णियन्वा न समारियन्वा । तं जहा सच्चित्तनित्त्ववणया
१. सच्चित्तपेहणया २. कालाइकमदाणे ३. परवदेसे ४.
मच्छरया ५

यथा सिद्धस्य स्वार्थं निर्वर्तितस्येत्यर्थोऽशनादेः समिति सङ्गतत्वेन पश्चात्कर्मादिदोषपरिहारेण विभजनं साधये दान-
द्वारेण विभागकरणं यथा सविभागस्तस्य (सच्चित्तनिकलेवणे-
त्यादि) सच्चित्तपु ब्रीह्यादिषु निक्षेपणमन्नादेरदानबुद्ध्या मा.
तृत्थानतः सच्चित्तनिक्षेपणमेवं सच्चित्तेन फलादिना स्थगनम्
सच्चित्तपिधानम् २ कालातिक्रमः कालस्य साधुभोजनकाल-
स्यातिक्रम उल्लङ्घनं कालातिक्रमः । अयमभिप्रायः कालमून-
मधिकं च ज्ञात्वा साधवो न ग्रहीष्यन्ति ज्ञास्यन्ति च यथा-
ऽयं दद्यात्येवं विकल्पतो दानार्थमभ्युत्थानमतीचार इति ३ ।
तथा परव्यपदेशः परकीयमेतत्तेन साधुभ्यो न दीयते इति
साधुसमक्षं भणनं जानन्तु साधवो यद्यस्यैतद्भक्षादिकं ज-
येत् तदा कथमस्मन्यं न दद्यादिति साधुप्रत्ययार्थम् अथवा
ऽस्माद्दानान्ममान्नादेः पुण्यमस्तिवाति भणनमिति ४ मत्सरिता
अपरेणेदं दत्तं किमहं तस्मादपि रूपणो हीनो वाऽतोऽहमपि
ददामीत्येवंरूपोदानप्रवर्तकविकल्पो मत्सरिता एते चाति-
चारा एव न भङ्गा दानार्थमभ्युत्थानं दानपरिणतेष्व दूषितत्वात् ।
भङ्गस्वरूपस्य चैहैवमभिधानात् यथा “ दाणंतराय दोसा, ण
देइ दिज्जंतयं च वारेइ । दिन्ने वा परितप्पइ, इति किवणत्ता
भवे भंगो ” १ उपा० १ अ० । घ० ।

अई (ति) व-अतीव-अ० अति-इव-समासः । अतिशयाथं,
पंचा० १९ विव० । “अईव णिच्चंधयारकत्तिप्पसु ” प्रअ० आअ०
२ द्वा० । “अईव सोमचारुत्वा” अतीव अतिशयेन सोमं दृष्टि-
भगं चारु रूपं येषां तेऽतोव सोमचारुत्वाः जी० ३ प्रति० २ उ० ।

अउअ [य]-अयुत-न० चतुरशीत्या दक्षैर्गुणिते, अनु० । अ-
युताङ्गे, स्था० २ ग० । अनु० । जी० । जं० । दशसहस्रेषु, क-
ल्प० । असंवदे, असंयुक्ते च वाच० ।

अउअंग-अयुताङ्ग-न० चतुरशीत्या दक्षैर्गुणिते अर्धनिपूरे, जी०
३ प्रति० । जं० । कल्प० । स्था० । अनु० ।

अनुअ.सिद्ध-अयुतसिद्ध-त्रि० कारणकपालादेरपृथग्भूततया
सिद्धे कायद्वयं घटादौ, तथाभूते वैशेषिकोक्ते द्रव्याश्रिते गुणे,
कर्मणि च वाच० । आ० म० । सम्म० । स्था० ।

अउज्ज-अयोध्य-त्रि० परैर्योद्धमशक्ये, जी० ३ प्रति० ।
दुर्गतत्वात्परवर्तैः संग्रामयितुमशक्ये, स्था० ४ ग० ।

अउज्ज्मा-अयोध्या-स्त्री० विनीताऽपरनामके पुरीभेदे,
तन्माहात्म्यम् ।

अउज्जाए एगठियाइ जहा अउज्जा अउज्जा कोसव्वा विणीया
सा केयं इक्खागुचूमी रायपुरी कोसवत्ति एसा सिरिउसज्ज
अजिअभिनंदणसुमइअणंतजिणाणं तथा नवमस्स सिरिजी-
रणहरस्स अवज्जनाउणा जम्मजूमी रहुवंसफवाणं दसरदराम-
भरहाईणं च रज्जजाणं विमद्ववाहणाइ सत्त कुलगरा इत्थ उप्प-
आ उस्समसामिणो रज्जानिसेए मिहुणगोहिं निसीणीपत्तेयं उ-
दयं धित्तुं पाप्पसुच्छूढं तओ सा हु विणीया पुरिसत्ति जणिमं स-
क्केण तओ विणीयत्ति सा नयरी रुढा । जत्थ य महासईए सी-
याए अप्पाणं साहंतीए निअसीव्वलेण अग्गी जवपूरा कओ सो
अज्जवपुरो नयरी दोहंतो निअमाहप्पेण तीए चेव राक्षिअओ जाय
अहुज्जरहवसुङ्गाणोवस्स मज्जजूआ सया नवजोअणवित्थिष्ठा
वारसजोअणदीहा य जत्थ चक्केसरी रयणमयायतणद्धिअप-
डिमा संवविघं हरेइ । गोमुहज्जक्खो अ जत्थ थम्भरदहो उ-

सरऊ नईए समं मिलित्ता सग्गदुवारंति पसिद्धमावओ जीए
उत्तरादिसाए वारसाई जोयणेहिं अट्टावयनगवरो जत्थ भ-
गवं आइगरो सिद्धो जत्थ य भरहेसरेण सीहिनिसिज्जाययणं
ति कोसुच्चं कारियं नियनियवप्पमाणसटाणजुत्ताणि अ च-
उवीसजिणाणं विवाइठावियःइं तत्थ पुव्वदारे उस्समजियाणं
दाहिणदारे संभवाईणं चउष्णं, पच्छिमदुवारे सुपासाईणं अ-
ट्टाहं उत्तरदुवारे धम्मईणं दसरहं धूमसयं च भाउआणं
तेण च कारिअं । जीए नयरीए वत्थव्वा जण अट्टावयउच्चव्व-
यासु किलिसु जओ असेरीसयपुरे नवंगवित्तिकारसाहास-
मुच्चवेहिं सिरिदेविंदसूरीहिं चत्तारि महाविवाइ दिव्वसत्तीए
गयणमगेण आणीआइं जत्थ अज्जवि नाभिरायस्स मंदिरं
जत्थ पासनाहवामिअसीयाकुंडं सहस्सधारं च पायारट्टिओ
मत्तगयंदजक्खो अलाविज्जस्स अग्गे करिणो न संचरंति
संचरंति वा ता मरंति गोपयराईणि य अणेगाणि य लोइअति-
ठाणि वरुंति “एसा पुरी अउज्जा, सरउज्जाभिस्सिच्चमाण-
गढभिच्छी । जिणसमयसत्तितीथी, जत्तपवित्तिअज्जा जयइ ॥
कहं पुण देविंदसूरिहिं चत्तारि विवाणि अउज्जापुरओ आणि-
याणित्ति जअइ सेरीसेयनयरे विहरंता आराहिअपसमावइध-
राणिदा उच्चावल्लीयसिरे देविंदसूरिणो उ कुरुमि इप्पए गणे-
काउसमिं करिंसु एवं बहुवारं कारिते दट्ठेण सावएहिं पुच्चियं
भयवं को विसेसो इत्थ काउसगकरणे सूरिहिं जणिअं इत्थ
पहाणफव्वहां चिउइ जीसे पासनाहपमिमा कीरइ सा य सत्तिहिं
अपानिहेरा हवइ तओ सावयवयणेणं पञ्चमावई अराहणत्थं
उववासतिगं कयं गुट्टणा आगया जगवइ तीए आइहुं जहा सो
पारए अंधो सुत्तहारो चिट्ठइ सा जइ इत्थ आगच्छइ अठमजत्तं
च करेइ सूरिए अत्थमिप फलहिअं अंधाउउमादवइ अणुदिए
पडिपुष्णं संपानेइ तओ निप्पजइ । तओ सावएहिं तदाहवणत्थं
सो पारए पुरिसा पठविआ सो आगओ तहेव धनिउमादत्ता-
धरणिंदधारिआ निप्पन्ना पमिमा धर्मितस्स सुत्तहारस्स पमि-
माएहिं अपमासा पाउभूओ । तमुविक्खिउणा उत्तरकाउं घ-
मिओ पुणो समारितेण मसो दिट्ठो ढंकिआ वाहिआ रुहिरं निस्स-
रिउमारुं तओ सूरिहिं जणिअं किमेयं तुमए कयं एवअम्म
मसे अत्थतं सा पमिमा अईव अज्जुअ अह उस्समप्पभवा हुंता ।
तओ अंगुट्टेणं चंपिउं थंभिउं सरुहिरं एवं तीसे पमिमाए नि-
प्पआए चउवीसं अज्जाणि विवाणि ज्ञाणीहिंता आणित्ता गवि-
आणितओ दिव्वसत्तीए अउज्जापुरओ तिप्पि महाविवाणि रत्तीए
गयणमगेण आणियाणि । चउत्थे वि आणिज्जमाणे विहाया
रयणी चउधारासेणेयग्गामे सिस्समज्जे विवं उविअं रामासि-
रिकुमारपावेण चालुकचक्कवइणा चउत्थं विवं कारित्ता गविअं ए
वं सेरीसे महप्पजावो पासनाहो अज्ज वि संघेण पूइजइ मि-
ज्जावि उवहवं कारितं न पारैति कुसुअभमित्तेण न तथा सत्ता-
वप्पा अवयवा दीसंति तम्मिअ गामे तं विवं अज्ज वि चेईहरे पुं-
इज्जइति । इतिथी अयोध्याकल्पः समाप्तः ती० १३ कल्प० । गन्धि-
व्यावतीविजये वर्तमाने पुरीयुगले च “दो अउज्जाओ” स्था० २ ग०
अउ (तु) द-अतुल-त्रि० अनन्यसदृशे, आव० ६ अ० ।
द० । निरुपमे, उत्त० २० अ० । प्रधाने, आ० । नास्ति तुला शु-
भ्रताया यस्यामिति तिष्ठकवृत्ते, पुं० । वाच० ।
अओ-अतम्-अ० इदम् तसिद्ध-पतकेतुकार्ये, वाच० “अओ सव्वे
अहिसिया ” सूत्र० १ शु० १ अ० १ उ० ।

अभोधण-अयोधन-पुं० होहघने, अयोमये घने, " सीसं पि भिदंति अभोधणेहि " सूत्र० ५ अ० २ उ० ।

अभोमय-अयोमय-त्रि० होहमये विकारे, "अभोमयं संभास-पणं गहाय" सूत्र० २ शु० २ अ० ।

अभोमुह-अयोमुख-त्रि० अय इव मुखं यस्य होहमुके पद्यादौ, "पक्वोहि सज्जति अभोमुहेहि" सूत्र० १ शु० ५ अ० २ उ० । अयोमुखद्वीपनिवासिनि मनुष्ये, पुं० स्था० ५ उ० ॥

अभोमुहद्वीप-अयोमुखद्वीप-पुं० गोकर्णनाम्नोऽन्तरद्वीपस्य परतो दक्षिणपश्चिमायां विदिशि पञ्चयोजनशतव्यतिक्रमेण स्थिते पञ्चयोजनशतायामविक्रमेण एकाशीत्याधिकपञ्चदशयोजनशतपरिक्रमे पञ्चशतवेदिकावनखण्डमधिकृतवाणप्रदेशोऽन्तरद्वीपविशेषे, न० । प्रज्ञा० । स्था० ।

अंक-अङ्क-पुं० अङ्क-अञ् । शुल्कमणिविशेषे, उक्त० ३४ म० । रत्नविशेषे, ज्ञा० १ अ० । जं० । ज्ञा० । ग० । सूत्र० । उक्त० । जी० । भ० । आ० म० प्र० । प्रज्ञा० । नि० चू० । " पद्मासनोप-विष्टस्योत्सङ्गरूपे आसनबन्धे, चन्द्र० ४ पाहु० । चन्द्रविभ्या-न्तर्वर्तिमृगावयवे च । यल्लोके मृगादिव्यपदेशं लज्जते जं० २ वक्त्र० । सू० । चिह्ने, चन्द्र २० पाहु० । लाञ्छने, औ० । उत्सङ्गे, व्य० ८ उ० । जं० । ज्ञा० । सूत्र० । आचा० । दृश्यकाव्यभेदे च पुं० न वाच० । दृश्यकाव्यरूपभेदे, एकत्वादिसंख्यायोधकरेखास-न्निवेशे नवसंख्यायाञ्च पुं० वाच० ।

अंककंड-अङ्ककाण्ड-न० अङ्करत्नमये योजनशतवाहल्ये रत्न-प्रभायाः खरकाण्डस्य चतुर्दशे भागे, स्था० १० उ० ।

अंककरेलुअ-अङ्ककरेलुक-न० वनस्पतिविशेषे, आचा० १ शु० १ अ० ५ उ० ।

अंकट्टि-अङ्कस्थिति-स्त्री० संख्यारेखाविक्रिप्रस्थापनरूपायां त्रयश्चत्वारिंशत्कन्यायाम्, कल्प० ।

अंकण-अङ्कन-न० अङ्क-ल्युट् । तसायःशलाकादिना गवाभ्वानां चिह्नकरणे, प्रश्न० आश्र० १ द्वा० । भ० । भृशगालचरणादिभि-र्लाञ्छनकरणे च आच० ४ अ० । अङ्क-करणे ल्युट् । अङ्कसा-धनद्रव्ये " गदागामीति " प्रसिद्धे, वाच० ।

अंकध (ह) र-अङ्कधर-पुं० ६ त० चन्द्रमसि, जी० ३ प्रति० । तं० । जं० ।

अंकधाइ-अङ्कधात्री-स्त्री० उत्सङ्गस्थापिकायां धात्र्याम्, ज्ञा० १ अ० । नि० चू० । आचा० ।

अंकवणिय-अङ्कवणिज् (ज)-पुं० अङ्करत्नवणिजि, रा० ।

अंकमुह-अंकमुख-न० ६ त० पद्मासनोपविष्टस्य उत्सङ्गरू-पासनबन्धाप्रभागे, सू० ५ पाहु० चं० ।

अंकमुहसंनिय-अङ्कमुखसंस्थित-त्रि० पद्मासनोपविष्टस्योत्स-ङ्गरूप आसनबन्धस्तस्य मुखमग्रभागोऽर्द्धवलयकारस्तस्येव सं-स्थितं यस्य । अर्द्धवलयकारसंस्थानसंस्थिते, सू० ५ पाहु० । चन्द्र० ।

अंकलिपि-अङ्कलिपि-स्त्री० ब्राह्म्या लिपेर्द्वादशे लेख्यविधाने, प्रज्ञा० १ पद० । स० ।

अंकमय-अङ्कमय-त्रि० अङ्करत्नमये, अङ्करत्नविकारे, अङ्क-रत्नप्रचुरे वा "अंकामया पक्खा पक्खवाहा" ओ० । रा० । प्रति० ।

अंकावई-अङ्कावती-स्त्री० महाविदेहरम्यविजये वर्तमानायां

राजधान्याम् । " रम्मे विजये अंकावई रायहाणी अंजणे वक्खारपव्वण" जं० ४ वक्त्र० " दो अंकावईओ" स्था० २ उ० । मन्दरस्य पूर्वे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे वर्तमानेवक्षस्का-रपर्वते च स्था० ५ उ० ।

अंकिअ (य)-अङ्कित-त्रि० लाञ्छिते, आच० ४ अ० । औ० । अंकिइह-देशी० नटे, ज्ञा० १ अ० ।

अंकुहग-अङ्कुटक-पुं० नागदन्तके; जं० १ वक्त्र० ।

अंकुत्तरपास-अङ्कोत्तरपार्श्व-त्रि० अङ्का अङ्करत्नमया उत्तर-पार्श्वे यस्य तत् अङ्कोत्तरपार्श्वम् । अङ्करत्नमयोत्तरपार्श्वयु-क्ते द्वारे । रा० । जी० ।

अंकुर-अङ्कुर-पुं० न० अङ्क-उरच् । प्ररोहे, वृ० १ उ० । शाल्यादिबीजसूचौ, प्र० ७ उ० ७ श० । काष्ठकृतावस्थावि-शेषजाजि प्रवाक्षे, जी० ३ प्रति० । स्था० । " दग्धे बीजे यथा-ऽत्यन्तं प्राप्नुमंवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः" ध० २ अधि० । जले, शीघ्रोत्पत्तिसाधर्म्यात् । बधिरे, लो० ग्न, मुकुले च वाच० ।

अंकुस-अङ्कुश-पुं० न० अङ्क उशच् शृणौ, प्रश्न० आश्र० ४ द्वा० । "अंकुसेण जहा णागो धम्मे संपक्किवाओ" उक्त० २२ उ० । अङ्कुशाकारे मुक्तादामावक्ष्यमनाश्रयभूते चन्द्रोपके, जी० ३ प्रति० । स्था० । आ० म० छि० । विमानविशेषे, स० । देवार्चनार्थं वृत्तपङ्क्त्याकर्षणार्थं परिव्राजकोपकरणविशेषे, औ० । पृष्ठे बन्द-नकटोपे, तत्स्वरूपं च ।

उवगरणे हृत्यमि व, धित्तं णिवेसेति अंकुसं विति ।

यत्राङ्कुशेन गजमिव शिष्यः सूरिं तूर्ध्वस्थितं शयितं प्रयोजना-न्तरव्यग्रचोपकरणे चोत्पट्टककल्पादौ हस्ते बाधवद्गत्या समाह-स्य बन्दनकदानार्थमासने उपवेशयति तदङ्कुशवन्दनकमुच्यते नहि श्रीपूज्याः कदाचनाप्युपकरणाद्यार्क्यणमर्हन्त्यविनयत्वात् किं तु प्रणामं कृत्वा कृताक्षिपुटैर्विनयपूर्वकमिदमभिधीयते उपविशन्तु भगवन्तो येन बन्दनकं प्रयच्छामीत्यतो दोषदृष्टमि-दमिति । आचक्ष्यकवृत्तौ तु रजोहरणमङ्कुशवत् करच्छेन गृहीत्वा यत्र बन्दते तदङ्कुशमिति व्याख्यातम् । अन्ये तु अङ्कुशाक्रान्तस्य हस्तिन इव शिरोवनमनोन्नमने कुर्वाणस्य यद्वन्दनं तदङ्कुशमित्याहुः एतच्च द्वयमपि सूत्रानुयायि न भव-ति । तत्त्वं पुनर्बहुश्रुता जानन्ति प्रव० २ द्वा० । आच० । ध० । " अंकुसो दुविहो मूत्रे गंरुस्स रयहरणं गहाय भणति निवेस्-जा ते चंदांमि अहवा दोहिं वि हथेहि अंकुसं जधा आ० चू० ३ उ० । प्रतिबन्धे च वाच० ।

अंकुसा-अंकुशा-स्त्री० अनन्तजिनस्य शासनदेवतायाम्, सा च देवी गौरवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा खड्गपाशयुक्तदक्षिणपा-णिद्वया फलकाङ्कुशयुक्तवामकरद्वया च प्रव० २० द्वा० ॥

अंकेल्लणपहार-अंकेल्लणप्रहार-पुं० अश्वदीनां तर्जकविशे-पाघाते, अंकेल्लणपहारपरिवर्जित्यं अंकेल्लणप्रहारपरिवर्जिताङ्कः अश्ववारमनोऽनुकूलत्वादङ्केल्लणप्रहाररहितशरीरे अश्वदौ, त्रि० जं० ४ वक्त्र० ।

अंकोल्ल-अंकोट [ठ] [ल] पुं० अङ्कघटे लक्ष्यते कीला-कारकण्टैः अङ्क-ओट-ओठ-ओल-वा । अंकोलेल्लः उ । १ । २०० । इति सूत्रात् तस्य द्विरुक्तो लः प्रा० पीतवर्णसारे गन्धयुक्तपुष्पे दीर्घकाण्डकयुक्ते रक्तवर्णफले वृक्षविशेषे, वाच० एकास्थिकवृ-क्त्रभेदे, शुक्लजदे च प्रज्ञा० १ पद० । कल्प० ।

अंकोल्लतेह-अंकोट [ठ] तेह- न० अङ्कोठ-तैवच् अनङ्को-
ठ-तैवस्व मेहः = १ । १ । ५५ । इत्यङ्कोठपर्युदासान्न तैलप्रत्य-
यस्य डेहः । अङ्कोठस्तेहः प्रा० ॥

अंग-अङ्ग-अ० आमन्त्रणे, ज० ए श० ३३ उ० दशा० । झा० ।
औ० । अलंकारे च । “विमंग पुण अहं अज्जोवगमिओ” स्था०
४ ग० अज्जुयक्तिप्रकृणगतिष्वितिअज्ज धातोर्ज्यन्ते गर्भोत्पत्ते
रारज्य व्यकीजवन्ति जन्मप्रवृत्तेर्प्रज्यन्ते चेत्यङ्गानि । शिर-
उदरादिषु न० कर्म० । देहावयवेषु, प्रव० ८ द्वा० । आ० चू०
प्रज्ञा० निचू० विशेष० उक्त० अङ्गान्यथै शिरः प्रवृत्तीनि तदुक्तं
“सीसमुरोरपरिष्ठा, दो वाह ऊरुया य अट्ठंगा” कर्म० ग० ।
“वाहुरुपुष्टिसिरउरउयरंगा” वाहृ हृजद्वयम् ऊरु ऊरुद्वयं
पृष्ठिः प्रतीता शिरो मस्तकमुरो यक्ता उदरं पोष्टिमित्यष्टावङ्गान्यु-
च्यन्ते इह विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् कर्म० १ क० । आ० म० ।
गात्रे, औ० । स्था० । उक्त० । अवयवे, स्था० ७ द्वा० । “अट्ठ-
गाइ” झा० १ अ० । स० । स्था० दौक्तिकानि वेदस्य पर-
ङ्गानि तद्यथा शिक्षा १ कल्पो २ व्याकरणं ३ उन्दो ४ नि-
रुक्तं ५ ज्यौतिषं ६ चेति आ० चू० २ अ० । अनु० । आ० म० ।
आव० । लोकोत्तराणि प्रवचनस्य द्वादश अङ्गान्याचा-
राङ्गादीनि (तानि अंगपविट्टशब्दे व्याख्यास्यन्ते) कारणे,
प्रति० । स्था० ।

अस्य निक्षेपमाह ।

णामंगं ठवणंगं, दव्वंगं चैव होइ भावंगं ।

एसो खलु अंगस्स, णिकवेवो चउव्विहो होइ उक्त० नि०
नामाङ्गं स्थापनाङ्गं द्रव्याङ्गं चैव प्रवति भावाङ्गमेव खलु
(अंगस्स इति) प्राकृतत्वादङ्गस्य निक्षेपश्चतुर्विधो भवतीति गा-
थासमासार्थः । अत्र च नामस्थापने प्रसिद्धत्वाद्नाट्यस्य द्रव्या-
ङ्गमभिधित्सुराह ।

गंधंगमांसहंगं, मज्जाउज्जं सरीरजुद्धंगं ।

एत्तो एकैकं पि य, ऐगंविहं होइ णायव्वं ॥

गन्धाङ्गमौषधाङ्गं (मज्जाउज्जं सरीरजुद्धंगं) विन्दोरलाकणिकत्वा
दङ्गशब्दस्य च प्रत्येकमभिसंबन्धात् मद्याङ्गमातोद्याङ्गं शरीराङ्गं
युद्धाङ्गमिति पद्विधम् (एत्तोत्ति) सुख्यत्ययादेषु मध्ये एकै-
कमपि चानेकविधं भवति ज्ञातव्यमिति गाथाकारार्थः । भावार्थं
तु विवक्षुराचार्यो “यथोद्देशं निर्देशमिति” न्यायमाश्रित्य गन्धाङ्गं
प्रतिपादयन्नाह ।

जमदग्निजडा हरेणु-या मवरणिवसणयं सपिप्पियं ।

रुक्खस्स बाहिरा तथा, मत्थियवासियकोडिअगघती ॥

उसीरहिरिवेराणं, पद्धं भददारुणो करिसो ।

सत्तपुप्फाण भागो य, भागो य तमालपत्तस्स ॥

एयं पण्णाणमयं, विद्धेवणं एस चैव पडवासो ।

वासवदत्ताक्तो, उदयणमजिधारयंतीए ॥

तत्र जमदग्निजडा बालको हरेणुका प्रियङ्गुः सवरनिवसनकं
तमालपत्रं (सपिप्पियं) पिप्पिका ध्यामकाख्यं गन्धद्रव्यं तथा सह
सपिप्पिकं वृक्षस्य च बाह्या त्वक् चातुर्यातकाङ्गं प्रतीतमेव
“मत्थियवासियस्ति” मत्थिका जातिस्तद्वासितमनन्तरोक्तद्रव्य-
जातं चूर्णीकृतमिति गम्यते कोटिं (अगघ इत्ति) अर्हति कोटि-
मूल्याहं प्रवति । महार्घतोपलक्षणं चैतत् तथा उसीरं प्रसिद्धं
हीवेरो बालकः पलं पलमनयोस्तथा भद्रदारोर्देवदारोः कर्पः

“सयपुष्पाणंति” वचनव्यत्ययात् शतपुष्पाया ज्ञागो ज्ञागश्च
तमावपत्रस्य भाग इह पलिका मात्रा । अस्य माहात्म्यमाह । एत
त्त्वानमेतद्विलेपनमेव चैव पट्टवासः वासवदत्तया चण्डप्रद्योत-
दुहित्रा कृतो विहित उदयनं वीणावत्सराजमजिधारयन्त्या चे-
तसि वहन्त्या अनेन परिचित्ताक्षेपकत्यमस्य महात्म्यमुक्त-
मिति सूत्रार्थः । औषधाङ्गमाह ।

दोसि य रयणी महिद-फलं च तिसि य समूसणंगाई ।

सरसंव कणयमूलं, एसा उदगट्टमागुद्धिया ॥

एसा उ हणइ केसुं, तिमिरं अवहेरुगं मिरोरोगं ।

तेज्जगचाउत्थग-मूसगसप्पावरणं च ॥

द्वे रजनी एण्णदारुद्विदं माहेन्द्रफलं चेन्द्रयवा व्रीणि च
समूपणं त्रिकटुकं तस्याङ्गानि सुण्ठीपिप्पलीमन्त्रिद्रव्याणि स-
रसं चार्द्रकनकमूलं विल्वमूलमेयोदकाष्टमेत्युदकमष्टमं यस्यां
सा च तथा गुटिका वटिका । अस्याः फलमाह । एषा तु हन्ति
कणसुं तिमिरं (अवहेरुयति) अर्द्धशिरोरोगं समस्तशिरो-
व्यथां (तेज्जगचाउत्थगति) सुषो लोपे तार्तीयकचातुर्थिकौ
रुद्ध्या ज्यौ मूपकसर्पापराद्धमुन्दराहिदष्टं चः समुच्चय इति
गाथाद्वयार्थः । मद्याङ्गमाह ।

सौलस दक्खानागा, चउरो नागा य धावतीपुप्फे ।

आढगमो उच्छुरसे, मागहमाणेण मज्जंगं ॥ दारं ॥

(सौलसगाहा) पौनःश द्राक्षाजागाश्चत्वारो भागाश्च धात-
कीपुष्पे धातकीपुष्पविषयाः (आढगमोत्ति) आर्पन्वादाढक
श्चुरसविषयः आढक इह केन मानेनेत्याह । मागधमानेन “दो-
असइ” इत्यादिरूपेण मद्याङ्गं मदिराकारणं प्रवर्ततीति गाथार्थः ।

आतोद्याङ्गमाह ।

एगं मगुंदातूर-मेगं अहिमारुदारुअं अग्गी ।

एगं सावियपोंमं, वच्चो आमोलतो हाइ ॥

(एगंगाहा) एकं मकुन्दातूर्यमिति । एकैव मकुन्दा वादित्त-
विशेषो गम्भीरस्वरत्वादिना तूर्यकार्यकारित्वात् तूर्यमनेनास्यां
विशिष्टमातोद्याङ्गत्वमेवाह । किमेकैव मकुन्दातूर्यं सोपस्कार-
त्वाद्यैकमभिमारस्य वृक्षविशेषस्य दारुकं काष्ठमभिमारदारु-
कमग्निविशेषतोऽग्निजनकत्वाद्यथा वा एकं शाल्मलीपोण्डं
शाल्मलीपुष्पं बद्धमामोरुको प्रवति । आमोरुकं पुष्पेण्मिश्रो
बालबन्धविशेषः स्फारत्वादस्येत्यं दृष्टान्ताजिधायितयेदं व्या-
ख्यायते प्रसङ्गतो वाग्यामोरुकाङ्गयोरप्यभिधानमिति सू-
त्रार्थः । शरीराङ्गमाह ।

सीसं उरो य उदरं, पिट्ठी वाहू य दोसि ऊरू य ।

एए होंति अट्ठंगा खलु, अंगोवंगाई सेसाई ॥

होंति उवंगा कना, णासच्छीहत्थपादजंघा य ।

एहकेसमंसअंगुलि, ओट्टा खलु अंगुवंगाई [दारम्]

शिरश्च उरश्च प्राग्बहुदरं “पिप्पित्ति” प्राकृतत्वात्पृष्ठं वाहू द्वौ
ऊरू च एतान्यष्टाङ्गानि । प्राग्बत् लिङ्गव्यत्ययः खलुरवधारणे
एतान्येवाङ्गानि अङ्गोपाङ्गानि शेषाणि नखादीनि उपलक्षणत्वा-
द्वाङ्गानि च कर्णादीनि यत् उक्तम् । होंति उवंगा कम्पा नासच्छी
जंघहत्थपाया य । नहकेसमंसअंगुलि ओट्टा खलु अंगुवंगाणि
इति गाथार्थः ।

सांप्रतं युक्ताङ्गमाह ।

जाणावरणपहरणे, जुष्टे कुशलत्तणं व एतीति य ।

दक्खचं ववसातो, सरीरमारोग ए चेव ॥

(दारम) (जाणावरणपहरणेत्ति) यानं च इत्स्यादि तत्र सत्यपि न शक्नोत्यभिभवितुं शत्रुमत आचरणं च क्वचादि सत्यप्यावरणे प्रहरणं विना किं करोतीति प्रहरणं च खड्गादियानावरणप्रहरणानि यदि युद्धे कुशलत्वं नास्ति किं यानादिनेति युद्धे संग्रामं कुशलत्वं च प्रावीण्यरूपं सत्यप्यस्मिन्नीति विना न शत्रुजयनमतो नीतिश्चापक्रमदिलक्षणा सत्यामपि चास्यां दक्षन्वाधीनो जयस्ततो दक्षत्वमाशुकारित्वं सत्यस्मिन्नित्यवसायस्य कुतो जय इति व्यवसायो व्यापारस्तत्रापि यदि न शरीरमहीनाङ्गं ततो न जय इति शरीरमर्थात्परिपूर्णाङ्गं तत्राप्यारोग्यमेव जयायेति (आरोग्यात्ति) आरोग्यता चः समुद्ये पचावधारणे ततः समुदितानामेवंपां युक्ताङ्गत्वमिति सूत्रार्थः भावाङ्गमाह ।

जावंगं पि य छविहं, सुतमंगं चेव णोसुतं अंगं ।

सुतमंगं वारसहा, चउत्विहं खोमुयजंगं ॥

भावाङ्गमपि च द्विविधम् (सुयमंगं चेवात्ति) भुताङ्गं चैव नो-सुताङ्गं च । भुताङ्गं द्वादशधा आचारादि भावाङ्गना चास्य क्षायोपशमिकजावातगर्गतत्वात् । उक्तं च " भावे खत्रोवसमिप छवालसंगं पि होति सुयणाणांति " चतुर्विधं चतुष्पकारं नोभुताङ्गं तु नोशब्दस्य सर्वनिषेधार्थत्वाद्भुताङ्गं पुनः मकारश्च सर्व-आज्ञाक्षणिक इति गाथार्थः । एतदेवाह ।

माणुस्सं धम्मसुत्ती, सद्धा तवसंजमम्मि विरयं च ।

एए जावंगा खहु, दुल्लभगा होति संसारे ॥

माणुष्यं मनुजत्वमस्य चादाबुपन्यास एतद्भावे शेषाङ्गभावात् धर्मश्रुतिरहंस्त्रयीतधर्माकर्षणं श्रद्धा धर्मकरणाभिहायः । तपोऽनशनादिस्तप्रधानः संयमः पञ्चाश्वचिरमणादिस्तपः संयमो मध्यमपदज्ञापी समासः । तपश्च संयमश्च तपःसंयममिति समाहारो वा तस्मिन्वीर्यं च वीर्यान्तरायद्वयोपशमसमुत्था शक्तिः । अस्य च द्विष्टस्याप्येकत्वेन विवक्षितत्वात्तत्त्वसंख्या-विरोधः । एतानि जावाङ्गानि खलु निश्चितं दुर्लभकानि भवन्ति संसारे द्विष्टव्यत्ययश्च प्राकृतत्वादेतच्चानुक्तमपि सर्वत्र जावनीयमिति गाथार्थः । इह ज्ञ्याङ्गेषु शरीराङ्गं भावाङ्गेषु च संयमः प्रधानमिति । तदेकार्थिकान्याह ।

अंगं दसजागभेए, अवयव असगल्लुप्पियाखंभे ।

देसे पदेसपव्वे, साहापरुलपज्जवखिलं च ॥

दया य संजमे लज्जा, दुगुंठा अच्छेदणादि य ।

तितिकखा य अहिंसा य, हिरी ति एगड्डिया पदा ।

अङ्गदशभागो भेदाऽवयवोऽसकलश्चूर्णः सग्नो देशः प्रदेशः पर्व शाखा पाटलं पर्यवः खिलं चेति शरीराङ्गपर्याया इति वृद्धाः । व्याख्यानिकस्त्वविशेषतोऽस्मी अङ्गपर्यायास्तथा (दसभाग-त्ति) दशभाग इति च भिन्नावेव पर्यायावित्याह । चः समुच्च-श्च सूत्रत्वाच्च सुपः कचिदश्रवणमिति । संयमपर्यायानाह दया च संयमो लज्जा जुगुप्सा अच्छेदना । इतिशब्दः स्वरूप-परामर्शकः पर्यन्ते योद्व्यते तितिक्खा चाहिंसा च हीम्नेत्येकार्थ-कान्यनिष्ठाभिधेयानि पदानि सुवन्तशब्दरूपाणि पर्यायाभिधानं च नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमिति गाथाद्वयार्थः । उक्तं ३ अ० स्था० । गज्यते व्यक्तीक्रियते ऽस्मिन्निति चतुर्विधं नामस्थाप-

नाज्यभावमेदात् । तत्र नामस्थापने श्रुषे द्रव्याङ्गं इशरीरज-व्यशरीरव्यातिरिक्तं शिरो बाह्यादि । जावतोऽयमेवाचारः आचा-राङ्गम् आचा० १ शु० १ अ० १ उ० । चित्ते, अङ्गजे कामे उपाये, प्रधानोपयोगिनि उपकरणे, फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति मीमांसा जन्मादिलगने, यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गमिति पाणिनिपरिज्ञापिते प्रत्ययावधिभूते शब्दभूते च वाच० । ऋप-भदेवस्य द्वादशे पुत्रे, कल्प० । ती० । जनपदविशेषे, यत्र चम्पा-नगरी ज्ञा० ८ अ० । प्रव० । स्था० । वृ० । कल्प० । सूत्र० । आङ्ग-पुं० अङ्गानां राजा आङ्गः अङ्गदेशाधिपे, बहुषेऽणो लुक् अङ्गा अङ्गदेशास्तद्राजानो वा भक्तिरस्य अण् आङ्गः । अङ्गदेशभक्ते, अङ्गराजभक्ते वा त्रि० । अङ्गादागतम् आङ्गम् । अङ्गनिमित्ते कार्थ्यं, धार्णादाङ्गं वलीयः इति परिज्ञाया वाच० । अङ्गं शरीरा-वयवस्तद्विकार आङ्गम् । देहावयवविकारे, स्था० ८ उ० । अङ्गे नवमाङ्गम् । शरीरोत्पत्ते, सूत्र० ३ शु० २ अ० । अङ्गविषयमा-ङ्गम् । आव० ४ अ० । शिरःस्फुरणादौ, स्था० ८ उ० । शरीराऽवयवप्रमाणस्पन्दिनाद्विकारफलोद्भावेकं मदानिमित्त-जदे, स० । अङ्गस्फुरणादिभिः शरीरावयवस्पन्दनप्रमाणादि-भिर्यदिह वर्तमानमतीतमनागतं वा ह्युन्नं प्रशस्तमशुन्नं वाऽप्रश-स्तमन्यस्मै कथ्यते तद्व्ययते आङ्गं निमित्तं यथा 'मूर्त्ति स्फुर-त्याशु पृथिव्यवाप्तिः, स्थानप्रवृत्तिश्च ललाटेदेशे । जूघानमध्य प्रियसंगमः स्यान्नासाक्षिमध्ये च महार्थज्ञान' इत्यादि प्रव० ३५७ द्वा० "दक्षिणपार्श्वे स्पन्दनमजिघास्ये तत्फलं स्त्रिया वामे । पृथि-वीलामं शिरसि, स्थानविवृत्तिर्ललाटे स्यात्" इत्यादि स्था० ८ उ० (आङ्गनाम्नो महानिमित्तस्य सूत्रादिमानम्) "अंगस्स सय-सहस्सं, सुत्तवित्तो य कोडिविज्ञेया । वक्ख्वाणं अपरिमियं, इय-मेव य वत्तियं जाणु" आव० ४ अ० । आ० चू० । स० । अंगत्र-अङ्गज-पुं० अङ्गाजायते जन-र-पुत्रे, को० ज्ञा० । आ० चू० । दुहितरि, खो० देहजातमात्रे, त्रि० रुधिरं, न० रोरे, पुं० लोमिन, न० अङ्गं मनस्तस्माज्जायते कामे, पुं० वाच० । अङ्गद-न० अङ्गं दायति शोधयति दै-क-बाहुशीर्षाभरणे, प्रज्ञा० २ पद० । जी० । ज० । ज्ञा० । स्था० । रा० । औ० । बाहि-वानरराजपुत्रे, वाच० ॥

अंगइ-अङ्गजित्-पुं० श्रावस्तीवास्तव्ये गृहपतिभेदे, नि० स्था० । (स च पार्श्वजिनान्तिके प्रव्रज्यां गृहीत्वाऽनशनेन मृत्वा चन्द्र-विमाने चन्द्रत्वेनोपपन्न इति चंद्रशब्दे वक्ष्यते)

अंगइ (रि) सि-अङ्गर्पि-अङ्गर्गु-पुं० चम्पावास्तव्ये कौ-शिकार्यशेष्ये, तस्य भद्रत्वादङ्गर्परिति कौशिकार्येण नाम कृतम् । आ० म० द्वि० । आव० । आ० चू० । आ० क० । तीर्थे० । (तेनोपशमे सति सामायिकमवाप्य केवलमधिगतमिति अङ्ग-वशब्दे वक्ष्यते)

अंगचूलिया-अङ्गचूलिका-स्त्री० अङ्गस्याऽऽचारादेशचूलिका यथाचाचारस्यानेकविधा इहानुक्तार्थसंग्राहिका चूलिका । का-श्चिकश्रुतजदे, पा० । न० । स्थानाङ्गसूत्रे तु संक्षेपिकादशायास्तृ-तीयाध्ययनत्वेनेयमुक्ता स्था० १० उ० ।

सम्प्रत्युपलभ्यमानाङ्गचूलिकाग्रन्थस्येत्थमारम्भादिः ।

नमो सुअदेवयाए भगवईए नमो अरिहंताणं नमो सिक्खं नमो आयरियाणं नमो उवज्जायाणं नमो होए सव्वसा-हूणं । तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपाणामं एयरि होत्था

वसुओ पुसुभदे चेत्तिए । तेणं कात्थेणं तेणं समएणं
समएणस्स जगवओ महावीरस्स अंतंवासी अज्जसोहम्मे
णामं अणगारे । जाइमंपन्ने जहा उववाइए जाव चउणा-
णमंपन्ने । पंचहिं अणगारसएहिं संपरिवुमे पुव्वाणुपुव्वि
चरमाणे जाव जेणेव पुसुभदे चेइए अहापाडिरूवं विहरइ
परिसा णिगगया । धम्मं सोच्चा णिसम्मं जामेव दिंसि पा-
उव्वुआ तामेव दिंसि पणिगया । तेणं कात्थेणं तेणं सम-
एण अज्जसुहम्मस्स अंतंवासी अज्जजंबूणाम अणगारे ।
जायसहे जाव जेणेव अज्जसोहम्मे सामं तेणेव उवागच्छइ
उवागच्छइत्ता तिखुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करइ करिंत्ता
वंदति एमंसति वंदित्ता एमंसित्ता जाव पज्जुवास-
।ते एवं वयासी । जइ एं भंते समणेणं भगवया महावी-
रेणं जाव संपत्तेणं इकारस अंगाणं अयमट्ठे पन्नत्ते इका-
रस अंगाणं अंगचूलियाए केअट्ठे पन्नत्ते ततेणं अज्जसुह-
म्मे अणगारे जंव्वअणगारं एवं वयासी । एवं खलु जंव्व-
समणेणं जाव संपत्तेणं अंगचूलियाए अयमट्ठे पन्नत्ते ।
जंव्वअंगचूलिया अंगचूलियानूया णायव्वा । जहा कण-
यगिरिचूलिया सिआ । चत्तालीसं जोअणुवा कणयगि-
रम्मि रमणिज्जे दीसंति । जहा पुरिसित्थीणमच्छी ।
जहा य चूलियाए सिरं सोजति मणिरयणमंभियमउरुणं
मउदियं दिप्पति तिलयरयणेणं जालं दिप्पति । विवि-
हनाणामणिरवचयकुंरुलजुअलेणं कण्ठे दिप्पति । तेहिं
विलिहिज्जमाणेणं गंडे दिप्पति । उन्नयनासाए विमलस-
मुत्ताहलं दिप्पति । कज्जलेणं विसाअलोअणे दिप्पति ।
पंचसुगंधेणं तंवेलेणं वयणकमलं दिप्पति । गीवाअर-
णेणं गीवा दिप्पति । वरमुत्ताहद्वारएणं वच्छत्थं दि-
प्पति । वरकणगरयणखचियकंसुत्तएणं कडी दिप्पति ।
नेउरेणं पाए दिप्पति । तहा अंगचूलिआए इकारसं अं-
गाणि दिप्पति । सा अंगचूलिया निगंधाणं निगंधीणं
सम्मं जाणियव्वा फासियव्वा तीरियव्वा किट्ठियव्वा भुज्जो
भुज्जो अहा सहेउआ सवागरण । गुरुपरंपरागमेण गहि-
यव्वा । ततं एं अज्जसुहम्मसामिणा एवं बुत्ते समाणेहट्ठ-
तुड चित्तमाणंदिए जंव्व एवं वयासी । कह एं भंते ! गुरु-
परंपरागमो जप्पइ । जंव्वसमणेणं भगवया महावीरिणं तओ
आगमा पणत्ता । तं जहा अत्तागमे अणंतरागमे परंप-
रागमे अत्तओ अरहंताणं भगवंताणं अत्तागमे । सुत्तओ
गणहराणं अत्तागमे । गणहरसीसाणं अणंतरागमे । तओ
परं सव्वेसिं परंपरागमे ॥

(अस्य ग्रन्थस्य श्लोकमानमष्टौ शतानीति तत्रैव ग्रन्थसमाप्तौ
प्रतिपादितम् ।

अंगच्छ ह्य-अङ्गच्छिन्न-दि० अङ्गेषु छिन्नः । कृत्ताङ्गे, " इमं

नक्रओट्टसीसमुहच्छिण्यं करेह वेयगच्छद्वियं अंगच्छद्वियं इमं
पुक्खाफोदियं करेह " सूत्र० ३ श्रु० २ अ० ।

अंगच्छे [य] द-अङ्गच्छेद-पुं० दूषितावयवकर्त्तने, " अं-
गच्छेदो सअचित्तो सेसरक्खछा " पंचा० १६ विव० ।

अंग [अङ्ग] ए-अङ्गण (न)-न० अगि-गतौ अङ्गयते गृ-
हान्निःसृत्य गम्यते ल्युट् । पृषोदरादित्वाद्वा एत्वम् । वगैऽन्यो
वा ८ १।३० इत्यनुस्वारस्य वा परसवर्णः । प्रा० अजिरे, प्रश्न०
सं० २ द्वा० ४ अ० । गृहाग्रभागे, कल्प० । "अंगणं मंरुवट्ठणं"
नि०चू० ३ उ० ।

अंगणा-अङ्गना-स्त्री० अङ्गे स्वशरीरे पथोधरनितम्बजघनस्म-
रकूपिकादिरूपे अनुरागो येषां ते अङ्गानुरागास्तान् अङ्गानुरा-
गाद् कुर्वन्तीति अङ्गनाः । स्त्रीपु, । तं० आचा० । नि० चू० ।

अंगदिया-अङ्गदिका-स्त्री० तीर्थविशेषे, यत्र श्रीमदजितस्वा-
मिशान्तिदेवताद्वयं श्रीब्रह्मेन्द्रदेवतावसरः ती० ४५ कल्प० ।

अंगप्पजव-अङ्गप्रभव-त्रि० अङ्गाद् दृष्टिवादार्थः प्रभवउत्पत्ति-
रस्येति अङ्गप्रभवः । दृष्टिवादार्थरूपेण, यथोत्तराध्ययने परापहा-
ध्ययनम् " कम्मप्पवायपुड्वे सत्तरसे पाहुमस्मि जं सुत्तं । स-
णयं सोदाहरणं, ते चेव इहं पि णायव्वं " उत्त० १ अ० ।

अंगप्पविट्ठ-अङ्गप्रविष्ट-न० इह पुरुषस्य द्वादश अङ्गानि भव-
न्ति तद्यथा द्वौ पादौ च जङ्घे च कण्ठो च गात्राच्च द्वौ बाहु
त्रावा शिरश्च एवं श्रुतरूपस्यापि परमपुरुषस्याचारादीनि द्वा-
दशाङ्गानि क्रमेण वेदितव्यानि तथा चोक्तम् । " पायडुगं जं-
घोरु गायडुगं तु दो य बाहु य । गीवा सिरं च पुरिसो, चार-
स अंगेसु य पविट्ठो " श्रुतपुरुषस्याङ्गेषु प्रविष्टमङ्गप्रविष्टम् ॥
अङ्गभावेन व्यवस्थिते श्रुतभेदे, न० । स्था० । अनु० । पा० ।
अङ्गप्रविष्टस्यानङ्गप्रविष्टाद् भेद इह प्रदर्शयते ॥ " अह जगवं तु-
ल्ले चेव सव्वनुमते को विसेसो । जहा इमं अंगप्पविट्ठं इमं अं-
गवाहिरंति । आयरिओ आह जे अरहंतेहिं भगवंतेहिं अतीता-
णागतवट्ठमाणदव्वल्लिगखेत्तकाहजावजहावत्थितदंसीहिं अत्थ-
परुचिता ते गणहरेहिं परमवुत्तिसाज्जिवादगुणसंपन्नोहिं सयं चे-
य तिन्यगरसकासातो उव्वज्जभिळण सव्वसत्ताणं हियत्ताय सु-
त्ता तेण उव्वणिवच्चा तं अंगप्पविट्ठं आयारादि दुवाहसविहं ।
जं पुण अत्तेहिं विसुद्धागमवुत्तिज्जत्तेहिं थेरेहिं अप्पाअयाणं मणु-
याणं अप्पवुत्तिसत्ताणं बहुगगाहकंति नाळण तं चेव आयारादि
सुयणाणं परंपरागयं अत्थतो गंथंतो य अतिवहुं ति काळण अ-
णुकंपानिभित्तं दसवेयाल्लियमादिपरुचितं अणेगभेदं अणंगप्पवि-
ट्ठं " आ० चू० १ अ० ॥ तथा च ॥

गणधरथेरकयं वा, आएसो मुक्कवागरणओ वा ।

धुवचलविसेसओ वा, अंगाणंगेसु णाणत्तं ॥

अङ्गानङ्गप्रविष्टश्रुतयोरिदं नानात्वमेतद् भेदकारणं किमि-
त्याह गणधरा गौतमस्वाम्यादयस्तत्कृतं श्रुतं द्वादशाङ्गरूपमङ्ग-
प्रविष्टमुच्यते विशेषे ॥ गणधरदेवा हि मूळचूतमाचागादिकं
श्रुतमुपरचयन्ति तेषामेव सर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसंपन्नतया तद्वचयि-
तुमीशत्वान्न शेषाणां ततस्तत्कृतं सूत्रं मूळचूतमित्यङ्गप्रविष्टमु-
च्यते (नं) यत्पुनः शेषैः श्रुतस्थविरैः तदेकदेशमुपजीव्य विर-
चितं तदनङ्गप्रविष्टम् (नं) स्थविरास्तु भूत्वाहु स्वाभ्यादय-
स्तद्वट्ठं श्रुतमावश्यकनिर्युक्त्यादिकमनङ्गप्रविष्टमङ्गवाहमुच्यते
अथवा वारत्रयं गणधरपृष्ठस्य तीर्थकरस्य संबन्धनीय आदेशः

अंगसुहफरिस (फासिय)--अङ्गस्पर्शक--त्रि० अङ्गस्य सुखः
सुखकारी स्थशो यस्य तत्तथा । क० । देहसुखहेतुस्पर्शयुक्ते,
भ० ११ श० ११ उ० ।

अंगदाण-अङ्गादान-न० अङ्गं शरीरं शिर आदीनि वा अङ्गा-
नि तेषामादानं प्रजवः प्रसूतिरङ्गादानम् । मेद्रे, अङ्गादानस्य सं-
चालनादिनिषेधस्तत्र प्रायश्चित्तम् ।

[सूत्रम्] जे निक्खू अंगदाणं कट्टेण वा कट्ठिचेण वा अंगु-
लियाए वा सिङ्गागाए वा संचावेइ संचालितं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

अङ्गं शरीरं शिरमादीणि वा अंगाणि तेषि आदाणं अंगदा-
णं प्रभवो प्रसूतिरित्यर्थः । तं पुण अंगदाणं मेदं भएणाति तं
जो अएणतरेण कट्टेण वा कट्ठिचो वंसकपट्ठी अंगुली प्रसिद्धा
वेत्रमादि सत्तागाए तेहि जो संचालेति साइज्जति वा तस्स मास-
गुरुं पच्छित्तं ॥

इदाणीं णिज्जुत्तीए भसति ।

अंगदाणं उवंगाणं, अंगोवंगाणि एयमादीणि ।

एतेणंगा ताणं, अणंतणं वा जवे वितियं ॥ १३ ॥

अंगानि अठ सिरादीणि उवंगा कमादीणि । अंगोवंगाणकपव्वा-
दी एतेसि सयं आदाणं कारणमिति तेण एयं अंगदाणं भसति ।
अहवा अणायत्तणं वा जवे वितियं णाम अंगदाणं ति ॥

अस्य व्याख्या ।

सीसं उरो य उदरं, पिट्ठी वाहू य दोष्णि ऊरूओ ।

एते अट्टंगा खलु, अंगोवंगाणि सेसाणि ॥ १४ ॥

शिरः प्रसिद्धं उरः स्तनप्रदेशः उदरं पोष्टं पिट्ठी पसिद्धा
दोष्णि वाहू दोष्णि ऊरू आणि एताणि अट्टंगाणि खलु अवधारणे
अणितं अवसेसा जे ते उवंगा अंगोवंगाण्य ते इमे य ।

होति उवंगा काणा, एासच्छी जंघहत्थपासा य ।

णह केसु मेसु अंगुलि, ततोवतल्लअंगुवंगाउ ॥ १५ ॥

कक्षा नासिगा अच्छी जंघा हत्था पादा य एवमादी सव्वे
उवंगा भवति नहा प्राद्या स्मशु अहुली हस्ततलं हत्थतलाओ
समंता पासेसु अक्षाया उवतलं भसति । एते नखादि अंगोव-
गादीत्यर्थः तस्स संचालणसंभवो इमो ।

संचालणं तु तस्स, सणिमित्तं अणिमित्तए वा वि ।

आतपरतदुभए वा, अणंतं परंपरा चेव ॥ १६ ॥

तस्येति मेद्रेण संचालणा सणिमित्ते उदयाहारे सरीरे य
इदमपि प्रथमसूत्र एव व्याख्यातम् (एतएवावित्ति) सणिमि-
त्ताणिमित्तवज्जा सामखेण सव्वा विचालणा त्रिविधा अण-
त्तेण परेण वा उभएण वा । एकेका दुविधा अणंतं परंपरा
वा अणंतरेण हत्थेण परंपरेण कक्षादिणा एत एवावित्ति ।
अस्य व्याख्या ।

उट्ठाणिवेसुद्धंघण, उच्चत्तणगमणमादिएसि तए ।

ए य घट्टणवोसिरिजं, जिघत्ति ताणि पज्जलं जाव ॥ १६ ॥

उट्ठं तस्स णिसीपंतस्स वा लंघणीयं वा उल्लंघेतस्स सुत्तस्स
वा उच्चत्तणादि करेतस्स स गच्छंतस्स वा आदिसहातो पमि-
द्वेहणादिकिरिया एवमादि इतरा संचालणा सखं काइयं वा
वोसिरिजं संचालेति काइयपरिसारणणिमित्तं ताव चिट्ठइ
जाव सयं चेव णिप्पगलं अणंतं परंपरे संचालणेमाणस्स
मासगुरुं आणादीणो य दोसा भवति ॥

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगदाणं संवाहेज्ज वा पल्लिमहे-
ज्ज वा संवाहतं वा पल्लिमहतं वा सातिज्जति ॥ १७ ॥

जे भिक्खू पूर्ववत् संवाहति एकस्मिं परिमहति पुणो पुणो सा
संवाहणा सणिमित्ता वा अणिमित्ता वा पूर्ववत् । अणादिवि-
राहणा पूर्ववत् ॥

[सूत्रम्] जे निक्खू अंगदाणं तेद्वेण वा घएण वा
अणत्तणीएण वा तसाए वा अवंगेज्ज वा मंखेज्ज वा अ-
वंगंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

जे निक्खू पूर्ववत् तेल्लघटा पसिक्का । वसा अयगरमच्छसू-
करणं अवंगेज्जति एकस्मिं मंखेति पुणो पुणो अहवा धोवेण
अवंगणं वहुणा मंखणं उवट्टणा सूत्रे सणिमित्तअणिमित्ता-
या पूर्ववत् साइज्जणा तदेव आणातिविराहणा पूर्ववत् ।

[सूत्रम्] जे निक्खू अंगदाणं ककेण वा होदेण वा
पठमचुएणेण वा एहाणेण वा चुएणेहिं वा वषेहिं वा
उवट्टेइ वा परिवट्टेइ वा उवट्टंतं वा परिवट्टंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

ककं उवट्टणयं उव्यसंयोगेन वा कक्कं कियते किंचिल्लो-
हट्टज्जं तेण वा उवट्टेति पञ्चचूणेन वा एहाणं एहाणमेव ।
अहवा उवएणाणयं जएणाति तं पुण मासचूर्णादिसिणाणं गंधि-
यावणे अंगाघसणयं बुच्चति वएणाओ जो सुगंधो चंदनादिचू-
र्णानि जहा वट्टमाणचुएणे परवासादिवासनिमित्तानि निमित्ते
तदेव उवट्टेति एकस्मिं परिवट्टेति पुणो पुणो ।

[सूत्रम्] जे निक्खू अंगदाणं सीओदगवियमेण वा
उसिणोदगवियडेण उच्छोदोदोज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छो-
लंतं वा पधोयंतं वा सातिज्जइ ॥ २० ॥

शीतमुदकं शीतोदकं वियमं ववगयजीवियं उसिणमुदकं
उसिणोदकं उच्छोदोदोति सकव पधोवणा पुणो पुणो ।

[सूत्रम्] जे निक्खू अंगदाणं णिच्छोदोदो णिच्छोलंतं
वा साइज्जति ॥ २१ ॥

णिच्छोदोति त्वत्त्वं अत्रणेति महामणिं प्रकाशयतीत्यर्थः ।

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगदाणं जिघत्ति जिघंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥
जे भिक्खू पूर्ववत् जिघत्ति नासिकया आघ्रातीत्यर्थः । हत्थे-
ण वा मलकणं खणं सिघति । एतेसि संचालणादीणं
जिघणावसाणाणं सत्तएह वि सुत्ताणं इमा सुत्तफासनिभासा-
सुत्ताणि वक्तव्यानि ।

संवाहणमज्जंगण, उवट्टणधोवणे य एस कपो ।

णायवो णियमो उ, णिच्छद्वणजिघणाए य ॥ २०० ॥

संवाहणसूत्रे अवंगणासूत्रे उवट्टणासूत्रे धोवणासूत्रे एस गमो
ति संचालणासूत्रे जणिओ सो चेव य पगारा णायवो णियमो
अवस्सं णिच्छलणासूत्रे जिघणासूत्रे च । एतेसु चेव सत्तसु वि
सुत्तेसु इमो दिठंतो जहक्केण ।

सीहासीविसअग्गी, भिद्धी वग्गे य अयगरणरिंदो ।

सत्तसु वि पदेसु ते, अहारणा होति णायवो ॥ २०१ ॥

संचालणासुत्ते दिठंतो । सीहो सुत्तो संचालितो जहा जीयंत-
गरो भवति एवं अंगदाणं संचालियं मोहुअयं जणयति । त-
तो चारित्रविराधना इमा आयविराहणा सुक्कखण मारज्ज-
प्पेण वा कक्षाणा संचालेति तं सविसं उसुत्तियल्लयं वा खयं
वा कट्टेण हवेज्जा । संवाहणासूत्रे इमो दिठंतो । जो आसीविसं
सुइसुत्तं संवाहेति सो विवुओ तस्स जीवियंतकरो भवति ।

एवं अंगादाणं पि परिमहमाणस्स मोहज्जयो ततो चारिज्ज-
वियविणासो जवति । अन्नं गणासूत्रे इमो दिट्ठतो इहरह वि-
ताय अग्गी ज्वज्जनि किं पुण घतादिणा सिन्धमाणो एवं अंगा-
दाणं वि मरिज्जमाणो सुट्ठत्तरं मोहज्जयो भवति । उच्चट्ठणासूत्रे
इमो दिट्ठतो ऋही शस्त्रविशेषः सा सजावेण तिण्हा किमंग !
पुण णिसिया एवं अंगादाणसमुत्थो सजावेण मोहो दिप्पति कि-
मंग ! पुण उच्चट्ठिते । उच्चट्ठणा सुत्ते इमो दिट्ठतो एगो वग्घो
सो अच्चिरोगेण गहिओ संवद्धा य अच्चो तस्स य एगेण वेज्जे-
ण वग्घियाय अक्खीणि अंजेऊण पण्णीकताणि तेण सो चैय य
खद्धो एवं अंगादाणं पि सो इतरं चारवाचनाशाय भवती-
त्यर्थः । णिज्जोलणासूत्रे इमो दिट्ठतो जहा अयगरस्स सुहप्प-
सुत्तस्स मुहं वियतेति तं तस्स अप्पवहाय भवति एवं अंगा-
दाणं पि णिज्जोलियं चारिविनाशाय भवति । जिघणासूत्रे इ-
मो दिट्ठतो णिदेति एगो रत्था तस्स वेज्जपमिसिद्धे अंदए जि-
घमाणस्स अंवट्ठो वाही उछाइ सो गंधप्रियेण वा कुमारेण गंध-
मग्घायमाणेण अप्पा जीविया उमंसिओ एवं अंगादाणं जिघ-
माणो संजमजीवियाओ जुओ अणाइयं च संसारं नमिस्सति
त्ति सत्तमु वि पदेसु एते आहारणा भवतीत्यर्थः ॥ भणिओ
उस्सग्गो । इदानीं अवयातो जण्णति ॥

तिवियपदमणपमे, अपदंसे मुत्तसकरपमेहे ।

सत्तमु वि पदेसु ते, वितियपदा होंति णायव्वा ॥१०२॥

वितियपदं अचवायपदं मणप्पजो अनात्मवशः ग्रहगृहीत
इत्यर्थः । सो संचलणादी पदे सत्त्वे कोट्ठजा । अपदं सो पि-
त्ताश्चं मुत्तसुहए पापाणकः पमेहो रोगो संसत्तं काइयं भ-
रंतं अच्चति एतेसु पदेसु सत्तमु वि जहासंभवं भाणियव्वा
भणियं संजयाणं ।

इदानीं संजतीणं ।

एसंय गमो षियमा, संचावणवज्जित्तो उ वज्जाणं ।

सवाहणमादीसुं, उवरिद्धेसुं वसु पदेसु ॥१०३॥

एसेव पगारो सच्चो णियमा संचावणवज्जित्तविवज्जिओ सं-
वाहणादिसु उवरिद्धेसु वसु वि सुत्तेसु इत्यर्थः ।

[सूत्राणि] जे नक्खू अंगादाणं अन्नयरंसि अचित्तंसि
सोयगांस आणुपव्वेसित्ता मुक्कपोगले णिग्घाएतं णिग्घायंतं
वा साइज्जति ॥ ए ॥

जे भिक्खू पूर्ववत् अणतरं णाम बहूणं परुवियाणं अणतरं
अच्चित्तं णाम जीवविराहियं श्रवतीति ओत्रं तत्र अंगादाणं प-
विसेऊण मुक्कपोगले णिग्घपति गाव्यतीत्यर्थः साइज्ज वा ।

इदानीं णिज्जुत्ती ।

अच्चित्तं सोत्तं पुण, देहे पडिमा जुतेतरं चैव ।

जुविधं तिविधमणगे, एक्केके तं पुणं कमसो ॥१०४॥

अच्चित्तं जीवविराहितं सोत्तं छिदं पुणसहो भेदप्पदरिसणे तं
अच्चित्तसोत्तं तिविहं देहजुयं पडिमज्जुयं चैयरं च । एक्केकस्स
पुणो इमो भेदो कमसो दृष्टवो । देहजुत्तं दुविहं पडिमाजुत्तं
निविहं एगतरं अणोगहा । तत्थ देहे जुयं देहजुयं दुविहं इमं ।

तिरियमणुस्सिस्थीणं, जे खलु देहा भवन्ति जीवजहा ।

अपरिग्गहेतरा वि य, तं देहजुत्तं तु णातव्वं ॥१०५॥

तिरियमणुस्सिस्थीणं जे तहा जीवजहा भवन्ति खलु अवधारणे

पुण सरीरा अपडिग्गहा इतरा सपरिग्गहा । सचेतणं सपरि-
ग्गहं उपरिवक्खमायं भविस्सति । एयं देहजुयं जवतीत्यर्थः ।

इदानीं पमिमाजुत्तं तिविहं परुविज्जति ।

तिरियमणुयदेवीण, जा य पमिमा असन्निहितिओ ।

अपरिग्गहेतरां य, तं पमिमज्जुत्तं ति णायव्वं ॥१०६॥

तिरियपडिमा मणुयपमिमा देवपडिमा या असंनिहियाओ
संनिहियाओ अ । असंणिहियाओ दुविहा अपरिग्गहा इतरा
सपरिग्गहा य । जं एयविहाण तियं तं पमिमाजुत्तं ति णायव्वं ।

इदानीं एतरं अणेगविहं परुविज्जति ।

जुगन्निहणालियाकर-गीविमाति सोतगं जं तु ।

देहचा विवरीत, तु एतरं तं गुणेयव्वं ॥१०७॥

जुगं चदिहण अंधे आरोविज्जति लोगपसिद्धं तस्स छिदं
अणतरं वा । णालिआ वंसणलग्गादीणं विहं करगीयाणीयभंरुगं-
तस्स गीवा विहं वा एवमादि सोतगं देहं सरीरं अचयन्ति ता-
मिति, अच्चा प्रतिमा तेसि विवरीतं अणंतजुत्तं जवति । इदं
पुण असंणिहियअपरिग्गहेसु अधिकारो जं परिसं तं एतरं गु-
णेयव्वमित्यर्थः । एतेसि सीआणं अणतरं जो मुक्कपोगले णि-
ग्घातेति तस्स पच्चित्तं भणति ।

मासगुरुगादि छल्लहु, जहाणए मज्जिमे य उक्कोसे ।

अपरिग्गहित्तचित्तं, अदिट्ठदिट्ठे य देहजुते ॥१०८॥

देहजुण अपरिग्गहिते अचित्ते जहाणए अदिठे मासगुरुं दिठे
चउलहु अहोक्कंतीए चारियव्वं मज्जिमे अदिठे चउलहु दिठे
चउगुरुं उक्कोसते अदिठे चउगुरुं दिठे वल्लहु । तिरियमणुसा-
मणेण देहजुअं अपरिग्गहित्यं नणियं ।

इदानीं तिविहं परिग्गहित्यं भणति ।

चउलहुगादी मूलं, जहाणगादिम्मि होति अचित्ते ।

तिविहेहिं पमिजुत्ते, अदिट्ठदिट्ठे य देहजुते ॥१०९॥

इमा वि अहोक्कंती चारणीया देहजुते अचित्ते यावच्च परि-
ग्गहे जहाणए अदिठे चउलहुअं दिठे चउगुरुअं कोहं वियपरि-
ग्गहे जहाणए अदिठे चउगुरुं दिठे लहुं दंभियपरिग्गहे जहाणए
अदिठे लहुअं दिठे उगुरुअं एतेण चैव कस्सेण तिपरिग्गहे म-
ज्जिमए चउगुरुगादी । छेदे ठाति एतेण चैव कस्सेण तिपरिग्गहे
उक्कोसए छल्लहुआदी मूत्रे ठाति जणियं देहजुअं ।

इदानीं पमिमाजुअं जण्णति ।

पडिमाजुअं वि एवं, अपरिग्गहएतरे असंणिहिते ।

अचित्तसोयसुत्ते, एसा भाणिता भवे सोधी ॥११०॥

पमिमाजुअं पि एवं चैव जणियव्वं जहा देहजुअं अचित्तं
अपरिग्गहं तहा पमिमाजुअं असंणिहितं अपरिग्गहित्यं ॥
जहा देहजुअं अचित्तं सपरिग्गहं तहा पमिमाजुअं असंणिहित्यं
सपरिग्गहं भाणियव्वं । इतरेसु पुण जुगन्निहणालियादिसु मास-
गुरुं एत्थ सुत्तणिवातो एसा अचित्तसोयसुत्ते सोही जणिया ।

एते सामएणतरे, तु सोत्तए जे उदिणए मोहाओ ।

साणिमित्तमाणिमित्तं वा, कुज्जा णिग्घत्तणादीणि ॥

एतेसि अचित्तसोआणादिविराहणं पावेइ इमा संजमविग्गहा
रागगिंसंजमिधण, काहो अहं संजमे विराहणया ।

मुक्कखए य मरणं, अकिच्चकारि त्ति उव्वधे ॥११२॥

राग एव अग्निः रागाग्निः संयम एव इन्धनं संयमेन्धनम्

अतस्तेन रागाग्निना संयमेन्धनस्य दाधो जवति विनाश इत्यर्थः
अह इति एषा संयमविराधना इमा आत्मविराधनागुणो पुणो
विग्धापमाणस्तु सुक्कक्खए मरणं भवति ते वा सुक्कपोगावे
णिग्धापत्ता अकिच्चकारित्ति काउं अप्पाणं उच्चैधेति उक्कलं-
वेतित्ति वुत्तं जवति (अपवादमार्गस्तु ग्रन्थत एवावसेयः) नि०
चू० १ उ० । जीतकल्पे नवमपत्रे स्नेहादिना भ्रत्तणादिकं पञ्च-
कल्याणकप्रायश्चित्तमुक्तम् (मैथुनप्रतिज्ञया अङ्गादानसंचालन
म् मेहुण शब्दे प्रदर्शयिष्यते) (अङ्गादानाकारां कर्कटिकां
दृष्ट्वा जातकौतुकायाः देव्या उदाहरणं पलेव शब्दे दर्शयिष्यते)
अं (इं) गार (ल) -अङ्गार-पुं० न० अङ्ग-आरन् । पक्का-
ङ्गारद्वारादे वा । ८ । १ । ४७ । इति सूत्रेणादेरत इत्वं वा प्रा० ।
विगतधूमज्वात्तदह्यमानेन्धनादिके वादरतेजस्कायजेदे, उक्त०
३६ अ० । आचा० । पिं० । जीवा० । जी० । प्रज्ञा० । ज्ञा० ।
स्था० । ज्ञा० ॥ चारित्रेन्धनस्य रागाग्निनाऽङ्गारस्येव करणे, ग०
७ अधि० । स्वाद्वत्तं तद्वातारं वा प्रशंसयतो भोजने आपतति
आहारदोषविशेषे, ध० ३ अधि० । पं० व० । प्रव० । उक्त० ॥
आचा० । तत्त्वं च ।

जे णं णिगंत्ये वा णिगंथी वा फासुयं एसणिज्जं अ-
सणं पाणं खाइमं साइमं पकिग्गहेत्ता सम्मुच्छिण्णं गिष्से
गदिण्णं अचोववणणं आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ।
सइंगाले पाणभोयणे भ० ७ श० १ उ० ।

“रागेण सइंगाले” महा० ३ अ० । एतदेव सव्याख्यानमाह ।

तं होइ सइंगालं, जं आहारेइ मुच्छिओ संतो ।

तं पुण होइ सधूमं, जं आहारेइ निर्दंतो ॥

तद्भवति भोजनं साङ्गारं यत्तत्तविशिष्टगन्धरसास्वादवशतो
जाततत्त्वियमूर्च्छः सन् अहो मिष्टमहो सुसंभृतमहो सक्किधं
सुपक्वं सरसमित्येवं प्रशंसन्नाहारयति । तत्पुनर्भवति भोजनं स-
धूमं यत्तत्तविरूपरसगन्धास्वादतो जाततद्विषयव्यलीकचित्तः
सन्नहो रूपम् क्वथितमपक्वमसंस्कृतमद्वयवर्णं चेति निन्दन्ना-
हारयति । अयं तत्र भावार्थः । इह द्विविधा अङ्गाराः तद्यथा
द्रव्यतो भावतइत्य । तत्र द्रव्यतः कुशानुदग्धाः खदिरादिवनस्प-
तिविशेषाः भावतो रागाग्निना निर्दग्धं चरणेन्धनम् । धूमोऽपि
द्विधा तद्यथा द्रव्यतो जावतश्च । तत्र द्रव्यतो योऽर्कदग्धानां
काष्ठानां संवन्धी भावतो द्वेषाग्निना दह्यमानस्य मानस्य संव-
न्धी कलुषजावो निन्दात्मकः ततः सहाङ्गारेण यद्वर्तते तत्सा-
ङ्गारं धूमेन सह वर्तते यत्तत्सधूमम् ।

संप्रत्यङ्गारधूमयोर्द्वैक्षणमाह ।

अंगारत्तमपत्तं, जलमाणं इन्धणं सधूमं तु ।

अंगारत्ति पवुवइ, तं वि य दहुंगए धूमे ॥

अङ्गारत्वमप्राप्तं ज्वलन्निन्धनं सधूममुच्यते तदेवेन्धनं दग्धे
धूमे गते सति अङ्गार इति । एवमिहापि चरणेन्धनं रागाग्निना
निर्दग्धं सत् अङ्गार इत्युच्यते । द्वेषाग्निना तु दह्यमानं चरणेन्ध-
नं सधूमं निन्दात्मककलुषभावधूमसन्मिश्रत्वात् ।

एतदेव जावयति ।

रागगिगसंपलितो, जुजंतो फासुयं पि आहारं ।

निदुष्कंगालनिभं, कोइ चरणिधणं खिण्णं ॥

प्राशुकमप्याहारं जुजानो रागाग्निना संप्रदीप्तचरणेन्धनं नि-
दुष्कङ्गाङ्गारनिजं क्षिप्रं करोति ।

दोसग्गी वि जलंतो, अप्पात्तयधूमधूवियं चरणं ।

अंगारमित्तसरिसं, जो न हवइ निदही ताव ॥

द्वेषाग्निरपि ज्वलन् अप्रीतिरेव कलुषभाव एव धूमोऽप्रीति-
धूमस्तेन धूमितं चरणेन्धनं यावदङ्गारमात्रसदृशं न भवति
तावत् निर्दहति

तत इदमागतम् ।

रागेण सइंगालं, दोसेण सधूमं गुणेयव्वं ।

आयाद्वीसं दोसां, बांधव्वा जोयणविहीए ॥

रागेण ध्मातस्य यद्भोजनं तत्साङ्गारं चरणेन्धनस्याङ्गारभूतत्वा-
त् । द्वेषेण ध्मातस्य तु यद्भोजनं तत्सधूमं निन्दात्मककलुषभाव-
रूपधूमसन्मिश्रत्वात् पिं० १० ए पत्र० । पं० चू० । भौमग्रहे, पुं०
रक्तवर्णं, न० तद्वति, त्रि० वाच० ।

आङ्गार-त्रि० अङ्गाराणामयमाङ्गारः । अङ्गारसंघन्धिनि, “इं-
गालं गारियरासि” दश० ५ अ० ॥

अं (इं) गार (ल) कट्टिणी-अङ्गारकर्षिणी-स्त्री० अङ्गारो-
त्थापिकायामीपदकाप्रायां होहमययष्टौ, भ० १६ श० १ उ० ।

अं [इ] गार [ल] कम्म-अङ्गारकर्मन्-न० अङ्गारविषयं
कर्माङ्गारकर्म । अङ्गाराणां करणविक्रयस्वरूपे कर्मादानत्वाद-
कर्तव्ये कर्मणि, एवमग्निव्यापाररूपं यदन्यदपीष्टकापाकादिकं
कर्म तदङ्गारकर्मोच्यते अङ्गारशब्दस्य तदन्योपलक्षणत्वात्
ज० ८ श० ५ उ० । समानस्वभावत्वात् उपा० १ अ० । यतो
योगशास्त्रे “अङ्गारप्राक्करणं, कुम्भायःस्वर्णकारिता । उगार-
त्वेष्टकापाका-विति ह्यङ्गारजीविका ॥ ध० २ अधि० । प्रव० ।
आव० । “इङ्गावे ददिकणं विक्रिणेति तत्थ उक्कायपाणं वधो तन्न
कप्पति अहवा होहकारादि” आ० चू० ६ अ० । आ० ध० । पंचा० ।

अं [इं] गार [ल] कारिया-अङ्गारकारिका-स्त्री० अ-
ङ्गारान् करोतीति अङ्गारकारिका । अग्निशकटिकायाम्, ।

इंगालकारिणं जंते ! अगणिकाए केवइयं कालं सं-
चिड्डइ गोयमा ! जहसेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिस्सि रा-
इंदियाइं असवेत्थ वाउकाए वक्कमइ ए विणा वाउकाइणं
अगणिकाए उज्जलइ ॥

अङ्गारान् करोतीति अङ्गारकारिका अग्निशकटिका । न के-
वलं तस्यामशिकायो जवति (असवेत्थत्ति) अन्योऽप्यत्र
वायुकायो व्युत्क्रामति यन्नाग्निस्तत्र वायुरिति कृत्वा कस्मादेव-
मित्याह “ न विणेत्यादि ” । ज० १६ श० १ उ० ।

अं (इं) गार (ल) ग-अङ्गारक-पुं० अङ्गार-स्वार्थ-कन्-अ-
ङ्गारे, वाच० । मङ्गलनामके तारग्रहभेदे, स्था० ६ ठा० । औ० ।
प्रश्न० । आद्ये महाग्रहे च कल्प० । सू० प्र० । चं० प्र० । भ० ।
“ दो इंगालगा ” स्था० २ ठा० । अङ्गारमिव इवार्थे कन् रक्त-
वर्णत्वात् । कुरण्टकवृत्ते, भृङ्गाराजवृत्ते च पुं० अल्पार्थे कन् र-
क्तवर्णत्वात् विस्फुलिङ्ग इति विख्याते अङ्गारलुङ्गांशे, न० वाच० ।

अं (इं) गार (ल) ना (दा) ह-अङ्गारदाह-पुं० अ-
ङ्गारा दहन्ते यत्र । यत्राङ्गाराणां दाहो भवति तादृशे स्थाने, नि०
चू० ३ उ० । आचा० । अङ्गारान् दहतीति अङ्गारदाहः । अङ्गा-
राणां दाहके, त्रि० (अङ्गारदाहकेन तद्गुणमजानता चन्दनखोटी
दग्धेति चन्दनखोटीदृष्टान्तः सच आयुरिय शब्दे) (मुक्तिसु-
खमसदृशमित्यङ्गारदाहदृष्टान्तः सिद्ध शब्दे)

अं (इ) गार (व) पतावणा-अङ्गारप्रतापना-स्त्री० अ-
ङ्गारेषु प्रतापनाऽङ्गारप्रतापना । शरीरस्य शीतकालादौ अङ्गार-
रेषु प्रतापनायाम्, प्रश्न० सं० ५ द्वा० ।

अं (इ) गार (ल) मद्ग-अङ्गारमर्दक-पुं० जीवाश्रयान-
तोऽङ्गाराणां मर्दनेनाङ्गारमर्दकेति प्रमादिते गते रुद्रदेवाभिधे
अभय्याचार्ये, तत्संविधानकं चैवं ध्याने ।

“ सूरिर्विजयसेनाख्यो, मासकल्पविहारतः ।

समायातो महानागः, पुरे गर्जनकाभिधे ॥ १ ॥

अथाऽथ तिष्ठतस्तस्य, कदाचिन्मुनिपुङ्गवैः ।

गवां विसर्गवेद्यायां, स्वप्नोऽयं किल वीक्षितः ॥ २ ॥

कञ्चनानां शतैः शूरैः, शूकरः परिवारितः ।

पञ्चनिर्जञ्जातीना-मस्मदाश्रयमागतः ॥ ३ ॥

ततस्ते कथयामासुः, सुरैः स्वप्नं तमद्भुतम् ।

सूरिस्तृवाच तस्याथ, साधूनां पृच्छताममुम् ॥ ४ ॥

धुसाधुपरिवारोऽथ, सूरिरेष्यति कोऽपि वः ।

प्राघूर्णकः परं ज्ञेयो, नासाधिति विनिश्चयः ॥ ५ ॥

यावज्जगत्पत्न्यसौ तेषां, साधूनां सूरिरग्रतः ।

रुद्रदेवान्निधः सूरि-स्तावत्तत्र समागतः ॥ ६ ॥

शनैश्चर इव स्फार-सौम्यप्रदगणान्वितः ।

परएतत्तत्कालान्त-कल्पवृक्षगणान्वितः ॥ ७ ॥

कृता च तस्य तैस्तूर्ण-मन्युत्थानादिका क्रिया ।

आतिथेयी यथायोगे, स गच्छत्य यथागमम् ॥ ८ ॥

ततो विकलवेद्यायां, कोलाकारस्य तस्य तैः ।

परीक्षणाय निजिज्ञाः, अङ्गाराः कायिकीचूचि ॥ ९ ॥

स्वकीयाचार्यनिर्देशा-न्प्रच्छन्नैश्च तैः स्तितैः ।

वास्तव्यसाधुनिर्देषा-स्ते प्राघूर्णकसाधयः ॥ १० ॥

पादसंचूर्णिताङ्गार-कृशत्काररयस्तुतौ ।

मिथ्याकुपूतमित्येत-दुवाणः प्राणिशङ्कया ॥ ११ ॥

कृशत्काररयस्थाने, कृतचिह्ना इतीच्छया ।

दिने निभालयिष्यामः, कृशत्कारः किमुद्भवः ॥ १२ ॥

आचार्यो रुद्रदेवस्तु, प्रस्थितः कायिकीं युवम् ।

कृशत्काररयं कुर्व-अङ्गारपरिमर्दनात् ॥ १३ ॥

जीवाश्रयानतो मूढो, वदंश्चेतज्जिनैः किल ।

जन्तवोऽमी विनिर्दिष्टाः, प्रमाणैर्न्येकता अपि ॥ १४ ॥

वास्तव्यसाधुनिर्देषा, यथादृष्टं च साधितम् ।

सूरिर्विजयसेनस्य, तेनापि गदितं ततः ॥ १५ ॥

स एष शूकरो भद्रा-स्त एते वरहस्तिनः ।

स्वप्नेन सूचिता ये वो, न विधेयोऽत्र संशयः ॥ १६ ॥

तैः प्रभातेऽथ तच्छिष्या, वाधितास्तूपपत्तिभिः ।

यथैवं चेष्टिते नाय-मभय इति बुध्यताम् ॥ १७ ॥

त्याज्यो वोऽयं, यतो घोर-संसारतत्कारणम् ।

ततस्तैरप्युपायेन, क्रमेणासौ विवर्जितः ॥ १८ ॥

ते चाकलङ्कसाधुत्वं, विधायार्थ दिवं गताः ।

ततोऽपि प्रच्युताः सन्तः, क्षेत्रेऽमुत्रैव भारते ॥ १९ ॥

श्रीवसन्तपुरे जाता, जितशत्रोर्महीपतेः ।

पुत्राः सर्वेऽपि कालेन, ते प्राप्ता यौवनश्रियम् ॥ २० ॥

अन्यदा तान् सुरूपत्वात्, कलाकौशलयोगतः ।

सर्वत्र ख्यातकीर्तित्वा-स्सर्वानाद्यु न्यमन्त्रयत् ॥ २१ ॥

हस्तिनागपुरे राजा, कनकध्वजसंज्ञितः ।

स्वकन्याया वरार्थाय, तान् स्वयंवरमरूपे ॥ २२ ॥

तत्रायतैः स तैर्दृष्टो, गुरुरङ्गारमहकः ।

उपूत्वेन समुत्पन्नः, पृष्टारुढमहाभरः ॥ २३ ॥

गत्रावन्नम्वितस्पृष्ट-कुतुपोऽपेक्षवं रटन् ।

पामनः सर्वजीर्णाङ्गो, गतत्राणोऽतिष्ठः खितः ॥ २४ ॥

तमुपूमीक्रमाणानां, तेषां कारुण्यतो भृशम् ।

जातिस्मरणमुत्पन्नं, सर्वेषां शुभभावतः ॥ २५ ॥

दैवजम्भोद्भवज्ञान-ज्ञातत्वाच्चैरसौ स्फुटम् ।

करमः प्रत्यभिज्ञातो, यथाऽयं चक्षुषो गुरुः ॥ २६ ॥

ततस्ते चिन्तयामासु-र्धिकं संसारविचेष्टितम् ।

येनैव तादृशज्ञान-मवाप्यापि कुजावतः ॥ २७ ॥

अवस्थामीदृशीं प्राप्तः, संसारं च त्रमिष्यति ।

ततोऽसौ मोचितस्तेन्य-स्तत्स्थामिन्धुः कृपापरैः ॥ २८ ॥

ततस्तदैव ते प्राप्य, भवनिर्वेदकारणम् ।

कामनोगपरित्यागा-त्ते प्रव्रज्यां प्रवेदिरे ॥ २९ ॥

ततः सुगतिस्ताना-न्निर्वास्यत्यचिरादमी ।

अन्यः पुनरभव्यत्वाद्, जवारण्ये त्रमिष्यतीति ॥ ३० ॥

(गार्थाः १२) पंचा० २ विव० ॥

अं [इ] गार [व] रासि-अङ्गाररासि-पुं० खदिराङ्गारपुष्पे,
सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आ० क० । आच० । आ० चू० ।

अं [इ] गारवई-अङ्गारवती-स्त्री० धुन्धुमारनृपसुतायाम्,
(तद्वक्तव्यता संवेगशब्दे वक्ष्यते)

अं [इ] गार [ल] सहस्स-अङ्गारसहस्स-त० ६ त० ब्रह्म-
तराणामग्निकणानां सहस्रे, स्था० ८ ग० ।

अं (इ) गालसोद्विय-अङ्गारशू [व] ल्य-त्रि० अङ्गारैरि-
च पके, ज० ११ श० ६ उ० ॥

अं (इ) गारा [वा] यतण-अङ्गारायतन-त० यत्राङ्गार-
परिकर्म क्रियते तस्मिन् गृहे, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अं [इ] गारि [लि] य-अङ्गारित-त्रि० विवर्णाचूते, आ-
चा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

अंगिरस-अङ्गिरस-पुं० गोतमगोत्रविशेषचूताङ्गिरःपुरुषापत्ये,
स्था० ७ ग० ।

अंगीकम्-अङ्गीकृत-त्रि० अङ्गीतिच्यन्ते तत्पूर्वकात् कञः कः
स्वीकृते, स्था० ५ ग० 'अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयतीति' चौ-
रपञ्चाशिका वाच० ।

अं [इ] गुअ-इङ्गुद-पुं० इगि-उः इङ्गुः रोगः तं घति खएन्-
यति दो क "शिधिलेऽङ्गदे वा" ८ । १ । ८६ । इति सूत्रेण
प्राकृते आदेर्वा इत्वम् । तापसतरौ, प्रा० ।

अंगुट्ट-अङ्गुट्ट-पुं० अङ्गौ पाणौ प्राधान्येन तिष्ठति स्था-क-व-
त्वम् । हस्ताऽवयवे, स्था० १० ग० ।

अंगुट्टपासिण-अङ्गुट्टप्रश्न-त० विद्याविशेषे, ययाऽङ्गुष्ठे देवता-
घतारः क्रियते तत्प्रतिपादके प्रश्नव्याकरणानां नवमेऽध्याये च
परमिदानींतने प्रश्नव्याकरणपुस्तके नंदमुपलभ्यते स्था० १० ग० ।

अंगुम-पूरि-धा० पूर० निचू पूरेरघाडोघबोद्धूमाङ्गुमाहिरमाः
८ । ४ । ६८ । इति सूत्रेण पूरेरङ्गुम इत्यादेशः । पूर्वौ, अङ्गुमेह
पूरयति प्रा० ।

अंगुल-अङ्गुल-पुं० अङ्गु उल० । हस्तपादशाखायाम्, वाच०
अष्टयवमध्यात्मके परिमाणेदे, त० "अट्टजवमज्जायो से पगे

अंगुले' भ० ३ श० ७ उ० । ज्यो० । स्वा० । अगिरगीत्यादिद-
एरुके पठितः अगिरगित्यर्थो धातुर्गत्यर्थो ज्ञानार्थो अपि भवन्त्य-
तोऽङ्गन्ते प्रमाणतो ज्ञायन्ते पदार्था अनेनेत्यङ्गुलम् । मानवि-
शेषे, प्रव० १५४ द्वा० । तद्देहा यथा ।

से किं तं अंगुले ? अंगुले तिविहे पष्ठत्ते तंजहा ।

आयंगुले उस्सेहंगुले पमाणंगुले ॥

अङ्गुलं त्रिविधं प्रकृतं तद्यथा आत्माङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलं प्रमाणाङ्गुल-
म् । तत्र ये यस्मिन् कावे भरतसगरादयो मनुष्याः प्रमाणयुक्ता
भवन्ति तेषां च संवन्धी अत्रात्मा गृह्यते आत्मनामङ्गुलमात्मा-
ङ्गुलत एवाह आत्माङ्गुलम् ।

से किं तं आयंगुले आयंगुले जे एं जे ए जया मणुस्सा
नवइ तेसि एं तथा अप्पणो अंगुलेणं उवावस अंगुलाइं
मुहं नवमुहा पुरिसे पमाणजुत्ते भवइ । दोषिए पुरिसे माण-
जुत्ते भवइ । अद्धभारं तुहमाणे पुरिसे उम्माणजुत्ते भवइ
माणुम्माणप्पमाणजुत्ता लक्खणवज्जणगुणेहिं उववेअ
उत्तमकुलप्पसूत्रा उत्तमपुरिसा मुणेअन्ना ? हुंति पुण
अहियपुरिसा, अडसयं अंगुलाण उकिट्ठा । छसउइ
अहम्मपुरिसा, चउत्तरं मज्झिमिह्वाओ । २ । हीणा वा
अहिया वा जे खलु सरसत्तसारपरिहीणा । ते उत्तमपु-
रिसाणं, अवसा पेसत्तणमुपैति । ३ । एएणं अंगुलपमा-
णेणं उ अंगुलाइं पादो, दो पाया विहत्थी, दो विहत्थी-
ओ रयणी, दो रयणीओ कुत्थी, दो कुत्थीओ दंरुं, धणु-
जुगेनादिआ अक्खमुसले, दो धनूमहस्साइं गाउअं ।
चत्तारि गाउआइं जोअणं । एएणं आयंगुलप्पमाणेणं किं
पओयणं ? एएणं आयंगुलेणं जे एं जया मनुस्सा हवन्ति
तेसि एं तथा एं आयंगुलेणं अग्ररुनत्तागदहनदी वा वि-
पुक्खरिणो दोहि य गुंजालिआओ सरासरपंतिआओ
सरासरपंतिआओ विलपंतिआओ आरामुज्जाणकाणण-
वणवणसंभवणराइओ देउलसभापवायूभखाइअपरिहाओ
पागारअट्टायचरिअदारगोपुरपासायघरसरणत्तयणआवण-
सिंधारुगतिगचउक्कचउम्पुहमहापहपहासगररहजाणजुगं-
गिज्झिधिद्विसिवेअसंदमाणिआओ लोहीदोहकडाहकठि-
द्वयनमत्तोवगरणमाईणि अज्जकल्लिआइं च जोअणइं
भविज्जंति से समासओ तिविहे पष्ठत्ते तंजहा सूइअंगुले
पयरंगुले घणंगुले अंगुलायया एगपएसिया सेदी सूइअंगु-
ले सूइसूइगुणिया पयरंगुले पयरं सूइए गुणितं घणंगुले
एएसि एं सूइअंगुलपयरंगुलघणंगुलाणं कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा सव्वथोवे
सूइअंगुले पयरंगुले असंखेज्जगुणे घणंगुणे असंखेज्जगु-
णे सेत्तं आयंगुले ॥

ये जरतादयः प्रमाणयुक्ता यदा भवन्ति तेषां तदा स्वकीयम-
ङ्गुलमात्माङ्गुलमुच्यते इति शेषः । इदं च पुरुषाणां कात्वादिभेदे-
नानवस्थितमानत्वादनियतप्रमाणं द्रष्टव्यम् । अनेनैवात्माङ्गुलेन

पुरुषाणां प्रमाणयुक्ततादिनिर्णयं कुर्वन्नाह (अप्पणो अंगुले णं
उवावसेत्यादि) यद्यस्यात्मीयमङ्गुलं तेनात्मनोऽङ्गुलेन द्वाद-
शाङ्गुलानि मुखं प्रमाणयुक्तं भवत्यनेन च मुखप्रमाणेन नव मुखा-
नि सर्वोऽपि पुरुषः प्रमाणयुक्तो भवति प्रत्येकं द्वादशाङ्गुलैर्न-
वजिर्मुखैरष्टोत्तरं शतंमङ्गुलानां संपद्यते । ततश्चैतावदुच्यते : पुरुषः
प्रमाणयुक्तो भवतीति-परमार्थः । अथ तस्यैव मानयुक्तताप्रति-
पादनार्थमाह । छौणिकः पुरुषो मानयुक्तो भवति छोणी जल-
परिपूर्णा महती कुण्डिका तस्यां प्रवेशितो यः पुरुषो जलस्य
छोणं पूर्वोक्तस्वरूपं निष्काशयति छोणजलोनां वा तां पूरयति
स द्रोणिकः पुरुषो मानयुक्तो निगद्यते इति भावः । इदानीमेत-
स्यैवोन्मानयुक्ततामाह । सारपुङ्गवरचितत्वात्तुल्यारोपितः सन्न-
रुज्जारं तुल्यन्यपुरुषवन्मानयुक्तो भवति । तत्रोत्तमपुरुषाः यथोक्तैः
प्रमाणमानोन्मानैः अन्यैश्च सर्वैरेव गुणैः संपन्ना एव भवन्तीत्ये-
तद्विशेषमाह (माणुमाणगाहा) अनन्तरोक्तस्वरूपैर्मानोन्मान-
प्रमाणैर्युक्ता उत्तमपुरुषाश्चक्रवर्त्यादयो ज्ञातव्या इति संवन्धस्त-
था लक्षणान् शङ्खस्वस्तिकादीनि व्यञ्जनानि मणीतिष्ठकादीनि
गुणाः कान्त्यादयस्तैरुपेतास्तथोत्तमकुलान्युग्रादीनि तत्प्रसूता
इति गार्थार्थः । अथात्माङ्गुलेनैवोत्तममध्यमाधमपुरुषाणां प्रमा-
णमाह (हुंति पुण गाहा) भवन्ति पुनरधिकपुरुषा उत्तमपुरषा-
श्चक्रवर्त्यादयोऽष्टशतमङ्गुला (उच्चिच्छात्र) रक्षमिना उच्चैस्त्वेन
वा पुनःशब्दस्त्वेवामेवाधिकपुरुषादीनामनेकभेदादर्शकः ।
आत्माङ्गुलेनैव पञ्चवत्यङ्गुलान्यधमपुरुषा भवन्ति (चरुत्तरमज्ज-
मिल्लाउत्ति) तेनैवाङ्गुलेन चतुरत्तरमङ्गुलशतं मध्यमानः तुशब्दो
यथानुरूपशेषलक्षणदिभावप्रतिपादनपर इति गार्थार्थः । अष्टो-
त्तरशताङ्गुलमानाद्विना अधिका वा ते किं भवन्तीत्याह (हीणा
वा गाहा) अष्टोत्तरशताङ्गुलहीना वा अधिका वा ये खलु स्वरः
सकलजनादेयत्वप्रकृतिगम्भीरतादिगुणाढंक्रुतो ध्वनिःसत्यं दैन्य-
विनिर्मुक्तो मानसोऽवष्टम्भः सारः शुभपुङ्गवपचयजःशारीरशक्ति-
विशेषस्तैः परिहीना सन्तस्ते उत्तमपुरुषाणां उपचितपुण्यप्राग्भा-
राणाम् अवशा अनिच्छन्तोऽप्यशुभक्रमवशतः प्रेषत्वमुपयान्ति
स्वरादिशेषलक्षणैकैकल्यसाहाय्यात् यथोक्तप्रमाणाद्विनाधिक्य-
मनिष्टफलप्रदायि प्रतिपत्तव्यं तत्केवलमिह लक्ष्यते । जरतचक्र-
वर्त्यादीनां स्वाङ्गुलतो विशाल्याधिकाङ्गुलशतप्रमाणानामपि निर्णी-
तत्वात् । महावीरादीनां च केपांचिन्मतेन चतुरशीत्याद्यङ्गुल-
प्रमाणत्वाद्भवन्ति विशिष्टाः स्वरादयः प्रधानफलदायिनो यत्
उक्तम् “ अस्थिष्वर्था सुखं मांसे त्वचि जोगाः स्त्रियोऽक्षिषु ।
गतौ यानं स्वरे चाह्ना, सर्वे सत्त्वे प्रतिष्ठितमिति ” गार्थार्थः ।
एतेनाङ्गुलप्रमाणेन पङ्कजानि पादः पादस्य मध्यतः प्रदेशः परङ्गु-
लविस्तीर्णः पादैकदेशत्वात्पादाः द्वौ च युग्मीकृतौ पादौ वित-
स्तिः द्वे च वितस्ती रत्निर्हस्त इत्यर्थः । रत्निद्वयं कुक्षिः प्रत्येकं
कुक्षिद्वयतिष्णन्नास्तु षट्प्रमाणविशेषादग्रधनुर्गुणालिकाऽङ्गुसुस-
ल्लक्षणा भवन्ति । अत्राक्षा घुरी शेषो गार्थार्थः । द्वे धनुःसह-
स्रे गव्यूतं चत्वारि गव्यूतानि योजनम् । “ एतेण आयंगुलप्पमा-
णेणं किं पओअणमिति ” गार्थार्थं नवरं ये यदा मनुष्या भवन्ति
तेषां तदा आत्मनामङ्गुलेन स्वकीयस्वकीयकात्संज्ञवीन्यध-
ट्टहादीनि मीयन्ते इति संदङ्कः । (अवटादीनां व्याख्या स्वस्व-
स्थाने) अनु० । तदेवमात्माङ्गुलेनात्मीयात्मीयकात्संज्ञवीति व-
स्तुत्यधकादीनानि च योजनानि मीयन्ते । ये यत्र काले पुरुषा
भवन्ति तदपेक्षयाऽद्य शब्दो द्रष्टव्यः । इदं चात्माङ्गुलं सूर्यङ्गुला-
दिनेदत्रिविधं तत्र दीर्घेणाङ्गुलायता बाह्व्यस्त्वेकप्रदेशिकी नमः

प्रदेशश्रेणिः सूच्यद्भुतमुच्यते । एतच्च सद्भाष्यतोऽसंख्येयप्रदेश-
मप्यसत्कल्पनया सूच्याकारव्यवस्थापितप्रदेशत्रयनिष्पन्नं रूप-
व्यम् । तद्यथा सूची सूच्येव गुणिता प्रतराद्भुतम् । इदमपि पर-
मार्थतोऽसंख्येयप्रदेशात्मकम् । असद्भाष्यनस्त्वेयानन्तरदर्शि-
ता विप्रदेशात्मिका सूचिस्तस्यैव अतः प्रत्येकं प्रदेशनिष्पन्नं सूची-
त्रयात्मकं न च प्रदेशसंख्येयं संपद्यते । स्थापना प्रतरश्च सूच्या गु-
णिनो द्वैधेण विष्कम्भतः पिएमनश्च समसंख्यं घनाद्भुतं भवति
दैर्घ्यादिषु विष्पि स्थानेषु समतावन्नक्षणस्यैव समयव्ययया
घनस्येह स्वरूपात् प्रतराद्भुतं तु द्वैर्धविष्कम्भाभ्यामेव समं न
पिएमनस्तस्यैकप्रदेशमात्रत्वादिति ज्ञायः । इदमपि यस्तुतुत्या
ऽसंख्येयप्रदेशमानम् । असत्प्ररूपणया तु सप्तविंशतिप्रदेशात्मकं
पूर्वोक्तसूच्या अनन्तरोक्तनयप्रदेशात्मकं प्रतेर गुणिने पतावता-
मेव प्रदेशानां भावात् । एषा च स्थापना अनन्तरनिर्दिष्टा न च प्र-
देशात्मकप्रतरस्यापि उपरि च न च न च प्रदेशान् दत्त्वा भावनी-
या । तथा द्वैर्धविष्कम्भनपिएमनस्तुत्यमिदमापद्यते “ एपसिणं
जते ” इत्यादिना सूच्यद्भुतादिप्रदेशानामप्यवहुत्वाच्चिन्ता यथा-
निर्दिष्टन्यायानुसारतः सुखावसेयनि तदेतदात्माद्भुतमिति ॥

उन्मेषाद्भुलनिर्णयार्थमाह ।

से किं तं उस्सेहंगुले ? उस्सेहंगुले अणगविहे एगचे
तंजहा “ परमाणं तसरेणूरहरेण अणायं च वाञ्छस । त्रिकला
जुआ य जवो अट्टगुणविबुद्धिआ कपसो ” ॥

उत्सेधः “ अणुनाणं सुहुमपरमाणुपोगलाणमित्यादि ” प्रमेणो-
च्छ्रयो वृद्धिनयनं तस्मादजातमद्भुतमुत्सेधाद्भुलम् अथ वा उत्सेधो
नारकादिशरीराणामुद्यस्यं तत्स्वरूपनिर्णयार्थमद्भुलमुत्सेधाद्भु-
लम् । तच्च कारणस्य परमाणुसरेणूरहरेणैकविधत्वाद्भेद-
विधं प्रकृतम् ॥ (परमाण्वादीनां स्वरूपं स्वस्थस्थाने)

एणं उस्सेहंगुलेणं किं पओअणं ? एणं उस्सेहं-
द्वेणं एरइअतिरिक्खजोणिअमणुस्सदेवणं सरिंरागाहणा
मविज्जंति ॥

(तदेवमेव श्रोताहणा शब्दे वक्ष्यमाणा अवगाहना सर्वाऽप्यु-
त्सेधाद्भुलेन मीयते)

से समासओ तिंविहे पामत्ते तं . सूअंगुले पयरंगुले
घणंगुले एअंगुल्लयया एगपएसिया सेदी मइअंगुले सइ
सइए गुणिया पयरंगुले पयरं सइए गुणितं घणंगुले । एए-
सिणं सूअंगुले पयरंगुल्लयणं द्वाणं कयरे करेहिं । अप्पे
ना बहुए वा तुहे वा वितेसाहिए वा सव्वयाव सःअंगुले
पयरगुल्ल अंसखेज्जगुणे घणंगुले अंसखेज्जगुणे सेत्तं
उस्सेहंगुले ॥

एतच्च सूचीप्रतरघनभेदाद्विधमात्माद्भुतवद्भाष्यनीयम् । वक्त-
व्यमुत्सेधाद्भुलम् ।

अथ प्रमाणाद्भुलम् ।

से किं तं पमाणंगुले ? पमाणंगुले एगमेगस्स रन्नो चाउरंत-
चकवट्टिस्स अट्ट सोवसिए कागणीरयणं जत्तं दुवालस-
सिए अट्टकसिए अट्टिगरणंठाणसंठिए पण्ण च तस्स एं
एगमेगा कोनी उस्सेहंगुले विक्खंजा तं सणस्स जगवओ

महावीरस्स अप्पुलं त . १ गुणं पमाणंगुलं भवइ । एए-
णं अंगुल्लपमाणेणं छ अंगुलाइ पादोदुवालसंगुलाइ विह-
त्थी दो विहत्थीओ रयणी दो रयणीओ कुच्छी दो
कुच्छीओ धणू दो धणुसहस्ताइ गाउअं चत्तारि गाउआइ
जाअणं । एएणं पमाणंगुलेणं किं पओअणं एएणं पमा-
णंगुलेणं पुट्टीणं कमाणं प.तालाणं जवणाणं जवणपत्थ-
माणं निरयाणं निरयावत्तीणं निरयपत्थमाणं कप्पाणं
विमाणाय विमाणपत्थमाणं टंकाणं कुंमाणं सेज्जाणं मिह-
रीणं पव्वारारणं विजयाणं वक्खाएणं वःसहराणं पव्वयाणं
वेज्जाणं वेइस्सणं वेःयाणं दाराणं तो.णाणं दीवाणं समु-
हाणं आयामविक्खंजोच्चतोच्चेहपरिवखेवो मविज्जंति ॥

सहस्रगुणिताद्भुतसेधाद्भुलप्रमाणाद्भुतं प्रमाणाद्भुतम् । अथवा
परमप्रकर्षरूपं प्रमाणं प्राप्तमद्भुतं प्रमाणाद्भुतं नातः परं बृहत्तर-
मद्भुतमस्तीति भावः । यद्वा समस्तलोकाव्यवहारादिराज्या-
दिस्थितिप्रथमप्राणनाथेन प्रमाणज्ञतोऽस्मिन्नवसर्पिणिकाक्षे
तावगुणादिदेवो जरनो वा तस्याद्भुतं प्रमाणाद्भुतमेतच्च काक-
णारत्नहररूपरिरिज्ञानेन शिष्यव्युत्पत्तिप्रकर्षं गुणाधिष्यमपश्यं
स्तद्द्वारेण निरूपयितुमाह । “ एगमेगस्स णं रखो इत्यादि ”
एकैकस्य राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्त्तिनोऽष्टसौवर्णिकं काकणीरत्नं
पद्मलादिधम्मोपेतं प्रकृतं तस्यैकैका कोटिरुत्सेधाद्भुतविष्कम्भा
तत्प्रमाणस्य जगयता महावीरस्यार्थाद्भुतं तत्सहस्रगुणं प्रमाणा-
द्भुतं जयतीति समुदायार्थः तत्रान्यान्यकालोत्पन्नानामपि चक्रि-
णां काकणीरत्नतुल्यनामनिपादनार्थमेकैकप्रहणं निरूपचरितरा-
जगद्भुतविषयज्ञापनार्थं राजप्रहणं दिक्त्रयनेदन्निजसमुद्धि-
मवपश्यंतपश्यंतसीमाचतुष्टयप्रक्षणाश्चत्वारोऽन्तास्ताश्चतुराऽपि
ऋणं वर्त्तयति पात्रयताति चतुरन्तचक्रवर्त्ती तस्य परिपूर्ण-
पदखाण्जजरनभोक्तुरित्यर्थः । चावगि मधुरतृणफलान्येकसर्वपः,
पोरुश सर्वपा एकं धान्यमापफत्तं, द्वे धान्यमापफत्ते एकागुहजा,
पञ्च गुहजाः एकं कर्ममापकाः, पोरुश कर्ममापका सुवर्णाः,
एतैरयमिः काकणीरत्नं निष्पद्यते । एतानि च मधुरतृणफला-
दीनि जरतचक्रवर्त्तिकैकसंज्ञान्यथ गृह्यन्ते अन्यथा कालभेदे-
न तद्वैषम्यसंज्ञेव काकणीरत्नं सर्वचक्रिणां तुल्यं न स्यात्
तुल्यं चेप्यते तदिति चत्वारि च स्वप्वापि दिक्षु द्वे कर्का-
य इत्येवं पद्मलानि यत्र तत् पदतलम् । अध उपरि पा-
श्वंतश्च प्रत्येकं चतुष्टयामश्रीणां ज्ञावात् । द्वादश अश्रयः
कोटयो यत्र तद् द्वादशाधिकं कर्णिकाः कोणारस्तेषां च अध
उपरि च प्रत्येकं चतुर्णां सद्भावाद्दृष्टकर्णिकम् । अधः क-
रणिः सुवर्णकारापकरणं तत्संस्थानेन संस्थितं तत्सहशाकारं
समचतुरस्त्रमिति यावत्प्रकृतं प्रकृतं तस्य काकणीरत्नस्यैकैका
कोटिरुत्सेधाद्भुलप्रमाणाविष्कम्भा द्वादशाप्यश्रय एकैकस्य उत्से-
धाद्भुलप्रमाणा भवन्तीत्यर्थः । अस्य समचतुरस्त्रत्वादायामो
विष्कम्भश्च प्रत्येकमुत्सेधाद्भुलप्रमाण इत्युक्तं जयति । यैव च
कोटिरुत्सीकृता आयामं प्रतिपद्यते साधस्त्रियः चरथापिता
विष्कम्भजगवनीत्यायामावष्कम्भयोरैकनय निर्णयेऽप्यपर निश्च-
यः स्यादेवेति सूत्रे विष्कम्भस्यैव प्राणं नद्भुतं चायामाऽप
शुद्धीत एव समचतुरस्त्रत्वात्तस्यैव तदेव सर्वत उत्सेधाद्भुल-

प्रमाणमिदं सिद्धं तदाऽन्यत्र चतुरङ्गुलप्रमाणसुवर्षा वरकागणी नेयेति श्रूयते तन्मतान्तरं संभाव्यते निश्चयं तु सर्ववेदिनो विदन्तीति । तदैकैककोटिगतमुत्सेधाङ्गुलं श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यार्द्धाङ्गुलं कथमिदमुच्यते श्रीमहावीरस्य सप्तहस्तप्रमाणत्वादेकैकस्य हस्तस्य चतुर्विंशत्युत्सेधाङ्गुलमानत्वादप्यष्ट्यधिकशताङ्गुलमानो भगवानुत्सेधाङ्गुलेन सिद्धो भवति स एव चात्माङ्गुलेन मतान्तरमाश्रित्य स्वहस्तेन सार्द्धहस्तत्रयमानत्वाच्चतुरशत्यङ्गुलमानो गीयतेऽतः सामर्थ्यादेकमुत्सेधाङ्गुलं श्रीमन्महावीरात्माङ्गुलापेक्षया अर्द्धाङ्गुलमेव भवति । येषां च मतेन भगवानात्माङ्गुलेनाष्टोत्तरशताङ्गुलमानः स्वहस्तेन सार्द्धहस्तचतुष्टयमानत्वात्तन्मतेन भगवत एकस्मिन्नात्माङ्गुले एकमुत्सेधाङ्गुलं तस्य च पञ्च नव जागा भवन्ति अप्रपष्ट्यधिकशतस्य अष्टोत्तरशतेन भागापहारे एतावत एव भावात् यन्मतेन तु जगत्त्रिंशत्यधिकमङ्गुलशतं स्वहस्तेन पञ्चहस्तमानत्वात्तन्मतेन भगवत एकस्मिन्नात्माङ्गुल एकमुत्सेधाङ्गुलं तस्य च द्वौ पञ्चभागौ भवतः । अप्रपष्ट्यधिकशतस्य विंशताधिकशतेन भागे हते इयत् एव साभात्तदेवमिहाद्यमतमपेक्ष्यैकमुत्सेधाङ्गुलं भगवदात्माङ्गुलस्यार्द्धपत्रया प्रोक्तमित्यवसेयमिति । तदुत्सेधाङ्गुलं सहस्रगुणितं प्रमाणाङ्गुलं भवति । कथमिदमवसीयते ? उच्यते भरतश्चक्रवर्ती प्रमाणाङ्गुलेनात्माङ्गुलेन च किल विंशतिशतमङ्गुलानां जवति भरतात्माङ्गुलस्य प्रमाणाङ्गुलस्य चैकरूपत्वात् उत्सेधाङ्गुलेन तु पञ्चधनुःशतमानत्वात्प्रतिधनुश्च पण्यवत्यङ्गुलसंज्ञावावृत्तत्वादिशतसहस्राण्यङ्गुलानां संपद्यतेऽतः सामर्थ्यादेकस्मिन् प्रमाणाङ्गुले चत्वारि शतान्युत्सेधाङ्गुलानां भवन्ति । विंशत्यधिकशतेन अप्रचत्वारिंशत्सहस्राणां भागापहारे एतावतो लाजात् । यद्येवमुत्सेधाङ्गुलात्प्रमाणाङ्गुलं चतुःशतगुणमेव स्यात्ततः कथं सहस्रगुणमुक्तं सत्यं किं तु प्रमाणाङ्गुलस्यार्द्धतृतीयोत्सेधाङ्गुलरूपं बाह्यमस्ति ततो यदा स्वकीयबाह्येन युक्तं यथावस्थितमेवेदं चिन्त्यते तदात्सेधाङ्गुलाच्चतुःशतगुणमेव भवति यदा त्वर्द्धतृतीयोत्सेधाङ्गुललक्षणेन बाह्येन शतचतुष्टयलक्षणं दैर्घ्यं गण्यते तदा अङ्गुलविष्कम्भा सहस्राङ्गुलदर्घ्या प्रमाणाङ्गुलविषया सूचिर्जायते । इदमुक्तं जवति अर्द्धतृतीयाङ्गुलविष्कम्भं प्रमाणाङ्गुले तिस्रः श्रेणयः कल्पन्ते एकाऽङ्गुलविष्कम्भा शतचतुष्टयदीर्घा द्वितीयाऽपि तावन्मानैव तृतीयाऽपि दैर्घ्येण चतुःशतमानैव विष्कम्भतस्त्वर्द्धाङ्गुलं ततोऽस्यापि दैर्घ्यद्वयं गृहीत्वा विष्कम्भोऽङ्गुलप्रमाणः संपद्यते तथा च सत्यङ्गुलशतद्वयदीर्घा अङ्गुलविष्कम्भा इयमपि सिद्धा । ततस्तिष्ठानामप्येतासामुपर्युपरि व्यवस्थापने उत्सेधाङ्गुलतोऽङ्गुलसहस्रदीर्घा अङ्गुलविष्कम्भा प्रमाणाङ्गुलस्य सूचिः सिद्धा भवति । ततस्तमधिकृत्योत्सेधाङ्गुलात्तत्सहस्रगुणमुक्तं वस्तुतस्तु चतुःशतगुणमेव । अत एव पृथ्वीपर्वतविमानादमाना अनेनैव चतुःशतगुणेन अर्द्धतृतीयाङ्गुललक्षणस्वाविष्कम्भान्वितेन मीयन्ते न तु सहस्रगुण्या अङ्गुलविष्कम्भया सूच्येति शेषं भावितार्थं यावत् (पुढीणंति) रत्नप्रभादीनां (कूमाणंति) रत्नकाण्मादीनां (पातालाणंति) पातालकलशानां (भवणाणंति) भवनपत्यावासादीनां (जवणपथराणंति) भवनप्रस्तटनरकप्रस्तटान्तरे तेषां (निरयाणंति) नरकावासानां (निरयावलिआणंति) नरकावासापङ्कीनां (निरयपथडाणंति) नेरेकारसनवसतपंचतिन्नियतह्वैव एकाइयादिना प्रतिरदितानां नरकप्रस्तटानां शेषं प्रतीतिं

नवरम् (टंकाणंति) त्रिचटङ्कानां (कूमाणंति) रत्नकूटादीनां (सेलाणंति) मुण्डपर्वतानां (सिंहरीणंति) पर्वतानामेव शिखरवनां (पम्भाराणंति) तेषामेवेषपन्नतानां (वेलाणंति) जलधिबेलाविषयभूमीनामूर्द्धाधोभूमिमध्यंऽवगाहः । तदेवम् “अंगुलविहतिरयणी” त्यादिगाथोपन्यस्ताङ्गुलादीनि योजनावसानानि पदानि व्याख्यातानि ।

साम्प्रतं शेषाणि श्रेण्यादीनि व्याचिख्यासुराह ।

से समासत्रो त्रिविहे पष्ठत्ते तं जहा सेढीअंगुले पयरंगुले घणंगुले असंखेज्जाओ जोअणकोडाकोमीओ सेढी सेढीए गुणियाणं पयरं पयरं सेढीगुणियं लोगो संखेज्जाएणं लोगो गुणियाओ संखेज्जा लोगा असंखेज्जाएणं गुणियाओ लोगो असंखेज्जा लोगा अणंतेणं लोगो गुणियाओ अ (पंता) लोगा एण्णिणं सेढिअंगुलपयरंगुलघणंगुलाणं कयरं कयरोहितां अप्पे वा बहुए वा तुद्धं वा विसेसाहिए वा सव्वयांवे सेढिअंगुले पयरंगुले असंखेज्जागुणे घणंगुले असंखेज्जागुणे सेत्तं पमाणंगुले ।

अनन्तरनिर्णीतप्रमाणाङ्गुलेन यद्योजनं तेन योजनेनासंख्येया योजनकोटीकोट्यः सर्वास्ति तसमचतुरस्त्रीकृतद्वोकस्यैका श्रेणिर्जायति (सत्तरज्जुप्रमाणत्वं द्वोकस्य द्वोगशब्दे) अनु० । तदिदं सत्तरज्जुवायामन्वात्प्रमाणाङ्गुलतोऽसंख्येययोजना कोटिकोठ्यायता एकप्रदेशिकी श्रेणिः सा च तथैव गुणिता प्रतरः सोऽपि यथोक्तश्रेण्या गुणितो द्वोकः अयमपि संख्येयेन राशिना गुणितः संख्येया लोकाः असंख्येयेन तु राशिना समाहृतोऽसंख्येया लोकाः अनन्तैश्च लोकैरलोकाः ॥ अनु० ॥ प्रव० । आ० म० प्र० । विशेष० । वात्स्यायनमुनौ, पुं० अङ्गौ पाणौ लीयते वा रु-अङ्गुष्ठे, न० वाच० ।

अंगुलपोहत्तिय-अङ्गुलपृथक्त्वक-त्रि० अङ्गुलमुच्छ्रयाङ्गुलं पृथक्त्वं हि द्विप्रभृतिरानवचन्य इति परिज्ञाया अङ्गुलपृथक्त्वं शरीरावगाहनामानमेषामस्तीति अङ्गुलपृथक्त्वकाः अतोऽनेकस्वरदितीक प्रत्ययः जी० १ प्रति० । अङ्गुलद्विकादिशरीरावगाहनामाने, प्रज्ञा० १ पद ।

अंगुलि (ली) वृ कुट्टि- (ली) खी० अङ्गुलि वा डीए वाच० करपादशाखायाम्, तं० । औ० । प्रव० । गजकर्णिकावृत्ते, गजशुष्माग्रे च पुंस्त्वमपि संवृताधरौष्ठमङ्गुलिनेति शकुंवाच । अंगुलिकोश-अङ्गुलिकोश-पुं० अङ्गुलीनां रक्षार्थं ध्रियमाणे तदावरणे चर्मदौ, रा० । तत्कारणे “अंगुलिकोसे पणं” । नि० चू० १ उ० ।

अंगुलि [ले] जग-अङ्गुलीयक-न० अङ्गुली भवमङ्गुलीयं ततः कः । अङ्गुल्याजरणविशेषे, औ० । उपा० । प्रव० । आच० । कल्प० । आ० । आ० म० प्र० ।

अंगुलिष्फोरण-अङ्गुलिस्फोटन-न० अङ्गुलीनां परस्परं ताम्रने, कठिकाकरणे च तं० ।

अंगुलिचमूहा-अङ्गुलिचू-खी० अङ्गुलीध्रुवौ वा चाद्यतः कायोत्सर्गस्थितिरूपे उत्सर्गदोषे, । तत्पं च “अंगुलिचमूहाओ वि य, चाद्यतो तद य कुण्ड उस्सगं” । आद्यावगागणनद्वा, संववणं च जोगाणं ” आच० ५.४० । प्रव० । आलाप-

कगणनार्थमङ्गुलीश्चाख्यन् तथा योगो नाम स्थापनार्थं व्यापा-
रान्तरनिरूपणार्थं भ्रुवौ चालयन् असंज्ञां कुर्वन् चकारादेवमेव
षा भ्रुवुषं कुर्वन्नुत्सर्गे तिष्ठतीति अङ्गुलीसूत्रोपः प्रब० ५ द्वा० ।
अंगुलि [ली] विज्ञा-अङ्गुलि [ली] विद्या-स्त्री० आ-
वस्त्यां नगर्थी बुद्धप्रकाशिते महाप्रनावे विद्यानेदे, “ अंगुलि-
विज्ञा य इत्येव बुद्धेण संपयासिया महप्पजाया ” ती० ३५ पत्र ।
अंगोवंग-अङ्गोपाङ्ग-अङ्गानि शिरःप्रभृतीन्यष्टौ उपाङ्गानि अङ्गा-
वयवभूतान्यङ्गुल्यादीनि शेषाणि तत्प्रत्ययवयवभूतान्यङ्गुलीपर्व-
रेखादीनि अङ्गोपाङ्गानि अङ्गानि च उपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि
अङ्गोपाङ्गस्यादावसंख्येय इत्येकशेषः । इतरेतरयोगः शिरःप्रभृ-
तिषु अङ्गुल्यादिषु, तत्पर्वरेखादिषु च प्रज्ञा० २३ पद० । कर्म० ।
नहकेसमसु अंगुलिओद्वा खलु अंगुवंगाणि ” उक्त० ३ अ० ।
अंगोवंगणाम-अङ्गोपाङ्गनामन्-न० अङ्गोपाङ्गनिबन्धनं नाम अ-
ङ्गोपाङ्गनाम । नामकर्मभेदे, यष्टदयाच्छरीरतयोपात्ता अपि पु-
त्रला अङ्गोपाङ्गविभागेन परिणमन्ति तत्कर्माङ्गोपाङ्गनाम । कर्म०
१ क० । अङ्गोपाङ्गनाम त्रिविधं मन्तव्यं तथाहि औदारिकाङ्गोपा-
गनाम वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम, आहारकाङ्गोपाङ्गनाम तैजसकर्मण-
योस्तु जीवप्रदेशसंस्थानानुरोधित्वान्नास्ति अङ्गोपाङ्गसंभव
इत्युक्तं त्रिविधमङ्गोपाङ्गनाम । कर्म० ६ क० । प्रज्ञा० । प० सं० ।
प्रब० । आ० । आ० चू० ।

अं चि—अञ्चि—पुं० गमने, भ० १५ श० १ उ० ।

आञ्चि—पुं० आगमने, १५ श० १ उ० ।

अं चित्र (त)—आञ्चित-त्रि० पूज्ये राजमान्ये पितृव्यादौ,
व्य० ४ उ० । सकृन्मने, भ० १५ श० १ उ० । पञ्चविंशतितमे-
नाख्यभेदे, रा० । आ० म० प्र० । जं० । दावसन्धौ, नि० चू० ५ उ० ।
अं चि अं चय-अञ्चितञ्चि-पुं० अञ्चिते सकृन्मने अञ्चितेन
सकृन्मने वा देशेनाञ्चि पुनर्गमनमञ्चितञ्चि । गतपूर्वदेशे तेन
वा पुनर्गमने अञ्चिताञ्चि अञ्चिता गमनेन सह आञ्चिरागमन-
मञ्चिताञ्चि । गमागमे, “ गौ कमइ गौ पकमइ अं चियंचियं करेइ
भ० १५ श० १ उ० । स्था० ।

अं चित्र [य] रिजिय-अञ्चितरिजित-न० नाख्यभेदे, रा० ।
आ० म० प्र० ।

अंचेत्ता-अंचयित्वा-अव्य० उत्पादयित्वेत्यर्थ, आ० म० । ज्ञा० ।

अं उ-देशी धा० उज्ज० प० आकर्षणे, अंति वासुदेवं अगमन्त-
स्मि आ० म० प्र० । विशेष० । भ० । कल्प० ।

अंजण-देशी० आकर्षणे, आ० । नि० चू० ।

अंजण-अञ्जन-न० अञ्जं ल्युट् । नयनयोः कज्जलापादने,
सूत्र० १ श्रु० ए अ० । तं० । तसायःशङ्काया नेत्रयोः दुः-
खोत्पादने, क्कारतैलादिना देहस्य प्रक्षणे च स० । अज्यतेऽ
नेन अञ्ज-करणे ल्युट् वाच० । कज्जले, ज्ञा० ६ अ० । सौवीरा-
दौ, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । जं० । आ० म० प्र० । औ० । जी० ।
प्रज्ञा० । भाव० । रसाञ्जने, दश० ३ अ० । रत्नविशेषे, आ०
म० प्र० । रत्नप्रजायाः खरकारणस्य दशमे भागे च । तदश-
योजनशतानि बाह्व्येन प्रक्षुप्तम् स्था० १० ठा० । वनस्पतिविशे-
षे, औ० । आ० म० प्र० । चन्दसुर्याणां लेहयानुबन्धचारिणां पुत्र-
ज्ञानां पञ्चमे पुत्रले, चं० प्र० ३० पाहु० । सु० प्र० । मन्दरस्य पूर्वेण
शीतोदाया महानद्या दक्षिणेन स्थिते वक्रस्कारपर्वतभेदे, स्था०
५ अ० । ज० । “ हो अंजणा ” स्था० २ ठा० । द्वीपकुमारं नक्ष

वेलम्बस्य तृतीये लोकपाले, भ० ३ श० ६ उ० । उदधिकुमारे-
नक्षस्य प्रभञ्जनस्य चतुर्थे लोकपाले, स्था० ४ ठा० मन्दरस्य
पुरतो रुचकवरपर्वते, सप्तमे कूटे च पुं० । स्था० ७ ठा० ।

अंजणः-अञ्जनिका-स्त्री० बह्वीभेदे, प्रज्ञा० १ पद० ।

अंजणकेसिया-अञ्जनकेशिका-स्त्री० वनस्पतिविशेषे, आ० ।
म० प्र० । जं० । रा० । प्रज्ञा० ।

अंजणग-अञ्जनक-पुं० अञ्जनरत्नमयत्वादञ्जनास्ततः स्वार्थे-
कप्रत्ययः । कृष्णवर्णत्वेन अञ्जनतुल्या अञ्जनकाः उपमाने क-
प्रत्ययः । जं० २ वक्र० । नन्दीश्वरद्वीपस्य चतुर्दिक्षु व्यवस्थितेषु
पर्वतभेदेषु, स्था० ४ ठा० । प्रब० ।

अथ नन्दीश्वरस्य चतुर्दिक्षु व्यवस्थिता अञ्जनकपर्वताः उच्यन्ते

एंदीसरवरस्स एं दीवस्स चकनात्ताविकस्सम्भस्स बहुमज्ज-
देसभाए चउद्दिस्सि चत्तारि अंजणगपव्वया पएणत्ता तंज-
हा पुरच्छि मद्धे अंजणगपव्वए पच्चच्चिमिद्धे अंजणगप-
व्वए उत्तरिद्धे अंजणगपव्वए दाहिणिद्धे अंजणगपव्वए
तेणं अंजणगपव्वयगा चतुरसीत्ति जोयणसहस्साइं उठ्ठं
उच्चत्तेणं, एगमेगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं मूले दसजोयण-
सहस्साइं धरणिंयले दसजोयणसहस्साइं आयामविकखंजेणं
ततो णंतरं चणं माताए पदेसपरिहाये माणामाणा उव्वरि
एगमेगं जोयणसहस्सं आयामविकखंभेणं मूले एकतीसं
जोयणसहस्साइं उच्च तेषीतजोयणसते किंचि वितेसाहिण
परिक्खेवेणं सिहरितले तिस्सि जोयणसहस्साइं एगं च
द्धावड्ठजोयणसतं किंचिवितेसाहियं परिक्खेवेणं पस्सत्ता
मूले वितियस्सा मज्झे संखित्ता उप्पि तण्णया गोपुउसंठा-
णमंठिया अच्छा जाव पत्तेयं पत्तेयं पउमवरत्तेतिया परि-
क्खेवेणं पत्तेयं पत्तेयं वणसंरुपरिक्खेत्ता वस्सओ गोयमा ।
तेसि एं अंजणपव्वयाणं उव्वरि पत्तेयं पत्तेयं बहुसमरमणि-
ज्जा जूमिजागा पस्सत्ता से जहानामए आलिगपुक्खरेत्ति
वा जाव सयंति ।

ते अञ्जनकपर्वताश्चतुरशीतयोजनसहस्राणि ऊर्ध्वमुखैस्त्वेन
एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन मध्ये सातिरेकाणि दशयोजनसहस्रा-
णि विष्कम्भेन धरणीतले दश योजनसहस्राणि । तदनन्तरं च
मात्रया परिहीयमानाः परिहीयमाना उपरिपदैकं योजनसहस्रं
विष्कम्भेन मूढे एकत्रिंशत् योजनसहस्राणि षट्शतानि त्रयो-
विंशतियोजनानि किंचिद्विंशोपाधिकानि (३१६२३) परिक्रैपे-
ण धरणीतले एकत्रिंशत् योजनसहस्राणि षट्शतानि त्रयोविं-
शतियोजनानि देशोनानि [३१६२३] परिक्रैपेण उपरि त्रीणि
योजनसहस्राणि एकं च द्वापष्टियोजनशतं किंचिद्विंशोपाधिकं
[३१६२] परिक्रैपेण ततो मूले विस्तीर्णो मध्ये संक्रिस्तानि उप-
रि तनुकाः अत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थिताः सर्वात्मना अञ्ज-
नमया अञ्जनरत्नात्मकाः “ अच्छा जाव पक्खिवा ” इति प्राग्वत् प्र-
त्येकं पद्मवरवेदिकाः परिक्रिस्ताः प्रत्येकं वनखण्डपरिक्रिस्ताः पद्म-
वरवेदिका वनखण्डवर्णनं प्राग्वत् “ तेसिणमित्यादि ” तेषामञ्ज-
नपर्वतानां प्रत्येकं प्रत्येकमुपरि बहुसमरमणीयो जूमिभागः प्र-
क्षुप्तः तस्य ‘ से जहानामए आलिगपुक्खरेत्ति वा इत्यादि ’ वर्ण-

नं जम्बूद्वीपजगत्या उपरितनजागस्येव तावद्वक्तव्यं यावत् 'तत्थ
 एं वहवे वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति जाव विहरंति'
 तेसि एं वुसमरमणिजाणं जूमिजागाणं वु मज्झदे-
 सजाए पत्तयं पत्तयं चत्तारि सिद्धायतणा एगमेकं जोय-
 णसयं आयामेणं पप्पासं जोयणाइं विक्खंजेणं छावत्तारि
 जायणाति उट्ठं उच्चत्तेणं अण्णखंजसयसान्निविद्धा वप्प-
 ओ गोयमा ! तेसि एं सिद्धायतणाणं पत्तयं पत्तयं चउ-
 दिसिं चत्तारि दारा पप्पत्ता तंजहा देवदारे असुरदारे नाग-
 दारे सुवप्पदारे तत्थ एं चत्तारि देवा महिद्धिया जाव प-
 लिआवमद्धितिया परिवसंति तं देवे असुरे नाग सुवप्प
 तेणं दारा सावसजोयणाइं उट्ठं उच्चत्तेणं अट्ठ जायणाइं
 विक्खंजेणं तावतियं पवेसेणं सेतावाकणं । एवओ जाव
 वणमाट्ठाओ । तेसि एं दाराणं चउदिसिं चत्तारिमुहमंरुवा
 पप्पत्ता ते एं मुहमंरुवा एगमेकं जायणसं आया—
 मेणं पप्पास जोयणाइं विक्खंजेणं सातिरेगाइं सोलमजो-
 यणाइं उट्ठं उच्चत्तेणं वप्पओ तेसि एं मुहमंरुवाणं चउ-
 दिसिं चत्तारि दारा पप्पत्ता तं एं दारा सोलस जायणाइं
 उट्ठं उच्चत्तेणं अट्ठजोयणाइं विक्खंभेणं तावतियं चेव पवे-
 सेणं सेसं तं चेव जाव वणमाट्ठाओ । एवं पिच्छाघरमं-
 वा वि तं चेव पमाणं जे मुहमंरुवाण दारा वि तहेव
 एवरिं बहुमज्झदेसभाए पेच्छाघरमंरुवाणं अक्खंरुगाम-
 णिपेढियाओ अट्ठजोयणप्पमाणातो मीट्ठासणा सपरि-
 वारा जाव दामा धूमा वि चउदिसिं तहेव एवरिं सोलस
 जोयणप्पमाणा सादरेगाइं सोलम उच्चा सेसं तहेव । जिण-
 पडिमाओ चेइयस्सत्वा तहेव चउदिसिं तं चेव पमाणं
 जहा विजयाए रायहाणीए एवरिं मणिपेढियाओ सोलम
 जोयणप्पमाणाओ तेसि एं चेतियस्सत्वाणं चउदिसिं च-
 त्तारि मणिपेढियाओ अट्ठ जोयणविक्खंभेणं चउजोयण-
 वाहट्ठाओ महिदज्झयाणं चउसाठिं जोयणुच्चा जोयणउ-
 व्वहा जोयणविक्खंजा सेसं तहेव एवं चउदिसिं चत्तारि
 नंदापुक्खरिणीओ नवरिं खोयरसपडिपुन्नाओ जोयणसयं
 आयामेणं पप्पासं जोयणाइं विक्खंभेणं दस जोयणाइं उ-
 व्वहेणं सेसं तहेव । मणालुलिया गोमाणसिया अरुया-
 लीसं अरुयालीसं सहस्साओ पुरच्छिमेण वि सोलसपच-
 च्छिमेण वि सोलस सहस्सा दाहिणेण वि अट्ठ सहस्सा उ-
 त्तरेण वि अट्ठ सहस्साओ तहेव सेसं उट्ठोया जूमिजागा
 जाव बहुमज्झदेसजूमिभागे मणिपेढिया सोलस जायणाइं
 आयामविक्खंजेण अट्ठ जायणाइं वाहट्ठेणं तेसि एं मणि-
 पेढियाणं उप्पि देवच्छंदगा सोलस जोयणाइं आयामविक्खं-
 भेण सातिरेगाइं सोलस जायणाइं उट्ठं उच्चत्तेणं सव्वरय-
 णप्पभाओ अट्ठ सयं जिणपडिमाणं सव्वो सो चेव गमो

जहा वेमाणिथ मिद्धाययणस्म ॥

तेषां बहुसमरमणीयानां जूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं
 प्रत्येकं सिद्धायतनं प्रहसं तानि च सिद्धायतनानि प्रत्येकं प्रत्येकं
 योजनशतमायामेन पञ्चाशद्योजनानि विष्कम्भेन द्विसप्ततियो-
 जनानि ऊर्ध्वमुखैस्त्वेन अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टानीत्यादि तद्व-
 र्णनं विजयदेवसुधर्मसभावद्वक्तव्यम् (तेसिणमित्यादि) तेषां
 सिद्धायतनानां प्रत्येकं चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दि-
 शि एकैकजावेन चत्वारि द्वाराणि प्रहसन्ति तद्यथा पूर्व-
 स्यामेव दक्षिणस्यां पश्चिमायामुत्तरस्याम् । तत्र पूर्वस्यां दिशि
 द्वारं देवद्वारं देवनामकस्य तदधिपतेस्तत्र भावादं दक्षिणस्या-
 मसुरद्वारं पश्चिमायां नागद्वारम् उत्तरस्यां सुवर्णद्वारम् (तत्थे-
 त्यादि) तत्र तेषु चतुर्षु द्वारेषु यथाक्रमं चत्वारो देवा महर्षि-
 का यावत्पत्न्योपमस्थितयः परिवसन्ति तद्यथा (देवेत्यादि)
 पूर्वद्वारे देवा देवनामा दक्षिणद्वारे असुरनामा पश्चिमद्वारे नाग-
 नामा उत्तरद्वारे सुवर्णनामा (तेषां दारा इत्यादि) तानि द्वा-
 राणि षोडशयोजनानि प्रत्येकमूर्ध्वमुखैस्त्वेन अष्टौ योजनानि वि-
 ष्कम्भतः (तावदयं चेवत्ति) तावन्त्येव अष्टावेव योजनानो-
 ति जावः । प्रवेशेन (सियावरकणगयूजिया इत्यादिवर्णकः विज-
 यचारस्येवेति विजयदारशब्दे भावयिष्यते)

तत्थ एं जेसि पुराच्छमिद्धाणं अंजणपव्वते तस्स एं चउ-
 दिसिं चत्तारि नंदापुक्खरिणीओ पप्पत्ताओ तंजहा एंदो-
 त्तरा य एंदा आणदा णदिवद्वणा । ताओ णंदापुक्खरि-
 णीओ एगमेकं जोयणसयसः ससं आयावविक्खंजेणं दस
 जोयणाइं उव्वहेणं अच्चाओ साट्ठाओ पत्तयं पत्तयं पउ-
 मवरवेत्तिया पत्तयं पत्तयं वणसंरुपरिविक्खत्ता तत्थ तत्थ
 जाव तिसोपाणपरुवगगा तोरणा तासि एं पुक्खरिणीणं
 बहुमज्झदेसभाए पत्तयं पत्तयं दहिमुहपव्वए पप्पत्ते तेणं
 दहिमुहपव्वया चउसट्ठिं जोयणसहस्साइं उट्ठं उच्चत्तेणं एगं
 जोयणसहस्सं उव्वहेणं सव्वत्थ समा पल्लगसंठाणसंठिता
 दसजोयणसहस्साइं विक्खंभणं एकतीसं जोयणसहस्साइं
 छव्व तेवीसजोयणसए परिवेवेणं पप्पत्ता सव्वरयया-
 मता अच्चा जाव पमिरुवा पत्तयं पत्तयं पउमवरवेत्तिया-
 वणमंरुवए उ बहुसमरमणीयं जाव आसयंति सिद्धाय-
 यणं तं चेव पमाणं तं अंजणपव्वएसु वत्तव्वया निरवसेसा
 जाणियव्वा जाव उप्पि अट्ठमंगलया ॥

तत्र तेषु चतुर्षु अञ्जनपर्वतेषु मध्ये यांस्सौ पूर्वदिग्जाली अ-
 ञ्जनपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि ए-
 कैकनन्दापुष्करिणीभावेन चत्वारो नंदापुष्करिणयः प्रहसन्ति-
 यथा पूर्वस्यां दिशि नन्दिषेणा दक्षिणस्याममोघा अपरस्यां
 गोस्तुपा उत्तरस्यां सुदर्शना ताश्च पुष्करिणय एकं योजनशत-
 सहस्रमायामविष्कम्भाभ्यां त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश
 सहस्राणि द्वे शतं सप्तविंशत्याधिकत्रीणि गव्यूतानि अष्टाविंशं
 धनुःशतं त्रयोदश अङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुलं च किञ्चिद्विशेषाधिकं
 परिवेपेण प्रहसन्ति । दश योजनानि उद्वेधेन " अच्चाओ स-
 एट्ठाओ रग्रयमयकूलाओ इत्यादि " जगत्पुपरि पुष्करिणीव-
 त्तिरवशेषं वक्तव्यं नवरं " वट्ठाओ समतीराओ खोदोदगपडि-

पुष्पाओ " इति विशेषः । तच्च प्रत्येकं प्रत्येकं पञ्चवरवेदि-
कया परिकृष्टाः प्रत्येकं प्रत्येकं चनखएडेन परिकृष्टाः । अत्रा-
पीदमन्यदधिकं पुस्तकान्तरे दृश्यते " तासि णं पुक्खरिणीणं
पत्तेयं पत्तेयं चउद्दिंसि चत्तारि वणसंमा पन्नत्ता तं जहा पुर-
च्छिमेणं दाहिणेणं अवरेणं उत्तरेणं पुत्तेयं असोमवणं जाव
चूयवणं उत्तरे पासे " एवं शेषाञ्जनपर्वतसंविशनीनामपि
नन्दापुष्करिणीनां वाच्यम् (तासिणमित्यादि) तासां पुष्करि-
णीनां बहुमध्यदेशाजगे प्रत्येकं प्रत्येकं दधिमुखो दधिमुखनामा
पर्वतः प्रज्ञप्तः (तेणमित्यादि) ते दधिमुखपर्वताश्चतुःपट्टि-
योजनसहस्राणि ऊर्द्धमुखैस्त्वेन एकं योजनसहस्रमुद्देशेन स-
र्वत्र समाः पत्यसंस्थानसंस्थिता दशयोजनसहस्राणि विष्क-
म्भेन एकत्रिशयोजनसहस्राणि पट्टयवोविशानि त्रयोविशत्य-
धिकानि योजनशतानि परिद्वेषेण प्रज्ञप्ताः । सर्वात्मना स्फटि-
कमया अच्छा यावत्प्रतिरूपाः प्रत्येकं प्रत्येकं पञ्चवरवेदिकया
परिकृष्टाः प्रत्येकं २ चनखएडेन परिकृष्टाः (तेसिणमित्यादि)
तेषां दधिमुखपर्वतानामुपरि प्रत्येकं बहुसमरमणीयो भूमिभागः
प्रज्ञप्तः तस्य च वणं तावद्वक्तव्यं यावद्वह्यो " वाणमन्तरा
देवा देयीओ य आसयंति सयंति जाव विहरंति " (तेसि-
णमित्यादि) तेषां बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्य-
देशाजगे प्रत्येकं प्रत्येकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तं सिद्धायतनवत्कव्या
प्रमाणादिका अञ्जनकपर्वतोपरि सिद्धायतनवत्कव्या यावद-
ष्टशतं प्रत्येकं प्रत्येकं धूपककुचुकानामिति ।

तत्थ णं जे से दक्खिणिल्ले णं अंजणपव्वए तस्स णं
चउद्दिंसि चत्तारि णंदापुक्खरिणीओ पन्नत्ताओ तंजहा
जहा य विमात्ता य कुमुया पुंरूरीगणी तं चेव तदेव दहि-
मुहपव्वया तं चेव पमाणं जाव सिद्धायतणे ।

[तत्थ णं जे से दाहिणिणिल्लेणं अंजणपव्वए इत्यादि] दक्कि-
णाञ्जनकपर्वतकस्यापि पूर्वदिग्भावाञ्जनकपर्वतस्येव निरवशेषं
वक्तव्यं नवरं नन्दापुष्करिणीनामिमानि नामानि तद्यथा पूर्वस्यां
नन्दोत्तरा दक्षिणस्यां नन्दा अपरस्यामानन्दा उत्तरस्यां नन्दि-
वर्द्धना शेषं तथैव ॥

तत्थ णं जे से पच्चिच्छिमेणं अंजणपव्वए तस्स णं चउ-
द्दिंसि चत्तारि पुक्खरिणीओ पन्नत्ताओ तं जहा णंदेसिणा
य अमोहा य गोत्थुजा य सुदंसणा य तं चेव सव्वं भाणिय-
व्वं जाव सिद्धाययणं तत्थ जे से उत्तरिद्वे अंजणपव्व-
ते तस्स णं चउद्दिंसि चत्तारि नन्दापुक्खरिणीओ पन्नत्ता-
ओ तंजहा विजया वेजयंती जयंती अपराजिता सेसं तदेव
जाव सिद्धाययणा सव्वो चेति य वण्णणा णेयव्वा । तत्थ
णं वहुवे भवणवइवाणमंतरजोतिसवेमाणि या देवा चाउ-
म्मासियपनिवएसु संवच्छरेसु य अण्णेषु वहुजिणजम्मण-
निक्खमणणाणुप्पपातपरिणिव्वाणमादिपसु य देवकज्जेसु य
देवसमुदएसु य देवसमतीसु य देवसमवाएसु य देवपओयणेषु
य एगंतओ सद्विया समुवागया समाणा पमुदितपकीलिया
अट्ठहियाओ महामहिमाओ कारेमाणा पालेमाणा सुहं
सुहं विहरंति । कयस्सासहरिवाहणा य तत्थ दुवे देवा
महिहिया जाव पत्तिओवमट्ठितिया परिवसंति से तेण-

ट्ठेणं गोयमा ! जाव निच्चे जोतिसं संखेज्जं ॥

पूर्वदिग्भावाञ्जनकपर्वतस्येव पश्चिमदिग्भावाञ्जनपर्वतस्यां-
पि वक्तव्यं यावत्प्रत्येकं प्रत्येकमष्टशतं धूपककुचुकानां नवरं
नन्दापुष्करिणीनां नामनानात्वं तद्यथा पूर्वस्यां भद्रा दक्षिणस्यां
विशाखा अपरस्यां कुमुदा उत्तरस्यां पुणरूरीकिणी शेषं तथैव ।
एवमुत्तरदिग्भावाञ्जनकपर्वतेऽपि वक्तव्यं नवरंमत्रापि नन्दा-
पुष्करिणीनां नामनानात्वं तद्यथा पूर्वस्यां दिशि विजया
दक्षिणस्यां वेजयन्ती अपरस्यां जयन्ती उत्तरस्यामपराजिता
शेषं तथैव यावत्प्रत्येकं प्रत्येकमष्टशतं धूपककुचुकानामिति पोरु
शानामपि चामूपां चापीनामपान्तराले प्रत्येकं प्रत्येकं रतिकर-
पर्वतो जिनभवनमग्निरुतशिखरौ शाखान्तरे अग्निहिताविति ।
सर्वसंख्यया नन्दीश्वरद्वीपे चापञ्चाशत्सिद्धायतनानि (तत्थण
मित्यादि) तत्र तेषु सिद्धायतनेषु णमिति पूर्ववत् षड्वो भव-
नपनिवाणमन्तराज्येतिष्कवैमानिका देवाश्चातुर्मासिकेषु पर्यु-
पणायामन्येषु च बहुषु जिनजन्मनिष्क्रमणानोत्पादपरिनिर्वा-
णादिषु देवकार्येषु देवसमितिषु एतदेव पर्यायद्वयेन व्याचष्टे
देवसमवायेषु देवसमुदायेष्वगताः प्रमुदितप्रकीर्तिता अष्टा-
दिकारूपा महामहिमाः कुर्वन्तः सुखं सुखेन विहरन्ति आसते ।
(अमुत्तरं च णं गोयमा ! इत्यादि) अधान्यत् गौतम ! नन्दीश्व-
रवरद्वीपे चक्रवाहविष्कम्भेन बहुमध्यदेशाजगे चतस्रसु दिक्षु
एकैकस्यां विदिशि एकैकजाधेन चत्वारो रतिकरपर्वताः प्रज्ञ-
प्ताः तद्यथा एक उत्तरपूर्वस्यां द्वितीयो दक्षिणपूर्वस्यां तृतीयो
दक्षिणापरस्यां चतुर्थ उत्तरापरस्याम् । (तेणमित्यादि) ते र-
तिकरपर्वता दशयोजनसहस्राणि ऊर्द्धमुखैस्त्वेन एकयोजनस-
हस्रसमुद्देशेन सर्वत्र समा भ्रूरीलंस्थानसंस्थिता दशयोजन-
सहस्राणि विष्कम्भेन एकत्रिशयोजनसहस्राणि पट्टविशानि
योजनशतानि परिद्वेषेण सर्वात्मना रत्नमया अच्छा यावत् प्र-
तिरूपाः । तत्र योऽसावुत्तरपूर्वो रतिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि
चतस्रसु दिक्षु एकैकराजधानीभावेन ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवरा-
जस्य चतस्रणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाः चतस्रो राजधान्यः
प्रज्ञप्तास्तद्यथा पूर्वस्यां दिशि नन्दोत्तरा दक्षिणस्यां नन्दा
पश्चिमायामुत्तरकुरा उत्तरस्यां देवकुरा । तत्र कृष्णायाः कृष्ण-
नामिकाया अग्रमहिष्या नन्दोत्तरा कृष्णराज्या नन्दा रामाया
उत्तरकुरा रामराजिताया देवकुरा । तत्र योऽसौ दक्षिणपूर्वो र-
तिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य च-
तस्रणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञ-
प्तास्तद्यथा पूर्वस्यां सुमनाः दक्षिणस्यां सौमनसा अपरस्याम-
र्चिमाद्री उत्तरस्यां मनोरमा । तत्र पद्मायाः पद्मानामिकाया अग्र-
महिष्याः सुमनाः शिवायाः सौमनसा सोमाया अर्चिमाद्री अ-
ध्रुकया मनोरमा । तत्र योऽसौ दक्षिणपश्चिमो रतिकरपर्वत-
स्तस्य चतुर्दिशि शक्रस्य देवराजस्य चतस्रणामग्रमहिषीणां
जम्बूद्वीपप्रमाणमात्राश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पूर्व-
स्यां दिशि चूता दक्षिणस्यां चूतावतंसा अपरस्यां गोस्तूपा उ-
त्तरस्यां सुदर्शना । तत्र अमलाया अमलनामिकाया अग्रमहि-
ष्या चूता राजधानी अप्सरसोभ्रूतावसन्तिका नवमिकयोगो-
स्तूपा रोहिण्याः सुदर्शना । तत्र योऽसावुत्तरपश्चिमो रतिकरप-
र्वतस्तस्य चतुर्दिशि ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतस्रणामग्र
महिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा
पूर्वस्यां दिशि रत्ना दक्षिणस्यां रत्नोच्चया अपरस्यां सर्वरत्ना
उत्तरस्यां रत्नसञ्चया । तत्र रत्नवस्तुनामिकाया अग्रमहिष्या

रत्ना वसुप्राप्ताया रत्नोच्चया वसुमित्रायाः सर्वरत्ना वसुधरायाः सर्वसञ्चया । इयं रतिकरपर्वतचतुष्टयवचन्यता । केषुचित् पुस्तकेषु सर्वथा न दृश्यते कैलासहरिवाहननामानौ च द्वौ देवौ तत्र यथाक्रमं पूर्वार्द्धपरार्द्धाधिपतौ महर्षिकौ यावत् पत्योपमस्थितिकौ परिवसतस्तत एवं नन्द्या समृद्ध्या दुनदिसमृद्धाविति वचनात् ईश्वरः स्फातिमान् न तु नाम्नेति नन्दीश्वरः । तथाचाह । से एणट्टेणमित्यादि उपसंहारवाक्यं प्रतीतं चन्द्रादिसंख्यासूत्रं प्राग्वत् जी० ३ प्रति० । स० । वनस्पतिविशेषे, रा० । दाअंजणा स्था० २७० । वायुकुमारेन्द्राणां तृतीये लोकपाले, म० ३२० । ८७० ।
अंजण [णा] गिरि-अञ्जनगिरि-पुं० कृष्णवर्णपर्वतविशेषे, ज्ञा० ८ अ० । मन्दरपर्वते भद्रशास्त्रवने व्यवस्थिते चतुर्थे दिग्घस्तिकूटे, स्था० ८८० । तदाधिपे देवे च जं० ४ वक्त्र० । (वर्णनं दिसाहस्यशब्दे)

अंजणजोग-अञ्जनयोग-पुं० सप्तविंशकलाभेदे, कल्प० ।
अंजणपुलग-अञ्जनपुलक-पुं० रत्नभेदे, रा० । आ० म० प्र० । रत्नप्रज्ञायाः पृथिव्याः खरकाण्डस्य एकादशे जागे, स्था० १० ग० । मन्दरस्य पूर्वे रुचकवरे पर्वते व्यवस्थितेऽष्टमे कूटे स्था० ८ ग० ॥

अंजणमूल-अञ्जनमूल-पुं० रुचकपर्वतस्याष्टमे कूटे, द्वी० ।
अंजणरिच-अञ्जनरिच-पुं० वायुकुमाराणां चतुर्थे इन्द्रे, ज० ३ शृ० ८ उ० ।

अंजणसमुगग-अञ्जनसमुद्रक-पुं० सुगन्ध्यञ्जनाधारे, जी० ३ प्रति० । रा० ।

अंजणसद्वागा-अञ्जनशलाका-स्त्री० अद्वणोरञ्जनार्थं शब्दाकायाम्, सूत्र० १ शृ० ५ अ० ।

अंजणसिद्ध-अञ्जनसिद्ध-पुं० अद्वणोरञ्जनविशेषप्रकरणेनाह-इयतां गते, पि० । नि० चू० । (यथा सुस्थिताभिधसूरिमुखाद्यो-निप्राभृतोक्तमहशीकरणमञ्जनं श्रुत्वा क्लृप्तकचयेनाहस्यं श्रुत्वा चन्द्रगुप्ताऽऽहारो ह्रुकः इत्यादि चुष्य शब्दे)

अंजणा-अञ्जना-स्त्री० तृतीयनरकपृथिव्याम्, जी० ३ प्रति० । स्था० । प्र० । जम्बाः सुदर्शनाया अपरदक्षिणस्यां व्यवस्थितायां पुष्करिण्याम्, जं० ४ वक्त्र० । जी० ।

अंजणिया अञ्जनिका-स्त्री० कज्जलाधारचूतायां नक्षिकायाम्, सूत्र० १ शृ० ४ अ० । ।

अंजलि (ली) -स्त्री० पुं० अञ्जलि-पुं०-अञ्ज-अलि-वेमाञ्जवाद्याः स्त्रियाम् = १ । ३५ । इति प्राकृतसूत्रेण वा स्त्रीत्वम् । प्रा० । मुकुलितकमलाकारकरद्वयरूपे (जं० ३ वक्त्र०) हस्तन्यासविशेषे, रा० । म० । चं० प्र० । दो विहत्या मञ्जुकमलसंख्या अंजली नक्षति नि० चू० १ उ० । मुकुलितहस्तयोर्द्वैवाटसंश्रये, “ एगेण वा दोहिं वा मञ्जुषिर्हि हत्योहिं णिराव-संसिनेहिं अंजली नक्षति ” नि० चू० ५ उ० । द्वयोर्हस्तयोरेत्योन्यानन्तरिताङ्गुलिकयोः संपुटरूपतया एकत्र मीलने च । जी० ३ प्रति० । आ० म० प्र० । प्रज्ञादौ क्रियमाणे कायिक-विनयभेदे, अञ्जलिप्रणामादौ यदि पुनः कथमप्येको हस्तः क्षणिको जवति तदैकतरं हस्तमुत्पाद्य नमः कृमाश्रमण्य इति वक्तव्यम् व्य० १ उ० । द्वा० दश० ।

अंजलिपमाह-अञ्जलिप्रग्रह-पुं० हस्तजोम्ने, ज्ञा० १ अ० ।

अञ्जलिकरणरूपे विनयविशेषे, म० १४ शृ० ३ उ० । प्र० । सम्भोगभेदे च । स० (संभोग शब्दे निरूपणम्)
अंजलिवंध-अञ्जलिवन्ध-पुं० करकुञ्जलस्य शिरसि विधाने, दर्श० ।

अंज [स्]-अञ्जस्-न० अनक्ति गच्छति मिश्रयति वाऽनेन अञ्जु गतौ मिश्रणे च असुन् वेगे, वक्षे, औचित्ये च ‘अञ्जस उपसंख्यानमिति’ वार्तिकात् तृतीयायाः अलुक् । अञ्जसाकृतम् वाच० । प्रगुणे, न्याये, विशेषे ।

अंजिय-अञ्जित-त्रि० अञ्जि-क० कज्जलेन प्रक्षिते, तेअंजि-यक्खा तिलए य ते कए” नि० चू० १ उ० ।

अंजु-कज्जु-त्रि० प्रगुणे, अकुट्टिह, “ अप्पणो य वियक्खाहिं अ-यमेज्जिहं डुम्मइ ” आचा० १ शृ० ५ अ० । मायाप्रपञ्चरहितत्वादवक्रे, “अंजुधम्मं जहा तच्चं जिणाणं तं सुणेह मे” सूत्र० १ शृ० ६ अ० । संयमे प्रगुणे अव्यभिचारिणि सूत्र० १ शृ० १ अ० । आचा० । व्यक्ते, सूत्र० १ शृ० १ अ० । निर्दोषत्वात्प्रकटे, सूत्र० २ शृ० ७ अ० ।

अंजुआ-अञ्जुका-स्त्री० अरनाथस्य प्रथमशिष्यायाम्, स० ।

अंजु-अञ्जु-स्त्री० धनदेवसार्थवाहप्राहितरि, तद्वक्तव्यता वि-पाकश्रुते दुःखविपाकानां दशमेऽध्यायने श्रूयते स्था० १० ग० ।

जइ णं भंते ! समणेणं जगवया महावीरेणं दसमस्स उक्खेवओ एवं खलु जंव ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वप्पमाणपुरे णामे णयरे होत्या । विजयवप्पमाणे उज्जा-णं मणिज्जे जक्खे विजयमित्ते राया । तत्थ णं धणदेव-णामं सत्थवाहे होत्या । अहे पियंगुनारिया अंजुदारिया जाव सरीरा समोसरणं परिसा णिगया जाव पडिगया तेणं कालेणं तेणं समएणं जेहेण जाव अरुमाणे जाव विज-यमित्तस्स रस्सो गिहस्स अत्तांगवणिणयाए अदूरसामंते णं वीईवयमाणे पासइ पासइत्ता एगं इत्थियं सुक्कं जुक्खं णिम्मं-सं किमिक्किमिज्जुयं अट्ठिचम्मावणप्पं णीलसालगणि-यत्थं कट्ठाइं कडुणाइं विस्सराइं कूवमाणं पासइ पासइत्ता चिंता तहेव जाव एवं वयासी एस णं भंते ! इत्थिया पु-व्वज्जेवे का आसी वागरणं एवं खलु गोयमा ! !

अञ्चाः पूर्वजवः ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंवूदीवेदीवे भारहे वासे इंदपुरे णामं णयरे तत्थ णं इंददत्ते राया पुढविसिरिणामं गणिणया वप्पओ तएणं सा पुढविसिरिगणिणया इंदपुरे णयरे वहवे राईसरण जाव प्पजिइओ वहुहिं चुषप्पयोगेहि य जाव अभिओगिता उरावाइं माणुस्सगाइं जोगभोगाइं जुंजमाणे विहरइ । तए णं सा पुढविसिरिगणिणया एए कम्माए य सकम्मा ४ सुवहु पावं समज्जिणित्ता पप्पत्तीसं वाससथाइं परमाउसं पालित्ता कालमासे काळं किच्चा उट्ठीए पुढवीए उक्कोसे णेरइत्ताए उववप्पा । सा णं तओ उव्वट्ठित्ता

अञ्चा वत्तमानभवः ।

इहेव वष्माणे ण्यरे धणदेवस्स सत्यवाहस्स पियंगु-
चारियाए कुच्चिसि दारियत्ताए उप्पसा तणं सा पियं-
गुचारिया एवएहं मामाणं दारियंधयाणं णामं अंजू सेसं
जहा देवदत्ताए । तए णं से विजये राया आसवाहणियाए
णिज्जायमाणे जहा वेसमणदत्ते तहा अंजू पासइ एवरं अ-
प्पणे अट्ठावए वरेइ जहा तेतही जाव अंजूए दारियाए
सद्धि उप्पि जाव विहरइ । तएणं तीसे अंजूदेवीए अस्सया
जोणीसूखे पाउञ्चूए या वि होत्था । तएणं से विजये राया
कोहं वियगुरिसे सदावेइ सदावेइत्ता एवं वयासीगच्छइ णं
देवा वष्माणपुरे ण्यरे सिंघारुग जाव एवं वयह एवं
खलु देवा विजए अंजूए देवीए जोणीसूखे पाउञ्चूए जो
णं इच्छसि वा ६ जाव उग्योसइ तएणं से वहवे वज्जा वा
६ इमं एयारूवं सोच्चा णिस्सम्म जेणेव विजए राया तेणेव
उवागच्छइ उवागच्छइत्ता अंजूए देवीए वहवे उप्पत्ति-
याहिं ४ बुद्धिहिं परिणामेमाणा इच्छंति । अंजूए देवीए
जोणीसूखे उवसामित्ते णो संचाएइ उवसामित्तए तएणं
ते वहवे विज्जा य जाहे णो संचाएइ अंजूए देवीए जोणी-
सूखे उवसामित्तए ताहे अंता तंता जामेव दिसं पाउञ्चूए
तामेव दिसं पक्किया तएणं सा अंजू देवी ताए वेयणाए
अजिञ्चा समाणी मुक्का मुख्वा णिम्मंसा कट्टाई कट्टुणाई
वीसराई विलवइ । एवं खलु गोयमा ! अंजू देवी पुरा
जाव विहरइ अंजू णं जंते ! देवी कालनासे कालं किच्चा
काहिं गच्छिहिंति काहिं उववज्जिहिंति । गोयमा ! जहा
तेयज्जिंति ॥

ज्ञाताधर्मकथायां यथा तेतलिसुतनामा आमात्यः पोष्टिला-
मिधानां कलादस्तपिकादारश्रेष्ठिनुतामात्मार्थं याचयित्वाऽऽत्म-
नैव परिणेतवानेवमयमपीति दशमाध्यायनविवरणम् ।

अञ्चा भविष्यद्भवः ।

अंजू णं देवी णउइवासाई परमाउयं पावइत्ता कालमासे
कावं किच्चा इमीसे रयणप्पत्ताए णेरइयत्ताए उववखे ;
एवं संसारो जहा पढमो तहा खेयव्वं जाव वणस्सईसाणं ।
तओ अणंतरं उव्वट्ठित्ता सव्वओ जहे ण्यरे मयूरत्ताए
पच्चायाहिंति से णं तत्थ साउणिएहिं वहिए समाणे
तत्थेव सव्वओ भदे ण्यरे सेड्डिकुञ्जसि पुत्तत्ताए पच्चा-
याहिंति से णं तत्थ उम्मुकतहारूवाणं येराणं अंतिए
केवडिं वोहिं बुज्जिहिंति बुज्जिहिंतिता पवज्ज सोहम्मे
सेणं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं ३ काहिं गच्छिहिं-
ति काहिं उववज्जिहिंति गोयमा ! महाविदेहे वासे जहा
पढमे जाव सिज्जिहिंति जाव अंतं काहिंति । एवं खलु
अंजूसमणेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं दसमस्स-

अज्जयणस्स अयमट्ठ पप्पत्ते सेवं जंते विपा० १० अ० ।
तत्तत्तयताप्रतिवद्धे कर्मविपाकानां दशमेऽध्ययने च स्था०
१० अ० । शक्रस्य चतुर्थ्यामग्रमहिष्यां च स्था० ८ अ० । सा च
पूर्वभवे हस्तिनापुरे पश्चाद् विजयायामुत्पन्ना पार्श्वार्हतोऽन्तिके
प्रव्रजिता शक्रस्याग्रमहिषी जाता । स्थितिः सप्तपत्न्योपमा
महाविदेहेऽन्तं करिष्यति तत्प्रतिपादके ज्ञाताधर्मकथायाः
द्वितीयश्रुतस्य नवमवर्गस्य चतुर्थेऽध्ययने च. ज्ञा० २ श्रु० ॥
अंरं-आएरं-न० अमान्ति सम्प्रयोगं यान्ति अनेनेति अम-रं
टवगांवित्वेऽपि नस्य नेत्वम् । पुंसोऽवयवभेदे मुष्के, घात्र० ।
पिपीलिकादानां भिम्बे, वृ० ४ अ० । आचा० चतुरिन्धियकीटवि-
शेषनिर्वर्तितकोशकारे, विशेष० ज्ञाताधर्मकथायाः प्रथमश्रुतस्क-
न्धस्य मयूराण्मकवक्तव्यताप्रतिषेधे तृतीयेऽध्ययने, ज्ञा० १ अ० ।
आव० । प्रअ० । स० । आ० चू० ।

तत्कथानकं चैवम् ।

जइ णं जंते ! समणेणं जगवया महावीरेणं जाव एवं खलु
जंव तेणं काव्हेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था
वसुओ तीसे णं चंपाए नयरीए वहिया उत्तरपुरच्चिमे
दिसीजाए सुजूमिनाणे णामं उज्जाणे सव्वओ य सुरम्मे
एंदएवणं इव भूहमुरजिसीयलच्छायाए समणवद्धे तस्स
एणं सुजूमिभागस्स उज्जाणस्स उत्तरे एगदेसम्मि मावूया
कच्छए होत्था वणओ तत्थ णं एगा वणमयूरी दो पुट्टे
परियागते पिट्ठंभी पंडुरे णिव्वणे निरुवहए भिन्नमुट्ठि-
प्पमाणे मयूरी अंरुए पसवइ मएणं पक्खवाएणं संरक्खमा-
णी संगोवेमाणी संचिट्ठेमाणी विहरइ । तत्थ णं चंपाए
ण्यरीए उवे सत्यवाहदारगा परिवसंति तंजहा जिणदत्त-
पुत्ते य सागरदत्तपुत्ते य सह जायया सहवहियया सह
पंसुकीलिया सह दारदरिसी अन्नमन्नमणुरत्तया अस्समसं-
माणव्वयया अस्समसुच्छंदाणवत्तया अस्समसहिययइ-
च्छियकारया अस्समसेसु गिहेसु किच्चाई करणिज्जाई
पच्चणुववमाणा विहरंति । तए णं तेसिं सत्यवाहदारगाणं
अस्सया कयाई एगओ सहियाणं समुवगयाणं सस्सिंस्साणं
सस्सिचिट्ठाणं एमेयारूवे मिहोक्कहासमुद्धावे समुप्पज्जित्था
जेणं देवाणुप्पिया अम्हं सुहं वा दुहं वा पव्वज्जां वा वि-
देसगमणं वा समुप्पज्जति तेणं अम्हे एगओ समेच्च शि-
च्छरियव्वं तिकट्टु अएणमसं एयारूवं संकेयं सुणंति सक्क-
म्मसंपजत्ता जाया वि होत्था । तत्थ णं चंपाए नयरीए
देवदत्ता नामं गणिया परिवसति अट्ठा जाव भत्तपाणा
चउसट्ठिकलापंभिया चउसट्ठिगणियागुणोववेया अउणती-
सं विसेसरममाणं एकवीसरइगुणप्पहाणा वत्तीसपुरिसोत्र-
यारकुसला एवंगसुत्तपडिवोहिया अट्ठारस देसं भासा-
विसारया सिंगारागारचाखेसा संगयगयहसियज्जणियविहि-
यविद्यासल्लियसंज्ञावनिउणजुत्तोवयारकुसला ऊसिय-
ज्जया सहस्सजंजा विदिएणउत्तचामरवाहवीयाणिया क-

एणीरहप्पयायी वि होत्था । वहूणं गणियासहस्ताणं आ-
हेवच्चं जाव विहरति । तएणं तेसिं सत्थवाहदारयाणं
अएणया कयाइं पुव्वावरएहकालसमयंसि जिमियभुत्तुत्त-
रागयाणं समाणाणं आयत्ताणं चोक्खाणं परमसूइजूयाणं
सुहासणवरगयाणं इमेयारूवे मिहो कहासमुल्लावे समुप्प-
जित्था से एं खलु देवाणुप्पिया कट्ठं जाव जलंते विपुलं
असणं पाणं खाइमं साइमं उक्खवावेत्ता तं विपुलं अस-
णं पाणं खाइमं साइमं धूवपुप्फगंधवत्थं गहाय देवदत्ताए
गणियाए सद्धिं सुज्जमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिरिं
पच्चणुब्जवमाणा एं विहरत्ताए तिकट्टुअसमएणस्स एय-
मट्ठं पन्निमुणैइ पन्निमुणैत्ता कट्ठं पाउब्जुए कोहुंविपुलुरिसे
सद्दावेति सद्दावेत्ता एवं वयासी गच्छ एं तुब्भे देवाणुप्पिया
विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उक्खवावेत्ता तं विपुलं अस-
णं पाणं खाइमं साइमं धूवपुप्फगंधवत्थं गहाय जेणेव
सुज्जमिभागे जेणेव णंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ उ-
वागच्छइत्ता एंदाए पुक्खरिणीए अदूरसामंते थूणा मंरुवं
आहणहं आसियसमज्जिओवलित्तं सुगंधं जाव कलियं क-
रेह अम्हे पन्निवालेमाणा चिद्धह । तए एं से सत्थवाहदा-
रगा दोच्चं पि कोहुंविपुलुरिसे सद्दावेति सद्दावेत्ता एवं व-
यासी खिप्पामेव द्दहुकरणजुत्तजोइयं समरखुरवात्तिहा-
णं समन्निहियतिकवपसंगहिएहिं रययामयधंटसुत्त-
रज्जुयपवरकंचणखचियणत्थवग्गहोवग्गहिएहिं नीलोप्प-
लकयामेलएहिं पवरगोणजुवाणएहिं णाणामणिरयणकंच-
णधंटियाजादपरिक्खत्तं पवरलक्खणोवचियं जुत्तामेव
पहाणं उवणंते ते वि तहेव उवेणंति तएणं से सत्थवाह-
दारगा पहाया जाव सब्बसरीरपवहणं दुरुहंति जेणेव दे-
वदत्ताए गणियाए गिहे तेणेव उवागच्छति । पवहणाओ
पच्चोरुहंति देवदत्ताए गणियाए गेहं अणुपविसंति तएणं सा
देवदत्ता गणिया ते सत्थवाहदारगा एज्जमाणे पासइ पा-
सइत्ता इहत्तुट्ठा आसणाओ अब्बुट्ठेति अब्बुट्ठित्ता सत्त-
ट्ठपयाइं अणुगच्छति अणुगच्छइत्ता ते सत्थवाहदारए एवं
वयासी संदिसह एं तुमं देवाणुप्पिया किमागमणप्पओय-
सं तएणं ते सत्थवाहदारगा देवदत्तं गणियं एवं वयासी
इच्छामो णं देवाणुप्पिया तुब्भेहिं सद्धिं सुज्जमिभागस्स उज्जा-
णस्स उज्जाणसिरिं पच्चणुब्जवमाणा विहरित्ताए । तएणं
सा देवदत्ता गणिया तेसिं सत्थवाहदारगाणं एयमट्ठं पडि-
मुणेति पन्निमुणैत्तिता एहाया कयवलिकम्मा किं ते पवर-
जाव सेरिसमाणवेसा जेणेव सत्थवाहदारए तेणेव उवा-
गच्छंति । तए एं से सत्थवाहदारगा देवदत्ताए गणियाए
सद्धिं जाणं दुरुहंति चंपाए नयरीए मज्झं मज्झेणं जेणेव
सुज्जमिभागे उज्जाणे जेणेव णंदापोक्खरिणी तेणेव उवाग-

च्छंति उवागच्छंतिता पवहणतो पच्चोरुहंति णंदापोक्ख-
रिणी ओगहंति जलमज्जणं करोति जलक्कीरं करोति एहाया
देवदत्ताए सद्धिं पच्चोरुहंति जेणेव थूणामंडवे तेणेव उवाग-
च्छंति उवागच्छंतिता अणुपविसंति सब्बालंकारविज्जूसिया
आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया देवदत्ताए गणियाए
सद्धिं तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं धूवपुप्फगंधव-
त्थं आसाएमाणा विसाएमाणा परिभुजइ एवं च णं विहरं-
ति जिमियभुत्तुत्तरागया देवदत्ताए गणियाए सद्धिं विपु-
लाइं माणुस्सगाइं कामजोगाइं जुंजमाणा विहरंति तएणं से
सत्थवाहदारया पुव्वावरएहकालसमयंसि देवदत्ताए गणि-
याए सद्धिं थूणामंरुवाओ पडिनिक्खमांति इत्थसंगलिए
सुज्जमिभागे वहुसु आलियघरेसु य कयद्वीघरेसु य द्वायाघरे-
सु य अच्छणघरेसु य पेच्छणघरेसु य पासणघरेसु य मोहण-
घरेसु य सादघरेसु य जादघरेसु य कुसुमघरेसु उज्जाणसिरिं
पच्चणुब्जवमाणा विहरंति तए एं ते सत्थवाहदारया जेणेव
से मातुवया कच्छे तेणेव पहारेत्थगमणाए तए एं सा वणम-
यूरी ते सत्थवाहदारए एज्जमाणे पासति पासतिता जीया
तत्थ महया महया सदेणं केकारवं विणिमुयमाणा मालुया
कच्छाओ पन्निनिक्खमइ । एगंसि खक्खमालियं ठिच्चा ते
सत्थवाहदारए मालुयाकच्छेयं च पविसमाणा अणिमिसदि-
ट्ठीए पेहमाणी चिद्धइ । तए णं ते सत्थवाहदारए अएणमसं
सद्दावेइ सद्दावेत्ता एवं वयासी जहा णं देवाणुप्पिया एसा
वणमयूरी अम्हे एज्जमाणे पासित्ता भीया तत्थ तसिया उ-
व्विग्गा पट्ठाया महया महया सदेणं जाव अम्हे मातुया
कच्छगं च पेहमाणी पेहमाणी चिद्धति तं भवियव्वमेत्थका-
रणेणं । तिकट्टु मातुया कत्थगं अंतो अणुपविसंति । तत्थ
णं दो पुट्ठे परियागए जाव पासेत्ता असमसं सद्दावेति
सद्दावेत्ता एवं वयासी तं से यं खलु देवाणुप्पिया अम्हे
इमे वणमयूरी अंरुए सा एं जाइमंताणं कुक्कडियाणं अंरुए
सुपक्खवावेत्ताए तए एं ताओ जाइमंताओ कुक्कडियाओ
एए अंरुए य सएणं पक्खवाएणं सारक्खमाणीओ संगो-
वेमाणीओ विहरिस्संति । तए णं अम्हे एत्थदो कीदावण-
गा मयूरीपोयगा जविस्संति तिकट्टु अएणमसस्स एयमट्ठं
पन्निमुणैइ पन्निमुणैत्ता सए सए दासचेट्टए सद्दावेइ सद्दा-
वेत्ता एवं वयासी गच्छह एं तुब्भे देवाणुप्पिया । इमे अंरुए
गहाय सयाणं जाइमंताणं कुक्कडि ए अंरुएसु पक्खवह
जाव ते वि पक्खवंति तए एं ते सत्थवाहदारगा देवदत्ता-
ए गणियाए सद्धिं सुज्जमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाण-
सिरिं पच्चणुब्जवमाणा विहरत्ता तमेव जाणं दुरुद्धा समा-
णा जेणेव चंपानयरी जेणेव देवदत्ताए गणियाए गिहे तेणेव
उवागच्छइ उवागच्छइत्ता । देवदत्ताए गिहे अणुपविसंति

देवदत्ताए गणियाए विपुलं जीवियारिहं पीतिदाणं दत्तयाति
सक्कारेति सम्माणेति देवदत्ताए गिहाउ पन्निक्खमांति पन्नि
क्खिक्खमांतिचा जेणेव सयाइ गिहाइं तेणेव उवागच्छंति सक-
म्मसंपन्निता जाया वि होत्था । तत्थ एं जे से सागरदत्तपुत्ते
सत्थवाहे से णं कट्ठं जाव जइते जेणेव से वणमयूरीअंडए ते-
णेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तंसि मयूरीअंडयंसि संकिए
कांखित्ते त्रितिगेच्छे समावणणे भेयसमावणे कलुससमावणणे
किष्णं समं गमं एत्थ कीट्ठावणमयूरीपोयणं जविस्संति उदाहु
नो जविस्संति चिकटु तं मयूरी अंडयं अजिक्खणं अभिक्खणं
उव्वत्तइ परियत्तेति असारेति संसारेति चाहेति घट्टेइ खो-
भेति अजिक्खणं अजिक्खणं कप्पमूलंमि टिट्ठियावेति तएणं
से मयूरीअंडए अभिक्खणं अजिक्खणं उव्वत्तिज्जमाणे
जाव टिट्ठियावेज्जमाणे पांचनं जाण्या वि होत्था । तए णं
से सागरदत्तपुत्ते सत्थवाहदारए आणया कयाइ जेणेव से
मयूरीअंडए तेणेव उवागच्छंति उवागच्छइत्ता तं मयूरी-
अंडयं पोचममेव पासति पासइत्ता अट्ठो णं ममेसकीट्ठाव-
णमयूरीपोचए जाए चिकटु आहयमणं जाव क्रियायति
एवामेव समणाउसो जो अम्हं निगंथे वा निगंथी वा
आयरियं उव्वज्जायाणं अंतिए पव्वइए समाणे पंचमहव्वए-
सु जाव उक्कीयानिकाएसु निगंथे पावयणे सांकिए जाव कलु-
ससमावणणे से णं इह भवे च वहुणं समणाणं वहुणं समणी-
णं वहुणं सावयाणं वहुणं सावियाणं हीलणिज्जे निंदाणज्जे
खिसिणज्जे गरहणिज्जे परिभवणिज्जे परलोए वि य एं
आगच्छइ वहुणि दंरुणाणि य जाव मणुपरियट्ठंति ।
तए णं से जिणदत्तउत्ते जेणेव से मयूरीअंडए तेणेव उवा-
गच्छइ उवागच्छइत्ता तंसि मयूरीअंडयंसि निस्संकिए मृव-
त्तणं ममेत्य कीट्ठावणमयूरीपोयए जविस्सति चि कटु तं
मयूरीअंडयं अजिक्खणं नो उव्वट्टेइ जाव नो टिट्ठियावेइ
तए णं से मयूरीअंडए अणुवत्तिज्जमाणे जाव अटिट्ठिया-
विज्जमाणे । तेणं कात्तेणं तेणं समणेणं उज्जिणे मयूरीपोय-
ए एत्थ जाए तए णं से जिणदत्तउत्ते तं मयूरपोययं पासइ
पासइत्ता हट्टुट्टयहियए मयूरीपोसए सदावेइ सदावेइत्ता
एवं वयासी तुब्बे णं देवाणुपिया इमं मयूरपोययं वहुहिं
मयूरपोसणपाउग्गेहिं दव्वेहि आणुपुव्वेणं संरक्खमाणे
संगोवेमाणे संवट्टेह एट्टह्वगं च सिक्खवाहे । तए णं से
मयूरपोसगा जिणदत्तस्स एयमट्ठं पन्निमुणेति पन्निमुणेइत्ता
तं मयूरपोययं गिहएति जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ
उवागच्छइत्ता तं मयूरपोययं जाव एट्टह्वगं सिक्खवावेति ।
तएणं से मयूरपोयए उम्मुक्कवाट्ठजावे विन्नाय जोव्वण-
लक्खणं वज्जमाणं पुम्माणं पमाणं पन्निपुरणं पक्खपहुणं कलावे
विचित्तापिञ्जोसत्तचंदए नीलकंठए खच्चदसीलए एगाए

चप्पुमियाए कयाए समाणीए अणोगाइं एट्टह्वगसयाइं
केगाइं सयाणि य करेमाणे विहरति । तएणं ते मयूरपोस-
गा तं मयूरपोययं उम्मुक्कवाट्ठ जाव करेमाणे पासित्ता तं
मयूरपोययं गिहएति गिहएतिचा जिणदत्तउत्ते उव्वणोति ।
तएणं से जिणदत्तउत्ते सत्थवाहदारए मयूरपोययं उम्मु-
क्क जाव करेमाणं पासित्ता हट्टुट्टे तेसिं विट्ठलं जीवि-
यारिहपीयदानं दत्तइ पाडविसज्जेइ । तए णं से मयूरपो-
यए जिणदत्तपुत्तेणं एगाए चप्पुमियाए कयाए समाणीएणं
गोट्ठा भंगसिरोधरे सेयावगे उत्तरीयपइणपक्खे उक्खित्तचंद-
गाइयकलावे केकाइयसइय विमुच्चमाणे नच्चइ तएणं से जि-
णदत्तपुत्ते तं मयूरपोययं चंपाए णयरीए सिधामग. जाव पहेसु
सएहि य साहस्सिएहि य सयसाहस्सिएहि य पणियएहिं
जयं करेमाणं विहरति एवामेव समणाउसो अम्हं पि णि-
गंयो वा णिगंथी वा पव्वइए समाणे पंचसु महव्वएसु उसु
जीवनिकाएसु निगंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए नि-
व्वित्तिगेच्छे सेणं इह जवे वहुणं समणेणं वहुणं समणीणं
जाव वित्तिव्वइस्संति एवं खलु जंघसमणेणं जगवया म-
हावीरेणं जाव संपत्तेणं तच्चस्स णायज्जयणस्स अयमट्ठे
पमात्ते त्ति वेमि तच्च णायज्जयणं सम्मत्तं ॥

टीका सुगमत्वाच्च गृहीता नवरम एवमेवेत्यादि उपनयनवच-
नमिति । नवन्ति चात्र गाथाः “जिणवरजासियभावे, सुभावस-
व्वेसु भावओ मइमं । नो कुज्जा संदेहं, संदेहो णत्थ हेओ त्ति १
निस्संदेहत्तं पुण, गुणहेज्जं तं तओ तयं कज्जं । एत्थं दो सेठि-
सुया, अरुयगाही उदाहरणं २/ तथा/ कत्थइ मइउव्वेलेणं, त-
व्विहायरियविरइओ वावि । नेयग्गहणत्तणेणं, नाणावरणोदए-
णं च ३ हेकदाहरणाणं, भवे य सइसुहुजन वुत्तिमज्जा । सव्व-
णणुमयमधितहं, तह वि इति चित्तए मइमं ४ अणुवकयपराणु-
ग्गह-परायणा जं जिणा जुगप्पवरा । जियरागहोखमोहा, य नव-
हा वाइणो तेणं ५ तृतीयमध्ययनं विवरणतः समाप्तमिति ३१०
३ अ० पुरिमतालनगरवास्तव्यस्य कुकुटाद्यनेकविधाएरुजभा-
एरुव्यवहारिणो वाणिजकस्य निन्नकाभिधानस्य पापविपाकप्र-
तिपादके कर्मविपाकानां द्वितीयेऽध्याने च स च निन्नको नरक-
इतस्तत् उद्धृत्याभगमसेननामा पट्टीपतिर्जातः । स च पुरिम-
तालनगरवास्तव्येन निरन्तरं देशरूपणातिकोपितेन विश्वास्या-
नीय प्रत्येकं नगरचत्वारिण्यु तदग्रतः पितृव्यपितृव्यानीप्रजृप्तिक-
स्वजनवर्गं विनाश्य तिष्ठशो मांसच्छेदनराधिरमांसमोजनादि-
भिः कदर्थयित्वा निपातित इति विपाकश्रुते वा भाग्नसेन-
मितीदमध्ययनमुच्यते स्था० १० त्रा० ।

अंडउरु-आएरुपुट-न० कर्मधा-स- स्वकीये अएडके अएड-
कस्य पुटम् । अएरुकस्य संबद्धद्वन्द्वे, दशा० ए अ० स० ।
अंरुक-अएरुक-न० जन्तुयोनिविशेषे, प्रश्न० आश्र० २ द्वा० ।
अंरुकड-आएरुकृत-त्रि० अएरुजाताते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३
च० । अएरुकप्रभूतवृत्तनवादिनां मतमित्यमाचकृते ते “संज्ञओ

अंडकाच्च लोको " संभूतो जातोऽण्डकाज्जन्तुयोनिविशेषाल्लोकः
कितिजज्ञानद्वानिबन्धननरनारकितिर्यग्रूपः प्रश्न० आश्र० २ द्वा०

" पुर्वं आसि जगसिणं, पंचमहब्धूय वज्जियगज्जीरं ।

एगस्यवज्जलेण, महप्पमाणं तर्हि अंनं ॥ १ ॥

वीई परंपरेणं, घोवंतं अत्थिउ सुइरकावं ।

पुठं डुभागजायं, अज्जंभूमी य संवुत्तं ॥ २ ॥

तत्थ सुरासुरनारग-समणुयसच्चप्पयं जगं सव्वं ।

उप्पणं जणियमिणं, वंभंरुपुराणसत्थमि ॥ ४ ॥

माहुणा समणा एगे, आहु अंरुकडे जगे ।

असो तत्तमकासी य, अयाणंता मुसंवदे ॥ १ ॥

ब्राह्मणा द्विजातयः श्रमणास्त्रिद्विप्रप्रभृतयः एके केचन पौ-
राणिका न सर्वे एवमाहुस्तुवन्तो वदन्ति च । यथा जगदेतच्च-
राचरमएनेन कृतमएरुत्तम् । अएरुत्तज्जातमित्यर्थः । तथाहि
ते वदन्ति यदा न किञ्चिदपि वस्त्वासीत् पदार्थशून्योऽयं संसार-
स्तदा ब्रह्माऽएरुत्तमस्त्वसृजत्तस्माच्च क्रमेण वृक्षात्पश्चाद् द्विधा-
भावमुपगतादूर्ध्वाधोविजागोऽनूत् तन्मध्ये च सर्वाः प्रकृतयोऽभू-
वन् । एवं पृथिव्यसेजोवाय्वाकाशसमुद्रसारित्पर्वतमकराकरनि-
वेशादिसंस्थितिरनूदिति । तथा चोक्तं " आसीदिदं तमोनूत-
मप्रज्ञातमलक्षणम् ॥ अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः " ॥१॥
एवंभूते चास्मिन् जगत्पत्तौ ब्रह्मा तस्य ज्ञावस्तत्त्वं पदार्थजातं
तदग्रादि प्रक्रमेणाकार्यत् कृतवानिति । ते च ब्राह्मणादयः प-
रमार्थमजानानाः सन्तो मृषा वदन्ति अन्यथा च स्थितं तत्त्वम-
न्यथाप्रतिपादयन्तीत्यर्थः (सूत्र० पतदसमीचिनम्) यतो यास्व-
प्सु तदएकं निसृष्टं ता यथाऽएरुत्तरेणाभूवन् तथा द्वौकोऽपि
नूत इत्यभ्युपगमे न काचिद्वाधा दृश्यते तथाऽसौ ब्रह्मा यावद-
एकं सृजति तावन्नैकमेव कस्मान्नोत्पादयति किमनया कष्टया
युक्त्यसंगतया चाएरुपरिकल्पनया सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । नि०
चू० भरतस्य तिमिरगुहाप्रवेशे सप्तरात्रं वर्षं वर्षति नागकुमा-
रे, जरहो वि वस्मरयणे खंधावारं उवेळण उवरं उत्तरयणं उ-
वेइ मणिरयणं उत्तरयणं वत्थिजाए उवेइ ततो पमिइ द्वोगेण
अंसंजवं जगं पणीयं ति ॥ आ० म० प्र० ।

अंडप्पजव-अएरुप्रजव-त्रि० अएरुः प्रजवत्पत्तिर्यस्य स
तथा । अएरुदुत्पन्नं, "जहा य अंरुप्पमवा वत्तागा" उक्त० ३ अ० ।
अंरुय-अण्डज-पुं० अएरुत्तज्जायतेऽएरुजः । हंसादौ, खचर-
पञ्चेन्द्रिययोनिसंग्रहभेदे, न० ७ श० ७ उ० । आचा० ।
विशे० । " अंभया तिविहा परणत्ता तंजहा इत्थी पुरिसा णपुं-
सका" अएरुत्तज्जिविधा प्रज्ञासास्तद्यथा स्त्रियः पुरुषा नपुंस-
काश्च जीवाः ३ प्रति० । शकुनिगृहकोकिलसरीसृपादि-
षु, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० त्रसभेदेषु, सूत्र० १ श्रु० ७
अ० ७ । आचा० । दश० । मत्स्यभेदेषु च । स्था० ३ ठा० ।
अण्डेभ्यो हंसाद्यण्डकेभ्यो यजायते तदण्डजम् । सूत्रभेदे,
न. यथा कचित्पट्टसूत्रम् उक्त० २६ अ० । "अंडयं हंसगम्भादि"
अण्डाज्जातमण्डजं हंसपतङ्गश्चतुरिन्द्रियो जीवविशेषो गर्भ-
स्तु तन्निवर्तितः कोशकारो हंसस्य गर्भो हंसगर्भः तदुत्पन्नं
सूत्रमण्डजमुच्यते । तर्हि सूत्रे अण्डजं हंसगर्भादीति सामा-
नाधिकरण्यं विरुध्यते हंसगर्भस्य प्रस्तुतसूत्रकारणत्वादिति
चेत्सत्यं कारणे कार्योपचारादविरोधः । कोशकारभवं सूत्रं
पट्टसूत्रमिति लोके प्रतीतमण्डजमुच्यत इति हृदयम् ।
पञ्चेन्द्रियहंसगर्भसंभवम् । अनु० । विशे० । आ० म० प्र० ।

शणकादिवस्त्रे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रतिबन्धभेदे च । अण्डजो
हंसादिर्ममायमित्युल्लेखेन वा प्रतिबन्धो भवति अथवा अ-
ण्डकं मयूर्यादीनामिदं रमणकमयूरादि कारणमिति प्रति-
बन्धः स्यादित्यथवा अण्डजं पट्टसूत्रजमिति वा स्था० ६
ठा० । सूत्र० ।

अंडसुहुम-अएरुसूद्रम-न० अण्डमेव सूद्रमम् । मक्षिकाकीटि-
कागृहकोकिलाग्राहणीकलशाद्यण्डकरूपे सूद्रमभेदे, सूत्र०
१ श्रु० ६ अ० । दश० ।

से किं तं अंडसुहुमे ? अंरुसुहुमे पंचविहं पस्यते तंजहा
उदंसंडे ? उक्कद्विअंडे २ पिपीद्विअंडे ३ हाद्विअंडे ४
हह्वोहद्विअंडे ५ जे निगंथे एं वा जाव पमिलेहियन्वे
जवइ सेत्तं अंरुसुहुमे ६ ।

" अण्डसुहुम उदंसंडे इत्यादि " उदंशा मधुमक्षिका मकु-
णाद्यास्तेषामण्डं उदंशाण्डम् १ उत्कलिकाण्डं लतापुटारण्डम् २
पीपिलिकाण्डं कीटिकाण्डम् ३ हलिका गृहकोकिका ग्रा-
हणी वा तस्या अण्डम् ४ हल्लोहलित्रा अहिलोडीसरडीक-
किएडी इत्येकार्थास्तस्या अण्डम् एतानि सूद्रमाणि स्युः ।
कल्प० । स्था० ।

अंडु-अएरु (न)-न० काष्ठमयेषु लोहमयेषु वा हस्तयोः
पादयोर्वा बन्धनविशेषेषु, औ० ।

अंत-अन्त-पुं० अम् गच्छादिसु तस्सेह अमणमंतो वसाणमे-
गत्थं अम् धातुर्गत्यादिष्वर्थेषु पठ्यते तस्येहान्त इति रूपं भ-
वति । अमनमन्तः । अवसाने, विशे० । स्था० । यस्मात्पूर्व-
मस्ति न परं सोऽन्तः अनु० । पर्यन्ते, आ० म० प्र० । सूत्र० ।
निक्षेपोऽस्य पद्धिः तद्यथा नामान्तः स्थापनान्तो द्र-
व्यान्तः क्षेत्रान्तः कालान्तो भावान्तश्च । तत्र नामस्थापने प्र-
तीते द्रव्यान्तो घटाद्यन्तः क्षेत्रान्त ऊर्ध्वलोकादि कालान्तः
समयाद्यन्तो भावान्त औदारिकादि आ० म० प्र० । आ०
चू० । परमकाष्ठायाम्, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । परिसमाप्तौ,
विशे० । पारे, ज्ञा० १ अ० । समीपे, व्य० १ उ० । न० ।
स्था० । अमनमधिगमनमन्तः । परिच्छेदे, निर्णये, स्था० ३
ठा० । प्रज्ञा० । स त्रिविधः ।

तिविहे अंते पस्यते तंजहा लोगंते वेयंते समयंते स्था० ३ ठा० ।

अमइ व जं तेणंते अमतीति वा यस्मात्तेनान्त इति कर्त्तरि
साध्यते । अवसानं गते, विशे० । देशे, " एगंतमंतं अबक्कमंति "
एकान्तं विजनमन्तं देशमवक्रामन्ति न० ३ श० २ उ० । " अम
रोगे वा अंतो रोगो भंगो विणासपज्जाओ " अम रोगे रुजो जङ्गे
अम-तन् रोगे, भङ्गे, विनाशे, । अन्तो रोगो जङ्गे विनाश इति
पर्यायशब्दा एते विशे० । स्था० । धर्म० । अन्त० । स० । नं० ।
अन्तहेतुत्वादन्ते रागद्वेषयोश्च आचा० १ श्रु० ३ अ० " दोहिं
अंतोहिं अदिस्समाणो " आचा० १ श्रु० ३ अ० । जीर्णं, अव्यव-
हरणीये, त्रि० नि० चू० १ उ० । कृये, भेदे, व्यवच्छेदे, कल्प० ।
अन्त्य-न० दशभिर्गुणिते जलाधिसंख्याभेदे, कल्प० ।

अन्त्र-न० अन्यते देहो बध्यतेऽनेनोति । अति-बन्धने वारणे प्लू-
देहबन्धने, " उक्ताः सार्द्धास्त्रयो व्यामाः पुंसामन्त्राणि सुरिज्जिः ।
अर्द्धव्यामेन हीनानि स्त्रीणामन्त्राणि निर्दिशेदिति वैद्यकोक्त-
परिमाणवति नारीभेदे, वाच० । सूत्र० । उदरमध्याऽवयववि-
शेषे च तं० ।

दो अंता पंच त्रामा पष्ठात्ता तंजहा शृङ्गते य तणुयंते य
२ तत्थ एणं जे से शृङ्गते तेणं उच्चारे परिणमइ तत्थ एणं जे
से तणुयंते तेणं पासवणे परिणमइ ॥

हे अन्त्रे प्रत्येकं पञ्च पञ्च व्यायामप्रमाणे प्रगते जिनैः तद्यथा
स्फुलान्त्रं १ तन्त्रन्त्रम् २ तत्र यन्स्फुलान्त्रं तेनोच्चारः परिणमति ।
तत्र च यत्तन्त्रन्त्रं तेन प्रथमं मृत्रं परिणमति न० । प्रतियोधा-
र्थं भगवता वीरेण दृष्टे चतुर्थे स्वप्ने च. आ० म० द्वि० ।
आन्त-न० अन्ते जयमानतम् । लुक्कादेशे, पंचा० १९ वि० ।
अरसतया सर्वधान्यान्तवर्तिनि प्लवचणकादौ, न० ए श० ३३
उ० । स्था० " गिष्पावमाइ अंतं " निष्पावा प्लवाचणकाः
प्रतीताः आदिशब्दान्कुलमापादिकं च आन्तमित्युच्यते वृ०
१ उ० । ज्ञा० ।

अंत [र] अन्तर-अ० अम्-अरन् नुमागमश्च । वाच० ।
स्वरेऽन्तरश्च ८ । १ । १४ इति अन्तःशब्दस्यान्यत्र्यञ्जन-
स्य स्वरे परे न लुक् अन्यत्र लुक् प्रा० मये, । आ० म० द्वि० ।
रा० । आचा० । विशे० । "अन्तरण्या" अत्र स्वरपरत्वान्न लुक् ।
कचिद्भवत्यपि " अनेवरि " प्रा० ।

अंतक (ग)-अन्तक-पुं० अन्तयति अन्तं करोति अन्त-णिच्-
गबुच् वाच० । मृत्तौ, " समागमं कंशति अंतकस्त " सूत्र० १
श्रु० ७ अ० । पर्यन्ते, " जे एवं परिभासंति, अंतए ते
समाहिप " सूत्र० १ श्रु० २ अ० । अन्तर्धर्तिनि च. सूत्र० १
श्रु० १५ अ० ।

अंतकम्म-अन्तकर्मन्-न० अचलकर्मणि, औ० ।

अंतक(ग)र-अन्तकर-त्रि० अन्तस्य करः । संसारस्य तत्कार-
णस्य वा क्षयकारिणि, " अंताणि धीरा सेवंति तेणं अंतकरा
इह " सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । आ० म० द्वि० । म० । स्था० ।

अंतकर (ग) नृमि-अन्तकर-(रुद्र) नृमि-स्त्री० अन्तं
भवस्य कुर्वन्तीति अन्तकराः (अन्तकृतो वा) तेषां भूमिः
कालः कालस्य चाधारत्वेन कारणत्वाद् भूमित्वेन व्यपदेशः ।
मुक्तिगामिनां काले, सा द्विधा युगान्तकरभूमिः पर्यायान्तक-
रभूमिश्च जं० २ वृत्त० (यस्य तीर्थकृतो यावती अन्तकरभूमिः
सा तच्छब्दे वदयते)

अंतकाद-अन्तकाद-पुं० मरणकाले, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अंतकिरिया-अन्तक्रिया-स्त्री० अन्तोऽवसानं तच्च प्रस्तावा-
दिह कर्मणामवसातव्यमन्यत्रागमे अन्तक्रियाशब्दस्य रुढ-
त्वात् तस्य क्रिया करणमन्तक्रिया । कर्मान्तकरणे, मोक्षे, कृ-
त्स्नकर्मक्षयान्मोक्ष इति वचनात् प्रज्ञा० १५ पद ।

अन्त्य(न्त)-क्रिया-स्त्री० अन्त्या च सा पर्यन्तवर्तिनी क्रिया अ-
न्त्यस्य वा कर्मान्तस्य क्रियाऽन्त्यक्रिया । कृत्स्नकर्मक्षयलक्ष-
णायां मोक्षप्राप्तौ, म० १ श० २ उ० । आ० म० प्र० । स० ।

चत्तारि अंतकिरियाओ पष्ठात्ता तंजहा तत्थ खलु इमा
पढमा अंतकिरिया अप्पकम्मपच्चाएया वि भवइ से एणं
मुंडं जविता अगाराओ अणगारियं पवइए संजमवहुले
संवरवहुले समाहिवहुले बूहे तीरड्डी उवहाएवं दुक्ख-
क्खवे तवस्सी । तस्स एणं णो तहप्पगारे तवे भवइ णो
तहप्पगारा वेयणा भवइ तहप्पगारे पुरिसजाए दीहेणं प-

रियाएणं सिज्जइ बुज्झइ मुच्चइ परिणिज्जाइ सच्चदुक्खा-
णमंतं करेइ जहा से भरहे राया चाउरंतचक्कट्ठी । पढमा
अंतकिरिया ।

यस्य न तथाविधं तपो नापि परीपहादिजनिता तथाविधा
वेदना दीर्घेण प्रव्रज्यापर्यायेण सिद्धिर्भवति तस्यैका यस्य तु
तथाविधे तपोवेदने अल्पेनैव च प्रव्रज्यापर्यायेण सिद्धिः स्या-
त्तस्य द्वितीया यस्य च प्रकृष्टे तपोवेदने दीर्घेण च पर्यायेण
सिद्धिस्तस्य तृतीया यस्य पुनरविद्यमानतथाविधतपोवेद-
नस्य ह्रस्वपर्यायेण सिद्धिस्तस्य चतुर्थीति । अन्तक्रियाया
एकस्वरूपत्वेऽपि सामग्रीभेदाच्चातुर्विध्यमिति समुदायार्थः ।
अवयवार्थस्त्वयं चतस्रोऽन्तक्रियाः प्रज्ञप्ता भगवतेति गम्यते
तत्रेति सप्तमी निर्द्धारणे तान्मु चतस्रु मध्य इत्यर्थः । खलुवा-
क्यालङ्कारे इयमनन्तरवक्ष्यमाणत्वेन प्रत्यक्षासन्ना प्रथमा इ-
तरापेक्षया आद्या अन्तक्रिया । इह कश्चित् पुरुषः देवलोकादौ
गत्वा ततोऽल्पैः स्तोकैः कर्मभिः करणभूतैः प्रत्यायातः प्रत्या-
गतो मानुषत्वमिति अल्पकर्मप्रत्यायातो य इति गम्यते । अ-
थवा एकत्र जनिता ततोऽल्पकर्मा सन् यः प्रत्यायातः स
तथा लघुकर्मतयोत्पन्न इत्यर्थः । चकारो वक्ष्यमाणमहाक-
र्मापेक्षया समुच्चयार्थः । अपिः सम्भावने सम्भाव्यतेऽय-
मपि पक्ष इत्यर्थः भवति स्यात् स इति । असौ णमिति वा-
क्यालङ्कारे मुण्डो भूत्वा द्रव्यतः शिरोलोचेन भावतो रागा-
द्यपनयनेनागारात् द्रव्यतो गेहात् भावतः संसारामिनन्दिनां
देहिनामावासभृतादविवेकगेहान्निष्क्रम्येति गम्यतेऽनगारि-
ताम् अगारी गृही असंयतस्तत्प्रतिषेधादनगारी संयतस्तद्भा-
वस्तत्ता तां साधुतामित्यर्थः । प्रव्रजितः प्रगतः प्राप्त इत्यर्थः ।
अथवा विभक्तिपरिणामादनगारितया निर्ग्रन्थतया प्रव्रजितः
प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः किंभूत इत्याह (संजमवहुलेति) संयमेन
पृथिव्यादिसंरक्षणलक्षणेन बहुलः प्रचुरो यः स तथा । सं-
यमो वा बहुलः प्रचुरो यस्य स तथा । एवं संवरवहुलोऽपि
नवरमाश्रयनिरोधः संवरः अथवा इन्द्रियकषायनिग्रहादि-
भेदः । एवं च संयमवहुलग्रहणं प्राणातिपातविरतेः प्राधान्य-
व्यापनार्थम् । यतः "एकं क्षिय एत्थ वयं, निहिट्ठं जिणघरेहि
सव्वेहि । पाणाइवायधिरमण-मवसेसा तस्स रक्खवुत्ति "
॥ १ ॥ एतच्च द्वितयमपि रागाद्युपशमयुक्चचित्तवृत्तेर्भवति । यत
आह सामाधिबहुलः समाधिस्तु प्रशमवाहिता ज्ञानाविर्वा
समाधिः पुनर्निःस्नेहस्यैव भवतीत्याह (लूहेत्ति) रुद्धः शरीरे
मनसि च द्रव्यभावस्नेहवर्जितत्वेन रूपः लूपयति वा कर्मम-
लमपनयतीति लूपः कथमसावेवं संवृत्त इत्याह यतः (ती-
रड्डी) तीरं पारं भवार्णवस्यार्थयत इत्येवं शीलस्तीराधी
तीरस्थायी वा तीरस्थितिरिति वा प्राकृतत्वात् 'तीरड्डीति' अन
एवाह(उवहाएवंति)उपधीयते उपष्टभ्यते श्रुतमनेनेति उपधानं
श्रुतविषयस्तप उपचार इत्यर्थस्तद्वान् अत एव च (दुक्खक्ख-
वेत्ति) दुःखमसुखं तत्कारणत्वाद्वा कर्म तत् क्षपयतीति दुःख-
क्षपः । कर्मक्षपणं च तपोहेतुकमित्यत आह । (तवस्सीति) त-
पोऽभ्यन्तरकर्मेन्धनदहनज्वलनकल्पमनवरतशुभध्यानलक्षण-
मस्ति यस्य स तपस्वी (तस्स एणं ति) यश्चैवंविधस्तस्य एणं
वाक्यालङ्कारे नो तथाप्रकारमत्यन्तघोरं वर्द्धमानजिनस्येव त-
पोऽनज्ञानादिर्भवति । तथा नो तथाप्रकारा अतिघरेवौपसर्गा-
दिसम्पाद्या वेदना दुःखासिका प्रवति अल्पकर्मप्रत्यायातत्वा-

दिति । ततश्च तत्तथाप्रकारमप्यकर्मप्रत्यायातादिविशेषणक-
लापोपेतं पुरुषजातं पुरुषप्रकारो दीर्घेण बहुकालेन पर्यायेण
प्रव्रज्यालक्षणेन कर्मभूतेन सिध्यति । अणिमादियोगेन निष्ठिता-
र्थो वा विशेषतः सिद्धिगमनयोग्यो वा भवति सकलकर्मनाय-
कमोहनीयघातात् ततो घातिचतुष्टयघातेन बुध्यते केवलज्ञान-
प्रावात् समस्तवस्तूनि ततो मुच्यन्ते भवोपग्राहिकर्मभिः परि-
निर्वाति सकलकर्मकृत्कारव्यतिकरनिराकरणेन ; शीतीभव-
तीति । किमुक्तं प्रवतीत्याह सर्वदुःखानामन्तं करोति शारी-
रमानसानामित्यर्थः । अतथाविधतपोवेदनो दीर्घेणापि पर्याये-
ण किं कोऽपि सिद्ध इति शङ्कापनोदार्थमाह । " जहासेश्या-
दि " यथाऽसौ प्रथमजिनप्रथमनन्दनो नन्दनशताग्रजन्मा अर-
तो राजा चत्वारोऽन्ताः पर्यन्ताः पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्रहिम-
वल्लक्षणा यस्याः पृथिव्याः सा चतुरन्ता तस्या अयं स्वामित्वेने-
ति चतुरन्तः । स चासौ चक्रवर्ती चेति स तथा । स हि प्राग्ज-
घे लघुकृतकर्मा सर्वार्थसिद्धविमानात् व्युत्पाद्य चक्रवर्तितयात्पद्य
राज्यावस्थ एव केवलमुत्पाद्य कृतपूर्वलक्षप्रव्रज्यः अतथाविध-
तपोवेदन एव सिद्धिमुपगत इति प्रथमाऽन्तक्रियेति ॥

अहावरे दोच्चा अंतकिरिया महाकम्मं पच्चाएया वि जवइ
से णं मुंढे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए संजमव-
हुळे संवरहुळे जाव उवहाणवं दुक्खवखवे तवस्सी तस्स
एणं तहप्पगारे तवे भवइ तहप्पगारा वेयणा जवइ तहप्पगारे
पुरिसजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्जइ जाव अंतं करेइ
जहा से गजसुकुमाळे अणगारे दोच्चा अंतकिरिया ॥

अथानन्तरमपरा पूर्वापेक्षया अन्या द्वितीयस्थानेऽभिधानात् द्वि-
तीया महाकर्ममिश्रकर्मजिः महाकर्मा वा सन् प्रत्यायातः प्र-
त्याजातो वा यः स तथा " तस्स णमित्यादि " तस्य महाकर्म-
प्रत्याजातत्वेन तत्क्षपणाय तथाप्रकारं घोरं तपो भवति । एवं
वेदनाप्रपि कर्मोदयसम्पाद्यत्वादुपसर्गादीनामिति निरुद्धेनेति अ-
ल्पेन यथाऽसौ गजसुकुमारो विष्णोर्लघुघ्राता स हि भगवतोऽरि-
ष्टनेमिजिननाथस्यान्तिके प्रव्रज्यां प्रतिपद्य स्मशाने कृतकायो-
त्सर्गब्रह्मणमहातपाः शिरोनिहितजाज्वल्यमानाङ्गारजनितात्य-
न्तवेदनोऽष्टपेनैव पर्यायेण सिद्धवानिति शेषं कएत्थम् ।

अहावरे तच्चा अंतकिरिया महाकम्मपच्चाएया वि जवइ
से णं मुंढे भवित्ता अगाराओ जाव पव्वइए जहा दोच्चा
एवरं दीहेणं परियाएणं सिज्जइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं
करेइ जहा से सणकुमारे राया चाउरंतचकवट्टी । तच्चा अंत-
किरिया ३ ॥

"अहावरेत्यादि" कएत्थं यथाऽसौ सनत्कुमार इति चतुर्थचक्रवर्ती
स हि महातपाः महावेदनश्च स रोगत्वात् दीर्घतरपर्यायेण च
सिद्धस्तद्भवे सिद्ध्यभावेन भवान्तरे सेत्स्यमानत्वादिति ॥

अहावरा चउत्था अंतकिरिया अप्पकम्मपच्चाएया वि
जवइ से णं मुंढे भवित्ता जाव पव्वइए संजमवहुळे जाव
तस्स एणं तहप्पगारे तवे भवइ नो तहप्पगारा वेयणा
भवइ तहप्पगारे पुरिसजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्जइ
जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ जहा सा मरुदेवी जगवई
चउत्था अंतकिरिया ॥

"अहावरेत्यादि" कएत्थं यथासौ मरुदेवी प्रथमजिनजननी सा
द्विस्थावरत्वेऽपि क्षीणप्राथक्यमेवनाहपकर्मा अविद्यमानतपोवेदना
च सिद्धा गजवरारूढाया एवायुःसमाप्तौ सिद्धत्वादिति । एषा-
श्च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकानामर्थानां न सर्वथा साधर्म्यमन्वेषणीयं
देशदृष्टान्तत्वादेपां यतो मरुदेव्याः "मुएने भवित्तेत्यादि" विशेष-
णानि कानिचित् न घटन्ते । अथवा फलतः सर्वसाधर्म्यमपि
मुएननादिकार्यस्य सिद्धत्वस्य सिद्धत्वादिति स्था० ४ ग्रा० १३० ।

अन्तक्रियायाः सकला वक्तव्यता प्रदर्श्यते
तत्रेयमादावधिकारगाथा ।

नेरइयअंतकिरिया, अणंतं एगसमय उव्वट्टा ।

तिथ्यगरचकिवलदे-व वासुदेवमरुलियरयणा य ॥ १ ॥

प्रथमतो नैरयिकोपलक्षितेषु चतुर्विंशतिस्थानेष्वन्तक्रिया ।
चिन्तनीया ततोऽन्तरागताः किमन्तक्रियां कुर्वन्ति परम्परागता
वेत्येवमन्तरं चिन्तनीयम् । ततो नैरयिकादिभ्योऽनन्तरमागताः
कियन्त एकसमये अन्तक्रियां कुर्वन्तीति चिन्त्यं तत् "उव्वट्टा इति"
उद्धृताः सन्तः कस्यां योनावुत्पद्यन्ते इति वक्तव्यं तथा यत् उद्धृ-
तास्तीर्थकराश्चक्रवर्तिनो वलदेवा वासुदेवा मरुलिकाश्चक्रव-
र्तिनो रत्नानि च सेनापतिप्रमुखाणि भवन्ति ततस्तानि क्रमेण
वक्तव्यानीति द्वारगाथासंक्षेपार्थः । विस्तरार्थं तु सूत्रकृदेव वक्ष्यति
तत्र प्रथमतोऽन्तक्रियामभिधित्सुराह ।

जीवे णं भंते ! अंतकिरियं करेज्जा ? गोयमा ! अत्ये ग-
तिए करेज्जा कत्येगइए नो करेज्जा एवं नेरइए जाव वेमाणिए
जीवे णमिति वाक्यालङ्कृतौ भदन्त ! अन्तक्रियामिति अन्तोऽ
वसानं तच्च प्रस्तावादिह कर्मणामवसातव्यम् । अन्यत्रागमे
ऽन्तक्रियाशब्दस्य रूढत्वात् तस्य क्रिया करणमन्तक्रिया कर्मा-
न्तकरणं मोक्ष इति भावार्थः । कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्ष इतिवचनात्
तां कुर्याद्भगवानाह । गौतम ! अस्त्येकको यः कुर्यात् अस्त्येकको
यो न कुर्यात् । इयमत्र भावना यतस्तथाविधमव्यवहारपरिपाकव-
शतो मनुष्यत्वादिकामविकलां सामग्रीमवाप्य तत्सामर्थ्यसमु-
द्भूतातिप्रवलयवीर्याल्लासवशतः क्षपकश्रेणिसमारोहणेन केवलज्ञा-
नमासाद्य घातीन्यपि कर्माणि क्षपयेत् स कुर्यात् अन्यस्तु न
कुर्याद्विपर्ययादिति । एवं नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डक्रमेण
तावद्भावनीया यावद्दैमानिकाः सूत्रतस्त्वैवम् " नेरइयाणं भंते !
अंतओ किरियं करेज्जा गोयमा ! अत्येगइए करेज्जा अत्येगइए
नो करेज्जा इत्यादि "

इदानीं नैरयिकेषु मध्ये वर्तमानोऽन्तक्रियां करोति किं वा न
करोतीति पिपृच्छिपुरिदमाह ॥

नेरइएणं भंते ! असुरकुमारेसु अंतकिरियं करेज्जा गो-
यमा ! नो इण्डे समट्टे एवं जाव वेमाणिएसु णवरं मणु-
स्सेसु अंतकिरियं करेज्जइ पुच्छा ! गोयमा ! अत्येगति-
ए करेज्जा अत्येगतिए नो करेज्जा एवं असुरकुमारे जाव
वेमाणिए । एवमेवं चउवीसं चउवीसा दंरुगा भवंति ॥

नेरइएणमित्यादि भगवानाह गौतम ! नायमर्थः समर्थो युक्तशुप-
पन्न इत्यर्थः कथमिति चेदुच्यते इह कृत्स्नकर्मक्षयः प्रकर्षप्राप्तात्
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसमुदायाद्भवति न च नैरयिकावस्थायां
चारित्रपरिणामस्तथा स्वाभाव्यादिति । एवमसुरकुमारादिषु

वैमानिकपर्यवसानेषु प्रतिषेधो दक्ष्यः । मनुष्येषु मध्ये समागतः सन् कश्चिदन्तक्रियां कुर्यात् यस्य परिपूर्णा चारित्रादिसामग्री कश्चिन्न कुर्यात् यस्तद्विक्रम इति एवमसुरकुमारादयोऽपि वैमानिकपर्यवसानाः प्रत्येकं नैरयिकादिचतुर्विंशतिदशमकक्रमेण चक्यास्तत एवमेते चतुर्विंशतिदशमकश्चतुर्विंशत्यो भवन्ति । अथ ते नैरयिकादयः स्वस्वनैरयिकादिप्रवेष्ट्याऽनन्तरं मनुष्यजने समागताः सन्तोऽन्तक्रियां कुर्वन्ति किं वा तिर्यगादिसंयवधानेन परम्परागता इति निरूपयितुकाम आह ।

नेरइयाणं भंते ! किं अणंतरागया अंतकिरियं करंति परंपरागया अंतकिरियं करंति ? गोयमा ! अणंतरागया वि अंतकिरियं करंति परंपरागया वि अंतकिरियं करंति एवं रयणप्पजापुढविणेरइया वि जाव पंकप्पभापुढविणेरइया धूमप्पभापुढविणेरइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! नो अणंतरागया अंतकिरियं पकरंति परंपरागया अंतकिरियं पकरंति जाव अहंसत्तमा पुढविणेरइया असुरकुमारा जाव थणियकुमारा । पुढविआउवणस्सइकाइया य अणंतरागया वि अंतकिरियं पकरंति परंपरागया वि अंतकिरियं पकरंति । तेजवाउवेइंदियतेइंदियचउरिंदिया नो अणंतरागया अंतकिरियं पकरंति परंपरागया अंतकिरियं पकरंति सेसा अनंतरागया वि अंतकिरियं पकरंति परंपरागया वि अंतकिरियं पकरंति ॥

प्रश्नसूत्रं भुगमं भगवानाह गौतम ! अनन्तरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति परंपरागता अपि तत्र रत्नशर्करावालुकापद्मप्रभाज्योऽनन्तरागता अपि धूमप्रभापृथिव्यादिज्यः पुनः परंपरागता एव तथा स्यामाव्यादेनमेव धियोपं प्रतिपादयिषुः सूत्रसप्तकमाह । “ एवं रयणप्पजापुढविणेरइया वि इत्यादि ” सुगमम असुरकुमारादयः स्तनितकुमारपर्यवसानाः पृथिव्यव्यवस्थेतय अनन्तरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति परंपरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति उभयथा भागता अपि । उभयथाऽप्यागतानां तेषामन्तक्रियाकरणाविरोधात् तथा केवलक्षक्षुरूपसंध्येः । तेजोवायुद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः परम्परागता एव नत्यनन्तरागतास्तत्र तेजोवायूनामानन्तर्येण मनुष्यत्वस्यैवाप्राप्तेः द्वीन्द्रियादीनां तु तथा भवत्स्वाभाव्यादिति । शेषास्तु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियादयो वैमानिकपर्यवसाना अनन्तरागता अपि परम्परागता अपि ।

नैरयिकादिभवेज्योऽनन्तरागताः कियन्त एकसमये अन्तक्रियां कुर्वन्तीत्येवरूपं तृतीयं चारमज्झित्सुराह ।

अणंतरागया णं भंते ! नेरइया एगसमएणं केवतिया अंतकिरियं पकरंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एको वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं दस रयणप्पभा पुढविणेरइया वि एवं चेव जाव बाटुयप्पजापुढविणेरइया । अणंतरागयाणं भंते ! पंकप्पभापुढविणेरइया एगसमएणं केवतिया अंत करंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एको वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि । अणंतरागयाणं भंते ! असुरकुमारा एगसमएणं केवइया अंतकिरियं पकरंति जहन्नेणं एको वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं दस । अणंतरागयाओ णं भंते !

असुरकुमारीओ एगसमएणं केवतियाओ अंतकिरियं पकरंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एको वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं पंच एवं जहा असुरकुमारा सदेवीया तथा थणियकुमारा वि । अणंतरागया णं भंते ! पुढविआइया एगसमएणं केवइया अंतकिरियं पकरंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एको वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि एवं आउकाइया वि चत्तारि वणस्सइकाइया ष पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दस तिरिक्खजोणिणीओ दस मणुस्सा दस मणुस्सीओ वीसं वाणमंतरा दस वाणमंतरीओ पंच जोइसिया दस जोइसिणीओ वीसं वेमाणिया अट्टसतं वेमाणिणीओ वीसं ॥

“ अणंतरागया णं भंते इत्यादि ” नैरयिकभवादनन्तरमव्यवधानेन मनुष्यजवमागता अनन्तरागता नैरयिका इति प्राग्भवपर्यायेण व्यपदेशः सुरादिप्राग्भवपर्यायप्रतिपक्षिव्युदासार्थः एवमुत्तरत्रापि तत्तत्प्राग्भवपर्यायेण व्यपदेशः प्रयोजनं चिन्तनीयं शेषं कष्टमम् ।

सम्प्रति तत उद्धृताः कस्यां योनाबुत्पद्यन्ते इति चतुर्थचारमज्झित्सुराह ।

एरइया णं भंते ! एरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! एो इण्ठे समट्ठे । नेरइएणं भंते ! एरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता असुरकुमारेसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! नो इण्ठे समट्ठे एवं निरंतरं जाव चउरिंदिएसु पुच्छा गोयमा ! नो इण्ठे समट्ठे । नेरइए णं भंते ! नेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता पंचिंदियतिरिक्खजोणिणिएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्येगइए उव्वज्जेज्जा अत्येगइए नो उव्वज्जेज्जा जे णं भंते ! नेरइएहिंतो अणंतरपंचिंदियतिरिक्खजोणिणिएसु उव्वज्जेज्जा से णं केवलपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए गोयमा ! अत्येगइए लभेज्जा अत्येगतिए नो लभेज्जा । जे णं भंते ! केवलपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए से णं केवलवोहिं बुज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्येगइए बुज्जेज्जा अत्येगइए नो बुज्जेज्जा । जे णं भंते ! बुज्जेज्जा से णं सहहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा ? गोयमा ! सहहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा । जे णं भंते ! सहहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा से णं आभिणिवोहियनाणसुयनाणाइं उप्पाहेज्जा गोयमा ! उप्पाहेज्जा । जे णं भंते ! आभिणिवोहियनाणसुयनाणाइं उप्पाहेज्जा से णं संचाएज्जा सीलं वा वयं वा गुणं वा वेरमणं वा पच्चक्खाणं वा पोसहोववासं वा पडिवज्जित्तए ? गोयमा ! अत्येगतिए संचाएज्जा अत्येगइए नो संचाएज्जा । जे णं भंते ! संचाएज्जा सीलं वा जाव पोसहोववासं वा पडिवज्जित्तए से णं ओहिनाणं उप्पाहेज्जा गोयमा ! अत्येगतिए उप्पाहेज्जा अत्येगतिए एो उप्पाहेज्जा । जे णं भंते ! ओहिनाणं उप्पाहेज्जा से णं संचाएज्जा मुंमे नवित्ता आगाराओ

अणगारियं पव्वइत्तए ? गोयमा ! णो इण्णट्ठे समट्ठे । खेरइए
 लं जंते ! नेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता मणुस्सेसु
 उव्वज्जेज्जा गोयमा ! अत्थेगतिए उव्वज्जेज्जा अ-
 त्थेगतिए नो उव्वज्जेज्जा । जे एं भंते ! उव्वज्जेज्जा
 से एं केवल्लिपन्नत्तं धम्मं द्दभेज्जा सवणयाए गोयमा !
 जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु जाव जे एं भंते ! ओहि-
 नाणं उप्पामेज्जा से एं संचाएज्जा मुंके भवित्ता अगाराओ
 अणगारिए पव्वइत्तए ? गोयमा ! अत्थेगतिए संचाएज्जा
 अत्थेगतिए नो संचाएज्जा से एं भंते ! मुंके भवित्ता अगारा-
 ओ अणगारियं पव्वइत्तए से एं मणपज्जवनाणं उप्पामे-
 ज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए उप्पामेज्जा अत्थेगतिए नो
 उप्पामेज्जा । जे एं जंते ! मणपज्जवनाणं उप्पामेज्जा से एं
 केवल्लनाणं उप्पामेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए उप्पामेज्जा
 अत्थेगतिए नो उप्पामेज्जा । जे एं भंते ! केवल्लनाणं
 उप्पामेज्जा से एं सिज्जेज्जा बुज्जेज्जा मुत्तेज्जा सव्वदु-
 क्खाणं अंतं करेज्जा ? गोयमा ! सिज्जेज्जा जाव सव्वदु-
 क्खाणं अंतं करेज्जा । नेरइएणं जंते ! नेरइएहिंतो अणं-
 तरं उव्वट्ठित्ता वाणमंतरेसु जोइसियवेमाणिएसु उव्वज्जेज्जा ?
 गोयमा ! एो इण्णट्ठे समट्ठे । असुरकुमारा एं भंते ! असुरकु-
 मारेहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा !
 एोइण्णट्ठे समट्ठे । असुरकुमारे एं जंते ! अणंतरं उव्वट्ठित्ता
 असुरकुमारेसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! एो इण्णट्ठे समट्ठे एवं
 जाव थणियकुमारेसु । असुरकुमारा एं भंते ! असुरकुमा-
 रेहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता पुढविकाइएसु उव्वज्जेज्जा हंता
 गोयमा ! अत्थेगतिए उव्वज्जेज्जा अत्थेगतिए नो उव्वज्जे-
 ज्जा । जे एं जंते ! उव्वज्जेज्जा से एं केवल्लिपन्नत्तं
 धम्मं द्दभेज्जा सवणयाए गोयमा ! णो इण्णट्ठे समट्ठे एवं
 आजवणस्सईगु वि । असुरकुमारे एं जंते ! असुरकुमारेहिंतो
 अणंतरं उव्वट्ठित्ता तेज्जालवेइंदियतेइंदियचउरिंदिएसु उव-
 वज्जेज्जा गोयमा ! एो इण्णट्ठे समट्ठे अवसेसेसु पंचसु
 पंचिंदियतिरिक्खजोणियादिसु असुरकुमारेसु जहा नेरइ-
 ओ एवं जाव थणियकुमारो । पुढविकाइए एं भंते ! पुढ-
 विकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जेज्जा ?
 गोयमा ! एो इण्णट्ठे समट्ठे एवं असुरकुमारेसु वि जाव
 थणियकुमारेसु । पुढविकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता
 पुढविकाइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए उव्वज्जे-
 ज्जा अत्थेगतिए नो उव्वज्जेज्जा । जे एं भंते ! उव्वज्जेज्जा
 से एं केवल्लिपन्नत्तं धम्मं द्दभेज्जा सवणयाए ? गोयमा !
 नो इण्णट्ठे समट्ठे । एवं आजकाइयादिसु निरंतरं जाणिय-
 व्वं जाव चउरिंदिएसु पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्सेसु
 जहा खेरइयाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु पमिसेहो एवं

जहा पुढविकाइओ जणिओ तहा आजकाइओ वि वणं-
 स्सइकाइओ जाणियव्वो । तेउकाइएणं जंते ! तेउकाइए-
 हिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता खेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! नो
 इण्णट्ठे समट्ठे एवं असुरकुमारेसु वि जाव थणियकुमारेसु
 वि । पुढविकाइयाआजव उव्वणस्सइवेइंदियतेइंदियचउरिंदि-
 एसु अत्थेगतिए उव्वज्जेज्जा से एं केवल्लिपन्नत्तं धम्मं द्दभेज्जा
 सवणयाए गोयमा ! एो इण्णट्ठे समट्ठे । तेउकाइए एं भंते !
 तेउकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता पंचिंदियतिरिक्खजोणि-
 एसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए उव्वज्जेज्जा अत्थे-
 गतिए णां उव्व० जेणं उव्व० से एं केवल्लिपन्नत्तं धम्मं लज्जे-
 ज्जा सवणयाए ? गोयमा ! अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए नो
 लभेज्जा जे एं जंते ! केवल्लिपन्नत्तं धम्मं द्दभेज्जा सवणयाए
 से एं केवल्लिबोहिं बुज्जेज्जा गोयमा ! णो इण्णट्ठे समट्ठे मणुस्स-
 वाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु पुच्छा गोयमा ! एो इण्णट्ठे समट्ठे
 एवं जहेव तेउकाइए निरंतरं एवं वाउकाइए वि । वेइंदिएणं
 भंते ! वेइंदिएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जे-
 ज्जा गोयमा ! जहा पुढविकाइए एवरं मणुसेसु जाव मणप-
 ज्जवनाणं उप्पामेज्जा एवं तेइंदियचउरिंदिया वि जाव म-
 णपज्जवनाणं उप्पामेज्जा जे एं मणपज्जवनाणं उप्पामेज्जा
 से एं केवल्लनाणं उप्पामेज्जा ? गोयमा ! एो इण्णट्ठे समट्ठे
 पंचिंदियतिरिक्खजोणिए एं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजो-
 णिएहिंता अणंतरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गो-
 यमा ! अत्थेगतिए उव्वज्जेज्जा अत्थेगतिए नो उव्वज्जे-
 ज्जा जे एं भंते ! उव्वज्जेज्जा से एं केवल्लिपन्नत्तं धम्मं
 लभेज्जा सवणयाए गोयमा ! अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थे-
 गतिए नो लभेज्जा जे एं केवल्लिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सव-
 णयाए से एं केवल्लबोहिं बुज्जेज्जा गोयमा ! अत्थेगति-
 ए बुज्जेज्जा अत्थेगतिए नो बुज्जेज्जा । जे एं केवल्लबो-
 हिं बुज्जेज्जा से एं सदहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा हंता गो-
 यमा ! जाव रोएज्जा । जे एं जंते ! सदहेज्जा जाव रोए-
 ज्जा से एं आजिणिबोहियनाणसुइनाणओहिनाणाइं उ-
 प्पामेज्जा ? गोयमा ! जाव उप्पामेज्जा जे एं भंते ! जाव उ-
 प्पामेज्जा से एं संचाएज्जा सीदं वा जाव पमिवज्जित्तए
 गोयमा ! एो इण्णट्ठे समट्ठे एवं असुरकुमारेसु वि जाव थ-
 णियकुमारेसु एगिंदियविगलिंदिएसु जहा पुढविकाइए पं-
 चिंदियतिरिक्खजोणिएसु मणुस्सेसु यजहा खेरइयाणमंत-
 रजोइसियवेमाणिएसु जहा खेरइएसु उव्वज्जेज्जा पुच्छा ज-
 णिया एवं मणुस्सेसु वि वाणमंतरजोइसियवेमाणिय० जहा
 असुरकुमारेसु ॥

(इतः पूर्वं टीका सुगमेति न गृहीता) नवरं जे एं भंते ! इत्या-
 दि सुएकी चूल्वा अनगारतां प्रव्रजितुं शक्नुयान्भवेति प्रश्ने जग-

वानाह नायमर्थः समर्थः तिरिश्चां प्रवस्वभावतः तथारूप-
रिणामासंज्ञात् अनगारताया अभावे मनः पर्यवज्ञानस्य चा-
भावः सिद्ध एव यथा च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियविषयं सूत्रकदम्बक-
मुक्तं तथा मनुष्यविषयमपि घटकन्यं नवरं मनुष्येषु सर्वज्ञावस-
म्भवात् मनःपर्यवज्ञानकेवलज्ञानसूत्रे अधिके प्रतिपादयति " जे
णं भंते ! संचाएज्जा मुंने भविता इत्यादि " सुगमं नवरं सि-
ज्जेज्जा इत्यादि सिद्धयत् समस्ताणिभैश्वर्यादिसिद्धिनाक् भवे-
त् बुध्येत् लोकालोकस्वरूपमशेषमवगच्छेत् मुच्येत् भवोपप्रा-
हककर्माभिरपि । किमुक्तं प्रवति सर्वज्ञानानामन्तं कुर्यात्
वानमन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु प्रतिपेधो घटकन्यो नैरयिकस्य
भवस्वाभाव्यानैरयिकदेवभवयोग्यायुर्वन्धाऽसंभवात् तदेवं नै-
रयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तितं साम्प्रतमसुरकु-
मारान् नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति " असुर-
कुमारानं भंते " इत्यादि प्राग्वत् नवरमेते पृथिव्यज्जनस्पति-
ष्वप्युत्पद्यन्ते ईशानान्तदेवानां तेषूपपादाविरोधात् तेषु चोत्पन्ना
न केवलप्रज्ञतं धर्मं लभन्ते । भवणतया भवणेन्द्रियस्याजायात्
शेषं सर्वं नैरयिकवत् । " एवं जाव थणियकुमारा इति " एवम-
सुरकुमारोक्तेन प्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावत्स्तनितकुमाराः पृथि-
वीकायिका नैरयिकेषु च प्रतिपेधयन्ते तेषां विशिष्टमनोद्व्या-
सम्भवतस्तीमसंफ्लेशविशुद्धाध्यवसायाजावात् । शेषेषु तु स-
र्वेष्वपि स्थानेषु उत्पद्यन्ते तद्योग्याध्यवसायस्थानसम्भवात् ।
तत्रापि च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु च नैरयिकवद्वक्तव्यमेवमपका-
यिकवनस्पतिकायिकाश्च घटकन्याः तेजस्कायिका वायुकायिका-
श्च मनुष्येष्वपि प्रतिपेधनीयास्तेषामानन्तर्येण मनुष्येषूपपादसं-
भवात् असम्भवश्च किञ्चलपरिणामतया मनुष्यगतमनुष्यायु-
पूर्वमनुष्यायुर्वन्धासम्भवात् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषूपत्पन्नाः कव-
लिप्रज्ञतं धर्मं भवणतया लभ्येरन् भवणेन्द्रियस्य भावात् । पुन-
स्तां केवलिकीं बोधिं नावबुध्येरन् संक्लिष्टपरिणामत्वात् द्विवि-
चतुरिन्द्रियाः पृथिवीकायिकवत् देवनैरयिकवर्जेषु शेषेषु स-
र्वेष्वपि स्थानेषूपत्पद्यन्ते नवरं पृथिवीकायिका मनुष्येष्वगाता अ-
न्तक्रियामपि कुर्युस्ते पुनरन्तक्रियां न कुर्वन्ति तथास्वजावत्वात्
मनःपर्यवज्ञानं पुनरुपादयेयुस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याश्च सर्वे-
ष्वपि स्थानेषूपत्पद्यन्ते तद्वक्तव्यता पाठसिद्धा । वानमन्तरज्योति-
ष्कवैमानिका असुरकुमारवद्भावनीया गतं चतुर्विधारम् । (ले-
ख्याविशेषणेनान्तक्रियाविचारो माकंदिक शब्दे) ।

इदानीं पञ्चमं तीर्थकरवचकन्यताद्यक्षणद्वारमभिधित्सुराह ।

रयणप्पभापुढविनेरइए णं जंते ! रयणप्पभापुढविनेरइए-
हिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा ? गोयमा !
अत्येगतिए हभेज्जा अत्येगतिए नो हभेज्जा से केणट्ठेणं
भंते ! एवं बुच्चइ अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो
लजेज्जा ? गोयमा ! जस्सन्नं रयणप्पभापुढविनेरइयस्स ति-
त्थगरनामगोयाइं कम्माइं वप्पाइं पुट्ठाइं कमाइं पट्ठावियाइं
णिविट्ठाइं अभिनिविट्ठाइं अभिसमन्नागायाइं उदिन्नाइं नो
उव्वसंताइं हवंति से णं रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो अणं-
तरं उव्वट्ठित्ता णं तित्थगरत्तं हभेज्जा जस्सन्नं रयणप्पभा-
पुढविनेरइयस्स तित्थगरनामगोयाइं णो वप्पाइं जाव नो
उदिन्नाइं उव्वसंताइं जवंति से णं रयणप्पभापुढविनेरइएहिं-
तो अणंतरं उव्वट्ठित्ता तित्थगरत्तं नो लजेज्जा से तेणट्ठेणं

गोयमा ! एवं बुच्चइ अत्येगतिए हभेज्जा अत्येगतिए नो
हभेज्जा एवं जाव वालुयप्पभापुढविनेरइएहिंतो तित्थगरत्तं
हभेज्जा । पंकप्पभापुढविनेरइए णं भंते ! पंकप्पभानेरइएहिंतो
अणंतरं उव्वट्ठित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा ? गोयमा ! णो इ-
णट्ठे समट्ठे अंतकिरियं पुण करेज्जा धूमप्पभापुढविनेरइए
णं पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे विरतिं पुण लजेज्जा
तमाए पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे विरयाविरतिं
पुण हभेज्जा अहेसत्तमाए पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे
समट्ठे सम्मत्तं पुण हभेज्जा असुरकुमारे णं पुच्छा ? गोयमा !
णो इणट्ठे समट्ठे अंतकिरियं पुण करेज्जा एवं निरंतरं जाव
आउकाइए । तेउकाइए णं भंते ! तेउकाइएहिंतो अणंतरं
उव्वट्ठित्ता उव्वज्जज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे केवल-
पणत्तं धम्मं लजेज्जा रुवणयाए एवं वाउकाइए वि ।
वणस्मइकाइए णं पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अंत-
किरियं पुण करेज्जा वेइंदियतेइंदियचउरिंदिय पुच्छा ?
गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे मणपज्जवनाणं उप्पाकेज्जा पं-
चिंदियातिरिक्खजोणियमणुस्सवाणमंतरजोइसिएणं पुच्छा ?
गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अंतकिरियाणं करेज्जा । सो-
हम्मदेवेणं जंते ! अणंतरं चइत्ता तित्थगरत्तं लजेज्जा ?
गोयमा ! अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो हभेज्जा
एवं जहा रयणप्पभापुढविणेरइए एवं जाव सव्वट्ठसिप्प-
गदेवे रयणप्पभापुढविणेरइए णं भंते ! अणंतरं उव्वट्ठित्ता
चक्कवट्ठित्तं लजेज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए लजेज्जा अ-
त्येगतिए नो लजेज्जा से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ गोय-
मा ! जहा रयणप्पभापुढविणेरइयतित्थगरत्ते । सकरप्पभा-
पुढविणेरइए णं भंते ! अणंतरं उव्वट्ठित्ता चक्कवट्ठित्तं ल-
भेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं जाव अहेसत्त-
माए पुढविणेरइए तिरियमणुएहिंतो पुच्छा ? गोयमा !
नो इणट्ठे समट्ठे । जवणवज्जाणमंतरजोइसियवेमाणिएहिंतो
पुच्छा ? गोयमा ! अत्येगइए लजेज्जा अत्येगइए नो हभे-
ज्जा । एवं च वलदेवत्तं एवरं सकरापुढविणेरइए वि हभे-
ज्जा एवं वासुदेवत्तं दोहिंतो पुढविहिंतो वेमाणिएहिंतो य
अणुत्तरोववातियवज्जेहिंतो सेसेसु णो इणट्ठे समट्ठे । मं-
कलियत्तं अहेसत्तमाए तेउवाउवज्जेहिंतो सेणावइरयण-
त्तं गाहावइरयणत्तं वट्ठइरयणत्तं पुरोहियरयणत्तं इत्थियर-
णत्तं च एवं चेव नवरं अणुत्तरोववाइयवज्जेहिंतो आसर-
यणत्तं हत्थियरयणत्तं च रयणप्पभाओ निरंतरं जाव सह-
स्तारो अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो लजेज्जा । च-
क्करयणत्तं चम्मरयणत्तं दंनरयणत्तं छत्तरयणत्तं मणिरय-
णत्तं असिरयणत्तं कागिणिरयणत्तं एएसिं असुरकुमारेहिं-
तो आरद्धं निरंतरं जावईसाणाओ सेसेहिंतो नो इणट्ठे समट्ठे ।

एवं शर्करप्रज्ञावायुकप्रज्ञाविषयेऽपि सूत्रे वक्तव्ये पङ्कप्रभापृथिवीनैरयिकस्ततोऽनन्तरमुद्भूतः संस्तीर्थकरत्वं न लभते अन्तक्रियां पुनः कुर्यात्, धूमप्रज्ञापृथिवीनैरयिकोऽन्तक्रियामपि न करोति सर्वविरतिं पुनर्हजते, तमःप्रज्ञापृथिवीनैरयिकः सर्वविरतिमपि न लभते विरत्यविरतिं देशविरतिं पुनर्लभते । अथः सप्तमपृथिवीनैरयिकस्तामपि देशविरतिं न लभते परं सम्यक्त्यमात्रं लभते । असुरादयो यावद्वनस्पतिकवादयोऽनन्तरमुद्भूतास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्तक्रियां पुनः कुर्युः । वसुदेवचरिते पुनः नागकुमारेभ्योऽप्युद्भूता अनन्तरमैरवतक्त्रेऽस्यामेवावसर्पिण्यां चतुर्विंशतितमस्तीर्थकर उपदिशतः तदर्थतत्वं केवलिनो विदन्ति । तेजोवायवोऽनन्तरमुद्भूता अन्तक्रियामपि न कुर्वन्ति मनुष्येषु तेषामानन्तर्येणोत्पादाभावादपि च ते तिर्यक्त्वन्नाः केवलप्रकृतं धर्मं श्रवणतया बभूवन् न तु बोधिमित्युक्तं प्राग् वनस्पतिकायिकाद्यनन्तरमुद्भूतास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्तक्रियां पुनः कुर्युः । द्विविचतुरिन्द्रिया अनन्तरमुद्भूतास्तामपि न कुर्वन्ति मनःपर्यवहानं पुनरुत्पादयेयुः तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यव्यनन्तरज्योतिष्का अनन्तरमुद्भूतास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्तक्रियां पुनः कुर्युः । सौधर्मादयः सर्वार्थसिद्धपर्यवसाना नैरयिकवत्कल्याः । गतं तीर्थकरद्वारम् । संप्रति चक्रवर्तित्वादीनि द्वाराण्युच्यन्ते तत्र चक्रवर्तित्वं रत्नप्रज्ञानैरयिकभवनपतिव्यनन्तरज्योतिष्कवैमानिकेभ्यो न शेषेभ्यः बलदेववासुदेवत्वे शर्करातोऽपि नवरं वासुदेवत्वे वैमानिकेभ्योऽनुत्तरोपपातवर्ज्यो मातृलिकत्वमधःसप्तमतेजोवायुवर्ज्यः शेषेभ्यः सर्वेभ्योऽपि स्थानेभ्यः सेनापतिरत्नत्वं वक्त्रिकिरत्नत्वं पुरोहितरत्नत्वं स्त्रीरत्नत्वमधःसप्तमपृथिवीतेजोवायुवत्तरोपपन्नदेववर्ज्यः शेषेभ्यः स्थानेभ्यः अश्वरत्नत्वं हस्तिरत्नत्वं रत्नप्रज्ञाया आरभ्य निरन्तरं यावदासहस्राश्चक्ररत्नत्वं उन्नतरत्नत्वं दण्डरत्नत्वमसिरत्नत्वं मणिरत्नत्वं काकिणिरत्नत्वं चासुरकुमारादारभ्य निरन्तरं यावदीशानात् । सर्वत्र विधिवाक्यम् । “अत्येगइए लमेज्जा अत्येगइए नो लमेज्जा ” इति वक्तव्यं प्रतिषेधे “ ना इण्ठे समठे ” इति तदेवमुक्तानि द्वाराणि प्रज्ञा ० १ए पद । (तीर्थकृतामन्तक्रिया तित्थयर शब्दे)

उग्रादयोऽस्मिन् धर्मेऽवगाहमाना अन्तक्रियां कुर्वन्ति ।

जे इमे भंते ! उग्गा जोगा राइस्सा इक्खागा णाया कोरन्वा एए णं अस्सि धम्मे ओगाहइ ओगाहइत्ता अट्ठविहं कम्मरयमलं पवारिंहि पवारिंहित्ता तओ पच्छा सिज्झन्ति जाव अंतं करेति हंता गोयमा ! जे इजे उग्गा भोगा तं चेव जाव अंतं करेति अत्येगइया अस्यरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववचारो जवंति ।

(अस्सि धम्मे त्ति) अस्मिन्नैग्रन्थे धर्मे इति म० २० श० ८३० ।

[जीवः सदसदमितमेजनादिभावं परिणमन्नान्तक्रियां करोतीति मरुगपुत्त शब्दे]

केवलिन एव अन्तक्रियां कुर्वन्तीति विवकुहाह ।

उत्तमत्येणं जंते ! मण्णसे तीतमणंतं सासयं समयं केवलेणं संजमेणं केवलेणं संवरेणं केवलेणं वंभचेरवासेणं केवलीहिं पवयणमायाहिं सिज्झिंसु बुज्झिंसु जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु ! गोयमा ! एओ इण्ठे समठे से केण्ठेणं जंतं ! एवं बुच्चइ तं चेव जाव अंतं करिंसु ! गोयमा ! जे केइ अ-

तकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु वा करिंति वा करिस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ननाणदंसणधरा अरहा जिणे केवली जविच्चा तओ पच्छा सिज्झन्ति मुच्चंति परिनिव्वायंति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंति करिस्संति वा से तेण्ठेणं गोयमा ! जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु पणुप्पसे वि एवं चेव नवरं सिज्झन्ति जाणियन्वा अणागए वि एवं चेव नवरं सिज्झिस्संति जाणियन्वा जहा छउमत्थो तहा आहोहिओ वि तहा परमोहिओ वि तिन्नि तिन्नि आलावगा भाणियन्वा ॥

इह छद्मस्थोऽवधिज्ञानरहितोऽवसेयो न पुनरकेवद्विमात्रमुत्तरत्रावधिज्ञानिनो वक्ष्यमाणत्वादिति (केवलेणंति) असहायेन शुद्धेन वा परिपूर्णं वा असाधारणेन वा यदाह “केवलमेगं सुद्धं सगलमसाधारणमणंतं च” (संजमेणंति) पृथिव्यादिरक्षरूपेण (संवरेणंति) इन्द्रियकपायनिरोधेन “सिज्झिंसु” इत्यादौ च बहुवचनं प्राकृतत्वादिति पतञ्जलौ गौतमेनानेनाजिप्रायेण पृष्टं यदुन उपशान्तमोहाद्यवस्थायां सर्वविबुद्धाः संयमा यतयोऽपि भवन्ति विबुद्धसंयमादिसाध्या च सिद्धिरिति सा छद्मस्थस्यापि स्यादिति (अंतकरेत्ति) भवान्तकारिणस्ते च दीर्घतरकावापेक्षयाऽपि भवन्तीत्यत आह (अंतिमसरीरियावत्ति) अन्तिमं शरीरं येषामस्ति तेऽन्तिमशरीरिकाश्चरमदेहा इत्यर्थः । वाशब्दौ समुच्चये “ सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु ” इत्यादौ “सिज्झंस्सु सिज्झन्ती” त्याद्यपि द्रष्टव्यम् । सिद्ध्याद्यविनाभूतत्वात्सर्वदुःखान्तकरणस्येति (उप्पन्ननाणदंसणधरोति) उत्पन्ने ज्ञानदर्शने धारयन्ति ये ते तथा त्वनादिसंसिद्धज्ञाना अत एव (अरहन्ति) पूजार्हाः (जिणस्ति) रागादिजेतारस्ते ब्रह्मस्था अपि जवन्तीत्यत आह । केवलीति सर्वज्ञाः “सिज्झन्ती” त्यादिषु चतुर्षु पदेषु वर्तमाननिर्देशस्य शेषोपलक्षणत्वात् “सिज्झंस्सु सिज्झन्ति सिज्झिस्संति” इत्येवमतीतादिनिर्देशो द्रष्टव्यः । अत एव “सव्वदुक्खाण ” मित्यादौ पञ्चमपदेऽसौ विहित इति । “जहा उत्तमत्थो” इत्यादिरियं भावना “आहोहिणं जंते ! मण्णसे तीतमणंतं सासयमित्यादि” दण्डकत्रयं तत्र अथः परमावधेरधस्ताद्योऽवधिः सोऽद्योऽवधिस्तेन यो व्यवहरत्यसावाधोवधिकः परिमितक्लेत्रविषयावधिकः (परमाहोहिओत्ति) परम आधोवधिकाद्यः स परमाधोवधिकः प्राकृतत्वाच्च व्यत्ययनिर्देशः (परमोहिओत्ति) कचित्पात्रो व्यक्तश्च स च समस्तरूपिष्वव्यासंख्यातद्वोक्तमात्रालोकखण्डासंख्यातावसर्पिणीविषयावधिज्ञानः (तिस्सि-आलावगात्ति) कावत्रयवेदिनः केवलिनोऽप्येत एव त्रयो दण्डकाः विशेषस्तु सूत्रोक्त एवेति ।

केवली एणं जंते ! मण्णसे तीतमणंतं सासयं समयं जाव अंतं करिंसु ! हंता गोयमा ! सिज्झंस्सु जाव अंतं करिंसु एते तिन्नि आलावगा जाणियन्वा । छउमत्थस्स जहा नवरं सिज्झंस्सु सिज्झन्ति सिज्झिस्संति । से एणं जंते ! तीतमणंतं सासयं समयं प्रणुप्पन्नं वा सासयं समयं अणागयमणंतं वा सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु वा करिंति वा करिस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ननाणदंसणधरा अरहा जिणे

केवली जवित्ता तत्रो पच्छा सिज्झंति जाव अंतं करि-
स्संति वा हंता गोयमा ! तीतमणंतं सासयं जाव अंतं
करिस्संति वा से नूणं जंते ! उप्पन्नानाणदंसणं अरहा
जिणे केवली अलमत्तु चि वत्तव्वंसिया हंता गोयमा !
उप्पन्नानाणदंसणं अरहा जिणे केवली अलमत्तु चि व-
त्तव्वंसिया सेवं जंते भंतेत्ति ॥

“से नूण” मित्यादिषु काव्यत्रयनिर्देशो वाच्य एवेति (अलम-
त्तुचित्ति) अत्रमस्तु पर्याप्तं भवतु नातः परं किञ्चिज्ज्ञानान्तरं प्रा-
ग्बल्यमस्तीति एतद्वक्तव्यं स्याद् भवेत्सत्यत्वादस्येति न०
१ श० ४ उ० । विनाशे, “उत्पन्नाणमंतं करिय काही अचिरं
काहेण” ध० २ अधि० । अन्तो जवान्तस्तस्य क्रियाऽन्तक्रिया
भवच्छेद इत्यर्थस्तत्तेतुर्याऽऽराधना शैवेदीश्वरा सा अन्तक्रिये-
त्युपचारात् केवलपराधनाभेदे, एषा च द्वायिकज्ञानिकेवलाना-
मेव जवति स्या० २ ज० ।

रागद्वेषजये एवान्तक्रिया जवितुं शक्नोति ।

से नूणं जंते ! कंखापदोसे खीणे समणे णिगंये अंत-
करे भवइ अंतिसरीरिण वा वहुमोहे नि य णं पुंत्वि विह-
रित्ता अह पच्छा, संसुने काइं करइ तत्रो पच्छा सिज्झ-
इ बुज्झइ मुचइ जाव अंतं करइ ? हंता गोयमा ! कंखापदो-
स खीणे जाव अंतं करइ भ० ? श० ६ उ० ।

(जीवो यावदजते तावन्नो अन्तक्रियां कर्तुं शक्नोतीति इरियाव-
हिया शब्दे) (आचार्य उपाध्यायो वाऽऽश्रान्या गणसंग्रहं कुर्वन्
कतिनिर्भयैः सिद्ध्यति इति गणसंग्रहकर शब्दे)

अंतकुल-अन्त्यकुल-न० शूद्रकुले, कल्प० । आ० म० द्वि० ।

अंतक्वरिया-अन्त्याक्रिका-स्त्री० ब्राह्म्या लिपेर्नवमं लेख्य-

विधाने, प्रज्ञा० १ पद । त्रिपष्टिमकलायाञ्च. कल्प० ।

अंतग-अन्तक-त्रि० विनाशकारिणि, सूत्र० १ शु० ए अ० ।

अन्तग-त्रि० अन्तं गच्छत्यन्तगः दुष्परित्यजे, “विद्याया अंतगं
सो यं गिरिवेफ्फो परिव्वए” सूत्र० १ शु० ए अ० । अन्तयति
अन्तं करोति अन्तं निवृत्तुं मृत्यौ, वाच० ।

अंतगह-अन्तकृत् (त)-पुं० अन्तो विनाशः स च क्रमणस्तत्क-
लस्य वा संसारस्य कृतो यैस्तेऽन्तकृताः । तीर्थकरादिषु, स० ।
स्था० । पा० । अन्त० । तं० । सूत्र० । अनु० । कल्प० ।

अंतगरुदसा-अन्तकृद् (त) दशा-स्त्री० बहु० अन्तो जवान्तः
कृतो विहितो यैस्तेऽन्तकृतास्तत्कल्यता प्रतिपद्या दशा दशा-
भ्ययरूपा ग्रन्थपुस्तक इति अन्तकृद् (त) दशा इह चाष्टौ
वर्गा भवन्ति तत्र प्रथमवर्गे दशाभ्ययनानीति तानि शब्दव्युत्प-
त्तेर्निमित्तीकृत्यान्तकृद् (त) दशाः । अष्टमश्ले, अन्त० । स्था० ।
स० । पा० । नं० । अनु० ।

आसां वर्गाऽभ्ययनानि ।

तेणं कालेणं तेणं समणं चंपा नामं नयरं हंत्या पुष्प-
भदे चेति ए वनसंसे वस्सओ तेणं कालेणं तेणं समणं अज्ज-
मुहम्मो समोसरिते परिसा णिग्गया जाव पडिग्गता । तेणं का-
लेणं तेणं समणं अज्जमुहम्मो अंतेवासी अज्जजंजू जाव
पज्जुवासति एवं वयासी जतिं णं जंते ! समणेणं ३ जाव

संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगसाणं अयमद्वे पन्नत्ते ।
अट्टमस्स णं जंते ! अंगस्स अंतगहदसाणं समणेणं के
अट्टे पणत्ते एवं खलु जंवु ! समणेणं जाव संपत्तेणं अट्टमस्स
अंगस्स अंतगहदसाणं अट्टवग्गा पणत्ता जतिं णं जंते !
समणेणं ३ जाव संपत्तेणं अष्टमस्स अंगस्स अंतगहदसाणं
अट्टवग्गा पणत्ता पट्टमस्स णं भंते ! वग्गस्स अंतगहदसाणं
समणेणं ३ जाव संपत्तेणं कति अज्जयणा पणत्ता एवं
खलु जंवु ! समणेणं जाव संपत्तेणं अष्टमस्स अंगस्स अंत-
गरुदसाणं पट्टमस्स वग्गस्स दस अज्जयणा पणत्ता नं
जहा [अन्त० ? वर्ग०] नमी य मंगे सोमिद्वे, रामगुत्ते
मुदंसणे । जमाली य जमाली य, किं कमे पट्टएइय ॥१॥
फाले अ अट्टपुत्ते य, एमेत्ते दस आहिया । स्था० ? ठा० ।

अन्तगहेत्यादि इह चाष्टौ वर्गास्तत्र प्रथमवर्गे दशाभ्य-
यनानि तानि चामूनि (नमीत्यादि) सार्द्धं श्लोकमेतानि
च नमीत्यादिकान्यन्तकृताधुनामानि अन्तकृद्दशाङ्गप्रथमवर्गे
अध्ययनसंग्रहे नोपलक्ष्यन्ते यतस्तत्रानिधीयते “गोयमा ! स-
मुदमागर, गंभीरे चेव होइ धिमि ए य । अयले कंप्पिद्वे खलु अ-
फ्फोन्न पसेणई विण्हु ति ॥१॥ ” ततो वाचनान्तरापेक्षार्थमा-
नीति सम्भावयामो न च जन्मान्तरनामापेक्षयैतानि भविष्यन्ती-
ति वाच्यं जन्मान्तराणां तत्रानभिधीयमानत्वादिति ॥

द्वितीये वर्गे इमानि ।

अक्खोमि ? सागरे खलु, २ समुद ३ हिम्वंत ४ अच-
लनामे य ५ । धरणे य ६ पूरणे य, ७ अजिचंदे चेव
अट्टमए ॥

तृतीये वर्गे ।

जतिं णं भंते ! तच्चस्स उक्खेवओ एवं खलु जंवु अट्ट-
मस्स अंगस्स तच्चस्स वग्गस्स तेरस अज्जयणा पणत्ता
तंजहा अणीयसेसे ? अणंतसेणे २ अजियसेणे ३ अणिह-
यरेमिओ ४ देवमेणे ५ मत्तुसेणे ६ सारणे ७ गए ८ समूहे
ए हुम्मूहे १० कुवए ? १ दारुए ? २ अणाहिट्टा ? ३ ॥

चतुर्थे वर्गे ।

जतिं णं जंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं चउत्थस्स वग्गस्स
अंतगरुदसाणं जाव संपत्तेणं के अट्टे पणत्ते ? एवं खलु
जंवु ! समणेणं जाव संपत्तेणं चउत्थस्स वग्गस्स दस अज्ज-
यणा पणत्ता तंजहा जाली ? मयाली २ उवयाली, ३ पुरि-
ससेणे य ४ वारिसेणे य ५ । पज्जुएण ६ संवे ७ अनिरुप्पे,
८ सच्चलंमी य ए दहनेमी य १० ॥

पञ्चमे वर्गे ।

जतिं णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं पंचमस्स वग्गस्स
अंतगरुदसाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्टे पणत्ते एवं
खलु जंवु समणेणं जाव संपत्तेणं पंचमस्स वग्गस्स दस अज्ज-
यणा पणत्ता पट्टमावतीए गोरी गंधारी लवखणा सुसीमा
य । जंवुवती सत्तजामा य, रुपिणी सूवासिरी मूदत्ता वि ।

पष्ठे वर्गे ।

जति एं जंतं ब्रह्मस्स उक्खेवतो एवरं सोलस अज्जयणा पणत्ता तंजहा “ मकारी ? किंमए चेव २ मांगरपाणी य ३ कासवं ४ खेमती ५ द्वितवरे चेव ६ केलासे ७ हरिचंदण ८ वारत ९ सुदंसणे १० पुण्णजदे ११ तह सुमणजदे १२ सुपडे १३ मोहति १४ मुत्ते १५ अन्नक्खे १६ अज्जयणेणं तु सोलसयं ॥ २ ॥

सप्तमे वर्गे ।

जति णं जंते ! समणेणं सत्तमस्स वग्गस्स उक्खेवतो जाव तेरस अज्जयणा पणत्ता तंजहा “ नंदा ? तह नंदवती २ नंदुत्तर ३ नंदिसेणिया ४ चेवामरुता ५ सुमरुता ६ महामरुता ७ मरुदेवा ८ य ? । अट्टमी भदा ९ सुजदा य १० सुजया ? ११ सुमणाइया १२ न्यूदिष्ठा १३ य वोप्पवा सेणियज्ज्जाण नामानि २

अष्टमे वर्गे ।

समणेणं जगवथा महावीरेणं जाव अट्टमस्स वग्गस्स उक्खेवतो जाव नवरं दस अज्जयणा पणत्ता तंजहा “ काली ? सुकाली २ महा-काली ३ कएहा ४ सुकएहा ६ य वीरकएहा य ७ वोप्पवा रामकएहा ८ तहेव य । पउमसेणकएहा नवमी दसमी महासेणकएहा य ॥

सर्वसंग्रहेण ।

अंतगदसाणं अट्टमस्स अंगस्स एगो सुयक्खंधो अट्ट वग्गा अट्टसु चेव दिवसेसु उद्दिंसंति तत्थ पढमविईयवग्गे दस दस उद्देसगा तइयवग्गे तेरस उद्देसगा चउत्थपंचमवग्गे दस दस उद्देसगा षष्ठवग्गे सोलस उद्देसगा सत्तमवग्गे तेरस उद्देसगा अट्टमवग्गे दस उद्देसगा सेसं जहा नायाधम्मकहाए ॥

विषयोऽन्तर्ब्रह्मशानाम् ।

से किं तं अंतगदसाओ अंतगदसासु एं अंतगनाणं णगराईं उज्ज्जाणचेइयवणराया अम्मा, पयरो समोसरणधम्मा धम्मकहा इह दोइअपरदोइअ इहिविसेसा भोगपरिच्चाया पच्चज्जाओ सुयपरिगाहा तवोवहाणाईं पणिमाओ बहुविहाओ खमा अज्जवं महवं च सोअं च सच्चसहिंयं सत्तरसविहो य संजमो उत्तमं च वंभं आकिंचिणया तवोकिरियाओ समिइगुत्तीओ चेव । तह अप्पमायजोगो सज्जायज्जाणेण य उत्तमाणं दोएहं पि हक्खणाईं पत्ताण य संजमुत्तमं जियपरीसहाणं चउज्ज्वहकम्मक्खयम्मि जहा केवदस्स हंभो परिया उ जत्तिओ य जह पात्तिओ मुणीहिं पावोवगओ य जाहिं जत्तियाणि जत्ताणि ठेअइत्ता अंतगमे मुणिवरो तमरयोधविमुक्को मोक्खसुहमणंतं च पत्ता एए अन्ने य एवमाइत्थवित्थरेणं परूवेइ । सम० । अंतगदसाणं परिच्चा वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेदा, संखिज्जा सिद्धोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्ती-

ओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पक्खिस्सीओ, से एं अंगअट्टयाए अष्टमे अंगे एगे सुयक्खंधे अट्ट उद्देसणकाला अट्ट समुद्देसणकाला, संखिज्जा पयसहस्सा, पयंगेणं संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परिच्चा तसा, अणंता थावरा, सासयकडनिवप्पनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवं आया एवं नाया एवं विच्चाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ सेत्तं अंतगदसाओ ॥ ८ ॥

तथा प्राप्तानाञ्च संयमोत्तमं सर्वविरतिजितपरीपहाणाञ्चतुर्विध-कर्मक्षये सति यथा केवलस्य ज्ञानादेर्लाभः पर्यायः प्रव्रज्यायाः हृत्क्षणो यावाञ्च यावद्वर्षादिप्रमाणो यथा येन तपोविशेषश्च-णादेना प्रकारेण पादितो मुनिभिः पादपोषगमश्च पादयोषगमा-भिधानमनशनं प्रतिपन्नो यो मुनिर्यत्र शत्रुजयपर्वतादौ यावन्ति च भक्तानि भोजनानि वेदयित्वा अनशनानां हि प्रतिदिनं भक्तद्वयच्छेदो भवति अन्तर्कृतो मुनिवरो जात इति शेषः । तमोरज-ओघविप्रमुक्त एवं च सर्वेऽपि क्षेत्रकाद्यादिविशेषिता मुनयो मो-क्षमुखमनुत्तरञ्च प्राप्ता आख्यायन्ते इति क्रियायोगः । एते अ-न्ये “चेत्यादि” प्रान्वत् नवरं (दस अज्जयणत्ति) प्रथमवर्गा-पेक्कयैव घटन्ते नन्द्यां तथैव व्याख्यातत्वात् यच्चेह पठ्यते “सत्त वग्गात्ति” तत्प्रथमवर्गादन्यवर्गापेक्कया यतोऽत्र सर्वेऽप्यष्ट-वर्गा नन्द्यामपि तथा पठितत्वात्तद्वृत्तिश्रेयम् (अट्टवग्गात्ति) अत्र वर्गः समूहः स चान्तर्कृतानामध्ययनानां वा सर्वाणि चैकवर्गगता-नि युगपदुद्दिश्यन्ते ततो भणितं “ अट्ट उद्देसणकाला ” इत्यादि इह च दश उद्देशनकाला अधीयन्ते इति नास्याभिप्रायमवग-च्छामः । तथा संख्यातानि पदशतसहस्राणि पदाग्रेणेति तानि च किल त्रयोविंशतिर्ब्रह्माणि चत्वारि च सहस्राणीति (अ-ष्टवग्गात्ति) वर्गः समूहः स चान्तर्कृतानामध्ययनानां वेदित-व्यः सर्वाणि चाध्ययनानि वर्गवर्गान्तर्गतानि युगपदुद्दिश्यन्ते अत आह अष्टौ उद्देशनकालाः अष्टौ समुद्देशनकालाः संख्येया-नि पदसहस्राणि पदाग्रेण च तानि च किल त्रयोविंशतिर्ब्रह्माः चत्वारः सहस्राः शेषं पाठसिद्धं यावद्विगमनम् न० । “ दस उद्दे-सणकाला दस समुद्देसणकाला ” स० ।

अंतगत (य)-अन्तगत-न० अन्तशब्दः यर्थ्यन्तवाची यथा वनान्ते इत्यत्र ततश्चान्ते पर्यन्ते गतं व्यवस्थितमन्तगतम् । अनुगामिकाऽवधिज्जेदे, इहार्थत्रयव्याख्या अन्ते गतमात्मप्रदेशानां पर्यन्ते स्थितमन्तगतम् इयमत्र भावना इहावधिरूपद्यमानः कोऽपि स्पर्शकरूपतयोत्पद्यते स्पर्शकं नामावधिज्ञानप्रभाया गवाक्ष-जालादिद्वारविनिर्गतप्रदीपप्रज्ञाया इव प्रतिनियतो विच्छेदवि-शेषः । तथा चाह जिनजल्लगणिक्रमाश्रमणः स्वोपज्ञप्राप्त्यटी-कायां स्पर्शकोऽयमवधिर्विच्छेदविशेष इति तानि चैकजीवस्य संख्येयान्यसंख्येयानि वा ब्रुवन्ति । यत उक्तं मूलावश्यकप्रथम-पीठिकायाम् “ फट्ठा वि असंखेजे, संखेज्जावि एगजीव-स्सेति ” तानि च विचित्ररूपाणि तथाहि कानिचित्पर्यन्तव-त्तिष्वात्मप्रदेशेषूपपद्यते तत्रापि कानिचित् पुरतः कानिचि-त्पृष्ठतः कानिचिदधोभागे कानिचिदुपरितनभागे कानि-चिन्मध्यवर्तिष्वात्मप्रदेशेष्ववधिज्ञानमुपजायते तदात्मनोऽन्ते

पर्यन्ते स्थितमिति कृत्वा अन्तगतमित्युच्यते तैरेव पर्यन्तवर्ति-
जिरात्मप्रदेशैः साक्षादवधिरूपेण ज्ञानेन ज्ञानाग्राशेषैरिति । अथ-
वा औदारिकशरीरस्य अन्ते गतं स्थितमन्तगतं कयाचिदेकदि-
शोपशमज्ञात् इदमपि स्पष्टं करूपमवधिज्ञानम् । अथवा सर्वेषां
मप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमज्ञायेऽपि औदारिकशरीरान्ते क-
याऽपि दिशा यद्गङ्गादुपलभते तदप्यन्तगतम् । आह यदि सर्वा-
त्मप्रदेशानां क्षयोपशमस्ततः सर्वतः किं न पश्यति ? उच्यते ए-
कदिशैव क्षयोपशमस्य संभवात् त्रिविधो हि क्षयोपशमस्ततः
सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानामित्यनृत एव स्वसामग्रीवशात् क्षयो-
पशमः संवृत्तो यदौदारिकशरीरमपेक्ष्य कयाचिद्विचक्षितया ए-
कदिशा पश्यतीति उक्तं च चूर्णम् । "ओराक्षियसरीरं हि यं ग-
यंति एगदं न चायप्यसफदगावहिर्गदिसेवल्लंभम् य अंत-
गडं ओहिनाणं जस्य । अहवा सव्यायपरासविमुक्से वि ओ-
राक्षियसरीरगते एगदिसि पासणागयंति अंतगयं भस्य । " तृ-
तीयोऽर्थः एकदिग्भाविनाऽवधिज्ञानेन यद्दृश्यते तत्र तस्यां
वर्त्तते तदवधिज्ञानमवधिज्ञानवत्स्तदन्ते वर्त्तमानत्वात्ततोऽन्ते
एकदिग्भूष्यावधिज्ञानविषयस्य पर्यन्ते व्यवस्थितमन्तगतम् ।

तद्देहा यथा ।

से किं तं अंतगयं अंतगयं त्रिविधं पण्यं तं जहा पुरत्रो अंतगयं
मगत्रो अंतगयं पासओ अंतगयं । से किं तं पुरत्रो अं-
तगयं ? पुरत्रो अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्तं वा
चरुदियं वा अलातं वा मणिं वा पईवं वा जोई वा पुरत्रो
काउं पणोद्वेमाणे पणोद्वेमाणे गच्छिज्जा सेत्तं पुरत्रो अं-
तगयं । से किं तं मगत्रो अंतगयं मगत्रो अंतगयं से जहा-
नामए केइ पुरिसे उक्तं वा चरुदियं वा अलातं वा मणिं वा
पईवं वा जोई वा मगत्रो काउं अणुकदमाणे अणुकदमाणे
गच्छिज्जा सेत्तं मगत्रो अंतगयं । से किं तं पासओ अंत-
गयं पासओ अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्तं वा चरु-
दियं वा अलातं वा मणिं वा पईवं वा जोई वा पासओ काउं
परिकदमाणे परिकदमाणे गच्छिज्जा सेत्तं पासओ अंतगयं
सेत्तं अंतगयं ॥

अथ किं तत् अन्तगतम् अन्तगतं त्रिविधं त्रिप्रकारं प्रकृतं तद्य-
था पुरतोऽन्तगतमित्यादि । तत्र पुरतोऽवधिज्ञानिनः स्वयंपेक्ष-
या अग्रभागे अन्तगतं पुरतोऽन्तगतम् । तथा मार्गतः पृष्ठतोऽन्त-
गतं मार्गतोऽन्तगतम् । तथा पार्श्वतो द्वयोः पार्श्वयोरेकतरपार्श्वतो
याऽन्तगतं पार्श्वतोऽन्तगतम् । अथ किं तत्पुरतोऽन्तगतम् (से ज
हेत्यादि) स विचक्षितो यथा नाम कश्चिदुच्यते अत्र सर्वेष्वपि
पदेषु एकारान्तत्वमतः सौ पुंसि इमानि भागधिकजापालक्षणा-
त्सर्वमधी हि प्रवचनमर्धभागधिकजापालक्षम् । अर्धभागधिकजा-
भया तीर्थकृतां देशनाप्रवृत्तेः । ततः प्रायः सर्वत्रापि भागधिक-
भापालक्षणमनुसरणीयम् । (उक्तं वेत्ति) उक्ता दीपिका वा-
शब्दः सर्वोऽपि विकल्पायः । चटुर्ली वा चटुली पर्यन्तज्वलित-
तृणपुष्पिका अलातं वा अलातमुद्मुक्तं च अग्रभागे ज्वलत्काष्ठमि-
त्यर्थः । मणिं वा मणिः प्रतीतः ज्योतिर्वा ज्योतिः स एवाद्याघा-
रो ज्वलद्गनिः । आह च चूर्णिकृत " जोइ सि मल्लगाइतिओ
अगणी जलंतो इति " प्रदीपं वा प्रदीपः प्रतीतः पुरतोऽग्रतो
वा हस्ते दण्डादौ वा कृत्वा (पणोद्वेमाणे पणोद्वेमाणेति) प्र-

णुदन् प्रणुदन् हस्तस्थितं दण्डाग्राद्यवस्थितं वा क्रमेण स्व-
गत्यनुसारतः प्रेरयन् प्रेरयन् गच्छेत् यायात् एव दृष्टान्तः ।
उपनयस्तु स्वयमेव प्रावनीयः । तत उपसंदरति (सेत्तं पुरत्रो
अंतगयं) से शब्दः प्रतिवचनोपसंदारदर्शने तदेतत् पुरतोऽन्त-
गतम् । इयमत्र भावना । यथा स पुरुषः उल्कादिभिः पुरत
एव पश्यति नान्यत्र एवं येनावधिज्ञानेन तथाविधक्षयोपशमज्ञा-
यतः पुरतः एव पश्यति नान्यत्र तदवधिज्ञानं पुरतोऽन्तगतम-
भिधीयते । एवं मार्गतोऽन्तगतं पार्श्वतोऽन्तगतसूत्रं प्रावनीयं न-
वरम् (अणुकद्वेमाणे अणुकद्वेमाणेति) हस्तगतं दण्डाग्रादिस्थितं
वा अनु पश्चात् कर्षन् अनुकर्षन् पृष्ठतः पश्चात् कृत्वा समाकर्षन्
समाकर्षन्नित्यर्थः । तथा (पासाओ काउं परिकद्वेमाणे परिकद्वेमा-
णेति) पार्श्वतो दक्षिणपार्श्वतोऽथवा वामपार्श्वतो यद्वा द्वयो-
रपि पार्श्वयोः उल्कादिकं हस्तस्थितं वा दण्डाग्रादिस्थितं वा प-
रिकर्षन् परिकर्षन् पार्श्वभागे कृत्वा समाकर्षन् समाकर्षन्नित्यर्थः ।
नं० १९ पत्र० । (मध्यगतादस्य विशेषः आणुगामिय शब्दे)
अन्तगत-त्रि० अन्तर्गतवर्त्तिनि, सूत्र० २ ध्रु० १ अ० ।

अंतगग्र-अन्तर्गत-त्रि० तोऽन्तरि ॥१॥ ६० इति सूत्रस्य क्वा-
चित्कृत्वाभ्रान्तः शब्दे तस्यात् एत्वम् । मध्यगते, प्रा० । अन्य-
न्तरे, अष्ट० ।

अंतचरय-अन्तचरक-पुं० पार्श्वचारिणि, अभिप्रहविशेषधार-
के भिक्षाके, स्था० ५ ग० । यो हि अभिप्रहविशेषात्क्षेत्रान्तरेषु
चरति स्था० ४ ग० ।

अंतचारि[न] अन्तचारिन्-पुं० अन्तेन ह्युक्तावशेषेण यद्वादिप्र-
कृतेन चरन्तीति । अभिप्रहविशेषधारके भिक्षाके, स्था० १०
ग० । सूत्र० ।

अंतजीवि (न्)-अन्तजीविन्-पुं० अन्तेन जीवितुं शीलमाज-
न्माऽपि यस्य स तथा । अभिप्रहविशेषधारके भिक्षा, स्था० ५
ग० । सूत्र० ।

अंतद्व-अन्तःस्थ-पुं० अन्तः स्पर्शाभ्युपगमयोर्मध्ये तिष्ठतीति
स्था-पिचप् । यरत्नवाक्येषु वर्णेषु, ते हि कादिमावसानस्पर्शानां
शपसहरोपमणां च मध्यस्थाः । वा विसर्गलोपेऽन्तस्था अपि
मध्यस्थितमात्रे, त्रि० वाच० ।

अंतर्द्धाण-अन्तर्धान-न० अन्तर्-धा०-ह्युद् । तिरोधाने,

शक्तिस्तम्भे तिरोधानं, कायरूपस्य संयमात् ॥

कायः शरीरं तस्य रूपं चक्षुर्ग्राह्यो गुणस्तस्य नास्त्यस्मिन् का-
ये रूपमिति संयमाद्रूपस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वरूपायाः शक्तेः स्तम्भे,
प्रावनावशात् प्रतिबन्धे सति तिरोधानं प्रवर्तते चक्षुषः प्रकाश-
रूपस्य सात्त्विकस्य धर्मस्य तद्गहनव्यापाराज्ञावाप्त्या संयम-
वान् योगी न केनचिद् दृश्यते इत्यर्थः । एवं शब्दादितिरोधानम-
पि ज्ञेयम् । तदुक्तं कायरूपसंयमात् ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुषः
प्रकाशसंयोगेऽन्तर्धानम् । एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तमिति द्वा०
२६ द्वा० । अञ्जनविद्यादिनाऽदृश्यीभवने, नि० चू० १३० । व्यवधाने
च-व्य० २ उ० ।

अंतर्द्धाणपिण्ड-अन्तर्धानपिण्ड-पुं० आत्मानमन्तर्हितं कृत्वा
गृह्यमाणे पिण्डे, " अप्पाणं अंतरहितं करेत्ता जो पिण्डं गेहइ
सो अंतर्द्धाणपिण्डो जस्यति जो अंतर्द्धाणपिण्डं हुंजइ हुंजंतं वा
साइज्जइ " आज्ञादयोऽत्र दोषाश्चतुर्धु प्रायश्चित्तम् । नि० चू०
२ उ० । अशिवादिकारणेऽन्तर्धानपिण्डमुत्पादयेत् (अत्रोदहा-
रणं चक्षुष्य शब्दे)

अतंष्टा (गिया) एी-अन्तर्धानिका-खी० अन्तर्धानकारिणि
विद्याविशेषे, सूत्र० २ शु० २ अ० ।

अंतर्द्धि-अन्तर्द्धि-पुं० व्यवधाने, हैम० ।

अंतर्धान्य-अन्तर्धान्य-त्रि० नष्टे, " नष्टेति वा विगणति वा
अंतर्धान्येति वा एगछा " आ० चू० १ अ० ॥

अंतर्पात्र-अन्तर्पात्र-पुं० कगठरुतदपशषस-क-पाभूर्ध्वं लु-
क् = । २ । ७७ इति ककारादूर्ध्वस्थस्य जीह्वामूलीयस्य हुक् ।
मध्ये यतने, प्रा० ।

अंतर्ज्ञाव-अन्तर्भावि-पुं० प्रवेशे, विशेष० ।

अंतर-अन्तर-न० मध्ये, आचा० १ शु० ६ अ० विशेषे, घ० १ अधि०
अवधौ, परिधानांशुके, अन्तर्धाने, जेदे, परस्परवैलक्षण्यरूपे
विशेषे, तादर्थ्ये, विद्धे, आत्मीये, विनार्थे, बहिरर्थे, सदृशे,
घात० । सूरविशेषे, पानीयान्तरमिति सूत्रधारैर्यद् व्यपदिश्यते
ज्ञा० १ अ० व्यवधाने, जं १ वक्त्र० । स्या० । अन्तं राति द-
दाति रा-क- । वि० । तं० । अवकाशे, भ० ७ श० ८
उ० । प्रव० । सूत्र० । नि० ।

[१] अन्तरस्य भेदाः ।

[२] द्वीपपर्वतानां परस्परं व्यवधाने वक्तव्ये ईषत्प्राग्भारायाः
अलोकस्यान्तरमुक्तम् ।

[३] कृत्स्नहिमवत्कूटस्योपरितनाच्चरमान्ताद्वर्षधरपर्वतस्य स
मधरणितलस्यान्तरम् ।

[४] गोस्तूभस्य पौरस्त्याच्चरमान्ताद्वरुषामुखस्य प्राश्नात्यचर-
मान्तस्यान्तरम् ।

[५] जम्बूद्वाराणां परस्परमन्तरम् ।

[६] जम्बूद्वीपस्य पौरस्त्यचरमान्ताज्ञोस्तूभस्य पाश्चात्यचर-
मान्तस्यान्तरम् ।

[७] जम्बूद्वीपस्य पौरस्त्याद्वेदिकान्ताद् घातकीखण्डस्य पा-
श्चात्यचरमान्तस्यान्तरम् ।

[८] जिनान्तराणि ।

[९] ऋषभाद्वीरस्यान्तरम् ।

[१०] ज्योतिष्काणां चन्द्रमण्डलस्य चान्तरम् ।

[११] चन्द्रसूर्याणां परस्परमन्तरम् ।

[१२] ताराणां परस्परमन्तरम् ।

[१३] सूर्याणां परस्परमन्तरम् ।

[१४] घातकीखण्डस्य द्वाराणामन्तरम् ।

[१५] नन्दनवनस्याधस्तनाच्चरमान्तात्तौगन्धिकस्य काण्ड-
स्याधस्तनचरमान्तस्यान्तरम् ।

[१६] नरकपृथ्वीनां रत्नप्रज्ञाकाण्डानामन्तरम् ।

[१७] रत्नप्रभादिभ्यो घनवातादेरन्तरम् ।

[१८] रत्नप्रज्ञादीनां परस्परमन्तरम् ।

[१९] निषधकूटस्योपरितनाच्चिखरतद्वात्समधरणितलस्या-
न्तरं निरूप्य निषधपर्वतस्य रत्नप्रभायाः बहुमध्यदेश-
भागो निरूपितः ।

[२०] पुष्करवर्द्धाराणामन्तरम् ।

[२१] मन्दराज्जम्बूद्वीपाच्च गोस्तूभस्यान्तरम् ।

[२२] मन्दराज्ञौतमस्यान्तरम् ।

[२३] मन्दराद्वकभासस्यान्तरं निरूप्य महाहिमवतोऽन्तरं
प्रतिपादितम् महाहिमवहुकिमकस्यापीति इहैव महा-
हिमवत्सूत्रे प्रतिपादितम् ।

[२४] लवणसमुद्रचरमान्तयोरन्तरम् ।

[२५] लवणसमुद्रद्वाराणामन्तरम् ।

[२६] वडवामुखादीनामधस्तनाच्चरमान्ताद्वत्नप्रभाया अच-
स्तनचरमान्तस्यान्तरम् ।

[२७] विमानकल्पानामन्तरम् ।

[२८] आहारमाश्रित्य जीवानामन्तरं प्रतिपाद्य तस्मिन्नेव सू-
त्रे सयोगिमवस्थकेवल्यनाहारकस्य चान्तरम् ।

[२९] एकेन्द्रियाद्याश्रित्य कालतोऽन्तरम् ।

[३०] कपायमाश्रित्यान्तरं प्रतिपाद्य कायमाश्रित्यान्तरं नि-
रूपितम् ।

[३१] गतिमाश्रित्यान्तरं प्रतिपाद्य ज्ञानमाश्रित्य जीवानाम-
न्तरमभिहितम् ।

[३२] त्रसस्थावरनोत्रसस्थावराणामन्तरम् ।

[३३] समग्रदृष्टिकमाश्रित्यान्तरम् ।

[३४] पर्याप्तिमाश्रित्यान्तरमभिधाय कायादिपरितानामन्त-
रमभिहितम् ।

[३५] पुञ्जलमाश्रित्यान्तरमुक्त्वा प्रथमसमयाऽप्रथमसमय-
विशेषणैर्नैकेन्द्रियाणां नैरयिकादीनां चान्तरम् ।

[३६] वादरसूक्ष्मनोसूक्ष्मनोवादराणामन्तरम् ।

[३७] सूक्ष्मस्यान्तरं प्रतिपाद्य भाषामाश्रित्य जीवानामन्तरं
निरूपितम् ।

[३८] योगमाश्रित्यान्तरमुक्त्वा लेश्यामाश्रित्य जीवानाम-
न्तरं निरूपितम् ।

[३९] वेदविशिष्टजोवानामन्तरं प्रतिपाद्य मनुष्यादिभेदेन
वेदविशेषविशिष्टानां स्त्रीपुत्रपुंसकानामन्तरं प्रति-
पादितम् ।

[४०] औदारिकादिशरीरविशिष्टानामन्तरमुक्त्वा संज्ञावि-
शेषणैर्न अन्तरं निरूपितम् ।

[४१] संयमविशेषणैर्नान्तरमभिधाय सिद्धस्यासिद्धस्य चा-
न्तरं निरूपितम् ।

[१] अन्तरस्य भेदाः ।

चञ्चविह्वे अंतरे पञ्चते तं जहा कटंतरे पम्हंतरे लोहं-
तरे पत्थंतरे एवमेव इत्थिए वा पुरिसस्म वा चञ्चविह्वे अं-
तरे पञ्चते तं जहा कटंतरेसमाणे पम्हंतरेसमाणे लोहंतरेस-
माणे पत्थंतरेसमाणे ॥

काष्ठस्य च काष्ठस्य चेति काष्ठयोरन्तरं विशेषो रूपनिर्माणा-
दिभिः एवमेव काष्ठान्तरमिव पद्मकर्पासरुतादि पद्मणोर-
न्तरं विशिष्टसौकुमार्यादिभिर्लोहान्तरमत्यन्ताच्छेदकत्वादि-
भिः प्रस्तरान्तरं पाषाणान्तरं चिन्तितार्थप्रापणादिजिरेवमेव का-
ष्ठान्तरवच्च स्त्रिया वा रुयन्तरापेक्षया पुरुषस्य वा पुरुषान्तरा-
पेक्षया वाशब्दौ स्त्रीपुंसयोश्चातुर्विध्यं प्रति निर्दिशेय-
ताख्यापनार्थौ काष्ठान्तरेण समानं तुल्यमन्तरं विशेषो विशि-
ष्टपदवियोग्यत्वादिना पद्मान्तरसमानं घचनसुकुमारतथैव
लोहान्तरसमानं स्नेहच्छेदेन परीपहादौ निर्भङ्गत्वादिभिश्च
प्रस्तरान्तरसमानं चिन्तातिक्रान्तमनोरथपूरकत्वेन विशिष्टशु-
णवत् वन्द्यपदवियोग्यत्वादिना चेति स्था० ४ । ग० ।

(२) द्वीपपर्वतादीनां परस्परं व्यवधानं दर्शयते तत्र ईषत्प्रा-
ग्भाराया अलोकस्य यथा

ईसिप्पज्जाराणं एणं भंते ! पुढवीए अल्लोगस्स य केवइए

अवाहाए पुच्छा, गोयमा ! देसूणं जोअणए अवाहाए अंतरं पणत्ते ।

(देसूणं जोयणंति) इह सिध्यलोकयोदेशानं योजनमन्तरमुक्ताम, आवश्यके तु योजनमेव । तत्र च किञ्चिन्त्यूनताया अधि-
घट्टणान्न विरोधो मन्तव्य इति भ० ४ श्लो ८ उ० ।

[३] कृद्दहिमवत्कृद्दस्योपरितनाच्चरमान्ताद्वर्ध-
पर्वतस्य समधरणितलेऽन्तरम् ।

चुद्धहिमवतकूरुस्त णं उवरिद्धाओ चरमंताओ चुद्धहिमव-
तस्त वासहरपव्वयस्स समधरणितले एस णं उ जायणसयाई
अवाहाए अंतरे पणत्ते एवं सहिरिकूरुस्त वि ।

इह प्रावार्यो हिमवान् योजनशतोच्चितस्तत्कृद् पञ्चशतोच्चि-
तमिति सूत्रोक्तमन्तरमभवतीति. स० ।

(४) गोस्तुभस्य पौरस्त्याच्चरमान्ताद् वरुवासुखस्य पाश्चा-
त्यचरमान्तेऽन्तरम् ।

गोयूनस्त णं आवासपव्वयस्स पुरात्तिमिद्धाओ चरमं-
ताओ वलयामुहस्त महापायायस्स पचत्तिमिद्धे चरमंते
एस णं वावन्नं जायणसहस्ताई अवाहाए अंतरं पणत्ते ।

[गोयूमेत्यादि] गोस्तुभस्य प्राच्यां लघणसमुद्रमध्यवर्तिनो
वेलन्धरनागराजनिवासभूतपर्वतस्य पौरस्त्याच्चरमान्तादपसृ-
त्य वरुवासुखस्य महापातालकलशस्य पश्चात्यचरमान्तो येन
भवतीति गम्यते [एसणंति] एतदन्तरमध्येऽबाधया व्यवधान-
नलक्षणमित्यर्थः द्विपञ्चाशद्योजनसहस्राणि भवन्तीत्यक्षरघ-
टना । भावार्थस्त्वयम् इह वृषणसमुद्रं पञ्चनवतियोजनसहस्रा-
ण्यवगाह्य पूर्वदिषु दिक्षु चत्वारः क्रमेण वडवामुखकेतुकयूप-
केभ्यराभिधाना महापातालकलशा भवन्ति । तथा जम्बूपर्यन्ताद्
द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यवगाह्य सहस्रविष्कम्भाश्चत्वार
एव वेलन्धरनागराजपर्वताः गोस्तुभादयो भवन्ति । ततश्च
पञ्चनवत्यास्त्रिचत्वारिंशत्यपकर्षितायां द्विपञ्चाशत्सहस्राण्य-
न्तरं भवति स० ५१ सम० ।

[५] जम्बूद्वाराणां परस्परमन्तरम् ।

जंवदीवस्स णं भंते ! दीवस्स दारस्स य दारस्स य केवइए
अवाहाए अंतरे पणत्ते ? गोयमा ! अजणासीई जोअणस-
हस्ताई वावणं च जोअणाई देसूणं च अद्धजाअणं दारस्स
य दारस्स य अवाहाए अंतरे पणत्ते जी० ।

जम्बूद्वीपस्य णमिति प्राग्वत् नदन्त ! द्वीपस्य संचान्धिनो
द्वारस्य २ च कियत् किंप्रमाणम् (अवाहाए अंतरेत्ति) बाधा
परस्परं संश्लेषतः पीरुनं नवाधा अवाधा तथा कियदन्तरं व्य-
वधानमित्यर्थः प्रकृतम् । इहान्तरशब्दो मध्यविशेषादिष्वर्थेषु
वर्तमानो दृष्टस्ततस्तद्व्यवच्छेदेन व्यवधानार्थपरिग्रहार्थमवाधा-
ग्रहणम् अत्र निर्वचनं भगवानाह गौतम ! एकोनाशीतियोजन-
सहस्राणि द्विपञ्चाशद्योजनानि देशानं चार्द्धयोजनं द्वारस्य
द्वारस्य चाबाधया अन्तरं प्रकृतम् । तथाहि जम्बूद्वीपपरिधिः प्राग्-
निर्दिष्टयोजनानि तिस्रो लक्षाः पौरुष सहस्राणि द्वे शते सप्त-
विंशत्यधिके (३१६२७) क्रोशत्रयम् (३) अष्टविंशधनुःशतं
(१२८) त्रयोदशाङ्गुलानि (१३) एकमर्कङ्गुलमिति । अस्माद्-
द्वारचतुष्कविस्तारोऽष्टादशयोजनरूपोऽपनीयते यत एकैकस्य
द्वारस्य विस्तारो योजनानि चत्वारि चत्वारि (४) प्रतिद्वारम् ।
द्वारशाखाद्वयविस्तारश्च क्रोशत्रयं क्रोशत्रयम् । अस्मिन् द्वारस्य

शान्नयोश्च परिमाणे चतुर्गुणे जातान्यष्टादश योजनानि (१८)
ततस्तदपनयने शेषपरिधिसत्कस्यास्य योजनरूपस्य (३१६२०९)
चतुर्जगलब्धानि योजनानि एकोनाशीतिः सहस्राणि द्वि-
पञ्चाशदधिकानि (७९०५३) क्रोशत्रयैकः । तथा परिधिस-
त्कस्य क्रोशत्रयस्य धनुष्करणे जातानि धनुषांपदं सहास्राणि
(६०००) एष च परिधिसत्कः अष्टाविंशत्यधिकधनुःशतस्य
क्षेपे जातानि धनुषामेकपट्टिशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि (६१२८)
ततोऽस्य चतुर्भिर्भागे बन्धानि पञ्चदश शतानि द्वात्रिंशदधि-
कानि (१५३३) यानि च परिधिसत्कत्रयोदश अङ्गुलानि (१३)
तेषामपि चतुर्भिर्भागे बन्धानि त्रीण्यङ्गुलानि (३) शेषे चैक-
स्मिन् अङ्गुले यवाः अष्टौ (८) एषु परिधिसत्कयवपञ्चक (५) क्षेपे
जातास्त्रयोदश यवाः (१३) एषां च चतुर्भिर्भागे बन्धास्त्रयो-
यवाः (३) शेषे चैकस्मिन् ये यूकाः अष्टौ (८) आसु परिधि-
सत्कैकयूकाक्षेपे जाता नव (९) आसां चतुर्भिर्भागे बन्धे द्वे यूके
(२) शेषस्याल्पत्वान्न विवक्षा । एतच्च सर्वं देशोनमेकं गव्यूत-
मिति जातं पूर्वबन्धगव्यूतेन सह देशोनमर्कयोजनमिति (जं०-
१७०) “इममेवार्थं द्विवर्कं सुवक्तुमिति” अवक्तुमन्त्रो वक्तुमन्त्रं
वाचयवचित्त्वानुग्राहकमिति वा गाययाऽह । “कटुद्रवार पमा-
णं, अछारस जोयणाई परिहाए । सोहियचडहिं विजत्ते, इणमो
दारंतं होइ । अजणासीइसहस्ता, वावणणा अठ जोयणं तूणं ।
दारस्स य दारस्सय, अंतरमेयं विणिहिदुं” जी० ३ प्रति० । स० ।

[६] जम्बूद्वीपस्य पौरस्त्यचरमान्ताद् गोस्तुभस्य
पाश्चात्यचरमान्ते अन्तरमाह ।

जंवदीवस्स णं दीवस्स पुरात्तिमिद्धाओ चरमंताओ, गोथू-
भस्स णं आवासपव्वयस्स पचत्तिमिद्धे चरमंते एसणं वाया-
लीसं जोयणसहस्ताई अवाहाए अंतरे पणत्ते । एवं चडिंसिं
पि दगजासे संखोदयसीमे य ।

(पुरात्तिमिद्धाओ चरिमंताओ त्ति) जगतीबाह्यपरिधेरपसृत्य
गोस्तुभस्यावासपर्वतस्य वेलन्धरनागराजसंवाग्धिनः पाश्चात्य-
सीमान्तश्चरमविभागो वा यावताऽन्तरेण भवति [एसणंति]
एतदन्तरं द्विचत्वारिंशत् योजनसहस्राणि प्रकृतमन्तरशब्देन
विशेषोऽप्यभिधीयते इत्यत आह [अवाहाएत्ति] व्यवधानापेक्षया
यदन्तरं तदित्यर्थः ।

(७) जम्बूद्वीपस्य पौरस्त्याद् वेदिकान्तात् धातकी-
खण्डस्य पाश्चात्यचरमान्ते अन्तरम् ।

जंवदीवस्स णं दीवस्स पुरात्तिमिद्धाओ वेइयंताओ धाय-
इखंरुचकवालस पचत्तिमिद्धे चरमंते सत्तजोयणसयसह-
स्ताई अवाहाए अंतरे पणत्ते ।

तत्र लक्षं जम्बूद्वीपस्य द्वे वृषणस्य चत्वारि धातकीखण्डस्येति
सप्त लक्षाण्यन्तरं सूत्रोक्तमभवतीति [७०००००] ।

(८) जिनान्तराणि ।

जम्मा जम्मो जम्मा, सिवं सिवा जम्ममुक्खओ मुक्खा ४।
इय चजजिणंतराई, इत्य चत्तयं तु नायव्वं २६ । सत्त०
१६५ द्वा० ।

सांप्रतं यश्चकवर्ती वासुदेवो वा यस्मिन् जिने जिनान्तरे वाऽऽ-
सीत् तत् प्रतिपाद्यत इत्यनेन संबन्धेन जिनान्तरागमनं तत्रा-
पि तावत् प्रसंगत एव कालतो जिनान्तराणि निर्दिश्यन्ते “ न-

जंभुद्वीपे णं जन्ते । दीवे ताराए अताराए अकेवइ अबहाए
अंतरे पस्सत्ते गोयमा । दुविहे अंतरे पस्सत्ते तंजहा वाघाए अ-
निवाग्धाए अ । निवाग्धाए जहसेणं पंचधनुसयाइ उक्को-
सेणं दो गाउआइ । वाघाए जहसेणं दोसि डावडे जोअण-
सए उकोसेणं वारस जोअणसहस्साइ । दोसि अ वायाले
जोअणसए ताराख्वस्स ताराख्वस्स अबहाए अंतरे पस्सत्ते
जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे तारायास्तारायाश्च कियद्वाधया अ-
न्तरं प्रहृतं जगवानाह । गौतम ! द्विविधं व्याघातिकं निर्व्याघा-
तिकं च । तत्र व्याघातः पूर्वतादिस्वल्पनं तत्र भवं व्याघातिकं
निर्व्याघातिकं व्याघातिकाग्निमेतं स्वाप्नाधिकमित्यर्थस्तत्र यन्नि-
र्व्याघातिकं तज्जघन्यतः पञ्चधनुःशतानि उत्कृष्टतो द्वे गव्यूते
एतच्च जगत्स्वभावादेवावगन्तव्यं यच्च व्याघातिकं तज्जघन्यतो
द्वे योजनशते पट्पट्टथधिके एतच्च निषधकूटादिकमपेक्ष्य वेदि-
तव्यं तथाहि निषधपर्वतः स्वभावतोऽप्युच्चैश्चावारि योजनशता-
नि तस्य चोपरि पञ्चयोजनशतोच्चीनि कूटानि तानि च मूले
पञ्चयोजनशतान्यायामविष्कम्भान्यां मध्ये त्रीणि योजनशतानि
पञ्चसप्तत्यधिकानि उपरि अर्द्धतृतीये द्वे योजनशते तेषां चोप-
रितनभागसमध्येणिप्रदेशे तथा जगत्स्वाप्नाव्यादष्टावष्टौ योजना-
न्यवाधया कृत्वा ताराविमानानि परिज्रमन्ति ततो जघन्यतो व्या-
घातिकमन्तरं द्वे योजनशते पट्पट्टथधिके प्रवतः उत्कर्षतो द्वाद-
शयोजनसहस्राणि द्वे योजनशते द्विचत्वारिंशदधिके । एतच्च
मेरूमपेक्ष्य छप्रव्यम् । तथाहि मेरौ दशयोजनसहस्राणि मेरो-
श्चोभयतोऽवाधया एकादशयोजनशतान्येकविंशत्याधिकानि ततः
सर्वसंख्यामीढने भवन्ति द्वादश योजनसहस्राणि द्वे च योजने
शते द्विचत्वारिंशदधिके एतत्तारारूपस्य अन्तरं प्रहृतमिति जं०
७ वक्र० । जी० । चं० प्र० ।

उत्सर्ग	अतिशयोक्ति	संभव	अभिनिन्द्यता	सुमती	पञ्चमपद्मो	सुपासो	चंद्रपद्मो	पुष्पकंदो	सीयलो	लेखको	वास्तुपुञ्जो	विमलो	अर्थो	धर्मो	मधवं
भरहो	सगरो	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	मधवं
०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	तिविद्ध	दुविद्ध	सयं	पुरिसो- सो	पुरिस सो	०
५००	५५०	५००	३५०	३००	२५०	२००	१५०	१००	६०	८०	७०	६०	५०	५५	५२॥
धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं
८८०००००	७२०००००	६००००००	५००००००	४००००००	३००००००	२००००००	१००००००	२००००००	१००००००	८४०००००	७२०००००	६००००००	३००००००	१००००००	५००००००
पुष्पकंदो	पुष्पकंदो	पुष्पकंदो	पुष्पकंदो	पुष्पकंदो	पुष्पकंदो	पुष्पकंदो	पुष्पकंदो	पुष्पकंदो	पुष्पकंदो	पुष्पकंदो	पुष्पकंदो	पुष्पकंदो	पुष्पकंदो	पुष्पकंदो	पुष्पकंदो

अभिधानाजोदः

उत्सर्ग	अतिशयोक्ति	संभव	अभिनिन्द्यता	सुमती	पञ्चमपद्मो	सुपासो	चंद्रपद्मो	पुष्पकंदो	सीयलो	लेखको	वास्तुपुञ्जो	विमलो	अर्थो	धर्मो	मधवं
भरहो	सगरो	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	मधवं
०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
५१॥	५०	३५	३०	२६	२८	२६	२५	२०	१६	१५	१२	१०	७	६	७
धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनूस्तं	धनू	हृथा	हृथा
३००००००	१००००००	६५००००	८५००००	६५००००	६०००००	५६००००	५५००००	३०००००	१२००००	१०००००	३००००	१००००	७००	१००	७२
विरिस लपयं	विरिस लपयं	विरिस सहस्रं	विरिस सहस्रं	विरिस सहस्रं	विरिस सहस्रं	विरिस सहस्रं	विरिस सहस्रं	विरिस सहस्रं	विरिस सहस्रं	विरिस सहस्रं	विरिस सहस्रं	विरिस सहस्रं	विरिस लपयं	विरिस लपयं	विरिस लपयं

[१३] सूर्याणां परस्परमन्तरम् ।

ता केवतियं तं दुवे सूरिया अस्ममस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहिताति वदेज्जा । तत्थ खलु इमातो ढ पन्निचि-
ओ पस्सत्ताओ तत्थ एगे एवमाहंसु ता एगं जोयणसह-
स्सं एगं च तेतीसं च जोयणसतं अस्ममस्स अंतरं कट्टु
सूरिया चारं चरंति आहिताति वदेज्जा एगे एवमाहंसु । १ ।
एगे पुण एवमाहंसु ता एगं चउतीसं जोयणसयं अन्नम-
अस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति आहितेति वदेज्जा
एगे एवमाहंसु । २ । एगे पुण एवमाहंसु । ता एगे जोयणसहस्सं
एगं च पणतीसं जोयणसयं अस्ममस्स अंतरं कट्टु सु-
रिया चारं चरंति आहितेति वदेज्जा एगे एवमाहंसु । ३ । एगं
दीवं एगं समुहं अस्ममस्स अंतरं कट्टु । ४ । दो दीवे दो
समुहे अस्ममस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति । ५ । ति
न्नि दीवे तिन्नि समुहे अन्नमन्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं
चरंति आहिणति वदेज्जा एगे एवमाहंसु । ६ । वयं पुण एवं
वयासी ता पंच पंच जोयणां पणतीसं च एगडिभागे
जोयणस्स एगमेगे मंडले अस्ममस्स अंतरं अजिवट्टेमा-
णे वा निवट्टेमाणे वा सूरिया चारं चरंति आहितेति वदे-
ज्जा । तत्थ एं को हेओ त्ति वदेज्जा ता अयणं जंबूदीवे
दीवे जाव परिक्लेवेणं पस्सत्ते ता जदा एं एगे दुवे सूरि-
या सव्वज्जतरं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति तदा एं
एवणउतिजोयणसहस्सां ढ चत्ताले जोयणसते अस्ममस्स-
स्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहितेति वदेज्जा । तता एं
उत्तमकट्टपत्ते उक्कोसए अट्टारसमुहुत्ते दिवसे जवति ज-
हणिया दुवाअसमुहुत्ता राई भवति ते एक्खममाणा
सूरिया एवं संवच्चरं अयमिणे पढमंसे अहोरत्तंसि अ-
ब्जितराणंतरं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति । ता ज-
ता एं एते दुवे सूरिया अभितराणंतरं मंरुलं उवसंकमि-
च्चा चारं चरंति तदा एं नवनउति जोयणसहस्सां ढ
पणताले जोयणसते पणतीसं च एगडिभागे जोयणस्स
अस्ममस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहिताति वदेज्जा ।
तता एं अट्टारसमुहुत्ते दिवसे भवति दोहिं एगडिभागमु-
हुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ता राती जवति । दोहिं एग-
डिभागमुहुत्तेहिं अधिया ते एक्खममाणे सूरिया दोच्चंसि
अहोरत्तंसि अभितरं तच्चं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरं-
ति ता जता एं दुवे सूरिया अभितरं तच्चं मंरुलं उवसंक-
मिच्चा चारं चरंति तथा एं नवनउं जोयणसहस्सां ढ
इक्कावणिएजोयणसए णव य एगडिभागे जोयणस्स अण-
मणस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहिणति वदेज्जा । तदा
एं अट्टारसमुहुत्ते दिवसे भवइ चउहिं एगडिभागमुहुत्तेहिं
ऊणो दुवालसमुहुत्ता राई जवइ चउहिं एगडिभागमुहुत्ते-

हिं अधिया । एवं खलु एते एवाएणं एक्खममाणा एगे
दुवे सूरिया तता एंतरतो तदाएंतरं मंरुलातो मंरुलं संक-
ममाणा संकममाणा पंच पंच जोयणां पणतीसं च एग-
डिभागे जोयणस्स एगमेगे मंरुले अस्ममस्स अंतरं अभि-
वट्टेमाणा अभिवट्टेमाणा सव्ववाहिरं मंरुलं उवसंकमिच्चा
चारं चरंति । ता जया एं एते दुवे सूरिया सव्ववाहिरं मंरुलं
उवसंकमिच्चा चारं चरंति तता एं एगं जोयणसतसहस्सं
ढ च सट्टिजोयणसते अणमणस्स अंतरं कट्टु चारं चरं-
ति । तता एं उत्तमकट्टपत्ता उक्कोसिया अट्टारसमुहुत्ता राई
जवइ जहणए दुवाअसमुहुत्ते दिवसे भवति । एस एं पढ-
मे ढम्मासे एस एं पढमस्स ढम्मासस्स पज्जवसाणे ते य वि
समाणे दुवे सूरिया दोच्चे ढम्मासे अयमीणे पढमंसे अहो-
रत्तंसि वाहिराणंतरं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति । ता
जया एं एते दुवे सूरिया वाहिराणंतरं मंरुलं उवसंकमिच्चा
चारं चरंति तदा एं एगं जोयणसयसहस्सं ढ च उणपण
जोयणसते छत्तीसं च एगडिभागे जोयणस्स अस्ममण-
स्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहितेति वदेज्जा । तदा एं
अट्टारसमुहुत्ता राई भवइ दोहिं एगडिभागमुहुत्तेहिं ऊणा
दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति । दोहिं एगडिभागमुहुत्तेहिं
आहिण ते पविसमाणा सूरिया दोच्चंसि अहोरत्तंसि वाहिरं
तच्चं मंरुलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति ता जता एं एते
दुवे सूरिया वाहिरं तच्चं मण्डलं उवसंकमिच्चा चारं चरंति ।
तता एं एगं जोयणसयसहस्सं ढ च अरुयाले जोयणसते
वावणं च एगडिभागे जोयणस्स अस्ममस्स अंतरं कट्टु
चारं चरंति । तता एं अट्टारसमुहुत्ता राई भवइ । चउहिं
एगडिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे जवति
चउहिं एगडिभागमुहुत्तेहिं अहिण । एवं खलु एते एवा-
एणं पविसमाणा एते दुवे सूरिया तताएंतरतो तदाएंतरं
मंडलाओ मंरुलं संकममाणा पंच पंच जोयणां पणतीसं
च एगडिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले अस्ममस्स अंतरं
एवट्टेमाणे एवट्टेमाणे सव्वज्जतरं मंरुलं उवसंकमिच्चा
चारं चरंति । ता जया एं एते दुवे सूरिया सव्वज्जतरं मंरुलं
उवसंकमिच्चा चारं चरंति । तता एं एवणउतिजोयणसहस्सा-
ं ढ च चत्ताले जोयणसते अस्ममस्स अंतरं कट्टु चारं
चरंति । तता एं उत्तमं कट्टं पत्ते उक्कोसए अट्टारसमुहुत्ते
दिवसे भवति जहणिया दुवाअसमुहुत्ता राई जवति । एस-
णं दोच्चे ढम्मासे एस एं दोच्चस्स ढम्मासस्स पज्जवसाणे ।
एस एं आइच्चे संवच्चरे एस एं आइच्चसंवच्चरस्स
पज्जवसाणे चउत्थं पाहुणपाहुणं समत्तं ।

(ता केवदयं एए दुवे सूरिया इत्यादि) ता इति प्राप्नुव

एतौ द्वावपि सूर्यौ जम्बूद्वीपगतौ कियत्प्रमाणं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावाख्याताविति भगवान् वदेत् एवं जगव-
ता गौतमेन प्रश्ने कृते सति शेषकुमतविषयतत्त्वबुद्धिबुद्ध्यास्तार्थं
परमतरूपाः प्रतिपत्तिर्दर्शयति । "तत्थ खलु इमाश्चो इत्यादि" ।
तत्र परस्परमन्तरचिन्तायां खलु निश्चितमिमा वक्ष्यमाणस्वरूपाः
पद् प्रतिपत्तयो यथास्वरुचिबन्धन्युपगमवृत्तान्तैर्लैस्तीर्थान्-
तराधिराश्रीयमाणाः प्रज्ञास्ता एव दर्शयति "तत्थेग इत्यादि" ।
तेषां पञ्चां तत्प्रतिपत्तिरूपक्राणां तीर्थकानां मध्ये एके तीर्थान्तर-
रीयाः प्रथमं स्वशिष्यं प्रत्येवमाहुः "ता एगमित्यादि" ता इति
पूर्ववद्वावनीयम् एकं योजनसहस्रमेकं च त्रयस्त्रिंशदधिकं
योजनशतं परस्परस्थान्तरं कृत्वा जम्बूद्वीपे द्वौ सूर्यौ चारं चर-
तश्चरन्तावाख्याताविति स्वशिष्येभ्यो वदेत् । अत्रैवोपसंहार-
माह । " एके एवमाहुरिति " । एवं सर्वत्राप्युक्तयोजना कर्त्त-
व्या । एके पुनर्द्वितीयास्तीर्थान्तररीया एवमाहुरेकं योजनसहस्र-
मेकं च चतुस्त्रिंशदधिकं योजनशतं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं
चरतः । एके तृतीयाः पुनरेवमाहुः एकं योजनसहस्रमेकं च
पञ्चत्रिंशदधिकं योजनशतं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः ।
एके पुनश्चतुर्था एवमाहुः एकं द्वीपमेकं च समुद्रं परस्परमन्तरं
कृत्वा चारं चरतः । एके पुनः पञ्चमा एवमाहुः द्वौ द्वीपौ द्वौ समुद्रौ
परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके षष्ठाः पुनरेवमाहुः त्रीन् द्वी-
पान् त्रीन् समुद्रान् परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरत इति । एते च
सर्वे तीर्थान्तररीया मिथ्यावादिनोऽप्यथार्थवस्तुव्यवस्थापनात् ।
तथा चाह (वयं पुन इत्यादि) वयं पुनरासादितकेवलज्ञानलाभाः
परतीर्थिकस्यापिनवस्तुव्यवस्थाव्युदासेन एवं वक्ष्यमाणप्रका-
रेण केवलज्ञानेन यथावस्थितं वस्तुनस्वमुपलभ्य वदामः । क-
थं वदथ यूयं जगवन्त इत्याह (ता पंचेत्यादि) 'ता इति' आ-
स्तामन्यद्वक्तव्यमिदं तावत्कथ्यते द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरान्म-
एरुलान्निष्कामन्तौ प्रतिमएरुलं पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशतं
चैकपष्टिभागान् योजनस्य पूर्वपूर्वमएरुलगतान्तरपरिमाणे अ-
निवर्त्तयन्तौ वाशब्द उत्तरधिकषापेक्षया समुच्चये (निवृद्धे-
माणा वा इति) सर्वत्राणान्मएरुलद्वाभ्यन्तरं प्रविशन्तौ प्रति-
मएरुलं पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशतं च एकपष्टिभागान् यो-
जनस्य निर्वैष्टयन्तौ पूर्वपूर्वमएरुलगतान्तरपरिमाणात् हापय-
न्तौ वाशब्दः पूर्वविकषापेक्षया समुच्चये सूर्यौ चारं चरतः च-
रन्तावाख्याताविति स्वशिष्येभ्यो वदेत् । एवमुक्ते भगवान् गौ-
तमो निजशिष्यनिःशङ्कितत्वव्यवस्थापनार्थं श्रूयः प्रश्नयति ।
(तत्थमित्यादि) तत्र एवंविधाया वस्तुतत्त्वव्यवस्थाया अद-
भ्यमे को हेतुः का उपपत्तिरिति प्रसादं कृत्वा वदेत् भगवा-
नाह (ता अयन्नमित्यादि) इदं जम्बूद्वीपस्वरूपप्रतिपादकं वा-
क्यं पूर्ववत्परिपूर्णं स्वयं परिभावनार्थम् । (ता जयाणमि-
त्यादि) तत्र यदा णमिति वाक्यान्वकारे एतौ जम्बूद्वीपप्रसि-
द्धौ प्रारतैरावतौ द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरं मएरुलमुपसंक्रम्य
चारं चरतः तदा नवनवतियोजनसहस्राणि पद् योजनशतानि
चत्वारिंशदधिकानि परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावा-
ख्याताविति वदेत् । कथं सर्वाभ्यन्तरेमएरुले द्वयोः सूर्ययोः प-
रस्परमेतावत्प्रमाणमन्तरमिति चेदुच्यते । इह जम्बूद्वीपे यो-
जनलक्षप्रमाणविष्कम्भस्तत्रैकोऽपि सूर्यो जम्बूद्वीपस्य मध्ये अशी-
त्यधिकं योजनशतमवगाह्य सर्वाभ्यन्तरे मएरुले चारं चरति ।
द्वितीयोऽप्यशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्य अशीत्यधिकं च श-
तं द्वाभ्यां गुणितं त्रीणि शतानि पष्ट्यधिकानि (३६०) भवन्ति

एतानि जम्बूद्वीपविष्कम्भपरिमाणाह्लक्षरूपादपनीयन्ते ततो य-
थोक्तमन्तरपरिमाणं भवति (तथा णमित्यादि) तदा सर्वाभ्य-
न्तरे द्वयोरपि सूर्ययोश्चरणकाले सप्तमकाष्ठां प्राप्तः परमप्रकर्षं
प्राप्तः उत्कर्षक उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तौ दिवसो भवति जघन्या
सर्वजघन्या द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः (ते निष्कलममाणा इत्यादि)
ततस्तस्मात्सर्वाभ्यन्तरान्मएरुलान्तौ द्वावपि सूर्यौ निष्कामन्तौ
नवं सूर्यसंवत्सरमाददानौ नवस्य सूर्यसंवत्सरस्य प्रथमे अ-
होरात्रे (अभितराण्तरमिति) सर्वाभ्यन्तरान्मएरुलान्तरं
द्वितीयं मएरुलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता जया णमित्या-
दि) ततो यदा एतौ द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरमएरुल-
मुपसंक्रम्य चारं चरतस्तदा नवनवतियोजनसहस्राणि-
पद् शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि योजनानां पञ्चत्रिंशतं
चैकपष्टिभागान् योजनस्येत्येतावत्प्रमाणं परस्परमन्तरं कृत्वा
चारं चरन्तश्चरन्तावाख्याताविति वदेत्तदा कथमेतावत्प्रमा-
मन्तरमिति चेदुच्यते । इहैकोऽपि सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमएरु-
लगतान्पञ्चचत्वारिंशदेकपष्टिभागान् योजनस्य अपरे च द्वे
योजने विक्रम्य सर्वाभ्यन्तरान्तरं द्वितीये मएरुले चरति ।
एवं द्वितीयोऽपि ततो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशदेकपष्टिभा-
गा योजनस्येति द्वाभ्यां गुण्यते गुणितं च सति पञ्च यो-
नानि पञ्चत्रिंशदेकपष्टिभागा योजनस्येति भवति एताव-
दधिकपूर्वमएरुलगतादन्तरपरिमाणादत्र प्राप्यते ततो यथो-
क्तमन्तरपरिमाणं भवति (तथा णमित्यादि) तदा सर्वाभ्यन्त-
रान्तरद्वितीयमएरुलचारचरणकाले अष्टादशमुहूर्त्तौ दिव-
सो भवति द्वाभ्यां (एगद्विभागमुहूर्त्तेर्हि ति) मुहूर्त्तैकपष्टिभा-
गाभ्यामूनः । द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकपष्टिभागा-
भ्यामधिका (ता निष्कलममाणा इत्यादि) ततस्तस्मादपि
द्वितीयान्मएरुलान्निष्कामन्तौ सूर्यौ नवस्य सूर्यसंवत्सरस्य
द्वितीये अहोरात्रे अभ्यन्तरस्य सर्वाभ्यन्तरस्य मएरुलस्य
तृतीयमएरुलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता जया णमित्यादि)
ततो यदा णमिति पूर्ववत् एतौ द्वौ सूर्यौ अभ्यन्तरतृतीयं
सर्वाभ्यन्तरस्य मएरुलस्य तृतीयं मएरुलमुपसंक्रम्य चारं
चरतः तदा तस्मिन्तृतीयमएरुलचारचरणकाले नवनवतियो-
जनसहस्राणि पद् च शतानि एकपञ्चत्रिंशदधिकानि यो-
नानां नव चैकपष्टिभागान् योजनस्य परस्परमन्तरं कृत्वा
चारं चरतः चरन्तावाख्याताविति वदेत्, तदा कथमेताव-
त्प्रमाणमन्तरकरणमिति चेदुच्यते इहाप्येकः सूर्यः सर्वाभ्य-
न्तरद्वितीयमएरुलगतान्पञ्चचत्वारिंशदेकपष्टिभागान् योजन-
स्यापरे च द्वे योजने विक्रम्य चारं चरति द्वितीयोऽपि ततो द्वे
योजनेऽष्टाचत्वारिंशदेकपष्टिभागान् योजनस्येति द्वाभ्यां गु-
ण्यते द्विगुणमेव पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशदेकपष्टिभागा यो-
जनस्येति भवति । एतावत्पूर्वमएरुलगतादन्तरपरिमाणादत्रा-
धिकं प्राप्यते इति भवति यथोक्तमन्तरान्तरपरिमाणम् (तथा
णमित्यादि) यदा सर्वाभ्यन्तरान्मएरुलान्तृतीये मएरुले चारं
चरतस्तदा अष्टादशमुहूर्त्तौ दिवसो भवति चतुर्भिः
[एगद्विभागमुहूर्त्तेर्हि ति] प्राकृतत्वात्पदव्यत्यासस्ततोऽ-
यमर्थः मुहूर्त्तैकपष्टिभागैरूनः, द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिश्चतुर्भि-
र्मुहूर्त्तैकपष्टिभागैरधिका (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण
खलु निश्चितमेतेनोपायेन प्रतिमएरुलमेकतोऽप्येकः सूर्यो द्वे
योजने अष्टाचत्वारिंशतं चैकपष्टिभागान् विक्रम्य चारं चरत्य-
परतोऽप्यपरः सूर्योऽप्येत्येवंरूपेण निष्कामन्तौ एतौ जम्बूद्वी-

पगतौ द्वौ सूर्यौ पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्तदनन्तरान्मण्डलात्तदनन्तरं
मण्डलं संक्रामन्तौ एकैकस्मिन्मण्डले पूर्वपूर्वमण्डलगतान्तर-
परिमाणापेक्षया पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशत् चैकपष्टिजागा-
न् योजनस्य परस्परमन्तरमन्तरं नवसूर्यसंवत्सरसत्के अशी-
त्यधिकशततमे अहोरात्रे प्रथमपणमासपर्यवसानभूते सर्व-
बाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः । (ता जया णमित्यादि)
ततो यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं
चरतस्तदा तावेकं योजनशतसहस्रं पद् शतानि षष्ठ्यधिकानि
(१००६६०) परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । कथमेतदव-
सेयमिति चेत् उच्यते इह प्रति मण्डलं पञ्च योजनानि पञ्चत्रिं-
शच्चैकपष्टिभागा योजनस्येत्यन्तरपरिमाणचिन्तायामभिवर्द्धमा-
नं प्राप्यते सर्वाज्यन्तराच्च मण्डलात्सर्वबाह्यं मण्डलं त्र्यशी-
त्यधिकशततमं ततः पञ्च योजनानि त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गु-
णयन्ते जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि योजनानामेकप-
ष्टिभागाश्च पञ्चत्रिंशत्संख्यारूपशीत्यधिकेन शतेन गण्यन्ते
जातानि तेषां चतुःषष्टिशतानि पञ्चोत्तराणि (६४०५) तेषामे-
कपष्ट्या भागे हते बन्धं पञ्चोत्तरं योजनशतम् (१०५)
एतत्प्राक्तने योजनराशौ प्रक्षिप्यते जातानि दश शतानि विश-
त्यधिकानि योजनानि (१०९०) एतत्सर्वाज्यन्तरमण्डलगता-
न्तरपरिमाणे नवनवतियोजनसहस्राणि पद् शतानि चत्वारिंश-
दधिकानि (६६६४०) इत्येवंप्रति प्रक्षिप्यते ततो यथाकं सर्व-
बाह्ये मण्डले अन्तरपरिमाणं भवति (तथा णमित्यादि) तदा
सर्वबाह्यमण्डलचारचरणकाले उत्तमकाष्ठां प्राप्ता परमप्रकर्षप्रा-
प्ता उत्कृष्टा अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति जघन्यश्च द्वादशमुहूर्त्तो
दिवसः “एषणं पढ्मे बम्मासे” इत्यादि प्राग्वत् (ते पविसमाणा
इत्यादि) तौ ततः सर्वबाह्यान्मण्डलादज्यन्तरं प्रविशन्ताः ।
सूर्यौ द्वितीयपणमासमाददानौ द्वितीयस्य पणमासस्य प्रथमे
अहोरात्रे बाह्यान्तरं सर्वबाह्यान्मण्डलादवागन्तरं द्वितीयं
मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता जया णमित्यादि) तत्र यदा
एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वबाह्यान्मन्तरमर्वाकनं द्वितीयं मण्डलमुपसं-
क्रम्य चारं चरतस्तदा एकं योजनशतसहस्रं पद् शतानि चतुः-
षष्ट्यादशधिकानि षट्त्रिंशति चैकपष्टिभागान् योजनस्य परस्पर-
मन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावाख्याताविति वदेत् कथमेता-
वत्तस्मिन्सर्वबाह्यान्मण्डलादवाकने द्वितीये मण्डले परस्परमन्-
तरकरणमिति चेत् उच्यते इहैकोऽपि सूर्यः सर्वबाह्यमण्डलगतान-
ष्टाचत्वारिंशदेकपष्टिजागान् योजनस्यापरे च छे योजने
अभ्यन्तरं प्रविशन्सर्वबाह्यान्मण्डलादवाकने द्वितीये मण्डले
चारं चरति अपरोऽपि ततः सर्वबाह्यगतादन्तरपरिमाणादन्ता-
न्तरपरिमाणं पञ्चत्रिंशत्तैः पञ्चत्रिंशता चैकपष्टिजागैर्योजन-
स्येनं प्राप्यते इति नवति यथोक्तमन्तरपरिमाणम् [तथा ण-
मित्यादि] तदा सर्वबाह्यान्मन्तरादवाकनद्वितीयमण्डलचारचरण-
काले अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति द्वाभ्यां तु मुहूर्तैकपष्टिभागा-
ज्यामूना, द्वादशमुहूर्त्तो दिवसो प्राज्यां मुहूर्तैकपष्टिजागाज्याम-
धिकः [ते पविसमाणा इत्यादि] ततस्तस्मादपि सर्वबाह्यमण्डला-
दवाकनद्वितीयमण्डलादज्यन्तरं प्रविशन्तौ तौ द्वौ सूर्यौ द्वितीय-
स्य पणमासस्य द्वितीये अहोरात्रे (बाहिरतच्चंति) सर्वबाह्यान्म-
ण्डलादवाकनं तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता ज-
या णमित्यादि) तत्र यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वबाह्यान्मण्डलादवा-
कनं तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा एकं योजनश-
तसहस्रं पद् च योजनशतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि द्विपञ्चा-

शतं चैकपष्टिजागान् योजनस्य परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः
प्रागुक्तयुक्त्या पूर्वमण्डलगतादन्तरपरिमाणादन्तरपरिमाण-
स्य पञ्चत्रिंशत्तैः पञ्चत्रिंशता चैकपष्टिजागैर्योजनस्य हीन-
त्वात् [तथा णमित्यादि] तदा सर्वबाह्यान्मण्डलादवाकनतृती-
यमण्डलचारचरणकाले अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति चतुर्भिर्मु-
हूर्तैरेकपष्टिभागैः । द्वादशमुहूर्त्ता दिवसश्चतुर्भिरेकपष्टिभागै-
र्मुहूर्तरधिकः [एवं खलु इत्यादि] एवमुक्तप्रकारेण खलु नि-
श्चितमेतेनोपायेन एकतोऽप्येकः सूर्योऽभ्यन्तरं प्रविशन् पूर्वपूर्व-
मण्डलगतादन्तरपरिमाणादन्तरे विवक्षिते मण्डले अन्तरप-
रिमाणस्याष्टाचत्वारिंशतमेकपष्टिभागान् छे च योजने हापय-
त्यपरतोऽप्यपरः सूर्य इत्येवंप्रकारेण एतौ जम्बूद्वीपगतौ सूर्यौ तद-
नन्तरान्मण्डलात्तदनन्तरमण्डलं संक्रामन्तौ एकैकस्मिन्मण्डले
पूर्वपूर्वमण्डलगतादन्तरपरिमाणात् अनन्तरं अनन्तरे विव-
क्षिते मण्डले पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशत् चैकपष्टिजागा-
न् योजनस्य परस्परमन्तरपरिमाणं निर्वेष्टयन्तौ हापयन्तावित्य-
र्थः । द्वितीयस्य पणमासस्य त्र्यशीत्यधिकशततमे अहोरात्रे सूर्य-
संवत्सरपर्यवसानभूते सर्वाज्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं
चरतः [ता जया णमित्यादि] तत्र यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वाभ्य-
न्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा नवनवतियोजनस-
हस्राणि पद् योजनशतानि चत्वारिंशानि चत्वारिंशदधिकानि
परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । अत्र चैवंप्रकारान्तरपरिमाणे
भावना प्रागेव कृता शेषं सुगमम् । सू० प्र० १ पाहु० । च० प्र० ।
ज्यो० । मं० । जं० । [मन्दरात् कियत्याऽवाधया ज्योति-
ष्का इत्यादि अवाहा शब्दे]

(१४) धातकीखण्डस्य चाराणामन्तरं यथा ।

धायइसंसस एं जंते ! दीवस्न दारस्स य दारस्स य एस
णं केवतिय अवाहाए अतरे पसुत्ते ! गोयमा ! दस जोयण-
सतसहस्साइं सत्तावीसं च जोयणसहस्साइं सत्त य पण-
तीसे जो १५ सते तिष्ठि य कोसे दारस्स य दारस्स य आ-
वाहाए अंतर पसुत्ते ।

धातकीखण्डस्य भदन्त ! द्वीपस्य द्वारस्य च द्वारस्य च परस्पर-
मेतत् अन्तरं कियत् किंप्रमाणमवाधया अन्तरितत्वाद् (व्या-
घातेन) व्यवधानेन प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! दश योजनशतस-
हस्राणि सप्तविंशतिसहस्राणि सप्त शतानि पञ्चत्रिंशानि द्वार-
स्य परस्परमन्तरमवाधया प्रज्ञप्तम् । तथाहि एकैकस्य द्वारस्य
द्वारशाखाकस्य जम्बूद्वीपद्वारस्येव पृथुत्वं सार्द्धानि चत्वारि
योजनानि । ततश्चतुर्णां द्वाराणामेकत्र पृथुत्वपरिमाणमीलने
जातान्यष्टादश योजनानि तान्यनन्तरोक्तात्परिखापरिमाणात्
(४११०६६१) शोध्यन्ते शोधितेषु च तेषु जातं शेषमिदमेक-
चत्वारिंशत्क्षत्ता दश सहस्राणि नव शतानि द्विचत्वारिंशदधि-
कानि (४११०६४३) एतेषां चतुर्भिर्भागे हते लब्धं यथोक्तं
द्वाराणां परस्परमन्तरम् । उक्तं च “ पणतीसा सत्त सया, स-
त्तावीसा सहस्स दस लक्खा । धायइसंडे दारं-तरं तु अवरं
च कोसतियं ” जी० ३ प्रति० ।

(१५) नन्दनवनस्याधस्तनाच्चरमान्तात्सौगन्धिकस्य काण्ड-
स्याधस्तनचरमान्तात्स्यान्तरम् ।

नंदणवणस्स एं हेट्टिह्वाओ चरमंताओ सोगंधियस्स कं-
रस्स हेट्टिह्वाओ चरिंते एस एं पंचासीइं जोयणसयाइं अ-
वाहाए अंतरं पसुत्ते ॥

नन्दनवनस्य मेरोः पञ्चयोजनशतोच्छ्रितायां प्रथममेखलायां
व्यवस्थितस्याधस्त्याच्चरमान्तान् सौगन्धिककाण्डस्य रत्न-
प्रभापृथिव्याः खरकाण्डाभिधाः प्रथमकाण्डस्यावान्तरका-
ण्डभूतस्याष्टमस्य सौगन्धिकाभिधानरत्नमयस्य सौ-
गन्धिककाण्डस्याधस्त्यश्चरमान्तः पञ्चाशीतियोजनशतान्य-
न्तरमाश्रित्य भवति । कथं पञ्च शतानि मेरोः सम्बन्धीनि
प्रत्येकं सहस्रप्रमाणत्वादवान्तरकाण्डानामष्टमकाण्डमशीति-
शतानीति । स० ।

(१६) नरकपृथ्वीनां रत्नप्रभाकाण्डानामन्तरम् ।

इमी से एं जंते ! रयणप्पजाए पुढवीए उवरिद्धातो च-
रिमंतातो हेडिह्ले चरिमंते एस एं केवतियं अवाधाए अंतरे
पणत्ते ? गोयमा ! अमी उत्तरं जोयणसतसहस्रं अवा-
धाए अंतरे पणत्ते । इमी से एं जंते ! रयणप्पजाए पुढ-
वीए उवरिद्धातो चरिमतातो खरकरुस्स हेडिह्ले चरिमंते
एस एं केवतियं अवाधाए अंतरे पणत्ते ? गोयमा ! सा-
हस्रं जोयणसहस्राई अवाधाए अंतरे पणत्ते । इमी-
से एं जंते ! रयणप्पजाए पुढवीए उवरिद्धातो चरिमंतातो
रयणस्म कंरुस्स हेडिह्ले चरिमंते एस एं केवतियं अवा-
धाए अंतरे पणत्ते ? गोयमा ! एकं जोयणसहस्रं अवाधाए
अंतरे पणत्ते ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्य प्रथ-
मस्य खरकाण्डाभिभागस्य (उवरिद्धातो इति) उपरितना-
च्चरमान्तात् परतो योऽधस्तनश्चरमान्तश्चरमपर्यन्तः (एस
णमित्यादि) एतत्सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् अन्तरं किय-
योजनप्रमाणम् अवाधया अन्तरख्याघातरूपया प्रज्ञप्तं भग-
वानाह गौतम ! एकं योजनसहस्रमेकयोजनसहस्रप्रमाण-
मन्तरं प्रज्ञप्तम् ।

इमी से एं भंते ! रयणप्पजाए पुढवीए रयणकंडस्स
उवरिद्धातो चरिमंतातो वडरस्स कंरुस्स उवरिद्धे चरिमंते
एस एं भंते ! केवतियं अवाधाए अंतरे पणत्ते ? गोयमा !
एकं जोयणसहस्रं अवाधाए अंतरे पणत्ते ।

(इमी से णमित्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः
रत्नकाण्डस्य उपरितनाच्चरमान्तात्परतो यो वज्रकाण्डस्योप-
रितनश्चरमान्त एतत् अन्तरं कियत् किंप्रमाणमवाधया प्रज्ञप्तं
भगवानाह गौतम ! एकं योजनसहस्रमवाधया अन्तरं प्रज्ञप्तं रत्न-
काण्डाधस्तनश्चरमान्तस्य वज्रकाण्डोपरितनश्चरमान्तस्य च
परस्परसंलग्नतया उन्नयत्रापि तुल्यप्रमाणजावात् ।

इमी से एं भंते ! रयणप्पजाए पुढवीए उवरिद्धातो च-
रिमंतातो वडरस्स कंरुस्स हेडिह्ले चरिमंते एस एं भंते !
केवतियं अवाधाए अंतरे पणत्ते गोयमा ! दो जोयणसह-
स्साई अवाधाए अंतरे पणत्ते एवं जाव रिट्टस्स उवरिद्धे
पन्नरस जोयणसहस्राई हेडिह्ले चरिमंते सोलस जोयणस-
हस्साई ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितना-
च्चरमान्तात् वज्रकाण्डस्य योऽधस्तनश्चरमान्त एतत् अन्तरं

कियत् अवाधया प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! द्वे योजनसहस्रे
अवाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । एवं काएने काण्डे द्वौ द्वौ चाहाप-
कौ वक्तव्यौ काण्डस्य आधनस्तने चरमान्ते चिन्त्यमाने योज-
नसहस्रपरिवृत्तिः कर्त्तव्या यावत् रिट्टस्य काण्डस्याधस्तने
चरमान्ते चिन्त्यमाने षोडश योजनसहस्राणि अवाधया प्रज्ञप्त-
मिति वक्तव्यम् जी० ३ प्रति० ।

इमी से एं रयणप्पजाए पुढवीए वडरकंडस्स उवरि-
द्धातो चरिमंतातो होहियक्वकंरुस्स हेडिह्ले चरिमंते एस
एं तिन्नि जोयणसहस्साई अवाधाए अंतरे पणत्ते ।

(इमी से णमित्यादि) अयमिह जावार्थः रत्नप्रजापृथिव्याः
प्रथमस्य पोरुशविभागस्य खरकाण्डाभिधानकाण्डस्य वज्रका-
ण्डं नाम रत्नकाण्डं द्वितीयं वैदूर्यकाण्डं तृतीयं होहिताकका-
ण्डं चतुर्थं तानि च प्रत्येकं सादृशिकाणीति त्रयाणां यथोक्तमन्तरं
जवतीति स० ।

इमी से एं भंते ! रयणप्पजाए पुढवीए उवरिद्धातो च-
रिमंतातो पंकवहुलस्स कंरुस्स उवरिद्धे चरिमंते एस एं
अवाधाए केवतियं अंतरे पणत्ते ? गोयमा ! सोलस जो-
यणसहस्साई अवाधाए अंतरे पणत्ते हेडिह्ले चरिमंते एकं
जोयणसयसहस्रं ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः रत्नकाण्डस्योपरितनाच्च-
रमान्तात् परतो यः पङ्कबहुलस्य काण्डस्योपरितनश्चरमान्तस्तत्
कियत् किंप्रमाणमवाधया अन्तरं प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम !
पोरुश योजनसहस्राणि अवाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । [इमी से
णमित्यादि] अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्ड-
स्योपरितनात् चरमान्तात् परतो यः पङ्कबहुलस्योपरितनश्च-
रमान्त एतदन्तरं कियत् अवाधया प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम !
एकं योजनशतसहस्रमवाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् ।

पंकवहुलस्स णं कंरुस्स उवरिद्धातो चरिमंतातो हेडिह्ले
चरिमंते एस एं चोरासीजोयणसयसहस्साई अवाधाए
अंतरे पणत्ते ॥

अयं सजिनं पङ्कबहुलं कण्डं द्वितीयं तस्य च बाहल्यं चतुरशी-
तिः सहस्राणीति ययोऽङ्गुलार्थ इति स० ।

आयवहुलस्स उवरि एकं जं. यणसयसहस्रं हेडिह्ले चरि-
मंते असीउत्तरं जोयणसयसहस्रं । धणोदधिस्स उवरिद्धे
असी उत्तरं जोयणसयसहस्रं हेडिह्ले चरिमंते दो जोय-
णसयसहस्साई ।

अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितना-
च्चरमान्तात् परतोऽयं बहुलस्य योऽधस्तनश्चरमान्त एतदन्त-
रं कियत् अवाधया प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! अशीत्युत्तरं यो-
जनशतसहस्रं धनोदधेरुपरितने चरमान्ते पृष्ठे एतदेव निर्वचन-
मशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रम् । अधस्तवे पृष्ठे इदं विवचनं द्वे
योजनशतसहस्रे अवाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् ।

(१७) रत्नप्रभादिभ्यो घनवातादेः ॥

इमी से एं भंते ! रयणप्पजाए पुढवीए धणवातस्स उव-
रिद्धे चरिमंते दो जोयणसयसहस्साई हेडिह्ले चरिमंते अस-
खेजाई जोयणसयसहस्साई इमी से एं भंते ! रयणप्पजाए

पुढवीए तणुवातस्स उवरिद्धे चरिमंते असंखेज्जाई जोयण-
सतसहस्साई अवाधाए अंतरे हेडिद्धे वि संखेज्जाई जोयण-
सतसहस्साई एवं उवासंतरे वि ।

घनवातस्योपरितने चरमान्ते पृष्ठे इदमेव निर्वचनं घनोदध्य-
धस्तनचरमान्तस्य घनवातोपरितनचरमान्तस्य च परस्परं सं-
सम्भत्वात् घनवातस्याधस्तने चरमान्ते एतन्निर्वचनम् । असं-
ख्येयानि योजनशतसहस्राण्यवाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । एवं
तनुवातस्योपरितने चरमान्ते अवकाशान्तरस्याप्युपरितने चरमा-
न्ते इत्थमेव निर्वचनं वक्तव्यम् । असंख्येयानि योजनशतसह-
स्राण्यवाधया अन्तरं प्रज्ञप्तमिति । सूत्रपाठस्तु प्रत्येकं सर्वत्रा-
पि पूर्वोक्तानुसारेण स्वयं परिज्ञावनीयः सुगमत्वात् ।

सकरप्पभाए णं भंते ! पुढवीए उवरिद्धातो चरिमंतातो हेडिद्धे
चरिमंते एस णं केवतियं अवाधाए अंतरे पप्पत्ते गोयमा !
बत्तीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं अवाधाए अंतरे पप्पत्ते । सकर-
प्पजाए णं भंते ! पुढवीए उवरि घणोदधिस्स हेडिद्धे चरिमंते
केवतियं अवाधाए अंतरे पप्पत्ते ? गोयमा ! वावणुत्तरं जोयणसय-
सहस्सं अवाधाए घणवातस्स असंखेज्जाई जोयणसहस्साई प-
प्पत्ताई एवं जाव उवासंतरस्स वि जाव अहेसत्तमाए । एवरं
जीसे जं वाहद्धं तेण घणोदही संबंध्येव्वो बुद्धीए सकरप्प-
भाए अणुसारेणं घणोदधिसहिताणं इमं पमाणं । वावुयप्प-
भाए अडयालीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं पंकप्पभाए पुढवीए
चत्तालीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं धूमप्पजाए पुढवीए अट्ट-
तीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं तमाए पुढवीए छत्तीसुत्तरं
जोयणसतसहस्सं अधस्सत्तमाए पुढवीए अट्ठावीसुत्तरं जाय-
णसतसहस्सं जाव अहेसत्तमाए । एस णं भंते ! पुढवीए
उवरिद्धातो चरिमंतातो उवासंतरस्स हेडिद्धे चरिमंते केव-
तियं अवाधाए अंतरे पणत्ते गोयमा ! असंखेज्जाई जोय-
णसयसहस्साई अवाधाए अंतरे पणत्ते ॥

द्वितीयस्या जदन्त ! अस्याः पृथिव्या उपरितनाच्चरमान्तात्
परतो योऽधस्तनचरमान्त एतत् किंप्रमाणमवाधया अन्तरं
प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! द्वाविंशदुत्तरं द्वाविंशत्सहस्राधिकं
योजनशतसहस्रम् अवाधया अन्तरं प्रज्ञप्तं घनोदधेरुपरितने
चरमान्ते पृष्ठे एतदेव निर्वचनं द्वाविंशदुत्तरं योजनशतसहस्रम्
अधस्तने चरमान्ते पृष्ठे इदं निर्वचनं द्विपञ्चाशदुत्तरं योजन-
शतसहस्रम् । एतदेव घनवातस्योपरितनचरमान्तपृच्छायामपि
घनवातस्याधस्तनचरमान्तपृच्छायां तनुवातावकाशान्तरयो-
रुपरितनाधस्तनचरमान्तपृच्छासु च यथा रत्नप्रमायां तथा वक्त-
व्यमसंख्येयानि योजनशतसहस्राण्यवाधया अन्तरं प्रज्ञप्तमिति
वक्तव्यमिति ज्ञावः (तच्चाए णं जंते इत्यादि) तृतीयस्या जदन्त !
पृथिव्या उपरितनाच्चरमान्तात् अधस्तनचरमान्त एतदन्तरं
कियत् अवाधया प्रज्ञप्तं भगवानाह । अष्टाविंशत्युत्तरम् अष्टा-
विंशतिसहस्राधिकं योजनशतसहस्रमवाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तम् ।
एतदेव घनोदधेरुपरितनचरमान्तपृच्छायामपि निर्वचनम् अध-
स्तनचरमान्तपृच्छायामष्टाचत्वारिंशदुत्तरं योजनशतसहस्रम-
वाधया अन्तरं प्रज्ञप्तमिति वक्तव्यम् । एतदेव घनवातस्योपरित-

ने चरमान्तपृच्छायामपि अधस्तनचरमान्तपृच्छायां तनुवाताव-
काशान्तरयोरुपरितनाधस्तनचरमान्तपृच्छासु च यथा रत्नप्र-
मायां तथा वक्तव्यम् । एवं चतुर्थपञ्चमपष्ठसप्तमपृथिवीविष-
यसुत्राण्यपि भावनीयानि जी० ३ प्रति०

छट्ठीए पुढवीए बहुमज्जदेसभायाओ छट्ठस्स घणोदहि-
स्स हेडिद्धे चरिमंते एस णं एगूणासीतिजोयणसहस्साई
अवाधाए अंतरे पणत्ते ॥

अस्य ज्ञावार्थः षष्ठपृथिवी हि बाह्व्यतो योजनानां द्रक् पौ-
रुश सहस्राणि भवन्ति । घनोदध्यस्तु यद्यपि सप्तापि प्रत्येकं
विंशतिसहस्राणि स्युस्तथाप्येतस्य ग्रन्थस्य मतेन षष्ठ्यामसावे-
कविंशतिः संभाव्यते तदेवं षष्ठपृथिवीबाह्व्यार्कमष्टपञ्चाशत्
घनोदधिप्रमाणं चैकविंशतिरित्येवमेकोनाशीतिर्भवति । ग्रन्था-
न्तरमतेन तु सर्वघनोदधीनां विंशतियोजनसहस्रबाह्व्यत्वा-
त्पञ्चमीमाश्रित्येदं सूत्रमवसेयं यतस्तद्बाह्व्यमष्टादशोत्तरं द्रक्-
मुक्तं यत आह । “पढमा सीइसहस्सा, १ वत्तीसा २ अट्ठीस
३ वीसा य ४ । अट्ठार ५ सोह ६ अट्ठ य, ७ सहस्सदक्खोवरिं
कुज्जत्ति” ॥ १ ॥ अथवा षष्ठ्याः सहस्राधिकोऽपि मध्यभागो
विवक्षित एवमर्थसूत्रकत्वाद्बहुशब्दस्येति ॥ १८ ॥

[१८] रत्नप्रभादीनां परस्परमन्तरम् ।

इमी से णं जंते ! रयणप्पभाए पुढवीए सकरप्पजाए य
पुढवीए केवइयं अवाधाए अंतरे पप्पत्ते ? गोयमा ! असंखे-
ज्जाई जोअणसहस्साई अवाधाए अंतरे पप्पत्ते । सकर-
प्पजाए णं भंते ! पुढवीए वावुयप्पजाए य पुढवीए केव-
इय एवं केव एवं जाव तमाए अहेसत्तमाए य । अहेसत्त-
माए णं भंते ! पुढवीए अलोणस्स य केवइयं अवाधाए
अंतरे पप्पत्ते ? गोयमा ! असंखेज्जाई जोअणसहस्साई
अवाधाए अंतरे पप्पत्ते । इमी से णं जंते ! रयणप्पभाए
पुढवीए जोइसियस्स केवइयं पुच्छा, गोयमा ! सत्तणउजो-
अणसए अवाधाए अंतरे पप्पत्ते ॥

“ इमी से णमित्यादि ” (अवाहे अंतरेत्ति) बाधा परस्परं
संश्लेषतः पीडनं न बाधा अवाधा तथा अवाधया, अवाधया
यदन्तरं व्यवधानमित्यर्थः । इहान्तरशब्दो मध्यविशेषादिष्व-
र्थेषु वर्तमानो दृष्टस्ततस्तद्व्यवच्छेदेन व्यवधानार्थपरिग्रहार्थ-
मवाधाग्रहणम् (असंखेज्जाई जोयणसहस्साई ति) इह योजनं
प्रायः प्रमाणाद्भुलनिष्पन्नं ग्राह्यं “ नगपुढविचिमाणाई मिणसु-
यमाणुलेणं तु ” इत्यत्र नगादिग्रहणस्योपलक्षणत्वाद-
न्यथा आदित्यप्रकाशादेरपि प्रमाणयोजनाप्रमेयता स्यात्तथा
बाधा लोकग्रामेषु तत्प्रकाशाप्राप्तिः प्राप्नोत्यात्माद्भुलस्यानिय-
तत्वेनाव्यवहाराङ्गतया रविप्रकाशस्योच्छ्रययोजनप्रमेयत्वा-
त्तस्य चातिलघुत्वेन प्रमाणयोजनप्रमितक्षेत्राणामप्राप्तिरिति ।
यच्चेपत्प्राग्भारायाः पृथिव्या लोकान्तस्य चान्तरं तदुच्छ्रया-
द्भुलनिष्पन्नयोजनप्रमेयमित्यनुमीयते यतस्तस्य योजनस्योप-
रितनक्रोशस्य षड्भागे सिद्धावगाहना धनुस्त्रिभागयुक्तत्रयस्त्रि-
शदधिकधनुःशतत्रयमानाऽभिहिता भावोच्छ्रययोजनाभयण-
त एवं युज्यत इति उक्तं च “ ईसिप्पभाराए, उवरिं सल्लु जो-
अणस्स जोकोसो । कोसस्स य छम्भाए, सिद्धाणोगाहणा
भणिय ति ” भ० १४ श० ७ उ० ।

[१६] निपधकूटस्य उपरितलाच्छिखरतलात्सम-
धरणिनलस्यान्तरम् ।

निसदकूमस्म णं उवरिह्लाओ मिहरतलाओ णिसदस्म
वासहरपव्वयस्स समधरणिनन्ने एस णं नवजोयणसयाई
अवाहाए अंतरे पणत्ते एवं नीलवंतकूडस्स वि ॥

(निसदकूडस्स णमित्यादि) इत्यायम्भावः निपधकूटं पञ्च-
शतोच्छ्रितं निपधश्च चतुःशतोच्छ्रित इति यथोक्तमन्तरम्भव-
तीति । स० ।

निपधपर्वतस्य रत्नप्रभाया बहुमध्यदेशभागो यथा ।

निसदस्म णं वासहरपव्वयस्स उवरिह्लाओ सिहरतलाओ
इमी से णं रयणप्पजाए पुढवीए पढमस्म कंमस्म बहुम-
ज्जेदसभाए एस णं नवजोयणमयाई अवाहाए अंतरे प-
णत्ते एवं नीलवंतस्स वि ।

(टीका नास्तीति न गृहीता) स० १६२ पत्र.

[२०] पुष्करवरद्वागणामन्तरम् ।

पुष्करवरस्स णं जंतं दीवस्स दारस्स य दारस्स य एस
णं केयतिथं अवाहाए अंतरे पणत्ते ? गायमा ! “अरुया-
लसयसहस्सा, बावीसं खलु भवे सहस्साई । अगुणत्तराई
चउरो, दारंतरं पुष्करवरस्स ” ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! अष्टचत्वारिंशत् योजन-
शतसहस्राणि द्वाविंशतिसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि
एकोनसमतिद्वारस्य च परस्परमवाधयाऽन्तरपरिमाणम् ।
तथाहि चतुर्धामपि द्वाराणामेकत्र पृथुत्वमीलने अष्टादश यो-
जनानि तानि पुष्करवरद्वीपपरिरयपरिमाणात् (१६२८६८४)
इत्येवंरूपात् शोध्यन्ते शोधितेषु च तेषु जातमिदमेका योज-
नकोटी द्विनवतिशतसहस्राणि एकोनवतिसहस्राणि अष्टौ
शतानि पदसप्तत्यधिकानि (१६२८६८७६) तेषां चतुर्भिर्भागे
हते लब्धं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरपरिमाणं (४८२२४६६)
मिति जी० ३ प्रति ।

[२१] मन्दगद् गोस्तृभादीनामन्तरम् ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स पुरत्थिमिह्लाओ चरमंताओ गो-
य्जस्स आवासपव्वयस्स पुरत्थिमिल्ले चरमंते एस णं
अट्टासीई जोयणसहस्साई अवाहाए अंतरे पणत्ते एवं
चउसु वि दिसासु नेयव्वं स० १४६ पत्र ।

मेरोः पूर्वान्तात् जम्बूद्वीपस्य पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्रमा-
नत्वात् जम्बूद्वीपान्ताच्च द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्रेषु गोस्तृ-
मस्य व्यवस्थितत्वास्य च सहस्रविष्कम्भत्वाद्यथोक्तः सूत्रा-
र्थो भवतीति । अनेनैव क्रमेण दक्षिणादिदिग्व्यवस्थितान् दका-
वभासशङ्खदकसीमाभ्यान् वेङ्गन्धरनागराजनिवासपर्वताना-
थित्य वाच्यमत एवाह ‘एवंचउसु वि दिसासु नेयव्वमिति’ स० ।

जंबूदीवस्स णं दीवस्स पुरत्थिमिह्लाओ चरमंताओ गो-
य्जस्स णं आवासपव्वयस्स पुरत्थिमिल्ले चरमंते एस णं
वायालीसं जोयणसहस्साई अवाहाए अंतरे पणत्ते एवं
चउदिसिं पि दगभासे संखोदयसीमे य ।

(पुरत्थिमिल्लाओत्ति) जगतीबाह्यपरिधेरपख्य गोस्तृभ-
स्यावासपर्वतस्य वेङ्गन्धरनागराजसंखन्धिनः पाश्चात्यसीमा-

न्तश्चरमविभागो वा यावताऽन्तरेण भवति (एसणंति) एत-
दन्तरं द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि प्रहसमन्तरशब्देन विशे-
षोऽप्यभिधीयते इत्यत आह (अवाहाएत्ति) व्यवधानापेक्षया
यदन्तरं तदित्यर्थः स० १०६ पत्र ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स पचत्थिमिल्लाओ चरमंताओ गो-
य्जस्स णं आवासपव्वयस्स पचत्थिमिल्ले चरमंते एस णं
सत्ताणउई जोयणसहस्साई अवाहाए अंतरे पणत्ते एवं
चउदिसिं पि ।

भाचार्योऽयं मेरोः पश्चिमान्तात् जम्बूद्वीपस्यान्तः पञ्चपञ्चा-
शत् सहस्राणि ततो द्विचत्वारिंशतो गोस्तृभ इति यथोक्तमे-
वान्तरमिति स० १५२ पत्र ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स बहुमज्जदेसभागाओ गोय्जस्स
आवासपव्वयस्स पचत्थिमिल्ले चरमंते एस णं वाणउई जो-
यणसहस्साई अवाहाए अंतरे पणत्ते एवं चउणह वि आ-
वासपव्वयाणं ॥

भाचार्यो मेरुमध्यभागात् जम्बूद्वीपस्य पञ्चाशत् सहस्राणि
ततो द्विचत्वारिंशत् सहस्राण्यतिक्रम्य गोस्तृभपर्वत इति
सूत्रोक्तमन्तरम्भवतीति । एवं शेषाणामपि स० १४९ पत्र ।

[२२] मन्दराक्षीतमस्यान्तरं यथा ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स पुरत्थिमिह्लाओ चरमंताओ गो-
यमदीवस्स पुरत्थिमिल्ले चरमंते एस णं सत्तसडिं जोयणस-
हस्साई अवाहाए अंतरे पणत्ते ।

मेरोः पूर्वान्ताज्जम्बूद्वीपोऽपरस्यां दिशि जगतीबाह्यान्तर्पर्व-
सानः पञ्चपञ्चाशद्योजनसहस्राणि तावदस्ति ततः परं षाडश-
योजनसहस्राण्यतिक्रम्य लवणसमूहमध्ये गौतमद्वीपाधिधा-
नो ढीपोऽस्ति तमधिकृत्य सूत्रार्थः सम्भवति । पञ्चपञ्चाशतो
षाडशानां च सप्तपष्टिवभावात् । यद्यपि सूत्रपुस्तकेषु गौतम-
शब्दो न दृश्यते तथाप्यसौ दृश्यः जीवानिगमादिषु लवणस-
मुद्रे गौतमचन्द्रविद्वीपान् विना द्विपान्तरस्याश्रयभाणत्वादिति ।
स० १२५ पत्र ।

मंदरस्स पव्वयस्स पचत्थिमिह्लाओ चरमंताओ गोयमदी-
वस्स पचत्थिमिल्ले चरमंते एस णं एगूणसत्तरिं जोय-
णसहस्साई अवाहाए अंतरे पणत्ते ॥

लवणसमुद्रपश्चिमायां दिशि षाडशयोजनसहस्राण्यवगाह्य
षाडशसहस्रमानः सुस्थिताभिधानस्य लवणसमुद्राधिपतेर्भवने-
नालंकृतो गौतमद्वीपो नाम द्वीपोऽस्ति तस्य च पश्चिमान्तो मेरोः
पश्चिमान्तादेकोनसप्ततिसहस्राणि भवन्ति पञ्चचत्वारिंशतो
जम्बूद्वीपसम्बन्धिनां षाडशानामन्तरसम्बन्धिनां षाडशानामेवं
द्वीपविष्कम्भसम्बन्धिनां च मीलनादिति ।

(२३) मन्दरस्य दकभासस्यान्तरम् ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स दक्खिणिह्लाओ चरमंताओ दगभा-
सस्स आवासपव्वयस्स उत्तरिल्ले चरमंते एस णं सत्तासीई
जोयणसहस्साई अवाहाए अंतरे पणत्ते एवं मंदरस्स पच-
त्थिमिल्लाओ चरमंताओ संखस्स वा पुरत्थिमिल्ले चरमंते एवं
चेव मंदरस्स उत्तरिह्लाओ चरमंताओ दगसंमस्स आवा-

सपन्वयस्स दाहिणिद्वे चरमंते एस णं सत्तासीइं जोयण-
सहस्साइं अवाहाए अंतरे पणत्ते स० १६० पत्र. ।

महाहिमवतोऽन्तरं यथा ॥

महाहिमवंतस्स वासहरपन्वयस्स समधरणितले एस णं
सत्तजोयणसयाइं अवाहाए अंतरे पणत्ते एवं रुप्पि-
कूरस्स वि ॥

जावार्थोऽयं हिमवान् योजनशतद्वयोच्चित्तस्तत्कूटं च पञ्च-
शतोच्चित्तमिति सूत्रोक्तमन्तरम्भवतीति स० १४४ पत्र. ।

महाहिमवंतकूरस्स णं उवरिमंताओ सोगंधियस्स कंरु-
स्स हेट्टिद्वे चरमंते एस णं सत्तासीइंजोयणसयाइं अवा-
हाए अंतरे पणत्ते एवं रुप्पिकूरस्स वि ।

महाहिमवति द्वितीयवर्षधरपर्वते अष्टौ सिंहायतनकूटमहा-
हिमवत्कूटादीनि कूटानि भवन्ति तानि पञ्चशतोच्चित्तानि तत्र
महाहिमवत्कूटस्य पञ्च शतानि षे शते महाहिमवद्वर्षधरोच्च-
यस्य अशीतिश्च शतानि प्रत्येकं सहस्रमानानामष्टानां सौगन्धि-
ककाण्मावसानानां रत्नप्रभाखरकाण्मावान्तरकाण्मानमित्येवं
मीलिते सप्ताशीतिरन्तरम्भवतीति । (एवं रुप्पिकूरस्साविति)
रुक्मिणि पञ्चमवर्षधरे यद् द्वितीयं रुक्मिकूटाभिधानं कूटं तस्या-
प्यन्तरं महाहिमवत्कूटस्येव वाच्यं समानप्रमाणत्वाद् द्वयो-
रपीति स० १३७ पत्र. ।

महाहिमवतो वर्षधरपर्वतस्यान्तरं यथा ।

महाहिमवंतस्स णं वासहरपन्वयस्स उवरिद्धाओ चरमं-
ताओ सोगंधियस्स कंरुस्स हेट्टिद्वे चरमंते एस णं वासीइं
जोयणसयाइं अवाहाए अंतरे पणत्ते ।

महाहिमवतो द्वितीयवर्षधरपर्वतस्य योजनशतद्वयोच्चित्तस्य
(उवरिद्धाओत्ति) उपरितनाच्चरमान्तात् सौगन्धिककाण्मस्या-
धस्तनश्चरमान्तो अशीतिर्योजनशतानि कथं रत्नप्रज्ञापृथिव्यां
हि त्रीणि काण्मानि खरकाण्मपङ्ककाण्मावहुलकाण्मानि खर-
काण्मं पङ्ककाण्मवहुलकाण्मं चेति । तत्र प्रथमं काण्डं
षोडशविधं तद्यथा रत्नकाण्डम् १ वज्रकाण्डम् २ एवं वैभूर्यं ३
लोहिताङ्गं ४ मसारगद्गं ५ हंसगर्जं ६ पुलकं ७ सौगन्धिकं ८
ज्योतीरस्ता ए वज्जना १० वज्जपुलकं ११ रजतं १२ जातरूपं १३
पङ्क १४ स्फटिकं १५ रिष्टकाण्डं चेति १६ एतानि च प्रत्येकं सहस्र
प्रमाणानि ततश्च सौगन्धिककाण्मस्याष्टमत्वादशीतिशतानि द्वे
च शते महाहिमवदुच्चय इत्येवं त्र्यशीतिशतानीति एवं रुक्मि-
णोऽपि पञ्चमवर्षधरस्य वाच्यं महाहिमवत्समानोच्चयत्वा-
त्तस्येति स० १६५ पत्र. ।

(७४) लवणसमुद्रचरमान्तयोरन्तरं यथा ।

लवणस्स णं समुद्रस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरमंताओ पच-
त्थिमिद्वे चरमंते एअ णं पंचजोयणसयसहस्साइं अवा-
हाए अंतरे पणत्ते ॥

तत्र जम्बूद्वीपस्य लङ्कं चत्वारि च लवणस्येति पञ्च । स०
१६५ पत्र० ।

(१५) लवणसमुद्रद्वाराणामन्तरं यथा ।

लवणस्स णं समुद्रस्स दारस्य य दारस्स य केवइयं अवा-
हाए अंतरे पणत्ते गोयमा ! तिप्पि जोयणसयसहस्साइं

पंचाणउइसहस्साइं दुप्पि य असीए जोयणसए कोसं च
दारंतरे दवण्णे जाव अवाहाए अंतरे पणत्ते ॥

लवणस्य भदन्त ! समुद्रस्य द्वारस्य द्वारस्य [एसणमिति] एत-
त् अन्तरं कियत्था अवाधया अन्तरावत्वाद् व्याघातरूपया प्रज्ञप्तं
जगवानाह गौतम ! त्रीणि योजनशतसहस्राणि पञ्चनवति-
सहस्राणि अशीती द्वे योजनशते क्रोशश्चैको द्वारस्य द्वारस्यावा-
धया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । तथाहि एकैकस्य द्वारस्य पृथुत्वं चत्वा-
रियोजनानि एकैकस्मिन् द्वारे एकैव द्वारशाखा क्रोशवाहल्याद्
द्वारे च द्वे द्वे शाखे ततः एकैकस्मिन् द्वारे सामस्त्येन चिन्त्य-
माने सार्द्धयोजनचतुष्टयप्रमाणं प्राप्यते चतुर्णामपि च द्वारणा-
मेकत्र पृथुत्वमीदृशे जातान्यष्टादश योजनानि तानि लवणसमु-
द्रपरिरयपरिमाणात् पञ्चदशशतसहस्राणि पञ्चाशीतिः
सहस्राणि एकोनचत्वारिंशद्योजनशतमित्येवं परिमाणादपनीय
च यच्छ्रेयं तस्य चतुर्भिर्भागे हते यदागच्छति तत् द्वाराणां पर-
स्परमन्तरपरिमाणं तच्च यथोक्तमेव । उक्तं च “असीया दोन्नि
सया, पणनउइसहस्सातिन्नि लक्खा य । कोसो य अंतरं सा-
गरस्स दाराण विन्नेयं” जी० ३ प्रति ।

[१६] वरुवामुखादीनामधस्तनश्चरमान्ताद्रत्न-
प्रज्ञाया अधस्तनश्चरमान्तः ।

वल्लयामुहस्स णं पायालस्स हिट्टिद्धाओ चरमंताओ
इमीसे रयणप्पजाए पुढवीए हेट्टिद्वे चरमंते एस णं
एगणाति जोयणसहस्साइं अवाहाए अंतरे पणत्ते एवं
केउस्स वि जूयस्स वि ईमरस्स वि ।

तत्र [वल्लयामुहस्सत्ति] वरुवामुखान्निधानस्य पूर्वदिग्व्यव-
स्थितस्य [पायालस्सत्ति] महापातालकञ्चशस्याधस्तनचरमा-
न्ताद्रत्नप्रज्ञापृथ्वीचरमान्त एकोनाशीत्या सहस्रेषु जवति । कथं
रत्नप्रज्ञा हि अशीतिसहस्राधिकं योजनानां लङ्कं वाहल्यतो ज-
वति तस्याश्चैकं समुद्रावगाहसहस्रं परिहृत्याऽधो वृक्षप्रमाणा-
वगाहो वल्लयामुखपातालकलङ्को भवति ततस्तच्चरमान्तात्
पृथिवीचरमान्तो यथोक्तान्तरमेव जवति । एवमन्येऽपि त्रयो
वाच्या इति स० १३६ पत्र. ।

[१७] विमानकल्पानामन्तरम् ।

जोइसियस्स णं जंते ! सोहम्मीसाणाण य कप्पाणं
केवइयं पुच्छा ! गोयमा ! असंखेज्जाइं जोअणसहस्साइं
जाव अंतरे पणत्ते सोहम्मीसाणाणं भंते ! सणकुमार-
मार्हिदाण य केवइयं एवं चेव सणकुमारमार्हिदाणं भंते !
वंभजोगस्स कप्पस्स केवइयं एवं चेव वंभजोगस्स णं जंते !
लंतगस्स य कप्पस्स केवइयं एवं चेव लंतगस्स णं जंते !
महासुकस्स य कप्पस्स केवइयं एवं चेव महासुकस्स य
कप्पस्स सहस्सारस्स य एवं सहस्सारस्स आणयपाणयक-
प्पाणं एवं आणयपाणयाणं आरणच्छुयाणं कप्पाणं एवं
आरणच्छुयाणं गेविज्जगविमाणाय य एवं गेविज्जगविमा-
णाणं अणत्तरविमाणाय य एवं अणत्तरविमाणाय जंते !
ईसिप्पभाराए पुढवीए केवइयं पुच्छा ? गोयमा ! दुवालस
जोयणे अवाहाए अंतरे पणत्ते ज० १४ श० ८ उ० ।

[श्रीका सुगमत्वाच्च गृहीता]

[विवक्षितस्वजावपरित्यागे सति पुनस्तद्भावाप्राप्तिविरहे आनु-
पूर्वोद्भव्याणामन्तरम् आणुपुर्वी गच्छे]

[२८] आहारमाश्रित्य जीवानामन्तरम् ।

छत्रमत्यआहारगस्स एणं जेत ! केवतियं कालं अंतरं होइ
गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं दो समयमा । केव-
त्तिआहारगस्स एणं अंतरं अजहएणमणुक्कोमेणं तिणिण स-
मया छत्रमत्यअणाहारगस्स अंतरं जहएणेणं खुड्गभव-
ग्गहणं दुममऊणं उक्कोसेणं असंखेज्जं काव्वं जाव्व अंगुल-
स्स असंखेज्जतिभागं । सिद्धकेवल्लिअणाहारगस्स साति-
यस्स अपज्जवसियस्स एतिय अंतरं सजोगिजवत्यकेव-
लिअणाहारगस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वि अंतो-
मुहुत्तं अजागिजवत्यकेवल्लिअणाहारगस्स नतिय अंतरं ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येन शुद्धकभवप्रदणं
द्विसमयोनमुत्कर्षतोऽसंख्येयं काव्वं यावद्दुल्लस्यासंख्येयो भा-
गः यादानेव हि छत्रस्थस्याहारकस्य कालस्तदेव छत्रस्थानः-
हारकस्यान्तरं छत्रस्थाहारकस्य च जघन्यतः कालोऽन्तर्मुहुत्त-
मुत्कर्षतोऽसंख्येयाः उत्सर्पित्यवसर्पित्यः कालतः केवतोऽङ्गु-
ल्यासंख्येयो भागः एतावन्तं काव्वं सततमविप्रदेहोत्पादसंजवा-
त् । ततः छत्रस्थानाहारकस्य च जघन्यत उत्कर्षतश्चेतावदन्तरं
चेति जी० ३ प्रति० । [अधिकं खुड्गमवगमणशब्दे नवरम्]
सयोगिमवस्थकेवल्लयनाहारकस्यान्तरमभिधितुराह । " स-
जोगिमवस्थकेवल्लिअणाहारगस्स एणं जेत " इत्यादि प्रश्नसूत्रं सु-
गमं जगवानाह । गौतम ! जघन्येनाप्यन्तर्मुहुत्तमुत्कर्षेणाप्यन्त-
र्मुहुत्तं समुद्रातप्रतिपत्तेरन्तरमेवान्तर्मुहुत्तं शैलेशीप्रतिपत्ति-
भावात् नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदं विशेषाधिकमवसातव्यम-
न्यथोभयपदोपन्यासादयोगात् अयोगिमवस्थकेवल्लयनाहारकस्य
त्रे नास्त्यन्तरमयोग्यवस्थायां सर्वस्याप्यनाहारकत्वात् । एवं
सिद्धस्यापि साद्यपर्यवसितस्यानाहारकस्यान्तराज्ञावो भाव-
नीयः जी० ३ प्रति० ॥

[२९] इन्द्रियमाश्रित्यान्तरम् ।

एगिंदियस्स एणं भंते ! एगिंदियस्स अंतरं कालतो केव चिरं
हंति गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरो-
वमसहस्साई संखेज्जवासमभहियाई । वेईदियस्स एणं भंते !
अंतरं कालतो केव चिरं होइ गोयमा ! जहएणेणं अंतो-
मुहुत्तं उक्कोसेणं वणप्फतिकालो एवं तेईदियस्स वि चउ-
रिंदियस्स वि खेरइयस्स वि पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स
वि मणुसस्स वि देवस्स वि सव्वेसिं अंतरं भाणियव्वं ॥

अन्तरचिन्तायामेकेन्द्रियस्य जघन्यमन्तर्मुहुत्तमुत्कर्षतो द्वे सा-
गरोपमसहस्रे संख्येयवर्षान्यधिके द्वित्रिचतुरिन्द्रियनैरायिकति-
र्यक्पञ्चेन्द्रियमनुप्यदेवानां जघन्यतः प्रत्येकमन्तर्मुहुत्तमुत्कर्षतो
वनस्पतिकालः [सर्वं जी० प्रति] " एगिंदियस्स एणं जेत ! अंतरं
कालतो केव चिरं होइ " इति प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह । गौतम !
जघन्येनान्तर्मुहुत्तं तच्चैकेन्द्रियादुद्भूतं द्वीन्द्रियादावन्तर्मुहुत्तं
स्थित्वा नूय एकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानस्य वेदितव्यम् । उत्कर्षतो द्वे

सागरोपमसहस्रे संख्येयवर्षाभ्यधिके यावानेव हि प्रसकायस्य
कायस्थितिकालस्तावदेवैकेन्द्रियस्यान्तरं प्रसकायस्थितिका-
लश्च यथोक्तप्रमाण एव तथा वक्ष्यति । " तसकाए णं भंते !
तसकायसि कालतो केव चिरं होइ गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहु-
त्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साई संखेज्जवासा अन्नहियाई "
द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसूत्रेषु जघन्यतोऽन्तर्मुहुत्तं तच्च पूर्वप्रकारे-
ण भावनीयमुत्कर्षतः सर्वत्रापि वनस्पतिकालः द्वीन्द्रियादिन्द्रियः
उद्भूतस्य वनस्पतिषु यथोक्तप्रमाणमन्तरमपि काव्वमवस्थानात्
यथैवामूनि पञ्चसूत्राण्यन्तरविषयाण्यौघिकान्युक्तानि तथैव
पर्याप्तविषयाणि अपर्याप्तविषयाण्यपि भावनीयानि तानि चैवम् ।
" एगिंदियअपज्जत्ते " इत्यादि एवं पञ्च पर्याप्तसूत्राण्यपि वक्तव्या-
नि । जी० ५ प्रति० । [उत्पादमधिकृत्यान्तरम् उचवाय शब्दे]

[३०] कषायमाश्रित्यान्तरम् ।

कोहकसाई-माणकसाई-मायाकसाई एणं भंते ! अंतरं
गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं लोभ-
कसायियस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वि
अंतोमुहुत्तं कसाई तदेव जहा हेड्डा ।

लोभकपायिणोऽन्तरं जघन्येनैकं समयं तदुपशमसमयानन्तरं
मरणे नूयः कस्यापि तदुदयात् उत्कर्षतोऽन्तर्मुहुत्तमेव मानक-
पायिमायाकपायिसूत्रे अपि वक्तव्ये " लोभकसायियस्स अंतरं
जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वि अंतोमुहुत्तं अकसाई तदेव
जहा हेड्डा " । सर्वं जी० ४ प्रति० ।

कायमाश्रित्यान्तरम् ।

पुढवीकाइयस्स एणं जेत ! केवतियं कालं अंतरं होति
गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो
एवं आउतेउवाउकाइयतसकाइयाणं वि वणस्सइकायियस्स
पुढविकालो एवं पज्जत्तगाणं वि वणस्सतिकालो । वणस्सइ-
काइयाणं पुढविकालो पज्जत्तगाणं वि एवं चेव वणस्सवि-
कालो पज्जत्ताणं वणस्सतीणं पुढविकालो ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहुत्तं पृथिवी-
कायादुद्भूत्याऽन्यत्रान्तर्मुहुत्तं स्थित्वा भूयः पृथिवीकायिकत्वेन
कस्याप्युत्पादात् उत्कर्षतोऽन्तं कालं स चानन्तकालः प्रागु-
क्तस्वरूपो वनस्पतिकालः प्रतिपत्तव्यः पृथिवीकायादुद्भूत्यैता-
वन्तं काव्वं वनस्पतिष्ववस्थानसम्भवात् एवमतेजोवायुवस-
सूत्राण्यपि जावनीयानि वनस्पतिसूत्रे उत्कर्षतोऽसंख्येयं काव्वं
" असंखेज्जाओ उत्सप्पिणीओ काव्वतो खेत्ततो असंखेज्जा लोगा "
इति वक्तव्यं वनस्पतिकायादुद्भूतस्य पृथिव्यादिष्ववस्थानात् ते
च सर्वेष्वप्युत्कर्षतोऽप्येतावत्काव्वभावात् जी० ६ प्रति० ।

[३१] गतिमाश्रित्यान्तरं यथा ।

नेरइयस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्स-
तिकालो एवं सव्वाणं तिरिक्खजोणियवज्जाणं तिरिक्ख-
जोणियाणं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसत-
पुहुत्तं सातिरेणं ॥

नैरायिकस्य जघन्येनान्तरमन्तर्मुहुत्तं तच्च नरकादुद्भूतस्य तिर्य-
ग्मनुष्यगर्जे एवाशुभाभ्यवसायेन मरणतः परिभावनं सानु-
बन्धकर्मफलमेतदिति तात्पर्यार्थः । उत्कर्षतोऽन्तं काव्वं स

चानन्तः कालोः वनस्पतिकालो नरकादुष्टस्य पारम्पर्येणानन्तं काष्ठं वनस्पतिध्वंसस्थानात् तिर्यग्योनिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तच्च तिर्यग्योनिकभवादुष्टस्यान्यत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा नूयः तिर्यग्योनिकत्वेनोत्पद्यमानस्य वेदितव्यमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकं तिर्यग्योनिकसूत्रे मनुष्यसूत्रे मानुषी-सूत्रे देवसूत्रे च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः जी० ७ प्रति० ।

नैरयिकस्य ।

नैरयिमणुस्सदेवाणं य अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उ-
कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं साइरेगं ॥

नैरयिकस्य भदन्त ! अन्तरं नैरयिकत्वात्पारिप्लष्टस्य भूय आ-
नैरयिकत्वप्राप्तेरपान्तराद्यं कालतः कियच्चिरं भवति कियन्तं काष्ठं
यावद्भवतीत्यर्थः । भगवानाह जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं कथमिति चेत्
उच्यते नरकादुष्टस्य मनुष्यभवे तिर्यग्भवे वा अन्तर्मुहूर्त्तं स्थि-
त्वा भूयो नरकेषूत्पादात् । तत्र मनुष्यभवे भावना इयं कश्चि-
न्नरकादुष्टस्य गर्भजमनुष्यत्वेनोत्पद्य सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो
विशिष्टसंज्ञानोपेतो वैक्रियवृद्धिमान् राज्याद्याकाङ्क्षी परचक्रा-
द्युपलवमाकर्ण्य स्वशक्तिप्रजावतश्चतुर्ङ्गं सैन्यं विकुर्वित्वा सं-
ग्रामयित्वा महारौद्रध्यानोपगतो गर्भस्थ एव काष्ठं करोति
कृत्वा च कालं नूयो नरकेषूपद्यते तत एवमन्तर्मुहूर्त्तं तिर्यग्भवे
नरकादुष्टस्य गर्भजमुत्क्रान्तिकतन्मूलमत्यत्येनोत्पन्नश्च महा-
रौद्रध्यानोपगतोऽन्तर्मुहूर्त्तं जीवित्वा भूयो नरके जायते इति
उत्कर्षतोऽनन्तं काष्ठं परम्परया च वनस्पतिपूत्पादादवसात-
व्यस्तथाचाह वनस्पतिकालः स च प्रागेवोक्तः तिर्यग्योनिकवि-
षयं प्रश्नसूत्रं पूर्ववत् निर्वचनं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तच्च कस्यापि
तिर्यक्त्वेन मुक्त्वा मनुष्यभवेऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा नूयः तिर्यक्त्वे-
नोत्पद्यमानस्य द्रष्टव्यम् उत्कर्षतः सातिरेकं सागरोपमशतपृथ-
क्त्वं तच्च नैरन्तर्येण देवनारकमनुष्यजवभ्रमणेनावसातव्यं मनु-
ष्यविषयमपि प्रश्नसूत्रं तथैव निर्वचनं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तच्च
मनुष्यभवादुष्टस्य तिर्यग्भवेऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा नूयो मनुष्यत्वेनो-
त्पद्यमानस्यावसातव्यम् उत्कर्षतोऽनन्तं काष्ठं स चानन्तकालः
प्रागुक्तो वनस्पतिकालः । देवविषयमपि प्रश्नसूत्रं सुगमं निर्वचनं
जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं कश्चित् देवजवाद् व्युत्वा गर्भजमनुष्यत्वे-
नोत्पद्य सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो विशिष्टसंज्ञानोपेतस्तथा-
विधस्य भ्रमणोपासकस्य वा धर्मध्यानोपगतो गर्भस्थ एव
काष्ठं करोति कालं च कृत्वा देवेषूपद्यते ततः एवमन्तर्मुहूर्त्त-
मुत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तः काष्ठो यथोक्तस्वरूपो वनस्प-
तिकालः प्रतिपत्तव्यः जी० ४ प्रति० । (गुणस्थानकान्याधि-
त्यान्तरं गुणघाण शब्दे)

चरिमाणं भंते ! चरिमएत्ति कालतो केव चिरं होति
गोयमा ! चरिमे अणादिए सवज्जवसिए अचरिमे दुविहे
अणादिए वा अपज्जवसिए सातीए वा अपज्जवसिए
दोएहं पि नत्थि अंतरं ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनादिकस्य सपर्यवसित-
स्य नास्त्यन्तरं चरमत्वापगमे सति पुनश्चरमत्वायोगात् अचरम-
स्यापि अनाद्यपर्यवसितस्य साद्यपर्यवसितस्य वा नास्त्यन्तरम-
विद्यमानचरमत्वात् जी० ४ प्रति० ।

ज्ञानमाश्रित्य जीवानामन्तरम् ।

आणिस्स अंतरं जह्मेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं अंतं काष्ठं

अवहं पोगलपरियट्टं देसूणं अन्नाणिस्स दोएह वि आदि-
ह्माणं एत्थि अंतरं सातियस्स सपज्जवसियस्स जह्मेणं
अंतोमुहुत्तं उकोसेणं अवाडिं सागरोवमाइं सातिरेकाइं ।

ज्ञानिनो भदन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति जगवानाह
गौतम ! सादिकस्य अपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वेन
सदा तद्भावापरित्यागात् सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्य-
नान्तर्मुहूर्त्तमेतावता मिथ्यादर्शनकात्वेन व्यवधानेन नूयोऽपि
ज्ञानभावात् उत्कर्षेण अनन्तं कालमनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पि-
ण्यः कालतः क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुञ्जलपरावर्त्तं देसोऽनं सम्यग्दृष्टेः स-
म्यक्त्वात् प्रतिपतितस्य एतावन्तं कालं मिथ्यात्वमनुनूय तद-
नन्तरमवश्यं सम्यक्त्वासादनात् “अस्माशिस्स णं जन्ते !” इत्या-
दि प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनाद्यपर्यवसितस्य
नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वादेवमनादिपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तर-
मवाप्तकेवलज्ञानस्य प्रतिपाताभावात् सादिपर्यवसितस्य जघ-
न्येनान्तर्मुहूर्त्तं जघन्यस्य सम्यग्दर्शनकालस्य एतावन्मात्रत्वात्
उत्कर्षतः पट्टपट्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि एतावतोऽपि का-
लादूर्ध्वं सम्यग्दर्शनप्रतिपाते सत्यज्ञानभावात् जी.सर्वजी. १ प्रति.

आजिनिबोधिकादेरन्तरम् ।

आजिणिबोहियणाणिस्स णं भंते ! अंतरं कालओ केव
चिरं होइ गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं अ-
णंतं कालं जाव अवहं पोगलपरियट्टं देसूणं एवं सुयणा-
णिस्स वि ओहियणाणिस्स वि मणपज्जवणाणिस्स वि के-
वलणाणिस्स णं भंते ! अंतरं सादियस्स अपज्जवसिय-
स्स एत्थि अंतरं । मति अरणाणिस्स णं भंते ! अंतरं
अणादियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं । अणाइ-
यस्स सपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं । सादियस्स सपज्ज-
वसियस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं अवाडिं साग-
रोवमाइं सातिरेगाइं एवं सुयणाणिस्स वि विज्जगणाणि-
स्स णं भंते ! अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं वण-
स्सइकावो ।

अन्तरचिन्तायामाभिनिबोधिकाज्ञानिनोऽन्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्-
त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावदपार्द्धपुञ्जलपरावर्त्तं देशेनम् । एवं
श्रुतज्ञानिनो मनःपर्यवज्ञानिनश्चान्तरं वक्तव्यम् । केवलज्ञानिनः
साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरं मत्यज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनश्चानाद्य-
पर्यवसितस्यानादिसपर्यवसितस्य च नास्त्यन्तरं सादिपर्यव-
सितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पट्टपट्टिः सागरोपमाणि
विभङ्गज्ञानिनः जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं काष्ठं वनस्प-
तिकालः जी. सर्वजी० ७ प्रति० । आ० चू० । ज० ।

(३२) त्रसस्थावरनोत्रसस्थावराणामन्तरम् ।

तसस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति गोयमा ! ज-
हण्णेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं वणस्सइकालो थावरस्स णं
भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति गोयमा ! जहन्नेणं अंतो-
मुहुत्तं उकोमेणं असंखेज्जाओ ओमपिणिजस्सपिणीओ ।

सुगमं नवरमसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्र-
तोऽसंख्येया लोका इत्येतावत्प्रमाणमन्तरं तेजस्कायिकवायु-

कायिकमध्ये गमनेनावसातव्यमन्यत्र गतावेतावत्प्रमाणस्यान्तरस्यासंभवात् " तस्स णं भेत ! अंतरमित्यादि " सुगमं नवरं " उक्कोसेण वणस्सइकालो " इति उत्कर्षतो वनस्पतिकालो वक्तव्यः स चैवम् । " उक्कोसेण अणंतं काळमणं नाओ उस्सपिणीओ कालतो खेततो अणंता होगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्ठा तेणं पोग्गलपरियट्ठा आवलिया असंखेज्जभागो " इति एतावत्प्रमाणं चान्तरं वनस्पतिकायमध्यगमनेन प्रतिपत्तव्यमन्यत्र गतावेतावतोऽन्तरस्याव्ययमानत्वात् जी० १ प्रति० ।

तस्स णं अंतरं वणस्सतिकालो थावरस्स तसकालो नो तसस्स नो थावरस्स एत्थि अंतरं । जी० सर्वजी० २ प्रति० ।

दर्शनमाश्रित्य जीवानाम् ।

चक्षुर्दंसणस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अचक्षुर्दंसणस्स दुविहस्स एत्थि अंतरं ओहिंदंसणस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो केवलदंसणस्स एत्थि अंतरं ।

चक्षुर्दर्शनोऽन्तरं जघन्येनान्तर्मुहुत्तं प्रमाणेन अचक्षुर्दर्शनजननेन व्यवधानात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स च प्रागुक्तस्वरूपः अचक्षुर्दर्शनोऽनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् अनादिपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरम् अचक्षुर्दर्शनत्वापगमे नृयोऽचक्षुर्दर्शनत्वायोगात् क्षीणघातिकर्मणः प्रतिपातासंभवात् अवधिदर्शनो जघन्येनैकं समयमन्तरं प्रतिपातसमयान्तरसमय एव कस्यापि पुनस्तत्त्वाभावात् क्वचिदन्तर्मुहुत्तमिति पाठः स च सुगमः तावता व्यवधानेन पुनस्तत्त्वाभावात् । न चायं निर्मूलः पाठो मूलटीकाकारेणापि भतान्तरं समर्थितत्वात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः तावतः काळाद्द्वन्द्वमवश्यमवधिदर्शनसंभवाद्नादिमिथ्यादष्टरेप्यविरोधात् ज्ञानं हि सम्यक्त्वं स चैव न दर्शनमपीति ज्ञावना केवलदर्शनिनः साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् जी० सर्वजी० ३ प्रति० ।

(३३) इष्टिमाश्रित्यान्तरम् ।

सम्मादिट्ठिस्स अंतरं सातियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं सातियस्स सपज्जवसियस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवहं पोग्गलपरियट्ठं देसूणं मिच्छादिट्ठिस्स अणादियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं अणादियस्स सपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं । साइयस्स सपज्जवसियस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं जावहं सागरोवमाइं सातिरेगाइं । सम्माभिच्छादिट्ठिस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवहं पोग्गलपरियट्ठं देसूणं ।

" सम्मादिट्ठिस्सणं जंते इत्यादि " प्रश्नसूत्रं सुगमं प्रगवानाह गौतम ! साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् सादिसपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहुत्तं सम्यक्त्वात् प्रतिपत्त्यान्तर्मुहुत्तं नृयः कस्यापि सम्यक्त्वप्रतिपत्तेः । उत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावदपार्द्धं पुत्रपरावर्त्तं मिथ्यादृष्टिसूत्रेऽनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् अनादिसपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरमनादित्वात् अन्यथाऽनादित्वायोगात् । सादिसपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहुत्तमुत्कर्षतः पदपट्टिः सागरोपमाणि सातिरेकाणि सम्यग्दर्शनकाल एव हि मिथ्यादर्शनस्य प्रायोऽन्तरं सम्य-

ग्दर्शनकालश्च जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावानिति । सम्यग्मिथ्यादृष्टिसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहुत्तं सम्यग्मिथ्यादर्शनात् प्रतिपत्त्यान्तर्मुहुत्तं नृयः कस्यापि सम्यग्दर्शनभावात् । उत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावदपार्द्धं पुत्रपरावर्त्तं देशो न यदि सम्यग्मिथ्यादर्शनात् प्रतिपतितस्य नृयः सम्यग्मिथ्यादर्शनज्ञानस्तत एतावता कालेन नियमेनान्यथा तु मुक्तिः जी० २ प्रति० (निर्ग्रन्थानामन्तरं निगन्थ शब्दे)

(३४) पर्याप्तमाश्रित्यान्तरम् ।

पज्जत्तगस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वि अंतोमुहुत्तं अपज्जत्तगस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं तइयस्स एत्थि अंतरं

अन्तरचित्तायां पर्याप्तकस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहुत्तमन्तरम् अपर्याप्तकाल एव हि पर्याप्तकस्यान्तरम् । अपर्याप्तककालस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहुत्तम् अपर्याप्तकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहुत्तमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकं पर्याप्तककालस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावत्प्रमाणत्वात् नोपर्याप्तनोअपर्याप्तस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् ।

परीतानामन्तरम् ।

कायपरित्तस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो संसारपरित्तस्स एत्थि अंतरं कायअपरित्तस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । पुढविक्कालो संसारअपरित्तस्स अणातियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं । अणादियस्स सपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं नोपरित्तणोअपरित्तस्स वि एत्थि अंतरं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं प्रगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहुत्तं साधारणेऽनन्तर्मुहुत्तं स्थित्वा नृयः प्रत्येकशरीरेष्वगमनात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तः कालः प्रागुक्तस्वरूपो वनस्पतिकालस्तावन्तं कालं साधारणेष्वावस्थानात् । संसारपरीतविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमं प्रगवानाह गौतम ! नास्त्यन्तरं संसारपरीतत्वापगमे पुनः संसारपरीतत्वाभावात् मुक्तस्य प्रतिपातासंभवात् । कायापरीतसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहुत्तं प्रत्येकशरीरेष्वन्तर्मुहुत्तं स्थित्वा नृयः कायापरीतेषु कस्याप्यागमनसंज्ञत्वात् उत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं यावत् असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोकाः पृथिव्यादिप्रत्येकशरीरजन्ममणकाद्योत्कर्षतोऽप्येतावन्मात्रत्वात् । तथा चाह । पृथिवीकाद्यः पृथिव्यादिप्रत्येकशरीरकाल इत्यर्थः । संसारापरीतसूत्रे अनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वाद्नादिपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं संसारपरीतत्वापगमे पुनः संसारपरीतत्वस्यासंभवात् । नोपरीतनोअपरीतस्यापि साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरं अपर्यवसितत्वात् जी० ३ प्रति० ।

[३५] पुत्रपरावर्त्तमाश्रित्यान्तरम् ।

परमाणुपोग्गलस्स णं जंते ! सव्वेयस्स कालओ केव चिरं अंतरं होइ ! गोयमा ! सट्ठाणंतरं पमुच्च जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । परट्ठाणंतरं पडुच्च जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं एवं चैव । णिरेयस्स केवइ० सट्ठाणंतरं पमुच्च जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं आव-

लियाए असंखेज्जइजागं, परट्ठाणंतरं पमुच्च जहएणेणं
एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं दुपदेसियस्स एं भंते !
खंधस्स देसेयस्स केवइयं काळं अंतरं होइ ? गोयमा !
सट्ठाणंतरं पमुच्च जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं
काळं परट्ठाणंतरं पमुच्च जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं
अणंतं काळं । सन्वेयस्स केवइयं कालं एवं चेव जहा
देसेयस्स । णिरेयस्स केवइयं कालं सट्ठाणंतरं पमुच्च जहए-
णं एकं समयं उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइजागं,
परट्ठाणंतरं पमुच्च जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं अणंतं
कालं एवं जाव अणंतपदेसियस्स । परमाणुपोगट्ठाणं भंते !
सन्वेयारणं केवइयं कालं अंतरं होइ ? गोयमा ! णत्थि
अंतरं षिरेयाणं केवइयं णत्थि अंतरं दुपदेसियाणं जंते !
खंधाणं देसेयाणं केवतिकाळं णत्थि अंतरं सन्वेयाणं केवइ
णत्थि अंतरं णिरेयाणं केवइ णत्थि अंतरं एवं जाव
अणंतपदेसियाणं ज० २५ श० ४ उ० ।

[टीका नास्तीति न व्याख्याता]

परमाणुपोगलस्स एं जंते ! अंतरं कालओ केव चिरं
होइ ? गोयमा ! जहएणेणं एं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं
कालं दुपदेसियस्स एं जंते ! खंधस्स अंतरं काळओ केव
चिरं होइ गोयमा ! जहएणेणं एं समयं उक्कोसेणं अणंतं
कालं एवं जाव अणंतपदेसिओ । एगपएसोगाढस्स एं
जंते ! पोगलस्स सेयस्स अंतरं कालओ केव चिरं होइ
गोयमा ! जहएणेणं एं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं
एवं जाव असंखेज्जपएसोगाढे । एगपएसोगाढस्स एं
जंते ! निरेयस्स अंतरं कालओ केव चिरं होइ गोयमा !
जहएणेणं एं समयं उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइ-
भागं एवं जाव असंखेज्जपएसोगाढे वएणगंधरसफासमुहु-
मपरिणयाणं एएसिं जं चेव अंतरं पि भाणियव्वं । सदप-
रिणयस्स एं भंते ! पोगलस्स अंतरं कालओ केव चिरं
होइ ? गोयमा ! जहएणेणं एं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं
कालं असदपरिणयस्स एं जंते ! पोगलस्स अंतरं काल-
ओ केव चिरं होइ गोयमा ! जहएणेणं एं समयं उक्कोसेणं
आवलियाए असंखेज्जइजागं ज० ५ श० ७ उ० ।

(टीका सुगमत्वान्न गृहीता)

प्रथमसमयाप्रथमसमयविशेषणेनैकेन्द्रियाणां

नैरयिकादीनां चान्तरं यथा ।

पदमसमयएगिंदियाणं जंते ! केवतियं काळं अंतरं होति ?
गोयमा ! जहएणेणं दो खुड्डाईं भवग्गहणाईं समयोणाईं
उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयएगिंदियस्स अंतरं
जहएणेणं खुड्डागभवग्गहणं समयाहियं उक्कोसेणं दो-
सागरोवमसहस्साईं संखेज्जा वा समग्गहियाईं सेसाणं सन्वे-

सिं पदमसमयइकाणं जहएणेणं दो खुड्डाईं जवग्गहणाईं सम-
योणाईं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयियाणं
सेसाणं जहएणेणं खुड्डागभवग्गहणं समयाहियं उक्कोसेणं
वणस्सतिकादो ॥

प्रथमसमयैकेन्द्रियस्य जन्त ! अन्तरं कालतः क्रियच्चिरं भव-
ति जगवानाह गौतम ! जघन्यतो चे क्षुल्लकजवग्रहणे समयोने
ते च क्षुल्लकद्वीन्द्रियादिभवग्रहणव्यवधानतः पुनरेकेन्द्रिय-
ध्वेवोत्पद्यमानस्यावसातव्ये तथा हेतुं प्रथमसमयानामेके-
न्द्रियक्षुल्लकभवग्रहणमेव द्वितीयं सम्पूर्णमेव द्वीन्द्रियाद्यन्य-
तमक्षुल्लकजवग्रहणमिति उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स चानन्ता
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽनन्ताः लोका असं-
ख्येयाः पुञ्जपरावर्ता आवलिकाया असंख्येयो भाग इत्ये-
वं स्वरूपं तथाहि एतावन्तं हि काळं सोऽप्रथमसमयः न तु प्र-
थमसमयस्ततो द्वीन्द्रियादिषु क्षुल्लकजवग्रहणमेवाऽवस्था-
य पुनरेकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानः प्रथमे समये प्रथमसमय इति
भवत्युत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं प्रथमसमयैकेन्द्रियस्य
जघन्यमन्तरं क्षुल्लकभवग्रहणं समयाधिकं तच्चैकेन्द्रियजवगत-
चरमसमयस्याप्यधिकप्रथमसमयत्वात् तत्र मृतस्य द्वीन्द्रिया-
दिक्षुल्लकजवग्रहणेन व्यवधाने सति भूय एकेन्द्रियत्वेनोत्पन्न-
स्य प्रथमसमयातिक्रमे वेदितव्यम् । एतावन्तं कालमप्रथमस-
मयान्तराभावात् उत्कर्षतो चे सागरोपमसहस्रे संख्येयवर्षा-
न्यधिके द्वीन्द्रियादिभवग्रहणस्यात्कर्षतोऽपि सातत्येनैताव-
न्तं कालं संभवात् । प्रथमसमयद्वीन्द्रियस्य जघन्येनान्तरं द्वे
क्षुल्लकजवग्रहणे समयोने तद्यथा एकं द्वीन्द्रियक्षुल्लकजवग्र-
हणमेव प्रथमसमयानं द्वितीयं सम्पूर्णमेकेन्द्रियद्वीन्द्रिया-
द्यन्यतमं क्षुल्लकभवग्रहणम् एवं प्रथमसमयं त्रीन्द्रियक्षुल्लकभव-
ग्रहणमेव प्रथमसमयानं द्वितीयं सम्पूर्णमेवैकेन्द्रियस्य जघन्यम-
न्तरं क्षुल्लकभवग्रहणं समयाधिकं तच्च द्वीन्द्रियजवाद्दृष्ट्यान्वय
क्षुल्लकजवग्रहणं स्थित्वा भूयो द्वीन्द्रियत्वेनोत्पन्नस्य प्रथमसमयाति-
क्रमे वेदितव्यम् । उत्कर्षतोऽनन्तं कालमनन्ता उत्सर्पिण्यवस-
र्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽनन्ता लोका असंख्येयाः पुञ्जपरावर्ता
आवलिकाया असंख्येयो भागः एतावांश्च द्वीन्द्रियजवाद्दृष्ट्यै-
तावन्तं काळं वनस्पतिषु स्थित्वा भूयो द्वीन्द्रियत्वेनोत्पन्नस्य
प्रथमसमयातिक्रमे भावनीयः एवं प्रथमसमयत्रिचतुःपञ्चेन्द्रि-
याणामपि जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं वक्तव्यं भावनाऽप्येतदनुसारेण
स्वयं ज्ञावनीया जी० १० प्रति० ।

पदमसमयएणेरइयस्स एं भंते ! अंतरं कालतो केव चिरं
होइ ? गोयमा ! जहएणेणं दसवाससहस्साईं अंतोमुहुत्तम-
न्नहियाईं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयएणेरइ-
यस्स एं भंते ! अंतरं कालतो केव चिरं होइ ? गोयमा !
जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो । पदमसमय-
तिरिक्खजोणिएणं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं हो-
ति ? गोयमा ! जहएणेणं दो खुड्डाईं जवग्गहणाईं समओणा-
ईं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयतिरिक्खजोणि-
यस्स एं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ?
गोयमा ! जहएणेणं दो खुड्डाईं जवग्गहणाईं समया-
हियं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेणं । पदमसमय-

माणस्स एं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? गो-
यमा ! जहणेणं दो खुट्ठायं जगगहणं समयूणाइं उक्कोसेणं
वणप्फतिकालो अपदमसमयमाणस्स एं जंते ! अंतरं
जहणेणं खुट्ठायं भवगगहणं समयाहियं उक्कोसेणं वणप्फति-
कालो देवस्स एं अंतरं जहा णेरतियस्स । पदमसमयसि-
प्पस्स एं जंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? नत्थि अं-
तरं ! अपदमसमयसिप्पस्स एं जंते ! अंतरं कालओ केव चिरं
होइ ? गोयमा ! सादियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं ।

प्रथमसमयसिद्धस्य नास्त्यन्तरं न्युयः प्रथमसमयसिद्धत्वा-
ज्जावाद् अथमसमयसिद्धस्यापि नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् ।
जी० १० प्रति० ।

(३६) वादरसूक्ष्मभोसूक्ष्मनोबादराणामन्तरं यथा—

अंतरं वायरस्स वायरवनस्सतिकितस्स णिओयस्स वाय-
रणिओयस्स एतेसिं चउएह वि पुढविकालो जाव असं-
खेज्जा होया सेमाणं वणस्सतिकाहो एवं पज्जत्तगाणं
अपज्जत्तगाणं वि अंतरं आहे य वायरतरु उस्सप्पिणी-
ओसप्पिणीओ एवं वायरनिओए काहमसंखेज्जतरं सेसा-
णं वणस्सतिकालो ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्ष-
तोऽसंख्येयं काहं सममेव काहक्रेत्राभ्यां निरूपयति असंख्येया
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कावतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोका यदेव हि
सूक्ष्मस्य सतः कायस्थितिपरिमाणं तदेव वादरस्यान्तरपरिमाणं
सूक्ष्मस्य च कायस्थितिपरिमाणमेतावति वादरपृथिवीकायिक-
सूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तः कालो
वनस्पतिकालः प्रागुक्तस्वरूपो वेदितव्यः एवं वादराष्कायिकवाद-
रतेजस्कायिकवादवायुकायिकसूत्राण्यपि वक्तव्यानि । सामा-
न्यतो वादरवनस्पतिकायिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो-
ऽसंख्येयं काहं स चासंख्येयः कालः पृथिवीकालो वेदितव्यः
स चैवम असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कावतः क्षेत्रतोऽसं-
ख्येया लोकाः प्रत्येकवादरवनस्पतिकायिकसूत्रं वादरपृथिवीका-
यिकसूत्रवत्सामान्यतो निगोदसूत्रं सामान्यतो वादरवनस्पतिका-
यिकसूत्रवत् वादरत्रसकायिकसूत्रं वादरपृथिवीकायिकसूत्रवत्
एवमपर्याप्तविषया दशसूत्री पर्याप्तविषया च दशसूत्री यथोक्त-
क्रमेण वक्तव्या नानात्वान्नावात् । जी० ६ प्रति० ।

[३७] सूक्ष्मस्यान्तरम् ।

सुहुमस्स णं जंते ! केवतियं काहं अंतरं होति ? गोयमा !
जहणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं काहं कालओ
असंखेज्जातो उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ खेत्तओ अंगु-
लस्स असंखेज्जतिजागो एवं सुहुमवणस्सतिकाइयस्स वि
सुहुमानिओयस्स वि जाव असंखेज्जतिजागो पुढविकाइया-
णं वणस्सतिकाहो एवं अपज्जत्तगाणं पज्जत्तगाणं वि ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं सूक्ष्मा-
दुहृत्य वादरपृथिव्यादावन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा न्युयः सूक्ष्मपृथि-
व्यादौ कस्याप्युत्पादात् उत्कर्षतोऽसंख्येयं काहं काहक्रेत्राभ्यां
निरूपयति असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कावतः एषा मार्ग-
णा क्षेत्रतोऽङ्गुलस्यासंख्येयो जागः किमुक्तं भवति अङ्गुलमात्रक्रे-

त्रस्यासंख्येयतमे जागे ये आकाशप्रदेशास्ते प्रतिसमयमेकैकप्र-
देशापहारे यावतीजिह्वसर्पिण्यवसर्पिणीभिर्निर्दिष्टा भवन्ति
तावत्य इति "सुहुमपुढविकाइयस्स णं भंते" इत्यादि प्रश्नसूत्रं
सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तद्भावेना प्राग्वत्
उत्कर्षतोऽनन्तं काहं "जाव आवहियाए असंखेज्जइभागा इति"
यावत्करणादेव परिपूर्णः पाठः "अणंताओ उस्सप्पिणीओस-
प्पिणीओ कावतो खेत्ततो अणंता लोगा असंखेज्जा पोगलपरि-
यट्ठा तेणं पोगलपरियट्ठा आवहियाए असंखेज्जइभागा" अ-
स्य व्याख्या पूर्ववत् भावेना त्वेवं सूक्ष्मपृथिवीकायिको हि सू-
क्ष्मपृथिवीकायिकभवाद्वाहृत्यानन्तर्येण पारंपर्येण वा वनस्प-
तिवपि मध्ये गच्छति तत्र चोत्कर्षतोऽप्येतावन्तं काहं तिष्ठती-
ति ज्ञाति यथोक्तप्रमाणमन्तरमेवं सूक्ष्माष्कायिकतेजस्कायिक-
वायुकायिकसूत्राण्यपि वक्तव्यानि । सूक्ष्मवनस्पतिकायिकसूत्रे
जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयकालः पृथिवीकाहो वक्त-
व्यः स चैवम "असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ का-
वतो खेत्ततो असंखेज्जा लोगा" इति । सूक्ष्मवनस्पतिकायज-
वाहृत्यो हि वादरवनस्पतिषु सूक्ष्मवादरपृथिव्यादिषु चो-
त्पद्यते तत्र च सर्वत्राप्युत्कर्षतोऽप्येतावन्तं काहमवस्थानमिति
यथोक्तप्रमाणमेवान्तरमेवं सूक्ष्मनिगोदस्वाप्यन्तरं वक्तव्यं यथा
चेयमौघिकी सप्तसूत्री उक्ता तथा अपर्याप्तविषया च सप्तसूत्री
वक्तव्या नानात्वान्नावात् जी० ६ प्रति० ।

सुहुमस्स अंतरं वायरकाहो वायरस्स अंतरं सुहुमकाहो
ततियस्स एत्थि अंतरं ।

सूक्ष्मस्यान्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं फालमसं-
ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कावतः क्षेत्रतोऽङ्गुलस्य संख्येय-
भागो वादरकाहो जघन्यत उत्कर्षतश्च एतावत्प्रमाणत्वात् । वा-
दरस्यान्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं काहमनन्तां उ-
त्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोका सूक्ष्म-
स्य जघन्यत उत्कर्षतश्चेतावत्काहप्रमाणत्वात् नोसूक्ष्मनोबाद-
रस्य साधपर्यवसितस्य हेतौ पट्टा निमित्तकारणहेतुषु संधांसां
विजर्कानां प्रायो दर्शनमिति न्यायात् ततोऽयमर्थः साधपर्यव-
सितत्वाच्चास्त्यन्तरमन्यथा अपर्यवसितत्वायोगात् जी० ३ प्रति०

प्रवसिद्धभवसिद्धिनोभवसिद्धभवसिद्धिकानामन्तरम्
भवसिद्धियस्स एत्थि अंतरं एवं अभवसिद्धियस्स वि
ततियस्स एत्थि अंतरं ।

अभवसिद्धिकोऽनादिसपर्यवसितोऽन्यथा प्रवसिद्धिकत्वायो-
गात् । अभवसिद्धिकात् अभवसिद्धिकस्यानादिसपर्यवसितस्य
नास्त्यन्तरं प्रवसिद्धिकत्वापगमे पुनर्भवसिद्धिकत्वायोगात्
जी० ३ प्रति ।

प्रापामाश्रित्य जीवानामन्तरम् ।

जासगस्स एं जंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा !
जहणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं वणस्सतिका-
लो अभासगस्स सातियस्स अपज्जवासियस्स एत्थि अं-
तरं सातियस्स सपज्जवसियस्स जहणेणं एकं समयं उक्को-
सेणं अंतोमुहुत्तं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्ष-
तो वनस्पतिकालः अत्रापककालस्य भाषकान्तरत्वात् अभा-
षकसूत्रे साधपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् अपर्यवसितत्वात् सा-

दिसपर्यवसितस्य जघन्येनैकं समयमुत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं प्राप-
ककालस्याभापकान्तरत्वात् तस्य च जघन्यत उत्कर्षतश्चेता-
वन्मात्रत्वात् । जी० १ प्रति० ।

[३८] योगमाश्रित्यान्तरम् ।

मणजोगिस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वण-
स्सतिकालो तहेव वयजोगिस्स वि कायजोगिस्स जहएणेणं
एकं समय उक्कोसेण अंतोमुहुत्तं अजोगिस्स एत्थि अंतरं ।

अन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं विग्रहसमयादारभ्य औदारिकशरीरपर्याप्त-
कश्च यावदेवमन्तर्मुहूर्त्तं दृष्टव्यमिति (अत्रत्या टीका उस्तु-
त्तपरुवणा शब्दे) ।

लेख्यामाश्रित्य जीवानाम् ।

कएहलेसस्स एं भंते ! अंतरं कालओकेव चिरं होति ?
गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेत्तीससागरोव-
माई अंतोमुहुत्तमण्णहियाई । एव नीलस्स वि काजलेस-
स्स वि । तेजलेस्स एं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ?
गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणप्फतिकालो
एवं पम्हलेसस्स वि सुकलेसस्स वि दोएह वि एवमंतरं ।
अलेसस्स णं जते ! अंतरं काजतो केव चिरं होइ ? गोयमा !
मादियस्स अपज्जवायस्स एत्थि अंतरं ।

कृष्णत्रेय्याकस्यान्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तिर्यग्मनुष्याणामन्त-
र्मुहूर्त्तं लेख्यापरान्तर्नात् उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाय-
न्तर्मुहूर्त्तान्यधिकानि झुफललेख्याकृष्णकालस्य कृष्णलेख्यान्त-
रोत्कृष्टकालत्वात् । एवं नीललेख्याकापोतलेख्ययोरपि जघन्यत
उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यम् । तेजःपद्मझुफलानामन्तरं जघन्तोऽन्त-
र्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः स च प्रतीत एवेति । अत्रेयस्य
साध्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् ।

(३९) वेदविशिष्टजीवानामन्तरम् ।

सवेदस्म एं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा !
अणादियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं अणादियस्स
सपज्जवसियस्स वि एत्थि अंतरं । सादियस्स सपज्जव-
सियस्स जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ।
अवेदगस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा !
सातियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं सातियस्स सप-
ज्जवसियस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण । अणंतं-
कालं जाव अवहं पोगलपरियट्ठं देसुणं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनादिकस्यापर्यवसितस्य स-
वेदकस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसिततया सदा तद्भावापरित्यागात्
अनादिकस्य सपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरम् अनादिसपर्यव-
सितो ह्यपान्तराद्ये उपशमश्रेणि प्रतिपद्य प्राची क्षीणवेदो न च
क्षीणवेदस्य पुनः सवेदकत्वं प्रतिपाताज्ञावात् । सादिकस्य सपर्य-
वसितस्य सवेदकस्य जघन्येनैकं समयमन्तरं द्वितीयं वारमुपश-
मश्रेणि प्रतिपन्नस्य वेदोपशमसमयानन्तरं कस्यापि मरणसंज्ञा-
स्त्वेकैवेणात्तर्मुहूर्त्तं द्वितीयं वारमुपशमश्रेणि प्रतिपन्नस्योपशान्त-
वेदकस्य श्रेणिसमाप्तेरुद्धे पुनः सवेदकत्वभावात् । अवेदकसूत्रे
सादिकस्यापर्यवसितस्यावेदकस्य नास्त्यन्तरं क्वांवेदस्य पुनः

सवेदकत्वाभावात् वेदानां निर्मूलकापकपितत्वात् । सादिकस्य
सपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुपशमश्रेणिसमाप्तौ सवे-
दकत्वे सति पुनरन्तर्मुहूर्त्तनोपशमश्रेणिलाभतोऽवेदकत्वोपपत्तेः
उत्कर्षतोऽनन्तं कालम् अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः
क्षेत्रतोऽपार्कः पुञ्जलपरावर्त्तं देशोनमेकं वारमुपशमश्रेणि प्रतिपद्य
तत्रावेदको भूत्वा श्रेणिसमाप्तौ सवेदकत्वे सति पुनरेतावता का-
लेन श्रेणिप्रतिपत्ताववेदकत्वोपपत्तेः । जी० सर्वजी ० २ प्रति० ।

वेदविशेषविशिष्टानां स्त्रीणां पुंसां नपुंसकानां चान्तरम् ।

इत्थिए णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा !
जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अनंतं कालं वणस्सतिका-
लो एवं सव्वासिं तिरिक्खवत्थीणं मणसिथीणं मणसिथी-
ए खेत्तं पणुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सति-
कालो । धम्मचरणं पणुच्च जहएणेणं समओ उक्कोसेणं
अणंतं कालं जाव अवहं पोगलपरियट्ठं देसुणं एवं जाव
पुव्वविदहं अवरविदेहियाओ । अकम्मचूमगमणस्सीणं
भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जम्म एं पणुच्च
जहएणेणं दसवाससहस्साई अंतोमुहुत्तमण्णहियाई उक्कोसे-
ण वणस्सइकालो संहरणं पणुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं
उक्कोसेणं वणस्सइकालो एवं जाव अंतरदीवियाओ । देवि-
त्थियाणं सव्वासिं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वण-
स्सतिकालो ।

स्त्रिया भदन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं जवति स्त्री भूत्वा स्त्रीत्वा-
त् भ्रष्टा सती पुनः कियता कालेन स्त्री भवतीत्यर्थः । एवं गौत-
मेन प्रश्ने कृते सति भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं
कथमिति चेत् उच्यते इह काचित् स्त्री स्त्रीत्वान्मरणेन व्युत्था
भवान्तरे नपुंसकवेदं पुरुषवेदं वाऽन्तर्मुहूर्त्तमनुभूय स्त्रीत्वेनो-
त्पद्यते तत एव जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं जवति उत्कर्षतो वनस्पति-
कालोऽसंख्येयपुञ्जलपरावर्त्तान्यो वक्तव्यस्तावता कालेनामुच्यते
सत्यां नियोगतः स्त्रीत्वयोगात् । स च वनस्पतिकाल एव वक्त-
व्यः “ अणंताओ ओलपिणिलस्सपिणीओ कालओ खेत्तओ
अणंता बोगा असंखेज्जा पोगलपरियट्ठा तेणं पोगलपरियट्ठा
आवहियाए असंखेज्जभागो इति ” एवमौघिकतियं स्त्रीणां
जलचरस्थलचरखचरस्त्रीणामौघिकमनुष्यस्त्रीणां च जघन्यतः
उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यमभिधापोऽपि सुगमत्वात् स्वयं परिभा-
वनीयः । कर्मभूमिकमनुष्यस्त्रियाः क्षेत्रं कर्मभूमिक्षेत्रं प्रतीत्य
जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं वनस्पतिकालप्रमाणं
यावत् धर्मचरणं प्रतीत्य जघन्येनैकं समयं सर्वजघन्यस्य सम-
यत्वात् उत्कर्षेणानन्तं कालं देशोनमपार्कं पुञ्जलपरावर्त्तं यावत्
नातो ह्यधिकतरश्चरणव्यधिपातकालासंपूर्णस्याप्यपार्कपुञ्जलपरा-
वर्त्तस्य दर्शनलब्धिपातकालस्य तत्र प्रतिषेधात् । एवं भरतै-
रावतमनुष्यस्त्रियाः पूर्वविदेहापरविदेहस्त्रियाश्च क्षेत्रतो धर्म-
चरणं वा आश्रित्य वक्तव्यम् । अकर्मचूमकमनुष्यस्त्रिया जन्म
प्रतीत्यान्तरं जघन्येन वशवर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्त्तान्यधिकानि
कथमिति चेत् उच्यते इह काचिदकर्मचूमिका स्त्री भूत्वा जघन्य-
स्थितिपु देवभूत्पन्ना तत्र दशवर्षसहस्राण्यायुः परिपात्य
तत्क्षये व्युत्था कर्मभूमिषु मनुष्यपुरुषत्वेन मनुष्यस्त्रीत्वेन
घोत्पद्यते देवेभ्योऽनन्तरमकर्मभूमौ न जन्मेति कर्मभूमिभूत्पा-

दिता ततोऽन्तर्मुहुर्त्तं मृत्वा ज्ञूयोऽप्यकर्मज्ञमिजस्त्रीत्वेन जायते इति भवन्ति जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि अन्तर्मुहुर्त्ताञ्च्यधिकानि उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं संहर्षणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहुर्त्तम् । अकर्मज्ञमिजस्त्रियाः (कर्मज्ञमिजस्त्रियाः) कर्मज्ञमिषु संहृत्य तावता कालेन तथाविधबुद्धिपरावृत्त्या ज्ञयस्तत्रैव नयनात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं तावता कालेन कर्मज्ञम्युत्पत्तिश्च संहरणमपि नियोगतो जवेत् । तथाहि काचिदकर्मज्ञमिका कर्मज्ञमौ संहृता सा च स्वायुःक्रयानन्तरमनन्तं कालं वनस्पत्यादिषु संसृत्य ज्ञूयोऽप्यकर्मज्ञमौ समुत्पन्ना । ततः केनापि संहृतेति यथोक्तं संहरणस्योत्कृष्टकालमानम् । एवं हैमवतहैरण्यवनहरिचर्परम्यकवर्षदेवकुरुत्तरकुर्वन्तरश्चमिकामपि जन्मतः संहरणतश्च प्रत्येकं जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं वक्तव्यं सूत्रपाठोऽपि सुगमत्वात् स्वयं परिज्ञावनीयः । संप्रति देवस्त्रीणामन्तरप्रतिपादनार्थमाह (देवस्त्रियाणं जन्ते इत्यादि) देवस्त्रिया जदन्त ! अन्तरं काष्ठतः कियच्चिरं जवति भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहुर्त्तं कस्याश्चित् देवस्त्रिया देवीभावात् च्युताया गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येपूतपथ पर्याप्तिसमनन्तरं तथाध्यवसायमरणेन पुनर्देवीत्वेनोत्पत्तिसंज्ञवात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स च सुप्रतीत एवमसुरकुमारदेव्या आरभ्य तावदीशानदेवस्त्रिया उत्कृष्टमन्तरं वक्तव्यं पाठोऽपि सुगमत्वात् स्वयं परिज्ञावनीयः जी० १ प्रति० ।

पुरिसस्स णं भंते ! केवतियं काष्ठं अंतरं होति ? गोयमा ! जह्ण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं वणस्सइकादो तिरिक्खजो-णियपुरिसाणं जह्ण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइ-कालो एवं जाव खहयरतिरिक्खजोहियपुरिसाणं ॥

पुरुषाणामिति पूर्ववत् भदन्त ! अन्तरं काष्ठतः कियच्चिरं भवति पुरुषः पुरुषत्वात् परिभ्रष्टः सन् पुनः कियता कालेन तदवाप्नोतीत्यर्थः । तत्र भगवानाह गौतम ! जघन्येनैकं समयं समयादनन्तरं ज्ञूयोऽपि पुरुषत्वमवाप्नोतीति जावः । इयमत्र प्रावना यदा काश्चित् पुरुष उपशमश्रेणि गतः उपशान्ते पुरुषवेदे समयमेकं जीवित्वा तदनन्तरं ध्रियते तदाऽसौ नियमादेवपुरुषेपूतपथे इति समयमेकमन्तरं पुरुषत्वस्य । ननु स्त्रीनपुंसकयोरपि श्रेणिलामो भवति तत्कस्मादनयोरप्येवमेकः समयोऽन्तरं न भवति उच्यते स्त्रिया नपुंसकस्य च श्रेणारूढाववेदकप्रावान्तरं मरणे तथाविधशुभाध्यवसायतो नियमेन देवपुरुषत्वेनोत्पादात् । उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स चैवमजिल्लपनीयः "अणता उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालतो खेत्ततो अणता लोगा असंखेज्जा पुमावपरियट्ठा तेणं पुग्गवपरियट्ठा आवावियाप असंखेज्जइमागो इति" तदेवं सामान्यतः पुरुषत्वस्यान्तरमजिधाय संप्रति तिर्यक्पुरुषविषयमतिदेशमाह " (जं तिरिक्खजोणित्थीणमंतरमित्यादि) यत्तिर्यग्योनिस्त्रीणामन्तरं प्रागभिहितं तदेव तिर्यग्योनिकपुरुषाणामप्यविशेषितं वक्तव्यं तच्चैवं सामान्यतरित्येकपुरुषस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहुर्त्तं तावत्कालस्थितिना मनुष्यादिभवेन व्यवधानात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्ताख्यः तावता कालेनामुक्तौ सत्यां नियोगतः पुरुषत्वयोगात् । एवं विशेषचिन्तायां जलचरपुरुषस्य खलचरपुरुषस्य खचरपुरुषस्यापि प्रत्येकं जघन्यतः उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यम् ।

सम्प्रति मनुष्यपुरुषत्वविषयान्तरप्रतिपादनार्थमाह । मणुस्मपुरिसाणं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! ख्वेत्तं पमुच्च जह्ण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्स-तिकालो धम्मचरणं पमुच्च जह्ण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणता उस्सप्पिणीओ जाव अबहुं पोग्गल-परियट्ठं देसूणं कम्मजूमकाणं जाव विदेहो जाव धम्मचरणे एको समओ सेसं जहत्थीणं जाव अंतरदीवकाणं ॥

यन्मनुष्यस्त्रीणामन्तरं प्रागभिहितं तदेव मनुष्यपुरुषाणामपि वक्तव्यं तच्चैवं सामान्यतो मनुष्यपुरुषस्य जघन्यतः क्षेत्रमधिकृत्यान्तरमन्तर्मुहुर्त्तं तच्च प्रागिव भावनीयम् । उत्कर्षतो वनस्पतिकालो धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यत एकं समयं चरणपरिणामात्परिभ्रष्टस्य समयानन्तरं ज्ञूयोऽपि कस्यचित् चरणप्रतिपत्तिसंभवात् उत्कर्षतो देशोऽपार्कपुद्गलपरावर्त्तः एवं भरतैरावतकर्मज्ञमकमनुष्यपुरुषस्य पूर्वविदेहापरविदेहाकर्मज्ञमकमनुष्यपुरुषस्य जन्म प्रतीत्य चरणमधिकृत्य च प्रत्येकं जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यं सामान्यतोऽकर्मज्ञमकमनुष्यपुरुषस्य जन्म प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तरं दशवर्षसहस्राणि अन्तर्मुहुर्त्ताञ्च्यधिकानि । अकर्मज्ञमकमनुष्यपुरुषत्वेन मृतस्य जघन्यस्थितिषु देवेपूतपथ ततोऽपि च्युत्वा कर्मज्ञमिषु स्त्रीत्वेन पुरुषत्वेन वोत्पद्य कस्याप्यकर्मज्ञमकत्वेन ज्ञूयोऽप्युत्पादात् देवमभावात् च्युत्वा अनन्तरमकर्मज्ञमिषु मनुष्यत्वेन तिर्यक्संक्षिपञ्चैन्द्रियत्वेन उत्पादनावादापान्तराद्ये कर्मज्ञमिषूत्पादानिधानमुत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहुर्त्तमकर्मज्ञमः कर्मज्ञमिषु संहृत्यान्तर्मुहुर्त्तानन्तरं तथाविधबुद्धिपरावर्त्तादिज्ञावतो ज्ञयस्तत्रैव नयनसंज्ञवात् उत्कर्षतो वनस्पतिकाल एतावतः काष्ठादूर्ध्वमकर्मज्ञमिषूत्पत्तिश्च संहरणस्यापि नियोगतो भावात् । एवं हैमवतहैरण्यवतादिष्वप्यकर्मज्ञमिषु जन्मतः संहरणतश्च जघन्यतः उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यं यावदन्तरद्वीपकाकर्मज्ञमकमनुष्यपुरुषत्ववक्तव्यता ।

संप्रति देवपुरुषाणामन्तरप्रतिपादनार्थमाह ।

देवपुरिसाणं जह्ण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो भवणवासिदेवपुरिसाणं ताव जाव सहस्सारो जह्ण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो । आनतदेवपुरिसाणं जंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जह्ण्णेणं वासपुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो एवं जाव गेवेज्जगदेवपुरिसाणं वि अनुत्तराववातियदेवपुरिसाणं जह्ण्णेणं वासपुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइ सागरोवमाइ अनुत्तराणं अंतरे एको आहावओ ॥

देवपुरुषस्य जदन्त ! काष्ठतः कियच्चिरमन्तरं जवति भगवानाह । गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहुर्त्तं देवजवात् च्युत्वा गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येपूतपथ पर्याप्तिसमनन्तरं तथाविधाध्यवसायमरणेन ज्ञूयोऽपि कस्यापि देवत्वेनोत्पादसंज्ञवात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः एवमसुरकुमारादारभ्य निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावत्सहस्रारकल्पदेवपुरुषस्यान्तरम् आनतकल्पदेवस्यान्तरं जघन्येन वर्षपृथक्त्वं कस्मादेतावदिहान्तरमिति चेत् उच्यते इह यो गर्भस्थः सर्वाङ्गिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः स शुभाध्यवसायोपेतो

मृतः सन् आनतकल्पादारतो ये देवास्तेषूपच्यते नाऽऽन-
तादिषु तस्य तावन्मात्रकालस्य तद्योगाध्यवसायविशुद्ध्यभावा-
त् ततो य आनतादिष्वश्च्युतः सन् सूर्याऽप्यानतादिषूपच्यते
स निपमाचारिवमवाप्य चारित्रं चाष्टमे वर्षे तत उक्तं जघन्यतो
वर्षपृथक्त्वमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः । एवं प्राणतारणान्युतक-
ल्पप्रैवेयकदेवपुरुषाणामपि प्रत्येकमन्तरं जघन्यतः उत्कर्षतश्च
वक्तव्यम् । अनुत्तरोपपातिककल्पातीतदेवपुरुषस्य जघन्यतोऽन्तरं
वर्षपृथक्त्वम् उत्कर्षतः संख्येयानि सागरोपमाणि सातिरे-
काणि तत्र संख्येयानि सागरोपमाणि तदन्यवैमानिकेषु संख्ये-
यवारोत्पत्त्या सातिरेकाणि मनुष्यभवे तत्र सामान्याभिधानेऽ-
प्येतत् अपराजितान्तमवगन्तव्यं सर्वार्थसिद्धे सकृदेवोत्पादत-
स्तन्वान्तरसंभवात् । अन्ये त्वज्जिदधति जवनवांसिन आरज्य
आ ईशानादमरस्य जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं सनत्कुमारादार-
ज्यासहस्रारात् नव दिनानि आनतकल्पादारज्यान्युतकल्पं
यावन्नव मासा नवसु प्रैवेयकेषु सर्वार्थसिद्धमहाविमानवर्जेष्व-
नुत्तरविमानेषु च नव वर्षाणि प्रैवेयकान् यावत् सर्वत्रापि
उत्कर्षतो वनस्पतिकालः विजयादिषु चतुर्षु महाविमानेषु द्वे
सागरोपमे उक्तं च " आ ईशानादमरस्स अंतरं हीण्यं मुहुत्त-
तो आ सहस्सारे अच्युयणुत्तरदिणमासवासनवधावरकालुको-
सो सव्वडुवोयओ नव उववाओ दो अपरा विजयादिषु इति "

नैरयिकनपुंसकानामन्तरम् ।

अकम्मभूमकमणुस्सणपुंसणं जंते ! गोयमा ! जम्म णं
परुच्च जहसेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं अंतोमुहुत्तं (अंतोमु-
हुत्तपुहुत्तं) संहरणं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं
देसुणा पुव्वकोनी सव्वेसि जाव अंतरदीवगाणं । एणुसग-
स्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ! गोयमा ! जह-
एणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं
नेरइयणपुंसगस्स णं जंते ! केवतियं काळं अंतरं होति
जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं तरुकाळो । रतणप्पजापुढ-
विनेरइयणपुंसगस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं तरु-
काळो एवं सव्वेसि जाव अहेसत्तमा तिरिक्खजोणियणपुं-
सकस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं सागरोवमसतपुहु-
त्तं सातिरेगं ।

णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति
नपुंसको भूत्वा नपुंसकत्वाद् भ्रष्टः पुनः कियता कालेन नपुंस-
को भवतीत्यर्थः भगवानाह । गौतम ! जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेता-
वता पुरुषादिकालेन व्यवधानात् उत्कर्षतः सागरोपमशतपृथ-
क्त्वं सातिरेकं पुरुषादिकालस्य एतावदेव संभवात् तथा चात्र
संग्रहणीगाथा " इत्थिनपुंसा संचि-छणेषु पुरिसंतरे य समक-
ओ । पुरिसनपुंसा संचि-छणंतरे सागरपुहुत्तं ॥ १ ॥ " अस्या-
क्करगमनिका " संचिछणा नाम " सातत्येनावस्थानं तत्र स्त्रिया
नपुंसकस्य च सातत्येनावस्थाने पुरुषान्तरे च जघन्यत एकः स-
मयस्तथा च प्रागभिहितम् " इत्थीणं भंते ! इत्थीति कालतो
केव चिरं होइ गोयमा ! एगेणं आदिसेणं जहन्नेणं एगं समयं
इत्यादि " तथा " नपुंसगेणं नपुंसगेति कालतो केव चिरं होइ
गोयमा ! जहसेणं एकं समयमित्यादि " तथा " पुरिसस्स णं
भंते ! अंतरं काळतो केव चिरं होइ गोयमा ! जहन्नेणं एकं सम-
यमित्यादि " तथा पुरुषस्य च नपुंसकस्य यथाक्रमं (संचिछणं)

सातत्येनावस्थानमन्तरं चोत्कर्षतः सागरपृथक्त्वं पदैकदेशे
पदसमुदायोपचारात् सागरोपमशतपृथक्त्वं तथा च प्रागभिहि-
तं " पुरिसेणं जंते ! पुरिससि कालतो कियच्चिरं (केव चिरं)
होइ गोयमा ! जहसेणं (जहन्नेणं) अंतोमुहुत्तं उकोसेणं सा-
गरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं " नपुंसकान्तरोत्कर्षप्रतिपादकं चे-
दमेवाधिकृतं सूत्रमिति । तथा सामान्यतो नैरयिकनपुंसकस्यान्तरं
जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं सप्तमनरकपृथिव्या उच्यते तन्दुलमत्स्या-
दिजवेवन्तर्मुहूर्त्तं स्थिता भूयः सप्तमनरकपृथिवीगमनस्य च श्र-
वणात् प्रतिपृथिव्यपि वक्तव्यम् जी० २ प्रति० ।

तिरश्चामन्तरम् ।

एगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकस्स जहएणेणं अंतोमु-
हुत्तं उकोसेणं दो सागरोवमसहस्साई संखेज्जवासमव्वहियाई
पुढविआउतेउवाकणं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं व-
णस्सतिकालो वणस्सतिकाइयाणं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं
उकोसेणं असंखेज्जं काळं जाव असंखेज्जा लोया सेसणं
वेदियादीणं जाव खहराणं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उको-
सेणं वणस्सतिकालो ।

तथा सामान्यचिन्तायां तिर्यग्योनिकनपुंसकस्यान्तरं जघन्यतो-
ऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकम् । अत्र ज्ञा-
वना प्रागिव विशेषचिन्तायां सामान्यत एकेन्द्रियतिर्यग्योनिक-
नपुंसकस्यान्तर्मुहूर्त्तं तावता द्वीन्द्रियादिकालेन व्यवधानात्
उत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे संख्येयवर्षाभ्यधिके त्रसकायस्थि-
तिकालस्य एकेन्द्रियत्वव्यवधायकस्योत्कर्षतोऽप्येतावत् एव
संभवात् । पृथिवीकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघ-
न्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः । एवमप्यायिकतेजस्का-
यिकायुकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकानामपि वक्तव्यं व-
नस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्यतोऽन्त-
र्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं यावत् स चासंख्येयः काळोऽसं-
ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोकाः ।
किमुक्तं भवत्यसंख्येयद्वोकाकाशप्रदेशानां प्रतिसमयमेकैकाप-
हारे यावत् उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो जवन्ति तावत् इत्यर्थः । वन-
स्पतिभवात् प्रच्युतस्यान्यत्रोत्कर्षत एतावन्तं कालमवस्थानसं-
भवात् तदनन्तरं संसारिणो नियमेन भूयोऽपि वनस्पतिकायि-
कत्वेनोत्पादभावात् । द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रिय-
तिर्यग्योनिकनपुंसकानां जलचरस्थलचरखचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्यो-
निकनपुंसकानां सामान्यतो नपुंसकस्य च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्त-
मुत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तः काळो वनस्पतिकालो यथो-
क्तस्वरूपः प्रतिपत्तव्यः ।

मनुष्यनपुंसकस्य ।

मणुस्सणपुंसकस्स खेत्तं पडुच्च जहसेणं अंतोमुहुत्तं उ-
कोसेणं वणस्सतिकाळो धम्मचरणं पडुच्च जहसेणं एगं स-
मयं उकोसेणं अणंतं काळं जाव अवहं पोगलपरियइं दे-
सुणं । एवं कम्मजूमगस्स वि भरहेरवयस्स पुव्वविदेहअ-
वरविदेहकस्स वि अकम्मजूमकमणुस्सणपुंसकस्स णं भंते !
केवतियं काळं० जम्मणं पडुच्च जहसेणं अंतोमुहुत्तं उको-
सेणं वणस्सतिकालो संहरणं परुच्च जहसेणं अंतोमुहुत्तं
उकोसेणं वणस्सतिकाळो एवं जाव अंतरदीवगति ।

कर्मभूमकमनुष्यनपुंसकस्यान्तरं क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मु-
हूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः । धर्मचरणं प्रतीत्य जघन्यत एकं
समयं यावत् चरणत्रयध्रुपानस्य सर्वजघन्यस्य एकसामयि-
कत्वात् उत्कर्षतोऽनन्तं काष्ठं तमेवानन्तं कालं निर्धारयति
“ अणंताश्रो उत्सृज्याणिश्रोमाप्पिणीश्रो काष्ठतो सेततो अणंता
श्रोमा अणंता पोग्गलपरियट्टं देसूणमिति” एवं भरतैरवतपूर्ववि-
देहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकानामपि क्षेत्रं धर्मचरणं
च प्रतीत्य जघन्यत उत्कृष्टं चान्तरं प्रत्येकं वक्तव्यम् । अकर्मभू-
मकमनुष्यनपुंसकस्य जन्म प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेतावता
गत्यन्तरादिकांशेन व्यवधाननाचात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः
संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् । तच्चैवं काऽपि कर्म-
भूमकमनुष्यनपुंसकनाप्यकर्मभूमौ संहतः स च मागधपुर-
द्वान्तबलादकर्मभूमक इति व्यपदिश्यते ततः कियत्काष्ठानन्त-
रं तथाविधबुद्धिपरावचनजावतो भूयोऽपि कर्मभूमौ संहतस्त-
त्र चान्तर्मुहूर्त्तं धृत्वा पुनरप्यकर्मभूमौमावानीतः उत्कर्षतो वनस्प-
तिकालः । एवं विशेषचिन्तायां हैमवतहैरग्यवतहरिवर्षरम्यक-
र्षदेवकुलुत्तरकुर्वकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकानामन्तरापीकमनु-
ष्यनपुंसकस्य च जन्म संहरणं च प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्षत-
श्चान्तरं वक्तव्यं तदेवमुक्तमन्तरम् जी० २ प्रति० । पं० सं० ।

(४०) औदारिकादिशरीरविशिष्टानामन्तरम् ।

औरालियसरीरस्स अंतरं जहण्णेणं एकं समयं उक्को-
सेणं तेत्तसं सागरोयमाई अंतोमुहुत्तमन्नद्वियाई वेजुज्जि-
यसरीरस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं काष्ठं
वणस्सतिकालो आहारगसररीरस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं
उक्कोसेणं अणंतं काष्ठं जाव अणंता पोग्गलपरियट्टं देसूणं
तेयगकम्मगसररीरस्स य दुविहा एत्थि अंतरं ॥

औदारिकशरीरिणोऽन्तरं जघन्यतः एकः समयः स च द्विसा-
मायिक्यामपात्तरालगतौ भावनीयः । प्रथमे समये कर्मणश-
रीरोपेतत्वात् उत्कर्षतस्त्रयार्थशस्तसागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्त्ताभ्य-
धिकानि उत्कृष्टो वैक्रियकाष्ठ इति भावः । वैक्रियशरीरिणोऽन्त-
रं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं सङ्कटक्रियकरणे यावता कालेन पुनर्वैक्रि-
यकरणात् मानवदेवेषु भावात् । उत्कर्षतो वनस्पतिकालः प्रक-
ट एव आहारकशरीरिणो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं सङ्कटकरणे एता-
वता कालेन पुनः करणात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावदपाई
पुञ्जपरावचनम् । जी० सर्वजी० ५ प्रति० । (संघातपरिशा-
टकरणयोरन्तरं करणं शब्दे)

संज्ञाविशेषणान्तरम् ।

संखिस्स अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्स-
इकालो असंखिस्स अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं
सागरोयमस्यपुहुत्तं सातिरेगं ततियस्स एत्थि अंतरं ।

अन्तरचिन्तायां संज्ञिनोऽन्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽन-
न्तं काष्ठम् । स चानन्तः कालो वनस्पतिकालः । असंज्ञिकाल-
स्य जघन्यत उत्कर्षतश्चेतावत्प्रमाणत्वात् । असंज्ञिनोऽन्तरं जघ-
न्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं संज्ञिकावस्य ज-
घन्यत उत्कर्षतश्चेतावत्प्रमाणत्वात् नोऽसंज्ञिनोऽसंज्ञिनः साद्यस-
पर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् । जी० सर्वजी० २ प्रति० ।

(४१) संयमविशेषणान्तरम् ।

संजयस्स संजयासंजयस्स दोएह वि अंतरं जहण्णेणं अं-

तोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अणंता पोग्गलपरि-
यट्टं देसूणं । असंजयस्स आदिउवे एत्थि अंतरं साइयस्स
सपज्जवसियस्स जहण्णेणं एकं समयं उक्कोसेणं देसूणा
पुण्वकोदी चउत्थगस्स एत्थि अंतरं ।

संयतस्य जघन्येनान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं तावता कालेन पुनः क-
स्यापि संयतत्वभावात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालमनन्ता उत्स-
र्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽपाई पुञ्जपरावचनं देशो-
नम् एतावतः कालादूर्ध्वं पूर्वमवातसंयमस्य नियमतः संयम-
लाभात् । संयतस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् । अनादिसप-
र्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं तस्य प्रतिपातासंभवात् । सादिस-
पर्यवसितस्य जघन्यत एकं समयं स चैकसमयः प्राग्व्याव-
र्षितः संयतसमय एवमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी असंयतत्व-
व्यवधायकस्य संयतकालस्य संयतासंयतकालस्य वा उत्क-
र्षतोऽप्येतावत्प्रमाणत्वात् संयतासंयतस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं
तद्भावपाते एतावता कालेन तल्लामसिद्धेः । उत्कर्षतः संयत-
वत् त्रितयप्रतिषेधवर्तिनः सिद्धस्य साद्यपर्यवसितस्य नास्त्य-
न्तरमपर्यवसिततया सदा तद्भावपरित्यागात् । जी० स-
र्वजी० ३ प्रति० । (सामायिकादिसंयतानामन्तरं संजयशब्दे)
सिद्धासिद्धयोः ।

सिद्धस्स एं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा !
सातीयस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं । असिद्धस्स एं
भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! अणातीयस्स
अपज्जवसियस्स अणातीयस्स सपज्जवसियस्स एत्थि
अंतरं ।

अश्रूत्तं सुगमं भगवानाह गौतम ! सिद्धस्य सादिकस्याप-
र्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् । अत्र “ निमित्तकारणहेतुषु स-
र्वासां विभक्तानां प्रायो दर्शनमिति ” न्यायात् हेतौ षष्ठी ततोऽ-
यमर्थो यस्मात्सिद्धः सादिरपर्यवसितस्तस्मात्सास्त्यन्तरमन्य-
थाऽपर्यवसितत्वायोगात् । असिद्धसूत्रे असिद्धस्यानादिक-
स्यापर्यवसितस्य नास्ति अन्तरमपर्यवसितत्वादेवासिद्धत्वा-
प्रच्युतेः अनादिकस्य सपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं भूयोऽ-
सिद्धत्वायोगात् जी० सर्वजी० १ प्रति० ।

अंतरंग-अन्तरङ्ग-पुं० अन्तरं सदृशमङ्गं यस्य । अत्यन्तप्रिये,
बहिरङ्गशास्त्रीयनिमित्तसमुदायमध्ये अन्तर्भूतानि अङ्गानि नि-
मित्तानि यस्य । व्याकरणोक्ते परानित्यबहिरङ्गवाचके कार्य-
भेदे, तद्वाचके शास्त्रे च वाच्यं । अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्ग
एव विधिर्बलवान् आ० म० द्वि० । अभ्यन्तरे, त्रि० तं० । विशेषः ।
(कालशब्दे पददुदाहरणम्)

अंतरंजिया-अन्तरंजिका-स्त्री० नगरीभेदे, यत्र भूतग्रहं चैत्यं
बलश्री राजा वैराशिकानामुत्पत्तिश्चाभूत्, उत्त० ३ अ० । वि० ।
आ० म० द्वि० । कल्प० । स्था० । आ० चू० ।

अंतरंरुगगोक्षिया-अन्तरारुगगोक्षिका-स्त्री० अरुकोशा-
भ्यन्तरस्य गोक्षिकायाम्, महा० ४ अ० ।

अंतरकंद-अन्तरकन्द- पुं० अनन्तजीवात्मकवनस्पतिभेदे,
प्रक्षा० १ पद० ।

अंतर (रा) कप्प-अन्तर (रा) कल्प- पुं० चारित्राणाम-
न्तरस्वरूपे कल्पभेदे, । तदर्थंनमित्थम् ।

णिच्चिसकप्पो एसो, एतो वोच्छामि अंतराकप्पं ।
 संखेवपिभियत्थं, गुरुवएसं जहाकमसो ॥ दारं ॥
 पंचट्टाणमसंखा, वारसगं चैव तिगिह वितियाणं ।
 अज्जत्थकरणणाण-द्वया य एसोतराकप्पो ॥
 सामादिसंजतादी, पंचहचरणं तु तेसि एकेकं ।
 संजमठाणमसंखा, एकेके तत्थ ठाणम्मि ॥
 होति अणंता चारि-त्तपज्जवा ताण संखगुणियाणि ।
 एकं संजमकरुग-कंडसंखा य छट्ठाणं ॥
 ठट्ठाणा संखेज्जा, संजमसेदी तु होति वोधन्वा ।
 सामाइयजेदसंजम-ठाणागं तु असंखेज्जा ॥
 परिहारसंजमट्ठाण, ताहे लग्गंति ते असंखागा ।
 गंतुं ण होति विष्ठा, ताहे ततो पुणो परतो ॥
 वट्ठंति जे असंखा, सामाइयजेदसंजमट्ठाणा ।
 सामाइयजेदट्ठाणा, ताहे विच्चा भवंती तु ॥
 तो सुहुमएगट्ठाणा, ते वि असंखेज्जगं तु वोच्छिन्ना ।
 तस्स अपच्छिमट्ठाणा, अणंतगुणवड्ढितं णियमा ॥
 एकं परमविमुद्धं, होति अहक्खाय संजमट्ठाणं ।
 पंचमसंखतिगं तं, वारस गयारपणिमाओ ॥ दारं ॥
 सुद्धपरिहारचउरो, अणुपरिहारी वि णवमकप्पणितो ।
 एते तिगिह तिया खट्ठु, एतेसिं एकमेकस्स ॥
 अंतरसंजमट्ठाणा, होति असंखाखु तेसि सव्वेसिं ।
 होति डुविहा तु सोही, करणे अव्वत्थतो चैव ॥
 तो दो बी कायन्वा, णाणट्ठाए वडत्तेणं ।
 एसो अंतरकप्पो पंचभा० ॥

इयारिणं अंतरकप्पो गाहा-(पंचट्टाण) अंतरकप्पो नाम पंच-
 विहं चारित्तं सामाइयमाइ एकेकस्स असंखेज्जाइ संजमट्ठा-
 णाइ अंतरं वारससि वारस भिक्खुपडिमाओ तासिं पि तहेव
 अंतरं तिषि तिगतिसु च परिहारिणा णव चत्तारि परिहारिया
 अणुपरिहारिया वि चत्तारि एसो कप्पट्ठिओ । एयसिं असं-
 खेज्जाइ अंतरा संजमट्ठाणाइ तेसु पुण सव्वेसु वि डुविहा
 सोही अव्वत्थसोही य करणसोही य । दो वि कायन्वाओ
 नाणट्ठया एवं नाणनिमित्तं वा नाणोवडत्तो वा जं करेइ तत्थ वि
 अव्वत्थकरणं पडच्च निजराविसेसो करणविसोहीए वि वाहि-
 रए अव्वत्थओ चैव निजराविसेसो एस अंतरकप्पो । पंचूण ।

अंतरकरण-अन्तरकरण-न० यथाप्रवृत्तकरणापूर्वकरणाणि-
 वृत्तिकरणभेदभिन्ने सम्यक्त्वौपयिककरणे, पंच सं० १ द्वा० ।
 [तद्वृत्तं यथा प्रवृत्तादिशब्देषु करणशब्दे च]

अंतरगय-अन्तर्गत-त्रि० मध्यगते, प्रश्न० सं० ३ द्वा० ।

अंतरगिह-अन्तरगृह-गृहान्तर-न० गृहस्य गृहयोर्वा अन्तरं
 राजदन्तादित्वात् अन्तरशब्दस्य पूर्वनिपातः । गृहस्य गृह-
 योर्वा अन्तराले, वृ० ३ उ० । गृहयोरन्तराले स्थानादि न
 कर्तव्यम् " गिहंतयणिसिज्जा य त्ति " अनाचारत्वेन तस्य
 कथनात् ।

(सूत्रम्) नो कप्पति निगंथाणं वा निगंथीणं वा अन्तरा-
 गिहम्मि चिद्धित्तए वा निसीयत्तए वा तुअट्ठत्तए वा निदाइ-
 त्तए वा पयट्ठाइत्तए वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं
 वा आहारं आहारित्तए उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा
 सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए सज्जायं वा करित्तए भाणं वा
 भाइत्तए कालस्सगं वा ठाणं वा ठाइत्तए अह पुणं एवं
 जाणिज्जा वाहिणं जराजुल्लो तवस्सी दुव्वले किंते सु-
 च्छिज्ज वा पवमिज्ज वा एवं से कप्पइ अंतरगिहंसि चिद्धि-
 त्तए वा जाव ठाणं ठाइत्तए ।

नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्तरं गृहे गृहस्य
 गृहयोर्वा अन्तरे मध्ये राजदन्तादित्वादापत्वाद्वा अन्तरशब्द-
 स्य पूर्वनिपातः स्थातुं वा निपत्तुं वा यावत्करणात्त्वग्वर्तयितुं
 वा निष्ठापयितुं वा प्रचलायितुं वा असनं वा पानं वा खादितं
 वा स्वादितं वा आहर्तुमुच्चारं वा प्रसवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा
 परिष्ठापयितुं स्वाध्यायं वा कर्तुं ध्यानं वा ध्यातुं (काउस्स-
 गांति) कायौत्सगंघकणं वा स्थातुं स्थानं कर्तुं सूत्रेणैवापवादं
 दर्शयति । अथ पुनरेवं जानीयात् (वाहिं इत्यादि) व्याधि-
 तो ग्लानो जराजीर्णः स्थविरस्तपस्वी क्षपको दुर्बलो ग्लानत्वा-
 दधुनैवोत्थितोऽसमर्थशरीरः एतेषां मध्यादन्यतमस्तपसा भि-
 क्षापयन्नेन वा क्लान्तः परिश्रान्तः सन् मूर्च्छेद्वा प्रपतेद्वा एवं
 कारणमुद्दिश्य कल्पते अन्तरगृहे स्थातुं वा यावत् कायौत्सगं
 वा कर्तुमिति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः ।

सञ्जायमसम्भावे, एएह गिहाणंतं तु सम्भावे ।

पासपुरोहमअंगण, मज्झंति य होतसञ्जावं ॥

गृहान्तरं द्विधा सञ्जावतोऽसञ्जावतश्च । शुद्धयोगृहयोर्यदन्त-
 रं मध्यं तत्सञ्जावो गृहान्तरम् । यत्तु गृहस्य पादवर्तः पुरोहमे
 अङ्गणे गृहमध्ये वा तत्सञ्जावगृहान्तरं भवति एतस्मिन् द्विवि-
 धेऽपि भिक्षाद्यर्थं निर्गतस्य स्थानादि कर्तुं न कल्पते ।

कुडुंतरजिच्छीए, णिवसणे गिहे तहेव रत्थाए ।

वायंतगणे लहुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥

द्वयोः कुड्ययोरन्तरे (जिच्छीएत्ति) सदितपतितस्याभिनव-
 क्रियमाणस्य वा गृहस्य जिच्छी निवेशितश्चारित्रप्रभृतीनां गृहा-
 णामात्रोणे (गिहिस्ति) गृहपादवर्तं रत्थायां प्रतीतायामेतेषु स्था-
 नेषु तिष्ठतश्चतुर्लघुकाः तत्राप्याङ्गादयो दोषा मन्तव्यास्तन्निमित्तं
 प्रायश्चित्तं पृथग्भवतीति ज्ञावः । तथा-

खरिए खरिया सुएहा, एट्ठे वट्ठे खरे व संकिज्जा ।

खिएणं य अगणिकाए, दारे वित्तिं व केण तिरियक्खं ॥

खरको दासः खरिका दासी स्तुपा वधूः वृत्तखरस्तुरङ्गमः एतेषु
 नष्टेषु साधुः शङ्क्येत यः श्रमणकः कथ्ये अत्र गृहान्तरे उपविष्टः
 आसीत् तेन हृतं भविष्यति । द्वारे वा श्रमणेन उद्धाटिते स्तेनः
 प्रविश्य हृतवानिति (वेत्ति) वेत्तं केनचित् खातं दत्तमि-
 त्यर्थः अग्निकायो वा केनापि दत्तो भवेत् द्वारेण वा प्रविश्य
 वृत्तिं वा छित्वा केनापि सुवर्णादिकमपि हृतं स्यात् तिर्यग्यो-
 नीयो वा गोमहिषीप्रभृतिको मृतो भवेत् तत्रापि शङ्कायां ग्रह-
 णार्कपक्षादयो दोषा यंत एवमर्तो गृहान्तरे स्थातव्यम् ।

अथ सूत्रोक्तं द्वितीयपदं भावयति ।

उच्छुद्धमरारि वा, उच्छुद्धतपसोभिरे व जे होज्ज ।

थरे जुगमहिद्धे, वीसंभणवसहतसंके ॥

उच्छुद्धं रोगाग्रान्तं शरीरं यस्य स उच्छुद्धशरीरो वाशब्दः उत्तरापेक्षया विकल्पायै उच्छुद्धोऽनोन्यनग्नानः तपःशोषितो वा विरुद्धतपोनिष्ठस्तदेतौ ज्ञेयम् यथा स्थविरो जर्गः पृथिव्या-निकान्तजन्मपर्यायः सोऽपि यदि महान् स्वयंभ्योऽपि वृद्धतर एते विश्रामप्रवृत्तौ गृहान्तरे तिष्ठेयुः । इह च व्याधितोऽयं जन्मगतो जिज्ञासुर्न न कार्यते परमात्मशुद्धिकारणपेक्षया भिद्यमानस्तं प्राकृतस्तथाचनारो मन्तव्यः स च व्याधितादिविश्रमण-वेपः संविग्नवेपधारी इतश्चक्षुः तास्यादिविकारविकलतया असंज्ञाधनीयव्यवहारीकशब्दः सन् न च स्थानादीनि पदानि कुर्यात् ।

अहवा ओसहहंउं, संखमिन्यामए व वागामु ।

वायाए वा नत्थ उ, जयणाए कप्पती ठाउं ॥

सूत्रोक्तस्यावदपवादो दर्शितः । अयार्थतः प्रकारान्तरेणाप्युच्यते इत्यत्र वाशब्दार्थः औपधेहोदात्तारं गृहे अस्वाधीनं प्रतीकृते संपादक्यां वा यावद्वेला भवति संघाटकस्मादुवां यावच्छुक्तपानभूतं भाजनं वसती विमोच्य समागच्छति यस्मां वा गृहं प्रविष्टानां वर्षे निपतेत् वधूचराद्यागमनेन वा रस्यायां व्याधानां ज्ञेयम् तावत्तत्रैव गृहान्तरे यतनया वक्ष्यमाणया स्यात्तु कल्पते एव द्वाग्धायासमासायः ।

अथनामेव धिवरीपुरीयसंखदिहारे व्याख्यानयति ।

पासंमि ओसहाइं, ओसहदाता व नत्थ असहणीणो ।

संखमि अमती काडो, उट्ठं वा पकिच्छंति ॥

ग्लानस्थायिपथानि पेष्टव्यानि तत्र पेष्टणशिला प्रतिश्रये नेतुं न कल्पते अतस्तेषां चागारिणां गृहान्तरे स्थित्वा तानि पेयन्ति । औपधमार्गणार्थं वा कस्यापि गृहं गताः स चाप्यधदाता तदानीं तत्रास्वाधीनोऽतस्ते प्रतीक्षमाणैः भ्रान्तव्यम् । मन्वडी वा कापि वर्तते तत्र वसेत्कालोऽद्यापि देशकालो न भवति गृहस्वामिना चोक्तं प्रतीक्षार्थं क्षणमेकं यावद्वेला भवति ततस्तस्मिन्नन्यस्मिन् वा गृहे प्रतीक्षणीयम् । अगारिणो वा तदानीं गृहाङ्गणमापूर्य भोक्तुमुपविष्टाः सन्ति ततस्तानुपतिष्ठतः प्रतीक्षते ।

संघाटकद्वारमाह ।

एगयर उभयओ वा, अट्ठंजे अहव्व वा उभयलंभे ।

वसाहिं जाणे एगो, ता इअरो चिट्ठई दूरे ॥

एकतरस्य भक्तस्य वा पानस्य वा उभयोर्वा अलाभे दुर्लभतायामित्यर्थः । [आहव्य] कदाचिदुभयमपि प्रचुरतरं लब्धं तेन च भाजनमापूरितं ततः संघाटकस्य मध्याद्यावदेकस्तद्भाजनं वसति नयति तावदितरः साधुरगारिणां दूरं भूत्वा तिष्ठति एष चूर्णमिमांसायः । पुनरयं भक्तस्य पानकस्य उभयस्य दुर्लभस्य लाभः समुपस्थितो मात्रकं च तस्मिन् दिने अनाभोगेन न गृहीतं ततो यावदेको मात्रकं वसतेरानयति तावदितरस्तत्र गृहिणां दूरे तिष्ठतीति ।

वर्षाद्वारमाह ।

वासासु च वासंते, अणुष्णचित्ताण तत्थ एवावे ।

अंतरंगिहे गिहे वा, जयणाए दो वि चिट्ठंति ॥

वर्षासु वा कापि गृहे गतानां वर्षे वर्षति गृहस्वामिनमु-

प्राप्य तत्रानावाधे अवकाशे अन्तरगृहे वा गृहे वा द्वावपि संघाटकस्मादु यतनया विकथादिपरिहारेण तिष्ठतः ।

प्रत्यनीकद्वारमाह ।

पकिणीपनिवेपंते, तस्स अंतेउरे गतो फिणिए ।

वुग्गहनिव्वहचाने, वाघातो एवमादीसु ॥

प्रत्यनीकं समागच्छन्तं दृष्ट्वा यावदसौ अतिव्रजति तावदेकान्ते निलीय तिष्ठन्ति नृपो वा सम्मुखेनैति तस्य वा नृपस्यान्तःपुरं गतो वा हस्ती निर्गच्छति ततो यावदसौ स्फिटितो जवति तावत्तत्रैवासते (वुग्गहसि) दक्षिणौ द्विजौ वा द्वौ परस्परं विग्रहं कुर्वन्तौ समागच्छतो निर्बहं धधुवरं ततो महता विच्छेदेन समायाति आदिशब्देन गौष्टिका गीतं गायन्तः समायाति एवमादिषु कारणेषु व्याघातस्तत्रैवं प्रतीक्षणलक्षणो भवति । तत्र च तिष्ठतामियं यतना ॥

अथाणुत्ता विकहाविहीणा,

अच्छण्णछाणे व ठिया पविष्ठा ।

अत्यंति ते संतमुहा णिविद्धुं,

भजंति वा सेसपदे जहुत्ते ॥

आदानैरिच्छैर्युक्तास्तथा विकथया भक्तकथादिरूपया विशेषेण हस्तसंज्ञादिरपि परिहारेण हीनास्त्यक्तास्तत्र गृहान्तरे अच्छे छे वा प्रदेशे ऊर्ध्वस्थिता उपविष्टा वा ते साधवः शान्तमुखा आसते । निवेद्य चोपविश्य शेषाण्यपि स्वाध्यायविधानादीनि यथोक्तानि पदानि यथायोगं भजन्ते न च दोषमापद्यन्ते । कथमिति चेदुच्यते ।

थाणं च कालं च तद्देव वत्थुं,

आसज्ज जो दोसकरे तु ठाणे ।

तेणेव अन्नस्स अदोसवंते,

जवंति रोगिस्स व ओसहाइं ।

स्थानं च स्त्रीपशुपक्षरूपसंसक्तं भूभागादि कालं च ऋतुषट्कादिकं तथैव वस्तु तरुणरीरोगादिकं पुरुषस्त्वयमासाद्य यान्येकस्य गृहान्तरे स्थाननिपदनादीनि स्थानानि दोषकारीणि भवन्ति तान्येवान्यस्य पूर्वोक्तविपरीतस्थानकाष्ठपुरुषवस्तुसाक्षिव्याददोषयन्ति रोगिण इवौपधानि । यथा किं त्वान्यौपधान्येकस्य पित्तरोगिणो दोषाय भवन्ति तान्येवापरस्य वातरोगिणो न कमपि दोषमुपजनयन्ति एवमत्रापि भावनीयम् ।

अन्तरगृहे धर्मकथा न कथनीया ।

[सूत्रम्] नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंघीण वा अंतरंगिहम्मि जाव चउगाहं वा पंचगाहं वा आइखित्तए वा विजावित्तए वा किट्ठइत्तए वा पंचवइत्तए वा नत्थ एगनाएण वा एगवागरणेन वा एगगाहाए वा एगसिद्धोएण वा सेविय ठिच्चा नो चेव एं अठिच्चा ।

नो कल्पते निग्रंथानां वा निग्रंथीनां वा अन्तरगृहे यावच्चतुर्गार्धं वा पञ्चगार्धं वा विभावयितुं वा कीर्तयितुं वा प्रवेद्यितुं वा । एतदेवापवदन्नाह । “नत्थ” इत्यादि नो कल्पते इति योऽयं निषेधः स एकघाताद्वा एकगाथाया वा एकश्लोकाद्वा अन्यत्र मन्तव्यः । सूत्रे च पञ्चम्यास्स्थाने तृतीयानिर्देशः प्राकृतत्वात् । अपि च एकगाथादिव्याख्यानं स्थित्वा कर्तव्यं नैवास्थित्वा भिक्षां पर्यटता उपविष्टेन वा इति सूत्रार्थः ।

अत्र विषमपदानि भाष्यकृद् विवृणोति ।

संहियकट्टणमादि-कवणं तु पदच्छेदं मो विजागो उ ।

सुत्तयोकिट्टणया, पवेतणं तप्फञ्जं जाण ॥

इह संहिताया अस्खलितपदोच्चारणरूपाया यदाकर्षणं तदा-
ख्यानमुच्यते तच्चेदं व्रतसमितिकपायाणां धारणरक्षणविनि-
ग्रहाः सम्यग्दम्येन्द्रियश्चोपरमो धर्मः पञ्चेन्द्रियदमश्च एवं भिक्षां-
गते गृहस्थानां धर्मकथनार्थं संहिताकर्षणं करोति । यस्तु पद-
च्छेदः 'मो' इति पादपुरणे स विभागो विज्ञावना ग्रण्यते यथा
व्रतानां धारणं समितीनां रक्षणं कपायाणां निग्रह इत्यादि ।
यन्तु सूत्रार्थं कथनं सा उत्कीर्तना सा चेयं व्रतानि प्राणातिपा-
तादिविरमणरूपाणि तेषां सम्यगग्रमत्तेन धारणं कर्तव्यम् ।
समितय ईर्यासमित्यादयस्तासामेकाग्रचेतसा रक्षणं विधेय-
मित्यादिकस्य धर्मस्य यत्पद्ममैहिकामुष्मिकज्ञाभवक्षणं तत्प्र-
रूपणं प्रवेदनं जानीयात् यथा जगवत्प्रणीतमसुं धर्ममनुतिष्ठत
इहैव भुवनवन्दनीयतायशःप्रवादादयो गुणा उपदौकन्ते परत्र
च स्वर्गापवर्गसौख्यप्राप्तिर्नवतीति एवं इलोकादेराख्यानादिषु
भिक्षां गतेन विधीयमानेषु दोषानाह ।

एका वि ता महल्ला, किमंग पुण होंति पंच गाहाओ ।

साहण लहुगा आणा-दिदोसा ते चेविमे अस्से ॥

एवं संहितादिविस्तारेण व्याख्यायमाना तावदेकाऽपि गा-
था महती महाप्रमाणा भवति किमङ्ग पुनः पञ्च गाथाः । अतो
यद्येकामपि गाथां कथयति तदा चतुर्लघुका आज्ञादयश्च
दोषाः । तथा चतुरङ्गमादिहतनष्टशङ्कादयस्त एवान्तरगृहोक्ता
दोषा भवन्ति । इमे च वक्ष्यमाणा अन्ये दोषास्तानेवाह ।

अर्द्धीकारगपोत्थग-खरररुणमखरा चेव ।

साहारणपरिणचे, गिह्वाणलहुगाइ जा चरिमं ॥

भिक्षां पर्यटनं कमप्यगारिणमश्रुद्धां गाथां पठन्तं श्रुत्वा ब्र-
वीति विनाशितेयं त्वया गाथा । तथा (अर्द्धीकारगति) गा-
थाया अर्द्धमहं करोमि अर्द्धं पुनस्त्वया कर्तव्यम् । (पुत्थगति)
पुस्तकादेव शास्त्रमधीतं भवता न पुनर्गुरुमुखात् । (खररड-
णत्ति) किमेवं खर इवारटनं करोपि (अखरा चेवत्ति) अ-
क्षराण्येव तावद्भवान्न जानीते अतः पट्टिकामानयाहं भवन्तं
तानि शिष्यामि इत्यादिश्रुवाणो यावत्तत्र व्याक्षेपं करोति ता-
वत् इमे दोषाः (साहारणंति) साधारणं सर्वेषु मिलितेषु
यन्मण्डल्यां भोजनं तन्निमित्तमितरे साधवः तं प्रतीक्षमाणा-
स्तिष्ठन्ति (पडणित्ति) तेन साधुना कश्चित् ग्लानः प्रति-
क्षप्तः अद्याहं भवतः प्रायोग्यमानेप्यामीति ततस्तेन वेलावि-
लम्बेन यदसौ ग्लानः परितापादि प्राप्नोति तत्र चतुर्लघु-
कादि चरमं पाराञ्चिकं यावत्प्रायश्चित्तमिति द्वारगाथा-
समासार्थः ।

सांप्रतमेनामेव व्याख्यानयति ।

जगविभग्गा गाहां, भणई हीणा च जा तुमे जणिता ।

अहं से करेमि अम्हं, तुम से अम्हं पसाहेहि ॥

साधुभिर्ज्ञां गतः सुपारिडल्यप्यपनार्थं गृहस्थं पठन्तं श्रुत्वा
ब्रवीति येयं त्वया गाथा भणिता सा भगविभग्ना इति भणति
हीना वा कृता । यद्वा अर्द्धं (से) तस्या गाथाया अहं क-
रोमि अर्द्धं पुनस्त्वं प्रसाधय इत्येवमभिनवा गाथा क्रियते ।

पोत्थगपच्चगपडियं, किं रडांसि रासहु व्व अभिलापं ।

अकयमुह ! फलयमाणय, जा ते लिक्खं तु पंचगं ॥

पुस्तकप्रत्ययादेव भवता पठितं न गुरुमुखात् अतः किमेतेन
प्रयासेन किं वा त्वमेवं रासज इव अभिलापं विस्तारमारुहसि ।
यद्वा अकृतमङ्गरसंस्कारेणासंस्कृतं मुखं यस्यासावकृतमुखस्त-
स्यामन्त्रणं हे अकृतमुख ! अपठिताशिक्षित ! एवं भवान्न किमपि
ज्ञास्यति अतः फलकं पट्टिकामानय येन तव योग्यानि पञ्चा-
ग्राह्यकृपाणि शिष्यन्तामस्मान्निः । एवं भिक्षां पर्यटनं यदि विक-
त्यते तत इदं प्रायश्चित्तम् ।

लहुगादीं छग्गुरुगा, तवकालविमोसिया चज्जगुरुगा ।

अधिकरणमुत्तरुत्तर-एसणसंकाइ फिमियम्मि ॥

गाथायामर्द्धीकारके च चतुर्लघु, पुस्तके चतुर्गुरु, अक्षरशि-
क्षणे परलघु, खररटने परगुरु, । अथवा तपःकावविशेषिता-
श्चतुर्लघुकाः तद्यथा गाथामर्द्धीकारकयोस्तपःकालाभ्यां लघुकाः
पुस्तके कालेन गुरुका अक्षरेषु तपसा गुरुकाः खररटने तपसा
कालेन च गुरुकाः । अधिकरणं च कलहस्तेन समं जवाति उ-
त्तरोत्तरा उत्किप्रत्युत्तीः कुर्वाणस्य च तस्य भिक्षायां देशकालः
स्फिटति तस्मिन् स्फिटिते पर्यटनपणयोः प्रेरणं कुर्यात् अकाल-
चारिणश्च शठकादयो दोषा जवन्ति ।

वागिएहति इय सो जाव, तेण ता गहिय भायणा इयरे ।

अर्थते अंतरा य, एमेव य जो पमिस्सत्तो ॥

यावदसौ तेन सममुत्तरप्रत्युत्तरिकां कुर्वन् व्यागृह्णाति व्याक्षे-
पेण वेलां गमयति तावदितरे साधवो गृहीतजाजनाः सन्तः
आसते ततोऽन्तरायदोषः । एवमेव यो ग्लानः प्रतिक्षस्तस्त्वद्यो-
ग्यं प्रायोग्यमद्य मया आनेतव्यमित्यर्थः ततस्तस्मिन्नपि तावन्तं
कालं बुद्धिक्ते तिष्ठति तस्य साधारन्तरायं जवति ।

काळाइकमदाणे, होइ गिह्वाणस्स रोगपरिवुद्धी ।

परितावणगाढाति, चउलहुगा जाव चरिमपदं ॥

काळातिक्रमेण च ध्यानस्य जक्तपानदाने रोगपरिवुद्धिर्भवति
ततश्च यदसावनागाढपरितापादिकं प्राप्नोति तत्र चतुर्लघुका-
दिप्रायश्चित्तं यावत् कालगते चरमपदं पाराञ्चिकम् । द्विती-
यपदे गोचरप्रविष्टोऽपि परेण स्पृष्टः सन् कथयेत् । किं कारणमि-
ति चेदुच्यते ।

किं जाणंति य चरगा, हलं जाहिच्चाण जे उ पव्वइया ।

एवंविधो अवणणो, मा होहिइ तेण कहयंति ॥

यदा परेण प्रश्निता अपि न कथयन्ति तदा सचिन्तयति किमे-
ते चरका जानन्ति ये हलं परित्यज्य प्रव्रजिताः एवंविधोऽवर्णः
प्रवचनस्य मा जूत् तेन कारणेन कथयन्ति । अथ "पगनाण-
वा" इत्यादिसूत्रपदव्याचिख्यासयाऽऽह ।

एगं नायं उदगं, वागरणमहिंसलक्खणो धम्मो ।

गाहाहिं सिलोगेहि व, समासतो तं पि ठिच्चा णं ॥

परप्रश्नितेन विवक्षितार्थसमर्थनार्थमेकं ज्ञातमभिधातव्यं तत्र
चोदकट्टणान्तो भवति व्याकरणं निर्वचनं यथा केनचित् धर्मल-
क्षणं पृष्टतः प्रतिज्ञयात् अहिंसावृत्तौ धर्मः । अथवा गाथाभिः
श्लोकैर्वा समासतो धर्मकथनं कर्तव्यं तदपि च स्थित्वा नोपवि-
ष्टेन न वा भिक्षां हि एरुमानेनेति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनमेव विवृणोति ।

नज्जइ अणेण अत्थे, णायं दिहंत इति व एगटं ।

वागरणं पुण जा ज-स्स धम्मता होति अत्यस्स ॥

ज्ञायते अनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति ज्ञातं दृष्टान्त इति चैकार्थं व्याकरणं पुनर्या यस्य मोक्षादेरर्थस्य धर्मता स्वभावस्तस्य निर्वचनम् । अथोदकदृष्टान्तो भाव्यते “पगो साह् उभामगमिक्खायरियाए अशं गामं वच्चइ तत्थ अंतरा गिहत्थो मिहितो ते दो वि वच्चेता अंतरापहे उदगं उत्तिण्णा सो अगारो गामं पविट्ठो तस्स य भगिणी अत्थि तीए घरं पाहुणगो गतो । साह् वि भिक्खं हिंसतो तं घरं गतो जगिणीए पुरेकम्मं कयं साहुणा पडिसिद्धं । भगिणीए काहियं कीस न गिएहसि । साह् भणइ उदगसमारजो न वट्ठइ । अगारा जणंति जे मए समं पंथे उदगं उत्तिष्ठो सि नं किह कप्पइ अहो मायाविणो दुद्धिधम्ममाणो सि । साह् जणइ न वयं मायाविणो न वा दुद्धिधम्ममाणो किं तु “ पप्पं खु परिहरामो, अप्पपं विवज्जं ण विज्जति हु । पप्पं खहु सावज्जं, वज्जंतो होइ अणवज्जो ” प्राप्यमेव परिहर्तुं शक्यमेवं इयं परिहरामः अप्राप्यस्य परिहर्तुमशक्यस्य मार्गक्रमायातोदकवाहकादेर्विवर्जकः परिहर्ता न विद्यते अत एव प्राप्यं सावद्यं पुरःकर्मादिकं वर्जयन् अनवद्यो निर्दोषो भवति । अपि च नायमेकान्तोयदेकत्रानवद्यतया दृष्टं तदन्यत्र प्राप्यमवद्यमेव ज्ञवति । तथाहि ।

चिरपाहुणतो भगिणिं, अवयासितो अदोसवं होति ।

तुं चैव मज्ज सक्खी, गरहिज्जइ अस्सहिं काले ॥

चिरकालादायातः प्राघूर्णको जगिनीभवकाशमानः सस्नेहमात्तिङ्गन् अशोपवान् भवति । तथा चात्र त्वमेव मम साक्षी प्रमाणं सांप्रतमेव भवता चिरप्राघूर्णकतया जगिनीपरिष्वङ्गस्य कृत-त्यादिति ज्ञावः । तामेव च जगिनीमन्यस्मिन् काले परिष्वजन् गर्ह्यते निन्द्यते अत्रापि त्वमेव प्रमाणमिति । तथा ।

पादेहि अथोतोहि वि, आक्रमिय तम्म कीरती अच्चा ।

सीसण वि संकिज्जति, मच्चेव चितीकया उविओ ॥

अर्वा प्रतिमा सा यावन्नाद्यापि प्रतिष्ठिता तावदधीतैरपि पादैराक्रम्योपरि चढित्वाऽपि क्रियते । सैव प्रतिमा चितीकृता चैत्यत्वेन व्यवस्थापिता शीर्षेणापि स्प्रष्टुं शङ्क्यते शिरसा स्पृशद्भिरपि शङ्का विधीयत इति ज्ञावः ।

केइ सरीरावयवा, देहत्था पूइया न पुण विउता ।

सोहिज्जंति वणमुहा, मलम्मि वूढे ए सव्वे ७ ॥

केचित् शरीरावयवा दन्तकेशनस्नादयो देहस्थाः सन्तः पूजिताः प्रशस्ता भवन्ति न पुनर्विमुताः शरीरात्पृथग्भूताः । तथा व्रणमुख्यान्यपि श्रोत्रचक्षुःपायुप्रवृत्तीनि मूढे व्यूढे सति न सर्वाण्यपि शोष्यन्ते किंतु कानिचिदेवेति ।

जइ एगत्थुवल्लं, सव्वत्थ वि एवमस्ससी मोहा ।

जूमिती होति कणगं, किस्स सुवप्सा पुणो जूमि ॥

यदि नाम एकत्र यदुपलब्धं सर्वत्रापि तेन भवितव्यमित्येवं मोहादज्ञानान् मन्यसे ततः कथय भूमीतः कनकमुत्पद्यमानं दृश्यते ततः सुवर्णात्पुनरपि किं न भूमिः सम्पद्यते । तम्हा उ अणेगंतो, ए दिट्ठमेगत्थ सव्वहिं होति ।

लोए भक्खमभक्खं, पिज्जमपिज्जं च दिट्ठाइ ॥

तस्मादनेकान्तोऽनिर्यमो यः कीदृश इत्याह । नैकत्र दृष्टं सर्वत्रापि भवतीति । तथाच लोके प्राणयुक्त्वे समानेऽप्योदनपक्वाादिकं भक्ष्यं मांसवसादिकमभक्ष्यं तक्रजलादिकं पेयं

मद्यखिरादिकमपेयमित्यादीनि पृथक् व्यवस्थोत्तराणि दृष्टानि तथात्रापि उदकसमारम्भादौ मन्तव्यानि गतमेकज्ञातम् । अथैकव्याकरणेन यथा धर्मोऽभिधीयते तथा दर्शयति ।

जं इच्छसि अप्पणतो, जं व ए इच्छसि अप्पणतो ।

तं इच्छ परस्स वि यं, इत्थियं जिणसासणं ॥

यदात्मनः स्वजीवस्य सुखादिकमिच्छसि यच्च दुःखादिकमात्मनो नेच्छसि तत्परस्याप्यात्मव्यतिरिक्तस्य जन्तो रिच्छ आत्मवत् परमपि पश्येति भावः । एतावत् जिनशासनमित्यन्मात्रो जिनोपदेश इति । गाथया पुनरित्थं धर्म उपदिश्यते ।

सव्वारंजपरिगह-णिकखेत्रो सव्वज्जुत्तसमया य ।

एकगमणसमाहा-णया अह एत्तिओ मोक्खो ॥

सर्वस्य सूक्ष्मबादराद्यशेषजीवविषयस्थारम्भस्य सर्वस्य च सच्चित्ताचित्तमिश्रभेदमिन्नस्य परिग्रहस्य यो निक्षेपः स न्यासो यावत्सर्वभूतेषु समता, या च एकाग्रमनःसमाधानता, अथैष एतावान् मोक्ष उच्यते । कारणे कार्योपचारादेशो मोक्षोपाय इत्यर्थः । श्लोकेन यथा ।

सव्वज्जुत्तप्पज्जुत्तस्स, सम्मं जूताइ पासड ।

पिहिया सम्मस्स दंरस्स, पावं कम्मं न बंधइ ॥

पाठसिद्धः । ये तु संस्कृतसूचयस्तेषामित्थं गाथया श्लोकेन वा धर्मकथा क्रियते । “व्रतसमितिकथायाणां, धारणरक्षणविनिग्रहाः सम्यक् । दण्डेभ्यश्चोपरमो, धर्मः पञ्चेन्द्रियदमश्च ॥ यत्र प्राणिवधो नास्ति, यत्र सत्यमनिन्दितम् । तत्रात्मनिग्रहो दृष्टः स धर्ममपि रोचयेत् ” ।

अथ किं कारणं स्थित्वा धर्मः कथनीय इत्याशङ्क्याह ।

इरियावहिंयावप्से, सिष्णं ए गिएहए अतो ठिच्चा ।

जहिट्ठी पणिणीए, अभिओगे चउएह वि परेण ॥

इर्यापथिकी चक्रमणक्रिया तां कुर्वन् यदि कथयति तदा लोके अवर्णो भवति दुर्दृष्टधर्माणोऽमी यदेवं गच्छन्तो धर्मं कथयन्ति अपि च शिष्टमपि कथितमपि धर्ममेवं श्रोता न गृह्णाति । अतः स्थित्वा एकश्लोकादि कथनीयम् । अथापवाद उच्यते कश्चिद्भद्रको धर्मश्रद्धालुः श्रद्धिमान् धर्मं पृच्छति ततः सत्त्वानुकम्पया प्रवचनोपग्रहकरश्च भविष्यतीति कृत्वा तिस्रश्चतस्रः पञ्च वा बहूतरा वा गाथा उपविश्य कथयितव्याः । प्रत्यनीको वा कश्चिद् व्यतिव्रजति तं प्रतीक्षमाणस्तावद्धर्मं कथयेत् यावदसौ व्यतीतो ज्ञवति । यद्वा स प्रत्यनीकः सहसा दृष्टो भवेत् ततो यः सख्यधिकः स उपशमनानामितं बहुविधमुपदेशं दद्यात् । दण्डिकस्य वा अभियोगो वलात्कारो भवेत् । किमुक्तं ज्ञवति । एकश्लोकेन धर्मं उपदिष्टे दण्डिको श्रूयात् कथय कथय मे संप्रति महती श्रद्धा वर्तते ततश्चतुर्णां श्लोकानां परतोऽपि कथयेत् । आह कीदृशी पुनः कथा कथयितव्या कीदृशी वा नेति ।

सिंगाररसुत्तिजिया, मोहमई फुंफुका हसहसेति ।

जं पुण माणुस्सकंहं, समणेण नु सा कहेयव्वा ॥

यां कथां शृण्वतः श्रोतुः स्त्रीसुवर्णकादिश्रवणजनितो रसस्स शृङ्गारो नाम रसस्तेनोत्तेजिता सती मोहमयी फुंफुका (हसहसति) जाज्वल्यते सा कथं श्रवणेन कथयितव्या ।

समणेण कहेयव्वा, तवनियमकहा विरागमंजुत्ता ।

जं सोक्ताण मणूसो, वच्चइ संवेगणिन्वेयं ॥

तपोऽनशनादि नियमा इन्द्रियनिग्रहास्तत्प्रधाना कथा तपो-
नियमकथा विरागसंयुक्ता न निदानादिना रागादिसंगता श्र-
मणेन कथयितव्या यां श्रुत्वा मनुष्यः श्रोता संवेगनिर्वेदं व्रजति ।
संवंगो मौलाभिलाषो निर्वेदः संसारचैराग्यम् ।

महाव्रतानि न गृहान्तरं कथनीयानि ।

(सूत्रम्) नो कप्यइ निगंथाणं वा निगंथीणं वा अंतरगिहम्मि
इमाइ पंचमहव्वयाइ सजावणाइ आइस्वित्तए वा विजावि-
त्तए वा किट्ठित्तए वा पवेयत्तए वा नन्नत्थ एगनाएण वा
जाव सिलोएण वा सेविय त्रिच्चा नो चेव णं अट्ठिच्चा ।

अस्य व्याख्या प्राक्सूत्रवद् द्रष्टव्या । नवरम्-इमानि स्वयमनु-
च्रूयमानानि पञ्च महाव्रतानि सभावानि प्रतिव्रतं ज्ञावनापञ्चा-
युक्तानि आख्यातुं वा विज्ञावयितुं वा कीर्तयितुं वा प्रवेदयितुं वा
न कल्पते । आख्यानं नाम साधूनां पञ्च महाव्रतानि ज्ञावनायुक्ता-
नि पट्कायरूपेण साराणि भवन्ति । विभाषनं तु प्राणातिपाताद्वि-
रमणं यावत्परिग्रहाद्विरमणमिति । ज्ञावनास्तु “इरियासमिप स-
या जप इत्यादि” गायोक्तस्वरूपाः पट्कायास्तु पृथिव्यादयः को-
र्त्तनं नाम या प्रथमव्रतरूपा अहिंसा सा जगवती सदेवमनु-
जासुरस्य लोकस्य पूज्या त्राणं गतिः प्रतिष्ठेत्यादि एवं स-
र्वेषामपि प्रश्नव्याकरणाङ्गोक्तान् गुणान्कीर्त्तयति प्रवेदनं तु म-
हाव्रतानुपालनात् स्वर्गोऽपवर्गो वा प्राप्यत इति सूत्रार्थः । परः
प्राह । ननु पूर्वसूत्रेण गतार्थमिदमतः किमर्थमारभ्यते उच्यते ।

गहियागाहियविसेसा, गाथासुत्ता तु होति वयमुत्ते ।

णिदेसकतो व जेवे, परिमाणकतो व विस्संयो ॥

गाथासुत्राद्गतसूत्रे पठितो प्रथितः विशेषो मन्तव्यः किमुक्तं भव-
ति अनन्तरसूत्रे च उगाहं वा पंचगाहं वा इत्येकं ताश्च गाथा ग्रथि-
ता भवन्ति इमानि तु महाव्रतानि प्रथितानि अग्रथितानि वा भवे-
युग्रथितानि नाम पदपाठवन्धेन वा श्लोकवन्धेन वा वक्तानि क-
थयति अग्रथितानि तु मुक्कलैरेव वचनैरन्यभिधीयन्ते यद्वा
निर्देशः कृतोऽत्र विशेषो भवति अनन्तरसूत्रे चतुर्गार्थं पञ्चगार्थं
वा कथयितुं न कल्पते इत्युद्देशमात्रमेव कृतम् अत्र तु महाव्र-
तानि सभावनाकानीत्यनेन तस्यैव विशेषनिर्देशः क्रियते । परि-
माणकतो वा विशेषो विज्ञेयः । यद्धस्तनसूत्रे धर्मस्वरूपमुक्तं
तदेवात्र महाव्रतमञ्चकमिति संख्यया विशेषो निरूप्यते ।

अथात्रैव दोषानाह ।

पंचमहव्वयतुंगं, जिणव्वयणं ज्ञावणापिण्णदंगं ।

साहणव्वहुगा आणाइ-दोसं जं वा णिसिज्जाए ॥

इह जिनवचनं मेरुसदृशं पञ्चजिर्महाव्रतैस्तुङ्गमुच्छ्रितं पञ्च-
महाव्रतमयोच्छ्रितमित्यर्थस्तस्यैव महाव्रतोच्छ्रितस्य रक्षणार्थं
भावनाभिः पञ्चविंशतिसंख्याकाभिः पिनरुग्गादतरं नियन्त्रित-
मीदृशं जिनवचनमन्तरगृहे उपविश्य कथयतश्चतुर्दशैशुकाः आ-
ज्ञादयो दोषाः । यद्वा गृहनिषद्यायां वाहितायां प्रायश्चित्तं यच्च
क्षोभजालं तदापद्यते । तथा महाव्रतपञ्चकविषयादोषा भवन्ति ।
प्राणवधमापद्यते प्राणवधं वा शङ्क्यते । एवं यावत्परिग्रहमापद्यते
परिग्रहे वा शङ्क्यते । तथाहि ।

पाणवहम्मि गुब्बिणी, कप्पहादाणए य संकाओ ।

जणिरुए दाइ कोइ, मौसमियं संकणा साणे ॥

गृहे उपविश्य साधुधर्मं कथयति गुर्विणी च तस्यान्तिके उ-
पविश्य शृणोति यावच्चासौ तत्र तिष्ठति तावत्तदीयगर्भस्याहा-
रव्यवच्छेदेन विपत्तिर्भवति । एवं प्राणवधो लगति । तथा ध-
र्मं कथयतः काचिद्विरतिका शृण्वत्येवापान्तराले कायिक-
चूर्मिं गच्छेत् स च पुनस्तत्रैवास्ते ततः सपत्नी छिद्रं लब्ध्वा-
तत्तनयं मिषेण साधोरग्रतो निपात्य छावयति एवं प्राणातिपात-
विषया शङ्का भवेत् । तथा यत्तीर्थं करैः प्रतिषिक्तं तन्मया न क-
र्त्तव्यमिति प्रतिज्ञातैः प्रतिषिक्तां निषद्यां वाहयतो मृषावादो भव-
ति । यद्वा स्वमुखेनैव गृहनिषद्यां निषिध्य पश्चादात्मनैव तां परि-
भुज्जानो मृषावादमापद्यते । अथवा स दिने दिने तस्या अविर-
तिकाया अग्रे धर्मं कथयति ततो गृहस्वमिना भणितां मे भ्रम
गृहं नायासीरिति । साधुना प्रणितम् । आगमिष्यन्ति ते गृहं पा-
णशुनका एवमुक्त्वाऽपि जिह्वाहोलतदिदोषेण तदेव गृहं व्र-
जन् भणितोऽपि तेन गृहस्थेन वारितोऽपि कश्चिदिति एवं मृषा-
वादमाप्नोति । स च गृहस्थो ब्रूयात् किं पाणशुनकः संवृत्तोऽ-
स्तीति । यद्वा गृहस्थो भोजनं कुर्वन् धर्मं शृण्वतीमगारीं किम-
प्युक्तं द्वितीयाङ्गं याचेत् सा ब्रूयात् शुना भक्तिम् । अगारो
ब्रूयात् जानाम्यहं तं इवानं येन प्रकृतमिति । एवं मृषावादवि-
षया शङ्का भवेत् । अथास्या एव पूर्वार्द्धे व्याचष्टे ।

खुहिया पिपासिया वा, मंदक्खेणं न तस्स उट्ठेइ ।

गब्जस्स अंतरायं, वाधिज्जइ संनिरोधेणं ॥

गुर्विणी धर्मकथां शृण्वती क्षुधिता वा पिपासिता वा भ-
वेत् सा च तस्य साधोः संवन्धिना मन्दाक्षेण लज्जमाना ति-
ष्ठति ततो गर्भस्यान्तरायं भवति । तेन चाहारव्यवच्छेदलक्ष-
णेन संनिरोधेन स गर्भो वाच्यते । ततो व्यापत्तिमप्यसौ
प्राप्नुयादिति प्राणवधमापद्यते ।

अथ प्राणवधविषयशङ्कां दर्शयति ।

उक्खिण्वितो सो हत्था, चुत्तो तस्सग्गतो णिवाक्किता ।

सुणते य विचारगते, हाह त्ति स वित्तिणी कुणति ॥

अविरतिकाया अग्रे स धर्मं कथयति सा चापान्तराले का-
यिकाद्यर्थं निर्गता ततस्तस्यां शृण्वत्यां आविकायां विचार-
भूमौ गतायां सपत्नी तदीयं पुत्रं तस्य साधोरग्रतः उत्तिष्ठ्य
भूमौ सहसैव निपातयति निपात्य च अहो अनेन श्रमणेन
अयं पुत्र उत्तिष्ठः सन्नेतदीयहस्ताच्छ्रुतो विपन्न इति महता
शब्देन हातिपूत्कारं करोति । ततो भूयान् लोको मिलितस्तं
साधुं तत्र स्थितं दृष्ट्वा शङ्कां कुर्यात् किमेतत्सत्यमेवेदमिति ।
मृषावाददोषप्रकाशः संप्रपञ्चमुक्त इति न भूयो भाव्यते ।

अथादत्तादानमैथुनयोर्दोषानाह ।

सयमेव कोइ बुद्धो, अपहरती तं पकुच्च कम्मकरी ।

वाणिगिणी मेहुणए, बहुसो य चिरं च संका य ॥

कश्चिद्भूती बुद्धः सन् विजनं मत्वा स्वयमेव सुवर्णकलिकां
मुद्रिकामपहरति एवमदत्तादानमापद्यते । तं वा संयतं प्र-
तीत्य “साधुरत्रार्थं शङ्किष्यते नाहमिति” कृत्वा कर्मकारी का-
चिदपहरेत् । वाणिजिका वा काचित्प्रोषितभर्तृका तथा समं
मैथुनविषया आत्मपरोभयसमुत्था दोषा भवन्ति । अथवा
यत्र प्रोषितपतिकास्तिष्ठन्ति तत्रासौ बहुशो वारं व्रजति
चिरं च ताभिः सह कन्दर्पं कुर्वाणस्तिष्ठति ततश्चतुर्थवि-
षये शङ्क्येत ।

अथ परिग्रहदोषमाह ।

धर्मं कहेइ जस्स उ, तम्मि उ श्रीयारए गए संते ।

भारकखणपरिग्रहो, परेण दिट्ठम्मि उडाहो ॥

यस्य श्राद्धकादेरग्रे धर्मं कथयति स गृयात् यावद्दहं कायिकां
कुत्सुज्य अत्र समागच्छामि तावद्भवता गृहं रक्षणीयमेव-
मुक्त्वा तत्र विचारभूमौ गते स संयतो यावत्तद्गृहं संरक्षति
तावत्परिग्रहदोषमापद्यते तदेवं गृहं रक्षन् परेण दृष्टः स श्रद्धां
कुर्यात् नूनमेतस्यापि हिरण्यं सुवर्णं वा विद्यते उडाहं च स
कुर्यात् अहो अयं धर्मणः सपरिग्रह इति । यत एते दोषा
अतो नान्तरगृहे धर्मकथा कस्यर्था ।

द्वितीयपदमाह ।

एगं णायं उदकं, वागरणमहिंमव्वकवणो धम्मो ।

गात्राहिं मिलोगेहि य, समासतो तं पि उच्चा एं ॥

गतार्थम् । वृ० ३ उ० ।

अंतरजाय-अन्तरजात-न० भाषाव्यजातभेदे, यानि द्रव्या-
णि अन्तरात्रे समश्रेण्यामेव निरुद्धानि तानि जापापरिणामं
नजन्ते तान्यन्तरजातमुच्यते आचा० २ ध्रु० ४ अ० ।

अंतरणई (दी)-अन्तरनदी-खी० लुद्रनदीपु,

यत्र यावत्प्राप्त्यन्तरनद्यस्तत्प्रतिपादयति ।

जंभुमंदरस्स पुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं
तत्रो अंतरणईओ पणत्ता तंजहा गाहावई दहवई पंकवई ।
जंभुमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए दाहिणेणं तत्रो
अंतरणईओ पणत्ता तंजहा तत्तजला मत्तजला उम्मत्तज-
ला । जंभुमंदरपच्छिमेणं सीओदाए महाणईए दाहिणेणं
तत्रो अंतरणईओ पणत्ता तंजहा खीरोदा सीहसोया अंतो-
वाहिणी । जंभुमंदरपच्छिमेणं सीओदाए महाणईए
उत्तरेणं तत्रो अंतरणईओ पणत्ता तंजहा उम्मिमालिणी
फेणमाद्विणी गंजीरमालिणी । एवं धायइखंडदीवपुरच्छि-
मद्धे वि । अकम्मज्झमीओ आहवेत्ता जाव अंतरणदीओ
त्ति णिरवसेसं जाणियव्वं जाव पुक्खरवरदीवहूपच्छि-
मद्धे तदेव णिरवसेसं जाणियव्वं ।

अन्तरनदीनां विष्कम्भः पञ्चविंशत्यधिकं । योजनशतमिति
स्था० ३ उ० ॥

जंभुमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणदीए उच्चयकूले ष अंत-
रणईओ पणत्ताओ तंजहा गाहावई दहवई पंकवई तत्तजला
मत्तजला उम्मत्तजला । जंभुमंदरपच्छिमेणं सीओयाए
महाणईए उच्चयकूले ष अंतरणईओ पणत्ता तंजहा खीरोदा
सीहसोया अंतोवाहिणी उम्मिमालिणी फेनमालिणी गं-
जीरमालिणी स्था० ६ उ० ॥

संग्रहेण

दो गाहावईओ दो दहवईओ दो पंकवईओ दो तत्तजला-
ओ दो मत्तजलाओ दो उम्मत्तजलाओ दो खीरोयाओ दो
सीहसोयाओ दो अंतोवाहिणीओ दो उम्मिमालिणीओ
दो फेणमालिणीओ दो गंभीरमालिणीओ ॥

चित्रकूटपञ्चकूटवङ्कस्कारपर्वतयोरन्तरे नीलवर्षधरपर्वतनित-
म्बव्यवस्थितत्वात् ग्राहवतीकुण्डादृक्क्षिणतोरणविनिर्गता अष्टा-
विंशतिनदीसहस्रपरिवारा शीताध्रिगामिनी सुकच्छमहाकच्छ-
विजययोर्विभागकारिणी ग्राहवती नदी । एवं यथायोगं द्वयोर्द्व-
योर्वङ्कस्कारपर्वतयोर्विजययोरन्तरे क्रमेण प्रदक्षिणया द्वादशा-
प्यन्तरनद्यो योज्यास्तद्विन्वं च पूर्ववदिति स्था० २ उ० (पूर्व-
पश्चिमार्कापेक्षया द्विगुणत्वादिति)

अंतरदीव-अन्तरद्वीप-पुं० अन्तरशब्दो मध्यवाची अन्तरे लव-
णसमुद्रस्य मध्ये द्वीपा अन्तरद्वीपाः प्रज्ञा० १ पद. । अथवा
अन्तरं परस्परं विभागस्तत्प्रधाना द्वीपा अन्तरद्वीपाः । एकोरु-
कादिषु अष्टाविंशतिविधद्वीपजैरेषु, स्था० ४ उ० ।

मैं किं तं अंतरदीवया ? अंतरदीवया अक्षावीसविहा प-
णत्ता एगोरुया अहासिया वेसाणिया णंगोली ? हयकन्न
गयकन्ना गोकन्ना सकाञ्जिन्ना २ आर्यसमुहा मेदमुहा अय-
मुहा गोमुहा ३ आसमुहा हत्थिमुहा सीहमुहा वग्घमुहा
४ आसकन्ना सीहकन्ना अकन्ना कण्णपाउरणा ५ उक्का-
मुहा मेहमुहा विज्जुमुहा विज्जुदंता ६ घणदंता लद्धदंता
गृद्धदंता सुद्धदंता ७ सेत्तं अंतरदीवगा ।

से किं तमित्यादि सुगमं नवरमष्टाविंशतिविधा इति यादृशा
एवं यावत्प्रमाणा यावदपान्तराद्वा यन्नामानो हिमवत्पर्वतपूर्वा-
परदिग्व्यवस्थिता अष्टाविंशतिविधा अन्तरद्वीपास्तादृशा एव
तावत्प्रमाणास्तावदपान्तराद्वास्तन्नामानं एवं शिखरिपर्वतपूर्वाप-
रदिग्व्यवस्थिता अपि ततोऽन्यन्तसदृशतया व्यक्तिभेदमनपेक्ष्य
अन्तरद्वीपा अष्टाविंशतिविधा एव विवक्षिता इति तज्जाता म-
नुष्या अपि अष्टाविंशतिविधा उक्तास्तानेव नामग्राहमुपदर्श-
यति “ तंजहा एगोरुया इत्यादि ” एते सप्त चतुष्का अष्टाविं-
शतिसंख्यत्वात् एते च प्रत्येकं हिमवति शिखरिणि तत्र हिम-
वत्ततया तावद्भाव्यन्ते (प्रज्ञा० १ पद.) इह एकोरुकादिनामा-
नो द्वीपाः परं तात्स्थ्यात् द्वयपदेश इति न्यायान्मनुष्या अन्येको-
रुकादय उक्ताः यथा पञ्चालदेशनिवासिनः पुरुषाः पञ्चाला
इति । जीवा० ३ प्रति० । एतेषु सप्तसु चतुष्केषु प्रथमश्चतु-
ष्कः । तथा च एकोरुकमनुष्याणामेकोरुकद्वीपं पिपुच्छिषुराह ।

काहि एं भंते ! दाहिणिद्व्याणं एगुरुयमणुस्साणं एगुरुयदीवे
णामं दीवे पन्नत्ते ? गोयमा ! जंभुदीवे मंदरस्स पव्वयस्स
दाहिणेणं लुद्धहिमवन्तस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमि-
द्व्याओ चरिमन्ताओ ववण-ममुदं तिस्सिं जोयणसयाइं लुग्गा-
हिता एत्थ एं दाहिणिद्व्याणं एगुरुयमणुस्साणं एगुरुयदीवे
नामं दीवे पणत्ते तिन्नि जोयणसयाइं आयाभाविकव्वंनेणं एव
एकूपणएणे जोयणसए किंचि विसेसुणे पारिक्खेवणं । से णं
एगाए पडमवरवेइयाए एगेणं वणसनेणं सव्वओ समंता
संपरिकखेत्ता से णं पडमवरवेइया अद्धजोयणं उच्चं उच्च-
त्तेणं पंच धेणुसैयाइं विक्खंभेणं एगोरुयदीवसमंता परि-
क्खेवेणं पन्नत्ता । तीसे णं पडमवरवेइयाए अयमेयारुवे व-
न्नावसे पन्नत्ते तंजहा वयरामया निम्मा एवं वेतिया व-
न्नओ जहा रायपसेणीए तहा भाणियव्वा । से णं पडम-

वरवेद्या एगेणं वणसंनेणं सव्वओ समंता संपरिक्खिता
 से णं वणसंनेणं देसूणाइं दो जोयणाइं चक्खवालाविकखं-
 भेणं वेद्या समए परिकखेवेणं पन्नत्ते से णं वणखंने कएहे
 किएहोवभासे एवं जहा रायपसेणइज्जे वणसंडवन्नओ त-
 हेव निरवसेसं भाणियव्वं । तणाण य वन्नगंधफासो सद्दो
 तणाणं वा वीओप्पायपव्वयगा पुढविसित्ता पट्टगा य जा-
 णियव्वा जाव तत्थ णं वहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ
 य आसयंति जाव विहरंति । एगुर्यदीवस्स णं दीवस्स
 अंतो बहुसमरमणिज्जे जूमिभागे पन्नत्ते से जहानामए
 आलिंगपुक्खरेइ वा एवं सयणीए भाणियव्वे जाव पुढवि-
 सिद्धापट्टगं ति । तत्थ णं वहवे एगुर्यदीवया मणुस्सा य
 मणुस्सीओ य आसयंति जाव विहरंति । एगुर्यदीवे णं दीवे
 तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं वहवे उद्दालका मोद्दालका
 कोद्दालगा कतमाला नत्तमाला एट्टमाला सिंगमाला सं-
 खमाला दंतमाला सेलमालगा णाम दुमगणा पन्नत्ता सम-
 णाउसो ! कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला मूलमंतो कंदमंतो जाव
 वीयमंतो पत्तेहि य पुप्फेहि य अच्छन्नपक्खिच्छन्ना सिरीए
 अइव २ सोभेमाणा ओघसोजेमाणा चिद्धंति । एगुर्यदीवे णं
 दीवे तत्थ तत्थ वहवे हेरुयालवणा जेरुयालवणा मरुया-
 लवणा सेरुयालवणा सालवणा सरलवणा सन्नपणवणा
 पूयफल्लिवणा खज्जरीवणा नालिएरवणा कुसविकुस जाव
 चिद्धंति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ वहवे तिलयाद्वउत्ता
 नग्गोहा जाव रायरुक्खा एंदिरुक्खा कुसविकुस जाव चि-
 द्दंति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ वहवो पउमलयाओ नागन्न-
 याओ जाव सोमलयाओ निच्चं कुसमियाओ एवं दयावन्नओ
 जहा उववाइए जाव परिरुक्खाओ । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ
 वहवे सिरियगुम्मा जाव महाजाइगुम्मा तणगुम्मा दसप्प-
 वन्नं कुसुमं कुसुमेति जेणं वायविहुलगसाला । एगुर्यदी-
 वस्स बहुसमरमणिज्जं जूमिभागं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं
 करेति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ वहवो वणराइओ पन्नत्ता-
 ओ ताओ णं वनराइओ किएहाओ किएहोवभासाओ जाव
 रम्माओ महामेहणिरुक्खञ्जयाओ जाव महता गंधधणिं मुयं-
 ताओ पासाइयाओ । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ वहवे मत्तंगा
 नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से चंदप्पभमणिसि-
 लागवरसीधुपवरवारुणिसुजायफलपुप्फचोणिज्जा संसार-
 बहुदव्वजुत्तिसंसारकाद्वसंधियआसवमहुमेरगरिद्धाभदुद्धजा-
 ष्पमन्नतेद्वगा स ताओ खज्जूरमुदियासारका विसायण-
 सुपक्खोयरसवरसुरावणसरसगंधफारिसजुत्तवलवीरियप -
 रिणामा मज्जविही य बहुप्पगारा तहेव ते मत्तंगया वि दुम-
 गणा अणेगवहुविहिवीससा परिणयाए मज्जविहीए उव-

वेया फलोहिं पुत्रा विव विसद्वंति कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला
 जाव चिद्धंति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ वहवे भिंगंगा णाम
 दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से चारगघडकरगक-
 द्दसककरिपायकंचाणिउरुद्धकवद्धणिसुपइद्धकविद्धा पारावस-
 गा भिंगारा करोमिसरंगपरंगपत्तीयाद्वणिद्वगचवलियअ-
 यपलगवालविचित्तवट्टकमणितट्टकसिप्पिखारपिणद्धकंचण-
 माणिरयणभत्तिविचित्तविभायणविहिवहुप्पगारा तहेव तेसिं
 जिंगमेया वि दुमगणा अणेगवहुविहिवीससा परिणया-
 चाए भायणविहीए उववेया फलोहिं पुण्णा विव विसद्वंति
 कुसविकुस जाव चिद्धंति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ वहवे
 तुर्यंगा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा
 से आलिंगपणवदहरपरुहकिंमिमाभंभातहोरंजकिणियख-
 रमुहिमुयंगंसखियपरिद्वए पव्वगा परिवायणिव्वंसवेणुवी-
 गोसुग्घोसगविपंचमहतिकच्छतिरिक्खसतकलाकंमालता -
 द्दकसंपत्ताओ आतोद्यविधीए णिउणगंधव्वसमयकुस-
 लेहिं फांदिया तिद्धाणकरणसुद्धा तहेव ते तुभियंगा
 वि दुमगणा अणेगवहुविहिवीससा परिणयाए ततवितत-
 वंधणसिराए चउव्विहाए आतोज्जविहीए उववेया फलोहिं
 पुण्णा विव विसद्वंति कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूलाओ जाव
 चिद्धंति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ वहवे दीवसिद्दा
 णाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से संभवि-
 रागसमए नवनिसीहिपतिणो विदीविया चक्खवाद्वचंदे पभूय-
 वट्टिपलित्तज्जणेहिं विउज्जल्लिय तिमिरमइए कण्णानिकर-
 कुसुमियपारिजायघणप्पगासे कंचणमाणिरयणविमलमहरि-
 हतवाणिज्जुज्जलविचित्तदंरुहिं दीवियाहिं सहसा पज्जा-
 द्धिओ सवियणिच्छतेयदिपंतविमलगहगणसमयप्पदाहिं वि
 तिमिरकरकसूरपसरिउज्जोवविहियाहिं जालाउज्जलपह-
 सियाभिरामाहिं सोजमाणाहिं सोजमाणा तहेव ते दीवसि-
 द्दा वि दुमगणा अणेगवहुविहिवीससा परिणयाए उज्जो-
 यविहीए उववेया फलोहिं कुसविकुस जाव चिद्धंति ।
 एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ वहवे जोइसिया नाम दुमगणा
 पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से अचिरुग्गयसरयसूरमंरुद्ध-
 परंतद्वकासहस्सदिपंतविज्जुज्जलल्लहयवहुनिज्जूमजालि-
 निच्छंतथोयतत्ततवणिज्जकिंसुया सोगजासुयणकुसुमविमउ-
 द्धिपुंजमणिरयणकिरणजच्चहिंगुद्वयतिरयरूवाइरेगरूवा त-
 हेव ते जोतिसिद्दा वि दुमगणा अणेगवहुविहिवीससा
 परिणयाए उज्जोयविहीए उववेया सुहलेसा मंदलेसा मंदा-
 तवलेसा कूरागणट्टिया अन्नोन्नसमागाहाहिं देसाहिं साए
 पभाए तेयसा सव्वओ समंताओ जासंति उज्जोवंति
 पजासंति कुसविकुस वि जाव चिद्धंति । एगुर्यदीवे णं

दीवे तत्थ वहवे चित्तंगा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो !
जहा से पेच्चावरं च चित्ते एमेव कुमुदाममाला कुमु-
ज्जलेमा चासंतमुक्कपुप्फपुंजोवयारकद्विए विरद्वियविचि-
त्तमल्लसिरिसमुदप्पगारंभे गंथिमवेदिमप्परिमसंयमेणं मद्देणं
छेयसिरियविजागरणं सच्चओ समता चेव समलुवच्छे प-
विरलल्लवंनविप्पट्टेहि पंचवनेहि कुमुदामेहि सोजमाणा
चनमालकतग्गए चेव दिप्पमाणे नहेव ते चित्तंगया वि दुम-
गणा अणेगवहुविविहवीससा परिणयाए मद्दविहीए उव-
वेया कुसविकुस वि जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे एं दीवे
तत्थ वहवे चित्तरमा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो !
जहा से मुगंधवरकलममाजित्तंउलविमिछाणिरुवयहुद्धर-
च्छे सारयवयमंरुखंमहमेलिण् अइरसे परमन्ने देज्जउत्त-
मेगवन्नगंधमचे रम्भो जहा वावि चक्कवट्टिस्स होज्ज निउणे-
हिं मूप्पुरिमेहिं सज्जिए चाउरक्कप्पमेयसित्ते व ओदणे
कल्लमसाज्झिणव्वतिण् विवक्केसेवप्फमिउविसयसगद्वसित्थे
अणेगसालणगसंजुत्ते अहवा पमिपुन्रदव्वुवक्खवे सुसकए
वल्गंधरसफरिसजुत्तवन्नवीरियपरिणामे इंदियवद्ववच्छे
खुप्पिवासासहणे पहाणगुलकटियखंडमच्छंमिउवणीय व
भोगे मएइसमितिगन्ने हवेज्जा । परमइट्टगसंजुत्ते जहेव
ते चित्तरमा वि दुमगणा अणेगवहुविविहवीससा परिण-
याए भायणविहीए उववेया कुसविकुस जाव चिट्ठंति ।
एगुरुयदीवे एं दीवे तत्थ वहवे मणियंगा नाम दुमगणा पाण-
त्ता समणाउसो ! जहा से हारद्वहारवेट्टणमउरकुंडलवा-
मुज्जमहेमजाज्जमणिजाज्जकणगजाज्जगसुत्तगजचित्तियकडग-
खइयएगावलिकंडमुत्तमगरउरत्थगेवेज्जसोणिमुत्तमचूड्ढा-
मणिकणगतिलगफुट्टगसिद्धत्थियकल्लवालिससिम्भउसज-
चकगततज्जभंगेयतुडियहत्थमाज्जगवन्नखदीनारमाज्झिया चंद-
मूरमाज्झिया हरिसयकेयूरवन्नियपाज्जवअंगुलिज्जगकंचीमेह-
लाकलावपयरकपायजालयंठियखंखिणिरयणोरुजाज्जमि-
वरनेउरवन्नमाज्झिया कणगणिगमालिया कंचणमणि-
रयणभत्तिचित्तवन्नूसाणविही बहुप्पगारा तहेव ते मणियंगा
वि दुमगणा अणेगवहुविविहवीससा परिणयाए नूसणवि-
हीए उववेया कुसविकुस वि जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे एं दीवे
तत्थ वहवे मेहागारा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो !
जहा से पागारट्टाज्जगचरियागोपुरपासायागासतलगमंदवप्-
गसाज्जगचाउसाज्जगगन्नघरमोहणघरवल्लनिघरचित्तसाज्ज-
गमालियजत्तिघरवहतंसंनदियावत्तसंठियावत्तपंफुरतलपुरुमा
द्वहम्मियअहवणंधवलहरअद्वसागईविन्भतसेद्वद्वसेद्वसंठि-
यकूदारगसुविहिकोडगअणेगघरसरणद्वेणआवेणविदंगजाज्ज-
चंदनिव्वूहअपवरककरोत्ताज्जिचंदसाद्विविभत्तिकज्झिता जव-

णविही बहुविगप्पा तहेव ते मेहागारा वि दुमगणा अणेगवहु-
विविहविस्ससा परिणयाए सुहाराहणसुहोचागाए सुहनिक्ख-
मणपवेसाए दइरसोपाणपतिकद्वियाए पइरिचाए सुहविहाराए
मणाणुकूलाए भवणविहीए उववेया कुसविकुस वि जाव चि-
ट्ठंति । एगुरुयदीवे एं दीवे तत्थ वहवे अणिगणा नाम दुमगणा
पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से अणेगआइगरवोमतणयकं-
लदुगद्वकोसेज्जकाद्वमियपट्टचीणअंसुतवन्नावरणातवारवा-
एगपच्छन्नाभरणचित्तसहिणगकल्लाणगज्जिमहेद्वकज्जल-
वहुवन्नरत्तपीयसुक्किद्वमरकयमिगद्वोमहेमप्परल्लगअवरतगासि-
धुउसभदामिद्वविगकद्विगनद्विणतंतुमयभत्तिचित्ता वत्थविही
वहुप्पगारा हवेज्ज वरपट्टणग्गता वएणरागकद्विया तहेव ते
अणियणा वि दुमगणा अणेगवहुविविहवीससा परिणयाए
वत्थविहीए उववेया कुसविकुस वि जाव चिट्ठंति ए० । एगु-
रुयदीवे एं जंते ! दीवे मणियाणं केरिसए आगारभावपढा-
यारे पधत्ते ! गोयमा ! ते एं मणिया अणतिवरसोमचारूवा
भोगुत्तमा भोगलक्खणधरा जोगमास्सिरीया सुजायसव्वं-
गसुंदरंगा सुपइडियकुम्मचारुचलणा रत्तुप्पलपत्तमजयसुकु-
माज्जकोमद्वतला नगणगरमगरसागरचकंकहरंकल्लक्ख-
णंकियचलणा अणगुव्वसुसाहयंगुलिया लस्यतणुयतंव-
णिच्छणखा संठियसुसल्लद्वगुद्वगुप्पा एण ! कुरुविदावत्तवट्टा-
णुपुव्वजंघा सामुगानिमुगगाद्वजाणगतससणसुजातससिभो-
रुवरवारणमत्ततुद्वविक्रमविदासितगती सुजातवरतुरगगन्ध-
देमा आइन्नहतो व णिरुवहेवा पमुइयवरतुरगसीहअइ-
रंगवट्टियकमी साहयसोणिंदमुसलदप्पणाणिगरितवरकणग-
ठरुसरिसवरवइरवलितमज्जा उज्जुअसमसंहित्तमुजायजच्च-
तणुकसिणणिच्छादेज्जलउहसुकुमालमज्जरमणिज्जरोम-
राई गंगावत्तयपयाहिणावत्ततरंगजंगुरविकिरणतरुणवो-
धियअकोसा तंतपउमगंजीरविगरुणाभा जसविहगसुजायपी-
णकुच्छी जसोदरा सुइकरणी पम्हविगरुणा जामन्नत्तपासा
संगतपासा सुंदरपासा सुजातपासा मितमाइत्तपीणरत्तपासा
अकरंडुयकणगुरुयगनिम्मद्वसुजायनिरुवहयदेहधारी पसत्थ-
जत्तीसद्वक्खणधरा कणगसिद्धातलुज्जलपसत्थसमतलउव-
चियविच्छिन्नपिहुद्ववच्छा सिरिवच्छंकियवच्छा पुरवफलि-
हवट्टियजुया ज्ञयगीसरविपुलजोगआयाणफलिहउच्छूद-
दीहवाहुज्जगसन्निभपीणरइयपीवरपउट्टसंठियउवचियघणा-
थिरसुवच्छसुसद्विद्वपव्वसंथी रत्तद्वोवत्तमउयमंसद्वपसत्थल-
क्खणसुजायअच्छिद्वजालयाणी पीवरवट्टियसुजायकोमद्ववरं-
गुलीआ तंवतद्विणसुतिरतिद्व (रुचिर) निद्धलुक्खा (नखा)
चंदपाणिलेहा मूरपाणिलेहा संखपाणिलेहा चक्कपाणिदेह
दिसासोवत्थियपाणिदेहा चंदमूरसंखचक्कदिसासोवत्थियपा-

णिश्रेहा अणेगवरलक्खणुत्तमपसत्थसुविरइयपाणिलेहा वरम
 हिसवराहसीहसद्वल्लसभणागवरविउल्लत्तमइदंस्वधा च-
 उरंगुल्लसुणप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा अवहितसुविजत्तसु-
 जातचित्तमसुमंसलसंठियपसत्थसद्वल्लविउल्लहणुया उतवित-
 सिलप्पवालविंवफलसन्निजाधरोट्टा पंडुरससिसगलाविम-
 लानिम्मलसंखदाधियणगोखीरफेणदगरयमुणालियाधवन्न-
 दंतसेही अखंरुदंता अफुमियदंता अविरुदंता सुसिणि-
 रुदंता सुजातदंता एगदंतासंदि व्व अणेगदंता हुतवहानि-
 च्छंतथोत्तत्तवणिज्जरत्ततल्लतालुजीहा गुरुवायतउज्जुतुग-
 णासा अवदात्रिधपोरुयीयणया कोकासितधवन्नपत्त-
 दंता आणामियचाउरुल्लकाहन्नराइयसंठियसंगतआ-
 यतसुजाततणुक्किणनिच्छुत्तया अल्लीणपमाणजुत्तसव-
 णा सुस्सवणा पीणमंसल्लकवाउदंताभागा अइरुगयवाउचं-
 दसंठियपसत्थविच्छिन्नममणिडाला उरुवइरुपुन्नसोम-
 वयणा उत्तागरुत्तमंगदेसा धणानिचियसुवच्छल्लवणुत्त-
 यकूडागारणिजपिंनियसिरा हुतवहनिच्छंतथोत्तत्तवोत्तज्ज-
 रत्तकेसंतकेसजूमिसामिद्विपोरुयणणिचियउोहियमिउविसय
 पसत्थसुहुमन्नकवणसुगंधसुंदरुयमोयगजिगणीद्वकज्जलप-
 हट्टमरगयणिच्छण्डिउरुवणचियकुंचियपयाहिणावत्तसुद्ध-
 सिरिया लक्खणवज्जणगुणोववेया सुजायगुविभत्तसूखा
 पामाइया दरिसणिज्जा अनिरुवा पडिरुवा । ते णं मणुया
 ओहस्सरा हंसस्सरा कौचस्सरा खंदियोसा सीहस्सरा सीह-
 योसा मंजुस्सरा मंजुयोसा सुस्सरा निग्घोसा त्रयाउज्जा-
 इयंगमंगा वज्जरिसहनारायमंघयणा समचउरंसंठाणम-
 ठिया सिणिच्छव्वी निरायंका उत्तमपसत्थअइसेसनिरुवम-
 तणु जल्लमन्नकन्नकंसेयरयदोसविविज्जियसरीरा निरुवमले-
 वा अणुलोमवाउवेगा कंकगहणी कपोतपरिणामा सउनि-
 पोसपिउंतरोरुपरिणया विग्गहियउन्नयकुच्छी पउमप्पन्न-
 सरिसगंधनिस्साससुराहियवयणा अट्टधणुसयज्जितिया तेसिं
 मणुयाणं चउसट्टिपिडिकरंरुगा पन्नत्ता समणाउत्तो ! ते णं
 मणुया पगइभदया पगइविणीया पगइउवसंता पगइपयणु-
 काहमाणमायालोत्ता मिउमइवसंपन्ना अर्द्धाणा भदगा वि-
 णीया अपिच्छा असंखिहिंसं चया अर्चमा विनिर्मंतरपवि-
 सणा जहित्थियकामगामिणो य ते मणुयगणा पन्नत्ता समणा-
 उत्तो ! तेसि णं भंते ! मणुयाणं केवतिकालस्स अहारट्टे समु-
 प्पज्जइ ? गोयमा ! चउत्थभत्तस्स आहारट्टे समुप्पज्जइ एगुरु-
 यमणुईणं भंते ! केरिसए आगारभावपभोयारे पण्णत्ते ? गोयमा !
 ताओ णं मणुईओ सुजायसव्वंगसुंदरीओ पहाणमहिलागु-
 णेहिं जुत्ता अबंतविसप्पमाणपउमसूमाहकुम्मंसंठियविसि-
 द्धचल्लणा उज्जुमउयपीवरनिरंतरसुसातचल्लणुगुंझीओ अ-
 वल्लुययरतियतलिणत्तंसुमिणिच्छण्णा रोमरहियवट्टले-

इसंठियअजहन्नपसत्थलक्खणअकोप्पजंघजुयत्ता सुणिमि-
 यमुगुदजाणु मंसल्लसुवच्छसंथा कयद्विखंजातिरेगसंठिया णिच्छ-
 णसुमाद्वमउयकोमद्वअविरुद्वसमसहंतसुजातवट्टपीवरनिरंतरो-
 रुअअट्टावयदीविण्डसंठिया पसत्थविच्छिण्णपिहुद्वसोणिवद-
 णायामप्पमाणउगुणियविसाद्वमंसल्लसुवच्छजहन्नवरधरिणि-
 उवज्जविराइयपसत्थलक्खणणिरोदरा तिवलियतणुणामियम-
 डिजियाओ उज्जुयसमसहियजचत्तणुकसिणाणिच्छादेज्जल्ल
 हरुसुविभत्तकंतसुजायसो जंतरुदल्लरमणिज्जरोमराई गंगावत्त-
 कप्पयाहिणावत्ततरंगं गुरविकिरणतरुणवोधियअकोसायं-
 तपउमगंजीरविगुरुणा अणुव्वरुपसत्थपीणकुच्छी सन्न-
 यपासा संगयपासा सुजायपासा मियमाइयपाणिइयपासा अ-
 करंरुयकण्णमरुगमिम्मल्लसुजायणिरुवहयगायद्वट्टी कंचण-
 कद्वसपमाणमसंहायसुजायालडचूचुयआमद्वजमद्वजुगद्व-
 वट्टियअच्छुययरतियसंठियपयोधराओ जुजंगअणुपुव्वत-
 णुयगोपुच्छवट्टसमसहियणमियआएज्जललियवाहाओ तं-
 वणहा मंसल्लगहत्त्या पीवरकोमलवरंगुलीओ णिच्छपा-
 णिलेहा रविससिंखचकसोत्थियविजत्तसुविरतियपाणि-
 लेहा पीणुस्यकक्खवक्खवत्थिपदेसा पणिपुस्यगल्लकवोला
 चउरंगुल्लसुणप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा मंसल्लसंठियपसत्थह-
 णुगा दालिमपुक्कपगासपीवरपल्लवंकुंचियवराधरा सुंदरोत्त-
 रोट्टा दधिदगरयचंदकुंदवासंतिमउल्लअच्छिद्विमलदसणा
 रत्तुप्पल्लरत्तमउयसुमाद्वतालुजीहा कणयरमउद्वअकुनिलअ-
 वल्लुगयउज्जुतुगणासा सारयनवकमल्लकुमुदकुवलयविमु-
 क्कमउल्लद्वानिगरसरिसलक्खणअंकियकंतनयणा पत्तल-
 धवलायततंवलोयणाओ आणमितचावरुद्वकिहभराइमं-
 ठियसंगयआययसुजायतणुकसिणानिच्छुत्तमया अल्लीणप-
 माणजुत्तसवणा सुस्सवणा पीणमद्वरमणिज्जगंडलेहा चउरं-
 सपसत्थसमणिफाला कोमुदीरयणीकरविमलपणिपुन्नसोम-
 वयणा उत्तस्यउत्तिमंगा कनिद्वसुसिणिच्छदीहसिरया
 उत्तज्जभयजूवधूजदामिणिकमंरुल्लकद्वसवाविसोत्थियपडा -
 गजवमच्छकुम्मरहवरमगरज्जभयसुकथाद्वअंकुसअट्टावयवी-
 ईसुपइच्छकम्पज्जरसिरियाजिसेयंतोरणमेइणीउदधिवरज्जव-
 णगिरिवरआयंसद्विलयगयउत्तज्जसीहचमरउत्तमपसत्थल्ल-
 चीसलक्खणधरीओ हंससरिसगईओ काइद्वमहुरगिरसुस्स-
 राओ कन्नाओ सव्वस्स अणुमयाओ ववगयवद्विपद्विया-
 वंगउवन्नवाही दोभग्गसोगमुक्काओ वत्तेणयनराण थोचूण-
 मूसियाओ सव्वन्नावसिगारचारुवेसा संगतगतहसियभणिय-
 चिद्वियविद्वससंस्वावनिउणुत्तावयारकुसदा सुंदरयणजह-
 णवयणकरचरणणयंणद्वावन्नवन्नरुवजोव्वणविभासकालिया
 नंदणवणविवरचारिणीओ व्व अच्छराओ अच्छेरगपिच्छ-
 णिज्जा पासाइतातो दरिसणिज्जातो अनिरुवाओ पनिरुवाओ

तासि णं जंते ! मणुइणं केवतिकाइस्स आहारट्टे समुप्पज्जइ ? गोयमा ! चउत्थज्जत्तस्म आहारट्टे समुप्पज्जइ । ते णं भंते ! मणुया किमाहारंति ? गोयमा ! पुढवीपुप्फफलाहारा ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! तीमं णं जंते ! पुढवीए कोरिमए अस्साए पन्नत्ते ? गोयमा ! से जहानामए गुहोइ वा खंभइ वा मक्कराइ वा मउंडियाइ वा भिसकंदेइ वा पप्पकमोतंतेति वा पुप्पत्तराइ वा पउमुत्तराइ वा अकोसियाति वा विजताति वा महाविजयाति वा पायसोवमाइ वा उवमाइ वा अणोवमाइ वा चउत्थे गोखीरे चउत्थाणे परिणए गुडखंभउत्तंमिउवाणीए मंदगिकहिणवणेणं उववेए जाव फामेणं जवे एतास्सेसि ता नो इणट्टे समट्टे । तीसे णं पुढवीए एत्तो इट्टपराए चेव जाव मणामतराए चेव । आमाएणं भंते ! पुप्फफलाणं केरिमए आसाए पणत्ते ? गोयमा ! से जहानामए रन्नो चाउत्तरंतचक्रवट्टिस्स कल्लाणपवरज्जायणे सयसहस्सनिप्फन्ने वन्नेणं उववेए गंधेणं उववेए रसेणं उववेए फासेणं उववेए आसायाणिज्जे वीसायणिज्जे दीवणिज्जे दप्पणिज्जे वीहिणिज्जे मयणिज्जे सव्विदियगायपल्लयाणिज्जे भवे ता रुवे मिया नो इणट्टे समट्टे । तेसि णं पुप्फफलाणं इत्तो इट्टतराणं चेव जाव अस्साएणं पन्नत्ते । ते णं भंते ! मणुया तमाहारेत्ता कहिं वसाहिं उवेति ? गोयमा ! रुक्खगेहालयाणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! ते णं भंते ! रुक्खा किं संत्रिया पणत्ता ? गोयमा ! कूगारसंत्रिया पच्छावरसंत्रिया उत्तागारसंत्रिया जयसंत्रिया धूमसंत्रिया तारणसंत्रिया गोपुरसंत्रिया पादगसंत्रिया अट्टादगसंत्रिया पासायसंत्रिया हम्मिददसंत्रिया गवक्खसंत्रिया वादगपातियसंत्रिया बलभीसंत्रिया अणणे तत्थ वद्वे वरजवणसयणासणविसिद्धसंगणसंत्रिया सुभसीतल्लयाणं ते दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे गेहाणि वा गेहावयणाणि वा एो इणट्टे समट्टे रुक्खगेहालया णं मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे गामाइ वा नगराइ वा जाव सन्निवेसाइ वा एो इणट्टे समट्टे । जइत्थियकामगामिणो णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं जंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे असीइ वा मसीइ वा किसीति वा विवणीइ वा पणीइ वा वाणिज्जाइ वा नो इणट्टे समट्टे । ववगयअसिमसिकिसीविवणिपरियवाणिज्जवज्जा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे हिरएणेइ वा सुवभेइ वा कंसेइ वा हूसेइ वा मणीइ वा मुत्तिएइ वा विपुलधणक्कणगरयणमणिमोत्तियसंखसिद्धप्पवसंत-

सारभावयज्जे वा हंता ! अत्थि णो चेव एतेसि मणुयाणं तिच्चे ममत्तिजावे समुप्पज्जइ । अत्थि णं जंते ! एगुरुयदीवेणं दीवे रायाइ वा जुवरायाइ वा ईसरेइ वा तद्वरेइ वा मांडविणइ वा कोरुंविणइ वा इब्भेइ वा सेट्टिणइ वा सेणावई वा सत्थवाहेइ वा नो इणट्टे समट्टे ववगयइहिसकाराएणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे दासाइ वा पेसाइ वा सिस्साइ वा भयगति वा जाइह्वागाइ वा कम्मगाराइ वा भोरापुरिसाइ वा नो इणट्टे समट्टे ववगयआभोगिया णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे माताति वा पियाइ वा जायाइ वा जयणीइ वा भज्जा वा पुत्ताइ वा धूयाइ वा सुएहाइ वा हंता ! अत्थि नो चेव एतेसि णं मणुयाणं तिच्चे पेम्मबंधणे समुप्पज्जइ पयणुपेम्मबंधणा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे अरीइ वा वेरिइ वा घायगाइ वा वडगाइ वा पडणीइ वा पच्छामित्ताइ वा एो इणट्टे समट्टे ववगयवेराणुबंधा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं जंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे मित्ताइ वा वयंसाइ वा घमियाति वा सुहीति वा सुहीयाइ वा महाभागाति वा संगतियाति वा नो इणट्टे समट्टे ववगयपेमाणुरागा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे आवाहाइ वा विवाहाइ वा जन्नाइ वा सद्दाइ वा थालिपागाइ वा चोलोवणतणाइ वा सीमंतोवणतणाइ वा पित्तिपिंडनिवेयणाइ वा नो इणट्टे समट्टे ववगयआवाहविवाहज्जनसच्छालिपागचोलोवणसीमंतोवणतणपित्तिपिंडनिवेदणा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं जंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे ईंदमहाइ वा रुदमहाइ वा खंदमहाइ वा सिवमहाति वा वेसमणमहाति वा मुगुंदमहाति वा नागमहाइ वा जक्खमहाइ वा भूतमहाइ वा कूवमहाइ वा तद्भागमहाइ वा नंदिमहाइ वा ईंदमहाइ वा पच्चयमहाति वा रुक्खमहाइ वा चेतियमहाइ वा धूजमहाइ वा एो इणट्टे समट्टे ववगयमहातिया णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! । अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे नरुपिच्छाइ वा एट्टपेच्छाति वा मल्लपेच्छाति वा मुट्टियपेच्छाति वा विरुम्बगपेच्छाति वा कहकपेच्छाति वा पवगपेच्छाति वा अक्खवाइगपेच्छाति वा द्वासगपेच्छाति वा द्वांखपेच्छाति वा भंखपेच्छाति वा तणइद्वपेच्छाति वा तुंववीणपेच्छाति वा कीवपेच्छाति वा मागहपेच्छाति वा जल्लपेच्छाइ वा कहयापेच्छाइ वा एो इणट्टे समट्टे ववगयकोळह्वा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि

एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे सगमाइ वा रहाइ वा जाणाइ वा गिल्लीति वा पट्ठीति वा थिल्लाइ वा पवहणाइ वा सीयाइ वा संदमाणियाइ वा नो इण्ठे समेट्ठे पादचारविहारिणो एणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एणं जंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे आसाइ वा हत्थीइ वा उट्ठाति वा गोणाइ वा महिसाइ वा खराइ वा अयाइ वा एलगाइ वा हंता अत्थि नो चेव एणं तेसिं मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे गावीइ वा महिसीइ वा लट्ठीति वा अयाइ वा एलगाइ वा हंता ! अत्थि नो चेव एणं तेसिं मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे सीहाइ वा वग्वाइ वा दीवियाइ वा अत्थाइ वा परस्सराइ वा सियात्ताइ वा विडालाइ वा सुणगाइ वा कोल्लसुणगाति वा कौकतियाइ वा ससगाइ वा दित्तवित्तलाति वा चिडुलगाइ वा हंता ! अत्थि नो चेव एणं अन्नमन्नस्स तेसिं वा मणुयाणं किंचि आवाहं वा पवाहं वा उप्पायंति ण्विच्छेयं वा करेंति । पगइभद्गा एणं ते सावयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एणं जंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे सादीइ वा वीहीइ वा गोद्माइ वा इक्खूइ वा तिड्ढाय वा हंता ! अत्थि नो चेव एणं तेसिं मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे गत्ताइ वा दरीइ वा पाइ वा धंसीइ वा जिगूइ वा उवाएइ वा विसमेइ वा विजलेइ वा धूलीइ वा रेणुति वा पंकेइ वा वलणीइ वा एणो इण्ठे समेट्ठे । एगुरुयदीवे एणं दीवे वहुसमरमाणिजे जूमिजागे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि एणं जंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे खाणुइ वा कंटाएइ वा करीसहाइ वा सकराइ वा तणकयवराइ वा सत्तकयवराइ वा असुईइ वा पूईइ वा पुब्बिगंधाइ वा अचोक्खाइ वा एणो इण्ठे समेट्ठे ववगयखाणुकंटकरीसहसकरतणकयवरअसुईपूईयडुब्बिगंधमचोक्खवज्जिएणं एगुरुयदीवे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि एणं जंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे दंसाइ वा मसगाति वा पिसुगाइ वा जूयाइ वा लिक्खाइ वा ढिकुणाइ वा नो इण्ठे समेट्ठे ववगयदंसमसगपिसुगजूयाद्विक्खवडिक्कुणपरिवज्जिएणं एगुरुयदीवे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि एणं जंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे अहीइ वा अयगराइ वा महोरगाति वा हंता अत्थि नो चेव एणं ते अन्नमन्नस्स तेसिं वा मणुयाणं किंचि आवाहं वा पवाहं वा ण्विच्छेयं वा पकरेंति पगइभद्गा एणं ते ब्राह्मणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे गहदंभाति वा गहमुसत्ताइ वा गहगज्जियाइ वा गहजुत्ताइ वा गहसंधाहाइ वा गहअवसत्ता अत्ताइ वा अन्नरुक्खाइ वा संभाइ वा गंधव्वणगराइ वा गज्जियाइ वा विज्जुयाइ वा उक्कापयाइ वा दि-

सादाहाइ वा णिग्वाइ वा पंसुविट्ठीइ वा जूयाइ वा जक्खालित्ताइ वा धूमियाइ वा महियाति वा रत्तग्वायाइ वा चंदोवरागाइ वा सूरुवरागाइ वा चंदपरिवेसाइ वा सूरपरिवेसाइ वा पम्भिचंदाइ वा पम्भिसूराइ वा इंदधणुआइ वा उगमच्छाइ वा अमोहाइ वा कविहसीयाइ वा पाईणवायाइ वा पडीणवायाइ वा जाव सुद्धवायाइ वा गामद्राहाइ वा नगरदाहाइ वा जाव सन्निवेसदाहाइ वा वाणक्खयजणक्खयकुल्लक्खयधणक्खयवसणचूतमणारयाइ वा नो इण्ठे समेट्ठे । अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे ढिंवाइ वा रुमराइ वा कलहाइ वा बोलाइ वा खाराइ वा वेराति वा विरुद्धरज्जाइ वा नो इण्ठे समेट्ठे ववगयन्निवमरकलहवोल्लखारवेरिविरुद्धरज्जविवज्जिया एणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे महाजुत्ताइ वा महासंगामाइ वा महासत्थपडणाइ वा महापुरिसपहाणाइ वा महारुधिरपरुणाइ वा नागवाणाति वा खेलवाणाति वा तामसवाणाति वा दुब्बुइयाइ वा कुल्लरोगाइ वा गामरोगाइ वा नगररोगाइ वा मंरुद्धरोगाइ वा सीसवेयणाइ वा अच्छिवेयणाइ वा कन्नवेयणाइ वा नक्खेयणाइ वा दंतवेयणाइ कासाइ वा सासाइ वा जराइ वा दाहाइ वा कच्छूइ वा खसराइ वा कोट्टाइ वा कुमाति वा दगोवराइ वा अरिसाइ वा अजिरगाइ वा जगंदलाइ वा इंदगहाइ वा खंदगहाइ वा कुमारगहाइ वा नागगहाइ वा जक्खगहाइ वा जूयगहाइ वा लव्वेवगहाइ वा धणुगहाइ वा एगाहियाइ वा वेयाहियाइ वा तेयाहियाइ वा चाउत्थगाहियाइ वा हिययसूलाइ वा मत्थगसूलाइ वा पाससूलाइ वा कुच्छिसूलाइ वा जोणिसूलाइ वा गाममारो वा जाव सन्निवेसमारी वा पाणक्खय जाव वसणचूतमणायरियं वा नो इण्ठे समेट्ठे ववगयरोगायंका एणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एणं जंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे अइवासाइ वा मंदवासाइ वा सुबुट्ठीइ वा मंदबुट्ठीइ वा उदवाहीइ वा पवाहाइ वा दगुब्बेयाइ वा दगुप्पीलाइ वा गामवहाइ वा जाव सन्निवेसवहाइ वा पाणक्खय जाव वसणभूतमणारियाइ वा नो इण्ठे समेट्ठे ववगयवगोवद्गा एणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एणं भंते ! एगुरुयदीवे एणं दीवे आयागराइ वा तंवागराइ वा सीसागराइ वा सुवन्नागराइ वा रयणागराइ वा वइरागराइ वा वसुहाराइ वा हिरणवासाइ वा सुवन्नवासाइ वा रयणवासाइ वा वइरवासाइ वा आन्नरणवासाइ वा पत्तं वा पुप्फं वा फलं वा वीयं वा संगंधं वा समल्लं वा सवन्नं वा सच्चुन्नं वा सखीरबुट्ठीइ वा रयणबुट्ठीइ वा

हिरण्यवुष्टीः वा सुवन्नं तदेव जाव चुन्नवुष्टीः वा सुकालाः वा दुकालाः वा सुभिक्षाः वा दुभिक्षाः वा अप्पग्याः वा महग्याः वा कयाः वा विकयाः वा सं-
गिहीः वा संचयाः वा निभीः वा निहाणाः वा चिर-
पोराणाः वा पहीणमामियाः वा पहीणसज्याः वा पही-
णोत्तागाः जाः इमाः गापागरनगरखेरुक्कवडमंरुवदोहमु-
हपड शासपसंवादसन्निवेशेसु सिंघारगतिगचउक्कचचरचउ-
म्मुहमहापडमहेसु नगरनिष्क्रमेसु सुसाणगिरिकंदरसंतिस-
लोवप्पाणभवणगिहेसु सन्निखित्ता चिट्ठेति नो इण्ठे समे
एगुरुयदीवे एं भंते ! दीवे मणुयाणं केवडयं कालं
उडि पसत्ता ? गोयमा ! जंहरणं पडिओवमसस असंखेज्ज-
भागं अमंखेज्जति भागेणं ऊणं उक्कोसेणं पडिओवमसस
असंखेज्जज्जागं । ते एं जंते ! मणुया काक्षमासे काक्षं किच्चा
कहिं गच्छंति कहिं उवज्जंति गोयमा ! ते एं मणुया उ-
म्मासावभेसाउआ मिहुणां पसवंति अउणासीं राडिदियां
मिहुणां सारक्खंति संगोवंति सारखित्ता उस्ससित्ता णि-
स्ससित्ता कासित्ता छित्तिता अकिट्ठा अव्वहिया अपरि-
याविया मुहं मुहेणं कालमासे कालं किच्चा अस्सयरेसु देव-
ओएमु देवत्ताए उववत्तारो जवंति देवओगपरिगहिया एं
ते मणुयगणा पणत्ता समणाउसो ॥

एकोरुकमनुष्याणामेकोरुकद्वीपं पिपुच्छिपुराह । कहिं भंते !
इत्यादि क जदन्त ! दाक्षिणात्यानामिह एकोरुकादयो मनुष्याः
शिल्लेरिण्यपि पर्वते विद्यन्ते ते च मेरोरुत्तरदिग्वातिन इति तद्वय-
च्छेदार्थं दाक्षिणात्यानामित्युक्तम् एकोरुकमनुष्याणामेकोरुक-
द्वीपः प्रकृतः जगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरपर्वतस्यान्य-
त्रासंभवादस्मिन् जम्बूद्वीपद्वीपे इति प्रतिपत्तव्यं मन्दरपर्वतस्य
मेरोरुदक्षिणस्यां दिशि कुल्लहिमवद्वर्षधरपर्वतस्य कुल्लग्रहणं म-
हाहिमवद्वर्षधरपर्वतव्यवच्छेदार्थं पूर्वस्मात् पूर्वरुपाश्चरमान्तात्
उत्तरपूर्वेण उत्तरपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं त्रीणि योजनश-
तान्यवगाह्यान्तरे कुल्लहिमवद्वर्षा उपरि दाक्षिणात्यानामे-
कोरुकमनुष्याणामेकोरुकद्वीपं नाम द्वीपः प्रकृतः स च त्रीणि
योजनशतान्यायामविष्कम्भेन समाहृतो द्वन्द्वः आयामेन वि-
ष्कम्भेन चेत्यर्थः । नवैकोनपञ्चाशतान्येकोनपञ्चाशदधिकानि
नवयोजनशतानि (६५६) परिक्षेपेण प्रकृतः परिक्षेपेण परिमा-
णगणितभावना विष्कम्भः “ वगदहदहसु गुण-करणीवहसस
परिरओ होइ ” इति कारणवशात् स्वयं कर्तव्या सुगमत्वात्
“ से णमित्यादि ” स एकोरुकनामा द्वीप एकया पञ्चवरवेदि-
कया एकेन वनखएमेन सर्वतः सर्वासु दिक्षु समंततः सामस्येन
परिक्षितः । तत्र पञ्चवरवेदिकावर्षको घनखएरुवर्णकश्च
वक्ष्यमाणजम्बूद्वीपजगत्युपरि पञ्चवरवेदिकावर्षकवर्णकवत्
भावनीयः । स च तावत् यावच्चरममासयतीति पदम् ।
“ एगुरुयदीवस्स एं भंते ! इत्यादि ” एकोरुकद्वीपस्य एमिति
पूर्ववत् भदन्त ! कीदृशः क इव इदस्यः आकारमवप्रत्यवतारः
भूम्यादिस्वरूपसम्भवः प्रकृतः जगवानाह गौतम ! एकोरुकद्वीपे
बहुसमरमणीयः प्रभूतसमः सन् रस्यो जूमिभागः प्रकृतः “ से

जहा णामए आदिगपुक्खरेइ वा इत्यादि ” उत्तरकुखगमस्ताव-
दनुसर्त्तव्यो यावदनुसज्जनासूत्रं नवरमत्र नानात्वमिदं मनुष्याः
अष्टौ धनुःशतान्युच्छ्रिता वक्तव्याश्चतुःपष्टिपष्टकरंरुकाः पृष्ट-
वंशा बृहत्प्रमाणानाहिते बहवो भवन्ति एकोनाशीति च
रात्रिन्दिवानि स्वापत्यान्युपपालयन्ति स्थितिस्तेषां जघन्येन
देशोनः पत्त्योपमासंख्येयभागः एतदेव व्याचष्टे पत्त्योपमासं-
ख्येयभागान्यून उक्कर्पतः परिपूर्षः पत्त्योपमासंख्येयभागः
जी० ३ प्रति० ।

कहिं एं जंते ! दाहिणिह्वाणं आभासियमणुयाणं आजा-
सियदीवे नाम दीवे पसत्ते ? गोयमा ! जंबूदीवे दीवे तदेव
चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणपूर्वाच्छिमिह्वा-
तो चरिमंताओ हवणसमुदं तिन्नि जोयणं सेसं जहा ए-
गुरुयाणं निरवसेसं सव्वं ॥

क भदन्त ! दाक्षिणात्यानां प्राभाषिकद्वीपानामन्तरद्वीपः प्रकृतो
जगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणेन दक्षिणस्यां दिशि
कुल्लहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य पूर्वस्माच्चरमान्तात् दक्षिणपूर्वेण
दक्षिणपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं कुल्लहिमवद्वर्षा उपरि त्रीणि
योजनशतान्यवगाह्यान्तरे दंप्राया उपरि दाक्षिणात्यानामा-
प्राषिकमनुष्याणामप्राषिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रकृतः शेषवक्तव्यता
एकोरुकवद्वक्तव्या यावत् स्थितिसूत्रम् ।

कहिं एं भंते ! दाहिह्वाणं वेसाणियमणुस्साणं पुच्छा ? गो-
यमा ! जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवं-
तस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं पच्छिमिह्वाओ चरिमंता-
ओ लवणसमुदं तिन्नि जोयणा सेसं जहा एगुरुयाणं ।

“ कहिं जंते इत्यादि ” क भदन्त ! दाक्षिणात्यानां वैशालि-
कमनुष्याणां वैशालिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रकृतः जगवानाह गौ-
तम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि कुल्लहिम-
वतो वर्षधरपर्वतस्य पाश्चात्याश्चरमान्तात् दक्षिणपश्चिमायां दि-
शि लवणसमुद्रं त्रीणि योजनशतान्यवगाह्य अत्रान्तरे दाक्षि-
णात्यानां वैशालिकमनुष्याणां वैशालिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रकृतः
शेषं यथा एकोरुकाणां तथा वक्तव्यं यावत् स्थितिसूत्रम् ।

कहिं एं भंते ! दाहिणिह्वाणं नंगोद्वियमणुस्साणं पुच्छा
गोयमा ! जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्ल-
हिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरपच्छिमिह्वाओ चरि-
मंताओ हवणसमुदं तिन्नि जोयणसयाइं सेसं जहा एगु-
रुयमणुस्साणं ।

क भदन्त ! नाङ्गोलिकमनुष्याणां नाङ्गोलिकद्वीपो नाम द्वीपः
प्रकृतः जगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षि-
णस्यां दिशि कुल्लहिमवतो वर्षधरस्य पाश्चात्याश्चरमान्तात्
उत्तरपश्चिमेन उत्तरपश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रं त्रीणि यो-
जनशतानि अवगाह्यान्तरे दंप्राया उपरि नाङ्गोलिकमनुष्याणां
नाङ्गोलिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रकृतः शेषमेकोरुकवत् वक्तव्यं या-
वत् स्थितिसूत्रम् । जी० ३ प्रति० । स्था० । न० । कर्म० ।

द्वितीयश्चतुष्कः ।

कहिं एं भंते ! दाहिणिह्वाणं हयकसमणुस्साणं हयक-
न्दीवे नाम दीवे पसत्ते ? गोयमा ! एगुरुयदीवस्स उत्तर-

पुरच्छिमिह्वाओ चरिमंताओ लवणसमुदं चत्तारि जोयण-
सयाइ उग्गाहिता एत्थ णं दाहिणिह्वाणं हयकन्नमणुस्साणं
हयकन्नदीवे नामं दीवे पन्नत्ते चत्तारि जोयणसयाइ आ-
यामविक्खवभेणं वारससया पन्नत्ता किंचि विसेसूणाइं परि-
क्खेवेणं एगाए पडमवरवेइयाए अवसेसं जहा एगुरुयाणं ॥

क भदन्त ! हयकर्षमनुप्याणां हयकर्षद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः
जगवानाह । गौतम ! एकोरुक्कद्वीपस्य पूर्वस्माच्चरमान्तात् उत्त-
रपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं चत्वारि योजनशतान्यवगाह्यान्ता-
न्तरे क्षुल्लहिमवहं प्रायाः उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्तादपि चतुर्यो-
जनशतान्तरे दाक्षिणात्यानां हयकर्षमनुप्याणां हयकर्षो नाम
द्वीपः प्रज्ञप्तः स च चत्वारि योजनशतान्यायामविक्खम्मेन द्वा-
दश पञ्चपष्ठानि योजनशतानि किंचिद्विशेषाधिकानि परिक्रमेण
शेषं यथा एकोरुक्कमनुप्याणाम् ।

काहि णं जंते ! दाहिणिह्वाणं गयकन्नमणुस्साणं पुच्छा ?
गोयमा ! आज्ञासियदीवस्स दाहिणपुरच्छिमिह्वाओ चरिमं-
ताओ लवणसमुदं चत्तारि जोयणसयाइं सेसं जहा हयकन्नाणं
एवमाज्ञापिकद्वीपस्य पूर्वस्माच्चरमान्तात् दक्षिणपूर्वस्यां दिशि
चत्वारि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्यान्तरे क्षुल्लहिम-
वहं प्राया उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्ताद् चतुर्योजनशतान्तरे गजक-
र्षमनुप्याणां गजकर्षो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः आयामविक्खम्भपरि-
धिपरिमाणं हयकर्षद्वीपवत् ।

एवं गोकन्नमणुस्साणं पुच्छा ? वेसालियदीवस्स दाहिण-
पुव्वच्छिमिह्वाओ चरिमंताओ लवणसमुदं चत्तारि जोय-
णसयाइं सेसं जहा हयकन्नाणं ।

नाङ्गोलिकद्वीपस्य पश्चिमान्ताच्चरमान्तात् दक्षिणपश्चिमेन
चत्वारि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्यान्तरे क्षुल्लहिम-
वहं प्राया उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्ताद् चतुर्योजनशतान्तरे गोक-
र्षमनुप्याणां गोकर्षद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः आयामविक्खम्भ-
परिधिपरिमाणं हयकर्षद्वीपवत् ॥

सक्कलिकण्णाणं पुच्छा ? गोयमा ! नंगोलियदीवस्स
उत्तरपुव्वच्छिमिह्वाओ चरिमंताओ लवणसमुदं चत्तारि
जोयणसयाइं सेसं जहा हयकन्नाणं ।

नाङ्गोलिकद्वीपस्य पश्चिमाच्चरमान्तात् उत्तरपश्चिमायां दिशि
लवणसमुद्रमवगाह्य चत्वारि योजनशतानि अत्रान्तरे क्षुल्लहि-
मवहं प्राया उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्ताच्चतुर्योजनशतान्तरे दा-
क्षिणात्यानां शङ्कुलीकर्णमनुप्याणां शङ्कुलीकर्णद्वीपो नाम
द्वीपः प्रज्ञप्तः । आयामविक्खम्भपरिधिपरिमाणं हयकर्षद्वीप-
वत् । पञ्चवरवेदिकावनखएरुमनुप्यादिस्वरूपं च समस्तमेको-
रुक्कद्वीपवत् जी० ३ प्रति० । स्था० । प्रज्ञा० । कर्म० ।

चतुर्थश्चतुष्कः ।

तेसि णं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुदं पंच पंच
जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पण्णा-
त्ता तंजहा आयंसमुहदीवे मेहमुहदीवे अओमुहदीवे
गोमुहदीवे । तेसु णं दीवेसु चउन्विहामणुस्सा भाणियव्वा ।

एतेषामपि हयकर्षादीनां परतः पुनरपि यथाक्रमं पूर्वोत्तरादि-
विदिक्षु प्रत्येकं पञ्च पञ्च योजनशतानि व्यतिक्रम्य पञ्चयोज-

नशतायामविक्खम्भा एकाशीत्यधिकपञ्चदशयोजनशतपरिके-
पाः पूर्वोक्तप्रमाणपञ्चवरवेदिकावनखएरुमणितथाह्यप्रदेशाः ज-
म्बूद्वीपवेदिकातः पञ्चयोजनशतप्रमाणान्तरा आदर्शमुख १ मे-
एदमुख २ अयोमुख ३ गोमुख ४ नामानश्चत्वारो द्वीपास्तद्यथा
हयकर्षस्य परतः आदर्शमुखो गजकर्षस्य परतो मेएदमुखः
गोकर्षस्य परतोऽयोमुखः शङ्कुलीकर्षस्य परतो गोमुख इति
एवमग्रेऽपि ज्ञावना कार्या प्रज्ञा० १ पद० । जी० । कर्म० ।

चतुर्थश्चतुष्कः ।

तेसि णं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुदं उ उ जो-
यणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पण्णा-
त्ता तंजहा आसमुहदीवे हत्थिमुहदीवे सीहमुहदीवे वग्धमुहदीवे
तेसु णं दीवेसु मणुस्सा भाणियव्वा ॥

एतेषां मण्यादर्शमुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो चतुर्थोऽपि
यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं लवणसमुद्रं पदं योजनश-
तान्यवगाह्य पदं योजनशतायामविक्खम्भाः सप्तनवत्यधिका-
ष्टादशयोजनपरिकेपाः पञ्चवरवेदिकावनखएरुमणितपरिसरा
जम्बूद्वीपवेदिकान्तात् पर्ययोजनशतप्रमाणान्तरा अश्वमुखह-
स्तिमुखसिंहमुखव्याघ्रमुखनामानश्चत्वारो द्वीपा वक्तव्यास्तद्य-
था आदर्शमुखस्य परतोऽश्वमुखः मेएदमुखस्य परतो हस्तिमुखः
आयाममुखस्य परतः सिंहमुखः गोमुखस्य परतो व्याघ्रमुखः ।

पञ्चमश्चतुष्कः ।

तेसि णं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुदं सत्त सत्त
जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा प-
ण्णात्ता तंजहा आसकण्णदीवे हत्थिकण्णदीवे अकण्णदीवे
कण्णपाउरणदीवे । तेसु णं दीवेसु मणुया भाणिय-
व्वा । स्था० ४ ठा० ।

एतेषामप्यश्वमुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वो-
त्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं सप्त सप्त योजनशतानि लवणसमुद्रम-
वगाह्य सप्तयोजनशतायामविक्खम्भास्त्रयोदशाधिकद्विंशति-
योजनशतपरिरयाः पञ्चवरवेदिकावनखएरुसमवगाह्या जम्बूद्वी-
पवेदिकान्तात् सप्तयोजनशतप्रमाणान्तरा अश्वकर्षहस्तिकर्णा-
कर्णैककर्णप्रावरणनामानश्चत्वारो द्वीपा वाच्यास्तद्यथा अ-
श्वमुखस्य परतोऽश्वकर्णः हस्तिमुखस्य परतो हस्तिकर्णः
सिंहमुखस्य परतोऽकर्णः व्याघ्रमुखस्य परतः कर्णप्रावरणः
जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० । कर्म० ।

षष्ठश्चतुष्कः ।

तेसु णं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुदं अट्ट अ-
ट्ट जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा
पण्णात्ता तंजहा उकामुहदीवे मेहमुहदीवे विज्जुमुहदीवे विज्जु-
दंतदीवे तेसु णं दीवेसु मणुस्सा जाणियव्वा स्था० ४ ठा० ।

तत एतेषामश्वकर्णादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं
पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकमष्टौ अष्टौ योजनशतानि लवणसमु-
द्रमवगाह्याष्टयोजनशतायामविक्खम्भा एकोनत्रिंशदधिकपञ्च-
विंशतियोजनशतपरिकेपाः पञ्चवरवेदिकावनखएरुमणित-
परिसरा जम्बूद्वीपवेदिकान्तादष्टयोजनशतप्रमाणान्तरा उल्का-
मुखमेघमुखविद्युन्मुखविद्युन्ताभिधानाश्चत्वारो द्वीपा वक्त-

व्यास्तयथा अद्यकर्णस्य परतो उल्कामुखः हरिकर्णस्य परतो मेघमुखः अकर्णस्य परतो विद्युन्मुखः कार्णप्रावरणस्य परतो विद्युदन्तः ॥ जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० । कर्म० ।

तस्य एं दीवाणं चउसु वि दिमासु लवणममुदं एव एव जोयणसयाइं ओगाहिता एन्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पण्णा तांहा घणदंतदीवे लद्धदंतदीवे गृहदंतदीवे सुद्ध-
दंतदीवे । तेसु णं दीवेषु चउविवहा मणुस्मा परिवमंति तंहा घणदंता लद्धदंता गृहदंता सुद्धदंता ।

एतेषामप्युल्कामुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं नव योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य नवयोजनशतायामविष्कम्भाः पञ्चचत्वारिंशदधिकाष्टाविंशतियोजनशतपद्मवरधेदिकाचनवगुरुसमवगृहा जम्बूद्वीप-
वेदिकान्तात् नवयोजनशतप्रमाणान्तरा घनदन्तलघुदन्तगृहदन्त-
गुरुदन्तनामानश्चत्वारो द्वीपास्तयथा उल्कामुखस्य परतो घ-
नदन्तः मेघमुखस्य परतो लघुदन्तः विद्युन्मुखस्य परतो गृहद-
न्तः विद्युदन्तस्य परतो सुद्धदन्तः जी० ३ प्रति० ।

अन्तरद्वीपप्रकरणार्थं संग्रहागथाः ।

“ चुल्लहिमवन्तपुल्या-वरण विदिसासु सागरं तिसप ।

गंतुंनरद्वीवा, तिषि सप होति विस्थिता ॥ १ ॥

अठ्ठावणवसप, किंचूणे परिहपसिमे नामा ।

पगोरुय आभासिय, वेसाणी चैव लंगुद्वी ॥ २ ॥

एएसि दीवाणं, परओ चत्तारि जोयणसयाइं ।

ओगाहिकण लवणं, स परिदिसि चउसयपमाणा ॥ ३ ॥

चत्तारंतरदीवा, हयगयगोफणसंकुलीफणा ।

एवं पंच सयाइं, उ सत्त अठे व नव चैव ॥ ४ ॥

ओगाहिकण लवणं, धिक्खंभोगाहसरिसया भणिया ।

चउरो चउरो दीवा, इमेहिं नामेहिं नायवा ॥ ५ ॥

आयंसमैदगमुहा, अओमुहा गोमुहा य चउरंते ।

अस्समुहा इत्थिसुहा, सीहमुहा चैव वग्घमुहा ॥ ६ ॥

तत्तो य अस्सकणा, इत्थिअकणा अकणपाउरणा ।

उकामुह मेहमुहा, विज्जुमुहा विज्जुदंता य ॥ ७ ॥

घणदंत लद्धदंता, निगृहदंता य सुद्धदंता य ।

वासहरे सिहरम्मि वि, एवं त्रिय अठ्ठीसावि ॥ ८ ॥

अंतरदीवेषु नरा, घणसयअद्धसिया सया मुद्धा ।

पाल्लि मिहुणधम्मं, पल्लस्स असंखजागओ ॥ ९ ॥

चउसधि पिट्टिकरं-रुगाणि मणुयाण वच्चपालणया ।

अठ्ठासीइं तु दिणा, चउत्थभत्तेण आहारो त्ति ॥ १० ॥

स्था० ४ ग० । एतेषामेव द्वीपानामवगाहनायामविष्कम्भ-
परिरयपरिमाणसंग्रहागथापट्कमाह ।

पद्ममि तिषि उ सया, सेसाण सतोत्तरा नवउज्जा च ।

ओगाहण विक्खंजं, दीवाणं परिरयं वोच्छं ॥

पद्मचउकपरिरया, वीयचउकस्स परिरओ अहिओ ।

सोद्धेहि तिहि उ जोयण-सपहि एमेवं सेसाणं ।

एगोरुयपरिक्खेवो, नव चैव सयाइं अउणपण्णाइं ॥

वारसपण्णाइं, हयकणाणं परिक्खेवो ।

पण्णरस एकसीया, आयंसमुहाण परिरओ होइ ।

अट्ठारसनउयाओ, आसमुहाणं परिक्खेवो ।

वावीसं तेराइं, परिक्खेवो होइ आसकणाण ॥

पण्णास अउणतीसा, उकामुहपरिरओ होइ ।

दो चैव सहसाइं, अट्ठेव सया इवति पण्णाला ॥

घणदंता दीवाणं, विसेसमहिओ परिक्खेवो ।

प्रथमद्वीपचतुष्के चिन्त्यमाने त्रीणि योजनशतानि अवगाहना
लवणसमुद्रावगाहं विष्कम्भं च विष्कम्भग्रहणादायामपि
गृह्यते तुल्यपरिमाणत्वात् जानीहि इति क्रियाशेषः । शेषाणां द्वी-
पचतुष्काणां शतोत्तराणि त्रीणि शतानि अवगाहनाविष्कम्भं
तावज्जानीयात् यावन्नव शतानि तद्यथा द्वितीयचतुष्के चत्वारि
शतानि तृतीये पञ्च शतानि चतुर्थे षट् शतानि पञ्चमे सप्त श-
तानि षष्ठे अष्टौ शतानि सप्तमे नव शतानि अत ऊर्ध्वं द्वीपाना-
मेकोरुफप्रभृतीनां परिरयप्रमाणं वक्ष्ये । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहय-
ति “ पद्मचउकेत्यादि ” प्रथमचतुष्कपरिरयात् प्रथमद्वीपच-
तुष्कपरिरयपरिमाणत्वात् द्वितीयचतुष्कस्य द्वितीयद्वीपचतु-
ष्टयस्य परिरयः परिरयपरिमाणमधिकः पोरुशैः पोरुशोत्त-
रैस्त्रिभिर्योजनशतैरेवमेवानेनैव प्रकारेण शेषाणां द्वीपानां द्वीप-
चतुष्काणां परिरयपरिमाणमधिकं पूर्वपूर्वचतुष्कपरिरयपरिमा-
णादवसातव्यमेतदेव चैतेन दर्शयति (एकोरुकेत्यादि) एको-
रुफपरिक्रैप एकोरुकोपशक्तिप्रथमद्वीपचतुष्कपरिक्रैपो नव श-
तानि एकोनपञ्चाशदधिकानि तत्त्रिषु योजनशतेषु पोरुशोत्त-
रेषु प्रक्षिप्तेषु “ हयकणाणमिति ” बहुवचनात् हयकर्णप्रमुखाणां
द्वितीयानां चतुर्णां द्वीपानां परिक्रैपो भवति स च द्वादश योज-
नशतानि पञ्चषष्ठ्यधिकानि तत्रापि त्रिषु योजनशतेषु पोरु-
शोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु (आयंसमुहाणंति) आदर्शमुखप्रमुखाणां
तृतीयानां चतुर्णां द्वीपानां परिरयपरिमाणं भवति तच्च पञ्च-
दशयोजनशतान्येकाशीत्यधिकानि ततो ज्ञेयोऽपि त्रिषु योजन-
शतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु (आयंसमुहाणंति) अश्वमुखप्र-
भृतीनां चतुर्थानां चतुर्णां द्वीपानां परिक्रैपस्तद्यथा अष्टादशयो-
जनशतानि सप्तनवत्यधिकानि तेष्वपि त्रिषु योजनशतेषु पोरु-
शोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु (आसकणाणंति) अश्वकर्णप्रमुखाणां
पञ्चमानां चतुर्णां द्वीपानां परिक्रैपो भवति तद्यथा द्वाविंशति-
योजनशतानि त्रयोदशाधिकानि ततो ज्ञेयोऽपि त्रिषु योजनश-
तेषु पोरुशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु उल्कामुखपरिरयः उल्कामुखप्रमुखष-
ष्ठद्वीपचतुष्कपरिरयपरिमाणं भवति तद्यथा पञ्चविंशतियोजनश-
तानि एकोनत्रिंशदधिकानि ततः पुनरपि त्रिषु योजनशतेषु पोरु-
शोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु घनदन्तद्वीपस्य घनदन्तप्रमुखसप्तद्वीपचतु-
ष्कस्य परिक्रैपस्तद्यथा द्वे सहस्रे अष्टौ शतानि पञ्चचत्वारिंश-
दधिकानि (विसेसमहिओइति) किंचिद्विशेषमधिकोऽधिकृतः
परिक्रैपः पञ्चचत्वारिंशानि किंचिद्विशेषाधिकानीति ज्ञातव्यः ।
इदं पद्मन्ते ऽजिहितत्वात्सर्वत्राप्यभिसंवन्धनीयं तेन सर्वत्रापि
किंचिद्विशेषाधिकमुक्तरूपं परिरयपरिमाणमवसातव्यमेतदे-
वमेते हिमवति पर्वते चतसृषु विदिक्षु व्यवस्थिताः सर्वसं-
ख्यया अष्टाविंशतिः एवं हिमवतुल्यवर्णप्रमाणे पञ्चद्विप्रमाणा-
यामविष्कम्भावगाहपुणरुकीकृद्दोषशोभितशिखरिण्यपि पर्वते
लवणोदादणवजलसंस्पर्शादारभ्य यथोक्तप्रमाणान्तराश्चत-
सृषु विदिक्षु एकोरुकादिनामानोऽधुष्पापात्तरात्रायामविष्कम्भा
अष्टाविंशतिसंख्या द्वीपा वेदितव्याः ।

कहि णं भंते ! उत्तरिद्वीपां एगुरुयमणुस्साणं एगुरुयदी-

वे नामं दीवे पण्णत्ता ? गोयमा ! जम्बूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं सिंहस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरपुर-
च्छिमिद्वाओ चरिमंताओ दवणसमुदं तिन्नि जोयणस-
याइं ओगाहिच्चा एवं जहा दाहणिद्वाणं तहा उत्तरिद्वाणं
भाणियव्वं णवरं सिंहस्स वासहरपव्वयस्स विदिसासु
एवं जाव सुद्धदंतदीवेत्ति जाव सेत्तं अंतरदीवगा ॥

“कहि णं जंते ! पगुरुयेत्यादि” सर्वं तदेव नवरमुत्तरेण विभा-
षा कर्त्तव्या सर्वसंख्यया पदपञ्चाशदन्तरद्वीपाः । उपसंहारमा-
ह । सेत्तमन्तरद्वीवगा ते एते अन्तरद्वीपका इति ॥ जी० ३
प्रति० ॥ प्रज्ञा० । स्था० । ज० । कर्म० । एतद्भूता मनुष्या अप्ये-
तन्नामान उपचारान्भवन्ति । तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशो यथा पञ्चा-
शददेशनिवासिनः पुरुषाः पञ्चाशद्वा इति प्रज्ञा० १ पदः । जी० । स्था० ।
अंतरदीवग [य] अन्तरद्वीपग [ज]-पुं० अन्तरद्वीपेषु गता
अन्तरद्वीपगाः प्रज्ञा० १ पदः । तेषु जाता वा अन्तरद्वीपजाः ।
नं० । एकोरुकाद्यन्तरद्वीपवासिगर्भव्युत्क्रांतिकमनुष्यभेदेषु, ते
च एकोरुकादिनामानोऽष्टाविंशतिर्दाक्षिणात्यौत्तराहभेदेन भि-
द्यमानाः पदपञ्चाशत् कर्म० १ क० । स्था० । आ० म० द्वि० ।
(तद्वर्णकोऽन्तरमेव अंतरदीवशब्दे दर्शितः)

अंतरदीववेदिया-अन्तरद्वीपवेदिका-स्त्री० द्वीपान्तरवेदिका-
याम्, तथा अन्तरद्वीपवेदिकायां चाराणि सन्ति न वेति प्रश्ने
जगत्यां चाराणि कथितानि सन्ति अन्तरद्वीपेषु वेदिका जगत्याः
स्थानेऽस्ति अतो वेदिकायामपि द्वाराणि संभाव्यन्ते इयेन० ४
उल्ला० ३८ प्र० ।

अंतरदीविया-आन्तरद्वीपिका-स्त्री० अन्तरे मध्ये समुद्रस्य
क्षीपा येते तथा तेषु जाता आन्तरक्षीपास्त एवान्तरद्वीपिकाः ।
अन्तरद्वीपवास्तव्यमनुष्यस्त्रीषु, स्था० ३ ग्रा० । जी० । (व-
क्तव्यता चासामंतरदीवशब्दे दर्शिता) ।

अंतरप्धा-अन्तरप्धा-स्त्री० अन्तरकाले, आचा० १ श्रु० ८ अ० ।
अन्तर्धा-स्त्री० अन्तर्धाने, “सह अन्तरप्धा” स्मृतैर्भ्रंशोऽन्तर्धानं
किं मया परिगृहीतं कया मर्यादया व्रतमित्येवमननुस्मरणमि-
त्यर्थः आवा० ६ अ० ।

अंतरपट्टी-अन्तरपट्टी-स्त्री० मूलकैत्रात्सार्वक्षिगव्यूतस्थे प्रा-
मविशेषे, प्रव० ७ द्वा० । वृ० ।

अंतरप्पा-अन्तरात्मन्-पुं० अन्तर्मध्यरूप आत्मा शरीररूप इ-
त्यन्तरात्मेति भ० २० श० १, उ० । स्वरेऽन्तरश्च ८ । १ । १४
इति सूत्रेणान्त्यव्यञ्जनस्य स्वरे परे झक् निषिद्धः प्रा० । जीवे,
प्रश्न० संव० १ द्वा० । अष्ट० । आत्मभेदे, यो हि सकर्मावस्था-
यामपि आत्मनि ज्ञानाद्युपयोगलक्षणे शुद्धचैतन्यलक्षणे महान-
न्दस्वरूपे निर्विकारामृताव्यावाधिरूपे समस्तपरभावमुक्ते आ-
त्मबुद्धिः (सः) अन्तरात्मा सम्यग्दाष्टिगुणस्थानकतः क्षीणमो-
हं यावत् अन्तरात्मा उच्यते अष्ट० ११ अष्ट० ।

अंतरभाव-अन्तरभाव-पुं० परमार्थे, पञ्चा० १८ विव० ।

अंतरभावविहण-अन्तरभावविहीन-त्रि० परमार्थविद्युक्ते,
पञ्चा० १८ विव० ।

अंतरभाषा-अन्तरभाषा-स्त्री० गुरोर्भाषमाणस्य विचारभाषणे,
ध० १ अधि० । आवा० । विहरन् साधुः चैरैः पृष्टः “आयरिण
उवज्जाप वा संभासेज्ज वा वियागरेज्ज वा आयरियउवज्जा-

यस्स जासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा णो अंतराजासं
करेज्जा ” आचा० २ श्रु० ३ अ० ।

अंतराहिय-अन्तर्हित-त्रि० व्यवहिते, “अन्तराहियाए पुढ-
वीए ” आचा० २ श्रु० १ अ० । नि० चू० ।

अंतरा-अन्तरा-अव्य० अन्तरेति इण्-मा-निकटे, वर्जने, मेदि-
नी-वाच० । अन्तराले, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । विशेष० । आचा० ।
मध्ये, “इच्छादयारमागंतुं अंतरायं विसीयइ” सूत्र० श्रु० ३ अ० ।
अर्वागर्थे च. कल्प० “अंतरा वि य से कप्पइ नां से कप्पइ ”
अर्वागपि कल्पते परं न कल्पते कर्म० ५ क० ।

अंतरा (य) इय-अन्तराय-न० पुं० अन्तरा दातृप्रतिग्रा-
हकयोरन्तर्भाण्डागारिकवद् विघ्नहेतुतया अयते गच्छती-
त्यन्तरायम् उक्त० ३३ अ० । अन्तरा अय-अच्-प्रव० १५ द्वा० ।
जीवं दानादिकं वा अन्तरा व्यवधानापादनाय पति गच्छ-
तीति अन्तरायम् । अन्तरा-इ-अच्-प० सं० ३ द्वा० । कर्म० ।
अन्तर्मध्ये दातृप्रतिग्राहकयोर्विचाले आयातीत्यन्तरायः । जी-
वस्य दानादिविघ्नकारकेऽष्टमे कर्मभेदे, यथा राजा कसैस्त्रि-
हातुमुपदिशति तत्र भाण्डागारिकोऽन्तराले विघ्नकृद् भवति
तदन्तरायकर्माऽष्टमम् भवति उक्त० ३३ अ० । “जह राया
दाणाइं, न कुणइ भंडारिए विकूलम्मि । एवं जेणं जीवो,
कम्मं तं अंतरायंति ” स्था० ।

तद्भेदा यथा-

अंतराए कम्मे उविहे पण्णत्ते तंजहा पणुप्पणविणा-
सिए चेव पिहितिय आगामिपहं स्था० ५ ग्रा० ।

(पणुप्पणविणासिपचेवत्ति)प्रत्युत्पन्नं वर्तमानं बन्धं वस्तु इत्यर्थो
विनाशितमुपहतं येन तत्तथा । पागन्तरेण प्रत्युत्पन्नं विनाशय-
तीत्येवं शीलं प्रत्युत्पन्नविनाशि चैव समुच्चये इत्येकमन्यच्च पि-
धत्ते च निरुणाद्धि च आगामिनो बन्धव्यस्य वस्तुनः पन्थाः
आगामिपथः तमिति कचेदागामिपथानिति दृश्यते कचिच्च
(आगमपहंति) तत्र च लाजमार्गमित्यर्थः । स्था० २ ग्रा० ।

अंतराए णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा !
पंचविहे पण्णत्ते तंजहा दाणंतराए जाव वीरियंतराए
प्रज्ञा० ५९ पद० ।

तत्र यदुदयवशात् सति विभवे समागते च गुणवति पात्र-
दत्तमस्मै महाफलमिति जानन्नपि दातुं नोत्सहते तद्दानान्तरायं
यथा यदुदयवशाद्दानगुणेन प्रसिद्धादपि दातुर्गृहे विद्यमानम-
पि दीयमानमर्थजातं याच्नाकुशलोऽपि गुणवानपि याचको न
ब्रभते तन्नामान्तरायं तथा यदुदयवशात् सत्यपि विशिष्टाहा-
रादिसंभवे असति च प्रत्याख्यानपरिणामे वैराग्ये वा प्रवृत्त-
कार्पण्याद्योत्सहते जोकुं तद्भोगान्तरायमेवमुपभोगान्तरायमपि
भावनीयम् । नवरं जोगोपजोगयोरयं विशेषः सकृत् ज्ञयते इति
जोगः ‘आहारपुष्पमाई उ, उवभोगो उ पुणो पुणोः । उवभुज्जइ व-
त्थविहयाइं’ तथा यदुदयात्सत्यपि निरुज्जि शरीरे यौवनिकाया-
मपि वर्तमानोऽल्पप्राणो जवति यद्वलवत्यपि शरीरे साध्योऽपि
प्रयोजनेऽपि हीनसत्त्वतया प्रवर्त्तते तद्वीर्यान्तरायम् प्रज्ञा० २३ पदः ।

दाणे दामे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा ।

पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं उक्त० ३३ अ० ॥

एतच्च भागडानारिकस्तममिति दर्शयन्नाह ।

मिरिह्रियममं एयं, जह पमिक्लेण तेण रायाई ।

न कुण्ड दाणाईयं, एवं विन्नेण जीवो वि ॥

धियो गृहं श्रीगृहं भागडानारं तद्विद्यते यस्य न श्रीगृहको
भागडानारिकस्तेन नमं तुल्यमेतदन्तरायकर्म यथा तेन श्री-
गृहकेण प्रतिकूलेन राजादिः राजा नृपतिः आदिशन्तान् श्रे-
ष्ठोभ्यस्तलवरादिपरिग्रहः न करोति कर्त्तुं न पात्रयति दानादि
आदिशन्त्याय लाभभोगोपभोगादिग्रहणम् । एवममुना श्रीगृ-
हकदृष्टान्तेन विघ्नेनान्तरायकर्मणा जीवोऽपि जन्तुर्गपि दाना-
दि कर्त्तुं न पात्रयतीति व्याख्यातं पञ्चविधमन्तरायं कर्म ।
कर्म० १ कर्म० । पं० सं० । आ० । (अनुभागादयोऽस्य अणु-
भागादिशब्देषु) (यन्मोदयस्तत्तान्यानान्यस्य कर्म शब्दे)
विघ्ने, सूत्र० १ शु० ११ अ० ।

योगस्यान्तरायाः ।

प्रत्यूहा बाधयःस्त्यानं, प्रमादालम्यविज्रमाः ।

संदेहाविरतीन्म्य-लाजश्चाप्यनवस्थितिः ॥ ११ ॥

(प्रत्यूहा इति) व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रा-
न्तिदर्शनालम्भभूमिकन्यानवस्थित्यनि चित्तविघ्नेपास्तेऽ-
न्तराया इति सूत्रम् । हा० १६ हा० । विघ्नकरणे, व्या० ४ हा० ।
व्यचच्छेदे, " जे अंतरायं केरह " सू० । शक्यभावे च ।
" नम्रस्य अंतरायणं परगेहे गिलीयण " सूत्र० १ शु० ६ अ० ।
आन्तरायिक-न० विघ्ने, प्रश्न० संघ० ३ हा० । बहुप्रत्यवाये,
आचा० १ शु० ६ अ० ।

अंतरापह-अन्तरापथ- पुं० विवादिनस्यानयोरन्तरालमार्गं,
भ० २ श० १ उ० ।

अंतरायबहुल-अन्तरायबहुल-त्रि० विघ्नप्रचुरे, तं० ।

अंतरायवर्ग-अन्तरायवर्ग-पुं० अन्तरायप्रवृत्तिसमुदाये, क० प्र० ।

अंतराज्ञ-अंतराल-न० अन्तरं सीमानमार्गति शृङ्गाति-आ-रा-
फ-रस्य त्वत्वं वाच० । मध्ये, विशेष० । संकीर्णवर्णे च पुं०
तद्वर्तिनि त्रि० वाच० ।

अंतरावण-अंतरापण-पुं० अन्तरे ग्रामादीनामडंपथे आपणाः

अन्तरापणाः प्रश्न० आश्च० ३ हा० । राजमार्गप्रवृत्तिमध्यभाग-
वर्तिषु हृष्टेषु, विपा० १ शु० ३ अ० । वीथीषु दृष्टमार्गेषु, वृ० १
उ० । " अंतरावणाश्चो यमपडण गिरहंति " परिखोदकमार्गान्त-
राववर्तिनो दृष्टात् कुम्भकारसम्बन्धिन इत्यर्थः हा० १२ अ० ।

अंतरावणगिह-अन्तरापणगृह-न० गृहविशेषे, तद्यथा ।

अह अंतरावणो पुण, वीहीसा एगओ व छुहओ वा ।

तत्थ गिहं अंतरावण-गिहं तु सयमावणो चेव ॥

अथेत्यानन्तर्ये अन्तरापणो नाम वीथी दृष्टमार्ग इत्यर्थः सा
एकतो वा एकपाश्वेन (छुहओ वित्ति) द्वाभ्यां वा पार्श्वभ्यां
भवेत् तत्र यदृहं तदन्तरापणगृहमुच्यते वृ० १ उ० ।

अन्तरावास-अन्तरवर्ष-पुं० अन्तरमवसरौ वर्षस्य वृष्टेर्यत्रासा-
वन्तरवर्षः । वर्षाकाळे, प्र० १५ श० १ उ० ।

अन्तरावास-पुं० अन्तरेऽपि जिगमिषतः क्षेत्रमप्राप्याऽपि यत्र
सति साधुभिरवश्यमावासो विधीयते सोऽन्तरावासः । वर्षा-
काळे, प्र० १५ श० १ उ० । " अचित्ते गामं नीसाए पढमं अंतरा-
वासं उवागए " कल्प० ।

अंतरि (लि) कख-अन्तरि (री) ज्ञ-न० अन्तः स्वर्गपु-
थिन्मोर्मध्ये ईच्यते इक्ष-कर्मणि घञ्-अन्तः ऋक्ताणि अस्य वा
पुण्योदगादित्वात्पक्वे ह्रस्वः ऋकारस्य रित्वं वा वाच० । अन्तर्मध्ये
ईका दर्शनं यस्य तदन्तरिकम् भ० १७ श० १० उ० । आकाशो,
विशे० " अंतर्विषमवृत्तिं णं वृत्ता, गुज्जाणुचरियत्ति यं दश० ७ अ०
आन्तरिक्ष-न० अन्तरिक्षमाकाशं तत्र प्रयमान्तरिकम् । गन्ध-
र्वनगरादौ, स्या० ८ हा० । उच० । मेघादिके, सूत्र० २ शु० २
अ० । ग्रहाणामुदयास्तादिपरिज्ञानात्मके, कल्प० । उल्कापात-
धूमकेतुप्रमुखाणामुदयविचारविद्यालक्षणं, (उच० १५ अ०)
आकाशप्रभवग्रहयुद्धभेदादिभावफलनिवेदिके वा चतुर्थे
महानिमित्तशास्त्रे, स० । " गहवेधभूश्रद्धहासप्रमुहं जन्तुरि-
फलंते " प्रव० १५७ हा० । ग्रहवेधचूतादृहासप्रमुखमान्त-
रिक्षं निमित्तम् । तत्र ग्रहवेधो ग्रहस्य ग्रहमध्येन निर्गमः ।
चूतादृहान्मोऽनिमहानाकाशे आकित्तिकित्तिरावः यथा " जिनत्ति
सोममध्येन, ग्रहेष्वन्यतमो यदा । तदा राजजयं विद्यात्प्रजाको-
भं च दारुण " मित्यादि प्रमुखग्रहणाङ्गधर्धनगरादिपरिग्रहः ।
यथा " कपिशं शस्यपाताय, माडिजुं हरणं गवाम् । अव्यक्तवर्णं
कुरुते घल्लोभं न संगयः । गन्धर्वनगरं ज्ञेयं, सप्राकारं संतोर-
णम् । सोम्यां दिशं समाश्रित्य, राक्षस्तच्छिजयंकरमित्यादि " प्रव० २७ हा० । अस्य सूत्रं सहस्रप्रमाणं वृत्तिर्लक्षप्रमाणा
चातैकं कोटिप्रमाणम् स० ७९ पत्र- । आच० ।

अंतरि (द्वि) कखजाय-अन्तरिक्षजात-त्रि० स्कन्धमञ्चक-
प्रासादादौ, भुव उपरिवर्तिपदार्थजाते, आचा० २ शु० ५ अ० ।

अन्तरि (त्रि) कखपमित्राण-अन्तरिक्षप्रतिपक्ष-त्रि० आ-
काशगते, उपा० २ अ० । जं० ।

अन्तरि (द्वि) कखपासाणाह-अन्तरिक्षपार्श्वनाथ-पुं० श्री-
पुरेऽन्तरिक्षपार्श्वनाथप्रतिमायाम्,

तत्कल्प इत्यम् ।

‘पयहपहावनिवासं, पासं पणमित्तु सिरिपुरं नगरं । किचेमि
अन्तरिक्ष-द्विअतप्पमिमाइ कप्पलवं’ पुत्तिं लंकापुरीए द-
सग्गोवेण अरुचकिणा माली सुमालिनामानो निअगाओ
लग्गा केणावि पेसिया तेसिं ठविमाणरूढाई तह पहे व-
धंताणं समागया भेअणवेत्ता । फल्लवमुएण चित्तियं मए
ताव अज्ज जिणपमिमाकरंभिया ओसग्गत्तेण घरे विसा-
रिआ एएसिं च हुएह वि पुत्तवंताणं देवपूयाए अकयाए
न कत्थ वि भोयणं तओ देवयावसरकरंभिमदहु ममोवरि
पकुविसंतित्ति । तेण विज्जावलेण पवित्तवाहुआए अहि-
एवा भाविजिणपासनाहपडिमा निम्मविआ । माहिसुमा-
त्तिहिं तं पूइत्ता जोअणं कयं तओ तेसु तह मग्गे पडिएसु
सा पडिमा आसन्नसरोवरमज्जे अखंभिरुवा चेव तत्थ
गिया । काळकमेण तस्स सरोवरस्स जलं अप्पिअअं जलज-
रिअं खरुगं व दीसइ । तओ काळंतरेण विंगडल्लीदेसे विंग-
द्वनयरं तत्थ सिरपालो नाम नरवई हुत्था । सो अगाढको-
दविहुरिअसव्वंगो अन्नयरेहिं हऊहिं वाहिं गओ ते तत्थ पि-

वासाए दग्गाए तम्मि खुहुकमेणं पत्तो तत्थ पाणिअं पीअं मुहं हत्थाय पक्खाद्विया । तओ ते अंगावयवा जाया नीरोगा कण्यकमलुज्जलच्छाया । तओ घरं गयस्स रओ महादेवी तमच्छेरं दट्ठं पुच्छिच्छा सामि ! कत्थ वि तुम्हेहिं अज्ज एहाणाइ कयं राएण जहट्ठियं पसुत्तं देवीए चित्थियं । अहो सामि ! सा दिव्वं ति वीयदिणे राया तत्थ नीओ तीए सव्वंगं पक्खालियं जाओ पुण एवसरीरावयवो राया, तओ देवीए बलिपूआइअं काज्जण भणिअं जो इत्थ देवया विसि-सो चिट्ठइ सो पयमेउ अप्पाणं । तओ घरं पचाए देवीए सुमिणंतरे देवयाए जणिअं इत्थ भावितित्थयरपासनाह-पडिमा चिट्ठइ तस्स पभावेणं रन्नो आरुगं संजायं एअं पडिमं सगमे आरोविज्जण सत्तदिस्सजाए ति णिज्जुत्तिचा आमसुत्तंतुमित्तरस्सीए रन्ना सयं सारहिहूएणं सट्ठाणं पइवाले अघाइमा । जत्थेव निवो पच्छा हुत्थं पडोइस्सइ तत्थेव पमिमा ठाहिइ । तओ नरनाहेण तं खुहुगजलमा-लोइज्जण सा पडिमा दग्गा । तेण तहेव काउं पमिमा चा-द्विआ कित्तिअं पि जूमि गएण रन्ना किं पमिमा एइ न वि ति सिंहावल्लोइअं कयं पमिमा तत्थेव अंतरिक्षे ठि-आ । सगमो अगगओ हुत्तं नीसरिओ रन्ना पमिमा अ-द्धणि अडिइ गया । तत्थेव य सिरिपुरं नामं नयरं नि-अनामोवदक्खियं निवेसिअं चेइअं च तहिं कारियं । तत्थ पडिमा अण्णगमदूसवपुव्वं ठाविआ पूयइत्तं पुइवि पइति-काअं अज्जवि सा पडिमा तहेव अंतरिक्षे चिट्ठइ । पुत्ति-किर सा बाहन्निअं घरं सिरम्मि वहंती नारी पमिमाए सी-हासणवल्लोसिं वरिसु काद्वेण जूमीवेगचरणेण वा मिच्छाइ-धूसिअकालाणुजावेण वा अहो अहो दीसंती जाव संपइ नारी मित्तं पमिमाए हिडे संचरइ पइवपयाहायसीहास-णजूमिअंतराद्वे दीसइ जया य सा पमिमा सगरुमारोवि-आ तया देवी खित्तवालो असहेव पमिमाओण सगत्तेण सिद्धबुद्धाणं अन्नयरो पुत्तो अंवाए देवीए गहिओ अ-ओ अए ठाविओ तओ खित्तवात्तस्स आणती दिन्ना जहा एसदारओ ताए आणेअव्वो तेणावि अइउत्ताद्वं वलं तेण नांणीओ तओ देवीए सुंवरण समत्थइ अह सो अं-तवालसीसे दीसइ एवं अंवाए वि खित्तवालोहिं सेवि-ज्जमाणे धरणिदपज्जमावईहिं च कयपमिहेरो सा पमिमा सव्वद्वोएहिं पूज्जइ अंतरिक्षवडिअपासनाहकपे जहासु-अं किं पि सिरजिणप्पहसूरिहिं शिहिओ सपरोवयारकए अन्तरिक्षपार्श्वनाथकल्पः ती० ५२ क० ।

अंतरि (द्वि) कखोदय-अन्तरिक्षोदक-न० अन्तरिक्षे उदक-मन्तरीचोदकम् । वर्षोदके, नि० चू० १ उ० यज्जलमाकाशा-पतदेव गृह्यते " उपा० १ अ० ।

अंतरिज्ज-अन्तरीय-न० अन्तरे भवं गहादित्वाच्चः " नामौ धृतं च यद्वस्त्र-माच्छादयति जानुनी । अन्तरीयं प्रशस्तं त-द-च्छिन्नमुभयान्तयो " रित्येवंतद्वक्त्रे परिधानवस्त्रे, वाच० । शय्या-या अधस्तने वस्त्रे च । " अंतरिज्जं णाम णियंसणं अहवा अं-तरिज्जं णाम जं सेज्जाए हेठिहं पोत्तं " नि० चू० १५ उ० । आचा० । जवाद्यर्थे-बुअ् अन्तरीयकः तद्वे, त्रि० वाच० । अंतरिज्जिया-अन्तरीया-स्त्री० स्थविरात्कामर्द्धनिर्गतस्य वेपपा-तित (वैसवानरि) गणस्य तृतीयशाखायाम्, कल्प० १८१ पत्र । अंतरिय-अन्तरित-त्रि० अन्तर-इण्-कर्त्तरि कः । अन्तर्गते, अन्तरं व्यवधानं करोतीति णिचि-कर्मणि-क्तः । व्यवधापिते, तिरस्कृते, अच्छादिते, वाच० । व्यवहिते, विशेषे । आ० म० द्वि० । अन्तरिया-अन्तरिका-स्त्री० अन्तस्य विच्छेदस्य कारणमन्तरि-का स्त्रीलिङ्गशब्दः निवक्तिनवस्तुनः समाप्तौ, " भ्रान्ततरियाए वट्टमाणस्स " आरब्धध्यानस्य समाप्तिपूर्वस्यानारम्भणमित्य-र्थः जं० २ वक्त० ।

अन्तरिका-स्त्री० अन्तरमेवान्तर्यं ज्ञेयजादित्वात्स्वार्थेषु अण् ततः स्त्रीत्वविवक्षायां डीप् प्रत्यये आन्तरी अन्तर्येव आन्तरि-का । अन्तरे, व्यवधाने, सू० प्र० १० पाहु० । लच्चन्तरे च. रा० ॥ अंतरुच्छुय-अन्तरिक्तुक-पुं० इक्षुपर्वमध्ये, आचा० २ श्रु० १ अ० " उभयोपेतरुहियं अंतरुच्छुअं होति " नि० चू० १६ उ० । अंतरेण-अन्तरेण-अव्य० अन्तरेति इण्-ण-टवर्गादित्वेऽपि णस्य नेत्संज्ञकत्वम् । मच्चार्थे, वाच० । विनार्थे च. उक्त० १ अ० । अहारमंतरेण नाम अहारराजवेन नि० चू० १ उ० ।

अंतव (त)-अन्तवत्-त्रि० अन्तोऽस्यास्ती अन्तवान् । परि-मिते, " अंतवणिइए लोए इति धीरोति पासइ " अन्तवान् लोकः सप्तद्वीपाः वसुंधरेति परिमाणेकेस्तादृक्परिमाणेनेत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अंतवाल-अन्तपाल-पुं० अन्तं तच्चक्रिण आदेश्यदेशसम्बन्धिनं पालयति उपपञ्चादिभ्य इत्यन्तपालः । पूर्वदिगादिदेशलोकानां देवादिकृतसमस्तोपपन्ननिवारके, जं० ३ वक्त० । आ० म० । अंतविकट्टियंतमाल-अन्तविकर्षितान्त्रमाल-त्रि० शृंगालादि-जिह्वापाटितोदरमध्यावयवे, तं० ।

अंतमुह-अन्तसुख-न० परिणामसुखे, " मासैरष्टजिरह्वा च पूर्वेण वयसाऽऽयुषा । तत्कर्त्तव्यं मनुष्येण, यस्यान्ते सुखमेध-ते " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

अंतसो-अन्तशस्-अव्य० अन्त-शस्-निरवशेषत इत्यर्थे, " सल्लं कंतति अंतसो " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । विपाककाले इत्य-र्थः सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । यावज्जीवमित्यर्थे, " मणसा वयसा चेव कायसा चेव अंतसो " सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । कथञ्चित्कार्य-निस्तरे, " भत्तपाणे अ अन्तसो " जके पाने चान्तशः सम्यगु-पयोगवता जाव्यमिति सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अंतावेइ (ई)-अन्तर्वेदि (दी)-स्त्री० अन्तर्गता वेदिर्यत्र देशे । दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ ८ । १४ । इति ह्रस्वस्य दीर्घः । ब्रह्मावर्त्तदेशे, प्रा० । वाच० ।

अंताहार-अन्त्याहार-पुं० अन्त्ये भवमन्त्यं जघन्यधान्यं यल्ला-दि आहारो यस्य । कृतरसपरित्यागे, औ० । सूत्र० । स्था० ।



अंति (नृ)-अन्तिन्-वि० अन्तो जात्यादिप्रकर्षपर्यन्तोऽ-
स्यास्तौत्यन्ती । जात्यादिभिरुत्तमतया पर्यन्तवर्तिनि ।
स्था० १० डा० ।

अंतिअ [य]-अन्तिक-न० अन्त्यने संगध्यते सामीप्येन
अन्त-धञ् । घाच० । समीपे, तं० । मूध० । उक्त० । स्था० ।
विशे० । उक्त० । " बुद्धार्ण अन्तीए स्या " उक्त० १ अ० ।
आ० म० द्वि० । नि० । भ० । रा० । पर्य्यचसाने, "अह भिक्खु
गिलाएजा, आहारस्सेव अंनिया " आचा० १ थु० = अ० ।
पाश्च० च " देवाणंदाए माहणीए अंतिए एयमहुं सोचा "
कल्प० । अन्तोऽस्यास्तीति अन्तिकोऽन्ते वा चरत।त्यन्तिकः ।
पर्यन्तवासिनि, सूत्र० २ थु० २ अ० ।

अंतिम-अन्तिम-वि० अन्ते भवमन्तिमम् । चरमे, स्था० १
डा० । यतः परं न किञ्चिदस्ति विशे० ।

अंतिमराज्ञा-अन्तिमरात्रिका-ख्या० अन्तिमाऽन्तिमभागरू-
पावयवे समुदायोपचारात् सा चासौ रात्रिका चान्तिमरा-
त्रिका । रात्रेखसाने, स्था० १० डा० । भ० ।

अंतिमसंघयणतिग-अन्तिमसंहननत्रिक-न० अर्द्धनाराचसं-
हननकीलिकासंहननसेवार्तसंहननरूपे संहननत्रिके, कल्प० ।
अंतिमशरीरिय-अन्तिमश (शा) रीरिक-वि० अन्ते भव-
मन्तिमं चरमं तत्र तच्छरीरं चेत्यन्तिमशरीरं तत्र भवा अ-
न्तिमशरीरिकी दीर्घत्वं च प्राकृतशैल्या । चरमदेहभवेपु क्रि-
यादिषु, स्था० १ डा० ।

अंनंआरि (नृ) अन्तश्चारिन्-वि० अन्तश्चरति अन्तरं चर-
यिनि । तोऽन्तरि = १।६०। इति अत एत्वम् । मध्यगामिनि, प्रा० ।
अंतेज [पु] र-अन्तःपुर-न० अन्तरभ्यन्तरं पुरं गृहकर्म
घाच० । तोऽन्तरि = १।६०। इत्यन्तःशब्दस्पात एत्वम् प्रा० ।
अवरोधे, राजस्त्रीणां निवासगृहे, रा०। द्वा० । " चिय अंतेउर
चरदारपवेसी " आ० । तत्र गमनं निषिद्धम् ।

[सूत्रम्] जे भिक्खु रायंतेपुरं पविसइ पविसंतं वा
साइज्जइ ॥३॥

इममेव सूत्रं गाथया व्याख्यानयति ।

अन्तेउरं च तिविधं, जुणं एव चैव कस्समाणं च ।

एक्केकं पि य दुविधं, सत्थाणत्थं च परत्थाणे ॥१॥

रक्षो अंतेपुरं तिविधं रहंसियं जोव्वणाओ अपरिभुजमा-
णीओ अत्यति एयं जुषंतेपुरं । जोव्वणं पत्ताओ परिभुजमा-
णीओ जत्थ अत्यति तं रावंतेपुरं । अपत्तजोव्वणाणं रायदु-
हियाणं संगओ कण्ठेतेपुरं । तं खेत्तओ एक्केकं दुविधं सट्ठाणे
परट्ठाणे य । सट्ठाणत्थं रायधरे चैव परट्ठाणत्थं वसंतादिसु
उज्जाणियागयं ।

एते सामखतरं, रक्षो अंतेउरं तु नो पविसे ।

सो आणाअणवत्थं, मिच्छुत्तविराघणं पावे ॥ १॥

इमे दोषाः ।

दंरुक्खिगदोवा-रिएहि वरिसवक्खं चुइजेहि ।

णितेहि अनितेहि य, वाघातो होइ जिक्खुस्स ॥२॥

इमं वक्खमाणं ।

दंरुधरो दंरुक्खिओ, दोवारिजा तु दारिद्धा ।

वरिसवरट्टविप्पिति, कंजुगिपुरिसा महत्तरगा ॥ २१ ॥

दंरुगहियहत्यो सव्वतो अंतेपुरं रक्खइ रक्षा वइक्षेण इत्थि पुरि-
सं वा अंतेपुरं णीणति पवेसेति वा एस दंडरक्खितो । दोवारि-
या दारं चैव जं संमेहेति हिक्केति ता तप्पिया रक्षो आएत्तीए
अंतेपुरियसमीवं गच्छंति । अंतेपुरिया णंतीए वा रक्षो समी-
वं गच्छंति जे रणो समीवं अंतेपुरिया णयंति आणेंति चादिच-
एदायं वा कहकहिते कुवियं वा पसादेंति कहेंति य रक्षो विदि-
ते कारणे अणुणुत्तो वि जे अगता काउं वयंति ते महत्तरगा ।
अण्ण य इमे दोसा ॥

अप्पो व हांति दोसा, आइप्पो गुम्भरतणइत्थीओ ।

तप्पीसाए पवेसो, तिरिक्खमणया जवे दुद्धा ॥ २२ ॥

पूर्ववत् ।

सदादिइदियत्थो, पयोगदोसाण एस णं सीवे ।

सिंगारकहाकहणे, एगतइण ए य वहु दोसा ॥ २३ ॥

तत्थ गीयादिसट्ठावओणेण इरियं एसणं वा ण सोहेति
तहि वा पुच्छितो सिंगारकहं कहेज्ज । तत्थ य आयपरोजय-
समुत्था दोसा एते सट्ठाणत्थे दोसा । इमे परट्ठाणे ।

केहिता वहाँति दोसा, केरिसगा कथणगिएट्ठादीया ।

गव्वो पायसिउत्तं, सिंगाराणं व संजरणं ॥ २४ ॥

उज्जाणादिट्टियासु कोइ साधू कोउगेण गच्छेज्ज ते चैव पु-
व्ववणिग्या दोसा सिंगारकहाकहणे वा गणहणादिया दोसा
अंतेपुरे धम्मकहा णाणगव्वं गच्छेज्ज ओरालसरीरो वा गव्वं क-
रेज्ज अंतेउरपवेसे ओज्जातितो मिह अत्थे पद्दादिकणं करेने
पाउसदोसा भवंति सिंगारे य सोउं पुव्वरयकीलिते सुमरेज्ज
अहवा पाउ दट्ठु अप्पणो पुव्वसिंगारे संभरेज्ज पच्छा पणिगम-
णादी दोसा हवेज्ज ।

वितियपदमणानोगे, विसंधिपरिखेवसेज्जसंधारे ।

हयमादी छट्ठाणे, संघकुलगणाण कज्जे व ॥ २५ ॥

अणामोणेण पविट्ठो अहवा अंतेपुरं परट्ठाणत्थं साधुणा णातं
एयाओ अंतेपुरिअत्ति पुव्वभासेण पविट्ठो अयाणंतो अइवा
साधू उज्जाणादिसु गिता रायंतेपुरं च सर्व्वओ संमंता आग-
ओ परिवोहिय ठियं अम्ववसहिअभावे य तं वसहिं अंतेपुरं म-
व्भेण अत्तिंति णिते वा । अहवा संथारगस्स पच्चप्पणाणहओ
पविट्ठो अहवा सोइवग्गमहिसादियाण छट्ठाण परुणीयस्स वा
त्रया रायंतेपुरं पविसेज्जा अण्णतो णत्थि शीसरणो वा तो क-
ज्जेति कुलगणसंघकज्जेसु वा पविसेज्जा तत्थ देवी इव्वसा-
रायणं उपणेति अंतेपुरपविट्ठो रायदट्ठवो नि० नू० एं च० ।

अंतेउरपरिवारसंपरिवुड-अन्तःपुरपरिवारसंपरिवृत-वि० अन्तः
पुरं च परिवारश्च अन्तःपुरलक्षणो वा परिवारो यः सः ।
ताभ्यां तेन वा संपरिवृतः । अन्तःपुरलक्षणेन परिवारेण अ-
न्तःपुरेण परिवारेण वा संपरिवृते, ज्ञा० उ अ० ।

अंतेउरिया-अन्तःपुरिकी-ली० अन्तःपुरे विद्या आन्तपु-
रिकी । रोगिप्रागुण्यकारके विद्याजेदे, यया आतुरस्य नाम गृ-
हीत्वा आत्मनोऽङ्गमपमार्जयति आतुरश्च प्रगुणो जायते सा आ-
न्तःपुरिकी व्य० उ च० ।

अंतेवासि (नृ) अन्तेवासिन्-पुं अन्ते समीपे वस्तुं चारित्र-
क्रियायां वस्तुं शीलं स्वभावो यस्येत्यन्तेवासी । दशा० ४ अ० ।

अन्ते गुरोः समीपे वस्तुं शीलमस्येत्यन्तेवासी । शिष्ये, स्था०
चं० प्र० । जं० । सूर० । रा० । भ० ।

अन्तेवासिनां जेदप्रतिपादनार्थमाह ।

चत्वारि अंतेवासी पञ्चत्ता तंजहा उद्देसणंतेवासी नाम ए-
गे नोवायणंतेवासी, वायणंतेवासी नाम एगे नो उद्देसणं-
तेवासी, एगं उद्देसणंतेवासी वि वायणंतेवासी वि, एगे नो
उद्देसणंतेवासी वि नो वायणंतेवासी वि ।

अस्य सूत्रस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह ।

परुच्चारियं होइ, अंतेवासी उ मेद्वणा ।

अंतिगमब्भासमासन्नं, समीवं चैव आहियं ॥

अधस्तनानन्तरसूत्रे आचार्याः प्रोक्ताः आचार्यं च प्रतीत्यान्ते-
वासी भवति ततोऽन्तेवासिसूत्रमित्येषां मेलतः संबन्धः । अ-
त्रान्तेवासी तत्र योऽन्तशब्दस्तद्व्याख्यानार्थमेकार्थिकान्याह ।
अन्तं नाम अन्तिकमभ्यास आसन्नं समीपं चाख्यानं तत्र वस-
तीत्येवंशीलोऽन्तेवासी ।

संप्रति भङ्गनावनार्थमाह ।

जह चैव उ आयरिया, अंतेवासीति होति एमेव ।

अंते य वसति जग्हा, अंतेवासी ततो होइ ॥

यथा चैव आचार्या उद्देशनादिजेदतश्चतुर्द्धा जवन्ति एवमेव
अन्तेवासिनोऽपि यस्मादाचार्यस्यान्ते वसति तस्माद्भवत्याचा-
र्यवचतुर्द्धाऽन्तेवासी । इयमत्र ज्ञाना यो यस्यान्ते उद्देशनमेवा-
धिकृत्य वसति वसति स तं प्रत्युद्देशनान्तेवासी । यस्य त्वन्ते वा-
चनामेवाधिकृत्य वसति तस्य वाचनान्तेवासी । यश्चोद्देशनं वा-
चनां वाधिकृत्य यस्यान्ते वसति स तं प्रत्युज्यानान्तेवासी । य-
स्य त्वन्ते नोद्देशनं नापि वाचनामधिकृत्यान्ते वसति किं तु ध-
र्मश्रवणमधिकृत्य स तं प्रत्युभयविक्रदो धर्मान्तेवासी । उद्दे-
शनान्तेवासी वाचनान्तेवासी वा । तत्र कश्चित्त्रिभिरपि प्रकारैः
समान्वितो भवति कश्चिद् द्वार्या कश्चिदेकैकेन । व्य० १० उ० ।

चत्वारि अंतेवासी पञ्चत्ता तंजहा पन्वावणंतेवासी एो
उवट्टावणंतेवासी, उवट्टावणंतेवासी, एाममेगे णो पन्वावणंते-
वासी, पन्वावणंतेवासी वि उवट्टावणंतेवासी वि, एगे णो
पन्वावणंतेवासी णो उवट्टावणंतेवासी ॥

अन्ते गुरोः समीपे वस्तुं शीलमस्येत्यन्तेवासी शिष्यः । प्रब्रा-
जनया दीक्षया अन्तेवासी प्रब्राजनान्तेवासी दीक्षित इत्यर्थः ।
उपस्थापनान्तेवासी महाव्रतारोपणतः शिष्य इति चतुर्थभङ्ग-
कस्थः क इत्याह धर्मान्तेवासीति धर्मप्रतिबोधनतः शिष्यो
धर्मार्थितयोपसम्पन्नो वेत्यर्थः । स्था० ४ उ० ।

वीरान्तेवासिनां वर्णकः ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स जगवओ महावीरस्स
अंतेवासी वहवे समणा भगवंतो अप्पेगइया उग्गपव्वइआ
भोगपव्वइया राइस्सणातकोरव्वत्तिअपव्वइआ भमा
जोहा सेणावइपत्थारो सेट्ठी इव्वे अस्से वहवे एवमाइणो
उत्तमजातिकुलरूवविणयविस्साएवस्सत्तावस्सविक्रमपहाण -
सोत्तमगतंतिधुत्ता बहुधणधस्सणिचयपरियाद्वफिन्निआ णर-
वइगुणाइच्चिअभोगा सुहंसपत्तिआ किंपागफलोवमं च

मुणिअ विसयसोक्खं जलवुव्वुअसमाणं कुसग्गजलविंदुचं-
चलं जीवियं च एाज्जए अप्पुवमिणं रययमिव पट्ठग्गद्वग्गं
संविधुणित्ताणं चइत्ता हिरस्सं जवि पव्वइआ । अप्पेगइआ
अप्पमासपरिआया अप्पेगइया मासपरिआया एवं दुमासा
तिमासा जाव एकारस । अप्पेगइया वासपरिआया पुवा-
स तिमासा अप्पेगइया अणेगवासपरिआया संजमेणं तवसा
अप्पाणं भावेमाणा विहरंति । तेणं कालेणं तेणं समएणं
समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी वहवे णिग्गंथा
भगवंतो अप्पेगइया आभिणिबोहियणाणी जाव केवल-
णाणी । अप्पेगइआ मणवलिआ वयवद्विआ कायवद्विआ
अप्पेगइआ मणेणं सावाणुग्गहसमत्था ३ अप्पेगइआ खे-
लोसहिपत्ता एवं जहोसहि विप्पोसहि आमोसहि सव्वोसहि
अप्पेगइआ कोट्टवुद्धी एवं वीअवुद्धी परुवुद्धी अप्पेगइया
पयाणुमारी अप्पेगइआ संजिन्नसीआ अप्पेगइया खीरा-
सवा अप्पेगइआ महुवासवा अप्पेगइआ सप्पिआसवा अ-
प्पेगइआ अक्खीणमहाणसिआ एवं उज्जुमती अप्पेगइआ
विउल्लमई विउव्विणिट्ठिपत्ता चारणा विज्जाहरा आगासा-
तिवाइणो । अप्पेगइआ कणगावलिं तवोक्कम्मं पन्निवस्सा एवं
एकावलिं खुट्ठाकसीहनिक्कीद्वियं तवोक्कम्मं पडिवस्सा अप्पे-
गइया महाल्लयं सीहानिक्कीलियं तवोक्कम्मं पडिवस्सा जइप-
डिमं महाभइपडिमं सव्वतो जइपडिमं आयं विलव्वप्पमाणं
तवोक्कम्मं पन्निवस्सा मासिअं जिक्खुपडिमं एवं दोमासिअं
पडिमं तिमासिअं पडिमं जाव सत्तमासिअं भिक्खुपडिमं
पन्निवस्सा पडिमं राइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवस्सा जाव तच्चं
सत्तराइंदियं भिक्खुपडिमं पन्निवस्सा । अहोराइंदियं जिक्खु-
पडिमं पन्निवस्सा इक्कराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवस्सा सत्त-
सत्तमिअं जिक्खुपडिमं अट्ठमिअं भिक्खुपडिमं एवण-
वमिअं जिक्खुपडिमं दसदसमिअं जिक्खुपडिमं खुडिय-
मोअपडिमं पन्निवस्सा महद्वियं मोअपडिमं पन्निवस्सा जव-
मज्झं चंदपडिमं पन्निवस्सा वज्जमज्झं चंदपडिमं पन्निवस्सा
संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति औ०७३ पत्र ।

(मनोवल्लिकादीनामर्थः स्वस्वशब्दे)

तेणं कालेणं तेलं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स
अंतेवासी वहवे थेरा जगवंतो जातिसंपप्पा कुलसंपप्पा
वत्तसंपप्पा रुवसंपप्पा विणयसंपप्पा णाणसंपप्पा
दंसणसंपप्पा चरित्तसंपप्पा लज्जासंपप्पा लाघवसंपप्पा
उ अंसीतेअंसी वच्चंसी जसंसी जिअकोहा जियमाणा
जिअमाया जिअओभा जिअइंदिआ जिअणिदा जिअप-
रीसहा जीविआसमरणभयविप्पसुक्का वयप्पहाणा गुण-
प्पहाणा करणप्पहाणा चरणप्पहाणा णिग्गहप्पहाणा

निच्छयप्पहाणा अज्जवप्पहाणा मद्दवप्पहाणा लाववप्प-
हाणा खंतिप्पहाणा मुत्तिप्पहाणा विजापहाणा मंतप्प-
हाणा वेअप्पहाणा वंभप्पहाणा नयप्पहाणा नियमप्पहा-
णा सच्चप्पहाणा सोअप्पहाणा चारुवणा लज्जानवस्सी
जिइंदिआ सोही अणियाणा अप्पमुआ अवहिद्धेस्सा
अप्पमिलेस्सा सुसामसुरया दंता इणमेव णिगंथे पावयणं
पुरओ काउं विहरंति तेसि एं जगवंताणं आयवादी विदि-
ता भवंति परवादी विदिता जवंति आयावाइं जमइत्ता
लयणमिव मत्तमातंगा आच्छिदपसिएणवागरणं रयणकरं-
रुगसमाणा कुत्तिआवणचूआ परवादिपरमहाणा दुवा-
लसंगिणो मम्मत्तगणिपिमगधरा सव्वक्खरससिवाइणो
सव्वभासाणुगामिणो अजिणा जिणसंकासा जिणा
इव अवितहं वा करेमाणा संजमेणं तवसा अप्पाणं जावे-
माणा विहरंति । तेणं काळेणं तेणं समणं सम-
णस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी वहवे अणगारा
भगवंतो इरिआसमिआ भासासमिआ एसणासमिआ
आदाणनंमत्तनिक्खेवणासमिआ उव्वरापासवणखेलसिं-
घाणजल्लपारिट्ठावणियासमिआ मणगुत्ता वयगुत्ता कायगु-
त्ता गुत्तिदिया गुत्तवंभयारा अममा अकिंचणा त्रिएणगन्था
त्रिएणमोआ निरुवद्धेवा कंसपातीव मुक्कतोआ संख इव
निरंगणा जीवो विव अप्पमिहयगती जव्वकणं पित्त जा-
तरूवा आदरिसफलगा विव पगडभावा कुम्भो इव गुत्ति-
दिआ पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा गगणमिव निरालंबणा
अणिद्धो इव निरालया चंद इव सोमलेसा सूर इव तेअ-
द्धेसा सागरो इव गंभीरा विहग इव सव्वओ विप्पमुक्का मंदर
इव अप्पकंपा सायरसद्विलं व मुच्छहिअया खग्गविसाणं
व एगजाया चारंरुपक्खी व अप्पमत्ता कुंजरो इव सौंही-
रा वसजो इव जायत्यामा सीहो इव दुच्छरिसा वसुंधरा
इव सव्वफासविसहा सुहुअहुआसणो इव तेअसा जइता
नत्थि एं तेसि णं भगवंताणं कत्थय पडिबंधे । से अप्पडि-
बंधे चउव्विहं पण्णत्ते तंजहा दव्वओ खित्तओ कालओ
भावओ । दव्वओ णं सच्चित्ताचित्तमीसएसु दव्वेसु, खेत्तओ
गामे वा एगरे वा रस्से वा खेत्ते वा खद्धे वा धरे वा अंगणे-
वा, कालओ समए वा आवलिआए वा जाव आयाणे वा
अणत्तरे वा दीहकालसंजोगे, भावओ कोहे वा माणे वा
मायाए वा दोहे वा भए वा हासे वा एवं तेसि एं जवइतेणं
जगवंतो वामावासवज्जं अद्ध गिम्हहेमंतिआणि मासाणि
गामे एगराइआ एगरे पंचराइआ वासी चंदणसमाणकप्पा
समझेडुकंचणं समसुहडुक्खा इहडोगपरडोगअप्पमिवक्खा
संसारपारगामी कम्मणिग्घायणट्ठाए अव्वुडिआ वि-
हरंति ॥ औ० १०१ पत्र ।

(पदार्थमात्रविन्यसिनी टीकेति न विन्यस्ता) (तेसि णं ज-
गवंताणं एते णं विहारणं विहारमाणा एं इमेयारूपे अभिंतर-
ए वाहिरए तवोवहाणे होत्था तंजहा अभिंतरए उव्विहं वाहिर-
ए उव्विहं इत्यादितव आदिशब्देषु प्रदर्शयिष्यते । तेणं काळेणं
तेणं समणं समणस्स भगवओ महावीरस्स वहवे अणगारा
जगवंतो अप्पेगइया आयारधरा इत्याद्यणगारशब्दे) ।

वीरान्तेवासिनः कति सेत्स्यन्तीति पृच्छा ।

तेणं काळेणं तेणं समणं महासुक्काओ कप्पाओ महास-
ग्गाओ विमाणाओ दो देवा महद्धिया जाव महाणुभागा
समणस्स जगवओ महावीरस्स अतियं पाउव्वुया । तए
एणं ते देवा समणं भगवं महावीरं मणसा चेव वंदंति न-
मंसंति वंदंतिता नमंसंतिता मणसा चेव इमं एयारूवं वागरणं
पुच्छंति । कइ णं देवाणुप्पियाणं अंतेवासिसयाइं सिज्झिहिं-
ति जाव अंतं करेहिंति ? तए णं समणे जगवं महावीरं
तेहिं देवेहिं मणसा पुठे तेसिं देवाणं मणसा चेव इमं ए-
यारूवं वागरणं वागरेइ एवं खलु देवाणुप्पिया ममं सत्त
अंतेवासिसयाइं सिज्झिहिंति जाव अंतं करेहिंति तए एं
ते देवा समणेणं भगवया महावीरेणं मणसा पुट्ठेणं मण-
सा चेव इमं एयारूवं वागरणं वागरिया समाणा हउत्तुड
जाव हियया समणं जगवं महावीरं वंदंति एमंसंति मण-
सा चेव सुस्ससमाणा एमंसमाणा अजिमुहा जाव पज्जु-
वांसंति भ० ५ श० ९ उ० ।

इहापि टीका प्रसिद्धशब्दार्थमात्रविन्यसिनीति न गृहीता ।

अन्तो-अन्तर-अव्य० मध्ये, दशा० १ अ० । “अंतो पन्निगहगं-
सि” आचा० १ श्रु० ६ अ० । स्था० । ज्ञा० । प्रअ० । आव० ।
सूत्र० । “एवामेव मायि मायं कट्टु अंतो अंतोज्झियाइ” अन्तर-
न्तःक्रियया ध्मायन्ति इन्धनैर्दीप्यन्ते स्था० ७ उ० ।

अंतोअंत-अन्तोपान्त-पुं० सान्तमध्ये, “तुमं चेव एंसंति-
यं वरथं अंतोअंतेण पन्निहेहिस्सामि” त्वदीयमेवाहं वस्त्रमन्तो-
पान्तेन प्रत्युपेक्षितं गृहीयाम । अन्तःसहितमन्तोपान्तकरपनि-
लेखादिग्रहणकरे, आचा० २ श्रु० १ अ० ।

अंतोकरण-अन्तःकरण-न० कृ-करणे-ल्युट् । अन्तरज्यन्त-
रस्यं करणं कर्मधा० । तदुत्तिपदार्थानां सुखादीनां करणं
ज्ञानसाधनम् । ज्ञानसुखादिसाधने, अन्तरन्तरे मनोबुद्धिचि-
त्तादिपदामिद्वयमाने इन्द्रिये, वाच० । तच्चान्तःकरणं स्मृति-
प्रमाणवृत्तिसंकल्पविकल्पाहंघृत्याकारेण चित्तबुद्धिमनोऽह-
ङ्कारशब्दैर्व्यवह्र्यते न० ।

अंतोखरियत्ता-अन्तःखरिका-स्त्री० नगराभ्यन्तरवेष्ट्याखे,
विशिष्टवेष्ट्याखे च । “दोषं पि रायगिहे एयरे अंतोखरियत्ता-
ए उव्वज्झिहिंति” ज० १५ हा० १ उ० ।

अंतोगिरिपरिरय-अन्तर्गिरिपरिरय-पुं० गिरेरन्तः परिकेपे,
जी० ३ प्रति० ।

अन्तोजल-अन्तर्जल-न० जलाज्यन्तरे, “अन्तो जले वि एवं
गुञ्जगं फासइच्छणिच्छेते” वृ० ६ उ० ।

अंतोणाय-अन्तर्नाद-त्रि० हृदये सद्यःखमारटाति, "छोपडं मुहं हत्येणं अंतोणायं गळे रवं" आव० ४ अ० ।

अंतोणायसणी-अन्तर्निवसनी-स्त्री० आर्याणामौघिकोपधिजे-दे, तत्स्वरूपम् ॥ "अंतोणियंसणी पुण, वीणतरा जावं अद्ध-जंघातो" । अन्तर्निवसनी पुनरुपरिकटिजागादारज्याधोऽर्धज-ङ्गा यावद् भवति सा च परिधानकाले वीणतरा परिधीयते मा चूदनावृता जनोपहास्येति" वृ० ३ उ० । नि० चू० । पं० चू० ।
अंतोदहणसील-अन्तर्दहनशील-त्रि० हृदयस्य दुःखाग्निना दाहके, "कुंफुया विव अंतोदहणसीलाओ" (नाट्यः) कुंफकः करीपाग्निस्तद्वत् अन्तर्दहनशीलाः पुरुषाणामन्तर्दुःखाग्निना ज्वालनत्वात् । उक्तं च "पुत्रश्च मुखो विधवा च कन्या, शठं च मित्रं चपलं कलत्रम् । विद्यासकालेऽपि दरिद्रता च, विनाऽग्निना पञ्च दहन्ति कायम्" तं० ४६ पत्र ।

अंतोदुष्ट-अन्तर्दुष्ट-पु० न० बुतादिदोषतो नवहीरः यन्नावेन सौम्यत्वात् अभ्यन्तरदोषयुते व्रणभेदे, शठतया संवृताकारत्वाद् हृदयदुष्टे पुरुषभेदे च पुं० स्था० ४ ग० ।

अंतोधूम-अन्तर्धूम-पु० अभ्यन्तरधूमे, गृहादिनिरुद्धधूमे, आव० ४ अ० ।
अंतोमज्जोवसाणिय-अन्तर्मध्यावसानिक-पुं० लोकमध्यावसानिकाख्ये अभिनयभेदे, नाट्यकुशलेभ्यो ऽयं विशेषतो वेदितव्यः रा० ।

अंतोमुह-अन्तर्मुख-न० अभ्यन्तरद्वारे, "अंतोमुहस्स अस-वी उभयमुहे तस्स बाहिर पिहए" वृ० १ उ० ।

अंतोमुहुत्त-अन्तर्मुहुत्त-न० मुहुत्तस्य घटिकाद्वयवक्रणस्य कालविशेषस्यान्तर्मध्ये ऽन्तर्मुहुत्तम् । निपातनादेवात्र अन्तः-शब्दस्य पूर्वनिपातः न० । भिन्नमुहुत्तं, आव० ५ अ० ।

अंतोलित्त-अन्तर्लित्त-त्रि० अन्तर्मध्ये क्षिप्तमन्तर्लित्तम् । मध्ये वे-पेनोपदिग्धे, "घमिमंतोलित्तं" वृ० १ उ० ।

अंतोवट्ट-अन्तर्वट्ट-त्रि० मध्ये वृत्तसंस्थानसंस्थिते, ते णं णरगा अंतोवट्टा वहिं चरंसा" बाह्यमङ्गीकृत्यान्तर्मध्ये वृत्ता सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अंतोवत्ति-अन्तर्व्याप्ति-स्त्री० पङ्कीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तौ, यथाऽनेकांतात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेः रा० ६ पत्र ।

अंतोवार्हिणी-अन्तर्वार्हिणी-स्त्री० मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे प्रवहन्त्यामन्तरनद्याम्, स्था० ३ ग० । "कुमुप विजए अरजा रायहाणी अंतोवार्हिणी णई" जं० ४ वक्ता० ।

अंतोवीसंज-अन्तोविश्रमज-पुं० अन्तर्विश्रमजः तं० स० । तोऽन्तरीत्यस्य काचित्कत्वान्नान्तस्यैत्वम् । चित्तविश्वासे, "अंतो-वीसंजनिवेसिआणं" प्रा० ।

अंतोसल्ल-अन्तःशल्य-त्रि० अन्तर्मध्ये शल्यं यस्य अदृश्यमानमित्यर्थः तत्तथा । बहिरनुपलक्ष्यमाणे व्रणभेदे, स्था० ४ ग० । अनुद्धृततोमरादौ, म० ३ श० ५ उ० । अन्तर्मध्ये मनसीत्यर्थः । शल्यमिव शल्यमपराधपदं यस्य सोऽन्तःशल्यः । अग्निमानादिभिरनालोचितातिचारे, स० ५१ पत्र ।

अंतोसल्लमयग-अन्तःशल्यमृतक-त्रि० अनुद्धृतभावशङ्केषु मध्यवर्तिभल्लादिशल्येषु वा सत्सु मृतेषु, औ० २५६ पत्र ।

अंतोसल्लमरण-अन्तःशल्यमरण-न० अन्तःशल्यस्य रुच्यतोऽनुद्धृततोमरादेर्जावतः सातिचारस्य यन्मरणं तदन्तःशल्यमरणम् । बालमरणभेदे, ज० ३ श० १ उ० । स० ।

तत्स्वरूपम्

लज्जाए गारवेण च, बहुस्तुयमयेण वावि दुच्चरियं ।

जेण कहेति गुरूणं, एण हु ते आराहगा होंति ।

गारवयंकणिबूना, अङ्गारं जे परस्स ण कहेति ।

दंसणणाणचरित्ते, ससल्लमरणं हवति तेसिं उच्च० नि० ।

तत्र वज्जया अनुचितानुष्ठानसंवरणात्मिकया गौरवेण च सातर्किसगौरवात्मकेन मा ज्ञानमालोचनाहमाचार्यमुपसर्पत-स्तद्वन्दनादिना तदुक्ततपोनुष्ठानासेवनेन च ऋक्षिससता-प्रावसंजव इति बहुश्रुतमदेन वा बहुश्रुतोऽहं तत्कथमल्पश्रुतोऽयं-मम शल्यमुक्षिप्यति कथं चाहमस्मै वन्दनादिकं दास्याम्यपत्रा-जना हीयं ममेत्यजिमानेन अपि पूरणे ये गुरुकर्माणो न कथयन्ति नालोचयन्ति केषां गुरूणामालोचनाहोणामाचार्यादीनां किं तत्र दुश्चरितं दुरनुष्ठितमिति संबन्धः । न ह नैव तेऽनन्तरमुक्तरूपाः आराधयन्त्यविकलतया निपादयन्ति सम्यग्दर्शनादीनीत्याराधका भवन्ति । ततः किमित्याह । गौरवपङ्क इव काबुध्यहेतुतया तस्मिन्निबुमा इति प्राकृतत्वान्निमग्ना इव निमग्नास्तत्कौकीकृततया वज्जामदयोरपि प्रागुपादाने यदिह गौरवस्यैवोपादानं तदस्यैवातिदुष्टताख्यापनार्थम् । अतिचारमपराधं परस्याचार्यादेनै कथयन्ति किं विषयमित्याह । दर्शनज्ञानचारित्र्ये दर्शनज्ञानचारित्र्यविषयं दर्शनविषयं शङ्कादिज्ञानविषयं कावातिकमादि चारित्र्यविषयम् । समित्यननुपादानादिशहयमिव शल्यं कालान्तरेऽप्यनिष्टफलविधानं प्रत्यबध्यतया सह तेनेति सशल्यं तच्च तन्मरणं च सशल्यमरणं तच्चान्तःशल्यमरणं भवति । तेषां गौरवपङ्कमग्नानामिति गाथाद्वयार्थः ॥

अस्यैवात्यन्तपरिहार्यतां ख्यापयन् फलमाह ।

एतं ससल्लमरणं, मरिज्जण महाभए दुरंतम्मि ।

सुचिरं भयांत जावा, देही संसारकंतारे ॥ उच्च० नि०

एतदुक्तस्वरूपं सशल्यमरणं यथा भवति तथेत्युपस्कारः ।

सुव्यत्ययाद्वा एतेन सशल्यमरणेन मृत्वा त्यक्त्वा प्राणान् जीवा इति संबन्धः । किं सुचिरं भ्रमन्ति बहुकालं पर्यटन्ति क संसारः कान्तारमिवातिगहनतया संसारकान्तारस्तस्मिन्निति संतङ्कः । कीदृशं महद्भयं यस्मिन्स्तन्महाभयं तस्मिन्स्तथा दुःखेनान्तःपर्यन्तो यस्य तद्वहन्तं तस्मिन् । तथा दीर्घे अनादौ केषांचिदपर्यवसिते चेति तत्सर्व्वथा परिहर्तव्यमेवेति भाव इति गाथार्थः । प्रव० १५७ द्वा० ।

अंत्रणी-स्त्री०-अन्त्र-न० अपभ्रंशे स्वार्यिकप्रत्यये कृते । लिङ्गमतन्त्रम् ८४१५१ इति नपुंसकस्याऽपि स्त्रीत्वम् । उदरमध्याऽवयवभेदे, "पाइविलगणी अंत्रडी" प्रा० ।

अंद्-अन्द्-स्त्री० अन्धते घध्यतेऽनेनेति अदि-कू-वाच० ।

निगडे, "अंद् सुपक्खिप्पविहन देहे" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अंदेउर-अन्तःपुर-न० अधःकचिद् ८४१२६० इति शौरसेन्यां तकारस्य दकारः । राजख्खाणां गृहे, प्रा० ।

अंदोलग-आन्दोलक-पुं० यत्रागत्य मनुष्या आत्मानमान्दोलयन्ति ते आन्दोलकाः । हिरडोल इति लोकप्रसिद्धेषु, जी० ३ प्रति० । रा० । जं० । दोलनकर्त्तरि, त्रि० वाच० ।

अंदोल (ह्र) ए-अ (आ) न्दोलन-न० वृत्तशाखादौ खे-
लने, ध० २ अथि० । करणे-घञ्-हिएडोल इति प्रसिद्धे आन्दो-
लनयन्त्रे, सूत्र० १ ध्रु० ११ अ० । यत्रान्दोलनेन दुर्गमतिलङ्घ्यते
तस्मिन् मार्गविशेषे, सूत्र० १ ध्रु० ११ अ० ।

अंध-अन्ध-त्रि० अन्ध-अन्ध-नयनरहिते, द्वा० १२ द्वा० । यो० ।

पञ्चा० । सूत्र० । स चान्धो द्विधा जात्यन्धः पञ्चाद्वा हीनने-
त्रोऽपगनचक्षुः सूत्र० १ ध्रु० १२ अ० । स चान्धो द्रव्यतो
भावतश्च । तत्रैकेन्द्रियद्वौन्द्रियत्रौन्द्रियाः द्रव्यभावान्धाः । च-
तुरिन्द्रियादयस्तु मिथ्यादृष्टयो भावान्धाः उक्तञ्च " एकं हि
चक्षुरमलं सहजो विवेक-स्तद्विरेव सह संवसति द्वितीयम् ।
एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्ध-स्तस्यापमार्गचलने खलु
कोऽपराधः " सम्यग्दृष्ट्यस्तूपहतनयना द्रव्यान्धास्त एव स-
चक्षुषो न द्रव्यतो नापि भावतस्तदेवमन्धत्वं द्रव्यभावभेदभि-
न्नमेकान्तेन दुःखजननमवाप्नोतीत्युक्तञ्च " जीवश्रेव मृतोऽन्धो,
यस्मात्सर्वक्रियास्तु परतन्त्रः । नित्यास्तमितदिनकर-स्तमो-
न्धकारार्णवनिमग्नः " " लोकद्वयव्यसनवह्निविदीपिताङ्ग-मन्धं
समीक्ष्य रूपं पर्यपिनेयम् । को नोद्विजेत भयरुजननादि-
वोग्रात, कृष्णाहिनैकनिचितादिव चान्धगर्भात् " आचा० १
ध्रु० २ अ० ३ उ० । अन्ध इवान्धः । अज्ञाने, ज्ञानरहिते, " ए-
रणं अंधा मूढा तमप्यविद्या " भ० ७ श० ७ उ० । " तिष्ठतो
व्रजतो वापि, यस्य चक्षुर्न दूरगम् । चतुष्पदां भुवं मुक्त्वा,
परिवाडन्ध उच्यते " इत्युक्तलक्षणं परिवारभेदे, वाच० ।
पुं० । अन्धयतीत्यन्धम् अन्ध-चु० प्रेरणे-णिच् अच् । अन्ध-
करणे, अन् वा अन्धकारे, तमसि, अज्ञाने च । जले, न.
मेदि० । वाच० ।

अन्ध-पुं० अन्ध-रन्० । देशभेदे, स च देशः जगन्नाथादूर्ज-
गादूर्वाक् श्रीभ्रमरात्मकात् तावदन्धामिधो देश इत्युक्तः वाच० ।
तद्देशोत्पत्तेरने च. व्य० ७ उ० । स च म्लेच्छवृत्तेनोक्तः प्रज्ञा० १
पद. । प्रश्न० । प्रव० । सूत्र० । विदेहेन कारावरस्य स्त्रियासु-
त्पादिते अन्त्यजभेदे, व्याघ्रभेदे इति काश्यपः वाच० ।

अंधकट्टइज्ज-अन्धकट्टकीय-न० अन्धस्यावितर्कितकट्टको-
पगमनरूपेऽवितर्कितोपगमने, आचा० १ ध्रु० १ अ० ।

अंधकट्ट-आन्ध्यकृत्-त्रि० स्वरूपावलोकनशक्तिविकले, अष्ट०
२ प्रष्ट० । अहं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्धकृत् " अष्ट० ।

अंधका (या) १-अन्धकार-पुं० न० अन्ध करोति कृ-अण्
उप० । वाच० । कृष्णजूतेष्वादिजने, अरुणभवसमुज्ज्वल-
मस्काये. च. तं० ४६ पत्र. । बहुव्रतमोनिहृष्टे, अनु० ।
स्था० । ज्ञा० । तच्च तेजोद्रव्यसामान्याज्जातुरूपमिति त्रैयायिकाः
वाच० । " कावं मइलं तं पिय वियाणं तं अंधयारं ति " इत्युक्त-
लक्षणः पुंल्लपरिणाम इति समयविदः सूत्र० १ ध्रु० १ अ० ।
अन्यत्रापि " सहधयारवज्जोभो, पहागयातवेइया । वल्लगंधर-
साफासा पोग्गहाणं तु वल्लणं " उक्तं २ अ० । नच तमसः
पौल्लविकत्वमसिद्धं चाक्षुषत्वान्यग्रानुपपत्तेः प्रदीपाढोकवत् ।
अथ यच्चाक्षुषं तत् सर्वं प्रतिप्राप्ते आढोकमपेक्षते नचैवं
तमस्तत्कथं चाक्षुषं मेवम् उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्र-
तिप्राप्तात् । यैस्त्वस्मदादिभिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमाढोकं
त्रिना नोपलभ्यते तैरपि तिमिरमाढोकायिष्यते विचित्रत्वाद्वा-
चानां कथमन्यथा पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्तौफांया आढोका-
पेक्षदर्शनाः प्रदीपञ्चादयस्तु प्रकाशान्तरनिर्गच्छा इति सिद्धं

तमश्चाक्षुषम् । रूपवत्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते । शैत्यस्पर्-
शप्रत्ययजनकत्वात् । यानि त्वनिचिरावयवत्वमप्रतिघातित्वम-
नुद्भूतस्पर्शविशेषत्वमप्रतीयमानस्वरावयवविषयप्रविभागत्व-
मित्यादीनि तमसः पौल्लविकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्य-
स्तानि तानि प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिषेध्यानि स्या० ६ पत्र. ।

सर्वान्यन्तरं माण्डवमधिकृत्यान्धकारसंस्थितिं प्रति-

पिपादयिपुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह ।

तता एं किंसांठता अंधकारसंठिती आहिताति वदेज्जा ।
ता उद्धीमुहकलंबुतापुष्पगठिता आहितेति वदेज्जा । अं-
तोसंकुमा वाहिं वित्थमा तं चेव जाव ता से एं दुवे वाहातो
अणवद्वितातो भवंति तं सव्वब्भंतरिता चेव वाहा सव्व-
बाहिरिता चेव वाहा । तीसे एं सव्वब्भंतरिता वाहा मंदरं
पव्वयं तेणं छ जोयणसहस्साइं तिष्ठि य चउव्वीसे जो-
यणसते छ विदसजागे जोयणस्स परिवखेवेणं । ता से एं
परिवखेवविसेसो कतो आहितेति वदेज्जा । ता जे एं मंद-
रस्स पव्वस्स परिवखेवेणं तं परिवखेवं दोहिं गुणिता द-
सहिं छेत्ता दसहिं जागे हिरमाणे हिरमाणे एम एं परि-
खेवविसेसं आहितानि वदेज्जा । ता से एं सव्वबाहिरिता
वाहा लवणसमुदं तेणं तेवहिं जोयणसहस्साइं दोष्णि य
पणयाले जोयणसते छ दसजागे जोयणस्स परिवखेवेणं
ता से एं परिवखेवविसेसो कतो आहितेति वदेज्जा । ता
जे एं जंबुदीवस्स दीवस्स परिवखेवेण परिवखेवं दोहिं गु-
णिता दसहिं छेत्ता दसहिं जागे हिरमाणे हिरमाणे एस
एं परिवखेवविसेसे आहिताति० ता मे एं अंधकारे केवतितं
आयंमेणं आहिताति० ता अट्टुत्तिरिं जोयणसहस्साइं तिष्ठि
य तेत्तीसे जोयणसते जोयणतिजागं च आयामेणं आहितेति
वदेज्जा तता ण उत्तमकट्टे उक्कासे अण्णरस मुहुत्ते दिवसे नवति
जह्णिया पुवालस मुहुत्ता राती भवति । ता जता एं सुरिए
सव्वबाहिरं मंरुलं उवसंकमिता चारं चरति ता उप्पीमुह-
कलंबुता पुष्पसंठिया तावखेत्तसंठिती अंतो संकुमा वाहिं
वित्थमा जाव सव्वब्भंतरिया चेव वाहा सव्वबाहिरिता
चेव वाहा । ता से एं सव्वब्भंतरिता वाहा मंदरपव्वतेणं
छ जोयणसहस्साइं तिष्ठि य चउव्वीसे जोयणसते छ
दसजागे जोयणस्स एवं जंपमाणं अब्भंतरमंडले अंधका-
रसंठिते तं इमाणं वि तावखेत्त संठिती एतव्वा । वाहिर-
मंरुले आयामो सव्वत्थ वि एक्को तया एं किंसांठता
अंधकारसंठिती आहिताति वदेज्जा । ता उप्पीमुहकलंबुता
पुष्पसंठिता अंधकारसंठिती आहिताति वदेज्जा । अंतो
संकुमा वाहिं वित्थमा तं चेव जाव सव्वब्भंतरिता वाहा
सव्वबाहिरिता आहिता चेव वाहा । ता से एं सव्वब्भंत-
रिता वाहा मंदरपव्वयं तेणं एव जोयणसहस्साइं चत्तारि
य उल्लमीते जोयणमते एव दसभागे एवं जंपमाणे अब्भं-

तरमन्त्राणि सूरिण तावत्तमन्त्रिणी तं चैव नेयव्यं
जाव आतामो ता जता एं उत्तमन्त्रकोसा अन्धारसमुद्भूता
राती जवति जहृषण दुर्वाहसमुद्भूते दिवसे भवति ।

तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारकाले (किं संतिष्ठति) किं
संस्थितं संस्थानं यस्याः । यद्वा कस्येव संस्थानं संस्थिति-
र्यस्याः सा किं संस्थिता अन्धकारसंस्थितिराख्यातेति वदेत् ।
भगवानाह " ता इत्यादि " ता इति पूर्ववत् ऊर्द्धकृतकल-
म्बुका पुष्पसंस्थिता अन्धकारसंस्थितिराख्यातेति वदेत् ।
सा चान्तमण्डलि विष्कम्भमधिकृत्य (संकुडा) संकुचिता
बाहिलवर्णादिशि विस्तृता । तथा अन्तमण्डलि वृत्ता ऊर्द्ध-
वर्णाकारा सर्वतो वृत्ता मेरुगतौ द्वौ देशभागौ व्याप्य तस्या-
वस्थितत्वात् । बाहिलवर्णादिशि पृथुला विस्तीर्णा एतदव-
संस्थानकगणेन स्पष्टयति " अतो अकमुहसंतिष्ठि आ वाहे " स-
त्थिमुहसंतिष्ठि " अन्तयोः पदयोर्व्याख्यानं प्राग्वत् वेदितव्यम् ।
" उभयोपासेणमित्यादि " तस्या अन्धकारसंस्थितेस्तापक्षेत्र-
संस्थितेर्विध्यवशाद् द्विधा व्यवस्थिताया मेरुपर्वतस्योभय-
पार्श्वेन उभयोः पार्श्वयोः प्रत्येकमेकैकभावेन ये जम्बूद्वीपगते
वाहे ते आयामेन आयामप्रमाणमधिकृत्यावस्थिते भवतस्त-
द्यथा पञ्चचत्वारिंशत् योजनसहस्राणि (४५०००) द्वे च वाहे
विष्कम्भमधिकृत्य एकैकस्या अन्धकारसंस्थितेर्भवतस्तद्यथा
सर्वाभ्यन्तरा सर्वाहाया च पतयोश्च व्याख्यातं प्रागिव द्रष्ट-
व्यम् । ततः सर्वाभ्यन्तराया वाहाया विष्कम्भमधिकृत्य प्रमा-
णमभिधित्सुराह (तासेणमित्यादि) तस्या अन्धकारसंस्थितेः
सर्वाभ्यन्तरवाहा मन्दरपर्वतान्ते मन्दरपर्वतसमीपे सा च
पर्ययोजनसहस्राणि त्रीणि शतानि, चतुर्विंशत्यधिकानि
(६३२४) परं दश भागा योजनस्य (६) यावत् परिक्षेप-
णाख्याता इति वदेत् । अमुमेवार्थं स्पष्टावबोधनार्थं पृच्छति
(ता सेण इत्यादि) ता इति पूर्ववत् तस्या अन्धकारसंस्थि-
तेर्यथोक्तः परिमाणपरिक्षेपविशेषो मन्दरपरिरयपरिक्षेपेण
विशेषः कृतः । कस्मात्कारणादाख्यातो नानाधिको वेति भग-
वान् वदेत् एवं प्रश्ने कृते भगवानाह । ता इति प्राग्वत् । यो
णमिति वाक्यालङ्कारे मन्दरपर्वतस्य परिक्षेपः प्रागुक्तप्रमाणः
त परिक्षेपे द्वाभ्यां गुणयित्वा कस्माद् द्वाभ्यां गुणनमिति
चिद्व्यते इह सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चारं चरतोः सूर्य-
योरैकस्यापि सूर्यस्य जम्बूद्वीपगतस्य चक्रवालस्य यत्र
तत्र प्रदेशे, तत्तच्चक्रवालक्षेत्रानुसारेण दश भागास्त्रयः प्र-
काश्या भवन्ति । अपरस्यापि सूर्यस्य त्रयः प्रकाश्या
दश भागास्ततः उभयमीलने परं दश भागा भवन्ति तेषां
त्रयाणां दशानां भागानामपान्तराह द्वौ द्वौ दशभागौ रजनो-
ततो द्वाभ्यां गुणनं तौ च दशभागौ भवति दशभिर्भागहरणं द-
शभिर्भागहरणे यथोक्तं मन्दरस्य समीपे अन्धकारसंस्थिति-
परिमाणमागच्छति । तथाहि मेरुपर्वतपरिरयपरिमाणमेकत्रिंश-
द्योजनसहस्राणि पदं शतानि त्रयोविंशत्यधिकानि (३१६३२)
एतानि द्वाभ्यां गुणयन्ते जातानि त्रिषष्टिसहस्राणि द्वे शते प-
दचत्वारिंशदधिके (६३२४६) एतेषां च दशभिर्भागे हते ल-
ब्धानि परं योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधि-
कानि । परं दश भागा योजनस्य (६३२४) (६) तत एव एतावान-
नन्तरोदितप्रमाणोऽन्धकारसंस्थितेः परिक्षेपो मन्दरपरिरयपरि-
क्षेपेण विशेष आख्यात इति वदेत् । तदेवमुक्तमन्धकार-

संस्थितः सर्वाभ्यन्तराया वाहाया विष्कम्भपरिमाणम् । अधुना
सर्वाहाया वाहाया आह । " तासेण इत्यादि " तस्या अन्ध-
कारसंस्थितः सर्ववाहाया वाहा लवणसमुद्धान्ते लवणसमुद्भू-
समीपे जम्बूद्वीपपर्यन्ते सा च परिक्षेपेण जम्बूद्वीपपरिरय-
परिक्षेपणाख्याता त्रिषष्टियोजनसहस्राणि द्वे शते पञ्चचत्वारिंश-
द्योजनशते परं दशभागा योजनस्य यावत् (६३२४६) (६) एत-
देव स्पष्टं स्वशिष्यानववाधयितुं भगवान् गौतमः पृच्छति " ता-
सेण इत्यादि " ता इति पूर्ववत् तस्या अन्धकारसंस्थितेः स
एतावान् परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपेण (१०)
विशेषः कृतः कस्मात्कारणादाख्यातो नानाधिको वेति वदेत् भग-
वान् वर्द्धमानस्वामी आह " ता जे णं इत्यादि " ता इति पूर्व-
वत् यो णमिति वाक्यालङ्कारे जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपः प्रागुक्त-
प्रमाणस्तं परिक्षेपं द्वाभ्यां गुणयित्वा दशत्रिंशत्तत्त्वा दशभिर्वि-
भज्य अत्र च करणं प्रागेवोक्तं दशभिर्भागं न्हियमाणे यथोक्त-
मन्धकारसंस्थितेर्जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपेणमागच्छति । तथाहि
जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपपरिमाणं त्रीणि लङ्काणि पौरुषसहस्रा-
णि द्वे शते अष्टविंशत्यधिके (३१६२९८) तद् द्वाभ्यां गुणयन्ते
जातानि परं लङ्काणि द्वात्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि पद-
पञ्चाशदधिकानि (६३२४६) तेषां दशभिर्भागे हते लब्धा-
नि त्रिषष्टियोजनसहस्राणि द्वे शते पञ्चचत्वारिंशदधिके पद-
च दशभागा योजनस्य (६३२४६) (६) तत एव एतावाननन्त-
रोदितप्रमाणोऽन्धकारसंस्थितेः परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपप-
रिरयपरिक्षेपेण विशेष आख्यात इति वदेत् । तदेवमुक्तं स-
र्ववाहाया अपि वाहाया विष्कम्भपरिमाणम् । " सम्प्र-
ति सामस्येनान्धकारस्थितेरायामप्रमाणमाह " । " तासेण
इत्यादि " । इदं चायामपरिमाणं तापक्षेत्रसंस्थितिगतायाम-
परिमाणवद्भावनीयं समानत्वावनिक्तत्वात् । भगवैव सर्वाभ्यन्त-
रे मण्डले वर्द्धमानयोः सूर्ययोर्दिवसरात्रिमुहसंप्रमाणमाह ।
" तथा णं इत्यादि " सुगमं सर्वाभ्यन्तरे मण्डले तापक्षेत्रसंस्थि-
तिमन्धकारसंस्थितिं चाभिधाय सम्प्रति सर्ववाहामण्डले ताम-
भिधित्सुराह " ता जया णमित्यादि " ता इति पूर्ववदेव यदा
सूर्यः सर्ववाहामण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा किं संस्थिता
तापक्षेत्रसंस्थितिराख्यातेति भगवान् वदेत् । भगवानाह । " ता
उर्द्धमुह इत्यादि " पूर्ववद्वाक्येया " ता से णं इत्यादि " तस्याश्च
तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरवाहाऽभ्यन्तरमण्डलसमीपे सा च
परिक्षेपेण मन्दरपरिरयपरिक्षेपेण परं योजनसहस्राणि त्रीणि
शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि (६३२४) परं च दशभागा
योजनस्य (६) आख्यातानि मयेति वदेत् स्वशिष्येभ्यः ।
" एवं इत्यादि " एवमुक्ते सति कारणं यदभ्यन्तरमण्डलगतसूर्य-
ऽन्धकारसंस्थितः प्रमाणमुक्तं तद्वाह्यं वाह्यमण्डलगतसूर्य-
स्यापि तापक्षेत्रसंस्थितः परिमाणं ज्ञातव्यम् । तच्चैवम् " ता से
ण परिक्षेपवावसेसकता आह आति । जेण मन्दरस्स पञ्चयस्स
परिक्षेपे तद्वाहि भागहि हिरमाणे एस्स णं परिक्षेपवावसेस
आह आति वपजा ता जेण जम्बूद्वीपस्स द्वीपस्स परिक्षेपे
दाहि गुणिता दसहि छित्ता दसहि भागहि हिरमाणे एस्स णं
परिक्षेपवावसेसे आदिअत्ति वपजा ता से णं तावक्खित्ते
केवदय आयामेण आह आति वपजा । तीत्तसि जेअणसह-
स्साइ तिस्सि अत्तसि जेअणपणतिभागं चायामेण आह आत्ति
वपजा " इदं सकलमपि सुगमं नवरं मन्दरपरिरयादयद् द्वाभ्यां
गुणनं तत्रेदं कारणम् इह सर्ववाहामण्डले चारं चरतोः सूर्ययो-

अम्बुद्वीपेनस्य चक्रवालस्य यत्र तत्र वा प्रदेशे तच्चक्रवालके-
त्रानुसारं हि हि दशभागौ तापक्षेत्रम् । एतच्च प्रागेव ज्ञातं
ततो मन्दरपरिरयादि द्वाभ्यां गुणयन्ते गुणयित्वा च दशभिर्भा-
गहरणं तथा सर्वेषां महदले सूर्यस्य चारं चरनो द्युषण-
मुद्रमध्ये पञ्चयोजनसदृशाणि तापक्षेत्रं वर्द्धते तत्रैव शीतयो-
जनसहस्राणि इत्याद्युक्तम् । शेषाकरयोजना तु प्राग्वद्भावनीया
नदेवं सर्वथाहो मण्डले वर्त्तमाने सूर्ये तापक्षेत्रसंस्थितं परि-
माणमभिधाय सम्प्रति तत्रैवान्धकारसंस्थितिपरिमाणमाह ।
(तथा ण किं संतिष्ठति इत्यादि) तदा सर्वथाहो मण्डले चारचरण-
काले णमिति वाक्यालङ्कारं किंसंस्थिताऽन्धकारसंस्थितरा-
ज्येति चेदेव । प्रगवानाह " ताच्छीमुहेत्यादि " सुगमं
" ता से एणं इत्यादि " तस्या अन्धकारसंस्थितेः सर्वोऽन्यतरथाहो
मन्दरपर्वतान्ते मन्दरपर्वतसमीपे । " ताव जाव परिक्रमेव वि-
सेसे आदिभस्ति वण्डजा । ता से णं अंधकारे केवदंशं आया-
मेण आदिभस्ति वण्डजा ता तेसीदं जोअणसहस्रादि तिष्ठि अ
तेत्तिंसिं जोअणस्स जोअणतिभागं च आदिभस्ति वण्डजा "
इह यन्मन्दरपरिरयादिस्त्रिभिर्गुणं हरणं च शेषाकरयोजना तु
प्राग्वत्कर्त्तव्या । तदेवं सर्वथाहोऽपि मण्डले तापक्षेत्रसंस्थितिः प-
रिमाणं चाकर्मधुना सर्वथाहो मण्डले वर्त्तमानयोः सूर्ययो रा-
त्रिद्विशसमुदूतैरिमाणमाह । (ता जयां णं इत्यादि) तदा सा
सर्वथाहोमण्डलचक्रकाले उत्तमकाष्ठां प्राप्ता वृत्तशेषादशमु-
हूर्त्ता रात्रिर्भवति जयन्त्यो द्वादशमुहूर्त्ता दिवसः तदेवमुक्तं ताप-
क्षेत्रसंस्थितिपरिमाणमन्धकारसंस्थितिपरिमाणं च । चं० प्र०
४ पाहु० । सू० प्र० ॥

उद्योतान्धकारी इरमकर्मणाह ।

'से एणं भंते ! दिवा उज्जोए राडंअंधयारे ? इता' गो-
यमा ! जाव अंधयारे से केणट्टेणं ? गायमा ! दिवा सुभा
पोगगला सुने पोगगलपरिणामे राति अमुजा पोगगला
अमुने पोगगलपरिणामे । से तेणट्टेणं नेरइया णं जंते !
किं उज्जोए अंधयारे ? गायमा ! नेरइयाणं नो उज्जोए
अंधयारे से केणट्टेणं ? गायमा ! नेरइयाणं अमुभा पो-
गगला अमुने पोगगलपरिणामे से तेणट्टेणं असुरकुमाराणं
भंते ! किं उज्जोए अंधयारे ? गायमा ! असुरकुमाराणं
उज्जोए ना अंधयारे । से केणट्टेणं ? गायमा ! असुरकु-
माराणं सुभा पोगगला सुने पोगगलपरिणामे से तेणट्टेणं
जीवं एवं बुच्च जाव यणियाणं पुढवीकाइया जाव तेइदिया
जहा नेरइया । च उरिदियाणं भंते ! किं उज्जोए अंधयारे ?
गायमा ! उज्जोए वि अंधयारे वि से केणट्टेणं ? गायमा !
च उरिदियाणं सुभा सुभा पोगगला सुभा सुने पोगगलपरि-
णामे से तेणट्टेणं एवं जाव मणुस्साणं वाणमंतरजोइसवे-
माणिया जहा असुरकुमारा ॥

" से एणमित्यादि " (दिवा सुहा पोगगलति) दिवा दिवसे
शुभाः पुत्रा जयन्ति । किमुक्तं भवति शुभपुत्रलपरिणामः स
चारकसंपर्कात् (रत्तिति) रात्रौ (नेरइयाणं अमुभा पोग-
गलति) तत्क्षेत्रस्य पुत्रलशुभानिमित्तजूतारविकरादिप्रकाश-
कवस्तुवर्जितत्वात् । (असुरकुमाराणं सुहा पोगगलति) तदा
श्रयादीनां भास्वरत्वात् (पुढविकाइयेत्यादि) पृथिवीकायि-

कादयस्त्रीन्द्रियान्ता यथा नैरयिका उक्तोऽस्ति वाच्या । " एषां
हि नास्म्युद्योतोऽन्धकारं चास्ति पुत्रलोनामिदं भवति इह चैव
भावना एतद्वेत्रे सत्यपि रविकरादिसंपर्के एषां चक्षुरिन्द्रिया-
भावेन दृश्यवस्तुनो दर्शनाभावात् । शुभपुत्रलकार्यकरणेनाशु-
भाः पुत्रा उच्यन्ते तत्रैवामन्धकार एवेति (चक्षुरिन्द्रियाणं
सुजासुजोगलति) एषां हि चक्षुःसङ्गावेन रविकरादिसङ्गा-
वे दृश्यार्थावबोधहेतुत्वात् शुभाः पुत्रा रविकराद्यभावे त्वर्था-
वबोधजनकत्वादशुभा इति प्र० ५ श० ए० उ० ।

अधोलोकेऽन्धकारः ।

अधोलोके एषं चत्वारि अंधकारं करोति तंजहा एणगा
णेरइया पावाइं वम्माइं असुजा पोगगला ॥

" अहेत्यादि " सुगमं किन्तु अधोलोके उत्तलक्षणे चत्वारि
वस्तुनीति गम्यते नरका नरकावासा नैरयिका नरका पतेः कृ-
ष्णरूपत्वाद्यन्धकारं कुर्वन्ति पापानि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि
मिथ्यात्वाज्ञानश्रृङ्खलान्धकारित्वाद्यन्धकारं कुर्वन्तीत्युच्यते ।
अथवाऽन्धकारस्वरूपेऽधोलोके प्राणिनामुत्पादकत्वेन पापानां
कर्मणामन्धकारकर्तृत्वमिति तथा अशुभाः पुत्रलोस्तमिदंभावे-
न परिणता इति । स्था० उ० उ० । तथा स्थानाङ्गे चतुर्भिः कारणैर्लोक
उद्योतो भवति तथा अन्धकारमपि अहंनिर्वाणेऽहंक्षुतं
मांजावे जानतेजस उच्छेदेऽपि तत्र यथाऽहंता निर्वाणे लोकऽ-
न्धकारं जयति तथा त्रयाणां नात्र समानमुत कश्चिद्विशेषो वेति
प्रश्ने लोकानुजावादिवाहिदादीनां चतुर्णांमध्युच्छेदं द्रव्यान्धकारं
समानम् अग्निविनाशे त्रयोच्छेदे भावान्धकारमधिकं स्यादिति
विशेषः स्थानाङ्गवृत्त्यनुसारेण ज्ञायते इति १६० इयेन० २ उ० ।
(अहंति निर्वाणे मच्छति धर्मे देयुच्छिद्यमाने पूर्वगते वा व्यच्छि-
द्यमाने लोकान्धकार इत्यहंछेदे) तमसि, स्था० ३ उ० । अरु-
णभवसमुद्रोद्भवतमस्कायं च० तं० । तमोरूपत्वात्तस्य प्र० ।
स्था० । अशाद्यन् अन्धकारवति, त्रि० ज्ञा० १ अ० । औ० ।
अंधका (या) रपेक्ख-अन्धकारपक्क-पुं० कृष्णपक्के, सू०
१३ पाहु० ॥

अंधग-अन्दिप-पुं० वृत्ते, भ० १५ श० ४ उ० ॥

अंधगवैह-अन्दिपवह्नि-पुं० अन्दिपा वृक्तास्तेषां बहयस्तदा-
श्रयत्वेनेत्याहिवहयः । वादेरंतेजस्कायेषु, प्र० १५ श० ४ उ० ।
अन्धकवह्नि-अन्धका अप्रकाशकाः सद्धमनामकर्मोदयाद्ये
वहयस्ते धन्धकवहयः । सद्धमतेजस्कायेषु, ।

जीवइया एणं भंते ! चरा अंधगवैहणो जीवा तावइया
परा अंधगवैहणो जीवा ? हंता ! गायमा ! जीवइया चरा
अंधगवैहणो जीवा तावइया परा अंधगवैहणो जीवा
सेवं जंते ! भंतेति ।

तत्परिमाणाः (परां) पराः प्रकृष्टाः स्थितितो दीर्घायुप
इत्यर्थः इति प्रश्नः हन्तेत्याशुत्तरमिति । भ० १६ श० ४ उ० ।
यदुवैशजन्मभेदे, " चारवतीए एणरीए अंधगवैह एणं
राया परिवसइ महया हिमवंत वण्णो तस्स एणं अंधगव-
हहस्स रणो धारणी एणं देवी होत्था " अन्त० । अन्धक-
वहदेश पुत्राः " समुदे १ सांगरे २ गंभीरे ३ थिमिए ४ अ-
यले ५ कपिले ६ अक्खोमे ७ पसेणइ ८ विणहुइ ९ एते नव
एतेषां प्रथमो गौतम इति दश-अन्त० १ वर्ग० । " अहं व

भोगरायस्स तं च सि अंधगवर्हिहणो” त्वं च भवसि-अन्ध-
कवृक्षेः समुद्रविजयस्य सुत इति गम्यते ” दश० २ अ० । ग० ।
अंधतम-अन्धतमस-न० अन्धकारे, तवान्धतमसस्तेजोरूपा-
न्तरस्य संक्रमे, “असूरियं नाम महाभितावं अंधतमं दुष्पतरं
महंतं” सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । (अत्र प्राकृतत्वादन्धतम इति)
अंधतमस-अन्धतमस-न० अन्धं करोतीत्यन्धयति अन्धयती-
त्यन्धं तच्च तमश्चेति अन्धतमसम् । समवान्धात्तमस इत्यप्र-
त्ययः । निविडान्धकारे, स्या० ६८ पत्र० ।

अंधतामिस्स-अन्धतामिस्स-न० तमिस्सा तमस्सन्ततिः । तमि-
स्सैव तामिस्सम् । अन्धयतीत्यन्धम् कर्म-स० । निविडान्ध-
कारे, साङ्ख्यशास्त्रप्रसिद्धे भयविशेषविषयकेऽभिनिवेशे, पुं०
स्या० ३६ पत्र । देहे नष्टे अहमेव नष्ट इत्यज्ञाने च. वाच० ।
अंधपुर-अन्धपुर-न० नगरभेदे, यत्र अनन्धो राजाऽन्धम-
क्तः वृ० ४ उ० ।

अंधपुरिस-अन्धपुरुष-पुं जात्यन्धे, यथा मृगापुत्रः वि० १ अ० ।

अंधद्व-अन्ध-पुं० प्राकृते “विद्युत्पत्रपीतान्धाक्षः ८२।७३ इति
स्वाथे लः प्रा० । चक्षुर्द्वयहीने, वृ० ४ उ० । नि० चू० (अन्धद-
ष्टान्तो व्युद्ग्राहितशब्दे-सिक्खाशब्देऽप्यन्धदष्टान्तः)

अंधारूव-अन्धरूप-त्रि० अन्धाकृतौ, “तए णं सामिया देवी
तदा रूपं हुंडं अंधारूवं पासइ ” विपा० १ अ० ।

अंधिया-अन्धिका-स्त्री० चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, उत्त० ३६
अ० । प्रज्ञा० । जी० ।

अंधि (धे) लृग-अन्ध-पुं० अन्ध एवान्धिल्लकः । जात्यन्धे,
प्रश्न० आश्र० १ द्वा० । चक्षुर्विकले, पि० । प्रश्न० ।

अंधी-अन्धी-स्त्री० अन्धदेशजस्त्रियाम्, “अन्धीणां च ध्रुवं
लीला-चलितं भूतले मुखे । आसज्य राज्यभारं स्वं, सुखं स्व-
गिति मन्मथः ” आच० ४ अ० ।

अंध-अन्ध-पुं० पञ्चदशाक्षुरनिकायान्तर्वर्तिपरमाधार्मिकनि-
कायानां प्रथमे परमाधार्मिके, यो देवो नारकान्मथरतले नीत्वा
विमुञ्चत्यसाधम्ब इत्युच्यते ज्ञ० ३ श० ६ उ० ।

ते चाभ्याभिधाः परमाधार्मिका यादृक्तां वेदनां परस्परोदी-
णदुःखं चोत्पादयन्ति तां दर्शयितुमाह ।

धामैति पहामैति य, इणंति विंधंति तह णिसुंभंति ।

मुंचंति अंवरतले, अंवा खलु तत्थ णेरइया ॥ ७० ॥

“धामैतीत्यादि ” तत्राभ्याभिधानाः परमाधार्मिकाः स्वभव-
नाक्षरकावासं गत्वा क्रीरया नारकान् अत्राणान् सारमेयानिव
शूलादिप्रहारैस्तुदन्तो [धामैति] प्रेरयन्ति । स्थानान् स्था-
नान्तरं प्रापयन्तीत्यर्थः । तथा (पहामैति) स्वेच्छयेत-
श्चेतश्चाऽनाथं भ्रमयन्ति । तथाऽम्बरतले प्रक्षिप्य पुनर्निपतन्तं
मुञ्जरादिना घ्नन्ति । तथा शूलादिना विध्यन्ति तथा (निसं-
भंति) रुकाटिकायां गृहीत्वा चूमौ पातयन्ति । अधोमुखमथो-
त्क्षिप्याम्बरतले मुञ्चन्तीत्येषमादिकया विडम्बनया तत्र नरक-
पृथिवीषु नारकान् कदर्थयन्ति सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । आव० आ०
चू० । (अंवीरसशब्देऽपि)

अम्ब-न० अम-ल-तक्रे, रसभेदे, पुं० नद्वति, त्रि० वाच० ।

आम्ब-त्रि० तक्रादिसंस्कृते, जं० ३ वक्त० प्र० ॥

आम्ब-पुं० अम गत्यादिषु रन् दीर्घश्च । न्दस्वः संयोगे दी-

र्घस्य ण । १ ८४ इति सूत्रेण आदेर्ह्रस्वत्वम् । प्रा० । चूत-
वृक्षे, स्था० दर्श० (पार्श्वस्थादिभिः संसर्गे क्षेत्रनाशे आम्बकदृष्टा-
न्तः खेत्तशब्दे) तस्य फलम् आण तस्य लुक् आम्बफले नपुं. अनु० ।
अप्रासुकामग्रहणनिषेधो यथा ।

अहं निक्खू इच्छेज्जा अवं जोत्तए वा सेज्जं पुण अवं
जाणेज्जा सअमं जाव संसंताणं तहप्पगारं अवं अफासुयं
जाव णो पमिगाहेज्जा । से निक्खू वा भिक्खुणी वा से-
ज्जं पुण अवं जाणेज्जा अप्पमं जाव संताणं अतिरिच्छ-
च्छिणं अवोच्छिणं अफासुयं जाव णो पमिगाहेज्जा । से भि-
क्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण अवं जाणेज्जा अप्पमं
जाव संताणं तिरिच्छच्छिणं वोच्छिणं फासुयं जाव प-
मिगाहेज्जा । से निक्खू वा निक्खुणी वा अभिक्खेज्जा
अंवाभित्तं वा अंवापेसियं वा अंवाचोयं वा अंवासाहं
वा अंवादाहं वा जोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण जा-
णेज्जा अंवाभित्तं जाव अंवादाहं वा सअमं जाव सं-
ताणं अफासुयं जाव णो पमिगाहेज्जा । से भिक्खू वा
निक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंवाभित्तं वा अप्पमं
जाव संताणं अतिरिच्छच्छिणं वा अफासुयं जाव णो प-
मिगाहेज्जा । से भिक्खू वा निक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणे-
ज्जा अंवाभित्तं वा अप्पमं जाव संताणं तिरिच्छच्छि-
णं वोच्छिणं फासुयं जाव पमिगाहेज्जा ॥

से इत्यादि. स भिक्षुः कदाचिदाप्त्रवनेऽनग्रहमीश्वरादिकं
याचेत तत्रस्थश्च सति कारणे आम्बं भोक्तुमिच्छेत्तत्राणं साएणं
ससन्तानकमप्रासुकमिति च मत्वा न प्रतिगृह्णीयादिति । किंच
‘से त्यादि’ स भिक्षुर्यत्पुनराप्त्रमलपाणमल्पसन्तानकं वा जानी-
यात्किंत्वतिरश्चीनच्छिन्नं तिरश्चीनमपारितं तथा व्यवच्छिन्नं न
स्वप्नितं यावदप्रासुकं न प्रतिगृह्णीयादिति । तथा “सेइत्यादि”
स भिक्षुरलपाणमल्पसन्तानकं तिरश्चीनच्छिन्नं तथा व्यवच्छिन्नं
यावदप्रासुकं कारणे सति गृह्णीयादिति । एवमाप्त्रावयवसंविन्ध-
सुत्रत्रयमपि नेयमिति । नवरम् । “अंवाभित्तं” आम्बार्कम् “अंवा-
पेसी” आम्बफाली (अंवाचोयं गति) आम्बच्छल्लीसाहं (रस-
डाहं गति) आम्बशूद्रमखरानीति । आचा० २ श्रु० ७ अ० ३ उ० ।
(सूत्रम्) जे भिक्खू सचित्तं अवं जुजइ अवं भुजंति वा
साइज्जइ । ५ । जे निक्खू सचित्तं अवं विडसइ विरुसंतं वा
साइज्जइ । ६ ।

एवं सचित्तपइमिते वि दो सुत्ता । एते चउरो सुत्ता एतेसिं
इमो अत्थो । सचित्तं णाम सजीवं चतुर्थरसास्वादं गुणणिप्प-
सं णामं अवं जुज पालनाच्चयवहारयोः इह ज्ञेयणे दृष्टवो
आणादी चउवहुं च पच्छित्तं । एवं वितियसुत्तं पि णवरं विरुस-
सं निक्खणं विविहेहिं पगारेहिं नसति विरुसइ एवं पइट्ठिप
वि णवरं चउमंगो । सचित्ते पइट्ठित्ते पइठितं सचित्तं, अचि-
त्ते अचित्तं सचित्तेषु आदिहेसु दोसु मंगेषु चउवहुं । चरिमेसु
दोसु मासलहुं । इमो सुत्तफासो ।

सचित्तं वा अवं, सचित्तपइट्ठियं च दुविहं तु ।
जो जुजे विरुणे सो, दणअगाढं भोदि तो भत्ति । ३ ।

आगादफरुसमीसग, दसमुहेसम्मि वषियं पुव्वं ।

तं चेव वज्जवत्थो, सो पावति आणमादीणि ॥ ४ ॥

सच्चित्तं सच्चित्ते पइठियं वा एयं चेव छुविहं सेसं कंठं ।

अमिलातानिणवं वा, अपक्कं सच्चित्तदोति त्रिणं वा ।

तं चिय सयं मिज्ञातं, रुक्खगयं सचेयणपतिट्ठं ॥ ५ ॥

जं अभिणवं त्रिणं अभिजाणं तं सच्चित्तं जवति । जं च रुक्खे
चेव द्वितं अचिच्छिणं वरुचियं अवद्धट्ठियं वा अपक्कं वा तं पि
सच्चित्तं । तं चिय तदेय अंयादियं पल्लवरुक्खे चेव चियं दुव्वा-
यमादिणा अप्पणा वा अप्पज्जति भावं मिलणं ते सेवयणपति-
ठियं भणति ।

अहवा जं वद्धट्ठियं, वाहिर पक्कं तं चिय णपातिट्ठं ।

विविह दमणेय जं वा, अक्खुंदति विडसणे होति ॥ ६ ॥

जं वा पल्लवं याहिरं कमाहपक्कं अंतो सचेयणं वीयं तं वा स-
चित्तपतिठियं भणति । अपतीतल्लवं अनपतीयल्लवं च गुणेन वा
सह कप्पूरेण वा सह तथात्येन वा लयणचानुजानकयासा-
दिना सह एसा विविहदत्तणा अक्खुंद इति चक्खित्तं मुञ्चति
अन्यान्तं नहेहि वा अक्खुंदति नखपदा विद्वानीत्यर्थः एसा वा
विमरुसणा भणति । एवं परिते भणियं अणंतं वि एवं च नवरं
चउगुरुपच्छित्तं । सच्चित्तं सच्चित्तं पतिठिते य दोसु वि सुत्तेसु
इमो अववातो गाहा ।

वितियपदमणप्पव्णे, जुंजे अविकोविण य अप्पव्णा ।

जाणंते वावि पुणो गिलाण अच्चाणओमेव ॥ ७ ॥

खेत्तादिगो अणप्पव्णो वा जुंजति सेहो वा अविकोवियत-
राओ अजाणंतो रोगोवसमणिमित्तं वेज्जं वा दसतो गिलाणो वा
जुंजे अच्चाणोमेषु वा असंथरंता जुंजंता विसुच्चा इमो दोसुवि
विडवमाणसुत्ते अववातो गाहा ।

वितियपदमणप्पव्णे, विडसे अवितेव अप्पव्णे ।

जाणंतयावि पुणो, गिलाण अच्चाणओमेव ॥ ८ ॥

कंठं ववरं चोदग आह-विमरुसणा ह्रीत्वा तं अववाते माकरेज ।
आचार्य आह । जरटवाहिरकमाहं तं अवणेनं स्थायंतस्स अव-
वादो ण दोसो । जइ वा पल्लवस्स जो उव्वकारी त्वण्णादिके
तेण सह तं जुंजंतस्स ण दोसो । कोमलं जरटं वा इमंति परि-
ष्साहेजं णदमादं हि वि अखुहेजा ।

(सूचम्) जे भिक्खू सच्चित्तं अवं वा अवगपेसियं वा
अवभित्तिं वा अवसालगं वा अवचोयगं वा जुंजइ जुंजंतं
वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे निक्खू सच्चित्तं अवं वा अवपे-
सियं वा अवभित्तिं वा अवसालगं वा अवमालगं वा अ-
वचोयगं वा विमरुसइ विडसंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खू
सच्चित्तपइठियं अवं जुंजइ जुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे
भिक्खू सच्चित्तपइठियं अवं विमरुसइ विमरुसंतं वा साइज्जइ
॥ १० ॥ जे निक्खू सच्चित्तपइठियं अवं वा अवगपेसियं वा
अवसालगं वा अवमालगं वा अवचोयगं वा जुंजइ जुंजंतं
वा साइज्जइ ॥ ११ ॥ जे भिक्खू सच्चित्तपइठियं अवं वा अव-
पेसियं वा अवभित्तिं वा अवसालगं वा अवमालगं वा
अवचोयगं वा विमरुसइ विडसंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

एते व सुत्तपदा विमरुसणा वि छेव पतेसि इमो अत्थो अयं
संकलं ण केणइ ऊणं चोदग आह आदिहेसु चउसु सुत्तेसु ण प-
ल्लवणुसंकलं चेव भणियं । आचार्य आह सव्वं किंतु ततं पल्लव-
त्तणेण पज्जत्तं वंछियं गहियं इमं तु पल्लवत्तणं अपज्जत्तं अयक्क-
ठियं अविपक्करं सव्वादसकलमेवेत्यर्थः । पेसी दीहागारा अद्धं-
मितं वाहिरा छल्ली साहं जणइ । अदीहं वि समचकलियागा-
रेण जं खंमंतं गवं भणति एहणुणिभागारा जे केसरा तं चोयं
भणति । इमो सुत्तपासो । गाहा ।

एसेव गमओनिदा-रुगलेसोद्वेयमिमं चोए ।

चउसु वि सुत्तेसु भवे, पुव्वे अवराग्मि य पदे उ ॥ ९ ॥

अवगं पेलिवज्जा चउसु सुत्तेसुत्ति सेसं कंठं । अहवा आ-
दिहेसु चउसु सुत्तेसु जो गमो भणितो सो चेव गमो अवगा-
दिपसु छसु पदेसु सविमरुसणेसु भाणियव्वो । चोदगाह णखु-
पदमसुत्तेसु जणितो चेव अत्थो किं पुणो अवगादियाणं गह-
णं । आचार्य आह । गाहा ॥

एवं ताव अभिषे, अस्सेव पुणो इमो भेदो ।

रुगलंतु होइ खंडं, सालं पुण वाहिरा उल्ली ॥ १० ॥

एवं ताव आदिहेसु चउसु सुत्तेसु अनियाणग्गहणं । अहवा
आदिसुत्तेसु अविसिठं गहणं इह विसिठं गहणं कवं । अह-
वा मा कोइ वि तिहिति अनिष्पभक्खणिज्जं भिणं अभक्ख-
णिज्जं भिणं पुण जक्खंतं अवगपेसिमादिगाथिणि सिज्जं-
ति । रुगलंतु पच्छकं कंठं । गाहा ।

जित्तं तु होइ अद्धं, चोयं जे तस्स केसरा होंति ।

सुहपएहकरं हारि, तेण तु अयेकयं सुत्तं ॥

पुव्वकं कंठं चोदगाहा किं अणेमाओ हंभादिया फला ज-
क्खा जेण अवं चेव णिसिज्जति । आचार्य आह । एगगहयागहणं
तज्जातीयाणंति सव्वे संगहिया । अवं पुण सुहपएह पच्छकं
अवेण सुहं पट्ठाति पस्पंदते इत्यर्थः । किंच हारितं जिहेन्डिय-
प्रीतिकारकमित्यर्थः । अनेन कारणेन अवे सूत्रप्रतिबन्धः कृ-
तः । अन्याचार्याभिप्रायेण गाथा ।

अवे केणतिऊणं, रुगलच्छं भित्तं चउवभागो ।

चोयणतया उ जप्पति, सगद्धं पुण अक्खुयं जाण ॥ १२ ॥

थोवेण ऊणं अवं भणति रुगलं अद्धं भणति भिणं चउ-
भागादितया चोयणं भणति नरकादिभिकखूण साहं जणति ।
अक्खुं अवसाहमित्यर्थः पेसी पूर्ववत् ।

सच्चित्तं च फलोहि, अगपल्लं वा तु सुत्तित्ता सव्वे ।

अगपल्लंवेहि पुणो, मूद्धं चेव कया सुया य ॥ १३ ॥

नि० चू० १५ उ० ।

अवक-अम्बक-न० अम्बति शीघ्रं मत्तत्रस्थानपर्यन्तं गच्छ-
ति अम्ब एवञ्च १ नेत्रे, अम्बयते स्नेहेनोपशब्धते घञ् स्वार्थे
क-२ पितरि, वाच० ।

अम्लक० पुं० अल्पोऽम्लः अल्पार्थे कन् लङ्कुचवृत्ते वाच० ।

आम्रक-न० चूतफले, पि० ।

अवगट्टिया-आम्रकास्थि-न० आम्रकस्य फलविशेषस्यास्थीनि
आतपं दत्तेषु शुष्काग्रफलास्थिषु, अनु० ।

अवगपेसिया-आम्रकपेशिका-स्त्री० आम्रफलखण्डे, अनु० ।

अंबचोयग-न० आम्रत्वच्-स्त्री० आम्रच्छल्याम, आचा० २-
श्रु० ७ अ० २ उ० ।

अंबट्ट-अम्बट्ट-पुं० अम्बाय चिकित्सकत्वाय तत्प्रख्यापनार्थं
तिष्ठते अभिप्रेति स्था. क. षत्वम् । चिकित्सके, वाच० ।
ब्राह्मणेन वैश्यायां जातेऽवान्तरजातीये, सूत्र० १ श्रु० ए अ० ।
आचा० । अयं जात्याऽऽर्यत्वेनेत्यजातित्वेन चोपदर्शितः स्था०
६ ग० । प्रज्ञा० । देशभेदे, इतिपके, च । यूथिकायाम् स्त्री०
स्वार्थे कन् अत इत्वे अम्बष्ठिकाऽप्यत्र " वामनहानी " इति ख्या-
तायां लतायाम्, वाच० ।

अंब (म्) रु-अम्ब (म्) ड-पुं० ब्राह्मणपरिव्राजकभेदे
औ० । तद्वक्तव्यता चैवम् ।

अम्बरुशिष्याणामनशनेन मृत्वा देवल्लोके उपपातः ।

तेणं कात्रेणं तेणं समएणं अम्मरुस्स परिव्वायगस्स सत्त
अंतेवासिसयाइं गिम्हकाद्वसमयंसि जेड्डामूलं मांसंसि गंगाए
महानईएओ उज्जकूले कं पिण्डपुरातो एगराओ पुरिमतालं
एगरं संपठिआ विहारए । तएणं तेसिं परिव्वायगाणं
तीसे अगामियाए निस्सोवायाए दीहमप्पाए अरुवीए किं-
चिदेसंतरमणुपत्ताणं से पुव्वगहिए उदए अणुपुव्वेणं परि-
चुजमाणे भीणे तएणं ते परिव्वाया जीणोदका समाणा
तएहाए परिचवमाणा परिपरिउदगदातारमपस्समाणा अस्स-
मसं सदावेत्ति अस्समसं सदावित्ता एवं वयासी एवं खलु
देवाणुप्पिया अम्ह इमीसे अगामिआए जाव अडवी ए-
गंवि देसंतरमणुपत्ताणं से उदए जावज्जीणे तं सेयं खलु
देवाणुप्पिया अम्ह इमीसे अगामियाए जाव अडवीए-
उदगदातारस्स सव्वओ समंता मग्गणं गवेसणं करित्ता
कट्ठु अस्समसस्स अंतिए एअमडं पमिसुणंति पमिसुणंति-
त्ता तीसे अगामियाए जाव अरुवीए उदगदातारस्स सव्व-
ओ समंता मग्गणगवेसणं कोइ करित्ता उदगदातारमलभ-
माणा दोच्चं पि अस्समसं सदावेइ सदावेइत्ता एवं वयासी
इहसं देवाणुप्पिया उदगदातारो णत्थि । तं णो खलु कप्पइ
अम्ह अदिषं गिएहेत्तए अदिषं सति जित्तए तं माणं अम्हे
इदाणि आवइ काद्वं पि अदिषं गिएहामो अदिषं सादि-
ज्जामो माणं अम्हं तवल्लोवे जविस्सइ । तं सेयं खलु
अम्हं देवाणुप्पिया तिदंरुयं कुंडियाओ य कंचणि
याओ य करोमियाओ य जिसियाओ य ढ्ढालए
य अकुंसए य केसरीयाओ य पावित्तए य गणेत्तिया
ओ य ठत्तएय वीहणाओ अ पाउआओ अ धाउरत्ताओ
य एगंते पमिन्ता गंगामहाणइं ओगाहिन्ता वालुअसंथा-
रए संथरित्ता संद्वेहणाज्झाओसियाणं भत्तपाण्याइपच्च-
क्खित्ताणं पाइओवगयाणं कालं अणवकंखमाणं
विहरित्तए तिकट्ठु अस्समसस्स अंतिए एअमडं पमिसुणंति
अस्समसस्स अंतिए पमिसुणित्ता तिदंडए य जाव एगंते

पमेइ पमेइत्ता गंगामहाणइं ओगाहेइ ओगाहेइत्ता वेलुआ-
संथारए संथरंति वालुया संथारयं दुरुहंति वादुरुहंति ता
पुरत्थाज्जिमुहा संपलियंकिनसन्ना करयय जाव कट्ठु एवं
वयासी णमोत्थुणं अरहंताणं जाव संपत्ताणं नमोत्थुणं सम-
णस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपाविउकामस्स नमोत्थुणं
अंवरुस्स परिव्वायगस्स अम्हं धम्मायरियस्स धम्मोवदेस-
गस्स पुव्वेणं अम्हे अम्मरुस्स परिव्वायगस्स अंतिए-
ए थूलगपाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए मूसावा-
ए अदिष्ठादाणं पच्चक्खाए जावज्जीवाए सव्वे मेहुणे
पच्चक्खाए जावज्जीवाए थूलए परिग्गहे पच्चक्खाए जा-
वज्जीवाए । इदाणि अम्हे समणस्स भगवओ महावीरस्स
अंतियं सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामो जावज्जीवाए एवं
जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामो जावज्जीवाए सव्वं
कोहं माणं मायं लोहं पेज्जं दोसं कट्ठहं अम्भक्खाणं पेसु-
सं परपरिवायं अरइइमायामोसं मिच्छादंसणसद्वं अकर-
णिज्जं जोगपच्चक्खामो जावज्जीवाए सव्वं असणं पाणं
खाइमं साइमं चउव्विहंति आहारं पच्चक्खामो जावज्जीवाए
जंपिय इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं मणुसं मणामं येज्जं वेसासि-
यं संमतं बहुमतं अणुमतं भंरुकरंडकसमाणं माणं सीयं माणं
उएहं माणं खुहा माणं पिवासा माणं वाला माणं चोरा
माणं दंसा माणं मसगा माणं वातियं पित्तियं संनिवाइयं
विविहा रोगातंकापरीसहोवसग्गा फुसं तु तिकट्ठु एतं पि णं
चरमेहिं ऊसासणीसासेहिं वोसिरामि तिकट्ठु संद्वेहणा झू-
सणा झूसिया जत्तपाणा पनियाइक्खिया पाओवगया
काद्वं अणवकंखमाणा विहरंति तए णं ते परिव्वाया बहुइं
भत्ताइं अणसणाए ठेत्ति ठेत्ति आलोइयपमिकंतो
समाहिपत्ता कालमासे काद्वंकिच्चा वंभलोए कप्पे देवत्ताए
उव्वणा तेहिं तेसिं गई दससागरोवमाइं डिई पन्नत्ता प-
रळोगस्स आराहगा सेसं तं चेव १३ ॥ औ० ॥

एते च यद्यपि देशविरतिमन्तस्तथापि परिव्राजकक्रियया ब्र-
ह्मलोकं गता इत्यवसेयमन्यथैतद्गणनं वृथैव स्याद्देशविरतिफलं
त्येषां परलौकाराधकत्वमेवेति न च ब्रह्मलोकगमनं परिव्राजक-
क्रियाफलमेवामेवोच्यते अन्येषामपि मिथ्यादृशां कपिलप्रभृ-
तीनां तस्योक्तत्वादिति । औ० । ज० । अम्बरुस्य व्रतग्रहणम् ।

बहुजणेणं भंते ! अस्समसस्स एवमाइक्खंति एवं जासइ
एवं परुवेइ एवं खलु अंबने परिव्वायाए कं पिण्डपुरे णयरे
घरासते आहारमाहारेति घरसतेवसहिउ ते तीसे कहमेयं भंते !
एवं गोयमा ! जसं से बहू जणो अस्समसस्स एवमाइक्खइ
जाव एवं परुवेति एवं खलु अंबने परिव्वाए कं पिण्डपुरे जाव
घरासते वसहि उवेइ सव्वेणं समडे अहं पि णं गोयमा !
एवमाइक्खामि जाव एवं परुवेमि एवं खलु अंबने परि-
व्वायाए जाव वसहि उव्वेसे केण्डेणं भंते ! एवं वुच्चइ

अंबडे परिव्वायाए जाव बसहिं उवेइ गोयमा ! अम्मरुस्स
 एं परिव्वायगस्स पगइन्दयाए जाव विणीयाए उट्टं उट्टेणं
 अतिविक्खत्तेणं तवोक्कम्मेणं उट्टं वाहाओ पगिन्जिय २
 सूराज्जिमुहस्स आतावण्णूमीए आतावेमाणस्स सुभेणं परि
 णामेणं पमत्थेहि लेसाहिं विमुञ्जमाणीहिं अन्नया कयाइ
 तदावरण्णज्जाणं कम्माणं जाणं कम्माणं खओवसमेणं
 ईहाथमगणगवेसणकरेमाणस्स वोरियल्लप्पीए वेउव्वियल-
 लप्पीए ओहिणाणल्लप्पीए समुप्पसा । तए एं से अम्मरे परि-
 व्वायए ताए वीरियल्लप्पीए वेउव्वियल्लप्पीए ओहिणाणल्ल-
 लप्पीए समुप्पसाए । जणविम्हावण्णहेउं कं पिट्ठपुरे घरसते जाव
 बसहिं उवेइ से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ अंबडे परि-
 व्वायए कं पिट्ठपुरे नगरे घरसए जाव बसहिं उव्वेते । पभूणं
 जंते ! अंबडे परिव्वायए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंने ज-
 वित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए णोतिणट्टे समट्टे
 गोयमा ! अम्मरुणं परिव्वायए समणोवासए अजिगयजी-
 वाजीवे जाव अप्पाणं जावेमाणे विहरति एवरं ऊसिय-
 फलिहे अंबगुदुवारे वियत्तंते पुरयरदारपवेसीएवं ण वुच्चति
 अम्मरुस्स णं परिव्वायगस्स थूलए पाणातिवाते पक्खवाते
 जावज्जीवाए जाव परिगहे एवरं सव्वे मेहुणे पच्च-
 वंसाते जावज्जीवाए अम्मडस्स णं एो कप्पइ अक्खसो-
 तप्पमाणमत्तं पि जलं सयएहं उत्तएहं उत्तरित्तए ।
 एणत्थ अप्पाणगमणेणं अम्मरुस्सणं एो कप्पइ सगनं
 एवं चेव जाणियव्वं । जाव एणत्थ एगा एगं गामट्टियाए
 अंबरुस्मणं परिव्वायगस्स णो कप्पइ आहाकम्मिए वा
 उव्वेसिए वा सीसजाएति वा अज्जोअरएइ वा पुइक्कमे वा
 कीयगमेति वा पामिच्चेइ वा णिअणिसिच्चेइ वा अभिट्ठेइ
 वा इत्तए वा रत्तए वा कंतारजत्तेइ वा दुब्बिक्खजत्तेइ
 वा पाहुणकजत्तेइ वा गिलाणभत्तेइ वा बदालियाभत्तेइ वा
 जोत्तए वा पाइत्तए वा अंबरुस्स एं परिव्वायगस्स एो
 कप्पइ मूलजोयणे वा जाव वीयभोयणे वा भोत्तए वा
 पाइत्तए वा अंबरुस्स एं परिव्वायगस्स चउत्तिहे अ-
 णत्थादंडे पक्खवाए जावज्जीवाए तंजहा अवज्झाणाय-
 रिए पमादायरिए हिंसपयाणे पावकम्मोवदेसे अंबरुस्स
 कप्पइ मागहए अ आढए जलस्स प्रडिग्गाहित्तए सेविय-
 वहमाणए नो चेव एं अवहमाणए जाव से-वि पूए नो
 चेव एं अपरिपूए से विय सावज्जेत्ति काळं णो चेव एं अ-
 णवज्जे से विय जीवाई कट्ठ एो चेव एं अजीवा से विय
 दिसे एो चेव एं अदिसे से वि य दंतहत्थपायचारुवमस-
 क्खाल्लण्णट्टाए पवित्तए वा णो चेव एं सिणाइत्तए अंबरु-
 स्म एं परिव्वायगस्स कप्पइ मागहएय आढए जलसपान-
 गाहित्तए से वि य वयमाणे दिसे नो चेव एं अदिसे से-व

य मिणाइत्तए णो चेव एं हत्थपादचारुवमसपक्खालयण-
 याए पवित्तए वा अंबरुस्स परिव्वायगस्स एो कप्पइ अन्नउ-
 त्तिया वा अममत्तित्तदेवयाणि वा अममत्तित्तपरिगहि-
 याणि वा चेइयाइ वंदित्तए वा एमंसित्तए वा जाव पज्जुवा-
 सित्तए वा अरिहंते वा अरिहंतचेइयाणि वा ।

[एणत्थ अरहंतेदिवत्ति] न कल्पने इह योऽयं नेति प्रतिषेधः
 सोऽन्यत्रार्हदभ्यः अर्हतो वज्जयित्वेत्यर्थः । स हि किञ्च परिव्राज-
 कवेपधारकोऽतोऽन्ययूथिकदेवतावन्दनादिनिषेधो अर्हतामपि
 वन्दनादिनिषेधो मानूदिति कृत्वा णत्थेत्याद्यधीतं, औ० । भ० ।

अम्बरुस्य मृत्योपपातः ।

कालमासे कालं किञ्चा कहिं गच्छहिंति कहिं उव्वज्जि-
 हिति ? गोयमा ! अंबडेणं परिव्वायए उवावएहिं सीलव्व-
 यगुणवेरमणपक्खवाएपोसहोववासेहिं अप्पाणं जावेमाणे
 वहुइं वासाइं समणोवासयपरियायं पाउणित्तए पाउणि-
 ता मासियाए संत्वेहणाए अप्पाणं जूसित्ता सट्ठिं नत्ताइं
 अणसणाइं वेदिता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते काळ-
 मासे कालं किञ्चा वंभलोए कप्पे देवत्ताए उव्वज्जेहिंति
 तत्थ णं अप्पेगइयाणं देवाणं दससागरोवमाइं त्रिती
 पत्तत्ता तत्थ एं अम्मरुस्स वि देवस्स दससागरोवमाइं
 त्रिती । से एं भंते ! अंबडे देवत्ताओ देवलोगाओ आउ-
 क्खएणं जवक्खएणं द्विक्खएणं अणंतरं चइ चइत्ता क-
 हिं गच्छहिंति कहिं उव्वज्जइत्ति ? गोयमा ! महा-
 विदेहे वासे जाइकुलाइं जवति अट्ठाइं दित्ताइं वि-
 त्ताइं विच्छिस्सविउल्लजवणसयणासणजाणवाहणाइं बहुध-
 णजायरुवरयत्ताइं आओगपओगसंपउत्ताइं विच्छि-
 यपउरभत्तपाणाइं बहुदासीदासगोमहिसवेलगप्पजूयाइं व-
 हुजणस्स अपारंजूयाइं तहप्पगारसु कुलेसु पुमत्ता प-
 व्वायाहिंति । तए एं तस्स दारगस्स गव्वत्थस्स चेव समाणस्स
 अम्मापितो णं धम्मे ददपतिमो भविस्सइ से एं तत्थ ए-
 वएहं मासाणं बहुपन्निपुष्ठाणं अप्पड्डमाणराइंदियाणं
 वीतिकंताणं सुकुमालपाणिपाए जाव ससिसोमाकारे कंतं
 पियदंसणे सुरूवे दारए पयाहिंति । तए एं तस्स दारगस्स
 अम्मापियरो पढमे दिवसे चित्ती पन्निं काहिंति तइयदिव-
 से चंदसूरदंसाणयं काहिंति उट्टे दिवसे जागरियं काहिंति
 एक्कारसमे दिवसे वीतिकंति एण्वते असुइ जावइ कम्मं
 करणे संपत्ते वारसमे दिवसे अम्मापियरो इमं एयारूवं
 गुणं गुणणिपन्नं एामधेज्जं काहिंति जम्हाणं अम्हं इमं-
 सि दारगंसि गव्वत्थंसि चेव समाणंसि धम्मे ददपतिस्सा तं
 होऊणं अम्हं दारए ददपइस्सणामेणं तत्तेणं तस्स दारगस्स
 अम्मापियरो एामधेज्जं करोहिंति “ददपइस्सेत्ति” तं ददपइस्सं
 दारगं अम्मापियरो सात्तिरेगव्वासजातगं जाणित्ता सोभ-

पंसि तिहिकरणदिवसणकवत्तमुहुत्तंसि कलायरियस्स उव-
 खेहिंति । तए एं से कलायरिए तं ददपइस्स दारगं वेहा-
 तियाओ गणियप्पहाणाओ सज्जणरूपज्जवसाणाओ
 वावत्तरिकजाओ सुत्ततो य अत्थतो य करणतो य सेहा-
 विहिति । औ० (कलानामानि कलाशब्दे) सिकखावेत्ता
 अम्मापितीणं उवणेहिंति तए एं तस्स ददपइस्स दारगस्स
 अम्मापियरो तं कलायरियं विपुलेणं असणपाणखाइमेणं
 साइमेणं वत्यगंधपद्दालंकारेण य सकारेहिंति सम्माणेहिंति
 सकारेत्ता सम्माणेत्ता विपुलं जीवियारिहं पीइदाणं दलइ-
 स्मति विपुलं विपुलेत्ता पमिविसज्जेहिंति तए एं से ददपइस्स
 दारए वावत्तरिकजापंमिए नवंगमुत्तपमिंविओहिये अट्टारस-
 देसीजासाविसारए गीतरती गंधवणएकुसले हयजोही
 गयजोही रहजोही बाहुजोही बाहुप्पमदी वियाज्जचारी
 साहसिए अलं भोगसमत्थे आविचविस्सति तते एं ददपइ-
 स्स दारगं अम्मापियरो वावत्तरिकलापंडिअं जाव अलं
 जोगसमत्थं वियाणित्ता विपुलेहिं अस्सजोगेहिं वेणजोगेहिं
 वत्यजोगेहिं सयणभोगेहिं कामभोगेहिं उवणिमंतेहिंति ।
 तए एं से ददपइस्स दारए तेहिं विजलेहिं अस्सभो-
 गेहिं जाव सयणजोगेहिं एो सज्जिहिंति एो रज्जिहिं-
 ति एो गिब्बिहिंति एो अववज्जिहिंति से जहाणामए
 उप्पद्वेइ वा पडमेइ वा कुयुमेइ वा नमिणेइ वा सुभ-
 गेत्ति वा सुगंधेत्ति वा पोंडरीएत्ति वा महापोंडरीएत्ति
 वा सत्तपत्तेइ वा सहस्सपत्तेइ वा सतसहस्सपत्तेइ वा
 पंके जाते जज्ञे संभुद्धे एोवज्जिप्पइ पंकरएणं एोवज्जिप्पइ
 जलरएणं एवमेव ददपइस्स वि दारए कामेहिं जाते भोगे-
 हिं संवुत्ते एो वलिप्पहिंति कामरएणं एोवलिप्पहिंति मो-
 गरएणं एोवज्जिप्पहिंति । मित्तणाइणियगमयणसंवंधिपरि-
 जणेणं सेणं तहारूवाणं थेराणं अंतिए केवदं वोहिं बुज्झि-
 हित्ति । केवलवोहिं बुज्झित्ता अगाराओ अणगारियं पव्व
 हित्ति । से एं जविस्सइ अणगारे भगवंते इरियासमिति
 जाव गुत्तवंभयारी तस्स एं जगवंतस्स एते एं विहारेणं
 विहरमाणस्स अणंते अणत्तरे एिवाधाए निरावरणे क-
 सिणे पडिपुस्स केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जेहिंति । ततेणं
 से ददपइस्स केवली बहूइं वासाइं केवली परियागं पाउणिहिंत्ति
 पाउणिहिंत्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं रुसित्ता सडिं
 नत्ताइं अणसणाणं वेत्ता जस्सट्टाए कीरए एगगभावे मुं-
 कजावे अन्हाणए अदंतवणए केसलोए वंभचेरवासे अ-
 व्वुत्तकं अणोवाहणकं जूमिसेज्जा फल्लहसेज्जा कट्टसेज्जा
 परघरपवेसो दप्पावलप्पं विचीए पेहिं हीद्वणाओ
 खिमणाओ सिंदणाओ गरहणाओ ताद्वणाओ तज्ज-

णाओ परिजवणाओ पव्वहणाओ उच्चावया गामकंटका
 वावीसं परीसहोवसग्गा अट्ठियासज्जंति । तमट्टमारा-
 हित्ता चरिमेहिं जस्सासणस्सासेहिं सिज्जिहिंति बुज्झि-
 हिंति मुच्चाहिंति परिणिव्वाहिंति सव्वज्जुक्खाणमंतं करेहिं-
 ति औ० । न० ।

परिव्राजके विद्याधरश्रमणोपासके च अस्य वक्तव्यता ।

चम्पायां नगर्यामम्बको विद्याधरश्रावको महावीरसमीपे ध-
 र्ममुपश्रुत्य राजगृहं प्रस्थितः स च गच्छन् भगवता बहुसंस्तो-
 पकाराय भणितो यथा सुव्रसाश्राविकायाः कुशलवार्त्ता कथ-
 य स च चिन्तयामास पुण्यवतीयं यस्यास्त्रिलोकनायः स्व-
 कीयकुशलवार्त्ता प्रेषयति, कः पुनस्तस्या गुण इति तावत्सम्य-
 कत्वं परीक्षे, ततः परिव्राजकवेषधारिणा गत्वा तेन भणितो
 सा, आयुष्मति ! धर्म्मो भवत्या भविष्यतीत्यस्मभ्यं भक्त्या भो-
 जनं देहि तथा ज्ञातं येन्यो दत्ते भवत्यसौ ते विदिता एव, त-
 तोऽसावकाशविरचिततामरसासनासीनो जनं विस्मापयति
 स्म, ततस्तं जनो भोजनेन निमन्त्रयामास स तु नैच्छत् ।
 लोकस्तं पप्रच्छ कस्य भगवन् ! भोजनेन भागधेयवतां
 मासकृपणकपर्यंतं संवर्द्धयिष्यसि । स प्रतिभणति स्म सुल-
 सायाः । ततो लोकस्तस्या वर्द्धनकं न्यवेदयत् । यथा तद्य
 नेहे भिक्षुरयं बुभुक्षुः तयाऽन्यथायि किं पाखाएभिस्माकमि-
 ति लोकस्तस्मै न्यवेदयत् । तेनापि व्यङ्गायि परमसम्यक्कृष्टि-
 रेपा या महातिशयदर्शनेनापि न दृष्टिभ्यामोहमगमदिति ततो
 लोकेन सहासौ तस्मै नैपेक्षिकीं कुर्वन्पञ्चनमस्कारमुच्चारयन्
 प्रविवेश । साऽप्यन्युत्थानादिकां प्रतिपत्तिमकरोत् तेनाप्यसा-
 बुपहृतेति । स्था० ६३० । अयमागमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां देवो
 नाम द्वाविशस्तीर्थं हृद् चूत्वा धर्म्मं प्रज्ञाप्य सेत्स्यति यावत्सर्वदुः-
 खानामन्तं करिष्यति । स्था० ६४० । ती० । आ० म० द्वि० ।
 नि० चू० । ही० । अयं पूर्वोक्तादम्बनपरिव्राजकादन्य एव ।
 तदुक्तम् । यश्चापपातिकोपाङ्गे महाविदेहे सेत्स्यतीत्यभिधीयते
 सोऽन्य इति सन्भाव्यते । इति स्था० ६४० । नि० चू० ।

अंशवा(दा)लग-आम्रडालक-न० आम्रसूक्ष्मखरमेपु, आचा०
 शु० २ अ० ७ ।

अंशत्त-अ (आ) म्लत्त्व-न० (अम्लरसवत्त्वे) "अंशत्तणेण
 जीहाए, कूचिया होइ खरिमुदगंमि " विशेष० ।

अंशदेव-आम्रदेव-पुं० नेमिचन्द्रसूरिदत्ताऽऽख्यानकमणिकोश-
 स्योपरि टीकाकारके स्वनामख्याते आचार्ये, जे० इ० ।

अंशपलंकोरव-आम्रपलम्बकोरक-न० आम्रचूतस्तस्य पल-
 म्बः फलं तस्य कोरकं तक्षिणादकं मुकुटमाम्रफलकोरकम् कोरक-
 विशेषे, एवं यः पुरुषः सेव्यमान उचितकाले उचितमुपकारक-
 फलं जनयत्यसावाम्रपलम्बकोरकसमान उच्यते, स्था० ४३० ।

अंशपल्लवविज्जि-आम्रपल्लवविज्जि-न. नाट्यविधिनेदे, रा.
 अंशपेसिया-आम्रपेशी-स्त्री० आम्रस्य पेशीव शुष्काप्रकोशे, वाच०
 आम्रपेशी-स्त्री० आम्रफलया म । आचा० २ शु० ७ अ० ७ ।

अंशफल-आम्रफल-न० रसालफले, व्य० १९३० । (सागारिकस्या-
 म्रफलानि आम्रवृक्षश्रावोपित इत्येतत्कल्पते न वेति सागारीय-
 पिरुशब्दे) ।

अंशचित्तय-आम्रचित्तक-न० आम्रादं आचा० २ शु० ७ अ० २३० ।

अंबर-अम्बर-न० अम्बेव मातेव जननसाधर्म्यादभ्या जलं तस्य राणादानाभिरुक्तितोऽम्बरम् आकाशे । म० २ श० २ उ० । डा० चखे, नि० चू० १ उ० । आ० म० प्र० । सूत्र० । आय० प्र० । स्वनामख्याते गन्धकद्रव्ये, अम्बरधानौ च, वाच० ।

अंबरतल-अम्बरतल-न० आकाशतले, रा० । डा० ।

अंबरतिक्षय-अम्बरतिक्षय-पुं० धानकीम्बगडस्थे पर्वतजेदे, यत्र मङ्गलावतीविजयवर्तिनन्दिग्रामसन्निवेशस्थद्विचक्रज्जा-तनिर्नायिका नाम कन्या मानुः स्वायमनवाप्य तद्वचनेन गत्वा पक्कफलानि गृहीतवती । आ० म० प्र० । आ० चू० ।

अंबरतिजया-अम्बरतिजया-स्त्री० नगरीभेदे यत्र एतारिदर्प-विमर्दो महाराजः । दर्श० ।

अंबरवत्य-अम्बरवत्य-न० स्वच्छतया अम्बरनुत्पानि चस्त्राणि अम्बरचस्त्राणि स्वच्छवस्त्रेषु । कल्प० ।

अंबरस-अम्बरस-न० अभ्या पूर्वांत्युक्त्या जलं तद्वपो रसो यस्मान्निरुक्तितोऽम्बरसम् आकाशे, ज० २० श० २ उ० ।

अंबरि (री) स-अम्बरि (री) प-पुं० न० अम्ब्यते पच्यतेऽत्र अन्य-अरिप नि० वा दीर्घः भर्जनपात्रे, अम्बरीसमपि वाच० । डा० प्र०, ज० ३ श० ६ उ० । प्रव० । काष्ठके, लोहकाराभ्यरीषे वा, जी० ३ प्रति ।

अंबरि (री) स (सि) -अम्बरिप (रीप) कृपि (पि) -पुं० यस्तु नारकान् निहितान् कल्पनिकाभिः खण्डशः कृत्वा भ्राष्ट्रापाकयोग्यान् करोतीत्यसावम्बरीपस्य भ्राष्ट्रस्य संवन्धाद-म्बरीप इति द्वितीयपरमाधार्मिकः, प्रव० १२० डा० । ज० स० ।

आह्वयह्वये तद्वियं, गिस्मन्ने कर्णणीहि कर्णति ।

विजृम्भगचटृगत्रिने, अंबरिसी तस्य णेरड् ॥९॥

(आह्वय्यादि) उप सामीप्येन मुञ्चरादिना इता उपहताः पुनरप्युपहता एव खड्गादिना इता उपहतइतास्ताभारकान् तस्यां नरकपृथिव्यां निःसङ्गकान् नष्टसङ्गकान् मूर्च्छितान्सतः कर्णणीभिः कलयन्ति विन्दन्तीतश्चेतश्च पाटयन्ति । तथा द्वि-लचटृगचटृगत्रिनेति मध्यपाटितान् खंडशद्विग्रांश्च नारकां-स्तत्र नरकपृथिव्यामर्षीपनामानोऽसुराः कुर्वन्तीति सूत्र० ५ श्रु० ५ अ० । आच० प्रव० । आ० चू० । प्र० ।

अंबरिसि-अम्बरकृपि (पि) -पुं० उज्जयिनीवास्तव्ये ब्राह्मण-जेदे, यस्य मालुष्या प्रिया निम्बः सुतः (इति विणओवगय शब्दे घट्यते) आ० क० । आच० । आ० चू० ।

अंबरण-आम्बरण-न० आम्रस्य वनम् । नित्यं णत्वम् । आम्रवृ-क्षसमुदायात्मके वने, वाच० । आच० ।

अंबरमाण-अम्बरमान-पुं० "अम्बरिसेहि अंबो नतेहि सिर्किं तु घवहारो" येपु घचनेपूकेपु परस्य शरीरं विरुचिमायतेतानि अम्बरानि अम्बैः परुषैश्च घचनेव्यवहारं नसिर्किनयति सोमल-वचनयोगादम्ल इति इत्युक्तवक्षणे दुर्व्यवहारिणि । व्य० १ उ० ।

अंबरालवण-आम्बरालवन-न० आम्रफले आम्रैः शालैश्चाति-प्रचुरतयोपवृक्षिते वने तद्योगादाम्लकल्पाया ईशानकोणस्थे चैत्ये च " आमलकल्पाय णयरीप बहिया उत्तरपुरच्छिमे दि-सीभाप अंबरालवणे णामं चेष्टय होत्था पोराये जाव पमिरु-वे" पूर्णजलचैत्यवदस्य वर्णकः । रा० । उ० । ग० । आ० म० । डा० । आच० । डा० । आ० चू० ।

अंबरुडि-अम्बरुडि-स्त्री० देवीभेदे । महा० २ अ० ।

अंबा-अम्बा-स्त्री० अम्ब्यते स्नेहेनोपगम्यते अभ्या । कर्मणि घञ् । वाच० । मातरि । उ० ३ अ० । स्था० । श्रीनेमिनाथस्य तीर्थाधिष्ठा-तृदयतायां च सा च, अम्बादेवीकनककान्तरुचिः सिद्धवाहना च-तुर्भुजा आप्रलुम्बिपाशयुतदक्षिणकरद्वयासिपुत्राकुशाधिष्ठितवा-मकरद्वया चाप्रव० २९ डा० । तस्याः प्रतिमा यथा-अहिच्छत्राया अ-विदुरे (सकृद्वे पाश्वस्यामिनश्चैत्यप्राकारसमीपे श्रीनेमिमूर्तिस-हिता सिन्धुवृक्षकविता आप्रलुम्बिहस्ता सिद्धवाहना अम्बादेवी तिष्ठति, ती० ७ कल्प० । प्रतिष्ठानपुरपत्तने ऐरवतमेखलायां कृष्णेन अम्बादेवीप्रतिमा कृता " तत्थय अंबाए सेण उववासतिगेण " ती० २ कल्प० । अम्बाप्राज्ञतायां, काशीराजकन्यायां च, । वाच० ।

अंबाजक-अम्बायक-पुं० यत्तनेदे, " गोवार्त्तमि गिरुत्ता, समणा रोसेण मिसिमिसापं ता । अंबाजकसो य जणति, एवम-वाहेहि संघंति" ति० ।

अंबारग-आम्नातक-पुं० आम्र इवातति आम्नात् किञ्चिद्धी-नरसफलकत्वात् . अत्-एवञ् (आमडा) १ वृक्षे २ तत्फलं, न० । आम्रेण तत्फलरसेन तक्ते प्रकाशते । आ+तक हासे अच् । शु-ष्कारसनिर्मिते (आमद्) द्रव्यभेदे, तत्करणप्रकारः भाव-प्र० उक्तः । यथा "आम्नस्य सहकारस्य, कटोर्विस्तरितो रसः । घर्मशृङ्गो मुहुर्दत्त, आम्नातक इति स्मृतः " वाच० । प्र० । अनु० । आच० ।

अंबाडिय-आम्बित-त्रि० आम्ब इव कृतः खरगिते, आ० म० । द्वि० 'चमदेति खरंटेति अंबाडेत्तिसि वुत्तं जवति' नि० चू० ४३० । अंबातव-अम्बातपस्-न० अम्बोद्देशेन कृतं तपः अम्बातपः क्षौ-किकफलप्रदे तपोभेदे, तच्च अम्बातपः पञ्चसु पञ्चमीष्वेकाशाना-दि विधेयं नेमिनाथाऽम्बिकापूजा वेति, पञ्चा० १ ए विव० ।

अंबावल्ली-अम्बलवल्ली-स्त्री० अम्बलरसवती वल्ली त्रि० पर्णिका-नामकभेदे, वाच० वल्लीभेदे, प्र० १ पद० ।

अंबिया (या) -अम्बिका-स्त्री० अम्बैव । कन्, मातरि, दुर्गायां, वाच० । नेमितीर्थाधिपदेयतायां, तस्याः प्रतिमा मयुरायाम् "इत्थं कुचेरो नरवाहणो अंबिया सीद्धवाहणा" ती० १० कल्प० । उज्ज-यन्तशैलशिखरेऽवसोकनशिखरात्माक् "अंबियाए भवणं दीस-इ" ती० ५ कल्प० । टिप्प्यांमम्बिकामूर्तिः "अम्बिकाद्वारसमीप-वर्ती, श्रीकृष्णपादो जृजपद्मास्वरः । सर्वरूपादाम्बुजसेवनादि-नौ, संघस्य विष्णोऽयमपोहतः कृणात्" ती० ४४ कल्प० । पञ्च-मवासुदेवमातरि च । स० । आच० ।

अंबियासमय-अम्बिकासमय-पुं० उज्जयन्तशैले गिरिप्रद्युम्ना-वतारे स्वनामख्याते तीर्थजेदे । " गिरिपञ्चसुवयारे, अंबिअ-समय व नामेण । तत्थ चि पीआपुदवी, हिमवाए होइ वरहेमं " ती० ४ कल्प० ।

अंबिणी-अम्बिनी-स्त्री० कोटीनारनगरवास्तव्यसोमब्राह्मण-जार्थायाम् । ती० ५६ कल्प० । (कोहंदिदेवकल्पशब्दे)

अंबिल-अम्बिल-अ (आ) म्ल-पुं० अम्-कः प्राकृते "दात्" णः २६ । इति सूत्रेण संयुक्तलकारात्पूर्वमिदागमः, प्रा० । अग्नि-दीपनादिकृति अम्बिकाद्याश्रिते रसभेदे, " अम्बोऽग्निदीप्तिकृत जिग्धः, शोकपित्तकफावहः । क्लेदनः पाचनो रुच्यो, मूढवाता-नुलोमकः " ॥ १ ॥ कर्म० १ कर्म० । अनु० । जं० ।

एगो अंबिले-आश्रयणक्लेदनरुद्धम्बः । स्था० १ डा० । अम्बलरस-

वति, त्रि० तक्रादिसंस्कृते, ज्ञा० १७ अ० तक्रारनालकादौ, ल० ।
 काक्षिके, स्था० १० ठा० सौवीरे, स्था० १० ठा० वाच० । 'कलाल-
 घरेसु अंबिलं सावत्रं' कल्पपात्रग्रहेषु किलास्त्रशब्दसमुच्चारि-
 ते सुरा विनश्यति अनिष्टपरिहारार्थमम्बं स्वादूच्यते, अनु० ।
 अंबिलणाम्-अम्बिलनामन्-न० रसनामकर्मभेदे, यदुदयाज्जी-
 वशरीरमस्त्रीकादिवदम्लं भवति तदम्बनाम, कर्म० १ कर्म० ।
 अंबिलरस-अम्बलरस-पुं० क० स० अम्बे रसे, तद्वति, त्रि०
 वाच० अम्बलरसश्च तक्रवत् । प्रश्न० संव० ५ द्वा० ।
 अंबिलरसपरिणय-अम्बलरसपरिणत-पुं० अम्बलेतसादिव-
 दम्बलरसपरिणामं गते पुत्रले, प्रज्ञा० १ पद ।
 अंबिलिआ-अम्बिका-स्त्री० अम्बैव स्वार्थे कन् १ तित्तिड्याम्,
 अत्राम्लीकेत्यपि सा च २ पलाशीवतायां ३ भेताम्लिकायां
 ४ क्षुद्राम्लिकायाञ्च, राजनि० । जं० ३ वक्त० ।
 अंबिलोदग-अम्बलोदक-न० काक्षिकवत्स्वजावत एवाम्लपरि-
 णामे, जज्ञे, जी० १ प्रति० प्रज्ञा० ।
 अंबुणाह-अम्बुनाथ-पुं० समुद्रे, व्य० ६ उ० ।
 अंबुत्थंभ-अम्बुस्तम्भ-पुं० जलनिरोधरूपे त्रयोदशे कला-
 भेदे, कल्प० ।
 अंबुभक्षि (ण्)-अम्बुजक्षिन्-पुं० जलमात्रभक्षके वानप्र-
 स्थभेदे, औ० । नि० ।
 अंबुवासि (न्)-अम्बुवासिन्-पुं० अम्बुप्रधाने देशे वसति,
 वस-णिनि-ङीप् । पाटवावृक्के, जलवासिमात्रे, त्रि० वाच० ।
 वानप्रस्थभेदेषु, पुं० ये जलनिमग्ना एवासते । औ० ।
 अंभ-अम्भस्-न० आप्यते । आप्-असुन् । उदके नुम्भौ चेति
 उणा० अम्भः शब्दे असुन् वा । वाच० । जज्ञे, प्रति० । अष्ट० ।
 अंस-अंश-(स)-पुं० अंश (श) जावे अच् । विभागं, स्था० ३
 ठा० । कर्मणि अच् । जागे, विशेष० । आ० चू० । प्रति० । आचा० करणे
 अच् । अवयवे, पञ्चा० ७ विव० । जेदे, विशेष० । जेदाः विकल्पा अंशा
 इत्यनर्थान्तरम् । आ० म० प्र० । आव० । पर्याये, विशेष० । स्कन्धे
 च, ज्ञा० १८ अ० ।
 अंम (सा) गय-अंश (श) गत-त्रि० स्कन्धदेशमागते, विपा०
 १ श्रु० ३ अ० । स्कन्धावस्थिते, ज्ञा० १८ अ० ।
 अंसलग-अंश-पुं० स्कन्धे, त० ।
 अंसि-असि-स्त्री० । अम्भ-क्रिः । कोटौ, स्था० ८ ग० ।
 अंसिया-अंशिका-स्त्री० । अंश एवांशिका । स्वार्थे कप्रत्ययः ।
 भागे, " सागारियस्स अंसिया अविमत्ता " वृ० ३ उ० ।
 " अंसियाओ गामद्धमाईओ " अंशिका तु यत्र ग्रामस्यार्कम् ।
 आदिशब्दात् त्रिभागं वा चतुर्भागं वा गत्वा स्थितः स ग्राम-
 स्यांश एवांशिका, नि० चू० ३ उ० ।
 अंशस्-न० बलिकाकारे रोगभेदे, " अंसिया अरिसा ता य अ-
 हिट्टाणे णासाए वणेषु वा ज्वंति " नि० चू० ३ उ० । तस्स (आ-
 तापयतः) " अंसिया ओल्लवहं तं चेव विज्जो अदक्खु शंसि
 पाहेइ पाहेइत्ता अंसियाओ द्विदेज्जा " (अंसियाओति) अ-
 शंसि तानि वनासिकासत्कानीति चूर्णिकारः, ज० १६ श० ३
 उ० । प्रति० (शेषे अणगारशब्दे)
 अंसु-अंशु-पुं० अंश मृग-कु किरणे, सुत्रे, सूत्रमांशे, प्रकाशे,
 प्रभायां, वेगे च, वाच० ।

अशनु-न० अश्रुते व्याप्नोति नेत्रमदर्शनाय । अश-क्नुन् । प्राकृतं ।
 वक्रादावन्तः ८१ । २६ इति सूत्रेण अनुस्वारागमः, प्रा० नेत्रजज्ञे,
 वाच० । " गुरुदुःखभरकंतस्स अंसुणि वाएण जं जज्ञं गालियं
 तं अगमतलायणईसमुद्धमाईसु ए वि होज्जा " महा० ६ अ०
 " अंसुपुण्णयणे तित्थयरसरीरयं तिक्खुत्तो " जं २ वक्त०
 'अंसुपुण्णेहि णयणेहि उरं मे परिसिचह' उच्च० ३० अ० ।
 अंसुय-अंशुक-न० चीनविषये वहिस्तादुत्पन्ने सूत्रे, अनु० ।
 आ० म० प्र० । " अम्भंतरहीरे जं उप्पज्जति तं अंसुयं " नि०
 चू० ७ उ० । आचा० । अंशुकं श्लक्ष्णपट्टस्तन्निष्पन्नमंशुकम्, वृ०
 २ उ० । वस्त्रविशेषे, ज्ञा० १ अ० । जं० जी० । पत्रे च, अंशु स्वार्थे
 कन् । अंशुशब्दार्थे, पुं० । वाच० ।
 अंसोवसत्त-अंसोपसक्त-त्रि० । ७ त० । अंश (स) योः स्क-
 न्धयोरुपसक्तं द्वयं यत् स्कन्धलग्ने, कल्प० ।
 अकइ (ति)-अकत्ति-त्रि० न कति न संख्याता इत्यकति
 असंख्यातेषु अनन्तेषु, स्था० ३ ग० । भ० ।
 अकइ (ति) संचिय-अकतिसञ्चित-पुं० न कति न संख्याता
 इत्यकति असंख्याता अनन्ता वा तत्र ये अकत्यकति असंख्याता
 असंख्याता एकैकसमये उत्पन्नाः सन्तस्तथैव संचितास्ते अकति
 सञ्चिताः । स्था० ३१ ग० । एकसमयेऽसंख्यातोत्पादेनानन्तो-
 त्पादेन च पिण्डितेषु नैरयिकादिषु (अत्र दण्डकक्रमेण नैर-
 यिकादीनामकतिसंचितत्वमुपपातशब्दे) ज० २ श० १० उ० ।
 अकंटग-अकाटक-त्रि० न० व० । कण्टकरहितेषु न तेषु
 मध्ये वज्रवादिवृक्षाः सन्तीति, जी० ३ प्रति । पापाणादिह-
 व्यकण्टकविकल्पेषु, आच० ५ अ० । प्रतिस्पष्टिगोत्रजे (राज्ये)
 " ओहयकंटयं महियकंटयं अकंटयं " ज्ञा० १ अ० ।
 स्था० । सूत्र० ।
 अकंरु-अकाएरु-न० । न० त० । अग्रस्तावे, अनवसरे, आतु० ।
 " एत्थ मया अकंरे विणाञ्चिया तं कारणं सुणह " आ० म० प्र० ।
 अकाहे, वृ० १ उ० ।
 अकंरुयग-अकाएरुयक-पुं० न कएरुयते इत्यकएरुयकः
 स्था० ५ ठा० । अकएरुयनकारके अभिग्रहविशेषवति, प्रश्न०
 संव० १ द्वा० ।
 अकंत-अकान्त-त्रि० कान्तः कान्तियोगात्, स्था० ७ ग० । न का-
 न्तोऽकान्तः । जी० १ प्रति० । स्वरूपेणाकमनीयं, उपा० ७ अ० ।
 भ० । प्रश्न० ।
 अकंततर-अकान्ततर-त्रि० स्वरूपतोप्यकमनीयतरे, जी० ३
 प्रति० । वि० ।
 अकंतता-अकान्तता-स्त्री० असुन्दरतायाम्, भ० ६ श० २ उ० ।
 अकंतदुःख-अकान्तदुःख-त्रि० अकान्तमनमिमत्तं दुःखं येषा-
 न्तेऽकान्तदुःखाः अनन्तिमताशातेषु सूत्र० १ श्रु० १ अ०
 " अकंतदुःखं तसथावरा डुही अबूसए " आचा० २ श्रु० २ अ० ।
 दुःखद्विष्टसु, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।
 अकंतस्वर-अकान्तस्वर-त्रि० ६ व० अकान्तियुक्स्वरे,
 स्था० ७ ठा० ।
 अकंदपि (न्)-अकन्दपिन्-त्रि० कन्दपौद्दीपनजापितादि-
 विकले, व्य० १ उ० ।
 अकंप-अकम्प-त्रि० स्वरूपनिष्ठे, अष्ट० । अक्कोज्ये, " नाणंमि

यंसंमि य, तवे चरिते य चउत्तु वि अकंप " अकम्पोऽङ्गो-
न्यो देवैरप्यचाल्य इत्यर्थे, आनु० ।

अकंपिय-अकम्पित-पुं० । न० त० । श्रीमहाश्वरस्याष्टमे गणधरे,
स० (अस्यागारपर्यायादयो गणधरशब्दे) आ० चू० । आ०
म० द्वि० । कल्प० । (अयमकम्पितनामा चिजोपाध्यायो
वीरान्तिकं गतो भगवता नामगोत्राच्यामाभाष्य) वि० । "आ-
ङ्गो य जिणेण, जाङ्गरामरणविप्पमुक्केण । नामेण य गुत्तेण
य, सव्यन्तस्सवदरिणां ॥ किं मग्ने नेरइया, अत्थि नत्थिप्ति
मंसओ तुज्ज, वेदपयाणं अत्थे, न याणसी तेसिमो अत्थो "
(इत्याद्युक्त इति नारयशब्दे प्रदर्शयिष्यते)

अकक्कसत्तासा-अकक्कशत्तापा-ग्री० अतिशयोक्त्या एतत्स-
रपूर्वायां भाषायाम्, दश० ७ अ० ।

अकक्कसवेयणिज्ज-अकक्कशवेदनीय-न० अकक्कशेन सुखेन
धेयन्ते यानि तानि अकक्कशवेदनीयानि जगतादौनामिय सुख-
वेदनीयेषु कर्मसु ॥ अत्र द्वाकः "अत्थिणं भंते जीवाणं अकक्क-
सवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ? इत्ता अत्थि कहणं भंते ! जीवा-
णं अकक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ! गोयमा ! पाणाइवायवे-
रमणेणं जाव परिगहवेरमणेणं कोहयिवेगेणं जाव मिच्छादस-
णन्हुविधेगेणं एवं खमु गोयमा ! जीवाणं अकक्कस-
वेयणिज्जा कम्मा कज्जंति अत्थिणं भंते ! नेरइयाणं अकक्क-
सवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति णोइण्ठे समट्ठे एवं जाव घेमा-
णियाणं एवरं मयुस्साणं जं जीवाणं । भ० ७ श० ६ उ० ।

अकज्ज-अकारय-न० अप्रशस्तं कार्यम् अप्राशस्त्येन त० कुत्सि-
तकार्ये, निषिद्धकार्ये च । कर्त्तव्यमित्रे, वि० वाच० । आचा० ।

अकज्जमाण-अक्रियमाण-त्रि० न० त० वर्त्तमानकाले अ-
नियर्त्तमाने भ० १ श० १० उ० ।

अकज्जमाणकम-अक्रियमाणकृत-त्रि० क्रियमाणं वर्त्तमान-
काले कृतं चार्त्तकाले तन्निषेधादक्रियमाणकृतं (वर्त्तमाना-
र्त्तकालयोरनिर्वर्त्यमानानां निर्वृते) "अकिञ्च दुक्खं अफु-
सं दुक्खं अकज्जमाणकडं दुक्खं " भ० १ श० १० उ० ।

अकट्ट-अकाट्ट-त्रि० न० व० काष्ठरहिते अनिन्धने, "जंसीज-
लंतो अगली अकट्टो " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अकम्-अकृत-त्रि० न० त० अवहिते । " कडं कडित्ति भा-
सिज्जा, अकडं नो कडित्ति य " उक्त० १ अ० "अकडं करि-
स्सामिप्ति मल्लमणे" यदपरेण न कृतम् । आचा० १ श्रु० २ अ० ।
अकमज्जांगि (न्)-अकृतयोगिन्-पुं० यतनया योगमकृत-
वति, व्य० ३ उ० । अकृतयोगी अगीतार्थः त्रीन् वारान् कल्पमेप-
णीयं वा परिभाव्य प्रथमवेलायामपियतस्ततोऽकल्पमनेपणी-
यमपि ग्राही । व्य० १० उ० । " अकडजोगत्ति दारं तिगुणं प-
च्छद्वंति तिसंखा तिप्पि शुलीओ तिगुणो असंथरातीसु
तिप्पि वारा पसणीयं सप्पिसिओ जाता ततिववाराप वि ख
लज्जति तदा चउत्थपरिवाडीए अणेसणीयं घेत्तव्वं एवं ति-
गुणं जोगं काऊण जोगो व्यापारः वितियवारापच्चेव अणेस-
णीयं गेरहत्ति जो सो अकडजोगी भवति अकमजोगिप्ति
गयं " नि० चू० १ उ० ।

अकडपायच्छित्त-अकृतप्रायश्चित्त-त्रि० न कृतं प्रायश्चित्तं येन
अननुष्ठितविशेषः " जे भिक्खू साहिगरणं अविउसविय-
पाइडं अकडपायच्छित्तं " नि० चू० १० उ० ।

अकमसामायारि-अकृतसामाचारि-पुं० ३ व० अवितथा मण्ड-
ल्युपसंपत्सामाचारीमकुर्वति, वृ. ३ उ. एवंविधां (सामाचारी-
शब्दे वक्ष्यमाणां) उपसम्पन्नमण्डलीविषयां द्विविधामपि सा-
माचारीयो न करोति सोऽकृतसामाचारीक उच्यते, वृ० १ उ० ।
अकाटिण-अकठिन-त्रि० कोमले, जी० ३ २ ति ।

अकाण-अकर्ण-पुं० सिद्धमुखद्वीपस्य नैर्ऋतकोणे (अन्तरद्वी-
पशब्दोक्त) प्रमाणे अन्तरद्वीपे, नद्वास्तव्ये मनुष्ये च, खा० ४
ग० । प्रज्ञा० न० । कर्णरहिते, वाच० ।

अकण्ठिण-अकर्णच्छिन्न-अच्छिन्नकर्णं वि० न त्रिन्नौ
कर्णौ यस्य स तथा । अकृतधरणे, नि० चू० १४ व० ।

अकत्तण-अकर्त्तन-त्रि० उच्चस्थं फलं कर्त्तितुं शीघ्रमस्य । कृत-
युच् न० त० । उद्यत्विधोर्धिहस्त्वचवति खर्वे, कृत-भावे ल्युट्
न० व० वेदनकर्त्तरि वि० वाच० ।

अकत्तिम-अकृत्रिम-त्रि० न कृत्रिमः । न० त० कृत्रिममित्रे, स्वजा-
वसिक्ते, वाच० "अकत्तिमेहं चेव कत्तिमेहं चेव" जं० २ वक्क० ।

अकल्प-अकल्प-पुं० कल्पो न्यायो विधिराचारश्चरणकरण-
व्यापार इति यावत् । न कल्पोऽकल्पः । अतद्रूप इत्यर्थः । ध० २
अधि० अविधौ चरकादिदीक्षायाम्, अभ्राह्मे, पंचा० १२ विव० ।
आच० । आ० चू० । अकल्पे, अयोग्ये, "अकल्पं परियाणामि
कल्पं उनसवज्जामे " आच० ४ अ० । दर्पादौ, व्य० १ उ० ।
अभोज्ये, "जडकम्मं अकल्पं तत्थिक्कं " पि० । "अकल्पं पडिगा-
हेज्ज, चउत्थाइ जहाजोगं कल्पं वा । पडिसेहेइ उवछा-वणं
गोयर पविट्ठो उ " । महा० ७ अ० । दृग्णीये । नि० चू० १५
उ० । अनाचारे, कल्प० । अकल्पः अमर्यादा अनीतिः अनुपदश
इत्यनयोन्तरम्, पं० चू० । पिण्डशय्यावल्लपात्ररूपचतुष्टयेऽक-
ल्पनीये, व्य० २ उ० । "वयवक्कं कायवक्कं, अकल्पो गिहिनायणं"
अकल्पः शिक्षकस्थापनाकल्पादिः । दश० ६ अ० । तत्राकल्पो
द्विविधः शिक्षकस्थापनाकल्पः अकल्पस्थापनाकल्पश्च तत्र
शिक्षकस्थापनाकल्पः अनधीतपिपासुनिर्मुक्त्यादिनानीतमाहा-
रादि न कल्पते इत्युक्तं च " अणहीया खमु जेणं, पिनेस-
णसेज्जवत्थपापसा । तेणाणियाणि जतिणो, कप्पंति न पिन्-
माइणि ॥ उच्चवर्द्धमि ण अणत्ता, वासावासेउ दो वि णो सेहा ।
दिक्खिउज्जंती पायं, उवणाकप्पो इमां होइ " अकल्पस्थाप-
नाकल्पं त्वाद ॥

जाइं चत्तारिज्ज्जाइ, इसिणा हारमाइणि ।

ताइं विहिणा वज्जंतो, संजयं अणुपालए ॥ ४७ ॥

सूत्रं व्याख्या-यानि चत्वार्यभोज्यानि संयमापकारित्वेनाकल्पनी-
यानि ऋषीणां साधूनामाहारादन्याहारशय्यावल्लपात्राणि
तानि तु विधिना वर्जयन् संयमं सप्तदशप्रकारमनुपालयेत् ।
तदत्यागे संयमाभावादिति सूत्रार्थः । एतदेव स्पष्टयति ।

पिंडसेज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य ।

अकल्पियं न इच्छिज्जा, पमिगाहिज्ज कल्पियं ॥ ४८ ॥

पिण्डशय्यां च वस्त्रं चतुर्थं पात्रमेव च । एतत्स्वरूपं प्रगटा-
र्थमकल्पिकं नेच्छेत् प्रतिगृहीयात् कल्पिकं यथोचितमिति
सूत्रार्थः । अकल्पिके दोषमाह ।

जे नियागं ममारंति, कियमुदेसियाहं ।

वहं ते अणुजाणंति, ईइ वुत्तं महेसिणा ॥ ४९ ॥

ये केचन द्रव्यसाध्वादयो द्रव्यलिङ्गधारिणः (नियोगंति) नित्यमामन्त्रितं पिरुडं (ममायन्तीति) परिगृह्णन्ति । तथा क्रीत-मुदेशिकाहृतम् । एतानि यथा चुल्लकाचारकथायां वर्धं त्रस-स्थावरादिधातं ते द्रव्यसाध्वादयोऽनुजानन्ति । दातृप्रवृत्त्यनुमो-दनेनेत्युक्तं च महर्षिणा वर्धमानेनेति सूत्रार्थः । यस्मादेवम् ।

तम्हा असण्णाणाई, कियमुद्देसियाहम् ।

वज्जयंति त्रियप्पाणो, निगंथा धम्मजीविणो ॥९०॥

तस्मादशनपानादि चतुर्विधमपि यथादितं क्रीतमौदेशिक-माहृतं वर्जयति स्थितात्मानो महासत्त्वा निर्ग्रन्थाः साधवो धर्मजीविनः संयमैकजीविनः इति सूत्रार्थः । उक्तोऽकल्पः । दश० ६ अ० । जीत० पं० चू० पं० भा० । “अपरिग्राहणा अकल्पमि-हारे पलंवादीसलामं मम जिणादि ह्येति उवहीए सेज्जाए द-गसाला अकल्पसेहा य जे अन्ने ” पं० क० चू० । पं० भा० ।

एतो अकल्पं वोच्छामि णिक्खि एरिण्णकपो पुप्फ-लाणं च सारणं कुणति जं च एह एवमादीं सत्त्वं तं जाणसु अकल्पं जो तु किं वं ह्य करेती दुक्खभेसुं तु सत्त्वं सत्तेसुं एरिवेक्खो रीयादिसु पवत्तइ णिक्खिो सोतुं सहसा वय-साए ए व परितावणमादि विदिद्यादीणं काजण नाणु-तप्पइ एरिण्णकपो हवति एसो सत्तद्धममाणेसु सट्ठाणासे-वणाए सट्ठाणं गच्छागाढंमि तु कारणंमि वित्तिं भवेठाणं सत्तद्धमट्ठाणाइ उ कप्पो चेव तह अकप्पो य ते निक्कार-रणसेवी यावति सट्ठाणं पच्छित्तं पत्तंमि कारणे पुण रा-यड्डादियंमि आगाढे जयणा य करेमाणो होत्रियकप्पो वि तिट्ठाणं दारं । पं० चू० ।

“इयानि अकप्पो गाहा नामणिओ नामणी थंभणीओ विज्जा-ओ पउजइ अद्धवेयाली नाम जो उडुठं नेऊण पमिपावेइ वेयाली उछवेइ गम्भादाणं परिसामेइ संमुच्छियं पाडेइ जोणिपाहुडं वा करेइ अणेषु य एवमाइसु पावायपणेसु वहुइ गाहा तसए-गिदियतसपाणइमसगाइविच्छिण वा संसेइमे वा संमुच्छावेइ मुच्छाणमरणअभिओगाइहि माहेसरि वा आहव्वणं वा पउजइ रुद्धा हिद्वणं वंभडं वा अगणिकायं थंभेइ गाहा निक्कोवो नाम निग्घिणो निरयुक्कपो पुप्फफलयानि य विरुसेइ विज्जा-ओ परसुमादि पउजइ एवमाइ कम्मकरो सो अकप्पो एयाणि पुण ओकप्पअकप्पाणि निक्कारणे करेतो अछाणपच्छित्तमावज्ज इ । एतदर्थं गाहा सत्तद्धममाणेसु गच्छमाइसु पुण कारणेसु य रायड्डमाइसु असिवाइसु य कारणेसु जयणाए करेतस्स ओकप्पा कप्पा विइयं ठाणं भवति किं पुण तं वित्तिं ठाणं पक-प्पो चेव सो भवइ एस अकप्पो” पं० चू० [अपरिणतादेरकल्प-स्याग्राह्यताऽपरिणयादिशब्देषु वक्ष्यते] अस्थितकल्पे च, वृ० ४ उ० ।

अकल्पद्वाराकल्प-अकल्पस्थापनाकल्प-पुं० अनेपणीयपि-एरुशय्यावस्त्रपात्रवस्त्राणोऽकल्पजेदे, जीत० ।

अकल्पद्वि-अकल्पस्थित-पुं० कल्पे दशविधे आचेलुक्यादौ संपूर्णे न स्थिताः अकल्पस्थिताः चतुर्णामधर्मप्रतिपत्तुषु, वृ० ४ उ० मध्यमद्वारविंशतिजिनसाधुषु महाविदेहजेषु च, जीत० [कल्प-स्थितानामर्थाय कृतं कल्पते कल्पस्थितानां तदर्थं कृतं कल्पते कल्पस्थितानां नेतस्था]

जे कमे कल्पद्वियाणं कप्पइ से अकल्पद्वियाणं, नो कप्पइ कल्पद्वियाणं । जे कडे अकल्पद्वियाणं नो से कप्पइ कल्पद्वियाणं, कप्पइ से अकल्पद्वियाणं । कप्पे द्विया कप्प-द्विया णो कप्पे द्विया अकल्पद्विया ।

यदशनादिकं कृतं विहितं कल्पस्थितानामर्थाय कल्पते तदकल्पस्थितानां, न कल्पते कल्पस्थितानां । इहाचेलुक्या-दौ दशविधे कल्पेऽवस्थितास्ते कल्पस्थिता उच्यन्ते पञ्चयाम-धर्मप्रतिपत्ता इति भावः । ये पुनरेतस्मिन् कल्पे संपूर्णे न स्थिता-स्ते अकल्पस्थिताश्चतुर्णामधर्मप्रतिपत्तार इत्यर्थः । ततः पाञ्चया-मिकानुद्दिश्य कृतं चातुर्यामिकानां कल्पते इत्युक्तं भवति तथा यदकल्पस्थितानां चातुर्यामिकानामर्थाय कृतं नो स क-ल्पते कल्पस्थितानां, पाञ्चयामिकानां किन्तु कल्पते तदक-ल्पस्थितानां चातुर्यामिकानामत्रैव व्युत्पत्तिमाह कल्पे आचेलु-क्यादौ दशविधे स्थिताः कल्पस्थिता न कल्पे स्थिता अकल्प-स्थिताः । एष सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः ।

कल्पद्विपरवृणाता, पंचेव महव्वया चउज्जामा ।

कल्पद्वियाण पणगं, अकल्पचउज्जाम सेहे वि ॥

कल्पस्थितेः प्रथमतः प्ररूपणा कर्त्तव्या । तद्यथा । पूर्वपञ्चिम-साधूनां कल्पस्थितिः पञ्चमहाव्रतरूपा मध्यमसाधूनां महात्रिदेह-साधूनां च कल्पस्थितिश्चतुर्णामधर्मप्रतिपत्तार ततो ये कल्पस्थितास्ते पां (पणगंति) पञ्चैव महाव्रतानि ज्वन्ति अकल्पस्थितानां तु चत्वारो यामाश्चत्वारि महाव्रतानि ज्वन्ति नापरिगृहीता स्त्री शुन्यत इति कृत्वा चतुर्थव्रतपरिग्रहवतामेव तेषां अन्तर्जवती-ति भावः । यश्च पूर्वपञ्चिमतीर्थकरसाधूनामपि सम्बन्धी सैकस्या-पि सामायिकसंयत इति कृत्वा चातुर्यामिकोऽकल्पस्थितश्च मन्तव्यः यदा पुनरुपस्थापितो भविष्यति तदा कल्पस्थित इति प्ररूपिता कल्पस्थितिः । इह “ जे कमे कल्पद्वियाण ” इत्यादिना आधाकर्मसूचितमतस्तस्य उत्पत्तिमाह ।

सालीघयगुदगोर-सावसु वड्ढीफलेसु जातेसु ।

पण्डकरणासट्ठा, आहाकम्मे णिमंतणता ॥

कस्यापि दानरुचेरभिगमश्चाद्धस्य चानवः शालिः भूयान् गृहे समायातस्ततः स चिन्तयति पूर्वं यतीनामदत्त्वा ममात्मना परि-त्रोक्तं न युक्त इति परिभाष्याधाकर्मं कुर्यात् एवं घृते गुणे गोरस-नवे यवतुम्ब्यादिवल्लीफलेषु जातेषु पुण्यार्थं दानरुचिः श्राद्धः (करणंति) आधाकर्मं कृत्वा साधूनां निमन्त्रणं कुर्यात् । तस्य आधाकर्मणोऽसूयेकार्यकपदानि ।

आहा आहयकम्मे, अत्ताहम्मेय अत्तकम्मे य ।

ते पुण आहाकम्मे, णायवं कप्पते कस्स ॥

आधाकर्म, अधःकर्म, आत्मघ्न, आत्मकर्म, चेति चत्वारि नामानि तत्र साधुनामधेयप्राणिघातेन यत्कर्म परकायविनाशेना-शनादिनिष्पादनं तदाधाकर्म । तथाविशुद्धसंयमस्थानेभ्यः प्रतिपत्यात्मानमविशुद्धसंयमस्थानेषु यदाधः करोति तदधःकर्म । आत्मानं ज्ञानदर्शनचारित्र्यरूपं विनाशयतीत्यात्मघ्नः । यत्पाचका-दिसम्बन्धि कर्म पाकादिबन्धकं ज्ञानावरणं यादिलक्षणं वा तदा-त्मनः सम्बन्धि क्रियते, अनेनेत्यात्मकर्म । तत्पुनराधाकर्म कस्य पुरुषस्य कल्पते न वा यद्वा कस्य तीर्थे कथं कल्पते न कल्प-ते वेत्यमीभिर्द्वाैर्ज्ञातव्यं, तान्येव दर्शयति ।

संघस्य पुरिममज्झिम-समणायं चैव समणीणं ।

चउएहं उवस्सयाण, कायच्चा मग्गणा होति ॥

आध्यात्मिककारी सामान्येन विशेषेण वा संघस्योद्देशं कुर्यात् तत्र सामान्येनाविशेषितं संघमुद्दिशति विशेषेण तु पूर्वं वा मध्यमं वा पश्चिमं वा संघं चेतसि प्राणिधत्ते श्रमणानामप्योद्यतो विज्ञागतश्च निर्देशं करोति, तत्रैव नो विशेषितश्रमणानां विज्ञागतः पाञ्चयामिकश्रमणानां चातुर्यामिकश्रमणानामेवं श्रमणीनामपि वक्तव्यं तथा चतुर्णामुपाश्रयाणामप्येवमेव सामान्येन विशेषेण च मार्गणा कत्तव्या भवति, तत्र चत्वार उपाश्रया इमे पाञ्चयामिकानां श्रमणानामुपाश्रयमुद्दिशतीत्येकः पाञ्चयामिकानामेव श्रमणानां द्वितीयः, एवं चातुर्यामिकश्रमणश्रमणानामप्येवं भावयति ।

संघं समुद्दिशित्वा, पट्ठमो वित्तिओ य समणसमणीओ ।

तत्तिओ उवस्सए खड्डु, चउत्तयओ एगपुरिसस्स ॥

आध्यात्मिककारी प्रथमो दानश्राद्धादिः संघं सामान्येन विशेषेण वा समुद्दिश्याध्यात्मं करोति । द्वितीयः श्रमणश्रमणीः प्राणिधाय करोति । तृतीय उपाश्रयानुद्दिश्य करोति । चतुर्थं एकपुर-पस्योद्देशं कृत्या करोति ।

अत्र यथाकर्म कल्पाकल्पविधिमाह ।

जदि सव्वं उदिसिउं, संघं कंति दोएह वि ए कप्पे ।

अहवा सव्वे समणा, समणी वा तत्तय वि तह्वे ॥

यदीत्यन्युपगमे यदि नाम ऋषभस्वामिनोऽजितस्वामिनश्च तीर्थमेकत्र मिलितं जवति पाद्वस्वामिवर्द्धमानस्वामिनोर्वा तीर्थं मिलितं यदा प्राप्यते तदा तत्काव्यमस्तीहृत्यायं विधिरजि-धीयते, सर्वमपि संघं सामान्येनोद्दिश्य यदाध्यात्मं करोति । यद्वा द्वयोरपि पाञ्चयामिकचातुर्यामिकसंघयोर्न कल्पते अथ सर्वान् श्रमणान् सामान्येनोद्दिशति तत्रापि श्रमणानामपि सामान्येनोद्देशेन तथैव सर्वेषामपि पाञ्चयामिकानां चातुर्यामिकानां न कल्पते एवं श्रमणीनामपि सामान्येनोद्देशे सर्वा-सामकल्प्यम् ।

अथ विभागोद्देशे विधिमाह ।

जं पुण पुरिसं संघं, उदिसिती मज्झिमस्स तो कप्पे ।

मज्झिमउदिसि पुण, दोएहं पि अकप्पितं होति ॥

यदि पुनः पूर्वपञ्चमस्वामिसत्कं संघमुद्दिशति ततो मध्यम-स्याजितस्वामिसंघस्य कल्पते अथ मध्यमं संघमुद्दिशति तदा द्वयोरपि पूर्वमध्यमसंघयोरकल्पं जवति, एवं पश्चिमतीर्थकरस-त्कसंघमुद्दिश्य कृतं मध्यमस्य कल्पते मध्यमस्य कृतं द्वयोरपि न कल्पते ।

एमेव समणवग्गे, समणीवग्गे य पुव्वमुदिसि ।

मज्झिमगाणं कप्पे, तेसि कडं दोएहं वि ए कप्पं ॥

एवमेव श्रमणवर्गे श्रमणीवर्गे पूर्वपामृषभस्वामिसंघान्धनां श्रमणानां श्रमणीनां वा यदुद्दिष्टमुद्दिश्य कृतं तन्माध्यमिकानां श्रमणश्रमणीनां कल्पते तेषां मध्यमानामर्थाय कृतमुभयेषामपि पूर्वमध्यमानां साधुसाध्वीनां न कल्पते । एवं पश्चिममध्य-मानामपि वक्तव्यम् ।

अथैकपुरुषोद्देशे विधिमाह ।

पुरिमाणं एगस्स वि, कयं तु सव्वेसि पुरिमचरिमाणं ।

चरिमाणं ए वि कप्पे, उवणाभत्तगहणं तद्धि नात्थि ॥

पूर्वपामृषभस्वामिसत्कानामेकस्यापि पुरुषस्यार्थाय कृतं सर्वेषामपि पूर्वपश्चिमानामकल्प्यं पश्चिमानामप्येकस्यार्थाय कृतं सर्वेषां पूर्वपश्चिमानामकल्प्यम् । एतच्च स्थापनामात्रं प्रर-पणामात्रं संज्ञाविज्ञानार्थं क्रियते बहुकालान्तरत्वेन पूर्वपश्चि-मसाधूनामेकत्वासंभवात् तत्र परस्परं ग्रहणं नास्ति न घटते मध्यमानां तु यदि सामान्येनैकं साधुमुद्दिश्य कृतं तत एकेन गृहीते शेषाणां कल्प्यते अथ किमप्येकं विशेष्य कृतं ततस्त-स्यैवाकल्प्यं शेषाणां सर्वेषामपि कल्पं पूर्वपश्चिमानां तु सर्वे-षामपि तत्र कल्पते ।

अथोपाश्रयोद्देशे विधिमाह ।

एवमुपसस्य पुरिसे, उदिसिणं तं तु पच्छिमा भुज्जो ।

मज्झिमं तु वज्जाणं, कप्पं उदिसिणं पुव्वे ॥

एवं यदि सामान्येनोपाश्रयानामुद्देशं करोति तदा सर्वेषाम-कल्प्यम् । अथ पूर्वपामाद्यतीर्थकरसाधूनामुपाश्रयानुद्दिशति ततस्तदर्थमुद्दिष्टं पश्चिमानामुपलक्षणत्वात्पूर्वं वा साधवः स-र्वेऽपि न भुज्जते मध्यमानां पुनः कल्पनीयम् । अथ मध्यमसाधू-नामुपाश्रयान् सर्वानुद्दिश्य करोति ततो मध्यमानां पूर्वपश्चि-मानां सर्वेषामकल्प्यम् । अथ क्रियते एव मध्यमोपाश्रयानुद्दिश-ति ततस्तद्वर्जानान्तेषूपपाश्रयेषु ये श्रमणास्तान् वर्जयित्वा शे-पाणां मध्यमश्रमणश्रमणीनां कल्पते (उद्दिष्टसमपुव्वेति) पूर्वं साधवः ऋषभस्वामिसत्का भगवन्ते ते उद्दिष्टसमये साधुमु-द्दिश्य कृतं तत्तुल्याः । एकमुद्दिश्य कृतं सर्वेषामकल्पनीयमिति भावः । एवं तावत्पूर्वेषां मध्यमानां च भणितम् ।

अथ मध्यमानां पश्चिमानां वा अभिधीयते ।

सव्वे समणा समणी, मज्झिमगा चैव पच्छिमा चैव ।

मज्झिमसमणसमणी, पच्छिमगा समणसमणीतो ॥

सर्वे श्रमणाः श्रमण्यो वा यदुद्दिश्यन्ते तदा सर्वेषामकल्प्यं (मज्झिमगा चैवति) अथ मध्यमाः श्रमणाः श्रमण्यो वा उ-द्दिष्टास्ततो मध्यमानां पश्चिमानां च सर्वेषामकल्प्यम् (पच्छिमा-चैवति) पश्चिमानां श्रमणश्रमणीनामुद्दिष्टे तेषां सर्वेषामकल्प्यं मध्यमानां कल्प्यं मध्यमश्रमणानामुद्दिष्टं मध्यमसाध्वीनां कल्पते मध्यमश्रमणीनामुद्दिष्टमध्यमसाधूनां कल्पते पश्चिमश्रमणीनामु-द्दिष्टे पश्चिमसाधुसाध्वीनां न कल्पते मध्यमानामुभयेषामपि कल्पते । एवं पश्चिमश्रमणीनामप्युद्दिष्टे वक्तव्यम् ।

उवसयगणिय विभाउअ, उज्जुगज्झा य वंजज्झा य ।

मज्झिमगज्जुपणा, पेन्हासखायगागमणं ॥

अथोपाश्रयेषु साधून् गणितविभाजितान् करोति गणिताना-मित्यानां पञ्चादिसंख्याकानां दातव्यं विभाजिता अनुकस्यामु-कस्येति नामोत्कीर्त्तनेन निर्धारिताः अत्र चतुर्जङ्गी यथा गणिता अपि विभाजिता अपि १ गणिता न विभाजिता २ विभाजिता न गणिता ३ न गणिता न विभाजिता ४ अत्र प्रथमजङ्गे मध्य-मामां गणितविभाजितानामेवाकल्प्यं शेषाणां कल्पते । द्वितीयज-ङ्गे यावत् प्रमाणैर्न गृहीतं तावत् सर्वेषामकल्प्यं गणितप्रमाणैर्गृ-हीते मध्यमानां शेषाणां कल्प्यम् । तृतीयजङ्गे यावत् सदृशनामा-नस्तेषां सर्वेषां सममकल्प्यं शेषाणां कल्प्यम् । चतुर्थजङ्गे सर्वेषां कल्प्यं पूर्वपश्चिमानां तु सर्वेष्वपि जङ्गेषु न कल्पते (साधूनां क-ल्पस्थितत्वात् कल्पस्थितत्वकारणं कल्पशब्दे) वृ० एतेन का-रणेन चातुर्यामिकपाञ्चयामिकानामाध्यात्मप्रवर्णे विशेषः कृत इति प्रक्रमः ।

अथ द्वितीयपदमाह ।

आयरिए अजिसेगे, जिक्खुम्मि गिद्याणए य भयणाओ ।
भिखुस्सडविपवेसे, चउपरिवट्टे तत्रो गहणं ॥

आचार्योऽजिपेकभिक्षुणमेकतमः सर्वे वा ग्ञाना भवेयुः तत्र सर्वेषामपि योग्यमुक्तमादिदोषशुद्धं गृहीतव्यम् अवलम्ब्यमाने पञ्चकपरिहाण्या यतित्वा चतुर्गुरुकं यदा प्राप्तं प्रवति तदा आ-
धाकर्मणो भजना सेवना भवति अथवा भजना नाम आचा-
र्यस्याभिषेकस्य गीतार्थभिक्षोश्च येन दोषेणाशुक्तमानीतं तत्प-
रिस्फुटमेव कथ्यते । यः पुनरगीतार्थोऽपरिणामको वा तस्य न
निवेद्यते । अशिवादिभिर्वा कारणैरदृवीमध्वानं प्रवेष्टुमशिलप-
ति तत्र प्रथममेव शुद्धोऽध्वकल्पस्त्रिरुत्तरेण वारान् गन्धप्यते
यदान् लभ्यते तदा चतुर्थे परिवर्ते पञ्चपरिहाण्याधाकर्मिकस्य
ग्रहणं करोति ।

अध्वनिर्गतानां चायं विधिः ।

चउरो चउत्थभत्ते, आयंविद्वएगठाण पुरिमहं ।

णिन्वीयगदायव्वं, सयं व पुव्वोगाहं कुज्जा ॥

आचार्यः स्वयमेव चतुष्कल्याणकं प्रायश्चित्तं गृह्णाति तत्र च-
त्वारि चतुर्थभक्तानि चत्वारि आचामाप्मानि चत्वार्येकस्थाना-
नि एकासनकानीत्यर्थः चत्वारि पूर्वार्क्षानि चत्वारि निर्दृष्टि-
कानि च प्रवन्ति । ततः शेषा अप्यपरिणामकप्रत्ययनिमित्तं च-
तुष्कल्याणकं प्रतिपद्यन्ते । योऽपरिणामिकस्तस्य पञ्चकल्याण-
कं दातव्यं तत्र चतुर्थप्रकादीनि प्रत्येकं पञ्च पञ्च भवन्ति
स्वयं चाचार्यः पूर्वमेव प्रायश्चित्तस्यावग्रहणं कुर्यात् येन शेषाः
सुखेनैवं प्रतिपद्यन्ते यत्पूर्वं प्रतिसिद्धं वक्ति एवं भूयोऽ-
नुज्ञायते अनुज्ञातं चेति ।

अतः किमर्थं प्रायश्चित्तं दीयत इत्याह ।

कादशरीरावेक्खं, जगस्स भावं जिणा विद्याणित्ता ।

तह तह दिसंति धम्मं, जिज्जाति कम्मं जहा अखिलं ॥

कालशरीरापेक्षं कालस्य शरीरस्य च यादृशः परिणामो व-
हं वा तदनु रूपं जगतो मनुष्यलोकस्य स्वभावं विज्ञाय जिना-
स्तीर्थकराः तथा तथा विधिप्रतिषेधरूपेण प्रकारेण धर्ममुपादिश-
न्ति यथा अखिलमपि कर्म क्षीयते यच्चानुज्ञाते प्रायश्चित्त-
दानं तदनवस्थाप्रसंगवारणाय । वृ० ४ उ० ।

अकप्पिय-अकल्पिक-पुं० अर्गातार्थं, " किं वा अकप्पियणं,
यहियं फासुयं तु तं होइ" व्य० १ उ० अनेवणीये, त्रि० "अकप्पियं
ण इच्छिज्जा पम्पिगाहेज्ज कप्पियं " दश० ५ अ० ॥

जं जम्मि देसजाए, अकप्पियं जेण जेण कालेण ।

बुच्छामि अन्नपाणे, वि कारणं सुत्तनिदिदं ॥५॥

मगहाइ मगहसाढी-एणं ओयणमुएह यं हवइ भुज्जं ।

सीयलगं तु अभुज्जं, कुंयुसमाणं रसज्जेणं ॥६॥

तेसिं तु तंदुलोदं, एगंतेणं जवे अप्पिज्जं तु ।

पिंमालु य पद्धं, परिवुच्छा सा वि य अभुज्जा ॥७॥

वालगकोडिसरिसा, उरुपरिसप्पा तहिं सुहुमदेहा ।

संमुच्छति अणेगा, दुप्पिक्खा मंसचक्खुणा ॥८॥

तांमि य चेव पएसे, उएहं सालुअं हवइ जक्खं ।

सीयलगंमि य जद्वजा, रसया समुच्छंति य अणेगा ॥९॥

सरिसवसागं मुग्गेण, मासायां अंवद्वेण जं रद्धं ।

एगंतेण अजक्खं, तहिं मंमुक्का जवे सुहुमा ॥१०॥

मासा मूलपसिद्धा, परिवुच्छा संजयाणपसिद्धं ।

मच्छाय संमुच्छंति, न सरण्णमंतिआ वहे ॥११॥

सो पच्चलजाया ? अय-तको उगणियाहिं सिद्धाओ ।

परिमुच्छंसि य विविहा, सव्वे पंचिदिया हुंति ॥१२॥

आमे तक्के सिद्धे, कुसुंजसुग्गं अकप्पियं निचं ।

वादसरिसा अणेगा, सप्पा संमुच्छिमा तत्थ ॥१३॥

जवसागरन्ननादं ? परिवुच्छं नेव कप्पियं होइ ।

संमुच्छंति अणेगा, मच्छा जलुआ सहस्साइ ॥१४॥

एगंतेण अपेयं, खीरं दुरजाइयं तहिं देसे ।

संसइमं तत्थ जिया, गंडुदया सप्पमंमुक्का ॥१५॥

दहियं तिरत्तिपुव्वं, अकप्पयंति जलूयसंघाया ।

गुदवाणिअं अपेयं, पहरंमि गए तहिं देसे ॥१६॥

गुलवाणियं अपेयं, अंमाओगजीवसंजवो तत्थ ।

जवपाणियं अपेयं, सेमाण य उएहतोयाणि ॥१७॥

एगंतेण अभक्खा, परिवुच्छा मासपोद्विआ तत्थ ।

संमुच्छंति निगांया, तेहिं य जीवा बहुविहा य ॥१८॥

अद्वगपिंदगगव्जा, मंडुकाया परन्नपरिवुच्छा ।

पुव्वएहे सा कप्पइ, अवरएहे तंतुआ जीवा ॥१९॥

जक्खा य पंचरत्तं, तु मोयगा देसमंडले तम्मि ।

एगंतेण न कप्पइ, सीयलकूरो अतुसिणो अ ॥२०॥

आयारो पडिसिद्धो, जमेतासी ? अलंजई भत्तं ।

आयारियपरिभट्ठा, पाणिवहकरा अ साहूआ ॥२१॥

मूदगद्वद्वं चंचु अ, तत्थ य संसज्जए मुहुत्तेणं ।

न हु मूदगसंसत्ता, कंदफलाइ उ संसत्ते ॥२२॥

सव्वं तिलगयआमं, गोरसमासं तु रत्तिपज्जसियं ।

द्वड्ढासीईचूया, संसज्जए मुहुत्तेणं ॥२३॥

उवस्खलगतियेयं, पत्तेयं तन्निरत्तकालेयं ।

विज्जलयणद्वम्भाइ ? मूहमुहाइसु संसत्ते ॥२४॥

एवं जुज्जं मगहे, विसए तहेव समासओ भणियं ।

मगहा इव नायव्वं, जाव कडिगाउ नेपालं ॥ २५ ॥

दाविमं वा विरुवासो ? एयंमि य देसमंमले पत्ता ।

पाणाणि य भक्खाणि य, नायव्वाइ पयत्तेणं ॥ २६ ॥

मिरियकुडंगकुसंजी, करमियअग्गे सद्विष्कामाया ।

एसा निगोयजोणी, परिवुच्छा होइ अब्जक्खा ॥ २७ ॥

कुदवतंदुद्वजाओ, दगकूलं पंचरत्तिपरिवुच्छं ।

एगंतेण अपेयं, जत्रयरपरिनाण जायंति ॥ २८ ॥

पूरियमंहुकमिआ, मासा वधुला य देसला जाया ।

हुंति अभक्खा कुंशुअ-मक्खिअमसगाण सा जोणी ॥ २९ ॥

कुष्ण न तंदुलउदगं, कूरो जो होइ रत्तिपग्गिबुच्छो ।
 एंगतेण अपेयं, बहुविहसत्ताण सा जोणी ॥ २६ ॥
 गुलपाणियं तु पेयं, मज्जाहे विच्छुपाणियं चैव ।
 सेसं कालं न पेयं, तेसु वि जीवा अणगविहा ॥ ३० ॥
 आचारसरट्ठीए, कंवरंगे द्दगन्नतक्कसिद्धो अ ।
 एंगतेण अभक्खो, सो क उएहो अ नच्चिन्नं ॥ ३१ ॥
 समुच्चंति निगोया, तस्सा पंचिदिया अणगविहा ।
 सुहमा जइहिं दिट्ठा, तज्जोणीया बहु जीवा ॥ ३२ ॥
 सूरणकंदो भीमे-हिं मीसिओ ? एगरत्तिपरिवुच्छो ।
 एंगतेण अभक्खो, तेसि निगोया य मंडका ॥ ३५ ॥
 द्वागलतक्के सिद्धो, उगणेहिं किएदकंगुओ जीओ ।
 घूलं करिहिं मासो, परिवुच्छो तत्थ बहुयरा ॥ ३६ ॥
 पंचन्नवमुहुत्तकंदा, अकप्पिया सिद्धयारिनिच्चं पी ।
 पत्ता कसाणवचयं, सोरट्ठा जारदेसंमि ॥ ३६ ॥
 चउहिं पयारेहिं सया, न कप्पण कंगुओ तहिं देसे ।
 जो अंवलंमि सिद्धो, तत्थयमावन्निया जीवा ॥ ३७ ॥
 उएहे ममुच्छंमि य, अणगजीवा निगोयमंठाणा ।
 सीयलयंमि य मच्छा, रहरेण संठिया बहवे ॥ ३८ ॥
 द्वागलतक्के सिद्धो, कंगुओ खायरे हि कट्टेहिं ।
 उएहे निगोयजीवा, सीयलए तंतुया हुंति ॥ ३९ ॥
 तक्कं विलंमि सिद्धो, मासो लणएयरएलमासमि ।
 उएहंमि तसा जीवा, सीयलए हुंतिय निगोया ॥ ४० ॥
 माहिसत्तक्के द्वागलंहिं, सिद्धओ जइति कंगुओ होइ ।
 समुच्चंति अणगा, सीयलए तंतुआ जीवा ॥ ४१ ॥
 चट्ठापत्तंतिद्वं-मि सिद्धयं उएहयं च अगिणीए ।
 उप्पज्जंति अणगा, सीयलए किएहया जीवा ॥ ४२ ॥
 अंबिन्नमिच्छविराट्ठी, एंगतेणं च सा वि पणिसिद्धा ।
 उएहंमि तसा जीवा, निगोयजीवा य सीयलए ॥ ४३ ॥
 सात्तासरसाकंगुअ, एए तिन्नि च उएहया कूरा ।
 परिहरियन्वा निचं सीयलए तंतुआ जीवा ॥ ४४ ॥
 द्वागलतक्के सिद्धो, कंगुओ खायरेहिं कट्टेहिं ।
 तिन्नयसलूणमिस्सो, निगोयपंचिदिया हुंति ॥ ४५ ॥
 निग्गंथाण अभक्खं, मूलगसागं तिरत्ति परिवुच्छं ।
 कुंयुतसायनिगोया, उप्पज्जंति य बहुय जीवा ॥ ४६ ॥
 मासाविहुपरिवुच्छा, एंगतेण वि हुंति अभक्खा ।
 हुंति य निगोयजीवा, तंतुअ पंचिदिया तत्थ ॥ ४७ ॥
 सतु अजक्खा भक्खा, भक्खा परितुच्छेपुरहदेसमि ।
 पेत्तामुहुकुक्कुरिया, पंचिदियजीवजोणी सा ॥ ४८ ॥
 एगं जामं चक्खा, पूखरिया कुंथुआ भवे पच्छा ।
 एंगतेण अजक्खा, परिवुच्छा मासपोट्ठीया ॥ ४९ ॥
 उप्पज्जंति निगोया, जीवा पंचिदिया बहुविहा य ।

दुव्हिसेसु मोयगेसं, परिवुच्छाइसु तहिं देसे ॥ ५० ॥
 गोंसत्तखाइयाणं, गोणीणं गोरसेण जं मिस्सं ।
 संसप्पइ रसएहिं, खणेण वादग्गसरिसेहिं ॥ ५१ ॥
 सव्वेसु वि देसेसुं, परिवुसियाइं अकप्पणिज्जाइं ।
 अमणं पाणमन्नक्खं, नाणा जीवाण सा जोणी ॥ ५२ ॥
 जा परिवुच्छं जुंजइ, एगरसं चउविहं पि आहारं ।
 सा बहुविहजीवाणं, करेइ अंतं अयाणंतो ॥ ५३ ॥
 जो नाही पडिबत्ति, छाणादेसेसु सत्तभणिएणं ।
 सो मंजमं अविकटं, करेइ साहु य परिहरंतो ॥ ५४ ॥
 अंकल्लघाणियाए, वायादट्ठीइ जो य इक्खुरसो ।
 मच्छासमुच्चंति अ, तक्कादं सव्वदेसेसु ॥ ५५ ॥
 संसत्तयणिज्जुत्ती, एसा साहुहिं चैव पडिअवा ।
 अत्थो पुण सव्वेहिं वि, सोयव्वो साहु पासाओ ॥ ५६ ॥
 सं० नि० आचा० ।

अकट्ठिपत्त-वि० अयोग्ये, ग० १ अधि० ।

अकच्चर-पुं० पारसीकोऽयं शब्दः दिल्लीनगराधिपतौ, म्हे-
 च्छराजे, स ईरविजयप्रतिबोधितः “ यो जीवान्नयदानमिदि-
 ममिपात् स्वीयं यशोमिदिम, एमासान्प्रतिवर्षमुग्रमखिले
 जृमागुरुऽवीवदत् । जेजे धार्मिकतामधर्म्मरसिको म्हे-
 च्छाप्रिमोऽकच्चरः, भुत्वा यद्वदनादनाविलमतिधर्म्मोपदेशं
 वृजन्म ॥ १ ॥ कल्प० ॥

अकम्म-अकर्मन्-न० न० त० कर्मकरणाजवे, वृ० १ उ० आ-
 धवनिगेधे, सूत्र० १ ध्रु० १२ अ० । न विद्यते कर्मास्येति (द्वी-
 णकर्मणि) पुं० आचा० १ ध्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अकर्मणो गतिः ।

अस्थि एं भंते ! अकम्मस्स गई पण्णायइ हंता अस्थि
 कएहं भंते ! अकम्मस्स गई पण्णायइ गोयमा ! निस्संगयाए
 निरंगणयाए गइपरिणामेणं वंधणजेयणयाए निरंधणयाए
 पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गई पण्णायइ कएहं भंते ! नि-
 स्संगयाए निरंगणयाए गइपरिणामेणं अकम्मस्स गई प-
 ण्णायइ गोयमा ! से जहा नामए केइ पुरिसे सुकं तुवं निच्छिदं
 निरुव्वहयं आणुपुव्वीए परिकम्ममाणे २ दब्भेहिय कुसेहि-
 य वेदेइ अट्ठहिं मट्ठियालेवेहिं छिपइ उएहं दन्नयइ जूइं जूइं
 सुकं समाणं अत्थाहमतारमपोरसियांसं उदगंसं पक्खिवेज्जा
 से न्णं गोयमा ! से तुवे तेसिं अट्ठएहं मट्ठियालेवाणं गुरुयत्ताए-
 भारियत्ताए गुरुयसंजारियत्ताए सल्लिततलमइवइत्ता अहे
 धरणितलपइट्ठाणे भवइ हंता हवइ अहे एं से तुवे तेसिं
 अट्ठएहं मट्ठियालेवाणं परिकखएणं धरणितलमइवइत्ता
 लपिं सल्लितपइट्ठाणे भवइ हंता भवइ एवं खलु गोयमा !
 निस्संगयाए निरंगणयाए गतिपरिणामेणं अकम्मस्स
 गइपण्णायइ कएहं भंते ! वंधनजेयणयाए अकम्मस्स
 गई पण्णायइ गोयमा ! से जहा नामए कलसिंवलियाइ वा

मुग्गसिंवलियाइ वा माससिंवलियाइ वा सिंवलिसिंवलियाइ वा एरुमिजियाइ वा उएहेदिएणा सुक्का समाणी फुडित्ताणं एगंतमंतं गच्छइ एवं खलु गोयमा ! कहएहं जंते ! निरिंधणयाए अकम्मस्स गई गोयमा ! से जहा नामए धूमस्स इंधणविप्पमुक्कस्स उहं वीससाए निव्वाघाएणं गई पवत्तइ एवं खलु गोयमा ! कहएहं भंते ! पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गई पप्पत्ता गोयमा ! से जहानामए कंरुस्स कोदंरुविप्पमुक्कस्स लक्खानिमुहं निव्वाघाएणं गई पवत्तइ एवं खलु गोयमा ! पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गई पवत्तइ एवं खलु गोयमा ! नीसंगयाए निरंगणयाए जाव पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गई पवत्तइ ।

(गइ पस्सायइत्ति) गतिः प्रज्ञायतेऽन्युपगम्यत इति यावत् (निस्संगयाएत्ति) निःसङ्गतया कर्ममत्तापगमेन (निरंगणयाएत्ति) नीरागतया मोहापगमेन (गइपरिणामेणंति) गतिस्वभावतया अज्ञावुद्धयस्येव (वंधणयेयणयाएत्ति) कर्मवन्धनच्छेदेनेन परएरुफलस्येव (निरंधणयाएत्ति) कर्मवन्धनविमोचनेन धूमस्येव (पुव्वप्पओगेणंति) सकर्मतायां गतिपरिणामवत्त्वेन वाणस्येवेति एतदेव विवृण्वन्नाह (कहएहमित्यादि) (निरुवहयंति) वाताद्यनुपहतं (दम्भेहियत्ति) दम्भैः समूहैः (कुसेहियत्ति) कुशैर्दन्तैरेव छिन्नमूलैः (चूइंभूइत्ति) चूयो जूयः (अथाहेत्यादि) इह मकारौ प्राकृतप्रज्ञावततोऽस्ताद्येऽत एवातारेऽत एवापौरुषेयेऽपुरुषप्रमाणे (कलसिंवलियाइ वा) कलायाभिधानध्यान्यफलिका (सिंवलित्ति) वृक्षाविशेषः (एरुमिजियाइ वा) एरुपरुफलं (एगंतमंतं गच्छइत्ति) एक इत्येवमन्तो निश्चयो यत्रासावेकान्त एक इत्यर्थोऽतस्तमन्तं नृजागं गच्छति इह च वीजस्य गमनेऽपि यत् कल्लाय सिम्बलिकादि । तत्तुक्तं “तत्तयोरभेदोपचारादिति” (उहं वीससाएत्ति) उध्वं विस्ससया स्वजावेन (निव्वाघाएणंति) कट्टाद्याच्छादनाज्जावात्, भ० ७ श० १ उ० (अकम्मस्स ववहारो ण विज्जति) आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । न विद्यते कर्मास्येति अकर्मा कर्मरहिते, वीर्यान्तरायक्षयजनिते जीवस्य सहजे वीर्ये, “किन्तु वीरस्स वीरत्तं, कहं चेयं पवुच्चइ । कम्ममेगे पवेदंति, अकम्मं वा वि सुव्वया” सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । अकम्मओ-अकर्मतस्-अव्य० कर्माणि विनेत्यर्थे, “एणं अकम्मओ विभत्तिजावं परिणमइ” ज० १२ श० ५ उ० ।

अकम्मंस-अकर्माश-पुं० न विद्यते कर्माशो यस्य सोऽकर्माशः । कर्मज्ञवविप्रमुके “अप्पत्तियं अकम्मंसे, एयमट्ठम्मिगे चुए” सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । विगतघातिकर्मणि स्नातकभेदे, भ० ३५ श० ६ उ० ।

अकम्मकारि [नृ]-अकर्मकारिन्-त्रि० स्वभूमिकानुचितकर्मकारिणि, प्रश्न० आश्र० २ द्वा० ।

अकम्मग-अकर्मक-त्रि० नास्ति कर्म यस्य बहो कप् । व्याकरणोक्ते कर्मज्ञान्ये धातौ । “लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेज्यः” ३ । ४ । ६९ इति [पाणिनिः] “फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः” इति हरिः । स्त्रियां टापि कापि अत इत्वम अकर्मिका “प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया” इति हरिः । वाच० । अविवक्षितकर्मका अकर्मका भवन्ति । यथा, पश्य मुग्गो धावति, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अकम्मजूमग-अकर्मजूमक-पुं० कर्म कृपिवाणिज्यादि मोक्षा-नुष्ठानं वा तद्विकला जूमियेपान्ते अकर्मजूमस्ते एवाकर्मजूमका आपर्त्वात्समासान्तोऽप्रत्ययः । जीवा० १ प्रति । अकर्मजूमिजेपु गर्भव्युत्क्रान्तिक्रमनुष्येपु, प्रज्ञा० १ पद । ते च त्रिशद्विधाः ।

से किं तं अकम्मभूमिगा ? अकम्मजूमिगा तीसति-विहा पप्पत्ता तंजहा पंचहिं हेमवएहिं पंचहिं हेरएणवएहिं पंचहिं हरिवासेहिं पंचहिं रम्मगवासेहिं पंचहिं देवकुरुएहिं पंचहिं उत्तरकुरुएहिं सेत्तं अकम्मभूमिगा ।

अथ के ते अकर्मभूमिकाः ? सूरिराह अकर्मभूमिकास्त्रिशद्विधाः प्रज्ञाः । तच्च त्रिशद्विधत्वं क्षेत्रज्ञेदात् । तथा चाह । “तं जहा पंचहिं हेमवएहिं” इत्यादि । पञ्चभिर्हेमवतैः पञ्चभिर्हेरणवतैः पञ्चभिर्हरिवतैः पञ्चभिः रम्यकवतैः पञ्चभिर्देवकुरुभिः पञ्चभिस्तत्तकुरुभिर्भिद्यमानास्त्रिशद्विधा भवन्ति । पप्पत्तां पप्पत्तानां त्रिशत्संख्यात्मकत्वात् तत्र पञ्चसु हेमवतेषु मनुष्या गव्यूतिप्रमाणशरीरोच्छ्रया पल्योपमायुपो वज्रर्पभनाराचसंहननिनः समचतुरस्रसंस्थानाः चतुष्पष्टिपृष्ठकरणकाश्चतुर्थातिक्रमभोजिनः एकोनाशीतिदिनान्यपत्यपालकाः । उक्तं च “गात्रयमुच्चापिलो-वमाउणो वज्जरिसहसंधयणा । हेमवए रन्नवए, अर्हमि-दनरा मिहुणवासी ॥ १ ॥ चउसट्ठीपिट्ठकरं-रुयाणमणुयाण तेसिमाहारो । जत्तस्स चउत्थस्से-गुणसिइदिणवच्चपाल-णया” ॥ २ ॥ पञ्चसु हरिवपेषु पञ्चसु रम्यकेषु द्विपल्योपमा-युपो द्विगव्यूतिप्रमाणशरीरोच्छ्रया वज्रर्पभनाराचसंहननिनः समचतुरस्रसंस्थानाः पष्टभक्तातिक्रमाहारग्राहिणोऽष्टाविंशत्य-धिकशतसंख्यपृष्ठकरणकाश्चतुष्पष्टिदिनान्यपत्यपालकाः (आ-ह च “हरिवासरम्मपसु, आउपमाणं सरीरमुस्सेहो । पडिओ-वमाणि दोन्नि य, दोन्नि य कोलुस्सिया भणिया ॥ १ ॥ उठस्स य आहारो, चउसट्ठिदिणाणि पालणा तेसि । पिट्ठकरंमाणसयं, अ-ठावीसं मुण्येयवं” ॥ २ ॥ पंचसु देवकुरुषु पंचस्वुत्तरकुरुषु त्रिपल्यो-पमायुपो गव्यूतित्रयप्रमाणशरीरोच्छ्रयाः समचतुरस्रसंस्था-ना वज्रर्पभनाराचसंहननिनः पट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणपृष्ठ-करणका अष्टमज्जकातिक्रमाहारिण एकोनपञ्चाशदिनान्यपत्य-पालकाः । तथोक्तं च “दोसु वि कुरुसु मणुया, तिपल्लपरमाउसो तिकोसुच्चा । पिठकरंरुसयाइ, दोठप्पन्नाइ मणुयाणं ॥ १ ॥ सुसमसुसमाणुजावं, अणुभवमाणाणवच्चगोवणया । अउणा पन्नदिणाइ, अट्ठमजत्तस्स आहारो” ॥ २ ॥ एतेषु सर्वेष्वपि क्षेत्रेष्वन्तरद्वीपेष्विव मनुष्याणामुपयोगाः कल्पद्रुमसम्पादिताः नवरमन्तरद्वीपापेक्षया पञ्चसु हैरणवतेषु मनुष्याणामुत्थानव-द्वीर्यादिकं कल्पपादपफलानामास्वादो जूमर्माधुयमित्येवमा-दिका भावाः पर्यायानधिकृत्यानन्तगुणा दृष्टव्यास्तेऽपि पञ्चसु हरिवपेषु पञ्चसु रम्यकवपेषु अनन्तगुणास्तेऽपि पञ्चसु देव-कुरुषु पञ्चस्वुत्तरकुरुष्वनन्तगुणाः । प्रज्ञा० १ पद । जी० । आ० म० छि० । एषां कल्पवृक्षाः-

अकम्मभूमयाणं मणुआणं दसविहा रुक्खा उवजोगत्ताए उवत्थिया परएत्ता । तंजहा-मत्तंगया य भिगा, तुभि-अंगा दीव-जोइ-चित्तंगा । चित्तरसा मणिअंगा, गेहागारा अणमिया य ॥

तथा अकर्मभूमिकानां भोगजूमिजन्मनां मनुष्याणां दशविधा (रुक्खति) कल्पवृक्षाः (उवभोगत्ताएत्ति) उपभोग्यत्वाय

(उचत्थियत्ति) उपस्थिता उपनीता इत्यर्थः । तत्र मत्ताङ्गकाः मद्यकारणचृताः (जिगत्ति) भाजनदायिनः (तुमियंगत्ति) तुर्याङ्गसम्पादकाः (दीवत्ति) दीपयिष्याः प्रदीपकार्यकारिणः (जोइत्ति) ज्योतिरग्निस्तत्कार्यकारिण इति (चिचंगत्ति) चित्राङ्गः पुष्पदायिनः चित्ररस्ताः भोजनदायिनः मण्यङ्गा आभरणदायिनः गेहाकाराः भवनत्वेनोपकारिणः अनन्तत्वं सचरत्त्वं तच्छ्रुत्वादनन्ता इति, स० १० सम० ।

अकम्मजूमि-अकर्मजूमि-स्त्री० न० कृप्यादिकर्मरहिताः । कल्पपादपफलोपभोगप्रधाना भूमयो हैमवतपञ्चकहरिवर्षपञ्चक-देवकुरुपञ्चकोत्तरकुरुपञ्चकस्य कपञ्चकैरण्यवतपञ्चकरूपारि-शदकर्मचूमयः । न० । इत्येतान्ता जोगजूमिषु, प्रज्ञ० आश० ५ द्वा० । स्था० । प्रव० ।

जंबुदीवे दीवे मंदरस्स पन्वयस्स दाहिलेणं तओ अकम्म-भूमीओ पणत्ताओ तंजहा-हेमवण हरिवासे देवकुरा । जंबुदी-वे दीवे मंदरस्स उत्तरणं तओ अकम्मजूमिओ पणत्ताओ तंजहा-उत्तरकुरा रम्मगवासे एरणवण (स्था० ३ ग्रा० ४ उ०) जम्बुदीवे दीवे देवकुरुत्तरकुरुवज्जाओ चत्तारि अकम्मजूमिओ पणत्ताओ तंजहा-हेमवण हरिवासे रम्म-गवासे, स्था० ४ ग्रा० ।

सर्वसङ्गदे ।

जंबुदीवे दीवे अकम्मजूमिओ पणत्ताओ । तंजहा-हेमवण हरिवासे रम्मगवासे देवकुरा उत्तरकुरा । धायइत्वं मदीवपुरच्छिमप्पेणं अकम्मजूमिओ पणत्ताओ । तंजहा-हेमवण जहा जंबुदीवे तहा जाव अंतरणं ओ जाव पुक्खरवरदीव-हे पच्चत्थिमप्पे भाणियव्वं (स्था० ६ ग्रा०) कइविहेणं जंते ! अकम्मभूमीओ पणत्ताओ ? गोयमा ! तीसं अकम्मजूमिओ पणत्ताओ, तंजहा पंच हेमवयाइं पंच हेरणवयाइं । पंच हरिवासाइं पंच रम्मगवासाइं पंच देवकुराइं पंच उत्तर-कुराइं पयासु णं भंते ! तीसासु अकम्मजूमिषु अत्थि उत्सप्पिणीति वा ओसप्पिणीति वा ? णो इण्ठे समणे । भ० ५० श० ८ उ० ।

अकम्मजूमिय-अकर्मभूमिज-पुं० अकर्मजूमिषु जाता अकर्म-जूमिजा गर्भजमनुष्यमेदेषु, न० ।

अकम्मजूमिआ-अकर्मजूमिजा-स्त्री० अकर्मजूमिभोगजूमि-स्तत्र जाता अकर्मजूमिजा जोगजूमिजगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्य-स्त्रीषु, स्था० ३ ग्रा० १ उ० ।

से किं तं अकम्मजूमियाओ अकम्मजूमियाओ तीसति-वि-धाओ पणत्ताओ । तंजहा-पंचसु हेमवणसु पंचसु हेरणवणसु पंचसु हरिवासेसु पंचसु रम्मगवासेसु पंचसु देवकुरुसु पंचसु उत्तरकुरुसु सेत्तं अकम्मजूमिगमणस्सीओ । जी० १ प्रति० । अकम्मया-अकर्मता-स्त्री० कर्मणामभावे, अस्याः फलं यथा-

अहाउयं पालइत्ता अंतोमुहुत्तावसेसाए जोगनिरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पनिवाइयं सुक्कजाणं भायमाणे तप्पढमयाए मणजोगं निरुंभइ मणजोगं निरुंजइत्ता वइजोगं

निरुंभइ वइजोगं निरुंजइत्ता कायजोगं निरुंभइ कायजोगं निरुंभइत्ता आणापाणनिरोहं करेइ आणापाणनिरोहं करेइत्ता इसि पंच रहस्सक्खरुच्चारणाय एं अणगारं समु-च्छिन्नकिरियं अणियइइ सुक्कजाणं जियायमाणे वेय-णिज्जं आउयं नामं गोयं च एए चत्तारि वि कम्मं से जुग-वं खवेइ ॥ १११ ॥ तओ ओरादियकम्माइं च सव्वाहिं विप्प-जहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेदी पत्ते अफुसमाणगई उहुं एगसमणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्जइ वुज्जइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वपुक्खाणं अंतं करेइ ॥ ११२ ॥ शैलेस्यकर्मताद्वारमथंतो व्याचिख्यासुराह (अहेति) केव-लाऽवाप्यनन्तरमायुष्कं जीवितमन्तर्मुहूर्त्तादिपरिमाणं पाल-यित्वा अन्तर्मुहूर्त्तपरिमाणः अद्या कालोऽन्तर्मुहूर्त्ताद्या तदशेष मुद्धरितं यस्मिंस्तदन्तर्मुहूर्त्ताद्यावशेषम् । तथाविधमायुरस्येति अन्तर्मुहूर्त्ताद्यावशेषायुष्कः सन् पाठान्तरतश्चान्तर्मुहूर्त्तावशेष-पायुष्कः । पठन्ति च “ अंतोमुहुत्तश्चाद्यवसेसा ” इति प्राकृ-तत्वादन्तर्मुहूर्त्तावशेषाद्यायाम् (जोगनिरोहं करेमाणिति) योगनिरोधं करिष्यमाणः सुप्तमक्रियमप्रतिपतनशीलमप्रति-पात्यधःपतनाभावात् शुक्लध्यानं “ समुदायेषु हि प्रवृत्ताः श-ब्दा अवयवेष्वपि वर्चन्ते ” इति शुक्लध्यानतृतीयमेदं, ध्याय-स्तत्प्रथमतया तदाद्यतया मनसो योगो मनोयोगः मनोद्रव्य-साचिव्यजनितो व्यापारस्तं निरुणद्धि । तत्र च पर्याप्तमात्रस्य संप्रिणो जघन्ययोगिनो यावन्ति मनोद्रव्याणि तज्जनितश्च या-वान् व्यापारस्तदसंख्यगुणविहीनानि मनोद्रव्याणि तद्व्यापारं प्रतिसमयं निरुन्धन् तदसंख्येयसमयैस्तत्सर्वनिरोधं करोति । यत उक्तम् “ पञ्चतन्मिहसत्ति-स्सजत्तियाइं जहणजोगिस्स । होति मणोद्व्याइं, तव्वावारो य जम्मत्तो ” ॥ तयसंख्यगुण-विहीणे, समये २ निरुंभमाणो सो । मणसो सव्वनिरोहं, कु-णइ असंखेज्जसमणहिं ” तदनन्तरं च वाचो वाचि वा योगो वाग्योगो भाषाद्रव्यसाचिव्यजनितो जीवव्यापारस्तं निरु-णद्धि तत्र च पर्याप्तमात्रद्वीन्द्रियजघन्यवाग्योगपर्यायेभ्योऽसं-ख्यगुणविहीनास्तत्पर्यायान्तमये २ निरुन्धन्नसंख्येयसमयैः सर्ववाग्योगं निरुणद्धि । यत उक्तम् “ पञ्चतमेत्तंवेदिय, जह-णवइजोगपज्जवाजे उ । तदसंख्यगुणविहीणा, समये २ निरुं-भंतो ॥ सव्ववइजोगरोहं, संखादीणहिं कुणइ समणहिं । आणापाणनिरोहं, पढमसमथोयसुहुमपणगत्ति ” आनापा-नाउच्छ्वासनिःश्वासौ तन्निरोधं करोति सकलकाययोगनि-रोधोपलक्षणं चैतत्तं च कुर्वन् प्रथमसमयोत्पन्नसूक्ष्मपनक-जघन्यकाययोगतोऽसंख्येयगुणहीनं काययोगमेकैकसमये निरुन्धन् देहत्रिभागं च मुञ्चन्नसंख्येयसमयैरेव सर्वं निरुण-द्धि । उक्तं च । “ जो किर जहणजोगो, संखेज्जगुणहीणम्मि इक्किं । समये निरुंभमाणो, देहतिभागं च मुंचंतो ॥ रुंभइ सकायजोगं, संखादीणहिं चेव समणहिं । तो काययोगनिरोहो, सेलेसीभावणामेति ” इत्थं योगत्रयनिरोधं विधाय (इसि-त्ति) ईपदिति स्वल्पप्रयत्नापेक्षया पञ्चानां ह्रस्वाक्षराणां अइउअल्लइत्येवरूपाणामुच्चारो मणनं तस्याद्धाकादो यावता उच्चार्यन्ते ईपपञ्च, ह्रस्वाक्षरोच्चारणाद्वा तस्यां च (णमिति) प्रा-ग्वत् अनगारः समुच्छिन्नोपरता क्रिया मनोव्यापारादिरूपा य-स्मिंस्तत् समुच्छिन्नक्रियं न निवर्तते कर्मकृयात् प्रागित्येवशी-

लमनिवर्त्ति शुफलध्यानं चतुर्थभेदरूपं ध्यायन् शैलेस्यवस्थामनुभवन् इति भावः । ह्रस्वाकरोच्चारणं च न धिलभ्यते हृतं वा किं तु मध्यमेव गृह्यते, यत आह । “ ह्रस्वक्खराई मज्जे-ण जेण कालेण पंच भण्ति । अच्चति सेवेसिगतो, तत्तियमिच्चं ततो कालं ” एवंविधश्च यः कुस्ते तदाह वेदनीयं शातादि आयुष्यं मनुष्यायुर्नाम मनुजगत्यादि गोत्रं चोच्चैर्गोत्रम् (एषत्ति) एतानि चत्वार्यपि (कम्मं सेत्ति) सत्कम्माणि युगपत् कृपयति एतत्तत्तपणन्यायश्च भाष्यगाथाभ्यां स्वसेयस्तादृचैताः “ते संखे-ज्जगुणाप, सेढीए य रइयं पुरा कम्मं । समए २ खवयं, कम्मं सेवे-सिकाळेण ॥ सव्वं खवेइ तं पुण, निळेयं किंचिदुच्चरिमसमए । किंचिच्च होइ चरिमे, सेवेसीएत्तयं वोच्चं ॥ मणुयगइजायत्तसवा-यरं च पज्जत्तसुजगमाएज्जं । अण्णयरवेयणिज्जं, नराठमुच्चं जसो णामं ॥ संभवओ जिणणामं, नराणुपुव्वीयचरिमसमयंमि । सेसा जिण-संताळ, दुच्चरिमसमयंमि दिट्ठंति ” तत इति वेदनीयादिक्रयानन्तरम् (ओराहियकम्माइ च त्ति) औदारिककर्मणे शरीरे उपलक्षणात्तैजसं च (सव्वहिं विप्पजहण्णाहिंति) सव्वभिर-शेषाभिर्विशेषेण विविधं वा प्रकर्षतो हानयस्त्यागो विप्रहाण-यो व्यक्तधेयं बहुवचनं ताभिः किमुक्तं भवति सर्वथा परिशा-टेन न तु यथापूर्वं संघातपरिशाटाभ्यां देशत्यागतः (विप्प-जहिंत्ता) विशेषेण प्रहाय परिशाट्य । उक्तं हि “ओरालियाहिं सव्वा, चयइ विप्पजहण्णाहिं जं भणियं । नीसेसतवाण जहा, देसच्चाएण सो पुर्व्वि ” चशब्दोऽत्र औदारिकादिनाविनिवृत्तिम-स्यामनुकामपि समुच्चिनोति । यत उक्तम् “ तस्सोदयिया-भावा, जव्वत्तं च विणियत्तए जुगवं । सम्मत्तणाएदंसण, सुहसि-द्धत्ताणिमोचूणं ” ऋजुरवका श्रेणिराकाशप्रदेशपङ्क्तिस्तां प्राप्त ऋजुश्रेणिगत इति यावत् (अफुसमाणगइत्ति) अस्पृशन्नतिरिति नायमर्थो यथा सर्वानाकाशप्रदेशाश्च स्पृशत्यपि तु यावत्सु जीवा-ऽवगाढस्तावत् एव स्पृशति न तु ततोऽतिरिक्तमेकमपि प्रदेश-मूर्धमुपर्येकसमयेन द्वितीयादिसमयान्तराऽस्पर्शनेनाविग्रहेण वक्रगतिरूपविग्रहाभावेन अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः स्पष्ट-तरो जवतीत्यनुश्रेणिप्राप्त इत्यनेन गतार्थत्वेऽपि पुनरभिधानं तत्रैति विवक्षिते मुक्तिपद इति यावत् (गंतोत्ति) गत्वा साका-रोपयुक्तो ज्ञानोपयोगवान् सिध्यतीत्यादि यावदन्तं करोतीत्या-दि प्राग्वत् । उक्तं च “ ऋजुसेढिं पडिवन्नो, समयपएसंतं अफुसमाणो । एगसमएण सिज्जइ, अहसागारोवत्तो सो ” इति द्वांसप्ततिसूत्रार्थः । इह चूर्णिकृतः “ सेवेसीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ अकम्मं जणयइ अकम्मयाओ जीवा सिज्जंति ” इति पाठः पूर्व्वं च क्वचित् किंचित्पाठभेदेनाल्पा एव प्रश्ना आश्रिताः । अस्माभिस्तु भूयसीषु प्रतिषु यथाव्याख्यातपाठदर्श-नादित्थमुच्यते इति । उक्तं २१ अ० ।

अकम्हा (म्मा)—अकस्मात्—अव्य० न कस्मात् किञ्चित्कार-णाधीनत्वं यत्र । अलुक्समासः । वाच० । ‘पद्मश्मप्स्रमहान् म्हाः’ ८ । ३ । ७४ । इति सूत्रेण स्मेति भागस्य मकाराक्रान्तो हकारः । प्रा० । अथवा मगधदेशे गोपालवालावलादिप्रसिद्धोऽकस्मा-दिति शब्दः । स इह प्राकृतेऽपि तथैव प्रयुक्तः । स्था० ५५ ग० । कारणानधीने, अतर्कितोपनते वा, बाह्यनिमित्तानपेक्षे, स्था० ७३ ग० । अनभिसन्धे, प्रश्न० संव० ५ द्वा० । आचा० ।

अकम्हा (म्मा) किरिया—अकस्मात्क्रिया—स्त्री० अन्यस्मै निस्-ष्टेन शरादिनाऽन्यघातलक्षणे चतुर्थे क्रियास्थाने, ध० ३ अधि० ।

अकम्हा (म्मा) दंड—अकस्माद्दण्ड—पु० अकस्मादनभि-सन्धिनाऽन्यवधार्थप्रवृत्त्या दण्डोऽन्यस्य विनाशोऽकस्माद्द-ण्डः । स० १३ सम० । अन्यवधार्थप्रहारे मुक्तेऽन्यस्य वधलक्षणे चतुर्थे दण्डे, स्था० ५५ ग० २ उ० । प्रव० । प्रश्न० । आव० ।

अकम्हा (म्मा) दंरुवत्तिय—अकस्माद्दण्डप्रत्ययिक—न० अ-कस्माद्दण्डः प्रत्ययः कारणं यस्य । चतुर्थे दण्डसमादाने,

अहावरे चउत्थे दंरुसमादाणे अकम्मादंरुवत्तिएत्ति आ-हिज्जइ से जहाणामए केइ पुरिसे कच्चंसि वा जाव वण-दुगंसि वा मियवत्तिए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहा-ए गंता एए मियत्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वहाए इसुं-आयामेत्ता एणं णिसिरेज्जा स मियं वहिस्सामित्तिकट्ठु तित्ति रं वा वट्ठगं वा चरुगं वा द्वावगं वा कन्नोयगं वा कविं वा कविंजलं वा विधिंता जवइ इह खलु से अन्नस्स अछाए अणं फुसति अकम्मादंरे ॥ १० ॥ से जहा णामए केइ पुरिसे सालीणि वा वीहीणि वा कोदवाणि वा कंगूणि वा पर-गाणि वा रालाणि वा णिलिज्जमाणे अन्नयरस्स तणस्स वहाए सत्थं णिसिरेज्जा से सामगं तणं कुमुदुगं वीहीज्ज सियं कलेसुयं तणं तिदिस्सामित्तिकट्ठु साविं वा वीहिं वा कोदवं वा कंगुं वा परगं वा रालयं वा छिंदित्ता भवइ इति खलु से अन्नस्स अछाए अन्नं फुसति अकम्मादंरे एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं आहिज्जइ चउत्थे दंरुसमादाणे अकम्मादंरुवत्तिए आहि ॥ ११ ॥

अथापरं चतुर्थे दण्डसमादानमकस्माद्दण्डप्रत्ययिकमाख्या-यते । इह चाकस्मादित्ययं शब्दो मगधदेशे सर्वेणाप्यागोपा-लाङ्गनादिना संस्कृत एवोच्चार्यते इति । तदिहापि तथाभूत-एवोच्चारित इति । तद्यथानाम कश्चित्पुरुषो लुब्धकादिकः कच्छे वा यावद्वनदुर्गे वा गत्वा मृगैर्हरिणैराटव्यपशुजिर्वृत्ति-वर्त्तनं यस्य स मृगवृत्तिकः स चैवंभूतो मृगेषु संकल्पो यस्या-सौ मृगसंकल्पः । एतदेव दर्शयति । मृगेषु प्रणिधानमन्तःकर-णवृत्तिर्यस्यासौ मृगप्रणिधानः क मृगान्द्रव्यामीत्येतदध्यव-सायी सन् मृगवधार्थं कच्छादिषु गन्ता भवति । तत्र च गतः स दृष्ट्वा मृगानेते मृगा इत्येवं कृत्वा तेषां मध्येऽन्यतरस्य मृगस्य-वधार्थमिषुं शरम् (आयामेतत्ति) आयामेन समाकृष्य मृगमु-द्दिश्य निस्सृजति स चैवंसंकल्पो भवति । तथाऽहं मृगं हनि-ष्यामीति इषुं क्षिप्तवान् । स च तेनेषुणा तित्तिरादिकं पक्षिवि-शेषं व्यापदयिता भवति, तदेवं खल्वसावन्यस्यार्थाय निक्षिप्तो दण्डो यदान्यं स्पृशति घातयति तदा ‘अकस्माद्दण्ड’ इत्यु-च्यते ॥ १० ॥ अधुना वनस्पतिमुद्दिश्याकस्माद्दण्ड उच्यते (सेजहेत्यादि) तद्यथानाम कश्चित्पुरुषः कृषीवलादिः शा-ल्यादेर्धान्यजातस्य श्यामादिकं तृणजातमपनयन् धान्य-शुद्धिं कुर्वाणः सन् अन्यतरस्य तृणजातस्यापनयनार्थं शस्त्रं दात्रादिकं निस्सृजेत् स च श्यामादिकं तृणं छेत्स्यामीति कृ-त्वाऽकस्मात्क्षालिं वा रालकं वा छिद्रादक्षणीयस्थैवासावक-स्मात्क्षेत्ता भवति । इत्येवमन्यस्यार्थोयान्यकृतेऽन्यं वा स्पृश-ति छिनत्ति । यदि वा स्पृशतीत्यनेनापि परितापं करोतीति द-

शयति । तदेवं खलु तस्य तत्कर्तुस्तत्प्रत्ययिकमकस्माद्गडनि-
मित्तं सावद्यमिति पापमाश्रयते संबद्धते । तदेतच्चतुर्थदण्ड-
समादानमकस्माद्गडप्रत्ययिकमाख्यातमिति ॥ ११ ॥ सूत्र०
२ श्रु० २ अ० ।

अक्रम्हा (म्हा) भय-अकस्मात्त्रय-न० अकस्मादेव बाह्य-
निमित्तानपेक्षं गृहादिव्येव स्थितस्य राज्यादौ भयनकस्माद्भ-
यम्, आच० ४ अ० । स्था० । बाह्यानिमित्तनिरपेक्षे स्वविकल्पा-
ज्ञाते भयभेदे, सू० ७ सम० । आ० चू० । नि० चू० । अकस्मान् सह-
स्य विश्रब्धस्यातत्त्वनिश्रवणाद्भयनकस्माद्भयम् । यथा हस्त्या-
गच्छतीत्यादिश्रवणाद्भयसनम्, दर्श० ।

अक्रय-अकृत-धि० कृ कर्मणि कः । न० त० । कृतजिघ्रे, अन्यथा-
कृते, धलपूर्वकृते, ऋणनेष्यपत्रादौ, साध्वर्थं दायकेन पाकतोऽ-
विहिते, प्रश्न० संब० १ द्वा० " अक्रयमकारियमसंक्षिप्यमणा-
हुयं " न० ७ श० १ उ० । (एकदेशग्रहणेन ग्रहणात्) अकृ-
तकरणे, अगृहीतमायश्चित्ते, व्य० १ उ० । ज्ञावे कः । अभावायै,
न० त० करणाभावे, निवृत्तौ, वाच० ।

अक्रयकरण-अकृतकरण-पुं० पद्याष्टमादिजिस्तपोविशेषैरप-
रिमितशरीरे, प्रायश्चित्तयोग्ये पुरुषज्जेदे, व्य० १ उ० । "अ-
क्रयकरणाय इविहा, अदिगया अणदिगया य योधवा" व्य० १
उ० । अकृतकरणा द्विविधाः । अधिगता अनधिगताश्च । तत्र ये
अगृहीतसूत्रार्थास्ते अनधिगताः । गृहीतसूत्रार्थास्तु अधिगताः,
व्य० १ उ० ।

अक्रयसु-अकृतज्ञ-त्रि० कृतमुपकारं परसंबन्धिनं न जानाती-
त्यकृतज्ञः, स्था० ४ टा० ४ उ० । ज्ञा० । क० । असमर्थं स० ।
कृतोपकारास्मारके कृतज्ञे, वाच० ।

अक्रयमुया-अकृतज्ञता-स्त्री० अकृतज्ञस्य ज्ञावस्तत्ता । कृतज्ञ-
तायाम्, "चर्हि नानेहि संते गुणे णासेज्जा तंजहा-कोहेणं प-
णिणिवेसेणं अक्रयणुयाप मिच्छताहिणिघेसेणं " स्था० ४
टा० ४ उ० ।

अक्रयपुस-अकृतपुण्य-त्रि० अविहितपुण्ये, विषा० १ सु० ७
अ० " अक्रयपुस जणमणोरदा विवचित्तिज्जमाणी " ज्ञा० ए श० ।
अक्रयप (ए)-अकृतात्मन्-त्रि० अयतेन्द्रिये, " सुखमात्य-
न्तिकं यत्तद्, बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् । तं हि मोक्षं विजानीयाद्दु-
ष्प्रापमकृतात्मजिः, स्था० ।

अक्रयमुह-अकृतमुख-त्रि० अकृतमङ्गरसंस्कारेणासंस्कृतं मुखं
यस्यासावकृतमुखः । अपठितशिक्षिते, " पोत्यगपञ्चयपदियं, किं
रुसे एस ह्व्व अदिवायं । अक्रयमुहफलगमाणय-जाते लि-
फवंतु पंचगा " वृ० ३ उ० ।

अक्रयसमाचारीय-अकृतसमाचारीक-पुं० उपसंपद्विषयाया
मण्डवविषयायाश्च द्विविधाया अपि समाचार्या अकारके,
वृ० १ उ० ।

अक्रयमुय-अकृतश्रुत-पुं० अनीतार्थे-व्य० ६ उ० । अगृहीतो-
चित्तसूत्रार्थे, तदुभये, व्य० ४ उ० ।

अकरंरुग-अकरणरुक्-त्रि० करणरुको वंशग्रथितः समतलक-
स्तस्येवाकारो यस्य तत्करणरुक् न करणरुक्मकरणरुक्म,
औ० । करणरुकाकाररहिते दीर्घे, समचतुरस्रे, वा " अकरंरुयंमि
माणे, हत्यो उरुं जहा न घट्टेत्ति " वृ० ३ उ० ।

अकरंरुय-अकरणरुक्-त्रि० अविद्यमानं मांसलतया अनुपल-

क्ष्यमाणं करणरुकं पृष्ठवंशास्थिकं यस्य देहस्यासौऽकरणरुकः ।
जी० ३ प्रति० । मांसलतयाऽनुपलक्ष्यमाणपृष्ठवंशास्थिके,
श्रौ० । मांसोपचितत्वादविद्यमानपृष्ठपादार्धास्थिके, तं० । प्रश्न० ।
" अकरंरुयकणगगस्यगणिम्मलसुजायणिस्वहयदेहधारी "
जी० ३ प्रति० ।

अकरण-अकरण-न० । कृ० ज्ञावे ल्युट्, । धर्थाज्ञावे, न० त०
अन्यापारे, आचा० १ श्रु० ए अ० । १ उ० । अनासेवने, आव० ।
६ अ० । पञ्चा० । परिहरणे, आ० चू० १ अ० । अकरणान्मन्दकर-
णं श्रेयः । अकरणं च न्यायादिमते करणाभावः, भीमांसकवेदा-
न्तिमते निवृत्तिः, अकरणीये मैथुने, " जज्ञ सेवंतअकरणं, पंचएहं
विवाहिराहुंति " व्य० ३ उ० । संस्कारहीनतारूपे, साधन (हेतु)
दोषे, यथाऽनित्यः शब्दः कृतकत्वस्मादिति । अत्र कृतकत्वादिति
वक्तव्ये कृतकत्वस्मादिति संस्काररहितोऽशुद्ध उक्तः ।
रत्ना० ८ परि० ।

अकरणया-अकरणता-स्त्री० करणनिषेधरूपतायाम्, भ० १५ श०
१ उ० " अकरणयाप अलुठित्तप " न पुनः करिष्यामीत्यन्यु-
पस्यानुमन्युपगन्तुमिति, स्था० २ टा० १ उ० । अनासेवनायाम्,
घ० ३ अधि० । " सज्जायस्स अकरणयाप उमन्नो कावं "
आच० ४ अ० ।

अकरणओ-अकरणतस्-अव्य० अकरणमाश्रित्येत्यर्थः । अकुर्वत्
इति यावत्, " अकरणभो णं सादुक्खा " भ० १ श० १ उ० ।
अकरणणियम-अकरणनियम-पुं० अनासेवननियमे, " अ-
संप्रज्ञातनामा तु, संमतो वृत्तिसंक्षयः । सर्वतोऽस्मादकरणो, नि-
यमः पापगोचरः " ॥ द्वा० २० द्वा० ॥

अकरणि-अकरणि-स्त्री० नञ् । कृ. आक्रोशे अग्निः । करणं माचृ-
दित्याक्रोशात्मके शापे, 'तस्याकरणिरेवास्तु' इति, वाच० । प्रश्न० ।
अकरणिज्ज-अकरणीय-स्त्री० न० त० सामान्येनार्कत्वे, आव०
४ अ० । आ० चू० " इच्छामि पक्कमिदं, अकण्यो अविराहिओ
अकरणिज्जो " आव० ४ अ० । अकर्त्तव्ये, इहलोकपरलोकवि-
रुद्धत्वादकार्ये, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । " अप्पाणेणं
अकरणिज्जं पावकम्मं तं णो अण्णसी " आचा० १ श्रु० ५ अ०
३ उ० । असत्ये, " मिच्छति वा वितहत्ति वा असच्चंति वा
असच्चयंति वा अकरणीयंति वा एगट्ठा, " आ० चू० १ अ० ।
अकरणोदय-अकरणोदय-त्रि० भाविकालमाश्रित्याकरणस्यैवो-
दयो यस्मिन्निति तत्तथा (अनागते कालेऽकरणत्वनोदयं प्रा-
प्स्यति) " उत्थाने निवेदात्, करणमकरणोदयं सदैवास्याः "
पो० १५ विच० ।

अकलंक-अकलङ्क-पुं० विद्वद्भेदे, अकलङ्कोप्याह-द्विविधं प्रत्यक्ष-
ज्ञानम् । सांख्यचहारिकं मुख्यं च, इत्यादि न० त० कलङ्करहिते च, त्रि०
अकलुण-अकरुण-त्रि० नास्ति करुणा यस्य यत्र वा, दैन्यशून्ये
च, वाच० । निर्दये, प्रश्न० आध० ३ द्वा० ।

अकलुस-अकलुष-त्रि० न० व० क्रोधादिकालुष्यरहिते, अणु०
द्वेषवर्जिते, अन्त० ७ वर्गः ।

अकसाइ (न)-अकपायिन्-पुं० कपाया विद्यन्ते यस्यासौ
कपायी न कषायी अकपायी, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । कषा-
योदयरहिते, प्रज्ञा० ३ पद ।

अकसाय-अकपाय-त्रि० कपायरहिते, " अकपायं अहक्खायं,

‘छुगमत्यस्स जिणस्स वा” । उक्तं २७ अ०। अकपायाः अशान्त-
मोहादयश्चत्वारः सिद्धाश्च, स्था० ४ ठा० ।

अकसिण-अकृत्स्न-त्रि० अपरिपूर्णं, प्रति० । पञ्चा० ।

अकसिणपवत्तय-अकृत्स्नप्रवर्तक-पुं० अकृत्स्नमपरिपूर्णं संयमं
प्रवर्तयन्ति विदधति ये ते तथा । देशविरते, “अकसिणपवत्तया-
णं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो । संसारपयणुकरणे,
दन्वत्थयकूवदिठतो ॥ पञ्चा० ६ विव० ।

अकसिणसंजम-अकृत्स्नसंयम-पुं० देशविरतौ, प्रति० ।

अकसिणसंजमवत-अकृत्स्नसंयमवत्-पुं० देशविरतिमति आरुहे,
“किं योग्यत्वमकृत्स्नसंयमवतां, पूजासु पूज्या जगुः, प्रति० ।

अकसिणा-अकृत्स्ना-स्त्री० चतुर्थे आरोपणाभेदे, स्था० ५ ठा०
२ उ० । यस्यां पाणमासाधिकं भोष्यते तस्यां हि तदतिरिक्त-
जाटनेनापरिपूर्णत्वादिति, स्था० ५ ठा० २ उ०। व्य० । नि० चू०।
अकहा-अकथा-स्त्री० मिथ्यादृष्टिना अज्ञानिना विद्वत्स्थेन वा
गृहिणा कथ्यमानायां कथायाम्, । तद्धृत्तणम् ।

मिच्छत्तं वेयंतो, जं अन्नाणी कहां परिकहेइ ।

द्विगत्थो व गिही वा, सा अकहा देसिया समए ॥२१॥

मिथ्यात्वमिति । मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म वेदयन् विपाकेन यां कां-
चित् अज्ञानी कथां कथयति । अज्ञानित्वं चाऽस्य मिथ्यादृष्टित्वादेव
यद्येवं नाथोऽज्ञानिप्रद्वेणेन मिथ्यावेदकस्याज्ञानित्वाव्यभिचारादि-
ति चेन्न प्रदेशानुभववेदकेन सम्यग्दृष्टिना व्यभिचारादिति । किं-
विशिष्टोऽसावित्याह-द्विगत्थो वा ह्यव्यप्रवर्जितोऽङ्गारमर्हकादिः
गृही वा यः कश्चिदितर एव । सा एवं प्ररूपकप्रयुक्तयुक्त्या श्रोत-
र्यपि प्रज्ञापकतुल्यपरिणामनिबन्धना कथा देशिता समये । ततः
प्रतिविशिष्टकथाफलाभावादिति गाथार्थः ॥२१॥ दश० ३ अ०।
अकाइय-अकायिक-पुं० नास्ति कायः (औदारिकादिः पृथि-
व्यादिषट्कायस्तदन्यो वा) येषां ते अकायास्त एवाकायिकाः ।
सिद्धेषु, ज० ७ श० २ उ० ।

अकाम-अकाम-पुं० कमनं काम इच्छा, न कामो ऽकामः । अनि-
च्छायाम्, सूत्र० २ श्रु० ६ उ०। उपरोधशीलतायाम् “ तं च हुज्ज
अकामेणं, विमणेणं पमिच्छियं ” दश० ५ अ०। ६ व० । इच्छाम-
दनकामरहिते, आचा०। निर्जराद्यनमिह्यापिणि, निरभिप्राये, म०
१ श० १ उ० । मोक्षे च, तत्र सकलामिलाषनिवृत्तेः । उक्तं १५ अ०।

अकामअएहाणग-अकामास्नानक-पुं० अकामस्नानरहिते,
“अकामअएहाणसीयायवदंसमसगसेयजल्लमह्वपंकपरितावं”
अकामानामस्नानादिभिर्यः परितापः परिदाहः स तथा । अका-
मा येऽस्नानकादयस्तेभ्यो यः परिदाहः स तथा निर्जराद्यनमि-
ह्यापिणामस्नानादिभिः परितापे, औ० । अस्नानादिभिः परिदाहे,
निरभिप्राये वा, म० १ श० १ उ० ।

अकामकाम-अकामकाम-त्रि० कामानिच्छामदनकामभेदान् काम-
मयते प्रार्थयते यः स कामकामो न तथा अकामकामः । न विद्यते
कामस्य कामोऽमिह्यापो यस्य स अकामकामः कामानिह्याप-
रहिते, अकामो मोक्षामिह्यापस्तत्र सकलामिह्यापनिवृत्तेः, तं
कामयते यः स तथा (मोक्षार्थिनि) “ संथवं जहेज्ज अकाम-
कामे ” उक्तं १५ अ० ।

अकामकिच्च-अकामकृत्य-त्रि० कमनं काम इच्छा न कामो-
ऽकामस्तेन कृत्यं कर्तव्यं यस्यासावकामकृत्यः । अनिच्छाकारि-
णि, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०

अकामग-अकामक-त्रि० कर्मणि प्रत्ययः । अनभिलषणीये, प्रश्न०
आश्र० १ द्वा० । कर्तरि एव । अनिच्छति, “ अकामगं परि-
कम्मं, कोड तं वारेज मरिहति ” सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।
अनिच्छन्तं गृहव्यापारेच्छारहितं पराक्रमन्तं स्वाभिप्रेतानुष्ठानं
कुर्वाणं कस्त्वां भवन्तं वारयितुं निषेधयितुमर्हति योग्यो भवति
यदि वा (अकामगंति) वारूक्यावस्यायां मदनेच्छाकामरहितं
पराक्रमन्तं संयमानुष्ठानं प्रति कस्त्वामवसरप्राप्तः कर्मणि प्रवृत्तं
वारयितुमर्हतीति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । ज्ञा० । विषयादि
वाञ्छारहिते, तं० । प्रश्न० ।

अकामलुहा-अकामलुधा-स्त्री० निर्जराद्यनमिह्यापिणां प्रथम-
परिपहसहने, म० १ श० १ उ० ।

अकामणिगरण-अकामनिकरण-त्रि० अनिच्छाप्रत्यये, तद्यथा ।

एए एं अंधा मूढा तमप्पविट्ठा तमपरुलमोहजालपविच्छिष्टा
अकामनिगरणं वेयणं वेदंतीति वत्तव्वं सिया हंता गोयमा !
जे इमे अससिणो पाणा पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया
ठट्ठा जाव वेयणं वेदंतीति वत्तव्वं सिया । अत्थि एं भंते !
पचू वि अकामनिकरणं वेदणं वेदेइ हंता अत्थि कहएहं भंते !
पचू वि अकामनिकरणं वेयणं वेदेइ गोयमा ! जे एं नो
पचू विणा पदीवेणं अंधकारंसि रुवाई जे णं एं पचू पुर-
ओ रुवाई अणिज्जाइत्ताणं पासित्तए जे एं नो पचू
मागाओ रुवाई अणवयक्खित्ताणं पासित्तए जे णं नो पचू
पासओ रुवाई अणुलोएत्ता एं पासित्तए एस एं अकामनि-
करणं वेदणं वेदेइ अत्थि एं जंते ! पचू वि पकामनिकरणं
वेयणं वेदेइ हंता कहएहं समुदस्स जाव वेदणं वेदेइ जे एं
नो पचू समुदस्स पारंगमेत्तए जे एं नो पचू पारंगयाइ रुवाई
पासित्तए जे एं नो पचू देवलोगं गमित्तए जे एं नो पचू दे-
वदोगयाइ रुवाई पासित्तए एस एं गोयमा ! पचू वि पका-
मनिकरणं वेदणं वेदेइ ।

(अंधति) अन्धा इवान्धा अज्ञानाः (मूढति) मूढास्तत्त्व-
श्रुतान्प्रति पत एवोपमयोच्यन्ते (तमप्पविट्ठति) तमःप्रवि-
ष्टा इव तमःप्रविष्टाः (तमपरुलमोहजालपविच्छिष्टति) तमः-
पटलमिव तमःपटलं ज्ञानावरणं मोहो मोहनीयं तदेव जालं
मोहजावं तात्त्र्यां प्रतिच्छन्ना आच्छादिता ये ते तथा (अकाम-
निगरणत्ति) अकामो वेदनानुभवेऽनिच्छा अमनस्कत्वात्मक एव
निकरणं कारणं यत्र तदकामनिकरणमज्ञानप्रत्ययमिति भावः ।
तद्यथा । भवतीत्येवं वेदनां सुखदुःखरूपां वेदनं वा संवेदनं
वेदयन्त्यनुभवन्तीति अथासंज्ञिविपक्षमाश्रित्याह (अत्थीत्यादि)
अस्त्ययं पक्षो यदुत । (पचूविट्ठि) प्रचुरपि संज्ञित्वेन यथावद्
रूपादिज्ञाने समर्थोऽप्यास्तामसंज्ञित्वेनाऽप्रभुरित्यपिशब्दार्थः ।
अकामनिकरणमनिच्छाप्रत्ययमनाभोगात् । अन्ये त्वाहुः । अका-
मेनाऽनिच्छया निकरणं क्रियाया इष्टार्थप्राप्तिलक्षणाया अभावो
यत्र वेदेन तत्तथा । यद्यथा । भवतीत्येवं वेदनां वेदयन्तीति प्रश्नः,
उत्तरन्तु (जेणति) यः प्राणी संज्ञित्वेनोपायसद्भावेन च हेया-
दीनां हानादौ समर्थोऽपि (नोपहुत्ति) न समर्थः विना प्रदी-
पेनान्धकारे रूपाणि (पासित्तएत्ति) ऊष्टुमेपोऽकामप्रत्ययं

वेद्यतीति संबन्धः (पुरञ्जोत्ति) अग्रतः (अणिज्जापत्ताणंति) अनिर्णाय चकुरव्यापार्य । (मगाडत्ति) । पृष्ठतः (अणवय-
स्विज्जापत्ताणंति) अतवेद्य पञ्चाङ्गागमनवञ्जयेति अकामनिक-
रणवेदनां वेद्यन्तीत्युक्तमथ तद्विपर्ययमाह (अर्थीणमित्यादि)
प्रचुरपि संक्षित्वेन रूपदर्शनसमर्थोऽपि (एकामनिकरणंति)
प्रकाम इति सतार्थाऽप्रानितः प्रवर्द्धमानतया प्रकृष्टोऽजिततापः । स
एव निकरणमिष्टार्थसाधकक्रियाणानभायो यत्र, तत्र प्रकामनि-
करणम् । तद्यथा भवति एवं वेदनां वेद्यतीति प्रश्नः । उत्तरन्तु
(जेणमित्यादि) यो न प्रभुः समुद्रस्य पारं गन्तुं न तत्तद्व्याप्राप्त्य-
र्थिन्वे सत्यपि तथाविधसत्यैकत्वादत् एव च, यो न प्रभुः
समुद्रस्य पारगतानि रूपाणि द्रष्टुं स तत्ताप्रभिलापातिरेकात्
प्रकामनिकरणवेदनां वेद्यतीति । ज० ७ इ० ७ इ० ।

अकामणिज्जरा-अकामनिर्जरा-स्त्री० अकामेन निर्जरां प्रत्य-
नभिलापेण निर्जरा कर्मनिर्जरेण हेतुर्बुभुक्षादिसहने यत्सा अ-
कामनिर्जरा । निर्जरानभिलापेणैव जुधादिसहने, स्था० ४
टा० ४ उ० । औ० । कर्म० । (अकामनिर्जरया असंयता व्यन्त-
रेपूपपद्यन्ते इति 'चेतर' शब्दे व्याख्यास्यामि)

अकामतएहा-अकामतृष्णा-स्त्री० निर्जराद्यनभिलापिणां सतां
तृपि, भ० १ श० १ उ० । औ० ।

अकामबंधचेरवास-अकामब्रह्मचर्यवास-पुं० अकामानां नि-
र्जराद्यनभिलापिणां सतामकामो वा निरभिप्रायो ब्रह्मचर्येण
रूपादिपरिभोगाभावमात्रलक्षणेन वासो रात्रौ शयनमकाम-
ब्रह्मचर्यवासः । (फलानभिलक्षिणां ब्रह्मचर्यसेवने) ज० १ श०
१ उ० । औ० ।

अकाममरण-अकाममरण-न० अकामेन अनीप्सितत्वेन भि-
यतेऽस्मिन् इति अकाममरणम् । घालमरणे, " घालाणं च अ-
कामं तु, मरणं असहं भवे " उक्तं ५ अ० । ('घालमरण' शब्दे
एतद्विवरिष्यते)

अकामिय-अकामिक-त्रि० न० व० निरभिलापे, " तदेव संता
तंतापरितंता अकामिया " विषा० १ श्रु० १ अ० ।

अकामिया-अकामिका-स्त्री० अनिच्छायाम् । " अकामियाप
चिणंति दुक्खं " प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अकाय-अकाय-पुं० न० व० पृथिव्यादिपृथिव्यायविरहिते,
स्था० २ टा० ३ उ० । औदारिकादिकायपञ्चकविप्रमुक्ते (वा)
सिद्धे, प्रव० १४६ द्वा० । आव० । राहौ, तस्य शिरोमात्रत्वेन
कायशून्यत्वात् देहशून्ये, त्रि० वाच० ।

अकारग-अकारक-पुं० (न करोति भोजने रुचिम्) भक्तद्वेपरूपे,
रोगविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । उपा० । अपथ्ये, औ० ।
[अकर्त्तरि] त्रि० । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अकारगवाइ (ए)-अकारकवादिन्-पुं० अकारकं वदन्ति
तच्छीलाः, आत्मनोऽमूर्तत्वनित्यत्वसर्वव्यापित्वेभ्यो हेतुभ्यः
निष्क्रियत्वमेवाभ्युपपत्तेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ('शि-
क्रियवाइ' शब्दे चैतेषां मतं तत्खण्डनं च कारिष्यते)

अकारण-अकारण-त्रि० नास्ति करणं हेतुरुद्देश्यं वा यस्य हेतुर-
हिते, उद्देश्यरहिते च । वृ० १३ कारणमिन्ने, न० वाच० । यदा तपः-
स्वाध्यायवैयावृत्यादिकारणपट्णं विना बलवीर्याद्यर्थं सरसा-
हारं करोति तदा पञ्चमोऽकारणदोष इत्येवंलक्षणे पञ्चमे
परिभोगैपण्या दोषे, उक्तं २४ अ० ।

अकारवित्त-अकारयत्-त्रि० आरम्भक्रयकारणे परमव्यापार-
यति । " आरम्भनियत्ताणं, अकिणंताणं अकारवित्ताणं । ध-
म्मद्धा दायव्वं " वृ० १ उ० ।

अकारिय-अकारित-त्रि० अन्यैरकारिते, प्रश्न० संव० १ द्वा० ।

अकाल-अकाल-पुं० अप्राशस्त्ये, न० त० अप्रशस्तकाले, विहि-
तकर्मसु पर्युदस्ततयाऽजिहिते, गुरुशुक्राद्यस्तकादादौ, अप्रस्ता-
चे, उक्तं १ अ० । कर्तव्याऽनवसरे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । वृ० ।
अवर्षासु, " अकाले वरिसइ " स्था० ७ टा० । अप्राप्तः कालो यस्य
" प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः " इति वा० अ-
न्यलोपश्च । अप्राप्तकाले, अनुचितकाले, पदार्थे । अति कालः
कृष्णः, न० त० । कृष्णविरुद्धप्रवर्णे, न० व० । कृष्णत्व विरोधि-
शुभ्रत्ववति, त्रि० । वाच० ।

अकालपरिवोहि(ए)-अकालप्रतिवोधिन्-त्रि० (असमये व्यापि-
यमाणे) " मिद्वक्खणि अणारियाणि दुस्सखप्पाणि दुप्पखव-
णिज्जाणि अकालपरिवोहीणि " अकालप्रतिवोधीनि । न तेषां
कश्चिद् पर्यटनकालोऽस्ति अर्द्धरात्रावपि मृगयादौ गमनस-
म्भवात् । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० । नि० चू० ।

अकालपठण-अकालपठन-न० असमयवाचनायाम्, पञ्चा० ।
१५ विव० ।

अकालपरिहीण-अकालपरिहीण-न० परिहाणिः परिहीणं का-
लविलम्बः न विद्यते परिहीणं यत्र प्रादुर्भवने तद् कालप-
रिहीणम् (शीघ्रप्रकटीभवने) " अकालपरिहीणं चेव सूरि-
याजस्स अतिथं पाठम्भवह " रा० ।

अकालपरिभोगि (ए) अकालपरिभोगिन्-त्रि० रात्रौ सर्वा-
दरेण जुज्ञाने, " अकालपरिवोहीणि अकालपरिभोईणि "
नि० चू० १६ उ० । आचा० ।

अकालमच्चु-अकालमृत्यु-पुं० अकाल एव जीवितभ्रंशे, " प-
ढमो अकालमच्चु, तर्हि ताहफलेण दारको उहतो " आव० १ अ० ।
अकालवामि (ए) अकालवर्षिन्-पुं० अनवसरवर्षिणि मेघे,
तद्ददनवसरे दानव्याख्यानादिपरोपकारार्थप्रवृत्ते पुरुषे च ।
स्था० ४ टा० ४ उ० ।

अकालसज्जायकर (कारिन्)-अकालस्वाध्यायकर (कारिन्)-
पुं० असमाधिस्थानविशेषे, " अकाले सज्जायकारी य कालियसुयं
उगारुपोरुसीए पढइयन्तु [१] देवया असमाहिण योजयति "
इत्यसमाधिस्थानत्वं तस्य । आव० ४ अ० । स० ।

अकासि-देशी-पर्याप्ते, दे० ना० ।

अकाहल-अकाहल-त्रि० अमन्मनाक्षरे, प्रश्न० संव० २ द्वा० ।

अकिंचण-अकिञ्चन-त्रि० नाऽस्य किञ्चन प्रतिबन्धास्पदं धनक-
नकादि अस्तीति अकिञ्चनः । निष्परिग्रहे, उक्तं ३ अ० । आव० ।
आचू० । स्था० । औ० । प्रश्न० । आचा० । ज्ञा० । हिरण्यादि-
मिथ्यात्वादिद्रव्यज्ञावकिञ्चनविनिर्मुक्ते, दश० ६ अ० । " समणा-
भविस्सामो अ, अणुगारा अकिंचणा अजुत्ता य " सूत्र० २ श्रु० १
अ० । दरिडे, वाच० ।

अकिंचणकर-अकिञ्चनकर-त्रि० अकिञ्चित्संपादके, अकिञ्चना-
नां साधूनां प्रयोजनकरे, " व्यवहारइच्छिए वाण्य अकिंचणकरे-
य " योऽपि कश्चित्सधूनां प्रत्यनीकः सोऽपि तेषां राजादि-

कुमारप्रव्रजितानां भयतो न किञ्चित् करोति । अथवाऽकिञ्चनानां साधूनां यदि कथमपि केनाप्यर्थजाते प्रयोजनमुपजायते तर्हि तत् सर्वं लोके प्रायोऽप्रार्थित एव करोति, व्य० २ उ० ।

अकिंचणया-अकिञ्चनता-स्त्री० न विद्यते किञ्चनद्रव्यजात-मस्येत्यकिञ्चनस्तद्भावोऽकिञ्चनता । निष्परिग्रहितायाम्, “चञ्च-विहा अकिंचणया पञ्चत्ता तंजहा मणअकिंचणया वडअकिंच-णया कायअकिंचणया उवकरणअकिंचणया ” अकिञ्चनता च मनःप्रभृतिभिरुपकरणपेक्षया च भवतीति चातुर्विध्यम् । स्था० ४ ठा० ३ उ० । चतुर्थस्य द्वितीयोद्देशकः भोगसाधनानामस्त्री-कारलक्षणे यमभेदे, द्वा० द्वा० ११ ।

अकिंचिकर-अकिञ्चित्कर-पुं० हेत्वाभासभेदे, स च यथा प्र-तीते प्रत्यक्षादिनिराकृते च, साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः प्रतीयते । यथा-शब्दः श्रावणः शब्दत्वात् प्रत्यक्षादिनिराकृते । यथानुष्णः कृष्णवर्त्मा द्रव्यत्वात् । पत्या वनिता, सेवनीया पुरुषत्वादित्यादि र० ६ परि० (अस्य हेत्वाभासत्वमयुक्तमिति ‘हेतुभासास’शब्दे) अकिञ्च-अकृत्य-न० त० । कृ-क्यप् । अप्राशस्त्ये । अकर-णीये, साधूनामविधेये, पञ्चा० १५ विव० । स्था० । प्रश्न० । “अकिञ्चमप्पणा काउं कयमेण भासइ अकिञ्चं पाणा-इवायादि अप्पणा काउं कयमेतेण भासइ अणस्स उच्छोहेइ” (समहामोहं प्रकरोति) आव० ४ अ० । न कृत्यमस्य । न० व० । कर्मरहिते, त्रि० वाच० ।

अकिञ्चठाण-अकृत्यस्थान-न० कृत्यस्य करणस्य स्थानमा-श्रयः कृत्यस्थानं तन्निषेधोऽकृत्यस्थानम् । मूलगुणादिप्रति-सेवारूपेऽकार्यविशेषे, भ० ८ श० ६ उ० ।

अन्नयरं तु अकिञ्चं, मूलगुणे चैव उत्तरगुणे य ।

मूलं व सन्वदेसं, एमेव य उत्तरगुणेषु ॥

अन्यतरदकृत्यं पुनः सूत्रोक्तं मूलगुणे मूलगुणविषयमुत्तर-गुणे वा उत्तरगुणविषयं वा तत्र मूलं मूलगुणविषयं सर्वदेशं वा सर्वथा मूलगुणस्योच्छेदे देशतो वेत्यर्थः । एवमेवाने-नैव प्रकारेणोत्तरगुणेष्वपि द्वैविध्यं भावनीयम् । तद्यथा । उत्त-रगुणस्यापि सर्वतो देशतो वा उच्छेदेनेति तत्रैव व्याख्या-नान्तरमाह ।

अहवा पणगादीयं, मासादीयं वि जाव ढम्मासा ।

एवं तवोऽरिहं खलु, षेदादिचणहमेगयरं ॥

(अहवेत्ति) अकृत्यस्थानस्य प्रकारान्तरतोपदर्शने पञ्च-कादिकं रात्रिदिवपञ्चकप्रभृति, प्रायश्चित्तस्थानमकृत्यस्थानं यदि वा मासादिकं तच्च तावद्यावत्पणमासाः एतत् खलु अ-कृत्यस्थानं तपोऽर्हं तपोरूपप्रायश्चित्तार्हं यदि वा षेदादीनां चतुर्णां प्रायश्चित्तस्थानमकृत्यस्थानम् । व्य० १ उ० ।

अकिञ्ज-अक्रेय-त्रि० क्रेयानर्हं “सुकियं वा सुविकीयं, अकिञ्जं किञ्जमेव वा” दश० ७ अ० ।

अकिङ्ठ-अकृष्ट-त्रि० अविनिश्चिते, भ० ३ श० १ उ० ।

अकिण्त-अक्रीणत्-स्त्री० वस्त्रादिक्रयमकुर्वाणे, वृ० १ उ० ।

अकिञ्चि-अकीर्त्ति-स्त्री० सर्वदिग्याप्याऽसाधुवादे, ग० १ अधि०

दानपुरण्यफलप्रवादे, दश० १ चत्वि० । दानकृताया एकदिग्गामि-

न्या वा प्रसिद्धेरभावे, औ० “अकिञ्चो मे वा सिया” स्था० ७ ठा० ।

अकिरिय-अक्रिय-पुं० । न० व० । कायिक्याधिकरणिक्यादि-

क्रियावर्जिते, स्था० ७ ठा० । कायिक्यादिक्रियाभिष्वङ्गवर्जिते, प्रशस्तमनोविनयभेदे, भ० १५ श० ७ उ० । न विद्यन्तेऽन-भ्युपगमात्परलोकविषयाः क्रिया येपान्तेऽक्रियाः । नास्तिकेषु, “अकिरियराहुमुहदुकरिस” न० । नास्य क्रिया सावद्या विद्य-ते इत्यक्रियः । संवृत्तात्मकतया सांपरायिककर्माश्रयके, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अकिरिया-अक्रिया-स्त्री० नञिह दुःशब्दार्थो यथा अशीला दुःशीलेत्यर्थः । ततश्चाक्रिया दुष्टक्रिया मिथ्यात्वाद्युपहतस्यामो-कसाधके अनुष्ठाने, यथा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमप्यज्ञानमिति । एषा मि-थ्यात्वभेदत्वेन दर्शिता, स्था० ३ ठा० ३ उ० । “अकिरिया तिविहा पञ्चत्ता तंजहा पञ्चोगकिरिया समुदाणकिरिया अन्नाणकिरिया” अक्रिया हि अशोभना क्रियैवातोऽक्रिया । त्रिविधेत्यभिधायामि प्रयोग इत्यादिना क्रियैवोक्तेति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । सूत्र० । क्रियाऽस्तीति रूपा सकलपदार्थसार्थव्यापिनी सैव यथा वस्तुविष-यतया कुत्सिता अक्रिया नञः कुत्सार्थत्वात् नास्तिक्ये, स्था० ५ ठा० । नास्तिकवादे, “अकिरियं परियाणामि किरियं उव-संपज्जामि” ध० ३ अधि० । योगनिरोधे, स्था० ८ ठा० । “एका अकिरिया” एका अक्रिया योगनिरोधद्वक्त्राणां, नास्तिकत्वं वा । स० १ सम० । अभावे, न० त० । अपरिरूपन्दे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । सर्वक्रियाविगमे च । ध० २ अधि० । क्रियाया अभावे, भ० २ ए श० २ उ० ।

अकिरियाआय-अक्रियात्मन्-पुं० अक्रिय आत्मा येषामन्युप-गमे ते अक्रियात्मानः । सांख्येषु, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

जे केइ लोगंमि अकीरियाया, अन्नेण पुट्टा धुयमादिसंति ।

आरंभसत्ता गढिता य लोए, धम्मं ए जाणंति विमुक्खहेउं ॥

ये केचन अस्मिन् लोके अक्रिय आत्मा येषामन्युपगमे ते-ऽक्रियात्मानः सांख्यास्तेषां हि सर्वव्यापित्वादात्मा नि-ष्क्रियः पठ्यते । तथा चोक्तम् । “अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा कपिलदर्शन” इति तुशब्दो विशेषणे, स चैत-द्विशिनाष्टि । अमूर्तत्वव्यापित्वाभ्यामात्मनोऽक्रियत्वमेव बुध्य-ते, ते चाक्रियात्मवादिनोन्येनाक्रियत्वे सति बन्धमौक्तौ न घ-टेते इत्यभिप्रायवता मोक्षसद्भावं पृष्टाः सन्तोऽक्रियावाददर्श-नेऽपि धृतं मोक्षं तदभावमादिशन्ति प्रतिपादयन्ति । ते तु पच-नपाचनादिके स्नानार्थं जलावगाहनरूपे वाऽरम्भे सावद्ये सक्ता अध्युपपन्ना लोके मोक्षैकहेतुमूलं धर्मं श्रुतचारित्राख्यं न जान-न्ति कुमारग्राहिणो न सम्यगवगच्छन्तीति, सूत्र० १ श्रु० १० अ०

अकिरिय (या) वाइ (न्)-अक्रियावादिन्-पुं० क्रि-या अस्तीतिरूपा सकलपदार्थसार्थव्यापिनी, सैवाऽयथावस्तु-विषयतया कुत्सिता अक्रिया, नञः कुत्सार्थत्वात्, तामक्रियां व-दन्तीत्येवंशीला अक्रियावादिनः । यथाऽवस्थितं हि वस्त्वनेका-न्तात्मकं, तन्नास्त्येकान्तात्मकमेव वास्तीति प्रतिपत्तिमस्तु नास्ति-केषु, स्था० ८ ठा० । ते चाऽए “अठ अकिरियावादी पञ्चत्ता तं जहा एक्कावादी अणिकवाइ मितवादी निमित्तवादी सायवादी समुच्छेदवादी णियावादी ए संति परलोगवादी ” स्था० ४ ठा० ४ उ० । (ऐक्यवाद्यादिपदानामर्थो निजनिजस्थानेषु) अक्रि-यां क्रियाया अजावं वदन्ति तच्छीला अक्रियावादिनः न कस्य-चित्प्रतिक्रियामनवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया सम्भवति उत्पत्त्य-नन्तरमेव विनाशादित्येवं वदत्सु, न० । ज० । तथा चाहुरेके । क-णिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया “भूतियेषां क्रिया

नैव कारकं सैव चोच्यते” न०। अक्रियां जीवादिपदार्थानां नास्तीत्यादिकां यदि तु ग्राह्यं येनान्तेऽक्रियावादिनः । भ० २६ श० २ उ० । नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येवं वादिषु । सूत्र० १ ध्रु० १२ अ० । नास्ति माता नास्ति पिनेत्येवमादिवादिनि, नास्तिके, उक्तः ३ अ० । आन्त्रा० । ते चादातिः “अकिरियावाडं नु होऽनुलसी-ई” सूत्र० १ ध्रु० १० अ० ।

इह जीवाड पयाडं, पुणं पावं विणा उचिज्जति ।

तस्मिन्नाज्ञायामि, उचिज्जण सपरसदुगं ॥ १२०८ ॥

नस्म वि अहो विहिज्जड, कालजदिन्नाडपयदुगसमयं ।

नियडस्सहावर्जर, अप्पत्ति डं पयचउकं ॥ १२०९ ॥

इहाक्रियावादिभेदानां प्रकारं जीवादीनि पूर्वोक्तानि पुरयपा-पयजितानि नयन्तस्य पदानि परिपाठ्या पट्टिकादौ स्थाप्यन्ते तेषां च जीवादिपदानामधोभागे प्रत्येकं स्वपरशब्दद्विकं स्थाप्यन्ते स्वनः परत इति द्वे पदे न्यस्यन्ते इत्यर्थः । असत्त्वादात्मनो नित्यानित्यविकल्पौ न स्तस्तरुमिसिद्धापत्तेः । तस्यापि च स्वपरशब्दद्विकस्याप्यस्तात् कालयदृच्छाकपपदद्वयसमेत-मेनप्रियतिस्वभावेऽध्वरात्मलक्षणं पदचतुर्कं शिष्यते, काश्यप-ज्ज्ञानियतिस्वभावेऽध्वरात्मरूपाणि पद पदानि स्थाप्यन्ते इत्यर्थः, इह यदृच्छावादिनः सर्वेऽप्यक्रियावादिन एव न केचिदपि क्रियावादिनस्ततः प्राग्यदृच्छा नोपपन्त्या । अथ विकल्पाजिज्ञापमाह ।

पदमे भंगे जीवो, नत्वि सओ कालओ तयणु वीण ।

परओ वि नत्वि जीवो, कालाड य भंगगादोन्नि ॥ १२१० ॥

एव जड्ज्जाडिं वि, पणहिं भंगदुगं दुगं पत्तं ।

मिद्वियावि ते पुवायस-संपत्ता जीवतत्तेण ॥ १२११ ॥

नास्ति जीवः स्रतः कालत इति प्रथमो जडः । तदनु नास्ति जीवः परतः कालत इति द्वितीयो भङ्गः । पत्तां ह्यं च भङ्गौ कालेन लब्धौ, एवं यदृच्छादिभिरपि पञ्चभिः पदैः प्रत्येकं ह्यं ह्यं विकल्पौ जायते । सर्वेऽपि मिलिता द्वादश । अमीषां च विकल्पानामर्थः प्राग्यदृच्छावनीयः । नवरं यदृच्छात इति यदृच्छावादिनां मतं । अथ गाथा । के ते यदृच्छावादिनः उच्यन्ते । इह ये भावानां सत्तापक्षया न प्रतिनियते कार्यकारणजावमिच्छन्ति किन्तु यदृच्छया ते यदृच्छावादिनस्तथा त एवमाहुर्न खलु प्रतिनियतो वस्तुनां कार्यकारणजावस्तथा प्रमाणेनाग्रहणात् तथाहि-शालकादपि शालको जायते गोमयादपि, अग्रेष्वप्य-ऽग्निजायते अरणिष्काद्यादपि, धूमादपि जायते धूमः अग्निन्धनसंप-र्कादपि, कन्दादपि जायते कदलीबीजादपि, वटादयोऽपि वी-जाहुपजायन्ते शाखैकदेशादपि, ततो न प्रतिनियतः कचिदपि कार्यकारणजाव इति । यदृच्छातः कचित् किंचिज्जवतीति प्रति-पत्त्यर्थं, न खल्वन्यथा वस्तुसङ्गावपश्यन्तोऽन्यथाऽऽमानं प्रेक्षा-वन्तः परिक्लेशयन्ति । पते च द्वादश विकल्पा जीवतत्वेन जीवपदेन संप्राप्ता लब्धाः । एवमजीवादिभिरपि परुभिः पदैः प्र-त्येकं द्वादश विकल्पाः प्राप्ताः । ततो द्वादशभिः सप्त गुणता जाता चतुरशीतिः । सर्वसंख्यया चाक्रियावादिनामेते जेदा जव-न्तीति । प्रब० २०६ द्वा० । सूत्र० । स्था० । ध० । आव० ।

साम्प्रतमक्रियावादिदर्शनं निराचिकीर्षुः गाथापश्चार्द्धमाह ।

लवावसंकीयअणगएहिं,णो किरियमाहुंसु अकिरियावाड ।

लवं कर्म तस्मादपशंकितुमपसर्तुं शीलं येनान्ते लवापशं-किनो होकायतिकाः शाक्यादयश्च,तेषामात्मैव नास्ति कुतस्तत्-

क्रिया नज्जनितो वा कर्मवन्ध इति । उपचारमात्रेण त्वस्ति बन्धः । तथा “वद्वा मुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टिप्रान्थिकपातकाः । न चान्ये द्रव्यतः सन्ति, मुष्टिप्रान्थिकपातकाः” तथा बौद्धानामयमच्युप-गमो यथा कृणिकाः सर्वसंस्कारा इत्यस्थितानां च कुतः क्रिये-त्यक्रियावादित्यम् । योऽपि स्कन्धपञ्चकाभ्युपगमस्तेषां सोऽपि संवृतमात्रेण न परमार्थेन यतस्तेषामयमच्युपगमः । तथा विचा-र्यमाणाः पदार्था न कथंचिदप्यात्मानं विज्ञानेन समर्पयितुमलम् । तथा एवयवी तत्तातत्वाच्यां विचार्यमाणो न घटां प्राप्नोति ना-प्यवयवाः परमाणुपर्यवसानतयाऽतिसूक्ष्मत्वाज्ज्ञानगोचरतां प्र-तिपद्यन्ते । विज्ञानमपि ज्ञेयाभावेनामूर्तस्य निराकारतया न स्वरूपं विभर्ति । तथा चोक्तं “यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते, विविच्य-न्ते तथा तथा । यद्येतत् स्वयमर्थेच्यो, रोचते तत्र के धयम्” इति प्रच्छन्नलोकायतिका हि बौद्धास्तत्राऽनागतैः कृष्णः चशब्दा-दतीतैश्च वर्तमानकृष्णस्यासङ्गतेन क्रिया नापि च तज्जनितः कर्म-वन्ध इति । तदेवमक्रियावादिनो नास्तिकवादिनः सर्वापत्तापिनया लवावशाद्धिनः सन्तो न क्रियामाहुस्तथा अक्रिय आत्मा येषां सर्व-व्यापितया तेऽप्यक्रियावादिनः सांख्यास्तदेवं होकायतिकाबौद्धाः सांख्या अनुपसंख्यया अपरिज्ञानेनैत्येतत्पूर्वोक्तमुदाहृतवन्तस्तथै-व तत्त्वाज्ञानेनैवोदाहृतवन्तः । तथा । अस्माकमेवमच्युपगमोऽ-र्थोऽयनास्ते युज्यमानको भवतीति । तदेवं श्लोकपूर्वार्द्धं काका-किंगोलकन्यायनाक्रियावादिमतोऽप्यायोज्यमिति ।

साम्प्रतमक्रियावादिनामज्ञानत्रिजुम्भितं दर्शयितुमाह ।

सम्मिस्सभावं व गिरा गहीण, से मुम्मुई होइ अणणुवाई ।

इमं हुपखवं इममेगपखवं, आहुंसु ब्रह्मायतणं च कम्म ॥ १॥

स्वकीयया गिरा वाचा स्वाच्युपगमेनैव गृहीते तस्मिन्नर्थे-नान्तरीयकतया वा समागते सति तस्याऽप्यतस्यार्थस्य गिरा प्रतिपद्ये कुर्वाणाः संमिश्राभावमस्तित्वं नास्तित्वापगमं ते हो-कायनिकादयः कुर्वन्ति, चशब्दात् प्रतिपेधे प्रतिपाद्येऽस्ति-त्यमेव प्रतिपादयन्ति । तथाहि । होकायतिकास्तावत्स्वशिश्वेभ्यो जीवाद्यभावप्रतिपादकं शास्त्रं प्रतिपादयन्तो नान्तरीयकतया-त्मानं कर्तारं करणं च शास्त्रं कर्मेतापन्नांश्च शिष्यान्वश्यमच्यु-पगच्छेयुः सर्वशून्यत्वे त्वस्य तृतयस्याभावात्प्रमिथीभावो व्यत्य-यो वा । बौद्धा अपि मिथीभावमेवमुपगताः । तथा, “गन्ता च नास्ति कश्चि-रुतयः परं बौद्धशास्त्रे प्रोक्ताः । गम्यत इति च गतिः स्या-च्छ्रुतिः कथं शोभना बौद्धी ॥ १ ॥ तथा कर्म च नास्ति कलं चास्तीत्यसति चात्मनि कारके कथं परं गतयो ज्ञा-नसन्तानस्यापि सन्तानव्यतिरेकेण संवृतिसत्त्वात् कृणस्य चा-स्थितत्वेन क्रियाभावाच्च नानागतिः सम्भवः सर्वाण्यपि कर्मा-ण्यवन्धनानि प्ररूपयन्ति स्वागमे तथा पञ्चजातकशतानि च बुद्धस्योपदिशन्ति, तद्यथा “मातापितरौ हत्वा, बुद्धशरीरे च रुधि-रमुत्पाद्य । अर्हद्वधं च कृत्वा, स्तूपं भित्त्वा च पञ्चैते ॥ १ ॥ निर-न्तरमावीचिनरकं यांति एवमादिकस्यागमस्य सर्वशून्यत्वे प्रणय-नमयुक्तिसङ्गतं स्यात् तथा जातिजरामरणरोगशांकोत्तममध्य-माधमत्वानि च न स्युः एष एव च नानाविधकर्मविपाको जीवा-स्तित्वं कर्तृत्वं कर्मवत्त्वं चावेदयति तथा “गन्धर्वनगरतुल्या, मा-या स्वप्नोपपातधनसदृशी । सुगतृष्णानीहारां-शुचन्धिकात्तातच-क्रसमा” इति भाषणाच्च स्पष्टमेव मिथीभावोपगमनं बौद्धानामि-ति । यदि वा नानाविधकर्मविपाकाच्युपगमोत्तेषां व्यत्यय एवेति । तथा चोक्तं “यदि शून्यस्तवपक्षो, मत्पक्षनिवारकः कथं भवति । अथ मन्यसे न शून्य-स्तथापि मत्पक्ष एवासौ” इत्यादि, तदेवं

बौद्धाः पूर्वोक्तया नीत्या मिश्रीभावमुपगता नास्तित्वं प्रतिपादयन्तोऽस्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति । तथा सांख्या अपि सर्वव्यापितया अक्रियमात्मानमन्युपगम्य प्रकृतियोगान्मोक्षसद्भावं प्रतिपादयन्तस्तेऽप्यात्मनो बन्धं मोक्षं च स्ववाचा प्रतिपादयन्ति । ततश्च बन्धमोक्षसद्भावे सति स्वकीयया गिरा सक्रियत्वे गृहीते सत्यात्मनः संमिश्रीभावं ब्रजन्ति, यतो न क्रियामन्तरेण बन्धमोक्षौ घटेते, वाशब्दादक्रियत्वे प्रतिपाद्ये व्यत्यय एव सक्रियत्वं तेषां स्ववाचा प्रतिपाद्यते, तदेवं लोकायतिकाः सर्वे ज्ञावाभ्युपगमेन क्रियाभावं प्रतिपादयन्ति । बौद्धाश्च कृणिकत्वात्सर्वशून्यत्वाच्चाक्रियामेवाभ्युपगमयन्तः स्वकीयागमप्रणयनेन चोदिताः सन्तः संमिश्रीभावं स्ववाचैव प्रतिपद्यन्ते । तथा सांख्याश्चाक्रियमात्मानमभ्युपगच्छन्तो बन्धमोक्षसद्भावं च स्वाभ्युपगमेनैव संमिश्रीभावं ब्रजन्ति । व्यत्ययं चैतत्प्रतिपादितम् । यदि वा बौद्धादिः कश्चित्स्याद्वादिना सम्यग्धेतुदृष्टान्तैर्व्याकुलीक्रियमाणः सन् सम्यगुत्तरं दातुमसमर्थो यत्किञ्चन ज्ञापितया (मुमुक्षु हो-इत्ति) गच्छद्ज्ञापित्वेनाऽव्यक्तभापी जवति । यदि वा प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्चायमर्थो द्रष्टव्यः । तद्यथा । मूकादपि मूको मूकमूको जवति । एतदेव दर्शयति । स्याद्वादिनोक्तं साधनमनुवादितुं शीलमस्येत्यनुवादी तत्प्रतिपेधादननुवादी सकेतुजि-व्याकुलितमना मौनमेव प्रतिपद्यत इति भावः । अनुभाष्य च प्रतिपक्षसाधनं तथाऽदूषयित्वा च स्वपक्षं प्रतिपादयन्ति । तद्यथा । इदमसदभ्युपगमं दर्शनम् एकः पक्षोऽस्येति एकपक्षमप्रतिपक्षतयैकान्तिकमविरुद्धार्थाभिधायितया निष्प्रतिवाधं पूर्वापरविरुद्धमित्यर्थः । इदं चैवंभूतमपि सदित्याह । द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं सप्रतिपक्षमनैकान्तिकं पूर्वापरविरुद्धार्थाभिधायितया विरोधिवचनमित्यर्थः । यथा च विरोधिवचनत्वं तेषां तथा प्राग्दर्शितमेव । यदि त्वेतदस्मीयं दर्शनं द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं कर्मबन्धनिर्जरणं प्रतिपक्षद्वयसमाश्रयणात् । तत्समाश्रयणं चेहामुत्र वेदना चौरपारदारिकादीनामिव । ते हि करचरणनासिकादीनामिहैव पुष्पकल्पां स्वकर्मणो विन्यवनामनुभवत्यमुत्र चनरकादौ वेदनां समनुभवन्तीति । एवमन्यदपि कर्मोपपन्नवन्धमन्युपगम्यते । तच्चेदम् । प्राणी प्राणिज्ञानमित्यादि पूर्ववत् । तथेदमेकः पक्षोऽस्येत्येकपक्षम्, इहैव जन्मनि तस्य वेद्यत्वात् । तच्चेदमविज्ञोपचिनं परज्ञोपचितमीर्यापथं स्वप्नादिकं चेति । तदेवं स्याद्वादिनाभियुक्ताः स्वदर्शनमेवमनन्तरोक्तया नीत्या प्रतिपादयन्ति तथा स्याद्वादिसाधनोक्तौ ब्रह्मायतनं ब्रह्म 'नवकम्बलो देवदत्त' इत्यादिकमाहुरुक्तवन्तः । चशब्दादन्यच्च दूषणाभासादिकं तथा कर्म च एकपक्षोऽपि पक्षादिकं प्रतिपादितवन्त इति । यदि वा परमायतनानि उपादानकारणानि आश्रवद्वाराणि श्रोत्रेन्द्रियादीनि यस्य कर्मणस्तत्परमायतनं कर्मैवेवमाहुरिति ॥ ५ ॥

साम्प्रतमेव तद्दूषणायाह ।

ते एवमक्खन्ति अबुज्जमाणा, विरुवरूवाणि अक्रियवाद् ।
जेमायइत्ता वहवे मणूसा, भमन्ति संसारमणोवदग्गं ॥ ६ ॥

(ते एवमक्खन्ति) ते चार्वाकबौद्धादयोऽक्रियावादिन एवमाचक्षते । सद्भावमवबुध्यमाना मिथ्यामलपटलभृतात्मानः परमात्मानं च व्युद्ग्राहयन्तो विरूपरूपाणि नानाप्रकाराणि शास्त्राणि प्ररूपयन्ति । तद्यथा । दानेन महाजोगो, देहिनां सुरगतिश्च शीघ्रेण । भावनया च विमुक्ति-स्तपसा सर्वाणि सिध्यन्ति ॥ तथा पृथिव्यापस्तेजोवायुरत्येतान्येव चत्वारि भूतानि विद्यन्ते

नापरः कश्चित्सुखदुःखभागात्मा विद्यते । यदि चैतान्यप्यविचारितरमणीयानि न परमार्थतः सन्तीति स्वप्नेच्छजालमरुमरीचिकानि च यद्विचिन्नादिप्रतिज्ञासरूपत्वात्सर्वस्येति । तथा सर्वे कृणिकं निरात्मकं मुक्तिस्तु शून्यता दृष्टेस्तदर्थः शेषभावना इत्यादीनि नानाविधानि शास्त्राणि व्युद्ग्राहयन्त्यक्रियात्मानोऽक्रियावादिन इति । ते च परमार्थमवबुध्यमाना यद्दर्शनमादाय गृहीत्वा वहशो मनुष्याः संसारमनवदग्रमपर्यवसानमरहदृष्टान्तायेन भ्रमन्ति पर्यटन्ति । तथाहि लोकायतिकानां सर्वशून्यत्वे प्रतिपाद्येन प्रमाणमस्ति । तथा चोक्तम् । "तत्त्वान्युप-हृतानीति, युक्त्यभावेन सिध्यति । नास्ति चेत्सैव नेस्तत्त्वं तत्सिद्धौ सर्वमस्तु सत्" न च तत्प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम् । अतीतानागतजावतया पितृनिबन्धनस्यापि व्यवहारस्यासिद्धेस्ततः सर्वसंव्यवहारोच्छेदः स्यादिति । बौद्धानामप्यत्यन्तकृणिकत्वेन वस्तुत्वाभावः प्रसज्जति । तथाहि । यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सत् । न कृणः क्रमेणार्थक्रियां करोति । कृणिकत्वहानिर्नापि योगपद्येन तत्कार्याणामेकस्मिन्नेव कृणे सर्वकार्यापत्तेर्न चैतद्दृष्टमिष्टं वा । न च ज्ञानाधारमात्मानं गुणिनमन्तरेण गुणभूतस्य संकलना प्रत्ययस्य सद्भाव इत्येतच्च प्रागुक्तप्रायम् । यच्चोक्तं 'दानेन महाभोग' इत्यादि तदार्हतैरपि कथंचिद्विष्यत एवेति न चाभ्युपगमा एव बाधायै प्रकल्प्यन्त इति ॥ ६ ॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । अक्रियैव परलोकसाधनायाऽज्ञमित्येवं वदितुं शीघ्रं येषान्तेऽक्रियावादिनः । ज्ञानवादिषु अक्रियावादिनो ये भुवते किंक्रियया चित्तशुद्धिरेव कार्य्या ते च बौद्धा इति, प्र० ३० श० १ उ० । तेषां हि यथाऽवस्थितवस्तुपरिज्ञानादेव मोक्षः । तथा चोक्तम् । "पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः । शिखी मुण्डी जटी-वापि, सिध्यते नात्र संशयः" ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । धर्मधर्मिणोरनेदोपचारात् समवसरणविशेष च । प्र० २६ श० २ उ० (अक्रियावादिनः कीदृशा किं किं च प्रकुर्वन्तीति 'वादिसमवसरण' शब्दे इदं मिथ्यादृष्टिवर्णके) "अक्रियवादी वि जवति नो हियवादी नो हियपक्षे नोहिय दियनोस्समावादी गो णि-तियावादी ए सन्ति परलोगवादी" दशा० ६ अ० ।

अकील-अकील-त्रि० न० व० शङ्करहिते, ध० २ अधि० । पञ्चा० ।

अकुओ (तो) भय-अकुतोभय-त्रि० न विद्यते कुतः कस्माद् भयं यस्य तत् कुतश्चिदपि भयशून्ये, "चित्ते परिणतं यस्य चरित्रमकुतोभयम् । अखण्डज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो भयम्" अष्ट० १७ । न विद्यते कुतश्चेतोः केनापि प्रकारेण जन्तूनां भयं यस्मात् सोऽकुतोभयः । संयमे, "अणाप अजिसमेच्चा अकुओभयं" आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अकुंचियाग-अकुञ्चिकाक-त्रि० कुञ्जिकाविरहिते, पि० ।

अकुंठाइ-अकुंठादि-पुं० सम्पूर्णपाण्यादौ, प्रव० ६४ द्वा० ।

अकुक्कुय-अकुक्कुच-त्रि० न० व० हस्तपादमुखादिविरूपचेष्टारहिते । व्य० ३ उ० । ईषन्मुखविकाररहिते, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

मुसाणे सुसगारे वा, रुक्खमूढे व एगओ ।

अकुक्कुओ णिसीएज्जा, ए य वित्तासए परं ॥

अकुक्कुओऽशिष्टचेष्टारहितो निषीदेत् तिष्ठेत्, यद्वा, अकुक्कुचः कुञ्चादिविराधनाजयात् कर्मबन्धहेतुत्वेन कुत्सितं हस्तपादादिजिरस्यन्मानो निषीदेत् । उक्त० ३ अ० ।

अकुकूज-वि० आपत्त्याप्राकृते तथात्वम्, कुन्सित कूजति पी-
न्तः सत्राकन्दति कुकूजो न तथेत्यकुकूजः, कुन्सितकूजना
कर्त्तरि, उक्तं ११ अ० ।

अकौकुच्य-वि० नास्ति कौकुच्यं जागरुचित्वेष्टा यस्य सोऽकौ-
कुच्यः । सम्यक्माधुसूद्रायुक्ते, उक्तं १६ अ० ।

अकुडिल-अकुटिल-वि० न० त० अमायिनि, व्य० ३ उ० ।

अवने, ज० १ वक्त० । अजौ, आचा० १ शु० १ अ० ३ उ० ।

अकुतूहल-अकुतूहल-वि० न विद्यते कुतूहलं यस्य स अकुतू-
हलः, कुहकेन्द्रजालभगवन्विद्यानाटकदीनामविलोकके । "नी-
यावित्तो मचचवे, अतर्ह अकुहले " उक्तं १० अ० ।

अकुमारचूय-अकुमारचूय-वि० अकुमारग्रस्तचारिणि, "अकुमा-
रभूय जे केइ कुमारचूय तिहंचय " । स० ३० सम० ।

अकुय-अकुच-वि० कुचस्पन्दने, न कुचर्तात्यकुचः । दग्धान्त्य-
लक्षणः कप्रत्ययः । व्य० ८ उ० । निश्चित्रे, नि० चू० १ उ० ।

अकुसल-अकुशल-वि० अन्नजिघे, प० व० ४ अ० वक्तव्यावक्तव्य-
विनागानिपुणे । प्रह० आ० २ छा० स्थूलमत्तौ, "तसथावर-
हिंसाप, जणा अकुसला उलप्यति" दश० १ अ० अशोभने च ।
छा० । न कुगलं मङ्गलमस्य, मङ्गलविरोध्यमङ्गलयुक्ते, न० त० ।
कुशलविरोधिनि अन्नजे, न० वाच० ।

अकुमलकम्पोदय-अकुशलकम्पोदय-पुं० अशुभकम्पोद-
ये, अकम्पोनुभावे च । घ० २ अधि० ।

अकुसलचित्तिणरोह-अकुशलचित्तनिरोध-पुं० आर्चयाना-
दिप्रतिषेधनाऽकुशलमनोनिरोधे, दश० ६ अ० ।

अकुसलजोगणिराह-अकुशलजोगानिरोध-पुं० अकुशलानां
मनोवाक्ययोगानां व्यापाराणां निरोधः अकुशलजोगानिरोधः ।
मनआदित्तिविषयकारणयुक्ततायाम्, आघ० ।

अकुसलणिवित्तिरुव-अकुशलनिवृत्तिरूप-वि० सपापारम्भो
परमणस्वभावे, पञ्चा० ७ विव० ।

अकुसील-अकुशील-पुं० न कुशीलोऽकुशीलः । कुशीलभिन्ने,
सूत्र० १ शु० ६ अ० ।

अकुहय-अकुहक-वि० न० त० । इन्द्रजालादिकुहकरहिते,
"अलोलुप अकुहय अमार्ह, अपीसुणे आवि अहीणविस्ती"
दश० ६ अ० १ उ० ।

अकू (कू) र-अकूर-पुं० न० त० । अरौद्राकारे । दर्श० ।

अक्लिष्टाध्यवसाये, क्रूरो हि परच्छिद्रान्वेषणलम्पटः कलुप-
मनाः स्वानुष्ठानं कुर्वन्नपि फलभागं न भवतीति (अकूरत्वं
पञ्चमः आचकगुणः) प्रव० २३६ द्वा० । घ० ।

क्रूरो किलिष्टभावो, सम्मं धम्मं न साहिउं तरइ ।

इय सो न इत्थ जोगो, जोगो पुण होइ अक्रूरो ॥१॥

क्रूरः क्लिष्टभावो मत्सरदिदूषितपरिणामः सम्यक् निष्क-
लङ्गं धर्मं न नैव साधयितुमाराधयितुं (तरइत्ति) शक्नोति
समरविजयकुमारवत् । इत्यसादेतोरसौ नैवात्र शुद्धधर्मे
योग्य उचितः । पुनरेवकार्थः । ततो योग्योऽक्रूर एव की-
र्तिचन्द्रनृपवदिति । तयोः कथा चैवम्—

बहुसाहारा पुत्रा-गसोहिया उच्चसालरेहिल्ला ।

आरामभूमिसरिसा, चंपा नामेण अत्थि पुरी ॥ १ ॥

तत्थत्थि किस्तिचंदो, नरनाहो सुयणकुमयवणचंदो ।

तस्स करिण्ठो भाया, जुवराया समरविजउत्ति ॥ २ ॥

अह हणियरायपसरो, समियरओ मल्लिअंचवरो सदओ ।

अंगीकयमहवओ, पत्तो सुमुणि व्व घणसमओ ॥ ३ ॥

तंमिय समप नीरं-धनीरपूरेण अइवहु वहंती ।

भवणोवरिण्ठिएणं, दिट्ठा सरिया नरिंदेणं ॥ ४ ॥

तो कोऊहलआउल-हियओ बंधवजुओ तहिं गंतुं ।

चडइ निवो इक्काप, तरीइ सेसासु सेसजणो ॥ ५ ॥

जा ते कौलंति तहिं, ता उवरिं जलहरम्मि बुडुम्मि ।

सो कोधि नइपवाहो, पत्तो अइतिव्ववेगेण ॥ ६ ॥

निज्जंति कट्टियाओ, अन्नन्नदिसासु जेण वेडीओ ।

थोवो वि तत्थ न फुरइ, वावारो कन्नधारणं ॥ ७ ॥

तो सरियामज्झगओ, तडडिओ पुक्खेइ पुरलोओ ।

अह पकुपवणहया निव-दोणी उ अदंसणं पत्ता ॥ ८ ॥

लगा दीहतमाला-भिहाणअडवीए सा कहिं रुक्खे ।

तत्तो उत्तरइ निवो, कइवयपरिवारवंधुओ ॥ ९ ॥

जा बीसमइ संतो, तत्तोरे ताव पिच्छइ नरिंदो ।

नइप्रखणियउत्तमि-वरपयं सुमणिरयणनिहिं ॥ १० ॥

गंतुण तत्थ सम्मं, पासिय दंसइ समरविजयस्स ।

चत्थियं च तस्स चित्तं, ज्ञासुररयणुच्चयं दट्ठं ॥ ११ ॥

चित्तइ सहावक्रूरो, मारिचु निवं इमं पगिहामि ।

तं रज्जं सुइसज्जं, अणिठियं रयणनिहिमेयं ॥ १२ ॥

रन्नो मुक्को घाओ, पुरीइ होयम्मि पुक्कंतम्मि ।

हाहा किमियं ति चित्ति-तिक्कण वंचाअिओ तेण ॥ १३ ॥

अणइ य अकूरमणो, निवइ वाहाइ तं धरेक्कण ।

नियकुअअणुअियमसमं, किं ज्ञायतए इमं विदियं ॥ १४ ॥

जइ कज्जं रज्जेणं, निहिणा इमिणा व ता तुमं चेव ।

गिह्वाहि आहिमुक्को, समर धरेमो वयं तु वयं ॥ १५ ॥

तं सो निसुणिय अमुणिय, कोवविवागो विवेगिपरिमुक्को ।

विज्जोमिक्कण वाहं, ओसरिओ निवसगासाओ ॥ १६ ॥

जस्स निमित्तं अनिमि-त्तवइरिणो वंधुणो वि इय हुंति ।

अन्नमिणिणा निहिणामे, तं मुत्तु निवो गओ सपुरं ॥ १७ ॥

समरो ममराविसमा, पुन्नवसाओ पुरट्ठियं पि तयं ।

रयणनिहाणमदट्ठं, चित्तइ रज्जा धुवं नीयं ॥ १८ ॥

तो जाओ चारइमो, चरदो लुंटेइ वंधुणो देसं ।

सामंतेहिं धरिउं, कयावि नीओ निवसमीवे ॥ १९ ॥

मुक्का अणण रज्जे, निमंतिओ चित्तं गओ एवं ।

गहियव्वं रज्जमिणं, हउण नहु दिज्ज मेपणं ॥ २० ॥

एवं कयाइ देहे, मंनारे जणवए य सो लुक्को ।

पत्तो निवेण मुक्को, रज्जेण मत्थिओ य दढं ॥ २१ ॥

तो जाओ जणवाओ, नियह अहो सोयरण सविसेसं ।

एगस्स दुज्जणत्तं, असरिसमन्नस्स सुयणत्तं ॥ २२ ॥

गुरुवेरगो राया, अश्विरसे वासरे खिवइ जाव ।

ता तत्थ समोसरिओ, पवोइनामा पवरनाणी ॥ २३ ॥

चलिओ पमोयकअिओ, तन्नमणत्थं निवो सपरिवारो ।

निसुणिय धम्मं पुच्छइ, समए नियवंधवचरित्तं ॥ २४ ॥

जंपइ गुरु विपेहे-सु मंगले मंगलावइ विजय ।

सोगंधिपुरे सागर-कुंगया मयणसिट्ठिसुया ॥ २५ ॥

पढमवयसमुचियहिं, कीलार्हि ते कयावि कीवंता ।

पिच्छंति बालगदुगं, तह एगं बालियं रम्मं ॥ २६ ॥

पुद्गा य तेहि पप, के तुम्हे ता भणाइ ताणेगो ।
 अत्थित्य मोहनामा, निवई जगतीतलपसिखो ॥ २७ ॥
 तस्सत्थि वहरिकरिक्कर-हकेसरी रायकेसरी तणओ ।
 तप्पुत्तोऽहं सागर, महासओ सागरऽजिहाणो ॥ २८ ॥
 मम तणओ फुडविणओ, एसो उ परिग्गहाऽभिवासुत्ति ।
 वइसानरस्स धूया, एसो किर कूर्यानाम ॥ २९ ॥
 इय सुणिय हरिसिया ते, कीलंति परुप्परं तओ मित्ति ।
 निम्मेइ सागरो सह, सिस्सहि न उ कूर्याएवि ॥ ३० ॥
 कुणइ कुरंगो मित्ति, तेहि समं कूर्याइ सविसेसं ।
 नयाभिन्नयत्तिकमा, पत्ता ते तारतारुत्तं ॥ ३१ ॥
 अह मित्तपेरियमणा, दविणोवज्जणकए गहियजंढा ।
 पियरेहि वारिया वि हु, चलिया देसंतरामि इमे ॥ ३२ ॥
 भिल्लेहि अंतरा अ-तरायवसओ य गहियचूरिधणा ।
 उरुरियथोवदवा, धवत्तपुरं पट्टणं पत्ता ॥ ३३ ॥
 दविणए तेष तहियं, गहिउं हट्टं कुणंति ववसायं ।
 दीणारसहस्सडुगं, दुक्खसहस्सेहिं अज्जंति ॥ ३४ ॥
 तो वट्ठियवहुतएहा, कप्पासतिवाइ भंमसालाओ ।
 पकुणंति करिसणं पि हु, उच्चुक्खित्ताई कारंति ॥ ३५ ॥
 तससंसत्तत्तिवाणं, निपीवणं गुलियमाइ ववहारं ।
 कारंति एव जाया, ताणं दीणारपणसहसा ॥ ३६ ॥
 तो तहसगे इच्छा, कमेण वक्खे वि जाव तं मिळियं ।
 अह कोमि पूरणिच्छा, जाया मित्ताणुजावेण ॥ ३७ ॥
 तो गुरुगंतीनिवहा, पहिया देसंतरेसु विविहेसु ।
 जलहिमि पोयसंघा-यवत्तिया करहंमरुलिया ॥ ३८ ॥
 गहियाइ निवकुलाओ, पट्टेण बट्टणि सुक्कणाणं ।
 विहिया धणगणियाओ, वत्ता उ हयाइ हेडाओ ॥ ३९ ॥
 इच्छाइ पावकोमिहिं, जा कोमि वि तेसि संमिळिया ।
 तो पावमित्तवसओ, उववत्ता रयणकोडिच्छा ॥ ४० ॥
 अह विविकुण सव्वं, पोए ते पत्थिया रयणभूमिं ।
 ताकूरया विलग्गा, गाढं कने कुरंगस्स ॥ ४१ ॥
 जंपेइ हंत हंतुं, अंसहरमिमं करेसु अप्पवसं ।
 सयलं दविणमिणं जं, धणिणो सव्वेवि इह सुयणा ॥ ४२ ॥
 इय सा जंपइ निच्छं, तहेव तं परिणयं इमस्स तओ ।
 पक्खिवइ सागरं सा-गरमि लहिकण सो णिहं ॥ ४३ ॥
 असुहज्जाणोवगाओ, जलहिजलुप्पीवपीवियसरीरो ।
 मरिक्कण तइयनरग-मिनारओ सागरो जाओ ॥ ४४ ॥
 काउं मयकिच्चं ज्ञा-उगस्स हिणो कुरंगओ हियए ।
 जा जाइ किंपि दूरं, ता फुट्टं पवहणं जत्ति ॥ ४५ ॥
 बुद्धो वोओ गलियं, कयाणगं फलहयं लहिय एसो ।
 कह कहवि तुरियदिवसे, पत्तो नीरनिहितीरमि ॥ ४६ ॥
 अज्जिणिय धणंजोए, भुंजिस्सं इय विचित्तरो धणियं ।
 भमिरो वणमि हरिणा, हणिओ धूमप्पहं पत्तो ॥ ४७ ॥
 तो भमिय जवं ते दो, वि कहवि अज्जणनगे हरी जाया ।
 इक्कगुहत्थं जुज्जिय, चवत्थनए गया मरिउं ॥ ४८ ॥
 तो अहिणो इगनिहिणो, कए कुणंता महत्तयं जुज्जं ।
 विज्जायसुरूजाणा, पत्ता धूमप्पहं पुढविं ॥ ४९ ॥
 अह बहुभवपज्जंते, एगस्स धणिस्स जविय जज्जाओ ।
 तम्मि मए विहवकए, जुज्जिय मरिउं गया ण्ढिं ॥ ५० ॥
 भमिय जवं पुण जाया, तणया निवइस्स उवरए तम्मि ।
 कवहंता रज्जकए, मरिउं पत्ता तमतमाए ॥ ५१ ॥

एवं दव्वनिमित्तं, सहियाओ तेहि वेयणा चिविहा ।
 न य तं कस्सइ दिन्नं, परिच्छत्तं तं सयं नेव ॥ ५२ ॥
 अह पुव्वभवे काउं, अन्नाणतवं तहाविहं किंपि ।
 जाओ सागरजीवो, तं निव इयरोउ तुहवंधू ॥ ५३ ॥
 तुम्हाणवि पच्चक्खो, इओ परं समरयिजयवुत्तंतो ।
 सो काही उवसगं, इक्कसि तुह गहियचरणस्स ॥ ५४ ॥
 तो कूर्याइ सहिओ, अहिओ तस्स थावराण जीवाणं ।
 डुसहडुहदहियदेहो, भमिहीही जवमणंतमिमो ॥ ५५ ॥
 इम सुणिअ गरुयवेर-गपरिगओ गिणहए वयं राया ।
 नियभाइणिज्जहरिकुम-रवसहसंकमियरज्जधुरो ॥ ५६ ॥
 कमसो अइतव सोसिय, देहो वहुपट्ठिय सुरू सिच्छंतो ।
 अम्मुज्जयं विहारं, उज्जयचित्तो पवज्जेइ ॥ ५७ ॥
 कस्सवि नगरस्स धाहिं, पढंवाहू छिओ य सो जयवं ।
 दिओ पाविणेणं, समरेणं कहिवि गमिरेणं ॥ ५८ ॥
 वहरं सुमरंतेणं, हणिओ खग्गेण कंधराइ मुणी ।
 गुरुवेयणाभिभूओ, पमिओ धरणीयवे सहसा ॥ ५९ ॥
 चित्तइ रे जीव ! तए, अन्नाणवसा विवेगरहिएण ।
 वियणाओ अयणाओ, नरएसु अणंतसो पत्ता ॥ ६० ॥
 गुरुजरवहणं कणदो-हवाहसीउह्लुहपिवासाइ ।
 डुस्सहडुहदंदोली, तिरिप्पु वि विसहिया बहुसो ॥ ६१ ॥
 ना धीर मा विसीयसु, इमासु अइअप्पवेयणासु तुमं ।
 को उत्तरिउं जलहिं, निव्वुरए गुप्पई नीरे ॥ ६२ ॥
 वज्जेसु कूरजावं, विसुद्धचित्तो जिएसु सव्वेसु ।
 वहुकम्मखयसहाओ विसेसओ समरयिजयम्मि ॥ ६३ ॥
 तं लखो इह धम्मो, जं न कया कूरया पुरावि तए ।
 इय चित्तंतो चत्तो, पावेण समं स पाणेहिं ॥ ६४ ॥
 सुहसारे सहसारे, सो उववत्तो सुरो सुकयपुत्रो ।
 तत्तो चविय विदेहे, वहिही मुत्ति समुत्तीवि ॥ ६५ ॥
 भुत्वेत्यश्रुपरिणामविरामहेतोः,
 श्रीकीर्तिचन्द्रनरचन्द्रचरित्रमुच्चैः ।
 जव्या नरा जननमृत्युजरादिज्जीता,
 अकूरतागुणमगौणधिया दधध्वम् ॥ ६६ ॥ ध० २० ।

अकेवल-अकेवल-त्रि० न विद्यते केवलमस्मिन्नित्यकेवलम् ।

अश्रुके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अकोकहल्ल-अकौतूहल्ल-त्रि० न० व० स० नटनर्तकादिषु, अ-
 कौतुके, “नो मावप नो वि य माविअप्पा, अकोकहल्ले य सया
 सपुज्जो ” दश० ए अ० ३ उ० ।

अकोप्प-अकोप्य-त्रि० अकोपनीये, अदूपणीये, वृ० १ उ०
 “अकोप्पजंघजुयत्ता ” अकोप्यमचेप्यं रम्यं जह्वायुगलं यासां
 तास्तथा । प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अकोविय-अकोपित-त्रि० अदूपणीये, “आरियं उवसंपज्जे, स-
 व्वधम्ममकोवियं” । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अकोविद-पुं० श्रुतेन वयसा चाऽप्राप्तयोग्यताके, व्य० १ उ० ।
 अपारिभते, सच्छास्त्रावबोधरहिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० “आ-
 रंजाइ न संकंति, अवियत्ता अकोविया ” सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३
 उ० । सम्यग्ज्ञानानिपुणे, “वणे मूढे जहा जंतू, मूढे णेयाणुगा-
 मिए । दो वि एए अकोविया, तिब्बं सोयं तियच्छइ ” सूत्र० १
 श्रु० १ अ० ३ उ० । दश० । पि० ।

अक्रोवियप्प (ए)—अक्रोविदात्मन्-पुं० सम्यक्परिज्ञानवि-
कले, वृ० १ उ० ।

अक्रोहण—अक्रोधन—वि० क्रोधरहिते, " एसप्पमोक्खो अमुसे
वरं वि, अक्रोहणे सङ्गते तवस्सी " सूत्र० १ ध्रु० १० अ० ।

अक्रंतं—देशी—प्रवृत्ते, दे० ना० ।

अक्रंत—आक्रान्त—वि० आक्रम-क्तः । अवष्टब्धे, आचा० १ ध्रु० ६
अ० ५ उ० । अभिचूते, स्वोपरिगत्या व्याप्ते, सूत्र० १ ध्रु० १
अ० ४ उ० । भावे क्तः । आक्रमणे, न० । अ० १ श० ३ उ० । आ-
क्रान्ते, पादादिना चूतलादौ भवति । अचित्तवायुकायिकभेदे,
पुं० सा० ५ ठा० ३ उ० ।

अक्रंतदुक्ख—दुःखाक्रान्त—वि० आक्रान्ता अभिभूता दुःखेन
शरीरमानसेनाऽसातोदयेन दुःखाक्रान्ताः (दुःखानिचूतेषु)
सूत्र० १ ध्रु० १ अ० ४ उ० । " सत्त्वे अक्रंतदुक्खाय, अत्रोसत्त्वे
अहिसिया " सूत्र० १ ध्रु० १ अ० ४ उ० ।

अक्रंद—आक्रन्द—पुं० आक्रन्द-घञ् । सारवे रोदने, वाच० । तदा-
त्मक एकचत्वारिंशो उत्कृष्टाऽऽशतनाभेदे, आक्रंदरुदितविशेषं
पुत्रकलत्रादिवियोगे तं विधत्ते । प्रव० ३८ द्वा० । आह्वाने, शब्दे च,
कर्मणि घञ् । मित्रे, आतरि च, आधारे घञ् । दाक्षणे युक्ते, दुःखि
नां रोदनस्थाने च । आक्रन्दयति-अच् पाणिनिग्राह्याद्वादावसिनि
नृपभेदे, 'पाणिनिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाऽऽक्रन्दञ्च मण्डले' मनु० ।

अक्रंदण—आक्रन्दन—न० । आ+क्रन्द-ल्युट् । महता शब्देन वि-
रचणे, आव० ४ अ० । आह्वाने च, वाच० ।

अक्रतूवरी—अर्कतु (तू) वरी—स्त्री० शुक्लभेदे, प्रमा० १ पद ।

अक्रत्यल—अर्कस्थल—न० मयुरासस्थलभेदे, ती० ६ कल्प ।

अक्रम—आक्रम—पुं० आक्रम-घञ् । अवृत्तिः । यत्नेनाऽतिक्रमणे,
अजिभवे, व्याप्तौ, आग्रहे च । वाच० । प्राकृते " आक्रमे रोहावो-
च्चारुदा " ४।१।५६ । इति सूत्रेणाक्रमेण्य आदेशाः वा ओहावइ
उच्चारवइ ह्रुदइ । अक्रमइ आक्रमते, प्रा० । आक्रमणमाक्रमः । परा-
जये, उच्छेदे, अ० म० प्र० बलात्कारे, आव० ४ अ० । आक्रम्यते
परलोकोऽनेन । कारणे घञ् । परलोकप्राप्तिसाधने विद्याकर्मादौ,
कृताक्रमणे, अभिभूते, व्याप्ते, आग्रहे च । वाच० ॥

अक्रमण—आक्रमण—न० अभिभवने, विशेषे । पादेनाक्रोमणे,
आव० ४ अ० ।

अक्रमित्ता—आक्रम्य—अ० आक्रमणं कृत्वेत्यर्थे " भीमरुवेहि अ-
क्रमित्ता दढदाढा गाढं " प्रहन० आश्र० १ द्वा० ।

अक्रशात्रा—देशी० बलात्कारे, ईप्सन्मत्तायां स्त्रियाम्, दे० ना० ।

अक्रा—देशी—मगिन्याम्, दे० ना० ।

अक्रासीदेवी—स्त्री० व्यन्तरदेवीविशेषे, ती० ६ कल्प ।

अक्रिष्ट—अक्रिष्ट—वि० न० त० अवाधिते, निर्वेदने, अ० ३ श०
२ उ० । स्वशरीरोत्थलकेशरहिते, जी० ३ प्रति ।

अक्कुटं—देशी० अक्र्यासिते, दे० ना० ।

अकुस—गम-धा० गतौ, " गमेरइ अइच्छाणुवज्जावसज्जो-
कुसाऽकुसं " ४।१६१ । इति सूत्रेण गमेरकुसाऽऽदेशः । अकु-
सइ, गच्छति, प्रा० व्या० ।

अक्केज्ज (य)—अक्रय—वि० अक्रयणीये, स्था० ६ ठा० ।

अक्रो—देशी—दूते, दे० ना० ।

अक्रोमण—आक्रोमन—न० संग्रहे, विशेषे शु० अ० ।

अक्रोमो—देशी—छागे, दे० ना० ।

अक्रोस—अक्रोश—न० वर्षायोग्यक्षेत्रविशेषे, यस्य मूलनिबन्धा-
त्परतः पष्ठां दिशामन्यतरस्यामेकस्यां द्वयोस्तिसृषु वा दिक्षु
अटवीजलप्रापदः सन्ति, तेन पर्वतनदीव्याघातेन च गमनं
भित्ताचर्या च न सम्भवति, तन्मूलनिबद्धमात्रमक्रोशम् ।
व्य० १० उ० ।

आक्रोश—पु० आक्रुश-घञ् । दुर्वचने, अ० ८ श० ८ उ० ।

निप्रवचने, आव० ४ अ० । असभ्यभाषायाम्, उक्त० २
अ० । विरुद्धचिन्तने, शापे, निन्दायां च । वाच० ।

अक्रोसग—आक्रोशक—वि० दुर्वचनवादिनि, उक्त० २ अ० ।

अक्रोसणा—आक्रोशना—स्त्री० मृतोऽसि त्वमित्यादिवचनेषु,
धा० १६ अ० ।

अक्रोसपरि (री) सह—आक्रोशपरि (री) पट्ट—पुं० आ-
क्रोशनमाक्रोशोऽसभ्यभाषात्मकः स एव परीपट्टः आक्रोशप-
रीपट्टः द्वादशे परीपट्टे, उक्त० २ अ० । आक्रोशोऽनिष्टवचनं,
तच्छ्रुत्वा सत्येतराद्योचनया न कुप्येत् किन्तु सहेत आच० ४ अ० ।
"आक्रुष्टोऽपि हि नाक्रोशेत्, क्रमाभ्रमणतां विदन् । प्रत्युताक्रोष्ट-
रि यतिश्चित्तयेद्वपकारिताम् " ध० ३ अधि० । " नाक्रुष्टो मु-
निराक्रोशे—सम्यग्ज्ञानाद्यवर्जकः । अपेक्षेतोपकारित्वं न तु द्वेषं
कदाचन " आव० १ अ० । आ० म० द्वि० । तथाहि सत्यं, कः
कोपः, शिष्ययति हि मामयमुपकारी, न पुनरेवं करिष्यामीति ।
अनृतं चेत् सुतरां कोपो न कर्तव्यः । उक्तं च "आक्रुष्टेन मति-
मता, तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या । यदि सत्यं कः कोपः,
स्यादनृतं किमिह कोपेन " इत्यादि परिभाष्य न कोपं कुर्यात् ।
प्रव० ८६ द्वा० । "चाणक्यः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा
तापसः, किं वा तत्त्वनिवेशपशलमतिर्योगीश्चरः कोऽपि वा । इ-
त्यस्वल्पविकल्पजल्पमुखैः संभाष्यमाणो जनैर्नो रष्ट्रो न हि
चैव हृष्टहृदयो योगीश्वरो गच्छति " पुनर्गाली ; श्रुत्वेति वि-
चिन्तयेत् । "ददतु ददतु गालीं गालिमन्तो भवन्तः, वयमपि त-
दभावात् गालिदानेऽप्यशक्ताः । जगति विदितमेतद्वायते विद्य-
मानं, ददतु शशचिपाणं ये महात्यागिनोऽपि ॥१॥ " इति वि-
चार्य समत्वेन तिष्ठेत् । उक्त० २ अ० । " अक्रोस गहणमारण,
धम्मम्मंसाणवालसुल्लज्जाणं । लाभं मज्झं धीरो, जहुत्तराणं
अभावस्मि " सूत्र० १ ध्रु० ८ अ० । एतदेव सूत्ररूपाह ।

अक्रोसेज्ज परो जिकखुं,

न तेसिं पमिसंजले ।

सरिसो होइ वालाणं,

तम्हा भिक्खु न संजले ॥ २४ ॥

आक्रोशोत्तरस्फुर्यात् । परोऽन्यो धर्मापेक्षया धर्मवाहा आत्म-
व्यतिरिको वा जिकुं यतिं यथा धिक्कुमुएः किमिह त्वमागतोऽसी
ति (न तेसिति) सूक्ष्मवचनस्य च व्यत्ययान्न तस्मै प्रतिसंज्वलेत्
निर्यातनं प्रति । ततश्चाक्रोशदानतो न संज्वलेदेतन्निर्यातनार्थम्,
देहदाहद्वोहितपातप्रत्याक्रोशाभिघातादिभिरश्विन्न दीप्येत, सं-
ज्वलनकोपमपि न कुर्यादिति । संज्वलेदित्युपादानं किमेवमुपदि-
श्यत इत्याह सदृशः समानो भवति संज्वलन्निति प्रक्रमः । केधं ?
वालानामज्ञानां, तथाविधकृपकवत् । यथा कश्चित् कृपको देवत-

या गुणैरावर्जितया सततमजिवन्त्यते, उच्यते च मम कार्यमावेदनी-
यम् । अन्यदैकेन धिग्जातिना सह योद्धुमारब्धस्तेन च बलवता क्षु-
त्कामशरीरो भुवि पातितस्ताम्रितश्च, रात्रौ देवता बन्दिता-
याता कृपकस्तूष्णीमास्ते । ततश्चासौ देवतयाऽभिहितो, भगवन् !
किं मयाऽपराद्धम् । स प्राह । न तस्य त्वया दुरात्मनो ममापका-
रिणः किञ्चित्कृतम् । सोऽवादीत् न मया विशेषः कोऽप्युपलब्धः,
यथाऽयं श्रमणोऽयं धिग्जातिरिति यतः कोपाविष्टौ द्वावपि समानौ
संपन्नाविति । ततः सती प्रेरणेनेति प्रतिपन्नं क्षपकेणेति । उक्तमे-
वार्थं निगमयितुमाह । (तम्हन्ति) यस्मात्सदृशो भवति वा-
लानां तस्माद् भिज्नुर्न संज्वहेदिति सूत्रार्थः ।

कृत्योपदेशमाह ।

सोच्चा एं फरसा जासा, दारुणा गामकंटया ।

तुसिणीओ उवेहिजा, ए ताओ मणसी करे ॥१५॥

श्रुत्वाऽऽकर्य णमिति वाक्यालंकारे परुषाः कर्कशा ज्ञापा गिरः।
दारयन्ति मन्दसत्त्वानां संयमविषयां धृतिमिति दारुणास्ताः ग्राम
इन्द्रियग्रामस्तस्य कण्टका इव ग्रामकण्टकाः प्रतिकूलशब्दादयः
कण्टकत्वं चैषां दुःखोत्पादकत्वेन मुक्तिमार्गप्रवृत्तिविघ्नहेतुतया च
तदेकदेशत्वेन च परुषज्ञापा अपि तथोक्ताः । भाषाविशेषणत्वे-
ऽपि चात्राविष्टिद्विगुणत्वात्पुल्लिङ्गता, तूष्णींशीलेन कोपात्प्रतिपुरु-
षभाषी एवंविधश्च । “ जो सहइ उ गामकंटए, उक्कोसपहार-
तज्जणायन्ति ” इत्यागमं परिज्ञावयन्नुपेक्षेतावधीरयेत् । प्रक्र-
मात्परुषज्ञापा एव कथमित्याह न ता मनसि कुर्याद्, ज्ञापिणि
द्वेषाकरणेनेति सूत्रार्थः । उक्तं २ अ० ।

कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाऽऽहंसु पुढोजणा ॥ ६ ॥

पृथक्जनाः प्राकृतपुरुषा अनार्यकल्पा इत्येवमाहुरित्येवमुक्तव-
न्तः । तद्यथा । य एते यतयः जलाविब्रदेहा लुञ्जितशिरसः क्षुधा-
दिवेदनाग्रस्तास्ते एतैः पूर्वाचरितैः कर्मजिरार्ताः पूर्वस्वकृतकर्मणः
फलमनुभवन्ति । यदि वा कर्मजिः कृष्यादिभिरार्तास्तत्कर्तुमसम-
र्था उद्विग्ना सन्तो यतयः संवृत्ता इति, तथैते दुर्भगाः सर्वेणैव पुत्र-
दारादिना परित्यक्ता निर्गतिकाः सन्तः प्रव्रज्यामज्युपगता इति ।
एते महे अचार्यता, गामेसु नगरेसु वा ।

तत्थ मंदा विसीयंति, संगाममिव जीरुया ॥७॥

एतान् पूर्वोक्तानाक्रोशरूपान् तथा चौरचारकादिरूपान् श-
ब्दान् सोढुमशक्नुवन्तो ग्रामनगरादौ तदन्तराले वा व्यवस्थि-
ताः, तत्र तस्मिन् आक्रोशे सति मन्दा अज्ञानबधुप्रकृतयो विपी-
दन्ति विमनस्का भवन्ति संयमाद् भ्रश्यन्ति तथा, भीरवः संग्रामे
रणशिरसि चक्रकुन्तासिशक्तिनाराचाकुले रटपटहशङ्खफल्गुरी-
नादगम्भीरे समाकुलाः सन्तः पौरुषं परित्यज्याऽयशःपटहमङ्गी-
कृत्य प्रज्यन्ते, एवमाक्रोशादिशब्दाकर्णनादसत्त्वाः संयमे वि-
पीदन्ति । सूत्रं १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अत्रार्जुनमाहाकारणिकथा ।

रायगिहे मालारो, अज्जुणओ तस्स नज्ज खंदसिरी ।

मोगगरपाणी गोड्डी, सुदंसणो वंदओणीति ॥ उक्तं ७ नि० ।

राजगृहे माहाकारोऽर्जुनकस्तस्य जार्या स्कंदश्रीः मुजुरपाणि-
र्यक्षो गोष्ठी सुदर्शने (वंदणीति) वंदनार्थं निर्गच्छतीति गा-
थाकारार्थः, ज्ञावार्थस्तु संप्रदायगम्यः । उक्तं ३ अ० । (स
च ‘अज्जुणग’ शब्दे)

जो सहइ हु गामकंटए, अक्रोसपहारतज्जणाओ अ ।

जयजैरवसदसप्पहासे, समसुहदुक्खसहे य जे स जिकखू ॥

किञ्च (जो सहइत्ति) यः खलु महात्मा सहते सम्यग्ग्रामकण्ट-
कान् ग्रामा इन्द्रियाणि, तदुःखहेतवः कण्टकास्तान्, स्वरूपत एवाह,
आक्रोशान् प्रहारान् तर्जनाश्चेति । तत्राक्रोशो जकारादिभिः, प्र-
हारः कशादिभिः, तर्जना असूयादिभिः, तथा भैरवमया अत्यन्त-
रौक्षमयजनकाः शब्दाः सप्रहासा यस्मिन् स्थान इति गम्यते
तत्तथा तस्मिन्, वेताद्यादिद्विगुणतादाहृहास इत्यर्थः । अत्रोपस-
र्गेषु सत्सु समसुखदुःखसहस्रं योऽवलितभावः स भिक्षुरिति
सूत्रार्थः । द० १० अ० ।

अक्रोसपरि (री) सहविजय-आक्रोशपरि (री) पद-
विजय-पुं० मिथ्यादर्शनाददृष्टोदीरितदुर्वर्चांसि ज्ञानिदावदाही-
नि क्रोधदुतवहोदीपनपरिष्ठाणि शृण्वन्तोऽपि तत्प्रतीकारं कर्तुं-
मपि शक्नुवन्तो ‘दुरन्तः क्रोधादिकपायोदयनिमित्तपापकर्मवि-
पाक’ इति चिन्तयतः कपायलवमात्रस्यापि स्वहृदयेऽनव-
काशदाने, पंचा १३ विव० ।

अक्रोह-अक्रोध-त्रि० न० व० क्रोधोदयविरहिते, । विफली-
कृतक्रोधे, औ० । नम्रः स्वरूपार्थत्वात् स्वल्पक्रोधे, ज० २ वक्ष० ।
क्रोधमकुर्वाणे, उक्तं २ अ० । “ से णुणं भंते ! अक्रोहत्तं अ-
माणत्तं अमायत्तं अलोभत्तं समणाणं निर्गन्थाणं पसत्थं ? हंता
गोयमा ! अक्रोहत्तं जाव पसत्थं ” म० १ श० ए उ० ।

अखरुम्मिअं-देशी-तथेत्यर्थे, दे० ना०

अखख-अक्ष-पुं० जीवे, आ० म० प्र० । स्था० । उजयत्रापि “मा-
वाविद्यमिकमिहानिकप्पणी” इत्यादिना औणादिकः सप्रत्ययः ।
आ० म० प्र० ।

जीवो अखखो अत्थ-व्वावणभोयणगुणाणिओएण ।

अक्षस्तावज्जीव उच्यते, केन हेतुनेत्याह (अत्थवावणेत्यादि)
अर्थव्यापनजो जनगुणान्वितो येन तेनाक्षो जीवः । इदमुक्तं भव-
ति “अक्षं व्याप्तौ” अश्नुते ज्ञानात्मना सर्वार्थान् व्याप्नोतीत्यौ-
णादिकनिपातनादक्षो जीवः । अथवा “अक्ष भोजने” अश्नाति
समस्तत्रिभुवनन्तर्वर्तिनो देवलोकसमृद्ध्यादीनर्थान् पाहयति
शुद्धे वेति निपातनादक्षो जीवः । अत्रातेर्ज्ञानार्थत्वाद्, शुजे-
श्च पाहनाज्यवहारार्थत्वादिति भावः । इत्येवमर्थं व्यापनभोज-
नगुणयुक्तत्वेन जीवस्याक्षत्वं सिद्धं भवति । विशेष० । इन्द्रिये,
न० “ खमकमिन्द्रियं प्रोक्तं, हृषीकं करणं स्मृतम् ” इति वच-
नात् । “ अखखस्स पोग्गलमया, जं दव्वेदियमणपरा हौति ”
आ० म० प्र० । प्रज्ञा० । ज्ञा० । विशेष० नि० चू० । दश० । अत्रा-
ति नवनीतादिकमित्यक्षः । धुरि, (चक्रनाभौ) उक्तं १ अ० । “ अ-
खखमंगमि सोयइ ” । उक्तं ५ अ० अनु० । औ० । ज० । ज० ।
चतुर्भिर्हस्तैर्निष्पन्नेऽवमानविशेषे, अनु० । ज्यो० । व्यावहारिको-
ऽक्षः पञ्चवत्यङ्गुलमानेन भवति । स० ६६ सम० । अक्ष इत्यक्षोपाङ्ग-
दानवचेति द्रुमपुष्पिकाऽध्ययने, दश० १ अ० । चन्दनके, अस्मिन् हि
अनाकारवर्ती साध्वादेः स्थापनां कृत्वाऽऽवश्यकक्रियां कुर्वतः
स्थापनाऽऽवश्यकं भवति । अनु० । आव० । तद्वै उक्त्यैपप्र-
द्विकोपधिविशेषे, “अखखासंयारो वा, एगमणेगंगिओ अउक्को-
सो । पोत्थगपणगं फल्लगं, उक्कोसोवग्गहो सव्वो” ध० ३
अधि० ग० पि० । पं० व० । रुद्राक्षफलविशेषे, अणु० ३ वर्गः ।
पाशके, कपर्दके, “कजए अपराजिए जहो, अखखहिं कुसवोहिं
दीवयं” सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । विनीतके, रावणसुतभेदे, सर्पे,

जातान्धे, गरुणे च, तुर्ये, सौवर्चले, कर्पपरिमाणे च. न० वाच० ।
अकखड्य-अकृतिक-त्रि० अकृते, "अकखड्यवीरणं अप्पाणं
कम्मवंपणेणं मुहरि " अकृतिकर्वाजेन अकृयेण दुःखहेतुनेत्य-
र्थः । प्रश्न० आश्र० ३. ६१० ।

अकखओदय-अकृयोदक-त्रि० अकृत्यं शाश्वतमविनाशयुदकं
जलं यस्य सोऽकृयोदकः । नित्यसञ्चलभूते, "जहा से सयं-
हरमणे उदही अकखओदय" उक्त० ११ अ० ।
अकखचम्प-अकृचर्मन्-न० जहापकर्मणकोशे, "अकखचम्मं
उठगंडेस्सं" इति ६ अ० ।

अकखण्वेय-देश-सुरते, प्रदोषे च । दे० ना० ।

अकखणिवद्धा-अकृनिवद्धा-खी० गन्ध्याम्, पि० ।

अकखपाय-अकृपाद-पुं० अकृतं नेत्रं दर्शनसाधनतया जातं पा-
देऽस्य न्यायसूत्रकारके गौतममुनौ. स हि स्वमतदूषकस्य व्या-
सस्य मुखदर्शनं चक्षुरा न करणीयमिति प्रतिज्ञाय पश्चाद् व्या-
सेन प्रसादितः पादे नेत्रं प्रकाश्य तं दृष्टवानिति पौराणिकी
कथा । वाच० । अकृपादमते किञ्च पौडश पदार्थाः । "प्रमाणप्रमेय-
संशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवाद् जल्पवित्त —
एडाहेत्वाभासच्छब्दजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाग्निःश्रेयसाऽ-
धिगमः " इति वचनात् । इत्याद्यन्यत्र प्ररूपयिष्यते । स्या० ।
" अकृपादेनेके ग्रन्थे च " विशेष० । आ० म० प्र० ।

अकखम्-अकृम्-त्रि० क्रमते क्रमः । अच् । न० त० । असमर्थे, क-
म-भावे अङ्, अभावार्थे, न० त० । क्रमाभावे, ईर्ष्यायाम्, खी० ।
वाच० । अयुक्तत्वे, स्था० ३. ३० ३. ३० । अनुचितत्वे असम-
र्थत्वे, स्था० ५. ३० १. ३० ।

अकखय-अकृज-न० अकृद् इन्द्रियसन्निकर्षाज्जातः । जन-नः ।
इन्द्रियविषयसन्निकर्षोत्पन्ने प्रत्यक्ज्ञाने, वाच० । " अकृज्यापा-
रमाश्रित्य, भवदक्कजमिष्यते । तद्व्यापारो न तत्रेति, कथमकृ-
भवं नवेत् " आ० म० छि० ।

अकृत-पुं० बहु० न क्षताः । अखण्डतएतुले, दर्श० । प्रव० ।
पञ्चा० । स्वयमाते, । न० कृत्ययुक्तनिधे, उत्कर्षान्विते, अविदा-
रिते, यत्र च, त्रि० कृणभावे, वाच० । परिपूर्णं, स० १. सम० ।
प्रश्न० । क० न० त० क्षात्रावे, न० वाच० ।

अकृत्य-त्रि० नाऽस्य कृत्योऽस्तीत्यकृत्यः न० । अपर्यवसाने,
आव० ४ अ० । अग्रणाशिनि, पञ्चा० ४ विव० । स० । " सिव-
मयलमद्वयमणंतमकखयमव्वावाहमपुणरावत्तियं सिक्किगना-
मधेयं त्राणं संपाविउकामे " अकृत्यं कृत्यरहितं साद्यनन्तवत्त्वात् ।
कल्प० । अनाशंसाद्यपर्यवस्थितिकत्वात् भ० १. ३० १. ३० ।
विनाशकरणाज्जायात् । जी० ३. प्रति० । रा० १. ध० । " स पञ्चया
अकखयसागरे चा, महोदही वा विअणंतपावे " स भगवान्
प्रज्ञयाऽकृत्योऽकृणीज्ज्ञान इत्यर्थः । सूत्र० १. श्रु० ६ अ० ।

अकखयणिहि-अकृत्यनिधि-पुं० देवजाएगागरे, अकखयणि-
हि च अखुवहेस्सामि " विपा० १. श्रु० ७ अ० । अव्यये भा-
एगागरे । ज्ञा० १. श्रु० २ अ० ॥

अकखयणिहितव-अकृत्यनिधितपस्-न० बौकिकफलप्रदे त-
योजेदे, यत्र जिनविषयस्य पुरतः स्थापितकलशः प्रतिदिनं प्र-
क्षिप्यमाणतएकुलमुपस्था यावद्भिर्दिनैः पूर्यते तावन्ति दिना-
न्येकाशनेनाऽकारि तपोऽकृत्यनिधितपः । पञ्चा० ए विव० ।

अकखयणीवि-अक्षयनीवि-खी० अकृत्या चासौ नीविअ अ-

क्षयनीविः । पो० ६ विव० । अव्यये मूलधने, येन जीर्णीभूतस्य
देवकुलस्योच्चारः करिष्यते । ज्ञा० १. श्रु० २ अ० ।
अकखयतड्या-अक्षयतृतीया-खी० कर्म-स० । वैशाखशुक्ल-
तृतीयायाम्, "वैशाखमासि राजेन्द्र, शुक्लपक्षे तृतीयका । अकृत्या
सा तिथिः प्रोक्ता, कृतिकारोहिणीयुता । तस्यां दानादिकं सर्व-
मकृत्यं समुदाहृतमिति, वाच० । तन्माहात्म्यकथा चैवम्-
प्रणिपत्य प्रभुं पार्श्वे श्रीचिन्तामणिसंज्ञकम् । अथाक्षयतृतीयाया
व्याख्यानं लिख्यते मया ॥ १ ॥ एतदेवाह श्रुतकेवली भगवान्
भद्रबाहुः । " उसभस्स ह्नु पारणए, इक्खुरसो आसि लोग
नाहस्स । सेसाणं परमं, अमियरसस्सोवमं आसी ॥ १ ॥
घुट्टं च अहो दाणं, दिव्वाणि आहियाणि तूराणि । देवा विस-
न्निवडिआ, वसुहारा चैव युट्ठीय ॥ २ ॥ भवणं धणेण भुवणं,
जसेण भयवं रसेण पडिहत्थो । अप्पा निरुवमसुक्खं, सुपत्त-
दाणं महग्घविअं ॥ ३ ॥ रिसहेण समं पत्तं, निरवज्जं इक्खु-
रससमं दाणं । सेयंससमो भावो, हविज्ज जइमं गियं हुज्जा ॥ ४ ॥
इति । एतासां गाथानां भावार्थः कथयाऽवगन्तव्यः । तथाहि-
श्रीऋषभदेवस्वामिनो जीवः सर्वार्थसिद्धिमाप्नोति च्युत्वाऽऽ-
पादकृष्णचतुर्थ्यां तिथौ नाभिनाम्नः कुलकरस्य भावीयां मरु-
देव्याः कुत्ताववतीर्णः । नवमासान् चत्वारि दिनानि च तत्रो-
पित्वा चैत्रकृष्णाष्टम्यां निशीथसमये जन्म जगृहे । तदानीं
विष्टपत्रयं विदित्युते । त्रयं नारकैरपि जीवैः शमध्यगामि ।
तदनु पद्मपत्रादिभिरुपकारिणां मासनाति चकम्पिरे । ताश्चा-
वधिज्ञानेन भगवतो जनिमवगम्य जन्मस्थानमासाद्य च स्वस्व-
कार्यं संपाद्य निजनिकेतनानि प्रत्यगमन् । ततश्चतुष्पष्टिसं-
ख्यकानामिन्द्राणामपि विष्टराश्रेणुः । तेऽप्यवधिज्ञानेनैव भग-
वतो जनुर्ग्रहणं विदित्वा सौधर्ममैन्द्रव्यतिरिक्ता अन्ये त्रिप-
ष्टिरिन्द्रा हेमाद्रिं प्रतिजग्मुः । ततः सौधर्ममैन्द्रोऽपि जन्मस्थानं
समागत्य तत्रस्थेभ्यो मातृप्रमुखेभ्यो जनेभ्योऽवस्थापिनीं निद्रां
दत्त्वा मातृसन्निधौ स्वशक्त्या रचितं भगवत्प्रतिविम्बं निधाय
भगवन्तमुजाभ्यां पाणिभ्यां गृहीत्वा कनकाद्रिं समाययौ । तत्र
च चतुष्पष्टिसंख्यकैरिन्द्रैः संभूय स्नात्रमहोत्सवं कृत्वा ततः
सौधर्मविरहितैरन्यैरिन्द्रैश्च नन्दीश्वरद्वीपो जग्मे । सौध-
र्ममैन्द्रस्तु भगवज्जनन्याः सन्निकृष्टे बालकं पूर्ववत् संस्थाप्य
अवस्थापिनीं निद्रां पूर्वनिहितं भगवत्प्रतिविम्बं चापहृत्य " न-
मो रत्नकुत्तिधारित्यै " इत्युक्त्वा मातरं प्रणिपत्य ततो भग-
वन्तं च नमस्कृत्य नन्दीश्वरद्वीपमवगात्तौ । तत्र सर्वे इन्द्रा
अष्टाद्विकमहोत्सवं विधाय निजनिजसुरालयं समासदन् ।
अथ स भगवान् सौधर्ममैन्द्रसंचारितामृतवन्तं निजाङ्गुष्ठमेष
चुचूय । मातृस्तन्यपानं न चकार आऽन्नाशनात् तीर्थङ्कराणां
तादृशाचरितत्वात् । ततः क्रमेण पिता ' ऋषभ ' इति भग-
वतो नाम विदधे । इन्द्रस्तु तदानीमिच्छाकुवंशमतिष्ठित् ।
विंशतिलक्षपूर्वपर्यन्तं भगवान् कुमारावस्थायामेवातिष्ठत् ।
वासवो विनीताभ्यां नगरं कारयित्वा भगवते प्रायच्छत् रा-
ज्याभिषेकं चाकरोत् । आत्रिपष्टिलक्षपूर्वपर्यन्तं महाराजपदवी-
मभुवभूय । सुनन्दा सुमङ्गला चेति द्वे पत्न्यौ भगवतो वभू-
वतुः । तयोर्भरतबाहुवलीप्रमुखं सुनुशतमजनिष्ट । तथा आ-
दित्ययशःसोमयशःप्रभृतयो बहवः पौत्रा अभूवन् । ततो भग-
वान् अयोध्याराज्यं ज्येष्ठपुत्राय भरताय ददौ, बाहुवलिने च
तक्षशिलाराज्यमदात् । अन्येभ्योऽपि तनूजेभ्यो यथाहं देश-
नगरादिराज्यं प्रदाय स्वयं चैत्रकृष्णाष्टम्यां दीक्षां जगृहे, आ-

हारार्थं प्रतिग्रामं विजहार च, भद्रपुरुषास्तु साधूनामाहार-
दानं न विदुरतो भिक्षां याचमानाय भगवते मणिमाणिक्या-
दीन्युत्तमवस्तुन्येवोपाजहः । भगवता त्यक्तपरिग्रहत्वात्
दीयमानमपि तत्सर्वं न जगृहे, अतः सर्वतः पर्यटन् चतुर्वि-
धाहाररहित एव किञ्चिदधिकमेकं वर्षमतिष्ठत् । असिन्नेवा-
वसरे गजपुरनगरे बाहुवलिनः प्रपौत्रः सोमयशःपुत्रः श्रेयां-
सकुमारोऽभूत्, तत्र भगवान् ऋषभदेव आहारार्थं विहरन्ना-
जगाम । तदा नक्तं श्रेयांसकुमारः “ मेरुपर्वतः कृष्णवभूव,
मया चामृतकलशैश्छालयित्वा स शुक्लीकृतः ” इतीदृशं स्वप्न-
मपश्यत् । तस्मादेव निशि तस्मिन्नेव पत्तने सुषुप्तिनामा श्रे-
ष्ठपि “ सूर्यस्य किरणसहस्रं भूमौ निपपात श्रेयांसकुमा-
रस्तु तदुत्थाप्य पुनः सूर्यविम्बे संयुयोज ” इति स्वप्नमद्रा-
क्षीत् । पुनः सोमयशा भूपतिरपि “ प्रचुररिपुसमवरुद्धो
व्याकुलः कश्चन सुभटो यदा तान् स्वरिपून् जेतुं नाशकत्, तदा
श्रेयांसकुमारेण तस्य साहाय्यमकारि, येन स तत्क्षणमेव स-
र्वान् विजिग्ये ” इति स्वप्नं निरीक्षाञ्चक्रे । एवं स्वप्नद्वयं त्रयः
पुरुषा अद्राक्षुः । ततः प्रजाते सर्वे राजसभामुपसंगम्य य-
थास्वं स्वप्नं प्रत्युचुः । तदवधार्य “ अद्य श्रेयांसकुमारस्यापूर्व-
लाभो भविष्यति ” इति सर्वे सभ्या व्याजहुः । एतस्मि-
न्तरे सदाऽप्रतिवर्षविहार्यप्रमत्तो भगवान् भिक्षार्थं प्र-
तिगृहं परिभ्रमन् तत्र श्रेयांसकुमारनिकेतनमुपतस्थे । तमाग-
च्छन्तं जगवन्तं समवलोक्य कुमारोऽतीव जहर्ष । अन्ये च जना
अदृष्टचरसाधुमुखाः पादाभ्यामेव पर्यटन्तं तमवलोक्य हस्त्यश्व-
प्रभृतीनि विविधवस्तूनि समुपाहरन् । भगवांस्तु किमपि नो-
पाददे । तेन ते लोकाः कोलाहलं कृत्वा विषममानसा चिन्तय-
न्ति स्म, यतो जगवान् अस्मद्वस्तदत्तं किमपि नोपादत्ते, जातु
अस्मासु क्रुद्ध इवोपलक्ष्यत इति । ते तु युगवत्त्वावस्थामचिरेणै-
वाहासिपुरतः साधुजिज्ञादानविधिं न विदन्ति । अथ श्रेयांस-
कुमारो जगवतः साधुमुखां समवलोक्य ‘ ईदृशी मुद्रा मया पूर्वं
कुत्रापि निरीक्षिता ’ इत्येवमूहापोहौ कुर्वन् तदानीं तस्य मतिज्ञा-
नभेदभूतं जातिस्मरणज्ञानं समजनि । तेन ज्ञानेन ‘ भगवता साकं
नव प्रवा मे व्यतीताः ’ इत्यादि सर्वे सोऽबुध्यत । तत्र “ धण १
मिहुण २ सुर ३ महच्चल ४, लक्षियंग ५ वयरजंव ६ मिहुणो य
७ । सोहम्म ८ विज ९ अच्युय १०, चक्की ११ सव्व १२
उसभो य १३ ” ॥ इति गाथोक्तानां त्रयोदशप्रवाणां मध्ये प्रथ-
मे भवे जगवान् सार्धवाहोऽभूत्, द्वितीये युगलिकः, तृतीये
देवता, चतुर्थे महावलनामा राजा, पञ्चमे लक्षिताङ्गनामको
देवोऽभवत् । श्रेयांसकुमारस्तु प्रथमे भवे स्त्रीत्वजातौ धर्मि-
णीनामिका स्त्री समजनि । एवं क्रमेण लक्षिताङ्गदेवावतारस्य
भगवतः स्वयंप्रजाख्या देवी वचूव । ततश्च्युत्वा लक्षिताङ्गदेव-
जीवः षष्ठे भवे वज्रधराख्यो राजाऽभवत्, स्वयंप्रभा च तस्य
श्रीमतीत्याख्या राजपत्नी वभूव । एवं सप्तमे भवे चोन्नौ युगलि-
कौ वचूवतुः । अष्टमे सौधर्मदेवलोका उभौ देवौ समजनिपाताम् ।
नवमे भगवान् जीवानन्दाभिधो वैद्यः, श्रेयांसजीवस्तु केशवा-
ख्यः श्रेष्ठपुत्रः संजातः । तत्रापि द्वयोरतीवमित्रता वचूव । ततो
दशमे प्रवेऽच्युतदेवलोका उभौ मित्रदेवौ संजातौ एकादशे ज-
गवान् चक्रवर्ती श्रेयांसश्च सारथिः । द्वादशे चोन्नौ सर्वार्थसिद्ध-
विमाने देवौ । तत आर्युपि क्षीणे सति त्रयोदशे भवे भगवतो
जीवोऽयमृषभदेवोऽहश्च श्रेयांसकुमारोऽस्मि । एवं स श्रेयांसो जा-
तिस्मरणज्ञानेन प्राक्तनानां नवभवानां स्वरूपमवेदीत् तेषु भ-

वेषु पूर्वं साधुक्रियामक्षाक्षीत्, अत एव श्रेयांसकुमारो व्यचिन्त-
यत् यत् संसारिजीवानां कीदृशमज्ञानित्वं प्रवर्तते येन त्रिलोकी-
प्रभुं राज्यपदवीं तृणवत् विसृज्य विषयभोगरूपं सांसारिकसुखं
किंपाकफलमिव विदित्वा साधुत्वं गृहीत्वा च कर्मबन्धनविमो-
चनाय प्रयतमानं रागद्वेषाद्यनेकानर्थकारणीभूतं परिग्रहं परमा-
णुमात्रमप्यस्वीकुर्वाणं जगवन्तं नावेदिषुः । यः सर्वथा निर्ग्र-
न्थो निष्परिग्रहः स कथं पुनर्हस्त्यश्वक्रत्यास्वर्णमणिमाणिक्य-
मुक्ताफलादीन् परिग्रहान् ग्रहीष्यति ? । एवं वृद्धा स श्रेयांस-
कुमारो निजप्रासादगवाक्षात् तूर्णमधः समवतीर्य जगवतश्चर-
णोपकरणं समाययौ जगवन्तं त्रिः परिक्रम्य परमानन्दसिन्धु-
निमग्नो ववन्दे च । पुनरजातं वृद्धा भगवन्तं तुष्टाव व्यजिज्ञपच्च
। हे स्वामिन् ! मयि कृपा विधीयतामहं संसारतापतप्तोऽस्मि ।
अतो मे संसाराव्तिस्तारः क्रियताम् । अष्टादशकोटाकोटिसाग-
रोपमपर्यन्तविचित्रो मुनिजनानां प्रासुकाहारदानविधिः प्रका-
श्यताम् । मम गृहे उपहाररूपेण समागतान् इक्षुरसपूर्णान्
शुक्लाहारभूतान् अष्टोत्तरशतघटान् भवान् समाददातु । इति
वचो निशम्य ज्ञानचतुष्टयसम्पन्नो भगवान् तमिक्षुरसं छव्यक्षेत्र-
कालजावानुकुलं निरयद्याहारं समवगम्य श्रेयांसनिकेतनमुपेत्य
निजहस्ताब्जतौ सर्वं युगपजग्राह । यतो भगवता पाणिपात्र-
द्विधमता नृत्यते, तेनैव स निखिलोऽष्टोत्तरशतघटरसोऽब्ज-
प्रविवेश । रसग्रहणसमये चैकविन्दुरपि भूमौ न निपपात ।
यद्यप्ययमष्टोत्तरशतघटपरिच्छिन्न एव रसोऽभूत् यदि च शत-
सहस्रलक्षपरिमितः समुद्रपरिमितो वा स्यात् तथापि प्रविशेत् ।
एवं भगवते विशुद्धाहारदानस्य महानानन्दः श्रेयांसस्य तनौ न
ममौ । पुनर्व्यचिन्तयत् त्रिलोकीपूज्योऽनन्तगुणनिधिर्भगवान्
ऋषभदेवो यन्मे हस्तेनाहारमाददे तन्मयि परमप्रसादं व्यध-
त् । भगवते निर्दोषाहारं ददतो मे सर्वः पापसन्तापः क्षीणः ।
यावत् स एवं विचिन्तयति तावत्कर्पनिर्जरा देवाः पञ्च दिव्यानि
प्रकटीचक्रुः, ‘ अहोदानमहोदानम् ’ एवं प्रजल्पन्तो देवदुन्दुभी-
न् च वादयांचक्रिरे । तिर्यग्भूतभकाख्यास्त्रिदशः साधेद्वादश-
कोटिसुवर्णदीनाराणां रत्नानां च वृष्टिमकारुः । तदा श्रेयांस-
गृहं सुवर्णदीनारै रत्नैः समृद्ध्यादिभिश्च परिपूर्णं समजनि ।
विष्टपत्रयं धनधान्यादिभिः परिपूर्णम् । श्रेयांसस्यात्मा निरुप-
मसुखजाजनं संजातम् । तदारभ्य लोके सर्वे साधूनां भिक्षा-
दानविधिं विदाञ्चक्रुः । भगवान् यस्मिन् यस्मिन् देशे विहरति
तस्मिन् तस्मिन् देशे कदापीतथो न भवन्ति स्म, सकलगृहाण्य-
पि परमोत्तमाहारपूर्णानि वभञ्जुः, येन अकिञ्चना अपि जगवन्तं
परमात्रं प्रयच्छन्ति स्म तस्यातिशयविशिष्टत्वात् । अस्मिन्
वैशाखशुक्लतृतीयादिने जगवतः श्रीऋषभदेवस्य पारणा श्रेयां-
सगृहे इक्षुरसेन निर्वृत्ता । इदं च दानं श्रेयांसस्याक्षयसुखका-
रणीभूतं संजातमतोऽस्यास्तृतीयायाः ‘ अक्षयतृतीया ’ ‘ इक्षु-
तृतीया ’ वा संज्ञा लोके प्रावीर्तिष्ठ । अत्र कश्चित् प्रश्नं करोति,
त्रैलोक्यनाथस्य भगवतो वर्षमेकं ज्ञानान्तरायः कथम् ? । अत्रो-
च्यते कल्पविवरणे प्रदर्श्यमानमन्तरायनिदानं कर्म । तथाहि ।
पूर्वभवे जगवान् मार्गे गच्छन् खले धान्यानि खादतो वृषजान्
कृषीवहैस्ताड्यमानानवलोक्य संजातकरुणस्तान् प्रावोचत्,
अरे रे मूर्खाः कृषाणाः ! एतान् वृषुक्षन् यूयं न तारयत किन्तु
मुखवन्धनीं निर्मायैतेषां मुखानि बध्नीत । तदा नैते किमपि
भोक्तुं शक्न्यन्ति । तदा ते प्रत्युचुः, वयं न तां निर्मातुं जानीमः ।
ततो जगवान् तत्रोपविश्य सहस्तेन तां निर्माय तथा च वृषजमु-

चं घट्वा तान् प्रादर्शयत् । तथा ब्रह्मसूत्रो वृषभो महता कष्टेन
पृष्ठुत्तरशतत्रयकृत्वः श्वासाननुज्ञत् । अतस्तत्रोपाजितमन्तराय-
कर्म दीक्षाग्रहणसमये प्रादुर्भूयैकवर्षानन्तरमद्योषशमतामवापे-
नि । अथास्य दानस्य प्रनाशेन श्रेयांस्तो मोक्षपदवीनवाप्स्यति ।
भगवांश्चैकसहस्रं वर्षाणि अश्वस्थावस्थायामतिष्ठन् । एकमहत्त-
वर्षेन वृक्षपूर्ववर्षावधिकवलिवाचस्थायीं स्थित्वाऽनेकान् ज-
व्यजीवान् प्रनिशोधयन् विचचार । ततोऽष्टापदपर्वतोपरि नश्व-
रमिमं लोकमपास्य मोक्षमवाप । अतोऽक्षयतृतीयादिने मध्य-
जीवानां सुपात्रेदानं, शीघ्रपालनं, तपस्याऽचरणं, ज्ञावनानाव-
नं, देवपूजनं, स्नात्रमहोत्सवादिकं च कर्म विधीयत इति ॥

गद्यपद्यमयं लेखन् पूर्वोच्चार्यैर्विनिर्मितम् ।

माहात्म्यं शिक्षितं सारं मया राजेन्द्रसूरिणा ॥ १ ॥

युगे प्रथमायामक्षयतृतीयायां केनापि पृष्टम् । के ऋतवः पूर्व-
मतिक्रान्ताः को वा सन्प्रति वर्तते ? । तत्र प्रथमाया अक्षयतृती-
यायाः प्राक्तन्युगस्यादित आरभ्य वर्षाण्यतिक्रान्तानि एको-
नविंशतिः । तत एकोनविंशतिर्धियते धृत्वा च पञ्चदशभिर्गुण्यते
जाते द्वे शते पञ्चाशीत्यधिके (२८५) अक्षयतृतीयायां फिल-
पृष्ठमिति पूर्वणामुपरि तिस्रस्तितथयः प्रक्षिप्यन्ते जाते द्वे शते
अष्टाशीत्यधिके (२८८) तावति च कालेऽधमरात्राः पञ्च ज-
वन्ति, ततः पञ्च पात्यन्ते जाते द्वे शते त्र्यशीत्यधिके (२८३) ते
द्वाभ्यां गुण्यन्ते जातानि पञ्च शतानि पश्यष्टपधिकानि (१६६)
तान्येकपष्टिसहितानि क्रियन्ते जातानि पद्मशतानि सप्तविंशत्य-
धिकानि (६१७) तेषां द्वाविंशतिशतेन प्रागहरणं त्रयो-
पञ्च ते च परम्भिर्भागं न सहन्त इति न तेषां परम्भिर्भागहारः,
शेषास्त्वंशा चरन्ति सप्तदश, तेषामर्कजाताः सार्वाष्टौ, आगतं,
पञ्च ऋतवोऽतिक्रान्ताः पृष्ठस्य च ऋतोः प्रवर्तमानस्याष्टौ
दिक्सा गता नवमो वर्तते इति । सू० प्र० १२ पाहु०

अक्षयपूया-अक्षतपूजा-श्री० जिनप्रतिमानां पुरतोऽखण्डत-
रगुन्नसमर्पणे, तन्माहात्म्यविषये शुक्रकथानकं विजयचन्द्र-
चरित्रालिख्यते । तद्यथा—

अन्तरुफुनियचुक्क-अस्वर्हि पुंजत्तयं जिणिदस्स ।
पुरओ नरा कुणतो, पावति अखंनियसुहाइ ॥ १ ॥
जह जिणपुरओ चुक्क-क्वर्हि पुंजत्तयं कुणतेण ।
कीरमिहुयेण पत्तं, अखंनियं सासयं सुक्कं ॥ २ ॥
अत्थित्थ नरहवासे, सिरिपुरनयरस्स बाहिउज्जाणे ।
रिस्सहजिणसरनुवणं, देवविमाणं व रमणीयं ॥ ३ ॥
भवणस्स तस्स पुरओ, सहयारमहाडुमुत्ति सच्छाओ ।
अन्नुन्ननेहरत्तं, सुअमिहुणं तम्मि परिवसइ ॥ ४ ॥
अह अन्नया कयाई, भणिओ सो तीइ अत्तणो जत्ता ।
आणेइ मोहवो मे, सीसं इह साद्धिखित्ताओ ॥ ५ ॥
जणिया सो तेण पिप, एयं सिरिकंतराणो खित्तं ।
जो एयम्मि वि सीसं, गिहइ सीसं निवो तस्स ॥ ६ ॥
भणिओ तीए सामिय!, तुह सरिसो नत्थि इत्थिकापुरिसो ।
जो भल्लं पि य मरणं, इच्छसि नियजीवल्लोहेण ॥ ७ ॥
इय भणिओ सो तीए, जज्जाए जीवियस्स निरुक्कवो ।
गंतूण साद्धिखित्ते, आणइ सो सालिसीसाण ॥ ८ ॥
एवं सो पइदियहं, रक्खंतारणं पि रायपुरिसाणं ।
आणेइ मंजरीओ, भज्जाएसेण सो निब्बं ॥ ९ ॥
अह अन्नया नरिंदो, समागवो तम्मि सालिखित्तम्मि ।
पिच्छइ सणविलत्तं, तं खित्तं पगदेसम्मि ॥ १० ॥

पुत्रो य आयरेणं, पुहवीपालेण सालिया वुत्ति ।
किं इत्थ इमं दीसइ, सउणेहिं विणासियं खित्तं ॥ ११ ॥
सामिय ! इक्को कीरो, गच्छइ सो सालिमंजरी धित्तं ।
रक्खिज्जंतो वि ददं, चोरुव्व ऊरुत्ति नासेइ ॥ १२ ॥
जणियो सो नरवइणा, मंनियपासेहिं तं गइऊणं ।
आणेइ मज्जपासे, हणेइ चोरुव्व तं छुट्ठं ॥ १३ ॥
(आणेयव्वो पासे, सहसो चोरुव्व अइडुट्ठो । इतिपागान्तरम्)
अह अन्नदिणे कीरो, रायाएसेण तेण पुरिसेणं ।
पासनिकवो निज्जइ, सूरूप पिच्छमाणीए ॥ १४ ॥
पुट्टविलग्गा धावइ, अंसुज्जा पुन्नवोयणा सूरु ।
पत्तादइएण समं, सुडुक्किया रायभवणम्मि ॥ १५ ॥
अज्जाणत्ति राया, विन्नतो तेण सालिपुरिसेणं ।
देवेसो सो सुआं, वडो चोरुव्व आणीओ ॥ १६ ॥
ते दट्ठणं राया, खणं गहिकण जाव पहणेइ ।
ता सहसच्चिय सूरु, नियपइणो अंतरे पनिया ॥ १७ ॥
पमणइ सूरु पहणसु, निस्संको अज्ज मज्ज देहम्मि ।
मुंजसु सामिय ! एयं, महजीवियदायं जीयं ॥ १८ ॥
तुह सालीए उवदिं, संजाओ देव मोहलो मज्ज ।
सो तणसरिसं कावं, नियजीयं महवि ओयम्मि ॥ १९ ॥
हसिकण जणइ राया, कीर ! तुमं पणिओसि विक्खाओ ।
महिलाकजे जीयं, जो चयसि वियक्खणो कहणु ॥ २० ॥
पज्जणइ सूरु सामिय, ! अच्छं ता जणजिजणयचित्ताइं ।
नियजीवियं पि उडुइ, पुरिसो महिहाणुराण ॥ २१ ॥
तं नत्थि जं न कीरइ, वसणासत्तेहिं कामलुक्केहिं ।
ता अच्छइ इयरजणो, हरेण देहट्ठयं दिन्नं ॥ २२ ॥
जह सिरिदेवीइ कए, देवतुमं जीवियं पि छुट्ठइ ।
तह अओ वि इ उडुइ, को दोसो इत्थ कीरस्स ॥ २३ ॥
तीइ वयणेण राया, चित्तइ हियएण विस्सियं इंतो ।
कह एसा पक्खिणिया, वियाणए मज्ज वुत्तंतं ॥ २४ ॥
पज्जणइ राया भदे, दिट्ठंतो कह कओ अहं तुमए ।
साहसु सव्वं एयं, अइगएयं कोउयं मज्ज ॥ २५ ॥
पज्जणइ कीरी निसुणसु, दिट्ठंतो इत्थ जह तुमं जाओ ।
आसि पुरा तुह रज्जे, सामिय ! परिवायगा एगा ॥ २६ ॥
बहुक्कडकवरुमरिया, भत्ता जा रुहखंदेववारुं ।
सा तुह जज्जाइ चिरं, सिरिया देविए उवयरिया ॥ २७ ॥
नरवइणाहं मज्जा, बहुमज्जो एस मज्जभत्तारो ।
कम्मवसेणं जाया, सव्वेसिं दूहवा अहयं ॥ २८ ॥
ता तह कुणसु पसायं, जयवइ जह होमि वल्लहा पणो ।
महजीविणए जीवइ, मरइ मरंतीइ किं बहुणा ॥ २९ ॥
जणिया एसा वच्चे, गिहाइ तुमं ओसहीववयं ।
तं देसु तस्स पाणे, जेण वसे होइ तुह जत्ता ॥ ३० ॥
मयवइ भवणपवेसो, वि नत्थि कह दंसणं समं तेणं ।
कह ओसहीववयं, देमि अहं तस्स पाणम्मि ॥ ३१ ॥
जइ एवं ता भदे, गहिकणं अज्ज महसयासाओ ।
साहुसु पगगमणा, मंतं सोहगासंजणणं ॥ ३२ ॥
भणिकण सुहमुट्ठे, दिओ पव्वाइयाइ सो मंतो ।
पूअं काकण पुणो, तीए वि पणिच्छिओ विहिणा ॥ ३३ ॥
जा जायइ सा देवी, तं मंतं पइदिणं पयत्तेण ।
ता सहसा नरवइणा, पणिहारी पेसिया भणइ ॥ ३४ ॥
आणवइ देवि देवो, जह तुमए अज्ज वासभवणम्मि ।

आगतवमवस्सं, कुवियप्पो नेव कायधो ॥ ३५ ॥
 रयणी-कयसिंगारा, समंतओ रायलोयपरियरिया ।
 करिणीखंधारुढा, समागया रायभवणम्मि ॥ ३६ ॥
 नरवरकयसम्माणा, दोहगं देवि सेसमहिद्वानं ।
 सोहगं गहिकणं, संजाया सा महादेवी ॥ ३७ ॥
 हुंजइ इच्छियसुक्खं, संतुट्ठा देइ इच्छियं दाणं ।
 रुट्ठा पुण सा जेसि, ताणं च विणिग्गहं कुणइ ॥ ३८ ॥
 अह अन्नदिणे पुट्ठा, तीए परिवाइया इमा देवी ।
 वच्छे तुह संपन्ना, मणोरहा इच्छिया जेउं ॥ ३९ ॥
 भयवइ तं नत्थि जए, तुह पयभत्ताण जं न संजवइ ।
 तह विहु जयवइ अज्ज वि, हिययं दोलायए मज्ज ॥ ४० ॥
 जह जीवइ महजीवं, तियाइ अह मरइ महमरंतीए ।
 जा जाण्णिज्जइ नेहो, महउवरिं नरवरिंदस्स ॥ ४१ ॥
 जइ एवं ता गिहसु, नासं महमूलियाय पयाए ।
 जेण तुमं मयजीवा, लक्खीयासि जीवमाणा वि ॥ ४२ ॥
 वीयाइ मूलियाय, नासं दाऊण तुह करिस्सामि ।
 देहं पुणन्नवं चिय, मा भीयसु मज्ज पासत्था ॥ ४३ ॥
 एवंति पभणिकुणं, गहिउं देवीए सुवियावलयं ।
 सा वि अ समप्पिकुणं, संपत्ता निययणम्मि ॥ ४४ ॥
 अह सा नरवइ पासे, सुत्ता गहिकुण ओसही नासं ।
 ता दिट्ठा निच्चिठा, नरवइणा विगयजीवव्व ॥ ४५ ॥
 एत्तो आकंदरओ, उच्छलिओ ज्जत्ति राइणो जवणे ।
 देवी मया मयत्ति य, धाहावइ नरवइ लोओ ॥ ४६ ॥
 नरवइआएसेणं, मिलिया बहुमंतविज्जकुसत्ता य ।
 तह वि य सा परिचत्ता, मइत्ति दहूण निच्चिठा ॥ ४७ ॥
 भणिओ मंतीहिं निवो, किज्जउ पयाइ अगिसकारो ।
 भणिया ते नरवइणा, मज्जवि किज्जउ सह इमाए ॥ ४८ ॥
 चल्लणविलग्गो लोओ, पभणइ न हु देव एरिसं जुत्तं ।
 भणइ सुउक्खं राओ, नेहस्स न उज्जि मग्गाओ ॥ ४९ ॥
 ता मा कुणह विव्वं, कट्ठह वहु चंदर्णिधणं पउरं ।
 इय जणिकुणं राया, संचत्तिओ पिअयमासहिओ ॥ ५० ॥
 वज्जिर तूरवेणं, रोविर नरनारिपउरनिवहेण ।
 पूरितो गयणयत्तं, संपत्तो पेयणम्मि ॥ ५१ ॥
 जा विरइकुण चिअयं, राया आरुहइ पिअयमासहिओ ।
 ता दूराउ रुयंति, पत्ता परिवाइया तत्थ ॥ ५२ ॥
 भणिओ तीए तुमयं, मा एवं देवसाहसं कुणसु ।
 भणियं तुमए जयवइ, महजीयं पिअयमासहियं ॥ ५३ ॥
 जइ एवं तां विसहसु, खणमेगं मा हु कायरो होसु ।
 जीवावेमि अवस्सं, तुह दइअं होअपच्चक्खं ॥ ५४ ॥
 तं वयणं सोऊणं, ऊससियं तस्स राइणो चित्तं ।
 न हु जीवियस्स लाहे, जह वाहे तीइ जज्जाए ॥ ५५ ॥
 जयवइ कुणसु पसायं, जीवावसु मज्ज वल्लहं दइअं ।
 तीए वि हु देवीए, दिन्नो संजीवणी नासो ॥ ५६ ॥
 तस्स पन्नावेणं चिय, सा देवी सयत्तलोयपच्चक्खं ।
 उज्जीविया य समयं, नरवइणो जीवियासाए ॥ ५७ ॥
 तं जीवियंति नाउं, आणंदजल्लुवोयणो लोओ ।
 नच्चइ उद्धिमयवाहो, वज्जिरवहुतूलनिवहेण ॥ ५८ ॥
 सव्वंगान्नरणेहिं, पाए परिवाइआइ पूणं ।
 पभणइ अज्जे अज्जं, जं मग्गसि तं पणामेमि ॥ ५९ ॥
 भणिओ तीए राया, सुपुरिसमह नत्थि किं पि करणिज्जं ।

मिक्खवागहणेण अहं, संतुठा नयरमज्जम्मि ॥ ६० ॥
 गयवरखंधारुढं, काऊणं निययपिययमाराया ।
 संपत्तो नियभवणे, आणंदमहूसवं कुणइ ॥ ६१ ॥
 फट्ठिमयभित्तवमिआ, कंचणसोवाणथंभनिम्मविया ।
 काराविया निवेणं, मदिया अज्जाइ तुठेणं ॥ ६२ ॥
 पव्वइया सा नरवर-मरिऊणं अट्ठजाण दोसेणं ।
 संजाया सुहसूइ, साहं पत्ता तुह सयासे ॥ ६३ ॥
 दहूणं देव ! तुमं, तुह पासपरिचित्तं महादेविं ।
 जायं जाईसरणं, संभरिअं तुह मए चरिअं ॥ ६४ ॥
 सोऊण तीइ वयणं, रोवंती भणइ सा महादेवी ।
 भयवइ कह मरिऊणं, संजाया पक्खिणी तुमयं ॥ ६५ ॥
 मा भूपसि कित्थियरि, उक्खित्ता अज्जमज्जजम्मेण ।
 कम्मवसेणं जीवो, तं नत्थिहं जं न पावेइ ॥ ६६ ॥
 तेण तुमं दिठंतो, दिन्नो नरनाहमहिबिया विसए ।
 सोऊण इमं राया, संतुट्ठो सूइगं भणए ॥ ६७ ॥
 सच्चो दिठंतोहं, दिन्नो तुम एत्थ महिलिया विसए ।
 ता तुठोहं पज्जणसु, जं इउं तं पणामेमि ॥ ६८ ॥
 पज्जणइ सुई निसुणसु, महइठो नाह अत्तणो जत्ता ।
 ता तस्स देसु जीयं, न हु कज्जं किं पि अन्नेण ॥ ६९ ॥
 हसिऊण भणइ देवी, देव तुमं कुणसु मज्जवयणेण ।
 पयाए पीईदाणं, ज्ञोयणदाणं च निच्चपि ॥ ७० ॥
 भणिया सा नरवइणा, वच्चसु जइ जहिद्वियं राणं ।
 मुक्कोय एस जत्ता, तुट्ठेण तुज्ज वयणेण ॥ ७१ ॥
 भणिओ य साद्विवाहो, पयाणं तंउल्लाणदाणं च ।
 पइदियहं दाव्वं, रासिं काऊण वित्तंते ॥ ७२ ॥
 जं आणवेइ देवो, इय भणिए भणइ कीरमिहुणं पि ।
 एस पसाओ सामिय, ! इय भणिउं जत्ति उट्ठीणं ॥ ७३ ॥
 पुव्वुत्ते चूअट्ठमे, गंतूणं पुन्नोहत्ता सूई ।
 नियनियम्मि पसूया, निष्पन्नं अंडयज्जगंति ॥ ७४ ॥
 अह तम्मि चेव समये, तीए सवक्की वि निययनीम्मि ।
 तम्मि उम्मि पसूया, संपुन्नं अंडगं एगं ॥ ७५ ॥
 जा सा चूणि निमित्तं, विणिग्गया तं दुमं पमुत्तूणं ।
 ता मच्छुरेण पढमा, आणइ तं अरुगं तीए ॥ ७६ ॥
 जा पच्छिमा न पिच्छइ, समागया तत्थ अत्तणो अरुं ।
 ता सफरिच्च विलोडइ, धरणियत्ते उक्खसंतत्ता ॥ ७७ ॥
 तं विलवंति य दट्ठं, पच्छावायेण तवियहिययाए ।
 पढमाए नेऊणं, पुणो वि तत्थेव तं मुक्कं ॥ ७८ ॥
 धरणियत्ते लुल्लिऊणं, अवं आरुहइ जाव नीरम्मि ।
 ता पिच्छइ तं ईरुं, सा कीरिय अमयसित्तच्च ॥ ७९ ॥
 वरुं च तं निमित्तं, कम्मं पढमाए दारुणविवागं ।
 पच्छायावेण हयं, धरियं चिय एगभवदुक्खं ॥ ८० ॥
 तम्मिय अंडयज्जुत्ते, संजाया सूइगा य सुअगो अ ।
 कीउंति यण्णिगुजे, समयंचिअ जणणिज्जणगेहिं ॥ ८१ ॥
 रइए तंउल्लकूणे, नरवइवयणाउ सालिखित्तम्मि ।
 चंचुपुडे गहिकुणं, वच्चइ तं कीरमिहुणं ति ॥ ८२ ॥
 अह अन्नया कयाई, चारणसमणो समागओ नाणी ।
 रिसहज्जिणेसरभवणे, वंदणहेउं जिण्णिदस्स ॥ ८३ ॥
 पुरनरनाजित्तिरेहो, देवं पुप्फक्खएहिं पूएउं ।
 पुच्छइ नमिऊण मुणिं, अक्खयपूयाफलं राया ॥ ८४ ॥
 अखंरुफुनियचोक्ख-क्खएहिं पुंजत्तयं जिणिदस्स ।

पुरश्चो नरा कुण्ठो, पायंति अखंडियसुहां ॥ ८५ ॥
 इय गुरुवयणं सोढं, अक्रयपूया ननुचलं लोभो ।
 दृष्टं सा सूर्य, पमणइ निअअत्तो कंतं ॥ ८६ ॥
 अल्ले वि नाह ! एवं, अक्रयपूजत्तण्ण जिणनाहं ।
 पूणो अचिरेणं, सिद्धिसुहं जेण पायेमो ॥ ८७ ॥
 एवं तीए जणिऊ-ण चंचुपेरे शिचिय चोक्खक्खपहिं ।
 रइअं जिणिइपुरश्चो, पुंजतिअं कोरमिहणेण ॥ ८८ ॥
 भणिअं अवचजुअलं, जणणीजणपहिं जिणवरिदस्स ।
 पुरश्चो मंचह अक्खे, पावह जेणक्खयं सुक्खं ॥ ८९ ॥
 इय पइदियहं कावं, अक्रयपूअं जिणिदमत्तीए ।
 आउक्खय गयाहं, चत्तारि वि देवज्ञोगमि ॥ ९० ॥
 नृत्तण देवसुक्खं, सो सुअजीवो पुणो वि चचिऊण ।
 मंजाओ हेमपुरे, राया हेमप्पहो नाम ॥ ९१ ॥
 सो वि य सूर्यजीवो, ततो चचिऊण देवलोणाओ ।
 हेमप्पहस्स भज्जा, जाया जयसुंदरी नाम ॥ ९२ ॥
 मा पच्चिमा वि सूर्य, संसारं डिमिऊण सा जाया ।
 हेमप्पहस्स रत्तो, रत्तनामा जारिया दुइया ॥ ९३ ॥
 अन्नाओ वि कंमणं, पंचमया जाव जारिया तस्स ।
 जायाओ पुण इट्ठा, पढमा ते भारिया दो वि ॥ ९४ ॥
 (संजाया पुण इट्ठा, पढमाओ भारिया दुइ) इति पागान्तरम् ।
 अह अन्नया नरिदो, दूसहजरतावतावियमरीरो ।
 चंदणजलुखिओ वि हु, बोअइ नूमीइ अप्पाणं ॥ ९५ ॥
 एवं अन्नविद्वणो, चिच्छ जा तिन्नि सत्तए राया ।
 ता मंतत्तंतकुसंजा, विज्जा वि परं मुहा जाया ॥ ९६ ॥
 उग्वोत्तरयइ सत्ती, दिज्जंति य बहुधिहाइ दणाइ ।
 जिणनवणेसु य पूआ, देवयाराहणाओ य ॥ ९७ ॥
 रयणी य पच्चिउमं, पयसी होऊण रक्खसो भणइ ।
 किं नुत्तो सि नरेसर, ! भणइ निवो कह णु मह निहा ॥ ९८ ॥
 ओआरणं करेउं, अप्पाणं जइ नरिद ! तुह भज्जा ।
 पक्खिवइ अगिक्कने, तो जीअं अन्नहा नत्थि ॥ ९९ ॥
 इअ भणिऊण नरिदं, विणिग्गओ रक्खसो नियछाणं ।
 राया विमिहयहियओ, चितइ किं इंदजालु सि ॥ १०० ॥
 किं वा दुक्खत्तेणं, अज्ज मए एस सुविण्णो दिट्ठो ।
 अहवा न होइ सुविणो, पच्चक्खो रक्खसो एसो ॥ १०१ ॥
 इत्तो विनयपसहिया, बोलीणा जामिणी नरिदस्स ।
 सदायच्चमिमि चडिओ, सुरो वि हु कमलिणीनाहो ॥ १०२ ॥
 रयणीए वुत्ततो, नरवइणा साहिओ सुमंतस्स ।
 तेण वि भणिउं किज्जउ, देव ! इमं जीयक्कज्जमि ॥ १०३ ॥
 परजीएणं नियजी-यरक्खणं न हु कुणंति सप्पुरिसा ।
 ता होउ मज्ज विहियं, इय भणिओ राइणा मंती ॥ १०४ ॥
 सहाविऊण सव्वाउ, मंतिणा नग्गस्स भज्जाओ ।
 कहिओ रक्खसभणिओ, वुत्ततो ताण नीसेसो ॥ १०५ ॥
 सोऊण मंतिवयणं, सव्वाओ नियजियस्स लोहेण ।
 ठाउं अहोमुहीओ, न दिंति मंतिस्स पडिवयणं ॥ १०६ ॥
 पप्फुल्लवयणकमला, उठेउं णणइ रई महादेवी ।
 मह जीविणए देवो, जइ जीवइ किं न पज्जत्तं ॥ १०७ ॥
 इय भणिप सो मंती, नवणगवक्खस्स हिट्ठभूमीए ।
 काराविऊण कुंडं, आरोहइ अगक्कट्टेहि ॥ १०८ ॥
 सा वि य कयसिगारा, नमिऊणं णणइ अत्तणो कंतं ।
 सामिय ! मह जीवेणं, जीवसु निवडामि कुंरुमि ॥ १०९ ॥

णणइ सदुक्खं राया, मज्ज कए देवि ! चयसु मा जीयं ।
 अणुहवियव्वं च मए, सयमेव पुराकयं कम्मं ॥ ११० ॥
 पनणइ चत्तणविज्जगा, सामिय ! मा भणसु एसिं वयणं ।
 जं जाइ तुज्ज कज्जे, तं सुलहं जीवियं मज्ज ॥ १११ ॥
 ओआरणं करेउं, अप्पाणं सावला वि नरवइणो ।
 भवणगवक्खे ठाउं, जलिए कुंरुमि पक्खिवइ ॥ ११२ ॥
 अह सो रक्खसनाहो, तीसे सत्तेण तोसिओ सहसा ।
 अप्पत्तं वि य कुंडे, हुयासदूरं समुक्खिवइ ॥ ११३ ॥
 भणिया रक्खसवइणा, तुट्ठो हं अज्ज तुज्ज सत्तेण ।
 मग्गसु जं हियइट्ठं, देमि वरं तुज्ज किं बहुणा ॥ ११४ ॥
 जणणिजणपहिं दिओ, हेमपहो महवरो किमन्नेण ।
 मग्गसु तह वि हु भदे, देवाण न दंसणं विहलं ॥ ११५ ॥
 जइ एवं ता एसो, मह भत्ता देव तुह पसाएण ।
 जीवउ वाहिविहीणो, चिरकालं होउ एस वरो ॥ ११६ ॥
 एवं ति पभणिऊणं, दिव्वालंकारभूसियं काउं ।
 कंचणपउमे मुत्तं, देवो हु अदंसणीहूओ ॥ ११७ ॥
 जीव तुमं भणइ जणो, सीसे पुप्फक्खए खिवेऊण ।
 नियजीवियदाणेणं, जीए जीवाविओ भत्ता ॥ ११८ ॥
 तुट्ठो तुह सत्तेणं, वरसु वरं जंपिए पियं तुज्ज ।
 भणिया पइणा पमणइ, देव वरो मह तुमं चेव ॥ ११९ ॥
 जीवियमुल्लेण तुए, वसीकओ हं सया वि कमलच्छि ।
 ता अन्नं करणीयं, भणसु तुमं भणइ सा हसिउं ॥ १२० ॥
 जइ एवं ता चिट्ठउ, एस वरो सामि ! तुह सयासमि ।
 अवसरवडियं एयं, पच्चिउस्सं तुह सयासाओ ॥ १२१ ॥
 अह अन्नया रईए, भणिया पुत्तत्थितीइ कुलदेवी ।
 जयसुंदरिपुत्तेणं, देमि वलिं होउ मह पुत्तो ॥ १२२ ॥
 भवियव्वयावसेणं, जाया दुन्हं पि ताए वरपुत्ता ।
 बहुलक्खणसंपुआ, सुहजणया जणणिजणयाणं ॥ १२३ ॥
 तुट्ठा रई वि चितइ, दिओ कुलदेवमाइ मह पुत्तो ।
 जयसुंदरिपुत्तेणं, कह कायव्वा मए पूआ ॥ १२४ ॥
 एवं चिन्तंतीए, लद्धो पूयाइ साहुणो वाओ ।
 नरवइवरेण रज्जं, काऊण वसे करिस्सामि ॥ १२५ ॥
 इय चित्तिऊण तीए, अवसरपत्ताइ पभणिओ राया ।
 जो पुण्वि पडिवन्नो, सो दिज्जउ मह वरो सामि ॥ १२६ ॥
 मग्गसु जं हियइट्ठं, देमि वरं जीवियं पि किं बहुणा ।
 जइ एवं ता दिज्जउ, मह रज्जं पंचदियहाइ ॥ १२७ ॥
 एव्वं ति पभणिऊणं, दिनं तुह पिये मए रज्जं ।
 पडिवन्नं तं तीए, महापसाउ ति काऊणं ॥ १२८ ॥
 पालइ सा तं रज्जं, पत्तो रयणीए पच्चिउमे जामे ।
 जयसुंदरीइ पुत्तं, आणावइ रोयमाणीए ॥ १२९ ॥
 तं न्हाविऊण वालं, चंदणपुप्फक्खपहिं पूएउं ।
 पडलयउवरिं काउं, ठावइ दासीइ सीसमि ॥ १३० ॥
 वच्चइ परियणसहिया, उज्जाए देवयाइ भवणमि ।
 वज्जिरत्तूररेणं, नच्चिर नरनारिलोएण ॥ १३१ ॥
 अह विज्जाहरवइणा, कंचणपुरसामिएण सूरेण ।
 वच्चंतेण नहेणं, दिट्ठो सो दारगो तेण ॥ १३२ ॥
 उज्जोयंतो गयणं, दिणयरतेउव्व निययतेएण ।
 गहिऊण तेण अलक्खं, अन्नं मयवालगं मुत्तुं ॥ १३३ ॥
 भणिया सुत्ता भज्जा, जंघोवरियावगं ठवेऊण ।
 उठह वहुं किं तोयारि, पिच्छसु निपशरणं जायं ॥ १३४ ॥

किं हससि तुमं सामिय !, हसिथा हं निग्विणेण देवेण ।
 किं कइया वि सुवच्छद, वंभापुत्तं च पसेवेइ ॥ १३५ ॥
 पभणइ पहसियवयणो, जइ मह वयणेण नत्थि सहइणं ।
 ता पिच्छेहि सयं चिय, नियपुत्तं रयणरासिं व ॥ १३६ ॥
 इय संसयहिययाप, परमत्थं साहिऊण सा भणिया ।
 नियपुत्तविरहियाणं, अम्हाणं एस पुत्तो त्ति ॥ १३७ ॥
 पमिवज्जिऊण एयं, नीओ नयरम्मि सो य पइदियहं ।
 परिवहेइ कलाहिं, सियपक्खगओ मियंकु व्व ॥ १३८ ॥
 सा वि य रइमयवालं, सीसोवरि नामिऊण देवीए ।
 आफालइ तं पुरओ, वत्थं वसियायले तुठा ॥ १३९ ॥
 गंतूण तओ भवणे, संपुन्नमणोरहा सुहं वसइ ।
 जयसुंदरी वि दियहा, सुयविरहे दुक्खिया गमइ ॥ १४० ॥
 कयविज्जाहरनामो, मयणकुमारुत्ति गहियवरविज्जो ।
 वच्चंतो गयणयत्ते, पिच्छइ तं अत्तणो जणणिं ॥ १४१ ॥
 भवणगवक्खारुढा, सुयसोयऊरंतनयणसव्विलेहिं ।
 अइनेहनिज्जेरेणं, उक्खित्ता मयणकुमरेण ॥ १४२ ॥
 तं दट्ठूण कुमारं, हरिसवसच्चं च नयणसव्विलेन ।
 सिंचंती अवलोयइ, पुणो पुणो निरुदिठीए ॥ १४३ ॥
 उक्खियवाहो लोओ, धाहावइ पुरवइए मज्झम्मि ।
 एसा हरिज्जइ धरिणी, नरवइणो उच्चकंठेण ॥ १४४ ॥
 अइसूरो वि हु राया, पयचारी किं करेइ गयणयत्ते ।
 खुज्जउ किं कुणइ फले, तरुसिहरपयठिए दिट्ठे ॥ १४५ ॥
 चित्तइ मणम्मि राया, दुक्खं खयखारसन्निहं जायं ।
 एगं सुअस्स मरणं, वीअं पुण जारियाहरणं ॥ १४६ ॥
 एवं दुक्खियहियओ, चिच्छइ राया नियम्मि नयरम्मि ।
 अहवा धरिणीहरणे, भण कस्स न जायए दुक्खं ॥ १४७ ॥
 अवहि विसएण नाउं, पुत्तं तं सुइगाइ देवीए ।
 मह जाया नियजणणी, धरिणीबुद्धिइ अवहरए ॥ १४८ ॥
 नियपुरपच्चासन्ने, सरवरपाढीइ चूययायाप ।
 जणणीसहिओ कुमरो, जा चिच्छइ ताव सा देवी ॥ १४९ ॥
 वानररूवं तह वा-नरीइ काऊण चूयसाहाप ।
 पभणइ वानररूवी, कामुयतित्थं इमं भज्जे ॥ १५० ॥
 तिरिओ वि एत्थ पक्खिओ, नित्थपभावेण लहइ मणुअत्तं ।
 मणुओ वि हु देवत्तं, पावइ नत्थित्थ संदेहो ॥ १५१ ॥
 ता खु पेच्छसु दोअि वि म-णुसाइ पच्चक्खदेवभूआइ ।
 एआइ मणे काउं, निवडामो इत्थ तित्थम्मि ॥ १५२ ॥
 जेण तुमं माणुसिआ, अम्हं पुण परिसो मणुस्सुत्ति ।
 होहामि त्ति पभणिअं, को नामं गिएहइ इमस्स ॥ १५३ ॥
 जो निअजणणिं पि इहं, धरिणीबुद्धीइ नेइ हरिऊण ।
 तस्स वि पावस्स तुमं, सामियरूवम्मि अहिवासो ॥ १५४ ॥
 सोऊण वानरीए, तं वयणं दो वि विह्वअमणाइ ।
 चित्तंति कहं एसा, मह जणणी सा वि कह पुत्तो ॥ १५५ ॥
 नेहेण हरिए वि हु, एसा मह जणइ जणणिवुद्धि त्ति ।
 सा वि य चित्तइ एसो, मह पुत्तो उअरजाओ त्ति ॥ १५६ ॥
 पुच्छइ संसयहियओ, कुमरो तं वानरिं पयत्तेणं ।
 भइ ! किं सच्चमिणं, जं तुमए भासियं वयणं ॥ १५७ ॥
 तीए जणियं सच्चं, जइ अज्ज वि तुज्झ अत्थि संदेहो ।
 ता एयम्मि निगुंजे, पुच्छसु वरनाणिणं साहुं ॥ १५८ ॥
 इय जणिऊणं सहसा, वानरजुअलं अदस्सणीहूअं ।
 सो वि य विम्वहियओ, पुच्छइ तं मुणिवरं गंतुं ॥ १५९ ॥

भयवं ! किं तं सच्चं, जं भणियं वानरीइ मह पुरओ ।
 मुणिवइणा वि हु भणिओ, सच्चं तं होइ नहु अविअं ॥ १६० ॥
 निच्चं चिट्ठामि ठिओ, कम्मक्खयकारणम्मि जायंतो ।
 हेमपुरे सविसेसं, साहिस्सइ केवली तुज्झ ॥ १६१ ॥
 इय भणिओ तं नमिउं, सहिओ जणणीइ सो गओ गेहं ।
 जणणिजणएहिं दिट्ठो, हरिसियहियएहिं सो विमणो ॥ १६२ ॥
 एगंतं ठविऊणं, चलणवलगेण पुच्छिया जणणी ।
 अम्मो साहेसु फुनं, कइ जणणीं मज्झ को जणओ ॥ १६३ ॥
 चित्तइ सा सविइका, किं एसो अज्ज पुच्छए एयं ।
 पभणइ पुत्तय ! अइ यं, तुह जणणी एस जणओ त्ति ॥ १६४ ॥
 सच्चं अम्मो एयं, तह वि हु पच्छामि जम्मदायारे ।
 तं परमत्थं पुत्तय !, तुइ जाणइ एस जणउ त्ति ॥ १६५ ॥
 तेण वि परितुट्ठेणं, कहिउं पनलाइवइयो तस्स ।
 तह पुण जणओ पुत्तय, विनाओ किंचि नहु सम्मं ॥ १६६ ॥
 भणिओ कुमरेण पुणो, एसा जा ताय आणिया नारी ।
 सा वानरीइ सिछा, एसा तुह जम्मजणणि त्ति ॥ १६७ ॥
 मुणिणा वि हु पुठेणं, एयं चिय साहिऊण भणिओ हं ।
 हेमपुरे गंतूणं, पुच्छसु तं केवलिं एयं ॥ १६८ ॥
 तो ताय तत्थ गंतुं, पुच्छामो केवलिं निरवसेसं ।
 जेएसो संदेहो, तुइइ मह जुअतंतु व्व ॥ १६९ ॥
 इय भणिऊणं कुमरो, चलिओ सह निययजणणिजणएहिं ।
 (इय भणिऊणं चलिओ सहिओ सह जणणि जणयलोएहिं
 इति पाठान्तरम्)

संपत्तो हेमपुरे, केवलियो पायमूलम्मि ॥ १७० ॥
 भत्तिभरनिभरंगो, केवलियो पायपंकयं नमिउं ।
 उवविओ धरणियले, सपरियणो सुरकुमार व्व ॥ १७१ ॥
 जयसुंदरी वि देवी, बहुनारिसहस्समज्झयारम्मि ।
 नियपुत्तेण समेया, निसुणइ गुरुभासियं वयणं ॥ १७२ ॥
 हेमपभो वि य राया, नियपुरनरनारिलोयपरियरिओ ।
 उवविओ गुरुमूले, निसुणइ गुरुभासियं वयणं ॥ १७३ ॥
 पत्थावं लहिऊणं, नरनाहो भणइ केवलिं नमिउं ।
 भयवं ! सा मह भज्जा, जयसुंदरि केण अवहरिया ॥ १७४ ॥
 भणिओ सो केवलियो, हरिया नरनाह ! निययपुत्तेण ।
 विम्वहियहियओ पभणइ, भयवं ! कह तीइ पुत्तु त्ति ॥ १७५ ॥
 जो आसि तीइ पुत्तो, सो वालो चेव हयकयंतेण ।
 कवलीकओ महायस, वीओ पुत्तो वि से नत्थि ॥ १७६ ॥
 अलियं न तुमह वयणं, वीओ पुत्तो वि तिय से नत्थि ।
 इय विहडियकज्जं पिव, संतावं संसओ कुणइ ॥ १७७ ॥
 भणइ मुणिदो नरवर ! सच्चं मा कुणसु संसयं एत्थ ।
 भयवं ! कहसु कहं चिय, अइगरुअं कोउअं मज्झ ॥ १७८ ॥
 कुलदेवयपूयाए, बुत्तंतो ताव तस्स परिकहिओ ।
 जा वेयणपुराओ, समागओ तम्मि उज्जाणे ॥ १७९ ॥
 विप्फारियनयणजुओ, जोयइ नरवइ तमुज्जाणं ।
 तो विहडियसंदेहो, कुमरो वि हु नमइ तं जणयं ॥ १८० ॥
 आलिगिऊण पुत्तं, असुजलभरियलोयणो राया ।
 रोयंतो बहुदुक्खं, दुक्खेण य वोहिओ गुरुणा ॥ १८१ ॥
 (रोयंतो वि हु दुक्खं दुक्खेण विवोहिओ गुरुणा
 इति पाठान्तरम्)

जयसुंदरी वि पइणो, चवणे गहिऊण तीइ तह रुअं ।

जह देवाण वि परिसा, बहुदुक्खसमाउत्ता जाया ॥ १८२ ॥
 (जह देवाण वि दुक्खं, परिसा मज्जे समावसं इत्यपि)
 पुटो य ख्यंतीए, भयं ! मह केण ! कम्मणा एसो ।
 जाओ पुत्तविमोहो, सोवसवरिस्ताण अद्दुसहो ॥ १८३ ॥
 मालसमुत्तगाहं, सदभये जं सुद्धहे वविया ।
 अंनं हरिण तप, सुअवरिहो नेण तुह जाओ ॥ १८४ ॥
 जो दुक्खं व सुहं वा, तिन्नतुमसिंत्तं पि देह अन्नस्म ।
 सो वीअं व सुखिसे, परउए बहुफलं लए ॥ १८५ ॥
 सोउं गुरुणो वयणं, गुरुपञ्चायावताधियमणाए ।
 जम्मंतरदुक्खरियं, समधिआ सा रई तीए ॥ १८६ ॥
 तीए वि उच्छिखं, जणिआ जयमुंदरी वि नमिज्जं ।
 स्वमु तुमं पि महासहं, जं जणियं तुज्ज सुयदुक्खं ॥ १८७ ॥
 जणिआ गुरुणा पुन्न वि, जं वरं मच्छरेण गुरु कम्मं ।
 तं अज्ज खामणाए, खावयं तुम्हेहि नीसेसं ॥ १८८ ॥
 जणइ नरिंदो भयं, ! अन्नभवे किं कयं पावं ।
 जेण सह मुंदरीए, कुमरेण य पाविंयं रज्जं ॥ १८९ ॥
 जह मुगजम्ममि तप, जिणपुरओ अक्खणहिं शिविज्जण ।
 संपत्तं देवत्तं, रज्जं तह साहियं गुरुणा ॥ १९० ॥
 जं जम्मंतरविहियं, अक्खयपुंजत्तयं जिणिदस्स ।
 तस्स फलं तुह अज्ज वि, तइयनेवे सासयं ठाणं ॥ १९१ ॥
 इय भणिय सो राया, रज्जं दाऊण रइयपुत्तस्स ।
 जयमुंदरिकुमरज्जो, पञ्चइं गुरुसमावसि ॥ १९२ ॥
 पञ्चज्जं पावडं, सहिओ दइआइ तह य पुत्तेण ।
 मरिऊण समुप्पन्नो, सत्तमकप्पमि सुटनाहो ॥ १९३ ॥
 तत्तो वुओ समाणो, वरूण स माणुसत्तणं परमं ।
 पाविहिंसि कम्ममुक्को, अक्खयनुक्खं गओ मुक्खं ॥ १९४ ॥
 जह राया तह जाया, कुमरो देवत्तणमि जा देवी ।
 चत्तारि वि पत्ताइं, अक्खयसुक्खमि सुक्खमि ॥ १९५ ॥

अक्षययापार-अकृताचार-पुं० ६ व० । स्थापितादिपरिहारिणि
 आचारवति साधौ, “आहाकम्मुहेसिय, उवियरइयकीयकारियं
 ठेज्जं । उम्मिणाहनुमाले, वणं भिगाजीवणणिकाए । परिहरति-
 सणं पाणं, सेज्जोवहिपूतिसंकिंमीसं । अक्खयमभिण्णममए,
 संकिलिं वसए जुत्तो” एतानि (आध्याकर्मादीनि) योऽज्ञानपा-
 नादिशुभयोपधौश्च परिहरति । तथा पूतिं सशंकितं मिश्रम, उप-
 लक्षणमेतत् अश्ववपूरकादिकं च यथावश्यकं युक्तं सोऽकृ-
 ताचारः । व्य० ३३ उ० ।

अक्षययापारया-अज्ञताचारता-स्त्री० परिपूर्णाचारतायाम् व्य०
 ३ उ० ।

अक्षययापारसंपन्न-अकृताचारसंपन्न-त्रि० अकृतेनाचारेण सं-
 पन्नः । अकृताचारसंपन्न, व्य० ३ उ० ।

अक्षर-अक्षर-न० न करतीत्यक्षरं स्वभावात्कदाचिन्न प्रच्यव-
 त इति कृत्वाऽक्षरम् परं तत्त्वे, “ज्योतिः परं परस्ताव, तमसो यद्-
 गीयते महामुनिभिः । आदित्यवर्णममलं, ब्रह्माद्यैरक्षरं परं ब्रह्म”
 पो० १५ वि० । न क्षरति न विनश्यतीत्यक्षरम् । केवलज्ञाने,
 “सर्वजीवाणं पि यणं अक्षरस्स अणंतभाजिच्छुग्धाडिओ”
 विशेषेण क्षर संचक्षते, न करतीति अक्षरम् । ज्ञाने, चेतनायाम्, ।
 न खल्विदमनुपयोगेऽपि प्रच्यवते ततोऽक्षरमिति, आ० म० प्र० ।

न क्षरइ अणुवओगे, वि अक्षरं सो य चेयणाजावो ।

अविमुचनयाणमयं, मुचनयाणक्खरं चेव ।

‘क्षर संचक्षते’ न क्षरति न चक्षत्यनुपयोगेऽपि न प्रच्यवत इ-
 त्यक्षरः स च चेतनाभावो जीवस्य ज्ञानपरिणाम इत्यर्थः । (तथा
 च तन्मतानुसारिणो भीमांसका नित्यं शब्दमालिष्ठमानाः प्र-
 ताता एव । वृ० १ उ०) एतच्च नैगमादीनामविमुचनयानां मतं
 शुद्धानां तु ऋजुसूत्रादीनां ज्ञानं क्षरमेव न त्वक्षरमिति ।

कुत इत्याह—

उवओगे चिय नाणं, मुच्छा इच्छंति जन्न तविरहे ।

उप्पायजंगुरा वा, जं तेसिं सव्वपज्जाया ॥

यस्माच्छुचनया उपयोग एव सति ज्ञानमिच्छन्ति नानुपयोगे,
 घटादेरपि ज्ञानवत्त्वप्रसङ्गात् । अथवा यस्मात्तेषां शुचनयानां
 सर्वेऽपि मृदादिपर्याया घटादयो भावा उत्पादभङ्गुरा उत्पत्ति-
 मन्तो विनश्वराश्चेत्यर्थः । न पुनः केचिन्नित्यत्वादक्षरा इति
 भावः । अतो ज्ञानमप्युत्पादभङ्गुरत्वेन क्षरमेवेति प्रकृतम् । अ-
 शुचनयानां तु सर्वभावानामप्यवस्थितत्वाज्ज्ञानमप्युत्तरमि-
 ति । एवं तावदभिलापहेतोर्धिज्ञानस्याक्षरतानक्षरता चोक्ता ॥

इदानीं साभिलाषविज्ञानविषयभूतानामभिलाष्यार्था-
 नामप्यक्षराऽनक्षरते नयविभागेनाह ।

अभिलप्पा वि य अत्था, सव्वे दव्वट्टयाए जं निच्चा ।

पज्जाणानिच्चा, तेण खरा अक्खरा चेव ॥

अभिलप्सा अप्यर्था घटव्योमादयः सर्वेऽपि द्रव्यास्तिकन-
 याभिप्रायेण नित्यत्वादक्षराः, पर्यायास्तिकनयाभिप्रायेण त्व-
 नित्यत्वात् क्षरा एवेति (क्षरा घटादयोऽक्षरा धर्मास्तिकाया-
 दयः । वृ० १ उ०)

अथ परोऽतिव्याप्तिमुद्गावयन्नाह ।

एवं सव्वं चिय ना-णमक्खरं जमविसेसियं सुत्ते ।

अविमुचनयमएणं, को सुयनाणे मइविसेसो ॥

यदि न क्षरतीत्यक्षरमुच्यते एवं सति सर्वं पञ्चप्रकारमपि
 ज्ञानमविशुचनयमतेनाक्षरमेव । सर्वस्यापि ज्ञानस्य स्वरूपा-
 विचलनाद्यतश्चाविशेषितं सूत्रेऽप्यभिहितमित्युपस्कारः । त-
 द्वा “सर्वजीवाणं पि यणं अक्खरस्स अणंतभाजो निच्छु-
 ग्धाडियओत्तं” तत्र ह्यक्षरशब्देनाविशेषितमेव ज्ञानमभिप्रेतं
 न पुनः श्रुतज्ञानमेव अपरं च सर्वेऽपि भावा अविशुचनया-
 मिप्रायेणाक्षरा एव ततोऽत्र श्रुतज्ञाने को मतिविशेषो येनो-
 च्यते ‘अक्षरश्रुतमनक्षरश्रुतम्’ इति ।

अत्रोत्तरमाह ।

जइ वि हु सव्वं चिय ना-णमक्खरं तह वि रुद्धिओ वओ ।

जणइ अक्खरमिहरा, न खरइ सव्वं सजावाओ ॥

यद्यप्यविशुचनयमभिप्रायेण सर्वमपि ज्ञानमक्षरं तथा सर्वेऽपि
 भावा अक्षरास्तथापि रुद्धिवशाद्वर्णा एवेहाक्षरं भण्यते इतर-
 था तु यथा त्वं भणसि तथैवाशुचनयमतेन सर्वमपि वस्तुस्व-
 भावान्न क्षरत्येवेति । इदमुक्तं भवति । यथा गच्छतीति गौः,
 पङ्के जातं पङ्कजम्, इत्याद्यविशिष्टार्थप्रतिपादका अपि शब्दा
 रुद्धिवशाद्विशेषा एव वर्तन्ते, तथाऽत्राप्यक्षरशब्दो वर्ण एव
 वर्तते । वर्णं च श्रुतमेवेत्यतस्तदेवाक्षरानक्षररूपमुच्यत इति ।
 विशेषेण न० ।

अत्थे य खरः न य जेणखरं तेणं ।

अर्थानभिधेयान् क्षरति संशब्दयतीति निरुक्तिविधिनार्थकारलोपादक्षरम् । अथवा क्षीयत इति क्षरम् । अन्योन्यवर्णसंयोगे अनन्तानर्थान् प्रतिपादयति न च स्वयं क्षीयते तेनाक्षरमिति भावः । वर्णैः, स च स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधा भवति । विशेषः । तत्र रुद्विवशादक्षरं वर्ण इत्युक्तम् ॥

तच्च त्रिविधं भवतीति दर्शयति ।

से किं तं अक्षरसुयं १ त्रिविधं पन्नत्तं । तं जहा सन्न-
खरं वंजणखरं लक्षिखरं । से किं तं सन्नखरं २ अ-
क्षरस्स संज्ञाणागिदं । सेत्तं सन्नखरं । से किं तं वंजणखरं
वंजणखरं अक्षरस्स वंजणाजिलावो सेत्तं वंजणखरं ।
से किं तं लक्षिअखरं लक्षिअखरं अक्षरलक्षिस्स
लक्षिअखरं समुपज्झइ । तं जहा सोइंदियलक्षिखरं
चकिंदियलक्षिखरं घाणिंदियलक्षिखरं रसणिंदिय-
लक्षिखरं फासिंदियलक्षिखरं नोइंदियलक्षिखरं सेत्तं
लक्षिअखरं सेत्तं अक्षरसुयं ।

(से किं तमित्यादि) अथ किं तदक्षरश्रुतं ? सूरिराह—अक्षर-
श्रुतं त्रिविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं लब्धक्षरम् ।
तत्र 'क्षर संचलने' न क्षरति न चलनीत्यक्षरं ज्ञानम् । तद्धि
जीवस्वाभाव्यादनुपयोगेऽपि तत्त्वतो न प्रच्यवते । यद्यपि च
सर्वज्ञानामेवमविशेषेणाक्षरं प्राप्नोति तथापीह श्रुतज्ञानस्य प्र-
स्तावादक्षरं श्रुतज्ञानमेव द्रष्टव्यं न शेषमित्थंभूतभावाक्षरकार-
णं चाकारादिवर्णजातम्, ततस्तदप्युपचारादक्षरमुच्यते, तत-
श्चाक्षरं च तच्छ्रुतं च श्रुतज्ञानं चाक्षरश्रुतं भावश्रुतमित्यर्थः ।
तच्च लब्धक्षरश्रुतं वेदितव्यम् । तथा अक्षरात्मकमकारादि-
वर्णात्मकं श्रुतमक्षरश्रुतं द्रव्यश्रुतमित्यर्थः । तच्च संज्ञाक्षरं व्य-
ञ्जनाक्षरं च द्रष्टव्यम् । अथ किं तत् संज्ञाक्षरम् । अक्षर-
स्याकारादेः संस्थानाकृतिः संस्थानाकारः । तथाहि—सं-
ज्ञायतेऽनयेति संज्ञा नाम तन्निबन्धनं तत्कारणमक्षरं संज्ञा-
क्षरम् । संज्ञा च निबन्धनमाकृतिविशेषः । आकृतिवि-
शेष एव नाम्नः करणात् व्यवहरणाच्च । ततोऽक्षरस्य
पट्टिकादौ संस्थापितस्य संस्थानाकृतिः संज्ञाक्षरमुच्यते ।
तच्च ब्राह्म्यादिद्विपिभेदतोऽनेकप्रकारम् । तत्र नागरीद्विपि-
मधिकृत्य प्रदर्श्यते, मध्यस्थापितसुहृत्सिद्धिवेशसदृशो रेखा-
सन्निवेशविशेषेणेकारः । वक्तीचूतश्च सारमेयपुच्छसन्नि-
वेशसदृशो ढकार इत्यादि तदेतत्संज्ञाक्षरम् । अथ किं तद्
व्यञ्जनाक्षरम् । आचार्य आह—व्यञ्जनाक्षरमक्षरस्य व्यञ्जनाभि-
लापः । तथाहि—व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेन घट इव व्यञ्जनज्ञा-
व्यकारमकारादिकवर्णजातं तस्य विवक्षितार्थमभिव्यञ्जकत्वात् ।
व्यञ्जनं च तदक्षरं च व्यञ्जनाक्षरं ततो युक्तमुक्तं व्यञ्जनाक्षर-
मक्षरस्य व्यञ्जनाभिलापः । अक्षरस्याकारादेर्वर्णजातस्य व्यञ्ज-
नेन अत्र प्रावे अनट् । व्यञ्जकत्वेनाभिलाप उच्चारणमर्थव्यञ्जक-
त्वेनोच्चार्यमाणमकारादिवर्णजातमित्यर्थः (से किं तमित्यादि)
अथ किं तत् लब्धक्षरम् । लब्धिरुपयोगः, स चेह प्रस्तावात्
शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी गृह्यते, लब्धिरूपमक्षरं लब्धक्षरं
भावश्रुतमित्यर्थः । (अक्षरलक्षिस्सेत्यादि) अक्षरेऽक्षरस्यो-
च्चारणेऽवगमं वा लब्धिरस्य सोऽक्षरलब्धिकस्तस्याकाराद्यक्षरा-
नुविद्धश्रुतलब्धिसमन्वितस्येत्यर्थः । लब्धक्षरं प्रावश्रुतं समुत्प-

द्यते, शब्दादिग्रहणसमनन्तरमिन्द्रियमनोनिमित्तं शब्दार्थपर्या-
लोचनानुसारि 'शङ्कोऽयम्' इत्याद्यक्षरानुविद्धं विज्ञानमुप-
जायत इत्यर्थः ।

नन्विदं लब्धक्षरं संज्ञिनामेव पुरुषादीनामुपपद्यते नासंज्ञि-
नामेकेन्द्रियादीनां तेषामकारादिवर्णानामवगमे उच्चारणे वा ल-
ब्धसंभवात् । न हि तेषां परोपदेशे श्रवणं संभवति येनाकारादि-
वर्णानामवगमादि भवेत् । अथ चैकेन्द्रियादीनामपि भावश्रुत-
मिष्यते । तथाहि—पार्थिवादीनामपि भावश्रुतमुपवर्ण्यते "द्व-
सुयाज्ञावमि वि, भावसुयं पत्थिवाङ्गं" इति वचनप्रामाण्या-
त् । प्रावश्रुतं च शब्दार्थपर्यालोचनानुसारिविज्ञानं शब्दार्थपर्या-
लोचनं चाक्षरमन्तरेण न भवतीति सत्यमेतत् । किं यद्यपि
तेषामेकेन्द्रियादीनां परोपदेशश्रवणासंभवस्तथापि तेषां तथा-
विधत्तयोपशमाभावतः कश्चिद्व्यक्तोऽक्षरलाभो भवति यद्वशा-
दक्षरानुपपन्नं श्रुतज्ञानमुपजायते इत्थं चेतदङ्गीकर्तव्यम् । तथा-
हि—तेषामप्याहाराद्यभिलाप उपजायते, अग्निवापश्च प्रार्थना, सा
च यदीदमहं प्राप्नोमि ततो भव्यं भवतीत्याद्यक्षरानुविद्धं,
ततस्तेषामपि काचिद्व्यक्ताक्षरलब्धिरवश्यं प्रतिपत्तव्या तत-
स्तेषामपि लब्धक्षरं भवतीति न कश्चिदोपः । तच्च लब्ध-
क्षरं पोढा । तद्यथा (श्रोत्रेन्द्रियलब्धक्षरमित्यादि,) इह
यत् श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दश्रवणे सति शङ्कोऽयमित्याद्यक्षरानु-
विद्धं शब्दार्थपर्यालोचनानुसारिविज्ञानं तत् श्रोत्रेन्द्रियलब्धक्षरं
तस्य श्रोत्रेन्द्रियनिमित्तत्वात् । यत्पुनश्चक्षुषा आम्नफलाद्युपप-
न्नमाम्नफलमित्याद्यक्षरानुविद्धं शब्दार्थपर्यालोचनात्मकं विज्ञानं
तच्चक्षुरिन्द्रियलब्धक्षरमेव । श्रोत्रेन्द्रियलब्धक्षरमपि प्रावनीय-
म् (सेत्तमित्यादि) तदेतत् लब्धक्षरं तदेतदक्षरश्रुतम् । न० ।
वृ० । कल्प० । आ० चू० विशेषः ॥

अत्थाभिवंजगं वं—जणखरं इच्छितेतरं वदतो ।

रूवं च पगासेणं, विज्जति अत्थो जणो तेणं ॥

इह यद्विवक्षितं तदेव यदि वदति यथा अभ्वं भणिष्यामीति
तदेवं श्रूते तदा तदीप्सितमन्यद्विवक्षिताऽन्यच्चेष्टुच्चरति तदा
तदितरादनीप्सितमीप्सितमितरं वा वदतो यदर्थान्निव्यञ्जकम-
भिधानं तद् व्यञ्जनाक्षरम् । अथ कस्माद्व्यञ्जनाक्षरमुच्यते
नाभिधानाक्षरमत आह—रूपमिव घटादिकमिव प्रकाशेन
दीपादिना तमसि वर्तमानम् अर्थो घटादिर्यतो यस्माद्व्यज्यते
प्रकटीक्रियते तेन कारणेन व्यञ्जनाक्षरमित्युच्यते ॥

तं पुण जहत्थनियतं, अजहत्थं वा वि वंजणं दुविहं ।

एगमणेगपरिययं, एमेव य अक्षरेसुं पि ॥

तत् पुनर्व्यञ्जनं द्विविधम् यथार्थनियतमयथार्थं च । यथार्थ-
नियतं नामान्वर्थयुक्तं, यथा क्षपयतीति क्षपणः, तपतीति तपन
इत्यादि । अयथार्थं यथा—नेच्छं गोपयति तथापीन्द्रगोपकः ।
न पदमश्नाति तथापि पद्माश इत्यादि । अथवा तद् व्यञ्जनं
द्विधा एकपर्यायमनेकपर्यायं च । एकः पर्यायोऽभिधेया यस्य
तदेकपर्यायम् । यथा अलोकः स्थण्डिलमित्यादि । अलोकशब्देन
ह्यलोकत्वलक्षण एक एव पर्यायोऽभिधीयते । स्थण्डिलशब्देन
स्थण्डिलत्वमेकमिति । अनेके पर्याया अभिधेया यस्य तदनेक-
पर्यायम् । यथा जीव इति जीवशब्देन हि जीवोऽप्युच्यते
सत्त्वोऽपि प्राण्यपि भूतोऽपि च । जीवादयश्च प्रतिनियतविशे-
षाः । तथा चोक्तम् । "प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ता, भूताश्च तरवः
स्मृताः जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः" ततो

भवति सामान्येन जीवशब्दस्यानेकपर्यायाभिधायकत्वमिति । एवमेव एकानेकभेदेनाक्षरेष्वपि दृष्टव्यम् । तद्यथा—द्विविधं व्यञ्जनमेकाक्षरमनेकाक्षरं च । एकाक्षरं धीः श्रीरित्यादि । अनेकाक्षरं बीणा सता माता इत्यादि ।

सकृत्पाययन्नासा-विणिजुत्तं देसतो अणोगविहं ।

अजिहाणं अजिधेया-तो होइ भिन्नं अभिन्नं च ॥

अथवा द्विकारं संस्कृतं प्राकृतभाषादिनियुक्तं च, यथा-वृक्षः रक्तो इति । देशतो नानादेशानां अन्वयेकविधम्, यथा-मागधानामोदनो लाटानां कूरो द्रमिलानां चैरोऽन्वयानामिना-फुरिति, तथा तदभिधानं व्यञ्जनाक्षरमभिधेयात् भिन्नमभिन्नं च । तत्र भिन्नं प्रतीतं, तादात्म्याभावात् ।

तमेव तादात्म्याभावमाह-

सुरअग्निमोगुच्चा-रणम्मि जम्हाउ वयणसवणाणं ।

न वि ठेओ न वि दाहो, न वि पूरणं तेण जिन्नं तु ॥

यस्मात् सुरशब्दोच्चारणे अग्निशब्दोच्चारणे मोदकशब्दोच्चारणे च यथाक्रमेण वदतो वदनस्य श्रवणतः श्रवणस्य न छेदो नापि दाहो नापि पूरणमतो जायतेऽभिधेयादभिधानं भिन्नम्, अन्यथा तादात्म्यवन्धनात् सुरादयोऽपि तत्र सन्तीति वदनस्य श्रवणस्य च वेदादिप्रसङ्गः । अजिघत्वं नाम संयद्धत्वम् । तथा च लोकेऽप्यभिन्नशब्दः संयद्धवाची व्यवहियते यथाऽयमस्माकं स्वादनपानेनाभिन्नः संयद्ध इत्यर्थः ।

ततस्तदेव संयद्धत्वं भावयति-

जम्हाउ मोगे अजि-हियम्मि तत्येव पच्चओ होई ।

न य होइ सो अणत्ते, तेण अजिन्नं तदत्थातो ॥

यस्मान्मोदके अजिहिते तत्रैव मोदके प्रत्ययो जवति नान्यत्र, न च स नियमेन तत्र प्रत्ययोऽन्यत्वेऽसंयद्धत्वे सति भवति संयद्धाभावतो नियामकाभावेनान्यत्रापि तत्प्रत्ययप्रसङ्गः, तेन कारणेन जायते तदभिधानमर्थादभिन्नमर्थेन सह वाच्यवाचक-भावसंयद्धम् ।

एकैकमक्षरस्स उ, सप्पज्जाया हवंति इयरे य ।

संयद्धमसंयद्धा, एकैका ते भवे दुविहा ॥

व्यञ्जनस्य यान्यक्षराणि तस्याक्षरस्यैकैकस्य द्विविधाः पर्यायाः स्वपर्याया इतरे च परपर्यायाश्च । तत्र वर्णस्त्रिधा-ह्रस्वो दीर्घः प्लुतश्च । पुनरैकैकस्त्रिधा-वदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्च । पुनरैकैको द्विधा-सानुनासिको निरनुनासिकश्च । एवमष्टादशप्रकारोऽवर्णः । उक्तं च-"ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च, त्रैस्वर्योपनयेन च । अनुनासिकभेदाच्च, संख्यातोऽष्टादशात्मकः" एते अवर्णस्य त्रयः पर्यायाः, तथा ये एकैकाक्षरसंयोगतोऽक्षरसंयोगत एव यावन्तो घटन्ते संयोगास्तावत्संयोगवशतो येऽवस्थाविशेषा ये च तत्तदर्थं अभिधायकत्वस्वभावास्तेऽपि तस्य स्वपर्याया इतरे तत्रा-सन्तः परपर्यायाः । एवमिवर्णादीनामपि स्वपर्यायाः परपर्यायाश्च वक्तव्याः । येऽपि परपर्यायास्तेऽपि तस्येति व्यपादिश्यन्ते । व्यवच्छेद्यतया तेषां तद्विशेषकत्वात्, यथाऽयं मे पर इति । ते च स्वपर्यायाः, परपर्यायाश्च एकैके द्विविधा भवन्ति । तद्यथा-संयद्धा असंयद्धाश्च ।

एतदेव भावयति-

अत्यिच्छे संयद्धा, हुंति अकारस्स पज्जाया जे उ ।

ते चेव असंयद्धा, नत्यिच्छे णं तु सन्वे वि ॥

ये अकारस्य पर्यायाः स्वपर्यायास्ते तत्रास्तित्वेन संयद्धा भवन्ति, नास्तित्वेन पुनस्त एव सर्वेऽप्यसंयद्धाः, तत्र तेषां नास्तित्वान्नावात् ।

एमेव असंता वि उ, नत्यिच्छे णं तु ह्येति संयद्धा ।

ते चेव असंयद्धा, अत्यिच्छे णं अजावत्ता ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेणासन्तः परपर्याया, अपि नास्तित्वेन प्रवन्ति संयद्धाः । ते चैवं परपर्याया अस्तित्वेनासंयद्धाः, तेषाम-स्तित्वस्य तत्राभावत्वात् ।

अत्रैव निदर्शनमाह-

धरुसहे धरुकारा, हवंति संयद्धपज्जाया एते ।

ते चेव असंयद्धा, हवंति रहसहमाईसु ॥

घटशब्दे ये घकारटकाराकारास्तेषां ये पर्यायास्ते एते भवन्ति । तत्रास्तित्वेन संयद्धास्तेषां तत्र विद्यमानत्वात्, त एव घकारटकाराकारपर्यायाः रथशब्दादिषु भवन्ति अस्तित्वे-नासंयद्धाः, तेषां तत्राभावात् । तदेवमस्तित्वेन स्वपर्यायास्तत्र संयद्धा अन्यत्र चासंयद्धा उपदर्शिताः । एतदुपदर्शनेनैतदर्थोदापन्नम् । ते स्वपर्यायास्तत्र नास्तित्वेनासंयद्धा अन्यत्र तु संयद्धाः । तथा ये रथशब्दस्य स्वपर्यायास्ते तत्रास्तित्वेन संयद्धास्तेषां तत्र विद्यमानत्वात्, घटशब्दे न संयद्धास्तेषां तत्रासत्वात् त एव च रथशब्दे नास्तित्वेनासंयद्धा घटशब्दे तु संयद्धा इति । तदेवं स्वपर्यायाः परपर्यायाश्च प्रत्येकं संयद्धा असंयद्धाश्च निदर्शिताः ।

अधुना स्वपर्यायान् दर्शयति-

संयुत्तासंयुत्तं, इय लभते जेसु जेसु अत्येसु ।

विणिओगमक्खरं ते-सिं ह्येति सभावपज्जाया ॥

इत्येवं घटशब्दरथशब्दादिगतेन प्रकारेण संयुक्तमसंयुक्तं वाऽक्षरमकारादिकं येषु येष्वर्थेषु त्रिनियोगं लभते ते तेषां स्वभावपर्यायाः स्वपर्याया भवन्ति । अर्थादिदमायातम् अपरे परपर्याया इति । तदेवमभिहितं व्यञ्जनाक्षरम् । तदभिधाना-च्चाभिहितं त्रिविधमप्यक्षरम् । वृ० १ उ० ।

लब्ध्यक्षरमाह-

जो अक्खरोवलंभो, सा दप्पी तं च होइ विष्ठाणं ।

इंदियमणोनिमित्तं, जो आवरणक्खओवसमो ॥

योऽक्षरस्योपलम्भो लाभः सा लम्भनं लब्धिः, तल्लब्ध्यक्षर-मित्यर्थः । तच्च किमित्याह-इन्द्रियमनोनिमित्तं श्रुतग्रन्थानु-सारि विधानं श्रुतज्ञानोपयोग इत्यर्थः । यश्च तज्ज्ञानोपयोगो यश्च तदावरणकर्मक्षयोपशम एतौ द्वावपि लब्ध्यक्षरमिति भावार्थः । उक्तं त्रिविधमप्यक्षरम् ।

अथात्र किं द्रव्यश्रुतं किं वा भावश्रुतमित्याह-

दब्बसुर्यं सप्पावं-जणक्खरं जावमुत्तमियरं तु ।

मइसुयविसेसणम्मि वि, मोत्तूणं दब्बसुत्तं ति ॥४॥

संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं चैते द्वे अपि भावश्रुतकारणत्वात् द्रव्य-श्रुतम्, इतरत्तु लब्ध्यक्षरं भावश्रुतम् । अत्र विनेयः प्राह-ननु पूर्वं मतिश्रुतभेदविचारे येयं गाथा प्रोक्ता "सोइंदिवोलखी, होइ सुर्यं सेसर्यं तु मइनाणं । मोत्तूणं दब्बसुत्तं, अक्खरलंभो य सेसेसु चि" अस्यां किमस्य त्रिविधस्याक्षरस्य संग्रहोऽस्ति, श्रुतविचारस्य तत्रापि प्रस्तुतत्वात्, यद्यस्ति तर्हि दर्शयतां कथ-

मसौ ? अथ नास्ति तर्ह्यत्रापि किमनेनाप्रस्तुतेन इति । सूरिः
पूर्वापरग्रन्थसंवादं दिदर्शयिषुस्तत्राप्यस्याक्षरत्रयस्य संग्रह-
मुपदर्शयति (मइसुयेत्यादि) मतिश्रुतविशेषणेऽपि मतिश्रुतमे-
द्विचारेऽपि “सोइदिओवलक्षी” इत्यादिगाथायां “मोचूणं
दवसुयं” इत्यनेन गाथावयवेन किमित्याह—

दवसुयं ससुखर-मखरलंभोति भावसुयसुचं ।

सोओवलक्षिवयणे, ए वंजणं भावसुचं च ॥

संज्ञाक्षरमुक्तम्, कथंभूतमित्याह—द्रव्यश्रुतं भावकारणत्वात्
द्रव्यश्रुतरूपम् “अक्षरलंभो य सेसेसु चि” अनेन त्ववयवेन
लब्धक्षरमुक्तमिति शेषः । कथंभूतमित्याह—भावश्रुतं विज्ञाना-
त्मकत्वात् भावश्रुतरूपं “सोइदिओवलक्षी होइ सुयं” इत्य-
नेन त्ववयवेन श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिर्यस्य शब्दस्येति बहुव्रीहि-
समासाश्रयणात्, व्यञ्जनं व्यञ्जनाक्षरमुक्तम् । श्रोत्रेन्द्रिय-
स्योपलब्धिर्विज्ञानमिति पट्टीसमासाङ्गीकरणेन तु पुनरपि
लब्धक्षरं भावश्रुतरूपमभिहितमित्येवं न पूर्वापरविसंवादः ।

ननु लब्धक्षरं कथं प्रमाता लभत इत्याह—

पञ्चखर्मिदियमणे—हि द्वाब्धः द्विगेण वखरं कोइ ।

द्विगमणुमाणमसे, सारिखार्इ पभासंति ॥

तच्चाक्षरं लब्धक्षरं कश्चित्प्रत्यक्षं लभते प्रत्यक्षरूपतयैव
कस्यचिदुत्पद्यत इत्यर्थः । काभ्यां कृत्वा इत्याह—इन्द्रियमनो-
भ्याम्, इन्द्रियमनौनिमित्तं यद् व्यवहारप्रत्यक्षं तत्र कस्यचि-
द्व्यक्षरं श्रुतज्ञानरूपमुपजायत इत्यर्थः । अन्यत्तु लिङ्गेन धूमा-
दिना तदुत्पद्यते, धूमादिलिङ्गं दृष्ट्वा अग्न्यादिज्ञानरूपं तत्क-
स्यचिदुत्पद्यत इत्यर्थः । लिङ्गं किमुच्यते इत्याह—अनुमा-
नमिति । ननु लिङ्गग्रहणं संबन्धस्मरणाभ्यामनु पञ्चान्मानमनु-
मानं लिङ्गजं ज्ञानमुच्यते । कथं लिङ्गमेवानुमानमिति चेत्-
इत्यम्, किं तु कारणे कार्योपचारादप्यनुमानम्, यथा प्रत्यक्ष-
ज्ञानजनको घटोऽपि प्रत्यक्ष इति । तदिह तात्पर्यम्—लब्धक्षरं
श्रुतज्ञानमुच्यते । तच्चेन्द्रियमनौनिमित्तं प्रत्यक्षं वा स्यादनु-
मानं वा स्यादन्यत्, शेषस्यात्मप्रत्यक्षस्यावयव्यादिरूपत्वादिति
भावः । सादृश्यादिभ्यो जायमानत्वात्तदनुमानं पञ्चविधमिति
केचित्प्रभाषन्ते । विशेषः ।

सामन्नविसंसेण य, दुविहा द्वाप्ती पढमा अजेया य ।

तिविहा य अणुवलक्षी, उवलक्षी पंचहा विङ्गा ॥

लब्धिलब्धक्षरं द्विविधं द्विप्रकारम् । तद्यथा—सामान्येन विशे-
पेण च । सामान्यलब्धक्षरं विशेषलब्धक्षरं चेति भावः । तत्र
प्राथमिकी सामान्योपलब्धिः । सामान्योपलब्धक्षरमप्रेदसामान्ये
भेदाज्ञावात् । इहोपलब्धिरनुपलब्धपेक्षातस्तस्या अपि प्ररू-
पणा कर्तव्येत्यत आह—त्रिविधा त्रिप्रकारा अनुपलब्धिर्या पु-
नर्द्वितीया विशेषोपलब्धिर्विशेषोपलब्धक्षरं सा पञ्चधा पञ्च-
प्रकारा । वृ० १ उ० ।

सांप्रतमक्षरश्रुताधिकारादेव यदुक्तं सूत्रे “अक्षरलक्षिअस्स
लक्षिअक्षरं समुपज्झ” इति तत्र प्रत्येमुत्थापयन्नाह—

अक्षरलंभो सखी—ए होज्ज पुरिसाइवसुविण्णणं ।

कत्तो उ असखीणं, जणियं च सुयम्मि तेसि पि ॥

पुरुषस्त्रीनपुंसकघटपटादिवर्णविज्ञानरूपोऽक्षरलाजः संज्ञिनां
समनस्कजीवानां भवेच्छ्रद्धामहे एतदसंज्ञिनां चामनस्कानां
कुत पतद्वर्णनिज्ञानं भवति ? न कुतश्चिदित्यर्थः । अक्षरलाजस्य
परोपदेशजत्वात्मनोविकलानां तु तदसंज्ञावात्, मा चूत् तेषां तर्हि

तदित्याह—भणितं च वर्णविज्ञानं श्रुतं तेषामप्येकेन्द्रियाद्यसंज्ञि-
नाम् “एगिदियाणं मइअन्नाणीं सुयअन्नाणीं य” इत्यादि वच-
नात्, न हि श्रुतज्ञानमक्षरमन्तरेण संभवति तदेतत्कथं श्रद्धात-
व्यमिति ? अत्रोत्तरमाह—

जह चेषणमकित्तिम—मसखीण तह होहि नाणं पि ।

थोव चि नोवलब्धं, जीवत्तमिव इंदियाईणं ॥

यथा चैतन्यं जीवत्वमकृत्रिमस्वप्नावमाहारादिसंज्ञाद्वारेणा-
संज्ञिनामवगम्यते तथा द्रव्यक्षरात्मकसमूहज्ञानमपि तेषाम-
वगन्तव्यम्, स्तोक्तत्वात् स्पृष्टदर्शिभिस्तन्नोपलब्धयते जीवत्व-
मिव पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणाम् । एकशब्दस्य चेह द्वोपः, भामा
सत्यज्ञातेत्यादिदर्शनादिति । यदपि परोपदेशजत्वमक्षर-
स्योच्यते तदपि संज्ञाव्यञ्जनाक्षरयोरेवावसेयम् । लब्धक्षरं
तु क्षयापशमेन्द्रियादिनिमित्तमसंज्ञिनां न विरुध्यते, तदेव
च मुख्यतयेह प्रस्तुतम् । तच्च संज्ञाव्यञ्जनाक्षरे श्रुतज्ञानाधि-
कारादिति । दृष्टान्तान्तरमाह—

जह वा सखीणमण—खराणं असइ नरवसुविण्णणे ।

लक्ष्खरं ति भसइ, किमपि चि तहा असखीणं ॥

यथा संज्ञिनामपि परोपदेशाभावे नवाक्षराणां केषांचिदतीव सु-
गन्धप्रकृतीनां पुद्गिन्द्यालगोपालगवादीनामसत्यापि नकारादिव-
र्णविशेषविज्ञाने द्रव्यक्षरं किमपीक्ष्यते नरादिवर्णोच्चारणे त-
च्छ्रवणादग्निमुखनिरीक्षणदर्शनाच्च । गौरपि हि सवस्त्रावहुवादि-
शब्देनाकारिता सती स्वनाम जानीते प्रवृत्तिनिवृत्त्यादि च कु-
र्वती दृश्यते, न चैषां गवादीनां तथाविधपरोपदेशः समास्ति ।
अथवास्ति द्रव्यक्षरं नरादिविज्ञानसद्भावात् । एवमसंज्ञिनामपि
किमपि तदेष्टव्यमिति । तदेवं साधितमेकेन्द्रियादीनामपि यत्र
यावच्च लब्धक्षरम् ॥

अथैकैकस्याकाराद्यक्षरस्य यावन्तः पर्याया

भवन्ति तदेतद्विशेषतो दर्शयति—

एकैकमक्षरं पुण, सपरपज्जायभेयओ जिन्नं ।

तं सव्वदव्वपज्जा—यरासिमाणं मुणेरयव्वं ॥

इह भिन्नं पृथगेकैकमपि तदकाराद्यक्षरं पुनः स्वपर्यायभेदतः
सर्वाणि यानि द्रव्याणि तत्पर्यायराशिमानं ज्ञातव्यम् । इद-
मुक्तं जवाति—इह समस्तत्रिचुवनवर्त्तीनि यानि परमाणुद्वयगु-
कादीन्येकाकाशप्रदेशादीनि च यानि द्रव्याणि ये च सर्वेऽपि
वर्णास्तदभिधेयाश्चार्थास्तेषां सर्वेषामपि पिएरुतो यः पर्याय-
राशिर्भवति स एकैकस्याप्यकाराद्यक्षरस्य जवाति, तन्मध्ये ह्य-
कारस्य केचित्स्तोकाः स्वपर्यायास्ते चानन्ताः, शेषास्त्वनन्तगुणाः
पर्याया इत्येवं सर्वसंग्रहः । अयं च सर्वोऽपि सर्वद्रव्यपर्याय-
राशिः सद्भावतोऽनन्तानन्तस्वरूपोऽप्यसत्कल्पनया किल द्रव्यं
पदार्थाश्चाकारेकारादयो धर्मास्तिकायादयः सर्वाकाशप्रदेशस-
हिताः सर्वेऽपि किल सहस्रं तत्रैकस्याकारपदार्थस्य सर्वद्रव्यग-
तलक्षपर्यायराशिमध्यादस्तित्वेन संबद्धाः किल शतप्रमाणाः
स्वपर्यायाः, शेषास्तु नास्तित्वेन संबद्धाः सर्वेऽपि परपर्यायाः । ए-
वमिकारादेः परमाणुद्वयकादेः एकैकस्य द्रव्यस्य वाच्यमिति ।
आह—के पुनः स्वपर्यायाः के च परपर्याया इत्याह—

जे लब्धं केवलोप्प—वसुसहिओ व पज्जवायारो ।

ते तस्स सपज्जाया, सेसा परपज्जया सव्वे ॥

यानुदात्तानुदात्तसानुनासिकानिरनुनासिकादीनात्मसङ्गतान्

पर्यायान् केवलतोऽन्यवर्णेन संयुक्तोऽन्यवर्णसंयुक्तो वाऽकारो लभ-
तेऽनुनयति तस्य स्वपर्यायाः प्राच्यन्तेऽस्तिन्वेन संयद्धत्वात् । ते-
च्चाऽनन्तास्तद्वाच्यस्य विष्णुपरमाण्वादिऽव्यस्यनन्तत्वात्तद्-
व्यप्रतिपादनशक्तेरस्य निवृत्त्यात् । अन्यथा तन्प्रतिपाद्यस्य सर्व-
न्याप्येकत्वप्रसङ्गादेकन्यवर्णवाच्यत्वात् । रोपास्त्विकागदिसंय-
न्धिनायदादिगताश्चास्य परपर्यायास्तेज्यो व्याघ्रत्विनेन नास्ति-
त्वेन संयन्धात्, एवमिकारादीनामपि जावनीयम् । अक्षरविचा-
रस्य चेह प्रकान्त्यादेकैकनक्षत्रं सर्वव्यवर्णयराशिमानमुच्य-
ते, अन्यथाऽन्येषामपि परमाणुद्वयगुणघटादिऽव्याणामिदमेव
पर्यायमानं दुष्टव्यमिति । एवमुक्तं सति परः प्राह—

जऽ ते परपञ्जाया, न तस्स अह तस्स न परपञ्जाया ।

जं तम्मि असंवद्धा, तो परपञ्जायववणसो ॥

इह स्वपर्यायाणामेव तत्पर्यायता युक्ता । ये त्वमी परपर्यायास्ते
यदि घटादीनां तर्हि नाक्षरस्य, अक्षरस्य ते तर्हि न घटादीनाम्,
ततश्च यदि पर्यायास्तर्हि तस्य कथं, तस्य चेत्परस्य कथमिति वि-
रोधः । तदुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात् । यस्मान्कारणात्तस्मिन्कारे
काराद्यक्षरे घटादिपर्याया अस्तित्वेनासंवद्धा, ततस्तेषां परप-
र्यायव्यपदेशोऽन्यथा व्यावृत्तेन रूपेण तेऽपि संवद्धा एवेत्यत-
स्तेषामपि व्यावृत्तरूपतया पारमार्थिकं स्वपर्यायत्वं न विरुध्यते ।
अस्तिन्वेन तु घटादिपर्याया घटादिष्वेव संवद्धा इत्यक्षरस्य ते
परपर्याया व्यपदिश्यन्ते इति भावः । द्विविधं हि वस्तुनः स्वरूप-
मस्तिन्वं नास्तिन्वं च । ततो ये यत्रास्तिन्वेन प्रतिबद्धास्ते तस्य
स्वपर्याया उच्यन्ते, ये तु यत्र नास्तिन्वेन संवद्धास्ते तस्य परप-
र्यायाः प्रतिपाद्यन्ते इति निमित्तभेदव्यापनपरावेव स्वपरशब्दौ,
न त्वेकेषां तत्र संवद्धा संवन्धनिराकरणपरा, अतोऽक्षरघटादिप-
र्यायाः अस्तित्वेनासंवद्धा इति परपर्याया उच्यन्ते न पुनः संव-
द्धा, ते तत्र संवद्धा नास्तित्वेन तत्रापि संवद्धाः न चैकस्योभयत्र
संवन्धो न युक्त एकस्यापि हिमवददेरंशद्वयेन पूर्वापरसमुच्चा-
दिसंबन्धात् । यदि ह्येकेनैव रूपेणैकस्योभयत्र संवन्ध इत्येत तदा
स्याद्विरोधः, एतच्च नास्ति, रूपद्वयेन घटादिपर्यायाणां तत्रान्यत्र
च संवन्धात् । सत्त्वेन तत्र संवन्धादसत्त्वेन त्वक्षरादिषु । असत्त्व-
मभावत्वाद्वास्तुनो रूपमेव न भवति खरविषाणवदिति चेदयुक्तम्
खरविषाणकल्पत्वस्य वस्त्वभावेऽसिद्धत्वात् न हि प्रागभावप्रध्वं
साभावघटाभावपटाभावादिवस्त्वभावविशेषणवत्खरविषाणा-
दिष्वपि विशेषणं संभवति, तेषां सर्वोऽप्याख्याविरहलक्षणे
निरभिहृष्ये पष्ठभूतवन्निरूपेऽनन्ताभावमात्र एव व्यवहारिभिः
संकतितत्वात् । न च पष्ठभूतवद्वस्त्वज्ञातोऽप्यस्मान्निर्नीरूपोऽभ्यु-
पगम्यते, नीरूपस्य निरभिहृष्यत्वेन प्रागभावादिविशेषणानुपप-
त्तेः, किं तु यथैव मृत्पिण्डादिपर्यायो भाव एव सन् घटाकारादि-
व्यावृत्तिमात्रात् प्रागभाव इति व्यपदिश्यते, यथावा कपाहादिप-
र्यायो भाव एव सन् घटाकारः परममात्रात् प्रध्वंसाभावाऽजि-
धीयते, तद्वत्पर्यायान्तरापन्नोऽक्षरादिभाव एव घटादिवस्त्वज्ञातः
प्रतिपाद्यते, न तु सर्वथैवाभावस्तथा, सर्वथा न किञ्चिद्रूपस्या-
नभिलप्यत्वात् । न च वक्तव्यं खरविषाणादिशब्देन सोऽप्यभि-
लप्यत एवेति निरभिहृष्यताख्यापनार्थमेव संकेतमात्रज्ञाविनां
खरविषाणादिशब्दानां व्यवहारिभिस्तत्र निवेशात् । किं च-यदि
घटादिपर्यायाणामक्षरे नास्तित्वेन संवन्धो नेष्यते तर्ह्यस्तित्व-
नास्तित्वयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वादस्तित्वेन तेषां तत्र संवन्धः
स्यात्तथा च सत्यक्षरस्यापि घटादिरूपतैव स्यात्, एवं च सति
सर्वविश्वमेकरूपतामेवासादयेत्, ततश्च सहोत्पत्त्यादिप्रसङ्गः ।

न च वक्तव्यं घटादिपर्यायाणां घटादौ व्यवस्थितानां नास्तित्वल-
क्षणं रूपं कथमक्षरे प्राप्तं, रूपिणामन्तरेण रूपायोगात् । अथ तेऽपि
तत्र सन्ति तर्हि विश्वैकत्वमिति घटादिपर्यायाणां घटादीन् विहा-
यान्यत्र नास्तित्वेन व्याप्तेरिष्टत्वात् अन्यथा स्वपरभावायोगादत
एव कथंचिद्विश्वैकताऽप्यवाधिकैव । रूपादिरूपतया तदेकत्व-
स्याप्यभ्युपगमादतो गम्भीरमिदं स्थिरबुद्धिभिः परिभावनीयम्,
तस्मात् घटादिपर्याया नास्तित्वेनाक्षरेऽपि संवद्धा इति तत्पर्या-
या अप्येते अस्तित्वेन घटादावेव संवद्धा न त्वक्षरे इति परप-
र्यायताव्यपदेश इति स्थितमिति ।

यदि घटादिपर्यायास्तत्राक्षरे असंवद्धत्वेन परपर्याया

व्यपदिश्यन्ते तर्हि ते तस्य कथमुच्यन्ते इत्याह—

चायसपञ्जाया वि-सेसाइणा तस्स जमुवउज्जंति ।

सधणमिवासंवद्धं, जवंति तो पञ्जाया तस्स ॥

ततस्तस्मात् घटादिपर्याया अपि तस्याक्षरस्य पर्याया भवन्ति
यतोऽक्षरस्यापि ते उपयुज्यन्ते उपयोगं यान्ति । केनेत्याह-
त्यागस्वपर्यायविशेषणादिना त्यागेन स्वपर्यायविशेषणेन चोप-
योगादित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-घटादिपर्यायाः सत्त्वेनाक्षरे
असंवद्धा अपि ते स्वपर्याया भवन्ति, त्यागेनाभावोपयुज्यमा-
नत्वात् । यदि हि तत्र तेषामभावो न प्रवेत्तर्हि तदक्षरं घटा-
दिभ्यो व्यावृत्तं न सिध्येत्तत्रापि घटादिपर्यायाणां प्रावादिति ।
ततोऽक्षरस्य त्यागेनाभावोपयोगात् घटादिपर्यायास्तस्य भवन्ति
तथा स्वपर्यायाणां विशेषणेन विशेषव्यवस्थापकत्वेन परपर्याया
अपि तस्य प्रवन्ति, न हि परपर्यायेष्वस्तस्य स्वपर्यायाः केचिद्वे-
देन सिध्यन्ति, स्वपरशब्दयोरापेक्षिकत्वात्प्रयोगः । इत्थं यद्य-
स्योपयुज्यते तद्वदवत्यपि तस्येति व्यपदिश्यते, यथा-देवदत्ता-
देः स्वधनम् । उपयुज्यते च त्यागस्वपर्यायविशेषणादिज्ञावेन घ-
टादिपर्याया अप्यक्षरस्यातस्ते तस्यापि प्रवन्तीति । एवमक्ष-
रपर्याया अपि घटादेर्वीच्या इति । एतदेव भावयति—

सधणमसंवद्धं पि हु, चेयणं पि व नरे जहा तस्स ।

उवउज्जइ चि सधणं, भण्णइ तह तस्स पञ्जाया ॥

इह देवदत्तादिके नरे चैतन्यं यथाऽऽत्मनि संवद्धं तथा स्वध-
नम्, असंवद्धमपि स्वधनं तस्य लोके भण्यते । कुत उपयुज्यत
इति कृत्वा तथाऽक्षरे असंवद्धा अपि घटादिपर्यायास्तस्याऽक्षर-
स्य पर्याया भवन्ति । अमुमेवायं दृष्टान्तान्तरेण साधयति—

जह दंसणानाचरि-त्तगोयरा सव्वदव्वपञ्जाया ।

सच्छेनेयकिरिया-फलोवओगि चि भिन्ना वि ॥

जइ णो सपज्जया इव, सकज्जनिप्फाङ्ग चि सधणं च ।

आणायचायफला, तह सव्वे सव्ववन्नाणं ॥

इह यथा सर्वद्वयपर्याया जिज्ञा अपि संयतेरेव भवन्ति यतेः
संवन्धिनो व्यपदिश्यन्ते । कुत इत्याह—स्वकार्यनिष्पादका
इति हेतोरतदपि कुत इत्याह—श्रद्धयङ्गयक्रियाफलोपयोगिनो
यतोरिति कृत्वा श्रद्धयत्वेनोपयोगात्, ज्ञेयत्वेनोपयोगात्, त्या-
गादानादिक्रियारूपं यच्छ्रद्धानज्ञानफलं ददुपयोगित्वाच्चेति ।
कथंनूतास्ते सर्वद्वयपर्याया इत्याह-दंशनज्ञानचारित्रगोचराः
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविषयनूताः, ते हि सम्यग्दर्शनेन श्रद्धी-
यन्ते ज्ञानेन तु ज्ञायन्ते चारित्रस्याप्याहारवस्त्वप्राज्ञुपकरणनेप-
जशिष्यादिद्वारेणोपष्टम्भहेतवो बहवो प्रवन्ति 'अव्ववहार' उने-
रइया' इति वचनात् । अथवा 'पढमस्मि सव्वजीवा, वीए चरिमे

य सव्वदब्बाइ । सेसा महव्वया खलु, तदिक्कदेसेण दब्बाणं ” इति वचनादेते सर्वेऽपि ज्ञानदर्शनचारित्र्यगोचराः व्रतानां चारित्र्यात्मकत्वाच्चारित्र्यस्य च ज्ञानदर्शनाज्यां विनाभावाभावात् । च्युत एवैते श्रद्धयेत्वाद्युपयोगिनमन्तरेण श्रद्धानाद्ययोगाद्विषयमन्तरेण विषयिणोऽनुपपत्तेः । के यथा स्वकार्यनिष्पादकाः सन्तो यतेर्भवन्तीत्याह—यथा ज्ञानदर्शनादिरूपाः स्वपर्यायाः स्वधनं वा यथा भिन्नमपि देवदत्तादेर्भवति तथा सर्वेऽपि द्रव्यपर्यायास्त्यागादानफलत्वात्प्रत्येकं सर्वेषामप्यकारादिवर्णानामुपलक्षणत्वात् घटादीनां भिन्ना अपि भवन्तीति ।

न चैतदुत्सूत्रमिति दर्शयति—

एगं जाणं सव्वं, जाणं सव्वं च जाणमेगं ति ।

इय सव्वमजाणंतो, नागारं सव्वहा मुणइ ॥

इह सूत्रेऽप्युक्तं “जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ति” । किमुक्तं भवति, एकं किमपि वस्तु सर्वैः स्वपरपर्यायैर्युक्तं जानन्नवबुद्ध्यमानः सर्वलोकालोकगतं वस्तु सर्वैः स्वपरपर्यायैर्युक्तं जानाति सर्ववस्तुपरिज्ञाने नान्तरी यत्रादेव वस्तुज्ञानस्य । सर्वे सर्वपर्यायोपेतं वस्तु जानाति स एकमपि सर्वपर्यायोपेतं जानात्येकपरिज्ञानस्य नान्तरियकत्वात् एतच्च प्रागापि ज्ञावितमेवेत्यतः सर्वे सर्वपर्यायोपेतं यस्त्वजानानो नाकाररूपमङ्गरं सर्वप्रकारैः सर्वपर्यायोपेतं जानाति वस्तु, तस्माच्छेषसमस्तवस्तुपर्यायैः परिज्ञातैरेव एकमङ्गरं क्वरं ज्ञायते नान्यथेति भावः । यदि नामैवं तथापि प्रस्तुते घटादिपर्यायाणामङ्गरपर्यायत्वे किमायातमित्याह—

जेसु अनाएसु तत्रो, न नज्जए नज्जए य नाएसु ।

किह तस्स ते न धम्मा, धरुस्स रुवाइधम्मं व ॥

तत्तस्माद्येषु घटादिपर्यायेष्वज्ञातेषु यदेकं प्रस्तुतमङ्गरं न ज्ञायते, ज्ञातेषु च ज्ञायते ते घटादिपरपर्यायाः कथं न तस्य धर्मा अपि तु धर्मा एव, यथा घटस्य रूपादयः, प्रयोगः—येषामनुपलब्धौ यन्नोपलभ्यते उपलब्धौ चोपलभ्यते तस्य ते धर्मा एव यथा घटस्य रूपादयः नोपलभ्यते च प्रस्तुतमेकमङ्गरं समस्तघटादिपरपर्यायानामनुपलब्धौ, उपलभ्यते च तदुपलब्धाविति ते तस्य धर्मा इति । इह चाङ्गरं विचारयितव्यं प्रस्तुतमित्येतावन्मात्रेणैव तत्सर्वपर्यायराशिप्रमाणं साधितं, न चैतदेव केवलमित्यभूतं द्रष्टव्यं किं त्वस्ति यत्किमपि वस्तु तत्सर्वमित्यञ्चतमेव, सर्वस्यापि व्यावृत्तिरूपतया परपर्यायासद्भावादिति ।

नहि नवरमक्खरं पि, सव्वपज्जायमस्सपस्सं पि ।

जं वत्थुमत्थि द्वाए, तं सव्वं सव्वपज्जायं ॥

गताथैव । यद्येवं किमङ्गरमेवाङ्गीकृत्येदं पर्यायमानमुक्तमिति भाष्यकार एवोत्तरमाह—

इह अक्खरादिहारो, पन्नवणिज्जा य जेण तन्विसत्रो ।

ते चित्तिज्जेते वं, कइ भागो सव्वजावाणं ॥

इहाङ्काराधिकारो यस्मात्प्रस्तुतोऽतस्तस्यैवेदं पर्यायमानमुक्तं द्रष्टव्यम् । उपलभ्यते च सर्वं वस्तुत्वमेव, भवत्वेवं किं तु प्रस्तुतस्याङ्गरस्य के स्वपर्यायाः के च परपर्याया इत्यादि निवेद्यतामित्याह (पन्नवणिज्जेत्यादि) तस्य सामान्येनाकाराद्यङ्कारस्य स्वपर्यायो विषयस्ताद्विषयो येन यतः । के इत्याह—प्रज्ञापनीया अभिलाष्याः पर्याया न पुनरभिलाष्याः अतस्ते एवं

चिन्त्यन्ते विचार्यन्ते । कथमित्याह—कतिथो भागस्तेषां भवति, केषां सर्वज्ञावानां सर्वेषामभिलाष्यानाभिलाष्यपर्यायाणां समुद्गतानामित्यर्थः । इदमुक्तं प्रवति—अभिलाष्यं वस्तु सर्वमङ्करेणोच्यतेऽतस्तदभिलाष्यशक्तिरूपाः सर्वेऽपि तस्याभिलाष्याः प्रज्ञापनीयाः स्वपर्याया उच्यन्ते, शेषास्त्वनभिलाष्याः परपर्यायाः । अतस्ते अभिलाष्याः स्वपरपर्यायाः सर्वपर्यायाणां कतिथो भागो प्रवतीत्येवं विचिन्त्यत इति । कथमित्याह—

पस्सव्विज्जा जावा, वस्साण सपज्जया तथा थोवा ।

सेसा परपज्जया, तो णंतगुणा निरभिलप्पा ॥

यतः प्रज्ञापनीया अभिलाष्या ज्ञावाः सामान्येन वर्णानामकारादीनां स्वपर्यायास्ततः स्तोका अनन्ततमज्ञागवर्त्तिनः शेषास्तु निरभिलाष्याः प्रज्ञापयितुमशक्याः सर्वेऽपि परपर्याया इत्यतः स्वपर्यायेभ्योऽनन्तगुणाः सर्वस्यापि हि वस्तुनो लोकाद्वोकाकाशं विहाय स्तोकाः स्वपर्यायाः, परपर्यायास्त्वनन्तगुणाः, लोकालोकाकाशस्य तु केवलस्याप्यनन्तगुणत्वात् । शेषपदार्थानां तु समुदितानामपि तदनन्तज्ञागवर्त्तित्वात्किंपरीतं द्रष्टव्यम् । स्तोकाः परपर्यायाः स्वपर्यायास्त्वनन्तगुणाः । अत्र विनेयानुग्रहार्थं स्थापना काचिन्निदर्श्यते—तद्यथा—सर्वाकाशप्रदेशाशेरन्ये सर्वेऽपि धर्मास्तिकायप्रदेशपरमाणुद्व्यणुकादयः पदार्थाः सङ्गवतोऽनन्ता अपि कल्पनीयाः किल, देशसर्वाकाशप्रदेशपदार्थास्तु केवला अपि किल शतं प्रतिपदार्थं च पञ्च स्वपर्यायाः । एवं च सति धर्मास्तिकायप्रदेशादीनां सर्वेषामपि पदार्थानां पञ्चाशदेव स्वपर्यायाः, ते च नजसः परपर्यायाः स्तोकाश्च स्वपर्यायाणां तु पञ्चशतानि, बहवश्चामी परपर्यायेभ्यस्तस्माच्छेषपदार्थानां सर्वेषामपि नजसोऽनन्तज्ञागवर्त्तित्वान्नजसस्तु केवलस्यापि तेभ्योऽनन्तगुणत्वात् स्वपरपर्यायात्पवहुत्ववैपरीत्यं द्रष्टव्यमिति । नजसोऽन्यपदार्थानां च तेनैव निदर्शनेन स्वपर्यायाणां स्तोकात्वं परपर्यायाणां तु बहुत्वं परिभाषनीयम् । तथाहि—किलैकास्मिन् धर्मास्तिकायप्रदेशे पञ्च स्वपर्यायाः, परपर्यायाणां तु पञ्चचत्वारिंशदधिकानि पञ्च शतानि । एवमङ्गरपरमाणवादावपि वाच्यमित्यतः विस्तरेणेति ।

अथ परो ज्ञाप्यस्यागमेन सह विरोधमुद्गावयति—

नणु सव्वागासपए—सपज्जया वस्समाणमाइट्ठं ।

इह सव्वदव्वपज्जा—यमाणगहणं किमत्थं ति ॥

नन्वित्यसूयायाम्, सर्वस्य लोकालोकवर्त्तिन आकाशस्य प्रदेशास्तेषां मिश्रिता ये सर्वेऽपि पर्यायास्ते वर्णस्य पर्यायाणां सूत्रे मानं परिमाणमादिष्टम् । सर्वाकाशप्रदेशानां यावन्तः सर्वेऽपि पर्यायास्तावन्त एकस्याङ्गरस्य पर्याया भवन्ति इत्येतावदेवागमे प्रोक्तमित्यर्थः । इह तु “ तं सव्वदव्वपज्जायरासिमाणं मुणेयव्वं ” इत्यत्र किमिति सर्वद्रव्यपर्यायमानग्रहणं कृतम् । इदमुक्तं भवति—“ सव्वागासपएसगं सव्वागासयएसेहि अणंतगुणियं पज्जवक्खरं निप्पज्जसि ” नन्विसूत्रे प्रोक्तम् । एतच्च वृत्तौ तत्र व्याख्यातम् । तद्यथा—सर्वं च तदाकाशं च सर्वाकाशं लोकाद्वोकाकाशमित्यर्थः । तस्य च प्रदेशा निर्विभागास्तेषामग्रं परिमाणं सर्वाकाशप्रदेशाग्रम्, सर्वाकाशप्रदेशैः किमनन्तगुणितम् । एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽनन्तानामगुणव्युपपर्यायाणां सद्भावात्पर्यायाङ्गरं पर्यायपरिमाणाङ्गरं निष्पद्यत इति । तदेवमागमे केवलसर्वाकाशप्रदेशपर्यायराशिप्रमाणमङ्गरपर्यायमानमुक्तम् । अत्र तु धर्माधर्माकाशपुन्यजीवास्तिकायकाललक्ष-

णसर्वेऽव्यपर्यायराशिप्रमाणं तदुच्यते इति कथं न विरोधः ? इति । अत्रोत्तरमाह-

यौ चि न निदिष्टा, इदं धम्मस्त्वियाऽपज्जाया ।

के सपरपज्जयाणं, एवंतु किं हातु वाऽज्जावो ? ॥

स्तोका आकाशपर्यायेऽनन्तजागवर्त्तिन इति कृत्वा नन्दि-
सूत्रे धर्मास्तिकायादीनां पञ्चद्व्याणां पर्याया न निर्दिष्टा नाऽभि-
हिताः साङ्गान् किन्तु य एवं तेऽन्योऽनिवहयोऽनन्तगुणास्त एव
सर्वाकाशपर्यायाः साङ्गादुक्ताः अर्थतस्तु धर्मास्तिकायादिपर्या-
या अपि नन्दिसूत्रे प्रोक्ता द्रष्टव्याः । इतरथा यद्येतदाज्युपगम्य-
ते तदा ते धर्मास्तिकायादिपर्याया अक्षरस्वपरपर्यायाणां मत्वा-
त्के भवन्तु ? किं स्वपर्याया भवन्तु परपर्याया वा ? , किं वाऽभावः
स्वरविषाणरूपो भवतु ? इति त्रयी गतिः । त्रिलुचने हि ये पर्या-
यस्मैः सर्वैरप्यङ्गदेवस्तुनः स्वपर्यायैर्वा जवितव्यं, परपर्या-
यैर्वा, अन्यथाऽज्ञातप्रसङ्गात् । तथाहि-ये केचन क्वचित्पर्यायाः
सन्ति तेऽङ्गरादिचस्तुनः स्वपरपर्यायाऽन्यतररूपा प्रवन्त्येव,
यथा रूपादयः । ये त्वङ्गरादेः स्वपर्यायाः परपर्याया वा न भवन्ति
ते न मन्येव, यथा स्वरविषाणतैङ्गणादयः । तस्माच्छर्मास्तिकाया-
दिपर्यायाः सूत्रे स्तोकात्वेनानुक्ता अपि ' जे एणं जाणइ ' इत्यादि-
नृप्रमाणायार्थतोऽङ्गरस्य परपर्यायत्वेनोक्ता उच्यते इति ।

अथान्यत् प्रेरयति-

किमणंतगुणा नखिया, जमगुरुलहुपज्जाया पएसम्मि ।

एकंक्रमि अणंता, पणत्ता वीयरगहिं ॥

ननु " सव्वागासपएसंहि अणंतगुणियं " इत्यत्र किमित्या-
काशप्रदेशाः सूत्रे अनन्तगुणा भणिताः । अत्रोत्तरमाह-(जमि-
त्यादि) यद्यस्मात्कारणात् एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे, अगुरुलघुप-
र्याया धीतरागैस्तार्थ्यकरणधरैरनन्ताः प्रकृताः प्ररूपिताः । तत-
श्चायमभिप्रायः-इह निश्चयमतेन वादरं वस्तु सर्वमपि गुरु लघु
नृङ्गं चाऽगुरुलघु, तत्राऽगुरुलघुवस्तुसंवल्लिनः पर्याया अप्य-
गुरुलघवः समन्येऽभिधीयन्ते । आकाशप्रदेशाश्चागुरुलघवोऽस्त-
न्ते च, तत्पर्याया अप्यगुरुलघवो भण्यन्ते । तेषु प्रत्येकमनन्ताः
सन्त्यतः सर्वाकाशप्रदेशाग्रं सर्वाकाशप्रदेशैरनन्तगुणमुक्तमिति
भाव इति । न केवलमप्यङ्गरं संज्ञाकरमुच्यते किन्तु ज्ञानम-
पि । नत्र शिष्यः प्रश्नयति- कियत्प्रमाणं तदङ्गरमुच्यते, स-
र्वाकाशप्रदेशेऽन्योऽनन्तगुणं कयमेतावत्प्रमाणमुच्यते ? । इह-
कैक आकाशप्रदेशः खल्वनन्तरगुरुलघुपर्यायैः संयुक्तः । ते च
सर्वेऽप्यगुरुलघुपर्याया ज्ञाने ज्ञायन्ते । न च येन स्वजावेनैको
ज्ञायते तेनापरोऽपि, तयोरेकत्वप्रसङ्गात्, किन्त्वन्येन स्वजावे-
न । ततो यावन्तो गुरुलघुपर्यायास्तावन्तो ज्ञानस्वजावाः ।
उक्तं च-" जावइय पज्जवा ते, तावइया तेसु नाणमेया वि ।"
इति भवति सर्वाकाशप्रदेशेऽन्योऽनन्तगुणः । आह च-
बृहद्भाष्ये-" अक्षरमुच्चइ नाणं, पुण होज्जाहि किं पमाणं
तु । भणइ अणंतगुणियं, सव्वागासपएसंहि ॥ किह होइ अणं-
तगुणं, सव्वागासपएसरासीतो । भणइ जं एकैको, आगास-
स्स प्पदेसो च ॥ संजुत्तो णं तेहिं, अगुरुलहुपज्जेहिं नियमेण ।
तेण च अणंतगुणियं, सव्वागासपएसंहि ॥ " पुनरपि शिष्यः
प्राह-कथमेतदवसीयत एकैक आकाशप्रदेशोऽनन्तरगुरुलघु-
पर्यायिरूपेतः ? । उच्यते-इह द्विविधं वस्तु-रूपिद्रव्यमरूपिद्रव्यं
च । तत्र रूपिद्रव्यं चतुर्धा । तद्यथा-गुरुलघु अगुरुलघु च ।
एतदप्युच्यते-व्यवहारतो निश्चयतः पुनर्द्विविधमेव-गुरुलघु अगु-
रुलघु च । वृ० ।

संप्रति यथा ज्ञानं सर्वाकाशप्रदेशेऽन्योऽनन्तगुणं

भवति तथा दर्शयति-

उवज्जप्पी अगुरुलहु-संयोगसरादिणो य पज्जाया ।

एतेण हुंतणंता, सव्वागा सपएसंहि ॥

चतुर्णामप्यस्तिकायानां पुत्रास्तिकायस्य च ये अगुरुलघवः
पर्यायाः, उपलक्षणमेतत् वादरस्कन्धानाम् । अगुरुलघुपर्यायाश्च
यावन्तश्चाङ्गरेषु स्वरूपतोऽभिलाषभेदतो वा संयोगा यैश्चोदा-
त्तादिभिः स्वरैरजिलप्यन्ते भावाः, आदिशब्दाद् ये चान्ये शकुन-
रुतादिगताः स्वरविशेषा ये च जीवपुत्रगताश्चेष्टाविशेषास्ते
सर्वेऽपि गृह्यन्ते । एतेषां सर्वेषामप्युपलब्धिर्भवति । न च येन
स्वभावेनैकस्य तेनैवान्यस्य, किन्तु भिन्नेन । तद्वेतेन प्रकारेण
ज्ञानस्य स्वभावाः सर्वाकाशप्रदेशेऽन्योऽनन्तगुणाः वृ० १ वृ० ।

प्रकारान्तरेण प्रेरयन्माह-

तत्थाविसेसयं ना-एमक्खरं इह सुयक्खरं पगयं ।

ते किह केवलपज्जा-यमाणतुल्लं हविज्जाहि ॥

(तत्थेति) " सव्वागासपएसगं सव्वागासपएसंहि अणंतगु-
णियं पज्जवक्खरं निष्पज्जइ " इत्यत्र सूत्रे नन्दिच्यते अवशि-
ष्टं सामान्येनैव (नाणमक्खरं ति) ज्ञानमङ्गरं प्रतिपादितम्,
अविशेषाऽभिधाने च केवलज्ञानस्य महत्वात्तदेव तत्राङ्गरं ग-
म्यते । इह तु श्रुतज्ञानविचाराधिकांराच्छुनाङ्गरमकाराद्येवाङ्ग-
रशब्दवाच्यत्वेन प्रकृतं प्रस्तुतम् । ततः का दोष इत्याह-तच्चा-
कारादिश्रुताङ्गरं कथं केवलपर्यायमानतुल्यं भवेन्न कथंचिदि-
त्यर्थः । अयमभिप्रायः-केवलस्य सर्वेऽव्यपर्यायवेत्तृत्वाद्भव-
तु सर्वेऽव्यपर्यायमानता, श्रुतस्य तु तदनन्तजागविषयत्वात्कथं
तत्पर्यायमानतुल्यतति ? । अत्रोच्यते-ननु तत्रापि " अक्षरस-
णीसम्मं साइयं खलु " इत्यादिप्रक्रमेऽपर्यवसितश्रुते विचा-
र्यमाणे " सव्वागासपएसगं " इत्यादि सूत्रं पठ्यते, अतो यथेह
तथा तत्रापि श्रुताधिकांरादङ्गरमकाराद्येव गम्यते, न तु केवला-
ङ्गरम् । अथ श्रूयते-तत्र द्वितीयमनन्तरं सूत्रं यत् पठ्यते " सव्व-
जीवाणं अक्खरस्स अणंतजागो निच्चुग्घादियओत्ति " एतस्मा-
त्केवलाङ्गरं तत्र गम्यते न तु श्रुताङ्गरं सकलद्वादशाङ्गविदां सं-
पूर्णस्यापि श्रुताङ्गरस्य सद्भावात्सर्वजीवानामङ्गरस्याऽनन्तभागो
नित्योद्घाट इत्यस्यार्थस्यानुपपत्तेः । अहो ! असमीक्षिताभिधा-
नं, यत एवं सति केवलानां संपूर्णस्यापि केवलाङ्गरसद्भावात्स-
र्वजीवानामङ्गरस्याऽनन्तभागो नित्योद्घाट इत्यस्यार्थस्याऽनुप-
पत्तिरिव । अथ मनुष्ये तत्राऽविशेषेण सर्वजीवग्रहणे सत्यपि
प्रकरणादपिशब्दाद्वा केवलिनो विहायाऽन्येषामेवाङ्गरस्याऽ-
नन्तभागो नित्योद्घाट इति केवलाङ्गरग्रहणेऽविरोधः । हन्त !
तदेतच्छ्रुताङ्गरग्रहणेऽपि समानम्, यतस्तत्राविशेषेण सर्वजीव-
ग्रहणे सत्यपि प्रकरणादपिशब्दाद्वा समस्तद्वादशाङ्गविदो विहा-
याऽन्येषामेवासदादीनामङ्गरस्यानन्तभागो नित्योद्घाट इति-
हापि शक्यत एव वक्तुम् । तस्मात्तत्रेह च श्रुताङ्गरमकाराद्येव
गम्यते । यदि वाऽत्र श्रुताङ्गरं, तत्र केवलाङ्गरमपि जघेतु, न च
श्रुताङ्गरस्य केवलपर्यायतुल्यमानता विरुद्ध्यते । कथमित्याह-

सयपज्जवेहि तं के-वज्जेण तुल्लं न होज्ज न परेहिं ।

सयपरपज्जाएहिं, तुल्लं तं केवल्लेण च ॥

स्वकाः स्वकीया अकारंकारोकारादयोऽनुगताः पर्यायाः श्रुतज्ञान-

स्य स्वपर्याया इत्यर्थः। तैरनुगतैः स्वपर्यायैः, तच्छ्रुताक्षरं केवलं केवलाक्षरेण तुल्यं न भवेत्, सर्वपर्यायानन्तजागवर्तित्वात् । तच्छ्रुतज्ञानं स्वपर्यायाणां, केवलज्ञानं तु सर्वद्रव्यपर्यायराशि-प्रमाणं, सर्वेष्वपि तेषु व्यापारात् । तथाहि-लोके समस्तद्रव्याणां पिण्डितः पर्यायराशिरनन्तानन्तस्वरूपोऽप्यसत्कल्पनया किञ्च लक्ष्म, एतन्मध्याच्छ्रुतज्ञानस्य स्वपर्यायाणां किञ्च शतं, तदून-लक्षं तु परपर्यायाः, केवलज्ञानस्य तु लक्ष्मपि पर्यायाणामुपल-भ्यते, सर्वोपलब्धिस्वभावत्वात्तस्य । ते चोपलब्धिर्विशेषाः सर्वेऽपि केवलस्य पर्यायाः स्वभावाः, ज्ञेयोपलब्धिस्वभावत्वात् ज्ञानस्य । एवं च सति लक्षपर्यायं केवलं, श्रुतस्य तु शतं स्व-पर्यायाणाम्, अतस्तैस्तत्केवलपर्यायराशितुल्यं न भवेदिति स्थितम् । तर्हि परपर्यायैस्तत्तस्य तुल्यं भविष्यतीत्याह-न परै-र्नापि परपर्यायैस्तत् केवलं तुल्यं भवेत् । तथाहि-घटादि-व्यावृत्तिरूपाः परपर्यायास्तस्य विध्वंसेऽनन्तानन्ताः, कल्पन-या तु शतानलक्षमानास्तथापि सर्वद्रव्यपर्यायराशितुल्या न भवन्ति, सर्वपर्यायानन्तभागेन कल्पनया शतरूपेण सद्भावत-स्त्वनन्तात्मकेन स्वपर्यायराशिना न्यूनत्वात् केवलस्य तु संपूर्ण-सर्वपर्यायराशिमानत्वादिति । स्वपरपर्यायैस्तु तत्केवलपर्यायतु-ल्यमेव । केवलवत्तस्यापि सर्वद्रव्यपर्यायप्रमाणत्वादिति । आह-यद्येवं केवलं सहाऽस्य को विशेषः? उच्यते, अस्ति विशेषः यतः-

अविसेसकेवलं पुण, सपञ्जाएहि चैव तत्तुल्यं ।

जल्लेयं पङ्कतं स-व्यभाववावार विणिजुत्तं ॥

उभयत्र सर्वद्रव्यपर्यायराशिप्रमाणत्वे तुल्येऽपि श्रुतकेवल-योरस्ति विशेष इत्येवं पुनः शब्दोऽत्र विशेषधोतनार्थः । कः पुनरसौ विशेष इत्याह- अविशेषेण पर्यायसामान्येन युक्तं केवलमविशेषकेवलं स्वपरविशेषपरहितैः सामान्यत एवाऽनन्त-पर्यायैर्युक्तं केवलज्ञानमविशेषकेवलमित्यर्थः । तदेवं चूतं केवलं स्वपर्यायैरेव तत्तुल्यं, तेन प्रक्रमानुवर्त्तमानसर्वद्रव्यपर्यायराशि-ना तुल्यं तत्तुल्यं, श्रुतज्ञानं तु समुदितैरेव स्वपरपर्यायैस्तत्तुल्य-मिति विशेष इति भावः । कथं पुनः केवलज्ञानस्य तावन्तः स्वपर्याया इत्याह- (जण्णयमित्यादि) यद्यस्मात्तत्केवलज्ञान सर्वद्रव्यपर्यायलक्षणं ज्ञेयं प्रति सर्वजावेषु निःशेषज्ञातव्यपदार्थेषु योऽसौ परिच्छेदलक्षणो व्यापारस्तत्र विनिर्युक्तं प्रतिसमयं प्रवृत्तिमदित्यर्थः । इदमुक्तं भवति । केवलज्ञानं सर्वानपि सर्वद्रव्यपर्यायान् जानाति । ते च तेन ज्ञायमाना ज्ञानवादिन-यमतेन तद्रूपतया परिणताः, ततो ज्ञानमयत्वात्ते केवलस्य स्व-पर्याया एव भवन्ति, अतः केवलज्ञानं तैरेव सर्वद्रव्यपर्यायराशि-तुल्यं भवति । श्रुतादिज्ञानानि तु सर्वद्रव्यपर्यायराशेरनन्ततम-मेव ज्ञानं जानन्त्यतस्तेषां स्वपर्याया एतावन्त एव भवन्त्यतो न श्रुतज्ञानं स्वपर्यायैस्तत्तुल्यं, तदनन्तभागवत्तिस्वपर्यायमानत्वा-दिति श्रुतकेवलयोर्विशेषः । अत्र पक्षे केवलस्य परपर्यायविवक्षा न कृता । ये हि केवलस्य निःशेषज्ञेयगता विषयभूताः पर्यायास्ते ज्ञानाद्वैतवादिनयमतेन ज्ञानरूपत्वादार्थापत्त्यैव स्वपर्यायाः प्रोक्ता न तु पर्यायाज्ञावः प्रोक्तः । वस्तुस्थित्या पुनरिदमपि स्वपरपर्या-यान्वितमेव दर्शयति-

वत्सुसहावं पङ्कतं, पि सपरपञ्जायजेयत्रो जिन्नं ।

तं जेण जीवभावो, भिन्ना य तओ घडाईयं ॥

वस्तुस्वजावं प्रति यथावस्थितं वस्तुस्वरूपमाश्रित्य तदपि

केवलं ज्ञानमकाराद्यक्षरवत्स्वपरपर्यायभेदतो भिन्नमेव न तु यथोक्तनीत्या स्वपर्यायान्वितमेवेति भावः । कुत इत्याह- येन कारणेन तत्केवलज्ञानं जीवजावः प्रतिनियतो जीवपर्यायो न घ-टादिस्वरूपं तथापि घटादयस्तत्स्वजावाः किन्तु ततो भिन्ना इति, तेन ज्ञायमाना अपि ते कथं तस्य स्वपर्याया भवेयुः, सर्व-संकरैकत्वादिप्रसङ्गात् । तस्मादमूर्त्तत्वाच्चैतनत्वसर्ववेत्तत्वाप्रति-पातित्वनिरावरणत्वादयः केवलज्ञानस्य स्वपर्यायाः । घटादिप-र्यायास्तु व्यावृत्तिमाश्रित्य परपर्यायाः । अन्ये तु व्याचक्षते-स-र्वद्रव्यगतान्सर्वानपि पर्यायान् केवलज्ञानं जानाति, येन च स्व-भावैकं पर्यायं जानाति न तेनैवापरमपि, किन्तु स्वजावभेदेन, अ-न्यथा सर्वद्रव्यपर्यायैकत्वप्रसङ्गात्, तस्मात्सर्वद्रव्यपर्यायराशि-तुल्याः स्वजावभेदलक्षणाः केवलज्ञानस्य स्वपर्यायाः, सर्वद्रव्य-पर्यायास्तु परपर्याया इत्येवं स्वपर्यायपरपर्यायाश्चोभयेऽपि पर-स्परं तुल्याः केवलस्येति । एवं च सति किं स्थितमित्याह-

अविसेसयं पि सुत्ते, अक्षरपञ्जायमाणमाइट्टं ।

सुयकेवलक्षराणं, एवं दोहं पि न विरुद्धं ॥

एवं सत्यविशिष्टमपि नन्दिसूत्रे यत्सर्वाकाशप्रदेशाग्रमनन्त-गुणितमक्षरपर्यायप्रमाणमादिष्टं ततः श्रुतस्य केवलस्य वा न विरुद्धं, श्रुताक्षरस्य केवलस्य चोक्तन्यायेनार्थतो द्वयोरपि स-मानपर्यायत्वात्, तथापि श्रुतस्य केवलस्य च स्वपरपर्यायास्ता-वन्निर्वदं तुल्या एव । स्वपर्यायास्तु ' यद्यप्यन्ये तु व्याचक्षते ' इत्यादिनाऽऽगमेनानन्तरमेव केवलस्य भूयांसः प्रोक्तास्तथापि तेभ्यो व्यावृत्तत्ववन्तः श्रुतस्य परपर्याया वर्द्धन्त इति तदेवं द्वयोरपि सामान्यतः पर्यायसमानत्वमित्युभयोरपि ग्रहणे सूत्रे न किमपि श्रूयत इति । नन्वेतत्सर्वपर्यायपरिमाणमक्षरं किं सर्वमपि ज्ञानावरणकर्मणाऽऽव्रियते न वेत्याह-

तस्स उ अणंतजागो, निच्छुग्घाडो य सव्वजीवाणं ।

जणित्रो सुयम्मि केवलि-वज्जाणं ति विहभेत्तो वि ॥

तस्य च सामान्येनैव सर्वपर्यायपरिमाणाक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाटितः सर्वदैवानावृतः केवलविवर्जानां सर्वजीवानां ज-घन्यमध्यमोत्कृष्टविधिविधेदोऽपि श्रुते भणितः प्रतिपादित इति ।

तत्र सर्वजघन्यस्याऽक्षराऽनन्तभागस्य स्वरूपमाह-

सो पुण सव्वजहन्नो, चेयसं नावरिज्जइ कयाइ ।

उक्कोसावरणम्मि वि, जल्लयच्छन्नकभासोव्व ॥

स पुनः सर्वजघन्योऽक्षरानन्तभाग आत्मनो जीवत्वनिबन्धनं चैतन्यमात्रं, तच्च तावन्मात्रमुत्कृष्टावरणेऽपि सति जीवस्य कदा चिदपि नाव्रियते न तिरस्क्रियते, अजीवत्वप्रसङ्गात् । यथा-सु-ष्ठुपि जलदच्छन्नस्याकस्याऽऽदित्यस्य भासः प्रकाशो दिनरात्रि-विजागनिबन्धनं किञ्चित्प्रजामात्रं कदापि नाऽऽव्रियते, एवं जी-वस्यापि चैतन्यमात्रं कदाचिन्नाऽऽव्रियत इति भाव इति । केषां पुनरसौ सर्वजघन्योऽक्षराऽनन्तभागः प्राप्यत इत्याह-

थीणद्धिसहियणाणा-वरणोदयत्रो स पत्थिवाइणं ।

वेऽदियाइयाणं, परिवट्टए कमविसोहीए ॥

स्यानर्हिमहानिजोदयसहितोत्कृष्टज्ञानावरणोदयादसौ सर्व-जघन्योऽक्षरानन्तभागः पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणां प्राप्यते, ततः क्रमविशुद्ध्या द्वीन्द्रियादीनामसौ क्रमेण वर्द्धत इति । तर्ह्युत्कृष्टो मध्यमश्चैव केषां मन्तव्य इत्याह-

उक्कोसो उक्कोसय-सुयणाणवित्रो तत्रो वसेमाणं ।

होइ विमज्जो मज्जे दृष्टाणगयाण पाप्ण ॥ ४७ ॥

न एवाकराऽनन्तभाग उक्त्यो भवत्युक्त्युत्थुतज्ञानविदः संपूर्ण-
श्रुतज्ञानस्येत्यर्थः । अत्राह-ननस्य कथमकराऽनन्तभागो या-
चता श्रुतज्ञानाऽकरं संपूर्णमप्यस्य प्राप्यत एव ? । सत्यम् । किन्तु
संलुलितसामान्यश्रुतकेववाकराऽपेक्षयैवास्याऽकरानन्तभागो वि-
वर्द्धितः । “ केवलिनघञ्जाणं तिविहमेओ वि ” इत्यन्तरवचनात् ।
अन्यथा हि यथा केवलिनः संपूर्णकेवलाऽकरयुक्तत्वेनाकराऽनन्त-
भागस्त्रिविधोऽपि न संभवतीति तद्वर्जनं कृतम् । एवं संपूर्णश्रु-
तज्ञानिनोऽपि समस्तश्रुताऽकरयुक्तत्वेनाकराऽनन्तभागस्त्रिवि-
धोऽपि न संभवतीति, तद्वर्जनमपि कृतं स्यात्, तस्मान्न संमिलि-
तसामान्याकरापेक्षयैवास्याकरानन्तभागः प्रोक्तः, सामान्ये वाऽ-
करे विवर्द्धिते केववाकरापेक्षया श्रुतज्ञानाकरस्य संपूर्णस्याप्य-
नन्तभागवर्तित्वं युक्तमेव, केवलज्ञानस्वपर्यायेत्यर्थः श्रुतज्ञान-
स्वपर्यायापानन्तभागवर्तित्वात् तस्य परोक्तविषयत्वेनास्पष्ट-
त्वाच्चेति । यच्च समुदितस्वपर्यायाऽपेक्षया श्रुतकेववाकरयो-
स्तुल्यत्वं तदिह न विवर्द्धितमेवेति । अन्ये तु “ सो उण स-
ध्वजहो वेय्यं ” इत्यादिगाथायां स पुनरकराभ इति व्याच-
क्षते, इदं चाऽनेकदोषाऽन्वितत्वाजिनमङ्गणिकमाश्रमपूज्य-
टीकायां चाऽदर्शनादसङ्गतमेव लक्षयामः । तथा हि-“ तस्स
उ अणंतभागो निच्छुग्वाओ ” इत्याद्यन्तरगाथायामकराऽनन्त-
भाग एव प्रकृतः, अकरलानस्वऽनन्तरपरामर्शना तच्छब्देन कु-
तो द्वयः ? किमाकाशात्पतितः ? । किं च, यच्चऽकराज्ञ इतीह
व्याख्यायते तर्हि “ केवलिविज्जाणं तिविहमेओ वि ” इत्यत्र कि-
मिनि केवलिनो वर्जनं कृतं ? यथा हि श्रुताकरमाश्रित्योक्त्योऽकर-
रत्नामः संपूर्णश्रुतज्ञानवतो द्वयते तथा केवलाकरमङ्गीकृत्यो-
क्त्योऽसौ केवलिनोऽपि द्वयते एव, किं तद्वर्जनस्य फलम् ? । ल-
माश्रमपूज्यैश्च “ थीणद्धि ” इत्यादिगाथायामिदं व्याख्यातम्-
स च किल ज्ञान्योऽनन्तभाग इत्यादि । अथ सामान्यमकरं नेह
प्रकमे गृह्यते किन्तु श्रुताकरमेवेति । तदयुक्तम्, चिरन्तनटीकाद-
येऽप्यकरस्य सामान्यस्यैव व्याख्यानात् । किं च-विशेषतोऽत्र
श्रुताकरे गृह्यमाणे तस्य श्रुताकरस्याऽनन्तभागः सर्वजी-
वानां नित्योद्घाट इति व्याख्यानमापद्यते । एतच्चाऽयुक्तम् ,
संपूर्णश्रुतज्ञानिनां ततोऽनन्तजागादिहीनश्रुतज्ञानवतां च श्रुताक-
रानन्तभागवत्त्वानुपपत्तेः । किं च, “ सो उण केवलिविज्जाणं ति-
विहमेओ वि ” इत्येतदसंभवमेव स्यात्, केवलिनः सर्वथैव श्रुता-
करस्यासंज्ञेन तद्वर्जनस्याऽऽनयक्यप्रसङ्गाच्चेति, परमार्थे चेह
केवलिनो बहुश्रुता वा विदन्तीत्यलं प्रसङ्गेन । विमध्यममकरान-
न्तभागमाह-ततस्तस्मादुक्त्युत्थुतज्ञानविदोऽवशेषाणामेकेन्द्रि-
यसंपूर्णश्रुतज्ञानिनो मध्ये वर्तमानानां पदस्थानपतितानामनन्त-
भागादिगतानां प्रायेण विमध्यो मध्यमाकरानन्तभागो भवति,
एकस्मादुक्त्युत्थुतज्ञानिनोऽवशेषाः केचित् श्रुतमाश्रित्य तुल्या
अपि भवन्त्यत उक्तप्रायेणावशेषाणां विमध्यम इति । अयमर्थः-
विवर्द्धितादेकस्मादुक्त्युत्थुतज्ञानिनोऽविशेषाणामपि केपांचिदु-
क्त्युत्थुतज्ञानवतां तत्तुल्य एवाऽकरानन्तभागो भवति न तु
विमध्यम उक्त्युत्थु इत्यर्थः । इति सप्तचत्वारिंशत्तार्थः ।
इत्यक्षरश्रुतं समाप्तम् । विशेषे ॥

पत्तेयमकराई, अक्षरसंजोय जत्तिया होए ।

एवइया सुयनाणे, पयसीओ होंति नायन्वा ॥

एकमेकं प्रति प्रत्येकमकराण्यकारादीन्वनेकमेवानि । यथा-

अकारः सानुनासिको निरनुनासिकश्च । पुनरैकैकस्त्रिधा-द्वयो
दीर्घः प्लुतश्चेति । पुनरैकैकस्त्रिविधः-उदात्तोऽनुदात्तःस्वरितश्च ।
इत्येवमकारोऽष्टादशमेदः । एवमिकारादिष्वपि यथासंभवं भेद-
जालमभिधानीयमिति । तथाऽकराणां संयोगा अकरसंयोगा
द्व्यादयो यावन्तो ढोके, यथा-घटः पट इत्यादि, व्याघ्रः स्त्रीत्यादि ।
एवमेतेऽनन्ताः संयोगाः, तत्राप्येकैकः स्वपरपर्यायापेक्षयाऽनन्त-
पर्यायः, अत एतावत्यः श्रुतज्ञाने प्रकृतयो भेदा ज्ञातव्या इति
निर्युक्तिगतार्थः ।

अथ भाष्यम्—

संजुत्तासंजुत्ता-ए ताणमेकक्खराइसंजोगा ।

होंति अणंता तत्थ वि, एकैको एतपज्जाओ ।

एकमकरमादिर्येषां द्वयादीनां तान्येकाकरादीनि, तेषां संयोगा
एकाकरादिसंयोगाः, ते अनन्ता भवन्ति । केषां ये एकाकरादिसं-
योगा इत्याह-तेषामकारककाराद्यकराणाम् । कथंभूतानामि-
त्याह-संयुक्तासंयुक्तानाम् । तत्र संयुक्तैकाकरसंयोगो यथा-
अग्निः प्राप्त इत्यादि । असंयुक्तैकाकरसंयोगो यथा-घटः पट
इत्यादि । एते चाकरसंयोगा अनन्ताः । एकैकश्च संयोगः स्व-
परपर्यायैः पूर्वाभिहितन्यायेनाऽनन्तपर्याय इति ॥

अथ परमतमाशङ्क्योत्तरमाह—

संखिज्जक्खरजोगा, होंति अणंता कहुं जमनिधेयं ।

पंचत्थिकायगोयर-मन्नोन्नविलक्खणमणंतं ॥

संख्येयानि च तान्यकाराद्यकराणि, तेषां योगाः संयोगाः कथ-
मनन्ता भवन्ति न घटन्त एवेति भावः । अत्रोत्तरमाह-यद्य-
स्मात्संख्येयानामप्यकराणामभिधेयमनन्तम् । कथं ज्ञातमित्याह-
अन्योन्यविलक्षणं परस्परविसदृशम् । किं विषयमित्याह-पञ्चा-
स्तिकायगोचरं पञ्चास्तिकायगतस्कन्धदेशप्रदेशपरमाणुका-
दिकम्, अभिधेयानन्त्याच्चाभिधानस्याप्यानन्त्यमवसेयमिति ।

एतदेव भावयति—

अणुओ पएसवुह्ठी-ए निन्नरूवाइ धुवमणंताइ ।

जं कमसो दव्वाइ, हवंति भिन्नाजिह्वाणाइ ॥

इहास्मादणुतः परमाणुतः प्रारभ्य क्रमशः प्रदेशवृद्ध्या पुन-
लास्तिकायेऽपि ध्रुवं सर्वदैवानन्तानि भिन्नरूपाणि द्रव्याणि
प्राप्यन्ते भिन्नाभिन्नानि चैतानि, यथा-परमाणुद्रव्यैरुक्त-
रूपैश्चतुरणुको यावदन्तप्रदेशिक इति, प्रत्येकं चानेकाभिधाना-
न्येतानि, तद्यथा-अणुः परमाणुर्निरंशो निरवयवो निःप्रदेश
अप्रदेश इति, तथा द्रव्यणुको द्विप्रदेशिको द्विजेदो द्वयवयवः । इ-
त्यादि सर्वद्रव्यसर्वपर्यायेष्वप्योजनीयम् । यस्माच्चैवमभिधेयम-
नन्तं विसदृशरूपं जिन्नाभिधानं च तस्मात्किमित्याह—

तेणाभिहाणमाणं, अभिधेयाणंतपज्जवसमाणं ।

जं च सुयम्मि वि भणियं, अणंतगमपज्जयं सुत्तं ॥

यतोऽभिधेयमनन्तं जिन्नरूपं जिन्नाभिधानं तेन कारणेना-
करसंयोगरूपाणामभिधानानां यत्संख्यारूपं मानं परिमाणं त-
दपि जवति । कियदित्याह-अभिधेयजेदेनाऽभिधानस्यापि जे-
दाव न हि येनैव रूपेण घटादिशब्दे अकारादिवर्णाः संयुक्तास्ते-
नैव स्वरूपेण पटादिशब्देऽपि अभिधेयैकत्वप्रसङ्गात्, करुपशब्दा-
भिधेयत्वात् घटतत्स्वरूपवदिति, अतोऽभिधेयानन्त्यादभिधा-
नानन्त्यमिति यत्ततः सूत्रेऽप्यभिहितम् । “ अणंतागमा अणंता
पज्जाव ” इत्यतः स्थितमेतत् “ संजुत्तासंजुत्ताणं ” इत्यादीति
गाथाचतुष्टयार्थः । विशेषे ॥

उभयं भावक्षरओ, अणक्षरं होज्ज वंजणक्षरओ ।

मइनाणं सुत्तं पुण, उभयं पि अणक्षरं करउ ॥

ईहाक्षरं तावद्विविधम्-छव्याक्षरं भावाक्षरं च । तत्र छव्याक्षरं पुस्तकादिन्यस्ताकारादिरूपं, तावदाकारणजन्यः शब्दो वा । एतच्च व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनाक्षरमप्युच्यते, भावाक्षरं त्वतः स्फुरदकारादिवर्णज्ञानरूपम् । एवं च सति (जावक्षरओ च्ति) जावाक्षरमाश्रित्य मतिज्ञानं ज्ञेयम् । कथंभूतमित्याह- (उभयं ति) उभयरूपमक्षरवदनक्षरं चेत्यर्थः । मतिज्ञानज्ज्ञेय-ह्यवग्रहे भावाक्षरं नास्तीति तदनक्षरमुच्यते । ईहादिषु तु तज्ज्ञेयेषु तदेतेषु तदस्तीति मतिज्ञानमक्षरवत् प्रतिपादितमिति भावः । (अनक्षरं होज्ज च्ति) व्यञ्जनाक्षरं विद्यते, तस्य छव्यश्रुतत्वेन-रुढत्वात् द्रव्यमतिवत्त्वात्प्रसिद्धत्वादिति (सुत्तं पुणो च्ति) सूत्रं श्रुतज्ञानं पुनरुभयमपि छव्यश्रुतं भावश्रुतं चेत्यर्थः । विशेषः । अकारादिलब्ध्याकाराणामन्यतरस्मिन् । कर्म० १ कर्म० । क्षरणशून्ये, त्रि० उच्चले, मोक्षे च । न० वाच० ।

अक्षरगुण-अक्षरगुण-पुं० ६ त० स० । अकारादीनामक्षराणां गुणोऽनन्तागमपर्यायवत्त्वमुच्चारणं च, अन्यथाऽर्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अक्षरगुणमसंघटना-अक्षरगुणमसंघटना-स्त्री० अक्षरगुणेन मतेः (मतिज्ञानस्य) संघटना, भावश्रुतस्य छव्यश्रुतेन प्रकाशनेऽक्षरगुणस्य मत्या संघटनायां बुद्ध्या रचनायां च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अक्षरपुट्टिया-अक्षरपुट्टिका-स्त्री० ब्राह्म्या द्विपेनर्वमे हेखविधाने । प्रज्ञा० १ पद ।

अक्षरलंज-अक्षरलंज-पुं० पुरुषस्त्रीनपुंसकघटपटादिवर्णविज्ञाने, “ अक्षरलंजो सष्ठी-ए होज्ज पुरिसाश्चमविष्ठाणं । कत्तो असष्ठीणं, जणियं च सुयस्मि तेसि पि ” विशेषः । सूत्र० ।

अक्षरविमुच्छ-अक्षरविमुच्छ-त्रि० पदैरक्षरैर्वाऽलङ्कृते, पं० चू० ।

अक्षरसंवच्छ-अक्षरसंवच्छ-पुं० वर्णव्यक्तिमति, स्था० २ ग० ३ उ० । (अस्य व्याख्या ‘भासा’ शब्दे)

अक्षरसंविधाय-अक्षरसंविधाय-पुं० अक्षराणां संविधायः संयोगः । राय० । अकारादि (वर्ण) संयोगेषु, “अजिणाणं जिणसंका-साणं सव्वक्षरसंविधायणं” स्था० ३ उ० ४ उ० ।

अक्षरसम-अक्षरसम-न० (अक्षरैः समो यत्र) गेयस्वरभेदे, यत्र अक्षरे दीर्घे दीर्घस्वरः क्रियते, ह्रस्वे ह्रस्वः, प्लुते प्लुतः, सानुनासिके सानुनासिकस्तदक्षरसममिति, स्था० ७ ग० ।

अक्षरसमास-अक्षरसमास-पुं० अकारादिलब्ध्याकाराणां द्व्यादिसमुदाये, कर्म० १ कर्म० ।

अक्षरवाया-देशी-दिगेत्यर्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अक्षरल-देशी-पुं० (अक्षरोट) इति प्रसिद्धे, वृक्षे, तत्फलं च, न० प्रज्ञा० १६ पद ।

अक्षरलिङ्ग-देशी-प्रतिफलिते, दे० ना० १ वर्ग ।

अक्षरद्वय-अक्षरद्वय-त्रि० न० त० । अप्रच्युते, स्वकर्तव्ये, अप्रमत्ते, वाच० । उपलक्षकत्वाद्यकुञ्जचूजागे, लाङ्गलमिव स्खलति यत्तत्स्खलितं, न तथाऽस्खलितम् । सूत्रगुणज्ज्ञेदे, अनु० । ग० । आ० म० प्र० ।

अक्षरलियचरित्त-अक्षरलियचरित्त-पुं० अक्षरलितमतिचार-रहितं चारित्रं मूलगुणरूपं यस्यासौ अक्षरलितचारित्रः । निरतिचारचारित्रे, ईदृशेन साकं केवल्यपि विदरेत् । “ गीयत्ये जे सुसंविग्गे, अणावस्सी ददव्वप । अक्षरलियचरित्ते य, रागदोसविवज्जप ” ग० १ अधि० ।

अक्षरलियाइगुणजुत-अक्षरलियाइगुणजुत-त्रि० अक्षरलितममितमव्यत्याग्रेभितमित्यादिगुणयुक्ते, “अक्षरलित्यादिगुणयुतैः स्तोत्रैश्च महामतिप्रथितैः” यो० ए विव० ।

अक्षरवाडग-अक्षरवाडग-पुं० अक्षरे व्यवहारे पाठयति दीप्यते । पठदीप्तौ-एवम् । व्यवहारनिर्णेतरे धर्माध्यक्षे, वाच० । चतुरस्त्राकारे (आसने,) “ तेसि णं बहुमज्जदेसजाए पत्तेयं २ वइरामया अक्षरवाडगा पण्णा ” जी० ३ प्रति० ।

अक्षरमुत्तमाला-अक्षरमुत्तमाला-स्त्री० अक्षा रक्षाक्षाः फलाविशेषास्तेषां सम्बन्धिनी सूत्रप्रतिवक्षा माहा आवही या सा तथा सैव गणयमानैर्निर्मासतयाऽतिव्यक्तत्वात् । रक्षाक्षमालायाम्, “ अक्षरमुत्तमाला विव गणिज्जमाणेहि ” अणु० ३ वर्ग ।

अक्षरसोय-अक्षरसोय-न० चक्रधूःप्रवेशरन्ध्रं, ज० ७ ग० ६ उ० ।

अक्षरसोयप्पमाण-अक्षरसोयःप्रमाण-त्रि० अक्षरसोयश्चक्रधूःप्रवेशरन्ध्रं, तदेव प्रमाणमक्षरसोयःप्रमाणम् । ज० ७ ग० ६ उ० । चक्रनाभिच्छिद्रप्रमाणे, औ० ।

अक्षरसोयप्पमाणमेत्त-अक्षरसोयःप्रमाणमात्र-त्रि० अक्षरसोयःप्रमाणेन मात्रा परिमाणमवगाढतो यस्य स तथा । (चक्रनाभिच्छिद्रप्रमिताऽवगाहे) “ तेणं काहेणं तेणं समणं गंगासिंधुओ महाणत्तो रहपहवित्थराओ अक्षरसोयप्पमाणमेत्तं जलं वोज्जिहि च्ति ” म० ७ ग० ६ उ० ।

अक्षर-आख्या-स्त्री० आ-ख्यायतेऽनया । आ-ख्या-अह । वाच० । अभिधाने, “ काहो उ वंदक्खा, ” वन्दाख्या इत्यभिधानम् । स काहः प्रतिपत्तव्यः । वृ० ३ उ० ।

अक्षरार्थ-आख्यातिक-न० पठति लुङ्गे इत्यादि (आख्यातनिष्पन्ने) यवज्ज्ञेदे, आ० म० द्वि० । विशेषः । धावतीत्याख्यातिकम्, क्रियाप्रधानत्वात् । अनु० । साध्यक्रियापदे, ‘यथाऽकरोत् करोति करिष्यति’ प्रश्न० संव० २ द्वा० ।

अक्षरार्थद्वारा-आख्यायिकास्थान-न० कथानकस्थाने, आचा० २ श्रु० ११ म० ।

अक्षरार्थानिस्सय-आख्यायिकानिश्रित-न० आख्यायिकाप्रतिवक्षेऽसत्प्रदाये, एष नवमो मृषाज्ज्ञेदेः । स्था० १० उ० ।

अक्षरार्था-आख्यायिका-स्त्री० आ-ख्या-एवम् । कल्पितकथायाम्, संथा० । यथा तरङ्गवतीमलयवतीप्रभृतयः, वृ० १ उ० ।

अक्षरार्थ-आख्यातुम्-अव्य० आख्यानं कर्तुमित्यर्थे, “ न य दिट्ठं सुयं सव्वं जिक्खू अक्खाउमरिहइ ” दश० ८ अ० ।

अक्षरार्थ-आख्याक-पुं० स्लेच्छविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ॥

अक्षरार्थ-आख्याक-पुं० प्रेक्षाकारिजनासनचूते, स्था० ४ ग० २ उ० । चतुरस्त्रे लोकप्रतीतिऽर्थे, स्था० ३ ग० ३ उ० “ तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्जदेसजाए पत्तेयं २ वइरामए अक्षरार्थ ” राय० ।

अकस्मात्—आख्यान—न० । आ-ख्या, चकिञ् वा, ल्युट् । आ-
भिमुख्येनादरेण वा स्थापनं प्रकथनमभिधानं वा । “ अ-
कस्मात् स्वावगाभिहानं वा ” आभिमुख्येनाऽऽदरेण वा
प्रकथनेऽभिधाने च, विशे० । निवेदने, ध्र० १ अधि० । अ-
भिधाने, पञ्चा० २ चित्र० । आख्यानकानि धूर्ताऽऽख्यानकादी-
नि । वृ० २ उ० । नि० चू० ॥

अकस्मात्—आख्यान—नि० आ-ख्या-कः । पूर्वतीयं करण-
धरादिभिः प्रतिपादिने, सूत्र० १ ध्रु० ३ अ० । आच० । “ सं-
निमेषं ड्वे णाणां अकस्मात् मारणंति य ” ॥ उत्त० ७ अ० ।
समन्तात्कथिते, उक्त० २ अ० । “ सुयं मे आउसं तेणं भग-
वया एवमकस्मात् ” आ मर्यादया जीवाऽजीवलक्षणसंकी-
र्णत्वरूपतयाऽभिधिना वा समस्तवस्तुविस्तारव्यापनलक्षणे-
न स्यात् कथितमाख्यातमात्मविस्तृतज्ञातमिति गम्यते । स्या०
१ ग्रा० । सूत्र० । द० । भणिते, संया० । तिङ् रूपे प्रत्यये, भाव
एव साध्यतया लिङादिरभिधीयते न कर्ता “ पूर्वापरीभूतं ज्ञा-
यमाख्यातमाचष्टे ” इति वचनात् । सम्म० ।

अकस्मात्पञ्चज्या—आख्यातप्रज्या—स्त्री० आख्यातेन धर्मद-
र्शनेन आख्यातस्य वा प्रव्येत्यभिहितस्य गुह्यभिर्या साऽख्या-
तप्रज्या । प्रज्याभेदे, स्था० ३ ग्रा० २ उ० । “ अकस्मा-
याय जंयु धम्मं अकस्मादिपभवस्स ” पं० भा० । “ अकस्माया-
प सुदंसणां सेट्ठी सामिणा संयोहिओ ” पं० चू० ।

अकस्मात्—अक्षि—न० अक्षुते विषयान्, अक्षि-नेत्रे, वाच० ।
“ अक्षिहि य णासाहि य जिम्भाहि य ओट्टेहि य ” विपा० १
ध्रु० २ अ० । “ ते अजिअक्षितिषण ” नि० चू० १ उ० ।

अकस्मात्तर—अक्ष्यन्तर—न० ६ त० । नेत्ररश्मे, (विपा०)
“ अक्षितरेसु ड्वे ” (नाड्यौ) विपा० १ अ० १ अ० ।

अकस्मात्—आक्षिप्त—त्रि० आ-क्षिप्-क । कृताक्षेपे, यस्याक्षेपः
कृतस्तस्मिन् । वाच० । आक्षेपे, ज्ञा० १ ध्रु० १६ अ० । उपलभिते,
ज्ञा० १ ध्रु० २ अ० । आवाजिते, दश० ३ अ० । उपन्यस्ते च,
पञ्चा० १२ विव० ।

अकस्मात् (कस्मे) क्त—अक्षेत्र—न० । न० त० । क्षेत्राभावे, “ मगाणा
खेत्त अकस्मेत्त ” एकक्षेत्रस्थितानां मार्गणा कर्तव्या, कस्य क्षेत्रं
भवति कस्य वा न भवति क्षेत्रमित्यर्थः । व्य० ४ उ० ।
क्षेत्रमित्रे बहिरर्थे, “ अकस्मेत्तुवस्सप पुच्छमाणे द्वावल-
य मासो ” अत्रेक्षेत्रे स्थितानामुपाश्रये उपाश्रयविषया मार्गणा
कर्तव्या । अक्षेत्रे उपाश्रयस्य मार्गणा कर्तव्येत्युक्तं तत्र
तावदक्षेत्रमाह— “ एहाणाणुजाण अद्धा-णसीसप कुल्लगणे
चउके य । गामाइवाणमंतर-महेय उज्जाणमादीसु । इदंकील-
मणोण्णाहो जत्थ राया जेहि वपंच इमे । अमच्चपुरोहिया सेट्ठी,
सेणावति सत्थवाहो य ” व्य० ४ उ० । जंदिस्सं वाधातो तं दिस्सं
अकस्मात्तुजाणं जाव खेत्तं भवति परओ अकस्मेत्तं ” नि० चू० १ उ० ।

अकस्मात्तणियंसण—आक्षिप्तनिवसन—त्रि० ३ अ० । आक्षेप-
रिधानवस्त्रे, “ अकस्मात्तणियंसणा मल्लिण्डं डिखंस्वसणा ”
प्रश्न० आश्न० ३ द्वा० ।

अकस्मात्—अक्षिराम—पुं० अक्षिरामो रञ्जनम् । सौवीरादि-
केऽञ्जने, “ आसूणिमक्षिरामं च, गिदुवधायकम्मगं । उच्छोदणं

च कक्कं च, तं विज्जं परियाणिया ” ॥ १५ ॥ सूत्र० १ ध्रु० ७ अ० ।

अकस्मात्—आक्षेपण—न० चित्तव्यग्रतापादने, प्रश्न० आश्न० ३ अ० ।
अकस्मात्—आक्षेपण—अव्य० आ-क्षिप्-तुमुन् । स्वीकर्तुमि-
त्यर्थे, नि० ।

अकस्मात्—आक्षेपण—त्रि० स्वीकर्तुकामे, नि० चू० १ उ० ।

अकस्मात्—आक्षेपण—स्त्री० स्वीकर्तुकामे, नि० चू० १ उ० ।

अकस्मात्—आक्षेपण—त्रि०, न० त० । अक्षुते, औ० । क्रियमनुपगते,

प्रज्ञा० २६ पद । “ अक्षेणा विरतस्वरा हि गृहिणः ” प्रति० । “ ना
मगायस्स वा कम्मस्स अकस्मात्तस्स अवैश्यस्स ” अक्षेणस्य
स्थितेरक्षेणे । कल्प० । “ अकस्मात्तद्वत्सारा ” प्रश्न० आश्न० ३ द्वा० ।

अकस्मात्परिभोड (ए) अक्षेणपरिभोगिन्—पुं० अक्षेण-
मक्षेणायुष्कमप्रासुकं परिभुजते इत्येवं शीघ्रा अक्षेणपरिभोगि-
नः । अप्रासुकपरिभोगिपु, इन्द्रप्रत्ययस्य स्वार्थकत्वाद्, अनपग-
ताहारशक्तिपु, “ आज्जीवियसमयस्स णं अयमठे पवत्तं अ-
कस्मात्परिभोडणो सव्वसत्ता ” ज० ७ श० ५ उ० ।

अकस्मात्परिभोड—अक्षेणमहानसिक—पुं० महानसमन्-
पाकस्थानं तदाश्रितत्वाच्चाऽन्नमपि महानसमुच्यते, ततश्चाक्षेणं
पुरुषशतसहस्रेभ्योऽपि दीयमानं स्वयमक्षुक्तं सत् तथाविधल-
ब्धिविशेषपादवृत्तिं, तच्च तन्महानसं च भिक्षालब्धं भोजनमक्षे-
णमहानसं तदस्ति येषां ते तथा । औ० । अक्षेणमहानसी नाम
बद्धिमुपपन्नेषु, येषामसाधारणान्तरायक्षयोपशमादपमात्र-
मपि पात्रपतितमन्नं गौतमादीनामिष पुरुषशतसहस्रेभ्योऽपि
दीयमानं स्वयमेवाक्षुक्तं न क्षीयते ते अक्षेणमहानसाः । उक्तं
च— “ अकस्मात्परिभोडणो, निष्कं जेणाणीयं पुणो तेण ।
परिभुत्तं चिय खिज्जइ, बहुपहि वि न पुण अवेहि ” ॥ १ ॥
ग० २ अधि० । अकस्मात्परिभोडणस्य निष्कं ण अन्नेण णिदु-
विज्जइ, तस्मि जिमिते णिठाति । आ० चू० १ अ० । आ० म० प्र० ।

अकस्मात्परिभोड—अक्षेणमहानसी—स्त्री० बद्धिभेदे, येना-
नीनं नैकं बहुभिरपि वृक्षसंख्यैरप्यन्यैस्तुसितोऽपि क्षुक्तं न
क्षीयते यावदात्मना न क्षुक्ते किन्तु तेनैव क्षुक्तं निष्ठां याति, त-
स्याक्षेणमहानसी बद्धिः । प्रव० २७० द्वा० । विशे० ।

अकस्मात्परिभोड—अक्षेणमहानसी—पुं० लब्धिविशेषमवा-
सेषु, ते च यत्र परिमितभूयदेशेऽतिष्ठन्ते तत्रासंख्याता अपि
देवास्तिर्यङ्मनुष्याश्च सपरिवाराः परस्परवाधारहितास्तीर्थ-
करणपदीव सुखमासते इति । ग० २ अधि० ।

अकस्मात्परिभोड (हु) सपिय—अक्षेणमधुसर्पिष्क—पुं० । न० व० ।
दुग्धक्षौद्रघृतवज्रके अक्षिप्रहविशेषधारके, प्रश्न० संव० १ द्वा० ।

अकस्मात्—अक्षेण—त्रि० आर्पत्वाङ्कारः । अप्रतिहते,
ध० ३ अधि० ।

अकस्मात्—अक्षेण—अक्षेणमहानसी—पुं० अक्षेण आकारः
स्वरूपं यस्य अक्षेणमहानसीचरैरप्रतिहतस्वरूपं चरित्रं येषां ते
तथा । निरतिचारचरित्रेषु, “ अक्षेणस्य सीलंगधरा अकस्मात्-
आचारचरित्ता ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थण वंदामि ”
ध० ३ अधि० ।

अक्रवुद्ध—अक्रुद्ध—त्रि० । न० त० । अमर्दिते, नि० चू० १० उ० ।
 “अक्रवुद्धेषु पदेसु पुढवी उदगमि हाइ पुहओ वि” वृ० १ उ० ।
 अक्रवुद्ध—अक्रुद्ध—पुं० । न० त० । अनुत्ताममतौ, ध० १ अधि० ।
 ध० २० । अक्रुद्धे, कृपणो ह्यौचित्येन रुच्यव्ययकरणाशक्तत्वात्
 तत्साधनाय शासनप्रभावनाय चाक्षमिति तद्भिन्नस्य प्रथमश्रा-
 वकगुणवत्त्वम् । पंचा० ७ वि० । अक्रूरे, क्रूरेण हि परोपता-
 पितत्वाज्जनद्वेपेण कृतं तदायतनं तन्मत्सरेण जनद्वेप्यं स्या-
 दिति (तद्भिन्नस्य प्रथमश्रावकगुणवत्त्वम्) पंचा० ९ वि० ।
 तेन निष्पादितं सर्वानन्ददायितया हितं भवति । दर्श० ।
 अस्य विस्तरेण प्रतिपादनम्—
 खुदो त्ति अगंजीरो, उत्ताणमई न साहए धम्मं ।
 सपरोवयारसत्तो, अक्रवुद्धो तेण इह जुगो ॥ ८ ॥
 यद्यपि क्षुद्रशब्दस्तुच्छक्रूरदरिद्रघुमृत्तिष्वयैषु वर्तते तथा-
 पीह क्षुद्र इत्यगंजीर उच्यते, तुच्छ इति कृत्वा स पुनरुत्तानम्-
 तिरनिपुणधिपण इति हेतोर्न साधयति नाराधयति धर्मं, भीमवत्,
 तस्य सूक्ष्ममतिसाध्यत्वात् । उक्तं च—“सूक्ष्मबुद्ध्या स विज्ञेयो,
 धर्मो धर्मार्थिभिर्नरैः । अन्यथा धर्मेबुद्धयैव, तद्दिघातः प्रसज्यते
 ॥ १ ॥ गृहीत्वा ग्लानमैपज्यं, प्रदानाभिग्रहं यथा । तदप्राप्तौ त-
 दन्तेऽस्य, शोकं समुपगच्छतः ॥ २ ॥ गृहीतोऽग्निग्रहश्रेष्ठो, ग्लानो
 जातो न च कश्चित् । अहो ! मे धन्यता कष्टं, न सिरूमभि-
 वाञ्छितम् ॥ ३ ॥ एवमेतत्समादानं, ग्लानभावाजिसन्धिमतः ।
 साधूनां तत्त्वतो यच्च दुष्टं ज्ञेयं महात्मनिः” ॥ ४ ॥ इति, एतद्विप-
 रीतः पुनः स्वपरोपकारकरणे शक्तः समर्थो भवतीति शेषः ।
 अक्रुद्धः सूक्ष्मदर्शी सुपर्याप्तोचितकारी तेन कारणेनेह धर्मग्रहणे
 योग्योऽधिकारी स्यात्, सोमवत् । तयोः कथा चैवम्—
 नरगणकलियं सुजइ—च्छंदं पि व कणयकूरुपुरमत्थि ।
 तत्थासि वासवो वा—सउ व्व विवुद्धपिथो राया ॥ १ ॥
 कमत्ता य कमलसेणा, सुलोयणा नाम तिन्नि तरुणीओ ।
 भूमीवइड्डिआओ, दुस्सइपिथविरहदुहियाओ ॥ २ ॥
 अन्नायसरुवाओ, अन्नुन्नं पि हु तर्हि रयंतीओ ।
 समदुहदुहिय त्ति विया, एगत्थ गमंति दिवसाइ ॥ ३ ॥
 तत्थेगो सुगुणेहि, अवामणो वामणो उ रुवेण ।
 सम्मं निययकट्ठाहि, रंजइ निवपज्जिइसयत्तपुरं ॥ ४ ॥
 कइया वि निवेणुत्तो, सो जह इह विरहड्डिहियतरुणीओ ।
 जइ रंजिहिही नूणं, तां तुह नज्जइ कलुक्करिसो ॥ ५ ॥
 थोवमिणं ति स भणिरो, रत्तोऽणुत्ताइ बहुवयंसज्जुओ ।
 पत्तो ताणं भवणे, कहेइ विविहे कदाशावे ॥ ६ ॥
 एणेण वयंसेणं, वुत्तं किमिमाहि मित्त ! वत्ताहि ।
 किं पि सुइसुहयचरियं, कहसु तओ कहइ इयरो वि ॥ ७ ॥
 महिमहिलाजावत्थत्त—तिवयं व पुरं इहत्थि तिलयपुरं ।
 तत्थ य पुरियमग्गण—मणोरहो मणिरहो राया ॥ ८ ॥
 सुत्तुरहिसीलजियविम—लमालई मावइ त्ति से दइया ।
 पुत्ता य सुवणअक्रम—णविक्रमो विक्रमो नाम ॥ ९ ॥
 नियमंदिरसंनिहिप, गिहम्मि कम्मि वि कया वि संजाए ।
 सो सुणइ सवणसुहयं, केण वि एवं पडिज्जंतं ॥ १० ॥
 नियपुत्तपमाणं गुण—वियट्ठिमा सुजणदुज्जणविसेसो ।
 नज्जइ नेगत्थछिप—हिं तेण निजणा नियंति महिं ॥ ११ ॥
 तं सुणिय सुणिय मवगणि—य परियणं देमदंसणसतण्हो ।
 कुमरो रयणीइ पुरा—उ निग्गओ खग्गवग्गकरो ॥ १२ ॥
 सो वच्चंतो संतो, अग्गे मग्गे निएइ कं पि नरं ।

निट्ठुरपहारविहुरं, पिवासियं महियले पडियं ॥ १३ ॥
 तो सरवराउ सत्थिं, गहित्तु उप्पन्नपुत्तकारुनो ।
 तं पाइत्ता पवण—पयणओ कुणइ पणतणुं ॥ १४ ॥
 पुच्छइ य भो महायस !, कोसि तुमं किं इमा अवत्था ते ? ।
 सो जणइ सुयणसिररय—ण ! सुणसु सिद्धु त्ति हं जोई ॥ १५ ॥
 विज्जावलिपण विप—कखजोइणा वलपहारिणा अहयं ।
 एयमवत्थं नीओ, तए पुणो पगुणिओ सगुणो ॥ १६ ॥
 तो सो तोसेणं गरु—मंतमप्पित्तु नरवरसुयस्स ।
 सछाणं संपत्तो, कुमरो पुण इत्थ नयरम्मि ॥ १७ ॥
 निसि मयणगिहे वुत्थो, चिट्ठइ जा सुद्धु जगिरो कुमरो ।
 ता तत्थेगा तरुणी, समागया पूइं मयणं ॥ १८ ॥
 वदि नीहरिउं जप्पइ, अम्मो वणदेवया सुणइ सम्मं ।
 इह वासवनरवइणो, सुहिया कमत्त त्ति हं डुहिया ॥ १९ ॥
 मणिरहसुयस्स विक्रम—कुमरस्सुज्जगुणाखुरापण ।
 दिन्ना पिज्जा सो पुण, इएहि न नज्जइ कहिं पि गओ ॥ २० ॥
 जह मह इह नउ जाओ, सो भत्ता तो परत्थ वि हविज्जा ।
 इय पभाणिअ उल्लंघइ, वरुविरुविणि जाव सा अप्पं ॥ २१ ॥
 मा कुणसु साहसं इय, जणिरो छुरियाइ विदिउं पासं ।
 कमलं कमलसुफोमल—वयणेहिं सवइ कुमरो ॥ २२ ॥
 इत्तो तस्सुद्धिकए, जम्वडगरपरिबुओ तर्हि पत्तो ।
 वासवनिवो वि कुमरं, दट्ठं हिट्ठो भणइ एवं ॥ २३ ॥
 तिलयपुरे अम्मोहि, गपहि मणिरहसमित्तमिलणत्थं ।
 तं वावत्ते दिट्ठो, दक्खिन्नसुपुत्तवर ! कुमर ! ॥ २४ ॥
 निज्जणरत्ता एसा, पइ कमला कमद्विणि व्व दिण्णाहे ।
 तुह दाहिणकरमेलेण—वसा सुइं वडउ मह डुहिया ॥ २५ ॥
 इय महरगहिरभणिइ, पत्थिओ वासवेण नरवइणा ।
 विक्रमकुमरो कमलं, परिणइ तिविक्कमु व्व तओ ॥ २६ ॥
 गोसे तोसेण पुरे, पवेसिओ निवइणा समज्जो सो ।
 तीइ समं कीडंतो, चिछइ निवदिन्नपासाए ॥ २७ ॥
 तो किं अग्गे कमत्ता—इ जंपिअ भणिय रायसेवाए ।
 समओ त्ति गओ खुज्जो, वीयदिणे कहइ पुण एवं ॥ २८ ॥
 कइया वि सुणिय रयणीइ, कलुणसइं रयंतरमणीए ।
 तस्सइणुसारेण य, स गओ कुमरो मसाणम्मि ॥ २९ ॥
 दिट्ठा वाहज्जाविल—विट्ठोललोयणजुया तर्हि जुवई ।
 तीए पुरओ जोई, तह कुंरं जलिरजलणजुयं ॥ ३० ॥
 होउं लयंतरे पत्त—रपत्तरिसो जाव चिछए कुमरो ।
 विसमसरपसरविहुरो, तो जोई भणइ तं वालं ॥ ३१ ॥
 पसिय चिक्खिय सियसयवत्त—पत्तनयणे ममं करिय दइयं ।
 चूलामणि व्व तं हो—सु सयलरमणीयरमणीणं ॥ ३२ ॥
 सा रयमाणी पभणइ, किं अप्पमणत्थयं कयत्थेसि ।
 जइसि हरी मयणो वा, तहा वि तुमए न मे कज्जं ॥ ३३ ॥
 अह रुओ सो जोई, वड्डा वि जा गिण्हिही करेण तयं ।
 ता पुक्करियं तीए, हहा ! अणाहा इमा पुढवी ॥ ३४ ॥
 जं सिरिपुरपहुजयसे—णनिवइड्डिहिया अहं कमलसेणा ।
 दिन्ना पिज्जा मणिरह—निवसुयविक्रमकुमारस्स ॥ ३५ ॥
 संपइ विज्जावलिओ, अहइ ! अखत्तं करेइ कोवि इमो ।
 इय निसुणिय पयकियको—वविधम्मो भणइ कुमरो तं ॥ ३६ ॥
 पुरिसो हवेसु सत्थं, करेसु समरेसु देवयं इट्ठं ।
 परमहिलमहिलसंतो, रे रे पाविट्ठ ! नछोसि ॥ ३७ ॥

तो खन्नमल्लिओ जोगं, भणइ परिण्यापसंगवारणओ ।
 निवडंनो हं नरए, साहु तए रक्खिओ कुमर ! ॥ २७ ॥
 उवधारओ त्ति दावं, न्यपराविच्चिकारिणि विज्जं ।
 पन्नणइ जोगी मत्ते, गुरुविद्धमसाइसगुणेहिं ॥ ३९ ॥
 तुइ पइ म्मीइ दिट्ठी, यन्नणेणं तंस्सि विक्कमकुमारो ।
 इयरो वि साहइ अट्ठा, तुहिगियागारुसलत्तं ॥ ४० ॥
 तो जोगि पण्यिओ तं, धावं परिलिच्छु तं विमज्जेइ ।
 नीणं जुओ कुमारो, नियमवणुज्जापमणुपत्तो ॥ ४१ ॥
 ता किं जायं तन्मग्ग-ओ त्ति पुट्टम्मि कमलसेणए ।
 ओन्नग्गाए वेल्लं त्ति, जंपिउं निग्गाओ गुज्जो ॥ ४२ ॥
 अयं तव्ययासरम्मि, आगंतुं कहइ तत्थ पुण एवं ।
 कुमरो जावुज्जाणो, कीलइ सह कमलसेणए ॥ ४३ ॥
 परकज्जसज्ज ! मह कज्ज-मज्ज कुणनु त्ति ताव तं कोइ ।
 आह कुमारो वि जणइ, करेमि जीवियफलं एअं ॥ ४४ ॥
 तयगु विमाणासुद्धो, कुमरो वेयट्ठिकणयपुग्गपुहणो ।
 विजयनिवस्स समीये, नीओ सो तेण इय भणिओ ॥ ४५ ॥
 कुमर ! मह अत्थि सत्तु, भद्विजपुरसामिधूमकेउनिवो ।
 तं कक्कमिउं आरा-हियाइ कुइदेवयाइ मए ॥ ४६ ॥
 तव्विजयफलमो तं, कुमर ! पभणिओ गिएहता इमा विज्जा ।
 आगासगामिणीमा-इयाउ तइ नेव सो कुणइ ॥ ४७ ॥
 अह साहिययहुविज्जं, इयगयघडसुइरुफोन्सिधानियं ।
 कुमरं इतं निसुणिय, संवुहो धूमकेउनिवां ॥ ४८ ॥
 अत्तुत्तलत्तिविच्छु-मंमियं उंमियं गओ रज्जं ।
 तं गइय महियसत्तु, पत्तो कुमरो वि सघाणं ॥ ४९ ॥
 हत्तिउत्तरिसपेणं, रत्ता वि सुलोयणं निययधूयं ।
 परिणाविओ कुमारो, चिट्ठइ तत्थेव कह वि दिणे ॥ ५० ॥
 इहुं पुव्वपियाओ, कया वि कुमरो सुलोयणासहिओ ।
 इत्थं पुणो नयरे, नियमवणुज्जापमोइओ ॥ ५१ ॥
 नो कत्थ गओ त्ति सुलो-यणाइ पुट्टम्मि वामणो हसिरो ।
 नो तुम्हे विव अम्हे, खणिया इय वुत्तु नीहरिओ ॥ ५२ ॥
 नियनियचरियसवणओ, नियनियतणुनिउणफुरणओ ताहिं ।
 फयरुवपरावत्तो, नियमत्ता तक्किओ खुज्जो ॥ ५३ ॥
 अह रायपहे खुज्जो, गच्छंतो सुणिय कम्मि वि गिहम्मि ।
 करुणसरं तो कं पि हु, पुच्छइ रोइउज्जए किमिह ? ॥ ५४ ॥
 सो जणइ तिलयमंति-स्स पुत्तिया सरसइ त्ति नामेण ।
 भवणोवरि कीलंती, रुक्का कसिणेण उरगेण ॥ ५५ ॥
 चत्ता नरिद्विदा-रणाइ तो तीइ मायपियसयणा ।
 उम्मुक्ककंठमुक्कं-उवज्जिया इय रुयति वहुं ॥ ५६ ॥
 तं सोउ भणइ खुज्जो, गच्छामो मंइ मंतिगेहम्मि ।
 पिच्छामि तयं चावं, अहमवि उंजेमि तइ किं पि ॥ ५७ ॥
 इय वुत्तु मंतिजवण-म्मि वामणो तयणु तेण सह पत्तो ।
 पण्णेइ पोढमंत-प्पभावओ ऊत्ति तं वावं ॥ ५८ ॥
 नियविन्नाणं व तुमं, सरुवमविइंससु त्ति सचिवेण ।
 सो पत्थिओ खणेणं, नहुव्व जाओ सहावत्थो ॥ ५९ ॥
 तस्स पहाणं रुवं, दंष्टुं अश्विम्हिओ तिलयमंती ।
 जा चिट्ठइ ता पढियं, मागहविदेण पयमिमं ॥ ६० ॥
 माणिरहनिवकुलससहर !, हरहारकरेणुधववज्जसप्पसर ! ।
 पसरियतिहुयणविक्रम !, विक्रमवर ! कुमर ! जय सुचिरं ॥ ६१ ॥
 तो मंती वरकुलरू-वविक्रमं विक्रमं निपक्कण ।

कुमरीइ पाणिगहणं, कारावइ हठतुट्टमणे ॥ ६२ ॥
 तं सुणिय जाणिउं निय-सुयाइ कमलाइ पिययमं हिट्ठो ।
 वासवराया कारइ, महुसवं सव्वनयरम्मि ॥ ६३ ॥
 तत्तो मंतिगिहाओ, नीओ नियमंदिरे विवूइए ।
 सो सव्वपियाहिं जुओ, सुहेण चिछइ सुरु व्व तहिं ॥ ६४ ॥
 कज्जा वि जणयलेहेण पेरिओ पुत्तिउं ससुररायं ।
 चउहि वि जज्जाहि समं, कुमरो पत्तो तिलयनयरे ॥ ६५ ॥
 पणओ य जणणिजणप, इत्तो उज्जाणपावण निवो ।
 विन्नत्तो सिरिअक्कवं-कसुरिआगमणकहणेण ॥ ६६ ॥
 तो भासुरम्भइजुओ, स कुमारो मारसासणु व्व निवो ।
 चत्तिओ गुरुमणत्थं, रायपहे नियइ नरमेणं ॥ ६७ ॥
 अइसलवलंतकिमिवहु-वज्जावमत्तिजमत्तिवाच्छन्नं ।
 निक्किठकुट्टसत्तिर-सिरहरमइदीणहीणसरं ॥ ६८ ॥
 तं दंष्टुमणिछमरिछ-मंरुलम्मि व विसायमखिणमुहो ।
 पत्तो गुरुवपासे, नमिउं निसुणेइ धम्मकहं ॥ ६९ ॥
 जीवो अणाइतणु-म्मवंधंजोगओ सया उदिओ ।
 भमइ अणाइवणस्सइ-मज्जगओ णंतपरियट्ठे ॥ ७० ॥
 तो वायरेसु तत्तो, तसत्तणं कह वि पावए जीवो ।
 लहुकम्मो य तओ जइ, पावइ पंचिवियत्तं च ॥ ७१ ॥
 पुन्नविहूणो य तओ, न अज्जखित्ते बहेइ मणुयत्तं ।
 लक्के वि अज्जखित्ते, न कुलं जाइ वलं रुवं ॥ ७२ ॥
 एयं पि कहवि पावइ, अप्पाक वा इविज्ज वाहिहो ।
 दीहाउओ निरोगो हविज्ज जइ पुन्नजोपण ॥ ७३ ॥
 पत्ते नीरोगत्ते, दंसणानाणस्स आवरणओ य ।
 न य पावइ जिणधम्मं, विवेयपरिवज्जिओ जीवो ॥ ७४ ॥
 लद्धण वि जिणधम्मं, दंसणमोहणियकम्मउदएणं ।
 संकाइकलुसियमणो, गुरुवयणं नेव सहइइ ॥ ७५ ॥
 अह निम्मलसंमत्तो, जहट्ठियं सहइइ गुरुवयणं ।
 नाणावरणस्सुदए, संसिज्जं तं न बुज्जेइ ॥ ७६ ॥
 कह संसियं पि बुज्जेइ, सयं पि सहइइ वोहए अवं ।
 चारित्तमोहदोसेण, संजमं न य सयं कुणइ ॥ ७७ ॥
 खीणे चरित्तमोहे, विमलतवं संजमं च जो कुणइ ।
 सो पावइ सुत्तिमुइं इय भणियं खीणरागेहिं ॥ ७८ ॥
 सुल्लगपासगघने, लुए रयणे य सुमिणचक्के य ।
 चम्मजुगे परमाणु, दस दिट्ठंता सुयपसिद्धा ॥ ७९ ॥
 एपाहिं इयं सव्वं, मणुयत्ताइ कमेण उल्लज्जं ।
 लद्धं करेह सहलं, काळण जिणिदवरधम्मं ॥ ८० ॥
 अह समए भणइ निवो, भयवं ! किं दुक्कयं कयं तेण ? ।
 उक्किट्टकुट्टिएणं, तो इह जंपेइ सुनिनाहो ॥ ८१ ॥
 मणिसुंदरमंदिरे-हिरम्मि मणिमंदिरम्मि नयरम्मि ।
 दो सोमभीमनामा, कुलपुत्ता निच्चमविउत्ता ॥ ८२ ॥
 पढमो गुत्ताणमंइ, अकबुद्धो भइओ विणीओ य ।
 तव्विवरीओ वीओ, परपेसणजीविणो दो वि ॥ ८३ ॥
 अन्नदिणे दिनमणिकिरणभासुरं सुरगिरि व उच्छुंगं ।
 कत्थ वि वच्छं तोहिं, तोहिं जिणमंदिरे दिट्ठं ॥ ८४ ॥
 सुहुममइ सोमो जणइ, भीम ! सुकयं कयं न किं पि पुरा ।
 अम्हेहि तेण नृणं, परपेसत्तणमिणं पत्तं ॥ ८५ ॥
 जं तुल्ले वि नरत्ते, पगे पहुणो पयाइणो अन्ने ।
 तं सुकयदुक्कयफलं, अकारणं हवइ किं कज्जं ॥ ८६ ॥

तो पणमामो देवं, देमो य जलंजहिं दुहसयाणं ।
उत्ताणमई वाया-वभावओ भणइ अह भामो ॥ ७७ ॥
न य अत्थि चूयपंचगपवं-चअहिओ जिउ चिचय जयम्मि ।
हे सोम ! वोमकुसुमं, व तयणु देवाइणो किहणु ॥ ७८ ॥
पासंभितुं डअइचंड-तंमवारंवेहि किं मुहु !
देवो देवु त्ति मुहा-कयत्थसे अप्पमप्पमई ॥ ८६ ॥
इय वारिओ वि तेणं, सोमो सोमु व्व सुद्धमइजुण्हो ।
गंतुं जिणभवणे भुव-ण वंधवं नमइ समियतमो ॥ ८७ ॥
गहिं वं रुवगकुसुमे, पुणइ जिणं पराइ जत्तीए ।
तप्पुणवसा अज्जइ, स वोहिवीयं नराउजुयं ॥ ८९ ॥
मरिउं स एस सोमो, जाओ मणिरहनरिंद ! तुह पुत्तो ।
पमिपुअपुअसारो, मारो इव विक्रमकुमारो ॥ ९२ ॥
जीमो उण खुद्धमई, जिणाइनिंदणपरायणो मरिउं ।
जाओ एसो कुठी, पुरओ ममिहि जवमणंतं च ॥ ९३ ॥
अह जायजाइसरणो, कुमरो हरिसुल्लसंतरोमंचो ।
नमिउं गुरुपयकमलं, गिणइ गिहिधम्ममइरम्मं ॥ ९४ ॥
मणिरहनिवो वि विक्रम-कुमरे संकमियरज्जपम्भारो ।
गहियवओ उप्पामिय, केवलनाणो गओ सिक्कि ॥ ९५ ॥
जिणमंदिरजिणपमिमा-जिणरहजत्ताकरावणुज्जुत्तो ।
सुणिजणसेवणसत्तो, दढसंमत्तो विमलचित्तो ॥ ९६ ॥
संपुअकओ पमिपु-अमंरुवो हणियदुरियतमपसरो ।
विक्रमराया राठ-व्व कुवलयं कुणइ सुहकलियं ॥ ९७ ॥
अन्नम्मि दिणे निवई, नियपुत्तनिहिच्चगुरयरज्जधुरो ।
अकलंकसुरिपासे, पव्वज्जं संपवज्जेइ ॥ ९८ ॥
अकखुद्दो गंजीरो, सुद्धमई सुयमहिज्जिउं बहुयं ।
विहिणा मरिउं पत्तो, दिवम्मि वहिही कमेण सिवं ॥ ९९ ॥

श्रुत्वेति गंभीरगुणस्य वैभवं,

महान्तमुत्तानमत्तेश्च वै भवं ।

अच्छाधनाः श्राद्धजनाः समाहिता-

अकखुद्दतां धत्त सदा समाहिताः ॥ १०० ॥ ध० २० ।

अकखुपुरि-अत्तपुरि-खी० नगरीभेदे, यत्र सूर्यप्रभो ग्रहपतिः,
सूरश्रीस्तस्य प्राय्या, तस्याः सूरप्रभाद्या दारिकाः सूर्यस्य अ-
ग्रमहिपीत्वेन जाताः । शा० २ श्रु० ।

अकखेव-आक्षेप-पुं० आक्षेपणमाक्षेपः, आशङ्कयाम्, आ० म०
छि० । पूर्वपक्षे, विशेष० । आ-क्षिप्, क्षिप प्रेरणे मर्यादोपदि-
ष्टमर्यामाक्षिपति न सम्यगेतदिति । किमाक्षिपति ?, आह-द्वि-
विधमेव सूत्रम् । यत्संक्षेपकं, यद्वा विस्तारकं । संक्षेपकं सामा-
यिकम्, विस्तारकं चतुर्दशपूर्वाणि । एवमेव नमस्कारः । नापि
संक्षेपेणोपदिष्टः, नापि विस्तरतः । एतावती च परिकल्पना तृती-
या नास्ति । “नमो सिद्धाणं ति णिवुया गहिया एमो साहूणं ति
संसारत्था गहिया एवं संखेवो वित्तरो, णमो अरहंताणं णमो
सिद्धाणं एमो आयरियाणं एमो चोइसपुव्वीणं २ जाव एमो
आयतरगाणं णमो आमोसहिपत्ताणं एवमादि एतत्तरे णं काय-
व्वो जेण ए कीरति तेण उट्टुत्ति अकखेवदारं” । भा० चू० १ अ० ।
“अकखेवो सुत्तदोसा पुच्छा वा” आक्षेपो नाम यत्सूत्रदोषा उच्य-
न्ते, पुच्छा वा क्रियते, वृ० १ उ० । परद्रव्याक्षेपस्वरूपे एकोन-
विंशतितमे गौणचौथे, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० । भर्त्सने, अपवादे,
आकर्षणे, धनादिन्यासरूपे निक्षेपे, अर्थावङ्कारभेदे, निवेशने,
उपस्थाने, अनुमाने, यथा जातिशक्तिवादिनामाक्षेपात् व्यक्ते-
र्बोधः । सतिरस्कारवचने च, वाच० ।

अकखेवणी-आक्षेपणी-खी० आक्षिप्यते मोहात्तत्त्वं प्रत्याकृष्य-
ते श्रोताऽनयेत्याक्षेपणी, कथाभेदे, सा चतुर्विधा-“अकखेवणी
कहा चउव्विहा पणत्ता, तं जहा-आयारकखेवणी ववहारकखेव-
णी पणत्तिकखेवणी दिट्ठिवायकखेवणी” स्था० ४ ग० ।

आयारे ववहारे, पणत्ती चेव दिट्ठिवाए य ।

एसा चउव्विहा खलु, कहा उ अकखेवणी होइ । १०० ।

आचारो लोचास्तानादिः, व्यवहारः कथंचिदापन्नदोषव्यपोंहा-
य प्रायश्चित्तक्षणः, प्रज्ञप्तिश्चैव संशयापन्नस्य मधुरवचनैः
प्रज्ञापना, दृष्टिवादश्च श्रोत्रापेक्षया सूक्ष्मजीवादिजावकथनम् ।
अन्ये त्वन्निदधति-आचारादयो ग्रन्था एव परिगृह्यन्ते, आचारा-
द्यभिधानादिति । एषाऽनन्तरोदिता चतुर्विधा । खलुशब्दो विशेष-
णार्थः । श्रोत्रापेक्षयाऽऽचारादिभेदानाश्रित्यानेकप्रकारेति कथा
त्वाक्षेपणी भवति । तुरेवकारार्थः । कथैव प्रज्ञापकेनोच्यमाना
नान्येन । आक्षिप्यते मोहात्तत्त्वं प्रत्यनया भव्यप्राणीत्याक्षेप-
णी भवतीति गाथार्थः । इदानीमस्या रसमाह-

विज्जा चरणं च तथो, य पुरिसकारो य समिग्गुत्तीओ ।

उव्वइस्सइ खलु जाहियं, कहाइ अकखेवणीइ रसो । १०१ ।

विद्या ज्ञानमत्यन्तोपकारि भावतमेभेदकं, चरणं चारित्रं स-
मग्रविरतिरूपम्, तपोऽनशनादि, पुरुषकारश्च कर्मशत्रून् प्रति
स्ववीर्योत्कर्षलक्षणः, समितिगुणयः पूर्वोक्ता एव । एतदुपदि-
श्यते खलु श्रोत्रभावापेक्षया सामीप्येन कथ्यते । एवं यत्र क-
चिदसावुपदेशः कथाया आक्षेपण्या रसो निप्यन्दः सार
इति गाथार्थः । दश० नि० ३ अ० ध० । ग० औ० । द्वा० (इयं
कस्मै कथयितव्येति ‘धम्मकहा’ शब्दे)

अकखेवि (ए)-आक्षेपिन्-त्रि० आक्षिपन्ति वशीकरणा-
दिना ये ते ततो मुष्णन्ति ते आक्षेपिणः (वशीकरणादिना
परद्रव्यमुद्धु) प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अकखोरु-कृष्-धा० असेः कोशात्कर्षणे, “असावकखोडः”
८ । ४ । १८७ । इति सूत्रेण असि विषयस्य कृपेरकखोडादेशः । अ-
कखोडइ । असि कोशात्कर्षतीत्यर्थः । प्रा० ।

अक्कोट (रु)-पुं० आ+अत्त-ओट-ओड-शैलपीलुवृत्ते,
‘अखरोट’ इतिलोके प्रसिद्धः । वाच० । तत्फलं, न० ।
प्रज्ञा० १७ पद ।

अकखोरुभंग-अक्कोटजङ्ग-पुं० खोटभङ्गशब्दार्थे, “खोटभंगो
त्ति वा उक्कोडभंगो त्ति वा अकखोडभंगो त्ति वा एगडुं”
व्य० १ उ० । नि० चू० ।

अकखोज-अक्कोज-त्रि० न० व० लोभवर्जिते, “अकखोभे सा-
गरो व्व थिमिए” प्रश्न० सम्ब० ५ द्वा० । अचलितस्वरूपे,
“एत्थुस्सग्गो अकखोभो होइ जिणाचिणो” पंचा० ४ विव० ।
“अकखोहस्स भगवओ संघसमुहस्स” अक्षोभ्यस्य परी
पहोपसर्गसंभवेऽपि निष्प्रकम्पस्य, न० । अन्धकवृष्णेर्धरि-
ण्यां जाते पुत्रे, स च द्वारावत्यां नगर्यामन्धकवृष्णेर्धरिण्यां
देव्यामुत्पन्नोऽरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रजितः शत्रुञ्जये संलेखनां
कृत्वा सिद्ध इत्यन्तकृद्दशासु सूचितम् । तद्वर्ण्यताप्रति-
वद्धेऽन्तकृद्दशानां प्रथमवर्गस्य सप्तमेऽध्ययने च ।
अन्त० १ वर्ग० । स्था० ।

अकखोवंजण-अक्कोपाञ्जन-न० शकटधूर्ध्वक्षणे, “अकखोवं-

जलजगामुलेषणभूयं " अजोपाजनवगानुलेषणभूयम् (आहारम्) अजोपाजनं च शकटभूयं जगामुलेषणं च जनन्यापधेन धिलेपनम्, अजोपाजनवगानुलेषणे, ते इव विचलितार्थे निश्चिन्तादिनिगमिन्नास्मादर्थ्याः सोऽजोपाजनवगानुलेषणभूयस्तम्, क्रियाविशेषणं वा । भ० ७ श्र० १ उ० । अखंड-अखण्ड-त्रि० । न० व० । पौर्णमासीचन्द्रविम्बवन् (स्था० ५ श्र० २ उ०) संपूर्णविषयः, आ० म० द्वि० नं० १०१ सवर्षमास्ति सायादिकं संपूर्णं देशदेशिककल्पनारहितमखण्डवन्तु 'विशेषः' 'सुतगुणजो' तद्वय-गणसंख्या आभयमलंडा' आभयमखण्डा अजन्माऽऽनंतारं वा । न० । पञ्चा० । "संयनगरमहं ने अखंडचरित्तयागारा " अखण्डमविराधितं चारित्र्यमेव प्राकारो यस्य तत्तथा । न० ।

अखंडणारणज-अखण्डज्ञानराज्य-त्रि० अचूर्णितज्ञान-राज्ये, " चित्ते परिणतं यस्य, चारित्र्यमकुतोभयम् । अखण्डज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो भयम् " । अष्ट० १७ अष्ट० । अखंडन-अखण्डन-त्रि० अखण्डाः सकला दन्ता येषां ते अखण्डदन्ताः (जी० ३ प्रति०) परिपूर्णदशनेषु, जं० २ वज्र० । आ० ।

अखंडित-अखण्डित-त्रि० परिपूर्णं, पंचा० १२ विच० । अखंडितसंज्ञा-अखण्डितशिक्षा-त्रि० अजगत्चारित्र्ये, पं० चू० । अखिल-अखिल-त्रि० न खिल्यते न कणश आदीयते, खिल-क । न० त० । वाच० । समस्तं, अष्ट० = अष्ट० । " अखिले अगिदे अणिण य चारी " अखिला ज्ञानदर्शनचारित्र्यैः संपूर्णः । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । "अखिलगुणाधिकसंयोग-गसारसदृश-यागपरः " । पं० ६ विच० ।

अखिलमप्या-अखिलसंपद-खी० सर्वसंपत्तौ, "आधीनां परमापध-मव्याहतमखिलसंपदां वीजम् " पं० १५ विच० । अखेद-अखेद-पुं० अव्याकुलतायाम्, " अखेदो देवकार्यादा-वन्त्यत्रापि एव च " झा० २० झा० ।

अखेप-अखेप-त्रि० सोपद्रवे मार्गे, तद्वत् श्रोत्राद्युपद्रवसहिते पुरुषज्ञाने च । स्था० ४ श्र० २ उ० ।

अखेमरु-अखेमरु-पुं० आकारेण सोपद्रवे मार्गे, तच्च अव्यलिङ्गवर्जिते, स्था० ४ श्र० २ उ० ।

अखेयाण-अखेदज्ञ-त्रि० अनिपुणे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । अकुशले, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अग-अग-पुं० न गच्छतीत्यगः । वृत्ते, आ० म० द्वि० नि० चू० । विशेषः । पर्वते, कल्प० गमनाकर्तरि शूद्रादौ, त्रि० न गच्छति वक्रगत्या पश्चिममित्यगः । सूर्ये, तस्य हिं वक्रगत्यभावः ज्योतिषप्रसिद्धः । वाच० ।

अग-असुर-पुं० "मौणादयः" । उ० । २ । ७४ । इति सूत्रेण असुरशब्दस्य 'अग' इति निपातः । दैत्ये, प्रा० ।

अगइसमावण-अगतिसमापन्न-पुं० अगति नरकारिं गच्छति । नैरयिकादौ,

सुविहा णेरइया पणत्ता तं जहा-गइअसमावन्नगा चेव अगइसमावन्नगा चेव जाव वेमाणिया ।

गतिदण्ठके गतिसमापन्नका नरकं गच्छन्तः, इतरे तु तत्र ये गताः अथवा गतिसमापन्ना नारकत्वं प्राप्ताः, इतरे तु अव्यनारकाः,

अथवा चलस्थिरत्वापेक्षया ते ज्ञेया इति । स्था० २ श्र० २ उ० ।

अगंतिम-अग्रन्थिम्-न० कदलीफलेषु, खण्डाखण्डाकृतेषु वा फलेषु, वृ० १ उ० । अचकले, " सकरघययगुहमीसा खञ्ज-रअगंतिमा वत्तंमि " अगंतिमा णाम कयद्वया अण्णे भण्णंति मर-हविसए फलाण्ण कयद्वकण्णमाणाओ पि मीओ एकमि माहे वदुक्किओ भवताणि फलाणि खंमाखंमाणि कयाणि वेप्पंति । नि० चू० १६ उ० ।

अगंतिगेहो-देशो-यौयनोन्मत्ते, दे० ना० १ वर्गः ।

अगंदूयग-अकण्डूयक-पुं० कण्डूयनाकारकेऽभिग्रहविशेष-धारके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अगंथ-अग्रन्थ-पुं० न विद्यते ग्रन्थः सवाह्यान्यन्तरोऽस्येत्यग्रन्थः । निर्ग्रन्थे, " पावं कम्मं अकुच्चमाणे एस महं अगंथे धियादिप " आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

अगंथ-अग्रन्थ-त्रि० नञः कुत्सार्थत्वाद्-अतीव दुर्गन्धे, वृ० १ उ० ।

अगंधण-अग्रन्धन-पुं० नागजातिजदे, नागानां भेदद्वयम्-ग्रन्थ-नोऽग्रन्धनश्च । तत्र अग्रन्धना नागा मन्त्रैराकृष्टाः "अवि मरणम-ज्जवस्संति ण य वंतमापिचंति" । "नेच्छंति वंतयं ज्ञोत्तुं कुल्ल जाया अगंधणे " दश० २ अ० ।

अगच्छमान-अगच्छत्-त्रि० । न गच्छत् न० त० पेशाच्यां न णवम् । अचलति, प्रा० ।

अगड-अकृत-पुं० अकृते, "सगामे मा वीसुं, वसेज्ज अगमे असुखे से" ध्य० ६ उ० । गर्त्ते, वृ० ३ उ० ।

अगरुतरु-अवटतट-पुं० कूपतटे, विशेषः ।

अगरुदत्त-अगरुदत्त-पुं० शङ्खपुरे सुन्दरनृपस्य सुलसायां जातेऽगडदत्ते पुत्रे, अथ तत्कथा लिख्यते-शङ्खपुरे सुन्दरनृपः । तस्य सुलसा प्रिया । तन्पुत्रोऽगरुदत्तः । स च सप्त व्यसनानि सेवते स्म । लोकानां गृहेष्वप्यन्यायं करोति स्म । लोकैस्तदुपव्रम्मा राज्ञे दत्ताः । राज्ञा स निर्वासितो गतो वाराणस्यां पथनचण्डोपाध्यायगृहे स्थितः । द्विसप्ततिकलावान् जातः । गृहोद्याने कलाभ्यान् कुर्वन् प्रत्यासन्नगृहगवाक्षस्थया प्रधानश्रेष्ठिमुत्तया मदनमञ्जर्या तद्रूपमोहितया च तथा प्रक्षिप्तः पुष्पस्तवकः । सञ्जातप्रीतिस्तन्मय एव जातः । अन्यदा तुरगारूढः स नगरमध्ये गच्छति स्म । तावता ईदृशो लोके कोलाहलः श्रुतः, यथा-" किं चित्रिड व्य समुद्रो, किं वा जलित्रो हुआसणो धीरो । किं पत्ता रिउसेणा, तन्दिदं नो निवन्निओ किं वा ? ॥१॥ मं-नेण वि परिचत्तो, मारंतो सुंकिगोयरं पत्तो । सवडं मुहं चद्धंतं कालु व्व अकारणे कुद्धो " ॥ २ ॥ तावता तेन कुमारेण अश्वं मुक्त्वा स हस्ती गजमदनविषया दान्तः । पश्चात्तमारुह्य राजकुलासन्नमायातो राज्ञा दृष्ट आकारितो मानपूर्वम् । कुमारेण तं गजमाह्वानस्तम्भे बद्ध्वा राज्ञः प्रणामः कृतः । राज्ञा चिन्तितम्-कश्चिन्महापुरुषोऽयम्, यतोऽप्यन्तर्विनीतो दृश्यते । यतः-"साली भरेण तोये-ण जलहरा फल्लजरेण तवसिहरा । विणपण य सप्पुरिसा, नमंति नहु कस्सइ भएण " ॥ ततो विनयरञ्जितेन राज्ञा तस्य कुलादिकं पृष्टम्, कियान् कलान्यासः कृतः ? इत्यपि पृष्टम् । कुमारस्तु वज्राहुत्वेन न किञ्चिज्जगौ । उपाध्यायेन तस्य

कुलादिकं सर्वविधानैर्पुण्यं च कथितम् । कुमारवृत्तान्तं श्रुत्वा
चमत्कृतो नृपतिः । अथ तस्मिन्नेवावसरे राज्ञः पुरो नगरलोकः
प्राभृतं मुक्त्वा एवमुचिवाच-हे देव ! त्वन्नगरं कुर्वरसदृशं किय-
दिनानि यावदासीत् साम्प्रतं घोरपुरतुल्यमस्ति । केनापि तत्करे-
ण निरन्तरं मुष्यते, अतस्त्वं रक्षां कुरु । राज्ञा तद्वारक्षा आकारिता
भृशं वचोभिस्तर्जिताः । तैरुक्तम्-महाराज ! किं क्रियते, कोऽपि प्र-
चरन्तस्त्वं करोऽस्ति, बहुपक्रमेऽपि न दृश्यते । ततः कुमारेणोक्तम्-
राजन् ! अहं सप्तदिनमध्ये तत्करकर्षणं चेन्न करोमि ततोऽग्निप्रवेशं
करिष्यामीति प्रतिज्ञा कृता । राज्ञा तु पुरलोकप्राभृतं कुमाराय दत्त-
म् । कुमारस्तत उत्थाय चौरस्थानानि विचारयति स्म । “वेसाणं
मंदिरेषु, पाणागारेषु जूयगणेषु । कुल्लूरिष्यठाणेषु अ, उज्जाण-
निवाणसाहासु ॥ १ ॥ मणसुन्नद्वलेषु य, चच्चरचवहदसुन्न-
सालासु । एषसु ठाणेषु जओ पाएणं नकरो होइ” ॥२॥ एवं चौर-
स्थानानि पश्यतः कुमारस्य परु दिनानि गतानि । पश्चात्सप्तमदिने
नगराद्वहिर्गत्वाऽधः स्थितः चिन्तयति स्म-“विज्जउ सीसं अह
हो-उ बंधणं चयउ सव्वहा वज्जो । पडिवन्नपालणेसु पु-रिसाणं
जं होइ तं होउ ” ॥ १ ॥ एवं चिन्तयन्तसौ कुमार इतस्ततो
दिग्बलोकनं करोति स्म । तस्मिन्नवसरे एकः परिहितधातुवस्त्रो
मुष्मिन्तशिरःकुर्वन्निदण्डधारी चामरहस्तः किमपि बुरुबुम्
इति शब्दं मुखेन कुर्वाणः परिव्राजकस्तत्रायातः । कुमारेण दृष्ट-
श्चिन्तितश्च-अयमवश्यं चौरः, यतोऽस्य लक्षणानिदृशानि
सन्ति-“ करिसुएणाज्जयदणो, विसाववज्जयदणो पुरुस-
वेसो । नवज्जुवणो रउहो, रत्तज्जो दीहज्जो य ” ॥१॥ एवं चि-
न्तयतः कुमारस्य तेन कथितम्-अहो सत्पुरुष ! कस्त्वमाया-
तः ? केन कारणेन पृथिव्यां भ्रमसि ? । कुमारेण भणितम्-उज्ज-
यनीतोऽहमत्रायातः दारिद्र्यभग्नो भ्रमामि । परिव्राजक उवाच-
पुत्र ! त्वं मा खेदं कुरु, अद्य तव दारिद्र्यं क्षिण्ये, समीहितमर्थं
ददामि । ततो दिवसं यावता तत्र स्थितः । रात्रौ कुमारसहितश्चौ-
रः कस्यचिद्विषयस्य गृहे गतः । तत्र खात्रं दत्तवान् । तत्र स्वयं
प्रविष्टः । कुमारस्तु बहिः स्थितः । परिव्राजकेन द्रव्यभृताः पेटि-
कास्ततो बहिष्कर्षिताः । ताः खात्रमुखे कुमारसमीपे मुक्त्वा स्व-
यमन्यत्र कचिक्त्वा दारिद्र्यभग्नः पुरुषा अनेके आनीताः । तेषां
शिरसि ताः पेटिका दत्त्वा कुमारेण समं स्वयं बहिर्गतः । स ता-
पसः कुमारं प्रत्येवमुवाच-कुमार ! कृणुमात्रं बहिस्तिष्ठामः, निद्रा-
सुखमनुभवामः । परिव्राजकेनेत्युक्ते सर्वेऽपि पुरुषास्तत्र सुप्ताः, कप-
टनिद्रया परिव्राजकोऽपि सुप्तः । कुमारोऽपि नो तादृशानां विश्वा-
सः कार्य इति कपटनिद्रयैव सुप्तः । तावता स परिव्राजक उत्थाय
तान् सर्वान् कडकपत्र्या मारयामास । यावत् कुमारसमीपे समा-
याति स्म तावत् कुमार उत्थाय तं खड्गेन जङ्घाद्वये जघान । विन्ने
जङ्घाद्वये स तत्रैव पतितः कुमारं प्रत्येवमुवाच-वत्स ! अहं युज-
ङ्गनामा चौरः । ममेह इमंशाने पातालगृहमस्ति । तत्र वीरपत्नीना-
म्नी मम भगिन्यस्ति । अत्र वटपादपस्य मूले गत्वा तस्याः समीपे
शब्दं कुरु । यथा सा भूमिगृहद्वारमुद्घाटयति त्वाञ्च स्वस्वामि-
नं करोति । सङ्केतदानार्थं मत्खड्गं गृहाणेत्युक्ते कुमारस्तत्खड्गं
गृहीत्वा तत्र गतः । स तु तत्रैव मृतः । कुमारेण सा शब्दिताऽऽ-
गता द्वारमुद्घाटयामास । कुमारेण भ्रातुः खड्गं दर्शयित्वा स्व-
रूपमुक्तम् । तस्या अन्तः खेदो जातः परं न मुखे खेदं दर्शयामा-
स । मध्ये आकारितः कुमारः पट्यङ्के शायितः । उक्तञ्च-तव वि-
लेपनाद्यर्थं चन्दनादिकमहमानयामीति । ततो निर्गता । कुमारेण
चिन्तितम्-प्रायः स्त्रीणां विश्वासो न कार्यः । यतः-शास्त्रे इमे

दोषाः प्रायो निरूपिताः-“ माया अविद्यं सोमो, मूढत्वं साहसं
असोयत्वं । निसत्तिया तद्विद्य, महिलाण सहवया दोसा ”
एतस्यास्तु तथाविधचौरभगिन्या विश्वासो नैव कार्य इति
विचिन्त्य कुमारः शय्यां मुक्त्वाऽन्यत्र गृहकोणे स्थितः । सा
बहिर्गत्वा यन्त्रप्रयोगेण शय्योपरि शिलां मुमोच । तथा शय्या चू-
र्णिता । ततः कुमारेण सा सद्यः साक्रोशं केशेषु धृता राज्ञः स-
मीपमानीता । प्रोक्तः सर्वोऽपि वृत्तान्तः । राज्ञा तद्भूमिगृहात्
समस्तं वित्तमानाय लोकेज्यो दत्तम् । कुमारेण सा जीवन्ती
मोचिता । पश्चान्नृपाग्रहात् कुमारेण नृपसुता कमलसेनानाम्नी
परिणीता । नृपेण कुमाराय सहस्रं ग्रामा दत्ताः, शतं गजा
दत्ताः, दश सहस्राण्यश्वा दत्ताः, लक्षं पदातयो दत्ताः । ततः सु-
खेन कुमारस्तत्र तिष्ठति स्म । अन्यदा कलाज्याससमये यथा श्रे-
ष्ठिसुतया सह प्रीतिर्जाताऽऽसीत्तया मदनमञ्जर्या कुमारसमीपे
दूती प्रेषिता । तथा उक्तम्-तव गुणानुरक्ता तवैवेयं पत्नी जवितुं
वाञ्छति । कुमारेणाप्युक्तम्-यदाऽहं शङ्खपुरं यास्यामि तदा
त्वां गृहीत्वा यास्यामीति तस्यै त्वया वक्तव्यम् । अथान्यदा
तत्र पित्रा प्रेषिता नराः कुमारकारणाय समेताः । कुमारस्तु तेषां
वचनमाकर्ण्य पितुर्मित्रनाय नृशमुत्कारितः इवश्वरं पृष्ट्वा कम-
लसेनया समं चक्षितः । चलनसमये च मदनमञ्जरी आकारिता ।
साऽपि कुमारेण समं चक्षिता । ताभ्यां प्रियाभ्यां सह सैन्यवृत्तः
कुमारः पथि चलन् बहून् भिल्लान् संमुखमापततो ददर्श ।
तदा कुमारसैन्येन तैः समं युद्धं कृतम् । ज्ञानं कुमारसैन्यं भिल्लैर्बु-
धितमितस्ततो गतम् । भिल्लपतिस्तु कुमाररेथुं समायातः । उत्प-
न्नबुद्धिना कुमारेण स्वपत्नी रथाग्रभागे निवेशिता । तस्या रूपेण
मोहङ्गतो भिल्लपतिः कुमारेण हतः । पतिते च तस्मिन् सर्वेऽपि
भिल्ला नष्टाः । कुमारस्तु तेनैव एकेन रथेन गच्छन्नेत्रं मह-
तः सार्थस्य मिहितः । सार्थोऽपि सनाथ इव मार्गं चक्षति स्म ।
कियन्मार्गं गत्वा सार्थिकैः कुमाराय एवमुक्तम्-कुमार ! इतः प्र-
ध्वरमार्गं भयं वर्तते, ततः प्रध्वरमार्गं विहाय अपरेण मार्गेण गम्य-
ते । कुमारेणोक्तम्-किं प्रयमः ? । ते कथयन्ति स्म-अस्मिन् प्रध्वर-
मार्गे महत्यद्वी समेप्यति, तस्या मध्ये महानेकश्चौरो डुर्योधन-
नामा वर्तते, द्वितीयस्तु गर्जारवं कुर्वन् विषमो गजो वर्तते । तृ-
तीयो दृष्टिविषसर्पो वर्तते । चतुर्थो दारुणो व्याघ्रो वर्तते । एवं च-
त्वारि भयानि तत्र वर्तन्ते । कुमारः प्राह-एतेषां मध्ये नैकस्यापि
भयं कुरुत । चक्षत सत्वरं मार्गं । कुशलैर्नैव शङ्खपुरे यास्यामः ।
ततः सर्वेऽपि तस्मिन्नेवाध्वनिं चक्षिताः । अग्रे गच्छतां तेषां दुर्यो-
धनश्चौरश्चिदण्डभाग् मिलितः । सोऽपि पान्थोऽहं शङ्खपुरे समे-
प्यामीति घटन् सार्थेन सार्धं चलति स्म । मार्गे चैकः सन्निवेशः
समायातः । तदा त्रिदण्डिना उक्तम्-मम उपलक्षितोऽयं सन्निवे-
शो वर्तते । तेनात्र गत्वा मया दध्यादि आनीयते, यदि भवद्भ्यो
रुचिः स्यात् । सार्थिकैरुक्तम्-आनीयताम् । ततस्तेन तदन्तर्गत्वा
आनीतं दध्यादिविषमिश्रितं कृत्वा सर्वे पायिताः । ततो मृताः
सर्वे सार्थिकाः । अगददत्तेन प्रार्थोद्वययुतेन न पीतमिति न मृतः
सः । त्रिदण्डी पुनः सन्निवेशमध्ये गत्वा कियत्परिवारयुतो
गृहीतशस्त्रः कुमारमारणायऽऽयातः । कुमारेण खड्गं गृहीत्वा
संमुखं गत्वा घोरसंग्रामकरणेन स हतः । परिवारस्तु नष्टः ।
चूमो पतता तेन चौरैरेवमुक्तम्-अहं डुर्योधनश्चौरः प्रसि-
द्धः, त्वयाऽहं हतो न जीविष्यामि, परं मम बहु द्रव्यं वर्तते,
मम भगिनी जयश्रीनाम्नी चैतद्भवनमध्येऽस्ति, तत् त्वया गृही-
तव्यं सा च पत्नी कार्या । कुमारस्तत्र गतः । साऽऽहूता सामाया-

ता । दृष्टः कुमारः । ज्ञानस्तया प्रावृत्तान्तः । तथा कुमारोऽपि
गुणमध्ये आकाशितः । तत्र गच्छन्मदनमञ्ज्यां वारितस्तां
तत्रैव मुक्त्वा कुमारोऽग्रे चलितः । कियन्मार्गं यावज्जेन कुमारं
प्रचक्षन्नुत्पादकप्रजननकोटिनिवृष्टिगिरितटः संवत्संमुख-
भागच्छ्रयं यम इव रौद्ररूपो गजो दृष्टः । ततः कुमारो रथा
दुत्तार्य गजाम्बुने प्रचक्षितः । उत्तरीयधरं चोदिकां कृत्वा गजाग्रे
मुनोच । गजस्तत्रागारं युगमादगमयः क्षिपन् यावद्विपन्न-
नन्नायनं कुमारस्तत्रान्तर्गते पादौ कृत्वा तस्य स्फण्डेऽधिरुद्धः वज्र-
फटितान्त्र्यां स्वमुद्रित्यां तन्मुन्मत्तलङ्घयं जघान । कुमारं प्रका-
मभिनस्ततो भ्रामयित्वा स गजो यदीकृतः । पश्चात् स गजो
गौरिव शान्तोत्तरो मुनश्च । तत्रैव पुनः कुमारो रथे निविष्टोऽग्रे
चलितः । कियन्मार्गं यावज्जच्छति कुमारस्तायन् फाल्गुनीकृतहा-
वृत्तः स्वरूपेण गिरिप्रतिशब्दान् विस्तरायन् विशुचञ्चललोचनः
सर्पपत्नीं रत्नां स्वमुखकुहराक्षिप्तालयन् सिंहः सामायातः ।
तेनापि स्मं कुमारो युद्धं कृतवान् । कुमारं कर्कशप्रहारं जंजरितः
सिद्धस्तत्रैव पतितः । कुमारस्ततोऽग्रे चलितः । सर्पोऽप्युपड्यो
मार्गं विधायैव निवारितः । कुशलेन कुमारः स्फण्डिसंयुतः शङ्ख-
पुरं प्राप्तः । प्रवेशमहोत्सवः प्रकामं पितृभ्यां कृतः । सर्वेषां पौरा-
णां परमानन्दः सन्पन्नः । तत्र तुयेन कुमारस्तिष्ठति स्म । अन्यदा
वन्मेन मदनमञ्ज्यां सह कुमार एकाक्षयेव क्रीडावने गतः ।
तत्र गजैः मदनमञ्जरी सर्पेण दृष्टा मृनेव सञ्जाता । कुमारस्तु
तन्माहादृष्ट्वा प्रविशन् गगनमार्गेण गच्छता विद्याधरेण वारितः ।
विद्याधरेण सा जीयता । विद्याधरस्तु स्वस्थानं गतः । कुमार-
स्तथा स्मं रात्रिग्रामार्थं कस्मिंश्चिद्देवकुत्रे गतः । तत्र तां मुक्त्वा
वद्व्यातकरणाय अग्निमानेन कुमारो यद्विगतः । तदानीं तत्र
पञ्च पुत्राः पूर्वं कुमारदत्तदुर्गोन्धनचौराद्वारः कुमारवधाय
पृष्ठ आगताः । इतस्ततो ज्ञान्ताः कुमारस्य ब्रह्मभमानास्समाग-
ताः सन्ति स्म । तैस्तु तत्र दीपको विहितः । मदनमञ्ज्यां तेषां मध्ये
लघुघ्नान् रूपं विद्वोऽकृतम् । कपाक्षिततया तस्यैव प्रार्थना विहि-
ता । न्यं मम भर्ता भव, अहं तव पत्नी भवामि । तेनोक्तम्-
नव जर्जरिजीवति सति कथमेवं जयति ? सा प्राह-तमहं मार-
यिष्यामि । तदानींमग्निं गृहीत्वा कुमारस्तत्र प्राप्तः । आगच्छ-
न्तं कुमारं दृष्ट्वा तथा तत्रस्था दीपो विद्यापितः । तत्रायतेन
कुमारं पृष्ठम्-अत्रोद्योतः कथमनूत् ? । तथा उक्तम्-तव-
हन्स्यस्याग्नेरेवोद्योतः । सरथेन तेन तथैवाक्षीकृतम् ।
मदनमञ्ज्यां हस्ते खड्गं गृहीतम् । कुमारोऽग्निप्रज्वालनार्थं
ग्रीवामधश्चकार । तावता तथा कुमारवधार्थं खड्गः प्रति-
काशाक्षिप्तासितः । तस्याश्चरित्रं दृष्ट्वा चौरलघुप्रातुर्वै-
राग्यमुत्पन्नम् । पश्चादस्या हस्तात्तेन खड्गोऽन्यत्र पा-
तितः । पश्चापि आतरस्ततः कुमारोऽलक्षिताः शनैः शनैर्नि-
र्गताः कस्मिंश्चिद्द्वेने गताः । तत्र चैत्यमेकमुत्तुङ्गं दृष्टम् । तत्र
सातिशयज्ञानी साधुदृष्टः । तत्समीपे तैः पञ्चभिरपि दीप्ता
गृहीता । तदाक्षां पालयन्तः संयमे रतास्तत्रैव तिष्ठन्ति स्म ।
कुमारं नैतत्किमपि ज्ञातम् । अथ कुमारस्तत्र मदनमञ्ज्यां
रात्रिमेकामुपित्वा प्रभाते स्वगृहे समायातः । कियद्दिनानन्तर-
मश्वापहत एक एवागडदत्तकुमारस्तस्मिन्नेव वने तत्रैव चैत्ये
गतः । तत्र देवाग्रमस्कृत्य साधवो वन्दिताः । गुरुणा देशना
कृता । कुमारं पृष्ठम्- भगवन् ! क एते पञ्चापि आतर इव
साधवः, कथमेतां वैराग्यमुत्पन्नम् ? । कथमेतैर्भाव्यवनमरेऽपि
व्रतं गृहीतम् ? । एवं कुमारं पृष्ठे गुरुः प्राह सर्वं तदीयं वृ-

त्तान्तम् । कुमारस्तच्चरित्रं श्रुत्वा युवतीस्वरूपमेवं विचिन्त-
यति स्म “अथुरजंति खणेण, जुवइओ खणेण पुरो विरजंति ।
अन्नुअरागनिरया, हलिइरागु व्व चलपेमा ” ॥ १ ॥ इति वि-
चिन्त्य कुमारोऽपि वैराग्यात्प्रव्रजितः । यथाऽसौ अगडदत्तः
प्रतिबुद्धजीवी पूर्वं द्रव्यासुप्तः पश्चाद्वाचासुप्तोऽपि इह लोके
परलोके च सुखी जातः । उक्तं ४ अ० । इयं कथोत्तराध्य-
यनस्य बृहदृत्तावपि दृश्यते । तत्रायं विशेषः (जितशत्रुनामा
राजा । तस्य सारथिर्मोघरथनामा । अमोघरथस्य स्त्री यशो-
मतिः, पुत्रश्चागडदत्तः । तस्य पितरि मृते माता भृशं रुद ।
तदाऽगडदत्तो मातरं नितान्तरोदनहेतुं पप्रच्छ । तदा माता
प्रत्युवाच—पुत्र ! अयममोघप्रहारी सारथिस्त्वदीयपितृपद-
मनुभवति, यदि त्वं कलावित् स्यास्तदा कथमेवं भवेत् ? ।
पुत्रोऽन्ययुक्त्वा को मां कलामध्यापयिष्यतीति ? । माता प्रत्यगा-
दीत्-कौशाम्ब्यीनगर्या दृढप्रहारीत्याख्यः कलाचार्य्यो विद्यते,
तं त्वमुपतिष्ठसेति । स मातृवचनमभ्युपगम्य तत्र गत्वा क-
लामध्यगीष्ट । ततो राजसर्मां प्रविवेश । तं दृष्ट्वा सर्वे प्रसेदुः ।
राजा तु प्रसन्नताविरहित एव केवलमुचिताचारं परिपाल-
यन् तस्मै किमपि दातुमिष्ये । स तु राजस्तदनादरदानमव-
गत्य नाहमीदृशं दानं जिघृक्षामि इत्यभिधाय न जग्राह ।
तदानीमनेके नागरिकाः “चौरोऽस्मान् बाधते” इति राज्ञः पुरो
व्यजिज्ञपन् । राजा तलारत्तम् [कोट्टपालम्] आहूय न्य-
गादीत्-भोस्तलारत्त ! भवता सप्तमिरहोरात्रैश्चौरो निग्रही-
तव्यः । इत्याकर्ण्यगडदत्तो राजानं प्रार्थयाञ्चक्रे-महाराज ! अहं
सप्तभिर्दिनैस्तं चौरं निग्रहीतुं प्रभवामीति) अन्यत्सर्वं समा-
नम् । उक्तं ।

अगरुदहुर-अवटदुर्-पुं० कूपमण्डके, शा० ८ अ० ।

अगरुमह-अवटमह-पुं० कूपप्रतिष्ठोत्सवे, आचा० २ श्रु० १
अ० २ उ० ।

अगदिय-अग्रयित-त्रि० अप्रतिवद्धे, आहारे वाऽगृद्धे, “अ-
ष्ठाप अगद्वीप अगृद्धे अदीणे अविमणे” प्रश्न० १ संव० द्वा० ।
मुत्कलैरेव वचनैरभिधीयमाने, वृ० ३ उ० ।

अगणि-अग्नि-पुं० अक्षति कर्ध्वं गच्छति । अग्नि-नि, नलोपः ।
वाच० । वन्ही, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । उक्तं । “चत्तारि
अगणिआ समारभित्ता जेहि कूरकम्माभि तवैति वालं” सूत्र०
१ श्रु० १ अ० १ उ० । “अंगारं अगणिं अग्निं, अलायं वा सजो-
इयं । ए उज्जिजा ए घट्टिज्जा, नो एं णिवावण मुणी ” । दश०
८ अ० । प्रदीपनके, व्य० १ उ० । (अग्नेः सर्वो विषयः ‘ते-
उकाइय’ शब्दे)

अगणिआहिय-अग्न्याहित-पुं० अग्निराहितो यैः । “वाऽ-
हिताग्न्यादिषु ” २।२।३७ इति वाऽऽहितशब्दस्य पूर्वनिपा-
तः । अग्न्याहिता आहिताग्नयः । कृतवन्धाधानेषु, श्रीश्रृषभजि-
नेशचित्तायामाग्निं स्थापितवन्तस्तेन कारणेनाहिताग्नय इति
तत एव च प्रसिद्धः । आ० म० प्र० ।

अगणिकंरुयट्टाण-अग्निकंरुयट्टाण-न० अग्निप्रवेशस्थाने,
“अगणिकंरुयट्टाणेषु अस्सयंरंसि वा तहप्पगारांसि णो उ-
च्चारं पासवणं व्वोसिरेज्जा ” आचा० २ श्रु० १० अ० ।

अगणिकाय-अग्निकाय-पुं० तेजस्काये, म० ७ श० १० उ० ।

अनु०। (अस्य विषयः सर्व एव 'तेजःकाइअ' शब्दे) नवरम्-
अगणिकाए एं भंते ! अहुणोज्जालिए समाणे महाकम्मतराए चेव महाकिरियतराए चेव महस्सवतराए चेव महावेयणतराए चेव जवइ, अह एं समए २ वोक्कसिज्जमाणे वोच्छिज्जमाणे चरिमकादसमयंसि इंगालचूए मुम्मुरचूए ढारियचूए तओ पच्छा अप्पकम्मतराए चेव किरिया आसव अप्पवेयणतराए चेव भवइ ? । हुंता, गोयमा ! अगणिकाए एं अहुणोज्जालिए समाणे तं चेव ।

(अगणीत्यादि अहुणोज्जालिए चि) अधुनोज्ज्वलितः सद्यः प्रदीप्तः (महाकम्मतराए चि) विध्याप्यमानानलापेक्षयाऽतिशयेन महान्ति ज्ञानावरणादीनि बन्धमाश्रित्य यस्यासौ महाकर्मतरः । एवमन्यान्यपि । नवरं, क्रिया दाहरूपा । आश्रयो नवकर्मोपादानहेतुः । वेदना पीडा । जावना तत्कर्मजन्या परस्परशरीरसम्बन्धजन्या वा (वोक्कसिज्जमाणे चि) व्यपकृत्यमाणोऽपकर्षं गच्छन् (अप्पकम्मतराए चि) अङ्गाराद्यवस्थामाश्रित्याल्पशब्दः स्तोकार्थः । क्लारावस्थायां त्वजावार्थः । भ० ५ श० ६ उ० । कावोदायिप्रश्नेन अग्न्युज्ज्वालकविश्यापकयोः कतरो महाकर्मति विचारितम् । भ० ७ श० १० उ० ।

अगणिजीव-अग्निजीव-पुं० अग्नयश्च ते जीवाश्च अग्निजीवाः तेजस्कायिकेषु, विशेषे (अग्निजीवानां परिमाणमवधिः 'ओहि' शब्दे उक्तम्) ।

अगणिजीवसरीर-अग्निजीवशरीर-न० तेजस्कायजीववद्-शरीरे, जीवान्तरशरीराणामग्निजीवशरीरत्वम् ।

अह भंते! उदस्से कुम्मासे सुराए एणं किंसरीराइ वत्तव्वं सिया ? । गोयमा! उदस्से कुम्मासे सुराए जे घणे दव्वे एए एं पुव्वजावपणवणं पकुच्च वणस्सइजीवसरीरा तओ पच्छा सत्थातीया सत्थपरिणामिया अगणिज्जामिया अगणिज्जुसिया अगणिसेविया अगणिपरिणामिया अगणिजीवसरीराइवा वत्तव्वंसिया सुराए य जे दव्वे एए एं पुव्वजावपणवणं पकुच्च आउजीवसरं । तओ पच्छा सत्थातीया जाव अगणिसरीराइ वत्तव्वं सिया । अह एं भंते! अये तंवे तउए सीसए उवळे कसपट्टियाए एणं किंसरीराइ वत्तव्वं सिया ? गोयमा! अये तंवे तउए सीसए उवळे कसपट्टियाए एणं पुव्वभावपणवणं पकुच्च पुढवीजीवसरीरा तओ पच्छा सत्थाइया जाव अगणिसरीराइ वत्तव्वं सिया । अह भंते ! अछी अट्टिज्जामे चम्मे चम्मज्जामे रोमे २ सिंगे २ खुरे २ नहे २ किए एं किंसरीराइ वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! अछी चम्मे रोमे सिंगे खुरे नहे एए एं तसपाणजीवसरीरा अट्टिज्जामे चम्मज्जामे रोमज्जामे सिंगखुरणहज्जामे एए एं पुव्वभावपणवणं पकुच्च तसपाणजीवसरीरा तओ पच्छा सत्थाइया जाव अगणिचित्ति वत्तव्वं सिया । अह भंते ! इंगाले ढारिए वुसे गोमए एए एं किं सरीराइ वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! इंगाले ढारिए वुसे गोमए एए एं पुव्वभावपणवणं एए एं गि-

दियजीवसरीरप्पओगपरिणामिया वि जाव पंचिंदिय-जीवसरीरप्पयोगपरिणामिया वि तओ पच्छा सत्थाइया जाव अगणिजीव वत्तव्वं सिया ।

[अहेत्यादि एपणं ति] एतानि णमित्यवङ्गुरे (किंसरीर चि) केषां शरीराणि किंशरीराणि (सुराए य जे घणे चि) सुरायां द्वे द्रव्ये स्याताम्-घनद्रव्यं द्रवद्रव्यं च । तत्र यद् घनद्रव्यम्, (पुव्वभावपणवणं पकुच्च चि) अतीतपर्यायप्ररूपणामङ्गीकृत्य वनस्पतिशरीराणि, पूर्वं हि श्रोदनादयो वनस्पतयः (तओ पच्छ चि) वनस्पतिजीवशरीरवाच्यत्वानन्तरमग्निजीवशरीराणीति, वक्तव्यं स्यादिति सम्बन्धः । किंभूतानि सन्तीत्याह (सत्थातीया चि) शस्त्रेणोदूखद्वमुद्वयन्त्रकादिना, कारणभूतेन अतीतानि अतिक्रान्तानि पूर्वपर्यायमिति शस्त्रातीतानि (सत्थपरिणामिय चि) शस्त्रेण परिणामितानि कृताभिनवपर्यायाणि शस्त्रपरिणामितानि । ततश्च (अगणिज्जामिय चि) वन्दिना ध्यामितानि ध्यामीकृतानि स्वकीयवर्णत्याजनात्, तथा (अगणिज्जुसिय चि) अग्निना जोपितानि पूर्वस्वभावकृपणात् अग्निसेवितानि वा जुपी प्रीतिसेवनयोः, इत्यस्य धातोः प्रयोगात् (अगणिपरिणामिया चि) संजाताग्निपरिणामानि, औप्ययोगादिति । अथवा 'सत्थातीया' इत्यादौ शस्त्रमग्निरेव, 'अगणिज्जामिया' इत्यादि तु तद्व्याख्यानमेवेति । (उवळे चि) इह दग्धपापाणः (कसपट्टिय चि) कपपट्टः (अट्टिज्जामे चि) अस्थिध्यामं चाग्निना इयामलोकृतमापादितपर्यायान्तरमित्यर्थः । (इंगालेत्यादि) अङ्गारो निर्व्वलितेन्धनम् (छारिए चि) क्षारिकं भस्म (वुसे चि) वुसम् (गोमय चि) नगणम् । इह वुसगोमयौ भूतपर्यायानुवृत्त्या दग्धावस्थौ ब्राह्मौ, अन्यथा अग्निध्यामितादिवद्दयमाणविशेषणानामनुपपत्तिः स्यादिति । एते पूर्वभावप्रज्ञापनां प्रतीत्य एकेन्द्रियजीवैः शरीरतया प्रयोगेण स्वव्यापारेण परिणामिता ये ते तथा । एकेन्द्रियशरीराणीत्यर्थः । अपिः समुच्चये । यावत्करणद्वीन्द्रियजीवशरीरप्रयोगपरिणामिता अपीत्यादि दृश्यम् । ईन्द्रियादिजीवशरीरपरिणतत्वं च यथा सम्भवमेव न तु सर्वपदेष्विति । तत्र पूर्वमङ्गारो भस्म चैकेन्द्रियादिशरीररूपं भवति, एकेन्द्रियादिशरीराणामिन्धनत्वात् । वुसं तु यत्रगोधूमहरितावस्थायामेकेन्द्रियशरीरम् । गोमयस्तु तृणाद्यवस्थायामेकेन्द्रियशरीरम् । ईन्द्रियादीनां तु गवादिजिर्भक्तेषु द्वीन्द्रियादिशरीरमपि । भ० ५ श० २ उ० ।

अगणिज्जामिय-अग्निध्यात-त्रि० ३ त० अग्निना दग्धे, (ज०)

अग्निध्यामित-त्रि० अग्निनेपद्दग्धे, अग्निना स्वकीयवर्णत्याजनाद् ध्यामीकृते, ज० ५ श० २ उ० ।

अगणिज्जुसिय-अग्निजोषित-त्रि० अग्निसेविते, जुपी प्रीतिसेवनयोः, इत्यस्य धातोः प्रयोगात् । ज० ५ श० २ उ० ।

अग्निजोषित-त्रि० पूर्वस्वभावकृपणात् (भ० ५ श० २ उ०) अग्निना क्वापिते, भ० १५ श० १ उ० ।

अगणिणिक्खित्त-अग्निनिक्षिप्त-त्रि० अग्नौपरि निक्षिप्ते, "अगणिणिक्खित्तं अफासुयं अणेसणिज्जं हाजे संते एो पडिगाहेज्जा" आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अगणिपरिणामिय-अग्निपरिणमित-त्रि० ३ त० औप्ययो-

गाद् सञ्जातानिपरिणामि, भ० ५ श० ७ उ० । पूर्वस्वभावत्या-
जनेनाऽऽन्तर्भावो नीतिः भ० १५ श० १ उ० ।

अग्निमुह-अग्निमुख-पुं० अग्निमुखमिव यस्य । देवे, हुनद्रव्यं
हि देवैरग्निरूपमन्वहारैर्वाऽप्येते “ द्रव्यं घटति देवानाम् ”
इति श्रुतेस्तत्रैव तात्पर्यात् । “ अग्निमुखा ये देवाः ” इति च
श्रुतिः, इति वेदविद्ः । वाच० । अग्निदेवनिनायामन्निकमारा
वदनैः ग्लवर्गिन् प्रक्षिप्तवन्तः, तत एव निष्पन्नाहोः, “ अग्निमु-
खा ये देवाः ” इति प्रक्षिप्तम्, इति सम्यग्विद्ः । आ० भ०
प्र० । आ० च० । अग्निमुखं प्रधानमुपास्यां यस्य । अग्निहो-
त्रिणि द्विजे, वाच० ।

अगति (दृ) अगद-पुं० नास्ति गदो रोगो यस्मात् ५ व०, औ-
पधे, नि० च० ११ उ० । परमौपधे, पं० व० ३ डा० । नकुलाद्यौ-
पधे, नि० च० १ उ० । ६ व० रोगज्ञान्ये, त्रि० । “ गद भाषणे ”
प्र०, न० त० अकथके, त्रि० । वाच० ।

अगति-अगस्ति-पुं० अगं विन्त्याचक्षमस्यति । अस्-क्तिच् ।
शकन्त्यादिः । अगस्त्यनामके मुनौ, “ अगस्त्यम्यापत्यानि, य-
ह्यु यज्ञो नृकः । तद्गोत्रापत्येषु व० व० । तत्सम्यग्भित्वात्
दक्षिणस्यां दिशि, वृहत्संहितायामस्य गगनमण्डले दक्षिणस्यां
नारायणेण स्थितिरुक्ता । चक्रवृत्ते, वाच० । अष्टाशोतिमहाप्रहा-
णां पञ्चचवारिंशे महाप्रहे, “ द्वा अगत्थी ” स्था० २ वा० ३
उ० । च० प्र० । सू० प्र० । ज० । कल्प० ।

अगम-अगम-पुं० न गच्छतीति । गम-अच् । न० त० । वृत्ते, अ-
गन्तरि, त्रि० । वाच० । आकाशे, न०, तकि गमनक्रियारहितत्वेना-
गमम् । भ० २० श० २ उ० ।

अगमिय-अगमिक-न० न गमिकमगमिकम् । प्रायो गाथाश्लो-
कपेष्टकाद्यसदृशपाठात्मके श्रुतजोदे, । तद्यैवविधं प्रायः [विशे०]
वाचारादिकालिकश्रुतम्, असदृशपाठात्मकत्वात् । तयाच्चाह-
“ अगमियं काक्षियसुर्यं ” न० । आ० भ० प्र० । कर्म० । वृ० ।
अगम्य-अगम्य-त्रि० न गन्तुमर्हति । गम-यत् । न० त० । ग-
मनानर्हामु स्तुपादिषु, चाण्डाल्यादिकायां च, “ फानेऊण
अगम्यं, भण्डा सुमिणे गधो अगम्यं ति ” स्पृष्टा कार्येनेति ग-
म्यने । अगम्यां स्तुपां चाण्डाल्यादिकां वा स्त्रियमिति शेषः ।
व्य० १ उ० ।

अगम्यगामि (ण्) अगम्यगामिन्-त्रि० जगिन्याद्यभिगन्तरि,
प्रश्न० २ आश्र० डा० ।

अगरजा-अगर्भा-स्त्री० न व०, सुविप्रकाशरतया अरहम्यायां
चाण्याम्, औ० । “ अगरजाए अमम्मणाए सव्वक्खरसण्णिवा-
याए ” (जिनवाण्या) तत्र, अगर्जया व्यक्तवर्णवोषयेत्यर्थः ।
उपा० २ अ० ।

अगरहिय-अगर्हित-त्रि० (आहारविषये) अकृतगर्हो, प्रश्न०
१ सम्ब० डा० ।

अगर्ह-त्रि० अनित्ये, “ से अगरहिए अचेत्ते जे समाहिए ”
आचा० १ शु० ८ अ० ८ उ० ।

अगरु-अगरु-न० अगुरुचन्दनाख्ये गन्धिकद्रव्ये “ कुटं त-
गरं अगरुं संपिठं सम्मसुरिरेण ” सूत्र० १ शु० ४ अ०
२ उ० । प्रश्न० । नि-च० । उपा० । आचा० । “ संखतिणिसागुलु-
चंदणाई ” नि० च० २ उ० ।

अगुरुगन्धिय-अगुरुगन्धित-त्रि० अगुरुगन्धो धूपनादिप्रकारेण
जातोऽस्येति अगुरुगन्धितम् । अगुरुचन्दनेन धूपिते, तं० ।

अगुरुपुट-अगुरुपुट-पुं० ६ त० अगुरुनामकगन्धद्रव्यस्य पुटे,

“ अगुरुपुडाण वा ध्वंगपुकाण वा वासपुडाण वा ” । जं० १ चक्र० ।
अगुरुलहुय-अगुरुलघुक-न० न बिद्येते गुरुलघुनि यस्मिन्स्त-
दगुरुलघुकम्, परिणामोपेतमूर्तद्रव्यत्वादगुरुलघुकम् । परतत्त्वे,
“ नित्यं प्रकृतिवियुक्तं, लोकाद्वोकावलोकनाभोगम् । स्तिमित-
तरङ्गोदधिसम-भवर्णमस्पृशमगुरुलघुम् ” । पो० १५ चिच० । न गुरुकम-
योगमनस्वभावं न लघुकमूर्त्यगमनस्वभावं यद् द्रव्यं तदगुरुल-
घुकम् । अत्यन्तसूक्ष्मे भाषामनःकर्मद्रव्यादौ, स्था १० वा. १ उ० ।

अथ ‘ किं गुरुलघु किं वा अगुरुलघु ’ इति शङ्कायां
तत्स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह-

ओराक्षियवेज्विय-आहारगतेय गुरुलहू दब्बा ।

कम्मणमणभासाई, एयाई अगुरुलहुयाई ॥

इह द्वौ नयौ-व्यवहारनयो निश्चयनयश्च । तत्र व्यवहारन-
यः प्राह-चतुर्थां द्रव्यं, तद्यथा-किंचिद् गुरु, किंचिद्लघु,
किंचिद् गुरुलघु, किंचिद्गुरुलघु । तत्र यदूर्ध्वं तिर्यग्वा प्रक्षिप्तम-
पि पुनर्निसर्गादयो निपतति द्रव्यं तद् गुरु । तद्यथा-हेम्मादि ।
यत्तु द्रव्यं निसर्गत एवोर्ध्वगतिस्वभावं तल्लघु । यथा-दीपकलि-
कादि । यत्पुनर्नोर्ध्वगतिस्वभावं नाप्यधोगतिस्वभावं किन्तु स्व-
भावेनैव तिर्यग्गतित्थमकं तद् गुरुलघु, यथा-वायुः । यत्पूर्वा-
धस्तिर्यग्गतिस्वभावानामेकतरस्वभावमपि न भवति सर्वत्र वा
गच्छति तद्गुरुलघु । यथा-व्योम परमावादि । उक्तं च-

गुरुलहुयं उभयं वि, नोभयमिति वावहारियनयस्स ।

दब्बं लेहुं दीवो, वाऊ वोमं जहासंखं ॥

निश्चयनयः पुनरेवमाह-न सर्वगुर्वैकान्तेन किमपि वस्तुवस्ति,
गुरोरपि हेम्मादेः प्रयोगादूर्ध्वादिगमनदर्शनात् । नाप्यैकान्तेन
सर्वत्रलघ्वप्यस्ति, अतिलघोरपि वाय्वादेः करतारुनादिनाऽधो-
गमनादिदर्शनात् । तस्माद् द्विविधमेव वस्तु । तद्यथा-गुरुल-
घु, अगुरुलघु च । तत्र यद् बादरं भृङ्गधरादिकं तत्सर्वं गुरुलघु,
शेषं तु भाषाप्राणापानमनोवर्गणादिकं परमाणुद्वयलुकव्योमा-
दिकं च सर्वमगुरुलघु । उक्तं च-

निश्चयतो सव्वगुरुं, सव्वलहुं वा न विज्जेए दब्बं ।

वायरमिह गुरुलहुयं, अगुरुलहुं सेसयं दब्बं ॥

तत्रेयं गाथा निश्चयनयमनेन । पदार्थव्याख्या चैवम्-औदा-
रिकवैक्रियाहारकतैजसद्रव्याणि अपराण्यपि तैजसद्रव्यप्रत्या-
सन्नानि तदाभासानि वादरूपत्वाद् गुरुलघूनि गुरुलघुस्वभा-
वानि । कर्मणमनोज्ञापाद्रव्याणि तु आदिशब्दत्वाणापानद्र-
व्याणि प्रापाद्रव्यार्वाण्वर्तानि भाषाभासानि । अपराण्यपि च
परमाणुद्वयलुकादीनि, व्योमादीनि चैतानि अगुरुलघुस्वभावा-
नि । वक्ष्यमाणगाथाद्वयसंबन्धः । एवं पूर्वं किल क्षेत्रकालसंब-
न्धिनोः केवलयोरङ्गुलावलिकासंख्येयादिविभागकल्पनया पर-
स्परोपनिबन्ध उक्तः । आ० भ० प्र० ।

इदमेव व्यक्तीकुर्वन्नाह-

जा तेयमं सरीरं, गुरुलहुदब्बाणि कायजोगो य ।

मणसा अगुरुलहूणि अ-रुविदब्बाय सव्वे वि ॥

औदारिकशरीरादारण्य तैजसशरीरं यावत् यानि द्रव्याणि
यश्च तेषामेव संबन्धी काययोगः शरीरव्यापारः, पतत्सर्वं गुरु-
लघुकमिति निर्देशः । यानि तु मनोज्ञाप्रयोगाण्युपलक्षणत्वा-
दानपानकर्मण्यप्रयोगाणि तदपान्तरावर्त्तानि च द्रव्याणि या-

नि च सर्वाण्यपि धर्माधर्माकाशजीवास्तिकायवृक्षान्यरूपि-
द्रव्याणि, तदेतत्सर्वमगुरुलघुकम् ।

अहवा वायरवोदी-कलेवरा गुरुलहु जवे सव्वो ।

सुहमाणतपदेसो, अगुरुलहु जाव परमाणू ॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतने । वादरा बोन्दिः शरीरं येपांते वादर-
बोन्दयो वादरनामकर्मोदयवर्त्तिनो जीवा इत्यर्थः, तेषां सवन्धी-
नि यानि कलेवराणि यानि वाऽपराण्यपि वादरपरिणतानि त-
त्तदधरादीनि शक्रचापगन्धर्वपुरप्रवृत्तीनि वा वस्तूनि तानि
सर्वाण्यपि गुरुलघून्मुच्यन्ते । यानि तु सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्त्ति-
नां जन्तूनां शरीराणि यानि च सूक्ष्मपरिणामपरिणतानि अ-
नन्तप्रादेशिकादीनि परमाणुपुद्गलं आवत् द्रव्याणि तानि सर्वा-
ण्यगुरुलघूनि ।

अथ व्यवहारनयमतमाह—

ववहारनयं पप्प उ, गुरुया लहुया य मोसगा चैव ।

लेट्टुपदीयगमारुय, एवं जीवाण कम्माइं ॥

व्यवहारनयं प्राप्याङ्गीकृत्य त्रिविधानि द्रव्याणि भवन्ति । त-
द्यथा-गुरुकानि लघुकानि मिश्रकाणि च, गुरुलघुमिश्रणीत्य-
र्थः । तत्र यानि तिर्यग्भूतं वा प्रक्षिप्ताण्यपि स्वभावादेवाधो
निपतन्ते तानि गुरुकाणि, यथा-लेट्टुप्रवृत्तीनि । यानि तूर्द्धग-
तिस्वभावानि तानि लघुकानि, यथा-प्रदीपकादीनि । यानि
तु नाधोगतिस्वभावानि नवा ऊर्द्धगतिस्वभावानि किं तर्हि
तिर्यग्गतिधर्मकाणि तानि गुरुलघूनि, यथा-मारुतो वायुस्त-
त्प्रवृत्तीनि । एवं जीवानां कर्माण्यपि त्रिविधानि भवन्ति-गुरु-
णि लघूनि गुरुलघूनि वा । तत्र धैरमी जीवा अधोगतिं नीयन्ते
तानि गुरुकाणि, यैस्तु त एवोर्द्धगतिं प्राप्यन्ते तानि लघुकानि,
यैः पुनस्तिर्यग्योनिकेषु वा मनुष्येषु वा गतिं कार्यन्ते तानि गुरु-
लघुकानीति । तदेवं व्यवहारनयान्निप्रायेण समर्थितः कर्मणां
गुरुत्वलघुत्वपरिणामः । वृ० १ उ० ।

एतदेव सर्वमभिप्रेत्य सूत्रकृदाह—

सत्तमे णं भंते ! उवासंतरे किं गुरुए लहुए गुरुयलहुए
अगुरुयलहुए ? गोयमा ! नो गुरुए नो लहुए नो गुरुयलहुए
अगुरुयलहुए । सत्तमे णं भंते ! तण्णवाए य लहुए ? गोय-
मा ! नो गुरुए नो लहुए गुरुयलहुए । एवं नो अगुरुयल-
हुए । सत्तमे घणवाए सत्तमे घणोदहं । सत्तमा पुढवी उवा-
संतराईं सव्वाइं जहा सत्तमे उवासंतरे जहा तण्णवाए एवं गु-
रुयलहुए घणवायघणउदहिपुढवीर्दवा य सागरावासा । ने-
रइयाणं भंते ! किं गुरुया जाव अगुरुलहुया ? गोयमा ! नो
गुरुया नो लहुया गुरुयलहुया वि अगुरुलहुया वि । से केण-
ट्टेणं ? गोयमा ! वेउव्वियतेयाइं पमुच्च नो गुरुया नो लहुया
गुरुयलहुया नो अगुरुयलहुया । जीवं च कम्मं च पमुच्च नो
गुरुया नो लहुया नो गुरुयलहुया अगुरुयलहुया, से तेणट्टे-
णं एवं जाव वेमाणिया, नवरं णाणत्तं जाणियव्वं सररीरेहिं
धम्मत्थिकाए जाव जीवत्थिकाए चउत्थपएणं । पोगगल-
त्थिकाए णं भंते ! किं गुरुए लहुए गुरुयलहुए अगुरुय-
लहुए ? गोयमा ! नो गुरुए नो लहुए गुरुयलहुए वि अ-
गुरुयलहुए वि । से केणट्टेणं ? गोयमा ! गुरुयलहुयद-

व्वाइं पमुच्च णो गुरुए णो लहुए गुरुयलहुए नो अगुरुयलहु-
ए, अगुरुयलहुयदव्वाइं पमुच्च नो गुरुए नो लहुए नो गुरुय-
लहुए अगुरुयलहुए, समया कम्माणि य चउत्थपएणं । क-
एह्वेस्साणं भंते ! किं गुरुया जाव अगुरुयलहुया ? गोयमा !
नो गुरुया नो लहुया गुरुयलहुया वि अगुरुयलहुया वि । से
केणट्टेणं ? गोयमा ! दव्वेस्सं पमुच्च तइयपएणं भावद्वेस्सं
पमुच्च चउत्थपएणं, एवं जाव मुक्खेस्सा । दिट्ठीदंसणना-
णअन्नाणसप्पाओ चउत्थपएणं पेयव्वाइं हेट्ठिज्जा चत्तारि
सररीरा नायव्वा, तइएणं कम्मयं चउत्थपएणं पएणं मणजोगे
वइजोगे चउत्थपएणं पदेणं कायजोगो तइयएणं पएणं मागा-
रोवओगो अणागारोवओगो चउत्थपएणं सव्वदव्वाओ
सव्वपदेसा सव्वपज्जावा जहा पोगगलत्थिकाओ । अतीतइदा
अणागयइदा सव्वप्पा चउत्थपएणं पएणं ।

(सत्तमेणमित्यादि) इह चेयं गुरुलघुव्यवस्था—

निच्छयओ सव्वगुरुं, सव्वलहुं वा न विज्जए दव्वं ।

ववहारओ उ जज्जइ, वायरखधेसु णाणेसु ॥ १ ॥

अगुरुलहुं चउ 'फासा, अरुविदव्वा य होति नायव्वा ।

सेसा उ अठ फासा, गुरुलहुया निच्छयणयस्स ॥ २ ॥

(चउ फास त्ति) सूक्ष्मपरिणामानि (अठ फास त्ति) वादराणि
गुरुलघुद्रव्यं रूपि अगुरुलघुद्रव्यं त्वरूपि रूपि वेति । व्यवहा-
रतस्तु गुर्वादीनि चत्वार्यपि सन्ति । तत्र निदर्शनानि-गुरुर्लोष्टो-
ऽधोगमनात्, लघुर्धूम ऊर्ध्वगमनात्, गुरुलघुर्वायुस्तिर्यग्गमनात्,
अगुरुलघ्वाकाशं तत्स्वभावत्वादिति । एतानि चावकाशान्तरा-
दिसूत्राण्येतन्नाथानुसारेणावगन्तव्यानि । तद्यथा—“ववासवाय-
घणउदहि-पुढवीर्दवाय सागरावासा । नेरइयाइ अत्थिय, स-
मयाकम्माइं वेसाओ ॥ १ ॥ दिट्ठी दंसणणाणे, सन्नसररीरा य
जोगउवओगे । दव्वपएसा पज्जव, तीया आगामिसंवद्ध त्ति ॥ २ ॥

(वेउव्वियतेयाइं पमुच्च त्ति) नारका वैक्रियतैजसशरीरे
प्रतीत्य गुरुलघुका एव । यतो वैक्रियतैजसवर्गणात्मके ते, ए-
ताश्च गुरुलघुका एव । यदाह—“ओराव्वियवेउव्विय-आहार-
गतेय गुरुलहु दव्व त्ति” । (जीवं च कम्मं च पमुच्च त्ति) जीवा-
पेक्षया कर्म्मणशरीरापेक्षया च नारका अगुरुलघुका एव,
जीवस्यारूपित्वेन गुरुलघुत्वात् । कर्म्मणशरीरस्य च कर्म्मव-
र्गणात्मकत्वात् कर्म्मणवर्गणायां चागुरुलघुत्वात् । आह च—
“कर्म्मणमणजासाइं, पयाइं अगुरुलहुयाइं ति” (नाणत्तं जाणि-
यव्वं सररीरेहिं ति) यस्य यानि शरीराणि भवन्ति तस्य तानि
ज्ञात्वा असुरादिसूत्राण्येयानीति । इदमत्र । तत्रासुरादिदेवा
नारकवद्वाच्याः । पृथिव्यादयस्तु औदारिकतैजसे प्रतीत्य गुरु-
लघवः, जीवं कर्म्मणं च प्रतीत्यागुरुलघवः । वायवस्तु औदा-
रिकवैक्रियतैजसानि प्रतीत्य गुरुलघवः । एवं पञ्चेन्द्रियतिर्य-
ञ्चोऽपि मनुष्यास्त्वौदारिकवैक्रियतैजसाहारकाणि प्रतीत्येति
(धम्मत्थिकाये त्ति) इह यावत्करणात्, “अहम्मत्थिकाए आगा-
सत्थिकाए” इति दृश्यम् (चउत्थपएणं ति) एते अगुरुलघु
इत्यनेन पदेन वाच्याः । शेषाणां तु निषेधः कार्यः, धर्मास्तिकाया-
दीनामरूपितया अगुरुलघुत्वादिति । पुद्गलास्तिकायसूत्रे उत्तरं नि-
श्चयनयाश्रितम्, एकान्तगुरुलघुनोस्तम्भतेनाज्ञावात् (गुरुयलहुय
दव्वाइं ति) औदारिकादीनि ४ (अगुरुलहुयदव्वाइं ति) कर्म्म-

गात्रीनि (समया कर्माणि य चञ्चलपणं नि) समया कर्म-
ताः कर्माणि य कामेनपण्णामकान्तिवगुणाद्यन्वेपाम् ।
(द्रव्यत्वेन पण्णम नञ्चपण्णं नि) द्रव्यतः कृष्णलेखा औदारि-
कादिगोत्रवर्णः, औदारिकादिकश्च गुरुलघ्विनि कृत्वा गुरुल-
घ्वित्वेन तृतीयविकल्पेन व्यरदेव्यः । जायतेव्या तु जीवपरि-
पत्तिः, तन्वाश्चान्तर्यादगुरुलघ्वित्वेन व्यरदेव्य द्रव्यत आह
(भवत्वेन पण्णम नञ्चपण्णं नि) (विद्दिदम्पेन्यादि)
उष्ट्रगर्भनि जीवपर्यायेनागुरुलघ्व्यादगुरुलघुनकृष्णेन चतु-
र्थत्वेन वाच्यानि । ध्यानरदे विह ध्यानविपश्न्यादधीनम्,
द्रव्यथा हान्ते ध्यानरदमेव चञ्चते (हेष्टिं, ति) औदारि-
कादीनि । (नञ्चपण्णं नि) गुरुलघुपदेन गुरुलघुवर्ग-
पान्मक्यान् । (कर्मणा चञ्चपण्णं नि) अगुरुलघुद्रव्यान्-
क्यान् कामेनपदार्थानां मनोयोगदान्योगां चतुर्थपदेन वाच्यं,
तन्वापामगुरुलघुजान्, काययोगः कामेनचञ्चतृतीयेन गुरु-
लघुव्यासद् उच्यमाणभिनि । (सच्चद्व्येत्यादि) सच्चद्व्याणि ध-
र्मास्तिफायादीनि मध्यप्रदेशान्तेपामेव निधिगाना वंशाः सर्वपर्य-
या वर्णोपयोगादयो द्रव्यधर्माः, एते पुजलास्तिफायवद् व्यपदे-
व्याः, गुरुलघुत्वेनागुरुलघुत्वेन धर्म्ययः । यतः सूत्रमात्रमूर्तानि
य द्रव्यान्तगुरुलघुत्वेन, इतराणि तु गुरुलघूनि । प्रदेशपर्ययास्तु
तत्तद्रव्यमन्वयधर्मेन तत्तत्स्यभावा इति । भ० १ अ० ९, उ० ।
नन्त्रनि गुरुलघुद्रव्यापामगुरुलघुद्रव्याणां चालपवहुत्वेन वर्ग-
णाधिगम्यन्ते-तत्र वादरस्कन्धेषु जघन्यमध्यमान्कृष्णभेदजिघ्रेष्य-
कान्तगुरुत्वा प्रवर्द्धमाना वर्गणा अनन्ता भवन्ति । ताश्च ताव-
द्द्रव्या यावन्मयान्कृष्टा वादरस्कन्धः ।

ततो य वर्गणाश्रो, सुदृमाण जवंत गंतगुणियाश्रो ।

परमाणुण य एका, संस्वरपदेसंस्वाता ।

ताव्यः समस्तवादरस्कन्धगतार्यो वर्गणाव्यः सूदृमाणां सूदृमा-
नन्तप्रदेशकस्कन्धानामनन्तगुणिता वर्गणास्तथा परमाणूनां स-
न्तानानेका वर्गणा । (संस्वरत्ति) संख्येयप्रदेशेषु द्व्यादिप्रभृ-
त्यन्कृष्टं संख्यातं यावत् सख्याताः संख्यातस्य संख्यातप्रदभा-
वान् । इतरस्मिप्रसंख्येयप्रदेशे असंख्येया वर्गणाः, असंख्यात-
स्य संख्यातभेदमिष्टंवात् ।

इय पोगग्नकायम्पि य, सव्वन्थोवा उ गुरुलघु दव्या ।

उजयपडिसेडिया पुण, अणंतकप्पा बहुविकप्पा ॥

इति एवमुपदर्शितेन प्रकारेण पुजलकाये पुजलास्तिफाये
गुरुलघुद्रव्याणि सर्वस्तोकानि उभयप्रतिपेधितानि संजात-
गुरुलघुप्रतिपेधानि अगुरुलघूनीत्यर्थः । पुनर्द्रव्याणि अनन्त-
कल्पानि अनन्तभेदानि । तत्रानन्तभेदत्वं गुरुलघुद्रव्येष्व-
प्यस्ति, तत आह-बहुविकल्पानि विकल्पातिशयेन बहुभेदानि ।
संप्रति पर्यायपरिमाणमल्पबहुत्वेन चिन्त्यते-इह पञ्चराशयः
क्रमेण स्थाप्यन्ते । तद्यथा-परमाणुराशिः, संख्यातप्रदेशकस्क-
न्धराशिः, असंख्यातप्रदेशकस्कन्धराशिः, सूदृमानन्तप्रदेशक-
स्कन्धराशिः, वादरानन्तप्रदेशकस्कन्धराशिश्च । तत्र वादरान-
न्तप्रदेशकस्कन्धराशौ योऽन्तिपदः सर्वोत्कृष्टो वादरस्कन्ध-
स्तत्र बहवो गुरुलघुपर्यायाः, सर्वस्तोका अगुरुलघुपर्यायाः,
इह वादरस्कन्धेष्वप्यगुरुलघवः पर्यायाः सन्ति परमुत्कलिता
गुरुलघुपर्याया इति । त एव तत्र शेषकालं गणयन्ते, संप्रति
तु वस्तुस्थितिश्चिन्त्यते । इत्यल्पबहुत्वचिन्तायां ते चिन्तिताः ।
तत्सर्वोत्कृष्टाद् वादरस्कन्धाद् येऽधस्तना वादरस्कन्धास्तेषु

गुरुलघुपर्यायाः क्रमेणानन्तगुणहान्या द्रष्टव्याः । अगुरुलघु-
पर्यायाः पुनरनन्तगुणवृद्धा । एवं च तावद् शातव्यं यावत्सर्व-
जघन्यो वादरस्कन्धः । उक्तं च- " परमाणुसंखसंखा, सुहु-
माण ताण वायरणं च । एएसिं रासीतो, क्रमेण सव्वे ठवे-
रणं ॥ तसिं जो अंतिसथो, सव्वुकोसो य वायरो खंधो ।
तस्स वह गुरुलघुया, अगुरुलह पज्जया थोवा ॥ तत्तो
हिद्वा हुत्ता, अणंतहाणिण गुरुलहवुद्धी । एवं ता जाव
जएयो सि " ॥

एतदेवाह-

ते गुरुलघुपज्जाया, पण्णच्छेदेण वोगसित्ताणं ।

जा वायरो जहाणो, अणंतहाणिण हायंता ॥

ते गुरुलघुपर्यायाः प्रक्षालेदनकेनागुरुलघुपर्यायेभ्यो व्युत्कृष्य
पृथक्कृत्वा सर्वोत्कृष्टाद् वादरस्कन्धादधस्तनेषु वादरस्कन्धे-
ष्वनन्तगुणहान्या हीयमानास्तावद् द्रष्टव्या यावद् जघन्यो वा-
दरस्कन्धः । अगुरुलघुपर्यायास्तु क्रमेणानन्तगुणवृद्धा प्रव-
र्द्धमानाः, ततः परं सूदृमानन्तप्रदेशादिषु स्कन्धेषु केवला
अगुरुलघुपर्याया एव क्रमेणानन्तगुणवृद्धा प्रवर्द्धमाना द्र-
ष्टव्याः । ते च तावत् यावत्परमाणवः । उक्तं च- " तेण परं
सुहुमाश्रो, अणंतवुद्धिण नवर वट्ठता । अगुरुलह धिय केवल,
जा परमाणु य तो नेया " तदेवं पर्यायपरिमाणमप्यल्पबहुत्वेन
चिन्तितम् । सांप्रतमरूपि द्रव्यं चिन्त्यते- तच्चतुर्धा, तद्यथा-
धर्मास्तिफायः, अधर्मास्तिफायः, आकाशास्तिफायः, जीवा-
स्तिफायश्च ।

तेषां किमगुरुलघुपर्यायपरिमाणमत आह-

केण हविज्ज विरोहो, अगुरुलघुपज्जवाण उ अमुत्ते ।

अञ्चंतममंजोगो, जहियं पुण तव्विवक्खस्स ॥

यत्रामूर्त्तं धर्मास्तिफायादौ तद्विपक्षस्य गुरुलघुपर्यायजात-
स्यान्यन्तमेकान्तेनासंयोगोऽधस्तना तत्रागुरुलघुपर्यायाणां केन
विरोधो विनाशनं भवेत्?, नैव केनचित् । ततः केनापि विना-
शभावात्सदैव प्रतिप्रदेशमनन्ता अगुरुलघुपर्यायाः ।

तथाच्चाह-

एवं तु अणंतैहि, अगुरुलघुपज्जवेहिं संजुत्तं ।

होइ अमुत्तं दव्वं, अरुविकायाण चाउत्तं ॥

एवं तु मनि चतुर्णामप्यरूपिकायानामरूपिणामस्तिफायानां
धर्मास्तिफायप्रभृतीनामेकैकाव्यं यदमूर्त्तं द्रव्यं तद् भवति
प्रत्येकमनन्तरगुरुलघुपर्यायः संयुक्तम् । तदेवंभावित एकैक
आकाशप्रदेशोऽनन्तरगुरुलघुपर्यवैरुपेतः । वृ० १ उ० ।

अगरुलघुचउक्त-अगुरुलघुचतुत्फ- न० अगुरुलघुपघातप-
राघातोच्छ्वासलक्षणनामकर्मप्रकृतिचतुष्टये, कर्म० १ कर्म ।

अगरुलघुणाम-अगुरुलघुनामन्- न० नामकर्मभेदे, यदु-
दयादगुरुलघु स्वयं शरीरं जीवानां भवति । स० ।

अंगं न गुरु न लहुयं, जायइ जीवस्स अगरुलहुउदया ।

अगुरुलघूदयादगुरुलघुनामोदयेन जीवस्य अङ्गं शरीरं न गुरु
न लघु जायते भवति, किन्तु अगुरुलघु, यत एकान्ते गुरुत्वे
हि बोद्धुमशक्यं स्यात्, एकान्तलघुत्वे तु वायुनाऽपह्रियमाणं
धारयितुं न पायैत, यदुदयाजन्तुशरीरं न गुरु न लघु नापि
गुरुलघु किन्तु अगुरुलघुपरिणामपरिणतं भवति, तदगुरु-
लघुनामेत्यर्थः । कर्म० १ कर्म० । प्रव० । आ० । प० सं० ।

अगरुलहुपरिणाम—अगरुलघुपरिणाम—पुं० अगरुलघुकमे-
व परिणामः, परिणामपरिणामवतोरभेदादगुरुलघुपरिणामः ।
अजीवपरिणामजेदे, स्था० १० ठा० । अगरुलघुपरिणामस्तु पर-
माणोरारज्य यावदनन्तान्तप्रदेशिकाः स्कन्धाः सूक्ष्माः । सूत्र०
१ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अगरुलहुपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ! गोयमा !
एगागारे पण्णत्ते ।

अगरुलघुपरिणामो भावादिपुल्लानां “कम्मणमणभासाईपया-
ई अगरुलहुयाई” इतिवचनात् । तथा अमूर्तद्रव्याणां चाकाशा-
दीनाम् । अगरुलघुपरिणामग्रहणमुपलक्षणम्, तेन गुरुलघुपरि-
णामोऽपि द्रष्टव्यः । स चौदारिकादिद्रव्याणां तैजसद्रव्यपर्यं-
न्तानामवसेयः । “ओरावियवेउव्विय—आहारगतेय गुरु-
लहु दन्वा ।” इति वचनात् । प्रज्ञा० १३ पद ।

अगरुवर—अगरुवर—पुं० कृष्णागरो, ज्ञा० १७ अ० ।

अगलंत—अगलंत—त्रि० अस्माविणि, “असती मोयमहीए कय-
कप्प अगलंत सत्तए णिसिरे ” व्य० ७ उ० ।

अगलिय—अगलित—त्रि० अपतिते, “अगलियेअणेहणिवट्टा—हं
जोअण वक्खु विज्जाउ । वरिससएण वि जो मिल-इ स हि सो-
क्खं सो छाउं य” । प्रा० १ पाद ।

अगविठ—अगवेधित—त्रि० गवेपण्या अपरिभाविते, “अगविठ-
स्स उ गहणं, न होइ नय अगहियस्स परिभोगो ।” पिं० “अ-
गविट्टा य गविट्टा, णिप्पसा धारणदिसासु” व्य० ४ उ० ।

अगहणवगणा—अग्रहणवर्गणा—स्त्री० अल्पपरमाणुरूपत्वेन
स्थूलपरिणामतया च स्वभावाज्जीवानां ग्रहेऽसमागच्छन्तीषु
वर्गणासु, कर्म० ५ कर्म० । पं० सं० । (आसां स्पष्टं स्वरूपं
‘वगणा’ शब्दे दर्शयिष्यते)

अगहिय—अग्रहीत—त्रि० न० त० अस्वीकृते, पञ्चा० १७ त्रिव० ।

अगहियगहण—अग्रहीतग्रहण—न० साधुभिरस्वीकृतभक्तादि-
दातव्यद्रव्ये, “पडिबंधिणिरागरणं, केइअस्से अगहियगहणस्स”
पञ्चा० १७ त्रिव० ।

अगहिल्लगराय—अग्रहिलकराय—पुं० राजजेदे, (ती०) तत्क-
था चैवम्—केइ पुण अगहिल्लगरायअक्खानगविट्ठीए कालाइ-
होसो वि अप्पाणं निव्वाहस्संति, तं च अक्खानयमेव पन्न-
वंति पुव्वायरिया-पुव्वि किर पुहवीपुरीए पुण्णो नाम राया । त-
स्स मंती सुबुद्धी नाम । अन्नया लोगदेवो नाम नेमिस्सिओ आग-
ओ । सो य सुबुद्धिमंतिणा आगमेसिं कालं पुठो । तेण भणियम्-
मासाणंतरे इत्थ जलहरो वरिसिस्सइ । तस्स जलं जो पाहिइ
सो सव्वो वि गहवीभूओ भविस्सइ । किन्तए वि काले गए
सुबुट्ठी जवस्सइ । तज्जणपाणेण पुणो जणा सुत्थीभविस्संति ।
तओ मंतिणा तं राइणो विन्नत्तं । रखा वि परुहओसेण वारिसं-
गहत्थो जणो आइओ । जणेण वि तस्संगहो कओ । मासेण बुटो
मेहो । तं च संगहियं नीरं काळेण निष्ठविअं होएहि नवोदगं
चेव पाउमाढत्तं । तओ गहिट्ठीभूओ सव्वहोओ सामंताइ गा-
यंति नच्चंति सिज्जाए वि चिंत्तो । केवलं राया अमच्चो अ
संगहिअं जलं न निट्ठियंति । तं चेव दो वि सुत्था चिंत्ति ।
तओ सामंताईहि विसरिसं चिंटे रायअमच्चोई निरिक्खिऊण
परप्परं मंतिअं । जहा गहिहो रायामंती य । एए अम्हाईतो वि
विसारसीयारा । तओ एए अवसारिऊण अवरे अप्पनुल्लायारे

रायाणं उवाविस्सामो ! मंती ऊण तेसिं मंतं नाऊण राइणो विन्न-
वेइ । रखा बुत्तं—कह मे एहुंतो अप्पा रक्खियव्वो विदेहनरि-
दतुल्लं हवइ । मंतिणा भणियं—महाराय ! अगहिल्लिहिं पि अम्हेहिं
गहिट्ठीहोऊण गयव्वं । न अन्नहा मुखो । तओ किस्सिमगहिट्ठी-
होउं ते रायमच्चो तेसिं मज्जे निअसंपयं रक्खंता चिंत्तंति ।
तओ ते सामंताइ तुछा, अहो ! रायमच्चो विअम्हसरिसा सज्जा-
यत्ति । उवाएण तेण तेहि अप्पा रक्खिओ । तओ कालंतरेण सुह-
बुट्ठी जाया । नवोदगे पीए सव्वे होगा पगइमावणा सुत्था संबु-
त्ता । एवं दूसमकाले गीयत्थकुल्लिगीहिं सह सरिसो होऊण
वट्ठंता अप्पणो समयं भाविणं पक्खिवाहितो अप्पाणं निव्वाहइ-
स्संति । ती० ११ कट्ठप० ।

अगाढ—अगाढ—त्रि० अवगाढे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अगाढपण्ण—अगाढप्रज्ञ—त्रि० अगाढा तत्त्वनिष्ठा प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य
सोऽगाढप्रज्ञः । परमार्थपर्यवसितबुद्धौ, “अगाढपण्णेषु वि भा-
वियप्पा, अन्नं जणं सपन्न परिहवेज्जा ।” सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अ (आ) गार—अगार—न० गृहे, दश० १ अ० । अगैदुमह-
पदादिभिर्निर्वृत्तमगारम् । दशा० १० अ० । विशेष० । स्था० ॥
अनु० । सूत्र० । आचा० । प्रव० । पञ्चा० । नि० चू० । आ० म०,
द्वि० । (अगारनिक्षेपः) अगारं द्विविधं अव्यभावभेदात् । तत्र द्र-
व्यागारमगैदुमहपदादिभिर्निर्वृत्तम् । भावागारं पुनरगैर्विपाक-
कालेऽपि जीवविपाकितया शरीरपुद्गलादिषु बहिःप्रवृत्तिरहि-
तैरनन्तानुबन्धादिभिर्निर्वृत्तं कपायमोहनीयम् । “समरेसु य
अगारेसु, संधीसु य महापहे ” अगारेषु शून्यगृहेषु । उक्त०
१ अ० । “अगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा ” सूत्र० १
श्रु० ३ अ० २ उ० । विशेष० । अगारं द्विविधम्—खातमुच्छ्रितं च ।
तत्र खातं भूमिगृहादि, उच्छ्रितमुच्छ्रयेण कृतम्, उभयं भूमि-
गृहस्योपरि प्रासादः । पञ्चा० १ विव० । स्थाने च । “सिंगारा-
गारचारुवेसा ” औ० । अगारं गृहं तद्योगाद् । विशेष० । अगारं
गृहं तदेपां (वा) विद्यते इत्यर्थादिगणत्वाच्चप्रत्ययः । गृहस्थे,
पुं० । दश० १ अ० ।

अगारत्थ—अगारस्थ—पुं० अगारं गृहं, तत्र तिष्ठन्तीति अगार-
स्थाः । गृहस्थेषु, आचा० १ श्रु० ए अ० १ उ० ॥

अ (आ) गारधम्म—अगारधम्म—पुं० न गच्छन्तीत्यगा वृक्षा-
स्तैः कृतमा समन्ताद्वाजत इत्यगारं गृहम् । तत्र स्थिनानां ध-
र्मोऽगारधर्मः । शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः ।
देशविरतौ, आ० म० चि० ।

पंच य अणुव्वयाइं, गुणव्वयाइं च होंति तिन्नेव ।

सिक्खवावयाइ चउरो, गिहिधम्मा वारसविट्ठो य । १३ ।

पञ्चाणुव्रतानि स्थूलप्राणातिपातविरत्यादीनि गुणव्रतानि च
भवन्ति, त्रीण्येव दिग्व्रतादीनि शिक्षापदानि चत्वारि सामायि-
कादीनि, गृहिधर्मो द्वादशविधस्तु एष एवाणुव्रतादिः । अणुव्रता-
दिस्वरूपं चावश्यके चर्चितत्वाच्चोक्तमिति गाथार्थः । दश० नि० ६
अ० । ध० । तत्र सामान्यतो नाम सर्वविशिष्टजनसाधारणानुष्ठा-
नरूपः, विशेषात् सम्यग्दर्शनाणुव्रतादिप्रतिपत्तिरूपः, चकार
उक्तसमुच्चय इति । तत्राद्यं भेदं दशभिः श्लोकैर्दर्शयति—

“तत्र सामान्यतो गृह्य-धर्मो न्यायार्जितं धनम् ।

वैवाह्यमन्यगोत्रीयैः, कुलशीलसमैः समम् ॥ ५ ॥

शिष्टाचारप्रशंसाऽरि-परुवर्गलज्जनं तथा ।

इन्द्रियाणां जय उपप्सुतस्थानविवर्जितम् ॥ ६ ॥

सुमतिदेशिके स्थाने, नानिप्रकटगुणके ।
 एनेकनिर्गमघात-गृहस्य विनिघेयनम् ॥ ७ ॥
 पापभीकृताद्याता, देशाचारप्रपादनम् ।
 सर्वेष्वनपवादित्वं, नृपादिषु विघेयनः ॥ ८ ॥
 अयोचितव्ययो देशे, विनिघेयनमुत्तमः ।
 मानुषवर्चनं नृपाः, स्वदानादिः पुनरुत्तमः ॥ ९ ॥
 अर्जपिऽभोजनं दाने, वृत्तिः सर्वप्रयोजनः ।
 एतन्मन्त्रानुष्ठानं, गतिप्रयत्नसंनमः ॥ १० ॥
 भक्त्यनुरागं दीप्य-वृत्तिर्धर्मगुणितया ।
 प्रकटुजिगृह्योः, पञ्चापातो गुणेषु च ॥ ११ ॥
 नृपादिनिघेयनं, विनिघेयनमन्वयम् ।
 यथाहमनिर्था नार्था, दीने च प्रतिपन्नता ॥ १२ ॥
 प्रत्येकानुपपत्तये, विनिघेयनमपि साधनम् ।
 प्रत्येकानुपपत्तये, यथायथविचारणम् ॥ १३ ॥
 यथायथोक्तया च, परंपरानुपादयम् ।
 नृपाः सौम्यता चेति जिनः, प्रकृता हितकारिणः ॥ १४ ॥

(दशभिः कुलकम्)

नृपाः सामान्यविशेषनपर्यायैर्गृह्यधर्मपर्यायैर्नृपप्रकृतयोर्मध्ये
 नृपान्तरा गृह्यधर्मं प्रति अमुना प्रकारेण हितकारिभिः परोपकर-
 णेनैर्जिनैरदृष्टिः प्रकृतः प्रणीत इत्यनेन संबन्धः ॥ घ० १ अधि० ।
 (न्यायार्जितधनदिपदानामर्थः 'णायजिय' शब्दे)

अगार्वधण-अगार्वधन-न० क० सू० । पुत्रकलत्रधानधान्या-
 दिन्पे गृहपाशे, आचान् १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ॥ "पवं समुद्रिण
 निरुतू, योमिजा गार्वधणं" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।
 अगार्व-अगार्व-त्रि० न० व० । अगार्वदिगौरवचजिते, प्रथ०
 ५ मन्व० हा० ।

अगार्वध-अगार्वध-पुं० गृहपाशे, "अगार्वधसमज्जे व-
 त्तिना" न० १५ श्रु० १ उ० ।

इहलोग दुहावटं विज्ज, परलोगे य दुट्टं दुहावटं ।

विज्जसणधम्ममेव ते, इति विज्जं कोऽगार्वधवसे ॥ १० ॥

(इहलोग इत्यादि) इहाऽस्मिन्नेव लोके हिरण्यम्वजनादिकं
 दुःखमावहति । (विज्ज नि) विद्याः जानीहि । तथाहि- "अर्था-
 नामर्जनं दुःख-मर्जितानां च रूढेण । आये दुःखं व्यये दुःखं,
 धिगर्थं दुःखजाजनम्" ॥ १ ॥ तथाहि- "रंवापयः किसलयानि च
 सल्लकीनां विन्यापकगवविषमं स्वकुलं च हित्वा । किं ताम्यसि
 द्विप ! गतोऽसि वशं करिष्याः स्नेहं निवन्धनमनर्थपरम्परा-
 याः" ॥ १ ॥ परलोकं च हिरण्यम्वजनादिममत्वापादितकर्मजं
 दुःखं नवति, तद्व्यपरे दुःखमावहति, तदुपादानकर्मोपादाना-
 दिति भावः । तथैतदुपाजितमपि विज्जसणधर्मं विश्वरूपस्वभावं
 गत्वरमित्यर्थः, इत्येवं विद्वान् जानन् कः सकर्णोऽगार्वधसं
 गृहवासमावसेत्, गृहवासं वाऽनुवर्णीयादिति । उक्तं च "दाराः
 परिजवकाराः वन्धुजनो वन्धनं विषं विषयाः । कोऽयं जनस्य मोहोऽ,
 ये रिपवस्तेषु सुहृदाश्च" ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

गारं पि अ आवसे नरे, अणुपुवं पाणेहि संजए ।

समता सन्वत्थ सुवत्ते, देवाणं गच्छे स दोगयं ॥ १ ॥

अगार्वधमपि गृहमप्यावसन् गृहवासमपि कुर्वन् नरो मनुष्यः
 (अणुपुवं ति) आनुपूर्व्या अवधर्मप्रतिपत्त्यादिदक्षिणया
 प्राणिषु यथाशक्त्या सम्यग् यतः संयतस्तदुपमर्दान्निवृत्तः, कि-
 मिति?, यतः समता समभावः आत्मपरतुल्यता, सर्वत्र यतौ गृ-

हस्थे च यदि चैकेन्द्रियादौ श्रयतेऽभिधीयते आर्हते प्रवचने
 नां च कुर्वन् स गृहस्थोऽपि सुवत्तः सन् देवानां पुरन्दरादीनां
 लोकं स्थानं गच्छेत्, किं पुनर्यो महासत्त्वतया पञ्चमहाव्रतधा-
 री यतिरिति । "सोमो अगारवासो सि, इह भिक्षू न चित्त-
 प" उक्त० २ अ० ।

अगारि (ण) अगारिन्-पुं० गृहस्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

आचा० क० । "अगारिणो वि समणा भवन्तु, सेवन्ति उ ते वि तह
 णगारं" सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अगारिकम्प-अगारिकर्मन्-न० अगारिणां कर्माऽनुष्ठानम् । गृ-
 हस्थानां सावध आरम्भे, जातिमदादिके च । "णिक्कम्म से से-
 वइ गारिकम्मं, ग पारप होइ विमोयणाप" सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।
 अगारियंग-अगार्यङ्ग-न० अगारिणां गृहस्थानामङ्गं कारण-
 म् । जात्यादिके मदस्थाने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अगारी-अगारी-स्त्री० गृहस्थस्त्रियाम्, व्य० १ उ० ।

अगारीपरिवध-अगारीप्रतिवन्ध-पुं० अगार्याः प्रतिवन्धोऽगारि-
 प्रतिवन्धः । यत्रागार्या विषये आत्मपरोपयसमुत्था दोषा इत्ये-
 वरूपे गृहस्थेऽपि प्रतिवन्धे, व्य० ४ उ० ।

अगाह-अगाध-त्रि० गम्भीरे, स्था० ४ उ० ४ उ० ।

अगिज्ज-अगाह-त्रि० हस्तादिना प्रहीतुमशक्ये, "तथो अ-
 गिज्जा पणत्ता, तं जहा- समप पपसे परमाणु" स्था० ३
 उ० २ उ० । अनारुप्ये, "अणेगणरज्जुयाऽगिज्जे" स्त्री० ।
 अप्रमंये, रा० ।

अगिहियवन्-अग्रहीतव्य-त्रि० । न प्रहीतव्योऽग्रहीतव्यः । हेये,
 उपेक्षणीये च । उभयोरपि कार्यासाधकत्वात् । "गम्भीरो जो क-
 जसाहना होइ" इति कार्यसाधकस्यैव ग्राह्यत्वोक्तेः "णायम्मि
 गेहिहियव्वम्मि, अगेहिहियव्वम्मि चेव अत्थम्मि" उक्त० १ अ० ।
 आय० ।

अगिह-अगृह-त्रि० न० त० । अनध्युपपक्षे अमूर्धिते, "अगि-
 के सहफासेसु, आरंजेसु अणिसिण" सूत्र० १ श्रु० ६ अ०
 "उवहिम्मि अमुच्छिण्ण अगिह्णे अणायउंठं पुलाणिपुलाप" ।
 अगृहः प्रतिवन्धभावेन । दश० १० अ० ।

अगिलाइ-अग्लानि-स्त्री० अन्वदे, स्था० ७ उ० ७ अ० । "अगि-
 लाइ अणाजीवी, णायच्चो वीरियायारो" पंचा० १५ विव० । अ-
 गिल्लाणाम णो मनोचाक्षाएहि अज्जरमाणेत्यर्थः" नि० चू० १ उ० ।

अगिला-अग्लानि-स्त्री० निर्जरार्थमात्मोत्साहे, व्य० ४ उ० । गिला-
 व्याख्यानाथमाह- "निववेहि च कुणतो, जो कुणई परिसा गिला
 होइ । पभिलेहु छवणहं, वेयावन्नियं तु पुव्वुत्तं" यो नाम नृपवेष्टि
 राजवेष्टिमिव कुर्वन् वैयावृत्यं करोति पतादशी भवति गिला-
 ग्लानिस्तस्याः प्रतिपेक्षोऽगिला । तथा करणीयं वैयावृत्यम्, किं
 तदित्यत आह-प्रतिलोकोत्थापनादिकं भाण्डस्य प्रत्युपेक्षणमु-
 पविष्टस्योत्थापनमादिशब्दात् भिन्नानयनादिपरिग्रहः, एतत्पू-
 र्वोक्तं वैयावृत्यम् । व्य० १ उ० । "अगिलापणं भत्तेण पाणेणं
 विण्णणं वेयावडियं करेइ" भ० ५ श० ४ उ० ।

अगिलाय-अग्लान-पुं० अग्लाने, "कुज्जा भिक्षू गिला-
 णस्स, अगिलाय समाहिण" भिज्जुः साधुग्लानस्य वैयावृ-
 त्तमग्लानोऽपरिग्रहः कुर्वन्, सम्यक् समाधिना ग्लानस्य

वा समाधिमुत्पादयेदिति । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।
अगीय-अगीत-पुं० अगीतार्थे, व्य० १ उ० ।

अगीयत्थ-अगीतार्थ-पुं०। न० व० । अनधिगताचारप्रकल्पा-
दिनिशीथान्तश्रुतार्थे, जी० १ प्रति० (अगीतार्थो येन ह्येदंश्रु-
तार्थो न गृहीतो गृहीतो, वा परं विस्सारितः । वृ० १ उ० ।

अथागीतार्थोपदेशः सर्वोऽपि दुःखावहो भवतीत्याह-

अगीअत्थस्स वयणेण, अमिश्रं पि न घुंए ।

जेण नो तं भवे अमयं, जं अगीयत्थदेसिअं ॥४६॥

परमत्थओ न तं अमयं, विसं हालाहलं खु तं ।

न तेण अजरामरो हुत्था, तक्खणा निहणं वए ॥४७॥

अनयोर्व्याख्या-अगीतार्थस्य (संविग्गा नाम एगे नो गीय-
त्था १, नो संविग्गा नाम एगे गीयत्था २, संविग्गा नाम एगे
गीयत्था वि ३, नो संविग्गा नाम एगे नो गीयत्था वि ४)
पूर्वोक्तप्रथमचतुर्थमङ्गतुल्यस्य वचनेन अमृतमपि (न घुंए
त्ति) नपि वेत् । अगीतार्थोपदेशेनामृतवद् दृश्यमानं सुन्दरम-
प्यनुष्ठानं न कुर्यादिति परमार्थः । येन कारणेन न तदमृतं भ-
वेत् यदगीतार्थदेशितमगीतार्थोपदिष्टम् । एतदेव विशेषेणाह-
परमार्थतः तत्त्वतस्तदमृतं न गुणकारीत्यर्थः । तद् विपं हाला-
हलं (खु त्ति) निश्चितं, न तेन अजरामरो मोक्षसुखभाग् भ-
वेत् । तत्त्वत्वादेव निधनं विनाशमनन्तजन्ममरणलक्षणं ब्र-
जेत् प्राप्नुयात्, अगीतार्थोपदेशेनामृतपानस्यापि अनन्तसं-
सारहेतुत्वात् । उक्तं च-“ जं जयइ अगीयत्थो, जं च अगी-
यत्थनिस्सिओ होइ । वट्ठावेइ य गच्छं, अणंतसंसारिओ
होइ ॥ १ ॥ कह उ जयंतो साह, वट्ठावेइ य जो उ गच्छं तु ।
संजमज्जुत्तो होउं, अणंतसंसारिओ भणिओ ॥ २ ॥ दवं खिसं
कालं, भावं पुरिसपडिसेवणाओ य । न वि जाएइ अगीओ,
उस्सग्गाववाइयं चेव ॥ ३ ॥ जहठियदवं ए जाएइ, सच्चित्ता-
चित्तमीसिअं चेव । कप्पाकप्पं च तहा, जोगं वा जस्स जं
होइ ” ॥४॥ इत्यादि उपदेशमालायामिति विपमाहरेति गाथा-
च्छन्दसी । ग०२ अधि०। महा० । “अवहुस्सुए अगीय-त्थेणि-
सिरए वा धारए व गणं । तद्देवसियं तस्स, मासा चत्तारि
भारिया होंति” वृ०१ उ० । (इत्यगीतार्थस्य गच्छधारणनिषे-
धो ‘गणहर’ शब्दे) “अगीयत्थो दायव्वस्स धारेयव्वस्स वा
अकप्पिओ ” उच्यते नर्त्तकीदृष्टान्तेन गाथा-“जह नट्टे जह न-
ट्टिया, अयाणंतिया विवज्जासं । करेइ गिज्झमाणे, नट्टे एट्टिया
य गरहिया य ” ॥१॥ भवइ एवमगीयत्थो अगीयत्थो य न सक्केइ
समायरिउं पडिलेहणाइ उवदिसिउं वा परेसुं ” पं० चू०। वृ० ।
नि० चू० । (अगीतार्थो गच्छसारणां कर्तुं न शक्नोतीति ‘ग-
च्छसारणा’ शब्दे) अगीतार्थो दुस्त्याज्यस्तत्सङ्गेन दुःखप्राप्तिः
“ अगीयत्थत्तदोसेणं, गोयमा । ईसरेण उ । जंपंतं तं निसा-
मेत्ता, लहु गीयत्थो मुणी भवे ” महा०६ अ० । (‘ईसरे’ शब्दे
अभि० राजेन्द्र-द्वि० जा० पृ० ६४५ तत्कथानकम्) “सारा-
सारमयाणित्ता, अगीयत्थत्तदोसओ । चित्तिमतेणाविरज्जाए,
पावगं जं समज्जियं । तेणं तीए अहं ताए, जा जा होहि नियं-
तणा । नारयतिरियकुमाणु-सत्तं सोच्चा को धिइं लमे ? ” (र-
ज्जदिया ” शब्दे कथानकम्) “अगीयत्थत्तदोसेणं, भावसुद्धिं
ए पावए । विणा भावसुद्धिं, सकलुसमाणसो मुणी भवे । अ-
णुथोवकलुसहियय-त्तं अगीयत्थत्तदोसओ । काऊणं लक्खण-

जाए, पत्ता दुक्खपरंपरा । तम्हा तं एणं बुद्धीहिं, सव्वभावेण
सव्वहा । गीयत्थेहिं भवित्ताणं, कायव्वं निकलुसं मणं ”
(महा० ६ अ०) “शास्त्रादिवीजयुतोपाश्रये न सेयमिति निषेध्य
द्वितीयपदे ‘विश्यपयकारणमि पुर्वि वसभा पमज्ज जत-
णाए ’ इत्याद्युक्त्वा, “अगीयत्थस्स न कप्प-इ ति विहं ज-
यणं तु सो न जाणाइ । अणुत्तवणाए जयणाए, जयणं सप-
क्खपरपक्खजयणं च ” (वृ० २ उ०) इत्यगीतार्थस्य त्रिविध-
यतनाज्ञानप्रदर्शनं ‘वसइ’ शब्दे । अगीतार्थेन साकं
न विहरेत् । “ गीयत्थो य विहारो, वीओ गीयत्थाणि-
स्सिओ होइ ” इत्यनेन ‘विहार’ शब्दे दर्शयिष्यमाणे-
न निषेत्स्यमानत्वात्)

अणहीयपरमत्था वि, गोयमा ! संजए भवे ।

तम्हा ते वि विवज्जिजा, दुग्गईपंधदायगे ॥ ४३ ॥

हे गौतम ! ये संयता अपि संयमवन्तोऽपि (अणहीयपरम-
त्थे चित्ति) अनधीता अनन्यस्ताः परमार्था आगमरहस्यानि यैस्ते
अनधीतपरमार्थाः, अगीतार्था इत्यर्थः । ते यस्मात् अज्ञातद्वय-
क्षेत्रकालजावौचित्या नवन्तीति शेषः । तस्मान्नानगीतार्थान् वि-
चर्जयेत् । विहारे एकत्र निवासे वा दूरतस्सजेत् । अपिशब्दोऽ-
त्र भिन्नक्रमः, स च यथास्थानं योजित एव । किंभूतान् दुर्गतिप-
थदायकान् तिर्यग्राटककुमानुपकुदेवरूपदुर्गतिमार्गप्रापकानित्य-
र्थः । ग० २ अधि० । अगीतार्थेन सह सङ्गो न करणीयः । “अगी-
यत्थस्स कुसीहोहिं, संगं तिविहेण वज्जई । मोक्खमग्गंसिमे
विधे, पहम्मी तेणगे जहा ॥ एज्जवियं हुयवहं दट्ठं, एणिसंको
तत्थ पविसिओ । अत्ताणं पि रहिज्जासि, नो कुसीहं समज्जि-
ए ॥ वासलक्खं पि सुलीए, संभिओ अत्थियासुहं । अगीय-
त्थेण समं एक्कं, खणकं पि न से वसे ॥ विणा वि तंतमंतोहिं,
घोरदिट्ठिविसं अहिं । रुसंतं पि समल्लीया, णागीयत्थं कुसील-
गं ॥ विसं खाएज्ज हालाहलं तं । किर मारेइ भक्खणं ।
ए करे गीयत्थसंसणिं, विहवे लक्खं जइ तहिं ॥ सीहिं वग्घं
पिसायं व, घोररूपं भयंकरं । ओगिहमावं पि ह्रीएज्जा, ण कुसी-
लमगं गीयत्थे । सत्तज्जमंतरं सत्तुं, अवमज्जिजा सहोयरं ।
वयनियमं जो विराहेज्जा, जणयं पि क्खेतयं तिओ ॥ महा० ।
६ अ० । अगीतार्थस्य स्वातन्त्र्येण विहारेऽनन्तसंसारितैकान्ति-
क्यनाथा चेति प्रश्नः १४ । अत्रोत्तरम्-अगीतार्थस्य स्वातन्त्र्यवि-
हारेऽनन्तसंसारिता प्रायिकीति ज्ञायते, कर्मपरिणतवैचित्र्यादि-
ति । सेन० १ उद्धा० ।

अगुण-अगुण-पुं० दोषे, न० । गुणविरोधिनि दोषे, गुणरहिते,
त्रि० । वाच० ।

अगुणगुण-अगुणगुण-पुं० अगुणे एव कस्याचिद् गुणत्वेन वि-
परिणममाणे, स वक्रविषयः यथा गौर्गविरसज्जातकिणस्कन्धो
गोगणस्य मध्ये सुखेनैवास्ति ! तथा च “ गुणानामेव दौर्जन्या-
द्दुरि धुर्यो नियुज्यते । असंजातकिणस्कन्धः, सुखं जीवति गौर्ग-
विरः ” ॥१॥ आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अगुणत्त-अगुणत्व-न० अविद्यमानगुणोऽगुणस्तद्भावस्तत्त्वम् ।
गुणाभावे, “ अज्जयणगुणी भिक्खु, न सेस इह णो पइअ को
हेऊ । अगुणत्ता इह हेऊ, को दिठ्ठो सुवणमिव ” दश० १० अ० ।
अगुणपेहि (ए)-अगुणप्रेक्षिन्-त्रि० अगुणान् प्रेक्षते तच्छी-
लश्च यः । अगुणदर्शनशीले, दश० ५ अ० ।

कलनं कालः तस्स अगं कालगं, सव्वद्धा, कहं ? समयो आवय्थिया लवो मुहुत्तो पहरो दिवसो अहोरत्तं पक्खो मासो उऊ अयणं संवच्चरो जुगपव्विओवमं सागरोवमं ओसप्पिणी चस्सप्पिणी पुगलपरियदां तीतच्चमणागतद्धा सव्वक्का एवं सव्वे सि अगं भवति । गृहत्वात् कालगं गयं ॥ ४ ॥ इदाणि कमगं-कमो परिवाडी, परिवादीए अगं कमगं, तं चउव्विहं देवक-मगं आदिसद्दातो खेत्तकमगं कालकमगं जावकमगं चेति । पच्छुद्धेण जहासंखेण उदाहरणा-खंध इति दव्वगं । ओगाह इति विसगं । तिनीसु य च्ति कालगं । भावेसु य च्ति जावगं । एतंसि चउएह वि अंतिमा जे ते अगं भवति । उदाहरणं जहा-दुपपत्तिओ चउपंचउत्तट्टणवदसपत्तिओ असंखे, एवं जाव णंताणंतपपत्तितो खंधो । ततो परं अओ गृहत्तरो न जघति सो खंधो दव्वगं । एवं एगपप्सोणा-दादि जाव असंखेयपदेसावगादो सुहुमखंधो सव्वलोगे ततो परं अणो उक्कोसावगादणंतरो न जवति । स एव खेत्तगं । एवं एगसमयचित्तिं दव्वं दुसमयचित्तिं जाव असंखेज्ज-समयचित्तिं जं नो परं अणं उक्कोसतरट्ठित्तुत्तं ण जघति तं कालगं । चसद्दो जातिभेयमवेक्ख उदाहरणं, जहा-पुढावि-काइयस्स अंतो मुहुत्तादारब्ध जाव वासीवरिससहस्सत्ति-ओ कालजुत्तो भवति, एवं सेसेसु वि गेयं । चित्तं सु परमा-

एषु एगसमयादारम्भ जाव असंखकालद्विती जाता । परमाणु द्वितीतो परं अष्टे परमाणु उक्कोसतरठितीओ ण भवति, तं परमाणु जानीत कावगं । एवं जीवाजीवेसु उवउजं येयं, एवं च-सहो अवक्खेति, भावगं एगगुणकालगत्ति जाव अणंतगुणकालगत्ति भावजुतं तं भावगं जवति । ततो परं अष्टो उक्कोस-सतरो ण जवति, एतं भावगं । गतं कमगं ॥ ५ ॥ इदाणि गण-णगं-एगादी जाव सीसपहेलिया ततो परं गणणा ण पयट्ठति तेण गणणा ते सीसपहेलिया अगं । गतं गणणगं ॥ ६ ॥

संचय-भावगा, दो वि जसति—

तणसंचयमादीणं, जं उवरि पहाण खाइगो जावो ।

जीवादिउक्कए पुण, बहुयगं पज्जवा होंति ॥ ५५ ॥

तणाणि दब्बादीणि तेसि चउपिनेत्यर्थः । तस्स वयस्स उ-वरि जा पूली तं तणगं भसति, आदिसद्दातो कट्टपडालाती दट्ठवो । गयं संचणगं ॥ ७ ॥ इदाणि जावगं मूलदारगाहाप भणियं ॥ ८ ॥ (अगं भावो तु त्ति) तं एवं वत्तव्वं भावो अ-गं । किमुक्तं भवति-भाव एव अगं जावगं बन्धानुलोम्यात् । (अगं जावो उ) तं भावगं दुविहं-आगमओ णो आगमओ य । आगमओ जाणए उवउत्ते, णो आगमओ । इमं ति विहं-पहाणभा-वगं बहुयजावगं उवचारजावगं, एवं ति विहं । तुशब्दोऽर्थज्ञाप-नार्थः । ज्ञापयति-जहा एतेण तिविहभावगणे सहितो दश-विहगणिकखेवो जवति, तत्थ पहाणभावगं उदइयादीण जा-वाण समीवओ पहाणे खातिगो भावो पहाणो त्ति गयं । इदा-णि बहुयगं भसति—

जीवा पोगलसमया, दव्वपदेसा य पज्जवा चेव ।

थोवा खंताणंता, विसेसमहिया दुवे खंता ॥ ५६ ॥

जीवो आदी जस्स उक्कगस्स तं जीवाइल्लगं, नं चिमं पोगलजा जीवा समयादव्वा पदेसा पज्जया चेति । पयंमि उक्कोगे सव्वत्थो वा जीवा जीवेहिंतो पोगला अणंतगुणा पोगल्लेहिंतो स-मया अनंतगुणा समएहिंतो दव्वा विसेसाहिता दव्वेहिंतो पदेसा अणंतगुणा । जहासखेण तेण भसति-बहुयगं पज्जवा होंति बहु-त्तेण अगं बहुयगं बहुत्वेनाग्रं पर्याया भवन्तीति वाक्यशेषः । पुण-सहो बहुत्तावधारणत्थो दट्ठवो । गतं बहुयगं । इयाणि उवचा-रगं-उवचरणं उवचारो नामग्रहणम्, अधिगममित्यर्थः । स च जीवाजीवभावेषु संभवति । जीवाजीवेषु औदायिकादिषु अजी-वभावेषु वर्णादिषु । तत्थ जीवाजीवजावाणं पिट्ठिमो जो घेप्प-इ सो उवचारगं भावगं जवति । इह तु जीवसुत्तभावोवचा-रगं दुविहं-सगलसुत्तभावोवचारगं देससुत्तभावोवचारगं च । तत्थ सगलसुयजावोवचारगं दिठ्ठिवातो दिट्ठियातचूत्ता वा देससुत्तभावोवचारगं पडुच्च भसति । तं चिमं चैव पक-प्पज्जयणं । कहं ? जओ भसति—

पंचएह वि अग्गा एं, उवयारेणिदं पंचमं अगं ।

जं उवचरित्तु ताइं, तस्सुवयारो ए इहरा तु ॥ ५७ ॥

(पंचएह वि इति) पंच संखा (अग्गाणं ति) आयरगाणं ते य पंच चूत्ताओ । अविसेहो पंचगावहारणत्थे भरणति । ण-गारो देसिवयणेण पायपूरणे । जहा-समणे णं रुक्खा णं गुच्छा णं ति । उपचरणं उपचारः, तेण उवचारेण करणभूतेण (इदमिति) अयमाचारप्रकल्पः । (पंचमं अगं ति) पंचमं अगं उपचारेण अगं न भवति । एवं वितियत्तियचउरगा वि भवन्ति । पं-

चमचूलगं उवयारगं अगं जवति, तेण जसति पंचमं अगं । शिष्य आह-कथम् ? आचार्य आह—(जमिति) जं यस्मात् कार-णात् (उवचरित्तु त्ति) उवचरित्तु गृहीत्वा (ताइं ति) चउरो अग्गाइं (तस्से ति) आचारप्रकल्पस्य उपचारो ग्रहणं । ण इति प्रतिपेधे (इहरा तु) तेष्वगृहीतेषु सीसो पुच्छति-एत्थ दस-विहवक्खाणे कयमेण अग्गेणाहिकारो भसति ? ।

उपचारेण तु पगतं, उवचरित्तुतीतगमितमेगट्ठा ।

उवचारमेत्तमेयं, केसिंचि ए तं कमो जम्हा ॥ ५८ ॥

उवचारो वक्खातो । पगतं अहिगारः, प्रयोजनेनेत्यर्थः । तुश-ब्दो अवधारणे पादपूरणे वा, उवयारसहसंपञ्चयत्थं एगठिया भसति । उवचारो त्ति वा अहितंति वा आगमियं ति वा गृहीतं ति वा एगठं (उवचारमेत्तमेयं ति) जमेयं पंचमं अगं अगत्ते-णोवचरिज्जत्ति, एतं उपचारमात्रं । उवचारमेत्तं नाम कल्पनामा-त्रं । कहं ? जेण पढमचूत्ताए वि अगसहो पवत्तइ, एवं वितियच-उसु वि अगसहो पवत्त त्ति, तम्हा सव्वाणि अग्गाणि । सव्वगा-पसंगे य एगगा कप्पणा जा सा उपचारमात्रं जवति । केपांचि-दाचार्याणामेवमाद्यगुरुप्रणीतार्थानुसारी गुरुराह—(ण तं क-मो जम्हा इति) ण त्ति पकिसेहे (तं ति) केइ मयक-प्पणा ण धरुतीति वक्कसेसं । कमो त्ति नाम परिवारी, अनुक-म इत्यर्थः (जम्हे त्ति) चउसु वि चूत्तासाहितासु परीइय पंचमी चूत्ता दिज्जति, तम्हा कमेवचारा पंचमी चूत्ता अगं भवति । उव-चारेण अग्गाण वि अगं वक्कसेसं दट्ठव्वमिति । गतं मूलगादारं ॥ ६॥ १० ॥ नि० चू० १ उ० ।

अगं च मूलं च विगिंच धीरे ।

अग्रं भवोपप्राहिकर्मचतुष्टयम् । मूत्रं घातिकर्मचतुष्टयं, यदि वा मोहनीयं मूलम् । शेषाणि त्वग्रं, यदि वा मिथ्यात्वं मूलं, शेषं त्व-ग्रम् । तदेवं सर्वमग्रं मूलं च (विगिंच इति) त्यजापनय पृथक् । तदनेनेदमुक्तं जवति-न कर्मणः पौद्गलिकस्यात्यन्तिककृत्योऽपि-त्वात्मनः पृथक्करणम्, कथं मोहनीयस्य मिथ्यात्वस्य च मूलत्व-मिति चेत्तद्वशाच्छेषप्रकृतिबन्धः । यत् उक्तम्— “ न मोहयति वृत्त्यबन्ध उदितस्त्वया कर्मणां, न चैकाविधबन्धनं प्रकृतियन्ध-तो यो महान् । अनादिजवहंतुरेप न च वयते नासकृत्, त्वयाऽ-तिकुटिह्य गतिः कुशलकर्मणां दक्षिणतः ” ॥ १॥ तथा चागमः—“ कहं जंते ! जीवा अट्ठकम्मपगडीओ वंधंति ? गोयमा ! णाणावर-णिजस्स कम्मस्स उदएणं दरिसणावरणिजं कम्मं नियच्छइ । दरिसणावरणिजकम्मस्स उदएणं दंसणमोहणिजं कम्मं निय-च्छइ । दंसणमोहणिजस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं नियच्छइ । मिच्छत्तेणं उदिणेणं एवं खलु जीवे अट्ठकम्मपगमीओ वंधइ ” कृत्योऽपि मोहनीयकृत्याविनाभावी । उक्तञ्च—“ नायगस्मि हए सत्ते, जहा सेणा विणस्सति । एवं कम्मा विणस्सन्ति, मोह-णिज्जे खयं गए ” ॥ १॥ इत्यादि । अथवा, मूत्रमसंयमः कर्म वा, अग्रं संयमतपसी मोहो वा, ते मूलाग्रे धीरोऽक्कोज्यो धीविरा-जितो वा विवेकेन दुःखसुखकारणतयाऽवधारय । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । परिमाणे, नं० । विशेष० । सु० प्र० । स्था० । “ अगं ति वा परिमाणं ति वा एगठा ” । आ० चू० १ अ० । उक्त० । “ अन्ते जेणेव देसगे तेणेव उवागए । देसगं देशान्तम् । ज्ञा० १५ अ० । उत्कर्षे, समूहे, प्रधाने, अधिके, प्रथमे च । त्रि० ऋषिभेदे, पुं० । वाच० ।

अग्ग-प्रि० अये जवनमयम् । प्रधाने, अन्न० ७ वर्ग० । पे० ।
नि चू० ३० । ज० । सु० । अत्यन्तानुष्ठे च । सु० १० २
अ० ३ उ० । ज० । अग्ने जाते यः । जेहे आनरि, वि० वाच० ।
अग्गओ-अग्रन्तम्-अ० २० । अये जवनमयम् । अग्र-नन्ति । प्राहुने
“अतो नो विस्मयम्” । ॥ २१ ॥ ३३ । इति स्त्रेण जनाः स्था-
ने नो अग्रन्तः । उ० २० । प्रा० । पूर्वमुत्तः । पूर्वभागावधिके
॥ वाच० ।

अग्गत्र-अग्रन्त्र-पुं० निर्गन्त्रे, साचा० १ शु० २ अ० ३ उ० ।

अग्गकेम-अग्रकेम-पुं० अग्रभूतेषु केशेषु, म० ११ अ० ३३ उ० ।

अग्गवस्वो-देशी-अनुग-दे० ना० १ वर्ग० ।

अग्गजाय-अग्रजात-न० । यत्तत्तनीनामप्रभागे जाते, “अ-
ग्गजायाणि मृजजायाणि वा खंधजायाणि वा” आचा० २
शु० १ अ० ३ उ० ।

अग्गजिभा-अग्रजिभा-स्त्री० अग्रजुता जिभा अग्रजिता । जिभात्रे,
“नज्जे च वज्जजिभाए, वरेण रिमहे सरं” (सज्जमित्थादि) च-
काण्ठेऽप्यवधारणे । पृज्जमेव प्रथमस्वरत्नकृष्णं श्रूयत् । फयेत्या-
ह-अग्रजुता जिभा अग्रजिता । जिभाप्रमित्यर्थस्तथा । इति यद्यपि
पृज्जमेव नान्यन्तराण्यपि काण्ठादीनि व्याप्रियन्ते, अग्रजिता
च न्यगन्तरेषु व्याप्रियन्ते, तथापि सा तत्र बहुव्यापारवतीति
श्रुत्या तथा तमेव श्रूयादित्युक्तम् । उद्मत्र हृदयम्-पृज्जस्वरेऽग्रे
जिभां प्राप्य विशिष्टां व्यक्तीमात्मादयति तदपेक्षया सा स्वर-
स्थानमुच्यते । एवमन्यत्रापि भावना कार्या । अनु० ।

अग्गनावमग-अग्रनापनक-पुं० । अग्रपिण्डे, यद्गोत्रे धनिष्ठान-
ज्ञानम् । “अणिष्ठानक्यस्ते किं गोत्रे पणस्ते ? । अग्गतायसगोत्रे
पण्णे” । सु० प्र० १० पाहु० । च० । ज० ।

अग्गदारणिज्जामग-अग्रदारनिर्ग्यामक-पुं० अग्रद्वारमूलाय-
स्थापकः । श्रान्तप्रतिचारिणि च । प्रव० ७२ हा० ।

अग्गद्ध-अग्रार्थ-न० । एवाँ, नि० चू० १ उ० ।

अग्गपल्लव-अग्रपल्लव-पुं० न० । प्रवृत्त्यानामप्रभागे, इमे अ-
ग्गपल्लवा-“तल्लणावपरिलओप, कविट्ठं अंवाड अंवर चेव ।
एयं अग्गपल्लवं, ऐयव्वं आणुपुल्लि” ॥ १४ ॥ जणपदसिद्धा
पते । (आणुपुल्लि त्ति) एसे च तल्लादिगा । नि० चू० १५ उ० ।

अग्गवीय-अग्रवीज-पुं० अये बीजं येषामुत्पद्यते ते तथा । तल-
ताक्षीसहकारादिषु शाल्यादिषु च अग्रचाण्येवोत्पत्तौ कारणतां
प्रतिपद्यन्ते येषां कोरण्टकादीनां ते अग्रवीजाः । कोरण्टकादिषु
बीजप्रकारेषु वनस्पतिषु, सू० २ सू० ६ अ० । स्था० विशेष० ।
आ० म० द्वि० । अग्गवीया १ मूलवीया २ पौरवीया ३ खंधवीया
४ इत्यादयो वनस्पतिभेदाः । आचा० १ शु० १ अ० ५ उ० ।

अग्गपिण्ड-अग्र (अग्र) पिण्ड-पुं० तत्क्षणोत्पीर्णदनादिस्था-
ल्या अव्यापारितायाः शिखायाम्, (उपरितने भागे) प्रव० २
हा० । शाल्यादनादेः प्रथममुद्धृत्य भिक्षार्थं व्यवस्थाप्यमाने
पिण्डे, आचा० २ शु० १ अ० १ उ० ।

से भिक्खू वा २ जाव पविडे समणे से जं पुण जा-

एज्जा, अग्गपिण्डं उक्त्विस्वप्माणं पेहाए, अग्गपिणं णि-
क्त्विस्वप्माणं पेहाए, अग्गपिणं हीरमाणं पेहाए, अग्गपिणं
परिजाडजमाणं पेहाए, अग्गपिणं परिजुजमाणं पेहाए, अ-
ग्गपिणं परिद्वेजमाणं पेहाए, पुरा असिणाइ वा अवहा-
राति वा पुरा जत्यणे समणमाहणअतिहिक्वणवणिमगा
खच्छं २ उवसंकमंति, से हंता अहमपि खच्छं उवसंक-
मामि, माइट्ठाणं सफामे णो एवं करेज्जा ।

(संभिक्षूत्तेत्यादि) स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यत्पुन-
न्वं जानीयात् । तथा-अग्रपिण्डो निष्पन्नस्य शाल्यादनादेरा-
हारस्य देवतायर्थं स्तोकस्तोकाद्वारस्तमुत्क्षिप्यमाणं दृष्ट्वा तथाऽ
न्यत्र निक्षिप्यमाणं तथा िद्व्यमाणं नीयमानं देवतायतनादौ तथा
परिजड्यमानं विभज्यमानं स्तोकस्तोकमन्येच्यो दीयमानं तथा
परिजुज्यमानं तथा त्यज्यमानं देवतायतनाद्युत्तिष्ठु क्षिप्यमाणं
तथा (पुरा असिणाइ वंति) पुरा पूर्वमन्ये श्रमणादयो येषु अ-
ग्रपिण्डमशितवन्तस्तथा पूर्वमपहतवन्तो व्यवस्थाऽव्यवस्थाया
वा गृहीतवन्तः । तदभिप्रायेण पुनरपि पूर्वमिव वयमत्र हृत्पत्या-
मह इति । यत्राग्रपिण्डादौ श्रमणादयः (खच्छं खच्छं ति) स्वरित-
मुपक्रामन्ति स भिक्षुरेतदपेक्षया कश्चिद्व्यं कुर्यादालोचयेद्यथा-
हंतेति वाक्योपन्यासायः । अहमपि स्वरितमुपसंक्रमामि । एवं
च कुर्यान् भिक्षुर्मातृस्थानं संस्पृशेदित्यतो नयं कुर्यादिति ।
आचा० २ शु० १ अ० ५ उ० । काकपिण्डायाम् “अग्गपिण्डस्मि
वा चायसा संयमा सण्णिवया” अग्रपिण्डे काकपिण्डस्या वा
वह्निर्भिक्षुमायां चायसाः सन्निपातिता नवेयुः । आचा० २ शु० १
अ० ५ उ० ।

जे भिक्खू णितियं अग्गपिणं भुंजइ, जुंजंतं वा साइज्जइ ३ ? ।

णितियं भुवं सासतमित्यर्थः । अग्रं चरं प्रधानं ब्रह्म जं प-
दमं दिज्जति सो पुण जत्तट्ठो भिक्खामेत्तं वा होज्जा । एस सु-
त्तथा । अधुना नियुक्तिविस्तरः—

णितिए तु अग्गपिण्डे, णिमंतणो वीलना य परिमाणे ।

साजाविण्णि गिही दो, तिण्णि य कप्पंति तु कमेण । २१ ३ ।

णिनियमा मुक्ते वस्तुताया । गिहत्यो णिमंतंति, साहू उ वील-
णं करेति, साहू चैव परिमाणं करेति, साभावियं गिहत्यो
दो तिणि आह्वान कप्पंति, साजावियं कप्पति । णिमंतणो
वीलणपरिमाणानं । इमाओ तिणि वक्खणगाहातो—

जगवं । अणुगगहं ता, करंदि मज्जंति जणति आमंति ।

किं दाहिसि जेणिट्ठो, गयस्स तं दाहिसि ण वत्ति । २१ ४ ।

दाहामि ति य जणिते, तं केवतियं व केचिरं वा वि ? ।

दाहिसि तुमं ण दाहिसि, दिण्णेऽदिस्से व किं तेण ? । २१ ५ ।

जावतिण्णिट्ठो ते, जच्चिरकालं च रोयए तुग्भा ।

तं तावतियं तच्चिर, दाहामि अहं अपरिहोणं ॥ २१ ६ ॥

गिही णिमंतंति-भगवं ! अणुगगहं करेह मज्ज, घरे जत्तं गेहह-
ह । साहू भणति-करेम अणुगगहं, किं दाहिसि ? । गिही जणति-
जेण जेहट्ठो । साहू उ वीलणं करेति, माहणो जणति-घरं गयस्स
तं दाहिसि वा ण वा ? । गिहिणो दाहामि ति य जणिते, साहू प-
रिमाणं कारवैतो भणति-तं परिमाणओ केवतियं केव चिरं वा
कालं दाहिसि ? । प्रथमपादोत्तरं साहू आह-दाहिसि तुमं

ण दाहिसि । दत्तमपि नत् अदत्तवद् दृष्टव्यम्, स्वल्पत्वा-
द् । गृहस्थो द्वितीयपादोत्तरमाह-जावतिपण भत्तेण इट्ठो
ने जावतियं वा कालं तुम्भिट्ठो, गिही पुणो जणति-किं बहुणा
भणिपण, जं तुम्भं रोयते दव्वं जावनियं जत्तियं वा कालं, तमहं
अपरिहीणं अपरिसंतो दाहामि स्ति । णिमंतणो पीलणपरि-
माणेसु वि मासलहुं पच्छित्तं । चोदग आह—

साभावित्तं च उचियं, चोदगपुच्छाण पेच्छिमो को वि ।

दोसो चतुर्विधम्मि, णितियम्मि य अग्गपिंडम्मि ॥१७॥

साभावि णितिय कप्पति, अणिमंतणा वीद्व अपरिमाणे य ।

जं वा वि य समुदाणी, संजिक्खं दिज्ज साधूणं ॥१८॥

साजावियं जं अप्पणो इच्छारुं उचियं दिणे दिणे जतियं
रुद्धं तं चोक्खो भणति । परिसेसा भाविप णिमंतणापीलणा-
दिहिं भिक्खामेति एमवि अकप्पाअण्णहा साधूण कप्पासाभा-
वियञ्चिप वि णिमंतणादिपहिं इमे दासा-

निप्पसे वि सअट्ठा, उग्गमदोसा उ उचितगादीया ।

उप्पं जंवे जम्हा, तम्हा सा य वज्जणिज्जा उ ॥२१॥

अप्पणट्ठा वि निप्पसे उग्गमादिदोसा जवन्ति । निकाचितो-
हमिति अवश्यं दातव्यम् । कुंरगादिषु स्थापयति तस्मान्निमं-
तणादिपिण्णो वर्ज्यः ।

उक्कोसण अहिसक्कण, अज्झोयरए तहेव ऐकंती ।

असत्थ भोयणम्मि य, कीते पामिच्च कम्मे य ॥ २२० ॥

अवस्सदायव्वे अतिप्पए साहुणो आगच्छंति उवियपुव्वस्स
उसक्कणं करेज्जा, उस्सुरे आगच्छंति अतिहिसक्कणं करेज्ज, अज्झो-
यरयं वा करेज्ज । णिकातिओ स्ति काउं जतिते अण्णत्थ णि-
मंतिया तहा वि तदट्ठाए कियेज्ज वा पामिच्चेल्ल वा आहाकम्मं
वा करेज्ज । कारणे पुण णिकायणा पिंरं गेएहेज्ज । इमे कारणा—

अतिवे ओमोयरिए, रायहुट्ठे भए व गेलएणे ।

अच्चाणरोहए वा, जयणा गहणंतु गीतत्थे ॥ २२१ ॥

असिबग्गहितो ण लब्धमिति णिमंतणाइएसु वि गेहेज्ज । अथवा अ-
सिबे कारणट्ठितो असिबग्गहियकुलाणिय परिहरंतो अग्गहियकु-
लेसु अपावंतो णिमंतणो वीद्वणादिसु वि गेहेज्ज, ओमे वि अप्प-
वंतो । एवं रायहुट्ठे जपसु वि अत्थंतो गच्छंतो वा गिद्वानपाउग्गं
या णिमंतणातिणसु गेएहेज्जा । अच्चाणे रोहए वा अप्पुव्वंतो गी-
तत्थो पणगपरिहारणिए जयणाए जाहे मासलहुं पत्ते ताहे णी-
यगा पिंरं गेएहति । नि० चू० १ उ० ।

अग्गपूया—अग्रपूजा—स्त्री० " गंधव्वणट्ठवाइय-द्ववणजव्वारत्ति-
याइ दीवाइ । जं किच्चंतं सव्वं, पि आंअरइ अग्गपूयाए " इत्ये-
वं लक्षणं जिनप्रतिमापुरतः पूजाभेदे, थ० १ अधि० ।

अग्गप्पहारि (ए)—अग्रप्रहारिन्—पुं० । पुरः प्रहरणशीले,
" चोरपहिं गतो तत्थ अग्गप्पहारि णिसंसो य चोरसेणावति-
मतो " आच० १ अ० । आ० म० टि० ।

अग्गमहिंसी—अग्रमहिषी—स्त्री० अग्रचूता प्रधाना महिषी, रा-
जजार्यायाम्, स्था० ४ वा० २ उ० । प्रधानजार्यायाम्, उपा० २
अ० । पट्टराइयाम्, जी० ३ प्रति० । स्था० । अथ देवेन्द्राणा-
मग्रमहिष्यः प्रदर्शयन्ते—

तत्र ब्रुवनपतीन्द्राणामग्रमहिष्यः—

चमरस्स णं भंत ! असुरिंदस्स असुरकुमाररणो कइ
अग्गमहिंसीओ पएणत्ताओ ? । अज्जो ! पंच अग्गम-
हिंसीओ पएणत्ताओ, तं जहा—काली रायी रयणी विज्जु
मेहा । तत्थ णं एग्गेगाए देवीए अट्ठदेवीसहस्सपरिवारो
पएणत्तो, पभू णं ताओ एग्गेगाए देवीए अएणाइं अट्ठ-
देवीमहस्साइं परिवारं विज्जवित्तए, एवामेव सपुव्वा-
वरेणं चचालीसं देवीसहस्सा सेत्तं तुमिए । पचू णं भंते !
चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया चमरचंचाए रायहाणीए
सजाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि तुमिएणं सच्छि दि-
व्वाइं जोगजोगाइं जुंजमाणे विहरित्तए ? । णो इण्ठे
समट्ठे, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, णो पचू ! चमरे असु-
रिंदे असुरराया चमरचंचाए रायहाणीए जाव विहरि-
त्तए । अज्जो ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररणो च-
मरचंचाए रायहाणीए सजाए सुहम्माए माणवए चेइए
खंने वइरामएसु गोलवट्ठसमुग्गएसु वहुओ जिणसक-
हाओ सखिखित्ताओ चिट्ठंति, जाओ णं चमरस्स अ-
सुरिंदस्स असुरकुमाररणो अणेसिं च वहुणं असुरकुमा-
राणं देवाण यदेवीण य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ णमंस-
णिज्जाओ पूयाणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ
कट्ठाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासणिज्जाओ जवन्ति ।
तेसिं पाणिहाणे णो पचू ! सेतेणट्ठेणं अज्जो ! एवं वुच्चइ—
णो पचू चमरे असुरिंदे असुरराया चमरचंचाए रायहाणीए
जाव विहरित्तए पचू णं ! अज्जो ! चमरे असुरिंदे असुरराया
चमरचंचाए रायहाणीए सजाए सुहम्माए चमरंसि सीहा-
सणंसि चउसट्ठी सामाणियसाहस्सीहिं तायत्तीसाए जाव अ-
सिहिं च वहुहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य सद्धि संपरि-
वुनं महयाहय जाव जुंजमाणे विहरित्तए केवलं परियारि-
ट्ठीए णो चेव णं मेहुणवत्तियं ॥ भ० १० श० ५ उ० ॥

आसां पूर्वजवः—

तेणं काले णं तेणं समए णं रायगिहे णामं नयरी होत्था ।
वस्सओ तस्स-णं रायगिहस्स नगरस्स बहिआ उत्तरपुर-
च्छिमे दिसिज्जागे तत्थ णं गुणसिले चेइए नामं चेइए
होत्था । वस्सओ—तेणं कावेणं तेणं समएणं समणस्स भग-
वओ महावीरस्स अंतैवासी अज्जसुहम्मे नामं थेरा भग-
वंतो जाइसंपन्ना कुलसंपन्ना जाव चउइसपुव्वी चउन्नाणो-
वगया पंचहिं अण्णगरसएहिं सच्छि संपरिवुन्ना पुव्वाण-
पुव्वि चरमाणा गामाणुणामं दूइज्जमाणा सुहं सुहेणं जेणे-
व रायगिहे नयरे गुणसिलए चेइए जाव संजमेणं तवसा
अप्पाणं जावेमाणे विहरति । परिसा निग्गया । धम्मो क-
हिओ, परिसा जामेव दिसं पाउव्वूया तामेव दिसिं पणि-

गया । तेणं काले एं तेणं समए एं अज्जमुहम्मस्स अणगा-
रस्स अंतदासी अज्जजंद् नामं अणगारे जाव पज्जुवास-
माणे एवं वयासी-जइ एं जंते ! समणे एं जाव संपत्ते एं
उट्ठस्स अंगस्स पढमस्स सुयक्खन्धस्स नायज्जयणस्स
अयमहे पसत्ते, दोवस्स एं जंते ! सुयक्खन्धस्स धम्म-
कहाणं समणे एं जाव संपत्ते एं के अट्ठे पसत्ते, एवं
जइ जंद् ! धम्मकहा एं दसवग्गापणत्ता । तं जहा-चरम-
म्म अग्गमहिंसीणं पढमवग्गे ॥ १ ॥ वल्लियस्स वडो-
यसिदस्स वडोयरन्नो अग्गमहिंसीणं वीए वग्गे ॥ २ ॥
अमुरिदवज्जियाणं दाहिणिद्व्याणं इंदाणं तइए वग्गे ॥ ३ ॥
उत्तरिद्व्याणं अमुरिदवज्जियाणं जवणवासिइंदाणं अग्गम-
हिंसीणं चउत्थे वग्गे ॥ ४ ॥ दाहिणिद्व्याणं वाणमंतराणं
इंदाणं अग्गमहिंसीणं पंचमे वग्गे ॥ ५ ॥ उत्तरिद्व्याणं वा-
पमंतराणं इंदाणं अग्गमहिंसीणं उट्ठे वग्गे ॥ ६ ॥ चंद-
स्स अग्गमहिंसीणं सत्थमे वग्गे ॥ ७ ॥ सूरस्स अग्गमहिं-
सीणं अट्ठमे वग्गे ॥ ८ ॥ तक्कस्स अग्गमहिंसीणं नवमे
वग्गे ॥ ९ ॥ ईसाणस्स अग्गमहिंसीणं दसमे वग्गे ॥ १० ॥
जइ एं भंते ! समणे एं जाव संपत्ते णं धम्मकहा एं दसवग्गा
पद्धता । पढमस्स णं जंते ! वग्गस्स समणे एं जाव संपत्ते एं
के अट्ठे पणत्ते ! एवं खलु जंद् ! समणे णं जाव संपत्ते एं प-
ढमस्स वग्गस्स पंच अज्जभयणा पन्नत्ता । तं जहा-काढी १
राइ २ रयणी ३ विज्जा ४ महा विज्जा ५ । जइ णं भंते !
समणे एं जाव संपत्ते एं पढमस्स वग्गस्स पंच अज्जभयणा
पन्नत्ता । पढमस्स एं जंते ! अज्जयणं समणे एं जाव संपत्ते एं
के अट्ठे पन्नत्ते ! एवं खलु जंद् ! तेणं काढे एं तेणं समए एं
रायगिहे नगरे गुणसिले चैइए, सेणिए राया, चिल्लणाए दे-
वीए, सामी समोसरिए, परिसा निग्गया । जाव परिसा पज्जु-
वासति तेणं काढे एं तेणं समए एं काढी देवी
चमरचंचाए रायहाणीए काढवांसिगजवणे कालांसि सी-
हासणांसि चउहिं सामाणियसाहसीहिं चउहिं मयहरिया-
हिं सपरिवाराहिं तिहिं परिसाहिं सत्ताहिं आणिएहिं सत्त-
हिं अणीयाहिवतीहिं सोलसाहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं
अन्नेहिं य बहुएहिं कालवांसिभयणवासीहिं अमुरकुमारे-
हिं देवेहिं य देवीहिं य सद्धिं संपरिवुत्ता महयाहय जाववि-
हरइ, इमं च णं केवल्लकपं जंवूदीवे दीवे एं विउले एं ओ-
हिणा आभोएमाणी पासइ । जत्थ समणं जगवं महावीरं
जंवूदीवे दीवे जारहे वासे रायगिहे नगरे गुणसिले चैइए
अहापभिरूवं ओगाहइ, ओगाहइत्ता संजमेणं तवसा अण्णाणं
भावेमाणं पासइ, पासइत्ता हट्ठुट्ठचित्तमाणंदिया पीइमण
जाव हियया सीहासणाओ उब्बुट्ठेइ, उब्बुट्ठेइत्ता पायपीढा-

ओ पचोरुहइ, पचोरुहइत्ता करयल जाव कहु एवं वयासी-
नमोऽत्थु एं अरिहंताणं जाव संपत्ताणं नमोऽत्थु एं समणस्स
भगवओ महावीरस्स जाव संपाविउकामस्स । वंदामि णं
जगवं ! ते तत्थ रायं इह गया तिकहु वंदइ णमंसइ सीहास-
णवरगांसि पुरत्थाजिमुहे सुहनिसन्ने तए एं तीसे कालीए
देवीए इमेया रूवे जाव समुप्पज्जित्था । सेयं खलु समणं भ-
गवं महावीरं वंदित्ता जाव पज्जुवासित्तए तिकहु एवं संप-
पेहइ, संपेहइत्ता आभिओगिअदेवं सदावेइ, सदावेइत्ता एवं
वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया समणे जगवं महावीरे एवं
जहा सूरियाभे तहेव आणतियं देइ जाव दिव्वं सूरवराजि-
रामगमणं जोगं करेइ, करेइत्ता जाव पच्छुप्पिणह ते वि तहे-
व करेत्ता जाव पच्छुप्पिणंति, नवरं, जोयणसहस्सवित्थिन्न
जाणं, सेसं तहेव नाम गोयं साहेइ, तहेव नट्टविहिं उवदंसेइ,
उवदंसेइत्ता जाव पणिगया (जंतेत्ति) भगवं गोयमे ! समणं
जगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, एवं वयासी-कालीए एं जंते !
देवी सा दिव्वा देवहीओ कहिं गया कूढागारसालादिइंतो ?
अहो णं जंते ! काढीदेवी महाहिया कालीए एं भंते ! देवीए सा
दिव्वा देवहीए किष्सा लप्फा किष्सा पन्नत्ता अजिसमन्ना गया-
एवं जहा सूरियाभस्स जाव एवं खलु गोयमा ! तेणं काले एं
तेणं समए एं इहेव जंवूदीवे भारहे वासे आमलकप्पा नामं न-
यरी होत्था । वसओ-अंबसादवणे चैइए जियसत्तुराया । तत्थ
एं आमलकप्पाए नयरीए काले नामं गाहावती होत्था । अहे
जाव अपरिचूए तस्स एं कालस्स गाहावइस्स काढासिरीए
नामं भारिया होत्था सुकुमादा जाव सुरूवा । तस्स एं काढ-
स्स गाहावतिस्स धूया कालसिरीए जारियाए अत्तया का-
ली एामं दारिया होत्था । वट्ठा वट्ठुकुमारी जुष्सा जुष्सुकुमारी
पडियपूयत्थणी निव्विन्नवरा वरगपरिवज्जिया वि होत्था ।
तेणं काले एं तेणं समए एं पासे अरहा पुरिसा दाणिए
आइगरे जहा वप्फमाणसामी, णवरं, एणुस्सेहे सोलस-
हिं समणसाहस्सिहिं अट्ठत्तीसाए अज्जिआसाहस्सिहिं
सप्पिं संपरिवुडे जाव अंबसादवणे समोसहे, परिसा णि-
ग्गया जाव पज्जुवासति । तते एं सा काढी दारिया इमी-
से कहाए लप्फा समाणी हट्ठ तुट्ठ जाव हियया जेणव
अम्मापियरो तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता करयल जाव-
एवं वयासी-एवं खलु अम्मयाओ पासे अरहा पुरिसा-
दाणीए आइगरे जाव विहरइ । तं इच्छामि एं अमया-
ओ तुब्भेहिं अज्जणुआया समाणी पासस्स एं अरहओ
पुरिसादाणीयस्स पायवंदणमिच्चए । अहासुहं देवाणु-
प्पिया मा पणिवंधं करेह । तस्स एं सा काली दारि-
आ अम्मापिहिं अम्भणुआया समाणी हट्ठतुट्ठ जाव
हियया एहाया कयवत्तिकम्मां कयकोउयमंगलपायच्छित्ता

सुच्छप्पावेसातिं मंगत्तातिं वत्थातिं पवरपरिहिया अप्प-
महग्घाभरणाद्वंकियसरीरा चेन्निआ चक्कवालपरिकिन्ना
साओ गिहातो पन्निक्खमइ, पन्निक्खमइत्ता जेणेव
वाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मियजाणपवरं तेणेव
उवागच्छति, उवागच्छिता धम्मियजाणपवरं दुरूहा ।
तए णं सा काली दारिया धम्मियं जाणपवरं एवं जहा
देवाणंदाए जहापज्जुवासइ । तए णं पासे अरहा, पुरिसा-
दाणीए कालीए दारियाए तीसे महइ, महइत्ता महाद्वियाए
परिसाए धम्मकहाए तए णं सा काली दारिया पासस्स
ए अरहओ पुरिसादाणियस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णि-
सम्म हट्ठुत्तु जाव हियया पासस्स ए अरहओ पुरिसा-
दाणीयस्स तिक्खुत्तो वंदइ नमंसइ, एवं वयासी-सद्वहामि
ए जंते ! निग्गंथं पावयणं जाव से जहेयं तुब्भे वयह जं
नवरं देवाणुप्पिया अम्मापियरो आपुच्छामि तएणं अहं
देवाणुप्पियाणं अंतिए जाव पव्वयामि । अहासुहं देवाणुप्पि-
या मा पडिवंधं करेह । तए णं सा कालिदारिया पासेणं अ-
रहा पुरिसादाणीए ए एवं वुत्ता समाणी हट्ठुत्तु जाव हि-
यया पासं अरहं वंदइ नमंसइ, नमंसइत्ता तमेव धम्मियं जा-
णपवरं दुरूहइ, दुरूहइत्ता पासस्स ए अरहो पुरिसादाणीए
अंतियाओ अंवसालवणचेइयाओ पन्निक्खमइ, पडिनि-
क्खमइत्ता जेणेव आमलकप्पा नयरी तेणेव उवागच्छइ,
उवागच्छिता आमलकप्पं नयरिमज्झं मज्जेणं जेणेव वा-
हिरिआ उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छति, उवागच्छि-
त्ता धम्मियं जाणपवरं ठावइ, ठावइत्ता धम्मियाओ जाण-
पवराओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता जेणेव अम्मापियरो तेणे-
व उवागच्छति, उवागच्छिता करयत्तपरिग्गहिअं एवं
वयासी-एवं खलु अम्मयाओ मए पासस्स ए अरहाओ
अंतिए धम्मं निसंते सेविय धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अ-
भिरुइए । तए णं अहं अम्मयाओ संसारभज्ज्विग्गा जी-
या जम्ममरणाणं इच्छामि एं तुब्भेहिं अब्भणुत्ताया समाणी
पासस्स ए अरहओ अंतिए मुंदा जवित्ता आगाराओ अ-
णगारियं पव्वइत्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया मा पन्निबंधं करेह ।
तए एं काळे गाहावई विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं
उवक्खडावेति, उवक्खडावेतित्ता भित्तनातिनियगसयणसंव-
धीपरियणं आमंतेइ । आमंतइत्ता ततो पच्छा एहाए जाव विपु-
द्धेणं पुप्फवत्थगंधमद्वाहंकारेणं सक्कारित्ता संमाणिता तस्सेव
भित्तनातिणियगसयणसंवधिपरियणस्स पुरओ कालीदा-
रियं सेयापीएहिं कल्लसेहिं एहवेइ, एहवेइत्ता सव्वालंकार-
विभूसियं करेइ, करेइत्ता पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं दुरूह-
इ, दुरूहइत्ता भित्तनाति जाव परियणसच्छिं संपरिखुडे स-
व्वट्ठीए जाव रवेणं आमलकप्पानयरिं मज्झं मज्जेणं नि-

गच्छइ, निगच्छइत्ता जेणेव अंवसालवणे चेइए तेणेव उवा-
गच्छति, उवागच्छिता ठावाइए तित्थयराइं पासइ २ सीयं ठ-
वेइ, ठवेइत्ता कालिया दारिया सीयातो पच्चोरुहति, पच्चो-
रुहइत्ता तते एं तं कालीयं दारियं अम्मापियरो पुरओ का-
उं जेणेव पासे अरहा पुरिसादाणीए तेणेव उवागच्छति, उ-
वागच्छिता वंदंति, एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया का-
लियदारिया अमहं भूया इद्धा कंता जाव किमंग! पुण पास-
णयाए एस एं देवाणुप्पिया संसारजिउव्विग्गा इच्छइ देवा-
णुप्पियाणं अंतिए मुंढे जवित्ता, जाव पव्वइत्तए तं एयन्नं
देवाणुप्पियाणं सिसिणिं भिक्खं दल्लयामो पन्निच्छंतु णं
देवाणुप्पिया सिसिणिं भिक्खं । अहासुहं देवाणुप्पिया मा-
पन्निबंधं करेह । तए एं सा काली देवी कुमारी पासं अ-
रिहं वंदइ, वंदइत्ता उत्तरपुराच्छिमं दिसिभागं अवक्कमति,
अवक्कमइत्ता सयमेव आनरणमद्वाहंकारा मुयति, मुयति-
त्ता सयमेव लोयं करेति, जेणेव पासे अरहा पुरिसादाणि-
ए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छिता पासं अरहं तिक्खुत्तो
वंदंति नमंसंति, एवं वयासी-आदि ! तेणं भंते ! द्योए एवं
जहा देवाणंदा जाव सयमेव पव्वाविओ तए णं पासे अरिहा
पुरिसादाणीए काळीए सयमेव पुप्फचूलाए अज्जाए सि-
सिणियत्ताए दल्लयइ । तए एं सा पुप्फचूला अज्जा काळिं
कुमारिं सयमेव पव्वावेइ, जाव उवसंपज्जित्ताणं विहरति,
तते एं सा काळी अज्जया इरिया समिता जाव
गुत्तवंभचारिणी । तए णं सा काली अज्जा पुप्फचूलाए
अज्जाए अंतिए सामाइयमाइयांइ एगारस अंगांइ अहिज्जइ,
अहिज्जइत्ता बहुहिं चउत्थं जाव विहरति । तए एं सा
काली अज्जा अन्नया कयाइं सरीरपासिओसिआ जाया
वि होत्था । अन्निकखणं अभिक्खणं हत्थं धोवइ, पाए धो-
वेइ, सीसं धोवेइ, मुहं धोवेइ, थणंतरा य धोवेइ, कक्खंतरा य
धोवेइ, गुज्झंतरा य धोवेइ, जत्थ जत्थ वियट्ठाणं वा सेज्जं
वा निसीहियं वा चेइइ, तं पुव्वामेव अब्भुक्खित्ता तओ
पच्छा आसइ वा, सयइ वा तएणं सा पुप्फचूला अज्जा का-
ळिं अज्जि एवं वयासी-नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया समणी-
ए निग्गंथीणं सरीरपाउसीयाण होंतए तुमं च एं देवाणु-
प्पिया सरीरपाउसिया जाया वि होत्था । अभिक्खणं
अभिक्खणं हत्था धोवसि, जाव आसयाहि वा सयाहि वा, तं
तुमं देवाणुप्पिआ एयस्स द्वाणस्स आलोएहिं जाव पाय-
च्छित्तं पन्निवज्जाहि । तए एं सा काली अज्जा पुप्फचूला-
अज्जाए एयमठं नो आढाइ जाव तुसिणीया संचिछइ, त
एणं ताओ पुप्फचूलाओ अज्जाओ काळिं अज्जं अभिक्खणं
२ हीद्वेंति, निंदंति, खिसंति, गरहंति, अवमाणांति, अन्निकखणं
२ एयमठं निवारंति, तए एं तीसे कालीए अज्जाए समणीहिं

निगन्धीहि अभिक्खणं २ हीलिज्जमाणीए जाव वि-
हरिज्जमाणीए इमेवान्दे अब्भत्तिए जाव समुप्पज्जित्ता,
जया एं अहं अगारवासमज्जे वसित्ता तथा एं अहं सयं-
वसा, जप्पज्जिनिं च एं अहं मुन्ना भवित्ता अगाराओ
अण्णारियं पव्वइया तप्पज्जिनिं च णं अहं परवसा
जाया । तं सयं खलु मम कद्धं पाठ पजायाए
रयणीए जाव जइते पान्निक्कयं उवसंपज्जित्ता णं वि-
हरित्ताए तिकट्ट एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता कद्धं जाव
जलंते पान्निक्कयं उवस्सयं गेहइ, गेहइत्ता तत्थ णं अणा-
वारिआ अणाहट्ठिआ सच्छंदमती अभिक्खणं २ हत्थे
थेवंइ, जाव आसयइ वा सयइ वा तए एं सा काळी
अज्जा पासत्था पामत्त्वविहारी कुसीळा कुसीलविहारी अ-
हाउंदा अहाउंदविहारी संसत्ता संमत्तविहारी वहुणि वा-
साणि सामन्नपरियाणं पाउणित्ता अप्पमासीयाए डेहणाए
अत्ताणं जसेइ, जमेइत्ता तीमं जत्ताइं अण्णसाणं डेदिता
तस्स ज्ञाणस्स अण्णोइय अपडिक्कंता काळे मासे कालं कि-
ञ्च चमरचंचाए रायहाणीए काळिं वसित्ता भवणे उववाय-
सत्ताए देवसयणिज्जंति देवदूमंतरिआ अंगुलस्स असंखेज्जइ
जागमेत्ताए आगाहणाए काळी देवी देवित्ताए उववत्ताए ।
तए णं सा काळी देवी अवहुणोववत्ता समाणी पंचविहा-
ए पज्जत्तीए जहा सूरियाभे जाव भासामणपज्जत्तीए ।
तए एं सा काली देवी चउण्हं सामाणियसाहस्सीए जाव
अन्नेसिं च वहुणं काळी वसिसगजवणवासीणं असुरकु-
मारणं देवाणं य देवीए य आदेवच्चं जाव विहरइ, एवं
खलु गोयमा ! काळीए देवीए सा दिव्वा देवही लक्खा पन्न-
त्ता अज्जिममणा गया । काळीए एं भंते ! देवीए केवनि-
यं कालं त्रिती पणत्ता ? । गोयमा ! अच्चाइज्जा तिपडिआ-
वमाइं त्रिती पन्नत्ता, काळीए एं भंते ! देवी ताओ देवदो-
गाओ अणंतरं उव्वट्ठित्ता कहिं गच्छहिंति कहिं उववज्जि-
हिंति ? । गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ, एवं
खलु जंबू ! समणे एं जाव संपत्ते णं पढमस्स वग्गस्स पढमज्ज-
यणस्स अयमट्ठे पणत्ते ति वेमि [पढमं अज्जयनं सम्मत्तं] १ ।
जति एं भंते ! समणे एं जाव संपत्ते णं धम्मकहा णं पढमस्स
वग्गस्स पढमज्जयणस्स अयमट्ठे पणत्ते, वित्थिस्स एं भंते !
अज्जयणस्स समणे एं जाव संपत्ते णं कैअठे पणत्ते ? ।
एवं खलु जंबू ! तेणं काळे एं तेणं समए एं रायगिहे नगरे
गुणसिद्धए चेइए सामी समोसडे परिसा निगया जाव पज्जु-
वासइ । तेणं काळे एं तेणं समए एं राई देवी चमरचंचाए रा-
यहाणीए, एवं जहा काली तहेव आगया नट्टविहिं उवदंसेत्ता
जाव पणिगया [भंते त्ति] जगवं गोयमे ! पुव्वजवपुच्छा । एवं

खलु गोयमा ! तेणं काले एं तेणं समए एं आमन्नकप्पा नयरी
अंवसालवणे चेइए जियसत्तू राया, राई गाहावई रायसिरी
भारिया राई दारिया पासस्स समोसरणं राई दारिया जहेव
काळी तहेव णिक्खित्ता तहेव सररीपाउसिया, तं चेव सव्वं
जाव अंतं काहित्ति, एवं खलु जंबू ! वीयज्जयणस्स निक्खेवओ
॥३॥ जति णं भंते ! तइयस्स अज्जयणस्स उक्खेवओ, एवं
खलु जंबू ! रायगिहे नगरे गुणसिद्धे चेइए ० एवं जहेव राई तहेव
रयणी वि, नवरं, आमलकप्पा नयरी, रयणी गाहावती रयण-
सिरी भारिया, रयणी दारिया, सेसं तहेव, जाव अंतं काहित्ति
॥३॥ एवं विज्जू वि, आमन्नकप्पा नयरी, विज्जू गाहावती ।
विज्जुसिरी जारिआ विज्जू दारिया, सेसं तहेव ॥४॥ एवं मे-
हाव । आमन्नकप्पा नयरी मेहा गाहावती मेहसिरी भारिआ
मेहा दारिआ, सेसं तहेव । एवं खलु जंबू ! समणे णं जाव संपत्ते णं
धम्मकहा एं पढमस्स वग्गस्स अयमट्ठे पणत्ते । ज्ञा ० श्रु ० १ वग्ग ।

चमरस्स णं जंते ! असुरिंदस्स असुरकुमाररखो सोमस्स
महारखो कइ अगमहिंसीओ पणत्ताओ ? । अज्जो !
चत्तारि अगमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा- कणया
कणगत्तया चित्तगुत्ता वसुंधरा । तत्थ एं एगमेगाए देवीए
एगमेगं देवीमहस्सं परिवारो पणत्तो । पत्तू ! एं ताओ एगमे-
गा देवी अस्स एगमेगं देवीसहस्सपरिवारं विउव्वित्तए ?
एवमेव सपुव्वावरे एं चत्तारि देवीसहस्सा सेत्तं तुहिए ।
पत्तू एं जंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररखो सोमे
महाराया सोमाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए सोमसि
सीहासणंसि तुहिए एं अवसेसं जहा चमरस्स, णवरं, परि-
यारो जहा सूरियाभस्स, सेसं तं चेव, जाव एो चेव एं मेहु-
णवत्तियं । चमरस्स एं जंते ! जाव रखो जमस्स महारखो
कइ अगमहिंसीओ ? । एवं चेव, णवरं, जमाए रायहाणीए ०,
सेसं जहा सोमस्स । एवं वरुणस्स वि, णवरं, वरुणाए रायहा-
णीए ०, एवं वेसमणस्स वि, णवरं, वेसमणाए रायहाणीए ०,
सेसं तं चेव जाव मेहुणवत्तियं । वडिस्स णं जंते ! वडरोयणि-
दस्स पुच्छा । अज्जो ! पंच अगमहिंसीओ पणत्ताओ । तं
जहा-सुभा णिसुंजा रंभा निरंजा मदणा । तत्थ एं एग-
मेगाए देवीए अट्टट्ट ०, सेसं जहा चमरस्स, णवरं, वल्लिचंचाए
रायहाणीए परिवारो जहा मोओइए, सेसं तं चेव जाव
मेहुणवत्तियं । वल्लिस्स णं भंते ! वडरोयणिदस्स वडरोयण-
रखो सोमस्स महारखो कइ अगमहिंसीओ पणत्ताओ ? । अ-
ज्जो ! चत्तारि अगमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा-मीणगा
सुभदा विज्जुआ असणी । तत्थ एं एगमेगाए देवीए ०, सेसं
जहा चमरस्स । एवं जाव वेसमणस्स । भ ० १ ० श ० ५ ल ० ।
आसां पूर्वभवः—

जइ एं भंते ! समणे एं जाव संपत्ते एं दोच्चस्स वग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! समणे एं जाव संपत्ते एं दोच्चस्स वग्गस्स पंच अज्जणा पन्नत्ता । तं जहा-सुंभा ? निधुंजा २ रंभा ३ निरंभा ४ मदणा ५ । जइ एं जंते ! समणे एं जाव संपत्ते एं धम्मकहा एं दोच्चस्स वग्गस्स पंच अज्जयणा पन्नत्ता । दोच्चस्स एं भंते ! वग्गस्स पढमज्जयणस्स केअट्ठे पन्नत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेणं काळे एं तेणं समए एं रायगिहे गुणसिले चेइए, सामी समोसदे, परिसा ० जाव पज्जुवासति, तेणं काळे एं तेणं समए एं सुंभा देवी वल्लिचं चाए रायहाणीए सुंजवडिंसए जवणे सुंभंसि सिंहासणंसि काळिगमए एं जाव एट्ठविहिं उवदंसेत्ता जाव पडिगया पुव्वजवपुच्छा । सावत्थी नयरी, कोट्टए चेइए, जियसत्तू राया, सुंभे गाहावई, सुंजसिरी भारिआ, सुंजा दारिया, सेसं जहा काळीए, नवरं, अण्डुछातिं पलिओवमाइं ठिती, एवं खलु जंबू ! उक्खेवओ पढमस्स अज्जयणस्स, एवं सेसा वि चत्तारि अज्जयणा सावत्थीए, नवरं, माया पिया धूयसिरितिनामया । एवं खलु जंबू ! निक्खेवओ वीयस्स वग्गस्स । ३।०२५०१५०

धरणस्य—

धरणस्स एं भंते ! णागकुमारिंदस्स णागकुमाररणो कइ अंगमहिंसीओ पन्नत्ताओ ? । अज्जो ! ३ पन्नत्ताओ । तं जहा-अला सक्का सतेरा सोदामिणी इंदा घणविज्जुया । तत्थ एं एगमेगाए देवीए ३ देवीसहस्सपरिवारो पन्नत्तो । पन्न ! एं ताओ एगमेगा देवी अस्साइं ३ देवीसहस्साइं परियारं विज्जित्तए, एवमेव सपुव्वावरेणं उत्तीसं देविसहस्साइं, सेत्तं तुडिह । पन्न ! एं भंते ! धरणे, सेसं तं चेव, एवरं, धरणए रायहाणीए धरणंसि सीहासणंसि सओ परिवारो, सेसं तं चेव । धरणस्स एं जंते ! णागकुमारिंदस्स कालवाडस्स दोगवाडस्स महारणो कइ अंगमहिंसीओ पणत्ताओ ? । अज्जो ! चत्तारि अंगमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा-असोगा विमला सुप्पजा सुदंसणा । तत्थ एं एगमेगाए देवीए०, अवसेसं जहा चमरदोगपालाणं, सेसाणं तिण्हि वि ।

भूतानन्दस्य—

नूयाणंदस्स एं भंते ! पुच्छा । अज्जो ! ३ अंगमहिंसीओ पन्नत्ताओ । तं जहा-रूया रूयसा सुखा रूयगावई रूयकांता रूयप्पजा । तत्थ एं एगमेगाए देवीए०, अवसेसं जहा धरणस्स । नूयाणंदस्स एं भंते ! णागकुमारस्स चित्तस्स पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अंगमहिंसीओ पन्नत्ताओ । तं जहा-सुनंदा सुभदा सुजाया सुमणा । तत्थ एं एगमेगाए देवीए०, अवसेसं जहा चमरदोगपालाणं । एवं सेसाणं वि तिण्हि वि लोणपालाणं तहा, दाहिणिह्वा इंदा, तेसिं जहा धरणस्स । लोणपालाणं वि, तेसिं जहा धरणलोणपाळाणं । उत्तरिंदाणं जहा नूयाणं-

दस्स । लोणपालाणं वि, तेसिं जहा नूयाणंदस्स दोगपालाणं, एवरं, इंदाणं सव्वेसिं रायहाणीओ सीहासणाणि य सरिसणामगाणि, परिवारो जहा मोओदेसए, लोणपालाणं सव्वेसिं रायहाणीओ सीहासणाणि य सरिसणामगाणि परिवारो जहा चमरदोगपालाणं । ३।० १० ३।० ५ ३।० ॥

भूतानन्दसूत्रे-(एवमिति) यथा काळपादस्य तथाऽन्येषामपि, नवरं, तृतीयस्थाने चतुर्थो वाच्यः । धरणस्य दक्षिणनागकुमारनिकायेन्द्रस्य लोकपालानामग्रमहिष्यो यथा २ यन्नामिकास्तथा २ तन्नामिका एव सर्वेषां दाक्षिणात्यानां शेषाणामग्रानां वेणुदेवहरिकान्ताग्निशिखपुर्णजलकान्तमितगतिवेदम्वघोषाख्यानामिन्द्राणां ये लोकपालाः सूत्रे दर्शितास्तेषां सर्वेषामिति । यथा च भूतानन्दस्यौदीच्यनागराजस्य तथा शेषाणामग्रानामौदीच्येन्द्राणां वेणुदालिहरिसहाग्रिमाणववसिष्ठजद्वप्रभामितवाहनप्रभञ्जनमहाघोषाख्यानां ये लोकपालास्तेषामपीति । एतदेवाह—जहा धरणस्सेत्यादि ।

आसां पूर्वभवः—

उक्खेवओ तइयवग्गस्स । एवं खलु जंबू ! समणे एं जाव संपत्ते एं तइयस्स वग्गस्स चउप्पन्ना अज्जयणा पन्नत्ता । तं जहा-पढमे अज्जयणे जाव चउप्पन्नत्तिमे अज्जयणे । जइ एं भंते ! समणे एं जाव संपत्ते एं धम्मकहा एं तइयस्स वग्गस्स चउप्पणा अज्जयणा पन्नत्ता । पढमस्स एं भंते ! अज्जयणस्स समणे एं जाव संपत्ते एं केअट्ठे पन्नत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेणं काळे एं तेणं समए एं रायगिहे नगरे गुणसिले चेइए सामी समोसदे, परिसा निगगया जाव पज्जुवासति । तेणं काले एं तेणं समए एं अला देवी धरणा रायहाणीए अलावडिंसए जवणे अट्ठंसि सिंहासणंसि, एवं काळी गमए एं जाव नट्ठविहे उवदंसेत्ता पडिगया पुव्वजवपुच्छा । वाणारसीए काममहावणे चेइए अट्ठे गाहावती अलजसिरी भारिआ अला दारिया, सेसं जहा काळीए, नवरं, धरणस्स अंगमहिंसित्ताए उववाओ साइरेणं अण्डपलियोवमं ठिती, सेसं तहेवा । एवं खलु निक्खेवओ पढमज्जयणस्स । एवं कमा सक्का सतेरा सोदामिणी इंदा घणविज्जुया वि, सव्वाओ एयाओ धरणस्स अंगमहिंसीओ । एते ३ अज्जयणा वेणुदेवस्स अवसेसा जालियव्वा, एवं जाव घोसस्स वि एते चेव अज्जयणा । एए चेव दाहिणिह्वाणं इंदाणं चउप्पन्नं अज्जयणा भवंति, सव्वाओ वि वाणारसीए काममहावणे चेइए तइयवग्गस्स निक्खेवओ । चउत्थस्स वग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! समणे एं जाव संपत्ते एं धम्मकहा एं चउत्थस्स वग्गस्स चउप्पन्ना अज्जयणा पन्नत्ता । तं जहा-पढमे अज्जयणे जाव चउप्पन्न इमे अज्जयणे, पढमस्स अज्जयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! तेणं काले एं तेणं समए एं रायगिहे समोसरणं जाव परिसा पज्जुवासइ । तेणं काले एं तेणं समए एं रूया देवी रूयाणंदारायहाणीए रूयगवडिंसए जवणे रूयगंसि

सीढानणंमि जहा काळिए तहा, नवरं, पुव्वजवे चंपाए पुन-
जवे चेइए रूप गाहावती ख्यगसिरी जारिआ ख्यादारिया,
सेसं तहेव, नवरं, जयाणंदा अंगमहिंसिचाए उववाओ देसू-
ए पलिओवमहिनी निखेवओ। एवं खलु जंवू ! सुरूवा
वि ख्यंसा वि अगावई वि अकंता वि ख्यप्पजा
दि, एयाए चेव उत्तरिद्वाणं इंदाणं भाणियव्वाओ जाव महा-
योमस्स । निखेवओ चउत्थस्स वग्गस्स । जा० २ कु० १ वग्ग ।

ध्यन्तरद्वाणं कालस्य—

काळस्स णं भंते ! पिमायइंदस्स पिसायरणो कइ अंग-
महिंसीओ पणत्ताओ ? । अज्जो ! चत्तारि अंगमहिंसीओ
पणत्ताओ । तं जहा-कमळा कमलप्पजा उप्पला मुदंसा । त-
त्थ एं एगमेगाए देवीए एगमेगं देवीसहस्सं, सेसं जहा चम-
रलोगपालाणं, परिवारो तहेव, एवरं, काळाए रायहाणीए
कालंसि सीढासणंसि, सेसं तं चेव, एवं महाकालस्स वि ।

सुरुपस्य—

चुरुवस्स एं जंते ! जइंदस्स जयरखो पुच्छा । अज्जो !
चत्तारि अंगमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा-रूपवई
वडुरुवा सुरूवा सुभगा । तत्थ एं एगमेगा०, सेसं जहा
कालस्स, एवं पमिरुवस्स वि ।

पुण्यभद्रस्य—

पुणजइस्स एं भंते ! जखिंदस्स पुच्छा । अज्जो ! च-
त्तारि अंगमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा-पुष्पा बहुपु-
त्तिया उत्तमा तारया । तत्थ एं एगमेगाए०, सेसं जहा
काळस्स, एवं माणिजइस्स वि ।

जीममहाभीमयोः—

जीमस्स णं जंते ! रक्खसिंदस्स पुच्छा । अज्जो ! चत्ता-
रि अंगमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा-पउमा पउमावई
कणगा रयणप्पभा । तत्थ एं एगमेगा देवी०, सेसं जहा
कालस्स, एवं महाजीमस्स वि ।

किन्नरस्य—

किण्णरस्स एं जंते ! पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अंगम-
हिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा-वडिंसा केतुमई रइसेणा
रइप्पिया । तत्थ एं०, सेसं तं चेव । एवं किंपुरिसस्स वि ।

सुपुरुषस्य—

सुपुरिसस्स णं पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अंगमहिंसीओ
पणत्ताओ । तं जहा-रोहिणी नवमिया हिरी पुप्फवई । तत्थ
एं एगमेगा देवी०, सेसं तं चेव । एवं महापुरिसस्स वि ।

अतिकायस्य—

अइकायस्स एं पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अंगमहिंसीओ
पणत्ताओ । तं जहा-जुयगा जुयगवई महाकच्छा फुगा ।
तत्थ णं०, सेसं तं चेव । एवं महाकाळस्स वि ।

गीतरतेः—

गीयरइस्स एं जंते ! पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अंगमहि-

सीओ पणत्ताओ । तं जहा-सुघोसा विमद्धा सुस्सरा स-
रस्सई । तत्थ णं०, सेसं तं चेव । एवं गीयजसस्स वि । सन्वे-
सि एएसि जहा कालस्स, एवरं, सरिसनामगाओ रायहा-
णीओ सीढासणाणि य, सेसं तं चेव । ज० १० श० १ उ० ।

आसां पूर्वभवः—

पंचमवग्गस्स उखेवओ । एवं खलु जंवू ! जाव वत्तीसं
अज्जयणा पणत्ता । तं जहा—

कमळा कमलप्पभा, उप्पळा य मुदंसा ।

रूपवई वडुरुवा, सुरूवा सुभगा वि य ॥ १ ॥

पुन्ना बहुपुत्तिया च, उत्तमा तारया वि य ।

पउमावती सुमई, कणगा कणगप्पजा ॥ २ ॥

वग्गसा केउमई च, रइसेणा रइप्पिया ।

रोहिणी नवमिआ वि, हिरी पुप्फवई इय ॥ ३ ॥

जुयगा जुयगावती, महाकच्छा फुडाइया ।

सुघोसा विमद्धा चेव, सुस्सराइ सरस्सई ॥ ४ ॥

उखेवओ पढमज्जयणस्स । एवं खलु जंवू ! तेणं काले एं
तेणं समए एं रायगिहे णयरे समोसरणं जाव पज्जुवासइ ।
तेणं काले एं तेणं समए एं कमळा देवी कमळाए रायहाणीए
कमलवडिंसए जवणे कमलांसि सीढासणंसि०, सेसं जहा
काळीए तहेव, नवरं, पुव्वजवे नागपुरे एणरे सहसंववणे
उज्जाणे कमलस्स गाहावइस्स कमळासिरी भारिया कमळा
दारिया पासस्स एं अंतिए निखंता, काळस्स पिसायकुमा-
रिंदस्स अंगमहिंसीओ अछप्पद्विओवमहिती, एवं सेसावि
अज्जयणा । दाहिणिद्वाणं वाणमंतरिंदाणं भाणियव्वाओ स-
व्वाओ, नागपुरे सहसंववणे उज्जाणे मायापियरो धूयासिरि-
सनामया ठिती अछपलितोवमं । पंचमो वग्गो सम्पत्तो ॥ ५ ॥
उट्ठो वि वग्गो पंचमसारिसो, नवरं, महाकाळिंदाणं उत्तारि-
द्वाणं इंदाणं अंगमहिंसीओ पुव्वजवे साएए णयरे उत्तरकु-
रउज्जाणे मायापियरो धूयासिरिणामया सेसं तं चेव ।
उट्ठो वग्गो सम्पत्तो । जा० २ शु० ६ व० ।

ज्योतिष्केन्द्राणाम्—

चंदस्स णं जंते ! जोतिसिंदस्स जोतिसरओ कति अंग-
महिंसीओ पणत्ताओ ? । चत्तारि अंगमहिंसीओ पणत्ताओ ।
तं जहा-चंदप्पभा जोसिणाजा अचिमाही पभंकरा । तत्थ णं
एगमेगाए देवीए चत्तारि चत्तारि देवीसाहस्सीओ परिवारो
पणत्तो । पचू ! एं ततो एगमेगा देवी अन्नाइ चत्तारि चत्ता-
रि देवसाहस्साइ परिवारं विउव्वित्तए, एवमेव सएव्वाव-
रेणं सोलसदेवीसाहस्सीओ पणत्ताओ, सेत्तं तुमिए ।

(चंदस्स णं भंते ! इत्यादि) चन्द्रस्य भदन्त ! ज्योतिषेन्द्रस्य
ज्योतिषराजस्य कति कियत्संख्याका अंगमहिंस्यः प्रज्ञताः ? ।
जगवानाह—गौतम ! चतस्रोऽंगमहिंस्यः प्रज्ञताः । तद्यथा—च-
न्द्रप्रज्ञा (जोसिणामेत्ति) ज्योत्स्नाभा, अचिमाही, प्रभङ्गरा ।

(तत्थ णमित्यादि) तत्र तासु चतसृष्वग्रमहिणीषु मध्ये एकैकस्या देव्याश्चत्वारि २ देवीसहस्राणि परिवारः प्रहसतः । किमुक्तं भवति । एकैका अग्रमहिणी चतुर्णां चतुर्णां देवीसहस्राणां पट्टराज्ञीनामेकैका च सा इत्थंभूताऽग्रमहिणी, परिवारणावसरे तथाविधां ज्योतिष्कराजस्य चन्द्रदेवेच्छामुपलभ्य प्रभुरन्यानि आत्मसमानरूपाणि चत्वारि देवीसहस्राणि विकुर्वितुं स्वाज्ञाविकानि, पुनरेवमेव उक्तप्रकारेणैव पूर्वापरमीलनेन पोरुशदेवीसहस्राणि चन्द्रदेवस्य प्रवन्ति । “सत्तं तुमिण”-तदेव तावत् त्रुटिकमन्तःपुरं व्यपदिश्यते ।

सज्जायामभोगः—

पचू ! णं जंते ! चंदे जोतिसिंदे जोतिसराया चंदवर्णिसए विमाणे सजाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि तुमिणए सच्चि दिव्वाइं भोगभोगाइं जुंजमाणे विहरित्तए ? गोयमा ! नो इण्डे समडे । से केण्डे णं भंते ! एवं बुच्चइ ? नो पचू ! चंदे जोइसराया चंदवर्णिसए विमाणे सभाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि तुमिण एं सच्चि विपुलं भोगभोगाइं जुंजमाणे विहरित्तए ? गोयमा ! चंदस्स णं जोतिसिंदस्स जोइसरस्सो चंदवर्णिसए विमाणे सभाए सुधम्माए माणवगंसि चेतियखंजंसि वइरामयेसु गोत्ववत्समुग्गएसु बहुयाओ जिणसकहाओ चिट्ठंति, जाओ एं चंदस्स जोतिसिंदस्स जोतिसरस्सो अणोसिं च वडूणं जोतिसयाणं देवाण य देवीण य अब्बणिज्जाओ जाव पज्जुवासणिज्जाओ तासि एं पणिहाए नो पचू ! चंदे जोइसराया चंदवर्णिसए जाव चंदंसि सीहासणंसि जुंजमाणे विहरित्तए, से तेण्डेणं गोयमा ! नो पचू ! चंदजोतिसराया चंदवर्णिसए विमाणे सभाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि तुमिणए सच्चि दिव्वाइं जोगजोगाइं जुंजमाणे विहरित्तए अदुत्तरं च णं गोयमा ! नो पचू ! चंदजोतिसिंदे जोतिसराया चंदवर्णिसए विमाणे सजाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि चउहिं सामाणियसहस्सीहिं जाव सोद्वसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अन्नेहि य वडूहिं जोतिसिण्हिं देवेहि य देवीहि य सच्चि संपरिवुडे महायाहयणट्ठगीयवाइयतंतीतद्वतालतुमियघणमुंणपकुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगजोगाइं जुंजमाणा विहरित्तए केवलपरियारतुमिणए सच्चि जोगजोगाइं चोसट्टिण्ण बुच्चिण नो चेव णं मेहुणवत्तिणं ।

(पचू णं जंते ! इत्यादि) प्रभुर्भदन्त ! चन्द्रो ज्योतिषेन्द्रो ज्योतिषराज्ञश्चन्द्रावतंसके विमाने सजायां सुधर्मायां चन्द्रे सिंहासने त्रुटिकेनान्तःपुरेण सार्द्धं दिव्यान् भोगजोगान् भुञ्जमानो विहर्तुमासितुं भगवानाह— गौतम ! नायमर्थः समर्थः । अत्रैव कारणं पृच्छति— (से केण्डेणमित्यादि) तदेव भगवानाह— गौतम ! चन्द्रस्य ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य चन्द्रावतंसके विमाने सजायां सुधर्मायां माणवकचैत्यस्तम्भे वज्रमयेषु गोलवृत्तसमुद्गकेषु ते च यथा तिष्ठन्ति तथा विजयराजधानीगतसुधर्मासभायामिव द्रष्टव्यम् । बहूनि जिनसत्त्वानि सन्निक्रिस्तानि

तिष्ठन्ति यानि । सूत्रे स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । चन्द्रस्य ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य अर्चनीयानि पुष्पादिभिर्वन्दनीयानि विशिष्टैः स्तोत्रैः स्तोतव्यानि पूजनीयानि वस्त्रादिभिः सत्कारणीयानि आदरप्रतिपत्त्या सम्माननीयानि जिनोचितप्रतिपत्त्या कल्याणं मंगलं चैत्यमिति पर्युपासनीयानि (तासि पणिहाए त्ति) तेषां प्रतिजिया तानि आश्रित्य नो प्रभुश्चन्द्रो ज्योतिषराज्ञश्चन्द्रावतंसके विमाने यावच्छिहर्त्तव्यमिति । (पचू णं गोयमा ! इत्यादि) प्रभुर्गौतम ! चन्द्रो ज्योतिषेन्द्रो ज्योतिषराज्ञश्चन्द्रावतंसके विमाने सजायां सुधर्मायां चन्द्रे सिंहासने चतुर्भिः सामानिकसहस्रैश्चतसृभिरग्रमहिणीभिः सपरिवाराजिस्तिसृभिः पर्वद्भिः सप्तभिरनीकाधिपतिभिः पोरुशभिरात्मरत्नकदेवसहस्रैरन्यैश्च बहुभिर्ज्योतिषैर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतो महायाहयेत्यादि पूर्ववद् दिव्यान् भोगभोगान् त्रुञ्जानो विहर्तुमिति न पुनर्मैथुनप्रत्ययं मैथुननिमित्तं दिव्यान् स्पर्शादीन् भोगान् भुञ्जानो विहर्तुं प्रभुरिति ।

सूर्यस्याग्रमहिण्यः—

सूरस्स णं भंते ! जोतिसिंदस्स जोतिसरन्तो कति अग्गमहिंसीओ पस्सत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि अग्गमहिंसीओ पस्सत्ताओ । तं जहा—सूरिप्पजा आतपाभा अच्चिमाली पजंकरा । एवं अवसेसं जहा चंदस्स, णवरं, सूरिवर्णिसके विमाणे सूरंसि सीहासणंसि तद्देव ।

(सूरस्स णं भंते ! इत्यादि) सूरस्य भदन्त ! ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य कति अग्रमहिण्यः प्रहसतः ? भगवानाह— गौतम ! चतस्रोऽग्रमहिण्यः प्रहसतः । तद्यथा—सूरप्रभा आतपाभा अच्चिमाली पजंकरा । ‘तत्थ णं एगमेगाए देवीए’ इत्यादि चन्द्रवत् तावद् वक्तव्यं, यावद् नो चेव णं मेहुणवत्तिणं, नवरं, सूर्यावतंसके विमाने सूर्यसिंहासने इति वक्तव्यम्, शेषं तथैव । जी० ४ प्रति० । स्या० ।

अङ्गारकादीनाम्—

इंगालस्स णं भंते ! महागहस्स कति अग्गमहिंसीओ ? पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिंसीओ पस्सत्ताओ । तं जहा—विजया वेजयंती जयंती अपराजिता । तत्थ एं एगमेगाए देवीए०, सेसं तं चेव, जहा चंदस्स, णवरं, इंगालवर्णिसए विमाणे इंगालगंसि सीहासणंसि, सेसं तं चेव, एवं वियाद्वस्स वि । एवं अछासीए वि महागहाणं वत्तव्या णिरवसेसा भाणियव्वा जाव चावकेउस्स, णवरं, वर्णिसगा सीहासणाणि य सरिसणामगाणि, सेसं तं चेव । भ० १० श० ५ उ० । जीवा० । स्या० ।

आसां पूर्वभवः—

सत्तमवगस्स उक्खेवो । एवं खलु जंबू ! जाव चत्तारि अज्जयणा पन्नत्ता । तं जहा—सूरप्पभा आयंवा अच्चिमाली पजंकरा । पढमस्स अज्जयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! तेषां काद्वेणं तेषां समए णं रायगिहे समोसरणं जाव पारि—सा पज्जुवासति । तेषां काद्वेणं तेषां समए णं मूरप्पजा देवी सूरंसि विमाणंसि सूरप्पजांसि सीहासणंसि सेसं जहा कालिए तहा, नवरं, पुण्वभवो अक्खुपुरीए नयरे सूरप्पभस्स

गाहावस्स नृगमिण्ण भारियाण्ण सुण्णजा दागिया सु-
 स्म अग्गमहिमी । त्तिन् । अट्टपडिओवमं पंचहिं वारमणहिं
 अट्टमहिं । सेमं जहा कात्तिण्ण नवरं । एवं मेसाओ वि मव्वाओ
 अट्टपुण्ण नयर्गण [मत्तमवग्गो सम्मत्तो] ॥७॥ अट्टमस्म
 वग्गस्म उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! जाव चत्तारे अज्जयणा
 पत्तता । तं जहा-चंदप्पभा दीतिपत्ता अविमान्नी पट्टकरा ।
 पट्टमस्म अज्जयणस्म उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! तेणं काले
 णं तेणं समणं णं रायगिहे समोसरणं जाव परिसा पज्जुवा-
 सइ । तेणं काले णं तेणं समणं चंदप्पत्ता देवी चंदप्पजंसि
 सोद्दामणंसि, सेमं जहा कालिण्ण नवरं, पुव्वभवे महुराण न-
 यर्गण भंभीविंसिण उज्जाणे चंदप्पत्ते गाहावई चंदसि-
 री भारिया चंदप्पभा दागिया चंदस्स अग्गमहिमी त्तिती
 अट्टपडिओवमं पव्वामं वाससहस्मेहिं अट्टमहिं, सेमं जहा
 कालिण्ण, एवं मेसाओ वि महुराण नयर्गण मायापियरो
 धुयमिर्गनामया [अट्टमो वग्गो सम्मत्तो] ज्ञा० ५ शु० ।

वैमानिकानां शक्रस्य—

नक्रस्म एं भंते ! देविंदस्स देवरणो पुच्छा । अज्जो ! अट्ट
 अग्गमहिमीओ पणत्ताओ । तं जहा-पउमा मिया सेवा
 अंजु अमला अत्तग नवमिया रोहिणी । तत्थ एं एगमे-
 गाण् देवीण् सोत्तस ५ देवीराहस्सपरिवारो पाणत्तो । पभू !
 णं नाओ एगमेगा देवी अत्ताइ सोत्तस ५ देविसहस्मा-
 इ परिवारं विठवित्तण । एवामेव सपुव्वावरणं अट्टावी-
 नुत्तरं देवीमयसहस्सं परिवारो विठवित्तण, भेत्तं तुमिण ।
 ज० १० श० ७ उ० ।

उपामकदशाद्वटीकायां कामदेवयन्त्रव्यतायामभयदेवसुरिणा
 अग्गमहिमीपरिवारः प्रत्येकं पञ्चसहस्राणि, सर्वमालेन चत्वारि-
 शान्तसहस्राणि । इति लिखितम्, तच्चिन्त्यम् । जं० स्या० ।

प्रागः—

पभू ! णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया सोहम्मे कप्पे सोह-
 म्मवन्सिण विमाणे सजाण सुहम्माण सक्कंसि सीद्दासणंसि
 तुडिण्णं सच्चि, सेसं जहा चमरस्स, एवरं, परिवारो जहा
 माओइसण ।

शक्रलोकपालानाम्—

सक्रस्म एं भंते ! देविंदस्स देवरणो सोमस्स महारणो
 कार्ति अग्गमहिमीओ ? पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिमी-
 ओ पणत्ताओ । तं जहा-रोहिणी मदणा चित्ता सोमा । तत्थ
 एं एगं, सेसं जहा चमरलोगपालाणं, नवरं, सयंपजे विमाणे
 सभाण सुहम्माण सोमंसि सीद्दासणंसि, सेसं तं चेव, एवं जाव
 वेसमणस्स, नवरं, विमाणाइ जहा तइयसण । ज० १० श०
 ५ उ० । सक्रस्म एं देविंदस्स देवरन्नो वरुणस्स महारन्नो
 सत्त अग्गमहिमीओ पणत्ताओ । स्था० ७ उ० ।

ईशानस्य—

ईसाणस्स एं भंते ! पुच्छा । अज्जो ! अट्ट अग्गमहिमीओ
 पणत्ताओ । तं जहा-कएहा कएहरांती रामा रामरक्खिया
 वसु वसुगुत्ता वसुमित्ता वसुंधरा । तत्थ एं एगमेगाए०, सेसं
 जहा सक्रस्स । भ० १० श० ५ उ० स्था० ।

ईशानलोकपालानाम्—

ईसाणस्स एं जंते ! देविंदस्स देवरणो सोमस्स महार-
 णो कार्ति अग्गमहिमीओ ? पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गम-
 हिमीओ पणत्ताओ । तं जहा-पुट्ठी राई रयणी विज्जू ।
 तत्थ एं, सेसं जहा सक्रस्स द्वागपालाणं । एवं जाव वरु-
 णस्स, एवरं, विमाणा जहा चउत्थसण, सेसं तं चेव जाव णो
 चेव एं मेहुणवत्तिणं । ज० १० श० ५ उ० । सक्रस्म एं
 देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारणो अ अग्गमहिमीओ
 पणत्ताओ । सक्रस्म एं देविंदस्स देवरन्नो जमस्स महार-
 न्नो अ अग्गमहिमीओ पणत्ताओ । स्था० ६ उ० । ईसा-
 णस्स एं देविंदस्स देवरणो सोमस्स महारणो सत्त अग्गम-
 सीओ पणत्ताओ । ईसाणस्स एं देविंदस्स देवरणो जमस्स
 महारणो सत्त अग्गमहिमीओ पणत्ताओ । स्था० ७ उ० ।
 ईसाणस्स एं देविंदस्स देवरणो वरुणस्स महारन्नो नव
 अग्गमहिमीओ पणत्ताओ । स्था० ८ उ० ।

आसां पूर्वजवः—

नवमस्स० उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! जाव अट्ट अज्जयणा
 पत्तता । तं जहा-पउमा मिया सुई अंजु रोहिणी नवमिया इय
 अचला अपत्तरा । पट्टमज्जयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु
 जंबू ! तेणं काले एं तेणं समणं णं रायगिहे समोसरणं परिसा
 जाव पज्जुवासइ । तेणं काले णं तेणं समणं पउमावई देवी
 सोद्दामे कप्पे पउमवडिसण विमाणे सभाण सुहम्माण पउ-
 मंसि सोद्दामणंसि, जहा कालीण, एवं अट्ट वि अज्जयणे
 कालीगमणं नयव्वा, नवरं, सावत्थिए दा जणीओ हत्थि-
 णाउरे दा जणीओ कं पट्टपुरे दा जणीओ सासणं दा जणी-
 ओ पउमे पियरो विजया मायरो सव्वाओवि पासस्स अं-
 निण पव्वइया सक्रस्स अग्गमहिमीओ ठिई सत्तपलिओव-
 माइ महाविदेहे अंतं कादिति [नवमो वग्गो सम्मत्तो] ॥ ८ ॥
 दममस्स० उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! जाव अट्ट अज्जयणा-
 पत्तता । तं जहा-कएहा य कएहराई रामा तहा रामर-
 क्खिया वसुया वसुगुत्ता वसुमित्ता वसुंधरा चेव । ईसाणे
 पट्टमज्जयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! तेणं काले एं
 तेणं समणं णं रायगिहे समोसरणं परिसा पज्जुवासइ । तेणं
 काले णं तेणं समणं कएहा देवी ईसाणे कप्पे कएहवडि-
 सण विमाणे सजाण सुहम्माण कएहंसि सीद्दासणंसि०,
 सेसं जहा कालीण । एवं अट्ट वि अज्जयणा काली-

गमए णं नेयव्वा, नवरं, पुव्वजवे वाणारसीए नयरीए दो जणीओ रायगिहे नगरे दो जणीओ सावत्थीए दो जणीओ कोमंवीए दो जणीओ रामेपिया धम्मा माया सव्वावि पामस्स अरहओ अंतिए पव्वइयाओ पुप्फचूलाए जज्जाए सिसिणीयत्ता ईसाणस्स अग्गमहिंसीओ उिती नवपलिओवमाइं महाविदेहे वासे सिज्जिहिइ जाव सव्वलुक्खाणं अंतं काहिइ । एवं खट्ठु जंबू ! निक्खेवगो [दसमो वग्गो सम्मत्तो] ज्ञा० ५ श्रु० ।

कृष्णस्याग्रमहिष्यः—

कएहस्स णं वासुदेवस्स अट्ठ अग्गमहिंसीओ, अरहओ णं अरिद्धनेमिस्स अंतियं मुंसा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्ता सिप्पाओ जाव सव्वलुक्खप्पहीणाओ । तं जहा—पडुमावई य गोरी, गंधारी लक्खणा सुसीमा य । जंबू—वइ सव्वपभा रुपिणी अग्गमहिंसीओ ॥ १ ॥ स्था० ७ अ० । अन्यत्तासां कथानकम् (आसां राजधान्यो ' रङ्करपव्वय ' शब्दे दर्शिताः)

अग्गरस—अग्रसर—पुं० अग्रयः प्रधानो रसो येन्यस्ते अग्रसरसाः । गृङ्गाररसोत्पादकेषु रस्यादिषु, गृङ्गाररसे च । उक्तं १४ अ० । रसाग्र—न० रसानां सुखानामग्रम् । प्राकृतत्वादग्रशब्दस्य पूर्वनिपातः । सुखप्रधाने, उक्तं १४ अ० ।

सुसंभिया कामगुणा इमे ते, संपिंभिया अग्रसरसप्पजूआ कीदशाः कामगुणाः ? । अग्रसरसप्रचूताः—अग्रयः प्रधानो रसो येन्यस्ते अग्रसरसाः, गृङ्गाररसोत्पादका इत्यर्थः । यदुक्तम्—“रतिमाख्याद्वङ्करैः, प्रियजनगन्धर्वकामसेवाभिः । उपवनगमनविहारैः गृङ्गाररसः समुद्भवति ” ॥ १ ॥ अग्रसरसाश्च ते प्रचूताश्च अग्रसरसप्रचूताः, प्रचूरा इत्यर्थः । अथवाऽन्यरसेन गृङ्गाररसेन प्रचूरास्तान् कामगुणान् (अमारसं त्ति) चशब्दस्य गम्यमानत्वात् अग्रथा रसाश्च प्रधाना मधुरादयश्च प्रभूताः प्रचूराः कामगुणान्तर्गतत्वेऽपि रसानां पृथगुपादानमतिगृहीतत्वाच्चन्द्रादिष्वपि चैषामेव प्रवर्तकत्वात् । कामगुणविशेषणं वा, अग्रथा रसास्त एव गृङ्गारादयो वा येषु ते तथा । वृक्षास्त्वाहुः रसानां सुखानामग्रं रसाग्रं ये कामगुणाः । सूत्रे च प्राकृतत्वादग्रशब्दस्य पूर्वनिपातः । उक्तं १४ अ० ।

अग्गत्त—अर्गल—न० परुशीतितमे महाग्रहे, सू० प्र० २० पाहु० । अर्ज—कलच्—न्यङ्कादित्वात् कुत्वम् । कपाटमध्यस्थे रोधके, कल्लोवे, कपाटे च । वाच० । “ अग्रहं फट्ठिहं दारं, कवारं वा वि संजए । अवलंविद्या ण चिट्ठिज्जा, गोअरग्गओ मुणी ” ॥ १ ॥ अर्गहं गोपादिसंवाधिनम् । दशा० ५ अ० २ उ० ।

अग्गत्तपासग—अर्गत्तपाशक—पुं० यत्रार्गत्ता निक्षिप्यन्ते तेषु, आचा० ५ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अग्गत्तपासाय—अर्गत्तपासाद—पुं० स्त्री० । यत्रार्गत्ता निक्षिप्यन्ते तेषु, जी० ३ प्रति० । जं० आह च जीवाभिगमसूत्रटीकाकारः—अर्गत्तपासादो यत्रार्गत्ता नियम्यन्ते । रा० ।

अग्गत्ता—अर्गत्ता—स्त्री० अर्ज—कलच् । न्यङ्कादित्वात् कुत्वम् । कुट्टर्गले, गौरादित्वाद् डीष्, स्वार्थे कन्, अर्गलिकाऽप्यत्रार्थे,

विष्कम्भमात्रे, रोधकमात्रे, स्त्री० न० । वाच० । “ अग्रहत्ता अगलपासाया य वइरामईतो ” रा० ।

अग्गवीय—अग्रवीज—न० । अग्रे वीजं येषां ते तथा, कोरएट्कादयः । अग्रे वा वीजं येषां ते अग्रवाजाः । व्रीह्यादिषु, स्था० ४ अ० १ उ० ।

अग्गवेओ—देशी—नदीपुरे, दे० ना० १ वर्ग ।

अग्गसिर—अग्रशिरस्—न० शिरोऽग्रे, “ घणनिचियसुवकलक्खणुअयकूमागाराणिज्जाणिस्सुवमपिंभियग्गसिरा ” तं० ।

अग्गसिहर—अग्रशिखर—न० वनस्पत्यादीनां शिखराग्रे, “ सो हियवरं कुरग्गसिहरा ” । औ० । रा० ।

अग्गसुयक्खन्ध—अग्रश्रुतस्कन्ध—पुं० आचाराङ्गस्य द्वितीये श्रुतस्कन्धे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अग्गसोएमा—अग्रशुण्मा—स्त्री० शुण्माग्रे, उपा० २ अ० ।

अग्गह—आग्रह—पुं० आ—ग्रह—अच् । ममताऽभिनिवेशे, प्रति० । मिथ्याभिनिवेशे, पो० १२ विव० । आवेशे, आसक्तौ, आक्रमे, अनुग्रहे, ग्रहणे च । वाच० ।

अग्गहच्छेयकारि (ए)—आग्रहच्छेदकारिन्—त्रि० मूर्धाविच्छेदके, “ समाधिराज एतच्च, ददे तत्तत्त्वदर्शनम् । आग्रहच्छेदकार्येतत्, तदेतदमृतं परम् ” ॥ १ ॥ द्वा० २५ द्वा० ।

अग्गहण—अग्रहण—न० अनादरे, “ भद्दा पुण अगहणं, जाणं तो वा विपरिणमेज्जासो ” दृ० ३ उ० । अनुपादाने, उक्तं २ अ० । “ एसणमणेसणिज्जं, तिहं अग्गहणभोयणणयाणं ” । उक्तं नि० १ खं० ।

अग्गहणवग्गणा—अग्रहणवर्गणा—स्त्री० । वर्गणानेदे, कर्म० ६ कर्म । अग्रहणव्य—अग्रहस्त—पुं० अग्रश्चासौ हस्तश्चेति गुणगुणिनोरभेदात् । क० स० । हस्तस्याग्रभागे, वाच० । हस्ताग्रे, अनु० । अग्रहि (ए)—आग्रहिन्—त्रि० अग्निनिवेशिनि, “ आग्रही वत ! निनीपति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा । पक्कपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अग्गाणीअ—अग्राणी (नी) क—न० अग्रञ्च तदनीकं चेति गुणगुणिनोरभेदात् । क० स०, णत्वम् । वाच० । सैन्याग्रभागे, “ जेणेव भरहस्स रणो अग्गाणिअं तेणेव उवागच्छंति ” जं० ३ वत्त० ।

अग्गा (ग्गे) णीअ—अग्रायणीय—न० अग्रं परिमाणं, तस्यायनं गमनं परिच्छेद इत्यर्थः, तस्मै हितमग्रायणीयम् । सर्वज्ञव्यादिपरिमाणपरिच्छेदकारिणि द्वितीयपूर्वे, तत्र हि—द्वितीयमग्रायणीयम् । अग्रं परिमाणं तस्य अयनं गमनं, परिच्छेद इत्यर्थः, तस्मै हितमग्रायणीयम् । सर्वज्ञव्यादिपरिमाणपरिच्छेदकारिणि भावार्थः । तथाहि—तत्र सर्वज्ञव्याणां सर्वपर्यायाणां सर्वजीवविशेषाणां च परिमाणमुपवर्ण्यते । यत उक्तं चूर्णिकृता—“ वीइयं अग्गेणीयं तत्थ सव्वदव्वाण पज्जवाण य सव्वजीवाण य अग्रं परिमाणं वज्जिइत्ति ” । अग्गेणीयं तस्य पदपरिमाणं पणवतिपदशतसहस्राणि । नं० । संथा० । “ अग्गेणीयपुव्वस्स णं चोइसवत्थुडुवालसचूळिया वत्थु पक्कत्ता ” । नं० ।

अग्नि—अग्नि—पुं० अङ्गत्पूर्वे गच्छति, अग्नि—नि, नलोपः । “ स्नेहान्योर्वा ” ८ । २ । १०५ । इति प्राकृतसूत्रेण वाऽनयोर्म-

च्येऽकारः । अग्निः, अग्नी । प्रा० । चैवानरे, पि० । निग्रन्थानां निग्रन्थानां चोन्नयेनामपि परस्परदर्शनेन वाचो दोषा भवन्ती-
(न दर्शनायाश्चिदप्रान्तप्रत्ययेन अग्निनिर्देशः उक्तः । यथा-

दुर्विहो य होइ धग्गी, दग्गगी चैव तद् य भावग्गी ।

द्व्यग्न्याग्निं अगारी, पुग्मो व यं पत्नीवेतो ॥

त्रिविधश्च त्रयव्यक्तिः, तद्यथा—द्व्यग्निर्यत्र भावाग्निश्च । द्र-
व्याग्नां चिन्त्यमाने धर्माणि अग्निरतिष्ठापुग्मो वा गृह प्रदीपयन्
यथा सर्वत्र च दत्तनि, एवं साध्वी वा माधुर्या मजीवगृहं सद-
नं नन्यग्निना प्रदीपयन् चारित्र्यमवर्धयति दहतीति निर्युक्तिगा-
थासंकेतार्थः । अथ विस्तरार्थमभिहितुं द्रव्याग्निं विवृणोति—
तस्य पुण होइ दग्गे, दहणादिगुणलक्षणा अग्नी ।

नामोदयपचइयं, दिप्पइ देइं समानज्ज ॥

तत्र तयोर्द्रव्याग्निभावाग्नयोर्मध्ये द्रव्याग्निः पुनरयं भवति—यः
यत्तु दहनाग्नेकलक्षणोऽग्निः, दहनं भस्मीकरणं तल्लक्षणः ।
आदिशब्दान् पञ्चनप्रकाशनलक्षणश्च । देहमिन्धनकाष्ठादिकं स-
मासाद्य प्राप्य नामोदयप्रत्ययमुष्णस्पर्शादिनामकर्मोदयाद्
दीप्यते, न द्रव्याग्निरुच्यते ।

किमर्थं पुनरयं द्रव्याग्निरिति चेदत आह—

द्व्वाइसन्निकरिसा, उप्पन्ना ताणि चैव महमाणो ।

द्व्वगि ति उ वुच्चइ, आदिमभावाइजुत्तो वि ॥

द्रव्यद्रव्याग्नौ व्यवास्थितमरणिकाष्टं, तस्य, आदिशब्दात् पुरुष-
प्रयन्तादेशः यः सन्निकर्यः समायोगस्तस्मादुत्पन्नः, तान्येव का-
ष्ठादीनि द्रव्याग्निं दहनं यद्यप्यादिमनौदायिकलक्षणेन भावेन
जुत्तोऽग्निनामकर्मोदयेनेत्यर्थः, आदिशब्दात्पारिणामिकादि—
भावेन च युक्तो वर्तते तथापि द्रव्याग्निः प्रोच्यते, द्रव्यादुत्पन्नो
द्रव्याग्नां वा दाहकोऽग्निरिति व्युत्पत्तिसमाश्रयणात् ।

स पुनः कथं दीप्यत इत्याह—

सो पुण्णिधणमासज्ज, दिप्पति सीदती य तद्भावा ।

नाणनं पि य लभण, इधणपरिमाणतो चैव ॥

स पुनर्द्रव्याग्निरिन्धनं तृणकाष्ठादिकमासाद्य दीप्यते, सीदती
च चिनइयति, तद्भावादिन्धनाभावात् । नानात्वं विशेषस्तदपि
च लभते, इन्धनतः परिमाणतश्च । तत्रेन्धनतो यथा—तृणाग्निः
काष्ठाग्निरित्यादि । परिमाणतो यथा—महति तृणादाविन्धने
महान् भवति, अल्पे चेन्धने स्वल्प इत्युक्तो द्रव्याग्निः ।

अथ भावाग्निं निर्युक्तिगाथापर्यन्तं व्याचष्टे—

भावम्मि होइ वेदो, इत्तो तिविहो नपुंसगादी उ ।

जइ तासि तहं अत्थि, किं पुण तासिं तयं नत्थि ? ॥

प्रावे प्रावानिर्धेदाश्च इत ऊहं वक्तव्यो भवति । स च वेदस्त्रि-
विधो नपुंसकादिको ज्ञातव्यः । अत्र परः प्राह—यदि तासां संय-
तीनां तर्कं मोहनीयं स्यात् तर्हि युष्मद्वक्तोऽग्निदृष्टान्तोऽपि स-
फलः स्यात्, किं पुनः परं तासां तर्कं मोहनीयं नास्ति, अतः
कुतस्तासां भावाग्नेः संभवो जवेदिति भावः । एतच्छ्रुत्वा
भावयिष्यते । अथानन्तरोक्तभावाग्निसवरूपं स्पष्टयति—

उदयं पत्तो वेदो, भावग्गी होइ तदुवओमेणं ।

जावो चरित्तमादी, तं रुहई तेण जावग्गी ॥

वेदः स्त्रीवेदादिरुदयं प्राप्तः सन्, तस्य स्त्रीवेदादिसंबन्धी य उप-
योगः पुरुषभिन्नापादिबलक्षणेन हेतुभूतेन भावाग्निर्भवति ।

कुल इत्याह—भावश्चात्रिादिकपरिणामस्तं प्रावं येन कारणेन
दहति तेन प्रावानिरुच्यते । प्रावस्य दाहकोऽग्निर्भावाग्निरि-
तिव्युत्पत्तेः । कथं पुनर्दहतीति चेदुच्यते—

जह व साहीणरयणे, जवणे कसइ पमायदप्पेणं ।

रुज्जोनि समादिचे, अनिच्छमाणस्स वि वसूणि ॥

इय संदंसणसंभा—सण्णेहि संदीविओ मयणवन्ही ।

वम्मादीगुणरयणे, रुहइ अनिच्छस्स वि पमाया ॥

यथा वा स्वाधीनरते पञ्चरागादिवहुरत्नकलिते जवने प्रमा-
देन दर्पेण वा समादीप्ते प्रज्वालिते सति कस्यचिद्विज्यादेर-
निच्छतोऽपि वसूनि रत्नानि दहन्ते (इयं स्ति) एवं संदर्शनमव-
लोकनं, संभाषणं मिथः कथा, ताच्यां संदीपितः प्रज्वालितो
मदनवहिरनिच्छतोऽपि साधुसाध्वीजनस्य ब्रह्मादिगुणरत्ना-
नि ब्रह्मचर्यतपःसंयमप्रवृत्तयो ये गुणास्त एव दौर्गत्यदुःखाप-
हारितया रत्नानि प्रमादाद्दहति भस्मसात्करोति ।

अमुमेवार्थं उच्यति—

सुखिखणवाजवत्ता—भिदीवितो दिप्पते ऽहियं वन्ही ।

दिट्ठिधणरागानिल—समीरितो वि इय जावग्गी ॥

शुक्लकन्धनेन वायुबलेन वाऽभिदीपितो यथा वह्निरधिकं दीप्यते
(इयं स्ति) एवं दृष्टिरूपं यद्विन्धनं यश्च रागरूपोऽग्निर्लो वायुस्ता-
च्यां समीरित उद्दीपितो भृशं भावाग्निरपि दीप्यते । सू० १
उ० । कल्प० । (अग्नेर्वर्णको ' वीर ' शब्दे) (अग्नेः प्र-
थमोत्पादादयः ' उसइ ' शब्दे) वह्निनामके होकान्तिक-
देवे, आ० म० प्र० । कृत्तिकानक्षत्रस्य देवतायाम्, स्था०
४ ठा० २ उ० । " कसिया अग्निदेवयाए " ज्यो० ६ पाहु० । सू०
प्र० । " दो अग्नीओ " स्था० २ ठा० ३ उ० । " चत्तारि अग्नी जाव
जमा " । अग्निरिति कृत्तिकानक्षत्रस्य देवता यावद्यम इति ।
स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अग्नि (अ) य—अग्निक—पुं० यमशिष्ये यमदग्निनामके
तापसे, " यमाख्यस्तापसस्तत्र, स तत्पार्श्वेऽग्निकोऽगमत् । प्र-
पन्नस्तस्य शिष्यत्वं, स घोरं तप्यते तपः ॥ यमशिष्योऽग्निक इति
यमदग्निरिति श्रुतः " आ० क० । आव० । आ० म० द्वि० । आ०
चू० । (अस्य कथानकं ' कोह ' शब्दे)

अग्निओ—देशी—इन्द्रागोपकीटविशेषे, मन्दे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अग्निकज्ज—अग्निकार्थ—न० यागादिविधौ, स्था० ।

अग्निकारिया—अग्निकारिका—स्त्री० अग्निकर्मणि, साधूनां
द्रव्याग्निकारिकाव्युदासेन भावाग्निकारिकैवानुज्ञाता । प्रति० ।
(' अग्निहोत्त ' शब्दे चैतद् दृश्यम्)

अग्निकुमार—अग्निकुमार—पुं० अग्निश्चासौ कुमारश्च कुमारवच्चेष्ट-
मान इति ज्वनपतिदेवजन्मे, प्रज्ञा० १ पद । (अन्तराग्रमहि-
प्यादयस्तत्तच्छब्द एव दृश्याः) (' ज्वनवश ' शब्दे चाऽस्य
वर्णादिकम्)

अग्निकुमाराहवण—अग्निकुमाराह्वान—न० तैजसदेवसंकीर्तने,
" अग्निकुमाराहवणे धूवं पगे इहं वैति " पञ्चा० २ विव० ।

अग्निच—आग्नेय—पुं० उत्तरयोः कृष्णराज्ययोर्मध्ये आग्नेया-
भविमानवास्तव्येऽग्रमे लोकान्तिकदेवे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।
प्रव० । ज० । ज्ञा० । (' लोमंतिग ' शब्देऽस्य सर्वं वृत्तम्)

अग्निच्छात्र-आग्नेयाज्ञ-न० उत्तरयोः कृष्णराज्ययोर्मध्ये वर्त्तमाने आग्नेयनामलोकात्तिकदेवविमाने, स्था० ५५ ठा० ३७ ० ५ ० ५ ० ।
 अग्निजस-अग्निशस्-पुं० क्षीपसमुच्चविशेषाधिपतौ, द्वी० ।
 अग्निज्यो-अग्निद्योत-पुं० श्रीवीरस्याष्टमे ऋवे विप्रज्जेदे, श्री-
 वीरस्याष्टमे भवे चैत्यसन्निवेशे च । पट्टिद्वक्पूर्वायुष्कोऽग्निद्योतो
 नाम विप्रस्त्रिदएनीभूत्वा मृतः । कल्प० । आ० चू० ।
 अग्निदत्त-अग्निदत्त-पुं० ऋतक्षेत्रजपार्थ्वजिनसमकालजाते
 ऐरवतक्षेत्रजे तीर्थकरे, ति० । भद्रवाहोर्द्वितीये शिष्ये, कल्प० ।
 अग्निदहण-अग्निदहन-न० वहौ शरीरभस्मीकरणद्वक्त्रे शा-
 रीरदहने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अग्निदेव-अग्निदेव-पुं० क्षीपसमुच्चविशेषाधिपतौ, द्वी० ।
 अग्निजीरु-अग्निभीरु-पुं० चण्डप्रद्योतनृपतेः रथरत्ने, आ० क० ।
 अग्निचूड-अग्निचूति-पुं० मन्दरसन्निवेशजाते ब्राह्मणज्जेदे, श्री-
 वीरस्य दशमभवे, मन्दरसन्निवेशे पट्टपञ्चाशद्वक्पूर्वायुष्कोऽग्नि-
 नृतिनामा ब्राह्मणस्त्रिदएनीभूत्वा मृतः । कल्प० । आ० चू० । आ०
 म० प्र० । श्रीमतो महावीरस्य द्वितीये गणधरे, (अस्याऽऽयुरादिः
 ' गणहर ' शब्दे, नवरमिन्द्रचूतौ प्रव्रजिते)

तं पव्वइअं सोऽं, वीओ आगच्छइ अमरिसेणं ।

वच्चांमि एमाणेमि, पराजिणिच्चा ए तं समणं ॥

तमिन्द्रचूतिं प्रव्रजितं श्रुत्वा द्वितीयोऽग्निचूतिनामा तत्सोदर्यवन्धु-
 रान्तरेऽमर्षेणाकुलितचेताः समागच्छति ऋगवत्समीपम् । केना-
 निप्रायेणेत्याह-(वच्चांमि णमिति) व्रजाति णमिति वाक्यालङ्कारे ।
 आनयामि निजभ्रातरमिन्द्रचूतिम् । तत इति गम्यते, णेत्ययमपि
 वाक्यालङ्कारे । तं श्रमणमिन्द्रजालिकं कमपि पराजित्येति ।

पुनरपि किं चिन्तयस्वावागत इत्याह—

अलिओ छलाइणा सो, मन्ने माएंदजाद्विओ वा वि ।

को जाणइ कह वत्तं, चाहे वट्टमाणी से ॥

हुज्यस्त्रिभुवनस्यापि मज्जातेन्द्रजतिः, केवलमहमिदं मन्ये
 अलादिना अलितोऽसौ तेन धूत्तं छलजातिनिग्रहस्थानग्रहण-
 निपुणेन, येन केनापि हुष्टेन भ्रामितो महन्धुरित्यर्थः । अथवा
 मायेन्द्रजालिकः कोऽपि निश्चितमसौ, येन तस्यापि जगद्गुरोर्म-
 द्धातुर्भ्रामितं चेतः । तस्मात्किं बहुना, को जानाति तद्वादस्थानकं
 तयोस्तत्र कथं वृत्तं, मत्परोक्तत्वात् । इत ऊर्द्धं पुनर्मयि तत्र गते
 (से) तस्य तदिन्द्रजालव्यतिकरभ्रमितमानसस्य खचरनरामरत्रा-
 तवन्दनमात्रवृंहितचेतसः श्रमणकस्य (वट्टमाणे त्ति) या का-
 चिच्छार्त्ता वर्तनी वा भविष्यति, तां द्रष्टव्यत्ययं समग्रोऽपि लोक
 इति । किं च तेन तत्र गच्छता प्रोक्तमित्याह—

सो पक्खंतरमेगं, पि जाइ जइ मे तओ मि तस्सेव ।

सीसत्तं होज्ज गओ, तत्तो पत्तो जिणसगासे ॥

को जानाति तावदिन्द्रभूतिस्तेन कथमपि तत्र निर्जितो न ।
 किंतु एकमपि पक्षान्तरं पक्षविशेषं मे स यदि यात्यवबुध्यते,
 मद्विहितस्य सहेतूदाहरणस्य पक्षविशेषस्य स यद्युत्तरप्रदा-
 नेन कथमपि पारं गच्छतीति हृदयम् । ततः, मीति वाक्याल-
 ङ्कारे । तस्यैव श्रमणस्य शिष्यत्वेन गतोऽहं भवेयमिति निश्चयः ।
 तत इत्यादिवागजितं कृत्वा जिनस्य श्रीमन्महावीरस्या-
 न्तिकं प्राप्त इति । ततः किमित्याह—

आजासियो जिणेषं, जाइजरागरणविप्पमुक्केणं ।

नामेण य गोत्तेण य, सव्वएणू सव्वदरिमीणं ॥

आभाषितश्च संलपितश्च जातिजरावरणविप्रमुक्तेन सर्वज्ञे-
 न सर्वदर्शिना च जिनेन । कथं?, नाम्ना च हे अग्निभूते! गोत्रेण
 च हे गौतमसगोत्र! इति । इत्थं च नामगोत्राभ्यां संलपितस्य
 तस्य चिन्ताऽभूत् । अहो! नामापि मम विजानाति, अथवा ज-
 गत्प्रासिद्धोऽहं, कः किल मां न वेत्ति? यदि हि मे हृत्तं संशयं
 ज्ञास्यत्यपनेप्यति वा तदा भवेन्मम विसय इति चिन्तयति
 तस्मिन् भगवानाह—

किं मन्ने अत्थि कम्मं, उयाहु नत्थि त्ति संसओ तुज्ज ।

वेयपयाण य अत्थं, न याणियो तेसि मो अत्थो ॥

हे अग्निभूते गौतम! त्वमेतन्मन्यसे चिन्तयसि यदुत कि-
 यते मिथ्यात्वादिहेतुसमन्वितेन जीवनेति कर्म ज्ञानावर-
 णादिकं तत्किमस्ति न वेति? नत्वयमनुचितस्तव संशयः ।
 अयं हि भवतो विरुद्धवेदपदनिबन्धनो वर्तते, तेषां च वेदप-
 दानां त्वमर्थं न जानासि तेन संशयं करोपि । तेषां च वेदपदा-
 नामयं वक्ष्यमाणलक्षणोऽर्थ इति । विशेषः (इति विरुद्धवेदपदा-
 नामर्थव्याख्या) पुरस्सरमसौ यथा ज्ञानावरणादिकं कर्म ग्राहित-
 स्तथा चास्मिन्नेव ग्रन्थे 'कम्म' शब्दे तृती० २४६ पृष्ठे वक्ष्यते)
 तं च प्रव्रजितं श्रुत्वा, दध्यौ तद्वाग्धवोऽपरः ।

अपि जातु द्रवेद्वि-हिंमानी प्रज्वलेदपि ॥ १ ॥

वह्निः शीतः स्थिरो वायुः, संभवेन्न तु वाग्धवः ।

हारयेदिति पप्रच्छ, लोकानध्रदधद् भृशम् ॥ २ ॥

ततश्च निश्चये जाते, चिन्तयामास चेतसि ।

गत्वा जित्वा च तं धूर्तं, बालयामि सहोदरम् ॥ ३ ॥

सोऽप्येवमागतः शीघ्रं, प्रभुणा प्रापिनस्तथा ।

संदेहं तस्य चित्तस्य, व्यक्तीकृत्यावद्विद्वुः ॥ ४ ॥

हे गौतमाग्निभूते! कः, संदेहस्तव कर्मणः? ।

कथं वा वेदतत्त्वार्थं, विभावयसि न स्फुटम् ॥ ५ ॥

स चायं " पुरुष एवेदः सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्य-
 म् " इत्यादि । तत्र ५ इति वाक्यालङ्कारे, यद् भूत-
 मतीतकाले, यच्च भाव्यं भाविकाले, तत्सर्वमिदं पुरुष
 एव आत्मैव । एवकारः कर्मेश्वरादिनिषेधार्थः । अनेन च
 वचनेन यन्नरामरतिर्यक्पर्वतपृथिव्यादिकं वस्तु दृश्यते तत्स-
 र्वमात्मैव । ततः कर्मनिषेधः स्फुट एव । किं च । अमूर्-
 तस्यात्मनो मूर्तेन कर्मणाऽनुग्रह उपघातश्च कथं भवति? ।
 यथा आकाशस्य चन्दनादिना मण्डनं खड्गादिना खण्डनं च
 न संभवति; तस्मात् कर्म नास्ति इति तव चेतसि वर्त्तते । परं
 हे अग्निभूते! नायमर्थः समर्थः । यत इमानि पदानि पुरुष-
 स्तुतिपराणि । यथा-त्रिविधानि वेदपदानि-कानिचिद्विधि-
 प्रतिपादकानि । यथा-"स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयात्" इत्यादीनि ।
 कानिचिदनुवादपराणि । यथा-"द्वादश मासाः संवत्सरः" इ-
 त्यादीनि । कानिचित् स्तुतिपराणि । यथा-"इदं पुरुष एव"
 इत्यादीनि । ततोऽनेन पुरुषस्य महिमा प्रतीयते न तु कर्माद्य-
 भावः । यथा 'जले विष्णुः स्थले विष्णु-र्विष्णुः पर्वतमस्तके ।
 सर्वभूतमयो विष्णु-स्तस्माद्विष्णुमयं जगत्' ॥ १ ॥ अनेन हि
 वाक्येन विष्णोर्महिमा प्रतीयते, नत्वन्यवस्तुनामभावः । किं च,
 अमूर्तस्यात्मनो मूर्तेन कर्मणा कथमनुग्रहोपघातौ? । तद-
 प्युक्तम्, यदमूर्तस्यापि ज्ञानस्य मद्यादिनोपघातो ग्राह्या-

पौषधेन चानुग्रहो दृष्ट एव । किं च । कर्म विना एकः सुखी, अन्यः दुःखी । एकः प्रभुः, अन्यः किङ्कर इत्यादि प्रत्यक्षं जगद्वैचित्र्यं कथं नाम संभवतीति श्रुत्या गतन्तश्चः प्रवृत्तः । इति द्वितीयो गणधरः । कल्प० । अ० न० २८ । (अन्यद् 'गणधर' शब्दे द्रष्टव्यम्) पायकविभूताः, वीर्ये च । श्री० ६ व० । बहिसम्मवे, वि० वाच० । अग्निपाण्ड-अग्निमानव-पुं० । दाडिशात्यानामग्निकुमाराणामिन्द्रः, स्था० २२ वा० ३ उ० । ज० । (अग्रमहिर्पालोकपालादयश्चास्य 'हन्तमहिर्नाशकपात्रादि' शब्देषु निरूपिताः) अग्निमात्री-अग्निमाती-स्त्री० । रतिकरपर्वनस्योत्तरेण स्थितायां शक्राग्रमहिष्याम्, द्वी० ।

अग्निमिता-अग्निमित्रा-स्त्री० । पोलासनगरवास्तव्यस्याजीविकानतापामकल्येयकुम्भकारस्य सहालपुत्रस्य भार्यायाम्, उपा० ७ अ० । ('सदाहपुत्र' शब्देऽस्या वक्तव्यता) अग्निमेह-अग्निमेघ-पुं० । अग्निवाहकारिजले मेघे, ज० ७ वा० ६ उ० ।

अग्निग्र-अग्निग्र-पुं० । जन्मकाभिधाने वायुविकारे, विपा० १ शु० १ अ० । इन्द्रदत्तेन राज्ञा स्वमन्त्रिसुतायामुत्पादितस्य सुरेन्द्रदत्तस्य दान्यां जाते पुत्रे, ('मणुस्स' शब्दे चैतद्विवृतिः) आ० चू० १ अ० । आ० क० । वत्सगोत्रावान्तर्गतगोत्रे, स्था० ७ वा० । अग्निगलिय-अग्निम-पुं० । अग्ने भवः । अग्र-डिमन् । ज्येष्ठजातरि, द्रष्टुं, वाच० । "अग्निगलिया पच्छिलिया सेसं साहूणपाउमं" । पं० व० २ वा० ।

अग्निह्वय-अग्नि-पुं० । पञ्चपञ्चाशत्तमे महाग्रहे, सू० प्र० २० पाह० । चं० प्र० । "दो अग्निह्वा" स्था० २ वा० । उ० ।

अग्निवेश-अग्निवेश-पुं० । लोकप्रसिद्धे ऋषिभेदे, नं० । अग्निवेश-पुं० । पक्षस्य चतुर्दशे दिने, जं० १ वत्त० । कल्प० । ज० । दिवसस्य द्वाविंशतितमे मुहूर्ते, चं० प्र० । १० पाह० ।

अग्निवेशायण-अग्निवेशायन-पुं० । अग्निवेशस्यापत्यमग्निवेशः । गर्गदीर्घाभिः यप्रत्ययः । तस्याऽपत्यमग्निवेशायनः । अग्निवेशायणपौत्रे, नं० । तत्रोत्रजाते च । यथा-सुधर्मा गणधरः । आ० म० चि० । कल्प० । गोशास्त्रस्य मल्लविपुत्रस्य पञ्चमे दिक्चरे, म० १५ वा० १ उ० । द्वाविंशे दिवसमुहूर्ते, स० ३० सम० ।

अग्निसंस्कार-अग्निसंस्कार-पुं० । अग्निना संस्कारो मन्त्रपूर्वकदाहः । विधानेन अग्निकृतदाहे, वाच० । "जावणया अग्निसंस्कारो" ध्यापना नामाग्निसंस्कारः, स च प्रगवत ऋषयस्य निर्वाणप्राप्तस्याऽन्येषां च साधूनामिदं वाकूनामितरेषां च प्रथमं त्रिदशैः कृतः पञ्चाष्टोकेऽपि संजातः । आ० म० द्वि० ।

अग्निमप्यजा-अग्निमप्यजा-स्त्री० । अवसर्पिण्यां द्वादशतीर्थकरस्य वासुपूज्यस्य दीक्षासमय उपयुक्तशिविकायाम्, स० ।

अग्निसम्म (ए) अग्निशर्मन्-पुं० । तीव्रकोपान्विते ऋषिभेदे, वाच० । यमुपहसता गुणसेनेन नवभवानुषङ्गि वैरं वर्द्धितम् । स्वनामख्याते ब्राह्मणभेदे, आन्वा० १ शु० ३ अ० २ उ० । (अस्य कथानकं 'सीओसणिज' शब्दे द्रष्टव्यम्)

अग्निसाहिय-अग्निसाधिक-त्रि० । अग्नेर्दायभाक्त्वेन साधारणे, यथा- "हिरण्ये य सुवर्षे य जाव सावर्षे अग्निसाहिय चोरसाहिय रायसाहिय मच्छुसाहिय" इत्यादि । म० ए ३ वा० ३ उ० । वा० ।

अग्निशिख-अग्निशिख-पुं० । अग्नेरिव अग्निरिव वा शिखा यस्य । कुङ्कुमवृक्षे, कुसुमवृक्षे च । वाच० । अवसर्पिण्याः सप्तमदत्तनामकवासुदेवनन्दननामकवलदेवयोः पितरि, ति० । स० । आच० । औत्तराणामग्निकुमाराणामिन्द्रे, स्था० २ वा० । ज्वलनशिखनाम्नो राज्ञो मित्रे च । उक्त० १३ अ० । अग्निमुल्यजटावति, त्रि० । अग्निशिखेव शिखाग्रमस्य द्वाङ्गुलिकावृक्षे, स्त्री० । अग्निमुल्याग्रभागे, त्रि० । स्वर्णे, कुसुमपुष्पे च । न० । ६ त० । अग्निज्वाहायाम्, स्त्री० । वाच० । स्था० ।

अग्निसिंहाचारण-अग्निशिखाचारण-पुं० । अग्निशिखासुपादाय तेजस्कायिकानविराधयत्सु स्वयमदह्यमानेषु पादविहारिणपुणेषु चारणभेदेषु, प्रव० ६७ वा० ।

अग्निसेण-अग्निसेण-पुं० । वर्तमानायामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजसम्मवजिनसमकाक्षिकैरवतजे तीर्थकरे, "भरहे य संज-वजिणो, ऐरवण अग्निसेणजिनचंदो" ति० । प्रारतजारिष्ठनमिसमकालिकैरवतजे तीर्थकरे च, "भरहे अरिष्ठणेमि, ऐरवण अग्निसेणजिनचंदो" ति० । प्रव० ।

अग्निहोत्र-अग्निहोत्र-न० । अग्नये हुयतेऽत्र । हु-त्र । ४ त० । मन्त्रकरणवह्निस्थापनानन्तरं तदुद्देश्यकदोमे, वाच० । तत्स्वरूपं च समये वर्णिताद् लौकिकप्रतिदिनकृत्यादवगन्तव्यम् । यथा 'सिच' शब्दे शिवराजर्षिचरित्रोपाख्याने वर्णितम् । तच्च नित्यं काम्यं च यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति । वाच० । 'जरामर्त्यं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्रं, तज्जरामर्त्यमेव, यावज्जीवं कर्त्तव्यमिति' [आ० म० द्वि० । विशेषः] श्रुत्या, 'नित्यस्य उपसन्निधिरित्वा मासमेकमग्निहोत्रं जुहोतीति' श्रुत्या च, काम्यस्य विधानमुक्तम् । वाच० । एतच्चाकिञ्चित्करमिति सिद्धान्ते दर्शितम्—

हुण एगे पवयंति मोक्खं ॥ १२ ॥

एके तापसब्राह्मणादयो हुतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति । ये किल स्वर्गादिफलमनाशंस्य समिधा भूतादिभिर्हव्यविशेषैर्हुताशनं तर्पयन्ति ते मोक्षायाग्निहोत्रं जुहति, शेषास्वच्युदयायति । युक्तिं चात्र त आहुः-यथा ह्यग्निः सुवर्णादीनामलं दहत्येवं दहनसामर्थ्यदर्शनादामनोऽप्यान्तरं पापमिति ।

इति पूर्वपक्षमुद्भाव्य—

हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति
सायं च पायं अगाणं फुसंता ।

एवं सिया सिद्धि हवज्ज तम्हा

अग्नि फुसंताण कुकर्मणं पि ॥ १७ ॥

"अग्निहोत्रं जुह्यात् स्वर्गकामः" इत्यस्माद्वाक्याद् ये केचन मूढा हुतेनाऽग्नौ हव्यपक्षेपेण सिद्धिं सुगतिगमनादिकां स्वर्गावासिलक्षणासुदाहरन्ति प्रतिपादयन्ति । कथंभूताः, सायमपराहणे विकाले वा, प्रातः प्रत्यूषे वाऽग्निं स्पृशन्तो यथेष्टैर्हव्यैरग्निं तर्पयन्तस्तत एव यथेष्टगतिमभिव्यपन्ति । आहुश्चैवं ते-यथा अग्निकार्यास्यादेव सिद्धिरिति । तत्र च यदेवमग्नि-स्पृशेन्न सिद्धिर्भवेत्, ततस्तस्मादग्निं स्पृशतां कुकर्मिणामङ्गा-रदाहकुम्भकारायस्कारादीनां सिद्धिः स्यात् । यदपि च मन्त्रपूतादिकं तैरुदाह्रियते तदपि च निरन्तराः सुहृदः प्रत्येक्यन्ति, यतः कुकर्मिणामप्यग्निकार्यं जस्मापादनमग्निहोत्रिकादीनामपि जस्मसात्करणमिति नातिरिच्यते कुकर्मिण्योऽग्निहोत्रादिकं कर्मेति ! यदप्युच्यते-अग्निमुखा वै देवाः, एतदपि

युक्तिविकलत्वाद् वाङ्मात्रमेव । विष्ठादिभक्त्येन चान्तेस्तेषां
चदुतरदोषोत्पत्तेरिति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । यदप्यभिहितम्-दे-
वताऽतिथिपितृप्रीतिसंपादकत्वाद् वेदविहिता हिंसा न दोषाय
इति । तदपि वितथम् । यतो देवानां संकल्पमात्रेण तन्माभिमता-
हारपुद्गलरसास्वादसुहितानां वैक्रियशरीरत्वाद् युष्मदावजि-
तजुगुप्सितपशुमांसाद्याहुतिप्रतिगृहीताविच्छेदः पुःसंभवा, औ-
दारिकशरीरिणामेव तदुपादानयोग्यत्वात् । प्रक्षेपाहारस्वी-
कारे च देवानां मन्त्रमयदेहत्वाज्युपगमवाधः । न च तेषां मन्त्र-
मयदेहत्वं भवत्पक्षे न सिद्धम् । “चतुर्थ्यन्तं पदमेव देवता” इ-
ति जैमिनिवचनप्राप्तायात् । तथा च मृगेन्द्रः- “शब्देतरत्वे
युगप-द्विजदेशेषु यष्टुषु । न सा प्रयाति साग्नित्थं, मूर्त्तत्वादस-
दादिवत्” ॥ १॥ इति । सेति देवता । ह्यमानस्य च वस्तुनो भस्मी-
जावमात्रेण पलभ्यात् तदुपभोगजनिता देवतानां प्रीतिः प्रला-
पमात्रम् । अपि च । योऽयं वेताऽग्निः स त्र्यम्बकशक्तोऽतिदेवता-
नां मुखम्, “अग्निमुखा वै देवाः” इति श्रुतेः । ततश्चोत्तम-
मध्यमाधमदेवानामेकेनैव मुखेन श्रुज्जानानामन्योन्याच्छि-
ष्टभुक्तिप्रसङ्गः । तथाच ते तुरुष्केभ्योऽप्यतिरिच्यन्ते । तेऽपि
तावदेकत्रैवामत्रे श्रुज्यते, न पुनरेकेनैव वदनेन । किञ्च ।
एकस्मिन् वपुषि वदनबाहुल्यं कचन श्रूयते, यत् पुनरनेकशरी-
रेष्वेकं मुखमिति महदाश्चर्यम् । सर्वेषां च देवानामेकस्मिन्नेव
मुखेऽङ्गीकृते यदा केनचिदेको देवः पूजादिनाऽऽराधोऽन्यश्च नि-
न्दादिना विरादस्ततश्चैकेनैव मुखेन युगपदनुग्रहनिग्रहवाक्यो-
च्चारणसंकरः प्रसज्यते । अन्यच्च । मुखं देहस्य नवमो भागस्त-
दपि येषां दाहात्मकं तेषामेकैकशः सकलदेहस्य दाहात्मक-
त्वं त्रिष्टुवनप्रवनप्रस्मीकरणपर्यवसितमेव संभाव्यते, इत्यत-
ति चर्चया । यच्च कारीरीयज्ञादौ वृष्ट्यादिफलाव्यभिचारस्त-
त्प्रीणितदेवताऽनुग्रहहेतुक उक्तः । सोऽप्यनैकान्तिकः । क्वचि-
ह्यभिचारस्यापि दर्शनात् । यत्रापि न व्यभिचारस्तत्रापि न
तदाहिताहुतिभोजनजन्मा तदनुग्रहः, किं तु स देवताविशेषोऽ-
तिशयज्ञानी स्वोद्देशनिर्वर्त्तितं पूजोपचारं यदा स्वस्थानावस्थि-
तः सन् जानीते तदा तत्कर्त्तारं प्रति प्रसन्नचेतोऽवृत्तिस्तत्तत्का-
र्याणीच्छावशात्साधयति । अनुपयोगादिना पुनरजानानो जाना-
नोऽपि वा पूजाकर्तुरभाम्यसहकृतः सन्न साधयति, ह्येकत्रकाल-
ज्जावादिसहकारिसाच्चिन्त्यापेक्षस्यैव कार्यात्पादस्योपलभ्यताम् ।
स च पूजोपचारः पशुविशसनव्यतिरिक्तैः प्रकारान्तरैरपि सुकरः,
तत्किमनया पापैकफलया शौनिकवृत्त्या ? यच्च गगनजाङ्गलहो-
मात् परराष्ट्रवशीकृतिसिद्ध्या देव्याः परितोषानुमानम् । तत्र कः
किमाह ? कासांचित् जुहूदेवतानां तथैव प्रत्यङ्गीकारात् । केवलं
तत्रापि तद्वस्तुदर्शनज्ञानादिनैव परितोषो न पुनस्तद्वृत्त्या । नि-
म्बपत्रकटुकतैलाऽऽनालधूमादीनां ह्यमानहव्याणामपि तद्-
भोज्यत्वप्रसङ्गात् । परमार्थतस्तु तत्तत्सहकारिसमवधानसचि-
वाराधकानां भक्तिरेव तत्तत्फलं जनयति, अचेतने चिन्तामण्यादौ
तथा दर्शनात् । स्यात् ० ११ श्लो० ॥ ननु “न वि जाणसि वेयमुहं न
वि जन्नाणं जं मुहं ति” जयघोषेण पृष्टो विजयघोषोऽशङ्क उ-
त्तरदाने “वेयाणं च मुहं बूहि, बूहि जप्साणं जं मुहं ति” जयघोष-
मेवं जिज्ञासमानः “अग्निहोत्रमुहावेया जप्साणी वेयसां मुहं” ।
इति तथ्यमुत्तरमवाप्तो विजयघोषः प्रवन्नाज । उक्त० २५ अ० ।
इत्यग्निहोत्रस्य सिद्धान्तेऽपि कर्तव्यत्वमन्युपगतं कथं दृष्यते ?
सत्यम् । न तत्र प्राणिबधप्रधानं हव्याग्निहोत्रं गृह्यते, किं तर्हि
ध्यानाग्निहोत्रम् । तथाच तटीका-अग्निहोत्रमग्निकारिका, सा

चेह “कर्मेन्धनं समाश्रित्य, दृढा सद्भावनाऽऽहुतिः । धर्मध्याना-
ग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका” ॥ १॥ इत्यादिरूपा परिगृह्यते ।
तदेव मुखं प्रधानं येषां तेऽग्निहोत्रमुखा वेदाः । वेदानां हि दध्या-
देरिव नवनीतादि आरण्यकमेव प्रधानम् । उक्तं हि- “नवनीतं
यथा दध्नश्चन्दनं मलयादिव । औपधेज्योऽमृतं यद्द-द्वेदेव्यार-
ण्यकं तथा” ॥ १॥ तत्र च दशप्रकार एव धर्म उक्तः । तथा च तद्व-
चः- “सत्यं तपः संतोषः संयमश्चारित्र्यमार्जवं क्रमा धृतिः श्रद्धा
अहिंसेत्येतद्दशविधमिह धामेति” । तत्र च धामशब्देन धर्म
एव विवक्षितः । एतदनुसारि चोक्तरूपमेवाग्निहोत्रमिति । उ-
क्त० २५ अ० ।

एतदेव प्रपञ्चितं हारिभद्राष्टके—

कर्मेन्धनं समाश्रित्य, दृढा सद्भावनाऽऽहुतिः ।

धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका ॥ १ ॥

कर्म ज्ञानावरणादिकं मूलप्रकृत्यपेक्षयाऽष्टप्रकारं, तदेव दाह-
त्वादपनेयत्वादिन्धनामिवेन्धनं कर्मेन्धनं तत्समाश्रित्याङ्गीकृत्या-
ग्निकारिका कार्येति योगः । किंविधा ? दृढा कर्मेन्धनदाहं प्रति
प्रत्यक्षा । तथा सद्भावना शुभरूपा या जीवस्य वासना सैवा-
हुतिर्धृतादिप्रक्षेपलक्षणा यस्यां सा तथा । केन करणभूतेनेत्या-
ह-धर्मध्यानाग्निना धर्मध्यानमुपलक्षणत्वाच्छ्रुद्ध्यानं तच्चाग्निरि-
धानिर्धर्मध्यानं च तदग्निश्च धर्मध्यानाग्निस्तत्र कार्या विधेया ।
केनेत्याह-दीक्षितेन प्रव्रजितेन । काऽसौ ? अग्निकारिका अग्निक-
र्मेति । इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यम्—दीक्षितस्य हव्याग्निकारिका
अनुचिता, तस्या चूतोपमर्दरूपत्वात्, तस्य च तन्निवृत्तत्वेन
तत्रानधिकारित्वात् । अधिकारिवशाच्च धर्मसाधनसंस्थितिरिति
प्रागुक्तम् । गृहस्थस्य तु सर्वथा चूतोपमर्दानिवृत्तत्वेनाधिका-
रित्वात्तां करोत्यपि । अत एव धूपदहनदीपप्रबोधादिना प्रका-
रेण हव्याग्निकारिकामपि कुर्वन्त्यार्हतगृहस्था इति । अनेन
श्लोकेनेदमुक्तं भवति—यदि हे कुतीर्थिकाः ! यूयं दीक्षितास्तदा
कर्मलक्षणाः समिधः कृत्वा धर्मध्यानलक्षणमग्निं प्रज्वाल्य
सद्भावनाहुतिप्रक्षेपतोऽग्निकारिका कार्या, नत्वन्या, तस्या दी-
क्षितानामनुचितत्वात् । यदि तु हन्त ! गृहस्थास्तच्चुल्या या,
ततः कुरुष्वं हव्याग्निकारिकामिति ॥ १ ॥

अथ ध्यानाग्निकारिकैव कार्या दीक्षितेनेति परसि-

द्धान्तेनैव प्रसाधयन्नाह—

दीक्षा मोक्षार्थमाख्याता, ज्ञानध्यानफलं स च ।

शास्त्र उक्तो यतः सूत्रं, शिवधर्मोत्तरे हृदः ॥ २ ॥

दीक्षा प्रव्रज्या, मोक्षार्थं सकलकर्मनिर्मुक्तिनिमित्तमाख्याता त-
त्स्वरूपज्ञैर्निर्गदिता । यत एवं ततस्तां प्रतिपन्नेन मोक्षसाधक-
मेवानुष्ठानमाश्रयणीयं न पुनर्हव्याग्निकारिकेति हृदयम् । ह-
व्याग्निकारिकैव साधनं मोक्षस्येत्याशङ्क्य निराकरणायाह-
(ज्ञानध्यानफलं स चेति) स पुनर्मोक्षो विज्ञप्तिशुनैकाग्रत्वयोः
साध्यो वर्त्तते न पुनर्हव्याग्निकारिकाया इति भावना । कथमि-
दमवसितं प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वात्तस्येति चेदत आह-शास्त्रे उक्तः
आगमे ज्ञानध्यानफलतयाऽभिहित इत्यर्थः । यद्यपि हि प्रत्यक्षा-
नुमानयोरसावतीन्द्रियत्वेनागोचरस्तथाऽप्यगमाभिहितत्वात्
ज्ञानफलतयाऽसौ प्रतिपत्तव्यः । आगमश्च प्रमाणतया सर्वमोक्ष-
वादिजिरन्युपगत एव । यद्यपि च बौद्धैः स तथा नेप्यते, त-
थापि संशयविशेषनिबन्धनतया प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुत्वात् तैः क-
थंचिदन्युपगत एवेति । अथ कथमवसितमिदं यदुत शास्त्रेऽसौ

नन्वातनयाश्रितिन इत्याशा-शाट-यनो यन्मात्कारणात् नृ-
न्येनृक्तं वाचं शिवधर्मोत्तरे शिवधर्मोभिधाने पराजिते
शेषागमविशेषे, त्रिगिति वाच्यार्थकारे । अद एतद्व्ययनाप-
मिति । अतो भयवत्पुनःपुनः शोकास्य ज्ञानादिफलतयोक्त-
न्याय मोक्षार्थिना दीक्षितेनानधिकृता द्रव्याग्निकारिका का-
येति ज्ञायार्थ इति ॥ २ ॥

तदेव नृवं नृन्ययाह—

पूजया विपुलं राज्य-प्रशिकार्येण संपदः ।

नयः पापविशुद्धयर्थं, ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥३॥

पूजया देवनायाः पुण्याद्यर्चनप्रकाशना न तु तदन्यथा, तदन्य-
स्यान्तर्पोषणान्पन्नेन पापविशुद्धिमोक्षयोरेव संपादकत्वाद् । वि-
पुलं विस्तीर्णं राज्यं राजमायो भवति, तन्कारकस्येति गम्यते ।
नया प्रशिकार्येण शान्तायशिता वा कार्यं कृत्यमशिकार्यम्, तेन
द्रव्याग्निकारिकेत्यर्थः, न ज्ञानाग्निकारिकया, तस्या ध्यानरूप-
त्वेन मुक्तिमाधकत्वात् । संपदः समृद्धयो जयन्तीति गम्यम् ।
नया नपोऽननानादि, पापविशुद्धयर्थं नृभक्तमर्कमाय भवति ।
नया ज्ञानमवयोधविशेषः, ध्यानं च शुभचित्तकाप्रतालक्षणम्, च
संपदः समृद्धयः, मुक्तिदं मोक्षप्रदं जयतीति शिवधर्मोत्तरग्रन्थ-
सूत्रार्थ इति ॥ ३ ॥

एवं नावन् पराज्यपुण्यमेतैव द्रव्याग्निकारिकाकरणं दीक्षितस्य
इति नमः, अथ तस्यैव पूजां पुनराग्निकारिकां च प्रकारान्तरेण
दृश्यकाह—

पापं च राज्यसंपत्तुः, संभवत्यनयं ततः ।

न तदेवोत्पादान-मिति सम्पत् विचिन्त्यताम् ॥४॥

न केवलं मुमुक्षोरग्निकारिकाकरणमपायकम्, पापं चाशुभं कर्म
च, राज्यसंपत्तु नरपतित्वसमृद्धिपु पूजाग्निकारिकाकरणान-
न्तरं फलभूतानु सतीपु, संभवति संजायते । यत एव ततस्त-
न्मादनयं निरवयं ते नैव भवति, तदेवोः राज्यसंपत्कारणयोः
पूजाग्निकारिकारूपयोरुपादानमाश्रयणमिति । एतदनन्तरं पू-
जाग्निकारिकयोरुपादानस्य संपात्वं सम्यक् स्वमिच्छान्तावि-
रोधनं विचिन्त्यतां पर्यालोच्यतामिति । सुपर्यालोचितकारिणो
दि भवन्ति मुमुक्षव इति ॥ ४ ॥

राज्यसंपत्तु पापं भवतीत्युक्तं तदेवाश्रित्याक्षेपः क्रियते,

ननु राज्यसंपत्ताये भवतु नाम पापम्, दानादिना तु

तस्य शुक्तिर्नविष्यतीत्याशङ्क्याह—

विशुद्धिश्चास्य तपसा, न तु दानादिनैव यत् ।

तदियं नान्यथा युक्ता, तथा चोक्तं महात्मना ॥५॥

विशोधनं विशुद्धिः, सा पुनरस्य राज्यादिजन्यपापस्य तपसा,
अथधारणस्यैव संवन्धान्तपसैव अनशनादिनैव, तपः पापवि-
शुद्धयर्थमिति वचनात्, न तु दानादिना न पुनर्दानहोमादिना,
दानेन भोगानाप्नोतीति वचनात् । तत् कथं दीक्षितस्य पूजाशि-
कारिके युक्ते इति । इह च द्रव्याग्निकारिकाया एव मुख्यं दूषणं,
पूजायास्तु प्रासङ्गिकमित्यग्निकारिकाया एव निगमनमाह—(त-
दियं नान्यथा युक्तेति) यस्मात् मुमुक्षोर्व्यर्थं पापसाधनसंप-
द्धेतुता च, तत्तस्मादियमग्निकारिका, नैव, अन्यथा धर्मध्याना-
ग्निकारिकायाः प्रकारान्तरापन्ना, द्रव्याग्निकारिकेत्यर्थः, युक्ता सं-
गतेति । विशोधनार्हपापसंपादकसंप्रतिमितत्वेन द्रव्याग्निका-
रिकाया अकरणीयत्वं व्यासस्यापि न्यायतः संमतमिति दर्शय-
काह-तथा चोक्तं महात्मनेति । तथा च यथाऽस्मदुक्तार्थसंवादा
भवति, तथैव उक्तमग्निहितं, महात्मना परमस्वभावेन, व्यासेनेति

शेषः । इह च यन्मिथ्याहरेरपि व्यासस्य महात्मत्वान्निधान-
मात्रायैण कृतं, तत्परसंमतानुरणमात्रमात्मनो माध्यस्थ्या-
विष्करणार्थमिति न द्रष्टव्यम् । संमतश्च परस्य माहात्म्यतया व्या-
सः । अत एव च तद्वचनं स्वपक्षे परप्रतीतिजननायोपन्यस्तमिति ॥५॥

तदेवाह—

धर्मार्थं यस्य विच्छेदा, तस्यानीहा गरीयसी ।

प्रकालनाच्छि पङ्क्तस्य, दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ ६ ॥

धर्मार्थं धर्मनिमित्तं, यस्य पुंसः, विच्छेदा द्रव्योपाजनेन चेष्टा कृपिवा-
णिज्यादिका, तस्य पुरुषस्य, अनीहा अचेष्टा विज्ञानुपाजनेन मेव, ग-
रीयसी श्रेयसितरा, सङ्गततरेत्यर्थः । अयमभिप्रायः—विच्छेद्यं चेष्टा-
यामवश्यं पापं भवति, तच्चोपाजितवित्तवितरणेनावश्यं शोध-
नीयं जयति । एवं च विच्छाधर्मवेष्टैव वरतरा, वित्तवितरणविशो-
ध्यपापाजायात्, परिग्रहार्जनवर्जनात्मकत्वेन चेष्टाया एव च धर्म-
त्वादिति । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह—प्रकालनाच्छिवाचनात् सकाशाद् हिर्य-
स्मात्, पङ्क्तस्याशुचिरूपकर्मस्य दूराद् विप्रकर्षादस्पर्शनमश्लेषण
मेव, वरं प्रधानमिति । इदमुक्तं भवति—यदि पङ्क्ते करचरणादिरवय-
वः क्षिप्त्वाऽपि प्रकालनीयस्तदा वरमक्षित एव, एवं यद्यग्निकारि-
कां विधाय संपदं वपाजनीयास्तज्जन्त्यपातकं च पुनर्दानेन शोधनी-
यं, तदा सैवाग्निकारिका वरमकृतेति । प्रयोगश्चेह—न विधेया मुमु-
क्षुणा द्रव्याग्निकारिका, तत्संपाद्यस्य कर्मपङ्क्तस्य पुनः शो-
धनीयत्वात्, पादादेः पङ्क्तेष्वदिति । एवं तर्हि गृहस्थेनापि पू-
जादिन कार्यं स्यात्, नैवम्, यतो जैनगृहस्थान् न राज्यादिनिमित्तं
पूजां कुर्वन्ति । न च राज्याद्यावर्जितमवश्यं दानेन शोधयिष्याम
इति मन्यन्ते, मोक्षार्थमेव तेषां पूजादौ प्रवृत्तेः । मोक्षार्थितया च
विहितस्यागमानुसारिणो वीतरागपूजादेर्मोक्ष एव मुख्यं फलम्,
राज्यादि तु प्रासङ्गिकम् । ततो गृहिणः पूजादिकं नावि-
धेयम्, दीक्षितेतरेषाञ्च अनुष्ठानस्यानन्तर्यपारंपर्यकृत एव फले
विशेष इति ॥ ६ ॥

दीक्षितस्यापि संपदर्थित्वे सति युक्ता द्रव्याग्निका-

रिकेत्याशङ्कनिराकरणायाह—

मोक्षाध्वसेवया चैताः, प्रायः शुभतरा जुवि ।

जायन्ते ह्यनपायिन्य-इयं सच्छास्त्रसंस्थितिः ॥ ७ ॥

मोक्षा निर्वाणम्, तस्याध्वा मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचरणलक्षण-
स्तस्य सेवाऽनुष्ठानं मोक्षाध्वसेवा, तथा, चशब्दः पुनःशब्दार्थः ।
ततश्चाग्निकारिकायाः कार्यभूताः संपदः पापहेतुतया अशुभाः,
मोक्षाध्वमेवया पुनः शुभतरा जयन्तीत्यर्थो वक्ष्यते । अवधार-
णार्थो वा चशब्दः, तेन मोक्षाध्वसेवयैव, नाग्निकारिकाकर-
णत एता अनन्तरोदिता अग्निकारिकाफलभूताः संपदः, प्रायो
वाहुत्येन । प्रायोग्रहणं च कस्यापि मोक्षाध्वसेवाजव एव नि-
र्वाणमावाप्तं जायन्ते एवेति ज्ञापनार्थम् । अतएव अग्निकारि-
काकरणेभ्यः सकाशात्प्रशस्ततराः भुवि पृथिव्यां, जायन्ते भव-
न्ति । हिशब्दो यस्मादर्थः, अनपायिन्यः पापवर्जिताः । यस्मा-
न्मोक्षाध्वसेवया प्रशस्ततराः, अनपायिन्यश्च संपदो जायन्ते, त-
स्मादियमग्निक्रिया नान्यथा युक्तेति प्रक्रमः । मोक्षाध्वसेवया
शुभतरा एता भवन्तीति कथमिदमवसितमित्याशङ्क्यामाह—
इहेयमनन्तरोदिता सच्छास्त्रसंस्थितिराविसंवादाकागमव्यवस्था;
यदाह—“मोक्षमार्गप्रवृत्तस्य, महाज्युदयवर्धयः । संजायन्तेऽनु-
पङ्केण, पलाहं सत्कृपाविच ” ॥१॥ मुमुक्षूणां च शास्त्रं प्रमाण-
मेव । यदाऽऽह—“न मानमागमादन्यद्, मुमुक्षूणां हि विद्यते ।
मोक्षमार्गं ततस्तत्र, यतितव्यं मनीषिभिरिति ” ॥ ७ ॥

अथ परसमयसमाश्रयणेनैव इव्याग्निकारिकाकरणं
निराकुर्वन्नाह—

इष्टापूर्त्तं न मोक्षाङ्गं, सकामस्योपवर्णितम् ।

अकामस्य पुनर्योक्ता, सैव न्याय्याऽग्निकारिका ॥ ८ ॥

इज्यते दीयते स्मेतीष्टम्, पूर्यते स्मेति पूर्त्तम्, इष्टं च पूर्त्तं चे-
तीष्टापूर्त्तमिति समाहारद्वन्द्वः। छान्दसत्वाच्चेष्टापूर्त्तम् । तत्स्वरूपं
चेदम्—“अन्तर्वेद्यां तु यद्वत्तं, ब्राह्मणानां समकृतः। ऋत्विग्भिर्म-
न्त्रसंस्कारैरिष्टं तदभिधीयते ॥ वायीकूपतडागानि, देवतायत-
नानि च। अन्नप्रदानमारामाः, पूर्त्तं तदभिधीयते ॥ २॥” तदेवमुक्त-
स्वरूपमिष्टापूर्त्तम्, न नैव, मोक्षाङ्गं मुक्तिकारणम् । इहायमग्नि-
प्रायः—अग्निकारिका न मोक्षाङ्गमिष्टकर्मरूपत्वात् । तस्या यतोऽन्त-
र्वेद्यामाहुतिप्राधान्येन कर्माणीष्यन्त इति । कुतस्तन्न मोक्षाङ्गमि-
त्याह—सकामस्याभ्युदयान्निष्ठापिणः, यस्मात्तदित्येष वाक्यशे-
षो दृश्यः । उपवर्णितमुपदिष्टम्, भवदीयसिद्धान्त एव यतः श्रू-
यते—“स्वर्गकामो यजेत ” इत्यादि श्रुतिवचनम् । तथा “इष्टा(पू-
र्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं, नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः । नाकस्य
पृष्ठे सुकृतेन भूत्वा, इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ” इति ।
अथाकामस्य का वार्तत्याशङ्क्याह—अकामस्य स्वर्गपुत्राद्यनाश-
सावतो मुमुक्षोः, पुनःशब्दः पूर्ववाक्यार्थस्य विशेषाभिधायकः ।
योक्ता कर्मेन्धनमित्यादिना प्रतिपादिता, सैव, नान्या परान्युपग-
ता, न्याय्या न्यायादनपेता । न्यायश्च दर्शित एव । अग्निकारिकाऽ-
ग्निक्रियेति ॥ ८ ॥ इति चतुर्थाष्टकविवरणम् ॥ ८० ॥ ४ अष्ट० ।
अग्निहोत्रसम्बन्धित्वाद् हविषि, ब्रह्मै च । पुं० । वाच० ।

अग्निहोत्रवाङ् (ए) अग्निहोत्रवादिन्—पुं० । अग्निहोत्रादेव
स्वर्गगमनमिच्छति, तत्सिद्ध्ये युक्त्यादिनि, “ जे अग्निहो-
त्रवादी जलसोयं जे य इच्छति ” इत्यग्निहोत्रवादिनां कुशील-
त्वं दर्शितम् । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अगुज्जाण—अग्र्योद्यान—न० । नगरादेर्वहिः प्रधानोद्याने, “ ह-
त्थिसीसे जस्स णयरस्स बहिया अगुज्जाणे सत्थससिवेसं क-
रेति ” । ज्ञा० १७ अ० । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अग्नेत्र—आग्नेय—त्रि० अग्नेरिदम्, अग्निदेवताऽस्य वा ढक् । अ-
ग्निदेवताके हविरादौ, वाच० । शास्त्रभेदे च । न० । सूत्र० १
श्रु० ८ अ० ।

अग्नेर् (णी) आग्नेयी—स्त्री० अग्निदेवता यस्याः सा आग्ने-
यी । दक्षिणपूर्वस्यां विदिशि, (‘दिशा’ शब्दे वक्तव्यता) न०
१ श० १ उ० । स्था० । आ० म० द्वि० ।

अग्नेणीय—अग्रायणीय—न० । चतुर्दशपूर्वाणां मध्ये द्वितीयपूर्वे,
(अस्य विस्तरस्तु ‘अग्नाणीय’ शब्दे) न० । स्था० ।

अग्नेत (य) ण—अग्नेतन—त्रि० । अग्ने भवति, अग्ने-ट्यु । पौर-
स्त्ये, आ० म० प्र० ।

अग्नादय—अग्नोदक—न० । उपरितन उदके, “लवणस्स णं समु-
हस्स सठ्ठि णागसाहस्सीओ अग्नादयं धारैति ” अग्नादयंति-
पोडशसहस्रोच्छ्रिताया वेल्लया यत्तुपरि गव्यूतिद्वयमानं वृक्कि-
हानिस्वप्नावं तदग्नोदकम् । जीवा० ३ प्रति० ।

अग्न-राज-धा० दीप्तौ, ज्वादि०, उभ०, अक०, सेट्, फणादिः ।
वाच० । “ राजेरग्नज्जसहरीररेहाः ” ८ । ४ । १०० । इति
राजेरग्नः । अग्नश्च, राजति, राजते । प्रा० ।

अर्घ्य—पुं० अर्ह-घञ् । रजतादिद्रव्यरूपे मूल्ये, वाच० । संथा० ।

आव० मत्स्यभेदे, “ ववणसमुद्दे अत्यिवेहं धरंति वा णाग-
राया अग्घसिंहा विजाइ वा ” अर्घादयो मत्स्यकच्छपविंश-
पाः । जी० ३ प्रति० ।

अर्ह—करणे घञ्, न्यङ्कादित्वात् कुत्वम् । पूजोपचारे दूर्वाङ्क-
तादौ, वाच० । पुष्पादिषु पूजाद्रव्येषु, ज्ञा० १६ अ० ।

अर्घ्य—त्रि० अर्घाय देयं यत्तदक्ष्यम् । पूजार्थं देये जज्ञादौ, अ-
र्धइव्याणि च “आपः क्षीरं कुशाग्रं च, दधि सर्पिः सतएकुलम् ।
यवः सिद्धार्थकश्चैव अष्टाङ्गोऽर्घः प्रकीर्तितः ” ॥ १ ॥ वाच० ।

अग्नान्—पूर—धा० पूर्यते, प्रीणने च । दिवा०, आत्म०, सक०, से-
ट् । चुरा०, उभ०, सक०, सेट् । वाच० । प्राकृते “पूरेरग्नाडोग्रवोङ्कु-
मांगुमाहिरेमाः ” ८ । ४ । १६८ । इति पूरेरग्नादेशः । अग्नान्-
रुद्, पूर्यते, पूरयति वा । प्रा० ।

अग्नान्—आप्रातक—पुं० । गुच्छवनस्पतिकायभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अग्नान्—देशी, अपामार्गे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अग्नान्—देशी, तृप्तार्थे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अग्नान्—आग्नान्—अव्य० । नासिकया गन्धं गृहीत्वैत्यर्थः । “सुर-
जिगंधाणि वा अग्नान् से तत्थ आसाय वनियाप मुच्छिप ”
आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । आ० म० प्र० ।

अग्नान्—आजिघ्रत्—त्रि० । उत्सिङ्गति गन्धं नासिकया गृ-
ह्णाति, “महया गंधरुणिं मुयंतं अग्नान्माणीओ दोहं विणि-
ति ” ज्ञा० ८ अ० । आ० म० द्वि० ।

अग्नान्—अर्घित—त्रि० । अर्घ-क्त, अर्घः संजातोऽस्य इतच् वा ।

वहुमूल्ये, “ अग्नियं नाम बहुमोहं ” नि० चू० २ उ० ।

अग्न-अग्न-न० । अग्न-भावेऽच् । पापे, वाच० । “ब्राह्मणो द्वि-
प्यते नाद्ये-नियोगप्रतिपत्तिमान्” अष्ट० २८ अष्ट० । कर्त्तरि अच् ।
पापकारके, त्रि० । व्यसने, डुस्ते च । न० । पूतनावकासुरयो-
र्जातरि असुरभेदे, पुं० । वाच० ।

अग्न-अग्न-त्रि० । न० त० । अट्टे, ओ० । विरले, पिं० ।

अग्नान्—अग्नान्—स्त्री० ज्ञानदर्शनादिगुणानां मध्ये न कि-
ञ्चिद् गुणं प्रन्तीत्येवंशिला अग्नान्तिन्यः । ज्ञानादिगुणानामघातनाम-
करणशीलासु कर्मप्रकृतिषु, अग्नान्तिन्यः प्रकृतयो ज्ञानादिगुणं न
प्रन्ति, केवलं यथा स्वयमतस्करस्वभावोऽपि तस्करैः सह वर्त-
मानस्तस्कर इव दृश्यते, एवमेता अपि घातिनीभिः सह विद्यमा-
नास्तद्दोषा इव भवन्ति । यदाहुः श्रीशिवशर्मसूरिप्रवराः—“अवसे-
सा पयसीओ, अग्नान्तिनां पत्त्रियभागो” पत्त्रियभागु स्ति । सादृश्यं
घातित्वं च प्रकृतीनां रसाविशेषाद् विक्रियम (ताश्च पञ्चसत्तासिं-
ख्याका अभिधीयन्ते, इत्यादि ‘कम्म’ शब्दे तृतीयभागे २६५
पत्रे प्रतिपादितम्)

अग्नान्—अग्नान्तिरस—पुं० ज्ञानादिगुणस्य स्वकार्यसाधनं प्र-
त्यसामर्थ्याकारके रसस्पर्द्धकसङ्घाते, पं० सं० ३ द्वा० ।

अग्नान्तिरसस्वरूपमाह—

जाण न विसओ घाइ—तणम्मि ताणं पि सव्वघाइरसो ।

जायइ घाइसगासे—ण चोरया वेव चोराणं ॥ ३६ ॥

यासां प्रकृतीनां घातित्वमधिकृत्य न कोऽपि विषयो न किमपि
ज्ञानादिगुणं घातयतीत्यर्थः, तासामपि घातिसकाशेन सर्वघा-
तिप्रकृतिसंपर्कतो जायते सर्वघातिरसः । अत्रैव निदर्शनमाह—
यथा स्वयमचौराणां सतां चौरसंपर्कतश्चौरता । पं० सं० ३ द्वा० ।

अचरिमे दुविहे पस्यते । तं जहा-अणादि ए वा अप-
ज्जवसिए, सादि ए वा अपज्जवसिए ।

अचरमो द्विविधः-अनाद्यपर्यवसितः साद्यपर्यवसितश्च ।
सत्राऽनाद्यपर्यवसितोऽभव्यः, साद्यपर्यवसितः सिद्धः ।
प्रज्ञा० १६ पद ।

अचर (रि) मंनपएस्-अचरमान्तप्रदेश-पुं० अचरम एव क-
स्याप्यपेक्षयाऽनन्तवर्तित्वाद्वा, प्रज्ञा० ए पद । ('चरम' शब्दे-
ऽचरमान्तप्रदेशत्वपृच्छा कारिष्यते) ।

अचर(रि) मसमय-अचरमसमय-पुं० चरमसमयादन्यस्मिन्
यावच्छैलेश्यवस्थाचरमसमये, नं० ।

अचर (रि) मावट्-अचरमावर्त्त-चरमपुञ्जलपरायर्तादर्वाक्
समये, अष्ट० १८ अष्ट० ।

अच (य) ल-अचल-त्रि० । न० त० । निष्प्रकम्पे, "अयत्ने भव-
भेरवान्" कल्प० । "अणिहे अचले चले अवहिष्ठेस्से परिव्व-
ए" । न चलतीत्यचलः परीपहोपसर्गवातेरितोऽपि । आचा० १श्रु०
६अ०५३० । "अचत्ते जे समाहिण" यद्यप्यसाविक्रितप्रदेशे स्वतः
शरीरमात्रेण चलति तथाप्यभ्युद्यतमरणान्न चलतीत्यचलः । आ-
चा० १ श्रु० ८ अ०८३० । "अचले जगवं ! रीइजा" आचा० १श्रु०
६ अ०३३० । "अचत्ते जह मंदरे गिरिवरे" अचलो निश्चलः परीप-
हादिभिः । प्रश्न० ५ संव० द्वा० । "सिवमयलमरुयमक्खयमणं-
तमवावाहमपुणरावित्ति सिक्खगइणामधेयं णाणं संपत्ताणं"
अचलम, स्वाभाविकप्रायोगिकचलनक्रियाव्यपोहात् । जी० ३
प्रति० । स० । ल० । भ० । औ० । स्पन्दनादिवर्जितत्वात् । प्रश्न०
४ संव० द्वा० । रा० । ध० । दशार्हाणां षष्ठे दशार्हपुरुषे, अन्त० १वर्ग ।
पूर्वजवे मल्लिनाथजीवस्य महावद्वान्मनो बालवयस्ये, स च तेन
सह प्रव्रजितो विपुलं तपः कृत्वाऽनशनेन मृत्वा जयन्तविमाने
उपपन्नो देशेनानि ३० सागरोपमाणि स्थिति परिपात्य व्युतः
प्रतिबुद्धो नामेद्वाकुराजो जातः । मल्लिनाथेन च सह प्रव्रज्यां
गृहीत्वा सिक्खः । आ० १ श्रु० ८ अ० । ('मल्लि' शब्दे चैतद् विस्तरेण)
अवसर्पिण्यां प्रथमे बलदेवे, प्रव० ३० ए द्वा० । आव० ।
स० । (स च प्रजापतेर्भद्रानाम्यां भार्यायां जातः, तस्य
भागिनी मृगावती । तां तस्य पिता प्रजापतिश्चकमे, इति
जायात्वेन कल्पयित्वा तस्यां त्रिविष्टपनामानं दशमं वासुदेवं
जनयामास । अचलश्च माहिष्मर्ती नामपुरी सह मन्त्राऽऽख्यया
मात्रा गतः । इति 'वीर' शब्दे न्यक्षेण दर्शयिष्यते) गृहे, दे०
ना० १ वर्ग । तद्वक्तव्यता समासेन-

पुत्तो पयावतिस्स, जहा अयलो वि कुच्छिसंजुओ ।
गेरुयपडिक्खमहणे, तिन्निहु अयलो त्ति दो वि जणा ॥ ७३ ॥
अयलं तिविद्ध दोन वि, संगामे आसि दोवि रायाणं ।
हंतूण सव्वदाहि ण, दाहिणजरहं अइजणं ति ॥ ७३ ॥
उप्पणरणयविहवा, कोमिसिलाए वलं तुवेऊणं ।
अरुजरहाहिसेयं, अह अयल तिविहुणो पत्ता ॥ ७४ ॥
चक्कं सुदारिसणं से, संखो वि य एव पंचजस्सनामो त्ति ।
नंदयनामो आसी, रिबुसोणियमंमिंतो आसी ॥ ७५ ॥
माझा य वेजयंती, विचित्तरयणोवसोहियारंजा ।
सारिक्खा जा जणियं, घणसमए इंदरायस्स ॥ ७६ ॥

सत्तुजणस्स जयकरं, जावं दवियारिजीवउच्छावं ।
जीवानिग्घोसेणं, सत्तू महसा पण्ड जस्स ॥ ७७ ॥
कोस्तुभमणी य दिव्वो, वच्चत्थत्तजूसणो तिविद्धस्स ।
दाच्छीए परिगहिओ, रयणुत्तमसारसंगहिओ ॥ ७८ ॥
अमरपरिगहियाइं, संत वि रयणाइ अह तिविद्धस्स ।
अमरेसु जूसणेसु य, एयाइं अजिअपुव्वाइं ॥ ७९ ॥
वहइ हंती वि हलं जो, पणयजिभं व तिकववइरवडं ।
पवरं समरमहाभरु-विट्ताकितीण जीवहरं ॥ ८० ॥
माणंदं वा णंदिय, आसं पि य सत्तुमुकसययदं ।
मुसदं से जे महपुर-जंजणकुसदं वइरसारं ॥ ८१ ॥
सव्वो उ पंचमादं, कुसमासवलोलब्धपयं विउदं ।
माणिकुंरुदं च वामं, कुवेरघरआमारारामं ॥ ८२ ॥
अचलस्स वि अमरपरि-गहाइं एयाइं पवररयणाइं ।
सत्तूणं अजियाइं, समरगुणपहाणगेयाइं ॥ ८३ ॥
वद्धमउडाण निच्चं, रज्जधुरवहणधोरवसत्ताणं ।
जोइनरिंदानाणं, सोदसरातीसहस्साइं ॥ ८४ ॥
वायालीसं दक्खा, हयाण रहगयवराण पडिपुष्पा ।
अट्ठयदेवसहस्सा, अभिउग्गा सव्वकज्जेसु ॥ ८५ ॥
अडयाळाकोडीओ, पाइक्कमयाण रणसमत्थाणं ।
सोदसहस्सा उ तहा, सजणवयाणं पुरवराणं ॥ ८६ ॥
पण्णासं विज्जाहर-नगराण सजणवयाइं रम्माणं ।
पव्वंतरादवासी, नेगो य फणग्गधरमउमो ॥ ८७ ॥
नेगाइं सहस्साइं, गामागरनगरपट्टणादीणं ।
वेयह्ठदाहिणेण उ, पुव्वावरअंतराठियाणं ॥ ८८ ॥
हुरियानुमाणमहणं, अवसे वसमाणइतु नरवइणो ।
दाहिणभरहं सयलं, भुंजति तिज्जाण पमिवक्खा ॥ ८९ ॥
सोलससाहस्सातो नरवइतणयाण रुवकल्लियाणं ।
तवेइ य चिय जणवइ-कट्ठाणीतो तिविद्धस्स ॥ ९० ॥
इय वत्तीससहस्सा, चारुपत्तीण ता तिविद्धस्स ।
धारिणिपामोक्खाण य, अट्ठसहस्साइ अयलस्स ॥ ९१ ॥
ऊसियमगरवयाणं, विदिणवरउत्तवाट्ठावियणाणं ।
सोदसगणियसहस्सा, वसंतसेणापहाणाणं ॥ ९२ ॥
एवं तु मए जणियं, अयत्तातिविट्ठाण दोएहवि जणाणं । ति० ।

"अयत्ने बलदेवे, असीइं धणुइं उट्ठं उच्चत्तेणं होत्था" स० ८
सम० । मनोहरीपुत्रे, (स चापरविदेहे शल्लिलावतीविजये
वीतशोकायां नगर्यां जितशत्रोः राज्ञो मनोहरीभार्यायामुत्पन्नो
वद्वदेवो जातः । पितर्युपरते मातरि प्रव्रज्यां गृहीत्वा मृतायां
दान्तके कल्पे देवत्वेनोपपन्नायामटवीं गत्वा साश्वे विभी-
पणनाम्नि आतारि मृते तत्रैवागत्य तद्वरुपं विकुर्य देवरु-
पया मात्रा मिलित उक्तश्चानित्यां मनुजार्कं ज्ञात्वा परलोकहितं
कुर्वति । ततः प्रव्रजितो मृत्वा वलिताङ्गको देवो जात इति,
एतत्सर्वं व्यासेनाऽऽत्मनोऽष्टजवसम्बन्धं प्रारूपयत् श्रयांसः,

एति 'उत्तम' शब्दे द्वि० भा० ११३३ पृष्ठे वक्ष्यति) आ० चू० १
३७ । आ० म० प्र० । निन्दयन्नाश्रीश्वरस्य रामचन्द्रस्य सामन्ते,
न च स्वयं विनिरूपयन्ति तेनो वक्ष्ये दृष्ट्वा संवेगनापय प्रयजितो
मुनीश्वरो जातः । तद्वर्तितं वैदम्—

भयरहितं निमग्नपुर-मि पञ्चजपविद्विगम्यारिभो वि ।
गयामि रामचन्दो, मन्त्रज्ञो रामचन्द्र इय ॥ १ ॥
तस्मै गुणगडरक्षाय, श्रयतो नमिष्ये द्यपि नाम्ने ।
नन्दनान्मोयसौमी-न्याज्जुगारयणगन्धनितो ॥ २ ॥
तद्वयं वि मो नरिदो, तन्मात्रो नृत्तिनारपरिवारो ।
दृक्पञ्चमन्त्राण, गिराज पडरेति इय जगिष्यो ॥ ३ ॥
देव ! न दीनश्च चोरो, न य स्वतो न वि य चरणसंचारो ।
केन वि तद् वि मुमिज्जज, प्रदिष्टनयेण पुरमेवं ॥ ४ ॥
तं मोडं कुविषणं, भणियं गन्तं प्रतो मुताडसंघा ! ।
मि को वि तज्जरे तं, निगहिदं मे समस्तु त्ति ? ॥ ५ ॥
जो कि पि न धिति भन्ना, ता श्रयतो साह देव ! मद देस्तु ।
दाणसं नणु कित्ति—मित्तं पसो वराशो त्ति ॥ ६ ॥
रत्ना सत्तन्धनयो-ब्रह्माणपुत्रं पर्यपिषो स इमं ।
तद् कुणस्तु जद ! सिग्गं, जह् लब्धं तत्पक्रो पसो ॥ ७ ॥
जद पक्रन्तो चोरं, न लहेमि अहं विसामि तो जलणं ।
इय वाज पदसं सो, विलिगगश्रो रायजवणाश्रो ॥ ८ ॥
परिनिमिषो पुरमज्जं, सिधारुगतिगचवपक्रमार्हसु ।
तदो न को वि चोरो, नीहरिषो तयणु नयराश्रो ॥ ९ ॥
करकान्निगमगदंडो, निविडीकयपरियरो दृढपद्मो ।
मो ग्यणिपदमपहरे, पत्तो कुंठाभिहमसाणे ॥ १० ॥
तन्ध अदकानुयककम्ब-रुनंतथयनकुमुदुणिच्छे ।
भन्नुपक्रवक्रपरिष्ठा-पिक्कपिक्कारवे च रहे ॥ ११ ॥
पगन्ध कात्रवेया-वज्जावसंजणियकिक्किवारवे ।
अतत्थ मुक्कपुट्ट-दृष्टासपरिजमियभूयउत्ते ॥ १२ ॥
जा अणुदिश्रो श्रयतो, श्रयतो इय जाइ किं पि नृमानं ।
ता साहगगहणपरं, पिसायमेगं स पिच्छेइ ॥ १३ ॥
तं पद भणइ मदायस ! साहगपुरिसं हणेसि किं परं ? ।
धाह पिसाश्रो इमिणा, पसाइमो हं दिणे सत्त ॥ १४ ॥
संपद अइट्टहिपणं, मय इमो मणिश्रो महामंसं ।
न तरइ दावं खुदो, ता एयं लहु इणस्सामि ॥ १५ ॥
परउवयारपहाणो, श्रयतो पच्चाह मुंच नरमेयं ।
तुह देमि महामंसं, अदमियं मन्तइ पिसाश्रो वि ॥ १६ ॥
तां गुरियाप छित्तुं, नियमंसं स तस्स विवरेइ ।
असइ पिसाओ वि अहो !, अभुत्तपुवं ति जंपतो ॥ १७ ॥
उक्कित्तिरुण जह जह, श्रयतो से देइ मंसखंभाइ ।
तह तह दिव्वोसहिविहि-कयं व्व बुद्धिं बुदा जाइ ॥ १८ ॥
नीसेसमंसवियव्वं, निप वि सयलं कलेवरं श्रयतो ।
अह जीवियनिरंविक्खो, सीसं पि हु छित्तुमारको ॥ १९ ॥
धरिऊण पिसापणं, दाहिणहत्थेण सत्ततुणेण ।
भणिओ सो अहमेप-णं साहसेणं वरेसु वरं ॥ २० ॥
अयतो भणेइ साहग-इट्टं पकरेसु जइसि तुट्टो मे ।
एवं कयं चिय मय, मग्गसु अन्नं पि आह सुरो ॥ २१ ॥
अयतो जंपइ तुज्ज वि, किं सीसइ भयरमुणियकज्जस्स ।
नाउं ओहियलेणं, तं कज्जं आह इय अमरो ॥ २२ ॥
तं अयल ! गच्छ सगिहे, वीसत्थो होसु मुंचसु विसायं ।
एसो चोरपवंधो, गोसे सयलो फुनो होही ॥ २३ ॥

इय भणिय गश्रो अमरो, अयतो वि विसिछवेहवावन्नो ।
निययावासे पत्तो, निच्चित्तो लहइ निदं च ॥ २४ ॥
वयगयनिदो श्रयतो, पय पिसाण पज्जणिश्रो जह ! ।
नं तक्कवुत्तंतं, निसुणसु सो आह कहसु फुनं ॥ २५ ॥
पयस्स पुरस्स वहि पुव्वदिप्पाभासमे वसइ जोगी ।
पव्वयश्रो से सिद्धो, कविलक्खो चेन्नो अत्थि ॥ २६ ॥
तेणं हरेइ नयरे, सो सारं रमइ निसि जहिच्छाप ।
काऊण जोगिरुवं, दिवसे पुण कहइ धम्मकहं ॥ २७ ॥
तस्सासमजूमिहरे, चिच्छ अवहारयदव्वसव्वासं ।
मा काहिसि इह संसय-मिय भणिय तितोदिश्रो देवो ॥ २८ ॥
अह काउ गोसकिच्चं, श्रयतो कइवयजणाणुगो पत्तो ।
सुरकाहियभासमे त-त्थ तेण दिट्ठो कचरुजोगी ॥ २९ ॥
गऊण य तत्थ खणं, अयतो पत्तो नरिदपयमूले ।
निवपुट्ठो पगते, कहेइ तं चोरवुत्तंतं ॥ ३० ॥
को इत्थ पच्चश्रो इय, नरवरपुट्ठो पर्यणय अयतो ।
तस्सासमजूमिगिह-मि मोसजायं सयलमत्थि ॥ ३१ ॥
तो सिरवियणाभिसवस-विसाज्जियासेसपरियणो राया ।
सुत्तो तयणु जणणं, पारद्धा विविहउवयारा ॥ ३२ ॥
जाश्रो न य को वि गुणो, आह्या मंतवाइपमुहजणा ।
ते वि अकयणियारा, गया विलक्खा सगणेसु ॥ ३३ ॥
तो सुविसयमणेण व, सो जोगी बाहराविश्रो रत्ता ।
संभासितमारद्धो, सायरदिन्नासणो य तयं ॥ ३४ ॥
पुरिसे य पेसिऊणं, खणाविश्रो तस्स आसमो जत्ति ।
निगयमसेसमोसं, आणीयं रायजवणमि ॥ ३५ ॥
आहुओ तव्वेवं, मदायणो दंसियं तयं मोसं ।
उवलप्पिक्कण जं ज-स्स आसि तं तस्स उवणीयं ॥ ३६ ॥
अह वुत्तो सो जोगी, रे रे पासंनियाहम ! अणज्ज ! ।
को एसो वुत्तंत्तो, सो भीओ जंपइ न किं पि ॥ ३७ ॥
चेमो दूरीदृश्रो, सिच्छवज्जमि डुज्जणु व्व लहुं ।
सुयहुं विडंविडं सो, जोगी माराविश्रो रत्ता ॥ ३८ ॥
इय दृष्टु तस्स मरणं, अयतो चित्तेइ फुरियवेरगो ।
हा ! कह जीवा धणत्तव-विमोहिया जंति इह निहणं ॥ ३९ ॥
धणत्तोनेणं जीवो, हणेइ जीवे सया मुसं वहइ ।
पियपुत्तमित्तसुकल-त्तपमुहलोयं पि वंचेइ ॥ ४० ॥
इह बोइयतुच्छपश्रो-यणत्थमित्थं अकिच्चलक्खं पि ।
काउं कंसइ जीवो, न य पिच्छइ तक्कं दुक्खं ॥ ४१ ॥
अङ्गरुयलोहमुग्गर-पहारभरगादविहुरियसरीरा ।
हा ! किह णु डुग्गडुग्गइ अयमे निवरुत्तिमे जीवा ? ॥ ४२ ॥
ता सयललोडसंखोह-निविस्सरधोरणीखलणदक्खं ।
कयं पिव पव्वज्जं, संपइ गिहामि ददसत्तो ॥ ४३ ॥
इय जा अचलो अचक्षिय-संवेगज्जरो विचित्तप चित्त ।
ता तत्थ समोसरिश्रो, सरी गुणसुंदरो नाम ॥ ४४ ॥
सुद्धा गुरुणो तक्खण, स आगमो आगश्रो गुरुसगासे ।
पणमियतप्पयपउमं, आसीणो उच्चियदेसमि ॥ ४५ ॥
तयणु जवपरमानिव्वेय-कारिणी लोहमोहनिम्माहिणी ।
विसयाणुरागपायव-करिणी संवेयसंजणणी ॥ ४६ ॥
संसारसमुत्थसमत्थ-वत्पुविगुणत्तपयरुणपहाणा ।
सुरसुहकरेहि वयणे-हिं देसणा सूरिणा विहिया ॥ ४७ ॥
तं सोउं पन्निवुद्धो, अयतो पुच्छे वि कह वि नरजाहं ।
गुरुणो तस्स समीवे, सविमो गिण्हइ दिक्खं ॥ ४८ ॥

परिव्रजविहसिक्खो, गुरुणा सह विहरण महीवद्यप ।
 अरहंते अरिहंते, आराहइ सम्ममरुहंते ॥ ४९ ॥
 पवयणवच्चलपरो, फायइ सिद्धे सया सुहसमिद्धे ।
 सिवफलतरुणो गुरुणो, सेवइ दंसणविणयजुत्तो ॥ ५० ॥
 सुयवयपज्जायधरे, धरे सुवहुस्सुए तवस्सी य ।
 जह उचियं आराहइ, अज्जिक्खनाणोवधोगपरो ॥ ५१ ॥
 सीलव्वएसु आव-स्सएसु परिहरइ दूरमइयारे ।
 अपुव्वनाणग्गहणं, सुयभन्तिपरायणो कुणइ ॥ ५२ ॥
 तवसा निकाइयाणं, कम्माण खउ त्ति कुणइ गरुयतवं ।
 खणलवजाणवत्तो, मुणीण भत्ताइ वियरेइ ॥ ५३ ॥
 पणिभग्गस्स मयस्स व, नासइ चरणं सुयं अगुणणाए ।
 न हु वेयावच्चचियं, सुहोदयं नासए कम्मं ॥ ५४ ॥
 इय चिंततो वेया-वच्चं पकुणइ अतिप्पमाणमणो ।
 पवयणपजावणपरो, कुणइ समाहिं च संघस्स ॥ ५५ ॥
 एवमएत्तरदंसण-नाणचारित्ते अतिप्पमाणस्स ।
 उगगतवकारिणो सु-ज्जमाणसुपसत्थलेस्स ॥ ५६ ॥
 अज्जियतित्थंकरना-मकम्मणो तस्स अचलसाहुस्स ।
 सव्वोसहिपमुहाओ, जायाओ विविहलसीओ ॥ ५७ ॥
 इत्तो निभयपुरे रा-मचंदरन्नो विसिधविज्जेहिं ।
 पयडिज्जंतेसु वि स व-हुभेसज्जो सहपओगेसु ॥ ५८ ॥
 बहुमतंततवाइ-हिं कारमाणासु अवि सुकिरियासु ।
 रोगेण मरंति करी-तो आदन्नो निवो जाओ ॥ ५९ ॥
 अह गुरुणा गुन्नाओ, अचलमुणी तत्थ आगओ तइया ।
 पत्तो निवो मुणिं तं, नमिय निसन्नो उचियदेसे ॥ ६० ॥
 मुणिणा वि निवइज्जुगो, सहंसणथूलमूलपरिकलिओ ।
 पंचागुव्वयसंधो, तिगुणव्वयगरुयसाहीयो ॥ ६१ ॥
 सिक्खावयपरिसाहो, निम्मलवहुनियमकुसुमसंकिन्नो ।
 सुरमणुयसमिद्धिफलो, कहिओ गिहिधम्मकप्पतरु ॥ ६२ ॥
 इय सोउ निवो जंपइ, पइ ! धम्ममिमं रुमीहिमो काउं ।
 किं तु अकाळे सिंधुर-संदोहं दट्टु मरमाणं ॥ ६३ ॥
 न गिहे न वडिं न जणे, न काण्णे न य दिणे न रयणीए ।
 मह संपइ संपज्जइ, रई मणार्गं पि मुणिपवरा ! ॥ ६४ ॥
 तो कहसु किं पि जेणं, सुत्थमणो हं करेमि धम्ममिमं ।
 इय रन्ना पुणरुत्तं, वुत्तो वि हु सुमुणिसहूलो ॥ ६५ ॥
 सावज्जकज्जवज्जी, सन्नाणो वि हु न किं पि जा भणइ ।
 ता मुणिसमीवठियखे-यरेण एवं निवो वुत्तो ॥ ६६ ॥
 बहुलद्धिसमिद्धिसम-न्नियस्स एयस्स समणसीहस्स ।
 पयरेणहिं संफुसि-य कुणसु सज्जं करिसमूहं ॥ ६७ ॥
 तं सुणिय निवो तुट्ठो, मुणिपयसंफुसियरेणुनियरेण ।
 करिनियरं सव्वं पि हु, आमरिसावेइ तिकखुत्तो ॥ ६८ ॥
 विसमिव पीऊसहयं, तमं व दिवसयरकिरणपडिरुद्धं ।
 वेगेण रोगजायं, तं नट्टुं कुंजरकुलाओ ॥ ६९ ॥
 तं पिच्छि वि अच्छरियं, अणंतहरिसो इमं भणइ राया ।
 भयवं ! वारणवाही, केण निमित्तेण संजाओ ? ॥ ७० ॥
 मुणिणा भणियं नरवर ! जो जोई धाइओ तया तुमए ।
 मरिउं अकामनिज्जर-वसेण सो रक्खसो जाओ ॥ ७१ ॥
 सरिरुण पुव्ववइरं, स तुह सरीरम्मि अप्पभवमाणो ।
 एयं पि होउ दुक्खं, ति कासि दंतीण रोगभरं ॥ ७२ ॥
 मह चरणरेणुपुट्ठा, संपइ ते वाहिणो समुवसंता ।
 सो रक्खसो पणट्ठो, सज्जं जायं करिकुडवं ॥ ७३ ॥
 मुणिमाहप्पमणप्पं, दट्ठुणं गहियसुद्धगिहिधम्मो ।

तुट्ठो राया पवयण-पभावगो सावओ जाओ ॥ ७४ ॥
 अयलो वि अतिप्पंतो, चरणाइसु काउ अणसणं सुमणो ।
 सोहम्मे उववओ, तत्तो य चओ विदेहम्मि ॥ ७५ ॥
 कच्छाविजण, सिरिजय-पुरीइरओ पुरंदरजसस्स ।
 देवी सुदंसणाए, चउदसवरसुमिणकयसओ ॥ ७६ ॥
 गव्वे पाउव्वओ, समुचियसमए य जम्ममणुपत्तो ।
 अहिसित्तो स सुरासुर-वगेण सुमेरुसिहरम्मि ॥ ७७ ॥
 कयजयमित्तमिहाणो, उचिए समयम्मि पव्वइउकामो ।
 लोगंतियतियसेहिं, सविसेसवुट्ठिउच्छाहो ॥ ७८ ॥
 लोगाणं संवच्छर-मच्छिन्नविदिन्नविहवसंभारो ।
 चउसट्ठिसुरेसरविहिय-गरुयनिक्खमणवरमाहिमा ॥ ७९ ॥
 तिजयं एगजयं पि व, एगत्थागयसुरासुरनरेहिं ।
 कुणमाणो पडिवओ, निस्सामन्नं ससामन्नं ॥ ८० ॥
 तो सुक्कभाणानल-समूलनिद्धवाइकम्मदुमो ।
 उप्पन्नकेवलालोय-लोइयासेसतइलुक्को ॥ ८१ ॥
 सीहासणोवविओ, सिरउवरिं धरिय सेयट्ठत्ततिगो ।
 नियदेहदुवालसगुण-महल्लकंकिस्सिकयसोहो ॥ ८२ ॥
 चावियसियवरत्तमरो, पुरओ पक्खित्तकुसुमवरपयरो ।
 निज्जियादिणयरमंरुद्ध-भामंरुद्धसंनियतमोहो ॥ ८३ ॥
 सुरपहयडुंहुइस्सर-पयमियदुज्जेयभावरिउविजओ ।
 सव्वसज्जासाणुगदि-व्ववाणिहयतिजयसंदेहो ॥ ८४ ॥
 पायमियसुगइमगो, पणिवोहियभूरिजावभवियजणो ।
 विहरित्ता चिरकालं, अणंतसुहसंपयं पत्तो ॥ ८५ ॥
 श्रीजैनशासनवनीनवनोरदस्य
 श्रुतेति वृत्तमचलस्य मुनीश्वरस्य ।
 सज्ज्ञानदर्शनतपश्चरणादिकेषु
 श्रद्धामतृप्तमनसो मुनयो विधत्त ॥ ६६ ॥ ४० २० ॥

अच (य) द्वाट्ठाण-अचलस्थान-न०। अचओ निष्प्रकम्पः परमा-
 एवादिर्भवति, तस्य स्थानमचलस्थानम् । निरेजःकाळे, अचलं च
 तत्स्थानं चावस्थानमचलस्थानमिति व्युत्पत्तौ । निरेजःकाळश्च
 परमाणवादीनामयम्-“ परमाणुपोगले णं जंते ! णिरेए काळ-
 ओ केव चिरं होइ ? । गोयमा ! जहखेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं
 असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ उसप्पिणी ओस्सप्पिणीतो ” व्य०
 १ उ० । नि० चू० । अचलस्थानं तु चतुर्थो, सादिसपर्यवसानभे-
 दात् । तद्यथा-सादिसपर्यवसानं परमाणवादौर्ध्यस्यैकप्रदेशा-
 दाववस्थानं जघन्यत एकं समयमुत्कृष्टतश्चासंख्येयकालमिति;
 साद्यपर्यवसानं सिद्धानां भविष्यदकारूपम्, अनादिसपर्यवसा-
 नमतीताद्वारूपस्य शैलेइयवस्थान्त्यसमये कर्मणतैजसशरी-
 रजन्मत्वानां चेति; अनाद्यपर्यवसानं धर्माधर्माकाशानामिति ।
 आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अच (य) द्वापुर-अचलपुर-न०। आजीरदेशान्तर्गते ब्रह्मही-
 पासन्ने पुरजेदे, कल्प० । (‘ वंभदीविया ’ शब्दे कथा चास्य)
 “ अयलपुरा शिक्खेते, कालियसुयआणुओगिए धीरे ” । न० ।
 अच (य) लजाया-अचलभाता-पुं० । श्रीमहावीरस्य नव-
 मे गणधरे, विशेष० । आ० म० द्वि० । कल्प० । (तस्य पुरादिकं
 ‘ गणहर ’ शब्दे वक्ष्यते)

अच (य) द्वा-अचद्वा-स्त्री०। शकस्य देवेन्द्रस्य सप्तम्यामग्रहि-
 प्याम, ज्ञा० २ श्रु० । (तत्कथा प्र० ज्ञा० १७३ पृष्ठे ‘ अगमहिती ’ शब्दे)
 अच (य) लिय-अचलित-न०। वखं शरीरं वा न चलितं

कृतं यच्च तदचलितम् । प्रमत्तप्रवृत्त्येवमेवे, न्या० ६ डा० ।
 ५० । जोतः । प्रचतुर्भूती यच्च-कथं अचलियं अण्णाणं
 अचलियं तथा कथं चलियं अण्णाणं अचलियं तथा कथं
 चलियं अण्णाणं अचलियं तथा कथं अचलियं अण्णाणं चलयं ।
 पण्यपटनो भंगो भुजो ॥ ६ न० । यत्तदचलियं तदचलियं, वि० । "अ-
 चलियभावे पयसो च" । ५० ६० १ डा० । नि० च० ।

अचलिय-अचलिय-वि० । अचलिये निरुद्धगतिः, प्रश्न० १
 न० १० । "अचलियं अचलियं अचलियं" । ५० ७
 डा० १ डा० ।

अचलिय-अचलिय-वि० ॥ १० १० । स्थिरत्वभावे, व्य० ३ डा० ।
 "गतिरुपपत्तयामाया-विपत्तिरिति दि कुपानि चंचलत्वं तु । गानं
 गतिनाम भवे, अचलियं मो उमुण्ययो " पं० मा० । पं० च० ।
 अचलियं ननु यथा जयनि-गत्याऽचलः १, स्थिराऽचलः
 २, भावनाऽचलः ३, भावनाऽचलः ४, गत्याऽचलः ५, अचल-
 यो न भवति १ । स्थिराऽचलः अचलियं शरीरहस्तपादा-
 दिव्यमचाययत् स्थिरगतिरिति २ । ज्ञापनाऽचलः अचलिय-
 ज्ञानी न स्यात् ३ । भावनाऽचलः मुनेऽर्थज्ञानगतेऽसमाप्ते
 नन्देऽप्रेतने गुमाने ४ । (एवंभूतः ज्ञेयः) " जीया-
 चित्ता । अचलये, अर्मा अकुहले " उत्त० १० अ० ।
 ज्ञापिकादिचापत्परहिते, प्रश्न० ४ आश्र० डा० । " अचुरि-
 यमचलमन्तेने सुहोपत्तियं पटिलेहेड " अचलियं मान-
 न्त्वापद्वयहेतुम् । ५० १ डा० ५ डा० । " अर्निनिणे अचलये, अ-
 प्यभावा नित्यासणे " अचलितो भवेत् सत्यं स्थिर इत्यर्थः ।
 इश० ७ डा० । वि० १ डा० । " अचलया " गत्या कायचा-
 यत्यवर्जितया । कल्प० । " अचलया " अचलया मनो-
 दाकायस्येयात् । ५० ।

अचलिय-अशक्त-वि० । असमर्थे, सूत्र० १ ध्रु० १३ अ० ।
 " जहा दियपांतमपत्तजानं, सायान्ना पविडे मणमाणं । त-
 मचायं तन्नुमपत्तजातं ढंकाइ अवत्तगमं हरेजा " ॥१४॥
 सूत्र० १ ध्रु० १४ अ० ।

अचापंत-अशुभवत्-वि० । असमर्थे, "अव्याचाय अचापंतो न-
 च्छुद्र अण्णत्तए पण " व्य० ३ डा० । सूत्र० ।

अचाग-अत्याग-पुं० । त्यागपरिहारे, अ० २ अधि० ।

अचार्या-अचास्ता-स्त्री० । असुन्दरत्वे, "बुधविशेषं स्वचार-
 नया " पं० १ चि० ।

अचालणिज्ज-अचालनीय-वि० । सैर्याद्विग्रहनीये, " अभि-
 गयजीवाजीवा, अचालणिज्जाउ पवयणाओ " दर्श० ।

अचित्त-अचिन्त्य-वि० । चिन्तयितुमनुमापकहेत्वभावेन तर्क-
 यितुमशक्ये, शक्यार्थं कर्मणि एयत् । न० त० । वाच० । अनि-
 र्वचनीये, डा० १६ डा० ।

अचित्तगुणसमुदय-अचिन्त्यगुणसमुदय-न० । अचिन्त्यो गुण-
 समुदयो ज्ञानादिसमुदयो यस्य तदचिन्त्यगुणसमुदयम् । पर-
 तत्त्वे, "तनुकरणादिविरहितं, तस्याचिन्त्यगुणसमुदयं सूक्ष्मम्"
 पं० १५ चि० ।

अचित्तचिन्तामणि-अचिन्त्यचिन्तामणि-पुं० । चिन्ताशक्तिकान्ताऽ-
 पवर्गविधायकत्वेन चिन्तामणिरत्नकल्पे तीर्थकरे, पं० सू० ३ सू० ।

अचित्तण-अचिन्तन-न० । न० त० चिन्तनाभावे, यत्कदाचिद्

रूपादिकं दृष्टं तस्य चेतसि न स्मरणमपरिभावनमित्यर्थः ।
 " अचिन्तणं चैव अचित्तणं च " उत्त० ३२ अ० ।

अचित्तसत्ति-अचिन्त्यशक्ति-स्त्री० । अनिर्वचनीयस्वीर्योक्ता-
 से, "अचिन्त्यशक्तियोगेन, चतुर्थो यम उच्यते" डा० १६ डा० ।
 अचित्-अचेष्ट-वि० । अविद्यमानचेष्टे, आव० ३ अ० ।

अचित्त-अचित्त-वि० । न विद्यते चित्तमस्मिन्नित्यचित्तमचेत-
 नम् । जीवरहिते, आचा० १ ध्रु० १ अ० ८ डा० । आव० ।
 अनु० । नि० च० । सूत्र० । सचित्ताचित्तमिश्रव्यक्तिः-
 प्रायः सर्वाणि धान्यानि । धानकजीराऽजमकविरहाली-
 सूआराईखसखसप्रभृतिसर्वकणाः सर्वाणि फलपत्राणि
 लवणगारीक्षारकः रक्तसन्धवसृञ्जलादिरक्तत्रिमः क्षारा मृत्-
 खर्दवाणिंकादि आर्द्रदन्तकाष्ठादि च व्यवहारे सचित्ता-
 नि । जले निर्व्वदिताश्चणकगोधूमादिकणाश्चणकमुहादिदाल-
 यश्च क्लिप्ता अपि कचिप्रखिकासंभवान्मिश्राः, तथा पूर्वं लव-
 णादिप्रदानं वाष्पादिप्रदानं बालकादिक्षेपं वा विना सेकिता-
 धणका गोधूमयुग्ंधर्यादिधानाः क्षारादिप्रदानं विना लोलि-
 ततिला श्रोलकउंविकाः पृथुकसेकितफलिकाः पर्पटकादयो
 मरिचरजिकायक्षारादिमात्रसंस्कृतचिर्मटिकादीनि सचित्ता-
 न्तर्थाजानि सर्वपक्फलानि च मिश्राणि । यद्दिने तिलकुट्टिः
 कृता तद्दिने मिश्रा, मध्येऽन्नसेटिकादिक्षेपे तु मुहूर्त्तदनुप्रासु-
 का, इक्षिणमालवादी प्रभूततरगुडक्षेपेण तद्दिनेऽपि तस्याः प्रा-
 सुकत्वव्यवहारः । वृक्षात्कालगृहीतं गुंदलाद्याल्यदि, ता-
 त्कालिको नालिकेरनिम्बकनिम्बादिवादीनां रसस्तात्कालिकं
 निलादितलं, तत्कालमग्नं निर्वाजीकृतं नालिकेरशृङ्गादकपूर्णा-
 फलादि, निर्वाजीकृतानि पक्फलानि, गाढमर्दितं निष्कणं जी-
 रकाजमकादि च मुहूर्त्तं यावन्मिश्राणि, मुहूर्त्तार्द्धं तु प्रासुका-
 नीति व्यवहृतेः । अन्यदपि प्रवलाग्नेयोंगं विना यत्प्रासुकी-
 कृतं स्यान्नमुहूर्त्तवाधि मिश्रं, तदनु प्रासुकं व्यवहियते । यथा
 प्रासुकं नीरादि, तथा कच्यफलानि, कच्यधान्यानि, गाढं मर्दि-
 तमपि लवणादि च प्रायोऽग्न्यादिप्रबलशस्त्रं विना न प्रासुका-
 नि । योजनशतात्परत आगतानि हरीतकीसारिकीकिसि-
 सिद्राक्षाण्जूरमरीचिपिप्पलीजातिलवदामवायमाक्षोटकन-
 मिजापिस्नाचिणीकायवस्फटिकानुकारिसैन्धवादिनिसार्जिका-
 विरुलवणादिः कृत्रिमः क्षारः कुम्भकारादिपरिकर्मितमृदादि-
 कम, पलालयज्ञजाघेत्रीशुष्कमुस्ताकोङ्कणादिपक्कदलीफ-
 लान्युत्कलितशृङ्गादकपूरादीनि च प्रासुकानीति व्यवहारो
 दृश्यते । उक्तमपि श्रीकल्पे-

जोअणसयं तु गंतुं, अण्हारेणं तु भंरुसंकीती ।

वायागणिधूमण य, विष्टत्यं होइ होणई ॥ १ ॥

ववणादिकं तु स्वस्थानाद् गच्छत् प्रत्यहं बहुयहुतरादिक-
 मेण विध्वंस्यमानं योजनशतात्परतो गत्वा सर्वथैव विध्वस्तम-
 चित्तं भवति । शस्त्राभावे योजनशतगमनमात्रेणैव कथमचित्ता-
 न्वतीत्याह-अनाहारेण यद्धनपत्तिदेशादिकं साधारणं तत्
 ततो व्यवस्थितं सोपष्टम्भकाहारविच्छेदाद् विध्वंस्यते । तच्च ल-
 वणादिकं भाण्डसंक्रान्ता पूर्वस्मात् २ राजनादपरभाजनेषु ।
 यद्वा । पूर्वस्या भाण्डशालाया अपरस्यां भाण्डशालायां संक्र-
 म्यमाणं विध्वंस्यते तथा चातेन वा अग्निना वा महानसादौ
 धूमेन वा ववणादिकं विध्वस्तं भवति । लोणाई इति । अत्रादि-
 शब्दादमी दृष्ट्याः-

हरियालमणोसिलपि-पद्मी अ खज्जूर मुद्दिआ अजया ।

आइचमणाइना, ते विहु एमेव नायव्वा ॥ ५ ॥

हरितालं मनःशिव पिप्पली च खज्जूर एते प्रसिद्धाः, मृष्टी-
का छाक्का, अभया हरीतकी, एतेऽप्येवमेव लवणमिव योजनश-
तगमनादिभिः कारणैरचित्तीभवन्तो ज्ञातव्याः । परमेकेऽत्रा-
चीर्णा अपरेऽनाचीर्णाः । तत्र पिप्पलीहरीतकीप्रभृतय आचीर्णा
इति गृह्यन्ते । खज्जूरमृष्टीकादयः पुनरनाचीर्णा इति न गृह्यन्ते । २।

अथ सर्वेषां सामान्येन परिणमनकारणमाह-

आरुहणो ओरुहणे, णिसिअण गोणाएणं च गाउम्हा ।

भोमाहारच्छेए, उवकमेणं च परिणामो ॥ ३ ॥

शकटादिषु द्ववणादीनां यदि जूयो जूय आरोहणमवरोहणं च
तथा यत् तस्मिन् शकटादौ द्ववणादिजारोपरि मनुष्या निपी-
दन्ति तेषां गवादीनां च यः कोऽपि पिशादिगात्रोष्मा, तेन वा
परिणामो भवति । तथा यो यस्य भौमादिकः पृथिव्यादिक आ-
हारस्तद्व्यवच्छेदे तस्य परिणामः, उपक्रमः-शस्त्रम्, तच्च त्रिधा-
स्वकायपरकायतदुभयरूपम् । तत्र स्वकायशस्त्रं यथा-लवणो-
दकं मधुरोदकस्य, कृष्णजूमं पारुजूमस्य । परकायशस्त्रं यथा-
अग्निरुदकस्य, उदकं चाग्नेरिति । तदुभयशस्त्रं यथा-उदकं शु-
क्लोदकस्येत्यादि । एवमादीनि सच्चित्तवस्तूनां परिणमनकारणा-
नि मन्तव्यानि ॥ ३ ॥

उप्पलपउमाई पुण, उह्मे दिह्माईं जाम न धरिंति ।

मोगगरगजूहिआओ, उह्मे बूढा चिरं हुंति ॥ ४ ॥

मगदंतिअपुप्फाई, उदकच्छूदाईं जाम न धरिंति ।

उप्पलपउमाई पुण, उदए बूढा चिरं हुंति ॥ ५ ॥

उत्पलानि पद्मानि च उदकयोनिकत्वादुष्णे आतपे दत्तानि
यामं प्रहरमात्रं काष्ठं न ध्रियन्ते नावतिष्ठन्ते, किन्तु प्रहरादवागे-
वाचित्तीभवन्ति । मुजरकानि-मगदन्तिकापुष्पाणि यूथिकापुष्पा-
णि च उष्णयोनिकत्वादुष्णे क्षिप्तानि चिरमपि काष्ठं भवन्ति,
सच्चित्तान्येव तिष्ठन्तीति ज्ञावः । मगदन्तिकापुष्पाणि उदके क्षि-
प्तानि याममपि न ध्रियन्ते, उत्पलपद्मानि पुनरुदके क्षिप्तानि चि-
रमपि भवन्ति ॥ ४ । ५ ॥

पत्ताणं पुप्फाणं, सरहुफलाणं तहेव हरिआणं ।

विटंमि मिलाणम्मि य, णायव्वं जीवविप्पजदं ॥ ६ ॥

पत्राणां पुष्पाणां शरफुफलानामवद्धास्थिकफलयानां वास्तुला-
दीनां सामान्यतस्तरुणवनस्पतीनां वृत्ते मूलनावे म्लाने सति
ज्ञातव्यं जीवविप्रयुक्तमेतत्पत्रादिकमिति (श्रीकल्पवृक्षौ शाल्या-
दिधान्यानां तु श्रीपञ्चमाङ्गे षष्ठशतकसप्तमोद्देशके सच्चित्ताचि-
त्तव्यविजागएवमुक्तः, स च 'जोणि' शब्दे दर्शयिष्यते) कर्पास-
स्याचित्तात्ता त्रिवर्षानन्तरं स्यात् । यदुक्तं श्रीकल्पवृहत्काव्ये-

सेरुगं तिवरिसाइ गिएहंति ।

सेरुकं त्रिवर्षातीतं विध्वस्तयोनिकमेव कल्पते । सेरुकः क-
र्पास इति । तद्वृक्षौ पिष्टस्य तु मिश्रताद्येवमुक्तं पूर्वसुरिभिः-
" पणदिनमीसां लुट्टे, अचाविओ सावणे अ भद्वए । चउ आ-
सोए कत्तिअ-मगसिरपोसेसु तिन्नि दिणा ॥ १ ॥ पणपहर माह
फगुण, पहरा चत्तारि चेतवेसाहे । जिछासाढे तिपहर, तेण
परं होइ अचित्तो " ॥ १ ॥ चालितस्तु मुहूर्त्तादूर्ध्वमचित्तः,
तस्य चाचित्तीभूतानन्तरं विनशनकादमानं तु शास्त्रे न दृश्यते,

परं द्रव्यादिविशेषेण वर्णादिविपरिणामभवनं यावत् कल्पते ।
उष्णनीरं तु त्रिदण्डोत्कलितावधि मिश्रम् । यदुक्तं पिएमनिर्युक्तौ-
उसिणोदगमणुवत्ते, दंभे वासे य पडिअमित्तम्मि ।

मात्तृणादंसतिगं, चाउलउदगं बहुपसन्नं ॥

अनुवृत्तेषु त्रिदण्डोत्कालेषु जलमुष्णं मिश्रं, ततः परमचित्त-
म् । तथा वर्षे वृष्टौ पतितमात्रायां आमादिषु प्रभूतमनुष्यप्रचार-
चुमौ यज्जलं तद् यावन्न परिणमति तावन्मिश्रम्, अरण्यभूमौ तु
यत् प्रथमं पतति तत्पतितमात्रं मिश्रं, पश्चात्पतितं सच्चित्तम् । आ-
देशात्रिकं मुक्त्वा तन्नुद्योदकमवहुप्रसन्नं मिश्रम्, अतिस्वच्छीचूतं
त्वचित्तम् । अत्र त्रय आदेशाः । यथा केचिद्वदन्ति-तएगुलोदके
तएगुलप्रक्कालनज्राएफादन्यत्र ज्राएमे क्षिप्यमाणे शुद्धिवा ज्ञा-
एडपार्थ्वे लग्ना विन्दवो यावन्न शाम्यन्ति तावन्मिश्रम् । अपरे-
तथैव याता यावद्बहुदा न शाम्यन्ति तावत् । अन्ये तु-यावत्त-
एगुला न सिद्ध्यन्ति तावत् । एते त्रयोऽप्यादेशा रुक्तेतरज्राएड-
पचनामिसम्भववादिभिः, एषु काव्यनियमस्याभावात्, ततोऽति-
स्वच्छीचूतमेवाचित्तम् ।

तिव्वोदगस्स गहणं, केइ जाणेसु असूइ पडिसेहो ।

गिहिजायणेसु गहणं, विअवासे मीसगं गरो ॥ २ ॥

तीव्रोदकं हि धूमधूत्राकृतदिनकरकरसम्पर्कसोष्मतीव्रसम्पर्क-
कादचित्तम्, अतस्तद्ग्रहणे न काचिद्विराधना । केचिदाहुः-स्व-
भाजनेषु तद् ग्राह्यम् । अत्राचार्यः प्राह-अशुचित्वात्स्वपात्रेषु
ग्रहणप्रतिषेधः, ततो गृहभाजने कुण्ठिकादौ ग्राह्यम् । वर्षति मे-
घे च तन्मिश्रम्, ततः स्थिते वर्षेऽन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं ग्राह्यम् । जलं
हि केवलं प्रासुकीचूतमपि प्रहरत्रयादूर्ध्वं भूयः सचित्तं स्या-
दतस्तन्मध्ये क्षारः केप्यः, एवं स्वच्छताऽपि स्यादिति । पिएमनि-
र्युक्तिवृत्तौ तन्नुलधावनोदकानि प्रथमद्वितीयतृतीयान्यचिर-
कृतानि मिश्राणि, चिरं तिष्ठन्ति त्वचित्तानि, चतुर्थ्यादिधावनानि
तु चिरं स्थितान्यपि सचित्तानि । प्रासुकजलादिकादमानमेव-
मुक्तं प्रवचनसारोक्कारादौ-"उसिणोदगं तिव्वु-क्कालिअं फासु-
अ जलं जइ कप्पं । नवरि गिलाणाइकए, पहरतिगोवरि विधरि-
अव्वं ॥ १ ॥ जायइ सचित्तपासे, गिम्हासु उ पहरपंचगसुवरि ।
चउपहरुवरिं सिसिरे, वासासु जलं तिपहरुवरिं " ॥ २ ॥ तथा-
ऽचेतनस्यापि कङ्कुकमुज्जरीतकीकुल्लिकादेरविनष्टयोनिरक्त-
णार्थं निःशूकतादिपरिहारार्थं च न दन्तादिभिर्भज्यते । यदुक्तं
श्रीओघनिर्युक्तिपञ्चसप्ततितमगाथावृत्तौ-अचित्तानामपि केपा-
श्चिद्वनस्पतीनामविनष्टा योनिः स्याद् गुडूचीमुद्गादीनाम् । तथा-
हि-गुरुची शुष्काऽपि जलसेकात्तादात्म्यं भजतीति दृश्यते,
एवं कङ्कुकमुद्गादिरपि, अतो योनिरक्षणार्थमचेतनयतना न्याय-
वत्येवेति । घ० २ अधि० । वृ० । नि० चू० । पि०

एतदेवाऽन्यच्च सङ्ग्रहेण-

अह एयाणं जं जं, कालपमाणं भणामि सव्वेसिं ।

भत्तं सिद्धं वियलं, कट्टदलं हिंणुसहियं जं ॥ ६२ ॥

पुष्पफलपत्तसायं, वीयच्छाली विणा य आमफलं ।

मंडपूवाइयं जल-लप्पसीवडीयपप्पमया ॥ ६३ ॥

चउपहरमाणमोसिं, ओयणमंनवारजामजगराए ।

तह तक्करवल्लुभिण, अहियं परिमाणमवि वुत्तं ॥ ६४ ॥

दहितक्कराईणं, कयसागाण सोलजामं च ।

वासासु पक्ख हेमं-त मासुसिएण वीसदिणमाणं ॥ ६५ ॥

पक्कजयकालो विउ, विषेओ कुलिकोए पक्कओ ।

दाज्ञानु एगदिणं वा, चत्रियरसं जन्ध जं जा॥ ६६ ॥
 निव्विगयं पल्लन्ते, अमगजुयं नस्मिन्नेव परिमाणं ।
 उच्चत्रियारगयाणं, चत्रियरसं तं तहा जाण ॥ ६७ ॥
 चयत्तेल्लगुनार्हणं, वगरसगंधपमुहपज्जासे ।
 कात्रपग्गिमाणमुत्तं, जालिज्जा नो तहा पायं ॥ ६८ ॥
 इत्थं य चत्रियरसम्मि, जीया वेरंदिआ समुच्चंति ।
 पुण्णिप एगिदिआ, वट्टंति दुवे दि समगं वा ॥ ६९ ॥
 अन्निज्जे सच्चित्ती-नवण एगदिआ समुच्चंति ।
 अरणं मुज्जिअमितिए, पण्णदी समुच्चमा हंति ॥ ७० ॥
 तिअमुग्गममूरचवल्लय-मासकुल्लथयकलापतुयरीणं ।
 यल्लण वट्टचणयाण, पंचगवरिसम्पमाणं च ॥ ७१ ॥
 मात्तिचिदिजयजुगंधरि-गोहूमतिणधणतिल्लकपासाणं ।
 चात्तनियं परिमाणं, तत्तो विट्ठसए जौणी ॥ ७२ ॥
 लुहा कंगू अयसी, सणकोनुसगवरट्टसिद्धया ।
 एत्थयकुदवमही, मूलगवीया चवग्ग य ॥ ७३ ॥
 पहियाणं वत्ताणं, उक्कासठिठं सत्तवासाहं ।
 हाठ जहणेण पुणे, अंतमुहुत्तं समगाणं ॥ ७४ ॥
 पिग्गन्निज्जूरमिरी-मुहिय अमया वदाम खारिआ ।
 पत्ता जाडफणं पुण, कंकाळं चार कुत्रिया य ॥ ७५ ॥
 विट्ठंनिज्ज जौणी, एणसि जलथशोवमोणेहि ।
 मंथारुयजलफलाह, घाणं जौणी तहा चित्ता ॥ ७६ ॥
 जायगमयं जलम्मि, थलम्मि सट्टीह मंरुसंकीती ।
 घायाणाणिधूमेहि, पविद्धजौणी हवइ तोसं ॥ ७७ ॥
 हरियाल्लवणमणसिन्न-पूगसेवालनाशिकेरा य ।
 एमेव अणाइमा, विट्ठत्था अवि मुणेयव्या ॥ ७८ ॥
 नीयामिधवपासक-रणीकर्यहिगुल्लजाइवग्गिनागाहं ।
 यन्निन्नजौणिया कं-दासणोहयमिदलमजिआ ॥ ७९ ॥
 पिट्ठं मिस्सममुत्तं, पणचउतियदिणपमाणमापक्खं ।
 नाथणाभोयपोसे-मु जुयवम्मि वए अणुओगो ॥ ८० ॥
 पणचउतियजामाण, माटुग चित्तजुयलजिठउणे ।
 तह जजियधक्षाणं, दालीण विपज्जए पायं ॥ ८१ ॥
 चालियत्रमितियतुसरहिय, सुक्कं जा ताव मिस्सियं नेयं ।
 लोणजुयं जं सागं, भजियतव्विणं तं सुद्धं ॥ ८२ ॥
 आणं जणंति भजिय-धक्षाणं पक्कतव्वियमिय कावो ।
 सत्तपणदसदसदिणं, वासाइसु मिस्सलोणस्स ॥ ८३ ॥
 अंतमुहुत्तं मोद-स्स चोवीसजाम धाउपत्तगयं ।
 गोमुत्तं जड केवल्ल-महिआ इमं रसाविवज्जासे ॥ ८४ ॥
 खइमितले विच्चासे, तिचत्रपक्षजामसुसिणनीरस्स ।
 वासाइसु प्पमाणं, फासुजल्लस्तावि एमेव ॥ ८५ ॥

वस्सेइम १ संसेइम, २

तंदुलनीरं ३ तिलोदगं ४ वा वि ।

तुस ५ जव ६ आयामं ७ वा

सोवीरं ८ सुखवियरं च ९ ॥ ८६ ॥

अं १० कविट्ठा ११ मनगं १२,

अंवारग १३ माउल्लिग १४ खजूरं १५ ।

दक्खा १६ दाकिम १७ कैरं १८,

चिंचा १९ नारिअर २० कोवजलं २१ ॥ ८७ ॥

पुष्पातिथं भच्छे, गृहे तिष्ठतुसजवोदगं भणियं ।

आ जामं सोवीरं, अट्टमे उसियं नीरं च ॥ ८८ ॥

मत्थमसित्थं गलियं, तियदंरुक्कलियपरिमियमत्तेवं ।

परकडजई ण कप्पइ, न कप्पइ अक्षमरुदेसे ॥ ८९ ॥

उस्सेइम संसेइम, तंदुलतिष्ठतुसजवाण नीरं च ।

आ जामं सोवीरं, सुखं वियरं जलं भवहा ॥ ९० ॥

तिहवा तमालपत्तं, मुत्थयकुट्टं च खयरमाईहिं ।

फासुकयं खजाइहि, कारणओ कप्पणिज्जं तु ॥ ९१ ॥

जिठ तवे भच्छे, पग्गिमुवहासु अभिग्गहायामे ।

सट्टाणं जियकप्पइ, उएहजवे अणसणे वि तहा ॥ ९२ ॥

फलं चिचोदगमिगजा-ममाजामं धक्खनीरमुहुत्ततिगं ।

उच्चुरसे सोवीरे जामदुगं घोयणं तिमहु ॥ ९३ ॥

धक्खरसगंधपज्जव-भेयविमिस्सं खु हवइ फासुजलं ।

सक्करगुरुखंडाहं, वत्थुविज्जेपहिं परिणमियं ॥ ९४ ॥

गोपल्लगमहिसीणं, खीरं पण अट्टदसदिणाणुवरि सुक्कं ।

तिदिणाणुवरि वल्ली, नवप्पसयाण एमेव ॥ ९५ ॥

चउपहरोवरि जायं, दहि सुक्कं हवइ कप्पणिज्जं च ॥

तक्करजुयखीरेयी, वीयदिणे होइ वा कप्पा ॥ ९६ ॥

निष्ठीरं तिलमिस्सं, संधानं तह वियारियफळाणं ।

आचित्तजोइणो पुण, कप्पइ तक्करमण्णगलियं ॥ ९७ ॥

निव्वल्लिनिच्छियफळं, जामगमामुहुत्तमुवरि कयं ।

वियलं तक्करमिस्सं, न कप्पमुसिणीकपण विणा ॥ ९८ ॥

मोयाफलं पमोली, थोसानोत्तं च रुक्खजुंदाहं ।

तणमित्ठं जं नो, हवइ तं देवडीचिछी ॥ ९९ ॥

उक्किजहक्खमज्जिम-नेपहिं होइ तिविहमज्जत्तं ।

चउहा सचित्तपरिच्चाएणुक्किट्टनेएण ॥ १०० ॥

तिविहम्मि अभिगहे खलु, न कप्पइ सचित्तवाधारो ।

तथाणाहारवत्थु, कप्पइ सत्त्वावि रयणीए ॥ १०१ ॥

आयं विलमवि तिविहं, उक्किजहक्खमज्जिमवपहिं ।

तिविहं जं वियलं पू-याइ पक्कप्पए वि तत्थ ॥ १०२ ॥

सियासिधवल्लुंमिरी, मेही सोवच्चलं च विडल्लवणं ।

हिंसुसुगंधिसुयाइ य, पक्कप्पए साइमं वत्थु ॥ १०३ ॥

कारणजाएण जइ ण, असणे सिक्कं हविज्ज ठिमियं वा ।

पिट्ठं जलेण रक्कं, पुणेरेट्ठाइ सिक्केणं ॥ १०४ ॥

पप्पडवरुया रुक्खा, सिद्धा तिगपीकया हवइ कप्पा ।

भजियधणं तिणधक्ख, कट्टदलं सिणेहवियलं जं ॥ १०५ ॥

सत्त्वाणं धक्षाणं, पि हु या डुक्केण सिक्किसाइमयं ।

वेसल्लत्थाए इह, छिट्ठया तीइ अकप्पं च ॥ १०६ ॥ ४० प्र० ।

अचित्र-त्रि० अकपुरे, वृ० ५ उ० ।

अचित्तदवियकप्प-अचित्तद्वयकल्प-पुं० । अचित्तद्वयाना-

माहागदीनामुपयोगविधिविशेषे, “अचित्तदवियकप्पं, एत्तो वोक्कं समासेणं । आहारे उवहिम्मि य, ओवसणे तह य पस्स-वणे ॥ १ ॥ पयसं निसज्जगणे, दंने वंमे चिद्धमिद्धिणी अवल्ले-हणिया वक्खाणं सो-चणे दंतसोहणे च ॥ २ ॥ पिप्पल्लगसुत्तिण-क्खा-णनेदणे च च सोलसं मज्जा । हारो खलु द्विविहो बो-इयलो-उत्तरे पायव्वो ॥ ३ ॥ तिविहो तु लोइओ खलु, तत्थ इमो होति पायव्वो” । पं० जा० । पं० चू० (‘आहार’ प्रभृतिशब्देषु विवृतिः)

अचित्तद्वयसंघ-अचित्तद्वयस्कन्ध-पुं० । अविद्यमानचित्तोऽचित्तः, स चाऽसौ द्वयस्कन्धः । द्विप्रदेशिकादिपुञ्जलस्कन्धरूपे अचेतने द्वयस्कन्धभेदे, अनु० ।

अचित्तद्वयचूला-अचित्तद्वयचूला-स्त्री० । चूनामणिकुन्ताग्र-सिंहकर्णप्रासादपादपाद्यग्रे, नि० चू० १७० ।

अचित्तमंत-अचित्तवत्-त्रि० । न विद्यते चित्तमुपयोगो ज्ञानं यस्य । कनकरजतादावचेतने, सूत्र० १श्रु० १अ० १उ० । 'चित्तमंतमचित्तं वा एव सयं अदिक्षं गिहहेज्जा' । दश० ४ अ० । पा० । आचा० ।

अचित्तमहाखंध-अचित्तमहास्कन्ध-पुं० । उत्कृष्टावगाहनेऽनन्तप्रदेशिके स्कन्धे, (तत्स्वरूपं 'खंध' शब्दे वक्ष्यते) विशेष० ।

अचित्तसोय (ग)-अचित्तस्रोतस् (क)-न० । जीवरहित-विद्रे, (अचित्तस्रोतसो भेदास्तत्र शिश्नं प्रवेश्य शुक्रपुङ्गलनिष्कासनं च 'अंगादाण' शब्देऽदर्शितं) ॥ नि० चू० १ उ० ।

अचियत-देशी-त्रि० अप्रीतिकरे, 'अचियंति वा अणियतंति वा एग छ' इति वचनात् । व्य० २ उ० । पि० अप्रीतौ च । व्य० १ उ० । सूत्र० । देशीपदमेतत् । वृ० १ उ० । स्त्री० अप्रीतिमित्याम्, व्य० ७ उ० ।

अचियंतेउरपरधरप्पवेस-अचियतान्तःपुरपरगृहप्रवेश-पुं० । अचियतोऽनभिमतोऽन्तःपुरप्रवेशवत् परगृहप्रवेशोऽन्यतीर्थिकप्रवेशो येषां ते तथा । अनभिमतपरमतप्रवेशेषु सम्यक्त्वेषु, यथा राज्ञामन्तःपुरे गन्तुं नेष्यते, एवं परतीर्थिकेष्वपि यैः प्रवेशो नेष्यते, ते श्रावकाः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । "असियफ-लिहा अवंगुयदुवारा अचियंतेउरपरधरप्पवेसा चाउइस-ट्टमुदिट्टपुष्पमासिणेषु पडिपुष्पं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा विहरंति" सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अचु (चो) कख-अचोक्ष-त्रि० । न० त० । अशुद्धे, तं० जी० । अचिह्ण-अचेष्टन-न० । न० त० । चेष्टाभावे, सर्वथा चेष्टा-निरोधे, ध० ३ अधि० ।

अचेयकम-अचेतस्कृत-त्रि० । अचेतन्यकृते, भ० १६ श० २ उ० । (जीवानामचेतस्कृतकर्मकत्वं 'चेयकड' शब्दे)

अचेयण-अचेतन-त्रि० । न० त० । चेतनाविकले, आव० ४ अ० । 'अचेयणा' नराधमाः, विशिष्टचेतन्याभावात् । प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अचेयसु-अचेतन्य-न० । न० त० । चेतनावैकल्ये, "अचेतन्यमजीवता" द्रव्या० ११ अध्या० ।

अचेल-अचेल-न० । अव्य० । चेलस्याभावोऽचेलम् । जिनकल्पिकादीनामन्येषां सुयतीनां मित्रे स्फुटितेऽल्पमूल्ये च चेले, प्रव० ११३ द्वा० । वस्त्राणां वासगन्धनवीनावदातसुप्रमाणानां सर्वेषां वाऽभावे, स० २२ सम० ।

अचेद (ग)-अचेद (क)-पुं० । न विद्यन्ते चेलानि वासांसि यस्यासावचेलकः । स्था० ५ ठा० ३ उ० । नञ्कुत्साथे, कुत्सितं वा चेलं यस्यासावचेलकः । प्रव० ७८ द्वा० । अल्पकुत्सितचेले, जिनकल्पिके च । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । सदसचेलत्वेन तस्य द्वौविध्यम्-

उविहो होति अचेलो, संताचेलो असंतचेलो य ।

तिस्थगर असंतचेदो, संताचेदो भवे सेसा ॥

द्विविधो भवत्यचेलः-सदचेलो असदचेलश्च । तत्र तीर्थकरा असदचेलो देवदूष्यपतनानन्तरं सर्वदैव तेषां वस्त्राभावात् । शेषाः सर्वेऽपि जिनकल्पिकादिसाधवः सदचेलोः, जघन्यतोऽपि रजोहरणमुखवास्त्रिकासम्भवात् । वृ० १ उ० ।

आह-यद्येवं ततः कथममी अचेलो भवन्ते?, सत्यम् । सति च चेलोऽचेलकत्वस्यागमे लोके च रूढत्वात् ।

एतदेवाह-

सदसंतचेलगोऽचे-लगो य जं ढोगसमयसंसिद्धो ।

तेणाचेदो मुणिओ, संतेहि जिणा असंतेहि ॥

सच्चासच्च सदसती चेले यस्यासौ सदसच्चेलो यद्यस्मा-ल्लोके समये चाऽचेलकः संसिद्धः प्रसिद्धः । चशब्दः प्रस्तावनायाम्, सा च कृतैव । तेन तस्मादिह मुनयः सामान्यसाधवः सद्भिरेव चेलैरुपचारतोऽचेलो भवन्ते । जिनास्तु तीर्थकरा असद्भिश्चेलैर्मुख्यवृत्त्या अचेलो व्यपदिश्यन्ते । इदमुक्तं भवति-इहाचेलत्वं द्विविधम्-मुख्यमुपचरितं च । तत्रेदानीं मुख्यमचेलत्वं संयमोपकारि न भवत्यत औपचारिकं गृह्यते, मुख्यं तु जिनानामेवासीदिति ।

इदमेवौपचारिकमचेलत्वं भावयति-

परिसुद्ध जुन्नकुत्थी-यं थोवाऽनिययभोगभोगेहि ।

मुणिओ मुच्छारहिया, संतेहि अचेदया होंति ॥

मुनयः साधवो मूर्च्छारहिताः सद्भिरपि चेलैरुपचारतोऽचेलका जवन्ति । कथम्भूतैश्चेलैरित्याह-परिसुद्धेति लुप्तविजकि-कदर्शनात् परिशुद्धैरेपणीयैः, तथा जीर्णैर्बहुदिवसैः, कुत्सितैरसा-रैः, स्तोर्कैर्गणनाप्रमाणतो हीनैस्तुच्छैर्वा (अनियतभोगभोगेहि लि) अनियतभोगेन कादाचित्कसेवनेन भोगः परिभोगो येषां तानि तथा तैरेवचूतैश्चेलैः सद्भिरप्युपचारतोऽचेलका मुनयो ज्ञेयन्ते । तथा 'अन्नभोगभोगेहि ति' इत्येवमपि योज्यते, ततश्च लोक-रूढप्रकारादन्यप्रकारेण भोगः आसेवनं, प्रकारलक्षणस्य मध्यमपदस्य लोपादन्यभोगः, तेनान्यभोगेन भोगः परिभोगो येषां तानि तथा तैरेवभूतैश्चेलैश्चेलकत्वं लोके प्रसिद्धमेव, यथा कटी-वाससा वेष्टितशिरसो ज्ञावगाढपुरुषस्य साधोरपि कच्छाबन्धाभावात्कूर्पर्याज्यामग्रभागः, एवं चोदपट्टकस्य धारणान्मस्तकस्योपरि प्रावरणाद्यभावाच्च लोकैरुद्धप्रकारादन्यप्रकारेण चेलभोगो छेद्यः । तदेवं 'परिशुद्धजुन्नकुत्थिय' इत्यादिविशेषणविशिष्टैः सद्भिरपि चेलैस्तथाविधवस्त्रकार्याकरणात्तेषु मूर्च्छाभावाच्च मुनयोऽचेलका व्यपदिश्यन्त इतीह तात्पर्यम् ।

आह-ननु चेलस्यान्यथापरिभोगेन किमचेलत्वव्यपदेशः

क्वापि दृष्ट इत्याशङ्क्य तदुपदर्शनार्थमाह-

जह जलमवगाहंतो, बहुचेदो विसिरवेढियकाडिहो ।

भस्सु नरो अचेदो, तह मुणिओ संतचेदो वि ॥

जीर्णादिभिरपि वस्त्रैरचेलकत्वं लोके रूढमेवेति भावयति-

तह थोव जुन्नकुत्थिय-चेदोहि विजन्न अचेदो ति ।

जह तुर सैलिय ! अप्पय, मे पोत्तिं नग्गिया वत्ते ॥

इयमपि सुगमा, नवरं, जह तुरेत्यादिदृष्टान्तः । यथेह क्वापि योषित् कटीवेष्टितजीर्णबहुविद्रैकशाटिका कश्चित्कोटिकं वदति-त्वरस्त्र ज्ञोः शैलिक ! शीघ्रो भूत्वा मदीयपोत्तां शाटिकां निर्माय्य ददस्व समर्थय, नग्निका वतंऽहम्, तदिह सवस्त्राया-मपि योषिति नाग्न्यवाचकशब्दप्रवृत्तिः । विशेष० ।

अथ तत्रैवोपनयमाह-

जुसेहि खंभिएहि य, असव्वतण्णउतेहि ए य णिच्चं ।

संतेहि विणिग्गंथा, अचेदगा होंति चेदोहि ॥

एवं जीर्णैः पुराणैः, जगिभूतैश्चिद्वैतैः, धम्मयन्तनुप्राकृतैः स्वल्पप्रमाणतया सर्वस्मिन् प्रतीरे प्रपातुनः, प्रमाणैः हीनैरित्यर्थः । न च निम्नं सदैव प्राप्नुतेः किन्तु नीनादिकारणमन्त्रावे एवंविधेभ्यः लैः, सन्निरपि विद्यमानैरपि, निर्ग्रन्था अचेलो भवति ।

अथ पणनिद्रायमाशङ्क्य पणितरुणि—

एवं दुग्गतपट्टिया, अचेलगा ह्येति ते जेदे वुच्छी ।

ते चतु अमन्तरीण, धाग्निं ता धम्मवुच्छीए ॥

यदि जीर्णान्तरादिभिर्यत्रैः प्राकृतैः साधवोऽचेलकाम्मत एव दुग्गताश्च इतिद्राः पथिकाश्च पान्था दुग्गतपथिकास्तेऽप्यचेलका भवन्तीति ते भवेद्वुच्छिः स्यात् । तत्रोच्यते—ने गलु दुग्गतपथिका असत्तया स्वव्युत्पन्नदशकादीनां यन्त्राणामसम्पत्त्या पणिज्जाणादीनि वासांसि धारयन्ति, न पुन्यमवुच्छ्या । अतो भावतन्नादिभ्यमुच्छ्यापरिणामस्यानिवृत्तन्यान्तेऽचेलकाः । साधनस्तु नन्ति तामे महाधनादीनि परिहृत्य जीर्णगणिकतादीनि धर्मवुच्छ्या धारयन्तीत्यचेलो उच्यन्ते ।

यद्येवमचेष्टास्ततः किमन्याद—

आचेलकको धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।

मज्झिमगाण जिणाणं, होति अचेष्टो सचेलो वा ॥

अचेलकस्य जाव आचेलकस्य, तदस्यास्तीत्याचेलकस्य । अत्रादेगकृतिगणत्वादप्रत्ययः । एवंविधो धर्मः पूर्वस्य च पश्चिमस्य च (जिनस्य तीर्थे जवति । मध्यमकानां तु जिनानामचेलः सचेलो वा जवति ।

इदमेव भावयति—

पानेमाए पाउत्ता, णातिकर्यंते उ मज्झिमा सयणा ।

पुग्मिचरिमाण अमह—इणाइ जिमाइ मोमोत्तं ॥

मध्यमा मध्यतीर्थकरस्तकाः साधवः प्रतिमया वा लग्नतया प्रावृता वा प्रमाणातिरिक्तमहामूल्यादिजिर्वासाभिराच्छादितवपुषा नातिक्रामन्ति, जागवतीमाज्ञातिमिति गम्यते । पूर्वचरमाणानु प्रथमपश्चिमतीर्थकरसाधूनाममहाधनानि स्वल्पमूल्यानि, निद्रानि वा कृत्स्नानि प्रमाणोपेतान्यदशकानि चेत्यर्थः । परमिमानि कारणानि मुक्त्वा तान्येवाह—

आनज्ज खेत्तकप्पं, वासावासे अजावितो अमहू ।

काञ्चे अच्चाणम्मि य, सागरि तेणो व पाउरणं ॥

कैत्रकल्पं देशविशेषाचारमासाद्यामिन्नान्यपि प्राविशन्ते, यथा सिन्धुविषये तादृशानि प्रावृत्य हिणन्ते । वर्षावासे वा वर्षाकल्पं प्रावृत्य हिणन्ते । अभाविताः शैकः कृत्स्नानि प्रावृत्यो हिणन्ते यावद्भाविता जवति । असाहिणुः शीतमुष्णं वा नाधिसोढुं शक्नोति ततः कृत्स्नं प्रावृणुयात् । कावे वा प्रत्यूपे मित्रार्थं प्रविशन् प्रावृत्य निर्गच्छेत् । अचानि वा प्रावृता गच्छन्ति । यत्सागारिकप्रतिवद्धप्रतिश्रये स्थितास्ततः प्रावृताः सन्तः कायिकादिशुचं गच्छन्ति, स्तेना वा पथि वर्तन्ते, तत उत्कृष्टोपधिस्कन्धे कक्षायां वा विण्टिकां कृत्योपरि सर्वाङ्गीणप्रावृता गच्छन्ति । एतेषु कारणेषु कृत्स्नस्योपधेः प्रावरणं कर्तव्यम् । तथा—

निरुवहयलिंगभेदे, गुरुगा कप्पंति कारणज्जाए ।

मेवसुओयरोगे, सरीरेवेतावनियमादी ॥

निरुपहतो नाम नीरोगस्तस्य लिङ्गभेदं कुर्वतश्चतुर्गुरुकाः । अथवा निरुपहतं नाम यथाजातलिङ्गं तस्य भेदे चतुर्गुरु, तस्य च लिङ्गभेदस्येमे भेदाः—

खंधे पुवार संमति, गरुद्धंसे य पट्टलिगण्डवे ।

लहुगो लहुगो य तिसु वि, चउगुरुओ दोमु भूवं तु ॥

स्कन्धे कल्पं शीर्षद्वारिकां वा करोति, मासलघु संयती प्रावरणं करोति, चतुर्लघु गरुडपाक्षिकं प्रावृणोति, अर्धशकृतं करोति, कटीपट्टकं बध्नाति, एतेषु त्रिष्वपि चतुर्गुरु गृहस्थलिङ्गं परलिङ्गं वा करोति, द्वयोरपि मूलम् । द्वितीयपदे तु कारणजाते लिङ्गभेदोऽपि कर्तुं कल्पते । कुवेत्याह—ग्लानत्वं कस्यापि विद्यते । तस्योद्धर्त्तनमुपदेशनमुत्थापनं वा कुर्वन् कटीपट्टकं बध्नीयात् । लोचं वा अन्यस्य साधोः कुर्वणः पट्टकं बध्नाति । (रोगि चित्ति) कस्यापि रोगिणोऽशींसि लम्बन्ते, द्वौ वृषणौ वा शून्यौ, स कटीपट्टकं बध्नीयात् । गृहलिङ्गान्यलिङ्गयोरयमपवादः—

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्टे व वादिदुट्टे वा ।

आगाढ अन्नशिंघं, काञ्चकस्वेवो व गमणं वा ॥

स्वपक्षप्रान्ते आगाढे अशिवे अन्यलिङ्गं कृत्वा तत्रैव कालक्षेपं कुर्वन्ति, अन्यत्र वा गच्छन्ति । एवं राजद्विष्टे राक्षि साधूनामुपरि द्वेषमापके, वादिद्विष्टे वा वादपराजिते कापि धादिनि व्यपरोपणादिकं कर्तुकामे एवंविधे कारणे आगाढे अन्यलिङ्गमुपलक्षणात्वाद्बहुलिङ्गं कृत्वा कालक्षेपो वा गमनं वा विधेयम् । वृ० ६ उ० । पं० भा० । पं० चू० । पंचा० । पं० सं० । आच० । कल्प० । जीत० । प्रव० । स्था० । (तिन्द्रकोद्याने केशीकुमारेण चातुर्यामपञ्चयामधर्मभेदहेतुमश्रकारकेण “ अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतकत्तरो । देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महायसा ” (उत्त० २३ अ०) इत्याचेलकस्य धर्मस्य कथं वीरतीर्थे सत्त्वं पार्श्वतीर्थेऽस्तवमिति पृष्टो गौतमो विभेदकारणं ‘ गौयमकेसिज ’ शब्दे वक्ष्यते) महापद्मस्य भविष्यत्प्रथमतर्थकरस्य समयेऽप्यचेलकधर्मो भविष्यति । स्था० ए डा० ।

पञ्चभिः प्रकारैरचेलकः प्रशस्तो भवति—

पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे जवइ । तं जहा—अप्पा—पडिलंहा, लायविण पसत्थे, रुवं वेसासिए, तवे अण्ण—ण्णए, विडले इंदियनिगहे ॥

(पञ्च हीत्यादि) प्रतीतम्, नवरं, न विद्यन्ते चेलानि वासांसि यस्यासावचेलकः, स च जिनकल्पिकविशेषः, तदज्ञावादेव । तथा स्वविरकल्पिकश्चात्पादपमूल्यसंप्रमाणजीर्णमस्त्रिनवसन्त्वादिनिप्रशस्तः, प्रशंसितस्तीर्थकरादिभिरिति गम्यते । अल्पा प्रत्युपेक्षा अचेलकस्य स्यादिति गम्यं प्रायुपेक्षणीयं, तथाविधोपधेरजात्रान् । एवं च न स्याध्यायादिपरिमन्थ इति । तथा लघोर्जायो लाघवं तदेव लाघविकं, द्रव्यतो भावतोऽपि रागादिपयात्रावात् प्रशस्तमनिन्द्यं स्यात् । तथा रूपं नेपथ्यं वैश्वासिकं विश्वासप्रयोजनमलिप्सुतासूचकत्वात् स्यादिति । तथा तप उपकरणसंज्ञीनतारूपमनुज्ञातं जिनानुमतं स्यात् । तथा विपुलो महानिन्द्रियनिग्रहः स्यात्, उपकरणं विना स्पर्शनप्रतिकूलशीतवातातपादिसहनदिति स्था० ॥ ग० ३३०॥ (प्रतिमां प्रतिपन्नो वस्त्रत्रयवान् चतुर्थं वस्त्रमन्वेपयन् लब्ध्वा च तद् हेमन्ते तस्मिन् जीर्णं, “अडुवा पगसाने अडुवा अचेले लायविणं आगममाणे तवे से अन्निसमसागते भवति चित्ति” “मरण” शब्दे दर्शयिष्यते) ॥ (अचेलस्य निर्ग्रन्थस्य सचेष्टिकाभिर्निर्ग्रन्थानिः संवातः ‘संवात’ शब्दे उच्यते) अचेलगधम्म—अचेलकधर्म—पुं० । अविद्यमानानि जिनकल्प-

कविशेषापेक्षया असत्त्वादेव, स्थविरकल्पिकापेक्षया तु जी-
र्णमलिनखण्डितश्वेताल्पत्वादिना चेन्नानि वस्त्राणि यस्मिन् स
तथा, धर्मश्चात्रिभू, स चासौ धर्मश्चात्रेकधर्मः । आचेलक्याख्ये
द्वाविंशतितीर्थकराप्रज्ञसं ऋषयः प्रवीरतीर्थसम्पत्तेसाध्याचारे, स्था०
६ ठा०। (यथा चैव धर्मस्तथाऽनन्तरम् 'अचेलग' शब्दे दर्शितः)
अचेलपरि (री) सह-अचेलपरि (री) षट्-पुं । अचे-
लं चेलाभावो जिनकल्पिकादीनाम्, अन्येषां तु भिन्नमल्प-
मूल्यं च चेदमप्यचेलम्, अथवाशीलवत्, तदेव परीषदोऽचेल-
परीषदः । उक्त० २ अ० । अचेलतायां जीर्णापूर्णमणिनादिचे-
दत्वे वज्रादिन्याऽऽकाङ्क्षाद्यकरणेन परिपह्यमाणत्वादिति ।
भ० उ श० उ उ० । पष्ठे परीषदे, प्रअ० ५ संवत् द्वा० स० । अ-
महामूल्यानि खण्डितानि जीर्णानि च वासांसि धारयेत् । आव०
४ अ० । न च तथाविधवस्त्रः सन् मम प्राक् परिगृहीतं वस्त्रं
नास्ति, नापि तथाविधो दातेति दैन्यं गच्छेत् ; अन्यत्राभसम्भा-
वनया प्रमुदितमानसश्च न भवेदिति । प्रव० उ६ द्वा० । यथा-
" नाऽस्ति वासोऽशुभं चैतत्, तन्नेच्छेत्साध्वसाधु वा । नाम्येन
विष्णुतो जानन्, लाभोऽलाभविचित्तम् " ॥१॥ ध० ३ अधि० ।
" शान्ताजितापि यति-स्त्ववस्त्राणवर्जितः । वासोऽकल्पं
न गृह्णीया-दग्निं नोऽज्ज्वालयेदपि " ॥ १॥ आव० १ अ०।

एतदेव सूत्रकार आह—

परिजुषेहि वत्थेहि, होक्खामिति अचेलए ।

किंवा सचेदए होक्खं, इइ जिक्खू ए चित्ते ॥

परिजीर्णः समन्ताद् हानिमुपगतैर्वस्त्रैः शट्कादिभिः (हो-
क्खामिति) इतिर्जिन्नक्रमः, ततो भविष्याम्यचेलकश्चेदकविक्रयो-
ऽल्पदिनभाषित्वादेवामिति भिक्षुर्न चिन्तयेत् । अथवा सचेद-
कश्चेद्वान्वितो भविष्यामि, परिजीर्णवस्त्रं हि मां दृष्ट्वा कश्चित् आ-
रुः सुन्दरतराणि वस्त्राणि दास्यतीति भिक्षुर्न चिन्तयेत् । इदमु-
क्तं भवति-जीर्णवस्त्रः सन्नसमः प्राक् परिगृहीतं न परं वस्त्रम-
स्ति, न च तथाविधो दातेति न दैन्यं गच्छेत्, न चान्यलाभसंभाव-
नया प्रमुदितमानसो भवेदिति सूत्रार्थः । इत्थं जीर्णादिवस्त्रतया-
ऽत्रेण स्थविरकल्पिकमाश्रित्याचेलपरीषद उक्तः । संप्रति तमेव
सामान्येनाह—

एगयाऽचेलए होई, सचेले वा वि एगया ।

एयं धम्महियं णच्चा, एणणी णो परिदेवए ॥ १३ ॥

एकदैकस्मिन्कावे जिनकल्पप्रतिपत्तौ, स्थविरकल्पेऽपि दुर्ल-
भवस्त्रासौ वा सर्वथा चेदभावेन, सति वा चेद्वे विना वर्षादी-
नि तमप्रावरणेन, जीर्णादिवस्त्रतया वा अचेलक इत्यवस्त्रो भव-
ति । पठ्यते च—' अचेलए सयं होति ' तत्र स्वयमेवात्मनैव
न पराजियोगतः सचेदः सवस्त्राण्येकदा स्थविरकल्पिकत्वे
तथाविधावस्त्रेनावरणे सति । यद्येवं ततः किमित्याह—एतदि-
त्यवस्थौचित्येन सचेलत्वमचेलत्वं च धर्मो यतिधर्मस्तस्यै हि
तमुपकारकं धर्महितं, ज्ञात्वाऽवबुध्य, तत्राचेलकत्वस्य धर्म-
हितत्वमल्पप्रत्युपेक्षादिभिः । यथोक्तम्—' पंचाहिं णणेहिं पुरिम-
पच्छिमाणं अरहंताणं भगवंताणं अचेलए पसरथे भवति । तं
जहा-अप्पापमिद्वेहा वेसासिए रूवे १ तवे २ अणुमए ३ लाघ-
वपसरथे ४ विउले इंदियणिग्गहे ५ ति " । सचेलत्वस्य तु धर्मो-
पकारित्वमग्न्याद्यारम्भनिवारकत्वेन संयमफलत्वात् । ज्ञानी
नग्न एव प्रायस्तिर्यग्नारकास्तद्भवजयादेव च मया सन्यपि
वासांस्यपास्यन्त इत्येवंबोधत्वाच्च परिदेवयेत् । किमुक्तं भवति-

अचेलः सन् किमिदानीं शीतादिपीकितस्य मम शरणमिति न
दैन्यमाद्यमेत इति सूत्रार्थः । उक्त० २ अ० ।

अत्र ' एवं धम्महियं णच्चेति ' सूत्रसूचितं दृष्टान्तमाह—

वीतजये देवदत्ता, गंधारं सावगं पभियारित्ता ।

लज्जं सयंगुहियाणं, पज्जोतेणाणि उज्जोणिं ॥

ददूण चेन्मिरणं, पभावई पव्वइतु कालगया ।

पुक्खरकरणं गहणं, दस पुरपज्जोयमुयणं च ॥

माया य रुदसोमा, पिया य णामेण सोमदेवो त्ति ।

जाया य फगुराक्खिय, तोसद्विपुत्ता य आयरिया ॥

सीहगिरिजइगुत्ते, वडरक्खमणा पढित्तु पुव्वगयं ।

पव्वावितो य जाया, रक्खियक्खमणेहि जणओ य ॥

उक्त० नि० ॥

गाथाचतुष्टयम् । वीतजये देवदत्ता गंधारं श्रावकं प्रतिजा-
गर्था लज्जेतशताहुद्विकानां, प्रद्योतेनानीतो उज्जयिनीं, दृष्ट्वा चेटीम-
रणं प्रजावती प्रव्रज्य काष्ठं गता, पुष्करकरणं, ग्रहणं, दशपुरप्रद्यो-
तमोचनं च, माता च रुदसोमा, पिता च नाम्ना सोमदेव इति,
भ्राता च फलगुराकितः, तोसद्विपुत्राश्चाचार्याः । सिंहगिरिभद्र-
गुप्ताभ्यां वज्रक्रमणः पठित्वा पूर्वगतं प्रव्राजितश्च भ्राता रक्षि-
तक्षमर्जनकश्चेति गाथाचतुष्टयाक्षरार्थः । जावार्थस्तु-वृद्धसं
प्रदायादवसेयः । स चायं (जीवितस्वामिप्रतिमावक्तव्यता आ-
र्थ्यरक्षितसुरिणां दशपुरमागमनावधि 'अजराक्खिय' शब्दे बह्य-
ते) उक्त० ३ अ० । अर्थ्यरक्षितसुरिणा तत्र स्वमातृभगिनीप्रमुखः
सर्वसांसारिकवर्गो दीक्षां प्राहितः । पिता तु प्रतियोधितोऽ-
पि साधुलिङ्गं न गृह्णाति । स्वज्ञातीयजनानां लज्जां च वहति ।
आचार्या दीक्षाग्रहणाय तस्य बहु कथयन्ति । ततः स कथ-
यति-पृथुवस्त्रयुगलयज्ञोपवीतकमण्डलुच्छत्रिकोपानद्भिः समं
चेद् दीक्षां ददासि तदा ब्रामि । ततो लाजं दृष्ट्वा तादृशमेव
तं गुरुः प्रव्राजितवान् । प्राहितश्चरणकरणस्वाध्यायम् । अन्यदा
चैत्यवन्दनार्थं गता आचार्यास्तत्र साधुशिक्षिता गृहस्थभिन्ना-
का वदन्ति—एनं व्रणिणं मुक्त्वा सर्वान् साधून् वन्दामहे । ततः
स वृद्धो वक्ति-मम पुत्रनप्तादय एते वन्दिताः, अहं कस्माच्च
वन्दितः? किं मया दीक्षा न गृहीता? त आहुः-किं दीक्षितस्य व्र-
कमण्डलादीनि स्युः? ततो गुरुस्वागतेषु स वृद्धो वक्ति-पुत्र ! मम
भिन्नाका अपि हसन्ति, ततो न कार्यं व्रणेन । एवं प्रयोगेण
क्रमतो धौतिकवस्त्रं मुक्त्वा सर्वं त्याजितः । बहुशुस्तथा प्रयोगक-
रणेऽपि धौतिकं न मुञ्चति स्म । अन्यदा एकः साधुर्गृहीतानशनः
स्वर्गं गतः । तत आचार्यैर्वृक्षस्य धौतिकस्याजनाय साधून् प्रत्येव-
मुक्तम्—य एनं मृतसाधुं व्युत्सृष्टं स्कन्धेन वहति, तस्य महत् पु-
ण्यम् । ततः स स्थविरो वक्ति-पुत्राऽत्र किं बहुनिर्जरा? आचार्या
आहुः-वाढम् । ततः स वक्ति-अहं वहामि । आचार्या वदन्ति-
अत्रोपसर्गा जायन्ते, चेदकरूपाणि लग्न्यन्ते, यदि शक्यतेऽधिसोदुं
तदा वरं, यदि कोमो भविष्यति तदा शुभमस्माकं भविष्यति,
एवं स्थिरीकृत्य स तत्र नियोजितः । साधुसाध्वीसमुदायः पृष्ठे
स्थितः । यावत्तेन साधुशब्दं स्कन्धे समारोप्य बौद्धमारब्धं, तावत्त-
स्य धौतिकं गुरुशिक्षितभिन्नाकैराकर्षितम्, स लज्जया याव-
त्तसाधुशब्दं स्कन्धानुश्रुतिं तावदन्यैरुक्तम्—मा मुञ्च ३, एकेन
चोत्तपट्टको दवरकेन कृत्वा कटौ बद्धः । स तु व्रजया तत्साधुश-

ये हागभूमिं याचमुद्रा नञ् व्युत्पन्नं पञ्चादागतो वक्ति-पुन !
मय मदानुरक्तो जातः । आह्वयन्त्याः-जानीयनां धीनिर्ग-
परिधाव्यनाम् । ननः स वनि-अथाऽन्ने धीनिर्ग, यद् दृष्टं
नद दृष्टेव । शय चेलपट्ट पञ्चान्तु । पूर्व तेनाऽन्नेतपरीपहो न
सोढः पञ्चात् सोढः । उच्यते न तः ।

एतदेवाचेज्जाननद्वन्द्वं प्रजापति यथा—

एवं नृणां अयाणां मया सुखान्वाद्यन्मे विवृतक-
पे गिज्जोसत्ता, मे अचेजे परिवृत्तिने नरम एं भिक्खु-
म्म णो एवं जवति, परिज्जाणं मे दत्ते वत्तं जाइम्मामि सुत्तं
जाइम्मामि नृं जाइम्मामि संघिस्सामि सीविस्सामि उक्क-
निम्माणि वाक्कसिम्माणि परिहिस्सामि पाउणिस्सामि,
अदुवा तन्त्र परिक्कमेतं नृज्जा अचेलं तण्णासा फुसंति
नीयफासा फुसंति तेउफासा फुसंति दंसममगफासा फुसंति
पगदरे आणणरे विस्सवन्ने फामे अहियामेत्ति अचेले
ह्ययवं आगममाण्णा, तवे मे अभिसमाण्णागए जवति, जहेयं
भगवता पवेदितं, नमेव अत्तिममेच्चा नव्वतो, सव्वत्ताए
नम्भन्नेव ममभिजाणिना, एवं तेसि महावीराणं चिरराई
पुन्नाई वासाणि रीयमाण्णाणं दवियाणं पाम अहियासियं
आगयमाण्णाणाणं किमा वाहा भवंति । पयाण्णं मंसमोणिण
विन्नेसाणि ददु परिण्णाण एन तिणं मुत्तं विरए वियाहि-
ए त्ति वेमि ।

एतन्नु पूर्वोक्तं वक्ष्यमाणं वा. नुर्वाक्याह्वारे, आदीयत इत्या-
दानं कर्म. आदीयत इति वाऽनेन कर्मोत्पादनं कर्मोपादानम् ।
नञ् धर्मोपकरणानिर्दिक्तं वक्ष्यमाणं वस्त्रादि तन्मुनिर्भोषयितेति
न्ययः । किंभूतः ? सदा सर्वथाहं सुप्राख्यातो धर्मोऽस्येति स्वा-
न्मज्ञानधर्मा संसारजीवन्याध्यागोपितज्जात्वादीत्यर्थः । तथा वि-
धुनः भुक्ताः सम्यक् स्पृष्टः कष्ट आचारो येन स तथा, स एवंभूतो
मुनिरादानं भोषयित्वा आदानमपनेष्यति । फलं पुनस्तदादानं
वस्त्रादि स्याद् येन तद् भोषयितव्यं भवेदित्याह—(जि अचेले इत्या-
दि) धर्मायै नञ्, यया-अयं पुमान्कः स्वल्पज्ञान इत्यर्थः । यः
माधुनास्य चेलं वस्त्रमस्तीत्यतोऽचेज्जोऽल्पचेल इत्यर्थः । संयमे
पर्युपितो व्यवस्थित इति तस्य भिक्षोर्नैतद्भवति नैतत्कल्पते ।
यथा परिजीर्णं मे वस्त्रमचेलकोऽहं जघिष्यामि, न मेऽत्र त्वक्या-
णं जविष्यति, ततश्च शीताद्यदितस्य किं शरणं मे स्याद् वस्त्रं
विनेत्यतोऽहं कञ्चन श्रावकादिकं प्रत्येत्य वस्त्रं याचिष्ये, तस्य
वा जीर्णस्य वस्त्रस्य संधानाय सूत्रं याचिष्ये, सूचीं याचिष्ये
वा, आत्ताज्यां सूचीसूत्राज्यां जीर्णवस्त्रद्वन्द्वं संधास्यामि, पाटितं
सीविष्यामि, लघु वा सद्परशकललगनत उत्कर्षयिष्यामि,
दीर्घं वा सत् खण्जापनयनतो व्युत्कर्षयिष्यामि । एवं च कृतं स-
त्परिधास्यामि, तथा प्रावरिस्थामीत्याद्यासंध्यानोपहतः सत्यपि
जीर्णादिवस्त्रसद्भावे यद्वाविष्यताध्यवसायिनो धर्मैकप्रवणस्य
तु भवत्यन्तःकरणवृत्तिरिति । यदि वा जिनकल्पिकाभिः प्राये-
णैवेतत् सूत्रं व्याख्येयम् । तद्यथा—(जि अचेले इत्यादि) नास्याचेहं
वस्त्रमस्तीत्यचेहः छिद्रपाणित्वात्पाणिपात्रः । पाणिपात्रत्वात्पा-
त्रादिसप्तविधतन्त्रियोगरहितोऽजिग्रहविशेषात् त्यककल्पत्रयः ।
केवलं रजोहरणमुखवस्त्रिकासमन्वितस्तस्याचेलस्य भिक्षोर्नैत-

द् भवति, यथा परिजीर्णं मे वस्त्रं सञ्चिद्रं पाटितं चेत्वेवमादि-
रगतमपध्यानं न भवति, धर्मिणोऽभावाद्धर्मोभावः । सति च
धर्मिणि धर्मोन्वेपणं न्याय्यमिति सत्यं घचस्तथेदमपि तस्य न
भवत्येव । यथा परं वस्त्रमहं याचिष्ये इत्यादि पूर्ववक्षेयम् । यो-
ऽपि छिद्रपाणित्वात्पात्रनिर्योगसमन्वितः कल्पत्रयान्तरतरुक्तो-
ऽसावपि परिजीर्णादिसद्भावे तद्वतमपध्यानं न विधत्ते, यथा
कृतस्याल्पपरिकर्मणो ग्रहणात् सूचिसूत्रान्वेषणं न करोति ।
तस्य चाचेलस्याल्पचेहस्य वा तृणादिस्पर्शसद्भावे यद्वि-
धेयं तदाह—(अदुवा इत्यादि) तस्य हचेलतया परिवसतो
जीर्णवस्त्रादिकृतमपध्यानं न जवति, अथैतत् स्यात्तत्राचेलत्वे
पराक्रममाणं (नृज्जा) पुनस्तं साधुमचेलं कञ्चिद् प्रामादौ त्व-
फ्राणाभावात् तृणशय्याशायिनं तृणानां स्पर्शाः पर्यास्तृणै-
षां जनिताः स्पर्शाः दुःखविशेषास्तृणस्पर्शास्ते कदाचित् स्पृ-
शन्ति, तांश्च सम्यगदीनमनसाऽतिसहत इति संयन्धः । तथा
शीतस्पर्शाः स्पृशन्त्युपतापयन्ति, तेजःस्पर्शाः स्पृशन्ति, तथा
दंगमशकस्पर्शाः स्पृशन्ति । तेषां तु परीपहाणमेकतरे विरुद्धा
दंगमशकतृणस्पर्शादयः प्रादुर्भवेयुः, शीतोष्णादिपरीपहाणां
वा परस्परविरुद्धानामन्यतरे प्रादुर्भवेयुः । प्रत्येकं बहुवचननिर्दे-
शश्च तीव्रमन्दमध्यमावस्यासंस्पर्श इति । एतदेव दर्शयति-विरूपं
याम्भस्तं मनोनयनानादादि विविधं वा मन्दादिभेदादप्येषां ते वि-
रूपरूपाः के ते?, स्पर्शाः दुःखविशेषास्तदापादकास्तृणादिस्पर्शा
वा, तान् सम्यक्करणेनापध्यानरहितोऽधिसहते, कोऽसी?, अ-
चेज्जोऽपगतचेहोऽल्पचेहो वा ऽचेहस्वरूपो वा सम्यक् तितिक्रते ।
किमभिसन्ध्य परिपदानधिसहत इत्यत आह—(लाघवमित्यादि)
लाघाज्जावो लाघवं, हव्यतो भावतश्च, हव्यतो गुणकरणलाघवं,
भावतः कर्मलाघवम् । आगमयन्नवगमयन्नुद्यमान इति यावद्-
धिसहते परीपहोपसर्गानिति । नागाज्जुर्नीयास्तु पठन्ति—“ एवं
स्रष्टु से उवगरण्णाद्यधियं तवं कम्मकन्नयकारणं करोति ” एव-
मुत्क्रमेण जावलाघवार्थमुपकरणलाघवं तपश्च करोतीति भा-
वार्थः । किञ्च (तवे इत्यादि) (से) तस्योपकरणलाघवेन कर्म-
लाघवमागमयन्तं कर्मलाघवेन चोपकरणलाघवमागमयतस्तृ-
णादिस्पर्शानधिसहमानस्य तपः कायक्लेशरूपतया बाह्यमभिस-
मन्वागतं जवति । मय्यगाभिमुख्येन सोढुं भवति । एतच्च न मयोच्य-
त इत्येतद्दर्शयितुमाह—(जहेयं इत्यादि) यथा येन प्रकारेणैवमिति
यदुक्तं वक्ष्यमाणं चैतद्, जगवता धीरवर्धमानस्वामिना, प्रकर्षे-
णाऽऽदौ वा चेदितं प्रवेदितमिति । यदि नाम भगवता प्रवेदितं ततः
किमित्याह—(तमेव इत्यादि) तदुपकरणलाघवमाहारलाघवं वा-
ऽभिसमेत्य ज्ञात्वा, एवकारोऽवधारणे, तदेव लाघवं ज्ञात्वेत्यर्थः ।
कथमिति चेदुच्यते-सर्वत इति हव्यतः क्षेत्रतः कासतो भावतश्च ।
तत्र द्रव्यत आहारोपकरणदौ, क्षेत्रतः सर्वत्र प्रामादौ, कालतो-
ऽहनि रात्रौ वा, दुर्मिक्कादौ वा । सर्वात्मनेति । भावतः कृत्रिम-
कल्काद्यभावेन, तथा सम्यक्त्वमिति । प्रशस्तं शोभनमेकं सङ्गतं
वा तत्त्वं सम्यक्त्वम् । तदुक्तम्—“ प्रशस्तः शोभनश्चैव, एकः सं-
गत एव च । इत्येतैरुपसृष्टस्तु, भावः सम्यक्त्वमुच्यते ” ॥१॥ तदेवं-
भूतं सम्यक्त्वमेव वा समभिजानीयात् सम्यगाभिमुख्येन जानी-
यात् परिच्छिन्नात् तथा एचेहोऽप्येकचेहोदिकं नावमन्येत, यत्
उक्तम्—“ जो वि डुवत्थ तिवत्थो, एणेण अचेहणो व संयरह् । ए हु ते
हीहोति परं, सव्वे वि हु ते जिणा णाप ॥१॥ तथा—“ जेखहु विस-
रिसकप्पा, संघयणधियादिकारणं जणिणं । पण्णवमणयहीणं,
अप्पाणं मण्णई तेहि ॥१॥ सव्वे वि जिणा णाप, जहाविहिं कम्म-

खवणमद्वाप । विहरन्ति उज्जुया खदु , सम्मं अभिजाणई एवं ”
॥२॥ इति । यदि वा तदेव लाघवमभिसमेत्य सर्वतो छव्यादिना
सर्वात्मनादिना सम्यक्त्वमेव सम्यग्भिजानीयात् तीर्थकर-
गणधरोपदेशात् सम्यक् कुर्यादिति तात्पर्यार्थः । एतच्च नाश-
क्यानुष्ठानम् । ज्वरहरतक्कचूडाबद्धाररत्नोपदेशवद् ज्वरतः
केवलमुपन्यस्यते , अपि त्वयैवहुभिश्चिरकालमासेवितमित्येत-
द्दर्शयितुमाह- (एवमित्यादि) एवमित्येवतथा पर्युषितानां
तृणादिस्पर्शानभिसहमानानां तेषां महावीराणां सकललोकचम-
त्कारिकारिणां चिररात्रं प्रभूतकालं यावज्जीवमित्यर्थः । तदेव
विशेषतो दर्शयति-पूर्वाणि प्रभूतानि रीयमाणानां संयमानुष्ठाने ग-
च्छतां, पूर्वस्य तु परिमाणं वर्षाणां सप्ततिः कोटिद्वक्काः पञ्च वा श-
तकोटिसहस्रास्तथा प्रभूतानि वर्षाणि रीयमाणानां तत्र नाभेया-
दारभ्य शीतलं दशमतीर्थङ्करं यावत्पूर्वसंख्यासदृजावात् पूर्वाणी-
त्युक्तम् । तत्र आरभ्य श्रेयांसादारभ्य वर्षसंख्याप्रवृत्तेर्वर्षाणीत्यु-
क्तमिति । तथा छव्याणां भव्यानां मुक्तिगमनयोग्यानां पञ्चाव-
धारय, यच्चनृणस्पर्शादिकं पूर्वमभिहितं, तदभिषोढव्यमिति सम्यक्
करणेन स्पर्शातिसहनं कृतमेतदवगच्छेति । एतच्चापि सहमा-
नानां यत्स्यात्तदाह- (आगय इत्यादि) आगतं प्रज्ञानं पदार्थावि-
र्भावकं येषां ते तथा, तेषामागतप्रज्ञानानां तपसा परीपहातिसह-
नेन च कृशा बाहवो भुजा भवन्ति । यदि वा सत्यपि महोपस-
र्गपरीपहादावचगतप्रज्ञानत्वाद्वाधाः पीनाः कृशा भवन्ति, कर्मक-
पणायोत्येतस्य शरीरमात्रपीनाकारिणः परीपहोपसर्गान् सहा-
यानिति मन्यमानस्य न मनःपीनोत्पद्यत इति । तदुक्तम्—“नि-
म्माणेइ परोविवि, अपाणओ न वियणं सरौराणं । अप्पाणोच्चि-
य हियस्स, न उण दुक्खं परो वेत्ति” ॥१॥ इत्यादि । शरीरस्य
तु पीना भवत्येवेति दर्शयितुमाह- (पयणुप इत्यादि) प्रतनुके च,
मांसं च शोणितं च मांसशोणिते, द्वे अपि । तस्य हि रूक्षाहारत्वा-
दल्पाहारत्वाच्च प्रायशः खलत्वेनैवाहारः परिणमति, न रसत्वेन
कारणाज्जावाच्च प्रतनुकं च शोणितं तत्तनुवात् मांसमपीति,
ततो भेदोऽस्यादीन्यपि । यदि वा प्रायशो रूक्षं वातद्वं भवति
वातप्रधानस्य च प्रतनुतैव मांसशोणितयोरचेलतया च तृणरूप-
श्चादिप्राप्तुर्भावेन शरीरोपतापात्प्रतनुके मांसशोणिते भवत इति
संबन्धः । तथा संसारश्रेणी संसारावतरणी रागद्वेषकापायसंत-
तिस्तां क्लान्त्यादिना विश्रेणी कृत्वा तथा परिक्लान्ता च समत्वज्ञाव-
नया । तद्यथा—जिनकल्पिकः कश्चिद्वेककल्पधारी द्वौ त्रीन् वा
विमर्ति, स्थविरकल्पिको वा मासार्द्धमासकल्पकस्तथा वि-
कृष्टाविकृष्टतपश्चारी प्रत्यहं भोजी कूरगडुको वा । एते सर्वेऽपि
तीर्थकृद्वचनानुसारतः परस्पराभिन्द्या संस्तुणन्ति सम्यक्त्व-
दर्शन इति । उक्तं च— “ जो वि दुवत्थितिवत्थो, एगेण
अचेलगो व संथरइ । न हु ते हीद्वेति परं, सव्वे वि हु ते जिणा
णाए” ॥१॥ तथा जिनकल्पिकः प्रतिमाप्रतिपन्नो वा कश्चित्कदाचि-
त्परुपि मासानात्मकल्पेन जिह्वां न व्रजेत तथाऽप्यसौ कूरगडुक-
मपि यथोदनमुएरुस्त्वमित्येवं न हीद्वयति तदेवं समत्वदृष्टिप्र-
ज्ञया विश्रेणीकृत्यैव उक्तलक्षणो मुनिस्तीर्णः संसारसागरम्, एव
एव मुक्तः सर्वसङ्केभ्यो विरतः सर्वसावधानुष्ठानेभ्यो व्याख्यातो
नापर इति ब्रवीमि । इतिशब्दः पूर्ववत् । आचा० ११७०६ अ० २३० ।
अचेलपरि(री)सहविजय-अचेलपरि(री)पहविजय-पुं० उत्तम
धृतिसंहननादिविकलानामिदानीन्तनसाधूनां तृणग्रहणानवसे-
वापरिहारतः संयमस्फीतिनिमित्तं खण्डिताल्पमूल्यपरिजीर्ण-
सर्वजीर्णानि वस्त्राणि धारयतामाचेद्वक्ष्यपरीपहसहने, पं० सं० ।

संजमजोगनिमित्तं, परिजुत्तादीणि धारयंतस्स ।

कह न परीसहसहणं, जइ णो सइ निम्ममत्तस्स ॥

आचेद्वक्ष्यमुक्तप्रकारेण तावदौपचारिकं ततस्तथारूपाचेद्वक्ष्य-
सेवनं परीपहसहनमप्यौपचारिकमेव स्यात् । तथा च सति कुतो
मोक्षावाप्तिरुपचरितस्य निरुपचरितार्थक्रियाकारित्वायोगात्, न
हि माणवको दहनोपचारादाधीयते पाके इति यद्येवं तर्हि कल्पनी-
यमाहारमपि शुब्जानस्य न सम्यक् कृत्परिपहसहनं भवेत् भव-
दुक्तन्यायेन सर्वथा आहारपरित्यागत एव तत्सहनोपपत्तेः ।
एवं च सति जगवानप्यहंन् क्षुत्परीपहजेता न भवेत् । सोऽपि
हि भगवान् उग्रस्यावस्थायां जगन्भतेनापि कल्पनीयमाहारमु-
पशृङ्के । न च स तथा कल्पनीयमाहारमुपशृङ्गानोऽपि
क्षुत्परीपहजेता नेष्टः, ततो यथाऽनेपणीयाकल्पनीयभोजनप-
रित्यागतः क्षुत्परीपहसहनमिष्टं, तथा महामूल्यानेपणीयाक-
ल्पनीयवस्त्रपरित्यागत आचेद्वक्ष्यपरीपहसहनमेष्टव्यम् । न च
वाच्यम्—एवं तर्हि कमनीयकामिनीजनपरिजोगपरिहारतः का-
लेक्षणविरूपवामनेत्रापरिभोगमपि कुर्वतः स्त्रीपरीपहसहनप्र-
सङ्ग इति, स्त्रीपरिभोगस्यान्यत्र सर्वात्मना सूत्रान्तरेण प्रतिपि-
कृत्वात् । न चैवं परिजीर्णाल्पमूल्यवस्त्रपरिजोगः सूत्रान्तरेण
प्रतिपिक्तः, ततो नातिप्रसङ्गावाप्तिः, कृतं प्रसङ्गेन । विस्तरेण तु
धर्मसंग्रहणींटीकायामपवादः प्रपञ्चित इति तत एवावधार्यः ।
पं० सं० ४ द्वा० ।

अचेलित्रा—अचेलिका—स्त्री० । वस्त्ररहितायां स्त्रियाम्, निर्ग्र-
न्थ्याऽचेलिकया न भावितव्यम् । वृ० ५ उ० ।

नो कप्पइ निगंथीए अचेलियाए हुंतए ।

नो कल्प्यते निर्ग्रन्थ्या अचेलिकया वस्त्ररहितया भवितुमेव-
सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यम्—

वृत्तो अचेद्वधम्मो, इति काइ अचेलगतणं ववसा ।

जिनकप्पो वज्जाणं, निवारिओ होइ एवं तु ॥

अचेद्वको धर्मो भगवता प्रोक्त इति परिभाष्य काचिद-
चेद्वकत्वं व्यवस्येत कर्तुमजिलपेत्, अतस्तान्निषेधार्थमिदं सूत्रं
कृतम्, अचेद्वकत्वप्रतिषेधेन आचार्याणां जिनकल्पोऽप्येवम-
नेनैव सूत्रेणैव निवारितो मन्तव्यः । कुत इत्याह—

अजिअम्मि साहसम्मि, इत्थी ण वए अचेलित्रा होउं ।

साइसमन्नं पि करे, तेणेव अइप्पसंगेणं ॥

कुलभाविताविणेच्छति, अचेलयं किमु सई कुले जाया ?

धिकारदुक्किआणं, तित्थुच्छेओ दुलभावित्ती ॥

साध्वसे भये तरुणादिकृतोपसर्गसमुत्थे अजिते सति अचे-
द्विका भवितुं स्त्री निर्ग्रन्थी न शक्नुयात् । अथ भवति ततस्तेनै-
वातिप्रसङ्गनाचेद्वताद्वक्षणेनान्यदपि चतुर्थसेवादिकं साहसं
कुर्यात्, तथा कुलदाऽपि तावद् नेच्छत्यचेद्वतां किं पुनः कुले जाता
सती साध्वी । अचेद्वतां प्रतिपन्नानां चार्यिकाणां (धिकारदुक्किआ-
णं ति) द्रोकापवाद्दुष्टगुप्सितानां तीर्थोच्छेदः, दुर्बला च वृत्ति-
र्भवति, न कोऽपि प्रव्रजति, न वा नृकपानादिकं ददातीत्यर्थः ॥

गुरुणा अचेद्विगाणं, समलं व दुगंठियं गरहियं च ।

होइ परपत्यणिजा, विज्यं अच्चाणमाईसु ॥

अत एव यथार्थिका अचेद्विका न भवन्ति, यतस्तासां चतुर्गुणा
माहादयश्च दोषाः। तथा चेलनरितानां संयतीं समानां महादिन्वदेहां
दृष्ट्वा लोको जुगुप्सितं जुगुप्सां कुर्यात् । आः कष्टमिदं लोक एता-
द्वयवस्था, परलोकं तु पापनरा भविष्यन्ति । गर्हितं च गर्हा
प्रवचनस्य कुर्यात्-जमरं सर्वमेतद्दर्शनमिति । अचेद्विका च
परस्य प्रार्थनीया भवति । अत्र द्वितीयापदनच्चादिषु विविक्ता-
नां नन्तव्यम् । अपि च-

पुणराविचिन्निवारण-उदिषमोहो न ददु प्पेजेजा ।

पडिवंधो समणाई, निनियदोसा य नगिणाए ॥

अचेन्नामार्थी दृष्ट्वा प्रव्रज्याभिमुखानामपि कुञ्जस्त्रीणां पुनरावृ-
त्तिर्नयति, प्रव्रज्यां न प्रव्रज्यतित्यर्थः । अन्यो वा कश्चिन्निवार-
णं कुर्यात्, किमेतासां कापालिनीनां समीपे प्रव्रजितेनेति । यत्ता-
कश्चिदुद्दानं मोहस्तामप्रावृत्तां दृष्ट्वा कर्मगुरुकतया प्रेरयेत्,
न्नापि तत्रैव प्रतिबन्धं कुर्यात्, प्रतिगमनादीनि वा विद्वद्यात् ।
निगिरुमदोषाश्च जनेभ्यः, यत एते नन्नाया दोषा अतोऽचेद्वया न
भविष्यन्त्यम् । द्वितीयपदे संयत्या अध्वनि स्तेनैर्विविक्तायास्ततो
न किनपि वरुणं भवेत् । आदिशब्दात् क्लिप्तचित्ता यक्काविष्टा वा
चरन्नापि परित्यजेत्, एवमचेद्वयापि भवतीति । ३०५ उ० नि० चू० ।
अचोइय-अचोदिन-ति० । अप्रेरितं, “वित्तो अचोइयो णिधं,
निव्वं इवइ सृचोइए” उक्त० १ अ० ।

अचोप्पना-अचोपडा-स्त्री० । निस्तुपाख्ये अद्वेपकृते पेयद्रव्ये,
ध० ३ अधि० ।

अचोरिय-अचौर्य-न० । अव्य० । चोरताभावे, “अचोरियं करे-
त्तं” अचौर्यं कुर्वन्तं, चौरतामकुर्वाणमित्यर्थः । प्रश्न० २ आश्न० द्वा० ।
अच-अर्च-धा० पूजायाम्, उभ०, न्वादि०, सक०, सेट् । अर्च-
ति, अर्चते, आनर्च, आनर्चं, आर्चात्, आर्चिष्ट । चुरा०, उज०,
मक०, सेट् । अर्चयति, अर्चयते । वाच० । “अर्चे मुचे महाभा-
गा, एति किंवेण अर्चिमो ” उक्त० १२ अ० ।

अर्च-त्रि० । अर्चति यः सः । अर्च-अच् । “कगचजतदपयवां प्रायो
लुक् ” ८ । १ । ७७ । इत्यसंयुक्तस्यैव सुविधायकत्वेन न
लुक् । पूजके, प्रा० । कालविशेषात्मकत्वभेदे च, यस्मिन्
हि श्रमणो भगवान् महावीरो निर्बृत्तः । कल्प० ।

अर्च्य-त्रि० । पूज्ये, स्या० ३ उ० १ उ० ।

अर्चंग-अत्यङ्ग-न० । अतिशायिषु कारणेषु, “वज्जणमणंतगुं-
वरि, अर्चंगणं च मोगओ माणं ” । अत्यङ्गानीत्यतिशायीनि
श्रोगस्य कारणान्यवयवा मधुमद्यमांसादीनि रात्रिशोचनस्रक्-
चन्दनाङ्गनादीनि च । पञ्चा० १ वि० ।

अर्चंतकाल-अत्यन्तकाल-त्रि० । अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तः,
अत्यन्तः कालो यत्र सोऽत्यन्तकालः । असीमकालिके, “अर्चंत-
कालस्स समुद्वयस्स, सर्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो ”
उक्त० ३२ अ० ।

अर्चंतथावर-अत्यन्तस्थावर-पुं० स्त्री० । अनादिस्थावरे, “मरु-
देवा अर्चंतथावरा सिक्का ” मरुदेवा अत्यन्तस्थावरा अनादि-
वनस्पतिराशेरुद्धृत्य सिक्काः । आ० म० द्वि० ।

अर्चंतपरम-अत्यन्तपरम-त्रि० । अधिकोत्कृष्टे, “अर्चंतपरमो
भासी, अउलो रुवविमिहओ ” उक्त० २० अ० ।

अर्चंतभावसार-अत्यन्तभावसार-त्रि० । अतीवप्रशस्ताभ्यव-
सायप्रधाने, पञ्चा० १४ वि० ।

अर्चंतविशुद्ध-अत्यन्तविशुद्ध-त्रि० । सर्वथा निर्दोषे, स्था०
ए ग० । “अर्चंतविशुद्धीहरायकुलवंसत्पस्य ” अत्यन्तं
विशुद्धः सर्वथा निर्दोषो दीर्घश्च पुरुषपरम्परापेक्षया यो राज्ञां
भूपादानां कुललक्षणो वंशः सन्तानस्तत्र प्रसूतो जातो यः स
तथा । स्था० ए ग० ।

अर्चंतसंकिद्वेस-अत्यन्तसंक्षेप-पुं० । अतिनिविडतया रागद्वे-
षपरिणामे, ध० १ अधि० ।

अर्चंतसुपरिसुद्ध-अत्यन्तसुपरिशुद्ध-त्रि० । अतिनिर्मलतरे,
पञ्चा० १४ वि० ।

अर्चंतसुहि (ण)-अत्यन्तसुखिन्-त्रि० । निरतिशयसुखा-
ऽऽप्नुते, “तो होइ अर्चंतसुही कयथो ” उक्त० ३३ अ० ।

अर्चंतानाव-अत्यन्तानाव-पुं० । अत्यन्तोऽन्तमतिक्रान्तो नित्योऽ-
भावः । क० सं० । नास्तीति वाक्याभिप्रेक्ष्यमाने नाशप्रागभाव-
जिज्ञे संसर्गाभावे, वाच० । अत्यन्तानावमुपादिशान्ति- काल-
त्रयापेक्षिणी तादात्म्यपरिणामानिवृत्तिरत्यन्ताभाव इति । अती-
तानागतवर्त्तमानरूपकालत्रयेऽपि याऽसौ तादात्म्यपरिणाम-
निवृत्तिरेकत्वपरिणतिव्यावृत्तिः सोऽत्यन्ताभावोऽभिधीयते ।
निदर्शयन्ति-यथा चेतनाचेतनयोरिति, न खलु चेतनमात्मत-
त्त्वमचेतनपुरुलात्मकतामचकलत्कलयति कल्ययिष्यति वा, तच्चै-
तन्यविरोधात् । नाप्यचेतनं पुनरुत्तत्त्वं, चेतनस्वरूपमचेतनत्ववि-
रोधात् । रत्ना० ३ परि० ।

अर्चंतिय-आत्यन्तिक-त्रि० । अत्यन्त-अवार्थे उच् । अतिशयेन
जाते, वाच० । सर्वकालत्राविनि, “गेगंतणञ्चंतिय ऊदए वं,
वयंति ते दोवि गुणोदयस्मि” सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । सोऽत्यन्तिको
दुःखविगमः सोऽपवर्गः । अत्यन्तं सकलदुःखशक्तिनिर्मूलनेन
जवतीत्यात्यन्तिको दुःखविगमः । ध० १ अधि० ।

अर्चंतोसम्प-अत्यन्तावसन्न-पुं० । अवसन्नेष्वेव प्रव्राजितेषु, सं-
विद्धैः प्रव्राजितमात्रेष्वेवावसन्नतया विहृतेषु च । “अर्चंतोसम्पे-
सु य, परहिगडुगे य मूलकस्मे य । भिक्खुस्मि य विहियतवोऽ-
णवट्टपारंचियं पत्तं ” ॥ जीत० ।

अर्चक्खर-अत्यक्षर-त्रि० । एकादिजिरक्कैरधिके, “अनत्यक्क-
रत्वं हि सूत्रगुणः ” इत्ययं दोषः । अनु० । विशेष० । आ० ।
आ० म० प्र० । आ० चू० । ध० ।

अर्चण-अर्चन-न० । पुष्पादिभिः सत्करणे, “अर्चणं सेवणं चैव,
मणसा वि ण पथए ” । उक्त० ३५ अ० ।

अर्चणा-अर्चना-स्त्री० । अर्च-युच् । पूजायाम्, वाच० । “गन्धै-
र्भाक्ष्यैर्विनिर्बद्धहृत्परिमलैरुक्तैर्धूपदीपैः, साध्नायैः प्राज्यभेदै-
श्चरुजिरूपद्वैतैः पाकचूतैः फलैश्च । अम्भःसम्पूर्णपात्रैरिति हि
जिनपतेरर्चनामष्टभेदां, कुर्वाणा वेश्मजाजः परमपदसुखस्तोम-
माराल्लजन्ते ” ॥ १ ॥ ध० ३ अधि० ।

अञ्चण्डिज्ज-अर्चनीय-त्रि० । अर्च-अर्चायर् । चन्दनगन्धादिभिः
सत्करणीये, “ अञ्चण्डिजे वंदण्डिजे कल्लणं मंगलं देवयं चेइ-
यं । ” औ० । उपा० । जी० । भ० । ज्ञा० ।

अञ्चण्डिआ-अर्चनिका-स्त्री० । सिद्धायतने जिनप्रतिमाचर्चने,
भ० ४ श० १ उ० ।

अञ्चत्थ-अत्यर्थ-न० । अतिक्रान्तमर्थमनुरूपत्वरूपम् । आतिश-
ये, तद्वति च । त्रि० । अत्यये, अव्य० स० । अर्थाभावे, अव्य० स० ।
वाच० । “ अंगारपलित्तककप्पअञ्चत्थसीयवेयणा ” प्रश्न०
२ आश्र० द्वा० ।

अञ्चत्थत्त-अत्यर्थत्व-न० । महार्थत्वाऽपरपर्याये परिपुष्टार्था-
न्निधायितारूपेऽष्टमे सत्यवचनातिशये, रा० ।

अञ्चय-अत्यय-पुं० । अति-इण्-अच् । अतिक्रमे, अभावे, विना-
शे, दोषे, कृच्छ्रे, अतिक्रम्य गमने, कार्यस्याऽवश्यंजावाभावे,
वाच० । प्रत्यवाये, वृ० ३ उ० । आत्यन्तिके विनाशे च ।
वृ० ४ उ० ।

अञ्चल्लीण-अत्यालीन-त्रि० । अतीवात्यर्थमाहीने आसन्ने, प्रा० ।

अञ्चसण-अत्यशन-न० । अतिशयितमशनम् । अतिभोजने,
वाच० । प्रतिपदादीनां पञ्चदशदिवसानां (तिथीनां) लोको-
त्तरसंज्ञया द्वादशे दिवसे, पुं० । चं० प्र० १० पाहु० ।

अञ्चा-अर्चा-स्त्री० । अर्च्यतेऽसावाहारालङ्कारादिभिरित्यर्चा ।
देहे, आचा० १ शु० १ अ० ६ उ० । सूत्र० । स्था० । “ दुविहच्चा प-
न्निमेयरससिहितेतर अचित्तसच्चित्ते ” अर्चा द्विविधा । तद्यथा-
सचित्ता अचित्ता च । तत्राचित्ता द्विविधा-प्रतिमा इतरा च ।
इतरा नाम स्त्रीशरीरं निर्जीवम् । एकैकं पुनर्द्विधा-सन्निहिता, अ-
सन्निहिता च । व्य० ६ उ० । “ एगञ्चाए पुण एगे भयंतारो
भवन्ति ” एके पुनरेकयाऽर्चयैकेन शरीरेणैकस्माद् भवात् सि-
द्धिर्गतिं गन्तारो भवन्ति । सूत्र० २ शु० २ अ० । क्रोधाध्यवसा-
यात्मिकायां ज्वालायाम्, आचा० १ शु० ८ अ० ६ उ० । स्था० ।
लेइयायाम्, “ इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संवाहिदुल्लहा ।
दुल्लभाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे ” अर्चा लेइयाऽन्तः-
परिणतिः, अर्चा मनुष्यशरीरम् । सूत्र० १ शु० १५ अ० ।
पूजायां च, “ मध्यान्होऽर्चा सत्पात्र-दानपूर्वन्तु भोजनम् ”
ध० ३ अधि० ।

अञ्चाइस्स-अत्याकर्णी-त्रि० । जनसंकुलत्वादतीवाकीर्णै,
“ अञ्चाइस्सा वित्ता णो परस्स णिक्खमणपवेसाए ” आचा०
२ शु० ३ अ० १ उ० ।

अञ्चाउर-अत्यातुर-त्रि० । नृशं ग्वाने, “ अञ्चाउरं वा वि स-
मिक्खिऊणं, खिण्पं तओ धेत्तु दलित्तु तस्स ” वृ० १ उ० ।

अञ्चागाढ-अत्यागाढ-न० । अत्यन्तस्नेहकादिभये, “ अञ्चागाढे
वसिया, णिक्खित्तो जइ व होज्ज जयणाए ” वृ० २ उ० ।

अञ्चावेढण-अत्यावेष्टन-न० । अतीवाऽऽवेष्टनेन परितापने, नि०
चू० १२ उ० ।

अञ्चासणया-अत्यासनता-स्त्री० । अत्यन्तं सततमासनमु-
पवेशनं यस्य सोऽत्यासनस्तद्भावस्तत्ता । सततमुपवेशने,
स्था० ९ ठा० ।

अत्यशनता-स्त्री० । अतिमात्रमशनमत्यशनं तदेवाऽत्यशनता ।

दीर्घत्वं च प्राकृतत्वात् । प्रमाणाधिकभोजने, स्था० ६ ठा० ।
अञ्चासम्प-अत्यासन्न-त्रि० । अतिनिकटे, “ एञ्चासम्पे णाइदरे सु-
स्ससमाणे ” भ० १ श० १ उ० । रा० । सू० प्र० ।

अञ्चासाइत्तए-अत्याशातयितुम्-अव्य० । आयाया भ्रंशयितुमि-
त्यर्थे, “ तं इच्चामि णं देवाणुप्पिया सक्कं देविदं सयमेव अञ्चा-
साइत्तए । ” ज० ३ श० २ उ० ।

अञ्चासाइय-अत्याशातित-त्रि० । उपसर्गिते, “ से य अञ्चा-
साइए समाणे परिकुविए ” स्था० १० ठा० ।

अञ्चासाएमाण-अत्याशातयत्-त्रि० । उपसर्गं कुर्वति, स्था०
१० ठा० ।

अञ्चासायणा-अत्याशातना-स्त्री० । साध्यादीनां जात्याद्युद्-
घाटनादिर्हात्वारूपायाम्, कर्म० १ कर्म० । आत्यन्तिक्यामाशा-
तनायाम्, स्था० १० ठा० ।

जे जिकवू जदंत ! आणयरीए अञ्चासायणाए अञ्चा-
साइए अञ्चासाएतं वा साइज्जइ त्ति । नि० चू० १० उ० ।
(अ० रा० २ ज्ञा० ४७८ पृष्ठे ‘आसायणा’ शब्दे वक्ष्यते)

अञ्चाहार-अत्याहार-पुं० । प्रभूताऽऽहारे, “ अञ्चाहारेण स-
हइ अण्णिणेण विसया उइज्जति ” । आव० ४ अ० ।

अच्चि-अर्चि-स्त्री० । अर्च-इन् । अर्चि-न० । अर्च-इत्ति ।
वाच० । किरणे, रा० । ज्ञा० । शरीरस्थरत्नादितेजोज्वालायाम्,
“ अच्चिए तेणं लेसाए दसादिसाए उज्जोएमाणे ” ज०
२ श० ५ उ० । प्रज्ञा० । जी० । उपा० । औ० । शरीरनिर्गततेजो-
ज्वालायाम्, स्था० ८ ठा० । लेइयायाम्, सूत्र० १ शु० १० अ० ।
दाहप्रतिबद्धे ज्वालाविशेषे, आचा० १ शु० १ अ० ४ उ० । ज्ञा० ।
स्था० । अनलविच्छिन्नायां ज्वालायाम्, जी० ३ प्रति० । “ एप
वादरेतजसो भेदः ” प्रज्ञा० १ पद । दश० । दीपशिखायाम्,
उत्त० ३ अ० । प्रथमकृष्णराजेरज्यन्तरपूर्वयोरवकाशान्तरे
स्थिते लोकान्तिकविमाने, ज० ६ श० ५ उ० ।

अच्चिमालि (ए)-अर्चिर्मालिन्-त्रि० । अर्चापि किरणा-
स्तेषां माला, सा अस्यातीति अर्चिर्माही । सर्वतः कि-
रणमात्रापरिवृते, “ अच्चिमालिभासरासिवन्नामे ” (सौध-
मैकल्पः) जी० ४ प्रति० । रा० । प्रज्ञा० । आदित्ये, पुं० । सूत्र०
१ शु० ६ अ० । स० । पूर्वयोः कृष्णराज्योरवकाशान्तरे (स्थिते)
लोकान्तिकविमानेदे, ज० ६ श० ५ उ० ।

अच्चिमालिपभ-अर्चिर्मालिप्रभ-त्रि० । अर्चिर्माली आदित्य-
स्तद्वत्प्रभान्ति शोभन्ते यानि तानि अर्चिर्माहिप्रभाणि सूर्यवत्
किरणैः शोभमानेषु, स० ।

अच्चिमालिणी-अर्चिर्मालिनी-स्त्री० । सूर्याचन्द्रमसोस्तृतीया-
यामग्रमहिष्याम्, ज० १० श० ५ उ० । सू० प्र० । जं० ।
जी० । स्था० । (अनयोर्भवत्रयकथाऽत्रैव १७२ पृष्ठे ‘अग्ग-
माहसी’ शब्दे प्रोक्ता) दक्षिणपौरस्त्यरतिकरपर्वतस्य प-
श्चिमदिशि, शक्रस्य सेवानाम्न्यास्तृतीयाया अग्रमहिष्या लक्ष-
योजनप्रमाणायां राजधान्यां च । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अच्चिय-अर्चित-त्रि० । चन्दनादिना चर्चिते, ज्ञा० १ शु० १ अ० ।
महाध्वे, वृ० ३ उ० । प्रमाणोक्तते, नि० चू० २ उ० । मान्ये,
“ जं जस्स अच्चियं तस्स पूयणिज्जं तमस्सिया लिंगं ” । ज्ञा-

वे कल्पयन् इति चिन्त्यम् । भावप्रत्यये विद्मविशेषणानुपपत्तेः ।
व्य० १ उ० । “अचित्ते न न पूर्व निपतति । यथा-मातापितरौ,
वानुदेवादेतादिति ” । नि० चू० १ उ० ।

अचिन्महम्ममाद्विणीज-अचिः महम्ममाद्विनीय-त्रि० अचि-
पां किरणानां महम्ममाद्विनीयं परिवर्णनीयम् । जा० १ अ० ।
ग० । नान्यत्प्रभाज्यादानां सदृशैः परिवर्णनीये । किमुक्तं
भवति । एवं नाम अत्यद्गुणैर्मणिरत्नमाज्याद्वैराकलितमवभा-
नि । यथा-मृत्तमिदं न स्वाभाविकं किन्तु विशिष्टविद्याशक्ति-
नन्तुरूपप्रपञ्चप्रभावितमिति । “अचिसहस्त्रमाद्विणीजं स्वगस-
हस्त्रकनियं भिसमाणं भिम्भिसमाणं चम्बुहोयणलेस्सं ”
आ० न० प्र० । ग० । जी० ।

अचिसहस्त्रमाला-अचिः सहस्त्रमाह्ला-खी० । दीप्तिसहस्राणा-
माधलीपुः ज० १० श० ५ उ० ।

अचिमहम्ममाद्विणीया-अचिः महम्ममालिनिका-खी० अचिः
महम्ममाला दीप्तिसहस्राणामावलयः सन्ति यस्यां सा तथा ।
स्वार्थिककल्पये च अचिः सहस्त्रमालिनिका । दीप्तिसहस्त्रपरिवृ-
त्तायाम्, ज० १० श० ५ उ० ।

अचिकरण-अर्चिकरण-न० । अकर्तव्या अर्चा अनर्चा, अनर्चाया-
अर्चाकरणमर्चिकरणम् । अचूततद्भावे चिः । राजादीनां
गुणवर्णने, नि० चू० ४ उ० ।

जे जिकवू रायरक्खियं अचीकरेइ अचीकरंतं
वा माइज्जइ । ३ । जे भिकवू रागरक्खियं अचीकरेइ अची-
करंतं वा माइज्जइ । ४ । जे भिकवू णिगमरक्खियं अचीकरेइ
अचीकरंतं वा साइज्जइ । ५ । जे भिकवू मव्वारक्खियं अ-
चीकरेइ अचीकरंतं वा साइज्जइ । ६ । (नि० चू०) जे भिकवू
गामरक्खियं अचीकरेइ अचीकरंतं वा साइज्जइ । जे भि-
कवू देमरक्खियं अचीकरेइ अचीकरंतं वा साइज्जइ । जे भि-
कवू सीमरक्खियं अचीकरेइ अचीकरंतं वा साइज्जइ ।
जे जिकवू रसो रक्खियं अचीकरेइ अचीकरंतं वा सा-
इज्जइ । जे जिकवू रत्तो रक्खियं अचीकरेइ अचीकरंतं वा सा-
इज्जइ । नि० चू० ५ उ० ।

अचीकरणं रसो, गुणवयणं तं समासञ्चो दुविधं ।
संतमसंतं च तद्वा, पञ्चकखपरोक्खमेक्केकं ॥ १५ ॥
रसो अचीकरणं किं गुणवयणं सौन्दर्यादि तं दुविधं संतं
असंतं च एकेकं पञ्चकखं परोक्खं ।

एत्तो एगत्तेरेण, अचीकरणेण जो तु रायाणं ।
अचीकरेति भिकवू, सो पावति आणमादीणि ॥ १६ ॥

इमं गुणवयणं-

एक्कतो हिमवंतो, अस्सतमो सादवाहणो राया ।
समभारतरोकंता, तेण ए वढत्थए पुहई ॥ १७ ॥
राया रायसुही वा, रायापित्ता अमित्तसुहिणो वा ।
भिकवुस्स व संवर्धो, संवधे सुही तवं सोच्चा ॥ १८ ॥
संजपविग्घकरे वा, सरीरवाधाकरे व जिकवुस्स ।
अण्णोमे पडिलोमे, कुज्जा दुविधे व उवत्तगो ॥ १९ ॥

गह्वरारायदुडो, वेरज्जविरुप्परोहमद्धाने ।

उवमुज्जावणणिकखम्-णुवएसकज्जसत्थेसु वि य ॥ २० ॥

एतेहिं कारणेहिं, अचीकरणं तु होति कातव्वं ।

रायारक्खियणागर-णैगमसत्थे वि एस गमा ॥ २१ ॥

नि० चू० ५ उ० ।

अचुक्क-अत्युत्कट-त्रि० अत्यन्त उत्कटः । अत्यन्तोमे, वाच० ।
अच्युन्ते, आ० म० प्र० ।

अच्युगकम्म-अत्युग्रकर्म-न० । कर्कशवेदनीये कर्मणि, प्रव०
२२४ द्वा० ।

अच्युगकम्मरुहण-अत्युग्रकर्मदहन-त्रि० अत्युग्रं कर्कशवेद-
नीयं यत्कर्म तस्य दहनोऽपनायकः । कर्कशवेदनीयस्य कर्मणो-
ऽपनायके, “संक्रैपान्निरपेक्षाणां, यतीनां धर्म ईरितः । अत्यु-
ग्रकर्मदहनो, गहनोऽप्रविहारतः ” ॥ १ ॥ ध० ४ अधि० ।

अच्युचिय-अत्युचित-त्रि० लोकानामतिशयघनीये, “गर्भयोगे-
ऽपि मातृणां, श्रूयतेऽत्युचिता क्रिया ” द्वा० १४ द्वा० ।

अच्युट्टिय-अत्युत्थित-त्रि० अतीवाकार्यकरणं प्रत्युत्थिते,
“दासीत्वेनाऽत्यन्तमुत्थिता” इति । दास्या अपि दास्याम्, खी० ।
“अच्युट्टियाए घरुदासिए वा अगारिणं वा समयाणुसिणि”
सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अच्युएह-अत्युष्ण-त्रि० अतीवोष्ण उष्णधर्मो यत्र सोऽत्यु-
ष्णः । अतिशयितोष्णस्वभावे, स्था० ५ ग० ३ उ० ।

अच्युदय-अत्युदक-न० । महामहति वर्षे, “सभए वा सत्ताणं,
अच्युदये सुक्खतरुण वा णेइ ” ओ० प्रवृत्तजले, जी० ३ प्रति० ।
अच्युय-अच्युत-पुं० । सौधर्मावतंसकादिसकलविमानप्रधाना-
च्युतावतंसकानिधानविमानविशेषोपलक्षिते चादशे देवलोके,
अनु० । दर्श० । नि० चू० । प्रव० । स० । आरणाच्युतयोरेका-
दशद्वादशयोः कदपयोरिन्द्रे च । स्था० २ ग० ३ उ० ।

अच्युया-अच्युता-खी० । श्रीपद्मप्रजस्य शासनदेव्याम्, सा
च मतान्तरेण श्यामा (नाम्नी) देवी श्यामवर्णा नरवाहना
चतुर्भुजा वरदवाणान्वितदक्षिणकरद्वया कार्मुकानययुतचामपा-
णिद्वया च । श्रीकृत्त्योः शासनदेव्यां च, सा च मतान्तरेण
वज्राभिधाना कनकच्छविर्मयूरवाहना चतुर्भुजा बीजपूरकश्ला-
न्वितदक्षिणपाणिद्वया भुशुण्डिपद्मान्वितचामपाणिद्वया च ।
प्रव० २७ द्वा० ।

अच्युव्वाय-अत्युद्गात-त्रि० । अतीवोद्गातः परिश्रान्तः । वृशं-
श्रान्ते, “अच्युव्वाया वसुवैत्ति” वृ० ३ उ० । नि० चू० ।

अच्युसिण-अत्युष्ण-त्रि० । अतीव तप्ते ओदनादिके, “अच्यु-
सिणं सुपेण वा जाव फुमाहि वा” आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

अच्छ-आस्-धा० उपवेशने । अदादि०, आ०, अक०, सेद ।
प्राकृते “गमिष्यमासां ङः” ङ । ४ । २१४ । इति प्राकृतसूत्रेण
अन्यस्य ङः । अच्छ, आस्ते । प्रा० । “अच्छति अवबोधयति य-
लहुगा” ॥ अच्छति च्ति ॥ प्रतीकृतो व्य० १ उ० । “अच्छेज्ज वा चिह्ने-
ज्ज वा” । आसीत सामान्यतः । तं० । म० । अधिपूर्वः अधिरोहणे,
सक० । गगनमध्यमध्यास्ते, वाच० ।

अच्छ-अव्य० । न वयति दृष्टिं, सम्मुखत्वात् । छो-क । न०-
त० । अभिमुखे, “अच्छ गत्यर्थवद्भु” १।४।६९ । इति पाणिनिस्त्रे

अच्छगत्य, अच्छोद्य इत्युदाहृत्य, अजिमुखं गत्वा अभिमुखमु-
कत्वेति व्याकृतम् । सि० कौ० त० स० ।

अच्छ-त्रि० । न गतिरिति दृष्टम् । गो-क । न० त० । आकाश-
स्फटिकरत्नवदतिस्वच्छे, प्रज्ञा० २ पदा जी० । आ० म० प्र० ।
भ० । औ० । स्था० । रा० । ज० । निर्मले, ज्ञा० १ श्रु० १२ अ० ।
पञ्चा० । भ० । अनाविज्ञे, जी० ३ प्रति० । स्फटिकवद्बहिर्निर्म-
लप्रदेशे, जी० ३ प्रति० । “अच्छा स एहा वृद्धा णीरया खिप्यंका”
मेरौ, पुं० । सुनिर्मलजाम्बूनदरत्नवद्बहुलत्वात्तस्य “ता अच्छंसि
णं पव्वयंसि” चं० प्र० ५ पाहु० सू० प्र० । जी० । आर्यदेशभेदे,
स्फटिके च । पुं० । प्रव० २७५ द्वा० न च्छति भक्षयति नाशित-
सत्त्वम् । वा-भक्षणे-क । न० त० । वाच० । ऋक्, आचा०
२ श्रु० १ अ० ५ उ० । प्रति० । जी० । प्रज्ञा० । ज० । पप
सनखपदभेदः । प्रज्ञा० १ पद ।

अप्स-त्रि० अपः सनोति । सन-ना । प्राकृते “ह्रस्वात् थ्यश्च-
सप्सामतिश्चवे २ । २ । २१ । इति प्सभागस्य च्छः । प्रा० ।
अपां विशेषगुणीभूते रसे, वाच० ।

अच्छं-देशी-अत्यर्थे, शीघ्रे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अच्छन्द-अच्छन्द-त्रि० । नास्ति उन्दो यस्याः । अस्ववशे । “अ-
च्छन्दा जे ण जुजंति ण से चाइत्ति वुच्चई” दश० २ अ० । अ-
भिप्रायशून्ये च । वाच० ।

अच्छन्दग-अच्छन्दक-पुं० । मोराकग्रामसन्निवेशस्य पाल्मार्कनि,
“मोराय सकारं सको अर्च्छिदप कुविओ” आ० क० । (स
मोराकं वसन्मन्त्रतन्त्रज्ञो लोकपूजितस्तत्र समागतस्तत्र समाग-
तस्य श्रीवीरस्य पुरतः सिन्धुव्यन्तरेणाच्छेद्यमिदमिति प्र-
तिज्ञाय गृहीतं वृणं छिन्दन् शक्रेण वज्रं प्रक्षिप्य त्रिदशङ्गुली-
कृतो जनैरुपहसित इति ‘वीर’ शब्दे वक्ष्यते) आ० चू० ।
आ० म० द्वि० ।

अच्छण-आसन-न० । अवस्थाने, ग० १ अधि० । ज्ञा० । पर्युपास-
ने, वृ० ३ उ० । प्रतिश्रवणे, “अच्छण अवज्ञोगणे वा” व्य० १ उ० ।
अक्षण-पुं० । अहिंसायाम्, दश० ५ अ० ।

अच्छणधरग-आसनगृहक-न० । अवस्थानगृहकेषु, येषु यदा
तदा वाऽऽगत्य बहवः सुखासिकयाऽवतिष्ठन्ते । जी० ३ प्रति० । ज० ।
अच्छणजोय-अक्षणयोग-पुं० । अहिंसाव्यापारे, “तेसिं अच्छ-
णजोयणं णिच्चं होयव्वं” तेषां पृथिव्यादीनामक्षणयोगेनार्हि-
साव्यापारेण नित्यं भवितव्यम् । दश० ५ अ० ।

अच्छणत्थ-अच्छन्नस्थ-त्रि० । अच्छन्नप्रदेशे स्थिते, वृ० ३ उ० ।

अच्छति (दि) त-आच्छादित-त्रि० । निरुद्धे, “संणद्धवका-
छतित व्व” प्रश्न० ४ संव० द्वा० ।

अच्छत्तय-अच्छन्नक-त्रि० । न० व० । चररहिते, वीरमहापद्मयोरञ्ज-
को धर्मो मतः “अदंतवणे अच्छत्तवप अणुवाणहप” स्था० ए० ग० ।

अच्छदव-अच्छद्व-पुं० । स्वच्छोदके, पं० व० २ द्वा० ।

अच्छधी-अच्छधी-त्रि० । ६ व० । विमलबुद्धौ, “विष्णुः
प्रातः प्रभुं नत्वा, साधूंश्चापृच्छदच्छधीः” आ० क० ।

अच्छभल्ल-अच्छन्नल्ल-पुं० । ऋक्, व्य० १० उ० । व्याघ्रविशेषे
च । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अच्छमाण-आसीन-त्रि० । तिष्ठति, “सुचिरमपि अच्छमाणो”
पं० व० ३ द्वा० । ज्ञा० ।

अच्छरणसंघसंविद्भू-अप्सरोगणसंघसंविकीर्ण-त्रि० । अ-
प्सरोगणानां संघः समुदायस्तेन सम्यक् रमणीयतया विकीर्णा
व्याप्ता अप्सरागणसंघसंविकीर्णा । अप्सरोयूथसंपरिवृते, “अ-
च्छरणसंघसंविक्किष्ठा दिव्वतुक्कियमधुरसइसंपइया” । जी०
३ प्रति० । प्रज्ञा० । रा० ।

अच्छरस-अच्छरस-त्रि० । अच्छो रसो येषां ते अच्छरसाः । प्रत्या-
सन्नवस्तुप्रतिबिम्बाधारभूतेष्विवाऽतिनिर्मलेषु, जी० ३ प्रति० ।

अच्छरसा-अप्सरस्-स्त्री० । व० व० । अद्भ्यः सरन्ति उन्न-
च्छन्ति । सू-असन् । अप्सरसः “ह्रस्वात् थ्यश्चत्सप्साम-
निश्चवे” ५ । २ । २१ । इति सूत्रेण प्राकृते ‘प्स’ भागस्य ‘च्छ’
आदेशः । प्रा० । “आयुरप्सरसोर्वा” ५ । १ । २० । इति सूत्रेण
च अन्त्यव्यञ्जनस्य वा सः । प्रा० । देवीमात्रे, रूपेण देवीकल्पा-
यां स्त्रियां च । “णंदणवणविवरचारिणीओ अच्छराओ उत्तर-
कुरुमाणसच्छराओ अच्छेरगपेच्छिणियाओ तिप्पि पलिओवमा-
इं परमाउं पालयित्ता ताओ वि उवणमंति मरणधम्मं” प्रश्न० ४
आश्र० द्वा० औ० । (आसां वर्णकम् ‘उत्तरकुरु’ शब्दे वक्ष्यामः)

अच्छरसांतमुल्ल-अच्छरसतण्डुल-न० । अच्छो रसो येषु तेऽ-
च्छरसाः प्रत्यासन्नवस्तुप्रतिबिम्बाधारभूता इवातिनिर्मला इत्य-
र्थः । अच्छरसाश्च ते तण्डुला अच्छरसतण्डुलाः । पूर्वपदस्य
दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । श्वेतेषु दिव्यतण्डुलेषु, रा० । “अच्छेहिं
सेणहिं रयणामणहिं अच्छरसतंडुलेहिं अच्छमंगवे आलिहइ”
रा० । जी० । आ० म० प्र० ।

अच्छरा-अप्सरा-स्त्री० । शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य पृष्ठ्या-
मग्रमहिष्याम्, स्था० ५ ग० । भ० । ती० । (तस्याः पूर्वाऽपर-
भवकथा एतस्मिन्नेव भागे १७३ पृष्ठे ‘अग्रमहिसी’ शब्देऽदर्शिता)
अच्छराणिवाय-अप्सरानिपात-पुं० । चप्युटिकायां, तत्करण-
काले च । यावता कालेन चप्युटिका क्रियते तावान् काष्ठोऽप्यप्स-
रानिपातशब्देनाभिधीयते “अच्छरानिवातेहिं तिसत्तक्खुत्तो
अणुपरियत्ताणं हव्वमागच्छेज्जा” जी० ३ प्रति । सूत्र० । ज० ।

अच्छवि-अच्छवि-पुं० । न० व० । योगनिरोधेनाविद्यमानशरीरे
स्नातकाख्यनिग्रन्थभेदे, अत्र चत्वारोऽनुवादाः—‘अव्य-
थक’ इत्येके । अवियोगाच्छविः शरीरं तद्योगनिरोधेन यस्य ना-
स्त्यसौ ‘अच्छविक’ इत्यन्ये । कृपा सच्छेदो व्यापारस्तस्या
अस्तित्वात् कृपी, तन्निषेधात् ‘अक्षपी’ इत्यन्ये । घातिकर्मचतुष्ट-
यकृपणानन्तरं वा तत्कृपणाभावादक्षपीत्युच्यते । भ० २५
श० ६ उ० ।

अच्छविकर-अक्षपिकर पुं० । न कृपिः स्वपरयोरायासो यः सः,
तत्करणशीलो न भवति सोऽक्षपिकरः । ज० २५ श० ७ उ० ।

व्यथाविशेषस्याऽकारके प्रशस्तमनोविनयभेदे, स्था० ५ ग० ।

अच्छविमलसलिलपुष्प-अच्छविमलसलिलपूर्ण-त्रि० । अ-
च्छेन स्वरूपतः स्फटिकवच्छुद्धेन विमलेनाऽऽण्णुक्रमलरहिते-
न सलिलेन पूर्णः । स्फटिककल्पस्वच्छनिर्मलजलभूते, रा० । जी० ।

अच्छा-अच्छा-स्त्री० । वरुणदेशप्रतिबद्धे पुरीभेदे, आर्यदेशग-
णनायां वरुणा अच्छा । वरुणा नगरी, अच्छा देशः । अन्ये तु
वरुणा देशः, अच्छा पुरीत्याहुः । प्रव २७५ द्वा० । सूत्र० ।

अप्सा-त्रि० अपो जलानि सनति ददाति । सन्-विच् । जल-
दातरि, वाच० ।

वसन्तपुरं नगरम् । तत्र जिनदासो नाम श्रावकः । तस्य भार्या रु-
पिमणी । जिनदासस्य गृहे वत्सराजो नाम गोपालः । स चा-
ष्टमेऽष्टमे दिने सर्वासामपि गोमहिषीणां दुग्धमादत्ते , तथैव
तस्य प्रथमतो धृतत्वात् । अथवा च साधुसंघाटको भिक्षायै
तत्रागमत् । इतश्च तस्मिन् दिने गोपालस्य सर्वदुग्धादानवा-
रकः , ततस्तेन सर्वा अपि गोमहियो दुग्ध्वा महती परिदु-
ग्धेनाऽऽपूर्णा । जिनदासश्च जिनवचनज्ञावितान्तःकरणतया
साधुसंघाटकं परमपात्रभूतमायातमवलोक्य भक्तितो यथेच्छं
भक्तपानादिकं तस्मै दत्तवान् । ततो दुग्धान्तानि जोजनानीति
परिज्ञाय प्रकितरलितमनस्कतया गोपालस्य दुग्धं वक्षेनाच्छि-
द्य कतिपयं ददौ । ततः स गोपालो मनसि साधोरुपरि मनाक्
प्रद्वेषं ययौ , परं प्रभुभयात् न किमपि वक्तुं शक्तः । ततस्तत्पयोज्ञा-
जनं कतिपयन्यूनं स्वगृहे नीतवान् । तच्च तथाभूतं न्यूनमवलो-
क्य भार्या सरापं पृष्ठवती—किमिति न्यूनमिदं पयोभाजनमिति ?
ततो गोपेन यथावस्थिते कथिते साऽपि साधूनाक्रोष्टुं प्रावर्त्तत ।
चेटरूपाणि च दुग्धं स्ताकमवलोक्य किमस्माकं प्रविष्यती-
ति रोदितुं प्रवृत्तानि । तत इत्थं सकलमपि स्वकुटुम्बमाकुलमवे-
त्य स गोपः संजातसाधुविषयमहाकोपः साधून् व्यापादयितुं
चलितवान् । दृष्ट्वा ज्ञिकार्थं परिभ्रमन् ह्यापि प्रदेशे साधुः । ततः
प्रधावितो लङ्घमुत्पाद्य साधोः पृष्ठतः । साधुरपि कथमपि
पश्चादवलोक्येन तं गोपं तथाभूतं कोपाकरणनयनमालोक्य परिभा-
वयामास—नूनमेतस्य दुग्धं वत्सादाच्छिद्य जिनदासेन मह्यं ददः,
तेन मारणार्थमेव कुपित एष समागच्छन्तुपन्नद्व्यते । ततः साधु-
विशेषतः प्रसन्नवदनो ज्ञत्वा तस्यैव संमुखं प्रत्यागन्तुं प्रवत-
ते स्म । वभाण च—यथा भो ज्ञोः क्षीरपूहनियुक्तक ! तव
प्रभुनिर्वन्धेन मया तदानीं दुग्धमात्रं गृहीतम् , संश्रुतिं तु
गृहाण त्वमात्मीयं दुग्धमिति । एवं चोक्ते सत्युपशान्तकोपः
साधुं प्रति स्वस्वभावं प्रकटितवान्—यथा भोः साधो !

सुविहित ! तत्र मारणार्थमहमिदानीमागतः, परं संप्रति त्वद्वचनामृतपरिपेकत उपशशाम मे सर्वोऽपि कोपानलः । ततो गृहाण त्वमेवेदं दुग्धम्, मुक्तश्चाकृतप्रापणो मया, परं भूयोऽप्येवमाच्छेद्यं न ग्रहीतव्यमिति निवृत्तो गोपः । स्वस्थानं च गतः साधुरिति । सूत्रं सुगमं, नवरं (पयज्ञा णूणं ति) विज्रक्तिलोपात् पयोऽज्ञानं न्यूनं दृष्ट्वा (भोई इति) भोग्या ज्ञार्या इत्यर्थः (रुचे स्ति) रुदन्ति । इदं दीत्यामन्त्रणे । तन्निर्वन्धात् तदीयजिनदासाख्यप्रभु-निर्वन्धाद् गृहीतम् । ततः प्रत्याह-मुक्तोऽसि संप्रति मा छितीयं वारमेवं गृहीथाः ।

संप्रति गोपालविषय एव 'अचियत्तसंखडाइ' इत्येतद्व्याख्यासुराह—

नानिञ्चिदं लब्धं, दासीं वि न जुज्जए रिते जत्ता ।

दोभेगयर पओसं, जं काही अंतरायं च ॥

प्रभुणा बलादाच्छिद्यमाने दुग्धे कोऽपि गोपो रुष्टः प्रभोः संमुखमेवमपि ध्रुवाणः संभाव्यते । यथा-किमिति मदीयं दुग्धं बलादागृह्णासि न खल्वनिर्विष्टमनुपाजितमिह किमपि लभ्यते, ततो मया स्वशरीरायासबलेनेदं दुग्धमुपाजितम्, अतः कथमत्र प्रभवसि ? । न हि दास्यपि, आस्तामुत्तमवेष्ट्यादिकमित्यपिशब्दार्थः । प्रक्तमृते प्रक्तज्ञानमृते भरणपोषणमृत इत्यर्थः । जुज्यते भोक्तुं लभ्यते । ततो मदीयं प्रोजनमिदमतो न ते तत्र प्रभुत्वावकाशः । एवं चोक्ते सति कदाचित् द्वयोरपि प्रभुगोपालवयोः परस्परमेकस्य द्वितीयस्योपरि प्रद्वेषो वर्तते । प्रद्वेषे प्रवर्धमाने यत् करिष्यति धनहरणमारणादिकं तत्स्वयमेव आच्छेद्यादाने दोषत्वेन विज्ञेयम् । तथा यच्चान्तरायं गोपालकस्य तत्कुटुम्बस्य च, तदपि दोषत्वेन विज्ञेयमिति । तदेवं 'गोवाहण' इत्यादि व्याख्यातम् । एतदनुसारेण च नृत्तकादावपि यथायोगमप्रीत्यादिकं संभावनीयमिति ।

संप्रति स्वामिनिविषयमाच्छेद्यं विज्ञापयिषुराह—

सामी चारजना वा, संजयदङ्गुण तेसि अट्टाए ।

कलुणाणं अच्छेज्जं, साहण न कप्पए धेत्तुं ॥

इह स्वगृहमात्रनायकः प्रभुः; ग्रामादिनायकः स्वामी । चार-जटा वा स्वामिजटा वा; तेऽपि स्वामिग्रहणेन गृह्यन्ते । संयतान् दृष्ट्वा तेषां संयतानामर्थाय करुणानां कृपास्थानानां दरिद्र-कौटुम्बिकादीनां संवर्द्धाच्छिद्य यद्ददाति तत्साधूनां न कल्पते । एतदेव व्यक्तं भावयति—

आहारोवहिमाई, जइ अट्टाए र केइ अच्छिञ्जे ।

संखमिअसंखडीए, तं गेएहंते इमे दोसा ॥

यदि कोऽपि स्वामी जटो वा यतीनामर्थाय केषांचित्संवन्धि आहारोपध्यादिकं संखड्या कलहकरणेन, असंखड्या अकलह-जावेन । कोऽपि हि तत्संवन्धिनि बलादाच्छिद्यमाने कलहं करोति, कोऽपि स्वामिभयादिना न किमपि वक्ति । तत उक्तं संखड्या असंखड्या वेति । बलादाच्छिद्य यतिज्यो यद् ददाति तद्यतीनां न कल्पते । यतस्तद्गृह्यतामिमे दोषाः ।

तानेवाह—

अचियत्तमंतरायं, तेनाहमं एगणेगवोच्छेओ ।

निच्छरणाई दोसा, तस्स अलंजे य जं पावे ॥

येषां सत्कामाच्छिद्य बलात् स्वामिना दीयते तेषामचियत्त-मप्रीतिरूपं जायते । तथा तेषाम् (अंतरायं) दीयमानवस्तु-

परिजोगहानिः कृता भवति । तथा इत्थं साधूनामाददानात् स्तेनाहृतं भवति, दीयमानवस्तुनायकेनानुज्ञातत्वात् । तथा येषां संवन्धि स्वामिना बलादाच्छिद्य दीयते ते कदाचित् प्रद्विष्टाः सन्तोऽपि तस्यैकस्य साधोर्भक्तपानव्यवच्छेदं कुर्वन्ति, यथा-अनेन संप्रति बलादस्माकं भक्तादि गृहीतं ततः कालान्तरेऽप्यस्मै न किमपि दातव्यमस्माज्जिरिति । अथवा सामान्यतः प्रद्वेषमुपयान्ति, यथा-अनेन संयतेन बलादस्माकं भक्तादि गृह्यते तस्मात् काहान्तरे न कस्मायपि संयताय दातव्यमित्यनेक-साधूनां भक्तादिव्यवच्छेदः । तथा ते रुष्टाः सन्तो यः पूर्वमुपा-श्रयो दत्तः तस्मान्निष्काशयन्ति । आदिशब्दात् खरपरुषाणि भाषन्ते इति परिगृह्यते । तथा तस्योपाश्रयस्याऽह्लाभे यत्किमपि कष्टं प्राप्नुवन्ति तदप्याच्छेद्यादाननिमित्तमिति दोषः ।

संप्रति स्तेनाच्छेद्यं ज्ञापयति—

तेणा व संजयट्ठा, कलुणाणं अप्पणो व अट्टाए ।

ते य पओसं जं वा, न कप्पई कप्प णुन्नायं ॥

इह स्तेना अपि केचित् संयतान् प्रति जट्टका जयन्ति । सं-यता अपि क्वापि दरिद्रसार्थेन सह व्रजन्ति । ततस्तान् जि-क्तावेत्यायां जिक्तामप्राप्नुवतो दृष्ट्वा संयतार्थाय संयतानामर्थाय, यद्वा-स्वस्यात्मनोऽर्थाय तेषां करुणानां कृपास्थानानां दरिद्र-सार्थमानुपाणां सकाशादाच्छिद्य यद्ददाति स्तेनास्तस्तेनाच्छे-द्यं दृष्टव्यम् । तच्च साधूनां न कल्पते, यतस्तस्मिन् गृह्यमाणे येषां संवन्धि तद् द्रव्यं ते पूर्वाक्तप्रकारेण एकानेकसाधूनां प्रक्तव्य-वच्छेदं कुर्वन्ति । यद्वा-प्रद्वेषं रोपमुपयान्ति । तथा च सति सा-र्थान्निष्काशनम्, काहान्तरेऽपि तेषां पार्श्वे उपाश्रयाप्रतिबन्ध-इत्यादयो दोषाः । यदि पुनस्तेऽपि सार्थिका वक्ष्यमाणप्रकारेणा-नुजानते तर्हि कल्पते ।

एतदेव गाथाद्वयेन स्पष्टं भावयति—

संजयभट्टा तेणा, आयंते वा असंधरे जइणं ।

जइ देंति न धेत्तव्वं, निच्छुभ वोच्छेज्ज मा होज्जा ॥

ययसत्तुयदिहंतो, समणुन्नाया व धेत्तुणं पच्छा ।

देति जइ गतेसि वि य, समणुन्नाया य जुंजंति ॥

इह स्तेना अपि केचित् संयतभट्टका जयन्ति, साधवश्च क-दाचित् दरिद्रसार्थेन सह क्वापि व्रजन्ति । ततस्तेषां साधूनां मिक्तावेत्यायामसंस्तरे अनिर्वाहे ते स्तेनाः स्वग्रामाभिमुखं प्र-त्यागच्छन्तः, वाशब्दात् स्वग्रामादन्त्यत्र गच्छन्तो वा, यदि ते-षां दरिद्रसार्थमानुपाणां बलादाच्छिद्य भक्तादि प्रयच्छन्ति, तर्हि न ग्राह्यं, यद् मा भूत् निक्ताजः सार्थानाम्, एकानेक-साधूनां तेज्यो भक्तादिव्यवच्छेदो वा । यदि पुनस्तेऽपि सार्थि-काः स्तेनैर्बलाद्वाध्यमाना एवं ब्रुवते-यथाऽस्माकमिह घृतशकु-दृष्टान्त उपातिष्ठत । घृतं हि सक्तुमध्ये प्रक्षिप्तं विशिष्टसंयोगाय जायते, एवमस्माकमप्यवश्यं चौरैर्गृहीतव्यम्, ततो यदि चौरा अपि युष्मज्ज्यं दापयन्ति ततो महानस्माकं समाधिरिति । तत एवं सार्थिकैरनुज्ञाताः साधवो दीयमानं गृह्णन्ति । पश्चाच्चौरैश्च-पगतेषु नृयोऽपि तद् रुज्यं गृहीतं ते समर्पयन्ति । तदानीं चौरप्रतिभयादस्माभिर्गृहीतं संप्रति ते गतास्तत एतदात्मीयं द्र-व्यं यूयं गृह्णीथ इति । एवं चोक्ते सति यदि तेऽपि समनुजानते । यथा-युष्मज्ज्यमेतदस्माभिर्दत्तमिति तर्हि जुज्जते, कल्पनीयत्वा-दिति । अनेन कप्प णुन्नायमित्यवयवो व्याख्यातः । पि० । नि०

चु। अच्छेय प्रयश्चिन्त-“अच्छिञ्जे अणिमिठे य चउत्ते” पं०
चू० । सर्वस्मिन्नाच्छेयं आचामास्तम् । जीन० । दशा० । ध० । प्र-
३० । द० । दृ० । दं० । द० । द० । पंच० । स्या० । नृ० । उ० ।
आ० । (अच्छेयाश्च अणनिदेशः ‘एन्मगा’ शब्दे, अच्छेय-
पाठप्रणनिदेशः ‘पञ्च’ शब्दे, अच्छेयनसर्गः स्थाननिदेशो
‘यस्मिन्’ शब्दे इत्यर्थः)

अच्छिज्जन्ती-अच्छिज्जमाना-न्ती० । तुल्यार्थान्नादिवादनप्रकारेण
वाच्यमानायाम्, “तुल्यार्थानं तुल्यार्थानां वाच्यमानां” आच० १ अ० ।
अच्छिज्जमानाश्चिन्त-अच्छिज्जमानाश्चिन्त-न० । अच्छिज्जान्ते, जी० ३
प्रति० ।

अच्छिज्जिमीलितयमेत्त-अच्छिज्जिमीलितमात्र-न० । अच्छिज्जिमी-
लितमात्रे, “अच्छिज्जिमीलितयमेत्तं, पण्थि नृहे दुक्खमेव
पण्णुयसं । नगरं गेरुयात्ते, अहोणिमं पच्चमाणाणं ” ॥ १ ॥
जी० ३ प्रति० ।

अच्छिज्ज-अच्छिज्ज-त्रि० । छिद्-कर्मणि क। अपृथग्भूते, स्या०
१० ना० । अन्वयलिते, अनवरते च । पं० च० १ हा० । (छि-
जनच्छिद्रं चेत्यहोयिकस्य भेदद्वयं कृत्वाच्छिद्रस्य व्याख्या-
नम् ‘उद्धनिश्च’ शब्दे हि० ना० ८१६ पृष्ठे उपपद्यते)
अच्छिज्ज-त्रि० । आ-छिद्-क। बलेन गृहीते, सम्यक्-
छिद् च । वाच० । प्रतिलिखनकालविवक्षारहिते, वृ० १ उ० ।

अच्छिज्जान्तेदणाय-अच्छिज्जान्तेदनय-पुं० । सूत्रमच्छिद्रं छेदेने-
च्छति । नयभेदे, यथा ‘धम्मो मंगलमुक्किठं’ इति श्लोकोऽर्थतो
छिन्नायादिश्लोकमपञ्जमाणः । स० १२ सम० ।

अच्छिज्जान्तेदणाय-अच्छिज्जान्तेदनयिक-न० । अच्छिज्जान्ते-
दनययति सूत्रे, “अच्छिज्जान्तेदणायइं आजीवियसुत्तपरि-
वाट्ठेण” स० ११ सम० ।

अच्छिज्जान्तेदणाय-अच्छिज्जितनय-पुं० । नित्यवादिनि ह्यस्तिके,
विशे० । प्रथ० ।

अच्छिद्र-अच्छिद्र-त्रि० । न छिद्रं तत्तत्कार्येषु प्रमादादिना
स्वल्पान्ते रन्ध्रं वा यत्र । प्रमादादिना स्वल्पनरहिते, “अच्छिद्रं
च भवत्वेतत्सर्वेषां च शिवाय नः” रन्ध्ररहिते, वाच० । अ-
चिरन्ते, जं० २ वल० । “गोशालस्य मह्यन्तिलपुत्रस्य पमां
दिक्चराणां चतुर्थं दिक्चरे, पुं० । भ० १५ श० १ उ० ।

अच्छिद्रजात्र-अच्छिद्रजात्र-न० । अचिरं, यत्किञ्चिद्वस्तु-
समूहे, प्रश्न० ४ आश्र० हा० ।

अच्छिद्रजालपाणि-अच्छिद्रजालपाणि-पुं० । अच्छिद्रजालौ
विवक्षिताङ्गुल्यन्तरालसमूहरहितौ पाणी हस्तौ यस्य स तथा ।
अचिराङ्गुलिसमुदयवद्वहस्तके, “अच्छिद्रजालपाणी पीव-
रकोमलवराङ्गुली” इति करयोः सुलक्षणम् । औ० । प्रश्न० ।

अच्छिद्रपत्त-अच्छिद्रपत्त-त्रि० । अच्छिद्राणि पत्राणि यस्य सः ।
नीरन्ध्रपर्यै, हा० १ अ० १ अ० । औ० । “अच्छिद्रपत्ता अविरल-
पत्ता अवाईणपत्ता अणईणपत्ता णिकुयजरदयंरुपत्ता” (इति
पत्रवर्णनाद् वृत्तवर्णकः) अच्छिद्राणि पत्राणि येषां ते अच्छि-
द्रपत्राणि । किमुक्तं भवति । न तेषां पत्रेषु वातदोषतः कालदोष-
तो वा गडुरिकादिरीतिरुपजायते, येन तेषु पत्रेषु छिद्राण्यम-
विष्यन्, इत्यच्छिद्रपत्राः । अथवा एवं नामान्योन्याशास्त्रप्र-
शास्त्रानुप्रवेशात्पत्राणि पत्राणामुपरि जातानि येन मनागप्य-
पान्तरालरूपं छिद्रं नोपलभ्यत इति । तथा चाह-“अविरल-
पत्ताइति” रा० । जी० । जं० ।

अच्छिद्रपक्षिणवागरण-अच्छिद्रपक्षव्याकरण-पुं० । अच्छिद्रा-
ण्यविरलानि निर्दूषणानि वा प्रश्रव्याकरणानि येषां ते तथा ।
अविरलप्रश्नोत्तरेषु, निर्दूषप्रश्नोत्तरेषु च । भ० २ श० ५ उ० । औ० ।
अच्छिद्रविमलदशण-अच्छिद्रविमलदशान्-पुं० । औ० । अच्छि-
द्रा विमला दशना यासां तास्तथा । अविरलस्वच्छरदना-
याम्, जं० १ वल० ।

अच्छिपत्त-अक्षिपत्त-न० । अक्षिपदमणि, भ० १४ श० ८ उ० ।
अच्छिवेदग-अक्षिवेधक-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उक्त०
३६ अ० । जीवा० ।

अच्छिमल-अक्षिमल-पुं० । दूषिकादौ, तं० । नेत्रमले, “अच्छि-
मलो दूषिकादि” नि० चू० ३ उ० ।

अच्छिरोमय-अक्षिरोढक-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उक्त०
३६ अ० । जी० ।

अच्छिल-अक्षिल-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उक्त० ३६ अ० ।
अच्छिवदण-देशी-निमीलने, दे० ना० १ वर्ग ।

अच्छिविअच्छि-देशी-परस्परमाकर्षणे, दे० ना० १ वर्ग ।
अच्छिवेयणा-अक्षिवेदना-स्त्री० । ७ त० । लोचनयोद्धःखा-

नुमवने, उक्त० २ अ० । “पोरुशानां रोगानां द्वादशोऽयम्” उपा०
४ अ० । हा० ।

अच्छिद्रुद्धो-देशी-द्वेष्ये, वेषे च । दे० ना० १ वर्ग ।
अच्छी-अच्छी-स्त्री० । अच्छनामकदेशोद्गवायां स्त्रियाम्,
प्रज्ञा० ११ पद ।

अच्छुय-अप्सुज-त्रि० । अप्सु जले तद्देहौ अन्तरिक्षे वा जाय-
ते । जन-ड, अलुक् स० । जलजाते, वाच० ।

आस्तुत-त्रि०-आच्छादिते, हा० १ अ० ८ अ० ।
अच्छुरण-आस्तरण-न० । प्रस्तरणे, नि० चू० १५ उ० । दावा-

नत्वादिभये, यद् भूमावास्तीत्यन्ते प्रलम्बादिवितरणाय वा यत्त-
दास्तरणम् । पतत्प्रायश्चर्ममयं जघति । साधूनामौपग्रहिकोपधा-
वन्तर्भवति । वृ० ३ उ० ।

अच्छुरिय-आच्छुरित-न० । आ-हुर-क। सशब्दहासे, नखा-
घाते, नखवाद्ये च । आस्तीर्णे, वृ० १ उ० ।

अच्छुल्लूद-अच्छोल्लूद-त्रि० । स्वस्थानं त्याजिते, वृ० १ उ० ।
अच्छेज्ज-अच्छेद्य-न० । हेतुमशक्ये, स्था० ३ हा० २ उ० ।

अच्छेद-अच्छेद-न० । “जम्हा तु अवोच्छिन्ती, सो कुण्ठीणा-
णचरणमादीणं । तम्हा चलु अच्छेदं, गुणप्पसिद्धं हवति णामं”
॥ १७ ॥ गौणानुहायाम्, पं० भा० ।

अच्छे (ग)-आश्चर्य्य-न० । आ विस्मयतश्चर्य्यन्तेऽवगम्यन्ते
इत्याश्चर्याणि । आ-चर-यत् ; सकारः कारस्करादित्वात् ।
स्था० ६ हा० । प्राहते “ह्रस्वात् श्यश्चत्सप्तामनिश्चले” ण २ । २१ ।
इति अभागस्य ङः, तुक् च । प्रा० । ओत्तरस्याऽकारस्य वा एत्व-
म् । तत् “आश्चर्य्ये” ण २ । ६६ । इति एतः परस्य र्यस्य रः,
अच्छेरं । एत्वाजावे “अतो रिआरिज्जरीअं” ॥ ८ । १ । ६७॥ इति
अकारात् परस्य र्यस्य रिअर रिज्जरीअ इत्येत आदेशाः । अ-
च्छेरिअं, अच्छरं, अच्छरिअं, अच्छरीअं प्रा० । अद्वुत्तेषु, “रि-
क्तथमियसमिक्कं, भारदवासं जिणिंदकालम्मि । बहुअच्छेरय
पुणं, उसजाओ जाव वीरजिणो” ॥ १ । दससु विवासे सेवं, दस

दस अच्छेरगाइ जायाइं । उस्सपिणिण एवं , तित्थुमालीइ भणिगाइं ॥ १ ॥ ति० ॥

दस अच्छेरगा पसुत्ता । तं जहा-“ उवसग्गा गव्वहरणं , इत्थी तित्थं अभाविआ परिआ । कएहस्स अवरकंका, उत्तरणं चंदसूराणं ॥ १ ॥ हरिवंसकुडुप्पत्ती, चमरुप्पाओ य अड्डसयसिप्पा । अस्संजएसु पूया, दस वि अण्णतेण कालेण ॥ २ ॥

उपसृज्यते क्लिप्यते व्याव्यते प्राणी धर्मादेरित्युपसर्गाः, देवादि-
कृतोपपत्त्याः । ते च भगवतो महावीरस्य उद्भवस्थकाळे केवळिका-
ले च नरामरतिर्यक्कृता अज्जवन् । इदं च किल न कदाचिद्भूत-
पूर्वम् । तीर्थकरा हि अनुत्तरपुण्यसंभारतया नोपसर्गभाजनम्,
अपि तु सकलनरामरतिरश्चां सत्कारादिस्थानमेवेत्यनन्तकाल-
भाव्ययमर्थो लोकेऽद्भुतोऽद्भूदिति । १ । तथा गर्भस्य उदरसत्त्वस्य
हरणमुदरान्तरसंक्रामणं गर्भहरणम् । एतदपि तीर्थकरापेक्षयाऽ-
भूतपूर्वं सज्जगवतो महावीरस्य जातम् । पुरन्दरादिष्टेन हरिनैगमे-
पिदेवेन देवान्दाभिधानब्राह्मण्युदराल्लिशलाऽभिधानाया राज-
पत्न्या उदरसंक्रामणात् । एतदप्यनन्तकालजावित्वादाश्चर्यमेवेति ।
तथा स्त्री योषित्, तस्यास्तीर्थकरत्वेनोत्पन्नायास्तीर्थं द्वादशशङ्कं,
सङ्को वा, स्त्रीतीर्थं हि पुरुषसिंहाः पुरुषवरगन्धस्तिनस्त्रिजुव-
नेऽप्यव्याहृतप्रज्जवाः प्रवर्त्तयन्ति । इह त्ववसर्पिण्यां मिथिवा-
नगरीपतेः कुम्भकमहाराजस्य दुहिता मल्लघनिधाना एकोनविं-
शतितमतीर्थकरस्थानोत्पन्ना तीर्थं प्रवर्त्तितवतीत्यनन्तकालजा-
तत्वात्स्य जावस्याश्चर्यमेवेति । २ । तथा अज्जव्या अयोग्या चा-
रित्रधर्मस्य, पर्यत् तीर्थङ्करसमवसरणश्रोतृलोकः । श्रूयते हि-
भगवतो वर्द्धमानस्य जुम्भिकग्रामनगराद् बहिरूपभ्रकेवलस्य
तदनन्तरमिद्वितचतुर्विधदेवनिकायविरचितसमवसरणस्य ज-
क्किट्ठुहत्वाकृष्टसमायातानेकनरामरविशिष्टतिरश्चां स्वस्वजापा-
नुसारिणाऽतिमनोहारिणा महाध्वनिना कल्पपरिपालनयैव
धर्मकथा बभूव, यतो न केनापि तत्र विरतिः प्रतिपन्ना, न चैतत्
तीर्थकृतः कस्यापि भूतपूर्वमिति दमाश्चर्यमिति ॥ ४ ॥ तथा
कृष्णस्य नवमवासुदेवस्य ‘अपरकङ्का’ राजधानी गतिविषया
जातेत्यप्यजातपूर्वत्वादाश्चर्यम् । श्रूयते हि-पाएरुवभार्या सौ-
पदी धातकीखरुमजरतक्केत्रापरकङ्काराजधानीनिवासिना पञ्च-
राजेन दैवसामर्थ्येनापहृता । द्वारावतीवास्तव्यश्च कृष्णो वासु-
देवो नारदादुपलब्धतद्वातिकरः समाराधितसुस्थिताभिधानल-
वणसमुद्राधिपतिदेवः पञ्चभिः पाएरुवैः सह द्वियोजनलक्षप्रमा-
णं जलधिमतिक्रम्य पञ्चराजं रणविमर्देन विजित्य द्रौपदीमा-
नीतवान् । तत्र च कपिलवासुदेवो मुनिसुव्रतजिनात् कृष्णवासु-
देवागमनवार्तामुपलभ्य सवहुमानं कृष्णदर्शनार्थमागतः । कृष्ण-
श्च तदा समुद्रमुल्लङ्घयति स्म । ततस्तेन पाञ्चजन्यः पूरितः ।
कृष्णेनापि तथैव । ततः परस्परं शङ्खशब्दश्रवणमजायतेति ॥ ५ ॥
तथा भगवतो महावीरस्य वन्दनार्थं भवत्तरणमाकाशात्समवसर-
णभूम्यां चन्द्रसूर्ययोः शाश्वतविमानोपेतयोर्वभूव । इदमप्याश्च-
र्यमेवेति ॥ ६ ॥ तथा हरेः पुरुषविशेषस्य वंशः पुत्रपौत्रादिपर-
म्परा हरिवंशस्तल्लक्षणं यत्कुलम् । तस्योत्पत्तिकुलं हनकेधा,
ततो हरिवंशेन विशेष्यते । एतदप्याश्चर्यमेवेति । श्रूयते हि-भर-
तक्केत्रापेक्षया यत्तृतीयं हरिवर्षाख्यं मिथुनकक्षेत्रं, तनः केनापि
पूर्वविरोधिना व्यन्तरसुरेण मिथुनकमेकं जतरक्केत्रे क्लिप्तम्, तच्च

पुण्यानुभावाद्राज्यं प्राप्तम्, ततो हरिवर्षजातहरिनाम्नः पुरुषाद्यो
वंशः स तथेति ॥ ७ ॥ तथा चमरस्यासुरकुमारराजस्योत्पत्त-
नमूर्ध्वगमनं चमरोत्पातः, सोऽप्याकस्मिकत्वादाश्चर्यमिति ।
श्रूयते हि-चमरचञ्चाराजधानीनिवासी चमरेन्द्रोऽभिनवोत्पन्नः
सन्धूर्ध्वमवधिनाऽऽश्लोकयामास । ततः स्वशीर्षोपरि सौधर्म्यव-
स्थितशक्रं ददर्श । ततो मत्सराध्यातः शक्रतिरस्काराहितमति-
रिहागत्य जगवन्तं महावीरं उद्भवस्थावस्थमेकरात्रिकीं प्रतिमां
प्रतिपन्नं सुसुमारनगरोद्यानवर्त्तिनं सवहुमानं प्रणम्य जगवंस्त्व-
त्पादपङ्कजवनं मे शरणमरिपरजितस्येति विकल्पविरचितघो-
ररूपो लक्ष्योजनमानशरीरः परिघरत्नप्रहरणं परितो भ्रामयन्
गर्जनास्फोटयन् देवांस्त्रासयन्नुत्पपात् । सौधर्मावतंसकाविमान-
वेदिकायां पादन्यासं कृत्वा शक्रमाक्रोशयामास । शक्रोऽपि
कोपाज्जात्रल्यमानस्फारस्फुलिङ्गशतसमाकुलं कुबिंशं तं प्रति
मुमोच । स च जयाप्रतिनिवर्त्य भगवत्पादौ शरणं प्रपदे । श-
क्रोऽप्यवधिज्ञानावगततद्व्यातिकरस्तीर्थकराशातनाभयाच्छीघ्र-
मागत्य वज्रमुपसंजहार । वभाण च-मुक्तोऽस्यहो ! जगवतः
प्रसादान्नास्ति मत्तस्ते जयमिति ॥ ८ ॥ तथाप्राभिरधिकं
शतमष्टशतम्, अष्टशतं च ते सिद्धा निर्वृत्ता अष्टशत-
सिद्धाः । इदमप्यनन्तकालजातमित्याश्चर्यमिति । तथा असं-
यता असंयमवन्त आरम्भपरिग्रहप्रसङ्गा अग्रहचारिण-
स्तेषु पूजा संत्कारोऽसंयतपूजा । सर्वदा हि किल संयता एव
पूजार्हाः, अस्यां त्ववसर्पिण्यां विपरीतं जातमित्याश्चर्यम् । १० ।
अत एवाह दशाप्येतानि अनन्तेन कालेनानन्तकालात्संवृत्ता-
न्यस्यामवसर्पिण्यामिति । स्था० १० ठा० ।

से भयवं ! अस्मि केई जेण मिणमो परमगुरुणं पि अज्जघ-
णिज्जं परमसरणफुणं पयणं पयडपयडं परमकङ्काणं कसि-
णकमड्डुक्खनिद्वणं पवयणं अङ्कमेज्ज वा पङ्कमेज्ज वा
खंडेज्ज वा विराहिज्ज वा आसाइज्ज वा से मणसा वा व-
यसा वा कायसा वा जाव णं वयसि गोयमाणं तेणं का-
ळे णं पखित्तमाणे णं सयं दस अच्छेरगे जविंसु । तत्थ णं
असंखेज्जे अभव्वे असंखेज्जे मिच्छादिद्वे असंखेज्जे सासा-
यणदव्वड्धिगं मासीय सट्ठाए । रूभेणं सकारिज्ज ते ए-
त्थए धम्मए गत्ति काज्जणं बह्वे अदिट्ठकङ्काणे जइ णं पवय-
णमव्वुवगमंति । तत्थुवगमियं रसज्जोलुत्ताए विसयलोत्ताए
ए उदंतियदोसेणं अणुदियेहिं जइडियं मगं निडव-
ति । जम्मगं च जम्मपियंति सव्वे तेणं काले णं इमं
परमगुरुणं पि अलंघणिज्जं पवयणं जाव णं आसायंति ।
से भयवं ! कयरेणं तेणं काले णं दस अच्छेरगे जविंसु । गो-
यमा ! णं इमे तेणं काले णं दस अच्छेरगे जवंति । तं जहा-
तित्थयराणं उवसग्गा, गव्वसंक्रमणे, वामा तित्थयरे, तित्थ-
यरस्स णं देसणाए अभव्वसमुदाए णं परिआ, वंदियसवि-
माणेणं चंदाइच्चाणं तित्थयरसमवसरणे, आगमणं वा-
सुदेवाणं, संखेज्जणीए अन्नयरेणं वा रायकउहेणं परो-
प्परमेलावगो । इह इंतु भारहे खेत्ते हरिवंसकुडुप्पत्तीए,
चमरुप्पाए एगसमए णं अड्डसयसिच्छिगमणं, असंजयाणं

हृदयं मानसं यस्य स तथा, प्रवृत्ताग्नाद्याविस्तृतमनस्के, “ अ-
जससयविसप्पमाणहिययाणं कइयवपप्पत्तीणं ” (स्त्रीणां) तं ।
अजस्स-अजस्स-न० । न० त० । जस्-र । अनवरते, “आमरणंतम-
जस्सं, संजमपरिपालणं विहिणा ” पञ्चा० ८ विव० । त्रिका-
लावस्थायिनि वस्तुमात्रे, त्रि० । वाच० ।

अजहसुकोस-अजघन्योत्कृष्ट-त्रि० । न जघन्योत्कृष्टा स्थितिर्यस्य
सः, एवं स्थितिशब्दलोपात् तथा । मध्यमायां स्थितौ वर्तमाने,
आ० म० चि० ।

अजहसुकोसपएसिय-अजघन्योत्कर्षप्रदेशिक-पुं० । जघन्या-
श्लोकर्षाश्च जघन्योत्कर्षाः, न तथा ये तेऽजघन्योत्कर्षाः, मध्यमा
इत्यर्थः, ते प्रदेः सन्ति येषां ते अजघन्योत्कर्षप्रदेशिकाः । म-
ध्यमप्रदेशनिष्पन्नेषु, स्था० १ ग० १ उ० ।

अजहत्थ-अययार्य-न० । पलाशादावयथावदर्थं के नामभेदे,
स्था० १ ग० १ उ० ।

अजाइय-अयाचित-त्रि० । अयाज्या लब्धे, अदत्तादाने च ।
“मुसावायं बहिष्ठं च, उगाहं च अजाइयं । सत्था दाणाइ लो-
गंसि, तं विज्जं परिजाणिया” ॥१॥ अयाचितमित्यनेनादत्तादानं
गृहीतम् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अजाणंत-अजानत्-अजानान-त्रि० । अनवबुध्यमाने, “ अ-
जाणंता मुसंवदे ” सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । कल्पाऽकल्पम-
जानति अगीतार्थे, पुं० । च० ३ उ० ।

अजाणय-अङ्ग-त्रि० । न जानाति । ज्ञा-क । न० त० । स्वरूप-
ज्ञाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । “ एवं विप्यमिन्नमे, अप्पणा उ अजाणया ” सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । ज्ञानशून्ये, मूले,
वेदान्तिमतसिद्धाज्ञानरूपपदार्थवति च । वाच० ।

अजाणिय-अङ्गात्वा-अव्य० । अविज्ञोत्यर्थे, नि० चू० ६ उ० ।

अजाणिया-अङ्गिका-स्त्री० । न-ङ्गिका, ङ्गिकाविलक्षणायां स-
म्यक् परिज्ञानरहितायां पर्यदि, “ अजाणिया जहा जा होइ
पगइमहुरा मियठावयसीहकुकुनयजूया रयणमिव असंठ-
विया अजाणिया सा जवे परिसा ” याताप्रचूरकएरीस्वकुर-
ङ्गपोतवत्प्रकृत्या मुग्धस्वभावा असंस्यापितजात्यरत्नमिवान्तर्गु-
णविशिष्टगुणसमृद्धा सुखप्रज्ञापनीया पर्यत् सा अङ्गिका । उ-
क्तं च-“ पगई सुद्धअयाणिय, मिगठावगसीहकुकुनगजूया ।
रयणमिव असंठविया, सुहसरणण्णागुणसमिद्धा ” ॥ १ ॥ न० ।
अजाण-अङ्गा-स्त्री० । अङ्गस्य हिंसादेर्हेतुस्वरूपफलाविदुषां ज्ञा-
नाद् व्यावृत्तौ, स्था० २ ग० ४ उ० ।

अजाय-अजात-त्रि० । न० त० । अनिष्पन्ने, श्रुतसम्पदनुपेत-
याऽब्रह्मात्मवाभे साधौ, तद्व्यतिरेकात्कल्पभेदे च । पुं० ।
“गीयत्थ जायकप्पो, अगिओ खलु भवे अजाओ अ” अगीतः
खल्वगीतार्थयुक्ते विहारः पुनर्मवेदजातोऽजातकल्पः, अव्यक्तत्वे-
न जातत्वात् । ध० ३ अधि० । पञ्चा० ।

अजायकप्पिय-अजातकल्पित-पुं० । अगीतार्थे, “ एगविहारो
अजायकप्पिओ जो भवे ठवणकप्पे ” ग० १ अधि० ।

अजिअ-अजित-त्रि० । न० त० । अपराजिते, “अजितं महत्तं”
(जिनाज्ञाम्) अजितामशेषपरप्रवचनाज्ञाजिरपराजिताम्,
दर्श० । आव० । जिधातोर्द्विकर्मकत्वादनित्तित्तशत्रौ, अ-
पराजितदेशादौ चास्य प्रवृत्तिः, एकस्य कर्मणोऽविवक्षाया-
मन्यस्य विवक्षायां, तत्रैव कर्मणि क्तः । भूरिप्रयोगस्तु-अनिर्जित-

शत्रावेव । तथा च ‘गौणे कर्मणि डुहादेः’ इत्युक्तेः, गौणकर्मण
एवाजिधाननियमात् तस्यैव जयकर्मतायां केनाऽभिधातुं योग्य-
त्वम्, न च नास्त्येषामजितो देश इत्यादौ गौणकर्मणोऽविवक्ष-
यैव जयप्राप्तदेशादौ जितशब्दप्रयोगात् ततो नञ्समास
इति नेदेः । रागादिभिर्जितत्वाभावात् शिवे, विष्णौ, बुद्धे च ।
वाच० । परीषदादिभिरनिर्जितो गर्भस्थे भगवति जननीयूते
राज्ञा नजित इत्यजितः । ध० २ अधि० । अवसर्पिण्या द्वितीये तीर्थक-
रे, “अक्खेसु जेण अजिया, जणणी अजितो जिणेतम्हा” अक्के-
पु अक्कविषयेण कारणेन भगवतो जननी अजिता गर्भस्थे भग-
वत्यभूत्तस्मादजितो जिनः । अत्र वृद्धसंप्रदायः-“भगवतो अ-
म्मापियरो जूयं रमंति, पढमं राया जिणिया इतो जाहे भयवं
आयाओ ताहे देवी जिणाइओ राया ततो अक्खेसु कुमारप्रभावात्
देवी अजिय ति, अजिओ से नामं कयं” । आ० म० द्वि० आ०
चू० । घ० । स० । कल्प० । (अन्तरायुरादिकमस्य ‘तिथयस्’ शब्दे
वद्व्यते) भाविनि द्वितीये वलदेवे, ती० २१ कल्प० । श्रीसुवि-
धिजिनस्य यक्ते च । स च श्वेतवर्णः कूर्मबाहनश्चतुर्भुजो मातु-
विज्ञानसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलकुतकलितवामपाणि-
द्वयश्च । प्रव० २७ द्वा० ।

अजिअदेव-अजितदेव-पुं० । मुनिचन्द्रसूरेः शिष्ये, विजयसिंहस्य
गुरौ, “जातौ तस्य (गुरुचन्द्रस्य) विनयौ, सूरियशोभद्वनेमि-
चन्द्राहौ । ताभ्यां मुनिचन्द्रः श्रीमुनिचन्द्रो गुरुः सम-
चूत् ॥ १ ॥ श्रीअजितदेवसूरिः प्राच्यस्तस्माच्चूय शिष्य-
वरः । वादीति देवसूरिर्द्वितीयशिष्यस्तदीयोऽभूत् ॥ २ ॥
तत्राऽऽदिमाद् वभासे गुरुर्विजयसिंह इति मुनिपासिहः” । ग० ३
अधि० । अन्योऽप्येतन्नामा (वि० सं० १२७३ वर्षे) आसीत् । स च
भानुप्रभसूरेः शिष्यः, योगविधिनाम्नो ग्रन्थस्य कर्ता । जै० ६० ।
अजिअप्रभ-अजितप्रभ-पुं० । स्वनामख्याते गणिनि । स च (वि०
सं० १२०२ वर्षे) गुर्जरश्रिद्ध्यां विद्यापुर (बीजापुर) प्रान्ते व्यहारी-
त्, धर्मरत्नश्रावकाचारनामानं ग्रन्थं च व्यरीरचत् । जै० ६० ।
अजिअवला-अजितवला-स्त्री० । श्रीअजितस्य शासनदेव्याम्,
सा च गौरवर्णा लोहासनाधिरुद्धा चतुर्भुजा वरदपाशकाधि-
ष्ठितदक्षिणकरद्वया बीजपूरकाङ्कुशालङ्कृतवामपाणिद्वया च ।
प्रव० २७ द्वा० ।

अजिअसीह-अजितसिंह-पुं० । स्वनामख्यातेऽञ्जलगच्छीये
सूरौ, स च (वि० सं० १२८३ वर्षे) जिनदेवेन पित्रा जिनदेव्यां
नाम मातरि जन्म लब्ध्वा सिंहप्रज्ञसूरिपादमूले प्रववाज, देवे-
न्द्रसिंहनामानं च शिष्यं प्राप्ताजयत् । जै० ६० ।

अजिअसेण-अजितसेन-पुं० । जम्बूद्वीपे जारतवर्षेऽलीताया-
मुत्सर्पिण्यां जाते चतुर्थे कुत्रकरे, स्था० १० ग० । कौशाम्ब्या
अधिपतौ धारणीवल्लभे नृपतिभेदे, “ कौशाम्ब्यात्यस्त पृस्तना-
जितसेनो महीपतिः । धारणीत्यभिधादेवी, तत्र धर्मवसुगुरुः ”
॥१॥ आ० क० । आव० । आ० चू० । (तत्कथा ‘अएणाय’ शब्दे
वद्व्यते) श्रावस्तीनगरीं समवसूते यशोभञ्जायाः कीर्तिमत्या म-
हत्तरिकायाः प्रवाजके आचार्यनेदे, (‘अलोह’ शब्दे कथा रुष्ट-
व्या) आ० चू० । आव० । दर्श० । अजितसेनो नाम अजयदेवसूरि-
शिष्यः राजगच्छीयवाद्महार्णवनाम्नो ग्रन्थस्य कर्ता, यत्समये
(वि० सं० १२१३ वर्षे) अञ्जलगच्छः समजनि । जै० ६० ।
आ० क० । महिलपुरनगरे नागस्य गृहपतेः सुलसानाम्भ्यां
भार्यायामुत्पन्ने पुत्रे, स चाऽरिष्टनेमैरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये
सिद्धः । अन्त० ४ वर्ग ।

अजिआ-अजिना-गी० । त्वन्पिण्डाद्यनुर्थस्याभिनन्दनजि-
नस्य प्रवर्तिन्याम्, "अजिआपण्डित्वा अजिआ, काग्वी नुमनी-
जिपिदम् " ति० ।

अजिआदिय-अजिनन्दिन-वि० । न जिगानि श्रोत्रादीर्नान्दि-
याणि येन न तथा । अजिआदये, "अजिआदियन्तोवत्या, च-
रणा जग ने नाम पुजिनि " दृष्ट० ति० । अ० । असर्वगत्ये,
स्था० ५ दृष्ट० ।

अजिण-अजिन-गी० । अजिनि विपनि गज द्यादि आवरणेन ।
अज-अनन्, न व्यादेशः । घञ० । मुगादिचर्मणि, उच० ५
अ० । घञा० । मुञ० । चर्मधारिणि, "चर्मधारिणि नगिणिण्,
जटीमंयादिमुञ्जिणि" उच० ५ अ० । न जिनेऽजिनः । न० त० ।
अजीनगणे, अ० १५ दृष्ट० १ उ० । असर्वगत्ये, पुं० । "अजिणा
जिगन्तकाना जिगाद् याऽयितं घागंमाणा " । घ्रा० ।
कलप० । नग० ।

अजिण-अजीर्ण-न० । अजिणे पणिपाकमनगते, वि० । अ-
जीर्णोऽभोजनम् । एतदपि गृतिभिर्भोगेऽयमस्माकमिति बु-
द्ध्या कार्यम् । तथाऽजीर्णेऽजिणे पूर्वभोजने, अथवाऽजीर्णे प-
णिपाकमनगते पूर्वभोजनेऽर्धजीर्णे इत्यर्थः । अभोजनं भोज-
नस्यागः । अजीर्णभोजने हि सर्वरोगमूलस्य घृजिरेव रुना
भवति । यदाह-" अजीर्णप्रभवा रोगाः " इति । तत्राजीर्णे
चतुर्विधम्-" आमं विदग्धं विष्टग्धं, रसशेषं तथा पक्वम् । आ-
मे तु उवर्गान्ध्र्यं, विदग्धे धूमगन्धिना ॥१॥ विष्टग्धे गात्रभ-
क्षोऽत्र, रसशेषे तु ज्ञान्यता " उवर्गान्ध्र्यमिति । द्रवस्य गूथ-
स्य कुथितनक्रादित्य सन्ध्या यस्यान्ति तत्तथा, तदुभावस्तत्त्व-
मिति । "मलवातयोर्विगन्धो, विरुज्जदो गात्रगौरवमरौच्यम् ।
अविगुज्जदोऽङ्गाः, पडजीर्णव्याकिलिहानि" ॥१॥ "मूर्च्छाप्रलापो
वमनः, प्रनेकः सदनं भ्रमः । उपद्रवा भवन्त्येते, मरणं चाऽ-
प्यजीर्णतः" ॥१॥ प्रनेक इत्यधिकनिघोषनप्रयुक्तिः, सदनमित्यङ्ग-
न्तानिगिति । ध० १ अथि० । "जिघाजिणे अभोयणं यजुसो"
जीर्णाजीर्णे च भोजने यजुसः एव आयुष उपक्रमः । अस्माद्
त्रियन्ते प्राणिन इत्यर्थः । आथ० १ अ० । जी० । एतत्प्रती-
कारो यथा-" भवेदजीर्णं प्रति यन्मशू, भिग्यस्य जन्तो-
र्वलिनेऽत्रकाले । पूर्व स शुगडीमभयामशू, संप्राप्य भु-
ज्जीत तिनं हि पथ्यम्" ॥१॥ इति चक्रः । "अजीर्णे भोजने घारि,
जीर्णे घारि चलप्रदम् " इति वैद्यके । कत्तरि कः । जीर्णो-
वृद्धः, तदभिन्ने, वि० । घाच० ।

अजिम्मकंतणयणा-अजिह्वकान्तनयना-खी० । अजिलेऽमन्दे
भद्रभावतया निर्विकारचपल इत्यर्थः, कान्ते नयने यासां
नास्तथा । सुभगत्वयतत्वसहजचपलत्वभाजनलोचनानु,
"अजिम्मकंतणयणा पत्तलध्वलायतआयतं वलांशुआश्रो"
जं० २ वक्ष० ।

अजिय-अजित-वि० । अपराजिते, ("अजिअ" शब्देऽस्य विस्तरः)

अजियदेव-अजितदेव-पुं० । मुनिचन्द्रसुरेः शिष्ये, (निरूपणमस्य
'अजिअदेव' शब्दे)

अजियप्पज-अजितप्पज-पुं० । स्वनामख्याते गणिते, (विशेषो-
ऽस्य 'अजिअप्पभ' शब्दे)

अजियवला-अजितवला-खी० । श्रीअजितस्य शासनदेव्याम,
('अजिअवला' शब्देऽस्य विस्तरः)

अजियसीह-अजितसीह-पुं० । स्वनामख्यातेऽञ्जलगच्छीये
सुरे, ('अजिअसीह' शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः)

अजियसेण-अजितसेन-पुं० । जम्बूद्वीपस्थचतुर्थे कुलकरे,
(स्पष्टोऽव 'अजिअसेण' शब्दे)

अजिया-अजिता-खी० । अवसर्पिण्याश्चतुर्थस्याभिनन्दन-
जिनस्य प्रवर्तिन्याम्, (अस्मिन् विषये 'अजिआ' शब्दो द्रष्टव्यः)

अजीर-अजीर्ण-न० । आहारस्याऽजिरे, तद्भावे च रोगोत्पत्तिः ।

व्य० १ उ० । जं० । घ्रा० । वि० । उपा० ।

अजीव-अजीव-पुं० । न जीवा अजीवाः । जीवविपरीतस्वरू-
पेषु धर्माधर्माकाशपुञ्जलास्तिकायाद्वासमयेषु, प्रज्ञा० १ पद ।
ते च चतुर्धा, नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् । द्रव्याजीवाः,
यदा पुञ्जलद्रव्यमजीवरूपं सकलगुणपर्यायविकलतया क-
ल्प्यते, तदा तद्यतिरिक्तो द्रव्याजीवः, भावे चाजीवद्रव्यस्य
पुञ्जलस्वरूपस्य दशविधपरिणामोऽजीव इति प्रक्रमः । ततः
शब्दादयः पञ्च शुभाशुभतया भेदेन विवक्षिताः । तथाच सं-
प्रदायः-शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः शुभाश्चाशुभाश्चेति । उक्त०
३५ अ० ।

एतेषां छव्यतः क्षेत्रतः कावतो भावतश्च व्याख्या—
रुविणो य अरुवी य, अजीवा दुविहा नवे ।

अरुवी दसहा वुत्ता, रुविणो वि चडाविहा ॥ ४ ॥

अजीवा विविधा भवेयुः, एके अजीवा रुपिणो रूपवन्तः, च
पुनरप्ये अजीवा अरुपिणोऽरूपवन्तः । तत्र रूपं स्पर्शाद्याभ्य-
घ्ननं मूर्तं तदस्ति येषु ते रुपिणः, तद्यतिरिक्ता अरुपिण इत्यर्थः ।
तत्रारुपिणोऽजीवा दशधा उक्ताः, रुपिणोऽजीवाश्चतुर्विधाः
प्रोक्ताः ॥ ४ ॥

पूर्वं दशविधत्वमाह—

धम्मत्थिकाए तदेसे, तप्पएसे य आहिए ।

अहम्मे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥ ५ ॥

आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ।

अप्पासपयए चेव, अरुवी दसहा भवे ॥ ६ ॥

अरुपी अजीव एवं दशधा भवेदिति द्वितीयगाथायामन्वयः ।
प्रथमे धर्मास्तिकायः-अरति जीवपुञ्जलौ प्रतिगमनोपकारिणेति
धर्मस्तस्याऽस्तयः प्रदेशसद्भावास्तेषां कायः समूहो धर्मा-
स्तिकायः, सर्वदेशानुगमसमानपरिणतिमद् छव्यमिति भावः
॥ १ ॥ पुनस्तद्देशस्य धर्मास्तिकायस्य कतमो विभागो देश-
स्तृतीयचतुर्थोद्दिज्ञागतद्देशो धर्मास्तिकायदेशः ॥ २ ॥ तथा
पुनस्तद्देशस्तस्य धर्मास्तिकायविज्ञागस्य अतिसूक्ष्मो नि-
रंशोऽशः प्रदेशो धर्मास्तिकायप्रदेशस्तौर्धैरैराख्यातः क-
थितः ॥ ३ ॥ पचमधर्मो जीवपुञ्जलयोः स्थिरकारी धर्मास्ति-
कायाद्विरुद्धोऽधर्मास्तिकायः ॥ ४ ॥ पुनस्तस्य अधर्मास्तिका-
यस्यापि देशस्तद्देश एकः कश्चिद्भागोऽधर्मास्तिकायदेशः
॥ ५ ॥ एवं पुनस्तस्याधर्मास्तिकायस्य प्रदेशोऽशस्तत्प्रदेश
आख्यातोऽधर्मास्तिकायप्रदेश इत्यर्थः ॥ ६ ॥ इत्यनेन पर-
मेदा अरुपिणोऽजीवद्रव्यस्य । अथ शेषाश्चत्वार उच्यन्ते-आका-
श इति सप्तमो भेदः । आकाशमाकाशास्तिकायः, जीवपुञ्जलो-
रवकाशदायि आकाशम् ॥ ७ ॥ तस्याऽऽकाशस्य देशः कतमो
विज्ञाग आकाशास्तिकायदेशः ॥ ८ ॥ तस्य आकाशास्तिकाय-

स्य निरंशो देशस्तत्प्रदेश आकाशास्तिकायप्रदेशः ॥ ६ ॥
दशमो भेदश्चाद्वासमयः; अक्षा काष्ठो वर्त्तमानलक्षणस्तद्रूपः
समयोऽक्षासमयः। अस्यैक एव जेदो निर्विजागत्वात्। देशप्रदे-
शावपि कालस्य न सम्भवतः ॥ १० ॥ एवं दशभेदा अरूपिणो
ज्ञेयाः ॥ ६ ॥

एतान् अरूपिणः क्षेत्रत आह—

धम्माधम्मे य दो एए, दोगमिप्ता वियाहिया ।

दोगालोगे य आगासे, समए समयखित्तिए ॥ ७ ॥

धर्माधर्मौ धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायौ, एतौ द्वावपि लोक-
मात्रौ व्याख्यातौ । यावत्परिमाणा लोकास्तावत्परिमाणौ धर्मा-
स्तिकायाधर्मास्तिकायौ। चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकं व्याप्तावित्यने-
नालोके धर्माधर्मौ न स्तः। आकाशं लोकालोके वर्त्तते इत्यनेना-
ऽऽकाशास्तिकायः चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकं व्याप्य स्थितः, ततो
बहिर्लोकमपि व्याप्याऽऽकाशास्तिकायः स्थित इत्यर्थः। स-
मयः समयदिकः काष्ठः समयक्षेत्रिको व्याख्यातः। समयोप-
लक्षितं क्षेत्रं सार्द्धद्वयद्वीपसमुद्रात्मकं समयक्षेत्रं, तत्र भवः
समयक्षेत्रिकः। सार्द्धद्वयद्वीपेभ्यो बहिस्तु समय आवल्लिका-
दिवसमासादिकालजेदो मनुष्यलोकाभावाच्च विवक्षितः ॥ ७ ॥

पुनरेतानेव कालत आह—

धम्माधम्मागासा ति-न्नि वि एए अणाइया ।

अपज्जवसिया चेव, सव्वप्पं तु वियाहिया ॥ ८ ॥

धर्माधर्माकाशानि एतानि त्रीण्यपि सर्वार्थे इति सर्वकालं
सर्वदा स्वस्वरूपापरित्यागेन नित्यानि अनादीनि च पुनरपर्य-
वसितानि अन्तर्हितानि व्याख्यातानि ॥ ८ ॥

अथ कालस्वरूपमाह—

समए वि संतई पप्प, एवमेव वियाहिया ।

आएसं पप्प साईए, सपज्जवसिए वि य ॥

समयोऽपि कालोऽपि, एवमेव, यथा धर्माधर्माकाशानि अना-
द्यनन्तानि; तथा कालोऽपि अनाद्यनन्त इत्यर्थः। किं कृत्वा ?
सन्तर्ति प्राप्य, अपरापरोत्पत्तिरूपप्रवाहात्मिकामाश्रित्य,
कोऽर्थः?, यदा हि कालस्योत्पत्तिर्विलोक्यते तदा कालस्याऽऽ-
दिरपि नास्ति, अन्तोऽपि नास्तीत्यर्थः। पुनरादेशं प्राप्य का-
र्यारम्भमाश्रित्य कालः सादिक आदिसहितः, तथा सपर्यव-
सितोऽवसानसहितो व्याख्यातः। यदा च यत् किञ्चित् कार्यं
यस्मिन् काल आरभ्यते तदा तत्कार्यारम्भवशात् कालस्या-
प्युपाधिवशादादिः, एवं कार्यारम्भसमाप्तौ कालस्याऽप्यन्तो
व्याख्यात इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ रूपिणोऽजीवाश्चतुर्विधाश्चतुर्भेदा उच्यन्ते—

खंधा य खंधेसा य, तप्पेसा तहेव य ।

परमाणवो य बोधवा, रूविणो वि चउव्विहा ॥ १० ॥

रूपिणोऽप्यजीवाश्चतुर्विधाश्चतुःप्रकाराः। के ते भेदास्तानाह-
स्कन्धाः—यत्र पुञ्जे परमाणवो विचट्नाद् मिलनाच्च न्यूना-
अधिका अपि भवन्ति, एतादृशाः परमाणुपुञ्जाः स्कन्धाः १,
स्कन्धदेशाः २, तथा तत्प्रदेशाः—तेषां स्कन्धानां निर्विभागा
अंशाः स्कन्धप्रदेशाः ३; तथैवेति पूर्ववत्; च पुनः परमाणवो
बोद्धव्याः, परमाणव एव परस्परममिलिता इत्यर्थः। ४। एवं
चत्वारो रूपिणश्चतुर्विधा बोद्धव्या इति भावः। अत्र च मु-

ख्यवृत्त्या परमाणुद्रव्यस्य द्वौ भेदौ-परमाणवः स्कन्धाश्च। दे-
शप्रदेशयोः स्कन्धेष्वेवान्तर्भावः ॥ १० ॥

अथ स्कन्धानां परमाणूनां लक्षणमाह—

एगत्तेण पहुत्तेण, खंधा य परमाणुओ ।

लोएगदेशे लोए य, भइवा ते उ खित्तओ ॥

इत्तो काष्ठविभागं तु, तेसिं वोच्चं चउव्विहं ॥ ११ ॥

एते स्कन्धाश्च पुनः परमाणवः, एकत्वेन पुनः पृथक्त्वेन
लोकैकदेशे च पुनर्लोके क्षेत्रतो भङ्गव्याः। तत्र केचित् स्कन्धाः
परमाणवश्च एकत्वेन समानपरिणतिरूपेण लक्ष्यन्ते। अथ च
स्कन्धाः परमाणवश्च पृथक्त्वेन परमाणवन्तरैरसङ्घातरूपेण
लक्ष्यन्ते इत्यध्याहारः। इति द्रव्यतो लक्षणमुक्तम्। अथ च
क्षेत्रत आह—ते स्कन्धाः परमाणवश्चेति तत्स्कन्धपरमाणूनां
ग्रहणेऽपि परमाणूनामेवैकप्रदेशावस्थानत्वात् ते परमाणवः
स्कन्धेषु लोकैकदेशे लोके सर्वत्र भङ्गव्या भजनीया दर्शनीया
इति यावत्। ते हि विचित्रत्वात्परिणतेर्बहुप्रदेशे तिष्ठन्ति।
इतः क्षेत्रप्ररूपणातोऽनन्तरं तेषां स्कन्धानां परमाणूनां चतु-
र्विधं कालभेदं वक्ष्ये, साधनादिसपर्यवसितापर्यवसितभेदेन
कथयिष्यामि। इदं च सूत्रं पदपादं गाथेत्युच्यते ॥ ११ ॥

संतई पप्प तेऽणाई, अपज्जवसिया वि य ।

ठिईं पुरुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥ १२ ॥

ते स्कन्धाः परमाणवश्च सन्ततिमपरापरोत्पत्तिप्रवाहरूपां
प्राप्याऽनादय आदिरहितास्तथाऽपर्यवसिता अन्तरहिताः
स्थितिं प्रतीत्य क्षेत्रावस्थानरूपां स्थितिमङ्गीकृत्य सादिकाः,
सपर्यवसिताश्च वर्तन्ते ॥ १२ ॥

सादिसपर्यवसितत्वेऽपि कियत्कालमेषां स्थितिरित्याह—

असंखकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहन्नयं ।

अजीवाण य रूवीणं, ठिईं एसा वियाहिया ॥ १३ ॥

स्कन्धानां परमाणूनां चोत्कृष्टाऽसंख्यकालं स्थितिः जघ-
न्यिका एकसमया स्थितिः। एषाऽजीवानां रूपिणां पुञ्जलानां
स्थितिर्व्याख्याता ॥ १३ ॥

अथ कालतः स्थितिमुक्त्वा तदन्तर्गतमन्तरमाह—

अणंतकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहन्नयं ।

अजीवाण य रूवीणं, अंतरे यं वियाहिया ॥ १४ ॥

अजीवानां रूपिणां पुञ्जलानां स्कन्धदेशप्रदेशपरमाणूनाम-
न्तरं विवक्षितक्षेत्रावस्थिते प्रच्युतानां पुनस्तत्क्षेत्रप्राप्तेर्व्यव-
धानमन्तरमुत्कृष्टमनन्तकालं भवति। जघन्यकमेकसमयं या-
वद्भवति। इदमन्तरं तीर्थकैरव्याख्यातम्—पुञ्जलानां हि विव-
क्षितक्षेत्रावस्थितितः प्रच्युतानां कदाचित्समयावलिक्कादि-
संख्यातकाष्ठतो वा पक्ष्योपमादेर्यावदनन्तकालादपि तत्क्षेत्र-
त्वावस्थितिः सम्भवतीति भावः ॥ १४ ॥

अथ भावतः पुञ्जलानाह—

वन्नओ गंधओ चेव, रसओ फासओ तथा ।

संगाणओ य विन्नेओ, परिणामो तेसि पंचहा ॥ १५ ॥

तेषां पुञ्जलानां परिणामो वर्णतो गन्धतो रसतः स्पर्शतस्तथा
संस्थानतश्च पञ्चधा प्रश्नप्रकारो ज्ञेयः। यतो हि पूरणगलनध-
र्माणः पुञ्जलास्तेषामेव परिणतिः सम्भवति। परिणमनं स्वस्व-
रूपावस्थितानां पुञ्जलानां वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानोदरन्यथाभ-
वनं परिणामः। स पुञ्जलानां पञ्चप्रकार इत्यर्थः। (उत्त०)

अजीवपञ्जवा णं जंते ! कइविहा पणत्ता ? । गोयमा !
 रुविहा पणत्ता । तं जहा—रुविअजीवपञ्जवा य अरु-
 विअजीवपञ्जवा य । अरुविअजीवपञ्जवा णं जंते !
 कतिविहा पणत्ता ? । गोयमा ! दसविहा पणत्ता ? ।
 तं जहा—धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिका-
 यस्स पदेसा । अधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकायस्स देसे,
 अधम्मत्थिकायस्स पदेसा । आगासत्थिकाए, आगास-
 त्थिकायस्स देसे, आगासत्थिकायस्स पदेसा । अद्धासमए ।
 रुविअजीवपञ्जवा णं जंते ! कतिविहा पणत्ता ? । गो-
 यमा ! चउविहा पणत्ता । तं जहा—खंधा, खंधदेसा,
 खंधपदेसा, परमाणुयोगल्ला । ते णं भंते ! किं संखेज्जा, अ-
 संखेज्जा, अण्णंता ? । गोयमा ! नो सखिज्जा, नो असंखिज्जा,

अणंता । से केण्ठे णं जंते ! एवं बुच्चइ, नो संखिज्जा, नो असंखिज्जा, अणंता ! गोयमा ! अणंता परमाणुपोगला, अणंता दुपणसिया खंधा, जाव अनंता दसपणसिया खंधा, अणंता संखिज्जपदेसिया खंधा, अनंता असंखिज्जपदेसिया खंधा, अणंता अणंतपदेसिया खंधा, से तेण्ठे णं गोयमा ! एवं बुच्चइ; ते णं नो संखेज्जा, नो असंखिज्जा, अणंता । प्रज्ञा० ५ पद ।

अजीवपञ्चवणा—अजीवप्रज्ञापना—स्त्री०। अजीवानां प्रज्ञापनाऽजीवप्रज्ञापना । प्रज्ञापनाभेदे, प्रज्ञा० ।

से किंतं अजीवपणवणा ? अजीवपणवणा पुविहा पणवणा । तं जहा-रूविअजीवपणवणा, अरूविअजीवपणवणा य । से किंतं अरूविअजीवपणवणा ? अरूविअजीवपणवणा दसविहा पणवणा । तं जहा-धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पणसा । अधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पणसा । आगासत्थिकाए, आगासत्थिकायस्स देसे, आगासत्थिकायस्स पदेसा, अप्पासमए । सेत्तं अरूविअजीवपणवणा । से किंतं रूविअजीवपणवणा ? रूविअजीवपणवणा चउविहा पणवणा । तं जहा—खंधा, खंधदेसा, खंधप्पणसा, परमाणुपोगला । ते समासओ पंचविहा पणवणा । तं जहा—वणपणवणा, गंधपणवणा, रसपणवणा, फासपणवणा, संठाणपणवणा । जे वणपणवणा ते समासओ पंचविहा पणवणा । तं जहा—कालवणपणवणा, नीलवणपणवणा, लोहियवणपणवणा, हाडिद्वणपणवणा, सुकिद्वणपणवणा ।

अमीषामित्थं क्रमोपन्यासे किं प्रयोजनम् ? उच्यते—इह धर्मास्तिकाय इति पदं मङ्गलभूतम्, आदौ धर्मशब्दान्वितत्वात् । पदार्थप्ररूपणा च सम्प्रति प्रथमत उक्तिस्तु वर्तते, ततो मङ्गलार्थमादौ धर्मास्तिकायस्योपादानम् । धर्मास्तिकायप्रतिपक्षचूतश्चाधर्मास्तिकायस्ततस्तदनन्तरमधर्मास्तिकायस्य । द्वयोरपि चानयोराधारचूतमाकाशमिति तदनन्तरमाकाशास्तिकायस्य । ततः पुनरजीवसाधर्म्यादकाशसमयस्य । अथवा इह धर्माधर्मास्तिकायौ विचूतमवतस्तद्विचूतत्वे तत्सामर्थ्यतो जीवपुल्लानामस्खलितप्रचारप्रवृत्तौ लोकालोकव्यवस्थाऽनुपपत्तेः । अस्ति च लोकालोकव्यवस्था; तत्र तत्र प्रदेशे सूत्रे साक्षाद्दर्शनात् । ततो यावति क्षेत्रेऽवगाढौ (धर्माधर्मौ) तावत्प्रमाणो लोकः, शेषस्त्वलोक इति सिद्धम् । उक्तं च—

“ धर्माधर्मविभुत्वात्, सर्वत्र च जीवपुल्लविचारात् ।

नालोकाः कश्चित्स्यात्, न च सम्मतमेतदार्थानाम् ॥ १ ॥

तस्माद्धर्माधर्मावगाढौ व्याप्य लोककं सर्वम् ।

एवं हि परिच्छिन्नः, सिद्ध्यति लोकस्तद्विभुत्वात् ॥ २ ॥

तत एव लोकालोकव्यवस्थादेतू धर्माधर्मास्तिकायावित्यनयोरादावुपादानम् । तत्रापि माङ्गलिकत्वात् प्रथमतो धर्मास्तिकायस्य, तत्प्रतिपक्षत्वात्ततोऽधर्मास्तिकायस्य, ततो लोकालोकव्यापित्वादाकाशास्तिकायस्य, तदनन्तरं लोके समयासमयक्षेत्रव्यवस्थाकारित्वाद्काशसमयस्य । एवमागमानुसारेणान्यदपि यु-

क्त्यनुपाति वक्तव्यमित्यहं प्रसङ्गेन । प्रकृतोपसंहारमाह—(सेत्तं अरूविअजीवपणवणा) सैषा अरूप्यजीवप्रज्ञापना । पुनराह विनेयः—(से किंतमित्यादि) अथ का सा रूप्यजीवप्रज्ञापना ? सूरिराह—रूप्यजीवप्रज्ञापना चतुर्विधा प्रज्ञता । तद्यथा—स्कन्धाः—स्कन्दन्ति झुप्यन्ति, धीयन्ते च पुप्यन्ते पुल्लानां विचटनेन चटनेन वेति स्कन्धाः । पृषोदरादित्वाद् रूपनिष्पत्तिः । अत्र बहुधा वचनं पुल्लस्कन्धानामानन्त्यस्यापनार्थम् । नचानन्त्यमनुपपन्नम्, आगमेऽभिधानात् । तथा चाजीवशब्दे उक्तम्—“द्व्वतो णं पुग्गलत्थिकाए णंता द्व्वो” इत्यादि । स्कन्धदेशः स्कन्धानामेव स्कन्धत्वपरिणाममजहन्तो दुरुपरिकल्पिता ह्यदिप्रदेशात्मका विभागाः । अत्रापि बहुवचनमनन्तप्रादेशिकेषु तथाविधेषु स्कन्धेषु प्रदेशानन्तत्वसम्भावनार्थम् । स्कन्धानां स्कन्धत्वपरिणामपरिणतानां बुद्धिपरिकल्पिताः प्रकृष्टा देशा निर्विभागा ज्ञागाः, परमाणव इत्यर्थः, स्कन्धप्रदेशाः । अत्रापि बहुवचनं प्रदेशानन्तत्वसम्भावनार्थम् । (परमाणुपुल्ला इति) परमाण्वेते अणवश्च परमाणवो निर्विभागरूपकाः, ते च ते पुल्लाश्च परमाणुपुल्लाः स्कन्धत्वपरिणामरहिताः केवलाः परमाणव इत्यर्थः । (ते समासओ इत्यादि) ते स्कन्धादयो यथासम्भवं समासतः सङ्क्षेपेण पञ्चविधाः प्रज्ञताः । तद्यथा—वर्णपरिणता वर्णतः परिणताः, वर्णभाज इत्यर्थः । एवं गन्धपरिणताः, रसपरिणताः, स्पर्शपरिणताः, संस्थानपरिणताः । परिणता इत्यतीतकालनिर्देशो वर्तमानानागतकालोपलक्षणम् । वर्तमानानागतत्वमन्तरणातीतत्वस्यासम्भवात् । तथाहि—यो वर्तमानत्वमतिक्रान्तः सोऽतीतो भवति । वर्तमानत्वं च सोऽनुजवति योऽनागतत्वमतिक्रान्तवान् । उक्तञ्च—“ भवति स नामातीतो, यः प्राप्तो नाम वर्तमानत्वम् । एयंश्च नाम स जवति, यः प्राप्त्यति वर्तमानत्वम् ” ॥ १ ॥ ततो वर्णपरिणता इति वर्णरूपतया परिणताः परिणमन्तीति परिणमिष्यन्तीति वा द्रष्टव्यम् । एवं गन्धरसपरिणता इत्याद्यपि परिभावेनीयम् । प्रज्ञा० १ पद ।

अजीवपरिणाम—अजीवपरिणाम—पुं० । ६ त० । पुल्लानां परिणामे, “दसविहे अजीवपरिणामे पणवणे । तं जहा—धंधणपरिणामे, गइयपरिणामे, ठाणपरिणामे, जेदवन्नरसपरिणामे, गंधपरिणामे, फासपरिणामे, अगइयलहुयसइपरिणामे” । (बन्धनपरिणामादीनां व्याख्याऽन्यत्र) स्या० १० ठा० ।

अजीवपाउसिया—अजीवप्राद्वेपिकी—स्त्री० । अजीवे पाषाणादौ स्ववित्तस्य प्रद्वेपादजीवप्राद्वेपिकी । स्या० १ ठा० १ उ० । अजीवस्योपरि प्रद्वेपाद्याः क्रियाः, प्रद्वेपकरणमेव वा । प्राद्वेपिक्याः क्रियाया भेदे, भ० ३ श० ३ उ० ।

अजीवपाउसिया—अजीवप्रातीतिकी—स्त्री० । अजीवं प्रतत्तिय यो रागद्वेपोद्भवस्तज्जो यो बन्धः सा अजीवप्रातीतिकी । प्रातीतिक्याः क्रियाया भेदे, स्या० २ ठा० १ उ० ।

अजीवपुट्टिया—अजीवपृष्टिका (जा) (स्पृष्टिका)—स्त्री० । अजीवं रागद्वेपान्यां पृच्छतः स्पृशतो वा क्रियात्मके, पृष्टिका—(जा) (स्पृष्टिका) याः क्रियाया जेदे, स्या० २ ठा० १ उ० ।

अजीवमिस्रिया—अजीवमिश्रिता—स्त्री० । सत्यमृपाज्जेदे, यदा यदा प्रभूतेषु मृतेषु स्तोकेषु जीवत्सु एकत्र राशीकृतेषु शङ्कादिषु एवं वदति—अहे ! महानयं मृतोऽजीवराशिरिति तदा सा अजीवमिश्रिता, अस्या अपि सत्यमृपात्वम्, मृतेषु सत्यत्वात्, जीवत्सु मृषात्वात् । प्रज्ञा० ११ पद ।

प्रतिपित्सुर्योगनिरोधार्थमुपक्रमते । तत्र पूर्वं वादरकाययोगेन वादरमनोयोगं निरुणद्धि, ततो वाग्योगम् । ततः सूक्ष्मकाययोगेन वादरकाययोगं, तेनैव सूक्ष्ममनोयोगं सूक्ष्मवाग्योगं च । सूक्ष्मकाययोगं तु सूक्ष्मक्रियमनिवर्तिं शुक्लध्यानं ध्यायन् स्वावष्टम्भेनैव निरुणद्धि, अन्यस्यावष्टम्भनीयस्य योगान्तरस्य तदाऽसञ्चात् । तद्ध्यानसामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन संकुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति । तदनन्तरं समुत्सन्नक्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यानं ध्यायन् मध्यमप्रतिपत्या ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्विरणमात्रकालं शैलेशीकरणं प्रविशति । कर्म० २ कर्म० ।

अजोगिकेवलि (ए)—अयोगिकेवद्विन्—पुं० । अयोगी चाऽसौ केवली च अयोगिकेवली । निरुद्धमनःप्रभृतियोगे शैलेशीगते, स० १४ सम० । विगतक्रियानिवर्तिं शुक्लध्यानं ध्यातवांश्चायोगिकेवली निःशेषितमलकलङ्कोऽवाप्तशुद्धनिजस्वभाव ऊर्ध्वगतिपरिणामः स्वाभाव्यात्रिवातप्रदेशप्रदीप्तशिखावदूर्ध्वगच्छत्येकसमयेनाऽऽलोकान्तात् । सम्म० ५ ख० । कर्म० । अयं च शैलेशीकरणं चरमसमयानन्तरमुच्छिन्नचतुर्विधकर्मवन्धनत्वादष्टमृत्तिकालेपि लिप्ताधोनिमग्नकमापनीतमृत्तिकालेप-जलतलमर्यादोर्ध्वगामि तथाविधाऽलानुवदूर्ध्वलोकान्ते गच्छति, नापरतोऽपि, मत्स्यस्य जलकल्पं गत्युपष्टम्भकधर्मास्तिकायाभावात् । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत् स्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तावदेव प्रदेशादूर्ध्वमवगाहमानो विवक्षितसमयाच्च समयान्तरमसंपृशन् गच्छति । तदुक्तमावश्यकचूर्णौ—“जस्ति ए जीवो अवगाढो तावद्याप ओगाहणाप उहं उज्जुगं गच्छइ न वं कं वीयं च समयं न फुसइ चि” । दुःपमान्धकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपप्रतिमाः श्रीजिनभद्रगणपूज्या अप्याहुः—“उज्जुसेढीपडिवधो, समये समयंतरं अफुसमाणो । एगसमयेण सिज्झइ, अह सागारोवउत्तो सो” ॥ १॥ कर्म० २ कर्म० । प्रव० ।

अजोगिकेवद्विगुणगण—अयोगिकेवलिगुणस्थान—न० । ६ त० । चतुर्दशे गुणस्थाने, कर्म० १ कर्म० । न योगी अयोगी, अयोगी चासौ केवली च अयोगिकेवली । तस्य गुणस्थानमयोगिकेलिगुणस्थानम्, तस्मिन् वर्तमानः कर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमनिवृत्तिं ध्यानमारोहति । आह च—“स ततो देहत्रयमोक्षार्थमनिवृत्तसर्ववस्तुगतम् । उपयाति समुच्छिन्नक्रियमतमस्कं परं ध्यानम् । ॥ एवमसावयोगिकेवली स्थितिघातादिरहितो यान्युदयवन्ति कर्माणि तानि स्थितिक्वेषणानुभवन् क्षपयति । यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न संभवन्ति तानिवेद्यमानासु प्रकृतिपु स्तिवुकसंक्रमेण संक्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिरूपतया वा वेद्यमानस्तावद् याति यावद्योग्यवस्थाद्विकचरमसमयः, तस्मिन् च चरमसमये देवगतिदेवानुपूर्वांशरीरपञ्चकवन्धनपञ्चकसंघातपञ्चकसंस्थानपट्काङ्गोपाङ्गत्रयसंहननपट्टवर्णादिविशतिपराघातोपघातागुल्लभूच्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिस्थिरास्थिरशुभाशुभस्वरदुःस्वरदुर्गमप्रत्येकानादेयायशः कीर्तिनिर्माणपर्याप्तकनीचैर्गोत्रसातासातान्यतरानुदितवेदनस्वरूपाणि द्विसप्ततिसंख्यानि स्वरूपसत्तामधिकृत्य क्षयमुपगच्छन्ति । चरमसमये स्तिवुकसंक्रमेणोदयवतीषु प्रकृतिषु मध्ये संक्रम्यमाणत्वात् । संक्रमश्च सर्वोऽप्युक्तस्वरूपो मूलप्रकृत्यभिन्नासु परप्रकृतिषु रूपव्ययः । “मूलप्रकृत्यभिन्नाः, संक्रमयति गुणत उत्तराः प्रकृतीः” इति वचनात् । चरमसमये च सातासातान्यतरवेदनीयमनु-

प्यगतमनुप्यानुपूर्वमनुप्यायुःपञ्चेन्द्रियजातिवससुजगदेयय—शःकीर्तिपर्याप्तवादरतीर्थकरोच्चैर्गोत्ररूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदः । अन्ये पुनराहुः—मनुप्यानुपूर्व्या द्विचरमसमये व्यवच्छेदः, उदयाभावात् । उदयवतीनां हि स्तिवुकसंक्रमभावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलिकं दृश्यत एवेति युक्तस्तासां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः । आनुपूर्वीनाम्नां तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकतया जवापान्तराखगतावेवोदयः, तेन भवस्थस्य तदुदयसंभवः, तदसंजवाच्यायोग्यावस्था द्विचरमसमये एव, मनुप्यानुपूर्व्याः सत्ताव्यवच्छेद इति तन्मतेन द्विचरमसमये त्रिसप्ततिप्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदः, चरमसमये द्वादशानामिति । ततोऽनन्तरसमये कोशवन्धमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादेरगुणफलमिव भगवानपि कर्मसंयन्धनिर्मोक्षवृक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावाविशेषादूर्ध्वं लोकार्ते गच्छति । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत् स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढस्तावदेव प्रदेशानुर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्चान्यत्समयान्तरमस्पृशन् गच्छति । वक्तं चाऽऽवश्यकचूर्णौ—“जस्ति ए जीवो अवगाढो तावद्याप ओगाहणाप उहं उज्जुगं गच्छइ, न वं कं वीयं च समयं न फुसइ चि” तत्र च गतः सन् भगवान् शाश्वतं कालमवतिष्ठते । पं० सं० १ द्वा० ।

अजोगिजवत्य—अयोगिजवत्य—पुं० । अयोगी चासौ भवस्थ-आयोगिभवस्थः । शैलेश्यवस्थामुपगते, न० ।

अजोगिजवत्यकेवलणाण—अयोगिजवत्यकेवलज्ञान—न० । ६-त० । शैलेशीकरणव्यवस्थितस्य केवलज्ञाने, न० । (‘केवलज्ञान’ शब्दे व्याख्याऽस्य ऊपर्या)

अजोगिसंतिगा—अयोगिसत्ताका—स्त्री० । अयोगिकेवद्विनि सत्ता यासां ता अयोगिसत्ताकाः । चतुर्दशगुणस्थानानि लब्धसत्ताकासु प्रकृतिषु, पं० सं० १ द्वा० ।

अजोग—अयोग्य—त्रि० । अनुचिते, पञ्चा० १० विव० ।

अजोगिजय—अयोगिजय—न० । विध्वस्तयोनौ प्ररोहासमर्थं, दश० ।

अजोगिय—अयोनिक—पुं० । न० व० । सिक्के, स्था० २३० १ उ० ।

अजोसिय—अजुपृ—त्रि० । असेविते, “जे विस्ववणा अजोसिया” सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अज—अर्ज—धा० प्रत्यये । श्वादि०, पर०, सक०, सेट् “अर्ज-विटवः” ८ । ४ । १०८ । इति प्राकृतसूत्रेण विटवादेशान्नावे, अजइ, अर्जति । आनर्ज । आर्जीत् । प्रा० । अजिज्जइ, अ-र्ज्यते । प्रा० । अर्ज संस्कारे, सुरा०, उज्ज०, सक०, सेट् । अर्जय-ति-ते । आर्जिजत्-त । “अनुपपन्नं पितृव्यं, श्रेमेण यदुपा-र्जयेत्” स्मृतिः । वाच० ।

अज्ञ—त्रि० । न० त० । “ज्ञो जः” ८ । १ । ८३ । इति जलोपे द्वित्वं जस्य । ज्ञानराहिते मूर्खे, प्रा० ।

अज्य—अज्य० । अस्मिन्नहनि इदंशब्दस्य निपातः सप्तम्यर्थे । उत्त० ३ अ० । सूत्र० । वर्तमानदिने, नि० चू० ए० उ० । “अजो! अ-ज्जम्ह सफलं जीअं” प्रा० । अद्यतया वाऽधुनातनतया वर्तमान-काल इत्यर्थः । म० १४ श० ए० उ० । वैजारपर्वतस्याऽधःस्थे हृदे, पुं० म० १ श० ५ उ० ।

अज्ज—न० । अप्सु जायते । जन-रु । ७ त० । पद्मे, सहे, पुं० न० ।

निष्कृष्टं, तस्मै जलमप्यजन्तान् नधान्वन् । चन्द्रे, धन्वन्तरौ च (पुं०) तयोः सन्तुष्टाजन्तान् नधान्वन् । चन्द्रेणान्तो कपूरे, पुं० । जलजान्तान्, पि००) आन० । दद्यादुदसंशयायां, अतको-
दिसंशयायां, सन्तुष्टेये च (न०,) कल्प० ।

अर्च्य-नि० । च-प्रत्ययः । "अर्च्यः स्वार्थिप्रत्ययोः" ३।१।१०३।
नि०, फलितित्वात् स्यान्निति हेतवे च वाच्ये गयतोऽपवादो
यत् । स्यान्निति, भा० ३।१०३।३।

आर्च्य-नि० । आरात् नवदेयधर्मैः यातः प्राप्नो गुणैरित्यार्थः ।
प्रजा० १।५। न०० । आच० । पापकर्मवर्धित्वेनापापे, स्था० ४।
जा० ३।१। न०० । आच० । "अणायरियज्जाणं, आस-
दत्तु मज्जु वा" द्वा० ६।१०० । आच० । आच० १।१०० । अ० २।
३ । आर्च्यकर्मकारिणि अजुगुप्सितकारिणि, व्य० १।३। सुजने,
वृ० १।३। आमन्त्रणे आर्च्यशब्दप्रयोगः । "अज्जो ! सामाहयं जाणा-
ने" हे आर्च्य !, ओकारान्तता सम्बन्धेन प्राकृतत्वात् । भा० १।१०
६३ । "एवमं अज्जो काहे वाग्गुदेव" अज्जो नि आमन्त्रणव-
चनम् । भगवान् महावीरः किञ्च साधूनामन्त्रयति-हे आर्च्य ! ।
भा० १।१० । "अज्जो नि ममणे जगवं महावीरे गोयमाइसम-
णे निग्गंथे आमंतिता एवं वयासी" । स्था० ३।१०३।३ ।
नानादे, नि० । पितामहे, स्था० = अ० । गोत्रप्रव-
र्तके ऋषिभेदे, पुं० । यद्गोत्रे जीतधरः, "वंदे संनिष्ठं अ-
ज्जजीयधरं" शाण्डिल्यस्यापि शिष्य आर्यगोत्रो जीतधरना-
मा स्मृतिरासीत् । न० ।

अज्जमिवास्त्रिय-आर्यपिपातिन-पुं० स्त्री० । आर्यशान्तिधेनि-
कस्य मात्रसगोत्रस्य चतुर्थे यथापत्ये अन्तेवासिनि, कल्प० । आ-
र्यपिपातिनाधिः मृतायां शास्त्रायाम्, स्त्री० । "धरेहि नो अज्जमि-
वास्त्रियदितो इत्थं न अज्जमिवास्त्रिया साहा णिग्गया" । कल्प० ।
अञ्जउत्त-आर्यपुत्र-पुं० । ६ त० । अपापकर्मवतोर्मातापित्रोः
पुत्रे, स्था० = जा० ।

अञ्जओ-देशी-सुरसगुरेदयोस्तृणजेदयोः, दे० ना० १ वगं ।

अज्जकाह-आर्यकृष्ण-पुं० । दिगम्बरमतप्रवर्तकस्य शिवनृतेर्गु-
री, आ० म० द्वि० । उत्त० । विशेष० । आ० चू० । ('वोरिय'
शब्दे किञ्चित् विशेषं वक्ष्यामः)

अज्जकम्म-आर्यकर्मन्-न० । आर्य हेयधर्मज्यो नृशंसतादिज्यो
दूर्यातं कर्म । शिष्टजनोचिते अनुष्ठाने, "जइ तंसि भोए चइत्तं
असतो अज्जाइ कम्माइ करेह रायं" उत्त० १३ अ० ।

अज्जकालग-आर्यकालक-पुं० । स्वातिशिष्ये हारीतगोत्रे श्या-
मार्यापरनामके आचार्ये, न० । ('सम्मवाय' शब्देऽस्य तत्का-
रित्वं कल्प्यम्) आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अज्जखड-आर्यखपुट-पुं० । विद्यासिद्धे आचार्यभेदे, आ०
म० द्वि० । आ० चू० । ('विज्जासिद्ध' शब्देऽस्य वक्तव्यता)

अज्जग-आर्यक-पुं० । पितामहे, व्य० १ उ० । ज्ञा० । आ० म०
प्र० । "अज्जए पज्जए वावि वप्पसुल्ल पिउ त्ति य । मावला भा-
इणिजे त्ति पुत्तो नत्त पइत्ति य" ॥ १ ॥ दश० ७ अ० ।
"अज्जयपज्जयपिउपज्जयागप य वहुहिरण्ये य सुवणे य"
भा० ६ श० ३३ उ० ।

आयक-पुं० भूतृणे, नि० चू० ११ उ० ।

अञ्जगंग-आर्यगङ्गा-पुं० । द्वैक्यनिह्वमतप्रवर्तके निह्वाऽऽचार्य-
भेदे, "उल्लुकातीरकेत्रे महागिरिशिष्यो धनगुप्तो नाम । अस्यापि
शिष्य आर्यगङ्गो नामाऽऽचार्यः । अयं च नद्याः पूर्वतटे, नदा-
ऽऽचार्यास्तवपरतटे । ततोऽन्यदा शरत्समये सूरिवन्दनार्थं
गच्छन् गङ्गानदीमुत्तरति स । स च खल्वाटः । ततस्तस्योप-
रिष्ठादुत्पन्नेन दहते स खली, अधस्तात्तु नद्याः शीतलजलेन
शैत्यमुपपद्यते स्म । ततोऽत्रान्तरे कथमपि मिथ्यात्वमोहनीयोद-
यादसीं चिन्तितवान्-अहो ! सिद्धान्ते युगपत्क्रियाद्वयानुभवः
किल निषिद्धः । अहं त्वेकस्मिन्नेव समये शैत्यमौप्यं च वे-
दि । अतोऽनुभवविरुद्धत्वाच्चेदमागमोक्तं शोभनमाभातीति वि-
चिन्त्य गुरुभ्यो निवेद्यामास । ततस्तैर्वक्ष्यमाणयुक्तिभिः प्रज्ञा-
पितोऽसीं यदा स्वाग्रहप्रस्तबुद्धित्वाच्च किञ्चित्प्रतिपद्यते स्म,
तदा उद्भास्य ग्राह्यः कृतः स विहारः राजगृहनगरमागतः । तत्र
च महापत्नीरप्रभवनाभिः प्रस्रवणे मणिनागनाम्नो नागस्य
चैन्यमस्ति । तत्समीपे च स्थितो गङ्गः पर्य्युरःसरं युगपत्क्रि-
याद्वयवेदनं प्ररूपयति स्म । तच्च श्रुत्वा प्रकुपितो मणिनागस्तम-
वादीत्-अरे दुष्ट शिष्यक ! किमेवं प्रज्ञापयसि, यतोऽत्रैव प्रदे-
शे समयवन्नेन श्रीमद्भूतमानस्वामिना एकस्मिन् समये एकस्या
एव क्रियाया वेदनं प्ररूपितम्, तच्चेह स्थितेन मयाऽपि श्रुतम् । तर्हि
ततोऽपि लघुतरः प्ररूपको नवान् येनैवं युगपत्क्रियाद्वयवेदनं
प्ररूपयति ? तत्परित्यज्जनां कूटप्ररूपणाम्, अन्यथा नाशयिष्या-
मीत्यादि । तत्रतत्रयवाक्यैर्युक्तिवचनैश्च प्रबुद्धोऽसीं मिथ्यादुष्टं
दत्त्वा गुरुमूलं गत्वा प्रतिक्रान्त इति । अत्र ज्ञाप्यम्-"नहमुल्ल-
गमुत्तरओ, सपरसीय जलमज्जगंगस्स । सूरान्नित्तसिरसो, उ-
सिणवेयणोभयउ लगो॥१॥ (अ) यमसग्गाहो जुगवं, उजयकिरि-
याय उवओगो त्ति । जं दो वि समयमेव य, सीओसिणवेयणाओ
मे" ॥ २॥ गतार्थेव । विशेष० । ('दोकिरिय' शब्दे पतन्मतम्)
अज्जयोस-आर्ययोप-पुं० । पार्श्वनाथस्य द्वितीये गणधरे, स्था०
= जा० । कल्प० ।

अञ्जचंदणा-आर्यचन्दना-स्त्री० । भगवतो महावीरस्य प्रथम-
शिष्यायाम्, कल्प० । आ० चू० । आ० म० प्र० । अन्त० ।

तद्वक्तव्यता चैवम्-

"इतश्च नगरी चम्पा नरेन्द्रो दधिवाहनः ।

तामादातुं शतानीको, नौसैन्येन स्म गच्छति ॥ २४ ॥

निर्दोक्या गतश्चम्पा-मधेष्टयदचित्तातम् ।

चम्पापतिः पलायिष्ट, तदानीं दधिवाहनः ॥ २५ ॥

यद्ग्राहो घोपितस्तत्र, शतानीकमहीभुजा ।

तदनीकमटाश्चम्पां, स्वेच्छया मुमुक्षुस्ततः ॥ २६ ॥

औष्ट्रिकः कोऽपि जग्राह, दधिवाहनवह्निनाम् ।

वसुमत्या समं पुञ्या, नश्यन्तीं धारिणीं तदा ॥ २७ ॥

कृतकृत्यः शतानीको, निजं नगरमागमत् ।

औष्ट्रिकोऽप्याह लोकानां, पत्न्येया मे भविष्यति ॥ २८ ॥

विक्रेष्ये कन्यकां चैतां, राज्ञी भुवेति दुःखिता ।

सुता हृदयसंघट्टात्, स्वजीवशंशशङ्कया ॥ २९ ॥

दधिवानौष्ट्रिकोऽथा-न्तर्युक्तं नोक्तमिदं मया ।

सुताऽथ रुदती तेन, नीता संघोष्य चाटुभिः ॥ ३० ॥

चतुष्पथेऽथ विक्रेतुं, दत्त्वा मूर्ध्नि नृणं धृताम् ।

कन्यामनन्यसामान्यां, हृष्टा श्रेष्ठी धनावहः ॥ ३१ ॥

दधौ राज्ञः सुता कस्या-पीश्वरस्याधवा जवेत् ।

तन्माऽऽपदापदमसौ, कापि हीनकुलं गता ॥ ३३ ॥
 वाञ्छेयं स्वजनैर्जातु, मिलेदस्मद्गृहे स्थिता ।
 पत्यर्थितमथ ह्ययं, दत्त्वा तामग्रहीक्षतः ॥ ३३ ॥
 नीत्वा सा स्वगृहं पृष्टा, कथ्ये ! काऽसीति नावदत् ।
 सुतेत्यथ प्रपन्ना सा, श्रेष्ठिना मूलयाऽपि च ॥ ३४ ॥
 चिखेव स्वच्छया श्रेष्ठि-गेहे स्वे वेदमनीव सा ।
 सुवाग्धिनयशीलाद्यै-र्गृहलोको वशीकृतः ॥ ३५ ॥
 स लोकस्तां ततोऽवादीत्, तैर्गुणैश्चन्दनेत्यसौ ।
 ततो द्वितीयमेवैत-न्तामाऽनूद्भिध्वविश्रुतम् ॥ ३६ ॥
 ग्रीष्मेऽन्यदा मध्यमाहे, श्रेष्ठि मन्दिरमागतम् ।
 कोऽप्यङ्घ्रिकावको नासीत्, तदाऽदौकिष्ट चन्दना ॥ ३७ ॥
 श्रेष्ठिना वार्यमाणाऽपि, वत्सादकावयत् पदौ ।
 कावयन्त्यास्तदा तस्याः, वृद्धिता केशवधुरी ॥ ३८ ॥
 पतन्ती पाणियष्टैव, धृत्वा श्रेष्ठि वबन्ध ताम् ।
 सार्द्धायां मा पतेद् भूमौ, मूलैकत गवाक्का ॥ ३९ ॥
 अचिन्तयत्ततो मूला, मया कार्यं विनाशितम् ।
 यद्येतामुद्धरेत् श्रेष्ठि, तदाऽहं पतिता बहिः ॥ ४० ॥
 व्याधिर्यावत्सुकुमार-स्तावदेतं विनश्यदम् ।
 गते श्रेष्ठिन्याऽऽहूय, नापितं ताममुण्डयत् ॥ ४१ ॥
 निगमैर्यन्त्रयित्वाऽङ्घ्री, किंसा कापि गृहान्तरे ।
 श्रेष्ठिनोऽवारि कथयन्, सर्वः परिजनोऽनया ॥ ४२ ॥
 मूला मूलगृहे ऽयासीद्, भोक्तुं श्रेष्ठि गृहाऽगतः ।
 क्व चन्दनेति पप्रच्छ, मूलाभीतो न कोऽप्यवक् ॥ ४३ ॥
 सोऽज्ञासीद्धममाणा सा, भविष्यत्यथवापरि ।
 पृष्टा निरयपि नाऽऽख्याता, ज्ञातं सुप्ता भविष्यति ॥ ४४ ॥
 द्वितीयेऽप्यङ्घ्रि नादर्शि, तृतीयेऽप्यनवेद्य ताम् ।
 ऊचे श्रेष्ठि न यो जानन्नाख्याता स हनिष्यते ॥ ४५ ॥
 ततः स्थविरया दास्यै-कया मज्जीवितेन सा ।
 जीवत्वित्याचचक्षेऽस्य, चन्दनाचारकक्रियाम् ॥ ४६ ॥
 दपदा तावकं भङ्गत्वा, तद्द्वारमुदघाटयत् ।
 धुत्तृपात्ता निरीक्ष्यैता-माश्वास्याथ धनावहः ॥ ४७ ॥
 पश्यन्, भोज्यं कृतं तस्याः, नापश्यत् किंचनापि सः ।
 कुलमाषान् वीक्ष्य दत्त्वाऽऽस्यै, सूर्यकोणे निधाय तान् ॥ ४८ ॥
 निगडानां भञ्जनाया-ऽगात्कर्मागृहे स्वयम् ।
 तदा सा कुलमस्मार्षीद्, दुःखपूरेण दुःखिता ॥ ४९ ॥
 क मे राजकुलं तादृग्, दुर्दशा केयमीदृशी ? ।
 किं मया प्राक् कृतं कर्म, विपाकोऽयं यतोऽभवत् ? ॥ ५० ॥
 स्वौकसि ध्यासनस्यापि, तपसः पारणादिने ।
 साधर्मिकाणां वात्सल्यं, कृत्वा पारणकं व्यधाम् ॥ ५१ ॥
 कस्याप्यदत्त्वा किमपि, पष्टं पारणके कथम् ? ।
 अश्रामीत्यतिथेर्मागं, पश्यन्त्याऽऽस्तेऽस्ति सा न तु ॥ ५२ ॥
 मध्येऽहिमेकं देहल्याः, बहिष्कृत्वा द्वितीयकम् ।
 द्वारशाखाविलग्नाऽऽस्ते, रुदती मन्दमुन्मनाः ॥ ५३ ॥
 तदाऽगाद्गवान् वीरो, भिक्षार्थं तमवेक्ष्य सा ।
 अहो ! पात्रं मया प्राप्तं, किञ्चित्पुण्यं ममास्त्यपि ॥ ५४ ॥
 नोचितं वः प्रभो ! देयं, परं कृत्वा कृपां मयि ।
 कल्पते चेदादोषं, ज्ञात्वाऽथावधिना प्रभुः ॥ ५५ ॥
 पूर्णोऽद्याभिग्रह इति, पाणिपात्रमधारयत् ।
 कुलमापांस्तान् ददौ सर्वान्, धन्यं मत्वाऽतिभक्तितः ॥ ५६ ॥
 सार्द्धद्वादशकोट्यस्तु, पतन्स्वर्णस्य तद्गृहे ।

चेलोत्क्षेपः पुष्पगन्ध-वृष्टयो दुन्दुभिध्वनिः ॥ ५७ ॥
 केशपाशस्तथैवाभू-न्निगडानि च पादयोः ।
 स्वर्णनूपुरतां भेजु-र्वपुःकान्तिर्नवाऽभवत् ॥ ५८ ॥
 तत्क्षणाच्चन्दना चक्रे, सुरैः सर्वाङ्गभूषिता ।
 आययौ देवराद् शक्रः, प्रमोदभरानिर्भरः ॥ ५९ ॥
 दुन्दुभिध्वनिमाकर्ण्य, ज्ञात्वा पारणकं प्रभोः ।
 शतानीकः सपत्नीको-ऽप्यागमद्वनवेश्मनि ॥ ६० ॥
 धात्र्यानीतः संपुलोऽभूद्, दधिवाहनकञ्चुकी ।
 सोऽप्यागात् तत्र तां वीक्ष्य, तदङ्गयोः प्रणिपत्य च ॥ ६१ ॥
 मुक्तकण्ठं रुदन् सोऽथ, कैपेत्यप्रच्छि भूभुजा ? ।
 सोऽवक् चम्पेशपुत्रीयं, वसुमत्यभिधानतः ॥ ६२ ॥
 तादृश्यपि कथं प्रेष्य-भावं प्राप्तेति रोदिमि ? ।
 मृगावती तदाकर्ण्य-वोचन्मेऽसौ स्वसुः सुता ॥ ६३ ॥
 अमात्योऽपि सपत्नीक-स्तत्रैत्यावन्दत प्रभुम् ।
 पञ्चाहन्यूनपरमास्याः, कृत्वा पारणकं प्रभुः ॥ ६४ ॥
 निर्ययौ कनकं गृह्णन्, भूपः शक्रेण वारितः ।
 यस्यै दास्यत्यसौ स्वर्ण-मेतत्तस्य भविष्यति ॥ ६५ ॥
 सा पृष्टा मत्पितुः स्वर्णं, ततः श्रेष्ठि तदाददे ।
 शक्रेणाऽभाणि राजाऽथ, स गोप्या चन्दना त्वया ॥ ६६ ॥
 अस्वामिज्ञानमेवा यत्, शिष्याऽऽद्या भाविनी प्रभोः ।
 चन्दनाऽस्थाकृहे राज्ञः, शक्राद्याः स्वालयं ययुः ॥ ६७ ॥
 लोकनिन्द्याऽनवन्मूला, स्तुता चन्दनया पुनः ।
 दुर्दशैवं न चेन्मे स्यात्, कथं स्यात्पारणा प्रभोः ? ॥ ६८ ॥
 धन्याऽहं कृतपुण्याऽहं, पारणाकारणात् प्रभोः ।
 वभूव दुर्दशाऽपीयं, मम सर्वोत्तमा दशा ॥ ६९ ॥ आ० क० ।
 स्था० । अनयैव काली-(अन्त० ८ वर्ग) देवानन्दाप्रभृतयः प्रवा-
 जिताः । भ० ए श० ३३ उ० । उपालम्भे, दश० १ अ० ।
 अञ्जजंबु-आर्यजम्बु-पुं० । सुधर्मस्वामिनः शिष्ये, “ अञ्जसु-
 हम्मं अंतेवासी अञ्जजंबू जाव पञ्जुवासति ” अन्त० १ वर्ग ।
 अञ्जजक्षिणी-आर्यजक्षिणी-स्त्री० । अरिष्टनेमः प्रथमशि-
 ष्यायाम्, कल्प० ।
 अञ्जजयंत-आर्यजयन्त-पुं० । आर्यवज्रसेनस्य तृतीये शि-
 ष्ये, कल्प० ।
 अञ्जजयंती-आर्यजयन्ती-स्त्री० । स्थविरादार्यरथान्निर्ग-
 तायां शाखायाम्, “ थेरेहिंता णं अञ्जरहेहिंता णं इत्थं णं अ-
 ञ्जजयंती साहा णिमाया ” कल्प० । आर्यजयन्तान्निर्गतायां
 शाखायां च । “ थेराओ अञ्जजयंताओ अञ्जजयंती साहा
 णिमाया ” । कल्प० ।
 अञ्जजीयध (ह) र-आर्यजीतधर-पुं० । आरात्सर्वहेयधर्मैर्यो-
 र्वाग्यातमार्यम्, जीतमिति सूत्रमुच्यते । जीतं, स्थितिः, कल्पः,
 मर्यादा, व्यवस्था, इति हि पर्यायाः । मर्यादाकरणं च सूत्र-
 मुच्यते । ‘ धृञ् धारणे ’ ध्रियते, धारयतीति वा धरः । लिहादि-
 न्य इत्यचूपत्ययः । आर्यजीतस्य धर आर्यजीतधरः । सूत्र-
 सम्पन्ने, आर्यश्चासौ जीतधरः । आर्यगोत्रे शाण्डिल्यशिष्ये
 जीतधरनामके सूरौ, “ वंदे कोसियगुप्तं, सडिल्लं अञ्जजीयधरं ”
 इत्यत्राऽऽर्यजीतधरशब्दस्य प्रदर्शितार्थद्वयपरतया व्याख्या-
 नात् । न० ।
 अञ्जण-अर्जन-न० । अर्ज-ल्युट् । ग्रहणे, विशे० ।

आयः । नन्वाये, नास्मिन्संपादने व्यापारमेव न । वाच० ।
अञ्जनायुक्त-आर्यपुङ्गव-पुं० । आर्यपुङ्गवः शिष्यः, कल्प० ।
अञ्जनादिना-आर्यपुङ्गव-पुं० । आर्यपुङ्गवः शिष्यः आर्यना-
गमिन्पुं० ।

नागानाम् देवताभिः न । तत्र निगद्यन्ति कालमुज्जुतं ।

अञ्जनादिनायाम्, निरन्तरं चैव न मनमां ॥

आर्यपुङ्गवः शिष्यः आर्यपुङ्गवः प्रत्यक्षमनम् नानरित-
मिष्टमन्त्राणां निरन्तरं चैव । कथं नृत्तमित्याह-ज्ञानं श्रुतज्ञा-
नद्वयं । नन्वाये, नन्वायायादि च । तथा तस्मिन् यथायां-
नान्नशनादिना, यिनये ज्ञानविनयादिना, नित्यकालमुक्तमप्र-
मादितम् । नं० । अनेनैवार्थनन्दितेन धरणेन्द्रपत्न्या नागेन्द्राया
'नान्नशनादि' शब्दादि स्मोत्रं कृतम् । जं० १० ।

अञ्जनादल-आर्यनागिद्व-पुं० । आर्यवज्रसेनस्य प्रथमेऽन्ते-
वासिनि, कल्प० ।

अञ्जनादला-आर्यनागिला-स्त्री० । अथविगदाय्यनागिलान्नि-
र्गतायां शान्तायाम्, "थेरात्रो अञ्जनादलाओ अञ्जनादला सा-
दा गिन्गया " कल्प० ।

अञ्जनादली-आर्यनागिद्वी-स्त्री० । आर्यवज्रसेनाभिर्गतायां
शान्तायाम्, "थेरेदितो अञ्जवद्वरेणितो इत्थं णं अञ्ज-
नादली । नादा गिन्गया " कल्प० ।

अञ्जनात्ता-अर्जयिन्वा-अव्य० । उपादायैवार्थं, " एतदुक्तं
भवमञ्जिता, वेदंति दुक्ता तमणं दुक्ता " सूत्र० १ श्रु० ४
ज० २ उ० ।

अञ्जनावस-आर्यतापस-पुं० । आर्यवज्रसेनस्य त्रुष्टेऽन्तेया-
मिनि, कल्प० ।

अञ्जनावसी-आर्यतापसी-स्त्री० । आर्यतापसाभिः श्रुतायां
शान्तायाम्, "थेरात्रो अञ्जतावसाओ अञ्जतावसी नादा गि-
न्गया " कल्प० ।

अञ्जता-अद्यता-स्त्री० । वर्तमानकालतायाम्, " अञ्जका-
लिना अञ्जत्तया वा " कल्प० ।

आर्यता-स्त्री० । पापकर्मवहिर्भूततायाम्, " जे इमे अञ्जनाए
समणा णिग्गंथा विहरंति " अष्ट० २ अष्ट० कल्प० । भ० ।

अञ्जयूत्रभट्ट-आर्ययूत्रभट्ट-पुं० । आर्यसंनृतविजयस्य शि-
ष्ये महागिरिसुहृस्तिनोर्गुरौ, कल्प० । आव० ।

अञ्जदिप्प-आर्यदत्त-पुं० । पार्वनाथस्य प्रथमगणधरे, स० ।
"पासस्स अञ्जदिण्णो पढमो अठेव गणहरा " ति० । इन्द्रद-
त्तस्य काश्यपगोत्रस्य शिष्ये च । तस्य शान्तिश्रेणिकः सिंह-
गिरिश्च । कल्प० ।

अञ्जद्वय-आर्यार्जिक-पुं० । आर्यार्जिकनाम्नि वीरशिष्ये, ('अद्वय'
शब्दे कथा चास्य) सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अञ्जधम्म-आर्यधर्म-पुं० । आर्यमङ्गोः शिष्ये ऋजुपुत्रगुरौ, " वं-
दामि अञ्जधम्मं, तत्तो वंदेय ऋजुत्ते य" । नं० । आर्यसिंहस्य
शिष्ये आर्यशारिफस्य गुरौ, कल्प० ।

अञ्जपत्तम-आर्यपत्त-पुं० । आर्यवज्रस्य शिष्ये द्वितीये, कल्प० ।

अञ्जपत्तमा-आर्यपत्ता-स्त्री० । आर्यपत्ताद् विनिःसृतायां शा-

खायाम्, "थेरेदितो अञ्जपत्तमेदितो इत्थं णं अञ्जपत्तमा साहा
णिग्गया " कल्प० ।

अञ्जपुंगव-आर्यपुङ्गव-पुं० । वारूपरिभाषितेषु बाह्यार्थान्नावात्
केवलपुङ्गवात्मसु अर्थेषु, अने० ४ अधि० ।

अञ्जपूसगिरि-आर्यपुष्पगिरि-पुं० । आर्यरथस्य शिष्ये, कल्प० ।
अञ्जपोमिल-आर्यपोमिल-पुं० । आर्यवज्रसेनस्य द्वितीये शि-
ष्ये, कल्प० ।

अञ्जपोमिला-आर्यपोमिला-स्त्री० । आर्यपोमिलाभिर्गताया
शाखायाम्, "थेरात्रो अञ्जपोमिलाओ अञ्जपोमिला साहा णि-
ग्गया " कल्प० ।

अञ्जप्पभव-आर्यप्रभव-पुं० । आर्यजम्बूनाम्नः काश्यपगोत्र-
स्य शिष्ये, कल्प० । ('प्रभव' शब्दे वक्तव्यता चास्य)

अञ्जप्पनिद-अद्यप्रभृति-अव्य० । इतो वर्तमानदिनादार-
भ्येत्यर्थं, " एो खलु मंते ! कप्पइ, अञ्जप्पनिद अणत्तिययां
वा " उपा० १ अ० । प्रति० ।

अञ्जफगुमित्त-आर्यफल्गुमित्त-पुं० । आर्यपुष्पगिरिः शिष्ये
आर्यधनगिरिर्गुरौ, कल्प० ।

अञ्जम (ए)-अर्यमन्-पुं० । अर्यं श्रेष्ठं मिसीते । मा-कनिन् ।
सूर्यं, आदित्यजेदे, पितृणां राजनि, वाच० । अर्यमनामके देव-
विशेषे, जं० ७ वक्त्र० । अजु० । उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रस्यार्यमा दे-
वतेति । ज्यो० ६ पाद० । अर्यमदेवोपलक्षिते उत्तरफाल्गुनीन-
क्षत्रे, ज्यो० १५ पाद० । चं० प्र० । सू० प्र० । ग० । " दो अञ्ज-
मा " स्था० २ रा० ३ उ० ।

अञ्जमंगु-आर्यमङ्गु-पुं० । आर्यसमुच्चस्य शिष्ये,

भण्णं करणं ऊणणं, पभावरं णाणदंसणुणाणं ।

वंदामि अञ्जमंगुं, सुयसागरपारगं धीरं ॥ ३० ॥

जणगमित्यादि । आर्यसमुच्चस्यापि शिष्यमार्यमङ्गुं वन्दे । किञ्च-
तमित्याह-नण्णं कालिकादिस्त्रार्थमनवरतं भणति प्रतिपाद-
यतीति भणः, भण एव भणकः । "कश्च" इति प्राकृतब्रह्मणसु-
त्रात् स्वार्थे कप्रत्ययः, तम् । तथा कारकं कालिकादिसूत्रोक्तमेवो-
पधिप्रत्युपेक्षणादिरूपक्रियाकक्षापं करोति कारयतीति वा कार-
कः, तम् । तथा धर्मध्यानं ध्यायतीति ध्याता, नं ध्यातारम् ।
इह यद्यपि सामान्यतः कारकमिति वचनेन ध्यातारमिति वि-
शेषणं गनार्थम्, तथापि तस्य विशेषतोऽभिधानं ध्यानस्य प्रधान-
परब्रह्मकाङ्क्षनाख्यापनार्थमिति । यत् एव जणकं कारकं ध्यातारं
वा, अत एव प्रभावकम् । ज्ञानदर्शनगुणानाम्, एकग्रहणे तज्जाती-
यग्रहणमिति न्यायात् चरणगुणानामपि परिग्रहः । तथा धिया
राजते इति धीरः, तम् । तथा श्रुतसागरपारगम् । नं० । "तेन प्र-
मादेनातिलोभतो यत्कृत्वा नावाप्तम् " ध० २० ।

इह अञ्जमंगुसूरी, ससमयपरसमयकणयकसवष्टो ।

यहुमत्तिजुत्तसुस्स-ससिस्ससुत्तयदाणपरो ॥ १ ॥

सद्धम्मदेसणाए, पक्खिओहियन्नवियदोयसंदोहो ।

कइया वि विहारेणं, पत्तो महुराइ नयरीप ॥ २ ॥

सो गाढपमायपिसाय-गहियीइययो विमुक्कतवचरणो ।

गारवतिगपक्खिओ, सहेसु ममत्तसंजुत्तो ॥ ३ ॥

अणवरयमत्तजणइ-जमाणरुइरत्तवत्थदोणेण ।

वृत्थो तहिं चिय चिरं, दूरज्जियउज्जयविहारो ॥ ४ ॥

दढसिदिलयसामन्नो, निस्सामन्नं पमायमच्चत्ता ।
 कालेण मरिय जाओ, जक्खो तत्थेव निद्धमणे ॥ ५ ॥
 मुणिरं नियनारेणं, पुव्वज्जवं तो विचित्तए एवं ।
 हा हा पावेण मए, पमायमयमत्तचित्तेण ॥ ६ ॥
 पम्पिपुत्तपुत्तव्वम्भं, दोगच्चहरं महानिहाणं व ।
 वृद्धं पि जिणमयमिणं, कहं नु विहवत्तमुपणीयं ? ॥ ७ ॥
 माणुस्सखित्तज्जाई-पमुहं वृद्धं पि धम्मसामग्गि ।
 हा हा पमायज्जं, इत्तो कत्तो लहिस्सामि ? ॥ ८ ॥
 हा जीव ! पाव तइया, इहीरसगारवाण विरसत्तं ।
 सुत्तत्थजाणणेण वि, इयासनं हु लक्खियं तइया ॥ ९ ॥
 चउदसपुव्वधरा वि हु, पमायओ जंति पंतकाएसु ।
 एयं पि ह हा हा पा-वं जीवनतए तया सरियं ॥ १० ॥
 धिक्खी मइसुहमत्तं, धिक्खी गारवपमायपडियम्मं ।
 धिक्खी परोवपस-पहाणपम्पिचमच्चत्तं ॥ ११ ॥
 एवं पमायपुव्विल-सियं नियं जायपरमनिव्वेशो ।
 निंदतो दिवसाइं, गमेइ सो गुत्तिखित्तु व्व ॥ १२ ॥
 अह तेण पपसेणं, विचारज्जमीइ गच्छमाणा ते ।
 दह्ण नियविणेण, तेसिं पम्पिवोहणनिमित्तं ॥ १३ ॥
 जक्खपम्पिमाहुआओ, दीहं निस्सारिणं विओ जीहं ।
 तं च पढोइय मुणियो, आसज्जीहोउ इय विंति ॥ १४ ॥
 जो कोइ इत्थ देवो, जक्खो रक्खो व किंनरो वा वि ।
 सो पयनं चिय पज्जणउ, न किंपि एयं वयं मुणिमो ॥ १५ ॥
 तो सविसायं जक्खो, जंपइ भो भो तवस्सिणो ! सोहं ।
 तुम्ह गुरु किरियाए, सुपमत्तो अज्जमंगु त्ति ॥ १६ ॥
 साहू हि वि पडिज्जणियं, विसन्नहियएहि हा सुयनिहाण ! ।
 किह देव ! दुग्गइमिमं, पत्तोसि अहो ! महच्छुरियं ॥ १७ ॥
 जक्खो वि आह न इमं, वुद्धं इह साहुणो महाभागा ! ।
 एस च्चिय होइ गई, पमायवससिदिलचरणणं ॥ १८ ॥
 ओसन्नविहारीणं, इहीरससायगारवगुरुणं ।
 वम्पुक्कसाहुकिरिया—जराण अम्हारिसाण फुनं ॥ १९ ॥
 इय मज्ज कुदेवत्तं, भो भो मुणियो ! विथाणिं सम्मं ।
 जइ सुगईए कज्जं, जइ भीया कुगइगमणाओ ॥ २० ॥
 ता गयसयत्तपमाया, विहारकरणुज्जुया चरणजुत्ता ।
 गारवरहिया अममा, होइ सया तिब्बतवकलिया ॥ २१ ॥
 भो भो देवाणुप्पिय !, सम्मं पम्पिवोहिया तए अम्हे ।
 इय जंपिय ते मुणियो, पम्पिवन्ना संजमुज्जोयं ॥ २२ ॥
 इति सुरिरार्यमङ्गु—मङ्गुव्वफलमवभत प्रमादवशात् ।
 तद्यतयः शुभ्रमतयः !, सदोद्यता प्रवत चरणजरे ॥ २३ ॥
 (इत्यार्यमङ्गुकथा) दर्श० । ती० । आ० चू० । नि० चू० ।

अज्जमणग—आर्यमणक—पुं० । श्रीशय्यम्भवसुरिपुत्ते,

अहि मासेहिं अहिअं, अज्जयणमिणं तु अज्जमणगेणं ।

उम्मासा परियाओ, अह कालगओ समाहीए ॥ ३॥

वृन्निर्मासैरधीतं पठितमध्ययनमिदं तु अधीयत इत्यध्ययनम्,
 इदमेव दशवैकात्रिकाख्यं शास्त्रम् । केनाधीतमित्याह—आर्यमण-
 केन ज्ञावाराधनयोगात्, आराद् यातः सर्वहेयधर्मभ्य इत्यार्यः ।
 आर्यश्चासौ मणकश्चेति विग्रहः । तेन परमासाः पर्याय
 इति, तस्यार्यमणकस्य परमासा एव प्रव्रज्याकालः, अ-
 टपजीवित्वात् । अत एवाह—अथ कालगतः समाधिनेति यथो-
 कशास्त्राध्ययनपर्यायानन्तरं कावगतः । आगमोक्तेन विधिना

मृतः, समाधिना शुभहेय्याध्यानयोगेनेति गाथार्थः । अत्र चैवं
 वृत्तवादः—यथा तेनैतावता श्रुतेनाराधितम्, एवमन्येऽन्येतदा-
 राधनानुष्ठानत आराधका भवन्तिविति ।

आणंदअंसुपायं, कासी सिज्जंजवा तहिं थेरा ।

जसभइस्म य पुच्छा, कहणा अ विआदणासंघे ॥ ४० ॥

आनन्दाश्रुपातमहो ! आराधितमनेनेति हर्षाश्रुमोक्षणमकार्षुः
 कृतवन्तः, शय्यम्भवाः प्राग् व्यावर्णितस्वरूपाः । तत्र तस्मिन् काव-
 गते स्थविराः श्रुतपर्यायवृक्षाः प्रवचनगुरवः । पूजार्थं बहुवच-
 नमिति । यशोजद्रस्य च शय्यम्भवप्रधानशिष्यस्य गुर्वश्रुपातद-
 र्शनेन किमेतदाश्चर्यमिति विस्मितस्य सतः पृच्छा—भगवन् !
 किमेतदकृतपूर्वमित्येवंभूता । कथना च भगवतः—संसारलोह ईह-
 शः स्वतो ममायमित्येवंरूपा । चशब्दादनुतापश्च यशोभेदादीना-
 म्—अहो ! गुराविव गुरुपुत्रके वर्तितव्यमिति, न तत् कृतमिदमस्मा-
 भिरित्युक्तप्रतिबन्धदोषपरिहारार्थं मया न कथितं, नात्र प्रवृत्तां
 दोषो गुरुपरिसंस्थापनं च विचारणासङ्ग इति शय्यम्भवेना-
 द्यायुपमेनमवेत्य मयेदं शास्त्रं निर्व्यूढं किमत्र युक्तमिति निवेदिते
 विचारणासङ्गे कावहासदोषात् प्रभूतसत्त्वानामिदमेवोपकारक-
 मतस्तिष्ठत्वेतदित्येवंचूता स्थापना वेति गाथार्थः ।

अज्जमहागिरि—आर्यमहागिरि—पुं० । आर्यस्यैवमङ्गस्य पेक्षा-
 पत्यसगोत्रे शिष्ये, न० । अयञ्च जिनकल्पिकवडुग्रविहारः रा-
 जपिण्डोपभोजिन आर्यसुहस्तिनः स्वगुरुशिष्यादपि सतः वि-
 संभोगमुत्पाद्य पृथग्गच्छं कृत्वा विजहार । तदाप्रभृत्येव गच्छ-
 पृथक्त्वमासीत् । (‘संभोग’ शब्दे चैतद् वक्ष्यामि)

अज्जरक्ख—आर्यरक्ष—पुं० । आर्यनक्षत्रस्य शिष्ये, ‘थेरस्स णं अ-
 ज्जरक्खत्तस्स कासवगुत्तस्स अज्जरक्खे थेरे अंतेवासी कासव-
 गोत्ते’ अयं रक्षितार्याद् भिक्षोऽभिज्ञो वेत्यत्र कल्पसूत्रसुबोधिका-
 टीकाकृतां विप्रतिपत्तयः—‘थेरे अज्जरक्ख त्ति’ अहो ! वत
 किरणावहीकारस्य बहुश्रुतप्रसिद्धिभाजोऽप्यनाभोगविहसितम्,
 यतो येन श्रीतोसहिपुत्राचार्यशिष्याः श्रीवज्रस्वामिपार्श्वेऽधीत-
 साधिकनवपूर्वा नाम्ना च श्रीश्रीआर्यरक्षितास्ते जिज्ञाः, एते च
 श्रीवज्रस्वामिन्यः शिष्यप्रशिष्यादिगणनया नवमस्थानभाविनो
 नाम्ना चार्यरक्षा इत्येवमनयोराय्यरक्षितार्यरक्षयोः स्फुटं ज्ञेदं
 विस्मृत्याऽऽर्यरक्षस्थाने आर्यरक्षितव्यतिकरं लिखितवान् । कल्प० ।

अज्जरक्खिय—आर्यरक्षित—पुं० । सोमदेवहिजेन रुद्रसोमायां
 आर्यायामुत्पादिते तोसलिपुत्राचार्यशिष्ये वज्रस्वामिसमीपेऽधी-
 तसाधिकनवपूर्वे स्थविरभेदे, “ वंदामि अज्जरक्खिय, खमणे
 रक्खियचरित्तसव्वगे । रयणकरंरुगन्नूओ, अणुगोओ रक्खि-
 ओ जेहिं ” ॥१॥ न० । तदुत्पत्तिस्त्वेवम्—

“ माया य रुद्रसोमा, पिआ य नामेण सोमदेवु त्ति ।

जाया य फग्गुरक्खिय, तोसलिपुत्ता य आर्यरक्षा ॥ २४ ॥

निजमणभइगुत्ते, वीसुं पढणं च तस्स पुव्वगयं ।

पव्वाविओ अ माया, रक्खिअखमणोहि जणओ त्ति” ॥२५॥

“आस्ते पुरं दशपुरं, सारं दशदिशामिव ।

सोमदेवो द्विजस्तत्र, रुद्रसोमा च तत्प्रिया ॥ १ ॥

तस्यार्यरक्षितः सनुरनुजः फल्गुरक्षितः” ।

(दशपुरोत्पत्तिः ‘दसउर’ शब्दे व्युत्पत्त्या) आ० क० ।

उत्पन्नो रक्षितस्तत्र, शास्त्रं यावदभूत्पितुः ।

तत्रैवाधीतवांस्ताव—दथागात् पाटलीपुरम् ॥ ७६॥

चतुर्दशापि तत्रासौ, विद्यास्थानान्यधीतवान् ।
 अथागच्छद्दशपुरं, राजाऽगात्तस्य संमुखम् ॥ ७७ ॥
 उत्तमिमतपनाकऽत्र, प्रगतिं ब्राह्मणैः स्तुतः ।
 अधिरूढः करिस्कन्धे, प्रविशे शोन्सवेन सः ॥ ७८ ॥
 स्वगृहे दाहशालायां, स्थितो लोकार्थमग्रहीत् ।
 पुरोधसः स्तुरिरिति, न वा कैः कैरपूज्यतः ? ॥ ७९ ॥
 सुदर्णरत्नवस्त्राद्यै-स्तद्गृहं प्राभृतेभूतम् ।
 अथान्तर्जनं गत्वा, जननीमज्यवाद्यत् ॥ ८० ॥
 वत्स ! स्वागतमित्युक्त्वा, मध्यस्थेन स्थिता प्रभुः ।
 सोऽवदत् किं न ते मात-स्तुष्टिर्मण्डिचयाऽनवत् ? ॥ ८१ ॥
 सत्त्वानां वधकृद्भस्त्रा-ऽधीतं वह्निं पाप्मने ।
 तुष्यान्त्यहं दृष्टिवादं, पठित्वा चेत्त्वमागमः ॥ ८२ ॥
 स दध्यौ तमधीत्याम्नां, तोषये किं ममापरैः ? ।
 दृष्टिवादस्य नामापि, तावदाह्लादयत्यहम् ॥ ८३ ॥
 अस्य क्वाप्यापका मातः !, साऽऽख्यदिभ्युगृहे निजे ।
 सन्ति तोसहिपुत्राख्याः, आचार्याः श्वेतवाससः ॥ ८४ ॥
 तं प्रगेऽभ्येतुमारप्से, मातर्मैवाधृतिं कृथाः ।
 अथोत्थाय प्रभातेऽपि, नत्वाऽयं प्रस्थितः सुधीः ॥ ८५ ॥
 रक्षितं द्रष्टुमागच्छत्, ग्रामाग्रियसुहृत्पितुः ।
 नवैक्ययष्टिकाः सार्द्धा, विभ्रत्प्राप्तृतेतव ॥ ८६ ॥
 पुरस्तं प्रेक्ष्य सोऽप्राङ्गीत्, कस्त्वं भोः ! रक्षितोऽस्म्यहम् ।
 नमयाञ्जिक्कथं सस्तेह-मूचे त्वां द्रष्टुमागमम् ॥ ८७ ॥
 सोऽवदद्याम्यहं कार्या-स्यास्तत्त्वं मद्गृहे पुनः ।
 रक्षितः प्रैकतादौ मा-मिति मातुर्निवदयेः ॥ ८८ ॥
 तेन तत्कथितं गत्वा, माता दध्याविदं ततः ।
 नवपूर्वाणि सार्द्धानि, मत्पुत्रोऽभ्येप्यते स्फुटम् ॥ ८९ ॥
 सोऽपि दध्यौ नवाऽप्यायान्, शकलं दशमस्य तु ।
 अभ्येप्ये दृष्टिवादस्य, ज्ञायते शकुनादतः ॥ ९० ॥
 ततः सेक्युगृहे यातो, दध्यौ यामि किमज्ञवत् ? ।
 एतद्भक्तेन केनापि, समं गत्वा नमामि तान् ॥ ९१ ॥
 इति यावद् बहिः सोऽस्थात्, तावदागाहुपाश्रयम् ।
 दहुरथावको गाढं, व्यधात्रैपेधिकात्रयम् ॥ ९२ ॥
 ईर्यादिवदं सर्वं, स चकार खरस्वरम् ।
 अनुगस्तस्य तत्सर्वं, मेधावी सोऽपि निर्ममे ॥ ९३ ॥
 श्राफेनावन्दि तेनेति, ज्ञानो नव्यः स सूरिभिः ।
 पृष्टोऽथ भोः ! कुतो धर्मा-ऽऽसिस्ते सोऽग्रवीदिति ॥ ९४ ॥
 साधुभिः कथितं पूज्याः !, रक्षितः आविकासुतः ।
 ह्यः प्रवेशोऽभवद्यस्य, विमर्देन महीयसा ॥ ९५ ॥
 आचार्याः साहुरस्माकं, दीक्षयाऽधीयते हि सः ।
 परिपाठ्या च सोऽवादी-दस्त्वेवं नाहमुत्तुकः ॥ ९६ ॥
 किं त्वत्र स्यान्न मे पूज्याः !, प्रव्रज्या यन्नुपादयः ।
 वलान्मां मोचयेयुस्तां, यामो देशान्तरं ततः ॥ ९७ ॥
 अथाऽऽख्यरक्षितस्तेषां, जनन्या प्रेषितः प्रजो ! ।
 युष्माकं संनिधौ दृष्टि-वादमभ्येतुमागमम् ॥ ९८ ॥
 सोऽदीक्ष्यत तथा कृत्वा, पाठ्याऽसौ शिष्यचौरिका ।
 तेनाथैकादशाङ्गानि, पठितान्यचिरादपि ॥ ९९ ॥
 दृष्टिवादो गुणैः पार्श्वं, योऽचूत्तमपि सोऽपठत् ।
 सोऽथाध्येतुं दशपूर्वां, वज्रस्वाम्यन्तिकेऽचलत् ॥ १०० ॥
 याते तेनान्तरात्रे च, श्रीमेद्वगुत्सुरयः ।
 अवन्त्यां चन्दितास्तैः स, धन्य इत्युपबृंहितः ॥ १०१ ॥
 तैरुक्तं मम निर्यामो, नास्त्यन्यस्त्वं ततो प्रव ।

स तत्प्रतिश्रणोति स्म, नोल्लङ्घ्यं गुरुशासनम् ॥ १०२ ॥
 कालं कुर्वद्भिरुचे तै-र्मा वात्सीर्वज्रसंनिधौ ।
 वसेद्यस्तैः सदैकाम-प्युपां तैः सह तन्मृतिः ॥ १०३ ॥
 पठेर्मिन्नाश्रयस्थस्त-त्थेति स्वीचकार सः ।
 तेषां स्वर्गमेने सोऽगात्, श्रीवज्रस्वामिसंनिधौ ॥ १०४ ॥
 दृष्टश्च तैरपि स्वप्नः, किञ्चित् किन्तुदृतं पयः ।
 सावशेषश्रुतग्राही, तत्प्रतीच्छ समेष्यति ॥ १०५ ॥
 इति यावद्विमृष्टं तैः, रक्षितस्तावदागतः ।
 पुष्टस्तोसहिपुत्राणां, किं शिष्योऽस्म्यर्थरक्षितः ॥ १०६ ॥
 एवमुक्तेऽवदद्वज्रः, स्वागतं तव वत्स ! किम् ? ।
 कस्थितोऽसि बहिः स्वामिन् !, बहिः स्थोऽभ्येप्यसे कथम् ? ॥ १०७ ॥
 स ऊचे भगवन् ! भञ्ज-गुप्ताऽऽदेशाद्बहिः स्थितः ।
 वज्रस्वाम्युपयुज्योचे, गुरुक्तं युक्तमाचर ॥ १०८ ॥
 ततोऽभ्येतुं प्रवृत्तो छाक, नव पूर्वाण्यधीतवान् ।
 प्रारमे दशमं पूर्व-मार्थवज्रस्ततोऽभणत् ॥ १०९ ॥
 यविकानि त्रिशत्युक्त-परिकर्मसमान्यदो ! ।
 पठाऽऽदौ जिनसंख्यानि, कष्टात्तान्यथ सोऽपठत् ॥ ११० ॥
 इतस्तन्मातापितरौ, शोकार्त्ताविति दध्यतुः ।
 उद्योते कर्तुमिष्टे चे-दन्धकारान्तरं ह्यदः ॥ १११ ॥
 यन्नैत्यद्यापि नः पुत्रोऽ-थाहूतोऽप्यागमेत्तु सः ।
 अथानुजं तमाहूतुं, प्राद्विष्टं फल्गुरक्षितम् ॥ ११२ ॥
 सोऽन्यथाहूतारागच्छ, व्रतार्थी ते जनोऽखिद्यः ।
 स ऊचे सत्यमेतच्चे-त्तत्त्वमादौ परिव्रज ॥ ११३ ॥
 लग्नः प्रव्रज्य सोऽभ्येतु-मधीयन् रक्षितोऽग्रतः ।
 यविकैर्धृषितोऽप्राङ्गीत्, शेषमस्य कियत्प्रभो ! ? ॥ ११४ ॥
 स्वान्यूचे सर्पपं मेरो-र्विन्दुमण्ड्येस्त्वमग्रहीः ।
 ततो दध्यौ विपण्णात्मा, दुष्प्रापं पारमस्य मे ॥ ११५ ॥
 अथापृच्छत्प्रभो ! यामि, ज्ञाता मामाह्वयत्यहम् ।
 आहुस्तेऽधीष्व तस्याथ, पौनःपुन्येन पृच्छतः ॥ ११६ ॥
 उपयुज्य गुरुर्जने, पूर्वं स्थास्यत्यदौ मयि ।
 व्यसृजत्तं दशपुरं, सानुजः सोऽथ जग्मिवान् ॥ ११७ ॥
 वज्रस्वामी तु याति स्म, विहरन् दक्षिणापथम् ।
 श्रेष्ठात्पुत्रोऽऽनायितो युरगी-मेकदा श्रवणे न्यधात् ॥ ११८ ॥
 मुखे क्लेश्यामि नृत्स्वेति, भोजनान्ते स्मृता न सा ।
 विकाशे च प्रतिकान्तौ, मुखपातीहताऽपतत् ॥ ११९ ॥
 उपयोगादथ ज्ञात-माः ! प्रमादोऽन्तिके मृतिः ॥
 प्रमादे संयमो नास्ति, गुज्यतेऽनशनं ततः ॥ १२० ॥
 द्वादशाब्दं च दुर्भिक्षं, तदा सन्नवहाः पथाः ।
 विद्यापिण्डं तदानीय, वज्रः साधूनभोजयत् ॥ १२१ ॥
 अथोचे तान् भिक्षाऽस्ति, विद्यापिण्डेन वर्त्तनम् ।
 ऊचुस्ते व्रतहान्या किं, क्रियतेऽनशनं न भोः ! ? ॥ १२२ ॥
 वज्रसेनोऽन्तिपद् ज्ञात्वा, प्राक् प्रैरित्यनुशिष्य तु ।
 यत्र त्वं व्रमसे भिक्षां, वृक्षजात्रात्तदा मुने ! ॥ १२३ ॥
 गतं दुर्भिक्षमित्येत-द्विज्ञाय स्थानमाचरेः ।
 वज्रस्वामी पुनर्भक्तं, विमोक्तुं सपरिच्छदः ॥ १२४ ॥
 लघुः कुल्लक एकस्तु, तिष्ठत्युक्तोऽपि साधुभिः ।
 नास्यादाख्याय भन्याना-न्य व्यामोहं तं गतः ॥ १२५ ॥
 शैलमेकमयारुक्त्वा, कुल्लकोऽप्यनु तत्पदैः ।
 नितम्ये तद्विरेः स्थित्वा, पादपोपगमं व्यधात् ॥ १२६ ॥
 तापेन तु कृणमिव, विह्वीय चां स जग्मिवान् ।

सुरैस्तन्महिमा चक्रे, किमिदं मुनयोऽवदन् ? ॥ १२७ ॥
 आचख्युर्गुरवस्तेषां, कुलः स्वार्थमसाधयत् ।
 ऊचुस्ते डुष्करं तर्हि, नास्माकं स्वार्थसाधनम् ॥ १२८ ॥
 प्रत्यनीकाऽमरी तत्र, श्राविका रूपजाग् मुनीन् ।
 न्यमन्त्रयद्भक्तपानैः, पारणं क्रियतामिति ॥ १२९ ॥
 प्रत्यनीकेति तां ज्ञात्वा, गुरवोऽन्यं गिरिं ययुः ।
 कायोत्सर्गमधिष्ठात्रै, चक्रुः साऽऽगत्य तानवक् ॥ १३० ॥
 पूज्याः सन्तु सुखेनात्र, ततस्तत्र समाधिना ।
 चक्रुः कालं रथेनैत्य, शक्रस्ताननमत् ततः ॥ १३१ ॥
 प्रदक्षिणां रथस्थोऽदा-दृक्कादीनप्यनामयत् ।
 ते तथैवास्थुराद्रिः स, तदुत्थावर्त्त इत्यचूत् ॥ १३२ ॥
 (तस्मिन् जगवन्ते अद्विनारायं दसपुत्रा वृच्छिन्ना । आ० म० द्वि०)
 वज्रसेनस्तु यः प्रैपि, स सोपारं पुरं गतः ।
 धान्यमादाय लक्ष्णेणा-ऽपाङ्गीक्षेत्रेश्वरी तदा ॥ १३३ ॥
 दध्यौ चात्र विपं क्षिप्त्वा, स्मृत्वा पञ्चनमस्कृतम् ।
 कुर्मः समाधिना काव-मिति तत्प्रगुणीकृतम् ॥ १३४ ॥
 स चागात्तद्गृहे साधु-स्तेन तं प्रतिलाज्य सा ।
 स्वमाख्याञ्चितं तस्य, सोऽब्रवीन्मा कथा इदम् ॥ १३५ ॥
 यत्र लक्ष्मिभिर्ज्ञाऽऽसिः, स्यात्तत्राऽऽशु सुनिक्षिता ।
 वज्रस्वामीदमूचे मां, नान्यथा भावि तद्वचः ॥ १३६ ॥
 तण्डुलानां तदैवाप्त-पोतास्तत्र समागमन् ।
 सुनिकं सहसा जातं, कुटुम्बं प्रत्यवोधितत् ॥ १३७ ॥
 चन्द्रनागेन्द्रविद्यानृ-दसुरैः सममीश्वरीम् ।
 अदीक्ष्य वज्रसेन-स्तेन्योऽचूद्वज्रसन्ततिः ॥ १३८ ॥
 इतश्च रक्षिताचार्यैः, गतैर्दंशपुरं तदा ।
 प्रवाज्य स्वजनान् सर्वान्, सौजन्यं प्रकटीकृतम् ॥ १३९ ॥
 स्नेहात् पिताऽपि तैः सार्क-मास्ते गृह्णाति तद् व्रतम् ।
 शूते सुनास्तुपादीनां, पुरो नावसरत्त्रये ॥ १४० ॥
 उक्तः पुत्रेण सोऽवादीत्, प्रवाजिष्याम्यहं परम् ।
 उपानन्दुरिडकाच्छत्र-वस्त्रयुग्मोपवीतनृत् ॥ १४१ ॥
 ददिरे पितुराचार्याः, प्रपद्येदमपि व्रतम् ।
 स च तत्पालयामास, ब्रह्मवेषं तु नामुचत् ॥ १४२ ॥
 अथोचुः शिक्षिता हिम्नाः, सर्वान् वन्दामहे मुनीन् ।
 मुक्त्वा वनिणमेकं तु, तत्पराभवतोऽथ सः ॥ १४३ ॥
 ऊचे पुत्रेण पुत्राऽलं, गुरुरप्याह साम्प्रतम् ।
 तापे दद्याः पटीं मौढ्या-धेवं सर्वाण्यमोच्यत ॥ १४४ ॥
 अन्यदोपगते साधौ, साधवः पूर्वसंज्ञिताः ।
 अहंपूर्विकया बोद्धुं, गुरुमूढमुपस्थिताः ॥ १४५ ॥
 स्थविरोऽप्युचिवान् पुत्र! श्रेयश्चेत्तद्ब्रह्मम्यहम् ।
 गुरुः स्माहोपसर्गः स्यात्, स सहो मेऽन्यथा कितिः ॥ १४६ ॥
 तत्रोत्किंसे स संघानां, गच्छतां पथि डिम्भकैः ।
 कथंशुके दृतेऽप्यस्थात्, तूष्णीं माऽनृद् गुरोः कितिः ॥ १४७ ॥
 साधुभिश्च तदैवास्य, वरुश्चोत्तपटः पुरः ।
 अथाऽऽगतानां गुरवः, शाटकानायनेऽवदन् ॥ १४८ ॥
 द्रष्टव्यं दृष्टमेवेदं, स्याच्चोत्तपट एव तत् ।
 पितुर्जिज्ञासुनार्थं च, गुरुः साधून् रहोऽन्यथात् ॥ १४९ ॥
 भिक्षामानीय भुञ्जीध्वं, मा स दत्त पितुर्मम ।
 जक्तिः कार्या पितुर्ममत्, साक्षादुक्तवा मुनीनिति ॥ १५० ॥
 आपृथगार्यमगाद् ग्राम-भागन्तास्मि पितः ! प्रगे ।
 सर्वेऽप्याहुर्न तस्याहु-विहृत्यैकैकशोऽथ ते ॥ १५१ ॥

दध्यौ रष्टोऽथ संप्राप्ते, सूनावाख्यास्यतेऽखिलम् ।
 आचार्याः प्रातरायाताः, पृष्टतातोऽखिलं जगौ ॥ १५२ ॥
 किं च त्वं नात्रविष्यश्चे-न्नाजीविष्यमहोऽप्यहम् ।
 ततः सर्वेऽपि गुरुभि-र्निरभर्त्स्यन्त साधवः ॥ १५३ ॥
 पात्रमानय तातान्न-मानेप्यामि स्वयं तव ।
 अहमप्येतदानीतं, भोक्ष्ये नैवाऽद्य हे पितः ! ॥ १५४ ॥
 सोऽथ दध्यौ लोकपूज्यो, जिज्ञां यास्यत्यसौ कथम् ? ।
 ततोऽहमेव यास्यामी-त्युक्त्वा भैक्षाय सोऽगमत् ॥ १५५ ॥
 सोऽथैकत्र गृहेऽवित्त-दपद्वारेऽवदद् गृही ।
 साधो ! चारेण किं नैपि, सोऽवदद् मूर्ख ! वेत्ति नो ॥ १५६ ॥
 किं द्वारं किमपद्वारं, प्रविशन्त्या गृहे श्रियः ।
 तं गृही शकुनं मत्वा, ददौ स्थालेन मोदकान् ॥ १५७ ॥
 आगत्यालोचयत्तान् स, तत्संस्थान् वीक्ष्य सूरयः ।
 ऊचुः शिष्या भविष्यति, द्वाविंशान्नजसन्ततौ ॥ १५८ ॥
 कुटुम्बमिति साधूनां, लान्नं स प्रथमं ददौ ।
 आनीयादात्स्वयं पश्चात्, सखण्डाज्यं सपायसम् ॥ १५९ ॥
 स एवं बन्धिस्सम्पन्नो-ऽचूद् बाढाद्युपकारकः ।
 तदा दुर्वलिकापुष्पः, पुष्पौ च घृतवस्त्रयोः ॥ १६० ॥
 गुर्वेया धिग् यया पञ्चि-र्भासैर्यन्नीहितं घृतम् ।
 घृतपुष्पस्य तद्घात, साऽपि तद्विधिरिदृशी ॥ १६१ ॥
 निर्वाण काऽपि कष्टेन, कर्तनात् शाटकं व्यधात् ।
 वस्त्रपुष्पस्य तद्घात, साऽप्यन्येषां किमुच्यते ? ॥ १६२ ॥
 तत्र दुर्वलिकापुष्पो-ऽधिगतां नवपूर्विकाम् ।
 दुर्वलोऽभूत्स्मरन्नित्यं, विस्मारयति चास्मरन् ॥ १६३ ॥
 सौगतैर्भावितास्तस्य, स्वजना गुरुमूचिरे ।
 अस्माकं जिज्ञासो ध्यान-परा न ध्यानमस्ति वः ॥ १६४ ॥
 ध्यानाद् दुर्वलिकापुष्पो, दुर्वलोऽयं गुरुर्जगौ ।
 तान्याहुर्गृहवासेऽचूत्, स्निग्धादारादसौ वली ॥ १६५ ॥
 न स वोऽस्ति गुरुः साह, घृतपुष्पाद्बहुः स नः ।
 प्रत्ययश्चेन्न वो नीत्वा, स्वगृहे पोष्यतामयम् ॥ १६६ ॥
 ततस्तैः पोषितोऽत्यन्तं, पूर्वध्यानात्तथैव सः ।
 अथाध्यानः कृतः पूज्यैः, प्रान्तजोऽप्योऽप्यचूद् वली ॥ १६७ ॥
 ततस्तानि प्रवृत्तानि, श्रावकत्वं प्रपदिरे ।
 तत्र गच्छे च चत्वारो, मुख्यास्तिष्ठन्ति साधवः ॥ १६८ ॥
 आद्यो दुर्वलिकापुष्पो, द्वितीयः फलपुष्पकः ।
 त्रितीयस्तृतीयको गोष्ठा-माहिलश्च चतुर्थकः ॥ १६९ ॥
 विन्ध्यस्तेष्वपि मेधावी, सूत्रग्रहणधारणौ ।
 गुरुनुवाच मरुल्या-माढापाऽऽसिश्चिरान्मम ॥ १७० ॥
 गुरुर्दुर्वलिकापुष्पं, ततोऽस्यालापकं ददौ ।
 दिनानि कतिचिद्वत्त्वा, वाचनां तस्य सोऽन्यथात् ॥ १७१ ॥
 वाचनां ददतोऽप्युच्य, पूर्वं मे नवमं प्रजो ! ।
 विस्मरिष्यत्यतः पूज्या-देशोऽस्तु मम कीदृशः ? ॥ १७२ ॥
 अथैवं दध्युराचार्याः, यद्यमुष्यापि विस्मृतिः ।
 भविष्यति भुवं प्रज्ञा-दीनां हानिरतः परम् ॥ १७३ ॥
 चतुर्ष्वेकैकसूत्रार्था-ख्याने स्यात्कोऽपि न क्षमः ।
 ततोऽनुयोगांश्चतुरः, पार्थक्येन व्यधात् प्रभुः ॥ १७४ ॥

चातुर्विध्यमाह—

“कालिअसुअं च इसिभा-सिआई तद्गो अ सूरपन्नती ।
 सन्नो न दिठिवाओ, चउत्थओ होइ अणुओगो” ॥

कावेकधृतमेकादशाङ्गस्य चरणचरणानुयोगः, अपिनापितानि
वत्तराध्ययनानि धर्मकयानुयोगः, न्यप्रकृत्यादीनि गणितानु-
योगः, दृष्टिवादश्च, तत्वांऽपि द्रव्यानुयोगः, दृष्टिवादादुद्भूत
ऋषिर्भर्मापिनवात् । कल्पादीनामपि तर्हि धर्मव्यानुयोग-
त्वम् । तन्नत्याह-

“जं च महाकल्पसुधं, जाणि अ नेनाणि ज्ञेजमुत्ताणि ।

चरणकरणाणुयोगो-न्ति काणिग्रन्थे उचययाणि ” ॥ १॥

यद्य महाकल्पधृतमेकादशाङ्गस्य . यानि च शेषाणि निशी-
धादीनि ब्रह्मन्त्राणि, चरणकरणानुयोग इति चरणकरणानु-
योगवक्रणे कालिकायै कालिकधृतसत्केऽयं उपगतानि सम्ब-
द्धानीत्यर्थः ।

अथार्यरजितानार्याः, मधुरां नगरीं गताः ।

तत्र यक्रगुहायां च, व्यन्तरायनने स्थिताः ॥ १७५ ॥

ततः शक्रो विदेहान्तः, श्रीसीमन्धरसन्निधौ ।

निगोदजीवानप्राक्की-द्भगवान् व्याचकार तान् ॥ १७६ ॥

अथांच भरतेऽप्येवं, निगोदान् वक्ति कश्चन ? ।

भगवान्निचिवानार्य-रक्ताः सन्ति सूरयः ॥ १७७ ॥

निकागे साधुवृन्दं च, वृक्षब्राह्मणरूपजाक ।

शक्रोऽन्यागन्ध पप्रच्छ, कियदायुः प्रभो ! मम ॥ १७८ ॥

जागितं यवकेष्वायु-ज्याथ प्राप्तेषु तेषुते ।

यावत्तदायुरीक्षन्ते, तावद् द्वे सागरे गते ॥ १७९ ॥

अथोत्पद्य जुवावूचे, शक्रस्त्यं सोऽब्रवीत्ततः ।

हेतुं स्वागमने तेऽथ, निगोदान् स्वामिवज्जगुः ॥ १८० ॥

तनस्तुष्टः प्रणम्योचे, शक्रो यामीति तेऽभ्यधुः ।

तावदागमयस्व त्वं, यावदायान्ति साधवः ॥ १८१ ॥

ये चज्ञा निश्चज्ञास्ते स्यु-र्येन त्वां वीक्ष्य दीक्षिताः ।

स ऊचेऽष्टपाः करिष्यन्ति, निदानं वीक्ष्य माममी ॥ १८२ ॥

तेऽभ्यधुः कुरु तच्छिह्न-मथ यक्रगुहामुखम् ।

शक्रोऽन्यथा विधायाणा-दाजगमुश्च तपोधनाः ॥ १८३ ॥

ते च चारं न वीक्षन्ते, गुरवस्तानथाज्यधुः ।

शक्रो चारं व्यधादित्थ-मित एष ततोऽधुना ॥ १८४ ॥

ऊचुस्ते किं मुहूर्त्तं न, धृतोऽस्माकं निरीक्षितुम् ? ।

शक्रोक्तमथ ते तेषा-माख्यन् दुःखमथ स्थिताः ॥ १८५ ॥

अथान्वदा दशपुरं, यान्ति स्म गुरवः क्रमात् ।

मयुरां नास्तिकस्वागात्, सर्वं नास्तीति स ध्रुवन् ॥ १८६ ॥

सङ्घः सङ्घाटकं प्रैषीद्, गुरुं ज्ञापयितुं ततः ।

तैर्गोष्ठामाहिलः प्रैपि, न्यग्रहीत्तं स यादिनम् ॥ १८७ ॥

आवकैरथ तत्रैव, चतुर्मासीं स कारितः ।

इतश्चायुर्निजं ज्ञात्वा, गुरवो गच्छन्मूचिरे ॥ १८८ ॥

आचार्यः कोऽस्तु वः स्माहुः, खजनाः फलपुरक्षिताः ।

स्याज्जोष्ठामाहिलो वाऽपि, पुष्पस्त्वज्जिमतो गुरोः ॥ १८९ ॥

शब्दयित्वा च निःशेषान्, गुरुं ह्यन्तमूचिवान् ।

निष्पावतैलहव्यानां, क्रियन्तेऽधोमुखाः कुराः ॥ १९० ॥

सर्वे निर्यान्ति निष्पावा-स्तैर्लांशाः सन्ति केचन ।

तिष्ठत्याज्यं पुनः प्राज्य-मेवमेतेष्वहं त्रिषु ॥ १९१ ॥

पुष्पं प्रति श्रुतेनाहं, निष्पावकुटसन्निभः ।

घृतकुम्भः पुनर्गोष्ठा-माहिलं मातुलं प्रति ॥ १९२ ॥

फलपुरक्षितमाश्रित्य, तैलकुम्भसमस्तथा ।

तदाचार्योऽस्तु वः पुष्प-स्तैरपि प्रत्यपद्यत ॥ १९३ ॥

नवाऽऽचार्यं तथा साधून्-नुशिष्यं यथोचितम् ।

विधायानशनं शुद्धं, स्वर्गलोकमगाद् गुरुः ॥ १९४ ॥

तद् गोष्ठामाहिलेनापि, श्रुतं यद् धामगाद् गुरुः ।

निष्पावकुटद्वष्टान्तात्, पुष्पश्च स्वपदे कृतः ॥ १९५ ॥

स गोष्ठामाहिलोऽथैत्य, पृथक् तस्यौ तदाश्रयात् ।

कर्मबन्धविचारेऽभू-न्निहवः सोऽन्यथोक्तितः ॥ १९६ ॥ आ०क० ।

देविद्वंद्विहं, महाणुभावेहि रक्खियजेहि ।

जुगमासज्जविभत्तो, अणुओगो तो कओ चउहा ॥

देवेन्द्रवन्दितैर्महानुभावैरार्यरक्षितैर्दुर्बलिकापुष्पमित्रप्राज्ञमप्य-

तिगुपिलतयाऽनुयोगस्य विस्मृतसुत्रार्थमवबोध्य युगमासाद्य

प्रवचनहिताय विजक्तः पृथग् व्यवस्थापितोऽनुयोगः, ततः

कृतश्चतुर्धा, चतुर्षु स्थानेषु नियुक्तः चरणकरणानुयोगादिरिति ।

आ० म० द्वि० । उ० । आ० चू० । ध० २० । दर्श० । ती० ।

विशे० । स्था० । अञ्जलगच्छस्थापके आचार्ये च । अयं च

(विक्रमसं० ११३६ वर्षे) दन्ताशीनामग्रामे द्रोणश्रेष्ठिनो देदीना-

भ्याजार्थायाः जातः, (विक्रमसं० ११४२ वर्षे) प्रव्रजितः, (वि-

क्रमसं० ११६९ वर्षे) विधिपक्व- (अञ्जल-) गच्छमस्थापयत्,

(विक्रमसं० १२२६ वर्षे) ए१ वर्षजन्मपर्यायो मृत्वा देवलोके

गतः । जै० ३० ।

अञ्जरक्खियमीस-आर्यरक्षितमिश्र-पुं० । अनुयोगचातुर्विध्य-

कारके रक्षिताचार्ये, सूत्र० १ अ० १ उ० ।

अञ्जरह-आर्यरथ-पुं० । आर्यवज्रस्वामिनस्तृतीये शिष्ये, कल्प० ।

अञ्जल-आद्यल-पुं० । मूच्छमेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अञ्जव-आर्जव-न० । ऋजोः रागद्वेषवत्त्वर्जितस्य सामायिक-

वतः कर्म भावो वा आर्जवम् । संवरे, स्था० ५ ग० १ उ० । ऋ-

जुभाव आर्जवम् । आव० । मनोवाक्कायविक्रियाविरहे मायारा-

हित्ये, ध० ८ अधि० प्रव० व्य० पंचा० आचा० कल्प० आव० ।

ज्ञा० । परस्मिन्नकृतिपरेऽपि मायापरित्यागे, दश० १० अ० ।

एतच्च चोरेणाज्यनुज्ञातम् । स्था० ५ टा० १ उ० । एतत्तृतीय-

श्रमणधर्मः । स्था० १ ग० १ उ० । दशमो योगसंग्रहः । स०

३१ म० । आव० । “ चंपाए कोसिअज्जो, अंगरिस्सो रुहए अ

आणत्ती । पंथगज्जो इज्जसा वि अ, अम्भक्खणे अस्सोहो ” ॥ १॥

चम्पायां कौशिकार्योऽभू-दुपाध्यायो महामतिः ।

तस्याद्योऽङ्गश्रुतिः शिष्यो, ग्रन्थिच्छिद्रुद्रकोऽपरः ॥ १ ॥

उपाध्यायेन दार्वर्यं, द्वावपि प्रेपितौ घने ।

दारुभारं गृहीत्वैति, सायमङ्गश्रुतिर्वनात् ॥ २ ॥

रुद्रो रन्त्वा दिवा सायं, स्मृत्वा बहिरध्वावत ।

दक्ष्यां वीक्ष्य तमायान्तं, गुरुर्निःसारयाम्यमुम् ॥ ३ ॥

इतो ज्योतिर्यशा वत्स-पार्श्वो नीत्वाऽञ्जमात्मनः ।

पुत्रस्य पञ्चकस्यार्यं, चलन्ती दारुकाष्ट्रवृत् ॥ ४ ॥

दृष्टा तेनाथ तां हत्वाऽऽ-दाय तद्दारुभारकम् ।

शीघ्रं मार्गान्तरैर्जेत्य, गुरोरेकं करो ध्रुवन् ॥ ५ ॥

आख्यद्वः प्रियशिष्येण, ज्योतिर्यशा व्यनाश्यत ।

आगतः सोऽथ गुरुणा, ययौ निस्सारितोऽटव्रीम् ॥ ६ ॥

तत्र शुद्धा ममोऽध्यानात्, जातजातिस्मृतिर्ब्रतम् ।

सोऽवाप केवलं चाथ, महिमानं व्यधुः सुराः ॥ ७ ॥

देवैः कथितमेतस्या-ऽभ्याख्यानं प्रददेऽमुना ।

रुद्रको हीलितो लोके, दक्ष्यौ सत्यं मया ददे ॥ ८ ॥

अन्याख्यानमिति ध्यायन्, सोऽगात्प्रत्येकबुद्धताम् ।

उपाध्यायः सपत्नीकः, प्रव्रज्य प्राप केवलम् ॥ ९ ॥

चत्वारोऽपि ययुः सिद्धि-मेवं कर्त्तव्यमार्जवम् । आ० क० ।
आ० चू० । आव० ।

अज्जवइर-आर्यवज्ज- (वैर)-पुं० । आरात्सर्वदेयधर्मेभ्यो यातः
प्राप्तः सर्वैरुपादेयगुणैरित्यर्थः, स चासौ वज्जश्च । आ० म० द्वि० ।
धनगिरेः सुनन्दायां नार्यायामुत्पादिते पुत्रे आर्यासहगिरेः शिष्ये ।
के ते आर्यवैरा इति स्तवद्वारेण तदुत्पत्तिमाह—

तुंववणसंनिवेसा-उ निगयं पिउसगासमद्वीणं ।

उम्मासिअं उमु जुअं, माऊ अ समन्निअं वंदे ॥ १ ॥

तुम्बवनसन्निवेशान्निगतं पितृसकाशमालीनं षाण्मासिकं षट्-
सु जीवनिकायेषु युतं प्रयत्नवन्तं मात्रा च समन्वितं वन्दे । एष-
गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु कथातोऽवगन्तव्यः ।

कथा चेयम्—

शक्रस्य लोकपः श्रीद-स्तस्य सामन्तिकः पुनः ।
अमूढज्जविमोजीवः, प्राग्भवे ज्जम्भकामरः ॥ २ ॥
इतश्च पृष्ठचम्पायां, श्रीवीरः समवासरत् ।
सुभूमिभाग उद्याने, शालस्तत्र नृपः पुरि ॥ ३ ॥
युवराजो महाशाल-स्तयोर्यागिर्यशोमती ।
पितरो रमणस्तस्याः, गागलिस्तनयः पुनः ॥ ४ ॥
शालः श्रुत्वा प्रजोधर्मैः, व्रतायानुजमूचिवान् ।
राज्ये त्वं विश सोऽवादीद्, न व्रतेऽप्यस्मि ते नु किम् ? ॥ ५ ॥
समानीयाथ काम्पिण्या, गागलिं स्वस्वसुः सुतम् ।
राज्येऽभिषिष्य तं तौ द्वौ, पाद्वै प्राव्रजतां प्रजोः ॥ ६ ॥
साऽपि तद्भगनी जाता, श्रमणोपासिका ततः ।
तावप्येकादशाङ्गान्य-ध्यर्गापातां महाऋणी ॥ ७ ॥
विहरन्नन्यदा स्वामी, ययौ राजगृहे पुरे ।
ततोऽपि चम्पां नगरीं, प्रति प्रातिष्ठत प्रभुः ॥ ८ ॥
मुनी शालमहाशाहौ, प्रभुं पप्रच्छतुस्तदा ।
आवां यावः पृष्ठचम्पां, कोऽपि स्यात्तत्र धर्मवान् ॥ ९ ॥
ज्ञात्वाऽचवोधं तौ तत्र, प्रैषयन्तौ तामान्वितौ ।
ततः स्वामी ययौ चम्पां, पृष्ठचम्पां च गौतमः ॥ १० ॥
समातापितृकस्तत्र, गागलिर्गौतमान्तिके ।
श्रुत्वा धर्मं सुतं राज्ये, निवेद्य व्रतमग्रहीत् ॥ ११ ॥
यातां मार्गेऽथ चम्पायां, स्वजनव्रतहर्षतः ।
प्राप्तौ शालमहाशाहौ, निधानमिव केवलम् ॥ १२ ॥
समातापितृकस्याथ, गागलेरपि केवलम् ।
अत्रामुत्रार्थदावेतौ, ममेति ध्यायतोऽभवत् ॥ १३ ॥
अथ चम्पां ययौ स्वामी, गौतमस्तत्परिच्छुदः ।
प्रभुं प्रदक्षिणीकृत्य, प्रणिनसुः पुरोऽजवत् ॥ १४ ॥
इत एव प्रभुं नतुं, तानित्याचष्ट गौतमः ।
प्रभुर्गौतममूच मा, केवल्यशातनां कथाः ॥ १५ ॥
गौतमोऽथ प्रभुं नत्वा, क्षमयामास तान् क्षमी ।
गौतमं केवलाऽऽनासि-खिन्नं मत्वाऽदिशत्प्रभुः ॥ १६ ॥
अप्रापदं तपोलब्ध्या-ऽऽरोहेद्यः स्यात्स केवली ।
उद्गच्छात्तयदेव-मुखात् श्रुत्वाऽथ तां गिरम् ॥ १७ ॥
अष्टापदोपकण्ठस्था-स्तापसास्तपसा कृशाः ।
कौण्डिन्यदत्तशैवाला, एकद्विज्यन्तरेऽहनि ॥ १८ ॥
आर्द्धकन्दशुष्ककन्द-शुष्कशैवालभोजनाः ।
आरुक्कन् पदिका एक-द्विज्यन्तरेऽपि तपःक्रमात् ॥ १९ ॥
गौतमोऽपि प्रभुं पृष्ट्वा-ऽष्टापदाहिसुपेरिवान् ।
दृष्ट्वा ते तं मिथः प्राहुः, स्युद्वोऽप्येषोऽधिरोह्यति ॥ २० ॥

तपःकृशा अपि वयं, न शक्नुम इतः परम् ।
गौतमस्तावदकौशु-न्निश्रां कृत्वाऽऽरुहोह तम् ॥ २१ ॥
तद्वृत्तविस्मितास्तेऽथ, दध्युर्यद्येवमेप्यति ।
ततोऽमुष्य वयं शिष्याः, जविष्यामो महाऋषेः ॥ २२ ॥
नत्वाऽर्हतः प्रभुश्चैश्यां, दिश्यशोकतरोस्तले ।
तत्र पृथ्वीशिखापट्टे, तामवात्सीद्विजावरीम् ॥ २३ ॥
आगादप्रापदं नन्तुं, तत्र वैश्रवणस्तदा ।
ज्जम्भकेण समं सख्या, नत्वा सर्वान् जिनालय ॥ २४ ॥
स्वाध्यायध्वनिना ज्ञात्वा-ऽप्येत्य गौतममानमत् ।
कुर्वाणः स्वाम्यपि व्याख्यां, सुधामधुरगीर्व्यधात् ॥ २५ ॥
अन्ताहारपन्ताहारे-त्यादिकं साधुवर्णनम् ।
तच्छ्रुत्वा मुखमाद्योक्य, मिथस्तौ हसितौ सुरौ ॥ २६ ॥
एवं साधुगुणानाह, स्वयमीदृक् पुनः प्रभुः ।
ज्ञात्वाऽऽर्यस्तन्मनः पुण-रीकाध्ययनमूचिवान् ॥ २७ ॥
न दौर्बल्यं बलित्वं वा, सक्त्यै किं तु ज्ञावना ।
श्रीदोऽथ ध्यानविज्ञानात्, प्रीतो नत्वा प्रतीयवान् ॥ २८ ॥
ज्जम्भकस्तु प्रतिबुद्धः, शुक्लं सम्यक्त्वमाददे ।
सर्वं च प्रज्ञया पुण-रीकाध्ययनमग्रहीत् ॥ २९ ॥
गौतमस्तु द्वितीयेऽह्ने-प्रापदाक्षरवातरत् ।
भीतास्ते प्रभुमाहुर्नः, शिष्यं कुरु गुरुर्भव ॥ ३० ॥
स्वाम्यथादाद् व्रतं तेषां, वेशान् शासनदेवताः ।
पारणे वोऽस्तु किं वस्तु, पृष्टास्ते प्रभुमज्यधुः ॥ ३१ ॥
इष्टासिश्चेत्तदस्त्वद्य, पायसं घृतं क्लृण्वयुक् ।
तदैवानीय तत्स्वामी, तानूचे प्रोक्तुमास्यत ॥ ३२ ॥
दध्युस्ते नो भविष्यन्ति, नेयतां तिलकान्यपि ।
परं गुरुवचः कार्यं, न विचार्य नृपोक्तवत् ॥ ३३ ॥
आसीनास्तेऽथ सर्वेऽपि, स्वाम्यङ्गीणमहानसः ।
आतृप्तिं प्रोजयित्वा ता-नश्नाति स्म स्वयं ततः ॥ ३४ ॥
शतानां तेषु पञ्चानां, लुञ्जानानां महाशिनाम् ।
ध्यायतां गौतमीं लब्धिं, जज्ञे केवलमुज्ज्वलम् ॥ ३५ ॥
गच्छतां च प्रभुपान्ते, विलोक्य प्राभवीं श्रियम् ।
पञ्चशत्या द्रव्यहज्जानां, समजायत केवलम् ॥ ३६ ॥
एकान्तरजुजां चासौत्, श्रीवीरजिनदर्शने ।
गौतमस्तैः समं भर्तु-र्ददौ तिलः प्रदक्षिणाः ॥ ३७ ॥
नवीनाः साधवस्तेऽथ, जग्मुः केवलपिर्षदम् ।
गौतमः स्माह तानेवं, नमत त्रिजगत्पतिम् ॥ ३८ ॥
स्वाम्याहाशातनामिन्द्र-भूते ! केवलानां व्यधाः ।
नत्वा प्रभुं ददौ मिथ्या-दुष्कृतं तेषु गौतमः ॥ ३९ ॥
गौतमेऽथाधृतिं सुष्ठु, प्रपन्ने स्वाम्यवोचत ।
अन्ते तुल्या भविष्यामो, मा कार्पीर्गौतमाऽधृतिम् ॥ ४० ॥
तृणाद्विदलचर्मोर्णा-कटवत्कस्यचिन्पुनः ।
कोऽपि क्वापि भवेत्स्नेहो, मेघोर्णाकटवत्तु ते ॥ ४१ ॥
तत्र स्नेहे चिरजवे, प्रावृषीव व्यपेयुषि ।
केवलज्ञानहंसस्ते, हृत्सरस्यां स रंस्यते ॥ ४२ ॥
उद्दिश्य गौतमं लोक-प्रतिबोधकृते तथा ।
आदिशद्भूमपत्रीया-ध्ययनं भगवांस्तदा ॥ ४३ ॥
इतश्चावन्तिदेशोर्वी-हृदि हारतटोपमः ।
सन्निवेशस्तुस्ववन-नामा धामाद्भुतश्रियाम् ॥ ४४ ॥
तत्रेज्यसूधनगिरि-व्रतार्थी पितरौ पुनः ।
तच्छेते वृणुतः कन्यां, यस्य तं संन्यपेधयत् ॥ ४५ ॥

स्वयम्बराऽथ तस्याहव, सुनन्दा धनपालसुः ।
 विवाहिताऽथ सा तेन, तथा रुद्धोऽथ स व्रतात् ॥ ४६ ॥
 अथान्यदा स्वतः स्थानात्, स व्युत्वा जृम्भकामरः ।
 सुनन्दाकुञ्जिकासारि-ऽवातरन्कलहसवत् ॥ ४७ ॥
 तवाधारोऽभवद्भावी-न्युकन्या धनगिरिः प्रियाम् ।
 अर्जुत्सिहगिरिः शिष्यः, शातकान्तमिनादनु ॥ ४८ ॥
 जाने च तनये जन्मो-त्सवे स्फूर्जति काऽप्यवक ।
 पिता चेन् प्राव्रजिष्यन्ना-स्याजविष्यच्चरं तदा ॥ ४९ ॥
 स संज्ञां तद्वचः श्रुत्वा-ऽज्ञासीन्मे व्रत्यचूत्पिता ।
 एवं चिन्त्यतस्तस्य, जाता जातिस्मृतिः शिशोः ॥ ५० ॥
 अहनिंशं ततोऽरोदीत्, माता निर्विद्येन यथा ।
 प्रव्रज्याजिमुत्तं पश्चा-द्वेवं पाप्मानिकाऽगमत् ॥ ५१ ॥
 अन्यदा समवासापात्, तत्र सिंहगिरिर्गुरुः ।
 समितौ धनगिरिश्च, पश्यावः स्वजनानिति ॥ ५२ ॥
 यावद्यातो गुरुं पृष्ट्वा, शकुनस्तावद्विचिन्त ।
 ततस्तौ सूर्योऽथाचन, ज्ञावी लाभोऽथ वां महान् ॥ ५३ ॥
 सच्चित्तं वाप्यचित्तं वा, प्राह्यं तत् तौ ततो गतौ ।
 सुनन्दा ससग्रीवृन्दा, दृष्ट्वा तावित्ययोचत ॥ ५४ ॥
 कान्तेयन्ति दिनान्यर्जः, पाल्यते स्म मया तव ।
 त्वमेनं गोपयेदानीं, रुदतोच्चादितोऽमुना ॥ ५५ ॥
 नेनोचे माऽस्तु ते पश्चा-त्तापः सोऽचेऽत्र निःस्पृहा ।
 हृन्माऽथ साक्षिणोऽप्राहि, सोऽश्चार्कः पावकन्धने ॥ ५६ ॥
 व्रतप्राप्तं च तत्काष्ठं, रोदनाद्विरराम सः ।
 अथायातो मुनेर्दोषा-ऽद्राक्षीतोऽथः करं गुरुः ॥ ५७ ॥
 अतिजारात्तथाऽऽह्वेवं, साधो ! वज्रं किमानयः ? ।
 आकृष्यालोक्य तं वाङ्म, वात्यमासमिव स्मरम् ॥ ५८ ॥
 भाव्येप शासनाधारो, वज्रस्वामी गुरुस्ततः ।
 साध्वीशय्यातरीणां तं, नीविबन्नातुमार्ययत् ॥ ५९ ॥
 प्रहृष्यन्प्रासुकाहार-स्नानमण्डनखेलनैः ।
 तत्रावर्द्धिष्ट वज्रः स, सार्कं गुरुमनोरथैः ॥ ६० ॥
 वहिर्ग्याहार्युराचार्याः, सुनन्दाऽमार्गयत्सुतम् ।
 उचुस्ता पप निक्षेपो, गुरुणां नार्थ्यते परैः ॥ ६१ ॥
 आगमन्गुरुवस्तत्र, वज्रे जाते विवापिके ।
 सुनन्दा याचते सुनुं, गुरुवस्तवर्षयन्ति न ॥ ६२ ॥
 विवादोऽथामवज्ञाज-कुले जातश्च निर्णयः ।
 यद्व्रतः सुतस्तस्याऽऽहूतो याति यदन्तिके ॥ ६३ ॥
 ससंधो गुरुरेकत्र, नन्दाऽन्यत्र सनागरा ।
 अविक्कदमितो भूपं, वज्रस्तु नृपतेः पुरः ॥ ६४ ॥
 राजोचे शब्दयत्वादै, पिता स्त्रीपोकिका जगुः ।
 स्वामिन्नस्वाऽऽह्वयत्वादै, दयास्थानमियं यतः ॥ ६५ ॥
 प्राग् राजोक्ताऽह्वयन्माता, खाद्यखेलनचाटुभिः ।
 वीक्ष्याप्यम्बां परं सोऽस्थात्, नाचालीकिन्त्वचिन्तयत् ॥ ६६ ॥
 पालनस्थोऽप्युपश्रुत्या, योऽधीतैकादशाङ्गकः ।
 सोऽहं मोहं जनन्याः किं, यामि सङ्गं विवहृत्य तत् ? ॥ ६७ ॥
 व्रतस्थे मयि माताऽपि, व्रतमङ्गीकरिष्यति ।
 राज्ञा प्रोक्तः पिताऽवोचत, वचस्तं प्रति तद्यथा ॥ ६८ ॥
 " जज्ञसि कयज्जवसाओ, धम्मज्जयमूसिअं इमं वहरं ।
 गिन्ह लहुं रयहरणं, कम्मरयप्पमज्जणं धीर ! " ॥ ६९ ॥
 तच्छ्रुत्वा तत्क्षणदेत्य, स रजोहृतिमाददे ।
 तदैवादीक्षि गुरुणा, सपौरोऽप्यवुधनृपः ॥ ७० ॥

दध्यावथ सुनन्दाऽपि, भ्राता भर्त्ता सुतश्च मे ।
 प्राव्रज्जिकं ममान्येन, साऽपि प्रव्रजिता ततः ॥ ७१ ॥
 यज्जं तत्रैव संस्थाप्य, साधुभिः पञ्चषैवृतम् ।
 व्यहारुर्गुरवोऽन्यत्र, यज्ञैकत्र यतिस्थितिः ॥ ७२ ॥
 अथाष्टवर्षो वज्रिर्पि-व्यहरद्गुरुभिः समम् ।
 जग्मुश्च गुरवोऽवन्त्यां, वृष्टिश्च प्रावृतत्तदा ॥ ७३ ॥
 तस्य प्राग्भवमिन्नाणि, व्रजन्तो जृम्भकामराः ।
 दृष्ट्वा तं तत्र तैः सार्कं, कृत्वा तस्युः परीक्षितम् ॥ ७४ ॥
 रान्त्वा न्यमन्त्रयद्गजं, विप्रुपो वीक्ष्य संस्थिताः ।
 पुनराह्वन् स्थिते वर्षे, गतस्तत्रोपयुक्तवान् ॥ ७५ ॥
 रुन्त्यतः पक्कूष्माणम्, क्षेत्रतस्तूक्ष्मन्यसौ ।
 कावतः प्रथमं वर्षा, भावतो दायकाः पुनः ॥ ७६ ॥
 अभूस्पृशो निर्निमेषा, देवा इत्याददे न तत् ।
 तेऽथ तुष्टा निवेद्य स्वं, विद्यां वैकुर्विकीं ददुः ॥ ७७ ॥
 चूयोऽवन्त्यां पुरि ज्येष्ठे, वज्रे बाह्यष्टवं गतं ।
 प्राव्रद्विधाय सार्कं ते, घृतपूर्णैर्न्यमन्त्रयन् ॥ ७८ ॥
 द्रव्यादिकोपयोगेन, ज्ञात्वा नात्सेषु तेष्वपि ।
 तस्याकाशगमां विद्यां, दत्त्वाऽगुः स्वं निरूप्यते ॥ ७९ ॥
 निर्धुक्तिकारोऽप्येतदेवाह-

" जो गुज्जगेहिं वाढो, निमंतिओ भोअणेण वासंते ।
 नेच्छइ विणीअविण्णो, तं वयररिसिं नमंसांमि " ॥ १ ॥
 गुह्यकैर्देवैः वासंते वर्षति नेच्छति विनीतविनयोऽभ्यस्तविनयः ।

तथा—

" उज्जेणीए जो जं-भगेहिं आणक्खिक्खणं पुअमहिअं ।
 अपक्खीणमहानसिअं, सीहगिरिपसंसिअं वंदे " ॥ १ ॥
 आणक्खिक्खणं परीक्ष्य, स्तुतो वचनैः, महितो-विद्यादानेन ।
 तच्छिष्यान् पठतः श्रुत्यै-कादशाङ्गी स्थिराऽभवत् ।
 श्रुतं पूर्वगमप्यात्तं, यत्किञ्चित्पठता श्रुतम् ॥ २ ॥
 पठेत्युक्तोऽपठन् नित्यं, तमेवालापकं मुहुः ।
 अपरान्पठतः श्रुयन्, गृह्णानश्च ततः श्रुतम् ॥ ३ ॥
 जिज्ञार्थमन्यदा साधु-व्राते याते हि मध्यमे ।
 वहिर्ज्मौ गुरौ प्राप्ते, तस्थौ वज्रः प्रतिश्रये ॥ ४ ॥
 अथान्यस्य स मण्डल्या, मध्ये त्रियतिवेष्टिकाः ।
 मध्ये स्थितः स्वयमदात्, क्रमेणाङ्गादिवाचनाम् ॥ ५ ॥
 आयाताः सूर्यो दस्यु-मुनयो द्राक् किमाययुः ? ।
 स्वरमाकर्ण्य गम्भीरं, ज्ञातं वज्रविजृम्भितम् ॥ ६ ॥
 अपस्त्य कृणं स्थित्वा, व्यधुर्नैपधिकीं ध्वनिम् ।
 यथास्थानेऽपि मुक्त्वा ताः, प्रामाद्वीत्सं गुरोः पदै ॥ ७ ॥
 ज्ञातं त्वमुं श्रुतधरं, माऽवजानन्तु साधवः ।
 इत्याचार्यो विहारार्थं, चक्षिताः पञ्चपान् दिनात् ॥ ८ ॥
 योगिनः स्माहुरस्माकं, भार्वा को वाचनागुरुः ? ।
 गुरवो वज्रमादिक्कं-स्ते तथेति प्रपेदिरे ॥ ९ ॥
 साधवोऽपि गुरुं वज्र-मासायित्वाऽऽसने प्रगे ।
 योगाऽनुष्ठानमाधाय, वाचनार्थमुपाविशन् ॥ १० ॥
 वाचनां स तथाऽऽदत्त, मन्दा अप्रत्यपठन् यथा ।
 अधीतमपि तैः स्पष्टी-कर्तुं पृष्टं स शिष्टवान् ॥ ११ ॥
 अथ ते साधवो दस्यु-गुरुणां बह्वी दिनाः ।
 चेष्टगन्ति तदाऽस्माकं, श्रुतस्कन्धः समाप्यते ॥ १२ ॥
 गुरोरधीयतेऽह्वय, तत्परिक्रम्याऽपि वज्रतः ।
 इत्येवं सर्वसाधूनां, वज्रो बहुमतोऽभवत् ॥ १३ ॥

ज्ञापितास्ते वज्रगुणा-नित्याचार्याः समाययुः ।
 आप्राप्नुयतिनो जज्ञे, स्वाध्यायो वस्त ऊचिरे ॥ ९२ ॥
 जज्ञे किं त्वेप एवास्तु, स्वामिन् ! नो वाचनागुरुः ।
 गुरुत्वेऽमुनोपात्तं, कर्णाघातात् श्रुतं ततः ॥ ९३ ॥
 युज्यते वाचनां दातुं, नास्य स्वयमतद्ग्रहे ।
 ज्ञातुं वो वज्रमाहात्म्यं, वाचनाऽदाप्यपीयती ॥ ९४ ॥
 यत्स्वस्याऽऽसीद् गुरुः सर्वं, श्रुतं वज्रस्य तद्द्वौ ।
 विहरन्नन्यदऽऽयासीत्, पुरं दशपुराह्वयम् ॥ ९५ ॥
 वृक्षावासे सन्त्यवन्त्यां, श्रीभरुगुप्तसूरयः ।
 तेभ्योऽन्यश्रुतमादातुं, वज्रः प्रैपि द्विसाधुयुक् ॥ ९६ ॥
 तदा च भद्रगुप्तार्याः, स्वप्नेऽपश्यद् यथा मम ।
 पतद्ग्रहं क्षीरभृतं, पीत्वाऽऽगन्तुः समाश्वसीत् ॥ ९७ ॥
 साधूनां प्रातराचक्षु-स्तेऽन्योन्यफलमूचिरे ।
 गुरुत्वे प्रतीच्छोमे, ह्यस्यत्येत्याखिलं श्रुतम् ॥ ९८ ॥
 वज्रोऽप्यस्याहर्हिर्नक्त-मदर्यायात् एव हि ।
 ज्ञात्वोद्देशाद्गुरुर्वज्रं, माहात्म्ये तव गूढवान् ॥ ९९ ॥
 तेषां पाद्वेऽथ वज्रपि-र्दशपूर्वमधीतवान् ।
 यज्ञोद्देशस्तत्रानुज्ञे-त्यागादशपुरेऽनु सः ॥ १०० ॥
 तत्रानुयोगानुज्ञायां, वयस्यैस्तस्य जन्मकैः ।
 इन्द्राद्यैर्गौतमादीना-मिव चक्रे महान्महः ॥ १०१ ॥
 अमुमेवार्थं ग्रन्थकृदाह—
 “ जस्त अणुज्ञाप वा-यगस्तणे दसपुरमि नयरमि ।
 देवेहि कया महिमा, पयाणुसारिं नमंसाभि ” ॥ १ ॥
 यस्याऽनुज्ञाते वाचकत्वे आचार्यत्वे, शेषं स्पष्टम् ।
 अथान्यदा सिंहगिरि-र्दत्वा वज्रमुनेर्गणम् ।
 विधायानशनं धीमान्, ययौ स्वर्गं समाधिना ॥ १०२ ॥
 वज्रस्वाम्यथ संयुक्तः, साधूनां पञ्चभिः शतैः ।
 सर्वतः प्रसरत्कीर्ति-र्न्यहरद्भोधयन् जनम् ॥ १०३ ॥
 इतश्च पाटलीपुत्रे, श्रेष्ठः श्रेष्ठी धनी धनः ।
 तत्पुत्री रुक्मिणी नाम्नी, रूपापास्तपुलोमजा ॥ १०४ ॥
 साध्यस्तथानशास्त्रा-श्च कुर्वज्रगुणस्तुतिम् ।
 वज्रमेव प्रतीयन्ती, श्रुत्वा तं रुक्मिणी स्थिता ॥ १०५ ॥
 आगच्छतोऽप्यनेकान् सा, वरकान् प्रत्ययेधयत् ।
 साक्ष्योऽन्यधुर्न हे जज्ञे !, व्रती परिणयत्यसौ ॥ १०६ ॥
 साऽवदत् मां न वज्रपिः, परिणयति चेत्ततः ।
 प्रव्रजिष्याम्यहमपि, स्त्रियो हि पतिवर्त्मगाः ॥ १०७ ॥
 विहरन् पाटलीपुत्रे, वज्रोऽप्यन्येद्युगगमत् ।
 निर्ययौ संमुखस्तस्य, नगरेशः सनागरः ॥ १०८ ॥
 दृष्ट्वाऽऽयातो वृन्दवृन्दै-र्दिव्यरूपात् बहुमुनीन् ।
 राजोत्ते सैव वज्रस्ते-ऽन्यधुस्तस्यैकशिष्यकः ॥ १०९ ॥
 मा भूत्पौरजनकोमः, इति वज्रगुरुस्तदा ।
 कृत्वा वपुःपरावृत्ति-मागच्छन्नस्ति शस्तधीः ॥ ११० ॥
 पश्चिमस्यार्धके दृष्टो, वज्रः स्वल्पपरिच्छदः ।
 सानन्दं वन्दितो राजा, तत उद्यानवेशमनि ॥ १११ ॥
 धर्ममाख्यत्प्रभुः क्षीरा-श्रवणविधिर्जोदितम् ।
 तेनाक्षिप्तमनाः क्षमाश्रुत, नाऽविदत् कुचृपं तथा ॥ ११२ ॥
 अन्तःपुरे तदाचक्षौ, वन्दितुं तं तदप्यगात् ।
 श्रुत्वा श्रेष्ठिसुता लोकात्, रुक्मिणी जनकं ययौ ॥ ११३ ॥
 आयातोऽस्त्यत्र वज्रः सः, तात ! तस्मै प्रदेहि माम् ।
 सोऽथ शृङ्गारयित्वा तां, नित्ये सार्कं स्वकोटिभिः ॥ ११४ ॥

भगवान् धर्ममाचक्षौ, लोकः सर्वोऽपि रञ्जितः ।
 दध्यौ चास्य यथाऽनेके, गुणा रूपं न तादृशम् ॥ ११५ ॥
 ज्ञात्वा तदाशयं स्वामी, सहस्रदलमम्बुजम् ।
 कृत्वाऽन्येद्युः स्वरूपस्थः, केवलीवोपविष्टवान् ॥ ११६ ॥
 तं वीक्ष्योवाच लोकोऽस्य, सहजं रूपमीदृशम् ।
 प्रार्थ्योऽङ्गनानां मा जूय-मित्यास्ते मध्यरूपज्ञाक् ॥ ११७ ॥
 नृपोऽपि विस्मितः स्माह, शक्तिरेपाऽपि वाऽस्ति किम् ? ।
 लब्धोरनेकाः साधूनां, तदाख्यन्पतेर्गुरुः ॥ ११८ ॥
 श्रेष्ठिना मन्त्रिपुत्र्याद्यै-स्तानुपास्थज्जगौ च सः ।
 मरुका चेद्व्यतिन्यस्तु, जगृहे साऽपि तद्व्रतम् ॥ ११९ ॥
 अमुमेवार्थमाह—
 “ जो कज्ञाह धणेण य, निमंतिओ जुव्वणमि गिहवइणा ।
 नयरमि कुसुमनामे, तं वयररिंसि नमंसाभि ” ॥ १२० ॥
 पदानुसारिणा तेन, स्वामिना प्रस्मृता सती ।
 महापरिज्ञाध्ययना-द्विद्योद्भे नमोगमा ॥ १२१ ॥
 “ जेणुस्सरिआ विज्ञा, आगासगमा महापरिज्ञाओ ।
 वंदामि अज्जवद्भरं, अपाच्छिमो जो सुअहराणं ॥ १२२ ॥
 जणइ अ आहिमिज्ञा, जंबुद्वीवं इमाइ विज्जाप ।
 गंतूण माणुसनगं, विज्जाप एस मे विसओ ॥ १२३ ॥
 जणइ अ धारेअव्वा, न हु दायव्वा मए इमा विज्जा ।
 अप्पहिआ य मणुआ, होहिंति अओ परं अने ” ॥ १२४ ॥
 वज्रोऽथाऽगात् पूर्वदेशा-द्विहरन्नुत्तरापथम् ।
 अज्जवच्च तत्र दुर्गिहं, पन्थानोऽपथिकाः स्थिताः ॥ १२५ ॥
 ततः सङ्घ उपगत्याऽ-वादीभिस्तारयेति तम् ।
 पटेऽथ विद्यया सङ्घ-मारोप्य प्रस्थितः प्रभुः ॥ १२६ ॥
 शय्यातरस्तु चार्यथे, गतोऽन्यायाद्विद्वोक्त्य तान् ।
 शिखां त्रित्वाऽवदद्भजं, प्रभो ! साधर्मिकोऽस्मि वः ॥ १२७ ॥
 अथेदं स्मरता सूत्रं, सोऽप्यध्यारोपितः पटे ।
 (“ साहम्मिअवच्छल्लमि उज्जुया य सज्जाप ।
 चरणकरणमि अ तथा, तित्थस्स पभाघणाए य ” ॥ १ ॥)
 पश्चादुत्पतितः स्वामी, प्राप्तो नाम्ना पुरीं पुरीम् ॥ १२८ ॥
 सुनिक्कं वर्त्तते तत्र, श्रावकास्तत्र भूरयः ।
 तत्र ताथागतः आहो, राजा तेऽहं यवस्ततः ॥ १२९ ॥
 आर्हतानां च तेषां च, चैत्येषु स्पर्धया पुनः ।
 कुर्वतां स्नात्रपूजादि, जैनैरन्यस्तत्पराभवः । ॥ १३० ॥
 न्यवार्यन्ताथ तैः पुष्पा-एयर्हतां राजवर्चसा ।
 आह्वाः पर्युपणायां च, पुष्पाभावं गुरुं जगुः ॥ १३१ ॥
 प्रभो ! जैत्रेषु युष्मासु, शासनं वोऽभिचूयते ।
 अथोत्पत्य ययौ वज्रः, कृष्णान्माहेइवरीं पुरीम् ॥ १३२ ॥
 हुताशनवने तत्र, पुष्पकुम्भः प्रजायते ।
 भगवत्पितृमित्रं च, तद्धितस्तस्य चिन्तकः ॥ १३३ ॥
 प्रभुं दृष्ट्वाऽवदत्तोपा-त्किं वोऽत्रागमकारणम् ? ।
 स्वाम्युचे पुष्पसम्प्राप्तिः, स साहानुग्रहो मम ॥ १३४ ॥
 स्वाम्युचे सुमनसोऽभि-मेलयेर्यावदेम्यहम् ? ।
 जुळे हिमवति स्वामी, ययौ श्रीसन्निधौ ततः ॥ १३५ ॥
 देवार्चार्थोपात्तपद्मा, पद्मा पद्मद्विदात्तदा ।
 प्रैद्य प्रभुं प्रमोदेन, प्रणुन्ना प्राणमत्प्रधीः ॥ १३६ ॥
 ऊचेऽथादिश्यतां स्वामी, सोऽवदत्पद्ममर्पय ।
 साऽर्पयत्तं गृहीत्वा स, हुताशनगृहेऽगमत् ॥ १३७ ॥
 विमानं तत्र निर्माय, पुष्पकुम्भं निधाय च ।

जुम्मकैः कृतसंगीतः, पद्ममूले स्थितः ॥ १३४ ॥
 व्योम्ना पुर्या उपर्यागा-द्विरे मंगनाम्नतः ।
 अहो ! अस्मत्प्रातिहास्यं, देवा अप्यायुर्दिवः ॥ १३५ ॥
 तद्विहगमथो ह्युच्य, गतान्ते चैत्यमर्हतः ।
 तन्माहात्म्यं नृपः प्रह्व, नृपारोऽप्याहोनाऽभवन् ॥ १३६ ॥

उक्तमेवाश्रमाह—

“माहेसरीउ मेसा. पुरिअं नीआ हुआनपणिहाओ ।
 गयणतलमइवइत्ता. वडरेण महागुनावेण” ॥ १ ॥
 माहेइवयो नगर्याः सकाशात् सन्ध्यामिकात् नन्धराण्यादेरस्वामि-
 कान् प्रस्ताचान्पुष्पसंपदिति ज्ञेयम् । वडरेण महानुभावेन हुताशन-
 स्यन्तरगृहभूताऽऽरामात् गगनतलमनिव्यतीत्य अतिशयेन उल्ल-
 हस्य पुरिकां पुरीनाम्नीं नगरां नीता, एवं विहरन् वज्रस्वामी श्रीमा-
 नपुरं गतः । इत्यन्तं कालं याचदनुयोगस्यापृथक्त्वमासीत्, ततः
 पृथक्त्वमहदित्याह—

“अपुहसे अनुओगो, चत्तारि दुवारभासए एगो ।
 पुहत्ताणुओगकरणे, ते अथ तओ अवुच्चिता ” ॥ १ ॥
 आ०क० । आ० म० । आ०चू० । विशेष० । पंचा० । ओघ० । ध० र० ।
 कल्प० । तं० । (अस्य वज्रस्वामिनोऽनशनं कृत्वा देवलोकगमनं
 ‘अजराकेनय’ शब्देऽत्रैवनां २१२ पृष्ठे उक्तम्) अस्य वज्रस्वामिनो
 जन्म (वि० सं० २६) (सर्वायुः ८८) (वि० सं० ६१४ वर्षे) स्वर्गं गतः
 जै० इ० । अत्रकाव्यानि—“मोहादिधनुस्तुकीचक्रे, येन बाह्वेन ली-
 लया । स्त्रीनदीन्सहपूरस्तं वज्रपिंश्यावयेत्कथम् ?” ॥ ११ ॥ आ०क० ।
 “वंदांमि अजधम्मं, तत्तो वंदे य महुत्तं च । तत्तो य अजव-
 डरे, तन्नियमगुणेहि वयरसमं ” । नं० । “समजनि वज्रस्या-
 मी, जुम्मकदेवापितस्फुरद्विद्यः । बाह्येऽपि जातजाति-स्मृतिः
 प्रलुब्धमदगपूर्वा ” ॥ ११ ॥ ग० ४ अधि० । अस्याचार्यस्य शिष्य-
 सन्पटु—“धरस्त णं अज्जवरस्तस गोयमसगोत्तंहितो इत्य
 धरे अज्जवरसंणे उक्कोसियगोत्ते ” । “धरे अज्जपवमे धरे अज्ज-
 रहे ” । कल्प० । (तीर्थोन्नातिक्रमत् एतन्मरणे स्थानाङ्गन्युच्चेदः)
 “तेरसवरिससयहिं, पण्णासासमहिपहि वोच्छेदो ।
 अज्जवरस्त मरणे, गणस्त जिणेहिं निहिट्टो ” ॥ ११ ॥ ति० ।

अज्जवरसेण—आर्यवज्रसेन—पुं० । आर्यवज्रस्य शिष्ये, कल्प० ।
 अज्जवरी—आर्यवज्री—स्त्री० । आर्यवज्राग्निःसृतायां शाखाया-
 म्, “ धरेहितां णं अज्जवरहेहितो णं गोयमसगोत्तंहितो इत्य
 णं अज्जवरी साहा णिगया ” । कल्प० ।

अज्जवट्ठाण—आर्जवस्थान—न० । आर्जवं सम्वरस्तस्य स्थाना-
 नि भेदा आर्जवस्थानानि । साध्वार्जवादिषु सम्वरभेदेषु,

पंच अज्जवट्ठाणा पण्णात्ता । तं जहा-साहुअज्जवं साहुमदवं
 साहुलायवं साहुखंती साहुमोत्ती ।

साधु सम्यग्दर्शनपूर्वकत्वेन शोभनमार्जवं मायानिग्रहस्ततः
 कर्मधारयः, साधोर्वा यतेरार्जवं साध्वार्जवम् । एवं शेषाण्यपि ।
 स्था० ५ वा० १ उ० ।

अज्जवप्पहाण—आर्जवप्रधान—त्रि० । मायोदयनिग्रहप्रधाने, औ० ।
 अज्जवभाव—आर्जवभाव—पुं० । अशठतायाम्, “ मायं चज्ज-
 वभावेण ” द० ८ अ० ।

अज्जवया—अर्जवता—स्त्री० । मायावर्जनात्मके श्रमणभेदे, पा० ।

अस्याः फलम्—

अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? अकिंचणए णं

काउज्जुययं जामुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ । अवि-
 संवायणसंपण्णाए जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ४२

लोभाविनाजाविनी च मायेति तदभावेऽवश्यं भावार्जवमतस्त-
 दाह—(अज्जवयाए त्ति) सृशवाद्भृजुरवकस्तद्भावे आर्जवम्, तेन
 मायापरिहाररूपेण कायेन, भृजुरेव भृजुकः कायभृजुकस्तद्भा-
 वस्तच्चा, कुञ्जादिवेपभ्रूविकाराद्यकरणतः प्राञ्जलिता, ताम तथा
 ज्ञावोऽभिप्रायस्तस्मिन्स्तेन वा भृजुकता भावभृजुकता, यदन्य-
 दविचिन्तयन् लोके भक्त्यादिनिमित्तमन्यद्वाचा कायेन वा स-
 माचरति तत्परिहाररूपा, एवं भाषायामृजुकता भाषभृजुकता, य-
 दुपहासादिहेतोरन्यदेशभाषया भाषणं तत्परित्यागात्मिका,
 तथाऽविसंवादनं पराविप्रतारणं जनयति, तथा विधिश्चा-
 विसंवादनसम्पन्नतयोपलक्षणत्वात् कायभृजुकतादिसम्पन्नतया
 च जीवो धर्मस्याराधको भवति, विशुद्धाध्यवसायत्वेनान्यज-
 न्मन्यपि तदवाप्तेः । उक्त० २९ अ० ।

अज्जविय—आर्जव—न० । मायावकतापरित्यागात् (आचा०)

अमायित्वे, सूत्र० २ शु० १ अ० ।

अज्जवेरुय—आर्यवेष्टक—न० । श्रीगुप्ताकारोत्तसगोत्राग्निःसृतस्य
 चारणगणस्य पष्ठे कुत्रे, कल्प० ।

अज्जसमिय—आर्यसमित—पुं० । आर्यवज्रस्वामिमातुः सुनन्दाया
 ज्ञातरि आर्यसिंहगिरिशिष्ये, कल्प० । आ० म० द्वि० । आ०
 चू० । येन योगप्रभावादचक्षुरासन्नब्रह्मद्वीपे पादद्वेपेन जलो-
 परि गच्छन्तं तापसं जित्वा तं सानुगं प्रवाज्य ब्रह्मद्वी-
 पिका शास्त्रा निर्गमिता । कल्प० । (‘ वंभदीविया ’ शब्दे
 वक्ष्यामि)

अज्जसमुद—आर्यसमुद—पुं० । उदधिनामनि आचार्यभेदे, ज-
 ह्वाबलपरिक्षीणानामुदधिनाम्नामार्यसमुद्राणामपराक्रमं म-
 रणमभूदिति वृद्धप्रसाद्धिः । आचा० १ शु० ८ अ० १ उ० ।

अज्जसाम—आर्यश्याम—पुं० । आरात् सर्वहेयधर्मेभ्यो यातः
 प्रातो गुणैरित्यार्यः, स चासौ श्यामश्च आर्यश्यामः ।
 प्रज्ञापनाकृतिकालकाचार्य्यनामके आचार्य्ये, प्रज्ञापनासूत्रक-
 रणप्रयोजनादि तदुपक्रम एवोक्तम्—“ वायगवरवंसाओ, ते-
 वीस इमेण धीरपुरिसेण । दुद्धररयेण मुणिणा, पुव्वसुयसमि-
 द्धवुद्धीणं ” ॥ ३३ ॥ “ सुयसागरा वि एऊ—ए जेण सुयसयणमु-
 क्षमं दिणं । सीसगणस्स भगवओ, तस्स एमो अज्जसा-
 मस्स ” ॥ ४२ ॥ (‘ पणवणा ’ शब्दे चैतद् व्याख्यास्यते)

अज्जसुहत्थि (ए)—आर्यसुहस्तिन—पुं० । आर्यस्थूलम-
 छस्य शिष्ये स्थविरे, आच० ४ अ० । यैरार्यसुहस्तिभिर्दीक्षितो
 द्रमको मृत्वा सम्प्रति नामा राजाऽभूत् । कल्प० । (‘ संपइ ’
 शब्देऽस्य कथानकम्)

अज्जसुहम्म (ए)—आर्यसुधर्मन्—पुं० । श्रमणस्य भगवतो
 महावीरस्य पञ्चमे गणधरे, तत्स्वरूपं चेदम्—कुल्लागसन्निवेशे
 धम्मिल्लविप्रस्य भार्या महिला, तयोः सुतश्चतुर्दशविद्यापात्र-
 म् । पञ्चाशद्वर्षान्ते प्रव्रजितः । त्रिंशद्वर्षाणि वीरसेवा कृता वीर-
 निर्वाणाद् द्वादशवर्षान्ते जन्मतो द्विनवतिवर्षान्ते च केवलम् ।
 ततोऽष्टौ वर्षाणि केवलित्वं परिपाल्य शतवर्षायुषं जम्बूस्वा-
 मिनं स्वपदे संस्थाप्य शिवं गतः । अन्त० १ वर्गः । अणु० । सं० ।
 अज्जसेणिय—आर्यसैनिक—पुं० । आर्यशान्तिसैनिकस्य द्वि-
 तीये शिष्ये, कल्प० ।

अञ्जसेणिया-आर्यसैनिकी-स्त्री०।आर्यसैनिकाभिर्गतायां शाखायाम्, " थेरेहितो एं अञ्जसेणिएहितो इत्थ एं अञ्जसेणिया साहा णिग्गया " कल्प० ।

अञ्जा-आद्या-स्त्री० । आदौ भवा, दिगादित्वात् यत् । वाच० ' गवि ' इति केचित् । अस्थिकायाम्, दे० ना० १ वर्ग० ।

आर्या-स्त्री०। ऋ-एयत् । प्रशान्तरूपायां वुर्गायाम्, झा० ५ अ०, ग० । सप्तचतुष्कलगणादिव्यवस्थानियधे मात्रावन्दासि, जं० २ वक्क० । आर्यैष संस्कृतेतरभाषासु गाथासंज्ञा । ग० १ अधि० । आर्यारचनं हि एकविंशतिरूपायां कलायां गण्यते (तच्च ' कला ' शब्दे तृ० ज्ञा० पृष्ठ ३७७ द्रष्टव्यम्) झा० १ अ० । साध्याम्, ग० ३ अधि० । आर्यासामाचार्याः सूचनिकामात्रमत्र दर्शयते विस्तरस्तु यथास्थानम् (' पक्कागि ' शब्दे एकाकित्वनिषेधो वक्ष्यते)

आर्याया गृहिसमकं दुष्टभाषणे दोषमाह—

जत्थ जयारमयारं, समणी जंपइ गिहत्थपक्खवं ।

पक्खवं संसारे, अञ्जा पक्खिवइ अप्पाणं ॥११०॥

यत्र गच्छे (जयारमयारमिति) अवाच्यदुष्टगालिरूपं जकार-मकारसहितं वचनं या श्रमणी गृहस्थप्रत्यक्षं गृहिसमकं जल्पति । हे गौतम ! तत्र गच्छे सा आर्या आत्मानं संसारे प्रत्यक्षं साक्षात् प्रक्षिपतीति ॥ ११० ॥ (' गारत्थियवयण ' शब्दे दोषं प्रायश्चित्तं च वक्ष्यामः)

अथार्याया विचित्रवस्त्रपरिधाने दोषमाह—

गणि ! गोअम ! जा उचिअं, सेअवत्थं विवज्जिअं ।

सेवए चित्तरूपाणि, न सा अञ्जा विआहिआ ॥१११॥
हे गणिन् गौतम ! याऽऽर्या उचितं श्वेतवस्त्रं विवर्ज्य चित्ररूपाणि विविधवर्णानि विविधानि चित्राणि वा वस्त्राणि सेवते, उपलक्षणात्पात्रदण्डाद्यपि चित्ररूपं सेवते, सा आर्या न कथितेति । विपमाक्षरेति गाथावन्दः ॥ १११ ॥

अथार्याया गृहस्थादीनां सीवनादिकरणे दोषमाह—

सीवणं तुअणं जरणं, गिहत्थाणं तु जा करे ।

तिल्लमुव्वट्ठणं चावि, अप्पणो य परस्स य ॥११२॥

या आर्या गृहस्थानां तु शब्दादन्यतीर्थिकादीनां च वस्त्रकम्बल-चीनांशुकादिसंबन्धि सीवनं, तुअणं, [जरणमिति] शरणं करोति, तथा या आत्मनश्च स्वस्य परस्य च गृहस्थमिमादेः (तिल्लं-ति) तैलाज्यङ्गम् (उव्वट्ठणंति) सुरभिचूर्णादिनोद्वर्तनं च अपीति-शब्दान्नयनाञ्जनमुखप्रक्षालनमण्डनादिकं च करोति, न सा आर्या व्याहतेति पूर्वगाथात् आकर्षणीयम् । तस्याः पार्श्वस्थादित्वसमासादनात् । ग० ३ अधि० (अत्र सुजज्ञा काली चेत्युदाहरणे ' बहुपुत्तिआ ' काली ' शब्दयोः गच्छप्रत्यनीकाऽऽर्या)

अथ गाथान्नयेण गच्छप्रत्यनीकाऽऽर्याः दर्शयति-

गच्छइ सविलासगई, सयणीयं तूलिअं सविव्वोअं ।

उव्वट्टेइ सरिं, सिणाणमईणि जा कुणइ ॥ ११४ ॥

गेहेसु गिहत्थाणं, गंतूण कहां कहेइ काही आ ।

तरुणाइ अहिर्वन्ते, अणुजाणे साइ पणिणीया ॥११५॥

याऽऽर्या सविव्वोकं यथा स्यात्तथा सविद्यासा गतिर्यस्याः सा सविद्यासगतिर्गच्छति, तथा शयनीयं पत्यङ्गादि वा तूलिकां च संस्कृतरुतादिभूतामर्कतूलादिभूतां वा, तथा या शरीरमुद्धर्तयति, तथा या स्नानादीनि च करोति । अथवा सविलास-

गतिर्गच्छति तथा शयनीयं तूलिकां च (सविव्वोअं ति) उच्छी-र्षकसहितां सेवते । शेषं तथैव । तथा गृहस्थानां गृहेषु गत्वा उपलक्षणत्वात् उपाश्रयेऽपि स्थिता संयमयोगान् मुक्त्वा या काथिका कथिकवक्त्रोपेता आर्या कथा धर्मविषयाः संसार-व्यापारविषया वा कथयति, तथा या तरुणादीन् पुरुषान् अजि-पतत अजिमुखमाच्छतोऽनुजानाति सुन्दरमागमनं जवतां पुनरागमनं विधेयम्, कार्यं ज्ञाप्यमित्यादिप्रकारेण ' ई जे इराः पादपूरणे ' ८२।२१७। इति प्राकृतसूत्रोक्तेरकारः पादपूरणार्थः । गच्छस्य प्रत्यनीका शत्रुतुल्या स्यात्, भगवदाज्ञाविराधकत्वादिति ॥ १५ ॥

बुद्धाणं तरुणाणं, रत्ति अञ्जा कहेइ जा धम्मं ।

सा गणिणी गुणसायर ! पडिणीया होइ गच्छस्स २१६
बुद्धानां स्थविराणां, तरुणानां यूनां, पुरुषाणां (रत्ति ति) " सप्तम्या द्वितीया " ८३।१३७। इति प्राकृतसूत्रेण सप्तमीस्थाने द्वितीयाविधानात् । रात्रौ या आर्या गणिनी (धम्मं ति) धर्मकथां कथयति, उपलक्षणाद् दिवसेऽपि या केवल-पुरुषाणां धर्मकथां कथयति, हे गुणसागर ! हेच्छभूते ! सा गणिनी गच्छस्य प्रत्यनीका भवति । अत्र च गणिनीग्रहणेन शेषसाध्वीनामपि तथाविधाने प्रत्यनीकत्वमवसेयमिति ॥ २१६ ॥

अथ यथा श्रमणीभिर्गच्छस्य प्रधानत्वं-

स्यात् तथा दर्शयति-

जत्थ य समणीणमसं-खमाइ गच्छम्मि नेव जायंति ।

तं गच्छं गच्छवरं, गिहत्थभासाज्ज नो जत्थ ॥ ११७ ॥

यत्र च गणे श्रमणीनां परस्परम् (असंखमानि) कदा नैव जायन्ते नैवोत्पद्यन्ते, तथा यत्र गणे गृहस्थानां ज्ञापाः ' मामा आई वाप जाई ' इत्यादिका अथवा गृहस्थैः सह सावद्यज्ञापा गृहस्थज्ञापास्तां नोच्यन्ते, स गच्छः गच्छवरः सकलगच्छप्रधानः स्यादिति ॥ ११७ ॥

अथ स्वच्छन्दाः श्रमणयो यत् प्रकुर्वन्ति

तज्जाथापञ्चकेन प्रकटयति—

जो जत्तो वा जाओ, नाऽऽलोअइ दिवसपक्खिअं वा वि ।

सच्छन्दा समणीओ, मयहरिआए न ठायंति ॥ ११८ ॥

यो थावान् वा अतिचार इति शेषः । जातः उत्पन्नः, तं तथा दैवसिकं पाक्षिकं वा अपिशब्दाच्चातुर्मासिकं सांवत्सरिकं वाऽतीचारं नाऽऽलोचयन्ति । अत्र वचनव्यत्ययः प्राकृतत्वात् । स्वेच्छाचारिण्यः श्रमण्यः, तथा महत्तरिकायां साध्या आज्ञायामिति शेषः । न तिष्ठन्ति इति ॥ ११८ ॥

विटलियाणि पउंजति, गिह्वाणसेहीण मेव तपंति ।

अणगाढे आगाढं, करंति आगाढि अणगाढं ॥ ११९ ॥

विण्टलिकानि निमित्तादीनि विण्टलं निमित्तादीत्योद्यनिर्युक्तिवृत्त्यादौ व्याख्यानात् । तानि प्रयुज्जते। अत्रापि वचनव्यत्ययः प्राकृतत्वादेव । तथा ग्लानाश्च रोगिण्यः शैक्ष्यश्च नवदीकिता इति द्वन्द्वः । अतस्ता नैव तर्पयन्ति-औषधमेपजवस्त्रपात्रज्ञानदानादिना नैव प्रीणयन्तीत्यर्थः । अत्र सूत्रे " कचिद् द्वितीयादेः " ८३।१३४। इति प्राकृतसूत्रेण द्वितीयास्थाने पठ्यते । यथा— " सीमाधरस्स वंदे-त्ति " तथा आगाढमवश्यकर्त्तव्यं ग्लानप्रतिजागरणादिकं, न आगाढं अनागाढं तस्मिन् अनागाढे, कार्यं इति शेषः । आगाढ-मवश्यकर्त्तव्यमिति कृत्वा कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा आगाढेऽवश्यकर्त्तव्ये कार्येऽनागाढं कार्यं, येन कृतेन विनाऽपि सरति तत्कार्यं कुर्वन्ती

त्यर्थः । अथवा अनागाद्योगानुष्ठाने वर्तमाने आगाद्योगानुष्ठानं कुर्वन्ति, तथा आगाद्योगानुष्ठानेऽनागाद्योगानुष्ठानं कुर्वन्ति, स्वच्छन्दाः श्रमण्य इति कर्तृपदं पूर्वगाथात् आकर्षणीयम् । एवमग्रेतनगाथात्रिकेऽपीति ॥ ११९ ॥

अजयाए पकुर्वन्ति, पाहुणगाण अचञ्चला ।

चित्तलयाणि असेवन्ति, चित्ता रयहरणे तहा ॥ १२० ॥

अयतनया ईर्याद्यगोधनेन प्रकुर्वन्ति गमनादिकमिति शेषः । तथा प्राचूर्णकानां आम्रान्तराद्यागतसार्धानामवन्सला निदो-
पिगुञ्जान्नपानादिना भक्तिं न कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा चित्रहानि, सूत्रे च कप्रत्ययः स्वार्थिकः, प्राकृतलक्षणवशात् । चकारः समुच्चये । चित्राणि वस्त्राणि इति शेषः । सेवन्ते परिदधति, तथा चित्राणि पञ्चवर्णगुल्फादिरचनोपेतानि रजोहरणानि सेवन्ते धारयन्ति । स्वच्छन्दाः श्रमण्य इति, विपमाक्वरेति गाथाच्छन्दः ॥ १२० ॥

गडविम्भमाइण्हिं अगार-विगार तह पयासंति ।

जह वुड्ढगाण मोढो, समुद्धरं किं तु तरुणाणं ॥ १२१ ॥

स्वच्छन्दाः श्रमण्यो गतिविभ्रमादि (अगारविगार) अत्र वि-
भक्तिलोपः प्राकृतत्वात् । तत आकारं मुखनयनस्तनाद्याकृतिं, विकारं च मुखनयनादिविकृतिं, यद्वा-आकारस्य स्वाभाविकाकृ-
तेर्विकारो विकृतिस्तं तथा प्रकाशयन्ति प्रकटयन्ति यथा वृ-
क्षानाम्, अपेक्षम्यमानत्वात् स्थविराणामपि, मोहः कामानुरागः, समुदीर्यते समुत्पद्यते, किं पुनस्तत्त्वानाम्, तेषां सुतरां समुत्प-
द्यत एवेत्यर्थः । तुः पुनरर्थः ॥ १२१ ॥

बहुसो उच्छादंती, मुहनयणे हत्थपायकक्वाओ ।

गिण्हेइ रागमंरुल, सोईदिअ तह य कव्वडे ॥ १२२ ॥

मुहनयनानि हस्तपादकक्षाश्च बहुसो वारं वारं उच्छालयन्ति
स्वच्छन्दाः श्रमण्यः, तथा रागमण्जलं वसन्तादिरागसमूहं अ-
ग्रेतनं 'तह य चि' पदस्य 'गिण्हेइ' इति पदेन सह संबन्धात् (तह य
गिण्हेइ चि) तथैव गृह्णन्ति तथैव कुर्वन्तीत्यर्थः । यथा (कव-
डे चि) कल्पस्थाः समयपरिभाषया बाह्यकास्तेषामपि श्रोत्रे-
न्द्रियं भ्रवणन्द्रियम्, 'गिण्हेइ' इति क्रियाया अत्रापि संबन्धा-
द् गृह्णन्ति हरन्तीत्यर्थः । अथवा कारणे कार्यापचारात् रागो
रागोत्पत्तिहेतुर्वस्तु, यथा-मुखे शृङ्गारगीतादि, नयनेऽञ्जनादि, म-
स्तके सीमन्तादि, वलाटे तिब्रकादि, कण्ठे कुसुममालादि, अथरे
ताम्बूलरागादि, शरीरे चन्दनलोपादि, तस्य मण्जलं समूहं
तथा गृह्णन्ति यथा बाह्यानामपि श्रोत्रेन्द्रियमुपलक्षणत्वादित्यदि-
न्द्रियचतुष्टयं मनश्च गृह्णन्ति हरन्ति । अत्रोत्तरार्धे पात्रान्तरम् ।
यथा-"गैरहणं रामणं मंडणं, भोयंति व ताव कव्वडे" । अस्वार्थः-
गृहस्थवाहकानां प्रहणं कुर्वन्ति, रामणं मञ्जुश्रीमनं, मण्जलं वा
प्रसाधनम्, यदि वा ताः कल्पस्थान् गृहस्थवाहकान् ज्ञोजयन्ति ।
अत्रापि गाथायां विभक्तिलोपविभक्तिव्यत्ययवचनव्यत्ययाः
प्राकृतत्वादेवेति ॥ १२२ ॥

अथ साध्वीनां शयनविधिं दर्शयन्नाह-

जत्य य थेरी तरुणी, थेरी तरुणी य अंतरे सुर्यइ ।

गोअम ! तं गच्छवरं, वरनाणचरित्तआहारं ॥ १२३ ॥

यत्र च गणे स्थविरा, ततस्तरुणी, पुनः स्थविरा, ततस्तरुणीत्ये-
वमन्तरिताः साध्यः स्वप्नतीति भावार्थः । तरुणीनां निरन्तरश-
यने हि परस्परजङ्घाकरस्तनादिस्पर्शनेन पूर्वक्रीमितस्मरणादि-
दोषः स्यादतः स्थविरान्तरिता एव ताः शेरते । हे गौतम ! वर-
ज्ञानचारित्र्याधारं तं गच्छवरं जानीहीति ॥ १२३ ॥

अथ या आर्या न भवन्ति ता गाथात्रयेण दर्शयति-

धोअंति कंठिआओ, पोअंती तह य दिति पोत्ताणि ।

गिहिकज्जचित्तगाओ, न हु अञ्जा गोअमा ! ताओ ॥ १२४ ॥

कण्ठिका गलप्रदेशान् धावन्ति नीरेण चालयन्ति, तथा
(पोअंति चि) मुक्ताफलविद्रुमादीनि प्रोतयन्ति, गृहस्थानामि-
ति गम्यते । तथा च (पोत्ताणि चि) बालकाद्यर्थं वस्त्राणि दद-
ति, चकारादीषद् धजटिकादिकमपि ददति । अथवा 'पोत्ता-
णि चि' जलाद्रीकृतवस्त्राणि ददति, मलस्फोटनाय शरीरे धर्ष-
यन्तीत्यर्थः । तथा गृहिकार्यचित्तिका अगारकृत्यकारणतत्प-
राः, हे इन्द्रभूते ! ता आर्या 'न हु' नैव भवन्तीति गाथार्थः ॥ १२४ ॥

खरघोमाइडाणे, वयंति ते ना वि तत्थ वचंति ।

वेसत्थीसंसणी, उवस्सयाओ समीवम्मि ॥ १२५ ॥

खरा गर्दभाः, घोटाकास्तुरङ्गमाः, आदिशब्दाद् हस्यादयः,
तेषां स्थाने या व्रजन्ति । उक्तं च व्यवहारभाष्यसप्तमोद्देशके-
"तह चैव हत्थिसाला, घोडगसालान चैव आसन्ना । जंति तह
जंतसाला, कोहीयत्तं च कुव्वन्ति" । १ । अथवा [खर चि] खरका
दासाः, घोटा भट्टाः, अयं चानयोः शब्दयोरर्थः, आदिशब्दात्
शूतकारादयः, तेषां स्थाने व्रजन्ति, ते वा गर्दभाश्चादयो दासभ-
ट्टादयो वा, तत्राऽऽर्थिकोपाश्रये व्रजन्ति समायान्तीत्यर्थः । श्री-
व्यवहारभाष्यसप्तमोद्देशके त्विदं प्रथमपदस्य पाठान्तरम्- 'थ-
लिघोडाइडाणे चि' तत्र स्थाल्या देवद्रोण्यः, तत्र घोटा निङ्गराः,
अत्रादिशब्दस्तेषामेव देवडिङ्गराणामनेकभेदस्थापनार्थः, तेषां
स्थाने व्रजन्ति । तथा स्थलीघोटादेवडिङ्गरापरपर्यायास्तत्रा-
र्थिकोपाश्रये व्रजन्ति । तथा वेश्यास्त्रीसंसर्गा पुमान् सदैव
यासां समीपे वसति, यदि वा वेश्यागृहसमीपे यासामुपा-
श्रयः, ता आर्थिका न भवन्तीति शेषः ॥ १२५ ॥

सज्झायमुक्कजोगा, धम्मकहाविकहपेसण गिहीणं ।

गिहिनिसिज्जं वाहिं-ति संयवं तह करंतीओ ॥ १२६ ॥

स्वाध्यायेन मुक्तो योगो व्यापारो यासां ताः स्वाध्यायमुक्तयो-
गाः । 'लुक्कायजोग चि' पाठे तु षट्कायेषु मुक्तो योगो यतनाल-
क्षणो व्यापारो यामिस्ताः षट्कायमुक्तयोगास्तथाभूताः सत्यो
गृहिणा धर्मकथानामाख्याने, विकथानां च स्त्रीकथादीनां क-
रणे, प्रेषणे प्रेरणे च नानारूपे गृहिणामुक्ताः, तथा या गृहिनि-
षद्यां बाधन्ते गृहे निषद्यामुपविशन्तीत्यर्थः । तथा याः संस्तवं
परिचर्यं गृहस्थैः सह कुर्वन्त्यो वर्तन्ते, ताः साध्यो न भव-
न्तीति ॥ १२६ ॥ ग० ३ अधि० ।

अथ गाथात्रयेण वचनगुप्तिमाश्रित्य साध्याचारं दर्शयति-

जत्युत्तरपडिउत्तर, वुडिआ अञ्जा उ साहुणा सच्चि ।

पलवंति सुरुद्धा वा, गोयम ! किं तेण गच्छेण ? ॥ १२७ ॥

यत्र गणे आर्या साधुना सार्धमुत्तरं प्रत्युत्तरं वा (वुडिअ
चि) वृक्षा अपि ताः, अप्यर्थस्यात्र योजनात्, तथा सुरुद्धा
अपि भृशं सरोपा अपि प्रवृत्तयन्ति प्रकर्षेण वदन्ति । हे गौतम ! तेन
गच्छेन किम् ?, न किमपीत्यर्थः ॥ १२७ ॥

जत्य य गच्छे गोयम !, उप्पसे कारणम्मि अञ्जाओ ।

गणिणीपिठ्ठिआओ, जासंती मउअसदेण ॥ १२८ ॥

हे गौतम ! यत्र च गच्छे ज्ञानादिकारणे उत्पन्ने (अञ्जाओ
चि) आर्याः साध्यो गणिनीपृष्ठस्थिता मृदुकशब्देन भाषन्ते
स गच्छः स्यादिति शेषः ॥ १२८ ॥

माऊए छहियाए, सुहाए अहव जइणिमार्डणं ।

जत्थ न अज्जा अक्खइ, गुत्तिविभेयं तयं गच्छं ॥१३१॥

यत्र गच्छे आर्या मातुः दुहितुः स्नुषाया अथवा भगिन्यादीनां संवन्धि (गुत्तिविभेयं ति) गुप्तेर्वचनगुप्तेर्ज्ञेदो भङ्गो यस्मात्तद् गुप्तिविभेदम्, नात्रकोदघाटकमित्यर्थः । वचनमिति शेषः । नाख्याति । इदमुक्तं भवति-हे मातः ! हे स्नुषे ! हे भगिनि ! इत्यदिनात्रकोदघाटकवचनेन मात्रादीनां प्रपयति । यदुक्तं श्रीदशवै-कादिके सप्तमाध्ययने-“ अज्जिए पज्जिए वा वि, अम्मो माउ-सियं त्ति अ । पिउस्सिए भायणिज्जत्ति, धूए नत्तुणियत्तिय ” ॥१॥ ॥ १५ ॥ तथा-“ अज्जिए पज्जिए वा वि, वप्पच्छु पिउ त्ति अ । माउहा भायणिज्जत्ति, पुत्ते नत्तुणियत्तिय ” ॥१७॥ अथवा ममेयं माता ममेयं दुहितेत्यादि, अहमस्या वा माता अहमस्या वा दुहिता अहमस्या वा धृष्टीत्यादि वा नात्रकोदघाटनवचनं कारणं विना न जल्पति । अथवा मात्रादीनामपि ‘ गुत्तिविभे-यं ति ’ गोपनीयमर्थं न कथयति; स गच्छः स्यादिति ॥१३१॥

अथ गाथात्रयेण साध्वीस्वरूपवक्तव्यताशेषमाह-

दंसणियारं कुणई, चरित्तनासं जणेइ मिच्छत्तं ।

दुएण वि वग्गाएज्जा, विहारभेयं करेमाणा ॥१३२॥

दर्शनातिचारं करोति, चारित्रनाशं, मिथ्यात्वं च जनयति, द्व-योरपि वर्गयोः साधुसाध्वीरूपयोः, आर्याः किं कुर्वाणाः?, विहार-आगमोक्तविधिना विचरणम्, तस्य भेदो मर्यादोलङ्घनम्, तं कुर्वाणाः ॥१३२॥ ग० ३ अधि० ।

आर्याणां ज्ञापणप्रकारः—

तम्मूलं संसारं, जणेइ अज्जा वि गोयमा ! नूणं ।

तम्हा धम्मवएसं, मुत्तुं अन्नं न भासिज्जा ॥ १३३ ॥

तद् धर्मोपदेशव्यतिरिक्तं वाक्यं, मूलं कारणं यत्र संसारजनने तत्तम्मूलं, तद्यथा स्यात्तथा हे गौतम ! आर्याऽपि साध्यापि नूनं निश्चितं संसारं जनयति धिक्कुर्याति, यस्मात् इति शेषः । तस्मा-द्धर्मोपदेशं मुक्त्वा अन्यदर्थमार्था न ज्ञापेत् ॥१३३॥

मासे मासे ऊ जा, अज्जा एगसित्थेण पारए कलहे ।

गिहत्थनासाहिं, सव्वं तीइ निरत्थयं ॥ १३४ ॥

‘ मासे मासे ऊ ’ इत्यत्र “ क्रियामध्येऽध्वकाले पञ्चमी च ” इति सूत्रेण सप्तमी । वीप्सायां चिर्वचनम् । तुञ्चैवकारार्थः । ततश्च मासे मासे एव नत्वर्कमासादौ या आर्या साध्वी एकासिक्थेन एककणेन पारयेत् पारणकं कुर्यात् । (कलहे त्ति) कलहयेच्च कलहं कुर्यात् । गृहस्थनापाभिर्ममोदघाटनज्ञापप्रदानजकारम-कारादिवचनैरित्यर्थः । अथवा कलहे राटौ गृहस्थनापाभिः क्रि-यमाणे सतीति शेषः । सर्वे तपः प्रवृत्ति धर्मानुष्ठानं तस्याः निरर्थकं निष्फलमिति । विपमाकरोति गाथाच्छन्दः ॥१३४॥ ग० ३ अधि० ।

अन्यच्च साध्वीनामनाचरितम्—

जत्थ य तेरसहत्थे, अज्जाओ परिहरंति नाणधरे ।

माणसा सुयदेवमिव, सव्वमवि त्थी परिहरंति ॥

इतिहासखेड्डकंद-प्पणाहवादणं कीरणे जत्थ ।

धावणदूवंणलंघण-मयारजयारलच्चरणं ॥

जत्थित्थीकरफरिसं, अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने ।

दिट्ठीविसादित्तगी, विसं व वज्जिज्जइ स गच्छे ॥

जत्थित्थीकरफरिसं, लिंगी अरहा विसयमावि करेज्जा ।

तं निच्छयओ गोयम ! जाणिज्जा मूलगुणवाहा ॥

मूदगुणेहि उ खलियं, बहुगुणकलियं पि द्धप्पिसंपन्नं ।

उत्तमकुट्टे वि जायं, निद्धामिज्जइ जहि तहिं गच्छं ॥

जत्थ हिरस्ससुवण्णे, जणधन्ने कंसदोसफलिहाणं ।

सयणाण आसणाण य, नयपरिभोगो तयं गच्छं ॥

जत्थ हिरस्ससुवण्णं, हत्थेण परागयं पि नोच्छिप्पे ।

कारणसमप्पियं पि हु, खणानिमिसप्पं पि तं गच्छं ॥

उद्धरवंजवयपाल-णट्ठ अज्जाण चवलचित्ताणं ।

सतसहस्सं परिहरे-ज्ज ए वी जत्थत्थि तं गच्छं ॥

जत्तुत्तरचरुपनिउ-त्तरेहि अज्जा उ साहुणा सप्पि ।

पलवंति सकुप्पा वि य, गोयम ! किं तेण गच्छेण ॥

जत्थ य गोयम ! बहुवि-प्पकट्ठोद्वचंचलमणाणं ।

अज्जाणमण्णुडिज्जइ, जणियं तं केरिसं गच्छं ॥

जत्थ कवंगसरीरो, साहू अणसाहु णिच्च हत्थसया ।

उट्ठं गच्छेज्ज वहिं, गोयम ! गच्छम्मि का मेरा ॥

जत्थ य अज्जाहि समं, संलावुद्धावमाइ ववहारं ।

मोत्तुं धम्मवएसं, गोयम ! तं केरिसं गच्छं ॥

भवमणियत्थविहारं, णिययविहारं ए ताव साहुणं ।

कारणनीयावासं, जो सेवे तस्स का वत्ता ॥

निम्मम निरहंकारे, उज्जुत्ते नाणदंसणचरित्ते ।

सथलारंभविमुक्के, अप्पन्निवच्चे सदेहे वि ॥

आयारमायरंते, एगत्थेत्ते वि गोयमा ! मुणिणो ।

वाससयं पि वसंते, गीयत्थाराहगे जणिए ॥

जत्थ समुद्देसकाले, साहुणं मंमड्डीइ अज्जाओ ।

गोयम ! उवंति पादे, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥

जत्थ य हत्थसए वि य, रयणीवारं चउएहमूणाओ ।

उट्ठं दसएहमसई, करेत्ति अज्जाउ णो तयं गच्छं ॥

अववाएण वि कारण-वसेण अज्जा चउएहमूणाओ ।

गोयम ! वीपरिसक्कं-ति जत्थ तं केरिसं गच्छं ॥

जत्थ य गोयम ! साहू, अज्जाहि समं पहम्मि अछूण ।

अववाएण वि गच्छे-ज्ज तत्थ गच्छम्मि का मेरा ॥

जत्थ य तिसाट्ठिभेयं, चक्खूरागगुदीराणि साहू ।

अज्जाओ निरिक्खेज्जा, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ॥

जत्थ य अज्जालद्धं, पडिग्गहमादि विविहउवगरणं ।

परिभुंजइ साहूहिं, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ॥

अइ दुलहं जेसज्जं, बलवुद्धिविवहणं वि पुट्टिकरं ।

अज्जालद्धं भुंजइ का मेरा तत्थ गच्छम्मि ॥

साऊण गइ मुकुमाद्वि-याए तह ससगजसगजइणीए ।

ताव न वीससियव्वं, सेयट्ठी धम्मिओ जाव ॥

दढचारित्तं मोत्तुं, आयारियं मयहरं च गुणरासिं ।

अज्जा वज्जावेई, तं अणगारं न तं गच्छं ॥

घणगाजिय कुहुकुहुय, विज्जुदुगेज्ज मूढहिययाओ ।

होज्ज वावारियाओ, इत्यीरज्जं न तं गच्छं ॥
 पञ्चत्वा मुयदेवी, ते च वप्पीइ सुराहि आणया वि ।
 जत्थ एरिसए हुज्जा, इत्यीरज्जं न तं गच्छं ॥
 गोयम ! पंचमहव्वय-गुत्तीणं दसाविहस्स धम्मस्स ।
 एक्कं कट्ठं वि खविज्जइ, इत्यी रज्जं न तं गच्छं ॥
 दिणदिक्खियस्स दमग-म्म अभिमुत्ता अज्जवंदणा अज्जा ।
 निच्छइ आमणगहणं, मो विण्णओ नव्वअज्जाणं ॥
 वाससयादिविखयाए, अज्जाए अज्जदिविखयाओ साहू ।
 नत्तिभरनिज्जराए, वंदणविण्णएण सो पुज्जो ॥ महा० एअ. ।
 (उपपत्त्यादिकम् ' उवहि ' आदिशब्देषु छि० प्रा० १०६०
 पृष्ठे छप्यम्) ति० चू० । ग० ।

अञ्जाकप्प-आर्याकल्प-पुं० आर्याणामेव साध्वीनामेव क-
 ल्पते इत्यार्याकल्पः । साध्वीनीताऽऽहारे, ग० ।

अथार्याव्यतिकरेण गच्छस्वरूपमेव गाथादशकेनाह-
 जत्थ य अञ्जाकप्पो, पाणच्चाए वि रोएहुविक्खे ।

न य परिज्जइ सदसा, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥ ६१ ॥

यत्र च गणे आर्याणामेव साध्वीनामेव कल्पते इत्यार्याक-
 ल्पः, साध्वीनीताहार इत्यर्थः । प्राणत्यागेऽपि मरणागमने-
 ऽपि रोएहुमिस्ते दारुणदुष्काले, न च नैव, परिभुज्यते साधुभि-
 रिति शेषः । कथम्, सहसेति । अविमृश्य संयमस्य विराधना-
 विराधने, यतः सर्वत्र संयममेव रक्षेत्, संयमे च तिष्ठति आ-
 त्मानमेव रक्षेत्, आत्मानं च रक्षन् हिंसादिदोषाद् मुच्यते ।
 मूर्खस्य च प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या विशुद्धिः स्यात् । तेन च हिंसा-
 दिदोषप्रतिसेवनकालेऽप्यविरतिः, तस्याशये विशुद्धतया
 विशुद्धपरिणामत्वात् । उक्तं चौघनियुक्तौ गाथायाम्-“सव्वत्थ
 संजमं सं-जमाड अण्णामेव रक्खंता । मुच्चइ वायाओ
 पु-णो विसोहीन याविरई” ॥ १ ॥ ततो विमृश्य परिभुज्यतेऽपि
 अत्रिकापुत्राचार्यैरिव । यदाह-“अन्नियपुत्तारिओ, भत्तं पाणं
 च पुण्णचूलाए । उवणीयं भुजंतो, वंभवयेण सो अलंगजा” ॥ १ ॥
 हे गौतम ! स गच्छो भणितः । सूत्रे नपुंसकत्वं प्राकृतत्वादि-
 ति ॥ ६१ ॥ ग० २ अधि० । (अत्रिकापुत्राचार्यसंयन्धश्च ‘ अ-
 ष्विआउत्त ’ शब्दे वक्ष्यते)

अञ्जाणंदिल-आर्यनन्दिल-पुं० आर्यमङ्गोऽश्विने आर्यनाग-
 हस्तिगुरौ, न० । (व्याख्याऽस्य ‘ अञ्जणंदिल ’ शब्दे छप्यम्)

अञ्जालिख-आर्यालिख-त्रि० साध्वीं प्राप्ते, ग० २ अधि० ।

जत्थ य अञ्जालिखं, पढिगहमाई वि विविहउवगरणं ।

परिभुज्जइ साहूहि, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ? ॥ ६२ ॥

यत्र च गणे आर्यालिखं साध्वीप्राप्तं पतद्ग्रहादिकं विविध-
 मुपकरणमपि किं पुनराहारादिकमित्यपिशब्दार्थः । कारणं विना
 साधुभिः परिभुज्यते, हे गौतम ! स कीदृशो गच्छः?, न कीदृशो-
 ऽपि नन्वत्राऽऽयोलिखत्वं पतद्ग्रहाद्युपकरणस्य कथं संभवति?,
 आर्याणां गृहस्थसकाशात् स्वयं वस्त्रपात्रस्यैव ग्रहणनिषेधात्,
 ग्रहणे च प्रायश्चित्तम्, अनेके दोषाश्च । उक्तं च यतिजीतकल्प-
 प्रकरणे-“गुरुउवहिअ पमिबेहे, ण्णप्यअसोहिकमिततगहणे ।
 लहुगा गुरुगजाणं, सयमेव वत्थपायगिहे” ॥ १ ॥ अस्याः
 किंचिदूनपश्चाद्भुत्तिलेशो यथा-आर्याणां संयतीनां गृहस्थ-
 सकाशात् स्वयमेव वस्त्रपात्रग्रहणे चतुर्गुल्काः । यतः संय-

तीनां गृहस्थेभ्यः स्वयमेव वस्त्रादिग्रहणेऽनेके दोषाः संभवन्ति ।
 तथाहि-संयतीं गृहस्थाद्वस्त्राणि गृह्णन्तीं दृष्ट्वा कोऽप्यन्ननवश्राफो
 मिथ्यात्वं गच्छेत्, निर्ग्रन्थोऽपि भाटी गृह्णातीति शङ्कते वा । गृह-
 स्थो वा वस्त्राणि दत्त्वा भैयुनमवभाषेत्, प्रतिषिक्ते चैवामेव व-
 स्त्राणि गृहीत्वोक्तं न करोतीत्युद्वाहं कुर्यात् । स्त्री च स्वभावे-
 नाल्पसत्त्वा, ततो येन तेन वा वस्त्रादिनाऽल्पेनापि होत्रेन हा-
 जिता चाकार्यमपि करोति, बहुमोहा च स्त्री, ततः पुरुषैः सह
 संलापं कुर्वन्त्या वस्त्राणि गृह्णन्त्याश्च तस्याः पुरुषसंपर्कतो मोहो
 दीप्यते, उदाररूपां वा संयतीं दृष्ट्वा कामेणादिना कश्चिद्वशीकु-
 र्यात् । वशीकृता च चारित्रविराधनां करोति, तस्मान्निर्ग्रन्थीभि-
 र्गृहस्थेभ्यः स्वयं वस्त्राणि न ग्राह्याणि, किन्तु तानि गणधरेण
 दातव्यानि । तत्रायं विधिः-संयती प्रायोग्यमुपधिमुत्पाद्य सप्त-
 दिनानि स्थापयति, ततः कल्पं कृत्वा स्थविरं स्थविरां वा परि-
 धापयति, यदि नास्ति विकारस्ततः सुन्दरम् । एवं परीक्षाम-
 कृत्वा यदि ददाति, तदा चतुर्गुल्कम् । तं च परीक्षितमुपधिमा-
 चार्यो गणिन्याः प्रयच्छति, गणिनी च संयतीनां विधिना ददा-
 ति । अथाचार्यः स्वयं न तासां ददाति तदा चतुर्गुल्कम्, यतः
 काचित्पन्धर्मा ज्ञेयस्याश्चोत्तरं दत्तं तेनैवाऽस्येष्टा यौवनस्था
 च एवमस्थाने स्थापयति । तस्मादाचार्येण प्रवर्त्तिन्या एव हस्ते
 दातव्यमित्यादि । एतच्च निशीथपञ्चदशोद्देशकचूर्णावपि सवि-
 स्तरमस्तीति । अत्रोच्यते-यदुक्तं भवता, तत् सत्यं, परं संज्ञत्येव,
 श्रमणाजावादौ आर्याद्वधत्वमुपकरणस्य श्रमणासज्ञावादौ
 निर्ग्रन्थीनामपि स्थविरादिकमेण स्वयमेव वस्त्रग्रहणस्यानुज्ञा-
 नात् । उक्तं च निशीथपञ्चदशोद्देशकचूर्णावेव-यथा चोयग
 आह-यद्येवं, सूत्रस्य नैरर्थक्यं प्रसज्यते । आयरिओ आह-

‘ असइ समणाण चोअग !, जायंते निमंतणे तह चेव ।

जायंति थेरिय सती, व मीसगा मोत्तुमे ठाणो” ॥ १ ॥

हे चोदग ! समणाणं असति थेरियाओ वत्थे जायंते, निमंतणे
 वत्थं वा गेहंति, जहा साहू तहा ताओ वि, थेरीणं असति
 तरुणी व ति मिस्साउ जायंति इमे ठाणे मोत्तुमित्यादि । अत्र
 वस्त्रग्रहणवत्पात्रग्रहणमनुक्तमपि श्रमणाभावादावनुज्ञातं सं-
 भाव्यते ॥ ६१ ॥

अइहुव्वह-नेसज्जं, वल्लुब्धि विवहूणं पि पुट्टिकरं ।

अञ्जालिखं जुंजइ, का मेरा तत्थ गच्छम्मि ? ॥ ६२ ॥

यत्र गणे, अपिशब्दस्य प्रतिविशेषणं संबन्धात् अतिदुर्ल-
 भमपि अतिशयेन छुप्यमपि । अत्र विज्जकिलोपः प्राकृतत्वा-
 त् । समासो वा भैषज्यशब्देन सह । तथा वल्लुब्धिविवर्धनमपि,
 तत्र वल्लं शरीरसामर्थ्यं, बुद्धिर्मेधा, तथा पुष्टिकरमपि शरीरोपचय-
 कार्यपि, भैषज्यमौषधमार्याद्वधं साध्वीनीतं श्रुज्यते, साधु-
 भिरिति शेषः । हे गौतम ! (का मेरा) का मर्यादा तत्र गच्छे?,
 न काचिदपीत्यर्थः । मेरेति मर्यादावाची देशीशब्दः । ॥ ६२ ॥

एगो एगित्थिए सद्धि, जत्थ चिट्ठिज्ज गोअमा ! ।

संजईए विमेषेण, निमेरं तं तु जासिमो ॥ ६३ ॥

एक एकाकी साधुरेकाकिन्या स्त्रिया सार्धं हे गौतम ! यत्र ति-
 ष्ठेत् तं गच्छं निर्मेरं निर्मर्यादं ज्ञापामहे वयम् । संयत्या च एका-
 किन्या एकाकी यत्र साधुस्तिष्ठेत् तं तु गच्छं विशेषेण निर्मेरं
 भाषामहे इति । अत्र एकाकिन्या स्त्रिया साध्व्या च सार्धमे-
 काकिनः साधोर्धेदेकत्र स्थानवर्जनं तत्सेवामेकान्ते परस्परमङ्ग-
 प्रत्यङ्गादिदर्शनाऽऽलापादिकरणतो दोषोत्पत्तेः संभवात् । किं-

च-प्रतीतमेकान्तेऽपि श्रेणिकचेल्लणयोः रूपादिदर्शनेन श्रीमन्महा-
वीरसाधुसाध्वीनां निदानकरणादिदोषोत्पत्तिः संजातेति श्रीद-
शाश्रुतस्कन्धे तथोपलम्भादिति । अनुपपुण्ड्रः ॥ ए३ ॥ ग० २ अधि० ।
महा० । आव० । ('अस्मिन्नावत्त' शब्दे तत्कथा वक्ष्यते)

अञ्जावेयव-आज्ञापयितव्य-त्रि० । आज्ञाप्ये समाज्ञापयितव्ये,
“अहं णं अञ्जावेयवो अस्से अञ्जावेयव्वा” सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।
अञ्जासंसर्गी-आर्यासंसर्गी-स्त्री० । साध्वीपरिचये, ग० ।

आर्यासंसर्गवर्जने कारणमाह—

वज्जेह अप्पमत्ता, अञ्जासंसर्गि अग्गिविससरिती ।

अञ्जाणुचरो साहू, दहइ अकिञ्चिं खु अचिरेण ॥ ६३ ॥

वर्जयत मुञ्चत; अप्रमत्ताः प्रमादवर्जिताः सन्तो ज्ञोः साधवः ।
यूयम् काः?, आर्यासंसर्गाः साध्वीपरिचयान् । अत्र शसो लोपः
प्राकृतत्वात् । उपसर्गोऽग्निविषसदृशीरूपलक्षणत्वात् व्याघ्रविष-
धरादिसदृशीश्च, खुर्यस्मादर्थे । ततोऽयमर्थः—यस्मात्कारणात्
आर्यानुचरः साधुर्मुनिर्ब्रह्मते प्राप्नोति अकीर्तिमसाधुवादमचि-
रेण स्तोककालेनेति ॥ ६३ ॥

धेरस्स तवस्सिस्स, बहुस्सुअस्स द पमाण्णूयस्स ।

अञ्जासंसर्गीए, जणजंणयं हविज्जाहि ॥ ६४ ॥

स्थविरस्य वृक्षस्य तपस्विनो वा तपोयुक्तस्य बहुश्रुतस्य वाऽ-
धीतवह्नागमस्य प्रमाणज्ञूतस्य वा सर्वजनमान्यस्य एवंविध-
स्यापि साधोः आर्यासंसर्गा साध्वीपरिचयेन (जणजंणयं
ति) जनवचनीयता जनापवाद इत्यर्थः, भवेदिति ॥ ६४ ॥

अथ यद्येवंविधस्यार्यासंसर्गा जनापवादः स्यात्तर्हि—

एतद्वीपरीतस्य का कथेत्याह—

किं पुण तरुणो अवहु-स्सुअ न य विगिट्ठतवचरणो ।

अञ्जासंसर्गीए, जणवंचणयं न पाविज्जा ? ॥ ६५ ॥

तरुणो युवा अवहुश्रुतश्चागमपरिज्ञानरहितः, न चापि बहुवि-
कृतपञ्चरणो न दशमादितपःकर्ता; एवंविधो मुनिरार्यासंसर्गा
जनवचनीयतां किं पुनर्न प्राप्नुयात्?, अपि तु प्राप्नुयादेवेत्यर्थः
॥ ६५ ॥ ग० २ अधि० ।

अञ्जासाढ-आर्यापाढ-पुं० । श्रीवीरसिद्धे चतुर्दशाधिकव-
र्षशतद्वयेऽतिक्रान्ते उत्पन्नाव्यक्तदृष्टीनां गुरौ, ते चाऽऽर्यापाढा-
जिघा आचार्याः श्वेताभ्यां नगर्यां समवसृत्य तत्रैव हृदयश-
हारोगतो मृत्वा सौधर्मे उपपद्य पुनः शरीरमधिष्ठाय कश्चित्स्व-
शिष्यमाचार्यं कृत्वा दिवं गता इति । तच्छिष्याश्चाव्यक्तदृष्टयोऽन-
वन् । आ० क० । उक्त० । आ० म० । ('अववत्ति' शब्देऽस्य विस्तरः)

अज्जिअ-अज्जित-त्रि० । उत्पादिते, उक्त० १ अ० । उपार्जिते,
“ धम्मज्जियं च ववहारं, वुक्केहायरियं सया ” उक्त० १ अ० ।
सञ्चिते, “ अट्ठविहं कममूलं, बहुपहि भवेहि अज्जियं पावं ”
संथा० । नि० चू० । उक्त० ।

अज्जिअलाज-आर्यिकालाज-पुं० । आर्यिकालाज्यो लाज-
आर्यिकालाजः । साध्यानीतवस्त्रपात्रादौ, आव० ।

अज्जिअलाभे गिद्धा, सएण लाजेण जे असंतुद्धा ।

जिक्खायरियाजग्गा, अस्सियपुत्तं ववइसंति ॥ ११७ ॥

आर्यिकालाज्यो लाजः तस्मिन् गृह्या आसक्ताः, स्वकीयेनात्मीये-
न लाजेन ये असन्तुष्टा मन्दधर्मा भिक्षार्थया भग्नाः जिह्वा-
द्वेनेन निर्विषा इत्यर्थः । ते हि सुसाधुना चोदिताः सन्तः अम-

द्योऽयं तपस्विनामिति अन्निकापुत्रमाचार्या व्यदिशन्त्याल-
म्बनत्वेनेति गाथार्थः ॥ ११७ ॥

कथम्?—

अन्नियपुत्तायारिओ, भत्तं पाणं च पुप्फचूलाए ।

उवणीयं जुंजंतो, तेणैव भवेय अंतगढो ॥ ११८ ॥

अकराथो निगदसिक्कः । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः (तच्च
‘ अन्नियावत्त ’ शब्दे वक्ष्यते) तेन मन्दमतय इदमालम्बनं कु-
र्वन्तः सन्तः, इदमपरं नेक्रान्ते । किमत आह—

गयसीसगणा ओमे, भिक्खायरिओ अपचच्चं धेरं ।

निगमंति सहो विसहो, अज्जिअलाभं गवेसंता ॥ ११९ ॥

गतः शिष्यगणोऽस्येति समासस्तम्, (ओमे) धुर्मिके जिह्वा-
चर्यायाम्, (अपचच्चलो) असमर्थः, जिह्वाचर्यायामपचच्च अस-
मर्थस्तं स्थविरं वृक्षमेवंगुणयुक्तं न गणयन्ति नाहोचयन्ति, स-
हा विसहोः समर्थाः, अपिशब्दात् सहायादिगुणयुक्तत्वेऽपि सत्र-
मायाविन आर्यिकालाभं वेपं गवेपयन्ति अन्वेपन्त इति गाथा-
र्थः ॥ ११९ ॥ आव० ३ अ० ।

अज्जिआ-आर्यिका-स्त्री० । मातुर्मातरि, दश० ७ अ० । पिता-
मह्याम्, वृ० १ उ० । ग० । साध्यां च “ जानीते जिनवचनं, श्रद्धां
चार्यिकासकलम् । नास्यास्त्यसम्भवोऽस्या-नादृष्टविरो-
धगतिरस्ति ” ॥ १ ॥ ध० २ अधि० ।

अञ्जु-अद्य-अव्य० । अपञ्जंशे उकारान्तत्वम् । अस्मिन्नहनि,
“ विप्पिययारव जइवि, पिउतो वि तं आणही अञ्जु ” प्रा० ।

अञ्जुण-अर्जुन-पुं० । अर्ज-उन्नत् । ककुभपर्याये, औ० । बहु-
बीजकवृक्षजेदे, प्रज्ञा० १ पद० । ज्ञा० । रा० । तत्पुष्पे, तच्च सु-
रजि भवति । ज्ञा० १ श्रु० । ए अ० । तृणविशेषे, प्रज्ञा० १ पद० । आ-
चा० । स्वनामख्याते पाण्डुरस्वर्णे, जं० ३ वक्त्र० । गोशालस्य
महद्विपुत्रस्य पृष्ठे गौतमपुत्रे दिक्चरे, भ० १५ श० १ उ० । “ अ-
ञ्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सररीगं विप्पजहामि ” ज० १४ ज्ञा० १
उ० । हैहयवंश्ये कृतवीर्याऽपत्ये नृपजेदे, भूतावमानी हैहयश्चा-
र्जुनः । ध० १ अधि० । पाण्डुराजस्य तृतीये आत्मजे, ज्ञा० १
श्रु० १६ अ० । (विवाहादि चास्य ‘ दोवइ ’ शब्दे रूप्यम्)
“ अञ्जुणगुट्टं व तस्स जाणइ ” उपा० २ अ० ।

अञ्जुणग-अर्जुनक-पुं० । माताकारजेदे, अन्त० । तत्कथा चैवम्-

ते णं काले णं ते णं समएणं रायगिहे णयरे गुणसिद्धए चेइ-
ए, सेणिए राया, चेह्वणा देवी, तत्थ णं रायगिहे णयरे
अञ्जुणए नामा मालागारे परिवसति । अहे जाव
अपरिचूते तस्स णं अञ्जुणयस्स मालागारस्स वंधुमती-
नामं चारिया होत्था । सुमालस्स तस्स णं अञ्जुणयस्स मा-
लागारस्स रायगिहस्स नगरस्स वहिया । एत्थ णं महं एगे
पुप्फारामे होत्था, किन्हे जाव निकुसंवचूते दमच्चवसुकुसु-
मेइ पासा ते तस्स णं पुप्फारामस्स अदूरसामंते एत्थ णं
अञ्जुणयस्स मालागारस्स अज्जयपज्जयपिइपज्जयागते अ-
ण्णकुलपरीसं परंपरागते भोगरपाणस्स जक्खाययणे हो-
त्था, पोराणे दिव्वे सच्चे सच्चवातिए जहा पुण्णभदे तत्थ

पं भोगरपाणिस्स एगं महं पल्लसहस्सनिप्पल्लअओमयमो-
 गरं गहाय चिट्ठति, तस्सेव अञ्जुणए मालागारे वालपान्ति-
 ति चेव भोगरपाणिजक्खस्स जत्तेया वि होत्था, कल्ला-
 कल्लि पच्छियपमिया नि गेएहोवेति, गेएहोवेतिचा रायगि-
 हातो णगराओ पन्निनक्खमति, पडिनिक्खमत्ता जेणेव पु-
 प्फारामे उज्जाणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतिचा पु-
 प्फचयं करोति, करोतिचा अग्गाइं वराइं पुप्फाइं गहाय जे-
 णेव भोगरपाणिस्स जक्खस्स जक्खायतणे तेणेव उवा-
 गच्छति, उवागच्छतिचा भोगरपाणिजक्खस्स महारिह पुप्फ-
 च्छणं करोति, करोतिचा जाणुपांतं पन्निने पणामं करोति,
 करोतिचा ततो पच्छा रायमग्गंसि विति कप्पेमाणे विहरति,
 तत्थ एं रायगिहे नगरे झञ्जितनामं गोटीं परिवसति, अच्चा
 जाव अपरिभुया जकयसुकया या वि होत्था, तं रायगिहे
 णयरे अस्सया कयाइं पमोये घुटे या वि होत्था, तस्सेव अञ्जु-
 णए मालागारे कल्लपभुयतराएहिं पुप्फेहिं कज्जंमि तिकट्टु
 पच्चूसकाद्वसमयंसि वंधुमतीए चारियाए सद्धिं पच्छिय प-
 डियाइं गेएहति, गेएहतिचा सयाउ गिहातो पन्निनक्खमति,
 पन्निनक्खतिचा रायगिहं णयरं मज्झं मज्जेणं निगच्छइ,
 निगच्छइचा जेणेव पुप्फारामे उज्जाणे तेणेव उवाग-
 च्छति, उवागच्छतिचा वंधुमतीए चारियाए सद्धिं पुप्फचयं
 करोति, तीसे लडियाए गोटी; तत्थ गोटिद्व्या पुरिसा जेणेव
 भोगरपाणिस्स जक्खायतणे तेणेव उवागया अजिर-
 मयाणा चिट्ठति, तस्सेव अञ्जुणए मालागारे वंधुमतीए
 चारियाए सद्धिं पुप्फचयं करोति, करोतिचा पच्छियं भरोति
 अग्गाइं पुप्फाइं गिहाइं जेणेव भोगरपाणिस्स जक्खस्स
 जक्खायअणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतिचा ते छ गो-
 टीद्व्या पुरिसा अञ्जुणए मालागारे वंधुमतीचारियाए सद्धिं
 एज्जमाणं पासंति, पासंतिचा अणमणएणं एवं वयासी-एस
 एं देवाणुप्पिया ! अञ्जुणमालागारे वंधुमतीए चारियाए स-
 द्धिं हव्वमागच्छति, हव्वमागच्छतिचा तं सेयं खलु देवा-
 णुप्पिय ! अहं अञ्जुणयं मालागारं अउमयवंधणयं क-
 रोति, करोतिचा वंधुमतीए चारियाए सद्धिं विपुलाइं भोग-
 भोगाइं जुंजमाणां विहरतिच तिकट्टु एयमहं अण-
 मणस्स पडिमुणति, पडिमुणतिचा कवामंतरेसु निलुक्कति,
 निबद्धा निप्फदा तुसिणं एया पञ्जा चिट्ठति, तस्से अञ्जु-
 णए मालागारे वंधुमतीए चारियाए सद्धिं जेणेव भोगर-
 जक्खायतणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतिचा आलोए
 पणामं करोति, करोतिचा महारिहं पुप्फचयं करोति, जाणुपायं
 परणामं करोति, तत्ते एं ते छ गोटिद्व्या पुरिसा दवदवस्स
 कवाइंतरेहिंती निगच्छति, निगच्छतिचा अञ्जुणयं मा-
 लागारं गेएहति, गेएहतिचा अवमगं वंधणं करोति, वंधुमती-

मालागाराए सद्धिं विवहाइं भोगजोगाइं जुंजमाणा विहर-
 ति, तस्स अञ्जुणयस्स मालागारस्स अयं अपसत्थीए । एवं
 खलु अहं वाद्यप्पभिति चेव भोगरपाणिस्स भगवतो कल्ला-
 कल्लि जाव कप्पेमाणे विहरामि, तं जयणं इहं सखिहिते सुव्व-
 चेण एस कट्ठे तत्तेणं से भोगरपाणिजक्खे अञ्जुणयस्स
 मालागारस्स अयमेयारूवं अवत्थियं जाव वियाणिचा
 अञ्जुणयस्स मालागारस्स सरीरयं अणुपविसति, अणुप-
 विसतिचा तमतमतदसंवच्चाइं छिंदति, छिंदतिचा तं पल्लस-
 हस्सनिप्पल्लं अउमयं भोगारं गेएहति, ते इत्थी सत्तमे छ
 पुरिसे घाएइ तसे अञ्जुणए मालागारे भोगरपाणिणा ज-
 क्खेण अणाइंके समणे रायगिहस्स णगरस्स परिपेरं तेणं
 कल्लाकल्लि छ इत्थिसत्तमे पुरिसे घायमाणे विहरति, तए एं
 रायगिहे णयरे सिंघामग जाव महापहेसु बहुजणो अस्सम-
 सस्स एवमाइक्खति०४ । एवं खलु देवाणुप्पिय ! अञ्जुणए
 मालागारे भोगरपाणिणा अणाइंके समणे रायगिहे णयरे
 वहिया छ इत्थिसत्तमे पुरिसे घायमाणे विहरति, तत्ते एं
 से सेणिए राया इमीसे कहाए छट्ठे समणे कोहुंवि स-
 दावेति, सदावेतिचा एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! एं
 अञ्जुणमालागारे जाव घाएमाणे विहरति, तं माणं तुज्जे के-
 इकट्टस्स वा तस्सस्स वा पाणियस्स वा पुप्फफळाणं वा अट्ठाए
 संतिरं निगच्छउमाणं तस्स सरीरयस्स दावची भविस्सति,
 तिकट्टु दावंच पि तच्चं पि घोसणघोसेहति, घोसणघोसेहतिचा
 खिप्पा मम एयं माणत्थियं पच्चप्पियांति, तए णं कोहुं-
 विय जाव पच्चपियांति, तत्थ एं रायगिहे णगरे सुदंसणे
 नामे सेट्ठी परिवसति, अट्ठे तस्से सुदंसणे समणो वासए या
 वि होत्था, अजिगयजीवाजीवे जाव विहरति । ते णं काले एं
 ते एं समए एं समणे भगवं महावीरे जाव समोसट्ठे जाव वि-
 हरति, तं रायगिहे णयरे सिंघामगबहुजणो अस्समसस्स एव-
 माइक्खति जाव किमंग ! पुण विपुलस्स अट्टस्स गहणताए
 ते तस्स सुदंसणस्स बहुजणस्स अतिए एयमहं सुच्चा निसम्म
 अवत्थियते० ५ । एवं खलु समणे एं जाव विहरति, तं गच्छा-
 मि, एं वंदामि, एवं संपेहेति, संपेहेतिचा जेणेव अम्मापियरो
 तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतिचा करयल० एवं वयासी-
 एवं खलु अम्मायाओ समणे जाव विहरति, तं गच्छामि एं
 समणं भगवं महावीरं वंदामि, जाव पज्जुवासामि, तत्ते एं ते
 सुदंसणं सेट्ठी अम्मापियरो एव वयासी-एवं खलु पुत्ता
 अञ्जुणए मालागारे जाव घाएमाणे विहरति, तं माणं तुमं
 पुत्ता समणं जगवं महावीरं वंदंति, पज्जुवासंति, निगग्गाहि-
 माणं तवसरीरस्स वा विति भविस्सति, तुमणं इह गए चेव स-
 मणं भगवं महावीरं वंदाहि, तए एं से सुदंसणे सेट्ठी अम्मापि-

गरो एवं वयासी-किं एं अम्मयातो समणं भगवं महावीरं इह-
मांगते इह पत्तं इह समोसदं इह गते चेवं वंदिस्सामि, तं गच्छा-
मि, एं अहं अम्मयाउं तुज्झंहिं अब्जणुत्ताते समाणे समणं
भगवं महावीरं वंदति, तं सुदंसणं सेच्छी अम्मपियरो जा से नौ
संचाएति, बहुहिं आघवणेहिय ४ जावं परुवेहिं संता तंता
परितंता तीहे एवं वयासी-अहासुहं तत्ते एं से सुदंसणे अ-
म्मपितीहिं अब्जणुत्ताते समाणे एहाति, सुप्पया वेसाइं जाव
सरीरे सयातो गिहातो पडिनिक्खमति, पमिणिक्खमतित्ता
पायविहारचारेणं रायगिहं एयरे मज्जे मज्जेणं निग्गच्छंति,
निग्गच्छतिता मोगगरपाणिस्स जक्खस्स जक्खायतणे अऊर-
मामंते एं जेणोव गुणंसीद्वए चेति ए जेणोवं समणे जगवं तेणोव
पाहिरेत्थगमणाए तत्ते एं से मोगगरपाणिं जक्खं सुदंसणं स-
मणो वासयं अदूरसायंते एं वीयीवयमाणे पासति, पासतिता
आमुत्ते ५ तं पडसहस्सनिप्फळं अओमयमोगगरं उट्ठाद्वेमाणे
जेणोव सुदंसणे समणो वासए तेणोव पहारेत्थगमणाए तत्ते
एं से सुदंसणे समणो वासए मोगगरपाणिं जक्खं एज्जमाणं
पासति, पासतिता अजीते अतंत्ये अणुव्विगे अक्खमिते
अचद्विए असंभंते बत्थंतेणं जूमी पमज्जति, पमज्जतिता
करयद्वए एवं वयासी-एमोत्थु एं अरहंताणं जाव संपत्ताणं;
नमोत्थु एं समणस्स भगवं जाव संपाविउकामस्स पुवं पि
एमए समणस्स जगवओ महावीरस्स अंति ए थूलए
पाणातिवातं पच्चक्खाए जावजीवाए थूलए मूसावाए
थूलए अदिएणादाणे सदारसंतोसे करे जावजीवाए तं
इदाणिं पि ए तस्सेव अंतिअं सव्वं पाणातिवायं पच्च-
क्खामि जावजीवाए, मूसावायं अदत्तादाणं मेहुणपरिगहं
पच्चक्खामि जावजीवाए, सव्वं कोहं जाव मिच्छादंसणस-
द्वं पच्चक्खामि जावजीवाए, सव्वं असणं पाणं खाइमं
साइमं चउव्विहं पि आहारं पच्चक्खामि जावजीवाए, जति
णं एत्तो उवसयातो मुच्चिस्सामि, तो मे कप्पई पारे तत्ते ।
अह एं एत्तो उवसगातो न मुच्चिस्सामि, तो मे तंहा
पच्चक्खाए वि तिकट्टु सागारं पमिमं पडिवज्जति । से
मोगगरपाणी जक्खे तं पडसहस्सनिप्फणं अओमयं मोग-
गरं उट्ठाद्वेमाणे ५ जेणोव सुदंसणे समणो वासए तेणोव
उवागते नो चेव एं संचाएति सुदंसणं समणोवासयं तेयसा
समज्जिपडिताते । तत्ते एं से मोगगरपाणी जक्खे सुदंसणं स-
मणोवासयं सव्वओ समंताओ परिघोलमाणे ५ जाहे नो संचा-
एति सुदंसणं समणो वासयं तेयसा समज्जिपडितते ताहे सुदं-
सणस्स समणो वासयस्स पुरतो सपक्खिं सपमिदिसिं उच्चि
सुदंसणं समणोवासयं अणिमिसाए दिट्ठीए सुचिरं निरिक्ख-
ति, निरिक्खतिता अञ्जुणयस्स माट्ठागारस्स सरीरं विप्प-
जहति । तं पलसहस्सनिप्फणं अओमयं मोगगरं गहाय जाये-

व दिसिं पाउज्जते तामेव दिसिं पमिगते । त एं अञ्जुणए
मालागारं मोगगरपाणिणा जक्खेणं विप्पमुक्खिस्समाणे ध-
सति धरणीयतलंसि, सव्वं गेहं निवाडि ए ते सुदंसणे समणो
वासए निरुवसग्गाम्मि तिकट्टु पमिमं पारेति, तत्ते एं से
अञ्जुणए मालागारे ततो मुहुत्तंतरेण आसत्ये समाणे उट्टेति,
उट्टेतिता सुदंसणं समणो वासयं एवं वयासी-तुज्झेणं
देवाणुप्पिया ! कहिं वासं पयिया ! तत्ते एं से सुदंसणे समणो
वासए अञ्जुणयं मालागारं एवं वयासी-एवं खलु देवाणु-
प्पिया ! अहं सुदंसणे नाम समणो वासए अज्जिगयजीवाजीवे
गुणसिद्धे चेइए समणं जगवं महावीरस्स वंदते, सपयिए
तमे अञ्जुणए माट्ठागारे सुदंसणं समणो वासयं एवं वया-
सी-तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! अहमावे तुमए सद्धिं समणं
जगवं महावीरस्स वंदि ए जाव पज्जुवासिए । अहासुहं देवाणु-
प्पिया ! तत्ते णं से सुदंसणे समणो वासए अञ्जुणएणं माट्ठा-
गारेणं सद्धिं जेणोव गुणसिलए चेति ए जेणोव समणे जगवं
महावीरे तेणोव उवागच्छति, उवागच्छतिता अञ्जुणएणं
मालागारेणं सद्धिं समणं भगवं महावीरं तिकट्टुत्तो जाव पज्जु-
वासति । तत्तेणं से समणे भगवं महावीरे सुदंसणं समणो वा-
सए अञ्जुणयस्स माट्ठागारस्स तिसयद्धम्मकहासुदंसणे स-
मणोवासए पमिगते तसे अञ्जुणए माट्ठागारे समणस्स भगवतो
महावीरस्स अंति ए धम्मं सोचा इट्ठुट्ठा सदहामि, णं जंते !
निग्गयं पावयणं जाव अब्बुट्टेमि, अहासुहं तसे अञ्जुणए
उत्तरपुरच्छिमे य सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति, करेतिता
जाव अणगारे जाते जाव विहरति, तत्ते एं से अञ्जुणए अ-
णगारे जं चेव दिवसं मुंहे ० जाव पव्वइए तं चेव दिवसं स-
मणं जगवं महावीरं महावीरस्स वंदति, वंदतिता इमं एया-
रुवं उग्गहं उगिगहेति, कप्पाति, मं जावजीवाए छट्ठं छट्ठेण
अनिक्खित्तेण तवोक्कम्मेणं अप्पाणं जावेमाणस्स विहरित्तए
तिकट्टु अयमेयारुवं उग्गहं उगिगहेति, जावजीवाए विह-
रति, तत्ते एं अञ्जुणए अणगारे उट्ठक्खमणपारणायसि
पढमपोरसीए सज्झायं करेति, जहा गायमसामी जाव अ-
रुति, तत्ते एं से अञ्जुणयं अणगारं रायगिहे एयरे उच्च-
नीचं च जाव अरुमाणं वहवे इत्थी उ य पुरिसा य रुहरा
य महला य जुवाणा य एवं वयासी-इमे एं मे पितामातरो
इमे एं मे मा मारिया जायजगिणीजज्जा पुत्ते धूया सुएहा मा
मारिया, इमे एं मे अस्से य सयणसंबंधे परियणं मा मारेति, ति-
कट्टु अप्पेगइया अकोसंति, अप्पेगइया हीडंति, अप्पे ० निदंति,
अप्पे ० खिंसति, अप्पेगइया गरहंति, अप्पे ० तज्जेति, तत्ते-
एं से अञ्जुणए अणगारे तेहिं वहुहिं पुरसेहिं महत्ते
य जाव अकोसिज्ज मा जाव तात्तेणेतं समणसा वि अ पड-

मस्ममाणे समं मद्रति, ममं क्वपति, नितिक्रवत्, अहिज्जमा-
णे अहियासेत्, समं मद्रमाणे क्वमनो नितिक्रवति, अहिया-
सेति, रायगिद्रे एयरं ऊंचनीचमज्जिमकुलाइं अरुमाणे जइ
भत्तं व्रजति. नो पाणं न व्रभति, जइ पाणं व्रभइ, तो जत्तं
न व्रभइ, नत्तं एं ने अञ्जुणग, अणगारं अदोणे अविमणे
अकलुने अणाइये अवीमादी अपरित्तजोगी अरुति, अ-
ननिचा रायगिहानो नगरातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खम-
निचा, जेणव गुणसिलए चेइए जेणव समणे भगवं महावीरे
जइव गानमनामी जाव पडिदंसेने ५ समणं भगवं महावीरे
अवधणुणां समणे अञ्जुट्टिने ४ विद्वमिव पणगचूतेण
अप्पाणेण नमाहारं आहारंति, आहारंतिचा तत्तं णं समणे
भगरं महावीरे अत्रया कयाति, कयानित्ता रायगिहाओ
पडिगिक्खमति, पडिगिक्खमतित्ता वडिया जणविहं विहारं
विहगति, तत्तं णं मे अञ्जुणग अपगारं नेणं उरालेणं
विपुट्टेणं पयत्तेणं पगाहिणं महाणुभागेणं तवोकम्पेणं
अप्पाणं भावेमाणं बहुपडिपुणं उम्मांस सामणपरियागं
पाठयानि, अक्कमामियाए संजेहणए अप्पाणं कुसेति, ती-
सं भत्ताइं अणसणाए उदेति, उदेतिचा जसट्ठाते कीरति,
कीरतिचा जाव भिक्ख ॥ अंतं ६ वर्गं ३ अ० ।

स्वनामएयाने तस्करभेदे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । (तस्य
शब्दास्तत्त्वाद् 'सद्' शब्दे कथा वच्यते)

अञ्जुणमुवप-अञ्जुणमुवर्ण-न० । श्वेतकाञ्चनं, औ० ।

अज्जांग-अयंग-पुं० । "सेवादा वा" ॥ ८ । २ । ६६ ॥ इति प्राकृ-
तत्रकणाज्जस्य वा टित्वम् । योगवर्जितं, पं० सं० १ द्वा० ।

अज्जांगि (ए)-अयंगिन्-पुं० । सेवादित्वाद् जट्टित्वम् । अ-
योगिकवञ्जिनि, " अज्जे गो अज्जांगी, संमत्तसज्जांगमि होति
जंगाउ " पं० सं० १ द्वा० ।

अज्जओ-देशी-प्रातिवद्भिक्के, दे० ना० १ वर्ग० ।

अज्जुत्त-अध्यात्म-न० । अधि आत्मनि वर्त्तते इत्यध्यात्मम् ।

चेत्तसि, दश० १ अ० । आचा० । प्रव० । स्थाने, आव० ५ अ० ।
सम्यग्धर्मध्यानादिभावनायाम्, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आत्मानमधि-
कृत्य यद्वर्त्तते तदध्यात्मम् । सुखदुःखादौ, "जे अज्जुत्तं त्वं जाण
इ से वडिया जाणइ, जे वडिया जाणइ से अज्जुत्तं जाणइ" आ-
चा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । (आत्मनि इति अध्यात्मम्, 'अव्ययं विज०'
॥ १११६ ॥ इति पाणिनिमुत्रेण समासः) आत्मनीत्यर्थे, उक्तं १ अ० ।
अध्यात्मस्य-न० । अध्यात्मं मनस्तस्मिन् तिष्ठत्यध्यात्मस्थम्,
प्राकृतत्वाद्दर्शलोपः, इष्टसंयोगानिष्टसंयोगादिहेतुभ्यो जाते सु-
खदुःखादौ, उक्तं । "अज्जुत्तं सव्वओ सव्वं, दिस्समाणे
पियायए " उक्तं ६ अ० ।

अज्जुत्तओग-अध्यात्मयोग-पुं० । सुप्रणिहितान्तःकरणतायाम्,
धर्मध्याने च । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । योगभेदे च, तल्लक्षणम्-तत्राऽ-
नादिपरजाव औदयिकभाववरमणीयतां धर्मत्वेन निर्धार्य तत्पुष्टि-
हेतुं क्रियां कुर्वन् अधर्मे धर्मवृत्त्या इच्छन् प्रवृत्तः स एव निरामय-
निःसंगशुद्धात्मभावनाजावितान्तःकरणस्य स्वभाव एव धर्म
इति योगवृत्त्याऽध्यात्मयोगः । अष्ट० ८ अष्ट० ।

औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य, वचनात्तत्त्वचिन्तनम् ।

मैत्र्यादिजावसंयुक्त-मध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥ ५ ॥

(औचित्यादिति) औचित्यादुचितप्रवृत्तिवृत्तकणाद् वृत्तयुक्त-
स्याऽणुवतमदावतसमन्वितस्य वचनाज्जिनागमात्तत्त्वचिन्तनं
जीवादिपदार्थसार्थपर्यालोचनं मैत्र्यादिभावैर्मैत्रीकरणासुदितो-
पेक्षावक्षणः समन्वितं सहितमध्यात्मं तद्विदोऽध्यात्मज्ञातारो
विदुर्जायते । द्वा० १८ द्वा० । " अज्जुत्तओगे गयमाणस-
स्स " आचा० १ श्रु० ।

अज्जुत्तओगसाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । अ-
ध्यात्मं मनस्तस्य योगा व्यापारा धर्मध्यानादयस्तेषां साध-
नान्येकाग्रतादीनि तैर्युक्तोऽध्यात्मयोगसाधनयुक्तः । चित्तैका-
ग्रताऽऽदिभाजि, उक्तं २६ अ० । " निव्विकारे णं जीवे वइ-
गुत्ते अज्जुत्तओगसाहणजुत्ते या वि भवइ " उक्तं २६ अ० ।

अज्जुत्तओगमुद्गादाण-आध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । अध्या-
त्मयोगेन सुप्रणिहितान्तःकरणतया धर्मध्यानेन शुद्धमवदात-
मादानं चरित्रं यस्य स तथा । शुभचेतसा विशुद्धचारित्र्ये,
" अज्जुत्तओगमुद्गादाणे उवट्टिए ठिअप्पा संखाए परद-
त्तभोई भिक्खू ति वड्ये " सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्जुत्तकिरिया-अध्यात्मक्रिया-स्त्री० । केनापि कथञ्चना-
प्यपरिभूतस्य दौर्मनस्यकरणरूपेऽष्टमे क्रियास्थाने, स्था० ५
ठा० २ उ० । कोङ्कणसाधोरिव यदि सुताः सम्प्रति क्षेत्रवल्ल-
राणि संज्वलयन्ति तदा भव्यमित्यादि चिन्तनमध्यात्मक्रिया ।
ध० ३ अधि० ।

अज्जुत्तज्जाणजुत्त-अध्यात्मध्यानयुक्त-त्रि० । अध्यात्मना शु-
भमनसा ध्याने यत्तेन युक्तो यः स तथा । प्रशस्तध्यानापयुक्ते,
प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्जुत्तदंरु-अध्यात्मदंरु-पुं० । शोकाद्यभिभवेऽष्टमक्रिया-
स्थाने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्जुत्तदोस-अध्यात्मदोष-पुं० । कपाये, सूत्र० ।

कोहं च माणं च तद्देव मायं,

लोभं चउत्तं अज्जुत्तदोसा ।

एआणि वंता अरहा महेसी,

ए कुव्वई पाव ए कारवेइ ॥ १२६ ॥

(कोहं चेत्यादि) निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छे-
दो भवतीति न्यायात् संसारस्थितेश्च क्रोधादयः कार-
णमत एतानध्यात्मदोषांशत्रुतोऽपि क्रोधादीन् कषायान्
वान्त्वा परित्यज्याऽसौ भगवानर्हस्तीर्थकृद् जातः । तथा म-
हर्षिश्च । एषं परमार्थतो महर्षित्वं भवति यद्यध्यात्मदोषा न भ-
वन्ति, नान्यथेति, तथा न स्वतः पापं सावद्यमनुष्ठानं करोति,
नाप्यन्यैः कारयतीति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अज्जुत्तमयपरिक्खा-अध्यात्ममत्परीक्षा-स्त्री० । नामानुरूपा-
भिधेये, शतग्रन्थीकृता नयविजयशिष्येण यशोविजयवाच-
केन कृते ग्रन्थविशेषे, प्रति० । द्वा० ।

अज्जुत्तरय-अध्यात्मरत-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश०
१० अ० ।

अज्जुत्तवत्तिय-अध्यात्मप्रत्ययिक-(पुं०)-आध्यात्मिकप्रत्ययि-
क-न० । आत्मनि अधि अध्यात्मम् । तत्र भव आध्यात्मिको द-

एडस्तत्प्रत्ययिकम् । अष्टमे क्रियास्थाने, तद्यथा-निर्निमित्तमेव दुर्मेना उपहतमनःसंकल्पो हृदयेन द्वियमाणश्चिन्तासागरावगाढः संतिष्ठते । सूत्र० २ श्रु० १२ अ० ।

एतदेव सूत्रकारो व्यस्यन्नाह—

अहावरे अष्टमे किरियाठाणे अज्जत्तवत्ति ए चि आहिज्जइ से जहा णामए केइ पुरिसे णत्थि णं केइ किं विसंवादेति सयमेव हीणे दीणे छुट्ठे छुम्मणे ओहयमणसंकपे चिंतासोगसागरसंपविट्ठे करतत्तपल्लहत्थमुहे अट्ठज्जाणावगए भूमिगयदिट्ठिए भियाइ तस्स णं अज्जत्तयया आसंसइया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जइ, तं कोहे माणे माया लोहे अज्जत्तमेव कोहमाणमायालोहे एवं खलु तस्स तप्पनियं सावज्जंति आहिज्जइ अष्टमे किरियाठाणे अज्जत्तवत्ति ए चि आहिज्जइ ॥ १६ ॥

अथापरमष्टमं क्रियास्थानमाध्यात्मिकमित्यन्तःकरणोज्ज्वलाख्यायते । तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषचित्तोपेक्षाप्रधानस्तस्य च नास्ति कश्चिद्विषयवादिता न तस्य कश्चिद्विषयवादेन परिज्ञावेन वा सद्भूतोद्भावनेन वा चित्तदुःखमुत्पादयति, तथाप्यसौ स्वयमेव वर्णापसदवद्दीनो दुर्गतवद्दीनो दुश्चित्ततया दुष्टो दुर्मेनास्तथोपहतोऽस्वच्छतया मनःसंकल्पो यस्य स तथा । चिन्तैष शोक इति सागरश्चिन्ताप्रधानो वा शोकश्चिन्ताशोकः सागर इव चिन्ताशोकसागरः । तथानूतश्च यदवस्थो जवति तद्दर्शयति-करतले पर्यस्तं मुखं यस्य स तथा अर्हनिशं भवति, तथाऽऽर्थाध्यानोपगतोऽपगतसद्विवेकतया धर्मेध्यानदूरवर्ती निर्निमित्तमेव द्रष्टोपहतवक्ष्यायति । तस्यैव चिन्ताशोकसागरावगाढस्य सत आध्यात्मिकान्यन्तःकरणोज्ज्वलानि मनःसंस्तुतान्यसंशयितानि वा निःसंशयितानि वा चत्वारि वक्ष्यमाणानि स्थानानि जवन्ति, तानि चैवं समाख्यायन्ते; तद्यथा-क्रोधस्थानम्, मानस्थानम्, मायास्थानम्, लोभस्थानमिति । ते चावश्यं क्रोधमानमायालोभा आत्मनोऽधि भवन्त्याध्यात्मिकाः, एभिरेव सद्भिर्दुष्टं मनो भवति । तदेव तस्य दुर्मेनसः क्रोधमानमायालोभवत् एवमेवोपहतमनःसङ्कल्पस्य तत्प्रत्ययिकमध्यात्मनिमित्तं सावद्यं कर्माऽऽधीयते संवध्यते । तदेवमेतत्क्रियास्थानमाध्यात्मिकाख्यामाख्यातमिति ॥१६॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अज्जत्तवयण-अध्यात्मवचन-न० । आत्मन्याधि अध्यात्मम्, तच्च तद्वचनम् । हृदयगते वचनजदे, पोरुशवचनानां सप्तममिहम् । आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० । आत्मन्याधि अध्यात्मं हृदयं तं तत्परिहारेणान्यद् भविष्यतस्तदेव । सहसा पतिते वचने, विशेषे । आचा० ।

अज्जत्तविंदु-अध्यात्मविन्दु-पुं० । यथार्थनामधेये ग्रन्थभेदे, “ये यावन्तोऽध्वस्तवन्था अमूचन्, जेदज्ञानान्यास एवात्र मूढम् । ये यावन्तो ध्वस्तवन्था भवन्ति, जेदज्ञानाभाव एवात्र वीजम्” ॥१॥ इति तद्वचनम् । अष्ट० १४ अष्ट० ।

अज्जत्तविसीयण-अध्यात्मविषीदन-न० । संयमकष्टमनुसूय मनसि विषयीजवने, सूत्र० ।

जहा संगमकाज्जमि, पिड्डतो जीरु वेहइ । वल्लयं गहणं णमं, को जाणइ पराजयं ? ॥ १ ॥ (जहेत्यादि) दृष्टान्तेन हि मन्दमतीनां सुखेनैवार्थावगतिर्भव-

त्यत आदावेव दृष्टान्तमाह-यथा कश्चिद्जीरुरुत्तरकरणः संग्रामकावे परानीकयुक्ताऽवसरे समुपस्थितः पृष्ठतः प्रेक्षते आदावेवाऽऽपत्प्रतीकारहेतुचूतं दुर्गादिकं स्थानवमलोकयति । तदेव दर्शयति-(वल्लयामिति) यत्रोदकं वल्लयाकारेण व्यवस्थितमुदकरहिना वा गर्ता दुःखनिर्गमप्रवेशास्तथा गहनं धवादिबुद्धैः कटिसंस्थानीयम् (णुमं ति) प्रच्छन्नं गिरिगुहादिकम् । किमित्यसावेवमवलोकयति ? यत एवं मन्यते तत्रैवंचूतं तुमुखे संग्रामे सुजटसङ्कुले को जानाति कस्यात्र पराजयो भविष्यतीति ? यतो दैवायत्ताः कार्यसिद्धयः स्तेकैरपि बहवो जीयन्त इति ॥१॥

किञ्च-

मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होइ तारिसो ।

पराजिया वसप्पामो, इति जीरु अवेहइ ॥२॥

मुहूर्तानामेकस्य वा मुहूर्तस्यापरो मुहूर्तः कालविशेषलक्षणोऽवसरस्तादृग्भवति यत्र जयः पराजयो वा संभाव्यते, तत्रैवं व्यवस्थिते पराजिता वयमपसर्पामो नश्याम इत्येतदपि संभाव्यते, अस्मद्विधानामिति भीरुः पृष्ठत आपत्प्रतीकारार्थं शरणमपेक्षते ॥२॥

श्लोकद्वयेन दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह-

एवं तु समणा एगे, अवलं नच्चा ण अप्पणं ।

अणागयं जयं दिस्स, अ विकंपति मं सुयं ॥३॥

यथा संग्रामं प्रवेष्टुमिच्छुः पृष्ठतोऽवलोकयति किमत्र मम पराभग्नस्य वलयादिकं शरणं त्राणाय स्यादिति, एवमेव श्रमणाः प्रव्रजिता एके केचनाऽदृढमतयोऽल्पसत्त्वा आत्मानमवलं यावज्जीवं संयमभारवहनाक्षमं ज्ञात्वा अनागतमेव भयं दृष्टोत्प्रेक्ष्य । तद्यथा-निष्किञ्चनोऽहं किं मम वृद्धावस्थायां ग्लानावस्थायां दुर्भिक्षे वा त्राणाय स्यादित्येवमाजीविकाभयमुत्प्रेक्ष्य विकल्पयन्ति परिकल्पयन्ति मन्यन्ते, इदं व्याकरणं, गणितं, ज्योतिष्कं, वैद्यकं, होराशास्त्रं, मन्त्रादिकं वा श्रुतमधीतं ममाऽयमादौ त्राणाय स्यादिति ॥३॥

एतच्चैते विकल्पयन्तीत्याह-

को जाणइ विज्जवतं, इत्थीओ उदगाड वा ।

चोइज्जंता पवक्खामो, ए णो अत्थि पकप्पियं ॥४॥

अल्पसत्त्वाः प्राणिनः, विचित्रा च कर्मणां गतिः, बहुनि प्रमादस्थानानि विद्यन्ते, अतः को जानाति कः परिच्छिन्नात् व्यापातं संयमजीविताद् भ्रश्यन्तस् । केन पराजितस्य मम संयमाद् ज्ञंशः स्यादिति । किं स्त्रीतः स्त्रीपरीपहाद् उतोऽकात् स्नानार्थमुदकासेचनाजिलापादित्येवं ते बराकाः प्रकल्पयन्ति, न नोऽस्माकं किञ्चन प्रकल्पितं पूर्वोपार्जितद्रव्यजातमस्ति, यत्तस्यामवस्थायां मुपयोगे समेत्य यास्यति, अतश्चोद्यमानाः परेणापृज्यमानाः हस्तिशिक्षाधनुर्वेदादिकं कुटिलविण्मृत्नादिकं वा प्रवक्ष्यामः कथयिष्यामः प्रयोक्ष्यामः इत्येवं ते हीनसत्त्वाः संग्रहार्थं व्याकरणादौ श्रुते प्रयतन्त इति । न च तथापि मन्दभाग्यानामभिप्रेतार्थावसिर्जवतीति । तथा चोक्तम्—“ उपशमफलाद्विद्याधीजात्फलं धनमिच्छताम्, भवति विफलो यद्यायासस्तदत्र किमदृष्टतम् ? न नियतफला । कर्तुर्जीवाः फलान्तरमीशते, जनयति खलु व्रीहेर्वीजं न जातु यवाङ्कुरम् ” ॥१॥

उपसंहारार्थमाह-

इचेवं पमिलेहंति, वल्लया पमिलेहिणो ।

विनिगिच्छसमावन्ना, पंधारां च अकोविद्या ॥ ५ ॥

इत्येवमिति पूर्वप्रकान्तपरामर्शार्थः । यथा भीरवः संग्रामं प्रवि-
चिक्तयो बलयादिकं प्रत्यपेक्षिणा भवन्तीत्येवं तेषु प्रयोजिता
मन्दभाग्यतया अल्पसत्त्वा आजीविकाभयाद्याकरणादिकं जी-
वनोपायत्वेन प्रत्यपेक्षन्तं परिकल्पयन्ति । किंभूताः विचिकि-
न्ता चित्तविप्लुतिः किमेतं संयमभारमुत्तिष्ठन्तं नेतुं धर्मं सम-
र्थाः, उत नेतव्येवंभूताः । तथा चोक्तम्—“ लुब्धमणुपहमणि-
ययं, फालाद्भक्तं भोयणं विरक्तं । ऋमीत्ययं होमो, असिणा-
रं वेत्रचरे च ” ॥ १ ॥ तां समापन्नाः समागताः । यथा पन्थाने
प्रत्यकोविद्या अनिपुणाः—किमेतं पन्थां विवक्षितं भूभागं या-
स्यन्त्युत नेति?, इत्येवं कृतचित्तविप्लुतयो भवन्ति, तथा तेषु
संयमनाराधनां प्रति विचिकित्सां समापन्ना निमित्तगणितादिकं
जीविकार्थं प्रत्यपेक्षन्त इति ॥ ५ ॥

साम्प्रतं महापुरुषचेष्टिते दृष्टान्तमाह—

जे उ मंगापकालाम्मि, नापा सूरपुरंगमा ।

गां ते पिट्टमुवोहंति, किं परं मरणं सिया ? ॥ ६ ॥

ये पुनर्महासत्त्वाः, तुशब्दो विशेषणार्थः, संग्रामकाक्षे परा-
नोकयुक्तावसरं ज्ञातारो लोकविदिताः, कथम्?, शूराणामग्रग-
निनां युक्तावसरे सैन्याग्रस्फुटवर्तिन इति, एवंभूताः संग्रामं
प्रविशन्तां न पृष्ठमुत्प्रेक्षन्ते न दुर्गादिकमापन्नानाय पर्यालोच-
यन्ति, ते चाभङ्गकृतबुद्धयोऽपि त्वेवं मन्यन्ते—किमपरमत्रा-
स्माकं ध्विष्यति, यदि परं मरणं स्यात्, तत्र शाश्वतम्, यशः प्रवा-
दमिच्छतामस्माकं स्तोत्रं वर्तत इति । तथा चोक्तम्—“ विश-
राहभिरघ्नितश्वर-मनिरूपैः स्थास्तु वाञ्छन्तां विशदम् । प्राणै-
र्यदि च सुराणां, भवति यशः किं न पर्याप्तम् ? ” ॥ ६ ॥

तदेवं सुनन्ददृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—

एवं समुट्टिणं भिक्खू, वोमिज्जाऽगारवंधणं ।

आरंजं तिरियं कट्टु, आतत्ताए परिव्वए ॥ ७ ॥

एवमित्यादि । यथा-सुभटा ज्ञातारो नामतः कुलतः शौर्यतः
ज्ञिज्ञानश्च, तथा सन्नियदपरिकराः करशुहीतहेतयः प्रतिभट्ट-
समितिभेदिनो न पृष्ठोऽवलोकयन्ति । एवं भिक्खुरपि साधु-
रपि महासत्त्वः परलोकप्रतिस्पर्द्धितमिन्द्रियकषायादिकमरि-
वं जेतुं सम्यक् संयमोत्थानिनोत्थितः समुत्थितः । तथा चोक्तम्—
“ कोहं माणं च मायं च, लोहं पंचेदियाणि य । कुज्यं चैवमप्या-
णं, सच्चमपे जिणं जियं ” ॥ १ ॥ किं कृत्वा समुत्थितः? इति दर्शयति-
द्युत्तुज्यं त्यक्त्वा, अगारवन्धनं गृहपाशम् तथा आरम्भं सावद्या-
नुष्ठानरूपं तिर्यक् कृत्वाऽपहस्तयित्वाऽऽत्मनो प्राव आत्मत्वमशेष-
कर्मकलङ्कारहित्वं तस्मै आत्मत्वाय । यदि वा आत्मा मोक्षः, संय-
मो वा, तज्जावस्तस्मै तदर्थं, परि समंताद् वजेत् संयमानुष्ठानकि-
यायां दत्तावधानो भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥ सूत्र १ १ शु० ३ अ० ३ उ० ।
अज्जत्तविमुद्ध-अध्यात्मविशुद्ध-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे,
सूत्र १ १ शु० ४ अ० ३ उ० ।

अज्जत्तविसोहिजुत्त-अध्यात्मविशोधियुक्त-त्रि० । ३ त० ।

विशुद्धमावे, “ जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग-
स्स । सा होइ जिज्जरफला, अज्जत्तविसोहिजुत्तस्स ” ॥ १ ॥ ओ० ।

अज्जत्तवेइ (ण) -अध्यात्मवेदिन-त्रि० । सुखदुःखादेः स्व-

रूपतोऽवगन्तरि, आत्मा १ शु० १ अ० ७ उ० ।

अज्जत्तसंबुद्ध-अध्यात्मसंबुद्ध-त्रि० । अध्यात्मं मनस्तेन संबुद्धः ।

स्त्रीजोगादत्तमनासि, सूत्रार्थोपयुक्तनिर्दूषमनोयोगो च । “ वड्डुत्ते
अज्जत्तसंबुद्धे परिवज्जए सया पावं ” आचा० १ शु० ५ अ० ४
उ० । सूत्र ० ।

अज्जत्तसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मानुरूपे परिणामानु-
सारिणे, व्य० २ उ० ।

अज्जत्तसुद्ध-अध्यात्मशुद्धि-स्त्री० । चित्तजयोपायप्रतिपादन-
शास्त्रे, प्रश्न १ सम्ब० द्वा० ।

अज्जत्तसुद्धि-अध्यात्मशुद्धि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, अध्यात्मशु-
द्धिरेव फलदानं बाह्यशुद्धिः, जरतचक्रवर्तिनः बाह्यकरणस्य रजो-
हरणादेरभावेऽपि अध्यात्मशुद्ध्यैव केवलोत्पत्तेः । प्रसन्नचन्द्र-
स्य च बाह्यकरणवतोऽपि आन्तर्यकरणविकलस्य सप्तमपृथि-
धीप्रायोग्यकर्मवन्धात् पश्चाद्वर्तिन्या अध्यात्मशुद्ध्यैव मोक्षगम-
नात् । आ० चू० १ अ० ।

अज्जत्तसोहि-अध्यात्मशोधि-त्रि० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १
अ० । (वर्णनस्य ‘ अज्जत्तसुद्धि ’ शब्दे कृतम्)

अज्जत्तिय-आध्यात्मिक-त्रि० । आत्मनि अधि-अध्यात्मम्, तत्र
भव आध्यात्मिकः । आत्मविषये, आ० म० प्र० । भ० । वि० ।
ज्ञा० नि० । “ अज्जत्तियं चित्तिणं ” आत्मनि क्रियमाणे, “ पर-
किरियं अज्जत्तियं संसेइयं णो तं सातिणं ” आचा० २ शु० १३
अ० । आन्तरोपायसाध्ये सुखदुःखादौ, आध्यात्मिकं दुःखं द्वि-
विधम्—शारीरं मानसं च । शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनि-
मित्तम्; मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम् ।
सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखमिति साङ्ख्याः ।
स्या० । अध्यात्मनि मनसि भव आध्यात्मिकः । बाह्यनिमित्तान-
पेक्षे शोकाग्निभवे; “ अष्टमं क्रियास्थानमेतत् ” स० ।

अज्जत्तियवीरिय-आध्यात्मिकवीर्य-न० । आत्मन्यधि इति
अध्यात्मम्, तत्र जवमाध्यात्मिकम् । आन्तरशक्तिजनितं सात्त्विक-
मित्यर्थः । तच्च वीर्यं चेति । “ उज्जमधितिधीरत्तं; सौदीरत्तं
समा य गंजीरं । उवओगयोगतव सं-जमादि य होइ अज्जु-
प्यो ” ॥ १ ॥ इत्युक्तेः उद्यमधृत्वाद्वा, सूत्र १ शु० ५ अ० ।

अज्जत्तिय-अध्यात्म-न० । अधि आत्मनि वर्तत इत्यध्यात्मम् ।
सम्यग्धर्मध्यानादिज्ञावनयाम्, सूत्र १ शु० ५ अ० ।

अज्जत्तियओग-अध्यात्मयोग-पुं० । सुप्रणिहितान्तःकरणता-
याम्, धर्मध्याने च । सूत्र १ शु० १६ अ० । (निरूपणमस्य ‘ अ-
ज्जत्तियओग ’ शब्दे कृतम्)

अज्जत्तियओगसाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । चित्तै-
काग्रतादिज्ञाजि, उत्त० २६ अ० ।

अज्जत्तियओगसुद्धादण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । शु-
भचेतसा विशुद्धचारित्र्ये, सूत्र १ शु० १६ अ० ।

अज्जत्तियओग-अध्यात्मयोग-पुं० । योगभेदे, अष्ट० ६ अष्ट० ।
(वक्तव्यताऽस्य ‘ अज्जत्तियओग ’ शब्दे)

अज्जत्तियओगसाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । चित्तै-
काग्रतादिज्ञाजि, उत्त० २६ अ० ।

अज्जत्तियओगसुद्धादण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । शु-
भचेतसा विशुद्धचारित्र्ये, सूत्र १ शु० १६ अ० ।

अज्जत्तियज्जाणजुत्त-अध्यात्मध्यानयुक्त-त्रि० । प्रशस्तध्यानो-
पयुक्ते, प्रश्न ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्थदंड-अध्यात्मदण्ड-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्थदोस-अध्यात्मदोष-पुं० । कषाये, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।
अज्झत्थविन्दु-अध्यात्मविन्दु-पुं० । स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे,
श्रु० १४ अष्ट० ।

अज्झत्थमयपरिक्रमा-अध्यात्ममतपरीक्षा-स्त्री० । यशोविज-
यवाचकेन कृते ग्रन्थविशेषे, प्रति० ।

अज्झत्थपरय-अध्यात्मरत-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश० १० अ० ।
अज्झत्थवात्तिय-अध्यात्मप्रत्ययिक-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने,
सूत्र० २ श्रु० १२ अ० ।

अज्झत्थवयण-अध्यात्मवचन-न० । पोरुशवचनानां सप्तमे
वचने, आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अज्झत्थविसीयण-अध्यात्मविषीदन-न० । संयमकष्टमनुचूय
मनसि विषयीभवने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । (विवृतिरस्य
'अज्झत्थविसीयण' शब्दे निरूपिता)

अज्झत्थविमुद्ध-अध्यात्मविमुद्ध-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे,
सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अज्झत्थविसोहिजुत्त-अध्यात्मविशोधियुक्त-त्रि० । विशुद्ध-
भावे, ओ० ।

अज्झत्थवेइ (ण्)-अध्यात्मवेदिन्-त्रि० । सुखदुःखादेः स्वरू-
पतोऽवगन्तरि, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

अज्झत्थसंवुड-अध्यात्मसंवृत-त्रि० । स्त्रीभोगादत्तमनसि,
सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्धमनोयोगे च । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।
अज्झत्थसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मानुरूपे परिणामा-
नुसारिणि, व्य० २ उ० ।

अज्झत्थसुइ-अध्यात्मश्रुति-स्त्री० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशा-
स्त्रे, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्थसुद्धि-अध्यात्मशुद्धि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० चू०
१ अ० ।

अज्झत्थसोहि-अध्यात्मशोधिन्-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० चू०
१ अ० ।

अज्झत्थिय-आध्यात्मिक-त्रि० । आत्मविषये, आ० म० प्र० ।
आन्तरोपायसाधये सुखदुःखादौ, स्या० ।

अज्झत्थियवीरिय-आध्यात्मिकवीर्य-न० । उद्यमधृत्यादौ, सू-
त्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अज्झत्थोवाहिंसवन्ध-अध्यस्तोपाधिसम्बन्ध-पुं० । आत्मनि
प्राप्तपुद्गलसंसर्गजकर्मोपाधिसम्बन्धे, "निर्मलस्फटिकस्येव, स-
दृशं रूपमात्मनः । अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो, जरुस्तत्र विमुह्य-
ति " ॥१॥ अष्ट० ४ अष्ट० ।

अज्झत्थ-अध्यात्म-न० । चेतसि, दश० १ अ० । ध्याने, आच०
५ अ० ।

अज्झत्थयोग-अध्यात्मयोग-पुं० । अन्तःकरणशुद्धे धर्मध्या-
ने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झत्थयोगसाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । शुभ-
चेतसा विशुद्धचारित्र्ये, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झत्थयोगसुद्धादाण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । शु-
द्धचेतसा विशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झत्थकिरिया-अध्यात्मक्रिया-स्त्री० । अष्टमे क्रियास्थाने,
स्या० ५ अ० २ उ० ।

अज्झत्थजोग-अध्यात्मयोग-पुं० । सुप्रणिहितान्तःकरणतायां
धर्मध्याने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झत्थजोगसाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । चित्तै-
काग्रतादि नाजि, उक्त० २ अ० ।

अज्झत्थजोगसुद्धादाण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । शुभ-
भावेन विशुद्धचारित्र्ये, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झत्थजाणजुत्त-अध्यात्मध्यानयुक्त-त्रि० । प्रशस्तध्यानो-
पयुक्ते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्थदण्ड-अध्यात्मदण्ड-पुं० । शोकाद्यभिन्नवरूपे अष्टमे क्रि-
यास्थाने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्थदोस-अध्यात्मदोष-पुं० । कषाये, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अज्झत्थविन्दु-अध्यात्मविन्दु-पुं० । यथार्थनामाभिधेये स्वनाम-
ख्याते ग्रन्थे, अष्ट० १४ अष्ट० ।

अज्झत्थमयपरिक्रमा-अध्यात्ममतपरीक्षा-स्त्री० । यशोविजय-
कृते ग्रन्थविशेषे, प्रति० ।

अज्झत्थपरय-अध्यात्मरत-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश० १० अ० ।

अज्झत्थवात्तिय-अध्यात्मप्रत्ययिक-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने,
सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अज्झत्थवयण-अध्यात्मवचन-न० । हृदयगते वचनभेदे, पोरु-
शवचनानां सप्तममिदम् । आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अज्झत्थविसीयण-अध्यात्मविषीदन-न० । संयमकष्टमनुचूय
मनसि विषयीभवने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अज्झत्थविमुद्ध-अध्यात्मविमुद्ध-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे,
सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अज्झत्थविसोहिजुत्त-अध्यात्मविशोधियुक्त-त्रि० । विशुद्धभा-
वे, ओ० ।

अज्झत्थवेइ (ण्)-अध्यात्मवेदिन्-त्रि० । सुखदुःखादेः स्वरू-
पतोऽवगन्तरि, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

अज्झत्थसंवुड-अध्यात्मसंवृत-त्रि० । स्त्रीभोगादत्तमनसि, सूत्रार्-
थोपयुक्तनिरुद्धमनोयोगे च । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।
अज्झत्थसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मानुरूपे परिणामानु-
सारिणि, व्य० २ उ० ।

अज्झत्थसुइ-अध्यात्मश्रुति-त्रि० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशास्त्रे,
प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्थसुद्धि-अध्यात्मशुद्धि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।

अज्झत्थसोहि-अध्यात्मशोधि-त्रि० । भावशुद्धौ, आ० चू०
१ अ० ।

अज्झत्थिय-आध्यात्मिक-त्रि० । आत्मनि क्रियमाणे आन्तरोपा-
यसाधये सुखदुःखादौ, आचा० २ श्रु० १३ अ० ।

अज्जप्पियवीरिय-आध्यात्मिकवीर्य-न० । उद्यमधून्यादौ,
मूत्र०? शु० ८ अ० ।

अज्जयण-अध्ययन-न०। अधीयते ज्ञायन्ते एभिरित्यध्ययनानि ।
नामत्तु (वाचकशब्देषु), “ता कथं देवताणं अज्जयणं आहिताति-
चपजा ” चं० प्र०? पाद० । सू० प्र० । अधीयते विनयादिक्रमेण
गुरुसमीप इत्यध्ययनम् । विशिष्टार्थान्वितसंदर्भेषु श्रुतशेदे, जी०
१ प्रति० । “अज्जयणं पिय तिविहं, नुत्ते अत्थे य तदुज्जप चेव”
विशे० । तन्निक्षेपो यथा-

से किंतं अज्जयणे? । अज्जयणे चतुर्विधे पणत्ते । तं जहा-
णामज्जयणे, उवणज्जयणे, दव्वज्जयणे, भावज्जयणे । एा-
मद्ववणाओ पुव्ववसिआओ । से किंतं दव्वज्जयणे? । दव्वज्ज-
यणे हुविहे पणत्ते । तं जहा-आगमओ अ, एाआगमओ अ ।
मे किंतं आगमओ दव्वज्जयणे? । आगमओ दव्वज्जयणे जस्स
एां अज्जयणं ति पदं सिक्खितं त्रितं जितं मितं परिजितं जाव
एवं जावइआ अणुवत्ता आगमओ तावइआइं दव्वज्ज-
यणाइं । एवमेव ववहारस्स वि। संगहस्स णं एां वा अणेगे वा
जाव सेत्तं आगमओ दव्वज्जयणे । से किंतं णो आगमओ दव्व-
ज्जयणे? । णो आगमओ दव्वज्जयणे तिविहे पणत्ते । तं जहा-
जाणगसरीरदव्वज्जयणे, भविअसरीरदव्वज्जयणे, जाणग-
सरीरजविअसरीरवइरित्ते दव्वज्जयणे । से किंतं जाणगसरी-
रदव्वज्जयणे? । जाणगसरीरदव्वज्जयणे अज्जयणपदत्थाहि-
गारजाणयस्स जं सरीरं ववगयचुअचाविअचत्तेदं जीववि-
प्पजं जाव अहोएं इमेणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भा-
वेणं अज्जयणेत्ति पदं आघवितं जाव उवदंसितं जहा-को दिट्ठं
तो-अयं घयकुंभे आसी, अयं महकुंभे आसी, सेत्तं जाणगसरी-
रदव्वज्जयणे । से किंतं भवियसरीरदव्वज्जयणे? । भवियस-
रीरदव्वज्जयणे जे जीवे जोणिजम्मणनिकखंते इमेणं चेव आ-
दत्तएणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं ज्ञावेणं अज्जयणेत्ति
पदं से अकाळे सिक्खिस्सति, न ताव सिक्खति, जहा-को दि-
ट्ठतो-अयं महकुंभे भविस्सइ, अयं घयकुंभे जविस्सइ, सेत्तं भ-
विअसरीरदव्वज्जयणे । से किंतं जाणगसरीरजविअसरीरवइ-
रित्ते दव्वज्जयणे? । जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वज्ज-
यणे पत्तयोत्थयलिखितं, सेत्तं जाणगसरीरभवियसरीरवइ-
रित्ते दव्वज्जयणे । सेत्तं णो आगमओ दव्वज्जयणे । से किंतं भा-
वज्जयणे? । भावज्जयणे हुविहे पणत्ते । तं जहा-आगमओ अ
एां आगमओ अ । से किंतं नो आगमओ भावज्जयणे? । अ-
ज्जप्पस्साणयणं, कम्माणं अवचओ उवचिआणं । अणु-
वचउ न वियाणं, तस्मा अज्जयणमिच्छइ ॥ १ ॥ सेत्तं णो
आगमओ भावज्जयणे, सेत्तं भावज्जयणे, सेत्तं अज्जयणे ।
(से किंतं अज्जयणे इत्यादि) नामस्थापना, द्रव्यज्ञावमेदात् ।
चतुर्विधोऽप्यध्ययनशब्दस्य निक्षेपः । तत्र नामादिविचारः सर्वो-
ऽपि पूर्वोक्तद्रव्यावश्यकानुसारेण वाच्यः, यावन्तो आगमतो ज्ञा-
वाध्ययने । अज्जप्पस्सायणमित्यादिगाथाव्याख्या-अस्य सचि-
त्त-आणयणं, इह निरुक्तविधिना प्राकृतस्वाभाव्याच्च प्रकारस-

काराऽऽकारणकारणकृष्णमध्यगतवर्णचतुष्टयद्वये अज्जयणमिति
भवति, अध्यात्मं चेतस्तस्यायनमध्ययनमुच्यत इति ज्ञावः । आ-
नीयते च सामायिकाद्यध्ययने शोभनं चेतोऽस्मिन् सत्यशुभक-
र्मप्रवन्धनात् । अत एवाह-कर्मणामुपचितानां प्रागुपनिबद्धानां
यतोऽपचयो ह्यसोऽस्मिन् सति विद्यते नवानां चानुपचयो व-
न्धो यस्तस्माद्धीदं यथोक्तशब्दाद्यर्थप्रतिपत्तेः ‘अज्जयणं’ प्राकृत-
भाषायामिच्छन्ति सूरयः, संस्कृते त्विदमध्ययनमुच्यत इति ।
सामायिकादिकं चाध्ययनं ज्ञानक्रियासमुद्भात्मकम् । ततश्चागम-
स्यैकदेशशुचित्वान्नो आगमतोऽध्ययनाभिदमुक्तमिति गार्थार्थः ।
अनु० । “जेण सुहृत्पज्जयणं, अज्जप्पाणयणं महियणयणं वा ।
वोहस्स संजमस्स व, मोक्खस्स व जं तमज्जयणं” ॥ १ ॥ इह नैरु-
क्तेन विधिना प्राकृतस्वाभाव्याच्च सिद्धम् । विशे० । आ० म० द्वि० ।
निरुक्त्यन्तरेणैतदेव व्याख्यातुमाह-

अधिगममंति व अत्था, अणेण अधिगं वणयणमिच्छंति ।

अधिगं व साहु गच्छति, तस्मा अज्जयणमिच्छंति । उक्त० नि०
अधिगम्यन्ते वा परिच्छिद्यन्ते वाऽर्था जीवादयोऽनेनाधिकं वा
नयनं प्रापणं मर्यादात्मनि ज्ञानादीनामानेनेतीच्छन्ति, विद्वां-
स इति शेषः । अधिकमनर्गवं शीघ्रतरमिति यावत्, वा सर्वत्र
विकल्पार्थः । (साहु चि) साधयति पौरुषेयीभिर्विशिष्टक्रिया-
जिरपवर्गमिति साधुर्गच्छति यानर्थान् मुक्तिम्, अनेनेत्यत्रापि यो-
ज्यते, यस्मादेवमेवं च ततः किमित्याह-तस्मादध्ययनमिच्छ-
न्ति, निरुक्तिविधिनाऽर्थनिर्देशपरत्वाद् वा । अस्यायतेरेतेर्वा अधि-
पूर्वस्याध्ययनमिच्छन्तीति वाऽभिधानम् । सर्वत्र सुत्रार्थावा-
ध्या व्याख्याविकल्पानां पूर्वाचार्यसंमतत्वेनाहुष्टव्यापना-
र्थमिति गार्थार्थः । उक्त० १ अ० । अनु० । आ० म० । दश०
स्था० । सूत्र० । अधीयत इत्यध्ययनम् । कर्मणि ल्युट् । पठ्य-
माने, आव० ४ अ० । धर्मप्रकृतौ, दश० ४ अ० । “अध्ययनानि
शुलो कच्युतानि ”

चोयालीसं अज्जयणा इसिजासिया दियाहोगच्छुया
भासिया ।

चतुश्चत्वारिंशतं (इसिभासिय चि) ऋषिभाषिताध्ययनानि
कालिकश्रुतविशेषभूतानि (दियालोयच्छुयाभासिय चि) देवलो-
कच्युतः ऋषीभूतैराभाषितानि देवलोकच्युताभाषितानि । क-
चित्पाठस्तु-“ देवद्वयोच्छुयाणं चोयालीसं इसिभासियज्जयणा
पन्नत्ता ” । सम० ४३ सम० । अधि-इह-ज्ञावे ल्युट् । पुनः पु-
नर्ग्रन्थाज्यासे, विशे० । स्वाध्याये, षो० १३ विव० । पठने, शु-
रमुखोच्चारणानुसारिणि उच्चारणे च । वाच० । (पठनवक्तव्यताऽ
खिला ‘उद्देश’ ‘वायणा’ ‘उवसंपया’ इत्यादिशब्देषु द्रष्टव्या)
अज्जयणकप्प-अध्ययनकल्प-पुं० । योग्यताऽनुसारेण वाचना-
दानसामाचार्याम, पं० मा० ।

वक्खातो सुतफप्पो, एतो वोच्चापि अज्जयणकप्पं ।

दायव्वं जेण विहिणा, जग्गुणजुत्तस्स वा तं तु ॥

जोए परियाए अण-रिहे अरहे य विणयपण्वने ।

सुत्तत्थ तदुभएसुं, जे अज्जयणसु अणुभागा ॥

जस्सागाढो जोगो, तं आगाढे ए चेव दायव्वं ।

अणगाढे अणगाढं, एतो वोच्चापि परियाणं ॥

जं संखपरिमाणं, जणितं सुत्तस्मि तिवरिसादीयं ।

तं तेणं माणेणं, उदिसियव्वं नवे सुत्तं ॥
 खुदियविसाणयविज्ज-त्तिमादि दीहे च जूयमायाए ।
 एवि दिज्जंति अणरिहे, अणरिहेत्ते तु इमो होंति ॥
 तित्तिणिणं चलचित्ते, गाणं गाणिणं य दुव्वलचरित्ते ।
 आयरिय पारिभावी, वामायट्टे य पिसुणं य ॥
 आदी अदिट्ठभावे, अकरुसमायारिए तरुणधम्मे ।
 गव्वितपइएहणिणहइ, वेदसुत्ते वज्जितो अवंरुहरो ॥
 अकुलीणो ति य दुम्मे-हो दमगे मंदवुप्पि ति ।
 अवियप्पलाभलप्पी, सीसो परिचवइ आयरिए ॥
 सो वि य सीसो दुविहो, पव्वावियतो य सिक्खवउ चेव ।
 सो सिक्खितो वि तिविहो, सुत्ते अत्थे य तदुजयणं ॥
 एतंसि अणरिहाणं, जे पन्निक्खवाउ होंति सव्वेसि ।
 परिणामगा य जे तु, ते अरिहा होंति णायव्वा ॥
 एतारिसे विणीतो, सुत्तं अत्थे य जत्तिया भेदा ।
 अज्जयणा वेसजुया, सेणा अससेए देज्जा ॥ पं० ना० ।
 ('सुय' शब्देऽस्य विस्तरो छप्यः)

अज्जयणगुणानि उच्च-अध्ययनगुणानियुक्त-त्रि० । प्रक्रान्तशा-
 खनिष्पन्दचूते प्रक्रान्ताध्ययनानिहितगुणसमान्विते, दश० ए
 अ० ४ उ० ।

अज्जयणगुणि (ण)-अध्ययनगुणिन्-त्रि० । प्रक्रान्ताध्यय-
 नोक्तगुणवति, दश० १० अ० ।

अज्जयणछक्क-अध्ययनपदक्क-न० । आवश्यकनामश्रुते, तस्य
 सामायिकादिपरुध्ययनकलापात्मकत्वात् । विशेष० ।

अज्जयणठक्कवग्ग-अध्ययनपदक्कवर्ग-पुं० । आवश्यक, पडध्य-
 यनकलापात्मकत्वात्तस्य । विशेष० । अनु० ।

अज्जवसाण-अध्यवसान-न० । अतिहर्षविपादान्यामधिकम-
 वसानं चिन्तनमध्यवसानम् । विशेष० । रागस्नेहभयात्मकेऽध्य-
 वसाये, सा० ७ उ० । रागभयस्नेहभेदात् त्रिविधमध्यवसानम् ।
 (तन्निमित्तक आयुज्जदा द्वि० भा० १० पृष्ठे 'आउ' शब्दे वक्ष्यते)
 अन्तःकरणप्रवृत्तौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । मानस्यापरिणतौ,
 ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । उच्च० । "मणसंकप्पेत्ति वा अज्जवसाणं-
 ति वा एगट्ठा" नि० चू० १० उ० । प्रकर्षतोऽपि प्रयत्नभेदे, अनु० ।
 विशेष० । औ० ।

एरइयाणं जंते ! केवतिया अज्जवसाणा पप्पत्ता ? ।

गोयमा ! असंखिज्जा अज्जवसाणा पप्पत्ता । ते णं जंते !
 किं पसत्था, अपसत्था ? । गोयमा ! पसत्था वि अपसत्था
 वि । एवं जाव वेमाणियाणं ।

अध्यवसायचिन्तायां प्रत्येकनैरयिकादीनामसंख्येयाध्यवसाना-
 नि प्रत्येकं प्रायोऽन्यान्याध्यवसायजावात् । प्रज्ञा० ३४ पद ।
 अन्तःकरणे, आ० म० द्वि० । उपा० । प्रज्ञा० । आव० ।

अज्जवसाणजोगणिव्वत्तिय-अध्यवसानयोगनिर्वर्तित-त्रि० ।
 अध्यवसानं जीवपरिणामः, योगश्च मनःप्रभृतिव्यापारस्तान्यां
 निर्वर्तितो यः स तथा । परिणामेन मनोयोगादिना चासाधिते,
 भ० २५ श० ८ उ० ।

अज्जवसाणाणिव्वत्तिय-अध्यवसाननिर्वर्तित-त्रि० । मनःप-
 रिणतिसाध्ये, " अज्जवसाणाणिव्वत्तियं करणोवाणं से य
 काले तं गाणं विप्पज्जहिता " अध्यवसाननिर्वर्तितेन उत्तरो-
 तव्यं मयेत्येवंरूपाध्यवसायनिर्वर्तितेन । भ० २५ श० ८ उ० ।

अज्जवसाणावरणिज्ज-अध्यवसानावरणीय-न० । अध्य-
 वसानस्याऽऽवरणरूपे कर्मभेदे, भ० ६ श० ३१ उ० ।

अज्जवसाय-अध्यवसाय-पुं० । अधि-अव-पो-घञ् । इदमेवेति
 विषयपरिच्छेदे निश्चये, स चात्मधर्म इति नैयायिकाः । बुद्धिधर्म
 इति वेदान्तिनः । उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेः
 रजस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रकः सोऽयमध्यवसाय इति
 वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाऽऽख्यायत इति साह्यथाः । उत्साहे,
 वाच०-संकल्पे, आव० ३ अ० । सुदमेपु आत्मनः परिणामविशेषेषु,
 आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । अनुभागबन्धस्थाने, "अनुभाग-
 बन्धगाणं, अज्जवसाया व एगट्ठा" पं० सं० २ द्वा० । पं० चू० ।
 अज्जवसायट्ठाण-अध्यवसायस्थान-न० । परिणामस्थाने, तानि
 करणत्रयेऽसंख्यानि । अष्ट० ५ अष्ट० । ('करण' शब्दे तृ० ज्ञा०
 ३६१ पृष्ठे दृश्यानि चैतानि)

अज्जवसिअं-निवापिते, मुख्ये च । दे० ना० १ वर्ग ।

अज्जवसिय-अध्यवसित-न० । अध्यवसाये, अनु० ।

अज्जवसं-देशी-आकुप्ते, दे० ना० १ वर्ग ।

अज्जहिय-आत्महित-न० । आत्मनां हितमात्माहितम् ।
 स्वहिते, प्रश्न० १ संव० द्वा० ।

अज्जा-देशी-असत्याम्, शुभायाम्, नववध्वाम्, तरुण्याम्,
 एतस्यां च । दे० ना० १ वर्ग ।

अज्जाय-अध्याय-पुं० । आ मर्यादया प्रवचनोक्तेन प्रकारेण
 पठनमध्यायः । स्वाध्यायकरणे, प्रव० । अध्ययने, आव० ४ अ० ।
 स्था० । कर्मणि घञ् । वेदादिशास्त्रस्यैकार्थकविषयसमाप्ति-
 द्योतके विश्रामस्थानरूपे अंशविशेषे, वाच० ।

अज्जारुह-अध्यारुह-पुं० । उपर्युपर्यध्यारोहन्तीति अध्यारुहाः ।
 वृक्षोपरिजातेषु वृक्षान्निधानेषु कामवृक्षाभिधानेषु वा वनस्पतिषु,
 सूत्र० ७ ते च वल्लीवृक्षान्निधाना इति वृक्षाणां शास्त्राप्ररोहे च । सूत्र०
 २ श्रु० ३ अ० । प्रज्ञा० । आचा० (अध्यारुहतयोत्पन्नानां जीवा-
 नामाहारशरीरवर्णादिव्यवस्था 'धणस्सइ' शब्दे वक्ष्यते)

अज्जारोव-अध्यारोप-पुं० । अधि-आ-रुह-णिच्-पान्ता-
 देशः-घञ् । अतस्मिन् तद्बुद्धौ, यथा-रज्जौ सर्पधीः । वाच० ।
 भ्रान्तौ, पो० ४ विव० ।

अज्जारोवण-अध्यारोपण-न० । अधि-रुह-णिच् । पान्तादेशः,
 ल्युट् । अतिशयेनाऽऽरोपणे धान्यादेर्वपने, वाच० । पर्य्यनु-
 योजने, विशेष० ।

अज्जारोवमंरुल्ल-अध्यारोपमण्डल-न० । अध्यारोपो भ्रान्ति-
 स्तया मण्डलं मण्डलाकारम् । मिथ्याज्ञानेन वृत्ताऽऽकाराऽऽ
 रोपणे, " आगमदीपेऽध्यारोपमण्डलं तत्त्वतोऽसदेव "
 पो० ४ विव० ।

अज्जारोह-अध्यारोह-पुं० । वृक्षाणां शास्त्राप्ररोहे, सूत्र० २
 श्रु० ३ अ० ।

अज्जावय-अध्यापक-पुं० । अध्यापयति । अधि-इह-णिच्,

एवम् । अध्ययनकारयितरि, वाच० । उपाध्याये च, “अज्जा-
वयपं पडिक्कभासी ” उक्त० १२ अ० । आ० म० । आ० चू० ।
अज्जावसत्त-अध्यावसत्त-वि० । मध्ये वर्त्तमाने, “गिहमज्जा-
वसन्तस्स ” गृहमध्यावसन्तः-गृहे वर्त्तमानस्य । उपा० १ अ० ।
अज्जावसित्ता-अध्युत्प-अव्य० । मध्ये वर्त्तयित्वेत्यर्थे, “पंच-
नित्यगता हुमारयासमज्जावसित्ता ” स्था० ५ टा० ३ उ० ।
अधिष्ठायेत्यर्थे च । वाच० ।

अज्जासणा-अध्यासना-ली० । सहने, उक्त० २ अ० । (परी-
पहणानध्यासहना ‘परीसह’ शब्दे कृष्ट्या)

अज्जाहार-अध्याहार-पुं० । अध्याख्याते ज्ञानायाऽनुसन्धी-
यते । अधि-आ-ह-घञ् । आकाङ्क्षविषयपदानुसन्धाने, ऊहे,
नक्के । अपूर्वोत्प्रेक्षणं च । वाच० । व्याख्याऽङ्गमेव । आचा० १
श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अज्जीण-अद्वीण-न० । अर्थिभ्योऽनवरतं दीयमानमपि वर्द्धत
एव, न तु क्षीयत इत्यक्षीणम् । अथवा व्यवच्छिन्नित्यनयमतेन
नवर्द्धव व्यवच्छेदादलीकवदक्षीणम् । विशेष० । आ० म० ।
सामायिकचतुर्विंशतिस्तवात्मक अध्ययने, अनु० ।

अस्य निक्षेपः-

से किं अज्जीणे ? अज्जीणे चतुर्विधे पण्ये । तं जहा-
णामज्जीणे, ठवणज्जीणे, दव्वज्जीणे, नावज्जीणे । नामज-
वणाओ पुव्वं वप्पिआओ । से किं दव्वज्जीणे ? दव्वज्जीणे
दुविहे पण्ये । तं जहा-आगमओ अ, णोआगमओ अ । से किं
न आगमओ दव्वज्जीणे ? दव्वज्जीणे जस्स णं अज्जीणे ति
पदं तिक्खित्तं जितं मितं परिजितं जाव सेत्तं आगमओ दव्व-
ज्जीणे । से किं नो आगमओ दव्वज्जीणे ? नोआ० दव्व-
ज्जीणे ति विहे पण्ये । तं जहा-जाणगसरीरदव्वज्जीणे, नवि
असरीरदव्वज्जीणे, जाणगसरीरनविअसरीरवइरित्ते दव्व-
ज्जीणे । से किं जाणगसरीरदव्वज्जीणे ? जाणगसरीरदव्व-
ज्जीणे अज्जीणपयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगय-
जुअचाविअचत्तदहं जहा दव्वज्जीणे तहा जाणिअव्वं जाव
सेत्तं जाणगसरीरदव्वज्जीणे । से किं नविअसरीरदव्वज्जी-
णे ? नविअसरीरदव्वज्जीणे जे जीवे जोणिजम्मणिनिरव-
ति जहा दव्वज्जीणे जाव सेत्तं नविअसरीरदव्वज्जीणे ।
से किं जाणगसरीरनविअसरीरवइरित्ते दव्वज्जीणे ?
दव्वज्जीणे सव्वागाससेदी सेत्तं जाणगसरीरनविअसरी-
रवइरित्ते दव्वज्जीणे, सेत्तं नो आगमओ दव्वज्जीणे, सेत्तं
दव्वज्जीणे । से किं नावज्जीणे ? भावज्जीणे दुविहे
पण्ये । तं जहा-आगमओ अ, नोआगमओ अ । से किं आ-
गमओ भावज्जीणे ? नावज्जीणे जाणए उवइत्ते । सेत्तं आ-
गमओ भावज्जीणे । से किं नो आगमओ भावज्जीणे ?
जह दीवा दीवसत्तं, पइप्पए दीप्पए अ सो दीवो । दीवसमा
आयरिआ, दिप्पति परं च दीवति ॥ १ ॥ सेत्तं नो आ-
गमओ नावज्जीणे, सेत्तं नावज्जीणे, सेत्तं अज्जीणे ॥

अत्रापि तथैव विचारः, या तु (सव्वागाससेदी ति)
सर्वाकांशं लोकालोकनमःस्वरूपम्, अस्य संबन्धश्रेणिः प्रदे-
शापहारतोऽपहियमाणाऽपि न कदाचित् क्षीयते, अतो क्ष-
शरीरमव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्याक्षीणतया प्रोच्यते, द्रव्य-
ता चास्याऽऽकाशद्रव्यान्तर्गतत्वादिति । अत्र वृद्धा व्याचक्षते-
यस्याच्चतुर्दशपूर्वविद आगमोपयुक्तस्यान्तर्मुहूर्त्तमात्रोपयोग-
काले येऽर्थोपलम्भोपयोगपर्यायास्ते प्रतिसमयमेकैकापहारे-
णानन्ताभिरप्युत्सर्पिणीभिर्नापहियन्ते, अतो भावाक्षीणतेहा-
वसेया । नो आगमतस्तु भावाक्षीणता-शिष्येभ्यः सामायिका-
दिश्रुतप्रदानेऽपि स्वात्मन्यानाशादित्येतदेवाह— (जह दीवा)
यथा दीपादनधिज्ञतादीपशतं प्रदीप्यते प्रवर्तते, स च मूलभूतो
दीपस्तथापि तेनैव रूपेण प्रवर्तते, न तु स्वयं क्षयमुपयाति । प्र-
कृते संबन्धयन्नाह—एवं दीपसमा आचार्या दीप्यन्ते स्वयं वि-
चक्षितश्रुतत्वेन तथैवावतिष्ठन्ते, परं च शिष्यवर्गं दीपयन्ति-श्रुत-
सम्पदं लभन्त्यन्ति । अत्र नो आगमतो भावाक्षीणता श्रुतदायका-
चार्योपयोगस्यागमत्वाद्, चाक्षययोगयोश्चागमत्वाद्भावनीयेति
वृद्धा व्याचक्षते इति गाथार्थः । अनु० । यथा दीपाद् दीपशतं प्रदी-
प्यते ज्वलति, सोऽपि च दीप्यते दीपः, न पुनरन्यान्यदीपोत्पत्ता-
वपि क्षीयते । तथा किमित्याह—दीपसमा आचार्या दीप्यन्ते सम-
स्तशास्त्रार्थविनिश्चयेन स्वयं प्रकाशन्ते, परञ्च शिष्यं दीपय-
न्ति शास्त्रार्थप्रकाशनशक्तियुक्तं कुर्वन्ति । इह च तात्स्थ्यात्तद्व्य-
पदेश इत्याचार्यशब्देन श्रुतज्ञानमेव बोद्धव्यम्, भावाक्षीणस्य प्रस्तुत-
त्वात्, तस्यैव चाक्षयत्वसंभवादिति गाथार्थः । उक्त० १ अ० ।
अज्जीणज्जणय-अक्षीणज्जणक-वि० । अक्षीणकलहे,
आव० ४ अ० ।

अज्जुववप्प-अध्युपपन्न-वि० । अधिकमत्यर्थमुपपन्नस्तच्चित्त-
स्तदात्मकः । विषयपरिमोगायतजीविते, आचा० १ श्रु० १ अ०
७ उ० । स्था० । म० । अधिकं तदेकाग्रतां गते, स्था० २ अ० । वि० ।
म० । जातानुरागे, व्य० २ उ० । मूर्च्छिते, आचा० २ श्रु० १ अ० ८
उ० । गृहे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । “मुच्छिप गिद्धे गट्ठिप अज्जु-
ववप्पे य ” इति एकार्थाः । वि० । “अज्जोववप्पा कामेहिं, खो-
इज्जंता गया गिहं ” अध्युपपन्नाः कामगतिचिन्ताः । सूत्र० १
श्रु० ३ अ० २ उ० । अज्जोववप्पा कामेहिं मुच्छिपया ” अध्युप-
पन्ना गृह्णाः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । पौनःपुन्येनाभिलषमाणे,
सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आधिक्येन भोगेषु बन्धे, सूत्र० २ श्रु० १
अ० । स्था० ।

अज्जुसिर-अज्जुपिर-वि० । न० व० । शृङ्गणज्जुपिररहिते, रा० ।
“अज्जुसिरं जत्थ कोट्टरं नत्थि ” नि० चू० २ उ० । तृणाद्य-
नवच्छिन्ने, घ० ३ अधि० । कुशवनतृणादौ, संस्तारकमेवे च । नि०
चू० २ उ० ।

अज्जुसिरतण-अज्जुपिरतण-न० । दर्जादौ, शुषिररहिते तृणे
च । जीत० ।

अज्जेसणा-अध्येषणा-ली० । अधि-इप्-युच्-टाप् । सत्कारपूर्व-
कनियोगे, सम्म० । अधिका एषणा प्रार्थना । अधिकमर्थने, स्त्री० ।
वाच० ।

अज्जोयरय-अध्यवपूरक-पुं० । अधि आधिक्येनाध्यवपूरणं
स्वार्थदत्ताधिअयणादेः साध्वागमनमवगम्य तद्योग्यमङ्गसि-
द्ध्यर्थं प्राचुर्येण भरणमध्यवपूरः । स एव स्वार्थिककप्रत्ययवि-
धानादध्यवपूरकः, तद्योगाद्भक्ताद्यव्यवपूरकः । प्रव० ६७

द्वा०। स्वार्थमूलाद् ग्रहणे कृते साध्याद्यर्थमधिकतरकरणप्रक्षेपणे-
न भक्तादौ संपादिते सति, तत्र सम्भवति षोडशे उद्गमद्वये,
भ०६ श० ३३ उ०। “सछापण मूलगहणे, अज्जोयर होइ प-
क्खेवो” स्था० ६ ग्रा०। द०। ध०। आचा०। पं०व०। पंचा०।

अधुनाऽध्यवपूरकद्वारमाह-

अज्जोयरओ तिविहो, जावत्तिय सधरमीस पासंडे ।

मुल्लम्मि य पुव्वकए, ओयरई तिएह अट्टाए ॥

अध्यवपूरकस्त्रिकारः। तद्यथा-(जावत्तिय इति) स्वगृह-
मिश्रयोः शब्दयोरत्रापि संबन्धनात् स्वगृहयावदर्थिकमिश्रः (स
धरमीस त्ति) अत्र साधुशब्दोऽध्याह्रियते, स्वगृहसाधुमिश्रः ।
(पासंडे इति) अत्रापि यथायोगं स्वगृहमिश्रशब्दसंबन्धः ।
स्वगृहपापणमिश्रः। स्वगृहश्रमणमिश्रः स्वगृहपापणमिश्र-
ऽन्तर्भावितः पृथग् नोक्तः । त्रिविधस्यापि सामान्यतो लक्ष-
णमाह-(मूलम्मीत्यादि) मूले आरम्भेऽग्रेसंभुत्तणस्थालीज-
लप्रक्षेपादिरूपे, पूर्वं यावदर्थिकाद्यागमनात् प्रथममेव स्वार्थं
निष्पादिते पश्चात् यथासंभवं त्रयाणां यावदर्थिकादीनाम-
र्थायावनारयति, अधिकतरान् तण्मुलादीन् प्रक्षिपति, ए-
षोऽध्यवपूरकः । अत एव चास्य मिश्रजाताद्भेदः । यतो मिश्र-
जातं तदुच्यते-यत् प्रथमत एव यावदर्थिकाद्यर्थमात्मार्थं च
मिश्रं निष्पाद्यते, यत् पुनरारभ्यते स्वार्थं, पश्चात्प्रभूतानर्थिनः
पापण्डिनः साधून् वा समागतानवगम्य तेषामर्थायाधिकतर-
जलतण्मुलादि प्रक्षिप्यते, सोऽध्यवपूरकः, इति मिश्रजाता-
दस्य भेदः ।

अमुमेव भेदं दर्शयति-

तंदुल जल आयाणे, पुप्फकस्से सागवेसणे लोणे ।

परिमाणे नाणत्तं, अज्जोयर मीसजाए य ॥

इह “वयत्तयोऽप्यासाम्” इति वचनान् सप्तमी-यथायोगं पष्ठ्यर्थे
तृतीयायै वेदितव्या। ततोऽयमर्थः-अध्यवपूरकस्य मिश्रजातस्य
च परस्परं नानात्वं हि तण्मुलपुष्पफलशाकवेशनलवणादान-
काले यद् विचित्रं परिमाणं तेन द्रष्टव्यम् । तथाहि-मिश्रजाते
प्रथमत एव स्थाल्यां प्रभूतं जलमारोप्यते, अधिकतराश्च त-
ण्मुलाः कण्ठनादिभिरुपक्रम्यन्ते, फलादिकमपि च प्रथमत एव
प्रभूततरं संरज्यते । अध्यवपूरके तु प्रथमतः स्वार्थं स्तोक्ततरं
तण्मुलादि गृह्यते, पश्चाद् यावदर्थिकादिनिमित्तमधिकतरं तण्मु-
लादि प्रक्षिप्यते, तस्मात्तण्मुलादीनामादानकात्रे यद् विचित्रं
परिमाणं तन्मिश्राध्यवपूरके विशोधिकादौ नानात्वमवसेयम् ।

संप्रत्यध्यवपूरकस्य कल्पविधिमाह-

जावत्तिए विसोही, सधरपासंनिमोसए पुई ।

द्विमे विसोहि दिन्न-म्मि कप्पइ न कप्पई सेसं ॥

यावदर्थिके स्वगृहयावदर्थिकमिश्रेऽध्यवपूरके शुरुभक्तमध्य-
पतिते यदि तावन्मात्रमपनीयन्ते ततो विशोधिर्भवति । अत-
एव स्वगृहयावदर्थिकमिश्रोऽध्यवपूरको विशोधिकोऽपि वक्ष्यते ।
स्वगृहपापण्डिमिश्रे, नपलक्षणत्वात् स्वगृहसाधुमिश्रे च शुरु-
भक्तमध्यपतिते पूतिर्भवति, न कल्पते तद्भक्तम्, पूतिदोषद्वयं ज-
वतीत्यर्थः । तथा विशोधौ विशोधिकोटिरूपे यावदर्थिकाध्यव-
पूरके त्रिमे यावन्तः कणाः कार्पटिकाद्यर्थं पश्चात् क्षिप्तास्ताव-
न्मात्रे स्थाल्याः पृथक्कृते, कार्पटिकादिभ्यो वा दत्ते सति, शेष-
मुद्धरितं यद्भक्तं तत्साधूनां कल्पते । शेषं पुनः स्वगृहपापण्डि-
मिश्रस्वगृहसाधुमिश्राध्यवपूरकं न कल्पते । किमुक्तं भवति ? ।

गृहीतं तत्तावन्मात्रं स्थाल्याः पृथक्कृतं, दत्तं वा पापण्ड्यादि-
न्यस्तथापि यत् शेषं, तत्र कल्पत इति ।

‘ जावत्तिए विसोही ’ इत्यवयवं विशेषतो व्याख्यानयति-

त्रिन्नम्मि तओ उक्क-द्वियम्मि पुट्ठकए कप्पइ सेसं ।

आहवणाए दिन्नं, व तत्तियं कप्पए सेसं ॥

विशोधिकोटिरूपे यावदर्थिकेऽध्यवपूरके यावदर्थिकं पश्चात्
प्रक्षिप्तं तावन्मात्रे त्रिमे पृथक्कृते, तत्र त्रयो रेखयाऽपि जवति,
तत आह-(तत्रो उक्कद्वियम्मि) तत्स्वस्थादुत्कर्षितं उत्पादिते,
इहोत्कर्षितं स्वस्थानादुत्पाद्य शेषभक्तस्योपरि निक्षिप्तमपि भ-
ण्यते, ततो विशेषणान्तरमाह-पृथक्कृते स्थाल्या बहिर्निष्का-
शिते, शेषं यद्भक्तं तत्साधूनां कल्पते । अथवा आज्ञवनया उद्दे-
शेन, न तु शिष्यादिपरिगणनेन यदि तावन्मात्रं कार्पटिकादिभ्यो
दत्तं स्यात् ततः शेषं कल्पते । पि० । तत्र प्रायश्चित्तं प्रत्येकं
मासगुरु । वृ० १ उ० । “ यावतियअज्जोयरए मासगुरु, सव-
रपासंरअज्जोयरए मासगुरु ” । पं० चू० । अध्यवपूरकान्तर्भेदद्वये
एकाशनकम् । जीत० । पंचा० ।

अज्जोववज्जणा-देशी-क्रोडाभरणे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अज्जोववज्जणा-अध्युपपादना-स्त्री० । कचिदिन्द्रियार्थेऽभ्युप-
पत्तौ, अभिष्वङ्गे च । “ तिविहा अज्जोववज्जणा-जाणू, अजाणू,
वित्तिगिच्छा ” तत्र जानतो विषयजन्यमर्थं या तत्राभ्युपपत्तिः
सा जाणू । या त्वजानतः सा अजाणू । या तु संशयवतः सा विचि-
कित्सा । स्था० ३ ग्रा० ४ उ० ।

अज्जोववज्जणा-अध्युपपन्न-त्रि० । विषयपरिजोगायतजीविते,
आचा० ।

अज्जोववाय-अध्युपपात-पुं० । ग्रहणैकाग्रचित्ततायाम्, “ पर-
स्त अज्जोववायलोभजणणाइ ” पात्राणि परस्यान्यस्य अ-
भ्युपपातं च ग्रहणैकाग्रचित्ततां बोधं मूर्च्छां जनयन्ति यानि
तानि अध्युपपातलोभजनानि । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्ज्व-कृप्-धा० आकर्षणे, विज्ञेखने च । तुद्दा०, आत्म०, सक०,
अनिद् । “ कृप्पेः कट्टसाअठाञ्जाणच्छायञ्जाइञ्छाः ” ॥ ७।४।१७७॥
इति कृपेरञ्जादेशः । अज्ज्व, कृपते । प्रा० ।

अज्जिअ-अज्जित-त्रि० । अज्ज-क्त । वर्गेऽन्त्यो वा । ७ । १ ।

३० । इत्यनुस्वारस्य वा परसवर्णः । पूजिते, आकञ्चिते च । प्रा० ।

अज्ज्व-अज्ज-त्रि० । “ न्यएयज्जञ्जाञ्जः ” ॥ ८ । ४।२६३ ॥ इति सूत्रं
मागध्यां ज्ञस्य ङ्जः, हिरुक्तो जकार इत्यर्थः । सूखं, प्रा० ।

अज्ज्व-त्रि० । न्यस्य स्थाने हिरुक्तो जकारः । त्रिमे, सहशे च । ए-
वमेतद्वदित्ता अप्युदाहार्याः । प्रा० ।

अज्जलि-अज्जलि-पुं० । अज्ज-अलि, “ न्यएयज्जञ्जाञ्जः ” ॥ ७ ।

४ । २६२ । इति मागध्यां ङ्ज इति भागस्य ङ्जः । संयुतकर-
पुटे, प्रा० ।

अट्ट-अट्ट-धा० गतौ । ज्वा०, सक०, पर०, सेद् । “ शकादीनां
द्वित्वम् ” ॥ ७।४।२२६॥ इति द्वित्वम् । परिअट्टइ, पर्य्यटति । प्रा० ।

अट्ट-क्वय-धा० निष्पाके । ज्वा०, पर०, सक०, सेद् । “ क्वथेरट्टः ”
८।४।११६॥ इति क्वथेरट्ट इत्यादेशः । अट्टइ, क्वथति । प्रा० ।

अट्ट-अट्ट-पुं० । अट्टयति नाड्ययतेऽन्यद् यत्र । अट्ट-आधारे
घञ् । प्रासादस्योपरि गृहे, प्राकारोपरिस्थसैन्यगृहे च । यत्र स्थि-
ता हि नरा अन्यान् हीनतया नाड्ययन्ते । यस्मिन् वसतश्चा-

ग्योक्तर्पेऽनादरः । वाच० । " अद्यापि वा अद्यालयाणि वा " आचा० २ श्रु० ११ अ० । अद्यतेऽतिक्रम्यतेऽनेनेत्यट्टः । आका-
मे, ज० २० श्रु० १ उ० ।

आर्त-त्रि० अर्तिः शारीरमानसी पीमा, तत्र प्रव आर्तः ।
आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । पीकिते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।
दुःखिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । मोहोदयेन आर्तं,
आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । शरीरतो दुःखिते, औ० ।
मोहोदयादगणितकार्याकार्यविवेके च । आचा० १ श्रु० ६ अ०
१ उ० । अस्य निक्षेपः— " अष्ट लोप परिशुषे दुस्संचोहे
अविजाणय " । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (' पुढविकाय ' शब्दे
एतत्सूत्रस्याख्यानं वक्ष्यते)

अष्टे चतुर्विहं खलु, द्वे नदिपादि जल्प तण्कफा ।

आवर्तते पमिया, से व सुवष्पादि आवष्टे ॥

आर्तः खलु चतुर्विधः । तद्यथा-नामार्तः, स्थापनार्तः, द्रव्यार्तः,
भावात्तश्च । तत्र नामस्थापने सुप्रतीते । द्रव्यार्तोऽपि नोआगम-
तो ह्यशरीरव्यतिरिक्तो यत्र नद्यादेः प्रदेशे तृणकाष्ठानि पतितानि
आवर्तन्ते, यच्च वा सुवर्णाद्यावर्तते, स रूष्टव्यः । आ सवर्तः प-
रिभ्रमणेन कृतानि गतानि यत्र यो वा स आर्त इति व्युत्पत्तेः ।

अद्वया अचीचूतो, सचित्तादिहि होइ दव्वम्मि ।

जावे कोदादीहिं, उ अजिचूतो होति अष्टो उ ॥

अथवा सचित्तादिभिर्द्रव्यैरसंप्राप्तैः प्राप्तवियुक्तैर्वा य आर्तः स
द्रव्यार्तः, द्रव्यैरातोऽव्यार्त इति व्युत्पत्तेः । क्रोधादिभिरभि-
भूतो नो आगमतो भावार्तः । तदेवमार्तशब्दार्थ उक्तः । व्य० ४
उ० । आचा० । ऋतस्य पामितस्येदं वचनमिति कृत्वा पोरुहो
गौणालोके, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । अतं दुक्कं, तत्र भवमार्तम् ।
यदि वा आर्तः पीमा, पातनं च, तत्र प्रवमार्तम् " ध० २ अधि० ।
प्रव० । क्रिष्टे, आव० ४ अ० । विषयानुरञ्जिते, ध० ३ अधि० ।
इष्टविषयसंयोगाभिलाषे, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वा० । एतदात्मके शो-
काक्रन्दविक्षेपनादिलक्षणे वा ध्यानभेदे, आव० ४ अ० । झा० ।
अष्ट-देशी-कशे, दुर्वले, गुरौ, महति, शुकपक्षिणि, सुखे, सौ-
ख्ये, घृष्टे, विपाते, अलसे, शीतके, शब्दे, ध्वनी, असत्ये च ।
दे० ना० १ वर्गः ।

अष्ट-देशी-कथने, दे० ना० १ वर्गः ।

अष्टक-अष्टक-पुं० (आदमो) कुट्टितलेपकृतरूपे पात्रक्रिडपूर-
के रूपे, वृ० १ उ० ।

अष्टज्जाण-आर्तिध्यान-न० । ऋतं दुःखम् । उक्तं हि-ऋतशब्दो
दुःखपर्यायवाच्याधीयते । ऋते प्रवमार्तम्, उक्त० ३० अ० ।
ऋतं दुःखं, तस्य निमित्तं, तत्र वा भवम् । ऋते वा पीकिते भवमा-
र्तम् । स्था० ४ उ० १ उ० । आव० । तच्छ तद् ध्यानं च । आर्तमार्तं
गत आर्तः, आर्तस्य वा ध्यानमार्तध्यानम् । आ० चू० ४ अ० ।
मनोज्ञामनोज्ञवस्तुवियोगसंयोगादिनिबन्धनचित्तविप्लवक्षणे
ध्यानभेदे, स० १ सम० । " राज्योपभोगशयनासनवाहनेषु,
स्त्रीगन्धमाल्यमणिरत्नविभूषणेषु । इच्छाभिज्ञापमतिमात्रमुपैति
मोहा-रूढानं तदार्तमिति संप्रवदन्ति तज्ज्ञाः " ॥१॥ दश० १ अ० ।
" भवकारणमष्टरूपाह " । आर्तध्यानं स्वाविषयलक्षणभेद-
तश्चतुर्धा । उक्तं च भगवता वाचकमुख्येन—आर्तमनो-
ज्ञानां संप्रयोगे, तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः, वेदना-
याश्च विपर्ययम्, मनोज्ञानां निदानं चेत्यादि । आव० ४ अ० ।

" अष्टज्जाणे चतुर्विहं पस्यते " चतस्रो विधा भेदा यस्य तत्तथा ।
अमणुजसंप्रयोगसंपञ्चचे तस्स विप्रयोगसितिसमस्यागण-
यावि भवइ ॥

अमनोज्ञस्यानिष्टस्य ' असमणुषस्स त्ति ' पाठान्तरे अस्वमनो-
ज्ञस्यानात्मप्रियस्य शब्दादिविषयस्य, तत्साधनवस्तुनो वा स-
ंप्रयोगः संबन्धस्तेन संप्रयुक्तः संबन्धोऽमनोज्ञसंप्रयोगसंप्रयुक्तो-
ऽस्वमनोज्ञसंप्रयोगसंप्रयुक्तो वा, य इति गम्यते । तस्येति, अ-
मनोज्ञस्य शब्दादेर्विप्रयोगाय वियोगार्थं स्मृतिश्चिन्ता, तां सम-
न्वागतः समनुप्राप्तो भवति यः प्राणी, सोऽभेदोपचारादार्तमिति ।
वाऽपीतिशब्दः विकल्पापेक्षया समुद्भवार्थः । अथवा मनोज्ञसं-
प्रयोगसंप्रयुक्तो यः प्राणी, तस्य प्राणिनः विप्रयोगे प्रक्रमादमनो-
ज्ञशब्दादिवस्तुनां वियोजने, स्मृतिश्चिन्तनम्, तस्याः समन्वागतः
समागमनं समन्वाहारो विप्रयोगस्मृतिसमन्वागतं वाऽपीति
तथैव प्रवति, आर्तध्यानमिति प्रक्रमः । अथवाऽमनोज्ञसंप्रयो-
गसंप्रयुक्ते प्राणिनि, तस्येति अमनोज्ञशब्दादेर्विप्रयोगस्मृति-
समन्वागतमार्तध्यानमिति ।

अमणुजाणं सदा-इविसयवत्थुण दोसमइस्स ।

धणिअं विओगचित्ता-मसंपओगाणुसरणं च ॥६॥

अमनोज्ञानामिति । मनसोऽनुकूलानि मनोज्ञानि, इष्टानीत्यर्थः । न
मनोज्ञानि अमनोज्ञानि, तेषाम्, केषामित्यत आह-शब्दादिविषयव-
स्तुनामिति । शब्दादयश्चैते विषयाश्च, आदिशब्दाद्वर्णादिपरिग्र-
हः । विषादिन्येतेषु सक्ताः प्राणिन इति विषयाः-इन्द्रियगोचराः,
वस्तूनि तु तदाधारचूतानि रासमार्दीनि । ततश्च शब्दादि-
विषयाश्च, वस्तूनि चेति विग्रहः । तेषाम्, किंसंप्राप्तानां सत्ताम् ?
धणियमत्यर्थम्, वियोगचिन्तनं विप्रयोगचिन्तेति योगः ।
कथं नु नामैर्जिवियोगः स्यादिति प्रवः । अनेन वर्तमानकाल-
ग्रहः । तथा सति च वियोगेऽसंप्रयोगानुस्मरणं, कथमेभिः सहैवं
संप्रयोगाभाव इत्यनेन वाऽनागतकालग्रहः । चशब्दात्पूर्वमपि वि-
युक्तासंप्रयुक्तयोर्वहुमतत्वेनातीतकालग्रह इति । किंचिशिष्टस्य
सत इदं वियोगचिन्तनादि ? अत आह-देवमलिनस्य, जन्तो-
रिति गम्यते । तत्राप्रतीतिलक्षणे द्वेषः, तेन महिनस्य, तदाकान्त-
मूर्तिरिति गार्थः । इति प्रथमो भेदः ।

साम्प्रतं द्वितीयमभिधित्तुराह-

तह सुलसीसरोगा-इवेअणाए विओगपणिहाणं ।

तयसंपओगचित्ता, तप्पडिआराजलमणस्स ॥७॥

तथेति धणियमत्यर्थमेव । सुलशिरोरोगादिवेदनाया इत्यत्र
सुलशिरोरोगौ प्रसिद्धौ । आदिशब्दाच्छेपरोगातङ्कपरिग्रहः । त-
तश्च सुलशिरोरोगादिव्यो वेदना । वेद्यत इति वेदना । तस्याः
किम् ? वियोगप्रणिधानम्, वियोगे दृढाध्यवसाय इत्यर्थः । अनेन
वर्तमानकालग्रहः । अनागतमधिकृत्याह-तदसंप्रयोगचिन्तेति,
तस्या वेदनायाः कथंचिदभावे सति असंप्रयोगचिन्ता, कथं
पुनर्वर्तमानयाऽऽयत्या संप्रयोगो न स्यादिति चिन्ता चार्तध्यानमेव
गृह्यते । अनेन वर्तमानानागतकालग्रहणेनातीतकालग्रहोऽपि
कृत एव वेदितव्यः । तत्र ज्ञावनाऽनन्तरगाथायां कृतैव । किं विशि-
ष्टस्य सत इदं वियोगप्रणिधानादि ? अत आह-तत्प्रतीकारे वेद-
नाप्रतीकारे चिकित्सायामाकुलं व्यग्रं मनोऽन्तःकरणं यस्य स
तथाविधस्तस्यावियोगप्रणिधानाद्यार्तध्यानमिति गार्थः ।
उक्तो द्वितीयो भेदः । आव० ४ अ० ।

अधुना तृतीयमुपदर्शयन्नाह—
आत्मकसंप्रयोगसंपञ्चे तस्स विष्ण्वगोसितिसमस्यांग-
ए यावि भवइ ॥

आतङ्को रोगः इति । स्था० ४ ग्रा० १ उ० ।

इष्टाणं विसर्गा—ए वेअणाए अ रागरक्तस्स ।

अविष्णोर्गज्जवसाणं, तह संयोगाजिज्ञासो अ ॥८॥

इष्टानां मनोज्ञानां विषयादीनामिति । विषयाः पूर्वोक्ताः । आदि-
शब्दाद्वस्तुपरिग्रहः । तथा वेदनायाश्च इष्टाया इति वर्तते । किम्?,
अवियोगाध्यवसानमिति योगः । अविप्रयोगदृढाध्यवसाय इति
ज्ञावः । अनेन च वर्तमानकालग्रहः, तथा संयोगाजिज्ञास-
श्चेति, तत्र तथेति । धर्षण्यसमित्यनेनात्यर्थप्रकारोपदर्शनार्थः ।
संयोगाजिज्ञासः—कथं ममैभिर्विषयादिभिरायत्यां संबन्धः?, इ-
तीच्छा । अनेन च अनागतकालग्रह इति वृक्षा व्याचक्षते । चश-
ब्दात्पूर्ववदतीतकालग्रह इति । किंविशिष्टस्य सत इदमवियो-
गाध्यवसानादि । अत आह—रागरक्तस्य, जन्तोरिति गम्यते ।
तत्राजिष्वङ्गवक्त्राणो रागः, तेन रक्तस्य तद्भावितमूर्तेरिति गा-
थार्थः । उक्तस्तृतीयो जेदः । आव० ४ अ० ।

साम्प्रतं चतुर्थमभिधित्तुराह—

परिक्कुसिय कामजोगसंप्रयोगसंपञ्चे तस्स अविष्ण्वगो-
सितिसमस्यांग ए यावि भवइ ॥

(परिक्कुसिय स्ति) निषेविता ये कामाः कमनीया जोगाः
शब्दादयः । अथवा कामौ शब्दरूपे, जोगा गन्धरसस्पर्शाः ।
कामभोगाः कामानां वा शब्दादीनां यो भोगस्तैस्तेन वा
संप्रयुक्तः । पाठान्तरे तु तेषां तस्य वा संप्रयोगस्तेन संप्रयुक्तो
यः स तथा । अथवा (परिक्कुसिय स्ति) परिक्रीणो जरादिना, स
चासौ कामजोगसंप्रयुक्तश्च यस्तस्य, तेषामेवाविप्रयोगस्मृतेः स-
मन्वागतं समन्वाहारस्तदपि प्रवत्यार्त्तध्यानमिति । स्था० ४ ग्रा०

देविंदचक्रवाटि—त्तणाइ गुणरिच्छिपत्यणामइयं ।

अहमं निआणचित्तणमन्नाणाणुगयमच्चंतं ॥९॥

दीव्यन्तीति देवा भवनवास्यादयस्तेषामिन्द्राः प्रभवो देवे-
न्द्राश्चमरादयः । तथा चक्रं प्रहरणं, तेन विजयाधिपत्ये वसितुं
शीलमेवामिति चक्रवर्तिनो जरतादयः । आदिशब्दाद् बलदेवा-
दिपरिग्रहः । अमीषां गुणरूपयो देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिगुणरूपयः ।
तत्र गुणास्तु रूपादयः, अस्तिस्तु विभूतिः, तत्प्रार्थनात्मकं
तद्याच्चायमित्यर्थः । किं तद्?, अधमं जघन्यं, निदानचिन्तनं नि-
दानाध्यवसायः, अहमनेन तपस्यागादिना देवेन्द्रः स्यामित्यादि-
रूपः । आह—किमिति तद् धममुच्यते?, तस्मादज्ञानानुगतम्, अत्य-
न्तम्, तथा च नाज्ञानिनो विहाय सांसारिकसुखेऽन्येषाममिलाप
उपजायते । उक्तं च—“ अज्ञानान्ध्राश्चटुलवनितापाङ्गविकेपि-
तास्ते, कामे सकिं दधति विजवाजोगतुङ्गार्जने वा । विद्वच्चित्तं
भवति हि महम्मोक्षकाङ्क्षकतानं, नालपस्कन्धे विटपिनि कषत्यं-
समिति गजेन्द्रः” ॥१॥ इति गाथार्थः । उक्तश्चतुर्थो जेदः । आव०
४ अ० । द्वितीयं वल्लभधनादिविषयं, चतुर्थं तत्संपाद्यशब्दादि-
जोगविषयमिति जेदोऽनयोर्भावनीयः । शास्त्रान्तरे (आवश्य-
के) तु द्वितीयचतुर्थयोरेकत्वेन तृतीयत्वम्, चतुर्थं तत्र निदानमु-
क्तम् । उक्तं च—“अमणुष्साणं सद्धानं” इत्यादि । स्था० ४ ग्रा० १ उ० ।
साम्प्रतमिदं यथाचूतस्य भवति यद्वर्धनं चेदमिति तदेतदभि-
धातुकाम आह—

एयं चउव्विहं रा-गदोषमोहंकिअस्स जीवस्स ।

अष्टाङ्गाणं संसा—रवंहुणं तिरिअगइमूलं ॥१०॥

एतदनन्तरोदितं चतुर्विधं चतुःप्रकारं रागद्वेषमोहम्, किं तस्य?,
रागादिद्व्याङ्गितस्येत्यर्थः । कस्य?, जीवस्य आत्मनः । किम्?, आ-
र्त्तध्यानमिति । तथा चतुष्टयमपि किं विशिष्टम्?, इत्यत आह—
संसारवर्द्धनम्, ओघतस्तिर्यग्गातिमूलं विशेष इति गाथार्थः ।
आह—साधोरपि शूलवेदनाजिभूतस्यासमाधानादार्त्तध्यानप्रा-
प्तिरित्यत्रोच्यते, रागादिवशवार्त्तानो भवत्येव, न पुनरन्यस्ये-
ति । आह च ग्रन्थकारः—

मज्जत्तवस्स उ मुणिणो, सकम्मपरिणामजाणिअमेअं ति ।

वत्थुस्सद्वावचित्तण—परस्स सम्मं सहं वस्स ॥ ११ ॥

मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः, रागद्वेषयोरिति गम्यते । तस्य मध्य-
स्थस्य, तुशब्द एवकारार्थः, स चाऽवधारणे । मध्यस्थस्यैव नेतर-
स्य । मनुते जगतस्त्रिकावावस्थामिति मुनिः, तस्य मुनेः, साधोरि-
त्यर्थः । स्वकर्मपरिणामजनितमेतत् बलादि, यच्च प्राक्कर्मविपरिणा-
मिदैवाद्दशुभमापतति न तत्र परिताप्या प्रवन्ति सन्तः । उक्तं च
परममुनिभिः—“ पुर्वं च खलु ज्ञो कर्माणं कम्माणं दुविज्जाणं
दुप्परिक्कंताणं वेइत्ता मोक्खो नत्थि, अवेइत्ता तवसा वा जोस-
इत्ता” इत्यादि । इत्येवं वस्तुस्वप्नावचित्तनपरस्य सम्यक्प्रज्ञोभ-
नाध्यवसायेन सहमानस्य सतः कुतोऽसमाधानम्?, अपि तु ध-
र्ममनिदानमिति वक्ष्यतीति गाथार्थः ॥ ११ ॥ परिहृताऽऽश-
ङ्का, गतः प्रथमपक्षः ।

द्वितीयतृतीयावधिकृत्याह—

कुणओ व पसत्थालं—वणस्स पडिआरमप्पसावज्जं ।

तवसंजमपमिआरं, च सेवओ धम्ममणिआणं ॥ १२ ॥

कुर्वतो वा, कस्य?, प्रशस्तं ज्ञानाद्युपकारकम्, आलम्ब्यत इत्या-
म्बनं प्रवृत्तिनिमित्तं शुभमध्यवसानमित्यर्थः । उक्तं च—“ कोहं
अच्छिचित्तमित्यादि ” प्रशस्तमात्मम्बनं वृत्तं यस्यासौ प्रशस्ताल-
म्बनः, तस्य । किं कुर्वतः?, इत्यत आह—प्रतीकारं चिकित्सावक्त्रणम्,
किंविशिष्टम्?, अल्पसावद्यम्, अवद्यं पापं, सहावद्येन सावद्यम् ।
अल्पशब्दोऽभाववाचकः स्तोत्रवचनो वा । अल्पं सावद्यं यस्मि-
न्नासावल्पसावद्यस्तं धर्ममनिदानमेवेति योगः । कुतः?, निर्दोष-
त्वात् । निर्दोषत्वं च वचनप्रामाण्यात् । उक्तं च—“ गीयत्थो जय-
णाण कडजोगी कारणाम्मि निहोसो ” । इत्याद्यागमस्योत्सर्गापवा-
दरूपत्वात् । अन्यथा परलोकस्य साधयितुमशक्यत्वात्, साधु
चैतदिति । तथा तपःसंयमप्रतीकारं च सेवमानस्येति । तपःसंय-
मावेव प्रतीकारः, सांसारिकदुःखानामिति गम्यते । तं च सेवमा-
नस्य, चशब्दात् पूर्वोक्तप्रतीकारं च । किम्?, धर्मं धर्मध्यानमेव भ-
वति, कथम्?, सेवमानस्यानिदानमिति क्रियाविशेषणम्, देवेन्द्रा-
दिनिदानरहितमित्यर्थः । आह—कृत्स्नकर्मज्ञानात्मोक्तो भवत्वित्ती-
दमपि निदानमेव उच्यते, सत्यम् । तदपि निश्चयतः प्रतिषिद्धमेव ।
कथम्?, “ मोक्षे प्रवे च सर्वत्र, निस्पृहो मुनिसत्तमः । प्रकृत्यभ्या-
सयोगेन, यत उक्तो जिनागमे ” ॥१॥ इति । तथापि तु भावनायामप-
रिणतं सत्त्वमङ्गीकृत्य व्यवहारत इदमदुष्टमेव । अनेनैव प्रकारेण
तस्य चित्तशुद्धेः, क्रियाप्रवृत्तियोगाच्चेत्यत्र बहु वक्तव्यम्, तस्य
नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति गाथार्थः ॥ १२ ॥ अन्ये पुनरिदं गा-
थाद्वयं चतुर्मेदमप्यार्त्तध्यानमधिकृत्य साधोः प्रतिषेधरूपतया
व्याचक्षते, न च तदत्यन्तसुन्दरम्, प्रथमतृतीयपक्षद्वये सम्यगाश-

हाया एवानुपपत्तेरिति । आह-उक्तं भवता आर्तध्यानसंसारव-
र्द्धनमिति, तत्कथमुच्यते ? दीजन्तात् ।

दीजन्तमेव दर्शयन्नाह-

रागो दोसो मोहो, जेणं संसारहेअवो जणिआ ।

अट्टमि अ ते तिप्पि वि, तो तं संसारतरुवीअं ॥ १३ ॥

रागो दोसो मोहश्च येन कारणेन संसारहेनवः संसारकारणा-
नि भणिता उक्ताः, परममुनिमिरिति गम्यते । आर्तं चार्तध्याने च
त्रयोऽपि ते रागादयः संनयन्ति यत एव, ततस्तत्संसारतरुवीजं भ-
ववृक्षकारणमित्यर्थः । आह-यद्येवमोक्षत एव संसारतरुवी-
जं ततश्च निर्यग्गतिमूलमिति किमर्थमभिधीयते ? उच्यते-तिर्य-
ग्गतिगमननिबन्धनत्वेनैव संसारतरुवीजमिति । अन्ये तु व्याच-
क्षते-तिर्यग्गतावेव प्रवृत्तसत्त्वसंभवात्स्थितिबहुत्वाच्च संसारो-
पचार इति गार्थार्थः ॥ १३ ॥

इदानीमार्तध्यायिनो लेख्याः प्रतिपाद्यन्ते-

कावोअनीलकासा, वेसाओ एाइसंकिलिहाओ ।

अट्टज्जाणोवगय-स्स कम्मपरिणामजणिआओ ॥ १४ ॥

कापोतनीलकण्ठा वेद्याः किंभूताः, नातिसंक्लिष्टा रौक्ष्ण्यानवे-
द्यापेक्षया नातीवाशुभानुभावाः, भवन्तीति क्रिया । कस्येत्यत-
आह-आर्तध्यानोपगतस्य, जन्तोरेति गम्यते । किंनिबन्धना
यनाः ?, इत्यत आह-कर्मपरिणामजनिताः । तत्र-“कृष्णादिद्रव्य-
स्वाभिख्यात्, परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्येव तत्रायं, ले-
ख्याशब्दः प्रयुज्यते” ॥ १४ ॥ एताश्च कर्मोदयायत्ता इति गार्थार्थः ॥
१४ ॥ आच० ४ अ० ।

आह-कथं पुनरोद्यत एवार्तं ध्यायन् ज्ञायत इत्युच्यते, लिङ्गे-
न्यः; तान्येवोपदेशयन्नाह-

अट्टस्स एं भाणस्स चत्तारि वक्खणा पन्नवा । तं जहा-
कंदणया, सोयणया, तिप्पणया, परिदेवणया ।

लक्ष्यते निर्णयिते परोक्षमपि चित्रवृत्तिरूपत्वात् आर्तध्यानमे-
भिरिति वृक्षगानि । तत्र क्रन्दनता-महता शब्देन विरवणम्, शो-
चनता-दीनता, तेपनता-तिषेः क्षणार्थत्वाद्भ्रुविमोचनम्, परि-
देवनता-पुनः पुनः क्लिष्टभाषणमिति । एतानि चेष्टवियोगानिष्ट-
संयोगरोगवेदनाजनितशोकरूपस्येवार्तस्य वृक्षगानि ।

(स्था० ४ अ० १ उ०) यत आह-

तस्स कंदणसोअणपरिदेवणताडणाइं हिमाइं ।

इट्ठाणिट्ठविओगा-विओगविअणानिमित्ताइं ॥ १५ ॥

तस्यार्तध्यायिनः, आक्रन्दनादीनि लिङ्गानि । तत्राक्रन्दनं महता
शब्देन विरवणम्, शोचनं त्वश्रुपरिपूर्णनयनस्य दैन्यम्, परिदेव-
नं पुनः ३ क्लिष्टभाषणम्, ताम्रनमुरःशिरःकुट्टनकेशलुञ्चनादि,
मतानि लिङ्गानि चिह्नानि, अमूनि च इष्टानिष्टवियोगावियोगवेद-
नानिमित्तानि । तत्रेष्टवियोगनिमित्तानि, तथाऽनिष्टावियोगनि-
मित्तानि, वेदनानिमित्तानि चेति गार्थार्थः ॥ १५ ॥

किं चान्यत्-

निंदइं निअयकयाइं, पसंसइं विमिहओ विरुइओ ।

पत्थेइं तासु रज्जइं, तयज्जएपरायणो होइं ॥ १६ ॥

निन्दति च कुत्सति च निजकृतानि आत्मकृतानि अल्पफलवि-
फ्रणानि, कर्मक्षिणकलाबाणिज्यादीन्येतद्गम्यते । तथा प्रसंसति
कृतौति बहु मन्यते सविस्मयः साश्चर्यः विवृतीः परसंपद इ-

त्यर्थः । तथा प्रार्थयते अभिब्रूयति, परविभूतीरिति । तथा तासु
रज्यते-तास्विति प्राप्तासु विवृतीषु रागं गच्छति, तथा तदर्ज-
नपरायणो भवति-तासां विवृतीनामर्जन उपादाने परायण उ-
द्युक्तस्तदर्जनपरायण इति । ततो यश्चैवंवृत्तो भवत्यसावप्यार्त-
ध्यायतीति गार्थार्थः ॥ १६ ॥

किञ्च-

सदाइविसयगिद्धो, सद्धम्मपरम्मुहो पमायपरो ।

जिणमयमणविकसंतो, वट्ठइ अट्टमि जाणम्मि ॥ १७ ॥

शब्दादयश्च ते विषयाश्च शब्दादिविषयास्तेषु गृह्यो मूर्च्छितः,
काङ्क्षवानित्यर्थः । तथा सद्धर्मपराङ्मुखः प्रमादपरः । तत्र दुर्गतौ
प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, संस्त्रासौ धर्मश्च सद्धर्मः,
कान्त्यादिकश्चरणकरणधर्मो गृह्यते, तत्पराङ्मुखः । प्रमादपरो
मद्यादिप्रमादासक्तः, जिनमतमनपेक्षमाणो वर्तते आर्तं ध्यान
इति । तत्र जिवास्तीर्थकरास्तेषां मतमागमरूपम्, प्रवचनमित्यर्थः ।
तदनपेक्षमाणस्तन्निरपेक्षइत्यर्थः । किम्?, वर्तते, आर्तध्याने । इति
गार्थार्थः ॥ १७ ॥

साम्प्रतमिदमाचध्यानसंज्ञमधिकृत्य यदनुगतं यदहं च
वर्तते तदेतदभिधित्सुराह-

तयविरयदेसविरय-प्पमायपरसंजयाणुगज्जाणं ।

सव्वं पमायमूलं, वज्जेअव्वं जइजणेणं ॥ १८ ॥

तदार्तध्यानमिति योगः । अविरतदेशविरतप्रमादपरसंयतानु-
गतमिति । तत्राविरता मिथ्यादृष्टयः सम्यग्दृष्टयश्च, देशविरता
एकद्याद्यनुव्रतधरभेदाः आवकाः, प्रमादपराः प्रमादनिष्ठाश्च,
ते संयताश्च, ताननुगच्छतीति विग्रहः । नैवाप्रमत्तः संयता-
नामिति भावः । इदं च स्वरूपतः सर्वं प्रमादमूलं वर्तते, यत-
श्चैवमतो वर्जयितव्यं परित्यजनीयम्, केन?, यतिजनेन साधुबोकेन,
उपलक्षणत्वात् आवकजनेन च । परित्यागाहत्वादेवास्तेति गा-
र्थार्थः ॥ १८ ॥ आच० ४ अ० । ध० । प्रव० । ग० । हा० ।

अट्टज्जाणवियप्प-आर्तध्यानविकल्प-पुं० । अश्रुमध्यानमेदे,
“जो एत्थ अभिस्संगो, संतासंतेसु पावहेउ सि । अट्टज्जाण-
वियप्पो, स इमीए संगओ रुवं” ॥ १९ ॥ पं० १ द्वा० ।

अट्टज्जाणवेरग-आर्तध्यानवैराग्य-न० । आर्तध्यानं च तद्
वैराग्यम् । वैराग्यजदे, हा० । तल्लक्षणम्-

इष्टेतरवियोगादि-निमिचं प्रायशो हि यत् ।

यथाशक्त्यपि हेयादा-वप्रवृत्त्यादिवर्जितम् ॥ २० ॥

उद्वेगकृद्दिषादाह्य-मात्मघातादिकारणम् ।

आर्तध्यानं हृदो मुख्यं, वैराग्यं लोकतो मतम् ॥ ३ ॥

इष्टश्च प्रियः, इतरश्चानिष्टः, इष्टेतरौ विषयाविति गम्यते । तयोर्थ-
थासङ्गधेन यो वियोगादिविरहसंप्रयोगौ, स निमिचं कारणं
यस्य तदिष्टेतरवियोगादिनिमित्तम्, प्रायशो बाहुल्येन न पुनरिष्टे-
तरवियोगादिनिमित्तमेव, स्वविकल्पनिमित्तस्यापि तस्य संभ-
वात् । हिशब्दो यस्मादर्थः । तत्प्रयोगं च दर्शयिष्यामः । य-
दिति वैराग्यमद एतदार्तध्यानमेवेति संबन्धः । कुतस्तदार्त-
ध्यानमेव न पुनर्यथावैराग्यमित्याह-यस्माद्यथाशक्त्यपि
सामर्थ्यानुरूपमप्यास्तां अस्मादतिशयाच्छक्त्यतिक्रमतः हेयादौ
हेयोपादेयवस्तुविषये क्रमेणाप्रवृत्त्यादिवर्जितं निवर्तनविरहितं
यत्किल यथावद्वैराग्यं भवति तस्मीन्द्रियार्थेषूपपादेयेषु च तपोध्या-

नादिषु यथाशक्ति निवृत्तिप्रवृत्तियुक्तं भवति, तत्स्वरूपत्वात् । इदं तु तद्वर्जितं यस्मात् तस्मादार्त्तध्यानमेवेति भावः । तथा उद्वेगं मनःस्वास्थ्यचक्षणं करोतीति उद्वेगकृतं, तथा विपादो दैन्यं, तेनाऽऽद्यं परिपूर्णं विपादाऽऽद्यम्, अनेन मनोदुःखहेतुताऽऽस्योक्ता । अथ शारीरदुःखहेतुतामस्यैवाह—आत्मेहं रुद्धितः स्वशरीरम्, तस्य घातादि हिंसनताडनादि, तस्य कारणं हेतुरात्मघातादिकारणम्, आर्त्तध्यानम् । हिंसादस्यैवकारार्थत्वादार्त्तध्यानमेव अद इति संवन्धितमेव । किंभूतमित्याह—मुखे जवं मुख्यं प्रधानम्, निरुपचारितमित्यर्थः । ननु यद्यार्त्तध्यानमेतत्तदा कस्माद्वैराग्यतयोक्तमित्याह—वैराग्यमुक्तनिर्वचनं लोकतो, लोकं पृथग्जनमाश्रित्य तद्गृह्येत्यर्थो न पुनस्तत्त्वतो मतं संमतं तत्त्वविदुषामिति । हा० १० अष्ट० ।

अट्टज्जाणोवगण—आर्त्तध्यानोपगत—त्रि० अपगतसद्विवेकतया धर्मध्यानदुर्वर्तिनि आर्त्तध्यानध्यायिनि, “अट्टज्जाणोवगण, चूमिगयदिछिण ज्जियाइ” सूत्र० २ शु० २ अ० ।

अट्टट्टहास—अट्टट्टहास—पुं० उच्चैर्हसनरूपे हासविशेषे, उपा० २ अ० । “जीमं अट्टट्टहासं मुयंतो वीहावेइ” आ० म० द्वि० । आव० । अट्टट्टो—देशी—यते, दे० ना० १ वर्ग ।

अट्टण—अट्टन—न० । अट्टयते परिचूयते रिपुरत्नेन । अट्ट—करणे ल्युट् । चक्राकारफलकाले, जावे ल्युट् । अनादरे, न० । वाच० । खनामख्याते मल्ले, पुं० । उच० ४ अ० । तत्कथा चैवम्—उज्जयिन्यां जितशत्रुपस्य अट्टनमल्लो वर्त्तते स्म । स च प्रतिवर्षं सोपारके गत्वा सिंहगिरे राज्ञः सभायां मल्लान् विजित्य जयपताकां लाति स्म । अन्यदा राज्ञा एवं चिन्तितम्—परदेशीयोऽयमट्टनमल्लो मत्सन्नायां जित्वा बहु धन्यं प्राप्नोति, मदीयः कोऽपि मल्लो न जयति, नैतद्वरम्, एवं हि ममैव महत्त्वकृतिर्जायते । इति मत्वा कञ्चिद्वलवन्तं मत्स्यीनरं दृष्ट्वा स्वमल्लं चकार । तस्य त्वरितमेव मल्लविद्या समायता । ‘मत्स्यी मल्ल’ इति नाम तस्य कृतम् । अन्यदा अट्टनमल्लः सोपारके समायतस्तेन समं राज्ञा मत्स्यीमल्लस्य युद्धं कारितम्, जितो मत्स्यीमल्लः । अट्टनः पराजितः स्वनगरे गत एवं चिन्तयति स्म—मत्स्यीमल्लस्य तारुण्येन बलवृद्धिः, मम तु वार्द्धक्येन बलहानिः, ततोऽन्यं स्वपक्षपातिनं मल्लं करोमि । ततोऽसौ बलवन्तं पुरुषं विलोकयन् अगुक्छददेशे समागतः । तत्र हरिणीग्रामे एकः कर्पक एकेन करेण हवं बाहयन् द्वितीयेन फलहीमुत्पाटयन् दृष्टः । स भोजनाय स्वस्थानके सार्धं नीतः । तस्य बहु भोजनं दृष्टम् । उत्सर्गसमये च सुहृदमल्पं पुरीषं दृष्ट्वा मल्लविद्या ग्राहिता । ‘फलहीमल्ल’ इति तस्य नाम कृतम् । अट्टनः सोपारके फलहीमल्लं गृहीत्वा गतः । राज्ञा मत्स्यीमल्लेन समं फलहीमल्लस्य युद्धं कारितम् । प्रथमे दिवसे द्वयोः समतैव जाता । अट्टनेन सोपारके फलहीमल्लः पृष्टः—पुत्र ! तवाङ्गे क प्रहारा-ल्लगनाः ? तेन स्वाङ्गप्रहारस्थानानि दर्शितानि । अट्टनेनौपधिरसेन तानि स्थानानि तथा मर्दितानि यथाऽसौ पुनर्नवीभूतः । मत्स्यीमल्लस्यापि राज्ञा पृष्टम्—क्व तवाङ्गे प्रहारा ल्लगनास्तथा तान् दर्शय ? फलहीमल्लः पुनर्नवीभूतः श्रूयते । मत्स्यीमल्लोऽभिमानात् स्वस्थानं न दर्शयति स्म, यत्किं स्म च—अहं पुनर्नवीभूतः फलहीपितरं जयामि । द्वितीयदिवसे पुनर्युद्धासरे द्वयोरपि साम्यमेव जातम् । तृतीयदिवसे मत्स्यीमल्लो जितः फलहीमल्लेन । अट्टनेन स्वपराजयः स्मारितः । ततो मत्स्यीमल्लेनान्याययुद्धाचरणेन फलहीमल्लस्य मस्तकं विन्नम् । खिन्नोऽट्टनमल्लो गत उज्ज-

यिनीम् । तत्र विमुक्तयुक्तव्यापारः स्वगृहे तिष्ठति स्म । परं जराम्रान्त इति न कस्मैचिद् कार्यान् कृतम् इति स्वजनैः पराजयते स्म । अन्यदा स्वजनापमानं दृष्ट्वा ताननापृच्छधैव कौशाम्बीं नगरं गतः । तत्र चर्पमेकं यावद्रामायनं भक्तिवान् । ततोऽत्यन्तवद्वान् जातः । उज्जयिन्यां राजपर्वदि मल्लमहे प्रवर्त्तमाने पुनर्नवागतयौवनेन अट्टनमल्लेन समागत्य राज्ञो नीरङ्गणनामा महामल्लो जितः । राज्ञा तु मदीयोऽयं आगन्तुकैरनेन जित इति कृत्वा न प्रशंसितः । लोकोऽपि राजप्रशंसामन्तरेण मौनजाक् जातः । अट्टनस्तु स्वस्वरूपज्ञापनाय सभापक्षिणः प्रत्याह—जो जोः पक्षिणः, भूत—अट्टनेन नीरङ्गणो जितः । ततो राज्ञा उपलक्षितः । मदीय एवायमट्टनमल्ल इति कृत्वा सत्कृतः । बहु द्रव्यं चासौ राज्ञा दत्तम् । स्वजनस्तं तथाभूतं श्रुत्वा सम्मुखमागत्य मिथितः । सत्कारादि चकार । अट्टनेन चिन्तितम्—द्रव्यदोभादेते मम साम्प्रतं सत्कारं कुर्वन्ति, पश्चान्निरुद्धं मामपमानयिष्यन्ति, जरापरिगतस्य मे न कश्चित् प्राणाय भविष्यति, यावदहं सावधानवद्वोऽस्मि तावत्प्रव्रजामीति विचार्य गुरोः समीपेऽट्टनेन दीक्षा गृहीतेति । “जरोवर्णाअस्स हु नत्थि तारु” उच० ४ अ० । आ० चू० । आव० ।

अट्टन—न० । गमने, ध० ३ अधि० । व्यायामे, औ० ।

अट्टणसाला—अट्टनशाखा—स्त्री० । व्यायामशाखायाम्, ज्ञा० ।

तद्वर्णकः—

जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अट्टणसालं अणुप्पविसति, अणेगवायामजोगवग्गणवामहणमल्लयुक्करणेहिं संते परिसंते सयपागसहस्सपागेहिं सुगंधवरतेल्लमाईएहिं पीयणिज्जेहिं दीवणिज्जेहिं दुप्पणिज्जेहिं मद्दणिज्जेहिं विहणिज्जेहिं सव्विदियगायपल्हायणिज्जेहिं अविंभगेहिं अविंभगेण समाणे तेद्वचम्मंसि पणिपुप्पपाणिपायसुकुमावकोमवतलेहिं पुरिसेहिं छेएहिं दक्खेहिं पडेहिं य कुसलेहिं मेहावीहिं निडणेहिं निडणसिप्पोवगतेहिं जियपरिस्समेहिं अविंभगणपरिमइणुच्चइहकरणगुणानिम्माएहिं अट्टिसुहाए मंससुहाए तयासुहाए रोमसुहाए चउव्विहाए संवाहणाए संवाहिए समाणे अवगयपरिस्समे नरिंदे अट्टणसालातो पणिनिक्खमेति । ज्ञा० १ अ० । आ० चू० । औ० । अट्टणियट्टियचित्त—आर्त्तनिवर्त्तितचित्त—त्रि० । आर्त्तं निवर्त्तितं चित्तं यैस्ते आर्त्तनिवर्त्तितचित्ताः । आर्त्ताद्वा निवर्त्तितं चित्तं यैस्ते आर्त्तनिवर्त्तितचित्ताः । क्लिष्टाध्यवसायिषु, औ० । “अट्टणियट्टियचित्ता, जह जीवा दुक्खसागरमुवेति” म० २ श० १ उ० । आर्त्तनिरर्दितचित्त—त्रि० । क्लिष्टपरिणामे, आर्त्तेन नितरामर्दितमनुगतं चित्तं येषां ते तथा । औ० ।

अट्टतर—आर्त्ततर—न० । अतिशयिते आर्त्तध्याने, “पज्जिज्जमाणाऽट्टतरं रसंति” सूत्र० १ शु० ५ अ० १ उ० ।

अट्टदुहट्ट—आर्त्तदुर्घट—त्रि० । द० । आर्त्तनाम्नो ध्यानविशेषस्य दुःखं, उपा० २ अ० ।

आर्त्तदुःखार्त्त—त्रि० । ३ त० । आर्त्तेन दुःखपीडिते, उपा० २ अ० । आर्त्तश्चासौ दुःखार्त्तः । मनसा देहेन च दुःखिते, विशेष० ।

अट्टदुहट्टवसट्ट—आर्त्तदुर्घटवशार्त्त—त्रि० । आर्त्तस्य ध्यानविशेष-

पस्य यो दुर्घटो दुःस्थगो दुर्निरोधो वशः पारतन्त्र्यं, तेनार्त्तः पी-
डित आर्त्तदुर्घटवशात्तः । असमाधिप्राप्ते, ज्ञा० ८ अ० ।

आर्त्तदुःखार्तिवशात्तः-त्रि० । आर्त्तेन दुःखार्त्त आर्त्तदुःखार्त्तस्त-
था वशेन च विषयपारतन्त्र्येण ऋतः परिगतो वशात्तः ।
ततः कर्मधारयः । क्लिष्टाध्यवसायिन विषययन्त्रणया च
दुःखिते, उपा० १ अ० । आर्त्तो मनसा दुःखितः, दुःखार्त्तो
देहेन, वशात्तस्तु इन्द्रियवशेन पीडितः । ततः कर्मधारयः ।
विपा० १ श्रु० १ अ० । मनसा, देहेनेन्द्रियवशेन च पीडिते,
"जहा एं तुणं अष्टदुहद्वयसद्वे अकाले चैव जीवियाभो धवरो-
विद्वज्ज" उपा० २ अ० ।

अष्टदुहद्वयचित्त-आर्त्तदुःखार्तिचित्त-त्रि० । आर्त्तेन दुःखार्त्ति-
नं चित्तं येषां ते तथा । क्लिष्टाध्यवसायतो दुःखितमनस्केषु, औ०
अष्टदुहद्वयवगय-आर्त्तदुर्घटोपगत-त्रि० । आर्त्तमात्रैष्यान्, दुर्घटं
दुःस्थगनीयं दुर्वार्यमित्यर्थः, उपगतः प्राप्तो यः स तथा ।
दुर्निवार्यार्त्तध्यानवति, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अष्टमध्य-आर्त्तमतिक-पुं० । आर्त्त आर्त्तध्याने मतिर्येषां ते आर्त्त-
मत्तिकाः । आर्त्तध्यानोपयुक्ते, आनु० ।

अष्टवस-आर्त्तवश-पुं० । आर्त्तध्यानवश्यतायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अष्टवसद्वद्व-आर्त्तवशात्तदुःखार्त्त-त्रि० । आर्त्तवशमार्त्तध्यान-
वश्यतामृतो गतो, दुःखार्त्तश्च यः स तथा । आर्त्तध्यानविवशी-
नृतदुःखिते, " अष्टवसद्वद्वद्व काले मासे कालं किञ्चा "
ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अष्टवसद्वोवगय-आर्त्तवशात्तोपगत-त्रि० । आर्त्तवशात्तश्च स उ-
पगतश्चेति समासः । आर्त्तध्यानसामर्थ्येनार्त्ते, आ० ।

अष्टस्सर-आर्त्तस्वर-त्रि० । दुःखेन शब्दायमाने, " अष्टस्सरे ते
कलुणं रसंते " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अष्टहास-अष्टहास-पुं० । अष्टेनातिशयेन हासः । ३ त० । हस-
यञ् । उच्चाहासे, वाच० " अष्टहासजीसणो " आव० ४ अ० ।

अष्टालग-अष्टालक-पुं० न० । अष्ट इव प्रासादगृहमिव अलति
पर्याप्तो जवति । अल-अच् । वाच० । प्राकारोपरिवर्त्याभ्यग-
शेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । ज० । स० । जी० । ज्ञा० । नि०
चू० । ज० । प्रज्ञा० । आचा० । रा० । अनु० । प्राकारकोष्ठकोप-
रिवर्तिनि मन्दिरे, " पागारं कारविच्चा णं, गोपुरद्वालगाणि य "
उत्त० ६ अ० ।

अष्टि-आर्त्ति-स्त्री० । शरीरमानस्यां पीकयाम्, आचा० १ श्रु० १
अ० ५ उ० । यातनायाम्, ध० २ अधि० ।

अष्टियचित्त-आर्त्तितचित्त-त्रि० । आर्त्तिना आर्त्ताद् वा ध्यान-
विशेषादाकुञ्चं चित्तं येषां ते आर्त्तितचित्ताः । शोकादिपीडिते,
" अष्टा अष्टियचित्ता " उपा० १ अ० ।

अष्ट-अर्थ-पुं० । भावकर्मादौ यथायथमच् । " स्त्यानचतुर्थार्थं
वा " ८ । २ । २३ । इति संयुक्तस्य वा उः । प्रा० । प्रयोजने,
नि० चू० १ उ० । कल्प० । सूत्र० । उत्त० । आचा० । स्था० । ज्ञा० ।
आव० । " अम्हं अप्पणो अष्टाहं चेइयाहं जवंति " आचा० १
श्रु० १ अ० १ उ० । प्रयोजन एव उः, यदा तु धनमुच्यते तदा
उ० न स्यात् । अर्थो धनम् । आप्ये तु जवति- " अष्टा वयं न
सिक्खिज्जा, वेहाइयं च णो वए " इत्यत्र अर्थ्यत इत्यर्थो धनधा-
न्यहिरण्यादिक इति व्याख्यानात् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

जाविप्रयोजने, " अष्टं वा हेउं वा समणस्सठ विरहिण कहेमो "
व्य० २ उ० । धर्मविषयेऽर्थित्वे, उत्त० ३ अ० । कार्ये, स्था० ५
ग० १ उ० । मोक्षे, तत्कारणजृते संयमे च । " अष्टे परिहायती
वहु, अहिगरणं न करेज्ज पंमिण " सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । निवृत्तौ,
ज्ञा० १ अ० । सूत्राभिधेये, प्राकृतत्वाद् नपुंसकत्वमप्यर्थशब्दस्या
पा० । अजिधेये (वाच्ये), सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स्था० । वस्तुनि,
" से नूणं कामदेवा अष्टे समठे हंता । अट्ठि " अस्येपोऽर्थ इत्य-
र्थः । अथवा मयोदितं वस्तु समर्थः संगतः । उपा० २ अ० ।
" उव्विहे अष्टे पज्जते । तं जहा-संसयअष्टे, वुग्गहअष्टे, अणुजोगी,
अणुसोमे, तदहणणे, अतहणणे " स्था० ६ ग० । (टीकाऽस्य 'पट्ट'
शब्दे रुष्ट्या) अर्थ्यते गम्यत इत्यर्थः । अर्त्तैरौणादिकः यन् ।
हेये उपादेये वा वस्तुनि, उजयस्याप्यर्थ्यमानत्वात् । उत्त० १
अ० । आ० चू० । नि० । विषयजोगादिके, आचा० १ श्रु० ३
अ० ३ उ० । सूत्र० । (अष्टस्वरूपतामप्राप्तस्यार्थशब्दस्य अर्था 'अ-
त्य' शब्दे वक्ष्यन्ते)

अष्टन-त्रि० । व० व० । अश्-न्यासौ कनिन्, तुद् च । सङ्ख्या-
भेदे, तत्संख्यान्विते च । वाच० । प्रज्ञा० ।

अष्टङ्ग-अष्टाङ्ग-त्रि० । अष्टावङ्गानि यस्य तदष्टाङ्गम् । यमनियमा-
दावष्टाङ्गयोगे, वाच० ।

अष्टांगणिमित्त-अष्टाङ्गनिमित्त-न० । भौमम् १, उत्पातम् २,
स्वप्नः ३, आन्तरिक्षम् ४, आङ्ग ५, स्वरं ६, लक्षणं ७, व्यञ्जनम्
८, इत्येवं नवमपूर्वतृतीयाचारवस्तुनिर्गते सुखदुःखादिसूचके
निमित्ते, सूत्र० ।

संवच्छरं सुविणं लक्खणं च,

निमित्तं देहं च उपाइयं च ।

अष्टङ्गमेयं बह्वे आहत्ता,

द्वोगंसि जाणंति अण्णागताइ ॥ ९ ॥

सांवत्सरमिति ज्यौतिषम्, स्वप्नप्रतिपादको ग्रन्थः स्वप्नः, तम-
धीत्य । लक्षणं श्रीवत्सादिकम् । चशब्दादान्तरयाह्यमेदजि-
अम् । निमित्तं वाक्प्रशस्तशकुनादिकम् । देहे भवं देहम्, मषक-
तिलकादि । उत्पाते जवमौत्पातिकमुल्कापातविग्दाहनिर्घातभू-
मिकम्पादिकम् । तथाऽष्टाङ्गं च निमित्तमधीत्य । तथा-भौम-
मुत्पातमान्तरिक्षमाङ्गं स्वरं लक्षणं व्यञ्जनमित्येवंरूपम् । नवमपू-
र्वतृतीयाचारवस्तुनिर्गते सुखदुःखजीवितमरणलाजाऽद्याभा-
दिसंसूचकं निमित्तमधीत्य होकेऽस्मिन्नतीतानि वस्तूनि अना-
गतानि च जानान्ति परिच्छिदन्ति । न च शून्यादिवादेष्वेतद् ध-
टते, तस्मादप्रमाणिकमेव तैरभिधीयत इति । एवं व्याख्याते
सति आह परः-ननु व्यञ्जितार्थेपि श्रुतमुपलभ्यते । तथाहि-
चतुर्दशपूर्वविदामपि पदस्थानपतितत्वमागमे उद्गुप्यते, किं
पुनरष्टाङ्गनिमित्तशास्त्रविदाम् । अत्र चाङ्गवर्जितानां निमित्तशा-
स्त्राणामनुपुजेन चन्द्रसा त्रयोदशशतानि सूत्रम्, तावन्त्येव सह-
स्राणि वृत्तिः, तावत्प्रमाणलक्षणा परिज्ञापति । अङ्गस्य त्र-
योदशसहस्राणि सूत्रम्, तत्परिमाणलक्षणा वृत्तिः, अपरिमितं
वार्तिकमिति ॥

तदेवमष्टाङ्गनिमित्तवेदिनामपि परस्परतः पदस्थानपतितत्वेन
व्यञ्जित्वाचित्वमत इदमाह-

केई निमित्ता तहिया जवंति,

केसिं च तं विप्पमिण्णि एणं ।

ते विज्जभावं अण्हिज्जमाणां,

आहंसु विज्जापरिमोक्खमेव ॥ १० ॥

गान्दसत्वात्प्राकृतशैल्या वा विज्ञव्यत्ययः । कानिचिन्निमित्तानि तथ्यानि सत्यानि जवन्ति । केषांचित्तु निमित्तानां निमित्तवेदिनां वा बुद्धिवैकल्यात्तथाविधकयोपशमाभावेन तन्निमित्तज्ञानं विपर्यासं व्यत्ययमेति । आहंतानामपि निमित्तव्यभिचारः समुपलज्यते, किं पुनस्तीर्थिकानाम् ? तदेवं निमित्तशास्त्रस्य व्यभिचारमुपलज्यते । अक्रियावादिनो विद्यासद्भावमनधीयानाः सन्तो निमित्तं तथा चान्यथा च भवतीति मत्वा, ते (आहंसु विज्जापरिमोक्खमेव) विद्यायाः श्रुतस्य व्यभिचारेण तस्य परिमोक्षं परित्यागमादुरुक्तवन्तः । यदि वा क्रियाया अज्ञावाद् विद्याया ज्ञानेनैव मोक्षं सर्वकर्मच्युतिवक्षणमाहुरिति । क्वचित्चरमपादस्यैव पाठः—“जाणासु लोगे सि वयंति मंदंति” विद्यामनधीत्यैव स्वयमेव लोकमस्मिन् वा लोके भावान् स्वयं जानीमः, एवं मन्दा जडा वदन्ति । न च निमित्तस्य तथ्यता, तथाहि-कस्य चित्कचित्तुतेऽपि गच्छतः कार्यसिद्धिदर्शनात्, क्वचित् शकुनसद्भावेऽपि कार्यविधातदर्शनात्, अतो निमित्तबलेनादेशविधायिनां मृगावाद् एव केवलमिति । नैतदस्ति । नहि सम्यगधीतस्य श्रुतस्यार्थे विसंवादोऽस्ति । यदपि पदस्यानपतितत्वमुद्रोप्यते, तदपि पुरुषाश्रितकयोपशमयशेन । न च प्रमाणमासव्यभिचारे सम्यक्-प्रमाणव्यभिचाराशङ्कां कर्तुं युज्यते । तथाहि—मरुमरीचिकानिचये जलप्राहि प्रत्यक्षं व्यभिचरतीति कृत्वा किं सत्यजलप्राहिणोऽपि प्रत्यक्षस्य व्यभिचारो युक्तिसंगतो भवति ? न हि मशकवस्तिरग्निसिक्वानुपदिश्यमाना व्यभिचारिणीति सत्यधूमस्यापि व्यभिचारः । न हि सुविवेचितं कार्यकारणं व्यभिचरतीति । ततश्च प्रमाणुरयमपराधो न प्रमाणस्यैव । सुविवेचितं निमित्तं श्रुतमपि न व्यभिचरतीति । यश्च कृतेऽपि कार्यसिद्धिदर्शनेन व्यभिचारः शङ्क्यते, सोऽनुपपन्नः । तथाहि-कार्याकृतात् कृतेऽपि गच्छतः कार्यसिद्धिः साऽपान्तरालेऽन्तरशोभननिमित्तबलात्संजातेत्येवमवगन्तव्यम् । शोभननिमित्तप्रस्थितस्यापीतरनिमित्तबलात्कार्यव्याघात इति । तथा च श्रुतिः—किल बुरुः स्वशिष्यनाहूयोकयान् । यथा-द्वादशवार्षिकमत्र दुर्गिन्मं भविष्यतीत्यतो देशान्तराणि गच्छत यूयम् । ते तद्वचनाच्छ्रुत्तस्तेनैव प्रतिपिद्धाः । यथा-मा गच्छत यूयमिहाद्यैव पुण्यवान् महासत्त्वः संजातस्तत्प्रजावात्सुमिहं भविष्यति । न तदेवमन्तरापरनिमित्तसद्भावात्प्रतिपत्तिरिति स्थितम् ॥ १० ॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । “ अट्टनिमित्तगाहं, दिव्युत्पातंतद्विक्रम भोमं च । अंगं सरलकक्षण वं-जणं च तिविहं पुणेकेकं ” ॥१॥ म०११ श०११उ० ।

अष्टगतित्रय-अष्टाङ्गविन्नक-पुं० । अष्टस्वङ्गेषु पुण्येषु, ज० ११ श० ११ उ० ।

अष्टगमहाणिमित्त-अष्टाङ्गमहानिमित्त-न० । अष्टाङ्गानि यत्र, एवंविधं यद् महानिमित्तं शास्त्रम् । आङ्गस्वप्नेत्याद्यष्टावयवे जाविपदार्थसूचके स्वप्नादिफलव्युत्पादके ग्रन्थे, कल्प० ।

अष्टगमहाणिमित्तसुत्तत्प्रधारय-अष्टाङ्गमहानिमित्तसूत्रार्थधारक-त्रि० । अष्टाङ्गमष्टावयवं यन्महानिमित्तं परोक्षार्थप्रतिपत्तिकारणव्युत्पादकं महाशास्त्रम्, तस्य यौ सूत्रार्थौ तौ धारयन्ति ये ते तथा । अधीताद्यभेदमहानिमित्तशास्त्रसूत्राभिधेयेषु, ज्ञा० १ अ० । म० ।

अष्टगिया-अष्टाङ्गिकी-स्त्री० । अष्टभिरङ्गैर्निर्वृत्तायाम्, “प्रवृत्तिरष्टाङ्गिकी तत्त्वे” यो० १६ विव० ।

अष्टकक्षिप-अष्टकर्मिक-त्रि० । य० स० । अष्टकोणविभागे, स्था० ७ ठा० ।

अष्टकम्मगंती विमोयग-अष्टकर्मग्रन्थि विमोचक-त्रि० । अष्टक-मरूपो यो ग्रन्थिस्तस्य विमोचकः । ज्ञानावरणीयादिकर्मणां कपके, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अष्टकम्मतंतुषणवंधण-अष्टकर्मतंतुषणवन्धन-न० । ३ त० । अष्टकर्मवक्ष्यैस्तन्तुभिर्धने बन्धने, “वेढंता कोसिकारकीडो व्व अप्पणं अट्टकम्मतंतुवंधणेणं” प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अष्टकम्मसूदणतव-अष्टकर्मसूदनतपस्-न० । अष्टानां कर्मणां ज्ञानावरणादीनां सूदनं विनाशनं यस्मात्तदष्टकर्मसूदनं तपः । तपोभेदे, प्रव० १७१ द्वा० । पंचा० ।

अष्टकर-अर्थकर-पुं० । अर्थान् हिताहितप्राप्तिपरिहारादीन् राजादीनां दिग्यात्रादौ तथोपदेशतः करोतीति अर्थकरः । मन्त्रिणि, नैमित्तिके च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अष्टग-अष्टक-न० । अष्टौ परिमाणस्य प्रत्येकमष्टाध्यायात्मके ऋग्वेदांशजनेदे, पाणिनेरष्टाध्यायीसूत्रे च । वाच० । अष्टपद्यात्मके प्रकरणे, तादृशैर्द्वात्रिंशता घटिते ग्रन्थे च । यथा हरिप्रज्ञसूरिविरचितमष्टकम्, तस्य जिनेश्वराचार्यकृता तच्छिष्यश्रीमदभयदेवसूरिप्रतिसंस्कृता च वृत्तिः । द्वात्रिंशदष्टकानि, तेषु-प्रथमं महादेवाष्टकम्, द्वितीयं स्नानाष्टकम्, तृतीयं पूजाष्टकम्, चतुर्थमनिकारिकाष्टकम्, पञ्चमं भिक्षाष्टकम्, षष्ठं पिण्डविशुद्ध्याष्टकम्, सप्तमं भोजनाष्टकम्, अष्टमं प्रत्याख्यानाष्टकम्, नवमं ज्ञानाष्टकम्, दशमं वैराग्याष्टकम्, एकादशं तपोऽष्टकम्, द्वादशं वादाष्टकम्, त्रयोदशं धर्माष्टकम्, चतुर्दशं द्रव्यास्तिकाष्टकम्, पञ्चदशं पर्यायाष्टकम्, षोडशमनेकान्तवादाष्टकम्, सप्तदशं मांसभक्षणाष्टकम्, अष्टादशं मांसभक्षणदूषणाष्टकम्, एकोनविंशं मद्याष्टकम्, विंशतितमं मैथुनाष्टकम्, एकविंशं सूक्ष्मबुद्ध्याष्टकम्, द्वाविंशं मावशुध्यष्टकम्, त्रयोविंशं शासनमालिन्याष्टकम्, चतुर्विंशं पुण्यापुण्यविचाराष्टकम्, पञ्चविंशमौचित्यप्रवृत्त्याष्टकम्, षड्विंशं तीर्थकरदानाष्टकम्, सप्तविंशं तीर्थकृतां महादानयुक्त्वाष्टकम्, अष्टाविंशं तीर्थकृतां राज्याष्टकम्, एकोनत्रिंशं सामायिकाष्टकम्, त्रिंशत्तमं केवलाष्टकम्, एकत्रिंशं तीर्थकृतां धर्मदेशनाष्टकम्, द्वात्रिंशं सिद्धाष्टकम्, अन्ते च “अष्टकाख्यं प्रकरणं, कृत्वा यत्पुण्यमर्जितम् । विरहात्तेन पापस्य, भवन्तु सुखिनो जनाः ” ॥ १ ॥ हा० । यथा वा श्रीमच्छोविजयोपाध्यायेन ज्ञानसाराख्यो द्वात्रिंशदष्टकप्रमाणो ग्रन्थो विरचितः, तस्य देवचन्द्रगणिना ज्ञानमञ्जरी नाम टीका कृता, तस्य च द्वात्रिंशतोऽष्टकानां नामाभिधेयौ तत्रैवान्ते दर्शितौ । “ पूर्णो मग्नः स्थिरो मोहो, ज्ञानी शान्तो जितेन्द्रियः । त्यागी क्रियापरस्त्वतो, निलैपो निस्पृहो मुनिः ॥ १ ॥ विद्याविवेकसंपन्नो, मध्यस्थो भयवर्जितः । अनात्मशंसकस्तत्त्व-दृष्टिः सर्वसमृद्धिमान् ॥ २ ॥ ध्याता कर्मविपाकाना-मुद्दिनो जववारिधेः । लोकसंज्ञाविनिर्मुक्तः, शास्त्रद्वनिष्पारिहः ॥ ३ ॥ ” अष्ट० ३२ अष्ट० ।

अष्टगुणोववेय-अष्टगुणोपपेत-न० । अष्टत्रिंशद्वैरूपपेतमष्टगुणोपपेतम् । पूर्णादिगुणाष्टकयुते ज्ञेये । ते चाष्टावमी गुणाः-पूर्ण रक्तमहं हृतं व्यक्तमविपुष्टं मधुरं समं सललितं च । तथा

अट्टगुणोवयेय

चोक्तम्—“पुंस् रत्तं च अलं-क्रियं च वत्तं तदेव अविपुट्टं । महु-
रं समं सन्नद्धियं, अट्टगुणा ह्येति गेयस्स” ॥१॥ जी० ३ प्रति० ।

अट्टचक्रवाहपट्टाण—अट्टचक्रवालप्रतिष्ठान—त्रि० । अट्टचक्र-
प्रतिष्ठित, “ एगमेगेणं महाणिही अट्टचक्रवाहपट्टाणं अट्ट
अट्ट जोअण्णां उट्टं उच्चत्तेणं ” जी० ३ प्रति० ।

अट्टजाय—अट्टजात—न० । जानशब्दे भेदवाचकः । अर्थमेदे, नि०
चू० १ उ० । धनार्थिनि, व्य० २ उ० ।

सूत्रम्—

अट्टजायं निक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ । तस्स गणाव-
च्छेदयस्स निज्जुहिचए अगिलाए कएणिज्जं वेपावाडेयं
जाव रोगातंकातां विप्पमुक्के, वतो पच्छा अहा लहुस्सगे
नायं ववहारे पट्टवियन्वे सिगा ॥

साम्प्रतमर्थजातं भिक्षुं श्रान्तमित्यत्र योऽर्थजातशब्दस्तदु-
त्पत्तिप्रतिपादनार्थमाह—

अत्येण जस्स कज्जं, संजातं एस अट्टजातो य ।

सो पुण संजमभावा, चाभिज्जंतो परिगिलाई ॥

अर्थेनार्थितया जातं कार्यं यस्य । संवन्धविचक्षायांमत्र पट्टी,
येनेत्यर्थः । सोऽर्थजातः । गमकत्वादेवमपि समासः । उपल-
क्षणमेतत् । तेनैवमपि व्युत्पत्तिरवसातव्या—अर्थः प्रयोजनं
जातोऽस्येत्यर्थजातः । पट्टद्वयेऽपि कान्तस्य परनिपातः, सु-
खादिगणे दर्शनात् । स पुनः कथं ग्लायतीति चेदत आह—स
पुनः प्रथमतः प्रथमव्युत्पत्तिस्त्वितः संयमभावाद् चाल्यमानः
निष्कास्यमानः परिग्लायति । द्वितीयव्युत्पत्तिपक्षे प्रयोजना-
निष्पत्त्या ग्लायति, तस्योभयस्यापि अगिलया प्रागुक्तस्वरूपया
वच्यमाणं धैयावृत्त्यं करणीयम्, यावद् रोगातद्वादिच रोगात-
द्वाद् संयमभावचलनात् प्रयोजननिष्पादनाच्च विप्रयुक्तः
स्यात् । ततः पश्चाद्यत्किमप्याचरितं भीषणादि, तद्विषये यथा
लघुस्वको व्यवहारः प्रस्थापितः स्यादिति ।

सम्प्रति निर्युक्किरुत् येपु संयमस्थितस्याप्यर्थजातमुत्पाद्यते,
तान्यभिधित्सुराह—

संवगपुरिसो ओमे, आवन्न अणत्त वोहिगे तेणे ।

एण्हि अट्टजातं, उप्पज्जइ संजमट्ठियस्स ॥

सेवकपुरुषे सेवकपुरुषविषये, एवमवमे दुर्भिक्षे, तथाऽऽपत्रे
दासत्वं समापत्रे, तथा विदेशान्तरगमने उत्तमार्गेनानाप्ते, तथा
बोधिकैरपहरणे, स्तेनैरपहरणे च । बोधिकाः—अनार्यमलेच्छाः,
स्तेना आर्यजनपदजाता अपि शरीरापहारिणः । एतैः कारणै-
रर्थजातं प्रयोजनजातमुत्पद्यते, संयमस्थितस्यापीति । एव नि-
र्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥

साम्प्रतमेनामेव विवरीतुकामः प्रथममाह—

अपरिग्गहाणियाए, सेवगपुरिसो उ कोइ आलचो ।

सा तं अतिरागेणं, पणयए हु अट्टजाया य ॥

सा रूविणि चि काउं, रक्खाऽऽणोया उ खंधवारेण ।

इपरो तीए विउतो, दुक्खवचो चेय निक्खंतो ॥

पच्चागय तं सोउं, निक्खंतं वेइ गंतु एं तहियं ।

वहुयं मे उवउत्तं, जइ दिज्जइ तो विसज्जामि ॥

न विद्यते परिग्रहः कस्यापि यस्याः साऽपरिग्रहा, सा चा-
लौ गणिका च अपरिग्रहागणिका, तथा, कोऽपि राजादीनां से-

वकः पुरुष आलपितः संभाषितः । आलप्य च स्वगृहमानी-
तः । सा अर्थजाता सती तं पुरुषमतिरागेणाऽतिरागवशा-
त्पण्यते प्रसादयति । अन्यदा सा गणिका रूपिणी अतिशयेन
रूपवतीति कृत्वा राज्ञा स्कन्धावारेण कटकेन गच्छता आत्मना
सहानीता । इतरोऽपि च सेवकपुरुषस्तथा गणिकया वियुक्तो
दुःखार्तः । प्रियाविप्रयोगपीडितो निष्क्रान्तस्तथारूपाणामन्तिके
प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः । सा च वेद्या राज्ञा सह प्रत्यागता तं पुरुषं
न पश्यति स्म, गवेपायितुमारब्धः । ततः कस्यापि पार्श्वे निष्क्रान्तं
भूत्वा यत्र स तिष्ठति स्म, नस्यां वसतौ गत्वा तान् स्थविरान्
मृते-बहुकं प्रभृतं मम तु हव्यमनेनोपयुक्तमात्मोपयोगं नीतम्, ह्य-
कमित्यर्थः ; तद्यदि दीयते ततो विसृज्यामि ॥

एवमुक्ते यत् कर्तव्यं स्थविरैस्तदाह—

सरजेयवसनेयं, अंतद्धाणं विरेयणं वा वि ।

वरधण्णमयवेम पुस्स—भूती कुसलो सुहुमे य भाणम्मि ॥

गुटिकाप्रयोगतस्तस्य स्वरभेदं वर्णभेदं वा स्थविराः कुर्वन्ति,
यथा सा तं न प्रत्यजिज्ञानाति, यदि वा ग्रामान्तरादिप्रेषणेना-
न्तर्धानं व्यवधानं क्रियते । अथवा तथाविधौषधप्रयोगतो विरे-
चनं कार्यते येन स ग्लान इव ह्रद्यते, कृच्छ्रेणैव जीवतीति ज्ञा-
त्वा सा तं मुञ्चति । अथवा शकौ सत्यां यथा ब्रह्मदत्तद्विरूपा
धनुःपुत्रेण वरधनुना मृतकवेपः कृतस्तथैव निश्चलो निरुच्छ्वासः
सूक्ष्ममुच्छ्वसन् तिष्ठति, येन मृत इति ज्ञात्वा तथा विसृज्यते ।
यदि वा पुष्पनूतिराचार्यः सूक्ष्मे ध्याने कुशलः सन् ध्यानवशाद्
निश्चलो निरुच्छ्वासोऽप्यतिष्ठत् तथा तेनापि सूक्ष्मध्यानकुशलेन
तथा स्थातव्यं येन सा मृत इत्यवगम्य विसृज्यति ।

एषां प्रयोगाणामभावे—

अणुसिद्धिं उच्चरती, गर्मेति एं भित्तणायगादीहिं ।

एवं पि अट्टजायं, करेति सुत्तम्मि जं बुत्तं ॥

तस्या गणिकाया यानि मित्राणि, ये च ज्ञातयः, आदिशब्दात्तद-
न्यतथाविधपरिग्रहः । तैः स्थविरास्तां गमयन्ति बोधयन्ति, येना-
नुशिष्टमुच्चरति, मुक्तद्वनं करोतीति भावः । एवमपि अतिष्ठ-
न्त्यां तस्यां यदुक्तं सूत्रे तत्कुर्वन्ति, “ स मोचयितव्यः ”
इति सूत्रे मोचनस्याभिधानात् । तथा चोक्तम्—“ ताहे सो मो-
क्खेयव्वो एवं सुत्ते भणियं ” इति । गतं सेवकपुरुषचारम् ।

अधुनाऽवमद्वारमाह—

सुकुटुवो निक्खंतो, अन्वत्तं दारगं तु निक्खिस्सविओ ।

मित्तस्स धरे सो वि य, कालगतो तोऽवमं जायं ॥

तत्थ अणादिज्जंतो, तस्स उ पुत्तेहि सो तओ चेओ ।

धोलंतो आवण्णो, दासत्तं तस्स आगमणं ॥

मथुरायां किल नगर्यां कोऽपि वणिक् अव्यक्तं बाह्यं, दारकं पुत्रं,
मित्रस्य गृहे निक्षिप्य सकुटुम्बो निष्क्रान्तः, सोऽपि च मित्रचू-
तः पुरुषः काहं गतः । (तो चि) तस्मात्तस्य कालगमनादनन्त-
रमवमं दुर्भिक्षं जातम् । तत्र च दुर्भिक्षे तस्य मित्रस्य पुत्रैः स चे-
नोऽनाद्विगमाणोऽन्यत्रान्यत्र धोलति परिभ्रमति, स च तथा
परिभ्रमन् कस्यापि गृहे दासत्वमापन्नः । तस्य च पितृयथावि-
हारक्रमं विहरतस्तस्यामेव मथुरायामागमनं जातम् । तेन च
सर्वं तज्ज्ञातम् ।

सम्प्रति तन्मोचने विधिमभिधित्सुराह—

अणुसास कएण उवियं, भीसए ववहार लिंगं जं जत्थ ।

दूराभोग गवेसण, पंथे जयणा य जा जत्थ ॥

पूर्वमनुशासनं तस्य कर्तव्यम्, ततो धर्मकथाप्रसङ्गेन कथनं स्थापत्यापुत्रादेः करणीयम् । एवमप्यतिष्ठति यन्निष्कामता स्थापितं ह्यत्र तद् गृहीत्वा समर्पणीयम्, तस्यान्नावेनिजकानां तस्य वा भीषणमुत्पादनीयम्, यदि वा राजकुले गत्वा व्यवहारः कार्यः । एवमप्यतिष्ठति यतो यत्नं लिङ्गं पूज्यते, ततस्तत्र परिगृह्य स मोचनीयः । एतस्यापि प्रयोगस्याभावे दूरेणोच्छिन्नस्वामिकतया, दूरदेशव्यवधानेन वा यन्निधानं तस्याभोगः कर्तव्यः, तदनन्तरं तस्य गवेसणया च गमने पथि मार्गे यतना यथौघनिर्मुक्तावुक्ता तथा कर्तव्या । या च यत्र यतना साऽपि तत्र विधेया यथासूत्रमिति द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतोऽनुशासनकथनद्वारं प्राह—

नित्थिष्मो तुज्झधरे, रिसिपुत्तो मुंच होहिई धम्मो ।

धम्मकहापसंगेण, कहणं थावच्चपुत्तस्स ॥

एष ऋषिपुत्रस्तव गृहेऽवमादिकं समस्तमपि निस्तीर्णोऽधुना व्रतग्रहणार्थमुद्यत इत्यमुं मुञ्च, तवापि प्रभूतो धर्मो ज्ञविष्यतीति । एतावता गतमनुशासनद्वारम् । तदनन्तरं धर्मकथाप्रसङ्गेन च कथनं स्थापत्यापुत्रस्य करणीयम्, यथा स स्थापत्यापुत्रो व्रतं जिघृक्षुर्वासुदेवेन महता निष्कामणमहिम्ना निष्काश्य पार्श्वस्थितेन व्रतग्रहणं कारितः, एवं युष्माभिरपि कर्तव्यम् ।

तद् वि य अउंते ठविंयं, जीसणं ववहारं निक्खमंतेण ।

तं घेत्तूणं देज्जइ, तस्सासइए इमं कुज्जा ।

तथापि च, अनुशासने कथने च कृते इत्यर्थः । अतिष्ठति स्थापितं देयम्, जीषणं वा करणीयम्, व्यवहारे वा समाकर्षणीयः । तत्र स्थापितं ज्ञावयति—तेन पित्रा निष्कामता यत्किमपि स्थापितं ह्यव्यमस्ति तद् गृहीत्वा तस्मै दातव्यम् । उपलक्षणमेतत् । तेनैतदपि द्रष्टव्यम्—अजिनवः कोऽपि शिष्यक उपस्थितस्तस्य यत्किमप्यर्थजातं स्थापितमस्ति, यदि वा गच्छान्तेरयः कोऽपि शैक्वक उपस्थितस्तस्य हस्ते यद् ह्यव्यमवतिष्ठते, तद् गृहीत्वा तस्मै दीयते, तस्य ह्यव्यस्यासत्यभावे इदं वक्ष्यमाणं कुर्यात् ।

तदेवाह—

नीयद्वागाण तस्स व, जीसणं रायउत्ते सयं वावि ।

अविरिकामो अम्हे, कहं व दज्जा न तुज्ज ति ।

ववहारेणं अहयं, जागं पेच्छामि बहुतरागं भे ।

अच्चियलिंगं च करे, पप्पवणा दावण्डाए ॥

निजकानामात्मीयानां स्वजनानां, तस्य वा जीषणं कर्तव्यम् । यथा वयमविरिक्ता अविभक्तरीकथावर्त्तामहे, ततो मोचयत मदीयं पुत्रं, कथं वा केन युष्माकं न लज्जाऽनूद् यदेवं मदीयपुत्रो दासत्वमापन्नोऽद्यापि धृतो वर्त्तत इह । अथैवमुक्ते ते ह्यत्र न प्रयच्छन्ति तत इदमपि वक्तव्यम्—राजकुलं गत्वा व्यवहारेणाप्यहं भागं बहुतरकं प्रभूततरकं ग्रहीष्यामि (मि) ज्ञवतां पार्श्वं; तद् वरमिदानीं स्तोत्रं प्रयच्छथ । एवं तेषां भीषणं कर्तव्यम् । यदि वा येन गृहीतो वर्त्तते तस्य भीषणं विधेयम्, यथा यदि मोचनीयं तर्हि मोचय, अन्यथा भवतस्तं शापं दास्यामि येन न त्वम्, नेदं वा तव कुटुम्बकमिति । एवं भीषणेऽपि कृते यदि न मुञ्चति, यदि वा ते स्वजना न किमपि प्रयच्छन्ति, तदा स्वयं राजकुले गत्वा निजकैः सह व्यवहारः करणीयः, व्यवहारं च कृत्वा ज्ञाग आत्मीयो गृहीत्वा तस्मै दातव्यः । यद्वा-स एव राजकुले

व्यवहारेणाह्व्यते; तत्र च गत्वा वक्तव्यम्—यथाऽयमृषिपुत्रो व्रतं जिघृक्षुः केनापि कपटेन धृतस्तं न वर्त्तते, यूयं च धर्मव्यापारनिपष्ठास्ततो यथाऽयं धर्ममाचरति, यथा चामीषामृषीणां समाधिरूपजायते तथा यतध्वमिति । अस्यापि प्रकारस्याभावे यद्यत्र लिङ्गमर्चितं तत्परिगृह्य दापनार्थम्, विवर्तितबालकमोचनार्थमित्यर्थः । तांस्तुङ्गधारिणां मध्ये ये महान्तस्तेषां प्रज्ञापना कर्तव्या, येन ते मोचयन्ति ।

सम्प्रति दूराभोगेत्यादि व्याख्यानार्थमाह—

पुट्ठा व अपुत्ता वा, चुयसामिमिहिं कहिति ओहार्ह ।

घेत्तूणं जावदट्ठा, पुणारवि सा रक्खणा जयणा ॥

यदि वा अवध्यादयोऽवधिज्ञानिनः । आदिशब्दाद्विशिष्टश्रुतज्ञानिपरिग्रहः । पृष्टा वा अपृष्टा वा तथाविधं तस्य प्रयोजनं ज्ञात्वा च्युतस्वामिकं निधिमुत्सन्नस्वामिकं निर्धि कथयन्ति, तदानीं तस्य तेषां तत्कथनकस्योचितत्वात् । ततो यावदर्थः, यावता प्रयोजनं तद् गृहीत्वा पुनरपि तस्य निधिसंरक्षणं कर्तव्यम् । प्रत्यागच्छता च यतनाविधिर्या, सा चाग्रे स्वयमेव वक्ष्यते ।

सोऊण अट्टजायं, अट्ठं पमिजगए य आयरिओ ।

संघारुयं वि देंति य, पडिजगइ णं गिलाणं पि ॥

निधिग्रहणार्थं मार्गे गच्छन्तमर्थजातं साधुं श्रुत्वा सांभोगिको वाऽऽचार्योऽर्थं प्रतिजागर्ति उत्पादयति । यदि पुनस्तस्य द्वितीयः संघाटको न विद्यते, ततः संघाटकमपि ददाति । अथ कथमपि ग्लानो जायते ततो ग्लानमपि जागर्ति न तूप्सते, जिनाज्ञाविराधनप्रसक्तेः ॥

यदुक्तमन्तरं यतना प्रत्यागच्छता कर्तव्या, तामाह—

काउं निसीहियं जा-ड्जायमावेयणं च गुरुहत्थे ।

दाऊण पमिक्कमणं, मा पेहंता मिगा पेसो ॥

यत्रान्यगणे स प्राधूर्णक आयाति, तत्र नैपेधिकीं कृत्वा, 'नमः कृमाश्रमणेभ्यः' इत्यादिवा च मध्ये प्रविशति । प्रविश्य च यदर्थजातं तद्गुरुभ्य आवेदयति कथयति । आवेद्य च तदर्थजातं गुरुहस्ते दत्त्वा प्रतिक्रामति । न स्वपार्श्वे एव स्थित इति वेदयत आह—मा प्रेक्षमाणा मृगा इव मृगा अर्गीतार्थाः क्लृप्तादयः पश्येयुर्गुरुहस्तेऽवस्थितं तद् निरीक्षन्ते, अस्मद्गुरुणां समर्पितमिति विरूपसंकल्पेऽप्रवृत्तेः ॥

सम्प्रति 'जयणा य जा जत्थेति' तद्व्याख्यानार्थमाह—

सन्नी व सावको वा, निरुत्रिए देज्ज अट्टजातस्स ।

पच्चुप्पप्पनिहाणे, कारणजाए गहणसोही ॥

यत्र संज्ञी सिद्धपुत्रः आवको वा वर्त्तते तत्र गत्वा तस्मै स्वरूपं निवेदनीयं, प्रज्ञापना च कर्तव्या । ततो यत्तत्र तेन प्रत्युत्पन्नं तव निधानं गृहीतं वर्त्तते तस्यार्थजातस्य मध्यात्कतिपयान् ज्ञागान् दद्यात् । स्वयं तदानीं प्रज्ञापनातो वा गीतार्थत्वात् । अस्य प्रकारस्यान्नावे यन्निधानं दूरमवगाढं वर्त्तते, ततस्तेन उत्खन्य दीयमानमधिकृते कारणजाते गृह्णानोऽपि शुद्धः, भगवदाज्ञावर्त्तनात् । गतमवमद्वारम् ।

इदानीमापन्नद्वारमाह—

थोवं पि धरेमाणो, कप्पइ दासत्तमेव अददंते ।

परदेसमि वि लुब्धमि, वाणियधम्मो भमेस ति ॥

स्तोकमापि ऋणं शेषं धारयन् कश्चिद्देशे कोऽपि पुरुषः, ततः (अद्वयंते चि) अद्वानः कावक्रमेण प्रवृद्ध्या, दासत्वमेव प्रति-
पद्यते । तस्यैव दासत्वमापन्नस्य, स्वदेशे दीक्षा न दातव्या ।
अथ कदाचित्परदेशे गतः सन्नविदितस्वरूपोऽशिवादिकारण-
मेव न विदितो भवेत् । अथ न विदितो वाणिज्याय गतेन दृष्टो
भवेत् । तत्रायं किल न्यायः—परदेशमपि गता यणिज आत्मीयं
व्रमन्ते, तत एव यणिग्धर्मे व्यवस्थिते स एव भूयात् ' मम
एव दास ' इति न मुञ्चिष्येऽमुमिति ।

तत्र यत्कर्तव्यं तदतिपादनार्थं चारुगाथामाह—

नाहं विदेसआहर-णमाइ विज्जा य मंत जोगा य ।

नेमित्त राय धम्मे, पासंद गणे धणे चैव ॥

यत्तव दासत्वमापन्नो वर्तते, न सोऽहं, किं त्वहमन्यस्मिन्वि-
देशे जातः, त्वं तु सद्वृत्ततया विप्रबन्धोऽसि, अयं सम्भूतजनवि-
दितो वर्तते तत एव न वक्तव्यं, किं तु स्थापत्यापुत्राद्याहरणं
कथनीयम्, यद्यपि कदाचित् तच्छ्रवणतः प्रतिबुद्धो मुक्तलय-
ति । आदिशब्दात् गुटिकाप्रयोगतः स्वरभेदादि कर्तव्यमिति
ग्रहः । एतेषां प्रयोगाणामभावे विद्या मन्त्रो योगो वा, ते प्रयोक्त-
व्याः, यैः परिगृहीतः सन् मुक्तलयति । तेषामप्यभावे निमित्ते-
नातीतानागतविषयण राजा, उपलक्षणमेतत्, तदन्यो वा नगर-
प्रधान आवर्जनीयः, येन तत्प्रभावात्स प्रेर्यते, धर्मो वा कथनी-
यो राजादीनाम्, येन स आवृताः सन्तस्तं प्रेरयन्ति । एत-
स्यापि प्रयोगस्याज्ञावे पापएकान् सहायान् कुर्यात् । यद्वा-
यो गणः सारस्वतादिको बलीयान् तं सहायं कुर्यात् । तदभा-
वे दूराभोगादिना प्रकारेण धनमुत्पाद्य तेन मोचयेत् । एष
धारुगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीपुराह—

सारक्खण्ण जंपासि, जातो अन्नत्थ ते वि आमंति ।

वहुजणविष्णायम्मि उ, यावच्चसुयादिआहरणं ॥

यदि प्रभूतजनविदितो न भवति, यथा-अयं तद्देशे जात इति,
तत एव भूयात् । अहमन्यत्र विदेशे जातस्त्वं तु साह-
च्येण विप्रबन्ध एवमसमञ्जसं जल्पसि । एवमुक्ते तेऽपि
तत्रत्या आमेवमेतद् यथाऽयं वदतीति साक्षिणो जायन्ते,
अथ तद्देशजाततया प्रभूतजनविदितो वर्तते, ततस्तस्मिन्वहु-
जनविज्ञाते पूर्वोक्तं न वक्तव्यम्, किन्तु प्रबोधनाय स्थापत्यापु-
त्राद्याहरणं कथनीयम् ।

विज्जा मंता जोगा, अंतद्दणं विरेयणं वा वि ।

वरधणु य पुस्सभूती, गुलिया सुहुमे य जाणम्मि ॥

विद्यादयो विद्यामन्त्रयोगाः प्रयोक्तव्याः, येन तैरभियोजितः
सन् मुक्तलयति । आहरणमादीत्यत्रादिशब्दव्याख्यानाथमाह—
गुटिकाप्रयोगतः स्वरभेदेन । उपलक्षणमेतत् । वर्णभेदं कार-
येत्, यदि वा अन्तर्यामिन् प्रामान्तरप्रेषणेन व्यवधानम्, विरेचनं वा
ग्लानतोपदर्शनाय कारयितव्यो यत्कच्छेनैव जीवतीति ज्ञात्वा
विस्त्रय्यते । यदि वा वरधनुरिव गुटिकाप्रयोगतः, पुष्पभूतिरा-
चार्य इव सूक्ष्मध्यानवशतो निश्चलो निरुच्छ्वासः तथा स्याद्
येन मृत इति ज्ञात्वा परित्यज्यते ।

असतीए विणर्वेती, रायाणं सो व होज्जउ अ निजो ।

तो से कहिज्ज धम्मो, अणिच्छमाणा इमं कुज्जा ॥

एतेषां प्रयोगाणामसति अभावे राजानं विज्ञापयन्ति । यथा—

तपस्विनमिह परलोकनिःस्पृहमेनं व्रताद्यापयतीति; अथासौ
राजा तेन भिन्नो व्युद्वाहितो वर्तते । ततः स तस्य राज्ञः प्रति-
बोधनाय, धर्मः कथ्यते, अथ स धर्मं नेच्छति, ततस्तस्मिन् ध-
र्ममनिच्छति, उपलक्षणमेतत्, निमित्तेन वाऽतीतानागतरूपेणा-
चार्यमाणे इदं वक्ष्यमाणं कुर्यात् ।

तदेवाह—

पासंमे व सहाए, गेएहइ तुज्जं पि एसिं हुज्जा ।

होहामोह सहाया, तुज्जं वि जो वा गणो बलिओ ॥

पापएकान् वा सहायान् गृह्णाति । अथ ते सहाया न जवन्ति,
तत इदं तान् प्रति वक्तव्यम्—युष्माकमपीदृशं प्रयोजनं भवेद्
प्रविष्यति तदा युष्माकमपि वयं सहाया भविष्यामः । एवं
तान्सहायान् कृत्वा तद्वलतः स प्रेरणीयः, यदि वा यो गणो
बलीयान् तं सहायं परिगृहीते ।

एसिं असतीए, संता वि जया न हंतिउ सहाया ।

ठवणा दूराभोगे, छिंणेण व एसिं देति ॥

एतेषां पापएकानां गणानां वा असति अभावे, ये सन्तः शिष्टा-
स्ते सहायाः कर्तव्याः । यदा तु सन्तो वा सहाया न जवन्ति, तदा
(ठवणं चि) निष्कामता या कृत्यस्य स्थापना कृता तद्द्वानतः
स मोचयितव्यः । यदि वा दूराभोगेन प्रागुक्तप्रकारेण, अथवा
यद्यत्र श्लिष्टमर्चितं, तेन धनमेतिषत्वा उत्पाद्य ददति, तस्मै वरवृ-
पभाः । गतमापन्नद्वारम् ।

इदानीमनासद्वारमाह—

एमेव अणत्तस्स वि, तत्रतुदण्णा नवरि एत्थ नाणत्तं ।

जं जस्स होइ भंनं, सो देति ममंतिगे धम्मो ॥

एवमेव अनेनैव दासत्वापन्नगतेन प्रकारेण अनासस्यापि प्रागु-
क्तशब्दाद्यस्य मोक्षणे यतना द्रष्टव्या, नवरम्, अत्र धनदानादि-
न्त्यायां नानात्वम् । किं तदित्याह—तपस्तुलना कर्तव्या । सा
चैवं ज्ञाप्यते—साधवस्तपोधना अहिरण्यसुवर्षाः, लोकेऽपि यद्य-
स्य प्राण्डं जवति, स तत्तस्मै उत्तमर्णाय ददाति । अस्माकं च
पार्श्वे धर्मस्ततस्त्वमपि धर्मं गृहाण ।

एवमुक्ते स प्राह—

जोऽणेण कतो धम्मो, तं देउ न एत्थिं समं तुलइ ।

हीणं जावेताहिं, तावइयं विज्जयंभणया ॥

योऽनेन कृतो धर्मः सर्वं मह्यं ददातु, एवमुक्ते साधुनिर्वक्तव्यम्,
नैतावद्दूयः, यतो नैतावत्समं तुलति । स प्राह—एकेन संवत्सरेण
हीनं प्रयच्छत, तदपि प्रतिपेधनीयं चेद् द्वाभ्यां संवत्सराभ्यां हीनं
दत्त । एवं तावत् विभाषा कर्तव्या—यावदेकेन दिवसेन कृतो
योऽनेन धर्मस्तं प्रयच्छत । ततो वक्तव्यम्—नाच्यधिकं दण्डः
किन्तु यावत्तद् गृहीतं मुहूर्तादिकृतेन धर्मेण तोल्यमानं समं तुल-
ति तावत्प्रयच्छामः । एवमुक्ते यदि तोलनाय ढौकते, तदा
विद्यादिनिस्तुला स्तम्भनीया, येन क्षणमात्रकृतेनापि धर्मेण
न समं तोलयतीति । धर्मतोहनं च धर्माधिकरणिकनीति-
शास्त्रप्रसिद्धमस्ति, ततोऽवसातव्यम् ।

जइ पुण नेच्छेज्ज तवं, वाणियधम्मेण ताहे सुच्छो उ ।

को पुण वाणियधम्मो, सामुहे संचमे इण्णो ॥

वत्थाणांजरणाणि यं, सव्वं णड्डिजु एगविदेण ।

पोयम्मि विवसम्मि उ, वाणियधम्मे हवइ सुच्छो ॥

एयं इमो वि साहू, तुज्जं नियगं च सारमुत्तूणं ।

निकखंतो तुज्जं धरे, करेइ इहिंहु तु वाणिज्जं ॥

यदि पुनरुक्तप्रकारेण क्षणमात्रकृतस्यापि धर्मस्यालाभेन नेच्छे-
त् तपो ग्रीहीतुम् । ततो वक्तव्यम्-वणिग्धर्मेण वणिग्न्यायेन एव
शुद्धः । स प्राह-कः पुनर्वणिग्धर्मो येनैव शुद्धः क्रियते? । सा-
धो वदन्ति-समुद्धे संज्ञमे गमनेऽयं वक्ष्यमाणः । तमेवाह-(वत्था-
णाभरणेत्यादि) यथा वणिक् ऋणं कृत्वा प्रवहणेन समुद्रमव-
गाढः, तत्र पोते प्रवहणे विपन्ने आत्मीयानि परकीयानि च प्रजु-
तानि वत्थाण्याभरणानि, चशब्दाच्छेषमपि च नानाविधं क्रया-
णकं सर्वं छर्दयित्वा परित्यज्य, एकवृन्देन, प्रावप्रधान एकशब्दः-
एकतैव वृन्दं, तैकेकाको उत्तीर्णो, वणिग्धर्मे वणिग्न्याये शुद्धो
भवति, न ऋणं दाप्यते । एवमयमपि साधुस्तव सत्कमात्मीयं
च सारं सर्वं तव गृहे मुक्त्वा निष्क्रान्तः संसारसमुद्रादुत्तीर्णो
इति शुद्धः, न धनिका ऋणमात्मीयं याचितुं व्रमन्ते, तस्मान्न
किञ्चिद्वत् तवाऽऽदेयमस्तीति । करोत्विदानीमेव स्वेच्छया त-
पोवाणिज्यम्, पोतप्रवणिगिव निर्ऋणो वाणिज्यमिति । गतम-
नासद्वारम् ।

अधुना बोधिकस्तेन चारप्रतिपादनार्थमाह—

बोहियतेगेहि हिं, विमग्गणा साहुणो नियमसो य ।

अणुसासनमादीतो, एसेव कपो निरवसेसो ॥

बोधिकाः स्तेनाश्च प्रागुक्तस्वरूपाः, तैर्हते साधौ नियमशो
नियमेन साधोर्विमार्गेण कर्तव्यम्, तस्मिन् विमार्गेण कर्तव्येऽ-
नुशासनादिकोऽनुशिष्टिप्रदानादिको धनप्रदानपर्यन्त एव पवा-
नन्तरोदितः क्रमो निरवशेषो वेदितव्यः ।

संप्रत्युपसंहारव्याजेन शिक्षामपवादं चाह—

तम्हा अपरायत्ते, दिक्खिज्जाऽणारिएण वजेज्जा ।

अप्पाण अणान्नोगा, विदेस असिवादिमुं दो वि ॥

यस्मात्परायत्तदीक्षणेऽनार्यदेशगमने चैते दोषास्तस्मादपरा-
यत्तान् दीक्षयेत्, अनार्योश्च देशान् वर्जयेत् । अत्रैवापवाद-
माह-(अच्छाणं चि) अश्वानं प्रतिपन्नस्य ममोपग्रहमेते करि-
ष्यन्तीति हेतोः परायत्तानपि दीक्षयेत् । यदिवाऽनान्नोगनः प्र-
ब्रजयेत् । विदेशस्थान् वा स्वरूपमजानतो दीक्षयेत् । पुनरशि-
वादिषु कारणेषु (दो वि चि) द्वे अपि परायत्तदीक्षणानार्यदे-
शगमनेऽपि कुर्यात् । किमुक्तं भवति-अशिवादिषु कारणेषु स-
मुपस्थितेषु परायत्तानपि गच्छोपग्रहनिमित्तं दीक्षयेत्, अना-
र्यान्पि देशान् विहरेदिति । व्य० २ उ० । एतत्पुरुषस्यार्थजात-
त्वमुपदर्शितम् ।

अथ संपत्त्याऽर्थजातत्वमुच्यते—

अट्टजायं शिग्गंथे शिग्गंथि गिएहमाणे वा अवलंवमाणे
वा णाइकमइ ॥

अर्थः कार्यमुत्प्राजन्तः स्वकीयपरिणेत्रादेर्जातं यथा साऽ-
र्थजाता पतिचौरादिना संयमाच्चाल्यमानेत्यर्थः । स्था० ५
ग० २ उ० ।

इह गाथा—

अट्टेण जायकज्जं, संजायं एस अट्टजाया उ ।

तं पुण संयमभावा, चालिज्जंती समवदंवे ॥ १ ॥

अर्थेनार्थतया संजातं कार्यं यथा । यद्वा-अर्थेन द्रव्येण जातमु-
त्पन्नं कार्यं यस्याः सा अर्थजाता । गमकत्वादेवमपि समासः ।

उपलक्षणमेतत् । तेनैवमपि व्युत्पत्तिः कर्तव्या । अर्थः प्रयोजनं
जातमस्या इत्यर्थजाता । कथं पुनरस्या अवलम्बनं क्रियत इ-
त्याह-तां पुनः प्रथमव्युत्पत्तिसूचितां, संयमभावाच्चाल्यमानाम् ।
द्वितीयवृत्तीयव्युत्पत्तिपक्षे तु द्रव्याभावेन प्रयोजनानिष्पत्त्या वा
सीदन्ती समवलम्बनेन-यथा-अवलम्बनेन-समवलम्बनेन, ए-
लक्षणत्वाद् गृहीयादपि । वृ० ६ उ० । (संयमस्थिताया निर्ग्रन्थ्या
अर्थज्ञातवक्तव्यता निरवशेषा निर्ग्रन्थस्येव भावनीया, केवलं
स्यभिहापः कार्यो भवतीति बृहत्कल्पोक्ता साऽत्र नोपन्यस्ता) ।

अट्टजुत्त-अर्थयुक्त-त्रि० । अर्थेन हेयोपादेयात्मकेन युक्तान्यन्वि-
तानि अर्थयुक्तानि । हेयोपादेयाभिधायकेषु आगमवचनादिषु,
अर्थो मोक्षस्तत्र युक्तान्यन्वितानि अर्थयुक्तानि । मोक्षे उपादेय-
तया सङ्गतेषु वचनादिषु, “अच्छुत्ताणि सिक्खेज्जा, गिरछाणि
उ वज्जए” उक्त० १ अ० ।

अट्टडमिका-अष्टाष्टमिका-स्त्री० । अष्टावष्टमानि दिनानि यस्यां
साऽष्टाष्टमिका । यस्यां हि अष्टौ दिनाष्टकानि भवन्ति तस्याम-
ष्टौ अष्टमानि प्रवत्येवेति । चतुष्पष्टिदिननिष्पन्नायां त्रिधुप्रति-
मायाम्, स० ।

अट्टडमियाणं जिकखूपडिमा चउसड्डीए राइदिएहिं दो-

हि य अट्टासीएहिं, भिक्खासएहिं अट्टासुत्तं जाव भवइ ।

त्रिधुप्रतिमाऽभिग्रहविशेषः । अष्टावष्टकानि यतोऽसौ भवत्य-
तश्चतुष्पष्ट्या रात्रिदिवैः सा पालिता भवति, तथा प्रथमेऽष्टके
प्रतिदिनमेकैका भिक्षा, एका दत्तिर्गौजनस्य पानकस्य च, एवं
द्वितीये द्वे द्वे यावदष्टमे अष्टावष्टाविति संकलनया द्वे शते भिक्षा-
णामष्टाशीत्यधिके भवतः । अत उक्तं द्वात्रिंशत् चेत्यादि यावत्करणा-
त् । “अहाकप्पं अहामग्गं फासिया पाहिया सोहिया तीरिया
कित्तिया सम्मं आणाए आराहिया वि भवइ” इति दृश्यम् ।
स० ६४ सम० । स्था० । अष्टाष्टकिकायामष्टक आदिरष्टक उ-
त्तरमष्टको गच्छः । तत्राष्टवक्षणे गच्छ उत्तरेणाष्टकेन युतः क्रि-
यते, जाता चतुष्पष्टिः, सा उत्तरहीना आदियुता क्रियते, तथापि
सैव चतुष्पष्टिः । एतदष्टमेऽष्टके भिक्षापरिमाणम्, एतदादिनाऽष्ट-
केन युतं क्रियते, जाता द्वासप्ततिः ७२ । सा गच्छार्केन चतुष्केण
गुरयते, जाते द्वे शते अष्टाशीत्यधिके । व्य० ७ उ० । प्रव० अन्त० ।
अष्टाष्टाण-अष्टस्यानक-न० । प्रज्ञापनाया अष्टमे स्थाने, “एवं
जहा अट्टाणे” स्था० १० ग० ।

अट्टणाम-अष्टणामन्-न० । अष्टविधपदार्थानामनि, “सं किंतं
अट्टणामे ? । अट्टणामे अष्टविहा वयणविभत्ती” अनु० (‘वय-
णविभत्ति’ शब्दे निरूपितमेतत्) ।

अट्टदंसिण-अर्थदर्शिन्-त्रि० । यथावस्थितमर्थं यथा गुरुस-
काशादवधारितमर्थं प्रतिपाद्यं छट्पंशीलमस्य स भवत्यर्थदर्शी ।
सत्पदार्थवेत्तरि, “समाहवेज्जा पणिपुत्तभासी, निसामिया
सामिय अट्टदंसी” सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अट्टदुग्ग-अर्थदुर्ग-त्रि० । अर्थतः परमार्थतो दुर्गं विषमम् ।
सूत्र० १ श्रु० १० अ० । परमार्थतो विचार्यमाणे गहने दुर्विज्ञेये,
सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । परमार्थतो दुरुत्तरे, “इओ चुतेसु
डुहमट्टदुग्गं” सूत्र० १ श्रु० १० अ० ७ उ० ।

अट्टपणसिय-अष्टप्रदेशिक-त्रि० । अष्टौ प्रदेशा यस्मिन्नित्यष्टप्र-
देशिकः । स्वार्थिककप्रत्ययविधानादिति । प्रदेशाष्टकनिष्पन्ने,
“एत्थ णं अट्टपणसिए ख्यगे” स्था० १० ग० ।

अष्टपद (य) चिन्तन-अर्थपदचिन्तन-न० । अर्थमाणं विचार्यमाणं यत्पदं वाक्यादिः पद्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्तेः । तस्य चिन्तनं भावनं विचारणं, स्वविषये स्थापनमिति यावत् । विचारणीयस्य वाक्यादेरर्थपर्यायोचने, योऽयं जावः सूत्रमैकिकया जावनाप्रधानेन सताऽर्थपदं विचारणीयं, विचार्य च बहुश्रुतसकाशा-न्स्वविषये स्थापयितव्यम् । अर्थपदचिन्तने विना सत्यधर्मश्रुतानमेव न घटने । तथा च परमार्थे “सुखा य धम्मं अरहंतजासिअं, ननादिअं अछपओवसुद्धं” इत्यादि । तस्मादर्थपदं विचार्य स्वविषये स्थापयितव्यम् । तद्यथा-यदि सूत्रमोऽप्यतिचारो ब्राह्मीसुन्दर्यादीनामिव स्त्रीभावहेतुस्तदा प्रमत्तानां साधूनां कथं चारित्रं मोक्षहेतुत्वेन घटते?, प्रज्ञातिचारवत्त्वात् । अत्रेयं समाधानजावना-यः प्रवर्जितः सूत्रमप्यतिचारं करोति, तस्य विपाकोऽतिरौख एव, परं प्रतिपक्षाध्यवसायः प्रायस्तस्य कृपणहेतुर्नालोचनादिमात्रम्; ब्राह्म्यादीनामपि तद्भावात् । प्रतिपक्षान्यवसायश्च-कोधादिपु क्कमादिः संवरभावेनोक्तः । एवं च प्रमत्तानामपि प्रत्यतिचारं तुल्यगुणाधिकगुणप्रतिपक्षाध्यवसायवतां धर्मचरणमविरुद्धम्, सत्यक्कूनप्रतीकारस्य विपक्षेवातिचारस्य स्वकार्याक्कमत्वात् । नन्वेवं प्रतिपक्षाध्यवसायस्यैवातिचारप्रतीकारत्वे प्रायश्चित्तादिव्यवहार उचित्येतेति चेन्न । प्रायश्चित्तादियतनाव्यवहारे तुल्यतामप्राप्नुवति प्रतिपक्षाध्यवसायस्य विशेषणस्य धीव्यात् । तदुत्कर्षकैणैव च विशेष्यस्य साफल्यत् । विशेष्यविशेषणजावे विनिगमनाविरहस्तु नयभेदाऽऽप्युचो दुष्परिहर एव । तथाप्यसकृत्प्रमादाचरणकृतप्रतिक्रमजातं प्रतिपक्षाध्यवसायेन कथं परिह्रियेत?, असकृत्कृतस्य मिथ्यादुष्कृतस्याप्यविषयत्वादिति चेन्नैवम् । अत एव तुल्यगुणाधिकगुणाध्यवसायस्यैव ग्रहणात् । एकेनापि बलवता प्रतिपक्षेण परिचूयते बहुलमप्यनर्थजातं, कर्मजनितान्नातिचारादेरात्मस्वभावसमुत्थस्य स्तोकास्यापि प्रतिपक्षाध्यवसायस्य बलवत्त्वमुपदेशपदादिप्रसिद्धमेव । स्यादेतत् । मनसो विकाराः प्रतिपक्षाध्यवसायनिवर्त्या जयन्तु, कायिकप्रतिसेवनारूपा अतिचारास्तु कथं तेन निवर्त्तेरन् ? इति चेन्नैवम्, संज्वलनोदयजनितत्वेनातिचाराणामपि मानसविकारत्वात्, अव्ययकायिकप्रतिसेवनादीनां तु अदूरविप्रकर्षेणैव निवृत्तिरिति दिक् । ध० ३ अधि० ।

अष्टपद (य) परुवणया-अर्थपदप्ररूपणता-स्त्री० । अर्थक्य-णुकस्कन्धादि, तद्युक्तं तद्विषयं वा पदमानुपूर्व्यादिकं, तस्य प्ररूपणं कथनं, तदज्ञावोऽर्थपदप्ररूपणता । इयमानुपूर्व्यादिका संज्ञा, अयञ्च तदभिधेयवृत्तकादिरर्थः संज्ञी, इत्येवं संज्ञा-संज्ञिसंबन्धकथने “से किंतं णेगमववहाराणं अणोवणिदिया दव्वाणुपुन्वी ? पंचविहा पण्णो । तं जहा-अष्टपदपरुवणया” (इत्यादि सर्वे चिन्तीयमाणे १३१ पृष्ठे ‘आणुपुन्वी’ शब्दे वक्ष्यामः) अनु० ।

अष्टपदोवसुद्ध-अर्थपदोपशुद्ध-त्रि० । अर्थपदानि युक्तयो हेतवो वा तैरुपशुद्धमवदातम् । सद्युक्तिके, सकेतुके च । अर्थैरभिधेयैः पदैश्च वाचकैरुप सामीप्येन शुद्धं निर्दोषम् । निर्दोषवाच्यवाचके, “सोच्छा य धम्मं अरहंतमासिअं, समाहितं अछपदोवसुद्धं”

सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अष्टपट्टणिष्ठिया-अष्टपट्टनिष्ठिता-स्त्री० । अष्टभिः शास्त्रप्रसिद्धैः पिट्टैर्निष्ठिताऽष्टपट्टनिष्ठिता । प्रज्ञा० १७ पद० । अष्टवारपि-ष्टप्रदाननिष्पन्ने सुराभेदे, जी० ३ प्रति० ।

अष्टपुष्पी-अष्टपुष्पी-स्त्री० । अष्टौ पुष्पाणि पूजात्वेन समाहृतान्य-ष्टपुष्पी । पूजार्थके पुष्पाष्टके, पुष्पाष्टकनिष्पाद्यायां पूजायां च । हा० ।

अष्टपुष्पी समाख्याता, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।

अशुक्लेतरजेदेन, द्विधा तत्त्वार्थदर्शिनिः ॥ १ ॥

अष्टौ पुष्पाणि कुसुमानि यस्यां पूजायां साऽष्टपुष्पी । नदादि-दर्शनाच्च ईप्रत्ययः । इयं च जघन्यपदमाश्रित्योच्यते, न द्वित्रिचतुःपुष्पाण्यारोपणीयानि । यद्वक्ष्यति-“स्तोकैर्वा बहुभिर्वाऽपि” इति । अष्टपुष्प्याश्च देवपूजने कारणत्वं वक्ष्यति । द्विधेत्यस्येह संबन्धात् द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्विधा द्विप्रकारा समाख्याता सम्यगभिहिता, तत्त्वार्थदर्शिभिरितिह संबध्यते । तत्त्वज्ञता अर्था जीवादयस्तान्, तत्त्वेन वा परमार्थवृत्त्याऽर्थान् पश्यन्तीत्येवं-शीलास्तत्त्वार्थदर्शिनस्तैः । कथं द्विधेत्याह-अशुक्लेतरजेदेन, अशुक्ला च सावद्यतया, इतरा च निरवद्यतया, अशुक्लेतरे, ताभ्यां कृत्वा तयोर्वा भेदो विलक्षणता अशुक्लेतरभेदस्तेन, इह चेतराशब्दस्य पुम्बद्भावात्, “वृत्तिमात्रे सर्वादीनां पुंवद्भावाः” इति वचनात् । फलतस्तां निरूपयन्नाह-स्वर्गमोक्षप्रसाधनी; आद्या देवलोकासाधनी, द्वितीया तु निर्वाणसाधनीत्यर्थः । पागन्तरे तु-स्वर्गमोक्षप्रसाधनाच्चेतोर्द्विधा । एतदेव कथम्?, अशुक्लेतरजेदेन इत्येवं पदयोजना कार्येति ॥ १ ॥

अशुक्लां श्लोकद्वयेन तावदाह-

शुद्धागमैर्यथालाजं, प्रत्यग्रैः शुचिभाजनैः ।

स्तोकैर्वा बहुभिर्वाऽपि, पुष्पैर्जात्यादिसंभवैः ॥ २ ॥

अष्टपापविनिर्मुक्त-तदुत्थगुणज्ञतये ।

दीयते देवदेवाय, या सा शुक्लेत्युदाहृता ॥ ३ ॥

शुद्धो निर्दोष आगमः प्राप्स्युपायो येषां तानि शुद्धागमानि, न्यायोपात्तविसेनाचौर्येण वा गृहीतानीत्यर्थः । पुष्पैर्दीयते देवदेवाय या सा शुक्लेत्युदाहृतेति संबन्धः । कथं दीयत इत्याह-लाभस्यानतिक्रमेण यथालाभं, प्रवचनप्रभावनाथमुदाहरणात् । मालिकाद्यथालाभगृहीतैर्देशकाक्षेपेक्षया चोत्तममध्यमजघन्येषु यानि बन्धानि तैः पुष्पैरिति भावना । प्रत्यग्रैरपरिस्त्रानैः, शुचिभाजनैः पवित्रपटलकाद्याधारैः, इतरथा स्नानादिशौचमपि न मनोनिवृत्तिमापादयेदिति; स्तौकैरल्पैः, प्रत्यपायापगमं पुष्पदानादृज्जित्वित्यर्थः । बहुभिर्भूरिज्जित्तुद्देशेनादानात् । वाशब्दौ स्तोकवदुष्पुष्पपूजयोर्वहुमानप्रधानस्य फलं प्रत्याविशेषप्रतिपादनायौ । अपिशब्दस्तु समुच्चयाथ इति । पुष्पैः कुसुमैः, जात्यादि-संज्ञवैर्मालतीप्रभृतिप्रभवैः, आदिशब्दाच्चिकित्वादिपरिग्रहः । इह कश्चिदाह-जात्यादिग्रहणं सुवर्णादिसुमनसां निषेधार्थम् । जात्यादिकुसुमानि हि सरुदारोपितानि निर्माल्यमिति कृत्वा न पुनः पुनरारोप्यन्ते, सौवर्णादीनि तु पुनः पुनरारोपणीयानि भवन्ति, निर्माल्यारोपणदोषश्चैवं प्रसज्यत इति । एतच्चायुक्तम्-“कंचणमोनिरयणा-इदामर्षिं च विविहेहि” इत्यनेन तेषामनुज्ञातत्वात् । पुनरारोपणनिषेधे तु कः क्रिमाह ? । किन्तु यदा नोत्तार्यन्ते तदा निर्माल्यारोपणदोषोऽपि न स्यात् । जात्यादिकुसुमानि हि कात्वातिक्रमेण विगन्धानि भवन्तीत्यवश्यमुत्तारणीयानि स्युः । सौवर्णादीनि तु न तथेति नावश्यमुत्तारणीयानि, तथाविधविगन्धत्वाभावादेव । तेषां पुनरारोपणोऽपि न तथाविधो दोष इति मन्यते । यदपि कैश्चिदुच्यते-अबद्धारारोपणमयुक्तं, वीतरागाकारस्याज्ञावप्राप्तेः । तदपि न युक्तम् । पुष्पारोपणोऽपि तथाप्रसङ्गात् । यथा हि आनरणाणि

वीतरागस्य नोपपद्यन्ते, एवं पुष्पाण्यपि, उज्जयेषामपि सरगै-
राचरितत्वादिति । अष्टपुष्पीविधाने कारणमाह-अपायोऽनर्थ-
स्तद्धेतुत्वादाया ज्ञानावरणादयः, अष्टावपायाः समाहृताः
अष्टापायम्, तस्माद्विशेषेण प्रकारान्तरेणैव, दग्धरज्जुकल्पक-
रणतः अवोपग्राहिभ्यश्चतुर्न्ये इत्यर्थः । नितरां निःसत्ताकतया
चतुर्न्ये एव घातिकर्मभ्यो मुक्तः अपेतः । धात्वर्थमात्रवृत्ती वा
विशब्दनिःशब्दाविति । विनिर्मुक्त इव विनिर्मुक्तः, अष्टापायवि-
निर्मुक्तस्तथा, तस्मादष्टापायविनिर्मुक्तत्वात्तथा उक्त्यान् यस्याः
सा तदुक्त्या, गुणा अनन्तज्ञानदर्शनादयस्तेषां चूतिः प्रादुर्भावः,
त एव वा भूतिर्लक्ष्मीर्गुणभूतिः, तदुक्त्या गुणचूतिर्यस्य स तथा ।
अष्टापायविनिर्मुक्तस्तदुक्त्यगुणभूतिश्च यः स तथा, तस्मै । यद्यपीह
गुणीभूतं विनिर्मुक्तं, कप्रत्ययार्थस्यैव प्रधानत्वात्, तथापि
तच्छब्देन तदेव परामुच्यते, यत्र वा तथैव विवक्षितत्वात् । दृष्ट-
श्चायं न्यायः । यथा-सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति
तद्व्युत्पाद्यत इत्यादाविति । दीयते वित्तीयते, देवदेवाय स्तु-
त्यस्तुत्याय, याऽष्टपुष्पी सा शुभाऽसावद्या, उदाहृता सर्वज्ञैर-
भिहितेति । नन्वाष्टापायविनिर्मुक्तत्वात् एतद्विनिर्मुक्तत्वात्तथा
गुणचूतिर्यस्येत्यनेनैवाष्टपुष्पीनिबन्धनस्यावसीयमानत्वात्किं त-
च्छब्दोपादानेनेति । नैवम्, अष्टापायविनिर्मुक्ताय दीयते इत्यनेना-
ष्टपुष्पीनिबन्धनमाह । तदुक्त्यगुणभूतये इत्यनेन चतुःपुष्पिकाया
अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यचतुष्टयरूपत्वादष्टकर्मविनिर्मुक्तिप्रज्ञव-
गुणानाम्, अष्टापायविनिर्मुक्तयेत्यनेनैवावसितमिदमिति चेन्न,
सिद्धानां हि कैश्चिन् प्रकृतिविधोगाद् ज्ञानाभावः, शरी-
रमनसोरजावादीर्याभावः, विषयाज्ञावाच्च सुखाज्ञावो भाष्यते,
तन्मतव्युदासार्थत्वादित्यनुपन्यासः, तदाऽऽचारकज्ञेयं हि तेषां
न्यायप्राप्तत्वात् । यद्येवं ज्ञानावरणपञ्चकज्ञेये केवलिनो
ज्ञानपञ्चकप्रसङ्गः, न चेव्यते, “ ननुस्मि गजमत्थिष नाणे ”
इतिवचनादिति । नैवम् । केवलज्ञानेनैव शेषज्ञानज्ञेयस्य प्रकाशि-
तत्वेन तेषामनर्थकत्वात्तद्व्युत्पादित्यत इति । एतेन तु पूर्वोक्तं न
ये मन्यन्ते जिनास्मिन्प्रतिष्ठायांमवस्थात्रयम्, कल्प्यते तेन बाह्या-
वस्थाश्रयं स्नानम्, निष्क्रमणावस्थाचितं रथारोपणपुष्पपूजादि-
कम्, केवल्यवस्थाश्रयं च वन्दनं प्रवर्तत इति, तन्मतमपाकरोति ।
नह्यष्टापायविनिर्मुक्तिद्वारेण पूजा क्रियमाणा गृहस्थावस्थां वि-
षयीकरोति, किन्तु केवल्यवस्थामेव । ननु चिन्तनीयमिदं यद्-
ष्टापायविनिर्मुक्तिमालम्ब्य केवल्यवस्थायां पूजा कार्येति, यतो
न चारित्रिणः स्नानादयो घटन्ते । तद्वत्साधूनामपि तत्प्रसङ्गः ।
न च तच्चरितं सताऽऽलम्बनीयम्, अन्यथा परिणताष्ठायादिप-
रिहार आचरणनिषेधार्थः कथं स्यात् । श्रूयते हि-एकदा खजावतः
परिणतं तडागोदरस्थाष्ठायांतिष्ठराशिं स्थण्डिलदेशं च दृष्ट्वाऽ-
पि जगवान् महावीरस्तःप्रयोजनवतोऽपि साधून् तत्सेवनार्थं
न प्रवर्तितवान् । मा एतदेवास्मच्चरितमालम्ब्य सूरयोऽन्यास्तेषु
प्रवर्तयन्तु, साधवश्च मा तथैव प्रवर्तन्तामिति । सत्यम्, किन्तु वि-
म्बकलोऽन्य इति मन्यते, यथैव ज्ञावार्हति च वर्तितव्यं न त-
थैव स्थापनार्हत्यपीति ज्ञावः । अत एव भगवत्समीपे गौतमाद-
यः साधवस्तिष्ठन्ति स्म । तद्विम्बसमीपावस्थाने तु तेषां निषेध
उक्तः । यदाह-“जह वि न आहाकम्मं, जविककयं तह वि व-
ज्जयंतेहि । जत्ती खलु होइ कया, इहरा आसायणा परमा” ॥१॥
तथा-“दुग्धिभगंधमद्यस्सावि, तणुरपि सएहाणि य । उभओ उ-
व्वहो चेव, तेणुंति न चेइए” ॥१॥ तेनैवार्यिका दण्डकं स्थाप-
नाचार्यं स्थापयन्ति । अन्यथा यथा भावाचार्यसमीपे नावश्यकं

कुर्वन्ति, तथा स्थापनान्धार्यसमीपेऽपि न कुर्वन्ति, न च ताः प्रव-
र्तिनीं स्थापयन्तीति वाच्यम् । प्रतिक्रमणकाव एव चैत्यवन्दना-
वसरे महावीरादेरवश्यं कल्पनीयत्वेन तद्वेषस्य समानत्वा-
त्, नह्याचार्य एव पुरयो न भगवान् । नच वीतरागत्वेऽपि
भगवत्समीपे आर्यचन्दनाचार्यिका रात्रौ तस्थुः । ननु प्रतिक्रम-
णादिकालेऽर्हत्स्थापनां कृत्वा चैत्यवन्दने क्रियमाण आशातनादो-
पप्रसङ्ग इति नैवम् । जिनायतनेऽपि चैत्यवन्दनस्यानुज्ञातत्वात् ।
यदाह-“ निसकममनिसकडे वा, वि चेइए सव्वहिं शुई तिन्नि ।
वेवंवचेइयाणि व, नाउं एकेक्किया वा वि ” ॥ १ ॥ इत्यलं प्र-
सङ्गेनेति ॥ ३ ॥

अशुक्लाऽष्टपुष्पी स्वरूपत उक्ता, सैव स्वर्गप्रसाधनीति
यजुक्तं तदधुना प्रदर्शयन्नाह-

संकीर्णेषा स्वरूपेण, अव्याद्वावप्रसत्तिः ।

पुण्यवन्धनिमित्तत्वा-द्विज्ञेया स्वर्गसाधनी ॥ ४ ॥

संकीर्णा अवद्येन व्यामिश्रा, एषाऽनन्तरोक्ताऽष्टपुष्पी, स्वरूपेण
स्वभावेन । कथमित्याह-अव्यात् पुष्पादेः सकाशाद् भावप्रसूति-
तो जगवति चित्तप्रसादोत्पत्तेः । इदमुक्तं भवति-पुष्पादिद्रव्यो-
पयोगादवद्यं, शुभभावश्च स्यातामिति संकीर्णत्वम् । इदं च न क-
र्मक्षपणनिमित्तमपि तु पुण्यवन्धनिमित्तमेवेत्यत आह-पुण्यस्य
शुभकर्मणो बन्धो बन्धनं तस्य निमित्तं कारणं पुण्यवन्धनिमित्तं
तद्भावस्तत्त्वं, तस्मात्पुण्यवन्धनिमित्तत्वाद्धेतोर्विज्ञेयाऽवसेया, स्व-
र्गसाधनी देवलोकाप्राप्तिहेतुः । उपलक्षणत्वात् सुमानुषत्वसा-
धनी, पारंपर्येण भावपूजानिवन्धनतां प्रतिपद्य मोक्षसाधनी चेति
रूपव्यमिति ॥ ४ ॥

अथ शुद्धामष्टपुष्पीमभिधानुमाह-

या पुनर्जावर्जैः पुष्पैः, शास्त्रोक्तिगुणसङ्गतैः ।

परिपूर्णत्वतोऽम्बानै-रत एव सुगन्धिभिः ॥५॥

याऽष्टपुष्पी, पुनःशब्द उक्तवद्दयमाणाधर्मोर्विशेषोत्तमार्थः ।
ज्ञावजैरात्मपरिणतिसंभवैः, पुष्पैरिव पुष्पैर्वद्दयमाणत्वात्तद्वैरात्म-
धर्मविशेषैः, किंचूतैः, शास्त्रोक्तिगुणसङ्गतैः, शास्त्रमागमस्तस्यो-
क्तिर्जगतिराज्ञेयार्थः । अथवा शास्त्रोक्तिरेव गुणो दवरकस्तत्सं-
गतैः । एतेनैषां माहारूपतोक्ता, तथा च द्रव्यपुष्पाण्यपि यदा माहो-
क्त्वाऽऽरोप्यन्ते तदाऽष्टावपायापगमान् स्मृत्वा रोपणीयानीति
दर्शिनम् । पाठान्तरे तु-शास्त्रोक्तगुणसङ्गतैरिति, तथा शास्त्रीयस-
मित्यादिगुणोपेतैरित्यर्थः । पुनः किञ्चूतैस्तैरित्याह-परिपूर्णत्वतो
ऽम्बानैः परिपूर्णतया सकलजीवमृपावादादिविषयत्वेन निरति-
चारतया वाऽम्बानैर्मन्त्रानिमनुषगतैः । अत एव च परिपूर्णत्वादेव,
सुगन्धिभिः सङ्गन्धोपेतैः, परिपूर्णताधर्म एवैषामम्बानिसुगन्धि-
तालक्षणौ पुष्पधर्मौ द्रष्टव्यावित्यर्थः । विधीयते सा शुक्लत्वेवं-
रूपः श्लोकावसाने वाक्यशेषो रूढव्य इति ॥ ५ ॥

नामतस्तान्वेवाह-

अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसङ्गता ।

गुरुजाकिस्तपो ज्ञानं, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ॥ ६ ॥

प्रमत्ततायोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा, तद्भावोऽहिंसा, सैकं
पुष्पम् । तथा सङ्गो हितं सत्यम्, अनृताज्ञावो द्वितीयम् । तथा
स्तेनस्य चोरस्य कर्म भावो वा स्तेयं चौर्यं तद्भावोऽस्तेयमि-
ति तृतीयम् । तथा ब्रह्म कुशलं कर्म तदेव चर्यते सेव्यत इति
चर्यम् । ब्रह्मचर्यं, मनोवाक्यैः कामसेवनवर्जनमित्यर्थः, तच्चतु-
र्थम् । तथा नास्ति सङ्गोऽभिष्वङ्गो यस्य सोऽसङ्गस्तद्भावो-

ऽसङ्गता, धर्मोपकरणातिरिक्तपरिग्रहपरिवर्जनम्, धर्मोपकरण-
स्यापरिग्रहत्वात् । यदाह- “ जं पि वयं च पायं वा, कंयलं
पायपुत्रं । तं पि संजमलज्जहा, भारंति परिहरंति य ॥१॥ न
सो परिग्रहो बुद्धो, नायपुत्रं ताङ्गा । मुञ्जा परिग्रहो बुद्धो,
इह बुद्धं महेत्तिणा ॥२॥ ” इतरथा शरीराहाराद्यपि परिग्रहः
स्यादिति पञ्चनम् । तथा गृणाति शास्त्रार्थमिति गुरुः । आह
च- “ धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मपरायणः । सत्वेज्यो धर्म-
शास्त्रार्थ-देशको गुरुकथ्यते ॥१॥ तस्य भक्तिः सेवा, बहुमान-
श्च, गुरुभक्तिरिति पष्ठम् । तथा तापयतीति तपोऽनशनादि ।
आह च- “ रसरुधिरमांसमेदो-ऽस्थिमज्जशुक्राण्यनेन तप्यन्ते ।
कर्माणि वा ऽशुभानोत्पन्नस्तपो नाम नैरुक्तम् ॥१॥ इति सप्तमम् ।
तथा ज्ञायन्तेऽर्था अनेनेति ज्ञानम्, सम्यक्प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूतो
बोध इत्यष्टमम् । इह समुच्चयान्निधायी चशब्दो ऋष्यः ।
सतपुष्पाणि अत्यन्तमेकान्तेन च विवक्षितार्थसाधकतया रुच्य-
पुष्पापेक्षया सन्ति शोभनानि पुष्पाणीव पुष्पाणि, भावपुष्पा-
णीत्यर्थः । प्रचक्रेते शुद्धाष्टपुष्पीस्वरूपज्ञाः प्रतिपादयन्तीति ॥६॥
उक्तमेवार्थं वाक्यान्तरेणाह-

एभिर्देवाधिदेवाय, बहुमानपुरस्सरा ।

दीयते पालनाद् या तु, सा वै शुद्धेत्युदाहृता ॥ ७ ॥

एभिरेतन्तरोदितैर्जावपुष्पैः, देवानां पुरन्दरादीनामधिको देवः
पूज्यत्वाद् देवाधिदेवः प्रागुक्तो महादेवस्तस्मै, बहुमानः प्रीतियो-
गः पुरस्सरः प्रधानो यत्र सा बहुमानपुरस्सरा, दीयते वीतीयते ।
कथमित्याह- पालनाद् हि सादिपुष्पाणां परिरक्षणचारेण, तत्पा-
लने हि देवाधिदेवाज्ञा कृता भवति । आज्ञाकरणमेव च सर्व-
था कृतवृत्त्यस्य तस्य पूजाकरणम्; नद्याज्ञां विराधयता शे-
पपूजोद्यतनाप्यसाधारणधितो जयति, आज्ञेश्वरमहाराजवदिति ।
या तु यैवाष्टपुष्पी, सा वै सैव, शुद्धा निरवद्या, इतिरेवंप्रकारार्थः,
उदाहृता तत्त्ववेदिभिरभिहितेति ॥ ७ ॥

अथ शुक्लाया एव मोक्षसाधनीत्यर्थं दर्शयन् विशेषेण

सत्संमतत्वं प्रतिपादयन्नाह-

प्रशस्तो ह्यनया भाव-स्ततः कर्मक्षयो ध्रुवः ।

कर्मक्षयाच्च निर्वाण-मत एषा सतां मता ॥ ८ ॥

प्रशस्तः प्रशस्यः शुद्धः, हिंसादो यस्मादर्थं, ततश्च यस्मात्प्र-
शस्तोऽनयाऽनन्तरोदितत्वेन प्रत्यक्षासन्नया शुद्धाष्टपुष्प्या, भाव
आत्मपरिणामो भवतीति गम्यते, न पुनर्लब्ध्याष्टपुष्प्या जीवो-
पमदाश्रितत्वात्तस्याः । ततः प्रशस्तज्ञावात्, कर्मक्षयो ज्ञानाव-
रणादिकर्मविलयो जयति, ध्रुवोऽवश्यंभावी, कर्मक्षयाच्चोक्त-
स्वरूपात् । चशब्दः पुनरर्थः । निर्वाणं मोक्षो भवतीति मोक्ष-
साधनीयमतः प्रशस्तज्ञावज्जन्मकर्मक्षयसाध्यनिर्वाणसाधनत्वा-
देवा शुद्धाष्टपुष्पी, सतां विदुषां, यतीनामित्यर्थः, मता विधेयत्वे-
नेष्टा, न पुनर्लब्ध्याष्टपुष्पी । ततो हे कुतीर्थिकाः ! यदि यूयं यत-
यस्तदा जावपूजामेव कुरुतेत्युक्तं जयति । अथवा यतो अन-
या निर्वाणमतः सतां विदुषामेवा संमतेति ॥ ८ ॥ इति तृतीया-
ष्टकाविवरणम् । हा० ३ अष्ट० ।

अष्टबुद्धिगुण-अष्टबुद्धिगुण-पुं० । क० स० । शुश्रूषादिषु अ-
ष्टसु बुद्धिगुणेषु, तैरष्टबुद्धिगुणैर्योगः समागमः कर्तव्यः ।
(एष सामान्यगृहिधर्मः) बुद्धिगुणाः शुश्रूषादयः, ते त्व-
मी- “ शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा । उहोऽपोहोऽर्थ-
विज्ञानं, तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ” ॥ १ ॥ शुश्रूषादिभिर्निर्दिष्ट उपहित-

प्रकर्षः पुमाश्च कदाचिदकल्याणमाप्नोति, एते च बुद्धिगुणा यथा
सम्भवं ग्राह्याः । ध० १ अधि० ।

अष्टजाङ्ग्या-अष्टभागिका-स्त्री० । अष्टमे भागे वर्त्तत इत्यष्टजा-
गिका । षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयपलमानायां भागिकायाम्, मा-
णिकाया (घटकपर्यायायाः) अष्टमभागवर्तित्वात्, द्वाविंश-
त्यष्टप्रमाणे रसमानविशेषे, अनु० । भ० ।

अष्टमद्वय-अष्टमदिक-त्रि० । अष्टौ मदस्थानानि येषां तेऽष्टम-
दिकाः । अष्टसु मदस्थानेषु प्रमत्तेषु, “ जे पुण अष्टमईओ, प-
वियपससाऽपससा य ” आतु० ।

अष्टमंगल-अष्टमङ्गल-न० । अष्टगुणितानि अष्ट वा मङ्गलानि ।
स्वनामख्यातेषु श्रीवत्सादिषु, “ तस्स ण असोगवरपायवस्स
उवर्णि वहवे अष्टमंगलगा पणत्ता । तं जहा-सोवत्थिय १ सिरि-
वत्था २ गुंदियावत्त ३ वरुमाण ४ जहासण ५ कलस ६
मच्च ७ दप्पण ८ । ” तत्र अष्टावष्टाविति वीप्साकरणात् प्रत्येकं
तेऽष्टाविति वृद्धाः । अन्यं त्वष्टाविति संख्या, अष्टमङ्गलानीति
च संज्ञा । औ० । ज्ञा० । आ० चू० । आ० म० प्र० । भ० । जं० ।
रा० । लोकेऽपि च- “ मृगराजो वृषो नागः, कलशो व्यजनं
तथा । वैजयन्ती तथा भेरी, दीप इत्यष्टमङ्गलम् ॥१॥ लोकेऽस्मिन्
मङ्गलान्यष्टौ, ब्राह्मणो गौर्हताशनः । हिरण्यं सर्पिरादित्य-
आपो राजा तथाऽष्टमः ” ॥ २ ॥ वाच० ।

अष्टमभक्त-अष्टमभक्त-न० । एकैकस्मिन् दिने द्विवारं भोजनौ-
चित्येन दिनत्रयस्य पक्षां जक्तानामुत्तरपारणकदिनयोरैकैकस्य
भक्तस्य च त्यागेनाष्टमभक्तं त्याज्यं यत्र तत्तथा, इति व्युत्पत्त्या
समयपरिज्ञापया वा उपवासत्रये, “ तप णं जे नरहे राया अठ्ठ-
मभक्तंसि परिणममाणंसि पोसहसादाओ पडिणिक्खमइ ”
जं० ३ वक्क० । पंचा० ।

अष्टमभक्तिय-अष्टमभक्तिक-त्रि० । दिनत्रयमनाहारिणि, जं०
३ वक्क० ।

अष्टमयमहण-अष्टमदमथन-त्रि० । अष्टमदस्थाननाशके, प्रश्न०
५ सम्ब० द्वा० ।

अष्टमहापाहिदेर-अष्टमहामातिहार्य-न० । अर्हतां पूजौपधिके-
षु अशोकवृक्षादिषु, “ अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टि-र्दिव्यध्वनि-
श्रामरमासनं च । जामरुद्धं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि
जिनेश्वराणाम् ” ॥१॥ नं० ।

अष्टमिपोसहिय-अष्टमीपौषधिक-त्रि० । अष्टम्याः पौषध उप-
वासादिकोऽष्टमीपौषधः, स विद्यते येषां तेऽष्टमीपौषधिकाः ।
अष्टम्याः पौषधव्रते क्रियमाणेपूत्सवेषु, आचा० ३. शु० १
अ० ३ उ० ।

अष्टमी-अष्टमी-स्त्री० । अष्टानां पुरणी पोरुशकलात्मकचन्द्र-
स्याष्टमकला । क्रियारूपायां स्वनामख्यातायां तिथौ, वाच० ।
“ चाउहंसि पन्नरंसि, वज्जेजा अष्टमिं च णवमिं च । उड्ढिं च
चउत्थिं वा-रंसि च सेसासु देजाहि ॥१॥ ” विशेष० । वृद्धवैयाकरण-
संमते विभक्तिभेदे, “ अष्टमी आमंतणी भवे ” अष्टमी संवुकि-
रामन्वणी भवेत्, आमन्वणार्थं विधीयत इत्यर्थः । अनु० । “ अष्टम्या-
मन्वणी भवेत् ” इति । सु औ जसिति प्रथमाऽपीयं विभक्तिरामन्व-
णवृत्तस्यार्थस्य कर्मकरणादिवत् द्विगार्थमात्रातिरिक्तस्य प्रति-
पादकत्वेनाष्टमुख्यता । स्था० ८ ग० । “ आमंतणे भावे अष्टमी उजहा
हे जुवाण ! सि ” आमन्वणे भावे अष्टमी तु यथा-हे युवसिति, वृ-

अथैवाकरणदर्शनेन चैयमष्टमी गण्यते, पेदंयुगानां त्वसौ प्र-
थमैवेति मन्तव्यमिति । अनु० । अष्टसंख्यापुराण्यां च, अष्ट-क्त ।
अष्टं संघातं व्याप्ति वा मति, मा-क्त, गौरा०-डीप् । कोटावता-
याम्, वाच० ।

अट्टमुत्ति-अष्टमूर्ति-पुं० । अष्टौ नूय्यादयो मूर्त्तयोऽस्य । शिवे,
“ कितिजलपवनहुताशन-यजमानाऽऽकाशचन्द्रसूर्याख्याः ।
इति मूर्त्तयो महेश्वर-सम्बन्धिन्यो जघन्त्यष्टौ ” ॥१॥ स्था० ६ टा० ।
अष्टरससंपञ्च-अष्टरससंप्रयुक्त-त्रि० । ३ त० । अष्टजिः शृङ्गा-
रादिभी रसैः सम्यक् प्रकर्षेण युक्ते, जी० ३ प्रति० ।

अष्टविह-अष्टविध-त्रि० । अष्ट विधाः प्रकारा यस्य । अष्ट-
प्रकारे, भ० १५ श० १ उ० । ध० । पञ्चा० । “ अष्टविहकम्म-
मपडवपन्निच्छे ” अष्टविधकर्मैव तमःपटवमन्धकारसमूहस्तेन
प्रत्यवच्छिन्नानि तथा ” विज्ञे० ।

अष्टसङ्ख्या-अर्थशतिका-त्रि० । अर्थशतानि यासु सन्ति ता
अर्थशतिकाः । अथवा-अर्थानामिष्टकार्याणां शतानि याभ्यस्ता
अर्थशतास्ता एवायंशतिकाः । स्वार्थे कप्रत्ययः । अर्थशतोत्पा-
दिकासु वागादिषु, “ अणुरुक्ताहिं अष्टसङ्ख्याहिं वग्गूहिं अण-
वरयं अज्जिणंदांता य ” जं० २ वक्त्त० । भ० ।

अष्टसंघारु-अष्टसङ्घट-पुं० । क० स० । अष्टसु प्रायश्चित्तवृत्ता-
सु, “ संघारो चि वा लयन्ति वा पगारो चि वा पगट्ठं ” इति
वचनात् । वृ० १ उ० ।

अष्टसय-अष्टशत-न० । अष्टाज्जिरधिकं शतम् । अष्टोत्तरशते,
स्था० १० टा० ।

अष्टसयसिद्ध-अष्टशतसिद्ध-पुं० । अष्टशतं च ते सिद्धाश्च नि-
र्वृत्ता अष्टशतसिद्धाः । एकस्मिन् समये अष्टपञ्चस्वामिना सह
निर्वृत्तिं गतेष्वष्टोत्तरशतेषु सिद्धेषु । इदञ्चाऽनन्तकालजातमिति
नवममाश्चर्यमुच्यते इति । स्था० १० ग० । कटप० । अत्र गुण-
विजयगणिना कृतस्य प्रश्नस्य हीरविजयसूरिदत्तमुत्तम । अष्टप-
ञ्चस्वामी अष्टाप्रशतेनैकस्मिन्नेव समये सिद्धः । इदं चाश्चर्यस-तत्र
बाहुबल्याद्यायुराश्रिता का गतिः ? इदं च तत्प्रतिपादकग्रन्था-
नामप्रसाधनपूर्वं निर्णयकारि प्रसाध्यमिति ॥ ५ ॥ उत्तरम्-अत्र
'अष्टसयसिद्धा' अस्मिन्नेवाश्चर्यं बाहुबलेरायुषोऽपवर्त्तनमन्तर्भ-
वति । यथा-हरिवंसकुलपत्ति” चि, आश्चर्यं हरिवर्षक्रेत्रानीतस्य
युगवत्स्यायुरपवर्त्तनं शरीरव्युत्करणं नरकगमनादि चान्तर्भव-
तीति ॥ ५ ॥ ही० ।

अष्टसहस्र-अष्टमहस्र-न० । अष्टोत्तरसहस्रसङ्ख्येषु, “ वइराम-
यवत्थणिउणजोइयअष्टसहस्रंवरकंचणं सलणिम्मिण्ण ” औ० ।

अष्टसामङ्ग्य-अष्टसामयिक-त्रि० । अष्टौ समया यस्मिन्तोऽष्टसम-
यः, स एवाष्टसामयिकः । समयाष्टकोद्भवै, स्था० ८ ग० ।
“ केवलिसमुग्धाए अट्टसामङ्ग्ये पण्णत्ते ” औ० ।

अष्टसेण-अष्टसेन-पुं० । वत्सगोत्रजे पुरुषभेदे, तदपत्येषु च ।
स्था० ७ ग० ।

अर्थसेन-पुं० । पुरुषविशेषे, स्था० ७ ग० ।

अट्टसोवक्षिय-अष्टमौवर्णिक-त्रि० । षोडशकर्मपापात्मकसु-
वर्णमानाष्टकमिते, “ एगमेगस्स णं रत्तो चात्ररंतचक्कवट्टिस्स
'अट्टसोवक्षिय काकिणिंरयणे ” स्था० ८ ग० ।

अट्टहत्तरि-अष्ट (ष्ट) सप्तति-त्रि० । अष्टाधिकायां सप्तति-

संख्यायाम्, “ अट्टहत्तरिण सुवण्णकुमारदीवकुमारावाससय-
सहस्साणं ” स० ।

अट्टा-अष्टा-स्त्री० । प्रववजिपोः स्तोककेशग्रहणे, “ गिरहइ
गुरुवउत्तो, अट्टा से तिप्पि अच्छिन्ना ” । पं० व० १ द्वा० । मुष्टौ,
“ चउहिं अछाहिं लोयं करेइ ” जं० २ वक्त्त० ।

आस्था-स्त्री० । आस्थानमास्था । प्रतिष्ठायाम्, सूत्र० २ श्रु० १
अ० । आ-स्था-अङ् । आलम्बने, अपेक्षायां, श्रद्धायां,
स्थितौ, यत्ने, आदरे, सभायाम्, आस्थाने च । वाच० ।

अट्टाण-अस्थान-न० । अनुचिते स्थाने, स्था० ६ टा० । वेश्या-
पाटकादौ कुस्थाने, व्य० २ उ० । प्र० । अयुक्ते, “ अट्टाण-
मेयं कुसला वयंति, दगेण जे सिद्धिमुदाहरंति ” सूत्र० १ श्रु०
७ अ० ।

अट्टाणद्ववणा-अस्थानस्थापना-स्त्री० । गुर्वचग्रहादिके अस्था-
ने प्रत्युपेक्षितोपधेः स्थापनं निक्षेपोऽस्थानस्थापना । प्रमाद-
प्रत्युपेक्षणभेदे, स्था० ७ टा० ।

अट्टाणमंरुव-अस्थानमण्डप-पुं० । उपस्थानगृहे, स्था० ५ टा०
१ उ० ।

अट्टाणिय-अस्थान (नि) क-न० । अभाजने, अनाधारे,
“ अछाणिण होइ वह गुण्णं, जेण्णण संकाइ मुसं वण्णजा ”
सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अट्टादंरु-अर्थदण्ड-पुं० । अर्थेन स्वपरोपकारलक्षणेन प्रयोज-
नेन दण्डो हिंसा अर्थदण्डः । स० ए० सम० । वसानां
स्थावराणां वाऽऽत्मनः परस्य योपकाराय हिंसायाम्, स्था० ५
ग० २ उ० ।

अट्टादंरुवत्तिय-अर्थदण्डवत्तिय-पुं० न० । आत्मात्माय स्वप्रयो-
जनकृते दण्डोऽर्थदण्डः पापोपादानम्, तत्प्रत्ययः । प्रथमे क्रिया-
स्थाने, सूत्र० । तत्स्वरूपं च—

पहमे दंरुसमादाणे अट्टादंरुवत्तिए चि आहिज्जइ, से जहा
णामए केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा आगारहेउं
वा परिवारहेउं वा मिच्छहेउं वा णागहेउं वा जूतहेउं वा
जक्खहेउं वा तं दंरुं तससावरोहिं पाणेहिं सयमेव णिसि-
रिति, अणेण वि णिसिरावेंति, अणेण वि णिसिरितं सम-
णुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जति, आहिज्जइ, प-
हमे दंरुसमादाणे अट्टा अट्टादंडवत्तिए ति आहिज्जइ ॥१॥

यत्प्रथममुपात्तं दण्डसमादानमर्थाय दण्डमित्येवमाख्यायते,
तस्यायमर्थः—तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः, पुरुषग्रहणमनुक्तो
पलक्षणार्थम् । सर्वोऽपि चातुर्गतिकः प्राण्यात्मनिमित्तमात्मार्यं
तथाऽज्जिज्ञातिनिमित्तं स्वजनाद्यर्थं तथाऽगारं गृहं तन्निमित्तं, तथा
परिवारो दासकर्मकरादिकः परिकरो वा गृहादेभृत्यादिक-
स्तन्निमित्तं, तथा मित्रनागभूतयक्षाद्यर्थं, तथा जूतं स्वपरोपघात-
रूपं दण्डं तससावरोहेषु स्वयमेव निस्सृजति निक्षिपति, दण्ड-
मिव दण्डमुपरि पातयति, प्राण्युपमर्दकारिणीं क्रियां करोती-
त्यर्थः । तथाऽन्येनापि कारयत्यपरं दण्डं निस्सृजति, निस्सृजन्तं
समनुजानीते । एवं कृतकारितानुमतिभिरेव तस्याऽनात्मज्ञस्य
तत्प्रत्ययिकं सावद्यक्रियोपात्तं कर्माधीयते संवध्यते इति ।
एतत्प्रथमदण्डसमादानमर्थदण्डप्रत्ययिकमित्याख्यातमिति ॥ ५ ॥

सूत्र० ३ श्रु० २ अ० । आ० चू० । आव० ।

अष्टादशमाग-अनिष्टन्-वि० स्थितिमुर्वति, " तद्विच अष्टाय-
माणं गौणं " पञ्चा० १६ वि० ।

अष्टार-अष्टादशन्-वि० प्राकृतत्वादन्त्यसोपः। अष्टाधिकेषु दशसु,
" एष सव्ये दि अष्टारा " पञ्चा० ३ वि० ।

अष्टागम-अष्टादशन्-वि०। द्वाष्टी च दश च, अष्टाधिका वा दश
अष्टादशन्। (अष्टारह) सहाय्यां, नत्वायेये च । वाच०। "पदमे
वन्माले चात्ये द्वाष्टारसमुहसागनी" न० प्र० १ पाद० ।

अष्टारसकम्मकारण-अष्टादशकर्मकारण-न० । अष्टादशार्वा-
कम्मसूतिहेतौ, प्रश्न० ३ आश्र० हा० ।

अष्टारमहाण-अष्टादशस्थान-न० । क० स० । प्रतिसेवनीयेषु
अष्टादशसु स्थानेषु, दश० ।

इह खलु भो पण्डितं उप्पमदुक्खेणं संजमे अरइसमा-
चमाचिनेणं ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं च वहरस्सि-
नयंहुसपोयपकागाभूआइं इमाइं अष्टारमहाणाइं सम्मं
मंपनिनेहिअव्वाइं इवंति । तं जहा-हंजो हुस्समाइं हु-
प्पजीवी । ? ।

इह खलु भोः प्रवर्जितेन, इहेति जिनप्रवचने, खलुशब्दोऽव-
धारणे । स च भिक्षकम इति दर्शयिष्यामः । नो इत्यामन्त्रणे ।
प्रवर्जितेन साधुना, किंचिदिष्टेनेत्याह-उत्पन्नदुःखेन संजात-
शीतादिशरीरवृत्तीनिपद्यादिमानसदुःखेन, संयमे व्याचर्णितस्व-
रूपे, अर्पितस्मापन्नचित्तेनोद्वेगगताभेप्रियेण, संयमनिर्विणभा-
वेनेत्यर्थः । स एव विशेष्यते-अवधाचनोत्प्रेक्षणा-अवधाचनम-
पसरणं, संयमादुत्प्रायस्येन प्रेक्षितं शीलं यस्य स तथाविधस्तेन,
उत्पन्नजितुकामेनेति भावः । अनवधाचितेनैवानुत्पन्नजितेनैव, अ-
मूनि बहुयमाणवृत्तणान्यष्टादशस्थानानि, सम्यग्भावसारं संप्रत्यु-
पेक्षितव्यानि सुप्राज्ञोन्ननीयानि, जयन्तीति योगः । अवधाचितस्य
तु संप्रत्युपेक्षणं प्रायोऽनर्थकमिति । तान्येव विशेष्यन्ते-द्वयरश्मिग-
जाकुशपोतपताकाभूतानि अश्वखशीनगजाकुशयोहिस्थितपट-
तुल्यानि । एतदुक्तं भवति-यथा इयादीनः मुन्मार्गप्रवृत्तिकामा-
नां रश्म्यादयो नियमनहेतवस्तथैतान्यपि संयमादुन्मार्गप्रवृ-
त्तिकामानां भावसत्त्वानामिति । यतश्चैवमतः सम्यक् संप्रत्युपे-
क्षितव्यानि भवन्ति । खलुशब्दावधारणयोगात् सम्यगेव संप्र-
त्युपेक्षितव्यायेवेत्यर्थः । (तं जहत्यादि) तद्यथेत्युपन्यासार्थः ।
इमो दुःपमायां दुप्पज्जीविन इति, 'हंजो' शिष्यामन्त्रणे ।
दुःपमायामधमकादाख्यायां कालदोषादेव दुःखेन कृच्छ्रेण
प्रकर्षेणोदारमोगापेक्षया जीवितुं शीलं येषां ते, दुप्पज्जीविनः
प्राणिन इति गम्यते, नरेन्द्रादीनामप्यनेकदुःखप्रयोगदर्श-
नात् । उदारभोगरहितेन च विरम्यनाप्रायेण कुगतिहेतुना किं
गृहाश्रमेणेति, संप्रत्युपेक्षितव्यमिति प्रथमं स्थानम् । १ ।

बहुसमा इत्तरिआ गिहीणं कामभोगा । २ । जुज्जो अ
सायवहुत्ता मणुस्सा । ३ । इमे अ मे पुक्खेन चिरका-
लोवहाइं भविस्सई । ४ । ओमजणपुरक्कारे । ५ । वं-
तस्स य परिपायणं । ६ । अहरगइवासोवसंपया । ७ ।
हुह्वहे खलु भो गिहीणं धम्मे गिहिपासमज्जे वसंताणं
। ८ । आयके से वहाय हाइ । ९ । संकप्पे से वहाय
होइ । १० । सोवकेसे गिहवासे । ११ । निरुवकेसे परिआए

। १२ । वंधे गिहवासे । १३ । मुक्के परिआए । १४ । सावज्जे
गिहवासे । १५ । अणवज्जे परिआए । १६ । बहुसाहार-
णा गिहीणं कामभोगा । १७ । पत्तेअं पुचपावं । १८ । अ-
णिवे खलु भो मणुस्साणं जीविए कुसग्गजलविदुचंचद्धे,
बहुं च खलु भो पावं कम्मं पणइं, पावाणं च खलु जो
कमाणं कम्माणं पुण्वि दुच्चिन्नाणं दुप्पमिकंताणं वेइत्ता,
मुखो नत्थि अवेइत्ता, तवसा वा जोसइत्ता अष्टारसमं पयं
जवइ । भवइ अ इत्थ सिद्धोगो-

तथा-अथ इत्येता गृहिणां कामभोगाः, दुःपमायामिति वर्त-
ते । सन्तोऽपि अथवस्तुच्छाः । प्रकृत्यैव तुपमुष्टिवदसाराः, इत्व-
रा अल्पकाशाः गृहिणां गृहस्थानां कामभोगा मदनकामप्रधानाः
शब्दादयो विषयाः विपाककटवश्च न देवानामिव विपरीताः
अतः किं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति द्वितीयं स्था-
नम् । २ । तथा-नृषश्च स्वातिथदुहा मनुष्याः; दुःपमायामिति
वर्तत एव । पुनश्च स्वातिथदुहा मायाप्रचुराः, मनुष्या इति
प्राणिनः, न कदाचिद्धिभ्रम्भहेतवोऽमी, तद्गहितानां च कीदृशं
सुखम् ? तथा मायायन्त्रहेतुत्वेन च दारुणतरो बन्ध इति किं
गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति तृतीयं स्थानम् । ३ । तथा-
इदं च मे दुःखं न चिरकालोपस्थायि जविष्यति, इदं चानु-
नूयमानं, मम श्रामय्यमनुपालयतो, दुःखं शरीरमानसं कर्म-
फलं परीषहजनितं, न चिरकालमुपस्थातुं शीलं भविष्यति, आ-
मय्यपात्रेन परीषद्वनिराकृतेः, कर्मनिर्जराणां त्वंसंयमराज्यप्रतेः,
इतरथा महानरकादौ विपर्ययः, अतः किं गृहाश्रमेणेति ? संप्र-
त्युपेक्षितव्यमिति चतुर्थं स्थानम् । ४ । तथा-(ओमजण स्ति)
न्यूनजनपूजा, प्रवर्जितो हि धर्मप्रभावाद्वाजा मात्यादिभिरन्यु-
त्थानासनाजक्षिप्रप्रहादिभिः पूज्यते । संप्रवर्जितेन तु न्यूनजगस्या-
पि सव्यसनगुह्येऽभ्युत्थानादि कार्यम्, अधार्मिकराजविषये वा
वेष्टिप्रयोक्तुः खरकर्मणो नियम्यत एव, इहैवेदमधर्मकप्रमतः किं
गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति पञ्चमं स्थानम् । ५ । एवं सर्वत्र
क्रिया योजनीया । तथा बान्तस्य प्रत्यापानम्, भुक्तोऽजितपरिमोग
इत्यर्थः । अयं च भृगूणां प्रादिदुःखसत्त्वाचरितः सतां निन्यो व्या-
धिदुःखजनकः । यान्ताश्च मोगाः; प्रवर्ज्याङ्गीकरणेनैतत् प्रत्या-
पानमप्येवं चिन्तनीयमिति षष्ठं स्थानम् । ६ । तथाऽधरगतवासो-
पसंपत्, अधोगतिर्निरकतिर्यगातिस्तस्यां वसनमधोगतिवासः,
एतन्निमित्तभूतं कर्म गृह्यते, तस्योपसंपत्तामीप्येनाङ्गीकरणं
यदेतदुत्प्रवजनमेवं चिन्तनीयमिति सप्तमं स्थानम् । ७ ।
तथा दुर्लभः खलु भोः गृहिणां धर्म इति प्रमादबहुलत्वाद्
दुर्लभ एव, 'भो' इत्यामन्त्रणे । गृहस्थानां परमनिर्द्वैतजन-
को धर्मः । किंचिशिष्टानामित्याह- गृहपाशमध्ये वसतामि-
त्यत्र गृहपाशशब्देन पाशकल्पाः पुत्रकलत्रादयो गृह्यन्ते, तन्म-
ध्ये वसतामनादिभवाभ्यासादकारणं ब्रह्मबन्धनमेतच्चिन्तनी-
यमित्यष्टमं स्थानम् । ८ । तथाऽऽतङ्कस्तस्य वधाय भवति;
आतङ्कः सद्योघातो विसूचिकादिरोगः, तस्य गृहिणो धर्म-
बन्धुरहितस्य, वधाय विनाशाय भवति । तथा वधश्चानेक-
वधहेतुरेवं चिन्तनीयमिति नवमं स्थानम् । ९ । तथा संक-
ल्पस्तस्य वधाय भवति; संकल्प इष्टानिष्टवियोगप्राप्तिजो
मानस आतङ्कः, तस्य गृहिणः, तथाचेष्टायोगाद् मिथ्या-
विकल्पाभ्यासेन ग्रहादिप्राप्तेर्वधाय भवत्येतच्चिन्तनीयमिति

दशमं स्थानम् । १० । तथा-सोपक्लेशो गृहवास इति; सहो-
पक्लेशैः सोपक्लेशो गृहवासो गृहाश्रमः । उपक्लेशाः-कृषि-
पाशुपाल्यवाणिज्याद्यनुष्ठानानुगताः परिडतजनगर्हिताः शी-
तोष्णश्रमादयो घृतलवणचिन्तादयश्चेत्येवं चिन्तनीयमि-
त्येकादशं स्थानम् । ११ । तथा-निरुपक्लेशः पर्याय इति; एभि-
रेवोपक्लेशैः रहितः प्रव्रज्यापर्यायोऽनारम्भी कुचिन्तापरिव-
र्जितः श्लाघनीयो विदुषामित्येवं चिन्तनीयमिति द्वादशं स्था-
नम् । १२ । तथा-वन्धो गृहवासः, सदा तद्धेतुवनुष्ठानात्
कोशकारक्रीडवदित्येतच्चिन्तनीयमिति त्रयोदशं स्थानम् । १३ ।
तथा-मोक्षः पर्यायोऽनवरतकर्मनिगडविगमनाद् मुक्तवदित्येवं
चिन्तनीयमिति चतुर्दशं स्थानम् । १४ । अत एव सावद्यो
गृहवास इति; सावद्यः सपापः, प्रणातिपातमृषावादादिप्रवृ-
त्तेरतच्चिन्तनीयमिति पञ्चदशं स्थानम् । १५ । एवमनवद्यः पर्याय
इति; अपाप इत्यर्थः; अहिंसादिपालनात्मकत्वादेतच्चिन्तनीयमिति
षोडशं स्थानम् । १६ । तथा-बहुसाधरणा गृहिणां कामभोगा इति;
बहुसाधरणाश्चौरजाराजकुशादिसामान्याः, गृहिणां गृहस्था-
नां, कामभोगाः पूर्ववदित्येतच्चिन्तनीयमिति सप्तदशं स्थानम्
। १७ । तथा प्रत्येकं पुण्यपापमिति; मातापितृकलत्रादिनिमित्त-
मन्यनुष्ठितं पुण्यपापं प्रत्येकं पृथग् २, येनानुष्ठितं तस्य कर्तुरेव
तदिति भावार्थः; एवमष्टादशं स्थानम् । १८ । एतदन्तर्गतो वृक्षा-
भिप्रायेण शेषग्रन्थः समस्तोऽत्रैव ॥ अन्ये तु व्याचक्रते-सोपक्ले-
शो गृहवास इत्यादिषु षट्सु स्थानेषु सप्रतिपक्षेषु स्थानत्रयं
गृह्यते । एवं च बहुसाधरणा गृहिणां कामभोगा इति चतु-
र्दशं स्थानम् । प्रत्येकं पुण्यपापमिति पञ्चदशं स्थानम् । शेषा-
ण्यभिधीयन्ते-तथाऽनित्यं खल्वनित्यमेव नियमतः, 'भो'
इत्यामन्त्रणे, मनुष्याणां पुंसां, जीवितमायुः । एतदेव विशेष्यते-
कुशाग्रजलविन्दुचञ्चलं सोपक्रमत्वाद्नेकोपलवविषयत्वादित्य-
न्तासारम्, तदलं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति पुरुषं
स्थानम् । तथा-बहु च खलु भोः पापं कर्म प्रकृतं; बहु चेत्यत्र चश-
ब्दात् विज्ञप्तं, 'खलु' शब्दोऽवधारणे, बह्वेव, पापं कर्म चारित्र-
मोहनीयादि, प्रकृतं निर्घतितं, मयेति गम्यते । श्रमण्यप्राप्तावप्ये-
वं कुक्षुवृद्धिप्रवृत्तेः, नहि प्रज्ञातविलष्टकर्मरहितानामेवमकुशला
बुद्धिर्भवति, अतो न किंचिद् गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति
सप्तदशं स्थानम् । तथा-पापानां चेत्यादि; पापानां चापुण्यरूपा-
णां चशब्दात्पुण्यरूपाणां च, खलु भोः कृतानां कर्मणाम्; खलुश-
ब्दः कारितानुमतविशेषणार्थः; 'जो' इति शिष्यामन्त्रणे, कृता-
नां मनोवाक्काययोगैरोद्यतो निर्घतितानां कर्मणां ज्ञानावरणीया-
द्यसातवेदनीयादीनां, प्राक् पूर्वम्, अन्यजन्मसु दुश्चरितानां प्रमाद-
कषायजडुश्चरितजनितानि दुश्चरितानि, कारणकार्योपचारात् ।
दुश्चरितहेतूनि वा दुश्चरितानि, कार्ये कारणोपचारात् । एवं
दुष्पराक्रान्तानां मिथ्यादर्शनाविरतजडुष्पराक्रान्तजनितानि
दुष्पराक्रान्तानि, हेतौ फलोपचारात् । दुष्पराक्रान्तहेतूनि वा
दुष्पराक्रान्तानि, फले हेतूपचारात् । इह च दुश्चरितानि-मद्य-
पानाश्लीलानृतप्रापणादीनि, दुष्पराक्रान्तानि-वधवन्धनादीनि ।
तदमीपामेवंभूतानां कर्मणां वेदयित्वाऽनुज्ञय, फलमिति वाक्य-
शेषः । किं मोक्षो भवति, प्रधानपुरुषार्थो भवति?, नास्त्यवेदयि-
त्वा न जवत्यननुभूय, अनेन सकर्मकमोक्षव्यवच्छेदमाह । इष्यते
च स्वल्पकर्मोपेतानां किंचित् सहकारिनिरोधस्तत्फला-
दानवादिभिः, तत्तदपि नास्त्यवेदयित्वा मोक्षस्तथारूपत्वात्कर्म-
णः स्वज्ञादाने कर्मत्वायोगात्, तपसा वा क्लृप्तित्वा, अनश-

नप्रायश्चित्तादिना वा विशिष्टकायोपशमिकञ्चुभभावरूपेण त-
पसा प्रज्ञयं नीत्वा, इह च वेदनमुद्यमप्रप्तस्य व्याधिरिवानारब्धो-
पक्रमस्य क्रमशोऽनन्यनिबन्धनपरिक्षेपेण, तपःकृपणं तु सम्य-
गुपक्रमेणानुदीर्णोदीरणदोषकृपणवदन्यनिमित्तम्, अक्रमेणाप-
रिक्षेपशमित्यतस्तपोनुष्ठानमेव श्रेय इति, न किंचिद् गृहाश्रमेणेति
संप्रत्युपेक्षितव्यमित्यष्टादशं पदं प्रवर्तते-अष्टादशं स्थानं प्रवर्तते ।
प्रवर्तते चात्र श्लोकः, अत्रेत्यष्टादशस्थानार्थव्यातिकर उक्तानु-
कार्यसंग्रहपर इत्यर्थः । श्लोक इति च जातिपरो निर्देशः । ततः
श्लोकजातिरनेकमेव भवतीति प्रज्ञातश्लोकोपन्यासेऽपि न
विरोधः ।

जया य चयं धम्मं, अणज्जो जोगकरणा ।

से तत्थ मुच्छिणं वाद्वे, आयं नानुज्जहं ॥ १ ॥

यदा चैवमन्यष्टादशसु व्यावर्तनकारणेषु सत्स्वपि त्यजति
जहाति, धर्मं चारित्र्यकृणम्, अनार्य इत्यनार्यं इवानार्यं श्लेच्छ-
चेष्टितः । किमर्थमित्याह-भोगकारणात् शब्दादिजोगनिमित्तं सद्
धर्मत्यागी, तत्र तेषु भोगेषु, मूर्च्छितो गृह्यो, बालोऽङ्गः, आयति-
मागामिकालं, नानुज्जहते न सम्यगवगच्छतीति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

एतदेव दर्शयति—

जया ओहाविओ होई, इंदो वा पणिओ उमं ।

सन्वधम्मपरिञ्जट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥ २ ॥

यदा चावभाविताऽपस्तुतो भवति संयमसुखविचूतः, उत्प्रवर्जित
इत्यर्थः । इन्द्रो वेति देवराज इव, पतितः इमां गतः, स्वविभव-
ज्जंशेन भूमौ पतित इति भावः । इमा भूमिः । सर्वधर्मपरिभ्रष्टः
सर्वधर्मैर्जः क्लान्त्यादिर्जः आसेवितेभ्योऽपि यावत् प्रतिज्ञाम-
ननुपालनात्, बौद्धिकेभ्योऽपि वा गौरवादिर्जः, परिभ्रष्टः सर्वतः
च्युतः, स पतितो चूत्वा पश्चान्मनाश्च मोहावसाने, परितप्यते, कि-
मिदमकार्यं मयाऽनुष्ठितमित्यनुतापं करोतीति सूत्रार्थः । दशो १
चूद्धि० । (अप्रेतनगाथा तृ० जा० १३५ पृष्ठे 'ओहावण' शब्दे विन्यस्ता)
समणेषां जगवया महावारेणं समणेषां निगंथाणं स-
कुवुड्डय वियत्ताणं अट्टारसङ्घाणा पणत्ता । तं जहा—“वय-
द्धकं कायउकं, अकप्पो गिहिजायणं । पलियं कानिसेज्जा य,
सिणाणं सोभवज्जणं” ॥ १ ॥ स० १८ सम० ।

(व्रतपट्कादीनि विस्तरतोऽन्यत्र स्वस्वस्थाने लिखितानि) एषु
व्रतपट्कं, शोभावर्जने चेति विधेयं, शेषं प्रतिषेधनीयम् । व्य०-
१० उ० ।

अट्टारसहिं ठाणेहिं जो होति अपतिट्ठितो नल्लमत्थो
तारिसो होइ ववहारं ववहरित्ठ । अट्टारसहिं ठाणेहिं जो
होति पतिट्ठितो अल्लमत्थो तारिसो होइ ववहारं ववहरित्ठ ।
“व्य० १० उ० । (इति व्यवहारिलक्षणं 'ववहार' शब्दे
वक्ष्यते)

अट्टारसपावट्टाण—अष्टादशपापस्थान (क)—न० । पापहेतूनि
स्थानकानि पापस्थानकानि, अष्टादश च तानि स्थानकानि ।
प्राणातिपातादिषु अष्टादशसु पापोपादानहेतुषु स्थानेषु, प्रव० ।

सव्वं पाणाइवायं, अलियमदत्तं च मेहुणं सव्वं ।

सव्वं परिग्गहं तह, राईजत्तं च वोसिरिमो ॥ १ ॥

सव्वं कोहं माणं, मायं लोचं च रागदोसे य ।

कनदं अन्नकखाणं पेमुञ्चं परपरीवायं ॥ ९ ॥

माया-मोसं मिच्छा-दंनलमञ्चं नदेव बोनिग्गो ।

अंतिमकमानस्मि य, देदं पि जिण्णाडपच्चकम् ॥ ३ ॥

सर्वं सप्रज्ञेदं प्राणानितानं, तथा-सर्वमन्त्रिकं मुचानादं, तथा-
सर्वमदत्तमदत्तादानं, तथा-सर्वं मिच्छं, तथा-सर्वं परिग्रहं,
तथा-सर्वं राक्षिन्तं, रज्जनिमोज्जं, व्युत्तुज्जामः, परिहरामः ।
तथा-सर्वं ज्ञेयं, ज्ञानं, मायां, लोभं च, गगदेयं च,
तथा-कवर्तं, अभ्यन्त्याने, पैगुन्यं, परपरीवादे, मायां,
मृगं, मिच्छादशनदत्तं च, तथाच सप्रतिज्ञं व्युत्तुज्जामः ।
पनन्त्यष्टादशपापहेतुनि स्थानकानि पापस्थानकानि, न केचन-
मेनान्येयं किन्तु दानिमे उच्छ्राम्ने, परलोकागमनसमय इत्यर्थः,
देहमपि निजगृहीरमपि, व्युत्तुज्जामः, तथापि ममन्वयोचनाद्
जिनादिप्रत्यङ्गं दीर्घकरासिक्तानां समक्रमिनि। प्रव० २३७७७० ।

अष्टागमवज्जणाल्ल-अष्टादशव्यञ्जनाकुञ्ज-वि० । अष्टादश-
मिन्त्रिकप्रतानैर्यञ्जनेः शालनतत्तादिभिराकुलं सङ्कीर्णं यत्त-
त्तथा ! अथवा अष्टादशभेदं च तद् व्यञ्जनाकुलम्, शाकपा-
थिवादिदर्शनादष्टादशदलोपः । मूपाद्यष्टादशव्यञ्जनसङ्कीर्णं,
च० प्र० । अष्टादश च भेदा इमे-“सूत्रो १ दणो २ जवणं, ३ ति-
ग्गि य मन्नाइ ६ गोरसो ७ जूमो ८ भक्का ९ गुललायणिया,
१० मूलफला ११ हरियगं १२ डागो १३ ॥ १ ॥ होइ रसालू
य १४ नहा, पाणं १५ पाणीय १६ पाणनं चय १७ । अष्टारसमो
सागो १८, गिण्वहओ लोइओ पिडो ” ॥ २ ॥ च० प्र० २०
पाणु० । स्या० । भ० ।

अष्टारसविहिप्पयारदंसीभासाविसारय-अष्टादशविधिप्रका-
रदंजीचापाविशारद-पुं० स्त्री० । अष्टादशविधिप्रकाराः, अष्टा-
दशभिर्वा विधिभिर्भेदः प्रचारः प्रवृत्तिर्यस्याः सा तथा, तस्यां
देशीभाषायां देशभेदेन वर्णावलीरूपायां विशारदः परिउत्तो
यः स तथा । अष्टादशधाभिधदेशीभाषापण्डिते, “ अष्टार-
सविहिप्पयारदंसीभासाविसारय गीयरदं धव्वणट्टकुसले
हयजोही ” द्वा० १ धु० १ अ० ।

अष्टारससीद्विगसहस्र-अष्टादशशीलाङ्गसहस्र-न० । शी-
लभेदानामष्टादशसहस्रेषु, पञ्चा० ।

तानि चैवम्-

नमिज्जण वद्धमाणं, सीद्विगाइं समासओ वोच्छं ।

समण्णण सुविहियाणं, गुरुवण्माणुसारेण ॥ ११ ॥

नत्वा प्रणम्य, वद्धमानं महावीरं, शीलाङ्गानि चारित्रांशरू-
पाणि, तत्कारणानि वा, समासतः संक्षेपेण, वक्ष्ये भणियामि ।
केषां संवन्धीनि इत्याह-भ्रमणानां यतीनां, सुविहितानां सदनु-
ष्ठानानां, गुरुपदेशानुसारेण जिनादिवचनानुवृत्त्येति गा-
थार्थः ॥ १ ॥

शीलाङ्गानां तावत्परिमाणमाह-

सीलंगाण सहस्सा, अष्टारस एत्थ होति णियमेणं ।

जावेणं समण्णणं, अखंरुचारिचजुत्ताणं ॥ ९ ॥

शीलाङ्गानां चारित्राणानां, सहस्राण्यष्टादश, अत्र-भ्रमणधर्मे,
प्रवचने वा, भवन्ति स्युः । नियमेनावश्यतया, न न्यूनान्यधिकानि
वेति भावः । कथमित्याह-भावेन परिणामेन, बहिर्वृत्त्या तु कल्प-
प्रतिसेवया न्यूनान्यपि स्युरिति भावः । केषामित्याह-भ्रमणा-
नां यतीनां न तु श्रवकार्णा, सर्वविरतानां चैव तेषामुक्तसंख्या-

यतां संभवात् । अथवा भावेन भ्रमणानां न तु रुच्यभ्रमणानाम्,
तेषामपि किंचिधानामित्याह-अस्माकचारिचयुक्तानां सकलचर-
णापेतानां, न तु दर्पप्रतिसेवया खण्डितचरणांशानाम् । नन्यस्माक-
चरणा एव सर्वविरता भवन्ति, तन्माकानेऽसर्वविरतत्वप्रसंगा-
त्, तथा ‘एकवज्जइ अइकमइ पंच’ इत्यागमप्रामाण्यात् सर्व-
विरतः पञ्चापि महाद्यनानि प्रतिपद्यतेऽतिक्रामति च पञ्चा-
प्येव, नैककादिकमिति कथं सर्वविरतदेशखण्डनमिति ? अत्रो-
च्यते-सत्यमेतत्, किं तु प्रतिपत्त्यपेक्षं सर्वविरतत्वं, परिपाल-
नापेक्षया त्वन्यथापि संज्वलनकपायोदयात्स्यात् । अत एवोक्तम्-
“मज्जे वि य अदयारा, संजलणाणं उदयओ होति” इति । अ-
निचारा हि चरणदेशखण्डनरूपा एवेति । तथैकप्रतातिक्रमे सर्वा-
तिक्रम इति यदुक्तं, तदपि वैयक्तिकम् । विवक्षा चैवम्-“येयस्स
जाव दणं, तव अइकमइ चैव एणं पि । एणं अइकमंतो, अइक-
मे पंचमूखेणं” ॥ १ ॥ एवमेव हि दशविधप्रायश्चित्तविधानं सफलं
स्यात् । अन्यथा मूलाद्येव, तस्माद्यवहारनयतश्चातिचारसंज्ञवः,
निश्चयतस्तु सर्वविरतितया ननु एवेत्यङ्गं प्रसंगेनेति गाथार्थः । २ ।

कथं पुनरेकविधस्य शीलस्याङ्गानामष्टादशसहस्राणि

भवन्तीत्याह-

जोणं करणे सण्णा-इंदियचूमादि समणधम्मे य ।

सीद्विगसहस्साणं, अष्टारसगस्म शिप्पत्ती ॥ ३ ॥

योगं व्यापारं विषयभूते, करणे योगस्यैव साधकतमे, संज्ञादी-
नि चत्वारि पदानि द्वन्द्वैकत्ववन्ति । तत्र संज्ञासु चेतनाविशेष-
रूपासु, इन्द्रियेष्वेकेषु, चूम्मादिषु पृथिव्यादिजीवकायेष्वजीव-
काये च, भ्रमणधर्मे च क्लान्त्यादौ, शीलाङ्गसहस्राणां प्रस्तुतानाम्,
अष्टादशपरिमाणमस्य वृन्दस्येत्यष्टादशकं, तस्य, निष्पत्तिः सि-
द्धिर्भवतीति गाथार्थः ॥ ३ ॥

योगादीनेव व्याख्यानुमाह-

करणादि तिणि जोगा, मणमादीणि उ हवंति करणाई ।

आहारादी सण्णा, चउ सण्णा इंदिया पंच ॥ ४ ॥

भोमादी एव जीवा, अजीवकाओ य समणधम्मो उ ।

खंतादि दसपगारो, एवं त्रिए जावणा एसा ॥ ५ ॥

(करणाइ चित्ति) सूत्रत्वात्करणादयः, करणकारणानुमतयस्त्रयो
योगा भवन्ति । तथा मन आदीनि तु मनोवचनकायरूपाणि, पुन-
र्भवन्ति स्युः, करणानि त्रीण्येव; तथा आहारादयः आहारभ-
यमैथुनपरिग्रहविषयाः वेदनीयभयमोहवेदमोहलोजकपायोद-
यसंपायाध्ययसायविशेषरूपाः संज्ञाः, (चउ चित्ति) चतस्रः संज्ञा नव
न्ति। तथा-श्रोत्रादीनि श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनानादीन्द्रियाणि पञ्च
भवन्तीति । तथा-भूम्यादयः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुः-
पञ्चेन्द्रिया नव जीवा जीवकायाः, अजीवकायस्तु अजीवराशिः
पुनर्दशमो यः परिहार्यतयोक्तः । स च महाधनानि वस्त्रपात्राणि
विकटहिरण्यादीनि च, तथा-पुस्तकानि तूलाद्यप्रत्युपेक्षितानि
प्राचारादिद्रुप्रत्युपेक्षितानि, कौस्तुभादिदृणान्यजादिचर्माणि
चागमप्रसिक्तानीति । तथा-भ्रमणधर्मस्तु यतिधर्मः । पुनः क्लान्त्या-
दिः क्लान्तिमार्दवाजैवमुक्तितपःसंयमसत्यशौचाकिञ्चन्यग्रहच-
र्यरूपो दशप्रकारो दशविध इति । (एवं ति) एवमुक्त्यायेन,
स्थिते औत्तराधर्मेण पट्टकादौ व्यपस्थिते, द्वित्रिचतुषष्टदश-
संख्येयमूत्रपदरूपाभावना भङ्गकप्रकाशना, एषा अनन्तरव-
क्ष्यमाणलक्षणेति गाथाद्वयार्थः ॥ ५ ॥

तमेवाह-

ए करति मणेण आहा-रसस्रविषजदगो उ णियमेण ।

सोइंदियसंवुडो पु-ढविकायारंज खंतिजुओ ॥ ६ ॥

न करोतीति करणलक्षणः प्रथमयोग उपात्तः । मनसेति प्रथमकरणम् । (आहारसस्रविषजदगो उ त्ति) आहारसंज्ञाविप्रहीणः । अनेन च प्रथमसंज्ञा । तथा-नियमेनावश्यतया श्रोत्रेन्द्रियसंवृतो निरुद्धरागादिमश्रोत्रेन्द्रियप्रवृत्तिः, अनेन च प्रथमेन्द्रियम् । एवंविधः सन् किं करोतीत्याह-पृथिवीकायारंजं पृथ्वीजीवहिंसाम्, अनेन च प्रथमजीवस्थानम् । क्लान्तियुतः क्लान्तिसंपन्नः, अनेन प्रथमभ्रमणधर्मभेद इति । तदेवमेकं शीलाङ्गमाविर्जावितमिति गार्थः ॥ ६ ॥

अथ शेषाणि तान्यतिदेशतो दर्शयन्नाह-

इय मद्वादिजोगा, पुढवीकाए जवंति दस जेया ।

आजकायादीसु वि, इय एते पिंभियं तु सयं ॥ ७ ॥

सोइंदिएण एयं, सेसेहिं वि जे इमं तओ पंचो ।

आहारसस्रजंगा, इय सेसाहिं सहस्सजुगं ॥ ८ ॥

एयं मणेण वइमा-दिएसु एयं ति वस्सहस्साइं ।

ण करइ सेसेहिं पि य, एए सव्वे वि अट्टारा ॥ ९ ॥

इत्यनेनैव च पूर्वोक्ताभिलापेन, मार्दवादियोगान् मार्दवाजवादिपदसंयोगेन, पृथिवीकाये पृथिवीकायमाधित्य, पृथिवीकाय-समारम्भमित्यभिलापेनेत्यर्थः । भवन्ति स्युः, दश भेदा दश शीलविकल्पाः, अङ्कायादिष्वपि नवसु स्थानेषु, अपिशब्दो दशे-त्यस्येह संबन्धनार्थ इति । अनेन क्रमेण एते सर्वेऽपि भेदाः । (पिंभियं तु त्ति) प्राकृतत्वात्पिण्डिताः पुनः सन्तः, अथवा पिण्डितं पिण्डिताभित्य, शतं शतसंख्याः स्युरिति, श्रोत्रेन्द्रियेणैतच्छतं लब्धम्, शेषैरपि चक्षुरिन्द्रियादिभिः, यद्यस्मादिदं शतं प्रत्येकं लभ्यते, ततो मीलितानि पञ्चशतानि स्युः । एतानि चाहारसंज्ञायोगाल्लब्धानि इति । एवं शेषाभिस्तिसृभिः पञ्च पञ्चशतानि स्युः, एवं च सर्वमीलने सहस्रद्वयं स्यादिति । एतत् सहस्रद्वितीयं मनसा लब्धं (वइमाइएसु त्ति) वागाद्योर्विचनकाययोः प्रत्येकमेतत् सहस्रद्वयम्, इति एवं, पदसहस्राणि न करोतीति अत्र करणपदे स्युः । शेषयोरपि च कारणानुमत्योरित्यर्थः । पद पद सहस्राणि स्युः । एते अनन्तरोक्ताः, सर्वेऽपि शीलभेदाः पिण्डिताः सन्तः, (अट्टार त्ति) प्राकृतत्वादष्टादशसहस्राणि भवन्तीति गार्थात्रयार्थः ॥ ६ ॥ नन्वेकयोग एवाष्टादशसहस्राणि स्युर्यदा तु ह्यादिसंयोगजन्या इह क्षिप्यन्ते तदा बहुतराः स्युः । तथाहि-एकह्यादिसंयोगेन योगेषु सप्त विकल्पाः, एवं करणेषु, संज्ञाषु पञ्चदश, इन्द्रियेष्वेकत्रिंशद्, भौम्यादिषु त्रयोविंशत्यधिकं सहस्रम्, एवं क्षमादिष्वपि । इत्येषां च राशीनां परस्पराभ्यासे द्वे कोटिसहस्रे, त्रीणि कोटीशतानि, चतुरशीति-कोटीनामेकपञ्चाशत्सहस्राणि, त्रिपष्टिसहस्राणि, द्वे शते, पञ्चपष्टि-श्रेति [२३८४१६३२६५] ; ततः किमष्टादशैव सहस्राण्युक्तानि ? उच्यते-यदि श्रावकधर्मवदन्यतरभङ्गकेन सर्वविरति-प्रतिपत्तिः स्यात्, तदा युज्येत, तद्भङ्गेन तत्रैवमेकतरस्यापि शीलाङ्गकल्पस्य शेषसद्भाव एव भावान् । अन्यथा सर्वविरतिरेव न स्यादित्येतदेवाह-

एत्थ इमं विषेयं, अइदंपज्जं तु बुद्धिमंतेहिं ।

एकंपि सुपरिमुच्चं, सीलंगं सेससवभावे ॥ १० ॥

अत्र एषु शीलाङ्गेषु, इदं वक्ष्यमाणं, विज्ञेयं ज्ञातव्यम् । (अइदंपज्जं ति) इदं परं प्रधानमत्रेतीदंपरं, तद्भाव पेदंपर्यं तत्त्वम् । तुशब्दः पुनः शब्दार्थः । तद्भावना चैवम्-शीलाङ्गसहस्राण्यष्टादश भवन्ति । पेदंपर्यं पुनरेष्विदं ज्ञेयं, बुद्धिमद्भिर्बुद्धैः किं तदित्याह-एकमपि अपिशब्दाद् बहून्यपि, सुपरिमुच्चं निरतिचारं, शीलाङ्गं चरणांशः, शेषसद्भावे तदन्यशीलाङ्गसत्तायामेव, तदेवं समुदितान्ये-धैतानि ज्वन्तीति न ह्यादिसंयोगभङ्गकोपादानमपि तु सर्वपदान्यभङ्गस्येयमष्टादशसहस्रांशतोक्ता । यथा त्रिविधं त्रिविधेनेत्यस्य नवांशतेति । इह च सुपरिमुच्चमिति विशेषणद्वयवहारनयमतेनापरिशुद्धानि पावनानामन्यतरस्याभावेऽपि स्युरिति दर्शितम् । एवं हि संज्वलनोदयश्चरितार्थो ज्वेदिति; चरणैकदेशभङ्गहेतुत्वात् तस्य । अत एव यो मन्यते ब्रवणं भङ्गयामीति तेन (मुनिना) मनसा न करोत्याह-रसंज्ञाविहीनो रसेनेन्द्रियसंवृतः पृथिवीकाय-समारम्भमुक्तिसंपन्न इत्येतदेकं तद्भङ्गम् । तद्भङ्गे च प्रतिक्रमणादि-प्रायश्चित्तेन शुक्तिः स्यात्, अन्यथा मूढेनैव स्यादिति गार्थः ॥ १० ॥

अनन्तरगाथार्थं समर्थयन्नाह-

एको वाऽऽप्यपएसोऽसखेयपएससंगओ जह तु ।

एतं पि तहा शेयं, सतत्तचाओ इहरहा उ ॥ ११ ॥

एकोऽपि, आस्तामनेकः । आत्मप्रदेशो जीवांशः; असंख्येयप्रदेशसंगत एव संख्यातीतांशसमन्वित एव भवति, तस्य तथास्वजायत्वात् । यथा यद्वत्, तुशब्द एवकारार्थः । तत्प्रयोगश्च दर्शित एव । एतदपि शीलाङ्गमपि, तथा तद्भङ्गे पश्याङ्गसमन्वितमेव, ज्ञेयं ज्ञातव्यम्, शेषानपेक्षत्वे तस्य को दोष इत्याह-स्वतत्त्वत्यागः सर्वविरतिलक्षणशीलाङ्गहानिः स्यात् । इतरथा तु एकतायां पुनरित्यर्थः । समुदितान्येतानि सर्वविरतिशीलाङ्गतामापद्यन्ते । अन्यथा पुनः सर्वविरतिशीलाङ्गतां त्यजन्तीति जायनेति गार्थः ॥ ११ ॥

इदमेव समर्थयन्नाह-

जम्हा समग्गमेयं, पि सव्वसावज्जजोगविरई उ ।

तत्तेणोगसरुवं, ण खंरूपत्तणमुवेइ ॥ १२ ॥

यस्मात् कारणात्समग्रं परिपूर्णमेव, सदा दैशिकमित्यर्थः । एतदपि शीलं, न केवलमात्मा समग्रः सञ्ज्ञात्मा स्यात् । सर्वसावद्ययोगविरतिः समस्तपापव्यापारनिवृत्तिर्भवति, तत्स्वभावमित्यर्थः । तुशब्द एवकारार्थः । योजितश्च-तथा च-तत्त्वेन सर्वनिवृत्तिरूपत्वेन हेतुना एकस्वरूपमष्टादशसहस्रांशमेव । अन्यथा सर्वविरतित्वायोगाद्, न खारुरूपत्वमेकाद्यंशवैकल्यम्, उपैत्युपयातीति । प्रयोगोऽत्र-यद्यदपेक्षया स्वतत्त्वं लभते तत् तन्न्यूनतायां तन्न भवति । यथा-प्रदेशहीन आत्मा, यथा वा शतमेकाद्यजावे, बभूवे च सर्वस्वापेक्षया सर्वविरतिः स्वतत्त्वम्, इत एकादिशीलाङ्गविकलौऽसौ न ज्वतीति गार्थः ॥ १२ ॥

उक्तार्थ एव विशेषाभिधानायाह-

एयं च एत्थ एवं, विरतीजावं पसुच्च दडुच्चं ।

न उ वज्झं पि पविच्चिं, जं सा जावं विणावि भवे । १३ ।

एतच्च एतत् पुनः शीलम्, अत्र शीलाङ्गप्रक्रमे, एवमखण्डरूपं, विरतिभावं सावद्ययोगविरमणपरिणामं, प्रतीत्याश्रित्य, द्रष्टव्यं ज्ञेयम् । न तु न पुनः, बाह्यमपि कायद्याकसंचन्धिनीमपि, अपिशब्दः समुच्चये; प्रवृत्तिं चेष्टाम्; कुत एतदेवमित्याह-यद् यस्मात्, सा बाह्या प्रतिपत्तिः, भावमध्यवसायं, चिनाऽपि अन्तरेणापि । अपिशब्दाद्भावेन सहापि, भवेत् स्यादिति गार्थः ॥ १३ ॥ पंचा० १४ विव० आव० । ध० । पं० व० । द० ।

अष्टारसंज्ञिणि-अष्टादशश्रेणि-स्त्री०। कुम्भकारादिषु अष्टादश-
स्तु रत्नः प्रजास्तु, जं०। अष्टादशश्रेण्यष्टेमाः-“कुंजार१ पट्टद्विज्ञान,
सुवक्कारा य ३ मूचकारा य ४। गंधवा ५ कासवगा ६, मा-
लाकारा य ७ कज्जकरा ८ ॥१॥ तंबोलिआ ९ य एए, नवप्प-
यारा य गाराआ भणिआ । अहं रां णवप्पयारे, कारुअवणे
पवक्खामि ॥ २ ॥ चम्मयर १ जंतर्पालग २, गंधिअ ३ क्षिप-
य ४ कंसकारा य ५। सीवग ६ शुअर ७ भिज्ञा ८, धीवण ९
चकाद अट्टदस ” ॥३॥ चित्रकारादयस्तु एतेष्वेवान्तर्भवन्ति ।
“तए ण ताओ अष्टारसंज्ञिणप्पसेणीओ भरहेणं रत्ता एवं बु-
त्ता समाणीओ हट्ठाओ ” जं० ३ वत्त० ।

अष्टारसंज्ञि-अष्टादशक-त्रि० । अष्टादशवर्षप्रमाणे, “ते वरिस्ता
होद एवा, अष्टारसिया उ हरिया होद ” अष्टादशिका अष्टा-
दशवर्षप्रमाणा । व्य० ४ उ० ।

अष्टालोचि (ए)-अष्टालोभिन्-त्रि० । अष्टौऽत्र कुप्यादि-
स्तत्र आ समन्ताल्लोभः अर्थलोभः स विद्यते यस्येति समन्त-
तो धनलुब्धे, “अहोयराओ परियप्पमाणे कालाकालसमुट्ठा-
ई संजोगट्ठी अष्टालोभी ” आचा० १ शु० २ अ० ३ उ० ।

अष्टावय-अष्ट (ष्टा) पञ्चाशत्-स्त्री०। अष्टाधिका पञ्चाशत्
अष्टपञ्चाशत्; अष्ट च पञ्चाशच्च अष्टपञ्चाशदिति वा । ‘अ
ष्टावन ’ इति प्रसिद्धायां संख्यायां, तत्संख्येये च । “पढमदो-
च्चपंचमासु तिसु पुढवीसु अष्टावयं गिरयावाससयसहस्सा”
स० ५८ सम० ।

अष्टावय-अर्थपद-न० । अर्थत इत्यर्थो धनधान्यहिरण्यादि-
कः, पद्येन गम्यते येनार्थस्तत्पदं शास्त्रम्, अर्थार्थ पदमर्थपद-
म् । चाणक्यादिकेऽर्थशास्त्रे, सूत्र० १ शु० ६ अ० ।

अष्टापद-न० । द्यूतक्रीडाविशेषे, सूत्र० १ शु० ६ अ० । द्यूतकल-
के, जं २ वत्त० । प्रश्न० । द्वास्ततिकलासु चैयं त्रयोदशी कला ।
ज्ञा० १ शु० १ अ० । स० । द्यूतसामान्ये, जं० २ वत्त० । नि०
चू० । “अष्टावयंण सिक्खिजा” सूत्र० १ शु० ६ अ० । अथवा-अष्टौ
अष्टौ पदानि पङ्कावस्य । वृत्तौ संख्याशब्दस्य वीप्सार्थत्वाङ्गी-
कारः, आत्वम्, अर्कचादिः । शारीफलके; अष्टसु धातुषु पदं
प्रतिष्ठा यस्य, स्वर्णैः उपचारात् स्वर्णमयेऽपि, शरमे, लूतायां च ।
(पुं०) तयोरष्टपदत्वात् । अष्टं यथा स्यात्तथा पद्यते, कर्मोः
अष्टसु दिक्षु आपद्यते, कीदृशके; अष्टभिः सिद्धिजिरापद्यते । (आ-
पद-अप् । ३ त०) अणिमाद्यप्रसिद्धियुक्तत्वे, कैशासे च । पुं० ।
वाच० । स्वनामख्याते पर्वतविशेषे, यत्र ऋषभदेवः सिद्धः ।
पञ्चा० १ ए विव० । आ० म० प्र० । कल्प० । “अष्टावयमि
सेले, चउदसमत्तेण सो महरिखीणं । दसहिं सहसेहिं समं,
खिन्वाणमणुत्तरं पत्तो ” ॥ १ ॥ आ० क० । जं० । संथा० । नं० ।
(गौतमस्याष्टादशमनं तत्र तापसप्रव्राजन्म ‘अज्जवइर’ शब्देऽ
त्रैव भागे २१६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) आ० क० । म० । आ० म०
द्वि० । एतस्मादेव चास्य तीर्थत्वम् । तन्माहात्म्यं यथा—
वरधर्मकीर्तिभृत्प्रजो, विद्यानन्दाश्रितः पवित्रयुतः ।
देवेन्द्रवन्दितो यः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १ ॥
ऋषभसुता नवनवति-र्वाहुवलिप्रभृतयः प्रवरयतयः ।
यस्मिन्नभजन्मृतं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २ ॥
अयुजन्निवृत्तियोगं, वियोगमीरव इव प्रजोः समकम् ।
यत्रपिदशसहस्राः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ३ ॥
शक्राष्ट पुत्रपुत्राः, युगपद वृषभेण नवनवतिपुत्राः ।

समयैकेन शिवमगुः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ४ ॥

रत्नत्रयमिव मूर्त्तं, स्तूपत्रितयं चित्रित्रयस्थाने ।

यत्रास्थापयद्विन्द्रः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ५ ॥

सिद्धायतनप्रतिमं, सिंहनिपद्येति यत्र सुचतुर्धा ।

भरतोऽरचयन्मैत्र्यं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ६ ॥

यत्र विराजति चैत्र्यं, योजनदीर्घं तदूर्कपृथुमानम् ।

कोशत्रयोच्चमैत्र्यं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ७ ॥

यत्र आतृप्रतिमाः, व्यधाच्चतुर्विंशतिर्जिनप्रतिमाः ।

जरतः सात्मप्रतिमाः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ८ ॥

स्वस्वाकृतिमितिवर्णोङ्क-वर्णितान् वर्तमानजिनविम्बान् ।

भरतो वर्णितवानिह, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ९ ॥

सप्रतिमा नवनवति, बन्धुस्तृपांस्तथाऽईतस्तूपम् ।

यत्रारचयन्चक्री, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १० ॥

(‘उसन्न’ शब्दे द्वि० भा० ११५१ पृष्ठे वक्तव्यतास्य वक्ष्यते)

जरतेन मोहसिंहं, हन्तुमिवाष्टापदः कृताष्टपदः ।

शुश्रुमेऽष्टयोजनो यः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ११ ॥

यस्मिन्ननेककोट्यो, महर्षयो जरतचक्रवर्त्याद्याः ।

सिद्धिं साधितवन्तः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १२ ॥

(‘जरद्’ शब्देऽस्य वक्तव्यता वक्ष्यते)

सगरसुताग्रे सर्वा-र्थशिवगतीन् भरतराजवंशशीन् ।

यत्र सुबुद्धिरकथयत्, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १३ ॥

परिखासागरमकर-स्त सागराः सागराऽऽज्ञया यत्र ।

परितो रक्तातिकृतये, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १४ ॥

क्लावधितुमिव स्वेनो, जैनो यो गङ्गाया श्रितः परितः ।

संततमुल्लोलकरैः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १५ ॥

(‘गंगा’ शब्दे कथाऽस्य द्रष्टव्या)

यत्र जिनतिहाकदाना-इमयन्त्याऽऽपे कृतानुरूपफलम् ।

प्रागस्वप्नावतिलकं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १६ ॥

(‘दमयंती’ शब्दे कथैषा निरूपयिष्यते)

यमकूपारे कोपात्, क्षिपन्नलं बाहिनाऽङ्कुषिणाऽऽक्रम्य ।

आरावि रावणोऽरं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १७ ॥

मुज्जतन्या जिनमहङ्क-ल्लङ्घ्योऽवाप यत्र धरणेऽन्तात् ।

विजयामोघां शक्तिं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १८ ॥

(‘रावण’ शब्दे कथयं प्ररूपयिष्यते)

चतुरश्रतुरोऽष्टादश, द्वौ प्राच्यादिदिक्षु जिनविम्बान् ।

यत्रावन्दत गणभृत, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १९ ॥

अचलेऽत्रोदयमचलं, स्वशक्तिवन्दितजिनो जनो व्रजते ।

वीरोऽवर्णयदिति यं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २० ॥

प्रभुमणितपुरमरीका-भ्ययनाध्ययनात् सुरोऽत्र दशमोऽचूत् ।

दशपूर्विपुण्डरीकाः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २१ ॥

यत्र स्तुतजिननाथो-ऽदीक्षत तापसशतानि पंचदश ।

श्रीगौतमगणनाथः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २२ ॥

(‘अज्जवइर’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१६ पृष्ठे कथयं निरूपिता)

इत्यष्टापदपर्वत इव योऽष्टापदमपि चिरस्थायी ।

व्यावर्णिं महातीर्थं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २३ ॥ १०९८ कल्प० ।

भरतचक्रवर्तिकारितचैत्यानामिदानीं सत्त्वे प्रश्नोत्तरे—

नव्याष्टापदपर्वते भरतचक्रवर्तिकारिताः सिंहनिपद्याप्रमुखप्रासा-

दास्तत्तविम्बानि चाद्ययावत्कथं स्थितानि सन्ति?, तथा श्रीशङ्ख-

यपर्वतेऽपि भरतकारितानि तान्येव प्रासादाविम्बानि कथं न स्थिता-

नि ?। यतस्तत्राऽसंख्याता उच्चार्य जाताः श्रूयन्ते, तेनाष्टापदे कस्य-
सानिध्यं, शत्रुञ्जये च कस्य न ? , यदेतावान् जेद इति व्यक्त्या
प्रसाध्यमिति । उत्तरम-अष्टापदपर्वते भरतचक्रवर्तिकारितप्रासा-
दादीनां स्थानस्य निरपायत्वाद्, देवादिसान्निध्यात् च “केवञ्च
पुण काहं आययणं अवसिज्जिस्सइ ?। ततो तेण अमेञ्चण
भणिअं-जाव इमाओ ओसप्पिणि त्ति मे केवञ्चिज्जिणाण भंतिप
सुयं” इत्यादि वसुदेवहिण्ड्यक्करसद्भावाच्चाद्ययावदवस्थानं
युक्तिमदेव । शत्रुञ्जये तु स्थानस्य सापायत्वात्, तथाविधदे-
वादिसान्निध्याभावाच्च, भरतकारितप्रासादादीनामद्ययाव-
दवस्थानाभाव इति संभाव्यते । तत्त्वं तु तत्त्वविद्वेद्यमिति ।
ही०४ प्रका० । किञ्च-अष्टापदपर्वते प्रतिमाप्रतिष्ठा केन कृता ?,
कुत्र वा सा कथिताऽस्तीति ?, विष्णुऋषिगणेशप्रभः । तदुत्तरम-
अत्र अष्टापदपर्वते प्रतिमाप्रतिष्ठा श्रीऋषभदेवशिष्येण कृतेति
श्रीशत्रुञ्जयमाहात्म्यमध्ये कथितमस्तीति । (ही०) अष्टापद-
गिरौ स्वकीयलब्ध्या ये जिनप्रतिमां वन्दन्ते ते तद्भवसिद्धिगा-
मिन इत्यक्षराणि सन्ति, तथा च सन्ति ये विद्याधरयमिनस्त-
था राक्षसवानरचारणभेदभिन्ना अनेके ये तपस्विनस्तत्र मनुं
शक्तास्तेषां सर्वेषामपि तद्भवसिद्धिगामित्वमापद्यते, ततः सा
का लब्धिः, यया तत्र गम्यते, तथा गौतमादिवत्तद्भवसिद्धिगा-
मिनो भवन्तीति । तथा अष्टापदगिरौ ये तपःसंयमोत्थलब्ध्या
यात्रां कुर्वन्ति ते तद्भवसिद्धिगामिन इति संभाव्यते, व्यक्ता-
क्षरानुपलम्भात् । ही० १ प्रका० ।

अष्टावयवाइ (ए)-अष्टापदवादिन्-पुं० । इन्द्रभूतिना सह
वीरजिनसमीपं समागते विप्रभेदे, कल्प० ।

अष्टावीस-अष्टाविंशति-स्त्री० । अष्टाऽधिका विंशतिः । अष्ट
च विंशतिश्चाष्टाविंशतिः । ‘अष्टावीस’ अष्टाधिकविंशति-
संख्यायाम्, “तिष्ठि य कोसे अष्टावीसं धणुसयं” ज० १ वत्त० ।

अष्टाह-अष्टाह-न० । अष्टानामहं समाहारे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

अष्टाहिया-अष्टाहिका-स्त्री० । अष्टानामहं समाहारोऽष्टाहम्, त
दस्ति यस्यां महिमायां साऽष्टाहिका । महिमामात्रे, व्युत्पत्तेः
प्रदर्शनमात्रफलत्वेन महिमामात्रस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् ।
ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । अष्टद्वैवसिक्यां च । “अष्टाहिया य महिमा,
सम्मं अणुबंधसाहिगा केइ” पञ्चा० ८ विव० । आ० म० प्र० ।
(अष्टाहिकाया रथयात्रायाः स्वरूपम् ‘अणुजाण’ शब्दे वक्ष्यते)

अष्टि-अस्थि-न० । अस्यते । अस-विथन् । “ठोऽस्थिविसंस्थु-
ले” ॥ ७ । १ । ३२ ॥ इति संयुक्तस्य थस्य ठः । प्रा० । कीकशे,
प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । औ० कुलके, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।
कुल्ये पञ्चमे धातौ, तं० । स्था० । सास्थिके सरजस्के कापा-
लिके, “अष्टी विज्जा कुञ्जितमिक्खू ” वृ० १ उ० ।

अष्टि (ए)-अर्थिन्-त्रि० । अर्थोऽस्याऽस्तीत्यर्थः । प्रयोजन-
वति, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अष्टिअग्राम-अस्थिकग्राम-पुं० । स्वनामख्याते ग्रामभेदे, तत्र
वीरजिनः समवासरत् । तदेतत्सर्वमुक्तम्—

‘अस्थिकग्राम’ इत्याख्या, कथं जातेति कथ्यते ।

ग्रामोऽयं वर्धमानोऽन्ते, वेगवत्यस्य नद्यभूत् ॥ १२ ॥

मण्यादिपर्यपूर्णाना-मनसां पञ्चभिः शतैः ।

धनदेवो वणिक् तत्रा-यातः प्रेक्ष्य महानदीम् ॥ १३ ॥

महोत्समेकं सर्वेषु, शकटेषु नियोज्य सः ।

वामतो दक्षिणान्यां-स्तां नदीमुदतारयत् ॥ १४ ॥

अतिभाराकर्षणेन, सोऽथान्तस्त्वृष्टितो वृषः ।

तस्य छायां विधायाथ, ग्राम्यानाकार्यं तत्पुरः ॥ १५ ॥

चारिवारिकृते तस्य, तेषां द्रविणमार्पयत् ।

पाल्योऽयमिति चोक्त्वा तान्, साश्रुदृक् स वणिग् ययौ ॥ १६ ॥

ग्राम्या विमज्य तद् छव्यं, सर्वे जगृहिरे स्वयम् ।

तस्यासौ निर्दयो ग्राम-आरिं वारि न कोऽप्यदात् ॥ १७ ॥

आस्तां किञ्चित्करिष्यन्ति, दयया मे प्रतिक्रियाम् ।

मत्त्वामिदत्तद्रव्येणा-प्येते किञ्चिन् कुर्वन्ते ॥ १८ ॥

ततः प्रद्वेषमापन्न-स्तद्ग्रामोपरि सत्वरः ।

सोऽकामानिर्जरायोगात्, क्षुत्तृपावाधितो मृतः ॥ १९ ॥

यक्षोऽभूत् शूलपाण्याख्यो, ग्रामेऽत्रैव पुरो वने ।

उपयुक्तोऽथ सोऽज्ञासीत्, तद्वपुः स्वं ददर्श च ॥ २० ॥

मारिं तद्ग्रामलोकस्य, स विचक्रे ततः क्रुधा ।

तद्वोको मर्त्तुमारजे-ऽभूर्वस्तैरस्थिसंचयाः ॥ २१ ॥

कारितैरपि रक्षाद्यै-मोरिर्नोपशशाम सा ।

ग्रामान्तरेष्वशूलोकाः, स तांस्तत्राप्यमारयत् ॥ २२ ॥

अचिन्तयंस्ते तत्रस्थैः, कोऽप्यस्मान्निर्विराधितः ।

यामस्तत्रैव तद्ग्रामे, तत्प्रसादनहेतवे ॥ २३ ॥

अथागतास्तदर्थं ते, प्रचक्रुर्विपुलां वद्विम ।

समन्ततः क्षिपन्तोऽथ, ग्रामस्यान्यधुरमुखाः ॥ २४ ॥

देवो वा दानवो वाऽपि, यः कश्चित्पुपितो ऽस्ति नः ।

शरणं नः स एवास्तु, काम्यत्वागः प्रसीदतु ॥ २५ ॥

यक्षोऽन्तरिक्षे सोऽवादीत्, कामणां कुरुताधुना ।

वणिग्दत्तधनेनापि, तदा गोर्न तृणाद्यदुः ॥ २६ ॥

वलीवर्दः स मृत्वाऽहं, शूलपाणिः सुरोऽभवम् ।

तेन वैरेण वः सर्वात्, मारयामि ततोऽधुना ॥ २७ ॥

तेऽथ तं भक्तिमन्नाङ्गाः, दैन्यात् प्रहृषयन्नदः ।

कृतोऽस्माभिरयं मनुः, शान्त्यै कर्त्तव्यमादिश ॥ २८ ॥

तद्दैन्यात् सोऽपि शान्तस्ता-नूचे मन्मारितास्थिभिः ।

कृत्वा कूटं तद्वपुः, कुरुतायतनं मम ॥ २९ ॥

मध्ये विधाय मे मूर्तिं, वलीवर्दस्य चैकतः ।

पूजयेयुर्नमस्येयुः-स्ततो मारिः शमिष्यति ॥ ३० ॥

तथैव विदधुस्ते च, मारिश्चापि न्यवर्त्तत ।

इन्द्रशर्मा भूतिं दत्त्वा, ग्राम्यैस्तस्यार्चकः कृतः ॥ ३१ ॥

वीक्ष्यास्थिकूटं पथिकै-रस्थिग्राम इतीरितः ।

‘अस्थिकग्राम’ इत्याख्या ग्रामस्यास्य तदाद्यभूत् ॥ ३२ ॥

आ० क० । कल्प० । आ० चू० । आ० म० द्वि० । स्था० ।

अष्टिकच्छन्न-अस्थिकच्छप-पुं० । अस्थिवहुले कच्छपभेदे,
प्रज्ञा० १ पद ।

अष्टिकठिण-अस्थिकठिन-त्रि० । अस्थिभिः कठिनम् । कीक-
शैरमृदुनि, तं० ।

कठिनास्थिक-त्रि० । कठिनानि अस्थिकानि यत्र तत्तथा ।
अमृदुकीकशके, “अष्टिकठिणे सिरणहारुबंधणे” तं० ।

अष्टिग-अस्थिक-न० । हनुके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । कापालिके,
पुं० । व्य० २ उ० । अवरुवीजे अनिष्पन्ने फले, न० । वृ० १ उ० ।

आ (अ) र्थिक-न० । अर्थत इत्यर्थो मोक्षः, स प्रयोजनम-
स्येत्यार्थिकम् “तदस्य प्रयोजनम्” इति उक्त्वा । अथवाऽर्थः स
एव प्रयोजनरूपोऽस्यास्तीति अर्थिकम् “अत इनिग्नौ” ५।१।
११५ । इति उक्त्वा । उक्त० १ अ० । मोक्षोत्पादके, “पसन्ना द्वा-

जवस्संति, विउल्लं अट्टियं सुयं ” उक्तं १ अ० । अभिधापिणि,
मू० १ धु० १ अ० ३ उ० ।

अट्टिग (य) कट्टिट्टिय-अस्थिकफाष्टोत्थित-वि० । अस्थि-
कान्धेय काष्ठानि, कान्धिन्याधर्म्यात्, तेभ्यो यदुत्थितं तत्तथा ।
कान्धिनकीकशेभ्यः समुत्थिते देहे, न० ६ श० ३३ उ० ।

अट्टिचम्मसिरत्ता-अस्थिचर्मगिरावत्ता-रत्ती० । अस्थीनि च
चर्म च शिराश्च स्नायवो विद्यन्ते यस्य स तथा, तद्भावस्तत्ता ।
अस्थिचर्मशिरामात्रदालित्वे, (धनानगरस्य) ‘अट्टिचम्म-
सिरत्ताए पन्नायेति णो चैव णं मंससोणियत्ताए धणं अणुमारं’
अस्थिचर्मशिरावत्तया प्रज्ञायेत तदुत्पादावेताविति, न पुनर्मा-
ससोणितवत्तया, तयोः क्लीणन्यादिति । अणु० २ वर्ग० ।

अट्टिचम्मावणप्प-अस्थिचर्मवणप्प-वि० । अस्थीनि चर्माव-
नवानि यस्य सोऽस्थिचर्मवणनः । कृशत्वाच्चर्मलग्नकीकशके,
“ अट्टिचम्मावणप्पे किमिक्किड्डिणूप्प किसे धम्मणिस्तंए यावि
होत्था ” न० १ श० १ उ० ।

अट्टिजुप्प-अस्थियुप्प-न० । योधप्रतियोद्ययोरस्थिभिः संभ-
हारं, ज्ञा० १ धु० १ अ० ।

अट्टिज्जाम-अस्थिध्याम-न० । अस्थि च तद् ध्यामं चाग्निना
ध्यामञ्जीकृतम् । अपादितपर्यायान्तरेऽस्थिनि, म० ५ श० १ उ० ।

अट्टिदामसय-अस्थिदामशत-न० । हट्टमालाशते, तं० ।

अट्टिधमणिस्तंए-अस्थिधमनिस्तंए-वि० । अ-
स्थिधमन्यः सन्तानेन परम्परया सन्ततं व्याप्तं यत्तदस्थिधम-
निस्तन्तम् । अस्थिधमनिपरम्परया व्याप्ते, “अट्टिधमणिस्तंए-
संदयं सच्चओ समंता परिसमंतं च ” तं० ।

अट्टिजंजण-अस्थिभञ्जन-न० । कीकशभञ्जनरूपे शरीरदाने,
प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अट्टिमिजा-अस्थिमिज्जा-रत्ती० । अस्थिमध्यरत्ते, स्था० ३ ग०
४ उ० । तं० ।

अट्टिमिजाणुसारि (ए)-अस्थिमिज्जानुसारि-वि० । अस्थि-
मिज्जानुधातुव्यापके, स्था० ६ ग० ।

अट्टिमिजापेमाणुरागरत्त-अस्थिमिज्जाप्रेमानुरागरत्त-वि० ।
अस्थीनि च कीकशानि मिज्जा च तन्मध्यवर्तिधानुरस्थिमिज्जा-
स्ताः प्रेमानुरागेण सार्वक्षप्रवचनप्रीतिरूपकुसुमजादिरागेण रक्ता
इव रक्ता येयां ते तथा । अथवाऽस्थिमिज्जासु जिनशासनगतप्रेमानु-
रागेण रक्ता येते तथा । म० १ श० ४ उ० । सम्यक्त्ववासितान्तश्चे-
तःसु, सूत्र० २ धु० ७ अ० । “अयमात्रसो णिग्गंथे पावयणे अट्टे
अयं परमठे सेसे अणठे” इत्येवमुल्लेखेन सम्यक्त्वपि, ज्ञा० ५
अ० । दशा० । दर्श० । रा० ।

अट्टिय-अर्थित-वि० । वाञ्छिते, उक्तं १ अ० ।

अस्थित-वि० । अव्यवस्थिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अट्टियकप्प-अस्थितकल्प-पुं० । क० स० । अनवस्थितसमा-
चारे, पञ्चा० ।

अस्थितकल्पाभिधानायाह-

असु अट्टिओ उ कप्पो, एत्तो मज्झिमज्झिणाण विण्णोओ ।

एतो सययसेवणिज्जो, अण्णिच्चमेरासरूवो च्चि ॥ ७ ॥

पदसु दर्शयिष्यमाणरूपेषु पदेषु, अस्थितस्तु अनवस्थितः, पुनः
कल्पः समाचारः, (एत्तो ति) एतेभ्य एव दशज्यः पदेभ्यो, मध्या-

नां मध्यमजिनानां, तत्साधूनामित्यर्थः; विज्ञेयो ज्ञातव्यः । कुतो-
ऽस्थितोऽयमित्याह-नो नैव, सततसेवनीयः सदाविधेयो,
दशस्थानकापेक्षया । एतदपि कुत इत्याह-अनित्यमर्यादा-
स्वरूपोऽनित्यतन्वयवस्थास्वभाव इति कृत्वा । ते हि दशानां स्था-
नानां मध्यात् कानिचित् स्थानानि कदाचिदेव पालयन्तीति
भाव इति गार्थः ॥ ७ ॥

पदस्ववस्थितः कल्प इत्युक्तमथ तानि दर्शयन्नाह-

आचेलेव कुदेसिय-परिक्रमणरायपिण्णमासेसु ।

पञ्जुसणाकप्पाम्मि य, अट्टियकप्पो मुण्येयवो ॥ ८ ॥

आचेलेव कुदेसिकप्रतिक्रमणराजपिण्डमासेषु प्रतीतेषु विष-
यचूतेषु, पर्युपणाकल्पे च वर्षाकालसमाचारे, चः समुच्चये ।
अस्थितकल्पोऽभिहितार्थो (मुण्येयवो-ति) ज्ञातव्य इति
गार्थः ॥ ८ ॥

एयामपि शेषपदापेक्षया स्थितकल्प एवेति दर्शयन्नाह-

सेसेसु ट्टियकप्पो, मज्झिमणाणं पि होइ विसेओ ।

चउसु ठिताअसु अठिता, एत्तो च्चिय भणियमेयं तु ॥ ९ ॥

शेषेषु तु प्रागुक्तैः पदभ्योऽन्येषु पुनः शय्यातरपिण्डादिषु,
स्थितकल्प उक्तार्थः, मध्यमकानामपि द्वाविंशतिजिनसाधूनामपि
न केवलमाद्यचरमाणं, भवति स्याद्, विज्ञेयो ज्ञातव्यः । उक्तमेवा-
र्थमागमेन समर्थयन्नाह-चतुर्षु स्थानकेषु शय्यातरपिण्डाषु, स्थि-
ताः परिहारादितोऽवस्थिताः, पदसु आचेलेव कुदेसि अस्थिता
अनवस्थिताः कदाचित्परिहारादितो मध्यमजिनसाधवः,
अत एव पूर्वोक्तार्थवशादेव, जणितमुक्तमागमे, एतत् इदम्,
अनन्तरोक्तम् । तुशब्दः पूरणे, इति गार्थः ॥ ९ ॥

शेषेषु स्थितः कल्प इत्युक्तमथैतदेव स्पष्टयन्नाह-

सिज्जायरपिण्णमि य, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य ।

कितिकम्मस्स य करणे, ट्टियकप्पो मज्झिमणाणं पि । १० ।

शय्यातरपिण्डे च प्रसिद्धे, तथा चतुर्णां परिग्रहविरत्यन्तर्ह-
तब्रह्मचर्यत्वेन चतुःसंख्यानां यामानां व्रतानां समाहारश्चतुर्धामम्,
तत्र च; पुरुष एव ज्येष्ठः पुरुषज्येष्ठस्तत्र च, कृतिकर्मणश्च वन्दन-
कस्य; चशब्दाः समुच्चयायाः । करणे विधाने, स्थितकल्पः प्रतीतः,
मध्यमानामपि द्वाविंशतिजिनसाधूनामपि न केवलमाद्यचरमा-
णमिति गार्थः ॥ १० ॥ पंचा० १७ विव० । पं० भा० । पं० चू० ।
(‘अवेच्च’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७७ पृष्ठे अस्थितकल्पो
व्यक्तविस्तरः)

.....अहुणा वोच्चापि अट्टितं कप्पं ।

संखेवपिण्डित्थं, जह जणियमणंतणाणीहि ॥

वत्ये पाए गहणे, उक्कोसजहसगम्मि अठिओ तु ।

ट्टियमट्टिते विमेसो, परुविता सत्त कप्पाम्मि ॥

वत्थाणि य पाताणि य, मज्झिमत्तित्थंकराण कप्पम्मि ।

वत्थप्पमाण वेगे, अट्टियकप्पो समक्खाओ ॥

मोह्वगरूपं पि वत्थं, अठारसपन्नतं रूवगजहसं ।

एत्तो य सतसहसं, उक्कोसमोह्वं तु णायव्वं ॥

जहणग अट्टारसगं, वत्थं पुण साहुणो अणुणणांतं ।

एत्तो अतिरित्तं पुण, णाणुणांतं भवे वत्थं ॥

जिण्णेरारणं कप्पं, अहुणा वोच्चापि आणुपुव्वीए ।

जं जत्थ जहा णिवयति, समासतो तं जहा सुणसु ॥
 जिणथेराणं कप्पं, जम्हा उट्ठितम्मि अट्टिए चव ।
 ठितअट्ठितकप्पाणं, तम्हा अंतगता एते ॥
 जो तु विसेसो एत्थं, तं तु समासेण एवरि वक्खामि ।
 जिणथेराणं कप्पे, जिणकप्पे ता इमं वोच्चं ॥
 दुयसत्तगे तियचउ-ककेगस्स अक्खएगडेदेणं ।
 अवि होज्ज काव्वकरणं, पुणरावत्ती ण वि य तेसिं ॥
 पिंनेसणा उ सत्त उ, हवंति पाणेसणा उ सत्तेव ।
 चउ सेज्ज वत्थ पाते, तिस्से ते चउकगा होति ॥
 दोल्लादिमाउ सत्तसु, अवणेउं सेसमायं च ।
 अक्खद्द होति ठेदो, दो दो अवणे चउकेसु ॥
 गेएहंति उवरिमासुं, तत्थ अवि धेत्तु असतरियाए ।
 हेट्टिला पुण गेएहति, जदि विकरे काव्वकिरियं तु ॥
 अणजिगहणेण एविता, गिएहंति विही तु एस जिणकप्पे ।
 अहुणा उ थेरकप्पो, वोच्चामि विहिं समासेणं ॥
 गहणे चउव्विहम्मि, वितिए गहणं तु परमजत्तेणं ।
 जं पाणवीयरहियं, हवेज्ज तरमाणए सोही ॥
 गहणं चउव्विहंती, वत्थं पातं च सेज्ज आहारो ।
 एतेसिं असतीए, गहणं पढमं तु वीयस्स ॥
 वितियं पातं जसति, किं कारणं तस्स गहण पढमं तु ।
 तेण वि ण वोन्निपडिमा-गिहिभायणभोगहाणी य ॥
 अहवा चउव्विहं तू, असणादी तत्थ भोज्जगहणं तु ।
 तत्थ तु वितियं पाणं, तस्स तु गहणं पढमताए ॥
 असतीए फासुयस्स, वसहिए एकं ठविय सहिए वा ।
 किं कारण तेण विणा, आसुं पाणक्खओ होज्जा ॥
 तरमाणे गेएहंती, सुच्चं अतरो पेत्थेय संथरे ।
 संथरं तो तु गेएहति, पावति सट्ठाणपच्छित्तं ॥
 सेत्तं णुए दसए व, अणेण ठाणेण वा भवगहणं ।
 एत्तो त्ति गादिरित्तं, उग्गमउप्पायणेसणासुच्चं ॥
 जणियं ति कप्पति च्ची, तस्स असतीए असुच्चं पि ।
 एमो तु थेरकप्पो, पं० भा० ॥

इयारिण अट्टियकप्पो । तत्थ गाहा-‘वत्थे पाए’ त्ति । वत्थाणि सय-
 सहस्समोह्लाणि वि धेप्पंति, मज्झिमाणं तित्थगराणं, सेसं पुण जं
 तियकप्पियाणं भणियं तं भाणियन्वं । जहा-सत्तविहकप्पे ताओ
 चव, गओ एस तियकप्पो । इयारिण जिणकप्पो । तत्थ गाहा-‘दुय-
 सत्तगे’ ति । सत्त पिंनेसणाओ, सत्त पाणेसणाओ अहवा पि-
 रुचउग्गहपनिमाओ य, तियचउके सेज्जपनिमाओ य ४ वत्थप-
 डिमाओ ४ पायपनिमाओ ४ एयासिं अक्खेओ दो आइ उवणे-
 ऊणं सेसाहिए संति-आहाराइ एयासु एसमाणा जइ न वप्पति
 तो अविकालकिरिया होज्जा, न य हेट्टिहासु गेएहंति, एस जि-
 णकप्पो । इयारिण थेरकप्पो । गाहा-‘गहणे चउव्विहम्मि’ ति । वत्थं
 पायं आहारो सेज्जा चउएहवि असइ, पढमं पायं धेप्पइ, किं का-
 रणं? तेण वि पनिमा चव, अहवा असणाइ पढमं, तत्थ विइयं पा-

णग्गहणं परमपयत्तेणं मयमाणो, पढमं संथरमाणो तसपाणवी-
 यरहिया कंदमूलरहिए गेएहइ, अंतरंतो पुण तसपाणसाहिए वा
 वीयकंदमूलसहिए वा गेएहइ, किं कारणं? तेण विणा आसुं पा-
 णक्खओ होज्जा, तरमाणो सुच्चं गेएहेज्जा, अंतरंतो पेत्थेज्जा । गाहा-
 ‘सत्त दुय तिसि पिंनेसणापाणेसणाओ दसए’ त्ति । दस एसणा-
 दोसा । ‘अणेगछाणेत्ति’ उग्गमाइअं न दस सोलस । ‘एत्तो त्ति’
 गादिरित्तं नाम उग्गमउप्पायणएसणासुच्चं, तद्विवरीयं जं एतेहिं
 चव उग्गमाइहिं असुच्चं, तं गेएहेज्जा गच्छसारक्खणहेउं, गच्छ-
 वासोहिं भणियं नामकारणे कप्पइ, इयरहा न कप्पइ । एस थेरक-
 प्पो । पं० चू० । (अस्थितकल्पप्रसङ्गाद् जिनस्थविरकल्पावप्युक्तौ)

अट्टियप्प (ए) अस्थितात्मन्-त्रि० । चञ्चलाचित्ततयाऽस्थिर-
 स्वभावे, “ अट्टियप्पा भविस्ससि ” उक्त० ३३ अ० ।

अट्टिगरक्ख-अस्थिसरजस्क-पुं० । कापालिके, व्य० ७ उ० ।

अट्टिसुहा-अस्थिसुखा-स्त्री० । अस्थ्यां सुखहेतुत्वादस्य सुखा ।

औ० । अस्थ्यां सुखकारिण्यां संवाधनायाम्, कल्प० ।

अट्टुत्तर-अष्टोत्तर-त्रि० । ६० । अष्टाभिरधिके, “अट्टुत्तर सयस-
 हस्सं पीइदाणं दलयंति ” अष्टोत्तरं शतसहस्रं बह्वं रजतस्य
 तुष्टिदानं ददाति स्मेति । औ० ।

अट्टुत्तरसयकूड-अष्टोत्तरशतकूट-पुं० । शत्रुञ्जयपर्वते, तस्य ता-
 वत्प्रमाणकूटत्वात् । ती० १ कल्प० ।

अट्टुप्पत्ति-अर्थोत्पत्ति-स्त्री० । अर्थस्योत्पत्तिर्यस्मात् । व्यवहारे;
 अर्थो व्यवहारादुत्पद्यते इति तस्य तथात्वम् । व्य० २ उ० ।

अट्टुस्सास-अष्टोच्छ्वास-पुं० । पञ्चनमस्कारे, “अट्टुस्सासे अहवा
 अणुग्गहाइ उडाएज्जा ” पं० व० २ द्वा० ।

अट्टुस्सेह-अष्टोत्सेध-त्रि० । अष्टौ योजनान्युत्सेध उच्छ्रयो ये-
 पां ते तथा । अष्टयोजनोच्चे, “चक्रट्टपइछाणा अट्टुस्सेहा य ”
 स्था० ६ ठा० ।

अट्ट-अट्ट-धा० गतौ, । ज्वादि०, सक०, पर०, सेट् । वाच० ।

‘अरंति संसारे’ प्रश्न० १ आश्र० छा० ।

अट्ट-पुं० । लोमपक्षिभेदे, जीव० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

अवट्ट-पुं० । अव-अट्टन् । “ यावत्तावज्जीवितावर्त्तमानावट्ट-
 प्रावारकदेवकुलैवमेवेवः ” ८ । १ । २७१ । इति सूत्रेण अन्तर्वर्त्त-
 मानस्य वस्य लोपः । कूपे, प्रा० ।

अमज्झिम्भ-देशी-पुरुषायिते, विपरीतरते च । दे० ना०
 १ वर्ग ।

अमज्झ-अदाह-त्रि० । अग्निक्कारादिना भक्षमवदकरणीये,
 “तत्रो अच्चेज्जा पम्भत्ता । तं जहा-समप पएससे परमाणू” स्था० २
 गा० ४ उ० । “अमज्झकुच्छे अट्टसुवळे य गुणा भणिया”
 दश० १० अ० ।

अमरु-अट्ट-न० । चतुरशीतिलक्षैर्गुणितेऽट्टाङ्के, स्था० २ गा०
 ४ उ० । “चवरासीइ अमरुंगसयसहस्साइ से एगे अमरे”
 अनु० । जी० । भ० । जं० । कर्म० ।

अमरुंग-अट्टाङ्क-न० । चतुरशीत्या लक्षैर्गुणिते शुद्धिते, “चव-
 रासीइ तुमियसयसहस्साइ से एगे अमरुंगे” अनु० । वाचना-
 न्तरमतेन चतुरशीतिलक्षगुणिते महाशुद्धिते, ज्यो० २ पाहु० भ० ।

अन्या-अट्ट-न०। चरणे, गमने च। न्या० ६ टा०। न्या० ध०।
अन्या-देशी-नगं, दे० ना० १ वर्ग ।

अनपह्ण-देशी-न०। इदेषु स्वनामप्रसिद्धेऽन्यत्र धिक्छिरिति
न्याने वातनमेदे, जी० ३ प्रति० ।

अनमाणा-अट्ट-त्रि०। गच्छति. "अणावशो संयच्छुरस्वमणंसि
अनमाणे " आ० म० प्र० ।

अनया-देशी-अनन्याम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अनया-देशी-अनन्याम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अनयाल-अट्ट (ट्टा) चत्वारिंशत्-त्रि०। अष्ट च चत्वारिंशच्च,
अष्टाधिका वा चत्वारिंशत् । (अडनालिस) दृष्टूनपञ्चाशति,
आय० ।

अनयाल-देशी-प्रशंसायाम्, प्रज्ञा० २ पद । जं०। स०।
जं०। प्रव० ।

अनयालकयवणमाल-अट्ट (ट्टा) चत्वारिंशत्कृतवनमाल-त्रि०।
अष्टचत्वारिंशद्भेदाभिधा विचित्रतयः कृता वनमाला येषु तानि
अष्टचत्वारिंशत्कृतवनमालानि । अष्टचत्वारिंशद्विधविच्छेदवहन-
मालायुक्तपु, जी० ३ प्रति० ।

अनयालकृतवनमाल-देशी-'अनयाल' शब्दो देशीचचनत्वा-
त्प्रशंसावाचीत्यनुपदमेव निरूपितम् । तेन कृता वनमाला येषु
नानि । प्रशस्तकृतवनमालेषु, जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० ।

अडयालकोत्तराङ्ग-अष्टचत्वारिंशत्कोट्युत्तरचित-त्रि०। अष्टच-
त्वारिंशद्भेदाभिधविचित्रचितकृतिताः कोट्युक्ता अपवरका रचिताः
स्वयमेव रचनां प्राप्ता येषु नानि अष्टचत्वारिंशत्कोट्युत्तरचितानि ।
सुम्नदिगणे दर्शनात्प्राप्तिको निष्ठान्तस्य परनिपातः । " अरुया
ल " शब्दो देशीचचनत्वात्प्रशंसावाची वा । प्रज्ञा० २ पद ।
अष्टचत्वारिंशद्भेदाभिधविचित्रचितन्दोर्गोपुररचितेषु, " अरुया-
लकोट्युत्तराङ्ग अरुयालकयवणमाला " स० । जं०। जी० ।

अट्टवि-अट्टवि (वी)-स्त्री० । अट्टति मृगयाद्यर्थिनो यत्र ।
अट्ट-अट्टि, वा जी०। कान्तारं, स्था० ५ टा० २ न० । अरुये, तं०।

तद्भेदाः सव्याख्याकाः-

" अरुवि सपववायं, बोधेदं देसिओवपसेणं ।
पाविति जहिछपुरं, भवारुवि पो तदा जीवा ॥ १ ॥
पाविति निवुइपुरं, जिणोवइएण चेव मगेणं ।
अरुवीई दिसिअत्तं, एवं नेअं जिणिदार्णं ॥ २ ॥
इहाटवी द्विधा-रुवाटवी, जावाटवी च । तयोः कथा-
इहास्ति हास्तिकाश्वीय-रथपादातिसंकुलम् ।
यसन्तपुरमुवीस्थ-मप्यधःकारि यद्विधः ॥ १ ॥
सार्थवाहो धनस्तत्र, गन्तुं देशान्तरं प्रति ।
प्रस्थितः कारयामास, घोषणां पुरि सर्वतः ॥ २ ॥
यः कोऽप्यस्ति यियासुः स, सर्वोऽप्येतु मया सह ।
मिलितानां च सर्वेषा-माख्यन्मार्गगुणगुणाम् ॥ ३ ॥
तत्रैकः सरलोऽप्याऽन्यी, वक्रश्चेत्तन गम्यते ।
मनाक सुखेन किं त्विष्ट-पुष्पवाप्तिश्चिराद्भवेत् ॥ ४ ॥
यः पुनः सरलः पन्था, अन्ते मिलति सोऽपि च ।
गम्यते सत्वरं तेन, कष्टेन महता परम् ॥ ५ ॥
तत्रादिनोऽपि मार्गे स्तः, सिंहव्याघ्रौ विजयीष्यौ ।
भीतानां अक्षमार्गानां, तावन्नर्याय नान्यथा ॥ ६ ॥

इष्टपूर्वदर्शनं यावत्, तावत्तौ चानुधावतः ।

तत्रैकं तरवः सन्ति, पत्रपुष्पफलाद्भुताः ॥ ७ ॥

तच्छायास्वपि विश्रान्ति-र्न कार्या मृत्यवे हि ताः ।

ये जीर्णशीर्षपर्णाद्व्याः, स्थेयमीपत्तदाश्रये ॥ ८ ॥

मनोऽरूपलावण्या, मनोहरगिरो नराः ।

सूयांसो मार्गपार्श्वस्था-स्तत्राऽऽहुयन्ति वत्सलाः ॥ ९ ॥

श्रव्यं न तद्वच्चो मोक्ष्या, न मच्छिक्का कदाचन ।

दादाग्निः प्रज्वन्नन् मार्गे, विध्याप्यः सततोद्यतः ॥ १० ॥

अविधानः पुनः सर्व, नियमान्निर्दहत्यसौ ।

अग्रेऽतिदुर्गः शैलोऽस्ति, सोपयोगैः स लङ्घ्यते ॥ ११ ॥

अन्यथा बहूने तु स्यात्, स्वलनार्थमूर्तिः कश्चित् ।

पुरस्तादस्ति गुपिल-गह्वरा वंशजालिका ॥ १२ ॥

सा विद्वद्भ्या भगित्येव, तत्रस्थानां महापदः ।

अष्टपीयानस्ति गर्तोऽग्रे, सर्वदा तत्समीपगः ॥ १३ ॥

हिजो मनोरथाभिख्या, धक्येनं पूरयेति सः ।

वचस्तस्यावमन्तव्यं, पूर्वं स्तोत्रोऽपि नैव सः ॥ १४ ॥

वर्द्धते पूर्यमाणः स, खनित्रैः खन्यमानवत् ।

तथा पञ्चप्रकाराणि, स्निग्धमुग्धानि वर्णतः ॥ १५ ॥

न प्रेक्ष्याणि न भक्ष्याणि, किपाकानां फलानि च ।

ह्यविशतिः करालास्तु, वेताला विज्वन्ति च ॥ १६ ॥

न गण्यास्ते तथासारा, आरागस्तत्र दुर्लभाः ।

ह्यौ यामौ निश्यपि स्यापः, सर्वदाऽपि प्रयाणकम् ॥ १७ ॥

गच्छद्भिरेवमन्त-मटवी लङ्घ्यते बहु ।

प्राप्यते पुरमिष्टं च, तत्र वाऽऽसाद्यते सुखम् ॥ १८ ॥

तत्र केचित् समं तेन, प्रवृत्ताः सरलाध्वना ।

इतरेण पुनः केचित्, स प्रशस्तेऽहि निर्ययौ ॥ १९ ॥

पृष्ठानुगामिलोकानां, शिवाद्दौ वर्त्म वेदितुम् ।

गतागताध्वमानं च, लिखन् वर्णान् जगाम सः ॥ २० ॥

तन्निदेशकनो येऽत्र, स्निहितानुसृताश्च ये ।

ते सर्वेऽपि समं तेन, संप्राप्ताः पुरमीप्सितम् ॥ २१ ॥

निष्कृकारिणो ये च, याता यास्यान्ति वा न ते ।

जिनन्द्रः सार्थवाहोऽत्र, घोषणा धर्मदेशना ॥ २२ ॥

पान्थाः संसारिणो जीवा, भवो जावाटवी पुनः ।

ऋजुमार्गः साधुधर्मो, गृहिधर्मस्ततोऽपरः ।

सिंहव्याघ्रौ रागद्वेषौ, वासनार्थानुगामिनौ ॥ २३ ॥

वस्त्यः ख्यादिसंस्तकाः, सद्वृत्तच्छायया समाः ।

जरद्वृत्तोपमानास्तु, निरवद्याः प्रतिश्रयाः ॥ २४ ॥

पार्श्वस्थाद्याः पुनः पार्श्व-स्थाहातुपुरुषोपमाः ।

ज्वलद्गानानघः क्रोधो, मानो दुर्ममहीधरः ॥ २५ ॥

वंशजाद्यः पुनर्माया, होजो गर्त्तस्तु दुर्जरः ।

फलप्रायाश्च विषया, वेतालास्तु परीपहाः ॥ २६ ॥

जुलजं चैपणीयार्थं, ध्यानं द्वौ प्रहरौ निशि ।

प्रयाणे तूयमो नित्यं, मोक्षश्चेप्सितपचनम् ॥ २७ ॥

शिलादौ वर्णलिखनं, सिद्धान्तग्रन्थनिर्मितिः ।

पञ्चाङ्गाविमुनीन्द्राणां, गतगम्याध्वसंविदे ॥ २८ ॥

इष्टपूर्वप्रसिसाहाय्या-ग्रम्यते सार्थपो यथा ।

एवं मोक्षपुरावाप्त्यु-पकारी नम्यते जिनः ॥ २९ ॥ आ० क० ।

अरुविजम्भण-अट्टविजम्भण-न० । कान्तारजम्भकणे दुःखे,
प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अडविदेसदुग्गवासि(ण)-अडविदेशदुर्गवासिन्-पुं०। अटवीदेशे जलस्थत्रदुर्गरूपेषु दुर्गेषु वसति चौरादौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा०।
अडवि (वी) वास-अटवि (वी) वास-पुं०। अरण्यवसने,
“ उव्विगअप्पया असरणा अरुयीवासं उव्वेति ” प्रश्न० ३
आश्र० द्वा० ।

अरुसट्टि-अष्ट (ष्टा) पष्टि-स्त्री०। अष्ट च पष्टिश्च, अष्टाधि-
का वा पष्टिः । (अरुसठ) अष्टाधिकपष्टिसंख्यायाम्, “ विम-
लस्स णं अरहओ अरुसठिं समणसामस्सीओ ” स० ६९ सम०।
अरुडो-देशी-तथेत्यर्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अरुडि-अटिल-पुं०। चर्मपक्षिजेदे, प्रश्न० १ पद । जी० ।

अरुडो-देशी-कूपे, दे० ना० १ वर्ग ।

अरुडिका-अटोलिका-स्त्री०। यचनाम्नो राक्षः पुण्यां गर्दभराज-
स्य जगिन्याम्, वृ० १ उ० ।

अरुडुक्ख-क्षिप-धा० प्रेरणे, तुदा०, उभ०, सक०, अनिद् “क्षिपे-
र्गन्तथाडुक्ख” ० ॥ ८ । १४२ ॥ इति सूत्रेण अरुडुक्खादेशः ।
अरुडुक्खद्, क्षिपति । प्रा० ।

अरुडिया-अरुडिका-स्त्री०। उपदेशमात्ररूपे शास्त्रानिवद्धे मल्लानां
करणविशेषे, विशेष० । आ० म० ।

अरुड-अर्थ-न०। अरुध-वञ् । “अरुद्धिर्मूर्धाधेऽन्ते वा” ॥ ८ । २ ।
४१ ॥ इति सूत्रेण संयुक्तस्य वा ङः । प्रा० ।

आरुय-त्रि०। आ-अर्थ-क; पृषो०। युक्ते, विशिष्टे च । वाच०। अरु-
द्ध्या परिपूर्णं, नि०। औ०। धनधान्यादिभिः परिपूर्णं, भ० २
श० ५ उ०। समुक्ते, ज० ए श० ३२ उ० । स्था० । धनवति,
स्था० ए ग०। महति च । संथा० ।

अरुअकली-देशी-कट्यां हस्त (पाणि) निवेशे, दे० ना० १ वर्ग ।

अरुक्खेत्त-अर्थक्रेत-न०। अहोरात्रप्रमितस्य क्षेत्रस्य चन्द्रेण
सह योगमश्नुवत्सु नक्षत्रेषु, चं० प्र०। अर्थक्रेत्राणि नक्षत्राणि पद ।
तद्यथा-उत्तराज्जाद्रपदा, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराऽऽषाढा, रोहि-
णी, पुनर्वसु, विशाखा चेति । चं० प्र० १० पाहु० ।

अरुग-आरुय-त्रि०। युक्ते, परिपूर्णं च । पंचा० १२ विव०। “सं-
जमतवद्गस्त उ, अविगप्पेणं तहक्कारो” आ० म० द्वि० ।

अरुत्त-अर्थरात्र-पुं०। अर्द्ध रात्रेः, अन्त समा० । निशीथे, “अ-
रुत्ते आगतो दारं मग्गइ” आ० म० द्वि० ।

अरुज्ज-अर्थतृतीय-त्रि०। व० व०। अर्थं तृतीयं येषां तेऽर्द्ध-
तृतीयाः । अवयवेन विग्रहः, समुदायः समासार्थः । (अरुडि)
सार्द्धयोः, जी० १ प्रति० । प्रश्न० । “अरुज्जं गुत्तगहण-
मुस्सेहं” न० । रा० । आ० म० ।

अरुज्जदीव-अर्थतृतीयद्वीप-पुं०। अर्थं तृतीयं येषां तेऽर्द्धतृती-
याः, ते च ते द्वीपाश्चेति समासः। अर्थतृतीयद्वीपाः । जम्बूद्वीप-
धातकीखण्डपुष्करार्द्धलक्षणे सार्द्धद्वीपद्वये, भ० ९ श० ३ उ० ।

अरुज्जदीवसमुदतदेकदेशभाग-अर्थतृतीयद्वीपसमुदतदे-
कदेशभाग-पुं०। जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करार्द्धद्वीपलवणस-
मुद्रकाशोदधिसमुद्राणां विवक्षिते भागे, “साधारणं पसुच्च अ-
रुज्जदीवसमुदतदेकदेशभाग होज्जा” भ० ए श० ३ उ० ।

अरुपकंते-अर्थपक्रान्ति-स्त्री०। अर्द्धस्याऽसमप्रविभागरू-

पस्य एकदेशस्य वा एकादिपदात्मकस्थापक्रमणमवस्थानं, द्वे
पस्य तु ह्यादिपदसङ्घातरूपस्यैकदेशस्योर्द्धं गमनं यस्यां रश्मि-
नायां सा समयपरिभाषयाऽर्द्धापक्रान्तिरुच्यते । इत्युक्तनिरुक्तिम-
त्यां तपोरचनायाम्, विशेष० ।

अरुज्ज-आरुयत्व-न०। धनपतित्वे, तस्य सुखकारणत्वात्
सुखमेवे च । स्था० १० ग० ।

आरुज्या-स्त्री०। आरुज्यैः क्रियमाणा इज्या पूजा आरुज्या, प्रा-
कृतत्वात् ‘अरुजं’ ति । धनिकृतसत्कारे, स्था० १० ग० ।

अरुङ्ग-अर्द्धोरुक-पुं०। अर्थ ऊरुकाद् विभजतीति निरुक्ताद्-
ऊरुकाः। साध्वीनामौपग्रहिकोपधिविशेषे, ध० ३ अधि०। “अ-
रुङ्गो उ दौण्हि वि गिण्हिउ ग्राहण कमीभागं” अर्द्धोरुका-
ऽपि तौ द्वावपि अवग्रहानन्तकपट्टवृपरिष्ठाद् गृहीत्वा सर्वे क-
टीभागमासादयति । स च मल्लचक्रनाकृतिः कवलमुपरि ऊरुद्वये
च कशावद्धः । वृ० ३ उ० । नि० चू० । पं० व० ।

अण-अव्य०। नञर्थे, “अण णाई नञर्थे” । ण । २ । १९० । एतौ
नञर्थे प्रयोक्तव्यौ । “अण चित्तिअममुणंति” प्रा० ।

अण-अण-न०। कुत्सिते, कुत्सितत्वादनन्ति कुत्सितानि कर-
णानि शब्दयन्ति; अणन्त्यनेनेति व्युत्पत्तेर्चा । पापे, विशेष०। आ०
म०। अण वणेति दण्डकधातुः। अणति गच्छति तासु तासु यां-
निषु जीवाऽनेनेति । पापे, आ० म० द्वि०। भ०। शब्दकरणगा-
ल्यादिप्रदाने, तं०। अणन्त्यनेन जन्तुश्चतुर्गतिकं संसारमित्यणम् ।
कर्मणि, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। शब्दे, गतौ च । विशेष०। अण
रणेत्यादि दण्डकधातुः । अणन्तीवाऽविकलहेतुत्वेनासातवेद्यं
नरकाद्यायुक्तं शब्दयन्तीत्यणाः । क्रोधादिषु चतुर्षु कपा-
येषु, विशेष० ।

अण-न०। एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वादनन्तानुबन्धिषु
क्रोधादिषु चतुर्षु कपायेषु, विशेष० । “अण दस नपुंसित्थी-वेयं
ढकं च पुरिसवेयं च” विशेष० । आ० म० प्र० ।

अणस्-न०। शकटे, अण इव अनः। शरीरे, तस्याऽन्तरात्मसाराधि-
ना प्रवर्तनीयत्वात् । जै० गा० ।

अण-न०। व्यवहारकदेयद्रव्ये, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। अष्टप्रकारे
कर्मणि, उक्त० १ अ०। आच० ।

अणइ-अनति-अव्य०। अतीति अव्ययमतिक्रमार्थं, न अति
अनति । अनतिक्रान्ते, तं० ।

अणइकमणिज्ज-अनतिक्रमणीय-त्रि०। व्यञ्जिचारयितुमश-
क्ये, “अणइकमणिज्जाइ वागरणाइ” भ० १५ श० १ उ० ।

अणइप्पगम-अनतिप्रकट-त्रि०। अनतिप्रकाशे, ध० १ अधि०।
अणइवत्तिय-अनतिपत्य-अव्य०। अनतिक्रम्येत्यर्थे, “अणइव-
त्तिय सव्वोसि पाणाणं” आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

अणइवर-अनतिवर-न०। प्रधाने, न विद्यतेऽतिवरं यस्मात्त-
दनतिवरम् । सर्वश्रेष्ठे, औ० ।

अणइवरसोमचारुद्ध-अनतिवरसोमचारुद्ध-त्रि०। अतीव
अतिशयेन सोमं दृष्टिसुभगं चारुरूपं येषां ते तथा । यच्चा-अ-
तीति अव्ययमतिक्रमार्थं, न अति अनति; सौम्यं च तच्चारु च
सौम्यचारु, सौम्यचारु च तद्रूपं च सौम्यचारुरूपम्, दूरं च तसौ-

[illegible]

अणश्चाण्माण्-अनन्तिपातयन्-त्रि० । प्राणार्थान्तिपातमकुर्वन्ति,

“अणवकंयमाणा अणव्याणमाणा” आन्ना०:श्रु०अ०३:३०।

अणवित्तिविद्य-अनतिवित्तिवित्ति-न॥ अष्टाविंशे सत्य-
वचनानि शृणु, नः ।

आण्डनंधासु-अननिदन्धान-न० । न अनिसन्धानमनिस-
न्धानम् । दर्श० । अथञ्चेन, "भियनाऽणदसंधाणं सासयवुद्धी य
जयणा य" पञ्चा ७ वि२० ।

अणु-देशी-ऋणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अ॥गुं-अनङ्ग-न० । नास्ति अङ्गमाकारो यस्य । आकाशे, चित्ते च । वाच० । अङ्गानि मैथुनापेक्षया योनिर्मेहनं च, तद् व्यतिरिक्तान्यनङ्गानि । कुचकण्ठोश्चदनादिषु, पञ्चा० १ विच० । आहार्ये त्रिङ्गादौ, स्था० ५ ग० २ उ० । मोहोदयोदचतुर्ताविमैथुनाध्यवन्मायागये कान्मे । आच० ६ अ० । स च पुंसः-स्त्रीपुंनपुंसकसंयोगेन च, हस्तकर्मादीन् ग वा, वेदोदयात् । तथा-स्त्रियोऽपि पुरुषनपुंसकस्त्रीसंयोगेन च, हस्तकर्मादीन् ग वा । नपुंसकस्यापि-नपुंसकपुंनपुंस्त्रीसंयोगेन च, हस्तकर्मादीन् ग वा । प्रब० ६ द्वा० । ध० । कामदेव, पुं० । एका० कांश । आनन्दपुरे नगरे जितारिराजस्य विश्वस्तयां भार्यायां जाते पुत्रे, ग० २ अधि० । वृ० ।

अणंगकिट्टा (कीर्त्ता) -अनङ्गक्राडा-खी० । अनङ्गानि कु-
चक्राङ्गवदनादिनि तेषु क्राडनमनङ्गक्राडा । यानिमेहनयोरन्यत्र
रनणे, पञ्चा० ३ विव० । आव० । अनङ्गा माहादयोद्भूतस्तीव्रो
मैथुनाध्यवसायाख्यः कामो भव्यते, तेन तस्मिन् वा क्रीडा
अनङ्गक्रीडा । समाप्तप्रयोजनस्यापि स्वलिङ्गेनाऽऽहार्यः काष्ठ-
पुस्तफलमृत्तिवाचमर्मादिघटितप्रयोजनैर्योपिदवाच्यप्रदेशासेव-
न, आव० ६ अ० । पञ्चा० । स्वलिङ्गेन हृतकृत्याऽपि योपि-
तामवाच्यदेशं ज्ञेया ज्ञयः कुत्राति । केशाकर्षणप्रहारदानदन्तन-
म्यकदर्थनादिप्रकारैश्च मोहनीयकर्मवशात्तथा क्रीरुति यथा
प्रयत्नो रागः समुज्ज्वलते इति तत्रम् । प्रव० ६ हा० । ध० ।
अनङ्गः कामस्तत्प्रधाना क्रीडा, परदारेषु अधरदशनाऽलिङ्गना-
दिकरणे, वात्स्यायनाद्युक्तचतुर्दशीतिकरणासेवने च । ध० २
अधि० । अनङ्गक्रीरुतमप्यत्र । पञ्चा० १ विव० । अयं च स्वदार-
संतुष्टेस्त्वीयश्चतुर्थो वाऽतिचारः आद्यकेण न समाचरितव्यः ।
अतिचारताऽस्य स्वदारेज्योऽन्यत्र मैथुनपरिहारेणानुरागादा-
लिङ्गनादि व्रतमालिङ्यादिति । उपा० १ अ० । ध० २० । था० ।
अस्यादावर्थक्रियालक्षणे सम्प्राप्तकामभेदे, प्रव० १६९ हा० ।
'अप्रावर्गे का ह्यन्यस्ता यस्याः साऽनङ्गक्रीडा' इत्युक्तलक्षणे
मात्रावृत्तभेदे, वाच० ।

अष्टांगपद्मिसेविणी-अनङ्गप्रतिसेविनी-स्त्री०। मैथुने प्रधान-
मङ्गं मेहनं भगश्च, तत्प्रतिपेक्षाऽनङ्गम्, तेनाऽनङ्गेनाहार्य्यल्लङ्गादि-
ना, अनङ्गं वा मुखादौ, प्रतिसेवाऽस्ति यस्याः। अनङ्गं वा काम-
मपरापरपुरुषसंपर्कतोऽतिशयेन प्रतिसेवत इत्येवंशीला अनङ्ग-
प्रतिसेविनी तथाविधेवङ्ग्याचत् आहार्य्यल्लङ्गादिना, मुखादौ वा,
बहुपुरुषैर्वा मैथुनप्रतिसेवमानायाम्, एतादृशी स्त्री गर्भं न धार-
यति। स्था० ५. वा० २ उ०।

अणंगप्पविट्ठ-अनङ्गप्रविट्ठ-न०।न० स०। स्वविरैर्जज्ञवाहुस्यामि-

प्रभृतिभिर्गान्धार्यैरूपानिवद्धे आद्यैकनिर्युक्त्यादौ श्रुतविशेषे,
आ० म प्र० । न०। वृ०। विशेषः । ('अंगपविष्ठ' शब्देऽत्रैव जागे
३८ पृष्ठेऽस्य विशेषस्त्वरूपमुक्तम्)

आणंगमंजरी-अनङ्गमञ्जरी-स्त्री० । पृथिवीचूरुनरनाथस्य
रेखायां सुतायाम्, दर्श० ।

अणंगमेण-अनङ्गसेन-पुं० । सुवर्णकारभेदे, 'कुमारनन्दी'
इति तस्य नामान्तरम् । वृ० ४ उ० । (तत्कथा 'दसवर' शब्दे
दर्शयिष्यते) ग० १ अधि० । नि० । तं० ।

आणंगसेणा-अनङ्गसेना-स्त्री० । कृष्णवासुदेवसमये द्वारवतीजा-
तायां प्रधानगणिकायाम्, आ०चू० । नि० अन्त० । आ०म० ।

अणंत-अनन्त-त्रि० नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः । निरन्वयनाशे-
नानश्यमाने, अपारमिते, निरवधिके च । “अणंते णिइए लोए
सासए ण विणस्सति” नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः न निरन्वयना-

शेन नश्यतीत्युक्तं प्रवर्तते । सूत्र० १ शु० १ अ० ४ उ० । न० ।
 अक्षये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । अपर्यवसाने, दर्श० । सूत्र० ।
 नास्त्यान्तो विद्यत इत्यनन्तम् । केयदात्मनोऽनन्तत्वाद् । द्वा० ।

रा० । प्रश्न० । अनन्तार्थविषयत्वाद् वाऽनन्तमन्तरहितम्, अप-
र्यवसितत्वात् । दशा० १० अ० । स्था० । अनन्तार्थविषयज्ञान-
स्वरूपत्वात् । स० १ सम० । अविनाशित्वात् । जं० २ वक्त्र० ।

कवयज्ञान, शां० १ ध्रु० ८ प्र०। आकाशच, (न०) तस्यान्तव-
र्जितत्वात् । भ० १२ ङा० १० उ०। भरतकोत्रेण अवसर्पिण्याश्च-
तुर्दशे तीर्थकरे, अनन्तकर्मांशजयादनन्तः । अनन्तानि वा ज्ञा-
नानि । इति । “तुर्दशे तीर्थकरेण अनन्तकर्मांशजयादनन्तः । अनन्तानि वा ज्ञा-
नानि । इति ।”

नोदानं श्रूयते । "संज्ञा हि अणता कम्मसा जिया संज्ञासि
च अणताणि णाणादीणि वि रयणविचित्रमणंतं दामं सुमिणे
ततो अणतो" रत्तविचित्रं रत्तखचित्तमनन्तमति महाप्रमाणं दामं
रत्तविचित्रं रत्तखचित्तमनन्तमति महाप्रमाणं दामं

त्यन्तान् कर्माशान् जयति, अनन्तैर्वा ज्ञानादिभिर्जयति अनन्तजित् ।
तथा गर्भस्थे जनन्याऽनन्तरत्नदाग्नि दृष्टे जयति च त्रिबुधनेऽप्य-
नन्तजित् । श्रीगोपीगणेश उवाच ॥ ५० ॥ ३ ॥ ॥ ॥

नन्ताजिह्वा, नामा ग्रामसेन इतिवदन्ते इति । यो २ श्रावणः ।
(अनन्तक्रियाऽन्तरादि 'तिथ्यर' शब्दे वक्ष्यते) साधार-
णजीवि, प्रश्नो १ आश्रमो द्वा ।

अणंतस-अनन्तांश-पुं० । अनन्ततमोऽशो भागोऽनन्तांशः । अ-

अण्तरकर-अनन्तरकर-त्रि० संसारपारगमनाऽसमर्थे, "तेष्वाति संजोगमविप्लवाय, कायोवगा णंतरकरा न्नवंति" । कायोपगास्त-

उपमदारम्भप्रवृत्ताः ससारस्यानन्तकराः स्युः; ससारस्यान्त-
करा न भवन्तीत्यर्थः । सूत्र० २ श्रु० ७ म० ।
अणंतकाइय-अनन्तकायिक-पुं० । अनन्ताः कायिका जीवा यत्र

तदनन्तकायिकम् । अनन्तजीवे वनस्पतिभेदे, ध० २ अधि० ।
पं० व० । (लक्षणादि चास्य 'अणंतजीव' शब्दे वक्ष्यते)
अणंतकाय-अनन्तकाय-पुं० । अनन्तजीवे वनस्पतौ, पं० व० ४४० ।

अग्रंतकाल-अग्रन्तकाल-पुं० । अपर्ययवसितकाले, प्रश्न० ३
 आश्र० द्वा० ।
 अग्रान्तकालि-अग्रन्तकालि-पुं० । धर्मदासगण्यपरनामके उपदे-

शमालाकृति आचार्य्ये, जै० ६० ।

अणंतखुत्तो-अनन्तकृत्वस्-अव्य०। अनन्तवारानित्यर्थः । “अहं भंते ! जीवे णेरइयत्ताए उववसपुञ्जे हंता गोयमा ! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो ” ज० १२ श० ६ उ० ।

अणंतग (य) अनन्तक-न० । गणनासंख्याभेदे, स्था० ।

तच्च पञ्चधा—

पंचविहे अणंतए पस्यत्ते । तं जहा-णामाणंतए, ठवणाणंतए, दव्वाणंतए, गणणाणंतए, पएसाणंतए ॥ अहवा पंचविहे अणंतए पस्यत्ते । तं जहा-एगओणंतए, दुहओणंतए, देसवित्थाराणंतए, सव्ववित्थाराणंतए, सासयाणंतए ॥

पंचविहेत्यादिसूत्रद्वयं प्रतीतिार्थम्, नवरं, नाम्ना अनन्तकं नामानन्तकम्, अनन्तकमिति यस्य नाम यथासमयज्ञापयामास्यमिति । स्थापनैव स्थापनया वा अनन्तकं स्थापनाऽनन्तकम्, अनन्तकमिति कल्पनयाऽज्ञादिन्यासः इशरीरादिव्यतिरिक्तम्, द्रव्याणामेवादीनां गणनीयानामनन्तकं द्रव्यानन्तकं, गणना संख्यानां लक्ष्णमनन्तकमविवक्षिताऽएवादिसंख्येयविषयः संख्याविशेषो गणनानन्तकम्, प्रदेशानां संख्येयानामनन्तकं प्रदेशानन्तकमिति । एकत एकेनांशेनायामलक्षणेनानन्तकमेकतोऽनन्तकम्-एकश्रेणीकं क्षेत्रम्, द्विधा आयामविस्ताराभ्यामनन्तकं द्विधाऽनन्तकं-प्रतरक्षेत्रम्, क्षेत्रस्य यो रुचकापेक्षया पूर्वोऽन्यतरदिग्गच्छणो देशस्तस्य विस्तारो विष्कम्भस्तस्य प्रदेशापेक्षयाऽनन्तकं देशविस्तारानन्तकम्, सर्वाकाशस्य तु चतुर्थम्, शाश्वतं च तदनन्तकं च शाश्वतानन्तकमनाद्यपर्यवसितं यज्जीवादिद्रव्यम्, अनन्तसमयस्थितिकत्वादिति । स्था० ५ ग० ३ उ० ।

दसविहे अणंतए पएणत्ते । तं जहा-णामाणंतए, ठवणाणंतए, दव्वाणंतए, गणणाणंतए, पएसाणंतए, एगओणंतए, दुहओणंतए, देसवित्थाराणंतए, सव्ववित्थाराणंतए, सासयाणंतए ।

नामानन्तकम्-अनन्तकमित्येषां नामभूता वर्णानुपूर्वी यस्य, वा सचे-नादेवस्तुनोऽनन्तकमिति नाम तन्नामानन्तकम् । स्थापनानन्तकं-यदज्ञादावनन्तकमिति स्थाप्यते । छव्यानन्तकं-जीवछव्याणां पुत्रछव्याणां वा यदनन्तकम्, गणनाऽनन्तकं-यदेको द्वौ त्रय इत्येवं संख्यानां असंख्याता अनन्ता इति संख्यामानव्यपेक्षं संख्यामात्रतया संख्यातमात्रं व्यपदिश्यत इति । प्रदेशानन्तकम्-आकाशप्रदेशानां यदानन्त्यमिति । एकतोऽनन्तकम्, अतीताऽऽनागताऽऽदा वा द्विधाऽनन्तकम्, सर्वाद्धा देशविस्तारानन्तकम्-एक आकाशप्रतरः । सर्वविस्तारानन्तकं सर्वाकाशास्तिकाय इति । शाश्वतानन्तकमकृत्यं जीवादि द्रव्यमिति । स्था० १० ग० ।

से कितं अणंतए ? । अणंतए तिविहे पएणत्ते । तं जहा-परित्ताणंतए, जुत्ताणंतए, अणंताणंतए । से कितं परिताणंतए ? । परिताणंतए तिविहे पस्यत्ते । तं जहा-जहसए, उक्कोसए, अजहएणमणुक्कोसए । से कितं जुत्ताणंतए ? । जुत्ताणंतए तिविहे पएणत्ते । तं जहा-जहएणए, उक्कोसए, अजहएणमणुक्कोसए । से कितं अणंताणंतए ? । अणंताणंतए दुविहे पएणत्ते । तं जहा-जहएणए, अजहएणमणुक्कोसए ।

अनन्तकमपि-परीक्षानन्तकं, युक्तानन्तकम्, अनन्तानन्तकम् । अत्राद्यनन्तभेदद्वये जघन्यादिभेदात् प्रत्येकं त्रैविध्यम् । अनन्तानन्तकं तु-जघन्यमजघन्योत्कृष्टमेव प्रवतीति । उत्कृष्टानन्तानन्तकस्य क्वाप्यसंज्ञादिति सर्वमपीदमप्रविधम् । अत्रु० ।

जहस्यं परिताणंतं केवइअं होइ ? । जहस्यं असंखेज्जासंखेज्जयमेत्ताणं रासीणं असमणव्भासो पडिपुसो जहस्यं परिताणंतं होइ, अहवा उक्कोसए असंखेज्जासंखेज्जए रूवं पक्खित्तं जहस्यं परिताणंतं होइ, तेण परं अजहएणमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं परिताणंतं ए पावइ । उक्कोसयं परिताणंतं केवइअं होइ ? । जहस्यं परिताणंतं मेत्ताणं रासीणं असमणव्भासो रूवणो उक्कोसयं परिताणंतं होइ, अहवा जहएणयं जुत्ताणंतं रूवणं उक्कोसयं परिताणंतं होइ । जहस्यं जुत्ताणंतं केवइअं होइ ? । जहस्यं परिताणंतं मेत्ताणं रासीणं असमणव्भासो पडिपुसो जहस्यं जुत्ताणंतं होइ, अहवा उक्कोमए परिताणंतए रूवं पक्खित्तं जहस्यं जुत्ताणंतं होइ, अभवसिद्धिआ वि तत्तिआ होइ, तेण परं अजहसमणुक्कोसयाइं जाव उक्कोसयं जुत्ताणंतं ए पावइ । उक्कोसयं जुत्ताणंतं केवइअं होइ ? । जहस्यं जुत्ताणंतं एणं अजवसिद्धिआ गुणिता असमणव्भासो रूवणो उक्कोसयं जुत्ताणंतं होइ, अहवा जहस्यं अणंताणंतं रूवणं उक्कोसयं जुत्ताणंतं होइ । जहस्यं अणंताणंतं केवइअं होइ ? । जहस्यं जुत्ताणंतं एणं अजवसिद्धिआ गुणिआ असमणव्भासो पडिपुसो जहस्यं अणंताणंतं होइ, अहवा उक्कोसए जुत्ताणंतए रूवं पक्खित्तं जहस्यं अणंताणंतं होइ, तेण परं अजहसमणुक्कोसयाइं ठाणाइं ।

जघन्यपरीक्षानन्तके यावन्ति रूपाणि भवन्ति तावत्संख्येयानां राशीनां प्रत्येकं जघन्यपरीक्षानन्तकप्रमाणानां पूर्ववदन्योन्याज्यासरूपेणमुत्कृष्टं परीक्षानन्तकं भवति । ‘अहवा जहस्यं जुत्ताणंतमित्यादि’ स्पष्टम् । ‘जहस्यं जुत्ताणंतं केत्तियमित्यादि’ व्याख्यातार्थमेव । ‘अहवा उक्कोसयं परिताणंतं’ इत्यादि सुबोधम् । जघन्ये च युक्तानन्तके यावन्ति रूपाणि प्रवन्त्यभवसिद्धिका अपि जीवाः केवलित्वा तावन्त एव दृष्टान्तः । ‘तेण परमित्यादि’ कएउचम् । ‘उक्कोसयं जुत्ताणंतं केत्तियमित्यादि’ जघन्येन युक्तानन्तकेनाभव्यराशिगुणितो रूपो न सन्मुत्कृष्टं युक्तानन्तकं प्रवति, तेन तु रूपेण सह जघन्यमनन्तानन्तकं सम्पद्यते । अत एवाह-‘अहवा जहस्यं अणंताणंतमित्यादि’ गतार्थम् । ‘जहस्यं अणंताणंतं केत्तियमित्यादि’ ज्ञावितार्थमेव । ‘अहवा उक्कोसए जुत्ताणंतए इत्यादि’ प्रतीतिमेव । ‘तेण परं अजहसमणुक्कोसयाइं इत्यादि’ जघन्यादनन्तानन्तकान्तरतः सर्वाएयपि अजघन्योत्कृष्टान्येवानन्तानन्तकस्य स्थानानि भवन्ति, उत्कृष्टमनन्तानन्तकं नास्त्येवेत्यभिप्रायः । अन्ये त्वाचार्याः प्रतिपादयन्ति-अजघन्यमनन्तानन्तकं वारत्रयं पूर्वं वर्ग्यते, ततश्चैते षडनन्तकाः प्रक्षेपाः प्रक्षिप्यन्ते । तद्यथा-

“सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई काल पुगला चव ।
सच्चमव्हेणागासं, उप्पतेऽण्णं पक्खेवा” ॥ १ ॥

अयमर्थः—सर्वे सूक्ष्मत्वादनिगोदजीवाः प्रत्येकानन्ताः, सर्वे
वनस्पतिजन्तवः, सर्वोऽप्यतीतानागतवर्तमानकालसमयराशिः,
सर्वपुञ्जलज्जन्तमूहः, सर्वोद्योकाकाशप्रदेशराशिः। एते च प्रत्ये-
कमनन्तस्वरूपाः पदं प्रकल्प्याः, एतैश्च प्रकृतैर्यो राशिर्जायते, स
पुनरपि वारत्रयं पूर्ववद्भवेत्, तथाऽप्युक्तप्रमनन्तानन्तकं न भव-
ति; ततश्च केवलज्ञानकेवलदर्शनपर्यायाः प्रकल्प्यन्ते। एवं च
सत्युक्तप्रमनन्तानन्तकं सम्पद्यते, सर्वस्यैव वस्तुजातस्य संगृ-
हीतत्वात् । अतः परं वस्तु सर्वस्यैव संख्याविषयस्याज्ञावादि-
ति ज्ञावः । सूत्राभिप्रायस्तु—इत्थमप्यनन्तानन्तकमुत्कृष्टं न प्रा-
प्यते; अजघन्योत्कृष्टस्थानानामिव तत्र प्रतिपादितत्वात् इति । त-
त्त्वं तु केवलिनो विदन्तीति ज्ञावः । सूत्रे च यत्र कुत्राऽपि अन-
न्तानन्तकं गृह्यते तत्र सर्वत्राजघन्योत्कृष्टं द्रष्टव्यम्, तदेवं प्र-
पितमनन्तकम् । अनु० ।

इदानीं नवविधमसंख्येयकं नवविधमेव चानन्तकं
निरूपयितुमिच्छुर्गाथायुगमाह—

रुवजुयं तु परिता-संखं लहु अस्स रासि अग्भासे ।

जुत्तासंखिज्जं लहु, आवलियासमयपरिमाणं ॥ ७७ ॥

पूर्वोक्तमेवोत्कृष्टं संख्येयकं, रूपयुतं तु रूपैकेन सर्पणं पुन-
र्युक्तं सल्लघु जघन्यं परीक्षासंख्यं परीक्षासंख्येयकं भवति । इद-
मत्र हृदयम्—इह येनैकेन सर्पपरूपेण रहितोऽनन्तरोहिष्ठो राशि-
रुत्कृष्टसंख्यातकमुक्तं तत्र राशौ तस्यैव रूपस्य निक्षेपो यदा क्रियते
तदा तदेवोत्कृष्टं संख्यातकं जघन्यं परीक्षासंख्यातकं भवतीति ।
इह च जघन्यपरीक्षासंख्येयकोऽनिहिते यद्यपि तस्यैव मध्यमोत्कृ-
ष्टमेदप्ररूपणावसरस्तथापि परीक्षयुक्तनिजपदमेदतास्त्रिमेदाना-
मप्यसंख्येयकानां मध्यमोत्कृष्टमेदौ पश्चादल्पवक्तव्यत्वात्प्ररूप-
यिष्येते । अतोऽधुना जघन्ययुक्तासंख्यातकं तावदाह—(अस्स
रासि अग्भासे इत्यादि) अस्य राशेजघन्यपरीक्षासंख्येयकगतरा-
शेः, अग्न्यासे परस्परगुणने सति, लघु जघन्यं, युक्तासंख्येयकं भ-
वति, तच्चावलिकासमयपरिमाणम् । आवलिका—“असंखिज्जाणं
समयाणं समुदयसमिद्दसमागमेण ” इत्यादिसिद्धान्तप्रसिद्धा,
तस्याः समया निर्विभागाः कालविभागाः, तत्परिमाणमावलि-
कासमयपरिमाणम्; जघन्ययुक्तासंख्येयकतुल्यसमयराशिप्रमा-
णा आवलिका इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—जघन्यपरीक्षासंख्येय-
कसंबन्धीनि यावन्ति सर्पपङ्क्त्यानि रूपाणि तान्येकैकशः पृथ-
क् पृथक् संस्थाप्य तत एकैकस्मिन् रूपे जघन्यपरीक्षासंख्यात-
कप्रमाणो राशिर्व्यवस्थाप्यते । तेषां च राशीनां परस्परमग्न्यासो
विधीयते । इहैवं ज्ञावना-असत्कल्पनया किञ्च जघन्यपरीक्षासं-
ख्येयकराशिस्थाने पञ्च रूपाणि कल्प्यन्ते; तानि विनियन्ते-जाताः
पञ्चैककाः १११११ एककानामधः प्रत्येकं पञ्चैव वाराः पञ्च व्य-
वस्थाप्यन्ते । तद्यथा—१११११ अत्र पञ्चभिः पञ्च गुणिता

५ ५ ५ ५ ५

जाता पञ्चविंशतिः । साऽपि पञ्चभिरग्न्यासे जातं पञ्चविंशं
शतम् । इत्यादिक्रमेणामीषां राशीनां परस्परग्न्यासे जा-
तानि पञ्चविंशत्यधिकान्येकविंशच्छतानि ३१२५ । एवं कल्प-
नया तावदेतावन्मात्रो राशिर्भवति, सद्भावतस्त्वसंख्येयरूपो
जघन्ययुक्तासंख्यातकतया मन्तव्य इति ॥ ७८ ॥

सम्प्रति शेषजघन्यासंख्यातासंख्यातकमेदस्य जघन्यपरीक्षा-

नन्तकादिस्वरूपाणां त्रयाणां जघन्यानन्तकमेदानां च स्वरूपम-
तिदेशतः प्रतिपिपादयिषुराह—

वि ति चउ पंचम गुणणे, कमा सगासंख पढमचउसत्ता-
ऽण्ता ते रुवजुया, मग्भा रुवूण गुरु पच्छा ॥७९॥

इह ‘संखिज्जेगमसंखमित्यादि’ गाथोपन्यस्तमुत्कृष्टं संख्यातकम् ।
उत्कृष्टसंख्यातकादिमौलसप्तपदापेक्षया संख्यातकाद्यमेदधिक-

परी०सं० २	युक्तासं० ३	असंख्यासं० ४	लानि यानि प-
परी०अ० ३	युक्तानं० ६	अनन्तानन्त० ७	रीक्षासंख्यात-

कादीनि पदपदानि तानि परीक्षासंख्यातकानन्तानन्तकमेदस्य-
विकल्पानि द्वित्रिचतुःपञ्चसंख्यात्वेन प्रोक्तानि, ततो द्वित्रिचतुः-
पञ्चमगुणने द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमपदवाच्यराशेरन्योन्याच्या-
से सति, क्रमात् क्रमेण, (सगासंख ति) प्राकृतत्वात् सप्तमासं-
ख्यातम् । स्थापनापेक्षया जघन्यासंख्यातासंख्यातकम् । (पढम-
चउसत्ताऽण्ता ति) प्राकृतत्वात् प्रथमचतुर्थसप्तमान्यनन्तकानि,
तत्र प्रथमानन्तकं जघन्यपरीक्षानन्तकं चतुर्थानन्तकं जघन्ययु-
क्तानन्तकं सप्तमानन्तकं जघन्यानन्तानन्तकं भवतीति । इह जघन्य

जघ० सं० १	मध्य० सं० २	उत्कृष्ट सं० ३	मध्यमोत्कृष्टमेद-
परी०अ०ज०१	परी०अ०म०२	प०अ०उ०३	तोऽसंख्येयान-
यु० अ० ज०४	यु०अ० म०५	यु० अ० उ०६	न्तकयोः प्रत्ये-
अ०अ० ज०७	अ०अ० म०८	अ०अ० उ०९	कंनवविधत्वात्
प०अ०ज० १	प०अ० म० २	प०अ० उ० ३	प्रदर्शितमेदानां
यु० अ० ज०४	यु०अ० म० ५	यु० अ० उ० ६	सप्तमप्रथमादि-
अ०अ०ज०७	अ०अ०म० ८	अ०अ०उ० ९	संख्याने संग-

चउत एव । इदमत्रैदपर्यम्—द्वितीये युक्तासंख्यातकपदवाच्ये ज-
घन्ययुक्तासंख्यातकवृत्तकणे राशौ विवृते सति यावन्ति रूपाणि
तावत्सु प्रत्येकं जघन्ययुक्तासंख्यातकमाना राशयोऽग्न्यसनी-
यास्ततस्तेषां राशीनां परस्परतारुने यो राशिर्भवति, तत्
सप्तमासंख्येयकं मन्तव्यम् । तृतीये त्वसंख्येयकासंख्येयक-
पदवाच्ये जघन्यासंख्येयकासंख्येयकरूपे राशौ यावन्ति रू-
पाणि तावतामेव जघन्यासंख्येयकासंख्येयकराशीनामन्यो-
न्यगुणने सति यो राशिः संपद्यते तत्प्रथमानन्तकं जघ-
न्यपरीक्षानन्तकमवसेयम् । चतुर्थे तु परीक्षानन्तकपदवाच्ये
जघन्यपरीक्षानन्तकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तावत्संख्यानां
जघन्यपरीक्षानन्तकराशीनां परस्परमग्न्यासे यावान् राशिर्भव-
ति तच्चतुर्थमनन्तकं जघन्ययुक्तानन्तकं भवति । पञ्चमे युक्तान-
न्तकपदवाच्ये जघन्ययुक्तानन्तकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि
तत्प्रमाणानामेव जघन्ययुक्तानन्तकराशीनां परस्परगुणने यावान्
राशिः संपद्यते तत्सप्तमानन्तकं जघन्यानन्तानन्तकं भवति ।
आह—परीक्षासंख्यातक १ युक्तासंख्यातक २ असंख्यातासं-
ख्यातक ३ परीक्षानन्तक ४ युक्तानन्तक ५ अनन्तानन्तक ६
वृत्तकणाः परापि राशयो जघन्यास्तावन्निर्दिष्टाः, मध्यमा उत्कृष्टा-
श्चैते कथं मन्तव्या इत्याह—(ते रुवजुया इत्यादि) ते अनन्तरोहि-
ष्ठा जघन्याः परापि राशयो रूपैकैकवृत्तकणेन युताः समन्वि-
ताः । रूपयुताः सन्तः किं भवन्तीत्याह—मध्या मध्यमाः, ज-
घन्योत्कृष्टा इति यावत् । तत्र यः प्राग्निर्दिष्टो जघन्यपरीक्षा-
संख्यातकराशिः स एकस्मिन् रूपे प्रकृति मध्यमो भवति । उ-
पवृत्तकणं चैतत्—नैकरूपप्रक्षेप एव मध्यमगणनं, किन्त्वैकैक-
रूपनिक्षेपेऽयं तावन्मध्यमो मन्तव्यो यावदुत्कृष्टपरीक्षासंख्येयक-
राशिर्न भवतीत्येवमनया दिशा जघन्ययुक्तासंख्यातकाद्योऽपि

राशय एकैकस्मिन् रूपे निक्षिप्ते मध्यमाः संपद्यन्ते, तदनु चै-
कैकरूपवृद्ध्या तावन्मध्यमा अवसेया यावत् स्वस्वमुत्कृष्टपदं
नासादयन्तीति । तर्हि ते परमि किंस्वरूपाः सन्त उत्कृष्टा भवन्ती-
त्याह- (रूपेण गुरुपञ्च चि) रूपेणैककलकणोनोना न्यूना रूपोनाः
सन्तस्ते एव प्रागभिहिता जघन्या राशयः, तेशब्द आवृत्त्येहा-
पि संबन्धनीयः । किं भवतीत्याह-गुरुव उत्कृष्टाः, पाश्चात्याः
पश्चिमराशय इत्यर्थः । इयमत्र जावना-जघन्ययुक्तासंख्यात-
कराशिरेकेन रूपेण न्यूनः, स एव पाश्चात्य उत्कृष्टपरीक्षासंख्येय-
कस्वरूपो भवति । जघन्यासंख्यातासंख्यातकराशिस्तु एकेन
रूपेण न्यूनः सन् पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तासंख्यातकस्वरूपो भवति ।
जघन्यपरीक्षान्तकराशिः पुनरेकेन रूपेण न्यूनः पाश्चात्य उ-
त्कृष्टसंख्यातकस्वरूपो भवति । जघन्ययुक्तान्तकराशिस्त्वेक-
रूपोः पाश्चात्य उत्कृष्टपरीक्षान्तकस्वरूपो भवति । जघन्यान्-
तान्तकराशिरेकरूपरहितः पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तान्तकस्वरूपो
भवतीति ॥ ७६ ॥

इदं च संख्येयकान्तकमेदानामित्यं प्ररूपणमागमाभिप्रायत
उक्तम् । कैश्चिदन्यथाऽपि चोच्यते, अत एवाह—

इय सुतुत्तं अग्रे, वगियमिकांसि चउत्थयमसंखं ।

होइ असंखासंखं, लहु रुवजुयं तु तं मज्जं ॥ ७७ ॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण यदसंख्यातकान्तकस्वरूपं प्रतिपादितं, त-
त्सूत्रेऽनुयोगद्वारद्वारेण सिद्धान्ते उक्तं निगदितम् । कर्म०४कर्म (अ-
त्र मतान्तरम् 'असंखिज्ज' शब्दे व्याख्यास्यते) । मृताच्छादनसमर्थं
वस्त्रे, आव०४अ० नवप्रवचनप्रसिद्धे अनन्तकाये, पंचा०४ विव०
अनन्तग—त्रि० । अन्तं गच्छतीत्यन्तगः, नाऽन्तगः अनन्तगः ।
अविनाशिनि, " चिच्चा अणंतगं सोयं, निरवेक्खो परिव्वप "
सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतगुणिय-अनन्तगुणित-त्रि० । अनन्तगुणिते, विशेष० ।

अणंतघाइ (ए)-अनन्तघातिन्-पुं० । अनन्तविषयतया अन-
न्ते ज्ञानदर्शने हन्तुं विनाशयितुं शीघ्रं येषां तेऽनन्तघातिनः ।
ज्ञानदर्शनविनाशनशीघ्रेषु ज्ञानावरणीयादिकर्मपर्यवेष्टु, " पस-
त्थजोगपरिव्वे य णं अणगारे अणंतघाइपज्जवे खवेइ " उक्त०
२६ अ० ।

अणंतचक्खु-अनन्तचक्षुष्-पुं० । अनन्तं ज्ञेयानन्ततया नित्यतया
वा चक्षुरिव चक्षुः केवलं ज्ञानं यस्य, अनन्तस्य वा लोकस्य पदा-
र्थप्रकाशकतया वा चक्षुर्भूतो यः स भवत्यनन्तचक्षुः । सूत्र०
१ श्रु० ६ अ० । अनन्तमपर्यवसानं नित्यं ज्ञेयानन्तत्वाद् वाऽनन्तं
चक्षुरिव केवलज्ञानं यस्य स तथा । केवलज्ञानिनि, " तरिउं स-
मुदं च महाभवोधिं, अजयंकरे वरि अणंतचक्खू " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतजिण-अनन्तजिन-पुं० । अनन्तश्चासौ ज्ञानात्मतया नित्य-
तया वा जिनश्च रागद्वेषजयनादनन्तजिनः । अवसर्पिण्याश्चतु-
र्दशे तीर्थकरे, आच्चा० । कल्प० । प्रव० ।

अणंतजीव-अनन्तजीव-पुं० । अनन्तकायिके वनस्पतिजैदे,
स्था० ३ गा० १ उ० ।

अनन्तजीवस्य भेदास्तल्लक्षणं चेत्थम्—

तणमूलकंदमूलो, वंसीमूखि चि याऽवरे उ ।

संखेज्जमसंखिज्जा, बोधव्वा णंतजीवा य ॥ १ ॥

सिंघाडगस्स गुच्छो, अणेगजीवो उ होति णायव्वो ।

पत्ता पत्तेय जीवा, दोणि य जीवा फले भणिया ॥ २ ॥

जस्स मूळस्स भग्गस्स, समो भंगो यं दीसए ।

अणंतजीवे उ से मूले, जे यावस्से तहाविहा ॥ १ ॥

जस्स कंदस्स भग्गस्स, समो भंगो यं दीसई ।

अणंतजीवे उ से कंदे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ २ ॥

जस्स खंदस्स भग्गस्स, समो भंगो यं दीसई ।

अणंतजीवे उ से खंदे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ३ ॥

जस्स तथाए भग्गाए, समो भंगो यं दीसई ।

अणंतजीवा तथा सा उ, जे यावन्ना तहाविहा ॥ ४ ॥

जस्स सावस्स भग्गस्स, समो जंगो यं दीसई ।

अणंतजीवे उ से साव्हे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ५ ॥

जस्स पवावस्स जग्गस्स, समो जंगो यं दीसई ।

अणंतजीवे पवाले से, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ६ ॥

जस्स पत्तस्स भग्गस्स, समो जंगो यं दीसई ।

अणंतजीवे उ से पत्ते, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ७ ॥

जस्स पुप्फस्स भग्गस्स, समो भंगो यं दीसई ।

अणंतजीवे उ से पुप्फे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ८ ॥

जस्स फलस्स जग्गस्स, समो भंगो यं दीसई ।

अणंतजीवे फले से उ, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ९ ॥

जस्स वीयस्स भग्गस्स, समो भंगो यं दीसई ।

अणंतजीवे उ से वीए, जे यावन्ने तहाविहा ॥ १० ॥

तृणमूलं कन्दमूलं यच्चापरं वंशीमूलम्, एतेषां मध्ये क्वचि-
ज्जातिभेदतो देशभेदतो वा सह्यधाता जीवाः, क्वचिदसंख्याताः,
क्वचिदनन्ताश्च ज्ञातव्याः । (सिंघारगस्सेत्यादि) शृङ्गाटकस्य
यो गुच्छः सोऽनेकजीवो जवतीति ज्ञातव्यः; त्वक्शाखादी-
नामनेकजीवात्मकत्वात् । केवलं तत्रापि यानि पत्राणि तानि प्र-
त्येकजीवानि, फले पुनः प्रत्येकमेकैकस्मिन् द्वौ २ जीवौ भणितौ ।
(जस्स मूळस्सेत्यादि) यस्य मूलस्य जग्नस्य सतः सम एका-
न्तरूपश्चक्राकारो भङ्गः प्रकर्षेण दृश्यते, तन्मूलमनन्तजीवमव-
सेयम् । (जे यावन्ने तहा इति) यान्यपि चान्यानि अभ्रानि
तथाप्रकाराणि अधिकृतमूलभग्नसमप्रकाराणि तान्यप्यनन्तजी-
वानि ज्ञातव्यानि । एवं कन्दस्कन्धत्वक्शाखः प्रवालपत्रपुष्पफल-
बीजविषया अपि नव व्याख्येयाः ॥ ११ ॥ प्रज्ञा० १ पद ।

अधुना मूलादिगतानां वल्कलरूपाणां छल्लीनामनन्त-
जीवत्वपरिज्ञानार्थं लक्षणमाह—

जस्स मूलस्स कट्ठाओ, छल्ली वहलतरी जवे ।

अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवस्सा तहाविहा ॥ १ ॥

जस्स कंदस्स कट्ठाओ, छल्ली वहलतरी भवे ।

अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवस्सा तहाविहा ॥ २ ॥

जस्स खंधस्स कट्ठाओ, छल्ली वहलतरी जवे ।

अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवस्सा तहाविहा ॥ ३ ॥

जस्स सालाइ कट्ठाओ, छल्ली वहलतरी भवे ।

अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवस्सा तहाविहा ॥ ४ ॥

यस्य मूलस्य काष्ठाद् मध्यसारात् छल्ली वल्कलरूपा वहलतरा

भवति, सा अनन्तजीवा ज्ञातव्या । (जा याऽवस्था न ह इति) याऽपि चान्या, अधिभूतया अनन्तजीवत्वेन निश्चितया समानरूपा ब्रह्मी, साऽपि तथाविधा अनन्तजीवात्मका, ज्ञातव्या । एवं कन्दस्कन्ध-शाखाविषया अपि तिस्रो गाथाः परिभाषनीयाः । प्रज्ञा ० १ पद । यदुक्तं 'जरस् मूत्रस् भगस्स समो भंगो य दीर्घः' इत्यादि तदेव लक्षणं स्पष्टं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

चक्राणं भजमाणस्म, गंठी चुस्यणो जवे ।

पुढवीसरिमभेदेण, अणंतजीवं वियाणाहि ॥ १ ॥

चक्रकं चक्राकारमेकान्तेन समं भङ्गस्थानं यस्य भज्यमानस्य मूलकन्दस्कन्धत्ववशात्पक्षपुष्पादेर्भवति, तन्मूलादिकमनन्त-जीवं विजानीहि इति सम्बन्धः । तथा 'गंठी चुस्यणो जवे' इति । ग्रन्थिः पर्व सामान्यतो भङ्गस्थानं वा स यस्य भज्यमानस्य चूर्णेन रजसा घनो व्याप्तो भवति, अथवा यस्य पत्रादेर्भज्यमानस्य चक्राकारं भङ्गरजसा ग्रन्थिस्थाने व्याप्तिं च विना पृथिवीसदृशेन भेदेन भङ्गस्थानं भवति, सूर्यकरनिकरप्रतप्तकेदारतरिकाप्रतरल-एरुस्येव समो भङ्गो भवतीति ज्ञातव्यमनन्तकार्यं विजानीहि । १ ।

पुनरपि लक्षणान्तरमाह—

गूढसिराणं पत्तं, सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं ।

जं पि य पणट्टसंधिं, अणंतजीवं वियाणाहि ॥ २ ॥

यत्पत्रं सच्छीरं निःक्षीरं वा गूढसिराकमलद्वयमाणशिराविशेषं, यदपि च प्रणष्टसन्धिः सर्वथाऽनुपलब्धमाणपत्रार्द्धद्वयसन्धिः, तदनन्तजीवं विजानीहि ॥ २ ॥

सम्प्रति पुष्पादिगतं विशेषमभिधित्सुराह—

पुष्पा जलया थलया, विटवच्छा य णालिवच्छा य ।

संखिज्जमसंखेज्जा, बोधच्चा णंतजीवा य ॥ ३ ॥

पुष्पाणि चतुर्विधानि, तद्यथा-जलजानि सहस्रपत्रादीनि, स्थल-जानि कोरएटकादीनि, एतान्यपि च प्रत्येकं द्विधा । तद्यथा-कानि चिद् घृतवच्चानि-अतिमुक्तप्रभृतीनि, कानिचिन्नालवच्चानि-जातिपुष्पप्रभृतीनि, अत्रैतेषां मध्ये कानिचित्पत्रादिगतजीवापेक्षया सूक्ष्मेयजीवानि, कतिचिदसूक्ष्मेयजीवानि, कानिचिदनन्तजीवानि यथागमं बोधव्यानि ॥ ३ ॥

अत्रैव किञ्चिद्विशेषमाह—

जे केइ नालिया बद्धा, पुष्पा संखेज्जजीविया ।

णिहुया अणंतजीवा, जे याऽवसो तहाविहा ॥ ४ ॥

पञ्चमुष्पझिणी कंदे, अंतरकंदे तहेव मिह्वी य ।

एते अणंतजीवा, एगो जीवो भिस मुणाले ॥ ५ ॥

यानि कानिचिद् नालिकावच्चानि पुष्पाणि जात्यादिगतानि तानि सर्वाण्यपि सूक्ष्मयातजीवकानि ज्ञातव्यानि तीर्थेकरगणधरैः । स्निहू स्निहूपुष्पं पुनरनन्तजीवम्, यान्यपि चान्यानि स्निहूपुष्पकल्पानि तान्यपि तथाविधानि अनन्तजीवात्मकानि ज्ञातव्यानि । (पञ्चमुष्पझिनी कंदेत्यादि) पञ्चिनीकन्दः, उत्पञ्चिनीकन्दः, अन्तरकन्दो जलजवनस्पतिविशेषः कन्दः, फिल्लिका वनस्पतिविशेषरूपा, एते सर्वेऽप्यनन्तजीवाः, नवरं पञ्चिन्यादीनां विशेषे, मृणाले च; एकजीवात्मके विशामृणाले इति ज्ञातव्यः ॥ ५ ॥ प्रज्ञा ० १ पद ।

सप्पाए सज्जाए, उव्वेहलिया य कुहणकुंदुके ।

एए अणंतजीवा, कुंदुके होइ जयणाओ ॥ १३ ॥

एते कुहनमिदवनस्पतिविशेषा बोधतः प्रत्येतव्याः । एते च

अनन्तजीवात्मकाः, नवरं कन्दुके प्रजनाः स हि कोऽपि देशविशेषादनन्तोऽनन्तजीवो भवति, कोऽप्यसंख्येयजीवात्मक इति ॥ १३ ॥

किं बीजजीव एव मूलादिजीवो भवति, एतान्यस्तस्मिन्नपक्रान्ते उत्पद्यते इति परप्रश्नमाशङ्क्याह—

जोणिञ्जुए वीए, जीवो वक्कमइ सो व अणो वा ।

जो वि अमूले जीवो, सो वि हु पत्ते पढमयाए ॥ १४ ॥

बीजे योनिभूते योन्यवस्थां प्राप्ते, योनिपरिणाममुज्जहतीति भावः । बीजस्य हि द्विविधाऽवस्था । तद्यथा-योन्यवस्था, अयोन्यवस्था च । तत्र यदा बीजं योन्यवस्थानं जहाति, अथ चोज्जितं जन्तुना तदा तत् योनिभूतमित्याभिधीयते । उज्जितं च जन्तुना निश्चयतो नावगन्तुं शक्यते, ततोऽनतिशयायिना सम्प्रति सचेतनमचेतनं वा अविध्वस्तयोनि योनिभूतमिति व्यवहियते । विध्वस्तयोनि तु नियमादचेतनत्वादयोनिभूतमिति । अथ योनिरिति किमभिधीयते ? उच्यते-जन्तोरुत्पत्तिस्थानमविध्वस्तशक्तिकं तत्र स्थजीवपरिणमनशक्तिसम्पन्नमिति भावः । तस्मिन् बीजे योनिभूते जीवो व्युत्क्रामति उत्पद्यते, स एव पूर्वको बीजजीवोऽन्यो वा आगत्य तत्रोत्पद्यते । किमुक्तं भवति-तदा बीजनिवर्तकेन जीवेन स्वायुषः कयाद् बीजपरित्यागः कृतो भवति । तस्य च बीजस्य पुनरमुकावाऽवनिसंयोगरूपसामग्रीसम्भवस्तदा कदाचित् स एव प्राक्तनो बीजजीवो मूलादिनामगोत्रं निबद्ध्य तत्रागत्य परिणमति; कदाचिदन्यः पृथिवीकायिकादिजीवः । 'योऽपि च मूले जीव इति' य एव मूलतया परिणमते जीवः 'सोऽपि पत्रे प्रथमतयेति' स एव प्रथमपत्रतयाऽपि च परिणमते, इत्येकजीवकर्तृके मूलप्रथमपत्रे इति । आह—यद्येवं " सव्वो वि किसलओ खलु, उगममाणो अणंतओ भणिओ " इत्यादि वक्ष्यमाणं कथं न विरुध्यते ? उच्यते-इह बीजजीवोऽन्यो वा बीजमूलत्वेनोत्पद्य तदुच्छ्रानावस्थां करोति, ततस्तदनन्तरं भाविनीं किसलयावस्थां नियमतोऽनन्ता जीवाः कुर्वन्ति । पुनश्च तेषु स्थितिक्रयात्परिणतेषु असावेव मूलजीवोऽनन्तजीवतनुं स्वशरीरतया परिणमय्य तावद्वर्त्तते यावत्प्रथमपत्रमिति न विरोधः । अन्ये तु व्याचक्षते-प्रथमपत्रमिह याऽसौ बीजस्य संमूर्च्छनावस्था, तेन एकजीवकर्तृके मूलप्रथमपत्रे इति । किमुक्तं भवति-मूलसमुच्छ्रानावस्थे एकजीवकर्तृके, एतच्च नियमप्रदर्शनार्थमुक्तम् । मूलसमुच्छ्रानावस्थे एकजीवपरिणमते एव । शेषं तु किसलयादिनाऽवश्यं मूलजीवपरिणामाविर्भावितमिति । ततः 'सव्वो वि किसलओ खलु, उगममाणो अणंतओ भणिओ ' इत्यादि वक्ष्यमाणमविरुद्धम् । मूलसमुच्छ्रानावस्थानिर्वर्तनाऽऽरम्भकाले किसलयत्वाभावादिति । आह-प्रत्येकशरीरे वनस्पतिकायिकानां सर्वकाष्ठशरीरावस्थामधिकृत्य किं प्रत्येकशरीरत्वमुत कस्मिंश्चिदवस्थाविशेषेऽनन्तजीवत्वमपि सम्भवति ? तथा साधारणवनस्पतिकायिकानामपि किं सर्वकालमनन्तजीवत्वमुत कदाचित्प्रत्येकशरीरत्वमपि भवति ? ।

तत आह—

सव्वो वि किसलओ खलु, उगममाणो अणंतओ भणिओ ।

सो चेव विवहंतो, होइ परीत्तो अणंतो वा ॥ १५ ॥

इह सर्वशब्दः परिशेषवाची । सर्वोऽपि वनस्पतिकायः प्रत्येकशरीरः साधारण एव किसलयावस्थामुपगतः सन् अनन्त

कायस्तीर्थकरणधरैर्भणितः । स एव किसलयरूपः अनन्तकायिकः प्रवृत्तिं गच्छन् अनन्तो वा भवति परीक्षो वा । कथम् ? । उच्यते—यदि साधारणं शरीरं निर्वर्त्यते तदसाधारण एव भवति, अथ प्रत्येकशरीरं ततः प्रत्येक इति । कियतः कादाचूद्धं प्रत्येको भवति इति चेदुच्यते—अन्तर्मुहूर्त्ताः । तथाहि—निगोदानामुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् स्थितिरुक्ता, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तात्परतो विवर्त्तमानः प्रत्येको भवतीति । प्रज्ञा० १ पद ।

निगोदादिशब्दैः सहास्य साविपयत्वादनन्तजीवस्य च अनन्तजन्तुसन्ताननिपातननिमित्तत्वाद् भक्षणं वर्ज्यम् । यतः—“नृज्यो नैरयिकाः सुराश्च निखिलाः पञ्चाङ्गतियग्गणो, द्व्यङ्गाद्या ज्वलनो यथोत्तरममी संख्यातिगा भाषिताः । तेज्यो नृजलवायवः समधिकाः प्रोक्ता यथाऽनुक्रमं, सर्वेभ्यः शिवगा अनन्तगुणितास्तेज्योऽप्यनन्ता नगाः ” ॥ १ ॥ तानि आर्यदेशप्रसिद्धानि द्वात्रिंशत् । तदाहुः—

सन्वा य कंदजाई, सूरणकंदो अ वज्जकंदो अ ।
अल्ल हलिदा य तहा, अल्लं तह अल्लकच्चूरो ॥ १ ॥
सत्तावरी विराली, कुंआरि तह थोहरी गढोई अ ।
लसुणं वंसकरिल्ला, गज्जर लूणो अ तह लोढा ॥ २ ॥
गिरिकसि किसलिपत्ता, खरिसुआ थेग अल्ल मुत्था य ।
तह बूणखखल्ली, खिल्लहमो अमयवल्ली य ॥ ३ ॥
मूला तह चूमिरुहा, विरुहा तह ढक्कवत्तुलो पढमो ।
सूअरवल्ली अ तहा, पल्लंको कोपलंविद्धिआ ॥ ४ ॥
आवु तह पिंढालू, हवंति एए अणंतनमेणं ।

अन्नमणंतं नेअं, लक्खणजुत्तीइ समयाओ ॥ ५ ॥

सर्वैव कन्दजातिरनन्तकायिका इति सम्बन्धः । कन्दो नाम भूमध्यगोवृक्षावयवः । ते चात्र कन्दा अशुष्का एव ग्राह्याः, शुष्काणां तु निर्जीवत्वादनन्तकायिकत्वं न सम्भवति । श्रीहेमसूरिरप्येवमेव ‘आर्द्रः कन्दः समग्रोऽपि, आर्द्रोऽशुष्कः कन्दः । शुष्कस्य तु निर्जीवत्वादनन्तकायिकत्वं न सम्भवति’ इति योगशास्त्रसूत्रवृत्त्योराह । अथ तानेव कांश्चित्कन्दान् व्याप्रियमाणत्वात्तन्नामत आह—सूरणकन्दोऽर्शोन्नः कन्दविशेषः १, वज्जकन्दोऽपि कन्दविशेष एव २, आर्द्धा अशुष्का, हरिद्रा प्रतीतैव ३, आर्द्धकं गृद्धवेरम् ४, आर्द्धकच्चूरस्तिकछन्नविशेषः प्रतीत एव ५, शतावरी ६ वराहिके ७ वल्लीभेदौ । कुमारी मांसवप्रणाद्याकारपत्रा प्रतीतैव ८, थोहरी स्नुहीतरुः ९, गुम्बूची वल्लीविशेषः प्रतीत एव १०, लसुणं कन्दविशेषः ११, वंशकरिल्लानि कोमलानि नववंशावयवविशेषाः प्रसिद्धा एव १२, गर्जरकाणि सर्वजनविदितान्येव १३, लवणको वनस्पतिविशेषः—येन दग्धेन सर्जिका निष्पद्यते १४, षोढकः पश्चिनीकन्दः १५, गिरिकर्णिका वल्लीविशेषः १६, किसलयरूपाणि पत्राणि प्रौढपत्रादर्वाक् वीजस्योच्छ्रानावस्थावृक्षणानि सर्वाण्यप्यनन्तकायिकानि, न तु कानिचिदेव १७, खरिशुकाः कन्दभेदाः १८, थंगोऽपि कन्दविशेष एव १९, आर्द्धा मुस्ता प्रतीता २०, वयणापरपर्यायस्य भ्रमरनाम्नो वृक्षस्य छल्लिस्त्वक्, न त्वन्येऽवयवाः २१, खिल्लहडो लोकप्रसिद्धः कन्दः २२, अमृतवल्ली वल्लीविशेषः २३, मूलको लोकप्रतीतः २४, भूमिरुहाणि छत्राकाराणि वर्षाकालभवानि भूमिस्फोटकानीति प्रसिद्धानि २५, विरुढान्यङ्कुरितानि द्विदलधान्यानि २६, ढक्कवास्तुलः शाकविशेषः, स च प्रथमोद्भूत एवानन्त-

कायिको न तु छिन्नप्ररुद्धः २७, शकरसंज्ञको वल्लः, स एवानन्तकायिको न तु धान्यवल्लः २८, पल्लयङ्कः शाकभेदः २९, कोमलाम्लिका अवस्थास्थिका चिञ्चिका ३०, आलुक ३१, पिण्डालुकौ ३२ कन्दभेदौ । एते पूर्वोक्ताः पदार्था द्वात्रिंशत्संख्याका अनन्तकायनामभिर्भवन्तीत्यर्थः । न चैतावन्त्येवानन्तकायिकानि किन्त्वन्येऽपि, तथाऽऽह—‘अन्यदपि’ पूर्वोक्तातिरिक्तमनन्तकायिकम्, लक्षणयुक्त्या वक्ष्यमाणलक्षणविचारण्या, समयात् सिद्धान्ततः ज्ञेयम् ।

तान्येवानन्तकायानि यथा—

घोसकरिंरुंरु ति—रुयं अङ्कोमलंवगाईणि ।

वरुणवमनिंवयाई—ए अंकुराई अणंताई ॥ १ ॥

घोपातकीकीरीर्योरङ्कुराः, तथाऽतिकोमलान्यवस्थास्थिकानि तिन्दुकाभ्रफलादीनि, तथा वरुणवटनिम्बादीनामङ्कुरा अनन्तकायिकाः । अनन्तकायलक्षणं चेदम्—“गृद्धसिरसंधिपर्व्वं, समभंगमहिरुहं च छिन्नरुहं । साहारणं सरीरं, तद्विवरीअं च पत्तेअं” ॥ १ ॥ एवं लक्षणयुक्ता अन्येऽपि अनन्तकायाः स्युः, ते हेयाः । यतश्च—“चत्वारो नरकद्वाराः, प्रथमं रात्रिभोजनम् । परल्लोसंगमश्चैव, संधानानन्तकायिके ” ॥ १ ॥ उक्तमनन्तकायिकम् । ध० २ अधि० । (अनन्तकायिकस्यादाने प्रायश्चित्तं ‘पलंव’ शब्दे प्रदर्शयिष्यते) ।

अह जंते ! आलुए मूलए सिंगवेरे हरिली सिरिली सिसिरली किट्टिया निरिया ठीरविरालिया कण्हकंदे वज्जकंदे सूरणकंदे खेबूडे अदमुत्था पिंढहलिदा लोहाणि हूथिहूविजागा अस्सकणी सीहकणी सादंणी मुसुंणी जे याऽवएणे तहप्पगारा सव्वे ते अणंतजीवा विविहसत्ता ॥ हंता गोयमा ! आलुए मूअएण जाव अणंतजीवा विविहसत्ता ॥ भ० ७ श० २ उ० । प्रज्ञा० ।

जे भिक्खू अणंतकायसंमिस्सं जुत्तं आहारं आहारेइ, आहारंते वा साइज्जइ ५ ।

जे जिक्वू अणंतिकातो मूलकंदो अल्लगफादि वा एवमादि संमिस्सं जो भुंजति तस्स चउगुर ॥

जे भिक्खू अणंतिकादी, भुंजेज्ज अणंतकायसंजुत्तं ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्ताविराहणं पावे ॥ ५३ ॥

आणादिया दोसा हवंति; इमे दोसा—

तं कायपरिव्वयओ, तेण य वत्तेण समं वयति ।

अतिखप्पं अणुचित्ते, ए य विसूतिकादीणि आयाए ॥ ५४ ॥

इमा आयविराहणा—तेण रसालेण अतिखप्पेण अणुत्तेण य विसूतिकादी भवेमरेज्ज वा अजीरंतो वा अणुत्तरो रोगातंको भवेज्ज, एवं आयविराहणा, जम्हा एते दोसा तम्हा ए भोतव्वं; कारणे तु भुंजेज्जा ।

असिवे ओमोयरिए, रायहुडे भए च गेलसे ।

अच्छाण रोहए वा, जयणा इमा तत्थ कायव्वा ॥ ५५ ॥

पूर्ववत् इमे वक्खमाणजयणा—

ओमं तिभागमहे, तिभाग आयं विले चउत्थादी ।

निम्मिस्से मिस्सेया, परित्तणं ते य जा जतणा ॥ ५६ ॥

जह णव सुत्ते वक्खमाणो जहा वा पेढे भणिया तहा वत्तव्वा ।

इमो से अक्खरत्थो-ओमं एसणिज्जं छुंजति, निज्जाणेण वा ऊणं एसणिज्जं छुंजति, अक्खं वा एसणिज्जं, तिभागं वा एसणिज्जं, आ-
यंयिलेण वा अत्थनि । चउत्थं वा करंति, ण य अणंतकायं तम्मि-
स्सं भुंजति जाहे णिम्मिस्सं लब्धति, जाहे णिम्मिस्सं ण व्वज्जति
ताहे परीत्तकायमिस्सं गेएहति, जाहे तं पि न लब्धमति ताहे
अणंतकायमिस्सं गेएहति, जा य पणगादिजयणा सा दह्व्या ।
नि० चू० १० उ० ।

अणंतजीविअ-अनन्तजीविक-पुं० । अनन्तकायिकचनस्पतौ,
भ० न श० ३ उ० ।

अणंतणाण-अनन्तज्ञान-न० । अनन्तं स्वपरपर्यायापेक्षया
वस्तु ज्ञायते येन तदनन्तज्ञानम् । केवलज्ञाने, दश० २ अ० ।

अणंतणाणदंशि-(ए)अनन्तज्ञानदर्शिन्-पुं० । अनन्तं ज्ञानं दर्श-
नं च यस्यासावनन्तज्ञानदर्शी । केवलज्ञानिनि, सूत्र० १५० ६ अ० ।

अणंतणाणि (ए) अनन्तज्ञानिन्-पुं० । अनन्तमविनाश्य-
नन्तपदार्थपरिच्छेदकं वा ज्ञानं विशेषप्राहकं यस्यासावनन्त-
ज्ञानी । सूत्र० १५० ६ अ० । उत्पन्नकेवलज्ञाने तीर्थकरे,
ज्यो० ६ पाहु० । स० ।

अणंतदंशि (ए) अनन्तदर्शिन्-पुं० । अनन्तमविनाश्यनन्त-
पदार्थपरिच्छेदकं दर्शनं सामान्यार्थपरिच्छेदकं यस्य स
अनन्तदर्शी । उत्पन्नकेवलदर्शने, सूत्र० १५० ६ अ० ।

अणंतपसिय-अनन्तप्रदेशिक-पुं० । अनन्तपरणात्मके
स्कन्धे, ज० ८ श० २ उ० ।

अणंतपार-अनन्तपार-स्त्री० । अनन्तः पारः पर्यन्तो यस्य
कालस्य स अनन्तपारः । अन्तविरहितपर्यन्ते, “ केण अणंतं
पारं, संसारं हिंरुद् जीवो? ” आनु० । “ से पञ्चा अक्खयसा-
गरे वा, महोदही वा वि अणंतपारं ” सूत्र० १५० ६ अ० ।

अणंतपासि (ए) अनन्तदर्शिन्-पुं० । ऐरवते भविष्यति वि-
ज्ञातितमे तीर्थकृति, ति० ।

अणंतमिस्सिया-अनन्तमिश्रिता-स्त्री० । मूलकादिकमनन्त-
कायं, तस्यैव सत्कैः परिपाणुपत्रैरन्येन वा केनचित् प्रत्ये-
कचनस्पतिना मिश्रमवशोष्य सर्वोऽप्येपोऽनन्तकायिक इति
वदतः सत्यमृषाज्ञापामेदे, प्रज्ञा० ११ पद० ध० ।

अणंतमीस्य-अनन्तमिश्रक-न० । अनन्तविषयकं मिश्रक-
मनन्तमिश्रकम् । सत्यमृषामेदे, यथा मूलकन्दादौ परीतपत्रा-
दिमन्यनन्तकायोऽयमित्यभिदधतः । स्था० १० ग० ।

अणंतमोह-अनन्तमोह-त्रि० । अनन्तोऽपर्यवसितस्तदभावा-
पेक्षया प्रायस्तस्याऽनपगमाद् मुह्यते येनाऽसौ मोहो ज्ञा-
नावरणदर्शनमोहनीयात्मकः । ततश्चानन्तो मोहोऽस्येत्यनन्त-
मोहः । उक्त० ४ अ० । अविनाशिदर्शनावरणमोहनीयकर्मणि,
‘ दीवण्णण्णव अणंतमोहे, नेयाउ यं दधुमदधुमेव ’ उक्त० ४ अ० ।

अणंतर-अनन्तर-त्रि० । न विद्यतेऽन्तरं व्यवधानं यस्य । ६
व० । अव्यवहिते, न० । पञ्चा० । निर्व्यवधाने, “ अणं-
तरं देवलोप अणंतरं मणुस्सए भवे किं परं ” । भ०
१४ श० ७ उ० । कल्प० । “ अणंतरं चयं चइत्ता ” अव्य-
वहितं च्यवनं कृत्वैत्यर्थः । (ज्ञा० ८ अ०) देवजवसम्बन्धिनं
देहं त्यक्त्वैत्यर्थः । अथवाऽनन्तरम्-आयुःकयाद्यनन्तरं (चयं
ति) च्यवनं (चइत्त ति) च्युत्वा, महाविदेहे अनन्तरं शरीरं

त्यक्त्वा, च्यवनं वा कृत्वा । विपा० १ श्रु० १ अ० । न विद्यते-
ऽन्तरं व्यवधानमस्येत्यनन्तरः । वर्त्तमानसमये, स्था० १० ग० ।

अणंतरखेत्तोगाढ-अनन्तरक्षेत्रावगाढ-त्रि० । आत्मशरीरा-
वगाढक्षेत्रापेक्षया यदनन्तरं क्षेत्रं तत्रावगाढे, ‘ नो अणंतरखे-
त्तोगाढे पोमग्ने अत्तमायाए आहारंति ’ । ज० ६ श० १० उ० ।

अणंतरखेदोववसग-अनन्तरखेदोपपन्नक-त्रि० । अनन्तरं स-
मयाद्यव्यवहितं खेदेन दुःखेनोपपन्नमुत्पादक्षेत्रप्राप्तिलक्षणं ये-
पां तेऽनन्तरखेदोपपन्नकाः । खेदप्रधानोत्पत्तिप्रथमसमयवर्तिषु
नैरयिकादिषु, ज० १४ श० १ उ० । (अत्र दण्कस्तेपामायुर्वन्धश्च
‘ आउ ’ शब्दे द्वि० भा० १४ पृष्ठे वदयते)

अणंतरगंठिय-अनन्तरग्रन्थित-त्रि० । ३ त० । प्रथमग्रन्थी-
नामनन्तरव्यवस्थितैर्ग्रन्थिभिः सह ग्रन्थिते, ज० ५ श० ३ उ० ।
अणंतरच्छेय-अनन्तरच्छेद-पुं० । स्वाङ्गेनैव द्वैधीकरणे, “ गह-
दंतादि अणंतरं गहेहि दंतेहि वा जं छिदति तं अणंतरच्छेयो
ज्झति ” नि० चू० १ उ० ।

अणंतरणिग्गय-अनन्तरनिर्गत-त्रि० । निश्चितं स्थानान्तरप्राप्त्या
गतं गमनं निर्गतम् । अनन्तरं समयादिना निर्व्यवधानं निर्गतं
येपां तेऽनन्तरनिर्गताः । प्रथमसमये नगरादेरुच्छिन्नेषु स्थानान्तर-
प्राप्तेषु, भ० १४ श० १ उ० । (अत्र दण्कस्तेपामायुर्वन्धश्च
‘ आउ ’ शब्दे द्वि० भा० १४ पृष्ठे वदयते)

अणंतरदिट्ठंथ-अनन्तरदृष्टान्तक-पुं० । यः खल्वनन्तरप्रयुक्तो-
ऽपि परोक्षत्वादागमगम्यत्वाद् दार्ष्टान्तिकार्थसाधनायाज्ञं न
भवति तस्मिन् दृष्टान्तभेदे, दश० १ अ० ।

अणंतरपज्जत्त-अनन्तरपर्याप्त-पुं० । न विद्यते पर्याप्तत्वेऽन्तरं
येपां तेऽनन्तराः, ते च ते पर्याप्तकाश्चेत्यनन्तरपर्याप्तकाः । प्रथ-
मसमयपर्याप्तकेषु नैरयिकादिषु, स्था० १० ग० ।

अणंतरपञ्चाकन-अनन्तरपञ्चात्कृत-त्रि० । अनन्तरं व्यवधाने-
न पञ्चात्कृतोऽनन्तरपञ्चात्कृतः । व्यवधानेन पञ्चात्कृते, सं०
प्र० ८ पाहु० ।

अणंतरपरंपरअणिग्गय-अनन्तरपरम्परानिर्गत-पुं० । प्रथमसम-
यान्निर्गतेषु, ये हि नरकादुद्बृत्ताः सन्तो विग्रहगतौ वर्तन्ते न ताव-
दुत्पादक्षेत्रमासादयन्ति, तेषामनन्तरजावेन परस्परजावेन चोत्पा-
दक्षेत्रप्राप्तत्वेन निश्चयेनानिर्गतत्वात् । ज० १४ श० १ उ० । (अत्र
दण्कस्तेपामायुर्वन्धश्च ‘ आउ ’ शब्दे द्वि० भा० १४ पृष्ठे वदयते)

अणंतरपरंपरअणुववसग-अनन्तरपरम्परानुपपन्नक-पुं० ।
अनन्तरमव्यवधानं परम्परं च द्वित्रादिसमयरूपमविद्यमानमुप-
पन्नमुत्पादो येपां ते तथा । विग्रहगतिकेषु, विग्रहगतौ हि द्विवि-
धस्याप्युत्पादस्याविद्यमानत्वादिति । ज० १४ श० १ उ० ।

अणंतरपरंपरखेदोववसग-अनन्तरपरम्परखेदानुपपन्नक-
पुं० । अनन्तरं परम्परं खेदेन नास्ति उपपन्नकं येपां ते तथा ।
विग्रहगतिवर्तिषु, भ० १४ श० १ उ० ।

अणंतरपुरक्खड-अनन्तरपुरस्कृत-त्रि० । स्वाव्यवहितोत्तरव-
र्तिनि, “ अणंतरपुरक्खडे कालसमयंति ” अनन्तरमव्यवधानेन
पुरस्कृतोऽप्ये कृतो यः सोऽनन्तरपुरस्कृतः । अनन्तरं द्वितीय इ-
त्यर्थः । सू० प्र० ८ पाहु० । सं० प्र० ।

अणंतरसमुदाणकिरिया-अनन्तरसमुदानक्रिया-स्त्री० । ना-
स्त्यन्तरं व्यवधानं यस्याः सा अनन्तरा, अव्यवहिता । सा च

समुदानक्रिया च । क० स० । प्रथमसमयवर्तिसमुदानक्रियायाम्, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

अणंतरसिद्ध-अनन्तरसिद्ध-पुं० । न विद्यतेऽन्तरं व्यवधानमर्थात् समयेन येषां तेऽनन्तराः, ते च सिद्धाश्चानन्तरसिद्धाः । सिद्धत्वप्रथमसमये वर्तमानेषु सिद्धेषु, प्रज्ञा० १ पद । स्था० ।

अणंतरहिय-अनन्तरहित-त्रि० । अव्यवहिते, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । सचित्ते, आव० ३ अ० । “जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अणंतरहियाए पुढवीए णिसियावेज्ज वा” अनन्तरहितया, अनन्तरहिया णाम सचित्ता । नि० चू० ७ उ० ।

अणंतरागम-अनन्तरागम-पुं० । आगमभेदे, अर्थापेक्षया गणधराणामनन्तरागमः । सूत्रापेक्षया गणधराशिष्याणामनन्तरागमः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणंतराहारग-अनन्तराहारक-पुं० । अनन्तरानव्यवहितान् जीवप्रदेशैराक्रान्ततया स्पृष्टतया वा पुद्गलानाहारयन्तित्यनन्तराहारकाः । जीवप्रदेशैः स्पृष्टानां पुद्गलानामाहारकेषु नैरयिकादिषु, स्था० १० ठा० । अनन्तरमुपपातक्षेत्रप्राप्तिसमयमेव आहारयन्ति इत्यनन्तराहाराः । प्रज्ञा० ३४ पद । प्रथमसमयाहारकेषु, स्था० १० ठा० । (‘आहार’ शब्दे अनन्तराहारग्रहणं शरीरस्य निष्पत्तिरित्येवमादिक्रमो द्वि० भागे वक्ष्यते)

अणंतरिय-अनन्तरित-त्रि० । न० त० । अव्यवहिते, विशेष० ।

अणंतरोगाढग-अनन्तरावगाढक-पुं० । अनन्तरं संप्रत्येव समये कचिदाकाशदेशेऽवगाढा आश्रितास्त एवानन्तरावगाढकाः । प्रथमसमयावगाढकेषु विवक्षितं क्षेत्रं द्रव्यं वाऽपेक्ष्याव्यवधानेनावगाढेषु नैरयिकादिजीवेषु, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अणंतरोवणिहा-अनन्तरोपनिधा-स्त्री० । उपनिधानमुपनिधा, धातूनामनेकार्थत्वान्मार्गणमित्यर्थः । अनन्तरेणोपनिधाऽनन्तरोपनिधा । अनन्तरयोगस्थानमधिकृत्य उत्तरस्य योगस्थानस्य मार्गणे, पं० सं० ५ द्वा० । क० प्र० ।

अणंतरोवणणग-अनन्तरोपपन्नक-पुं० । न विद्यतेऽन्तरं व्यवधानमस्येत्यनन्तरः वर्तमानः समयः । तत्रोपपन्नकाः, स्था० १० ठा० । न विद्यतेऽन्तरं समयादिव्यवधानमुपपन्ने उपपाते येषां ते अनन्तरोपपन्नकाः । प्रथमसमयोत्पन्नेषु, भ० १३ श० १ उ० । येयामुत्पन्नानामेकोऽपि समयो नातिक्रान्तस्ते एते । स्था० १० ठा० । एकस्मादनन्तरमुत्पन्नेषु नैरयिकादिषु वैमानिकपर्यन्तेषु, स्था० २ ठा० २ उ० ।

अणंतवगभइय-अनन्तवर्गजक्त-त्रि० । अनन्तवर्गापवर्तिते, “सोऽणंतवगभइओ सव्वागासेण मीएज्जा” औ० ।

अणंतवत्तियाणुपेहा-अनन्तवृत्तितानुपेक्षा-स्त्री० । अनन्ता अत्यन्तं प्रभूता वृत्तिवर्तनं यस्यासावनन्तवृत्तिः, तस्या अनुप्रेक्षा अनन्तवृत्तिताऽनुप्रेक्षा । भवसन्तानस्यानन्तवृत्तिताऽनुचिन्तनरूपायां शुक्लध्यानस्य प्रथमानुप्रेक्षायाम्, यथा-‘एस अणाई जीवो, संसारसागरो व्व दुत्तारो । नारयतिरियनरामरभवेसु परिहिंडए जीवो’ ॥१॥ स्था० ४ ठा० १ उ० । औ० । भ० । अनन्तवर्तितानुपेक्षा-स्त्री० । अनन्ततया वर्तते इति अनन्तवर्ती, तद्भावस्तच्चा, भवसन्तानस्येति गम्यते; तस्या अनुप्रेक्षा । शुक्लध्यानभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अणंतविजय-अनन्तविजय-पुं० । भरतक्षेत्रे भविष्यति चतुर्विंशे तीर्थकरे, स० । ति० । युधिष्ठिरशङ्खे, वाच० ।

अणंतविष्णु-अनन्तविज्ञान-पुं० । अनन्तमप्रतिपाति, विशिष्टं सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वेनोत्कृष्टं, केवलाख्यविज्ञानं ततोऽनन्तं विज्ञानं यस्य सोऽनन्तः । केवलिनि, स्था० १ श्लो० ।

अणंतवीरिय-अनन्तवीर्य-पुं० । जमदग्निजार्ज्याया रेणुकायाः स्वसुःपत्न्यौ कार्तवीर्यपितरि, आ० चू० १ अ० । आ० म० । आ० क० । दर्श० । भरतक्षेत्रे भविष्यति त्रयोविंशे तीर्थकरे, ती० २१ कल्प० ।

अणंतसंसारिय-अनन्तसंसारिक-पुं० । अनन्तश्चासौ संसारश्चानन्तसंसारः, सोऽस्यास्तीत्यनन्तसंसारिकः । ‘अतोऽनेकस्वरात्’ इतीकप्रत्ययः । अपरिमितसंसारे, रा० । प्रति० । नैरयिकादिवैमानिकपर्यन्तेषु, स्था० २ ठा० २ उ० ।

अथ केनाजितमनन्तसंसारित्वम् ? इति प्रश्ने उत्तरमाह—
जे पुण गुरुपाणिणीया, बहुमोहा ससवला कुसीडा य ।
असमाहिणा मरंति उ, ते हुंति अणंतसंसारी ॥५६॥

(जे पुण) ये पुनः, गृणात्यभिधत्ते तत्त्वमिति गुरुः, तं प्रति, ज्ञानाद्यवर्णवाद्जापणादिना प्रत्यनीकाः प्रतिकूलाः, तथा बहुमोहास्त्रिशमोदनीयस्थानवर्तिनः, सह शबलैरेकविंशत्या शबलस्यानैर्वर्तन्ते ये ते सशबलाः, कुत्सितं शीघ्रमाचारो येषां ते कुशीलाः । चः समुच्चये । एवंविधा येऽसमाधिनाऽऽतैरौघावे वर्तमाना म्रियन्ते, तेऽनन्तसंसारिणो भवन्तीति । आनु० ।

अणंतसमयसिद्ध-अनन्तसमयसिद्ध-पुं० । अनन्तेषु समयेषु एकैकसिद्धे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अणंतसेण-अनन्तसेन-पुं० । तृतीयायामवसर्पिण्यां जाते चतुर्थकुलकरे, स० । भक्षितपुरवास्तव्यस्य नागगृहपतेः सुरसानामन्यां प्रार्थयां जाते पुत्रे; तत्कथा अन्तर्दृष्टायास्तृतीये वर्गे द्वितीयाध्ययने सूचिता, तत्रैव प्रथमाध्ययनोक्ताऽणीयस्येव ज्ञावनीया (अन्त०) । अस्य द्वाविंशद्भार्याः, द्वाविंशत्क एव दानम्, विंशतिवर्षाणि पर्यायः, चतुर्दशपूर्वाणि श्रुतम्, शत्रुञ्जये सिद्धिः । वस्तुतस्तु अयं वसुदेवदेवकीसुतः । अन्त० ४ वर्ग ।

अणंतसो-अनन्तशस्-अव्य० । बहुवारमित्यर्थे, निरवधिककावमित्यर्थे च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । “गधमेस्संति णंतसो” इति । अनन्तशो निर्विच्छेदमिति वृत्तिकारः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अणंतहियकामुय-अनन्ताहितकामुक-त्रि० । मोक्षकामुके, दश० ६ अ० २ उ० ।

अणंताणंत-अनन्तानन्त-त्रि० । अनन्तेन गुणिता अनन्ताः । अनन्तगुणितेषु अनन्तेषु, भ० १४ श० २ उ० ।

अणंताणुबंधि [ण]-अनन्तानुबन्धिन्-पुं० । अनन्तं संसारं ज्वमनुबध्नाति अविच्छिन्नं करोतीत्येवंशीघ्रोऽनन्तानुबन्धी । अनन्तो वाऽनुबन्धो यस्येत्यनन्तानुबन्धी । सम्यग्दर्शनसहभाविक्षमास्वरूपोपशमादिचरणलवनिबन्धिनि क्रोधादिकपाये, स्था० ४ ठा० १ उ० । यद्वाचि-“यस्मादनन्तं संसार-मनुबध्नाति देहिनः । ततोऽनन्तानुबन्धीति, संज्ञा तेषु निवेशिता” ॥१॥ ते च चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । यद्यपि चैतेषां शेषकपायोदयरहितानामुदयो नास्ति, तथाऽप्यवश्यमनन्तसंसारमूलकारणमिथ्यात्वो-

दयाऽऽकेपकत्योदपोमधानन्तानुधन्विष्वधपदेशः । शेषकपाया
ह्यवश्यं मिथ्यात्वोदयमाक्षिपन्त्यतस्तेषामुद्दययोगपदे सत्यपि
नायं व्यपदेश इत्यसाधारणमेवैतन्नामेति । कर्म० १ कर्म० ।
('कसाय' शब्देऽपि तू०भा० ३६७पृष्ठे भावितमेतद् विस्तरतः)
अण्गत्तणुवंधि विसंजोयणा--अनन्तानुवन्धिविसंयोजना-स्त्री० ।
अनन्तानुवन्धिनां कपायाणां विषमयोजनायाम्, (विनाशे) । अन-
न्तानुवन्धिनां कपायाणामुपशमनास्थाने विसंयोजना भवति ।
क० प्र० । (तत्प्रकार 'वचसम' शब्दे द्वि०ना० १०२७ पृष्ठे वक्ष्यते)
अण्गत्तिय-अनन्तिक-न० । अन्तिकमासन्नं तन्निषेधादनन्तिकम्,
नञोऽप्यर्थत्वात् । अनासन्ने, भ० ५ श० ४ उ० ।

अण्गदमाण-अनन्दमत्-वि० । सौख्यमनुभूजति, तं० ।
अण्गदिय-अनन्दित-वि० । अधोक्षोक्तासिन्यामष्टम्यां दिक्षु-
मार्याम, आ० क० ।

अण्गध-अनन्ध-पुं० । अन्धपुरनगरेष्वरे राक्षि, "अंधपुरं नगरं
तत्थ अण्गधो राया " वृ० ४ उ० । नि० चू० ।

अण्गविद्ध-अनाम्ब-वि० । न० त० । स्वस्वादादचक्षिते, आचा०
२ ध्रु० १ अ० ७ उ० । अनाम्बीचूले जीवितविप्रमुक्ते पानकादौ,
नि० चू० १९ उ० ।

अण्गमुवाह [ए]-अनश्रुपातिन्-पुं० । न अश्रु पातयतीति
मार्गादिष्वेदेष्वपि अनश्रुपातनशीले शुभाभादौ, " जं अचंरुपा-
मि अचंरुपामि अण्गमुवाह " जं० ३ वक्त्र० ।

अण्कम्म-अनःकर्मन्-न० । अनः शकटम्, तत्कर्म अनःकर्म । शकटश-
कटाङ्गघटनखेटनविकयादौ, ध० । एतच्च पापप्रकृतीनां कारणमि-
ति कृत्वा श्रावकेण त्यक्तव्यम् । यद्वाह-"शकटानां तदङ्गानां, घट-
नं खेटनं तथा । विक्रयश्चेति शकटा-जीविका परिकीर्तिता" ॥१॥
तत्र शकटानामिति चतुष्पदवाह्यानां वाहनानां, तदङ्गानां चक्रा-
दीनां घटनं स्वयं परेण वा निष्पादनं, खेटनं वाहनं च शकटाना-
मेव सम्भवति, स्वयं परेण वा विक्रयश्च । शकटादीनां तदङ्गा-
नां चेदं कर्माणि सकलचूतोपमर्दननं गवादीनां च वधवन्धा-
दिहेतुः । ध० २ अधि० ।

अण्णकर-ऋणकर-पुं० । ऋणं पापं करोतीति ऋणकरः । चतुर्विधे
गौणप्राणान्तिपाते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अण्णक [क्व] अनक्ष-पुं० । म्लेच्छभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अण्णकजिण्ण-अनासाभिन्न-वि० । अनस्तिते बलीवर्दादौ,
" अणिहंजिण्हिं अण्णकमिषोहिं गोणेहिं तसपाणविवज्जिण्हिं
विसेहिं विचिं कप्पेमाणा विहरंति " म० ७ श० ५ उ० ।

अण्णक्खरसुय-अनक्खरश्रुत-न० । ह्येन्नितिशिरःकम्पनादिनि-
मित्ते मामाह्वयति वारयति वेत्यादिरूपे अभिप्रायपरिज्ञान-
स्वरूपेऽक्षरश्रुतविषकचूते श्रुतभेदे, कर्म० १ कर्म० ।

से किं तं अण्णक्खरसुयं ? अण्णक्खरसुयं अण्णविविहं पण्णत्तं ।
तं जहा-"ऊससियं नीससियं, निच्छूढं खासियं च वीथं
च । निस्सिधियं पण्णसारं, अण्णक्खरं ठेलियाईयं" ॥१॥ सेत्तं
अण्णक्खरसुयं ॥

अथ किं तदनक्खरश्रुतम्-अनक्खरात्मकं श्रुतमनक्खरश्रुतम् । आचा-
र्य आह-अनक्खरश्रुतमनेकविधम्-अनेकप्रकारं प्रकृतम् । तद्यथा-
(ऊससियमित्यादि) उच्छ्वसनमुच्छ्वसितम्, भावे निष्प्राप्य-

यः । तथा निःश्वसनं निःश्वसितम्, निष्ठीवनं निष्पृथतम्, काशनं
काशितम् । चशब्दः समुच्चयार्थः । छिका कृतम्, एपोऽपि ।
चशब्दः समुच्चयार्थः, परमस्य व्यवहितः प्रयोगः । सेटिकादिकं
चेत्येवं छष्टव्यम् । तथा निःसिंहितम् । अनुस्वारवत्-अनुस्वार-
मित्यर्थः । तथा सेटिकादिकं चानक्खरं श्रुतम् । न० ।

अथ ज्ञाप्यम्-

ऊससियाई दन्वसु-यमेत्तमहवा सुओवउत्तस्स ।

सन्वो वि य वावारो, सुयमिह तो किं न चेद्वा वि ? ॥

इहोच्छ्वसितादि अनक्खरश्रुतं, छ्व्यश्रुतमात्रमेवावगन्तव्यम्;
शब्दमात्रत्वात् । शब्दश्च प्रावश्रुतस्य कारणमेव; यच्च कारणं
तद्रूपमेव प्रवतीति प्रावः । प्रवति च तथाविधोच्छ्वसितनिःश्च-
सितादिश्रवणे शशकोऽयमित्यादि ज्ञानम् । एवं विशिष्टाभि-
सन्धिपूर्वकनिष्पृथकसितक्षुतादिश्रवणेऽप्यात्मज्ञानादि ज्ञानं
वाच्यमिति । अथवा श्रुतज्ञानापयुक्तस्यात्मनः सर्वात्मनैवोप-
योगात्सर्वोऽप्युच्छ्वसितादिको व्यापारः श्रुतमेवेह प्रतिपत्तव्य-
मित्युच्छ्वसितादयः श्रुतं भवन्त्येवेति । आह-यद्येवं ततो गमना-
गमनचक्षणस्पन्दनादिरूपाऽपि चेष्टा व्यापार एव, ततः श्रुतोपयुक्त-
संवन्धिनी एषाऽपि किं श्रुतं न प्रवति ? । उच्यते-कः किमाह ? ।
प्राप्नोत्यनेन न्यायेन साऽपि श्रुतं, किन्तु-

रूढी य तं सुयं सु-च्चइ ति चेद्वा न सुच्चइ कयाइ ।

आहिगमया वण्णा इव, जमण्णस्सारादओ तेणं ॥

उक्तन्यायेन श्रुतत्वप्राप्तौ समानायामपि तदेवोच्छ्वसितादि श्रुतं,
न शिरोधूननकरचलनादिचेष्टा ; यतः शास्त्रलोकप्रसिद्धा
रुदिरियं तत् उच्छ्वसिताद्येव श्रुतं रूढं, न चेष्टेत्यर्थः । श्रूयते
इति श्रुतमिति चाचर्यवशात् । तदेवोच्छ्वसितादि श्रुतम्, न चेष्टे-
त्येवं चशब्दः पक्षान्तरसूचको भिन्नक्रमश्च । करादिचेष्टा तु
वदयत्वात्कदापि न श्रूयत इति कथमसौ श्रुतं स्यात् ? इत्यर्थः ।
अनुस्वारादयस्त्वकारादिवर्णा इवार्थस्याधिगमका, एवेति तेन
कारणेन ते निर्विवादादमेव श्रुतमिति गाथार्थः । इत्यनक्खरश्रुतमि-
ति । विज्ञे० ।

टिट्ठि ति नंदगोत्र-स्स बालि वत्थे निवारैइ ।

टिट्ठि ति य मुच्छडए, सेसा लट्ठीनिवाणए ॥

नन्दगोत्रस्य बालिका केनादिकं रक्तांती वत्सकान् बालगोरु-
पान् टिट्ठि इत्यनुकरणानुरूपमनुकार्यमुच्चरन्ती निवारयति । तथा
ये मुग्धा हरिणादयस्तानपि टिट्ठि इत्येवं निवारयति । शेषास्तु
सामान्यभृतीन् यष्टिनिपातेन निवारयति । अत्र टिट्ठि इत्येतदन-
क्खरमपि वत्सादीनां प्रतिषेधलक्षणार्थप्रतिपत्तिहेतुरूपं जायते,
इत्यनक्खरश्रुतम् । वृ० १ उ० । कर्म० । विशेष० ।

अण्णगरहिय-अगर्हित-वि० । परममुनिभिरपि महापुरुषैः सेवि-
तत्वाच्च सामायिके, आ० म० द्वि० ।

अण्णगार-अनगार-पुं० । अनगारशब्दो व्युत्पन्नोऽव्युत्पन्नश्च । अ-

व्युत्पन्नः साधौ, " अनगारो मुनिमौनी, साधुः प्रव्रजितो व्रती ।
अमणः कृपणश्चैव, यतिश्चैकार्थवाचकाः" ॥१॥ इति । उक्तं । व्यु-
त्पन्नोऽगारशब्दो द्विधा-छ्व्यज्ञावभेदात् । तत्र छ्व्यागारमनै-
र्हुमहपदादिर्जिनिवृत्तम्, भावागारं पुनरगैर्विपाककालेऽपि जीव-
विपाकितया शरीरपुद्गलादिषु बहिःप्रवृत्तिरहितैरनन्तानुब-
न्ध्यादिर्जिनिवृत्तं कषायमोहनीयम् । तत्र छ्व्यागारपक्षे नञ्-
तु निषेधे । अविद्यमानगृहे; भावागारपक्षे त्वल्पकषायमोहनीये;

कायमोहनीयं हि कर्म । न च कर्मणः स्थित्यादिचूयस्त्वे विर-
तिसम्भवः । यत आगमः—“ सत्तएहं पयमीयं, अन्धितरओ य
कोडकोमीय । काळण सागराणं, जइ लहइ चउएहमसयरं” ॥१॥
इत्यादि । उक्त० १ अ० ।

(१) एतन्निक्षेपः—

अणगारे निक्खेवो, चउव्विहो हुविहो होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो, आगमतो होइ सो तिबिहो ॥
जाणगसरीरभविण, तव्वइरित्ते य णिएहवाइसु ।
जावे सम्मदिट्ठी, अणारवासा विणिम्मुक्को ॥ उक्त० नि० ।

स्पष्टमिदं गाथाद्ययम्, नवरं, तद्व्यतिरिक्तञ्च निहवादिषु, आदि-
शब्दादन्येष्वपि चारित्रपरिणामं विना गृह्यज्ञावत् । निर्द्वारेण
सप्तमी । ततश्च यस्तेषु मध्ये अनगारत्वेन होके रुढ इत्युपस्का-
रः स तद्व्यतिरिक्तो ह्यनगारो, भावे सम्यग् दृष्टिः सम्यग्द-
र्शनवान्, निश्चयतो यत्सम्यक्त्वं तन्मौनमिति । चारित्र्यं च अगा-
रवासेनानगरवासेन वा, प्राकृतत्वात् तृतीयायै पञ्चमी । विशेषे-
ण तत्प्रतिबन्धपरित्यागरूपेण, निर्मुक्तस्त्यक्तः, विनिर्मुक्तोऽन-
गार इति प्रक्रमः । उक्त० ३४ अ० भ० प्रज्ञा० स० सूत्र० नि०
चू० । द्वा० । सु० प्र० । रा० । जं० । आचा० । परित्यक्तद्रव्य-
ज्ञावगृहे, न० । सामान्यसाधौ, भ० १५ श० १ उ० । गृहरहिते,
सूत्र० २ श्रु० १ अ० । त्यक्तगृहव्यापारे, आचा० २ श्रु० ६ अ०
२ उ० । द्वा० । पुत्रदुहितृस्तुपाज्ञातिधात्र्यादिरहिते, आचा० १
श्रु० २ अ० ५ उ० । भिक्षौ, स्था० ६ उ० १० उ० ।

(२) अनगारत्वं वीरान्तेवासिनां वर्णकः—

ते णं काले णं ते णं समए णं समएस्स जगवओ महावीरस्स
बहवे अणगारा जगवतो अप्पेगइआ आयारधरा जाव विवाग-
सुअधरा (तत्थ तत्थ) ताहिं ताहिं देसे देसे गच्छागच्छं गुम्मागुम्मं
फुड्डाफुड्डं अप्पेगइआ वायंति, अप्पेगइया पडिपुच्छंति, अप्पे-
गइया परियट्ठंति, अप्पेगइया अणुप्पेहंति, अप्पेगइआ अक्खे-
वणीओ विक्खेवणीओ संवेअणीओ णिव्वेअणीओ चउ-
व्विहाओ कहओ कहंति । अप्पेगइआ उट्ठं जाणु अहो सिरा
जाणकोटोवगया संजमेणं तवसा अप्पाणं जावेमाण विहरं-
ति संसारजउव्विग्गा जीआ जम्मए जरमरणकरणं गंभीरउ-
क्खपक्खुज्जिअपरसञ्जिलं संजोगविओगवीचीचिंतापसंग-
पसरिअवहवंधमहद्विविउलकद्वोदकलुणाविलाविअलोजक-
दकजंतवोलवहुत्वं अवमाणणफेणतिव्विक्खिसणपुलंपुल-
प्पज्जअरोगवेअणपरिभवविणिवायफरुसधरिसणासमावहि-
अकट्ठिणकम्मपसत्थतरतरंगंतनिच्चमच्चुजयतो अपट्ठं क-
सायपायालसंकुलं भवसयसहस्सकलुसजलसंचयं पतिजयं
अपरिमिमहिउत्थकलुसमतिवाउवेगे उच्छुम्माणदगरयरयं-
धआरवरफेणपउरआसापिवासधवलं मोहमहावत्तजोगभम-
माणगुप्पमाणुच्छलंतपच्चोणिपत्तपाणिपमायचंरुवहुदुस-
वयसमाहयुप्पायमाणपव्वजारघोरकंदियमहारवरवंतजेरवरवं
अण्णणभंभंतमच्छपरिहत्थअणिहुतिदिमहामगरतुरिअ-
चरियखोखुव्वभमाणनच्चंतचवलचंचलचलंतधुम्मंतजलसमूहं
अरतिजयविसायमोगमिच्छत्तेस्ससंकमं अणाइस्ताणकम्म-

बंधणकिट्ठेसच्चिक्खिल्लदुत्तारं अमरासुरनरतिरियनिरयगइग-
मणकुडिलपरिवत्तविउलवेत्तं चउरंतमहंतमणवदग्गरुदसंसा-
रसागरं जीमदरिसणिज्जं तरंति, धीईधणिअनिप्पकंपेण तुरि-
यं चवत्तं संवरवरगगतुरंगकूवयसुसंपउत्तेणं णाणसितविगल-
मूसिएणं सम्मत्तविमुक्कलक्खणिज्जामएणं धीरा संजमोएण
सीलकलिआ पसत्थज्जाणतववायपणोद्धिअपहाविएण उ-
ज्जमववसायगगहियणिज्जरणजयणउवओगणाएदंसएवि-
सुद्धवयमंरुजरिअसारा जिणवरवयणोवदिट्ठमगेण अकु-
मिलेण सिद्धमहापट्ठणाभिमुहा समणवरसत्थवाहा सुसुइ-
सुसंभासमुपएहसासा गामे गामे एगरायं एगरे एगरे पंच-
रायं दूइज्जया जिइंदिया णिव्वभया गयजया सच्चित्ताचित्त-
मीसिएसु दव्वेसु विरागइगया संजया विरया मुत्तां द्वाहुआ
णिरवकंखा साहु णिहुआ चरंति धम्मं ॥

‘अप्पेगइया आयारधरेत्यादि’ प्रतीतम् । कचित् दृश्यते (तत्थ
तत्थं ति) उद्यानादौ (ताहिं ताहिं ति) तदंशोक्तमेवाह-देशे
देशे अवग्रहभागी वीप्साकरणं वाऽऽधारवाहुल्येन साधुवाहु-
ल्यप्रतिपादनार्थम् (गच्छागच्छं ति) एकाचार्यपरिवारो गच्छः
गच्छे गच्छे गत्वा गच्छागच्छि, वाचयन्तीति योगः । दण्डा-
दण्ड्यादिवच्छब्दसिद्धिः । एवं गुम्मागुम्मि फुड्डाफुड्डं च; न-
वरं, गुल्मं गच्छैकदेशः उपाध्यायाधिष्ठितः, फुड्डकं लघुतरो
गच्छदेश एव गणावच्छेदिकाधिष्ठित इति । अथ प्राकृतवा-
चना- (वायंति) सूत्रवाचनां ददति (पडिपुच्छंति
ति) सूत्रार्थं पृच्छन्ति (परियट्ठंति) परिवर्त्तयन्ति तावेव
(अणुप्पेहंति ति) अनुप्रेक्षन्ते तावेव चिन्तयन्ति (अ-
क्खेवणीओ ति) आक्षिप्यते मोहान् तत्त्वं प्रत्याकृष्यते श्रोता
यकाभिरित्याक्षेपणः (विक्खेवणीओ ति) विक्षिप्यते कुमा-
र्गविमुखो विधीयते श्रोता यकाभिस्ता विक्षेपणः (संवेय-
णीओ ति) संवेद्यते मोक्षसुखाभिलाषी विधीयते श्रोता य-
काभिस्ता संवेदन्यः (निव्वेयणीओ ति) निर्वेद्यते संसारनि-
र्विणो विधीयते श्रोता यकाभिस्ता निर्वेदन्यः । तथा (उट्ठं
जाणु अहो सिर ति) शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिकनि-
पद्याया अभावाच्चोक्कदुकासनाः सन्तोऽपदिश्यन्ते ऊर्द्धं जा-
नूनी येषां ते ऊर्द्धजानवः, अधः शिरसोऽधोमुखाः, नोर्द्धं तिर्य-
ग्वा विक्षिप्तदृष्टय इत्यर्थः । (भाणकोटोवगय ति) ध्यानरूपो
यः कोष्ठस्तमुपगता ये ते तथा, ध्यानकोष्ठप्रवेशनेन संवृतेन्द्रिय-
मनोवृत्तिध्याना इत्यर्थः, संयमेन तपसाऽऽत्मानं भावयन्तो वि-
हरन्तीति । प्रकारान्तरेण स एवोच्यते—(संसारभउव्विग्ग ति)
प्रतीतम् । (जम्मएजरमरणेत्यादि) जन्मजरामरणेव करणा-
नि साधनानि यस्य तत्तथा तच्च तद्गम्भीरदुःखं च तदेव प्र-
चुभितं प्रचुरं सलिलं यत्र स तथा; तं संसारसागरं तरन्ती-
ति योगः । (संजोगविओगेत्यादि) संयोगवियोगा एव वी-
चयस्तरङ्गा यत्र स तथा, चिन्ताप्रसङ्गश्चिन्तासातत्यमित्यर्थः,
स एव प्रसृतं प्रसरो यस्य स तथा, वधाः हननानि, वन्धाः
संयमनानि, तान्येव महान्तो दीर्घा विपुलाश्च विस्तीर्णाः क-
ल्लोला महोर्मयो यत्र स तथा, करुणानि विलापितानि यत्र स
तथा, स चासौ लोभश्च स एव कलकलायमानो यो वोक्षो
ध्वनिः स बहुलो यत्र स तथा—ततः संयोगादिपदानां कर्म-
धारयः । अतस्तत्तम्, (अवमाणेत्यादि) अपमानमेवापूजनमेव,

फेनो यत्र स तथा । तीव्रखिसनं चात्यर्थनिन्दा, पुलुप्पुलप्रभूता
अनवरतोद्भूता या रोगवेदना । पाठान्तरे-तीव्रखिसनप्रलुम्पि-
तानि च, प्रभूतरोगवेदनाश्चः परिभवविनिपातश्च पराभिभव-
सम्पर्कः । परपरधर्माणाम्निष्ठरवचननिर्भेत्सनानि, समापीत-
तानि नमापन्नानि वद्धानि यानि कटिनानि कर्कशोदयानि,
कर्माणि ज्ञानावरणादीनि, तानि चेति द्वन्द्वः ततः एतान्येव
ये प्रस्तराः पापाणाः, तैः कृत्वा तरङ्गैः रिङ्गद्वीचिभिश्चलद्, नित्यं
ध्रुवं, मृत्युमयमेव मरणभीतिरवे, तोयपृष्ठं जलोपरितनभागो
यत्र स तथा, ततः कर्मधारयः । अथवा अपमानफेनमिति तो-
यपृष्ठस्य विशेषणमतो बहुव्रीहिरेवास्तु, तम्, [कसायेत्यादि]
कपाय एव पानालाः पातालकपायास्तैः संकुलो यः स तथा
तम्, [भवसयसहस्तेत्यादि] भवशतसहस्राण्येव कलुषा जला-
नां संचयो यत्र स तथा तम्, पूर्वं जननादिजन्यदुःखस्य स-
लिलतोक्ता, इह तु भवानां जननादिभ्रमेवतां जनिविशेषस-
मुदायनोक्तेति न पुनरुक्तत्वमिति, [पद्भयं ति] व्यक्रम्, [अपरिमि-
येत्यादि] अपरिमिता अपरिमाणा या महच्छा वृद्धमिलापा सा
येषां ते लोकास्तेषां कलुषा मलिना या मतिः सैव वायुवेगस्तेन
'उद्धुममाणं उद्धुवमाणं वा' उत्पाद्यमानं यदुदकरज उदक-
रंणुसमूहः, तस्य रयो वेगस्तेनान्धकारो यः स तथा, वरफे-
नेनेव प्रचुराशापिपासाभिः, तत्र प्रचुरा बह्व्य आशाः अप्राप्ता-
र्थानां प्रातिसम्भावनाः, पिपासास्तु-तेषामेवाकाङ्क्षा, अतस्ता-
मिध्वल इव ध्वलो यः स तथा, ततः कर्मधारयः, अत-
स्तम्, [मोहमहावचेत्यादि] मोहरूपे महावर्त्ते भोगरूपं ब्राम्य-
न्मण्डलेन भ्रमद् गुण्यद्वाकुलीभवद्, उच्छलत् उत्पतत्, प्रत्यव-
निपतच्चाधःपतत्, पानीयं जलं यत्र स तथा, प्रमादा मद्यादय-
स्त एव चण्डबहुदुष्टस्वापदाः रौद्रभूरिचुद्रव्यालास्तैरेव समाह-
ताः प्रहता उद्धावन्तश्च उत्तिष्ठन्तो वा विविधं चेष्टमानाः, समु-
द्रपक्षे मत्स्यादयः, संसारपक्षे पुरुषादयः, तेषां प्राग्भारः पूरो वा
समूहो यत्र स तथा, तथा धारो यः क्रन्दितमहारवः स एव र-
चन् प्रतिशब्दकरणतः शब्दायमानो भैरवरवो भीमद्यो यो यत्र स
तथा, तत्पदत्रयस्य कर्मधारयः, ततस्तम्, [अस्वाणमन्तेत्यादि]
अज्ञानान्येव भ्रमन्तो मत्स्याः (परिहृत्यं ति) दक्षा यत्र स तथा,
अनिभृतान्यनुपशान्तानि यानीन्द्रियाणि तान्येव महामकारा-
स्तेषां यानि त्वरितानि शीघ्राणि चरितानि चेष्टितानि तैः (खो-
सुञ्जमाणे ति) नृशं कुन्त्यमाणां, नृत्यान्वि नृत्यंश्च चपलानां मध्ये
चञ्चलश्चास्थिरत्वेन, चञ्चलं स्थानान्तरगमनेन, धूर्ष्यश्च ब्राम्यन्
जलसमूहो जलसंघातः, अन्यत्र जरसमूहो यत्र स तथा, ततः
कर्मधारयः, ततस्तम्, [अरतिनयेत्यादि] अरतिभयविपादशोकमि-
थ्यात्वानि प्रतीतानि, तान्येव शैलास्तैः संकटो यः स तथा, तम् ।
(अणुइसंताणेत्यादि) अनादिसन्तानमेनादिप्रवाहं यत् कर्मव-
न्धने तच्च, क्लेशाश्च रागादयस्तत्तुक्ता यन्निष्पिखलं कर्मस्तेन
सुष्ठु दुस्तारो यः स तथा, तम्, [अमरासुरेत्यादि] अमरासुरतिथि-
निरयगतिषु यज्जमनं तदेव कुटिलपरिवर्त्तावर्तपरिवर्त्तना विपुला
च विस्तीर्णा वेला जलवृत्तिलक्षणा यत्र स तथा, तम्, (चञ्चरन्त-
महन्ति ति) चतुर्विभागं दिग्भेदगतिभेदाभ्यां महान्तं च महाया-
मम्, (अणवदगं ति) अतवदग्रमनन्तमित्यर्थः, विस्तीर्णं संसार-
सागरमिति व्यक्तम् । (भीमदरिसाण्डेजं ति) भीमो दृश्यत इति-
भीमदर्शनीयस्तं, तरन्ति लङ्घयन्ति संयमपोतेनेति योगः । कि-
म्भूतेन (धीर्ध्राणिअणिपक्षेणे ति) धृतिरज्जुवन्धनेन, धनिक-
मत्यर्थं, निष्प्रकम्पोऽविचलो यः सः, मध्यमपद्मोपाद्, धृतिधनिक-

निष्प्रकम्पस्तेन, त्वरितं, चपलमतित्वरितं यथा ज्वलतीत्येवं तरन्ति ।
(संवरचरेग्मेत्यादि) संवरः प्राणातिपातादिविरतिरूपः, वैराग्यं
कपायनिग्रहः, एतत्तुक्ता यस्तुक्ता उच्यः कृपकस्तम्भाविशेषस्तेन,
सुष्ठु संप्रयुक्तो यः स तथा, तेन [णाणेत्यादि] ज्ञानमेव सितः
सितपटः स विमलं वञ्छितो यत्र स तथा तेन; णकारश्चेह प्राक्-
तशैलीप्रभवः [सम्मत्तेत्यादि] सम्यक्स्वरूपो विशुद्धो निर्दोषो
वञ्छोऽवातो निर्यामकः कर्णधारो यत्र स तथा, तेन, धीराः अक्लो-
जाः, संयमपोतेन शीघ्रकक्षिता इति च प्रतीतम् । (पस्तथेत्यादि)
प्रशस्तं ध्यानं धर्मादि तद्वत् यत्तपः स एव वातो वायुस्तेन
यत् प्रणोदितं प्रेरणं तेन प्रधानतो वेगेन चञ्चितो यः स तथा,
तेन; संयमपोतेनिति प्रकृतम् । (उज्जमववसायेत्यादि) उद्यम अना-
लस्यं, व्यवसायो वस्तुनिर्णयः, सङ्ख्यापारो वा, ताड्यां मूढक-
ल्पाभ्यां यद् गृहीतं कीर्तं निर्जरणयतनोपयोगज्ञानदर्शनविशुद्ध-
व्रतरूपं भाण्यक्रयाणकं तस्य भरितः संयमपोतभरणेन पिण्डितः
सारो यैस्ते तथा; भ्रमणवरसार्धवाहा इति योगः । तत्र निर्ज-
रणं तपः, यतना बहुदोषत्यागेनाल्पदोषाश्रयणम्, उपयोगः साव-
धानता, ज्ञानदर्शनाभ्यां विशुद्धानि व्रतानि, अथवा ज्ञानदर्शने च
निशुद्धव्रतानि चेति समासः । व्रतानि च महाव्रतानि । पाठान्तरे-
(णाणदंसणेत्यादि) तत्र ज्ञानदर्शनचारित्र्याद्येव विशुद्धवरमाणं,
तेन भरितः सारो यैस्ते तथा । [जिणवरेत्यादि] व्यक्तम् । (सुसुहृ इत्या-
दि) सुश्रुतयः सम्यक्श्रुतप्रस्थाः, सत्सिद्धान्ता वा, सुखचयो वा, सु-
खः सम्मायो येषां, सुखेन वा सम्भाव्यन्ते इति सुसम्मायाः, शोभ-
नाः प्रश्नाः, सुखेन वा प्रशस्यन्ते ये ते सुप्रश्नाः, शोभना आशाः वाञ्छा
येषां ते स्वाशाः । अथवा सुखेन प्रशस्यन्ते शास्यन्ते च शिद्ध्यन्ते
ये ते सुप्रश्नाः, शोभनानि वा प्रशशस्यानि पृच्छाधान्यानि
येषां ते तथा, अथवा सुप्रश्नाः शस्याश्च प्रशंसनीयाः, ततः कर्म-
धारय इति । (दूहज्यं ति) छ्वन्तो वसन्तः, अनेकार्थत्वाका-
तूनाम् । (णिभयं ति) भयमोहनीयोदयनिषेधात् । (गयभयं ति)
उदयविक्रताकारणात् । (संजयं ति) संयमवन्तः । कुत
इत्याह- (विरयं ति) यतो निवृत्ताः हिंसादिभ्यः, तपसि वा वि-
शेषेण रता विरताः ' विरया ' वा निरौत्सुक्याः विरजसो वा
अपायाः । ' संचयाओ विरयं ति ' क्वचिद् दृश्यते, तत्र सन्निधे-
र्निवृत्ता इत्यर्थः । (मुत्तं ति) मुक्ताः ग्रन्थेन, (बहुवृत्तिं) बहुधा
अष्टोपधिवात्, (शिरवकं ति) अप्रासाधोकाङ्क्षावियुक्ताः
(साहृ) मोक्षसाधनात्, (णिहुआ) निवृत्ताः प्रशान्तवृत्तयः, चरन्ति ।
[धम्मं ति] व्यक्तम् । अत्र साधुवर्णके जितेन्द्रियत्वादीनि विशेषे-
णानि बहुशोऽधीतानि, तानि च गमान्तरतया निरवधानि,
यत् पुनरत्रैव गमे पुनरुक्तमवज्ञासते, तत् स्तवत्वात् दुष्टम् । यदाह-
"सज्जायज्जाण नवओ-सहेसु उवएससुपणामेसु । संतगुण-
किच्छणासु य, न हुंति पुनरुक्तदोसाओ" ॥१॥ ओ० "तिदि गणेहि
संभने अणुगारे अणुइयं अणवदगं दीहमद्धं चाउरंतसंसार-
कंनारं विईवएज्जा । तं जहा-अणिदाणयाए दिधिसंपययाए जो-
गवाहियाए " स्था० ३ गा० । (सर्वेषां पदानां व्याख्या स्वस्व-
स्थाने द्रष्टव्या)

(३) पृथिवीकायिकादिर्हिसकानामनगारत्वं न भवति-

पत्रयंति य अणुगारा, ए य तेसिं गुणोहि जेहि अणुगारा ।
पुढविं विहिंसमाणा, न ह्यंति वायाइ अणुगारा ॥८८॥
अणुगारावाणो पुढ-विहिंसगा निगुणा अगारिसमा ।
निदो न ति य मझा, विइ दुग्गुछाइ मझतरा ॥१००॥
आच्चा० नि० ।

इह हेके कुतीर्थिका यतिवेपमास्थाय एवञ्च प्रवदन्ति-वयम-
नगराः प्रव्रजिताः। न च तेषु गुणेषु निरवधानुष्ठानरूपेषु वर्तन्ते
येष्वनगराः। यथा चानगरगुणेषु न वर्तन्ते तद्वद्वयति-यतस्तेऽह-
निशं पृथिवीजन्तुविपत्तिकारिणो दृश्यन्ते गुदपाणिपादप्रकाश-
नार्थम्, अन्यथाऽपि निर्लेपनिर्गन्धत्वं कर्तुं शक्यम्। अतश्च ते गुण-
कलापशून्याः, न बाह्यान्नेन युक्तिनिरपेक्षेणानगरता जवतीत्यनेन
प्रयोगः सूचितः। तत्र गाथापूर्वार्धेन प्रतिज्ञा, पश्चार्धेन हेतुः, उत्त-
रगाथाध्वेन साधर्म्यद्वयान्तः। स चायं प्रयोगः-तीर्थिका यत्य-
भिधानवादिनोऽपि यतिगुणेषु न वर्तन्ते, पृथिवीहिंसाप्रवृत्तत्वा-
त्, इह ये ये पृथिवीहिंसाप्रवृत्तास्ते ते यतिगुणेषु न वर्तन्ते, गृ-
हस्थवत्। साम्प्रतं दृष्टान्तगर्जे निगमनमाह-[अणेत्यादि] अनगा-
रवादिनः-वयं यतय इति वदन्शीलाः पृथिवीकायविहिंसकाः
सन्तो निर्गुणाः, यतोऽगारिसमा गृहस्थतुल्या जवन्ति।
अभ्युच्चयमाह-'सचेतना पृथिवी' इत्येवं ज्ञानरहितत्वेन त-
त्समारम्भवर्तिनः सदोषा अपि सन्तो वयं निर्दोषा इत्येवं
मन्यमानाः स्वदोषप्रेक्षाविमुखत्वान्मलिनाः कबुधितहृदयाः,
पुनश्चातिप्रगल्भतया साधुजनाश्रिताया निरवधानुष्ठानात्मिका-
या विरतेः जुगुप्सया निन्दया मलिनतरा भवन्ति। अनया च
साधुनिन्दयाऽनन्तसंसारित्यं प्रदर्शितं भवतीति। आचा० १ शु०
१ अ० २ व०। "अणगारे पासंडी, चरगे तह बंभणे चेव"
इति। दश० १० अ०। "बुद्धः प्रव्रजितो मुक्तो-ऽनगरश्चरकस्त-
था"। द्वा० २७ द्वा०।

(४) क्रियाऽसंवृतोऽनगारो न सिध्यति, किन्तु संवृत इति
सावतारमाह-ननु सत्यपि ज्ञानादेर्मोक्षहेतुत्वे दर्शन एव यति-
तयम्, तस्यैव मोक्षहेतुत्वात्। यदाह-"भट्टेण चरित्ताओ, सु-
हुयरं दंसणं गहेयव्वं। सिज्झंति चरणरहिया, दंसणरहिया ए
सिज्झंति" ॥१॥ इति यो मन्येत तं शिष्यितुं प्रश्नयन्नाह-

असंवृते एं जंते ! अणगारे सिज्झति बुज्झति मुच्चति
परिणिव्वाति सव्वपुक्खाणमंतं करेति ?।

प्रश्नसूत्रं सुगमम्। उत्तरमाह-

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठे एं जंते ! जाव
अंतं न करेति ?। गोयमा ! असंवृते अणगारे आउयवज्जा-
ओ सत्तकम्मपगडीओ सिद्धिबवंधणवच्चाओ धणियवंध-
णवच्चाओ पकरेइ, हस्सकाइडितीयाओ दीहकालडिती-
याओ पकरेइ, मंदाणुभावाओ तिब्वाणुजावाओ पकरेइ,
अणपदेसगाओ बहुपदेसगाओ पकरेइ। आउयं च एं
कम्मं सिय वंधइ, सिय नो वंधइ, असायावेयणिज्जं च एं
कम्मं भुज्जो जुज्जो उवचिणइ, अणाइयं च एं अणव-
यगं दीहमच्चं चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्ठति, से ते-
णट्ठे एं गोयमा ! असंवृते अणगारे णो सिज्झइ ॥

एतदपि कण्ठ्यम्। नवरं (नो इणट्ठे समट्ठे चि) नो नैव,
अयमनन्तरोक्तत्वेन प्रत्यक्तोऽर्थो भावः, समर्थो वज्रवान्, वक्ष्य-
माणदूषणमुक्तप्रहारजर्जरितत्वात्। [आउयवज्जाओ चि]
यस्मादेकत्र भवप्रहणे सकृदेव अन्तर्मुहूर्त्तमात्रकाल एव, आयुषो
बन्धः, तत उक्तम्-आर्युवर्जा इति। [सिद्धिबवंधणवच्चाओ चि]
श्रुतबन्धनं स्पृष्टता वा, बध्ना वा, निधत्तता वा, तेन बद्धा
आत्मप्रदेशेण सम्बन्धिताः, पूर्वावस्थायामश्रुभतरपरिणामस्य

कथञ्चिदभावादिति शिथिलबन्धनबद्धाः। एताश्चाशुजा एव
द्रष्टव्याः, असंवृतभावस्य निन्दाप्रस्तावात्। ताः किमित्याह-
[धणियवंधणवच्चाओ पकरेइ चि] गाढतरयन्धनवच्चावस्था वा,
निधत्तावस्था वा, निकाचितावस्था वा प्रकरोति। प्रशब्दस्यादि-
कर्माथत्वात्कर्तुमारज्यते, असंवृतत्वस्य शुभयोगरूपत्वेन गाढ-
तरप्रकृतिबन्धहेतुत्वात्। आह च-'जो गायपडिपएसं ति' पौनः-
पुन्यजावे त्वसंवृतत्वस्य ताः करोतीत्येवेति। तथा-हस्वकाल-
स्थितिका दीर्घकालस्थितिकाः प्रकरोति, तत्र स्थितिरुपात्तस्य
कर्मणोऽवस्थानं, तामल्पकालां महतीं करोतीत्यर्थः; असंवृत-
त्वस्य कषायरूपत्वेन स्थितिबन्धहेतुत्वात्। आह च-'ठिइमणु-
जागं कसायओ कुणइ चि'। तथा [मंदाणुजावेत्यादि] इहानुभा-
वो विपाकः, रसविशेष इत्यर्थः; ततश्च मन्दानुभावाः परिपेक्ष-
वरसाः सतीर्गाढरसाः प्रकरोति। असंवृतत्वस्य कषायरूपत्वा-
देवानुभागबन्धस्य च कषायप्रत्ययत्वादिति। [अणपपसेत्या-
दि] अल्पं स्तोकं प्रदेशाग्रं कर्मदक्षिकपरिमाणं यासां तास्तथा,
ताः बहुप्रदेशाग्राः प्रकरोति प्रदेशबन्धस्यापि योगप्रत्ययत्वाद्-
संवृतत्वस्य च योगरूपत्वादिति। [आउयं चेत्यादि] आयुः,
पुनः, कर्म, स्यात् कदाचिद्, वज्जाति, स्यान्न वज्जाति। यस्मात्त्रि-
जागाद्यवशेषायुषः परजवायुः प्रकुर्वन्ति, तेन यदा त्रिजागादि-
स्तदा वज्जाति, अन्यदा न वज्जातीति तथा। [असाय इत्यादि]
असातवेदनीयं च दुःखवेदनीयं कर्म पुनर्भूयोभूयः पुनरुपचि-
नोति उपचितं करोति। ननु कर्मसप्तकान्तर्वर्त्तित्वादसातवेद-
नीयस्य पूर्वोक्तविशेषणेश्च एव तदुपचयप्रतिपत्तेः किमेतद्-
ग्रहणेन ?। इत्यत्रोच्यते-असंवृतोऽत्यन्तदुःखितो भवतीति-
प्रतिपादनेन भयजननादसंवृतत्वपरिहारार्थमिदमित्युच्यते।
[अणाइयं चि] अनादिकं अविद्यमानादिकम्, अज्ञातिकं वा
अविद्यमानस्वजनम्, अणं वा अतीतम्, अणुजन्यदुःखताऽति-
क्रान्तदुःखतानिमित्ततयेति अणातीतम्। अणं वा अणकं
पापमतिशयेनेतं गतम्-अणातीतम् [अणवयगं चि] 'अवय-
गं चि' देशीवचनोऽन्तवाचकस्ततस्तत्रिपेक्षात् 'अणवयगं'
अनन्तमित्यर्थः। अथवा अवनतमासन्नमप्रमन्तो यस्य तत्तथा,
तत्रिपेक्षादनवनताप्रमेतदेवर्णनाशान्नवनताप्रमिति। अथवा अन-
वगतमपरिच्छिन्नमप्रं परिमाणं यस्य तत्तथा। अतएव [दीहम-
च्चं चि] दीर्घार्द्धं दीर्घकालं, दीर्घार्धं वा दीर्घमार्गम्। [चाउरंत
चि] चतुरन्तदेवादिगतिभेदात्पूर्वादिदिग्भेदाच्च चतुर्विजागं तदेव
स्वार्थेकाणप्रत्ययोपादानाच्चातुरन्तम्। [संसारकंतारं चि]
जवारणयम् [अणुपरियट्ठ चि] पुनःपुनर्भ्रमतीति ॥

असंवृतस्य तावदिदं फलं, संवृतस्य तु यत्स्यात्तदाह-

संवृटे एं जंते ! अणगारे सिज्झइ ?। हंता सिज्झइ
जाव अंतं करेइ। से केणट्ठे णं भंते ! एवं बुच्चइ ?। गोयमा !
संवृते एं अणगारे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ
धणियवंधणवच्चाओ सिद्धिबवंधणवच्चाओ पकरेइ, दीह-
कालडितीयाओ हस्सकाइडितीयाओ पकरेइ, तिब्वाणुभा-
वाओ मंदाणुजावाओ पकरेइ, बहुपदेसगाओ अणपदेसगा-
ओ पकरेइ, आउयं च एं कम्मं न वंधइ, असायावेयणिज्जं
च एं कम्मं णो भुज्जो जुज्जो उवचिणइ, अणादीयं च ण
अणवदगं दीहमच्चं चाउरंतं संसारकंतारं वीईवयइ। से तेण-
ट्ठे एं गोयमा ! एवं संवृटे अणगारे सिज्झइ जाव अंतं करेइ।

(संयुक्ते णमित्यादि) व्यक्तम्, नवरं, संवृतोऽनगारः प्रमत्तसंय-
तादिः, स च चरमशरीरः स्यादचरमशरीरो वा, तत्र यश्चरम-
शरीरस्तदपेक्षयेद् सूत्रम्, यैस्त्वचरमशरीरस्तदपेक्षया परम्परया
सूत्रार्थोऽवसेयः । ननु पारम्पर्येणासंवृतस्यापि सूत्रोक्तार्थस्या-
वश्यंभावः यतः शुद्धप्राप्तिकस्यापि मोक्षोऽवश्यंजायते, तदेवं
संवृतासंवृतयोः फलतो ज्ञेयानाव पथेति । अत्रोच्यते-सत्यम्,
किन्तु यत्संवृतस्य पारम्पर्यं तदुत्कर्षतः सत्ताएजवप्रमाणम् ।
यतो वक्ष्यति-“जहन्नियं चारित्ताराहणं आराहिता सत्तज्जव-
गहणेहि सिद्धम्” । यत्त्वाऽसंवृतस्य पारम्पर्यं तदुत्कर्षतो-
ऽपार्द्धपुद्गलपरावर्तमानमपि स्यात्, विराधनाफलत्वात् तस्येति ।
(वीर्यव्यवृत्ति) व्यतिव्रजति, व्यतिक्रामतीत्यर्थः । भ० १ श० १३० ।

(५) अनगारस्य भावितात्मनोऽसिधारादिष्ववगहना—

रायगिहे जाव एवं वयासी-अणगारे णं जंते ! जाविय-
प्पा असिधारं वा खुरधारं वा ओगाहेज्जा ! हंता ओगाहे-
ज्जा । से णं तत्थ जिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा ! एो इण्ठे
समंठे, एो खलु तत्थ सत्थं कमइ । एवं जहा पंचमसए
परमाणुपोगले वत्तव्वया जाव । अणगारे णं जंते ! भावि-
यप्पा उदावत्तं वा जाव । णो खलु तत्थ सत्थं कमइ ।

[रायगिहे इत्यादि] इह चानगारस्य कुरधारदिषु प्रवेशो
वैक्रियलब्धिसामर्थ्यादवसेयः । [एवं जहा पंचमसए इत्यादि]
अनेन च यत्सूचितं तदिदम्-“अणगारे णं जंते ! भावियप्पा अ-
णिकायस्स मज्जं मग्गेणं वीर्यवज्जा !, हंता वीर्यवज्जा, से
णं तत्थ जिज्जापज्जा ! । नो इण्ठे समंठे, नो खलु तत्थ सत्थं
कमइ ” इत्यादि । भ० १८ श० १० उ० ।

[६] अनगारस्य जकप्रत्याख्यातुराहारः—

जत्तपच्चक्खायए णं भंते ! अणगारे मुच्चिए अज्जोव-
वषे आहारमाहारेइ, अहे णं वीससाए कालं करेइ, तओ
पच्छा अमुच्चिए अगिच्छे जाव अणज्जोववणं आहार-
महारेति ! । हंता गोयमा ! जत्तपच्चक्खायए णं अणगारं तं
चेव । से केण्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ जत्तपच्चक्खायए णं तं
चेव ! । गोयमा ! जत्तपच्चक्खायए णं अणगारे मुच्चिए जाव
अज्जोववणं आहारे भवइ, अहे णं वीससाए कालं करेइ,
तओ पच्छा अमुच्चिए जाव आहारे भवइ, से तेण्ठे णं जाव
आहारमाहारेइ ॥

(भत्तेत्यादि) तत्र (भत्तपच्चक्खाय ए णं ति) अनशनी मूर्च्छि-
तः संजातमूर्च्छः जाताहारसंरक्षणानुबन्धस्तद्दोषविषये वा
मूढः ‘मुच्छो मोहसमुच्चययोः’ इति वचनात् ; यावत्करणा-
दिदं दृश्यम्-(गदिप) अथित आहारविषयस्नेहतनुभिः स-
न्दर्भितः, ‘ग्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे’ इति वचनात् । (गिच्छे) गृ-
हः प्राप्ताहारे आसक्तः, अतुल्यत्वेन वा तदाकाङ्क्षवान्, ‘गृधु’ अ-
भिकाङ्क्षायाम्’ इति वचनात् । (अज्जोववषे ति) अच्युपपन्नोऽप्रा-
प्ताहारचिन्तायामाधिक्येनोपपन्नः । आहारं वायुतैलान्यङ्गादि-
कम्, ओदनादिकं वाऽन्यवहार्यं तीव्रबुद्धेर्दानीयकर्मोदयादसमाधौ
सति तदुपशमनाय प्रयुक्तमाहारयत्युपमुक्ते । (अहे णं ति) अथा-
हारानन्तरं विस्मयसा स्वभावत एव, (कालं ति) कालो मरणं,
काल इव कालो मारणान्तिकसमुद्घातः, तं करोति याति । (तओ
पच्छा चि) ततो मारणान्तिकसमुद्घातात्पश्चात् तस्माच्चिबुत्त

इत्यर्थः । अमूर्च्छितादिविशेषणविशेषित आहारमाहारयति, प्र-
शान्तपरिणामसङ्गावादिति प्रश्नः । अत्रोत्तरम्- [हंतागोयमेत्यादि]
अनेन तु प्रश्नार्थ एवाच्युपगतः, कस्यापि जकप्रत्याख्यातुरेवंवृत्त-
भावस्य सङ्गावादिति । भ० १४ श० ७ उ० ।

[७] शैलेशीप्रतिपन्नस्थानगारस्य एजना—

सेहेसिपक्खिस्सए णं भंते ! अणगारे सया समियं ए-
यति वेयति जाव तं तं जावं परिणमइ ! । एो इण्ठे समंठे, ए-
णत्थेगेणं परप्पओगेणं ॥

(नो इण्ठे समंठे ति) योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रैकस्मात्परप्रयो-
गादेजनादिकारणेषु मध्ये परप्रयोगेणैवैकेन शैलेश्यामेजनादि
जयति, न करणान्तरेणेति प्रावः । भ० १७ श० ३ उ० ।

[८] अनगारो भावितात्माऽऽत्मनः कर्महेइयाशरीरं जानाति-
अणगारे णं जंते ! भावियप्पा अप्पणो कम्महेस्सं ए
जाणइ, ए पासइ, तं पुण जीवसरुविं सकम्महेस्सं जाणइ,
पासइ ! । हंता गोयमा ! अणगारे णं भावियप्पा अप्पणो
जाव पासइ ।

(अणगारे णमित्यादि) अनगारो भावितात्मा संयमजावनया
वासितान्तःकरणः, आत्मनः संबन्धिनी कर्मणो योग्या हेइया
कृष्णादिका, कर्मणो वा लेइया, “ लिश श्लेषणे ” इति वचना-
त् । संयन्धः कर्महेइया, तां न जानाति विशेषणो न पश्यति च,
सामान्यतः कृष्णादिहेइयायाः, कर्मद्रव्यहेइयणस्य चातिसूक्ष्म-
त्वेन छन्नस्थज्ञानागोचरत्वात् । (तं पुण जीवं ति) । यो जीवः
कर्महेइयावांस्तं पुनर्जीवमात्मानं (सरुविं ति) सह रूपेण
रूपरूपवतोरप्रेदोपचाराच्छरीरेण वर्तते योऽसौ [समासान्तवि-
धिः] सरूपी, तं सरूपिणम्-सशरीरमित्यर्थः । अत एव सक-
र्महेइयं कर्महेइयया सह वर्तमानं जानाति शरीरस्य चक्षुर्ग्राह्य-
त्वाद् जीवस्य च कथंचिच्छरीराव्यतिरेकादिति “सरुविं सकम्म-
हेस्सं ति” । भ० १४ श० ७ उ० । (अनगारस्य अनायुक्तं गच्छतः
क्रियाः ‘किरिया’ शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

(९) अनगारस्य जावितात्मनः क्रिया—

रायगिहे जाव एवं वयासी-अणगारस्स णं जंते ! भा-
वियप्पणो पुरओ दुहओ जुगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स
पायस्स अहे कुक्कुरोपोते वा वट्टापते वा कुलिंगच्छाए वा
परियावज्जेज्जा, तस्स णं जंते ! किं इरियावहिया किरिया
कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ! । गोयमा ! अणगारस्स
णं जावियप्पणो जाव तस्स णं इरियावाहिया किरिया क-
ज्जइ, णो संपराइया किरिया कज्जइ । से केण्ठे णं भंते !
एवं वुच्चइ ! । जहा सत्तमसए संवुहुइसए जाव अट्ठो णि-
क्खित्तो सेवं भंते ! जंतेत्ति जाव विहरइ । तए णं समणे
जगवं महावीरे जाव विहरइ ॥

(पुरओ चि) अग्रतः (दुहओ चि) द्विधाऽन्तराऽन्तरा पार्श्वतः
पृष्ठतश्चेत्यर्थः (जुगमायाए चि) यूपमात्रया दृष्ट्या (पेहाए चि)
प्रेक्ष्य (रीयं ति) गतं गमनं, (रीयमाणस्स चि) कुर्वत इत्यर्थः ।
(कुक्कुरोपो चि) कुक्कुटनिम्नः (वट्टापपो चि) इह वर्तका
पक्विविशेषः । (कुलिंगच्छाए च चि) पिपीलिकादिसदृशः (प-
रियावज्जेज्ज चि) पर्यापयेत म्रियेत, (एवं जहा सत्तमसए इत्या-

दि) अनेन च यत्सूचितं तस्यार्थज्ञेश एवम्-अथ केनाथेन भ-
दन्तैवमुच्यते ?। गौतम ! यस्य क्रोधादयो व्यवच्छिन्ना भवन्ति
तस्येयापथिक्येय क्रिया जयतीत्यादि । [जाव अतो निक्खित्तो
ति] “से केण्ठे एं जेतो !” इत्यादिवाक्यस्य निगमनं यावादित्यर्थः।
तच्च [सेतेण्ठे एं गोयमेत्यादि] इति प्रागमनमाश्रित्य विचारः
कृतः । अथ तदेवाश्रित्यान्ययूथिकमतनिषेधतः स एवोच्यते-
[तपणमित्यादि] भ० १६ श० ७ उ० ।

अणगारस्स एं जेतो ! जावियप्पणो उट्ठं उट्ठे एं अणि-
क्खित्ते एं जाव आयावेमाणस्स तस्स एं पुरच्छिमेणं अ-
वहुं दिवसं एो कप्पइ, हत्थं वा पादं वा जाव ऊरुं वा आऊं-
ट्ठावेत्तए वा पसारित्तए वा पच्चच्छिमे णं अवहुं दिवसं कप्पइ,
हत्थं वा पादं वा जाव ऊरुं वा आऊंट्ठावेत्तए वा पसारित्तए
वा तस्स य अंसियाओ लंवइ तं चैव विज्जे अदक्खु, इसिं
पामेइ, पामेइत्ता अंसियाओ जिदेज्जा, से एणं जेतो ! जे जि-
देज्जा, तस्स कइ किरिया कज्जइ ? , जस्स छिज्जइ एो तस्स
किरिया कज्जइ ? , णएत्थेगेणं धम्मंतराएणं ? । हंता
गोयमा ! जे जिदेइ जाव धम्मंतराएणं से एं भंते ! भते चि ।

(पुरच्छिमेणं ति) पूर्वभागे पूर्वाह्ने इत्यर्थः । (अवहुं ति) अ-
पगताद्धर्मद्विदिवसं यावत् न कल्पते हस्ताद्याकुण्टयितुं, का-
योत्सर्गव्यवस्थितत्वात् । (पच्चच्छिमेणं ति) पश्चिमभागे
(अवहुं दिवसं ति) दिनाद्धर्मं यावत् कल्पते हस्ताद्याकुण्टयि-
तुं, कायोत्सर्गाभावात् । तदेतच्च चूर्ण्यनुसारितया व्याख्यातम् ।
[तस्स य चि] तस्य पुनः साधारेवंकायोत्सर्गाभिग्रहवतः
(अंसियाओ चि) । अशीसि, तानि च नासिकासत्कानीति
चूर्णिकारः । (तं च चि) तं चानगारं कृतकायोत्सर्गं लम्ब-
मानार्शसम, (अदक्खु चि) अद्राक्षीत् । ततश्चाशसां छेदार्थम्
(इसिं पाडेइ चि) मनागनगारं भूम्यां पातयति, नापातित-
स्यार्शच्छेदः कर्तुं शक्यत इति । (तस्स चि) वैद्यस्य, क्रिया
व्यापाररूपा, सा च शुभा धर्मबुद्ध्या । छिन्दानस्य लोभा-
दिना क्रियेत त्वशुभा भवति (जस्स छिज्जइ चि) यस्य सा-
धोरशीसि छिद्यन्ते नो तस्य क्रिया भवति, निर्व्यापारत्वात् ।
किं सर्वथा क्रियाया अभावः ? , मैवम् । अत आह- (नन्नयेत्या-
दि) न इति योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रैकस्माद्धर्मान्तरायाद्ध-
र्मान्तरायलक्षणा क्रिया, तस्यापि भवतीति भावः । धर्मा-
न्तरायश्च शुभध्यानविच्छेदादर्शश्छेदानुमोदनाद् वेति । भ०
१६ श० ३ उ० ।

(१०) संवृतस्यानगारस्य क्रिया-

रायगिहे जाव एवं वयासी-संवुरुस्स एं भंते ! अणगा-
रस्स वीइपंथे ठिच्चा पुरओ रूवाइं निज्झायमाणस्स मग्ग-
ओ रूवाइं अवयक्खमाणस्स पासओ रूवाइं अवडोएमा-
णस्स उट्ठं रूवाइं उडोएमाणस्स अहे रूवाइं आलोए-
माणस्स तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ,
संपराइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! संवुरुस्स अणगा-
रस्स वीइपंथे ठिच्चा जाव तस्स एं एो इरियावहिया कि-
रिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ । से केण्ठे एं भंते !
एवं वुच्चइ, संवुरुं जाव संपराइया किरिया कज्जइ ? । गो-

यमा ! जस्स एं कोहमाणमायालोजा एवं जहा सत्तमसए
पढमुदेसए जाव से एं उस्सुत्तमेव रीयइ । से तेण्ठे एं जाव
संपराइया किरिया कज्जइ । संवुरुस्स एं भंते ! अणगा-
रस्स अवीइपंथे ठिच्चा पुरओ रूवाइं निज्झायमाणस्स
जाव तस्स एं जेतो ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ,
पुच्चा । गोयमा ! संवुरुं जाव तस्स एं इरियावहिया कि-
रिया कज्जइ, एो संपराइया किरिया कज्जइ । से केण्ठे एं
जेतो ! जहा सत्तमसए सत्तमुदेसए जाव से एं अहामुत्तमेव
रीयइ, से तेण्ठे एं जाव एो संपराइया किरिया कज्जइ ।

(रायगिहे इत्यादि) तत्र (संवुरुस्स चि) संवृतस्य सामा-
न्येन प्राणातिपाताद्याध्वरसंवरोपेतस्य (वीइपंथे ठिच्च चि)
वीचिशब्दः सम्प्रयोगः । स च सम्प्रयोगो द्वयोर्भवति । ततश्चह
कपायाणां जीवस्य च सम्बन्धो वीचिशब्दवाच्यः, ततश्च वी-
चिमतः कपायवतः, मतुप्प्रत्ययस्य पष्ठ्याश्च लोपस्य दर्शनात् ।
अथवा “ विचिर् पृथग्भावे ” इति वचनाद् विविच्य पृथ-
ग्भूय यथाख्यातसंयमात्कपायोदयमनपवार्येत्यर्थः । अथवा
विविच्य रागाविकल्पावित्यर्थः । अथवा विरूपा कृतिः क्रि-
या सारागत्वाद् यस्मिन्नवस्थाने तद्विकृति यथा भवतीत्येवं
स्थित्वा (पंथे चि) मार्गे (अवयक्खमाणस्स चि) अव-
काङ्क्षतोऽपेक्षमाणस्य वा, पथिग्रहणस्य चोपलक्षणत्वाद्-
न्यत्राप्याधारे स्थित्वेति द्रष्टव्यम् । (नो इरियावहिया किरि-
या कज्जइ चि) न केवलयोगप्रत्यया कर्मबन्धक्रिया भव-
ति, सकपायत्वात्तस्येति (जस्स एं कोहमाणमायालोभा) इह-
एवं जहेत्याद्यतिशयादिदं दृश्यम्- (वोच्छिन्ना भवन्ति तस्स
एं इरियावहिया किरिया कज्जइ, जस्स एं कोहमाणमायालो-
भा अवोच्छिन्ना भवन्ति तस्स एं संपराइया किरिया कज्जइ,
अहामुत्तं रियं रीयमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जइ, उ-
स्सुत्तं रीयं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ चि)
व्याख्या चास्य प्राग्वदिति । (से एं उस्सुत्तमेव चि) स पुन-
रुत्सृज्येवागमातिक्रमणत एव (रीयइ चि) गच्छति ‘ संवुडस्से-
त्यादि ’ इत्युक्तविपर्ययसूत्रम्, तत्र च [अवीइ चि] अवीचिमतोऽ
कपायसम्बन्धवतोऽविविच्य वा अपृथग्भूय यथाऽऽख्यातसंय-
मात् अविचिन्त्य वा रागाविकल्पाभावेनेत्यर्थः । अविकृतिर्वा
यथा भवतीति । भ० १० श० २ उ० ।

संवुरुस्स णं भंते ! अणगारस्स आउत्तं गच्छमाणस्स
जाव आउत्तं वत्थपरिगगहं कंवलं पायपुच्छणं गेएहमाण-
स्स वा निक्खित्तमाणस्स वा तस्स णं भंते ! किं इरिया-
वहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ? ।
संवुडस्स णं अणगारस्स जाव तस्स एं इरियावहिया
किरिया कज्जइ, नो संपराइया किरिया कज्जइ । से के-
ण्ठे एं जेतो ! एवं वुच्चइ संवुरुस्स एं जाव नो संप-
राइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! जस्स णं कोह-
माणमायालोजा वोच्छिण्णा भवन्ति तस्स एं इरियाव-
हिया किरिया कज्जइ, तदेव जाव उस्सुत्तं रीयमाणस्स
संपराइया किरिया कज्जइ, से एं अहामुत्तमेव रीयइ, से

तेण्णे णं गोयमा ! जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ ।
न० ७ श० ७ उ० ।

(११) अनगरस्य गत्युपगदौ-

रायगिहे जाव एवं वयासी-अणगारे णं भंते ! जावियप्पा चरमं देवावासं वीड्कंते परमं देवावासं अमंपत्ते एत्थं एणं अंतरालं कांठं करेज्जा, तस्स एणं जंते ! कहिं गई कहिं उववाए पञ्चत्ते ? ! गोयमा ! जे से तत्थ परिस्सओ तल्लेस्सा देवावासा तहिं तस्स गई, तहिं तस्स उववाए पाणत्ते । से य तत्थ गए विराहेज्जा, कम्मलेस्सामेव पन्निवरइ, से य तत्थ गए नो विराहेज्जा, तामेव लेस्सं उवसंपजिच्चाणं विहरइ ।

[चरमं देवावासं वीड्कंते परमं देवावासं असंपत्ते ति] चरममर्त्राभागवर्तिनं स्थित्यादिजिदेवावासं सौधमर्मादिदेवलोकां व्यतिक्रान्तो लङ्घितस्तदुपपातहेतुभूतलेइयापरिणामापेक्षया परमं परजागवर्तिनं स्थित्यादिनिरेव देवावासं सनत्कुमारादिदेवलोकांमसंप्राप्तोप्राप्तस्तदुपपातहेतुभूतलेइयापरिणामापेक्षयाव । इदमुक्तं भवति-प्रशस्तेष्वध्यवसायस्थानेषूत्तरोत्तरेषु वर्तमान आराङ्गागस्थितसौधमर्मादिगतदेवस्थित्यादिवन्धयोग्यतानतिक्रान्तः परजागवर्तिसनत्कुमारादिगतदेवस्थित्यादिवन्धयोग्यतां चाप्राप्तः । [एत्थं एणं अंतरं चि] इहावसरे [कांठं करेज्ज चि] म्रियते यस्तस्य कौत्पाद् इति प्रश्नः । उत्तरं तु- [जिसे तत्थ चि] अथ ये तत्रेति नयोश्चरमदेवावासपरमदेवावासयोः परि पार्श्वतः समीपे सौधमर्मादेरासन्नाः सनत्कुमारादेर्वा आसन्नास्तयोर्मध्यभागे ईशानादौ इत्यर्थः । [तल्लेस्सा देवावास चि] यस्यां हेइयायां वर्तमानः साधुमृतः सा लेइया येपु ते तल्लेइया देवावासाः [तहिं ति] तेषु देवावासेषु तस्यानगरस्य गतिर्भवतीति, यत उच्यते- 'जल्लेस्से मरइ जिए, तल्लेस्से चेव उववज्जे' इति । [से य चि] स पुनरनगरस्तत्र मध्यजागवर्तिनि देवावासे गतः [विराहेज्ज चि] येन हेइयापरिणामेन तत्रोत्पन्नस्तं परिणामं यदि विराधयेत् तदा [कम्मलेस्सामेव चि] कर्मणः सकाशात्ता हेइया जीवपरिणतिः सा कर्महेइया, जावलेइयेत्यर्थः । तामेव प्रतिपत्ति-तस्या एव प्रतिपत्ति अशुजतरतां याति, न तु द्रव्यलेइयायाः प्रतिपत्ति । सा हि प्राक्तन्येवास्ते रूढ्यतोऽवस्थितलेइयात्वाद्देवानामिति पक्षान्तरमाह- [से य तत्थेत्यादि] सोऽनगरस्तत्र मध्यमदेवावासे गतः सन्न यदि न विराधयेत् तं परिणामं, तदा तामेव हेइयां ययोत्पन्न उपसंपद्याश्रित्य विहरत्यास्त इति । इदं सामान्यं देवावासमाश्रित्योक्तम् ।

अथ विशेषितं तमेवाश्रित्याह-

अणगारे णं जंते ! जावियप्पा चरमं असुरकुमारावासं वीड्कंते, परमं असुरं एवं चेव० एवं जाव थणियकुमारावासं जेइसियावासं एवं वेमाणियावासं जाव विहरति ॥

ननु यो भावितात्माऽनगरः स कथमसुरकुमारेषूपत्यत्यते, विराधितसंयमानां तत्रोत्पादादिति ? । उच्यते-पूर्वकालापेक्षया भावितात्मात्वमन्तकावे च संयमविराघनासङ्गावाद्सुरकुमारादितयोपपाद इति न दोषः । बाह्यतपस्वी वाऽयं भावितात्मा रूढ्य इति । म० १४ श० १ उ० ।

(१२) असंबुतस्यानगरस्य विकुर्वणा-

असंबुते णं जंते ! अणगारे बाहिरए पोग्गळे अपरियाइत्ता पभू एगवसं एगरूवं विउव्वित्तए ? ! गोयमा ! एो इस्से समझे । असंबुडे णं जंते ! अणगारे बाहिरए पोग्गळे परियाइत्ता पञ्च ! एगवसं एगरूवं जाव । हंता । पञ्च ! से भंते ! किं इह गए पोग्गळे परियाइत्ता विउव्वइ, तत्थ गए पोग्गळे परियाइत्ता विउव्वइ, अस्सत्थ गए पोग्गळे परियाइत्ता विउव्वइ ? ! गोयमा ! इह गए पोग्गळे परियाइत्ता विउव्वइ, नो तत्थ गए पोग्गळे परियाइत्ता विउव्वइ, नो अस्सत्थ गए पोग्गळे जाव विउव्वइ, एवं एगवसं अणेगरूवं चउजंगो जहा षट्सए नवमे ठेइसए तहा इहावि भाणियव्वं, नवरं अणगारं इह गए य पोग्गळे परियाइत्ता विउव्वइ, सेसं तं चेव जाव बुक्खपोग्गलं णिच्छ-पोग्गलत्ताए परिणामेत्ताए ? ! हंता । पभू ! से जंते ! किं इह गए पोग्गळे परियाइत्ता जाव नो अस्सत्थ गए पोग्गळे परियाइत्ता विउव्वइ ।

असंबुतः प्रमत्तः (इह गए चि) इह पृच्छको गौतमः, तदेकया इहशब्दवाच्यो मनुष्यलोकस्ततश्च इहगतान् नरलोकव्यवस्थितान् (तत्थ गए चि) वैकृत्यं कृत्वा तत्र यास्यति तत्र व्यवस्थितानित्यर्थः । (अस्सत्थ गए चि) उक्तस्थानद्वयव्यतिरिक्तस्थानाश्रितानित्यर्थः । (नवरं ति) अयं विशेषः- (इह इति) इह शस्ते, अनगर इति, इहगतान् पुन्रलानिति च वाच्यम् ; तत्र तु देवइति, तत्र गतानिति चोक्तमिति । म० ७ श० ६ उ० ।

[१३] केयाघटिकावक्रणकृत्यादिविकुर्वणा-

रायगिहे जाव एवं वयासी-से जहाणामए केइ पुरिसे केयाघडियं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि जावियप्पा केयाघमिया किच्चहत्थगएणं अप्पाणेणं उहुं वेहासं उप्पएज्जा ? ! हंता गोयमा ! जाव समुप्पएज्जा । अणगारे णं जंते ! भानियप्पा केवइयाइं पञ्च ! केयाघमियं किच्चहत्थगयाइं रूवाईं विउव्वित्तए ? ! गोयमा ! से जहाणामए जुवर्ति जुवाणे हत्थेणं हत्थं एवं जहा तइयसए पंचमोइसए जाव एो चेव एणं संपत्तीए विउव्विसु वा विउव्विति वा विउव्विस्संति वा से जहाणामए केइ पुरिसे हिरसपेकिं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भानियप्पा हिरसपेकिं हत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं सेसंतं चेव । एवं सुवसपेकिं एवं रयणपेकिं वयरपेकिं वत्थपेकिं आजरणपेकिं, एवं त्रियल्लकिंसुवाकिं चम्मकिं कंबलकिं, एवं अयजारं तंबजारं तउयभारं सीसगजारं हिरसभारं सुवसजारं वइरजारं से जहाणामए वगुद्धी सिया दोवि पाए उल्लंघिय उल्लंघिय उहुं पाया अहो सिरा चिच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि जावियप्पा वगुद्धी किच्चगएणं अप्पाणेणं उहुं वेहासं । एवं जसो वइयवत्तव्वया भाणियव्वा जाव विउव्विस्संति वा से जहाणामए जलोया सिया

उदगंसि कायं वि उव्विहिय उव्विहिय गच्छेज्जा, एवामेव सेसं जहा वग्गुलीए से जहाणामए वीयं वियगसउणे सिया दोवि पाए समतुरंगेमाणे समतुरंगेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे, सेसं तं चेव । से जहाणामए पक्खिविराज्जए सिया रुक्खाओ रुक्खं मेवमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे, सेसं तं चेव । से जहाणामए जीवं जीवगसउणे सिया, दो वि पाए समतुरंगेमाणे समतुरंगेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे, सेसं तं चेव । से जहाणामए हेसं सिया तीराओ तीरं अजिरममाणे अभिरममाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे हेसं किच्च गणं अप्पाणेणं, सेसं तं चेव । से जहाणामए समुद्वायसए सिया वीईओ वीई मेवमाणे गच्छेज्जा, एवामेव तहेव । से जहाणामए केइ पुरिसे चकं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे जावियप्पा चक्किच्चहत्थगणं अप्पाणेणं, मेसं जहा केयाधमियाए, एवं उत्तं, एवं चम्मं, से जहा केइ पुरिसे रयणं गहाय गच्छेज्जा एवं चेव । एवं वइए वेरुलियं जाव रिउं एवं उप्पलहत्थगं पउमहत्थगं कुमुदहत्थगं एवं जाव । से जहाणामए केइ पुरिसे सहस्सपत्तगं गहाय गच्छेज्जा, एवं चेव । से जहाणामए केइ पुरिसे जिसं अवदालिय अवदालिय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि जिसं किच्चगणं अप्पाणेणं तं चेव, से जहाणामए मुणाद्विया सिया उदगंसि कायं उम्मज्जिअ उम्मज्जिअ चिद्धेज्जा, एवामेव सेसं जहा वग्गुलीए, से जहाणामए वणखंडे सिया किएहे किएहोभासे जाव निकुलंबूए पासादीए ४, एवामेव अणगारे भावियप्पा वणखंरुक्किच्चगणं अप्पाणेणं उट्टं वेहासं उप्पएज्जा, सेसं तं चेव । से जहाणामए पुक्खरिणी सिया चउकोणा समतीरा अणुपुव्वसु जाय जाव सदुसइय मधुरसरणादिया पामादीया ४ एवामेव अणगारे वि जावियप्पा पोक्खरिणी किच्चगणं अप्पाणेणं उट्टं वेहासं उप्पएज्जा । हंता उप्पएज्जा अणगारेणं भंते ! जावियप्पा केवयाइ पत्तू ! पोक्खरिणी किच्चगयाइ रुवाइं विउव्वित्तए ! सेसं तं चेव जाव विउव्विस्संति वा । से जंते ! किं मायी विउव्वइ, अमायी विउव्वइ ? गोयमा ! मायी विउव्वइ, एो अमायी विउव्वइ, मायीणं तस्स ठाणस्स अणालोइय एवं जहा तइयसए चउत्तुइसए जाव अत्थि तस्स आराहणा ॥

(रायगिहेत्यादि) (केयाधमियं ति) रज्जुप्रान्तवच्छटिका केयाधडिया (किच्चहत्थगणं ति) केयाधटिकावक्कणं यत्कृत्यं कार्यं तस्सु गतं यस्य स तथा, तेनात्मना [वेहासं ति] विज्जकिविपरिणामाद्विहायस्याकाशे केयाधमिया [किच्च इत्थ गयाइं ति] केयाधटिकालक्कणं कृत्यं हस्ते गतं येषां तानि तथा [हिरस्सपेणं ति] हिरण्यमज्जूपां (वियरुकिंलं ति) विदलानां वंशाद्धानां यः कटः स तथा तं (संयुकिडं ति) वीरणकटं [चम्मकिंलं ति] चर्मव्यूतं खट्वादिक्कं [कंबवकिंलं ति] और्णा-

मयं कंबलं जीनादि [वग्गुली ति] चर्मपक्का पक्खिविशेषः । [वग्गुलिकिच्चगणं ति] वग्गुलीवक्कणं कृत्यं कार्यं गतं प्राप्तं येन स तथा, तद्वपतां गत इत्यर्थः । [एवं जणोवइयवत्तव्वया ज्ञाणियव्वा] इत्यनेनेदं सूचितम् । “हंता उप्पएज्जा, अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवइयाइ पत्तू ! वग्गुलिरुवाइं विउव्वित्तए ! गोयमा ! से जहाणामए जुवार्ति जुवःणे हत्थेणं हत्थं गिरहेजेत्यादि ” [जलोय ति] जलौका जलजो द्वीन्द्रियजीव विशेषः । [उव्विहिय ति] उद्व्यूह्य १ उत्प्रेर्य २ इत्यर्थः । [वीयं वीयगसउणे ति] वीजं बीजकाभिधानः शकुनिः स्यात् [दोवि पाए ति] चावपि पादौ । [समतुरंगेमाणे ति] समौ तुल्यौ तुरङ्गस्याश्वस्य समुत्केपणं कुर्यन् समतुरङ्गयमाणः समकमुत्पाटयन्नित्यर्थः । (पक्खिविराज्जए ति) जीवविशेषः [डेवेमाणे ति] अतिक्रामन्नित्यर्थः [वीईओ वीई ति] कल्लोवात्कल्लोवम्-वेरुलियम् । इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-“द्वोहियक्खं मसारगल्लं हंसगज्जं पुल्लं सोगंधियं जोईरसं अकं अंजणं रयणं जायरुवं अंजणपुल्लं फल्लिदं ति” । “कुमुदहत्थगं” इत्यत्र तु एवं यावत्करणादिदं दृश्यम्-“नल्लिणहत्थगं सुजगहत्थगं सोगंधियहत्थगं पुंरुरीयहत्थगं महापुंरुरीयहत्थगं सयवतहत्थगं ति” । [भिसं ति] विशं मृणालं [अवदालिय ति] अवदार्य दारयित्वा [मुणालिय ति] नल्लिनीकायं [उम्मज्जिय ति] कायमुन्मज्ज्य उन्मज्जं कृत्वा [किएहे किएहो ज्ञासे ति] कृष्णः कृष्णवर्णो जनवत्स्वरूपेण कृष्ण एवावजासतेरूपणां प्रतिभातीति कृष्णावभासः । इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-“नीळे नीलोभासे हरिप हरिओभासे सीप सीओभासे निद्धे निद्धोभासे तिव्वे तिव्वोभासे किएहे किएहच्चाप नीळे नीलच्चाप हरिप हरियच्चाप सीय सीयच्चाप तिव्वे तिव्वच्चाप घणकडिच्चाप रम्मे महामेहनिरवंचूप ति” तत्र च [नीळे नीलोभासे ति] प्रदेशान्तरे, [हरिप हरिओभासे ति] प्रदेशान्तर एव । नीलश्च मयूरगलवत्, हरितस्तु शुक्रपिच्छवत्, हरितालाभ इति च वृद्धाः । [सीप सीओभासे ति] शीतः स्पर्शापेक्षया, वल्ल्याद्याकान्तत्वादिति च वृद्धाः [निद्धे निद्धोभासे ति] स्निग्धो रुक्त्ववर्जितः [तिव्वे तिव्वोभासे ति] तीव्रो वर्षादिगुणप्रकर्षवान् [किएहे किएहच्चाप ति] इह कृष्णशब्दः कृष्णच्चाय इत्यस्य विशेषणमिति न पुनरुक्तता । तथाहि-कृष्णः सन् कृष्णच्चायः, जाया चादित्यावरणज्यो वस्तुविशेषः । एवमुत्तरपदेष्वपि [घणकडियच्चाप ति] अन्योन्यं शाखानुप्रवेशाद्वहलनिरन्तरच्चाय इत्यर्थः । “अणुपुव्वसुजाय” इत्यत्र यावत्करणादेवं दृश्यम्-“अणुपुव्वसुजायवप्पगंजीरसीयलजला” आनुपूर्व्येण सुजाता वप्रा यत्र गम्भीरं शीतलं च जलं यत्र सा तथा इत्यादि । [सदुसइय मधुरसरणादिय ति] इदमेवं दृश्यम्-“सुयवरहिणमयणसालूकोइलकोरुक्किगारककोडलकजीवजीवकनंदीमुहकविलपिगलक्खगकारंडचक्कवायकलहंससारसअणेगसउणगणभिहुणविरइयसहुसइयमधुरसरणाइय ति” तत्र शुकादीनां सारसान्तानामनेकेषां शकुनगणानां मिथुनैर्विरचितं शब्दोन्नतिकं चोन्नतशब्दकं मधुरस्वरं च नादितं लपितं यस्याः सा तथेति । ज० १३ श० ६ उ० ।

[१४] अनगरस्य भावितात्मनो विकुर्वणा बाह्यं पुद्-

गत्वापर्यादानपूर्वकं स्त्रीरूपस्य—

अणगारे णं जंते ! जावियप्पा बाहिरए पोगल्ले अपरि-याइत्ता प्रभू ! एगं महं इत्थिरुवं वा जाव संदमाणियरुवं

वा विकुर्वित्तए ?। गोयमा ! एणं इण्ठे समेट्ठे । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा वाहिरए पोग्गळे परियाइत्ता पच्चू ! एणं महं इत्थिरूवं वा जाव मंदमाणियरूवं वा विकुर्वित्तए ?। हंता । पच्चू ! अणगारे णं भंते ! जावियप्पा केवइयाइ पच्चू ! इत्थिरूवाइ विज्जवित्तए ?। गोयमा ! से जहानामए जुवइ जुवाणे हत्थेण हत्थे गेएणज्जा, चक्कस्स वा नाजी अरगा उत्ता मिया, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा वेजवियसमुग्घाणं समोहणइ जाव पच्चू ! णं ! गोयमा ! अणगारे णं भावियप्पा केवलकप्पं जंबुदीवं दीवं बहहिं इत्थिरूवेहिं आयन्नं वित्तिकिरणं जाव एस णं गोयमा ! अणगाम्मस जावियप्पाणं अयमेयारूवं विमए विसयमेत्ते बुद्धए नो चेव णं संपत्तीए विकुर्वित्तु वा ३, एवं परिवारिणं नेयव्वं जाव संमाणिमा । से जहानामए केइ पुरिसे अस्मिच्चम्पपायं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा अभिच्चम्पपायं हत्थकिच्चगणं अप्पाणेणं उहं वेहासं उप्पाज्जा ?। हंता उप्पाज्जा । अणगारे णं भंते ! जावियप्पा केवइयाइ पच्चू ! अभिच्चम्पपायं हत्थकिच्चगयाइ रूवाइ विज्जवित्तए ?। गोयमा ! से जहानामए जुवइ जुवाणे हत्थेण हत्थे गेएणज्जा तं चेव जाव विज्जवित्तु वा ३, से जहानामए केइ पुरिसे एगओ पडागं काउं गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे जावियप्पा एगओ पडागा हत्थकिच्चगणं अप्पाणेणं उहं वेहासं उप्पाज्जा ?। हंता गोयमा ! अणगारे णं भंते ! जावियप्पा केवइयाणं पच्चू ! एगओ पडागा हत्थकिच्चगयाइ रूवाइ विज्जवित्तए, एवं जाव विकुर्वित्तु वा ३, एवं दुहओ पडागं पि से जहानामए केइ पुरिसे एगओ जएणोवइ तं काउं गच्छेज्जा । एवामेव अणगारे वि भावियप्पा एगओ जएणोवइ य किच्चगणं अप्पाणेणं उहं वेहासं उप्पाज्जा ?। हंता उप्पाज्जा । अणगारे णं भंते ! जावियप्पा केवइयाइ पच्चू ! एगओ जणोवइयं किच्चगयाइ रूवाइ विज्जवित्तए, तं चेव जाव विकुर्वित्तु वा ३ । एवं दुहओ जणोवइयं पि । से जहानामए केइ पुरिसे एगओ पल्लहत्थियं काउं विछेज्जा, एवामेव अणगारे भावियप्पा तं चेव जाव विज्जवित्तु वा ३ । एवं दुहओ पल्लहत्थियं पि, से जहानामए केइ पुरिसे एगओ पल्लियं काउं विछेज्जा, तं चेव विकुर्वित्तु वा ३ । एवं दुहओ पल्लियं पि । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा वाहिरए पोग्गळे अपरियाइत्ता पच्चू ! एणं महं आसरूवं वा हत्थिरूवं वा सीहरूवं वा वग्घवग्गदीविष अच्चतररूपरासरूवं वा अभिजुंजित्तए ?। णो इण्ठे समेट्ठे । अणगारे णं एवं वाहिरए पोग्गळे परियाइत्ता पच्चू ! अणगारे णं भंते ! जावियप्पा एणं महं आसरूवं वा अभिजुंजित्त अणगाइ जोयणाइ

गमित्तए ?। हंता । पच्चू ! से जंते ! किं आइहीए गच्छइ, परिहिए गच्छइ ?। गोयमा ! आयहीए गच्छइ नो परिहीए । एवं आयकम्मुणा परकम्मुणा आयप्पओगेणं परप्पयोगेणं उस्सिओदयं वा गच्छइ, पयोदयं वा गच्छइ । से णं भंते ! किं अणगारे आसे ?। गोयमा ! अणगारे णं से नो खलु से आसे, एवं जाव परासरूवं वा । से भंते ! किं मायी विकुव्वइ, अमायी विकुव्वइ ?। गोयमा ! मायी विकुव्वइ, नो अमायी विकुव्वइ । मायीणं जंते । तस्स ठाणस्स अणालोइयपानिकंते काउं करेइ कहिं उववज्जइ ?। गोयमा ! अस्सयरेसु अभियोगेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववज्जइ । अमायीणं तस्स ठाणस्स आलोइय पदिकंते कालं करेइ, कहिं उववज्जइ ?। गोयमा ! अस्सयरेसु अणानियोगिणसु देवलोएसु देवत्ताए उववज्जइ, सेवं भंते ! जंतोत्ति । गाहा —“ इत्थी असीपणागा, जणोवइए य होइ वोधच्चो । पल्लहत्थि य पल्लियंके, अभियोगविकुव्वणा मायी ॥१॥ ” तइयसए पंचमोहसो सम्मत्तो । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा मायी मिच्छदिही वीरियलक्ष्मीए वेजवियलक्ष्मीए विभंगनाणलक्ष्मीए वाणारसिं नगरिं समोहए समोहणित्ता रायगिहे नगरे रूवाइ जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ । से जंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ । अस्सहाजावं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! एणं तहाजावं जाणइ पासइ, अस्सहाजावं जाणइ पासइ । से केण्ठे णं जंते ! एवं बुच्चइ—नो तहाभावं जाणइ पासइ, अस्सहाजावं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! तस्स णं एवं जवइ, एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता वाणारसीए नयरीए रूवाइ जाणामि पासामि, सेसे दंसणे विवच्चासे भवइ, से तेण्ठे णं जाव पासइ, अणगारे णं जंते ! मायी मिच्छदिही जाव रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता वाणारसीए नयरीए रूवाइ जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ, तं चेव जाव तस्स णं एवं होइ, एवं खलु अहं वाणारसीए नयरीए समोहए समोहणित्ता रायगिहे नगरे रूवाइ जाणामि पासामि, सेसे दंसणे विवच्चासे भवइ, से तेण्ठे णं जाव अस्सहाभावं जाणइ पासइ, अणगारे णं जंते ! भावियप्पा मायी मिच्छदिही वीरियलक्ष्मीए वेजवियलक्ष्मीए विजंगलक्ष्मीए वाणारसिं नगरिं रायगिहं च नगरं अंतराए एणं महं जणवयवगं समोहए समोहएत्ता वाणारसिं नगरिं रायगिहं तं च अंतरा एणं महं जणवयवगं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ । से जंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ, अस्सहाजावं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! एणं तहाभावं जाणइ पासइ, अस्सहाभावं जाणइ पासइ । से केण्ठे णं जाव पासइ ?। गोयमा ! तस्स खलु एवं जवइ, एस खलु वाणारसीए नयरीए एस खलु रायगिहे नगरे एस खलु अंतरा एणं महं

जणवयवगं नो खलु एस महं वीरियलद्धी वेउव्वियलद्धी विभंगनाणलद्धी इही जुत्ती जसे वले वीरिए पुरिसकारपरकमे लद्धे पत्ते अभिसमएणाए, सेसे दंसणे विवच्चासे भवइ, से तेण्डेणं जाव पासइ । अणगारे एं भंते ! भावियप्पा अमायी सम्मदिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिनाणलद्धीए रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता वाणारसीए नयरीए रूवाई जाणइ पासइ ? हंता जाणइ पासइ । से भंते ! किं तहाजावं जाणइ पासइ, अणहाजावं जाणइ पासइ ? । गोयमा ! तहाभावं जाणइ पासइ, नो अणहाजावं जाणइ पासइ । से केण्डेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! तस्स णं एवं जवइ, एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता वाणारसीए नगरीए रूवाई जाणामि पासामि । सेसे दंसणे अविपच्चासे जवइ, से तेण्डेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ । वीओ वि आलावओ एवं चेव, एवरं वाणारसीए नयरीए समोहणा णेयव्वो । रायगिहे नगरे रूवाई जाणइ पासइ अणगारे एं भंते ! जावियप्पा अमायी सम्मदिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिनाणलद्धीए रायगिहे वाणारसी नगरिं च अंतरा एगं महं जणवयवगं समोहए समोहएत्ता रायगिहं नगरं वाणारसीं च नगरिं तं च अंतरा एगं महं जणवयवगं जाणइ पासइ ? । हंता जाणइ पासइ । से भंते ! किं तहाजावं जाणइ पासइ, अणहाजावं जाणइ पासइ ? । गोयमा ! तहाजावं जाणइ पासइ, नो अणहाजावं जाणइ पासइ । से केण्डेणं ? । गोयमा ! तस्स एं एवं जवइ, नो खलु एस रायगिहे णो खलु एस वाणारसी नगरी नो खलु एस अंतरा एगे जणवयवगं एस खलु ममं वीरियलद्धी वेउव्वियलद्धी ओहिनाणलद्धी इही जुत्ती जसे वले वीरिए पुरिसकारपरकमे लद्धे पत्ते अभिसमएणाए सेसे दंसणे अविपच्चासे जवइ, से तेण्डेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, तहाजावं जाणइ पासइ, नो अणहाजावं जाणइ पासइ । अणगारे एं भंते ! जावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पजू ! एगं महं गामरूवं वा नगररूवं वा जाव सन्निवेशरूवं वा विक्कुव्वित्तए ? । गोयमा ! णो इण्डे समट्टे । एवं वित्तिओ वि आलावओ, नवरं बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता । पजू ! अणगारे एं भंते ! केवइयाइ पजू ! गामरूवाई विक्कुव्वित्तए ? । गोयमा ! से जहानामए जुवइ जुवाणे हत्थेण हत्थे गेहएज्जा तं चेव जाव विक्कुव्वित्ति वा ३ । एवं जाव साधिवेसरूवं वा ३ ।

[असिचर्मपायं गहाए त्ति] असिचर्मपात्रं स्फुरकः । अथवा असिश्च खड्गः, चर्मपात्रं च स्फुरकः, खड्गकोशको वा, असिचर्मपात्रं तद् गृहीत्वा । [असिचर्मपायहत्थाकिञ्च-

गणं अप्पाणं ति] असिचर्मपात्रं हस्ते यस्य स तथा कृत्यं संघादिप्रयोजनं गतः आश्रितः कृत्यगतः, ततः कर्मधारयः । अतस्तेन आत्मना । अथवा असिचर्मपात्रं कृत्यं हस्ते कृतं येनासौ असिचर्मपात्रहस्तकृत्यकृतः, तेन, प्राकृतत्वाच्चैवं समासः । अथवा असिचर्मपात्रस्य हस्तकृत्यं हस्तकरणं गतः प्राप्तो यः स तथा, तेन । [पलियं कं ति] आसनविशेषः प्रतीतश्च [विगं त्ति] वृकः । [दीवियं त्ति] चतुष्पदविशेषः । [अच्छं त्ति] । ऋतः । [तरच्छं त्ति] व्याघ्रविशेषः । [परासरं त्ति] शरभः । तथाऽन्यान्यपि शृगालादिपदानि वाचनान्तरे दृश्यन्ते । [अभिजुंजित्ताए त्ति] अभियोगं विद्याऽऽदिसामर्थ्यतस्तदनुप्रवेशेन व्यापारयितुं यच्च स्वस्यानुप्रवेशेन अभियोजनं तद्विद्यादिसामर्थ्योपात्तयाह्यपुद्गलान् विना न स्यादिति कृतोच्यते [नो बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्तं त्ति] [अणगारेणं से त्ति] अनगार एवासौ तत्त्वतोऽनगारस्यैवाऽश्वाद्यनुप्रवेशेन व्याप्यमाणत्वात् [मायी अभिजुंजइ त्ति] कपायवानभियुक्त इत्यर्थः । अधिकृतवाचनायां ' मायीविउव्वइ त्ति ' दृश्यते । तत्र चाभियोगोऽपि विकुर्वणेति मन्तव्यम्, विक्रियारूपत्वात्तस्येति । [अन्नयरेसु त्ति] आभियोगिकदेवा अच्युतान्ता भवन्तीति कृत्वा अन्यतरेष्वित्युक्तम्, केपुच्चिदित्यर्थः । व्युत्पद्यते चाभियोगमावनायुक्तः साधुराभियोगिकदेवेषु करोति च विद्यादिलब्ध्युपजीवकोऽभियोगभावनाम् । यदाह- ' मंता जोगं काउं, भूर्ईकम्मं तु जे पडंजंति । साइरसइहिडेउं, अभिओगं जावणं कुणइ ॥ १ ॥ ' इत्थीत्यादिसङ्ग्रहाद्या गतार्था (इति तृतीयशतके पञ्चमः) विकुर्वणाधिकारसम्बद्ध एष पष्ठ उद्देशकः, तस्य चाद्यसूत्रम् । (अणगारे णमित्यादि) अनगारो गृहवासत्यागाद्भावितात्मा स्वसमयानुसारिप्रज्ञाभादिभिर्मोयित्युपलक्षणत्वात् कपायवान् । सम्यग्दृष्टिरप्येवं स्यादित्याह- मिथ्यादृष्टिरन्यतीर्थिक इत्यर्थः । वीर्यलब्ध्यादिभिः करणचूताभिर्वाराणसीं नगरिं (संमोहए त्ति) विक्कुर्वित्तवान् राजगृहे नगरे रूपाणि पशुपुरुषप्रासादप्रभृतीनि जानाति पश्यति विभङ्गज्ञानलब्ध्या (नो तहा भावं त्ति) यथा वस्तु तथा ज्ञावोऽभिसंधियेन ज्ञाने तत्तथाभावम् । अथवा यथैव संवेद्यते तथैव भावो बाह्यं वस्तु यत्र तत्तथाभावम्, अन्यथा भावो यत्र तदन्यथाभावम् । क्रियाविशेषणे चेमे । स हि मन्यतेऽहं राजगृहं नगरं समवहतो वाराणस्या रूपाणि जानामि पश्यामीत्येवम् । (से त्ति) तस्याऽनगारस्य [से त्ति] असौ दर्शने विपर्यासो विपर्ययो भवति; अन्यदीयरूपाणामन्यदीयतया विकल्पितत्वात् । दिङ्मोहादिव पूर्वामपि पञ्चिमां मन्यमानस्येति क्वचित् [सेसे दंसणे विवच्चासे त्ति] दृश्यते तत्र च तस्य तद्दर्शनं विपरीतं क्षेत्रव्यत्ययेनिति कृत्वा विपर्यासो मिथ्येत्यर्थः । एवं द्वितीयसूत्रमपि । तृतीये तु [वाणारसीं नगरिं रायगिहं नगरे अंतराए एगं महं जणवयवगं समोहए त्ति] वाराणसीं राजगृहं तयोरेव चान्तरालवर्तिनं जनपदवर्गं देशसमूहं समवहतो विक्कुर्वित्तवान्, तथैव च तानि विभङ्गतो जानाति पश्यति केवलं नो तथाभावम्, यतोऽसौ वैक्रियाण्यपि तानि मन्यते स्वाभाविकानीति [जस्से त्ति] यशोहेतुत्वाद्यशः [नगररूवं वा] इह यावत्करणादिदं दृश्यम्- " निगमरूवं वा, रायहाणिरूवं वा, खेडरूवं वा, कवमरूवं वा, ममवरूवं वा, दोणमुहरूवं वा, पट्टणरूवं वा आगररूवं वा, आसमरूवं वा, संवाहरूवं वा त्ति " ज० ३ श० ६ उ० ।

[१५] अनगरस्य भावितात्मनो वृक्षमूलस्कन्धादिदर्शनम्—

अणगारे एं जंते ! जावियप्पा रुक्खस्स किं अंतो पासइ, वाहिं पासइ चउजंगो ? एवं किं मूलं पासइ, कंदं पामइ चउजंगो. मूलं पामइ, खंधं पासइ चउजंगो । एवं मूलेणं वीजं संजोएय्वं । एवं कंदेण वि समं जोएय्वं जाववीयं । एवं जाव पुप्फेण ममं वीयं संजोएय्वं । अणगारे एं जंते ! भावियप्पा रुक्खस्स किं फलं पासइ, वीयं पामइ चउजंगो ॥

[अंते त्ति] मध्यं काष्ठसारादि. [वाहिं नि] यद्विर्धित्वकूप-
जसञ्चयादि । [एवं मूत्रेणमित्यादि] एवमिति मूत्रकन्दमृत्राभि-
लापेन मूत्रेण सह कन्दादिपदानि वाच्यानि, यावद् बीजपदम् ।
तत्र च मूलं १, कन्दः २, स्कन्धः ३, त्वक् ४, शाखा ५, प्रवालं ६,
पत्रं ७, पुष्पं ८, फलं ९, बीजं १० चेति दश पदानि । एषां च प-
ञ्चत्वारिंशदृष्टिकसंयोगाः । एतावन्त्येव चतुर्नङ्गीमृत्राण्य-
ध्येयानीति । एतदेव दर्शयितुमाह—[एवं कंदेण वीत्यादि] भ०
३ श० ४ उ० ।

[१६] अनगरस्य भावितात्मनो बाह्यपुद्गलादानपूर्वके
उल्लङ्घनप्रलङ्घने—

अणगारे एं जंते ! जावियप्पा बाहिरए पोग्गले अप-
रियाइत्ता पजू ! वेन्नारपव्वयं उल्लंघेत्ताए वा पल्लंघेत्ताए वा ? ।
गोयमा ! एो इण्णे समंठे । अणगारे एं जंते ! जावियप्पा
बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पजू ! वेन्नारपव्वयं उल्लंघेत्ताए वा
पल्लंघेत्ताए वा ? । हंता । पजू ! अणगारे एं जंते ! भावियप्पा
बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता जावइयाइं रायगिहं नगरे
रूवाइं एवइयाइं विउव्वित्ता वेन्नारपव्वयं अंतो अणुप्प-
विसित्ता पम् ! समं वा विसमं करंत्ताए, विसमं वा
समं करंत्ताए ? । गोयमा ! नो इण्णे समंठे, एवं चेव
त्रित्तो त्रि अत्तावगो, एवरं परियाइत्ता । पजू ! से भंते !
किं मायी विकुव्वइ, अमायी विकुव्वइ ? । गोयमा ! मायी
विकुव्वइ, एो अमायी विकुव्वइ । से केण्णे एं जंते !
एवं वुच्चइ जाव नो अमायी विकुव्वइ ? । गोयमा !
मायीणं पणीयं पाणजोयणं जोच्चा भोच्चा वामेइ, तस्स
एं तेणं पणीएणं पाणभोयणे णं अट्ठि अट्ठि मिजा वहल्ली
जवंति, पयणुए मंससोणिए भवइ, जे वि य से अहा वायरा
पोग्गला ते वि य से परिणमंति । सोइदियत्ताए जाव फा-
निदियत्ताए अट्ठि अट्ठि मिजकेसमंसूरोमनहताए मुक्कत्ताए
सोणियत्ताए अमायीणं बूहं पाणजोयणं भोच्चा भोच्चा
एो वामेइ, तस्स एं तेणं बूहेणं पाणजोयणे एं अट्ठिअट्ठि-
मिजापयणुजवंति वहले मंससोणिए जे वि य से अहा वादरा
पोग्गला ते वि य से परिणमंति । तं जहा—उच्चारत्ताए
जाव सोणियत्ताए से तेण्णे एं जाव नो अमायी विकुव्वइ ।
मायीणं तस्स ठाणस्स अणालोइय पम्किंते काढं करेइ,

नत्थि तस्स आराहणा, अमायीणं तस्स ठाणस्स आलो-
इय पम्किंते काढं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा, से वं
जंते ! जंते त्ति ।

[बाहिरए त्ति] औदारिकशरीरव्यतिरिक्तान् वैक्रियानित्यर्थः ।
[वेन्नारं ति] वेन्नारमिधानं राजगृहक्रीडापर्वतं [उल्लंघित्ताए
वेत्त्यादि] तत्रोल्लङ्घनं सकृत्, प्रलङ्घनं पुनःपुनरिति [नो इण्णे
समंठे त्ति] वैक्रियपुद्गलपर्यादानं विना वैक्रियकरणस्यैवाभा-
वात् । बाह्यपुद्गलपर्यादाने तु सति पर्वतस्योल्लङ्घनादौ प्रभुः
स्यात्, महतः पर्वतातिक्रामिणः शरीरस्य सम्भवादिति ।
[जावइयाइं इत्यादि] यावन्ति रूपाणि पशुपुरुषादिरूपाणि
[एवइयाइं ति] एतावन्ति [विउव्वित्त त्ति] वैक्रियाणि
कृत्या वैभारं पर्यंतं समं सन्ति विषमं, विषमं तु समं, कर्तुमिति
सम्बन्धः । किं कृत्वेत्याह—अन्तर्मध्ये वेन्नारस्यैवानुप्रविश्य [मायी
ति] मायावानुपलक्षणत्वादस्य सकृत्पापप्रमत्त इति यावत् ।
प्रमत्तो हि न वैक्रियं कुरुत इति । [पणीयं ति] प्रणीतं गहस्तेह-
विदुकम् [भोच्चा २ वामेइ त्ति] वमनं करोति विरंचनं वा करो-
ति, वर्णवलाद्यर्थं यथाप्रणीतभोजनं तद्वमनं च विक्रियास्वभावं
मायित्वाद् भवति, एवं वैक्रियकरणमपीति तात्पर्यम् । [वहल्ली-
जवंति त्ति] घनीभवन्ति. प्रणीतसामर्थ्यात् [पयणुए त्ति] अघ-
नम् [अहावायर त्ति] यथोचितवादरा आहारपुद्गला इत्यर्थः ।
'परिणमंति' श्रोत्रेन्द्रियादित्येन, अन्यथा शरीरदार्ढ्यास्संज्ञवा-
त् । [लूइं ति] क्लृप्तमप्रणीतम् [एो वामेइ त्ति] अकृपायितया
विक्रियायामनर्थित्वात् 'पासवणत्ताए' इह यावत्करणादिदं
दृश्यम्—“खेलत्ताए सिघाणत्ताए वंतत्ताए पित्तत्ताए पूयत्ताए
त्ति” रुक्मजोतिन उच्चारदित्यैवाहारादिपुद्गलाः परिणमन्ति,
अन्यथा शरीरस्यासारताज्ञापत्तेरिति । माय्यमायिनोः फलमाह—
[मायीणमित्यादि] [तस्स ठाण त्ति] तस्मात् स्थानात् विकुर्वणा-
करणात्, प्रणीतभोजनलक्षणाद् वा [अमायीणमित्यादि] परम-
मायित्वाद्वैक्रियं प्रणीतभोजनं वा कृतवान्, पश्चाद् जातानु-
तापोऽमायी सन् तस्मात् स्थानात् आहोचितप्रतिक्रान्तः सन्
कालं करोति यस्तस्यास्त्याराधनंति । भ० ३ श० ४ उ० ।
[१७] वैक्रियसमुद्घातेन कृतरूपमनगारो जानाति न वेति—

अणगारे एं भंते ! जावियप्पा देवं वेउव्विय समुग्घाए णं
समोहय जाणरूवे णं जायमाणं जाणइ पासइ ? । गोयमा !
अत्येगइए देवं पासइ, नो जाणं पासइ ? । अत्येगइए णं
जाणं पासइ, नो देवं पासइ २ । अत्येगइए देवं पि जाणं पि
पासइ ३ । अत्येगइए नो देवं पासइ नो जाणं पासइ ४ ।
अणगारे एं भंते ! जावियप्पा देविं विउव्विय समुग्घाए णं
समोहय जाणरूवे णं जायमाणि जाणइ पासइ ? । गोयमा !
एवं चेव । अणगारे णं भंते ! जावियप्पा देवं सदेवियं
वेउव्विय समुग्घाए णं समोहय जाणरूवे णं जायमाणं जा-
णइ पासइ ? । गोयमा ! अत्येगइए देवं सदेवियं पासइ, नो
जाणं पासइ । एणं अजिह्वावेणं चत्तारि भंगा ॥

तत्र भावितात्मा संयमतपोऽन्यमेवंविधानामनगराणां हि प्रा-
योऽवधिज्ञानाधिवृद्धयो भवन्तीति कृत्वा जावितात्मत्युक्तम्;
विहितोत्तरवैक्रियशरीरमित्यर्थः । येन प्रकारेण शिविकाद्याका-

रवता, वैक्रियविमानेनेत्यर्थः । यान्तं गच्छन्तं, ज्ञानेन दर्शनेन । उत्तरमिह चतुर्भङ्गोविचित्रत्वावधिविज्ञानस्येति । भ० ३ श० ३ उ० । [अणारस्य भावितात्मनः केवलासमुद्धातसमवहतस्य, मारणान्तिकसमुद्धातसमवहतस्य वा चरमपुञ्जलाः सर्वत्रोकं स्पृष्ट्वा तिष्ठन्ति इति 'केवत्रिसमुद्वाय' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते]

- (१) अनगारस्य निक्षेपः ।
- (२) अनगारत्वं वीरान्तेवासिनां वर्णकः ।
- (३) पृथ्वीकायिकादिर्द्विसकानामनगारत्वं न भवति ।
- (४) क्रियाऽसंवृतोऽनगारो न सिद्ध्यति ।
- (५) अनगारस्य भावितात्मनोऽसिधारादिष्ववगाहना ।
- (६) अनगारस्य भक्तप्रत्याख्यातुराहारः ।
- (७) शैलेशीप्रतिपन्नस्यानगारस्य एजना ।
- (८) अनगारो भावितात्माऽऽत्मनः कर्मलेइयाशरीरं जानाति ।
- (९) अनगारस्य भावितात्मनः क्रिया ।
- (१०) संवृतस्यानगारस्य क्रिया ।
- (११) अनगारस्य गत्युपपादौ ।
- (१२) असंवृतस्यानगारस्य विकुर्वणा ।
- (१३) केयाघटिकालक्षणकृत्यादिविकुर्वणा ।
- (१४) अनगारस्य भावितात्मनः स्वीरूपस्य बाह्यपुञ्जलादानपूर्वकं विकुर्वणा ।
- (१५) अनगारस्य भावितात्मनो वृत्तमूलस्कन्धादिदर्शनम् ।
- (१६) अनगारस्य भावितात्मनो बाह्यपुञ्जलादानपूर्वकमुल्लङ्घनप्रलङ्घने ।
- (१७) वैक्रियसमुद्धातेन कृतरूपमनगारो जानाति न वेति । ऋणकार-पुं० । ऋणमिव कालान्तरक्लेशानुभवहेतुतया ऋणमष्टप्रकारं कर्म, तत्करोतीति कोऽर्थः-तथा २ गुरुवचनविपरितप्रवृत्तिभिरुपचिनोतीति ऋणकारः । दुःशिष्ये, उत्त० १ अ० ।

अणगारगुण-अनगारगुण-पुं० । ६ त० । साधोः व्रतपदकेन्द्रियाभिग्रहादिषु सप्तविंशतिगुणेषु, उत्त० ३१ अ० ।

सत्तावीसं अणगारगुणा पणत्ता । तं जहा-पाणाइवाया-ओ वेरमणं सुसावायाओ वेरमणं अदिन्नादाणाओ वेरमणं मेहुणाओ वेरमणं परिग्गहाओ वेरमणं सोइंदिय-निग्गहे चक्खिंदियनिग्गहे घाणिंदियनिग्गहे जिर्विंदियनिग्गहे फासिंदियनिग्गहे कोहविग्गे माणविग्गे मायाविग्गे दोनविग्गे भावसच्चे करणसच्चे जोगसच्चे खमाविरा-गया मणममाहरणया वयसमाहरणया कायसमाहरणया णाणसंपन्नया दंसणसंपन्नया चरित्संपन्नया वेयणअहिया-सणया मारणंतियअहियासणया ॥

अनगराणां साधूनां, गुणाश्चारित्र्यविशेषाः अनगारगुणाः, तत्र महाव्रतानि पञ्च (५) पञ्चेन्द्रियनिग्रहाश्च पञ्च (१०) क्रोधादिविवेकाश्चत्वारः (१४) सत्यानि त्रीणि । तत्र भावसत्यं शुद्धान्तरात्मना, करणसत्यं-यत्प्रतिलेखनादिक्रिया; । तां यथोक्तं सम्यगुपयुक्तः कुरुते । योगसत्यं-योगानां मनःप्रभृतानामवितथत्वम् [१७] क्षमाऽनभिष्यक्तक्रोधमानस्वरूपस्य द्वेषसंक्षितस्याप्रीतिमात्रस्याभावः । अथवा क्रोधमानयोरुदयनिरोधः, क्रोधमानविवेकशब्दाभ्यां तदुदयप्राप्तयोर्निरोधः, प्रागेवाभिहित इति न पुनरुक्तताऽपीति (१८) विरागता-अभिष्वङ्गमात्रस्य भावः । अथवा मायालोभयोरनुदयो मायालोभविवे-

कशब्दाभ्यां तदयप्राप्तयोस्तयोर्निरोधः प्रागेभिहित इतीहापि न पुनरुक्तेति (१९) मनोवाकायानां समाहरणता, पाठान्तरतः-समत्वाहरणता अकुशलानां निरोधास्त्रयः (२२) ज्ञानादिसंपन्नतास्त्रिः (२५) वेदनाऽतिसहनता शीताद्यतिसहनम् (२६) मारणान्तिकातिसहनता-कल्याणमित्रबुद्ध्या मारणान्तिकोपसर्गसहनमिति (२७) स० २७ सम० । उत्त० । प्रश्न० । जीत० । आ० चू० । संथा० ।

पुनरन्येन प्रकारेण साधुगुणान् दर्शयितुमाह-

से जणाणामए अणगारा भगवंतो इरियासमिया जासा-समिया एसणासमिया आयाणजंमत्तणिवस्वेवणासमिया उचारपासवणखेलसिंघाणजहपरिह्वावणियासमिया मण-समिया वयसमिया कायसमिया मणगुत्ता वयगुत्ता काय-गुत्ता गुत्ता गुत्तिदिया गुत्तवंभचारी अकोहा अमाणा अ-माया अलोच्चा संता पंतता उवसंता परिणिव्वुना अणा-सवा अगंथा अन्नसोया निरुवलेवा कंसपाइ व मुक्ततोया संख इव णिरंजणा जीव इव अपभिव्हयगती गगणतन्नं पि व निरालंबणा वाउरिव अपभिवंधा सारदसल्लिल इव सुच्छदियया पुक्खरपत्त इव निरुवलेवा कुम्भो इव गुत्तिदि-या विहग इव विप्पमुक्का खगिविसाणं व एगजाया भारंड-पक्खी व अप्पमत्ता कुंजरो इव सोंमीरा वसन्नो इव जातत्थि-मा सीहो इव दुप्परसा मंदरो इव अप्पकंपा सागरो इव गंजीरा चंदो इव सोमलेसा मूरो इव दित्ततेया जच्चकंच-णगंच इव जातरूवा वसुंधरा इव सव्वपासविसहा सुहु-यहुयासणो विव तेयसा जल्लंता एत्थि णं ॥ ७० ॥ तेसिं जगवंताणं कत्यवि पभिवंधे भवइ, से पडिवंधे चउव्विहे पणत्ते । तं जहा-अंडएइ वा (वोरुजेइ वा) पो-यएइ वा उग्गहेइ वा पग्गहेइ वा जन्नं जन्नं दिसं इच्छंति तन्नं तन्नं दिसं अपडिवच्चा सुइजूया अप्पन्नहुजूया अप्प-गंथा संजमेणं तवसा अप्पाणं जावेमाणे विहरंति ॥ ७१ ॥ तेसिं णं भगवंताणं इमा एतारूवा जाया माया वित्ती होत्था । तं जहा-चउत्ते भत्ते षट्ठे जत्ते अट्ठमे भत्ते दसमे जत्ते दुवालसमे भत्ते चउदसमे जत्ते अक्खमासिए जत्ते मासिए भत्ते दोमासिए तिमासिए चाउम्मासिए पंचमासिए षम्मासिए अट्ठत्तरं च णं उक्खित्तचरया णिक्खित्तचरया उक्खि-त्तणिक्खित्तचरगा अंतचरगा पंतचरगा बूहचरगा समुदाणचरगा संसट्ठचरगा असंसट्ठचरगा तज्जातसंसट्ठच-रगा दिट्ठलाभिया अदिट्ठलाभिया पुट्ठज्जाजिया अपुट्ठज्जा-भिया जिकखुद्धाभिया अभिक्खुद्धाजिया अन्नायचरगा अन्नायजोगचरगा उव्वनिहिया संखादत्तिया परिमितपिंरुवा-इया सुद्धेसणिया अंताहारा पंताहारा अरसाहारा विर-साहारा लूदाहारा तुच्चाहारा अंतजीवी पंतजीवी आ-यंविद्धिया पुरिमद्धिया विगइया अमज्जमंसा समिणो णो-णियामरसजोइट्ठाणाइया पभिमठाणाइया उक्कहुआस-

णिया गेसज्जिया वीगमणिया दंनायतिया दगंममाडणो
अप्पाउना अगत्तया अकंडुया अण्डुहा धुनकेसमंसरोमन-
हा मव्वगा य पडिकमविप्पमुक्का चिट्ठंति ॥ ७१ ॥ तंणं
एतेणं विहारणं विहरमाणा बहुं वासाइं सामन्नपरियागं
पाउणंति बहु बहु आवाहंसि उप्पन्नंमि वा अणुप्पन्नंसि
वा बहुं जत्ताइं पचक्खाइ, पचक्खाइत्ता बहुं वासाइं अ-
णसणाइं वेदिंति. अणमणाइं वेदिंता जस्मट्टाए कीरति
नग्गजावे मुंरुभावं आण्हाणजावे अदंतवणगे अत्तए अ-
णोवाहणए कृमिसंजा फलगमेजा कट्टसंजा केसट्टोए वंज-
चेरवांम पर्यपरवमे लप्पा अलप्पमाणा अमाणणाओ ही-
लणाओ निंदणाओ विमणाओ गरहणाओ तज्जणाओ ता-
लणाओ उचावया गामकट्टगा वाचींम परीसहोवसगं अट्टिया
मिज्जंति, तणट्टं आराहंति, तणट्टं आराहत्ता चरमाहं उस्मा-
ननिस्सामेहिं अणंणं अणुत्तरं निच्चायातं निरावरणं कमिणं
पणिपुलं केवल्लवरणाण्णदंमणसमुप्पन्नंति, समुप्पाटंतिता
ततो पत्ता सिज्जंति वुज्जंति मुञ्चंति परिणिव्वायंति सव्वा-
यंति मव्वहुक्खाणं अंतं करंति ॥ ७३ ॥

तद्यथा नाम केचनोत्तमसंदननधृतिवहायेता अनगारा भगव-
न्तो जयन्तीति । ने पञ्चभिः समितिभिः समिताः, एवमित्युपदर्श-
ने । औपपातिकमात्रागङ्गसंयन्धिप्रथममुपाङ्गं तत्र साधुगुणाः
प्रयत्नेन व्याचारेयन्ते, तदिहापि तेनैव क्रमेण छष्ट्यमित्यतिदे-
शः । यावद्भूतमपनीतं केशश्मश्रुश्रोमनगादिकं यस्तं, तथा
सर्वगात्रपरिकर्मधिप्रमुक्ता निष्पतिकर्मशरीरास्तिष्ठन्तीति ॥ ७० ॥
॥ ७१ ॥ ७२ ॥ तं चात्रविहारिणः प्रव्रज्यामनुपात्य चाधारुपे
रोगानङ्कु समुपप्लेडनुपप्ले वा भक्तप्रत्यारयानं विदधति, किं बहु-
नोक्तेन-यत्कृतं यमयोगोत्तमकवधिरासाद् : कर्वालधारा मार्गव-
द् डुरध्यवसायः श्रमणभावोऽनुपात्यते, तमर्थं सम्यग्दर्शनज्ञान-
चरित्राभ्यमाराध्य, अव्याहतमनन्तं मोक्षकारणं केवलज्ञानमा-
प्नुवन्ति, केवलज्ञानावातेरुच्यं सर्वदुःखविमोक्षलक्षणं माङ्गम-
वाप्नुवन्तीति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अणगारचरित्तधम्म-अनगारचरित्तधर्म-पुं० । अगारं नास्ति
येषां तेऽनगाराः साधवः, तेषां चारित्रधर्मः महाव्रतादिपात्रनरूपे
चारित्रधर्मभेदे, “अणगारचरित्तधम्मं उविहे पणत्ते । तं जहा-
सरागसंजमे, वीयरगसंजमे” स्या० २ गा० १ उ० । [व्याख्या
चास्य स्वस्वस्थाने छष्ट्या]

अणगारधम्म-अनगारधर्म-पुं० ६ त० । सर्वविरतिचारित्रे य-
तिधर्मं, औ० ।

अणगारधम्मो ताव इह खलु सव्वओ सव्वयाए मुंके
भविता आगाराओ अणगारियं पव्वइस्सं सव्वाओ पाणाइ-
वायाओ वेरमणं मुसावायअदिवादाणमेहुणपरिगहराई-
ओअणाओ वेरमणं अयमाउसो ! अणगारसामइए धम्मे
पसत्ते । एअस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निगंथे वा नि-
गंथी वा विहरेमाणे आणाए आराहए जवति ॥

अथाधिकृतवाचना-इह खलु-इहैव, मर्त्यलोके, [सव्वओ स-

व्याप स्ति] सर्वतः-द्रव्यतो जावतश्चेत्यर्थः । सर्वात्मना स-
र्वान् क्रोधादीनात्मपरिणामानाश्रित्येत्यर्थः । एते च मुरडीभू-
त्वैत्यस्य विशेषणे, अनगरिता प्रव्रजितस्येत्यन्तस्य वा [अय-
माउसो चि] अयमायुष्मन् ! [अणगारसामइए स्ति] अनगाराणां
ममये समाचारे, सिद्धान्ते वा प्रवोऽनगारसामयिको, अनगार-
सामयिकं वा [सिक्खाए स्ति] शिक्षायामभ्यासे [आणाए स्ति]
आज्ञाया विहरन् आराधको भवति ज्ञानादीनाम् । अथवा आ-
ज्ञाया जिनोपदेशस्याराधको जयतीति । औ० ।

साधुधर्ममाह—

खंती य मद्वज्जव, मुत्ती तवसंजमे अ वोधव्वे ।

सवं सोयं आकिं-चणं च वंजं च जइधम्मो ॥ १४ ॥

कान्तिश्च, मार्दवम्, आर्जवम्, मुक्तिः, तपःसंयमौ च वोधव्यौ,
सत्यं, औचम, आकिञ्चन्यं, ब्रह्मचर्यं च यतिधर्म इति गाथाक-
रार्थः ॥ १४ ॥ दश० नि० ६ अ० ।

सापेको निरपेक्षश्च, यतिधर्मो द्विधा मतः ।

सापेक्षस्तत्र शिक्षार्थ, गुर्वन्तेवासिताऽन्वहम् ॥

यतिधर्म उक्तलक्षणः मुनिसंयम्यनुष्ठानविशेषः, द्विधा द्वार्थ्यां
प्रकाराभ्यां, मतः प्ररूपितः, जिनैरिति शेषः । द्वैविध्यमेवाह-
सापेको निरपेक्षश्चेति । तत्र गुरुगच्छादिसाहाय्यमपेक्षमाणो यः
प्रव्रज्यां परिणालयति स सापेक्षः । इतरस्तु निरपेक्षो यतिः, ग-
च्छापेक्षारहित इत्यर्थः । तयोर्धर्मोऽपि क्रमेण गच्छवासलक्षणो
जिनकल्यादिलक्षणश्च सापेक्षो निरपेक्षश्चोच्यते, धर्मधर्मिणो-
न्भेदोपचारात् । तत्र तयोः सापेक्षनिरपेक्षयतिधर्मयोर्मभ्यात्
अयं सापेक्षयतिधर्मो भवतीति क्रियासंबन्धः । एवमत्रेऽपि यो-
ज्यम् । स च यथा शिक्षाया इत्यादि । तत्र शिक्षा अन्यासः ।
सा च द्विधा—प्रहणशिक्षाऽऽसेवनाशिक्षा चेति । तत्र प्रहण-
शिक्षा—प्रतिदिनसूत्रार्थप्रहणान्यासः । आसेवनाशिक्षा—प्रति-
दिनक्रियाऽभ्यासः । तस्यैतदर्थं न तूद्गरपूर्वार्थधर्ममिति भावः ।
ध० १ अधि० ।

अणगारमगगइ-अनगारमार्गगति-स्त्री० । ६ त० । सम्यग्दृष्टे-
स्तत्प्रतिव्यपारित्यागरूपेण निर्मुक्तस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेभ्यु,
सिद्धिगतां च । उक्त० ।

एषां चोत्तराध्ययनानां पञ्चत्रिंशेऽध्ययने दर्शितानि सूत्राणि-
गुणह मेगमणं, मगं बुद्धेहि देसियं ।

जमायरंता जिक्खू य, छुक्खाणंतकरो जवे ॥ १ ॥

शृणुन आकर्णयत, मे मम, कथयत इति शेषः । एकाग्रमनसः
कोऽर्थः-अनन्यगतचित्ताः सन्तः, शिष्या इति शेषः । किं तदित्याह-
मार्गमुत्तरं प्रकमान्मुक्तैर्गुरुवरगतयथास्थितवस्तुतत्त्वैरुपपन्न-
केवलैरर्हद्भिः श्रुतकेवलविनिर्गणधरादिभिर्वैयुक्तं भवति । देशि-
तं प्रतिपादितम् । अर्थतः सूत्रतश्च । तमेव विशेषयितुमाह-[ज-
मिति] मार्गमाचरन् आसेवमानो, भिज्जरनगारो, छुःखानां शा-
रीरमानसानामन्तः पर्यन्तः तत्करणशीलोऽन्तकरो, भवेत्
स्यात्, सकलकर्मनिर्मूलनत इति ज्ञावः । तदनेनासेव्यासेवक-
संबन्धेनाऽनगारसंबन्धिर्मार्गः, तत्फलं च मुक्तिगतिरिति
दर्शितम् । ततश्चानगारमार्गं, तस्मिन् च शृणुत इत्यर्थं उक्तं भव-
तीति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

यथाप्रतिज्ञातमाह—

गिहवासं परिचज्ज, पव्वज्जामस्सिओ मुणी ।

तथैव तेनैव प्रकारेण, भक्तानि च शाल्योदनादीनि, पीयन्त इ-
ति पानानि च पयःपन्नूतीनि, भक्तपानानि; तेषु पचनानि च
स्वयं वित्तेदापादनकथनानि, पाचनानि च तान्येवान्यैः पचन-

पाचनानि, तेषु च भूतवधो दृश्यत इति प्रक्रमः । ततः किमित्याह--प्राणा द्विन्द्रियादयः, चूतानि पृथिव्यादीनि, तेषां दया रक्षणम्, प्राणभूतदया । तदर्थम्-तद्धेतोः । किमुक्तं ज्वनि-पचन-पाचनप्रवृत्तानां यः संभवो जीवोपघातः स मा जृदिति न पचेत्, स्वतो भक्तादीनिति प्रक्रमः । नापि पाचयेत्, तदेवायं-रिति ॥ १० ॥

अनुमेवार्थे स्पष्टतरमाह—

जलधन्निस्मिया जीवा, पुढवीकट्टनिस्मिया ।

हण्णि नत्तपाणेषु, तम्हा भिक्खु न पयावण ॥ ११ ॥

जले च पानीयं, धान्यं च शाक्यादि, तान्निःश्रितास्तत्रान्यत्र च चम्पय ये तन्निःश्रयाः स्थिताः-पुतरकट्टजंगलिकापिपिलिका-प्रभृतयः । उपलक्षणत्वात् तदप्राश्न जीवाः प्राणिनः । एवं पृथ्वीकायानिःश्रिता एकेन्द्रियादयो हन्यन्ते, भक्षपानेषु प्रक्रमात् पच्यमानादिषु । यत एव तस्माद् भिक्षुर्न पाचयेत् । अत्र अपेक्ष-न्यमानत्वात् पाचयेदपि न, किं पुनः स्वयं पचेत् । अनुमतिनि-पेक्षोपलक्षणं चेतव्यम् ॥ ११ ॥

अपरं च—

विसपे सव्वओ धारे, बहुपाणिविणासणे ।

नात्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोइ न दीवण ॥ १२ ॥

विसर्पतीति विसर्पस्, स्वल्पमपि बहु भवति । यत उक्तम्-“अण्णधो वणधोव, अण्णोधोव” इत्यादि । सर्वतः सर्वोत्तु दिक्षु, धारव धारा जीवविनाशिका शक्तिरस्येति सर्वतो धारम्, सर्वदिगवस्थितजन्तूपघातकत्वात् । उक्तं च-“पार्धणपरुणं वा वि” इत्यादि । अतएव बहुधा प्राणविनाशनमनेकजीवजीवि-तव्यपरोपकं, नास्ति न विद्यते, ज्योतिःसमम्-अग्नितुल्यम्, शस्यन्ते हिंस्यन्तेऽनेन प्राणिन इति शश्रं प्रहरणम्, अन्यदिति गम्यते । तस्याविसर्पित्वात्सर्वतो धारत्वादपजन्तूपघातत्वाच्चेति प्रावः । सर्वत्र लिङ्गन्यत्ययः प्राग्वत् । यस्मादेवं तस्माद्, ज्योतिर्वैश्वान-रस, न दीपयेत् न ज्वाहयेत् । अनेन च पचनस्याग्निवृत्त्याऽवि-नाभावित्वात् तत्परिहार एव समर्थितः । इत्थं च विशेषप्रक्रमेऽपि सामान्याभिधानं प्रसङ्गतः शीतापनोदादिप्रयोजनेनापि तदारम्भ-निषेधार्थम्, आधाकर्मादिका विशुद्धकोटिरनेनैवार्थतः परिहार्यो-क्ता, तदपरिहारे ह्यवश्यं भाविपचनानुमत्यादिप्रसङ्ग इति ॥ १२ ॥

नन्वेवं जीववधनिमित्तत्वं च पचगादिनिषेधे निवन्धनम्, तद्य नास्ति क्रयविक्रययोरिति, युक्तमेवाज्यां निर्वहणमिति कस्यचि-दाशङ्क्य स्यात्, अतस्तदपनोदनाय, हिरण्यादिपरिग्रहपूर्वकत्वात्त-योस्तन्निषेधपूर्वकत्वे सूत्रत्रयेण तत्परिहारमाह—

हिरन्मं जायस्सुं च, मणसा वि न पत्थण ।

समत्तेष्कुचण्णे भिक्खु, विरेण कयविकण ॥ १३ ॥

हिरण्यं कनकम्, जातरूपं रूप्यम् । चकारोऽनुकाशेपधनधान्यादि-समुच्चये । मनसाऽपि चित्तेनापि, आस्तां वाचा, न प्रार्थयेद्-भ्रमा-मुक्तं स्यादिति । अपेक्षम्यमानत्वात्प्रार्थयेदपि न, किं पुनः परिगृही-यात् । कीदृशः सन्?, समे कोऽर्थः-प्रतिबन्धाभावतस्तुल्ये, तेषुका-ञ्चने मृदपिण्णखण्णकनकेऽस्येति समत्तेष्कुकाञ्चनः, एवंविधश्च सन् भिक्षुर्विरतो निवृत्तः, स्यादिति शेषः । कुतः?, क्रयो-मूल्येनान्य-संबन्धेन तथाविधवस्तुनः स्वीकारः, विक्रयश्च-तस्यैवात्मीयस्य तथाविधवस्तुजातेनान्यस्य दानम्, क्रयश्च विक्रयश्च क्रयविक्रय-मिति समाहारः, तस्मान् । पञ्चम्यर्थे सप्तमी, विषये सप्तमी वा ।

तत्र च क्रयविक्रयविषये विरत इति-विरातिमानित्यर्थः ॥ १३ ॥

किमित्येवमत आह—

किण्णतो कइओ होइ, विकण्णतो य वाणिओ ।

कयविकयम्मि वट्ठतो, भिक्खु न हवइ तारिसो ॥ १४ ॥

क्रौण्ण परकीयं वस्तु मूल्येनाददानः, क्रयोऽस्यास्तीति क्रयिको जवति, तथाविधेतरलोकरुदृश एव भवति । विक्रीणानश्च स्व-कीयं वस्तु तथैव परस्य ददद् वणिग्भवति, वाणिज्यप्रवृत्तत्वा-दिति भावः, अतएव क्रयविक्रये उक्तरूपे, वर्तमानः प्रवर्तमानो, भिक्षुर्न तादृशो भवति, गम्यमानत्वाद् यादृशः सूत्राभिहितो भावभिक्षुरिति ॥ १४ ॥

किमित्याह—

भित्तिखयव्वं न केयव्वं, भिक्खुणा निक्खुवित्तिणा ।

कयविक्रयो महादोसो, निक्खावित्ती सुहावहा ॥ १५ ॥

निक्रितव्यं याचितव्यम्, तथाविधं वस्तिवति गम्यते । न नैव, केतव्यं मूल्येन प्रदीतव्यम्, केन?, भिक्षुणा । कीदृशः?, निक्खयैव वृत्तिवर्तनं निर्वहणं यस्यासौ भिक्षावृत्तिस्तेन । उक्तं हि-“सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं” । क्रयविक्रयवद् भिक्षाऽपि सदोपैव भविष्यतीति मन्दधीर्मन्येत, तत आह-क्रयश्च विक्रयश्च क्रयविक्रयम्, व्यवच्छेदफलत्वादस्य, तदेव महादोषः उक्तन्यायतः, लिङ्गन्यत्ययश्च प्राग्वत् इति । निक्खाया वृत्तिः शुभ्रमिहलोकपर-लोकयोः कल्याणं, सुखं वा तदावहति समन्तात् प्रापयतीति शुभावहा, सुखावहा वा । एतेन क्रीतदोषपरिहार उक्तः, स चा-शेषविशुद्धकोटीगतदोषपरिहारेऽपलक्षणम् ॥ १५ ॥

निक्रितव्यमित्युक्तं, तद्य दानभ्रष्टादिवैभमनि कचिदेकत्रैव स्यादत आह—

समुयाणं उंठमेसेज्जा, जहासुत्तमणिदियं ।

लाभालाभम्मि संतुट्ठे, पिण्णायं चरे मुणी ॥ १६ ॥

समुदानं भैक्ष्यम्, न त्वेकभिक्षामेव, तच्छोभमिबोद्धम्-अन्या-न्यवेदमनःस्वरूपस्वरूपमात्राणां मीलनान्मधुकरवृत्त्या हि भ्रमत इदमेव भवतीत्येवमुक्तम्, पश्येज्जवेपयेत् । एतच्चोत्सृज्यमपि स्यात् । अत आह-सूत्रमागमस्तदनतिक्रमेण यथासूत्रमागमाभि-हितोऽज्ञमपणायवाधात् । इत्युक्तं जवति-तत एवानिन्दितं शिष्टा-निन्देन स्वपरप्रशंसादिहेतुनात्पादितं ज्ञात्यादिजुगुप्सितजनसं-बन्धिचान् जवति । तथा लाजश्च अज्ञाभश्च लाजाज्ञाभं, तस्मिन्, संतुष्टोद्दनादेः प्राप्ताप्राप्तौ च संतोषवान्, न तु वाञ्छाविधु-रितचित्त इति प्रावः । इह च लाभेऽपि वाञ्छा-वस्तरोत्तरवस्तु-विषयत्वेन भावनीया । पिण्णयत इति पिण्णो भिक्षा, तस्य पातः पतनम्, प्रक्रमात् पात्रेऽस्मिन्निति पिण्णपातं भिक्षाटनम्, तद् चरंदासेवेत, मुनिरिति तपस्वी । पात्रान्तरतः-पिण्णस्य पातः पिण्णपातस्तं गवेपयेदन्वेपयेत् । उभयत्र च वाक्यान्तरविष-यत्वादपौनरुक्त्यम् ॥ १६ ॥

इत्थं च पिण्णमवाप्य यथा सुज्जीत तथाऽऽह—

अल्लोले न रसे गिण्णे, जिण्णादंते अमुच्छिण्ण ।

न रसट्ठाए ज्जेज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ॥ १७ ॥

अल्लोः सरसाश्रे प्राप्ते लाम्पट्यवान् न, रसे स्निग्धमधुरादौ गृह्योऽप्राप्तावज्जिह्वाकावान्, कथं चैवंविधः? । यतो [जिभादंते त्ति] प्राकृतत्वादान्ता वशीकृता जिह्वा रसना येनासौ दान्त-जिह्वा, अन एवामूर्च्छितः सन्निधेरकरणेन तत्कावे चान्निवृद्धा-

भावेन । उक्तं हि—“णो वामातो हणूयाओ, दाहिणं दाहिणाव वा । वामं संचालप—” एवंविधश्च सख नैव [रसछापे त्ति] रसार्थं सरसमिदमहमास्वादयामीति, धातुविशेषो वा रसः । स च शेषधातूपलक्षणं, ततस्तदुपचयः स्यादित्येतदर्थं न शुद्धीत नाभ्यवहरेत् । किमर्थं तर्हि ? , यापना—निर्वाहः, स चार्थात्संयमस्य, तदर्थं महामुनिः प्रधानतपस्वी । अनेन पिएणविशुद्धिरुक्ता । तदेवमादौ मूलगुणान् विधेयतयाऽभिधाय तत्प्रतिपालनार्थमाश्रयाहारचिन्ताद्वारेण उत्तरगुणाश्च उक्ताः ॥ १७ ॥

संप्रति तदवस्थितस्तत एवात्मन्युत्पन्नबहुमानः कश्चिदवर्चनादि प्रार्थयेदिति तन्निषेधार्थमाह—

अचरणं सेवणं चैव, वंदणं पूयणं तथा ।

इहीसकारसम्माणं, मणसा वि न पत्थए ॥ १८ ॥

अर्चनां पुष्पादिभिः पूजाम्, सेवनां निषद्यादिविषयां, स्वस्तिकादिन्यासात्मिकां वा । चः समुच्चये; एवोऽवधारणे, नेत्यनेन संभन्तस्यते । चन्दनं नमस्तुभ्यमित्यादि वाचाऽभीष्टवचनम्, पूजनं विशिष्टवस्त्रादिभिः प्रतिष्ठाजनम् । तथेति समुच्चये । ऋक्षिश्च आचकोपकरणादि संपदाऽमर्पणपध्यादिरूपा वा, सत्कारश्चार्थप्रदानादि, संमानश्च अन्युत्थानादि, ऋक्षिसत्कारसंमानम्, ततो मनसाऽपि, आस्तां वाचा, नैव प्रार्थयेत्-ममैवं स्यादित्यभिप्रेतम् ॥ १८ ॥

किं पुनः कुर्यादित्याह—

सुकज्झाणं जियाएजा, अनियाणे अकिंचणे ।

वोसड्काए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ॥ १९ ॥

शुक्लध्यानमुकरूपं यथा भवत्येवं ध्यायेच्चिन्तयेत् । अनिदानोऽविद्यमाननिदानः, अकिञ्चनः प्राग्वत्, व्युत्पृष्ट इव व्युत्पृष्टः कायः शरीरं येन स तथा, विहरेत्; अप्रतिबन्धविहारतयेति गम्यते । यावदिति मर्यादायाम्, कावस्येति मृत्योः, [पज्जओ त्ति] पर्यायः परिपाटी, प्रस्ताव इति यावत् । यावत्स्मरणसमयः क्रमप्राप्तो भवतीति ज्ञावः ॥ १९ ॥

एवंविधाऽनगारगुणस्थश्च यावदायुर्विहृत्य मृत्युसमये

यत्कृत्वा यत्फलमवाप्नोति तदाह—

निज्जहिऊण आहारं, कावधम्मो उवट्ठिए ।

चइऊण माणुसं वोदिं, पद्दुक्खे विमुच्चइ ॥ २० ॥

(निज्जहिऊण त्ति) परित्यज्य, आहारमशनादि, तत्परित्यागश्च संलेखनाक्रमेणैव, जगिति तत्करणे बहुतरदोपसंज्ञात् । तथा चागमः—“ देहस्मि असंविहिण, सहसा धातूहि खिज्जमारोहि । जायइ अट्ठज्जाणं, सरोरिणो चरिमकालम्मि ” ॥ १॥ कदा?; कालधर्मे आयुःक्षयवक्षणे मृत्युस्वभावे, उपस्थिते प्रत्यासन्नोत्पत्ते, त्यक्त्वाऽपहाय, [माणुसं त्ति] मानुषी मनुष्यसम्बन्धिनीम्, वोदिं शरीरम्, प्रभुः—वीर्यान्तरायक्षयतो विशिष्टसामर्थ्यवान्, [दुक्खे त्ति] दुःखैः शारीरमानसैः, विमुच्यते—विशेषेण मुच्यते, तन्निबन्धनकर्मापगत इति ज्ञावः ॥ २० ॥

कहिशः सन्नित्याह—

निम्ममां निरहंकारो, वीयरागो अणासवो ।

संपत्तो केवलं नाणं, सासए परिनिव्वुमे ॥ २१—त्ति वेमि ॥

निर्ममोऽपगतममकारः, निरहंकारोऽहममुकजातीय इत्याद्यहंकाररहितः, ईदृशकुतः? , वीतरागः प्राग्भङ्गितरागद्वेषः, तथाऽनाश्रवः कर्माश्रवरहितः, मिथ्यात्वादितद्वैतत्वमावात् । संप्राप्तः, केव-

लक्षानम्-उत्तरूपम् । शाश्वतम्, कदाचिदव्यवच्छेदात् । परिनिर्वृतोऽस्वास्थ्यहेतुकमौजावतः सर्वथा स्वस्थीकृतः, इत्येकविंशतिसूत्रभावार्थः ॥ २१ ॥ उक्तं ३५ अ० । स० ।

अणगारमहेसि—अनगारमहर्षि—पुं० । अनगाराश्च ते महर्षय इवेति । अनगारगुणविशिष्टेषु महर्षिषु, स० ।

अणगारवाइ(ए)अनगारवादिन्-पुं० । यतिवैपमास्थितेषु अनगारगुणरहितेषु अनगारमन्येषु शाक्यादिषु, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । [“अनगार” शब्देऽत्रैव भागे २७० पृष्ठे भावितं चैतद्यतशाक्यादयो नानगाराः]

अणगारसामाड्य—अनगारसामायिक—त्रि० । अनगाराणां समये भव इति । अनगाराणां समाचारे सिद्धान्ते वा भवे, औ० । स्था० ।

अनगारसीह—अनगारसिंह—पुं० । मुनिसिंहे, “ एवं शुणिच्छाण स रायसीहं परमाइ जत्तीए ” उक्तं २० अ० ।

अनगारसुय—अनगारश्रुत—न० । आचारश्रुतापरनामके सूत्रकृताङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धे पञ्चमाऽध्ययने, सूत्र० । (‘आयारसुय’ शब्दे द्वि० मा० ३६१ पृष्ठेऽस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्) ।

अणगारि (ए)—अनगारिन्—पुं० । अगारी गृही असंयतस्तत्प्रतिषेधादनगारी । संयते, प्रश्न० ।

अणगारिय—अनगारिक—त्रि० । न विद्यते अगारं यस्येत्यनगारः साधुस्तस्येदमिति । अनगारसम्बन्धिनि सर्वविरतिसामायिकादौ, विशेष० ।

अणगारिया—अनगारिता—स्त्री० । अगारी गृही असंयतः, तत्प्रतिषेधादनगारी संयतः, तद्भावस्तत्ता । साधुतायाम्, स्था० ४ उ० १ उ० ।

अणगाल—अनगाल—पुं० । दुष्काले, वृ० ३ उ० ।

अणगिण—अनग्न—पुं० । सुपमसुपमायां जरतवर्षे कर्मचूमिषु च सदा भवति कल्पवृक्षेदे, ति० । अनग्नेषु कल्पपादेषु अत्यर्थं बहुप्रकाराणि वस्त्राणि विश्रसा त एवातिसूक्ष्मसुकुमारदेवदुमानुकाराणि मनोहराणि निर्मलानि उपजायन्ते । तं० । जी० । आदिगम्बरे, आच्छादनविशिष्टे च । वाच० ।

अणग्य—अनर्घ्य—स्त्री० । सर्वोत्तमत्वादविद्यमानमूल्ये, आव० ४ अ० । अर्धगोचरातीते, संथा० । “ सन्ने वि य सिद्धंताः साद्वरयणामया सतेलोक्का । जिणवयणस्स भगवओ, न तुल्लमियतं अणग्घेयं ” ॥ १॥ यथाऽवस्थितार्थप्रकाशकत्वेन सकलप्रणेतृशास्त्रार्थादविद्यमानमूल्यमनर्घ्यम् । अथवा ऋणघमिति, तत्र ऋणं पूर्वजवपरम्परोपात्तमप्रकारं कर्म, तद् हन्ति यत्तत् ऋणम् । दर्श० ।

अणग्ययणचूड—अनर्घरत्नचूड—पुं० । भृगुपत्तने श्रीमुनिसुव्रते देवे, भृगुपत्तने अनर्घ्यरत्नचूरुः श्रीमुनिसुव्रतः । ती० ४४ कल्प ।

अणव—अनघ—त्रि० । नास्ति अघं पापं दुःखं व्यसनं कालुष्यं वा यस्य । पापशून्ये, मलशून्ये, स्वच्छे, वाच० । शोभने, पं० व० १ द्वा० । दर्श० । व्यावृत्ततत्त्वप्रतिपत्तिवाधकमिथ्यात्वमालिन्ये, “संविग्नस्तच्छ्रुतेरेवं, ज्ञाततत्त्वो नरानघः ” ध० १ अधि० ।

अणघमय—अनघमत्—त्रि० । ६ त० । अवदातबुद्धौ, पं० व० ४ द्वा० ।

अणचउक्क—अनन्तानुबन्धिवचुक्क—न० । अनन्तानुबन्धिकोऽधमानमायालोभाख्ये कषाये, कर्म० २ कर्म ।

अण्टकारग-अनर्थकारक-त्रि० । पुरुषार्थोपघातके, प्रश्न०
२ आश्र० द्वा० । अनर्ते, पुं० । आर्तध्यानरहिते, उक्त० २ अ० ।
अण्टपगड-अन्यार्थप्रकृत-त्रि० । साधुनिमित्ते निवर्तिते, “अ
नष्टं पंगडं द्वेणं, नृजस्यणासणं ” दश० ८ अ० ।

अण्टादंरु-अनर्थदाम-पुं० । अर्थः प्रयोजनं गृहस्थस्य केव-
चास्तुधनधान्यं शरीरपरिपालनादिविषयं तदर्थं आरम्भो भू-
तोपमर्दोऽर्थदरुः॥ दण्डो निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः।
अर्थेन प्रयोजनेन दण्डोऽर्थदरुः, स चैवंभूत उपमर्दनलक्षणो
दण्डः केवादिप्रयोजनमपेक्षमाणोऽर्थदरु उच्यते, तद्विपरीतोऽ-
नर्थदण्डः । आव० ४ अ० । निष्प्रयोजनं हिंसादिकरणे, आनु० ।
इहलोकप्रयोजनमङ्गीकृत्य निष्प्रयोजनभूतोपमर्दनात्मनो निग्रहे,
पंचा० १ विव० । स च उच्यते-यदकारणे राजकुले दण्ड्यते ।
प्रावतस्तु-निष्कारणं ज्ञानादीनां हानिः । वृ० १ उ० । आव० ।
“जो पुण सरडाईणं, थावरकायं च वण्णयाईअं । मारेतु ठि-
दिक ण व, ठेमे एसो अण्टाए ” ॥ १ ॥ प्रव० २५४ द्वा० ।

अहावेर दोच्चे दंरुसमादाणे अण्टादंरुवत्ति ए चि आ-
हिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भ-
वंति, ते एो अच्चाए एो अजिणाए एो मंसाए एो सो-
णियाए एवं हिययाए पिताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए
वालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए एहाए एहा-
रुणिए अछीए अट्टिमंजाए एो हिंसमुमेत्ति एो हिंसिंति-
मेत्ति एो हिंसिस्संतिमेत्ति एो पुत्तपोसणाए एो पसुपोस-
णयाए एो अगारपरिवूहणताए एो सपणमाहुणवत्तणा-
हेउं एो तस्स सरीरगस्स किंचिविप्परिया दित्ता भवंति, से
हंता ठेत्ता नेत्ता हुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्वइत्ता उज्जिउं
वाले वेरस्स आभागी भवंति अण्टादंरु ॥६॥ से जहा-
णामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तं जहा-
इकडाइ वा कडिणाइ वा जंतुगाइ वा परगाइ वा मोक्खाइ
वा तणाइ वा कुसाइ वा कुच्छगाइ वा पप्पगाइ वा पडाडाइ
वा ते एो पुत्तपोसणाए एो पसुपोसणाए एो आगारप-
मिवूहणयाए एो समणमाहुणपोसणयाए एो तस्स सरीर-
गस्स किंचि वि परियाइत्ता जवंति, से हंता ठेत्ता भेत्ता हुं-
पइत्ता विलुंपइत्ता उद्वइत्ता उज्जिउं वाले वेरस्स आ-
भागी अण्टादंरु ॥७॥ से जहाणामए केइ पुरिसे क-
च्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि
वा गुमंसि वा गहणंसि वा गहणविडुगंसि वा वणंसि
वा वणविडुगंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयविडुगंसि वा
तणाइ ऊसवियं सयमेव अगणिकायं णिसिरिंति, अण्णे-
ए वि अगणिकायं णिसिरावेंति, अण्णं पि अगणिकायं णि-
सिरिंतं समणजाणइ अण्टादंरु, एवं खलु तस्स तप्प-
त्तियं सावर्ज्जेति आहिज्जइ, दोच्चे दंरुसमादाणे अण्टादं-
रुवत्ति ए चि आहिए ॥८॥

अथापरं द्वितीयं दण्डसमादानमर्थदण्डप्रत्याधिकमित्यभिधी-

यते । तदधुना व्याख्यायते । तद्यथा नाम-कश्चित्पुरुषो निर्नि-
मित्तमेव निर्विवेकतया प्राणिनो हिनस्ति । तदेव दर्शयितुमाह-
[जे इमे इत्यादि] ये केचनामी संसारान्तर्वर्तिनः प्रत्यक्षा अम्वष्टाद-
यः प्राणिनस्तथासौ हिंसन्नर्था शरीरं, नो नैव, अर्थायै हिनस्ति,
तथाऽजिनं चर्म, नापि तदर्थमेव, नैव मांसशोणितहृदयपित्तवसा-
पिच्छपुच्छवालटङ्गविपाणदन्तदंष्ट्रानखस्नाय्वस्थिमज्जा इत्येवमा-
दिकं कारणमुद्दिश्य, नैव हिंसिपुर्नापि हिंसयिष्यति मां मदीयं चेति
कारणमुद्दिश्य, तथा नो पुत्रपोषणायेति-पुत्रादिकं पोषयिष्यामीत्ये
तदपि कारणमुद्दिश्य न व्यापादयति, तथा नापि पशूनां पोषणाय,
तथाऽगारं गृहं तस्य परिवृंहणमुपपन्न्यस्तदर्थं वा न हिनस्ति, तथा
न श्रमणब्राह्मणवर्तनाहेतुं, तथा यत्नेन पात्रयितुमारब्धं नो तस्य
शरीरस्य किमपि परित्राणाय तत्प्राणव्यपरोपणं भवति, इत्ये-
वमादिकं कारणमनपेक्ष्यैवासौ क्रीमया तच्छीलतया, व्यसनेन
वा प्राणिनां हन्ता भवति दण्डादिभिः । तथा भेत्ता भवति क-
र्णनासिकाविकर्तनतः, तथा नेत्ता शूलादिना, तथा हुम्पयिताऽ-
न्यतराङ्गावयवविकर्तनतः, तथा विलुम्पयिता अद्रयुत्पादनच-
र्मविकर्तनकरपादादिच्छेदनतः, परमाधार्मिकवत्प्राणिनां निर्नि-
मित्तमेव नानाविधोपायैः पीनोत्पादको भवति, तथा जीविता-
दप्यपछावयिता भवति । स च सच्चिवेकमुज्जित्वा, आत्मानं वा
परित्यज्य, बालवद्बालोऽज्ञोऽसमीकितकारितया जन्मान्तरानुव-
न्धिनो वैरस्य भागी भवति ॥ ६ ॥ तदेवं निर्निमित्तमेवं पञ्चे-
न्द्रियप्राणिपीरुनतो यथाऽनर्थदण्डो भवति, तथा प्रतिपादितम् ।
अधुना स्थावरानधिहृत्योच्यते—(से जहेत्यादि) यथा कश्चि-
त्पुरुषो निर्विवेकः पथि गच्छन् वृक्षादेः पल्लवादिकं दण्डादिना
प्रध्वंसयन् फलनिरपेक्षस्तच्छीलतया व्रजति । एतदेव दर्शयति-
(जे इमे इत्यादि) ये केचनामी प्रत्यक्षाः स्थावरा वनस्पतिका-
याः प्राणिनो भवन्ति । तद्यथा-इकमादयो वनस्पतिविशेषा उक्ता-
नार्थाः, तादिहेकरा ममानया प्रयोजनमित्येवमाभिसंधाय न वि-
नस्ति, केवलं तत्पुत्रपुष्पादिनिरपेक्षस्तच्छीलतया विनष्टात्येतत्स-
र्वत्र योजनीयमिति । तथा न पुत्रपोषणाय, नो पशुपोषणाय,
नागारप्रतिवृंहणाय, न श्रमणब्राह्मणप्रवृत्तये, नापि शरीरस्य किं-
चित्तन्नाणं जविष्यतीति केवलमेवासौ वनस्पतिहन्ता भेत्तेत्यादि
यावद् जन्मान्तरानुवन्धिनो वैरस्य भागी भवति । अयं वनस्प-
त्याश्रयोऽनर्थदण्डोऽजिहितः ॥ ७ ॥ सांप्रतमग्न्याश्रितमाह—
(से जहेत्यादि) तद्यथा नाम-कश्चित्पुरुषः सदसद्विवेकविक-
लतया कच्छादिकेषु दशसु स्थानेषु वनदुर्गपर्वतेषु तृणानि कु-
शेपीकादीनि पौनःपुन्येनोर्ध्वाधःस्थाने कृत्वाऽशिकायं हुतभुजं
निसृजति प्रक्षेपयति, अन्येन वाऽग्निकायं बहुसत्त्वापकारी दवा-
र्थं निसर्जयति प्रक्षेपयति, अन्यं च निसृजन्तं समनुजानीते, त-
देवं योगत्रिकेण कृतकारितानुमतिभिस्तस्य यत्किंचनकारिण-
स्तत्प्रत्ययिकं दवदाननिमित्तं सावधं कर्म महापातकमाख्यातं,
द्वितीयमनर्थदण्डसमादानमाख्यातामिति ॥ ८ ॥ सूत्र० २ शु०
२ अ० । आ० च्य० ।

अण्टादंडवेरमण-अनर्थदामविरमण-न० अर्थः प्रयोजनम्,
तत्प्रतिषेधोऽनर्थः, दण्डयते आत्माऽनेनेति दण्डो निग्रहः, अनर्थ-
न दण्डोऽनर्थदण्डः । इह लोकप्रयोजनमङ्गीकृत्य निष्प्रयोजनभू-
तोपमर्दनात्मनो निग्रह इत्यर्थः । तस्मात्तस्य वा विरमणं विर-
तिः । तृतीये गुणव्रते, पंचा० १ विव० । उपा० । “तथा एतं च
णं अण्णत्थदंडे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-अवज्जाणायरिप
पमायायरिप हिंसण्णयाणे पावकम्मोवणसे । तस्स एं अण्ण-

द्वन्द्ववेरमणस्त समखोचामणस्त पंच अद्यारा जाणियव्या,
न समायोर्यव्या । तं जहा—“एहाणावट्टणवत्तम-धिलेवणे सह-
रुवरममंथे । यन्थासण्णभरणे, पभिकमणं देवस्सियं सव्वं
॥१॥ कंदणे १ कुट्टण २ मोहारिण अमंजुताहिकणे ४ य । उ-
चमोगपत्तिमांगानिरित्ते-” । उपा० १ अ० अस्थानभेदगर्डाविरमण-
स्य धनणेपासकेन अमी पञ्चानां चारा ज्ञानव्या न ममाचरि-
तव्याः । आव० ६ अ० (यथास्या ‘कंदण’ आदिगर्देषु द्रष्टव्या)

अणुद्वयं धि—अनर्थवन्निन्—ए० । पञ्चम्ये अनर्थकं निष्प्रयोजन-
मेकवातेपरिहा वीरु चतुरो वा चारान् कम्मान् यन्थान् ददाति,
चतुरपरि वह्नि अट्टकानि वा यन्ताति, तथा च स्वाध्यायवि-
घ्नपलिनम्यादयो दोषाः, यदि कैकाङ्किकं चम्पकादिपदं लभ्य-
ते तदा तदेव आराम, यन्थनादिपलिनम्यपरिहागात् । कल्प० ।

अणुद्वय—अनट्टन—न० । अन्नमणे, पंचा० १३ विव० ।

अणुद्वय—देशी । जारे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुनिष्पत्तु—अनर्थ—अव्य० । प्रतीपमनस्येत्यर्थे, “अपभ्र-
ष्टमणुनिष्पत्तु संपद्यते” ‘अणुनिष्पत्तु’—न प्रतीपं अपयतीत्य-
र्थः । नि० चू० १ उ० ।

अणुश्रोग—अननुयोग—पुं० । अनुयोगविपर्यस्ते अननुरूपे यो-
गे, विशेषे ।

नामादिभेदान्सप्तविधमनुयोगं व्याख्याय तद्विषयकभूतमनु-
योगं विभक्तिपुरुषार्थसंग्रहं प्रस्तावनां चाह—

एवोऽणुरूपजोगां, गत्रोऽणुश्रोगां इत्रो विनञ्जत्यं ।

जो सो अणुश्रोगां, तस्य—मे ह्येति दिङ्गता ॥१॥

नदेयं गनो भणित एवोऽनुरूपयोगोऽनुयोगः सप्तविधोऽपि ।
अथ विपर्यस्तमेतद्विपर्ययेण योऽयमनुयोगः, स उच्यते, तत्र
चैते वक्ष्यमानदृष्टान्ता भवन्तीति ॥ १ ॥

के पुनस्तेऽननुयोगदृष्टान्ता इत्याह—

वत्तगगोली खुज्जा, सज्जाए च वदिह्खत्ते ।

गामद्वयं य वयणे, सत्ते यं ह्येति भावमि ॥ २ ॥

सावगनज्जा सत्तव—इए य कांएणगदारण नउल्ले ।

कमझामेला संव—स्स साहसं सेणए कांवा ॥ ३ ॥

यथाऽनुयोगो नामादिभेदान्सप्तविधस्तथाऽननुयोगो यथासं-
भवं वक्तव्यः । तत्र नामस्थापने सुगमे, अव्यानुयोगस्तत्प्रसंगतः ।
द्रव्यानुयोगे च वत्सगौरुदाहरणम् । क्षेत्र त्वननुयोगानुयोगयोः
कुञ्ज उदाहरणम् । काले स्वाध्यायः । वचने पुनरुदाहरणद्वयम्,
तद्यथा—वधिरोल्लापः, आमेयकश्च । ज्ञावे तु सप्तोदाहरणानि जव-
न्ति, तद्यथा—धावकमार्या १ सासपदिकः पुरुषः २ कोट्टणक-
दारकः ३ नकुलः ४, कमलामेला ५, शम्भस्य साहसम्, ६ श्रे-
णिक्करो ७ इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥ ३ ॥

अथ विस्तरतो वत्सगोण्युदाहरणं भाष्यकारः प्राह—

खीरं न देइ सम्मं, परवत्तनिओयओ जहा गावी ।

वट्टेज्ज व परट्टुक्कं, करेज्ज देहोवरोहं वा ॥

यथा काचिच्छयलादिका गौरवस्था बहुधादिकायाः संवन्धि-
नि गोदोहकेन वत्से नियुक्ते सत्यननुयोगोऽयमिति कृत्वा तन्निर्वा-
गतः कीदं दुग्धं सम्यग् न ददाति । अथवा न तावता तिष्ठेत् कि-
न्तु परदुग्धम्—अन्यस्या अपि गोः सत्कं दुग्धमप्येऽपि गोदोहनि-
कार्या व्यवसितनुष्ठान्ती उदयेत् त्वाजयेत्, यदि वा देहोपरो-

धं वत्ताप्रहारादिभिर्जानुजङ्गादिना देहवाधामपि कुर्यादित्यर्थः ।

तथा किमन्याशङ्क्य प्रस्तुते योजयन्नाह—

तह न चरणं पमूते, परपजायविणिओगओ दव्वं ।

पुञ्चवरणोवघायं, करेइ देहोवरोहं वा ॥

जिणवपणसायणात्रां, उम्मायातंकमरणवसणाइ ।

पावेज्ज सव्वज्जोवं, स वोहिलाभोवघायं वा ॥

दव्वविज्जसाओ, साहणभेओ तओ चरणभेओ ।

ततो मोकखाजावो, मोकखाजावोऽफला दिक्खा ॥

तथाऽत्रापि व्याख्या—यदा जीवादिद्रव्यमजीवादिधर्मः प्ररू-
पयति, अजीवादिद्रव्यं वा जीवादिधर्मः प्ररूपयति, तदित्थं
प्ररूप्यमाणं तद् द्रव्यमनुयोगतो दुग्धस्यानीयं चरणं चाग्निं
न प्रसूते । परपर्यायविनियोगतो विपर्यासात्कहेतुः, तत्र भव-
तीत्यर्थः । न चैतावता तिष्ठति, किन्त्वित्थमननुयोगं कुर्यतः
पूर्वप्राप्तचरणोपघातं च करोति, तथेत्यथमवधिप्ररूपणप्रवृत्तस्य
योगाधुरतसंदेहस्याप्युपरोधं बाधां विदधाति । किञ्चेत्थं जिन-
वचनाशातनोत्पत्तेरुमादात्तङ्कमरणव्यसनान्यपि प्राप्नुयात्, तथा
सर्वव्रतलोपं, बोधिश्रानेपघातं च प्राप्नुयादिति । ननु कथं-
विपर्यायप्ररूपणमात्रादेवेतावन्तो दोषा स्युरित्याह—“ (द्रव्यावि-
ज्जसास्त्यादि) विपरीतप्ररूपणे हि द्रव्यस्य विपर्यासो भव-
ति, तथा च सति साधनस्य सम्यग्ज्ञानादेर्नैवोऽन्यथाभावो
जायते, ततः साधनभेदाच्चरणभेदस्तद्वेदात् तासाध्यस्य
मोक्षस्याजावप्रसङ्गः, उपायाभावे उपेयासिद्धेः । ततो मोक्षा-
भावे निष्कलैव दीक्षा, मोक्षाद्येमेध तत्प्रतिपत्तिस्तत्तदभावे
निरर्थकैव सेति । तदेवं अव्याननुयोगे निर्दिष्टा दोषाः ।

अथ द्रव्यस्य सम्यगनुयोगे गुणानाह—

सम्मं पयं पयच्छइ, सवच्छविणिओगओ जहा धेणू ।

तह सयपज्जवजोया, दव्वं चरणं तओ मोकखो ॥

यथा परवत्सपरिहारेण स्वयत्सविनियोगतो गोः सम्यक् पयः
प्रयच्छति तथा स्वकपर्याययोगाद् द्रव्यं, तत्तत्परिहारेण, ततो मोक्षः प्रा-
प्यत इति । तदेवं अव्याननुयोगे च दोषगुणयोर्वत्सगोदृष्टान्त उक्तः ।

अथ क्षेत्राद्यननुयोगे दोषास्तदनुयोगे तु

गुणास्तोदाहरणानतिदिशन्नाह—

एवं खेत्ताइसु वि, सधम्मविणिओगओऽणुश्रोग चि ।

विवरीए विवरीओ, सोदाहरणोऽणुगंतव्वो ॥

पञ्चमुक्तानुसारेण, क्षेत्रकालवचनभावेऽपि स्वधर्मेविनियो-
गतः आत्मोचितधर्मयोजनात्, अनुयोगः । विपरीते तु—वि-
परीतधर्मयोजने तु, विपरीतोऽननुयोगः सोदाहरणः स्वबुद्ध्या,
अन्त्यान्तराद्वाऽनुगन्तव्यो ज्ञातव्यः ।

तत्रेत्यर्थातिदिष्टेऽपि मुग्धविनेयानुग्रहार्थं किञ्चिदुच्यते—तत्र
क्षेत्रतोऽननुयोगोऽनुयोगे च कुञ्जोदाहरणमभिधीयते—प्रतिष्ठा-
ननगरं शालिवाहनो नाम राजा । स च प्रतिवर्षं समागत्य
भृगुकच्छे नजोवाहननृपं रुणादि स्म । ऋतुबद्धे च काले तत्र
स्थित्वा वर्षासु स्वनगरं गच्छति स्म । अन्यदा च रोहक
समागते तेन राज्ञा स्वनगरं जिगमिषुणा आस्थानसभाम-
रूपिकायां पतङ्गहकमन्तरेणापि भूमौ निष्ठूतम् । तस्य च रा-
ज्ञः पतङ्गहचारिणी कुञ्जा समस्ति स्म । तथा चातीवभावज्ञतया
बलितम—नूनं परिजिहामुरिदं स्थानं नरपतिर्यास्याति प्रजाते
स्वनगरं, तेनेत्यमिह निष्ठोवतीति संविन्य निगदितं कथं—

मःप्रात्मपरिचितस्य यानशात्रिकस्य । ततस्तेन प्रगुणीकृत्य यानान्यगच्छत एव राज्ञः पुरतोऽपि प्रवर्तितानि, तत्पृष्ठनश्च सर्वोऽपि स्कन्धावारः प्रवृत्तो गन्तुम् । व्याप्तं च नजोमएरुवं कटकधू-
 हिनिकरेण । ततश्चिन्तितं विस्मितमनसा नराधिपेन-ननु कस्या-
 पि प्रयाणकं न कथितं धूत्रीभयात्किंवाहं स्वल्पपरिच्छदो भू-
 त्वा सैन्यस्य पुरत एव यास्याम्येतच्च विपरीतमापन्नम्, तत्कथ-
 मिदं कटकदोकेन विज्ञानमिति । परम्परया शोधयता विज्ञाता
 कुब्जाः । पृष्ठया च तथा कथितं सर्वमपि यथावृत्तम् । तदत्र सजा-
 मएरुपिकादिक्लेत्रेण निष्ठिवनस्य अननुयोगः, निष्ठिवनादिरक्-
 णप्रमार्जोपलेपनादिकस्त्वनुयोगः । एवमेकान्तनित्यमेकमप्रदेशं
 चाकाशं प्ररूपयतोऽननुयोगः, स्याद्वादवाञ्छितं तु तदेव प्ररूप-
 यतोऽनुयोग इति ।

कालाननुयोगानुयोगयोः स्वाध्यायदृष्टान्तः-तद्यथा-एकः सा-
 धुः प्रादोपिककालग्रहणानन्तरं कालिकश्रुतमतीतामपि तद्गुण-
 नवेदामजानानः परावर्तयते स्म । ततः सम्यग्दृष्टिदेवतया चि-
 न्तिताम-बोधयाम्यमुं, मा चून्मिथ्यादृष्टिदेवताग्रहणस्य, ततो
 मथितकारूपेण मथितभृतमेव घटं मस्तके निधाय तस्यैव सा-
 धोरन्तिके गतागतानि कुर्वतो 'मथितं व्रज्यते' इति महता शब्दे-
 न पुनः पुनर्बोधयन्ती परिभ्रमति स्म । ततोऽन्युद्वेजितेन साधुना
 प्रोक्तम्-अहो ! प्रवत्यास्तकविक्रयवेला ? । ततो मथितकारिक-
 याऽप्यबोधि-अहो ! तवापि स्वाध्यायवेदा ? । ततो विस्मितः सा-
 धुरूपयुज्य मिथ्यादृष्टिदृष्टाति स्म । ततोऽकाञ्चस्वाध्यायविधा-
 नेन मिथ्यादृष्टिदेवताविहिततच्छलानि भवन्त्यतः पुनरप्येवं मा का-
 र्षीस्त्वमित्यादि साधुदेवतयाऽनुशासितः । इत्येव स्वाध्यायस्य
 काञ्चाननुयोगः, काञ्चानुपठतस्तदनुयोगः, प्रस्तुतेऽपि काञ्चधर्मा-
 णां वैपरीत्यावैपरीत्यप्ररूपणे अननुयोगाऽनुयोगौ वाच्याविति ।

अथ वचनविषयमनुयोगाननुयोगयोरुदाहरणद्वयमुच्यते-तत्र
 प्रथमं धधिरोल्लापः । तत्र चैकस्मिन् ग्रामे बाधिरकुटुम्बं परिवस-
 नि स्म । स्थविरः, स्थविरा, पुत्रो, वधूश्च । अन्यदा च पुत्रः क्लेशं दृष्ट्वा
 बाह्वन् पथिकैर्मार्गं पृष्ठो धधिरतया ब्रवीति-गृहजातौ मम बही-
 चर्दाविमौ, न पुनरन्यस्य सत्कौ । ततो धधिरोऽयमिति विज्ञाय गताः
 पथिकाः । ततो जक्तं गृहीत्वा वधूः समायाता । शृङ्गितौ पथिकै-
 र्वर्त्तवर्दावित्यादि निवेदितं तेन तस्याः । तथा च प्रोक्तम्-कारमव-
 षणं वेति न जानाम्यहम्, एतत्त्वदीयजनन्यैव हि संस्कृतम् । ततो
 गृहं गतया तथाऽपि क्षारादिभणनव्यतिकरो निवेदितः । स्थविर-
 या च कर्तयन्त्या प्रोक्तम्-स्थूढं सूक्ष्मं वा भवत्वित्दं, स्थविरस्य प-
 रिधानं भविष्यतीति । निवेदितं चैतत्सानुशयचित्तया स्थविरया
 गृहमागतस्य स्थविरस्य । तेनाऽपि विन्यता प्रोक्तम्-तव जीवितं
 पिबामि, यद्येकमपि तिलमहं भक्ष्यामीति । एवमेकवचनादिकम-
 प्युक्तम् । द्विवचनादितया यः शृणोति तथैव चान्यस्य प्ररूपयति,
 तस्याननुयोगः, यथावच्छ्रवणनिरूपणे त्वनुयोग इति ॥ वचना-
 नुयोगस्यैवैह प्राधान्यख्यापनार्थं वचनविषयमेव चितीयं ग्रामेय-
 कोदाहरणमुच्यते-तत्र चैकस्मिन्नगरे कस्याश्चिन्महिलाया जता
 मृतः, तत्रेन्धनजलादिकष्टेन बाधिता निर्वहन्ती बधुना निजत-
 नयेन सह ग्रामं गताऽसौ । ततो वृद्धिं गतेन पुत्रेण सा पृष्टा-मदी-
 यपितुः का जीविका आसीत् ? । तथा प्रोक्तम्-राजसेवा । तेनोक्तम्-
 अहमपि तां करोमि ? । तथा प्रोक्तम्-पुत्र ! दुष्कराऽसौ, महता
 विनयेन क्रियते । कीदृशः पुनरसौ विनयः ? । तथा प्रोक्तम्-सर्व-
 स्यापि दृष्टस्य प्रणामः कार्यः, नीचैर्वृत्त्या सर्वस्यापि प्रवर्तितव्यम्,
 परच्छन्दानुवृत्तिपरैश्च सर्वत्र भवितव्यम् । एवं करिष्यामीत्य-

न्युपगम्य चलितोऽयं राजधानीम् । सम्मुखे मार्गे च हरिणेष्व-
 गच्छत्सु वृक्षमूलेष्वारुणधनुर्यष्टयो निलीना व्याधा दृष्टाः । तेषां
 च तेन महता शब्देन योत्कारः कृतः, ततस्त्रस्ताः प्रपलाय्य गता द-
 रिणाः । ततो व्याधैः कुट्टयित्वा वधोऽसौ । ततस्तेनोक्तम्-जनन्याऽहं
 शिक्षितः-दृष्टस्य सर्वस्यापि योत्कारः कर्तव्य इत्यादि । ततश्च क्र-
 जुरयमिति ज्ञात्वा मुक्तस्तैः, शिक्षितश्च-यथा-ईदृशे दृष्टे निर्वानैर-
 वनतैः शब्दमकुर्वद्भिः शनैर्वा जल्पद्भिर्निवृत्तमागम्यते । तदच्युप-
 गम्य पुरतो गन्तुं प्रवृत्तोऽसौ । दृष्टाश्च वस्त्राणि कालयन्ता रज-
 कास्तेषां च वस्त्राणि तस्करैर्नित्यमपह्रियन्ते स्म, ततस्तत्र दिने
 बगुमादिव्यप्रपाणयो रजकाः प्रच्छन्नोपविष्टा हेरयन्तस्तिष्ठन्ति
 स्म । आगतश्चाजल्पन्नवनतगात्रो निर्वीयमानः शनैः सः तत्र ग्रामे-
 यकः । स एव चौर इति कृत्वा कुट्टयित्वा वधोऽसौ रजकैः । सद्भावे
 च कथिते मुक्तस्तैः शिक्षितश्च-यथेदृशे कस्मिंश्चिद् दृष्टे एवमुच्य-
 ते, यथा-ऊपक्षारोऽत्र पततु, शुद्धं च भवत्विति । इदं चाच्युप-
 गम्य प्रवृत्तः पुरतो गन्तुम् । ततो दृष्टं क्वचिद्ग्रामे बहुभिर्मङ्गलैः
 प्रथमं हलवाहनस्य दिवसकरणं क्रियमाणम् । तत उक्तम्-ऊये-
 स्यादि । ततस्तैरपि कृषीवलैः पिष्टितो वरुश्च, सद्भावे ज्ञाते मुक्तः,
 शिक्षितश्च-यथेदृशे कापि दृष्टे प्रोच्यते, यथा-गन्त्योऽत्र ग्रियन्तां,
 बहव्र भवतु, सदैव चेदमस्त्विति । अभ्युपगतं च तेनेदम् ।
 अन्यत्र च मृतके बहिर्नीयमाने प्रोक्तमिदम् । तत्रापि कुट्टितो वरु-
 श्च, सद्भावकथने च मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेदृशं मा भूद्वचतां क-
 दाचिदपि, वियोगश्चेदृशो नास्त्विति । एतच्चान्यत्र विवाहे प्राक्तम्-
 तत्रापि तथैव वदः, सद्भावे परिज्ञाते मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेदृशे
 प्रोच्यते-सदैवं पश्यन्तीदृशानि भवन्तः, शाश्वतश्च भवत्वैतत्सं-
 वत्तः, मा चूदिह वियोग इति । इदं चाच्युपगतं क्वचिन्निगमवत्
 राजानमवलोक्य युवाणस्तथैव कदर्थयित्वा मुक्तः, शिक्षितश्च-
 यथेदृशो वियोगः शीघ्रं भवत्वनेन, एवं च मा चूत्कदाचिदपीत्य-
 मिधीयते । एतच्चान्यत्र क्वचिद्वाङ्मां संघौ जल्प्यमाने प्रोक्तं, तत-
 स्तत्रापि तथैव कदर्थितः । एवं स्थाने २ कदर्थ्यमानोऽन्यदा क-
 स्यापि विभवतः प्रमुक्तस्य उक्कुरस्य सेवां विधातुमारब्धः, त-
 त्र चान्यदा गृहे आमूलखलिकायां सिद्धायां ग्रामसभाजनसमूह-
 मध्ये उपविष्टस्य उक्कुरस्य शीतलीभूता एषा प्रोक्तमयोग्या
 भविष्यतीति ज्ञायया तदाकारणाय प्रेषितो ग्रामेयकः । तेनापि
 तस्य जनसमूहस्य शृण्वतो महता शब्देन प्रोक्तम्-आगच्छ
 उक्कुर ! शीघ्रमेव गृहं, शुद्धश्च, आम्बलखलिका शीतलीभवति
 स्थिताऽसौ, ततो लाजितउक्कुरो गृहं गतस्ततो वाढं तामयित्वा
 शिक्षितोऽसौ, यथा नेत्थं कुर्वाणैर्गृहप्रयोजनानि भाष्यन्ते, किं तु
 वस्त्रेण मुखं स्थगयित्वा कर्णाभ्यर्णे च स्थित्वा शनैः कथ्यन्ते ।
 ततोऽन्यदा वन्दिदीप्ते गृहे गतो ग्रामसभायां, शनैरग्रतः स्थि-
 त्वा वस्त्रं च मुखद्वारे दत्त्वा कथितं तत्तस्य कर्णे । ततः
 संभ्रमाद् धावितो गृहाग्निमुखः उक्कुरो, दग्धं च सर्वस्वं सर्वमपि
 गृहं, ततः कुपितेन वाढं तामितोऽसौ उक्कुरेण, जणितश्च निर्व-
 क्कण ! प्रथममेव धूमे निर्गते जलाचारवधूद्विभस्मादिकं किमिति
 त्वया न निक्षिप्त, महता च शब्देन किमिति त्वया न पूकृतम् ? ।
 तेनोक्तम्-अन्यदा इत्थं करिष्यामीति । ततः कदाचिद्विहितस्नानो
 धूपनायोपविष्टः उक्कुरः, निर्गतां च प्रच्छादनपटस्योपरि अग्ररु-
 धूमशिखां दृष्ट्वा च ग्रामेयकेन किं चोत्पादय तदुपर्याचारवृ-
 त्तमहास्थावी, जलधूवीजसादिकं च; तथा च पूकृतं महाद्भिः
 शब्दैरिति । ततोऽन्योऽन्यमिति निष्कासितो गृहात् । एवं शिष्यो-
 ऽपि यावन्मात्रं वचनं गुरुः कथयति तावन्मात्रमेव स्वयं व्रज्य-

क्षेत्रकालपराभिप्रायान्वित्यपरिकल्पनाद्यो यो चकि, तस्य वचना-
ननुयोगः, यस्तु स्वयं क्षेत्राद्यैर्विन्येत यत्किं तस्य तदनुयोग इति ।

भाषाननुयोगानुयोगयोः समोदाहरणानि—

तत्र श्रावकभार्यादाहरणमाह—एकेन गृहीताण्युपेतने तरुण-
श्रावकेण श्रावकभार्याऽतीथरूपवती कृतोद्भट्पट्टद्वारा निजप-
न्या एव सखी कदाचिद् दृष्टा । गाढमष्टपक्षश्च तस्यां, परं व-
ज्रादिना किमपि वस्तुमशक्नुवंस्तन्प्राप्तिचिन्तया च प्रतिदिनम-
तीव दुर्लभो भवतिदन्धेन पृष्ठं क्राग्नं स्वनार्यया, कांयतं च कथं
कथमपि नेत । नया चानीयदृजतया प्रोक्तम्—एतावन्मात्रेऽप्यर्थे
किं विद्यसे? प्रयत्नमेव प्रमेतत्किं न कथितम्? स्वार्थानां हि मम सा,
अन्यासि सन्त्यरेवेति । ततोऽन्यदिने भणितो भर्ता-तया अन्यु-
पगतं सहर्दया नया युष्मन्समीहितं, प्रदोष एवागमिष्यति, परं ल-
ज्जास्तुतया घासमभवनप्रविष्टमात्राऽपि प्रदोषं विध्यापयिष्यति तेनो-
क्तम्—एवं जयतु, किमिदं दिनव्यति, ततो घयस्यायाः सफागार्तिक-
विधिभित्तमुद्गाव्य याचिनानि नया नदीयानि स्वन्तर्दृष्टपूर्वाणि
प्रधानवस्त्राणामभरणानि च, ततो गुटिकादिप्रयोगतो चिरितस-
खीमदृशस्पर्शादिस्वरूपा तथैव कृतशृङ्गारा तन्मदृशशलितेन
विश्रामैश्चान्विता तस्यैव श्रावस्य भार्या सश्रित्विदवरकुसुमता-
म्बूत्रश्रीवर्णाशुक्लकर्पूरकस्तूरिकादिसमस्तभोगाङ्गे विहितामल-
प्रदोषाग्नौ रमणीयं वासभयने सविलासमन्यविश्व । ततो दृष्टा
मौक्तिकवस्त्रादिस्फारितदृशा त्रिदशकल्लोडिनीपुलिनप्रतिस्पर्धिप-
त्यङ्गकोपविष्टेन जगिन्येव नयनमनसोऽमृतवृष्टिमिवाद्याना तै-
पा । तया च दृष्टमात्रया विध्यापितः प्रदोषः । क्रीकितं विविधगो-
ष्ठीप्रवन्धपूर्वकं तया सह निर्भरं तेन । गतायां च तस्यां प्रत्युपसि-
चिन्तितमनेन—“सयलनुरासुरपणमिय-चलणेहि जिणेहि जं हि-
वं जगियं । तं परजवसंचलयं, अहह ! मए हारियं सीलं” ॥ १ ॥ इ-
त्यादिसंवेगशोत्पन्नपदवाचापमहान्नशुष्यमानान्तःकरणः प्र-
तिदिनमधिकतरं दुर्बलीभवत्यसौ । ततो निर्वन्धेन भार्यया पृष्टो निः-
श्वस्य नखैर्दं प्रवीति स्म—प्रिये ! यतश्चिरकालानुपाजितस्वर्गाप-
वर्गनिबन्धनप्रतप्तएकनेनामुना कृतं मया तदकृतव्यं यद् यादृश-
नामप्यधिष्येत् । ततः कृशीभवाम्यहमनया चिन्तया । ततो भार्य-
या संवेगवशी भूतं व्यावृत्तं च तथेतां विज्ञाय कथितः सर्वोऽपि यथा
वृत्तः । सद्भाषसांनिधानकथनादिनिष्ठं समुत्पादिना प्रतीतिस्त-
स्य, ततः स्वस्थीचूतोऽयमिति । तदेवं स्वकलत्रमपि परकलत्रा-
भिप्रायेण जुञ्जानस्य तस्य ज्ञानानुयोगः, यथाऽवस्थितावगमे
ज्ञानानुयोगः । एवमौदयिकादिभावान् स्वरूपवैरीत्येन प्रकृप-
तो ज्ञानानुयोगः, यथावस्थिततत्प्ररूपणे तु भावानुयोग इति ।
समाभिः पदेव्यवहरतीति सासपदिकस्तदुदाहरणमुच्यते—
एकस्मिन्प्रत्यन्तग्रामे कोऽपि सेवकपुरुषो वसति स्म । स च
साध्यादिदर्शनिनां संवन्धिनं धर्मकदाचिदपि न शृणोति स्म ।
न च तद्वक्तिके कदाचिदपि व्रजति स्म, न च कस्याप्युपाश्रयं ददा-
ति स्म । यतो दयावृतां परधनपरकलत्रनिवृत्त्यादिगुणप्रतिपात्तिं
चिते उपदेह्यन्ति, न च पात्रयितुमर्हं शक्नोमीति । अन्यदा च वर्षा-
सञ्जसमायातास्तत्र कथमपि साधवः, तेषां च तत्र वसतिमन्वेपय-
तां कौतुकदिदृष्टुभिः सेवकनरमित्रैर्धर्मागैरुक्तम्—अत्रेवं चूतो भ-
वतामतीव भक्तोऽमुकगृहे श्रावकस्तिष्ठति, वसत्यादिना न किञ्चि-
त्कुण्ठं करिष्यति; तच्छ्रुतं तत्रेति; कृतं तत्तथैव तैः । स च तेषां पुर-
तोऽपि स्थितानां संमुखमपि नावदोक्तयति स्म । तत एकेन सा-
धुना शेषसाधूनामाभिमुखमुक्तम्—स एव न भवति, प्रवञ्चिता वा
तैर्भ्रामेयकैर्ययम् । ततस्तेन सञ्चान्तेनोक्तम्—किं किं भणथ यूयम् ? ।

ततस्तैः कथितं सर्वमपि भाषितम्, ततस्तेन चिन्तितम्—अहो !
मत्तोऽपि ते निकृष्टाथैरेतेऽपि प्रवञ्चिताः, तस्माद् मा जूचन्ममी अहं
च नदुपहासपात्रम् । अतोऽनिष्टमपि करोम्येतदिति विचिन्त्योक्तम्—
तिष्ठत मम निराकुञ्जशालायामेतस्याम्, परं मम धर्माङ्कुरं न क-
थनीयम् । प्रतिपन्नमेतसैः । स्थिताश्च सुखेन तत्र चतुर्मासकाल्यं
यावत् । ततो विजिहीर्षुर्जिस्तेरनुमज्जनार्थमागतस्य शय्यातरस्य
कल्पोऽयमिति दक्षाऽनुशास्तिः । ततो मद्यमांसाजीवघातादिवि-
रतिं कर्तुमशक्नुवतस्तस्यातिशयज्ञानितयाऽग्रे प्रतिबोधगुणं प-
श्यद्भिर्गुरुभिः सासपदिकं धृतं दत्तम् । किञ्चित्पञ्चेन्द्रियप्राणिनं
जिघांसुना यावता कालेन सप्तपदान्यवध्वप्स्यन्ते, तावन्तं कालं
प्रतीक्ष्य हन्तव्योऽसाविति । प्रतिपन्नमेतत्तेन । गताश्च साधवोऽन्य-
त्र । अन्यदा चासौ सेवकनरश्चौर्यार्थं गतः कापि, ततोऽपशकु-
नादिकारणेन स्वल्पेनैव कालेन प्रतिनिवृत्तः । कीदृशो मत्परोक्तो
मदीयगृहे समाचार इति जिज्ञासुर्निशीथे प्रच्छन्न एव प्रविष्टो
निजगृहे, तस्मिन् दिने तदीयजग्निनी भ्रामान्तरादागता, तया
च केनचिद् हेतुना विहितपुरुषनेपथ्यया नष्टा नृत्यन्तो निरीकृ-
ताः । ततोऽसौ प्रचलन्निष्ठावशीकृतपुरुषवैषैव भ्रातृजायायाः स-
मीपे प्रदीपादोकादिरम्यवासमभवनगतपत्यङ्ग एव निर्जरं प्रसुता ।
तेनाऽपि च तद्वन्धुना अकस्मादेव गृहप्रविष्टेन दृष्टं तत्तादृशम् ।
ततश्चिन्तितमनेन—अहो ! विनष्टं मद्वृहम् । विटः कोऽप्ययं मद्भा-
र्यासमीपे प्रसुतस्तिष्ठतीति कोपावेशादाच्छृणुणः, ततः स्मृतं
व्रतं, विलम्बितं च सप्तपदापसरणकालम् । अत्रान्तरे तद्भगिनी-
बाहुवतिका निष्ठावशेन तद्भार्यया मस्तकेनाक्रान्ता, ततः पी-
ड्यमानया तद्भगिन्या प्रोक्तम्—हस्ते ! मुञ्च मम बाहुं, द्यूऽत्यर्थ-
महम् । ततः स्वरविशेषेण ज्ञातोऽनेन स्वभगिनी ! अहो ! निकृष्टोऽहं,
मनागेय मया न कृतमिदमकार्यम् । तत उचित्ये तसञ्जमं भ-
गिनीभार्ये । कथितश्च सर्वैः स्वव्यतिकरः परस्परम् । ततो य-
थोक्तानिग्रहमात्रस्याप्येवञ्जूनं फलमुद्दीक्ष्य संविशः प्रव्रजितोऽ-
साविति । तदत्र स्वभगिनीमपि परपुरुषानिप्रायेण जिघांसोस्तस्य
ज्ञानानुयोगः ; यथाऽवस्थितावगमे तु भावानुयोगः । प्रस्तुत-
योजना तु श्रावकभार्यादाहरणवदिति ।

कोद्वणकदारकोदाहरणम्—

यथा कोद्वणकविषये एकस्य पुरुषस्य ह्युदारकोऽस्ति स्म । नार्या
तु मृता, अन्यां च परिणेतुमिच्छतोऽपि सपत्नीपुत्रोऽस्यास्तीति
न कोपि ददाति स्म । अन्यदा च सहैव तेन दारकेणासावरण्ये का-
ष्ठानां गतः, तत्र च कस्यापि पित्रा काण्डं मुक्तं, तदानयनाय च
दारकः प्रेषितः, गतश्चायम्, अत्रान्तरे दुष्पितुस्तस्य चक्षितं चित्तं,
यदस्य दारकस्य सत्ककारणनान्यां नार्या मम न कोपि ददाति ।
ततोऽन्यत्काण्डं क्षिप्त्वा विक्षोऽसौ दारकः, ततो महता स्वर-
णोक्तं बाह्यकेन—तात ! किमेतत्काण्डं त्वया मुक्तम्, विक्षो ह्यने-
नाहम् । ततो निर्घृणेन पित्राऽन्यत् काण्डं मुक्तम् । ततो ज्ञातं दा-
रकेण—हन्त ! चुक्ता मारयत्येव मामिति विस्वरं रटन्निगृहेन तेन
मारितोऽसाविति । पूर्वमन्यस्य बाणं मुञ्चताऽपिऽनाजगत पचाहं
विक्ष इत्येवमवबुध्यमानस्य ज्ञानानुयोगः, पश्चाद्यथावस्थिता-
वगमे तस्य ज्ञानानुयोगः । अथवा संरक्ताहमपि तं बाह्यकं मारया-
मीत्यध्यवस्यतः पितुर्भावानुयोगः ; तच्छ्रद्धाध्यवसाये तु ज्ञानानु-
योगः । एवं विपरीतज्ञानप्ररूपणे भावानुयोगः, अविपरीतभात्र-
प्ररूपणे तु भावानुयोग इति ।

अथ नकुलोदाहरणम्—

यथा पदातेः कस्यचिद् नार्यां गुर्विणी जाता, नकुलिका च

काचिद् गृहवृत्त्याद्याश्रिता गुर्विणी, पदातिजायया सह एकस्यां रजन्यां प्रसूता । तस्या नकुञ्जो जातः, इतरस्यास्तु पुत्रः, ततोऽस्य समीपे नकुञ्जः सदैव तिष्ठति स्म । अन्यदा च पदातिजा-र्यया द्वारे करडयन्त्या मध्ये मञ्चिकायां स्थापितो बालकः स-पेण दृष्टो मृतश्च । ततो मञ्चिकाया उत्तरं नकुलेन दृष्टो विषधरः खण्डशः कृत्वा मारितश्च; ततो द्वारे पदातिभार्यायाः समीपे गत्वा शोणितोपत्रिप्तवक्राद्यवयोऽसौ चाट्टनि कर्तुमारब्धः, दृष्टश्च तथा । ततो नूनं मदीयपुत्रं मारयित्वा भक्तितोऽनेनेति विचिन्त्य कोपाग्नेशान्मुशलेन हत्वा मारितो नकुञ्जः । गता च पुत्रसमीपे । दृष्टश्च पुत्रेण सद विनष्टः सर्पः, ज्ञातं च यथा सर्पो निहतस्ततो हन्तेत्यं निरपराधोऽप्युपकार्यं मया नि-कृष्टया इतो वराको नकुञ्जः, इति विचिन्त्य द्विगुणतरं शोकमापन्ना । पूर्वमपराधिनं विज्ञाय नकुञ्जं हन्त्यास्तस्या ज्ञाननुयोग इति; य-थावस्थितावगमे त्वनुयोगः । प्रस्तुतयोजना त्वनन्तरोक्तवदिति ।

अथ कमलामेढोदाहरणम्—

तत्र द्वारावत्यां नगर्या बह्वेदवपुत्रो निषधः, तस्यापि सूनुः साग-रचन्द्रः, स च रूपेणातीवोत्कृष्टः, शम्बादीनां च कुमारणां सर्वे-पामप्यतिप्रियः, तस्यामेव च द्वारावत्यां नगर्यामन्यस्य राज्ञो दु-हिता कमला नाम समस्ति स्म । सा चोपसेनतनयस्य नभःसेनकु-मारस्य दत्ता वृत्ता च तिष्ठति स्म । अन्यदा च तत्र नारदः सागर-चन्द्रस्य समीपं गतः । तेनाप्युत्थाय उपवेश्य प्रणम्य च पृष्टः-दृष्टं भगवन् ! आश्चर्यं किमपि ज्ञापि ? नारदेनोक्तम्-दृष्टं कमला-मेढानिधानराजपुत्रिकाया न खलु ममैव किन्तु भुवनत्रयस्या-ध्याश्चर्यकारि रूपम् । सागरचन्द्रेणोक्तम्-किं दत्ता कस्यचित्सा ? नारदेनोक्तम्-दत्ता परं नाद्यापि परिणीता । कथं पुनर्मम सा संप-त्स्यते ? इति सागरचन्द्रेणोक्ते, न जानाम्येतदहमित्यनिधाय गतो नारदः । सागरचन्द्रस्तु तद्दिनादारभ्य न शयानो नाप्यासीनः कापि रतिं हभते, तामेव कन्यकां फलकादिष्वालिखन्, तन्नाम-मात्रजापं चानवरतं कुर्वन्नास्ते स्म । नारदोऽपि कमलामेलाऽन्तिकं गतः । तयाऽपि तथैवाश्चर्यं किमपि दृष्टम्, इति पृष्टः कलहदर्शन-प्रियतया स प्राह-दृष्टमाश्चर्यं द्वयं मया-सागरचन्द्रे सुरुपत्वं, नभः-सेने तु कुरुपत्वं । ततो जगित्येव सा विरक्ता नभःसेने, अनुरक्ता च सागरचन्द्रे । तत्प्राप्तिचिन्ताऽऽतुरा च समाश्वासिता नारदेन सा-व्रत्से ! स्थिरीभव संपत्स्यते अचिरादेव तवायमिन्मुक्त्वा गतः सागरचन्द्रसमीपे । इच्छति त्वां सेत्यभिधाय गतः । ततो विरहा-वस्थाव्यथिने प्रलपति च सागरचन्द्रे, अर्तः सर्वोऽपि मात्रादिस्व-जनवर्गः, खिद्यन्ते यादवाः, तद्वान्तरे समायातः कथमपि साग-रचन्द्रसमीपे शम्भुकुमारः, दृष्टश्च तेनासौ तदवस्थः, ततः पृष्टतस्त-स्य स्थित्वा हस्तद्वयेनाच्छादिते तदकिणी शम्भेन । सागरचन्द्रेणो-क्तम्-किं कमलामेढा ? शम्भेनोक्तम्-नाहं कमलामेला, किन्तु कमला-मेढोऽहम् । ततः सागरचन्द्रेण शम्भोऽयमिति ज्ञात्वा प्रोक्तम्-सत्य-मेव कमलसमदीर्घलोचनां कमलामेलां मेढायिष्यसि, कोऽत्रार्थेऽ-न्यः समर्थ इति । ततोऽयैर्यङ्गकुमारैः पीतमद्यः परवर्षा ज्ञतः शम्भो ग्राहितस्तद्वापनप्रतिज्ञाम् । उत्तीर्णं च मदभावे विचिन्तितं शम्भेन-अहो ! अलं मयाऽप्युपगतम्, अशक्यं ह्येतद्वस्तु, कथमिदं प्रतिज्ञा-निर्वाहयिष्यते, ततः प्रयुज्य पाश्चात्प्रज्ञसिविद्या याचिता शम्भेन । त्रिधाहदिवसे च बहुजिर्वादवकुमारैः परिवृतेन तेन सुरक्षां पा-तयित्वा पितृगृहादाकृष्य नीता बहिरुद्याने कमलामेढा । नारदं च साकिणं कृत्वा कारितस्तत्पाणिग्रहणसंबन्धः सागरचन्द्रस्य । ततः सर्वेऽपि कृत्वा विद्याधररूपाः क्रीरन्तस्तिष्ठन्ति स्म । उद्या-

ने पितृन्चरुणादिकैश्चान्येपयद्दिदृष्टा कृतादिद्याधररूपा नवधारे-णीतवेषधारिणी च क्रीरन्ती कमलामेला । विद्याधरैरपहृत्य प-रिणीता कमलामेदेति कथितं तैर्वासुदेवस्येति । निर्गतश्च विद्या-धरोपरि कुपितः सवलवाहनोऽसौ, दृष्टं च महदायोधनं ताव-द्यावत्पश्चाच्छम्यः परिहृतवैक्रियरूपः पतितो जनकस्याद्विद्युग्मे । ततश्चोपसंहतः सङ्ग्रामः, दत्ता च कृष्णेन कमलामेढा सागरच-न्द्रस्यैव । गताश्च सर्वे स्वस्थानम् । तत्र सागरचन्द्रस्य शम्यं कम-लामेढां मन्यमानस्य ज्ञाननुयोगः, यथावस्थितावगमे तु ज्ञा-वानुयोगः । विपरीतादिप्ररूपणयोजना तु प्रस्तुता पूर्ववदिति ।

शम्भुसाहसोदाहरणमिति वचनान्तरे शम्भुसाहसोदाहरणम्-वासु-देवाच्छेषजाश्च सदैव शृणोति जाम्बवती-समस्तानामप्यालीनां मन्दिरं त्वत्पुत्रः शम्भु पति । ततो जाम्बवत्या विष्णुरभिहितः-मया पुत्रसत्का एकाऽप्यातिर्न दृष्टा । विष्णुना प्रोक्तम्-आगच्छ येनाद्य दर्शयामि । ततो जाम्बवती उत्कृष्टलाघर्यमाज्जीरीरूपं कारिता, स्वयं पुनराभीररूपं कृत्वा दूरगृहस्तः स्वयं पृष्टे व्यव-स्थितः । अग्रतस्तु मस्तकन्यस्तदधिहणिका जाम्बवती कृता, प्रविष्टोऽथ दधिविक्रयार्थं नगरीमध्ये । दृष्टा च शम्भेन माता । तदुत्कृष्टरूपा आभीरीति विज्ञाय प्रोक्ता शम्भेनैषा-आगच्छ मदगृहं सर्वस्यापि त्वदीयदध्नो यावन्मात्रं मूल्यं याचसे तदहं दास्या-मीत्यग्रतः स्वयं पृष्टतस्त्वाभीरी पश्चात्त्वाभीरः । स्वतः शून्यदेव-कुलिकायामेकस्यां गत्वा प्रोक्ता शम्भेनाभीरी-प्रविश एतन्म-ध्ये, मुञ्च दधि । तथा च विरूपान्निप्रायं तं विज्ञाय प्रोक्तम्-नाहमत्र प्रविशामि, द्वारस्थिताया एव गृहाण दधि, प्रयच्छ मूल्यम् । वलादपि प्रवेशयिष्यामीत्यभिधाय गृहीता शम्भेन सा बाहौ, ततो धावित्वा द्वितीयबाहौ लग्न आभीरः । द्वयोरपि चाकर्षणं विकर्षणं कुर्वतोर्जगन् भारमम् । ततः कृतं सहजरूपमात्मनो, जाम्बवत्याश्च विष्णुना । तच्च दृष्ट्वा लज्जितो नष्टः शम्भुः, नाग-च्छति चावसरेऽपि लज्जया राजकुले । ततोऽन्यादिने विष्णु-नियुक्तवृद्धपुरुषैः कष्टेनानीयमानः कुरिकया वंशकीलकं घट्टय-न्नागच्छत्यसौ । प्रणामे च कृते पृष्टो वासुदेवेन शम्भुः-किमेतत् कुरिकया घट्टयते । तेनोक्तम्-कीलकोऽयम् । किमर्थं पुनरसौ ? यः पर्युपितानतीतजल्पान्वदिष्यति तन्मुखे आहननार्थमिति । तद-त्र शम्भुस्य मातरमप्याज्जीरीं मन्यमानस्य भावानुयोगः, पश्चा-द्यथावदवगमे तु ज्ञानानुयोगः । प्रस्तुतयोजना तु पूर्ववदिति ।

अथ श्रेणिककोपोदाहरणम्—

राजगृहे नगरे समवसृतस्य भगवतः श्रीमन्महावीरस्य श्रेणिक-नराधिपो राश्या चेष्टणया सह माघमासे हिमकणप्रवर्षिणि महाशीते पतति वन्दनार्थं गतः । ततो निवर्तमानस्य च तस्य, राश्या चेष्टणया मार्गासन्नः तपःकर्षितशरीरः सर्वथाऽप्यनावर-णो मेरुशिखरमिव निष्प्रकम्पः प्रतिमाप्रतिपन्नोऽग्निनवकायोत्सर्गे स्थितः संध्यायां दृष्टः कोऽपि तपस्वी । गताऽसौ तद्गुणानेव मन-सि ध्यायन्ती गृहम्, सुप्ता च रजन्यामनेकशीतापहर्तृप्रावरणप्रा-वृता पल्यङ्गे, निर्गतश्च प्रावरणेच्यो बहिस्तात्कथमप्येकः करः, शीताभिन्नतश्चायमतीव स्तब्धीभूतः, तदनुसारेण च समस्तमपि शरीरं तथा व्याप्तं शीतेन यथा निष्ठाजरेऽपि जागीरतं तथा । ततः क्लितो हस्तः प्रावरणमध्ये, स्थितश्च हृदये स तथा कायो-त्सर्गस्यायी महामुनिः, तद्गुणोत्पन्नातुच्छधुमानया विस्मितया च प्रोक्तं तथा-स तपस्वी किं करिष्यतीति, यद्येकेनाप्यावरण-बहिर्निर्गतेन हस्तेनाहमेतावतीं शीतवाधां प्राप्ता, तर्हीरये निरा-वरणे रूक्षतपःकपितश्चैवंविधमहाशीतप्राधितः स तपस्वी किं

करिष्यतीति तस्याश्चित्ताजिप्रायः. अयं चेष्टालुतया श्रेणिकनृप-
स्यान्यथापरिणतः-नूनमनया कस्यापि सङ्गेनो दत्तस्तद्वित्तिके
च मयि सन्निहिते गन्तुमशक्ता, तनस्ताश्चित्तखेदं चेतसि निधा-
य एतदुक्तम् । ततो महता खेदेन तस्य विभाता रजनी । चक्षितः
श्रीमन्महावीरस्यान्तिकम् । गच्छता चान्तिकोपावेशाभिरूपितोऽ-
भयकुमारः-सर्वाभिरेवान्तःपुरिकाग्निः सह प्रदीपय सर्वाण्यन्तः-
पुरगृहाणि । ततोऽभयकुमारेण चिन्तितम्-केनाप्यामेनवोत्पन्न-
कोपावेशेनैवमसौ वक्ति. प्रथमकोपे च यदुच्यते तत्क्रियमाणं
न न्यतु परिणतौ सुखयानि । अथवाऽनुवर्तनीयं गुरुणां वचनमतः
शून्यां हस्तिशास्त्रात्मिकां प्रदीप्य प्रस्थितः सोऽपि भगवच्चन्दना-
थम् । इतश्च भगवान्पृष्टः श्रेणिकराजन-जगवन् ! चेष्टुणा किमे-
कपत्नी, अनेकपत्नी वा ? । भगवता प्रोक्तम्-एकपत्नीति । ततो
निवृत्तः सत्वरमेव गृहाभिमुखमभयकुमारनिवारणाय । मार्गे चा-
गच्छन्तीति नोऽसौ पृष्टश्च-किं दग्धमन्तःपुरम् ? । तेनोक्तम्-दग्धम् ।
राज्ञा प्रकुपितेनाऽध्यर्थाय-त्वमपि तत्रैव प्रविश्य किं न दग्धोऽ-
भि ? । कुमारेणोक्तम्-किं ममाग्निप्रवेशेन ? , इतमेव ग्रहीष्याम्यह-
म्. ततो मा नृदस्य महान् खेद इति कथितं यथावदेवेति । तदत्र
सुशीलामपि चेष्टुणां कुशीलां मन्यमानस्य राज्ञो भावानुयोगः,
यथावदवगमने च तदनुयोगः । एवमौदयिकादिभावान् विपरीत-
स्वरूपान् प्ररूपयतो भावानुयोगः, यथाऽवस्थितस्वरूपास्तु
तान् प्ररूपयतो भावानुयोग इति । विशेषः । विपा० ।

अणुश्रुतीदय-अननुचित-त्रि० । शास्त्रानुज्ञाते, " जो तु अ-
कारणसेवा सा सञ्चा अणुश्रुतीयातां होंति, जा अकारणतो प-
मिसेवा गुणदोसे अचित्तिरुण सा अणुश्रुतीनि " नि० चू० १३० ।
अणुपालन-अननुपालन-न० न० त० । अनासेवने, आव०
६ अ० । पंचा० । " पोसहोववासस्स सम्ममणुपालनया "
पोषधोपवासतिचारः । उपा० १ अ० ।

अणुवाङ् (ण)-अननुपातिन्-त्रि० । सिक्कान्तेन सहाऽघट-
मानके, व्य० १ उ० ।

अणुवाय-अननुपात-पुं० । अनागमने, पंचा० ७ वि० ।

अणुसासणा-अननुशामना-स्त्री० । शिक्षाया अभावे, हा०
१ श्रु० १३ अ० ।

अणुस-अनन्य-त्रि० । अभिज्ञे, विशेषे० । " अणुसं अभिषं "
अपृथगित्यर्थः । नि० चू० १ उ० । मोक्षमार्गादन्योऽसंयमः, ना-
न्योऽनन्यः । ज्ञानादौ, " अणुसं चरमाणे से ण कृषे ण छणा-
वप " आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणुसोय-अनन्यनेय-त्रि० । अन्येन नेत्राऽनेतव्ये, " जेतारो अ-
नेसि अणुसणेया वुरू ह ते अंतकरा हेवति " न च स्वयं बुद्ध-
त्वादन्येन नीयन्ते तत्त्वावबोधं कार्यन्ते इत्यनन्यनेयाः, हिता-
हितप्राप्तिपरिहारं प्रति नान्यस्तेषां नेता विद्यत इति भावः ।
सुत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणुसदंसि (ण) अनन्यदर्शिन्-पुं० । अन्यद् रूपं शीलमस्ये-
त्यन्यदर्शी यस्तथा, नासावनन्यदर्शी । यथावस्थितपदार्थरूप-
दि, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुसपरम-अनन्यपरम-पुं० । न विद्यतेऽन्यः परमः प्रधानो य-
स्मादित्यनन्यपरमः । संयमे, " अणुसपरमं णाणी, णो पमाय
कयाइ वि " । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुसमरा-अनन्यमनस्-त्रि० । न विद्यते अन्यद् धर्मध्यानल-

क्षणात्मनो यस्य सोऽनन्यमनाः । एकाग्रचित्ते, संथा० । भग-
वन्मनसि, औ० ।

अणुहावाङ् (ण) अनन्यथावादिन्-पुं० । सत्यवक्तरि, " अ-
णुवकयपराणुगह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा । जिभराग-
दोसमोहा, अनन्नाहावाइणो तेण " ॥ १ ॥ आव० ४ अ० ।

अणुसाराम-अनन्याराम-त्रि० । मोक्षमार्गादन्यत्रारममाणे, आ-
चा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुहय-अनाश्रव-पुं० । न० त० । नवकर्माऽनादाने, प्रश्न०
१ आश्र० द्वा० । स्था० ।

अणुहयकर-अनाश्रवकर-पुं० । प्राणातिपाताधाश्रवकरणर-
हिते पञ्चमे प्रशस्तमनोविनयभेदे, ज० ५५ श० ७ उ० । स्था० ।

अणुहयत्त-अनंहस्कत्व-न० । न विद्यते अंहः पापं यस्मिन्
तत् अनंहस्कम्, तस्य भावोऽनंहस्कत्वम् । अविद्यमानकर्मत्वे,
" संजमेणं अणुहयत्तं जणयइ " उक्त० १ अ० ।

अणुतिक्रमणिज्ज-अनतिक्रमणीय-त्रि० । न० त० । अचाल-
नीये, भ० २ श० ५ उ० । दश० ।

अणुतिक्रमणिज्जवयण-अनतिक्रमणीयवचन-त्रि० । अनतिक्र-
मणीयं वचनं येषां ते । वचनानतिक्रामकेषु, " अम्मापिउणं अ-
णइक्कमणिज्जवयणा " अम्मापिउणोः सत्कमनातिक्रमणीयं वचनं
येषां ते तथा । औ० ।

अणुतिचार-अनतिचार-त्रि० । न विद्यन्ते अतिचारा यस्मिन् ।
अतिचाररहिते, ध० ३ अधि० ।

अणुतिवाङ् (ण)-अनतिपातिन्-पुं० । अतिपतनमतिपातः प्राप्नु-
पमर्दनं, तद्विद्यते यस्यासावतिपातिकस्तत्प्रतिषेधादनतिपा-
तिकः । अहिंसके, सुत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अणुतिविलुं वियच-अनतिविलम्बितत्व-न० । अतिविलम्बरा-
हित्यरूपे वचनातिशये, औ० ।

अणुत्त-अणुत्त-पुं० स्त्री० । राजादीनां हिरण्यादिकधारके,
ग० १ अधि० । ऋणपीकिते, स्था० ३ ग्रा० ४ उ० । स न दी-
क्षणीयः । ध० ३ अधि० । पं० भा० । पं० चू० ।

अनात्त-अपरिगृहीते, ध० २ अधि० । स्था० ।

इयानि अणुत्ते—

सच्चित्तं अच्चित्तं, वा मोसगजोयणं तु धारैति ।

समणाय व समणीय व, न कप्पती तारिसं दिक्खा ४११

कंठा । इमे दोसा—

अथ सो य अकित्ती या, तम्मूद्धा गंतहिं पवयणस्स ।

अणुपोव्वरुमं भूमिया, सव्वे एयारिसा मग्गा ४१२ ।

अणं रिणं. पोव्वरुं महलं, चक्रवरायपरिजवे अणुपाव्वडो,
(ऊंऊरिय सि) ऊंऊरिया रिणे आदिज्जंति वणिणहिं अणे-
गप्पगारे रोड पुव्वयणेहिं ऊडियाऊंऊडियालसकसादिणहिं
वा ऊंऊरिया सव्वे एयारिसा । एत्ते नेएहणकट्टणादिया दोसा ।

इमं वितियपदं गाहा—

दाणेण से तोसितो, अहवा बीसज्जितो पहु एं ।

अट्टाणपराविदेसे, दिक्खा से उत्तमाऽत्तवदो ४१३ ॥

अट्टपदने दाणेण तोसिणए वणिणए विसज्जितो (पञ्चु चि)

धणितो सञ्चस्मि अदिन्ने तेण विसज्जितो पच्चाविज्जति, संसं कंठं। अणत्ते गतमिति । नि० चू० ११ उ० ।

अणत्त-देशी । निर्माद्ये, दे० ना० १ वर्ग ।

अणत्तट्टिय-अनात्मार्थिक-त्रि० । नात्मार्थ एव यस्यास्त्यसाव-
नात्मार्थिकः । परमार्थकारिणि, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अणत्तपण-अनात्मप्रज्ञ-त्रि० । नात्मने हिताय प्रज्ञा येषां ते
अनात्मप्रज्ञाः । व्यर्थवृत्तिषु, “ एगे विस्सीयमाणे अणत्तपणे ”
आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अणत्तव-अनात्मवत्-त्रि० । अकपायो ह्यात्मा भवति । स्वस्व-
रूपावस्थितत्वात्, तद्वाच्य भवति यः सोऽनात्मवाद् । सकपा-
ये, स्था० ६ उ० ।

अणत्तागमण-अनात्तागमन-न० । अनाना अपरिगृहीता-चेष्टया,
स्वैरिणी, प्रोषितज्वरका, कुलाङ्गना वाऽनाथा, तस्यां गमनम् ।
अपरिगृहीतागमने स्वदारसन्तोषातिचारं, ध० २ अधि० ।

अणत्थ-अनर्थ-पुं० । अनर्थहेतुत्वाद् गौणे एकविंशे परिग्रहे,
प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।

अणत्थक-अनर्थक-पुं० । परमार्थवृत्त्या निरर्थके अष्टाविंशे
गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० । निष्प्रयोजने, पञ्चा० ६ विव० ।
अणत्थकारण-अनर्थकारक-त्रि० । पुरुषार्थोपघातकारकं,
प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणत्थन्तर-अनर्थान्तर-न० । अन्योऽर्थोऽर्थान्तरम्, न विद्यतेऽ-
र्थान्तरं यस्य पर्याये । एकार्थे शब्दे, “ योग्यमर्हमित्यनर्थान्तरम् ”
आ० म० द्वि० ।

अणत्थगंय-अनर्थग्रन्थ-पुं० । न० त० । ज्ञावधनयुक्ते, औ० ।

अणत्थचूल-अनर्थचूर-पुं० । निजगुणोपाजितनामके रत्नव-
त्याः सुते, दर्श० ।

अणत्थदंडभ्राण-अनर्थदारुध्यान-न० । अनर्थदारुणो निष्प्र-
योजनं हिंसादिकरणं तस्य ध्यानम् । दुर्दान्तमत्तनया द्वापायनं
रुष्टीकुर्वतां शास्त्रादीनामिव, वक्रमण्डलीं सर्पविशेषरूपां घ्नतो
गङ्गादत्तस्येव, विष्णुश्रीदेवीस्वर्गसंदेशकथननिपुणस्य वा बाल-
स्येव, ध्याने, आतु० ।

अणत्थफलद-अनर्थफलद-त्रि० । स्वपरयोरपकाररूपफलदा-
यके, पञ्चा० ३ विव० ।

अणत्थमियसंकल्प-अनस्तमितसंकल्प-पुं० । अनस्तमिते सृष्टे
संकल्पो भोजनाभिलाषो यस्य । अनिष्टरात्रिभोजने दिवाजो-
जिनि, वृ० १ उ० ।

अणत्थवाय-अनर्थवाद-पुं० । निष्प्रयोजने जल्पे, प्रश्न०
२ सम्ब० द्वा० ।

अणत्थादरु-अनर्थदण्ड-पुं० । निष्प्रयोजनहिंसाकरणे, आतु० ।

(‘ अणत्तादंड ’ शब्देऽत्रैव भागे १८४ पृष्ठे चास्य विवृतिः)
अणत्थादंडवेरमण-अनर्थदण्डविरमण-न० । तृतीये गुणव्रते,
पञ्चा० १ विव० (‘ अणत्तादंडवेरमण ’ शब्देऽत्रैव भागे १८५
पृष्ठेऽस्य विस्तरः)

अणत्थारग-अणत्थारक-पुं० । ऋणव्यवहारकदेशं द्रव्यं, तद्यो
धारयति । अधमर्णे, ज्ञा० १७ अ० ।

अणत्थचोद-अनःप्रचोद-पुं० । अनः शकटं प्रचोदयति प्रेर-

यति । विष्णौ, शैशवे हि विष्णुना चरणेन शकटं पर्यस्तमिति
श्रुतेः । “ धियो योऽनः प्रचोदयात् ” जै० गा० ।

अणत्थ (प्प) ज्ञ-अनात्मज्ञ-त्रि० । अनात्मवशे ग्रहगृहीते,
क्षिप्तचित्तादौ च । नि० चू० १ उ० ।

अणत्थिकारि(ण)-अनधिकारिन्-पुं० । अधिकारिविरुद्धे, ल० ।

अणत्थ-अनर्थ-त्रि० । न विद्यतेऽर्थं येषामित्यनर्थाः । निर्वि-
भागेषु, “ समयः प्रदेशः परमाण्व एते अनर्थाः ” स्था० ३
ठा० २ उ० ।

अणत्थपन्निय-अप्रज्ञप्तिक-पुं० । व्यन्तरनिकायोपरिवर्तिनि व्य-
न्तरभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । स्था० । औ० । ते च रत्नप्र-
भाया उपरितने रत्नकाण्डरूपे योजनसहस्रं अध उपरि च
दशयोजनशतरहिते वसन्ति । प्रव० १९४ द्वा० ।

अणत्थपगंथ-अनर्प्यग्रन्थ-त्रि० । अनर्प्योऽनर्पणीयोऽदौकनीयः
परेषामाध्यात्मिकत्वाद् ग्रन्थवद् द्रव्यवत् ग्रन्थो ज्ञानादिर्यस्य
सोऽनर्प्यग्रन्थ इति । परेष्व्योऽदातव्यज्ञानादिके, स्था० ६ ठा० ।
अनल्पग्रन्थ-त्रि० । न० व० । बह्नागमे, औ० ।

अनात्मग्रन्थ-त्रि० । अविद्यमानो वा आत्मनः सम्बन्धी
ग्रन्थो हिरण्यादिर्यस्य । अपरिग्रहे, औ० । सूत्र० ।

अणत्थपिय-अनर्पित-न० । अविशेषिते, यथा जीवद्रव्यं सं-
सारी, संसार्यपि त्रसरूपं, त्रसरूपमपि पञ्चेन्द्रियं, न दपि नररू-
पमित्यादि तु अर्पितं विशेषितं विशेषः । स्था० १० ठा० ।

अणत्थपियण्य-अनर्पितनय-पुं० । अनर्पितमविशेषितं सामा-
न्यमुच्यते, तद्वादी नयोऽनर्पितनयः । सामान्यमेवास्ति न वि-
शेष इत्येवं चादिनि आगमप्रसिद्धे नयभेदे, विशेषः । आ० चू० ।

अणत्थवल-अणत्थवल-पुं० । ऋणे ग्रहीतव्ये वलं यस्येति । वलव-
त्युत्तमर्णे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अणत्थवलजणिय-अणत्थवलभणित-पुं० । उत्तमर्णेनास्मद् द्रव्यं
देहीत्येवमाभिहितं अधमर्णे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अणत्थन-अनभ्र-त्रि० । अभ्ररहिते, द्वा० २४ द्वा० ।

अणत्थभय-अनभ्रक-त्रि० । अभ्रकरहिते, तं० ।

अणत्थभुवगय-अनभ्युपगत-त्रि० । श्रुतसंपदानुपसंपन्ने अनि-
वेदितात्मनि, आ० म० प्र० ।

अणत्थभंजग-अणत्थभंजक-पुं० । ऋणं देयं द्रव्यं भञ्जन्ति न ददति
ये ते । उत्तमर्णेभ्य ऋणं गृहीत्वाऽदायकेषु, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणत्थजिओग-अनभियोग-पुं० । न अभियोगोऽनभियोगः ।
अनभियोक्तव्ये, औ० ।

अणत्थजिकंत-अनजिकान्त-त्रि० । न अभिक्रान्तो जीविताद-
नभिक्रान्त इति । सचेतने, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । अनतिल-
क्षिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । अन्यैरनभिक्रान्तायामपरिभु-
क्तायां दोषविशेषविशिष्टायां वसतौ, स्त्री० ग० १ अधि० आचा० ।

अणत्थभिकंतकिरिया-अनजिकान्तक्रिया-स्त्री० । चरकादिजि-
नवसेवितपूर्वायां वसतौ, सा चानजिक्रान्तत्वादेवाऽकल्पनी-
या । आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अणत्थजिकंतसंजोग-अनजिक्रान्तसंयोग-पुं० । अनजिक्रान्तोऽन-
तिवृद्धितः संयोगो धनधान्यहिरण्यपुत्रकन्यादिकृतोऽसंयम-

सप्तमः पदार्थो वैशेषिकस्य, प्रकृतिपुरुषान्याधिकं वा साहचर्य-

इहलोकपरलोकापायानपेक्षस्य क्रियाभेदे, स्था०२ टा०१ उ०।

अणवकंखवत्तिया किरिया दुविहा पसुता । आयशरीर-
अणवकंखवत्तिया चेव, परसररीरअणवकंखवत्तिया चेव ।
तत्रात्मशरीरानवकाङ्क्षप्रत्यया सा स्वशरीररक्षतिकारिकर्मा-
णि कुर्वतः, तथा परशरीररक्षतिकारिणि तु कुर्वतो द्वितीयेति ।
स्था० २ ठा० १ उ० । “अणवकंखवत्तिया इहलोगे परलोगे य ।
इहलोगे अणवकंखवत्तिया लोगविरुद्धाणि विचोरिकादीणि
करेति जेण वहवंधादीणि इहेव पावति, परलोगे अणवकंख-
वत्तिया अट्टरुहज्झाती इंदियपराभूतो हिंसादिकम्माणि करे-
माणो परलोगं नावकंखति ” आ० चू० ४ अ० ।

अणवकंखा-अनवकाङ्क्षा-स्त्री० । अनाकाङ्क्षायां स्वशरीराद्य-
नपेक्षत्वे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अणवगय-अनवगत-त्रि० । अपरिज्ञाते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।
अणवगल्ल-अनवकल्प-पुं० । जरसा पीडिते, अनु० । अत्य-
न्तवृद्धे, पं० व० १ द्वा० । ध० ।

अणवजुय-अनवयुत-त्रि० । न० त० । अपृथग्भूते, व्य० ७ उ० ।

अणवज्ज-अनवद्य(अणवज्य)-न० । अवद्यं पापं, नास्मिन्नव-
द्यमस्तीत्यनवद्यम् । सामागिके, विशेष० । आ० चू० । सावद्य-
योगप्रत्याख्यानात्मकत्वात्तस्य । आ० म० द्वि० ।

पावमवज्जं सामा-इयं अपावं ति तो तदणवज्जं ।

पावमाणंति व जम्हा, वज्जिज्जइतेण तदसेसं ॥

अणवदृष्टस्य कुत्सितार्थत्वादणन्ति कुत्सितानि करणानि श-
ब्दयन्ति, अणन्त्यनेनेति व्युत्पत्तेर्वा, अणं पापमुच्यते । तदशेषं
सर्वमपि वर्ज्यते परिह्रियते यस्मात्तेन सामायिकेन अणं वर्ज-
यतीति वा, ततः सामायिकमणवर्ज्यमुच्यते इति शेषः ।
विशे० ।

इदानीमनवद्यद्वारम् । तत्र कथानकम्-वसन्तपुरे नगरे जिय-
सचू राया । धारिणी देवी । तीसे पुत्तो धम्मरुई । सो य राया
थेरो । अन्नया तावसो पव्वइउकामो धम्मरुईस्स रज्जं दाउ-
मिच्छइ । सो मायरं पुच्छइ-कीस तातो रज्जं परिव्वयइ ? ।
सो भणइ-रज्जं संसारवद्दणं । सो भणइ-मम वि न कज्जं ।
ततो सो वि सह पियरेण तावसो जाओ । तत्थ अमावसा
होहि ति गडओ घोसेइ आसमेसु-कल्लं अमावसा होहि इ-
तो पुप्फफलाणं संगहं करेह । कल्लं नट्टइ छिदिउं । धम्मरुई
चित्तेइ-जइ सव्वकालं न छिदिज्जा तो सुंदरं होज्जा । अणया
साहू अमावसाए तावसासमस्स अदूरेण वोलंति । ते धम्म-
रुई पेच्छिऊण भणति-भयवं ! किं तुम्हे अणकुट्टी नत्थि तो
अरुवि जाह । ते भणंति-अरुहं जावज्जीवं अणकुट्टी । सो
संभंतो चित्तिउमारुओ-साहू वि गया जाईसंभरिया पत्ते य-
वुद्धो जातो ।

अमुमेवार्थमभिधित्सुराह-

सोऊण अणउट्ठि, अणजित्तो वज्जियाण अणगंतुं ।

अणवज्जयं उवगतो, धम्मरुई नाम अणगारो ॥

श्रुत्वा आकर्य, आकुट्टनमाकुट्टिः छेदनं हिंसेत्यर्थः । न
आकुट्टिरनाकुट्टिः, तां सर्वकालिकीमाकर्ण्य अणमीतः अण
वणेति दण्डकभ्रातुः, अणति गच्छति तासु तासु योनिषु जीवो
अनेनेति अणं पापं, परित्यज्य सावद्ययोगमित्यर्थः । अणस्य
वर्ज्यं अणवर्ज्यस्तद्भावस्तामणवर्ज्यतामुपगतः प्राप्तः साधुः
संवृत इति भावः । धर्मरुचिर्नाम अनगारः । गतमनवद्यद्वा-

रम् । आ० म० द्वि० । निर्दोषे, म० ५ श० ६ उ० । उत्त० ।
पापाभावे कर्मोपचयाभावे, “अणवज्जमतहं तेसि” कुतोऽपि
हेतोः केवलमनसः प्रद्वेपेऽपि अनवद्यं पापाभावः, कर्मोपच-
याभावो वा जवतीति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । कामादि-
पापव्यापाराप्ररूपके, विशेष० । गुणविशेषविशिष्टे सूत्रे, अनवद्य-
मगर्ह्यमर्हिसाप्रतिपादकम् । यतः “पट्शतानि निशुज्यन्ते, पशूनां
मध्येऽहनि । अश्वमेधस्य वचनान्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः” ॥१॥
इत्यादिवचनमिव न हिंसाप्रतिपादकम् । आ० म० द्वि० । अनु० ।
पीमानुपादके, अपापे वाक्ये “सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति ”
सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । (‘सच्च’ शब्देऽस्य विवृतिः)

अणवज्जगी-अनवद्याङ्गी-स्त्री० । सुदर्शनापरनामिकायां भगवतो
महावीरस्य दुहितरि जमाद्विगृहियाम, विशेष० । उत्त० ।
अणवज्जजोग-अनवद्ययोग-पुं० । कुशलानुष्ठाने, “अणवज्जजो-
गमेगं” अनवद्यं योगं कुशलानुष्ठानमेकं सकलकुशलानुष्ठानानाम-
नवद्ययोगत्वाव्याजिचारात् । पा० ।

अणवज्जया-अणवज्यता-स्त्री० । अणस्य पापस्य वर्ज्योऽणव-
ज्यस्तद्भावोऽणवज्यता । संवरे, आ० म० द्वि० ।

अणवट्ठ-अनवस्थ-पुं० । अनवस्थाप्ये, व्य० १ उ० ।

अणवट्ठप्प-अनवस्थाप्य-न० । अवस्थाप्यत इत्यवस्थाप्यस्य, तन्नि-
पेधादनवस्थाप्यम् । दुष्टतापरिणामस्याऽकृततपोविशेषस्य व्रता-
नामनारोपणे, ध० ३ अधि० । ग० । औ० । यो हि आसेविता-
तिचारविशेषः सन्ननाचरिततपोविशेषः, तद्दोषोपरतो महाव्र-
तेषु नावस्थाप्यते नाधिक्रियते इति; तदतिचारजाते तच्छुद्धि-
रूपे, नवमे प्रायश्चित्ते च । स्था० ३ ठा० ४ उ० । यत्र प्रति-
सेवते उत्थापनायामप्ययोग्यत्वेन यावदनाचीर्णतपाः पश्चाच्ची-
र्णतपाः पुनर्महाव्रतेषु स्थाप्यते तत् । जीत० । व्य० ।

अनवस्थापनीयाः—

ततो अणवट्ठप्पा पन्नत्ता तं जहा-साहम्मियाणं तेषं करेमाणे ।
अन्नधम्मियाणं तेषं करेमाणे, हत्थादालं दत्तेमाणं ॥

त्रयोऽनवस्थाप्यास्तत्क्षणादेव व्रतेष्वनवस्थापनीयाः प्रज्ञप्ताः ।
तद्यथा-साधर्मिकाः साधवस्तेषां सत्कस्योत्कृष्टोपधेः शिष्या-
देवा स्तैन्यं चौर्यं कुर्वाणः । अन्यधार्मिकाः शाक्यादयो गृहस्था-
वा, तेषां सत्कस्योपध्यादेः स्तैन्यं कुर्वन् । तथा हस्तेन तारुनं ह-
स्तातातुं, सूत्रे च तकारस्य दकारश्रुतिः, आर्षत्वात्, तं दत्तमाणो व-
दन् यष्टिमुष्टिलगुमादिभिरात्मनः परस्य वा प्रहरन्निति भावः ।
अथवा हस्तालम्बेति पाठः । हस्तालम्ब इव हस्तालम्बोऽशिवादि-
प्रशमनार्थमजिचारकमन्त्रादिप्रयोगस्तं दत्तमाणः कुर्वन् । यद्वा-‘ह-
त्थादाणं दत्तमाणे चि’ पाठः । सूत्रार्थादानमर्थोपादानकारणमष्टा-
ङ्गनिमित्तं ददत्प्रयुज्जानः । एष सूत्रसंक्षेपार्थः । वृ० ४ उ० । जीत० ।

अथ विस्तरार्थं विज्जणिपुराह—

आसायणपणिसेवी, अणवट्ठप्पो वि होति दुविहो तु ।

एककेको वि य दुविहो, सचरित्तो चेव अचरित्तो ॥

आशातनाऽनवस्थाप्यः, प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्चेत्यनवस्थाप्यो
द्विविधो भवति । न केवलं पाराश्रिक इत्यपिशब्दार्थः । पुन-
रेकैकोऽपि द्विविधः—सचारित्रोऽचारित्रश्चेति । पतौ द्वावपि
जेदौ पाराश्रिकवद्वक्तव्यौ ।

अथाशातनाऽनवस्थाप्यमाह—

तित्ययरपवयणमुत्ते, आयरिये तणहरे महिहीए ।

एते आनादौते, पश्चित्ते मगणा होइ ॥

नीत्येकप्रवचने धृतम्, आचार्यः, गणधरः, महर्षिकश्चेति ।
पदानां गतयः प्रायश्चित्तनामगता भवन्ति । अर्थां चानातनाः
पाराश्रिकवज्रावनीयाः ।

प्रायश्चित्तमगणा पुनर्नियम-

पठमविनिर्गु नवमं, नैसे एकैकं चतुर्गु होति ।

नवमे आनादौते, अण्वद्वयोः नो होइ ॥

प्रथमद्वितीयायास्तीर्थकर्मज्ञानानायाग्याध्यायस्य नवम-
मनवस्थाप्यं भवति । शेषेषु धृतादिषु प्रत्येकमेकैकान्महाशा-
त्वनाने चतुर्गुरयो भवन्ति । अथ सर्वाणि चतुर्थेर्वापि धृतादी-
नि आशातयन्ति, ततोऽस्यानवस्थाप्यो जयति । उक्त आशात-
नाऽनवस्थाप्यः ।

अथ प्रतिमेवनाऽनवस्थाप्यमाह-

यन्मेषाण्भागवद्वो, निविदो सो होइ आणपुर्वीण ।

माहस्मियऽप्राथम्य, इत्यादालं वदत्तमा ॥

यः प्रातिमेवनाऽनवस्थाप्यः सूत्रे साक्षादुक्तः न आ- पुःयां वि-
विधो भवति-साधर्मिकस्तैत्यकारी, अन्वधर्मिकस्तैत्यकारी,
हन्तानालं ददत् ।

तत्र साधर्मिकस्तैत्यं तावदाह-

साहस्मि तेण उवधि-वावाराण्जामणा य पठवणा ।

नेहे आहारविही, जा जहि आणवणा जणिता ॥

साधर्मिकाणामुपधर्म्यवपात्रादिलक्षणस्य स्तैत्यं कर्णाति [वा-
वारण] त्तु गुरुनिरुपधरुपादनाय व्यापारणा प्रेषणा कृता, अत-
स्तनुपाय गुरुणामनिवेद्यान्तरात्र स्वयमेवार्थितप्रति [जामणा
यत्ति] उपकरणं सद्भावनाऽस्तद्धावेन वा ध्यागितं दग्धं भ-
वेत्, तद्व्याजेन श्रावकमन्यर्थं वस्त्रादिकं गृहीत्वा स्वयमेव
हृङ् [पठवण स्ति] केनाप्याचार्येण कस्यापि संयतस्य हस्ते
ऽसराचार्यस्य हाकनाय प्रतिग्रहः प्रेषितस्तमसावतग स्वयमेव
स्वीकरोति [नेह स्ति] शैक्षविषयं स्तैत्यं करोति [आहारवि-
हि स्ति] दानश्चादिषु स्थापनाकुत्रेषु गुरुनिरननुप्राप्त आहार-
विधिमशनादिकमाहोत्तरं प्रकरं गृह्णाति । एतेषु स्थानेषु साधर्मि-
कस्तैत्यं जयति । अत्र च या यत्र स्थाने आणवणा प्रायश्चित्ताप-
रपथाया भणिता, सा तत्र वक्तव्या । एष निर्युक्तिगाथासंकेतार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीपुराह-

उवहिस्स आसियावण सेहमसेहे य दिट्ठदिट्ठे य ।

सेहे मूलं जणितं, अण्वद्वयोः य पारंवी ॥

इदोपधेः, 'आसियावण' स्तैत्यमन्येकार्थः । तद्य शैक्षो वाकुर्या-
दशैक्षो वा । उज्जावपि-द्वेष्ट वा स्तैत्यं कुर्यात्, अद्वेष्ट वा । तत्र शैक्षे
सूत्रं यावत्प्रायश्चित्तं भणितम् ; उपाध्यायस्यानवस्थाप्यपर्यन्त-
म् ; आचार्यस्य पाराश्रिकास्तम् ।

एतदेव भावयति-

सेहो त्ति अगीयत्थो, जा वा गीतो आण्हिसंपन्नो ।

उवही पुण वत्थादी, सपरिगह एतरो ति विहो ॥

शैक्ष इति पदेनागीताथो ज्ञायते । यो वा गीताथोऽपि अनु-
दिसंपन्न आचार्यपदादिसमृद्धिमप्राप्तः, सोऽपि शैक्ष इहोच्यते ।
उपधिः पुनर्वस्त्रादिकः, आदिशब्दात्पावपरिग्रहस्तत्परिगृहीतः
स्यात्, इतरो वाऽपरिगृहीतः स्यात् । पुनरेकैकस्त्रिविधः-
जवन्यो मध्यमे उत्कृष्टश्च ।

अथ 'सेहे मूलं' इत्यादि पश्चार्थं व्याख्यानयति-

अनो वहिं निवेसण-वारुगमुज्जाणसीमतिकेते ।

मास चउ च्छलहु गुरु, उदो मूलं तह दुगं वा ॥

अन्तः प्रतिश्रयान्यन्तर साधर्मिकाणामुपधर्ममद्वेष्टशैक्षः स्तेन-
यति नदा मामलघु, वसतेर्बहिरद्वेष्टमेव स्तेनयति तदा मास-
गुरु, निवेशनस्यान्तर्मासगुरुकं, बहिरद्वेष्टमेव धुक्, वाटकस्यान्तश्च-
तुलं धुक्कम, बहिरद्वेष्टमेव धुक्कम, उद्यानस्यान्तः पद्वधु, बहिः पर-
गुरु, सीमाया अन्तः पद्वधु, अतिक्रान्तायां तु तस्यां बहिः
उदः (मूलं तह दुगं य स्ति) मूलं, तथा द्विकं वा-अनवस्थाप्य-
पाराश्रिकयुगम् ।

एतदेव भावयति-

एवं ताव अदिट्ठे, दिट्ठे पदमं पदं परिहवेत्ता ।

तं चैव असंहे वी, अदिट्ठे दिट्ठे पुणो एकं ॥

एवं तावद्वेष्टे स्तैत्ये क्रियमाणं शैक्षस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् । द्वेष्टे
तु प्रथमं मासद्व्युलक्षणं पदं परिहाप्य पारिहृत्य मासगुरुका-
दारब्धं मूलं यावद्व्युलक्ष्यम् । अशैक्ष उपाध्यायस्तस्यापि अद्वेष्टे
नान्येव मासगुरुकादीनि मूलान्तानि प्रायश्चित्तस्थानानि जय-
न्ति । द्वेष्टे पुनरेकं मासगुरुलक्षणं पदं हसति, चतुर्थे धुक्कादाग-
व्यमनवस्थाप्यं निष्ठां यातीत्यर्थः । आचार्यस्याप्यद्वेष्टेऽनवस्था-
प्यान्तमेव । द्वेष्टे तु चतुर्गुरुकादारब्धं पाराश्रिके तिष्ठति । गते
साधर्मिकापधिसंन्यहारम् ।

अथ व्यापारणाहाराह-

वावारिय आणेहा, वहिं घेरुण उवहिं गिएहंति ।

लु णो आद्रात लहुगा, अण्वद्वयोः य आदेसा ॥

व्यापारिता नाम गुरुभिः प्रेषिता, यथा-[आणेह स्ति] उप-
धिमुत्पद्यानयत । तं चैवमुक्ता अनेकविधमुपधि गृहीच्यो गृही-
त्वोत्पाद्य बहिरवाचार्यसमीपमप्राप्ता उपधि गृह्णाति-इदं तव, इदं
ममेति विज्ञेय स्वयमेव स्वं कुर्वन्तीत्यर्थः । एवं गृह्णतां मासद्व-
धु, आगता आचार्यस्य न ददति, तदा चतुर्थेऽवधौ प्रस्तुतस्त्रा-
देशाद्वा स स्वच्छन्दवस्तुग्राहकः साधुवर्गोऽनवस्थाप्यो भव-
ति । गते व्यापारणाहारम् ।

अथ ध्यामनाहारम्-सा च ध्यामना द्विविधा-सती, असती
च । तत्र सती तावदाह-

दधु निमत्तण लुद्धं-ऽणापुच्छा तत्थ गंतु तं जणति ।

जामिय उवधी अहमं, तोहं पसितो गहेत पातो य ॥

आचार्याः केनापि विरूपत्तर्पणस्त्रैर्निमित्तितास्तैश्च तानि प्रति-
पिद्धानि, एकश्च साधुस्त्वं निमित्तं श्रुत्वा तानि च सुन्द-
राणि वस्त्राणि दद्यात् लुद्धो लोभं गतः । तत आचार्यमना-
पृच्छ्य (तमिति) तं श्रावकं तत्र गत्वा भणति-अस्माक-
मुपधिर्ध्यामितो दग्धः, ततोऽहं तैराचार्यैर्युष्माकं सकाशे
वस्त्रार्थं प्रेषितः, एवमुक्ते दत्तस्तेनोपधिः, स च गृहीत्वा गतः,
अन्ये च साधव आगताः । आह्वेन भणितम्-युष्माकमुपधि-
र्दग्ध इति कृत्वा यो भवद्भिः साधुः प्रेषितस्तस्य नूतनोपधि-
र्दत्तो विद्यते, यदि न पर्याप्तं ततो भूयोऽपि ददामीति । सा-
धवो ध्रुवते-नास्माकमुपधिर्दग्धः, नचा वयं कमपि प्रेषयामः,
एवं स लोभाभिभूतः साधुस्तेन श्रावकेण ज्ञातः यथा-शुरुणां
पृच्छामन्तरेणायं गृहीतवान् ।

ततश्च किं भवतीत्याह-

दधुगा अणुगाहस्मी, गुरुगा अण्णितियम्मि कायव्वा ।

मूलं वा जणमज्जे, वोच्चेद पमज्जणा सेसे ॥

एवं तेन साधुना स्तैन्येन वस्त्रेषु गृहीतेषु यद्यप्यसौ श्राद्धोऽनुग्रहं मन्यते-यथापि तथापि ददामीति साधव इति, तथापि चतुर्लघवः । अथवाऽप्रीतिकं करोति, ततश्चतुर्गुरुवः प्रायश्चित्तं कर्तव्याः । अथासौ स्तेनोऽयमिति शब्दं जनमध्ये विस्तारयति, तदा मूलम् । यच्च शेषद्रव्याणां शेषसाधूनां वा व्यवच्छेदं (पसज्जणं च) प्रसंगतः करोति; तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

अथ सतीं ध्यामनां दर्शयति-

मुव्वत्तामिआऽवधि-पेसण गहिते य अंतरा लुद्धो ।

लहुगो अदेति गुरुगा, अणवद्वयो य आदेसे ॥

अथ सुव्यक्तं सत्यमेव ध्यामितोपधिर्गुरुभिस्तथैव प्रेषणं कृतम्, प्रेषितश्च सन् येनाचार्या निमन्त्रितास्तस्मादन्यस्याद्वा श्रावकाद् वस्त्रादिकमुपधिं गृहीत्वा अन्तरालुद्धो लोभाभिभूतो यदि गृह्णाति, तदा लघुको मासः । आगते यदि गुरुणां न प्रयच्छति, तदा चतुर्गुरुवः । तेऽत्रादेशा अनवस्थाप्या भवन्ति । गतं ध्यामनाद्वारम् ।

अथ प्रस्थापनाद्वारमाह-

उकोस सनिज्जोगो, पणिग्गहो अंतरा गहण लुद्धो ।

लहुगा अदेति गुरुगा, अणवद्वयो व आदेसा ॥

केनाप्याचार्येण कस्यापि संयतस्य हस्ते अपराचार्यस्य द्वौ कनहेतोः प्रतिग्रहः प्रेषितः । स चोत्कृष्ट उत्कृष्टोपधिरूपः, यद्वा-वृत्तसमचतुरस्रवर्णाद्यतादिगुणोपेतः, तथा सह नियोगेन पात्रकवन्धादिना यः स सनियोगः । एवंविधस्य प्रतिग्रहस्यान्तराल एवासौ लुद्धो ग्रहणं स्वीकरणं करोति, तत्र चतुर्लघु । तत्र गतस्तेषां सूरीणां तं प्रतिग्रहं न प्रयच्छति, तदा चतुर्गुरुवः । तत्रादेशेन वा अनवस्थाप्योऽसौ द्रष्टव्यः । गतं प्रस्थापनाद्वारम् ।

अथ शैलद्वारमाह-

पव्वावणिज्ज वाहिं, उवेत्तु भिक्खुस्स अतिगते संते ।

सेहस्स आसियावण, अजिधारंते य पावयणी ॥

कोऽपि साधुः प्रवाजनीयं सशिखाकं शैलं गृहीत्वा प्रस्थितः, तं मित्रकाले कापि ग्रामे बहिःस्थापयित्वा भैक्षार्थमतिगतः प्रविष्टः, प्रविष्टे च सति तस्मिन् परः साधुस्तं शैलं दृष्ट्वा विप्रतार्यं च तस्य 'आसियावणं' अपहरणं करोति, साधुविरहितो वा एकाकी कमपि साधुमभिधारयन् शैलो व्रजेत्, तमपरः साधुर्विप्रतार्यं प्रवाजयेत्; एतौ द्वावपि यदा प्रावचनिकौ जातौ, तदा द्वावपि शैलो स्वयमेवात्मनो दिक्परिच्छेदं कुरुत इति संग्रहागथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति-

सप्पादिगओ अद्धा-णिओ व वणदणग पुच्छ से होमि ।

सो कत्थ मज्ज कज्जे, ठातपिवासिस्स वा अढाति ॥

संज्ञाभूमिगत आदिशब्दाद्भक्तादिपरिष्ठापनिकार्थं निर्गतः कोऽपि साधुः शैलं दृष्ट्वा, अथवा अध्वनिकः पथिकोऽसौ साधुस्ततः पथि गच्छन् शैलं दृष्ट्वा । तेन च वन्दनके कृते सति, साधुः पृच्छति-कोऽसि त्वं, कुत आगतः, क्वा प्रस्थितः ? शैलः प्राह-अमुकेन साधुना सार्द्धं प्रस्थितः प्रव्रजितुकामः, शैलोऽस्म्यहम् । साधुः पृच्छति-स साधुः संप्रति क्व गतः ?

शैलो भणति-स मम कार्यं बुभुक्षितस्य पिपासितस्य वा भक्षणार्थं पर्यटति ।

मज्झमिणमसपाणं, उवजीवऽणुकंपणा य मुच्चो उ ।

पुट्टमपुट्टे कद्वणा, एमेव य इहरहा दोसो ॥

ततः स साधुर्मदीयमिदमन्नपानमुपजीव लुब्ध्वेति कुर्वाणो यदि साधुर्मकोऽयमित्यनुकम्पया ददाति, तदा शुद्धः । शैलेण पृष्ठो अपृष्ठो वा यद्ययमेवानुकम्पया धर्मकथां करोति, तदा शुद्धः । इतरथा अपहरणार्थं नक्तपानं ददतो धर्मं च कथयतो दोषः, चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम् ।

अपहरणप्रयोगानेव दर्शयति-

नत्ते पाणवण निगू-हणा य वावार ऊपणा चेव ।

पत्थावण सयहरणा, सेहे अन्वत्त वत्ते य ॥

अपहरणार्थं नक्तपानं ददाति, धर्मं वा तस्य पुरतः प्रज्ञापयति । तत्र स शैल आहतः सन् जणति-जवत एव सकाशेऽहं प्रव्रजामीति किन्तु न शक्नोमि येनानीतस्तत्पुरतः स्थातुं ततो मां गुपिते प्रदेशे निगूहतु । ततोऽसौ तं व्यापारयति-अमुकत्र निवृत्तिं तिष्ठेति । ततस्तं तत्र निवृत्तिं साधुः पलालादिना ऊप्सयति, स्थगयतीत्यर्थः । अन्यैः सार्धमन्यं ग्रामं प्रस्थापयति, एकाकिनं वा प्रेषयति, अमुकत्र ग्रामादौ व्रज, अहमग्रेऽमुष्मिन्दिवसे तत्रागमिष्यामि । अथवा स्वयमेव गृहीत्वा तमपहरति, पतानि पदपदानि भवन्ति । तद्यथा-नक्तप्रदानं १, धर्मकथा २, निगूहनावचनं ३, व्यापारणं ४, ऊप्सनं ५, प्रस्थानं स्वयंहरणं ६ वेति । एतेषु पदेषु शैले व्यक्तेऽन्यके च प्रायश्चित्तमिदं भवति-

गुरु चउलहु चउगुरु ललहु उगुरुमेव वेदो य ।

जिक्खुगणायरियाणं, मूद्धं अणवद्वय पारंची ॥

भिर्बुध्यन्व्यक्तशैलस्यापहरणार्थं भक्तं ददाति, तदा मासगुरु; धर्मप्रज्ञापनायां चतुर्लघु; निगूहनवचने चतुर्गुरु; व्यापारणे परलघु, ऊप्सने परगुरु, प्रस्थापने स्वयं हरणे वा वेदः । एवमव्यक्तशैले भणितम् । अव्यक्तो नाम-यस्याद्यापि श्मश्रु न संजातम् । यस्तु व्यक्तः संजातश्मश्रुः, तस्य चतुर्लघुकादारब्धं मूलं यावत् भिक्षोः प्रायश्चित्तम्, गणिन उपाध्यायस्य चतुर्लघुकादारब्धमनवस्थाप्यं तिष्ठति । आचार्यस्य चतुर्गुरुकादारब्धं पाराजिकं पर्यवस्यति । एवं ससहाये शैले भणितम् ।

यः पुनरसहायोऽभिधारयन् व्रजति तत्र विधिमाह-

अजिधारं पवयंता, पुच्छो पव्वामहं अमुगकुलं ।

पाणवणजत्तदाणे, तहेव सेसा पदा एत्थं ॥

कोऽपि शैल एकाकी कमप्याचार्यमभिधारयन् प्रव्रज्याभिमुखो व्रजति, तेन कच्चिद् ग्रामे पथि वा साधुं दृष्ट्वा वन्दनकं कृतम् । साधुना पृष्ठः-क्व गच्छसि ? । स प्राह-अमुकस्याचार्यस्य पादमूले प्रव्रजनार्थं व्रजामि । एवमुक्ते यदि जिह्वुरव्यक्तशैलकस्य नक्तदानं करोति, तदा मासगुरु, धर्मप्रज्ञापनायां चतुर्लघु, व्यक्तशैलस्य नक्तदाने चतुर्लघु, धर्मकथायां चतुर्गुरु, उपाध्यायाचार्ययोरेयथाक्रमं पदगुरुकं च भवति । अथस्तनमेकैकं पदं-इतितीति प्रावः । शेषाणां तु निगूहनव्यापारणऊप्सनादीनि पदानि न सन्ति, असहायत्वात् । तदज्ञावात्प्रायश्चित्तमपि नास्तीति ।

एते चाऽपरे दोषाः-

आणादणंतसंसा-रियत्तं बोहियदुल्लज्जत्तं वा ।

साहम्मियत्तस्सम्मि, पमत्तं उद्वणाऽधिकरणं च ॥

शैक्षमपहरत आज्ञाभङ्गादयो दोषा भवन्ति, अनन्तसंसारिक-
त्वे च भगवतामाज्ञानङ्गादयति । बोधेश्च दुर्लभत्वं जायते,
मायमिकस्तैन्यं च कुर्यात्; प्रमत्तो भवति; प्रमत्तस्य च प्रान्ते
देवतया उग्रता भवति । यस्य च संबन्धी सोऽपह्रियते, तेन
सममधिकरणं कलह उपजायते । एवं तावत्पुरुषविषयादयो
दोषा उक्ताः ।

अथ स्त्रीविषयास्तन्नेवातिदिशति—

एमेव य इत्यीए. अजिधारेतिए तह वयंकीए ।

वत्तवत्ताए गम, जहेव पुरिसस्म नायव्वा ॥

एवमेव स्त्रिया अपि शैक्षकाया अभिधानस्याः, तथा (वयंतीए
त्ति) सत्तहायायाः प्रवृत्तिं व्रजन्त्याः, व्यकाया अव्यकायाश्च
गमः स एव ज्ञानव्यो यथा पुरुषस्योक्तः ।

अथ प्रावचनिकपदं व्याचष्टे—

एवं तु मो अवहिओ, जाहे जाओ सयं तु पावयणी ।

निष्कारणे य गहिओ, पवयति जाहे पुरिद्विणं ॥

एवमनन्तरोक्तैः प्रकारैः स शैक्षोऽपहतः सन् यदा स्वयमेव
प्रावचनिको जातः, अन्यो वा निष्कारणे यः केनापि गृहीतः,
न आत्मनो दिक्परिच्छेदं कृत्वा भूयोऽपि बोधिव्याभाभावात्
पूर्वपामेवाचार्याणामन्तिके प्रव्रजति ।

अभ्रम व असतीए, गुरुमि अभुज्जएगतरजुत्तो ।

धारैति तमेव गणं, जाव हमो कारणज्जाते ॥

येन स शैक्षो निष्कारणमपहतस्तस्यार्थे अपरः कोऽप्याचार्यः
पदयोऽन्यो न विद्यते, ततोऽन्यस्याभावे, यद्वा-गुरावाचार्योऽ-
च्युद्यतस्यैकतरेण युक्त अन्यद्यतमरणमच्युद्यतविहारं वा
प्रतिपन्न इत्यर्थः । ततो यदि कोऽपि शिष्यस्तेषां निष्पन्नो ना-
स्ति तदा तमेव गणमसौ धारयति, यावत्कोऽपि तत्र निष्पन्न
इति । यश्च कारणजाते केनाप्याचार्येण हृतः, सोऽपि तमेव
गणं धारयति ।

किं पुनस्तत्कारणमित्याह—

नाज्जाण य वोच्छेदं, पुच्चगते काझियाणुओगे एं ।

अज्जा कारणजाते, कप्पति सेहाऽवहारो उ ॥

कोऽप्याचार्यो बहुभुतः, तस्य पूर्वगते किञ्चिदस्तु प्राप्तं वा,
कालिकानुयोगेऽपि श्रुतस्कन्धोऽध्ययनं वा, विद्यते, तच्चान्यस्य
नास्ति, ततो यद्यन्यस्य न संक्राम्यते, तदा तद् व्यचच्छिद्येत । एवं
पूर्वगते कालिकानुयोगे च व्यवच्छेदं ज्ञात्वा तं च संप्रस्थितं शैक्षं
ग्रहणधारणसमर्थं विज्ञाय भक्तादानधर्मकथादिभिर्विपरिणा-
मभ्रम्पनादीन्यपि कुर्वाणः शुकः । यद्वा-तस्याचार्यस्य नास्ति
कोऽप्यार्याणां प्रवर्तकस्ततस्तासामपि कारणजाते शैक्षमपह-
रेत्, एवं कल्प्यते शैक्षापहारः कर्तुम् ।

तस्य च कारणेऽपहतस्य को विधिरित्याह—

कारणजाए अवहिअ, गण धारैतो तु अवहरंतस ।

जा एगो निष्फणो, पच्चा से अप्पणो इच्छा ॥

यः कारणजातेऽपहतः स तदीयं गणं धारयन् अपहरत एव
विनेयो भवति । अथ येन कारणेनापहतस्तत्कारणं न पूरयति
तदा पूर्वेषामेव भवति, नापहरतः । स च कारणापहतस्तस्मि-
न्गणे तावदस्ते यावदेको गीतार्थो निष्पन्नः, पच्चात्तस्यात्माया
इच्छा-तत्र वा तिष्ठति पूर्वेषां वा सकाशे गच्छति । यस्तु

निष्कारणे अपहतः स एकस्मिन्निष्पन्ने नियमात्पूर्वेषामन्तिके
गच्छति । स तस्यात्मीयेच्छेति भावः । गतं शैक्षद्वारम् ।

अथाहारविधिचारमाह—

ठवणाघरमि लहुगो, मायी गुरुगो अणुगमे लहुगा ।

अप्पित्तियमि गुरुगा, वोच्छेद पसज्जणा सेसे ॥

दानभक्षादिकुलं स्थापनागृहं प्रणयते, तस्मिन् य आचार्यैरसं-
दिष्टोऽनुज्ञातो वा प्रविशति, तस्य मासलघु । अथवा प्राघूर्णक-
ग्लानार्थमहमिहायात इति तेषां आह्वानां पुरतो मायां करोति,
ततो मायिनो मासगुरुकम्, एवमुक्ते यदि ते आह्वा अनुग्रहोऽ-
यमिति मन्यन्ते, तदा चतुर्लघु । अथाप्रीतिकं कुर्वन्ति, ततश्चतु-
र्गुरुवः, यश्च तद्व्यव्यवच्छेदादि शेषदोषाणां प्रसज्जनाप्रसङ्गात्
तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

इदमेव व्याचष्टे—

अज्ज अहं निदिट्ठो, पुट्ठोऽपुट्ठो व साहई एवं ।

पाहुणगगिद्वानण्डा, तं च पलोच्चेति तो वित्तियं ॥

कश्चिदाचार्यैरसंदिष्टः स्थापनाकुलेषु प्रविश्य पृष्ठोऽपृष्ठो वा इदं
प्रणति-अथाहं गुरुजिः संदिष्टः प्रेषित इति, ततो मासलघु ।
यदि च पूर्वं संदिष्टसंघाटकप्रविष्ट आसीत्, आह्वैश्च तस्यासंदिष्ट-
स्याग्रे इदं भणितं भवेत्-संदिष्टसंघाटकस्य दत्तमिति । ततो यदि
ब्रूयात्-प्राघूर्णकार्थं ग्लानार्थं वा साम्प्रतमहमागत इति, एवं तं
आह्वजनं मायया यदि प्रहोत्रयति, ततो द्वितीयं मासगुरु । ते
च आह्वा विपरिणमेयुः, विपरिणताश्चाचार्यादीनां प्रायोग्यं न
दद्युः, ततः शुद्धं शुद्धेनाप्येतत्प्रायश्चित्तं भाव्यम् ।

आयरिगिलाण गुरुगा, लहुगा य हवंति खमणपाहुणए ।

गुरुगो य बालवुट्ठे, सेसे सव्वेसु मासलहु ॥

आचार्यस्य ग्लानस्य च प्रायोग्यमददानेषु आह्वेषु चतुर्गुरुवः ।
कृपणकस्य प्राघूर्णकस्य च प्रायोग्यमददानेषु चतुर्लघवः । बाल-
वृद्धानां प्रायोग्ये अलभ्यमाने गुरुमासः । शेषाणामेतद्व्यति-
रिक्तानां सर्वेषामपि प्रायोग्ये अलभ्यमाने मासलघु । गतं साध-
मिकस्तैन्यम् ।

अथान्यधार्मिकस्तैन्यमाह—

परधम्मिया वि दुविहा, लिंगपविट्ठा तहा गिहत्था य ।

तोसिं तेषं ति विहं, आहारे उपधि सव्वित्ते ॥

परधार्मिका अन्यधार्मिका इत्येकोऽर्थः । ते च द्विविधा-सिद्ध-
प्रविष्टाः, गृहस्थाश्च । सिद्धप्रविष्टाः शाक्यादयः, गृहस्थाः प्रती-
ताः, तेषामुज्जयेयामपि स्तैन्यं त्रिविधम्-आहारविषयमुपधि-
विषयं सचित्तविषयं चेति ।

तत्राहारविषयं तावदाह—

जिक्खण संखमीए, विकरणरुवेण जुंजई वुप्पे ।

आभोगणमुप्पंसण-पवयणहीला दुरप्पाओ ॥

मित्रावो बौद्धास्तेषां सद्वस्त्ररुपां कश्चिल्लुब्धो विकरणरूपेण
द्विद्विवेकेन भुङ्क्ते, तदीयं लिङ्गं कृत्वेति भावः । एवं जुञ्जानं
यदि कोऽप्याभोगयति उपलक्षयति, तदा चतुर्लघवः । एवमुप-
लक्ष्य यद्यसावुर्ध्वं कोऽर्थः निर्भर्त्सनं करोति, ततश्चतुर्गुरुकाः ।
प्रवचनहीनां वा ते कुर्युः-यथा दुरात्मानोऽमी भोजननिमि-
त्तमेव प्रव्रजिता इति ।

अपि च-

गिहवासे वि बरागा, धुवं क्खु एते अदिट्ठकल्लणा ।

गद्वए णवरि ण वलितो, एएसिं सत्थुणा चे ।

गृहवासेऽप्येते वराका ध्रुवं निश्चितमेवाहप्रकल्याणाः, एतेषां च यां तीर्थकृता दुश्चरितामाहारशुध्यादिचर्यामुपदिशता गतवः एव नवरं न वञ्चितः, शेषं तु सर्वमपि कृतमिति ज्ञातः । गतमाहारविषयं स्तैन्यम् ।

अथोपधिविषयमाह-

उवस्सए उवहि उवे-तुं गनभिव्वुम्मि गिएहती लहुगा ।

गेएहणकट्टणववहा-रपच्छकट्टुड्डहणणिव्विसए ॥

उपाश्रये नवे, उपधिमुपकरणं, स्थापयित्वा कश्चिद्विक्रुको बौद्धो भिक्षां गतस्तस्मिन् गते यदि तदीयमुपधिं गृह्णाति, तदा चतुर्थ-धवः । स भिक्षुकः समायातः स्वकीयमुपकरणं स्तेनितं मत्वा तस्य संयतस्य ग्रहणं करोति, तदा चतुर्गुरवः । राजकुलान्निमु-खमाकर्षणे परं गुरवः । व्यवहारं कारयितुमारब्धे वेदः । पश्चात्कृते सति मूलम् । उड्डहनेऽनवस्थाप्यम् । निर्विषयाज्ञापने पाराश्रिकम् ।

अथ सचित्तविषयं स्तैन्यमाह-

सचित्ते खुड्ढादी, चउरो गुरुगा य दोस अष्ठादी ।

गेएहणकट्टणववहा-रपच्छकट्टुड्डहणणिव्विसए ॥

सचित्ते स्तैन्यं चिन्त्यमाने भिक्षुकादेः सम्बन्धिनं कुल्लकम्, आदि-शब्दादकुल्लकं वा यद्यपहरति, तदा चत्वारो गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः । ग्रहणकर्षणव्यवहारपश्चात्कृतोड्डहनिर्विषयाज्ञापनादय-श्च दोषाः प्राग्वन्मन्तव्याः ।

अथ तेष्वेव प्रायश्चित्तमाह-

गहणे गुरुगा उमाम, कट्टणे छेत्रो होइ ववहारे ।

पच्छा करम्मि मूलं, उड्डहणविरंगणे नवमं ॥ १ ॥

उदावणनिव्विसए, एगमणगे य दोस पारंची ।

अणवद्वप्पा दोमु य, दोसु उ पारंविओ होइ ॥ २ ॥

गाथाद्वयं गतार्थम् ।

खुड्डं व खुड्डियं वा, ऐति अवत्तं अपुच्छियं तेषं ।

वत्तम्मि णत्थि पुच्छा, खेत्तप्पाणं च नाज्जणं ॥

कुल्लको वा कुल्लिका वा योऽव्यक्तः, स यस्य शाक्यादेः सम्बन्धी, तमपृच्छा यदि तं कुल्लकं कुल्लिकां वा नयति, ततः स्तेनः अन्यधार्मिकस्तैन्यकारी स मन्तव्यः, चतुर्गुरुकं च तस्य प्रायश्चित्तम् । यस्तु व्यक्तस्तत्र नास्ति पृच्छा । तामन्तरेणापि स प्रव्रजनीयः किं सर्वथैवानेनेत्याशङ्क्याह-क्षेत्रस्थानं च ज्ञात्वा । किमुक्तं भवति-यदि विवक्षितं क्षेत्रं शाक्यादिभाषितं राजवल्ल-भतादिकं वा तेषां तत्र यत्नं, तदा पृच्छामन्तरेण व्यक्तोऽपि प्रवा-जयितुं न कल्पते, अन्यथा तु कल्पत इति । एवं तत्र लिङ्गप्रवि-ष्टानां स्तैन्यमुक्तम् ।

अथ गृहस्थानां तदेवाह-

एमेव होंति तेषं, निविहं गारत्थियाण जं वुत्तं ।

गहणादिगा य दोसा, सविसेसतरा जवे तेसु ॥

एवमेवागारस्थानामपि त्रिविधम्-आहारादिभेदाद्विप्रकारं, स्तैन्यं भवति, यदनन्तरमेव परतीर्थिकानामुक्तम् । तेषु च गृहस्थे-

षु आहारादिकं स्तेनयतां ग्रहणादयो दोषाः सविशेषतरा जवे-युः । ते हि राजकुले करादिकं प्रयच्छन्ति, ततस्तद्वलेन समधि-कतरान् ग्रहणाकर्षणादीन् कारयेयुः ।

कथं पुनरमीषामाहारादिकं स्तेनयतीत्युच्यते-

आहारं पिट्ठादी, तंतुण खुड्ढादियं भणितपुव्वं ।

पिट्ठम्मि य कप्पट्ठी, संभण पणिग्गहे कुसल्ला ॥

आहारे, पिष्टादिकं बहिर्धिराल्लितं दृष्ट्वा कुल्लकः स्तेनयति, उप-धौ, [तंतु त्ति] सूत्राष्टिकास्, उपलक्षणत्वाद्दृष्ट्वादिकं वा, अपहर-ति, सचित्ते, कुल्लकं वा स्तेनयति । एवं यदेव पूर्वं परतीर्थिकानां ज्ञातं, तदेवात्रापि मन्तव्यम् । कथं पुनः पिष्टां स्तेनयति-(पिष्ट-स्मीत्यादि)काश्चित्कुल्लिका भिक्षामन्त्यः किंचिद् गृहं प्रविष्टास्त-त्र च बहिः पिष्टं विसारितमास्ते, तच्च दृष्ट्वा तासां मध्यादेका कल्प-स्थिका पिष्टपिष्टिकां गृहीत्वा पतद्ग्रहे प्रक्षिप्तवती । सा चा-विरतिकया दृष्टा । ततो ज्ञातम्-एनां पिष्टपिष्टिकामत्रैव स्थापय, ततस्तया कुल्लिकया कुशलत्वेनान्यस्याः संघटिकाया अन्तरे प्रक्षिप्ता । एवं सूत्राष्टिकामपि दक्षत्वेनापहरेत् ।

अथ सचित्तविषयं विधिमाह-

नीएहिं अविदिन्नं, अप्पचवयं पुमं ए दिक्खत्ती ।

अपरिग्गहो उ कप्पति, विज्झो जां सेसदोसेहिं ॥

निर्जकर्मवृत्तिप्रवृत्तिभिः स्वजनैरवितीर्णमथ तमप्राप्तवयस-मव्यक्तं पुमांसं न दीक्षयति । यदि पुनरपरिगृहीतोऽव्यक्तः स शे-पदोपेवांलजमव्याधितादिनिर्विमुक्तस्तर्हि प्रव्रजयितुं कल्प्यते ।

अपरिग्गहा उ नारी, ए जवति तो सा ए कप्पति अदिस्सा ।

सा वि य हु काचि कप्पति, जह पडमा खुड्डमाता य ॥

नारी स्त्री सा प्रायेणापरिग्रहा न जवति; पितृपतिप्रवृत्तीनाम-न्यतरेण परिगृहीता नवतीति भावः । ततो नामावदत्ता सती कल्पते प्रव्रजयितुम् । साऽपि च काचिद्दत्ताऽपि कल्पते । यथा पञ्चावती देवी-करकणकुमाता प्रव्रजिता । यथा वा क्षुल्लककु-मारमाता योगसंग्रहानिहिता यशोभञ्जा नाम्नी प्रव्रजिता ।

अथ द्वितीयपदमाह-

विड्यपयं आहारे, अप्पाणे हंसमादिणे उवही ।

उवज्जिज्जण पुव्वि, होहिंति जुगप्पहाण त्ति ॥

द्वितीयपदमाहारादिषु त्रिष्वप्यभिधीयते । तत्राहारेऽध्वानं प्रवेष्टुकामास्ततो वा उत्तीर्णा उपलक्षणत्वाद्दृष्ट्वादौ वर्त्त-माना असंस्तरणे अदत्तमपि भक्तपानं गृहीयुः । आगा-ढे कारणे उपधिमपि हंसादेः सर्वान्धना प्रयोगेणोत्पादयेत् । सचित्तविषयेऽपि भविष्यन्त्यमी युगप्रधाना इत्यादिकं दृढा-लम्बनं पूर्वं प्रथममेवोपयुज्य परिभाष्य गृहस्थकुल्लकान् अन्य-तीर्थककुल्लकान् वा हरेत् ।

इदमेव भावयति-

असिवं ओम विहं वा, पविमिउकामो ततो व उतिष्ठा ।

नियालिं गअप्पतित्थिय, जायइ अदिसे तु गेएहंति ॥

अशिवगृहीते विषये स्वयं वा साधवोऽशिवगृहीता भक्तपा-नलाभाभावान्न संस्तरयुः । अवमं दुर्भिक्षं तत्र वा भक्तपानं न लभेरन् । विहमध्वानं वा प्रवेष्टुकामास्ततो वा उत्तीर्णा न सं-स्तरयुः । ततः स्वलिङ्गिनो या स्थलिका-देवद्रोणिः, तस्यां याच-न्ते, यदि ते न प्रयच्छन्ति तदा बलादपि गृह्णन्ति । अथ बल-

वन्तस्ते, दारुणप्रकृतयो वा, ततोऽन्यतीर्थिकानामपि स्थलापु
याच्यते, यदि न प्रयच्छन्ति ततः स्वयमेव प्रकटं, प्रच्छन्नं वा
गृहीयुः । एवं गृहस्थेष्वपि याचितमलभमानाः स्वयमपि गृ-
ह्णन्ति । असंस्तरणे उपधिरप्येवमेव स्तैन्यप्रयोगेण प्रहीतव्यः ।

नाऊण य वोच्छेदं, पुत्रगणं काशियाणुओगे य ।

गिहि अस्मतिनियं वा, हरेज्ज एणेहं हंतुं ॥

पूर्वगते कालिकानुयोगे वा व्यवच्छेदं प्राप्त्वा यो गृहस्थलुल-
कोऽन्यतीर्थिकलुलको वा प्रहणधारणमेधावी, स याचितं
यदा न लभ्यते तदा स्वयमपि गृहीयात् । एतैरेवमादिभिर्हो-
नुभिः कारणैर्गृहस्थमन्यतीर्थिकं वा हरेत् । गतमन्यधार्मिक-
स्तैन्यम् ।

अथ 'हत्यादालं दलमाणे' इत्यादिपदत्रयं विचरीपुराह-

हत्यातालं हत्या-लंवेऽत्यादाणे य वोच्छेत्तां उ ।

एतेभि एणत्तं, वोच्छामी आणुपुव्वीए ॥

हस्तातालो हस्तालम्बोऽर्थादानं चेति त्रिधा पाठोऽत्र यो-
ज्यः । एतेषां त्रयाणामपि नानात्वं वक्ष्यामि यथानुपूर्व्याऽहम् ।

तत्र हस्तातालं तावद्विबुधोति-

उक्किस्मि य गुरुगो, दंनो पडियस्मि होइ जयणा उ ।

एवं खु होइयाणं, लोउत्तरियाण वोच्छामि ॥

इह हस्तेन, उपलक्षणत्वात् खड्गादिभिश्च यदा ताडनं, स हस्ता-
तालः । स च द्विधा-लौकिको लोकोत्तरिकश्च । तत्र लौकिके
हस्तातालं पुरुषवधाय खड्गादावुत्कीर्णं गुरुको रूपकानाम-
शीतिसहस्रलक्षणो दण्डो भवति । पतिते तु प्रहारे यदि कथ-
मपि न मृतस्तदा भजना देशे देशे अपरापरदण्डलक्षणा भवति ।
अथ मृतस्तदेवाशीतिसहस्रं दण्डः । एवं खुरवधारणे,
लौकिकानां दण्डो भवति । लोकोत्तरिकानां तु दण्डमतः
परं वक्ष्यामि ।

हत्थेण व पादेण व, अण्वद्वयो उ होति उगिसे ।

पनियस्मि होति जयणा, उद्वणे होति चरिमदं ॥

हस्तेन वा पादेन वा उपलक्षणत्वाद् यष्टिमुष्ट्यादिभिर्वा यः
साधुः स्वपक्षस्य परपक्षस्य च प्रहारमुक्तिरिति सोऽन्यथाप्यो
भवति, पतिते तु प्रहारे भजना, यदि न मृतस्ततोऽन्यथाप्य
एव । अथापद्रावणे मृतस्तदा चरमपदं पाराञ्चिकं भवति ।

अत्रेदं द्वितीयपदम्-

आयरिय विणयगाहण, कारणजाते व बोधिकादीसु ।

करणं वा पडिमाए, तत्तु भेदोपसमण वा ॥

आचार्यः लुल्लकस्य विनयग्राहणं कुर्वन् हस्तातालमपि द-
द्यात् । कारणजाते वा गुरुगच्छप्रभृतीनामात्यन्तिके विनाशे
प्राप्ते, बोधिकस्तेनादिष्वपि हस्तातालं प्रयुज्जीत । पश्चाद्धेन ह-
स्तालम्बमाह- (करणं वा इत्यादि) अश्विपुरावरोधादौ त-
त्प्रशमनार्थं प्रतिमां, पुचलिकां करोति, तत्र अभिचारिकमन्त्रं
परिजपन् तत्रैव प्रतिमाया भेदं करोति; ततस्तस्योपद्रवस्य
प्रशमनं भवति । एषा निर्युक्तिगाथा ।

अत एनां विबुधोति-

विणयस्स उ गाहणया, कस्सामोडणखड्गवचेनाहं ।

सावेक्ख हत्थतालं, दस्सति मम्माणि फेत्तो ॥

इह विनयशब्दः शिष्टायामपि वर्तते । यत उक्तम्- 'विनयः

शिक्षाप्रणत्योरिति' । ततोऽर्थमर्थः-विनयस्य ग्रहणशिक्षायां
आसेवनाशिक्षायां वा कर्णामोदकेन खड्गकाभिधपेक्षानिर्वा-
सापेक्षो जीवनापेक्षां कुर्वन्, अत एव मर्माणि स्फोटयन्-येषु प्र-
देशेष्वहताः सन्तो श्रियन्ते तानि परिहरन् आचार्यः लुल्लकस्य
हस्तातालं ददाति । अत्र परः प्राह-ननु परस्य परितापे किय-
माणे अशातवेदनीयकर्मवन्धो प्रयति तत्कथमसावनुज्ञायते ? ।
उच्यते-

कामं परपरितापो, असायहेतू जिणेहिं पस्सो ।

आत-परहितकरो पुण, इच्छिज्जइ दुस्सले खलु उ ॥

कामप्रभुमतस्माकं परपरितापो जिनैरज्ञातहेतुः प्रज्ञतः, परं
परपरितापो दुःखे मानवके शिक्षया दुर्गहे दुर्विनीते शिष्ये खलु
निश्चितमिष्यत एव । कुत्र इत्याह- (आतपरहितकरोति) हे-
तौ प्रथमा, भावप्रधानश्च निर्देशः । ततोऽर्थमर्थः-आत्मनः परस्य
च हितकरत्वात्, तत्रात्मनः शिष्यशिक्षां ग्राहयतः कर्मनिर्जरा-
ज्ञानः । परस्य तु सम्यग्गृहीतशिक्षस्य यथावच्छरणकरणानु-
पालनादयो भूयांसो गुणाः । पुनः शब्दो विशेषणम् । स चैतद्विशि-
ष्ट-यो दुष्प्राप्यवसायतया परपरितापः कियते स एवाशात-
हेतुः प्रज्ञतः, यस्तु शुद्धाध्यवसायेन आत्मपरहितकरः कियते स
नैवाशातहेतुरिति ।

अमुमेवार्थं दृष्टन्तेन दृढयति-

सिपं णेउणियट्ठा, घाते वि सहंति लोइया गुरुणो ।

ए य मधुरणिच्छया ते, ए होति एसेविहं उवमा ॥

शिष्टपानि रथकारकर्मप्रभृतीनि, नैपुण्यानि च क्षिपिगणिता-
दिकलाकौशलानि, तदर्थं लौकिकाः शिक्षका गुरोराचार्यस्य घा-
तान् परिसहन्ते, न च तथा ते, तदानीं दारुणा अपि मधुरनि-
श्चयाः, तेः सुन्दराः कियन्ते, तेनैवापरिणामा न प्रवन्ति, किन्तु
शिष्टादिपरिज्ञाने वृत्तिज्ञाभजनपूजनीयतादिना परिणामस्ते-
षां सुन्दरो प्रवतीति प्राचः । एवैवोपमा इह प्रस्तुतार्थे मन्तव्या,
यथा तेषां ते घाता हितास्तथा प्रस्तुतस्यापि दुर्विनीतस्य
शिष्यस्येति भावः ।

अत्रायं गृहज्ञाप्ये उक्तः सोपमेयोऽपरो दृष्टान्तः-

अहवा वि रोगियस्सा, ओसह विज्जेहिं दिज्जण पुण्वि ।

पच्छा ताहेतुमयी, देहाहियट्ठा पडिज्जइ से ॥

इय नवरोगिणस्स वि, अणुकूलं ण तु सारणा पुण्वि ।

पच्छा पम्फलेण वि, परलोमहियट्ठा कायव्वा ॥

(ओसहति) विभक्तिलोपादौ पधमिति मन्तव्यम् । अत
एव साधुरेवविधो प्रवेव-

संविगो महविओ, अमुई अणुवत्तओ विसेसन्नु ।

उज्जुत्त अवहित्तो, इच्छियमत्थं दहइ साह ॥

संविगो मोक्षाभिवायी, मार्दविकः स्वभावकोमलः, अमोची
गुरुणाममोचनशीलः, अनुवर्तकस्तेषामेव बन्धोऽनुवर्ती, विशेष-
ज्ञो वस्त्ववस्तुविभागवेदी, उद्युक्तः स्वाध्यायादौ, अपहृतात्तो
वैद्यावृत्त्यादौ, एवंविधः साधुरीप्सितमर्थमिह परत्र च लभते ।

अथ कारणजाते 'बोहिगाइमुत्ति' पदं व्याचष्टे-

बोहिकतेणजयादिसु, गणस्स गणिणो व अञ्चए पत्ते ।

इच्छंति हत्थतालं, कालातिचरं च सज्जं वा ॥

बोधिकस्तेनभये, आदिशब्दात् श्वापदादिभयेषु वा यदि

गणस्य गच्छस्य गणिनो वा आचार्यस्य अत्यय आत्यन्तिको विनाशः प्राप्तः, तदा कालातिचारं वा कालातिक्रमेण, सद्यो वा तत्कालमेव, हस्तताम्रमिच्छन्ति. गीतार्था इति गम्यते ।

अथ हस्ताक्षरं व्याख्यानयति—

असिन्ने पुरोवगेधे, एमादी वडमसंस्तु अजिञ्चता ।

संजायपचया खलु अस्सेसु य एवमादीसु ॥

मरणभयेणऽभिञ्चते, ते णातुं देवतं बुवासंते ।

पनिमं काञ्चं मज्जे, विंधति मंते परिजवंतो ॥

अशिवेन लोको भूयान् म्रियते, परयत्नेन वा पुरंसमन्तादुपरु-
द्धं, तत्र बहिः कटकयौधेरान्यन्तराणां कटकमर्दः क्रियते,
अन्नक्रयाद्वा क्रुधा म्रियते, आदिशब्दाद् गलगणमादिभिर्वा रो-
गादितः प्रभूतो जनो मरणमश्नुते । एवमादिभिर्वैशसैर्दुःखैरभि-
ञ्चतास्ते पौरजनाः संजातप्रत्यया येऽत्र पुरे आचार्यो बहुश्रुतो
गुणवांस्तपस्वी स शक्तो वैशसमिद् निरोद्धुं नान्यः कश्चिदिति ।
(समिति) सम्यग् जातः प्रत्ययो येषां ते तथा, न केवलमत्रैव
किन्तु अन्येष्वप्येवमादिषु संजातप्रत्ययास्ते संज्ञय तमाचार्यमु-
पासते-शरणमुपगताः प्राञ्जलिपुटाः पादपतितास्तिष्ठन्ति । ततः
स एवाचार्यस्तान् पौरजनान् मरणजयेनाभिञ्चतान् देवतामिवा-
त्मानं पर्युपासीनान् ज्ञात्वा तदनुकम्पापरीतचित्तः प्रतिमां कृत्वा
ततः अभिचारिकमन्त्रान् परिजपन् तां प्रतिमां मध्यजागे विध्यति,
ततो नष्टा सा कुलदेवता, प्रशमितः सर्वोऽप्युपद्रवः । एवंविधह-
स्ताक्षरद्वया यदा अज्युत्तिष्ठति तदा नत्काद्यमेव नोपस्थाप्यते
किन्तु कियन्तमपि काष्ठं गच्छ एव वसन् व्यामर्दनं कार्यते ।

अथार्थादानमाह—

अणुकंपणा निमित्तं, जायण पनिसेहणा सडणि मे वा ।

वाणिय पुच्छा य तहा, सारण उव्वावणविणासे ॥

कस्याप्याचार्यस्य भागिनेयो व्रतं परित्यज्य मुक्तत्वापयति । तत्र
आचार्यस्य अनुकम्पा-कथमयं द्रव्यमन्तरेण गृहवासमध्यासि-
ष्यते इत्येवंलक्षणा वज्रव । स च निमित्तेऽतीवकुशल इति
तेनैवावर्जितयोर्द्वयोर्वणिजोरन्तिके भागिनेयं रूपकयाचनाय
प्रेषितवान्, स च तत्रैकेन वणिजा-किं मम शकुनिका रूपका-
न् हृदते, एवमुक्तवा निषिद्धः, द्वितीयेन तु रूपकनवलकानां
दर्शना कृता । द्वितीये च वर्षे छाभ्यामपि वणिजन्यां पृच्छा
कृता, तत आचार्येण सारणा क्रयाणकग्रहणविषया शिक्षा दत्ता,
ततो येन रूपका न दत्तास्तस्य सर्वस्वविनाशः समजनि, येन तु
दत्तास्तस्योद्भावनं महार्थिकतासंपादनं कृतवान् । एष निरु-
क्तिगाथाऽङ्गार्यः । वृ० ४ उ० ।

भात्रार्थस्तु कथानकादवसेयः । तच्चेदम्—

“वणिजावुज्जायिन्यां द्वौ, प्रायः पृष्टा गुणं सदा ।

पणायमानौ पण्यौधैः, परमासृद्धिमीयतुः ॥ १ ॥

औज्झद् गुरुणां जामेयो, जोगार्थी व्रतमन्यदा ।

ततस्तैः कृपयोचे स, विनाऽर्थैः किं करिष्यसि ? ॥ २ ॥

तथाहि वणिजा तौ त्वं, भणाऽर्थं मे प्रयच्छतम् ।

गुर्वादेशात्ततः सोऽपि, गत्वा तौ भणति स्म तत् ॥ ३ ॥

अथैकः स्माह जोः ! कस्मा-दस्माकं द्रव्यसंचयः ।

शकुनी रूपकान् भङ्ग !, कुत्रापि हृदतेऽत्र किम् ? ॥ ४ ॥

अडौकयद् द्वितीयस्तु, तस्याग्रे अविणं वहुं ।

ऊचे देव ! गृहाण त्वं, यथेच्छं सोऽपि चाग्रहीत ॥ ५ ॥

द्वितीयेऽन्वे स तैर्द्रव्य-प्रदः पृच्छन्ननयत ।

क्रीणीहि तृणकाष्ठानि, स्थापयेश्च पुराद् बहिः ॥ ६ ॥

द्वितीयकस्तु तैरुक्तः क्रीत्वा स्नेहं गुडं कणान् ।

वस्त्रकार्पासकाष्ठादीन्, पुरमध्ये निधेहि भोः ! ॥ ७ ॥

वर्षारम्भे समस्तेषु, च्छादिनेष्वथ वेश्मसु ।

दग्धं सर्वं पुरं जङ्गे, तृणकाष्ठमहर्घता ॥ ८ ॥

प्राज्यं तदाऽज्यद्वित्तं, गुरुजामेयवित्तदः ।

दग्धं सर्वं द्वितीयस्य, सोऽयाज्येत्यावदद् गुरुम् ॥ ९ ॥

किं न ज्ञातमिदं पूज्याः, गाढं प्लुष्टोऽहमेवमः ।

निमित्त्यूचे निमित्तं नः शकुनी हृदतेऽत्र किम् ? ॥ १० ॥

तथाऽन्यथाऽपि वा किञ्चित्, स्यात्कथंचन मे धनम् ।

ततो रुष्टं गुणं ज्ञात्वाऽत्यर्थं क्षमयति स्म सः ॥ ११ ॥ जीत० ।

उज्जणीओसणं, दो वाणिया पुच्छियं ववहरंति ।

जांगजिलास तव्वय, मुंचंति ए रुवए सडणी ॥ १ ॥

एगो व एणउलदायण. वित्तिएणं जत्तिए तहिं एकां ।

असम्मि ह. यणम्मि य, गेएहामो किंति पुच्छंति ? ॥ २ ॥

तणकट्टेनेहधस्से, गिएहह कप्पासदूसगुडमादी ।

अंतो बहिं च उवणा, हग्गी सडणी ण य निमित्तम् ॥ ३ ॥

इति तिस्रोऽपि व्याख्यातार्याः, नवरं, मित्रकेण वणिजा भागिनेय
उच्यते-[जत्तिए तहिं एकां त्ति]यावन्तो युष्मज्यं रोचन्ते तावतो
नवलकान् गृहीत, एवं द्वितीयेन वणिजा भणितम् ; तत्र तेषां
मध्ये एको नवन्नको गृहीतः । अन्यस्मिन् हायने वर्षे इत्यर्थः ।
दूष्यं वस्त्रमुच्यते, (सडणी न य निमित्तं ति) नेच-नैव मम
शकुनिका निमित्तं हृदते ।

एयारिसो य पुरिसो. अणवद्वृप्पो उ सो सुदेसम्मि ।

नेतूण असुदेसं, चिट्ठ उववावणा तस्म ॥

एतादृशोऽर्थो दानकारी यः पुरुषोऽभ्युत्तिष्ठते स स्वदेशेऽनन-
स्थाप्यो न महाव्रतेषु स्थाप्यते, किं तु तमन्यदेशं नीत्वा तस्य
च तत्र तिष्ठत उपस्थापना कर्तव्या ।

कुत इति चेदुच्यते—

पुव्वज्जासा जासे-ज्ज किञ्चि गोरवासिणेहनयतो वा ।

न सहइ परी-नहं पि य, णाणं कंहुव्व कच्छुद्धो ॥

तं नैमित्तिकं लोकः पूर्वज्यासाक्षिमित्तं पृच्छेत् ; सोऽपि क्रू-
रौरवतः स्नेहाद्वा नयाद् वा किञ्चिद्वाजादिकं तत्र स्थितो ज्ञापते ।
अपि च स ज्ञानविषयं परीपहं तत्र न सहते, सोऽहं न शक्नोतीत्य-
र्थः । यथा कच्छूः पामा तद्वान् पुरुषः, कएहू खाजितं विनाशितुं
न शक्नोति ; एवमेवोऽपि तत्र निमित्तकथनमन्तरेण न स्थातुं
शक्त इति भावः ।

अथ पूर्वोक्तमप्यर्थं विदोपज्ञापनार्थं भूयोऽप्याह—

तइयस्स दोम्मि मोत्तुं, दव्वे जावे य सस जयणा उ ।

पनिसिद्धलिंगकरणं, करणा अस्सत्थ तत्थेव ॥

इह ‘साधम्मियतेषियं करमाणे’ इत्यादिसूत्रक्रमप्रामाण्येन ह-
त्याताहतस्तृतीय उच्यते । स च त्रिधा-हस्तातालो हस्ताक्षम्यो-
ऽर्थादानं चेति । तत्राद्ये द्वे पदे मुक्त्वा यच्छेपमर्थादानाख्यं तृतीयं
पदं तत्र उच्यतो भावतश्च लिङ्गप्रदाने भजना भवति । कथमि-
त्याह-(पनिसिद्ध इत्यादि) उत्तरत्र कारणे इत्यभिधास्यमानत्वा-
द्बिह निष्कारणमिति गम्यते । ततो निष्कारणे प्रतिषिद्धमर्थादा-

नकारिणो लिङ्गकरणं द्रव्यलिङ्गस्य भावलिङ्गस्य वा तत्र क्षेत्रे प्रदानम्, कारणं तु भक्तप्रत्याख्यानप्रतिपत्तिलक्षणे अन्यत्र वा तत्र वा अनुज्ञातमेव । एषा पुरातनी गाथा ॥

अन एनां विवरीपुराह—

हृत्थातालो जणिओ, तस्स उ दो आइमे पदे गोचुं ।

अत्यायाणे लिंगं न दिति तथेव त्रिसयम्पि ॥

हृत्थातात्रमुत्रकमप्राप्तायात् तृतीयम्, अर्थात् तस्य हे आदिमे हस्तातालहस्तालम्ब्यक्षणे पदे सुकया यदर्थदानार्थं पदं तत्र वर्तमानस्य तर्ध्व घिपये देशे लिङ्गं न ददति । स च अर्थादानकारी गृही लिङ्गी वा । तत्र—

गिहिलिंगस्स उ दोम वि, आसन्ने न दिति जावलिंगं तु ।

दिज्जंति दोवि लिंगा, ओवत्ति य उच्चपट्टस्स ॥

यो गृहिलिङ्गी प्रत्ययार्थमनुत्तिष्ठति तस्य हे अपि-द्रव्यजाव-त्रिंशे तस्मिन्देशे न दीयते । यः पुनरप्यसन्नस्तस्य ह्रस्वलिङ्गं विद्यत एव, परं भावलिङ्गं तत्र तस्यैव ददति । यदा पुनरसावुत्तमार्थस्य प्रतिपत्त्यर्थमुपतिष्ठते तदा तस्मिन्नि देशे ह-योरपि गृहस्थावसन्नयोर्द्वे अपि लिङ्गे दीयते ।

अथयेदं करणम्—

ओमासिवमार्हि व, सप्पिस्सति तेण तस्म तथेव ।

न य असहाओ मुचइ, पुटो य भाणज्ज वीमारियं ॥

अथमाशिवराजदिष्टादिषु वा समुपस्थितेषु गच्छस्य प्रतिस-र्पिष्यति उपग्रहं करिष्यति, तेन कारणेन तर्ध्व क्षेत्रे तस्य लिङ्गं प्रयच्छन्ति । तत्र ख्यं यतना- [न य असहाओ इत्यादि] स तत्रा-रोपितमहाप्रतः सन्नस्तहाय एकाकी न मुच्यते, लोकं च नि-मित्तं पृष्ठे जगति-विस्मृतं मम सांप्रतं तन्निमित्तमिति ।

अथ साधर्मिकादिस्तैन्येषु प्रायश्चित्तमुपदर्शयति—

साहम्मियअण्णथम्मिय-तेणोउ उ तस्य हांति (इ)मा जयणा ।

चउलहुगा चउ गुरुगा, अण्वद्वयो य आएसा ॥

साधर्मिकस्तैन्यान्यधार्मिकस्तैन्ययोस्तावदियं प्रजना प्रायश्चित्तरचना भवति-आहारं स्तेनयतश्चतुर्लक्षं, सत्तितं स्तेनयतश्चतुर्लक्षः, आदेशेन वा अनवस्थाप्यम् ।

अहवा अणुवज्जाओ, एण्णु पण्णु पावती तिविहं ।

तेमं चेव पण्णुं, गणिआयरियाण एवमं तु ॥

अथवा अनुपाध्यायो य उपाध्यायो न भवति किं तु सामान्य-मिच्छुः स एतेषु आहारोपधिसचित्तरूपेषु यथाक्रमं त्रिविधं ल-घुमासं चतुर्लक्षं चतुर्लक्षवक्ष्यमाणं प्रायश्चित्तं प्राप्नोति । तेष्वेव चाहारादिषु पदेषु गणिन उपाध्यायस्याचार्यस्य च नयममनव-स्थाप्यं भवति । अत्र परः प्राह-ननु सूत्रे सामान्येनानवस्थाप्य एव भणितो न पुनर्लघुमासादिकं त्रिविधं प्रायश्चित्तं, तत्कथ-मिदमर्थेनाभिधीयते ? उच्यते-आर्हतानामेकान्तवाद्ः कापि न प्रवति । तथाहि—

तुहम्मि वि अत्राहे, तुहम्मपुत्तं व दिज्जए दोएहं ।

पारांकिं पि नवमं, गणिस्स गुरुगो उ तं चेव ॥

तुल्यः सदृशोऽपराधो ह्यन्यामपि आचार्योपाध्यायाभ्यां से-वितः, तत्र द्वयोरपि तुल्यमतुल्यं वा प्रायश्चित्तं दीयते, तत्र तुल्य-दानं प्रतीतमेव । अतुल्यदानं पुनरिदम-पाराञ्चिके पाराञ्चिकाप-त्तियोग्येऽप्यपराधपदे सेविते गणिन उपाध्यायस्य नवममनव-

स्थाप्यमेव दीयते, न पाराञ्चिकम्, गुरोराचार्यस्य पुनस्तदेव पा-राञ्चिकं दीयते, ततो यद्यपि सूत्रे सामान्येनानवस्थाप्यमुक्तं त-थापि तत् पुरुषविशेषापेक्षं प्रतिपत्तव्यम्, यद्वा-अभीक्ष्णसेवा-निष्पन्नम् । तथा चाह—

अहवा अजिक्खसेवी, अणुवरयं पावई गणी नवमं ।

पावंति मूलमेव उ, अजिक्खपन्तिसेविणो सेसा ॥

अथवा साधर्मिकस्तैन्यादेरभीक्ष्णसेवी पुनः २ प्रनित्सेवां यः करोति स ततः स्थानादनुपरमम् अनिवर्तमानो गणी उपाध्या-यो नवमं प्राप्नोति । शेषास्तु ये उपाध्यायत्वमाचार्यत्वं वा न प्राप्तास्ते अभीक्ष्णप्रतिसेविनोऽपि मूलमेव प्राप्नुवन्ति, नानव-स्थाप्यम् ।

अत्थादाणो ततिओ, अण्वद्वो सेत्तओ समक्खाओ ।

गच्छे चेव वसंतो, निज्जुहज्जंति सेसाओ ॥

अष्टाङ्गनिमित्तप्रयोगेणार्थं ह्रस्वमादत्तं इति अर्थादानार्थो य-स्तृतीयोऽनवस्थाप्यः, स क्षेत्रतः समाध्यातः, तत्र क्षेत्रे नोपस्था-प्यत इत्यर्थः । शेषास्तु हस्तातालकारिप्रभृतयो गच्छ एव वसन्तो निर्वृत्त्यन्ते आलोचनादिभिः पदवर्हिः क्रियन्ते इत्यर्थः ॥ ८४७० ॥

उफोसं बहुसो वा, पउट्टचित्तो व तेणियं कुणइ ।

पहरइ जो य सपक्खे, निरवेक्खो घोरपरिणामो ॥

अजिसेम्मो सन्नेमु वि, बहुसो पारांयियाज्वराहेसु ।

अण्वद्वप्पावत्तिषु, पसज्जमाणो अणेगामु ॥

उक्तं वस्तुविषयं बहुशो वा पौनःपुन्येन प्रदुष्टचित्तो वा संक्लि-ष्टमनाः प्राधत्तोभादिकमुपितमनसो यत् स्तैन्यं साधर्मिकस्तैन्य-मन्यधार्मिकस्तैन्यं वा करोति । ज्ञात० एवंविधाधर्मादानकारी आचार्यः स्वस्य महाप्रतान्यारोपयितुमभ्यर्थयमानो तदोपकरण-निवृत्तोऽपि तत्र क्षेत्रे न महाप्रतेषु स्थाप्यते, तथा हस्तालम्ब इव हस्तालम्बस्तं ददानः, अशिषे पुरोधादौ तत्प्रशमनार्थमजिचा-रमन्वादीन्प्रयुञ्जान इत्यर्थः । तथा हस्तेन तामनं हस्ततालस्तं ददानः यष्टिमुष्टिगुडादिजिरात्मनः परस्य च मरणभयनिरपे-क्षः, स्वपक्षे, चशब्दात्परपक्षे च, घोरपरिणामो निर्देयो यः प्रहर-ति । एते त्रयोऽप्यनवस्थाप्याः क्रियन्ते । यदि धाऽऽचार्यादीन् फोऽपि हिनस्ति ततस्तन्मरणेनापि तान् रक्षेत् । यदाह—“आथ-रियस्स विणासे, गच्छे अहवा वि कुल्लगणे संघे । पंचिदियवे-रमणं, कावं नित्थारणं कुज्जा ॥ १ ॥ एवं तु करितेण, अ-ल्लुच्छिच्छी कया उ तित्थंमि । जइ विसरीराघाओ, तह वि य आराहओ सो उ ॥ २ ॥ ” यस्तु समर्थोऽप्यागादेऽपि प्रयोजने न प्रगल्भते स विराधकः । इहानिपेक्ष उपाध्यायः स येषु येष्व-पराधेषु पाराञ्चिकमापद्यते तेषु बहुशः पाराञ्चिकापराधेषु स-र्वेष्वपि शुद्धिनिमित्तमनवस्थाप्यः क्रियते । यथा भिक्षोरनव-स्थाप्यपाराञ्चिकेऽपि प्राप्तस्य सूत्रमेव चरमं प्रायश्चित्तं भवति, एवमुपाध्यायस्याप्यनवस्थाप्यमेव परमं, तथा अनवस्थाप्याप-त्तिषु उपचारादनवस्थाप्याख्यप्रायश्चित्तापात्तिकारिणीष्वति-चारप्रतिसेवापबन्धेकासु प्रसज्जनं प्रसक्तिं कुर्वाणोऽनवस्थाप्यः क्रियते ।

स चानवस्थाप्यः क्रियमाणः कस्मिन्—

स्मिन्विषये क्रियते इत्याह—

कीरइ अण्वद्वप्पो, सो लिंगखित्तकालओ तवतो ।

लिंणेण दब्बजावो, जणिओ पब्बावणाऽणुरिहो ॥

क्रियते तथाविधापराधकारित्वान्महाव्रतेषु विज्ञे वा नाऽवस्था-
प्य इत्यनवस्थाप्यः । स चतुर्धा-विज्ञतः, क्षेत्रतः, कालतः,
तपोविशेषतश्चेति । विज्ञं द्विधा-ऊव्ये च ज्ञावे च । तत्र ऊव्यवि-
ज्ञं रजोहरणादि, भावलिङ्गं महाव्रतादि । अत्र चतुर्भङ्गी-ऊव्य-
विज्ञेन भावविज्ञेन चानवस्थाप्य इत्येको जङ्गः । द्रव्यविज्ञेनाव-
वस्थाप्यो न भावविज्ञेनेति द्वितीयः । ज्ञावलिङ्गेनानवस्थाप्यो
न द्रव्यविज्ञेनेति तृतीयः । उज्जाज्यामप्यनवस्थाप्य इति चतुर्थः ।
इह ऊव्यविज्ञेन भावलिङ्गेन चाऽनवस्थाप्यः प्रथमभङ्गस्थः
प्रजाजनाऽनहो भणितः ।

लिङ्गानवस्थाप्यादिचातुर्विध्यमेव वितन्वन्नाह-
अप्पनिविरतोसन्नो, न भावलिङ्गारिहोऽणवद्वयो ।
जो जत्थ जेण दूसइ, पडिसिप्पो तत्थ सो खित्तो ॥
अप्रतिविरतः सार्धमिकान्यधार्मिकस्तैन्त्याप्रदुष्टचित्तत्वेना-
निवृत्तः स्वपक्षपरपक्षप्रहरणोद्यतश्च निरपेक्षानुपशान्तवैरो यः
स द्रव्यभावलिङ्गाज्यामनवस्थाप्योऽनवस्थाप्यप्रथमभङ्गवर्ती
क्रियते । इस्ताम्बवदायी अर्थानदानकरो वाऽवसन्नादिकश्च तत्त-
द्दोषानिवृत्तां न ज्ञावलिङ्गार्हः । अयं भावः-स ऊव्यविज्ञी भव-
ति न भावविज्ञमर्हति, भावविज्ञमपेक्षानवस्थाप्यतृतीयजङ्गवर्ती
ज्वतीत्यर्थः । द्वितीयचतुर्थभङ्गो पुनर्न संभवतः, क्षेत्रतोऽनवस्था-
प्यो यो यत्र क्षेत्रे येन कर्मणा दूष्यते स तद्दोषकरणानिवृत्तोऽपि
क्षेत्रे प्रतिविद्धो महाव्रतेषु स्थापने निराकृतो यथार्थानदानकारी
तत्रैव क्षेत्रे न महाव्रतेषु स्थाप्यते, यतः पूर्वाज्यासात् तं लोको
निमित्तं पृच्छेत्, स च तं निमित्तज्ञानजमृच्छिगौरवं सोदुमल्लमः
कदाचित् कथयेत्, ततोऽन्यत्र नीत्वोपस्थाप्य उत्तमार्थप्रतिप-
न्नस्य पुनस्तत्रापि स्वस्थानेऽपि स्थितस्य महावृत्तारोपः कार्य
एव । उक्तौ लिङ्गक्षेत्राऽनवस्थाप्यौ । जीत० ।

जत्थियमित्तं कालं, तवसा उ जहन्नणं उम्मासा ।
संवच्चरमुक्कोसं, आसायइ जो जिणार्हणं ॥ ए१ ॥

यो यावन्तं कालं दोषान्नोपरमते तावन्तं कालमनवस्थाप्यः
क्रियते । तपसा त्वनवस्थाप्यो द्विधा-आशातनाऽनवस्थाप्यः,
प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्च । तत्र जिनादीनां तीर्थकरसङ्घुता-
चार्यमहर्षिकगणधराणामाशातनां यः कुर्यात् । यथा-तीर्थकरैः
सर्वोपायकुशलैरपि गृहवासत्यागादिकाऽतिकर्कशा देशना कृता;
यदि च गृहवासो न श्रेयान् ततः किमिति स्वयं गृहवासे वस-
न्ति स्म, भोगांश्च शुकवन्त इत्येवं कृतोऽधिकेपः । सङ्गं च दृष्ट्वा
ऽयज्ञया वदेत्-हुं इष्टा मयाऽऽरयेऽपि सङ्गाः शृगालश्वानवृक-
चित्रकादीनामिति । श्रुतं चैवमधिकिपति यथा-“कायाववाय
तिच्चित्रय, पुणो वि तिच्चिय पमायपया । मुक्खस्स देसणाए,
जोइसजोणीहिं किं कज्जं ॥ १॥ ” आचार्यं च जाल्यादिभिरधिकि-
पति । महर्षिकाश्च गणजृता गौतमादयः, ये वा यस्मिन् युगे प्रधा-
नभूताः, तान् ऋक्षिरसा गौरवप्रसक्ताः कथका इव लोकावर्ज-
नोद्यता इत्यादिवाक्यैराधिकिपति । स आशातनाकारित्वादाशा-
तनतपोऽनवस्थाप्यः । स जघन्येन षण्मासान् उत्कर्षतः संवत्स-
रं यावत् तपः कुर्वन् कर्तव्यः, तावता च तपसा क्षपिताऽऽशा-
तनातनितकर्मत्वाद्ध्वं महाव्रतेषु स्थाप्यते, प्रतिसेवनाऽनव-
स्थाप्यश्चोत्तरगाथायां वक्ष्यते ।

सा चेयम्—

वासं वारसवासा, प्रतिसेवी कारणान्न सव्वो वि ।

योवं योवतरं वा, वहिज्ज मुज्जिज्ज वा सव्वं ॥ ए२ ॥

प्रतिसेवी प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यः सार्धमिकान्यधार्मिकस्तेना-
ज्यां इस्तातालादिभिश्च भवति, स च जघन्यतो वर्षम्, उच्छिष्टतो
छादश वर्षाणि, तदनन्तरं व्रतेषु स्थाप्यते । स चानवस्थाप्यः
संहननादिगुणयुक्त एव क्रियते, अन्यस्य तु मूलमेव दीयते ।

अथ कीदृशगुणयुक्तस्यानवस्थाप्यं दीयत इत्याह—

“संहणविरियआगम-सुत्तत्थविहीइ जो समग्गो य ।

तवसी निग्गहजुत्तो, पवयणसारे य गहियत्थो ॥ १ ॥

तिलतुसमतिभागमित्तं, वि जस्स असुभो न विज्जइ भावो ।

निज्जुहणारिहो सो, सेसे निज्जुहणा नत्थि ॥ २ ॥

एयगुणसंपत्तो, पावइ अणवधमुत्तमगुणोहो ।

एयगुणविप्पहुणे, तारिसगम्मी भवे मूवं ॥ ३ ॥ ”

[तपसी] तपश्चरणवान् [निग्गहजुत्तो] जितेन्द्रियः [नि-
ज्जुहणारिहो] गच्छात् पृथक्करणार्हः अपवादतस्त्वनन्यसाध्यकु-
लगणसङ्घकार्यकारी, बहुजनसाध्यं च कार्यं शृङ्खवादितमुच्य-
ते, तत्साधकश्चायमित्यतः कारणात्सर्वोऽपि द्विप्रकारोऽपि आ-
शातनेनावस्थाप्यते । प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्च गुरुमुक्तात् सङ्गा-
देशात् स्तोत्रं स्तोत्रं वा, मासद्वयं मासैकमात्रं वा अनवस्था-
प्यतपो वहेत् । सङ्घो वा सार्थोपगृह्मादिकेनैवायमनवस्था-
प्यशोध्यमतः चारमं कालायिष्यतीति सर्वं मृञ्चेत्, अनवस्था-
प्यतपो न कारयेदित्यर्थः । जीत० । वृ० ।

यस्त्वनवस्थाप्यतपः प्रतिपद्यते तद्विधिमाह—

आसायणा उहसे, उम्मासुक्कोस वारस उ मासा ।

वासं वारसमासे, पडिेवओ कारणे भणियो ॥

इत्तिरियं निक्खेवं, काउं वन्नं गणं गमिच्चाणं ।

दव्वाइ सुहे वियरुण, निरुवस्सग्गह उवस्सग्गो ॥

अप्पच्चय निव्वयया, आणाभंगो य जेतणा सगणे ।

परगणे न होंति एए, आणा थिरया जयं चेव ॥

गाथापदकं, यथा पाराञ्चिके व्याख्यातं तथैवात्र मन्तव्यम्, नवरं,
[दव्वाइसुहे वियरुणत्ति] ऊव्यक्षेत्रकालज्ञावेषु गुणेषु प्रशस्तेषु;
द्रव्यतो वटवृक्षादौ क्षीरवृक्षे, क्षेत्रतः इक्षुक्षेत्रादौ, कालतः पूर्वाह्णे,
ज्ञावतः प्रशस्तेषु चन्द्रतारादिवलेषु, गुरुणां विकटनामाहोचनां
ददाति । तत आचार्या भणन्ति—“ एय साहुस्स अणवद्वप्पतव-
स्स निरुवसग्गानिमित्तं णमि काउसग्गं ति । अन्नत्थूससिए-
णं ” इत्यादि वोसियामीति यावत् । ततश्चतुर्विंशतिसूत्रमुच्चार्या-
चार्या भणन्ति-एय तपः प्रतिपद्यते, ततो न भवद्भ्यः सार्धमाहा-
पादिकं विधास्यति, स्वयमप्येतेन सार्धमाहापादिकं परिहरन्व-
मिति । वृ० ४ उ० ।

वंदइ नइ वंदिज्जइ, परिहारतवं सुट्ठवरं चरइ ।

संवासो से कप्पइ, नात्तवणार्हणि रेसाणि ॥ ए३ ॥

अनवस्थाप्यतपश्चरणकरणकालं यावत् स्वगणं गीतार्थं नि-
क्षिप्याचार्य उपाध्यायो वा प्रशस्तेषु ऊव्यक्षेत्रकालज्ञावेषु,
तत्र ऊव्यतो वटादौ क्षीरवृक्षे, क्षेत्रतः इक्षुशालिक्षेत्रकुसु-
मितवनखण्डप्रदक्षिणावर्तजलपक्षसरश्चैत्यगृहादिषु, कालतः
पूर्वाह्णे, भावतः प्रशस्तेषु चन्द्रताराबलेषु, संध्यागतादि-
नक्षत्रवर्जमालोचनां प्रयुक्ते स्वातिचारं प्रकाशयति । आलो-
चनाऽनन्तरं जघन्येन मासमुत्कर्षतः षण्मासादिकमनवस्था-
प्यतपःप्रपद्यमाने आलोचनादायकः कायोत्सर्गं करोति । “ ए-
यस्स आयरियस्स अणवद्वप्पतवस्स निरुवसग्गानिमित्तं णमि

काउस्सगं अणत्थ उस्ससिणं, इत्यादि 'वोसिरामि' इति यावत् चतुर्विंशतिस्तवमुचिन्त्य पारयित्वा चतुर्विंशतिस्तवमुच्यर्थः-
ऽऽचार्यो वक्ति-“एस तवं पक्खिज्झ, न किञ्चि आलवइ माइ आलवह । अत्तट्ठचित्तगस्स उ, वायाओ भे न कायव्वो । ” एष
युष्माभिरपि प्यति, युष्माभिरपि नालाप्या, एष सूत्रार्थे शरीर-
वार्ता वा न प्रव्यति, युष्माभिरपि न पृच्छ्यः । खेत्तमल्लुकमा-
त्रादिकं वा नास्य ग्राह्यमर्पणीयं वा, उपकरणं परस्परं न प्रति-
वेक्ष्यं, भक्तपानं परस्परं न ग्राह्यम् । संघाटकोऽस्य न मेलनीयः ।
अनेन सहैकमण्डल्यां न भोक्तव्यम्, किमप्यनेन सार्धं न
कार्यं कार्यमिति । अधुना गाथाऽङ्गरार्थः-प्रतिपक्षाऽनवस्थाप्यत-
पः शैक्षादीनपि वन्दते, न चासौ वन्द्यते । परिहारतपश्च पारि-
हारिकसाधूनां तपः शीघ्रे चतुर्थपक्षाष्टमनि, शिशिरे पक्षाष्टमद-
शमानि, वर्षास्वष्टमदशमद्वाशानि जघन्यमध्यमोत्कृष्टानि, पार-
णके च निलेपः, भक्तमित्येव रूपं सुदृश्यं चरति । संवासः स-
हवासो गच्छेनास्य एकक्षेत्रे एकपाश्वरे एकस्मिन् पाश्वे शेष-
साधुपरिभोग्यप्रदेशे कल्पते, नालपनादीनि शेषाणि, इत्येव
सङ्केपतोऽनवस्थाप्यविधिः । उक्तमनवस्थाप्याहम् । जीतम् ।

एवंविधं तपः प्रतिपद्य यदसौ विदधाति तदुपदेशयति—

सेहार्इ वंदंतो, पग्गहियमहातवो जिणो चेव ।

विहरइ वारसवासे, अणवट्टप्पो गणे चेव ॥

शैक्षादीनपि वन्दमानो जिनकाल्पिक इय प्रवर्हीतमहातपाः
पारणके निलेपं भक्तपानं प्रवर्हीतव्यमित्याद्यनेकाजिप्रश्रयुक्तं
चतुर्थपक्षादिकं विपुलं परिहारतपः कुर्वन्निति भावः । एवंवि-
धोऽनवस्थाप्यो गण एव गच्छान्तर्गत एवोत्कर्षतो द्वादश
वर्षाणि विहरति ।

इदमेव ज्ञाययति—

अणयठं वहमाणो, वंदइ सो सेहमायिणो सव्वे ।

संवासो से कप्पइ, सेसा उ पया न कप्पंति ॥

परगणेऽनवस्थाप्यं वहमानः स उपाध्यायादिः शैक्षादीनपि
सत्रान् साधून् वन्दते, तस्य च गच्छेन सार्धमेकत्रोपाश्वरे एक-
स्मिन् पाश्वे शेषसाधुजनापरिजोग्ये प्रदेशे संवासं कर्तुं क-
ल्पते । शेषाणि तु पदानि न कल्पन्ते ।

कानि पुनस्तानीत्याह—

आल्लवणपमिपुच्छण-परियुच्छाणवंदणं मत्ते ।

परिल्लणसंघाडग-भत्तदाणसंभुजणा चेव ॥ १०५ ॥

आल्लापनं स साधुभिः सह न कार्यते, सर्वेषामपि स करो-
ति, तस्य पुनः साधवो न कुर्वन्ति, (मत्ते सि) खेत्तमात्रादिप्रत्य-
र्पणं तस्य न क्रियते, सोऽपि तेषां न करोति । उपकरणं परस्परं
न प्रत्येकैकान्ते, संघाटकेन परस्परं न भवन्ति । भक्तदानम-
न्योन्यं न कुर्वन्ति । एकत्र मण्डल्यां न संभुजते । यच्चान्यत् कि-
ञ्चित्करणीयम्, तत्तेन सार्धं न कुर्वन्ति । ‘संघो न लभइ कज्ज’
इत्यादिगाथाः पाराश्रिकवद्व्यख्याः वृ० ४ व० (अनवस्थाप्य-
स्य गृहिभूतस्यागृहिभूतस्य चोपस्थापना ‘उवछावणा’ शब्दे
द्वि० भा० एए० पृष्ठे वक्ष्यते) तपोऽनवस्थाप्यश्च चतुर्दशपूर्वधरे
श्रीभक्तवाहुस्वामिनि व्युच्छिन्नः । “अणवट्टप्पो तवसा, तव
पारंच्चिय दोवि बुच्छिन्ना । चउदसपुव्वधरम्मि, धरंति सेसाउ
जा तित्थं ” ॥ १ ॥ जीतम् ।

अणवट्टप्या-अनवस्थाप्यता-स्त्री० । येन पुनः प्रतिसेवितेन
उत्थापनाया अण्ययोग्यः सन्न कश्चित्काहं न व्रतेषु स्थाप्यते

तदनवस्थाप्यताऽहंत्वानदवस्थाप्यता प्रायश्चित्तम् । यद्वा-यथो-
क्तं तपो यावन्न कृतं तावन्न व्रतेषु लिङ्गे वाऽवस्थाप्यत इत्यनव-
स्थाप्यस्तस्य भावोऽनवस्थाप्यता । नवमप्रायश्चित्ते, प्र० ९७
द्वा० । आवा० । पंचा० ।

अणवट्टप्पारिह-अनवस्थाप्यार्हि-न० । नवमप्रायश्चित्ते, स्था० । य-
सि त्रासेविते कश्चन काहं व्रतेष्वनवस्थाप्यं कृत्वा पश्चाच्चिर्णतया
तदोपोपरतो व्रतेषु स्थाप्यते तदनवस्थाप्यार्हम् । स्था० १० त्रा० ।

अणवट्टप्पावत्ति-अनवस्थाप्यार्त्ति-स्त्री० । (उपचारात्)
अनवस्थाप्यार्त्त्यप्रायश्चित्तापत्तिकारिणीषु प्रतिसेवासु, जीतम् ।
अणवट्टाण-अनवस्थान-न० । न० त० । सामायिककालावधे-
रपूरणे यथा कथञ्चिद्वाऽनादृत्य करणे, एष सामायिकस्य
पञ्चमोऽतिचारः । उपा० १ अ० धर्म० ।

अणवट्टिय-अनवस्थित-त्रि० । अनियतप्रमाणे, “अणवट्टि-
त्ताणं तत्थ खलु राइदिया पणत्ता ” च० प्र० ५ पाहु० । अस्थिरं
कल्पानुयोगाश्रयणानहंभेदे, वृ० ।

तत्रानवस्थितं तावदाह-

दुविहो लिंगविहारो, एकैको चेव होइ दुविहो उ ।

चउरो य अणुग्याया, तत्थ वि आणाणो दोसा ॥

अनवस्थितो द्विविधः । तद्यथा-लिङ्गानवस्थितो विहारान-
वस्थितश्च । एकैकः पुनरपि द्विविधो भवति । तदुभयमपि
द्विविध्यमनन्तरगाथायां वक्ष्यते । चत्वारश्च मासा अनुदाता
गुरुवः, उपलक्षणत्वात्तुमासादिकं वा अत्र यत् प्रायश्चित्तं
भवति, तत्तु यथास्थानमेव भावयिष्यते । तत्राऽपि लिङ्गानव-
स्थितविहारानवस्थितयोरप्याज्ञादयो दोषा दृष्टव्याः ।

अथेनामेव गाथां व्याख्यानयति-

गिहिलिंगं अन्नलिंगं, जो उ करेइ स झिगओ दुविहो ।

चरणे गणे अ अयिरो, विहार अणवट्टिओ एसो ॥

गृहिलिङ्गं गृहस्थानां वेपम्, अन्यलिङ्गमतीर्थिकानां नेपथ्यम् ।
यः साधुः, तुशब्दो विशेषणम् । किं विशिनष्टि?। दर्पणं यो लि-
ङ्गद्वयं करोति, स एष लिङ्गतो द्विविधोऽनवस्थितः । अस्य च
द्विविधस्यापि मूलं यथा चोलपट्टकं वध्नत एकत उभयतो वा
स्कन्धोपरि कल्पाञ्जलानामारोपणरूपं गरुडपात्तिकं प्रावृण्व-
त उत्तरासङ्गरूपमर्द्धासन्यासं कुर्वतः प्रत्येकं चत्वारो गुरु-
मासाः, द्वावपि बाहू हृदादयित्वा संयती प्रावरणमातन्वानस्य
चत्वारो लघवः, कल्पेन शिरस्थगनरूपां शीर्षद्वारिकां कुर्वतो
मासलघु, चतुष्कलं मुक्तकलं वा कल्पं स्कन्धोपरि कृत्वा गो-
पुच्छवद्घोलम्बमानं कुर्वतो मासलघु । एतेऽपि लिङ्गाऽनव-
स्थितेऽन्तर्भवन्ति । तथा चरणे चारित्रे अस्थिरो यः पुनः पुन-
श्चारित्रात्पतितस्तु, तस्य यदि सूत्रं ‘ददाति तदा चतुर्लघु,
अर्थं ददाति तदा चतुर्गुरु, गणे गच्छे अस्थिरः पुनर्गणार्जनं
संक्रामति । एष द्विविधोऽपि विहारानवस्थितः । एतद्विपरीतस्य
स्वल्लिङ्गावस्थितस्य संविग्रविहारावस्थितस्य च दातव्यं यदि
न ददाति, तदा तथैव सूत्रे चतुर्लघु, अर्थं चतुर्गुरु । गतमनव-
स्थितद्वारम् । वृ० १ उ० । स्था० । (आचेलक्यादयः षडनव-
स्थितकल्पाः ‘कप्प’ शब्दे वृ० त्रा० २२६ पृष्ठे वक्ष्यन्ते) “अ-
णवट्टियस्स करणया ” अनवस्थितस्याल्पकालीनस्यानिय-
तस्य सामायिकस्य करणमनवस्थितकरणमल्पकालकरणान-

न्तरमेव त्यजति, यथाकथञ्चिद् वा करोतीति भावः । उपा० १ अ० । पंचा० । आ० । आव० ।

अणवद्विचिन्त-अनवस्थितचित्त-त्रि० । एकत्र स्थापिता-
न्तःकरणत्वरहिते, नि० चू० १ उ० ।

अणवद्वि (त) यसंठाण-अनवस्थितसंस्थान-न० । सतत-
चारप्रवृत्त्या सम्यगवस्थाने, जी० ३ प्रति० ।

अणवणीयत्त-अनपनीतत्व-न० । कारककालवचनलिङ्गादि-
व्यत्ययरूपवचनदोषापेतारूपे पञ्चविंशे सत्यवचनातिशये,
स० ३५ सम० । रा० । औ० ।

अणवतप्पया-अनवत्राप्यता-स्त्री० । अपतापायितुं लङ्घयि-
तुमर्हः शक्यो वा अपत्राप्यो लङ्घनीयः, न तथाऽनवत्राप्यस्त-
द्भावोऽनवत्राप्यता । हीनसर्वाङ्गत्वे, उक्त० १ अ० । अल-
ज्जनीयाङ्गतायाम्, स्था० ८ ठा० ।

अणवतारण-अनवतारण-न० । न० त० । अनुपस्थापने,
ध० २ अधि० ।

अणवत्या-अनवस्था-स्त्री० । अव-स्था-अङ् । अवस्थितिः ।
न० त० । अवस्थाभावे, तर्कदोषविशेषे च । उपपाद्यस्य समर्थ-
नाय उपपादकस्यानुसरणं तर्कः, यत्र तर्क उपपाद्योपपादक-
योर्विश्रान्तिर्नास्ति तादृशतर्कस्यानवस्थादोषः । तत्र स तर्को
न ग्राह्यः । वाच० । अनवस्था तु पुनः पुनः पदद्वयावर्तनरूपा
प्रसिद्धैव, इह तु अनवस्थाचक्रयोर्नामकृत एव विशेषो लभ्यते
न पुनरर्थकृतः । कश्चिद् यद्वक्ष्यति-सामान्यविशेषवादे चक्रक-
मनवस्थानिवृत्तेरिति । अत्र हि चक्रके साध्ये अनवस्थानिवृत्ति-
लक्षणो हेतुरप्यस्तः । अतो ज्ञायतेऽनवस्थैव चक्रवत् पुनः
पुनर्भ्रमणा च चक्रकमित्युच्यते इति । अने० १ अधि० । कचिदप्य-
वस्थानाऽप्राप्तौ, विशेषः । अनाश्वासे, दर्श० । किञ्चिदकार्यं
कुर्वन्तं दृष्ट्वाऽन्येषामपि तथाकरणे, व्य० ७ उ० । यथा कि-
मयमेवंविधं करोति किमहमेतन्न करिष्यामीत्येवंरूपा । (तत्स्व-
रूपं च 'पलंब' शब्दे वक्ष्यते)

अणवदग्न-अनवताग्र-त्रि० । अवनतमासन्नमग्रमन्तो यस्य त-
त्तथा । तन्निषेधादनवनताग्रम्, तदेव वर्णनाशादनवताग्रमिति ।
आसन्नग्रे अनवगतमपरिभिन्नमग्रं परिमाणं यस्य तत्तथा । अ-
परिभिन्नान्ते, भ० १ श० १ उ० ।

अनवदग्र-त्रि० न विद्यतेऽवदग्रं पर्यन्तो यस्य सोऽयमनवदग्र
इति । अपर्यन्ते अनन्ते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । सम० । ज्ञा० । न० ।
प्रश्न० । अपर्यवसाने, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । अपरिमिते, नि०
चू० २ उ० । सूत्र० । प्रश्न० ।

अणवयवविक्वत्ता-अनवेक्ष्य-अव्य० । पश्चाद् जागमनवलोक्येत्य-
र्थे, "जेणं नो पभू मग्गओ रुवाइं अणवयवविक्वत्ताणं पासित्ता-
ए " भ० ७ श० ७ उ० ।

अणवयवगं-देशी-अवयगं इति देशीवचनोऽन्तवाचकः, तत-
स्तन्निषेधादणवयगं । अनन्ते, भ० १ श० १ उ० ।

अणवयवमाण-अनपवदत्-त्रि० । अपवदन् अन्यथैव व्यवस्थि-
तं वस्त्वन्यथावदपवदन् । न अपवदन् अनपवदत् । प्राकृ-
तत्वादर्पत्वाद् वा पकारद्वयोपः । मृपावादमकुर्वति, व्य० ३ उ० ।

अणवरय-अनवरत्-त्रि० । अव-रम्-जावे कः । अवरतं विरा-
मस्तन्नास्ति यस्य । व० । निरन्तरे, विश्रामशून्ये च । वाच० ।

निरन्तरे, कल्प० । सतते, भ० ६ श० ३३ उ० । पंचा० ।
आचा० । जं० । सकलकाले, आ० म० दि० ।

अणववाङ्मत्त-अनपवादित्व-न० । सर्वेषु जघन्योत्तममध्यमज्ञे-
देषु जन्तुषु अपवादमश्लाघां करोतीत्येवं शीलोऽपवादी, नापवा-
दी अनपवादीति । न० त० । तस्य भावस्तत्त्वम् । अपवादभाष-
णे, परापवादे हि बहुदोषः । यदाह वाचकचक्रवर्ती-"परपरिज-
वपरिवादा-दात्मोत्कर्षाच्च वध्यते कर्म । नीचैर्गोत्रं प्रतिजव-म-
नेकजवकोटिपुर्मोचम्" ॥१॥ इति । तदेवं सकलजनगोचरोऽप्य-
वर्णवादो न श्रेयान्, किं पुनर्नृपात्मत्यपुरोहितादिषु बहुजनमा-
न्येषु । नृपाद्यवर्णवादानु प्राणनाशादिदोषादिति । ध० १ अधि० ।

अणवाय-अनपाय-त्रि० । अपायरहिते निर्दोषे, " आगमवचन-
परिणति-भैरोगसदौषधं यदनपायम् " पौ० ५ विव० ।

अणविक्रिख्या-अनपेक्षता-स्त्री० । शिक्षारहितत्वे, ग० १ अधि० ।

अणवेकस्वमाण-अनपेक्षमाण-त्रि० । शरीरनिरपेक्षे, " धुणे उ-
रालं अणवेहमाणे, चिच्छा ए सोयं अणवेकस्वमाणे " सूत्र० १
श्रु० १० अ० ।

अणवे (वि) क्खा-अनपेक्षा-स्त्री० । स्वपरविशेषाकरणे,
व्य० ३ उ० ।

अणसण-अनशन-न० । अश्न्यते भुज्यते इत्यनशनम् । अशेषा-
हारप्रत्याख्यानं, उक्त० । एकस्मादुपवासादारभ्य पाणमासिक-
पर्यन्ते, उक्त० ३० अ० । पा० । आहारत्यागरूपे बाह्यतपोभेदे,
स्था० ६ ठा० । ग० ।

से किं तं अणसणे ? । अणसणे छुविहे पणत्ते । तं जहा-
इत्तरिए य, आवकाहिए य । से किं तं इत्तरिए ? । इत्तरिए
अणोवविहे पणत्ते । तं जहा-चउत्थे भत्ते, उट्ठे भत्ते, अट्ठमे
भत्ते, दसमे भत्ते, छुवाअसमे जत्ते, चउदसमे भत्ते, अट्ठमा-
सिए भत्ते, मासिए भत्ते, दोमासिए जत्ते, तिमासिए जत्ते,
जाव अट्ठमासिए जत्ते, सेत्तं इत्तरिए । से किं तं आवकाहिए ? ।
आवकाहिए छुविहे पणत्ते । तं जहा-पाओवगमेण य, ज-
त्तपच्चक्खाणेण य । ज० २५ श० ७ उ० ।

अनशनं द्विधा-इत्वरं, यावत्कथिकं च । तत्रेत्वरं चतुर्थादि प-
णमासान्तमिदं तीर्थमाश्रित्येति, यावत् कथिकं त्वाजन्मजात्रि
त्रिधा-पादपोषगमनेङ्कितमरणभक्तपरिज्ञाभेदात् । एतच्च प्रायो
व्याख्यातमिति । स्था० ६ ठा० । तत्रेत्वरं परिमितकालम् । तत्पु-
नः श्रीमहावीरतीर्थे नमस्कारसहितादिपणमासान्तं, श्रीनाभेयती-
र्थङ्कुरतीर्थे संवत्सरपर्यन्तं, मध्यमतीर्थकरतीर्थे अष्टौ मासान्,
यावत्कथिकं पुनराजन्मभावि । तत्पुनश्चेष्टाभेदोपधिविशेषत-
स्त्रिधा । यथा-पादपोषगमनम्, इङ्कितमरणम्, भक्तपरिज्ञा चेति ।
प्रव० ६ द्वा० ।

इत्तरिय-मरणकाला य, अणसणा छुविहा जवे ।

इत्तरिया सात्रकंखा, निरवकंखउ वेइज्जिया ॥ ए ॥

(इत्तरिय ति) इत्वरमेव इत्वरं स्वल्पकालं नियतकालावधि-
कमित्यर्थः, मरणावसानः काळो यस्य तन्मरणकालम् । प्रा-
ग्बन्धमपदलोपी समासः । यावज्जीवमित्यर्थः । यद्वा-मरणं का-

होऽवसरो यस्य तन्मरणकालम् । चः समुच्चये । अश्यते जुज्यत इत्यशनम्, अशेषाहाराभिधानमेतत् । उक्तं हि—“सर्वो वि य आहारो, असणं सर्वो वि वृक्षप पाणं । सर्वो वि खादं चिय, सर्वो वि य सादमं होइ” ॥१॥ ततश्चाविद्यमानं देशतः सर्वतो वाऽशनमस्मिन्नित्यनशनं, द्विविधं हि प्रकारं भवेत्, तत्र [इत्तरियत्ति] इत्वरकं सहावकाङ्क्षया घटिकाद्वयाद्युत्तरकाहं ज्ञेयनाभिलाषरूपया वर्तत इति सावकाङ्क्षम्, निष्क्रान्तमाकाङ्क्षातो निराकाङ्क्षम्, तज्जन्मनि ज्ञेयनाशंसाभावात्, तुशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात् । द्वितीयं पुनर्मरणकालम् । पाठात्तरतश्च निरवकाङ्क्षं द्वितीयम् ।

जो सो इत्तरियतवो, सो समासेण ढव्विहो ।

सेदितवो पयरतवो, घणो य तह होइ वगो य ॥ १० ॥

तत्तो य वगवगो, पंचम ढड्डओ पड्नतवो ।

माणइच्छियचित्तथो, नायवो होइ इत्तरियो ॥ ११ ॥

यथोद्देशं निर्देश इति न्यायतः इत्वरकानशनस्य ज्ञेयानाह—यच्च इत्वरकं तपः इत्वरकानशनरूपमनन्तरमुक्तं तत्समासेन संक्षेपेण पङ्क्तिं विस्तरेण तु बहुतरभेदमिति भावः । पङ्क्तित्वमेवाह—(सेदितवो इत्यादि) अत्र च श्रेणिः पङ्क्तिस्तदुपलक्षितं तपः श्रेणितपस्तच्चतुर्थोदिक्रमेण क्रियमाणमिह परमासान्तं परिगृह्यते, तथा श्रेणिरेव श्रेण्या गुणिता प्रतर उच्यते, तदुपलक्षितं तपः प्रतरतपः, इह चाव्यामोहार्थं चतुर्थेष्टाष्टमदशमाख्यपदचतुष्टयात्मिका श्रेणिविवक्ष्यते । सा च चतुर्जिगुणिता पोरुशपदात्मकः प्रतरो भवति । अयं च आयामतो विस्तरतश्च तुल्य इति । अस्य स्थापनोपाय उच्यते—

“एकाद्याद्या व्यवस्थाप्याः, पङ्क्त्योऽत्र यथाक्रमम् ।

एकादींश्च निवेद्यान्ते, क्रमात्पङ्क्तिं प्रपूरयेत्” ॥

अस्यार्थः—एकः आदिर्येषां ते एकादयः एककधिकत्रिकचतुष्कास्ते आद्या यास्तु ता एकाद्याद्याः, व्यवस्थाप्या न्यसनीयाः, पङ्क्तयः श्रेणयो, यथाक्रमं क्रमानतिक्रमेण, कोऽर्थः—प्रथमा एकाद्या एककादारभ्य संस्थाप्यते, द्वितीया द्विकाद्या द्विकादारभ्य, तृतीया त्रिकाद्या, त्रिकादारभ्य, चतुर्थी चतुष्काद्या चतुष्कादारभ्य । आह—एवं सति प्रथमपङ्क्तिरेव परिपूर्णा भवति, द्वितीयाद्यास्तु न पूर्यन्ते एव, तत्कथं पूरणीयाः ? उच्यते—एकादींश्च निवेद्य व्यवस्थाप्य, अन्त इत्यग्रे, क्रमादिति क्रममाश्रित्य, पङ्क्तिमपूर्यमाणं श्रेणीं, पूरयेत् परिपूर्णा कुर्यात् । तत्र च द्वितीयपङ्क्तिं द्विकत्रिकचतुष्कानामग्रे एककाः, तृतीयपङ्क्तिं त्रिकचतुष्कयोः पर्यन्ते एकको द्विकश्च, चतुर्थपङ्क्तिं चतुष्कावसाने एकद्वित्रिकाः स्थाप्यन्ते । स्थापना चेयम्—

प्रक्रमाद् घन इति घनतपः, चः पूरणे, तुथेति समुच्चये, भवतीति क्रिया प्रतितपोभेदं योजनीया ।

अत्र च पोरुशपदात्मकः प्रतरः पदचतुष्टयात्मिकया श्रेण्या गुणितो घनो भवति आगतं चतुः

चतुर्थो	पष्ठो	अ०	द०
१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

पष्टि ६४, स्थापना तु पूर्विकैव, नवरं, बाहुल्यतोऽपि पदचतुष्टयात्मकत्वं विशेष एतदुपलक्षितं तपो घनतप उच्यते । चः समुच्चये । तथा भवति वर्गश्रेतीहापि प्रक्रमाद्वर्ग इति वर्गतपः, तत्र च घन एव घनेन गुणितो वर्गो भवति, ततश्चतुष्टयश्चतुष्टयश्चैव गुणिता जातानि षष्ठ्यव्यधिकानि चत्वारि सदस्याणि, एतदु-

पलक्षितं तपो वर्गतपः, ततश्च वर्गतपसाऽनन्तरं वर्ग २ इति वर्ग २ तपः, तुः समुच्चये । पञ्चमं पञ्चसंख्यापूरणम्, अत्र वर्ग एव यदा वर्गेण गुण्यते तदा वर्गे वर्गो भवति, तथाच चत्वारि सदस्याणि षष्ठ्यव्यधिकानि तावतैव गुणितानि जातैककोटिः, सप्तपष्टिलकाः, सप्तसप्ततिसदस्याणि, द्वे शते षोडशाधिके । अङ्कतोऽपि १६७७७२१६ । एतदुपलक्षितं तपो वर्गवर्गतप इत्युच्यते । एवं पदचतुष्टयमाश्रित्य श्रेण्यादितपो दर्शितम् । एतदनुसारेण पञ्चादिपदेष्वप्येतत्परिज्ञावना कार्या । पष्ठकं प्रकीर्णकतपो यत् श्रेण्यादनियतरचनादिरहितं स्वशक्त्यपेक्षं यथा कथंचिद्विधीयते, तच्च नमस्कारसहितादि पूर्वपुरुषचरितं यवमध्यवज्रप्रतिमादि च । इत्थं भेदानभिधाय उपसंहारमाह—(मणइच्छियचित्तथोत्ति) मनसश्चित्तस्य ईप्सितं इष्टश्चिन्नोऽनेकप्रकारोऽर्थः स्वर्गापवर्गादिस्तेजोलेख्यादिर्वा यस्मात् तन्मन ईप्सितचित्तार्थं ज्ञातव्यं भवतीत्वरकं प्रक्रमादनशनस्य तपः । उक्तं ३ अ० । (कियत्काङ्क्षिकेनाऽनशनेन कियती निर्जरा भवतीति ‘अश्व-इलाय’ शब्दे वक्ष्यते)

संप्रति मरणकालमनशनं वक्तुमाह—

जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया ।

सवियारमवीयारा, कायचेहं पई भवे ॥ १२ ॥

(जा सा अणसणाइत्ति) प्राकृतत्वाद्वा स्त्रीत्वम्, यदनशनं मरणे मरणावसरे द्विविधं, तद्विशेषेणाख्यातं कथितं व्याख्यातं, तीर्थकृदादिभिरिति गम्यते । द्वैविध्यमेवाह—सह विचारेण चेष्टात्मकेन वर्तते यत्तत्सविचारं, तद्विपरीतमविचारम् । विचारश्च कायवाङ्मनस्त्रेभेदात् त्रिविधमिति । तद्विशेषपरिज्ञानार्थमाह—कायचेष्टम्, उद्धर्तनपरिवर्तनादिकं कायप्रविचारं प्रतीतिमाश्रित्य, ज्ञेयं स्यात् । तत्र सविचारं भक्तप्रत्याख्यानमिङ्गिनीमरणं च । तथाहि—भक्तप्रत्याख्याने गच्छमध्यवर्ती गुरुदत्तालोचनो मरणाप्योद्यतो विधिना संलेखनां विधाय तत्तत्त्रिविधं चतुर्विधं चाऽऽहारं प्रत्याचष्टे, स च समास्तुतमृदुसंतारकं समुत्सृज्य शरीराद्युपकरणममत्वं स्वयमेवोद्वाहितनमस्कारः समीपवर्ति—साधुदत्तनमस्कारो वा सत्यां शक्तौ स्वयमुद्धर्तते, परिवर्तते च, शक्तिविकलतायां चापरैरपि किञ्चित्कारयति । यत् उक्तम् “विचरुणमम्बुछाणं, उचियं संलेहणं च काऊणं । पञ्चवक्खति आहारं, तिविहं च चउव्विहं वा वि । उव्वत्तइ परयत्तइ, सयमखेणावि कारण किञ्चि । जत्थ समत्थो नवरं, समाहिजणयं अपम्विद्धो” ॥ इङ्गिनीमरणमप्युक्तन्यायतः प्रतिपद्य शुक्रस्थण्डिलस्थानामेकाक्येव कृतचतुर्विधाहारप्रत्याख्यानस्तत्स्थण्डिलस्थानच्छायात उष्णमुष्णावस्थायां स्वयं संक्रामति । तथा चाह—“इगियमरणविहाणं, आपव्वज्जं तु चियरुणं दावं । संलेहणं च काउं, जहासमाही महाकाहं ॥१॥ पञ्चवक्खति आहारं, चउव्विहं नियमओ गुरुसगासे । इगियदेसम्मि तहा, चिहुं पि इगिय कुणइ ॥ उव्वत्तइ परियत्तइ, काइयमाईसु होइ व विलासो । किच्चं पि अप्पणच्चिय, हुंजइ नियमेण धीवलिओ” ॥ अविचारं तु पादपोषगमनं तत्र हि सव्याघाताव्याघातभेदतो द्विभेदेऽपि पादपवत्रिष्टोतयैव स्थीयते । तथा च तद्विधिः—“अभिवंदिकुण देवे, जहाविहिं सेसपय गुरुमाइ । पञ्चवक्खांइत्तु तओ, तयंतिप सर्व्वसमाहारं ॥ सन्भावस्मि त्रियप्पा, सम्मं सिद्धं तमणियमग्गेणं । गिरिकंदरं तु गंतू, पायवंगमणं अहं करोति ॥ सव्वत्थापम्विद्धो, देवो य पमायज्जणमिह नाडं ।

जावज्जीवं चिद्वह, निश्चिदो पायवसमाणो ॥ ”

पुनरपि द्वैविध्यं प्रकारान्तरेणाह—

अहवा सपरिक्रम्मा, अपरिक्रम्मा य अहिया ।

नीहारिमनीहारी, आहारच्छेओ य दोसु वि ॥ १३ ॥

अथवेति प्रकारान्तरसूचने, सह परिकर्मणा स्थाननिपदनत्वग्वर्तनादिना विश्रामणादिना च वर्तते यत्तत्सपरिकर्म, अपरिकर्म च तद्विपरीतमाख्यातं कथितम् । तत्र सपरिकर्म ज्ञक्तप्रत्याख्यानमिङ्गिनीमरणं चैकत्र स्वयमनेन वा कृतस्य अन्यत्र तु स्वयं विहितस्य, उद्धर्तनादिचेष्टात्मकपरिकर्मणोऽनुज्ञानात् । तथ चाह—“आय परपरिक्रम्मं, भक्तपरिष्ठाइ दो अणुष्ठाया । परवज्जिया य ई-गिणि, चरव्विहाहारविरती य ॥ गणनिसीय तुयद्वह, तिरियाहिं जहा समाहीय । सयमेव य सो कुणइ, उवसग्ग परीस-हहिया से” । अपरिकर्म च पादपोपगमनम्, निष्प्रतिकर्मताया एव तत्राभिधानात् । तथा चागमः—“समविसमस्मि य पडिओ, अ-च्छइ जह पायवोय निक्कपो । निच्चन्ननिष्पडिकम्मो, निक्खिवइ जं जहिं अंगं ॥ तं चिय होइ तहच्चिय, णवरं चण्णं परप्पओ-गाओ । वायाइहि तरुस्स व, पमिणीयाइहिं तहिं तरुस्स” ॥ यद्वा-परिकर्म संलेखना सा यत्रास्ति तत्सपरिकर्म, तद्विपरीतमपरि-कर्म । तत्र च व्याघाते त्रयमप्येतत्सूत्रार्थोभयनिष्ठितो निष्पा-दिताशिष्यः संलेखनापूर्वकमेव विधत्ते, अन्यथा आर्तध्यानसंज्ञ-वात् । उक्तं चा—“देहम्मि असंविदिप, सहसा धातुहिं खिज्जमाणेहिं । जायति अट्टज्जाणं, सरंरिणो चरिमकालम्मि” । इति सपरिकर्मो-च्यते । यत्पुनर्व्याघाते गिरिभित्तिपतनाभिघातादिरूपे संलेख-नामविधायैव ज्ञक्तप्रत्याख्यानानादि क्रियते, तदपरिकर्म । उक्तं चा-गमे—“अभिघाउ वा विज्जुगिरि-भित्तिकोणगा य वा होज्जा । संवरुहत्थपाया, दायावापण होज्जाहि ॥ एपहिं कारणेहिं, वा घातिममरण होइ नायव्वं । परिकम्ममकाळणं, पच्चक्खाती तओ भत्तं” । तथा निर्हरणं निर्हारो गिरिकन्दरादिगमनेन ग्रामादे-र्वहनिर्गमनं, तद्विद्यते यत्र तन्निर्हारि, तदन्यदनिर्हारि, यदुत्था-तुकामेन वृजिकादौ विधीयते, एतच्च प्रकारद्वयमपि पादपो-पगमनविषयम्, तत्प्रस्ताव एवागमेऽस्याभिधानात् । तेषां चागमः “पच्चक्खाती काउं, णेयव्वं जाव होइ वोच्छित्ती । पंचतले क-णय सो, पाओवगमं परिण्णो य ॥ तं डुविहं नायव्वं, नीहारि चेव तह अणीहारिं । वहिया गामादीणं, गिरिकंदरमाइ नीहारि ॥ वइयाइसु जं अंतो, उट्टेओ मणाणगइ अणहारिं । तम्हा पायव-गमणं, जं उवमा पायवेणेत्थं” । आहारोऽज्ञादिस्तच्छेदस्तन्नि-राकरणमाहारच्छेदः । शुक्रयोरपि सपरिकर्मापरिकर्मणोर्नि-र्हार्थनिर्हारिणोश्च सम इति शेषः । उभयत्र तद्व्यवच्छेदस्य तुल्यत्वादिति सूत्रपञ्चकार्थः । उक्तमनशनम् । उक्तं ३० अ० । स्था० । औ० । (अनशनविधानं, येन येनाऽनशनं कृतं तत्तच्छ-व्देऽपि दृश्यम्, यथा ‘खंदग’ शब्दे ‘मेघकुमार’ शब्दे ‘मरण’ शब्दे च विशिष्टो विधिः) अपरिमो, सूत्रं १ श्रु० ७ अ० । तथा दाघ-ज्वरी कश्चिदनशनं कृत्वा रज्ज्यामपि जलपानं विधत्ते । यद्वा-ह्रियाऽनशनमेव न करोतीत्यत्र राजौ सर्वथा जलत्यागाशक्तेन ते-नाहारत्यागरूपमनशनं तु विधेयमेवेति ज्ञातमस्ति । तथाऽनश-निना आधेनाऽचित्तमेव जहं पेयं, तदप्युष्णमेवेति । ही० १ प्रका० । “जंदे जंदे सुभदे य, वे पुणेऽणसणं करे” (इति तन्मुहूर्तम्) गणि० प्र० ।

अणसग-अनशित-त्रि० । न अशितोऽनशितः । अशुके, “ज-

यवं पदीणमणसो, संवच्छरमणसिओ विहरमाणो ” आ० म० प्र० ।

अणसूत्रा-देशी-आसन्नप्रसवे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणह-अनघ-त्रि० । नाऽधमस्याऽस्तीति अनघः । निरवद्यानुष्ठा-यिनि, सूत्रं १ श्रु० २ अ० २ उ० । अपापे, आच० ४ अ० । नि-दोपे, औ० । प्रश्न० । अकृते, सू० प्र० २० पाहु० । चं० प्र० ।

अणहप्पणयं-देशी-अनघे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणहवीय-अनघवीज-पुं० । अविनष्टवीजे, वृ० ४ उ० । नि० चू० ।

अणहसमग-अनघसमग-त्रि० । अनघमकृतं न पुनरपान्त-राले केनापि चोरादिना विवृप्तं समग्रं कृत्वा प्राप्नोपकरणादि यस्य स तथा । तत्स्करादिनाऽलुण्ठितसर्वस्वे, चं० प्र० २० पाहु० । निर्दूषणे, अहीनपरिवारे, “वद्धठे कयकज्जे अणहसमगे णि-यगं घरं हव्वमागए” अनघत्वं निर्दूषणतया समग्रत्वमहीनधन-परिवारतया । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

अणहारओ-देशी-खल्ले, दे० ना० १ वर्ग ।

अणहिकखट्ट-अनधिखादनार्थ-पुं० । अविपमसमुद्देशनार्थं, “तासि पच्चयहेउं अणहिकखट्टा अ कलहो अ” वृ० १ उ० ।

अणहिगय-अनधिगत-त्रि० । अगीतार्थं, व्य० १ उ० । अन-न्तरभाविनि, विशेषः । अविज्ञाते, व्य० १ उ० ।

अणहिगयपुष्पपाव-अनधिगतपुण्यपाप-त्रि० । सूत्रार्थकथने-ऽप्यविज्ञातपुण्यपापे, “अणहिगयपुष्पपावं उवघावंतस्स चउ गुरू हौति” व्य० ४ उ० ।

अणहिजमाण-अनधीयमान-त्रि० । अपगतिः, “ते विज्ज-माणा अणहिजमाणा, आहंसु विज्जा परिमोक्खमेव” सूत्रं १ श्रु० १२ अ० ।

अणहिणिविद्ध-अनजिनिविष्ट-त्रि० । अतस्वाभिनिवेशवर्जिते, पंचा० ३ विच० ।

अणहियास-अनधिसह-पुं० । असहिष्णौ, वृ० १ उ० ।

अणहिलपा (वा) रुगणयर-अनहिलपाटकनगर-न० । गुर्जरधरिज्यां सरस्वतीनदीतीरे ‘पाटण’ इतीदानीं ख्याते नगरे, यत्रारिष्टनेमिः पूज्यते । “पणमि अ अरिष्टनेमी, अणहिल-पुरपट्टणावयसस्स । वंजाण गच्छणिस्सिय, अरिष्टनेमिस्स कि-त्तिमो कल्पं” ती० २६ कल्प । [‘अरिष्टनेमि’ शब्दे दर्शयि-ष्यतेऽयं कल्पः] यत्र अजयदेवसूरिभिर्ग्रन्था विरचिताः । यथोक्तं पञ्चाशके—“चतुरधिकविंशतियुते, वर्षसहस्रे शते च सिक्खेयम् । धवलकपुरे वसत्यां, धनपत्योर्विकुलचन्द्रिकयोः । अणहिलपा-टकनगरे, सङ्गवैर्वर्तमानबुधमुख्येः । श्रीद्रोणाचार्याद्यैर्वि-द्वद्भिः शोधिता चेति” पञ्चा० १६ विव० । भगवतीवृत्त्यन्ते—“अष्टाविंशतियुके, वर्षसहस्रे शतेन चान्यधिके । अणहिलपा-टकनगरे, कृतयमच्युतधनिवसतौ” म० ४२ श० १ उ० ।

अणही-अनधी-स्त्री० । पालित्तानकनगरे कपर्दिनामधेयस्य ग्राममहत्तरस्य भार्यायाम्, ती० ३३ कल्प ।

अणहीय-अनधीत-त्रि० । अनज्यस्ते, ग० १ अधि० ।

अणहीयपरमत्थ-अनधीतपरमार्थ-पुं० । अनधीता अनभ्यस्ता

परमार्था आगमरहस्यानि यैस्तेऽनधीतपरमार्थाः । अगी-
तार्थे, " जे अणहीयपरमत्थे गोयमा ! संजए जवे "
ग० १ अधि० ।

अणाइ-अनादि-त्रि० । न विद्यते आदिः प्राथम्यमस्येत्यनादिः ।
उक्त० १ अ० । अप्राथम्ये, हा० ३० अष्ट० । पं० सं० । आदि-
विक्रमे, उक्त० १ अ० । छव्या० आ० म० । नास्याऽऽदिरस्त्यना-
दिः । संसारे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आदिरहिते, स्था० ३
ग्रा० १ उ० ।

अणाइज्जाणम[ए]अनादेयनामन्-न० । नामकर्मभेदे; कर्म० १
कर्म० प्रव० आ० । यद्दयवशादुपपन्नमपि भुवाणो नोपादेयव-
चनो जवति, नाप्युपक्रियमाणोऽपि जनस्तस्यान्युत्थानादि समा-
चरति । पं० सं० ३ द्वा० ।

अणाइ (ए) जवयणपच्चायाय-अनादेयवचनप्रत्याजात-
त्रि० । अनादेये वचनप्रत्याजाते येषां ते तथा । अनुपादेयवचन-
जन्मसु, ज० ७ श० ६ उ० ।

अणाइणिहण-अनादिनिधन-त्रि० । आदिः प्रथमं निधनं प-
र्यन्तः, ततश्च ते आदिनिधने, न विद्येते आदिनिधने यस्य स
अनादिनिधनः । दर्श० । सम्म० । अनाद्यपर्यवसिते, अनुत्पन्न-
शाब्धे च । आव० ४ अ० ।

अणाइस्स-अनाचीर्ण-त्रि० । अनासेविते, महापुरुषैरनाचीर्णम्
[नाऽऽचरणीयम्] वृ० १ उ० । तदेवाशङ्क्य परः प्राह-यदि
यद्यत्प्राचीनगुरुभिराचीर्णं तत्प्राप्त्यैरप्याचरितव्यं, तर्हि ती-
र्थकरैः प्राकारत्रयकृत्रयप्रभृतिकाप्राभृतिका तेषामेवाधीय सु-
दैर्विरचिता यथा समुपजीविता, तद् वयमपि असन्निमित्तकृतं
किं नोपजीवामः ? । सूरिराह-

कामं खलु अणुगुरुणो, धम्मा तद् वि हु न सव्वसाहम्मा ।

गुरुणो जं तु अइसए, पाहुनियाई समुपजीवे ॥

काममनुमतं खल्वस्माकं यदनुगुरवो धर्माः, तथापि न सर्वथा-
साधर्म्याच्चिन्त्यन्ते किन्तु देशसाधर्म्यादेव । तथाहि-गुरव-
स्तोर्थकराः, यत्तु यत्पुनरतिशयान् प्राभृतिकादीन् कोऽर्थः प्रा-
भृतिका सुरेन्द्रादिकृता समवसरणरचना, आदिशब्दादवस्थि-
तनखरोमाधोमुखकण्टकादिसुरकृतातिशयपरिग्रहः, तान्, समु-
पजीवति, स तीर्थकरो जीतकल्प इति कृत्वा न तत्रानुधर्म-
ता चिन्तनीया, यत्र पुनस्तीर्थकृतामितरेषां च साधूनां सामा-
न्यधर्मत्वं तत्रैवानुधर्मता चिन्त्यते, सा चेयमनाचीर्ण्येति दृश्यते ।

सगरुद्धसमभोमे, अवि अ विसेसण विरहियतरं से ।

तद् वि खलु अणाइन्नं, एसण्णधम्मो पवयणस्स ॥

यदा स भगवान् श्रीमन्महावीरस्वामी राजगृहनगरादुदा-
यननरेन्द्रप्रवाजानार्थं सिन्धुसौवीरदेशावतंसं वीतभयं नगरं प्र-
स्थितस्तदा किलापान्तराले बहवः साधवः क्षुधाचांस्तुषार्दिताः
संज्ञावाधिताश्च बन्धुवुः, यत्र च भगवानावासितस्तत्र तिलभृता-
नि शकटानि, पानीयपूर्णश्च हृदः, समजौमं च गर्तोचिह्नादिर्वाज-
तं स्थण्डिलमजवत् । अपि च-विशेषेण तत्तिलोदकस्थण्डिलजा-
तं विरहिततरम्, अतिशयेनाऽऽगन्तुकैश्च जीवैर्वर्जितमित्यर्थः ।
तथापि खलु भगवताऽनाचीर्ण्यं, नानुज्ञातं च, एषोऽनुधर्मः प्रवच-
स्य तीर्थस्य, सर्वैरापि वचनमध्यमध्यासांनैः शस्त्रोपहतपरिहार-
सङ्गणं एष च धर्मोऽनुगतव्य इति भावः ।

अथैतदेव विवृणोति-

वक्तव्योणि थंमिल-अतसा दिन्ना ठिई अवि रुहाई ।

तद् वि न गेण्हंझु जिणो, माहु पसंगो असत्यहए ॥

यत्र भगवानावासितस्तत्र बहूनि तिलशकटान्यावासितान्या-
सन्, तेषु च तिलान् व्युत्क्रान्तयोनिका अशस्त्रोपहतां अप्रयायुःसंक्र-
येणाचिन्तीभूताः। ते च यद्यस्थण्डिले स्थिता भवेयुस्ततो न कल्पे-
रन्नित्यत आह-स्थण्डिले स्थिताः । एवंविधा अपि त्रसैः संस-
का भविष्यन्तीत्याह-अत्रसास्तद्भवागन्तुकत्रसविरहिताः, ति-
लशकटस्वामिभिश्च गृहस्थैर्दत्ताः । एतेन चाऽदत्तादानदोषोऽपि
तेषु नास्तीत्युक्तं जवति । अपि च-ते साधवः क्षुधापीडिता आयुषः
स्थितिक्षयमकार्षुः तथापि जिने वर्द्धमानस्वामी नाग्रहीत्, मा
भूदशस्त्रहते प्रसङ्गः । तीर्थकरेणापि गृहीतमिति मदीयमालम्बनं
कृत्वा मत्सन्तानवर्तनः शिष्या अशस्त्रोपहतमग्रहीदुरिति
भावः । युक्तियुक्तं चैतत् प्रमाणस्थपुराणाम् । यत् उक्तम्-
“प्रमाणानि प्रमाणस्थैः, रक्षणीयानि यत्नतः । विषीदन्ति प्रमा-
णानि प्रमाणस्थैर्विस्संयुतैः ” ॥ १ ॥

एमेव य निज्जीवे, दहम्मि तसवज्जिए दए दिन्ने ।

समजोमे अ अवि त्रिती, जिमिताऽऽसन्ना न याणुन्ना ॥

एवमेव च हृदे निर्जीवे यथाऽऽयुष्कक्षयादचिन्तीभूते अचित्त-
पृथिव्यां च स्थिते प्रसवर्जिते च उदके पानीये हृदस्वामिना च
दत्ते तृषार्दितानां स्थितिक्षयकारणेऽपि भगवान्नानुजानीते स्म, मा
चूत्प्रसंग इति, तथा स्वामी तृतीयपौरुष्यां जिमितमात्रैः सा-
धुभिः सार्द्धमेकामटवीं प्रपन्नः सन्नतिसंज्ञाया आवाधा, यद्वा-
[आसन्नं च] जावासन्नता साधूनां समजनि । तत्र सममौमं गर्त-
गोष्पदविलादिवर्जितं यथा स्थितिक्षयं व्युत्क्रान्तयोनिकपृथिवीकं
त्रसप्रमाणविरहितं स्थण्डिलं वर्तते, अपरं च शस्त्रोपहतं शरि-
रं नास्ति न प्राप्यते, अपि च ते साधवः संज्ञावाधिताः स्थिति-
क्षयं कुर्वन्ति, तथापि भगवान्नानुज्ञां करोति, यथाऽत्र व्युत्सृज-
तेति, मा भूदशस्त्रहते प्रसङ्गः, इत्येषोऽनुधर्मः प्रवचनस्येति स-
र्वत्र योज्यम् । वृ० १ उ० । नि० चू० । [फलविषयाऽऽचीर्णताऽऽ-
नाचीर्णता च 'पलम्ब' शब्दे वक्ष्यते]

अणाइवन्ध-अनादिवन्ध-पुं० । यस्त्वनादिकाह्यात् सन्तानजा-
वेन प्रवृत्तो न कदाचिद् व्यवच्छिन्नः सोऽनादिवन्धः । कर्मव-
न्धजेदे, कर्म० ५ कर्म० ।

अणाइभव-अनादिभव-पुं० । निष्प्राथम्यसंसारे, पंचा० ३ विव० ।

अणाइभवद्वलिंग-अनादिजवद्वलिलिङ्ग-न० । अनादिजवे नि-
ष्प्राथम्यसंसारे यानि द्रव्यलिङ्गानि भावविकलत्वेनाप्रधानप्रव-
जितादिनेपथ्यचरणद्वक्त्राणि तानि तथा । संसारे परतीर्थक-
प्रवर्जितेषु, " एतो च विभागश्चो अणाइभवद्वलिंगो चेव "
पंचा० ३ विव० ।

अणाइय-अज्ञातिक-त्रि० । अविद्यमानस्यजने, भ० १ श० १ उ० ।

अणातीत-त्रि० । अणमणकं पापमतिशयेनेतं गतमणातीतम् ।
पापं प्राप्ते, भ० १ श० १ उ० ।

अनादिक-त्रि० । अविद्यमानादिके, ज० १ श० १ उ० । स्था० ।
नास्यादिः प्रथमोत्पत्तिविद्यते इत्यनादिकः । चतुर्दशरज्जात्मके
लोके, धर्माऽधर्मादिके वा छव्ये, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

अणातीत-त्रि० । अणमतीतम्, अणजन्यदुःस्थतानिमित्ततया
संसारे, भ० १ श० १ उ० ।

गाथा सुगमा, नवरं, स्तनितं मेघगर्जितं (वाङ्मामोत्ति) तथा-
विधो दृष्टव्यभिचारि प्रदक्षिणं दिक्षु भ्रमन् प्रशस्तो वातः (वारु-
णं ति) आर्क्षमूलादिनक्षत्रप्रभवं, माहेन्द्रोहिण्येष्टादिनक्षत्र-
संभवम्, अन्यतरमुत्पातमुत्कापातदिग्दाहादिकं, प्रशस्तं वृष्ट्य-
व्यभिचारिणं हृष्टानुमीयते, यथा-सृष्टाष्टरव भविष्यति, तद-
व्यभिचारिणामव्रतिर्भूत्वादीनां समुदितानामन्यतरस्य वा दर्श-

नाद्यथाऽन्यच्चरति । विशिष्टा ह्यत्र निर्मलत्वाद्यो ह्येन व्यजि-
चरन्ति, अतः प्रतिपद्यैव तत्र निपुणेन भाव्यमिति । अनु० ।

अणागम-अनागम-पुं० अनागमने, आच्वा० १ शु० २ अ० ३ उ० । अपौ-
रुपेयादौ आगमे, आगमलक्षणविहीनत्वात्तस्य । स्था० १० उ० ।
अणागमणधम्म-अनागमनधर्मन्-त्रि० । अनागमनं धर्मो येषां
ते यथाऽऽरोपितप्रतिज्ञाभारवाहित्वात् । न पुनर्गृहप्रत्यागमने-
प्सुषु, आच्वा० १ शु० ६ अ० २ उ० ।

अणागयपच्चक्खाण-अनागतप्रत्याख्यान-न० । प्रत्याख्यान-
भेदे भविष्यति प्रत्याख्याने, आच्वा० । अनागतकरणादनागतपर्यु-
पणादावाचार्यादिवैयावृत्त्यकरणान्तरायसद्भावाद्धारत एव त-
त्तत्तत्करणे, स्था० ।

उक्तं च—

होही पज्जोसवणा, मययतया अंतरास्यं होज्जा ।

गुरुवेयावच्चेणं, तवस्सिगेलखया एव ॥ ५ ॥

सो दाइ तवोक्कम्मं, पडिबज्जइ तं अणागए काले ।

एवं पच्चक्खाणं, अणागयं होइ नायच्चं ॥ ६ ॥

भविष्यति पर्युपणा मम च तदाऽन्तरायं भवेत् । केन हेतुनेत्यत
आह-गुरुवैयावृत्त्येन तपस्विगहनतया वेत्युपलक्षणमिति गाथा-
समासार्थः ॥ (सो दाइ च्ति) स इदानीं तपःकर्मप्रतिपद्यते तदनागते
काले एतत्प्रत्याख्यानमेवंभूतमनागतकरणादनागतं ज्ञातव्यं नव-
तीति गाथासमासार्थः ॥ ६ ॥ “इमो पुण एत्थ जावत्थो-अणा-
गयं पच्चक्खाणं, जहा अणागयं तवं करेज्जा पज्जोसवणा
गहणेण एत्थ विगिट्ठं कीरइ, सव्वजह्मो अहमं, जहा पज्जोसव-
णाए तहा चाउम्मासिए ठुं पक्खिए अम्मत्तं अणेषु य
एदाणाणुजाणादिसु तहि मम अंतरास्यं होज्जा, गुरुआयरिया
तेस्स कायव्वं, ते किं ण करेति असह् होज्जा अहवा अन्ना काइ
आणत्तिया होज्जा कायक्खिया गामंतरादि सेहस्स वा आणे-
यव्वं सररीरेवैयावन्निया वा ताहे सो उववासं करेइ, गुरुवेया-
वच्चं न सक्केइ जो अन्नो दोइइवि समत्थो सो करेउ, जो वा
अन्नो समत्थो उववासस्स सो करेउ नत्थि न वा लभेज्जा श-
यणि० जाव विधि ताहे सो चेव पुव्वं उववासं काठणं पच्छा त-
ह्विसं भुंजेज्जा तवस्सी नाम खामओ तस्स कायव्वं होज्जा
तो किं तदा न करेइ सो तीरं पत्तो पज्जोसवणा ऊसारिया
(असह् च्ति) वा सयं पाराविओ ताहे य सयं हिंदिउमसमत्थो
जाणि अब्भासे ताणि वच्चओ नत्थि व्वभइ सेसं जहा गुरुम्मि
विभासा गेवन्नं जाणइ जहा तहिं दिवसे असह् होइ विज्जेण
वा भणियं अमुगं दिवसं (कारहत्ति) अहवा सयं चेव जाणाति
संगंरोगादिहिं तेहिं दिवसेहिं असह् होइ (सामित्ति) सेसे वि-
भासा जहा गुरुम्मि कारणकुलगणसंघआयरियगच्छे वा तहेव
विभासा पच्छा सो अणागते काले काळेण पच्छा भुंजेज्जा
पज्जोसवणादिसु तस्स जा किर निज्जरा पज्जोसवणादिहिं त-
हेव सा अणागते काले भवति ॥ गतमनागतद्वारम् । आच्वा०
६ अ० । आतु० । ध० । ल० प्र० ।

अणागलिय-अनर्गलित-त्रि० । अनिवारिते, म० १५ श० १ उ० ।

अनाकलित-त्रि० । अप्रमेये, म० १५ श० १ उ० । उपा० ।

अणागलियचंरुतिव्वरोस-अनर्गलितचएरुतीव्वरोप-त्रि० ।

अनिवारितचएरुतीव्वकोधे, म० १५ श० १ उ० ।

अनाकलितचएरुतीव्वरोप-त्रि० । अनाकलिताप्रमेयचएरुती-

व्वकोधे, “अनागलियचंरुतिव्वरोसं समुहत्तरियं च वलं धम्मं

तं दिठ्ठिविसं सप्पं संघट्टति” । म० १५ श० १ उ० । उपा० । ज्ञा० ।

अणागाढ-अनागाढ-त्रि० । अनभिगृहीतदर्शनविशेषे, वृ० १
उ० । आगाढभिन्ने कारणे, व्य० ३ उ० । [‘अगाढ’ शब्दे द्विती-
यजागे ८६ पृष्ठे व्याख्यास्यते] अथ किमिदमागाढं किं वा अ-
नागाढम् ? । उच्यते-“अहिदृष्टविसविसृष्टय-सज्जक्खयसूलमा-
गाढं” । अहिना सर्पेण दृष्टः कश्चित्, विपं वा केनचिद् भक्ता-
दिमिश्रं दत्तं, विसृचिका वा कस्यापि जाता, सद्यः कृयकारि
वा कस्यापि शूलमुत्पन्नम्, एवमादिकमाशुघाति सर्वमप्यागा-
ढम् । पतद्विपरीतं तु चिरघाति कुज्जादिरोगात्मकमनागाढम् ।
वृ० १ उ० । नि० चू० । अनागाढे योगे भवे उत्तराध्ययनादौ
श्रुते, नि० चू० ४ उ० ।

अणागार-अनाकार-न० । अविद्यमाना आकारा महत्तराका-
रादयो विच्छिन्नप्रयोजनत्वात् प्रतिपत्तुर्यस्सितदनाकारम् ।
स्था० १० उ० । अविद्यमानमहत्तराद्याकारे, प्रव० २३ द्वा० ।
अविद्यमानाकारे प्रत्याख्यानभेदे, यद्विशिष्टप्रयोजनसम्भवा-
जावे कान्तारदुर्भिक्षादौ महत्तराद्याकारमनुधारयदुर्निविधी-
यते तदनाकारमिति केवलमनाकारेऽपि अनाभोगसहसाकारा-
नुधारयितव्यावेव काष्ठादुत्थादेर्मुखे प्रक्षेपणतो जङ्घो मा चृदि-
ति । अतोऽनाभोगसहसाकारापेक्षया सर्वदा साकारमेव । म०
७ श० २ उ० । द्वा० प्र० । अनाकारं नाम तत् किन्तु केवलमि-
हानाकारेऽपि अनाभोगः सहसाकारश्च द्वावाकारौ भणितव्यौ,
येन कदाचिदनाभोगतोऽज्ञानतः सहसा वा रभसेन तृणादि
मुखे क्षिपेन्निरपेक्षं कुतोऽपि इति कृताकारद्विकमपि शैप्ये महत्त-
राकारादिभिराकारैः रहितमनाकारमभिधीयते । इदं चानाकारं
कदा विधीयते ? । अत्राह-“दुग्भिक्खवित्तिकंता-रगाढरोगाण्ण
कुज्जा” दुर्भिक्षे वृष्ट्यभावे हि एरुमानैरपि भिक्षा न लभ्यते,
तत इदं प्रत्याख्यानं कृत्वा त्रियते । वृत्तिकान्तारे वा, वर्तते
शरीरं यथा सा वृत्तिर्भिक्षादिका तद्विषये कान्तारमिव कान्तारं
तत्र यथाऽऽव्यां भिक्षा न लभ्यते तथा सिण्णवद्व्यादिपुस्वजा-
वाऽऽदातुद्विजाकारेणु शासनद्विष्टैर्वाऽधिष्ठितेषु भिक्षादि नाऽऽ-
साद्यते, तदेदं प्रत्याख्यानम् । तथा वैद्याद्यप्रतिविधेये गाढतर-
रोगे सति गृह्यते । आदिशब्दात् कान्तारे केशरिकिशोरादिज-
न्यमानायामापदि कुर्यादिति । प्रव० ४ द्वा० । अविद्यमान आ-
कारो भेदो प्राहस्यास्येत्यनाकारम् । सम्म० । अतिक्रान्तविशेषे
सामान्यालम्बिनि दर्शने, “साकारे सेणाणे अणागारे दंसणे”
सम्म० । “मइसुयवहिमणकेवल-विहंगमइसुयणाणसागारा”
सह आकारेण जातिवस्तुप्रतिनियतग्रहणपरिणामरूपेण “आ-
गारो उ विसेसा” इति वचनाद् विशेषेण वर्तन्त इति साका-
राणि । अयमर्थः-चक्षुमयाणानि चत्वारि दर्शनानि अनाका-
राणि, अमूनि च पञ्च ज्ञानानि साकाराणि । तथाहि-सामान्यवि-
शेषात्मकं हि सकलं ज्ञेयं वस्तु । कथमिति चेदुच्यते-दूरादेव
हि शास्वतमात्रवकुलाशोकचम्पकदम्बजम्बूनिम्बादिविशिष्टव्य-
क्तिरूपतयाऽवधारितं तरुनिकरमवलोकयतः सामान्येन वृक्ष-
मात्रप्रतीतिजनकं यदपरिस्फुटं किमपि रूपं चकास्ति, तत्सामा-
न्यरूपमनाकारं दर्शनमुच्यते, ‘निर्विशेषं विशेषाणामग्रहो दर्शन-
मुच्यते’ इति वचनप्रामाण्यात् । यत्पुनस्तस्यैव निकटीभूतस्य
तावत्तमात्रशालादिव्यक्तिरूपतयाऽवधारितं, तमेव महीरुहमुत्प-
श्यतो विशिष्टव्यक्तिप्रतीतिजनकं परिस्फुटं रूपमाभाति, तद्विशे-
परूपं साकारं ज्ञानमप्रमेयम् । प्रमा च पारमेश्वरप्रवचन-
प्रवीणचेतसः प्रतिपादयन्ति, सह विशिष्टाकारेण वर्तत इति ।

कृत्वा । तदेवं प्रतिप्राणिप्रसिद्धप्रमाणावाधितप्रतीतिवशात्सर्वमपि वस्तुजातं सामान्यविशेषरूपद्वयात्मकं भावनीयमिति । कर्म० ४ कर्म० । “चक्षुः अचक्षुः ओही केवलदंसणअणागारा” दर्शनशब्दस्य प्रत्येकं संयन्धाच्चक्षुर्दर्शना १ अचक्षुर्दर्शना २ उवाधिदर्शनं ३ केवलदर्शनरूपाणि चत्वारि दर्शनानि । तत्र चक्षुषा वस्तुसामान्यांशात्मकं ग्रहणं चक्षुर्दर्शनम् १, अचक्षुषा चक्षुर्वर्ज्यशेषेन्द्रियचक्षुष्येन मनसा च यद्दर्शनं सामान्यांशात्मकं ग्रहणं तदचक्षुर्दर्शनम् २, अवधिना रूपिष्वयमर्यादया दर्शनं सामान्यांशात्मकमवधिदर्शनम् ३, केवलेन संपूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण यद्दर्शनं सामान्यांशग्रहणं तत्केवलदर्शनमिति । किंरूपायेतानि दर्शनान्यत आह—अनाकाराणि सामान्याकारयुक्तत्वे सत्यपि न विद्यते विशिष्टव्यक्त आकारो येषु तान्यनाकाराणि इति । कर्म० ४ कर्म० ।

अणाजीव--अनाजीविक--पुं० । निःस्पृहे, दश० ३ अ० । “अगिलाह अणाजीवे नायव्वो सो तवायारो ” ग० १ अधि० ।

अणाजीवि (ए)--अनाजीविन्-त्रि० । न आजीवी अनाजीवी । अनाशंसिनि, नि० चू० १ उ० ।

अणामो--देशी-जारे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणाढायमाण--अनादियमाण--त्रि० । अनादरयति, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अणादिय-अनादृत-न० । न० त० । आ-ह-भावे-क्त । अनादरे सं-अमरहिते, आच० ३ अ० । “आयरकरणं आढा, तत्त्विवरीयं अणादियं होइ” । आदरः संप्रमस्तत्करणमादृतता, सा यत्र न प्रवति तदनादृतमुच्यते । इत्येवंरूपे वन्दनदोषाणां प्रथमे दोषे, वृ० ३ उ० । आच० आ० चू० । ध० । आदरः संप्रमः, तत्करणमादृतम् । आर्पत्वादादियं तद्विपरीतं तद्वहितमनादृतं प्रवति । प्रव० २ द्वा० । अनादरेण वन्दने, एष वन्दनकस्य प्रथमदोषः । आ० चू० ३ अ० । तिरस्कृते, त्रि० । काकन्दीनगरीवास्तव्ये गृहपतिभेदे, पुं० । तत्कथानिरयावल्याः ३ वर्गे १० अध्ययने सूचिताऽस्ति । तत्रैव पञ्चमाध्ययनोक्तपूर्णज्ञस्यैव ज्ञावनीया । सारार्थस्तु--अणादियगृहपतिः काकन्द्यां नगर्यां समवसृतानां स्थविराणामन्तिके प्रव्रज्यां गृहीत्वा श्रुतमधीत्य तपः कृत्वा श्रमण्यमनुपाढ्य अनशनेन कालं कृत्वा सौधमे कल्पे अणादियविमाने द्विसागरोपमायुष्कतया देवत्वेनोपपन्नः, ततश्च युत्वा महाविदेहे सेत्स्यति । नि० । आदृता आदरक्रियाविषयीकृताः, शेषा जम्बूद्वीपगता देवा येनात्मना इत्यद्भुतं महर्द्धिकत्वमीक्षमाणेन सोऽनादृतः । जी० ३ प्रति० । अनादिक-पुं० । जम्बूद्वीपाधिष्ठातृदेवे, उक्त० ११ अ० । “जम्बूद्वीपाधिवाहिवई अणादिओ” द्वि० । जी० । स्या० । (‘जंबूसुदंसण’ शब्देऽस्य वक्तव्यता)

अणादिया-अनादृता-स्त्री० । अनादृतादनादराद्या सा अनादृता, नन्दिषेणस्यैव अनादृतस्य वा शिथिलस्य या सा तथा । स्या० १० उ० । “रोगनियप सदिक्खा अणादिया रामकण्हपुव्वजवे ” पं० ज्ञा० पं० चू० । अनादृतस्य जम्बूद्वीपाधिपतेः राजधान्याम्, जी० ३ प्रति० ।

अणाणा-अनाज्ञा-स्त्री० । आज्ञाप्यते इत्याज्ञा हिताहितप्राप्तिपरिहारतया सर्वज्ञोपदेशस्तद्विपर्ययोऽनाज्ञा । तीर्थकरानुपदिष्टे स्वमनीषिकया आचरितेऽनाचारे, आचा० ।

अणाणाए एगे सोवझाणा, अणाणाए एगे निरुवझाणा,

एवं ते मा होउ एयं कुसलस्स दंसणं ।

इह तीर्थङ्करगणधरादिनोपदेशगोचरीभूतो विनेयोऽभिधीयते-यदि वा सर्वभावसंभवित्वाद् भावस्य सामान्यतोऽभिधानम्, अनाज्ञाऽनुपदेशः स्वमनीषिकाचरितोऽनाचारस्तयाऽनाज्ञया तस्यां वा एकेन्द्रियवशाग दुर्गतिं जिगमिषवः स्वाभिमानग्रहग्रस्ताः । सह उपस्थानेन धर्मचरणान्नासोद्यमेन वर्तत इति सोपस्थानाः, किल वयमपि प्रव्रजिताः सदसकर्मविशेषविवेकविकलाः सावधारम्भतया वर्तन्ते । एके तु न कुमार्गवासितान्तःकरणाः किन्तु आहव्यावर्णस्तम्भानुपवृंहितबुद्ध्य आज्ञायां तीर्थकरोपदेशप्रणीते सदाचारे निर्गतमुपस्थानमुद्यमो येषां ते निरुपस्थानाः, सर्वज्ञप्रणीतसदाचारानुष्ठानविकलाः । एतत्कुमार्गानुष्ठानं सन्मार्गवसीदनं च द्वयमपि ते तव गुरुविनेयोगगतस्य दुर्गतिहेतुत्वात्मा भूदिति सुधर्मस्वामी स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह-(एवमित्यादि) । एतद्यत्पूर्वोक्तं यदि वा अनाज्ञायां निरुपस्थानत्वमाज्ञायां च सोपस्थानत्वमित्येतत्कुशलस्य तीर्थकृतो दर्शनमभिप्रायः, यदि वैतद् वक्ष्यमाणं कुशलस्य दर्शनम् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अणाणत्त-अनानात्त्व-न० । भेदवर्जिते, स्या० १ उ० ।

अणाणय-अनाज्ञक-तीर्थकरोपदेशशून्ये स्वैरिति, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अणाणगामिय-अनानुगामिक-त्रि० । न अनुगच्छति इति कालान्तरमुपकारित्वेनाननुयातरि, स्या० ५ उ० १ उ० । अशु-जानुवन्धे, स्या० ६ उ० । न अनुगामिकमनानुगामिकम् । शृ-ङ्खलाप्रतिवक्रप्रदीपसदृशे गच्छन्तमननुगच्छति अवधिज्ञानविशेषे, न० । तच्च—

से किं तं अणाणगामियं ओहिनाणं ? । अणाणगामियं ओहिनाणं से जहानामए केइ पुरिसे एगं महंतं जोइहाणं काउं तस्सेव जोइहाणस्स परि पेरंतोहिं २ परिघोलेमाणे परिघोलेमाणे तमेव जोइहाणं पासइ, अणत्थगए नो पासइ, एवामेव अणाणगामियं ओहिनाणं जत्थेव सुप्पज्जइ, तत्थेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा संवच्चाणि वा असंवच्चाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ अणत्थगए न पासइ, सेत्तं अणाणगामियं ओहिनाणं ।

अथ किं तत् अनानुगामिकमवधिज्ञानम् ? । सूरिराह-अनानुगामिकमवधिज्ञानं स विवक्षितः, यथा नाम-कश्चित्पुरुषः पूर्णः सुखदुःखानामिति । पुरुषः पुरि शयनाद्वा पुरुष एकं महज्ज्योतिः स्थानमग्निस्थानं कुर्यात् कस्मिंश्चित्स्थाने, अनेकज्वालाशतसंकुलमग्निप्रदीपं वा स्पूलवर्तिज्वालाऽनुपमुत्पादयौदित्यर्थः । ततस्तत्कृत्वा तस्यैव ज्योतिःस्थापनस्य परि पर्यन्तेषु २ परितः सर्वासु दिक्षु पर्यन्तेषु परिपूर्णान् परिभ्रमन् इत्यर्थः । तदेव ज्योतिःस्थानं ज्योतिःस्थानप्रकाशितक्षेत्रं पश्यति, अन्यत्र गतो न पश्यति । एष दृष्टान्तः । उपनयमाह-एवमेव अनेनैव प्रकारेणानानुगामिकमवधिज्ञानं यत्रैव क्षेत्रे व्यवस्थितस्य सतः समुत्पद्यते तत्रैव व्यवस्थितः सन् सङ्ख्येयानि असङ्ख्येयानि वा योजनानि स्वावगाढक्षेत्रेण सह संवद्धानि असंवद्धानि वा अवधिभ्रष्टिकोऽपि जायमानः स्वावगाढदेशादारभ्य निरन्तरं प्रकाशयति कोऽपि पुनरपान्तराद्ये अन्तरं कृत्वा परतः प्रकाशयति, तत उच्यते-सम्ब-

कान्यसंवद्धानि वोति जानाति विशेषाकारेण परिच्छिन्नानि,
पश्यति सामान्याकारेणावबुध्यते, अन्यत्र देशान्तरगतो नैव पश्य-
ति; अवधिज्ञानावरणकयोपशमस्य तत्क्षेत्रसापेक्षत्वात् । तदेव-
मुक्तमणानुगामिकम् । न० । कर्म० ।

अण्णाणुगिच्छ-अनानुगृच्छ-त्रि० । अनाशुके, 'से पसणं जाण म-
णेसणं च, अन्नस्स पाणस्स अण्णाणुगिच्छे' सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।
अण्णाणुतावि-(ण)-अनानुतापिन्-पुं० । अपवादपदेन कायाना-
मुपद्रवेऽपि कृते पश्चादनुतापरहिते, व्य० २ उ० । हा । दुमु कृत-
मित्यादि पश्चात्तापमकुर्वति निःशङ्कः, निर्दये च प्रवर्तमाने,
वृ० ३ उ० ।

अण्णाणुताविति दारम्—

वितियपदे जो तु परं, तावेत्ता णाणुतप्पते पच्छा ।

सो होति अण्णाणुतावी, किं पुण दप्पेण सेवित्ता ? ॥४७५॥

वितियं अवचातपदं, तेण अवचातपदेण जो साह परा पुढविकाया
तेजोसंघट्टणपरितावणवद्दवणेण चा तावणं करेत्ता, पच्छा णाणुत-
प्पति, जहा-हा । वुठु कर्म, सो होति अण्णाणुतावी-अपच्छत्तावीत्य-
र्थः । कारणवितियपदेण जयणाए पक्खिसेविरुण अपच्छत्तावियाणो
अण्णाणुतावी पक्खिसेवा भवति, किं पुण जो दप्पेण पक्खिसेवित्ता
नानुतप्पते इत्यर्थः । अण्णाणुतावि स्ति गतम् । न० चू० १ उ० ।

अण्णाणुपुव्वी-अनानुपूर्वी-स्त्री० । न आनुपूर्वी अनानुपूर्वी, आनुपू-
र्वीपश्चात्तुपूर्वीरूपप्रकारद्वयातिरिक्तस्वरूपायामपरिपाटी, अनु० ।
(अनानुपूर्व्या आनुपूर्व्या सह सम्मिश्रितो विषयः 'आणुपुव्वी'
शब्दे द्वितीयभागे १३१ पृष्ठे वक्ष्यते, लोफालोकादीनां पूर्वपश्चा-
द्भावोऽनानुपूर्वीत्यादि च 'रोहा' शब्दे वक्ष्यते)

अण्णाणुवन्धि (ण)-अननुवन्धिन्-न० । नानुवन्धोऽननुवन्धः, सो-
ऽस्त्यस्मिन्निति । न विद्यतेऽनुवन्धः सातत्यं प्रस्फोटकादीनां
यत्र तदनुवन्धि, इन् समासान्तोऽत्र दृश्यः । नानुवन्धि अननुव-
न्धि । स्था० ६ टा० । अप्रमादप्रत्युपेक्षणविधिभेदे, प्रत्युपेक्षणं च
न निरन्तरमाखेटादि, किं तर्हि, सान्तरं सविच्छेदमिति तत्त्वम् ।
धर्म० ३ अधि० । औ० । नि० चू० । उक्त० ।

अण्णाणुवत्ति [ण]-अननुवत्तिन्-त्रि० । प्रकृत्यैव निष्ठुरे, वृ० १ उ० ।

अण्णाणुवाड [ण]-अननुवादिन्-पुं० । वादिनोक्तं साधनमनु-
वदितुं शीलमस्येत्यनुवादी, तत्प्रतिपेक्षादनुवादी । व्याकुलम-
नस्त्वेगानुवादमपि कर्तुमशक्ते, " से मुमुक्षु होइ अण्णाणुवाड् "
सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अण्णाणुवीड्त्तु-अननुविचिन्त्य-अव्य० । पश्चादविचार्येत्यर्थं,
सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अण्णातावय-अनातापक-त्रि० । संस्तारकपात्रादीनामातपेऽ-
दातरि, [साधौ] कल्प० ।

अणातीय-अनातीत-पुं० । आ समन्तादतीव इतो गतोऽनाद्यन-
न्तसंसारे आतीतः, न आतीतोऽनातीतः । संसारार्णवपारगामि-
नि, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अणादि-अनादि-त्रि० । प्रवाहापेक्षयाऽऽदिरहिते, उक्त० ४ अ० ।
आ० म० द्वि० । प्र० ।

अणादिय-अनादित-पुं० । जम्बूद्वीपाधिपती व्यन्तरसुरे,
सृष्ट० १० अ० ।

अनादिक-पुं० । नास्यादिः प्रथमोत्पत्तिविधिते इत्यनादिकः । चतु-
र्दशरज्ज्वात्मके धर्माधर्मादिके वा द्रव्ये, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।
दोषविशेषे, वृ० ३ उ० [व्युत्पत्तिस्तु 'अणादिय' शब्दे निरूपिता]
प्रवाहापेक्षयाऽऽदिरहिते, । त्रि० । न० व० । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणादिक-त्रि० । अणं पापकर्म आदिकारणं यस्य सोऽणादि-
कः । पापकार्यं, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अण्णतीत-त्रि० । अधर्मेण देयव्यवृत्तिरहिते, "पंचविहो पञ्चतो
जिणेहिं इह अण्हवो अणादियो " प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणापुच्छियचारि (ण)-अनापृच्छयचारिन्-पुं० । गणमनापृ-
च्छय चरति क्षेत्रान्तरसंक्रमदि करोतीत्येवंशीलोऽनापृच्छयचा-
री । नो आपृच्छय चारिणि पञ्चमं विग्रहस्थानं प्राप्ते, स्था०
१ ग० १ उ० ।

अणावाह-अनावाध-पुं० । अवकाशे, वृ० ३ उ० । वाधाव-
र्जिते, दश० ६ अ० । न विद्यते आवाधा जन्मजरामरणकृत्तिपा-
सादिका यत्र तदनावाधम् । स्वाभाविकवाधापगमतो मोक्षसुखे,
स्था० १० टा० । स्वाध्यायाद्यन्तरायकारणरहिते, उक्त० ३५ अ० ।
"होइ अणावाहणिमित्त-मचेयणमणाउलो निहन्ना" अनावाधा-
निमित्तमनावाधाकार्यम्, निमित्तशब्दः कार्यवाचकः । तथा श्लो-
के वक्तारो भवन्ति-अनेन निमित्तेन अनेन कारणेन मयेदं कार्य-
मारब्धमनेन कार्येणेत्यर्थः । आ० म० द्वि० ।

अणावाहसुहाजिकसि (ण)-अनावाधसुखाजिकाङ्गिन्-पुं० ।
मोक्षसुखाभिज्ञापिणि, दश० १ अ० ।

अण्णानिगह-अनभिग्रह-न० । न विद्यते अभिग्रह इदमेव
दर्शनं शोभनं नान्यदित्येवंरूपो यत्र तदनभिग्रहम् । मिथ्या-
त्वभेदे, यद्दशात्सर्वाण्यपि दर्शनानि शोभनानित्येवमीपत्ता-
धर्म्यमवलम्ब्यते । पं० सं० १ द्वा० ।

अण्णाभोग-अनाभोग-पुं० । आभोगनमाभोगः, न आभोगोऽ-
नाभोगः । पं० व० २ द्वा० । अत्यन्तविस्मृतौ, आनु० । पंचा० ।
जीत० । नि० चू० । व्य० । एकान्तविस्मृतौ, आ० चू०
६ अ० । अज्ञाने, नि० चू० २ अ० । आभोगनमाभोगः, उपयो-
गविशेष इत्यर्थः । अनुपयोगे, आध० ४ अ० । असावधान-
तायाम्, ध० २ अधि० । न विद्यते आभोगः परिभाचनं यत्र
तदनाभोगम् । तच्चैकेन्द्रियादीनामिति । पं० सं० ३ द्वा० ।
विचारशून्यस्यैकेन्द्रियादेवो विशेषज्ञानविकलस्य भवति ।
इदं सर्वोपविषयाव्यक्रयोधस्वरूपं विवक्षितं किञ्चिदंशाव्यक्र-
योधस्वरूपं चेत्यनेकविधम् । ध० २ अधि० । दर्श० । कर्म० ।

अण्णाभोगमाण-अनाभोगध्यान-न० । अनाभोगोऽत्यन्त-
विस्मृतिः, तस्य ध्यानम् । विस्मृतवत्प्रसन्नचन्द्रस्येव ध्याने,
आनु० । ['पसलचंद' शब्दे चैतत् कथानकम्]

अण्णाभोगकय-अनाभोगकृत-न० । अनाभोगेन कृतं जनि-
तम् । अज्ञानकृते, कर्म० ५ कर्म० ।

अण्णाभोगकिरिया-अनाभोगक्रिया-स्त्री० । अनाभोगप्रत्यये
क्रियाभेदे, अनाभोगक्रिया द्विविधा-आदाननिक्षेपणाऽनाभोग-
क्रिया, उत्क्रमणानाभोगक्रिया च । तत्राऽऽदानं रजोहरणपात्र-
चीवरादिकानामप्रत्युपेक्षिता, अप्रमाजितानामनाभोगेनाऽऽ-
दाननिक्षेपः । उत्क्रमणानाभोगक्रिया-लहनप्रवणधावनासमी-
क्षानमनागमनादि । आ० चू० ४ अ० ।

अणानोगणिव्वत्ति-अणानोगनिर्वर्तित-पुं० । अणाननिर्वर्तिते, स्था० ।

अणानोगपणिसेवणा-अणानोगप्रतिसेवना-स्त्री० । अणानोगो विस्मृतिस्तत्र प्रतिसेवना । प्रतिसेवनाभेदे, स्था० १० डा० । (अणानोगप्रतिसेवनायाः स्वरूपं ' पणिसेवणा ' शब्दे दर्शयिष्यते)

अणानोगभव-अणानोगभव-पुं० । विस्मरणसद्भावे, " इय चरणम्मि ठियाणं, होइ अणानोगभावओ खलणो " पंचा० १७ विव० ।

अणानोगया-अणानोगता-स्त्री० । आभोगराहिततायाम्, कर्म० ५ कर्म० ।

अणानोगव-अणानोगवत्-त्रि० । अणानोगोऽपरिज्ञानमात्रमेव केवलं ग्रन्थार्थादिषु सूक्ष्मबुद्धिगम्येषु, स विद्यते यस्य स तथा । श्रुतार्थापरिज्ञातरि, " यो निरनुबन्धदोषा-च्छ्रद्धाद्वोऽणानोगवान् वृज्जिनभीरुः " पो० १२ विव० । संमूर्च्छनजप्राये अणानिनि, डा० १० डा० ।

अणानोगवत्ति-अणानोगप्रत्यया-स्त्री० । अणानोगोऽज्ञानादि । अज्ञानं प्रत्ययो निमित्तं यस्याः सा तथा । स्था० २ डा० १ उ० । पात्राद्यादतो निक्षिपतो वा सम्भवति क्रियाभेदे, स्था० ५ डा० २ उ० । " अणानोगवत्ति किरिया दुविहा पक्षत्ता । तं जहा-अणानुत्तत्रायणया चेव, अणानुत्तपमज्जणया चेव " स्था० ५ डा० २ उ० । आ० चू० । आव० ।

अणानमंतिय-अणानमन्त्य-अव्य० । अणानपृच्छयेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ अ० ए उ० ।

अणामियावाही-अणामिकव्याधि-पुं० । नामरहिते व्याधौ, अणामिको नामरहितो व्याधिरसाध्यरोगः । तं० ।

अणायंविह-अणायामाह-त्रि० । आचामाम्लविरहिते, आव० ६ अ० ।

अणायग-अणायक-पुं० । न विद्यतेऽन्यो नायकोऽस्त्येयनायकः । स्वयंप्रभे चक्रवर्त्यादौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अणायक-त्रि० । अस्वजने, नि० चू० ८ उ० । अणायपने, नि० चू० ११ उ० ।

अणाययण-अणायतन-न० । न आयतनमनायतनम् । अस्थाने, वेश्यासामन्तादिरूपे दश० १ अ० । साधूनामनाश्रये, प्रश्न० ४ सम्ब० डा० । नाट्यशालायाम्, अश्वपतितजन्तुगुणशालायाम्, पं० चू० । पार्श्वस्थाद्यायतने, आव० ३ अ० । पशुपण्डकसंसके वा स्थाने, ओ० ।

इदानीमनायतनस्यैव पर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्नाह—
सावज्जमणाययणं, असोहिटाणं कुशीलसंसगि ।

एगहा होंति पया, एए विवरीय आययणा ॥ १०८६ ॥

सावद्यमनायतनमशोधिस्थानं कुशीलसंसर्गि एतान्येकार्थिकानि पदानि भवन्ति । एतान्येव च विपरीतानि आयतनं भवन्ति । केथम्?, असावद्यमनायतनं शोधिस्थानं सुशीलसंसर्गीति । अत्र चानायतनं वर्जयित्वा आयतनं गवेषणीयम् ।

एतदेवाह—

वज्जित्तु अणाययणं, आययणगवेषणं सदा कुज्जा ।

तं तु पुण अणाययणं, नायव्वं दव्वजावेण ॥ १०८७ ॥

वर्जयित्वा अनायतनमायतनस्य गवेषणं सदा सर्वकालं कुर्वीत । तन्पुनरनायतनं ख्यतो जावतश्च विज्ञेयम् ।

तत्र ख्यानायतनं प्रतिपादयन्नाह—

दव्वे रुद्धाघा, अणाययणं भावओ दुविहमेव ।

लोइय लोउत्तरियं, तत्थ पुण लोइयं इणमो ॥ १०८८ ॥

ख्ये द्रव्यविषयमनायतनं रुद्धादिगृहम् । इदानीं जावतोऽनायतनमुच्यते । तत्र जावतो द्विविधमेव-लौकिकं, लोकोत्तरं च । तत्रापि लौकिकमनायतनमिदं वर्तते—

खरिया तिरिक्खजोणी, तालायर समण माहण मुसाणे ।

वागुरिय वाह गुम्मिय-हरिएसपुल्लिदमच्छिबंधा या ॥ १०८९ ॥

खरिकेति ह्यक्षरिका यत्राऽऽस्ते तदनायतनम्, तथा तिर्यग्योनयश्च यत्र तदप्यनायतनम्, तालाचराश्चारास्ते यत्र तदनायतनम्, श्रमणाः शाक्यादयस्ते यत्र, तथा ब्राह्मणा यत्र तदनायतनं, शमशानं चानायतनम्, तथा वागुरिका व्याघ्रागुल्मिका व्युत्पत्तिवालाः हरिणसा पुलिन्दा मत्स्यवन्धाश्च यत्र तदनायतनमिति ।

एतेष्वनायतनेषु कृणमपि न गन्तव्यम्, तथाचाह—

खणमवि न खमं गंतुं, अणाययणसेवणा सुविहियाणं ।

जं गंधं होइ वणं, तं गंधं मारुओ वण ॥ १०९० ॥

कृणमपि न कर्म न योग्यमनायतनं गन्तुं, तथा सेवना च अनायतनस्य सुविहितानां कर्तुं न कृता न युक्ता । यतोऽयं दोषो जवति— " जं गंधं होइ वणं तं गंधं मारुओ वाइ " । सुगमम् ।

जं अन्न एवमाई, लोगम्मि दुगंढिया गरहिया य ।

समणाण व समणीण व, न कप्पई तारिसो वासो ॥ १०९१ ॥

येऽन्ये एवमादयः लोके जुगुप्सिता गर्हितश्च द्व्यक्षरिकाद्यनायतनविशेषाः, तत्र श्रमणानां श्रमणीनां वा न कल्पते तादृशो वास इति । उक्तं लौकिकं भावानायतनम् ।

इदानीं लोकोत्तरं जावानायतनं प्रतिपादयन्नाह—

अह लोउत्तरियं पुण, अणाययणं भावओ मुण्येव्वं ।

जे संजमलोणाणं, करिंति हाणिं समत्था वि ॥ १०९२ ॥

अथ लोकोत्तरं पुनरनायतनं भावत इदं ज्ञातव्यम् । ये प्रव्रजिताः संयमयोगानां कुर्वन्ति हानिं समर्थो अपि सन्तः, तल्लोकोत्तरमनायतनम् । तैश्च एवंविधः संसर्गो न कर्तव्यः । (कुशीलसंसर्गं दोषाः ' किइकम्म ' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यन्ते)

नाणस्स दंसणस्स य, चरणस्स य जत्थ होइ उवघाओ ।

वाज्जिज्जवज्जभीरू, अणाययणवज्जओ खिप्पं ॥ १०९३ ॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य चारित्रस्य च यत्रायतने भवति उपघातस्तं वर्जयेदवद्यभीरुः साधुः, किंविशिष्टः?, अनायतनं वर्जयतीति अनायतनवर्जकः । स एवंविधः किंप्रं अनायतनमुपघातरूपं वर्जयेदिति ।

इदानीं विशेषतोऽनायतनप्रदर्शनायाह—

जत्थ साहम्मिया वहवे, जिन्नचित्ता अणारिया ।

मूळगुणप्पणिसेवी, अणाययणं तं वियाणाहि ॥ १०९४ ॥

सुगमा, नवरं, मूलगुणाः प्राणातिपातादयस्तान्प्रतिसेवन्ति इति मूलगुणप्रतिसेविनस्ते अत्र निवसन्ति तदनायतनमिति ।

जत्थ साहम्मिया वहवे, जिन्नचित्ता अणारिया ।

उत्तरगुणपणिसेवी, अणाययणं तं वियाणाहि ॥ १०९५ ॥

सुगमा, नवरं, उत्तरगुणाः 'पिंडस्स जा विसोही' इत्यादि तत्प्रतिसेविनो ये ।

जत्थ साधम्मिया वहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।

लिंगवेसपडिच्छन्ना, अणाययणं तं वियाणाहि ॥११०३॥

सुगमा, नवरं, लिङ्गवेपमात्रेण प्रतिच्छन्ना यावत्तः, आन्यन्तरतः पुनर्मूलगुणसेविन उत्तरगुणसेविनश्च, ते यत्र तदनायतनमिति । उक्तं लोकोत्तरं भावानायतनं तत्प्रतिपादनायोक्तमनायतनस्वरूपम् । ओ० ।

अणाययणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं ।

होज्ज वयाणं पीड्ढा, सापन्नम्मि य संसओ ॥ १० ॥

अनायतने अस्थाने वेद्यासामन्तादौ, चरतो गच्छतः, संसर्गेण सम्यग्धेन, अभीक्ष्णं पुनः २। किमित्याह—भवेद् मतानां प्राणातिपातविरत्यादीनां पीडा, तदा क्लिप्तचेतसो भावविराधना, भ्रामण्ये च भ्रमणभावे च ऊच्यते रजोहरणादिधारणरूपे चूयो भावव्रतप्रधानहेतौ संशयः कदाचिदुन्निष्क्रामत्येयेत्यर्थः । तथा च वृक्ष्याख्या—“वेसादिगयभावस्स, मेहुणं पीडिञ्ज, अणुचओणेण एसणाकरणे हिंसा, पडुप्पायणे अणुपुञ्जणव्रतलक्षणाऽसंख्यवयणं, अणुल्लापयवेसादसंज्ञे अदत्तादानं, ममत्तकरणे परिगृहो, एवं सव्यवयपीडा । दध्यसामन्ने पुण संसओ उप्पिक्खमणेण चि ” सूत्रार्थः । दश० ५ अ० १ उ० ।

अणाययणपरिहार—अनायतनपरिहार—पुं० । आयतनं पार्श्वस्थादिकुतीर्थवेद्याविद्वज्ज्ञादिकुस्थानवर्जने, दश० ।

अणाययणसेवण—अनायतनसेवन—न० । पार्श्वस्याघायतनजनने, आव० ३ अ० ।

अणायर—अनादर—पुं० । तिरस्कारे, को० । अनुत्साहात्मिके सामायिकव्रतातिचारभेदे, स च प्रतिनियतवेलायां सामायिकस्याकरणं, यथाकथंचिच्च करणानन्तरमेव पारणं च । यदाहुः—“काऊण तक्खणं चिय, पादेइ करेइ वा जहिञ्जाए । अणवडिअसामाइअ—अणायराओ न तं सुद्धं” ॥१॥ धर्म० ५ अधि० । प्रव० ।

अणायरंत—अनाचरत—त्रि० । विवर्जयति, “पावमणायरंतं” पापभागमनिषिद्धं कर्म, अनाचरन् विवर्जयन् । पंचा० ११ विव० । अणायरणजोग—अनाचरणयोग्य—त्रि० । आसेवनाऽनर्हं, “सिक्खावेउ अणायरणजोगो” पञ्चा० १० विव० ।

अणायरणया—अनाचरणा—स्त्री० । गौणमोहनीयकर्मणि, सम्म० ।

अणायरिय—अनार्य—पुं० । आराद् याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्याख्याः, तद्विपर्ययादनार्याः । क्रूरकर्मसु, आचा० १ शु० ४ अ० ३ उ० । शक्यवनादिदेशोद्भवेषु, सूत्र० २ शु० १ अ० ।

अणायस—अनायस—त्रि० । अलाहमये, नि० चू० १ उ० ।

अणायया—अनात्मन्—पुं० । न आत्मा अनात्मा । घटादिपदार्थे, ‘एने अणाया,’ सप्रदेशार्थतयाऽसंख्येयानन्तरप्रदेशोऽपि तथाविधैकपरिणामरूपद्रव्यार्थापेक्षया एक एव, सन्तानापेक्षयाऽपि, तुल्यरूपापेक्षया तु अनुपयोगलक्षणैकस्वभावयुक्तत्वात्कथाञ्चिद्विश्वरूपपाणामपि धर्मास्तिकायादीनामनात्मनामेकत्वमवसेयमिति । स० १ सम० । परस्मिन् “अणायय अवक्कमइ” अ० १ श० ५ उ० ।

अणाययाण—अनादान—न० । अकारणे, “अणाययाणमेयं अभिगन्धियसिज्जासणियस्स” कल्प० ।

अणायार—अनाचार—पुं० । आचरणमाचारः, आधाकर्मादिग्रहणे, आतु० । साध्वानाचारस्य परिभोगतो ध्वंसे, व्य० १ उ० । आव० । घ० । (अनाचारव्याख्याऽऽधाकर्माऽऽश्रित्य ‘अइक्कम’ शब्दे अत्रैव भागे २ पृष्ठे कृता) आचरणीयः आचकाणामाचारः, न आचारोऽनाचारः । अनाचरणीये “अणायारे अणिच्छियव्वे” ध० २ अधि० । शास्त्रविहितस्य व्यवहारस्याभावे, ग० २ अधि० ।

अथ साधूनां यद्यदनाचरितं तत्तत्समासेन व्यासेन च प्रदर्शयामः । तत्र दशवैकालिके द्वितीयाध्ययने—

संजमे सुट्ठि अप्पाणं, विप्पमुक्काण ताइणं ।

तेसिमेयमणाइएणं, निगंथाण महेसिणं ॥ १ ॥

इह संहितादिक्रमः जुएणः । भावार्थस्त्वयम-संयमे इमं पुष्पि-फाव्यावर्णितस्वरूपे शोभनेन प्रकारेणाऽऽगमनीया स्थितः आत्मा येषां ते सुस्थितात्मानः, तेषाम् । त एव विशेष्यन्ते-विविधमनेकैः प्रकारैः प्रकर्षेण भावसारेण मुक्ताः परित्यक्ता बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेनेति विप्रमुक्ताः, तेषाम् । त एव विशेष्यन्ते-त्रायन्ते आत्मानं परमुजयं चेति प्रातारः, आत्मानं प्रत्येकशुद्धाः, परं तीर्थकराः, स्वतस्तीर्णत्वाद्भुभवं स्थविरा इति । तेषामिदं वक्ष्यमाणलक्षणमनाचरितमकल्पम् । केषामित्याह—निर्ग्रन्थानां साधूनामभिधानमेतत् । महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षयो यतय इत्यर्थः । अथवा महान्तमेयितुं शीलं येषां ते महेषिणस्तेषाम् । इह च पूर्वपूर्वज्ञाव एवोत्तरोत्तरभावो नियतो हेतुहेतुमद्भावेन वेदितव्यः । यत एव संयमे सुस्थितात्मानः अत एव विप्रमुक्ताः । संयमसुस्थिताऽऽत्मनिबन्धनत्वाद्भिप्रमुक्तेः । एवं शेषेष्वपि भावनीयम् । अन्ये तु पथ्यानुपूर्व्या हेतुहेतुमद्भावमिदं वर्णयन्ति—यत एव महर्षयः अत एव निर्ग्रन्थाः । एवं शेषेष्वपि कष्टव्यमिति सूत्रार्थः ।

सारप्रतं यदनाचरितं तदाह—

उदेसियं कीयगं, नियागमजिह्वाणि य ।

राइजत्ते सिणाणे य, गंधमद्वे य वीयणे ॥ २ ॥

(उदेसियं ति) उद्देशं साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देशः, तत्र भवमौद्देशिकम् (१), क्रयणं क्रीतं, भावे निष्ठाप्रत्ययः । साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते । तेन कृतं निर्वर्तितं क्रीतकृतम् (२), नियागमित्यामन्त्रितस्य पिण्डस्य ग्रहणं नित्यं तत्त्वनामन्त्रितस्य (३), (अजिह्वाणि य चि) स्वग्रामादेः साधुनिमित्तमजिमुखमानीतमज्याहृतम्, बहुवचनं स्वग्रामपरग्रामनिर्वाधादिभेदव्यापनार्थम् (४), तथा रात्रिभक्तं रात्रिभोजनं दिवसगृहीतदिवससुक्तादिवसतुर्भङ्गलक्षणम् (५), स्नानं च देशसर्वभेदजिघ्रं देशस्नानमधिष्ठानशौचातिरेकेणाक्षिपद्भ्रमप्रक्षालनमपि । सर्वस्नानं तु प्रतीतम् (६), तथा गन्धं माल्यं च, गन्धग्रहणात्कोष्ठपुटादिपरिग्रहः, माल्यग्रहणाच्च अथितवेष्टितादेर्माल्यस्य (७), वीजनं व्यजनं तादृग्वृत्तादिना घर्म एव, इदमनाचरितम् (८), दोषाश्चौद्देशिकादिष्वारम्भप्रवर्त्तनादयः स्वधियाऽवगन्तव्या इति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

संनिही गिहिमत्ते य, रायपिमे किमिच्छए ।

संवाहणं दंतपहावणं य, संपुच्छणे देहपत्तोयणा य ॥ ३ ॥

इदं चानाचरितमित्याह—(संनिहि ति) संनिधीयतेऽनेनाऽऽत्मा घूर्णताविति संनिधिः । घृतगुमादीनां संचयक्रिया (६), गृह्यमंत्रं गृहस्थभाजनं च (१०), तथा राजपिण्डा नृपाहारः (११), किमिच्छतीत्येवं यो दीयते स किमिच्छकः राजपिण्डोऽन्यो वा सामान्येन (१२), तथा संवाधनमस्थिमांसत्वग्रोम-सुखतया चतुर्विधं मर्दनम् (१३), दन्तप्रधावनं चाङ्गुल्यादिना कालनम् (१४), तथा संप्रश्नः सावद्यो गृहस्थविषयः, राढार्थं कीदृशो वाऽहमित्यादिरूपः (१५), देहप्रलोकनं चादर्शादौ (१६), अनाचरितम् । दोषाश्च सन्निधिप्रभृतिषु परिग्रहप्राणातिपातादयः स्वधियैव वाच्या इति सूत्रार्थः ॥३॥

अष्टावप य नालीए, छत्तस्स य धारण हाए ।

तेगिच्छं पाहणा पाए, समारंभं च जोइणो ॥ ४ ॥

अष्टापदं द्यूतम्, अर्थपदं वा; गृहस्थमधिकृत्य निमित्तादिविषयम् (१७), अनाचरितम् । तथा नाहिका चेति द्यूतविशेषलक्षणा, यत्र माऽभूत्कल्याण्यथापाशकपातनमिति नाहिकया पात्यन्त इति । इयं चानाचरिता अष्टापदेन सामान्यतो द्यूतग्रहणे सत्यमिनिवेशनिबन्धनत्वेन नालिकायाः प्राधान्यख्यापनार्थं जेदत उपादानम्; अर्थपदमेवोक्तार्थं तदित्यन्ये अभिदधन्ते । अस्मिन् पक्षे सकलद्यूतोपलक्षणार्थं नाहिकाग्रहणमष्टापदद्यूतविशेषपक्षे चोज्ञयोरिति (१८), तथा उत्रस्य च लोकप्रसिद्धस्य धारणमात्मानं परं प्रति वाऽनर्थयित्यागाढगलानाद्याद्वयनं मुक्त्वाऽनाचरितम् । प्राकृतशैल्या चात्रानुस्वारद्वोपोऽकारनकारलोपौ च रुद्रव्यौ, तथा श्रुतिप्रामाण्यादिति (१९), तथा (तेगिच्छं ति) । चिकित्साया भावश्चैकित्स्यं व्याधिप्रतिक्रियारूपम् [२०], तथोपानहौ पादयोरनाचरिते । पादयोरिति साभिप्रायकम् । न त्वापत्कल्पपरिहारार्थमुपग्रहधारणेन [२१], तथा समारम्भश्च समारम्भणं च ज्योतिषोऽज्ञेः [२२], तदनाचरितम् । दोषा अष्टापदादीनां कृष्णा एवेति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

सिज्जायर पिंमं च, आसंदी पलिअंकए ।

गिहंतरनिसिज्जा य, गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥ ५ ॥

किञ्च—शय्यातरपिण्डोऽप्यनाचरितः । शय्या वसतिस्तया तरति संसारमिति शय्यातरः साधुवसतिदाता, तत्पिरुः [२३], तथा आसंदकपर्यङ्को अनाचरितः । एतौ, च लोकप्रसिद्धावेव [२४], तथा गृहान्तरनिषयाऽनाचरिता । गृहमेव गृहान्तरं गृहयोर्वा अपान्तरालं, तत्रोपवेशनं, चशब्दात्पाटकादिपरिग्रहः [२५] तथा गात्रस्य कायस्थोर्ध्वतनानि चानाचरितानि । उद्धर्तनानि पङ्कापनयनवृक्षणानि । चशब्दादन्यसंस्कारपरिग्रहः [२६], इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

गिहिणो वेआवभिअं, जा य आजीववत्तिया ।

तत्तानिवुरुभोइत्तं, आउरस्सरणाणि य ॥ ६ ॥

तथा (गिहिणो ति) गृहिणो, गृहस्थस्य वैयावृत्त्यं व्यावृत्तस्य भावो वैयावृत्त्यं, गृहस्थं प्रत्यक्षादिसंपादनमित्यर्थः [२७], एतदनाचरितमिति । तथा आजीववृत्तिता जातिकुलगणकर्मशिल्पानामाजीवनमाजीवस्तेन वृत्तिस्तद्भाव आजीववृत्तिता । जात्याद्याजीवनेनात्मपालनेत्यर्थः [२८], इयं चानाचरिता । तथा तस्मात्निर्वृतभोजित्वं-तत्तं च तदनिर्वृतं च अत्रिदण्डोद्धृतं चेति विग्रहः । उदकमिति विशेषणमन्यथाऽनुपपत्त्या गम्यते । तज्जोजित्वं मिश्रसचित्तोदकभोजित्वमित्यर्थः [२९], इदं चानाचरित-

तम् । तथाऽऽतुरस्मरणानि च क्लृप्ताद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मरणानि च अनाचरितानि । आतुरशरणानि वा दोषाऽऽतुराश्रयदानानि (३०), इति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

मूलए सिंगवेरे य, उच्छुखंमे अनिव्वुडे ।

कंदे मूले य सच्चित्ते, फळे वीए य आमए ॥ ७ ॥

किञ्च (मूलए ति) मूलको लोकप्रतीतः (३१), शृङ्गवेरं चार्द्धकम् (३२), तथेक्षुखणं च द्वोफप्रतीतम् (३३), अनिर्वृतग्रहणं सर्वत्राग्निसंघट्यते । अनिर्वृतमपरिणतमनाचरितमिति ; इक्षुखणं चापरिणतं द्विपर्वान्तं यच्छतं; तथा कन्दो वज्रकन्दादिः (३४), मूलं च सङ्ग्रामादि सच्चित्तमनाचरितम् (३५), तथा फलं त्रपुण्यादि (३६), बीजं च तिलादि [३७], आमकं सच्चित्तमनाचरितमिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

सोवच्चले सिंधवे लोणे, रोमालोणे य आमए ।

सामुदे पंसुखारे य, काढालोणे य आमए ॥ ८ ॥

किञ्च (सोवच्चले ति) सौवर्चलम् (३८), सैन्धवम् (३९), लवणं च सौभरलवणम् (४०), रुमालवणं च (खानिलवणम्) (४१), आमकमिति सच्चित्तमनाचरितम् । सामुद्रं लवणमेव (४२), पंसुखारश्चोपरलवणम् (४३), रुष्णलवणं च (४४), सैन्धवलवणं पर्यतैकदेशजम्, आमकमनाचरितमिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

धूवणे ति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे ।

अंजणे दंतवषे य, गायान्जंग विज्जुमणे ॥ ९ ॥

किञ्च (धूवणे ति) धूपनमित्यात्मवत्त्वादेरनाचरितम् । प्राकृतशैल्या अनागतव्याधिनिवृत्तये धूपनमित्यन्ये व्याचक्षते (४५), वमनं मदनफलादिना (४६), वस्तिकर्म पुटकेनाधिष्ठाने स्नेहदानम् (४७), विरेचनं दन्त्यादिना (४८), तथाऽञ्जनं रसाञ्जनादिना (४९), दन्तफाष्टं च प्रतीतम् (५०), तथा गात्राभ्यङ्गस्तैलादिना (५१), विज्जुषणं गात्राणामेवेति (५२), सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

क्रियासूत्रमाह—

सव्वमेयमणाइत्तं, निगंथाण महेसिणं ।

संजगम्मि अ जुत्ताणं, लहुचूयविहारिणं ॥ १० ॥

(सव्वमेयं ति) सर्वमेतदौदेशिकादि यदनन्तरमुक्तं तदनाचरितम् । केपामित्याह—निर्ग्रन्थानां मङ्गलीणां साधूनामित्याह । त एव विशेष्यन्ते—संयमे चशब्दात्तपसि युक्तानामभियुक्तानां, लघुभूतविहारिणां-लघुभूतो घायुः, ततश्च वायुभूतोऽप्रतिवद्धतया विहारो येषां ते लघुभूतविहारिणस्तेषाम् । निगमनक्रियापदमेतदिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

किमित्यनाचरितं यतस्त एवञ्जृता भवन्तीत्याह—

पंचासव परिष्साया, तिगुत्ता षसु संजया ।

पंचनिग्गहणा धीरा, निगंथा उज्जुदंसिणो ॥ ११ ॥

(पंचासव ति) पञ्चाशत्तपसादयः परिष्काता द्विविधया परिष्काया-कृपरिष्काया, प्रत्याख्यानपरिष्काया च । परि समन्ताद् ज्ञाता येस्ते पञ्चाश्वपरिष्काताः । आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वाच्च निष्ठायाः पूर्वनिपात इति समासो युक्त एव । परिष्कातपञ्चाश्व इति वा । यत एव चैवंभूता अत एव त्रिगुप्ता मनोवाक्कायगुप्तिभिः । पदसंयताः पदसु जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु साम-

स्त्येन यताः [पंच निग्राहणा इति] निगृह्णतीति निग्रहणाः, कर्त्तरि ल्युट् । पञ्चानां निग्रहणाः, पञ्चानामतीन्द्रियाणाम् । धीरा बुद्धिमन्तः स्थिरा वा । निग्रन्थाः साधवः । ऋजुदर्शिन इति । ऋजुमार्गं प्रति ऋजुत्वाद् संयमः, तं पश्यन्त्युपादेयतयेति ऋजुदर्शिनः संयमप्रतिपत्त्या इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

ते च ऋजुदर्शिनः काष्ठमधिष्ठित्य यथाशक्त्येतत्कुर्वन्ति—
आयावयन्ति गिम्हेसु, हेयंतेषु अवज्जना ।

वासाम् पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ॥ १२ ॥

(आयावयन्ति चि) आतापयन्त्युद्देश्यस्थानादिना आतापनां कुर्वन्ति, ग्रीष्मेष्णकालेषु, तथा हेमन्तेषु शीतकालेष्वप्रावृता इति प्रावरणरहितास्तिष्ठन्ति । तथा वर्षासु वर्षाकालेषु प्रतिसंलीना इत्येकाग्र्यस्था भवन्ति । संयताः साधवः, सुसमाहिना ज्ञाना. दिपु यत्नपराः । ग्रीष्मादिषु बहुवचनं प्रतिवर्षकरणक्षापनार्थमिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

परीसहरिज दंता, धूमोहा जिह्दिया ।

सम्बदुक्खपहीणहा, पक्कयन्ति महोमियो ॥ १३ ॥

(परीसह चि) मार्गाध्यवनिर्जराऽर्थे परिपोढव्याः कुत्पिपासादयः, त एव रिपवस्तत्तुल्यधर्मात्परीसहरिपवः, ते, दान्ता उपशमं नीता यैस्ते परीसहरिपुदान्ताः । समासः पूर्ववत् । तथा धूमोहा विक्रिसमोहा इत्यर्थः, मोहोऽज्ञानम् । तथा जितेन्द्रियाः शब्दादिषु रागद्वेषरहिता इत्यर्थः । त एवंजृताः सर्वदुःखप्रक्षयार्थं शरीरमानसाद्वेषपदुःखप्रक्षयनिमित्तं, प्रकामन्ति प्रयतन्ते । किंजृताः ? ; महर्षयः साधव इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥

इदानीमेतेषां फलमाह—

दुक्कराई करिचायं, दुस्सहाई सहित्तु य ।

केइ त्य देवलोपसु, केइ सिज्जन्ति नीरया ॥ १४ ॥

(दुक्कराई चि) एवं दुक्कराणि कृत्वैदेशिकादित्यागादीनि, तथा दुःसहानि सहित्वा तापनादीनि, केचन तत्र देवलोकेषु सौधर्मादिषु गच्छन्तीति वाक्यशेषः । तथा केचन सिद्ध्यन्ति तेनैव भवेन सिद्धिं प्राप्नुवन्ति । वर्तमाननिर्देशः सुखस्य त्रिकाव्यवयवत्वज्ञापनार्थः । नीरजस्का इत्यप्रविधकर्मविप्रमुक्ता न त्वेकेन्द्रिया इव कर्मयुक्ता एवेति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥

येऽपि चैवंविधानुष्ठानतो देवलोकेषु गच्छन्ति, तेऽपि ततश्च्युता आर्यदेशेषु सुकुत्रे जन्मावाप्य शीघ्रं सिद्ध्यन्त्येवेत्याह—

खविच्चा पुव्वकम्माई, संजमेण तवेण य ।

सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताङ्णो परिणिव्वुमे ॥ १५ चि वेमि ।

(खविच्च चि) ते देवलोकच्युताः, क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि सावशेषाणि । केनेत्याह—संयमेनोक्तद्वक्त्रेण, तपसा च; एवं प्रवाहेण सिद्धिमार्गं सम्यग्दर्शनादिद्वक्त्रेण मनुश्रुताः सन्तस्त्रातारः आत्मादीनां परिनिर्वाणन्ति सर्वथा सिद्धिं प्राप्नुवन्ति । अन्ये तु पश्यन्ति- (परिनिव्वुड चि) तत्रापि प्राकृतशैल्या गान्दसत्वाच्चायमेव पात्रो ज्यायानिति । ब्रवीमीति पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥

दश०३अ० उक्तं समासतोऽनाचरितम् । अथ विशेषतस्तद्वच्यते—
“आसूणी मक्खिरागं च, गिदुपग्घायकम्मगं । उच्चोत्तणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिआ ” ॥ १५ ॥ सूत्र० १ शु० ६ अ० ।

(अस्या व्याख्या ' धम्म ' शब्दे कृष्या)

आदर्शादौ मुखदर्शनादि करोति—

जे निक्खू मंतए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥

जे भिक्खू अद्दाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥

जे भिक्खू असाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥

जे निक्खू मणीए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥

जे भिक्खू उडुयाणाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

जे निक्खू तेणे अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

जे निक्खू फाणिए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥

जे निक्खू वसाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

मत्तगो दप्पणस्स भरितो तत्थ अप्पणो मुहं पल्लोयाति जो, ए-
तस्स आणादिया दोसा । चउल्लं हा से पच्छित्तं । एवं पम्भिग्ग-
हादिसु चिसेसपदाणं इमा संगहणी गाहा—

दप्पण मणि आजरणे, सत्थु दए जायणऽन्नतरए य ।

नेह्म महु सप्पि फाणित-मज्ज वसा सुत्तमादीसु ॥ ५६ ॥

दर्पणमादर्शः, स्फटिकादि मणिः, स्थानकादि आभरणं, खरूगा-
दि शस्त्रं, वृकं पानीयम्, तच्च अन्यतरे कुण्डादिभाजने स्थितं, ति-
लादिजं तैलं, मधु प्रसिद्धं, सर्पिर्घृतं, फाणितं त्रिदुग्धो, मज्जं
मत्स्यादीणं, वसा, सुत्तं, मज्जे कज्जति इक्खुरसे वा गुडिया सुत्तं
सर्व्वे सुत्तेषु जहासंभवं अप्पणो अचक्खुविसयत्था णयणादिया
देहाद्ययथा पल्लोएऽर्थः—तत्थ स्वरूपं पश्यति । चोदक आह-
किं तत् पश्यति ? । आचार्य आह—आत्मच्छायां पश्यति । पुन-
रप्याह चोदकः—कथमादित्यादिज्ञास्वरूपव्यजनितच्छायादिभोगं
प्रमुपत्त्वा अन्यतोऽपि दृश्यते ? । आचार्य आह—अत्रोच्यते यथा-
पक्षरागेन्द्रनीलप्रदीपशिखानामात्मस्वरूपानुरूपा प्रभा गत्या
स्वत एव सर्व्वतो भवति, तथा सर्व्वपुद्गलव्याणामात्मप्रज्ञाऽनुरू-
पा छाया सर्व्वतो भवत्यनुपलब्धा वा इत्यतोऽन्यतोऽपि दृश्यते ।
पुनरपि चोदक आह—जति अप्पणो च्छायां देहति, तो कइ अप्प-
णा सरीरसरिसं वरणरूपं पिच्छति ? ।

अत्रोच्यते—

भामा तु दिवा गाय, अभासरगता णिसिं तु काळाभा ।

से सर्व्वे भासरगत, सदेहवष्ठा मुण्येयव्वा ॥ ६० ॥

आदित्येनावजासितो दिवा अभास्थरे अदीप्तिमति भूम्यादि-
के छव्ये वृक्षादीनां निपतिता गाय गायैव दृश्यते । अनिर्व्व्यञ्जि-
ताऽवयवा वर्णतः इयामाऽऽज्ञा तस्मिन्नेवाभास्थरे छव्ये भूम्या-
दिके रात्रौ निपतिता गाय वर्णतः कृष्णा भवति । जया पुन स-
र्व्वे व छाया दीप्तिमति दर्पणादिके छव्ये निपतिता दिवा रा-
त्रौ वा तदा वर्णतः शरीरवर्णतः शरीरवर्णव्यञ्जितावयवा च
दृश्यते । सा च गाय सदृशी न भवति । चोदक आह—यदि
गाया सदृशी न भवति सा कथं न भवति, किं वा तत्पश्यन्ति ? ।

अत्रोच्यते—

उज्जोयफुम्मि तु द-प्पणम्मि संजुज्जते जया देहो ।

होति तया पडिर्विधं, गाय जइ जाससंजोगो ॥ ६१ ॥

उज्जोयफुम्नो दर्पणः निर्मलः इयामादिविरहितः तस्मिन् जदा स-
रीरं अक्षं वा किञ्चि घटादि संयुज्यते तदा स्पष्टं प्रतिबिम्बं प्र-
तिनिमित्तं भवति घटादीनाम्, यदा पुन स दर्पणो साम ए आवरितो,
गगनं वा अज्जगादिहि आवरितं तदा, तस्मिन् चैव आयरिसे
पगासद्विते देहादिसंयुक्ते गायामात्रं दिस्सइ । इदानीं सीसो
पुच्छति—तं पम्भिर्विधं गायं वा को पासति ? । तत्थ भग्गति-
ससमयपरसमयवच्चव्याप—

आदरिसपानिहयाओ-वलभंति रस्सी सरुवमन्नेसि ।

तं तु न जुज्जति जम्हा, पस्सति अत्ता ए रस्सीओ ॥६२॥

आत्मनः शरीरस्य या रश्मयः पस्सति विनिर्गताः तासां या आदर्शे अग्रःकृताः प्रतिहता रश्मयः, ता रश्मयो विस्वादिस्वरूपमुपलभन्ते । एषोऽभिप्रायोऽन्येषां परतन्त्राणाम् । जैनतन्त्रव्यवस्थिता आहुः-न युज्यते एतत्, यस्मात्सर्वप्रमाणानि आत्माधीनानि तस्मादात्मा पश्यति न रश्मयः । इदानीं पराभिप्रायेतिरस्कृते स्वपक्षः स्थाप्यते-‘उज्जोयफुरुम्मिस्ति’ गाहा ।

एषोऽर्थस्तस्यार्थस्य स्थिरीकरणार्थं पुनरप्याह—

जुज्जति हु पगासफुणे, पन्निविं दप्पणम्मि पस्संतो ।

जस्सेव जया चरणं, सो णाया होति विं वा ॥ ६३ ॥

जुज्जते घटते फुडण्णगासे दप्पणे अप्पाणं पलोएतो पन्निविं प्रतिरूपं शिखंजितावयवं पस्सति । तं च पस्संतस्स जया अन्भादीहिं अप्पागासीजुतं भवति तदा तमेव विं च्छाया दी-सति [विंस्ति] यं वा पेक्खंतस्स अन्भादी आवरणावगमे तमेव छायां विं पस्सति शिखंजितावयवं प्रतिरूपमित्यर्थः ।

सीसो पुच्छति-कम्हा सव्वे देहावयवा आदरिसे ए पेच्छति अतो भन्नति-

जे आदरिसं वत्ता, देहावयवा हवंति एयणादी ।

तेसिं तत्थुवल्ल्ही, पगासजोगा ए इतरेसिं ॥ ६४ ॥

छद्दिसि सरीरतेयरस्सिसु पधावितासु जं दिसि आदरिसो जितो ततो जे एयणहत्थादी सरीरावयवादी । जे य आदरिसे ण वन्निया तेसिं तस्मिं आदरिसे ण उवल्ल्ही जयति । जदि य आदरिसो अन्भावगो सव्वागासेण संजुतो न अंधकारव्यवस्थित इत्यर्थः । [इतरेसिं ति] जे आदरिसेण सह न संजुत्ता ते न तत्रोपलभ्यन्ते ।

एमेव य परविं, जं आदरिसे ए होइ संजुत्तं ।

तत्थ विहो उवल्ल्ही, पगासजोगा अदिट्ठे वि ॥ ६५ ॥

एवमित्यवधारणे । किम्हं अवधारयितव्यम्?, यदेतदुपलब्धि-कारणमुक्तम् । अनेन उपलब्धिकारणेन यद् व्यज्यते घटादि-रूपप्रतिबिम्बमादर्शं संयुज्यते । तत्रानुपलब्धिर्भवत्यात्मनोऽप-श्यतोऽपि घटादिकम् । एवं मणिमादिसु विभाव्येयत्वं, णवरं, तेल्लज्जनादिसु जारिसं विं आगासमंतरेति तारिसमेव दीसते ।

एएसामणतरे, अप्पाणं जे उ देहते भिक्खू ।

सां आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ६६ ॥

दप्पणमणिमादीयाणं अण्वरे जो अप्पाणं जोएति तस्स आणादिया य दोसा, चउल्लहुं वा से पच्छिंत्तं । आयसंजमं विरा-हणा य भवति, इमे य अण्वे य दोसा ।

गमणादीया रूवम-रूवं तु कुज्जा णिदाणमादीणि ।

वाउस-गारवकरणं, खित्तादि निरत्थगुड्ढाहो ॥ ६७ ॥

आदरिसादिसु अप्पाणं रूववंतं दट्ठुं विसए खंजामिस्ति पन्नि-गमणं करेति, अस्सतिथिपसु वा पविसति, सिद्धपुत्तो भवति, सिद्धपुत्तिं वा सेवति, सन्निगेण वा संजतिं पडिसेवति । विरूवं वा अप्पाणं दट्ठुं शिखाणं करेज्जा । आदिसद्दातो देवतारोहणादि वसीकरणजोगादि वा अधिजेज्ज, सरीरपाउसत्तं वा करेज्जा । आदरिसे वा अप्पाणो रूवं दट्ठुं सोमामिस्ति गारवं करेज्जा

रूवेण हरिसिउं, विरूवो वा विसादेण खित्तादिचित्तो भवेज्ज, तं कम्मखवणवेज्जियं निरत्थकं सागारियं दिट्ठे उड्ढाहो ण एव तस्सी कामीए स अजिइदिउं चि उड्ढाहं करेज्जा । वित्तीयगाहा-वित्तीयपदमणप्पज्झो, सेहो अवि कोवितो च अप्पज्झो ।

विस आथंका मज्जण-मोहातिगिच्छाए नाणमवि ॥ ६८ ॥

अण्णज्झो पराधीणत्तणं ते, सेहो अवि कोवितो अजाणत्तणतो जो पुण अप्पज्झो जाणगो से इमेहिं कारणेहिं अप्पाणं आदरिसे देहति, सप्पादिविसेण अजिज्झूते जात्तागहभूतातंके वा उवाट्ठिते आदरिसविज्जाए मज्झियत्वं, तत्थ आदरिसे अप्पाणो पन्निविं गित्ताणस्स चाउ मज्जति, ततो पप्पस्यति मोहातिगिच्छाए वा देह-ति । अहवा इमे कारणा-

पुप्फग गल्लगंडं वा, मंडव दंतरोय जीह उट्ठे य ।

उचक्खुविसयट्ठिय वु-ट्ठिहाणि जाणट्ठ वा पेहो ॥ ६९ ॥

अक्खिम्मि फुल्लगं गवे वा गं पसुत्ति मंरुलं वा दंतं वा को-तिघुणदंतगादिरोगो अहवा जिज्जाए उठे वा किंचि उठियं पिलगादि एवमादि अचक्खुविसयट्ठियं अपिक्खंतो तिगिच्छा-णिमित्तं वुट्ठिहाणि जाणनिमित्तं वा उड्ढाए देहंति अप्पा-सागारिण ए दोसो । नि० चू० १३ उ० ।

उपानहादिधारणम्-

“ पाणहाओ य उत्तं च, णालीअं बालवीअणं ।

परकिरियं अन्नमन्नं च, तं विज्जं परिजाणिआ ” ॥१॥

सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । (‘ धम्म शब्देऽस्या व्याख्या ’)

कपाटोद्घाटनादिकारणम्-

“ णोप्पिहे ण यावपंगुणे, दारं सुएणघरस्स संजए ।

पुट्ठेण उदाहरं वयं, ण समुत्थे णो संथरे तणं ” ॥१॥

सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । (‘ टाणठिय ’ शब्दे व्याख्याऽस्या वक्ष्यते) (अचित्तप्रतिष्ठितं सचित्तप्रतिष्ठितं वा गंधं जिघ्रति इति ‘ गंध ’ शब्दे वक्ष्यते)

गात्रप्रमार्जनम्-

जे जिक्खू लहुसयं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवि-यडेण वा हत्थाणि वा पायाणि वा कप्पाणि वा अच्छी-णि दंताणि नहाणि मुहाणि वा उच्छोलेज्ज वा पथोले-ज्ज वा उच्छोद्वंतं वा साइज्जइ ॥ ७० ॥

लहुसं स्तोत्रं याव तिलि य सती सीतोदकं सीतलं उसिणो-दगं उरहं वियरं पयगतजीवं एत्थ सीतोदगवियडेहिं सपडि-वक्खेहिं चउमंगेसु, ते य पढमततिथा जंगा गहिया, दो हत्था हत्थाणि वा, दो पादा पादाणि वा, वत्तीसं दंता दंताणि वा, आ-सए पोसए य अण्वे य इंदियमुहा मुहाणि वा, उच्छोद्वरं धो-वणं । तं पुण दोसे सव्वे य णिज्जुत्तिवित्थारा इमो-

तिस्सि य सती य लहुसं, वियरं पुण हांति विगतजीवं तु ।

उच्छोलणा तु तेणं, देसे सव्वे य णायव्वा ॥ ८० ॥

गतार्था ।

आइममणाइसा, दुविधा देसम्मि हांति णायव्वा ।

आयसं वि य दुविधा, णिकारणया य कारणया ॥ ८१ ॥

देसे उच्छोद्वरणा दुविधा-आइसा अणाइसा य । साधुभिराच-र्यते या सा आचीर्णा, इतरा तद्विपरीता । अणाइसा दुविहा-कारणे णिकारणे य । जा कारणे सा दुविधा-

भत्ता मासे लेवे, कारण णिकारणे य विवरीयं ।

मणिवंधादि करेसुं, जत्तियमितं ति लेवेणं ॥ ८२ ॥

तत्थ जत्ता मासे मणिवंधाओ करेसुं ति असणाइणा वेवाडेण इत्था लेवानिया ते मणिवंधातो जाव धोवति, एसा भत्ता, मासे इमा, लेवे-जत्तियमेत्तं तु लेवेणं तिअसज्जा तिय मुत्तपुरीसा-दिणा जति सरीराऽववेवणादि गातं लेवानितं तस्स तत्तियमेत्तं धोवे, एसा कारणओ भणिता । णिकारणे तव्विवरीयं चि ।

एतं खलु आइन्नं, तव्विवरीतं भवे अणाइणं ।

चलणादी जाव सिरं, सव्वं चिय धोतिऽणाइणं ॥ ८३ ॥

भत्ता मासे लेवे य इमं आइणं, तव्विवरीयं देसे सव्वे वा सव्वं अणाइणं ।

मुहुणयणचलणदंता-णकसिरा वाहुवत्तिदेसो य ।

परियट्ठाह दुग्गो, पत्तय उच्चोन्नणा देसे ॥ ८४ ॥

मुहुणयादिया ण केसिं वि डुग्गप्रत्ययं वा देसे सव्वे वा उच्चोन्नणं करोतीत्यर्थः । वक्ष्यमाणपोरुशभङ्गमध्यादमी अष्टौ घटमानाः, शेपा अघटमानाः ।

आइण लहुसएणं, कारण णिकारणे वऽणाइणो ।

देसे सव्वे य तहा, बहुएणेमेव अट्ट पदा ॥ ८५ ॥

आइणलहुसएणं देसे एव प्रथमः । एव एव णिकारण-सहितो द्वितीयः, अणाचीर्णग्रहणात् तृतीयचतुर्थौ गृहीतौ, लहुसणिकारणदेसेत्यनुवर्तते । चतुर्थे विशेषः सर्वमिति वक्तव्यम्; जहा लहुस पदे चतुरो भंगा तहा बहुएण वि चउरो सव्वे अट्ट । एवशब्दग्रहणात् तृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठभङ्गविपर्यासः प्रदर्शितः । वक्ष्यमाणपोरुशभङ्गक्रमेण घटमानाघटमान-भङ्गप्रदर्शनार्थं लक्षणम् ।

जत्थाऽऽइणं सव्वं, जत्थ व करणे अणाइएणं ।

जंगाण सोलसएहं, ते वज्जा सेसगा गेज्जा ॥ ८६ ॥

यस्मिन् भङ्गे आचीर्णग्रहणं दृश्यते तत्रैव यदि सर्वत्र ग्रहणं दृश्यते ततः पूर्वापरविरोधान्न दृश्यते घटते अस्मै भङ्गः । यत्र वा कारणग्रहणे दृष्टे अनाचीर्णं दृश्यते असावपि न घटते । एतान् व-जंयित्वा शेपा ग्राह्याः ।

सोलसभंगरयण गाहा इमा-

आइण लहुस कारण, देसेतरे जंग सोलस हवंति ।

एतं पुण जे गेज्जा, ते पुण वोच्चं समासेणं ॥ ८७ ॥

इतरग्रहणात् आइणलहुसणिकारणसव्वमिति-एते पदा द-छन्वा अमी ग्राह्याः ।

पढे तति एकारो, वारो तह पंचमो य सत्तमओ ।

पन्नर सोलसमो वि य, परिवामी होति अट्टएहं ॥ ८८ ॥

पढमो ततिओ एकारसो वारसो पंचमो सत्तमो य दो चरिमा य यथोद्धिष्टक्रमेण स्थापयित्वा इमं ग्रन्थमनुसरेज्जा ।

आइणलहुसएणं, कारण णिकारणे व तत्थेव ।

आइण देससव्वे, लहुसे तीहं कारणं एत्थि ॥ ८९ ॥

आइणलहुसएण कारणे इति प्रथमः । णिकारणे तत्थेवेति आइणलहुसे अनुवर्तमाने णिकारणं द्रष्टव्यं द्वितीयो भङ्गः । पढमवित्तीयसु देसस्मि अर्थो द्रष्टव्यः । पश्चाद्धेन तृतीयचतुर्थ-भङ्गौ गृहीतौ । अणाइणं तृतीये देसे, चतुर्थे सर्वे बहुसमित्यनु-वर्तते, ततियचउत्थेषु कारणं एत्थि ।

इदानीं पञ्चमादिभङ्गप्रदर्शनार्थं गाथा-

आइणं बहुएणं, कारण णिकारणे वि तत्थेव ।

अणाइण देससव्वे, बहुणा तीहं कारणं एत्थि ॥ ९० ॥

पंचमे बहुएणं आइणं कारणं तत्थेव चि आइण बहु एस अणुवट्टमाणेषु गृहे णिकारणं द्रष्टव्यमिति । पंचमगृहेषु देस-मिति अर्थाद् द्रष्टव्यमिति । सप्तमाष्टमेषु अणाइणं सप्तमे देशम्, अष्टमे सर्वे बहुसमित्यनुवर्तते, कारणं नास्त्येवेत्यर्थः ।

प्रथमभङ्गानुज्ञानार्थं शेषभङ्गप्रतिषेधार्थं चेदमाह-

आइण लहुसएणं, कारणतो देसतं अणुमातं ।

सेसाणाणुषाया, उवरिद्धा सत्त वि अदातुं ॥ ९१ ॥

आइणलहुसएणं कारणे देसे एस भङ्गो अणुषातो उवरिमा सत्त वि पडिसिद्धा भंगा ।

द्वितीयादिभङ्गप्रदर्शनार्थमिदमाह-

आइणलहुसएणं, णिकारणदेसओ जवे वितिउं ।

णाइणलहुसएणं, णिकारणदेसओ तइओ ॥ ९२ ॥

णाइणलहुसएणं, णिकारणसव्वतो चउत्थो उ ।

एवं बहुणा वि अषे, जंगा चत्तारि णायव्वा ॥ ९३ ॥

पढमं मुद्धो लहुगा, तिसु लहु उवट्टहू य अट्टमए ।

एत्थित्ते परिवामी, अट्टसु भंगेसु एएसु ॥ ९४ ॥

दुगं आइणलहुसे णिकारणे सव्वतो चउत्थभंगो, एवं बहुणा वि अषे चउरो भंगा णायव्वा । पढमभंगो मुद्धो, सेसेसु इमं पच्छित्तं-

सुत्तणिवातो वितिए, ततियपदम्मि पंचमे चेव ।

गृहे य सत्तमे वि य, तं सेवताणमादीणि ॥

वितियततियपंचमगृहसत्तमेसु भंगेसु सुत्तणिवातो मास-लहु, चउत्थमेसु चउलहुं तमिति । नि० चू० २ उ० । “पर-मत्ते अन्नपाणं, ण भुंजिज्ज कयाइ वि । परवत्थमयेलो वि, तं विज्जं परिजाणिआ” ॥ १० ॥ सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । (अस्या व्याख्या ‘ धम्म ’ शब्दे द्रष्टव्या)

मद्यमांसादिसेवनम्--

अमज्जमंसासि अमच्छरी य,

अभिकखणं निव्विगयं गया य ।

अजिक्खणं काउस्सगकारी,

सिज्जायजोगे पयओ हविज्जा ॥ ७ ॥

अमद्यमांसाशी भवेदिति योगः, अमद्यपोऽमांसाशी च स्यात् । एते च मद्यमांसे लोकागमप्रतीते एव । ततश्च यत् केचनाभि-दधत्पारनालापरिष्ठाद्यपि संधानादोदनाद्यपि प्राण्यङ्गत्वात् त्याज्यमिति । तदसत् । अमीषां मद्यमांसत्वायोगात् । लोकशा-स्त्रयोरप्रसिद्धत्वात्, संधानप्राण्यङ्गतुल्यत्वचोदना त्वसाध्वी, अतिप्रसङ्गदोषात्, द्रवत्वस्त्रीत्वतुल्यतया मूत्रपानमातृगम-नादिप्रसङ्गात्, इत्यलं प्रसङ्गेन । अक्षरगमनिकामात्रप्रक्रमात् । तथा अमत्सरी च न परसंपदद्वेषी च स्यात् । तथा अमीक्ष्णं पुनः पुनः पुष्टकारणाभावे, निर्विकृतिकश्च निर्गतविकृतिपरि-भोगश्च भवेत् । अनेन परिभोगोचितविकृतितानामप्यकारणे प्रतिषेधमाह-तथा अमीक्ष्णं गमनागमनादिषु विकृतिपरिभो-गेऽपि चाप्ये । किमित्याह-कायोत्सर्गकारी भवेत् । इत्थं पथ-

प्रतिक्रमणमकृत्वा न किञ्चिदन्यत्कुर्यात्, तदशुद्धतापत्तेरिति ।
तथा स्वाध्याययोगे वाचनाद्युपचारव्यापारे आचामाम्लादौ
प्रयतोऽतिशयप्रयत्नपरो भवेत्, तथैव तस्य फलवत्त्वादिपर्यय-
जन्मादादिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

किञ्च—

ए पन्निविज्जा सयणामणाइं,
सिज्जं निसिज्जं तह भत्तपाणं ।

गामे कुल्ले वा नगरे व देसे,

ममत्तजावं न कहिं वि कुज्जा ॥ ८ ॥

[ए पण्डितविज्जेत्ति] न प्रतिज्ञापयेन्मासादिकल्पपरिसमाप्तौ
गच्छन् भूयोऽप्यागतस्य ममेचैतानि दातव्यानीति न प्रतिज्ञां का-
रयेद् गृहस्थम् । किमाश्रित्येत्याह-शयनाशने शय्यां निपद्यां तथा
भक्षणमिति । तत्र शयनं संस्तारकादि, आसनं पीठकादि, श-
य्या वसतिः, निपद्या स्वाध्यायादिभूमिः, तथा तेन प्रकारेण तत्-
कालावस्यौचित्येन भक्षणं खण्डखाद्यकद्राक्षापानकादि न प्र-
तिज्ञापयेत् । ममत्वदोषात् सर्वत्रैतन्निषेधमाह । ग्रामे शालिग्रा-
मादौ, कुले वा श्रावककुलादौ, नगरे साकेतादौ, देशे वा म-
ध्यदेशादौ, ममत्वभावं ममेदमिति स्नेहं मोहं न कचिदुपकर-
णादिष्वपि कुर्यात्, तन्मूलत्वाद् दुःखादीनामिति सूत्रार्थः ॥८॥
दश०२चूडि०(रोमकृन्तनम् 'रोम' शब्दे निपेत्यते) "सीसे परो
दीहाइ बाहाइ दीहाइ रोमाइ दीहाइ भमुहाइ दीहाइ कप्परोमा
इ दीहाइ वत्थिरोमाइ कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वाणो तं साइए णो तं
नियमे " आचा० (वमनविरेचनादिकरणं 'वमन' शब्दे वक्ष्यते)

बलधावनादिकरणम्—

" धोअणं रयणं चैव, वत्थीकम्म विरेयणं ।

वमणं जणपलीमंथं, तं विज्जं परिजाणिआ ॥ १२ ॥

गन्धमल्लसिणाणं च, दंतपक्खालणं तथा ।

परिग्गहित्थिकम्मं च, तं विज्जं परिजाणिआ " ॥ १३ ॥

सूत्र० १ शु०६ अ० । (अनयोर्व्याख्या 'धम्म' शब्दे)

विपर्ययदर्शने—

आदाय वंनचेरं च, आसुपन्ने इमं वयं ।

अस्सि धम्मे अणायारं, नायरेज्ज कयाइ वि ॥ १ ॥

आदाय गृहीत्वा, किं तद् ? ब्रह्मचर्यं सत्यतपोभूतदयेन्द्रियनि-
रोधलक्षणम् । तच्चर्यते अनुष्ठीयते यस्मिन्स्तमौनीन्द्रप्रवचनं ब्रह्म-
चर्यमित्युच्यते । तदादायाऽऽशुप्रज्ञः पटुप्रज्ञः, सदसद्भिषेकज्ञश्च ।
क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियासव्यपेक्षित्वात् तामाह-इमां सम-
स्ताध्ययनेनाभिधीयमानां प्रत्यक्षासन्नभूतां वाचमिदं शाश्व-
तमेवेत्यादिकां कदाचिदपि नाचरेद् नाभिध्यात्, तथाऽस्मिन्
धर्मे सर्वज्ञप्रणीते व्यवस्थितः सन् अनाचारं सावधानुष्ठान-
रूपं न समाचरेन्न विदध्यादिति संबन्धः । यदि वा ऽऽशुप्रज्ञः स-
र्वज्ञः प्रतिसमयं केवलज्ञानदर्शनोपयोगित्वात् तत्सम्यग्निधिनि-
धर्मे व्यवस्थित इमां वक्ष्यमाणां वाचमनाचारं च कदाचि-
दपि नाचरेत् । इति श्लोकार्थः । तत्रानाचारं नाचरेदित्युक्तम् ।
अनाचारश्च मौनीन्द्रप्रवचनात् अपरोऽभिधीयते । मौनीन्द्रप्र-
वचनं तु मोक्षमार्गहेतुतया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यात्मकम्, स-
म्यग्दर्शनं तु तत्त्वार्थभ्रष्टानुरूपं, तत्त्वं तु जीवाजीवपुण्यपापा-
श्रवचन्धसंवरनिर्जरा मोक्षात्मकम् । तथा धर्माधर्माकाशपुञ्ज-
जीवकालात्मकं द्रव्यं नित्यानित्यस्वभावं, सामान्यविशेषा-
त्मकोऽनाद्यपर्यवसानश्चतुर्दशरज्ज्वात्मको लोकस्तत्त्वमिति ।
ज्ञानं तु मतिश्रुताद्यधिमनःपर्यायकेवलस्वरूपं पञ्चधा । चा-

रित्रं सामायिकं छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धीयसूक्ष्मसंप-
राययथाऽऽख्यातरूपं पञ्चधैव । मूलोत्तरगुणभेदतो वाऽनेकधे-
त्येवं व्यवस्थिते मौनीन्द्रप्रवचने न कदाचिदनीदृशं जगदिति
कृत्वाऽनाद्यपर्यवसाने लोके सति दर्शनाचारप्रतिपक्षभूतमना-
चारं दर्शयितुकाम आचार्यो यथावस्थितलोकस्वरूपोद्घाटन-
पूर्वकमाह—

अणायारं परित्राय, अणवदगोति वा पुणो ।

सासयमसासते वा, इति दिट्ठिं न धारए ॥ २ ॥

(अणायारमित्यादि) नास्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्य
धर्माधर्मादिकस्य वा इव्यस्यादिः प्रथमोत्पत्तिविद्यते इत्य-
नादिकस्तमेवंभूतं परिज्ञाय प्रमाणतः परिच्छिद्य, तथाऽनवदग्रम-
पर्यवसानं च परिज्ञायोभयात्मकव्युदासेनैकनयदृष्ट्याऽवधारणा-
त्मकं प्रत्ययमनाचारं दर्शयति-शाश्वतप्रवतीति शाश्वतं नित्यम्,
सांख्याग्निप्रायेणाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावम् । स्वदर्शने चानु-
यायिनं सामान्यांशमवलम्ब्य धर्माधर्माकाशादिष्वनादित्वम-
पर्यवसानत्वं चोपलभ्य, सर्वमिदं शाश्वतमित्येवंभूतां दृष्टिं ना-
वधारयेदिति, एवं पक्षं न समाश्रयेत् । तथा विशेषपक्षमाश्रि-
त्य वर्तमाननारकाः समुत्सेत्स्यन्तीति एतच्च सूत्रमङ्गीकृत्य यत्त-
त्सर्वमनित्यमित्येवंभूततयैकदर्शनाभिप्रायेण च सर्वमशाश्वतम-
नित्यमित्येवंभूतां च दृष्टिं न धारयेदिति । किमित्येकान्तेन
शाश्वतमशाश्वतं वाऽस्तीत्येवंभूतां दृष्टिं न धारयेदित्याह—

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ए विज्जति ।

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ३ ॥

(एतेहिं दोहिमित्यादि) सर्वं नित्यमेवानित्यमेव चैताज्यां
द्वाभ्यां स्थानान्यामभ्युपगम्यमानाभ्यामनयोर्वा पक्षयोर्व्यव-
रणं व्यवहारो लोकस्यैहिकामुष्मिकयोः कार्ययोः प्रवृत्तिनिवृत्ति-
लक्षणो न विद्यते । तथाहि-अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं सर्वं
नित्यमित्येवं न व्यवहियते । प्रत्यक्षेणैव नवपुराणादिज्ञावेन प्र-
ध्वंसभावेन वा दर्शनात्तथैव च लोकस्य प्रवृत्तेरामुष्मिकेऽपि
नित्यत्वात्मनोवन्धमोक्षाद्यज्ञावेन दीक्षायमनियमादिकमनर्थ-
कमिति न व्यवहियते, तथैकान्तानित्यत्वेनापि न लोको धनधा-
न्यघटपटादिकमनागतजोगार्थं संगृहीयात् । तथाऽमुष्मिके-
ऽपि कृष्णिकत्वादात्मनः प्रवृत्तिर्न स्यात् । तथा च दीक्षाविहारा-
दिकमनर्थकम् तस्मादित्यानित्यात्मकस्याद्वादे सर्वव्यवहारप्रवृ-
त्तिः, अत एव तयोर्नित्यानित्ययोरेकान्तत्वेन समाश्रियमाणयोरैहि
कामुष्मिककार्यविध्वंसरूपमनाचारमौनीन्द्रागमबाह्यरूपं विजा-
नीयात् । तुशब्दो विशेषणार्थः । कथञ्चिन्नित्यानित्ये वस्तुनि स-
ति व्यवहारो युज्यत इत्येतद्विशिनष्टि । तथाहि-सामान्यमन्वयि-
नमंशमाश्रित्य 'स्यान्नित्यम्' इति ज्ञवति । तथा विशेषांशं प्रति-
क्षणमन्यथा च नवपुराणादिदर्शनतः 'स्यादनित्यम्' इति भव-
ति । तथोत्पादव्ययप्रौढ्याणि चार्हदर्शनाश्रितानि व्यवहाराणि
भवन्ति । तथा चोक्तम्—“घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिः
स्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थं, जनो याति सहेतुकम् ॥ ” इ-
त्यादि । तदेवं नित्यानित्यपक्षयोर्व्यवहारो न विद्यते, तथाऽनयो-
रेवानाचारं विजानोयादिति स्थितमिति ।

तथाऽन्यमन्यनाचारं प्रतिषेद्धुकाम आह—

समुच्छिहिंति सत्थारो, सव्वे पाणा अणेलिसा ।

गंठिगा वा जविस्संति, सासयंति य णो वदे ॥ ४ ॥

[समुच्छिह्नीत्यादि] सम्यग्विरवशेषतयोच्छेत्स्यन्त्युच्छेदं यास्यन्ति कृत्यं प्राप्स्यन्ति, सामस्येनोत्प्राधत्येन सेत्स्यन्ति वासिक्किं यास्यन्ति । के ते? शास्तरस्तार्थिकृतः सर्वज्ञाः, तच्छासनप्रतिपन्ना वा, सर्वे निरवशेषाः सिद्धिगमनयोग्याः, ततश्चोत्सन्नमव्यं जगत्स्यादिति शुष्कतर्काभिमानप्रदगृहीता युक्तिर्चाभिदधति । जीवसद्भावे सत्यप्यपूर्वोत्पादाभावादन्नव्यस्य च सिद्धिगमनसंभवात्, काव्यस्य चाऽऽनन्त्यादनाचारनासिद्धिगमनसंजवेन तद्यथोपपत्तेरपूर्वाभावादन्नव्योच्छेद इत्येवं नो वदेत् । तथा सर्वेऽपि प्राणिनो जन्तवोऽनीदृशा विसदृशाः सदा परस्परविषकृणा एव, न कथञ्चित्तेषां सादृश्यमस्तीत्येवमप्येकान्तेन नो वदेत् । यदि वा सर्वेषां भव्यानां सिद्धिसद्भावे विशिष्टाः संचारेऽनीदृशा अभव्या एव भवेयुरित्येवं च नो वदेत् । युक्तिर्चात्तरत्र वदयाति । तथा कर्मात्मको ग्रन्थो येषां विद्यते ते ग्रन्थिका इति, ग्रन्थिकाः सर्वे प्राणिनः कर्मग्रन्थोपेता एव भविष्यन्तीत्येवमपि नो वदेत् । इदमुक्तं भवति—सर्वेऽपि प्राणिनः सेत्स्यन्त्येव, कर्मावृता वा सर्वे प्रविष्यन्तीत्येवमेकमपि पक्षमेकान्तिकं नो वदेत् । यदि वा ग्रन्थिका इति । ग्रन्थिकसत्त्वा भविष्यन्तीति ग्रन्थिर्देदं कर्तुमसमर्था भविष्यन्तीत्येवं च नो वदेत् । तथा शाश्वता इति । शास्तरः सदा सर्वकालं स्थायिनस्तार्थिकरा प्रविष्यन्ति, न समुच्छेत्स्यन्ति नोच्छेदं यास्यन्तीत्येवं नो वदेदिति ।

तदेवं दर्शनाचारवादनियेधं चाङ्गमात्रेण प्रदर्श्याधुना युक्तिर्दर्शयितुकाम आह—

एषहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जति ।

एषहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ५ ॥

(एषहिं इत्यादि) एतयोरेव तरोक्तयोर्द्वयोः स्थानयोस्तद्व्याशास्तरः कृत्यं यास्यन्तीति शाश्वता वा भविष्यन्तीति । यदि वा सर्वे शास्तरस्तद्दर्शनप्रतिपन्ना वा सेत्स्यन्ति शाश्वता वा भविष्यन्ति । यदि वा सर्वे प्राणिनो ह्यनीदृशाः विसदृशाः सदृशा वा, तथा ग्रन्थिकसत्त्वास्तद्विहिता वा प्रविष्यन्तीत्येवमनयोः स्थानयोर्द्वयवहरणं व्यवहारस्तदस्ति त्वेयुक्तेरभावात् विद्यते । तथा हि—यत्तावदुक्तं, सर्वे शास्तरः कृत्यं यास्यन्त्येव इति । एतदयुक्तम् । कृत्यनियन्धनस्य कर्मणो भावार्थिसिद्धानां कृत्याभावो न, भवस्थकेवल्यपेक्षयेदमभिधीयते । तदप्यनुपपन्नम् । यतोऽनाद्यनन्तानां केवलानां सद्भावात् प्रवाहापेक्षया तदज्ञावाभावः । यदयुक्तम्—अपूर्वाया भावे सिद्धिगमनसद्भावेन च व्ययसद्भावाद्भव्यशून्यं जगत् स्यात्; इत्येतदपि सिद्धान्तपरमार्थवेदिनो वचनम् । यतो भव्यराशे राजान्ते भविष्यत्कालस्य वाऽऽनन्त्यमुक्तम्, तच्चैवमुपपद्यते—यदि कृत्यो न अवति, सति च तस्मिन्नानन्त्यं न स्यात्, नापि चावश्यं सर्वस्यापि भव्यस्य सिद्धिगमनेन भाव्यमित्यानन्त्याद्भव्यानां तत्सामग्र्यभावाद् योग्यदलिकप्रतिभावस्तदनुपपत्तिरिति । तथा नाऽपि शाश्वता एव, अवस्थकेवलानां शास्त्राणां सिद्धिगमनसद्भावात्, प्रवाहापेक्षया शाश्वतत्वमेव । अतः कथञ्चित् शाश्वताः कथञ्चित्सदृशा इति । तथा सर्वेऽपि प्राणिनो विचित्रकर्मसद्भावानानागतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गादिसमन्वितत्वादनीदृशा विसदृशाः, तथोपयोगासंख्येयप्रदेशत्वामूर्तत्वादितिर्भिर्धैः कथञ्चित्सदृशा इति । तथोल्लसितसद्भावं तथा केचिन्नान्ग्रन्थयोऽपरे च तथाविधपरिणामाभावाद् ग्रन्थिकसत्त्वा एव भवन्तीत्येवं व्यवस्थिते नैकान्तेनैकान्तपक्षो भवतीति प्रतिबिम्बः । तदेवमेतयोरेव द्वयोः

स्थानयोरुक्तनीत्या नानाऽऽचारं विजानीयादिति स्थितम् । अपि च । आगमेऽनन्तानन्तास्वप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु भव्यानामनन्तभाग एव सिध्यतीत्ययमर्थः प्रतिपाद्यते । यदा चैवंभूतं तदाऽऽनन्त्यं, तत्कथं तेषां कृत्यः? युक्तिरप्यत्र संवन्धिशब्दावती—मुक्तिः संसारं विना न भवति, संसारोऽपि न मुक्तिमन्तरेण, ततश्च भव्योच्छेदे संसारस्याप्यभावः स्यादतोऽभिधीयते—नानयोर्व्यवहारो युज्यत इति ।

अधुना चारित्राचारमङ्गीकृत्याह—

जे केइ खुद्गा पाणा, अदुवा संति महालया ।

सरिसं तोहिं ति वेरंति, असरिसं ती य णो वदे ॥ ६ ॥

(जे केइ इत्यादि) ये केचन कुञ्जकाः सत्त्वाः प्राणिन एकेन्द्रिय-छान्द्रियादयोऽल्पकाया वा पञ्चेन्द्रियाः । अथवा महालया महाकायाः सन्ति विद्यन्ते, तेषां कुद्रकाणामल्पकायानां कुन्वादीनां, महानालयः शरीरं येषां ते महालयाः हस्यादयः तेषां च, व्यापादने सदृशं वैरमिति वज्रं कर्म, विरोधवृत्तं वा वैरं, सदृशं समानं तुल्यप्रदेशत्वात्सर्वजन्तूनामित्येवमेकान्तेन नो वदेत् । तथा विसदृशमसदृशं तद्व्यापत्तौ वैरं कर्मवन्धो वा इन्द्रियविज्ञानकायानां विसदृशत्वात्सत्यपि प्रदेशतुल्यत्वे न सदृशं वैरमित्येवमपि नो वदेत् । यदिह वध्यापेक्ष एव कर्मवन्धः स्यात्ततः तत्तद्वशात्कर्मणोऽपि सादृश्यमसादृश्यं वा वक्तुं युज्यते, न च तद्वशादेव यथः, अपिं त्यव्यवसायवशादपि । ततश्चातीव्राध्यवसायिनोऽल्पकायसत्त्वव्यापादनेऽपि महद्वैरम्, अकामस्य तु महाकायसत्त्वव्यापादनेऽपि स्वल्पमिति ।

एतदेव सूत्रेण दर्शयति—

एषहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जइ ।

एषहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ७ ॥

(एषहिं इत्यादि) आभ्यामनन्तरोक्तार्थ्यां स्थानाभ्यामनयोर्वा स्थानयोरल्पकायमहाकायसत्त्वव्यापादनापादितकर्मवन्धसदृशत्वासदृशत्वयोर्व्यवहरणं व्यवहारो निर्युक्तिकत्वाच्च युज्यते । तथा हि—न यध्यस्य सदृशत्वमसदृशत्वं चैकमेव कर्मवन्धस्य कारणम्, अपि तु वधकस्य तीव्रभावो मन्दभावो ज्ञानभावोऽज्ञानभावो महावीर्यत्वमल्पवीर्यत्वं चेत्येतदपि । तदेवं व्यवधकयोर्विशेषात् कर्मवन्धविशेष इत्येवं व्यवस्थिते वध्यमेवाश्रित्य सदृशत्वासदृशत्वव्यवहारो न विद्यते इति । तथा तयोरेव स्थानयोः प्रवृत्तस्यानाचारं जानीयादिति । तथा हि—यत्जीवसाम्यात्कर्मवन्धसदृशत्वमुच्यते । तदयुक्तम् । यतो नहि जीवव्यापस्या हिंसोच्यते, तस्य शाश्वतत्वेन व्यापादयितुमशक्यत्वात्, अपि त्विन्द्रियादिव्यापस्या । तथा चोक्तम्—“पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः । प्राणा दशैते भगवद्विरुक्ता—स्तेषां वियोगीकरणं तु हिंसा ॥ ” इत्यादि । अपि च—भावसव्यपेक्षस्यैव कर्मवन्धोऽप्युपेतुं युक्तः । तथा हि—वैद्यस्यागमसव्यपेक्षस्य क्रियां कुर्वतो यद्यप्यातुरविपत्तिर्भवति, तथापि न वैरानुपपन्नो ज्वेदः, दोषाज्ञावात् । अपरस्य तु सर्पबुद्ध्या रज्जुमपि घ्नतो प्राचदोपात्कर्मवन्धः, तद्वद्विषयस्य तु न वन्ध इति । उक्तं चागमे—“उच्चास्त्रियमियाप” इत्यादि । तन्नुद्यमस्याख्यानकं तु सुप्रसिद्धमेव । तदेवंविधवध्यवधकभावापेक्षया स्यात् सदृशत्वं, स्यादसदृशत्वमिति, अन्यथाऽनाचार इति ।

पुनरपि चारित्रमङ्गीकृत्याऽऽहारविषयानाचाराचारौ प्रतिपाद-

यितुकाम आह—

आहाकम्माणि भुञ्जति, अणुमस्ये सकम्मुणा ।

उवालिचे ति जाणिज्जा, अणुवलिचे ति वा पुणो ॥ ८ ॥

साधुप्रधानकारणमादायाऽऽश्रित्य कर्माण्याध्याकर्मणि, तान् तव-
स्त्रभोजनवस्त्यादीन् युज्यन्ते । एतान्याध्याकर्मणि ये जुञ्जते एतैरु-
पभोगं ये कुर्वन्ति, अन्योन्यं परस्परं तान् स्वकीयेन कर्मणोपविष्टान्
विजानीयादित्येवं नो वदेत्, तथाऽनुपलिसानिति वा नो वदेत् ।
एतदुक्तं ज्ञवति—आध्याकर्मणि श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा
जुञ्जानः कर्मणा नोपविष्यते, तदाऽऽध्याकर्मोपभोगेनावश्यतया
कर्मवन्धो भवतीत्येवं नो वदेत् । तथा श्रुतोपदेशमन्तरेणाहार-
गृह्याऽऽध्याकर्मजुञ्जानस्य तन्निमित्तकर्मवन्धसदृशत्वासदृशत्व-
योर्व्यवहारो व्यवहारो निर्युक्तिकत्वाच्च युज्यते । तथाहि—
न वध्यस्य सदृशत्वासदृशत्वयोर्व्यवहारो व्यवहारो निर्युक्ति-
कत्वाच्च युक्तं सदृशत्वम्, अतोऽनुपलिसानापि नो वदेत् । यथाऽव-
स्थितमौनीन्द्रागमज्ञस्य त्वेवं युज्यते वक्तुमाध्याकर्मोपभोगेन
स्यात्कर्मवन्धः, स्यात्तेति । यत उक्तम्—“ किञ्चिच्चुद्धं कल्प-
म-कल्पं वा स्यादकल्पमपि कल्पम् । पिण्डः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा
जपेज्जाद्यं वा ॥ १ ॥ ” तथाऽन्यैरप्यभिहितम्—“ उत्पद्येत हि
साऽऽवस्था, देशकालागम्यान् प्राप्ति । यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्,
कर्म कार्यं च वर्जयेत् ॥ २ ॥ ” इत्यादि ॥ ८ ॥

किमित्येवं स्याद्वादः प्रतिपाद्यते इत्याह—

एण्हिं दोहिं ठाण्हिं, व्यवहारो ण विज्झई ।

एण्हिं दोहिं ठाण्हिं, अणायारं तु जाणए ॥ ९ ॥

(एण्हिं दोहिमित्यादि) आज्यां द्वाभ्यां स्थानाज्यामाश्रिताज्या-
मनयोर्व्यवस्थानयोराध्याकर्मोपभोगेन कर्मवन्धाभावाभावभूतयो-
र्व्यवहारो न विद्यते । तथाहि—यद्यवश्यमाध्याकर्मोपभोगेनैका-
न्तेन कर्मवन्धोऽन्युपगम्येत, एवं चाहारान्नवेनापि क्वचित्सुत-
रामनर्थोदयः स्यात् । तथाहि—जुत्प्रपीमितो न सम्यगीर्या-
पथं शोधयेत्, ततश्च व्रजन् प्राण्युपमर्दमपि कुर्यात् । मूच्छा-
दिसद्भावतया देहपाते सति अवश्यंजावी व्रसादिव्याघातोऽ-
कालमरणे चाविरतिरङ्गीकृता ज्ञवति, आर्तध्यानापत्तौ च तिर्यग्ग-
तिरिति । आगमश्च—“ सव्यत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव र-
क्खेज्जा ” इत्यादिनाऽपि तदुपभोगे कर्मवन्धाभाव इति । त-
थाहि—आध्याकर्मण्यपि निष्पाद्यमाने पूज्यवनिकायवधः, त-
द्वधे च प्रतीतः कर्मवन्ध इत्यतोऽनयोः स्थानयोरेकात्तेनाश्रीय-
माणयोर्व्यवहारो व्यवहारो न युज्यते । तथाऽऽभ्यामेव स्थानाज्यां
समाश्रिताभ्यां सर्वमनाचारं विजानीयादिति स्थितम् ।

पुनरप्यन्यथा दर्शनं प्रति चागमानाचारं दर्शयितुमाह—

यदि वा योऽयमन्तरमाहारः प्रदर्शितः स सति शरीरे भव-
ति । शरीरं च पञ्चधा, तस्य चौदारिकादेः शरीरस्य भेदाज्ज्ञेदं
प्रतिपादयितुकामः पूर्वपक्षचरेणाह—

जमिदं ठरालमाहारं, कम्मगं च तहेव य ।

सव्यत्थ वीरियं अत्थि, एत्थि सव्यत्थ वीरियं ॥ १० ॥

(जमिदमित्यादि) यदिदं सर्वजनप्रत्यक्षमुदारैः पुद्गलैर्निर्वृत्त-
मौदारिकमेतदेवोराद्यं निस्सारत्वात् । एतच्च तिर्यग्मनुष्याणां
भवति । तथा चतुर्दशपूर्वविदा क्वचित्संशयादायान्हियत इ-
त्याहारकम् । एतदुग्रहणाच्च वैक्रियोपादानमपि द्रष्टव्यम् । तथा क-
र्मणा निर्वृत्तं कर्मणम्, एतत् सहचरितं तैजसमपि ग्राह्यम् । औ-

दारिकवैक्रियाहारकाणां प्रत्येकं तैजसकर्मणाभ्यां सह युगप-
दुपलब्धेः कस्यचिदेकत्वाशङ्का स्यादतस्तदपनोदार्थं तदभि-
प्रायमाह—तदेव तद्यदेवौदारिकं शरीरं, त एव तैजसकर्मणे
शरीरे । एवं वैक्रियाहारकयोरपि वाच्यम् । तदेवंभूतां संज्ञां नो
निवेशयेदित्युत्तरश्लोके क्रिया । तथैतेषामात्यन्तिको भेद इत्ये-
वंचूतामपि संज्ञां नो निवेशयेत् । युक्तिश्चात्र—यद्येकान्तेनाभेद
एव, तत इदमौदारिकमुदारपुद्गलानिष्पन्नं, तथैतत्कर्मणा निर्व-
र्तितं कर्मणं, सर्वस्यैतस्य संसारचक्रवालस्य भ्रमणस्य करण-
भूतं तेजोद्रव्यैर्निष्पन्नं तेज एव तैजसम्, आहारपक्तिनिमित्तं तै-
जसस्यवधिनिमित्तं चेत्येवं जेदेन संज्ञानिरुक्तं कार्यं च न स्यात् ।
अथात्यन्तिको भेद एव, ततो वद्वद्भिन्नयोर्देशकालयोरप्युप-
लब्धिः स्यात् । न नियता युगपदुपलब्धिरित्येवं च व्यवस्थिते
कथञ्चिदेवोपलब्धेरभेदः, कथञ्चिच्च सज्ञाभेदाज्ज्ञेद इति स्थितम् ।
तदेवमौदारिकादीनां शरीराणां जेदाभेदौ प्रदर्शयितुमाह—सर्व-
स्यैव व्यवस्य भेदाभेदौ प्रदर्शयितुकामः पूर्वपक्षं श्लोकपश्चा-
त्तं दर्शयितुमाह—(सव्यत्थ वीरियमित्यादि) सर्वं सर्वत्र वि-
द्यत इति कृत्वा साङ्ख्य्याभिप्रायेण सत्त्वरजस्तमोरूपस्य प्रधान-
स्यैकत्वात्तस्य च सर्वस्यैव कारणत्वात्, अतः सर्वं सर्वात्मक-
मित्येवं व्यवस्थिते घटपटाद्यवयवस्य व्यक्तस्य वीर्यं शक्तिर्विद्य-
ते । सर्वस्यैव हि व्यक्तस्य प्रधानकार्यत्वात्कार्यकारणयोश्चैकत्वा-
दतः सर्वस्य सर्वत्र वीर्यमस्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । (‘अणे-
गंतवाय’ शब्देऽत्रैव भागे अग्रेतनी साङ्ख्यमतनिरासनपरा युक्तिः
वक्ष्यते) सूत्र०२ श्रु०५ अ०॥ (‘णत्थि ढोए अढोए वा, ऽणवं सरणं
णिवेसए’ इत्यादि सूत्राणि ‘अत्थिवाय’ शब्देऽत्र प्रदर्शयिष्यन्ते)
श्रोघतोऽभोगानाभोगसेधितार्थमाह—

से य जाणमजाणं वा, कट्ठं आहम्मियं परं ।

संचरे खिप्पमप्पाणे, वीर्यं तं न समायेरे ॥ ३१ ॥

स साधुर्जनव्रजानन् वा अज्ज्ञेगतोऽनाभोगतश्चेत्यर्थः । कृत्वा
अधार्मिकं पदम्, कथञ्चिद्वागद्वेषाज्यां मूलोत्तरगुणविराधनामि-
ति ज्ञावः । संचरेत्किंप्रमात्मानं भावतो निवर्त्याश्लोचनादिना प्रका-
रेण, तथा द्वितीयं पुनस्तन्न समाचरेदनुबन्धदोषादिति सूत्रार्थः ।

एतदेवाह—

अणायारं परक्कम् नेव गूहे न निह्वेवे ।

सुइं सया वियरुभावे, असंसत्तां जिइंदिए ॥ ३२ ॥

अनाचारं सावद्ययोगं पराक्रम्याऽऽसेव्य गुरुसकाशे आलोच्य-
नैव गूहयेत, न निह्वीत । तत्र गूहनं किञ्चित्कथनम्, निह्व
एकान्ताऽप्यत्रापः । किञ्चिदपि सन्नित्याह—शुचिरकलुषमतिः,
सदा विकटभावः प्रकटभावः, असंसक्तोऽप्रतिवक्तुः, क्वचिज्जि-
तेन्द्रियो जितेन्द्रियप्रमादः सन्निति । दश०८ अ०॥ (सिद्धान्तपा-
ठको न कदाचिदप्यनाचारीति ‘नदिसेण’ शब्दे उदाहरणरूपत-
या वर्णयिष्यते) तथा त्रिविधोऽनाचारः ‘संकिंवेस’ शब्दे वक्ष्यते)
अणायारज्जाण-अनाचारध्यान-न० । न आचारोऽनाचारः ।

नजः कुत्सार्थत्वाद् दुष्टाचारस्य ध्यानमनाचारः । दुर्ध्याने,
वह्मरदावं ध्यायतः कोङ्कणसाधारिव, देवानामनागमनादुत्प्र-
जितुकामस्यापाठसुरेरिव वा कुव्याने, आनु० ।

अणायवाङ् (ए) अनात्मवादिन्-पुं० । आत्मानं वदितुंशी-
लमस्येति । यः पुनरेवंभूतमात्मानं नाभ्युपगच्छति सोऽनात्मवा-
दी । आत्मानमन्युपगन्तरि नास्तिके, सर्वव्यापिनं नित्यं क्वाणि-
कं वाऽऽत्मानमन्युपगन्तरि, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणायारि (ए)-अनातापिन्-पुं० न आतापयति । आता-
पनां शीतादिसहनरूपां करोतीत्यनातापो । मन्दश्चद्वत्वात्परोप-
हासहिष्णौ, स्था० ५ ग्रा० २ उ० ।

अणारंज-अनारम्भ-पुं० जीवानुपघाते, भ० ८ श० १ उ० ।
जीवानुपद्रवे, "सत्तविहे अणारंभे पणसे । तं जडा-पुढविका-
इयअणारंभे जाव अजीवकायअणारंभे " स्था० ७ ग्रा० । न
विद्यते सावद्य आरम्भो येषां ते तथा । सावद्ययोगरहितेषु,
"अपरिगहा अणारंभा, भिक्खु ताणं परिव्वप " सूत्र० १
श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अणारंभजीवि (ए)-अनारम्भजीविन्-पुं० । आरम्भः सा-
वद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा, तद्विपर्ययेण त्वनारम्भः, तेन जी-
वितुं शीलं येषां ते अनारम्भजीविनः । समस्तारम्भनिवृत्तेषु
यतिषु, आचा० ।

आरंभेति आरंभितोयंति अणारंजजीवि तेषु चैव-
मणारंभजीवि एत्योवरणं तं भोसमाणे ॥

यान्तः केचन लोके मनुष्यलोकेऽनारम्भजीविनः, आरम्भः
सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा । उक्तं च- "आयाणे णिक्खेवे,
जालु सगोयवाणगमणादि । सव्वो पमत्तजोगो, समणस्स
वि होइ आरंभो " ॥ १ ॥ तद्विपर्ययेण त्वनारम्भस्तेन जीवितुं
शीलमेवमित्यनारम्भजीविनो यतयः । समस्तारम्भनिवृत्तास्ते-
ष्वेव गृहिषु पुत्रकलत्रस्वधारीराद्यर्थमारम्भप्रवृत्तेष्वनारम्भजी-
विनो भवन्ति । एतदुक्तं भवति-सावद्यानुष्ठानप्रवृत्तेषु गृहस्थे-
षु देहसाधनार्थमनवधारम्भजीविनः साधवः पद्धाधारपद्धवन्नि-
ष्ठेषा एव भवन्ति । यद्येवं ततः किमित्याह- (एत्योवरणं इ-
त्यादि) अत्रास्मिन्सावधारम्भे कर्त्तव्ये उपरतः संकोचितगा-
त्रः । अत्र चाहंते धर्मे व्यवसितः उपरतः पापारम्भात् किं
कुर्यात् ? स तस्सावद्यानुष्ठानायान्तकर्म जोपयन् कपयन् मुनि-
जायं भजत इति । आचा० ।

अणारंजट्टाण-अनारम्भस्थान-न० । असावधारम्भस्थाने,
"एतंमिच्छे असाह तत्थ णं जा सा सव्वतो विरई एसठा-
णे अणारंभछाणे आरिय " सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अणारब्ध-अनारब्ध-त्रि० । केवद्विनिर्विशिष्टमुनिभिर्वाऽना-
चीर्णं, "भारंभे जं चऽणारंभे अणारब्धं च ण आरंभे" आचा०
१ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणाराहय-अनाराधक-त्रि० । विराधके, "अणायारि
अस्समिप धम्मस्स अणाराहय प्रवइ" । स्था० ४ ग्रा० ३ उ० ।
अणारिय-अनार्य-पुं० । न आर्योऽनार्यः । अज्ञानावृत्तत्वाद्-
सदनुष्ठायिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । पापात्मके, भ० ३
श० ६ उ० । सूत्र० । अकार्यकर्मकारिणि, नि० चू० १७ उ० ।
धर्मसंज्ञारहितं, शिष्टसंमतनिखिलव्यवहारे वा क्षेत्रे, सूत्र० १
श्रु० ५ अ० १ उ० । तच्च-

सग जवण सवर ववर-कायमुसुंहुङ्गुगोडुपक्कणया ।

अरवागहूणरोमय-पारसखसखासिया चैव ॥ १ ॥

हुंवलियलकुसवोक्कस-निर्द्धंधपुलिंदकोच्चनगरुआ ।

कावोयचीणचुंचुय-मालवदविना कुलत्था य ।

केकयकिरायहयमुह-खरमुहगयतुरगपिंदयमुहा य ।

हयकला गयकला, अन्ने वि अणारिया वहेवे ॥ ३ ॥

शकाः, यचनाः, शवराः, वर्धराः, कायाः, मुरुणाः, उडुः, गोडुः,
पक्कणकाः, अरवागाः, हूणाः, रोमकाः, पारसाः, खसाः, खासि-
काः, दुम्बिलकाः, लकुशाः, वोक्कसाः, मिह्वाः, अन्धाः, पुत्तिन्दाः,
मौञ्जाः, भ्रमरुताः, कापोतकाः, चीनाः, चुंचुकाः, मालवाः, उवि-
डाः, कुडार्थाः, कैकेयाः, किराताः, हयमुखाः, खरमुखाः, गज-
मुखाः, तुरङ्गमुखाः, मिण्डकमुखाः, हयकर्णाः, गजकर्णाश्चेत्येते
देशा अनार्याः । अन्येऽपि देशा अनार्याः । प्रच० २७४ द्वा० । न
केवलमेत एव किन्त्वपरेऽप्येवं प्रकारा बहवोऽनार्या देशाः प्रश्न-
व्याकरणादिग्रन्थोक्ता विज्ञेयाः ।

तथाच सूत्रम्--

बहवे मिलिक्खुजाई, किं ते ? सका जवणा सवरववरगा
य मुसुंहुङ्गुजडगभित्ति पक्कणिया कुलवखा गौमसिंहल-
पारसकोच्चबंधविलचिह्नलपुलिंदआरोसडोवपोक्काणंगंध-
हारगवहलीयजद्धा रोसा मासा वडसमलया य चुंचुया य
चूलियकोकणगामेयपल्हवमालवमहुरआजासिया अण-
कचीणल्लासियखसखासियनेट्टरमरहट्टमुट्टियआरवर्नोविद-
गकुहणकेकयहूणरोमगरुमरुगचिह्वायविसयवासी य पाव
मणो ।

(इमे बहवे मिलिक्खुजाई चि) म्लेच्छजातीयाः । किं ते इति ?
तद्यथा-शकाः १, यचनाः २, शवराः ३, वर्धराः ४, कायाः ५, मुरु-
णाः ६, उडुः ७, माजाः ८, निजिकाः ९, पक्कणिकाः १०, कुडाकाः
११, गौमाः १२, सिंहवाः १३, पारसाः १४, कौञ्जाः १५, अन्धाः १६,
द्रविडाः १७, निल्वलाः १८, पुत्तिन्दाः १९, आरोपाः २०, डोवाः
२१, पोक्काणाः २२, गन्धहारकाः २३, बहलीकाः २४, जह्वाः २५,
रोसाः २६, मापाः २७, वकुशाः २८, मलयाश्च २९, चुंचुकाश्च ३०,
चूलिकाः ३१, कोक्कणाः ३२, मेदाः ३३, पल्हवाः ३४, मालवाः ३५,
महुराः ३६, आभाषिकाः ३७, अणकाः ३८, चीनाः ३९, लासिकाः
४०, खसाः ४१, खासिकाः ४२, नेष्टराः ४३, (मरहट्ट चि) महा-
राष्ट्राः ४४, (पाठान्तरे पामुट्टो ४५), मौष्ट्रीकाः ४६, आरवाः ४७,
डोम्बिलिकाः ४८, कुहणाः ४९, कैकेयाः ५०, हूणाः ५१, रोमकाः
५२, खरवः ५३, मरुकाः ५४, इति । एतानि च प्रायो लुप्तप्रथ-
मावहुवचनानि पदानि, तथा चिलाताविषयवासिनश्च म्लेच्छ-
देशवासिनः । एते च पापमतयः । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अथ सामान्यतोऽनार्यदेशस्वरूपमाह-

पावा य चंनकम्मा, अणारिया निग्घिणा णिरनुतावी ।

धम्मो चि अक्खराई, सुड्ढे वि न जज्जए जेसु ॥

एते सर्वेऽप्यनार्यदेशाः पापाः । पापमपुण्यप्रकृतिरूपम्, तद्वन्ध-
नत्वात् पापाः । तथा चण्डं कोपोत्कटतया रौद्राभिधानरस-
विशेषप्रवर्तितत्वादतिरौद्रं कर्म समाचरणं येषां ते चण्डक-
र्माणः, तथा न विद्यते घृणा पापजुगुप्सालक्षणा येषां ते नि-
घृणाः, तथा निरनुतापिनः सेवितेऽप्यकृत्ये मनागपि न पश्चा-
त्तापमाज इति भावः । किञ्च-येषु 'धर्मः' इत्यक्षराणि स्व-
प्नेऽपि सर्वथा न ज्ञायन्ते केवलमपेयपानाभक्ष्यभक्षणगम्यग-
मनादिनिरताः शास्त्राद्यप्रतीतवेषभाषादिसमाचाराः सर्वेऽ-
प्यमी अनार्या अनार्यदेशा इति । प्रच० २७४ द्वा० ।

आर्यानार्यक्षेत्रव्यवस्था चेत्यम्-

जत्थुप्पत्ति जिणाणं, चकीणं रामक्खुहाणं ।

यत्र तीर्थकरादीनामुत्पत्तिस्तदार्थः, शेषमनार्यमिति । आव-
श्यकचूर्णो पुनरित्यनार्यानार्यवस्था उक्ता-“ जेसु केसु वि
पपसेसु, मिहुणगाणि पइद्विएसु हक्काराइया नोई पारुढा ते
आयरिया, सेसा अनारिया” इति । प्र० २७५ द्वा० । (अनार्य-
त्वे न विहर्तव्यमिति ‘विहार’ शब्दे वक्ष्यते) “भयंसि वा
महत्ता वा अणारियाहिं” विभक्तिव्यत्यादनायैर्मुञ्च्यदि-
भिर्जीवितचारित्रापहारिभिरभिभूतानामिति शेषः । स्था० ५
ठा० २ उ० । स० । अनार्या स्तेच्छास्ततश्च साधुनिन्दा-
दिना अनार्या इव अनार्याः । साधुप्रत्यनीकेषु । उक्त० ३ अ० ।
अणारियद्वाण-अनार्यस्थान-न० । सावद्याऽऽरम्भाश्रये,
सूत्र० २ ध्रु० २ अ० ।

अणारोहण-अनारोहक-त्रि० । न० व० । योधवर्जिते, “अणा-
सप अणारोहिए अणारोहिए” भ० ७ श० ९ उ० ।

अणालम्बण-अनालम्बन-न० । न विद्यते आलम्बनं यस्य तद-
नालम्बनम् । स्वोपादानकृणमात्रादुत्पद्यमाने कस्यापि विषय-
स्याऽनवगमके वृद्धिज्ञाने, अने० ४ अधि० ।

अणालम्बणयोग-अनालम्बनयोग-पुं० । परतत्त्वविषये ध्यान-
विषये, षो० ।

कः पुनरनालम्बनयोगः कियन्तं काष्ठं भवतीत्याह-
सामर्थ्ययोगतो या, तत्र दिद्वेक्षेत्यसङ्गशक्त्याख्या ।

साऽनालम्बनयोगः, प्रोक्तस्तददर्शनं यावत् ॥८॥

(सामर्थ्यत्यादि) शास्त्रोक्ताव कृपकश्रेणीद्वितीयाऽपूर्वकरण-
भाविनः सकाशात् । सामर्थ्ययोगस्वरूपं चेदम्-“शास्त्रसंदर्शि-
तोपाय-स्तदतिक्रान्तगोचरः । सर्वोक्तेकाद्विशेषेण, सामर्थ्या-
ख्योऽयमुत्तमः” ॥१॥ या तत्र परतत्त्वे द्रष्टुमिच्छा दिद्वक्ता इत्येवंस्व-
रूपा, असङ्गा चासौ शक्तिश्च निरभिध्वज्ञानव्रतप्रवृत्तिस्तयाऽऽ-
ख्या परिपूर्णा, दिद्वक्ता, सा परमात्मविषये दर्शनेच्छा अनालम्बन-
योगः प्रोक्तः, तद्वेदिमिस्तस्य परतत्त्वस्यादर्शनमनुपलम्भः, तद् य-
थावत् परमात्मस्वरूपे दर्शने तु केवलज्ञानेन अनालम्बनयोगो
न भवति, तस्य तदालम्बनत्वात् ।

कथं पुनरनालम्बनोऽयमित्याह-

तत्राप्रतिष्ठितोऽयं, यतः प्रवृत्तश्च तत्त्वतस्तत्र ।

सर्वोत्तमानुजः खलु, तेनानालम्बनो गीतः ॥९॥

(तत्रेत्यादि) तत्र परतत्त्वेऽप्रतिष्ठितोऽलम्बनप्रतिष्ठितः अयम-
नालम्बनः, यतो यस्मात्प्रवृत्तश्च ध्यानरूपेण तत्त्वतो वस्तुतस्तत्र
परतत्त्वे सर्वोत्तमानुजः खलु सर्वोत्तमस्य योगस्यानुजः प्रागन-
न्तरवर्तिना कारणेनानालम्बनो गीतः कथितः ॥ ९ ॥

किं पुनरनालम्बनाद्भवतीत्याह-

द्रागस्मात्तद्दर्शन-मिषुपातज्ञानमात्रतो ज्ञेयम् ।

एतच्च केवलं तद्, ज्ञानं यत्तत्परं ज्योतिः ॥ १० ॥

(ज्ञागित्यादि) चाकृ शीघ्रमस्मात्प्रस्तुतादनालम्बनात्तद्दर्शनं
परतत्त्वदर्शनमिषोः पातस्तद्विषयं ज्ञातमुदाहरणं तन्मात्रादिषु
पातज्ञानमात्रतो ज्ञेयं तद्दर्शनम् । एतच्च परतत्त्वदर्शनं केवलं
संपूर्णम् । तदिति तत्प्रसिद्धं ज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थः । यत्तत्के-
वलज्ञानं परं प्रकटं ज्योतिः प्रकाशरूपम्, इषुपातोदाह-
रणं च यथा-केनचिदनुधरेण लक्ष्यामिमुखे वाणे तद-
भिसंवादिनिप्रकटयते यावत्तस्य वाणस्य न विमोचनं ताव-

त्तत्प्रगुणतामात्रेण तदविसंवादित्वेन च समानोऽनालम्बनो यो-
गः, यदा तु तस्य वाणस्य विमोचनं लक्ष्याविसंवादिपतनमा-
त्रादेव लक्ष्यवेधकं तदा आलम्बनोत्तरकालभावी तत्पातकल्पः
साधुम्बनः केवलज्ञानप्रकाश इत्यनयोः साधर्म्यमङ्गीकृत्य निद-
र्शनम् । पौ० १५ विव० । अष्ट० ।

अणालम्बणपट्टाण-अनालम्बनप्रतिष्ठान-त्रि० । अविद्यमानमा-
लम्बनं प्रतिष्ठानं वाणकारणं यत्र स तथा । आलम्बनरक्तकरहिते,
प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणालम्ब-अनालम्बित-त्रि० । अभाषिते, “ पुर्व्वे अणालम्बेण
आलम्बिते वा संलम्बिते वा” प्रति० । उपा० ।

अणालम्ब-अनालम्ब-न० । अनुत्साहे, तं० । व० स० । कृतो-
द्द्यमे, व्य० ७ उ० ।

अणालम्ब-अनालम्ब-पुं० । अनालम्बस्यमुत्साह-
स्तस्य गृहम्, अकार्यदौ सादरं प्रवृत्तिहेतुत्वाद् । योषिति, तं० ।

अणालम्ब-अनालम्ब-पुं० । नञः कृतार्थत्वाद्गीतेत्यादिवत्
कुत्सित आलम्बोऽनालम्ब इति । चचनाविकल्पनेदे, स्था० ७ द्वा० ।

अणालम्ब-अनालम्ब-त्रि० । अकृताऽऽलम्बे, प्र० २ द्वा० ।
आव० ।

अणालोड्य-अनालोडित-त्रि० । न० त० । अनिवेदिते, न० व० । गुरु-
णां समीपेऽकृतालोचने, औ० । सादरमवीक्षिते, “मूर्तिः स्फूर्तिमती
सदा विजयते जैनेश्वर । विस्फुरन्मोहोन्मादघनप्रमादमदिराम-
सैरनालोडिता” अनालोडिता सादरमवीक्षितेत्यर्थः । अनालोडि-
तपदस्य सादरमनालोडितत्वेऽर्थान्तरसंक्रमिततया वाच्यत्वाद्,
अन्यथा चक्रुर्मतः पुरःस्थितवस्तुनोऽनालोडितत्वानुपपत्तेः, प्रति०
अणालोड्यअपरिकृत-अनालोडिताऽप्रतिक्रान्त-त्रि० । अना-
लोडितश्चासौ अप्रतिक्रान्तश्च । गुरुणां समीपेऽकृतालोचने दो-
षावृत्तानिबृत्ते, औ० ।

अणालोड्यभासि (ण)-अनालोडितभासि-पुं० । सम्यग्-
ज्ञानपूर्वकमपर्यालोच्य भाषके, प्र० ७१ द्वा० ।

अणालोड्य-अनालोड्य-पुं० । न० त० । अज्ञे, “बुलिसीइजोणि-
सयसह-स्स गुचिहं अणालोकमंधयारं ति” । (संसारसागर-
वर्णकः) अनालोको नामाज्ञानान्धकारो यस्य स तथा । प्रश्न० ४
आश्र० द्वा० ।

अणालोड्य-अनालोड्य-न० । न आपातोऽप्यागमः परस्य अन्यस्य
स्वपरपक्षस्य वा यस्मिन् स्थण्डिले तदनालोड्यम् । प्र० ९१
द्वा० । जनसंपातरहिते, वर्जिते, भ० ७ श० ६ उ० । ध० । प० व० ।
विजने, आचा० २ ध्रु० १ अ० ५ उ० । लोकानामुपागमनरहिते, उक्त०
२४ अ० । रुयाद्यापातरहिते स्थण्डिले, आव० ४ अ० । ध० ।
अणालोड्य-अनालोड्य-त्रि० । न० त० । अकलुपे, रागद्वेषासंपृक्त-
तया मलरहिते, सूत्र० १ ध्रु० १५ अ० ।

अणालोड्य-त्रि० । ऋणेन कलुपे, आनु० ।

अणालोड्य-अनालोड्य-न० । अणालोड्यं तेनाऽऽलोड्यः
कलुषः ऋणाविलोड्यः, तस्य ध्यानम् । तैलकर्षलाया यतिजगिन्या
इव दुर्ध्याने, आनु० ।

अणालोड्य (ण)-अनालोड्य-पुं० । अनालोड्यो विषय-
कवायैरनाकुल आत्मा यस्यासावनालोड्यत्वात् । निष्कपायिनि,

“अभयंकरे भिक्खुं अणाविद्वप्पा” सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।
अणावुट्ठि-अनावुट्ठि-स्त्री० । वर्पणाऽभावे, स० ।

अणासंसि (ए)-अनाशंसिन-पुं० । न० त० । श्रोतृज्यो वखा-
घनाकाङ्क्षिणि प्रवचनसारपरिकथनयोग्ये, वृ० १ उ० । आचा-
र्याद्याराधनाशंसारहिते, सांसारिकफलानपेक्षे वा, आलोचनाप्र-
दानयोग्ये, आशंशिनो हि समग्रातिचारालोचनासंज्ञवात् आश-
साया एवातिचारत्वात् । धर्म० २ अधि० । ग० । प्रव० । पञ्चा० ।

अणासग-अनश्वक-त्रि० । अभ्वरहिते, न० ७ श० ६ उ० ।

अणासच्छिन्न-अच्छिन्ननास-त्रि० । अरुत्तप्राणे, नि० चू० ४ व० ।

अणासस-अनासन्न-त्रि० । अनिकटवर्तिनि, उक्त० २० अ० ।

अणासत्ति-अनासक्ति-स्त्री० । अप्रतिबद्धतायाम्, स्वजनादिषु
क्षेदाभावे, म० १ श० ६ उ० ।

अणासय-अनाशय-त्रि० । न विद्यते आशयः पूजाभिप्रायो
यस्यांसावनाशयः । रुच्यतो विद्यमानेऽपि समवसरणादिके
ज्ञावतोऽनास्थादके तीर्थहृति, तद्गतगाह्यज्ञावात् । सूत्र० १
श्रु० १५ अ० ।

अणासव-अनाश्व-पुं० । न विद्यते आश्रया हिंसादयो यस्य ।
३४ पापकर्मवन्धरहिते हिंसाद्याश्रवद्वारविरते, क० प्र० ।
उक्त० । प्राणातिपातादिरहिते, श्रौ० । “अणासवे भ्रमे अकिं-
चने” श्रौ० । अविद्यमानपापकर्मवन्धे, श्रौ० । आश्रयति तान् २
शोभनत्वेन अशोभनत्वेन वा गृह्णातीत्याश्रवः, नाऽऽश्रयोऽना-
श्वः । मध्यस्थे रागद्वेपरहिते, वृ० ।

सहाणि सोच्चा अदु जेरवाणि, अणासवे तेषु परिव्वपज्जा ।
शब्दान् वेणुवीणादिकान्मधुरान् धुतिपश्लान्, धृत्वा स-
माकर्ण्य, अथ भैरवान् भयावहान्, कर्णकट्टनाकर्ण्य, तेष्वनुक्-
लेषु प्रतिकूलेषु श्रवणपथमुपागतेषु शब्देभ्यः नाश्रवो मध्यस्थो
रागद्वेपरहितो भूत्वा परि समन्ताद् भजेत्परिजेत्र, इति । वृ० ३
उ० । नवकर्मोपादाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अनाश्रवेणैव सर्वथा कर्मक्षय इति यथाऽसौ भवति तथाह-
पाणवह मुसावायं, अदत्त मेहुण परिगगहाविरां ।

राईभोयण विरओ, जीवो होइ अणासवो ॥

पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइदिओ ।

आगारवो य निस्सह्वा, जीवो होइ अणासवो ॥

सूत्रद्वयं प्रायः प्रतीतिार्थमेव, नवरं, विरत इति प्राणवधादिभिः
प्रत्येकमजिसम्बध्यते । तथा जवत्पनाश्रव इति अविद्यमानक-
र्मोपादानहेतुः । द्वितीयसूत्रेऽप्यनाश्रवः समित्यादिविपर्ययाणां
कर्मोपादानहेतुत्वेनाश्वरूपत्वात्, तेषां चाविद्यमानत्वादिति
सूत्रद्वयार्थः । एवंविधश्च तादृशं कर्म यथाऽसौ कृपयत्या-
राधनाय ।

पुनः शिष्याभिमुखीकरणपूर्वकं दृष्टान्तद्वारेण तदाह-

एएसिं तु विवच्चासे, रागदोससमज्जियं ।

खवई तवसा जिकखु, मएगगमणो सुणो ॥

जहा महातलायस्स, सखिरुद्धे जल्लगमे ।

उत्तिसचणाए तवणाए, कम्मेण सोसणा जवे ॥

एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरस्सवो ।

जवकोमीसंचयं कम्मं, तवसा णिज्जरिज्जइ ॥

सूत्रत्रयम्-एतेषां तु प्राणिष्वधिरत्यादीनां समित्यादीनां चाना-
श्रवहेतूनां (विवच्चासे सि) विपर्ययासे प्राणिष्वधादावशमि-
तत्वादौ च रागद्वेषाभ्यां समाजितमुपाजितरागद्वेषसमाजितं,
कर्मैति गम्यते, तन्मे कथयतेति शेषः । एकमेकत्र वस्तुनि अभि-
निविष्टत्वेन मनो यस्याः सा एकमनाः, शृण्वति शिष्याभिमुखी-
करणम्, सखिरुद्धे पादयादिना निषेद्धे, जल्लगमे जलप्रवेशे, (उ-
त्तिसचणाए सि) सूत्रत्वाद्भुत्सेचनेनारघट्टघटीनिवहादिजिरुद्ध-
त्वेन (तवणाए सि) प्राग्वत्तपनेन रविकरनिकरसन्तापरूपेण
क्रमेण परिपाट्या शोषणा जलाभावरूपा भवेत् । पापकर्मनिरा-
श्रवे पापकर्मणामाश्रवाभावे, भावकोटीसञ्चितमित्यत्र कोटिग्र-
हणमतिबहुत्वोपेक्षकणम्, कोटिनियमासंभवात्, कर्म तपसा नि-
र्जोयते आधिक्येन कथं नीयते, शेषं स्पष्टमिति सूत्रत्रयार्थः । उक्त०
३० अ० । पञ्चविंशे गौणप्राणातिपातविरमणे, तस्य कर्मवन्धनि-
रोधोपायत्वात् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० । आ समन्तात् शृण्वन्ति
गुरुवचनमाकर्णयन्तीति आश्रवाः । न तथा प्रतिज्ञापाविषयस्य
तस्याश्रवणादनाश्रवः । गुरुवचनेऽस्थिते, “अणासवा धूववया
कुसीद्धा, मिउं पि चंरं पकरैति सीसा” इति दुर्विनीतवृत्तणम् ।
उक्त० १ अ० । आश्रवः व्रतविशेषे, आचा० ।

अणासाज्जमाण-अनास्वाद्यमान-त्रि० । न० त० । केवलं रस-
नेन्द्रियविषये, म० १ श० १ उ० ।

अणासाएमाण-अनाशयमान-त्रि० । आशाविषयमकुर्वाणे,
उक्त० २ अ० ।

अनास्वादयत्-त्रि० । अभुञ्जाने, उक्त० ३६ अ० ।

अणासायणा-अनाशातना-स्त्री० । न० त० । तीर्थकरादीनां
सर्वथाऽहलीलनायाम्, दश० ६ अ० १ उ० । द्वा० । मनोवाक्कायैः
प्रतीपवर्जने, उक्त० १ अ० ।

अणासायणाविणय-अनाशातनाविनय-पुं० । अनुचितक्रिया-
निवृत्तिरूपे दर्शनविनयभेदे, अयं च पञ्चदशविधः । आह च-
“तित्थगरधम्मआयरिअ-वायणे थेरकुल्लगणे संघे । संभोगि-
अकिरियाए, मइनाएणिण य तहेव ” सांभोगिका एकसमाचा-
रिका क्रिया आस्तिकता । अत्र भावना-तीर्थकरणामनाशात-
नायां तीर्थकरप्रज्ञसधर्मस्यानाशातनायां च वर्तितव्यमित्येवं स-
र्वत्र द्रष्टव्यमिति । “कायच्चा पुण भत्ती, बहुमाणो तह य दसव-
ओ य । अरहंतमाइयाणं, केवल्लणावसाणाणं ” ॥ १ ॥ स्था०
७ त्र० । ध० । द० ।

अणासिय-अनाशित-त्रि० । बुभुक्षिते, “अणासिया णाम म-
हासियाला, या गम्भियो तत्थ सयासको वा ” सूत्र० १ श्रु०
५ अ० २ उ० ।

अणासेवणा-अनासेवना-स्त्री० । आसेवनाविरहे, आचा०
१ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

अणाह-अनाथ-त्रि० । अशरणे, नि० चू० ३ उ० । निःस्वामिनि,
विपा० १ श्रु० ७ अ० । योगक्षेमकारिविरहिते, प्रश्न० १ आश्र०
द्वा० । रङ्गे, द्वा० ८ अ० । आत्मनोऽनाथत्वपरिज्ञावधितरि सु-
निज्जेदे, पुं० । यथा मुनिना श्रेणिकं प्रति आत्मनोऽनाथता दर्शि-
ता-कोऽर्थः?, अनाथत्वसनाथत्वे च विचारिते । तथोक्तम्-

सिच्चाणं नमो किच्चा, संजयाणं च भावओ ।

अत्थधम्मगइं तत्थं, अणुसट्ठिं सुणेह मे ॥ १ ॥

ज्ञोः शिष्याः । मे मम अनुशिष्टिं शिष्यां यूयं शृणुत । किं

कृत्वा ? सिद्धान् पञ्चदशप्रकारान् नमस्कृत्य, च पुनर्जावतो ज-
कितः, संयतान् साधून् आचार्योपाध्यायादिसर्वसाधून् नमस्कृ-
त्य । कीदृशीं मे अनुशिष्टिम् ? । अर्थधर्मगताम् । अर्थ्यते प्रार्थ्यते
धर्मात्मभिः पुरुषैरिति अर्थः, स चासौ धर्मश्च अर्थधर्मस्तस्य ग-
तिज्ञानं यस्यां सा अर्थधर्मगतिः, ताम्, स्वयंवद्यो दुष्प्राप्यो धर्म-
स्तस्य धर्मस्य प्रासिकारिकाम्, यथा मम शिक्षया दुर्लभधर्मस्य
प्राप्तिः स्यादिति ज्ञावः । पुनः कीदृशीं मेऽनुशिष्टिम् ? , तस्यां स-
त्याम् । अथवा 'तच्च' तत्त्वरूपां वा, इह चानुशिष्टिरभिधेया, अर्थ-
धर्मगतिः प्रयोजनम् । अनयोश्च परस्परमुपायोपेयज्ञावलक्षणः
सम्बन्धः सामर्थ्यादुक्त इति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

सम्प्रति धर्मकथाऽनुयोगत्वादस्य धर्मकथाकथनव्याजेन
प्रतिज्ञातमुपक्रमितुमाह—

पञ्चूरयणो राया, सेणिओ मगहाहिवो ।

विहारजत्तं निज्जाओ, मंकिञ्चिसि चेइए ॥ २ ॥

श्रेणिको नाम राजा एकदा मणिरुतकुक्षिनाम्नि चैत्ये उद्याने
विहारयात्रया उद्यानक्रीरुया निर्यातः, नगरात् क्रीरुयं मणिरुत-
कुक्षिचने गत इत्यर्थः । कीदृशः श्रेणिको राजा ? , मगधाधिपः म-
गधानां देशानमधिपो मगधाधिपः । पुनः कीदृशः ? , प्रजृतरत्नः
प्रचुरप्रधानगजाश्वमणिप्रमुखपदार्थधारी ॥ २ ॥

तदेव विशिनष्टि—

नाणाडुमलयाइष्णं, नाणापक्खिनिसेवियं ।

नाणाकुसुमसंज्जं, उज्जाणं नंदणोवमं ॥ ३ ॥

अथ मणिरुतकुक्षिनाम्न उद्यानं कीदृशं वर्त्तते तदाह । कीदृशं
तद्वनम् ? , नानाद्रुमवृक्षाकार्णं विविधवृक्षवल्लीनिर्व्याप्तम् । पुनः
कीदृशम् ? , नानापक्विनिषेवितं विविधविहङ्गैरतिशयेनाश्रितम् ।
पुनः कीदृशम् ? , नानाकुसुमसंज्जं बहुवर्णपुष्पैर्व्याप्तम् । पुनः
कीदृशं तत् उद्यानम् ? , नागरिकजनानां क्रीरुस्थानम् । नगर-
समीपस्थं वनमुद्यानमुच्यते । पुनः कीदृशम् ? , नन्दनोपमं न-
न्दनं देववनं तदुपमम् ॥ ३ ॥

तत्थ सो पस्सई साहुं, संजयं सुसमाहियं ।

निसत्तं रुक्खमूलम्मि, सुकुमालं सुहोइयं ॥ ४ ॥

तत्र वने स श्रेणिको राजा साधुं पश्यति । कीदृशं साधुम् ? , संयतं
सम्यक्प्रकारेण यतं यत्नं कुर्वन्तम् । पुनः कीदृशम् ? , सुसमाधितं
सुतरामतिशयेन समाधियुक्तम् । साधुः सर्वोऽपि शिष्ट उच्यते,
तद्वचस्तेदार्थं संयतमित्युक्तम्, सोऽपि च बहिः संयमवान् नि-
हवादिरपि स्यात् इति सुष्ठु समाहितो मनःसमाधानवान् सु-
समाहितस्तमित्युक्तम् । पुनः कीदृशम् ? , वृक्षमूले निपणं स्थि-
तम् । पुनः कीदृशम् ? सुकुमालम् । पुनः कीदृशम् ? , सुखोचितं
सुखयोग्यम्, शुभोचितं वा ॥ ४ ॥

तस्स रुवं तु पासित्ता, राइणो तम्मि संजए ।

अच्चंतपरमो आसी, अउलो रुवविम्हिओ ॥ ५ ॥

राज्ञः श्रेणिकस्य तस्मिन् संयते साधौ अत्यन्तः परमोऽतिशय-
प्रधानोऽधिकोत्कृष्टः, अतुलो निरुपमोऽनन्यसदृशो रूपविस्मयो-
रूपाश्चर्यमासीत् । किं कृत्वा ? , तस्य साधोः, रूपं दृष्ट्वा । तुशब्दो-
वाक्यालङ्कारे ॥ ५ ॥

अहो ! वन्नो अहो ! रुवं, अहो ! अज्जस्त सोम्मया ।

अहो ! खंती अहो ! मुत्ती, अहो ! जोगे असंगया ॥ ६ ॥

तदा राजा मनासि चिन्तयति स्म—अहो ! इत्याश्चर्ये । आश्चर्यकारी

अस्य शरीरस्य वर्णो गौरत्वादिः । अहो ! आश्चर्यकृत, अस्य सा-
धो रूपं वाच्यसहितम् । अहो ! आश्चर्यकारिणी अस्य आर्यस्य
सौम्यता चन्द्रवन्नेत्रप्रियता । अहो ! आश्चर्यकारिणी अस्य कान्तिः
कृमा । अहो ! आश्चर्यकारिणी चास्य मुक्तिर्निर्लोभता । अहो !
आश्चर्यकारिणी अस्य जोगे असङ्गता-विषये निस्पृहता ॥ ६ ॥

तस्स पाए उ वंदित्ता, काऊण य पयाहिणं ।

नाइदूरमणासने, पंजली परिपुच्छइ ॥ ७ ॥

तस्य साधोः पादौ वन्दित्वा, पुनः प्रदक्षिणां कृत्वा, राजा ना-
तिदूरं नात्यासन्नः, कोऽर्थः ? , नातिदूरवर्ती, नातिनिकटवर्ती वा
सन्, प्राञ्जलिपुटो वक्राञ्जलिः पृच्छति प्रश्नं करोति ॥ ७ ॥

तरुणोसि अज्जो ! पन्वइओ, जोगकालम्मि संजया ! ।

उवाडिओसि सामने, एयमइं सुणामि ते ॥ ८ ॥

तदा श्रेणिकः किं पृच्छति-हे साधो ! , त्वं तरुणोऽसि युवा-
ऽसि । हे संयत ! हे साधो ! तस्माद् भोगकाले भोगसमये, प्रव्रजितो
गृहीतदीक्षः, तारुण्यं हि भोगस्य समयोऽस्ति न तु दीक्षायाः स-
मयः । हे संयत ! तारुण्ये भोगयोग्यकाले त्वं भ्रामण्ये दीक्षाया-
मुपस्थितोऽसि, आदरसहितोऽसि । एतदर्थं एतन्निमित्तं, त्वत्तः
शृणोमि, किं तव दीक्षायाः कारणम् ? , कस्मान्निमित्तात् दीक्षा
त्वया गृहीता ? , तत्कारणं त्वन्मुखात् श्रोतुमिच्छामीत्यर्थः ।

(पाईटीका)

तरुणेत्यादिना प्रशस्वरूपमुक्तम् । इह च यत् एव तरुणोऽत
एव प्रव्रजितो भोगकाले इत्युच्यते, तारुण्यस्य भोगकालत्वात् ।
यद्वा-तारुण्येऽपि रोगादिपीडया न भोगकालः स्यात्, इत्येवमभि-
धानम् । सोऽपि कदाचित्संयमेऽनुद्यत एव स्यात् । त्वं पुनरुपस्थि-
तश्च । पठन्ति च—[उवाडिओसि त्ति] एतमर्थनिमित्तं येनाथेन त्व-
मीदृश्यामप्यवस्थायां प्रव्रजितः, शृणोमि, 'ता' इति तावत्, ए-
वातु यत्वं ज्ञाप्यसि तदपि श्रोण्यामीति ज्ञावः । इति श्लो-
कसप्तकार्यः ॥ ८ ॥

इत्थं राज्ञोक्ते मुनिराह—

अणाहोमि महाराय !, नाहो मज्ज न विज्जइ ।

अणुकंपयं सुहिं वा वि, कंची णाहि तुमे महं ॥ ९ ॥

अनाथोऽस्वामिकोऽस्मीत्यहं महाराज ! प्रशस्यनृपते ! किमि-
त्येवम् । यतः—नाथो योगक्रेमविधाता, मम न विद्यते । तथा
(अणुकंपयं ति) आर्पत्वादनुकम्पको यो मामनुकम्पते
(सुहिं ति) तत एव सुहृत् (कंचि त्ति) कश्चिन्न विद्यते,
ममेति सम्बन्धः [नाहि त्ति] प्रक्रमादनन्तरोक्तमर्थं जानी-
हि [तुमे त्ति] त्वस् । पठ्यते—“ किंची णाभिसमे महं ” किं-
चिदनुकम्पकं सुहृदं वापि नाभिसमे नाभिसंगच्छामि न केनाचि-
दनुकम्पनेन, सुहृदा च संगतोऽहमित्यादिनाऽर्थेन तरुणेऽपि प्रव-
्रजित इति ज्ञावः । इति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥ एवं मुनिनोक्ते—

तओ पइसिओ राया, सेणिओ मगहाहिवो ।

एवं ते इह्मिंतस्स, कहं नाहो न विज्जई ? ॥ १० ॥

होमि नाहो जयंताणं, भोगे जुंजाहि संजया ! ।

मित्तनाईपरिबुओ, माणुस्सं खवु छुह्वं ॥ ११ ॥

[पाईटीका]

ततस्तदनन्तरं श्रेणिको मगधाधिपो राजा प्रहसितः । हे महा-
प्राग ! एवं तव ऋद्धिमत्तः ऋद्धियुक्तस्य कथं नाथो न विद्य-
ते ? । नवरम्, एवमिति दृश्यमानप्रकारेण, ऋद्धिमतो वि-

स्मयनीयवर्णादिसंपत्तिमतः, कथमिति केन प्रकारेण, नाथो न विद्यते?, तत्कालापेक्षया सर्वत्र वर्तमाननिर्देशः। “यत्राहुतिस्तत्र गुणा वसन्ति, तथा गुणवति धनम्, ततः श्रीः, श्रीमत्याज्ञा, ततो राज्यम्” इति हि लोकप्रवादः। तथा च न कथञ्चिदनाथत्वं भवतः संजयतीति ज्ञावः। यदि वाऽनाथतैव भवतः प्रव्रज्याप्रतिपत्तिहेतुः, ततः हे पूज्याः! अहं (भयंताणं इति) भद्रन्तानां पूज्यानां शुष्माकं नाथो ज्ञवामि, यदा जयतां काऽपि स्वामी नास्ति तदा अहं भवतां स्वामी भवामि, यदा अनाथत्वाद् शुष्मानिर्दोषा गृहीता तदाऽहं नाथोऽस्मीति ज्ञावः। हे संयत! हे साधो! भोगान् ब्रुह्व। कीदृशः सन्?, मित्रज्ञातिभिः परिवृतः सन्, हे साधो! खलु इति निश्चयेन, मानुष्यं दुर्जनं वर्तते, तस्मान्मनुष्यत्वं दुर्जनं प्राप्य भोगान् ब्रुक्त्वा सफलीकुरु ॥ १० ॥ ११ ॥

मुनिराह—

अप्पणा वि अणहोसि, सेणिया! मगहाहिवा! ।

अप्पणा अणहो संतो, कस्स एणहो जविस्ससि? ॥ १२ ॥

हे राजन्! अणिक! मगधदेशाधिपस्वमात्मनाऽपि अनायोऽसि, आत्मना अनाथस्य सतस्तवापि अनायता, तदा त्वमपरस्य कथं नाथो भविष्यसीति? ॥ १२ ॥

एवं च मुनिके—

एवं बुत्तो नरिंदो सो, सुसंभतो सुविम्हो ।

वयणं अस्सुयपुण्वं, साहुणा विम्हयं निओ ॥ १३ ॥

स नरेन्द्रः साधुना पत्रमुक्तः सन् विस्मयं नीति आश्चर्यं प्रापितः। कीदृशो नरेन्द्रः?, सुसंभ्रान्तोऽत्यन्तं व्याकुलतां प्राप्तः। पुनः कीदृशः?, सुविस्मितः पूर्वमेव तद्दर्शनात् संज्ञाताश्चर्यः पुनरपि तद्वचनश्रवणात् विस्मयवान् जातः, यतो हि तद्वचनमश्रुतपूर्वं, अणिकाय अनाथोऽसि त्वमिति वचनं पूर्वं केनापि नो आचितम् ॥ १३ ॥

यदुक्त्वांस्तदाह—

अस्सा हत्थी माणुस्सा मे, पुरं अंतोउरं च मे ।

भुंजामि माणुमे भोए, आणा इस्सरियं च मे ॥ १४ ॥

एरिसे संपयगम्मि, सन्वकामसमप्पिए ।

कहं अणहो जवइ, मा हु भंते! मुसं वए ॥ १५ ॥

ह्याभ्यां गाथान्यां अणिको राजा वदति—हे भद्रन्त! पूज्य! इति निश्चयेन, मृषा मा ब्रूहि अस्त्यं मा वद। एतादृशे संपद-इये सति सम्पत्प्रकर्षे सति, अहं कथमनाथो ज्ञवामि?, कीदृशोऽहम्?, सर्वकामसमर्पितः—सर्वे च ते कामाश्च सर्वकामाः, तेज्यः सर्वकामेज्यः समर्पितः शुभ्रकर्मणा ढौकितः। अथ राजा स्वसंपत्प्रकर्षे वर्णयति—अश्वा घोटकाः बहवो मम सन्ति, पुनर्हस्तिनोऽपि प्रचुराः सन्ति, तथा पुनर्मनुष्याः सुजटाः सेवका बहवो विद्यन्ते, तथा मम पुरं नगरमप्यस्ति, च पुनर्मे मम अन्तःपुरं गार्हीवृन्दं वर्तते। पुनरहं मानुष्यान् भोगान् मनुष्यसम्बन्धिना विषयान् भुज्जि। च पुनराक्षैश्वर्यं वर्तते आक्षा अप्रतिहतशासनस्वरूपं प्रमुत्वं वर्तते, यतो मम राज्ये कोऽपि मदीयामाज्ञां न खण्डयतीत्यर्थः।

यतिस्तमुवाच—

न तुमं जाणे अणहस्स, अत्थं पोत्थं च पत्थिवा! ।

जहा अणहो हवइ, सणहो वा नराहिवा! ॥ १६ ॥

हे पार्थिव! हे राजन्! त्वम्। ‘अणहस्स’ अनाथस्य अर्थम्

अभिधेयम्, चशब्दः पुनरर्थः, च पुनरनाथस्य प्रोत्थां न जानासि, प्रकपेणोत्थानं मूलोत्पत्तिः प्रोत्था, तां प्रोत्थाम्, केनाभि-प्रायेणायमनाथशब्दः प्रोक्त इत्येवंरूपां न जानासि। हे राजन्! यथाऽनाथोऽथवा सनाथो भवसि तथा न जानासि, कथमनाथो भवति, कथं वा सनाथो भवति? ॥ १६ ॥

सुणेह मे महाराय!, अव्वक्खित्तेण वेयसा ।

जहा अणहो जवइ, जहा मेय पवत्तियं ॥ १७ ॥

हे महाराज! मे मम कथयतः सतः त्वमव्याक्षिप्तेन स्थिरेण चेतसा शृणु। यथाऽनाथो नाथरहितो भवति, तथा मे ममानाथत्वं प्रवर्त्तितम्। अथवा (मे य इति) मे एतदनाथत्वं प्रवर्त्तितं तथा त्वं शृणु इत्यनेन स्वकथाया उद्वेगः कृतः ॥ १७ ॥

कोसंबी नाम नयरी, पुराणपुरजेयणी ।

तत्थ आसी पिआ मज्जं, पच्चयधणसंचओ ॥ १८ ॥

हे राजन्! कौशाम्बी नगरी आसीत्। कीदृशी कौशाम्बी?, पुराणपुरमेदिनी जीर्णनगरमेदिनी, यादृशानि जीर्णनगराणि भवन्ति तेभ्योऽधिकशो भवन्ती। कौशाम्बी हि जीर्णपुरी वर्त्तते जीर्णपुरस्या हि लोकाः प्रायशश्चतुरा धनवन्तश्च बहुशा विवेकवन्तश्च भवन्तीति हार्दम्। तत्र तस्यां कौशाम्ब्यां मम पिताऽसीत्। कीदृशो मम पिता?, प्रभूतधनसञ्चयः। नाम्नाऽपि धनसंचयः, गुणेनाऽपि बहुलधनसंचय इति वृद्धसंप्रदायः ॥ १८ ॥

पढमे वए महाराय!, अउझा मेऽत्थिवेयणा ।

अहोत्था विउलो दाहो, सन्वगत्तेसु पत्थिवा! ॥ १९ ॥

हे महाराज! प्रथमे वयसि यौवने एकदा अतुल्यदृष्ट्या, अस्थिवेदना अस्थिपीडा, (अहोत्था इति) अहत्। अथवा “अक्खिवेयणा” इति पाठे अक्खिवेदना नेत्रपीडा अभूत्। ततश्च हे पार्थिव! हे राजन्! सर्वगात्रेषु विपुलो दाघोऽहत् ॥ १९ ॥

सत्थं जहा परमातिक्खं, शरीरविवरंतरे ।

पाविसिज्ज अरी कुप्पो, एवं मे अत्थिवेयणा ॥ २० ॥

हे राजन्! यथा कश्चिदरिः क्रुध्यन् कुडः सन्, शरीरविवरान्तरे नासाकर्णचक्षुःप्रमुखरन्ध्राणां मध्ये परमतीक्ष्णं शस्त्रं प्रपीडयेद् गाढमवगाहयेत्, एवं मे ममास्थिवेदनाऽहत्। (शरीरविवरंतरे ति)

(पार्श्वटीका)

शरीरविवराणि कर्णरन्ध्रादीनि, तेपामन्तरं मध्यं शरीरविवरान्तरं तस्मिन् (पाविसिज्ज ति) प्रवेशयेत् प्रक्षिपेत्। शरीरविवरप्रवृत्तमतिमुकुमारत्वादान्तरत्वं चागाढवेदनोपलक्षणम्। पठ्यते च—शरीरवीर्यान्तरेण “आघिलिज्ज ति” पात्रान्तरे शरीरवीर्यं सप्त धातवस्तदन्तरे तन्मध्य आपीरयेद् गाढमवगाहयेत्। एवमित्यापीड्यमानस्य शस्त्रवद् मे ममास्थिवेदना, कोऽर्थः?, यथा तदत्यन्तवाधाविधायि तथैवाऽपीति ॥ २० ॥

तियं मे अंतरिच्छं च, उत्तमंगं च पीरई ।

इंदासणिसमा घोरा, वेयणा परमदारुणा ॥ २१ ॥

हे राजन्! सा परमदारुणा वेदना मे मम त्रिकं कटिपृष्ठविभागम्। च पुनरन्तरिच्छाम्—अन्तर्मध्य इच्छा अन्तरिच्छा, तामन्तरिच्छाम्। भोजनपानरमणाभिलाषरूपाम्। च पुनरुत्तमाङ्गं मस्तकं पीडयति। कीदृशी वेदना?, इन्द्राशनिसमा घोरा, इन्द्रस्या शनिर्वज्रं तत्समाऽऽतिदाहोत्पादकत्वात् तुल्या, घोरा जयदा। २१ ॥

किं न कश्चित्तां प्रतिकृतवानित्याह—

उवडिया मे आयरिया, विज्जापंततिगिच्छमा ।

अधीया सत्यकुसला, मंतमूलविसारया ॥ २२ ॥

हे राजन् ! तदेत्यध्याहारः । आचार्या वैद्यानां शास्त्राज्या-
सकारकाः मे उपस्थिताश्चिकित्सां कर्तुं लग्नाः, कीदृशा आचा-
र्याः ? विद्यामन्त्रचिकित्साकाः विद्यया मन्त्रेण च चिकित्सन्ति
चिकित्सां कुर्वन्तीति विद्यामन्त्रचिकित्साकाः, प्रतिक्रियाकर्तारः ।
पुनः कीदृशा आचार्याः ? अधीताः सम्यक् पठिताः । 'अधी-
या' इति पाठे न विद्यते अन्यो द्वितीयो येन्यस्तेऽद्वितीया अ-
साधारणाः । पुनः कीदृशास्ते ? शास्त्रकुशलाः शास्त्रेषु विचक्ष-
णाः । पुनः कीदृशास्ते ? मन्त्रमूलविशारदाः, मन्त्राणि देवाधि-
ष्ठितानि, मूलानि जटिकारूपाणि, तत्र विचक्षणाः मन्त्रमूलिका-
नां गुणज्ञाः ॥ २२ ॥

ते मे तिगिच्छं कुर्वन्ति, चातुष्पायं जहाहियं ।

न य दुक्त्वा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २३ ॥
ते वैद्याचार्या मम चिकित्सां रोगप्रतिक्रियां यथा हितं भवेत्त-
था कुर्वन्ति । कीदृशं चैकित्स्यम् ? चातुष्पादं चत्वारः पादाः
प्रकारा यस्य तच्चतुष्पदम्, तस्य भावः चातुष्पादम्, चातुर्विध्य-
मित्यर्थः । वैद्य १ औषध २ रोगी ३ प्रतिचारक ४ रूपम् ।
अथवा-वमन १ विरेचन २ मर्दन ३ स्वेदन ४ रूपम् । अथवा-
अञ्जन १ बन्धन २ लेपन ३ मर्दनरूपम् । शास्त्रोक्तं गुरुपारंपर्यागतम् ।
चक्रुरिति स्थाने प्राकृतत्वात्कुर्वन्तीत्युक्तम्, ते वैद्या मां दुःखान्न
विमोचयन्ति स्म । प्राकृतत्वाद्भूतार्थं वर्त्तमानार्थः प्रत्ययः, एसा
ममानाथता वर्तते ॥ २३ ॥

अन्यथ—

पिया मे सन्वसारं पि, देज्जाहि समकारणा ।

न य दुक्त्वा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २४ ॥
हे राजन् ! मम पिता मम कारणे सर्वमपि सारं गृहे यत्सारं
सारवस्तु तत्सर्वमपि वैद्योऽन्योऽदात्, तथापि वैद्या मां दुःखाद्
न विमोचयन्ति स्म । एसा मम अनाथता ज्ञेयेति शेषः ॥ २४ ॥

माया वि मे महाराय !, पुत्तसोगडुहट्टिया ।

न य दुक्त्वा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २५ ॥

[पार्श्वटीका]

तथा माताऽपि पुत्रविषयः शोकः पुत्रशोकः, हा कथमित्यं
दुःखी मत्सुतो जातइत्यादिरूपः, ततो दुःखम्, तेन [अद्विष्ट] चि
आर्ता । अथवा [अद्विष्ट] चि अर्दिता, उभयत्र पीकितेत्यर्थः ।
ततः पुत्रशोकदुःखार्त्ता पुत्रशोकदुःखार्दिता वा ज्ञेया ॥ २५ ॥

भायरा मे महाराय !, सगा जिड कणिट्टगा ।

न य दुक्त्वा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २६ ॥
हे महाराज ! मे मम भ्रातरोऽपि स्वका आत्मीयाः, ज्येष्ठक-
निष्ठका वृक्षा लघवश्च मां न च दुःखाद्विमोचयन्ति स्म । एसा
ममानाथता ज्ञेया ।

(पार्श्वटीका)

[सग चि] शोकरूढित सोदर्याः स्वका वा आत्मीयाः ॥ २६ ॥

जइणीओ मे महाराय !, सगा जिड कणिट्टगा ।

न य दुक्त्वा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २७ ॥
हे महाराज ! मे मम भगिन्योऽपि स्वका एकमातृजाः । ज्ये-
ष्ठाः कनिष्ठाश्च मां दुःखान्न विमोचयन्ति स्म, एसा मम अनाथता
ज्ञेया ॥ २७ ॥

भारिया मे महाराय !, अणुरत्ता अणुव्वया ।

अंसुपुष्पेहि नयणेहि, उरं मे परिसिचइ ॥ २८ ॥

अन्नं पाणं च एहाणं च, गंधमल्लविशेषणं ।

मए नायमनायं वा, सा वाला नोवज्जइ ॥ २९ ॥

खणं पि मे महाराय !, पासाओ वि न फिट्टइ ।

न य दुक्त्वा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ ३० ॥

हे महाराज ! मे मम भार्या कामिन्यऽपि दुःखान्मां न मोचय-
ति स्म । कथम्भूता भार्या ? अनुरक्ता अनुरागवती । पुनः क-
थम्भूता ? अनुव्रता पतिव्रता पतिमनुवर्त्तकृत्य व्रतं यस्याः सा
अनुव्रता । एतादृशी भार्या मे ममोरो हृदयमश्रुपूर्णाभ्यां लोच-
नान्यां सिञ्चति स्म ।

(पार्श्वटीका)

अपरञ्च भार्या पत्नी अनुरक्ताऽनुरागवती [अणुव्वय चि] अ-
न्विति कुलानुरूपं व्रतमाचारोऽस्या अनुव्रता; पतिव्रतेति याव-
त्, वयोऽनुरूपा वा । पठ्यते च—(अणुत्तरमणुव्वय चि) इह
च मकारोऽलाक्षणिकः । अनुत्तरा अति प्रधाना (उरं ति)
उरो वक्त्रः, परिषिञ्चति समन्तात् प्लावयति ॥ २८ ॥

पुनः सा वाला मत्कामिनी अन्नमशनं मोदकादिकं भक्ष्यं,
पानं शर्करोदकादिकं, पुनः स्नानं कुङ्कुमादिपानीयैरभिषेकैश्चो-
चकमेदजवाधिप्रमुखैर्गोत्रार्चनं मया ज्ञातं वा अज्ञातं स्वभावेनै-
व एतत्सर्वं भोगाङ्गं नोपगृह्णे नानुभवति । मम दुःखात्सर्वा-
ण्यपि जोगाङ्गानि त्यक्तानि ।

(पार्श्वटीका)

स्नानं स्नात्येनेनेति स्नानम्-गन्धोदकादि, मया ज्ञातमज्ञातं वे-
त्येनेन सद्भावसारतामाह । पठ्यते च—“तारिंसं रोगमावक्षे चि”
तादृशमुक्तरूपं रोगमक्षिरोगादिकम्, ‘आवक्षे’ प्राप्ते मयीति-
गम्यते । (से ति) भार्या बालेव बालाऽभिनवयौवना नोप-
गृह्णे नासेवते ॥ २९ ॥

(खणं वि चि) पुनर्हे महाराज ! सा वाला मम पार्श्वी-
कट्यात् (न विफिट्टति) न अपयातीत्यर्थः । परं दुःखान्मां
न मोचयति, एसा ममानाथता ज्ञेया ।

[पार्श्वटीका]

[पासाओ वि ण फिट्टइ चि] अपिश्रशब्दार्थः, ततः पार्श्वी-
नापयाति सदा सन्निहितैवाऽऽस्ते ॥ ३० ॥

अनेन तस्या अपि वत्सलत्वमाह—

तओ इ एवमाहंसु, दुक्त्वा मा हु पुणो पुणो ।

वेयणा अणुभविउं जे, संसारम्मि अणंतए ॥ ३१ ॥

ततोऽनन्तरं प्रतीकारेषु विफलेषु जातेषु अहमेवमवादि-
षम् । एवमिति किम् ? हु इति निश्चयेन या वेदना अनुभवितुं
दुःक्षमा भोक्तुमसमर्थास्ता वेदनाः संसारे पुनः पुनर्भुक्ता इति
शेषः । वेद्यते दुःखमनयेति वेदना । दुःखेन क्षम्यते सह्यते
इति दुःक्षमा दुस्सहा, कीदृशे संसारे ? अनन्तकेऽपारे ॥

[पार्श्वटीका]

तत इति रोगाप्रतिकार्यतान्तरमहमेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण
[आहंसु चि] उक्तवान्, यथा [दुक्त्वा मा हु चि] हुरेवका-
रार्थः । ततो दुःक्षमेव दुःसहैव पुनः पुनर्वेदना उक्तरूपा
रोगव्यथा अनुभवितुम्, ‘जे’ इति निपातः पूरणे ॥ ३१ ॥

सइं च जइ मुवेज्जा, वेयणा विउट्ठा ल मे ।

खंतो दंतो निरारंभो, पव्वइए अणगरियं ॥ ३२ ॥

अहं किमवादिषम् ? तदाह—यदि सकृदप्येकवारमप्यहं वेद-

नाया विमुच्ये, तदाऽहं क्षान्तो भूत्वा, पुनर्दान्तो जितेन्द्रियो
भूत्वा निरारम्भः सन् अनगारत्वं साधुत्वं, प्रव्रजामि दीक्षां गृह्णा-
मीति भावः । कथम्भूताया वेदनायाः, विपुलाया विस्तीर्णयाः ।
[पार्श्वटीका]

यतश्चैवमतः [सद्च सति] चशब्दोऽपिशब्दार्थः । ततः सकृ-
दप्येकदाऽपि यदि मुच्येयाहमिति गम्यते । कुतः, [वियण् सति]
वेदनाया [विडल सति] विपुलाया विस्तीर्णयाः । इत्यनुभूय-
मानायाः । ततः किमित्याह-क्षान्तः क्षमावान्, क्षान्त इन्द्रियनो-
इन्द्रियदमेन [पव्वण अणगारियं ति] प्रव्रजेयं गृह्णामिकामेयम् ।
ततश्चाऽनगारितां भावमिच्छतामक्रीकुर्यामिति शेषः । यद्वा-प्र-
व्रजेयं प्रतिपद्येयानगारितां, येन संसारोच्छिष्टितो मूलत
एव न वेदनासंभवः स्यादिति भावः ॥ ३२ ॥

एवं च चित्तज्ञाणं, पसुत्तोमि नराहिवा । ।

परियट्तिंति य राईण, वेयणा मे खयं गया ॥ ३३ ॥

एवं पूर्वोक्तं चिन्तनं चिन्तयित्वा हे नराधिप ! यावदहं सुप्तो-
ऽऽस्मि तावत्तस्यामेव राज्ञौ प्रवर्त्तमानायाम्-अतिक्रामन्त्यां, मे
मम, वेदना क्षयं गता ; वेदना उपशान्ता इत्यर्थः ॥

(पार्श्वटीका)

एवं च चिन्तयित्वा प्रणन्ति न केवलमुक्त्वा चिन्तयित्वा चैवं
(पसुत्तोमि सति) प्रसुप्तोऽस्मि (परियट्तिंति य सति) परिवर्त्तमा-
नायामतिक्रामन्त्याम् ॥ ३३ ॥

तत्रो कट्ठे पभायस्मि, आपुच्छित्ताण बंधवे ।

खंतो दंतो निरारंभो, पव्वणो अणगारियं ॥ ३४ ॥

(पार्श्वटीका)

ततो वेदनोपशमनानन्तरं (कट्ठ सति) कट्ठो नीरोगः सन् प्रभा-
ते प्रातः । यद्वा- [कट्ठ सति] चिन्ताऽऽदिनाऽपेक्षया द्वितीयादिने
प्रकर्षेण व्रजितो गतः प्रव्रजितः, कोऽर्थः, प्रतिपश्वाननगारिता-
मिति । ततो वेदनाया उपशान्तेरनन्तरं (कट्ठे इति) नीरोगे जाते
सति प्रभातसमये बान्धवान् स्वक्षातोनापृच्छ्याहमनगारित्वं
साधुत्वं प्रव्रजितः, साधुधर्ममङ्गीकृतवान् । कीदृशोऽहम्, क्षान्तः
पुनर्दान्तः, पुनरहं निरारम्भः ॥ ३४ ॥

तत्रो हं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य ।

सव्वेसिं चैव जूयाणं, तसाणं थावराण य ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! ततो दीक्षाग्रहणानन्तरमात्मनश्च पुनः परस्य
नाथो योगक्षेमकरत्वेन स्वामी जातः । आत्मनो हि नाथः, शुद्ध-
प्ररूपणत्वात् । अपरस्य च, हितचिन्तनात् । एवं निश्चयेन सर्वे-
षां भूतानाम्, व्रसानां च पुनः स्थावराणां नाथो जातः ॥ ३५ ॥

किमिति प्रव्रज्याप्रतिपत्त्यनन्तरं नाथस्त्वं जातः, पुरा तु नेत्याह-

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूरुसामह्वी ।

अप्पा कामदुया धेणु, अप्पा मे नंदणं वणं ॥ ३६ ॥

(आत्मेति) व्यवच्छेदकत्वत्वाद्वाक्यस्यात्मैव नान्यः कश्चिदि-
त्याह-नदी सरित् । चैतरणीति नरकनद्या नाम । ततो महान-
र्यहेतुतया नरकनदी वा । अत एव आत्मैव कूटमिव जन्तुयात-
नाहेतुत्वाच्छालमली कूटशालमली नरकोद्भवा । तथा आत्मैव
कामानभिलाषान् दोग्धि आपकतया प्रपूरयति कामदुवा, धेनु-
रिव धेनुः इयं रुदित वक्ता । एतदुपमात्वमभिलषितस्वर्गपवर्गा-
श्चासिहेतुतया आत्मैव मे मम, नन्दनं नन्दननामकं वनमुद्यानम् ।
एतदौपम्यं चास्य चित्तप्रवृत्तिहेतुतया ॥ ३६ ॥

यथा चैतदेवं तथाऽऽह-

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।

अप्पा मित्तमामिचं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठियो ॥ ३७ ॥

आत्मैव कर्त्ता विधायको दुःखानां सुखानां वेति योगः । प्रक-
माश्च आत्मन एव विकर्त्ता च विकोपकश्चात्मैव तेषामेव । अतश्च
आत्मैव मित्रमुपकारितया सुहृत्, (अमित्रं चेति) अमि-
त्रश्चापकारितया दुर्हृत् । कीदृक् ? (दुप्पट्ठियं सुप्पट्ठितो सति)
दुष्टु प्रस्थितः सकलदुःखहेतुरिति विषादिकद्वयः, सुष्ठु प्र-
स्थितश्च सकलसुखहेतुरिति कामधेन्वादिकद्वयः । तथा च
प्रव्रज्याऽवस्थायामेवमुपस्थितत्वेन आत्मनोऽन्येषां च योगक्षे-
मकरणे समर्थत्वाच्चायत्वमिति सुप्रगर्भार्थः ॥ ३७ ॥

पुनरन्यथा नाथत्वमाह-

इमा हु अओ वि अणाहया निवा !,

तमेकचित्तो निवृत्तो मुणेहि ।

निगट्ठधम्मं लभियाण वी जहा ,

सीदंति एगे बहुकायरा नरा ॥ ३८ ॥

(पार्श्वटीका)

इयमनन्तरमेव बह्व्यमाणा । इ पुरणे, अन्या परा, अपिः
समुच्ये । अनाथताऽस्वामिता, यदभाषतोऽहं नाथो जात
इत्याशयः । निवृत्तिरूपतामित्यनाथतामेकचित्त एकाग्रमनाः,
निवृत्तः स्थिरः, शुष्ट । का पुनरसाधित्याह-निर्ग्रन्थानां धर्म
आचारो निर्ग्रन्थधर्मस्तम् [लजियाण वि सि] शब्दाऽपि ।
यद्येत्युपदर्शने । सीदन्ति तदनुष्ठानं प्रति शिथिलीभवन्ति । एके
केचन, ईषदपरिसमाप्ताः कातरा निःसत्त्वा बहुकातराः । “विभा-
या सुपो बहुल पुरस्तात्” ॥ पाणि०-५ । ३ । ६७ ॥ इत्यतः प्राग्
बहुत्वं प्रत्यये हि सर्वथा निःसत्त्वाः, ते मूला एव न निर्ग्रन्थमार्गे
प्रतिपद्यन्त इत्येवमुच्यते । यदि वा कातरा एव बहवः संज्ञव-
न्तीति, बहुशब्दो विशेषणम् । नराः पुरुषाः सीदन्तश्च नात्मान-
मन्याश्च रक्षयितुं क्रमाः । इतीयं सीदनलक्षणा पराऽनाथ-
तेति ज्ञावः ॥ ३८ ॥

जो पव्वणत्ताण महव्वपाई,

सम्मं च नो फासइ से पमाया ।

अणिग्गाहप्पा य रसेसु गिच्छे,

न मूलओ ङिदइ बंधणं से ॥ ३९ ॥

हे राजन् ! यो मनुष्यः प्रव्रज्य दीक्षां गृहीत्वा, महाव्रतानि प्र-
मादात् सम्यग्विधिना न स्पृशति न सेवते, [से इति] स प्र-
मादवशवर्त्ता बन्धनं कर्मबन्धनं रागद्वेषद्वन्द्वं संसारकारणं
मूलतो मूलाद् न विनसि मूलतो नोत्पादयति । सर्वथा राग-
द्वेषौ न निवारयतीत्यर्थः ।

[पार्श्वटीका]

नो स्पृशतीति नाऽसेवते प्रमादाभिजादेरनिग्रहोऽविद्यमान-
विषयनियन्त्रणे आत्मा यस्य सोऽनिग्रहात्मा । अत एव रसेषु
मधुरादिषु शुद्धो गृह्णिमान् । वक्ष्यतेऽनेन कर्मेति बन्धनम् राग-
द्वेषात्मकं [से इति] सः ॥ ३९ ॥

आउत्तया जस्स य नत्थि काई,

इरियाइ भासाइ तहेसणाए ।

आयाण-निकसेव-धुगंडणाए,

न धीरजायं अणुजाऽयं ॥ ४० ॥

हे राजन् ! स साधुर्धोरयातं मार्गं नानुयाति , धीरैर्महापुरुषै-
स्तीर्थकरैरेणधैर्यं यातं प्राप्तम् , अर्थान्मोक्षमार्गं न प्राप्नोति ।
स कः? यस्य साधोरीर्यायां गमनागमनसमितौ, तथा प्रापायां,
तथा एषणायामाहारग्रहणसमितौ, पुनरादाननिकेपणसमितौ,
वस्तूनां ग्रहणमोचनविधौ, तथा [दुर्गन्धनाप इति] उच्चारप्रश्रव-
णश्लेष्मजल्लसिद्वाणादीनां परिष्ठापनसमितावाऽऽयुक्तता का
चिन्नास्तीति ॥ ४० ॥

तथा च—

चिरं पि से मुंरुई जवित्ता,

अथिरव्वए तवनियमेहिं जट्टे ।

चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता,

न पारए होइ हु संपराए ॥ ४१ ॥

स पूर्वोक्तः पञ्चसमितिरहितो मुन्याभासश्चिरं मुण्डरुचिर्भू-
त्वाऽऽत्मानमपि चिरं क्लेशे पातयित्वा, हु इति निश्चयेन, सं-
परापे संसारे पारगो न भवति । कीदृशः सः? अस्थिरव्रतोऽ-
स्थिराणि व्रतानि यस्य सोऽस्थिरव्रतः । पुनः कीदृशः सः? , त-
पो नियमभूषः । यः कदापि तपो न करोति, तथा पुनर्नियममभि-
ग्रहादिकं च न करोति, केवलं द्रव्यमुण्डो जवति, स संसार-
स्य पारं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

स चैवंविधः—

पोह्वेव मुट्टी जह से असारो,

अयंतिए कूरुकाहावणे वा ।

राढामणी वेरुलियप्पगासे,

अमगयए होइ हु जाणएसु ॥ ४२ ॥

स पूर्वोक्तो मुण्डरुचिरसारो जवति । अन्तःकरणे धर्मानावात्
रिक्तोऽकिञ्चित्करो भवति । स क इव ? पोह्वो मुष्टिरिव । यथा-
रिक्तो मुष्टिरसारो मध्ये सुषिर एव, तथा स मुण्डरुचिः कूटका-
र्षापण इवास्त्यनारणकमिवायन्त्रितो जवति, न यन्त्रितोऽयन्त्रितो-
ऽनादरणीयो निर्गुणत्वाद्भेदकणीयः स्यादित्यर्थः । उक्तमर्थमर्थो-
न्तरन्यासेन उदयति—हु यस्मात्करणात् राढामणिः काचमणिः
[जाणएसु इति] ज्ञातृकेषु मणिपरीक्षकनरेषु वैरूर्यप्रकाशोऽ-
मर्धको भवति बहुमूल्यो न भवति । वैरूर्यमणिवत् प्रकाशो य-
स्य स वैरूर्यमणिप्रकाशः, वैरूर्यमणिसदृक्तेजाः । महान् अर्घो
यस्य स महार्घः, महार्घ एव महार्धकः । न महार्धकोऽम-
हार्धकः । अबहुमूढय इत्यर्थः । यथा—मणिङ्गेषु वैरूर्यमणि-
र्बहुमूल्यः स्यात्, तथा काचमणिर्बहुमूल्यो न स्यादेवं
धर्महीनो मुनिः साधुर्गुणङ्गेषु यथा सद्धर्माचारयुक्तः साधुर्व-
न्दनीयः स्यात्तथा स मुण्डरुचिर्वन्दनीयो न स्यादिति ज्ञातः ॥

(पाईटीका)

“पोह्वरमुट्टी जहत्ति” पाठान्तरम् । इह “पोह्वरत्ति” सुबिरा,
असारत्वं चोभयोरपि सदर्थशून्यतया ॥ ४२ ॥

कुसीदादिगं इह धारयित्ता,

इसिञ्ज्भयं जीविय बूहयित्ता ।

असंजये संजय दप्पमाणे,

विणिहायमागच्छइ से चिरं पि ॥ ४३ ॥

(से इति) स साध्वाचाररहितः, इह संसारं चिरं चिरकावं या-
वन्निघातमागच्छति पीमां प्राप्नोति । किंकृत्वा ?, कुशीवलिङ्गं
पार्श्वस्थादीनां चिह्नं धारयित्वा । पुनर्जीविकायै आजीविकार्थ-
मृषिध्वजं रजोहरणमुखपोत्तिकदिक् वृद्धयित्वा शुद्धिं प्रापय्य,
विशेषेण निघातं विनिघातं विविधपीराम् । स किं कुर्वणः ?,
असंयतः सन् अहं संयत इति दालप्यमानः— असाधुरपि
साधुरहमिति वृवाणः ॥ ४३ ॥

अत्रैव हेतुमाह—

विसं तु पीयं जह कावकूमं,

हणाइ सत्थं जह कुगह्दीयं ।

एमेव धम्मो विसओवसएणो,

हणाइ वेयाद्व इवाविवएणो ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! यथा कावकूटो महाविषः पीतः सन् [हणाइत्ति]
हन्ति । पुनर्यथा कुगह्दीयं विपरीतवृत्त्या गृहीतं शास्त्रं हन्ति ।
एवमेव अनेनैव दृष्टान्तेन विषयैरिन्द्रियसुखैरुपपन्नो विषयसु-
खाभिज्ञापयुक्तो धर्मोऽपि हन्ति । पुनः स विषयो धर्मोऽविषय-
वेता इव हन्ति । मन्त्रादिभिरकीर्तितः । यथा स्फुरद्बलो
मन्त्रयन्त्रैरनिवारितबलो वेतालो महापिशाचो मारयाति, तथा
विषयसहितो धर्मोऽपि मारयतीत्यर्थः ॥

[पाईटीका]

[वियाल इवाविवक्षो स्ति] चस्य गम्यमानत्वाद्देताव इवाऽ-
विषयोऽप्राप्तविषय, मन्त्रादिजिरनियन्त्रित इत्यर्थः । पठ्यते च—
[वेयाद्व इवाविवधणो स्ति] इह वा विषयधनोऽविद्यमानमन्त्रा-
दनियन्त्रणः । उभयत्र साधकमिति गम्यते ॥ ४४ ॥

जे लक्खणं सुविणं पडंजमाणे,

निमित्तकोह्वलसंपगादे ।

कुहेरुविज्जासवदारजीवी,

न गच्छई सरणं तम्मि कावे ॥ ४५ ॥

यः साधुर्वैक्षणं प्रयुज्जानः सामुद्रोक्तं स्त्रीपुरुषशरीरचिह्नं शु-
जाशुजसूचकं प्रयुज्जे, गृहस्थानां पुरतो वक्ति । यः पुनः साधुः सु-
विणं स्वप्नविद्यां प्रयुज्जानो भवति—स्वप्नानां फलाफलं वक्ति ।
पुनर्यः साधुर्निमित्तकौतूहलसम्प्रगाढो जवति—निमित्तं च
कौतूहलं च निमित्तकौतूहले तयोः सम्प्रगाढोऽत्यन्ताशक्तः
स्यात् । तत्र निमित्तं भूकम्पोल्कापातकेतूदयादि । कौतूहलं कौ-
तुकं पुत्रादिप्राप्त्यर्थं स्नानजपैषादिप्रकाशनम् । उज्जयत्र संर-
क्तो जवति । पुनर्यः साधुः कुहेटविद्याऽऽश्रवद्वारजीवी भवति—कु-
हेटका विद्याः कुहेटकविद्याः । अलीकाऽऽश्रयविधायिमन्त्रतन्त्र-
यन्त्रज्ञानात्मिकास्ता एवाश्रवद्वाराणि, तैर्जीवितुमाजीविकां कर्तुं
शीलं यस्य स कुहेटकविद्याऽऽश्रवद्वारजीवी, एतादृशो यो भव-
ति । हे राजन् ! परं तस्मिन् काले लक्षणस्वप्ननिमित्तकौतूहल-
कुहेटकविद्याश्रवद्वारोपाजितपातकफलोपजोगकावे स साधुः
शरणं न गच्छति, न प्राप्नोति । तं साधुं वोऽपि दुःखान्नरकतिर्य-
ग्योन्यादौ न त्रायत इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अमुमेवार्थं भावयितुमाह—

तमंतमेण्व उ से असीद्वे,

सया दुही त्रिप्परिया समुवेइ ।

संधावइ नरयं तिरिक्खजोणी,

मोणं विराहितु असाहुरूवे ॥ ४६ ॥

त पुनः स द्रव्यमुण्डः साधुरूपो नैनं विराध्य साधुधर्मं दूषयित्वा, नरकतिर्यग्योनिं संधावति सततं गच्छति । पुनः अशीलः कुशीलो विपर्यासमुपैति-तत्त्वेषु वैपरीत्यं प्राप्नोति, मिथ्यात्वमूढो भवतीति ज्ञावः । कीदृशः सः ? तमस्तमसैव सदा दुःखी अतिशयेन तमस्तमस्तमः, तेन तमस्तमसैव अज्ञानमहान्धकारेणैव संयमविराधनाजनितदुःखसहितः ॥ ४६ ॥

कथं पुनर्नैनं विराध्य कथं वा नरकतिर्यग्यती सन्धावतीत्याह-

उद्देशियं कीयगमं नियागं,

न मुच्ये किंचि अणसणिज्जं ।

अग्गीविवा सन्वभवली भविता,

इओ चुओ गच्छइ कदुपावं ॥ ४७ ॥

पुनर्यः साधुपाशः उद्देशिकं दर्शयति न उद्देश्यं कृतं उद्देशिकमाहारम् । पुनः साधुनिमित्तं क्रीतं मौल्येन गृहीतम् । पुनराहृतं साधुसंमुखमानीतं साधुखान एव गृहस्थेन आनीतं तदाहृतम् । पुनर्यद्वाहारं नित्यकं नित्यपिण्डं गृहस्थगृहे नियतपिण्डमतादृशं सद्योपमाहारमनेपणीयं साधुना अप्राप्तं न मुञ्चति । जिहासा-स्पत्येन किमपि न त्यजति, सर्वमेव गृह्णाति । सोऽग्निरिव सर्वभक्षीभूय हरितशुक्लप्रज्वालको वैश्वानर इव चूत्वा प्रासुकाहारं मुक्त्वा इतश्च्युतो मनुष्यजवाच्युतः कुगतिं व्रजति । किं कृत्वा ? पापं कृत्वा संयमविराधां विधाय ॥ ४७ ॥

न तं अरी कंठेत्ता करेइ,

जं से करे अप्पणिय दुरप्पया ।

से नाहई मच्चुमुहं ति पत्ते,

पच्छाऽणुतावेण दयाविदूणो ॥ ४८ ॥

(पार्श्वटीका)

यतश्चैवं सुदुश्चरितैरेव दुर्गतिप्राप्तिः, अतोऽनेनैव (तमिति) प्रस्तावादन्तर्कएवञ्चेत्ता प्राणदत्ता (से) तस्य (दुरप्पयेति) प्राकृतत्वाद् दुरात्मतां दुष्टाचारप्रवृत्तिरूपां न चैनामाचरन्नपि जन्तुरत्यन्तमूढतया वेत्ति । तत्किमुत्तरकालमपि न वेत्स्यतीत्याह-स दुरात्मा कर्त्ता ह्यास्यति । प्रकमाद् दुरात्मतां मृत्युमुखं तु मरणसमयम्, पुनः प्राप्तः पश्चादनुतापेन हा दुष्टं मयाऽनुष्ठितमिति, एवंरूपेण दया संयमसत्याद्युपलक्षणमहिंसा वा तद्विहीनः सन् । मरणसमये हि प्रायोऽस्ति मन्दधर्मस्यापि धर्माग्निप्रायोत्पत्तिरेवमभिधानम् । यतश्चैवं महानर्थहेतुः पश्चात्तापहेतुश्च दुरात्मता तददित एव मूढतामपहाय परिहर्तव्यमिति भावः ॥ ४८ ॥

यस्तु मृत्युमुखं प्राप्नोऽपि न तं वेत्स्यतीति

तस्य का वाच्येत्याह-

निरट्ठिया निप्परुई उ तस्स,

जे उत्तमट्ठे विवज्जासमेइ ।

इमे वि से नत्थि परे वि लोए,

दुहओ वि से जिम्भज्झइ तत्थ लोणे ॥ ४९ ॥

(पार्श्वटीका)

निरर्थिका तु शब्दस्यैवकारार्थस्येह सम्यग्धाग्निरर्थकैव निष्फले । नामन्ये श्रामण्ये क्वचिच्छिन्ना नामन्यक्वचित्तस्य [जे उत्तमट्ठं नि] सुख्यत्ययादपेश्व गम्यमानत्वाच्चत्तमार्थेऽपि पर्यन्तसमयाराधनारूपे आस्तां पूर्वमित्यापिशब्दार्थः । वि-

पर्यासं दुरात्मतायामपि सुन्दरात्मतापरिज्ञानरूपमेति गच्छति, इतरस्य तु कथञ्चित्स्यादपि किञ्चित्फलमिति भावः । किमेवमुच्यते ? यतः [इमे वि सिति] अयमपि प्रत्यक्षो लोक इति सम्बन्धः । [से इति] तस्य नास्ति न विद्यते । न केवलमयमेव परोऽपि लोको जन्मान्तरलक्षणः । तत्रेह लोकऽभावः शरीरफले शरीरलोचनाविसेवनात्, परलोकभावश्च कुगतिगमनतः शरीरमानसदुःखसम्भवात् । तथाच [दुहओ वि सिति] द्विधाऽनैहिकपारत्रिका-र्थे भावेन [जिम्भज्झइ सिति] स पेहिकपारत्रिकार्थसंपत्तिमतोजनानवलोक्य धिम्मामपुण्यभाजनमुनयन्नघृतयेति चिन्तया क्लीयते । तत्रेद्युज्यलोकभावे सति लोकं जगति ॥ ४९ ॥

यदुक्तं स ह्यास्यति पश्चादनुतापेनेति तत्र यथाऽसौ परितप्यते तथा दर्शयन्नुपसंहारमाह-

एमेव हा उदकुसीलरूवे,

मगं विराहितु जिणुत्तमाणं ।

कुररीविवा भोगरसाणुगिद्धा,

निरत्तसोया परितावमेइ ॥ ५० ॥

(पार्श्वटीका)

एवमेवोक्त्युपेयैव महाव्रतस्पर्शादिना प्रकारेण यथावन्त्याः स्वरुचिविरचित्ताचाराः कुशीलाः कुत्तिसतशीलास्तदूपास्तस्वभावाः, कुररीव पक्षिणीव [निरत्तसोय सिति] निरर्थो निष्प्रयोजनः लोकः यस्याः सा निरर्थशोका, परितापं पश्चात्तापरूपम्, एति गच्छति । यथा चैषाऽऽमिपगृहा पक्वान्तरेज्यो विपत्प्राप्तौ शोचनेन च ततः काश्चिद्विपत्प्रतीकार इत्येवमसावपि भोगरसगृह पेहिका-मुष्मिकानर्थप्राप्तौ ततोऽस्य स्वपरपरिज्वाणासमर्थत्वेऽनाथत्वमिति ज्ञावः ॥ ५० ॥

एतच्छ्रुत्वा यत्कृत्यं तदुपदेष्टुमाह-

सोच्चाण मेहावि ! सुजासियं इमं,

अणुत्तासणं नाणुगुणोववेयं ।

मगं कुसीलाण जहाय सव्वं,

महानियट्ठाण वए पहेणं ॥ ५१ ॥

हे मेधाविद ! हे परिभूत ! हे राजन् ! इदं सुभाषितं सुष्ठु भाषितं सुभाषितम्, अनुशासनम्-उपदेशवचनं, श्रुत्वा सर्वं कुशीलानां मार्गम् । [जहाय इति] त्यक्त्वा महानिर्ग्रन्थानां महासाधूनां, पथि मार्गे, चरेत् वजेत् । कीदृशमनुशासनम् ? ज्ञानगुणोपपेतं ज्ञानस्य गुणाः ज्ञानगुणाः तैरुपपेतं ज्ञानगुणोपपेतम् ॥ ५१ ॥

ततः किं फलमित्याह-

चरित्तमायारगुणाणि तओ,

अणुत्तरं संजमपालियाणं ।

निरासवेसं खवियाण कम्मं,

उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं ॥ ५२ ॥

ततस्तस्मात्कारणान्महानिर्ग्रन्थमार्गगमागिराश्रवो मुनिर्प्रहाव-तपावकः साधुर्विपुलमनन्तसिद्धानामवस्थानादसंकीर्णमुत्तमं सर्वोत्कृष्टं पुनर्धुवं निश्चयं शाश्वतमेतादृशं मोक्षस्थानमुपैति प्राप्नोति । कीदृशः साधुः ? चारित्राचारगुणान्वितः चारित्रस्याचार-आरित्राचारआरित्रसेवनं, गुणा ज्ञानशीलादयः, चारित्राचारश्च गुणाश्च चारित्राचारगुणास्तैरुचितश्चारित्राचारगुणान्वितः । अत्र

मकारः प्राकृतत्वात् । किं कृत्वा साधुर्मोक्षं प्राप्नोति ? अनुत्तरं प्रधानं जगद्व्याकुलं संयमं सप्तदशविधं पालयित्वा । पुनः किं कृत्वा ? कर्माण्यष्टावपि संक्षेप्य कथं नीत्वा तावता चारित्र्याचारज्ञानादिगुणयुक्तः, अत एव निरुद्धाश्रयः प्रधानसंयमं प्रपादय, सर्वकर्माणि संक्षेप्य नीत्वा मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अथोपसंहारमाह—

एवमुदन्ते वि महातपोहणे,
महामुणी महापद्मे महायसे ।
महानियन्त्रिज्जमिणं महासुयं,
से कहिप महया वित्यरेणं ॥ ५३ ॥

एवममुना प्रकारेण, श्रेणिकेन राज्ञा, पृष्ठः सन् स महामुनिर्महासाधुः, महता विस्तरेण बृहता व्याख्यानेन, महानिर्ग्रन्थीयं महाश्रुतमकथयत्, महान्तश्च ते निर्ग्रन्थाश्च महानिर्ग्रन्थास्तेज्यो हितं महानिर्ग्रन्थीयं, महामुनीनां हितमित्यर्थः । कीदृशः सः ? उग्रः कर्मशत्रुहने बलिष्ठः । पुनः कीदृशः सः ? दान्तो जितेन्द्रियः । पुनः कीदृशः ? महातपोधनः महश्च तत्तपश्च महातपः महातपो धनं यस्य स महातपोधनः । पुनः कीदृशः ? महाप्रतिज्ञः व्रते दृढप्रतिज्ञाधारकः । पुनः कीदृशः ? महायशः महाकीर्तिः ॥ ५३ ॥

ततश्च—

तुघो य सेणिओ राया, इणमुदाहं कयंजही ।
अण्णाहत्तं जहा जूयं, सुदट्ठ मे उवदंसियं ॥ ५४ ॥

श्रेणिको राजा तुघः । तु इति निश्चयेन । इदम्, 'उदाहं' इदमवादीत् । कीदृशः श्रेणिकः ? कृताञ्जलिः बद्धाञ्जलिः । इदमिति किम् ? हे मुने ! यथाज्ञतं यथावस्थितमनायत्नं, मे मम, सुष्ठूपदार्शितं सम्यग्दर्शितम्, त्वयेति शेषः ॥ ५४ ॥

किं श्रेणिक आह—

तुज्जं सुलब्धं खु मणुस्सजम्मं,
लाजा सुलद्धा य तुमे महेसी ।
तुम्हे सण्णाहा य सबंधवा य,
जं भे द्विया मग्गजिणुत्तमाणं ॥ ५५ ॥

हे महर्षे ! खु इति निश्चयेन सुलब्धं सफलं त्वदीयं मानुषं जन्म । हे महर्षे ! तवैव लाजाः रूपवर्णविद्यादीनां लाजाः सुवप्राः रूपलावण्यादिप्राप्तयः सुप्राप्तयः । हे महर्षे ! यूयमेव सनाथा आत्मनो नाथत्वात् नाथसहिताः । च पुनर्यूयमेव सबान्धवा ज्ञातिकुटुम्बसहिताः । यद् यस्मात्कारणात् (भे इति) जन्तः जिनोत्तमानां तीर्थकराणां मार्गं स्थिताः ॥ ५५ ॥

तं सि णाहो अण्णाहाणं, सब्वजूयाण संजया ! ।

खामेमि ते महाजागा !, इच्छामि अणुसासिचं ॥ ५६ ॥

हे संयत ! त्वम्, अनाथानां सर्वभूतानां त्रसानां स्थावराणां च जीवानां नाथोऽसि । हे महाभाग ! हे महामास्ययुक्त ! (ते इति) त्वामहं क्रमामि, मया पूर्वयस्तवापराधः कृतः स कृतव्य इत्यर्थः । अथ भवतोऽनुशासयितुं त्वत्तः शिक्षयितुमात्मानमिच्छामि । मदीय आत्मा तवाज्ञाऽनुवर्ती भवत्विति च्छामित्यर्थः ।

(पार्श्वटीका)

(तं सीति) पूर्वार्द्धे रूपवृंहणा कृता, उत्तरार्द्धेन तु क्रमणोपसंपन्नता दर्शिता । इह (तुज्जे सि) त्वम् (अणुसासयं) ति

अनुशासयितुं शिक्षयितुमात्मानं प्रवर्तेति गम्यते ॥ ५६ ॥

पुनः क्रमणामेव विशेषत आह—

पुच्छिऊणं मए तुज्जं, ज्जाणविग्घो य जो कओ ।
निमांतियो य जोएहिं, तं सव्वं मरिसेहि मे ॥ ५७ ॥

हे महर्षिन् ! मया तुज्यं पृष्ट्वा प्रश्नं कृत्वा यस्तव ध्यानविज्ञः कृतः च पुनर्जोषैः कृत्वा निमन्त्रितः—भोः स्वामिन् ! भोगान् गृहस्वेत्यादिप्रार्थना तव कृता तं सर्वं मे ममापराधं कृतुमर्हसि, सर्वं ममापराधं क्रमस्वेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

सकलाध्ययनार्थोपसंहारमाह—

एवं शुणित्ताणं स रायसीहो,
अण्णारसीहं परमाइ जत्तिए ।
सावरोहो सपरियणो सबंधवो,
धम्मण्णरत्तो विमलेण चयसा ॥ ५८ ॥

राजसिंहः श्रेणिको राजा । एवममुना प्रकारेण, तमनगरसिंहं मुनिसिंहं परमया उत्कृष्टया भक्त्या स्तुत्वा, विमलेन निर्मलेन चेतसा धर्मानुरक्तोऽज्ञादिति शेषः । कीदृशः श्रेणिकः ? सावरोधः अन्तःपुरेण सहितः । पुनः कीदृशः ? सपरिजनः सहपरिजनैर्वर्तते इति सपरिजनो नृत्यादिवर्गसहितः । पुनः कीदृशः ? सबान्धवः सह बान्धवैर्भ्रातृप्रमुखैर्वर्तते इति सबान्धवः । पुराऽपि धनवाटिकायां सर्वान्तःपुरपरिजनबान्धवकुटुम्बसहित एव क्रीडां कर्तुमाणात्, ततः मुनेर्वाक्यश्रवणात्सर्वपरिकरयुक्तो धर्मानुरक्तोऽज्ञादित्यर्थः ॥ ५८ ॥

उत्ससियरोमकूवो, काऊण य पयाहिणं ।

अभिवांदिऊण सिरसा, अइयाओ नराहिओ ॥ ५९ ॥

नराधिपः श्रेणिकोऽतियातो गृहं गतः किं कृत्वा ? शिरसा मस्तकेन, अभिवन्द्य मुनिं नमस्कृत्य । पुनः किं कृत्वा ? प्रदक्षिणां कृत्वा प्रदक्षिणां दत्त्वा । कथमनृतो नराधिपः ? (उत्ससियरोमकूवो चि) उच्चसितरोमकूपः साधोर्दर्शनाद्व्याक्यश्रवणादुल्लसितरोमकूपः ॥

(पार्श्वटीका)

उच्चसिता इवोच्चसिता उद्भिन्ना रोमकूपा रोमरन्ध्राणि यस्य स उच्चसितरोमकूपः । (अइयाओ चि) अतियातो गतः स्वस्थानमिति गम्यते ॥ ६० ॥

इयरो वि गुणसमिष्णो,

तिगुत्तिगुत्तो तिदंरुविरओ य ।

विहंग इव विप्पमुक्को,

विहरइ वसुहं विगयमोहो ॥ ६० ॥ चि वेमि ॥

अथेतरोऽपि श्रेणिकापेक्षयाऽपरोऽपि मुनिरपि वसुधां पृथिवीं विहरति विहारं करोति । कीदृशः सन् ? विमोहः सन् मोहरहितः सन्—अर्थात् केवली सन्, कीदृशो मुनिः ? गुणसमृद्धः सप्तविंशतिसाधुगुणसहितः । पुनः कीदृशः ? त्रिगुत्तिगुत्तः गुत्तित्रयसहितः । पुनः कीदृशः ? त्रिदण्डविरतः त्रिदण्डेभ्यो मनोवाक्कायानामशुभ्रव्यापारेभ्यो विरतः । पुनः कीदृशः ? विहङ्ग इव विप्रमुक्तः पक्षीव कचिदपि प्रतिबन्धरहितो निष्परिग्रह इत्यर्थः । इति सुधर्मो स्वामी जम्बूस्वामिनं प्रति वदति, अहमिति ब्रवीमीति ॥ ६० ॥ उक्तं २० अ० ।

अण्णाहपव्वज्जा-अनाथप्रव्रज्या-स्त्री० । विंशतितमे उत्तराख्य-
यने, स० ३६ सम० । तच्च महानिर्ग्रन्थीयमिति नाम्ना प्रसि-
द्धम् । उक्त० २० अ० ।

अण्णाहरण-अनाधरण-न० । आध्रियतेऽनेनेत्याधरणमाधारः ।
तन्निषेधोऽनाधरणम् । आधर्तुमक्रमे, ज० १८ श० ३ उ० ।
अण्णाहसाला-अनाथशाहा-स्त्री० । आरोग्यशालायाम्,
व्य० ४ उ० ।

अण्णाहार-अनाहार-पुं० । न० त० । आहारविपरीतेऽन्यव-
हार्यं, तल्लक्षणं चाऽऽहारनिघ्नत्वमित्याहारानाहारयोः स्वरूप-
मत्रैव प्रदर्शयते-

परिवासिअआहार-स्स मग्गणा को भवे अणाहारो ? ।

एंगंगिओ चउविहो, जं वा असमइजाइ तहिं ॥

परिवासितस्याहारस्य मार्गेणा विचारणा कर्त्तव्या । तत्र
शिल्प्यः प्राह-वयं तावत् एतदेव न जानीमः को नाम आहारः
को वा अनाहारः? इति । सुरिराह-एकाङ्गिकः शुद्ध एव यः क्षुधां
शमयति स आहारो मन्तव्यः । स च अनशननादिकश्चतुर्विधः ।
यद्वा-तत्राहारेऽन्यद् भवणादिकमतिशयति प्रविशति, तदप्या-
हारो मन्तव्यः ।

अथैकाङ्गिकं चतुर्विधमाहारं व्याचष्टे-

कूरो नासेइ तुहं, एंगंगि तकउदगमज्जाइ ।

खाइम फलसंसाइ, सांइम महुफाणियाईणि ॥

अशने कूर एकाङ्गिकः शुरु एव जुधं नाशयति । पाने तक्रोद-
मन्थादिकमेकाङ्गिकमपि तृपं नाशयति, आहारकार्यं च करोति,
खादिमे फलमांसादिकं, खादिमे मधुफाणितादीनि केवलान्य-
प्याऽऽहारकार्यं कुर्वन्ति ।

'जं वा अईइ तहिं ति' [मूलसूत्रस्थं] पदं व्याख्यानयति-

जं पुण खुहापसमणे, असमत्थेगंगि होइ लोणाई ।

तं पि होइ आहारो, आहारजुयं व विज्जुतवा ॥

यत्पुनरेकाङ्गिकं क्षुधाप्रशमनेऽसमर्थं परमाहारेऽपयुज्यते तद-
प्याहारेण संयुक्तमसंयुक्तं वाऽऽहारो भवति, तच्च भवणादि-
कम् । तत्राशने भवणादिद्विजरीकादिकमुपयुज्यते ।

उदए कप्पूराई, फलमुत्ताईणि सिंगेवरगुत्ते ।

न य ताणि खविंति खुहं, उवगारित्ता उ आहारो ॥

उदके कर्पूरादिकमुपयुज्यते, आम्रादिफलेषु सूक्षादीनि छ-
व्याणि, शुक्लवेरे च शृत्वां गुरु उपयुज्यते । न चैतानि कर्पूरा-
दीनि क्षुधां क्षपयन्ति, परमुपकारित्वादाहार उच्यते, शेषः
सर्वोऽप्यनाहारः ।

अहवा जं जुक्खुत्तो, कदमलवमाइ पक्खिवइ कोट्टे ।

सव्वो सो आहारो, ओसहमाई पुणो जइतो ॥

अथवा बुभुक्षया आर्त्ताय कर्दमोपमया गृहादिकं कोष्ठे प्रक्षि-
पति । कर्दमोपमानामपि कर्दमपिष्णानां कुर्यात् कुर्किं निरन्तरं
स सर्वोऽप्यनाहार उच्यते । औषधादिकं पुनर्जैकं विकल्पितं
किञ्चिदाहारः किञ्चिच्चानाहार इत्यर्थः । तत्र शर्करादिकमौषध-
माहारः, सर्पदंष्ट्रादेर्मृत्तिकादि औषधमनाहारः ।

जं वा जुक्खुत्तस्स उ, संकममाणस्स देइ अस्सादं ।

सव्वो सो आहारो, अकामऽणिट्ठं चऽण्णाहारो ॥

यद्वा-अव्यवृत्तुक्ताऽऽर्तस्य संक्रमतो प्रसमानस्य कम्बलप्रक्षेपं कु-
र्वत इत्यर्थः; आस्वादं रसनाह्लादकं स्वादं प्रयच्छति स सर्व आ-
हारः । यत्पुनरकाममन्यवहरामीत्येवमनभिलषणीयम्, अनिष्टं
च जिह्वाया अरुच्या, ईदृशं सर्वमनाहारो भण्यते ।

तच्चानाहारिममिदम्-

अण्णाहार मोय ठल्ली, मूळं च फलं च होति ऽण्णाहारो ।

सेस तयचूइतोयं, विंझुम्मि व चउगुरु आणा ॥

मोकं कायिकी, छल्ली निम्बादित्वक्क, मूळं च पञ्चमूलादिकं, फलं
चाऽऽमलकहरीतकविमीतकादिकमेतत्सर्वमनाहारो भवतीति
चूर्णिः । निशीथचूर्णीं तु या निम्बादीनां ठल्ली त्वक्क तच्च, तेषामेव
निम्बोलिकादिकं फलं, यच्च तेषां मूलम्, एवमादिकं सर्वम-
प्यनाहार इति व्याख्यातम् । वृ० ५ उ० । नि० चू० ।

चउहारे रयणीए, कपिज्जइ जाणि माणि वत्थुणि ।

समभागकया तिहला, जूनिवोसीरचंदण्यं ॥ ५६ ॥

गोमुत्तं कमु रोहिणि, वग्धी अभया य रोहिणी तुग्गा ।

मुग्गल वया करीरय, लिबं पंचंगभासगणो ॥ ५७ ॥

नह आसगंधि वंभी, चीड हलिहा य कुंदरु कुट्टा ।

विसनाई य धमासो, धोलयवीया अरिट्टा य ॥ ५८ ॥

मिरुलमं जिठकंके-ह्लिकुमारिकं थेर थेर कुट्टा य ।

कप्पास वीय पत्तय, अगुरुतुक्का य तंतुवडा ॥ ५९ ॥

धवस्सरपत्तासाई, कंटकरुक्खाण ठल्लिया साणा ।

जं कसुयरसपरिगयं, आहारं पि तु अणाहारं ॥ ६० ॥

इच्चाइ जं अणिठं, पंकुचमं तं भवे अणाहारं ।

जं इच्छाप तुंजइ, तं सव्वं इवइ आहारं ॥ ६१ ॥ " ल० प्र० ।

यथा पञ्चाङ्गनिम्बगुडूचीकटु 'किरिमातुं' 'अतिविषचीमि'-
'सुकमि'-रक्षा-हिरिष्ठा- रोहिणी 'ऊपबोद' वज्र-त्रिफला-
वाउल्लवल्लीत्यन्ये धमासो-नाहि-आसंधिरिंगणी-एल्लीओ-गुग्गु-
ल-हरमां-दल-चउणि-वद्री-कंधेरि-करीर-मूळं-पूवारु-मं-
जीठ वोलविओ-कुंआरि- चित्रक-कुन्दरुभृत्तयोऽनिष्टाख्यानि
रोगाद्यापदि चतुर्विधाहारेऽप्येतानि कल्पयन्तीति । ध० ५ अधि० ।
त्रिफलाद्यनाहारवस्तुद्रव्यमध्ये गण्यते, न वा ? तत्रैवं प्रतिजाति-
यदनाहारवस्तु प्रायो द्रव्यमध्ये गण्यते, यदि च प्रत्याख्यानव-
सरे तदगणनमेव विवक्षितम्, तदा न गण्यतेऽपि । यथा सचित्त-
विकृत्योर्द्रव्यमध्ये ग्रन्थेऽगणनेऽभिहितेऽपि संप्रति बहवो जनाः
प्रायस्तयोर्द्रव्यमध्ये गणनां कुर्वाणा उपलभ्यन्ते इति । ही० ३
प्रका० । न विद्यते आहारो यस्येत्यनाहारः । आच्चा० १ श्रु० ८
अ० ८ उ० । अविद्यमानाहारे, दश० १ अ० ।

ऋणाधार-पुं० । ऋणधारके, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अण्णाहारग-अनाहारक-पुं० । न० त० । आहारमकुर्वति विग्र-
हगत्यापन्ने समुद्रघातगतकेवलिनि, अयोगिसिद्धे च । ज० ६
श० ३ उ० । " येरइया दुविहा पसत्ता । तं जहा-आहारगा
चेव अण्णाहारगा चेव; एवं जाव वेमाणिया " स्था० २ डा०
३ उ० । म० ।

अनाहारकाश्चत्वारः-

विग्रहगमावन्ना, केवलिणो समुद्रया अजोगी य ।

सिप्पा य अण्णाहारा, सेसा आहारगा जीवा ॥

विग्रहगतिर्मेवाद् जवान्तरे विभ्रेण्या गमनम्, तामापन्नाः सर्वे-
ऽपि जीवाः, तथा केवलिनः समुद्रताः कृतसमुद्रघाताः, तथाऽ-

योगिनः शैलेश्यवस्थां प्राप्ताः, तथा सिद्धाः क्षीणकर्माष्टकाः । सर्वेऽप्येतदनाहाराः, एतद्व्यतिरिक्ताः शेषाः सर्वेऽप्याहारकाः । इह परजवे गच्छतां जन्तूनां गतिर्द्वैधा-ऋजुगतिः, विग्रहगति-श्च । तत्र यदा जीवस्य मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानं समश्रेण्यां प्राञ्जलमेव जवति तदा ऋजुगतिः । सा चैकसमया समश्रेणिव्यवस्थितत्वेनात्पत्तिदेशस्याद्यसमय एव प्राप्तो नियमादाहारकश्चास्या हेयग्राह्यशरीरमोक्षग्रहणान्तराद्याभावेनाहाराद्यवच्छेदात् । यदा तु मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानं वक्तुं भवति तदा विग्रहगतिः, वक्रश्रेण्यामन्तरारम्भरूपेण विग्रहेणोपलक्षिता गतिर्विग्रहगतिरिति कृत्वा तत्र विग्रहगत्यापन्ना वक्रर्षतस्त्रीन् समयान् यावदनाहारकाः । तथाह्यस्यां वक्रगतौ स्थितो जन्तुरेकेन द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्विधां वक्रैरुत्पत्तिदेशमायाति, तत्रैकवक्रायां द्वौ समयौ तयोश्च नियमादाहारकः । तथाह्यद्यसमये पूर्वशरीरमोक्षस्तस्मिन्समये तच्छरीरयोग्याः केचित् पुञ्जलाः जीववीर्ययोगाहोमाहाराः तत्सम्बन्धमायान्ति । औदारिकवैक्रियाहारकपुञ्जलादीनां चाहारः, तत आद्यसमये आहारकः, द्वितीये च समये उत्पत्तिदेशे तद्व्यवयोग्यशरीरपुञ्जलादानादाहारकः, द्विवक्रायां गतौ त्रयः समयः । तत्राद्येऽन्त्ये च प्राग्वदाहारको मध्यमे चानाहारकः । त्रिवक्रायां चत्वारः समयः, ते चैवं त्रसनाड्या बहिरुत्पत्तिनागादूर्ध्वमुपरितनजागादधो वा जायमानो जन्तुर्विदिशो दिशि दिशो वा विदिशि यदेतपद्यते तदैकेन समयेन विदिशो दिशि याति, द्वितीयेन त्रसनानीं प्रविशति, तृतीयेनोपर्यधो वा याति, चतुर्थेन बहिरुत्पद्यते । दिशो विदिशि उत्पादे त्रसनानीं प्रविशति, तृतीयेनोपर्यधो वा याति, चतुर्थेन बहिरुत्पद्यते; दिशो विदिशि उत्पादे त्वाद्ये समये त्रसनानीं प्रविशति, द्वितीये उपर्यधो वा याति, तृतीये बहिरुत्पद्यति, चतुर्थे विदिशि उत्पद्यते । अत्राद्यन्तयोः प्राग्वदाहारको मध्यमयोस्त्वनाहारकः । चतुर्वक्रायां पञ्च समयः, ते च त्रसनाड्या बहिः, एवं विदिशो दिश्युत्पादे प्राग्वद्वावनीयः । अत्राप्याद्यन्तयोराहारस्त्रिषु त्वनाहारकः । प्रव० २३३ द्वा० । चतुःसमयोत्पत्तिश्चैवं भवति-त्रसनाड्या बहिरुपरिष्ठादधोऽत्रस्ताद्धा पर्युत्पद्यमानो दिशो विदिशि विदिशो वा दिशि यदुत्पद्यते तदा लभ्यते । तत्रैकेन समयेन त्रसनानीं प्रवेशः, द्वितीयेनोपर्यधो वा गमनम्, तृतीयेन च बहिर्निःसरणम्, चतुर्थेन तु विदिक्षत्पत्तिदेशप्राप्तिरिति । पञ्च समयास्त्रसनाड्या बहिरेव विदिशो विदिगुत्पत्तौ लभ्यन्ते । तत्र च मध्यवर्तिषु अनाहारक इत्यवगन्तव्यम् । आद्यन्तसमययोस्त्वाहारक इति । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । तथा केवलिनः समुद्धातेऽष्टसामायिके तृतीयचतुर्थपञ्चमरूपात् केवलकर्मणयोगयुतांस्त्रीन्समयान् अयोगिनः शैलेश्यवस्थायां ह्रस्वपञ्चाक्षरोच्चारणमात्रम् । सिद्धास्तु सादिमपर्यवसितं कालमनाहारका इति । प्रव० २३३ द्वा० । केवलसमुद्धातेऽपि कर्मणशरीरवर्त्तित्वात् तृतीयचतुःपञ्चसमयेष्वनाहारको छट्पञ्चः । शेषेषु त्वौदारिकादितन्मिश्रशरीरवर्त्तित्वात् आहारक इति । (मुहुत्तमर्षं च त्ति) अन्तर्मुहुत्तं गृह्यते । तच्च केवली स्वायुषः कृते सर्वयोगनिरोधे सति ह्रस्वपञ्चाक्षरोच्चारणमात्रकाद्यं यावदनाहारक इत्येवमवगन्तव्यम् । सिद्धजावास्तु शैलेश्यवस्थाया आदिसमयादारभ्यानन्तमपि काद्यमनाहारका इति ।

साम्प्रतमेतदेव स्वामिविशेषविशेषिततरमाह-

एकं च दो व समए, केवलपरिवर्जितया अणाहारा ।

पंचमि दोषि दोए, य पूरि चिन्नि समयाओ ॥ ७ ॥

केवलपरिवर्जिताः संसारस्था जीवा एको द्वौ वा अनाहारका भवन्ति । ते च द्विविग्रहत्रिविग्रहोत्पत्तौ त्रिचतुःसामायिकायां द्रष्टव्याः । चतुर्विग्रहपञ्चसमयोत्पत्तिस्तु स्वल्पसत्त्वाश्रितेति न साक्षादुपात्ता । तथाऽन्यत्राप्यभिहितम्-एको द्वौ वाऽनाहारकः । वाशब्दाद्वीन् वा आनुपूर्व्या अज्युदग्र उत्कृष्टतो विग्रहगतौ चत्वारः समयः नाऽऽगमेऽभिहिताः । ते च पञ्च समयोत्पत्तौ ह्यभ्यन्ते, नान्यत्रेति । भवस्थकेवलिनस्तु समुद्धातमप्येतत्करणोपसंहारावसरे तृतीयपञ्चमसमयौ द्वौ लोकपूरणचतुर्थसमयेन सहितास्त्रयः समयः भवन्तीति ॥ ७ ॥

पुनरपि निर्युक्तिकारः सादिकमपर्यवसानं कालमनाहारकं दर्शयितुमाह-

अंतो मुहुत्तमर्षं, सेलेसीए जवे अणाहारा ।

सादीयमनिहरणं पुण, सिद्धायणाहारगा होंति ॥ ८ ॥

शैलेश्यवस्थाया आरभ्य सर्वथाऽनाहारकः सिद्धावस्थाप्राप्त्यनन्तमपि काद्यं यावदिति पूर्वे तु कावद्विकारव्यतिरेकेण प्रतिसमयमाहारकः । कावद्विकेन तु कदाचित्क इति । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । नि० । आ० । कर्म० । [कं समयमनाहारकः “ जीवे णं जंते ! कं समयमणाहारप भवइ चि ” ‘आहार’ शब्दे द्वितीयजने ५०० पृष्ठे वक्ष्यते]

अणाहारिम-अनाहारिम-न० । अनाहार्ये, नि० चू० ११ उ० ।

अणाहारिय-अनाहृत-त्रि० । अतीताहरणक्रिययाऽपरिणामिते, म० १ श० १ उ० ।

अणाहिह-अनाधृष्ट-पुं० । वसुदेवस्य धारण्यां जाते पुत्रे, तद्व्यक्तव्यता गजसुकुमारस्येवेत्यन्तकृद्शानां तृतीये वर्गे त्रयोदशाध्ययने सूचिता । अन्त० ३ वर्ग० ।

अणिइय-अनितिक-पुं० । इतिशब्दो नियतरूपोपदर्शनपरः, तत्त्व न विद्यते इतित्रासावानितिकः । अविद्यमाननियतस्वरूपे, ईश्वरादेरपि दास्त्रिदाभिभावात् संसारे, म० ए श० ३३ उ० ।

अणिइपत्त-अनीतिपत्त-त्रि० । ईतिविरहितच्छदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अणिउं (उँ) तय-अतिमुक्तक-ग० । सुचो-भावे-क्त । अतिशयेन मुक्तं बन्धनं यस्य । प्राकृते ‘ गर्जितातिमुक्तके णः ’ ८ । १ । २०७ । इति तस्य णः । प्रा० । ‘ यमुनाचामुण्डाकामुकातिमुक्तके मोऽनुनासिकश्च ॥ १ । १ । १७ ८ ॥ इति मस्य लुक्, तत्स्थाने चाऽनुनासिकः । प्रा० । ‘ वक्तादावन्तः ’ ॥ ८ । १ । १६ ॥ इति तृतीयस्याऽनुस्वारः । प्रा० । तस्य णत्वेऽकृते-‘ अइमुतयं अइमुत्तयं ’ इति रूपद्वयम् । तिन्डुकवृद्धे ताववृद्धे च । प्रज्ञा० १ पद । अणिउण-अनिपुण-त्रि० । न निपुणोऽनिपुणः । अकुराले, आव० ४ अ० । नि० चू० । दर्श० ।

अणिअचारि (ए)-अनियतचारिन्-पुं० । अनियतमप्रतिबद्धं परिग्रहायोगाच्चरितुं शीलमस्याऽसावनियतचारी । अप्रतिबद्धविहारिणि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । “ स भूरूपसे अणिअचारी, ओहंतरे धीर अणंतचक्खू ” सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । “ अखिले अणिदे अणिपयचारी, अभयंकरे भिक्खु अणाविहण्णा ” सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अणिअवास-अनियतवास-पुं० । मासकल्पादिनाऽनिकेतवासे अगृहे उद्यानादौ वासे, “ अणिपयवाससमुयाण चरि-

या, अणाय उच्छं पइ तिरिक्या य " दश० २ चू० ।
 अणिआग-अनियोग-पुं० । नियोगादन्योऽनियोगः । विपर्य-
 यास्ययोगे, पं० सू० ४ सू० ।
 अणिगाल-अनङ्गार-त्रि० । रागपरिहारेणाङ्गारदोषरहिते, प्र-
 अ० १ सम्ब० द्वा० ।
 अणिद-अनिन्द-त्रि० । नास्तीन्द्रो यस्मिन् सोऽनिन्दः । इ-
 न्दविरहिते प्रजास्वामिके, ज० ३ श० १ उ० ।
 अनिन्द-त्रि० । अजुगुप्सिते, सामायिके च । आ० म० द्वि० ।
 आ० चू० ।
 अणिदणिज्ज-अनिन्दनीय-त्रि० । गीतार्थादिजनादूष्ये, जी०
 १ प्रति० ।
 अण्णदिय-अनिन्दित-त्रि० । शुभानुबन्धितयाऽगर्हणीये, ध०
 १ अवि० । सप्तमकिन्नरेषु, प्रज्ञा० १ पद ।
 अनिन्द्य-पुं० । सिद्धे, अपर्याप्तके, उपयोगतः केवलिनि,
 स्था० १० ग० । " गेरज्याद्विहा पण्णा । तं जहा-सिंहदिया
 चैव, अण्णदिया चैव जाव वेमाणिया " स्था० २ ग० २ उ० ।
 अण्णदिया-अनिन्दिता-स्त्री० । षष्ठ्यमूर्ध्वलोकावास्तव्यायां
 दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, स्था० ८ ग० आ० चू० । आ० म०
 प्र० । ति० ।
 अण्णिखत्त-अनिक्षिप्त-न० । अविश्रान्ते, औ० । म० ।
 अणिकंप-अनिष्कम्प-त्रि० । अनिश्चये, आचा० २ शु० २ अ० ३ उ० ।
 अणिकाम-अनिकाम-न० । परिमिते, वृ० १ उ० ।
 अणिकाय-अनिकाय-पुं० । लघुमृषावादे, नि० चू० १ उ० ।
 (' मुत्तावाय ' शब्देऽस्य विवृतिः) ।
 अणिकेय-अनिकेत-पुं० । न विद्यते निकेतो गृहं यस्य । उक्त०
 २ अ० । अविद्यमानगृहे, अनेकत्र वद्धास्पदे, उक्त० १ अ० ।
 अणिकुट्ट-अनिष्कुट्ट-त्रि० । न० त० । द्रव्यतोऽकुशशरीरे, जा-
 वतोऽवशीकृतकपाये, स्था० ४ ग० ४ उ० ।
 अणिकावाइ (ण)-अनेकवादिन्-पुं० । सत्यापि कथाश्चिदेक-
 त्वे भावानां सर्वथाऽनेकत्वं वदतीत्यनेकवादी । परस्परवि-
 हङ्गणा एव भावाः, तथैव प्रतीयमानत्वात् । यथा रूपं रूपत-
 येति । अमेदे तु भावानां जीवाजीववचमुक्तसुखितदुःखिता-
 दीनामेकत्वप्रसङ्गाद् दीक्षादिवैयर्थ्यमिति । किञ्च सामान्य-
 मङ्गीकृत्यैकत्वं विवक्षितं परैः । सामान्यं च भेदेन्यो निष्ठाभि-
 न्तया चित्त्यमानं न युज्यते । एवमवयवेन्योऽवयवी धर्मेन्यश्च
 धर्मी ऋथेवमेकवादी । इत्युपदर्शितस्वरूपे अक्रियावादिनि,
 स्था० ८ ग० ।
 अण्णिखत्त-अनिक्षिप्त-त्रि० । अनुष्मतेऽप्रत्याख्याते, ज०
 १७ श० २ उ० । अविश्रान्ते, औ० ।
 अण्णिगामसोक्ख-अनिकामसौख्य-त्रि० । अपकृष्टसुखे तुच्छ-
 सुखे, उक्त० १४ अ० ।
 अण्णिमण-अनग्न-पुं० । न विद्यन्ते नग्नास्तत्कालीना अना-
 येभ्यस्तेऽनग्नाः । जं० २ वक्त० । सद्यस्त्वहेतुषु कष्टपृष्ठेषु,
 स० १० सम० ।
 अण्णिगूढण-अनिगूहन-न० । अगोपने, पंचा० १५ वि० ।
 अण्णिगूढियवत्तरीरिय-अनिगूहितवत्तरीर्य-पुं० । अनिगू-

हितेऽगोपिते वज्रवीर्ये देहप्राणचिचोत्साहरूपे येन स तथा ।
 पंचा० १५ वि० । अनिगूढतवाह्यान्तरसामर्थ्ये, ग० १ अधि० ।
 दश० । आचा० । पं० चू० । " अणिगूढियवत्तरीरित, परिक्रमइ
 जो जहुत्तमाउत्तो । जं जइव जहा थामं, नायव्वो वीरियायारो "
 दश० ३ अ० । पं० चू० । पञ्चा० ।
 अण्णिगह-अनिग्रह-पुं० । अविद्यमानो निग्रह इन्द्रियनो-
 इन्द्रियनियन्त्रणात्मकोऽस्येति । उक्त० १७ अ० । अवशीकृतेन्द्रि-
 ये, उक्त० ११ अ० । स्वैरे, प्रश्न० २ आश्न० द्वा० । उच्छृङ्खले,
 दश० ८ अ० । एकादशे गौणाऽब्रह्माणि, तत्राऽनिग्रहोऽनिषेधो
 मनसो विषयेषु प्रवर्तमानस्येति गम्यते । एतत्प्रभवत्वाद्यास्या-
 ऽनिग्रह इत्युक्तम् । प्रश्न० ४ आश्न० द्वा० ।
 अण्णिच-अनित्य-त्रि० । न० त० । नित्यमिमे सर्वदा स्थायिनि, आचा.
 १ शु० १ अ० १ उ० । प्रत्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया कूटस्थं
 नित्यत्वेन व्यवस्थितं सन्नित्यं नैवं यत्तदनित्यम् । अच्युतानुत्पन्न-
 स्थिरैकस्वभावं हि नित्यमतोऽन्यप्रतिकृणविशारु अनित्यम् ।
 आचा० १ शु० ५ अ० २ उ० । अनु० । उक्त० । अशाश्वते, उक्त० २
 अ० । अनित्यमास्थिरत्वात् । प्रश्न० ५ आश्न० द्वा० ।
 अण्णिज्जागरिया-अनित्यजागरिका-स्त्री० । अनित्यचिन्ता-
 याम्, " अण्णिज्जागरियं जागरैति " अ० १५ श० १ उ० ।
 अण्णिचभावणा-अनित्यभावना-स्त्री० । अनित्यत्वचिन्तना-
 त्मके प्रथमभावनाजेदे, प्रव० । तत्स्वरूपं च—
 " अस्यन्ते वज्रसाराङ्गा-स्तेऽप्यनित्यत्वरक्तसा ।
 किं पुनः कदलीगर्भे-निःसारा नेह देहिनाः ? ॥ १ ॥
 विषयसुखं दुग्धमिव, स्वादयति जनो विमल इव मुदितः ।
 नोत्पादितवशुर्भविषो-त्पश्यति यममहह ! किं कुर्मः ? ॥ २ ॥
 धराधरधुनीनीर-पूरपारिप्लवं वपुः ।
 जन्तूनां जीवितं वात-धूतध्वजपटोपमम् ॥ ३ ॥
 द्वावयं ललनालोक-लोचनाञ्चलचल्लम् ।
 यौवनं मत्तमातङ्ग-कर्णतालचलचलम् ॥ ४ ॥
 स्वाम्यं स्वभावहीनाम्यं, चपलाचपलाः श्रियः ।
 प्रेम द्विप्रज्ञणलेम, स्थिरत्वविमुखं सुखम् ॥ ५ ॥
 सर्वेषामपि भावानां, जावयन्नित्यनित्यताम् ।
 प्राणप्रियेऽपि पुत्रादौ, विपन्नेऽपि न शोचति ॥ ६ ॥
 सर्ववस्तुषु नित्यत्व-प्रहस्तस्तु मूढधीः ।
 जीर्णतृणकुटीरेऽपि, प्रग्ने रोदित्यहर्निशम् ॥ ७ ॥
 ततस्तृणाविनाशेन, निर्ममत्वविधायिनीम् ।
 शुद्धीर्मावयेन्नित्यमित्यनित्यत्वज्ञापनाम् ॥ ८ ॥ प्रव० ६ उ० ।
 तत्रानित्यत्वज्ञापनैवम्—
 " यत्प्रातस्तत्र मर्याद्वे, यन्मर्याद्वे न तन्निशि ।
 निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन् हि, पदार्थानामनित्यता ॥ १ ॥
 शरीरं देहिनां सर्वं-पुरुषार्थनिबन्धनम् ।
 प्रचण्डपवनोद्धूत-घनाघनविनश्वरम् ॥ २ ॥
 कल्लोद्यचपला लहमीः, संगमाः स्वप्रसन्निजाः ।
 वात्यान्यतिकरोक्षित-सुखतुल्यं च यौवनम् ॥ ३ ॥
 तथा ध्यायन्ननित्यत्वं, मृतं पुत्रं न शोचति ।
 नित्यतां गृहमूढस्तु, कुष्ठजङ्घेऽपि रोदिति ॥ ४ ॥
 एतच्छरीरधनयौववशान्धवादि,
 तावन्न केवज्जमानित्यगिहाऽमुभाजाम् ।

विश्वं सचेतनमचेतनमप्यशेष-

मुत्पत्तिधर्मकमनित्यमुशन्ति सन्तः ॥ ५ ॥

इत्यनित्यं जगद्भूतं, स्थिरचित्तः प्रतिक्षणम् ।

नृणांकृणाहिमन्त्राय, निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥६॥ ध०३अधि० ।
अणिच्चया-अनित्यता-ली०। अनश्वरतायाम्, सूत्र० ।

अधुना सर्वस्थानाऽनित्यतां दर्शयितुमाह-

देवा गंधर्वरक्खसा, असुरा जूमिचरा सरीसिवा ।

राया नर सेट्ठि माहणा, ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया ॥१॥

देवा ज्योतिष्कसौधर्माद्याः, गन्धर्वराक्सयोरुपलक्षणत्वाद्दृष्ट-
प्रकारा व्यन्तरा गृह्यन्ते । तथा-असुरा दशप्रकारा जवनपतयः ।

ये चाऽन्ये भूमिचराः सरीसृपाद्यास्तिर्यञ्चः । तथा-राजानश्च-
ऋवर्तिनो ब्रह्मदेववासुदेवप्रभृतयः । तथा-नराः सामान्यमनु-
ष्याः, श्रेष्ठिनः पुरमहत्तराः, ब्राह्मणाश्च, एते सर्वेऽपि स्वकीयानि
स्थानानि दुःखिताः सन्तस्त्यजन्ति । यतः-सर्वेषामपि प्राणि-
नां प्राणपरित्यागे महद् दुःखं समुत्पद्यत इति ॥ ५ ॥

किञ्च-

कामेहि य संयवेहि य ,

गिच्छा कम्मसहा कालेण जंतवो ।

ताले जह वंधणच्छुण ,

एवं आउक्खयम्मि तुट्ठति ॥ ६ ॥

कामैरिच्छामदनरूपैः, तथा संस्तवैः पूर्वापरभूतैः, गृह्णा अभ्यु-
पपन्नाः सन्तः (कम्मसहं चित्ति) कर्मविपाकसाहिष्णवः । कालेन
कर्मविपाककालेन जन्तवः प्राणिनो भवन्ति । इदमुक्तं भवति-
भोगेणसोर्विषयाऽऽसेवनेन तदुपशममिच्छत इहामुत्र क्लेश एव
केवलं न पुनरुपशमावाप्तिः । तथाहि- “उपभोगोपायपरो, वा-
ञ्छति यः शमयितुं विषयवृत्तणाम् । धावत्याऽक्रमितुमसौ पुरो-
ऽपराह्णे निजञ्छायाम्” ॥१॥ न च तस्य मुमुषोः कामैः संस्तवैश्च
ज्वाणमवस्तीति दर्शयति-यथा तालफलं बन्धनाद्वन्तात् व्युत्तम-
ज्वाणमवश्यं पतति, एवमसावपि स्वायुषः कृषे कुट्यति जीवि-
तात् च्यवत इति ॥ ६ ॥

जे या वि बहुसुण सिया,

धम्मियमाहणजिक्खुण सिया ।

अज्जि एम्मकडेहिं मुच्छिण ,

तिव्वं से कम्मोहिं किच्चती ॥ ७ ॥

ये चापि बहुश्रुताः शास्त्रार्थपारगाः तथा धार्मिका धर्माचरण-
शीलाः । तथा ब्राह्मणाः, तथा भिक्षुका भिक्षाटनशीलाः, स्युर्भ-
वेयुः, तेऽप्याजिमुख्येन (एमं ति) कर्म माया वा तत्कृतैरसदनु-
ष्ठानैर्मूर्च्छिता गृह्णास्तीव्रमत्यर्थम् । अत्र च गान्दसत्वाद् बहुव-
चनं लुप्यम् । एवञ्चूताः कर्मभिरसद्वेद्यादिभिः कृत्यन्ते विद्य-
न्ते पीड्यन्ते इति यावत् ॥ ७ ॥

साम्प्रतं ज्ञानदर्शनचारित्रमन्तरेण नाऽपरो मोक्षमार्गोऽस्तीति
त्रिकालविषयत्वात् सूत्रस्याऽगामितीर्थिकधर्मप्रतिषेधार्थमाह-

अह पास विवेगमुट्ठिए,

अवितिचे इह चासई धुवं ।

णाहिसि आरं कओ परं,

वेहासे कम्मोहिं किच्चती ॥ ८ ॥

अथेत्यधिकारान्तरे बह्वेदेशे एकादेश इति । अथेत्यनन्तरं ए-

तच्च पश्य यस्तीर्थिको विवेकं परित्यागं गृहस्य परिज्ञानं
वा संसारस्याऽऽश्रित्योत्थितः प्रव्रज्योत्थानेन ? । स च सम्य-
क्परिज्ञानाभावादवितोषः संसारसमुद्रमतितीर्षुः केवलमिह
संसारे प्रस्तावे वा शाश्वतत्वाद् ध्रुवो मोक्षस्तं तदुपायं वा
संयमं ज्ञापत एव न पुनर्विधत्ते, तत्परिज्ञानाभावादिति भावः ।
तन्मार्गे प्रपन्नस्त्वमपि कथं ज्ञास्यसि ? आरमिह ज्ञवं, कुतो वा
परं परलोकम् ? । यदि वा आरमिति गृहस्थत्वं, परमिति प्रव-
्रज्यापर्यायम् । अथवा आरमिति संसारं, परमिति मोक्षम्, एवंभू-
तश्चाऽन्योऽप्युभयभ्रष्टः (वेहासि च्छि) अन्तराले उभयान्नावतः
स्वकृतैः कर्मभिः कृत्यते पीड्यत इति ॥ ८ ॥

ननु च तीर्थिका अपि केचन निष्परिग्रहास्तथा तपसा निष्-
सदेहाश्च तत्कथं तेषां नो मोक्षावाप्तिरित्येतदाशङ्क्याह-

जइ वि य णिगणे किसे चरे,

जइ वि य जुंजिय माममंतसां ।

जे इह मायादि मिज्जइ,

आगंता गब्बाय ऽणंतसो ॥ ९ ॥

यद्यपि तीर्थिकः कश्चित्तापसादित्यक्तवाद्यगृहवासादिपरिग्र-
हत्वाद् निष्किञ्चनतया नग्नस्त्वक्त्राणाज्जावाच्च कृशश्चरेत् ;
स्वकीयप्रव्रज्याऽनुष्ठानं कुर्यात् । यद्यपि च पष्ठाष्टमदशमद्वादशा-
दि तपोविशेषं विधत्ते । यावदन्तशो मासं स्थित्वा भुङ्क्ते, तथा-
ऽपि आन्तरकपायाऽपरित्यागात् मुच्यते इति दर्शयति-य-
स्तीर्थिक इह मायादिना मीयते, उपलक्षणार्थत्वात् कपार्ययुक्त इ-
त्येवं परिग्रह्यते असौ गर्भाय गर्जार्थमा समन्ताद् गन्ता यास्य-
त्यनन्तशो निरवधिकं कालमिति । एतदुक्तं जवति-अकिञ्चनो-
ऽपि तपोनिष्ठदेहोऽपि कपायाऽपरित्यागात्तरकादिस्थानात्
तिर्यगादिस्थानं गर्भाऽर्भमनन्तमपि कालमग्निशर्मवत् संसारे
पर्यटतीति ॥ ९ ॥

यतो मिथ्याहृष्टुपादिष्टतपसाऽपि न दुर्गतिमार्गनिरोधोऽतो

मज्जुक् एव मार्गे स्थेयमेतर्कमुपदेशं दातुमाह-

पुरिसोपरम पावकम्मणा, पलियंतं मणुयाण जीवियं ।

सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंबुडा ॥ १० ॥

हे पुरुष ! येन पापेन कर्मणा असदनुष्ठानरूपेण त्वमुपलक्षि-
तस्तत्राऽसकृत् प्रवृत्तत्वात् तस्मादुपरम निवर्तस्व । यतः पु-
रुषाणां जीवितं सुग्रहपि त्रिपल्योपमान्तं, संयमजीवितं वा पल्यो-
पमस्यान्तर्मध्ये वर्तते, तदऽप्यनां पूर्वकोटिमिति यावत् । अथ
वा-परि समन्तात् अन्तोऽस्येति पर्यन्तं सान्तमित्यर्थः । तच्चैवं
तत्तमेवाऽवगन्तव्यम् । तदेव मनुष्याणां स्तोत्रं जीवितमवग-
म्य यावत्तत्र पर्येति तावद्मनुष्ठानेन सकृद्वर्तव्यम् । ये पु-
नर्भोगस्नेहपङ्केजवस्त्रा मग्ना इह मनुष्यभवे संसारे वा कामेष्वि-
च्छामदनरूपेषु मूर्च्छिता अभ्युपपन्नास्ते नरा मोहं यान्ति, हि-
ताहितप्राप्तिपरिहारे मुह्यन्ति मोहनीयं वा कर्मोपचिन्वन्तीति
संभाव्यते । एतदसंबृत्तानां हिंसादिस्थानेभ्यो निवृत्तानामसं-
यतेन्द्रियाणां चेति ॥ १० ॥

एवं च स्थिते यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह-

जयवं विहराहि जोगवं , अणुयाणा पंथा दुरुत्तरा ।

आणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिं च समं पवेइयं ॥ ११ ॥

स्वल्पं जीवितमवगम्य विषयांश्च क्लेशप्रायानवबुद्ध्या वि-
त्वा गृहपाशबन्धनं यतमानो यत्नं कुर्वन् प्राणिनामनुपरोधेन

विहर युक्तविहारी जव । एतदेव दर्शयति-योगवानिति-संयम-
योगवान्, गुप्तः समितिगुप्त इत्यर्थः । किमित्येवम् ? यतोऽणवः
सूक्ष्माः प्राणाः प्राणिनो येषु ते । तथा चैवंचूताः पण्यानोऽनुपयु-
क्तैर्जीवानुपमर्देन दुस्तरा दुर्गमा इत्यनेन ईर्यासमितिरूपा कृता ।
अस्याश्चोपलक्षणार्थत्वात् अन्यास्वपि समितिषु सततोपयु-
क्तेन ज्ञवितव्यम् । अपि च-अनुशासनमेव यथाऽऽगममेव सूत्रा-
ऽनुसारेण संयमं प्रक्रमेत् । एतच्च सर्वैरेव वीरैरर्हद्भिः स-
म्यक् प्रवेदितं प्रकर्षेणाऽऽख्यातमिति ॥ ११ ॥

अथ कं एते वीरा इत्याह—

विरया वीरा समुद्धि-या कोहकायरियाइपीसणा ।

पाणे ण हणति सव्वसो, पावाओ विरिया अज्जिनिव्वुमा १२
हिंसाऽनुताऽऽदिपापेज्यो ये विरताः, विशेषेण कर्म प्रेरयन्तीति
वीराः, सम्पगारस्त्रपारित्यागेनोत्थिताः समुत्थिताः, ने, एवभूता-
श्च क्रोधकातरिकादिपीपणाः, तत्र क्रोधग्रहणाद् मानो गृहीतः,
कातरिका माया, तद्ग्रहणाद्वाभो गृहीतः । आदिग्रहणात् शेष-
मोहनीयपरिग्रहः । तत्पीपणास्तदपनेतारः, तथा प्राणिनो जी-
वान् सूक्ष्मतरभेदमिन्नान् सर्वशो मनोवाकायकर्मभिर्न धनन्ति न
व्यापादयन्ति । पापाच्च सर्वतः सावधानुष्ठानरूपाद्विरता निवृ-
त्ताः, ततश्चाऽज्जिनिवृत्ताः क्रोधाद्युपशमेन शान्तीभूताः । यदि
वाऽज्जिनिवृत्ता मुक्ता इव द्रष्टव्या इति ॥ १२ ॥ सूत्र० १ श्रु०
२ अ० १ उ० ।

अणिच्चाणुप्पेहा-अनित्यानुपेक्षा-स्त्री० । “ कायः सन्निहिता-
पायः, सम्पदः पदमापदाम् । समागमाः सापगमाः, सर्वमुत्पा-
दि भङ्गुरम् ” ॥१॥ इत्येवं जीवितादेरनित्यस्यानुपेक्षा । धर्मरूपे
धर्मध्यानस्यानुपेक्षाज्ज्ञेदे, स्था० ४ ग० १ उ० ।

अणिच्चा-अनिच्चा-स्त्री० । इच्छाभावलक्षणायामात्मपरिण-
तौ, “ अनिच्चा ह्यत्र संसारे, स्वेष्टालाभादनुत्कटा । ” द्वा० ६
द्वा० । पं० सू० ।

अणिच्छियत्ता-अनीप्सितता-स्त्री० । प्राप्तुमवाञ्छितत्वे, भ०
६ श० ३ उ० ।

अणिच्छियव्व-अनेष्टव्य-त्रि० । मनागपि मनसाऽपि अप्रार्थ-
नीये, आव० ४ अ० । ध० । “ दुर्चितिभो अणायारो अणि-
च्छियव्वो ” आव० ४ अ० ।

अणिजिस्स-अनिर्जीर्ण-त्रि० । जीवप्रदेशेज्यः परिशुद्धितप्रदे-
शे, औ० । कल्प० ।

अणि (सि) ज्जमाण-अन्वीयमान-त्रि० । अनुगम्यमाने,
विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अणि (सि) ज्जमाणमग-अन्वीयमानमार्ग-त्रि० । अनुग-
म्यमानमार्गे, “ मच्छिया चरुगरहपहकरणे अणिज्जमाणमगे
मियागामे खयेरे ” इत्यादि । विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अणिज्जिहत्ता-अपोह्य-अव्य० । अदवेत्यर्थे, “ वत्थं अणिज्ज-
हिहत्ता ” अपोह्य दत्त्वा हस्ताद्यावृत्मुखस्य । प्रति० । ज० ।

अणिज्जाएत्ता-अनिर्धार्य-अव्य० । चक्रुरव्यापाद्यैत्यर्थे, भ०
९ श० ७ उ० ।

अणिज्जायणत्तिया-अनिर्यापणात्मिका-स्त्री० । वाचनासंपद-
ज्ञेदे, उक्त० १ अ० ।

अणिज्जुह-अनिर्युह-त्रि० । महतो ग्रन्थात्, सुखावबोधाय

सङ्क्षेपनिमित्तमनुग्रहपरगुरुभिरनुद्धते, ज० १ श० ए उ० ।

अणिट्ठ-अनिट्ठ-त्रि० । इष्यते स्मेति प्रयोजनवशात् इष्टम्,
न इष्टमनिष्टम् । भ० १ श० ५ उ० । ‘ प्रस्यानुष्टेष्टासंदेष्टे ’ ॥ ७
। २ । ३४ ॥ इति सूत्रेण प्रस्य ङः । प्रा० । मनस इच्छामतिका-
न्ते, जी० १ प्रति० । उपा० । स्था० । भ० । अवाञ्छिते, भ० ए
श० ३३ उ० । सतामनभिलषणीये, “ सद्वाहविसयसाहण-धण
संरक्खणपरायणमणिं ” आव० ४ अ० । “ अणिछा, अकंता,
अप्पिया, अमणुआ, अमणामा, एते एकार्थाः । विपा० १ श्रु० १
अ० । “ अणिछा ज्वंति खादिजे दुब्बिणीया ” अनिष्टा जनस्ये-
ति गम्यते । प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । इष्टस्य सुखादेर्विरोधिनि
प्रतिकूलवेदनीये दुःखे, तत्साधने पापे, विपादौ, अपकारं च ।
नागवलायाम्, स्त्री० । यज-क । न० त० । अकृतयामे देवा-
दौ, वाच० । स्था० ।

अणिट्ठतर-अनिष्टतर-त्रि० । अतिशयेन कमनीये, जी० ३
प्रति० । विपा० ।

अणिष्ठफल-अनिष्टफल-न० । अश्रमे कर्मणि, उपा० २ अ० ।
अनभिमतफले दुर्गतिप्रयोजने, पञ्चा० ११ विव० । अनभिमत-
प्रयोजनेऽनर्थफले, पञ्चा० ३ विव० ।

अणिट्ठवयण-अनिष्टवचन-न० । आक्रोशवाचि, “ अणिट्ठवय-
णेहि सप्पमाणा ” प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणिष्ठविय-अनिष्टापित-त्रि० । असमापिते, “ अणिछाविय-
सव्वकालसंउत्पय्य ” अनिष्टापिताऽसमापिता सर्वकालं सदा
संस्थाप्यता तत्कृत्यकरणं यस्य तत्तथा । भ० ए श० ३३ उ० ।

अणिट्ठस्सर-अनिष्टस्वर-पुं० । प्रयोजनवशादपीच्छाऽविषये,
स्था० ८ ग० ।

अणिट्ठिज्जहाह-अनिष्टितोत्साह-पुं० । अहतोत्साहे, “ स
च सर्वसक्त्याऽनुष्ठानेषु यथाशक्त्योद्यमं करोति ” दर्श० ।

अनिष्टुर-अनिष्टुर-त्रि० । प्रस्तरागमनवत्कार्कश्यरहिते, ग० २
अधि० ।

अणिट्ठुह-अनिष्टीवक-त्रि० । सुखश्लेष्मणाऽपरिष्ठापके, प्रश्न० १
सम्भ० द्वा० । सूत्र० ।

अणिट्ठित्त-अनृद्धिप्राप्त-पुं० । आमर्षौषध्यादिलक्षणांमृद्धिं
प्राप्ते, न० । प्रज्ञा० ।

अणिट्ठित्त-अनृद्धिमत्-त्रि० । अनृद्धिप्राप्ते, “ उब्बिहा अ-
णिट्ठिमंता मणुस्सा पण्णत्ता । तं जहा-हेमवतंगा हिरण्वतंगा
हरिवंसगा रम्मगवंसगा कुरुवासिणो अंतरदीवगा ” स्था० ।
६ ग० ।

अणिट्ठिय-अनृद्धिक-पुं० । अनीश्वरप्रवर्जिते, आ० म० द्वि० ।

अणिहृव-अनिहृव-पुं० । न० त० । अनपलापे, ग० १ अधि० ।
ध० । व्य० । दश० । (निहवशब्दे वक्ष्यमाणेन) निहवत्वेन र-
हिते, वृ० १ उ० ।

अणिहृवण-अनिहृवन-न० । निहवनमपलपनम्, न निह
वनमनिहृवनम् । यतोऽधीतं तस्याऽनपलापे, एष ज्ञानाचा-
रस्य पञ्चमो विषयः । यतोऽनिहवेनैव पाठादिसूत्रादेर्विधेयं, न
पुनर्मानादिवशादात्मनो बाधवाद्याशङ्कया श्रुतगुरुणां श्रुतस्य
चाऽपलापेनैति । प्रव० ६ द्वा० । ध० । द० । ग० ।

णिहवणं अवलावो,
कस्स सगासे अधितमस चउगुरुगा ।
एहावित विचुरघरण,
दाण तिदंडे ऽणिहवणं ॥ १६ ॥

को वि साहू विमुक्कखरपदमि दुमत्तादिप पढंतो पढंतो
अखेण साहुणा पुच्छिओ-कस्स सगासे अहीयं ? सागारहि-
गाराणं संधिप्पओगेण आगारो लभति, ततो अहीतं भवति;
तेण य जस्स सगासे सिक्खियं सो पुण सुउत्तकसइसिक्खंते-
सु पवीणो, जच्चादिसु वा हीणतरो अतो तेण लज्जति । अयं
जुगप्पहाणकहयंति तगारणगाराणं संधिप्पओगओ लभति,
तेण अस्समिति भवति । एवं णिहवणं भवति । इत्थं से प-
च्छिंतं । अहवा सुत्तेहू अत्थेहू वायणायरियं णिहवणंस्स इह
परलोप य णत्थि कल्लणं उयाहरणं ” नि० चू० १ उ० ।

गृहीतश्रुतेनानिहवः कार्यः । यद्यस्य सकाशेऽधीतं तत्र स एव
कथनीयो नान्यः, चित्तकालुष्यापत्तेरिति ।

अत्र दृष्टान्तः—

एगस्स एहावियस्स खुरभंरुविज्जासामत्थेण आगासे अच्च-
ति । तं च एगो परिव्वायगो बहूहि उवसंपज्जणाहि उवसंप-
ज्जिऊण, तेण सा विज्जा लब्धा, ताहे अज्जत्थ गंतुं तिदंमेणा-
गासगपण महाजणेण पूज्जति च्छि । रत्ता य पुच्छिओ-भगवं ।
किं मे स विज्जातिसओ उय तवातिसओ ? सो भणति-वि-
ज्जातिसओ । कस्स सयासाओ गहिओ ? सो भणति-हिमवते
फलाहारस्स रिसिणो सयासे अधिज्जिओ । एवं तु बुत्ते समा-
णे संकिळे सदुत्थाय तं तिदंरं खरुत्ति पमितं । एवं जो अप्पा-
गमं आयरियं निपहवेऊण अयं कहति, तस्स चित्तसंकिळे-
सदोसेण सा विज्जा परलोपण इवति च्छि, अनिहवणं च्छि
गतं । दश० ३ अ० ।

अणिहवमाण-अनिहवान-त्रि० । अनपलपति, ज्ञा० १
श्रु० १ अ० ।

अणित्थिय-अनित्थ-त्रि० । अप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकस्वभाव-
तया कूटस्थनित्यत्वेनाऽन्यवस्थिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अणित्थंय-अनित्थंस्थ-त्रि० । अमुं प्रकारमापन्नमित्थम्, इत्थं
तिष्ठतीति इत्थंस्थम्, न इत्थंस्थमनित्थंस्थम् । केनचिन्नैकिकेन
प्रकारेणास्थिते, औ० । आव० । पं० सू० । परिमरुत्तादिसंस्था-
नरहिते, भ० २४ श० १२ उ० । अनियताकारे, जी० १ प्रति० ।

अणित्थंयमंठाणसंठिय-अनित्थंस्थसंस्थानसंस्थित-त्रि० ।
इत्थं तिष्ठतीति इत्थंस्थम्, न इत्थंस्थमनित्थंस्थम्, अनियता-
कारमित्थंयः । तच्च तत्संस्थानम्, तेन संस्थानेन अनियत-
संस्थानसंस्थिते, जी० १ प्रति० ।

अणित्थयसंठाणा-अनित्थंस्थसंस्थाना-त्त्री० । अनित्थंस्थं
संस्थानं यस्या अरूपिण्याः सत्तायाः सा । अनियताकारायां
सत्तायाम्, पं० सू० ५ सू० ।

आणदा (या)-अ-निदा-त्त्वा० । निदानं निदा, न निदाऽनिदा,
प्राणिहिंसा नरकादिदुःखहेतुरिति परिज्ञानविकलेन सता क्रि-
यमाणे प्राणिनिर्वहणे, स्वपुत्रादिकमन्यं वा विमागेनाऽवि-
विच्य सामान्येन विधीयमाने, अजानतो वा व्यापाद्यस्य स-
त्वस्य व्यापादने च । “जाणं तु अजाणंतो, तहेव उहिसिय उ
बहवो वा वि । ज्ञाणम् अजाणं वा, बहेइ अणिया निया

एसा ” पि० । अनिर्द्धारणायाम्, “पुढविकाइया सव्वे, अस-
सिभूया अणिदाप वेयणं वेदैति ” भ० १ श० २ उ० । चित्त-
विकलायां सम्यग्विवेकविकलायाम्, प्रज्ञा० ३४ पद । अना-
भोगवत्यां हिंसायाम्, भ० १६ श० ५ उ० ।

अणिदा (या) ए-अनिदान-त्रि० । नाऽस्य स्वर्गावाप्त्या-
दिनिदानमस्तीत्यनिदानम् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । न
विद्यते निदानमस्येत्यनिदानः, निराकाङ्क्षे अशेषकर्मक्षयार्थिनि,
सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । निदानरहिते, द्वा० ५ द्वा० । निदानव-
र्जिते, आतु० । प्रार्थनारहिते, भ० २ श० १ उ० । पञ्चा० ।
आचा० । भाविफलाशंसारहिते, “अणियाणे अकोउहले य
जे स भिक्खू ” दश० १० अ० । पञ्चा० । प्रअ० । ध० । स्व-
र्गावाप्त्यादिलक्षणनिदानरहिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।
न विद्यते निदानमारम्भरूपं भूतेषु जन्तुषु यस्यासावनि-
दानः । सावद्यानुष्ठानरहिते अनाश्रवे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।
भोगादिप्रार्थनास्वभावमार्तन्ध्यानम् । तद्वर्जितेऽनिदानेऽर्थे,
स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अणिदा (या) एज्जय-अनिदानज्जत-त्रि० । सावद्यानु-
ष्ठानरहितेऽनाश्रवभूते कर्मोपादानरहिते अनिदानकल्पे ज्ञा-
नादौ, सूत्र० ।

अप्पमिस्सजिक्खू समाहिपत्ते अणियाणज्जते सुपरिव्वएज्जा
न विद्यते निदानमारम्भरूपं भूतेषु जन्तुषु यस्याऽसावनिदानः ।
स एवमज्जतः सावद्यानुष्ठानरहितः परि समन्तात्संयमानुष्ठाने
व्रजेज्जतेदिति । यदि वा अनिदानज्जतोऽनाश्रवज्जतः कर्मोपादान-
रहितः सुष्ठु परिव्वजेत् सुपरिव्वजेत् । यदि वा-अनिदानज्जतान्य-
निदानकल्पानि ज्ञानादीनि तेषु परिव्वजेत् । अथवा-निदानं
हेतुः कारणं दुःखस्यान्तो निदानज्जतः कस्यचिद् दुःखमनु-
पाद्यन् संयमे पराक्रमेदिति । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अणिदा (या) एया-अनिदानता-त्त्री० । निदायते क्षयते
ज्ञानाद्याराधना लता आनन्दरसोपेतमोक्षफला येन परब्रह्मेव
देवेन्द्रादिगुणधिप्रार्थनाऽध्यवसानेन तद्विदानमनिदानं तद्यस्य
सोऽनिदानः, तदुज्जावस्तत्ता । निरुत्सुकतायाम्, एतस्याश्च फलमा-
गमिष्यद्भूततया कर्मप्रकरणम् । स्था० १० ठा० । निदानं भो-
गदिप्रार्थनास्वभावमार्तन्ध्यानं, तद्वर्जितताऽनिदानता । जोग-
दिप्रार्थनायाम्, एतस्याः फलं संसारव्यतिव्रजनम् । स्था० ३
ठा० १ उ० । “सव्वत्थ भगवया अणिदाणता पसत्था ”
स्था० ६ ठा० ।

अणिदिट्ठ-अनिर्दिष्ट-त्रि० । प्रागकृतानिर्देशे, नि० चू० १ उ० ।

अणिदेस-अनिर्देश-पुं० । अप्रमाणे, उक्त० १ अ० ।

अनिर्देश-त्रि० । केनाऽपि शब्देनाऽनभिप्रेत्ये, विशेष० ।

अणिदेसकर-अनिर्देशकर-पुं० । अप्रमाणकर्त्तरि, “आणाणि-
देसकरे, गुरुणुवायकारण” उक्त० १ अ० ।

अणिप्पण-अनिष्पन्न-त्रि० । अतीतकाक्षे निष्पात्तरहिते, औ० ।

अणिमंतेमाण-अनिमन्त्रयत्-त्रि० । निमन्त्रणमददति, आचा०
२ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अणिमा-अणिमन्-पुं० । परमाणुरूपतापत्तिरूपे सिद्धिभेदे,
द्वा० २६ द्वा० ।

अणिमिस-अनिमिष-पुं० । न० व० । मत्स्ये, “यद्गु अट्टिर्षं पो-
गत्तं, अणिमिसं यदुक्तं” दशा० १ अ० । निम्ननयने,
आव० ५ अ० ।

अणिमिसण्यण-अनिमिषनयन-पुं० । न विद्यते निमेषो येषां
तानि अनिमेषाणि, अनिमेषाणि नयनानि येषां तेऽनिमेषनयनाः ।
देवेषु, “अमिहाणमह्वदामा, अणिमिसण्यणा य नीरजसरी-
रा । नचरंगुलेण जूमि, न क्षियन्ति सुरा जिहो कहद्” व्य० १
उ० । आ० म० द्वि० । निनिमेषलोचने, पञ्चा० १५ विव० ।

अणिय-अनीक-न० । सैन्ये, कल्प० ।

देवेन्द्राणां सानीका अनीकाधिपतयः—

चमरस्स णं असुरिदस्स असुरकुमाररसो सत्त अणिया,
सत्त अणियाहिर्वं पसुत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए, पीढा-
णिए, कुंजराणिए, महिसाणिए, रहाणिए, नट्टाणिए, गं-
धव्वाणिए, दुमे पायत्ताणियाहिर्वं । एवं जहा पंचङ्गाणे
जाव किन्नरे रहाणियाहिर्वं रिद्धे नट्टाणियाहिर्वं गीय-
रई गंधव्वाणियाहिर्वं । बलिस्स णं वड्ढोयण्णिदस्स वड्ढो-
यणरसो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिर्वं पसुत्ता । तं
जहा-पायत्ताणियं जाव गंधव्वाणियं । महदुमे पायत्ताणि-
याहिर्वं जाव किंपुरिसे रहाणियाहिर्वं महरिद्धे णट्टा-
णियाहिर्वं गीयजसे गंधव्वाणियाहिर्वं । धरणस्स णं
नागकुमारिदस्स नागकुमाररसो सत्त अणिया, सत्त अणि-
याहिर्वं पसुत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए ।
रुद्धसेण पायत्ताणियाहिर्वं जाव आण्णेदं रहाणियाहिर्वं
णट्टेने णट्टाणियाहिर्वं तेतले गंधव्वाणियाहिर्वं । जूयाणं-
दस्स सत्त अणिया, सत्त अणियाहिर्वं पसुत्ता । तं जहा-
पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए दक्खे पायत्ताणियाहि-
र्वं जाव णंदुत्तरे रहाणियाहिर्वं रई णट्टाणियाहिर्वं मा-
णसे गंधव्वाणियाहिर्वं । एवं जाव धोसमहाधोसाणं णे-
यवं । सक्कस्स णं देविदस्स देवरसो सत्त अणिया, सत्त
अणियाहिर्वं पसुत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंध-
व्वाणिए । हरिणेगमेसी पायत्ताणियाहिर्वं जाव माढरे
रहाणियाहिर्वं सेण णट्टाणियाहिर्वं तुवंगंधव्वाणिया-
हिर्वं । ईसाणस्स णं देविदस्स देवरसो सत्त अणिया, सत्त
अणियाहिर्वं पसुत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंधव्वा-
णिए लहुपरक्कमे पायत्ताणियाहिर्वं जाव महासेण णट्टा-
णियाहिर्वं णारण गंधव्वाणियाहिर्वं । सेसं जहा-पंच-
ङ्गाणे एवं जाव अरुच्चुअस्सेति नेयवं । स्था० ७ ठा० ।
अनृत-न० । वितथे, मिथ्यावितथमनृतमिति पर्यायाः । स्था०
१० ठा० । आ० म० द्वि० । विशेष० । आव० ।

अणियट्ट-अनिवर्त्त-पुं० । मोक्षे, आचा० १ भु० ५ अ० १ उ० ।

अणियट्टगाणिन्-अनिवर्त्तगाणिन्-पुं० । अनिवर्त्तो मोक्षस्तत्र

गन्तुं शीलं यस्य स तथा । निर्वाणयायिनि, आचा० १
भु० ५ अ० ३ उ० ।

अणियट्टि (ण)-अनिवर्त्तिन्-न० । न निवर्त्तते न व्यावर्त्तते
इत्येवंशीलमनिवर्त्ति । प्रवर्धमानतरपरिणामादव्यावर्त्तनशीले,
“सुधुमकिरिए अणियट्टी” इति शुक्लध्यानस्य तृतीये भेदे,
स्था० ४ ठा० १ उ० । सूत्र० । अशीतितमे महाभूते, चं० म० २०
पाहु० । आगमिष्यन्त्यामुत्सपिण्यां प्रविष्यति विंशतितमे
तीर्थकरे, स० ।

अणियट्टिकरण-अनिवृत्तिकरण-न० । नियर्त्तनशीलं निवर्त्ति,
न निवर्त्ति अनिवर्त्ति, आ सम्यग्दर्शनलाभात्त निवर्त्तत इत्यर्थः ।
न निवर्त्तते नापि नोत्ततत्त्वयीजकल्पं सम्यक्त्वमनासाधेय्येवं
शीलमनिवर्त्ति । पञ्चा० ३ विव० । अनिवृत्तिकरणमित्यन्योन्यं
नातिवर्त्तन्ते परिणामा असिम्मित्यनिवृत्तिकरणम् । आचा०
१ भु० ६ अ० १ उ० । तच्च तत्करणं च अनिवृत्तिकरणं तस्यैवस्वा-
द्युगुणे विशुद्धतराध्यवसायरूपे भव्यानां करणभेदे, “अणि-
यट्टीकरणं पुण, सस्ससपुरस्खडे जीवे” आ० म० द्वि० ।

अणियट्टिवायर-अनिवृत्तिवादर-पुं० । न विद्यते अन्योऽन्य-
मध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिर्यस्यासावनिवृत्तिः । स चासौ
वादरश्चेति । कर्म० २ कर्म । नवमगुणस्थाने वर्त्तमाने जीवे,
स च कपायाष्टकक्षपणारम्भाश्रुंसकवेदोपशमने यावद् भ-
वति निवृत्तिवादरसमयादूर्ध्वं लोभस्त्रयवेदनां यावदनिवृत्ति-
वादरः । आव० ४ अ० । अवाताणामादिभावे, पं० व० १ द्वा० ।

अणियट्टिवायरसंपरायगुणट्टाण-अनिवृत्तिवादरसंपरायगुण-
स्थान-न० । नवमगुणस्थाने, व्याख्या चैवम-युगपदेतद्गुणस्था-
नकं प्रतिपन्नानां बहुनामपि जीवानामन्योन्यमध्यवसायस्थान-
स्य व्यावृत्तिर्नास्त्यस्येति अनिवृत्तिः, समकालमेतद्गुणस्थान-
कमारूढस्यापरस्य यद्व्यवसायस्थानं विवाक्षितोऽन्योऽपि क-
श्चित्प्रवर्त्त्येत्यर्थः । संपरैति पर्यटति संसारमनेनेति संपरायः क-
पायोदयः वादरः सुहृत्कष्टीकृतसंपरायापेक्षया स्थूलसंपरायो
यस्य स वादरसंपरायः । अनिवृत्तिश्चासौ वादरसंपरायश्च त-
स्य गुणस्थानमनिवृत्तिवादरसंपरायगुणस्थानम् । इदमध्यन्त-
र्मुहूर्त्तप्रमाणमेव । तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं यावन्तः समयास्तत्प्रविष्टा-
नां तावन्त्येवाध्यवसायस्थानानि प्रवन्ति । एकसमयप्रविष्टाना-
मेकस्यैवाध्यवसायस्थानस्यानुवर्त्तनादिति स्थापना००००० प्रथ-
मसमयादारभ्य प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धं यथोत्तरमध्यव-
सायस्थानं भवतीति चेदितव्यम् । स चानिवृत्तिवादरो द्विधा-
कृपक उपशमकश्च । कृपयति उपशमयति वा मोहनीयादि क-
मेति वा कृत्वा । कर्म० २ कर्म । प्रव० । आ० चू० ।

अणियण-अनग्न-पुं० । विचित्रवस्त्रादायित्वान्न विद्यन्ते नन्वा
निवासिनो जना येन्यस्तेऽनग्नाः । संज्ञाशब्दो वाऽयमिति । वि-
शिष्टवस्त्रदायिषु कल्पद्रुमज्जेषु, स्था० ७ ठा० । प्रव० आव० ।

अणियत (य)-अनियत-त्रि० । अप्रतिबन्धे, सूत्र० १ भु० ६
अ० । उच्च० । अनिश्चिते, अष्ट० ८ अष्ट० । अनेकस्वरूपे, दशा०
१० अ० । न० त० । अनियमवति अनवस्थिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।
हः । अवश्यंभाव्युदयाऽपि ते आत्मपुरुषेश्वरस्वभावकर्मा-
दिकृते सुखादिके, “निययानिययं संतं, अयाण्ता अहुत्थिया”
सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० । “अशाश्वतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि

चेह च । देवासुरमनुष्याणां-मृदयश्च सुखानि च । ” सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । इदं शरीरमनियतं सुरूपादेरपि कुरूपादिदर्शनाद् हरितिलकराजसुतविक्रमकुमारशरीरवत् । तं० । “ अणियओ वासो ” अनियतो वासो नानादेशपरिभ्रमणम् । व्य० १ उ० ।
अणियत (य) चारिण-अनियतचारिन्-पुं० । अनियतमप्रतिबन्धं परिग्रहयोगाच्चरितुं शीलमस्यासावनियतचारी । अप्रतिबन्ध-विहारिणि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणियत (य) प्प (ण्)-अनियतात्मन्-पुं० । असंयते, अनिश्रितस्वरूपे च । अष्ट० ८ अष्ट० ।

अणियत (य) वट्टि-अनियतवृत्ति-पुं० । अनियतविहारे, उत्त० १ अ० ।

अणियत (य) वास-अनियतवास-पुं० । मासकल्पादिनाऽनिकेतवासे गृहे, उद्यानादौ वासे, दश० २ चूलि० । “अणिय. ओ वासो णिप्पत्तियविहारो ” अस्य गृहीतसूत्रार्थस्य शिष्य-स्यानियतो वासः क्रियते । ग्रामनगरसन्निवेशादिष्वनियतवासे-न । विशेष० । देशदर्शनं कार्यते ततः स आचार्यपदे स्थाप्यते । वृ० १ उ० ।

अणियत (य) वित्ति-अनियतवृत्ति-पुं० । अनियतचारिणि अनियतविहारे, स्था० ८ उ० । व्य० । अनियताऽनिश्चिता वृ-त्तिर्व्यवहरणं विहारो वा यस्य सोऽनियतवृत्तिः । “गामे एगराहं नगरे पंच राहं ” इत्यादिप्रकारेण । दशा० ४ अ० ।

अणियत्त-अनिवृत्त-त्रि० । अनिवृत्ते, उत्त० ३ अ० ।

अणियत्तकाम-अनिवृत्तकाम-त्रि० । अनुपरतेच्छौ, उत्त० १४ अ० ।

अणियाहिबइ-अनीकाधिपति-पुं० । ६ त० । गजादिसैन्यप्र-धाने पेरावतादौ, स्था० ३ उ० १ उ० । रा० । (यस्य यावन्त्य-नीकानि अनीकाधिपतयश्च ते सर्वे ‘अणिय’ शब्दे उक्ताः) अणिरिक्ख-अनिरिद्धय-अव्य० । चतुषाऽज्ञात्वेत्यर्थे, आ० ।

अणिरुद्ध-अनिरुद्ध-त्रि० । कचिदप्यस्खलिते, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । कृष्णवासुदेवपुत्रस्य प्रद्युम्नस्य वैदर्ज्यामुत्पन्ने पुत्रे, स च अरिष्टनेमेरुन्तिके प्रब्रज्य शत्रुञ्जये सिद्धः । अन्त० ४ वर्ग० । प्रश्न० ।

अणिरुद्धपाण-अनिरुद्धप्रज्ञ-त्रि० । अनिरुद्धा कचिदप्यस्ख-लिता प्रज्ञा, प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा ज्ञानं, येषां तीर्थकृतां तेऽनिरुद्ध-प्रज्ञाः । कचिदप्यस्खलितज्ञानेषु तीर्थकृत्सु, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।
अणिल-अनिल-पुं० । वायौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । कर्म० ।

दश० । आव० । एकोनविंशे भारतातीतजिने, चाविंश-जिनस्य प्रवर्तिन्यां च । स्त्री० । प्रव० ६ द्वा० । ति० ।

अणिलामइ (ण्)-अनिलामयिन्-त्रि० । वातरोगिणि, वृ० २ उ० ।

अणिल्लं-देशी-प्रभाते, दे० ना० १ वर्ग० ।

अणिल्लंछिय-अनिल्लंछित-त्रि० । अवर्धितके अखण्डीकृते, भ० ८ श० ५ उ० ।

अणिवारिय-अनिवारित-त्रि० । निषेधकरहिते, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

अणिवारिया-अनिवारिका-स्त्री० । नास्ति निवारको मैवं कार्षीरित्येवं निषेधको यस्याः साऽनिवारिका । प्रतिषेधकर-हितायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

अणिव्वत-अनिवृत्त-त्रि० । न० त० । कदाचिदनुपशान्ते, “अ-णिव्वते घातमुवेति वाले ” सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । अप-रिणते, दश० १ अ० ।

अणिव्वाणमादि-अनिर्वाणादि-त्रि० । अनिवृत्त्यर्थहान्यर्था-सिद्धिप्रभृतिषु दोषेषु, पञ्चा० ७ विव० ।

अणिव्वाणि-अनिर्वाणि-पुं० । असुखे, व्य० १ उ० ।

अणिव्वुइ-अनिर्वाणि-स्त्री० । पीडायाम्, आ० म० द्वि० ।

अणिव्वु-अनिर्वाणि-त्रि० । अपरिणते, दश० ३ अ० ।

अणिव्वेय-अनिर्वेद-पुं० । उद्योगादनुपरमे, दश० ३ अ० ।

(तद्विषया अर्थकथा ‘अत्यकहा’ शब्देऽत्रैव भागे वक्ष्यते)

अणिसिंठ-अनिसृष्ट-त्रि० । न निसृष्टं सर्वैः स्वामिभिः साधु-दानार्थमनुज्ञातं यत् तदनिसृष्टम् । पि० । एकेनैव दीयमाने बहुसाधारणे, “अणिसिंठं सामन्नं गोद्वियभत्ताहं देइ एगस्स” प्रश्न० ५ सम्म० द्वा० । पञ्चा० । दशा० । स्था० । अनिसृष्टं स्वा-मिनाऽनुत्तंसंकलितं निष्पन्नमेवान्यतः समानीतम् । आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० । यदा द्वित्राणां पुरुषाणां साधारणे आहारे एकोऽन्याननापृच्छ्य साधवे ददाति तदा पञ्चदशोऽनिसृष्टो दोष उद्गमस्य । उत्त० २४ अ० ।

अथानिसृष्टद्वारमाह-

अणिसिंठं पणिकुट्टं, ऽणुन्नायं कप्पणं सुविहियाणं ।

लङ्गु चोद्वग जंते, संखमि खीराऽऽवणाईसु ॥

निसृष्टमुक्तमनुज्ञातं, तच्चिरतमनिसृष्टमनुज्ञातमित्यर्थः । तत्प्र-तिकुष्टं निराकृतं तीर्थकरणधरैरनुज्ञातं पुनः कल्पते सुविहि-तानाम् । तच्चानिसृष्टमनेधा । तद्यथा-लङ्गुकविषयं मोदकवि-षयं, तथा सुल्लकविभोजनविषयम् । (यन्न इति) कोलहकादि-प्राणकविषयं, तथा संस्क्रियविषयं विवाहादिविषयं, तथा क्ली-रविषयं दुग्धविषयं, तथा आपणादिविषयम् । आदिशब्दात्तु गृहादिविषयमवसेयम् । इयमत्र भावना-इह सामान्यनानि-सृष्टं द्विधा । तद्यथा-साधारणानिसृष्टं, भोजनानिसृष्टं च । तत्र भोजनानिसृष्टं सुल्लकशब्देनोक्तम्, साधारणानिसृष्टं तु शे-षभेदैरिति ।

तत्र मोदकविषयं साधारणानिसृष्टोदाहरणं गाथाचतुष्टयेनो-पदर्शयति-

वत्तीसा सामन्ने, ते कहि एहाउं गय चि इइ वुच्चइ ।

परसत्तिण्ण पुन्नं, न तरसि काउं ति पच्चाऽऽह ॥

अवि य हु वत्तीसाए, दिन्ने हि तवेगो मोयगो न भवे ।

अप्पवयं बहुआयं, जइ जाणसि देहि तो मज्झं ॥

त्वाजिय नितो पुट्ठो, किं लप्पं पेच्छ मोदाए ।

इयरो वि अहो नाहं, देमि चि सहोदवोरत्तं ॥

गेएहणकट्ठणववहा-रपच्छकमुड्डाह तहय निव्विसए ।

आयम्मि भवे दोसा, पडुम्मि दिन्ने नउ गगहणं ॥

रत्नपुरे माणिभरुप्रमुखा द्वात्रिंशद्यस्याः, ते कदाचिदुद्यापना-निमित्तं साधारणान् मोदकान् कारितवन्तः । कारयित्वा च समुदायेनोद्यापनिकायां गताः । तत्र चैको मोदकरक्कको मुक्तः शेषास्त्वेकात्रिंशत् नद्यां स्नातुं गताः । अत्रान्तरे च कोऽपि लोलु-पसाधुभिर्ज्ञार्थमुपातिष्ठत्, दृष्टाश्च तेन मोदकाः, ततो जातलाम्प-

स्यो धर्मं क्षात्रयित्वा तं पुरुषं मोदकान् याचितवान् । स प्राह-
भगवन् ! न ममैकाकिनोऽधीना एते मोदकाः किन्वेत्येवमप्ये-
कविशज्जनानां, ततः कथमहं प्रयच्छामि ?। एवमुक्ते साधुराह-
ते (कहिं ति) कुत्र गताः ?। स प्राह-नद्यां स्नातुमिति । तत एव-
मुक्ते सूर्योऽपि साधुस्तं प्रत्याह-परसत्केन मोदकसमूहेन त्वं पु-
र्यं कर्तुं न शक्नोषि?, यदेवं याचितोऽपि न ददासि । महानुना-
चमूहस्त्वं यः परसत्कानपि मोदकान् मह्यं दत्त्वा पुर्यं नोपा-
र्जयसि । अपि च-द्वाविंशतमपि मोदकान् यदि मे प्रयच्छसि
तथापि तव प्रागे एक एव मोदको याचितः । एवमल्पव्ययं य-
हायं दानं यदि जानासि सम्यग् हृदयेन तर्हि देहि मे सर्वान-
पि मोदकानिति । एवमुक्ते दत्तास्तेन सर्वेऽपि मोदकाः, भृतं
साधुनाजनम्, ततः संजातहर्षः साधुस्तस्मात् स्थानाद् विनि-
र्गन्तुं प्रवृत्तः । प्रदान्तरे च सर्वे समागच्छन्ति स्म माणिभक्षादयः ।
पृष्ठश्च तैः साधुः-जगवन् ! किमत्र त्वया लब्धम् ?। ततः साधु-
ना चिन्तितम्-यथा एते मोदकस्वामिनस्ततो यदि मोदका
लब्धा इति वदये तर्हि भूयोऽपि ग्रहीष्यन्ति । तस्मान्न किम-
पि लब्धमिति प्रचीमति । तथैवोक्तवान् । ततस्तैर्माणभक्ष-
मुर्ध्वर्भाराक्रान्तं साधुमवलोक्य संजातशङ्केरभाणि-दर्शय निजं
प्राजनं साधो ! येन प्रेक्षामहे । साधुश्च न दर्शयति । ततो बलात्प्र-
लोकितम् । दृष्ट्वा मोदकाः ततः कोपावृणोचनैः साधितैर्पृ-
क्कपुरुषः पृष्टः-यथा किं भोः त्वयाऽस्मै सर्वेऽपि मोदका दत्ताः ?।
स जयेन कम्पमानोऽहदत्त-न मया दत्ताः । एवं चांके माणिभ-
क्षादिभिः साधुरुच्ये-चौरस्त्वं पापः साधुवेपथिभ्यः । सहोद
इति इदानीं प्राप्नोऽसि, कुतस्ते मोक्ष इति गृहीनो वस्त्राञ्च-
वे कर्षितां बाहुना । ततः पश्चात् कुट्टित इति गृहीत्वा सकल-
मपि पात्ररजोहरणादिमुपकरणं गृहस्थीकृतः, तत उड्डाह इ-
ति । नीतो राजकुलम्, कथितो धर्माधिकरणिकानाम् । पृष्ठश्च तैः
साधुश्च न किमपि लज्जया वक्तुं शक्नुवान् ?। ततः परिज्ञावितम्-
नूनमप्ये चौर इति, परं साधुवेपथारीति कृत्वा प्राणमुक्तो नि-
र्विषयश्चाऽऽज्ञापितः । एवमप्रजावनायके दातरि एतेऽनन्तराका
ग्रहणकर्षणादयो दोषा भवन्ति । (पहुस्मिन्ति) तृतीयार्थे सप्तमी ।
यथा-“ निस्तु अक्षेकियपुहवी ” इत्यत्र । ततोऽयमर्थः-तस्मात्प्र-
भुणा नायकेन दत्ते सति साधुना ग्रहणं प्रकाशेः कर्तव्यम् ; त-
त्राप्याच्छेदादिकं सम्यक् परिहर्तव्यमिति । उक्तं सोदाहरणं
मोदकद्वारम् ।

अधुना शेषाण्यपि द्वाराण्यतिदेशेन व्याख्यातयति-

एमेव य जंतस्मि वि, संखंभिं खीरआवणाईसु ।

सामन्नं पणिकुट्टं, कप्पइ पेत्तुं अणुन्नायं ॥

एवमेव मोदकोदाहरणप्रकारेण यन्त्रेऽपि संखड्यामपि क्षीरे
च आपणादिषु च यत् सामान्यं साधारणं तत् स्वामिभिः
सर्वैरप्यनिर्मुक्तं, तत् प्रतिश्रुष्टं तीर्थकरणधरैः अनुज्ञातम्, पुनः
सर्वैरप्यस्वामिभिः कल्पते ग्रहीतुम्, तत्र दोषाभावात् ।

संप्रति सुल्लकद्वारस्य प्रस्तावनां सुल्लकस्य भेदं च
प्रतिपादयति-

चुद्धं ति दारमहुणा, बहुवत्तव्वं ति तं कयं पच्छा ।

वनेई गुरु सो पुण, साभिय हत्थाण विन्नेओ ॥

अधुना सुल्लकद्वारं व्याख्येयम् । अथोच्यते-मूलगाथायां द्वि-
तीये स्थाने निर्दिष्टमपि कस्माद् व्याख्यावेलायां पश्चात्कृतम् ?।
तत आह-बहुवत्तव्वमिदं द्वारम्, अतः व्याख्यावेलायां पश्चा-

त्कृतम् । तत्र गुरुस्तीर्थकरादिवर्षयति प्ररूपयति यथा स
सुल्लको द्विधा । तद्यथा-स्वामिनो हस्तिनश्च ।

तत्र प्रथमतः स्वाम्यनिर्दिष्टं सुल्लकमाह-

छिन्नमछिन्नो दुविहो, होइ अडिन्नो निसिद्ध अणिसिद्धो ।

छिन्नमि सुल्लगमि य, कप्पइ पेत्तुं निसिद्धमि ॥

इह द्विधा सुल्लकः । तद्यथा-छिन्नोऽल्लिन्नश्च । इयमत्र भावना-
इह कोऽपि कौटुम्बिकः क्षेत्रगतहालिकानां कस्यापि पात्रे
कृत्वा भोजनं प्रस्थापयति । स यदा एकैकहालिकयोग्यं पृथक्
पृथक् भाजने कृत्वा प्रस्थापयति, तदा स सुल्लकश्छिन्नः, यदा तु
सर्वेषामपि हालिकानां योग्यमेकस्यामेव स्थाल्यां कृत्वा प्रेष-
यति, तदा सोऽल्लिन्नः । एवमन्यत्राप्युदापनिकादौ छिन्नाऽल्लि-
न्नत्वं सुल्लकस्य भावनीयम् । अल्लिन्नोऽपि द्विधा । तद्यथा-नि-
सृष्टोऽनिसृष्टश्च । तत्र निसृष्टः कौटुम्बिकेन येषां च हालिकानां
योग्यः स सुल्लकस्तैश्च साधुभ्यो दानाय मुत्कलितः । इतरस्तु
मुत्कलितोऽनिसृष्टः । तत्र यस्य निमित्तं छिन्नः स एव चेत-
स्यात्मीयस्य छिन्नस्य दाता तर्हि तस्मिन् छिन्ने सुल्लके तत्स्वा-
मिना दीयमाने साधूनां ग्रहीतुं कल्पते, दोषाभावात्, तद्यथा
छिन्नोऽपि सर्वैरपि तत्स्वामिभिरनुज्ञाते तं ग्रहीतुं कल्पते, त-
त्रापि दोषाभावात् ।

एनमेवार्थं सविशेषितमाह-

छिन्नो दिट्ठमदिट्ठो, याय निसिद्धो इ छिन्नो य ।

सो कप्पइ इयरो उण, अदिट्ठदिट्ठो अणुन्नाओ ।

यश्च सुल्लको यस्य निमित्तं छिन्नः स तेन दीयमानो मूलस्वा-
मिना कुटुम्बिकेनादृष्टो दृष्टो वा कल्पते । तथा यश्चाल्लिन्नः
योऽपि च यस्य निमित्तं छिन्नः स स्वस्वामिभिरनुज्ञातोऽन्येन
दीयमानः स्वस्वामिभिरदृष्टो दृष्टो वा कल्पते (इयरो उण
त्ति) इतर एतद्व्यतिरिक्तः, तुः पुनरर्थः । छिन्नोऽल्लिन्नो वा
स्वस्वामिभिरनुज्ञातोऽदृष्टो दृष्टो वा न कल्पते, प्रागुक्तग्रहणा-
दिदोषसंभवात् । अयं च विधिः साधारणोऽऽदिष्टोऽपि
वेदितव्यः ।

तथा चैतदेव गाथादेन प्रतिपादयति-

अणुसिद्धमाणुन्नायं, कप्पइ पेत्तुं तहेव अदिट्ठे ।

गजयस्स य अनिसिद्धं, न कप्पइ कप्पइ अदिट्ठं ॥

अनिसृष्टं पूर्वं स्वस्वामिभिः सर्वैरनुज्ञातमपि यदि पश्चादनुज्ञा-
तं जवति तर्हि कल्पते तद् ग्रहीतुं, तेषामनुज्ञातं सर्वैः स्वामिभि-
रन्यत्र गतत्वादिना कारणेनादृष्टमपि ग्रहीतुं कल्पते, तद्दोषाभा-
वात् । संप्रति हस्तिनसुल्लकानिसृष्टे गाथोत्तरादेन ज्ञायति-
(गजयस्स त्ति) हस्तिनो जक्तं मिण्डेनानुज्ञातमपि राज्ञा गजेन
वाऽनिसृष्टमज्ञातं न कल्पते, वक्ष्यमाणादिदोषसंभवात् । तथा-
मिण्डेन स्वलक्ष्यं भक्तं दीयमानं गजेनादृष्टं कल्पते, गजदृष्ट-
ग्रहणे तु वक्ष्यमाणोपाश्रयभङ्गादिदोषप्रसङ्गः ।

अस्यैव विधेरन्यथाकरणे दोषानाह-

निर्वपिणो गजजत्तं, गहणाईयंतराईयमदिन्नं ।

कुंवस्स संतिण वि ट्ठ, अभिक्ख वसहं ई फेहणया ॥

इह यद् गजस्य भक्तं तत् राज्ञः पिण्डो राज्ञो भक्तं ततो
राज्ञा अननुज्ञातस्य ग्रहणे ग्रहणादयो ग्रहणाकर्षणादयो दोषा
भवेयुः, तथा-अन्तराग्निकम् अन्तरायनिमित्तं पापं साधोः
प्रसज्जते । राजा हि मर्द्याज्ञामन्तरेणैव साधवे पिण्डं

ददातीति रुष्टः सन् कदाचिद् मिएतं स्वाधिकाराद् भ्रंशयति, ततो मिएतस्य वृत्तिच्छेदः साधुनिमित्त इति साधारान्तराधिकं कल्पते । तथा (अदित्रं ति) अदद्यादानदोषः, राज्ञाऽनुज्ञा-तत्वात् । तथा सुखस्य मिएतेन स्वयं दीयमानेऽभीष्टं प्राप्ति-दिवसं यदि साधुस्तं पिएतं गजस्य पश्यतो गृह्णाति, तदा मदी-यकवलमध्यादनेन मुष्टेन पिएतो गृह्णाते इत्येवं कदाचित् रुष्टः सन् यथायोगं मार्गं परिभ्रमन् उपाश्रये साधुं दृष्ट्वा तं सुखं प्र-सार्य स्फोटित्वा साधुं च कथमपि प्राप्य मारयेत्, तस्मान्न गज-स्य पश्यतो मिएतस्यापि सत्कं गृह्णीयात्, तदेवमुक्तमनिसृष्टद्वारम् । पि० । प्रव० । आचा० । जीत० । पं० व० । 'अणिसिद्धे च उ-ल्लङ्घं' पं० चू० । वृ० । सूत्र० । (अनिसृष्टं रजोहरणादि शब्दे-ष्वेव दृश्यम्) " अणिसिद्धं ण कप्पति अणुणायं " नि० चू० १४ उ० । शब्दातरेणानुज्ञातप्रवेशे, निसृष्टो नाम यस्य शब्दा-तरेण प्रवेशोऽनुज्ञातः, तदितरोऽनिसृष्टः । वृ० २ उ० ।

अणिसिद्ध-अनिषिद्ध-वि० । अनुमते, कल्प० । सावधानु-ष्ठानानिवृत्ते, पञ्चा० १२ विव० ।

अणिसिद्ध-अनिशीथ-न० । प्रकाशपाठात्प्रकाशोपदेशाद् वा निशीथमिति श्रुतभेदे, आ० म० ।

सांप्रतमनिशीथनिशीथयोरेव स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

नूआपरिणयविगमं, सदकरणं तदेव मनिशीहं ।

पच्छन्नं तु निसीहं, निसीहनामं जयज्जयणं ॥

'नूतमुत्पन्नम्, अपरिणतं नित्यं, विगतं विनष्टं, नूतापरिणतवि-गतम्, समाहारत्वादेकवचनम् । किमुक्तं भवति ?—'उत्परणे इ वा विगमे इ वा ध्रुवे इ वा' इत्यादि । किंविशिष्टम् ?—शब्दकरणं-शब्दः क्रियते यस्मिन् तत् शब्दकरणम् । उक्तं च—'उत्तीज स-हकरणं, पगासपाठं व सरविसेसो वा' स निशीथो भवति । इयमत्र भावना-यदुत्पादाद्यर्थप्रतिपादकः, तथा महताऽपि शब्देन प्रतिपाद्यं, तत् प्रकाशपाठात् प्रकाशोपदेशाद्वा निशीथ इति । आ० म० द्वि० ।

अणिसिद्ध-अनिश्रुत-न० । सर्वगच्छसाधारणे चैत्ये, "णि-स्सकरं जं गच्छं, संति अ तदिअरं अणिसिद्धकरं । सिद्धाययणं च इमं, चेइयपणं विणिहिं ॥" ध० २ अधि० । ये रजो-हरणादिवेवधारिणो मत्पितृत्वास्तेज्यो दास्यामीति संकल्पं विनैवाऽवबोधकनाय, वलिनिष्पादने, स्वापन्नादिभक्तिमात्रकृते भक्ते च । पि० ।

अणिसिद्धावस्सिय-अनिश्रितोपाश्रित-पुं० । निश्रितं रागः, उपाश्रितं द्वेषः । अथवा-निश्रितमाहारादिविप्ला, उपाश्रितं शि-ष्यकुलाद्यपेक्षा, तद्वर्जितो यः सोऽनिश्रितोपाश्रितः । रागद्वेषव-र्जनेन, आहारशिष्यकुलाद्यपेक्षारहितत्वेन च मध्यस्थभावं गते, "साहम्मियाणं अहिमरणंसि उप्पसंसि तत्थ अणिसिद्धो-वस्सिओ अपक्खगाही" स्था० ८ ग० ।

अणिसिद्धावस्सियं, सम्मं ववहरमाणे समणे णिगंये, आणाए आराहए जवइ ।

अनिश्रितैः सर्वांशं साराहितैरुपाश्रितोऽङ्गीकृतोऽनिश्रितोपाश्रित-स्तम् । अथवा-निश्रितश्च शिष्यत्वादितप्रतिपक्षः, उपाश्रितश्च स एव वैयावृत्यकरत्वादिना प्रत्यासन्नतरस्तौ । अथवा-निश्रितं रागः, उपाश्रितश्च द्वेषस्तम् । अथवा-निश्रितश्चाहारादिलि-प्ला, उपाश्रितं च शिष्यप्रतीच्छककुलाद्यपेक्षा, ते न स्तो यत्र

तत्तथेति क्रियाविशेषणम् । सर्वथा पक्षपातरहितत्वेन यथावादि-त्यर्थः । इह पूज्यव्याख्या—"रागो य होइ निस्सा, उवस्सिओ दोससंजुतो । अहव ण आहाराई, दाही मज्जे तु एस निस्सा-ओ ॥१॥ सो सो पडिच्छए वा, होइ उवस्साकुलादी यत्ति ।" म० ८ ग० ८ उ० ।

अणिसिद्धावहाण-अनिश्रितोपाधान-न० । न निश्रितमनिश्रितं स्व्योपाधानम्-उपाधानकमेव, भावोपाधानं तपः । आच० ४ अ० । आ० चू० । श्रुतयोगसङ्ग्रहाय परसाहाय्याऽनपेक्षे तपसि, स० ३२ सम० । पेहिकफत्ताऽनपेक्षतपःकारितायाम्, एष चतुर्थो योगसङ्ग्रहः ।

इह परत्र च केन कृत इत्यत्रोदाहरणम्—

"पारुलिपुत्त महागिरि, अज्जसुहत्थी अ सेट्ठि वसुज्जई ।

चइ दिसि उज्जेणीप, जिणपडिमा एलकच्छं च" ॥ १ ॥

शिष्यौ द्वौ स्थूलजलस्य, महागिरिसुहस्तिनौ ।

महागिरिर्महासत्त्वो, गणं दत्त्वा सुहस्तिनः ॥ १ ॥

जिनकल्पे व्यवच्छिन्ने-ऽप्यभ्यासे तस्य वर्तते ।

विहारेणान्यदाऽगातां, पाटलीपुत्रपत्तनम् ॥ २ ॥

तत्र श्रेष्ठी वसुज्जतिः, सुहस्तिप्रतिघोधितः ।

आवकोऽनूदथावादी-द्वोध्यन्तां स्वजना मम ॥ ३ ॥

ततः सुहस्ती तत्रेहे, गत्वा धर्ममुपादिशत् ।

महागिरिस्तदा तत्रा-यासीन्द्रिक्काकृतेऽथ तान् ॥ ४ ॥

दृष्ट्वा तस्थौ सुहस्ती द्राघं, वसुज्जतिरथावबोत् ।

गुरवो वोऽप्यमी तेऽथ, चक्रुस्तद्वृणस्तंस्तवम् ॥ ५ ॥

एवमावेद्य तेषां ते, प्रदायाणुव्रतान्यगुः ।

वसुज्जतिर्द्वितीयेऽहि, स्वजनानूचिवानिति ॥ ६ ॥

तदोज्जका भवेतामे, दृष्ट्वाऽस्यान्तं महागिरिम् ।

दृष्ट्वा तमुज्जनारम्भं, महागिरिरथागतः ॥ ७ ॥

तदञ्जुमिति ज्ञात्वा, वदित्वा च सुहस्तिनम् ।

अञ्जुत्थानगुणाख्यानै-रञ्जुद्विविधे त्वया ॥ ८ ॥

अथ द्वावपि वैदेशी, सगच्छौ जग्मतुर्गुरुम् ।

तत्राजितप्रतिनिधिं, वन्दित्वा श्रीमहागिरिः ॥ ९ ॥

गजाग्रपदवन्दारु-रेलकच्छपुरे ययौ ।

तद्दर्शणपुरं पूर्व-मासीत् त्वस्मिन्नुपासिका ॥ १० ॥

चक्रे वैकाशिकं नित्यं, प्रत्याख्याति स्म चाथ सा ।

उपाहसत्पातिस्तस्याः, सायं शुकपरोऽपि किम् ? ॥ ११ ॥

निश्चयात् सोऽपि शुकत्वाऽऽह, प्रत्याख्याम्यहमप्यतः ।

भङ्ग्यसि त्वं तयेत्यूचे, न भङ्ग्यामीति सोऽवदत् ॥ १२ ॥

देवताऽचिन्तयच्छाब्दा-मसाधुपहसत्यदः ।

निशीथे स्वस्वरूपेणाऽऽ-ज्यागादादाय लाभनम् ॥ १३ ॥

खादन्निषिद्धः पत्न्योचे, किमेतैर्बालजालकैः ? ।

देवता तं प्रहृत्याथ, दमोहौ च व्यपातयत् ॥ १४ ॥

मा जून्ममायशः आब्दाः, कायोत्सर्गेऽथ सा स्थिता ।

देवता स्माह तां आब्दाऽ-प्युवाचैवं ममायशः ॥ १५ ॥

साऽथानीयादधौ सद्यो, मारितैरस्य चक्षुषी ।

एडकाक्कस्ततः ख्यातः, स आरुः प्रत्ययादभूत् ॥ १६ ॥

लोकः समेति तं रुष्टु-मेरुकाक्षं कुतूहलात् ।

एरुकाक्षं पुरमपि, तन्नाम्ना तदभूत् ततः ॥ १७ ॥

गजाग्रपदतोत्पात्तिः, शैलस्यैवमभूत् पुनः ।

गर्वे दर्शार्णजलस्य, हर्तुं शक्रः समागतः ॥ १८ ॥

गजेन्द्रारूढ एवाथ, विः प्रादक्षिण्यत् प्रभुम् ।
 ततो दशार्णकूटायथे, तत्पदान्युत्थितान्यंग ॥ १ए ॥
 देवानुजावात् ख्यातोऽथ , गजेन्द्रपद इत्यसौ ।
 तस्मिन् महागिरिर्भक्तं, प्रत्याख्याय दिवं ययौ ॥ २० ॥
 सुदस्तिस्सूरयोऽन्येद्युर्जमुकुल्यिनी पुरीम् ।
 सुभक्षा यानशालायां, विशालायां च ते स्थिताः ॥ २१ ॥
 एकदा नन्दिनीगुल्माऽध्ययनं पर्यवर्त्तयन् ।
 सुजघाचस्तदाऽवन्निमुकुमालो महर्षिकः ॥ २२ ॥
 पत्नीद्वाविंशता सार्द्धं, सौधे सप्ततन्नेऽल्ललत् ।
 सुसन्तुष्टः स तच्छ्रुत्वा, जातजातिस्मृतिः क्षणात् ॥ २३ ॥
 आगत्याऽवोचतावन्ति-मुकुमाहोऽस्म्यहं प्रभो ! ।
 अभूवं नन्दिनीगुल्मे, देवः प्राच्यतमे भवे ॥ २४ ॥
 कथं तद्विद्य ययं किं, यूयमप्यागतास्ततः ? ।
 गुरवोऽप्यन्यधुर्जद्र ! तद्विद्वां वयमागमात् ॥ २५ ॥
 तत्कथं वक्ष्यते स्यमिन्नुस्ते भव ! संयमात् ।
 सोऽवक् न संयमं कर्तुं, चिरं शक्तोऽस्मि किं पुनः ? ॥ २६ ॥
 तदर्थां व्रतमादाय, करिष्यामीह्निनीमृतिम् ।
 अपृच्छज्जननीं, नैच्छ-ह्योचं सोऽथाकृत स्वयम् ॥ २७ ॥
 विहङ्गं गुरुर्ददौ सोऽगात्, ततः कन्यारिकावने ।
 तस्यौ प्रतिमया तत्र, इमशानेऽनशनी मुनिः ॥ २८ ॥
 स्फुटत्पादास्त्रगन्धेना-कृष्टा तत्र शिवाऽभ्यगात् ।
 एकतः सा शिवाऽस्त्रादत्त, तदपत्यानि चान्यतः ॥ २९ ॥
 प्रथमे प्रहरे जानू, ऊरुस्तम्भौ द्वितीयके ।
 तृतीये जठरं तुल्यं, मृत्वा स्थानेऽजनीप्सिते ॥ ३० ॥
 गन्धाम्बपुष्पचर्पाणि, तस्योपरि सुरा व्यधुः ।
 आचार्योस्तज्जैनः पृष्टास्तमिष्टगतिं जगुः ॥ ३१ ॥
 सुनन्दा सस्तुया तत्र, धीह्य तं कृतकृत्करम् ।
 प्रववाज स्थितका तु, गुर्विणी तत्सुता तनः ॥ ३२ ॥
 अचीकरदेवकुलं इमशानेऽद्वुतमुद्धितम् ।
 तदिदानीं महाकाशं, जातं लोकपरिग्रहात् ॥ ३३ ॥
 आर्यमहागिरीणामनिश्चितं तपः । आ० क० ।

अणिस्सिय-अनिश्चित-त्रि० । निश्चयेनाऽऽधिक्येन च धितो-
 निश्चितः । न निश्चितोऽनिश्चितः । कच्चिच्छरीरादावप्रतिबद्धे, "ए-
 तथ वि समणा अणिस्सिए अणियाणे " सूत्र० १ श्रु० १६
 अ० । " अगिद्धे सहफासेसु, आरंजेसु अणिस्सिए " आर-
 म्नेपु सावद्यानुष्ठानरूपेण निश्चितोऽसम्बन्धोऽप्रवृत्त इत्यर्थः ।
 सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । कुलादिष्वप्रतिबद्धे, दश० १ अ०
 इह परलोकोकाऽऽसंसाविप्रमुक्ते, " जाव जीवाए अणिस्सिओ-
 हं नेव सयं पाणे अइवापज्जा " पा० । ध० । प्र० । छव्यभाव-
 निश्चया रहिते प्रतिबन्धविप्रमुक्ते, दश० १ अ० १ उ० । कीर्त्या-
 दिनिरपेक्षे वैवावृत्त्यादौ, प्रश्न० १ सम्प्र० द्वा० ।
 अलिङ्गे अवग्रहे, " अणिस्सियमोगिगहह " निश्चितो लिङ्ग-
 प्रमितोऽभिधीयते-यथा यूथिकाकुसुमानामत्यन्तशीतमृदु-
 स्तिग्धादिरूपः प्राक् स्पर्शोऽनुभूतस्तेनाऽनुमानेन लिङ्गेन तं
 विषयमपरिच्छिन्नत्वं यदा ज्ञानं प्रवर्तते तदाऽनिश्चितमलिङ्ग-
 मवगृह्णातोत्यभिधीयते । स्था० ६ ठा० । अनिश्चितं नाम पुस्त-
 कादिनिरपेक्षमेवावगृह्णाति च । अथवा-एकवारं श्रुतं पुन-
 र्यदा कश्चिदनूद्य वदति तदैव वक्तुं समर्थो नाऽन्यदा । एवं
 विधाने किन्तु स्मरणनिरपेक्ष एव भवतीति । दश० ४ अ० ।

निश्चरंहिते, कस्याऽपि साहाय्यमवाञ्छति, उक्त० १ए अ० ।
 अणिस्सियकर-अनिश्चितकर-त्रि० । रागद्वेषपरिहारतो य-
 थाऽवस्थितव्यवहारकारिणि, व्य० ३ उ० ।
 अणिस्सियप्प (ण)-अनिश्चितात्मन्-पुं० । अनिदाने, "अ-
 णिस्सियप्पा अपडियद्धा " आच० ६ अ० ।
 अणिस्सियवयण-अनिश्चितवचन-त्रि० । रागादिना वाक्य-
 कालुष्यवर्जिते, दशा० ४ अ० ।
 अणिस्सियवयणया-अनिश्चितवचनता-स्त्री० । निश्चितं क्रोधा-
 दीनाम्, अथवा रागद्वेषाणां निश्चामुपगतम् । न निश्चितमनि-
 श्रितम् । व्य० ३ उ० । मध्यस्य वचनतायाम्, स्था० ८ ठा० ।
 रागाद्यकलुषवचनतायाम्, उक्त० १ अ० ।
 अणिस्सियववहारि (ण)-अनिश्चितव्यवहारिन्-पुं० । नि-
 श्रया रागः, निश्चा संजाता अस्येति निश्चितः । न निश्चितोऽ-
 निश्चितः । स चाऽसौ व्यवहारश्चाऽनिश्चितव्यवहारः, तत्क-
 रणशीला अनिश्चितव्यवहारिणः । अरागेण व्यवहारका-
 रिणि, व्य० १ उ० ।
 अणिह-अनिह-पुं० । निहन्यत इति निहः । न निहोऽनिहः ।
 क्रोधादिभिरपीडिते, तपःसंयमसहने वा, निगूहितबलवीर्ये
 च । "अणिहे से पुठे अहियासए" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।
 परीसहोपसर्गे, निहन्यत इति निहः । न निहोऽनिहः । उपस-
 र्गपरराजिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । " अणिए सट्टिए
 सुसंबुद्धे, धम्मणी उवहाणवीरिए " सूत्र० १ श्रु० २ अ० २
 उ० । निहन्यन्ते प्राणिनः संसारे यया सा निहा माया । न
 विद्यते सा यस्याऽसावनिहः । मायाप्रपञ्चरहिते, सूत्र० १ श्रु०
 ८ अ० । दश० । " अस्सि सुविद्या अणिहे चरेज्जा " सूत्र० २
 श्रु० ६ अ० ।
 अनिहत्त-पुं० । निश्चयेन निहन्यत इति निहतः । न निहि-
 तोऽनिहतः । भावरिपुमिरिन्द्रियकपायकर्मभिरनिहते, " अ-
 णिहे एगमप्पाणं सपेहाए पुणे सिरिरं " आचा० १ श्रु० ४
 अ० ४ उ० । सर्वत्र ममत्वरहिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।
 अणिहण-अनिधन-त्रि० । अन्तरहिते, अष्ट० ७ अष्ट० ।
 अणिहृतय-अनिहृतक-त्रि० । निरुपक्रमायुक्तत्वात् उरो
 युद्धे च, भूम्यामपातित्वाद् घातमप्रापिते, स० ।
 अणिहयुरिउ-अनिहृतरिपु-पुं० । भदिलपुरवास्तव्यनागगृह-
 पतेः सुलसानामन्यां प्रार्यायां जातेऽन्यतमे पुत्रे, तत्कथाऽन्त-
 रुद्दशासु ३ वर्गे ४ अध्ययने सूचिता । तत्रैव प्रथमाध्ययनोक्ताऽ-
 णीयसकुमारस्येव भावनीया । यथा-द्वात्रिंशद् प्रार्याः द्वात्रिंश-
 त्क एव दानम्, विंशतिवर्षाणि पर्यायः, चतुर्दशपूर्वाणि श्रुतम्,
 शत्रुञ्जये सिद्धिः, तत्त्वतस्त्वयं वसुदेवदेवकोसुतः । अन्त०
 ३ वर्गे ४ अ० ।
 अणिहुत (य)-अनिनृत-त्रि० । अनुपशान्ते, प्रश्न० ३ आ-
 अ० द्वा० । औ० । त्रिदशिननि, वृ० ३ उ० । " अणिहुत्ता य
 संलावा " अतिवृत्ताश्च संलापा शुर्वादिनाऽपि निष्ठुरवक्रो-
 क्त्यादयः । पं० व० ४ द्वा० । प्रज्ञा० । वृ० ।
 अणिहुत (य) परिणाम-अनिनृतपरिणाम-त्रि० । अनि-
 भृतोऽनुपशमपरः परिणामो येषां ते, अनुपशमपरपरिणामेषु,
 प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणिहुतिदिय-अनिनृतेन्द्रिय-त्रि० । अनुपशान्तेन्द्रियेषु दे-
हेषु, व० स० । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अणीइपत्त-अनीतिपत्र-त्रि० । न विद्यते ईतिगङ्गुरिकादिरूपा
येषु तान्यनीतीनि । अनीतीनि पत्राणि येषां ते तथा । ईतिवि-
रहितच्छेदेषु, ज० १ वक्र० ।

अणीय-अनीक-न० । हस्त्यश्वरथपदातिधूपभनसंकागायकजन-
रूपे सैन्ये, औ० । न० ।

अणीयस-अणीयस-पुं० । भद्रिपुरवास्तव्यनागगृहपतेः सु-
दसानाम्यां भार्यायां जातेऽन्यतमे पुत्रे, अन्त० ।

एवं खलु जं० ! तेषां कालेण तेषां समणं भद्रिपुरे
णामं एगरे होत्या । वृषओ । तस्स एं भद्रिपुरस्स उत्तर-
पुरच्छिमेण दिसिभाए सिरिवणे एगमज्जाणे होत्या । व-
षओ । जियसत्तू राया, तस्य एं भद्रिपुरे एयरं नागे नामं
गाहावती होत्या । अहे जाव अपरिचूए तस्स एं णागस्स
गाहावतस्स सुलसा एगमं भारियां होत्या । सुकुमाला
जाव सुरूवा, तस्स एं णागस्स गाहावतस्स सुलसाए
जारियाए अत्तए अणीयसे नामं कुमारे होत्या । सुकुमाद्वे
जाव सुरूवे पंचधातिपरिक्खितं । तं जहा-खीरधाती जहा
दहपइसे जाव० [गिरिकंदरमल्ली] एव चंपगवरपायवे सुहं सु-
हेणं परवृत्ते । तते एं से अणीयसं कुमारं सातिरेगा अ-
द्ववासजायं अम्मा पियरो कल्लायरियाओ जाव भोगस-
मत्ये जाते यावि होत्या । तते एं ते अणीयसं कुमारं उ-
म्मुक्कवालजावं जाणित्ता अम्मापियरो सरिसयाणं जाव
वत्तीसा य रायवरकल्लगां एगदिवसेणं पाणी गिरहाविति ।
तते एं से नागे गाहावती अणीयस्स कुमारस्स इमे एया-
रूवे पीइदाणं दलयति । तं जहा-वत्तीसं हिरक्कांतीतां
जहा महव्वलस्स जाव उप्पि पासा फुलं विहरति । तेषां
कात्तेण तेषां समणं अरहा अरिट्टेनमी जाव समोमदे सि-
रीवणे उज्जाणे अरहा जाव विहरति, परिसा [एगगया] ।
तते एं तस्स अणीयस्स कुमारस्स । तं जहा-गोयमा ।
तहा एवरं सामाइयमाइयाति चोइसपुव्वाइं अहिमज्जति ।
वीसं वासानि परियाओ सेसं तहेव । जाव सत्तुजए एव्वए
मासियाते संवेहणाते जाव सिद्धि एवं खलु जम्बु समणं
भगवया महावीरेण जाव संपत्तेण ।

यथा (दहपइसि) दहप्रतिज्ञो राजप्रभकृते यथा वर्णित-
स्तथाऽयं वर्णनीयो यावत् 'गिरिकंदरमल्ली'णो च चंपगवरपाय-
वे सुहं सुहेणं परिवट्टइ, तएण तमणीयसं कुमारं' इत्यादि सर्व-
मन्युह्य वक्तव्यम् ; अभिज्ञानमात्ररूपत्वात् । पुस्तकस्य सारि-
सियाणमित्यादौ यावत्करणत् 'सरिसयाणं सरिसलावस-
रूजोव्वणमुणाववेयाणं सरिसेहिता कुडेहिता अणिपल्लियाण-
मिति दश्यम् । 'जहा-महव्वलस्स' ति 'भगवत्यभिहितस्य तथा
तस्यापि दानं सर्वं वाच्यम् । 'उप्पि पासावरगण फुट्टमाणोहिं
मुदंगमच्छर्पिं भोगभोगां जुंजमाणे विहरइ' ति । 'सत्तुंजयप-

व्वए मासियाए संवेहणाए सिद्धे एवं खल्विति सुगमम् । अ-
न्त० ३ वर्ग० ४ अ० ।

अणीसर-अनिसृष्ट-त्रि० । हस्तप्रमाणादवग्रहादस्फोटिते, वृ०
३ उ० ।

अणीसाकड-अनिश्राकुत-न० । सर्वगच्छसाधारणे चेत्ये, ध०
२ अधि० ।

अणीहड-अनिर्हृत-त्रि० । अनिष्कासिते, वृ० १ उ० । अवहि-
निर्गते, अनात्मीकृते च । आचा० १ ध्रु० १ अ० १ उ० ।

अणीहारिम-अनिर्हारिम-न० । गिरिकन्दरादौ विधीयमाने पा-
दोपगमनमरणे, कलेवरस्यानिर्हरणीयत्वात् तत्त्वम् । ज० १३
श० ८ उ० । स्था० ।

अणु-अणु-त्रि० । प्रमाणतः स्तोके, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ।
पं० व० आ० म० द्वि० । सूत्र० । सूत्रे लघौ, विशेषेण आनु० स्था० ।
लघीयसि, आचा० १ ध्रु० १ अ० १ उ० । परमाणौ, आच० ४ अ० ।
अणुः परमाणुनिर्देशो निरवयवो निष्प्रदेशोऽप्रदेश इति । विशेषेण
अनु-अव्य० । पञ्चाच्छब्दार्थे, आचा० १ ध्रु० ५ अ० ५ उ० । पञ्चा-
ज्जाते, त्रि० स्था० १ उ० । अनुरूपे, उत्त० १२ अ० समीपे, वृ०
३ उ० । अवधारणे, वृ० १ उ० ।

अणुअ-अणुक-त्रि० । तनुके, "अणुअसुकुमादलोमणिद्वर्त्तव"
अणुकानां तनुकानामतिसूक्ष्माणां सुकुमालानां लोम्नां स्निग्धा
विर्यत्र तत्तथा । ज० ३ वक्र० । भिणचवाख्ये धान्यभेदे, इति है-
मघाश्रयवृत्तिः । युगन्धर्याम्, स्त्री० । ध० २ अधि० । वृ० ।

अणुअतंत-अनुवर्त्तमान-त्रि० । उत्तरदेशकाहमागते, नि०
चू० ५ उ० ।

अणुअल्लं-देशी-क्षणरहिते, निरवसरे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अणुआ-देशी-यष्टौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुइओ-देशी-चणके, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुइस-अनुचीर्ण-त्रि० । आगते, "कायसंफासमणुचिष्णए"
कायः शरीरं तत्संस्पर्शमनुचीर्णः कायसंगमागताः । आचा० २
ध्रु० ३ चू० ।

अणुउद-अनृत-पुं० । अस्वकाले, "विसमं पवाहिणो परिण-
मंति अणुदुसुदैति पुष्पफलं" स्था० ५ उ० ३ उ० ।

अणुओइय-अनुयोजित-त्रि० । प्रवर्तिते, न० ।

अणुओग-अणु(नु)योग-पुं० । अणु सूत्रं महानर्थस्ततो महतोऽ-
र्थस्याणुना सूत्रेण योगोऽणुयोगः । अनुयोजनमनुयोगः । अनु-
रूपो योगोऽनुयोगः । अनुकूलो वा योगोऽनुयोगः । औ० ।
व्याख्याने विधिप्रतिषेधाच्यामर्थप्ररूपणे, विशेषेण ज्ञा० । निजेना-
भिधेयेन सार्धमनुरूपे सम्बन्धे, स० । जी० । स्था० ।

अनु० । आ० म० प्र० । आच० ।

(१) अनुयोगाधिकारे द्वारनामनिर्दर्शनम् ।

(२) निकेपद्वारम् ।

(३) सप्तविधानुयोगे नामस्थापनानुयोगौ ।

(४) द्रव्यानुयोगः ।

(५) द्रव्यानुयोगभेदस्वरूपनिरूपणम् ।

(६) क्षेत्रानुयोगनिरूपणम् ।

(७) कालानुयोगप्ररूपणम् ।

(८) वचनाऽनुयोगकथनम् ।

(९) भावानुयोगस्य पक्षां प्रकाराणां प्रदर्शनम् ।

- (१०) एषां चानुयोगविषयाणां द्रव्यादीनां परस्परं यस्य यत्र समावेशो भजना वा तन्निरूपणम् ।
 (११) एकार्थिकानां वक्तव्यता ।
 (१२) अनुयोगशब्दार्थनिर्वचनम् ।
 (१३) अनुयोगविधिः ।
 (१४) प्रवृत्तिद्वारम् ।
 (१५) गुरुशिष्ययोश्चतुर्भङ्गीनिरूपणम् ।
 (१६) केनानुयोगः कर्तव्यः ।
 (१७) कस्य शास्त्रस्यानुयोगः कर्तव्यः ।
 (१८) पञ्चज्ञानेषु श्रुतज्ञानस्यानुयोगः ।
 (१९) तद्द्वारे ऽनुयोगलक्षणम् ।
 (२०) यथोक्तगुणयुक्तस्य कोऽहं इत्यनेन संबन्धेन तद्द्वारम् ।
 (२१) कथाधिकारः ।
 (२२) चरणकरणाद्यनुयोगचातुर्विध्यनिरूपणम् ।
 (२३) अनुयोगानां पृथक्त्वमार्यरक्षितात् ।

(१) अथाऽनुयोगाधिकारः, स चैतैर्द्वैरनुगन्तव्यः—

निकलेवेगच्छिरुत्त-विहि पविच्छीय केण वा कस्स ? ।

तद्द्वारेणैव लक्षण-तद्द्वारिह परिसा य सुत्तत्थो ॥

अनुयोगस्य निकेपो नामादिन्यासो वक्तव्यः, तदनन्तरं तस्यैकार्थिकानि, तदनु निरुक्तं वक्तव्यम् । ततः को विधिरनुयोगे कर्तव्य इति विधिवक्तव्यः । तथा प्रवृत्तिः प्रसवोऽनुयोगस्य वक्तव्यः । तदनन्तरं केनानुयोगः कर्तव्य इति वक्तव्यम् । ततः परं कस्य शास्त्रस्य कर्तव्य इति । तदनन्तरं तस्यानुयोगस्य द्वाराण्युक्रमादीनि वक्तव्यानि । तत्र तेषामेव भेदः, ततः परं सूत्रस्य लक्षणम्, तदनन्तरं सूत्रस्याहो योग्याः, ततः परं परिपत्त, ततः सूत्रार्थः । एष द्वाराणाथासंक्षेपार्थः । ध्यासाधेस्तु प्रति द्वारं वक्ष्यते । वृ० १ उ० । स्था० । अनु० । आ० म० प्र० । आ० चू० ।

(२) तत्र प्रथमतो निकेपद्वारमाह—

निकलेवो नासो चि य, एगडं सो उ कस्स निकलेवो ? ।

अणुश्रोगस्स जगवओ, तस्स इमे वन्निया जेया ॥

निकेपो न्यास इत्येकार्थः । पर आह -स निकेपः कस्य कर्तव्यः ? । सुरिराह-अनुयोगस्य भगवतः, तस्य च निकेपस्य इमे वक्ष्यमाणा वर्णिता भेदाः । वृ० १ उ० ।

अथानुयोगस्यैव संभवन्तं नामादिनिकेपमाह—

नामं ठवणा दविण, खेत्ते कात्ते य वयणजावे य ।

एसो अणुश्रोगस्स ष, निकलेवो होइ सचविहो ॥३८॥

नामानुयोगः, स्थापनानुयोगः, द्रव्यानुयोगः, क्षेत्रानुयोगः, कालानुयोगः, वचनानुयोगः, भावानुयोगः । एषोऽनुयोगस्य सप्तविधो निकेपः । इति निरुक्तिगाथार्थः ।

(३) विस्तरार्थं त्वभिधित्सुर्जाप्यकारो नामस्थापनानुयोग-स्वरूपं तावदाह—

नामस्स जोऽणुश्रोगो, अहवा जस्साभिहाणमणुश्रोगो ।

नामेण व जो जोओ, जोगो नामाणुओगो सो ॥

ठवणाण जोऽणुश्रोगो-ऽणुश्रोग इति वा ठवज्जणं जं च ।

जावेह जस्स ठवणा, जोग ठवणाणुओगो सो ॥

नाम्न इच्छादेर्योऽनुयोगो व्याख्यानमसौ नामानुयोगः । अथवा यस्य वस्तुनोऽनुयोग इति नाम क्रियते तन्नाममात्रेणानुयोगो नामानुयोग इत्युच्यते । यदि वा नाम्ना सह यः कश्चिद्योगोऽनुरू-

पो योगः संबन्धः स नामानुयोगः, नाम्ना सहानुरूपोऽनुरूपो योगो नामानुयोग इति व्युत्पत्तेः । यथा-दीपस्य दीपनाम्ना सह, नपनस्य तपननाम्ना सह, ज्वलनस्य ज्वलननाम्ना सह इत्यादि । एवं स्थापनाया अनुयोगो व्याख्यानं स्थापनानुयोगः । अथवा अनुयोगं कुर्वन्नाचार्यादिर्यत्र काष्टादौ स्थाप्यते तत्स्थानानुयोगः । यावदिहानुयोगकर्तुराचार्यादेस्तदाकारवति लेप्यकर्मादौ योग्याऽनुरूपा स्थापनाक्रियते, स स्थापनानुयोगः । स्थापनाया अनुरूपोऽनुरूपो योगः संबन्धः स्थापनानुयोग इति व्युत्पत्तेः । इति निकेपद्वारम् । विशेष० ।

(४) अथ द्रव्यानुयोगमाह—

सामित्त करण अहिगरण, एहिं एगत्ते य बहुत्ते य ।

नामं ठवणा मोत्तुं, इति दव्वादीण ठवमेया ॥

स्वामित्वं संबन्धः, करणं साधकतमम्, अधिकृतम्, अधिकरणमाधारः, एतैः प्रत्येकमेकत्वेन बहुत्वेन च पञ्चानां द्रव्यादीनामनुयोगो वक्तव्य इति । एवं नामस्थापनां मुक्त्वा द्रव्यादीनामनुयोगस्य प्रत्येकं परममेदा भवन्ति । वृ० १ उ० ।

तथाहि—

दव्वस्स जोऽणुओगो, दव्वे दव्वेण दव्वहेउस्स ।

दव्वस्स पज्जवेण व, जोगो दव्वेण वा जोगो ॥

वहुवयणओ वि एवं, नेओ जो वा कहेव अणुवउत्तो ।

दव्वाणुओग एसो, एवं खेत्ताइयाणं पि ॥

द्रव्यस्य योगो व्याख्यानमेव द्रव्यानुयोग इति द्वितीयगाथायां संबन्धः । तथा द्रव्ये निषादावाधिकरणभूते स्थितस्यानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्येण वा क्षीरपापाणशकलादिना करणभूतेनानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्यहेतोर्वा शिष्य-द्रव्यप्रतिबोधनादिनिमित्तमनुयोगो द्रव्यानुयोगः । अथवा द्रव्यस्य वस्त्रादेः कुसुम्भरागादिना पर्यायेण सह य इह योगोऽनुरूपो योगः संबन्धः, स द्रव्यानुयोगः । अथवा द्रव्येणास्तीकादिना कृत्वा यस्यैव वस्त्रादेस्तेनैव कुसुम्भरागादिना पर्यायेण सह योगोऽनुरूपो योगः संबन्धः स द्रव्यानुयोगः । एवं बहुवचनतोऽपि द्वयो द्रव्यानुयोगः । तद्यथा-द्रव्याणां द्रव्येषु द्रव्यैर्वाऽनुयोगो द्रव्यानुयोगः, तथा द्रव्याणां हेतोरनुयोगो द्रव्यानुयोगः, द्रव्याणां पर्यायैः सह द्रव्यैर्वा करणभूतैरनुरूपो योगो द्रव्यानुयोग इति ॥ यो वाऽनुपयुक्तः कथयत्यनुपयुक्तोऽनुयोगं करोति, स द्रव्यानुयोगः । एवं क्षेत्रादीनामपि क्षेत्रकालवचनभावेष्वापि यथासंभवमित्थमेवायोज्य इत्यर्थः । तद्यथा-क्षेत्रस्य क्षेत्रेण क्षेत्रे क्षेत्राणां क्षेत्रैः क्षेत्रेष्वनुयोगः क्षेत्रानुयोगः, तथा क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वा हेतोरनुयोगः क्षेत्रानुस्थापनाय देवेन्द्रचक्रवर्त्यादीनामनुयोगो व्याख्यानं यत्क्रियत इत्यर्थः । तथा क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वा क्षेत्रेण क्षेत्रैर्वा करणभूतैः पर्यायेण पर्यायैर्वा सहानुरूपोऽनुरूपो योगः क्षेत्रानुयोगः । एवं कालवचनभावविषयेऽप्येकवचनवहुवचनाभ्यां सुधिया यथासंभवं वाच्यम्, नवरं, कालादिष्वभिहापः कार्य इति द्रव्यानुयोगो व्याख्यानं द्रव्यानुयोग इत्यादावभिहितम् । विशेष० ।

(५) तत्र कतिभेदं तद्द्रव्यं किंस्वरूपं तस्यानुयोग इत्याशङ्क्याह—

दव्वस्स उ अणुओगो, जीवदव्वस्स वा अजीवदव्वस्स ।

एकेकम्मि य मेया, हवन्ति दव्वाइया चउरो ॥

द्रव्यस्यानुयोगो द्विधा-जीवद्रव्यस्य वा अजीवद्रव्यस्य वा, एकैकस्मिन् योगे द्रव्यादिकाश्चत्वारो भेदा भवन्ति । किमुक्तं भवति ?-जीवद्रव्यानुयोगोऽजीवद्रव्यानुयोगो वा प्रत्येकं द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च भवति ।

तत्र जीवद्रव्यानुयोगं द्रव्यादित आह-
द्वेष्टेणैकं खेत्ते, संखातीतपदेसभोगाढं ।

कावे अनादिऽनिहणं, जावे नाणाइया ऽणंता ॥

अव्यतो जीवद्रव्यमेकं, क्षेत्रतोऽसंख्येयप्रदेशावगाढं, कालतोऽनाद्यनिधनं, भावतो ज्ञानादिकाः पर्याया अनन्ताः । तथा अनन्ता ज्ञानपर्याया अनन्ताश्चारित्रपर्याया अनन्ता दर्शनपर्याया अनन्ता अगुरुलघुपर्यायाः ।

अधुना द्रव्यादिभिरजीवद्रव्यस्यानुयोगमाह-

एमेव अजीवस्स वि, परमाणू द्व्वमेगद्व्वं तु ।

खेत्ते एगपएसे, ओगाढो सो जवे नियमा ॥

समयाइ इति असंखा, ओसपिणिओ हवंति कालम्मि ।

वस्सादि जावऽणंता, एवं दुपदेसमादी वि ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण, अजीवद्रव्यस्याप्यनुयोगो वक्तव्यः, तद्यथा-परमाणुर्द्रव्यत एकं अव्यम्, क्षेत्रतः एकप्रदेशावगाढम् कालतो जघन्यतः स्थितिः समयादिरेको द्वौ त्रयो वा । समवानुकर्षतोऽसंख्यावगाढम् । असंख्येया उत्सर्पिण्योऽवसर्पिण्यश्च भवन्ति । जावतो अनन्ता वर्णादिपर्यायाः । तद्यथा-अनन्ता वर्णपर्यवाः, अनन्ता गन्धपर्यवाः, यावदनन्ताः स्पर्शपर्यवा इति । एवं छिप्रदेशादेरपि । द्विप्रदेशकस्य यावदनन्तप्रदेशिकस्योपयुज्य वक्तव्यम् । तद्यथा-द्विप्रदेशकः स्कन्धो अत्यतः एकं अव्यं, क्षेत्रतः एकप्रदेशावगाढः, द्विप्रदेशावगाढो वा । कालतो जघन्यतः स्थितिः, समयादिरुत्कर्षत असंख्या उत्सर्पिण्योऽवसर्पिण्य एव इत्यादि ।

अथ अव्याणामनुयोग इत्येतद् व्याचिख्यासुराह-

दव्वाणं अणुओगो, जीवमजीवाण पज्जवा नेया ।

तत्थ वि य मग्गणाओ, ऽणंगा सङ्गाणपरणणे ।

द्रव्याणामनुयोगो द्विधा-जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां च । किं रूपोऽसावित्याह ?-पर्यायाः प्ररूप्यमाणा ज्ञेयाः । तथाहि-कतिविधा भदन्त ! पर्यायाः प्रज्ञप्ताः ? । गौतम ! त्रिविधाः । तद्यथा-जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां च । तत्राप्यनेकाः स्वस्थाने च परस्थाने च मार्गणाः । ताश्चैवम-नैरयिकाणामसुरकुमाराणां च कति पर्यायाः प्रज्ञप्ताः ? । गौतम ! अनन्ताः । अथ केनार्थेनेदमुच्यते ? गौतम ! नैरयिकोऽसुरकुमारस्य द्रव्यार्थतया तुल्यः, प्रत्येकमेकद्रव्यत्वात्, प्रदेशार्थतयाऽपि तुल्यः, प्रत्येकं लोकाकाशप्रदेशत्वात् । स्थित्या चतुःस्थानपतितः, भावतः पदस्थानपतितः, ततो भवन्ति नैरयिकाणामसुरकुमाराणां प्रत्येकं पर्याया अनन्ताः । एवमजीवद्रव्याणां पर्याया अपि, एवं स्वस्थाने परस्थाने च मार्गणाः । ('परमाणुयोगज्ञाणं ज्ञेते !' इत्यादि 'पज्जव' शब्देऽभिधास्यते) ततो भवन्ति द्रव्यानामपि प्रत्येकमनन्ताः पर्यायाः । एवमेकैव जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां चानुयोगः, सूत्रे तत्र तत्र प्रदेशेऽभिहितो जावनीयस्तदेवं द्रव्याणां चेति स्वामित्वं गतम् ।

इदानीं करणे एकत्ववहुत्वाच्यामनुयोगमाह-

वत्तीए अक्खेण व, करंगुलादोण वा वि दव्वेण ।

अक्खेहिं तु दव्वेहिं, आदिगरणे बहुसु कपेसु ॥

वर्तिर्नाम खटिका, तत्र या कृता शलाका तथा, अक्षेण वा, कुराहुल्या वा, आदिशब्दान्प्रत्येकदिना वा यः क्रियतेऽनुयोगः स अव्येणानुयोगः । द्रव्यैरनुयोगो यद् बहुजिरक्षैः क्रियतेऽनुयोगः । अधिकरणे एकस्मिन् द्रव्येऽनुयोगो यदा एकस्मिन् कल्पे स्थितोऽनुयोगं करोति, यदा तु बहुषु कल्पेषु स्थितस्तदा अव्येषु अनुयोगः । उक्तो अव्येणानुयोगः परमज्ज्ञेदः । वृ० १ उ० । विज्ञे० । स्था० । ('दशविहे दवियाणुभागे' इति 'दव्वानुओग' शब्दे व्याख्यासहितं सूत्रम्)

(६) सम्प्रति क्षेत्रस्य क्षेत्राणां चानुयोगमाह-

पणणति-जंबूदीवे, खेत्तस्सेमाइ होइ अणुओगो ।

खेत्ताणं अणुओगो, दीवसमुदाण पण्णती ॥

क्षेत्रस्यानुयोगः क्षेत्रानुयोग एवमादिको भवति । क इत्याह ?- [पणणतिजम्बूदीवे स्ति] जम्बूदीपप्रज्ञप्तिरित्यर्थः । जम्बूदीपलक्षणकक्षेत्रव्याख्यानरूपत्वात्तस्याः । बहूनां तु क्षेत्राणामनुयोगो द्वीपसागरप्रज्ञप्तिर्भवति । बहूनां द्वीपसमुच्चक्षेत्राणां तत्र व्याख्यानादिति । तदेवं क्षेत्रस्य क्षेत्राणामनुयोग इत्युक्तम् ।

अथ क्षेत्रेण क्षेत्रैरनुयोग इत्येतदाह-

जंबूदीवपमाणं, पुढविजिवाणं तु पत्थयं काउं ।

एवमसंखिज्जमाणा, हवंति लोगा असंखेज्जा ॥

खेत्तेहिं बहुदीवि, पुढविजिवाणं तु पत्थयं काउं ।

एवमसंखिज्जमाणा, हवंति लोगा असंखेज्जा ॥

इह जम्बूदीपप्रमाणं प्रस्थकं पत्थं कृत्वा पुनस्तद्भरणविरेचनक्रमेण यदा सर्वेऽपि मृदमयादृपृथ्वीकायिका जीवा मीयन्ते तदा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशसंख्यापेता जम्बूदीपप्रमाणाः प्रस्था भवन्तीत्येव क्षेत्रेण जम्बूदीपरूपेणानुयोगोऽभिधीयत इति । क्षेत्रैस्त्वनुयोगोऽयं द्रष्टव्यः । तद्यथा-बहुद्वीपप्रस्थकं कृत्वाऽप्रीक्षणं तद्भरणविरेचनक्रमेण समस्तपृथ्वीकायिकजीवा मीयमाना असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिपरिमाणा बहुद्वीपमानप्रस्था जज्ञन्ति । एतदसंख्येयकं पूर्वस्माल्लघुतरं द्रष्टव्यम् । प्रस्थस्येह वृहत्तरत्वादेव बहुद्वीपलक्षणैः क्षेत्रैरनुयोग इति ।

अथ क्षेत्रे क्षेत्रेषु चानुयोगमाह-

खेत्तम्मि उ अणुओगो, तिरियं लोगाम्मि जम्मि वा खेत्ते ।

अट्टाइयदीवेसुं, अण्णवीसाइ खेत्तेसुं ॥

क्षेत्रे पुनरयमनुयोगः, तथा तिर्यग्शोकक्षेत्रे योऽनुयोगः प्रवर्तते यत्र वा ग्रामनगरादौ व्याख्यानसमादौ वा क्षेत्रे स्थितोऽनुयोग-कर्त्ताऽनुयोगं करोत्येव क्षेत्रेऽनुयोगः क्षेत्राऽनुयोग उच्यते । क्षेत्रेष्वनुयोगः क इत्याह-योऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्तिक्षेत्रेषु वर्तते, सार्द्धपरुर्विशतिजनपदरूपेषु वा आर्यक्षेत्रेष्विति । उक्तः पक्षिधः क्षेत्रानुयोगः ।

(७) अधुना कालस्य कालानां चानुयोगमाह-

कालस्स समयरूवण , कालाण तदाइ जाव सव्वप्पा ।

कालेणऽनिलऽवहारो, कालेहिं उ सेसकायाणं ॥

कालस्यानुयोगः, क इत्याह ?-(समयरूवण स्ति) उत्पलपत्रशतज्ज्ञेदपट्टशटिकापाटनादिदृष्टान्तैः समयस्य प्ररूपणेत्यर्थः । कालानां त्वनुयोगः-(तदाइ जाव सव्वप्प स्ति) समयमादौ कृत्वा यावत् सर्वास्मायाः प्ररूपणेत्यर्थः । कालेणानुयोगोऽनिलापहारः । इदमुक्तं भवति-यादरपर्याप्तवायुकायिका वैक्रियशरीरेवर्त्तमान-

ना अर्थपदयोपमस्यासंख्येयभागेनापह्न्यन्त इत्येवं प्ररूपणा, स कालेनानुयोग इति कोट्यन्वार्थटीकायां विवृतम् । अन्यत्र त्व-
नुयोगद्वारादिषु वैकियशरीरिणो वायवः क्षेत्रपदयोपमासंख्येय-
भागप्रदेशपरिमाणा दृश्यन्ते । तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति । शेषा-
णां तु पृथिव्यादिकायानां यथासंज्ञं कालैरनुयोगः । तद्यथा—

" पञ्चत्वायारानल-असंख्या हांति आवलियवगा स्ति " ।

आवलिकायां यावन्तः समयास्तेषां वर्गः क्रियते-तथाविधेषु
चासंख्यातेषु वर्गेषु यावन्तः समयास्तत्प्रमाणाः यादृपर्याप्ततेज-
स्कायिका भवन्ति, तथा प्रत्युत्पन्नसत्कायिका असंख्येयाभिरु-
त्पत्तिरित्यवसर्पिणीभिरपह्न्यन्ते । एवं पृथिव्यादिष्वपि यथासं-
भवं वाच्यमिति ।

अथ काले कालेषु चानुयोगमाह—

कालस्मि वीयपोरिसि, समासु तिस्रु दोसु वा वि कालेषु ।
प्रथमपौरुष्यां किल सूत्रमध्यतन्मयम्, द्वितीयपौरुष्यां तु तस्यानु-
योगः प्रवर्तते, अत इह कालस्य प्राधान्येन विवक्षणात्काले
द्वितीयपौरुष्यीलक्षणेऽनुयोगः कालानुयोग इत्युच्यते । तथाऽ-
वतर्पिण्यां सुपमङ्गः पमाङ्गः पमसुपमाङ्गः पमारूपासु तिस्रुषु
(समासु त्ति) त्रिप्रवरकेषु अनुयोगः प्रवर्तते नान्यत्र । उत्सर्पिण्यां
तु दुःपमसुपमासुपमङ्गः पमारूपयोर्द्वयोः समययोर्द्वयोरकयोर-
नुयोगः प्रवर्तते नान्यत्र । अथ च कालेष्वनुयोगः कालानुयोगो-
ऽभिधीयते । तदेवं जणितः पद्धिधः काज्ञानुयोगः ।

(८) संप्रति वचनस्य वचनानां चाऽनुयोगमाह—

वयणस्तेगवयाई, वयणाणं सोझसएहं तु ।

(वयणस्तेत्यादि) इत्थंचूतमेकवचनं भवत्येवंचूतं वा द्विव-
चनमोदशं वा बहुवचनमेवंस्वरूप एकवचनाद्यन्यतरवचनस्य
योऽनुयोगः, स च वचनस्यानुयोग उच्यते । वचनानां त्वनुयोगः
पौरुशवचनानुयोगः [पौरुशवचनानि 'वयण' शब्दे वक्ष्यन्ते]
वचनानामनुयोगः-प्रथमैकवचनादीनामेकविंशतिवचनानां व्या-
ख्येति वचनानामित्युक्तम् ।

अथ वचनेन वचनैर्वचनेऽनुयोग इत्येतद्वाह—

वयणेणायरियाई, एकेणुत्तो बहुहिं वयणेहिं ।

वयणे खओवसमिए, वयणे पुण नत्थि अणुश्रोगो ॥

वचनेनानुयोगो यथा-कश्चिदान्वार्थादिः साध्यादिना सहदेके-
नापि वचनेनान्यर्थितोऽनुयोगं करोति । वचनैस्त्वनुयोगो-यदा स
एवासङ्गं बहुभिर्वचनैरभ्यर्थितस्त्वं करोति । कायोपशमिके व-
चने स्थितस्यानुयोगो वचनानुयोगः । वचनेषु पुनर्नास्त्यनुयोगः,
वचनस्य कायोपशमिकत्वेनैकत्वासंज्ञवात् । अन्ये तु मन्यन्ते-व्य-
क्तिविवक्षया तेष्वेव कायोपशमिकेषु बहुषु वचनेष्वनुयोग इत्य-
प्यविरुद्धमेवेति । तदेवं पञ्चविधः पद्धिधो वा निर्दिष्टा वचनानु-
योगः । वृ० । १०

शुक्लवागनुयोगः—

दसविहे सुप्तावायाणुजांगे पण्णत्ते । तं जहा-चंकारे मं-
कारे पिकारे संयंकारे सायंकारे एगत्ते बहुत्ते संज्हे सं-
कामिए भिन्ने ॥

शुक्ल अनपेक्षितवाक्यार्था, या वाक् वचनं, सूत्रमित्यर्थः, तस्या अ-
नुयोगो विचारः शुक्लवागनुयोगः । सूत्रे चाऽपुण्यद्वावः प्राकृतत्वा-
त्, तत्र चकारादिकायाः शुक्लवाचो योऽनुयोगः स चकारादिरेव
व्यपदेश्यः । (तत्र चकारादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने वक्ष्यते) (भि-
न्नमिति) कमकाक्षमेदादिनिर्मिञ्जं विसदृशम् । तदनुयोगो यथा-

'तिविहं तिदिहेणमिति' संप्रहमुक्त्वा पुनर्मणेणमित्यादिना तिदि-
हेण चि विवृतमिति क्रमजिन्नम्, क्रमेण हि तिदिहमित्येतन्न करो-
मीत्यादिनाविवृत्य तत्स्त्रिविधेनेति विवरणीयं भवतीति । अस्य
च क्रममिन्नस्यानुयोगोऽयम्, यथा-क्रमाविवरणे हि यथासंख्यं
दोषः स्यादिति तत्परिहारार्थं क्रमो भेदः । तथाहि-न करोमि मन-
सा न कारयामि वाचा कुर्वन्तं नानुजानामि, कायेनेति प्रसज्यते,
अनिष्टं चैतत्, प्रत्येकपक्षस्यैवेष्टत्वात् । तथाहि-मनःप्रभृतिर्मन क-
रोमि, तैरेव न कारयामि, तैरेव नानुजानामीति । तथा कालतो
भेदोऽतित्तादिनिर्देशे प्राप्ते वर्तमानादिनिर्देशः । यथा-जम्बूद्वी-
पप्ररूपस्यादिषु श्रुपमस्वाभिनमाश्रित्य 'सक्रे दीर्घदे देवराया
वंदइ नमंसइत्ति' सूत्रे । तदनुयोगश्चायं वर्तमाननिर्देशः, त्रि-
कालजाविष्वपि तीर्थकरेष्वेतन्न्यायप्रदर्शनार्थं इति । इदं च
दोषादिसूत्रत्रयमन्यथापि विमर्शनीयं, गम्भीरत्वादस्येति वाग-
नुयोगतत्त्वार्थानुयोगः प्रवर्तत इति । स्था० १० वा० ।

[९] सम्प्रति भावानुयोगं पदप्रकारमाह—

जावेण संगहाई-ए ऽनयरेंणं दुगाइजावेहिं ।

जावे खओवसमिए, जावेसु उ नत्थि अणुश्रोगो ॥

अहवा आयाराइसु, भावेसु वि एस होइ अणुश्रोगो ।

सामितं आसज्ज व, परिणामेसुं बहुविहेसुं वा ॥

संग्रहदीनां पञ्चानामध्यवसायानामन्यतरं विज्ञाप्यवसा-
येन योऽनुयोगः क्रियते स भावेनानुयोगः । ते चामी पञ्चाजि-
ग्रायाः । यदाह स्थानाङ्गे—

"पंचाहिं ठाण्णिहिं सुयं वाएज्जा । तं जहा-संगहट्टयाए उवग-
हट्टयाए निज्जरट्टयाए सुयपज्जवजाएणं अवोकिञ्चितीए" ॥

अयमर्थः-कथं नु नामैते शिष्याः सुत्रार्थसंग्रहकाः संपत्त्य-
न्ते?, तथा कथं नु नाम गीतार्थानूत्वाऽमी वस्त्राद्युत्पादनेन ग-
च्छस्योपग्रहकरा जाविष्यन्ति?, ममाप्येतो वाच्यतः कमेनिज्जरा
भविष्यति?, तथा भुतपर्यवजातं भुतपर्यायराशिर्ममाऽपि वृद्धिं या-
स्यति?, भुतस्य वाऽस्यवच्छिन्नसिद्धिर्विष्यतीत्येवं पञ्चभिरभिप्रायैः
भुतं सुत्रार्थतो वाच्येदिति । एषामेव संग्रहादिभावानां मध्याद्
द्विज्यादिभिर्भावैः सर्वैर्वाऽनुयोगं कुर्वतो भावैरनुयोगः । कायो-
पशमिके भावे स्थितस्य व्याख्यां कुर्वतो भावानुयोगः । जावेसु
पुनर्नास्त्यनुयोगः, काये, पशमिकत्वेन तस्यैकत्वात् । अथवा ए-
कोऽपि कायोपशमिको जाव आचारादिशास्त्रलक्षणविषयभेदा-
द्विद्यते, ततश्च आचारादिशास्त्रविषयभेदभिन्नेषु कायोपशमि-
कभावेषु अप्येषु जवत्वानुयोगो न कश्चिद्विरोधः । वा इत्यथवा
स्वामित्वमासाद्यानुयोगकर्तुः स्वामिनो बहून् प्रतः।त्य कायोपश-
मिकपरिणामेषु बहुष्वनुयोगप्रवृत्तेर्जावेष्वनुयोगो न विहन्यते ।
इत्युक्तः पद्धिधो भावानुयोग इति ।

[१०] एषां चाऽनुयोगविषयाणां छव्यादीनां परस्परं यस्य

यत्र समावेशो भजना वा तदेवाह—

दब्बे नियमा भावां, न विणा ते यावि खेत्तकाझेहिं ।

खेत्ते तिण्ण वि भयणा, काझो जयणाइ तीसुं पि ॥

द्रव्ये तावन्नियमाद् भावः पर्यायोऽस्ति, पर्यायविरहितस्य द्रव्य-
स्य कापि कदाचिदप्यभावात् । तौ चापि द्रव्यजावौ क्षेत्रकालाभ्यां
विना न संभवतः । छव्यजावयोर्हि नियमवान् सहजावो द-
र्शित एव, छव्यं चावश्यकं कश्चित्क्षेत्रेऽवगाढमन्यतरस्थितिभे-
दं जवति, अतः सिद्धमिदं छव्यभावावपि क्षेत्रकालाभ्यां विना

क्वाऽपि न भवतः । क्षेत्रे तु त्रयाणामपि द्रव्यकावजावानां भजना विकल्पना , क्वाऽपि तत्र ते प्राप्यन्ते क्वाऽपि नेत्यर्थः ; लोकक्षेत्रे त्रयाणामपि भावात् , अलोकक्षेत्रेऽभावादिति । आह—अलोकक्षेत्रेऽप्याकाशवृक्षणं द्रव्यमस्ति, वर्तनादिरूपस्तु कालोऽगुरुलघवश्चानन्ताः पर्यायाः सन्त्येव, तत्कथं तत्र द्रव्य-कालजावानामभावः ? । सत्यम्, किन्त्वाकाशवृक्षणं द्रव्यं यत् त-त्रोच्यते । तदयुक्तम्, तस्य क्षेत्रग्रहणेनैव गृहीतत्वात्, कावस्यापी-ह समयादिरूपस्य चिन्तयितुं प्रस्तुतत्वात्, तस्य च समयक्षेत्राद-न्यत्राकावाद्वर्तनादिरूपस्य त्वत्राविवक्षितग्रहणेनैव तत्र तस्य गृहीतत्वाच्च । पर्यायाश्चेह धर्माधर्मपुङ्गवजीवास्तिकायद्रव्यस-म्वन्धिना विवक्षिताः, ते चालोके न सन्ति । एवमाकाशसम्वन्धि-नस्त्वगुरुलघुपर्यायाः क्षेत्रग्रहणेनैव गृहीतत्वाद्देह विवक्षिता इ-त्यतो लोकत्रयाणामपि द्रव्यकावभावानामभावः । (कावो जय-णा इ तीसुं पि त्ति) द्रव्यक्षेत्रभावेपु त्रिष्वपि कालो भजनया विकल्पनया प्रवति, समयक्षेत्रान्तर्धर्तेषु तेषु तस्य भावात्, तद्विहस्त्वभावादिति । एवं च स्थितानाममीषां द्रव्यादीनां यथासंज्ञमनुयोगः प्रवर्तत इति ।

अपरमपि द्रव्यादिगतं किञ्चित् स्वरूपं प्रसङ्गतः प्राह—

आहारो आहेयं, च होइ द्रव्यं तद्देव जावो य ।

खेत्तं पुण आहारो, कालो नियमाञ्च आहेओ ॥

द्रव्यमाधारो प्रवति पर्यायाणाम्, आधेयं च भवति क्षेत्रे; तथा जावश्चाधारो जवति, कावस्य काववर्णादीनां समयादिस्थि-तित्वादिति आधेयश्च जवति द्रव्ये; क्षेत्रमाकाशं पुनः सर्वेषामपि धर्माधर्मपुङ्गवजीवकालद्रव्याणामगुरुलघुपर्यायाणां वाऽऽधार एव न त्वाधेयम्, सर्वस्यापि वस्तुनस्तत्रैवावगाढत्वात्, तस्य च स्वप्रतिष्ठितत्वेनान्यत्राऽऽधेयत्वायोगादिति । (कावो नियमाञ्च आहेओ त्ति) कावो नियमादाधेय एव भवति, नत्वाधारः, तस्य द्रव्यपर्यायेष्ववस्थितत्वात्, तत्र चान्यस्यावस्थितत्वादिति । तदेवं व्याख्यातो नामादिभेदतः सप्तविधोऽप्यनुयोगः । विशेषः । (' व-क्त्रगोणीत्यादि' गायान्निर्यान्यनुयोगाऽननुयोगसाधारणान्युदा-हरणानि दत्तानि तानि अत्रैव भागे २८५ पृष्ठे 'अणुभोग' शब्देऽ-स्माभिर्दर्शितानि)

[११] संप्रत्येकार्थिकानि वक्तव्यानि—तानि द्विधा सूत्र-स्याऽर्थस्य च । (तत्र सूत्रस्य 'सुय' शब्दे वद्व्यन्ते)

साम्प्रतमैयकार्थिकान्याह—

अणुयोगो य नियोगो, जास विभासा य वत्तिर्यं चेव ।

एण अणुभोगस्स उ, नामा एगद्विया पंच ॥

अनुयोगो, नियोगो, जापा, विभासा, वार्तिकं च, एतानि पञ्चानु-योगस्यैकार्थिकानि । तत्रानुकूलः सूत्रस्यार्थेन योगोऽनुयोगः, नि-दिचतो योगो नियोगः, अर्थस्य भाषा, विविधप्रकारेण जापणं विभाषा, वृत्तौ भवं वार्तिकम् । यदेकस्मिन् पदे यदर्थापन्नं तस्य सर्वस्यापि जापणम् । उक्तान्यैकार्थिकानि । वृ० १३ उ० । विशेषः । अनु० । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

[१२] अनुयोग इति कः शब्दार्थः ? , इत्याह—

अणुभोगमणुभोगो, सुयस्स नियण जमजिहेएण ।

वावारो वा जोगो, जो अणुखोऽणुकूलो वा ॥

अहवा जमत्थओ थो—व पच्छ जावेहिं सुयमणुं तस्स ।

अभिधेये वावारो, जोगो तेण च संवंधो ॥

यत् सूत्रस्य निजेनाभिधेयेनाऽनुयोजनमनुसंन्धनमसावनु-

योग इत्यर्थः । अथवा—योऽनुरूपोऽनुकूलो वा घटमानः संवध्य-मानो व्यापारः प्रतिपादनलक्षणः सूत्रस्य निजार्थविषयेऽयमनु-योगः । अथवा—यद्यस्मादर्थतोऽर्थात् सकाशादणु सूत्रं लघु सूत्र-काभ्यामित्याह । स्तोके पञ्चाङ्गावाभ्यामेकस्यापि सूत्रस्यानन्तोऽर्थ इत्यर्थास्तोक्तत्वं । तथा प्रथममुत्पादव्ययघ्राज्यवृक्षणं तीर्थक-रोक्तमर्थं चेतसि व्यवस्थाप्य पञ्चादेव सूत्रं रचयन्ति गणधराः इत्येवमर्थात्पञ्चाङ्गावाच्च सूत्रमएवेति भावः । तस्मात्तस्याणोः सूत्रस्य यः स्वकीयस्याऽभिधेये योगो व्यापारस्तेन चाऽणुना सू-त्रेण सह यः सवन्धो योगोऽसावनुयोग इति । विशेषः ।

तत्र सामान्येन प्रागुक्तमपि विशेषोपदर्शनार्थमाह—

अणुणा योगोऽणुयोगो, अणु पच्छाभावओ य थोवे य ।

जम्हा पच्छाऽभिहितं, सुत्तं थोवं च तेणाणु ॥

इह अणुयोग इति वा शब्दसंस्कारः, तत्र अनुना पश्चादनुते-न योगोऽनुयोगः, अथवा अणुना स्तोकेन योगोऽणुयोगः । तथा चाह—अणु इति पश्चाद्भावे, स्तोके च । यस्मात्पश्चादभिहितं कृतं सूत्रं स्तोके च, तेन ' अणु ' इति भाष्यते । अर्थः पुनरननुः, पूर्वमुक्तत्वात्, यादृश, बहुत्वात् । एवमाचार्येणोक्ते शिष्यः प्राह—

पुवं सुत्तं पच्छा—य पगासो लोइया वि इच्छंति ।

पैलासरिसे सुत्ते, अत्थपया हुंति बहुया वि ॥

ननु पूर्वं सूत्रं पश्चात्प्रकाशोऽर्थः, तान् तान् भावान् प्रकाशय-तीति प्रकाश इति व्युत्पत्तेः । सूत्राभावे तु स कस्य स्यात् ? । अ-पि च—लौकिका अप्येवमेवेच्छन्ति । तथा चोक्तं तैरेव— " पूर्वं सूत्रं ततो वृत्ति-वृत्तेरपि च वार्तिकम् । सूत्रवार्तिकयोर्मध्ये, ततो भाष्यं प्रवर्त्तते " ॥ ११ ॥ ततो यद्वदय यूयं—पूर्वमर्थः पश्चात् सूत्रमिति तत्र घटां प्राञ्चति । यदपि च दूय-सूत्रमणु अर्थो वादर इति । त-दपि न सम्यक् । यत् एकस्यां पेटायां बहूनि वस्त्राणि सन्ति, तत्र पेटाया एव वादरत्वं युज्यते, तद्वशाद् बहूनि वस्त्राणि मान्ति स्म । एवमत्रापि पेटासदृशे पेटास्थानीये सूत्रे बहून्यर्थपदानि व-र्त्तन्ते, तत्र सूत्रमेव वादरीजवितुमर्हति नार्थ इति ।

न च महत्त्वमेकान्तेनार्थस्य, कस्मादित्याह—

इकं वा अत्थपयं, सुत्ता बहुगा वि संपयंसति ।

उक्खित्तनाइमाइसु, अयमपि तम्हा अणेगतो ॥

एकमर्थपदं, बहूनि सूत्राणि संप्रदर्शयन्ति । यथा—उत्कृष्टज्ञाते अनुकम्पा कर्त्तव्येत्यर्थं बहुजिः सूत्रैर्वर्णितः, आदिशब्दात् संघटा-दिषु ज्ञातेषु न बलहेतोराहारयितव्यमित्यादिपरिग्रहः । तस्मा-दयमेकान्तः यदर्थो महानिति ।

आचार्यः प्राह—यस्त्वयोक्तं पूर्वं सूत्रं पश्चादर्थ इति, तत्र भव-ति, कथमित्याह—

अत्थं भासइ अरिहा, तमेव सुत्तीकरेति गणधारी ।

अत्थं च विणा सुत्तं, अणिसिसं केरिसं होइ ? ॥

अर्थं भाष्यतेऽर्हन्, तमेवार्हद्भाषितमर्थं सूत्रोक्तेरिति गणधारिणः । अर्थं च विना सूत्रमिति अनिश्रितं निश्चरहितं कीदृशं स्यात् ? , असंबद्धं ' दश द्वात्रिंशत्यादि ' चाक्यवादिति ज्ञातः । अपि च—लौ-किका अपि शास्त्रारः प्रथमतोऽर्थं दृष्ट्वा सूत्रं कुर्वन्ति, अर्थमन्तरेण सूत्रस्यानिष्पत्तेः । यदप्युक्तम्—पेटावद् यादरं सूत्रमर्थोऽणुरिति । तद-व्यश्रीलम् । यतस्तस्या एव पेटाया एकं वस्त्रमादाय तेनानेकाः पेटा बध्यन्ते, तथैकस्मादर्थोद् बहूनि सूत्राण्यर्थाक् तेनैव ब-ध्यन्ते । एवं वस्त्रस्थानीयस्यार्थस्यामहत्त्वम्, पेटास्थानीयस्य तु

सूत्रस्याणुत्वमेव । यदप्युक्तम्-न च महत्त्वमेकान्तेनार्थस्येत्यादि,
तदप्यपरिभाषितपरिभाषितम् । यदुक्तिस्तज्ञातादिषु सत्त्वानुक-
म्पादिकाऽर्थस्तावन्मात्रस्य सूत्रस्य, अशेषस्य तु हेतोऽर्थः । उ-
क्तोऽनुयोगः ॥ ४०१ उ० । स्वाभिधायकसूत्रेण सहाय्यस्यानुगीयते-
ऽनुकुतो वा योगोऽस्येदमभिधेयमित्येवं संयोज्य शिष्येभ्यः प्रति
पादनमनुयोगः, सूत्रार्थकथनमित्यर्थः । अथवा एकस्याऽपि सू-
त्रस्यानन्तोऽर्थ इत्यर्थो महान्, सूत्रं त्वष्टा, ततश्चाणुता सू-
त्रेण सहाय्यस्य योगोऽनुयोगः । तदुक्तम्-“ निययाणुक्-
लजोगो, सुचत्सऽथेण जो य अणुश्रोगो । सुचं च अणु तेन,
जोगो अथत्स अणुश्रोगो ” अनु० । दश० । न० । आ० म०
प्र० । ज० । आचा० ।

(१३) अधुना विधिद्वारावसरः, तत्र येन विधिना-
ऽनुयोगः कर्त्तव्यस्तमाह-

सुचत्तो खलु पदमो, विद्मो निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ ।
तद्वो य निरवसेतो, एत विद्दी भणिय अणुश्रोगे ॥

प्रथमस्य श्रोतुः प्रथमं तावत् सूत्रार्थः कथनीयः—

यथा नो कप्पइ निगंथाणं वा निगंथीणं वा आमे
तालपद्वे अजिने, पणिगाहिचाए ॥

अस्यार्थः—नो इति प्रतिषेधे, न कल्पते न वर्त्तत इत्यर्थः । नैपां अ-
न्यो विद्यते इति निरर्थः, तेषां, वा विभाषायाम्, निरर्थानां वा,
आममपकं, तावो वृक्षस्तालजवं तालं, तालफलमित्यर्थः । प्रथमं
सूत्रं, तदपि तस्यैव तालवृक्षस्य प्रतिपत्तव्यम् । ततः समाहा-
रः । अभिन्नमव्यपगतजीवं, प्रतिग्रहीतुमिति । एवं तावत् कथ-
यितव्यं यावदव्ययनपरिसमाप्तिस्ततो द्वितीयस्यां परिपाट्यां
निर्युक्तिमिश्रितः पीठिकया सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या च समन्वितः,
सोऽपि यावदव्ययनपरिसमाप्तिस्तत्कथनीयः । तृतीयस्यां
परिपाट्यामनुयोगो निरवशेषो वक्तव्यः, पदपदार्थाद्यनाप्रत्यव-
स्थानादिभिः सप्रपञ्चं समस्तं कथयितव्यमिति ज्ञावः । एष वि-
धिरनुयोगे ग्रहणधारणादिसमर्थान् शिष्यान् प्रति वेदितव्यः ।

मन्दमतीन्द्रति प्रकारान्तरेणानुयोगविधिमाह-

मूयं हुंकारं वा, वाढकार पडिपुच्छ मीमंसा ।

तत्तो पसंग पारा-यणं च परिणिष्ट सत्तमए ॥

प्रथमतः शृणुयात् । किमुक्तं भवति-प्रथमश्रवणे संगतगात्र-
स्तुष्णीमासीत्, ततो द्वितीये श्रवणे हुंकारं दद्यात्, वन्दनं कुर्या-
दित्यर्थः । तृतीये वाढकारं कुर्यात्, वाढमेवमेतद् नान्यथेति प्रशं-
सेदित्यर्थः । चतुर्थे गृहीतपूर्वापरसूत्राजिप्रयो मनाक् प्रति-
पृच्छां कुर्यात्, यथा कथमेतदिति ? । पञ्चमे मीमांसां प्रमाणजि-
ज्ञासां कुर्यात् । षष्ठे तदुत्तरोत्तरगुणे प्रसङ्गः, पारगमनं चाऽस्य
भवति । ततः सप्तमे परिनिष्ठां गुरुवदनुप्राप्य इत्यर्थः । यत एवं
मन्दमेषसां श्रवणपरिपाट्या विवक्षिताऽध्ययनार्थावगमः, ततः
स्तान् प्रति सप्त वारान् अनुयोगो यथाप्रतिपत्ति कर्त्तव्यः ।

अत्र परावकाशमाह-

चोइए रागदोसा, समत्थ परिणामगे पखणया ।

एएसि नाणत्तं, वोच्चांमि अहाणुपुव्वीए ॥

शिष्ये नोदयति प्रश्नयति समर्थे ग्रहणधारणासमर्थे, तथा
परिणामके । उपलक्षणमेतत्—ग्रहणधारणासमर्थेऽतिपरिणा-
मके च या प्ररूपणा तथा शुष्माकं रागद्वेषौ प्रसज्यतः । तथाहि-
तिसृभिः परिपाटीजिरेकान् ग्राहयतो रागोऽपरान् सप्तभिः परि-
पाटीभिर्ग्राहयतो द्वेषः । तथा परिणामकान् ग्राहयतो रागः, इत-

रानतिपरिणामकान् परिहरतश्च द्वेषः । एतेषां ग्रहणधारणा-
समर्थासमर्थानां परिणामकादीनां च यथानुपूर्व्या क्रमेण
नानात्वं बह्वे, तत्र प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयेत ।

प्रथमतो ग्रहणधारणासमर्थासमर्थान्प्रति रागद्वेषावाह-

मच्छरया अविमुत्ती, पूया सक्कार गच्छइ अखिन्नो ।

दोसा गहणसमत्थे, इयरे रागो उ वुच्चेयो ॥

ग्रहणधारणासमर्थे शिष्यं तिसृभिः परिपाटीभिर्ग्राहयत एता-
दन्ति कारणानि स्युः—एष बहुशिक्षितो मम प्रसन्नो भविष्यति
ततो मत्सरतया परिवारत्वेन वर्त्तत इत्यविमुक्तिकारणम् । अ-
थवा—गृहीतसूत्रार्थस्यास्य पूजा सत्कारो भविष्यति । खिन्नो वा
परिश्रान्तोऽन्यगणं गमिष्यति । (वुच्चेयं चि) मद्भसतो वाऽनुयोग-
स्य व्यवच्छेदो भविष्यति, अन्यस्य तथाविधशिष्यस्याज्ञावात् ।
एवं कारणानि संज्ञाय ग्रहणधारणासमर्थे तिसृभिः परिपाटी-
जिरनुयोगं वदतो द्वेषः । इतरस्मिन् जडे रागः, यथा—तदवयो-
धमनुयोगस्य प्रवर्त्तनात् । अत्राचार्य आह—

निरवयवो नहु सक्को, समं पयासो उ संपयंसेउ ।

कुंजजले विहु तुरि उ—ज्जियम्मि नहु तिष्ठ पणिद्वच्छू ॥

नहु नैव सूत्रस्य प्रकाशोऽर्थः सरुदेकया परिपाट्या निरवयवः
समस्तः संप्रदर्शयितुं शक्यः, तस्य ग्रहणधारणासमर्थे नैकया
परिपाट्याऽवधारयितुमीश इति तिसृभिः परिपाटीभिरनुयोग-
कथनमित्यदोषः ।

सांप्रतमतिपरिणामकानपरिणामकान् परिहरतो द्वेषाज्ञावमाह-

सुत्तत्थे कहयंतो, पारोक्खी सिस्सजावमुव्वज्जइ ।

अणुकंपाइ अपत्ते, निज्जुहइ मा विणिज्जा ॥

पारोक्खी परोक्षज्ञानोपेतः शिष्येभ्यः सूत्रार्थं कथयन् विनयावि-
नयकरणादिना तेषां शिष्याणां ज्ञावमाभिप्रायमुपलभ्य, अपात्रा-
णि अपात्रभूतान् शिष्यान् अनुकम्पया निर्युहयति अपवदति ।
न तेभ्यः सूत्रार्थं कथयति । श्रुताज्ञातनादिना मा विनश्येयु-
रिति कृत्वा ।

अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह--

दारं धाउं वाही-वीए कंकुय लक्खणं सुविणं ।

एगंतेण अजोगे, एवमाई उ उदाहरणा ॥

एकान्तेनायोग्ये अपरिणामके च दारु धातुर्व्याधिवीजानि कां-
कुकुको लक्षणं स्वप्न इत्येवमादीनि उदाहरणानि दृष्टान्ताः ।

तत्र दारुदृष्टान्तमाह-

को दोसो एरंमे, जं रहदारं न कीरए तत्तो ।

को वा तिणिसे रागो, उव्वज्जइ जं रहंगेसु ॥

एरण्णे एरण्णहुमे को द्वेषः ? , यत्तस्मात् रथयोग्यं दारु न किं-
यते ? , को वा तिनिशे रागो यदुपयुज्यते स रथाङ्गेसु ? ।

जं पिय दारं जोगं, जस्स उ वत्थुस्स तं पि हु न सका ।

जोएउमणिम्मविउं, तच्छणदलवेहकुस्सेहिं ॥

यदपि वस्तुनोऽज्ञादेयोंग्यं दारु तदपि तत्क्षणदलवेधकुशीरैर-
निर्मोप्य योजयितुमशक्यम्, किं तु निर्माण्य, एवमिहापि योग्यो-
ऽपि यावदवोक्तैः सूत्रैः न परिकर्मितस्तावन्न कल्पं व्यवहारं वाऽ-
ध्यापयितुं योग्यः । तत्र तत्क्षणं प्रतीतम्, दलानि द्विधा त्रिधा वा
काष्ठस्य पाटनं, वेधः प्रतीतः, कुशो यो वेधे प्रोतः प्रवेश्यते ।

संप्रति धातुदृष्टान्तमाह-

एमेव अथाउं उ—जिभ्भुण्ण कुणइ धाऊण आयाणं ।

न य अक्रमेण सका, धाउमि वि इच्छियं काउं ॥
एवमेव रागद्वेषौ विना अधातुं त्यक्त्वा धातूनामादानं करोति ।
न च धातान्वयक्रमेणैस्ति तं कर्तुं शक्यम्, किन्तु क्रमेण । एव-
मिहाप्ययोग्यानपि क्रमेण ग्राह्यतो न द्वेषः ।

अधुना व्याधिदृष्टान्तमाह—

सुहसज्जो जत्तेणं, जन्नासज्जो असज्जवाही उ ।
जह रोगे पारिच्छ, सिस्ससज्जावाण वि तहेव ॥
यथा रोगे वैद्येन परीक्षा क्रियते, यथा-एष सुखसाध्यः, एष य-
त्नेन साध्यः, एष वाऽसाध्यव्याधिर्यत्नेनाप्यसाध्यः । परीक्षाऽनन्त-
रं च रागद्वेषौ विना तदनुरूपा प्रवृत्तिः । एवं शिष्यस्वजावानामपि
तथैव रागद्वेषाभावेन परीक्षा क्रियते, तदनुरूपा च प्रवृत्तिः ।

अधुना बीजदृष्टान्तमाह—

बीयमवीर्यं नाउं, मोत्तुमवीए उ करिसओ सालिं ।
ववइ विरोहणजोग्गो, न यावि से पक्खवाओ उ ॥
यथा कर्पको बीजमवीजं च ज्ञात्वा अवीजानि मुक्त्वा शाधिं
शाखिवीजानि वपति, न च तस्मिन् विरोहणयोग्ये बीजे (से)
तस्य कर्पकस्य पक्षपातो रागः । एवमत्रापि भावनीयम् ।

संप्रति कांककुक्कदृष्टान्तमाह—

को कंकुए दोसो, जे अग्गी तं न पाययइ दित्तो ।
को वा इयरे रागो, एमेव य अत्थ नाविज्जा ॥
को द्वेषोऽनेः कांककुके (' कोरू ' इति ख्याते) यदग्निर्दो-
सोऽपि तं न पचति, को वा इतरस्मिन् रागो यत्पाचयति, नैव
कश्चित् । एवमत्रापि भावनीयम् ।

अधुना ब्रह्मणदृष्टान्तमाह—

जे उ अलक्खणजुत्ता, कुमारगा ने निमिहिउं इयरे ।
रजारिहे अणुमणइ, सामुदो नेय विसमो उ ॥
यथा सामुद्रज्जकणपरिज्ञाता राज्ञो व्यपगते तस्य ये कुमार-
अब्रह्मणयुक्तास्तान् निपिध्य इतरान् लक्षणोपेतान् राज्याहान-
नुमन्यते । न च स तथाऽनुमन्यमानो विप्रो रागद्वेषवान् ।
एवमत्रापि छद्मव्यम ।

स्वप्नदृष्टान्तमाह—

जे जह कहेइ सुमिणं, तस्स तह फलं कहेइ तन्नाणी ।
रत्तो वा दुडो वा, नया वि वत्तव्वयमुवेइ ॥
यो यथा स्वप्नं कथयति तस्य तथा तज्ज्ञानी स्वप्नफलं
कथयति, न च स तथा कथयन् रक्त इति वा द्विष्ट इति वा
वक्तव्यतामुपैति । एवमत्रापि एकान्तेनायोग्या ये शिष्याः तेषां
परिहारे रागद्वेषाभावे दृष्टान्ता अभिहिताः ।

संप्रति कालान्तरयोग्यानपरिणतान् क्रमेण परिणामयतो-

रागद्वेषाभावे दृष्टान्तमाह—

अग्गी वाल गिलाणे, सीहे रुक्खे करीलमाईया ।
अपरिणए जह एए, सप्पमिवक्खा उदाहरणा ॥
अपरिणते जातकालान्तरयोग्ये, एतानि संप्रतिपक्षाणि, पूर्व-
मयोग्यतायां पश्चाद्योग्यतायामित्यर्थः । उदाहरणानि, तद्यथा-
अग्निर्वाहो ग्नानः । सिंहो वृकः । करीलं वंशकरीलम् । आदि-
शब्दाद् वक्ष्यमाणहस्यादिदृष्टान्तपरिग्रहः ।

तत्र प्रथममग्निदृष्टान्तमाह—

जह अरणीनिम्मविओ, योवो विजिंषणं नवा दहिउं ।

सकइ सो पज्जलिओ, सव्वस्स वि पच्चलो पच्छा ॥

यथा अराणिनिर्मापितः स्तोको वह्निर्विपुलमिन्धनं न दग्धुं श-
क्नोति, स एव पश्चात्प्रज्वलितः सर्वस्यापीन्धनजातस्य दहने
प्रत्यक्षः समर्थः ।

एवं सु थूलबुद्धी, निउणं अत्थं अपच्चद्वो धेत्तुं ।

सो चेव जणियबुद्धी, सव्वस्स वि पच्चलो पच्छा ॥

एवमग्निदृष्टान्तेन प्रथमतः शिष्यः स्थूलबुद्धिः सन् निपुणम-
र्थं प्रदीतुमप्रत्यक्षः ; पश्चात् स एव शास्त्रान्तरेर्जनितबुद्धिस्त्या-
दितबुद्धिः सर्वस्यापि शास्त्रस्य ग्रहणे प्रत्यक्षो भवति ।

बालदृष्टान्तमाह—

देहे अभिवहंते, वादस्स उ पीहगस्स अजिबुद्धी ।

अइवहुएण विणस्सइ, एमेव हु एड्डियागिलाणे ॥

बालस्य देहे अभिवर्द्धमाने तदनुसारेण दातव्यस्य पीथक-
स्याहारस्यापि वृद्धिर्भवति । देहवृद्ध्यानुसारतः पीथकमपि
क्रमशो वर्द्धमानं दीयत इति ज्ञातः । यदि पुनरतिबहु दीयते
तदा स विनश्यति । ग्नानदृष्टान्तमाह—एवमेव बालगतेन प्रकारे-
ण अधुनोत्थितेऽपि ग्लाने वक्तव्यम्, यथा-ग्लानोऽप्यधुनोत्थितः
क्रमेणाभिवर्द्धमानमाहारं गृह्णाति, एकवारमतिप्रभूतग्रहणे विना-
शप्रसङ्गात् । एवं शिष्योऽपि क्रमेण योग्यताऽनुरूपं शास्त्रमादत्ते,
प्रथमत एवातिनिपुणार्थशास्त्रग्रहणे बुद्धिजङ्गमसक्तेः ।

सिंहादिदृष्टान्तानाह—

खीरमिउपोग्गवेहिं, सीहो पुडो उ खाइ अट्ठी वि ।

रुक्खो दुपत्तओ खलु, वंसकरिद्वो य नहन्निज्जो ॥

तं चेव विवहंता, हुंति अज्जेजा कुहारुमाईहिं ।

तह कोमलाजिबुद्धी, जज्जइ गहणेसु अत्थेसु ॥

सिंहः प्रथमतः क्षीरमृदुपुद्गलैः स्वमात्रा पोष्यते, ततः पुष्टः सन्
अस्थीन्यापि स खादति । तथा वृको द्विपर्णो, वंशकरीलम्, एतौ
ढावपि प्रथमतो नखच्छेद्यौ, ततः पश्चादजिवर्द्धमानौ यतस्ततः
कुठारादिभिरच्छेद्यौ भवतः । प्रथमतः कोमला बुद्धिर्भवति, ततः
सा गहने प्वथेषु जज्यते जङ्गमुपयाति ; क्रमेण तु शास्त्रान्तर-
दर्शनतोऽजिवर्द्धमाना कवोरात्करोरतरोपजायते इति न कश्चिदपि
भङ्गमुपयाति ।

एतदेवोपदिशन्नाह—

निउणे निउणं अत्थं, थूलत्थं थूलबुद्धिणो कहए ।

बुद्धीविवहणकरं, होहिइ कालेण सो निउणो ।

निपुणे निपुणमर्थं कथयेत्, कथंभूतमित्याह-बुद्धिविवर्द्धनकरम् ।
एवं सति स कालेन निपुणो भवति । अन्यथा बुद्धिजङ्गमप्रस-
ङ्गतो न स्यात् ।

संप्रतिमादिशब्दसूचिताद् हस्त्यादीन् दृष्टान्तानाह—

सिद्धत्थए वि गिएहइ, हत्थी थूलगहणे सुनिम्माओ ।

सरवेहपत्तच्छिज्ज—प्पव धरुपडचित्त तह धमए ॥

हस्ती स्थूलग्रहणे सुनिर्मातः सन् पश्चात्सिद्धार्थकानपि गृह्णाति ।
तथाहि-नवको हस्ती शिष्यमाणः प्रथमं काष्ठानि ग्राह्यते, तदनन्तरं
कुल्लकान् पाषाणान्, ततो गोहीकाः, ततो वदराणि, तदनन्तरं
सिद्धार्थकानपि, यदि पुनः प्रथमत एव सिद्धार्थकान् ग्राह्यते, ततो
न शक्नोति प्रदीतुमिति । एवं स्वरवेधपत्रेद्यध्वकघटकारकप-
टकारकचित्रकारकधमकाश्च दृष्टान्ता ज्ञावनीयाः । ते चैवम-प्रथमं

धानुष्कः स्थूलं सूक्ष्मं व्यङ्ग्यं शिक्षति, पश्चात् सच्चाहं पटुत्वाद्-
तिसुनिपुणमतिः स्वरेणाऽपि विच्यति । तथा पत्रच्छेद्यकार्यं
प्रथममकिञ्चित्करैः पत्रैः शिक्ष्यते, ततो यदा निर्मातो भवति तदा
ईप्सितं पत्रच्छेद्यं कार्यते, तथा ध्रुवकोऽपि प्रथमं वंशे लगायित्वा
प्राच्यते, ततः पश्चादप्यसन् आकाशेऽपि तानि तानि करणानि
करोति । घटकारोऽपि प्रथमतः शरावादीनि कार्यते, पश्चाच्छि-
तो घटानपि करोति । पटकारोऽपि प्रथमतः स्पृष्टानि चीवर-
ाणि शिक्ष्यते, ततः सुशिक्षितः शोभनानपि पटान् वयति । चित्र-
कारोऽपि प्रथमं मूर्तकं चित्रयितुं शिक्ष्यते, ततः शोभनवयवा-
न् । पश्चात् सुशिक्षितः सर्वं चित्रकर्म सम्यक् करोति । घमको-
ऽपि पूर्वं शृङ्गादीन् धमयते, पश्चात् शङ्खम् ।

अत्रैवोपनयमाह—

जत्य मई ओगाहइ, जोगं जं जस्स तस्स तं कहए ।

परिणामागमसरिसं, संवेगकरं सनिव्वयं ॥

यद्यैते हस्त्यादयः क्रमेण निर्माप्यन्ते, एवं शिष्यस्यापि यत्र म-
तिरवगाहते, यस्य च यद्योग्यं शास्त्रं तस्य तत्कथयति । कथंभू-
तमित्याह—परिणामागमसदृशं यस्य यादृशः परिणामो यस्य च
यायानागमस्तत्सदृशं यथेदृशपरिणामस्येदमेतावदागमस्य पु-
नरिदमिति । पुनः किंविशिष्टं कथयितव्यमत आह—संवेगकरं-
सिद्धिर्देवलोकोः सुकुलोत्पत्तिरित्यादेरभिप्रायः संवेगः, तत्कर-
णशीलं संवेगकरं, तथा नरकस्तिर्यग्योनिः कुमानुपत्यमित्यादेर्वि-
रक्तता निर्वेदः, तत्करणशीलं निर्वेदकरम् । तदेवं योग्येऽपि
क्रमेण दाने रागद्वेषाभाव उक्तः । संप्रति शिष्येष्वाचार्येण परि-
णामकत्वं परीक्ष्यानुयोगः कर्त्तव्यः, शिष्यैरप्याचार्यं परीक्ष्य
तस्य सकाशे श्रोतव्यमिति ।

शिष्याचार्ययोः परस्परविधिमतिदेशत आह—

गेहंत गाहगाणं, आइसूएमु विहि समक्खाओ ।

सा चेव य होइ इयं, उज्जोगो वन्निओ नवरं ॥

गृह्णातं शिष्याणां ग्राहकस्याचार्यस्य आदिस्त्रेषु सामायिका-
द्रिपु यो विधिः समाख्यातो गोणीचन्द्रणेत्यादिप्रकरणः स एवेह
निरवशेषो वक्तव्यः । यस्तु-शिष्याणामनुयोगकथने उद्योग उद्य-
मो यथा-तिष्ठतिः परिपाटीभिरथवा सप्तभिः कर्त्तव्यः सः, नवरं,
सप्रपञ्चमुपवर्णितः । वृ० १ उ० ।

इदानीमनुयोगविधिरुच्यते—तत्रानुयोगो वक्ष्यमाणशब्दार्थः, स
यदाऽधीतसूत्रस्याचार्यप्रस्थापनयोग्यस्य शिष्यस्यानुज्ञायते, तदा-
ऽयं विधिः, प्रशस्तेषु तिथिनक्षत्रकरणमुद्गृहेषु, प्रशस्ते च जिना-
यतनादौ क्षेत्रे श्रुतं प्रमार्ज्य एका गुरुणामेका शिष्याणामिति नि-
पद्याद्वयं क्रियते, ततः प्राभातिककाले प्रवेदिते निपद्यानिपण्यस्य
गुरोश्चोत्पट्टकरजोहरणमुखवस्त्रिकामात्रोपकरणो विनैयः पु-
रतोऽवतिष्ठते, ततो द्वावपि गुरुशिष्यौ मुखवस्त्रिकां प्रत्युपेक्ष्यतः,
पुनस्तथा च समग्रं शरीरं प्रत्युपेक्ष्यतः, ततो विनैयो गुरुणा
सह द्वादशावर्तवन्दनकं दत्त्वा वदति—इच्छाकारेण संदिशत
स्वाध्यायं प्रस्थापयामि । ततश्च द्वावपि स्वाध्यायं प्रस्थापयतः,
ततः प्रस्थापिते स्वाध्याये गुरुर्निपीदति । ततः शिष्यो द्वादशा-
वर्तवन्दनकं ददाति । ततो गुरुस्तथा शिष्येण सहानुयोगप्र-
स्थापननिमित्तं कायोत्सर्गं करोति, ततो गुरुर्निपीदति, ततः स
शिष्यो द्वादशावर्तवन्दनकेन वन्दते, ततो गुरुस्ताननिमित्तो-
त्तिष्ठत्युत्थाय च निपद्यां पुरतः कृत्वा वामपार्श्वीकृतशिष्यश्चैत्य-
वन्दकं करोति, ततः समाप्ते चैत्यवन्दने त्रिगुरुर्द्विस्थित

एव नमस्कारपूर्वं नन्दिमुच्चारयति, तदन्ते चाग्निघटे—मां
साधोरनुयोगमनुजानीत, क्रमाश्रमणानां हस्तेन हव्यगुण-
पर्यावरणुज्ञातस्ततो विनयस्थो वन्दनकेन वन्दते । उत्थित-
श्च वचीति—संदिशत किं भणामि ? ततो गुरुराह—वन्दित्वा प्रवे-
दय । ततो वन्दते शिष्यः ॥ उत्थितस्तु वचीति—जवाङ्गिर्ममानुयो-
गोऽनुज्ञात इच्छाम्यनुशास्तिम् । ततो गुरुर्वदति—सम्यगवधा-
रय, अन्येषां च प्रवेदय; अन्येषामपि व्याख्यानं कुर्वित्यर्थः ।
ततो वन्दते असौ, वन्दित्वा च गुरुं प्रदक्षिणयति, प्रदक्षिणान्ते
च भवद्भिर्ममानुयोगोऽनुज्ञात इत्याद्युक्तिप्रत्युक्तीः करोति । द्विती-
यप्रदक्षिणा च तथैव, पुनस्तृतीयाऽपि तथैव, ततस्तृतीयप्रदक्षि-
णान्ते गुरुर्निपीदति । तत्पुरःस्थितश्च विनैयो वदति—गुप्ताकं
प्रवेदितं संदिशत, साधूनां प्रवेदयामीत्यादिशेषमुद्देशविधिव-
द्वक्तव्यम्, यावदन्योगानुष्ठाननिमित्तं कायोत्सर्गं करोति । त-
दन्ते च सनिपद्यः शिष्यो गुरुं प्रदक्षिणयति । तदन्ते च वन्द-
न्ते, पुनः प्रदक्षिणयति, एवं त्रीन् वारान्, ततो गुरोर्दक्षिणगृजा-
ऽऽसन्ने निरीदति । ततो गुरुपारंपर्यं एतानि मन्त्रपदानि गुरुः
त्रीन् वारान् शिष्यस्य कथयति, तदनन्तरं प्रवर्द्धमानाः प्रवरसु-
गन्धमिध्रास्तिस्रोऽक्षमुष्टीस्तस्मै ददाति । ततो निपद्याया गुरु-
स्तथा शिष्यं तत्रोपवेष्टव्यं यथासंनिहितसाधुभिः सह तस्मै
वन्दनकं ददाति । ततो विनैयो निपद्यास्थित पद्य “ नाणं पंच-
विहं पाणत्तं ” इत्यादि सूत्रमुच्चार्य यथाशक्ति व्याख्यानं क-
रोति । तदन्ते च साधुरभ्यो वन्दनकं ददाति, ततः शिष्यो निप-
द्यान उत्तिष्ठति । गुरुरेव पुनस्तत्र निपीदति । ततो द्वावप्यनुयो-
गविसर्गार्थं कालप्रतिक्रमणार्थं च प्रत्येकं कायोत्सर्गं कुरुतः ।
ततः शिष्यो निरुद्धं प्रवेदयति, निरुद्धं करोतीत्यर्थः । अनु० ।

शिष्यं प्रति आचार्येण—

एवं वएसु ठवणा, समणाणं वन्निआ समासेणं ।

अणुश्रोगाणुण्णं, अओ परं संपवक्खामि ॥ ३१ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण व्रतेषु स्थापना श्रमणानां साधूनां वर्णित-
समासेन संक्षेपेण अनुयोगगणानुज्ञां प्रागुद्दिष्टमतः परम्; कि-
मित्याह—संप्रवक्ष्यामि सूत्रानुसारतो ब्रवीमीति गार्थार्थः ॥३१॥

किमित्ययं प्रस्ताव इत्याह—

जम्हा वयसंपन्ना, काओचिअगहिअसयलसुत्तत्था ।

अणुश्रोगाणुण्णाय, जोगा नणिआ जिणिदेहिं ॥ ३२ ॥

यस्माद् व्रतसंपन्नाः साधवः कालोचितगृहीतसकलसूत्रार्था-
स्तदनुयोगवन्त इत्यर्थः । अनुयोगानुज्ञाया आचार्यस्थापनारू-
पाया योग्या भणिता जिनेन्द्रैर्नान्य इति गार्थार्थः ॥३२॥

कस्मादित्याह—

इहराओ मुसावाओ, पवयणस्विसा य होइ लोगम्मि ।

मिस्साण वि गुणहाणी, तित्युच्चेओ अजावेण ॥ ३३ ॥

इतरथा अनीदशानुयोगानुज्ञायां मृपावादः, गुरोस्तमनुजानतः
प्रवचनास्विसा च जवति लोके, तथाज्ञतप्ररूपणात् ततः शि-
ष्याणामपि गुणहानिः, सन्नायकाभावात् । तीर्थोच्छेदश्च जवेत्
ततः, सम्यग्ज्ञानाद्यप्रवृत्तेरिति द्वारगार्थार्थः ॥३३॥

व्यासार्थे त्वाह—

अणुश्रोगो वक्खणं, जिणवरवयणस्स तस्सऽणुष्ठा उ ।

कायव्वमिणं जवया, विहिणा सइ अप्पमत्तेणं ॥३४॥

अनुयोगो व्याख्यानमुच्यते जिनवरवचनस्यागमस्य, तस्यानु-

ज्ञा पुनरियम्, यदुत कर्तव्यमिदं व्याख्यानं भवता विधिना,
न यथाकथञ्चित् ; सदाऽप्रमत्तेन ; सर्वत्र समवसरणादिति
गाथार्थः ॥ ३४ ॥

कालोचित्रतयाभावे, वयणं निर्विसयमेवमेयं ति ।

दुग्गयसुअम्मि जहिमं, दिज्जइ इमाई रयणाई ॥ ३५ ॥

कालोचिततदभावे अनुयोगाभावे, वचनं निर्विषयमेवैतदिति ।
तदनुज्ञावचनदृष्टान्तमाह-दुर्गतसुते दरिद्रपुत्रे यथेदं वचनम्-
'यदुत दद्यास्त्यमेतानि रत्नानि' रत्नाभावाच्चिर्विषयं, तथेद-
मप्यनुयोगाभावादिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

असत्प्रवृत्तिनिमित्तापोहायाह-

किं पि अ अहिअं पि इमं, आलं वण नो गुणेहिं गुरुआणं ।

एत्थं कुसाइतुल्लं, अइप्पसंगा मुसावाओ ॥ ३६ ॥

किमपि यावत्तावदधीतमित्येतदालम्बनं न तत्त्वतो भवति
गुरौगुरुणाम् । अत्र व्यतिकरे कुशादितुल्यमनालम्बनमित्यर्थः ।
कस्मात् ? अतिप्रसङ्गात् । स्वल्पस्य श्रावकादिभिरप्यधीतत्वा-
दतो मृषावादो गुरोस्तदनुज्ञानत इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

अणुओगी लोगाणं, किल संसयणासओ दढं होइ ।

तं अल्लिअंति तो ते, पायं कुसलाहिगमहेओ ॥ ३७ ॥

अनुयोगी आचार्यः लोकानां किल संशयनाशको दृढमत्यर्थं
भवति । तम्, 'अल्लियंति' उपयान्ति ततस्ते लोकाः प्रायः । किमर्थ-
मित्याह-कुशलाधिगमहेतोः धर्मपरिज्ञानायेति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

ततः किमित्याह-

सो थोवो अ वराओ, गंभीरपयत्थजणिइमगम्मि ।

एगंतेणाकुसलो, किं तेसिं कहेइ सुहुमपयं ? ॥ ३८ ॥

स स्तोको वराकश्चाल्पश्रुत इत्यर्थः । गम्भीरपदार्थभणित-
मार्गे बन्धमोक्षतत्त्ववचनलक्षणे एकान्तेनाऽकुशलोऽनभिज्ञः
किं तेभ्यः कथयति लोकेभ्यः तस्य सुदमपदं बन्धादिगो-
चरमिति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

ततश्च-

जं किंचि भासगं तं, दइण वुहाण होइ अवण चि ।

पवयणधरो उ तम्मी, इअ पवयणखिसणा णेआ ॥ ३९ ॥

यत्किञ्चिद्भाषकं तमसंबद्धप्रलापिनमित्यर्थः, दइण वुधानां वि-
दुषां भवत्यवज्ञेति । कथं केत्यत्राह-प्रवचनधरोऽयमिति कृत्वा
तस्मिन् प्रवचने य एवं, प्रवचनखिसना अवज्ञा ज्ञातव्या-
अहो ! असारोऽयमतश्चेदयमेतदभिज्ञः सन्नेवमाहेति गाथार्थः ।

सीसाण कुणइ कह सो, तहाविहो हंदि ! नाणमाईणं ।

अहिआहिअसंपत्तिं, संसारुच्छेअणं परमं ॥ ४० ॥

शिष्याणामिति-शिष्येषु करोति । कथमसौ ? तथाविधोऽज्ञः
सन् हंदात्युपदर्शने, ज्ञानादीनां गुणानां ज्ञानादिगुणानामधि-
काधिकसंप्राप्तिं वृद्धिमित्यर्थः । किंभूतामित्याह-संसारोच्छे-
दिनीं संप्राप्तिं, परमां प्रधानामिति गाथार्थः ॥ ४० ॥

तथा-

अप्पत्तणओ पायं, हेआइविवेगविरहिओ वा वि ।

नहु अन्नओ वि सो तं, कुणइ अ मिच्छाऽज्जिमाणाओ ॥ ४१ ॥

अल्पत्वात् तुच्छत्वात्कारणात् प्रायो ब्राह्मणेन, न हि तु-
च्छोऽसती गुणसंपदमारोपयति । तथा-हेयादिविवेकविर-
हितो वाऽपि । हेयोपादेयपरिज्ञानाभावत इत्यर्थः । न ह्यन्य-

तोऽपि बहुश्रुतादसावज्ञस्तां प्राप्तिं करोति तेषु । कुत इत्याह-मि-
थ्याऽभिमानादहमप्याचार्य एव, कथं मच्छिष्या अन्यसमीपे
श्रृण्वन्तीत्येवंरूपमिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

तो ते वि तहानूआ, काळेण वि होंति नियमओ चेव ।

सीसाण वि गुणहाणी, इअ संताणेण विनेआ ॥ ४२ ॥

ततस्तेऽपि शिष्यास्तथाभूता मूर्खा एव कालेन बहुनाऽपि
भवन्ति नियमत एव, विशिष्टसंपर्काभावाच्चिष्याणामप्यगीता-
र्थशिष्यसत्त्वानां गुणहानिरियम्, एवं सन्तानेन प्रवाहेण वि-
क्षेयेति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

नाणईणमजावे, होइ विसिद्धाणऽणत्थगं सव्वं ।

सिरतुरुमुंरुणाइ वि, विवज्जयाओ जहऽन्नेसिं ॥ ४३ ॥

ज्ञानादीनामभावे सति भवति विशिष्टानाम् । किमित्याह-अन-
र्थकं सर्वं निरवशेषम् । शिरस्तुरमुण्डमुण्डनाद्यपि, आदिशब्दा-
द्विज्ञाऽटनादिपरिग्रहः । कथमनर्थकमित्याह-विपर्ययात्कारणा-
द् यथाऽन्येषां वराकादीनामिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

ए य समइविगप्पेणं, जहा तहा कयमिणं फलं देइ ।

अवि आगमाणुवाया, रोगंतिगिच्छाविहाणं व ॥ ४४ ॥

न च स्वमतिविकल्पेनागमशून्येन यथा तथा कृतमिदं शिरस्तु-
रमुण्डनादि फलं ददाति स्वर्गापवर्गलक्षणम् । अपि चागमानु-
पातादगमानुसारेण कृतं ददाति । किमिवेत्याह-रोगचिकित्सा-
विधानवत्, तदेकप्रमाणत्वात् परलोकस्येति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

इय दव्वडिगमित्तं, पायमगीआउ जं अणत्थफलं ।

जायइ ता विनेओ, तित्थच्छेओ य भावेणं ॥ ४५ ॥

(इय) एवं द्रव्यलिङ्गमात्रं भिन्नाटनादिफलं प्रायोऽगीतार्थाद्
गुरोः सकाशाद् यद्यस्मादनर्थफलं विपाके जायते, तच्चस्मा-
द्विज्ञेयस्तीर्थोच्छेद एव, भावेन परमार्थेन, मोक्षलक्षणतीर्थ-
फलाभावादिति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

कालोचित्रासुत्तये, तम्हा सुविणिच्चियस्स अणुओगो ।

निअमाऽणुजाणिअव्वो, न सव्वणओ चेव जह भणिअं ॥ ४६ ॥

कालोचितसूत्रार्थं अस्मिन्विषये तस्मात्सुविनिश्चितस्य ज्ञात-
तत्त्वस्यानुयोग उक्तलक्षणः नियमादेकान्तेनानुज्ञातव्यः, गुरुणा
न श्रवणत एव श्रवणमात्रेणैव । कथमित्याह-यतो भणितं सं-
मत्यां सिद्धसेनाचार्येणेति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

किमित्याह-

जह जह बहुस्सुओ सं-मओ अ सीसगणसंपरिबुडो अ ।

अविणिच्चिओ अ समये, तह तह सिच्छंतपडणीओ ॥ ४७ ॥

यथा यथा बहुश्रुतः श्रवणमात्रेण संमतश्च तथाविधलोकस्य,
शिष्यगणसंपरिवृतश्च बहुसूदपरिवारश्च, असूदानां तथाविधाप-
रिग्रहणात्, अविनिश्चितश्चाज्ञाततत्त्वश्च समये सिद्धान्ते तथा
तथाऽसौ वस्तुस्थित्या सिद्धान्तप्रत्यनीकः सिद्धान्तविनाशकः,
तद्वाधवापादनादिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

एतदेव भावयति-

सव्वण्णहिं पाणियं, सो उत्तममइसएण गंभीरं ।

तुच्छकहणाइ हिट्ठा, सेसाण वि कुणइ सिच्छंतं ॥ ४८ ॥

सर्वज्ञैः प्रणीतं सोऽविनिश्चित उत्तमं प्रधानमतिशयेन गम्भीरं ज्ञा-
चार्यसारं, तुच्छकथनयाऽपरिणतदेशनयाऽधः शेषाणामपि सिद्धा-
न्तानां करोति, तथाविधलोकं प्रति सिद्धान्तमिति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

तथा—

अविणिच्छिद्रो ए संपं, उस्सग्गाववायजाणओ होइ ।

अविसयपत्रोगओ सिं, सो सपरविणसओ नियमा ॥४६॥

अविनिश्चितः समये न सम्यगुत्सर्गापवादो जघति सर्वत्रैव, ततश्चाविषयप्रयोगतोऽनयोरुत्सर्गापवादयोः, तथाविधः स्वपर-
विनाशको नियमान्, कूटवैद्यवदिति गाथार्थः ॥४६॥

ता तस्सेव हिअट्टा, तस्सीसाणमणुमोअणणं च ।

तह अप्पणो अधीरो, जोगस्सऽणुजाणई एवं ॥ ५० ॥

तत्तस्मात् तस्यैवाधिकृतानुयोगधारिणः हितार्थं परलोके, तथा
तच्छिष्याणां भाविनामनुमोदकानां च तथाविधाऽप्राप्तिर्ना, तथाऽऽत्मनश्च हितार्थमादाराधनेन धीने गुरुयोग्याय विनेयाय
अनुजानाति एवं वक्ष्यमाणेन विधिनाऽनुयोगमिति गाथार्थः ॥५०॥

तिहिजोगम्मि पसत्ये, गहिण काले निवेइए चैव ।

ओसरणमह णिसिज्जा-रयणं संघट्टणं चैव ॥ ५१॥

तिथियोगे प्रशस्ते संक्रान्तिपूर्णिमादौ, गृहीते काले, विधिना
निवेदिते चैव गुरोः समवसरणम् । अथ निपचारचनमुचितभूमा-
चपि गुरुनिपद्याकरणमित्यर्थः । संघट्टनं चैवाऽनिदोष इति गा-
थार्थः ॥ ५१॥

तत्तो पवेइआए, उवविसइ गुरुओ णिअनिसिज्जाए ।

पुरओ चिट्ठइ सीसो, सम्म जहाजायउवकरणो ॥ ५२ ॥

ततस्तदनन्तरं रचकेन साधुना प्रवेदियां कथितायां सत्यामुप-
विशति गुरुराचार्ये पय, न शेषसाधवः । कत्याह ?—निजनिपद्यायां
या तदर्थमेव रचितेति । पुरतश्च शिष्यस्तिष्ठति प्रक्रान्तः, सम्यगसं-
क्रान्तः, यथाजातोपकरणो रजोहरणमुखवस्त्रिकादिधरः, इति
गाथार्थः ॥ ५२ ॥

पेहिंति तत्रो पोत्तिं, तीए अ स सीसगं पुणो कायं ।

वारसवंदण संदिस्, सज्झायं पट्टवामो त्ति ॥ ५३ ॥

प्रत्ययेकैते तदनन्तरं मुखवस्त्रिकां द्वावपि, तथा च मुखव-
स्त्रिकया स शिरः पुनः कायं प्रत्ययेकैते इति । ततः शिष्यो
द्वादशावर्तवन्दनपुरस्सरमाह—संदिशत यूयं स्वान्यायं प्रस्था-
पयामः, प्रकर्षेण वर्तयाम इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

पट्टवणाऽणुणणाए, तत्तो दुअगा वि पट्टवेइ त्ति ।

तत्तो गुरु निसीअइ, इअरो वि णिवेअइ तं ति ॥ ५४ ॥

प्रस्थापयत्यनुज्ञाते सति गुरुणा, ततो द्वावपि गुरुशिष्यौ प्रस्था-
पयत इति । ततस्तदनन्तरं गुरुर्नैपीदति स्वनिपद्यायाम्, इतरोऽपि
शिष्यो निवेदयति तं स्वाध्यामिति गाथार्थः ॥५४॥

तत्तो वि दोवि विहिणा, अणुआगं पट्टविति उवउत्ता ।

वंदिज्जु तत्रो सीसो, अणुजाणावेइ अणुआगं ॥ ५५ ॥

ततश्च द्वावपि गुरुशिष्यौ विधिना प्रवचनोक्तेनाऽनुयोगं प्रस्था-
पयतः उपयुक्तौ सन्तौ वन्दित्वा ततस्तदनन्तरं शिष्यः । किमि-
त्याह ?—अनुज्ञापयत्यनुयोगं, गुरुणेति गाथार्थः ॥ ५५ ॥

अभिर्मंतिकण अक्खे, वंदइ देवं तत्रो गुरु विहिणा ।

विअ एव नमोकारं, कट्ठइ नंदिं च संपुअं ॥ ५६ ॥

अभिर्मन्त्र आचार्यमन्त्रेणाक्षाध्वनकान् वन्दते देवाश्चैत्यानि
ततो गुरुविधिना प्रवचनोक्तेन । ततः किमित्याह—स्थित एवो-
र्ध्वस्थानेन नमस्कारं पञ्चमङ्गलकमाकर्षयति, त्रिः पठति नन्दीं

च संपूर्णग्रन्थपद्धतिमिति गाथार्थः ॥ ५६ ॥

इअरो वि त्रिओ संतो, सुणेइ पोत्तीइ उइअमुहकपलो ।

संविमो उवउत्तो, अचंतं मुद्धपरिणामो ॥ ५७ ॥

इतरोऽपि शिष्यः स्थितः सन्तुर्ध्वस्थानेन शृणोति मुखवस्त्रि-
कया विधिगृहीतया स्थगितमुखकमलः संश्रिति । स एव विशेष-
प्यते—संविमो मोक्षार्थी उपयुक्तः सूत्रैकाग्रतया, अनेन प्रकारेणा-
त्यन्तं शुरुपरिणामः बुद्धाशय इति गाथार्थः ॥ ५७ ॥

तो कट्ठिकण नंदिं, जणइ गुरु अहमिमस्स साहुस्स ।

अणुआगं अणुजाणे, खमासमणाए हत्येणं ॥ ५८ ॥

तत आकृष्य पठित्वा नन्दीं भणति गुरुराचार्यः—अहमस्य
साधोरुपस्थितस्यानुयोगमुक्तलक्षणमनुजानामि क्रमाश्रमणानां
प्राकृतव्रतपीणां हस्तेन, न स्वमनीषिकयेति गाथार्थः ॥ ५८ ॥

कथमित्याह—

दव्वगुणपज्जवेहिं अ, एम अणुआग उवदिउं सीसो ।

संदिमह किं जग्गामो, वंदणमिह जहेव सामइए । ५९॥

उद्योगुणपर्यायैर्व्याख्याङ्कुरैरेवोऽनुज्ञात इत्यन्तरे वन्दित्वा
शिष्यः—संदिशत यूयं किं भणामीत्यादि वन्दनं जातं यथैव सा-
मायिकं तथैव द्रष्टव्यमिति गाथार्थः ॥ ५९ ॥

यदत्र नानात्वं तदभिधातुमाह—

नवरं सम्मं थारय, अन्नोसिं तह पवेयह भणाइ ।

इच्छामणुसट्ठीए, सीसेण कयाइ आयरिओ ॥ ६० ॥

नवरम्, अत्र सम्यग्धारय, आचारसेवनेनेत्यर्थः । अन्येन्यस्त-
था प्रवेदय सम्यगेवेति ज्ञपति । कदेत्याह—इच्छाम्यनुशास्तौ
शिष्येण कृतायां सत्यामाचार्य इति गाथार्थः ॥ ६० ॥

तिपयक्खणीकए तो, उवविसए गुरु कए अनुस्सग्गे ।

सणिस्सज्जे तिययक्खिणए, वंदण सीसस्स वावारो ॥ ६१ ॥

त्रिः प्रदक्षिणीकृते सति शिष्येण तत उपविशति गुरुः, अत्रान्तरे
ऽनुज्ञाकायोत्सर्गः, कृते च कायोत्सर्गे तदनु सनिपद्ये गुरौ त्रिःप्रद-
क्षिणं वन्दनं ज्ञापसारं शिष्यस्य व्यापारोऽयमिति गाथार्थः ॥६१॥

उवविसइ गुरुसमीवे, सो साहुइ तस्स तिज्जे वाराओ ।

आयरियपरंपरए—ए आगए तत्थ मंतपए ॥ ६२ ॥

उपविशति गुरुसमीपे तन्निपद्यायामेव दक्षिणपार्श्वे शिष्यः
स गुरुं कथयति । तस्य त्रीन् वरान् । किमित्याह—आचार्यपारम्प-
र्येणागतानि पुस्तकादिष्वलिखितानि तत्र मन्त्रपदानि विधिना
सर्वार्थसाधकानीति गाथार्थः ॥६२॥

तथा—

देइ तत्रो मुट्ठीओ, अक्खणाणं सुरभिगंधसहिआणं ।

वहंत सो वि सीसो, उवउत्तो गिणहई विहिणा ॥ ६३ ॥

ददाति तत्तः त्रीन् मुट्ठीनाऽऽचार्योऽक्षाणां ध्वन्दनकानां सुरभि-
गन्धसहितानां, वर्द्धमानान् प्रतिमुष्टिं सोऽपि च शिष्य उपयुक्तः
सन् गृह्णाति विधिनेति गाथार्थः ॥ ६३ ॥

एवं व्याख्याङ्कुरपानकान् दत्त्वा—

उट्ठेति निसिज्जाओ, आयरिओ तत्थ उवविसइ सीसो ।

तो वंदई गुरु तं, सहिओ सेसेहिं साहुहिं ॥ ६४ ॥

उत्तिष्ठति निपद्याया आचार्योऽत्रान्तरे तत्रोपविशति शिष्योऽ

नुयोगी, ततो वन्दते गुरुस्तं शिष्यसहितैः शेषसाधुभिः सन्नि-
हितैरिति गाथार्थः ॥ ६४ ॥

जणइ अ कुरु वक्खाणं, तत्थ ठिओ चेव सो तओ कुणइ ।

एण्दाइ जहासत्ती, परिसं नाऊण वा जोगं ॥ ६५ ॥

भणति च-कुरु व्याख्यानमिति तमजिनवाचार्यं, तत्र स्थित एव
ततोऽसौ करोति तद्व्याख्यानमिति नन्द्यादि यथाशक्त्येति
तद्विषयमित्यर्थः । पर्षदं च ज्ञात्वा योग्यमन्यदपीति गाथार्थः ।

आयरिअनिसज्जाए, उवाविसणं वंदणं च तह गुरुणो ।

तुह्णगुणखावण्डा, न तथा छुट्टं दुविएहं पि ॥ ६६ ॥

आचार्यनिपद्यायामुपवेशनम्, अजिनवाचार्यस्य वन्दनं च तथा
गुरोः, प्रथममेवाचार्यस्य तुल्यगुणख्यापनार्थं लोकानां, न तदा
दुष्टं द्वयोरपि शिष्याचार्ययोर्यथोर्थातमेतदिति गाथार्थः ॥ ६६ ॥

वदंति तत्रो साहु, उत्तिट्ठइ अ तत्रो पुणो णिसिज्जाओ ।

तत्थ निसीअइ अ गुरु, उववूहण पढमपन्नं उ ॥ ६७ ॥

वन्दन्ते ततः साधवः, व्याख्यानसमनन्तरमुत्तिष्ठति च ततः
पुनर्निपद्याया अभिनवाचार्यः, तत्र निपद्यायां निषीदति च गुरु-
मौलः, उपवृंहणमन्तरे प्रथमम् । अन्ये तु व्याख्यानादिति
गाथार्थः ॥ ६७ ॥

घणोऽसि तुपं णायं, जिणवयणं जेण सव्वदुक्खहरं ।

तं सम्ममियं भवया, पओजिअव्वं सयाकाढं ॥ ६८ ॥

धन्योऽसि त्वं सम्यग्ज्ञातं जिनवचनं येन भवता सर्वदुःख-
हरं मोक्षहेतुस्तत्सम्यग्निर्दिष्टं जवता प्रवचननीत्या प्रयोक्तव्यं
सदा सर्वकालमनवरतमिति गाथार्थः ॥ ६८ ॥

इहरा उ रिणं परमं, असंमजोगे अजोगओ अवरो ।

ता तह इह जइअव्वं, जह एत्तो केवलं होइ ॥ ६९ ॥

इतरथा तुरिणं परममेतदसम्यग्योगे सुखशीलतया । असम्य-
योगश्च अयोगतोऽप्यपरः पार्यायान् रूपव्यः । तत्तथेह यतितव्यमु-
पयोगतो यथाऽतः केवलं जवति, परमज्ञानमिति गाथार्थः ॥ ६९ ॥

परमो अ एस हेऊ, केवलनाणस्स अन्नपाणीणं ।

मोहावणयणओ तह, संवेगाइसयभावेण ॥ ७० ॥

परमश्चैव जिनवचनप्रयोगहेतुः केवलज्ञानस्य, अवलम्ब्य इत्यर्थः ।
कुत इत्याह-अन्यप्राणिनां मोहापनयनान्मोहपसरणकारणात्,
तथा संवेगातिशयभावेनौजयोरपीति गाथार्थः ॥ ७० ॥

एवं उव्वूहेउं, अणुओगविसज्जणट्ठमुस्सगो ।

काअस्स पडिक्कमणं पदेअणं संघविहिदाणं ॥ ७१ ॥

एवमुपवृष्ट्या तमाचार्यमनुयोगविसर्जनार्थमुत्सर्गः क्रियते ।
काहस्य प्रतिक्रमणं, तदात्वे प्रवेदनं, निरुक्तस्य संघविधिदानं
यथाशक्ति नियोगत इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥

पच्छा य सोऽणुओगी, पवयणकज्जम्मि निच्चमुज्जुत्तो ।

जोगाणं वक्खाणं, करिज्ज सिद्धंतविहिणा उ ॥ ७२ ॥

पश्चाच्च सोऽनुयोगी आचार्यः प्रवचनकार्यं नित्यमुद्युक्तः सन्
योगेभ्यो विनेयेभ्यः व्याख्यानं कुर्याद् गुर्वादेशाज्ञासिद्धान्त-
विधिर्नैवेति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

योग्यानाह-

मज्झत्था बुद्धिजुआ, धम्मत्थी ओघओ इमो जोगा ।

तह चेव पसत्थाई, सुत्तविसेसं समासज्ज ॥ ७३ ॥

मध्यस्थाः सर्वत्रारक्ताद्विष्टाः, बुद्धियुक्ताः प्राज्ञाः, धर्माधिनिः
परलोकभीरवः, ओघतः सामान्येनैते योग्याः सिद्धान्तश्रवणस्य ।
तथैव प्रशस्तादयो योग्याः आदिशब्दात्परिणामकादिपरिग्रहः,
सूत्रविशेषमङ्गलचूलादिरूपं समाश्रित्येति गाथार्थः ॥ ७३ ॥

मध्यस्थादिपदानां गुणानाह-

मज्झत्थाऽसगाहं, एत्तो वि अ कत्थइं न कुव्वंति ।

सुप्पासया य पार्यं, होंति तहाऽऽसन्नज्जवा य ॥ ७४ ॥

मध्यस्थाः प्राणिनः असद्ग्राहं तत्त्वावबोधशत्रुम्, अत एव क-
चिद् वस्तुनि न कुर्वन्ति, अपि तु मार्गानुसारिमतय एव जवन्ति,
तथा बुद्धाशयाश्च मायादिदोषरहिताः प्रायो जवन्ति मध्यस्थाः,
तथाऽऽसन्नज्जवाश्च, तेषु सफलः परिश्रमः, इति गाथार्थः ॥ ७४ ॥

बुद्धिजुआ गुणदोसे, सुहुमे तह वायरे य सव्वत्थ ।

संमत्तकांमिमुक्के, तत्तट्ठिइए पवज्जंति ॥ ७५ ॥

बुद्धियुक्ताः प्राज्ञा गुणदोषान् वस्तुगतान् सूक्ष्मांस्तथावादरांश्च
सर्वत्र विषये सम्यक्त्वकोटिबुद्धान् कपक्वेदतापबुद्धांस्तत्त्व-
स्थित्याऽतिगम्भीरतया प्रपद्यन्ते साध्विति गाथार्थः ॥ ७५ ॥

धम्मत्थी दिट्ठत्थे, ददो व्व पंकाम्मि अपमिवंधाओ ।

उत्तारिज्जंति सुहं, धन्ना अन्नाणसद्विद्याओ ॥ ७६ ॥

धर्माधिनिः प्राणिनः दृष्टार्थं ऐहिके दद इव पट्टेऽप्रतिबन्धा-
त्कारणादुत्तार्यन्ते पृथक् क्रियन्ते सुखं, धन्याः पुण्यभाजः ।
कुतः ? अज्ञानसत्तिद्वान्मोहादिति गाथार्थः ॥ ७६ ॥

पत्तो अ कप्पिओ इह, सो पुण आवस्सगाइसुत्तस्स ।

जा सूअगं ता जं, जेणा ओीअं ति तस्सेव ॥ ७७ ॥

प्राप्तश्च कल्पिकोऽत्र प्रपद्यते, स पुनरावश्यकादिसूत्रस्य यावच्च
सूत्रकृतं छितीयमङ्गं तावद्यद्येनाधीतमिति पठितमित्यर्थः । त-
स्यैव तान्यस्येति गाथार्थः ॥ ७७ ॥

वेअसुआईएसु अ, ससमयजावे वि भावजुत्तो जो ।

पिअधम्मऽवज्जचीरु, सो पुण परिणामगां णेओ ॥ ७८ ॥

वेदसूत्रादिषु च निशीथादिषु स्वसमयभावेऽपि स्वकावभावे-
ऽपि भावयुक्तो यः विशिष्टान्तःकरणवान् प्रियधर्मस्तीव्ररुचि-
रवद्यभीरुः पापभीरुः स पुनरयमेवंभूतः परिणामको ज्ञेयः, उ-
त्सर्गापवादविषयप्रतिपत्तेरिति गाथार्थः ॥ ७८ ॥

एतदेवाह-

सो उत्सर्गाईणं, विषयविभागं जहट्ठिअं चेव ।

परिणामेइ हियं ता, तस्स इमं होइ वक्खाणं ॥ ७९ ॥

स परिणामकः, उत्सर्गापवादयोर्विषयविभागमौचित्येन यथाऽ-
वस्थितमेव सम्यक् परिणमयत्येवमेव हितं तत्तस्मात्कारणात्त-
स्येदं भवति व्याख्यानं सम्यग्बोधादिहेतुत्वेनेति गाथार्थः ॥ ७९ ॥

अऽपरिणामगऽपरिणा-मगाण पुण चित्तकम्मदोसेण ।

उदियं विसेयं दो-सुदए ओसहसमाणं उ ॥ ८० ॥

अतिपरिणामकापरिणामकयोः पुनः शिष्ययोश्चित्रकर्मदोषेण
हेतुनोदितमेव विज्ञेयं व्याख्यानं, दोषोदये औषधसमानं विषय-
यकारीति गाथार्थः ॥ ८० ॥

तेसिं तविय जायइ, जओ अणत्थो तओ ण मइमं ।

तेसिं चेव हियट्ठा, करिज्ज पुज्जा तहा चाहु ॥ ८१ ॥

तयोरतिपरिणामकाऽपरिणामकयोः तत एव व्याख्यानाज्जायते

यतोऽनर्थो विपर्यययोगात्, ततो न तद्व्याख्यानं मतिमान् गुरुस्त-
योरेवातिपरिणामकापरिणामकयोर्हितायानर्थप्रतिघातेन कुर्यात्।
नेति वर्तते, पूज्याः पूर्वगुरवः तथा चाहुरिति गाथार्थः ॥ ८१ ॥

आमे घडे निहिच्चं, जहा जलं तं धनं विणासेइ ।

इअ सिध्दंतरहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ ॥ ८२ ॥

आमे घटे निक्षिप्तं सद् यथा जलं तं घटमामं विनाशयति, इत्येवं
सिद्धान्तरहस्यमप्यल्पाहारं प्राणिनं विनाशयतीति गाथार्थः ॥

न परंपरया वि तत्रो, मिच्छाभिनिवेशजाविअमईओ ।

अन्नेसिं पि अ जायइ, पुरिसत्थो सुद्धरूओअ ॥ ८३ ॥

न परम्परयाऽपि ततोऽतिपरिणामकादेर्मिथ्याऽग्निनिवेशजावि-
तमतेः सकाशादन्येषामपि श्रोतॄणां जायते पुरुषार्थः, शुद्धरूपो
वा, मिथ्याप्ररूपणादिति गाथार्थः ॥ ८३ ॥

एतदेवाह—

अविवत्तओ वि पायं, तव्जावोऽण्णाइमं ति जीवाणं ।

इअ मुणिकण तयत्थं, जोगाण करिज्ज वक्खाणं ॥ ८४ ॥

अविवर्तक एव अतिपरिणामादिक एव, प्रायो मिथ्याऽग्निनि-
वेशभावितमतेः सकाशात् तस्य च भावः तद्भावो मिथ्याऽग्निनि-
वेशभावोऽनादिमानिति कृत्वा जीवानां भावनासहकारिवि-
शेषादियमेवं मन्वा तदर्थं तद्विनाशायैव योगेभ्यो विनेयेभ्यः
कुर्याद् व्याख्यानं विधिनैति गाथार्थः ॥ ८४ ॥

उवसंपण्णाण जहा-विहाणओ एव गुणजुआणं पि ।

सुत्तत्थाइकमेणं, सुविणिच्छिअमप्पणा सम्मं ॥ ८५ ॥

उपसंपन्नानां सतां यथाविधानतः सूत्रनीत्या, एवं गुणयुक्ताना-
मपि नान्यथा तदपरिणत्यादिदोषात् । कथं कर्तव्यमित्याह—सू-
त्रार्थादिकमेण यथाबोधं सुविनिश्चितमात्मना सम्यक्, न शुकप्र-
ज्ञापप्रायमिति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ पं० व० ४ द्वा० । (अङ्गाद्यनुयो-
गविधिः 'जोगविहि' शब्दे वक्ष्यते)

(१४) अधुना प्रवृत्तिद्वारं वक्ष्यम्—

प्रवृत्तिः, प्रवाहः, प्रवृत्तिरित्येकार्थाः । प्रथममनुयोगः प्रवर्तते इति ।

सा च प्रवृत्तिर्दिशा-द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतः प्रवृत्तिमाह—

अणिल्लो अणिल्लत्ता, अणिल्लो चैव होइउ निउत्ता ।

नीउत्तो अणिल्लत्ता, निउत्तो चैव उ निउत्ता ॥

निउत्तोऽणिल्लत्ता, पवत्तइ अहव ते वि उ निउत्तो ।

दव्वमि होइ गोणी, जावमि जिणादयो हुंति ॥

द्रव्यतः प्रसवे गौर्दृष्टान्तो भवति, भावे जिनादयः, तत्र गवि गो-
दोहकेन सह चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा—दोहकोऽनियुक्तो गौरप्य-
नियुक्ता १। दोहकोऽनियुक्तो गौर्नियुक्ता २। दोहको नियुक्तो गौर-
नियुक्ता ३। दोहको नियुक्तो गौरपि नियुक्ता ४। एवमाचार्यशिष्ये-
ष्वपि जङ्गचतुष्टयं योजनीयं, तच्चात्र योक्ष्यते । तत्र तृतीये भङ्गे
नियुक्त आचार्यो वल्लादप्यनियुक्तानां शिष्याणामनुयोगं प्रवर्त्तय-
ति । अथवा द्वितीये भङ्गे तेऽपि शिष्या नियुक्ता अनियुक्तमाचा-
र्यमनुयोगे प्रवर्त्तयन्ति; एवं हि तृतीये द्वितीये च भङ्गेऽनुयोगस्य
प्रवृत्तिः । प्रथमे तु सर्वथा न प्रवर्त्तते । चतुर्थे प्रवृत्तिर्निष्पतिपक्षैव ।

तत्र गोदृष्टान्तविपर्ययं जङ्गचतुष्टयं व्याख्यानयति—

अप्पएहुया य गोणी, नेव य दोष्ठा समुज्जओ दोष्कुं ।

खीरस्स कुओ पसवो, जइ वि य सा खीरदा धेणू ॥

वीए वि नत्थि खीरं, थोवं च इविज्ज एव तइए वि ।

अत्थि चतुर्थे खीरं, एसुवमा आयरियसीसे ॥

गौरप्रस्तुता नैव च दोष्ठा वा दोष्कुं समुद्यतः, ततो यद्यपि सा
क्षीरदा घेनुस्तथाऽप्यस्मिन् प्रथमभङ्गे कुतः क्षीरस्य प्रसवः, नैव
कुतश्चित् । द्वितीयेऽपि भङ्गे दोहकोऽनियुक्तो गौर्नियुक्तेत्येवं रूपे ना-
स्ति क्षीरम्, दोहकस्यानियुक्तत्वात्, अथवा गौः प्रस्तुतेति स्तनेषु
गलत्सु स्तोकं क्षीरं भवेत् । एवं तृतीयेऽपि भङ्गे दोहको नियु-
क्तो गौरनियुक्तेत्येवं लक्षणे नास्ति क्षीरप्रसवः, स्तोकं वा
स्यादोहकगुणेन । चतुर्थे पुनर्भङ्गे गौरपि प्रस्तुता दोहकोऽपि
नियुक्त इत्यस्ति क्षीरप्रसवः । एषा उपमा जङ्गचतुष्टयात्मिका अ-
चार्यशिष्ययोरप्यनुयोगस्य प्रसवे वेदितव्या । तथाहि—आचा-
र्योऽप्यनियुक्तः, शिष्या अपि अनियुक्ता इति प्रथमभङ्गे नास्त्य-
नुयोगस्य प्रवृत्तिः । अनियुक्त आचार्यः शिष्या नियुक्ता इति
द्वितीयेऽपि भङ्गे नानुयोगः, आचार्यस्यानियुक्तत्वात् ।

अहवा अणिल्लत्ता, अवि किंचि उज्जोगिणो पवत्तंति ।

तइए सारिते वा, होज्ज पविच्छी गुणिते वा ॥

अथवा अनियुक्तमाचार्यमनिच्छन्तमपि उद्योगिनः शिष्याः
किञ्चित्प्रवृत्तिपृच्छादिजिननुयोगं कर्तुं प्रवर्त्तयन्ति, ततो भवति
द्वितीयेऽपि भङ्गेऽनुयोगस्य प्रवृत्तिः । तृतीये—आचार्यो नियुक्तः,
शिष्या अनियुक्ता इत्येवंरूपे नास्त्यनुयोगस्य संभवः, अथवा
पुनःपुनः सारयत्याचार्ये, अथवा श्रोतुमनिच्छन्तमपि शैलस-
मानं किञ्चित् श्रोतारं पुरतो विन्यस्यमानस्य त्वनुयोग इति शु-
ण्ययति गुणननिमित्तमनुयोगं कुर्वति भवेदनुयोगः ।

अत्र दृष्टान्तः काश्चिकाचार्यः, तमेवाह—

सागारियमप्पाहण—सुवन्नसुयसिस्सखंतलक्खेण ।

कहणा सिस्सागमणं, धूलीपुंजोवमाणं च ॥ १ ॥

उज्जयणीए नयरीए अज्जकावगा नामं आय-
रिया सुत्तत्थोववेया बहुपरिवारा विहरंति, तेसिं अ-
ज्जकावगाणं सीसस्स सीसो सुत्तत्थोववेओ सागरो
नामं सुवन्नज्जूमीए विहरइ, ताहे अज्जकावगा चिंतंति—एए
मम सीसा अणुश्रोगं न सुणंति, तत्रो किमेपसिं भेज्जे चि-
ट्टामि, तत्थ जामि जत्थ अणुश्रोगं पवत्तेमि, अविय पए वि
सिस्सा पच्छा लज्जिआ सोच्चिहिंति, एवं चित्तिज्जण सेज्जा-
यरपापुच्छंति—कहं अन्नत्थ जामि, तओ मे सिस्सा सुणेहिं-
ति, तुमं पुण मा तेसिं कहेज्जा, जइ पुण गाढतरं निवंधं
करिज्जा, तो खरंटेउं साहेज्जा, जहा सुवन्नज्जूमीए सागराणं
सगासं गया, एवं अप्पाहित्ता (संदिश्य) रत्तिं चैव पसुत्ताणं
गया सुवस्सभूमिं, तत्थ गंतुं खंतलक्खेण पविट्ठा सागराणं
गच्छं, तत्रो सागरायरिया खंतंति काउं तं नादाइआ अ-
व्जुट्ठाइणि, तओ अत्थ पोरिसीवेट्ठाए सागरायरिएणं भणि-
या-खंता तुभं एयं गमइ । आयरिया भणंति—आमं तो
खाइं सुणेहत्ति एकहिया गव्वायंता य कहंति । इयरे वि सी-
साए पजाए संते संभंता आयरियं अपस्संता सव्वत्थ मग्गि-
ओ, सिज्जायरं पुच्छंति, न कहइ, जणइ य तुभं अप्पणो
आयरिओ न कहइ, मम कहं कहइ ? तत्रो आठरीज्जूए-

हिं गाढनिबन्धकए कहियं-जहा-तुम्ह निबन्धेण सुवन्न-
चूमीए सागराणां सगासं गया, एवं कहिंता ते खरिंटिया ।
तओ ते तह चैव उच्चलिया सुवन्नचूर्मिं गंतुं, पंथे लोगो
पुच्छइ एस कयरो आयरिओ जाइ । ते कहिंति-अज्जकाल-
गा, तओ सुवन्नचूमीए सागराणं दोगेण कहियं-जहा
अज्जकालगा नाम आयरिया बहुसुया बहुपरिवारा इहा-
गंतुकामा पंथे वट्ठंति- ताहे सागरो सिस्साणं पुरओ भण-
ति-मम अज्जया इति, तेसिं सगासे पयत्थे पुच्छिहामि चि ।
अचिरेणं ते सीसा आगया, नत्थ अगिल्लेहिं पुच्छिज्जाति-
किं इत्थ आयरिया आगया चिट्ठंति, नत्थ, नवरं अन्ने
खंता आगया, केरिसा वंदिए नायं एए आयरिया?, ताहे साग-
रो अज्जिओ बहु, मए इत्थं पत्तावियं-खमासमणा य वंदाविया,
ताहे अवरएहवेत्ताए मिच्छाउकनं करेइ, आसाइय चि ।
भणियं चाणेण-केरिसं खमासमणो अहं वागरेमि? । आय-
रिया जणंति-सुंदरं, मा पुण गव्वं करिज्जासि । ताहे धूली-
पुंजादिहंतं करंति, धूळी इत्येण धेत्तुं तिसट्ठाणेषु उयारंति,
जहा-एस धूली उविज्जमाणी ओखिप्पमाणी २ सव्वत्थ
परिसरइ एवं अत्थो वि तित्थगरोहिंतो गणहराणं गणह-
रेहिंतो जाव अम्हं आयरियं उवज्जायाणं परंपरण
आगयं, को जाणइ कस्स केइ पज्जाया गत्थिया?, तो मा
गव्वं काहिसि, ताहे मिच्छाउकनं करिंता आढत्ता अज्ज-
कालिया सीसपसीसाणं अणुओगं कहेउं ।

संप्रत्यक्षरगमनिका-सागारिका शय्यातरस्तस्य 'अप्पाहणं' सं-
देशकथनं, स्वयमाचार्याणां सुवर्णभूमौ श्रुतशिष्यस्यापि शिष्य-
स्य सागराभिधानस्य 'खंतद्वक्खेण' वृक्षव्याजेन गमनं, पश्चात्
शिष्याणां सागरिकेण कथना-यथाऽऽचार्याः सुवर्णचूर्मौ सा-
गरस्यान्तिकं गताः, ततः शिष्याणां तत्राऽऽगमनं, सागरं गर्वमु-
द्वहन्तं प्रति धूळीपुञ्जोपमानमिति ।

चतुर्थमङ्गमधिकृत्याह-

निउत्तो उज्जयकालं, भयवं कहुणाइ वच्चमाणाओ ।
गोयममाई विसया, सोयव्वे हुंति उ निउत्ता ॥ १ ॥

नियुक्त उभयकालमनुयोगं करोति, नियुक्ता उभयकालं
शृण्वन्ति । अत्र कथनार्या दृष्टान्तो-जगवान् वर्द्धमानस्त्रा-
मी, श्रोतव्ये सदा नियुक्ता दृष्टान्ता भवन्ति गौतमादयः ।
('वायणा' शब्दे चैतद् विस्तरतो वक्ष्यते) गतं प्रवृ-
त्तिद्वारम् । वृ० १ उ० । अनु० ।

(१५) उद्यमी सूरिरुद्यमिनः शिष्याः, उद्यमी सूरिरुद्यमिनः
शिष्याः, अनुद्यमी सूरिरुद्यमिनः शिष्याः, अनुद्यमी सूरिरुद्य-
मिनः शिष्याः, इति चतुर्भङ्गी ।

अत्र प्रथमजङ्गे अनुयोगस्य प्रवृत्तिर्भवति, चतुर्थे तु न भव-
ति, द्वितीयतृतीययोस्तु कदाचिन्मथश्चिद्भवत्यपि । अनु० ।

"एत्थं पुण अहिगारो, सुयणारोणं जओ सुपणं तु ।

सेसाणमप्पणो वि य, अणुओगपईवदिहंतो ॥

श्रुतस्य त्रोद्देशादयः प्रवर्तन्ते इति । उक्तं च-सुयणारस्स उहे-

सो समुदेशो अणुषा अणुभोगो पवत्तइ' तत्रादावेवोद्दिष्टस्य
समुद्दिष्टस्य समनुज्ञातस्य च सतोऽनुयोगो भवतीति । अतो
निर्युक्तिकारेणाज्यधायि श्रुतज्ञाने अनुयोगेनाधिकृतमिति ।

(१६) इदानीं केनाऽनुयोगः कर्त्तव्य इति द्वारमाह-

देसकुलजाइरूवी, संहणणी धिइजुओ अणासंसी ।

अविकत्थणो अमाई, धिरपरिवामी गहियवको ॥

जियपरिसो जियनिदो, मज्झत्थो देसकालजावन्नू ।

आसन्नद्वपइओ, नाणाविहदेसजासन्नू ॥

पंचविहे आयारे, जुत्तो सुत्तत्थ-तट्टजयविहिन्नू ।

आहरणं हेउं उवयण-नयनिउणो गाहणाकुसलो ॥

ससमयपरसमयविओ गंजीरो दित्तिमं सिवो सोमो ।

गुणसयकलिओ जुत्तो, पवयणसारं परिकहेउं ॥

युतशब्दः प्रत्येकमाभिसंबध्यते । देशयुतः कुलयुत इत्यादि । तत्र
यो मध्यदेशे जातो यावदर्द्धपक्षिणतिषु जनपदेषु स देशयुतः,
स ह्यार्यदेशजणितं जानाति, ततः सुखेन तस्य समीपे शिष्या
अधीयते इति । तदुपादानम्, कुलं पैतृकं, तथाच लोके व्यवहारः,
इत्वाकुलजोऽयं, नाग (ज्ञात) कुलजोऽयमित्यादि । तेन युतः प्र-
तिपन्नार्थनिर्वाहको भवति । जातिर्मातृकी तथा युतो विनयादिगु-
णवान् भवति । रूपयुतो लोकानां गुणविषयवहुमानभाग् जायते,
" यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति " इति प्रवादान् । संहननयुतो
व्याख्यायां न आस्यति । धृतियुतो नास्ति गहनेष्वर्थेषु भ्रममुपया-
ति, अनाशंसी श्रोतृभ्यो ब्रह्माद्यनाकाङ्क्षी । अविकत्थनो नाति-
बहुभाषी । स्थिरोऽतिशयेन निरन्तराज्यासतः स्थैर्यमापन्ना
अनुयोगपरिपाठ्यो यस्य स स्थिरपरिपाटी, तस्य हि सूत्रमर्थो
वा न मनागपि गलति । गृहीतवाक्य उपादेयवचनः, तस्य ह्य-
ल्पमपि वचनं महार्थमिव प्रतिजाति । जितपरिपत्तं महत्यामपि
पर्यादि न कोभमुपयाति । जितनिद्रो रात्रौ सूत्रमर्थं वाचयन् प-
रिज्ञाचयन् वा न निद्रया वाध्यते । मध्यस्थः सर्वेषु शिष्येषु सम-
चित्तः । देशं कालं भावं च जानातीति देशकालभावज्ञः । स
हि देशं कालं भावं च लोकानां ज्ञात्वा सुखेन विहरति, शि-
ष्याणां वाग्भिप्रायान् ज्ञात्वा तान् सुखेनानुवर्त्तयति । आसन्न-
द्वध्वप्रतिभः परवादिना समाक्षिप्तः शीघ्रमुत्तरदायी । नाना-
विधानां देशानां भाषां जानातीति नानाविधदेशज्ञाभाक्षः, स
हि नानादेशीयान् शिष्यान् सुखेन शास्त्राणि ग्राहयति । पञ्चवि-
ध आचारो ज्ञानाचारादिरूपस्तस्मिन् युक्तः स्वयमाचारेष्वस्थि-
तस्यान्यानाचारेषु प्रवर्त्तयितुमशक्यत्वात् । सूत्रार्थग्रहणेन च-
तुर्भङ्गी सूचिता । एकस्य सूत्रं नार्थः ? । द्वितीयस्यार्थो न सूत्रम-
२ । तृतीयस्य सूत्रमप्यर्थोऽपि ३ । चतुर्थस्य न सूत्रं नाऽप्यर्थः
४ । तत्र तृतीयमङ्गग्रहणार्थं तट्टभयग्रहणं सूत्रार्थं तदुभयविधीन्
जानातीति सूत्रार्थतट्टजयविधिज्ञः । आहरणं दृष्टान्तः । हेतुश्च-
तुर्विधो ज्ञापकादियथा-दशवैकान्तिकनिर्युक्तौ, यदि वा द्विविधो
हेतुः कारको ज्ञापकश्च । तत्र कारको-घटस्य कर्त्ता कुम्भकारः ।
ज्ञापको यथा-तमसि घटादीनामज्जिज्जकः प्रदीपः ।
उपनय उपसंहारः, नया नैगमादयः, एतेषु निपुण आहरणहे-
तूपनयनिपुणः, स हि श्रोतारमपेक्ष्य तत्प्रतिपत्त्यनुरोधतः क-
चित् दृष्टान्तोपन्यासं कञ्चिदुपन्यासं करोति । उपसंहारनिपु-
णतया सम्यगधिकृतमुपसंहरति । नयनिपुणतया नयवक्तव्यता-
श्वसरे सम्यक् प्रपञ्चं वैविक्त्येन नयानभिधत्ते । ग्राहणाकुशलः

प्रतिपादनशक्त्युपेतः, स्वसमयं परसमयं वेत्तीति स्वसमय-
परसमयविदः; स च परेणाक्षितः सुखेन स्वपक्षं परपक्षं च
निर्वाहयति। गम्भीरोऽनुच्छस्वभावः। दीप्तिमान् परवादिनाम-
नुद्धर्षणीयः। शिवोऽकोपनः। यदि वा यत्र तत्र वा विहरन् क-
ल्याणकरः। सोमः शान्तदृष्टिः। गुणा मूलगुणा उत्तरगुणाश्च,
तेषां शतानि तैः कक्षितो गुणशतकक्षितः। युक्तः समीचीनप्रवच-
नस्य द्वादशाक्षस्य सारमर्थं कथयितुम्।

कस्माद् गुणशतकक्षित इष्यते इति चेदत आह—

गुणसुष्टियस्स वयणं, धयपरिमित्तु ज्व पावओ भाइ ।

गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविदूणो जह पईवो ॥

यो मूलगुणादिषु गुणेषु सुस्थितस्तस्य वचनं धृतपरिमित्तपा-
धक इव ज्ञाति दीप्यते। गुणहीनस्य तु न शोजते वचनम्,
यथा स्वेहेन विहीनः प्रदीपः। उक्तं च—“आयारे वट्ठंते, आया-
रपूवणाअसंकंतो। आयारपरिभट्ठो, सुद्धचरणदेसणे भइ-
ओ ॥” गतं केन चेति द्वारम्।

(१४) अथुना कस्येति द्वारमाह—

जइ पवयणस्स सारो, अत्थो सो तेण कस्स कायव्वो ।

एवं गुणन्निपणं, सव्वसुयस्सा उ देसस्सा ? ॥

यदि प्रवचनस्य सारोऽर्थस्तर्हि स तेनैव गुणान्वितेन कस्य क-
स्यः ? किं सर्वश्रुतस्य, उत देशस्य श्रुतस्कन्धादेरिति।

अत्र सुरिराह—

को कट्ठाणं नेच्छइ, सव्वस्स वि एरिसेण वत्तव्वो ।

कप्पव्ववहारेण उ, पगयं सिस्साण थिज्जत्थं ॥

को नाम जगति कल्याणं नेच्छति। ततः सर्वस्यापि श्रुतस्या-
नुयोग ईदृशेन वक्तव्यः, केवलं कल्पो व्यवहारआपवादबहुल-
स्तेन तयोरनुयोगे विशेषत एतादृशेन प्रकृतमधिकारः, एवं गुण-
युक्तैव कल्पव्यवहारयोरनुयोगः कर्त्तव्य इत्यर्थः। कस्मादेवमु-
च्यते ?—शिष्याणां सिरीकरणार्थम्।

तदेवं स्थिरीकरणं भावयति—

एसुस्सगठियप्पा, जयणाऽणुन्ना ता दरिसंयतो वि ।

तासु न वइइ नूणं, निच्छयओ ता वि अकरिज्जा ॥

यदा नाम यथोक्तगुणशतकक्षितः कल्पव्यवहारयोरनुयोगं क-
रोति तदा शिष्या एवमेव बुध्यन्ते—एष स्वयमुत्सर्गस्थितात्मा,
अथ च कल्पे व्यवहारे च यतनया पञ्चकादिपरिहाणिरूपया
प्रतिसेवनाः अनुज्ञाताः प्रदर्शयति। ततः प्रतिसेवनायतनया अनु-
ज्ञाता अपि प्रदर्शयन् स्वयं तासु न वर्तते, किंतु केवलमुत्सर्ग-
माचरति, तदेवं ज्ञायते नूनम्, निश्चयेनैता यतनया अनुज्ञाता अपि
प्रतिसेवना अकरणीया न समाचरितव्याः।

किञ्च—

जो उत्तमेहिं पइओ, मणो सो दुग्गमो न सेसाणं ।

आयरियम्मि जयंते, तदणुचरा केण सीइज्जा ? ॥

य उत्तमैर्गुणैः प्रहतः क्षुधो मार्गः पन्थाः स शेषाणां दुर्गमो
न भवति, किं तु सुगमः; तत्र आचार्यं यतमाने यथोक्तसूत्रनीत्या
प्रयत्नवति, तदनुचरास्तदाश्रिताः शिष्याः केन हेतुना सीदेयुः ?
नैव सीदेयुरिति भावः। तत एतेन कारणेन कल्पव्यवहारयोर-
नुयोगे विशेषत एतादृशेन प्रकृतम्।

अणुश्रोगमि य पुच्छा, अंगाइ अ कप्पल्लकनिकखेवो ।

सुयखंधे निक्खेवो, इक्के चउविहो होई ॥

अनुयोगे अङ्गादेः पृच्छा वक्तव्या, तदनन्तरं कल्पस्य पट्टे निक्षे-
पः, ततः श्रुतस्कन्धे च एकैकस्मिन् निक्षेपश्चतुर्विधो प्रवतीति
वक्तव्यः। एष द्वारगाथासमासार्थः।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतोऽनुयोगे अङ्गादेः पृच्छामाह—
जइ कप्पाइऽणुश्रोगो, किं सो अंगं उयाहु सुयखंधो ।

अज्जयणं उद्देशो, पडिवक्खं गादिणो वव्वो ॥

यदि कल्पादेरादिशब्दाद् व्यवहारस्य ग्रहणमनुयोगस्ततः
किं सोऽङ्गमुताहो श्रुतस्कन्धोऽध्ययनमुद्देशो वा। अमीषां चाङ्गा-
नां प्रतिपक्षा वव्वोऽङ्गादयो कल्पव्याः। इयमत्र भावना—यदि
नामैतादृशेनाऽऽचार्येणानुयोगः कल्पस्य व्यवहारस्य च कर्त्त-
व्यः, स कल्पो व्यवहारो वा किमङ्गमङ्गानि, श्रुतस्कन्धः श्रुत-
स्कन्धाः, अध्ययनमध्ययनानि, उद्देश उद्देशाः।

अत्र सुरिराह—

सुयखंधो अज्जयणा, उद्देशा चैव हुंति निक्खिप्पा ।

सेसाणं पडिसेहो, पंचएह वि अंगमाईणं ॥

श्रुतस्कन्धोऽध्ययनानि उद्देशा एते त्रयः पक्षा प्रवन्ति निक्षेपाः
स्याप्या आदरणीया इत्यर्थः। शेषाणां पञ्चानामप्यङ्गादीनां प्र-
तिपेधः। तद्यथा—कल्पो व्यवहारो वा—नाङ्गं नाङ्गानि, श्रुतस्क-
न्धो नो श्रुतस्कन्धाः, अध्ययनं नाध्ययनानि, नो उद्देश उद्देशाः।

तस्मा उ निक्खिप्पिस्सं, कप्प व्यवहार सो सुयखंधं ।

अज्जयणं उद्देशं, निक्खिवियव्वं तु जं जत्थ ॥

यस्मादेवं तस्मात्कल्पं निक्षेप्यामि, व्यवहारं निक्षेप्यामि, स्क-
न्धं निक्षेप्यामि, अध्ययनं निक्षेप्यामि, उद्देशं निक्षेप्यामि, यच्च
यत्र निक्षेपव्यं नामादिचतुःप्रकारं पट्टप्रकारं च तत्र वक्ष्यामि, तत्र
कल्पस्य पट्टिधो नामादिको निक्षेपः। यत उक्तं प्राग्द्वारगाथायाम्—
'कप्पल्लकनिकखेवो' व्यवहारस्य चतुर्विधो नामादिनिक्षेपः।

एतयोः स्वस्यानमाह—

आइह्याणं दुएह वि, सट्ठाणं होइ नामनिप्फन्ने ।

अज्जयणस्स चउविहे, उद्देशस्सऽणुगमे भणिओ ॥

आद्योर्द्धयोः कल्पव्यवहारयोर्ध्याकर्म पट्टस्य चतुष्कस्य नि-
क्षेपस्य स्थानं भवति नामनिप्फन्ने निक्षेपे, ततः स तत्र वक्तव्यः
तत्र कल्पस्य पञ्चकल्पे, व्यवहारस्य पीठिकायां अध्ययनस्य
चतुष्पकारो निक्षेप ओधानिप्फन्ने निक्षेपेऽभिधास्यते। उद्दे-
शस्य चानुगमे उपोद्घाते निर्युक्त्यनुगमे भणितः।

संप्रति 'सुयखंधे निक्खेवो' इत्यादिव्याख्यानार्थमाह—

नापसुयं ठवणसुयं, दव्वसुयं चैव होइ जावसुयं ।

एमेव होइ खंधं, पन्नवणा तेसिं पुव्वत्ता ॥

श्रुतस्य चतुष्पकारो नामादिको निक्षेपः। तद्यथा—नामश्रुतं
स्थापनाश्रुतं इत्यश्रुतं भावश्रुतं च। एवमेव अनेनैव प्रकारेण,
स्कन्धेऽपि चतुष्पकारो निक्षेपः। तद्यथा—नामस्कन्धः, स्थापनास्क-
न्धः, इत्यस्कन्धः, भावस्कन्धश्च। एतेषां प्रज्ञापना पूर्वसाच-
इयके उक्ताऽवधारणीया ॥ गतं कस्येति द्वारम् ॥ वृ० १ उ० ।

(१८) इदमेव सप्तमं द्वारं चेत्तसि निधाय सूत्रकृदाह—

नाणं पंचविहं पणत्तं । तं जहा—आजिणिबोहियानाणं,
सुयनाणं, ओहियणाणं, मणपज्जवणाणं, केवलनाणं ॥

यदि नाम ज्ञानं पञ्चविधं प्रकृतं ततः किमित्याह—

तत्थ चत्वारि नाणां उप्पादं उविणिज्जाइं णो उद्दिस्सं-
ति, णो समुद्दिस्संति, णो अणुसुविज्जंति । सुयनाणस्स
उद्देसो समुद्देसो अणुणा अणुब्रह्मो य पवत्तइ ॥

(तत्थेत्यादि) तत्र तस्मिन् ज्ञानपञ्चके आभिनिबोधिकावधिमनः-
पर्यायकेवलस्यानि चत्वारि ज्ञानानि (उप्पादं ति) स्थाप्यान्य-
संव्यवहार्याणि । व्यवहारनये हि यदेव लोकस्योपकारे वर्तते
तदेव संव्यवहार्यं मन्यते । लोकस्य च हेयोपादेयेष्वर्थेषु निवृ-
त्तिप्रवृत्तिद्वारेण प्रायः श्रुतमेव साक्षादत्यन्तोपकारि । यद्यपि के-
वलादिदृष्टमर्थं श्रुतमभिधत्ते तथापि गौणवृत्त्या तानि लोकोप-
कारीणीति ज्ञावः । यद्युक्तन्यायेनासंव्यवहार्याणि तानि ततः कि-
मित्याह—(उविणिज्जाइं ति) ततः स्थापनीयानि एतानि तथाविधो-
पकाराभावतोऽसंव्यवहार्यत्वात्प्रतिष्ठन्ति, न तैरिहोद्देशसमुद्देशाद्य-
वसरेऽधिकार इत्यर्थः । अथवा स्थाप्यान्यमुखराणि स्वस्वरूपप्रति-
पादनेऽप्यसमर्थानि, नहि शब्दमन्तरेण स्वस्वरूपमपि केवलादी-
नि प्रतिपादयितुं समर्थानि । शब्दश्चानन्तरमेव श्रुतत्वेनोक्त इ-
ति स्वपरस्वरूपप्रतिपादने श्रुतमेव समर्थम्, स्वरूपकथनं चेदम्,
अतः स्थाप्यानि अमुखराणि यानि चत्वारि ज्ञानानि तानीहानु-
योगद्वाराविचारप्रक्रमे । किमित्याह—अनुपयोगित्वात्स्थापनीया-
न्यनधिकृतानि; यत्रैव ह्युद्देशसमुद्देशानुज्ञादयः कियन्ते तत्रैवाऽ-
नुयोगस्तद्वाराणि चोपक्रमादीनि प्रवर्तन्ते । एवंभूतं त्वाचा—
रादिश्रुतज्ञानमेवेत्यत उद्देशाद्यविषयत्वादानुपयोगीनि शेष-
ज्ञानानि इत्यतोऽज्ञानधिकृतानि । अत्राह—अनुयोगो व्याख्यानम्,
तच्च शेषज्ञानचतुष्टयस्यापि प्रवर्तते एवेति कथमनुपयो-
गित्वम् ? । ननु समयचर्याऽनभिज्ञतासूचकमेवेदं वचः, यत-
स्तत्राऽपि तज्ज्ञानप्रतिपादकसूत्रसंदर्भ एव व्याख्यायते, स च
श्रुतमेवेति, श्रुतस्यैवानुयोगप्रवृत्तिरिति । अथवा स्थाप्यानि गुर्व-
नधीतत्वेनोद्देशाद्यविषयज्ञानानि । एतदेव विवृणोति—स्थापनी-
यानीत्येकार्थं द्वावपि । इदमुक्तं भवति—अनेकार्थत्वादतिगम्भी-
रत्वाद् विविधमन्त्राद्यतिशयसम्पन्नत्वाच्च प्रायो गुरुपदेशापेक्षं
श्रुतज्ञानम्, तच्च गुरोरन्तिके गृह्यमाणं परमकल्याणकोशात्वाद् उद्दे-
शादिविधिना गृह्यत इति । तस्योद्देशादयः प्रवर्तन्ते, शेषाणि तु
चत्वारि ज्ञानानि तदावरणकर्मक्षयोपशमाभ्यां स्वत एव जाय-
मानानि नोद्देशादिप्रक्रममपेक्षन्ते । यतश्चैवमत आह—‘नो उद्दि-
सिज्जंतीत्यादि’ । नो उद्दिश्यन्ते नो समुद्दिश्यन्ते नो अनुज्ञाय-
न्ते । अनु० एवं श्रुतस्यैव उद्देशादयः प्रवर्तन्ते न शेषज्ञानानाम् ।
अत्र चाऽनुयोगेनैवाधिकारो न शेषः, अनुयोगद्वाराविचारस्यैव-
ह प्रक्रान्तत्वात् । अत्र यथाऽनिहितमुपजीव्याह शिष्यः—

जइ सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुणा अणुब्रह्मो य
पवत्तइ, किं अंगपविट्ठस्स उद्देसो अणुणा अणुब्रह्मो य प-
वत्तइ, किं अंगवाहिरस्स उद्देसो समुद्देसो अणुणा अणुब्रह्मो
य पवत्तइ ? । अंगपविट्ठस्स वि उद्देसो जाव पवत्तइ, अणंगप-
विट्ठस्स वि उद्देसो जाव पवत्तइ । इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च अ-
णंगपविट्ठस्स अणुब्रह्मो । जइ अणंगपविट्ठस्स अणुब्रह्मो,
किं कालिअस्स अणुब्रह्मो, उक्कालिअस्स अणुब्रह्मो ? । का-
लिअस्स वि अणुब्रह्मो, उक्कालिअस्स वि अणुब्रह्मो । इमं
पुण पट्ठवणं पडुच्च उक्कालिअस्स अणुब्रह्मो । जइ उक्का-
लिअस्स अणुब्रह्मो, किं आवस्सगस्स अणुब्रह्मो, आव-

स्सगवित्तिरिच्छस्स अणुब्रह्मो ? । आवस्सगस्स वि अणुब्रह्मो-
गो, आवस्सगवित्तिरिच्छस्स वि अणुब्रह्मो ॥

(यदीत्यादि) यद्युक्तक्रमेण श्रुतज्ञानस्योद्देशः समुद्देशोऽनुज्ञा
अनुयोगश्च प्रवर्तते तर्हि किमसावङ्गप्रविष्टस्य प्रवर्तते, उता-
ङ्गवाहस्येति ? । तत्राङ्गेषु प्रविष्टमन्तर्गतमङ्गप्रविष्टं श्रुतमाचारादि,
तद्वद्वाहमुत्तराध्ययनादि । अत्र गुरुनिर्वचनमाह—(अंगपविट्ठ-
स्स वीत्यादि) अपिशब्दौ परस्परसमुच्चयार्थौ । अङ्गप्रविष्टस्या-
प्युद्देशादि प्रवर्तते, तद्वद्वाहस्यापि । इदं पुनः प्रस्तुतं प्रस्थापनं
प्रारम्भं प्रतीत्याश्रित्याङ्गवाहस्य प्रवर्तते नेतरस्य; आवश्यकं यत्र
व्याख्यास्यते तच्चाङ्गवाहमेवेति भावः । अत्राङ्गवाहस्येति सा-
मान्योक्तौ सत्यां संशयानो विनेय आह—[जइ अंगवाहिरस्ये-
त्यादि] यद्यङ्गवाहस्योद्देशादि, किमसौ काविकस्य प्रवर्तते उ-
त्कालिकस्य वा ? द्विधाऽप्यङ्गवाहस्य संज्ञवादिति ज्ञावः । तत्र
दिवसनिशाप्रथमचरमपौरुषीवृत्तेण कालेऽधीयते नान्यत्रेति
काविकमुत्तराध्ययनादि । यत्तु कावधेयमात्रवर्जं शेषकालानि-
यमेन पठ्यते तदुत्कालिकमावश्यकमिति । अत्र गुरुः प्रतिवचन-
माह—(कालियस्स वीत्यादि) काविकस्याप्यसौ प्रवर्तते, उ-
त्कालिकस्यापि । इदं पुनः प्रस्तुतं प्रस्थापनं प्रारम्भं प्रतीत्य
उत्कालिकस्य मन्तव्यम् । आवश्यकमेव ह्यत्र व्याख्यास्यते, त-
च्चोत्कालिकमेवेति हृदयम् । उत्कालिकस्येति सामान्यवचने वि-
शेषजिज्ञासुः पृच्छति—[जइ उक्कालियस्सेत्यादि] यद्युत्कालिस्यो-
द्देशादिस्तत्किमावश्यकस्यायं प्रवर्तते ? अथवाऽऽवश्यकव्यति-
रिक्तस्य ? ; उभयथाऽप्युत्कालिकस्य संज्ञवादिति, परमार्थस्तत्र
श्रमणैः आवकैश्चोन्नयसन्त्यमत्रयंकरणादावश्यकं सामाये-
कादिपरमध्ययनकक्षापः । तस्मात्तु व्यतिरिक्तं जित्तं दशवैकादि-
कादि । गुरुराह—[आवस्सगस्स वीत्यादि] द्वयोरप्येतयोः सा-
मान्येनोद्देशादिः प्रवर्तते किन्निवदं प्रस्तुतं प्रस्थापनं प्रारम्भं
प्रतीत्यावश्यकस्यानुयोगो नेतरस्य, सकलसामाचारिसूत्रत्वाद-
स्यैवेह शेषपरिहारेण व्याख्यानादिति भावनीयम् । उद्देश-
समुद्देशानुज्ञास्त्वावश्यकं प्रवर्तमाना अप्यत्र नाधिकृताः, अनुयो-
गावसरत्वात् । अतस्तत्परिहारेणोक्तम्—(अणुब्रह्मो ति) अनु० ।

इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च आवस्सगस्स अणुब्रह्मो । जइ आ-
वस्सगस्स अनुब्रह्मो, किं अंगं अंगां सुअखंधो सुअखंधा
अज्झयणं अज्झयणां उद्देसो उद्देसा ? आवस्सयस्स णं नो
अंगं नो अंगां नो सुअखंधो नो सुअखंधा नो अज्झयणं
नो अज्झयणां नो उद्देसो नो उद्देसा ।

इदं पुनः प्रस्थापनं प्रतीत्यावश्यकस्यानुयोग इति पुनरपि आह—
(जइ आवस्सगस्सेत्यादि) यथावश्यकस्य प्रस्तुतोऽनुयोगस्तर्हि
किम् ? । णमिति वाक्यादङ्कारे, किमिति परिप्रश्ने, किमेकं चादशा-
ज्ञान्तर्गतमङ्गमिदमुत बहुन्यङ्गानि । अथैकः श्रुतस्कन्धो बहवो
वा श्रुतस्कन्धाः, अध्ययनं कैकं बहुनि वाऽध्ययनानि, उद्देशको
वा एको बहवो वा उद्देशकाः, इत्येते प्रश्नाः । तत्र श्रुतस्कन्धोऽध्य-
यनानि चेदमिति प्रतिपत्तव्यम् । परमध्ययनात्मकश्रुतस्कन्धरूप-
त्वादस्य । शेषास्तु षट् प्रश्नाः अनादेयाः अनङ्गादिरूपत्वात् । इत्ये-
तदेवाह—(आवस्सयस्स णमित्यादि) अत्राह—नन्वावश्यकं किम-
ङ्गमङ्गानीत्येतत् प्रश्नद्वयमत्रानवकाशमेव, नन्वाध्ययन एवास्यान-
ङ्गप्रविष्टत्वेन निर्णीतत्वात् । तथात्राऽप्यङ्गवाहोत्कालिकक्रमेणान-
न्तरमेवोक्तत्वादिति । अत्रोच्यते—यत्तावदुक्तं नन्वाध्ययन एवे-

त्यादि । तदयुक्तम् । यतो नावश्यकतन्वध्ययनं व्याख्याय तदिदं व्याख्येयमिति नियमोऽस्ति , कदाचिदनुयोगद्वाराव्याख्यानस्यैव प्रथमं प्रवृत्तेः । अनियमशापकश्चायमेव सूत्रोपन्यासः , अन्यथा ह्यङ्गवाह्यत्वेऽस्य तत्रैव निश्चितः , किमिहाङ्गानङ्गप्राविष्टाचिन्तासूत्रोपन्यासेनेति ? ।

अधुना तद्द्वारं वक्तव्यम् । यदाह—

तस्मै एषं चत्वारि अणुओगद्वारा भवन्ति । वं जहा

उत्क्रमे ? एषं चत्वारि अणुओगमे ३ एषं ४ ॥ अनु० ।

इदानीं भेदद्वारं तेषामेव द्वाराणामानुपूर्वी नाम प्रमाणादिकोऽत्रोक्तस्वरूपा जेदो यक्तव्यः ।

(१६) तथाऽनुयोगस्य लक्षणं वाच्यम्—

यदाह—

"संघियायपदं चैव, पयत्थो पयविग्गहो ।

चालणा य पसिच्छी य, उच्चिहं चिद्धि लक्खणं" ॥

प्रश्ने कृते सति (पसिच्छि चि) चालनायां सत्यां प्रसिद्धिः समाधानम्, (चिद्धि चि) जानीहि । व्याख्येयसूत्रस्य च "अलि-यमुग्गायज्जणयमित्यादि" द्वात्रिंशदोपरहितत्वादिकं लक्षणं वक्तव्यम् । अनु० ।

(२०) यथांकुणयुक्तस्य सूत्रस्य कोऽहं इत्यनेन संबन्धेन तद्द्वारमापतितम् । तत्र सोऽहं उरिक्कादिदृष्टान्त—
स्योपनयभूतस्तत आह—

उंढिय जूमी पेढिय, पुरिसग्गहणं तु पढमओ काउं ।

एवं परिविखयम्मी, दायच्चं वा न वा पुरिसे ॥

नवे नगरे निवेद्यमाने प्रथमत उरिक्कापातस्य योग्या भूमि-स्तस्य तत्प्रदानार्थमुच्चा पात्यते, ततो जूमिशोधने, तदनन्तरं पीठिका; एवमत्रापि प्रथमतः पुरुषग्रहणं कृत्वा तदनन्तरं परीक्षा कर्त्तव्या—किमयमपरिणामकोऽतिपरिणामकः, परिणामको वेति ? । एवं पुरुषे परीक्षिते दातव्यं, न वा अपरिणामके अतिपरिणाम-के वा न दातव्यम्, परिणामके दातव्यमिति गाथासंक्षेपार्थः ।

संप्रतमेनामेव विवरीपुराह—

अजिनवनगरनिवेसे, सगजूमिर्विरेयणऽक्खरविहिन्नु ।

पांडं उंढियाओ, जा जस्त चाणसोहणया ॥

खण्णं कुट्टण ठवणं, पीढं पासाय रयण सुहवासो ।

इअ संजमनगरंढिय—लिगं मिच्छत्तसोहणयं ॥

वरि इट्ठगठवणानिजा, पेढं पुण होइ जाव सूयगढं ।

पासाय जहिं पययं, रयणनिजा हुंति अत्थपया ॥

अभिनवे नगरे निवेद्यमाने प्रथमतो जूमिः परीक्ष्यते, परीक्ष्य च तस्याः समजूमिविरेचनं विधीयते । तदनन्तरमक्करविधिज्ञो या यस्य योग्या जूमिस्तस्य तस्याः प्रदानार्थमुरिक्का अक्करसंहिताः मुद्धिकाः पातयति । ततः स्वस्थानस्य शोधनता-शोधनम् । ततः स्वस्थाः ३ भूमेः खननं, तदनन्तरं दुग्धैरिष्टकाशकलानि प्रक्षिप्य तेषां कुट्टनं, ततस्तस्योपरि इष्टकानां स्थापनं, तदनन्तरं यावत् सूत्रं तावत् पीढं, ततस्तस्य पीठकस्थोपरि प्रासादकरणं, तदनन्तरं तेषां प्रासादानां रत्नैरापूरणं, ततः सुखेन वासः परि-वसनम् । एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः—जूमिग्रहणस्थानीयं पुरुष-ग्रहणं, शुक्रं पुरुषं परीक्ष्य तस्य प्रवज्यादानमित्यर्थः । तत 'इति' एवमुक्तप्रकारेण नगरस्थानीये संयमे स्थाप्यते, तत उरिक्का-

स्थानीयं रजोहरणादि लिङ्गं दीयते, तदनन्तरं मिथ्यात्वस्य ज्ञानस्य च कचवरस्थानीयस्य शोधनं, ततः शोधयित्वा मि-थ्यात्वं समूलमुत्खन्य स्थिरीकरणमित्तं सम्यक्त्वदुघर्षैर्यच्छे-पमवतिष्ठते मिथ्यात्वपुण्ड्रात्मकवत् कुट्टयित्वा भस्मच्छास्त्रि-मिव कृत्वा । तत उपरि इष्टकास्थापननिभानि व्रतानि दीयन्ते, तत आवश्यकमादि कृत्वा यावत् सूत्रकृतं तावत्पीठं जवति, ततो यकाभ्यां प्रकृतं तौ कल्पव्यवहारौ प्रासादस्थानीयौ दीयन्ते, तत्रा-र्थपदानि यानि तानि रत्ननिभानि । गतं तद्द्वारम् । वृ० १ उ० । तथा तस्यैवानुयोगस्य परिपदं वक्तव्या । (सा च 'सेलघणकुड-ग' इत्यादिदृष्टान्तैः परीक्षितव्येति 'सीस' शब्दे, क्वापिकादिका च त्रिविधा पर्यत् 'परिसां' शब्दे वक्ष्यते)

(२१) संप्रति कयाऽधिकार इति प्रतिपादयति—

उचंति आए पययं, जइ पुण सा होज्जिमेहिं उव्वेया ।

तो देंति जेहिं पययं, तदभावे णाणमादीणि ॥

अत्र उत्रान्तिकया पर्यदा प्रकृतमधिकारः, शेषाः पर्यद उच्चरि-तसदृशा इति प्ररूपिताः । तत्र यदि सा उत्रान्तिका पर्यद एजि-वैद्यमार्गैर्युक्तरूपेता भवति तदा यकाभ्यामत्र प्रकृतं तवकौ व्यवहारौ सूरयो ददति, तदभावे वक्ष्यमाणगुणाभावे स्थानादी-नि, आदिग्रहणेन प्रकीर्णकानां परिग्रहः ।

अथ के ते गुणा इत्यत आह—

बहुसुए चिरपव्वइए, कप्पिए य अचंचओ ।

अवट्टिए य मेहावी, अपरिजाविओ विउ ॥

पचे य अणुत्ताते, भावतो परिणामगे ।

एयारिसे महाभागे, अणुओगं सोउमरिहइ ॥

बहुश्रुतश्चिरप्रवृत्तः, कल्पिकोऽचञ्चलः, अवस्थितो, मेधावी, अपरिभावी, यश्च विद्विद्वान् प्रभूताशेषशास्त्रपरिमलितशुक्तिः, (पचे य चि) पात्रं प्राप्तो वा तथाऽनुज्ञातः सन् भावतश्च परि-णामकः, एतादृशो महाभागोऽनुयोगं श्रोतुमर्हति, सामर्थ्यात् कल्पव्यवहारयोः । एष द्वारगाथाद्वयसंक्षेपार्थः । वृ० १ उ० । (बहुश्रुतादीनां तिग्गिणिकादीनां च व्याख्या स्वस्थाने दृष्टव्या) एतत्सर्वमभिधाय ततः सूत्रार्थो वक्तव्यः ।

(२२) सोऽनुयोगश्चतुर्विधोभवति—

सुयनाणे अणुओगे—एऽहिगयं सो चउव्विहो होइ ।

चरणकरणानुयोगे, धम्मं काले य दविए य ॥

कथम?, चरणकरणानुयोगः, चर्यत इति चरणं व्रतादि, यथोक्तम्—
"वयं समणधम्म संजम, वेयावच्चं च वंज गुत्तीओ । णाणादि-तियं तवको—इनिग्गहादी चरणमेयं" ॥१॥ क्रियत इति करणं—
पिएरविशुद्धादि । उक्तं च—"पिरुविसोहो समिइ, भावणपडि-माइ इंदियनिरोहो ॥ पडिहेहणुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु" ॥ १ । चरणकरणयोरनुयोगश्चरणकरणानुयोगः । अनुरूपो योगोऽनुयोगः—सूत्रस्यार्थेन सार्कर्मनुरूपः संबन्धो व्याख्यान-मित्यर्थः । एकारान्तः शब्दः प्राकृतशैल्या प्रथमाद्वितीयान्तोऽपि दृष्टव्यः । यथा "कयरे आगच्छइ दित्तख्वे" इत्यादि । धर्म इति धर्मकथानुयोगः । काले चेति कालाऽनुयोगश्च गणितानुयोग-श्चेत्यर्थः । द्रव्यं चेति द्रव्यानुयोगश्च । तत्र काविकश्रुतं चरणकर-णानुयोगः, ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनादीनि धर्मकथानु-योगः, सूर्यप्रज्ञाप्यादिगणितानुयोगः, दृष्टिवादस्तु द्रव्यानुयोगः

इति । उक्तं च—“ कावियसुयं च इसिभा-सियाई तइयो य सूरपञ्च-
त्ती । सव्वो य दिछिवाओ, चउत्थओ होइ अणुश्रीगो ” इति
गाथार्थः । इह चौघतोऽनुयोगो विधा-अपृथक्त्वानुयोगः पृथ-
क्त्वानुयोगश्च । तत्रापृथक्त्वानुयोगो यत्रैकस्मिन्नेव सूत्रे सर्व एव
चरणादयः प्ररूप्यन्ते, अनन्तागमपर्यायत्वात्सूत्रस्य । पृथक्त्वानु-
योगश्च यत्र कचित् सूत्रे चरणकरणमेव, कचित्पुनर्धर्मकथा वे-
त्यादि । दश० १ अ० । चरणकरणाद्यनुयोगाः “ ओहेण उणि-
ज्जुत्ति, वोच्चं चरणकरणाणुओगाओ ” इति निर्युक्तिगाथाया-
श्चरणकरणस्येति वक्तव्ये शैर्वां त्यक्त्वा पञ्चम्या निर्देशं कुर्वन्ना-
चार्य एतज्ज्ञापयति—सन्त्यन्येऽप्यनुयोगा इति । तदत्राह—‘चरण-
करणानुयोगाद्वक्ष्ये नान्यानुयोगेभ्यः’ इति । तथा पृष्ठी द्विविधा
दृष्टा—भेदपृष्ठी, अभेदपृष्ठी च । तत्र भेदपृष्ठी यथा—देवदत्तस्य
गृहम् । अभेदपृष्ठी यथा—तैलस्य धारा, शिवापुत्रकस्य शरीरक-
मिति । तद् यदि पृष्ठथा उपन्यासः क्रियते ततो न ज्ञायते, किं च-
रणकरणानुयोगस्य भिन्नमोघनिर्युक्तिं वक्ष्ये, यथा—देवदत्तस्य
गृहमिति, आहोस्विदभिन्नां वक्ष्ये, यथा तैलस्य धारेत्यस्य संमो-
हस्य निवृत्त्यर्थं पञ्चम्या उपन्यासः कृत इति । एवं व्याख्याते स-
त्यपरस्त्वाह—अस्तीत्येकचनम्, अनुयोगा बहुवचश्च, तत्कथं बहु-
त्वं प्रतिपादयति ? उच्यते—अस्तीति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम् ।
अव्ययं च—“ सद्यं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु । वच-
नेषु च सर्वेषु, यत्र येति तदव्ययम् ” । ततो बहुत्वं प्रतिपादयत्ये-
वेत्यदोषः । अथ वा—व्यवहितः संवन्धोऽस्तिशब्दस्य, कथमिदम्?,
चोदकवचनम् । पृष्ठी सम्बन्धे किमिति न भवति विभक्तिः ? आ-
चार्य आह—अस्ति पृष्ठीविभक्तिः । पुनरप्याह—यद्यस्ति ततः प-
ञ्चमी भणिता किम् ? आचार्य आह—अन्येऽप्यनुयोगाश्चत्वारः,
अतः पृष्ठी विद्यमानाऽपि नोक्तेति भावना पूर्ववत् ।

अन्येऽपि अनुयोगाः सन्तीत्युक्तम्, न च ज्ञायन्ते
कियन्तोऽपि ते इत्यत्र प्रतिपादयन्नाह—

चत्वारि उ अणुश्रीगा, चरणे धम्मगणियाणुश्रीगे य ।
दवियणुश्रीगे य तहा, जहकमं ते महङ्गीया ॥ ७ ॥

चत्वार इति संख्यावचनः शब्दः, अनुकूला अनुरूपा वा योगा
अनुयोगाः । तुशब्द एवकारार्थः । चत्वार एव ते । अन्ये तु तु-
शब्दं विशेषणार्थं व्याख्यानयन्ति । किं विशेषयन्तीति चत्वा-
रोऽनुयोगाः, तुशब्दाद् द्वौ च; पृथक् २ जेदात् । कथं चत्वारोऽ-
नुयोगा इत्याह—(चरणे धम्मगणियाणुश्रीगे य) चर्यत इति च-
रणं, तद्विषयोऽनुयोगश्चरणानुयोगस्तस्मिन् चरणानुयोगे । अत्र
चोत्तरपदद्वयोपादित्यमुपन्यासः, अन्यथा चरणकरणानुयोग इत्येवं
वक्तव्यम् । स च एकादशाङ्गरूपः । (धम्मे ति) धारयतीति धर्मः
दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वमिति, तस्मिन् धर्मे, धर्मविषयो द्वितीयोऽनु-
योगो भवति । स चोत्तराध्ययनप्रकीर्णकरूपः । (गणियाणुयो-
गे य स्ति) गणयत इति गणितम्, तस्यानुयोगो गणितानुयोगः, त-
स्मिन्, गणितानुयोगविषयस्तृतीयो भवति । स च सूर्यप्रज्ञप्त्या-
दिरूपः । चशब्दः प्रत्येकमनुयोगपदसमुच्चायकः । (दवियाणुयो-
गे य स्ति) द्रव्यमिति द्रव्यमनुयोगो द्रव्यानुयोगः, सदसत्पर्या-
याद्योचनारूपः, स च दृष्टिवादः । चशब्दादनार्थः समस्त्यादिरूपश्च
तथेति क्रमप्रतिपादकः, आगमोक्तेन प्रकारेण यथाक्रमं यथापरि-
पाद्येति चरणकरणानुयोगाया महार्द्धिकाः प्रधाना इति यदुक्तं भ-
वति । एवं व्याख्याते सत्याह—(चरणे धम्मगणियाणुश्रीगे य दवि-
यणुश्रीगे य स्ति) यद्येतेषां जेदेनोपन्यासः क्रियते तत्किमर्थं च-
त्वार इत्युच्यते?, विशिष्टपदोपन्यासादेवायमर्थोऽवगम्यत इति ।

तथा चरणपदं भिन्नया विभक्त्या किमर्थमुपन्यस्तम् ?, धर्मगोणि-
तानुयोगौ तु एकयैव विभक्त्या, पुनर्द्रव्यानुयोगो भिन्नया विभ-
क्त्येति, तथाऽनुयोगशब्दश्च एक एवोपन्यसनीयः, किमर्थं द्रव्या-
नुयोग इति भेदेनोपन्यस्त इति ? । अत्रोच्यते—यच्चावदुक्तं चतु-
ग्रहणं न कर्तव्यं, विशिष्टपदोपन्यासात् । तदसत् । यतो न विशि-
ष्टपदोपन्यासे विशिष्टसङ्ख्याऽवगमो ज्ञयति, विशिष्टपदोपन्यासे-
ऽपि कुतश्चरणधर्मगणितद्रव्यपदानि सन्तीति, अन्यान्यपि स-
न्तीति संशयो मा भूत्कस्याचिदित्यतश्चतुर्ग्रहणं क्रियत इति । तथा
यच्चोक्तम्—भिन्नया विभक्त्या चरणपदं केन कारणेनोपन्यस्तं,
तत्रैतत् प्रयोजनम्, चरणकरणानुयोग एवाऽत्राधिकृतप्राधा-
न्यख्यापनार्थं भिन्नया विभक्त्या उपन्यास इति । तथा धर्मग-
णितानुयोगौ एकविभक्त्योपन्यस्तौ; अत्र प्रक्रमे अप्रधानावे-
ताविति । तथा द्रव्यानुयोगे च भिन्नविभक्त्योपन्यासे प्रयोजनम् ।
अयं हि एकैकानुयोगे मीलनीयः, न पुनर्लौकिकशास्त्रवद्युक्तिभि-
र्विचारणीय इति । तथाऽनुयोगे शब्दद्वयोपन्यासे प्रयोजनमुच्य-
ते । यच्च त्रयाणां पदानामन्तेऽनुयोगपदमुपन्यस्तं तदपृथक्त्वाऽनु-
योगप्रतिपादनार्थम् ; यच्च द्रव्यानुयोग इति तत्पृथक्त्वानुयोग-
प्रतिपादनार्थमिति । एवं व्याख्याते सत्याह परः इह गाथाः, तत्र
पर्यायत इदमुक्तम्—‘यथाक्रमं ते महार्द्धिकाः’ इति । एवं तर्हि चरण-
करणानुयोगस्य बहुत्वं, तत्किमर्थं तस्य निर्युक्तिः क्रियते ?, अपि
तु द्रव्यानुयोगस्य युज्यते कर्तुम्, सर्वेषामेव प्रधानत्वात् । एवं
चोदकेनाक्तेऽपि कृते सत्युच्यते—

सविसयवलवत्तं पुण, जुज्जइ तह वि य महार्द्धियं चरणं ।

चारित्तरक्खणट्ठा, जेणियरे तिन्नि अणुश्रीगा ॥ ८ ॥

स्वश्चासौ विषयश्च स्वविषयः, तस्मिन् स्वविषये, वलवत्त्वं पुन-
र्युज्यते घटते । एतदुक्तं नवति—आत्माऽऽत्मीयविषये सर्व एव
वलवन्तो वर्तन्ते इति । एवं व्याख्याते सत्यपरस्त्वाह—यद्येवं सर्वेषा-
मेव निर्युक्तिकरणं प्राप्तम्, आत्मात्मीयविषये सर्वेषामेव वलवत्त्वा-
त्; तथापि चरणकरणानुयोगस्य न कर्तव्येति । एवं चोदकेनाऽऽ-
शङ्किते सत्याह गुरुः—(तह वि य महार्द्धियं चरणं) तथाऽप्येव-
मपि स्वविषये वलवत्त्वेऽपि सति महार्द्धिकं चरणमेव, शेषानुयो-
गानां चरणकरणानुयोगार्थमेवोपादानतः पूर्वोऽत्यन्तसंरक्षणा-
र्थं पूर्वप्रतिपत्त्यर्थं च । शेषाऽनुयोगा अप्येवंवृत्तिभूताः । यथा हि
कर्पूरखरमार्थं वृत्तिरूपादीयन्ते, तत्र हि कर्पूरखरं प्रधानं न पुन-
र्वृत्तिः । एवमत्रापि चारित्ररक्षणार्थं शेषाऽनुयोगानामुपन्यासः ।
तथा चाह—[चारित्तरक्खणट्ठा जेणियरे तिन्नि अणुश्रीगा]
चरित्रमेव चारित्रं, तस्य रक्षणं, तदर्थं चारित्ररक्षणार्थं, येन
कारणेन इतर इति धर्मानुयोगादयस्त्रयोऽनुयोगा इति ॥
एवं व्याख्याते सत्याह—कथं चारित्ररक्षणमिति चेत् तदाह—

चरणपनिवत्तिहेज्ज, धम्मकहा कालदिकखमाईया ।

दविण दंसणसुप्पी, दंसणसुप्पी अ चरणं तु ॥ ९ ॥

चर्यते इति चरणं व्रतादि, तस्य प्रतिपत्तिः चरणप्रतिपत्तिः ।
चरणप्रतिपत्तेः हेतुः कारणं निमित्तमिति पर्यायाः । किं तदा
ह—धम्मकथा, दुर्गतौ प्रपतन्तं सर्वसंघातं धारयतीति धर्मः, त-
स्य कथा कथनं, कथाचरणप्रतिपत्तिहेतुः धर्मकथा । तथाहि—
आक्षेपणयादिधर्मकथाऽऽक्षिप्ताः सन्तो भव्यप्राणिनश्चारित्रं प्राप्नु-
वन्ति (कावे दिक्खमादी य स्ति) कलनं कालः, कलासमूहो वा
कालः, तस्मिन् कावे, दीक्षादयः—दीक्षणं दीक्षा प्रव्रज्याप्रदानम्, आ-
दिशब्दादुपस्थानादिपरिग्रहः । तथा च शोभनतिथिनक्षत्रसमूह-
त्त-

योगादीं प्रवक्ष्याप्रदानं कर्तव्यम् । अतः कालानुयोगोऽप्यस्यैव परिकरभूत इति (द्रवियं चि) इत्येव द्रव्यानुरोगे किं भवतीत्यन आह—(इक्षणमुक्तिं) दर्शनं सम्यग्दर्शनमभिधीयते, तस्य शुक्तिर्निर्मलता दर्शनशुद्धिः । एतदुक्तं प्रवर्ति-द्रव्यानुरोगे सति दर्शनशुक्तिर्भवति, शुक्तिर्भिर्यथावन्विताभिरपि चिद्वत् । तद्वच्चरणमपि युक्तशतगुणमेव ग्रहीतव्यं न पुनरागमादेव केवलादित्याह-दर्शनशुद्धये । किं तदाह ?-दर्शनशुद्धस्य-दर्शनं शुक्तं यस्याऽसौ दर्शनशुद्धस्तस्य, चरणं चारित्र्यं भवतीत्यर्थः । तु-दाब्धौ विशेषणे । चारित्र्यशुद्धस्य दर्शनमिति । अथवा-प्रकारात्तरेण चरणकरणानुयोगस्यैव प्राधान्यं प्रतिपद्यते । आदिभूतस्याऽपीति ।

तत्र दृष्टान्तयत्नेनाचलं भवति नान्यथेय्यतो दृष्टान्तद्वारेणाह-

जह्नु रज्जो विसर्पसुं, वदरकणगरयमलोहे य ।

चत्तारि आगरा खलु, चत्ताह पुत्ताण ते दिन्ना ॥ १० ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासे, राज्ञो विषयेषु जनपदेषु (वदरं चि) पञ्जाकरो जयति, वज्राणि रत्नानि तेषामाकरः गतिर्यज्ञाकरः । 'चि-तालोहागरिप' इत्यतः सिंहायलोकिन्यायेनाऽऽकरग्रहणं सं-वध्यते । एतेन कारणेन 'लोहं कुंति' स्याद् भवति क्रिया सर्वत्र मोलनीयति । फलकं मुच्यते तस्याऽऽकरो भवति तथा द्वितीयः । रजतं रूपं तद्विषयश्च नृनीय आकरो भवति । चशब्दः स-मुच्यते । अनेकभेदभिन्नरूपानाकरान् समुच्चिनोति (लोहं यं चि) लोहस्य-अयः, तस्मिन् लोहे, लोहविषयश्चतुर्थ आकरो जयति । च-शब्दो मृदुकचिन्मध्यलोहसमुच्चायकः 'चत्तारि' इति संख्या । आक्रियन्त एतेष्वित्याकराः, तथा च मर्यादया अभिविधिना वा क्रियन्ते वज्रादीनि येष्विति । खलुदाब्धौ विशेषणे । किं विशिन-ष्टि?—सविषयाः सहस्रादयश्चातः पुत्रेभ्यो ददन्त्यनुर्मा पुत्राणां सुत्रानां त इत्याकराः, दत्ता चिन्ता इत्यर्थः ॥ १० ॥

अधुना प्रधानोच्चरकालं यत्तेषां तदुच्यते—

चिंता लोहागरिप, पस्मिहं कुण्ड सो उ लोहस्स ।

वदरादीहिं य गह्वणं, करेति लोहस्स ने इतरे ॥ ११ ॥

लोहाऽऽकरोऽस्यास्तीति लोहाकरिकः तस्मिन् लोहाकरिके चिन्ता भवति—'राज्ञा परिभूतोऽहं येन ममाप्रधान आकरो दत्त । एवं चिन्तायां सत्यां सुशुद्धमिधानेन मन्त्रिणाऽनिहितः—देव । मा चिन्तां कुर्व, भवद्दीय एव प्रधान आकरो न शेषा आकरा इति । कुत एतद्वचसीयते? यदि प्रवर्तसंयधिलोहाकरो न जयति तदानीं शेषाकराप्रवृत्तिः—लोहोपकरणाभावात् प्रवृत्तिरिति । ततो निर्वाहं भगान् कारयतु कतिचिद्दिनानि, यावदुपक्रमं प्रतिपद्यते तेषूपकरणजातं, पुनः सुमहार्घमपि ते लोहं ग्रहीष्यन्ते इत्यत आह—[पस्मिहमित्यादि] प्रतिषेधोदाहरणात् प्रतिषेधं करो-त्यसौ, लोहं प्रतीतमेव, तस्य लोहस्य । तुदाब्धौ विशेषणेन केवलमनिर्वाहं करोति, अपूर्वोत्पादानिरोधं च । ततश्चैवकृते शेषाकरेषूपस्करः कृत्यं प्रतिप्रश्नः, ततस्तेऽवज्ञादिभिः ग्रहणं कुर्वन्ति । कस्येत्यत आह—लोहस्य । के कुर्वन्ति? । इतरे वज्रा-कारिकादयः चशब्दात् केवलं वज्रादिभिर्हस्त्यादिभिश्च । अत्र कथानकं स्पष्टत्वात् लिखितम् । अयं दृष्टान्तः । सांप्रतं दार्ष्टान्तिक-योजना क्रियते—यथाऽसौ लोहाकर आधारभूतः शेषाकराणाम्, तत्प्रवृत्तौ शेषाणामपि प्रवृत्तेः । एवमन्यत्रापि, चरणकरणानु-योगे सति शेषानुयोगसद्भावः । तथाहि—चरणव्यवस्थितः शेषानुयोगग्रहणे समर्थो भवति, नान्यथेत्यस्यार्थस्य प्रतिपाद-

नार्थं गायामाह—

एवं चरणमि तिओ, करेइ गह्वणं विहिय इयरेसि ।

एएण कारणेणं, चरणानुश्रोगो महद्दीओ ॥ १२ ॥

एवमित्युपनयग्रन्थः (चरणमि ति) चर्यत इति चरणं, तस्मिन्, व्यवस्थितः करोति विधिना ग्रहणमितिरेषामिति द्रव्यानुरो-गादीनां, तदनेन कारणेन भवति चरणं महर्किकम्, तुशब्दादन्ये-षां च गुणानां समर्थो भवतीति । ओ० । दश० ।

(२३) कियन्तं काहं यावत्पुनरिदमपृथक्त्वमासीत्, कुतो वा पुरुषविशेषादारभ्य पृथक्त्वमनूदित्याह—

जावंति अज्जवदरा, अपुहत्तं कालियाणुश्रोगस्स ।

तेणारेण पुहत्तं, कालियमुयदिद्विवाए य ॥ १३ ॥

यावदार्थवैराशुरुषो महामतयस्तावत्काहिकधृतानुयोगस्यापृ-थक्त्वमासीत्, तदा व्याख्यातृणां श्रानुणां च तीक्ष्णप्रज्ञत्वात् । काहिकग्रहणं च प्राधान्यवशापनार्थम्, अन्यथाकाहिकेऽपि सर्वत्र प्रतिसूत्रं चत्वारोऽपि अनुयोगास्तदानीमासन्न वेति तदाऽऽरत-स्वार्थरक्षितेभ्यः समारभ्य कालिकश्रुते दृष्टिवादे वाऽनुयोगानां पृथक्त्वमनूदिति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २७७ ॥

भाष्यम्—

अपुहत्त्यमासि वदरा, जावंति पुहत्तमारओऽनिहिण ।

के ते आसि कया वा, पसंगओ तेमिमुप्पत्ती ॥ १३ ॥

आर्यवैराद्यावदपृथक्त्वमासीत्, तदाऽऽरतस्तु पृथक्त्वमुक्तम् । एतस्मिन्नाभिहिते क एते आर्यवैराः कदा च ते आसन्निति विनेयपृच्छायां प्रसङ्गन आर्यवैराणामुत्पत्तिरुच्यते । इति गाथा-र्थः ॥ १३८ ॥ (एतद्वारितं तु 'अज्जवदर' शब्देऽत्रैव भागे १३६ पृष्ठे कृष्टव्यम्)

सविशेषमाह—

अपुहत्ते अणुश्रोगां, चत्तारि खुवार जासई एगो ।

पुहत्तं अणुश्रोगकरणं, ते य तओ वावि वोच्छिन्ना ॥ १३९ ॥

आर्यवैराद्यावदपृथक्त्वे सति सूत्रव्याख्यारूप एकोऽप्यनुयोगः क्रियमाणः प्रतिसूत्रं चत्वारि द्वाराणि जायते; चरणकरणार्धाश्च-तुरोऽप्यर्थान् प्रतिपादयतीत्यर्थः । पृथक्त्वानुयोगकरणे तु ते चरणकरणादयोऽर्थाः ततोऽपि पृथक्त्वानुयोगकरणदेव, व्यव-च्छिन्नाः, तत्प्रवृत्त्येक एव चरणकरणादीनामन्यतरोऽर्थः प्रतिसूत्रं व्याख्यायते, न तु चत्वारोऽपीत्यर्थः । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ १३९ ॥

अथ वैरनुयोगाः पार्थक्येन व्यवस्थापितास्तेषामार्यरक्षितसूरी-णामुत्पत्तिमभिस्तुर्भाष्यकारः सम्यन्धगाथामाह—

किं वदरोहिं पुहत्तं, कयमह तदनंतरोहिं जणियम्मि ।

तदणंतरोहिं तदजिहि—यगहियसुत्तत्थसारोहिं ॥ १४० ॥

विनेयः पृच्छति-नन्वर्थवैराद्यावदपृथक्त्वमित्युक्तं ततः किमार्य-वैरैरेव कृतं तत्, किं वा तदनन्तरार्यरक्षितसूरिभिरित्येवमुज्ज-थाऽपि यावच्छब्दार्थोपपत्तेः । इति शिष्येण भणिते, गुरुराह—तदन-न्तरैरेवार्थरक्षितसूरिभिरनुयोगानां पृथक्त्वमकारि । कथंचित्तैस्तैः? आर्यवैरेणाऽनिहितः प्रतिपादितो गृहीतः स्वार्थसारो यैस्ते त-था, तैरार्यवैरसमीपेऽधीतसूत्रोभयरित्यर्थः । इति गाथार्थः ॥ १४० ॥

पुनरपि कथंचित्तैः किनामकैश्च तैरित्याह—

देविदवंदिपहिं, महाणुभावेहिं रक्खियज्जेहिं ।

जुगमासज्ज विभत्तो, अणुश्रोगो तो कओ चउहा ॥ १४१ ॥

देवेन्द्रवन्दितैर्महानुभावैरार्थरक्षितैः दुर्बलिकपुष्पमित्रं प्राङ्म-
प्यतिगुपिलतयाऽनुयोगस्य विस्मृतसूत्रार्थमवबोध्य वर्तमानका-
ललक्षणं युगं चाऽऽसाद्य प्रवचनाहितायानुयोगो विभक्तः-पृथक् २
व्यवस्थापितः । ततश्चतुर्धाकृतश्चतुर्यकादिकश्चतुतादिज्ञानेषु नियु-
क्तम् । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ३८१ ॥

“माया य रुदसोमा ” इत्यादि पूर्व मूत्रावश्यकटीकास्थवेत्तादा-
र्यरक्षितकथानकमवसेयमिति । (एतच्च ‘ अञ्जरविस्त्रय ’ शब्दे-
ऽत्रैव ज्ञाने २१२ पृष्ठे विन्यस्तं द्रष्टव्यम्)

भाष्यकारोऽपि “देविद्वंद्विदिहिमित्यादि” गाथाभावार्थमाह-
नाऊण रविस्त्रयज्जो, मद्मेहाधारणासमगं पि ।

किञ्चैष धरेमाणं, सुयस्रवं पूममिचं पि ॥

अऽसयकयज्वत्रो, मद्मेहाधारणाऽपरिहीणो ।

नाऊण-मेसपुरिसे, खेचंकाद्वानुखं च ॥

साण्णगहोऽणुश्रोगे, वीसुं कासी य सुयविभागेण ।

सुहगहणाऽनिमित्तं, नए वि सुनिगूहिय विजागो ॥

स देवेन्द्रवन्दितः श्रीमानार्यरक्षितसूरिर्निजशिष्यं दुर्बलिका-
पुष्पमित्रमपि कृच्छ्रेण श्रुतार्णवं धारयन्तं ज्ञात्वा विनेयवर्गे सा-
नुग्रहो वक्ष्यमाणकालिकादिश्रुताविभागेन विष्वक् पृथक् चरण-
करणाद्यनुयोगानकार्पादिति सम्बन्धः । कथंभूतं दुर्बलिकापु-
ष्पमित्रम्?, मतिमेधाधारणासमग्रमपि । तत्र ‘मनु बोधने’मननं म-
तिरेव, बोधशक्तिः मेधा, धारणा अवधारणाशक्तिः, ताभिः समग्रं
युक्तमपि, तथाऽतिशयज्ञानकृतोपयोगतया एष्यान् भविष्यतः पु-
रुषांश्च ज्ञात्वा, कथंचूतान्?, मतिमेधाधारणादिपरिहीणान्, तथा
क्वेत्रकाद्वानुरूपं च ज्ञात्वा, न केवलमनुयोगान् पृथगकार्पात्, तथा
नयांश्च नैगमादीन्, अकार्पादिति वर्तते । कथंचूतान्?, सुषूति-
शयेन निगूहितो व्याख्याननिरोधेन ढलीकृतो विभागो व्यक्ततापा-
दानरूपो येषां ते निगूहितविभागास्तांस्तथाचूतान् । किमर्थम्?,
सुखग्रहणादिनिमित्तम् । आदिशब्दाकारणादिपरिग्रहः । वि-
शे० । (चरणकरणाद्यनुयोगभेदेनानुयोगचतुर्विध्यमार्थरक्षित-
सूरिभिः कृतमिति ‘ अञ्जरविस्त्रय ’ शब्देऽत्रैव ज्ञाने २१४
पृष्ठे दर्शितम्, इहापि उपयुक्तो ज्ञानो दर्शितः) अनुरूपो-
ऽनुकूलो वा योगोऽनुयोगः । सूत्रस्य स्वैनाभिधेयेन सा-
र्वमनुरूपसंबन्धे तद्रूपे दृष्टिवादान्तर्गतेऽधिकारे, सं० । स्था० ।

स च चिन्धा-

मे किं तं अणुश्रोगे ? । अणुश्रोगे दुविहे पस्यते ।

तं जहा-मूत्रपदमाणुश्रोगे, गंभियाणुश्रोगे य ॥

स च द्विधा-मूत्रप्रथमानुयोगः, गणिरुक्कानुयोगश्च । इह मूत्रं धर्मप्र-
णयनार्त्तिर्यकरास्तेषां प्रथमं सम्यक्त्वावासिन्नक्षणपूर्वजनवादिगो-
चरोऽनुयोगो मूलप्रथमानुयोगः । इहवाकादीनां पूर्वोपरपरिच्छि-
न्नो मध्यभागो गरिरुक्का, गरिरुक्केव गरिरुक्का, एकार्थाधिकारा अ-
न्यिपकृतिरित्यर्थः । तस्यानुयोगो गरिरुक्कानुयोगः । न० । सं०
(प्रथमानुयोगगरिरुक्कानुयोगयोर्व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या)
अणुश्रोगगत्र-अनुयोगगत-पुं० । अनुयोगः प्रथमानुयोगः-ती-
र्थकरादिपूर्वजवादिष्व्याख्यानग्रन्थः, गणिरुक्काऽनुयोगश्च भरतन-
रपतिवंशजातानां निर्वाणगमनानुसरविमानगमनवक्तव्यताव्या-
ख्यानग्रन्थ इति द्विरूपेऽनुयोगे गतोऽनुयोगगतः । दृष्टिवादांशभे-
दे दृष्टिवादान्तर्गतेऽधिकारे, अवयवे समुदायोपचाराद् दृष्टि-
वादे च । स्था० १० वा० ।

अणुश्रोगगणानुष्ठा-अनुयोगगणानुष्ठा-स्त्री० । अनुयोगोऽर्थ-
व्याख्यानम्, गणो गच्छः, तयोरनुष्ठाऽनुमतिः । ध० ३ अधि० । अ-
नुयोगगणयोः प्रवचनोक्तेन विधिना स्वतन्त्रानुज्ञाने, प० व० १ द्वा० ।
अणुश्रोगतत्तिह्व-अनुयोगतृप्त-त्रि० । अनुयोगग्रहणैकानिष्ठे,
वृ० १ उ० ।

अणुश्रोगत्य-अनुयोगार्थ-पुं० । व्याख्यानभूतेऽर्थे, आचा० १
श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुश्रोगदायय-अनुयोगदायक-पुं० स्त्री० । सुधर्मस्वामि-
प्रभृतावनुयोगदायिनि, “ वंदितुं सव्वसिद्धे, जिणे य अणुश्रो-
गदायए सव्वे । आयाएस्स जगवओ, निज्जुत्ति किच्चस्सामि”
॥ १ ॥ आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुश्रोगदार-अनुयोगदार-न० । व० व० । अध्ययनार्थकथन-
विधिरनुयोगः द्वाराणीव द्वाराणि, महापुरस्येव सामायिकस्या-
ऽनुयोगार्थं व्याख्यानार्थं द्वाराण्यनुयोगद्वाराणि । उपक्रमादिषु
व्याख्यानप्रकारेषु, अत्र नगरद्वष्टान्तं वर्णयन्त्याचार्याः । अनु० ।
उत्त० । यथा हि अकृतद्वारं नगरं नगरमेव न भवति; कृतैकद्वार-
मपि हस्त्यश्वरथजनसंकुलत्वाद् दुःखसंचारं कार्यातिपत्तये च
जायते; कृतचतुर्भूलप्रतोलीद्वारं तु सप्रतिद्वारं मुखनिर्गमप्रवेशं
कार्यातिपत्तये च । सामायिकपुरमप्यर्थाधिगमोपायद्वारशून्य-
मशक्याधिगमं भवति; कृतैकानुयोगद्वारमपि कृच्छ्रेण द्राविय-
सा च कालेनाधिगम्यते; विहितसप्रभेदोपक्रमादिद्वारचतुष्टयं
सुखाधिगममलपीयसा च कालेनाधिगम्यते, ततः फलवान-
नुयोगद्वारोपन्यासः । उक्तं च—

“अणुश्रोगद्वाराहं, महापुरस्तेव तस्स चत्तारि ।

अणुश्रोगो च्ति तदत्थो, दाराहं तस्स उ मुहाहं ॥

अकयहारमनगरं, कयेगदारं पि दुक्खसंचारं ।

चउमूत्रहारं पुण, सण्णडिदारं सुहाहिगमं ॥

सामाज्यपुरमेवं, अकयहारं तहेगदारं वा ॥

दुराहिगमं चउदारं, सण्णडिदारं सुहाहिगमं” ॥

आ० म० प्र० । विशेष० । स्था० । आचा० ।

(चत्वारि अनुयोगद्वाराणि ‘अणुश्रोग’ शब्दे
३५५ पृष्ठेऽनुपदमेवोक्तानि)

नन्वादौ उपक्रमः, तदनन्तरं निक्षेपः, तदनन्तरं चानुगमः,
ततोऽन्यनन्तरं नय इत्यमीषामनुयोगद्वाराणामित्यं क्रमोपन्यासे
किं प्रयोजनमित्याशङ्क्य ‘कमण्यओअणाहं च वच्चा’ इत्यष्टमं
क्रमप्रयोजनद्वारमभिधित्सुराह-

दारकमेऽयमेव उ, निक्खिप्पइ जेण नासमीवत्थं ।

अणुगम्मइ नाणत्थं, नाणुगमो नयमयविहूणो ॥

संवंधोवक्कमओ, समीवमाणीय नत्थनिक्खेवं ।

सत्थं तओऽणुगम्मइ, नएहिं नाणाविहाणेहिं ॥

एषामनुयोगद्वाराणामयमेवोपन्यासक्रमः, येन नासमीपस्थ-
मनुपक्रान्तं निक्षिप्यते, न च नामादिनिरनिक्षिप्तमर्थतोऽनुगम्यते,
नापि नयमतविकलोऽनुगमनियतश्च संबन्धरूप उपक्रमः संव-
न्धोपक्रमस्तेन संबन्धकर्त्रा उपक्रमेण समीपमानीय न्यासयोग्यं
विधाय न्यस्तनिक्षेपं विहितनामस्थापनादिनिक्षेपं सच्छास्त्रं
ततोऽर्थतोऽनुगम्यते व्याख्यायते नानाविधानैर्नानाभेदेनैस्त-
स्मादयमेवानुयोगद्वारक्रम इति क्रमप्रयोजनद्वारं समाप्तमिति ।
ओ० । न० । पृ० । नि० चू० । व्य० । आ० म० द्वि० । स्था०

कर्म० । सत्पदप्ररूपणतादिषु, विशेष० । ' संतपयपरुषणया दृष्वपमाणं च ' इत्याद्यनुयोगद्वाराणामन्यतरदेकमनुयोग-
द्वारमुच्यते । कर्म० १ कर्म० । तत्स्वरूपप्रतिपादकाध्ययनवि-
शेषोऽभेदोपचारादनुयोगद्वाराणीत्युच्यते । पा० । उत्कालिक-
श्रुतविशेषे, न० ।

अस्यादावेतद्दीकारुत्—

“ सम्यक्सुरेन्द्रकृतसंस्तुतिपादपत्र—

मुहामकामकरिराजकठोरसिंहम् ।

सद्धर्मदेशकवरं वरदं नतोऽस्मि,

वीरं विशुद्धतरवोधनिधिं सुधीरम् ॥ १ ॥

अनुयोगभृतां पादान्, वन्दे श्रीगौतमादिसूरीणाम् ।

निष्कारणबन्धनां, विशेषतो धर्मदानूणाम् ॥ २ ॥

यस्याः प्रसादमनुलं, संप्राप्य भवन्ति भव्यजननिवहाः ।

अनुयोगवेदिनस्तां, प्रयतः श्रुतदेवतां वन्दे ॥ ३ ॥ ”

इहातिगम्भीरमहानीरधिमध्यनिपतितानर्घ्यरत्नमिवातिदु-
र्लभं प्राप्य मानुषं जन्म ततोऽपि लब्ध्वा त्रिभुवनैकहितश्री-
मज्जिनप्रणीतयोधिलाभं समासाद्य विरत्यनुगुणपरिणामं प्र-
तिपद्य चरणधर्ममधीत्य विधिबत् सूत्रं समधिगम्य तत्पर-
मार्थं विज्ञाय स्वपरसमयरहस्यं तथाविधकर्मक्षयोपशमसं-
भाविनीं चावाप्य विशदप्रज्ञां जिनवचनानुयोगकरणे यतित-
व्यम्; तस्यैव सकलमनोऽभिलषितार्थसार्थसंसाधकत्वेन य-
थोक्तसमप्रसामग्रीफलत्वात् । स चाऽनुयोगो यद्यप्यनेकग्रन्थ-
विषयः संभवति, तथाऽपि प्रतिशास्त्रं प्रत्यध्ययनं प्रत्युद्देशकं
प्रतिवाक्यं प्रतिपदं चोपकारित्वात्प्रथममनुयोगद्वाराणामसौ
विधेयः । जिनवचने ह्याचारादिश्रुतं प्रायः सर्वमप्युपक्रमनिक्षे-
पानुगमनयद्वारैर्विचार्यते । प्रस्तुतशास्त्रे च तान्येवोपक्रमादि-
द्वाराण्यभिधास्यन्ते, अतोऽस्यानुयोगकरणे वस्तुतो जिनव-
चनस्य सर्वस्याप्यसौ कृतो भवतीत्यतिशयोपकारित्वात्प्रकृ-
तशास्त्रस्यैव प्रथममनुयोगो विधेयः । स च यद्यपि चूर्णिटी-
काद्वारेण वृद्धैरपि विहितस्तथापि तद्वचसामतिगम्भीरत्वेन
दुरधिगमत्वाद् मन्दमतिनाऽपि मयाऽसाधारणश्रुतमक्रिज-
नितौत्सुक्यभावतोऽविचारितस्वशक्तित्वादल्पधियामनुग्रहार्थ-
त्वाच्च कर्तुमादभ्यते । अनु० ।

“ सोलससयाणि चतुर-चराणि ह्येति च इमस्मिन्गाहाणं ।

दुसहस्समणुडुमठं दवित्तप्पमाणओ भणिओ ॥ १ ॥

णगरमहादाराई, चउवक्कमाणुओगवरदारा ।

अक्खरार्वदमत्ता, विहिआ दुक्खक्खयछाप ॥ २ ॥

गाहा १६०४; अनुपुण्ड्रन्दा ग्रन्थसंख्या २००५ ।

ग्रन्थान्ते च टीकारुत्—

प्रायोऽन्यशास्त्रदृष्टः, सर्वोऽप्यर्थो मयाऽत्र संकलितः ।

न पुनः स्वमनीषिकया, तथापि यत्किञ्चिदिह वितथम् ॥ १ ॥

सुत्रमतिलङ्घ्यं विहितं, तच्छ्रोत्रं मय्यनुग्रहं कृत्वा ।

परकीयदोषगुणयोः स्यामोपादानविधिकुशलैः ॥ २ ॥

ग्रन्थस्थस्य हि बुद्धिः, स्वबलितं न कस्येह कर्मवशगस्य ? ।

सद्बुद्धिविरहितानां, विशेषतो मद्धिधासुमताम् ॥ ३ ॥

कृत्वा यद्वृत्तिमिमां, पुण्यं समुपाजितं मया तेन ।

मुक्तिमर्चिरेण ह्यभतां, कृपितरजाः सर्वजव्यजनः ॥ ४ ॥

श्रीप्रभवाहनकुलाम्बुनिधिप्रसूतः,

क्षोर्णातल्लप्रथितकीर्तिरुदीर्णशास्त्रः ।

विभ्रमस्ताधितयिकटिपतचस्तुत्तुचै—

भङ्गायाशतप्रचुरनिर्वृतप्रन्यजन्तुः ॥ ५ ॥

ज्ञानादिकुसुमनिचितः, फलितः श्रीमन्मुनीन्द्रफलवृद्धैः ।

कल्पद्रुम इव गच्छः, श्रीहर्षपुरीयनामाऽस्ति ॥ ६ ॥

एतस्मिन् गुणरत्नरोहणगिरिर्गम्भीर्यपाथोनिधि—

स्तुद्रत्वानुकृतकमाधरपतिः सौम्यत्वतारापतिः ।

सम्यग्ज्ञानविशुरूसंयमतपःस्वाचारवर्षानिधिः,

शान्तः श्रीजयसिंहसूरिरभवन्निःसङ्गचूनामणिः ॥ ७ ॥

रत्नाकरादिवैतस्मा-न्निष्प्यरत्नं यज्ञव तत् ।

स वागीशोऽपि नामाऽन्यो, यद्गुणग्रहणे प्रभुः ॥ ८ ॥

श्रीवीरदेवविशुद्धः, सम्मन्त्राद्यतिशयप्रवरतोयैः ।

हम इव यः संसिक्तः, कस्तद्गुणवर्णने विबुधः ? ॥ ९ ॥

तथाहि—आम्ना यस्य नरेश्वरैरपि शिरस्यारोप्यते सादरं,

यं दृष्ट्वाऽपि मुदं व्रजन्ति परमां प्रायोऽपि दुष्टा अपि ।

यद्वक्त्राभ्युधिनिर्गदुज्ज्वलवचःपीयूषपानोद्यतै-

र्गोर्वाणैरिव दुग्धासिन्धुमधने तृप्तिर्न लेजे जनैः ॥ १० ॥

कृत्वा येन तपः सुदुष्करतरं विश्वं प्रबोध्य प्रभो-

स्तीर्थं सर्वविदः प्रभावितमिदं, तैस्तेः स्वकीयैर्गुणैः ।

शुक्लीकुर्वदशेषविश्वकुहरं मय्येतिधरूपहै-

र्यस्याऽऽशास्वनिवारितं विचरते इवेतांशुगौरं यशः ॥ ११ ॥

यमुनाप्रवाहविमल-धीमन्मुनिचक्रसूरिसंपर्कात् ।

अमरसरितेय सकलं, पवित्रितं येन भुवनतलम् ॥ १२ ॥

विस्फूजन्तकविक्रासदुस्तरतमः संतानलुप्तस्थितिः,

सुर्येणैव विवेकिनृधराशिरस्यासाद्य येनोदयम् ।

सम्यग्ज्ञानकरैश्चिरन्तनमुनिक्षुण्णः समुद्योतितो,

मार्गः सोऽभयदेवसूरिरजवत्तन्यः प्रसिद्धो ज्ञुवि ॥ १३ ॥

तच्छिष्यलवप्रार्यै-रवगीतार्थाऽपि शिष्यजननुरूपैः ।

श्रीहेमचन्द्रसूरिजि-रियमनुरचिता प्रकृतवृत्तिः ॥ १४ ॥ अनु० ।

अणुभोगदारसमास-अनुयोगद्वारसमास-पुं० । अनुयोगद्वाराणां
द्यादिसमुदाये, कर्म० १ कर्म० ।

अणुभोगधर-अनुयोगधर-पुं० । अनुयोगिके, व्य० ३ उ० । “अ-

णुभोगधरो अप्पणो मारवाणि रिहरणत्थं सो ताराण य ल-

ज्जाणि रिहरणत्थं” आह अनुयोगकथाम् । नि० चू० २० उ० ।

अणुभोगपर-अनुयोगपर-त्रि० । सिद्धान्तव्याख्याननिष्ठे, जी०

१ प्रति० ।

अणुभोगाणुखा-अनुयोगानुज्ञा-स्त्री० । आचार्य्यपदस्थापना-

याम्, पं० व० ४ द्वा० । (‘ अणुभोगः ’ शब्देऽत्रैव ज्ञाने ३४७

पृष्ठे चैतद्रूपं व्याख्यातम्)

अणुभोगि (ण)-अनुयोगिन्-पुं० । अनुयोगो व्याख्यानं

प्ररूपणेति यावत्, स यत्राऽस्ति । व्याख्यानार्थं क्रियमाणे प्रश्न-

भेदे, यथा—“ चउहिं समपहिं लोतो ” इत्यादिप्ररूपणाय ‘क-

इहिं समपहिं ’ इत्यादि । स्या० ६ ठा० । आचार्य्यं, “ अणुभो-

गी लोगणं, किल संसयणासओ दढं होइ ” पं० व० ४ द्वा० ।

अणुभोगिय-अनुयोगिक-त्रि० । प्रव्रजिते, न० । “ अणुभो-

गियवरवसभे, नाइलकुलवंसनंदिकरे ” न० ।

अणुधरी-अणुधरी-स्त्री० । द्वारवतीवास्तव्यस्यार्हन्मित्रस्य

भार्यायाम्, यस्याः पुत्रस्य जिनदेवस्य आत्मदोषोपसंहारे

कथा । आव० ४ अ० । आ० चू० ।

अणुकंप-अनुकम्प-त्रि० । अनुशब्दोऽनुरूपायै, ततश्चानुरूपं

कम्पते चेष्टत इत्यनुकम्पः । अनुरूपक्रियाप्रवृत्तौ, उक्त० १२ अ० ।
अनुकम्प्य-त्रि० । अनुकम्पनीये, वृ० ६ उ० ।

अणुकंपाण-अनुकम्पन-न० । दुःखार्तानां बालवृद्धाऽसहायानां
यथादेशकालमनुकम्पाकरणे, व्य० ३ उ० ।

अणुकंपधम्मसवणादिया-अनुकम्पाधर्मश्रवणादिका-स्त्री० ।
जीवदयाधर्मशास्त्राकर्णनप्रभृतिकायाम्, पञ्चा० १० विव० ।

अणुकंपय-अनुकम्पक-त्रि० । भगवतो भक्ते, अनुकम्पायाश्च
भक्तिवाचित्वम्, "आयरियऽणुकंपाए, गच्छो अणुकंपिओ
महाभागो" इति वचनात् । कल्प० । आत्महिते प्रवृत्ते, स्था०
४ ठा० ४ उ० ।

अणुकंपा-अनुकम्पा-स्त्री० । अनुकम्पनमनुकम्पा । दयायाम्,
नि० चू० १ उ० । अनुकम्पा, कृपा, दयेत्येकार्थाः । ओ० । अ-
नुकम्पा कृपा । यथा-सर्व एव सत्त्वाः सुखार्थिनो दुःखप्रहा-
णार्थिनश्च, ततो नैषामहपाऽपि पीडा मया कार्येति । ध० २
अधि० । अनुकम्पा दुःखितेष्वपक्षपातेन दुःखप्रहाणेच्छा स-
म्यक्त्वलिङ्गम् । पक्षपातेन तु करुणा पुत्रादौ व्याघ्रादीनाम-
प्यस्त्येवेति न तादृश्याः कृपायास्तत्त्वम् । सा चानुकम्पा द्र-
व्यतो भावतश्चेति द्विधा । द्रव्यतः सत्यां शक्तौ दुःखप्रतीका-
रेण । भावतश्चाद्रहदयत्वेन । यदाह-"दृष्ट्वा पाणिनिवहं, भीमे
भवसागरमि दुक्खतं । अविसेसओऽणुकंपं, दुहा वि साम-
त्थओ कुणइ" ॥ १॥ ध० २ अधि० । आ० । प्रव० । दर्श० । संथा० ।
अन्नादिदानरूपायाम्, ध० २ अधि० । भक्तौ, आ० क० ।
(अनुकम्पया श्रुतसामायिकलाभे उदाहरणानि 'धसंतरि'
शब्दे वक्ष्यन्ते) भक्षपानादिभिरुपपद्यते च, भ० ८ श० ८ उ० ।
'अनुकम्पाऽनुकम्प्ये स्यात्' अनुकम्पाऽनुकम्प्ये विषये, द्वा० १
द्वा० । स्था० ।

अणुकंपं पनुच्च तत्रो पणिणीया पसुत्ता । तं जहा-तव-
स्सिपणिणीए गिलाणपडिणीए सेहपडिणीए ॥

अनुकम्पामुपपद्यमानं प्रतीत्याश्रित्य तपस्वी क्षपकः, ग्लानो रोगा-
दिभिरसमर्थः, शैक्षोऽभिनवप्रव्रजितः, एते ह्यनुकम्पनीया भव-
न्ति, तत्करणाकरणाभ्यां च प्रत्यनीकतेति । अनुकम्पातो
यद्दानं तदनुकम्पैवोपचाराद् । दानभेदे, उक्तं च वाचकमुख्यैरु-
मास्वातिपूज्यपादैः-"कृपयेऽनाथदरिद्रे, व्यसनप्राप्ते च रोग-
शोकहते । यदीयते कृपार्था-दनुकम्पात् तद्भवद्दानम्" ।
स्था० १० ठा० ।

अणुकंपादाण-अनुकम्पादान-न० । अनुकम्पया कृपया दानं
दीनानाथविषयमनुकम्पादानम् । स्था० १० ठा० । रङ्गदाने, प्रति० ।
अनुकम्पादानं जिनैरप्रतिक्रियते-

अनुकम्पाऽनुकम्पे स्या-भक्तिः पात्रे तु संगता ।

अन्यथाधीस्तु दातृणा-मतिचारप्रसज्जिका ॥ २ ॥

(अनुकम्पेति) अनुकम्पाऽनुकम्प्ये विषये, भक्तिस्तु पात्रे साध्यादौ
संगता स्यात् समुचितफलदाऽस्यात् । अन्यथाधीस्तु-अनुकम्प्ये
सुपात्रत्वस्य, सुपात्रे चानुकम्प्यत्वस्य बुद्धिस्तु दातृणामति-
चारप्रसज्जिकाऽतिचारापादिका । अत्र यद्यपि सुपात्रत्वधियोऽ-
नुकम्प्ये संयतादौ मिथ्यारूपतयाऽतिचारापादकत्वं युज्यते ।
सुपात्रेऽनुकम्प्यत्वधियस्तु न कथंचित्, तत्र ग्लानत्वादिद-
शायामन्यदाऽपि च स्वेष्टोद्धारप्रतियोगिदुःखाश्रयत्वरूपाऽनु-
कम्प्यत्वाधियः प्रमात्वात् । तथापि स्वापेक्षयाऽहीनत्वे सति

स्वेष्टोद्धारप्रतियोगिदुःखाश्रयत्वरूपमनुकम्प्यत्वं तत्राप्रामाणि-
कमेवेति न दोषः । अपरे त्वाहुः-तत्र प्रागुक्तं निर्विशेषण-
मनुकम्प्यत्वं प्रतीयमानं साहचर्यादिदोषेण यदा हीनत्वबुद्धिं
जनयति तदैवातिचारापादाकं नान्यदा, अन्यथाधियोर्हीनोत्कृष्ट-
योरुत्कर्षाऽकर्षबुद्ध्याधानद्वारैव दोषत्वात् । अत एव न चानुक-
म्पादानं साधुषु न संभवति । "आयरियऽणुकंपाए, गच्छो
अणुकंपिओ महाभागो" इति वचनादित्यष्टकवृत्त्यनुसारेणाचार्या-
दिष्वन्युत्कृष्टत्वधियोऽप्रतिरोधेऽनुकम्पाऽव्याहतेति । एतन्नये च
सुपात्रदानमपि ग्रहीतृदुःखोद्धारोपायत्वेनेष्यमाणमनुकम्पादा-
नमेव, साक्षात्स्वेष्टोपायत्वेनेष्यमाणं चान्यथेति बोध्यम् ॥ २ ॥

तत्राद्या दुःखिनां दुःखो-दिधीर्पाऽल्पासुखश्रमात् ।

पृथिव्यादौ जिनाऽर्चादौ, यथा तदनुकम्पिनाम् ॥ ३ ॥

(तत्रेति) तत्र भक्त्यनुकम्पयोर्मध्ये आद्याऽनुकम्पा दुःखिनां
दुःखार्तानां पुंसां दुःखोदिधीर्पा दुःखोद्धारेच्छा अल्पानाम-
सुखं यस्मादेतादृशो यः श्रमस्तस्मात् । इत्थं च वस्तुगत्या बल-
वदनिष्ठाननुबन्धी यो दुःखिदुःखोद्धारस्ताद्विपायिणी स्वस्थेच्छाऽ-
नुकम्पेति फलितम् । उदाहरति, यथा-जिनार्चादौ कार्ये पृथि-
व्यादौ विषये तदनुकम्पिनामित्थं नूतनभगवत्पूजाप्रदर्शनादिना
प्रतिबुद्धाः सन्तः पदकायान् रत्नत्विति परिणामवतामित्यर्थः ।
यद्यपि जिनार्चादिकं भक्त्यनुष्ठानमेव, तथापि तस्य सम्यक्त्व-
शुद्ध्यर्थत्वात्तस्य चानुकम्पालिङ्गकत्वात्तदर्थकत्वमप्यविरुद्धमे-
वेति पञ्चलिङ्गधादावित्थं व्यवस्थितेरस्माभिरप्येवमुक्तम् ॥ ३ ॥

अल्पासुखश्रमादित्यस्य कृत्यमाह-

स्तोकानामुपकारः स्या-दारम्भाद्यत्र जूयसाम् ।

तत्रानुकम्पा न मता, यथेष्टापूर्तकर्मसु ॥ ४ ॥

(स्तोकानामिति) स्पष्टम्, नवरम्, इष्टापूर्तस्वरूपमेतत्-"ऋत्वि-
ग्भिर्मन्त्रसंस्कारै-र्ब्राह्मणानां समकृतः । अन्तर्वेद्यां हि यद्वत्त-
मिष्टं तदभिधीयते ॥ १ ॥ वापिकूपतरुगानि, देवताऽऽयतनानि
च । अन्नप्रदानमेतत्तु, पूर्तं तत्त्वविदो विदुः" ॥ २ ॥

नन्वेवं कारुणिकदानशालादिकर्मणोऽप्युच्छेदापत्तिरित्यत
आह-

पुष्टाभ्यन्तमाश्रित्य, दानशास्त्रादि कर्म यत् ।

तत्तु प्रवचनोन्नत्या बीजाधानादिजावतः ॥ ५ ॥

(पुष्टाभ्यन्तमिति) पुष्टाभ्यन्तं सद्भावकारणमाश्रित्य यद्दानशा-
स्त्रादि कर्म प्रदेशिसंप्रतिराजादीनां, तत्तु प्रवचनस्य प्रशंसादि-
नोन्नत्या बीजाऽऽधानादीनां भावतः सिद्धेलोकानाम् ॥ ५ ॥

बहूनामुपकारेण, नानुकम्पा निमित्तताम् ।

अतिक्रामति तेनाऽत्र, मुख्यो हेतुः शुभाशयः ॥ ६ ॥

(बहूनामिति) ततो निर्वृत्तिसिद्धेर्बहूनामुपकारेणानुकम्पा निमि-
त्ततां नातिक्रामति, तेन कारणेनात्रानुकम्पोचितफले, मुख्यः
शुभाशयो हेतुः । दानं तु गौणमेव, वेद्यसंवेद्यपदस्थ एव
तादृगाशयपात्रं, तादृगाशयानुगम एव च निश्चयतोऽनुकम्पेति
फलितम् ॥ ६ ॥

एतदेव नयप्रदर्शनपूर्वं विवेचयति-

क्षेत्रादिव्यवहारेण, दृश्यते फलसाधनम् ।

निश्चयेन पुनर्जावः, केवलः फलजेदकृत् ॥ ७ ॥

व्यवहारेण पात्रादिभेदात्फलभेदो, निश्चयेन तु जाववैचित्र्या-
देवेति तत्त्वम् ॥ ७ ॥

इय चितिय पुरवाहं, वडविनिविणि जाव वंधप अणं ।
ता तगुणगणरंजिय-हियया पुरदेवया भुत्ति ॥ ६४ ॥
ठाउं निवजणणिसुहे, निवपुरओ तं कहइ बुत्तं ।
सवंधणपरंतं, तो दुहिओ चितिय राया ॥ ६५ ॥
“उपकारिणि विश्वास्ये, आर्यजने यः समाचरति पापम् ।
तं जनमसत्यसंधं, प्रगवति वसुधे ! कथं वहासि ?” ॥ ६६ ॥
इय परिजाविय रत्ता, पुरोहिपुत्तं धराविडं तुरियं ।
तत्थ गणं दिओ, सत्थाहसुओ तह कुणंतो ॥ ६७ ॥
छिदिचु णत्ति पासे, सो गयमारोविकण हिट्ठेण ।
महया वि वित्थेणं, पवेसिओ नयरमज्झमि ॥ ६८ ॥
भणिओ य भो महायस !, तुज्ज कुलीणस्स जुत्तमेव इमं ।
तह पुच्छिरस्स वि ममं, जं परदोसो न ते कहिओ ॥ ६९ ॥
किं तु तुह जमवरद्धं, अघाणपमायओ इहउम्हेहिं ।
तं खमियव्वं सव्वं, खमापद्दणां ह्यु सप्पुरिसा ॥ ७० ॥
इत्थंतरे भनेहिं, वंधिय तत्थाऽऽणिसो पुरोहिसुओ ।
रोसारणनयणेणं, रत्ता वज्जो समाणत्तो ॥ ७१ ॥
तो भणइ चक्रदेवो, वच्छल्लहियण पगइसरत्तेण ।
महमित्तेण इमेणं, किं नाम विरुद्धमायरियं ? ॥ ७२ ॥
पुरदेवयार्यं कहियं, कहइ निओ दुट्ठचिच्छियं तस्स ।
मन्नुजरजरियचित्तो, तो चितइ सत्थवइपुत्तो ॥ ७३ ॥
अमयरत्ताव विसं पि व, ससहरविधाउ अगिगुत्ति व्व ।
परिसमित्ताउ इमं, किमसममसमंजसं जायं ? ॥ ७४ ॥
एवं सो परिभाषिय, गाढं निवडिचु निवइचण्णेसु ।
मोयावइ नियमित्तं, तो हिट्ठो भणइ नरनाहो ॥ ७५ ॥
“उपकारिणि धीतमत्सरं वा, सदयत्वं यदि तत्र कोऽतिरेकः ।
अहिते सहसाऽपराधलब्धे, सद्युगं यस्य मनः सतां स धुर्यः ॥ ७६ ॥
अइ सत्थवाहपुत्तो, सयवत्तुपत्तनिम्मवचरितो ।
जडवडगपरीयरित्तो, नियगेहं पेसिओ रत्ता ॥ ७७ ॥
तेणावि जणदेवो, आल्लविओ पणयसारवयणेहिं ।
सक्कारिय संमाणिय, पट्टविओ निययनवणमि ॥ ७८ ॥
जाओ जणपवाओ, धनो एसेव सत्थवाहसुओ ।
अवयारपरे वि नरे, इय जस्स मई परिप्फुरइ ॥ ७९ ॥
वेरगमगल्लगो, कयावि सिरिअग्गिभूइगुक्कासे ।
गिपहेइ चक्रदेवो, दिक्खं दुइकफलदइणसमं ॥ ८० ॥
यहुकालं परिपालिय, सामखं सो भणन्नसामन्नं ।
जाओ अजिमवंसो, नवअयरत्ता सुरो वंसा ॥ ८१ ॥
तत्तो चविय विदेहे, अरिअजिप मंगल्लावईविज्जण ।
यहुरयणे रयणउरे, सत्थपहुयणसारस्स ॥ ८२ ॥
सिरिमइपियाए जाओ, चंदणसारु त्ति नंदणो तस्स ।
कंता य चंदकंता, दुवे वि जिणधम्मपरिकलिया ॥ ८३ ॥
मरिठं स जलदेवो, वि छुच्चपुढवीए नारओ जाओ ।
युण आहेमयसुणओ, मरिठं तत्थेव ववच्चो ॥ ८४ ॥
तत्तो जमिय बहुजवं, जाओ सो रयणसारवासिसुओ ।
अइणगनामा पीई, पुब्बुत्ता तेसि संजाया ॥ ८५ ॥
अअदिणे रयणउरे, विसि जत्ताण गयमि निवइमि ।
सवरवइ विज्जकेऊ, जंजिय गिपहइ वहुं वंदं ॥ ८६ ॥
हरिया य चंदकंता, सेसजणो को वि कथं वि य न्हो ।
आवासिओ य वडिडं, सवरवई जिअकूवतडे ॥ ८७ ॥
वोलीणे सयल्लदिणे, निसावसेसे पयाणकालमि ।
अइरइसवसपुरकलंड-जियनियकिंखेसु जिखेसु ॥ ८८ ॥

सत्तालकाहत्तातर-लवहल्लरवपसरमरियनहविचरे ।
अग्गाणीयमि वडं-तयमि दीणे य वंदिजणे ॥ ८९ ॥
सा चंदणपाणपिया, सलीलनियसील्लंडणमण ।
पंचनमुक्कारपरा, जंपावइ तमि कूवमि ॥ ९० ॥
प्रवियव्वयानिओगा, पनिया नीरमि जीविया तेण ।
पडिकूवयमि ठाउं, गमेइ सा वासरे कइ वि ॥ ९१ ॥
इत्तो य गया धादि-त्ति चंदणो नियपुरे समणपत्तो ।
दइया इड त्ति नाउं, जाओ अइविरइदुइइडिओ ॥ ९२ ॥
तो तीए मोयणत्थं, संबल्यं दविणनव्वल्यं गहियं ।
अइणगवीओ चल्लिओ, वारेण वइति तं भारं ॥ ९३ ॥
पत्ता कमेण तं जि-अकूवदेसं तथा पुणो अत्थि ।
धणजायं पासे दा-सयस्स इयरस्स पाहेयं ॥ ९४ ॥
तो पुव्वजवज्जासा, दासो चितइ सुज-रत्तमिणं ।
अत्थमिओ गगणमणी, ओल्लसिओ गयतिमिरमरो ॥ ९५ ॥
ता इत्थ कूवकुहरे, खिविऊणं सत्थवाहसुहेमं ।
धणजापण इमेणं, भवामि भोगाण आमागी ॥ ९६ ॥
तो जणइ निविडनियमी, जिसं तिसा वाहइ ममं सामि ! ।
सोवि हु सहावसरत्तो, जा कूवे नियइ तत्थ जंज ॥ ९७ ॥
ता तेण पावपन्ना-रपिक्खिण स पिक्खिओ अयने ।
तत्तो वि पयसाओ, पाविओ अइणगो णत्तो ॥ ९८ ॥
अइ चंदणो जलंतो, सिरिअपाहेयपुट्ठलो पडिओ ।
पमिकूवे सहु ल्लगो, य चंदकंता कह वि छित्ता ॥ ९९ ॥
मयविहत्ता भणइ नमो, अरिइताणं ति तं सरेण फुडं ॥
उवल्लखिय आह इमो, जिणधम्मणं अजयमज्जं ॥ १०० ॥
तं सुणिय मुणिय दइयं, मरेण रोपइ तारत्तामिमा ।
तो अन्नुओ सुइसुइ-वत्ताहिं गमंति तं रयणि ॥ १०१ ॥
उइए सदस्सकिरणे, तं पाहेयं दुवे वि भुंजंति ।
कइयदिण्णेसु एवं, पक्खीणं संवत्तं सव्वं ॥ १०२ ॥
अइ चंदणो पयवइ, दइए ! एयाउ वियडअवडिओ ।
गंजीराउ जवाउ व, उत्तारो छुत्तो नृणं ॥ १०३ ॥
तम्हा कुणिमोऽणसणं, मा मणुयज्जं निरत्थयं नेमो ।
इय जा कहइ ता से, दाहिणनयणेण विप्फुरियं ॥ १०४ ॥
इयरीए वामेणं, सो आह पिपइ अंगफुरणेहिं ।
एस किळेसो न चिरं, होही अइं ति तक्केमि ॥ १०५ ॥
इत्थंऽतरमि पत्तो, सत्थवई नांदिवज्जणो तत्थ ।
रयणवरनयरामी, उदयत्थं पेसए पुरिसे ॥ १०६ ॥
ते जा नियंति कूवं, ता चंदणचंदकंतमज्जिदहुं ।
साहिचु सत्थवइणो, कइति य मंचियाए लहुं ॥ १०७ ॥
पुट्ठो य सत्थवइणा, बुत्तं तं कहइ चंदणो सव्वं ।
संचल्लिओ नियनयरा-मिमुहं वूढो य दिणपण्णं ॥ १०८ ॥
दिओ तेण निवपडे, छट्ठदिणे हरिविदारिओ पुरिसो ।
नाउं धणोवडंजा, इहा ! वरामो अइणगु त्ति ॥ १०९ ॥
तं दव्वं गहिऊयं, पक्कामसुविसुज्झमाणपरिणामो ।
रयणउरे संपत्तो, पत्ते सुनिजंजिडं दव्वं ॥ ११० ॥
गिहिल्लं विजयवक्कण-सूरिसमीवेऽणवज्जपव्वज्जं ।
जाओ य सुक्ककप्पे, सोलसअयरठिई अमरो ॥ १११ ॥
तो चविडं इह भरहे, रहवीरपुरामिहाणनयरमि ।
गेहवइनंदिवज्जण-सुंदरिपुत्तो इमो जाओ ॥ ११२ ॥
नामेणऽणगदेशो, अणगदेशु व्व वल्लरुत्तेण ।
सिरिदिवसेणगुरुणो, पासे पमिवक्कगिहधम्मो ॥ ११३ ॥

धस्य तथाभावो हि प्रयत्नान्तरीयकत्वं विवक्षितम् । नचेश्वरप्रयत्नस्य तीव्रादिभावोऽस्ति, नित्यत्वात् । अनभ्युपगनेश्वरं प्रति वा प्रागासिद्धत्वम् । १५ । आभयासिद्धः; यथा-अस्ति प्रधानं, विश्वस्य परिणामिकारणत्वात् । १६ । आभयैकदेशासिद्धः; यथा-नित्याः प्रधानपुरुषेश्वराः, अकृतकत्वात् । अत्र जैनस्य पुरुषः सिद्धो, न प्रधानेश्वरौ । १७ । सन्दिग्धाभयासिद्धः; यथा-गोत्वेन संदिग्धमाने गवये आरण्यकोऽयं गौः, जनदर्शनात्पञ्चासत्वात् । १८ । सन्दिग्धाभयैकदेशासिद्धः; यथा-गोत्वेन संदिग्धमाने गवये गवि च आरण्यकावेतौ गावौ, जनदर्शनात्पञ्चासत्वात् । १९ । आभयसन्दिग्धवृत्तयसिद्धः; यथा-आभयहेत्वोः स्वरूपनिश्चये आभये हेतुवृत्तिसंशये मयूरवानयं प्रदेशः, केकायितोपेतत्वात् । २० । आभयैकदेशसन्दिग्धवृत्तयसिद्धः; यथा-आभयहेत्वोः स्वरूपनिश्चये सत्येवाऽऽभयैकदेशे हेतुवृत्तिसंशये मयूरवन्तावेतौ सहकारकार्यकारौ, तन एव । २१ । व्यर्थविशेषणासिद्धः; यथा-अनित्यः शब्दः, सामान्यवत्त्वे सति कृतकत्वात् । २२ । व्यर्थविशेष्यासिद्धः; यथा-अनित्यः शब्दः, कृतकत्वे सति सामान्यवत्त्वात् । २३ । सन्दिग्धासिद्धः; यथा-धूमवाष्पादिविवेकानिश्चये कश्चिदाह-वह्निमानयं प्रदेशः, धूमवत्त्वात् । २४ । सन्दिग्धविशेष्यासिद्धः; यथा-अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः, पुरुषत्वे सत्यद्याप्यनुपपन्नतत्त्वज्ञानत्वात् । २५ । सन्दिग्धविशेषणासिद्धः; यथा-अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः, सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्वे सति पुरुषत्वात् । २६ । एकदेशासिद्धः; यथा-प्रागभावो वस्तु, विनाशोत्पादधर्मकत्वात् । २७ । विशेषणैकदेशासिद्धः; यथा-तिमिरमभावस्वभावम्, द्रव्यगुणकर्मातिरिक्तत्वे सति कार्यत्वात् । अत्र जैनात् प्रति तिमिरे क-व्यातिरेको न सिद्धः । २८ । विशेष्यैकदेशासिद्धः; यथा-तिमिरमभावस्वभावं, कार्यत्वे सति द्रव्यगुणकर्मातिरिक्तत्वात् । २९ । सन्दिग्धैकदेशासिद्धः; यथा-नार्यं पुरुषः सर्वज्ञः, रागवक्तृत्वोपेतत्वात् । अत्र सिद्धादनिश्चिते रागित्वे संदेहः । ३० । सन्दिग्धविशेषणैकदेशासिद्धः; यथा-नार्यं पुरुषः सर्वज्ञः, रागवक्तृत्वोपेतत्वे सति पुरुषत्वात् । ३१ । सन्दिग्धविशेष्यैकदेशासिद्धः; यथा-नार्यं पुरुषः सर्वज्ञः, पुरुषत्वे सति रागवक्तृत्वोपेतत्वात् । ३२ । व्यर्थैकदेशासिद्धः; यथा-अग्निमानयं पर्वतप्रदेशः, प्रकाशधूमोपेतत्वात् । ३३ । व्यर्थविशेषणैकदेशासिद्धः; यथा-गुणः शब्दः, प्रमेयत्वसामान्यवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वात् । अत्र बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यस्यापि रूपत्वादिसामान्यस्य गुणत्वाभावाद्भविचारपरिहाराय सामान्यवत्त्वे सतीति सार्थकम्; प्रमेयत्वं तु व्यर्थम् । ३४ । व्यर्थविशेष्यैकदेशासिद्धः; यथा-गुणः शब्दः, बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वे सति प्रमेयत्वसामान्यवत्त्वात् । ३५ । एवमन्येऽप्येकदेशासिद्ध्यादिद्वारेण चूयांसोऽसिद्धजेदाः स्वयमभ्युह्य वाच्याः । उदाहरणेषु चैतेषु दूषणान्तरस्य सम्भवतोऽप्यप्रकृतत्वादन्यपददर्शनम् । त एते भेदा भवन्तिः कथं नाभिहिताः ? ॥

उच्यते—एतेषु ये हेत्वाज्ञासतां जजन्ते, ते यदोज्ञायवाचसिद्धत्वेन विवक्ष्यन्ते, तदोज्ञासिद्धेऽन्तर्भवन्ति । यदा त्वन्यतरासिद्धत्वेन तदाऽन्यतरासिद्ध इति । व्यधिकरणासिद्धस्तु हेत्वाभासो न भवत्येव । व्यधिकरणादापि पित्रोर्ब्राह्मण्यात्पुत्रे ब्राह्मण्यानुमानदर्शनात्, नटप्रदादीनामपि ब्राह्मण्यं कस्मान्नायं साधयतीति चेत् ? । एकधर्मोऽपि पर्वतद्रव्यताः, तत्र चित्रभातुं किमिति नानुमापयति ? इति समानम्; व्यभिचारा-

च्चेत्, तदपि तुल्यम् । तत्पित्रोर्ब्राह्मण्यं हि तन्नमकम् । एवं तर्हि प्रयोजकसम्बन्धेन सम्बन्धो हेतुः कथं व्यधिकरणः ? इति चेत् । ननु यदि साध्याधिगमप्रयोजकसम्बन्धाज्ञावाद् वैयधिकरण्यमुच्यते, तदानीं संमतमेवैतदस्माकं दोषः, किन्तु प्रमेयत्वादयोऽपि व्यधिकरणा एव वाच्याः स्युः व्यभिचारोदयः । तस्मात्पक्षान्यधर्मत्वाभिधानादेव व्यधिकरणो हेत्वाभासस्ते सम्मतः, स चागमक इति नियमं प्रत्याचक्ष्महे । अथ प्रतिमोदशकत्वाऽन्यथाभिधानेऽपि ब्राह्मणजन्यत्वादित्येवं हेत्वर्थं प्रतिपद्य साध्यं प्रतिपद्यते इति चेत्, एवं तर्हि प्रतिमोदशकत्वैव पदस्य कृतकत्वादित्यभिधानेऽपि पदस्य कृतकत्वादनित्यत्वं दृष्टम् । एवं शब्दस्यापि तत एव तद्वस्तिनि प्रतिपत्तौ नायमपि व्यधिकरणः स्यात्; तस्माद्यथोपात्तो हेतुस्तथैव तन्नमकत्वं चिन्तनीयम् । नच यस्मात्पदस्य कृतकत्वं तस्मात्सदन्येनाप्यनित्येन भवितव्यमित्यस्ति व्याप्तिः । अतोऽसौ व्यभिचारादेवागमकः । एवं काककाण्ड्यादिरपि । कथं वा व्यधिकरणोऽपि जलचन्द्रो न जगन्नस्य, कृत्तिकोदयो वा शुकटोदयस्य गमकः स्यात् ? इति नास्ति व्यधिकरणो हेत्वाज्ञासः । आभयासिद्धताऽपि न युक्ता । अस्ति सर्वज्ञः, चन्द्रोपरागादिज्ञानान्यथाऽनुपपत्तेरित्यादौरपि गमकत्वनिश्चयात् । कथमत्र सर्वज्ञधर्मिणः सिद्धिः ? इति चेत्, असिद्धिरपि कथमिति कथ्यताम् ? । प्रमाणागोचरत्वादस्येति चेत्, एवं तर्हि तवापि तत्सिद्धिः कथं स्यात् ? । ननु को नाम सर्वज्ञधर्मिणमन्यथात्वं, येनैव पर्यनुयोगः सोपयोगः स्यादिति चेत् ? । नैवम् । प्रमाणागोचरत्वादित्यतः सर्वज्ञो धर्मो न भवतीति सिषाधयिषितत्वात् । अन्यथेदमम्बरं प्रति निश्चिततर-तरवारिव्यापारप्रायं प्रवेत् । एवं च-

“ आभयासिद्धता तेऽनुमाने न चेत्;

साऽनुमाने मदीये तदा किं भवेत् ? ।

आभयासिद्धता तेऽनुमानेऽस्ति चेत्,

साऽनुमाने मदीये, तदा किं भवेत् ? ” ॥

यदि त्वदीयानुमानेनाभयासिद्धिरस्ति, तदा प्रकृतेऽप्यसौ मा चूदु; धर्मिण उभयत्राप्येक्यात्; अन्यस्यास्य प्रकृतानुपयोगित्वात् । अथास्ति तत्राभयासिद्धिः, तदा बाधकाभावात् एषा कथं मदीयेऽनुमाने स्यादिति भावः ।

तथा च--

“ विकल्पाधर्मिणः सिद्धिः, क्रियतेऽथ निषिध्यते ।

द्विधाऽपि धर्मिणः सिद्धिर्विकल्पात्ते समागता ” ॥ १ ॥

द्वयमपि नास्मि करोमीत्यन्यनभिधेयम्, विधिप्रतिषेधयोर्युगपद्विधानस्य प्रतिषेधस्य चासंभवात् । यदि च द्वयमपि न करोषि तदा व्यक्तममूल्यक्रीयं कथं नोपहासाय जायसे ? तथातायामाभयासिद्धयुक्तावनाशघटनात् । ननु यदि विकल्पसिद्धेऽपि धर्मिणि प्रमाणमन्वेपणीयम्, तदा प्रमाणसिद्धेऽपि प्रमाणान्तरमन्विष्यताम् । अन्यथा तु विकल्पसिद्धेऽपि पर्याप्तं प्रमाणान्वेषणेन, अहमहमिकया प्रमाणलक्षणपरीक्षणं परीक्षाणामकक्षीकरणीयं च स्यात्; तावन्मात्रेणैव सर्वस्यापि सिद्धिः । तथा च चाक्षुषत्वादिरपि शब्दानित्यत्वे साध्ये सत्यगहेतुरेव भवेदिति चेत् । तदल्पम् । विकल्पादि सत्त्वासत्त्वसाधारणं धर्मिमात्रं प्रतीयते, न तु तावन्मात्रेणैव तदस्तित्वस्यापि प्रतीतिरस्ति; यतोऽनुमानाजन्यर्थक्यं भवेत् । अन्यथा पृथिवीधरसाक्षात्कारे कुशानुमत्त्वसाधनमन्यपार्थक्यं भवेत् । तस्याग्निमतोऽनग्निमतो वा प्रत्यक्षैव प्रे-

अह अहणगो वि हरिणा, हाणिआं सेलाइनारओ जाओ ।
 सीहो भविय तर्हिचिय, पुणो वि पत्तो असुहाचितो ॥ ११४ ॥
 तो हिंडिय भूरिभवे, तत्थेव य सोमसत्थवाहस्स ।
 नंदिमइजारियाप, जाओ धणदेवनामसुओ ॥ ११५ ॥
 असदसदमाणसाणं, तेसि पीई परुप्परं जाया ।
 ते दवियज्जणमणसो, कया वि पत्ता रयणदीवे ॥ ११६ ॥
 कइययदिणेहि वलिया, सपुराभिमुहं विदत्तवहुवित्ता ।
 अह धणदेवो जाओ, नियमित्तपवंचणप्पवणो ॥ ११७ ॥
 कम्मि वि गांम इहे, कराविया मोयगा जुवे तेणं ।
 इक्कम्मि विसं खित्तं, एयं मिच्छस्स दाहं ति ॥ ११८ ॥
 आउलमणस्स जाओ, मग्गे इतस्स तस्स वच्चासो ।
 सुक्को सहिणो दिओ, सयं तु विसमोयगो जुत्तो ॥ ११९ ॥
 अइविसमविसविसप्पिर-गुरुवेयणपसरपरिगओ भुत्ति ।
 धणदेवोपरि चत्तो, धम्मण व जीविण्णावि ॥ १२० ॥
 बहु सोइज्जण तस्स य, मयकिच्च काउणंआदेवो वि ।
 पत्तो कमेण सपुरे, तन्नियगाणं कइइ सव्वं ॥ १२१ ॥
 तेसि पभूयदव्वं, दाउं पुच्छिन्नु पियरपमुहजणं ।
 सो पुच्चगुरुसमीवे, गिएहइ वयमुमयलोयहियं ॥ १२२ ॥
 दुक्करतवचरणपरो, परोवयारिक्कमाणसो मरिउं ।
 गुणवीससागराऊ, पायणकप्पे सुरो जाओ ॥ १२३ ॥
 कालेण तओ वि चओ, जंयुदीवम्मि परवयवासे ।
 गयपुरनयरे हरिणं-दिसेछिणो परमसद्धस्स ॥ १२४ ॥
 लच्छिमइपणइणीप, जाओ पुत्तो य वीरदेवु सि ।
 सिरिमाणभंगसुहगुरु-समीवकयगिदिवचच्चारो ॥ १२५ ॥
 धणदेवो वि हु तइया, उक्कमविसवेगपत्तपंचत्तो ।
 नवसागरोवमाऊ, उववओ पंकपुढवीप ॥ १२६ ॥
 पुणरवि भविय जुयंगो, दाउणवणदावदहुसव्वंगो ।
 जाओ तीहि चि किच्चू-णअयरदसगाउ नेरइओ ॥ १२७ ॥
 तिरिपसु जमिय सो त-एय गयपुरे इदं नागसिट्ठिस्स ।
 नंदिमईमज्जाप, दोणगनामा सुओ जाओ ॥ १२८ ॥
 पुव्वुत्तपीइजोगा, इगइहे ववहरंति ते दोवि ।
 वित्तं वहुं विदत्तं, तो चित्तइ दोणगो पावो ॥ १२९ ॥
 कह एसो अंसहरो, हाणियव्वो हुं कराविउं इहिह ।
 नवधवलहरं उच्च-त्तणेण नहमणुलिहंतं व ॥ १३० ॥
 तत्थुवारि जुवि अओमय-कीलगजाढानियंतियगवक्खं ।
 भोयणकप निमंति-त्तु वीरदेवं कुडुंजजुयं ॥ १३१ ॥
 तो से तंसिस्समिमं, रमणीयत्ता सयं स आरुहिही ।
 खड्गइडिज्जण निवडिही, पाणेहि वि जत्ति मुच्चिहिही ॥ १३२ ॥
 अह निव्विवायमेसो, विहवज्जरो मज्झ चेव किर होही ।
 नय कोइ जणचवाओ, इय चितिय कारइ तहेव ॥ १३३ ॥
 जा भुत्तुत्तरमेय, दुवे वि धवलहरसिहरमारुढा ।
 सइमइरहिओ दोणो, अणप्पसंक्कप्पभरियमणो ॥ १३४ ॥
 भो मिच्छ ! एहि इहयं, निज्जुहे विससु जंपिरो तत्थ ।
 सयमारुढो इक्को, पडिओ मुक्को य पाणेहि ॥ १३५ ॥
 हाहारवमुहलमुहो, तुरियं उत्तरिय वीरदेवो वि ।
 जा नियइ ता पदिट्ठो, मिच्छो पंचत्तमणुपत्तो ॥ १३६ ॥
 हा मिच्छ ! मिच्छवच्चल !, उच्चदूस्सणरहिय ! रहियनयमज्जो ।
 इय वहुविहं पलाविउं, मयकिच्चं कुणइ सो तस्स ॥ १३७ ॥
 जललवतरखे जीए, विज्जुलयाचंचलम्मि तरुणत्ते ।
 को नाम गेहवासे, पमिवंथं कुणइ सविवेओ ॥ १३८ ॥

इय चित्तिज्जण सम्म-त्तदाइगुरुपासपत्तसामन्नो ।
 उववन्नो गेविज्जे, सो तइए भासुरो अमरो ॥ १३९ ॥
 अत्थिह विदेहवासे, वासवदेहं व सज्जवज्जहरं ।
 अयंसहस्सकन्नियं, चंपावासं ति वरनयरं ॥ १४० ॥
 तत्थाऽऽसि माणिज्जो, जइवज्जणमणो सया सिछी ।
 जिणधम्मरम्मकामा, तस्स पिया हरिमई नामा ॥ १४१ ॥
 सो वीरदेवजीवो, तत्तो गेविज्जगाउ चविज्जण ।
 नामेण पुन्नमहो, ताणं पुत्तो समुप्पन्नो ॥ १४२ ॥
 तेणं च पढणसमए, घोसं पढममवि उच्चरंतेणं ।
 अमरु त्ति समुच्चवियं, वुच्चइ अमरो वि तेणेसो ॥ १४३ ॥
 दोणो वि मओ धूमा-ए वारअयराउ नारओ जाओ ।
 मच्छो सयंजुरमणे, जविउं तत्थेव उववन्नो ॥ १४४ ॥
 भमिय भवे तत्थ पुरे, नंदावत्तऽभिहसिछिदइयाए ।
 सिरिनंदाए धूया, संजाया नंदयंति त्ति ॥ १४५ ॥
 भवियव्वयावसेणं, परिणीया सा उ पुन्नजहेण ।
 सा पुव्वकम्मवसओ, जाया पइवंचणिक्कमणा ॥ १४६ ॥
 से परियणेण कहियं, वहुत्तरकूडकवडानियडिक्की ।
 सामिय ! पिया तुहेसा, न य सइहियं पुणो तेणं ॥ १४७ ॥
 कइया वि सव्वसारं, कुंढज्जुयलं सयं अवहरित्ता ।
 आउलहियय व्व इमा, साहइ पइणो पणं ति ॥ १४८ ॥
 तेण वि नेहयसेणं, धमाविउं नवयमप्पियं तं से ।
 इय हरियमन्नमन्नं, तीए दिन्नं पुण इमेण ॥ १४९ ॥
 न्हाणावसरे कइया, मुहारयणं समप्पियं तीसे ।
 संभाए मगियं पुण, सा आह कहि वि नणु पडियं ॥ १५० ॥
 तत्तो अइसंजतो, निज्जणं एसो निहालइ गिहो ।
 भज्जाभरणसमुग्गे, नहं दव्वं नियइ सव्वं ॥ १५१ ॥
 किं कुंढलाइ दव्वं, गयं पि लहं इमीए न गयं वा ।
 करकलियदवियजाओ, एसो चित्तेइ सवियक्कं ॥ १५२ ॥
 इत्तो य सा तीहि चिय, पत्ता इयरो य भुत्ति नीहरिओ ।
 जापइ नंदयंती, धुवमिमिणा जाणिया अहयं ॥ १५३ ॥
 जा सयणाण वि मज्जे, नो उप्पापइ लाघवं मज्जं ।
 सज्जो संजोइयक-म्मणेण मारेमि ताव इमं ॥ १५४ ॥
 काउं तयं सयंचिय, अणेगमरणावहेहि दव्वेहि ।
 तमिसम्मि संठवंती, मक्का दुट्ठेण सप्पेण ॥ १५५ ॥
 पनिया धस त्ति धरणिं, जाओ हाहारवो अइमहतो ।
 तत्थागओ पई से, आहूया पवरमारुडिया ॥ १५६ ॥
 सव्वेसि नियंताण वि, सप्पेण निहयं गया गया पावा ।
 उठीए पुढवीए, पुरओ जमिही अणेतभवं ॥ १५७ ॥
 तं दहु पुन्नमहो, सोयजुओ तीइ काउ मयकिच्चं ।
 वेरमाभावियमणो, जाओ समणो विजियकरणो ॥ १५८ ॥
 सुक्कज्जाणानइद-दुसयलकर्मिधणो धुणियपावो ।
 सो जयवं संपत्तो, लोयगसुसंठियट्ठणं ॥ १५९ ॥
 निरुनिव्वेचनिमित्तं, पकित्तिया पुरिमपच्छिमिज्जमवा ।
 इहयं असदगुणस्मी, पगयं पुण चक्कदेवेण ॥ १६० ॥
 इति फलमातिरम्यं चक्रदेवस्य सययक,
 प्रतिभवमापि आव्यं भावभाजो निशम्य ।
 भवत भविकलोकाः स्पष्टसंतोषपोषाः,
 कथमपि हि परेषां वञ्चनाचञ्चवो मा ॥ १६१ ॥

॥ इति चक्रदेवचरितं समाप्तम् ॥

असदकरण-असदकरण-पुं० । मावामदविप्रयुक्तो भूत्वा य-

कृणात् । अग्निमत्स्याऽनग्निमत्त्वविशेषशून्यस्य शैलमात्रस्य प्रत्य-
 केण परिच्छेदाद् नानुमानानर्थक्यमिति चेत्; तर्ह्यस्तित्वना-
 स्तित्वविशेषशून्यस्य सर्वज्ञमात्रस्य विकल्पेनाऽऽकलनात् क-
 थमत्राप्यनुमानानर्थक्यं स्यात् ? । अस्तित्वनास्तित्वव्यतिरेकेण
 कीदृशी सर्वज्ञमात्रसिद्धिरिति चेत् ? ; अग्निमत्त्वानग्निमत्त्वव्य-
 तिरेकेण क्लोणीधरमात्रसिद्धिरपि कीदृशी ? इति वाच्यम् । क्लो-
 णीधरोऽयमित्येतावन्मात्रज्ञप्तिरेवेति चेत्, इतरत्रापि सर्वज्ञ इ-
 त्येतावन्मात्रज्ञप्तिरेव साऽस्तु; केवलमेका प्रमाणलक्षणोपपन्न-
 त्वात् प्रामाणिकी, तदन्या तु तद्विपर्ययाद्वैकल्पिकीति । ननु कि-
 मनेन दुर्भगाऽभरणभारायमाणेन विकल्पेन प्रामाणिकः कुर्या-
 दिति चेत् ? । तदयुक्तम् । यतः प्रामाणिकोऽपि पदार्थपरित-
 र्ककशेषमुपविशेषसङ्ख्यावद्विराजिराजसभायां खरविषाण-
 मस्ति नास्ति वेति केनापि प्रसर्पद्गोचुरकन्धरेण सापेक्षं प्र-
 त्याहृतोऽवश्यं पुरुषाभिमानो किञ्चिद् क्षयाद्, न तूष्णीमेव पु-
 ण्यात्; अप्रकृतं च किमपि प्रत्यपन्नं सनिकारं निस्सार्येत; प्र-
 कृतभाषणे तु विकल्पसिद्धं धर्मिणं विहाय काऽन्या गतिरास्ते ? ।
 अप्रामाणिके वस्तुनि मूकधावदूकयोः कतरः श्रेयानिति स्वय-
 मेव विवेचयन्तु तार्किकाः ? इति चेत् । ननु भवान् स्वोक्तमेव
 तावद्विकचयन्तु, मूकतैव श्रेयसीति च पूर्वोक्तिं निष्प्रमाणके
 वस्तुनीति विकल्पसिद्धं धर्मिणं विहाय मूकताधर्मं च विदधा-
 त।त्यनात्मज्ञशेखरः । तस्मात्प्रामाणिकेनापि स्विकर्तव्यैव कापि
 विकल्पासिद्धिः । नच सैव सर्वत्रास्तु, कृतं प्रमाणेनेति वाच्यम् ।
 तदन्तरेण नियतव्यवस्थाऽयोगात् । एको विकल्पयति अस्ति स-
 र्वज्ञः, अन्यस्तु नास्तीति किमत्र प्रतिपद्यताम् ? । प्रमाणमु-
 द्राव्यवस्थापिते त्वन्यतरस्मिन् धर्मे दुर्बरोऽपि कः किं
 कुर्यात् ? । प्रमाणसिद्ध्यनर्हे तु धर्मिणि सर्वज्ञस्युपपादौ
 विकल्पसिद्धिरपि साधीयसी; तार्किकचक्रचक्रवर्ति-
 नामपि तथाव्यवहारदर्शनात् । एवं शब्दे चाक्षुपत्वमपि
 सिद्ध्यदिति चेत् ? । सत्यम् । नद्विकल्पसिद्धं विहाय यदि त-
 त्नास्तित्वं प्रमाणेन प्रसाधयितुं शक्यते, तदानीमस्तु नाम तस्मि-
 न्निदं नैवम्; तत्र प्रवर्तमानस्य सर्वस्य हेतोः प्रत्यक्षप्रति-
 क्षिप्तपक्षत्वेनाकर्तृकारणत्वात्; ततः कथमस्तित्वाप्रसिद्धौ
 शब्दे चाक्षुपत्वसिद्धिरस्तु ? । एवं च नाश्रयासिद्धौ हेत्वाभासः
 समस्तीति स्थितम् ॥ नचैवं विश्वस्य परिणामिकारणत्वादि-
 त्यस्यापि गमकता प्राप्नोति; अस्य स्वरूपासिद्धत्वात् प्रधा-
 नासिद्धौ विश्वस्य तत्परिणामित्वासिद्धेः । एवमाश्रयैकदेशासि-
 द्धोऽपि न हेत्वाभासः । तर्हि प्रधानात्मानो नित्यावकृतकत्वा-
 दित्ययमप्यात्मनीव प्रधानेऽपि नित्यत्वं गमयेत् । तदसत्यम् ।
 नित्यत्वं खल्वाद्यन्तश्चैव सद्रूपत्वम्, आद्यन्तविरहमात्रं वा वि-
 वक्षितम् ? । आद्येऽत्यन्ताभावेन व्यभिचारः, तस्याकृतकस्या-
 प्यतद्रूपत्वात् । द्वितीये सिद्धसाध्यता; अत्यन्ताभावरूपतया
 प्रधानस्याद्यन्तरहितत्वेन तदभाववादिभिरपि स्वीकारात् ।
 तर्हि देवदत्तवान्मेयौ वक्रवन्तौ, वक्रवृत्तादित्ययं हेतुरस्तु ।
 नैवम् । न चान्येयो वक्रवान्, असत्त्वादित्यनेन तद्वाधनात् ।
 तदसत्त्वं च साधकप्रमाणाभावात् सुप्रसिद्धम् ॥ संदिग्धा-
 श्रयासिद्धिरपि न हेतुदोषः; हेतोः साध्यनाऽविनाशसंभवात् ।
 धर्म्यसिद्धिस्तु पक्षदोषः स्यात् । साध्यधर्मविशिष्टतया प्रसिद्धो
 हि धर्मो पक्षः प्रोच्यते, नच संदेहास्पदीभूतस्यास्य प्रसि-
 द्धिरस्तीति पक्षदोषेणैव गतत्वात् हेतोर्दोषो वाच्यः । सं-
 दिग्धाश्रयैकदेशासिद्धोऽपि तथैव । आश्रयसंदिग्धवृत्तासि-

द्धोऽपि न साधुः; यतो यदि पक्षधर्मत्वं गमकत्वाङ्गमङ्गीकृतं
 स्यात् तदा स्यादयं दोषः, नचैवम् । तत्किमाश्रयवृत्त्यनिश्चयेऽपि
 केकायितान्नियतदेशाधिकरणमयूरसिद्धिर्भवतु ? । नैवम् । के-
 कायितमात्रं हि मयूरमात्रेणैवाविनाभूतं निश्चितमिति तदेव ग-
 मयति । देशविशेषविशिष्टमयूरसिद्धौ तु देशविशेषविशिष्टस्यै-
 व केकायितस्याविनाभावावसाय इति केकायितमात्रस्य तदव्य-
 भिचारसंभवादवागमकत्वम् । एवमाश्रयैकदेशसंदिग्धवृत्ति-
 रप्यसिद्धो न भवतीति । व्यर्थविशेषणविशेष्यासिद्धावपि ना-
 सिद्धजेदौ; वक्रुरकौशलमात्रत्वाच्चनवैयर्थ्यदोषस्य । एवं व्य-
 र्थैकदेशासिद्धादयोऽपि वाच्याः । ततः स्थितमेतद्-एतेष्वसि-
 द्धमेदेषु संभवन्त उभयासिद्धान्यतरासिद्धयोरन्तर्भवन्ति । न-
 न्वन्यतरासिद्धौ हेत्वाभास एव नास्ति । तथाहि-परेणासिद्ध-
 इत्युद्भाविते यदि वादी न तत्साधकं प्रमाणमाचक्षीत, तदा प्रमा-
 णाभावादुभयोरप्यसिद्धः । अथाचक्षीत, तदा प्रमाणस्यापक्ष-
 पातित्वादुभयोरप्यसौ सिद्धः । अथवा-यावद् न परं प्रति प्रमा-
 णेन प्रसाध्यते तावत्तं प्रत्यसिद्ध इति चेत्; गौणं तर्ह्यसिद्धत्वम्;
 नहि रत्नादिपदार्थस्तत्त्वतोऽप्रतीयमानस्तावन्तमपि कालं मु-
 क्यतस्तदाभासः । किञ्च-अन्यतरासिद्धौ यदा हेत्वाभास-
 स्तदा वादी निगृहीतः स्यात्, न च निगृहीतस्य पश्चादनिग्रह-
 इति युक्तम्, नापि हेतुसमर्थनं पश्चाद् युक्तम्; निग्रहान्तत्वाद्वा-
 स्येति । अत्राच्यते-यदा वादी सम्यग्हेतुत्वं प्रतिपद्यमानोऽपि
 तत्समर्थनन्यायविस्मणादिनिमित्तेन प्रतिवादिनं प्राश्नकान् वा
 प्रतिबोधयितुं न शक्नोत्यसिद्धतामपि नानुमन्यते, तदाऽ-
 न्यतरासिद्धत्वं नैव निगृह्यते । तथा-स्वयमनभ्युपगतोऽपि प-
 रस्य सिद्ध इत्येतावतैवोपपन्नस्तो हेतुरन्यतरासिद्धौ निग्र-
 हाधिकरणम् । यथा-साङ्ख्यस्य जैनं प्रत्यचेतनाः सुखादयः,
 उत्पत्तिमत्त्वाद्वद्वदिति । ननु कथं तर्हि प्रसङ्गसाधनं सूप-
 पादं स्यात् ? ; तथा च प्रमाणप्रसिद्ध्यासिद्धेन वाक्येन पर-
 स्यानिष्टत्वापादनाय प्रसङ्गजनं प्रसङ्गः । यथा-यत्सर्वथैकं तन्ना-
 नेकत्र वर्तते, यथैकः परमाणुस्तथा च सामान्यमिति कथमने-
 कव्यक्तिवर्ति स्यात् ? ; अनेकव्यक्तिवर्तित्वाभावं व्यापकमन्तरेण
 सर्वथैक्यस्य व्याप्यस्यानुपपत्तेः । अत्र हि वादिनः स्याद्वादिनः
 सर्वथैक्यमसिद्धमिति कथं धर्मान्तरस्यानेकव्यक्तिवर्तित्वाभा-
 वस्य गमकं स्यादिति चेत् ? तदयुक्तम् । एकधर्मोपगमे ध-
 र्मान्तरोपगमसंदर्शनमात्रतत्परत्वेनास्य वस्तुनिश्चायकत्वाभा-
 वात्, प्रसङ्गविपर्ययरूपस्यैव मौलहेतोस्तन्निश्चायकत्वात् । प्र-
 सङ्गः खल्वत्र व्यापकविरुद्धोपपन्नविरुद्धः । अनेकव्यक्तिवर्ति-
 त्वस्य हि व्यापकमनेकत्वम्, एकान्तैकरूपस्यानेकव्यक्तिवर्ति-
 त्वविरोधात् । एकान्तैकरूपस्य सामान्यस्य प्रतिनियतपदार्था-
 धेयत्वसमावादापरस्य स्वभावास्याऽभावेनाऽन्यपदार्थाधेय-
 त्वासंभवात् तद्भावस्य तदभावस्य चाऽन्योन्यपरिहारस्थितल-
 क्षणत्वेन विरोधादिति सिद्धमनेकत्र वृत्तरेनेकत्वं व्यापकम्;
 तद्विरुद्धं च सर्वथैक्यं सामान्ये संमतं तवेति नाऽनेकवृत्ति-
 त्वं स्याद्विरोधैक्यसङ्गावेन व्यापकस्यानेकत्वस्य निवृत्त्या व्या-
 प्यस्यानेकवृत्तित्वस्याऽवश्यं निवृत्तेः । नच तक्षिवृत्तिरन्युप-
 गतेति लब्धावसरः प्रसङ्गविपर्ययाख्यो विरुद्धव्याप्तोपपन्नवि-
 रूढोऽत्र मौल्यो हेतुः; यथा-यदनेकवृत्ति तदनेकम् । यथा-अ-
 नेकज्जाजनगतं तालफलम्, अनेकवृत्ति च सामान्यमिति एक-
 त्वस्य विरुद्धमनेकत्वम् । तेन व्याप्तमनेकवृत्तित्वम्; तस्योपप-
 न्निविह मौल्यत्वं चास्यैतदपेक्षयैव प्रसङ्गस्यापन्यासात् । न चा-

शोकविहितानुष्ठानकारके, वृ० ६ उ० । “ असदकरणो नाम सव्यत्थादानतो अस्याप मायाप गति असदो होऊणं कसिथं करेति ” । (न शनो यस्मादिति विग्रहाभिप्रायेण) नि० चू० २० उ० ।

असदजाव-अशठजाव-पुं० । अमायाविनि, व्य० ४ उ० । शु-
द्धचित्ते, आव० ६ अ० स्ववीर्य्य प्रति मासं कुर्वाणे, नि० चू०
१० उ० ।

असण-अशन-न० । अश भोजने, ह्युद् । भोजने, नि० चू० ११
उ० । स्था० सूत्र० । अश्यते इत्यशनम् । अश भोजने इत्यस्मात्
ह्युद् । ध० २ अधि० । एवं लोके, लोकोत्तरिके तु आशु च्छुधां शम-
यति इति “ क्षीरलयादिकलाणि वा ” आ० चू० ६ अ० । शोद-
नादिभक्ते, प्रव० ४ द्वार । दश० आचा० । आव० । उच० । दर्श० ।

तत्र अशनमाह-

असणं ओअणसत्तुग-मुगजगाराइ खजगविही य ।
खोराइ सूरणाई, मंगगपभिई उ विनेयं ॥

आदिशब्दः स्वगतानेकजैदसूचकः सर्वत्र संबध्यते । तत ओ-
दनादि, सफ्त्वादि, सुदगादि, जगार्यादि, जगारीशब्देन समग्रभा-
षया “ रम्या ” भाष्यते । तथा खजकविधिश्च- खाद्यक-मण्डि-
का-मोदक-सुकुमारिका-घृतपूर-लपनश्री-स्वर्य्ययुताप्रभृति-
पञ्चाङ्गाविधिः । तथा-क्षीरादि, आदिशब्दाद्वाधि-घृत-तक्र-
लीमन-रसास्त्रादिपरिग्रहः । तथा-सूरणादि, आदिशब्दाद्वा-
कादिसकलवनस्पतिविकारव्यञ्जनपरिग्रहः । मण्डकप्रभृति च-
मयूरकाः प्रभृतिर्यस्य ङोठिका-कुलुरिका-चूरीयका-रुदुरिका-
प्रमुखवस्तुजातस्य तन्मण्डकप्रभृति, विशेषं ज्ञातव्यमशनम् ।
प्रव० ४ द्वार । “ असणाणि य चउसठी ” स० ।

“ असणं ओअण सत्तुग, मंगग पयरव विद्वज्जगाराइ ।
कंदवज्जाई सव्वा, सजसविही सच विगई य ॥ ३९ ॥
असणमि सच विगई, साइम गुल महु सुरा य पाणमि ।
खाइम पक्कन फळा-ण उहेणय सव्वअसणमी ॥ ४० ॥
चण ओद मसुर तुवरी, कुल्लथ निप्पाव मुगग मासा य ।
चवल कलाया राई, पमुहं उद्वं व निषेइ ॥ ४१ ॥
तिव्व अयसि सिद्धिद कंगू, कुहव अणुयादवं सिणेइजं ।
अण्णंति केइ उद्वं, पायं धनु ड्व तं सव्वं ॥ ४२ ॥
कट्टवं पक्कनं, तक्कर दहि दुदपाय मीलं जं ।
जमणंतकायजायं, पच फलं पुफ्फ वीयं च ॥ ४३ ॥
पुढाविकाक सव्वो, वलकिंमपमिइ सव्वजिण्णनं ।
हिगुलवल्लीउच्छे-प्पमिई असणं वहुविहं जं ॥ ४४ ॥ ल० प्र० ।
नीलवणे वीजकान्निधाने वृत्तविशेषे, आचा० २ सु० १० अ० ।
प्रज्ञा० । रा० । ही० ।

असणग-अशनक-पुं० । बीजकामिधाने वनस्पतिभेदे, औ० ।

असणदान-अशनदान-न० । अश्यत इत्यशनमोदनादि, तस्य
दानमशनदानम् । तस्मिन्नशनदाने अशनशब्दः पानाद्युपलक्ष-
णार्थः । आहारदाने, पं० व० २ द्वार । आव० ।

असणाइणिमंतण-अशनादिनिमन्त्रण-न० । गुरोराहारनिम-
न्त्रणे, ध० । अशनादिनिमन्त्रणमिति । अशनादिमिरशन-पान-खा-
दिम-स्वादिम-वस्त्र-पात्र-कम्बल-पादप्रोन्नन-प्रातिहारिकपी-
ठफल-शय्यासंस्तारकौषधभैषज्यादिभिः निमन्त्रणं, प्रस्तावाद

गुरोरेव । तच्च गुरोः पादयोर्लिंगत्वा “ इच्छुकारि भगवन् । पसा-
ठगरी फासुपणं पसयिजेणं असणपाणसाइमसाइमेणं वत्थ-
पडिगाइकम्बलपायपुच्छेणं पानिहारिअपीठफलगसिजासंथा-
रणं ओसहमेसज्जेण य भयवं ! अणुमाहो कायवोत्ति ” पाठपू-
र्व्वं भक्त्या कार्यम् । एतद्योपलक्षणं शेषकृत्यप्रशस्यापि । यतो दि-
नकृत्ये “ पञ्चकक्षाणं च काऊणं, पुच्छप सेसकिच्चयं । कायव्वं म-
णसा काउं, ओभणं च करे इमं ” ति । “ पुच्छप ” इत्यादिना पृच्छति
साधुधर्मनिर्वाहशरीरनिरावाधवाचीद्यशेषकृत्यम् । यथा-निर्व-
हति शुष्माकं संयमयात्रा, सुखं रात्रिर्गता भवता, निरावाधाः श-
रीरेण यूयं, न वाधते वः कश्चिद्वाधिः, न प्रयोजनं किञ्चिदौषधा-
दिना, नार्थः कश्चित् पथ्यादिनेत्यादि । एवं प्रशस्त्य महानिर्जरा-
हेतुः पञ्चकृतम्-“ अभिगमणवन्दनमं-सणेणं पणिपुच्छणेण साहू-
णं । चिरसिचिअं पि कम्मं, सणेण विरलत्तणमुवेइ ” १ । प्राग्वन्दना-
वसरे च सामान्यतः “ सुहराईसुहत्तपसरीरनिरावाध ” इत्यादिप्र-
शकरणेऽपि, विशेषेणात्र प्रशः सम्यग्स्वरूपपरिज्ञानार्थः, तदुपा-
यकरणार्थेति प्रशपूर्वं निमन्त्रणं युक्तिमदेवेति । संप्रति त्वि-
निमन्त्रणं गुरुणां बृहद्वन्दनदानानन्तरं आत्माः कुर्वन्ति, ये
च प्रतिक्रमणं गुरुभिः सह कृतं, स सूर्योदयादनु यदा स्वगृहाद्
याति, तदा तत्करोति; येन च प्रतिक्रमणं बृहद्वन्दनकं चेत्युज्य-
मणि न कृतं, तेनापि बन्दनाद्यवसरे एवं निमन्त्रणं क्रियते; ततश्च
यथाविधि तत्कालमिति । एष धर्हिदृष्टस्य विधिः । कारणविशेषे
तु तत्प्रतिभयेऽपि गम्यते, तत्राप्येव एव विधिः, अग्रतनोऽपि च ।

कारणान्याह-

परिआय-परिस-पुरिसं, खेत्तं कालं च आगमं नच्चा ।
कारणजाए जाए, जहारिइं जस्स जं जोगं ॥ ४ ॥

पर्यायो ब्रह्मचर्यं, तत् प्रभूतकालं येन पातितं, परिषद् विनीता सा-
धुसंहतिः, तत्प्रतिषेधं पुरुषं ज्ञात्वा; कथम्? कुलशुणसत्कृत्या-
णस्याऽऽयत्तान्ति; एवं तद् धीनं क्रेत्रमिति; कालमवमप्रतिजाग-
रणमस्य शुण इति, आगमं सूत्रार्थोऽन्यरूपमस्यास्तीति ज्ञातेति ।

साम्प्रतमेतदकरणे दोषमाह-

एआइ अकुव्वंतो, जहारिइं अरिहदेसिए मग्गे ।
ए भवइ पवयणजत्ती, अभत्तिपंताइआ दोसा ॥ ५ ॥

तथा-

उपपन्नकारणमी, किइकम्मं जो न कुज्ज दुविहं पि ।
पासत्थाईआणं, उग्याया तस्स चत्तारि ॥ ६ ॥
(दुविहं पीति) अभ्युत्थानवन्दनलक्षणम्, इत्यर्थं प्रसङ्गेन ।
ध० २ अधि० ।

असणि-अशनि-पुं० । पविरित्यस्य पर्यायः । है० । आकाशे
पतत्यग्निमये कण्ये, प्रज्ञा० १ पद । विशेषे, सू० प्र० २० पाठु० ।
तं० । विद्युद्वज्रे, वाच० ।

असणिमेह-अशनिमेध-पुं० । करकादिनिपातवति पर्वतादिदा-
रणसमर्थजलत्वेन वा वज्रमेधे, भ० ७ श० ६ उ० ।

असणी-अशनी-स्त्री० । वलेः सोमस्य महाराजस्याग्रमहिष्या-
ग्र, भ० १० श० ५ उ० । स्था० ।

अससि (ण)-असंझिन्-पुं० । संज्ञिविपरीतोऽसंज्ञी । विशि-
ष्टसरणादिरूपमनोविज्ञानविकल्ये, कर्म० ४ कर्म० । “ शेरइया कु-
विहा पण्णा । तं जहा-ससि चैव, अससि चैव । एवं पंचिदिया

यमुमयोरपि न सिद्धः; सामान्ये जैनयौगाभ्यां तदभ्युपगमात् । ततोऽयमेव मौलो हेतुरयमेव च वस्तुनिश्चायकः । ननु प-
थयमेव वस्तुनिश्चायकः कक्षीक्रियते, तर्हि किं प्रसङ्गोपन्यासेन ?
प्रागेवायमेवोपन्यस्यताम् । निश्चयाङ्गमेव हि धुवाणो धादी धादि-
नामवधेयवचनो भवतीति चेत् । भवम् । मौलहेतुपरिकल्पत्वादस्य ।
अवश्यमेव हि प्रसङ्गं कुर्वतोऽर्थः कश्चिन्निश्चाययितुमिष्टो, निश्च-
यश्च सिद्धहेतुनिमित्त इति यस्तत्र सिद्धो हेतुरिष्टस्तस्य व्याप्य-
व्यापकजावसाधने प्रकारान्तरमेवैतत् । यत्सर्वयैकं तद्विधानेकत्र
धर्तते इति व्याप्तिदर्शनमात्रमपि हि बाधकं विरुद्धधर्माभ्यास-
माक्षिपतीत्यन्योऽप्ये साधनप्रकारः । एवं च नान्यतरासिद्धस्य
कस्यापि गमकत्वमिति ॥ ५१ ॥ रत्ना० ६ परि० ।

असिधिमग्न-असिधिमार्ग-न० । न विद्यते सिद्धेर्गोक्षस्य विवि-
ष्टान्नोपलक्षितस्य मार्गो यस्मिन्स्तदसिधिमार्गः । सिद्धहेतौ,
सूत्र० २ शु० ५ अ० ।

असिधारव्यय-असिधाराव्रत-न० । असिधारायां संचरणीय-
मित्येवं रूपे नियमे, ज्ञा० १ अ० ।

असिधाराग-असिधाराक-न० । असेर्धारा यस्मिन् व्रते आक्रम-
णीयतया, तदसिधाराकम् । असिधारावदनाक्रमणीये, म० ।
“ असिधारागं धयं चरिष्येयं ” असेर्धारा यस्मिन् व्रते आक्रम-
णीयतया तदसिधाराकं, व्रतं नियमः, चरितव्यमासेयितव्यम्,
तदेतद्व्यवचनानुपालनं तद्वद् दुष्करमित्यर्थः । म० ६ श० ३३ उ० ।

असिधारागमण-असिधारागमन-न० । उ० ७ त० । अङ्गधारायां
चङ्गने, उच० १६ अ० ।

असिपंजर-असिपञ्जर-न० । अङ्गशक्तिपञ्जरे, प्रअ० २ संव० द्वार ।

असिपंजरगय-असिपञ्जरगत-त्रि० । असिपञ्जरे शक्तिपञ्जरे
गतः । अङ्गशक्तिव्यप्रकरणरिपुपुरुषोदिते, प्रअ० २ संव० द्वार ।

असिपत्र-असिपत्र-न० । असिः अङ्गः, स एव पत्रम् । स्या० ४
ता० ४ उ० । असिः अङ्गलस्य पत्रमसिपत्रम् । जी० ३ प्रति० ।
अस्याकारपत्रे, म० ३ हा० ६ उ० । अङ्गे, ज्ञा० १६ अ० । स० ।
असिः अङ्गस्तदाकारपत्रवद्वनं विकुर्व्य यस्तत्समाधितनारकान-
सिपत्रपातनेन तिलज्ञादिगनचि सां० असिपत्रः । पुं० । स० १५
सम० । ज्ञ० । नवमे परमाऽधार्मिके, प्रव० १८ द्वार ।

अत्र निर्युक्तिः-

कषाट्टणसकरचरण-दसणट्टणफुगलरुवाहणं ।

जेयण जेयण सारुण, असिपचधण्णहि पारुति ॥ ७९ ॥

(कषाट्ट इत्यादि) असिप्रधानाः पत्रधनुर्नामानो नरकपाला
असिपत्रवनं वीभत्सं कृत्वा तत्र छायाऽर्थिनः समागतान् नारका-
न् वराकान् अस्यादिभिः पाटयन्ति, तथा-कर्णौष्ठनासिकाकर-
चरणदशनस्तनस्फिगृह्णाह्वानां छेदेन मेदनशातनादीनि विकुर्वि-
तवाताहतचलिततरुपातितासिपत्रादीनां कुर्वन्तीति । तदुक्त-
म्-“ त्रिभुपादचतुष्टस्कन्धा-श्लिङ्गकर्णौष्ठनासिकाः । मिनतालु-
शिरोमेढ्राः, जिन्नाकिहृदयोदराः ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ शु० ५ अ० १
उ० । आ० चू० ।

असिप्यजीवि (ए)-अशिन्पजीविन्-पुं० । न शिल्पजीवी
अशिन्पजीवी । चित्रकरणादिविज्ञानेनाऽऽजीविकामकुर्वति,
उच० १५ अ० । “असिप्यजीवे अगिहे अमेत्ते” उच० १५ अ० ।
२१३

असिमसिसरिच्छ-असिमपिसदृक्-त्रि० । करवालकजलतु-
ल्ये, तं० ।

असिय (त) असित-त्रि० । कृष्णे, प्रअ० ३ आध० द्वार ।
आ० म० । इयामे, जं० १ वक्र० । अशुभे, विशेषे । अनव-
यदे मूर्च्छामकुर्वाणे पङ्काधारपङ्कजवत्तत्कर्मणा दिह्यमाने, त्रि० ।
सूत्र० १ शु० २ अ० १ उ० । असङ्गं कुर्वति, आचा० १ शु० ५
अ० ४ उ० ।

असियकेश-असितकेश-त्रि० । अक्षिताः कृष्णाः केशाः
येषां ते असितकेशाः । कृष्णकेशे (युगलिके), जी० ३ प्रति० ।

असियग-असितक-न० । दात्रे, म० १५ श० ७ उ० । आ-
चा० ।

असियगिरि-असितगिरि-पुं० । स्वनामक्याते पर्वते, “ स-
व्वाणि वि असियगिरिस्मि तावसा समं तथ गया ” भाव० ४
अ० । आ० चू० ।

असिरयण-असिरत्न-न० । चक्रवर्तिनां रत्नोत्कृष्टे अङ्गे,
स्था० ७ ता० । स० ।

असिरायणिकूपखननसम-असिरावतिकूपखननसम-त्रि० ।
असिरायामवनौ कूपखननमखननमेव, अनुदकप्राप्तिफलत्वात्,
तेन समम् । अविचक्षितफले, यो० १० विव० ।

असिलकवण-असिद्वक्षण-न० । अङ्गलक्षणपीरज्ञाने, जं० ।

तच्चैवम्-

“अङ्गुलशतोर्ध्वमुत्तम ऊनः स्यात् पञ्चविंशतेः अङ्गुः ॥

अङ्गुलमानाद् द्वयोः, त्रयोऽशुभो विपमपर्वस्थः ” ॥ १ ॥

अङ्गुलशतोर्ध्वमुत्तमः अङ्गः पञ्चविंशत्यङ्गुलेन ऊनः, अनयोः प्र-
माणयोर्मध्यस्थितः । प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमादिष्वङ्गुलेषु यः
स्थितो व्रणः स अङ्गुलः, अर्थादेव समाङ्गुलेषु क्षितीयचतुर्थप-
ष्टाष्टमादिषु यः स्थितः स द्व्यङ्गुलः, मिश्रेषु समविपमाङ्गुलेषु
मध्यम इत्यादि । जं० ३ वक्र० । ज्ञा० । औ० । असिद्वक्षणप्रति-
पादके शास्त्रे, सूत्र० १ शु० १ अ० १ उ० ।

असिलाट्टि-असियष्टि-स्त्री० । अङ्गुलतायाम्, विपा० १ शु० ३
अ० । ज्ञा० । औ० ।

असिलाहा-अश्लाघा-स्त्री० । असहोपोद्घट्टने, स्या० ४ अ०
१ उ० ।

असिलील-अश्लील-न० । अमङ्गलजुगुप्साव्रीडान्यञ्जके दोष-
विशेषे, यथा-नोदनार्थे वकारादिपदम् । रत्ना० ७ परि० ।

असिलेसा-अश्लेषा-स्त्री० । सर्पदेवताके नक्षत्रभेदे, ज्यो०
६ पाङ्गु० । सू० प्र० । “ असिलेसायकञ्चके छत्तारे पक्षसे ” ।
स्या० ७ ता० ।

असिलोग-अश्लोक-पुं० । अकीर्तौ, स० ७ सम० । अयशसि,
भाव० ४ अ० । अप्रशंसायाम्, भाव० १ अ० । अवर्णे, ज्य० ६ उ० ।

असिलोगजय-अश्लोकजय-न० । अश्लोकोऽश्लाघाऽकीर्ति-
रित्यनर्थान्तरम् । स एव प्रयमश्लोकभयम् । अकीर्तिभये, यथा
केनचिदानादिना श्लाघोपार्जिता, पश्चादपि तद्विनाशमतीत्याऽका-
म एव दानादौ प्रवर्तत इति । दर्श० । एवं हि क्रियमाणे
महदयशो भवतीति तद्गयाञ्च प्रवर्तत इति । स्या० ७
ता० । भाव० । स्या० ।

सर्वे विगलितियवज्जा० जाव वेमाणिया” स्था० २ उ० १ उ० ।
पं० सं० । नं० । “ अससि दुविहा-अणागाढमिच्छदिट्ठी, आ-
गाढमिच्छदिट्ठी य ” नि० चू० ५ उ० ।

अससिआउय-असंज्ञायुप्-न० । असंज्ञिना सता वळे परजव-
प्रायोग्ये आयुपि, म० १ श० २ उ० । (“आउ” शब्दे द्वितीय-
जाग १५ पृष्ठे १३ अधिकारे चैतद् व्याख्यास्यते)

अससिचूय-असंज्ञिचूत-पुं० । मिथ्यादृष्टौ, म० १ श० २ उ० ।

अससिसुय-असंज्ञिश्रुत-न० । मिथ्यादृष्टिश्रुते, तच्च कालिको-
पदेशेन हेतूपदेशेन दृष्टिवादोपदेशेन च त्रिविधम् । नं० । आ०
चू० (‘ससिसुय’ शब्दे चैतद् वदयते) ।

अससिहिसंचय-असंनिधिसंचय-पुं० । न विद्यते संनिधेः प-
र्युपितत्वाद्यादेः सञ्चयो धारणं येषां ते तथा । संनिधिशून्ये युग-
लिकमनुप्ये, ज० २ वक्त्र० । तं० । जी० ।

असती-असती-स्त्री० । असंप्राप्तौ, नि० चू० १२ उ० । “ प-
मापण वा असती बुक्खसिण्ण वा ” महा० ५ अ० ।

असत्त-अशक्त-त्रि० । असमर्थे, दर्श० । पि० ।

असक्त-त्रि० । अपाकृतमदनतया समतृणमणिलेपुकाञ्चने समता-
पन्ने, आचा० । “ जे असता पावेहि कम्मोहि ” ये अपाकृतमदनतया
समतृणमणिलेपुकाञ्चनाः समतापन्नाः पापेषु कर्मस्वसक्ताः
पापोपादानानुष्ठानारताः । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

असत्त्व-न० । नास्तित्वे, स्या० । पररूपेणाविद्यमानत्वे, नं० ।

असत्ति-अशक्ति-स्त्री० । असंयोगे, असंपर्के, प० ४ वि० ।

असत्थ-अशस्त्र-न० । निरवद्यानुष्ठानरूपे संयमे, “ से असत्थ-
स्स खेयस्ये, जे असत्थस्स खेयस्ये से पञ्चज्जातस्स खेयस्ये ”
आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

असत्थपरिणय-अशस्त्रपरिणत-त्रि० । अशस्त्रोपहते, आचा०
२ श्रु० १ अ० ८ उ० । (‘अपरिणय’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे
६०१ पृष्ठेऽस्य सूत्रायुक्तानि)

असदायार-असदाचार-पुं० । सदाचारविलक्षणे हिंसाऽनु-
तादौ, थ० । असदाचारः सदाचारविलक्षणो हिंसाऽनृतादिदंश-
विधः पापहेतुर्भेदरूपः । यथोक्तम्-“ हिंसाऽनृतादयः पञ्च,
तत्त्वाश्रद्धानमेव च । क्रोधादयश्च चत्वारः, इति पापस्य हे-
तवः ” ॥ १ ॥ तस्य गर्हा यथा—

“ न मिथ्यात्वसमः शत्रु-र्न मिथ्यात्वसमं विपम् ।
न मिथ्यात्वसमो रोगो, न मिथ्यात्वसमं तमः ॥ १ ॥
द्विपद्विपतमोरोगैर्दुःखमेकत्र दीयते ।
मिथ्यात्वेन दुरन्तेन, जन्तोर्जन्मनि जन्मानि ॥ २ ॥
वरं ज्वालाकुले क्षिप्तो, देहिनाऽत्मा द्रुताशने ।
न तु मिथ्यात्वसंयुक्तं, जीवितव्यं कदाचन ॥ ३ ॥

इति तत्त्वाश्रद्धानं गर्हा, एवं हिंसादिष्वपि गर्हायोजना कार्या ।
तथा-तस्याऽसदाचारस्य हिंसादेः स्वरूपकथनं यथा-प्रमत्तयो-
गात्प्राणिन्यपरोपणं हिंसा, असदभिधानं मृषा, अदत्तादानं
स्तेयं, मैथुनमग्नश्च, मूर्च्छा परिग्रह इत्यादि । तथा-स्वयमाचार-
कथकेन परिहारोऽसदाचारस्य संपादनीयः ; यतः स्वयम-
सदाचारमपरिहरतो धर्मकथनं नटवैराग्यकथनमिवानादेयमयं

स्यात्, न तु साध्यसिद्धिकरमिति । तथा-अज्ञुभावस्य कौटि-
ल्यत्यागरूपस्यासिवनमनुष्ठानं देशकेनैव कार्यम् । एवं हि त-
स्मिन्नाविप्रतारणकारिणि संभाविते सति शिष्यस्तदुपदेशाच्च कु-
तोऽपि दूरवर्ती स्यादिति ॥ थ० १ अधि० ।

असदारंज-असदारम्भ-पुं० । प्राणवधादौ, पं० व० ३ द्वार ।
“वाग्ने ह्यसदारम्भः” वाग्ने हि पूर्वोक्तः, असन् असुन्दर आरम्भो-
ऽस्येत्यसदारम्भः, अविद्यमानं वा यदागमे व्यवच्छिन्नं, तदारभते
इत्यसदारम्भः । न सदा सर्वदा स्वस्तिकालाद्यपेक्ष आरम्भोऽ-
स्येति वा । “ वृत्तं चारित्रं ख-ल्यसदारम्भविनिवृत्तिमत्तच्च ।
सदनुष्ठानम् ” असदारम्भोऽशोभनारम्भः प्राणातिपाताद्याश्रव-
पञ्चकरूपः, ततो विनिवृत्तिमद् हिंसादिनिवृत्तिरूपमहिंसाद्यात्म-
कम् । पं० १ वि० । पञ्चा० ।

असद्-अशब्द-पुं० । अर्द्धदिग्व्याप्यसाधुवादे, ग० २ अधि० ।
थ० सं० । शब्दवर्जिते, वृ० ३ उ० ।

असद्दंत-अशब्द-त्रि० । अक्षामकुर्वति, “भरुअच्छे घाणि-
ओ असद्दंतो उल्लेखिप ” वृ० ३ उ० । “एकौ देवो असद्दंतो”
नि० चू० १ उ० ।

असद्दण-अशब्दान-न० । निगोदादिविचारविप्रत्यये, थ० ।
१ अधि० ।

असप्पवित्ति-असत्प्रवृत्ति-स्त्री० । असुन्दरप्रवृत्तौ, प० १६ वि० ।

असप्पलावि (ण्)-असत्प्रलापिन्-त्रि० । असद्भावप्रलापि-
नि, नि० चू० १६ उ० ।

असवल-अश्वल-पुं० । मालिन्यमात्ररहिते, प्रश्न० १ सं०
द्वार । श्वलस्थानदूरवर्तिनि, आनु० । निरतिचारे, स्था० ५
ग० ३ उ० । अतिचारपङ्काभावात् एकान्तविशुद्धचरणे, म०
२५ श० ७ उ० ।

असवलायार-अश्वलाचार-पुं० । विशुद्धाचारे, अश्वलः सिता-
सितवर्णोपेतवद्भीषद् इवाकबुर आचारो विनयशिक्षाज्ञापागो-
चरादिको यस्य सोऽश्वलाचारः । व्य० ३ उ० ।

असञ्ज-असञ्ज-त्रि० । सजोपवेशनाऽयोग्ये खले, औ० । आ-
व० । स्था० । अशोभने असद्भावप्ररूपकेऽसञ्जे, यथा-‘इयामा-
कतएहममात्रोऽयमात्मा’ इतिवदन्तः पण्डिताः । नि० चू० १६ उ० ।
असम्भवयण-असम्भवचन-त्रि० । खरकर्कशादिके दुर्वचने,
“असम्भवयणेहि य कलुणा विवञ्जत्या” दश० ८ अ० २ उ० ।

असञ्जाव-असद्भाव-त्रि० । अविद्यमानार्थे, औ० । प्रश्न० ।
ज्ञा० । अतथ्यभावे, आव० ५ अ० । सञ्जावस्याभावे, पि० । अ-
विद्यमानाः, सन्तः-परमार्थसन्तः, भावा जीवाद्योऽजिधेयभूता
यस्मिंस्तदसद्भावम् । सर्वव्याप्यादिरूपात्मादिप्रतिप्रादके कु-
प्रवचने, तत्त० ३ अ० ।

असम्भाववृत्तवणा-असद्भावस्थापना-स्त्री० । अज्ञादिषु मुन्या-
कारवर्त्यां स्थापनायाम्, साध्याकारस्य तत्रासद्भावात् । अनु० ।
असञ्जावपट्टवणा-असञ्जावस्थापना-स्त्री० । असद्भूतार्थ-
कल्पनायाम्, ज० ११ श० १० उ० । जी० ।

असम्भाववृत्तवणा-असद्भावोद्भावना-स्त्री० । ६ त० । अवि-
द्यमानार्थानामुत्पत्तये, औ० । यथाऽस्त्यात्मा सर्वगतः, इयामा-

असिध-अशिव-न० । सुप्रदेवताकृतज्वराद्युपद्रवे, व्य० २ उ० ।
अ० ४ । व्यन्तरकृते व्यसने, आव० ४ अ० । नि० चू० । मारौ,
व्य० ४ उ० ।

असिध-असिध-न० । खड्गाकारपत्रवने, प्रअ० १ आअ० द्वार ।

असिधपुसमणी-अशिवप्रशमनी-स्त्री० । कृष्णवासुदेवस्य मे-
र्याम्, " सा तस्य तालिज्जइ जस्य वम्मासे सव्वरोगा पसमं-
ति जो तं सहं सुणति । " वृ० १ उ० ।

असिवाइखेत्त-अशिवादिषेत्र-न० । अशिवादिप्रधानक्षेत्रे,
" विगिचियव्वमसिवाइखेत्तं च । " दश० १ अ० ।

असिवावण-अशिवापन-न० । विनाशप्राप्तौ, व्य० ७ उ० ।

असिह-अशिख-पुं० । यः शिरसो मुण्डनमात्रं कारयति न च
रजोहरणदण्डकपात्रादिकं धारयति तस्मिन् गृहस्थभेदे,
व्य० ४ उ० ।

असीइ-अशीति-स्त्री० । विंशत्यूनशतसंख्यायाम्, प्रज्ञा० २
पद । तं० ।

असीभरक-असीभरक-पुं० । सीभरो नाम चक्षुषं परं बाल-
या सिञ्चति, तत्प्रतिपञ्चादसीभरः । प्राकृतत्वात्स्वार्थिकप्रत्ययवि-
धानदसीभरकः । लासया परमसिञ्चति, व्य० ३ उ० ।

असीइया-अशीइता-स्त्री० । चारित्रवर्जित्वे, प्रअ० २ आअ० द्वार ।

असीलपत-अशीलवत्-त्रि० । सावधयोगाभिरते, अविरतमात्रे
च । सूत्र० १ ध्रु० ७ अ० ।

अमुअ-अमुत-त्रि० । अपुत्रे, उत्त० २ अ० ।

अमुआगइ-अस्याकृति-स्त्री० । न्यमोघपरिमण्डलादिषु अग्र-
शस्तसंस्थानेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

अमुइ-अशुचि-त्रि० । न० तं० । अपवित्रे, आ० म० प्र० । प्रज्ञा० ।

अस्पृश्यत्वात् (ज्ञा० ६ पद) आशौचवति, औ० । विष्ठाऽसृक्क्रे-
प्रधाने, सूत्र० २ ध्रु० २ उ० । दशा० । स्नानब्रह्मचर्यादिवर्जितत्वात्त-
थाविधे साधौ, भ० ७ श० ६ उ० । सदाऽविशुद्धे, तं० । विष्ठायाम्,
दश० । पि० । अमेध्ये, स्था० ९ ग्रा० । जी० । " जषं अम्ह किंचि
असुई भवति, तषं उदपणं य मट्ठिआप अ पक्खालिअं सुई भ-
वति, एवं खलु अम्ह बोक्खाओक्खायारा सुइसुइसमायारा ज-
वेत्ता अभिसेअजलपूआप्यायो अविघेण सगं गमिस्सामो"
औ० । रा० । तं० । "असुइविलीणविगयवीभच्चादरिसणिज्जे" ।
अशुचिषु विलीनो मनसः कल्लिमलपरिणामहेतुः, (विगयं इति)
विप्रनष्टं तदभिमुखतया प्राणिनां गतं गमनं यस्मिन् स तथा,
वीमत्सया निन्द्याऽदर्शनीयो वीजत्सादर्शनीयः । ततो विशेषण-
समासः । अशुचिविलीनविगतवीजत्सादर्शनीयः । जी० ३ प्रति० ।
आहाराद्यथैमव्यवहारिणि, व्य० ।

तमेवाशुचिं ध्व्यजावभेदतः प्रकथयति-

दव्वे जावे अमुई, जावे आहारवंदणादीहिं ।

कप्पं कुण्ड अकप्पं, विविदेहिं रागदोसेहिं ॥

अशुचिर्द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च । तत्र योऽशुचिना लिप्तगात्रो यो
वा पुरीयमुत्सृज्य प्रतौ न निलिपयति स द्रव्यतोऽशुचिः । भावे
भावतः पुनरशुचिराहारवन्धनादिभिर्विविधैर्वा रागद्वेषैः कल्प-
मकल्पं करोति । किमुक्तं भवति ? आहारोपधिश्चानिनिमित्तं

वन्दननीचैर्द्वित्यादिना वा तोषितः; यदि वा एष मम स्वगच्छ-
संवन्धी स्वकुलसंवन्धी स्वगणसंवन्धीति रागतः, अथवा-न
भामेप वन्दते, विरूपं वा भाषितवानित्यादिद्वेषतोऽयं धृतोपदेश-
नाभाव्यमनाभाव्यं करोति, अनाभाव्यमप्यभाव्यम्, सोऽव्यव-
हारी भावतोऽशुचिः ।

एतदेव सुव्यक्तमाह-

दव्वे जावे अमुई, दव्वम्पी विट्ठमादीहिं नो ॥

पाणऽतिवायादीहिं, भावम्पी होइ अमुईओ ॥

अशुचिर्द्विधा-द्रव्ये भावे च । तत्र द्रव्ये-विष्ठादिना लिप्तः,
आदिशब्दान्मूत्रमूत्रमादिपरिग्रहः । भावे-प्राणतिपातादिभ-
र्भवत्यशुचिः । व्य० ३ उ० ।

अशुचि-त्रि० । शास्त्रवर्जिते, म० ७ श० ६ उ० । प्रअ० ।

अमुइकुण्डिम-अशुचिकुण्डिम-न० । अपवित्रमांसे, तं० ।

अमुइजायकम्मकरण-अशुचिजातकर्मकरण-न० । अशुचीनां
जातकर्मणां करणे, म० ११ श० ११ उ० । रा० । नालच्छेदादि-
करणे, कल्प० ५ क० ।

अमुइहाण-अशुचिस्थान-न० । विद्वद्प्रधाने स्थाने, आव० ३
अ० । विष्ठास्थाने, दर्श० ।

असुइत्तजावणा-अशुचित्वभावना-स्त्री० । देहस्याऽशुचित्वप-
र्याहोचनायाम्, ध० ।

अशुचित्वभावनाऽपीत्यम्-

रमासृग्मांसमेदोऽस्थि-मज्जाशुक्रान्नवर्चसाय् ।

अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत्कुतः ? ॥ १ ॥

नयस्रोतःस्रवद्विस्तरसनिःस्पन्दपिच्छिद्धे ।

देहेऽपि शुचिसंकल्पो, महन्मोहविजृम्भितम् ॥ २ ॥

नवज्यो नेत्र २ ओत्र २ नासा २ मुख १ पायूपस्थेज्यः १ ओ-
तेभ्यो निर्गमद्धारभ्यः स्रवन् विस्तर आमगन्धिर्यो रसः, तस्य निस्थ-
न्दो निर्यासः, तेन पिच्छिद्धे विज्जिद्धे । शेषं सुगमम् । ध० ३ अधि० ।

अथाशुचित्वभावना-

" लवणाकरे पदार्थाः, पतिता लवणं यथा भवन्तीह ।

काये तथा मद्याः स्यु-स्तदसावशुचिः सदा कायः ॥ १ ॥

कायः शोणितशुक्रमीढनभवो गर्भे जरावेष्टितो,

मात्राऽऽस्वादितस्त्राद्यं परसकैर्द्विर्दि कमात्प्रापितः ।

क्लिद्यच्छातुसमाकुत्रः क्रमिकजागृणूपदाद्यास्पदं,

कैर्मन्येत सुबुद्धिभिः शुचितया सर्वमैतैः संकुटः ? ॥ २ ॥

सुस्वादं शुभगन्धि मोदकदधिकीरेकुशाल्योदन-

चाक्षापर्पटिकाभृताघृतपुरस्वर्गच्युताऽऽन्नादिकम् ।

शुक्तं यत्सहसैव यत्र मलसात्संपद्यते सर्वतः,

तं कायं सकलाशुचिं शुचिमहो ! मोहान्धिता मन्वते ॥ ३ ॥

अम्मःकुम्भशतैर्वपुर्ननु बहिर्मुग्धाः शुचित्वं कियत्-

कालं लम्बयथोत्तमं परिमलं कस्तूरिकाद्यैस्तथा ।

विष्ठाकोष्ठकमेतदङ्गकमहो ! मध्ये तु शौचं कथं-

कारं नेष्यथ सुचयिष्यथ कथंकारं च तत्सौरजम् ? ॥ ४ ॥

दिव्याऽऽमोदसमृद्धिवासितादिशः श्रीलण्डकस्तूरिका-

कर्पूराशुक्लकुङ्कुमप्रभृतयो भावा यदाग्रेपतः ।

दौर्गन्ध्यं दधति क्षणेन मलतां चाविभ्रते सोऽप्यहो !

कतएहममात्रो वेत्यादि (दश० ४ अ०) अचौरेऽपि चौरेऽयमित्यादि वा । म० ५ श० ६ उ० ।

असन्नय-असद्वृत्त-न० । न सद्वृत्तमसद्वृत्तम् । अच्युते, आच० ४ अ० ।

असमंजस-असमञ्जस-त्रि० । अद्यमानके, "असमंजसं केइ जंपंति" । आ० । आचा० ।

असमंजसचेष्टिय-असमञ्जसचेष्टित-न० । शास्त्रोर्त्तर्णभाषितकरणे (दश० १० अ०) प्राणिवधादौ, पञ्चा० २ विव० ।

असमण-अश्रमण-पुं० । आमयादविच्युते, "गंतुं तां पुणो गच्छे, यं यं तेषां समणो सिया ।" सूत्र० १ ध्रु० ३ अ० २ उ० ।

असमणपाउग-अश्रमणप्रायोग्य-त्रि० । साधूनामनाचरणीये, ध० ३ अधि० ।

असमणुच्च-असमनोद्ध-त्रि० । अनिष्टे, स्था० ४ उ० १ उ० । वाक्यादौ, आचा० १ ध्रु० ८ अ० १ उ० । त्रिपथ्यधिके प्राक्क-शतत्रये, आचा० १ ध्रु० ८ अ० १ उ० । असमनोद्धेज्यस्तु दानग्रहणं प्रति सर्वनिषेध इति । आचा० १ ध्रु० ८ अ० २ उ० ।

असमणुक्षय-असमनुज्ञात-त्रि० । 'यदि भवान् कस्मैचिद्ददाति तदा ददातु' इत्येयमननुज्ञाते, आचा० २ ध्रु० १ अ० ८ उ० । "असमणुक्षायतस्स अदैतस्स" नि० चू० १ उ० ।

असमत्त-असमाप्त-त्रि० । अपूर्णं, नि० चू० २ उ० । असमाप्तकल्पे, ध्य० ४ उ० ।

असमत्तकल्प-असमाप्तकल्प-पुं० । असमाप्तश्चापरिपूर्णश्च कल्पः । अपरिपूर्णसहाये विपरीते, ध० ३ अधि० । "अनुयच्छे वासासु उ-सथसमत्तो नदूणो ह्यरो । असमत्ता जायाणं, ओहेण ण किञ्चि आहव्वं" ॥१॥ पञ्चा० ११ विव० । पं० व० ।

असमत्तदंसि (ए)-असम्यक्त्वदर्शिन-पुं० । न सम्यगसम्यक्, तस्य भावोऽसम्यक्त्वम्, तद् द्रष्टुं शीलमस्य स तथा । मिथ्यादृष्टौ, सूत्र० १ ध्रु० ८ म० ।

असमत्य-असमर्थ-त्रि० । अशक्ते, पं० व० १ द्वार । भूत्तेपमा-ज्जीरौ, सूत्र० १ ध्रु० ४ अ० १ उ० । हेतुदोषे, यथाऽयं हेतुर्न स्वसाध्यगमक इत्यर्थेनासौ स्वसाध्यघातक इति । रत्ना० परि० ।

असमय-असमय-पुं० । असम्यगाचारे पञ्चविंशे गौणालीके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । दुष्टकाले, अयोग्यकाले च । वाच० ।

असरिसवेसगहण-असदृशवेसगहण-न० । आर्यादेरनार्यादिनेपथ्यकरणे, पं० व० ४ द्वार । स्वयमार्यः सन् अनार्यवेपं करोति; पुरुषो वा स्वरूपमन्तर्हितः सन् स्त्रीरूपं विदधातीत्यादि । तदेतदसदृशवेसगहणम् । वृ० १ उ० ।

असमवायिकारण-असमवायिकारण-न० । न समवैति, सम-अव-इण्-णिनि । न० त० । समवायिकारणवर्तिनि कारणभेदे, वाच० । यथा-तन्तुसंयोगाः कारणरूपद्वयान्तरस्य दूरवर्तित्वादसमवायिनः, त एव कारणमसमवायिकारणम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

असमाण-असमान-पुं० । न विद्यते समानो यस्य सोऽसमः गृहस्थान्यतीर्थिकस्यः सर्वोत्कृष्टे, "असमाणो चरे त्रिकक्ष्" उक्तं । न विद्यते समानोऽस्य गृहिष्वाश्यासूर्जितत्वेनान्यतीर्थिकेषु २११

वा नियतविहारादिना अन्यसमानोऽसदृशः । यथा-समानः साहङ्गरो, न तथेत्यसमानः । अथवा- 'समाणो चि' प्राकृतत्वाद्-सन्निव सन् यथाऽस्ते तत्राप्यसन्निहित इति । हृदयसन्निहितो हि सर्वः स्वाश्रयस्योदन्तमावहति, अयं तु न तथेति; एवंविधः स चरेदप्रतिषेधविहारितया विहरेद्, भिक्षुर्यतिः । उक्तं ३ अ० ।

असमारंज-असमारम्भ-पुं० । समारम्भाभावे, "सत्तविहे असमारंभे पणत्ते । तं जहा पुढविकाइय असमारम्भे जाव अजीवकाय असमारंभे ।" स्था० ४ उ० ।

असमारंभमाण-असमारम्भमाण-त्रि० । अव्यापादयति, स्था० ६ उ० । असमारम्भमाणानां पञ्चविधादिसंयमः-

एगिंदिया णं जीवा असमारंजमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-पुढविकाइयसंजमे जाव वणस्सइकाइयसंजमे । एगिंदिया णं जीवा समारंजमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-पुढविकाइय असंजमे जाव वणस्सइकाइय असंजमे । पंचिंदिया णं जीवा णं असमारंभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-सोइंदियसंजमे जाव फासिंदियसंजमे । पंचिंदिया णं जीवा समारंजमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-सोइंदिय असंजमे जाव फासिंदिय असंजमे । सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं असमारंजमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदियसंजमे पंचिंदियसंजमे । सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं समारंजमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदिय असंजमे जाव पंचिंदिय असंजमे ।

(एगिंदिया णं जीव ति) एकैन्द्रियान्, एमिति वाक्यालङ्कारे । जीवान्, असमारम्भमाणस्य संघट्टादीनामविपरीकुर्वतः, सत्तदशप्रकारस्य संयमस्य मध्ये पञ्चविधसंयमो व्युपरमोऽनाश्रवः, क्रियते भवति । तद्यथा-पृथिवीकायिकेषु विषये संयमः संघट्टाद्युपरमः-पृथिवीकायिकसंयमः । एवमन्यान्यपि पदानि । असंयमसूत्रं संयमसूत्रद्विपर्येण व्याख्येयमिति । (पंचिंदियाणमित्यादि) इह सत्तदशप्रकारसंयमभेदस्य पञ्चेन्द्रियसंयमलक्षणस्येन्द्रियभेदेन भेदविवक्षणात्पञ्चविधत्वं, तत्र पञ्चेन्द्रियानारम्भे श्रोत्रेन्द्रियस्य व्याघातपरिचर्जनं-श्रोत्रेन्द्रियसंयमः । एवं चक्षुरिन्द्रियसंयमादयोऽपि वाच्याः । असंयमसूत्रमेतद्विपर्योसेन बोद्धव्यमिति । (सव्वपाणित्यादि) पूर्वमेकैन्द्रियपञ्चेन्द्रियजीवाभ्येण संयमासंयमावुक्तौ, इह तु सर्वजीवाभ्येण; अत एव सर्वग्रहणं कृतमिति । प्राणादीनां चायं विशेपः-"प्राणाद्विचिंतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तत्त्वः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः" ॥ १ ॥ स्था० ४ उ० २ उ० ।

तेइंदिया णं जीवा असमारंभमाणस्स षड्विहे संजमे कज्जइ । तं जहा-घाणामाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता जवइ, घाणामणं दुक्खेण असंयोएत्ता जवइ, जिब्भामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता जवइ, एवं च वफासामयाओ वि । तेइंदिया णं जीवा समारंजमाणस्स षड्विहे असंयमे कज्जइ । तं जहा-घाणामाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता जवइ, घाणाम-

देहः कैश्चन मन्यते शुचितया वैधेयतां पश्यत ॥ ५ ॥

इत्याशौचं शरीरस्य, विभाव्य परमार्थतः ।

सुमतिर्ममतां तत्र, न कुर्वीत कदाचन ॥ ६ ॥ प्रव० ६७ द्वार ।

असुइविन्न-अशुचिविल-न० । परमाऽपवित्रविवरे, तं० ।

असुइय-अशुचिक-त्रि० । अपवित्रस्वरूपे, तं० । ज्ञा० । स्या० ।

अमेधे मूत्रपुरीपादौ, स्था० १० ग्रा० ।

असुइसंकलिङ्ग-अशुचिसंक्लिष्ट-न० । न० त० । अमेधेन दुष्टे,
भ ६ श० ३३ उ० ।

असुइसमुपपन्न-अशुचिसमुत्पन्न-त्रि० । अपवित्रोत्पन्ने, तं० ।

असुइसामन्त-अशुचिसामन्त-न० । अमेध्यानां मूत्रपुरीपादीनां
समीप, स्था० १० ग्रा० ।

असुखग-असुखगति-स्त्री० । अप्रशस्तविहायोगतौ, कर्म० ५
कर्म० ।

असुजा-असुजाति-स्त्री० । एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिलक्षणा-
सु अप्रशस्तगतिषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुज्जमाण-अशुध्यत्-त्रि० । अनपगच्छति, " असुज्जमाणे
छेपविससा विसोहंति " पञ्चा० १६ विच० । नि० च० ।

असुच्छ-अशुद्ध-त्रि० । सावधं, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । अवि-
शुद्धकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । " असुरूपपरिणामसंक्लिष्टं
भणति " । अशुच्छपरिणामेन संक्लिष्टं संक्षेपशब्दत्वात् तथा भण-
न्ति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असुच्छनाव-अशुद्धभाव-पुं० । अनन्तानुवर्ण्यादिसङ्गतमातृ-
स्थानरूपे अप्रशस्ताऽप्यवसाये, पञ्चा० १८ विच० ।

असुद्धसभाव-अशुद्धस्वभाव-पुं० । औपाधिके-उपाधिजनि-
तवर्तिर्भावपरिणामनयोग्ये, ज्ञ्या० १२ अध्या० ।

असुभ (ह)-अशुभ-त्रि० । अशोभने, दर्श० । अशुभरसगन्धस्पर्श-
युक्ते, जी० १ प्रति० । अशुभकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १
उ० । पापप्रकृतिरूपे कर्मणि, स्था० ४ ग्रा० ४ उ० । आच० ।
अपुण्यवन्धे, स्था० ५ ग्रा० १ उ० । अशर्मणे, दर्शा० ८ अ० ।

असुभ (ह) कम्मवहुत्वा-अशुभकर्मवहुत्वा-त्रि० । कलुष-
कर्मप्रचुरे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असुभ (ह) किरियादिराहिय-अशुभक्रियादिरहित-त्रि० ।
अप्रशस्तकायचेष्टाप्रभृतिविकले, आदिशब्दादशब्दादुत्पन्नोयो-
गविकलतापरिग्रहः । पञ्चा० १३ विच० ।

असुभ (ह) ज्ञवमाण-अशुजाध्यवसान-न० । क्लिष्टप-
रिणामे, पञ्चा० १६ विच० ।

असुभ (ह) ग्राम-अशुभनामन्-न० । अशुभानुबन्धि नामकर्ममे-
दे, उच्यते ३३ अ० । यदुदयाञ्जालेरधोः पादादीनामवयवानामशुभ-
ता भवति, तदशुभनाम । पादादिना हि स्पृष्टः परो रुच्यतीति ते-
षामशुभत्वम् । कामिनीव्यवहारेण व्यभिचार इति चेत् । नैवम् ।
तस्य मोहनव्यवहारेण वस्तुस्थितिश्चेह चिन्त्यत इति ततोऽ-
दोषः । पं० सं० ३ द्वार । कर्म० । अशुभनामकर्मणः प्रकृतयो मध्यम-
भेदविवक्षया चतुर्विंशद्भेदा भवन्ति । तद्यथा-नरकगति १ ति-
र्य्यगति २ एकेन्द्रिय ३ द्वीन्द्रिय ४ त्रीन्द्रिय ५ चतुरिन्द्रियजा-
ति, ६ ऋषभनाराच ७ नाराच ८ अर्द्धनाराच ९ कीलिका १०

सेवार्तकसंहनानि ११ न्यग्रोधमण्डलसंस्थान १२ सादि १३
चामन १४ कुञ्ज १५ दुरण्डक १६ अप्रशस्तवर्ण १७ अप्रशस्त-
गन्ध १८ अप्रशस्तरस १९ अप्रशस्तस्पर्श २० नरकानुपूर्वी २१
तिर्यगाणुपूर्वी २२ उपघात २३ अप्रशस्तविहायोगति २४ स्था-
वर २५ सूक्ष्म २६ साधारण २७ अपर्याप्त २८ अस्थिर २९
अशुभ ३० दुर्भग ३१ दुःस्वर ३२ अनादेय ३३ अयशोऽकीर्ति-
३४ रिति । उच्यते ३३ अ० । प्रव० । अशुभमनादेयत्वादि । अपूज्ये
च कर्मजदे, स्था० १ ग्रा० ४ उ० ।

असुभ (ह) तरङ्गुत्तरणपाय-अशुभ (असुख) तरङ्गो-
त्तरणपाय-त्रि० । अशुभमशोभनं, कण्टकादियोगादसुखं वा, तत
एव दुःखहेतुत्वात् तच्च तत् तरणं च काष्ठादि, तेन यदुत्तरणं
पारगमनं, तत्प्रायस्तत्कल्पो यः स तथा । पञ्चा० ६ विच० ।
कण्टकानुगतशाल्मलीतरङ्गोत्तरणतुल्ये, " असुहतरङ्गुत्तर-
णपायो दृष्टव्यश्च असमत्थः । " प्रति० ।

असुभ (ह) च-अशुभत्वं-न० । अमङ्गलतायाम्, भ० ६
श० ३ उ० ।

असुभ (ह) दुःखभागि (ण)-अशुभदुःखभागिन्-त्रि० ।
अशुभानुबन्धि यद् दुःखं, तदुन्नागिनः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।
दुःखानुबन्धिदुःखभागिषु, भ० ७ श० ६ उ० ।

असुभ (ह) विवाग-अशुभविपाक-न० । असातादित्वेनो-
दयवति कर्मणि, स्था० ४ ग्रा० ४ उ० ।

असुभ (हा)-अशुभ-स्त्री० । न विद्यते शुभो विपाको या-
सां ता अशुभाः । पं० सं० ३ द्वार । विपाकदारुणकटुकर-
सासु पापकर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वार । (सर्वाश्चैताः 'कम्म'
शब्दे तृतीयभागे २९२ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)

असुभ (हा) गुण्येहा-अशुभानुप्रेक्षा-स्त्री० । संसारऽशुभ-
त्वानुचिन्तने, भ० ५ श० ७ उ० । गौ० " कोहो य माणो य अणि-
ग्गहीया, माया य लोभो य पवहुमाणा । चत्तारि एते कसिणा
कसाया, सिंचन्ति मूलाइपुणम्मवस्स " ॥ स्था० ४ ग्रा० १ उ० ।

असुभ-अशुभ-त्रि० । अनाकर्णिते, स्था० ८ ग्रा० । आच० ।
प्रवचनद्वारेणानुपलब्धे, भ० १ श० ८ उ० ।

असुभयणिसिय-अशुभनिश्चित-न० । सर्वथा शास्त्रसंस्पर्शरहि-
तस्य तथातथाविधकृत्योपशमजावत एवमेव यथावस्थितव-
स्तुसंस्पर्शमतिज्ञानरूपे बुद्धिचतुष्के, न० । ('आभिनिवोदियणा-
ण' शब्दे द्वितीयभागे २५३ पृष्ठेऽस्य व्याख्या वक्ष्यते)

असुर-असुर-पुं० । भवनपतिव्यन्तरङ्गक्षणे देवजदेवद्वये, स्था०
३ ग्रा० १ उ० । पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादसुरकुमारे, प्रव०
१६४ द्वार । न० । प्रश्न० भ० । औ० आ० म० । सूत्र० । स्था० ।
असुरस्थानोत्पन्नेषु नागकुमारादिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।
दानवे, अनु० ।

असुरकुमार-असुरकुमार-पुं० । असुराश्च ते नवयौवनतया कु-
माराश्चेत्यसुरकुमाराः । स्था० १ ग्रा० १ उ० । भवनपतिजदेषु,
प्रज्ञा० १ पद । स्था० (' ग्राण ' शब्दे तदावासाः वक्ष्यन्ते)
नवरमिह-

जगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, नमं-
सइत्ता एवं वयासी-अत्थि एं भंते ! इमीसे रयणप्पजाए

एणं दुक्खेणं संजोयेत्ता जवइ०, जाव फासमएणं दुक्खेणं संजोएत्ता जवइ ।

(तेइदिपणमित्यादि) कएल्यं, नवरं(असमारंभमाणस्स त्ति) अद्यापादयतः । (धाणामाओ त्ति) घ्राणमयात् सौख्याद् गन्धोपादानरूपात् अव्यपरोपयिता अम्लशकता घ्राणमेयेन गन्धोपालम्भाभावकूपेण दुःखेनासंयोजयिता भवति । इह चाव्यपरोपणमसंयोजनं च संयमः, अनाश्वरूपत्वात्, इतरदसंयम इति । स्था० ६ ठा० ।

“चउरिदिद्या णं जीवा असमारंभमाणस्स अछविहे संजमे कउजइ । तं जहा-चक्खुमाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, चक्खुमएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता जवइ, एवं जाव फासामाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, फासामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवइ । चउरिदिद्या णं जीवा समारंभमाणस्स अछविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-चक्खुमाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता जवइ, चक्खुमएणं दुक्खेणं जं जोएत्ता भवइ । एवं जाव फासामाओ सोक्खाओ ” ॥ स्था० ८ ठा० । “पच्चिदिद्या णं जीवा णं असमारंभमाणस्स दसविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-सोयामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, सोयामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता जवइ । एवं जाव फासामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवइ । एवं असंजमो वि भाणियव्वो ” ॥ स्था० १० ठा० ।

असमाहइ-असमाहूत-त्रि० । अशुक्के, “ वितिगिच्छसमावक्षेणं अप्पाणेणं असमाहइए वेस्साए ” अशुक्का लेख्ययोद्रमादि-दोषदुष्टमिदमित्येवं चिचविष्णुत्या । आचा० २ ध्रु० १ अ० ३३० ।

असमाहइमुच्छेस्स-असमाहूतमुच्छलेश्य-त्रि० । असमाहूताऽनङ्गीकृता शुद्धा शोभना हेस्या येन स तथा । आर्चध्यानापहततयाऽशोभनलेश्ये, सूत्र० २ ध्रु० ३ अ० ।

असमाहि-असमाधि-पुं० । अपच्यने, सूत्र० १ ध्रु० २ अ० २२० । समाधानं समाधिः-स्वास्थ्यम्, न समाधिरसमाधिः । अस्वास्थ्यनिवन्धनायां कायादिचेष्टायाम्, आ० म० द्वि० । स्था० । “दसविहा असमाही पणत्ता । पाणाइवाप० जाव परिग्गहेरिया असमिइ० जाव उच्चारपासवणक्खेसिक्काणगपारिछावणिया असमिइ” । ज्ञानादिभावप्रतिपेधे अग्रशस्ते जावे, स्था० १० ठा० ।

असमाहिकर-असमाधिकर-त्रि० । असमाधिकरणशीलोऽसमाधिकरः । आ० म० द्वि० । चित्ताऽस्वास्थ्यकर्त्तरि, प्रश्न० ३ संव० द्वार । आ० चू० । असमाधिमरणे च, व्य० ४ उ० ।

असमाहिष्ठाण-असमाधिस्थान-न० । समाधिश्चेतसः स्वास्थ्यम्, मोक्षमार्गोऽवस्थितिरित्यर्थः । न समाधिरसमाधिः, तस्य स्थानन्याश्रयाः । ध० ३ अधि० । असमाधिज्ञानादिभावप्रतिपेधः, अग्रशस्तो भाव इत्यर्थः । तस्य स्थानानि पदानि असमाधिस्थानानि । स्था० १० उ० । चित्ताऽस्वास्थ्यस्याश्रयेषु, प्रश्न० ५ संव० द्वार । यैहिं आलेवितैरात्मपरोभयानामिह परत्रोभयत्र वाऽसमाधिरुपपद्यते । स्था० १० ठा० ।

सुयं मे आउसतेणं जगवया एवमक्खायं-इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिष्ठाणा पणत्ता । कयरे खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिष्ठाणा पणत्ता । इमे खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिष्ठाणा पणत्ता । तं जहा-

दवदवचारिया वि जवति ? , अपमज्जियचारिया वि भवइ ५, दुपमज्जियचारिया वि भवति ३, अतिरिचसेज्जासणिए ४, रायणियपरिभासी ५, थेरोवधाति ६, जूतोवधा—ति ७, संजलणे ८, कोइणे ९, पिट्ठीमंसए यावि भवति १०, अतिकखणं अतिकखणं ओदारिए ? १, एवाइ अधिकरणाइं अणुप्पएणाइं ढप्पाइ वा जवति ? २, पोराणाइं अधिकरणाइं खामित्तिविउसमिताइं उदीरित्ता जवति ? ३, अकाले सज्जायकारिया वि जवति ? ४, ससरक्खपायिणाए ? ५ मइकरे ? ६ भेदकरं जंजकरे ? ७ कझ-इकरे असमाहिकरे ? ८ मूरप्पमाणभोइए ? ९ एसणाए अममिते यावि जवति १० । एवं खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिष्ठाणा पणत्ता त्ति वेमि पढमा दसा सम्मत्ता ॥

ननु यथाकथञ्चिद् गुरुविनयभीत्या गुरुपर्युत्थितेभ्यो वा सकाशात्, यथोच्यते—“ परिसुद्धियाणं पासे सुणेइ, सो विणयपरिभासी त्ति ” । यदुक्तं स्थविरैः धियाति—रसमाधिस्थानानि प्रवृत्तानि । तत्र किं स्थविरैः अन्यतः पुरुषविशेषात्, अपौरुषेयागमात्, स्वतो वा ? तत्रोच्यते-भगवतः सकाशादेवाचगम्य तैरधिगम्य प्रवृत्ताः, ‘थेरेहिं ति’ कथनाद् ज्ञानस्थविरैरित्यावेदितं भवति, न तु जातिपर्यायस्थविरैः । जातिपर्यायस्थविरैरपि ध्रुतस्थविरा एव प्रज्ञापयितुं समर्था जवन्ति, इति ह्येतत् प्रसङ्गेन । इत्युक्त उद्देशः । पृष्ठमाह—(कयरे इत्यादि) कतराणि किमभिधानानि तान्यनन्तरसूत्रोद्दिष्टानि, खलुर्वाक्यालङ्कारे । शेषं प्राग्वादि । निर्देशमाह—इमानि अनन्तरं वक्ष्यमाणत्वाद् ह्यदि परिवर्त्तमानतया प्रत्यक्षाणि तानि इति, यानि त्वया पृष्ठानि । शेषं पूर्ववत् । तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । (दवदवचारिया वि जवति) दुर्गतौ यो हि दुतं दुतं संयमात्मविराधनानिरपेक्षो ब्रजति-आत्मानं प्रपतनादिभिरसमाधौ योजयति; अन्यथा सत्त्वान् जनसमाधौ योजयति, सत्त्वध्वजनिर्गतं च कर्मणा परत्रोक्तेऽन्यात्मानमसमाधौ योजयति, अतो दुतं हन्तृत्वसमाकुलतया चलाधिकरणत्वादसमाधिस्थानम्, एवमन्यत्रापि यथायोगमवसेयम् । चशब्दाद् भुञ्जानो ज्ञापमाणः प्रतिलेखनां च कुर्वन् आत्मविराधनां संयमविराधनां च प्राप्नोति । अपिग्रहणात् तिष्ठन् आकुञ्चनप्रसारणादिकं वा दुतं दुतं कुर्वन् पुनः पुनरवलांकयन्नप्रमार्जयन् आत्मविराधनां च प्राप्नोति । शब्दार्थस्तु भावित एव । ननु स्थानशयनादिषु दुतत्वं निषेधे सति किमर्थं गमनमेवोपन्यस्तम् ? उच्यते-यतः पूर्वमर्थ्यासमितिस्ततोऽन्या, इति हेतोः पूर्वं गमनमेव मुख्यत्वेनोपात्तमिति १ । तथा—(अपमज्जिय चित्ति) अप्रमार्जिते अवस्थान-निपीदनशयनोपकरण-निक्षेपोच्चार्यादिप्रतिष्ठापनं च करोति २ । तथा-दुष्प्रमार्जितचारी ३ तथा—(अतिरिचसेज्जासणिए त्ति) अतिरिक्ता-अतिप्रमाणा शय्या वसतिरासनानि च पीठकादीनि यस्य सन्ति सोऽतिरिक्तशय्यासनिकः । स च-अतिरिक्तायां शय्यायां धनुसाद्यादिरूपायामन्येऽपि कार्पटिकादय आवासयन्तीति तैः सहाधिकरणसंभवाद्वात्मपरावसमाधौ योजयतीति । एवमासनाधिक्येऽपि वाच्यमिति ४ । तथा—(रायणियपरिभासी त्ति) रात्रिकपरिभाषी आचार्यादिगुरुपरिभवकारी, अन्यो वा महान् कश्चिज्जातिभुतपर्यायाद्वा शिष्यति, तं परिभवति अवमन्यते, जात्यादि-

पुढवीए अहे असुरकुमारा देवा परिवसंति ?। एो इण्डे समडे,
एवं जाव अहे सत्तमाए पुढवीए सोहम्मस्स कप्पस्स अहे
जाव । अत्थि णं भंते ! ईसिप्पजाए पुढवीए असुरकुमारा देवा
परिवसंति ?। एो इण्डे समडे । से कहिं खाइ णं भंते ! असु-
रकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए
पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सवाहद्धाए एवं असुरदे-
ववत्तव्वयाए जाव दिव्वाइं जोगभोगाईं जुंजमाणा विहरंति ।
अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं अहे गतिविसण ? ।
हंता अत्थि । केवइयाणं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं अहे
गतिविसए पक्खे ?। गोयमा ! जाव अहे सत्तमाए पुढवीए,
तच्चं पुण पुढविं गया य गमिस्संति य । किं पत्तिंयं णं भंते !
असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गया य गमिस्संति य ?। गोयमा !
पुव्ववेरियस्स वा वेयणउदीरणयाए पुव्वसंगइयस्स वेदण-
उवसामप्पयाए एवं खलु असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गया
य गमिस्संति य । अत्थि एं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं
तिरियगतिविसए पक्खे । हंता अत्थि । केवइयाणं भंते !
असुरकुमाराणं देवाणं तिरियगइविसए पक्खे ?। गोयमा !
जाव असंखेज्जा दीवसमुदा नंदिस्सरवरं पुण दीवं ग-
या य गमिस्संति य । किं पत्तिंयं एं भंते ! असुरकुमारा
देवा नंदिस्सरवरं दीवं गया य गमिस्संति य ?। गोयमा !
जे इमे अरहंता जगवंतो एएसि एं जंमणमहेसु वा नि-
क्खमणमहेसु वा णाणुप्पायमहिमासु वा परिनिव्वाणमहि-
मासु वा एवं खलु असुरकुमारा देवा नंदिस्सरवरं दीवं
गया य गमिस्संति य । अत्थि एं भंते ! असुरकुमाराणं दे-
वाणं उट्ठगइविसए ?। हंता अत्थि । केवइयं च एं भंते !
असुरकुमारा देवा एं उट्ठं गतिविसए ?। गोयमा ! जाव अ-
च्छुए कप्पे सोहम्मं पुण कप्पं गया य गमिस्संति य । किं
पत्तिंयं णं भंते ! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया
य गमिस्संति य ?। गोयमा ! तेसिं देवाणं जवपच्चइवेरा-
णुवंधे तेणं देवा त्रिकुव्वेमाणा वा परियारेमाणा वा आ-
यरक्खे देवे विच्चासंति, अहालहुस्सगाईं रयणाईं गढाय
आयाए एगंतमंतं अवक्कमंति । अत्थि एं जंते ! तेसिं
देवाणं अहालहुसगाईं रयणाईं ?। हंता अत्थि । से कहमि-
दाणिं पकरंति, तत्रो से पच्छा कार्यं पव्वहंति । पचू ! एं भं-
ते ! तेसिं असुरकुमारा देवा तत्थ गया चेव समाणं ताहिं
अच्छेराहिं सक्कि दिव्वाइं जोगभोगाईं जुंजमाणा विह-
रिच्छए ?। एो इण्डे समडे, तेणं तत्रो पमिनियत्तति, पढि-
नियत्तत्ता इहमागच्छइ, इहमागच्छत्ता जइ णं तात्रो
अच्छरात्रो आढायंति परियाणंति । पचू ! एं भंते ! असुर-
कुमारा देवा ताहिं अच्छराहिं सक्कि दिव्वाइं भोगभोगाईं

जुंजमाणा विहरिच्छए, अहं एं तात्रो अच्छरात्रो नो आ-
ढायंति नो परियाणंति; एो एं पचू ! ते असुरकुमारा देवा
ताहिं अच्छराहिं सक्कि दिव्वाइं जोगभोगाईं जुंजमाणा
विहरिच्छए । एवं खलु गोयमा ! असुरकुमारा देवा सोहम्मं
कप्पं गया य गमिस्संति य । केवइकालस्स णं भंते ! असु-
रकुमारा देवा उट्ठं उप्पयंति । जाव सोहम्मं कप्पं गया य
गमिस्संति य ?। गोयमा ! अणंताहिं ओसप्पिणीहिं अणं-
ताहिं अवसप्पिणीहिं समइकंताहिं अत्थि णं एसज्जे लो-
पच्छेयचूए समुप्पज्जइ । जसं असुरकुमारा देवा उट्ठं उप्प-
यंति, जाव सोहम्मे कप्पे ।

(एवं खलु असुरकुमारेत्यादि) एवमनेन सूत्रक्रमेणेति । स चैवम-
“अवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता हेत्ता चेगं जोयणसहस्सं
वज्जेत्ता मज्जे अट्ठहत्तरं जोयणसयसहस्से, एत्थ णं असुरकु-
माराणं देवाणं चोसहिं जवणावासयसहस्सा भवंतीति
अवक्कायमित्यादि” । (विउव्वेमाणा वत्ति) संरम्भेण महक्किय-
शरीरं कुर्वन्तः । (परियारेमाणा वत्ति) परिचारयन्तः परकीयंदेवी-
नां भोगं कर्तुकामा इत्यर्थः । (अहालहुस्सगाईं ति) यथेति
यथोचितानि वस्तुस्वकानि अमहास्वरूपाणि, महतां हि तेषां नेतुं
गोपयितुं वा शक्यत्वादिति यथावस्तुस्वकानि । अथवा-लघूनि
महान्ति वरिष्ठानीति च वृत्ताः । (आयाए त्ति) आत्मना, स्वयमि-
त्यर्थः । (एगंतं ति) विजयं (अंतं ति) देवं (से कहमियाणिं
पकरंति त्ति) अथ किमिदानीं रत्नप्रहणानन्तरमेकान्तापक्रम-
णकाले प्रकुर्वन्ति वैमानिकाः, रत्नादातृणामिति । (तत्रो से पच्छा
कार्यं पव्वहंति त्ति) ततो रत्नादानात् (पच्छ त्ति) अन-
न्तरं (से त्ति) एषां रत्नादातृणामसुराणां कार्यं देहं प्रव्ययन्ते
प्रदरैः प्रज्जन्ति वैमानिका देवाः, तेषां च प्रव्ययितानां वेदना
भवति जघन्येनान्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टतः परमासान् यावत् । ज० ३
श० २ उ० ।

किं निस्साए णं जंते ! असुरकुमारा देवा उट्ठं उप्पयंति ।
जाव सोहम्मे कप्पे ?। गोयमा ! से जहा नामए इहं सवराइ वा
वव्वराइ वा टंक्काइ वा चूचुयाइ वा पएहायाइ वा पुद्धि-
दाइ वा एगं महं वणं वा गइं वा दुगं वा दरिं वा विसमं
वा पव्वयं वा एणीसाए सुमहल्लमवि अस्सवलं वा हत्थिवड्डं
वा जोहवलं वा धणूवड्डं वा आगिद्वंति, एवमेव असुरकु-
मारा देवा एणत्थ अरहंते वा अरहंतचेइयाणि वा अण-
गारे भावियप्पणो निस्साए उट्ठं उप्पयंति । जाव सोहम्मे
कप्पे । सव्वे वि य एं भंते ! असुरकुमारा देवा उट्ठं उप्प-
यंति । जाव सोहम्मे कप्पे ?। गोयमा ! एो इण्डे समडे ।
महिद्धिया णं असुरकुमारा देवा उट्ठं उप्पयंति । जाव सोह-
म्मे कप्पे ।

‘सवराइ वा’ इत्यादौ शवरादयोऽनार्यविशेषाः [गइं वत्ति] गर्त्ताः,
[दुगं वत्ति] जलदुर्गादि, [दरिं वत्ति] दरीं पर्वतकन्दरां,
[विसमं वत्ति] विषमं गतेतर्वाद्याकुलभूमिरूपम् । [निस्साए त्ति]
निश्वासाऽऽश्रित्य [धणूवड्डं वत्ति] धनुर्धरवलं [आगलेंति त्ति]
आकलयन्ति-जेव्याम इत्यध्यवस्यन्तीति । [नत्तथ त्ति] ननु

मिमेद्वानैः। अथ वा—“महरो अकुलीणो चि य, कुमेही दमगम-
दयुक्चि चि। अवि अप्पहाभलन्ही, सीसो परिजवति आयरियं” १।
इति । एवं च गुरुं परिभवन् आक्रोपपातं वा कुर्वन् आत्मानमन्या-
न् आसमाधौ योजयत्येव ५। तथा—(धेरोवघाह चि) स्वविरा आ-
चार्यादिगुरुवः, तान् आचारदोषेण शीघ्रदोषेणाऽवज्ञादिभिर्वोप-
हन्तीत्येवं शीलः, स एवं चेति स्वविरोधघातिकः ६। तथा—(चूतो-
वघातिप चि) भूतान्येकेन्द्रियादीनि तानि उपहन्तीति भूतोप-
घातिकः; प्रयोजनमन्तरेण, श्रद्धिरसातगौरवैर्वा, विभूयानिमित्तं
या, आधाकर्मादिकं वा, पुष्टालम्बनेऽपि समावदानः; अन्यथा ता-
दृशं किञ्चित् ज्ञापते वा करोति, येन भूतोपघातो भवति ७।
(संजलण चि) संज्वलतीति संज्वलनः—प्रतिक्रणं रोपणः, स
च तेन क्रोधेनात्मीयं चारित्र्यं सम्यक्त्वं वा इन्ति, दहति वा
ज्वलनवद ८। तथा—(कोहण चि) क्रोधनः सकृत्क्रुद्धोऽप्यन्त-
क्रुद्धो भवति, अनुपशान्तवैरपरिणाम इतिभावः ९। तथा—(पि-
ट्ठीमंसप चि) पृष्ठिमांसाशिकः, पराङ्मुखस्य परस्वावर्णवादका-
री, अगुणज्ञापीति भावः, सचैवं कुर्वन् आत्मपरोपज्ञेयां च इह
परत्र चासमाधौ योजयत्येव । अपिशब्दात् साक्षाद् वा वक्ति इति
ज्ञेयम् १०। तथा—(अभिक्खण २ ओहारिप चि) अभीक्ष्णं अभीक्ष्णं
अवधारयिता शङ्कितस्याप्यर्थस्य निःशङ्कितस्येव—एवमेवायमि-
त्येवं वक्ता । अथ वा—अवधारयिता परगुणानामपहारकारी यथा
तथा, दासादिकमपि परं प्रति तथा जणति दासश्चोरस्त्वमित्या-
दि ११। तथा—(एवाहं इत्यादि) नवानामनुत्पन्नानामधिकर-
णानां कलहानामनुत्पादयिता, तांश्चोत्पादयन् आत्मानं परं चाऽ-
समाधौ योजयति । यथा—

“ वादो भेदो अयसो, हाणी दंसयचरिचणायणं ।
साधुपदोसां संसा-रवद्धणो साधिकरणस्स ॥ १ ॥
अतिभणियं अभणिय वा, तावो भेदो चरित्तजीवाणं ।
कवसारिसं ण सीलं, जिम्हं ति य सो चरति लोप ॥ २ ॥
जं अक्षियं समीख-ल्लपहि तवणियमवममइपहि ।
मा हु तयं छिजेदिह, बहुवत्तासागपत्तेहि ” ॥ ३ ॥

अथवा नवानि अधिकरणानि यन्त्रादीनि तेषाम्—“न वावत्त-
कलहो वि ण, पढति अवच्छलड दंसणे हीणो । जह कोवादिवि-
बुद्धी, तह हाणी होति चरणे वि ” ॥ १ ॥ नवोत्पादयिता १२ ।
(पोरारणां ति) पुरातनानां कलहानां क्षमितव्यवशमितानां
मर्पितत्वेनोपशान्तानां पुनरुदीरयिता भवति १३ । तथा—(अ-
काले सज्झायत्यादि) अकाले स्वाध्यायकारकः । तत्र
कालः—उत्काक्षिकसूत्रस्य दशवैकाक्षिकादिकस्य संघ्याचतुष्टयं
त्यक्त्वाऽनवरतं भणनम्, कालिकस्य पुनराचाराङ्गादिक-
स्योद्घाटापौरुषी यावद्भणनम् । अवसानयामं च दिवसस्य,
निशायाश्चाद्ययामं च त्यक्त्वा अपरस्त्वकाल एव । अकाल-
स्वाध्यायकरणदूषणानि तु बृहत्कल्पवृत्तितोऽवसेयानि नेह
विस्तरत्वाङ्गकानि १४ । तथा—(संसरक्खपाणीत्यादि)
सरजस्कपाणिपादो-यः सचेतनादिरजोगुण्डितेन दीयमानां
मिक्कां गृह्णाति । तथा—यो हि स्थण्डिलादौ संक्रामन् न पादौ
प्रमार्ष्टि । अथ वा—यस्तथाविधकारणे स्वविज्ञादिपृथग्यां
कल्यादिनाऽनन्तरितायामासनादि करोति स सरजस्क-
पाणिपाद इति । स चैवं कुर्वन् संयमे असमाधिना आ-
त्मानं संयोजयति १५ । तथा—(सहकरो चि) शब्दकरः
सुतेऽहं प्रहरमात्रादुद्धं रात्रौ महता शब्देनोक्तापस्वाध्याया-
दिकारको गृहस्थभाषामाषको वा वैरात्रिकं वा कालग्रह-

णं कुर्वन् महता शब्देनोक्तापतिः, दोषाश्चेदोत्तराध्ययनवृत्ते-
रवसेयाः १६ । तथा—(भेदकरे चि) येन कृतेन गच्छस्य
भेदो जवति तत्तदातिष्ठते (भंभकरे चि) तत्करोति येन
गणस्य मनोऽङ्गमुत्पद्यते, तद्भाषते वा १७ । तथा—(कलह-
करे चि) आक्रोशादिना येन कलहो भवति तत्करोति; स चैवं
गुणयुक्तो हि असमाधिस्थानं भवति इति वाक्यशेषः १८ ।
तथा—(सूरप्पमाणजोई) सूरप्रमाणजोजी सूर्योदयादस्तसम-
यं यावदशनपानाद्यन्यवहारी; त्वचिनात्वे स्वाध्यायादि न क-
रोति, प्रतिप्रेरितो कथ्यति, अजोर्णे च बह्वाहारेऽसमाधिः संजाय-
त इति दोषः १९ । तथा—(एसणासमिप असमिप यावि
भवति चि) एषणायामि समित्त्यापि संयुक्तोऽपि नानैषयां परि-
हरति, प्रतिप्रेरितश्चासौ लाघुजिः सह कलहायते । अनेपणी-
यं मां परिहरन् जीवोपरोधि वर्त्तने । एवं चात्मपरयोरस-
माधिकरणादसमाधिस्थानमिदं विंशतितममिति २० । (एवं
खलित्यादि) एषमित्यनन्तरोक्तेन विधिना, जसुर्वाक्या-
लक्षकतौ । शेषं व्याख्यातार्थम् । (इति वेमि चि) इति परिसमा-
प्तावेष्टमर्थो वा । एतानि असमाधिस्थानानि अनेन वा प्रकारेण
ब्रवीमीति गणधरादिगुरुपदेशतो, नतु स्वोत्प्रेक्षयेत्युक्तोऽनुगमः;
नयप्रस्तारस्त्वन्मयोऽवसेयः । दशा० १ अ० । स० । आ०
चू० । आव० ॥

असमाहिमरण—असमाधिमरण—न० । बालमरणे, आतु० ।

असमाधिमरणे दोषाः—

जे पुण अट्टमईया, पयलियसत्ता य वक्कमावा य ।

असमाहिणा मरंति उ, न हु ते आराहुगा भणिया ॥ १५० ॥

ये पुनर्जीवाः, अष्टौ मवस्थानानि येषां तेऽष्टमादिकाः । ‘असमई-
आ’ इति पाठे आर्त्तं आर्त्तस्थाने मतिर्देषां ते आर्त्तमत्तिकाः । स्वा-
र्थे इककप्रत्ययः, प्रचलिता विषयकथायादिभिः सन्मार्गात्प-
रिप्रसृष्टा संज्ञा बुद्धिर्येषां ते प्रचलितसंज्ञाः । प्रगलितसंज्ञा वा,
चः समुच्चये, वक्ष्यते संवक्ष्यते आत्मा परो वा ऐहिकपारत्रिक-
लाज्जायेन स वक्कः, कुटिलो वा भावो येषां ते तथा, यत एवंवि-
धा शत एवाऽसमाधिना चित्तास्वास्थ्यरूपेण त्रियन्ते । ननु नैव,
दुरेवार्ये, ते आराधका उत्तमार्थसाधका भवन्तीत्यर्थः । आतु० ।

असमाहिमरणज्जाण—असमाधिमरणध्यान—न० । ‘असमाधिना
एपञ्चियताम्’ इति चिन्तनमसमाधिमरणध्यानम् । स्कन्धकाचार्य
प्रतिकुण्डं प्रथमं, यत्र पीलवतो मन्वपालकस्येव दुर्ध्याने, आतु० ।

असमाहिथ—असमाहित—त्रि० । अशोभने धीमत्से दृष्टे च ।
सूत्र० १ अ० ३ अ० १ उ० । सत्ताधुप्रक्षेपित्वात् शुभाध्यवसा-
यरहिते, सूत्र० १ अ० ३ अ० ३ उ० । मोक्षमार्गाभ्याद् भावस-
माधेरसंभृततया दूरेण वर्तमाने, सूत्र० १ अ० ११ अ० ।

असमिक्खियकारि (ण)—असमीक्षितकारिन्—त्रि० । अना-
लोचितकारिणि, दश० ६ अ० ।

असमिक्खियप्पहावि (ण)—असमीक्षितप्रहाविन्—पुं० ।
अपर्यालोचितानर्थकवादनि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । “ अण-
हितं पुष्पावरं इहपरलोगगुणदोसं वा जो सहसा भणह, सो-
असमिक्खियप्पलावी ” । नि० चू० ८ उ० । (‘चंचल’ शब्दे
एतत्स्वरूपं वक्ष्यते)

असमिक्खियजासि (ण)—असमीक्षितभाषिन्—पुं० । अपर्या-
लोचितवक्त्रि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

निश्चितमत्र इहलोके, अथवा (अरिहंते वा निस्साप उद्धं उ-
प्ययंति) नायत्र-तन्निधया अयत्र न, तां विनेत्यर्थः ॥ अ० ३
शु० २ उ० ।

किंपचियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा उद्धं उप्ययंति०
जाव सोहम्मे कप्पे ! गोयमा ! तोसि णं देवाणं अहुणोव-
सुणाण वा चरिमजवत्थाण वा इमेया रूवे अवजत्थिए० जाव
समुप्पज्झइ, अहो णं अम्हेहिं दिव्वा देविह्वी दप्पा पत्ता
अजिसमप्पागया जारिसियाणं अम्हेहिं दिव्वा देविह्वी
० जाव अभिसमप्पागया तारिसियाणं सकेणं देविदेणं दे-
वरप्पा दिव्वा देविह्वी० जाव अजिसमप्पागया, जारिसि-
याणं सकेणं देविदेणं० जाव अजिसमप्पागए तारिसियाणं
अम्हेहिं वि जाव अभिसमप्पागए, तं गच्छामो णं सकस्स
देविदस्स देवरप्पो अंतियं पाउञ्जवामो पासामो, ताव सक-
स्स देविदस्स देवरप्पो दिव्वं देविहिं जाव अजिसमप्पा-
गयं पासनु, ताव अम्हेहिं वि सकं देविदे देवराया दिव्वं
देविह्वं जाव अजिसमप्पागयं तं जाणामो, ताव सकस्स दे-
विदस्स देवरप्पो दिव्वं देविहिं० जाव अभिसमप्पागयं जा-
णामो, ताव अम्हे वि सके देविदे देवराया दिव्वं देविहिं
आभिसमप्पागयं । एवं खट्ठु गोयमा ! असुरकुमारा देवा
उद्धं उप्ययंति० जाव सोहम्मे कप्पे ॥

(किंपचियं ति) कः प्रत्ययो यत्र तद् किंप्रत्ययम् । (अहु-
णोवसुणाणं ति) उत्पन्नमात्राणां (चरिमजवत्थाणं व ति)
भयचरमभागस्थानं, व्यवनायसरे इत्यर्थः । अ० ३ शु० २ उ० ।
असुरदार-असुरदार-न० । सिक्कायतनानां दक्षिणद्वारेषु, यत्रा-
सुरा वसन्ति । स्था० ४ डा० २ उ० ।

असुरसुर-असुरसुर-त्रि० । सुरसुरेत्यनुकरणशब्दोऽयम् । अ०
७ शु० १ उ० । न० य० । सुरसुरेत्येवंचतुशब्दवर्जिते, प्रश्न०
१ संव० द्वार ।

असुरिद-असुरेन्द्र-पुं० । चमरं, बलिनि च । स० । ('इद' शब्दे
द्वितीयभागे ५३४ पृष्ठेऽस्य व्याख्याऽवसेधा)

आयप्पवायस्स णं पुव्वस्स मोहस्स वत्थू पणत्ता । चमर-
वलीणं उवारियालेण सोलस्स जोयणसहस्साइं आया-
मविकखंभेण पणत्ता ।

चमरवलयोर्दक्षिणोत्तरयोरसुरकुमारपणयोः (उवारियाले-
ण चि) चमरचञ्चलवद्वीचञ्चाभिधानराजधान्योर्मध्योन्नता-
ऽवतरस्याम्बुपीठरूपेऽवतारिकल्पने पोडश योजनसहस्राण्या-
यामविष्कम्भाभ्यां वृत्तत्वाच्चयोरिति । स० १६ सम० ।

असुरिदवज्जिय-असुरेन्द्रवर्जित-त्रि० । चमरवद्विवाजिते, अ०
१५ श० ९ उ० । अष्ट० ।

असुलज-असुलभ-त्रि० । दुर्लभे, प० ५ वि० ।

असुवण-असुवपन-न० । निष्ठाऽऽलस्यघाते, वृ० १ उ० ।

असुवण-असुवर्ण-त्रि० । न सुवर्णमसुवर्णम् । अग्रशस्तवर्ण-
गन्धरसस्पर्शेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुविर-अस्वापिन्-त्रि० । अनिच्छादौ, नि० चू० १० उ० ॥

असुसंपयण-असुसंहनन-न० । अप्रमनाराचादिषु अप्रशस्त-
संहननेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुह-असुख-न० । दुःखे, स्था० ३ डा० ३ उ० ।

असु-असूयिन्-त्रि० । असूयतीति तच्छ्रीलोऽसूयी । असूयधा-
तोस्ताच्छ्रीद्विकणकप्राप्तावपि धातुलकाद् शिन् । असूयाऽस्य-
स्येति असूयी । मत्वर्थीय इति । गुणेषु दोषाऽऽविष्कारिणि,
स्था० १७ स्त्रो० ।

असूय-असूचित-त्रि० । व्यञ्जनादिरहिते, अकथयित्वा वा
वृत्ते नोचनादौ, दश० ५ अ० २ उ० ।

असू-असूय-त्रि० । मत्सरिणि, 'अहो ! सुदृष्टं त्वदसूयदृष्टम्'
इतिपाठेन किञ्चिदच्चाह । असूयशब्दस्योदन्तस्योदयनाद्येन्याय-
तात्पर्यपरिच्छेदादौ मत्सरिणि प्रयोगादिति । स्था० १७ स्त्रो० ।

असू-असूय-त्रि० । अवलचति, सूत्र० १ शु० ७ अ० ।

असूया-असूया-स्त्री० । न० त० । परस्य दोषप्रतिषेधेनात्मन-
स्तादृशदोषभाषणे, "अप्यणो दोषं भासति ए परस्स, एसा अ-
सूया । यथा-" अम्हे मो घणहीणा, आसि आगारम्म इत्थिमे
तुम्हे । एस असूया सूया, णवरं परवत्थुणिहेतो " ॥ १ ॥ नि०
चू० १० उ० । (इत्यादि 'आगादवयण' शब्दे द्वितीयभागे
६२ पृष्ठे वक्ष्यते)

असूया-स्त्री० । गुणेषु दोषाविष्करणे, "गुणेष्वसूयां दधतः प-
रेऽमी, मा शिश्रियन्नाम प्रवन्तमीशम् ।" स्था० ३ स्त्रो० ।

असूयावयण-असूयावचन-न० । अक्षमावचसि, दर्श० ।

असूरिय-असूर्य-पुं० । न विद्यते सूर्यो यस्मिन् सोऽसूर्यः ।
यदुल्लान्धकारे कुम्भीपाकाकृतौ, सर्वस्मिन् वा नरकावासे, "अ-
सूरियं नाम महाभितावं, अयं तमं दुष्पतरं महंतं " । सूत्र० १
शु० ५ अ० १ उ० ।

असूवनाय-असूपपाद-त्रि० । दुर्घटे, "अतोऽन्यथा सत्त्वमसूप-
पादम् ।" स्था० २२ स्त्रो० ।

असेज्जायर-अशर्यातर-पुं० । वसतित्यागादिहेतुभिः शर्या-
तरत्वेनाव्यवहार्ये वसतिहातरि, नि० चू० २ उ० । (तत्कार-
णानि 'सागारियपिड' शब्दे वक्ष्यन्ते)

असेय-अश्रेयस्-न० । अकल्याणे, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

असेल्लेसिपिक्खजग-अशैलेशीप्रतिपन्नक-पुं० । शैलेशीना-
माऽयोग्यवस्था, तां प्रतिपन्नाः शैलेशीप्रतिपन्नाः । स्वार्थिकः
कप्रत्ययः । तद्व्यतिरिक्ताः अशैलेशीप्रतिपन्नकाः । अयोग्य-
वस्थामनापन्ने सयोगिनि संसारिणि, प्रज्ञा० २५ पद ।

असेस-अशेष-त्रि० । शेषरहिते कृत्स्ने, सूत्र० २ शु० ५ अ० ।

सकञ्जे, पञ्चा० १५ वि० । सर्वस्मिन्, पञ्चा० १० वि० । आचा० ।

असेससच्चिय-अशेषसच्चित्त-न० । समस्तप्राणयुपकारके,
" जिणिदवयण असेससच्चियं " । पञ्चा० १६ वि० ।

असेहिय-असैफिक-न० । न० त० । सांसारिके, क्रियासिद्धौ
अजते आकस्मिके, सूत्र० ।

सुहं वा जइ वा दुखं, सेहियं वा असेहियं ॥

असमिय-असमित-पुं० । समितिषु प्रमत्ते, पञ्चा० १६ विव० ।
ईर्यादिषु समितिषु अनुपयुक्ते, कल्प० ६ कृ० । “एसो समिधो
भयिष्ठो, अष्टौ पुण असमिधो इमो होइ । सो काश्यभोमादी,
एकेकं नवरि पडिबेहे ॥१॥ नव तिभि तिभि पेहे, वेति किमेत्थं
निविट्ठाहो । ” आच० ४ अ० ।

असम्यक्-त्रि० । असङ्गते, आच० ।

असमियं ति मसमाणस्स एगदा समिया होइ, समियं
ति मसमाणस्स एगदा असमिया होइ ।

कस्यचिन्मिथ्यात्वलेख्यानुविद्धस्य-कथं पौत्रलिकः शब्दः ?
इत्यादिकमसम्यागिति मन्यमानस्यैकदेति मिथ्यात्वपरिमाणूप-
शमतया शुद्धाविचिकित्साऽऽद्यत्रावे गुर्वानुपदेशतः सम्यगिति
भवति । आच० १ शु० ५ अ० ५ उ० ॥

असमोदय-असमवहत-त्रि० । दण्डादुपरते, अकृतसमुद्घाते
च । ज० १९ श० ३ उ० ।

असम्मत्त-असम्यक्त्व-न० । दर्शनादुद्वेगे, आच० ४ अ० ।

असम्मत्तपरीसह-असम्यक्त्वपरीपह-पुं० । असम्यक्त्वसहनका-
रिणि, सर्वपापस्थानेभ्यो विरतः प्रकृष्टतपोऽनुष्ठायी निस्सङ्गआहं,
तथाऽपि धर्माधर्मात्मदेवनारकादिज्वावं नेत्ते, अतो मृषा समस्तमेत-
दिति असम्यक्त्वपरीपहः । तत्रैवमात्रोच्यते-धर्माधर्मौ पुण्यपापह-
कणौ यदि कर्मरूपौ पुद्गलात्मकौ, ततस्तयोः कार्यदर्शनादनुमानस-
माधिगम्यत्वम् । अथ कृमाक्रोधादिकौ धर्माधर्मौ, ततः स्वानुजव-
त्वादात्मपरिणामरूपत्वात्प्रत्यक्षविरोधः । देवास्त्वत्यन्तसुखासङ्ग-
त्वान्मनुष्यलोके च कार्याजायादमनुष्यभावाच्च न दर्शनगोचरमा-
यान्ति । नारकास्तु तीव्रवेदनार्ताः पूर्वकृतकर्मोदयनिगडवन्धनव-
शीकृतत्वादस्यतन्त्राः कथमायान्तीत्येवमालोच्यतोऽसम्यक्त्वप-
रीपहजयो भवति । आच० ४ अ० ।

अस्यं-अस्वयम्-अव्य० । परत इत्यर्थे, ज० ६ श० ३२ उ० ।

असरण-अशरण-त्रि० । अत्राणे, स्था० ४ ग० १ उ० ।
स्वार्थप्रापकवर्जिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । शरणम्—
नालम्बमाने, आच० । शरणं गृहं, नात्र शरणमस्तीति अशरणः ।
संयमे, “सोमे अदक्खु पताइं सांउल्लाई गच्छति णायपुत्ते
असरणाप ” आच० १ शु० ५ अ० १ उ० ।

असरणभावणा-अशरणभावना-स्त्री० । आत्मनोऽशरणत्व-
पर्यालोचनायाम्, प्रव० । सा च अशरणभावना—
“ पितुर्मातुर्भ्रातृस्तनयदयितादेश्च पुरतः,
प्रभृताऽऽधिभ्याधिव्रजनिगडिताः कर्मचरैः ।
रटन्तः क्षिप्यन्ते यममुखगृहान्तस्तनुभृतो,
हहा ! कष्टं लोकः शरणरहितः स्यात्यति कथम् ? ॥ १ ॥
ये जानन्ति विश्वत्रशास्त्रविसरं ये मन्त्रतन्त्रक्रिया-
प्रावीण्यं प्रथयन्ति ये च दधति ज्योतिःकलाकौशलम् ।
तेऽपि प्रेतपतेरमुष्य सकलत्रैलोक्यविध्वंसन-
व्यग्रस्य प्रतिकारकर्मणि न हि प्रागल्भ्यमावित्रति ॥ २ ॥
नानाशस्त्रपरिग्रहोद्भूतभट्टैरावेष्टिताः सर्वतो,
गत्युद्दाममदान्धसिन्धुरशतैः केनाप्यगम्याः क्वचित् ।
शक्रश्रीपतिचक्रिणोऽपि सहसा कीनाशदासैर्वला-
दाकृष्टा यमवेश्म यान्ति हह हा ! निह्रायता प्राणिनाम् ॥ ३ ॥
उद्दण्डं ननु दण्डसात्सुरागिरिं पृथ्वीं पृथुच्छत्रसात् ,

ये कर्तुं प्रजविण्णवः कृशमपि क्लेशं विनैवात्मनः ।
निःसामान्यवदप्रपञ्चचतुरास्तीर्थकरास्तेऽप्यहो !,
नैवाशेषजनौघघसरमपाकर्तुं कृतान्तं कृमाः ॥ ४ ॥
कलत्रमित्रपुत्रादि-क्लेशग्रहनिवृत्तये ।

इति शुद्धमतिः कुर्यादशरणत्वभावनाम् ॥१॥ प्रव० ६७३० ।

अशरणभावना चैवम्—

“ इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्येते, यन्मृत्योर्यान्ति गोचरम् ।
अहो ! तदन्तकातङ्गे, कः शरण्यः शरीरिणाम् ? ” ॥ १ ॥

शरण्ये साधुः शरण्यः । तथा—

“ पितुर्मातुः स्वसुभ्रातृ-स्तनयानां च पश्यताम् ।

अत्राणो नीयते जन्तुः, कर्मभिर्यमसञ्चिन ॥ २ ॥

शोचन्ति स्वजनान्ऽन्तं, नीयमानान् स्वकर्मजिः ।

नेष्यमाणं न शोचन्ति, नात्मानं मूढबुद्धयः ॥ ३ ॥

संसारे दुःखदावाग्नि-ज्वलद्द्व्याह्नकरालिते ।

वने मृगार्मकस्येव, शरणं नास्ति देहिनेः ” ॥४॥ ध० ३ अधि० ।

असरणाप्येहा-अशरणाऽनुपेक्षा-स्त्री० । जन्मजरामरणम-
यैरभिदुते व्याधिवेदनाग्रस्ते जिनधरवचनादन्यथास्ति शरणं
क्वचिह्लोके इत्येवमशरणस्य (अत्राणस्य) अनुपेक्षायाम्, स्था०
४ ग० १ उ० ।

असरित-असदृश-त्रि० । विसदृशे, “असरितजणवृद्धावा न-
हु सहियव्वा” आच० ४ अ० ।

असरितवेगग्रहण-असदृशवेगग्रहण-न० । आर्यादेरनार्यादि-
नेपथ्यकरणे, पं० व० ४ द्वार ।

असरीर-अशरीर-त्रि० । अविद्यमानशरीरोऽशरीरः । औदा-
रिकादिपञ्चविधशरीररहिते, आ० म० द्वि० । सिद्धे, “असरीरा
जीवधणा दंसणनाणोवडत्ता” औ० । स्था० ।

असरीरपरिवद्ध-अशरीरप्रतिवद्ध-त्रि० । त्यक्तसर्वशरीरे, म०
१८ श० ३ उ० ।

असद्वाहा-अश्लाघा-स्त्री० । अकीर्तिसाधने असाधुवादे,
ग० ५ अधि० ।

असलिलप्पलाव-असलिलप्लाव-पुं० । अजलप्लावे, जलं वि-
ना रेहिरित्यर्थः । तं० ।

असलिलप्पवाह-असलिलप्रवाह-पुं० । अजलप्रवाहे, तं० ।

असवणया-अश्रवणता-स्त्री० । अनाकर्णने, “इमस्स धम्मस्स
असवणयाप” ध० ३ अधि० ।

असव्वलज्झण-असद्व्ययोज्जन-न० । पुरुषार्थानुपयोगिवि-
चर्चिनियोगत्यागे, न सद्व्ययोऽसद्व्यस्तत्र धनोज्जनम् ।
द्वा० १२ द्वा० ।

असव्वग्घ-असर्वघ्न-न० । न विद्यते सर्वघ्नं यत्र तदसर्वघ्नम् । के-
वलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरहिते आवरणे, पं० सं० ४ द्वार ।

असव्वणणु-असर्वङ्ग-त्रि० । कुत्रस्थे अर्वाङ्गदर्शिनि, “सर्वङ्गोऽ
साविति ब्रूतव, तत्कालेऽपि बुभुक्षुमिः । तज्ज्ञानक्षयविज्ञान-
रहितैर्गम्यते कथम् ? ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ शु० १ अ० २ उ० ।

असव्वदरिसि(ण्)-असर्वदर्शिन्-त्रि० । कुत्रस्थे, द्वा० २३ द्वा० ।

असव्वय-असद्व्रत-न० । असत्ये, “मिच्छंति वा, वितहंति

सुखं सैद्धिकं-सिद्धौ मोक्षे भवं सैद्धिकं, यदि वा दुःखमसैद्धिकं
सांसारिकम् । अथवा-सैद्धिकमसैद्धिकं च सुखम् । यथा-स्रक्च-
न्दनाङ्गनाद्युपभोगक्रियासिद्धौ भवं सैद्धिकम्, आन्तरं सुखमान-
न्दरूपमसैद्धिकम् । तथा-सैद्धिकमसैद्धिकं च दुःखम् । यथा-कशा-
ताडनाङ्गनादिक्रिया-सिद्धौ भवं सैद्धिकम्; ज्वराशिरोगतिशला-
दिरूपमङ्गोत्थमसैद्धिकं दुःखम् । सूत्र० १ ध्रु० १ अ० २ उ० ।

असोग-अशोक-पुं० । कङ्कलीनामके एकास्थिकवृक्षभेदे, औ० ।
प्रज्ञा० । कल्प० । स्था० । अशोकादयः पञ्च वर्णा भवन्ति ततो
विशेषणम्-“ कियहासोपइ वा ” रा० । आचा० । अनु० । मल्लि-
जिनस्य चैत्यवृक्षोऽशोकः । स० । चम्पायां स्वनामख्याते पार्श्व-
नार्थे, ती० १० कल्प । पूर्वजवे चतुर्थवलदेवजीवे, स० । ति० । चतुः-
सप्ततितमे महाग्रहे, “ दो असोगा । ” स्था० २ ठा० ३ उ० । च० प्र० ।
सू० प्र० । कल्प० । अशोकवनदेवे च, जी० ३ प्रति० । वीतशोके,
त्रि० । वाच० ।

अमोगचन्द-अशोकचन्द्र-पुं० । श्रेणिकपुत्रे कृणिके, स च पितुः
श्रेणिकस्य पूर्ववैरिति दास्या अशोकवाटिकायामुज्जित इत्यशो-
कचन्द्रनामाऽभवत् । आ० चू० ४ अ० । आव० । ती० । (‘कृणि-
य’ शब्दे चैतद् दर्शयिष्यते) “ राया तप असोगचन्दप वेसाहिं
नगरि गहेत्थि ” आ० म० प्र० । आ० चू० । (‘पारिखामिया’
‘कूलबालुक’ शब्दयोश्चोदाहरिष्यते)

असोगजवत्-अशोकयक्ष-पुं० । विजयपुरे नगरे नन्दनवने उद्या-
ने स्वनामख्याते यक्षे, विपा० २ ध्रु० ३ अ० ।

असोगदत्त-अशोकदत्त-पुं० । साकेतनगरे स्वनामख्याते इम्ये, य-
स्य समुद्रदत्तसागरदत्तनामानौ भ्रातरौ । दर्श० ।

असोगराय-अशोकराज-पुं० । चम्पायां वासुपूज्यजिनेन्द्रपुत्रम-
घवन्पतिपुत्रीलक्ष्मीकुक्किजातयोहिणीनाम्या अष्टभ्रातृभगिन्याः
स्वयंवरे वृते पत्यौ, ती० ३५ कल्प ।

असोगद्वया-अशोकलता-स्त्री० । तिर्यकुशास्त्राप्रसरामावा-
ह्यताकृतिप्यशोकवृक्षे, जं० १ वक्त्र० ।

असोगवर्त्तिसग-अशोकावर्त्तसक-न० । सौधर्मादिविमानानां
पूर्वस्यां दिश्यवर्त्तसके; रा० । प्रज्ञा० । जी० ।

असोगवण-अशोकवन-न० । अशोकप्रधाने वने, अनु० ।

असोगवणिया-अशोकवनिका-स्त्री० । अशोकप्रधाने वधुवने,
आ० म० द्वि० ।

असोगवरपायव-अशोकवरपादप-पुं० । अत्युत्कृष्टे अशोकवृक्षे,
“ ईसि असोगवरपायवसमुवड्डिया उ ” जी० ३ प्रति० । रा० ।

असोगसिरि-अशोकश्री-पुं० । ६ व० । चन्द्रगुप्तस्य पौत्रे विन्दुसा-
रस्य पुत्रे, पाटलिपुत्रे नगरे वीरमोक्षानन्तरं चन्द्रगुप्तो-विन्दुसा-
रोऽशोकश्रीः-सम्पत्तिः, राजानश्चैते उत्तरोत्तरं समुक्तिभाजो महा-
राजा अभवन् । कल्प० ८ क० । “ चन्द्रगुप्तपुत्तो उ, विन्दुसा-
रस्स नत्तुआ । असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायइ कागणि ”
॥ ८६२ ॥ विशेष० । वृ० । नि० चू० ।

असोगा-अशोका-स्त्री० । धरणागकुमारेन्द्रसत्त्वकाक्षमहा-
राजस्याऽग्रमहिष्याय, स्था० ४ ठा० १ उ० । श्रीशीतलस्य
शासनवेद्याय, सा च नीलवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाश-
युक्तदक्षिणपाणिद्वया फलाङ्गशुक्लवामपाणिद्वया च । प्रव० २७

द्वार । नलिनविजयकेत्रपुरीयुगले, नलिनो विजयश्च अशोका
पूः । जं० ४ वक्त्र० । ‘ दो असोगाओ ’ । स्था० २ ठा० ३ उ० ।
असोच्चा-अश्रुत्वा-अव्य० । प्राकृतधर्मानुरागादेव धर्मफलादि-
प्रतिपादकवचनमनाकर्षेत्यर्थे, म० ।

अथाश्रुत्वा केवलपर्यन्तं ह्यमते न वा ?-

रायगिहे० जाव एवं वयासी-असोच्चा एं भंते ! केवलिस्स
वा केवलिसावगस्स वा केवलिसावियाए वा केवलिउवास-
गस्स वा केवलिउवासियाए वा तप्पक्खियस्स वा तप्पक्खि-
यसावगस्स वा तप्पक्खियसावियाए वा तप्पक्खियउ-
वासगस्स वा तप्पक्खियउवासियाए वा केवलपिप्पत्तं
धम्मं लभेज्ज सवणयाए ? गोयमा ! असोच्चा एं केवलिस्स
वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा अत्येगइए केवलपिप्पत्तं
धम्मं लभेज्ज सवणयाए, अत्येगइए केवलपिप्पत्तं धम्मं
नो लभेज्ज सवणयाए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ
असोच्चा एं० जाव नो दभेज्ज सवणयाए ? गो-
यमा ! जस्स णं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे
कने भवइ । से एं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खि-
यउवासियाए वा केवलपिप्पत्तं धम्मं लभेज्ज सवणया
ए । जस्स एं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो
कने भवइ, से एं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खिय-
उवासियाए वा केवलपिप्पत्तं धम्मं नो दभेज्ज सवण-
याए । से तेणट्ठे एं गोयमा ! एवं बुच्चइ, तं चेव० जाव नो दभे-
ज्ज सवणयाए । असोच्चा एं जंते ! केवलिस्स वा० जाव
तप्पक्खियउवासियाए वा केवलं वोहिं बुज्जेज्जा ? गो-
यमा ! असोच्चा एं केवलिस्स वा० जाव अत्येगइए केवलं
वोहिं बुज्जेज्जा, अत्येगइए केवलं वोहिं नो बुज्जेज्जा, से
केणट्ठेणं भंते !० जाव नो बुज्जेज्जा ? गोयमा ! जस्स एं
दरिसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कने भवइ, से एं
असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलं वोहिं बुज्जेज्जा, जस्स
एं दरिसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कने ज-
वइ, से एं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलं वोहिं नो
बुज्जेज्जा, से तेणट्ठेणं० जाव नो बुज्जेज्जा । असोच्चा एं
जंते ! केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केव-
लं मुंने भविच्चा आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ?
गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव उवासियाए
वा अत्येगइए केवलं मुंने जविच्चा आगाराओ अणगा-
रियं पव्वएज्जा, अत्येगइए केवलं मुंने जविच्चा आगारा-
ओ अणगारियं नो पव्वएज्जा । से केणट्ठेणं० जाव नो पव्व-
एज्जा ? गोयमा ! जस्स एं धम्मंतराइयाणं कम्माणं ख-
ओवसमे कने भवइ, से एं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव
केवलं मुंने भविच्चा आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ।

वा, असव्वंति वा, असव्वयंति वा, अकरणीयंति वा पगट्ठा”
आ० चू० १ अ० ।

असव्वासि (ण)-असर्वाशिन-त्रि० । अल्पजोनि, व्य०
१ उ० ।

असह-असह-त्रि० । असमर्थे, व्य० १ उ० । जीत० ।

असहाय-असहाय-त्रि० । एकाकिनि, वृ० ४ उ० । आ० म० ।

अविद्यमानसहाये, यः कुतीर्थिकप्रेरितोऽपि सम्यक्त्वादाविचलनं
प्रति परसाहाय्यमनपेक्षमाणस्तस्मिन्, दश० १० अ० । आ० ८ ।
असहिज्ज-असाहाय्य-त्रि० । न विद्यते साहाय्योऽस्य । साहा-
य्यमनपेक्षमाणं, उपा० १ अ० (‘आणंद’ शब्दे द्वितीयजगते
११० पृष्ठेऽस्य सूत्रं वक्ष्यते)

असहीण-अस्वाधीन-त्रि० । अस्ववशे, “असहीणेहि सारही-
चाउरगोहि” । दश० ८ अ० ।

असहु-असह-त्रि० । चरणकरणे अशक्ते, पं० भा० । सुकुमारे
राजपुत्रादौ प्रयोजिते, स्था० ३ ठा० ३ उ० । असमर्थे, ओघ० ।
ग्नाने, नि० चू० १ उ० ।

असहिग्गु-त्रि० । राजादिदीक्षिते सुकुमारपादे, वृ० ३ उ० ।

असहवर्ग-असहवर्ग-पुं० । असमर्थे राजपुत्रादौ, घ० ३ अ-
धि० । पं० चू० ।

असहेज्ज-असाहाय्य-पुं० । अविद्यमानं साहाय्यं परसाहायिक-
मत्यन्तसमर्थत्वाद् येषां तेऽसाहाय्याः । आपद्यपि देवाविसाहा-
य्यकानपेक्षेण स्वयं कृतं कर्म स्वयमेव मोक्षव्यमित्यदीनमनोवृ-
त्तिषु, म० २ श० ५ उ० । ये पाक्षिणमभिः प्रारब्धाः सम्य-
क्त्वाद् विचलनं प्रति, किन्तु न परसाहायिकमपेक्षन्ते स्वयमेव
तत्प्रतीक्षातसमर्थत्वाजिनशासनात्यन्तजावितत्वात् तेषु तथा-
विधेषु आयकेषु, म० २ श० ५ उ० ।

असागारिय-असागारिक-त्रि० । सागारिकसंपातरहिते प्रदेशा-
दौ, व्य० ३ उ० । गृहस्थेनादृश्यमाने, नि० चू० १ उ० ।

असाधा (हा) रण-असाधारण-त्रि० । अनन्यसदृशे, दर्श० ।
उपादानहेतौ, अने० २ अधि० ।

असाधारणाणंगतिय-असाधारणनैकान्तिक-पुं० । नित्यः श-
ब्दः, आवणत्वाद् इत्यादिसपक्वविपक्षव्यावृत्तत्वेन संशयजनके
हेत्वाज्ञासे, रत्ना० ६ परि० ।

असाय (त)-असात-न० । न०त० । दुःखे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०
१५ उ० । असुखे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । स्था० । असात-
वेद्यकर्मणि-सन्निपाकजे, आचा० १ श्रु० ४ अ० ६ उ० । मनःप्रतिकूले
दुःखे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । अप्रतियुत्पादके, अनु० । असा-
तवेदनीयकर्मोदये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । “अविहे आसाए पण-
त्ते । तं जहा-सोइदियअसाए जाव नोइदियअसाए” । स्था० ६
ठा० । असातवेदनीये कर्मणि, उत्त० ३३ अ० । असाताव्यवेदनीये
वेदनीयकर्मजेदप्रमवायाम् (प्रश्न० १ आश्र० द्वार) दुःखरूपा-
यां वेदनायाम्, स्त्री० । प्रज्ञा० ३४ पद ।

असायज्जण-अस्वादन-न० । अननुमनने, व्य० २ उ० ।

असा (रसा) यण-आश्वायन-पुं० । अभर्षिसन्ताने, जं० ७
वक्ष० ।

असायवहुत्ता-असातवहुत्ता-त्रि० । दुःखप्रचुरे, संथा० । “हुजो
११२

असायवहुत्ता मणुस्सा” । दश० १ चू० । (एतच्च तृतीयं स्थानम्
‘अट्ठादसट्ठाण’ शब्देऽत्रैव भागे २४६ पृष्ठे व्याख्यातम्)

असाय (या) वेयण्णिज्ज-असातवेदनीय-न० । असातं दुः-
खं, तद्रूपेण यद् वेद्यते, तदसातवेदनीयम् । कर्म० ६ कर्म० । पं०
सं० । प्रज्ञा० । दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । स० ३७ सम० । वेदनीयक-
र्मभेदे, स्था० ७ ठा० ।

असार-असार-त्रि० । साररहिते तं० । “उग्गमुप्पायणासुद्धं,
एसणादोसवज्जियं । साहारणं अयाणंतो, साहू होइ असार-
ओ” ॥१॥ ओघ० ।

असारम-असारम्भ-पुं० । प्राणिवधार्यमसंकल्पे, “सत्तविहे
असारमे पणत्ते । तं जहा-पुढविकाइयअसारजे जाव अजी-
वकाइयअसारमे” । स्था० ७ ठा० ।

असावगपाउग्ग-अभावकप्रायोग्य-त्रि० । न० त० । आवकानु-
चिते, घ० २ अधि० ।

असावज्ज-असावज्ज-त्रि० । अपापे, “असावज्जमककसं”
दश० ७ अ० । “अहो जिणेहि असावज्जा, वित्ती साहूण देसि-
या” । दश० ५ अ० । चौर्यादिगार्हितकर्मनालम्बने प्रशस्तमनोवि-
नयजेदे, स्था० ७ ठा० ।

असासय-अशाश्वत-त्रि० । तेन तेन रूपेणोदकधारावच्छब्द-
भवतीति शाश्वतं, ततोऽन्यदशाश्वतम् । आचा० १ श्रु० ५ अ०
२ उ० । अशश्वद्वयनस्वभावे, रा० । प्रतिकर्णं विहारणे, प्रश्न० ५
आश्र० द्वार । कर्णं कर्णं प्रति विनश्चरे, तं० । आ० म० । आचा० ।
अपराऽपरपर्यायप्रापिते, स्था० १० ठा० । उत्त० । स्वमेन्द्रजाल-
सदृशे अनित्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । संसारिणि, स्था० २
ठा० १ उ० । “अशाश्वतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि वेह च ।
देवानुरमनुष्याणां मृक्यन्त्यं सुखानि च” ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ८
अ० । जन्ममरणादिसहितत्वाद् संसारिणि, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।
(जावप्राधान्येन तु) विनाशे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अविद्यमानं
शाश्वतमस्मिन्नित्यशाश्वतः संसारः । अशाश्वतं हि सकल-
मिह राज्यादि । तथा हारिलवाचकः-

“चञ्चं राज्येभ्वर्यं धनकनकसारः परिजनो,
नृपत्वाद् यल्लभ्यं चलममरसौख्यं च विपुलम् ।
चलं रूपायोग्यं चलमिह चलं जीवितमिदं,
जनो दुष्टो यो वै अनयति सुखं सोऽपि हि चलः” ॥१॥ उत्त० ८ अ० ।

असाहीण-अस्वाधीन-त्रि० । परायणे, आचा० १ श्रु० २
अ० १ उ० ।

असाहु-असाधु-त्रि० । अमङ्गले, वृ० १ उ० । अशोभने, सूत्र० १
श्रु० ५ अ० २ उ० । असद्वृत्ते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अनर्थो-
दयहेतौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । निर्वाणसाधकयोगापे-
क्षया (दश० ७ अ०) आजीविकादौ कुदर्थनिनि, नि० ३ वर्ग ।
असंयने, स्था० ७ ठा० । परजीविकायवधारणवृत्ते औद्देशि-
कादिजोनिनि अग्रहचारिणि, स्था० १० ठा० । अवशिष्टकर्म-
कारिणि, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

असाहुकम्म-असाधुकर्मन्-न० । क्रूरकर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ५
अ० १ उ० । जन्मान्तरकृताऽशुभानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ५
अ० २ उ० ।

असाहुदिट्ठि-असाधुदृष्टि-पुं० । परतीर्थिकदृष्टौ, व्य० ४ उ० ।

जस्स एं धम्मंतराइयाणं कम्माणं खओवसमे नो कने जवइ, से एं असोच्चा केवलस्स वा० जाव मुंने भवित्ता० जाव नो पव्वएज्जा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० जाव नो पव्वएज्जा । असोच्चा णं जंते ! केवलस्स० जाव उवासियाए वा केवलं वंभचेरवासं आवसेज्जा ? । गोयमा ! अत्येगइए केवलं वंभचेरवासं आवसेज्जा, अत्येगइए नो आवसेज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव नो आवसेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं चरित्तावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कने जवइ से णं असोच्चा केवलस्स वा० जाव केवलं वंभचेरवासं आवसेज्जा, जस्स एं चरित्तावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कने जवइ, से एं असोच्चा केवलस्स वा० जाव नो आवसेज्जा, से तेणट्ठेणं० जाव नो आवसेज्जा । असोच्चा एं भंते ! केवलस्स वा० जाव केवल्लेणं संजमेणं संजमेज्जा ? । गोयमा ! असोच्चा णं केवलस्स वा जाव० उवासियाए वा अत्येगइए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, अत्येगइए केवल्लेणं संजमेणं नो संजमेज्जा । से केणट्ठेणं० जाव नो संजमेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कने जवइ, से एं असोच्चा केवलस्स वा० जाव केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, जस्स एं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कने जवइ, से एं असोच्चा केवलस्स वा० जाव नो संजमेज्जा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० जाव अत्येगइए नो संजमेज्जा । असोच्चा एं भंते ! केवलस्स वा० जाव उवासियाए वा केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा ? । गोयमा ! असोच्चा एं केवलस्स वा० जाव अत्येगइए केवल्लेणं संवरेणं संवरेज्जा, अत्येगइए केवलेणं० जाव नो संवरेज्जा । से केणट्ठेणं० जाव नो संवरेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं अज्जवसाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कने जवइ, से एं असोच्चा केवलस्स वा० जाव केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, जस्स एं अज्जवसाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कने जवइ, से एं असोच्चा केवलस्स वा० जाव नो संवरेज्जा, से तेणट्ठेणं० जाव नो संवरेज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलस्स वा० जाव केवलं आभिणिवोहियनाणं उप्पामेज्जा । गोयमा ! असोच्चा एं केवलस्स वा० जाव उवासियाए वा अत्येगइए केवलं आभिणिवोहियनाणं उप्पामेज्जा, अत्येगइए केवलं आभिणिवोहियनाणं नो उप्पामेज्जा । से केणट्ठेणं० जाव नो उप्पामेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं आभिणिवोहियनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कने जवइ से एं असोच्चा केवलस्स वा० जाव केवलं आभिणिवोहियनाणं उप्पामेज्जा, जस्स एं आभिणिवोहियनाणावरणिज्जा एं कम्माणं खओवसमे नो कने जवइ, से णं

असोच्चा केवलस्स वा० जाव केवलं आभिणिवोहियनाणं नो उप्पामेज्जा, से तेणट्ठेणं० जाव नो उप्पामेज्जा । असोच्चा एं भंते ! केवलस्स वा० जाव केवलं सुयनाणं उप्पामेज्जा ? । एवं जहा आभिणिवोहियनाणस्स वचनवया भणिया, तद्वा सुयणाणस्स वि भाणियव्वा, नवरं सुयनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमो भाणियव्वो । एवं चेव केवलं ओहिनाणं जाणियव्वं, नवरं ओहिनाणावरणिज्जाणं खओवसमो भाणियव्वो । एवं केवलं मणपज्जवणाणं उप्पामेज्जा, नवरं मणपज्जवनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमं भाणियव्वं, असोच्चा एं भंते ! केवलस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलनाणं उप्पामेज्जा एवं चेव, नवरं केवलणाणावरणिज्जाणं कम्माणं सए जाणियव्वं, सेसं तं चेव । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव केवल्लेणं नो उप्पामेज्जा ॥

शुद्धदत्तोद्देशक इति उक्तकथाध्यायाः केवलधर्माज्जायन्ते, तद्वाऽभुत्वाऽपि कोऽपि लभत इत्याद्यर्थप्रतिपादनार्थमाह—(रायगिहेत्यादि) तत्र च (असोच्चा चि) अश्रुत्वा धर्मफलादिप्रतिपादकचयनमनाकार्थं, प्राकृतधर्मानुरागादेवेत्यर्थः (केवलस्स व चि) केवलिनो जिनस्य । (केवलिसायगस्स चि) केवली येन स्वयमेव पृष्ठः, भुतं वा येन तद्वचनमसौ केवलिभावकः, तस्य (केवलिउवासगस्स व चि) । केवलिन उपासनां विदधानेन केवलिनैवान्यस्य कथ्यमानं भुतं येनासौ केवल्युपासकः । (तप्पक्खियस्स चि) केवलिपाक्षिकस्य स्वयं बुद्धस्य (धम्मं ति) भुतचारित्ररूपम् (लभेज्ज चि) प्राप्नुयात् । (सचणयाप चि) भवणतया भवणरूपतया, भोतुमित्यर्थः । (नाणावरणिज्जाणं ति) यदुवचनं ज्ञानावरणीयस्य मतिज्ञानावरणादिभेदेनावग्रहमत्यावरणादिभेदेन च यदुत्वात् । इह च क्षयोपशमग्रहणाद् मत्यावरणाद्येव तद् प्राज्ञं, न तु केवलावरणम्, तत्र क्षयस्यैव भावात्, ज्ञानावरणीयस्य क्षयोपशमस्य गिरिसरिदुपलघोषनान्यायेनापि कस्यचित्स्यात्, तत्सद्भावे चाश्रुत्वाऽपि धर्मं लभेत, भोतुं क्षयोपशमस्यैव तद्भावेऽन्तरङ्गकारणत्वादिति । (केवलं वोहि ति) शुद्धं सम्यग्दर्शनं (बुज्जेज्ज चि) बुध्येतानुभवदित्यर्थः । यथा प्रत्येकबुद्धादिरेवमुत्तराप्प्युदाहर्त्तव्यम् । (दरिसणावरणिज्जाणं ति) । इह दर्शनावरणीयं दर्शनमोहनीयमभिगृह्यते बोधः, सम्यग्दर्शनपर्यायत्वात् । तल्लज्जस्य च तत्क्षयोपशमजन्यत्वादिति । (केवलं मुंने भवित्ता आगाराओ अणगारियं ति) केवलां श्रुतां सम्पूर्णां वाऽनगारतामिति योगः । (धम्मंतराइयाणं ति) अन्तरागो विघ्नः, सोऽस्ति येषु तान्यन्तराधिकारिण धर्मस्य चारित्रप्रतिपत्तिलक्षणस्यान्तराधिकारिण धर्मान्तराधिकारिण, तेषां, वीर्यान्तरायचारित्रमोहनीयमेदानामित्यर्थः । (चरित्तावरणिज्जाणं ति) इह वेदलक्षणानि चारित्रावरणीयानि विशेषतो ग्राह्याणि, मैथुनविरातिलक्षणस्य ब्रह्मचर्यवासस्य विशेषतस्तत्पामेवाचारकत्वात् । (केवल्लेणं संजमेणं संजमेज्ज चि) इह संयमः प्रतिपन्नचारित्रस्य तदतिचारपरिहाराय यतनाविशेषः । (जयणावरणिज्जाणं ति) इह तु यतनावरणी-

असाधुधम्म-असाधुधर्म-पुं० । वस्तुदानस्नानतर्पणादिके असंयतधर्मे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

असाधुया-असाधुता-स्त्री० । कुगतिगमनादिकरूपायाम्, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । दौहस्वभावतायाम्, उक्त० ३ अ० ।

असाधुवं-असाधुवत्-अध० । असाधुमर्हति यत्प्रेक्ष्यं मुकुटमङ्गादियुक्तं तस्मिन्, असाधुना तुल्यं वर्तते, उक्त० ३ अ० ।

असि-असि-पुं० । खड्गे, उपा० १ अ० । नि० चू० । जी० । रा० । व्य० । विपा० । सं० । औ० । "असिमोग्गरसत्तिकुंतहत्था" । असिमुद्गरशक्तिकुन्ता हस्ते येषां ते असिमुद्गरशक्तिकुन्तहस्ताः । "प्रहरणात्" ॥ ३११११५॥ इति सप्तम्यन्तस्य पाक्षिकः परनिपातः जी० ३ प्रति० । अस्युपलक्षिते सेवकपुरुषे, "असिमपीक्षुपी-वाणिज्यवर्जिताः" तत्रासिनोपलक्षिताः सेवकाः पुरुषाः असंयमाः, मध्युपलक्षिता लेखनजीविनः मध्यः, कृषिरिति-कृषिकर्मोपजीविनः, वाणिज्यमिति-वाणिजजनोचितवाणिज्यकलोपजीविनः । तं० । असिना यो देवो नारकान् छिनत्ति सोऽसिरेव । परमाधार्मिकनिकाये, भ० ३ श्रु० ६ उ० ।

इत्ये पाए ऊरू, बाहु सिरा पाय अंगमंगाणि ।

विंदति पगामं तू, असि णेरइए निरयपाला ॥ ७७ ॥

(इत्येत्यादि) असिनामानो नरकपाला अशुभकर्मोदयवर्तिनो नारकानेवं कदर्थयन्ति । तद्यथा-हस्तपादोरुवाहुशिरः-पार्श्वदीन्यङ्गप्रत्यङ्गानि छिन्दन्ति प्रकाममत्यर्थं क्षणयन्ति, तु-शब्दोऽपरदुःखोत्पादनविशेषणार्थं इति ॥ सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । वाराणस्यां सरिद्वेदे, ती० ३८ कल्प० ।

असिकुन्तित्य-असिकुण्ठतीर्थ-न० । स्वनामण्याते मथुरास्थे तीर्थे, ती० ९ कल्प० ।

असिकलग-अशिक्षक-त्रि० । चिरप्रव्रजिते, दश० १ अ० ।

असिखुरधार-असिखुरधार-पुं० । कुरस्येव धारा यस्य असेः । अतिच्छेदके खड्गे, उपा० २ अ० ।

असिखेग-असिखेटक-न० । असिना सह फलके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असिचर्मपाय-असिचर्मपात्र-न० । स्फुरके, भ० । "असिचर्मपायं गहाय" । असिचर्मपात्रं स्फुरकः । अथवा-असिअ खड्गः, चर्मपात्रं च स्फुरकः, खड्गकोशको वा असिचर्मपात्रं, तद् गृहीत्वा । "असिचर्मपायहृत्यकिञ्चनपर्यं अप्पाणेणं ति" । असिचर्मपात्रं हस्ते यस्य स तथा, कृत्यं संघादिप्रयोजनं गतः आश्रितः कृत्यगतः, ततः कर्मधारयः, अतस्तेन आत्मना । अथवा-असिचर्मपात्रं कृत्वा हस्ते कृतं येनासौ असिचर्मपात्रहस्तकृत्वाकृतः, तेन । प्राकृतत्वाच्चैवं समासः । अथवा-असिचर्मपात्रस्य हस्तकृत्यं हस्तकरणं गतः प्राप्तो यः स तथा, तेन । भ० ३ श्रु० ५ उ० ।

असिद्ध-अशिष्ट-त्रि० । अनास्थाते, नि० चू० २ उ० । अकथिते, वृ० २ उ० । आ० म० ।

असिणाण-अस्नान-त्रि० । अविद्यमानस्नाने, पंचा० १० वि० । "असिणाणविद्यडमोई" अस्नानोऽरात्रिभोजी चेत्यर्थः । उपा० १ अ० । आचा० ।

"तम्हा तेण सिणायंति, सीएण उसिणेण वा ।

जावज्जीवं वयं चोरं, असिणाणमहिच्छिया" ॥ ६३ ॥

दश० ६ अ० । ध० ।

असित्य-असिक्त्य-न० । सिक्थवर्जिते पानकाहारे, पञ्चा० ५ वि० ।

असिद्ध-असिद्ध-पुं० । संसारिणि, नं० । जी० । स्था० । सूत्र० । हेत्वाभासनेदे, रत्ना० ।

तत्रासिद्धमजिदधति-

यस्यान्यथाऽनुपपत्तिः प्रमाणेन न प्रतीयते सोऽसिद्धः ॥ ४७ ॥

अन्यथाऽनुपपत्तेर्विपरीताया अनिश्चितायाश्च विरुद्धानैकान्तिकत्वेन कीर्तयिष्यमाणत्वादिह हेतुस्वरूपा प्रतीतिद्वारैकवान्यथाऽनुपपत्त्यप्रतीतिरवशिष्टा रूपाः, हेतुस्वरूपा प्रतीतिश्चेयमज्ञानात्, सन्देहाद्, विपर्ययाद् वा विज्ञेया ॥ ४८ ॥

अयामुं भेदतो दर्शयन्ति-

स द्विविध उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च ॥ ४९ ॥

उभयस्य वादिप्रतिवादिमुदायस्यासिद्धः, अन्यतरस्य वादिनः प्रतिवादिनो वाऽसिद्धः ॥ ४९ ॥

तत्राद्यनेदं वदन्ति-

उभयासिद्धो यथा-परिणामी शब्दश्चाक्षुपत्त्वात् ॥ ५० ॥

चाक्षुषा गृह्यत इति चाक्षुषः, तस्य भावश्चाक्षुपत्वं, तस्मात् । अयं च वादिप्रतिवादिनां उभयोरप्यसिद्धः, आवणत्वाच्च-व्यस्य ॥ ५० ॥

द्वितीयं भेदं वदन्ति-

अन्यतरासिद्धो यथा-अचेतनास्तरवो, विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधद्वक्षणमरणरहितत्वात् ॥ ५१ ॥

ताथागतो हि तरुणामचेतन्य साधयन् विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वादिति हेतूपन्यासं कृतवान् । स च जैनानां तरुचेतन्यवादिनामसिद्धः । तदागमे कुम्भेऽपि विज्ञानेन्द्रियायुषां प्रमाणतः प्रतिष्ठितत्वात् । इदं च प्रतिवाद्यसिद्धपेक्षयोदाहरणम् । वाद्यसिद्धपेक्षया तु-अचेतनाः सुखादयः, उत्पत्तिमत्त्वादिति । अत्र हि वादिनः साङ्ख्यस्योत्पत्तिमत्त्वमप्रसिद्धम्, तेनाविर्भावमात्रस्यैव सर्वत्र स्वीकृतत्वात् ।

नन्वित्यमसिद्धप्रकारप्रकाशनं परैश्चक्रे-स्वरूपेणासिद्धः, स्वरूपं चाऽसिद्धं यस्य सोऽयं स्वरूपासिद्धः, यथा-अनित्यः शब्दः, चाक्षुपत्त्वादिति । ननु चाक्षुपत्वं रूपादव्यस्ति, तेनास्य व्यधिकरणासिद्धत्वं युक्तम् । न । रूपाद्यधिकरणत्वेनाप्रतिपादितत्वात् । शब्दधर्मिणि चोपदिष्टं चाक्षुपत्वं न स्वरूपतोऽस्तीति स्वरूपासिद्धम् । विरुद्धमधिकरणं यस्य, स चासावसिद्धश्चेति व्यधिकरणासिद्धः, यथा-अनित्यः शब्दः, पदस्य कृतकत्वादिति । ननु शब्देऽपि कृतकत्वमस्ति, सत्यं, न तु तथा प्रतिपादितम् । नचान्यत्र प्रतिपादितमन्यत्र सिद्धं भवति । मीमांसकस्य वा कुर्वतो व्यधिकरणासिद्धम् । २ । विशेष्यमसिद्धं यस्यसौ विशेष्यासिद्धः, यथा-अनित्यः शब्दः, सामान्यवत्त्वे सति चाक्षुपत्त्वादिति । ३ । विशेषणासिद्धः, यथा-अनित्यः शब्दः, चाक्षुपत्वं सति सामान्यवत्त्वात् । ४ । पञ्चैकदेशासिद्धपर्यायः पञ्चभागेऽसिद्धत्वात् भागासिद्धः, यथा-अनित्यः शब्दः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । ननु च वाद्यादिसमुत्पन्नशब्दानामपीश्वरप्रयत्नपूर्वकत्वात् कथं भागासिद्धत्वम् ? नैतत् । प्रयत्नस्य तीव्रमन्दादिजावानन्तरं श-

यानि चारित्रविशेषविषयवीर्यान्तरायलक्षणानि मन्तव्यानि ।
(अज्जवसानावरणिज्जाणं ति) संवरशब्देन श्रुताध्यवसायवृत्ते-
र्विवक्षितत्वात्तस्याश्च भावचारित्र्यरूपत्वेन तदावरणकृत्योपश-
मलभ्यत्वादध्यवसानावरणीयशब्देनेह भावचारित्र्यावरणीयान्यु-
क्तानीति ।

पूर्वोक्तानेवार्थान् पुनः समुदायेनाह-

असोच्चा णं जंते ! केवलस्स वा० जाव तप्पविसयवुवासि-
याए वा केवलपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, केवलं वो-
हिं वुज्जेज्जा, केवलं मुंढे भविता आगाराओ अणगारि-
यं पव्वएज्जा, केवलं वंजचेरं वासं आवसेज्जा, केवलेणं
संजमेणं संजमेज्जा, केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, केवलं आ-
भिणिवोहियनाणं उप्पामेज्जा० जाव केवलं मणपज्जवनाणं
उप्पामेज्जा० जाव केवलनाणं उप्पामेज्जा !। गोयमा ! अ-
सोच्चा णं केवलस्स वा० जाव वुवासियाए वा अत्येगए
केवलपन्नत्तं धम्मं दामेज्ज सवणयाए, अत्येगए केवलप-
न्नत्तं धम्मं नो लजेज्ज सवणयाए, अत्येगए केवलं वोहिं
वुज्जेज्जा, अत्येगए केवलं वोहिं नो वुज्जेज्जा, अत्येगए
केवलं मुंढे भविता आगाराओ अणगारियं पव्वए-
ज्जा, अत्येगए० जाव नो पव्वएज्जा, अत्येगए केव-
लं वंजचेरवासं आवसेज्जा, अत्येगए केवलं० जाव नो
आवसेज्जा, अत्येगए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा,
अत्येगए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा, एवं संव-
रेणं वि अत्येगए केवलं अभिणिवोहियनाणं उप्पा-
मेज्जा, अत्येगए० जाव नो उप्पामेज्जा, एवं० जाव
मणपज्जवनाणं अत्येगए केवलनाणं उप्पामेज्जा, अ-
त्येगए केवलनाणं नो उप्पामेज्जा । से केण्डेणं जंते !
एवं वुच्चइ असोच्चा णं तं चेव० जाव अत्येगए केव-
लनाणं नो उप्पामेज्जा !। गोयमा ! जस्स नाणावराणिज्जाणं
कम्माणं खओवसमे नो कढे जवइ, जस्स णं दंसणावराणि-
ज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कढे जवइ, जस्स णं धम्मं-
तरायाणं कम्माणं खओवसमे नो कढे भवइ, एवं चरि-
त्तावरणिज्जाणं जयणावराणिज्जाणं अज्जवसानावरणि-
ज्जाणं आभिणिवोहियनाणावरणिज्जाणं० जाव मणपज्जव-
नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कढे जवइ,
जस्स णं केवलनाणावरणिज्जाणं० जाव खए नो कढे
जवइ, से णं असोच्चा केवलस्स वा० जाव केवलपन्नत्तं
धम्मं नो दामेज्ज सवणयाए, केवलं वोहिं नो वुज्जेज्जा०
जाव केवलनाणं नो उप्पामेज्जा, जस्स णं नाणावराणि-
ज्जाणं खओवसमे कढे जवइ, जस्स णं दरिसणावराणि-
ज्जाणं खओवसमे कढे जवइ, जस्स णं धम्मंतरायाणं
एवं० जाव जस्स णं केवलनाणावरणिज्जाणं कम्माणं
खए कढे जवइ, से णं असोच्चा केवलस्स वा० जाव केव-

द्विपन्नत्तं धम्मं दामेज्ज सवणयाए, केवलं वोहिं वुज्जेज्जा
केवलनाणं उप्पामेज्जा ॥

(असोच्चा णं जंते ! इत्यादि) अथाश्रुतैव केवलत्यादिवचनं
यथा कश्चित्केवलज्ञानमुत्पादयेत् तथा दर्शयितुमाह-

तस्स णं जंते ! उच्चं उच्चं अनिक्खित्तेणं तवोक्कमेणं
उच्चं वाहाओ पणिज्जिय पणिज्जिय सूराभिमुहस्स आया-
वण्णमीए आयावेमाणस्स पगइभइयाए पगइउवसंतयाए
पगइपयणुकोहमाणमायालोभयाए मिउमइवसंपन्नयाए अ-
द्वीणयाए भइयाए विणीययाए अन्नया कयाइ सुभेणं
अज्जवसानेणं सुभेणं परिणामेणं द्वेसाहिं विमुज्जमाणं हिं
विमुज्जमाणं हिं अद्वीणयाए तयावरणिज्जाणं कम्माणं
खओवसमेणं ईहापोहमगणगवेसणं करेमाणस्स विज्जगे
नामं अन्नाणे समुप्पज्जइ, से णं तेणं विज्जगणाणसमुप्प-
न्नेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइजाणं उक्कोसेणं असं-
खेज्जाइं जेयणसहस्साइं जाणए पासइ, से णं तेणं विज्जग-
नाणेणं समुप्पन्नेणं जीवे वि जाणइ, अजीवे वि जाणइ, पा-
सन्त्ये सारंजे सपरिगोहं संकिञ्जस्समाणे वि जाणइ, विमु-
ज्जमाणे वि जाणइ, से णं पुव्वामेव सम्मत्तं पडिवज्जइ,
समणधम्मं रोएइ २ चरित्तं पक्खिज्जइ, द्विगं पडिवज्जइ,
तस्म णं तेहिं पिच्छत्तपज्जवेहिं परिहायमाणेहिं सम्महंसण-
पज्जवेहिं वट्ठमाणेहिं, से विज्जगे अन्नाणे सम्मत्तपरिग-
हिं विप्पामेव ओही परावत्तइ ॥

(तस्स चि) योऽश्रुतैव केवलज्ञानमुत्पादयेत् तस्य कस्या-
पि " उच्चं उच्चं अनिक्खित्तेणं " च यदुक्तम्, तत्प्रायः षष्ठतम-
अरण्यवतो बालतपस्विनो विमङ्गलानविशेष उत्पद्यत इति
ज्ञापनार्थमिति । (पणिज्जिय चि) प्रगृह्य, धृत्वेत्यर्थः । " पगइ-
भइयाए " इत्यादीनि तु प्राग्वत् । (तयावरणिज्जाणं ति) वि-
मङ्गलानावरणीयानां (ईहापोहमगणगवेसणं करेमाणस्स चि)
इहेहा सदार्थाभिमुखा ज्ञानचेष्टा, अपोहस्तु विपक्षानिरासो,
मार्गणं चाऽन्वयधर्मालोचनं, गवेसणं तु व्यतिरेकधर्मोद्घोच-
नमिति (सेसं ति) असौ वाञ्छतपक्षी (जीवे वि जाणइ चि)
अद्यश्चिदेव न तु साक्षाद्, मूर्च्छगोचरत्वात्तस्य । (पासंइत्ये चि)
व्रतस्थान् (सारंमत्तपरिगोहं चि) सारस्मान् सपरिग्रहान्सतः ।
किंविधान् जानातीत्याह—(संकिञ्जस्समाणे वि जाणए चि)
महत्या संक्षिप्तमानतया संक्षिप्तइयमानानपि जानाति (विमु-
ज्जमाणे वि जाणइ चि) अद्वीयस्या विशुद्धमानतया विशुद्ध-
मानानपि जानाति, आरम्भादिमतामैश्वर्यरूपत्वात् । (सेणं ति)
असौ विमङ्गलानी जीवाजीवस्वरूपपात्रैरुत्पन्नसंक्षिप्तइयमान-
तादिज्ञापकः सन् (पुव्वामेव चि) चारित्रप्रतिपत्तेः पूर्वमेव,
(सम्मत्तचि) सम्यग्भावं (समणधम्मं ति) साधुधर्मं (रोए-
इ चि) श्रुते चिकीर्षति वा । (ओहीपरावत्तइ चि) अवधि-
र्भवतीत्यर्थः । इह च यद्यपि चारित्रप्रतिपत्तिमादावभिधाय
सम्यक्त्वं परिग्रहीतं, विमङ्गलानमवधिर्भवतीति पञ्चादुक्तं,
तथापि चारित्रप्रतिपत्तेः पूर्वं सम्यक्त्वप्रतिपत्तिकाल एव विभ-

ज्ञानस्यावधिभावो ह्येव; सम्यक्त्वचारित्रभावे विभक्तज्ञान-
स्याज्ञावादिति ।

अथैनमेव लेश्यादिनिर्णयशाह-

से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ? । गोयमा ! तिसु
विंसुप्पलेस्सासु होज्जा । तं जहा-तेवलेस्साए पम्हलेस्साए
सुकत्तेस्साए । से णं जंते ! कइसु नाणेसु होज्जा ? । गो-
यमा ! तिसु आभिणिबोहियनाणसुयनाणओहिनाणेसु
होज्जा । से णं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ? ।
गोयमा ! सजोगी होज्जा, नो अजोगी होज्जा । जदि
सजोगी होज्जा, किं मणजोगी होज्जा, वइ जोगी कायजोगी
वा होज्जा ? । गोयमा ! मणजोगी होज्जा, वइजोगी होज्जा,
कायजोगी वा होज्जा । से णं जंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा,
अणगारोवउत्ते वा होज्जा ? । गोयमा ! सागारोवउत्ते
वा होज्जा, अणगारोवउत्ते वा होज्जा । से णं जंते !
कयरम्मि संघयणे होज्जा ? । गोयमा ! वइरोसहनारायसंघय-
णे होज्जा । से णं भंते ! कयरम्मि संठाणे होज्जा ? । गोयमा !
अणहं संठाणाणं अणयरे संठाणे होज्जा । से णं भंते !
कयरम्मि उच्चत्ते होज्जा ? । जहवेणं सचरणीए उक्को-
सेणं पंचषणुसइए होज्जा । से णं जंते ! कयरम्मि आ-
उए होज्जा ? । गोयमा ! जहवेणं साइरेगइवासाउए उक्को-
सेणं पुव्वकोहिआउए होज्जा । से णं भंते ! किं सवेदए
होज्जा, अवेदए होज्जा ? । गोयमा ! सवेदए होज्जा, नो
अवेदए होज्जा । जइ सवेदए होज्जा, किं इत्थिवेदए
होज्जा, पुरिसवेदए होज्जा, पुरिसनपुंसगवेदए होज्जा, नपुंस-
गवेदए होज्जा ? । गोयमा ! नो इत्थिवेदए होज्जा, पुरिस-
वेदए वा होज्जा, नो नपुंसगवेदए होज्जा, पुरिनपुंसगवेदए
वा होज्जा । से णं जंते ! किं सकसाई होज्जा, अकसाई
होज्जा ? । गोयमा ! सकसाई होज्जा, नो अकसाई होज्जा ? ।
जइ सकसाई होज्जा से णं जंते ! कइसु कसाएसु होज्जा ? ।
गोयमा ! चउसु संजलणकोहमाणमायालोनेसु होज्जा । तस्स
णं भंते ! केवइया अज्जवसाणा पणत्ता ? । गोयमा ! असंखेज्जा
अज्जवसाणा पणत्ता । ते णं भंते ! किं पसत्था, अप्पसत्था ? ।
गोयमा ! पसत्था, नो अप्पसत्था । से णं जंते ! तेहिं पसत्थे-
हिं अज्जवसाणेहिं वण्णमाणेहिं अणंतेहिं नेरइयजवगहणे-
हिं तो अप्पाणं विसंजोएइ, अणंतेहिं तिरिक्खजोणियं
जाव विसंजोएइ, अणंतेहिं मणुस्सभवगहणेहिं तो अप्पाणं
विसंजोएइ, अणंतेहिं देवजवगहणेहिं अप्पाणं विसंजोएइ,
जाओ वि य से इमाओ नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवगइ-
नामाओ चंचारि उत्तरप्पगणीओ य, तासिं च णं उवगाइए
अणंताणुवंधी कोहमाणमायालोभं खवेइ, खवेइत्ता अपचक्खा-
णकसाए कोहमाणमायालोभं खवेइ, खवेइत्ता पचक्खाणा-

वरणे कोहमाणमायालोभं खवेइ, खवेइत्ता संजलणे कोह-
माणमायालोभं खवेइ, खवेइत्ता पंचविहं नाणावरणिज्जं
नवविहं दरिसणावरणिज्जं पंचविहं अंतराइयं तालमत्था-
कडं च णं मोहणिज्जं कट्टु कम्मरयविक्कणकरं अपुव्वकर-
णं पविट्टस्स अणंते अणुत्तेर निव्वाधाए निरावरणे कसिणे
पकिपुण्णे केवल्लवरणाणदंसणे समुप्पज्जइ ॥

[से णं भंते ! इत्यादि] तत्र [से णं ति] स यो विभक्तज्ञानी भूत्वा-
ऽवधिज्ञानं चारित्रं च प्रतिपन्नः । [तिसु विंसुप्पलेस्सासु होज्जा ति]
यतो भावलेस्यासु प्रशस्तास्वेव सम्यक्त्वादि प्रतिपद्यते, नावि-
शुद्धास्त्विति । [तिसु आभिणिबोहियेत्यादि] सम्यक्त्वमति-
भुतावधिज्ञानानां विभक्त्यधिनिवर्तनकाले तस्य युगपद्भावादा-
ये ज्ञानत्रय एवासी तदा वर्तत इति । [खो अजोगी होज्जा ति]
अवधिज्ञानकाले अयोगित्वस्याभावात् । 'मणजोगी' इत्यादि च
एकतरयोगप्रधान्यापेक्षयाऽवगन्तव्यम् । [सागारोवउत्ते वेत्यादि]
तस्य हि विभक्तज्ञानान्निवर्तमानस्योपयोगद्वयेऽपि वर्तमानस्य
सम्यक्त्वावधिज्ञानप्रतिपत्तिरस्तीति । ननु-“सन्नाओ लक्कीओ
सागारोवओगोवउत्तस्स भवंति” इत्यागमादनाकारोपयोगे स-
म्यक्त्वावधिज्ञानविरोधः । नैवम् । प्रवर्तमानपरिणामजीवविप-
यत्वात्तस्यागमस्यावस्थितपरिणामापेक्षया चानाकारोपयोगेऽपि
लब्धिलाभस्य सम्भवादिति । [वइरोसहनारायसंघयणे होज्जा
ति] प्राप्त्येवज्ञानत्वात्तस्य, केवल्लज्ञानप्राप्तिश्च प्रथमसं-
नन एव प्रवर्ततीति । एवमुत्तरापीति । [सवेयए होज्जा ति] विज-
ज्ञस्यावधिज्ञावकाशे न वेदकयोऽस्तीत्यसौ सवेद एव । [नो इत्थि-
वेयए होज्जा ति] क्षिया एवविधस्य व्यतिकरस्य स्वभावत ए-
वभावात् । [पुरिसनपुंसगवेयए व ति] वद्धितकत्वादित्येन न-
पुंसकः पुरुषनपुंसकः । [सकसाई होज्जा ति] विभक्तावधिकाले
कयायक्यस्याभावात् । [चउसु संजलणकोहमाणमायालोनेसु
होज्जा ति] स ह्यवधिज्ञानतापरिणतविभक्तज्ञानभरणं प्रतिपन्न
कथं, तस्य च तत्काले चरणयुक्तत्वात्, संख्यज्ञाना एव कोधादयो
भवन्तीति [पसत्थ ति] विभक्तस्यावधिज्ञावो हि नाप्रशस्तान्य-
वसानस्य भवतीत्यत उक्तम्-प्रशस्तान्यध्यवसायस्थानानीति ।
[अणंतेहिं ति] अनन्तरनन्तानागतकालभाविभिः । [विसं-
जोएइ ति] विसंयोजयति, तत्प्राप्तियोग्यताऽपनोदादिति ।
(जाओ वि य ति) या अपि च । (नेरइयतिरिक्खजोणिय-
मणुस्सदेवगतिनामाओ ति) एतदभिधानाः । (उत्तरप्पय-
णीओ य ति) नामकर्माभिधानाया मूलप्रकृतेरुत्तरभेदभू-
ताः । (तासिं च णं ति) तासां च नैरयिकगत्याद्युत्तरप्रकृ-
तीनां, चशब्दादन्यासां च, (उवगाइए ति) औपग्राहिकान्
उपलब्धप्रयोजनान् अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभान् क-
पयति । तथा प्रत्याख्यानादींश्च तथाविधानेव कपयतीति । (पंच-
विहं नाणावरणिज्जं ति) मतिज्ञानावरणादिभेदान् (नवविहं द-
रिसणावरणिज्जं ति) चक्षुर्दर्शनाद्यावरणचतुष्कस्य, निद्रापञ्चक-
स्य च मीलनाप्रवधिधत्वमस्य । (पंचविहमंतराइयं ति) दान-
लाभभोगोपभोगवैर्यविशेषितत्वात् पञ्चविधत्वमन्तरायस्य, त-
त्कपयतीति संबन्धः । किं कृतेत्यत आह- (तालमत्थाकडं च णं
मोहणिज्जं कट्टु ति) मत्ताकं मत्तकसूचीकृतं छिन्नं यथासी मत्तक-
कृतस्तालमत्तासी मत्तकसूच्यताद्वयमत्तककृतः । आनन्दसत्त्वाच्चैवं नि-
र्देशः । ताद्वयमत्तककृत इव यत्तत्तालमत्तककृतम्, अयमर्थः-छिन्न-
मत्तकताद्वयकल्पं च मोहनीयं कृत्वा । यथाहि-विधिमत्तकस्ताद्वयः

अहारायणिय-यथारात्रिक-अव्य० यथा यथा रक्षरधिको न-
वेत्तदनतिक्रमे, नृ० ३ उ० । " अहारायणियं गामाणुगामं दृ-
क्ष्वेज्जा " आचा० २ भु० ३ अ० ३ उ० ।

अहारि (ण्)-अहारिन्-त्रि० । मनसोऽनिष्टे, आचा० १ भु०
६ अ० २ उ० ।

अहारिय-ययर्जु-अव्य० अमुनाऽनतिक्रमे, "अहारियं रिपुज्जा"
यथा अमु भवति तथा गच्छेद्, नार्दयितुं, विकारं वा पुनरु-
गच्छेत् । आचा० २ भु० ३ अ० २ उ० ।

यथारीत-अव्य० । रीतं रीतिः, स्वभाव इत्यर्थः । तदनतिक्रमे-
ण यथारीतम् । स्थनायानतिक्रमे, "अहारीयं रीयइ" यथारीतं
रीयते गच्छति, यथा स्थानाधिकारिकशरीरगत्या गच्छतीत्य-
र्थः । भ० ५ श० २ उ० ।

यथार्ह-त्रि० । यथोचिते, स्या० २ उ० १ उ० । यथार्हं या य-
स्योचिता लोकायात्रा-लोकोचितानुवृत्तिकपो व्यवहारः, सा
विधेया । यथार्हलोकायात्राऽतिक्रमे हि लोकाचितविराधनेन ते-
षामात्मन्यनादेयतया परिणामापादनेन स्वलाघवमेवोत्पादितं
भवति । एवं चान्यस्यापि स्वगतस्य सम्प्रगाचारस्य ह्यनुप-
मेधोपनीतं स्यादिति । उक्तं च- " लोकः सङ्वाधारः, सर्वेषां
धर्मचारिणां यस्मात् । तस्मान्नोक्तयिदं, धर्मयिदं च संत्वा-
जम् " ॥ ३२ ॥ भ० १ अ० १ । औचित्ये, पौ० १० वि० ।

अहलंद-अय (यथा) लन्द-पुं० । यावन्मात्रे कात्रे, आचा०
२ भु० ७ अ० १ भ० । अथेत्यव्ययम्, अन्त्यशब्देन काल उच्यते ।
तत्र यावता कात्रेनोदकार्जः फटः गुप्यति, जघ-यतस्तावति काले,
फलप० ८ क० ।

भेदाः—

होदं तु होइ कात्रो, सो पुण उकोसमज्जिमज्जो ।

उदउल्ल करो जाविह, मुक्कइ सो होइ उ जह्जो ॥ ६१६ ॥

अन्दं तु भवति कात्रः । समयपरिज्ञापया अन्त्यशब्देन कात्रो भ-
वत्येत्यर्थः । स पुनः कात्ररित्रा-उत्कृष्टे मध्यमे जघन्यश्च ।
तत्र उदकार्जः करो यावता कात्रेन इह सामान्येन होकेषु शु-
प्यति, तावान् कालविशेषो नवति जघन्यः । अस्य च जघन्यत्वं
प्रत्याख्याननियमविशेषादिषु विशेषत उपयोगित्वात्, अन्यथा-
ऽतिसूक्ष्मतरस्यापि समयादिकक्षणस्य सिद्धान्तोक्तस्य कालस्य
संज्ञत्वात् ।

उकोस पुव्वकोही, मज्जे पुण हुंति ऐगउणाणं ।

इत्थ पुण पंचरत्तं, उकोसं होइ अहलंदं ॥ ६२० ॥

उत्कृष्टः पूर्वकोटीप्रमाणः; अयमपि चारित्रिकाश्रमानमाश्रित्य
उत्कृष्ट उक्तः, अन्यथा पद्योपमादिरूपस्यापि कालस्य संभवात् ।
मध्ये पुनर्जघन्यनेकानि स्थानानि वर्पादिभेदेन कात्रस्य । अत्र
पुनर्यथालन्दकस्य प्रक्रमे पञ्चरात्रं यथेत्याश्रमानातिक्रमेण अन्दं
काल उत्कृष्टं भवति; तेनैवात्रापयोगात् ।

जम्हा उ पंचरत्तं, चरंति तम्हा उ हुंति अहलंदी ।

पंचेव होइ गच्छो, तेसिं उकोसपरिमाणं ॥ ६२१ ॥

यस्मात्पञ्चरात्रं चरन्ति पेटार्कं, पेटाद्यन्यतमायां वीथ्यां भैक्षनि-
मित्तं पञ्च रात्रिविधान्यदन्ति, तस्माद्भवन्ति यथालन्दिनः; विव-
क्षितयथालन्दभावात् । तथा पञ्चैव पुरुषा भवन्ति गच्छो गणः,

तेषां यथालन्दिनानां पञ्चको हि गणोऽमुं कलमं प्रतिपद्यते ।
इति उत्कृष्टमेकैकस्य गणस्य पुरुषपरिमाणमेतदिति ।

अथ यद्वचकव्यत्वाभिरवशेषाभिधानं ग्रन्थगौरवप्रसक्त्या
यथालन्धिकल्पस्यातिदेशमाह—

जा चेव य जिणकप्पे, मेरा सा चेव हांदियाणं पि ।

नाणत्तं पुण मुत्ते, भिक्खापरि मासकप्पे य ॥ ६२२ ॥

यैव च जिनकल्पे जिनकल्पविषया 'मेरा' मर्यादा पञ्चवि-
धतुलनादिरूपा, सैव च यथालन्दिनानामपि प्रायशः, नानात्वं
भेदाः पुनर्जिनकल्पिकेभ्यो यथालन्दिनानां सूत्रे सूत्रविषयं,
तथा जिक्काचर्यायां, मासकल्पे च । चकारात्प्रमाणविषयं चेति ।

अथातिदेशपूर्वकमल्पवक्तव्यत्वात्प्रथमं मासकल्पनानात्यमेवाह—

अहलंदियाण गच्छे, अप्पन्निवद्धाण जह जिणाणं तु ।

नवरं काव्वविसेसो, उउवासे पणगचउमासो ॥ ६२३ ॥

यथाशब्दिका द्विधा-गच्छे प्रतिवक्षा अप्रतिवक्षाश्च । गच्छे च प्रति-
वक्षोऽप्रीयां कारयतः, काश्चिदधुतस्यार्थस्य अवचनार्थमिति म-
तव्यम् । ततो यथाशब्दिकानां गच्छे अप्रतिवक्षानाम्, उपलक्षण-
त्वात्प्रतिवक्षानां च, 'तत्रेण सत्तं' इत्यादिज्ञापनाकृपा सर्वाऽपि
सामाचारी यथा जिनकल्पिकानां पूर्वमुक्ता, तथैव समवसेया ।
'नवरं' केयत्र द्विधिधानामपि यथाशब्दिकानां जिनकल्पिकेभ्यः
काले कालविषये विशेषो भेदाज्ञातव्यः । तमेवाह—(उउवासे
पणगचउमासो ति) श्रूतो श्रुतयुक्तात्रे, वर्षे वर्षाकाले च, य-
थासंख्यं दिनपञ्चकं मासचतुष्टयं चैकत्रायस्थानं भवति । इयम-
त्र भावना-श्रुतयुक्ते काले यथालन्दिनसाधयो यदि विस्तीर्णा
प्रामादिर्भवति, तदा तं गृहपत्निरूपाणिः परमभिर्वीथीभिः परिक-
ल्प्य एकैकस्यां वीथ्यां पञ्च दिवसानि जिक्कामदन्ति, तत्रैव च
वसन्ति । एवं परमभिर्वीथीभिरेकस्मिन् ग्रामे मासः परिपूर्णो जय-
ति । तथाविधविस्तीर्णप्रामाभावे तु निकटतमेषु पट्टेषु ग्रामेषु
पञ्चपञ्चदिवसं वसन्ति । उक्तं च फलप्राप्त्ये—

एकेकं पंचदिणं, पण पण ऊ निट्ठिओ मासो । पं० जा० ।

एतच्छृणुम— "अह एगो चेव मासो सविचारो सि विच्छिन्नो,
तो उव्वीहीओ काउं पण्णोए पंच एव दिवसाणि हिंइति । विह-
याए वि पंचदिवसे० जाव उमीए वि पंचदिवसा । एवं एगामे
मासो भवइ । अह नत्थि एगो गामो सविचारो, तो इयं अहलंदि-
याण क्कगामखित्तस्स परिपेरत्तेण नेसिं एक्केकं पंचदिवसाणि
अत्यंति । एवं मासो विभिज्जमाणो पण पण निट्ठिओ होइ ति" ।

अथ यथालन्दिनानामेव परस्परं जेदमाह—

गच्छे पन्निवद्धाणं, अहलंदीणं तु अह पुण विसेसो ।

ओगह जो तेसिं तू, सो आयरियाण आभवइ ॥

गच्छप्रतिवक्षानां पुनर्यथाशब्दिकानां गच्छप्रतिवक्षेच्यः सका-
शाद् विशेषो जेदो भवति । तमेवाह—तेषां गच्छप्रतिवक्ष्यथाशब्द-
न्दिकानां यत्केशपञ्चकलक्षणक्षेत्रावग्रहः, स आचार्याणामेव भ-
वति । यस्याऽऽचार्यस्य निश्चया ते विहरन्ति तस्यैव स क्षेत्रावग्र-
हो प्रवर्ततीति भावः । गच्छाप्रतिवक्षानां तु जिनकल्पिकवत् क्षे-
त्रावग्रहो नास्तीति ।

अथ द्विविधानामपि यथालन्दिनानां जिक्काचर्यानां नानात्वं
विवक्षुराह—

एगवसद्दीपे पणगं, उव्वीहीओ य गामि कुव्वंति ।

क्षीणो भवति, एवं मोहनीयं च कृत्वा क्षीणकृत्वेति भावः । इदं चोक्तमोहनीयभेदशेषापेक्षया द्रष्टव्यमिति । अथ कस्मादनन्तानुबन्ध्यादिस्वभावे तत्र क्षपिते सति ज्ञानावरणायादि क्षपयत्येवेत्यत आह—(तालमस्तकस्येव कृतं क्रिया यस्य तत्तालमस्तककृतं, तदेवंविधं च मोहनीयम् । (कट्टु चि) इतिशब्दस्येह गम्यमानत्वात्, इतिकृत्वा इति हेतोः, तत्र क्षपिते ज्ञानावरणीयादि क्षपयत्येवेति, तालमस्तकमोहनीययोश्च क्रियासाधर्म्यमेव । यथा-तालमस्तकविनाशक्रियाऽप्रशङ्क्याविताञ्च विनाशा, एवं मोहनीयकर्मविनाशक्रियाऽप्यवश्यंभाविशेषकर्मविनाशेति । आह च—“ मस्तकसूचिविनाशे, तालस्य यथा ध्रुवो भवति नाशः । तद्वत्कर्मविनाशोऽपि मोहनीयत्वान्नित्यम् ” ॥ १ ॥ ततश्च कर्मरजोविकिरणकरं तद्विज्ञेयकमप्यकरणम्-असद्वशाध्वसायविशेषमनुप्रविष्टस्याऽनन्तम्, विषयानन्त्यात्; अनुत्तरं सर्वोत्तमत्वात्, निर्व्याघातं कृत्यादिजिरप्रतिहननात्, निरावरणं सर्वथा स्वावरणक्षयात्, कृत्स्नं सकलार्थग्राहकत्वात्, प्रतिपूर्णं सकलस्वांशयुक्ततायाम्भवात्, केवलवरज्ञानदर्शनं केवलमभिधानतो वरज्ञानान्तरापेक्षया, ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शनम् । समाहारद्वन्द्वः । ततः केवलादीनां कर्मधारयः । इह च क्षपणाक्रमः “अष्टमिच्छमीससम्मं, अट्ट नपुंसिस्थिवैयज्जं च । पुमवैयं च खंवेदं, कोहाईए य संजवणे ” ॥ २ ॥ इत्यादिग्रन्थान्तरप्रसिद्धो नचायमिहाश्रितः; यथा कथञ्चित्क्षपणामात्रस्यैव विवक्षितत्वादिति ।

से एं भंते ! केवलपिषत्तं धम्मं आघवेज्ज वा पञ्चवेज्ज वा पुरुवेज्ज वा । नो इण्हे समडे । नसत्थ एगणाएण वा एगवागरणेण वा । से एं भंते ! पञ्चवेज्ज वा मुंदावेज्ज वा । नो इण्हे समडे, उवदेसं पुण करेज्ज । से एं जंतं ! किं सिज्झइ० जाव अंतं करेइ । हंता सिज्झइ० जाव करेइ । से एं जंतं ! किं उट्ठं होज्जा, अहे होज्जा, तिरियं होज्जा ? गोयमा ! उट्ठं वा होज्जा, अहे वा होज्जा, तिरियं वा होज्जा, उट्ठं होज्जमाणे सदावइ विवडावइ गंदावइ मादावंतपरियाएसु वट्ठवेयकपुव्वएसु होज्जा, साहरणं पडुच्च सोमणसवणे वा पंगुगवणे वा होज्जा, अहे होज्जमाणे गट्टए वा दरीए वा होज्जा, साहरणं पडुच्च पायाझे वा भवणे वा होज्जा, तिरियं होज्जमाणे पण्डरससु कम्मभूमीसु होज्जा, साहरणं पडुच्च अट्ठाज्जदीवसमुदतदेकं देसभाए होज्जा । ते एं भंते ! एगसमएणं केवइया होज्जा ? गोयमा ! जह्खेणं एको वा दो वा तिमि वा उक्कोसेणं दस, से तेण-हेणं गोयमा ! एवं बुचइ, असोच्चा एं केवलस्स वा० जाव अत्येगइए केवलपिषत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, अत्येग-इए केवलि० जाव नो लजेज्ज सवणयाए० जाव अत्येगइए केवलज्ञानं उप्पाडेज्जा, अत्येगइए केवलज्ञानं नो उप्पाडेज्जा ।

[आघवेज्ज चि] आग्राहयेच्छिष्यानर्थापयेद्वा, प्रतिपादनतः पूजां प्रापयेत् । [पञ्चवेज्ज चि] प्रज्ञापयेद् भेदमणनतां बोधयेद्वा । [पुरुवेज्ज चि] उपपत्तिकथनतः [णऽसत्थएगणाएण व चि] न इति योऽयं निषेधः, सोऽप्यत्र एकज्ञानादेकमुदाहरणं वर्जयित्वेत्यर्थः; तथाविधकल्पत्वादस्येति । [एगवागरणेण व

चि] एकव्याकरणादेकोत्तरादित्यर्थः । [पञ्चवेज्ज व चि] प्रवाज-येद् रजोहरणादिव्यलिङ्गदानतः । [मुंदावेज्ज व चि] मुण्डयेत् शिरोमुञ्चनतः [उवपेसं पुण करेज्ज चि] अमुप्य पार्श्वे प्रव्रजेत्यादिकमुपदेशं कुर्यात् । “ सदावईत्यादि ” शब्दापातिप्रभृतयो यथाक्रमं जम्बूद्वीपप्रक्षुप्त्यभिप्रायेण हैमवतहरिवर्परम्यकैरण्यवतेषु, केवसमासाभिप्रायेण तु हैमवतैरण्यवतहरिवर्परम्यकैषु प्रवन्ति, तेषु च तस्य भाव आकाशगमनद्विधसंपन्नस्य तत्र गतस्य केवलज्ञानोत्पादसद्भावे सति [साहरणं पडुच्च चि] देवेन नयनं प्रतीत्य [सोमणसवणे चि] सौमनसवनं मेरौ तृतीयं [पंगुगवणे चि] मेरौ चतुर्थं (गट्टए व चि) गते निम्ने भूजागे अधोश्लोकग्रामादौ (दरीए व चि) तत्रैव निम्नतरप्रदेशे (पायाझे व चि) महापातालकलशे ध्वज्यामुखादौ (भवणे व चि) जवनवासिदेवनिवासे (पण्डरससु कम्मभूमीसु चि) पञ्चभरतानि पञ्चैरवतानि पञ्च महाविदेहा इत्येवंलक्षणसु कर्माणि कृपिवाणिज्यादीनि तत्प्रधानभूमयः कर्मभूमयस्तासु (अट्ठाइ इत्यादि) अर्के तृतीयं येषां तऽद्वैतृतीयाः, ते च ते द्वीपाश्चेति समासः, अर्कतृतीयद्वीपाश्च समुद्रौ च तत्परिमितावर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्राः, नेपां, स चासौ विवक्षितो देशरूपो भागोऽंशोऽर्कतृतीयद्वीपसमुद्रतदेकदेशभागः, तत्र ।

अनन्तरं केवल्यादिवचनाश्रयणे यत्स्यात् तदुक्तम्, अथ तच्छ्रवणे यत्स्यात्तदाह—

सोच्चा णं जंते ! केवलस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलपिषत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए ? गोयमा ! सोच्चा णं केवलस्स वा० जाव अत्येगइए केवलपिषत्तं धम्मं एवं जा चेव असोच्चाए वत्तवया, सा चेव सोच्चाए वि भाणियव्वा, नवरं अभिज्ञावो सोच चि, सेसं तं चेव णिरवसेसं० जाव जस्स एं मणपज्जवणाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे भवइ, जस्स एं केवलणाणावरणिज्जाणं कम्माणं खए कमे जवइ, से एं सोच्चा केवलस्स वा० जाव उवासियाए वा केवलपिषत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए; केवलं वोहिं वुज्जेज्ज० जाव केवलणाणं उप्पाडेज्जा, तस्म एं अट्ठमं अट्ठमेणं अणिकित्तेणं तवोकम्मणं अण्णाणं जावे-माणस्स पगइभइयाए तहेव० जाव गवेसणं करमाणस्स ओहिणाणे समुप्पज्जइ, से एं तेणं ओहिणाणेणं समुप्पएणेणं अंगुलस्स असंखेज्जभागं उक्कोसेणं असंखेज्जाइ अट्ठाए होअप्पमाणमेत्ताइ खंदाइ जाणइ पासइ । से एं जंते ! कइसु होस्सासु होज्जा ? गोयमा ! छसु होस्सासु होज्जा । तं जहा—कएहलस्साए० जाव सुकझेस्साए । से णं जंते ! कइसु एाणेषु होज्जा ? गोयमा ! तिसु वा चउसु वा होज्जा, तिसु होज्जमाणे तिसु आभिणिबोहियणाणसुअणाणओहिणाणेषु होज्जा, चउसु होज्जमाणे आभिणिबोहियणाणसुअणाणओहिणाणमणपज्जवणाणेषु होज्जा । से एं जंते ! किं सजोगी होज्जा ? एवं, जोगोवओगो संवयणसंठाणं उच्चत्तं आयं च, एयाणि सव्वाणि जहा असोच्चाए तहेव

अथ जिनकल्पकस्यापि विशेषमाह-
जिणकप्पिया य तहियं, किंवि तिगच्छं पि ते न कारिति ।
निप्पक्किम्मसरीरा,अवि अच्छिमहं पि नऽवण्णंति । ६३१।
जिनकल्पिकाश्च यथाब्रह्मिन्द्रकाः, तदा कल्पकाले मारुणान्तिकेऽ-

भाणियन्वाणि । से णं जंते ! किं सवेदं पुच्छा ! गोयमा !
सवेदं वा होज्जा, अवेदं वा होज्जा । जइ अवेदं वा
होज्जा, किं उवसंतवेदं, खीणवेदं होज्जा ! गोयमा !
णो उवसंतवेदं होज्जा खीणवेदं होज्जा । जइ सवेदं
होज्जा किं इत्थीवेदं होज्जा पुच्छा ! गोयमा ! इत्थी-
वेदं वा होज्जा, पुरिसवेदं वा होज्जा, पुरिसणपुंस-
गवेदं वा होज्जा । से णं भंते ! सकसाई होज्जा, अक-
साई होज्जा ? । गोयमा ! सकसाई वा होज्जा, अकसाई
वा होज्जा । जइ अकसाई होज्जा, किं उवसंतकसाई
होज्जा, खीणकसाई होज्जा ! गोयमा ! णो उवसंतकसाई
होज्जा, खीणकसाई होज्जा । जइ सकसाई होज्जा से णं
भंते ! कइसु कसाएसु होज्जा ! गोयमा ! चउसु वा तिसु
वा दोसु वा एकस्मि वा होज्जा, चउसु होज्जमाणे चउसु
संजलणकोहमाणमायालोनेसु होज्जा, तिसु होज्जमाणे
तिसु संजलणमाणमायालोनेसु होज्जा, दोसु होज्जमा-
णे दोसु संजलणमाणमायालोनेसु होज्जा, एगस्मि होज्ज-
माणे एगस्मि संजलणमाणे होज्जा । तस्स णं जंते ! के-
वइया अज्जवसाणा पस्सात्ता ! गोयमा ! असंखेज्जा, एवं
जहा असोच्चाए तदेव० जाव केवलणाणं समुणज्जइ ।
से णं जंते ! केवलपस्सत्तं धम्मं आघवेज्ज वा पस्स-
वेज्ज वा परूवेज्ज वा ? । इता गोयमा ! आघवेज्ज वा पस्स-
वेज्ज वा परूवेज्ज वा । से णं जंते ! पव्वावेज्ज वा मुं-
जंते ! सिज्जइ पुज्जइ० जाव अंतं करेइ । तस्स णं जंते !
सिस्सा वि सिज्जंति० जाव अंतं करेति ? । इता सिज्जं-
ति० जाव अंतं करेति । तस्स णं जंते ! पसिस्सा वि सि-
ज्जंति ? । एवं वेव,० जाव अंतं करेति । से णं जंते ! किं
उहं होज्जा, अहे वा ? । जहा असोच्चाए० जाव तदेकदेस-
भाए होज्जा । से णं जंते ! एगसमएणं केवइया होज्जा !
गोयमा ! जहूखेणं एको वा दो वा तिसि वा, उकोसेणं
अट्टसयं, से तेण्ड्रेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ, सोच्चा णं के-
वलस्स वा० जाव केवलिव्वासियाए वा० जाव अत्थेग-
इया केवलणाणं उप्पामेज्जा, अत्थेगइया केवलणाणं णो
उप्पामेज्जा ॥

(सोच्चाणमित्यादि) अथ यथैव केवलयादिवचनाअवणावास-
वोध्यादेः केवलज्ञानमुत्पद्यते, न तथैव तच्छ्रृणवाप्तवोध्यादेः, कि-
न्तु प्रकारान्तरेणेति दर्शयितुमाह—“ तस्स णमित्यादि ” [तस्स
सम्यग्दर्शनचारित्र्यसिद्धस्य “अहमं अहमेण” इत्यादि च यदु-
क्तं, तत्प्रायो विरुद्धतपश्चरणवतः साधोरवधिज्ञानमुत्पद्यत इति
ज्ञापनार्थमिति ।] [लोयप्पमाणमेत्ताई ति] लोकस्य यत्प्रमाणं मा-
त्रा, तदेव परिमाणं येषां तानि तथा । अथैनमेव वेदयादिनिर्निरु-

पयन्नाह—[से णं जंते ! इत्यादि] तत्र [से णं ति] सोऽनन्तरो-
कविशेषणोऽवधिज्ञानी [उसु लेसासु होज्ज सि] यद्यपि भाव-
इयाः प्रतीत्य पदस्यपि वेदयासु भवते, तथापि द्रव्यले-
“सम्मत्तसुयं सव्यासु लज्ज सि” तद्वाच्ये चासौ पदस्यपि जव-
तीत्युच्यत इति । [तिसु व सि] अवधिज्ञानस्याऽऽद्यज्ञानद्वयावि-
नाचूतत्वादधिकृतावधिज्ञानी त्रिषु ज्ञानेषु भवेदिति । [चउसु वा
होज्ज सि] मतिभूतमनःपर्यवज्ञानिनोऽवधिज्ञानोत्पत्तौ ज्ञानचतु-
ष्टयजावाच्यतुर्गुं ज्ञानेस्वधिकृतावधिज्ञानी जवेदिति । [सवेयप वे-
त्यादि] अन्तःखेदस्यावधिज्ञानोत्पत्तौ सवेदकः सन्नवधिज्ञा-
नी भवेत्, खीणवेदस्य वाऽवधिज्ञानोत्पत्ताववेदकः सन्नवधिज्ञा-
त [नो उवसंतवेयप होज्ज सि] उपशान्तवेदोऽयमवधिज्ञानी न
भवति, प्राप्तव्यकेवज्ञानस्यास्य विवक्षितत्वादिति । [सकसाई
वेत्यादि] यः कपायकये सत्यवधि लभते स सकपायी सन्नवधि-
ज्ञानी भवेत्, यस्तु कपायकयेऽसावकपायीति [चउसु वेत्या-
दि] यद्यक्कीणकपायः सन्नवधि लभते तदाऽयं चारित्र्ययुक्तत्वाच्च-
तुर्गुं संज्वन्नकपायेषु जवति । यदा तु कपकभेणिवर्तित्वेन सं-
ज्वलनक्रोधे क्कीणोऽवधि लभते, तदा त्रिषु संज्वन्नमानादिषु,
यदा तु तथैव संज्वलनक्रोधमानयोः क्कीणयोस्तादा द्वयोः, एवमे-

भगवतीनवमशतकोक्तोऽधुत्वाकेवही धर्मोपदेशं दत्ते न वे-
त्यत्र एकं ज्ञानं एकं प्रश्नं च युक्त्वा धर्मोपदेशं न दत्ते इति
तत्रैवोक्तमस्तीति । ३१० २ प्रका० ।

असोणिय-अशोणित-वि० । अरुधिप्पाते, पञ्चा० १६ विव० ।
असोम्मगाहचरिय-असौम्यग्रहचरित-न० । हरग्रहचारे, प्र-
अ० २ आअ० द्वार ।

असोयणया-अशोचनता-स्त्री० । शोकानुत्पादने, पा० ध० १० ।
असोहिट्ठाण-अशोधिस्थान-न० । कुशीसंसंख्याम, ओध० ।

अस्स-अश्व-पुं० । घोटे, दश० १ अ० । तं० । प्रका० । अश्विनी-
नक्षत्रदेवतायाम्, ज्यो० १५ पाहु० । सू० प्र० । “दो अस्सा”
स्या० १ डा० १ उ० ।

अस्व-पुं० । न विद्यते स्वं इव्यमस्य सोऽयमस्वः । निर्ग्रन्थे,
आचा० २ धु० १ अ० १ उ० ।

अस्सकस-अश्वकर्ष-पुं० । अश्वमुखस्य परतोऽन्तर्हीपे, नं० ।
अस्सकसी-अश्वकर्षी-स्त्री० । कन्दमेदे, म० ७ श० २ उ० ।
जी० । प्रका० ।

अस्सकरण-अश्वकरण-न० । यत्राऽश्वानुद्दिश्य किञ्चित् क्रियते
तस्मिन् स्थाने, आचा० २ धु० १० अ० ।

अस्साचोरग-अश्वचोरक-पुं० । घोटकचौदे, प्रका० ३ आअ० द्वार ।

अस्सतर-अश्वतर-पुं० । एकसुर [सुचर] मेदे, प्रका० १ पद ।

अस्समुह-अश्वमुख-पुं० । आदर्शमुखस्य परतोऽन्तर्हीपे, प्रका०
१ पद । नं० । (‘अंतरदीव’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६८ पृष्ठेऽ-
स्य वर्णक उक्तः) अश्वकारमुखे पुरुषाकाराऽन्याङ्गे च कि-
शरे, वाच० ।

प्यानद्धे समुत्पन्ने, न कामपि चिकित्सां ते कारयन्ति, तथाक-
ल्पस्थितेः । अपि च-निष्पन्निकर्मशरीराः प्रतिकर्मरहितदेहास्ते
जगन्वन्तस्तत आस्तां तावदन्यत्, अक्षिमलमपि नापनयन्ति, अ-
प्रमादातिशयादिति ।

थेराणं नाणत्तं, अतरंति अपिण्णंति गच्छस्म ।

ते वि य से फासुएणं, करिंति सब्बं पि पान्कम्मं ॥६३॥

स्वविरकल्पिकयथास्त्वान्दिकानां जिनकल्पिकयथालान्दिकेभ्यो ना-
नात्वं भेदः, यथा अशक्नुवन्तं व्याधिवाधितं सन्तं स्वसाधु-
मर्थयन्ति गच्छस्म गच्छवासिसाधुसमूहस्य सक्रीयं पञ्चफग-
णपरिपूर्णाथं च तस्य स्थाने विशिष्टधृतसंहननादिसमन्वित-
मन्यं मुनिं स्वकल्पे प्रवेशयन्ति । तेऽपि च गच्छवासिनः साध-
यः (स चि) तस्य अशक्नुवतः प्राशुकेन निरवयेनाक्षपना-
दिना कुर्वन्ति सर्वमपि परिकर्म प्रतिजागरणमिति ।

किञ्च—

एकेकपरिगृहगा, सप्पाउरणा ह्वंति थेराओ ।

जे पुण सिं जिणकप्पे, जावे सिं वत्थपायाणि ॥६३॥

स्वविरकल्पिका यथालान्दिका अवश्यमेव एकैकपतद्ग्रहकाः
प्रत्येकमेकैकपतद्ग्रहधारिणः, तथा सप्पाउरणाश्च जयन्ति । ये
पुनरेषां यथालान्दिकानां जिनकल्पे भविष्यन्ति, जिनकल्पिक-
यथालान्दिका इत्यर्थः । जावे तेषां वरप्रपात्रे सप्पाउरणाः प्राव-
रणपतद्ग्रहधारिणाणां भवेद्विभक्तभाविजिनकल्पापेक्षया के-
पांचिद्वरप्रपात्रलक्षणमुपकरणं जयति, केषां च नेत्यर्थः । प्रव०
३० द्वार । वृ० ।

अथ सामान्येन यथालान्दिकप्रमाणमाह—

गणमाणओ जह्वा, तिज्जि गण सयगसो य उक्कोसा ।

पुरिसपमाणे पनरस, सहस्ससो चेव उक्कोसो ॥ ६३४ ॥

गणमानतो गणमाश्रित्य जघन्यतस्त्रयो गणाः प्रतिपद्यमान-
का जयन्ति । शताग्रशश्च शतपृथक्त्वमुत्कृष्टतो गणमानं, पुरुष-
प्रमाणं त्वेतेषां प्रतिपद्यमानकानां जघन्यतः पञ्चदश, पञ्चको
हि गणोऽमुं कल्पं प्रतिपद्यते । गणश्च जघन्यतस्त्रयः, ततः
पञ्चमिर्गुणिताः पञ्चदश, उत्कृष्टतः पुनः पुरुषप्रमाणं सहस्रशः
सहस्रपृथक्त्वम् ।

पुरुषप्रमाणमेवाश्रित्य पुनर्विशेषमाह—

पडिवज्जमाणगा वा, इकाइ हवेज्ज ऊणपक्खे वि ।

होति जह्वा एए, सयगसो चेव उक्कोसा ॥ ६३४ ॥

पुव्वपन्निवन्नगाण वि, उक्कोसजह्मसो परीमाणं ।

कोन्निपहुत्तं जणिणं, होइ अहलंदियाणं तु ॥६३५॥

प्रतिपद्यमानका एते जघन्यत एकादयो वा प्रवेयुर्न्यूनप्रक्षेपे स-
ति, यथालान्दिककल्पे हि पञ्चमुनिमयो गच्छः, तत्र च यदा ग्वान-
त्वादिकारणवशतां गच्छसमर्पणादिना तेषां न्यूनता भवति त-
दैकादिकः साधुस्तं कल्पं प्रवेक्ष्यते, येन पञ्चको गच्छो भवति, एवं
जघन्यापत्तेः प्रतिपद्यमानकास्तथा शताग्रश उत्कृष्टाः प्रतिपद्य-
मानका एवेति ॥६३४॥ पूर्वप्रतिपत्तानामपि सामान्यनोत्कृष्टतो ज-
घन्यतश्च परिमाणं कोटिपृथक्त्वं जगितं प्रवति यथालान्दिकानाम् ।
उक्तं च कल्पचूर्णौ—“पडिवज्जमाणगा जह्मणेणं तिज्जि गणा, उक्को-
सेणं सयपुहत्तं गणाण पुरिसप्पमाणेणं पन्निवज्जमाणगा, जह्मणेणं
२१८

पधरस पुरिसा उक्कोसेणं सहस्सपुहत्तं पुव्वपन्निवन्नगाणं जह्म-
णेणं कोन्निपुहत्तं, उक्कोसेणं वि कोन्निपुहत्तमिति” । केवलं जघ-
न्यादुत्कृष्टं विशिष्टतरं हेयमिति । प्रव० ७० द्वार । वृ० ।

अथ गच्छप्रतिषेधकयथालान्दिकद्वारमाह—

पडिवज्जे को दोसां, आगमणेगागिणस्स वासासु ।

सुपसंघयणादीओ, सो चेव गमो निरवसेसो ॥

प्रतिषेधनं प्रतिषेधः, गच्छप्रतिषेध इत्यर्थः । तत्र कारणे यथा-
लान्दिकानां च वक्तव्यं (को दोसस्ति) को नाम दोषो भवति य-
त्ते यथालान्दिका आचार्याधिष्ठितं क्षेत्रं न तिष्ठन्ति । (आगमणेगा-
गिणस्सति) यथाचार्याः स्वयं क्षेत्रवहिरंगन्तुं न शक्नुवन्ति तत
एकाकिनो यथालान्दिकस्यागमनं भवति (वासासु स्ति) वर्षासु
उपयोगं दत्त्वा यदि जानाति वर्षं न पतिष्यति तत आगच्छति; भ-
न्यथा तु नेति । श्रुतसंहननादिकस्तु गमः स एव निरवशोपो व-
क्तव्यो यो जिनकल्पिकानाम्; यस्तु विशेषः स प्राग्वोक्तः ।

अथ प्रतिषेधपदं व्याख्यानि—

सुतत्थमावसेसो, पन्निवंधो तेसिमो जवे कप्पो ।

आयारिप किङ्कम्मं, अंतर वहिया य वसहीए ॥

सुत्रार्थस्तैर्गृहीतः परमद्यापि सावशेषो न संपूर्णः, एष तेषां ग-
च्छविषयप्रतिषेधः । तेषां चायं वक्ष्यमाणः कल्पो, यथा-आचा-
र्यस्यैव कृतिकर्म चन्दनकं दातव्यं, तथा-यथाचार्यो न शक्नोति
गन्तुं ततोऽन्तरा वा प्रामस्य, वहिर्वा वसतौ, यथालान्दिकस्य
वाचनां ददाति । एतच्चूत्तरत्र भावयिष्यते ।

अथ को दोष इति द्वारं शिष्यः पृच्छति । यथाऽऽचार्यधि-
ष्ठितं क्षेत्रं ते तिष्ठेयुस्ततः को दोषः स्यात् ? उच्यते—

नमणं पुव्वभासा, अणमण दुस्सीलथप्पगासंका ।

आयच्छ कुकुरु त्ति य वादो दांगे ठिई चेव ॥

यथालान्दिकानां न वचंते आचार्यं मुक्त्वा अन्यस्य साधोः
प्रणामं कर्तुं, तथाकल्पत्वात् । ततस्ते क्षेत्रान्तस्तिष्ठन्तः पूर्वान्या-
साग्रमनं प्रणामं साधूनां कुर्युः, गच्छवासिनश्च यथालान्दिकान्
चन्दन्ते ते पुनर्यथालान्दिकास्मान् भूयो न प्रतिचन्दन्ते, ततस्तेपा-
मनमने द्वौको ग्राह्य-दुःशीला अशीलाः स्तम्भकल्पा अमी, य-
तोऽन्येषामित्थं चन्दमानानामपि न प्रतिचन्दनं प्रयच्छन्ति, न वा
कमप्यालापं कुर्वन्ति । गच्छवासिषु वा लोकस्य स्थाप्यकल्लानं
भवति-अवश्यं स्थाप्या दुःशीलत्वादचन्दनीयाः कृता अमी,
अन्यथा कथं न प्रतिचन्दन्ते । आत्मार्यका वा अमी येनाप्रतिचन्द-
मानानपि चन्दन्ते, कौकुण्डिका वा मातृस्थानकारिणोऽमी द्वौक-
पङ्क्तिनिमित्तमित्थं चन्दन्ते । एवं लोके वाद उपजायते, कारणैः
क्षेत्रवहिरस्तिष्ठन्ति । अपि च स्थितिरिव कल्प एवायममीणां, यत्
क्षेत्रान्यन्तरे न तिष्ठन्ति ।

अथामीपामेव कल्पमाह—

दोचि वि दाउं गमणं, धारणकुसलस्स देस्स वहि देइ ।

कङ्कम्मं चोलपट्टे, ओवग्गहिया निसज्जा य ॥

आचार्यः सूत्रार्थपौरुष्यौ द्वे अपि गच्छवासिनां दत्त्वा यथालान्दि-
कानां समीपे गमनं करोति, गत्वा च तत्र तेषामर्थं कथयति । अ-
थाचार्यो न शक्नोति नत्र गन्तुं ततो यस्तेषां यथालान्दिकानां मध्ये
धारणाकुशलोऽवधारणाशक्तिमान्, क्षेत्रवहिरन्तरा पङ्क्तिकायाः प्र-
त्यासन्ने भूनागे समायाति, तत्र च गत्वा आचार्यस्तस्यार्थं ददा-

अस्समेह-अश्वमेध-पुं० । अश्वो मेज्यते हिंस्यते ऽत्र । मेध-अश्व ।
यज्ञमेधे, वाच० । "यद् सहस्राणि युज्यन्ते, पशूनां मध्यमे ऽहनि ।
अश्वमेधस्य वचनाद्, न्यूनाणि पशुभिस्त्रिभिः ।" ॥ १ ॥ अनु० ।
विशे० । स्वा० ॥

अस्ससेण-अश्वसेन-पुं० । पार्श्वनाथस्य जिनस्य पितरि,
प्र० ११ द्वारा । आव० । चतुर्दशे महाप्रहे, चं० प्र० २० पाहु० ।
सू० प्र० । स्वा० ।

अस्साजदिसु-असादोदीर्ण-त्रि० । असादनेन कर्मणोदीरिते,
प्रश्न० ३ आश्र० द्वारा ।

अस्साएमाण-अस्वादयत्-त्रि० । ईपत्वादयति इक्षुज्जण्डादे-
रिव बहु त्यजति, म० १२ श० १ उ० । आवा० ।

अस्सात-अस्वाद-पुं० । रसनाऽऽह्लादके स्वादे, वृ० १ उ० ।

अस्सामित्त-अस्वामित्व-न० । निःसङ्गतायाम्, पं० च० ७ द्वारा ।

अस्साववोहितित्थ-अशवाववोधितीर्थ-न० । स्वनामव्याते
तीर्थे, ती० ।

नमिऊण सुव्वयजिणं, परोवयारिकरसिअमसिअरुई ।

अस्साववोहितित्थ-स्स कप्पमप्पं भणामि अहं ॥ १ ॥

"सिरिमुणिसुव्वयसामी उप्पअकेवल्लो विहरंतो एगयाए
इहपुराओ एगयाए ठाणगरयणिए सच्चिओअणाणि संघिअ पार-
अस्समेहजव्वेण जियसत्तुराइया निअसेणा-तुरंगमं सव्व-
लक्खणसंपन्नं होमिअं मुच्चिओ । इमो अइज्जाणाओ दुग्गहं
जादि त्ति पडिवाहेउं ज्ञानदेसमंडणे नम्मयानाईअहंकिए भ-
अमन्नयरे कोरिटवणं पत्तो । समवसरणे गया होआ वंदियं,
राया विगयाकडो आगम्म भगवंतं पणमिओ । इत्थंतरे सो इरी
सिच्छाप विहरंतो नियसपुरिसेहिं सभं तत्थागओ सामिणो क-
वमप्पडिक्कं पांसितो निअओ संजाओ । सुआ य धम्मदसणा ।
तेण भाणिओ अ सो पुव्वज्जवो भगवया । जहा पुव्वभवे इहेव जंबु-
द्वीवे भवरविदेहे पुक्खसविजए वंपाए नयरीए सुरासिओ ना-
म राया अहमासि, मज्झपरममिअं तुमं मइसारो नाम मंती
हुत्था । अहं नंदणगुरुपायमूत्रे दिक्खं पडिवाजिय पत्तो पाणय-
कपे । तत्थ वीसं सागरोवमाहं आउं परिपालित्ता तओ कुओ हं
तिथयरो जाओ । तुमं च उव्वज्जिअ नरामो भारहेवासे पउमि-
णिसंडनयरे सागरदत्तो नाम सत्थवाहो अहेसि मिच्छवि-
ट्टी विणीओ अ । अथया तुमए कारियं सिवाययणं, तप्पयण-
त्थं च आरामो रोविओ । भावओ अ एणे तस्स चिंताकरेण
निरत्तो, गुहआए से णं सव्वओ वि किरिआओ सव्वाविं-
तो तुमं काहं गमैसि, जिणधम्मनामपणं सावएणं तुज्ज आया
परमा मित्ती, तेण सई पगया गओ तुमं साहुसगासे । तेहिं हे-
सणंतरे भणियं-"जो कारवेइ पमिमं, जिणाण अंगुट्ठपव्वमिस-
मि । तिरिनरयगइउवारे, तूणं तेणअगला दिष्ठा" ॥ १ ॥ एवं सोऊण
तुमे गिहिमागंतूण कारिआ हेममई जिणिदपमिमा, पइट्ठाविऊण
तिसंणं पुइवमाढत्तो । तं अजविअहे संपत्ते माहमासे लिंगपूर-
णपव्वं आराहेउं तुमं सिधाययणं पत्तो । तओ जहाधारीहिं वि
रसं विअ धयं कुंभीओ उचरिओ लिंगपूरणत्थं । तत्थ लमाओ
धयपिपीलियाओ, जमिपहि निहयं पाएहिं महिजमायओ द-
ट्ठूण सिरं धुणित्ता सारिउं लमाओ तुमं । अहो ! एयसि दंसणीण
वि निहयया । अम्हारिस्सा गिहिणो चराया कहं जीवदयं पात्तइ-

स्संति ! तओ निअचेत्तं वलोहिं ताओ पउमजिया रुओ तुमं तेहिं
निज्जतिथरे धम्मसंकरकारयअरुहंतपासंभीहिं न विअविओसि
त्ति । तओ सो सव्वधम्मविमुहो जाओ, परमकिविणो धम्मर-
सिअं लोअं हंसंतो मायारं तेहिं तिरिआओ अवंधित्ता भवं म-
मिऊण जाओ तुमं रायवाइणं तुरंगमो । तुज्ज चैव पमियोइणत्थं
अम्हाण वि मित्थाणगमणं ति । सामिणो वयणं सुआ तस्स जायं
जाइस्सरणं । गहिआ य सम्मसमूलदेसविरई, पव्ववसायं
सचित्तं फासुअं तेण नीरं च गिरहइ, छम्मासे निव्वाहिअ
त्ति अ सो मरिऊण सोहम्मे महिद्धिओ सुरो जाओ । सो आहिणा
मुणिअ पुव्वज्जवं सामिसमोसरणठाणे रयणमयं चेइअमकासी ।
तत्थ सुव्वयसामिणो पाडिमं अप्पाणं च अस्सरुवं वाविअ गओ
सुराहयं । तओ अस्साववोहितित्थं तं पसिअं । सो देवो जत्तिअसं-
घविअहरणेणं तित्थं पत्तावितो कालेण नरजवे सिज्जिअइइ ।
काअंतरेण सउअिआविहाक त्ति तं तित्थं पसिअं । कहं ? इहेव ज-
बुद्वीवे सिहव्वदीव रयणदेसे सिरिपुरनयरे चंदमुत्तो राया । तस्स
चंदवेडा भारिआ । तीसे सत्तएहं पुत्ताणं वधिर नरदत्ता देवी
आगइयेणं सुदंसणा नाम धूआ जाया; अहं असकलविज्जा पत्ता
जुव्वणं । अथया अत्थाये पि उच्चंगरायाए तीसे धणेररो नाम
नेगमो नरअच्छाओ आगतो । विज्जपासच्चिअतियकुअगंधे वा-
णिए य ज्जीयं । तेण नमो अरइताणं ति पडिअं सोउं मुच्चिअ सा,
कुडिओ अ वाणियओ, पत्ते वेयणाए य जाइसरणमुवगया ए-
सा दट्ठूण धम्मवंधु त्ति मोइओ । रया मुच्छाकारणं पुच्चिआए
धीए भणिअं-जहाऽहं पुव्वभवे नरअच्छे नम्मयातीरे कोरिटव-
णे वरुपायवे सउलिआ आसी । पाउसे अ सत्तरत्तं महावुट्टी जा-
या । अउमदिणे हुहाकिसंता पुरे जमंती अहं वाहस्स धरंअणा-
ओ आमिसं धित्तुं उट्टीणा, वमीसहे निविछा य, अणुपयमाग-
एण चाहेण सरणे विआ, मुहाओ पडिअं पलं, सरं च गिणिइत्ता
गओ सोऽवट्ठाणं । तत्थ करुणं रसंती वव्वत्तणपरिअत्तणपरा दिट्ठा
एगेण सुरिणा, सित्ता य अलपत्तजलेणं, दिओ पंचनमुक्कारो सह-
दिओ अ मए । मरिऊण अहं तुम्ह धूआ जायं ति । तओ सा विस-
यविरत्ता महानिव्वेयेण पिअरे आपुच्चिय तेणेव संजत्तिएण स-
ई पडिआ वाइणाणं सत्तसएहिं भरअच्छे, तत्थ पोअसयं व-
त्थाणं पोअसयं दव्वनिचयाणं, एवं चंदणागदकाणं धअज्जलिं
धणाणं नाणाविदपक्कअत्ताणं, पहरणाणं एवं छसया पोआणं
पणासं, सत्थधराणं पणासं पाहुडाणं, एवं सत्तसयवाहण-
जुत्ता पत्ता समुदतीरे । तओ रया तं वाहनवूहं सिहवे-
सरअवक्खेदसंकिष्ठा मज्जिआए सेणाए पुरक्खोभनिवा-
रयाय गंतुं पाहुउं च दाउं सुदंसणाआगमणेणं विअत्तो
रावा तेण संजत्तिएण । तओ सो पव्वोणीए निमाओ । पाहुमं
दाऊण पणमिओ । कप्पाए य वेसमइसवो अ जाओ । दिअं तं च-
इमं, विहिणा वंदिअं पूइअं च, तित्थोववासो अ कओ, रया दि-
खे पासा पच्चिआ रायणा य अट्ट वेलाउअइ अउसया गामाणं
अट्टसया वप्पाणं अट्टसया पुराणं दिएणा, एगदिने अ जत्तिअं
भूमि तुरंगमो चरइ, तत्तिअं पुव्वदिसाए, जत्तिअं व हत्थी जाइ,
तत्तिआ पच्चिमाए दिएणा । उवरोहेण सव्वं पमिवरणं । अथया
तस्सेवायरियस्स आसे निअपुव्वभवं पुच्छइ । जहा-भयदं केण
कम्मुणा अहं सउलिआ जाया, कहं च तेण वाहेण अहं निहय-
त्ति । आयरिपहिं मणिअं-अहे ! वयंकुपव्वए उत्तरसेदीए सुरम्मा
नाम नयरी । तत्थ विज्जाहरिदो संखो नाम राया । तस्स विज्जया-
मिहाणा तुमं धूआ आसि । अथया वाहिणसेट्ठीए महिसगामे

ति । स च श्रुतमन्त्रिहेनोराचार्याणां कृतिकर्म बन्दनं कृत्वा चोल-
पट्टकाद्वितीय औपग्रहिक्यां निपद्यायामुपविष्टश्चार्थं शृणोति ।

अथ " दंष्ट्रि वि दाडं गमणं " इत्येव दर्शयन्नाह-

अत्थं दो च अदाडं, वड्ड वायावए व अवेणं ।

एवं ता उडवप्पे वामासु य काउमुवओगं ॥

यथाचार्यो द्वे अपि पौरुष्यौ दत्त्वा गन्तुं न शक्नोति ततोऽर्थ-
मदत्त्वा, तथाऽप्यशक्तो द्वावपि सूत्रार्थवदत्त्वा व्रजति, अन्येन
वा शिष्येण स्वशिष्याद् वाचयति वाचनां दापयति । अथाचार्य-
स्त्वथ गन्तुमशक्तस्ततो यथाज्ञानिकः सूरिसमीपमायाति, एवं ता-
वत् श्रुतवद्धे कृष्यम् । वर्षासु, चरव्यः पुनरर्थः । वर्षासु पुनरर्थं वि-
शेषः-उपयोगं कृत्वा किं वर्षं पतिष्याति नवेति विमृश्य यदि
जानाति पतिष्याति ततो न आचार्याणां समीपमायाति ।

अथ गुरवस्तत्र गताः कथं समुद्दिशन्तीत्याह-

संधामो मग्गेणं, जत्तं पायं च नेइ उ गुरुणं ।

अच्छुएहं थेरा वा, तो अंतरपड्डिए एइ ॥

गुरुणां यथालौकिकसमीपमुपगतानां योग्यं जत्तं पानं च गृ-
हीत्वा संघाटको मार्गेण पृष्ठतो गत्वा गत्वा तत्र नयति । अथ या-
चना कालेन यथाज्ञानिकानामुपश्रयं गुरुवो व्रजन्ति तावता, अ-
त्युष्णमता वा तपश्चरन्ति, स्थविरा वा वार्त्तिकवयःप्राप्तान्ते
आचार्यास्ततोऽन्तरपड्डिकायामेको यथाज्ञानिको धारणासं-
पन्नः समायाति, तत्र गुरुवोऽपि गत्वा तस्य वाचनां दत्त्वा
संघाटकेनाऽऽनीतं भक्तपानं समुद्दिश्य संध्यासमये मूलक्षे-
त्रमायान्ति ।

अथाऽन्तरपड्डिमपि गन्तुमसमर्था गुरवः, ततः किमित्याह-

अंतरपड्डिवसत्ते वा, विइयंतर वाडि वसज्जगामस्स ।

अन्नाए वसहीए, अपरीजोगम्मि वाएइ ॥

अन्तरपड्डिकाप्रतिवृत्तप्रभामयोरन्तराद्वे गत्वा यथाज्ञानिकं वा-
चयति, तत्र गन्तुमशक्तो प्रतिवृत्तप्रभामे, अथ तत्रापि गन्तुं न श-
क्नोति ततो (विइयंतरं ति) द्वितीयं प्रतिवृत्तमूलक्षेत्रयोरपान्त-
राजलक्षणं यदन्तरं तत्र गत्वा वाचनां प्रयच्छति, तत्रापि गमना-
शक्तौ वृत्तप्रभामस्य मूलक्षेत्रस्य बहिर्विजने प्रदेशे गत्वा वाच-
यति, यदि तत्रापि गन्तुं न प्रभविष्युः ततो मूलक्षेत्रं पवान्यस्यां
वसतौ, तत्रापि गन्तुमशक्तौ तस्यामेव मूलवसतौ अपरिमोक्षे
अवकाशे वाचयति ।

तत्र चेयं सामाचारी-

तस्स जई किइकम्मं, करिंति सो पुण न तेसि पकरेइ ।

जा पड्ड ताव गुरुणो, करेइ न करेइ उ पेणं ॥

तस्य यथालौकिकस्य यतयो गच्छन्नासिनः साधवः कृतिकर्म
कुर्वन्ति स पुनर्यथालौकिकस्तेषां गच्छन्नासिनां कृतिकर्म न
करोति, यावच्च पठति अर्थशेषमधीते गुरोरपि तावदेव क-
रोति, परतस्तु न करोति, तथाकल्पत्वात् ।

अमीपामेव मासकल्पविधिमाह-

एको मासविचारो, हवंतऽज्ञाज्ञंदियाण क्कम्मापा ।

मासो विभज्जमाणो, पणणेण उ निडिओ होइ ॥

यदि मूलक्षेत्रस्य बहिरेको ग्रामः सविचारः सविस्तरो वर्तते,
आह च चूर्णिकृतः-“ सविचारो चि विस्तृतः ततस्तस्मिन्

ग्रामे पद् वीथीः परिकल्प्य यथालौकिका एकैकस्यां वीथ्यां पञ्च
पञ्च दिवसान् भिक्षामटन्ति तस्यामेव च वीथ्यां वसतिमपि गृ-
ह्णन्ति” । एवं प्रतिवीथ्यां ' पणणेण ' रात्रिदिवपञ्चकेन मासो
विभज्यमानः सन् पञ्चिरहोरात्रपञ्चकैर्निष्ठितः सम्पूर्णो भवति ।
अथ नास्ति विस्तीर्णो ग्रामस्ततो (हवंतऽज्ञाज्ञंदियाण क्कम्मापा
इति) मूलक्षेत्रपार्श्वतो ये लघुतरा पद् ग्रामा भवन्ति, तेषु प्रत्येकं
पञ्च पञ्च दिवसान् पर्यटतां यथालौकिकानां तथैव परस्परिहो-
रात्रपञ्चकैर्मासः परिपूर्णो जवतीति । वृ० १ उ० ।

अहालदुस्सय-यथालघुस्वक-न० । यथेति यथोचितानि लघु-
स्वकानि अमहास्वरूपाणि, महतां हि तेषां नेतुं गोपयितुं वा श-
क्यत्वादिति यथालघुस्वकानि । अथवा लघूनि महान्ति वरि-
ष्ठानीति च वृक्षाः । अमहास्वरूपेषु, म० । " देवाणं अहालदुस-
गाइ रयणाइ हंता अत्थि” । म० ३ श० २ उ० । अनेकान्तलघुके
वीणाग्रहणग्राह्ये, व्य० ७ उ० । स्तोके, व्य० ।

यथालघुस्वकादिव्यवहारप्रकरणमाह-

गुरुओ गुरुस्सतरगो, अहागुरुस्सो य होइ ववहारो ।

लहुसो लहुस्सतरगो, अहालहुस्सो य होइ ववहारो ॥

एणमि पच्छित्तं, वुच्छामि अहाणुप्पवीए ।

व्यवहारविधिः । तद्यथा-गुरुको गुरुस्वतरको यथागुरुस्वक-
श्च । तत्र यो गुरुकः स त्रिविधः । तद्यथा-लघुशो लघुस्वतरको
यथालघुस्वकश्च । एतेषां व्यवहाराणां, यथानुपूर्व्यां यथोक्तपरि-
पाट्या, प्रायश्चित्तं वक्ष्यामि । किमुक्तं जवति ? एतेषु व्यवहारेषु
समुपस्थितेषु यथापरिपाट्या प्रायश्चित्तपरिमाणं अभिधास्ये ।

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति-

गुरुगो य होइ मासो, गुरुगतरगो चउम्मासो ।

अहगुरुओ ढम्मासो, गुरुगयपक्खम्मि पक्खिक्की ॥

गुरुको नाम व्यवहारो मासो मासपरिणामः, गुरुके व्यवहारो
समापिते मास एकः प्रायश्चित्तं दातव्य इति ज्ञातः । एवं गुरु-
तरको भवति चतुर्मासपरिमाणः । यथागुरुकः षण्मासः, षण्-
मासपरिमाणः । एषा गुरुकपक्के गुरुकव्यवहारे त्रिविधे यथा-
क्रमं प्रायश्चित्तप्रतिपात्तिः ।

सम्प्रति लघुस्वकव्यवहारविधयं प्रायश्चित्तप्रमाणमाह-

तीसा य पप्पवीसा, पप्परसे पप्पवीसा य ।

दस पंच य दिवसाइ, लहुसगपक्खम्मि पक्खिक्की ॥

लघुको व्यवहारविशेषः त्रिंशदिवसपरिमाणः । एवं लघुतरकः
पञ्चविंशतिदिनमानः । एषा लघुस्वकव्यवहारे त्रिविधे यथाक्रमं
प्रायश्चित्तप्रतिपात्तिः । यथालघुको व्यवहारः पञ्चदशपञ्चविं-
शतिदिवसप्रायश्चित्तपरिमाणः । एवं लघुस्वतरको दशदिवस-
मानः । यथालघुस्वकः पञ्च दिवसानि पञ्चदिवसप्रायश्चित्तानि
परिमाणः । एषा लघुस्वकव्यवहारपक्के प्रायश्चित्तपरिमाणप्र-
तिपात्तिः । व्य० २ उ० ।

सम्प्रति भाष्यकृत् यथालघुस्वकग्रहणं, तृतीयसूत्र-
गतमन्यतरग्रहणं च व्याख्यानयति-

दुविहो य अहालदुस्स, जहम्मओ मज्झिमो य उवहीओ ।

अन्नयरगाद्वेणेण उ, वेप्पइ तिविहो उ उवहीओ ॥

वधंतीए तुमए नईतडे कुक्कुडसप्पो दिठो । सो य रोसवसेणं तए सारिओ । तथ नईए तीरे जिणापयणं दूण धंदिअं भयव-
ओ विवं परमजातिपरवसाए तुमए । जाओ परमाणंदो । तओ चेइयाओ निग्गच्छंतीए तुमए दिट्ठा एगा परिस्समखिन्ना साहुणी । तीए पाए धंदिता धम्मघोहिआ अज्जाए तुमं । तुमए वि तीसे विस्सामणाईहिं सुस्सुसा कया, चिरं गिहमायया । का-
लेण कालधम्मं पवणा अट्टज्झाणपराइया कोरंटयवणे सउणी जाया तुमं । सो अ कुक्कुडसप्पो मरिक्खण बादो संजामो । तेण पुब्ब-
वेरेण सउणीभवे तुमं वायेणं पइया । पुब्बभवकयाए जिणम-
त्तीए, गित्ताणमुस्सुसाए अ ग्रंते बोदिं पत्तासि तुमं । संपयं पि कुणलु जिणप्पयीअं दाणाइधम्मं ति । एवं शुरुणं वयणं सुखा सज्वं तं दव्वं सचखितीए पि वेइ । चेइअस्स उकारं कोइ । उ-
व्वीसं च देवकुलयाओ पोसइसात्ता-दानसात्ता-अज्जयणसात्ता-
ओ कोइ । अओ तं तित्थं पुब्बभवनामेणं सउत्तिआविहारं पि भइइ । ग्रंतो य संलेहणं दव्वभावमेयभिअं फाडं कयाणसणा सा वइसादे सुउपंचमीए ईसाणं देवज्ञाणं पत्ता । सिरिसुव्वयसा-
मिसिद्धिगमणाणंतरे इकरसेहिं लक्खेहिं चुजसीइसइस्सेहिं च-
उसयसउरेहिं च वासाणं अईएहिं थिज्जाहिं व्व संवउरो पयट्ठो । जीवंतसुव्वयसामिअविक्खाए पुण एगारसलक्खेहिं अघावीसुणपंचणवइसइस्सेहिं च वासाणं चिकमो भार्वा । एसा सउत्तिआविहारस्स उपपत्ती । लोइअतिस्थाणि अयेगाणि भवअत्थे वट्ठनि । फंमेण उदयपुजे वाहमदेवेण सिचुंजय-
पासायउकारकारिए, तदयुजेण अयडेण पुणइत्थ सउत्तिआवि-
हारस्स उकारो कारिओ । मिच्छदिटीए सिधवादेवीए अंभ-
उस्स पासायसिहरे नयंतस्स उयसगो कमो । सो उ निवारिओ विज्जावलेण सिरिदेमचंदसूरीहिं । "अस्साववोह-
तित्थ-स्स एस कप्पो समासओ रइओ । सिरिजिणपइसूरीहिं, भ-
विपाई पटिज्जव तिकात्तं" ॥ १ ॥ अन्नावयोधकल्पः समाप्तः ॥
ती० १० कटप ।

अस्सावि (ए)-आस्साविण-त्रि० । आ समन्तात् जवति तच्छी-
ल आकाशी । सच्छिन्ने, सूत्र० । "जइ अस्साविणि नावं, जाइ अंधो दुरुहए ।" सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० ।

अस्सि-अत्ति-पुं० । चतुर्दिग्गिभागोपलक्षितासु कोटिषु, स्था० ६ ठा० ।

अश्विन्-पुं० । अश्विन्या देवतायाम्, स्था० २ ठा० २ उ० ।

अस्मिणी-अश्विनी-स्त्री० । नक्षत्रमेवे, जं० ७ वक्क० । स्था० । अनु० । अश्विन्या अश्वो देवता । सू० प्र० १० पाहु० । "अस्सि-
णी नक्खत्ते तितारे पणसे ।" स० ३ सम० ।

अस्सेसा-अस्सेपा-स्त्री० । नक्षत्रमेवे, जं० ७ वक्क० । विशेष० ।

अस्सोकंता-अश्वोत्कान्ता-स्त्री० । मध्यमग्रामस्य पञ्चम्या मूर्च्छनायाम्, स्था० ७ ठा० ।

अस्सोती-आरवयुजी-स्त्री० । अश्वयुजि भवाऽऽश्वयु जी । अ-
श्वयुक्मासजाविन्याममार्या, पौर्णमास्यां च । जं० प्र० १० पाहु० । सू० प्र० ।

अस्तवदि-अर्थपति-पुं० । "अर्थयोः स्तः" । ८ । ४ । २९१ । इति यंस्य स्तः । "पो वः । ८ । १ । २५१ । इति पस्य वः । धनिनि, प्रा० ४ पाद । हुं० ।

अइ-अय-अव्य० । आनन्तर्ये, प्रा० चू० ४ अ० । सूत्र० । नि० चू० । दश० । अनु० । क० प्र० । उपन्यासे, नं० । वक्क्यान्तरो-
पन्यासे, उच० ३ अ० । अवसानमङ्गलार्थे, सूत्र० १ भु० १६ अ० । वाक्योपन्यासे, आचा० १ भु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । उप-
प्रदर्शने, आचा० १ भु० ८ अ० १ उ० । उच० । पक्षान्तरद्योतने, ज० ५ श० ६ उ० । विकल्पे, जी० १ प्रति० । विशेषे, स्था० ७ ठा० । प्रक्रियादिष्वर्थेषु, यत उक्तम्-अथ प्रक्रिया प्रज्ञानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु । वृ० १ उ० । जी० । आ० म० । दश० । अनु० । स्था० । प्रश्न० । यथार्थे, प्रा० म० प्र० । वाक्यालङ्कारे, सूत्र० १ भु० ७ अ० । पादपूरणे, पञ्चा० १९ विव० ।

अधस्-न० । अधस्ताच्छब्दार्थे, आचा० १ भु० १ अ० ५ उ० । स्था० । सू० प्र० । जीवा० । अधोगतौ, "ग्रहो ज्विस्तं" प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अधोलोके, स्था० ३ ठा० ४ उ० । दिग्भेदे, स्था० ६ ठा० ।

अहं-अहम्-असदः सिना सहाऽहमादेशः । प्रा० । "ये णं मि अस्मिन्" ॥ ८ । ३ । १०७ ॥ इत्यादिष्वेण अस्मदोऽमा सहाह-
मादेशः । प्रा० ३ पाद । आत्मनिर्देशे, आ० म० प्र० । आच० ।

अहंकार-अहङ्कार-पुं० । महोऽहं, नमो ममामित्येवमहङ्कारम-
इहकारः । निजगुणेषु यदुमाने, विशेष० । ऐश्वर्यजात्यादिमद्वज-
निते अभिमाने, सूत्र० १ भु० ९ अ० । सुख्यहं न दुःखीत्येव-
मात्मनः प्रत्यये, सूत्र० १ भु० २ अ० । आ० म० । अहमिति स्वस्वजाघेनोन्मादपरे परभावकरणे कर्तृतात्वे, अष्ट० ४ अष्ट० । सूत्र० । अहं शब्देऽहं स्पर्शोऽहं गन्धोऽहं रूपोऽहं रसोऽहं स्वा-
मी अहमोऽहरोऽसौ भवा इतः, ससत्त्वोऽभुं इति न्यामीत्यादिप्रत्य-
यरूपे, स्था० १५ स्तो० । अभिमाने, आच० ३ अ० । यत्रान्तःकरणम-
हमित्युल्लेखनविषयं वेदयंतं । आ० २० ठा० । बुद्धिरवाहङ्कारव्या-
पारं जनयन्ती अहङ्कार इत्युच्यते । आ० ११ ठा० ।

अहङ्कम-यथाक्रम-अव्य० । यथापरिपाटि इत्यर्थे, दश० ४ अ० ।

अहक्खाय-अथा(यथा)ख्यात-न० । अथशब्दो यथार्थे, आह अभिविधौ, याथातथ्येन, अभिविधिना च यत् आप्यातं (कथितम-
कथायं चारित्रमिति) तदथाख्यातम् । यथा सर्वस्विन्न जीवल्लोके
ख्यातं प्रसिद्धमकथायं भवति चारित्रमिति तथैव यत् तद् य-
थाख्यातं प्रसिद्धम् । मा० म० प्र० । आर्थे यकारलोपः । प्रा० २ पाद । अकथाये चारित्र्ये, आ० चू० १ अ० । पञ्चा० । पं० सं० । विशेष० ।

अथ यथाख्यातं विवृण्वन्नाह-

अहससो जाहृत्ये, आहोऽभिधिहीए कहियमक्खायं ।

चरणमकसायमुदितं, तमहक्खायं नहक्खायं ॥ १२७ए ॥

अथेत्ययं याथातथ्यार्थे, आह अभिविधौ, ततश्च याथातथ्येना-
भिधिधिना वाऽऽख्यातं कथितं यदकथायं च चरणं तदथाख्या-
तम्, यथाख्यातं वा उदितमिति ॥ १२७ए ॥

एतच्च कतिविधमित्याह-

तं दुविगणं छउम-त्यकेवलिविहाणओ पुणेकेकं ।

खयसमज-मजोगाजो-गिकेवलिविहाणओ दुविहं ॥ २८० ॥

तच्च यथाख्यातचारित्रं उक्तमकेवलिसामिजेदात् द्विविधम् । कृश-
खसंबन्धि पुनपि द्विविधम्-मोहकयसमुत्थं तदुपशमप्रज्ञं च ।

यथात्रयुक्ते उपधिविधौ प्रवर्तते—अथन्यो मध्यमश्च । अन्यतरग्रहणेन तु त्रिविधोऽप्युपधिः परिगृह्यते । तदेवं कृता विषमपदस्याख्या भाष्यकृता । व्य० ६ उ० ।

अहावगास—यथावकाश—अव्य० । यो यस्यावकाशः यद्यस्योत्पत्तिस्थानम्—अथवा भूम्यभ्युत्थाऽऽकाशवीजसंयोगः, तदनतिक्रमे, सूत्र० । “तेसि च एं अहावपिणं अहावगासेनं स्थीप” । यथावकाशेनेति । यो यस्यावकाशो मानुस्तरकुक्ष्यादिकस्तथापि किल वामा स्त्रियो, दाक्षिणा कुक्षिः पुरुषस्याभ्याधितः पण्ड इति । अथ आधिभ्यस्ता योनिरविच्यस्तं योजमिति चत्वारो ज्ञाः । तथाप्याथ एव भङ्गक उत्पत्तेरवकाशो, न शेषेषु त्रिविधेति । सूत्र० २ भु० ३ अ० ।

अहावच—यथापत्य—पुं० । यथाऽपत्यानि तथा ये, ते यथापत्याः । पुत्रस्थानीयेषु, भ० ३ श० ६ उ० । कल्प० ।

अहावच्चाभिप्राय—यथापत्याजिज्ञात—त्रि० । यथाऽपत्यमेव अभिज्ञाता अवगतता यथापत्याजिज्ञाताः, अथवा—यथापत्याश्च तेऽभिज्ञाताश्चेति कर्मधारयः । पुत्रस्थानीयेष्वभिज्ञातेषु, भ० ३ श० ६ उ० ।

अहाविह—यथाविध—अव्य० । शास्त्रीयन्यायानतिक्रमे, द्वा० ७ द्वा० ।

अहासंखरु—यथासंखरु—न० । निष्कम्पे पट्टादौ, नि० चू० २ उ० ।

अहासंथड—यथासंस्तुत—न० । शयनयोग्ये, आचा० २ भु० २ अ० ३ उ० ।

यथासंस्कृत—न० । यत् तृणादि यथोपभोगाई भवति तथैव लक्ष्यते तस्मिन्, स्या० ३ वा० ४ उ० । आचा० ।

अहासंविभाग—यथा (आथा) संविभाग—पुं० । यथा सिद्धस्य स्वार्थं निर्धारितस्येत्यर्थः, अज्ञानादः समितिसङ्गतत्वेन पञ्चात्ममादिदोषपरिहारेण विभजनं साधये दानद्वारेण विनागकरणं यथासंविभागः । अतिथिसंविभागमते, उपा० १ भु० १ अ० । “अहासंविभागो नाम जादं अहाकर्मं देति तो साधुमहे प्रजति हेद्विद्वेदि संजममाणं हि उत्तारेति, तेन आहाकमेण सो अहासंविभागो प्रवर्तते । जो अहापवत्तानं अणुपाणवत्यओ-सहनेसज्जपीडफलगसेज्जासंधारगादीणं संविभागो सो अहासंविभागो भवति । फासु एसणिज्जं संविभागो चि भणियं हो” । आ० चू० ६ अ० । आधासंविभाग इत्यनुवदितव्यः । अस्यातिचाराः—“तथाऽणंतरं च णं अहासंविभागस्त पंच अहारा जाणियव्वा, न समापरियव्वा । तं जहा-सविच-निक्खेवणया ? सच्चित्तपेहणया ३ कात्ताइकमद्वाने ३ परोव-देशे मच्छरया ४ ” । उपा० १ अ० । (‘अहिंसंविभाग’ शब्दे-ऽस्मिन्नेव भागे ३४ पृष्ठे उक्तोऽस्य विस्तरः)

अहासच—यथासत्य—न० । याथातथ्ये, आचा० १ भु० ४ अ० २ उ० ।

अहासत्ति—यथाशक्ति—अव्य० । स्वशक्त्यौचित्ये, द्वा० २२ द्वा० । शक्त्यनुकूपे, पं० सू० ४ सू० । शक्त्यनुसारे, पं० सू० ३ सू० ।

अहासुत्त—यथासूत्र—अव्य० । सामान्यतः सूत्रानतिक्रमे, दशा० ७ अ० । स्या० । उपा० । द्वा० । सूत्रानुसारेणापादितसत्यताके, व्य० ९ उ० । सूत्राविरुद्धे, कल्प० ६ सू० ॥

अहासुह—यथासुख—अव्य० । सुखानतिक्रमे, द्वा० १ अ० ।

अहासुह—यथासूक्ष्म—त्रि० । सारं, भ० ३ श० १ उ० । “अहा-वायेर पुमले परिसानेह” । कल्प० २ क० ।

अहाह—अहाह—अव्य० । खेदे, संयोधने, आश्चर्ये, क्लेशे, प्र-कर्षे च । चाच० । प्रा० ।

अहि—अहि—पुं० । अरःपरिसर्पभेदे, उच० ३६ अ० । सर्पे, उच० ३४ अ० । द्वा० । सूत्र० ।

अथ भेदाः—

से किं तं अही ? । अही दुविधा पणत्ता । तं जहा-दब्बीकरा य, मडलिणं य ॥

अथ के ते अहयः ? । गुरुराह—अहयो द्विविधाः प्रज्ञाः । त-द्यथा—दर्वीकराश्च मुकुलिनश्च । तत्र दर्वीव दर्वी फणा, तत्क-रणशीला दर्वीकराः, मुकुलं फणाविरहयोग्या शरीरावयव-विशेषाकृतिः, सा चिद्यते येषां ने मुकुलिनः, फणाकरणशक्तिवि-कृता इत्यर्थः । अत्रापिच शब्दा स्वगतानेकभेदसूचकौ । प्रज्ञा० १ पद । आचा० । (दर्वीकरमुकुलजंदा स्वस्वस्थाने द्रष्टव्याः)

अहिअ—अहित—त्रि० । हिताऽकारिणः, स० ३० सम० ।

अहिअणियहि—अहितनिवृत्ति—स्त्री० । प्राणातिपाताद्यकरणे, पं० व० २ द्वार ।

अ (आ) हिआइ—अभिजाति—स्त्री०—पुं० । “अथयधमां ” । उ० १ । १=७ । इति भस्य ह । “कगवज०” । उ० १ । १७९ । इत्यादि-ना तजयोर्लुक् । “अतः समृद्धादौ वा ” । उ० १ । ४४ । इति अकारस्य दीर्घः । सत्कुलोत्पत्तौ, प्रा० १ पाद । पुं० १ पाद । अहिआहिअसंपत्ति—अधिकाधिकसंप्राप्ति—स्त्री० । वृद्धौ, पं० व० ४ चार ।

अहिउल—दद्—भा०—भस्मीकरणे, सक० “दहेरहिउलासुत्तौ” । १=४ । २=७ । इति ददधातोर्दहिउलादेशः । अहिउलइ, उहइ, दहवि । प्रा० ४ पाद ।

अहिंसअ—अहिंसक—त्रि० । अवधके, प्रभ० १ संव० द्वार ।

अहिंसण—अहिंसन—न० । अव्यापादने, ध० १ अधि० ।

अहिंसा—अहिंसा—स्त्री० । न हिंसाऽहिंसा । नि० चू० २ उ० । प्राणवियोगप्रयोजनव्यापाराभावे, द्वा० २१ द्वा० । प्राणिघातव-जने, पं० व० १ द्वार ।

(१) अहिंसास्वरूपनिर्वचनम् ।

(२) अहिंसावतलक्षणम् ।

(३) अहिंसाक्यसंयत्तारस्याशेषा वक्तव्यता ।

(४) यैरियमुपलब्धा संविज्ञा च तन्निरूपणम् ।

(५) अहिंसापालनोद्यतस्य यद् विधेयं तन्निरूपणम् ।

(६) प्रथमव्रतस्य पञ्च भावनाः ।

(७) सर्वे प्राणा न हन्तव्याः ।

(८) वैदिकहिंसाविचारः ।

(९) किमर्थं सत्त्वान् न हिंस्यादिति प्रतिपादनम् ।

(१०) अहिंसाप्रसिद्धार्थनिरूपणम् ।

(११) मतान्तराहिंसा न तादृशी ।

(१२) सर्वे प्राणानुका अहिंसां मोक्षाङ्गभूतां प्रतिपद्यन्ते, न प्राधान्येन ।

केवलसंबन्धपि सयोगयोगिकेवलज्ञेदतो द्विविधमेवेति । १२८० । विशेषः । पञ्चा० । उक्त० । आ० म० । अनु० । तदपि द्विविध-
मुपशमककृत्यकअणिभेदात् । शेषं तथैवेति । न० ८ श० २ उ० ।

अहक्त्वायसंजय-अथाख्यातसंजय-पुं० । अथशब्दो यथार्थः,
यथैवाऽकपायतयेत्यर्थः । आख्यातमज्ञिहितमथाख्यातम् । तदेव
संजयोऽथाख्यातसंजयः । अयं च छद्मस्थस्योपशान्तमोहस्थ क्षी-
णमोहस्य च स्यात् केवलिनः, सयोगस्याऽयोगस्य च स्या-
दिति । अकपायसंजये, स्या० ५ ग० २ उ० । कर्म० ।

अहक्त्वायसंजय-अथाख्यातसंजय-पुं० । अकपायचारित्रिणि,
“अहक्त्वायसंजय पुच्छा । गोयमा । दुविहे पश्चे । तं जहा-छ-
मन्थे य केवही य ” । न० २५ श० ७ उ० ।

अहद्वाण-यथास्थान-न० । स्थानमनतिक्रम्येत्यर्थे, द्वा० २ द्वा० ।

अहत (य)-अहत-त्रि० । अकृते, अन्यथानीते च । चं० प्र०
१९ पाठ० । सू० प्र० ।

अहत-अधस्त्व-न० । जघन्यतायाम्, भ० ६ श० ३ उ० ।

अहत्य-यथास्य-त्रि० । यथावसिते, स्या० ५ ग० २ उ० ।

यथार्थ-त्रि० । यथाप्रयोजने, यथास्त्ये च । “ अहत्ये वा ज्ञावे
जाणिस्सामि ” । स्या० ५ ग० ३ उ० ।

अहत्यच्छिन्न-अहस्तच्छिन्न-त्रि० । हस्तौ अच्छिन्नौ यस्य स
तथा । अकृत्तकरे, नि० चू० १४ उ० ।

अहत्यवाय-यथार्थवाद-पुं० । यथाऽवस्थितवस्तुतत्त्वप्रख्यापने,
स्या० २ श्लो० ।

अहत्याम-यथास्थाम-न० । प्राकृतलक्षणेन यकारस्य द्वौपे केव-
लं स्वरः । यथावत्ते, नि० चू० १ उ० ।

अहप्पहाण-यथाप्रधान-अव्य० । प्रधानमनुरुच्येत्यर्थे, यो यः
प्रधानो जन इत्यर्थः । भ० १५ श० १ उ० ।

अहम-अधम-त्रि० । जघन्ये, भाव० ४ अ० । निन्द्ये, उक्त० १३
अ० । निरुद्धे, “नरेदजाई अहमा नराण” उक्त० १३ अ० । सूत्र० ।
छुळे, स्या० ४ डा० ४ उ० । (अधमपुरुषाणां मानम् ‘अंगुल’
शब्देऽत्रैव भागे ४४ पृष्ठे वक्तव्यम्)

अहमंति-अहमन्तिन्-पुं० । अहमेव जात्यादिभिरुत्तमतया प-
र्यन्तवर्तीत्यभिमानवति, स्या० ।

दसहिं ठाणेहिं अहमंतीति थंजेजा । तं जहा-जाइमएण
वा कुड्डमएण वा० जाव इस्तरियमएण वा नागमुवन्ना वा
मे अंतिअं हव्वमागच्छंति पुरिसधम्माओ वा मे उत्तरिए
अहोवहिण् नाणदंसणे समुप्पन्ने ।

(दसहीत्यादि) स्पष्टं, नवरं (अहमंतीति) अहम, अन्ती इति ।
अन्तो जात्यादिप्रकर्षपर्यन्तोऽस्यास्तीत्यन्ती । अहमेव जात्यादि-
निरुत्तमतया पर्यन्तवर्ती । अथवाऽनुस्वारः प्राकृततयेति । अहम-
अति अतिशयवानिति । एवंविधोद्धेत्वेन (थंमेज्ज स्ति) स्तज्जीयात्
स्तब्धो भवेत्, साधेदित्यर्थः । यावत्करणात् ‘वलमएण रुवमए-
ण सुयमएण तवमएण लाभमएण’ इति दृश्यम् । तथा (नागसु-
वध स्ति) नागकुमाराः सुवर्णकुमाराश्च । वा विकल्पार्थे । मे मम
अन्तिकं समीपं ‘हव्वं’ शीघ्रमागच्छन्तीति । पुरयाणां प्राकृतपु-

रुपाणां धर्मो ज्ञानपर्यायलक्षणस्तस्माद्वा सकाशाद्भुत्तरः प्रधा-
नः स पवौत्तरिकः । (अहोवहिण् स्ति) नियतज्ञेयविषयोऽवधि-
स्तद्वपं ज्ञानदर्शनं प्रतीतमिति ॥ स्या० १० डा० ।

अहमहमितिदप्पिय-अहमहमितिदर्पित-त्रि० । अहमहमित्येवं
दर्पवति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

अहम्म-अधर्म-पुं० । पापे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । दश० ।
सावद्यानुष्ठाने, दशा० ६ अ० । अधर्मस्य वर्णं वदति, नि० चू० ।
जे जिकवू अधम्मस्स वधं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ । ? ? ? ।

इह अहम्मो नारहरामायणादि पावसुत्तं, चरगादियाण या-
जपंचंगितवादिना वयविसेसा, अहवा-पाणादिया मिच्छादं-
सणपज्जवसाणा अछारस पावछाणा, एतेसि वन्नं वदतीत्यर्थः ।

एसेव गमो नियमा, वाञ्छत्ये होति तं अहम्मे वि ।

देसे सव्वे य तहा, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ ३३ ॥

वाञ्छत्यो, विपक्षे वज्रवायं वदतीत्यर्थः । सेसं कंठं ।

इहरह वि ताव होए, मिच्छत्तं दिप्पए सहावेणं ।

किं पुण जइ उवव्वहति, साह अजयाण मज्झम्मि ॥ ३४ ॥

(इहरह वि स्ति) सहावेण प्रदीप्यते प्रज्ज्वलते । किमिति निर्द्देशे,
पुनर्विशेषणे । किं विशेषयति ? सुतरां दीप्यते इत्यर्थः । यदीत्यभ्यु-
पगमे । “अजया अगतो उवव्वहति, ताहे थिरतरं तेसि मिच्छत्तं
भवतीत्यर्थः । शेषं पूर्ववत् । नि० चू० ११ उ० । धर्मरहिते,
विपा० १ श्रु० २ अ० ।

अहम्मओ-अधर्मतस्-अव्य० । अधर्ममद्वीकृत्येयं, प्रश्न० २
आश्र० द्वार ।

अहम्मकेउ-अधर्मकेतु-पुं० । केतुर्ग्रहविशेषः, स इव यः स तथा ।
पापप्रधाने, ज्ञा० १७ अ० ।

अहम्मक्खाइ-अधर्मख्यायिन्-पुं० । न धर्ममाख्यातीत्येवं शीघ्रो-
ऽधर्माख्यायी । अथवा-न धर्माख्यायी अधर्माख्यायी । धर्मकथ-
नाशीले, दशा० ६ अ० ।

अधर्माख्याति-पुं० । अधर्मादाख्यातिर्यस्य स अधर्माख्यातिः ।
पापकर्मतया प्रसिद्धे, दशा० ६ अ० ।

अहम्मज्ज-त्रि(ण्)-अधर्मज-विन्-पुं० । अधर्मेण जीवति प्राणान्
धारयतीति अधर्मजीवी । अधर्मेण प्राणधारके, दशा० ६ अ० ।
अहम्मद्वाण-अधर्मस्यान-न० । पापस्थाने, सूत्र० २ श्रु० २
अ० । त्रयोदशपु क्रियास्थानेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । धर्मादपेते
स्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अहम्मद्वि(ण्)-अधर्मायिन्-पुं० । अयोऽस्यास्तीत्यर्थी, अध-
र्मैणार्थी अधर्मार्थी । अधर्मप्रयोजने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।
अहम्मदाण-अधर्मदान-न० । अधर्मपोषकं दानमधर्मदानम् ।
अधर्मप्रतिपादकत्वाद् वाऽअधर्म एव । चौरादिभ्यो दाने,
स्या० १० डा० ।

अहम्मसेवि(ण्)-अधर्मसेविन्-पुं० । कलत्रादिनिमित्तपदकायो-
पमर्दकारिणि, “अहम्मस्स धम्माउ अहम्मसेविणो” । दश० १ चू० ।
अहम्मोणि(ण्)-अहम्मोनिन्-पुं० । अहमेव विद्वानिति मानो
गर्वोऽस्येति अहम्मानी । अहङ्कारिणि, आ० म० द्वि० ।

(१३) अहिंसाविवेचनम् ।

(१४) एकान्तनित्यानित्यात्मनि हिंसा न घटत इति निरूपणम् ।

(१५) आत्मनः परिणामित्वे हिंसाया अविरोधनिरूपणम् ।

(१६) स्वर्गादयो हि यदि स्वकृतकर्मानापादिता एव स्युरिति तदा कर्मान्युपगमो निरर्थक इति हिंसाऽपि असंभवा जनानामिति विचारः ।

(१७) आत्मनो नित्यानित्यत्वस्य देहाद्विभक्तिवत्त्वस्य च साधने प्रमाणोपदर्शनम् ।

(१८) आत्मनोऽसर्वगतत्वे गुणवर्णनम् ।

(१) अस्य निक्षेपः—

हिंसाए पडिवक्खो, होइ अहिंसा चउव्विहा सा उ ।

दब्बे जावे य तहा, अहिंस जीवाइवाउ चि । ४५ । दश० नि० ।

तत्र प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा । अस्या हिंसायाः, किम्?, प्रतिकूलः पक्षः प्रतिपक्षः, अप्रमत्ततया शुभयोगपूर्वकं प्राणाज्यपरोपणमित्यर्थः । किम्?, भवत्यहिंसेति । तत्र चतुर्विधा चतुष्पकारा अहिंसा । (दब्बे भावे य चि) द्रव्यतो भावतश्चेत्येको भङ्गः । तथा—द्रव्यतो नो जावतः । भावतो न द्रव्यतः । तथा—न द्रव्यतो न भावत इति । तथाशब्दसमुच्चितो भङ्गत्रयोपन्यासः, अनुक्तसमुच्चयार्थकत्वादस्येति । उक्तञ्च—“तथा समुच्चयनिर्देशावधारणसादृश्यप्रेषेषु ” इत्यादि । तथाचायं भङ्गकभावार्थः द्रव्यतो भावतश्चेति—“जहा केइ पुरिसे मियवहपरिणामपरिणय मियं पासित्ता आयशाइछियकोदंरजीवे सरं णिसिरिज्जा, से य मिय तेण सरण विहे मय; सिया एसा दब्बओ हिंसा, भावओ वि । या पुनद्रव्यतो न भावतः, सा खल्वीर्यादिसमितस्य साधोः कारणे गच्छत इति । उक्तं च—

“उच्चाद्वियम्मि पाय, इरियासमियस्स संकमट्ठाए ।

वावेज्जेज्ज कुल्लिगी, मरिज्ज तं योगमासज्जा ॥ १ ॥

न य तस्स तं निमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए ।

जम्हा सो अपमत्तो, सा उ पमाओ चि निहिट्ठा ॥ २ ॥ इत्यादि । या पुनर्भावतो, न द्रव्यतः, सेयम्—“जहा के वि पुरिसे मंदमंदप्यगासप्यदेसे संविणं ईसिनल्लिअकारं रज्जुं पासित्ता एस अहिं चि तव्वहपरिणामएणिक्कियाऽसिपसे दुअं दुअं णिदिज्जा । एसा भावओ हिंसा, न दब्बओ । चरमभङ्गस्तु शून्यः । इत्येवम्भूताया हिंसायाः प्रतिपक्षोऽहिंसेति । एकार्थिकान्निधित्वस्याऽऽह—(अहिंसजीवाइवाओ चि) न हिंसा अहिंसा, न जीवाति-तिपातः मजीवातिपातः । तथा च तद्वतः स्वरकर्मातिपातो भवत्येवाऽर्जावश्च कर्मेति भावनीयमिति । उपलक्षणत्वाच्चेह प्राणातिपातविरत्यादिग्रह इति गार्थः । दश० १ अ० । त्रसस्थाचरजीवरक्षायाम्, संथा० । प्रमादयोगात्सर्वव्यपरोपणविरतिरूपे प्रथमे व्रते, घ० ।

(२) प्रथममहिंसाव्रतलक्षणमाह—

प्रमादयोगाद्यत्सर्व—जीवास्वव्यपरोपणम् ।

सर्वथा यावज्जीवं च, प्रोचे तत् प्रथमं व्रतम् ॥ ४ ॥

प्रमादो ज्ञानसंशयविपर्ययरगद्वेषस्तृतिभ्रंशयोगदुष्प्राणिधानधर्मानादरभेदादष्टविधः । तद्योगात् तत्संबन्धात् सर्वेषां सूक्ष्मादिभेदभिन्नानां, जीवानां प्राणिनां, येऽस्य प्राणाः पञ्चेन्द्रियवत्तत्र योच्चासायुर्लक्षणा दश, तेषां यथासंभवेनाज्यपरोपणमविनाशनम् । तद्देशतोऽपि स्यादित्यत आह—सर्वथेति । सर्वप्रकारेण त्रि-

विधित्रिविधेन भङ्गेन । तच्चेत्वरमपि स्यादित्यत आह—यावज्जीवं—प्राणधारणं यावत् । तत्किमित्याह—प्रथमं व्रतम्—अहिंसाव्रतं, प्रोचे जिनैरिति शेषः । प्रथमत्वं चास्य शेषाधारत्वात् सूत्रक्रमप्राप्तायान्वावसेयम् । द्वितीयो हेतुश्च द्वितीयव्रतादिष्वपि भाव्य इत्युक्तं प्रथमं व्रतम् । घ० ३ अधि० । “तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं । अहिंसा निज्जणा दिट्ठा, सब्बभूएसु संयमो” ॥ ९ ॥ दश० मू० ६ अ० । (अष्टदशविधस्थानगणस्य, व्रतपदादीनां च व्याख्या ‘अट्टारसट्ठाण’ शब्देऽस्मिन्नेव जागे ३४ए पृष्ठे, स्वस्वस्थाने च छट्ठ्या)

(३) अहिंसाव्यसंवरद्वारस्थैयाऽशेषा वक्तव्यता—

तत्थ पढमं अहिंसा, तसथावरसव्वचूयखेमकरी ।

तीसे सभावणाए, उ किंचि वोच्चं गुणुहेसं ॥

(तत्थ चि) तत्र तेषु पञ्चसु मध्ये प्रथमं सम्बरद्वारमहिंसा (तसथावरसव्वचूयखेमकरि चि) त्रसस्थावरणां सर्वेषां भूतानां कैमकरणशीला । तस्या अहिंसायाः सभावनायास्तु भावनापञ्चकोपेताया एव (किंचि चि) किञ्चनाल्पं, वक्ष्ये गुणोद्देशं गुणलेशमिति । प्रश्न० ।

अथ प्रथमसम्बरनिरूपणायाह—

तत्थ पढमं अहिंसा जा सा सदेवमनुयासुरस्स लोगस्स जवति दीवो, ताणं, सरणगती, पइट्ठा, निव्वाणं, निव्वुइ, समाही, संती, किच्ची, कंती, रइय विरइय सुयंग तिच्ची, दया, विमुच्ची, खंती, सम्मचाराहणा, महंती, वोढी, बुद्धी, धिती, समिद्धी, रिद्धी, विद्धी, ठिती, पुट्ठी, नंदी, जहा, विमुच्ची, लप्पी, विसिद्धिदिट्ठा, कट्ठाणं, मंगलं, पमोओ, विज्जुति, सिद्धावासो, रक्खा, अणासवो, केवल्लीणं ठाणं, सिव समियी, सील संजमो चि य, सीलधरो, संवरो य, गुत्ती, ववसाओ, उस्सतो य, जणो, आयतणं, जयणमप्पमाओ, असासो, विसासो, अजओ, सव्वस्म विअमावाओ, चोक्खपविच्ची, सुत्ती, पूया, विमलपभासा य, निम्मलतर चि । एवमादीणि नियगुणनिम्मयाइं पज्जवनामाणि हुंति अहिंसाए जगवतीए ।

(तथेत्यादि) तत्र तेषु पञ्चसु सम्बरद्वारेषु मध्ये प्रथममाद्यं सम्बरद्वारमहिंसा । किंभूता ?, या सा सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य भवति (दीव चि) द्वीपो दीपो वा । यथाग्नाधजलाग्निमध्यमग्नानां स्वैरभ्यापदकदम्बकदर्थितानां महोर्मिमालामध्यमज्जमानगात्राणां त्राणं भवति द्वीपः प्राणिनाम्, एवमयमहिंसा संसारसागरमध्यगतानां व्यसनशतश्वापदप्रपीकितानां संयोगवियोगवीचिविधुराणां त्राणं भवति, तस्याः संसारसागरोच्चारहेतुत्वात्, इति अहिंसा द्वीप उक्ता । यथा वा—दीपान्धकारनिराकृतदहकप्रसरणां हेयोपादेयार्थहीनोपादानमूढमनसां तिमिरनिकरनिराकरणेन प्रवृत्त्यादिकारणं जवति; एवमहिंसा ज्ञानावरणादिकर्मतमिस्रसंसेनेन विशुद्धबुद्धिप्रभापट्टप्रवर्त्तनेन प्रवृत्त्यादिकारणत्वाद्दीप उक्ता । तथा—त्राणं, स्वपरोपामापदः संरक्षणात् । तथा—शरणम् । नथैव-सम्पदः, सम्पादकत्वात् । गम्यते श्रेयोऽर्थमिराग्रीयत इति गतिः । प्रतिष्ठन्ते आसते सर्वे गुणाः सुखानि वा यस्यां सा प्रतिष्ठा । तथा—निर्वाणं मोक्षः, तद्धेतुत्वा-

अह्य-अहत-त्रि० । अहते अह्याहने, आ० म० प्र० । जी० ।
नवे, म० = श० ६ उ० । रा० । अव्ययच्छिन्ने, कल्प० १ क० ।
अस्त्रादिभेदे, सूत्र० २ भु० २ अ० । मलमूपादिजिरनुपद्वते प्रत्य-
ये, द्वा० १ अ० ।

अहर-अधर-पुं० । अधस्तात्काये, आव० ३ अ० । अधस्तन-
दन्तच्छेदे, औ० । प्रज्ञा० । तं० ।

अहरगङ्गमण-अधरगतिगमन-न० । अधोगतिगमनकारणे,
प्रश्न० २ आ० द्वार ।

अहरायणिय-यथारत्नाधिक-अव्य० । यथाज्येष्ठार्थतयेत्यर्थे,
पं० व० २ द्वार ।

अहरी-अधरी-स्त्री० । पेपणशिलायाम्, उक्त० ।

अहुर(रो)ह-अधरोष्ठ-पुं० । “ह्रस्वः संयोगे” ॥ ८ । १ । ८४ ॥
इति दीर्घस्य ह्रस्वः । प्रा० १ पाद । दंष्ट्रिकायाम्, कल्प १ क० ।
अहव-अथवा-अव्य० । “ वाऽव्ययत्वात्तादायदातः ” ।
८ । १ । ६७ । इत्यातोऽन्त्यम्; अहय अहवा । विकल्पे, प्रा० १
पाद । स० ।

अहवण-(अथवा)-अव्य० । ‘अहवण चि’ अक्षरपञ्चमव्ययपद-
म् । अथयेत्यस्यार्थे, वृ० १ उ० । विकल्पप्रदर्शने, नि० चू० १
उ० । वाक्यालङ्कारे, अनु० ।

अहवा-अथवा-अव्य० । संवन्धस्य प्रकारान्तरतोपदर्शने, व्य० १
उ० । पूर्वोक्तप्रकारापेक्षया प्रकारान्तरत्वद्योतने, पञ्चा० ३ धिव० ।
नि० चू० । ध० । पं० सं० । ग० । म० । पञ्चान्तरे, सूत्र० १ भु०
१३ अ० । वाक्योपन्यासे, सूत्र० २ भु० २ अ० ।

अहव्वण-अथर्वन्-पुं० । ऋग्वेदादीनां चतुर्थे वेदे, म० २ श०
१ उ० । अनु० । औ० ।

अहस्स-अहास्य-न० । हास्यपरित्यागे, आव० ४ अ० ।

अहह-अहह-अव्य० । अहं जहाति, अहह+हा-क-पुणो० । स-
म्योधने, आश्चर्ये, स्नेहे, फलेशे, प्रकर्षे च । वाच० प्रा० २ पाद ।
अहा-अधस्-अव्य० । दिग्भेदे, स्था० ६ ग० ।

अथ-अव्य० । याथातथ्ये, विशेषे । आनन्तर्ये, “अहा पंङ्गु-
भाप” । रजनीविधातानन्तरम् । दीर्घत्वमार्पत्वात् । कल्प० ३ क० ।
अहाअथ-यथार्थ-अव्य० । नियुक्त्यादिव्याख्यानानतिक्रमे,
स्था० ७ ग० ।

अहाउओवक्त्रमकाक्ष-यथायुक्तोपक्रमकाक्ष-पुं० । यथा वक्षस्या-
युक्तस्योपक्रमणं दीर्घकालभोग्यस्योपक्रमणं यथायुक्तोपक्रमः;
स चासौ कालश्च यथायुक्तोपक्रमकाक्षः । कालभेदे, विशेषे० ।

अहाउणिव्यक्तिकाक्ष-यथायुनिर्वृत्तिकाक्ष-पुं० । काक्षभेदे,
स्था० । यथा यत्प्रकारं नारकादिभेदेनायुः कर्मविशेषो यथाऽऽ-
युः । तस्य रौद्रादिध्यानादिना निर्वृत्तिनिर्धनं, तस्याः सकाशात्
यः काक्षो नारकादित्वेन स्थितिर्जीवानां स यथायुनिर्वृत्तिका-
क्षः । अथवा-यथाऽऽयुषो निर्वृत्तिस्तथा यः कालो नारकादिभ-
वेऽवस्थानं, स तथेति । अयमप्येकाकाल एवायुक्तकर्मानुभव-
विशिष्टः सर्वसंसारजीवानां वर्तनादिरूप इति । उक्तं च-
“ आनयमिचविसिष्ठो, स एव जीवाण वचनाऽऽदिमश्रो ।

ममृह अहाउकाक्षो, वचइ जो जं चिरं तेण ” ॥ १ ॥ स्था० ४
ग० १ उ० । “संकिंतं अहाउणिव्यक्तिकाले?, अहाउणिव्यक्तिय-
काले जं णेत्तएण वा तिरिक्खजोणिपण वा मणुस्सेण वा
देवेण वा अहाउणिव्यक्तियं सेत्तं पालमाणे अहाउणिव्यक्तिका-
ले ” ॥ म० ११ श० ११ उ० ।

अहाउय-यथायुक्त-न० । देवाद्यायुक्तलक्षणे कालभेदे, आ० म०
दि० । (‘काल’ शब्दे तृतीयभागे चैतद्व्याख्यास्यते) यथावद्धे
आयुषि च । स्था० ।

दो अहाउयं पालंइ । तं जहा-देवच्चेव नेरइयच्चेव ॥
(दो इत्यादि) यथावद्धमायुर्ग्रन्थायुः, पात्रयन्यनुज्ञयन्ति नोपक्र-
म्यते तदिति यावदिति । “देवा नेरइया वि य, असंखवासाउ-
या तिरियमणुया । उत्तमपुरिसा य तहा, चरमसररीरा निरुवक-
मती” ॥ १ ॥ इति वचने सत्यपि देवनारकयोरेवेह भग्नं, द्वि-
स्थानकानुरोधादिति । स्था० २ ग० ३ उ० ।

अहाक (ग) इ-यथाकृत-त्रि० । आत्मार्यमज्जिनिर्वर्तिते आहा-
रादौ, “अहागमेसु रीयंति, पुण्णेषु जमरो जहा” दश० १ अ० ।
नि० चू० । वृ० ।

अहाकप्प-यथाकृत्प-अव्य० । यथाऽवोक्तं तथाकरणे कल्पोऽ-
न्यथा त्वकल्प इति यथाकल्पम् । कल्प० ए क० । प्रतिमाकल्पा-
नतिक्रमे तत्कल्पवस्त्वनतिक्रमे, दशा० ७ अ० । आ० । ज्ञा० । क-
ल्पानातिक्रान्ते, स्थिरकल्पोचिते कल्पनीये च । न० । पा० । ध० ।
अहाकम्म-यथाकर्म-अव्य० । कर्मानतिक्रमे, द्वा० १६ द्वा० ।

अहापडिगहिय-यथाप्रतिगृहीत-त्रि० । यथाप्रतिपक्षे पुनर्हास-
मनीते, म० २ श० ५ उ० ।

अहाउन्द-यथाउन्द-पुं० । यथा उन्दोऽभिप्राय इच्छा, तथैवाऽऽ-
गमनिरपेक्षं यो वर्तते स यथाउन्दः । व्य० १ उ० । प्रव० । ध० ।
नि० चू० । यथाकथंचिद् नागमपरतन्त्रतया उन्दोऽभिप्रायो बोधः
प्रवचनार्थेषु यस्य स यथाउन्दः । म० १ श० ४ उ० । स्वच्छन्दम-
तिविकल्पिते, आव० ३ अ० ।

जे निक्खु गणाओ अवक्कम्म अहाउन्दं विहारं विहरेज्जा,
से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपजित्ता णं विह-
रत्तिप अच्छिन्ना इच्छा से पुणो आलोएज्जा, पुणो पणि-
क्केज्जा, पुणो ज्येपरिहारस्स उवडाइअ ॥

यः भिक्षुर्गणादपक्रम्य यथाकृन्दविहारेण विहरेत्स इच्छेद्
द्वितीयमपि चारं तमेव गणमुपसंपद्य विहर्तुम्, तत्र स पुनरा-
लोचयेत्, पुनः प्रतिक्रामेत्, पुनश्चेदपरिहारस्यालोचयेत् ।
व्य० २ उ० ।

इदानीं यथाउन्दःस्वरूपमुपवर्णयति-

उत्सुत्तमायंरतो, उत्सुत्तं चैव पन्नवेमाणो ।

एसो य अहाउन्दो, इच्छा उन्दो य एगडा ॥

सूत्रादूर्ध्व-उत्तीर्णम् (परिब्रष्टमित्यर्थः) उत्सुत्तं, तदाचरन् प्रति-
सेवमानः, तदेव यः परेभ्यः प्रज्ञापयन् वर्तते, एष यथाउन्दोऽ-
भिधीयते । सम्प्रति उन्दःशब्दार्थं पर्यायेण व्याचष्टे-इच्छा उन्द
इत्येकार्थः किमुक्तं भवति? उन्दो नाम इच्छेति । व्युत्पत्तिश्च यथा-
उन्दःशब्दस्य प्रागेवोपदिशता ।

उत्सुत्तमित्युक्तमत उत्सुत्तं व्याख्यानयति-

उत्सुत्तमण्णुवादिहं, सच्छन्दविगप्पियं अणण्णपाती ।

निर्वचयत् ॥ २३ ॥ ततो न च्छन्दसः समाधिः सन्तता, शक्तिः, शक्तिवृत्तत्वं । शक्तिः चेत्तु विगतिः, कोटिः, त्यागित्वं-
न ॥ २४ ॥ तन्मय इति शब्दार्थः । रतिश्च रतिहेतु-
त्वेन । रतिश्च विवृतिः । गतम् । धर्मं धुनिरानन्दं कारण-
भेदः च । पुनः । अतः च-“इदं नाणं तत्रो दया ” इ-
त्यादि । धुनिरानन्दं नृतेः । ततः कर्मधारयः । तथा-
इति । तद्वत् । ततः-च-“धुनिरानन्दं नाणं नृतेः कर्मधारयनेत्यो यथा
न” धुनिरतिः । ततः-च-“नाणं नृतेः कर्मधारयः तद्वत्त्वत्वाद्दि-
शते” इति शक्तिः । नन्वप्यत्र ततः-च-“धुनिरानन्दनागधत्ते यथा
ना नन्द इति शब्दार्थः । (मर्दान्ति) । अतो नन्वर्थमीनुष्ठानानां
पुनः । अतः च-“एकं चिय एतदर्थं, निदिष्टं त्रिणवरेहि”
नन्विति । पाणान्यायविरक्षण-सत्त्वात्तत्तन्त्र रक्षणा ॥ १ ॥
चापः नवजन्मप्राप्तिः, अहिंसान्ध्याच्च तस्या अहिंसा-
प्राप्तिः । अथवाऽहिंसा सानुकम्पा, सा च बोधिकारण-
जन बोधिरेवोच्यते । बोधिकारणस्य चानुकम्पायाः-“अणुक-
मं तन्निज्जर-वाग्रतथे दाणुविणयविषमो । संजोगविषमो,
नन्दः-नन्दद्विज्जगो” ॥ १ ॥ इति वचनादिनि । तथा-बुद्धिः,
साधनकारणस्याद् बुद्धिः । यदाह-“वाहत्तर-कलकुसुमा, पं-
नितान्तिना अप्रदिया चय । मय्यकलार्णं पयः, जं धम्मकल्ला न
आण्णं” ॥ १ ॥ धर्मधाहिंसैव । धुनिश्चित्ताह्वं, तत्परिपाल-
न-सत्त्वात्तस्या धुनिरुच्यते । समृद्धिहेतुत्वेन समृद्धिरेवो-
च्यते । एवं श्रुत्विबुद्धी । तथा-साधनपर्यवसितमुक्तिस्थि-
तिहेतुत्वात् स्थितिः । तथा-पुष्टिः, पुण्योपचयकारणत्वात् ।
प्राह च-“पुष्टिः पुण्योपचयनम्” । नन्दयति समृद्धिं नयतीति
नन्दा । नन्दन्त कल्याणोक्तोति देहिनामिति भक्षा । विशुद्धिः
पापक्षयोपपत्तेन जीवनिर्मलतान्त्रकृत्वात् । आह च-“बुद्धिः
वारङ्गयेण जीवनिर्मलता” । तथा-केवलज्ञानादिबन्धनिमि-
त्तान्नाशुद्धिः । विशिष्टाष्टिः प्रधानदर्शनमतमित्यर्थः, तदन्य-
त्र नूनन्य-प्राप्त्यात् । आह च-“किं ती ए पडियाप, पयकोदी ए
पत्ता उभूयाप । जण्येत्ति यं न नायं, परस्स पीडा न कायन्वा” ॥
कल्याणं, कल्याणप्रापकत्वात् । मद्भूतं, दुरितोपशान्ति-
हेतुत्वात् । प्रमोदः, प्रमोदोत्पादकत्वात् । विभूतिः, सर्व-
व्यवृत्तिव्यवधनत्वात् । रक्षा, जीवरक्षणस्यभावत्वात् । सि-
द्धाधानः, मोक्षावाप्तनिवन्धनत्वात् । अनाश्रयः, कर्मपन्थ-
निर्गन्धोपायत्वात् । केवलज्ञानं स्थानं, केवलज्ञानमहिंसायां
व्यवस्थितत्वात् । (सिधसमिति सीलसंजगो चि य) शिवहेतुत्वे-
न शिवसमितिः सम्यक्प्रवृत्तिः, तद्वत्त्वाद्दिहा शिवसमि-
तिः । शीलं समाधानं, तद्वत्त्वाच्छीलम् । संयमोऽहिंसात् उप-
रमः । इति रूपदर्शनेन, चः समुचये । (सीधघरो चि) शी-
लवृद्धं चारित्र्यस्थानम् । सम्यक् प्रतीतः । गुप्तिरगुमानां
मनःप्रभृतीनां निरोधः । विशिष्टोऽवसायो निश्चयो व्यव-
सायः । उच्छ्रयः स्वभावोन्नतत्वम् । यज्ञो जायतो देव-
पूजा । आयतनं गुणानामाश्रयः । यजनमभयस्य दानं,
यतनं वा प्राणिरक्षणं प्रति यत्नः । अग्रमादः प्रमादवर्जनम् ।
आश्वास आश्वासनं प्राणिनामेव । विश्वासो विश्रम्भः ।
(अभयो चि) अभयं सर्वस्यापीति प्राणिगणस्य । अ-
माघात अमारिः । चोक्तापवित्रा, पकार्यशब्दद्वयोपादानात्
अतिशयपवित्रा । शुचिर्भावशौचरूपा । आह च-“सत्यं शौचं
तपः शौचं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः । सर्वभूतदया शौचं, ज-
लशौचं च पञ्चमम्” ॥ १ ॥ इति । (पूय चि) पवित्रा,
२१ए

पूजा वा भावतो देवताया अर्चनम् । विमलप्रभासा, त-
 न्निवन्धनत्वात् । (निम्नलतर स्ति) निर्मलं जीवं करोति
 या सा तथा, अतिशयेन वा निर्मला निर्मलतरा । इति नाम्नां
 समाप्तौ । एवमाद्रीन्येवंप्रकारार्थिं निजकगुणनिर्मितानि, यथा-
 र्थानीत्यर्थः । अत एवाह-पर्यायनामानि तत्तद्धर्माश्रिताभिधा-
 नानि भवन्त्यर्हिसायाः, भगवत्या इति पूजावचनम् ।

एसा भगवती अहिंसा, जा सा जीयाणं पिव सरणं, प-
क्खीणं पिव गयणं, तिसियाणं पिव सल्लिहं, खुहियाणं
पिव असणं, समुद्धमज्जे व पोतवह्मणं, चउप्पयाणं च
आसमपयं, उहड्डियाणं च ओसहिवलं, अरुवीमज्जे
च सत्यगमणं, एत्तो तिसिद्धतरिका अहिंसा जा सा पुढवी-
जल-अग्गणि-मारुय-वणप्फती-वीज-हरिय-जलचर-थलचर-
खहचर-तस-थावर-सव्वनूयत्तेमकरि ।

एषा सा भगवत्याहिंसा या सा नीतानामिव शरणमित्यत्रा-
श्वासिका, देहिनामितिगम्यम् । (पञ्चशीर्षं पिव गवर्णं चित्) प-
क्षिणामिव गगनं, हिता, देहिनामिति गम्यम् । एवमन्यान्यपि
पदं पदानि व्याख्येयानि । किं भूतादीनां शरणादिसमैव सा हि, ने-
त्याह—(एषा चित्) एतेन्योऽनन्तरोदितेभ्यः शरणादिभ्यो
विशिष्टरिका प्रधानतरिका अहिंसा, हिततयेति गम्यते । शरणा-
दि-चित्तमनैकान्तकप्रनात्यन्तिकं भवति, अहिंसातस्तु तद्वीप-
रीतं मोक्षावाप्तिरिति । तथा-‘या सा’ इत्यादि, याऽसौ, पृथिव्यादी-
नि च पञ्च प्रतीतानि, वीजहरितानि च वनस्पतिविशेषा आ-
हारार्थत्वेन प्रधानतया शेषवनस्पतिभेदेनोक्ताः, जलचरादीनि च
प्रतीतानि, व्रसस्थायराणि सर्वभूतानि, तेषां केमकरी या सा
तथा, एषा एवैव, भगवती अहिंसा, नान्या । यथा लौकिकैः क-
ल्पिता—“कुलानि तारयेत् सप्त, यत्र गौर्वितुरी भवेत् । सर्वथा
सर्वयत्नेन, भूमिष्ठमुदकं कुरु ” ॥१॥ इह गोविषये या दया सा
किल तन्मतेनाहिंसाऽस्यां च पृथिव्युदकपूररकादीनां हिं-
साऽस्तीत्येवंरूपा न सम्प्रागहिंसेति ।

(४) अथ धैर्यमुपलब्ध्या सेविता च तानाह-

एसा जगवती अहिंसा जा सा अपरिमियनाणदंसण-
धरेहिं सीलगुणविणयतवसंजमनायकोहिं तित्थकोरेहिं
सव्वजगवच्चद्वेहिं तिळोगमहिंतेहिं जिणचंदेहिं सुहुदिष्ठा
ओदिनाणेहिं विष्णया उज्जुमतोहिं वि दिट्ठा विपुलतोहिं
विदिता पुव्वधरेहिं आधिया विउव्वोहिं पत्तिष्ठा आजिणि-
योद्वियनाणोहिं मुयनाणोहिं मणपज्जवणार्णोहिं केवल-
णाणीहिं आमोसहिपत्तेहिं खेव्वोमहिपत्तेहिं जळोसहिपत्ते-
हिं विष्णोसहिपत्तेहिं सव्वोसहिपत्तेहिं वीजुब्धीएहिं को-
ट्टुब्धीहिं पयाणुसारीहिं संभिष्सतोतेहिं मुयधरेहिं मण-
वज्जएहिं वयवलएहिं कायवलएहिं नागवलएहिं दंसण-
वज्जएहिं चरित्तवलएहिं खीरासवेहिं महुआसवेहिं सप्पि-
यासवेहिं अस्तीणमहाणसिएहिं चारणेहिं विज्जाहरेहिं च-
त्तयभत्तिएहिं षड्ढजात्तिएहिं अट्टमभत्तिएहिं दसमंजत्ति-
एहिं एवं छुवाज्जसचउदससोलसअप्पमासमासदोमा-
सतिमासचउमासपंचमासउमासजत्तिएहिं । केवलत्तचर-

परतितियप्पवित्ते, मर्तितयेऽयं अहाठंदो ॥

उत्सूत्रं नाम यत्तीर्थङ्करादिभिरनुपदिष्टम्, तत्र या सुरिपरम्परा-
गता सामाचारी, यथा-नागिना रजोहरणमूर्धमुखं कृत्वा कायो-
त्सर्गं कुर्वन्ति । चारणानां वन्दनके कथमपीत्युच्यते इत्यादि,
साऽप्यङ्केपुपाङ्केषु नोपदिष्टेऽनुपदिष्टम् । सङ्केततोऽनुपदिष्टमाह-
स्वच्छन्देन स्वाभिप्रायेण विकल्पितं, स्वेच्छाकल्पितमित्यर्थः ।
अत एवानुपाति । सिद्धान्तं सहाघटमानकम् । न केवलमूत्सू-
त्रमाचरन् प्रज्ञापयंश्च यथाच्छन्दः, किन्तु यः परतुसिपु गृहस्थ-
प्रयोजनेषु करणकारणानुमतिभिः प्रवृत्तः परतुसिप्रवृत्तः । तथा
'मर्तितियो' नाम यः स्वल्पेऽपि केन चित्साधुनाऽपराधेऽनवरतं
पुनस्तं रूपं चास्ते, अयमेवंरूपो यथाच्छन्दः ।

तथा-

सच्छन्दमतिविगप्पिय, किंचि सुखसायविगइपानेवद्धो ॥

तिहि गारवेहि मज्जइ, तं जाणाही अहाठंदं ॥

स्वच्छन्दमतिविकल्पितं किञ्चित्कृतं तल्लोकाय प्रज्ञापयति, ततः
प्रज्ञापनगुणेन लोकाद्विकृतीर्लभते, ताश्च विकृतीः परिशुद्धानः
स्वसुखमासादयति । तेन च सुखासादनेन तत्रैव रतिमातिष्ठ-
ति । तथाचाह-सुखासादे सुखासादनविकृतौ च प्रतिबद्धः ।
तथा-तेन स्वच्छन्दमतिविकल्पितप्रज्ञापनेन लोकपूज्यो भवति,
अभीष्टसाक्षाद्वारान् प्रतिलभते, वसत्यादिकं च विशिष्टमतः
सज्येभ्यो बहु मन्यते । तथाचाह-त्रिभिः गौरवैर्जगद्विरसता-
तल्लोकायैर्मायति य एवभूतः, तं यथाच्छन्दो जानीहि ।

इह उत्सूत्रं प्ररूपयन् यथाच्छन्द उच्यते, तत उत्सूत्रप्र-
रूपणमेव भेदतः प्ररूपयति-

अहठंदस्स परवण, उस्सुत्ता दुविह होइ नायव्वा ॥

चरणेषु गईसुं जा, तत्थ य चरणे इमा होति ॥

यथाच्छन्दसः प्ररूपणा उत्सूत्रा सूत्रादुत्तीर्णा द्विधा भवति ज्ञा-
तव्या । तद्यथा-चरणेषु चरणविषया, गतिषु गतिविषया, तत्र
या चरणविषया, सा इयं वक्ष्यमाणा भवति ।

तामेवाह-

परिलेहण मुहपोत्तिय, रयहरण निसेज्ज पायमत्तए पट्टे ।

परलाइ चोल उष्ठा-दसिया पडिद्वेहणापोत्ते ॥

या मुखपोत्तिका मुखवस्त्रिका, सैव प्रतिबेचनी-पात्रप्रत्युपेक्षया
पात्रक सारिका, किं द्वयोः परिग्रहेण?, अतिरिक्तोपधिग्रहणेन सं-
भवत् । तथा-(रयहरणनिसेज्ज स्ति) किं रजोहरणस्य द्वाभ्यां
निपद्याभ्यां कर्त्तव्यम्, एका निपद्याऽस्तु ? (पायमत्तए स्ति) यदेव
पात्रं तदेव मात्रकं क्रियतां, मात्रकं वा पात्रम्, किं द्वयोः परिग्रहेण?
तथा-(पट्ट स्ति) य एव पट्टचोदकः स एव रात्रौ संस्तारकस्यो-
त्तरपट्टः क्रियतां, किं पृथगुत्तरपट्टपरिग्रहेण ? । तथा-(परलाइ
चोल स्ति) । पट्टानि किमिति पृथक् धियन्ते, चोलपट्ट एव भि-
न्नार्थे हि एतमानेन द्विगुणस्त्रिगुणो वा कृत्वा पटलकस्थाने निवेश्य-
ताम् । (उष्ठादसिय स्ति) रजोहरणस्य दशाः किमित्यूणांमन्यः
क्रियन्ते?, मौक्तिकाः क्रियन्तां, ता ह्यूर्ध्वामयीभ्यो मृदुतरा भव-
न्ति । तथा-(परिलेहणापोत्ते स्ति) प्रतिबेचनावेलायामेकं पोतं
प्रस्तार्य तस्योपरि समस्तवस्तुप्रेक्षणं कृत्वा तदनन्तरमुपाध्या-
त् तद् बहिः प्रत्युपेक्षणीयम् । एवं हि भवती जीवदया कृता इति ।
दंतच्छिन्नमग्निचं, हरियाद्विय पमज्जणा य णितस्स ।

अणुवाइ-अणुवाइ, परवणा चरणमांसुं ॥

इत्थगताः पादगता वा नस्माः प्रवृत्ताः-दन्तैश्छेत्तव्याः, न नख-
रदनेन । नखरदनं हि ध्रियमाणमधिकरणं प्रवति । तथा-
(अद्विष्टमिति) पात्रमाद्विष्टं कर्त्तव्यम्, न पात्रं लेपनीयमिति प्राचः ।
पात्रलेपने बहुसंयमदोषसंभवत् । (हरियाद्विय स्ति) हरितप्र-
तिष्ठितं भक्षपानादि आहारां, तद्ग्रहणे हि तेषां हरितकायजीवा-
नां भारपहारः कृतो भवति । (पमज्जणा य नितस्स स्ति) यदि
छुन्ने जीवदयानिमित्तं प्रमार्जना क्रियते, ततो बहिरप्यच्छुन्ने क्रि-
यतां, जीवदयापरिपालनरूपस्य निमित्तस्योभयत्रापि संभवात् ।
अन्तरघटना त्वेवम्-'नितस्स' निर्गच्छतः प्रमार्जना भवतु,
यथा वसतेरन्तरिति । एवं यथाच्छन्देन चरणेषु च प्ररूप-
णाऽनुपातिनी अनुसारिणी, अननुपातिनी च क्रियते ।

अथ किंस्वरूपाऽनुपातिनी ?, इत्यनुपातिन्यननुपातिन्योः
स्वरूपमाह-

आणुवाइ ची नज्जइ, जुत्तीरठियं खु जासए एसो ।

जं पुण सुत्तावेयं, तं होति अणुवाति स्ति ॥

यद्वापमाणः सन् यथाच्छन्दो ज्ञायते-यथा 'खु' निश्चितं यु-
क्तिसङ्गतमेव भाषते, तदनुपातिप्ररूपणम् । यथा-यैव मुखपोत्ति-
का सैव प्रतिबेचनिका इत्यादि । यत् पुनर्ज्ञाप्यमाणं सुत्रापेतं
सूत्रपरिग्रहं तद्ग्रहण्यननुपाति । यथा-चातपट्टः पटलानि कि-
यताम् ; यद्युपधिकापतनसंभवतो युक्त्यसङ्गततया प्रतिभास-
मानत्वात् । तत्र चरणे प्ररूपणमनुपात्यननुपाति चोक्तमिदं
चान्यद् रूपव्यम् ।

तदेवाह-

सागारियादिपलियं-कनिस्सेज्जासेवणा य गिहिमत्ते ।

निगंथिचेट्टणाइ, सेहो वा मा सकप्पस्स ॥

सागारिकः शय्यातरस्तद्विषये ब्रूते-यथा शय्यातरविषये गृ-
ह्यमाणे नास्ति दोषः, प्रत्युत गुणः, वसतिदानतो भक्षपानादि-
दानतश्च प्रभूततरनिर्जरासंभवात्, आदिशब्दार्थापनाकुलं-
प्वपि प्रविशतो नास्ति दोषः । (पलियं क स्ति) पर्यङ्कादियु प-
रिहृज्यमानेषु न कोऽपि दोषः, केवलं जूमासुपवेशने द्वाघवा-
दयो बहुतरा दोषाः (निसिज्जासेवण स्ति) गृहिनियथायामा-
सेव्यमानायां, गृहेषु निपद्याग्रहणे इत्यर्थः । को नाम दोषः?, अपि-
त्वतिप्रभूतो गुणः, ते हि जन्तवो धर्मकथाश्रवणतः संबोध-
मानुवन्ति (गिहिमत्ते स्ति) गृहिमात्रके भोजनं कस्मात् क्रियते?,
एवं हि प्रवचनोपघातः परिहृतो भवति । तथा-(निगंथिचे-
ट्टणादि स्ति) निगन्थीनामुपाश्रये अवस्थानादौ को दोषः?, सं-
क्षिप्तमनोनिरोधेन ह्यसंक्षिप्तं तु मा विहारक्रमं कार्पुंरित ।

चारे वेरज्जे वा, पढमसमासरण तह य नितिएसु ।

सुन्ने अकप्पए वा, अनाउंठे य संजोए ॥

चारः, चरणं, गमनमित्यकाऽर्थः । तद्विषये व्रतार्थे, तद्यथा-चतुर्षु
मासेषु मध्ये यद्वर्षे पतति तावन्मा विहारक्रमं कार्पीः, यदा तु न
पतति वर्षे, तदा को दोषो हि एतमानस्येति? तथा वैराज्येऽपि ब्रूते-
यथा वैराज्येऽपि साधवो विहारक्रमं कुर्वन्तु, परित्यक्तं हि सा-
धुभिः परमार्थतः शरीरं, तद्यदि ते गृहीष्यन्ति किं क्षणं साधू-
नाम्, सोढव्याः खलु साधुभिरुपसर्गाः । ततो यदुक्तम्-"नो क-
प्यइ निगंथा-णं वेरज्जविरुद्धरज्जंसि । सज्जं गमणं सज्ज-मा-
गमणं ति" । तदयुक्तमिति । (पढमेण समोसरणे स्ति) प्रथमं स-

एहिं एवं निक्खित्तचरणहिं अंतचरणहिं पंतचरणहिं लूह-
चरणहिं समुदाणिचरणहिं अष्मगिलाइएहिं मोणचरणहिं
संसङ्कप्पिएहिं तज्जायसंसङ्कप्पिएहिं उवनिइएहिं मुष्के-
सणिएहिं संखादत्तिएहिं दिट्ठलाभिएहिं अदिट्ठलानिएहिं
पुट्ठलानिएहिं आयंवीलएहिं पुरमन्निएहिं एकासणिए-
हिं निवित्तिएहिं भिष्मपिक्खातिएहिं परमियपिक्खातिएहिं
अंताहारेहिं पंताहारेहिं अरसाहारेहिं विरसाहारेहिं तु-
च्छाहारेहिं लूहाहारेहिं अंतजीवीहिं पंतजीवीहिं लूहजीवी-
हिं तुच्छजीवीहिं उवसंतजीवीहिं पसंतजीवीहिं विविच-
जीवीहिं अखीरमयुसप्पिएहिं अमज्जमंसासिएहिं ठाणाइ-
एहिं पक्खिमहाइएहिं ठाणुकुप्पाहिं विरासणिएहिं पोस-
ज्जिएहिं रंकायएहिं लग्गुसातिएहिं एगपासाएहिं आया-
वएहिं अवाउएहिं अण्डिक्कभएहिं अकंडुयएहिं धूतकेस-
मंसुलोमनखेहिं सव्वगायपक्कम्मविप्पमुक्कोहिं समणुचि-
क्कासुयधरनिदित्तयकायबुद्धीहिं धीरमतिबुद्धिणो य जे ते
आसीं विसज्जगतेयकप्पा णिच्छयववसायपज्जत्तकयमतीया
णिच्चं सज्जायज्झाणं अणुबंधम्मज्झाणा पंचमदब्ब-
यचरित्तजुत्ता समिया समितीसु समितपावा ठव्विहजगव-
च्छला णिच्चमप्पमत्ता एयहिं य अस्सेहिं य जा सा अ-
णुपाहिया जगवती ॥

(पदानामर्थः स्वस्वस्थाने द्रष्टव्यः) नवरं (एतेहिं य ति) ये
ते पूर्वोक्तगुणा एतैश्चान्यैश्चानुक्तलक्षणैर्गुणवर्जित्याऽसावलुपा-
हिता भगवती अहिंसा, प्रथमं सम्बरद्वारमिति हृदयम् ।

(५) अथाहिंसापालनोद्यतस्य यद्विधेयं तदुच्यते-

इमं च पुढवी-दग-अगणि-मारुय-तरुण-तस-थावर-
सव्वज्जयसंजयदयइयाए मुद्धं उद्धं गवेसियव्वं अकयम-
कारियमणाहुयमणुद्धिं अकयकमं नवकोरीहिं परिसुच्छं
दसहिं य दोसेहिं विप्पमुक्कं उग्गमउप्पायणेषेसणासुच्छववगय-
जुयचइयचत्तदेहं च फासुयं च न निसिज्ज कदा पयोय-
णफासुजवणीयं न तिगिच्छामंतमूझजेसज्जकज्जहेउं न
लक्खणुपायसुमिणजोइसनिमित्तकहकुहकप्पओत्तं न वि-
रंभणाए न विरक्खणाए न वि सासणाए न विरंजण-
रक्खणसासणाए भिक्खं गवेसियव्वं, न विवंदणाए न वि-
माणणाए न वि पूयणाए न वि वंदणमाणणपूयणाए भि-
क्खं गवेसियव्वं, न वि हीलणाए न वि नंदणाए न वि ग-
रहणाए न वि हीलणानिंदणागरहणाए जिकखं गवेसि-
यव्वं, न वि भेसणाए न वि तज्जणाए न वि तालणाए न वि
जेसणतज्जणतालणाए भिक्खं गवेसियव्वं, न वि गारवेणं
न वि कुहणाए न वि वणिमयाए न वि गारवकुहण-
वाणिमयाए जिकखं गवेसियव्वं, न वि मित्तयाए न वि प-
त्यणाए न वि सेवणाए न वि मित्तयपत्यणसेवणाए जिकखं

गवेसियव्वं, अष्णाए अगहिं अदुद्धे अदीण अविमणं अ-
कल्लुणे अविसाती अपरितंतजोगी जयणधरुणकरणच-
रियविनयगुणजोगसंपउत्ते भिक्खू जिकखेसणाए णिए इमं
च सव्वजगजीवरक्खणदयइयाए पावयण भगवया मुक्क-
हियं अज्जेहियं पेच्चा भावियं आगमेसि नइं सुच्छं नेया-
उयं अकुम्भं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाण विउसमणं ॥

(इमं चेत्यादि) अयं च वक्ष्यमाणविशेष उच्छ्रो गवेपणीय
इति सम्बन्धः । प्रश्न०१ सम्ब०द्वार । (उच्छ्रोचथोऽन्यत्राऽन्यत्र)
अथ यदुक्तं " तीसे सभावणाए, उ किंचि वोच्छं गुणुदेसं "
इति, तत्र का भावना ?, अस्यां जिज्ञासायामाह-

(६) प्रथमव्रतस्य (अहिंसारूपस्य) पञ्च भावनाः-

तस्म इमा पंच भावणाओ पढमस्स वयस्स हुंति, पाणा-
इवायवेरमणं परिकखणइयाए पढमं ठाणगमणगुणजो-
गजुंजणजुगंतरनिवतियाए दिट्ठीए इरियव्वं कीरुपयंगत-
सथावरदयावरेण निच्चं पुप्फफलत्तयपवालकंदमूलदगमट्ठि-
यवीयहरियपरिवज्जणं समं, एवं खु सव्वे पाणा ए ही-
दियव्वा न निंदियव्वा न गरहियव्वा न हिंसियव्वा न
गिंदियव्वा न जिंदियव्वा न वहेयव्वा न भयं दुक्खं च
किंचि लब्धा पावेउ जे एवं इरियासमिइजोगेण जाविओ
जवति अंतरप्पा असवलमसंकिलिइनिव्वणचरित्तजाव-
णाए अहिंसए संजए मुसाहु ? ॥

(तस्सेत्यादि) तस्य प्रथमस्य व्रतस्य, भवन्तीति घटना,
इमा वक्ष्यमाणप्रत्यक्षाः पञ्च भावनाः; भाव्यते वास्यते व्रते-
नात्मा यकाभिस्ता जावना ईर्यासमित्यादयः । किमर्था जवन्ती-
त्याह- (पाणा इत्यादि) प्रथमव्रतस्य यत्प्राणातिपातविरमण-
लक्षणस्य परिरक्षणस्वरूपं, तस्य परिरक्षणार्थाय (पढमं ति)
प्रथमभावनावस्थितिर्यम्यते, स्थाने गमने च गुणयोगं च स्वपर-
प्रवचनोपघातवर्जनलक्षणगुणसम्बन्धं योजयति करोति या
सा । तथा-युगान्तरे युगप्रमाणचूमागे निपतति या सा युगान्त-
रनिपातिका, ततः कर्मधारयः । ततस्तथा, इदृशा चक्षुषा (इरिय-
व्वं ति) ईरितव्यं गन्तव्यम् । केनेत्याह- कीटपतङ्गादयश्च व्रसाश्च
स्थावराश्च कीटपतङ्गत्रसस्थावराः, तेषु दयापरो यस्तेन, नित्यं
पुष्पफलत्वक्प्रवालकन्दमूत्रदकमृत्तिकाबीजहरितपरिवर्जकेन,
सम्यगिति प्रतीतं, नवरं प्रवालः पल्लवाङ्कुरः, दकमुदकमिति ।
अथेयांसमित्या प्रवर्तमानस्य यत् स्यात्तदाह- (एवं खु ति) एवं
च ईर्यासमित्या वर्तमानस्येत्यर्थः, सर्वप्राणाः सर्वजीवा न ही-
दयितव्या अवज्ञातव्या जवन्ति, संरक्षणप्रयतत्वात् तानवज्ञावि-
षयीकरोतीत्यर्थः । तथा- न निन्दितव्याः, न गरहितव्या भवन्ति, स-
र्वथा पीडावर्जनोद्यतत्वेन गोरव्याणामिव दर्शनात् । निन्दा च स्व-
समक्षा, गर्हा वा परसमक्षा । तथा- न हिंसितव्याः पादाक्रमणेन
मारणतः, एवं न च्छेत्तव्या द्विधाकरणतः, न जेत्तव्याः स्फोटनतः,
(न वहेयव्यं ति) न व्यथनीयाः परतापनात्, न भयं भीतिः, दुःखं
वा शरीरादि किञ्चिद्रूपमपि, लज्जया योग्या प्रापयितुम्, ' जे ' इति
निपातो वाक्यालङ्कारः, एवमनेन न्यायेनेयांसमितियोगेन ईर्या-
समितिव्यापारेण, जावितो वासितो प्रवत्यन्तरात्मा जीवः । कि-

मवसरणं नाम प्रथमवर्षाफलः, तत्र घृतं-यथा प्रथमसमवसरणे उन्मादिदोषपरिशुद्धं वस्त्रं पात्रं वा किं न कल्पते गृहीतुम्? द्वितीयसमवसरणेऽपि ह्युन्मादिदोषपरिशुद्धमिति कृत्वा गृह्यते । सा च दोषशुद्धिर्भयप्राप्यविशिष्टेति । (तद् य नितिपसु चि) तयान्त्येषु नित्यवासेषु प्रकल्पयति-यथा-नित्यवासेऽपि यद्युन्मात्पादनैषणाशुद्धं भवति ज्ञापनादि, ततः को दोषः ? प्रत्युत काष्ठं दीर्घमेककृत्रं वसतां सूत्रार्थादयः प्रभूता भवन्ति । तथा- (सुश्रु-चि) यद्युपकरणं न केनापि द्वियते, ततः शून्यायां वसतो क्रियमाणायां को दोषः ? । अथासंघट्टनेनोपहन्यते, तच्च चेत्तस्यापि अधिक उपघातः (तथा अकल्पिय चि) अकल्पिको नामागीतार्थः; तद् विषये घृते-यथा-अकल्पिकेन प्रथमशुद्धकरणेन शुद्धमज्ञातोऽञ्च वस्त्रपान्नाद्यानीति किं न परिभुज्यते ? ; तस्य ज्ञातोऽञ्चतया विशेषतः परिभोगाद्वत्वात् । (संभोप इति) तथा संभोगे घृते-यथा-सर्वे पञ्च महाव्रतधारिणः साधवः, सांभोगिका एव युक्त्या सांभोगिका इति ।

साम्प्रतमकल्पिकोचितं चिबुद्धोति-

किंवा अकल्पिणं, गह्वरं फासुयं तु होइ उ अभोजं ।
अनाच्छं को वा, होइ गुणो कल्पिण गह्वर ? ॥

किं वा केन वा करणेन अकल्पिकेन अगीतार्थेन गृहीतं प्रासु-
कमज्ञातोऽञ्चमपि अभोज्यमपरिभोक्तव्यं प्रवति । को वा कल्पि-
केन (अत्र गाथायां सप्तमी तृतीयाऽर्थे) गृहीतो गुणो प्रवति;
वज्रयत्रापि शुद्धत्वाविशेषात् ।

अधुना (संभोप) इति व्याख्यानयति-

पंचमहव्ययधारी, समणा सन्नेसि किं न जुंजति ।

इय चरण-वितहवादी, एत्तो वाञ्छं गतीसु तु ॥

पञ्चमहाव्रतधारिणः सर्वे भ्रमणाः किं नैकत्र जुजते ? , किं ना-
विशेषेण सर्वे सांभोगिका प्रवन्ति ? येनैके सांभोगिकाः, अपरे
असांभोगिकाः क्रियन्ते इति । इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेण यथा-
च्छन्दोऽनाश्रोचितगुणदोषाः, चरणे चरणविषये वितथवादी ।
अत ऊर्ध्वं तु गतिषु वितथवादिनं वक्ष्यामि ।

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति—

खेचं गतो य अडविं, एको संचिष्ट ए तहिं चेव ।

तित्यगरो चि य पियरो, खेचं पुण भावतो मिच्छी ॥

स यथाच्छन्दो गतिषु विषये एवं प्रकृषणां करोति—“एगो गह-
वती, तस्स तिप्पि पुत्ता, ते सव्वे छेत्तकम्मोवजीविणो पिय-
रेण त्तिक्कम्मे नियोजिया । तत्थेगो खेत्तकम्मं जहाणत्तं करेइ ।
एगो अडविं गतो; देसं देसेण हिंइइ इत्यर्थः । एगो जिमिस्सा
जिमिस्सा देयकुलादिषु अत्यति । कालंतरेण तेसिं पिया मतो ।
तेहिं दव्वं पितिसियं ति काष्ठं सव्वं सम्मं चिरिक्कं । एवं तेसिं जं
एगेण उवाज्जियं तं सव्वेसिं सामणं जायं । एवं अम्हं पिया
तित्यगरो, तस्स वयोवदेसेणं सव्वे समणा कायकिलेसं कु-
व्वंति । अम्हं न करेमो, जं तुमहेहिं कयं । अम्हं सामन्नं जहा तु-
म्मे देवल्लोणं सुक्कलपव्वयाइं वा सिक्किं वा गव्वइ, तद्वा अम्हं
वि गच्छिस्सामो” । एष गाथाभावार्थः । अक्षरयोजना त्रियम्-
एकः पुत्रः क्षेत्रं गतः । एकोऽष्टवीम, देशान्तरेषु परिभ्रमतीत्यर्थः ।
अपर एकस्तत्रैव संतिष्ठते । पितरि च मृते धनं सर्वेषामपि स-
मानम् । एवमत्रापि पिता पितृस्थानीयस्तृतीयकर्तुः । क्षेत्रफलं धनं
पुनर्विभावतः परमार्थतः सिद्धिः, तां यूयमिव युष्मदुपार्जनैः
२१७

यथमपि गमिष्यामः । उक्ता गतिष्वपि यथाच्छन्दस्य वितथ-
प्रकृषणा ।

संप्रति तेषां यथाच्छन्दानामेवंवदतां दोषमुपदर्शयति-

जिणवयणं सव्वसारं, मूलं संसारदुक्खमुक्खस्स ।

सम्मच्चं मइलेत्ता, ते दांगइवव्वगा हुंति ।

ते यथाच्छन्दाश्चरणेषु गतिषु चैवंवदताः सम्प्रपत्वं सम्प्रदर्श-
नम् । कथं नृत्तमित्याह-जिनानां सर्वज्ञानां वचनं जिनवचनं द्वाद-
शाङ्गं, तस्य सारं प्रधानं, प्रधानवचोऽस्य तदनन्तरेण श्रुतस्य पत्रि-
तस्याप्यश्रुतत्वात् । पुनः किंविशिष्टमित्याह-मूलं प्रथमं कारणं, सं-
सारदुःखमोक्षस्य समस्तसांसारिकदुःखविमोक्षमोक्षस्य, तदेवं-
भूतं सम्प्रपत्त्रं मग्निनयित्वा आत्मनो दुर्गतिवर्द्धका प्रवन्ति ।
दुर्गतिस्तेषामेवंवदनां फलमिति भावः । इह पूर्वमुत्सवेऽनुत्स-
वे वा गृहीतस्य पार्श्वस्थस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

तत्र उत्सवप्रकृषणार्थमाह-

सकमहादीया पुण, पासत्थे ऊमवा मुण्येयवा ।

अद्वातं जसवां पुण, जीए परिसाए उ कहइ ॥

पार्श्वस्थे पार्श्वस्थस्य, उत्सवा ज्ञातव्याः शकमहादयः इन्द्र-
महादयः । आदिशब्दात् स्कन्दरुद्रमहादिपरिग्रहः । यथाच्छन्द-
स्य पुनस्तत्त्वो यस्याः पर्यदः पुरतो यथाच्छन्दः स्वच्छन्दधिक-
ल्पितं प्रकल्पयति सा पर्यदं ज्ञातव्या । एतदपि च उत्सवभूते
यः पर्यदि स्वकीयकुमतप्रकृषणं चतुर्मासपरमासवर्षेषु कदा-
चिद्वा करोति, अग्नीदणं वा, तत एतपु वक्तव्यम्, तच्च पार्श्व-
स्थाऽऽजमानुसारं ज्ञेयम् ।

अत आह-

जहिं बहुगो तहिं बहुगा, जहिं बहुगा चउगुरु तहिं ठाणे ।

जहिं ठाणे चउगुरगा, उम्मासं तत्थ ज जाणे ॥

जहिं पुण उम्मासा तहिं, जेयं पुण जेयवाणए मूलं ।

पासत्थे जं जणियं, अद्वातं विवक्षियं जाणे ॥

यत्र पार्श्वस्थस्य मासद्वयं प्रायश्चित्तमुक्तं तत्र यथाच्छन्दसि चत्वारो
बहुकाः । यत्र चत्वारो बहुकाः, तत्र स्थाने च चत्वारो गुरुवः । यत्र च-
त्वारो गुरुकास्तत्र परमासान् गुरुन् जानीहि । यत्र पुनः परमासा-
स्तत्र ज्ञातव्यः ऋदः, ऋदस्थाने च मूषम । तद्यथा-यद्युत्सवाभावे क-
दाचित्कथयति ततश्चत्वारो बहुका मासाः, अथाग्नीदणं कथयति
ततश्चत्वारो गुरुकाः ; अथोत्सव कदाचिद् घृते ततश्चत्वारो गुरु-
काः ; अग्नीदणकथने परमासा गुरुवः । परमासा यावदग्नीदणक-
थने मूलम् । अथोत्सवानुत्सवविशेषपरहिततया सामान्यतोऽजि-
धानमुक्तमोघेन प्रायश्चित्तम् । अधुना विभागत उच्यते-चतुरो मा-
सान् यावत्कदाचिदुत्सवाभावे प्रकृषणायां चत्वारो बहुमासाः ।
परमासान् यावच्चत्वारो गुरुवः । वर्षे यावत्परमासा गुरुवः । तथा-
चतुरो गुरुमासान् यावदुत्सवाभावेऽग्नीदणप्रकृषणायां चत्वारो
गुरुकाः । परमासान् यावदुत्सवमग्नीदणप्रकृषणायां परमासा गुरु-
वः । वर्षे यावदुत्सवमग्नीदणप्रकृषणायां ऋदः । तथा-च-
तुरो मासान् यावदुत्सवेऽग्नीदणं प्रकृषणायां चतुर्गुरुकाः ऋदः ।
वर्षे यावदुत्सवप्रकृषणायां मूषमिति । एतदेव सामान्यतो ब्रह्मणम् ।
(पासत्थेत्यादि) पार्श्वस्थे यत्र स्थाने यत् भणितं प्रायश्चित्तं त-

न्विध इत्याह—अश्वत्थेन नालिन्यमात्ररहितेन, असंक्लिष्टेन विशुद्धमानपरिष्कारयतो, निर्वेजेनाकृतेनाख्येनेति यावत् । चारित्र्येण सानाधिकारिणा भावना वासना यस्य सोऽश्वत्था-संक्लिष्टनिर्वेजचारित्र्यभावनाकः । अथवा-अश्वत्थासंक्लिष्टनिर्वेजचारित्र्यभावनया हेतुतुल्या अहिंसकोऽवधकः, संयतो सु-पात्रादाद्युपरमाद् नोत्तमावधक इति । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अभिज्ञेज्ज वा वत्तेज्ज वा परियावेज्ज वा वेसेज्ज वा उ-
द्वेज्ज वा इरियासमिणं मे णिग्गंथे णां इरियाअसमिणं
त्ति पट्ठा जावणा ॥

ईरणं गमनमीयां, तस्यां समितो दत्तावधानः, पुरतो युगमात्र-
प्रागगन्त्यस्तद्व्याप्तगामीत्यर्थः नत्वसमितो भवेत् । किमिति ? यतः
केवलं । श्रूयत् कर्मोपादानमेतद् गमनक्रियायामसमितो हि प्राणि-
नामिहान्तरात् पादेन ताम्रयेत्, तथा-वत्संयदव्यञ्ज पातयेत्, तथा-
परितापयत्पीडाभ्युत्पादयेत्, अपद्रापयद्वा जीविताद् व्यपरोप-
येदित्यत ईर्यासमितेन अचित्तव्यभिचि प्रथमा भावना । आचा०
२ सु० ३ चू० ।

वित्तियं च मण्येण पावण पावकं अहम्मिकदारुणं नि-
संसं बहुबंधपरिक्लेशसबहुलं जरामरणपरिक्लेशसंक्लिष्टं
न कया वि मण्येण पावणं पावगं किंचि वि जायव्वं, एवं
मण्यसमितिजोगेण जावितो जवति अंतरप्पा असवबलमसंकि-
लिष्टनिव्वणचरित्तजावणाए अहिंसए संजए सुसाहु २ ॥

द्वितीयं पुनर्जावनावस्तु मनःसमितिलक्षणं मनसा पापं न भ्यातव्य-
म् । एतदेवाह—मनसा पापकेन पापकमिति काका व्येयम् । ततश्च
पापकेन दुष्टेन सता मनसा यत्पापकमशुभं तन्न कदाचिन्मन-
सा पापकं किञ्चित्प्रातव्यमिति वक्ष्यमाणवाक्येन सम्बन्धः ।
पुनः किंचित् पापकमित्याह—अधर्मिकाणामिदमाधर्मिकं, तच्च
तदाचरणं चेति आधर्मिकदारुणं, नृशंसं शूकावर्जितं, वधेन हन-
नेन, बन्धेन संयमेन, परिक्लेशेन च परितापनेन हिंसागतेन
बहुलं प्रचुरं यत्तत्तथा । जरामरणपरिक्लेशैः फलभूतैः, वाच-
नान्तरे-‘भयमरणपरिक्लेशैः’ संक्लिष्टमशुभं यत्तत्तथा न कदा-
चित्त कञ्चनापि काष्ठे (मण्येण पावणं ति) पापकं नैव मनसा
(पावगं ति) प्राणातिपातादिकं पापं किञ्चिदल्पमपि भ्यातव्यमका-
अतया चीन्तनीयम् । एवमनेन प्रकारेण मनःसमितियोगेन चि-
त्तसत्प्रवृत्तिवृत्तान्तव्यापारेण जावितो वासितो भवत्यन्तरात्मा
जीवः । किंचिध इत्याह—अश्वत्थासंक्लिष्टनिर्वेजचारित्र्यभा-
वनाकः, अश्वत्थासंक्लिष्टनिर्वेजचारित्र्यभावनया वा अहिंसकः,
संयतः सुसाधुरिति प्राग्वत् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अहावरा दोच्चा जावणा मणं परिजाणइ, से णिग्गंथे जे
य मण्ये पावण सावज्जे सकिरिए अएहयकरे जेयकरे भेय-
करे अधिकरणिए पाउसिए परिताविते पाणाइवाइए नू-
त्तेवधातिए तहप्पगारं मणं णोपधारेज्जा, मणं परिजाणति,
से णिग्गंथे जे य माण्ये अपावते चि दोच्चा भावणा ॥

द्वितीयभावनयां तु मनसा दुष्प्रवृत्तिरहितेन नो भाव्यम् । त-
द्दर्शयति—यन्मनः पापकं सावधं सक्रियं (अहयकरं ति)
कर्माभवकारि, तथा-उदेनमंदनकरम्, अधिकरणकरं कञ्-

हकरं, प्रकृत्यदोषं प्रदोषिकं, तथा-प्राणिनां परितापकारीत्यादि
न विधेयमिति । आचा० १ सु० ३ चू० ।

तद्वयं च वइए पावण पावगं अहम्मिकदारुणं निसंसं
बहुबंधपरिक्लेशसबहुलं जरामरणपरिक्लेशसंक्लिष्टं न
कयावि वइए पावियाए ओ पावगं किंचि वि भासियव्वं, एवं
वइसमितिजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असवबलमसंकि-
लिष्टनिव्वणचरित्तजावणाए अहिंसओ संजओ सुसाहु ३ ॥

(तद्वयं च चि) तृतीयं पुनर्जावनावस्तु वचनसमितिर्यत्र वाचा
पापं न भयितव्यम् । इत्यतदेवाह—(वइए पावियाए इति) काका
व्येतव्यम् । एतद् व्याख्यानं च प्राग्वत् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अहावरा तच्चा भावणा वइ परिजाणति, से णिग्गंथे
जाव वाइपाविया सावज्जा सकिरिया० जाव नूतोवधाइया
तहप्पगारं वइ णो उच्चारेज्जा वइ परिजाणइ, से णिग्गंथे
जाव वइ अपाविय चि तच्चा भावणा ॥

अथापरा तृतीया भावना, तत्र निर्ग्रन्थेन साधुना समितेन प्र-
व्येतव्यमिति । आचा० २ सु० ३ चू० ।

चतुर्थं आहारएसणाए सुद्धं उद्धं गवेसियव्वं, अस्माए
अकहिए असिद्धे अदीणे अकलुणे अविताती अपरित्त-
जोगी जयणपडणकरणचरित्तविनयगुणजोगसंपडचे जि-
क्खुं निक्खेसणाए जुत्ते समुदाणिऊण निक्खचरियं उ-
द्धं घच्छुणं आगए गुरुजणस्स पासं गमणागमणातिचारप-
मिकमणपारिकेते आहोयणदायणं च दाऊण गुरुजणस्स
जहोवएसं निरइयारं अप्पमत्तो पुणरवि अण्येसणाए प-
यत्तो पक्कमिच्चा पसंत-आसीण-सुहनिस्सो सुहुत्तमेत्तं च
जाणसुहजोगनाएसज्जायगोवियमणे धम्ममण्ये अवि-
मण्ये सुद्धमण्ये अविग्गहमण्ये समाहियमण्ये सप्पासंवगेनिज्जर-
मण्ये पवयणवच्छद्वजावियमण्ये उट्टेऊण य पट्टो जहराइणि-
यं निरतइत्ता य साहवे जावओ य विइसे य गुरुजण्ये उ-
पविद्धं संपमज्जिऊण ससीसं कायं तद्वा करयद्धं अमुच्चिए
अगिच्छे अगहिए अगरहिए अण्णजोववसे अणाइसे अ-
हुच्छे अणत्तइए अमुरसुरं अवचवं अणञ्जुयमविद्धं वियम-
परिसाकि आहोयणजायणे जयमप्पमत्तेणं ववगयसंजोगम-
णिगाद्धं च विगयधूमं अक्खोवज्जणवणाखुलेवणज्जुयसंजम-
जायामायानिमित्तं संजमभारवाहुणइयाए तुंजेज्जा पाण-
धारणइयाए संजएणं समियं एवमाहारसमितिजोगेण जा-
वितो भवति अंतरप्पा असवबलमसंक्लिष्टनिव्वणच-
रित्तजावणाए अहिंसए संजए सुसाहु ४ ॥

(चतुर्थं ति) चतुर्थभावनान्वस्तु आहारसमितिर्पिति । तामेवा-
ह—(आहारएसणाए सुद्धं उद्धं गवेसियव्वं ति) व्यक्तम् । इ-
दमेव प्रावयितुमाह—अज्ञातः श्रीमत्प्रवृत्तितादित्वेन दायकजनाऽ
नवगतः, अकथितः स्वयमेव यथाहं श्रीमत्प्रवृत्तितादिरिति,
अशिष्टोऽप्रतिपादितः परेण । वाचनान्तरे—‘अस्माए अकहि-

स्मिन् स्थाने यथाच्छन्दो विवर्द्धित-विशेषेण वर्द्धितं, जानीहि । तच्च तथैवानन्तरमुपदर्शितम् । कस्माच्चि वर्द्धितं जानीहि इति चेत् १, उच्यते-प्रतिसेवनात् प्ररूपणाया बहुदोषत्वात्, इह पार्श्वस्थत्वं यथा-णामपि संभवति । तद्यथा-त्रिङ्गोर्णावच्छेदिनः, आचार्यस्य च । यथाच्छन्दत्वं पुनर्निङ्गोरेव । ततः पार्श्वस्थविषयं सूत्रं त्रिसूत्रात्मकं यथाच्छन्दविषयं त्वेकस्वरूपमिति ।

सम्प्रति कुशीलादीनां प्रायश्चित्तविधिमतदेशत आह-
पासत्ये आरोवण, ओहविजागेण वन्निपा पुर्वं ।

सन्वे वि निरवसेसा, कुशीलमादीण नाग्रवा ॥

यैव पूर्वं पार्श्वस्थे प्रायश्चित्तस्योद्येन, विजागेन वाऽऽरोपणप्रदानमुपवर्धिता, सैव निरवसेषा ओद्येन, विजागेन च ज्ञातव्या । यत्र तु विशेषः स तत्र तु वक्ष्यते । गतं यथाच्छन्दसूत्रम् । व्य० १ उ० । म० ।

जे भिक्खु अहातं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ ॥१७॥

जे निक्खु अहातं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ ॥१८॥

अहच्छन्दं चि यकाररूपव्यञ्जनलोपे कृते, स्वरेव्यवस्थिते च भवति । उन्दोऽभिप्रायः, यथाऽस्याभिप्रेतं तथा प्रज्ञापयन् अहाच्छन्दो जवति । तं जो पसंसति, वंदति वा तस्स चउगुरुं, आणादिया य दोसा । (नि०चू०) (इतोऽपे व्यवहारेण गतार्थः)

कारणे पुण पसंसति वंदति वा-

वितियपदमणप्पज्जे, पसंस अविक्खिते व अप्पज्झो ।

जोऽणंते वावि पुणो, भयसा तव्वादि गच्छद्वा ॥१९॥

अहाच्छन्दो कोइ राइस्सिओ, तम्भया तं पसंसति, वंदति वा (तव्वादि (चि) कंश्चिदेवं वादी प्रमाणं कुर्यात्-अहाच्छन्दो न वन्थो, नापि प्रशंस्यः, इति प्रतिज्ञा कस्माद्वेतोः ? । उच्यते-कर्मवन्ध-कारणत्वात् । को दृष्टान्तः ? , अविरतमिध्यात्ववन्दनप्रशंसनवत् । ईदृशप्रमाणस्य दूषणेन दोषमावहति प्रशंसनवन्दनप्ररूपणं कुर्वन् (गच्छच्छि) कोइ अहातं ओमाइसु गच्छरफ्फणं करोति, तं वंदति पसंसति वा, ण दोसो । नि० चू० ११ उ० । आचार्ये यथाच्छन्दे जातेऽन्यत्रोपसंपत् । व्य० ४ उ० ।

अहातंविहारि (ण)-यथाउन्दविहारिन्-पुं० । आजन्मापि यथाच्छन्दे, ज० १० श० ४ उ० ।

अहाजाय-यथाजात-न० । यथाजातं नाम यथा प्रथमतो जननीजराभिर्गतो, यथा च भ्रमणो जातस्तथैव जातत्वक्रमेण दीयमाने वन्दनके, वृ० ३ उ० । यथाजातं जन्म भ्रमणत्वमाश्रित्य, योनि-निष्क्रमणं च; तत्र रजोहरणमुखवस्त्रिकाचोत्रपट्टकमात्रया भ्रमणो जातः, रचितकरपुटस्तु योन्या निर्गतः, एवम्भूत एव वन्दति, तद्व्यतिरेकाच्च यथाजातं भययते कृतिकर्मवन्दनम् । आव० ३ अ० । यथाजातं-जातं जन्म, तच्च चेष्टा-प्रसवः प्रव्रज्याग्रहणं च । तत्र प्रसवकाले रचितकरसंपुटो जायते, प्रव्रज्याकाले च गृहीतरजोहरणमुखवस्त्रिक इति । अत एव रजोहरणादीनां पञ्चानां शास्त्रे यथाजातत्वमुक्तम् । तथा च तत्पाठः-“ पंच अहाजायाइ, चोत्रयपट्टो १ तहेव रयहरणं २ उक्षिअ ३ ज्जोमिअ ४ निस्सि-ज्जय-ज्जुअअं तह य मुहपोत्ती ” ॥१॥ यथा जातमस्य स यथाजातः, तथाभूत एव वन्दते, इति वन्दनमपि यथाजातम् । ध० २ अधि० । अहापुण्वी-यथानुपूर्वी-ली० । यथाक्रमे, ज्यो० २ पाहु० । “अहापुण्वी स पत्थिया” । रा० ।

अहातच्च-यथातच्च-न० । अभिधानार्थानतिक्रमे, अन्वर्थसत्यापने च । स्या० ५ डा० १ उ० । दशा० । शब्दार्थानतिक्रमे तत्त्वानतिक्रमे च । म० ३ श० १ उ० । स्या० ।

यथातथ्य-न० । सत्ये, कल्प० १ क्ष० । व्य० । एकान्ततः यथा येन प्रकारेण तथ्यं सत्यं, ‘तत्त्वं वा’ तेन यो वर्द्धतेऽसौ यथा-तथ्यो ‘यथातत्त्वं’ वा । दृष्टार्थाविसंवादिनि, फलाविसंवादिनि च स्वप्नेदे, म० । तत्र दृष्टार्थाविसंवादी स्वप्नः, किल कोऽपि स्वप्नं पश्यति-यथा-मह्यं फलं हस्ते दत्तं, जागरितस्तत्तथैव पश्यतीति । फलाविसंवादी तु किल कोऽपि गोवृषकुङ्कु-राद्यारूढमात्मानं पश्यति, वृक्षश्च कालान्तरे सम्पदं लभत इति । म० १६ श० ६ उ० ।

अहापज्ज-यथापर्याप्त-त्रि० । यथालब्धे, अणु० ३ वर्ग० ।

अहापडिस्स-यथाप्रतिरूप-त्रि० । उचिते, औ० । नि० चू० ।

येन प्रतिरूपेण साधूचितस्वरूपं तस्मिन्, विपा० १ शु० १ अ० ।

अहापणिहिय-यथाप्रणिहित-त्रि० । यथाऽवस्थिते, “अहापणिहिहि गाएहि ” म० ३ श० २ उ० ।

अहापरिगहिय-यथापरिगृहीत-त्रि० । परिग्रहणानुरूपेण स्वीकृते, “अहापरिगहियाइ वत्थाइ धारेज्जा” । आचा० १ शु० ८ अ० ४ उ० ।

अहापरिष्ठा-यथापरिज्ञात-त्रि० । परिज्ञानानुरूपेणाम्युपगते, आचा० २ शु० २ अ० ३ उ० । “अहापरिष्ठातं वसामो ” यथापरिज्ञातं यावन्मात्रं क्षेत्रमनुजानीते भवान् तावत्क्षेत्रम् । आचा० २ शु० २ अ० ३ उ० ।

अहापवत्त-यथाप्रवृत्त-न० । येनैव प्रकारेणानादिकाहेऽभूत् तनैव प्रवृत्तवद् नामाप्तपूर्वस्वभावान्तरप्राप्तं, पञ्चा० ३ विव० ।

अहापवित्तिकरण-यथाप्रवृत्तिकरण-न० । यथाप्रवृत्तस्य करणे सम्यक्त्वानुगुणे करणभेदे, कर्म० ५ कर्म० । अष्ट० ।

अहापवित्तिसंक्रम-यथाप्रवृत्तिसंक्रम-पुं० । यथा यथा जघन्य-मध्यमोत्कृष्टानां योगानां प्रवृत्तिस्तथा तथा संक्रमणे, पं० सं० ५ द्वार । क० प्र० । (‘संक्रम’ शब्दे विवरिष्यते)

अहावायर-यथावादर-त्रि० । असारे, म० ३ श० १ उ० । स्थूलप्रकारं, “अहावायराइ कम्माइ ” म० ६ श० १ उ० । कल्प० । यथोचितवादरे आहारपुञ्जले, प्रति० ।

अहावीय-यथावीज-न० । यद् यस्योत्पत्तिकारणं, तस्मिन्, सूत्र० २ शु० ३ अ० ।

अहावोह-यथावोध-अ० । बोधानतिक्रमे, ध० १ अधि० ।

अहाभदग-यथाभक्षक-पुं० । साध्वनुकूले श्रावके, वृ० १ उ० । आव० । शासनबहुमानवति, वृ० १ उ० ।

अहाभाग-यथाभाग-अव्य० । यथाविषये, दश० ५ अ० ।

अहानूय-यथानूत-पुं० । तात्त्विके, स्या० १ डा० १ उ० ।

अहापग-यथामार्ग-अव्य० । ज्ञानादिमोक्षमार्गानतिक्रमेण कयोपशमजावानतिक्रमे, दशा० ७ अ० । ज्ञा० । स्था० । औदयिकमावापगमे, स्था० ७ डा० । व्य० । कल्प० । म० ।

ए अदुष्टेति ' दृश्यते । 'अदीणे' इत्यादि तु पूर्ववत् । भिक्षुर्मि-
क्षयणया युक्तः (समुदाणेउणं ति) अदित्वा भिक्षाचर्यां गौचर-
मिवोन्मत्तमत्पण्डितं भैक्ष्यं गृहीत्वा आगतो गुरुजनस्य
पाद्वै समीपं गमनागमनातिचाराणां प्रतिक्रमणेन ईर्यापथि-
कादण्डकेनेत्यर्थः । प्रतिक्रान्तं येन स तथा (आलोच्य ति)
आलोचनं यथागृहीतभक्तपाननिवेदनं तयोरेवोपदर्शनं च (दा-
ऊणं ति) कृत्वा (गुरुजनस्य ति) गुरोर्गुरुसंदिष्टस्य वा वृषभ-
स्य (जहोवपसं ति) उपदेशानतिक्रमेण, निरतिचारं च दोष-
वर्जनेन अप्रमत्तः, पुनरपि च अनेपण्याया अपरिज्ञातानालोचि-
तदोषरूपायाः, प्रयतो यत्नवान्, प्रतिक्रम्य कायोत्सर्गकरणेनेति
भावः । प्रशान्त उपशान्तोऽनुत्सुकः, आसीन उपविष्टः । स एव
विशेष्यते-सुखनिषण्णः-अनाथाधवृत्योपविष्टः । ततः पदत्रयस्य क-
र्मधारयः । मुहुर्त्तमात्रकं च काशं ध्यानेन धर्मादिना, शुभयोगेन सं-
यमव्यापारेण गुरुधिनयकरणादिना, ज्ञानेन ग्रन्थानुप्रेक्षणरूपेण,
स्वाध्यायेन वाऽऽर्धातुगुणनरूपेण, गोपितं धिययान्तरगमने निरु-
द्धं मनो येन स तथा । अत एव धर्मे भुतचारित्ररूपे मनो यस्य
स तथा । अत एवाविमना अशून्यचित्तः, शुभमनाः असंक्षिप्त-
चेताः, (अविगगदमणे ति) अविग्रहमनाः असंक्षिप्तकलहचेताः,
अभ्युद्गहमना वा अविद्यमानासदभिनिवेशः, (समाहियमणे ति)
समं तुल्यं रागद्वेषानाकक्षितं आदितमुपनीतमात्मनि मनो येन स
समाहितमनाः, शमेन चोपशमेन अधिकं मनो यस्य स समाधि-
कमनाः, समाहितं वा स्वस्थं मनो यस्य स समाहितमनाः । भक्षा
च तत्त्वभ्रष्टान्, संयमयोगविषयो वा निजामिलापः, संवेगश्च मो-
क्षमार्गोभिलापः संसारजयं वा, निर्जरा च कर्मकमणं मनसि य-
स्य स भक्षासंवेगनिर्जरामनाः । प्रवचनवात्सल्यभावितमना इति
कपट्यम् । उत्थाय च प्रहृष्टस्तेऽतिशयप्रमुदितो, यथारालिकं
यथाज्येष्ठं, निमन्त्र्य च साधून् साधर्मिकान् जावतश्च भक्त्या
(विश्रय ति) वितीर्णं च हृद्भव त्वमिदमशनादीन्येवमनुज्ञाते
च सति भक्तादौ गुरुजनेन गुरुणा, उपविष्ट उचितासनं संप्रमुज्य
मुखवल्गिकारजोहरणाभ्यां सशीर्षं कायं समस्तकं शरीरं, तथा-
करतलं हस्ततलं च, अमूर्च्छिते आहारविषये न मूढिमाणनम् ।
अगुरुः अप्राप्तरसेऽनाकाङ्क्षवान्, अग्रयितः रसानुगतन्तुभिरसं-
द्वितः, अगर्हितः आहारविषये अकृतगर्ह इत्यर्थः । अनध्युपप-
न्नो न रसेषु एकाग्रमनाः, अनाविलोऽकलुषः, असुद्धः लोभवि-
हितः, (अणुत्तपि ति) नात्मार्थं एव अर्थो यस्यास्त्यसावना-
स्मार्थिकः, परमार्थकारिण्यर्थः । (असुरसुरं ति) एवंभूतशब्द-
जितः (अवचवं ति) वचवचेतिशब्दरहितम्, अनद्धतमनुत्सुकम् ।
अविलम्बितम् अनतिमन्दम् । अपरिशाटि परिशाटेवर्जितं, 'मुं-
जंजा' इति क्रियाया विशेषणनामानि । (आलोच्यजायणे ति)
प्रकाशमुखे अथवाऽऽलोके प्रकाशेनाऽन्धकारे पिपीलिकावाला-
दीनामनुपलम्भात्, तथा भाजने पात्रे, पात्रं विना जज्ञादि सम्पति-
तसत्त्वादर्शनादिति, यतो मनोवाक्कायसंयतत्वेन प्रयत्नेनादरेण
व्यपगतसंयोगं संयोजनादोपरहितं (अणिगालं च ति) रागप-
रिहारेणेत्यर्थः । (विगयधूमं ति) द्वेपरहितम् । आह च- "रागेण स
इंगालं, दोषेण स धूमगं वियाणीहि ति" । अज्ञस्य धुर उपाज्जनम्
अज्ञोपाजनं, तस्य व्रणानुलेपनं च ते भूतं प्राप्तं यत्तत्तथा, तत्क-
ल्पमित्यर्थः । संयमयात्रा संयमप्रवृत्तिः, सैव संयमयात्रा मात्रा
तन्निमित्तं हेतुर्न तत्संयमयात्रामात्रनिमित्तम् । किमुक्तं जवति-
संयमभारवहनार्थतया इयं जावनेह-यथाऽङ्गस्योपाज्जनं नारव-
हनायैव विधीयेत न प्रयोजनान्तरे, एवं संयमनारवहनायैव

साधु भुञ्जीत न बलरूपनिमित्तं, विषयलौल्येन वा । अविकलो
हि भोजनसंयमसाधनं शरीरं धारयितुं समर्थो भवतीति
(भुञ्जेज्ज ति) भुञ्जीत भोजनं कुर्वीत । तथा भोजने कारणान्त-
रमाह-प्राणधारणार्थतया जीवितव्यसंरक्षणायेत्यर्थः । संयतः
साधुः णमिति वाक्याद्वक्तारे । (समिथं नि)सम्यक् । निगमयन्माह-
एवमाहारसमितियोगेन भावितः सन् जवत्यन्तरात्मा अश्वव्यासं-
क्लिष्टनिर्गन्धचारित्रज्ञावनाकः, अश्वव्यासंक्लिष्टभावनया हेतु-
भूतया वा अहिंसकः संयतः सुसाधुरिति । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अहावरा चउत्था जावणा आयाणजंननिकखेवणास-
मिप से णिगंथे खो अणायाणभंनणिकखेवणासमिप
णिगंथे केवली वूया आयाणभंडाणिकखेवणाअसमिप णि-
गंथे पाणाइं चूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहण्जेज्ज वा० जाव
उद्देवज्ज वा आयाणभंनणिकखेवणासमिप, से णिगंथे जो
आयाणजंनणिकखेवणा असमिप ति चउत्था जावणा ॥

तथा चतुर्थी भावना आदानभाएरुमात्रनिक्षेपणासमितिः, तत्र
निर्ग्रन्थेन साधुना समितेन भवितव्यमिति । आचा० २ शु०
३ चू० ।

पंचमगं पीढफट्ठगसेज्जनासंधारगवत्थपत्तकंवत्तदंदकरय-
हरणचोलपट्टगमुहपोत्तियपायपुण्डणादि एयं पि संजमस्स
उववूहणट्टयाए वातातपदंसममगसीयपरिरक्खणट्टयाए उ-
वगरणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं संजएणं निच्चं पढिसे-
हणपप्फोरुणपमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण
होइ सययं निक्खियव्वं च गिण्हियव्वं च जायणभंडोवहि
उवकरणं, एवं आयाणजंनणिकखेवणासमिपं जोगेण जा-
वितो जवति अंतरप्पा असवत्तमसंकिद्धिद्वनिव्वणचरित्त-
भावणाए अहिंसए संजए सुमाहु ५ ॥

(पंचमगं ति) पञ्चमभाषनावस्तु आदानसमितिनिके-
पसमितिलक्षणम् । एतदेवाह-पीठादिद्वादशविधमुपकरणं प्र-
सिद्धम् । (एयं पीति) एतदपि अनन्तरोदितमुपकरणम्, अपिश-
ब्दादन्यमपि संयमस्यापवृंहणार्थतया संयमपोषणाय, तथा-
वातातपदंशमशकशीतपरिरक्षणार्थतया उपकरणमुपकारकम्
उपधिः, रागद्वेषरहितं क्रियाविशेषणमिदम् । (परिहरियव्वं ति)
परिभोक्तव्यं, न विभूपादिनिमित्तमिति भावना, संयतेन साधुना
नित्यं सदा, तथा-प्रत्युपेक्षणाप्रस्फोटनान्यां सदा या प्रमार्जना
सा तथा तथा, तत्र प्रत्युपेक्षणा चकुर्व्यापारेण, प्रस्फोटनया
आस्फोटनेन, प्रमार्जनया च रजोहरणादिव्यापाररूपया (अहो
य राओ ति) अहिं च रात्रौ च, अप्रमत्तेन भवति सततं निक्षे-
प्तव्यं च भोक्तव्यं, ग्रहीतव्यं चादातव्यम् । आदातव्यं किं तत् ?
इत्याह-माजनं पात्रं, भाएनं तदेव मृगमयं, उपधिश्च वस्त्रा-
दि, एतत् त्रयलक्षणमुपकरणमुपकारकारि वस्तिवति कर्म-
धारयः । निगमयन्माह-एवमादानेत्यादि पूर्ववत्, नवरं इह-
प्राकृतशैल्याऽन्यथा पूर्वापरपदनिपातः, तेन भाण्डस्योपकरण-
स्यादानं च ग्रहणं, निक्षेपणा च मोचनं, तत्र समितिर्मात्रमादा-
ननिक्षेपणासमितिगिति वाच्ये, आदानभाएरुनिक्षेपणासमिति-
रित्युक्तम् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अहावरा पंचमा भावणा आलोच्यपाणभोई, से णिगंथे

णो अणालोडयपाणभोय गभोडे केवडो वृया अणालोडय-
पाणभोयणुत्तेडे ते णिग्गेवे पाणातिवाः ४ अन्निहणेज्ज
वा० जाव उद्वेज्ज वा तन्हा आत्तोडयपाणभोयणभाडे से
णिग्गेवे सो अणालोडयपाणभोड नि पंचमा जावणा ॥

तथा पण पञ्चमी भावना आलोचने प्रयुक्तेष्वपि प्रशान्ति-
कर्म, तदकरणे दोषसंभवाः । आचारः १ ५० ३ चू० ।

अथाऽयमर्थे निगमयताम्-

एवमित्यं संवरस्म दातं समं मंचयिं दुंति, सुप्पाणिदियं, इ-
मेदिं पंचादिं वि काण्णादिं मणायकायपरिक्खिण्णि, नि-
चं आमण्णं च एमं जागो नियवो धितिमता मतिमता
आणामवां अकलुसो आच्छदो अपरिस्सतो असंकिञ्चिदो
सुद्धो मच्चजिणमण्णानो, एवं पदम संवरदारं फासियं पा-
लियं सोदियं निरियं किदियं आरादियं आणाए अण-
पाणिं जयति, एवं नायमुणिणा जगवया पणवियं परू-
वियं पमिद्धं सिद्धं सिद्धवरमासणमिणं आयवियं मुदेसियं
पनत्थं पदमं संवरदां सम्मत्तं ति वेमि ॥

एवमिति उक्तक्रमेण, उदमहिंसा लक्षणं, संवरस्यानाश्रयस्य, द्वार-
मुपायः, सम्यक् संवृतम् आसेधिनं भवति, किंचिदं सदित्याह-
मुप्रणिहितं सुप्रणिधानवत्, सुरक्षितमित्यर्थः । केः किंचिदं रि-
त्याह-एवमः पञ्चभिः कारणैः भावनाधिष्ठैः अहिंसापादने-
तुभिः, मनोवाक्यपरिहृतिरिति । तथा-नित्यं सदा आमरणा-
न्त च मरणान्तरमन्त यावत् मरणान्तरतोऽप्यसम्भवात्, एव यो-
गोऽनन्तरोदिनभावनपञ्चकुरो व्यापारो, नेतव्यो बोद्धव्य इति
भावः । केन ?-भूतमना स्वस्थचित्तन, मतिमता बुद्धिमता, कि-
भूतोऽयं योगः ?-अनाश्रयः नवकर्मानुपादानरूपः, यतोऽकलु-
पोऽपापस्वरूपः, विद्वन्मित्रं विद्वं कर्म जलप्रवेशाच्छिषेयना-
च्छिद्रः, अविद्वद्रूपत्वादेवापरिहृती न परित्यजति कर्म ज-
लप्रवेशतः, अस्फुटं न चित्तसंफलयरूपः, शुद्धो निर्दोषः,
सर्वजिर्नरनुज्ञातः सर्वोद्दतामनुमतः, पशुभिर्नार्यासमित्यादि-
भावनापञ्चकयोगेन, प्रथमं संवरद्वारमहिंसा लक्षणं, (फासियं-
नि) स्पृष्टमुचितं कालं विधिना प्रतिपन्नं, पालितं सतत स-
म्यगुपायोगेन प्रतिचरितं, (सोदियं ति) शोभितमन्येवामपि
तदुचितानां दानादतिचारवर्जनाद्वा, शोधितं वा निरतिचारं कृतं,
तीरितं तीरं पारं प्रापितं, कीर्तितमन्येवामुपदिष्टम्, आराधितमं-
भिरय प्रकारैर्निष्ठां गीतम्, आकृष्या सर्वश्रवणेनानुपालितं भ-
वति पूर्वकालसाधुभिः पालितत्वाद्भिर्वा तत्कालसाधुभिश्चानु-
पश्रितापाश्रितमिति । केनेदं प्ररूपितमित्याह-एवमत्युत्कृष्टं, ब्रा-
तमुनिना क्षत्रियविशेषरूपेण यतिना, श्रीमन्महावीरेणैवार्थः भ-
गवतैश्चर्यादिजगद्युक्तेन, प्रज्ञापितं सामान्यतो विनेयेभ्यः कथितं,
प्ररूपितं जेदानुमेदकयेन, प्रसिद्धं प्रख्यातं, सिद्धं प्रमाणप्रतिष्ठितं,
सिद्धानां निष्ठितार्थानां वरणासनं प्रधानाद्वा सिद्धवरशासनम्,
इदमेतत् । (आधवियं ति) अर्थः पूजा तस्य आग्निः प्रासिर्जाता
यस्य तदध्यापितम्, अर्थं वा आपितं प्रापितं यत्तदध्यापितं, सु-
देशितं सुपु दशितं, सदेवमनुजासुरायां पर्यदि नानाविधनय-
प्रमाणैरभिहितं सुदेशितं, प्रशस्तं मङ्गल्यमिति, प्रथमं संवरद्वारं
समाप्तमिति । सम्ब० १ द्वार ।

पंचमा भावणा एतावया च महव्वयं सम्मं काएण फा-
सिए पाप्पिए तीरिए किदिते अवडिते आणाए आहा-
रिए यावि जयति, पदमे जेत महव्वए पाणाइयायाओ वेरमणं ।

इति इत्येवं पञ्चभिर्भाष्यनाभिः प्रथमं व्रतं स्पष्टितं पालितं तीर्थं
कीर्तितमवस्थितमाश्रयाऽऽराधितं भवतीति । आचारः ०२५०३ चू० ।

(७) सर्वे प्राणा न हन्तव्याः-

सेवेमि जे य अतीता जे य पडुप्पणा जे य आगमिस्सा
अरहंता जगवंतो ते सब्बे एवमाइक्खंति एवं नासंति
एव पण्वेति एवं परूवेति सब्बे पाणा सब्बे जूया सब्बे
जीवा सब्बे सत्ता ण हंतव्वा ण आणावेतव्वा ण परि-
धेत्तव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्वेयव्वा ॥

येऽतीता अतिक्रान्ताः, ये च प्रत्युत्पन्ना वर्त्तमानकालभाविनः, ये
जागामिनः, त एवं प्ररूपयन्तीति सम्यग्धः । तत्रातिक्रान्तास्ती-
र्थकृतः कालस्यानादित्यादिति यत्तमतिक्रान्ताः, अनगता अ-
प्यनन्ता आगामिकालस्यानन्तत्वादिति । वर्त्तमानतीर्थकृतां प्र-
ज्ञापकापेक्षितयाऽनवस्थितत्वे सत्यप्युत्कृष्टजघन्यपदिन एव क-
थ्यन्ते, तत्रोत्सर्गतः समयक्षेत्रसम्भावने सत्युत्तरशतं पञ्च-
स्वपि विदेहेषु प्रत्येकं द्वात्रिंशत् क्षेत्रात्मकत्वादेकैकस्मिन् द्वात्रिं-
शत्, पञ्चस्वपि भरतेषु पञ्च, एवमेवावतेष्वपीति, तत्र द्वात्रिंशत् प-
ञ्चभिर्गुणिताः पष्ट्युत्तरं शतं भरतैरावतदशप्रक्षेपण सत्यधिकं
शतमिति, जघन्यतस्तु धिशतिः, सा चैवं पञ्चस्वपि महाविदेहेषु
विदेहान्तर्महानद्युजयतटसङ्गावात्तीर्थकृतां प्रत्येकं चत्वारः, तेऽ-
पि पञ्चभिर्गुणिता धिशतिर्भरतैरावतयोस्त्विकान्तसुखमादाव-
भाव एवेति । अन्यं तु व्याचक्षते-भेराः पूर्वापरविदेहैकैकशस्तावा-
न्महाविदेहद्वयेव पञ्चस्वपि दृश्येति । तथा ते आहुः-"सत्तरसय-
मुक्तांसं, इतरे वससमयक्षेत्रजिणमाणं । चोत्तं स पदमदीवे, अ-
णतरदे यदुत्तं" । क इमे अर्हन्तः, अर्हन्ति पूजासत्कारादि-
कमिति । तथा-पेभ्यर्थाद्युपेता भगवन्तः, ते सर्व एव परप्रज्ञावसेरे
एवमाचक्षते, यदुत्तरत्र वक्ष्यते, वर्त्तमाननिर्देशस्योपलक्षणाद्य-
त्वादिवदमपि द्रष्टव्यमेवमाचक्षते, एवमाख्यास्यति, एवं सामा-
न्यतः सदेवमनुजायां पर्यधर्ममागच्छा सर्वसत्यस्वभावाणामु-
गमिन्या ज्ञापया भाष्यते, एवं प्रकरणे संशोध्यपनोदायान्तेवासि-
नो जीवाजीवाश्रयसम्यग्धनिर्जराभोक्त्रपदार्थान् ज्ञापयन्ति,
प्रज्ञापयन्ति । एवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारिवाणि भोक्त्रमार्गो"मिथ्या-
त्वाधिरतिप्रमादकपाययोगा बन्धहेतवः 'स्वपरभावेन सदसती
तत्त्वं सामान्यविशेषात्मकमित्योदिना प्रकारेण प्ररूपयन्ति, ए-
कार्थानि चेतनीति । किं तदेवमाचक्षत इति दर्शयति-यथा सर्वे
प्राणाः सर्व एव पृथिव्यप्तेजोवायुधनस्पतयः द्वित्रिचतुष्प-
ञ्चन्द्रियाश्चेन्द्रियबलाच्चासनिश्वासायुष्कत्रकणप्राणधारणात्प्रा-
णाः, तथा-सर्वाणि भवन्ति जविष्यन्त्यभूवन्निति चतुर्दश-
भूतग्रामान्तपातीति, एवं सर्व एव जीवन्ति जीविष्यन्त्यजी-
विपुष्टि जीवाः नारकतिर्यग्नामरत्नकुणाश्चतुर्गतिकाः, तथा-
सर्व एव स्वकृतसातासातोदयसुखदुःखभाजः सत्त्वा एकार्था-
श्चेते शब्दास्तत्त्वमेदपर्यायैः प्रतिपादनमिच्छन्तीति एते च
सर्वेऽपि प्राणिनः पर्यायशब्दावेदिना न हन्तव्या दण्डकशाऽऽ-
दिभिः, नाज्ञापयितव्याः प्रसह्याजियोगदानतः, न परिग्राह्या
श्रुयदासदास्यादिममत्वपरिग्रहतां, न परितापयितव्याः शारीर-

हिपञ्चुआः ॥ ७ । ४ । २०६ । इति ग्रहेरहिपञ्चुअ आदेशः ।
अहिपञ्चुअ-वृद्धाति । प्रा० ४ पाद ।

अहिमञ्जु-अभिमन्नु-पुं० । "न्यययङ्ङां झः" ॥ ७ । ४ ।
२६३ । इति द्विवक्तो झः । प्रा० ४ पाद । "अभिमन्वौ जञ्जौ वा"
॥ २ । २५ । इति मन्वाङ्गस्य जो झञ्झ । पञ्जे—'अहिमन्नु' ।
प्रा० २ पाद ।

आहिमन-अहिमृत्-पुं० । मृताहिदेहे, जी० ३ प्रति० । संपकत्रे-
चरे, विपा० १ भु० १ अ० ।

अहिमर-अभिमर-पुं० । अभिनुष्ठाः परं मारयन्ति ये तेऽभि-
मराः । प्रश्न० ३ संय० द्वार । र्दरचौरेषु अन्वहरेषु, नि० चू०
१ उ० ।

अहिमाङ्ग-अह्मादि-पुं० । उरःपरिसर्पादौ, उच० ३६ अ० ।

अहिमात्त-अधिमात्त-पुं० । अभिर्वर्द्धितमासे, आच० १ अ० ।

अहिय-अधिक-त्रि० । आधिक्यविशिष्टे, "आकूढो सोदह
जहियं सिरे चूडामणि जहा" उच० २२ अ० । जं० । औ० । अक्ष-
रपदादिभिरतिमात्रमधिके, अनु० । हेनोर्दृष्टान्तस्य चाधिक्ये स-
ति, अधिकं यथा-अनित्यः शब्दः, कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वा-
भ्याम्, अष्टपदबदित्यादि । एकस्मिन् साध्ये एकएव हेतुर्दृष्टान्तश्च
वक्तव्यः । अत्र च प्रत्येकं द्वयानिधानाधिक्यमिति भावः । अनु० ।
विशे० । वृ० । अधिकं यत्पञ्चानामवयवानामन्तरेण समधिकम् ।
वृ० १ उ० । आ० म० द्वि० । "अहियसस्तिरीयं" अधिककूपे-
ण सञ्जीकः शोभनो यः स तथा तम् । कल्प० ३ क० । अधिकम-
पि द्विधा-रूपे भावे च । तत्र द्रव्याधिके तथैव हेऽभिरतिके
दृष्टान्त औपचैः पीहकेन च (एवं तावदक्षरपदादिभिरधिके
सूत्रे दोषा मासद्वयमायश्चित्तादयः "हीनकक्षर" शब्दे व-
क्ष्यन्ते) सम्प्रति भावाधिक एवोदाहरणमाह-

"पारुर्लेंऽसोमं कुणालं, उज्जणी बेहलिहण सयमेव ।

अहिय सवत्तीमत्ता-ऽहिएण सयमेव वायणया ॥

मुरियाण अप्पडिहया, आणा सयमंजणं निवे णाणं ।

गामग सुयस्स अम्मं, गंधःवाडट्टणा केह ॥

अंदशुत्तपपुत्तां य, विदुसारस्स नन्नुओ ।

असोमसिर्णिणो पुत्तो, अंधो आयइ कार्याणि" ॥ वृ० १ उ० । विशे० ।

अहित-त्रि० । अपच्ये, म० ७ श० ६ उ० । स्या० । अपाये,
स्था० ५ ता० १ उ० । भावप्रधानोऽयं निर्देशः । परिणामासुन्द-
रत्वे, दशा० ६ अ० ।

अहियदिण-अधिकदिन-न० । दिनवृद्धौ, स्या० ६ टा० ।

अहियपोरिसीय-अधिकपौरुषीक-त्रि० । पुंस्वप्रमाणाधिके,
"कुंभीमहंताहिपपोरिसीया, समुसिता लोहियपूयपुष्पा" ।
सूत्र० १ भु० ५ अ० १ उ० ।

अहियप्पसाण-अहितप्रज्ञान-त्रि० । अहितं प्रज्ञानं बोधो
यस्य सोऽहितप्रज्ञानः । अहितबोधे, सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० ।

अहियरुवसस्तिरीय-अधिकरूपसञ्जीक-त्रि० । अतिशोभिते,
कल्प० ३ झ० ।

अहियहिय-अहितहित-त्रि० । अतिबहुकादिभु तथाविधे
भोजने, पिं० ।

सांप्रतमहितहितस्वरूपमाह-

दहितेष्ट्य समाजोगा, अहिओ खीरदहिकंजियाणं च ।

पत्तं पुण रोगहरं, न य हेऊ होइ रोगस्स ॥ ६१० ॥

दधितैलयोः, तथा-क्षीरदधिकाक्षिकानां च यः समायोगः सो-
ऽहितो, विरुद्ध इत्यर्थः । तथा चोक्तम्-"शाकमूत्रफलपि-
ण्याकफपित्तलवलैः सह । करीरदधिमत्स्यैश्च, प्रायः क्षीरं
विरुध्यते" ॥ १ ॥ इत्यादि । अविरुद्धरूप्यमेलनं पुनः पथ्यं, तच्च
रोगहरं प्रादुर्भूतरोगविनाशकरम् । न च भाविता रोगस्य हेतुः
करणम् । उक्तञ्च-"अहिताशनसंपर्का-त्सर्वरोगोद्भवो यतः ।
तस्माच्चदहितं त्याज्यं, म्याज्यं पथ्यनिवेष्टव्यम्" ॥ १ ॥ पिं० ।

अहियास-अध्यास-पुं० । परोषदादीनां सम्यकृतिनिष्ठायां,
आचा० १ भु० ६ अ० ६ उ० । सूत्र० । वर्तने पात्रेने, सूत्र० १
भु० ५ अ० ।

"कान्तं न क्रमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः,
सोढा दुःसहतापशीतपवनाः क्लेशाश्च तप्तं तपः ।
ध्यातं विचमदनिशं नियमितं द्वन्द्वैर्न तप्तं परं,
यद्यत्कर्म कृतं सुखार्थिभिरदो ! तैस्तैः फलैर्वञ्चितः" ॥ १ ॥
सूत्र० १ भु० २ अ० १ उ० । आचा० । उच० । स्या० । अवि-
चलकायतया (क्वा० १ अ०) सौष्ठवातिरेकेण सहने, स्या०
४ टा० ३ उ० ।

अहियासण्या-अहिताऽऽसनता-स्त्री० । अहितमनुकूलं दो-
षपापाणांघ्रासनं यस्य स तथा, तज्जावस्तथा । अननुकूलासने,
स्या० ६ टा० ।

अध्यशनता-स्त्री० । अभ्यशनमेवाभ्यशनता । दीर्घत्वं तु प्राकृ-
तत्वात् । अजीर्णे भोजने, "अजीर्णे भुज्यते यत्तु, तदभ्यशनमु-
च्यते" इतिवचनात् । स्या० ६ टा० ।

अहियासित्तप-अध्यासयितुम्-मन्य० । अधिसोदुमित्यर्थे,
आचा० १ भु० ७ अ० ४ उ० ।

अहियासित्ता-अधिसह-अन्य० । सोद्वेत्यर्थे, सूत्र० १ भु० ३
अ० ४ उ० ।

अहियासिय-अध्यासित-त्रि० । भावे कः । कृतेऽधिसहने, "द-
वियाण पासअहियासियं" । आचा० १ भु० ६ अ० ३ उ० ।

अहियासेतु-अध्यासह-अन्य० । अधिकमासह । अत्यर्थं सोद्वे-
त्यर्थे, आचा० १ भु० ६ अ० १ उ० ।

अहियासेमाण-अध्यासयत्-त्रि० । सम्यकृतित्तिकमाणे, आचा०
१ भु० ६ अ० १ उ० ।

अहिरससौवर्णिक-अहिरण्यसौवर्णिक-पुं० । हिरण्यं रजतं, सुवर्णं
च हेम, ते विद्येते यस्य स हिरण्यसौवर्णिकः । तथा न । प्रश्न० ३
संब० द्वार । हिरण्यं रजतं सौवर्णिकं सुवर्णमयं कनककलशादि,
न विद्येते हिरण्यसौवर्णिके यत्राऽसौ अहिरण्यसौवर्णिकः । उप-
लक्षणत्वात् सर्वपरिग्रहहिते, पा० । रजतसुवर्णमयकलशा-
दिरहिते, घ० ३ अधि० ।

अहिराय-अधिराज-पुं० । मेलिपुथिवीपतौ, वृ० ३ उ० ।

मानसपीभोत्पादनतो, नाऽपद्रावयितव्याः प्राणव्यपरोपणतः ।
आचा० १ भु० ४ अ० १ उ० ।

(७) वैदिकहिंसाविचारः—

अप्रमत्तस्य योगनिबन्धनप्राणव्यपरोपणस्य अहिंसात्वप्रतिपा-
दनार्थं 'हिंसातो धर्मः' इति वचनं रागद्वेषमाह । योगनिबन्धनस्य
प्राणव्यपरोपणस्य दुःखसंवेदनीयफलनिर्वर्तकत्वेन हिंसात्वोप-
पत्तेः, अत एव वैदिकहिंसाया अपि तन्निमित्तत्वेऽप्यहेतुत्वमन्य-
हिंसावत्प्रसक्तम्, नच तस्या अतन्निमित्तत्वं, 'चित्रया यजेत प-
शुकामः' इति तृष्णानिमित्तध्वणात् । न चैवंविधस्य वाक्यस्य प्र-
माणताऽप्युपपत्तिमती, तस्यासिनिमित्तताऽसोपदेशकत्वात्, तृ-
ष्णादिवृत्तिनिमित्ततदन्यतद्विधातोपदेशवाक्यवत् । न चापौरुषेये
प्रामाण्यम्, तस्य निषिद्धत्वात् । न च पुरुषप्रणीतस्य हिंसावि-
धायकस्य तस्य प्रामाण्यम्, ब्राह्मणो हन्तव्य इति वाक्यवत् । न
च वेदविहितत्वात्तद्विंसाया अहिंसात्वम्, प्रकृतहिंसाया अपि त-
थोपपत्तेः । न च 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः', इति तद्व्याख्यावाधितत्वात् प्र-
कृतहिंसायास्तद्विहितत्वम् । न च हिंसो ज्ञेयत्वं इति वेदवाक्यवाधि-
तचित्रादियजनवाक्यविहितहिंसावत् प्रकृतहिंसायाः ताद्विहित-
त्वोपपत्तेः । अथ ब्राह्मणो हन्तव्य इति वाक्यं न कचिद्वेदे श्रूयते । न ।
उच्छिन्नाऽनेकशास्त्रानां तत्राऽप्युपगमात् । तथा च 'सदस्रवर्त्मा
सामवेदः' इत्यादिश्रुतिः । अथ यज्ञादन्यत्र हिंसाप्रतिषेधः, तत्र च
तद्विधानम् । यथा चान्यत्र हिंसाऽप्यहेतुरित्यागमात् सिद्धं तथा
तत एव तत्र स्वर्गहेतुरित्यापि सिद्धम् । न च यदेकैकत्राप्यहे-
तुत्वेन सर्वशास्त्रेषु प्रसिद्धेः तृष्णादिनिमित्ता च प्रकृतहिंसेति
प्रतिपादितत्वात् न यन्निमित्तत्वेन यत्प्रसिद्धं तत्फला-
न्तरार्थित्वेन विधीयमानमौत्सर्गिकं दोषं न निर्वर्तयति । य-
थाऽऽयुर्वेदप्रसिद्धं दाहादिकं रोगनाशार्थतया विधीयमानं निमि-
त्तं दुःखं क्लिष्टसंवेदहेतुतया च मन्त्रविधानादन्यत्र हिंसादिकं
शास्त्रे प्रसिद्धमिति, सप्ततन्त्रावपि तद्विधीयमानं काम्यमानफल-
सङ्गावेऽपि तत्कर्मनिमित्तं तद्व्यत्येव । न च हिंसातः स्वर्गादिसुख-
प्राप्ता वस्तुनिर्वर्तकक्लिष्टकर्महेतुनाऽसंगता, नरेन्द्राऽऽराधननिमि-
त्तब्राह्मणादिवचनान्तरावाप्तप्रामादिव्राजजनितसुखसंग्राप्तौ तद्व-
दस्यापि तथात्वोपपत्तेः । अथ प्रामादिव्राजो ब्राह्मणादिवधनिर्व-
र्तितदृष्टनिमित्तो न ज्ञयति, तर्हि स्वर्गादिप्राप्तिरप्यध्वरविहितहिं-
सानिर्वर्तिता न भवतीति समानम् । अथाश्वमेधादावाल्गन्य-
मानानां गंगादीनां स्वर्गप्राप्तेर्न तद्विसेति, तर्हि संसारमोचकवि-
रचिताऽपि न एव हिंसा स्यात्, देवतोद्देशतो म्लेच्छादिविर-
चिता च ब्राह्मणगवादिहिंसा च न हिंसा स्यात् । अथ तदागम-
स्याप्रमाणत्वात् तदुपदेशजनिता हिंसा अहिंसा । ननु वेदस्य कुतः
प्रामाण्यसिद्धिः, न गुरुवत्पुरुषप्रणीतत्वात्, परैस्तस्य तत्राऽनभ्युप-
गमात् । नापौरुषेयत्वात्, तस्याऽसंभवात् । तत्र प्रदर्शिताभिप्रायो
हि न हिंसातो धर्मावासिर्युक्ता, परमप्रकर्षवस्यज्ञानवाञ्छात्मकमु-
क्तिमार्गस्य दीक्षाशब्देनाभिधाने दीक्षातो मुक्तिरुपपन्नैव, अविक-
लकारणस्य कार्यनिर्वर्तकत्वात्, अन्यथा कारणत्वायोगात् । तत्र
तदुपपत्तयपदानार्थं चैवमभिधानाददोषात् । न हि तद्व्यत्ययेभावे
उपादेयफलप्राप्तिनिमित्तसम्यग्ज्ञानादिपुष्टिनिमित्तदीक्षाप्रवृत्ति-
प्रवणो ज्ञेयत्वं ; तन्नान्यपरत्वं प्रदर्शितवचसामभ्युपगन्तव्यम् ।
तथाऽभ्युपगमे वाऽनास्तत्वं वेदानां प्रसज्येत, तत्र पूर्वोक्तदोषा-
नतिवृत्तेः ॥ सम्म० ३ कारुण, गाथा १५७ ।

" न हिंस्यात्सर्वभूतानि, स्थावराणि चराणि च ।

आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स धार्मिकः " ॥१॥ अनु० ।

चपदेशमाह—

उरालं जगतो जोगं, विवज्जासं पलिति य ।

सर्वे अंकितदुक्त्वा य, अओ सर्वे अहिंसिता ॥ ए ॥

(उरालमिति) स्यूत्रमुदारं, जगत औदारिकजन्तुग्रामस्य, योगं
व्यापारं, चेष्टाप्रवस्थाविशेषमित्यर्थः । औदारिकशरीरिणो हि ज-
न्तवः प्राक्तनादवस्थाविशेषाऽन्यथा कलत्रादुद्गृह्यत्वाद् विपर्यासभूतं
बालकौमार्यौवनादिकमुदारं योगं परि समन्तादयन्ते गच्छन्ति
पर्ययन्ते । एतदुक्तं भवति—औदारिकशरीरिणो हि मनुष्यादेर्वा-
लकौमारादिकः कालादिकृतोऽवस्थाविशेषोऽन्यथा चाऽन्यथा-
भवन् प्रत्यक्षेणैव दृश्यते, न पुनर्यादृक् प्राक् तादृगेव सर्वदेति ।
एवं सर्वेषां स्थावरजङ्गमानामन्यथाऽन्यथा च भवनं द्रष्टव्यमि-
ति । अपि च—सर्वे जन्तवः, आक्रान्ता अभिभूताः, दुःखेन शरी-
रमानसेनाऽसातोदयेन दुःखाक्रान्ताः सन्तोऽन्यथाऽवस्थाभाजो
लभ्यन्ते, अतः सर्वेऽपि ते यथाऽहिंसिता भवन्ति तथा विधेयम् ।
यदि वा सर्वेऽपि जन्तवोऽकान्तमनाजितमं दुःखं येषां तेऽका-
न्तदुःखाः, चशब्दात् प्रियसुखाश्च ते, तान् सर्वान् न हिंस्यादि-
त्यनेन वाऽन्यथात्वदृष्टान्तो दर्शितो जवत्युपदेशश्च दत्त इति ॥६॥

(६) किमर्थं सत्त्वान्न न हिंस्यादित्याह—

एवं खु नाणिणो सारं, जन्न हिंसद् किंचण ।

अहिंसासमया चेव, एतावतं वियाणिया ॥ १० ॥

(एवं खु इत्यादि) खुरवधारणे । एतदेव, ज्ञानिनो विशिष्टवि-
वेकवतः, सारं न्याय्यं, यत्किञ्चन प्राणिजातं स्थावरं जङ्गमं वा, न
हिनस्ति न परितापयति । उपलक्षणं चैतत्—तेन न मृषा क्लृप्ता-
न्नादत्तं गृह्णीयान्नाऽग्रह्याऽऽसेवेत, न परिग्रहं परिगृह्णीयाज्ज-
नकं चृञ्जीतेत्येवं ज्ञानिनः सारं यत्र कर्माश्रयेषु वर्तत इति ।
अपि च—अहिंसया समता अहिंसासमता, तां चैतावद्विजानीया-
त् । यथा मम मरणं दुःखं वाऽप्रियम्, एवमन्यस्याऽपि प्राणिनोक्-
स्येति । एवकारोऽवधारणे । इत्येवं साधुना ज्ञानवता, प्राणिनां
परितापनाऽपद्रावणादि वा न विधेयमेवेति ॥ १० ॥ सूत्र० १ भु०
१ अ० ४ उ० ।

(१०) तत्राहिंसाप्रसिद्धार्थमाह—

पुढवीआजगणिवारु, तणरुक्खसवीयगा ।

अंरुया पोयजराज, रससंसेयजग्गिया ॥ ७ ॥

(पुढवी आर इत्यादि) तत्र पृथिवीकायिकाः सूक्ष्मवाटरपर्या-
सकाऽपर्यासकज्जदमिन्नाः, तथाऽपृकायिका अग्निकायिकाः वायु-
कायिकाश्चैवंभूता एव । वनस्पतिकायिकान् देशतः समेदानाह-
तृणानि कुशवच्चकादीनि, वृक्षाः चूताशोकादिकाः, सह बीजैर्वर्तन्ते
इति, सबीजानि तु शास्त्रिगोधूमयवादीनि, एते एकेन्द्रियाः पञ्चा-
पि कायाः । षष्ठ्यसकायनिरूपणायाह—अणुरजाः शकुनिगृहको-
क्लिन्नकसरीसृपादयः । तथा—पोता एव पोतजा हस्तिशरजादयः ।
तथा—जरायुजा ये जम्बाववेष्टिताः समुत्पद्यन्ते गोमनुष्यादयः । तथा
रसात् दधिसौवीरकादेर्जाता रसजाः, तथा—संस्वेदाज्जाताः सं-
स्वेदजा यूकामत्कुणादयः । उज्झिज्जाः खल्लरीटकदुर्दुरादय
इति । अज्ञातभेदा हि दुःखेन रक्ष्यन्ते इत्यतो जेदेनोपन्यास इति ।

एतेहिं छएहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया ।

मणसा कायवक्केणं, एारंजी ए परिग्गही ॥ ए ॥

एभिः पूर्वोक्तैः, परमिपरि कायैस्सत्स्थावररूपैः, सूक्ष्मवाटरप-

अहिरियया-अहीकता-स्त्री० । निर्द्वज्जतायाम्, उच्य० ३४
अ० । पि० ।

अहिरीमण-अहीमनस्-त्रि० । लज्जाकारिणि शीतोष्णादौ
परिषहे, आचो १ अ० ६ अ० २ उ० ।

अहिरेम-पूरि-धा० । पूरणे । " पूरेरग्धाकोग्धवोद्धुमागुमाहि-
रेमाः " । उ० । ४ । १६६ । अहिरेमइ पूरइ, पूरयते । प्रा०
४ पाद ।

अहिलंघ (ल)-काङ्क्ष-धा० । अभिलाषे, " काङ्क्षेराहाहिल-
हाहिलङ्घवध० । = । ४ । १६२ । इत्यादिसूत्रेण काङ्क्षतेराहिलं-
घाहिलंघादेशः । अहिलंघइ, अहिलंघइ । प्रा० ४ पाद ।

अहिज्ञान-अहिज्ञान-न० । मुख्यवन्धनविशेषे, ज्ञा० १७ अ० मु-
क्षसंयमने, ज० ३ वक्त० । औ० । कविके, ज्ञा० ४ अ० ।

अहिज्ञाविन्धी-अभिज्ञापत्री-स्त्री० । अभिलप्यत इत्यत्रिज्ञा-
पः, स पत्र स्त्री । स्त्रीविज्ञाभिधाने शब्दे, यथा-शालामात्रासि-
द्धिरिति । सूत्र० १ अ० ४ अ० १० उ० ।

अहिलोपण-अभिलोकन-न० । अभिलोक्यते अवलोक्यते
यत्र तदभिलोकनम् । उन्नतस्थाने, प्रश्न ४ संय० द्वार ।

अहिवइ-अधिपति-पुं० । नायके, स्था० ५ अ० १ उ० । रत्नके,
ज० १ वक्त० । नरेन्द्रे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

अहिवइर्जंग-अधिपतिजम्भक-पुं० । राजादिनायकविषये जू-
म्भके, म० १४ श० उ० ।

अहिवदंत-अधिपतत्-त्रि० । आगच्छति, ओघ० ।

अहिवासण-अधिवासन-न० । श्रुतिविशेषापादनेन विम्वप्रति-
ष्ठाप्योक्त्यकरणे, पञ्चा० ८ विव० ।

अहिसकण-अभिष्वक्क ग-न० । विवक्षितकालस्य संवर्द्धने प-
रतः करणे, पु० १ उ० । घ० ।

अहिसरिय-अभिसृत-त्रि० । प्रविष्टे, आ० म० द्वि० ।

अहिसहण-अधिसहन-न० । तितिक्षणे, स्था० ६ अ० ।

अहीकरण-अधीकरण-न० । अधीरबुद्धिमान पुरुषः, स तं क-
रोतीत्यधीकरणम् । कलहं, नि० चू० १० उ० ।

अहीण-अधीन-त्रि० । स्वायत्ते, प्रश्न० ४ संय० द्वार ।

अहीन-त्रि० । अन्यूने, "अहीणपत्रिपुष्पपंचिदियसरीरा" अ-
हीनान्यन्यूनानि स्वरूपतः प्रतिपुर्णानि लक्षणतः पञ्चापीन्द्रि-
याणि यस्मिन् तत् तथाविधं शरीरं यस्याः सा तथा । औ० ।
ज्ञा० । विपा० । म० । अहीनमज्ञोपाङ्गप्रमाणतः परिपूर्णपञ्चे-
न्द्रियं, प्रतिपुण्यपञ्चेन्द्रियं वा शरीरं यस्य सोऽहीनपरिपूर्ण-
पञ्चेन्द्रियशरीरोऽहीनप्रतिपुण्यपञ्चेन्द्रियशरीरो वा । स्था० ६
ठा० । कल्प० ।

अहीणक्खर-अहीनाक्षर-न० । एकेनाप्यक्षरेणाहीने, ग० २
अधि० । सूत्र० । गुणे, अनु० । ग० । विशेष० । संघा० । (' हीण-
क्खर ' शब्दे कथा वक्ष्यते)

अहीणदेह-अर्ह नदेह-त्रि० । परिपूर्णदेहावयवे, व्य० ३ उ० ।

अहीय-अधीत-त्रि० । आगमिते, "उच्यारोत्ति वा अहीतं ति
वा आगमियं ति वा पगट्टं " नि० चू० १ उ० । स्था० ।

अहीयसुत्त-अधीतसूत्र-त्रि० । गृहीतसूत्रे, " सम्मं अहीयसु-
त्तो ततो विमलयरथोहजोगामो " पं० व० १ द्वार ।

अहीरग-अहीरक-न० । विद्यमानस्यैव न विद्यते हीरिकास्त-
न्तुलङ्घना मध्ये यस्य तदहीरकम् । तन्तुहीने, प्रव० ४ द्वार ।

अहुणाधोय-अधुनाधौत-त्रि० । अचिरधौते, अपरिणते च ।
दश० ५ अ० ।

अहुण्वासिय-अधुनोवासित-त्रि० । अचिरोद्वासिते,
आघ० । साम्प्रतोद्वासिते, व्य० ४ उ० ।

अहुणोवलित-अधुनोपलित-त्रि० । साम्प्रतोपलिते, दश० ५ अ० ।

अहुणोववन्नग-अधुनोपपन्नक-त्रि० । अचिरोपपन्ने, स्था० ।

अधुनोपपन्नो देवो देवलोके-

तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोकेसु इच्छेज्जा मा-
णुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, एणो चेव एणं संचाएइ हव्व-
मागच्छित्तए । तं जहा-अहुणोववन्ने देवे देवलोकेसु दिव्वेसु
कामजोगेसु मुच्छिए गिप्पे गदिए अज्जोववन्ने से एणं मा-
णुस्सए कामजागे णो आदाइ, णो परियाणाइ, एणो अट्ठं
बंधइ, एणो णियाणं पगरेइ, एणो ठिड्ढकप्पे पकरेइ, अहुणो-
ववन्ने देवे देवलोकेसु दिव्वेसु कामजोगेसु मुच्छिए गिप्पे
गदिए अज्जोववन्ने, तस्स एणं माणुस्सए पेमे वोच्छिन्ने वि-
च्छिन्ने दिव्वे संकंते जवइ २ अहुणोववन्ने देवे देवलोकेसु
दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिएणं जाव अज्जोववन्ने, तस्स ए-
मेवं भवइ इयएहिं गच्छं मुहुत्तं गच्छं, तेणं काहेणमप्पा-
उया माणुस्सा कालयम्मुणा संजुत्ता जवइ । इवेएहिं तिहिं
ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोकेसु इच्छेज्जा माणुस्सं
लोगं हव्वमागच्छित्तए, नो चेव एणं संचाएइ हव्वमागच्छि-
त्तए, अहुणोववन्ने देवे देवलोकेसु दिव्वेसु कामजोगेसु
अमुच्छिए अगिप्पे अगदिए अणज्जोववन्ने तस्स ए-
मेवं जवइ, अत्थि एणं मम माणुस्सए भवं आयरिएइ वा
उवज्जाएइ वा पवत्तेइ वा थेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ
वा गणावच्छेएइ वा जेसिं पजावेणं मए इमा एयारूवा
दिव्वा देवही दिव्वा देवजुइ दिव्वे देवाणुभावे दप्पे पत्ते अ-
ज्जिसमप्पागए तं गच्छामि एणं तं जगवं वंदामि एणमंसामि
सकारेमि सम्माणेमि कट्ठाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवा-
सेमि ॥ १ ॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोकेसु दिव्वेसु काम-
भोगेसु अमुच्छिएणं जाव अणज्जोववन्ने तस्स एणं एवं भव-
इ, एस एणं माणुस्सए जवे णाणीइ वा तवस्सीइ वा अइ-
दुक्करदुक्करकारगे तं गच्छामि एणं जगवंते वंदामि एणमंसामि
जाव पज्जुवासामि ॥ २ ॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोकेसु
जाव अणज्जोववन्ने तस्स एमेवं जवइ, अत्थि एणं मम मा-
णुस्सए जवे मायाइ वा० जाव सुएहाइ वा तं गच्छामि एणं
तेसिमंतियं पाउन्नवामि, पासंतु ता मे इमं एयारूवं दिव्वं

यासत्काऽप्यात्मनो नैवमिदं नारम्भी नाऽपि परिग्रहं। स्यादिति संपन्थः। नन्देद्विद्वान् सन्धुनेकां ऊपरिद्वया परिज्ञाय प्रत्यात्मनः परिद्वया मनोवाङ्मयकर्मभिर्जावापमर्दकारिणा नारम्भं परिग्रहं च परिहरेदिति ॥ ६ ॥ सूत्र ० १ श्रु ० ए अ ० ।

सन्वाहिं अणुजुर्चाहिं, मतिमं पत्तिलेहिया ।

नव्वे अकंतनुक्या य, अतो सव्वे अहिंसया ॥ ६ ॥

सर्वा याः कायानात्मनाः पृथिव्यादिजीवनिकायासाधनत्वेना-
नुकूला युक्तयः साधनानि। यां वा-ऽसकृद्विद्वानैकान्तिकपरि-
हारं पञ्चमन्त्रसंग्रहमन्त्रविषयकमावृत्तिरूपतया युक्तिसङ्गता
युक्त्यस्तःनिमित्तमात्रं सन्निवर्त्तकी, पृथिव्यादिजीवनिकायान्प्रत्यु-
पेक्ष्य पर्यालोच्य जीवत्वेन प्रसाध्य, तथा सर्वेऽपि प्राणिनो ऽका-
न्तदुःखा दुःखद्विषः सुखद्विषश्च मत्वाऽतो मतिमात्रं सर्वान-
पि प्राणिनो न हिंस्यादिति। युक्तयश्च तत्प्रसाधिकाः सङ्क्षेपेणे-
ना इति-सात्मिका पृथिवी, तदात्मनां विद्रुमलवणोपलादीनां
समानजातीयाङ्कुरमन्त्रावाद्यशौचिकाराङ्कुरवत्। तथा-सचेतन-
मन्मो, भूमिखननादाविष्कृतस्यभावसंज्ञावाङ्कुरवत्। तथा-सा-
त्मनो तेजः, तद्योग्याहारवृक्षा वृष्ट्युपसङ्घर्षालकवत्। तथा-सा-
त्मनो वायुः, अपराप्रेरितनियतनिरञ्जितगतिमत्त्वाद्मोवत्।
तथा-सचेतना वनस्पतयो, जन्मजरामरणरोगादीनां समुदितानां
सन्नावात, स्त्रीधत्। तथा-कनसंरोहणाहारोपादानदौर्द्वन्द्वसन्ना-
वस्पशंकोचसायाह्वस्वापप्रयोधाश्रयोपसर्पणादिभ्यो हेतुभ्यो
वनस्पतेश्चैतन्यसिद्धिः। द्वेन्द्रियादीनां तु पुनः कृष्णादीनां स्पष्ट-
मेव चैतन्यम्, तद्वेदनाश्लोपक्रामिकाः स्वाभाविकाश्च समुपलब्ध्य-
माना मनोवाङ्मयैः कृतकारितानुमतिमिथश्च नवकेन भेदेन तत्परी-
डाकारिण उपमर्दाश्रितवर्तितव्यमिति ॥ ६ ॥

एतदेव (पुनः) समर्थयन्नाह—

एवं तु पाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचण ।

अहिंसासमयं चैव, एतावतं विजाणिया ॥ १० ॥

(एवं च इत्यादि) सुशब्दो वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा। एत-
देवानन्तराक्तं प्राणातिपातनिवर्त्तनं, ज्ञानिनो जीवस्वरूपतद्व्य-
कर्मवन्धवेदिनः, सारं परमार्थप्रधानम्। पुनरप्यादख्यापनार्थमे-
तदेवाह-यत्कञ्चन प्राणिनमतिष्ठदुःखं सुखैर्पिणं न दिनस्ति, प्र-
भृत्येदिनोऽपि ज्ञानिन एतदेव सारतरं ज्ञानं, यत्प्राणातिपातनि-
वर्त्तनमिति। ज्ञानमपि तदेव परमार्थतो, यत्प्रीमातां निवर्त्तनम्।
यथोक्तम्-“किं त- पटियाप, पयकोटी पयालभूयाप ॥ जल्य-
त्तियं य पार्य, स पीडा न कायव्वा” ॥ १ ॥ तदेवमहिंसा-
प्रधानः समय आगमः संकेतो वाऽपदेशकः, तदेवभूतमहिंसा-
समयमेतावन्तमेव विज्ञाय, किमन्येन बहुना परिक्रान्तेतावतैव
परिज्ञानेन मुमुक्षोर्विबक्षितकार्यपरिसमाप्तेरतो न हिंस्यात्क-
ञ्चनोति ॥ १० ॥ सूत्र ० १ श्रु ० ११ अ० ॥

(११) मतान्तरेऽहिंसा न तादृशी—

आहुः-कथमेतं प्रावादुका मिथ्यावादिनो भवन्ति? अत्रोच्यते-
यतस्तेऽप्याहिंसां प्रतिपादयन्ति, न च तं प्रधानमोक्षाङ्गभूतां सम्य-
गनुतिष्ठन्ति। कथम्? साङ्गधानां तावज्ज्ञानादेव धर्मो न तेषामहिं-
सा प्राधान्येन व्यवस्थिता, किंतु पञ्च यमा इत्यादिको विशेष इति।
तथा-शाक्यानामपि दश कुशला धर्मपथा अहिंसाऽपि तत्रोक्ता,
न तु सैव गरीयसी धर्मसाधनत्वेन तैराश्रिता। वैशेषिकाणाम-
पि-अभिसेवनेपथासम्रह्यचर्यशुभकुशवाचसानप्रस्थदानयक्षादि-

नक्षत्रमन्त्रकाष्ठनियमा दद्याः, तेषु चाभिषेचनादिषु पर्यालोच्यमा-
नेषु हिंसैव संपद्यते, वैदिकानां हिंसैव गरीयसी धर्मसाधनं, य-
ज्ञोपदेशात्। तस्य च तथा विनाऽभावादित्यभिप्रायः। उक्तं च-
“ ध्रुवः प्राणिवधो यज्ञे ” ॥ ७६ ॥

(१२) तदेवं सर्वे प्रावादुका मोक्षाङ्गभूतामहिंसां न प्राधान्येन
प्रतिपद्यन्त इति दर्शयितुमाह—

ते सव्वे पावाउया आदिकरा धम्माणं पाणापभा णा-
णाव्वादा पाणासीत्ता पाणादिद्वी पाणार्थं पाणारंजा
णाणाञ्जवसाणसंजुत्ता एणं महं मंमल्लिवधं किञ्चा सव्वे
एगयाव चिट्ठति ॥ ७० ॥

(ते सव्वे इत्यादि) प्रवदनशीलाः प्रावादुकाः सर्वेऽपि त्रिष-
ष्ट्युत्तरत्रिंशत्परिमाणा अपि, आदिकरा यथास्वं धर्माणाम्; ये-
ऽपि च तच्छिष्यास्तेऽपि सर्वे; नाना भिन्ना प्रज्ञा ज्ञानं येषां ते ना-
नाप्रज्ञाः। आदिकरा इत्यनेनैवमाह-स्वव्यविवर्चितास्ते न-
त्वनदिप्रवादायाताः। ननु चार्हतामामपि आदित्वविशेषणम-
स्त्येव। सत्यमस्ति। किंतु अनादिहेतुपरम्परेत्यानादित्वमेव, तेषां
च सर्वेक्षणणीतागमानाश्रयणाश्रितव्यानामाभा, तदभावाच्च मि-
थ्यपरिज्ञानमत एव नानाछन्दाः, उन्वाऽभिप्रायः, भिन्नाभिप्रा-
या इत्यर्थः। तथाहि-उत्पादव्ययद्वौल्यात्मके वस्तुनि साङ्ख्यै-
रेकान्तेनाविर्भावितरोभावाश्रयणादन्वयिनमेव पदार्थे सत्य-
त्वेनाश्रित्य नित्यपक्वं समाश्रिताः। तथा-शाक्या अत्यन्तकृपि-
केषु पूर्वोत्तरभिन्नेषु पदार्थेषु सत्सु स एवायमिति प्रत्यभिज्ञा-
प्रत्ययः सदृशपरापरोत्पत्तिर्वितथानां भवतीत्येतत्पक्षसमाश्रय-
णादनित्यपक्वं समाश्रिता इति। तथा-नैयायिकवैशेषिकाः-केषा-
ञ्चिदाकाशपरमाणवादीनामेकान्तेन नित्यत्वमेव, कार्यद्रव्याणां
च घटपटादीनामेकान्तेनानित्यत्वमेवाश्रिताः। एवमनयाऽदिशा-
ज्येऽपि सीमांसका तापसादयोऽन्यूह्या इति। तथा-ते तीर्थिका
नानाशीलं येषां ते तथा, शीलं प्रतविशेषः, स च भिन्नस्तेषामनु-
भवीसद्वपव। तथा-नाना दृष्टिर्देशनं येषां ते। तथा-नाना रुचि-
रेपां ते नानादृश्यः। तथा-नानारूपमध्यवसानमन्तःकरणमूर्तित-
येपां ते तथा। इदमुक्तं जवति-अहिंसा परमं धर्माङ्गम्। सा च
तेषां नानाभिप्रायत्वादविकलत्वेन व्यवस्थिता। तस्या एव सूत्र-
कारः प्रधान्यं दर्शयितुमाह-ते सर्वेऽपि प्रावादुका यथास्वपक्वं
माश्रिता एकत्र प्रवेशे संयुता मण्डलिवन्धमाभाय तिष्ठन्ति ॥ ८० ॥

(१३) अहिंसाप्रसिध्यर्थं विवेचनमाह—

पुरिसेयं सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपरिपुञ्चं गहाय अ-
जमएणं संडासएणं गहाय ते सव्वे पावाउए आङ्गरा धम्मा-
णं पाणापभा० जाव पाणाञ्जवसाणसंजुत्ते एवं वयासी-
इंजो पावाउया। आङ्गरा धम्माणं पाणापभा० जाव पाणा-
अजमवसाणसंजुत्ता। इमं ताव तुम्ह सागणियाणं इंगाला-
णं पाइं बहुपरिपुञ्चं गहाय मुहुत्तयं पाणिणा धरेह, णो
बहु संभासणं संसारियं कुज्जा, णो बहु अग्निधंनणियं
कुज्जा, णो बहु साहम्मियं वेयावडियं कुज्जा, णो बहु परधं-
म्मियं वेयावडियं कुज्जा, उज्जया गियागपरिवन्ना अमायं
कुव्वमाणा पाणिं पसारह, इति बुद्धा से पुरिसे तेतिं पावा-
दुयाणं तं सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपरिपुञ्चं अ-

देवादि दिव्यं देवजुं दिव्यं देवाणुभावं ब्रह्मं पचं अजित-
मणायं ; इवेहिं तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देव देव-
ज्ञोगेमु इच्छेज्ज माणुसं ज्ञोगं हव्वमागच्छित्तए तंचारित्त-
ए हव्वमागच्छित्तए ॥ ३ ॥

अधुनोपपन्नो देवः, जेत्याह- (देवलोगेनु चि) इह च बहु-
चचननेकस्यैकदा ज्ञेकेपुपादासम्भवादेकार्थं दृश्यम्, चच-
नव्यत्यपादेवलोकाग्नकत्वापदार्थं याः देवज्ञोकेषु मध्ये क-
चिद्व्यलोका इति, इच्छेदनिर्गन्तुं पुर्यस्तन्नेकदर्शनाद्यर्थं मा-
नुषाणामप्यं मानुषस्तन् ॥ इव्वं ति) शीघ्रम् (संचाप चि)
शतानि, दिवि देवज्ञोके भवा दिव्यास्तेषु कामौ च शब्दरूप-
लक्षणौ भोगाश्च गन्धरसस्पर्शाः कानभोगाः तेषु । अथवा-का-
न्यन्न इति कामा मनोऽऽ, ते च इति सुख्यन्न इति भोगाः
शब्दादयः, ते च कामभोगास्तेषु, मूर्च्छित्त इव मूर्च्छित्तो मूढः, त-
त्स्थरूपस्यानित्यत्वादेर्विषयाधातुमत्वात् शुद्धः, तदाकाङ्क्षावानतु-
स्त इत्यर्थः । प्रथित इव प्रथितस्तद्विषये स्नेहः शुद्धिः संदर्भित
इत्यर्थः । अध्युपपन्न आधिक्येनासत्तांशान्ततन्मना इत्यर्थः । नो
आह्वयते-न तेष्वद्वयान् भवति, नो परिजानाति-एतेऽपि च व-
स्तुतुना इत्येवं न नश्यते । तथा तेष्विति गम्यते । नो इति यन्नाति-
यैर्नदं प्रयोजनमिति न निश्चयं करोति । तथा-तेषु नो निदानं
प्रकरोति-एते न भूयास्तुरित्येवमिति । तथा-तेष्वेव नो स्थितिप्र-
कल्पनवसानं विकल्पनम्-एतेष्वहं तिष्ठयमिति, एते वा मम तिष्ठ-
न्तु स्थिरीभवन्त्येवंप्रकृतं स्थित्या वा मर्षादया विशिष्टप्रक-
रूप प्राचार आसेवेत्यर्थः । तं प्रकरोति कर्तुमारभते, प्रशब्दस्या-
दिकर्माधत्वादिता । एवं दिव्यविषयप्रज्ञाविरत्येकं कारणम् । तथा
यतोऽस्माद्यधुनापपन्नो देवो दिव्येषु कामभोगेषु मूर्च्छितादिवि-
ज्ञापणो भवति, अतस्तस्य मानुष्यकं मनुष्यविषयं, प्रेम स्नेहो,
येन मनुष्यज्ञोके आगम्यते तद्व्यवच्छिन्नम्, दिवि भवं दिव्यं स्वर्ग-
गतवस्तुविषयं संक्रान्तं तत्र देवं प्रथिष्टं भवतीति दिव्यप्रेमसंक्रा-
न्तिरिति द्वितीयम् ॥२॥ तथाऽसौ देवो यतो दिव्यकामभोगेषु मू-
च्छितादिविशेषणो भवति ततस्तत्प्रतिषेधान् (तस्स णं ति)
तस्य देवस्य (एवं ति) एवंप्रकारं चिचं जयति, यथा (इय-
हिं ति) इदानीं गच्छामि (मुहुचं ति) मुहुर्न गच्छामि, कृत्य-
समाप्तादित्यर्थः । (तेणं कालेणं ति) येन तत्कृत्यं समाप्यते स च
कृतकृत्यत्वादागमनशक्तो भवति, तेन कालेन, गतेनेति शे-
यः । तस्मिन्वा काले गते, ' णं ' शब्दो वाक्यावधारणे । अद्या-
युगः स्वज्ञावादेव मनुष्यमात्रादयो यद्दर्शनार्थमाजिगमिषति
तेन कालधर्मेण मरणेन संयुक्तो भवति । कस्यासौ दर्शनार्थमा-
गच्छति असमाप्तकर्तव्यता नाम तृतीयमिति (इच्छेत्त्यादि) नि-
गमनम् ॥३॥ देवः कामेषु कश्चिदमूर्च्छितादिविशेषणो भवति ।
तस्य च मन इति गम्यते । एवंमृतं भवति आचार्यप्रतिबोधक-
प्रवाजकादिरनुयोगाचार्यो वा । इति एवंप्रकारार्थो, वाश-
ब्दो विकल्पार्थः । प्रयोगस्त्वेवम्-मनुष्यजनेऽयं ममाचार्योऽस्मी-
ति धा; उपाध्यायः सूत्रदाता, सोऽस्तीति वा । एवं सर्वत्र, नवरं
प्रवर्तयति साधूनाचार्योपदिष्टेषु वैद्यावृत्त्यादिविविधं प्रवर्तते ।
उक्तं च-"तवसंयमयोगेणुं, जो जोगो तत्थ तं पयहेइ । असुहं
च नियत्तेइ, गणतत्तिंओ एवचीओ " ॥ १ ॥ प्रवर्तित्यापा-
रितान् साधून् संयमयोगेषु सीदतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः ।
उक्तञ्च-" थिरकरणा पुण थेरो, पवत्ति वावारिपसु अत्थेसु ।
जो अत्थ सीयइ अइ, संतवलो तं थिरं कुणइ " ॥ १ ॥ ग-
२३३

णोऽस्यास्तीति गणी गणाचार्यः गणधरो जिनशिष्यविशेषः ।
आर्येकामप्रतिज्ञागरको वा साधुविशेषः । उक्तञ्च-" पियध-
मे ददधमे, संविमो उज्जओ य तेयंसी । संगहुवग्गहकुसडो,
सुत्तथविक गणादिहई " ॥ १ ॥ गणस्यावच्छेदो विज्ञागोऽज्ञो-
ऽस्यास्तीति । यो हि गणान् संगृहीत्वा गच्छापष्टमार्थैवो-
पधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति स गणावच्छेदिकः । आह च-
" ओहावणापहावण-अत्तोवहिममाणसु अविसाई । सुत्त-
त्थतत्तुमयविक, गणवत्थो परिसो होइ " ॥ १ ॥ (इमं चि)
इयं प्रत्यक्षासन्ना, एतदेव रूपं यस्या न कालान्तरे रूपान्तर-
माकृ सा एतद्रूपा, दिव्या स्वर्गसम्भवा प्रधाना वा देवा-
नां सुराणामृष्टिः श्रीर्जिमानरत्नादिसंपदेयधिः, एवं सर्वत्र, नवरं
युतिर्दीप्तिः शरीराभरणादिसम्भवा, युतिर्वा युक्तिरष्टपरिवार-
ादिसंयोगलक्षणाऽनुभावाऽचित्त्या वैश्रिकरणादिका शक्ति-
र्लब्ध उपाजितो जन्मान्तरे प्राप्त इदानीमुपगतः, अजिसम्भवा-
गतो भोग्यतां गतः । तदिति तस्मात्तान् भगवतः पुज्यमा-
नान् वन्दे स्तुतिभिर्ममस्यामि प्रणामेन सत्करोम्यत्यादिकर-
णेन वस्त्रादिना वा संमानयाम्युचितप्रतिपत्त्या कल्याणं भङ्गलं
दैवतं चैत्यामिति बुद्ध्या पर्युपासे सेव इत्येकम् । (एस णं ति)
एषोऽध्वर्यादप्रत्यक्षीकृतः मानुष्यक भवे, वर्तमान इतिशेषः ।
मनुष्य इत्यर्थः । ज्ञानीति वा कृत्वा तपस्वीति वा कृत्वा, किमि-
ति दुष्कराणां सिद्धगुहाकायोत्सर्गकरणादीनां मध्ये दुष्करम-
नुरकपूर्वोपचुक्रप्रार्थनापरतदुगीमान्दिरवासाप्रकम्पब्रह्मचर्यानु-
पाहनादिकं करोतीति अतिदुष्करकारकः, स्थूलभक्षवत्,
तस्मात् । (गच्छामि चि) पूर्वमेकचचननिर्देशोऽपीह पुज्य-
विवक्षया बहुवचनमिति । तान् दुष्करकारकान् जगवतो
वन्दे इति द्वितीयम् । तथा-" मायाइ वा पियाइ वा भग्गाइ वा
जइणीइ वा पुत्ताइ वा धूयाइ वा " इति । यावच्छब्दाद्वेपः
स्तुपा पुत्रजाया । तदिति तस्मात्तेषामन्तिके समीपे प्रादुर्भावमि
प्रकटीभवामि । (ता मे चि) तावत् मे ममेति तृतीयम् ॥ स्या०
३ ७० ३ ३० ।

चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने णेरइए णिरयलोगंसि इ-
च्छेज्ज माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए णो चेव णं संचा-
एइ हव्वमागच्छित्तए ॥१॥ अहुणोववन्ने णेरइए णिरयलो-
गंसि समुच्चयं वेगणं वेयमाणे इच्छेज्ज माणुसं लोगं इ-
व्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥२॥
अहुणोववन्ने णेरइए णिरयलोगंसि णिरयपादोहिं शुज्जो
शुज्जो अहिंज्जमाणे इच्छेज्ज माणुसं लोगं हव्वमाग-
च्छित्तए, नो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥३॥ अहु-
णोववन्ने णेरइए णिरयवेयणिज्जंसि कम्मंसि अक्खीणंसि
अवेइयंसि अणिजिणंसि इच्छेज्ज, नो चेव णं संचाएइ,
एवं निरइया ओअंसि कम्मंसि अक्खीणंसि० जाव णो चेव
णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥४॥ इवेहिं चउहिं ठा-
णेहिं अहुणोववन्ने णेरइए० जाव नो चेव णं संचाएइ
हव्वमागच्छित्तए ॥५॥

अधुना जीवसाधर्म्यान्तारकजीवानाभित्य तदाह- (चउही-
त्यादि) सुगमं, केवलं (ठाणेहिं ति) कारणैः । (अहुणोवव-
न्ने चि) अधुनोपपन्नोऽविरोपपन्नो निर्गतोऽयः क्षममस्मादिति

उमएण सडासएणं गहाय पाणिं णिसिरिति, तए णं ते पावाडुया आइगरा धम्माणं णाणापन्नां जाव णाणा-
वसाणसंजुत्ता पाणिं पमिसाहरंति । तए णं से पुरि-
से ते सव्वे पावाडए आदिगरेधम्माणं जाव णाणाञ्ज-
वसाणसंजुत्ता एवं वयासी-हंभो पावाडुया ! आइगरा ध-
म्माणं णाणापन्नां जाव णाणाञ्जवसाणसंजुत्ता कम्हा एं
तुव्वे पाणिं पमिसाहरह, पाणिं नो रुहिज्जा, दहे किं न-
विस्मइ, डुक्खवंति मन्नमाणा पमिमाहरह, एस तुव्वा एस प-
माणे एस समोसरणे पत्तेयं तुव्वा पत्तेयं पमाणे पत्तेयं स-
मोसरणे, तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति०
जाव परूवेति-सव्वे पाणां जाव सत्ता हंतव्वा अज्जावेय-
व्वा परिधेत्तव्वा परितावेयव्वा किलामेतव्वा उद्वेत्तव्वा
ते आगंतु ज्ञेयाए ते आगंतु ज्ञेयाए० जाव ते आगंतु जाइ-
जरामरणजोणिजम्पणसंसारपुणव्वभवगव्ववासजवपवंच-
कलंकलीभागिणो भविस्संति ॥ ८१ ॥

तेषां चैवव्यवस्थितानामेकः कश्चित्पुरुषः, तेषां संविदर्थं ज्व-
लतामङ्गाराणां प्रतिपूर्णां पात्रीमयोमयं भाजनमयोमयेनैव संदं-
शकेन गृहीत्वा तेषां दौकितवानुवाच तान्-यथा भोः प्रावादुकाः !
सर्वोक्तविशेषणविशिष्टाः ! इदमङ्गारभूतं भाजनमैकैकं मुहूर्तं प्र-
त्येकं सांसारिकाणामिवाग्निस्तम्भनं विधत्ते, नापि च साध-
मिकाऽन्यधर्मिकाणामभिवाहोपशमादिनोपकारं कुरुत इति,
ऋजवो मायामकुर्वाणाः पाण्यं प्रसारयत । तेऽपि च तथैव कुर्युः ।
ततोऽसौ पुरुषः तद्भाजनं पाणौ समर्पयति । तेऽपि च दाहश-
ङ्कया हस्तं संकोचयेयुरिति । ततोऽसौ तानुवाच-किमिति पाणिं
प्रतिसंहरत यूयम् ? एवमभिहितास्ते ऊचुः-दाहजयादिति । एत-
दुक्तं भवति-भवश्यमग्निदाहभयात् कश्चिदग्न्यभिमुखं पाणिं द-
वार्तात्येतत्परोऽय दृष्टान्तः । पाणिना दग्धेनापि किं जवतां भविष्य-
ति ? दुःखमिति चेत्, यद्येवं ज्वन्तो दाहापादितदुःखजीरवः सुख-
क्षिप्तवस्तदेवं सति सर्वेऽपि जन्तवः संसारोदरविवरवर्तिन एव-
मृता एवेत्येवमात्मतुलयाऽन्मौपम्येन यथा मम नाजिमत्तं दुःख-
मित्येवं सर्वजन्तूनामित्यवगम्याऽहं सैव प्राधान्येनाश्रयणीया ।
तदेतत्प्रमाणम् । एषा युक्तिः-“आत्मवत्सर्वं नूतानि, यः पश्यति
स पश्यति ” । तदेव समवसरणं, स एव धर्मविचारो यत्रा-
हिंसा संपूर्णा तत्रैव परमार्थतो धर्म इत्येवव्यवस्थिते तत्र
ये केचनाविदितपरमार्थाः श्रमणब्राह्मणादय एवं वक्ष्यमाणमा-
चक्रते, परेपामात्मदाह्योत्पादनार्थं भाषन्ते, तथैवमेवं धर्मं प्र-
स्थापयन्ति व्यवस्थापयन्ति, तथाऽग्नयेन प्राण्युपतापकारिणा प्रका-
रेण परेषां धर्मं प्ररूपयन्ति व्याचक्रते । तद्यथा-सर्वे प्राणा
इत्यादि यावद्वन्तव्या दण्डादिभिः परितोपयितव्या धर्मार्थमर-
घट्टादिवहनादिभिः परिग्राह्या विशिष्टकाले आकादौ रोहितम-
त्स्या इव, तथाऽपद्रावयितव्या देवतायागादिनिमित्तं वस्तादय
इवत्येवं ये श्रमणादयः प्राणिनामुपतापकारिणीं भार्यां जापन्ते,
आगामिनि कालेऽनेकशो बहुशः स्वशरीरोच्छेदाय च भाष-
न्ते, तथा ते सावद्यभाषिणो भविष्यन्ति, काले जातिजरामरणानि
बहूनि प्राप्नुवन्ति । योन्यां जन्म योनिजन्म तदनेकशो बहुशो
गर्भव्युत्क्रान्तजाऽवस्थायां प्राप्नुवन्ति, तथा-संसारप्रपञ्चान्तर्ग-

तास्तेजोवायुपूचैर्गोत्रोद्वलनेन कलंकलीभावभाजो भवन्ति, य-
द्बुधो जविष्यन्ति च ॥ ८१ ॥

ते बहूणं दंरुणाणं बहूणं मुण्डणं तज्जणाणं ताढणाणं
अदु वंभणाणं जाव घोलणाणं माडमणाणं पितामणाणं
जाइमणाणं भगिणीमणाणं भज्जापुत्तधूतसुएदामणाणं
दारिदाणं दोहमाणं अप्पियसंवासाणं पियविप्पओगाणं
बहूणं डुक्खदोम्मणस्साणं आभागिणो जविस्संति अणा-
दियं च णं अणवयगं दीहमदं चाउरंतं संसारकंतारं जुज्जो
जुज्जो अणुपरियट्ठिस्संति, ते णो सिज्जिस्संति, णो बु-
ज्जिस्संति० जाव णां सव्वडुक्खाणं अंतं करिस्संति, एस
तुव्वा एस पमाणे एस समोसरणे पत्तेयं तुव्वा पत्तेयं
पमाणे पत्तेयं समोसरणे ॥ ८२ ॥

तथा-ते बहूनां दण्डादीनां शरीराणां दुःखानामात्मानं भाजनं
कुर्वन्ति, तथा-ते निधिवेका मातृवधादीनां मानुषाणां दुःखानां,
तथाऽप्येपामाप्रियसंयोगार्थनाशादिजिह्वुःखदौर्मनस्यानामाजा-
गिनो भविष्यन्तीति । किं बहूनोंकेनोपसंहारव्याजेन गुरुतर-
मर्थसंबन्धं दर्शयितुमाह-(अणादियं इत्यादि) नास्यादिरस्ती-
त्यनादिः संसारः । तदनेनेदमुक्तं भवति-यत्कैश्चिद्विहितं-यथा
ऽयमाहुकादिक्रमेणेत्यादित इति । एतदपास्तम् । न विद्यतेऽवद्वं
पर्यन्तो यस्य सोऽयमनवद्वोऽपर्यन्त इत्यर्थः । तदनेनेदमुक्तं ज-
वति-यदुक्तं कैश्चिद्यथा प्रलयकालेऽशेषसागरजलप्लावनं, द-
दशादित्योक्तेन चात्यन्तदाहः, इत्यादिकं सर्वं मिथ्येति । दीर्घ-
मित्यनन्तपुल्लपरवर्त्तरूपं कालावस्थानम्, तथा-चत्वारोऽन्ता
गतयो यस्य स तथा, चातुर्गतिक इत्यर्थः । तत्संसार एव का-
न्तारः संसारकान्तारो निर्जलः सज्जयन्त्याणरहितोऽरण्यप्रदेशः
कान्तार इति । तदेवंभूतं भूयो भूयः पौनःपुन्येनानुपरिवर्त्तिष्यन्ते
अरहद्दृष्टीन्यायेन तत्रैव भ्रमन्तः स्थास्यन्तीति । अत एवाह-यत-
स्ते प्राणिनां हन्तारः । कुत एतदिति चेत्, सावद्योपदेशात् । एतदपि
कथमिति चेदत औद्देशिकादिपरिभोगानुज्ञयेत्येवमवगन्तव्य-
मित्यतस्ते कुप्रावचनिका नैव सेत्स्यन्ति नैव ते लोकाग्रस्थामा-
क्रमिष्यन्ति । तथा-न ते सर्वपदार्थान् केवलज्ञानावाप्त्या ज्ञो-
त्स्यन्ते; अनेन ज्ञानातिशयज्ञावमाह । तथा-न तेऽष्टप्रकारेण
कर्मणा मोक्षयन्ते । अनेनाप्यसिद्धेरकैवल्यवासंश्च कारणमाह ।
तथा-परिनिर्वृतिः परिनिर्वाणमानन्दसुखावाप्तिः, तां ते नैव प्रा-
प्स्यन्ते, तेनापि सुखातिशयाभावः प्रदर्शितो भवतीति । तथा-
नैते शरीरमानसानां दुःखानामात्यन्तिकमन्तं करिष्यन्तीत्यन-
नाप्यपायातिशयाभावः प्रदर्शितो भवति । एषा तुव्वा, तदेतदु-
पमानं, यथा सावद्यानुष्ठानपरायणाः सावद्यभाषिणश्च कुप्राव-
चनिका न सिध्यन्त्येवं स्वयूच्या अप्यौद्देशिकादिपरिभोगिनो
न सिध्यन्तीति । तदेतत्प्रमाणं प्रत्यक्षानुमानादिकम् । तथाहि-
प्रत्यक्षेणैव जीवपीडाकारि चौर्यादिवन्धनाच्च मुच्यते । एवमन्ये-
ऽपीत्यनुमानादिकमप्यायोज्यम् । तथा-तदेतत्समवसरणमाग-
मविचाररूपमिति प्रत्येकं च प्रतिप्राणि प्रतिप्रावादुक्तमेतत्तुला-
दिकं द्रष्टव्यमिति ॥ ८३ ॥

तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति० जाव परू-
वेति सव्वे पाणा सव्वे ज्ञूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण
हंतव्वा, ए अज्जावेयव्वा, ण परिधेत्तव्वा, ए उद्वेयव्वा,

निरयो नरकः, तत्र भवो नैरयिकः । तस्य चाऽनन्योत्पत्तिस्थानतां दर्शयितुमाह-निरयलोके तस्मादिच्छेन्मानुषाणामयं मानुषस्तं लोकं क्षेत्रविशेषं (हव्यं) शीघ्रमागन्तुं (नो चेव चि) नैव, 'ण' वा-क्यालङ्कारे । (संचाएइ) सम्यक् शक्नोति आगन्तुं (समुच्चयं ति) समुद्भूता मतिप्रवलतयोत्पन्ना । पातान्तरेण-संमुखचूतामेकहे-लोत्पन्नाम् । पातान्तरेण-अमहनो महतो भवने महद्भूतं तेन सह या सा समहद्भूता, तां समहद्भूतां वा चेदनां दुःखरूपां वेदयमा-नोऽनुजवद् इच्छेदिति मनुष्यलोकागमनेच्छायाः कारणमेतदेव वाऽशक्तस्य, तीव्रवेदनाभिभूतो हि न शक्त आगन्तुमिति । तथा-निरयपालैरेवंवादिभिः भूयोभूयः पुनः पुनरधिष्ठीयमानः समाक-म्यमाण आगन्तुमिच्छेदित्यागमनेच्छाकारणमेतदेव वाऽगमना-शक्तिकारणं, तैरत्यन्ताक्रान्तस्यागन्तुमशक्तत्वादिति । तथा-निर-ये वेधते अनुभूयते यद् निरययोग्यं वा यद्वेदनीयम् अत्यन्ताशु-प्रनामकर्मादि, असातवेदनीयं वा, तत्र कर्मणि अक्षीणे स्थित्या अवेदितेऽननुभूतानुभागतयाऽतिजीर्णे जीवप्रदेशेभ्योऽपरि-शदिते इच्छेन्मानुषं लोकमागन्तुं, न च शक्नोति अवश्यवैद्यक-र्मनिगमयन्त्रितत्वादित्यागमनाशक्त एव कारणमिति । तथा-(एवमिति) "अहुणोववन्ने " इत्याद्यमिलापसंसूचनार्थः । नि-रयायुष्के कर्मणि अक्षीणे, यावत्कारणात् 'अवेइ' इत्यादि इ-इयमिति निगमयन्नाह-(इच्छेयिहि ति) । इति एवंप्रकारैरैतैः प्र-त्यक्षैरनन्तरोक्तत्वादिति । अनन्तरं नारकस्वरूपमुक्तम् । ते चासंय-मोपपद्यन्तपरिग्रहादुत्पद्यन्त इति ॥ स्था० ४ ग० १ उ० ॥

अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु—

चउहिं ठाणोहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं झोगं हव्वमागच्छित्तए णां चेव संचाएइ हव्वमा-गच्छित्तए । तं जहा-अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्चिए गिप्पे गट्टिए अज्जोववन्ने से णं मा-णुस्सए कामभोगे णो अदाइ, णो परियाणाइ, णो अट्ठं वंधइ, णो णियायां पगरेइ, णो ठिइप्पगप्पं पगरेइ ॥१॥ अहु-णोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्चिए० ४ तस्स णं माणुस्सए पेमे वाच्छिप्पे दिव्वे संकंते जवइ ॥२॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्चिए० ४ तस्स णं एवं भवइ इयहिं गच्छं मुहुत्तेणं गच्छंतेणं कालेणमप्पाज्जआ मणुस्सा कालधम्मणा संजुत्ता भवं-ति ॥३॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगे-सु मुच्चिए० ४ तस्स णं माणुस्सए गंधे पक्कित्ते पडि-द्धोमे यावि जवइ, उट्ठं पि य णं माणुस्सएणं गंधं चत्तारि पंच जोयणसयाइ हव्वमागच्छइ ॥४॥ इच्छेहिं चउहिं ठा-णोहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ।

विस्थानके तृतीयोद्देशकं प्रायो व्याख्यातमवेदं तथापि किञ्चि-दुच्यते-(चउहिं ठाणोहिं नो संचाए चि) संवन्धः । तथा-देव-

लोकेषु, देवमन्ये इत्यर्थः । (इव्वं) शीघ्रम् (संचाएइ) शक्नोति । कामभोगेषु मनोज्ञशब्दादिषु मूर्च्छित इव मूर्छितो मूढस्तत्स्य-रूपस्यानित्यत्वादेर्विवेधाकर्मत्वात् गूढः, तदाकाङ्क्षावान् अनुसृत इत्यर्थः । अथित इव अथितः, तद्विषयस्नेहुरज्जुभिः संदर्भित इत्यर्थः । अध्युपपन्नोऽत्यन्तनमना इत्यर्थः । नाद्रियते-न तेष्या-दरवान् भवति । न परिजानाति एतेऽपि वस्तुचूता इत्येवं न मन्यते-तथा तेष्यति गम्यते । नोऽर्थे प्रतिवध्नाति-एतैरिदं प्रयो-जनमिति निश्चयं करोति । तथा-नो तेषु निदानं प्रकरोति-एते मे चूयासुरित्येवमिति । तथा-नो तेषु स्थितिप्रकल्पमवस्थानधि-कल्पनम्-एतेष्वहं तिष्ठामि, एते वा मम तिष्ठन्तु स्थिरा भवन्त्वि-त्येवंरूपं स्थित्या वा मर्यादया प्रकृष्टः कल्प आचारः स्थिति-प्रकल्पः, न प्रकरोति कर्तुमारजते, प्रशम्भस्यादिकर्मार्थत्वादिति । एवं दिव्यविषयप्रसक्तिरेकं कारणं, तथा-यतोऽसाम्प्रभुनात्पन्नो देवः कामेषु मूर्च्छितादिविशेषणोऽतस्तस्य मानुष्यकमित्यादि । ति दिव्यमेव संक्रान्तिर्द्वितीयम् । तथा-ऽसौ देवो यतो भोगेषु मूर्च्छि-तादिविशेषणो भवति ततस्तत्प्रतिबन्धात् । (तस्स णमित्यादि-ति) देवकार्यायत्ततया मनुष्यकार्यानायत्तत्वं तृतीयम् । तथा-दि-व्यभोगमूर्च्छितादिविशेषणत्वाच्चस्य मनुष्याणामयं मानुष्यः, स एव मानुष्यको गन्धः प्रतिकूलो दिव्यगन्धधिपरीतवृत्तिः प्रति-क्षोभश्चापि इन्द्रियमजसोरनाह्लादकत्वादेकार्यौ चैतावत्यन्तामनो-हताप्रतिपादनयोकाविति । यावदिति परिमाणार्थः । (चत्तारि पंचेति) विकल्पदर्शनार्थं कदाचिद्भरतादिष्वेकाग्रतया सुपमादौ च-त्वार्येव, अन्यथा तु पञ्चापि मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिरस्त्रां बहुत्वेनौ-दारिकशरीराणां तदवयवतन्महानां च बहुत्वेन दूरभिगन्ध-प्राचुर्यादिति । आगच्छति मनुष्यदेवादाजिगमिषु देवं प्रतीति । इदञ्च मनुष्यदेवस्याशुभस्वरूपत्वमवोक्तम् । न च देवोऽन्यो वा नवन्न्यो योजनेत्यः परत आगतं गन्धं जानातीति । अथवा अत एव वचनात् यदिन्द्रियविषयप्रमाणमुक्तं तदौदारिकशरीरेन्द्रि-यापेक्षयैव संज्ञान्यते, कथमन्यथा विमानेषु योजनलक्षादिप्र-माणेषु दूरस्थिता देवा घण्टाशब्दं शृणुयुः, यदि परं प्रति शब्द-द्वारेणान्यथा वेति नरभवाद्युभयं चतुर्थमनागमनकारणमिति । शेषं निगमनम् । स्था० ४ ग० ३ उ० ।

चउहिं ठाणोहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा मा-णुसं झोगं हव्वमागच्छित्तए संचाएइ हव्वमागच्छित्तए । तं जहा-अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु कामभोगेसु अमुच्चि-ए० जाव अणज्जोववन्ने तस्स णं एवं जवइ-अस्थि खलु मम माणुस्मए भवे आयरिएइ वा उवज्जाएइ वा पवित्तीइ वा थेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेएइ वा जेसि पजावेणं मए इमा एयारूवा दिव्वा देवद्वी दिव्वा देव-जुई लप्पा पत्ता अजिसमप्पागया तं गच्छामि णं, ते भ-गवंते वंदांमि० जाव पज्जुवासांमि । अहुणोववन्ने देवे देव-जोएसु० जाव अणज्जोववन्ने तस्स णमेवं जवइ, एस णं माणुस्सए जवे णाणीइ वा तवस्सीइ वा अइत्तुकरकारए तं गच्छामि णं ते जगवंते वंदांमि० जाव पज्जुवासांमि ॥२॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु० जाव अणज्जोववन्ने तस्स

ते णो आगंतुं ज्ञेया एते णां आगंतुं ज्ञेया ए० जाव जाइजरा-
मराणो गिजम्मणं सारपुणं ज्ञवगं ज्ञासभवपंचकलंक-
झी भागिणो जविस्संति, ते णो वहुणं दंरुणाणं० जाव
णां वहुणं मुंरुणाणं० जाव वहुणं सुखदोम्मणस्माणं
णां भागिणो जविस्संति, अणादियं च णं अणवयगं दी-
हमधं चाउरंतं नारकंतां भुज्जो भुज्जा णां अणुपरिय-
ट्ठिस्संति नेमिं सिज्जंति० जाव नव्वसुक्खाणं अंतं करि-
स्संति ॥ २३ ॥

ये पुनर्निर्दिष्टतया आत्मैक्येनात्मतुल्या सर्वजीवेष्वाहिंसां
कुत्रापि एवमाचक्षते । तथा-सर्वेऽपि जीवा दुःखद्विषः सुख-
लिप्सवस्ते न हन्तव्या इत्यादि । तदेवं पूर्वोक्तं दण्डनादिकं स-
प्रतिपेक्षं भगनीयं यावत्संसारकान्तारमचिरेणैव ते व्यतिक्र-
मिष्यन्तीति ॥ ७३ ॥ सूत्र० २ अ० २ अ० ।

“ अविहिंसामेव पव्वप, अणुधम्मो मुणिणा पवेदिओ । ”
सूत्र० २ अ० २ अ० १ उ० ।

(१४) यद्येकान्तेन नित्येऽनित्ये चात्मनि हिंसादयो न घटन्ते-
तर्हि ऊ घटन्त इत्यत आह-

नित्यानित्ये तथा देहा-जिन्नाभिन्ने च तत्त्वतः ।

घटन्ते चात्मनि न्याया-हिंसादीन्यविरोधतः ॥ १ ॥

नित्यञ्चासावनित्यञ्चेति नित्यानित्यं, तत्र नित्यानित्ये आत्मन्य-
न्युपगम्यमाने हिंसादीनि, घटन्ते इति संबन्धः । न ह्येकान्तेन
नित्यमनित्यं वा वस्तु किमपि कस्यापि कार्यस्य करणकृतम् । तथा-
हि-मृत्पिण्डस्य कार्यं घटो न भवति, एकरूपत्वेनानतिक्रान्तमृ-
त्पिण्डजावत्वात्, मृत्पिण्डवत् । मृत्पिण्डवत्वातिक्रमे चानित्यत्व-
गतं । तथा-मृत्पिण्डस्य कार्यं घटो न भवति, सर्वथैवानुगमा-
भावेनाऽनतिक्रान्तमृत्पिण्डवत्त्वज्ञपर्यायत्वान्, पटवत् । मृत्पि-
ण्डवत्त्वज्ञपर्यायवत्वातिक्रमाभ्युपगमे वाऽनुयायित्वेन नित्यत्वं व-
स्तुनः स्यादिति । आह च-घटः कार्यं न, पिण्डजावानतिक्रमात्, पि-
ण्डवत् घटवच्चैति । स्यात् कृतित्वादिरन्यथा । तदेवं नित्यानित्य-
मेव वस्तु कार्यकरणकृतमिति, ननु नित्यानित्यत्वधर्मयोर्विरु-
द्धत्वात्कथमेकाधिकरणत्वम् । अत्रोच्यते-यथा ज्ञानस्य भ्रान्ता-
भ्रान्तत्वे परमार्थसंबन्धवहारापेक्षया न विरुद्धं, एवं उच्यते
नित्यत्वं, पर्यायतश्चानित्यत्वं न विरुद्धम् । न च द्रव्यपर्याययोः
परस्परं ज्ञेयः, यतो यदेव वस्तुवनपेक्षितविशिष्टरूपं उच्यमिति
व्यपदिश्यते, तदेवापेक्षितविशिष्टरूपं पर्याय इति । तथेति वाक्या-
न्तरोपपत्त्यर्थः । देहाच्छरीरात् । किमित्याह-जिन्नो व्यतिरिक्तः, स
चासावजिन्नश्च व्यतिरेकी भिन्नाभिन्नः, तत्र भिन्नाभिन्न एव
च जीवः, शरीरात्तस्यैवोपलभ्यमानत्वात् । तथाहि-जीवस्या-
मूर्तत्वाद्देहस्य च मूर्तत्वामूर्तामूर्तयोश्चात्यन्तविलक्षणत्वा-
द्भेदः । तयोर्देहस्पर्शने च जीवस्य वेदनोत्पत्तेरभेदश्चेति । आह च-
“ जीवसरीराणं पि हु, मेया नेओ तहोवलंजाओ । मुत्तामुत्त-
सेणओ, छिक्कम्मि य वेयणाओ य ” ॥१॥ सर्वथा ज्ञेये हि शरीर-
तकर्मणो जवान्तेरेभ्युभवानुपपत्तिः स्यात् । अभेदे च परबोकाहा-
निः, शरीरत्वाव जीवनादादिति । वशब्दोऽनुक्तसमुच्चये । ततश्च
सदसतीत्याद्यपि उच्यम् । आह च-“ संतस्स सरुवेणं, तदा
विरुवे अस्तस्स । इदि विसिच्चणओ, होति विसिच्च सुहा-
इआ ” ॥१॥ या विविष्टाः प्रतिभाषिषेयाः । तत्त्वत इति परमार्थ-
२२१

तः, नित्यानित्यादौ, न पुनः कल्पनया, पारमार्थिकत्वं च नित्या-
नित्यत्वादीनां दर्शितमेव । घटन्ते युज्यन्ते, आत्मनि जीवे, न्या-
यात् परिणामिस्वरूपस्यात्मनोऽपरापरपर्यायसंपदुपपत्तिलक्ष-
णया नीत्या, हिंसादीन्याभ्रयसंवरबन्धमोक्षसुखादीनि । कथमि-
त्याह-अविरोधतः अविरोधेन, एकान्तपक्षे ये हिंसादिष्वन्युप-
गम्यमानेषु विरोधा दर्शिताः, तत्परिहारेणेति ज्ञाव इति ॥ १ ॥

(१५) आत्मनः परिणामित्वे हिंसाया अविरोधदर्शनायाह-

पीडाकर्तृत्वयोगेन, देहव्यापस्यपेक्षया ।

तथा हन्मीति संक्षेपा-द्विसैषा सनिबन्धना ॥ २ ॥

पीडा दुःखवेदना, तस्याः कर्ता विधाता, तद्भावः पीडाकर्तृत्वं,
तस्य तेन वा योगः संबन्धः, तेन पीडाकर्तृत्वयोगेन । तथा-देहस्य
शरीरस्य, व्यापधिविनाशो देहव्यापसिः, तस्या अपेक्षा निश्चा-
देहव्यापस्यपेक्षा, तथा । तथेति निबन्धनान्तरसमुच्चये । हन्मि मार-
यामि, प्राणिनमित्येवंरूपास्तंक्षेपाक्षितकाद्युप्यात्, हिंसा प्राणव्य-
परोपणा, या परिणामवादिभिरभ्युपगतेति गम्यम् । एषा इयं हिं-
सा, सनिबन्धना सनिमित्ता । परिणामवादे हि पीडकस्य पीडनीय
स्य च परिणामित्वात् पीडाकर्तृत्वमुपपद्यते । देहविनाशस्तंक्षेपौ
च एकान्तवादे तु पीडाकर्तृत्वादीनां पूर्वोक्तन्यायेनाभ्युपगम्यमानत्वा-
त् हिंसा निनिबन्धनेति । यथोच्यते-नाशहेतुना देहान्निशो नाशः
क्रियतेऽजिन्नो वा । यदि जिन्नः, तदा देहस्य तादवस्थं स्यात् । अ-
थाजिन्नः, तदा देह एव कृतो जवतीति । तदयुक्तम् । अजिन्ननाशकर-
ये हि वस्तु नाशितमेव भवति, न कृतं, यथा जिन्नोत्पादकरणे उत्पा-
दितमेव भवतीति, अनेन च त्र्येकेन स्थानान्तरप्रसिद्धत्वाविधो
वधो निर्दिष्टः । तथा च-“ तत्पञ्चायविद्याः सो, दुक्खुप्पाओ य संकिंसे-
सो य । एस वडो जिणमण्णिओ, वज्जेयव्वो पयसेण ” ॥१॥ नन्वसादृ-
घातकाद् मरणमनेन देहिना प्राप्तव्यमित्येवंफलात् संकृतकर्मणां
वशाद् हिंसा भवत्यन्यथा वा । यथायः पत्तः, तदा हिंसकस्याहिं-
सकत्वमेव, स्वकर्मकृतत्वात् हिंसायाः, पुरुषान्तरकृतहिंसाया-
मिव तथा कर्मनिर्जः । त्वेन हिंसकस्य वैद्यावृत्त्यकरणस्यैव
कर्मत्वावासिन्नज्ञाणो गुणः स्यात् । अथान्यथेति पक्षः, तदा नि-
र्विशेषत्वात्सर्वे हिंसनीयं स्यात् ॥ २ ॥

(१६) तथा स्वर्गसुखादयोऽपि स्वकृतकर्मानापादिता एव
स्युरिति कर्माभ्युपगमोऽनर्थक इत्येवमाहिंसानामपि हिंसाया
असंभव एवेत्याशङ्क्याह-

हिंस्यकर्मविपाकेऽपि, निमित्तत्वनियोगतः ।

हिंसकस्य भवेदेपा, दुष्टाऽदुष्टाऽनुबन्धतः ॥ ३ ॥

हिंस्यते मार्यते इति हिंस्यः, तस्य यत्कर्म, तस्य विपाक उदयो
हिंस्यकर्मविपाकः, तत्रापि हिंस्यकर्मविपाकरूपत्वे हिंसायाः, आ-
स्तां हिंस्यकर्मविपाकाभावकल्पनायां, निमित्तत्वस्य निमित्त-
कारणजावस्य नियोगोऽवश्यंभावो निमित्तत्वनियोगतः, हिं-
सकस्य व्यापादकस्य, भवेत् जायेत । एषा हिंसा । अयमभिप्रायः-
यद्यपि प्रचानहेतुभावेन कर्मोदयाद्विषयस्य हिंसा भवति, तथा-
ऽपि हिंसकस्य तस्यां निमित्ताभावेनोपयुज्यमानत्वात्तस्याऽसौ
जवतीत्युच्यते । न च वाक्यं हिंस्यकर्मणैव हिंसकस्य हिंसायां
प्रेरितत्वात्तस्य न दोष इति । अजिमरादः परंपरितस्यापि लो-
के दोषदर्शित्वमिति । ननु यदि निमित्तभावेऽपि हिंसा स्यादिति-
च्यते । तदा वैद्यादीनामपि तत्प्रसङ्गः । सत्यम् । केवलं सा तथा न,

णमेवं जवः, अत्रि एं नम माणुस्नए जवे मायाः वा०
जाव मुएहाइ वा तं गच्छामि एं, तेसिमंतियं पाउन्नवामि,
पानंतु ना मे उमपेयास्त्वं दिव्यं देवद्वि दिव्यं देवजुः द्वाप्त्वं पत्तं
अभिसममगम्यं ॥३॥ अहुणोवचनो देवे देवलोएमु० जाव
अणुज्जोवदणं तस्स णमेवं भवः, अत्रि एं मम माणुस्नए
जवे पित्तं वा चुहीः वा सहाएइ वा संगएइ वा तेति
च एं अम्हं अणममस्स संगारे पडिमुए जवः, जो मे
पुत्तिं चयइ मे मंवाहियवे इवेएहिं० जाव संचाएइ ह-
वमागच्छित्तए ॥ ४ ॥

आगमनकारणानि प्रायः प्राग्वत्, तथापि किञ्चिदुच्यते-कामभो-
गं उन्च्छिनादिविशेषणो यो देवस्तस्य (एवमिति) एवंचत मनो
जयति-यदुन अस्मि मे किं तदित्याह-आचार्य इति याऽऽचार्य एत-
द्वाऽस्ति इति रूपप्रदर्शने, वा विकल्पे। एवमुत्तरत्रापि। किंचिदिति-
शब्दः न इत्यनेन, तत्र सूत्रं सुगममयेति। इह आचार्यः प्रतिबोधप्रदा-
जकादिरूपोपाचार्यो वा, उपाध्यायः सूत्रदाता, प्रवचनार्थं सा-
धूनाचार्योपदिष्टेषु वैयवृत्यादिस्थिति प्रवर्त्ती, प्रवर्त्तिव्यापारितान्
साधून् संयमयांगेषु सौदतः स्मिरीकरोतीति स्वविरा, गणोऽस्या-
स्तीति गणी, गणाचार्यो गणधरो वा जिनाशिक्षाविशेष आर्थिका-
प्रतिज्ञागर्को वा साधुविशेषः, समयसिद्धान्तो गणस्यावच्छेदोऽ-
पधिनागणानिनिमित्तं विहरति (इमे सि) इयं प्रत्यक्षासन्ना
एतदेव रूपं यस्या न कालान्तरादायपि रूपान्तरजाक सा,
तथा दिव्या स्वर्गसंभवा प्रधाना वा देवर्द्धिर्विमानरत्नादिका
युनिः। शरीरादिसम्भवा युतिर्वा युक्तिरिष्टपरिवारादिसंयो-
गवैज्ञाना द्वय्या उपार्जिता जन्मान्तरे प्राप्तेदानीमुपगता, अभि-
सन्त्यागता ज्ञान्यावस्थां गता (तं ति) तस्मात्तान् नगवतः पु-
न यस्यादिना वा समानयाम्युचितप्रतिपत्त्या कल्याणं मङ्गलं
दैवतं धृत्यमिति बुद्ध्या पर्युपास्य सेवामित्येकम्। तथा-ज्ञाने
भूतज्ञानादिनेत्यादि द्वितीयम्। तथा-(भाषाइ वा भज्जाइ वा भ-
इणीइ वा पुत्ताइ वा धूयाइ वेति) यावत् शब्दाक्षेपः, स्तुथा पु-
त्रनार्यां (तं) तस्मात्तेषामस्तिकं समीपं प्राप्नुम्वामि प्रकटी-
भवामि (ता) तावत् (मे) मम इति पाठान्तरमिति तृतीय-
म्। तथा-मित्रं पश्चात् स्नेहवत् सखा बालवयस्यः सुहृत्सज्जनो
हितैषी सहायः सहचरस्तदेककार्यप्रवृत्तो वा, संगतं विद्यते य-
स्यासौ साङ्गितिकः परिचितस्तेषां (अम्हे सि) अस्माभिः (अ-
णममस्स सि) अन्यान्यं (संगारे सि) संकेतः प्रतिबुद्धोऽन्युप-
गतो भवति स्मेति। (जो मे सि) योऽस्माकं पूर्वं ज्यवते देव-
लोकात्स संबोधयितव्य इति चतुर्थम्। इदं च मनुष्यजवैकृतसं-
च नरतयोत्पन्नस्याः पूर्वलक्षादिजीवित्वा सौधर्मादिपूतपथ
संबोधनार्थं यदिहागच्छति तद्वचसेयमिति। इत्येतैरित्यादि नि-
गमनमिति ॥ स्था० ४ ग० ३ ३० ।

अहे-अधस्-दिग्भेदे, नि० चू० १८ उ०। म० ।

अथ-अव्य०। अथार्थः, म० १ श० ६ उ०। 'अहे णं से अस्मापियरं'

अथ चेतत्, णमिति वाक्यालङ्कारोऽस्था० ३ ग० १ उ०। आचा०।
सेपे, नियोगं च। स० ।

अहेउ-अहेतु-पुं०। यथोक्तहेतुप्रतिपत्ते, स०। अनुमानानु-
त्थापके हेत्वाभासे, स्था०।

पंच अहेउ पष्ठत्ता। तं जहा-अहेउं ए जाणइ० जाव
अहेउउभत्यमरणं मरइ ॥ ६ ॥ पंच अहेउ पष्ठत्ता। तं
जहा-अहेउणा न जाणइ० जाव अहेउणा उभत्यमरणं
मरइ ॥ ७ ॥ पंच अहेउ पष्ठत्ता। तं जहा-अहेउं जाणइ
० जाव अहेउकेवजिमरणं मरइ ॥ ८ ॥

तथा पश्चादहेतवो यः प्रत्यक्षज्ञानादितया अनुमानानपेक्षः स धू-
मादिकमहेतुनाऽयं हेतुर्ममानुमानोत्थापक इत्येवं जानाती-
त्यतो हेतुभूतं तं जानन्नहेतुरेवासावुच्यते। एवं दर्शनवदे-
धामिसमागमापेक्षयाऽपि तदेवमहेतुचतुष्टयं कुप्रस्थमाभित्य
देशनिषेधत आह-(अहेतुमिति) धूमादिकं हेतुमहेतु-
भावेन न जानाति न सर्वथाऽवगच्छति, कथञ्चिदेवावगच्छती-
त्यर्थः। नञो देशनिषेधार्थत्वात्, ज्ञातुश्चावध्यादिकं कथित्वेनानु-
मानाव्यवहर्तृत्वादित्येकोऽयमहेतुर्देशप्रतिषेधत उक्तः। एवमहेतु-
कृत्वा धूमादिकं न पश्यतीति द्वितीयः। न बुध्यते न श्रुज्जे-
इति तृतीयः। नाभिसमागच्छतीति चतुर्थः। तथा-अहे
वसानादिहेतुनिरपेक्षं निरुपक्रमतया उपस्थमरणमनुम
हन्तृत्वेऽप्येकैवलित्वात्तस्यायं च स्वरूपत एव पञ्चमो हेतुः
तथा-पश्चादहेतवो योऽहेतुना हेत्वभावेनावध्यादिकेवा-
जानात्यसावहेतुरेवेत्येवं पश्यतीत्यादयोऽपि। एवं च उपस्थमरणं
भित्य पदचतुष्टयेनाहेतुचतुष्टयं देशप्रतिषेधत आह।
हेतुनोपक्रमाभावेन कुप्रस्थमरणं भ्रियत इति पञ्चमः...
स्वरूपत एव उक्तः ६। तथा-पश्चादहेतवोऽहेतुं न हेतुभावेन वि-
हितं धूमादिकं जानाति केवलितया योऽनुमानाव्यवहारित्वा-
त्सांऽहेतुरेव। एवं यः पश्यतीत्यादि। तथा अहेतुं निर्हेतुकमनु-
पक्रमत्वात् केवलमरणमनुमानाव्यवहारित्वाद् भ्रियते यात्य-
सावहेतुः पञ्चमः। एते पश्चादपीह स्वरूपत उक्ताः। ७। एवं तृतीय-
न्तसूत्रमप्यनुसर्तव्यमिति। ८। गमनिकामात्रमेतत्, तत्त्वं तु बहुभुता
विदन्तीति ॥ स्था० ५ ग० १ उ०। न विद्यते हेतुरस्येति, अ-
द्यपर्यवसिते नित्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। म०।

अहेउवाय-अहेतुवाद-पुं०। हिनोति गमयत्यर्थमिति हेतुः।
त्परिच्छिद्योऽयंऽपि हेतुः, तं वदति य आगमः स हेतुवा-
यस्तु वस्तुस्वरूपप्रतिपादकत्वेऽपि तद्विपर्ययोऽसावहेतुवा-
दृष्टिवादादन्यस्मिन्, सम्म०।

(दुविहो धम्मावाओ, अहेउवाओ य हेउवाओ य)
तत्थ उ अहेउवाओ, जवियाभविआदओ जावा ॥ १४० ॥

मव्यामव्यस्वरूपप्रतिपादक आगमः, तद्विभागप्रतिपादने अ-
क्षादेः प्रमाणान्तरस्याप्रवृत्तेः। नह्यथं मव्योऽयमव्य इत्य-
प्रमाणेन प्रमाणान्तरप्रवृत्तिसंज्ञवः। असदाद्यपेक्षया न तु तद्वि-
प्रतिपादकं वचो यथार्थमर्हद्वचनत्वात्, अनेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपा-
दकवचोवदित्यनुमानात् तद्विभागप्रतिपत्तौ कथं न तस्यानुमाना-
पयता। न। एवमप्यागमादेव तद्विभागप्रतिपत्तेस्तद्वितीरेकेण प्र-
माणान्तरस्य तत्प्रतिपा-
बन्धनस्याभावात्। अर्हदागमस्य =

धान्यार्थसंवादनियन्धनतत्पणीतत्वनिश्चयेऽनुमानतोऽतीन्द्रिया-
र्थविषये प्रामाण्यं निश्चीयत इत्यभ्युपगम्यत एव । आगमनिरपेक्ष-
स्य तु प्रमाणान्तरस्यास्मददेस्तत्र प्रवृत्तिर्न विद्यत इत्येतावता
अहेतुवादत्वमेव विषयागमस्योच्यत इति वचनव्यापारं केवल-
मपेक्षयायं क्रमः । यदा तु ज्ञानदर्शनचारित्र्यत्रितये यथा तदनु-
ष्ठानप्रवणस्तद्विकल्पश्च पुरुषः प्रतीयते, तदाऽनुमानगम्योऽपि त-
द्विज्ञागो भवति । यथा भव्योऽभव्यो वाऽयं पुरुषः, सम्यग्ज्ञाना-
द्विपरिपूर्णत्वाभ्याम्, लोकप्रसिद्धमभ्यामव्यपुरुषवत् । अहेतुवा-
दागमावगते धर्मिणि भव्याभव्यस्वरूपे तद्विपरीतनिर्णयफलो
हेतुवादः, प्रवृत्ते योऽयमागमे प्रव्यादिरभिहितः स तथैव, य-
थोक्तहेतुसद्भावादिति । आह-

भवित्रो सम्महंसण-णाणचारित्तपान्वित्तिसंपन्नो ।

णियमा दुक्खंतकमो, चि लक्खणं हेतुवायस्स ॥१४१॥

भव्योऽयं सम्यग्दर्शनचारित्र्यप्रतिपत्तिसंपूर्णत्वात्, उक्तपुरुषवत्,
तत्परिपूर्णत्वादेव नियमात्संसारदुःखान्तं करिष्यति, कर्मव्याधे-
रात्यन्तिकविनाशमनुजविष्यति, तद्विवन्धनमित्यात्वादिप्रतिप-
क्षाभ्याससात्मीयात्, व्याधिनिदानप्रतिकूलाचरणप्रवृत्ततथा-
विधाऽऽतुरवदः, यः पुनर्न तत्प्रतिपक्षाभ्याससात्त्ववाञ्छासौ दु-
ःखान्तकृत् जविष्यति, तद्विदानानुष्ठानप्रवृत्ततथाविधाऽऽतुरवद-
मापहेतुवादस्य लक्षणम् । हेतुवादः प्रायो दृष्टिवात्, तस्य द्रव्या-
त्वात्, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः' इत्यादेर-
नादिगम्यस्यार्थस्य तत्र प्रतिपादनात् । यथाऽत्रानुमानादिग-
च्छा तथा गन्धहस्तिप्रभृतिभिर्द्विकान्तमिति नेह प्रदर्श्यते, प्र-
माणस्तत्तज्जयात् ॥ सम्म० ३ काण्ड ।

गच्छिम्म-अधःकर्म-न० । विद्युत्संयमस्यानेन्यः प्रतिप-
त्त्याऽऽत्मानमविद्युत्संयमस्थानेषु यदधोऽधः करोति तदधः-
कर्म । वृ० ४ उ० । अथो नरकादेर्येन भक्तेन लुके वाऽस्मा क्रियते
तदधःकर्म । दश० ५ अ० । अन्विशुद्धेभ्यः संयमादिस्थाने-
ऽधोऽधस्तारामागमे, पि० । आधाकर्मणि, पि० । ('अधेकम्म'
शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५९१ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

अहेकाय-अधःकाय-पुं० । ऊर्वादिभेदे, सूत्र० १ शु० ४ अ०
११ उ० ।

अहेगारवपरिणाम-अधोगौरवपरिणाम-पुं० । येनायुःस्वभावेन
जीवस्याधो दिशि गमनशक्तिलक्षणपरिणामो भवति, तस्मिन्
कौरवपरिणामभेदे, स्था० ९ उ० ।

अहेचर-अधश्चर-पुं० । विलवास्तित्वात् सर्पादौ, आचा० १ शु०
८ अ० ८ उ० ।

अहेतारग-अधस्तारक-पुं० । पिशाचभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अहेपन्नगच्छरुव-अधःपन्नगार्धरूप-त्रि० । अधोऽधस्तनं, यत्
खण्डिंशस्य सर्पस्यार्धं तस्यैव रूपमाकारो येषां तेऽधःपन्नगार्धरू-
पाः । अधःपन्नगार्धं वदति, सरलेषु दीर्घेषु च । जी० ३ प्रति० रा० ।

अहेसणिज्ज-यथैपणीय-त्रि० । उत्कर्षणोपकर्षणरहिते, अप-
रिक्कर्मणि, "अहेसणिज्जाइ वत्थाइ आपज्जा" । आचा० १ शु० ८
अ० ४ उ० ।

अहेसत्तमा-अधःसत्तमी-स्त्री० । तमस्तमायां पृथिव्याम्, अधो-
ग्रहणं विना सत्तमी उपरिष्ठाच्चित्त्यमाना रत्नप्रज्ञाऽपि स्यादित्य-
धोग्रहणम् । "अहेसत्तमाए पुढवीए" स्था० २ ठा० ४ उ० ।

अहो-अहो-अव्य० । न हा-हो । शोके, धिगर्थे, विषादे, दया-
याम्, सम्बोधने, प्रशंसायाम्, वितर्के, असूयार्या च । वाच० ।
विस्मये, आ० म० प्र० । दश० । म० । स्था० । उक्त० । सूत्र० । आ-
श्चर्ये, अष्ट० १८ अष्ट० । प्रति० । आचा० । विपा० । दैन्ये, आम-
न्त्रणे च । ग० २ अधि० । अनु० । सूत्र० ।

अहोकरण-अधःकरण-न० । अधोऽधस्तादात्मनः करणम् ।
कलहे, नि० चू० १० उ० ।

अहोकाय-अधःकाय-पुं० । अधस्तात्कायोऽधः कायः । पादे,
आव० ३ अ० ।

अहोणिन-अहर्निश-न० । अहोरात्रे, "गिरये गेरइयाणं अहो-
णिसं पच्चमाणाणं" सूत्र० १ शु० ५ अ० १ उ० ।

अहोतरण-अधस्तरण-न० । अधोऽधस्तादवतारभूमिं गृह्णी-
श्रेया इव करणमधःकरणम् । कलहे, नि० चू० १० उ० ।

अहोदाण-अहोदान-न० । विस्मयनीये दाने, "अहोदाणं च-
घुछं" अहो इतिविस्मये, विस्मयनीयमिदं दानं कोऽन्यो दाता ?
उक्त० २ अ० । कल्प० । आ० म० । अहोदानस्यायमर्थः-एवं
दीयते एवं हि दत्तं भवतीति । आव० १ अ० ।

अहोदिसिञ्चय-अधोदिग्व्रत-न० । दिग्धोऽधोदिक, तत्संबन्धि,
तस्या वा व्रतमधोदिग्व्रतम् । एतावती दिग्ध इत्कूपायवतार-
णादवगाहनीया न परत इत्येवंरूपे दिग्व्रतभेदे, आव० ६ अ० ।

अहोनागि (ए)-अधोभागिन्-त्रि० । अधस्ताद् भागिनि,
सूत्र० १ शु० ३ अ० ।

अहोरत्त-अहोरात्र-पुं० । त्रिशन्मुहूर्तात्मके, व्यो० २ पादु० । ज० ।
कर्म० । भ० । दिवसरात्र्युज्यात्मके, सू० प्र० १० पादु० । सूत्र० ।
विशे० । अनु० । आ० म० । उक्त० । स्था० । काष्ठभेदे, न० ।
"तिविहे अहोरत्तं तीते, पटुप्पन्ने, अण्णागए" । स्था० ३ ठा०
४ उ० । अहोरात्रे, आ० चू० १ अ० । आ० म० । (पौरुषीकालः
'काल' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

अहोराश्या-अहोरात्रिकी-स्त्री० । त्रिभिर्दिवसैर्याति प्रति-
मा । अहोरात्रस्यान्ते पष्ठमककरणात् प्रतिमामेदे, पञ्चा० १८
विव० । "अहोराइदिद्या णवरं कृत्तेणं जत्तेणं अपाणणणं वहि-
यागमस्स वा० जाव रायहाणीए वाईणि दौवि पादे वग्घारित-
पाणिस्स द्वाणं गाइ तप, सेसं तं चेवं जाव अणुपालिया
भवइ" आ० चू० ४ अ० ।

अहोलोय-अधोलोक-पुं० । लोक्यते केवलिप्रज्ञया परिच्छिद्य-
ते इति लोकः । अधोऽधोवस्थितो लोकोऽधोलोकः । अथवा-
ऽधःशब्दोऽशुभपर्यायः, तत्र च क्षेत्रानुज्ञावाद् बाहुल्येनाशु-
भ एव परिणामो द्रव्याणां जायतेऽतोऽशुभपरिणामवद्द्रव्य-
योगादधोऽशुभो लोकोऽधोलोकः ॥

अहो अहो परिणामो, खेत्ताणुजावेण जेण उससं

पवर्गः" इत्यादि तं वचनमिति गम्यते । यथार्थं निरूपचरितं,
सर्वमेव निरवधं निव, तुल्यः पूरण इति ॥ ७ ॥

उत्संहराह-

विचार्यमेतत्सद्वृत्त्या, नश्यत्येनान्तरात्मना ।

प्रतिपत्तव्यमेवेति, न तद्वदन्यः सतां नयः ॥ ८ ॥

विचार्य विचारणम्, एतद्वदनन्तरमहिंसादि विचारितं, सद्वृत्त्या शोभनमङ्गया, नश्यत्येनाऽप्यपतिनेन अन्तरात्मना जावेन, मनसा वा न केवलं विचार्य, तथा प्राञ्जपत्तव्यमेव न तु न स्वीक-
रन्त्यन्तर्निश्चयो विचक्षिताथं परस्मान् । अथ कस्मात्प्रति-
पत्तव्यमेवेत्याह-न खलु नैव, अन्य उच्यते नित्यं कृणः, सतां स-
न्गुण्याणां, नयो न्याय इति ॥ ८ ॥ हारिः ०१६ अष्टः । द्वा० विशेषः ।

अहिंसात्मन्यवण-अहिंसात्मन्य-पुं० । अहिंसा प्राणिसंरक्ष-
णं, ब्रह्मणं चित्ते यस्य स अहिंसात्मकः । सत्त्वानुकम्पानुमेय-
संभवे, पा० । दयाच्छिद्रे, अ० ३ अधि० ।

अहिंसात्मन्य-अहिंसात्मन्य-पुं० । अहिंसाप्रधाने आगमे, सं-
केने चापदेशरूपे, सूत्र० १ शु० ११ अ० ।

अहिंसिय-अहिंसित-वि० । अमारिते, सूत्र० १ शु० १ अ० ४ व० ।

अहिंस्कृत-अहिंसाकृत-वि० । अभिज्ञपति, "अहिंस्कृत-
हिं भुवासियाई" । पं० व० ४ द्वार ।

अहिंकरण-अधिकरण-न० । नरकतिर्यग्गतिषु, आत्मनो-
ऽधिकरणं वा तुल्यसत्त्वे इत्यर्थः । कश्चे, नि० चू० ४ उ० ।

अहिंकरणी-अधिकरणी-स्त्री० । सुवर्णकारोपकरणे, सा० ८ व० ।

अहिंक्षि-अधिकृत्य-अव्य० । प्रतीत्येत्यर्थे, "पदुष सि वा
पप्प सि वा अहिंक्षि सि वा एगडा" । आ० चू० १ अ० ।

अहिग-अधिक-वि० । विशिष्ट, पञ्चा० ३ विव० ।

अहिगुणतय-अधिकगुणस्य-वि० । अधिकगुणवर्तिनि, यो०
७ विव० ।

अहिगत-अधिकत्व-न० । विशिष्टतरत्वे, पञ्चा० ३ विव० ।

अहिगम-अधिगम-पुं० । विशिष्टपरिज्ञाने, प्रव० १४३ द्वार ।
अवबोधे, स्था० ७ डा० । "याणं ति वा संवेदनं ति वा अहिग-
नो ति वा वेयणि ति" । आ० चू० १ अ० ।

अभिगम-पुं० । उपचारे, "अभिगमेण अभिगच्छन्ति" । औ० ।
('अभिगम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७११ पृष्ठेऽस्य जेदा उक्ताः)

अहिगमण-अधिगमन-न० । परिच्छेदने, विवे० ।

अहिगमरु-अधिगमरु-पुं० । स्त्री० । सम्यक्त्वज्जेदे, तद्वति
च । प्रव० १४५ द्वार । (५६० पृष्ठे तथा ७११ पृष्ठे चास्मिन्नेव
भागे आधे० अजि० प्रकरणे द्रष्टव्यम्)

अहिगमास-अधिकमास-पुं० । अभिवर्द्धितमासे, ज्यो० १ पादु० ।

अहिगय-अधिकृत-वि० । प्रस्तुते, विशेषः । पञ्चा० । भावे क्तः,
अधिकारे, न० । विशेषः ।

अधिगत-वि० । परिज्ञाते, अनु० । गीतार्थे, व्य० १ उ० । दीक्षा-
दिप्रतिपत्त्याऽङ्गीकृते प्राप्ते, पञ्चा० २ विव० ।

अहिगयगुणवृद्धि-अधिकृतगुणवृद्धि-स्त्री० । सम्यक्त्वाद्विगुण-
वर्द्धने, पञ्चा० २ विव० ।

अहिगयजीव-अधिकृतजीव-पुं० । प्रस्तुतसत्त्वे, यथा दीक्षाधि-
कारे दीक्षणीय इति । पञ्चा० २ विव० ।

अहिगयजीवाजीव-अधिगतजीवाजीव-वि० । अधिगतौ
सम्यक्त्वज्ञातौ जीवाजीवौ येन स तथा । जीवाऽजीवयोः पर-
मार्थतो विज्ञानवति, रा० ।

अहिगयद्व-अधिगतार्थ-पुं० । अधिगतोऽर्थो येन स तथा, अ-
धिगतार्थो वाऽर्थान्वधारणात् । तत्त्वज्ञे, दशा० १० अ० ।

अहिगयतिथ्यविहाया-अधिकृततीर्थविधातृ-पुं० । वर्त्तमानप्र-
वचनकर्तारि भगवति महावीरे, पञ्चा० १६ विव० ।

अहिगयरगुण-अधिकतरगुण-पुं० । प्रकृष्टतरगुणे, पञ्चा० १८
विव० ।

अहिगयविसिद्धभाव-अधिगतविशिष्टभाव-पुं० । प्रस्तुतप्रकृष्ट-
ब्रह्माध्यवसाये, पञ्चा० १६ विव० ।

अहिगयसुन्दरभाव-अधिकृतसुन्दरभाव-पुं० । प्रस्तुतशोभनप-
रिणामे, पञ्चा० १८ विव० ।

अहिगरण-अधिकरण-न० । अधिक्रियतेऽधिकारीक्रियते
द्वर्गतावात्मा येन तदधिकरणम् । बाह्ये वस्तुनि, स्था० २ डा०
१ उ० । आब० । प्रव० । पापोत्पत्तिस्थाने, आनु० । हस्तुष्टाने,
प्रश्न० ३ सम्य० द्वार । स्वपक्षपरपक्षविषये विग्रहे, स्था०
७ डा० । राटौ, तत्करवचने च । कल्प० १६ क० । कलहे, ग० ३
अधि० । खड्गनिवर्तनादौ, हा० ५ अ० । औ० । सूत्र० ।
कपायाद्याभयचूते हलशकटादौ, भ० ७ श० १ उ० । (अधि-
करणस्य कर्त्तव्यता कामणा च 'अधिगरण' शब्देऽस्मिन्नेव
भागे ५७२ पृष्ठे ५७१ पृष्ठे च उक्ता, नवरं चातुर्मास्ये)

वासावासं पञ्जोसवियाणि नो कप्पइ निगंथाण वा नि-
गंथीण वा परं पञ्जोसवणाओ अहिगरणं वइत्तप, जे णं
निगंथो वा निगंथी वा परं पञ्जोसवणाओ अहिगरणं
वयइ, से णं 'अकप्पेणं अज्जो वयसि' ति वत्तवे सिया,
जे णं निगंथाण वा निगंथीण वा परं पञ्जोसवणाओ
अहिगरणं वयइ, से णं निज्जूहियवे सिया ॥ ९८ ॥

(वासावासं पञ्जोसवियाणमित्यादि) चतुर्मासकं स्थितानां
नो कल्पते साधुनां साध्वीनां च पर्युषणातः परम, अधि-
करणं राटिः, तत्करं वचनमपि अधिकरणं, तत् वक्तुं न
कल्पते । अथ यः कोऽपि साधुर्वा साध्वी वा परं पर्युषणातः
अधिकरणं क्लेशकारि वचनं वदति, स एवं वक्तव्यः स्यात्-यत्
हे आर्य ! त्वमकल्पेन अनाचारेण वदसि, यतः पर्युषणादिनतो-
ऽर्वाक, तद्दिने एव वा यदधिकरणमुत्पन्नं तत्पर्युषणायां क्षामितं,
यच्च त्वं पर्युषणातः परमपि अधिकरणं वदसि, सोऽयमकल्प
इति भावः । यच्चैवं निवारितोऽपि साधुर्वा साध्वी वा पर्यु-
षणातः परम, अधिकरणं वदति स निर्युहितव्यः । ताम्बूलिकपत्र-
द्वष्टान्तेन सह्यद् वहिः कर्त्तव्यः । यथा-ताम्बूलिकेन विनष्टं पत्र-
मन्यपत्रविनाशनमयाद् वहिः क्रियते, तद्वदयमन्यन्तानुबान्धि-
कोद्याविष्टो विनष्ट एवेत्यतो वहिः कर्त्तव्य इति भावः । तथा-

अनुतो जहो नि भगिदो, दवाणं तेषां लोको ॥१॥

अनि ॥ मन्त्र-१०३०-३० ।

अहोहिय-अधोविह-त्रि० । अधः कुख्यादिरहिते, ह्युपरि तदभावे च । आचा० १ ध्रु० ६ अ० २ उ० ।
अहोविहार-अधोविहार-पुं० । अहो इत्याश्रयं, विहारं विहारः । आश्रयभूतो विहारः अहोविहारः । यथोक्तसंयमा-
नुषंगे, " समुद्रिण अहोविहाराय " (सूत्र-६५५) आचा० १ ध्रु० २ अ० १ उ० ।
अहोसिर-अधःशिरस्-त्रि० । अधोमुखे, "अहोसिरा कंटया जायति" (सूत्र-३५५) अधोमुखाः कण्टकाः भवन्तीति चतुर्द-
शस्तीर्थकारातिशयः । स० १४ सम० । अ-पेस्तके, उक्त० २३ अ० । "उहं जाणु अहोसिरं" (सूत्र-५५) अधोमुखा नोर्द्धं ति-
र्यग्वा विक्षिप्तदृष्टिः किन्तु नियतभूभागानियमितदृष्टिः । ज्ञा० १ ध्रु० १ अ० । विपा० । जं० । सू० प्र० । भ० । औ० । खं० प्र० । नि० ।
अहोहि-अधोऽवधि-त्रि० । परमावधेर-नेत्यवधिर्यस्य सोऽ-
धोऽवधिः । परमावधेरधोवर्त्यवधियुक्ते, रा० । स्था० ।
अहोहिय-यथावधि-त्रि० । यत्प्रकारोऽवधिरस्येति यथा-
वधिः । नियतसंविषयावधिज्ञानिनि, स्था० २ डा० १ उ० ।

अहोलोणं चत्वारि विमर्गारा पणत्ता, तं जहा-पुढवि-
काइया आउकाइया वणस्सउकाइया उगला तसा पाणा ।

(मन्त्र-३०६०-३०) (स्था० ४८०३३०) अहोलोणं सत्त पुढ-
वीओ पणत्ताओ, सत्त वणोदहीओ पणत्ताओ, सत्त वण-
वाया पणत्ताओ, सत्त तणुवाया पणत्ताओ, सत्त उवासं-
तग पणत्ता, एणमु गं मत्तमु उवासंतरेनु सत्त तणुवाया
पडडिया, एणमु गं मत्तमु तणुवाणमु सत्त वणोदही पडडिया, ए-
णमु गं मत्तमु वणोदहीसु पिंडलगीपहुलसंठाणसंठियाओ
नन पुढवीओ पणत्ताओ । तं जहा-पढमा० जाव सत्तमा ।
(सूत्र-५४६५) स्था० ७ डा० ३ उ० ।

अहोवान-अधोवात-पुं० । अधो गच्छन् यो वानि वातः सो-
ऽधोवानः । प्रज्ञा० १ पद । अधोनिमज्जति वायुभेदे, प्रज्ञा० १

पद । अपानत्रे वायौ च । जीत० । आ० म० । "अहोवातं"
(सूत्र-५४७ X) सप्तविधवाद्वायुकायिकमध्यगते पृष्ठ-
वायुकाये, स्था० ७ डा० ३ उ० ।

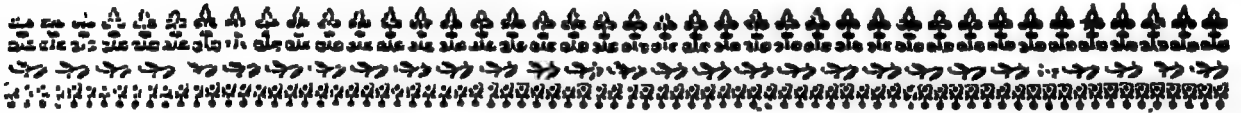
अहोविह-अधोविह-त्रि० । अधः कुख्यादिरहिते, ह्युपरि तदभावे च । आचा० १ ध्रु० ६ अ० २ उ० ।

अहोविहार-अधोविहार-पुं० । अहो इत्याश्रयं, विहारं वि-
हारः । आश्रयभूतो विहारः अहोविहारः । यथोक्तसंयमा-
नुषंगे, " समुद्रिण अहोविहाराय " (सूत्र-६५५) आचा० १ ध्रु० २ अ० १ उ० ।

अहोसिर-अधःशिरस्-त्रि० । अधोमुखे, "अहोसिरा कंटया
जायति" (सूत्र-३५५) अधोमुखाः कण्टकाः भवन्तीति चतुर्द-
शस्तीर्थकारातिशयः । स० १४ सम० । अ-पेस्तके, उक्त० २३
अ० । "उहं जाणु अहोसिरं" (सूत्र-५५) अधोमुखा नोर्द्धं ति-
र्यग्वा विक्षिप्तदृष्टिः किन्तु नियतभूभागानियमितदृष्टिः । ज्ञा०
१ ध्रु० १ अ० । विपा० । जं० । सू० प्र० । भ० । औ० । खं०
प्र० । नि० ।

अहोहि-अधोऽवधि-त्रि० । परमावधेर-नेत्यवधिर्यस्य सोऽ-
धोऽवधिः । परमावधेरधोवर्त्यवधियुक्ते, रा० । स्था० ।

अहोहिय-यथावधि-त्रि० । यत्प्रकारोऽवधिरस्येति यथा-
वधिः । नियतसंविषयावधिज्ञानिनि, स्था० २ डा० १ उ० ।



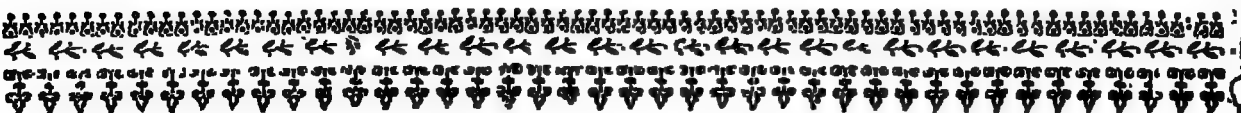
इति श्रीमत्सौधर्मवृद्धतपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-

श्रीमद्भट्टारक-जैन श्वेताम्बराऽऽचार्य श्रीश्री १००८ श्री-

मद्विजयरजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'श्री अभिधानराजेन्द्रे'

ह्रस्वाकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

तत्समाप्तौ च समाप्तोऽयं प्रथमो भागः ।



ऽन्योऽपि द्विजद्वयान्तः । यथा-खेत्वास्तव्यो रुद्रनामा द्विजो
वर्षाकाले केदारान् ऋष्टुं हवं लात्वा क्षेत्रं गतः । इत्थं वाहय-
तस्तस्य गली बलीवर्दे उपविष्टः । तोत्रेण ताड्यमानोऽपि या-
वन्तोत्तिष्ठति तदा कुकेन तेन केदारत्रयमृत्स्नैरैरेवाहन्यमानो
मृत्स्नैरुत्थगितमुखः श्वासरोधान्मृतः । पश्चात्स पश्चात्तापं वि-
दधानो महास्थाने गत्वा स्ववृत्तान्तं कथयन्नुपशान्तो न वेति
तैः पृष्टो, नाद्यापि ममोपशान्तिरिति वदन् द्विजैरपाङ्गकोयश्चक्रे ।
एवमनुपशान्तकोपतया वार्षिकपर्वीण अकृतज्ञामणः साध्वा-
दिरपि उपशान्तोपस्थितस्यैव मूलं दातव्यम् ॥ ५८ ॥

वासावासं पञ्जोसविषाणं इह खलु निर्गन्धाण वा नि-
गन्धीण वा अज्जेव कक्खमे कमुए विग्गहे समुपज्जि-
त्या, सेहे राक्षिणं स्वामिज्जा, राक्षिणं वि सेहं स्वामिज्जा,
खमियव्वं स्वमावियव्वं उवसमियव्वं उवसामियव्वं सुमइसं-
पुच्छणावहुत्तेणं होयव्वं, जो उवसमइ तस्स अत्थि
आराहणा, जो न उवसमइ तस्स नात्थि आराहणा; त-
म्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं । से किमाहु भंत !, उव-
समसारं खु सामन्नं ॥ ५९ ॥

चतुर्मासकं स्थितानामिह खलु निश्चयेन साधुसाध्वीनां च
(अज्जेव चि) अथैव पर्युषणादिन एव च ' कक्खन्न ' उ-
च्यते शब्दरूपः कटुको अकारमकारादिरूपो विग्रहः कन्नडः स-
मुत्पद्यते, तदा (सेहे चि) शैलौ लघुः रात्तिकं ज्येष्ठं क्वा-
मयति । यद्यपि ज्येष्ठः सापराधस्तथापि लघुना ज्येष्ठः क्षम-
णीयः, व्यवहारात् । अथापरिणतधर्मत्वाद्युज्येष्ठं न क्षमयति
तदा किं कर्तव्यमित्याह- (रायिणं वि सेहं स्वामिज्जा चि)
ज्येष्ठोऽपि शैलं क्षमयति । ततः क्तव्यं स्वयमेव क्षमयितव्यः
परः, उगशमितव्यं स्वयमुपशमितव्यः परः (सुमइ चि) शो-
भना मतिः सुमती रागद्वेपरहितता, तत्पूर्व्यां संपृच्छना सूत्रार्थ-
विषया समाधिः प्रश्नो वा तद्वहुलेन ज्ञितव्यः, येन सहाधिक-
रणमुत्पन्नमासीत्तेन सह निर्मलमनसा आलापादि कार्यमि-
ति भावः । अथ द्वयोर्मध्ये यद्येकः क्षमयति नापरस्तदा का ग-
तिरित्याह- (जो उवसमइ इत्यादि) य उपशाम्यति, अस्ति तस्या-
ऽऽराधना, यो नोपशाम्यति नास्ति तस्याऽऽराधना । तस्मात्
आत्मना उपशमितव्यम् । (से किमाहु चि) तत्कुत इति प्रश्ने
गुराह- (उवसमेत्यादि) उपशमसारमुपशमप्रधानम्, खु नि-
श्चये, आमरणं अमणत्वम् । कल्प० ९९ कृ० ।

साधिकरणस्य प्रतिक्रिया-

साहिगरणं निक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणा-
वच्छेयस्स निज्जूहितए अगिलाए करणिज्जं वेयावनि-
यं जाय रोगायंकातो विप्पमुक्के ततो पच्छा अहालहुस्सगे
नामं ववहारे पट्टवियवे सिया इति ।

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्धः ? इति संबन्धप्रतिपादनार्थमाह-
अभिज्ञयमाणो समगो, परिगहो वा से वारितो कलहो ।

उवसामेयव्वो उ ततो, अह कुज्जा दुविहजेयं तु ॥

अमणं साधुमभिभवन् गृहस्थो यदि, वा (से) तस्य गृह-
स्थस्य, परिग्रहः परिजनः वारितः सन् कलहं कुर्यात्, ततः स
कन्नह उपशमितव्यः । पतप्रदर्शनार्थमाधिकृतसुवारम्भः अस्य

व्याख्या प्राग्वत् । अथ सोऽनुपशान्तः सन् कुर्याद्विजेदं द्विप्र-
कारं, संयमभेदं जीवितभेदं चेत्यर्थः ।

तत आह-

संजमजीवियभेदे, संरक्खणं साहुणो य कायव्वं ।

परिक्खन्निराकरणं, तस्स ससत्तीए कायव्वं ॥

संयमभेदे जीवितभेदे वा तेन क्रियमाणे संरक्खणं साधोः क-
र्तव्यम् । तथा-तस्य साधोर्यः प्रतिपक्कः, तस्य निराकरणं स्व-
शक्त्या कर्तव्यम् ॥

कथं कर्तव्यमित्यत आह-

अणुसासणभेसणया, जा द्दद्धी जस्स तं न हावेज्जा ।

किं वा सति सत्तीए, होइ सपक्खे उवेक्खाए ? ॥

तस्य प्रथमतः कोमलवचनैरनुशासनं कर्तव्यम् । तत्राप्यतिष्ठति
जीपणमुत्पादनीयम् । तथाऽप्यतिष्ठति यस्य या लब्धिः स तां
न हापयेत्, प्रयुज्जीतेत्यर्थः । एतदेव विपक्वे फलाभावोपदर्शने
रुढयति-किं वा सत्यां दातौ जवति स्वपक्वे स्वपक्वस्य उपेक्षा ?
नैव किञ्चिदिति ज्ञावः । केवलं स्वशक्तिवैफल्यमुपेक्षानिमित्तं, प्रा-
यश्चित्तापत्तिश्च भवति । तस्मादवश्यं स्वशक्तिः परिस्फोरणीय-
ति । व्य० ३ उ० । स्था० । " अधिकरणे प्रायः कश्चिर्किञ्च कलहं
ज्जं ममरं वा करेज्जा गच्छवज्जो " महा० ७ अ० । " अहि-
करणं पवट्टइ, ताहे न करेइ " । आव० ६ अ० । आश्रये, पो० ३
विब० । सन्निधाने आधारि, स च देशकालादिः । यथा चक्रम-
स्तकादौ स्वप्रस्तावे च निष्पद्यते घट इति, एवं पटादावपि भा-
व्यम् । आ० चू० १ अ० । आ० म० । स चतुर्मेदः । तद्यथा-व्या-
पक औपनेष्टिकः, सामीप्यको, वैपयिकश्च । तत्र व्यापको यथा-
तिष्ठेपु तैलम्, औपनेष्टिको यथा-कटे आस्ते, सामीप्यको यथा-
गङ्गायां घोषः, वैपयिको यथा-रूपे चक्षुः । आ० म० द्वि० नि०
चू० विशेष० । स्वरिणामे च सामाधिकमव्यवच्छिन्नं धरतीत्य-
धिकरणम् । अधिकरणपरिणामाऽनन्ये सामाधिककर्तारि सा-
ध्वादौ, विशेष० ।

अहिगरणकर (५)-अधिकरणकर-त्रि० अधिकरणं कन्न-

हस्तकरोति तच्छीलश्चेत्यधिकरणकरः । कलहकरे, " अहिक-
रणकडस्स भिक्खुणो " सूत्र० १ भु० १ अ० १ उ० । आ० ।

अहिगरणज्जाण-अधिकरणध्यान-न० । अधिकरणं पापोत्प-
त्तिहेतुस्थानं, तस्य ध्यानमधिकरणध्यानम्; वापीध्यानतत्पर-
स्य नन्दिमणिकारस्यैव । दुर्भ्यां, आतु० ।

अहिगरणसाध-अधिकरणशाल-न० । बोहपरिकर्मगृहे, भ०
१६ श० १ उ० ।

अहिगरणसिद्धन्त-अधिकरणसिद्धान्त-पुं० । यत्सिद्धाव-
न्यस्थार्थस्यानुपेक्षेण सिद्धिः, तस्मिन् सिद्धान्तभेदे, सूत्र० १ भु०
११ अ० । " स चासौ अहिगरणो, जहियं सिद्धे सेसं अणु-
त्तमवि सिद्धे, जह निब्बत्ते सिद्धे अन्नत्तामुत्तत्तसंसिद्धी " ।
यस्मिन् सिद्धे शेषमनुक्रमपि सिध्यति, यथाऽऽत्मनो नित्यत्वे
सिद्धे, शरीरादन्यत्वसंसिद्धिरसूचित्वसंसिद्धिश्च । एषोऽधिक-
रणसिद्धान्तः । सूत्र० ।

अहिगरणि-अधिकराणि-स्त्री० । अधिक्रियते कुट्टनार्थं लोहा-
दि यस्यां साऽधिकराणिः । लोहकारसुवर्णकाराद्युपकरणे,
भ० १६ श० १ उ० । स्था० ।

॥ श्रीपञ्चपरमेष्ठिन्यो नमः ॥

॥ श्रीः ॥

इति श्रीमत्सौधर्मवृहत्तपागच्छीय-

कलिकाल-सर्वज्ञकल्प-श्रीमद्भ-

हारक जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य-

श्री श्री १००८ श्रीमद्विजय-

राजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते

‘अजिधानराजेन्द्रे’

प्रथमो भागः समाप्तः ।



अहिगरणिलोडि-अधिकरणलोडि-लो० । अधिकरणनिवे-
शकफोट, यत्र फोटोऽधिकरणा निवेद्यते । अ० १६ श० ३ उ० ।
अहिगरणिया-अधिकरणिका-लो० । अधिकरणविषये व्या-
पारे, प्रश्न० । ना च द्विविधा-निवर्तनाधिकरणक्रिया, संयोजनानधि-
करणक्रिया च । तत्राद्या स त्रादीनां तन्पुत्रादीनां निवर्तनप्रकृषा ।
द्वितीया तु-तद्वानिव निजानां संयोजनलक्षणेति । दुर्गतौ
यकानिर्वाधमयत्ने प्राणां नानु, प्रश्न० २ आध० द्वार । प्रति० ।
आच० । "अहिगरणया नं भन ! क्रिया कालविहा पण्त्ता ? !
गोयना ! दुविदा पण्त्ता । तं जन्तु-संजायणादिगरणिया य,
निव्यतणात्तरणिया य " । प्रश्न० २२ पद ।

अहिगा (या १-अधिकार-पुं० । प्रयोजनं, प्रस्ताये च । विशेष० ।
आ० म० । दश० । नि० च० । व्यापार आचा० १ श्रु० २ अ० १
उ० । संचा० । अधिक्रियन्ते सनाधियन्ते इत्यधिकाराः । प्रस्ताव-
विशेषपु, प्रव० १ द्वार ।

अहिगारे- (ए) अधिकारिन्-त्रि० । तद्योग्ये, प्रव० २ द्वार ।
प्रलम्बनापरपर्याये योग्ये, संचा० । पञ्चा० । दश० ।

अहिच्छत्ता-अहिच्छत्रा-स्त्री० । जङ्गलदेशप्रतिवक्त्रे पुरीमेदे,
"अहिच्छत्ता जंगलो चेव " अहिच्छत्रा नगरी, जङ्गलो देशः,
आर्यक्षेत्राणि । प्रव० १४८ द्वार । सूत्र० । "वेपाय नयरीय समर-
पुरच्छिमे दिसि माय अहिच्छत्ता नामे नयरी होत्था " आ०
१६ अ० । तत्कल्पश्च-

" तिरुअणमाणुं तिजय, पयडं नमिऊण पासजिणचंदं ।

अहिच्छत्ताय कणं, जहाअणुं किपि जेपमि " ॥ १ ॥

" इहं जंबुद्वीवे दीपे नारहे बासे मज्झमकंडे कुवजं-
गलजणवप संखावर्धे नाम नयरी रिक्सिमिका दुत्था ।
तन्य प्रयथं पाससामी वडमत्थविहारेण विहरंतो काठ-
संगे त्रिओ पुव्वनिवद्धरेण कमठासुरेण अविच्छि-
कथाराए वापाहं वरिसंतो अंधुरगे विठविओ । तेण सयले
मडीमंडले पण्त्तावीभूए आकंठमगं भगवंतं ओहिणा
आनोपकूण पंचगिसाहणजुयं कमठमुणिं आणाविअ कहा
अःमी अंतरमज्जेतसण्पभववयारं सुमरेण धरणिंदेण
नागरापण अनामहिंसाहिं सह आनंतुण मणिरयणविचइ-
अं सहस्ससंखफणमंडलवत्तं सामिणं उचारिं करंऊण
हिडे कुंमरीकयद्योएणं संगिहअ सो उवसगो निवारियो ।
नओ परं तांसे नयरीए अहिच्छत्त नि नामं संजायं । नत्य
पायारपहिं जहा जहा पुरओ तिमो उरगकवी धरणिंदो कुडि-
लगईए सण्पइ तहा तहा इट्टनिवेसो कयो । अज्ज वि तहेव
पायारे रयणा दीसइ । सिरिपाससामिणो चेइयं संघेण कारियं,
चेइआओ पुव्वदिसि अइमहुरपसओदगाणि कमठजलहरो-
ज्जियजवपुआणि सत्त कुंमाणं चिंठति । तज्जले सुविहिअएहा-
णाओ निदिआ यिरवत्थाओ हवंति । तेसिं कुंमाणं मट्टियाप धा-
उवाइआ धाउसिंकिं भणिति, पाहाणलठिमुठिम महासिद्ध-
रसकूविआ य इत्थं दीसइ । तथ निच्छुरायणस्स अणेगे
अभाइणाइवग्गाभिणोवक्कमा निष्कवीइआ । तीसे पुरीए
अंतो वहिं पत्तेयं क्वाणं वीहियाणं च सवायं लक्खं अत्थइ
महुदोदगाणं । जत्तागयजणाणं पाससामिचेइए एदवणं कुणं-
नाणं अज्जाय कमठो करपवरदुदियुट्टिगाज्जिअविज्जुमाइ
वरिसेइ । मूलदेवइआओ नाइहरे सिद्धिचित्तमि पाससा-
मिणो धग्गावपउमावईसावअस्स चेइअपायारसमीवे सि-
२२२

रिनेमिमुत्तिसहिआ सिरुवुद्धकलिआ अंबहुंविहत्था सिंह-
वाइणा अंबा देवी चिट्ठइ । ससिकरनिम्मलसाल्लपडि-
पुआ उत्तराभिहाणा बावी । तत्थ मज्जणे कप तवहे मट्टि-
आवेवे अ कुट्टीणं कुट्टरोगोवसमो हवइ । धनंतरिक्खस्स
य पिजरवणाए मट्टिआए गुरुवपसा कंचणं लण्णज्जइ । वं-
भकुंमनयकहाए मंडकवंणीए वव्वुषेण पगवुल्लगेण खी-
रेण सम्मं पीएण पत्तामहासंपओ निरागो किनरस्सरो अ हो-
इ । तत्थ य पाएण वव्वेणसु सव्वमहीउहाणं वंदया उव-
लब्धंति, ताणि ताणि अ कज्जाणि साहंति । तहा जयंतो-नाग-
दमणी-सहदेवी-अपराजिआ-लक्खणा-तिवसी-नडणी-स-
उलो-मपक्खो-सुवणसिला-मोहली-सोमली-रविमत्ता-नि-
व्वसी-मारसहा-सज्जा-विसल्लापनिहओ महोसहीओ एत्थ
वट्टंति । डांइआणि अ अणेगाणि हरिहरहरिअण्णज्ज-
डिआजवणवंभकुंमाणि तिथ्याणि । तहा एसा नयरी म-
हातवसिस्स सुगेडीयनामधेयस्स कएहरिसिओ जम्मभू-
मि चि, नप्यपकयपरगकणानिकएण पवितीकयाए यवव्व-
स्स पाससामिस्स संभरणेण आहिवाहिसण्पविसहरिकारे-
ण चोरजजवणरायडुट्टगहमारिचुअपेअसाइणीपमुहखुहो-
वहा न हवंति भविआणं ति " ।

" इअ एस अहिच्छत्ता-कणो उववविओ समासेणं ।

सिरिजिणपहसूरीहिं, पउमावईधरणकमठपिओ " ॥ १ ॥

इति अहिच्छत्राकल्पः समाप्तः । ती० ७ कल्प० । आचा० ।

अहिजाय-अभिजात-त्रि० । कुलीने, "अहिजायं महकम्मं" अ-
भिजातं कुलीनं महती क्रमा यत्र तथा पूज्यं क्रमं समर्थत्वं यत्त-
त्था । ततः कर्मधारयः । अथ वा-अभिजातानां मध्ये महत् पूज्यं
क्रमं समर्थं च यत्तत्था । म० ए श० ३३ उ० ।

अहिज्जा-अधीयान-त्रि० । प्रकृति-प्रत्यय-लोपा-ऽऽगम-वर्ण-
विकार-काल-कारकादिवेदिनि, दश० ५ अ० ।

अहिज्जाया-अधीयमान-त्रि० । पठति, व्य० ४ उ० । सूत्र० ।

अहिज्जितं-अधेतेतुम्-अव्य० । पठितुमित्यर्थे, दश० ४ अ० ।

अहिज्जिचा-अधीत्य-अव्य० । अध्ययनं कृत्वेत्यर्थे, उक्त० १ अ० ।

पठित्वेत्यर्थे, उक्त० १ अ० ।

अहिज्जयता-अभिध्यतता-स्त्री० । मित्या लोभः, सा संजा-
ता यत्र स निधितः । न निधितोऽनिधितः । तदुभावस्तत्ता ।
अलांमे, म० ६ श० ३ उ० ।

अदिट्टाण-अधिष्ठान-न० । सन्निपद्यावेष्टिते एवोपवेशने, नि०

चू० ५ उ० । भावे व्युद्-आग्रयणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

"अहिष्ठायं काऊणठितो" आ० म० द्वि० । पतित्वे, स्वामित्वे च ।

आचा० २ श्रु० ७ अ० ३ उ० ।

अहिष्ठिज्जाया-अधिष्ठेयमान-त्रि० । समाक्रम्यमाणे, स्था० ४
ग० १ उ० ।

अहिष्ठितप-अधिष्ठितम्-अव्य० । निपदवादिना परिमोकुमि-
त्यर्थे, श्रु० ३ उ० ।

अहिष्ठिय-अधिष्ठित-त्रि० । अध्यासिते, ज्ञा० १४ अ० । "सं-

वो जुद्धमहिष्ठितो" । आ० म० अ० । आविष्टे, स्था० ५ ग० २ उ० ।

वश्यतां गते, " राजाहिष्ठिया " राजाधिष्ठिताः राजाधीनाः ।

ज्ञा० १४ अ० ।

अहिण उलमयमयाहिवयमुह—अहिनकुलमृगमृगाधिपप्रमुख—
त्रि० । लज्जगवसुहरिणासिंहप्रभृतिके, प्रमुखग्रहणादश्चमहि-
ष्यादिपरिग्रहः । पञ्चा० २ विव० ।

अहिणंदण—अजिनन्दन—पुं० । अस्यामवसर्पिण्यां आते भर-
तक्षेत्रीये चतुर्थे तीर्थकरे, अ० २ अधि० ।

“ अचन्तिपु प्रसिद्धस्य, सिद्धस्यैवतारायते ।

अभिनन्दनदेवस्य, कल्पं जल्पामि देशतः ” ॥ १ ॥

इह कुले इक्ष्वाकुवंशमुक्तामणेः श्रीसंवरराजसूनोः सिद्धा-
र्याकुक्षिरसीराजसूनोः सिद्धार्थाकुक्षिरसीराजहंसस्य क-
पिलाञ्जनस्य चामीकररुचेः स्वजन्मपावन्नितश्रीकोशश्यापुरस्य
सार्द्धधनुःशतत्रितयोद्धायकायस्य चतुर्थतीर्थेश्वरस्य श्रीमद-
भिनन्दनदेवस्य चैत्यं मातृवदशान्तर्वर्त्तिमङ्गलपुरप्रत्यासन्नायां
महाटवोगतायां मेदपल्ल्यामासीत् । तस्यां त्रिविधचित्रपापकर्म-
वतायामजातनिर्वेदा मेदाः प्रतिवसन्ति स्म । अन्यदा तुच्छम्बेच्छ-
सैन्येन तत्रोपेत्य भग्नं तज्जिनायतनम्, नवस्वर्णमकृतं च । प्रमदोद्धुर-
तया दुरधिष्ठायकानीकाक्षिकाखदुर्बलितानामकलनीयतया प्रति-
हतप्रणतजनविम्बमपि तच्चैत्यालङ्कारचूतां भगवतोऽभिनन्दनदेव-
स्य विम्बं केचित्सप्तस्वरगडानोत्थाहुः । तानि च शकलानि संजात-
मनःखेदैर्मेदैः संमील्य एकत्र प्रवेशे धारितानि । एवं बंदीयसि
गतवत्यनेहसि हरहसितगुणग्रामाभिरामाद् धारादुपेत्य नित्यं
वणिगेकः स्वकलाच्छेको वज्रामिषयस्तत्र क्रयाक्रयिकरूपं
वाणिज्यमकार्षीत् । स च परमादृतः । ततः प्रत्यहं गृहमागत्य दे-
वमपूजत् । सत्यकृतायां देवपूजायां न जातु बुभुजे । ततः
पल्लीपल्लीमुपेयिषानेकद्रास्नेकदारुणकर्ममिस्तैरामिदधे स आरुः ।
किमर्थं त्वमेहिरेयाहिरांकुक्षे अस्यामेव पल्ल्यामि, वणिगुचि-
तमोऽप्यपूरणकल्पवल्यां वदभ्यां किं न नृक्षे ? । ततश्च जणितं
वाणिजा-भो राजन्याः! यावदहमर्हन्तं देवाधिदेवं त्रिचुवनकृतसेवनं
न पश्यामि न पूजयामि चेत्तावन्न वदभ्यां प्रगल्भे । किरातैर्जगदे-
यद्येवं देवं प्रति तव निश्चयस्तदा तुज्यं दर्शयामस्त्वदभिमतं दै-
वतम् । वणिजा प्रोचे-तथाऽस्तु । ततस्तैस्तानि नवापि वा सप्तापि वा
स्वरगडानि यथावयवव्यासं संयोज्य दर्शितं भगवतोऽभिनन्दनस्य
विम्बं, तद्वसुचित्ररम्यमाणपापाणघटितं विद्योक्त्य प्रमुदितमुदि-
तवासनातिशयेन तेन वणिग्वरेण ऋजुमनसा नमस्कृतास्तिर-
स्कृतदुरन्तदुरितो जगवान्, पूजितश्च पुष्पादिभिर्मैत्र्यवन्दना च
विरचिता । ततः सतत्रैव भोजनमकरोत् । गुरुतराभिग्रह इत्यकारं
प्रतिदिनं जिनपूजार्नष्टामनुतिष्ठति स्मिन् वणिजि अपरे-
द्युर्यद्विधेकातिरेकवहुर्बैर्नाह्यैस्तस्मात्किमपि द्रव्यं धनयज्ञि-
स्तद्विम्बशकलानि युतकीकृत्य कविदपि संगोपितानि, वृत्ते या-
वत्पूजावसरे तां प्रतिमामनाहोक्त्य नासौ बुभुजे, ततस्तेन विषण्ण-
मनसा विहितं भयानकमुपवासत्रयम् । अथ स मेदैरपुच्छि-किमर्थं
नाऽस्मासि ? । स वधातथ्यमेवाकथयत् । इतः किरानम्रातैरवादि-य-
द्यस्मभ्यं गुरुं ददासि तदा तुज्यं दर्शयामस्तं देवम् । वणिजा बभा-
णे-वितरिष्याम्यवश्यामिति । ततस्तैस्तस्मिन्कलमपि शकलानां नवकं
सप्तकं वा प्राग्वत् संयोज्य प्रकटीकृतम् । दृष्टं च तेन संयोज्यमानं
तद् विम्बं सुतरां निषादसंस्पर्शविषादकलुषितहृदयः समजनि ।
स आरुधुरीणस्तदनु सात्त्विकतयाऽभिग्रहमग्रहीत्—यावादेदं
विम्बमखण्डं न विलोकये न तावदोदनमश्नामि । तस्येत्थमनुदि-
समुपवसतस्तद्विम्बाधिष्ठायकैः स्वमे निजगदे-यदस्य विम्ब-
स्य नवस्वरगडसन्ध्याश्चन्दनक्षेपेन पूरणीयाः, तत इदमखण्डतामे-

प्यतीति प्रबुद्धेन प्रातर्जातप्रमोदेन तथैव चक्रे । समपादि
भगवानखण्डवपुः, सन्ध्याश्च मिथिताश्चन्दनक्षेपमात्रेण क्षणमा-
त्रेण । भगवन्तं विशुद्धभक्त्या संपूज्य भुक्तवान् । पण्याजीवः
पीवरां मुवमुद्वहन् ददौ च गुमादि मेदेज्यः । तदनन्तरं तेन
वणिजा मणिजातमिव प्राप्य प्रहृष्टेन शून्यखेटके पिप्पलतरो-
स्तवे वेदिकावन्धं विधाय सा प्रतिमा मपरिता । ततः प्रभृति
भावकसंघाश्चातुर्वर्ण्यलोकान्धनुर्विगन्तादागत्य यात्रोत्सवं सूत्र-
यितुं प्रवृत्ताः । तत्र अजयकीर्तिभाजुकीर्तिभस्वाराजकुलास्तत्र
मठपत्याचार्याश्चैत्यचिन्तां कुर्वन्ते स्म । अथ प्राग्वाटवंशावतंसे-
न थाहडात्मजेन साधुहाहाकेन निरपत्येन पुत्रार्थिना विरचितमु-
पयाचितकम्—यदि मम तनुजो जनिता तदाऽव चैत्यं कारयि-
ष्यामीति । क्रमेणाधिष्ठायकत्रिदशसांनिध्यतः पुत्रस्तस्योदप-
द्यत कामदेवाख्यः । ततश्चैत्यमुद्येस्तरशिखरमर्चकरसाधुहा-
लाकः । क्रमात्साधुजावडस्य दुहितरं परिणायितः कामदेवः ।
पित्राऽपि माहाप्रामादाह्वय मलयसिंहादयो देवार्चकाः स्था-
पिताः । महणियाभिष्यो मेदः स्वाङ्गुलीं जगवदुद्देशेन कृतवान्-
किलाहमस्य भगवतोऽङ्गुलीवर्कितः सेवक इति । भगवद्विलेप-
नचन्दनगलनाम्ब तस्याङ्गुलिः पुनर्नवीभूव । तमतिशयमतिशा-
यिनं निशम्य श्रीजयसिंहदेवो मालेश्वरः स्फुरद्भक्तिप्राग्भा-
रभास्वरान्तःकरणः स्वामिनं स्वयमपूजयत् । देवपूजार्थं चतुर्वि-
ंशतिहलकृष्यां भूमिमदत्त मठपतिभ्यः । द्वादशहस्तबाह्यां चावनीं
देवार्चकेभ्यः प्रददावर्चनपतिः । अद्यापि दिग्मण्डलव्यापिप्रजाव-
जैजवो भगवानभिनन्दनदेवस्तत्र तथैव पूज्यमानोऽस्ति ।

“ अभिनन्दनदेवस्य, कल्प एष यथाभुतम् ।

अल्पीयान् रचयांचक्रे श्रीजिनप्रज्ञसूरिभिः ” ॥ १ ॥

इति सकलभूषलयनिवासिलोकाभिनन्दनस्य श्रीअभिनन्दन-
देवस्य कल्पः । ती० ३३ कल्पः ।

अहिणव—अभिनव—त्रि० । नूतनविशिष्टवर्णादिगुणोपेते, रा० ।

अहिणवसह—अजिनवश्राव—पुं० । व्युत्पन्नश्रावके, पि० ।

अहिणिवोह—आजिनिबोध—पुं० । अर्थान्जिमुखो नियतः प्र-
तिस्वरूपको बोधविशेषोऽभिनिबोधः । मतिज्ञाने, अभिनिबु-
ध्यतेऽस्मादस्मिन् वेति अभिनिबोधः । मत्यावरणकृत्योपशमे,
प्रज्ञा० २९ पद ।

अहिषु—अजिज्ञ—त्रि० । संयोगादेर्जस्य भुक् भस्य णत्वद्वित्वे,
“ज्ञो णत्वेऽजिज्ञादौ” । ॥ १ । ॥ ५६ । इति णकाराहुत्तरस्यात उः ।
अहिणु । प्रा० १ पाद । “ज्ञो अः” । ॥ २ । ॥ ७३ । इति अस्य
लुक्, अहिजो । प्रा० २ पाद । प्राज्ञे, वाच० ।

अहितत—अजितम्—त्रि० । अत्यन्तपीकिते, उक्त० २ अ० ।

अहिता—अधीत्य—अव्य० । पाठित्वेत्यर्थे, “अदुंगमेयं बहवे अ-
हिता, द्योगंसि जाणति अणागताइ” । सूत्र० १ भु० १२ अ० ।

अहिदद—अहिदष्ट—न० । सर्पदशने, पञ्चा० १८ विव० ।

अहिददडाइ—अहिदष्टादि—त्रि० । सर्पदशनप्रभृतौ, “अहिददडाइ
छेयाइ वज्जयंतीह तह सेसं” । पञ्चा० १८ विव० ।

अहिधारणा—अभिधारणा—स्त्री० । प्रस्विन्नो यद्वाहिरवतिष्ठते
वातागमनमार्गे तस्मिन्, आचा० १ भु० १ अ० ७ उ० ।

अहिपञ्चुअ—ग्रह—भा० । “ग्रहो वज्र-गेह-हर-पङ्क-निस्वाराः-

इयाणि अणुकम्पो- (गाहा) (नाणचरणहृत्ति) जो नाणद-
रिसणचरित्तवऽऽह्णगाणं पुच्चायरियाणं नाणमाहणेण य त-
वोविहाणेसु य अणुकिं करेइ, सो अणुकम्पो । (गाहा) (गु-
णसयत्ति) जा पुण गुणसयसहस्सकक्षियाणं, अलंकृतानामि-
त्यर्थः । गुणंतरं चेव अमिहसस्ताणं नाणाइसु परिदाणी होज्जा,
खेत्ते अच्चाणाइसु, काले ओमाइसु, जावे गिलाणाइसु । (गाहा)
एगंतनिज्जरा तहेव तेसिं एगंतनिज्जरा चेव । यथा-जगन्नद्विरुप-
दिष्टं प्रणीतमित्यर्थः । जो पुण संजमजोगनियतमई चंदरात्ति-
या सिरिं सुहसीलो दुहसीलो ति भणइ तेसिं तवोच्छेओ वा ।
एस अणुकम्पो ॥

अणुकरण-अनुकरण-न० । सावनलेपनादि कुर्वन्तं दृष्ट्वा भूते-इच्छा-
कारेण तवेदमहं करिष्यामीत्युक्त्वा तथाकरणे, व्य० १ उ० ।

अणुकरणकारावणिसग-अनुकरणकारापणनिसर्ग-पुं० । अ-
नुकरणं नाम यत्सीवनलेपादि कुर्वन्तं दृष्ट्वा भूते-इच्छाकारेण त-
वेदमहं करिष्यामि, कुरुते च, कारापणं तद् यत्स्वयं करणे कु-
शलौऽन्योनपीच्छाकारेण कारापयति, तस्मिन् निसर्गः स्व-
भावो यस्य सोऽनुकरणकारापणनिसर्गः, इत्थंभूतस्तस्य स्व-
भावो यदि अनन्यार्थित एव करोति कारयतीति जावन्न अनन्य-
र्थनैव कुर्वन्ति कारयन्ति च । जावसद्बुद्धविशेषे, व्य० ३ उ० ।

अणुकहन-अनुकथन-न० । आचार्यप्ररूपणतः पश्चात् कथ-
ने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अणुकारि [ण]-अनुकारिन्-त्रि० । अनुकरोति । अनु+क-
णिनि । लिप्तां ङोप् । गुणक्रियाऽऽदिभिः सदृशीकारके, वाच० ।
विवक्षितवस्तुन सदृशे, अष्ट० ७ अष्ट० ।

अणुकुड्य-अनुकुचित-त्रि० । अनुक्षिप्ते, नि० चू० ८ उ० ।

अणुकुड-अनुकुड्य-अव्य० । अनुशब्दस्य समीपार्थद्योतकत्वा-
त्, अनुकुड्यमुपकुड्यम् । वृ० ३ उ० । कुड्यसमीपार्थोत्तनि प्रदे-
शे, वृ० ३ उ० ।

अणुकूल-अनुकूल-त्रि० । अनुलोमे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।
स्था० । नि० । अनुरूपे, आ० म० प्र० । “अणुकूलेण धर्मे कुमार-
बंधुचारी” भाव० ४ अ० । अप्रतिकूले, प्रश्न० ४ सम्य० द्वा० ।
आचार्याणामन्येषां वा पूज्यानां वैयाकृत्यादिना हितकारिणि
वत्सारकल्पिकयोम्यतावति, वृ० १ उ० ।

अणुकूलवयण-अनुकूलवचन-न० । अप्रतिकूलवचने, यथा
हे महाभाग ! नेदं तवोच्छितं वक्तुं कर्तुं वेति । दर्श० ।

अणुकूलवाय-अनुकूलवात-पुं० । आवायकविवक्षिते पुरुषाणां
पवने, जी० १ प्रति० ।

अणुकूल-अनुक्रान्त-त्रि० । अनुष्ठिते आसेवनापरिष्कया सेविने,
आचा० । “एस विही अणुकूले माहणेणं मई मया बहुसो” ।
आचा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ० ।

अन्नाक्रान्त-त्रि० । अनुचीर्णे, आचा० १ श्रु० ९ अ० ३ उ० ।

अणुकम-अनुक्रम-पुं० । अनुपरिपाठ्याम, आ० चू० । आनुपूर्वी
अनुक्रमोऽनुपरिपाटीति पर्यायाः । अनु० । आचा० । “अणु-
परिवानिच्छि वा अणुकमेति वा एगद्वा” । आ० चू० १० अ० ।

अणुकसाइ (ण)-अनुत्कशायिन्-पुं० । उत्क उत्कण्ठितः स-
त्कारादिषु शेते इत्येवंशील उत्कशायी, न तथा अनुत्कशायी ।
प्राकृतत्वाद्वाऽनुकपायी । सर्वधनादित्वादिनिः । सत्कारादिकम-
कुर्वते कुप्यति, तत्संपत्तौ वाऽनहंकारवति, उच्य० ३ अ० ।

अणुकशायिन्-त्रि० । अणवः स्वल्पाः संज्वलननामान इति
यावत् । कपायाः क्रोधादयोऽस्येति सर्वधनत्वादिनिप्रत्ययेऽणु-
कपायी । प्राकृतत्वात् ककारस्य द्वित्वम् । संज्वलनकपायवि-
शिष्टे, उच्य० १५ अ० ।

अनुत्कशायिन्-त्रि० । उत्कशायी प्रवलकपायी, न तथा अनु-
त्कपायी । अप्रवञ्चकपाये, उच्य० १५ अ० । सत्कारादिना हर्ष-
रहिते, “अणुकसाई अपिच्छे अन्नाय सीअलोलुप” उच्य० २ अ० ।

अणुकस्स-अनुत्कर्षवत्-पुं० । अष्टमदस्थानानामन्यतमेनाऽप्युत्से-
कमकुर्वति, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । “अणुकस्ते अप्यद्वीणे,
मज्जेण मुणिजावए” सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अणुकोस-अनुत्कर्ष-पुं० । आत्मनः परेभ्यः सक्षाशाद् गुणैरु-
त्कर्षणमुत्कृष्टताजिधानम् । गौणमोहनीयकर्मणि, भ० १३ श्रु० ५
उ० । स० । आत्मगुणानिमाने, स्था० ४ डा० ४ उ० ।

अनुक्रोश-पुं० । दयायाम, स्था० ४ डा० ४ उ० ।

अणुक्खित्त-अनुक्षिप्त-त्रि० । पश्चादुत्पादिते, “अणुक्खित्तंति
घूर्गंसि” हा० ८ अ० ।

अणुगंतव-अनुगन्तव्य-त्रि० । अनुसर्तव्ये, स्था० ५ डा० १
उ० ।

अणुगच्छण-अनुगमन-न० । आगच्छतः प्रत्युत्तमनरूपे काय-
विनयभेदे, दश० १ अ० ।

अणुगच्छमाण-अनुगच्छत्-त्रि० । अनुवर्त्तमाने, “अणुगच्छ-
माणे वि तहं विजाणे, तहा तहा साहु अककसेणं” सूत्र० १
श्रु० १४ अ० । आचा० ।

अणुगम-अनु (गु) गम-पुं० । अनुगमनमनुगमः, अनुगम्य-
तेऽनेनास्मिन्नस्मादिति वाऽनुगमः । सूत्रानुकूले परिच्छेदे,
स्था० १ डा० । निक्षिप्तसूत्रस्य अनुकूले परिच्छेदे, अर्थे, कथने च ।
जं० १ वृत्त० । सूत्रस्यानुरूपेऽर्थाल्याने, व्य० १ उ० । आ० म०
प्र० । आचा० । संहितादिव्याख्यानप्रकारप्ररूपे, उद्देशनिर्देशनिर्ग-
मादिद्वारकसापके वा । स० । अनुयोगद्वारे, अनु० ।

अथाऽनुगमनिरुक्तिमाह-

अनुगममइ तेण तहिं, तत्रो व अणुगमणमेव वाऽणुगमो ।

अणुणोऽणुरुवओ वा, जं सुत्तत्थाणमणुसरणं ॥

अनुगम्यते व्याख्यायते सूत्रमनेनाऽस्मिन्नस्मात्वा इत्यनुगमः,
वाच्यार्थविवक्षा तथैव । अथवा अनुगमनमेवानुगमः अणुवो वा
सूत्रस्य गमो व्याख्यानमित्यनुगमः । यदि वा अनुरूपस्य घट-
मानस्यार्थस्य गमनं व्याख्यानमनुगमः । सर्वत्र किमुक्तं भवती-
त्याह-यत्सुत्रार्थयोरनुकूलं सम्यन्धकारणमित्यनुगम इति ।
विशे० ।

अनुगमभेदाः-

से किं तं अणुगमे ? । अणुगमे दुविहे पणत्ते ।

तं जहा-सुत्ताणुगमे अ निज्जुत्तिअणुगमे अ ॥

(से किं तं अणुगमे इत्यादि) अनुगमः पूर्वोक्तशब्दार्थः । स
च द्विधा-सूत्रानुगमः सूत्रव्याख्यानमित्यर्थः । निर्युक्त्यनुगमश्च
नितरां युक्ताः सूत्रेण सह लोलीभावेन संबन्धानि र्युक्ता अर्थास्ते-
षां युक्तिः स्फुटरूपताऽऽपादनम्, एकस्य युक्तशब्दस्य द्वोपाभिर्यु-

कालाश्रम्यनस्य पुष्टत्वं स्पष्टयितुमाह-
काष्ठेऽल्पमपि लाजाय, नाकाले कर्म बह्वपि ।
वृष्टौ वृद्धिः कणस्यापि, कणकोटिर्दृष्ट्याऽन्यथा ॥ ८ ॥
(काल इति) स्पष्टम् ॥ ८ ॥

अवसरानुगुण्येनानुकम्पादानस्य प्राधान्यं जगद्वृष्टान्तेन स-
मर्थयितुमाह-

धर्माङ्गत्वं स्फुटीकर्तुं, दानस्य जगवानपि ।

अत एव त्रतं गृह्णन्, ददौ संवत्सरं वसु ॥ ९ ॥

(धर्माङ्गत्वमिति) अत एव काष्ठेऽल्पस्यापि लाभार्थत्वादेव,
दानस्यानुकम्पादानस्य, धर्माङ्गत्वं स्फुटीकर्तुं जगवानपि त्रतं गृ-
ह्णन् संवत्सरं वसु ददौ । ततश्च महता धर्मावसरे तुष्टितं सर्व-
स्याप्यवस्थौचित्ययोगेन धर्माङ्गमिति स्पष्टीकृत्यतीति भावः ।
तदाह-“ धर्माङ्गव्यापनार्थं च, दानस्यापि महामतिः । अवस्थौ-
चित्ययोगेन, सर्वस्यैवानुकम्पया ” इति ॥ ९ ॥

नन्वेवं साधोरप्येतदापचितिरित्यत आह-

साधुनाऽपि दशानेदं, प्राप्यैतदनुकम्पया ।

दत्तं ज्ञानाङ्गवतो, रङ्गस्येव सुद्वस्तिना ॥ १० ॥

साधुनाऽपि महाव्रतधारिणाऽपि दशानेदं प्राप्य पुष्टालम्बन-
नमाश्रित्यैतदानमनुकम्पया दत्तं सुद्वस्तिनेव रङ्गस्य तदाऽऽह ।
श्रूयते चागमे-आर्यसुहृत्स्याचार्यस्य रङ्गदानमिति । कुत इत्याह-
भगवतः श्रीवर्कमानस्वामिनो ज्ञानात् । तदनुकम्प-“प्रापकं चाङ्ग-
जगदान्, निष्क्रान्तोऽपि द्विजन्मने । देवदृष्यं दद्वकीमाननुकम्पावि-
शेषतः” ॥ ११ ॥ इति । प्रयोगश्चात्र-दशविशेषे यतेरसंयताय दानम-
नुकम्प, अनुकम्पानिमित्तत्वाद्, भगवद्विजन्मदानवदित्याहुः ॥ १० ॥
न चाधिकरणं ह्येत-विशुद्धाशयतो मतम् ।

अपि त्वन्यद् गुणस्थानं, गुणान्तरनिबन्धनम् ॥ ११ ॥

(न चेति) नचैतत्कारणिकं यतिदानमधिकरणं मतम् । अधिकि-
यते आत्माऽनेनासंयतसामर्थ्यपापणत इत्यधिकरणम् । कुत इ-
त्याह-“विशुद्धाशयतोऽवस्थौचित्येनाऽऽशयविशुद्धे, भावभेदेन
कर्मनेदात् । अनर्थासंजनमुक्तार्थप्राप्तिमप्याह-अपि त्विति अन्यु-
चये । अन्यदधिकृतगुणस्थानकाद् मिथ्यादृष्टत्वादेरपरमचिर-
तसम्यगुद्दृष्टादिकं गुणानां ज्ञानादीनां स्थानं मतं, गुणान्तरस्य
सर्वचिरत्वादेर्निबन्धनम् ॥ ११ ॥ द्वा० १ द्वा० ।

नेव दारं पिहावेद्, भुञ्जमाणो सुसावओ ।

अणुकंपा जिणिदेहिं, सहायं न निवारिआ ॥ १ ॥

दइण पाणिनिवहं, भीमे जवसायरम्मि दुक्खत्तं ।

अविसेसओऽणुकंपं, दुहा वि सामत्थओ कुणई ॥ २ ॥

(दुहा विचि) रुच्यभावाभ्यां द्विधा । रुच्यतो यथा-अ-
श्वादिदानेन, भावतस्तु धर्ममार्गप्रवर्त्तनेन, श्रीपञ्चमाङ्गादावपि
आद्ववर्णनाधिकारे ‘अचंगुदुवारा’ इत्युक्तम् । श्रीजिनेनापि सांघ-
त्सरिकदानेन दीनोकारः कृत एव, न तु केनापि प्रतिपिद्धे ॥ २ ॥

सव्वेहि पि जिणेहिं, दुज्जयतिपरागदोसमोहेहिं ।

अणुकंपादाणं स-ह्याणं न कहिं वि पभिसिद्धं ॥ ३ ॥

न कस्मिन् सुत्रे प्रतिपिद्धं, प्रत्युत देशनाद्वारेण राजप्रभ्रीयो-
याङ्गे केशिनोपदेशितम् । तथाहि-“माणं तुमं पयसी पुब्बि
रमणिज्जे भविता पच्छा अरमणिज्जे भविज्जासि” इत्यादि । ध०
३ अधि० ।

दाणं अणुकंपाए, दीणाणाहाण सत्तिओ णेयं ।

तित्थंकरणातेणं, साहूणं य पत्तवुद्धीए ॥ ६ ॥

दानं वितरणमभावेरनुकम्पया दयया दीनानाभ्यर्थः, तत्र दी-
नाः क्लीणविजवत्त्वाद् दैन्यप्राप्तास्त एव सानाथ्यकारिरहिता अ-
नाथाः, अतस्तेन्यः शक्तितो वित्तगतं सामर्थ्यमाश्रित्येत्यर्थः,
ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । अथ दीनादीनामसंयतत्वात् तद्दानस्य दोष-
पोषकत्वादसंगतं तद्दानमित्याशङ्क्याह-तीर्थकरज्ञातेन जि-
नोदाहरणेन । तथाहि-संगतं दीनादिदानं, प्रभावनाङ्गत्वाद् जि-
नस्यैव । अथवा तीर्थकरन्यायं निर्विशेषतयेत्यर्थः, तीर्थकरप्रमा-
णतो वा । तथाहि-न दीनादिदानमविधेयं, जिनाचरितत्वाद्, म-
हाव्रतानुपाद्यनयदिति । दीनादीनानुक्तम्पया तावदानम् । अथ
साधूनामपि किं तथैवेत्याशङ्क्यामाह-साधूनां च संयतेभ्यः पुनः
पात्रबुद्ध्या ज्ञानादिगुणरत्नजानमेतदिति धिया भक्त्येति गाथा-
र्थः ॥ ६ ॥ पञ्चा० ६ विध० ।

अणुकंपासय-अनुकम्पाशय-पुं० । अनुकम्पाप्रधानमाश्रयोऽनु-
कम्पाशयः । अनुक्रोशप्रधाने चित्ते, स० । “अणुकंपासयपञ्चोग-
तिकाष्टमइविसुद्धजत्तपाणाई” अनुकम्पा अनुक्रोशस्तत्प्रधान
आशयश्चित्तं तस्य प्रयोगो व्यावृत्तिरनुकम्पाशयप्रयोगस्तेन स० ॥

अणुकंपि (ण)-अनुकम्पिन्-स्त्री० । अनुकम्पयमाने तच्छीले,
सूत्र० १ ध्रु० ३ अ० ३ च० । कृपावति, प्रति० ।

अणुकम्पि-अनुकृष्टि-स्त्री० । अनुकर्पणमनुकृष्टिः । अनुवर्त्तने, पं०
सं० ५ द्वा० । (अनुभागवन्धाध्यवसायस्थानानां तीममन्वता-
परिज्ञानार्थमनुभागवन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः ‘बन्ध’
शब्दे वक्ष्यते)

अणुकम्पेमाण-अनुकर्पत्-त्रि० । अनु पञ्चात् कर्पन् अनुकर्पन् ।
पृष्ठतः पञ्चात् कृत्वा समाकर्पति, न० ।

अणुकम्प-अनुकल्प-पुं० । ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवृद्धानां पूर्वा-
चार्याणां ज्ञानग्रहणेन च तपोविधानेषु च अनुकृतिकरणे,
पं० चू० ।

..... एतो वोढं अणुकम्पं ।

अणुसदो जूतदियं, पञ्चाभावे मुण्येयव्वो ।

णाणचरणहृगाणं, पुब्बायरियाण अणुकम्पं ॥

कुणई अणुगच्छइ गुण-धारी अणुकम्पं तं वियाणाहि ।

गुणसयसहस्मकलियं, गुणंतरं च अजिलसंताणं ॥

जे खेत्तकालजावा, आसज्जा जोगहाणिजवे ।

गुणमतकालिअमंजमो, मोक्खो य गुणंतरो मुण्येयव्वो ।

नाणाइसु परिहाणी, तुजोगहाणी मुण्येयव्वो ॥

खेत्ताण संति अप्पा-ण उच्चक्खेत्ताम्मि काह्म दुब्बिक्खे ।

भावे गेलएहादी, मुप्पाजावे उ जदसुद्धं ॥

गेएहेज्जाऽऽहारादी, णाणादिसु उज्जमण कुज्जा ।

अणसणमादो य तवं, अकरेमाणस्स साहस्स ॥

एगंतणिज्जरा से, जह जणिता सासणे जिणवराणं ।

जोगनियुत्तमतीणं, सुइसीलाणं तवोच्छेदो ॥

सुइसीलसुइसीला, तेसिं अप्फासु गेएहमाणाणं ।

जं आवज्जे तदियं, तवं च उदेदं च तं पावे ॥ पं० जा० ।

अथानुद्धातिपदं व्याख्यातुमाह—

उग्यातमणुग्याते, निक्खेवो ऋग्विहो उ कायचो ।

नामं उवणा दविण्, खेत्ते काझे य जावेय ॥

इह ह्रस्वत्वदीर्घत्वमहत्वादि कादनुद्धातिकस्य प्रसिद्धिरिति कृत्वा द्वयोर्दुद्धातिकानुद्धातिकयोः पक्षिणो निक्षेपः कर्त्तव्यः । तद्यथा—नामानि स्थापनायां ह्रस्वे क्षेत्रे काञ्चे भावे चेति । तत्र नामस्थापने गतायै ।

ह्रस्वादिविषयमुद्धातिकमनुद्धातिकं च दर्शयति—

उग्यायमणुग्याया, दब्बम्मि हल्लिराग किमिरागा ।

खेत्तम्मि काहन्तूमी, पत्थरन्तूमी य हल्लमादी ॥

ह्रस्वे ह्रस्वत उद्धातिको हरिस्कारागः, सुखेनैवापनेतुं शक्यत्वात् । अनुद्धातिकः किमिरागः, अपनेतुमशक्यत्वात् । केवल उद्धा-
तिका कृष्णभूमिः अनुद्धातिका प्रस्तरभूमिः । कुत इत्याह—(हल्ल-
मादि षि) हल्लकुलिकादिभिः कृष्णभूमिरुद्धातयितुं क्रोदयितुं
शक्या, प्रस्तरभूमिरशक्या ।

तथा—

कालम्मि संतर णिरं—तरं तु समयो व होतऽणुग्यातो ।

जवस्स अह पयनी, उग्याति पत्तरा इयरे ॥

कालत उद्धातिकं सान्तरप्रायश्चित्तस्य दानम्, अनुद्धातिकं निर-
न्तरदानं, तुशब्दात् बहुमासादिकमुद्धातिकं, शुक्रमासादिकमनु-
द्धातिकम् । अथवा—कालतः समयोऽनुद्धातिको भवति, खण्डशः
कर्तुमशक्यत्वात् । आवल्लिकादय उद्धातिकाः, खण्डितं शक्य-
त्वात् । जावत उद्धातिका भव्यस्याष्टौ कर्मप्रकृतयः, उद्धातयितुं
शक्यत्वात्, इतरस्याप्रव्यस्य जकास्ता पदेतरा अनुद्धातिकाः ।

कुत ? इति चेदुच्यते—

जेण खवणं करिस्सति, कम्माणं तारिसो अनव्वस्स ।

ण य उप्पज्जइ जावो, इति भावो तस्सऽणुग्यातो ॥

येन शुभाध्यवसायेन कर्मणां ज्ञानावरणादीनां कृपणमसौ क-
रिष्यति स तादृशो भावोऽभव्यस्य कदाचिदपि नोत्पद्यते, इ-
त्यतस्तस्य जावोऽनुद्धातः कर्मणाऽनुद्धातं कर्तुमसमर्थः । अत
एव तस्य कर्माणि अनुद्धातिकानि जणयन्ते ।

अत्र च प्रायश्चित्तानुद्धातिकेनाधिकारः । तच्च कुत्र जवती-
त्याह—

हत्थे य कम्म मेहुण, रत्तीभत्ते य होंतऽणुग्याता ।

एतेसिं तु पहाणं, पत्तेय परुवणं वोच्छं ॥

हस्ते हस्तकर्मकरणे, मैथुनसेवने, रात्रिभक्ते एतेषु त्रिषु सूत्रो-
क्तपदेषु अनुद्धातिकानि गुरुकाणि प्रायश्चित्तानि जवन्ति । तत्र
हस्तकर्मणि मासगुरुकं । मैथुनरात्रिजक्त्योश्चतुर्गुरुकाः । एतच्च
प्रायश्चित्तं यदा यत्र स्थाने भवति तत्पुरस्ताद् व्यक्तीकरिष्यते ।
३० ४ ३० । (अथैतेषां हस्तकर्ममैथुनरात्रिमोजनानां व्याख्या-
ऽन्यत्र स्वस्वस्थान एव छल्लया) ।

उपसंहरन्त्याह—

अत्थं पुण अधिकारो—ऽणुग्याता जेसु जेसु ठाणेषु ।

उच्चारियसरिसाई, सेसाइ विक्कोवण्णट्ठाए ॥

अत्र पुनः प्रस्तुतसूत्रे हस्तकर्ममैथुनरात्रिजक्तविषयैः स्थानैरधि-
कारः प्रयोजनम् । कैरित्याह—येषु येषु स्थानेषु अनुद्धातानि गु-

रुकाणि प्रायश्चित्तानि भणितानि तैरेवाधिकारः । शेषाणि पुनरु-
च्चारितार्थसदृशानि शिष्याणां विक्कोपनार्थमुक्तानि । ३० ४
३० । उद्धातिके अनुद्धातिकमनुद्धातिके वा उद्धातिकं पञ्चानु-
द्धातिकाः । “पंच अणुग्याइमा पणुत्ता । तं जहा—हत्थकम्मं क-
रेमाणे मेहुणं पमिसेवमाणे राईभोयणं भुंजमाणे सागारियपिणं
भुंजमाणे रायपिणं भुंजमाणे” स्था० ५ ठा० २ ३० । उद्धातिके अ-
नुद्धातिकमनुद्धातिके उद्धातिकं ददतः प्रायश्चित्तम् ।

जे भिक्खू उग्याइयं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा
साइज्जइ ॥ १८ ॥ जे निक्खू उग्याइयहेउं सोच्चा णच्चा
संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥ जे निक्खू उग्याइय-
संकप्पं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥
जे निक्खू उग्याइयं वा उग्याइयहेउं वा उग्याइयसंकप्पं
वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥
जे निक्खू अणुग्याइयं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा
साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे निक्खू अणुग्यातियहेउं सोच्चा
णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिक्खू
अणुग्याइयसंकप्पं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा
साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे भिक्खू उग्यातियं वा अणुग्याइयं
वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥
जे भिक्खू उग्यातियहेउं अणुग्याइयहेउं वा सोच्चा णच्चा
संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ जे निक्खू उग्या-
तियसंकप्पं वा अणुग्याइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा
संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥ जे निक्खू
उग्याइयं वा अणुग्याइयं वा उग्याइयहेउं वा अणुग्या-
इयहेउं वा उग्याइयसंकप्पं वा अणुग्याइयसंकप्पं वा सोच्चा
णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे निक्खू
अणुग्याइयं वा उग्याइयं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ
संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥ जे भिक्खू अणुग्याइयहेउं
वा उग्याइयहेउं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा
साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू अणुग्याइयसंकप्पं वा
उग्याइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा
साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे निक्खू अणुग्याइयं वा अणुग्याइ-
यहेउं वा अणुग्याइयसंकप्पं वा उग्याइयं वा उ-
ग्याइय हेउं वा उग्याइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ
संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

एवं अणुग्यातिणं वि सुत्तं । उग्याताणुग्यायहेउए वि दो
सुत्ता । उग्यायाणुग्यायसंकप्पे वि दो सुत्ता ।

एते छ सुत्ता—

उग्यातियं बहंते, आवसुग्यायहेउगे होति ।

उग्यातियसंकप्पिय—सुच्छे परिहारियं तहेव ॥ २६० ॥

उग्यातियं णाम जं संतरं बहति, लघुमित्थर्यः । अणुग्यातियं
णाम जं णिरंतरं बहति, गुरुमित्थर्यः । सोच्चां ति अणुसगा-

किञ्चामसापनादिप्रकारैः सूत्रविभजनेत्यर्थः । तदुपोऽणुगमस्तस्या वा अनुगमो व्याख्यानं निर्युक्त्यनुगमः । अनु० । (सूत्रानुगमनि-
र्युक्त्यनुगमयोर्व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) व्याख्याने, संगृहीते,
सर्वव्यक्तिषु अनुगतस्य सामान्यस्य प्रतिपादने च । विशेष० । यत्र
साधनं तत्र साध्यमित्येवंलक्षणं साध्यस्य साधनेन सद्धान्वये,
विशे० । पञ्चाङ्गमने, सहायीजघने च । वाच० ।

अणुगमम्-अनुगम्य-अव्य० । बुद्धेत्यर्थे, सूत्र० १ ध्रु० १४ अ० ।

अणुगम्य-अनुगत-त्रि० । पूर्वमवगते, विशेष० । अव्यवच्छिन्न-
याऽनुवृत्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । 'मत्तिसहितं ति वा मतिअणु-
गतं ति वा एगछा' । आ० चू० १ अ० । पितृविजृम्भ्याऽनुयाते पितृ-
समे पुत्रे, पुं० । स्था० ८ ग० ३ उ० । आनुकूल्ये, न० । स० ।

अणुगवेसेमाण-अनुगवेपयत्-त्रि० । सामार्यिकपरिसमाप्त्य-
नन्तरं गवेपयति, " तं भंडं अणुगवेसेमाणे किं सयं भंडं अ-
णुगवेसेइ ? " भ० ८ श० ५ उ० ।

अणुगा (गा) म-अनुग्राम-पुं० । अनुकूलो ग्रामोऽनुग्रामः ।
व्य० २ उ० । विवक्षितग्राममार्गांशुकूले ग्रामे लघुग्रामे, एक-
स्माद् ग्रामादन्यस्मिन् ग्रामे, उत्त० ३ अ० । एकग्रामांशुप-
श्चाद्भावाभ्यां स्थिते ग्रामे, स्था० ५ डा० २ उ० । विवक्षित-
ग्रामादनन्तरे ग्रामे, " गामाणुगा (गा) मं दूरजमाणे " ।
औ० । ध० ।

अणुगामि (ए)-अनुगामिन्-त्रि० । साध्यमसाध्यमग्न्या-
दिकमनुगच्छति, साध्याभावे न भवति यो धूमादिहेतुः सोऽनु-
गामी । अनुग्रहेतौ, स्था० ३ डा० ३ उ० । अनुयातरि, आच०
५ अ० । मोक्षयाऽनुगच्छति, व्य० १० उ० ।

अणुगामिय-अनुगामिक-त्रि० । उपकारिसत्कालान्तरमनु-
याति तदनुगामिकम् । स्था० ५ डा० १ उ० । अनुगमनशीले
भवपरम्परानुयन्धिसुसज्जनके, पा० । स्था० । अनुगमनशीलेऽ-
वधिज्ञाने, सूत्र० २ ध्रु० २ अ० २ उ० । गच्छन्तमनुगच्छतीति
अनुगामिकः । अनुचरे, सूत्र० २ ध्रु० २ अ० २ उ० । अकर्त-
व्यहेतुभूतेषु चतुर्दशस्वसदनुष्ठानेषु, सूत्र० २ ध्रु० २ अ० २ उ० ।

अणुगामियत्त-अनुगामिकत्व-न० । भवपरम्परामु साधुबन्ध-
सुखे, औ० ।

अणुगिद्ध-अनुगृद्ध-त्रि० । प्रत्याशङ्के, सूत्र० १ ध्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुगिद्धि-अनुगृद्धि-औ० । अमिकाङ्गनायाम्, उत्त० ३ अ० ।

अणुगिलङ्गा-अनुगीर्य-अव्य० । भक्त्यित्वेत्यर्थे, ङा० ७ अ० ।

अणुगीय-अनुगीत-त्रि० । मूलाचार्योत्पात्तात्यशिल्यैः कृते
ग्रन्थे, " महत्परुषा वयस्यपमूया, गाहाणुगीया नरसंघमज्जे " ।
अन्विति तीर्थछद्गणधरादिभ्यः पश्चाद् गांता अनुगीता ।
कोऽर्थः ? तीर्थकरादिभ्यः श्रुत्वा प्रतिपादिता, स्थविरैरिति
शेषः । अनुलोमं वा गांताज्जेन श्रोत्रानुकूलैव देशना क्रियते
इति व्यापितं भवति । उत्त० १३ अ० ।

अणुगुरु-अनुगुरु-त्रि० । यद्यथा पूर्वगुरुमिराचरितं तत्तथैव
पाश्चात्यैरपि आचरणीयमिति गुरुपारम्पर्ये व्यवस्थया व्यव-
हरणीये, वृ० १ उ० ।

अणुगुह-अनुग्रह-पुं० । उपकारे, औ० । ज्ञानाद्युपकारे, स्था०

तिविहे अणुगुहे पक्षचे । तं जहा-आयाणुगुहे, पराणु-
गुहे, तदुभयाणुगुहे य ॥

तत्र आत्मानुग्रहोऽध्ययनादिप्रवृत्तस्य, परानुग्रहो वाचनादि-
प्रवृत्तस्य, तदुभयानुग्रहः शास्त्रव्याख्यानशिष्यसङ्गहादिप्रवृ-
त्तस्येति । आ० ३ डा० ३ उ० । पञ्चा० । " सर्वज्ञोक्तोपदेशेन,
यः सत्त्वानामनुग्रहम् । करोति दुःखतप्तानां, स ग्रामोत्याचि-
राच्छिवम् " आ० म० प्र० । प्रश्ना० । यो० वि० । अनुपधाते,
उज्जालने, नि० चू० १ उ० । देहस्य स्रक्चन्दनाङ्गनावसना-
दिभिर्भोगैरुपष्टम्भे, ध० १ अधि० ।

अणुगुहद्व-अनुग्रहार्थ-पुं० । अनुग्रह उपकारस्तत्तत्तणो यो-
ऽर्थः पदार्थः प्रयोजनं वा । अनुग्रहप्रयोजने, " सपरोक्षमणु-
गुहद्वयम् " सपरयोरालम्बतदन्ययोरनुग्रह उपकारस्तत्तत्तणो
योऽर्थः पदार्थः प्रयोजनं वा सोऽनुग्रहार्थः, तस्मै अनुग्रहा-
र्थाय । तत्र स्वानुग्रहः प्रावचनिकार्थानुवादे निर्मलबोधभावात्
परोपकारद्वारा यौनकर्मक्षयावात्तेष्व । परानुग्रहस्तु परेषां
निर्मलबोधतत्पूर्वकक्रियासंपादनात्परम्परया निर्वाणसंपाद-
नात् । पञ्चा० ६ विव० ।

अणुगुहता-अनुग्रहता-औ० । अनुग्रहान इति अनुग्रहः । क-
र्मण्यनद् । तस्य भावोऽनुग्रहता । अनुग्रहणे, व्य० १ उ० ।

अणुगुहतापरिहार-अनुग्रहतापरिहार-पुं० । अनुग्रहतया
परिहारोऽनुग्रहतापरिहारः । शोटादिभङ्गरूपे परिहारभेदे,
व्य० १ उ० ।

अणुगुहाइम-अनुद्घातिम-न० । उद्घातो प्रागपातस्तेन नि-
वृत्तमुद्घातिमं वक्ष्यित्यर्थः । यत उक्तम्- " अद्वेण निषेसं, पु-
नर्वक्ष्यं तु संजुयं कामो । दिज्जाइ बहुयदाणं, गुरुदाणं तत्तियं
चेव " इति । (' उग्घाइअ ' शब्देऽस्या व्याख्या द्वि० भा० ७३०
पृष्ठे द्रष्टव्या) एतन्निषेधादनुद्घातिमम् । तपोगुरुणि प्रायश्चित्ते,
तद्योगात् तदर्थेषु साधुषु च । स्था० ३ ग० ४ उ० ।

अणुगुहाइय-अनुद्घातिक-पुं० । न विद्यते उद्घातो बहुकर-
णलक्षणो यस्य तपोविशेषस्य तदनुद्घातम्, यथाश्रुतदानमित्य-
र्थः, तद्येषां प्रतिसेवाविशेषतो ऽस्ति तेऽनुद्घातिकाः । स्था० ५
ग० ३ उ० । उद्घातो नाम भागपातः, सान्तरहानं वा, स वि-
द्यते येषु ते उद्घातिकाः; तद्विपरीता अनुद्घातिकाः । तपोगुरुप्रा-
यश्चित्तार्हेषु, वृ० ४ उ० ।

प्रयोऽनुद्घातिकाः-

तत्रो अणुगुहाइया (मा) पक्षत्ता । तं जहा-इत्यकम्भं क-
रेमाणे, मेहुणं सेवमाणे, राइजोयणं जुंजमाणे । स्था० ३
ग० ४ उ० ।

त्रयस्त्रिसंख्याका अनुद्घातिकाः । उद्घातो नाम- ' अद्वेण नि-
षेसं ' इत्यादिविधिना प्रागपातः, सान्तरहानं वा; स विद्यते
येषु ते उद्घातिकाः, तद्विपरीता अनुद्घातिकाः, प्रज्ञासात्तीर्थक-
रादिभिः प्रकृपिताः, तद्यथोपदर्शनार्थः । हन्ति हसति वा सुखमावृ-
त्यानेनेति हस्तः शरीरैकदेशो निक्षेपादानादिसमर्थः, तेन यत्कर्म
क्रियते तद्वस्तकर्म, तत् कुर्वन् । तथा स्त्रीपुंसयुग्मं मिथुनमुच्यते,
तस्य प्रावः कर्म वा मैथुनं, तत्प्रतिसेवमानः; तथा रात्री भोज-
नमशनादिकं भुञ्जानः । एष सूत्रार्थः । वृ० ४ उ० । निक्षेपपुर-

साहुस्स निरुयसगणिमिच्चं सससाहुण य मयाजणणका-
उस्सगां कीरइ, सोय दव्यंथो वडमादि खीरखेत्तथो जिण-
घरादिस्सु कायथो पुब्बसूरे पसत्थादिदिणेषु य भावतो चंदता-
रावत्तेसु तस्सऽप्यणो य गुदणो य साहपसु पक्खिच्ची भवति । सो
य जहन्नेण मासो, उक्कोसेण वस्सासा, तस्मि परिहारनवं पक्खि-
ज्जति । आयरियो भणति-एय साहुस्स निरुयसगणिमिच्चं वा-
मि काउस्सगं जाय वामिरामि, वोगस्सुज्जोगरं अणुपदेत्ता
णमोऽरिहंतारं ति पारिच्चा लोगुस्सत्तवं करं कट्ठित्ता आयरि-
यां भणति—

कप्पट्टिओ अहं ते, अणुपरिहारी य एस ते गीओ ।

पुब्बि कयपरिहारो, तस्म य समयो विद्वहेदो ॥२७१॥

आयरियो आयरिया णित्तो वा णियमगीयत्थो तस्स आ-
यरियाण पदाणुपालगो कप्पट्टितो भणति । सो जणति-अहं
ते कप्पट्टिओ परिहारियं गच्छंतं सव्वत्थ अणुगच्छन्ति ओ सो
अणुपरिहारितो सो वि णियमागीयत्थो । सो से विज्जति एस ते
अणुपरिहारी, सो पुण पुब्बकयपरिहारियस्स असति अणो वि
अकयपरिहाराविनि संघयणज्जुत्तो दद्वेदो गीयत्थां अणुपरि-
हारितो विज्जति । एवं दोसु विवप्सु इमं भणति—

एस तवं पडिच्चज्जति, ण किंचि आलवति मा हु आलवह ।

आत्तच्चित्तगस्सा, वायाओ ने न कायच्चो ॥ २७२ ॥

एस आयविस्सुक्कारओ परिहारतवं पडिच्चज्जति । एस तुज्जे
ण किंचि आलवति, तुज्जे वि एवं मा आलवह । एस तुज्जे
सुत्तथेसु सरारं वट्टमाणी वा ण पुच्छति, तुज्जे वि एवं मा पु-
च्छह । एवं परियट्ठणादिपदा सव्वे ज्ञाणियत्था । एवं आलव-
णादिपदे आत्मार्यं चित्तकस्य ध्यानपरिहारक्रियाव्याघातो न
कर्तव्यः । इमा ते आलवणादिपदा—

आलावणपडिपुच्छण-परियट्ठणाणवंदणगमत्तो ।

पम्भिल्लणमंधारुग-भत्तदाणसंजुंजणे चेव ॥ २७३॥

आलावो देवदत्तादिपुच्छादिपसु पुब्बा वीतसुतस्स परियट्ठ-
णं कालजिक्खादियाण उच्चाणं । सओ सुतुष्ठितेहिं समणमादी-
यं वा वंदणं अलकाइयसग्गासंसत्तो मत्तगो वा ण सोदिति तस्स
तिओ वा ण येप्पति उचकरणं, परोप्परं ण पक्खिहंति संघारुग
परोप्परं ण जवंति, जत्तदाणं परोप्परं ण करंति । एवं मडलीए
ण हंज्जति । यच्चान्यत्किञ्चित्करणीयं तत्तेन सार्द्धं न कुर्वन्तीत्य-
र्थः । इमं गच्छन्नासां णं पच्छिच्चं—

संघाडगतो जो वा, लहुगो मासो दसण्ह तु पदाणे ।

लहुगा य जत्तदाणे, सभुंजणे हंतऽणुगवाया ॥२७४॥

जदि गच्छिज्जगा परिहारियं आलवन्ति तो ताणं मासवहु ।
एवं जाय संघारुगपदं अछं सव्वेसु मासवहु । जदि गच्छिज्ज-
या जत्तं गेएइसु तो चउअहुं, एगहं हंजताण चउगुरुं, परि-
हारियस्स अछसु पपसु मासगुरुं, जत्तदाणसभुंजणसु चउगुरुं,
कप्पट्टियस्स अणुपरिहारियस्स दोएह वि एगसंभोगो, एते दो-
वि गच्छिज्जपहिं समणं आलावं करंति । वंदामोत्ति य मणंति
सेसं ण करंति । कप्पट्टियपरिहारियाण इमं परोप्परं करणं-
कितिकम्मं च पडिच्चति, परिण पडिपुच्छगं पि से देति ।

सो वि य गुरुमुवचिद्धति, उदंतमवि पुच्छितो कहति ॥२७५॥

कप्पट्टिओ परिहारियवंदणं पक्खिच्चति, परिणति पक्खिक्खा-
णं देति । सुत्तथेसु पडिपुच्छं दित्ति, सो वि परिहारियओ

कप्पट्टियं अणुचिच्छति अणुद्वाराति किरियं सुत्तमं करेति ।
सग्गादिगण्ठो अथेइ पुच्छितो कप्पट्टियेण ओदंत इति सरि-
ट्टमाणी कहति—

उट्ठिज्ज णिसीएजा, भिक्खं गेएहज्ज भंरुगं पेहे ।

कुविए पि वंथयस्स व, करेति इनरो चतुसिणीओ ॥२७७॥

परिहारितो तचकिलामितो जइ दुव्वद्ययाए उट्टेउं ण सक्केइ,
ताहे अणुपरिहारियस्स अंभानो जसुति । उट्टेज्जामि णिसीएजा-
मि जिक्खं हिंदिक्क ण सक्केमि, तोऽणुपरिहारिओ परिहारियजाय-
णोहिं हिंदिक्कुं देति । जइ ण सक्केइ भंरुगं पडिछेहेउं ताहे अणु-
परिहारितो से पक्खिहंणियं करेइ, जइ ण सक्केति सग्गाका-
इयनूमि गंतुं, तत्थ परिहारिओ भणति-काइयसग्गा नूमि ग-
च्छेज्जामि, ताहे अंसे अणुपरिहारिओ करेति ।

सुत्ताणिवाओ इत्थं, परिहारतवम्मि होति दुविधम्मि ।

सोचा वा एच्चा वा, संजुंजंतस्स आणादी ॥ २७८ ॥

एत्थ सुत्तं निवाओ, जो परिहारतवं दुविधं वग्घायं अणुग्घायं व-
इइ तं सोच्चा णच्चा वा जो संजुंजति तस्स आणादिदोसा जवंति ।

वितियपदे साहुवंद-ए उभओ गेल्लथेरअसती य ।

आलोयणादि तु पए, जयणाए समायरे जिक्खू ॥ २७९॥

साधुवंदणत्ति अणुत्थं साधुसंजिता अणो साधू ते दहुं भ-
णति-भमुगसाहुस्स वंदणं करेज्जा, सो परिहारतवं पडिच्चयो
जस्स परिनाति यं हाथो ते आयाणंतो वंदितं वंदणकयं कथेति
तस्स गं दोसो, उभओ गेल्लथं वि कप्पट्टिय अणुपरिहारिय परि-
हारिओ य एते जदि तिणिण वि गिलाणा, ताहे गच्छेज्जया सव्वं
जयणाए करंति । का जयणा भणति ? । गच्छिज्जया परिहारि-
यमाणेहिं हिंदिक्का कप्पट्टियस्स पणामेति । सो अणुपरिहारि-
यस्स पणामेति, सो वि परियस्स पणामेति । सो वि परिहारियक-
प्पट्टिय अणुपरिहारिया पणामेत्तं पि ण वपति । सोयमेव गच्छि-
ज्जया सव्वे गिलाणा तो ते कप्पट्टिया दिया तिज्जि जयणाए
सव्वं पि करेज्जा, परिहारिं गच्छिज्जयभायणेषु आणिओ अणु-
परिहारियस्स पणावेति, सो कप्पट्टियस्स, सो वि गच्छिज्जयाणं
थेरयसतीए थेरा आयरिया तोसि वेयावच्चकरस्स असत्ता
वेयावच्चकरवाघाप वा अणो य सलद्धीओ णाथि, ताहे परि-
हारिओ वि करेज्ज जयणा, एसो भायणेषु हिंदिक्कं अणुपरिहा-
रियस्स पणावति । कप्पट्टियस्स वासो आयरियाणं देति, एवमा-
दिकजेसु आलावणादिपदे जयणाए भिक्खु समाचरेदित्यर्थः ।
सुत्ताणि इ इदाणि एतोसि चेव एएहं सुत्ताणं दुगादिसंगसुत्ता
वत्तव्या । तत्थ दुगसंजोगे पणरस सुत्ता जवंति । तत्थ पढमं-
दसमं च एते तिणि दुगं संजोगसुत्ता सुत्तं णेव गहिया ।
सेसा वारसऽत्थता वत्तव्या । तिगसंजोगेण वीसं सुत्ता म-
वंति । तत्थ छुठ पणरसमं च हाति सुत्ता सुत्तेणैव गहिता ।
सेसा अट्टारस अत्थेणैव वत्तव्या । चउसंजोगेण पणरस, ते
अत्थेण वत्तव्या । छुक्कगसंजोगे एक्के तं सुत्तेणैव भणियं । एवं
एते सत्तावणं संजोगसुत्ता भवंति । एतोसि अत्थो पुव्वसमो
दुगसंजोगेण उग्घातियं अणुग्घातियं वा कहं संभवति ? । भ-
णति-आवची से उग्घातिया कारणे उ दाउं अणुग्घातियं, एवं
उग्घाय अणुग्घायसंभवो । अहवा तवेण अणुग्घातकालतो
उग्घातियं एवं वज्जिक्कणं भावेत्तव्वं । नि० चू० १० उ० ।

साओ, णञ्चं ति सयमेव जाणित्ता, संमुजेति एगओ भोजनम; उग्घायहेउं संकप्पाण अणुग्यातियाण तिएह विइमं वक्खणं । उग्घातियं पायच्छिच्छं वहंतस्स पायच्छिच्छमावषस्स जाव मणाओइयं ताव हेउं भणति, आलोइए अ सुद्धदिये तुज्जे य पच्छिच्छं विच्छिहिति चि संकप्पियं भणति, एयं पुण दुविधं पि दुविहं वहति-सुद्धतवेण वा परिहारतवेण वा हत्तविमुद्ध-स्स तवस्स वा परिहारतवस्स वा संकप्पियं पि सुद्धतवेण वा परिहारतवेण अणुग्यायहेयहेउं संकप्पाण अणुग्यातियाण तिएह इमं वक्खणं ।

अणुवातियं वहंते, आवसुग्घातहेउगे होति ।

अणुवातियसंकप्पिय-सुद्धे परिहारियं तहेव ॥ ३६१ ॥

पूर्ववत्, णवरं, अणुग्यातियं चित्तवत्, जे सगच्छे सुद्धपरि-हारतवा ण अरुह ते णज्जंति चेव । जे परगच्छातो आगता ते पुच्छिज्जंति ।

को भंते ! परियाओ, मुत्तत्थअजिग्गहो तवो कम्मा ।

कक्खरुमक्खरुणसु य, मुप्पतवे मंडवादो चि ॥ ३६२ ॥

इमा पदमा पुच्छा ।

गीयमगीओ गीओ, महत्तकं वत्थु कस्स वसि जोगो ? ।

अग्गीउ चि य भणिते, थिरमथिरतवे प कयजोगो ॥ ३६३ ॥

सो पुच्छिज्जति-किं तुमं गीयत्थो अगीयत्थो ? । जदि सो भणति-गीतोऽहमिति, तो पुणो पुच्छिज्जति-किं आयरिओ ? उवज्जाओ ? पव्वत्तो ? थेरो ? गणवच्छेओ ? नेता ? वसमो ? । एतेसि एगंतरे अक्खाण पुच्छिज्जति-कयमस्स तवजोगा सु-द्धस्स परिहारस्स, अह सां अगीतोऽहमिति भणिज्जति, तओ पुच्छिज्जति-थिरो अथिरो चि । थिरो वढो तवकरणे बलवा-नित्यर्थः । अथिरो अन्तर एव भज्जते, नान्तं नयतीत्यर्थः । पुण थिरो अथिरो वा पुच्छिज्जति-ताव कयजोगो तव-कारणेनाभ्यस्ततवो ।

सगणम्मि नत्थि पुच्छा, अस्सगणादागयं व जं जाणे ।

परियायजम्मदिकत्ता, उणत्तीसा वीसकोडी वा ॥ ३६४ ॥

सगणे एया उ णत्थि पुच्छा उ, जओ सगणवासिणो सब्बे णज्जंति । जो आरिसो अअगणागतं पि जं जाणे तं नो पुच्छेअ भंते ! आमंतणवयणं परियाए चि । परियाओ दुविहो-जम्मप-रियाओ, पव्वज्जापरियाओ य । जम्मपरियाओ जहसेण जस्स एगूणत्तीस वीसा कहं ? जम्मएवरिसो पव्वति । तो णवमव-रिसो पव्वति, तो णवमवरिसे पव्वति, तो ते णवमवरिसे प-व्वतीओ विसतिवरिस्स वरिसेण सम्मत्तो । एवं वरिसेण स-म्मत्तो । एवं वरिसेण समत्ती । एते अ उणत्तीसं वीसो उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी पव्वज्जा उणत्तीसस्स दिट्ठिवातो उड्ढिओ वरिसेण सम्मत्तो । एते वीसं उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी ।

इवाणि सुतत्थमिति—

नवमस्स ततियवत्थू, जहसुज्जकोसनूणम दसत्तं ।

मुत्तत्थअजिग्गहे पुण, दव्वादितवो रयणमादी ॥ ३६५ ॥

णवमस्स पुव्वजहसेणं ततिआयारवत्थूकाले णाणं वणि-ज्जति, जाहे तं अधीयं उक्कोसेण जाहे कणगा दसपुव्वा अ-धीता संमत्तदसपुव्विणो परिहारतवो ण दिज्जति, मुत्तत्थस्स

एयं पमायं (अभिग्गहेति) अभिग्गहादव्वक्खेत्ते कालभावे हि तवो तवोकम्मं पुण (रयणमादि चि) रयणावली आविस-हातो कणगावली, 'सीहविकीलियं जवमज्जं वहरमज्जं वंदा-णयं' कक्खडेसु य पच्छदं । अस्या व्याख्या-सुद्धपरिहारत-वाणं कतमो कक्खडो, कयमो वा अक्खडो ? , एत्थ सेलए मंडवेहि दिट्ठतो कज्जति ।

जं मायति तं छुम्भति, सेलमए मंरुवे ण एरंडे ।

उभयपलियम्मि एवं, परिहारो दुव्वले सुद्धो ॥ ३६६ ॥

सेलमंडवे जं मायइ तं छुम्भति ण सो भज्जति, एरंडमए पुण जावतियं छुम्भति, एवं उभयवलियं तिविधे संघयं णो-वज्जुत्तो जं आवज्जति इमेरिसाणं सब्बकालं सुद्धतवो तं परि-हारतवेण दिज्जति, सो पुण वित्तिसंघयणे हि दुव्वलोऽति-हीणो तस्स सुद्धतवो वा हीणतरं पि दिज्जति । सीसो पुच्छ-ति-किं सुद्धपरिहारतवाण एगावली उत भिखा ? ।

उच्यते—

अविसिद्धा आवत्ती, मुप्पतवे संहयणपरिहारे ।

वत्थु पुण आसज्जा, दिज्जते तत्थ एगतरो ॥ ३६७ ॥

सुद्धपरिहारतवाण अविसेसी आवत्ती आरियादिवत्ती । संघयणोवज्जुत्तं जाणिकणं परिहारतवो दिज्जति, इतरो वा सुद्धतवो एगं एगतरा दिज्जति, इमेरिसाणं सब्बकालं सुद्ध-तवो दिज्जति ।

मुप्पतवो अज्जाणं, अगियत्थे दुव्वले असंघयणे ।

धितियवलियं समत्ता-गए य सव्वेसिं परिहारो ॥ ३६८ ॥

अज्जाणं गीयत्थस्स वित्तीयदुव्वलस्स संघयणहीणे एतेसि सुद्धतवो दिज्जति, धितवलज्जुत्तो संघयणसमक्षिण य पुरिसे परिहारे तवं पडिबज्जते । इमो विही-

विउसगो जाणट्टा, ववणाजीए य दोसु वी तेसु ।

आगरु य दीयराया, दिट्ठतो नीय आसत्थे ॥ ३६९ ॥

परिहारतवं पडिबज्जंते दव्वादि अप्पसत्थवज्जेत्ता पस-त्थेसु दव्वादिसु काउस्सगो कीरइ, सेससाहू जाणण्ठा आ-लावणादिपदाण पट्टवणा ठविज्जति, तेसु अ ठविपसु जदि भीता तो आसासो कीरइ ति, इमेहिं से वीहे पायच्छिच्छं सु-ज्जति महती य णिज्जरा भवति, कप्पट्टियअणुपरिहारिया य दो सहाया ठवित्ता इमेहिं अगडतिराइदिट्ठतेहिं भीतस्स आसासो कीरइ, अगडे पडियस्स आसासो कीरति, एस जणो धावति, एज्जआ णिज्जति अथिरा उच्चारेज्जसि, मा वि-सादं गेएहसु, एवं जतिणा सासिज्जति, तो कयातिभाएण तत्थ चेव मारेज्ज, नदीपूरेण हीरमाणो भणति- 'इं अवल-वाहिए सत्तारगो वतिगादि वत्तुमतरिओ मुच्चारोहिसि, मा वि-सादं गेएहसु । रयणहिओ वि भणति-एस राया जदि वि दुड्ढो तहवि विणविज्जंतो पुरिमादिपसु आयारं पस्सति, अइमंडं न करोति, एवं आसासिज्जंतो आससाचि; दढवेत्तो य जवति ।

काउस्सगो य किं कारणं कीरइ ? , उच्यते—

नीरवसगणिमिच्छं, भयजणणट्टा य सेसगाणं तु ।

तस्स अप्पणो य गुरुणो, पसाहए होति पविचची ३७०

एतदेवाह—

दाणं तवोवहाणं, सरीरसकारो जहासत्ति ।

उचितं च गीतवाइय, शुतिथोत्तापेच्छणादीय ॥ ५ ॥

दानं वितरणं, तथा तपउपधानं तपःकर्म, तथा शरीरसत्कारो देहभूषा, मशब्दः प्राकृतशैलीप्रभवः, यथाशक्ति सामर्थ्यानतिक्रमेण, इदं च क्रियाविशेषणम्, प्रत्येकं दानादिषु संवध्यते । उचितं योग्यम् । चशब्दः समुच्चये । गीतं च गेयं, वादितं च पटहादिनादितं, गीतवादिताम् । अनुस्वारलोपश्चाञ्च छन्दः, प्राकृतत्वात् । तथा स्तुतिस्तोत्राणि एकानेकश्लोकरूपाणि, प्रेक्षणानि च प्रेक्षणकप्रवृत्तिश्च । आदिशब्दात्काव्यकथारथप्रमणादिपरिग्रहो जिनयात्राविधानं च भवतीति प्रक्रमः; इति द्वारगाथासंक्षेपार्थः ॥ ५ ॥ पञ्चा० ए वि० । (यात्राविषयं दानद्वारम् 'अणुकंपा' शब्देऽत्रैव भागे ३६० पृष्ठे उक्तम्) ।

अथ तपोद्वारमाह—

एकासणाइ णियमा, तवोवहाणं पि एत्थ कायव्वं ।

तत्तो जावविमुद्धी, णियमा विहिसेवणा चेव ॥ ७ ॥

एकाशनादि एकभक्तप्रवृत्ति, आदिशब्दाच्चतुर्थादिपरिग्रहः, नियमादवश्यंतया, उपधीयते अनेनेत्युपधानं चरितोपपन्नमहेतुः, तप एवोपधानं तपउपधानं, तदपि न केवलं दानमेव । अत्र जिनयात्रायां कर्तव्यं विधेयं भवति । कस्मादिदं कर्तव्यमित्याह—ततस्तपउपधानाद् भावविशुद्धिरन्यवसायनैर्मल्यं नियमादवश्यंतया प्रवति, भावविशुद्धिरेव धर्माधिनामुपादेयेति, तथा विधिसेवना जिनयात्रा नीत्यनुपासना चैवेति समुच्चयार्थः । इति गाथार्थः ॥ ७ ॥ उक्तं तपोद्वारम् ।

अथ शरीरसत्कारद्वारमाह—

वत्थविलेवणमद्धा—दिपिहं विविहो सरीरसकारो ।

कायव्वो जहासत्ति, पवरो देविदणाएण ॥ ८ ॥

वस्त्रविश्लेषणमाख्यादिभिर्वासोऽनुश्लेषणपुष्पप्रवृत्तिभिरादिशब्दादलङ्कारपरिग्रहः । विविधो बहुविधः, शरीरसत्कारो देहभूषा, कर्तव्यो विधेयो, यथाशक्ति शक्यनतिक्रमेण, प्रवरः सर्वोत्तमः । कथम् । देवेन्द्रज्ञातेन सुरराजोदाहरणेन, यथाहि—जगवतामहं तां जन्ममहादिषु सुरेन्द्रः सर्वविभूत्या सर्वादरेण च शरीरसत्कारं विधत्ते, तद्वदन्यैरप्यसौ विधेय इति गाथार्थः ॥ ८ ॥ उक्तः शरीरसत्कारः ।

अबोचितं गीत्याद्याह—

उचियमिह गीयवाइय—मुचियाण वयाइपमिहि जं रम्मं ।

जिणगुणविसयं सच्च—म्मवुद्धिजणमं अणुवहासं ॥ ९ ॥

उचितं योग्यमिह जिनयात्रायां, गीतवादितां गेयवाच्यम् । किं-विधमित्याह—उचितानां योग्यानां स्वचूमिकापेक्षया वय आदिकैः कालकृतावस्थाप्रवृत्तिभिर्विधेयैश्चकण्यरूपसौभाग्यैर्दायैश्चर्या—दिभिर्भावैर्यस्य रमणीयं जिनगुणविषयं वीतरागत्वादित्यर्थः—करगुणगोचरं न राजादिगुणविषयं, तदपि सच्चर्मवृद्धिजनकं सुन्दरधर्ममत्युत्पादकं, तदप्यनुपहासमविद्यमानोपहासमनुपहासमिति गाथार्थः ॥ ९ ॥

स्तुतिस्तोत्रद्वाराभिधानायाह—

थुइयोत्ता पुण ओचिय, गंजीरपयत्थविगइया जे उ ।

संवेगवुद्धिजणगा, समा य पाएण सव्वेसिं ॥ १० ॥

स्तुतिस्तोत्राणि प्रतीतानि, पुनःशब्दो विशेषद्योतनार्थः । उचि-

तानि योग्यानि । किंविधानीत्याह—गम्भीरैरनुचिन्तित्वात्सूक्ष्मवृद्धि-गम्यैः पदार्थैः शब्दाभिधेयैर्विरचितानि विहितानि गम्भीरपदार्थधिरचितानि, यानि तु यान्येव तान्यपि संवेगवृद्धिजनकानि भोक्ताभिलाषातिशयकारीणि, समानि च तुल्यानि च अविषमाणि वा सुबोधनीत्याह—प्रायेण बाहुल्येन सर्वेषां स्तोत्राणामनुल्यादिस्तोत्रादिपाठे हि कोलाहल एवेति न पुनस्तच्छ्रोत्राणां भावोत्कर्ष इति गाथार्थः ॥ १० ॥ उक्तं स्तुत्यादिद्वारम् ।

अथ प्रेक्षणकादिद्वारमाह—

पेच्छणागा वि एणादी, धम्मियणारुयजुआइ इह उचिया ।

पत्थावो पुण ऐओ, इमेसिमारंभमादीओ ॥ ११ ॥

प्रेक्षणकान्यपि प्रेक्षाविधयः । अपिशब्दः स्तुत्याद्यपेक्षया समुच्चये । किं स्वरूपाणि; 'नरा' इति नटः शैलूपः तत्प्रवर्तितं यत्प्रेक्षणकं तन्मट एवोच्यते—नटप्रेक्षणकमित्यर्थः; तद्वादि येषां प्रेक्षणकाणां तानि नटादीनि । आदिशब्दाच्चदितरपरिग्रहः । तानि चेह किंविधान्युचितानि—धार्मिकनाटकयुतानि जिनजन्माज्युदयभरतनिष्क्रमणादिधर्मसंवरूपादिकोपेतानि, इह जिनयात्रायामुचितानि योग्यानि, भव्यश्रोत्राणां संवेगोत्पादकत्वात् । प्रस्तावोऽवसरः । पुनःशब्दो विशेषणार्थः । ज्ञेयो ज्ञातव्यः, एषां प्रेक्षणकानामारम्भादिर्वात्रारम्भादिरादिशब्दाद्यात्रामध्यादिरिति गाथार्थः ॥ ११ ॥ प्रेक्षणकानामारम्भादिप्रस्ताव उक्तः ।

अथ दानस्य कः प्रस्ताव इत्याशङ्क्यामाह—

आरंजे चिय दाणं, दीणादीणमणतुट्टिजणएत्थं ।

रष्ठाऽमाघायकारण—मणहं गुरुणा स सत्तीए ॥ १२ ॥

(आरंजे चिय) यात्रारम्भकाल एव, दानं वितरणं विधेयं भवति । किमर्थमित्याह—दीनादीनां रङ्गप्रवृत्तीनां मनस्तुष्टिः दिनानाथचित्तोपविधानाय तथा राज्ञा नृपेण मा ब्रह्मीः । सा च द्वेधा—धनद्वन्द्वीः प्राणलक्ष्मीश्च; अतस्तस्या घातो हननं तस्या-प्रावोऽमाघातोऽमारिरिच्छयापहारश्चेत्यर्थः । तस्य करणं विधानममाघातकरणमनर्थं निर्दोषं वधवृत्तमोजनवृत्तिमात्रसंपादनेन, अन्यथा तदुत्पुच्छेदापत्तेर्गुरुणा प्रावचनिकेन स्वशक्त्या स्वसामर्थ्येनेति गाथार्थः ॥ १२ ॥

प्रस्तुतविधिसमर्थनायागमविधिमाह—

विसयपवेसे रणो, उ दंसणमोगाहादिकहणा य ।

अणुजाणावणविहिणा, तेणाणुणायसंवासो ॥ १३ ॥

विषयप्रवेशे मण्डलप्रवेशेन, राज्ञो नृपतेः, तुशब्दः समुच्चयार्थः । तेन तदभावे तन्मान्ययुवराजमहामात्यादेश्च दर्शने भीषकः कार्यः, दर्शने च सति 'किमागमनकारणम् ?' इति च तेन पृष्ठे अवग्रहस्य 'देविदरायगहवह—सागरसाहस्मिओ गहो चेव' इत्येवंविधस्य, आदिशब्दाद्राजराक्षितास्तपस्विनो भवन्तीत्यादेश्च । यदाह—“कुद्रोकाकुले लोके, धर्मं कुर्युः कथं हि ते ? हान्त-दान्ताऽरिहन्तारस्तांश्चेद्राजा न रक्षतीति” कथना प्ररूणा अवग्रहादिकथना, चशब्दः समुच्चये, कार्येति शेषः । ततश्चा-नुज्ञापनं मुक्तव्रतं कार्यम्, अवग्रहस्य विधिनाऽऽगमनीत्या, ततस्तेन राज्ञा राजसंमतेन वा अनुज्ञाते मुक्तव्रतेऽवग्रहे संवासो निवासः तद्देशे विधेय इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

कस्मादेवं विधीयते इत्याह—

एसा पवयणणीती, पवसंताण.णिज्जरा विजला ।

इहसोयम्मि कि दोसा, ण होति णियमा गुणा होति ॥ १४ ॥

अणुग्याय-अनुद्घात-पुं० । न विद्यते उद्घातो लघूकरण-
लक्षणो यस्य तदनुद्घातम् । यथाश्रुतदाने, स्था० ५ ठा० २
उ० । आचारप्रकल्पभेदे, आचा० १ शु० ८ अ० २ उ० ।

अणुग्यायण-अणोद्घातन-न० । अणत्पत्त्येन जन्तुगणअनु-
गतिकं संसारमित्यर्थं कर्म, तस्योत्प्रावत्येन घातनमपनयनम-
णोद्घातनम् । कर्मण्य उद्घातने, “ से मेहावी जे अणुग्याय-
णस्स खेयणे जे य वंधण मोक्खमण्येसी कुसले पुण यो वद्धे
यो मुक्के ” आचा० १ शु० २ अ० ६ उ० ।

अणुग्यासंत-अनुग्रासयत्-त्रि० । आत्मना गृहीत्वा पश्चाद् ग्रासं
ददति, “ जे भिक्खू मा जग्गामस्स मेहुणवमियाए अणुग्या-
सेज्ज वा अणुपाएज्ज वा अणुग्यासंतं वा अणुपायंतं वा मा-
इज्जइ ” नि० चू० ७ उ० । (‘ मेहुण ’ शब्दे ऽस्य ध्याख्या)

अणुच (य) १-अनुचर-त्रि० । अनुचरन्ति । अनु-चर-ट ।
स्त्रियां ङीप् । सहचरे, पश्चात्तामिनि च । वाच० । अनुपरिहा-
रिकपदस्थितानां यावत् पाण्यमासकल्पस्थितानां सेवाकारके,
उक्त० २७ अ० ।

अणुचरित्ता-अनुचर्य-त्रि० । आसेव्ये, स० ।

अणुचित्तण-अनुचिन्तन-न० । पर्यालोचने, भाव० ४ अ० ।

अणुचिता-अनुचिन्ता-स्त्री० । अनुचिन्तनमनुचिन्ता, मनसै-
वावसरणनिमित्ते सूत्रानुस्मरणे, भाव० ४ अ० ।

अणुचिज्जण-अनुच्युत्वा-अभ्य० । पश्चाच्च्युत्वेत्यर्थे, “ अणु-
चिज्जणेहागमो तिरियपक्खीसु ” महा० ६ अ० ।

अणुचिष्वं-अनुचीर्णवत्-त्रि० । अनुष्ठितवति, आचा० १ शु०
८ अ० ६ उ० ।

अणुचिय-अनुचित-त्रि० । अजावितशैके, वृ० १ उ० । अयो-
ग्ये, पो० ७ वि० ।

अणुची६-अनुचिन्त्य-अभ्य० । औत्पत्तिक्यादिज्जेमिज्जया बुद्ध्या
पर्यालोच्येत्यर्थे, भाव० ४ अ० । जी० । सूत्र० । “ अणुची६
भासप सयाणमज्जे लहइ पसंसणं ” अनुविचिन्त्य पर्यालोच्य
भाषमाणः सतां साधूनां मध्ये लभते प्रशंसनम् । दश० ७
अ० । सूत्र० ।

अणुची६भासि (ण)-अनुविचिन्त्यभाषिन्-त्रि० । अनुवि-
चिन्त्य पर्यालोच्य भाषते इत्येवं शीघ्रोऽनुविचिन्त्यभाषी । व्य०
१ उ० । आलोचितवक्ति, दश० ६ अ० ।

अणुचरिय-अनुचरित-त्रि० । अशब्दिते, महा० १ चू० ।

अनुचर्य-अभ्य० । निन्द्यत्वाद्वाचरयितुमयोग्ये, “ अमिग्गहि-
यमिच्छदिही अणुचरियणामधेजे सुज्जसिपे ” महा० १ चू० ।

अणुचसइ-अनुचशब्द पुं० । अनुचस्वरे, “ तं पुण अणुचसइ
वोच्छिअमियं पमासेइ ” न विद्यते उच्चः शब्दः स्वरो यस्य तद-
नुचशब्दः, तद्व्यवच्छिन्नं शब्दं विविक्तमभिधित्वाकरमित्यर्थः,
तस्मिन् । व्य० १ उ० ।

अणुचाकुडय-अनुचाकुचिक पुं० । उच्चा हस्तादि यावत् येन
पिपीलीकादेर्वधो न स्यात् सर्पादेर्वा दंशो न स्यात्, अकु-
चाकुचपरिस्पन्द इति वचनात् । परिस्पन्दरहिता निश्चलेति
यावत् ; ततः कर्मधारये उच्चा कुचा इत्या कस्वादिसयी सा

नो विद्यते यस्य स अनुचाकुचिकः । नीचसपरिस्पन्दशब्दाके,
कल्प० ।

अणुजाइ (ण)-अनुयायिन् पुं० । सेवके, को० ।

अणुजाण-अनुयान-न० । रथयात्रायाम्, वृ० १ उ० ।

तद्विविधैवम्—

नामिज्जण वद्धमाणं, सम्मं संसेवओ पवक्खामि ।

जिणजत्ताएँ विहाणं, सिद्धिफलं मुत्तणीतीए ॥ १ ॥

नत्वा प्रणम्य, वर्धमानं महावीरं, सम्यग्भावतः, संक्षेपतः स-
मासेन, प्रवक्ष्यामि भणिष्यामि, जिनयात्राया अहंनुत्सवस्य वि-
धानं विधिं, सिद्धिफलं मोक्षप्रयोजनं, सूत्रनीत्या आगमन्याये-
नन्ति गाथार्थः ॥१॥

जिनयात्राविधिं प्रवक्ष्यामीत्युक्तम्, अथ तत्प्रस्तावनायैवाह-

दंसणमिह मोक्खंगं, परमं एयस्स अट्ठहाऽऽयारे ।

णिस्संकादीं जणितो, पजावणतो जिणिहेहि ॥ २ ॥

दर्शनं सम्यक्त्वम्, इह प्रवचने, मोक्षाङ्गं सिद्धिकारणं, परमं प्र-
धानम्, आदिकारणत्वात्, तस्यानन्तरकारणतया तु परमं चा-
रित्रमेव, ‘ सारो चरणस्स निब्बानमिति ’ वचनादिति । एतस्य
दर्शनस्य, पुनरुद्घाऽष्टमिः प्रकारैः, आचारो व्यवहारो यः स-
म्यग्दर्शनामाचारः स दर्शनस्याचार उच्यते, गुणगुणिनोरभेदा-
त् । तमेवाह-शङ्का संशयः, तदभाषो निःशङ्को निःशङ्कितत्वं, त-
दादियस्य स निःशङ्कादिः, जणितोऽभिहितः, प्रभावनान्तो जिन-
शासनोद्भावनाऽवसानः, जिनेन्द्रैस्तीर्थकरैः । तथाहि-“ निस्सं-
कियनिक्कंखिय, निम्भितिणिच्छा अमूदविट्ठी य । उववूहथिरी-
करणे वच्छल्लपभावणा अट्ठा ” इति गाथार्थः ॥२॥

ततः किम् ? अत आह-

पवरा पभावणा इह, असेसभावमि तीएँ सञ्जावा ।

जिणजत्ता य तयंगं, जं पवरं ता पयासोऽयं ॥ ३ ॥

प्रवरा प्रधाना, प्रभावना जिनशासनोद्भावना, इहाष्टप्रकारे स-
म्यग्दर्शनाचारे । कुत एवमित्याह- अशेषाणां समस्तानां नि-
शङ्कितादिसम्यग्दर्शनाचाराणां भावः सत्ता अशेषभावस्तस्मिन्
सति, तस्याः प्रभावनायाः, सञ्जावात् संभवाभिःशङ्कितादि-
गुणयुक्त एव हि प्रजावको जयतीति । ततोऽपि किमित्याह-
जिनयात्रा च जिनोद्देशमहः, पुनस्तदङ्गं जिनप्रवचनप्रभावना-
कारणं, यद्यस्माकतोः, प्रवरं प्रधानं, तत्तस्माकतोः, प्रयासः प्रय-
त्नोऽयमेव वक्ष्यमाणस्वरूपो जिनयात्राविषय इति गाथार्थः ॥३॥

अथ जिनयात्रेति कोऽयं इत्यस्यां जिज्ञासायामाह-

जत्ता मदूसवो खलु, उदिसस जिणे स कीरई जो उ ।

सो जिणजत्ता जणई, ति ए विहाणं तु दाणाइ ॥ ४ ॥

यात्रा केत्याह-महोत्सवः खलु महामह एव, नतु देशान्तरगम-
नम् । ततः किमत आह-उद्दिश्यार्थित्य जिनानर्हतः स इति म-
होत्सवः ‘ जिणे च ’ इत्यत्र तु पाठान्तरे जिनांस्तु जिनानेवेति व्या-
ख्येयम्, क्रियते विधीयते । यस्तु य एव स इत्यस्यैव महोत्सवो
जिनयात्रेति भ्रम्यते अभिधीयते, तस्या जिनयात्राया विधानं
तु कल्पः पुनर्दानादिविधानप्रवृत्तिः । आदिशब्दात्तपःप्रवृत्तिप्रवृ-
त्ति-गाथार्थः ॥४॥

णस्य प्राप्तिः । इतिशब्दः समाप्तौ । इति गाथार्थः ॥ २३ ॥

कथं तीर्थवर्णवाद् एव बोधिबीजं प्रवर्त्यत आह-

जच्चिय गुणपरिवर्त्ती, सव्वाणुमयम्मि होइ पन्निमुद्धा ।

सा वि य जायति बोही-ए तेण णाएण चोराणं ॥ २४ ॥

चियशब्द एवकारार्थः, स चापिशब्दार्थः । ततश्च याप्रिकाचि-
द्वत्पाऽपीत्यर्थः । गुणप्रतिपत्तिर्गुणाज्युपगतिः, सर्वज्ञमते जिन-
शासनविषये, भवति जायते, परिशुद्धा भावगर्भा, साऽपि गुण-
प्रतिपत्तिः, जायते संपद्यते, बीजहेतुबोधये, सम्यग्दर्शनप्रतिप-
त्तेः, तेन ज्ञातेन, चौरोदाहरणेन तच्च प्रागुक्तमिति गाथार्थः ॥ २४ ॥

यदि श्रावका अपि राजदर्शनासमर्थस्तदा को विधिरित्याह-
इय सामत्याभावे, दोहि वि वर्गोहं पुब्बपुरिसाणं ।

इयसामत्यजुआणं, बहुमाणो होति कायव्वो ॥ २५ ॥

इत्युक्तरूपे राजदर्शनद्वारेणामाघातकारणे यत्सामर्थ्यं बलं
तस्य योज्यावः स तथा तस्मिन्, द्वाज्यामपि, आस्तामेकेन,
वर्गान्यां समुदायान्यां, प्रवचनगुरुश्रावकलक्षणभ्यां पूर्वपुरुषा-
णामतीतमानवानाम्, इतिसामर्थ्ययुतानाममाघातकारणवत्तयु-
क्तानां, बहुमानः प्रीतिविशेषो, भवति वर्तते, कर्त्तव्यो विधेय इति
गाथार्थः ॥ २५ ॥

बहुमानमेव स्वरूपत आह-

ते धम्मा सप्पुरिसा, जे एयं एवमेव णीसेसं ।

पुर्व्वि करिंमु किच्चं, जिणजत्ताए विहाणं ॥ २६ ॥

ते पूर्वपुरुषाः, धन्याः श्लाघ्याः, सत्पुरुषा महापुरुषाः, वर्तन्ते ये,
पतदनन्तरोक्तं कृत्यमिति योगः । एवमेवोक्तन्यायेनैव, निःशेषं सर्वं,
पूर्वकाले (करिंमु च्छि) भक्ताः, कृत्यं करणीयं, दानपूर्वमाघात-
क्षत्तणं, जिनयात्रायां जिनोत्सवे, विधानेन विधिनेति गाथार्थः ॥ २६ ॥

अम्हेउ तह अधम्मा, धम्मा उण एत्तिणण जं तेसिं ।

बहु मष्माणो चरियं, सुहावहं धम्मपुरिसाणं ॥ २७ ॥

वयं तु वयं पुनस्तथा तेन प्रकारेण जिनयात्रादिसमयविधान-
संपादनसामर्थ्याभाववत्क्षणेनाऽधन्या अश्लाघ्याः, धन्याः पुनः
श्लाघ्याः, पुनरियता एतावता, यत्तेषां पूर्वपुरुषाणां, बहु मन्यामहे
पक्षपातविवंधीकुर्मः, चरितं चेष्टितं सुखावहं सुखकारणं शुजाव-
हं वा, धर्मेपुरुषाणां धर्मप्रधाननराणाम् । धीरपुरुषाणामिति च
पाठान्तरमिति गाथार्थः ॥ २७ ॥

एतद्बहुमानस्य फलमाह-

इय बहुमाणो तेसिं, गुणाणमणुमोयणा णिआगेण ।

तत्तो तत्तुद्धं वि य, होइ फलं आसयविसेसा ॥ २८ ॥

इत्यादिबहुमानादनन्तरोक्तपक्षपाताहेतोस्तेषां पूर्वपुरुषाणां
सत्कानां गुणानां धर्मचरणादीनामनुमोदनाऽनुमतिनियोगेनाव-
श्यंतया भवति (तत्तो च्छि) ततश्च गुणानुमोदनातः, तत्तुल्यमेव
पूर्वपुरुषानुष्ठानफलसममेव प्रवर्तते । जायते । फलं कर्मकृत्यादिको
शुणः । यदाह-“अप्पहियमायरंतो, अणुमोयंतो य सम्गइं वडइ ।
रइकारदाणअणुमो-यगो मिगो जइ य बडदेवो” ॥ २९ ॥ अथ कथं
कलानुष्ठानवतां सकलानुष्ठानवद्भिस्तुल्यं फलं भवतीत्याह-
आशयविशेषादध्यवसायभेदात् । अध्यवसाय एव हि परं का-
रणं शुभाशुभकर्मबन्धादि प्रति । यदाह-“परमरहस्संसिमसीणं,
सम्मत्तगणिपिण्णगज्जरियंसारणं । परिणामियं पमाणं, निच्चयम-
वत्तवमाणं” ॥ ३० ॥ इति गाथार्थः ॥ २८ ॥

‘आरंभेय्य दाणं’ इत्यादि यत्तुक्तं तदुपसंहरन्नाह-

कयमेत्थ पसंगेणं, तवोवहाणादिया वि णियसमए ।

अणुखवं कायव्वा, जिण्ण कद्धाणदियहेसुं ॥ ३१ ॥

कृतमद्यमत्र दानाभाघातप्रसङ्गेन प्रसक्त्या तप उपधानादिका
अपि तपःकर्मशरीरसत्कारप्रभृतिका अपि प्राधान- केवलं दान-
मित्यपिशब्दार्थः । निजसमये स्वकीयावसरे रुढिगम्ये अनुरूपम्
औचित्येन कर्त्तव्या विधेया । कदेत्याह-जिनानामर्हतां कल्याण-
दिवसेषु पञ्चमहाकल्याणीप्रतिवद्धदिनोचिति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

कल्याणान्येव स्वरूपतः फलतश्चाह-

पंचं महाकद्धाणा, सव्वेसिं जिण्ण होति णियमेण ।

शुवणच्छेरयन्तूया, कद्धाणफला य जीवाणं ॥ ३२ ॥

गन्ते जम्मे य तहा, णिक्खमणे चैव णाणणिव्वाणे ।

शुवणगुरुण जिण्णं, कद्धाणा होति णायव्वा ॥ ३३ ॥

पञ्चेति पञ्चैव महाकल्याणानि परमश्रेयांसि सर्वेषां सकलकाल-
निश्चिन्नरत्नलोकभाविनां जिनानामर्हतां भवन्ति नियमेनावश्यभा-
वेन, तथावस्तुस्वभावत्वात् । भुवनार्थ्यभूतानि निश्चिन्नशुवना-
दुत्तभूतानि, त्रिभुवनजनानन्दहेतुत्वात् । तथा कल्याणफलानि च
निःश्रेयससाधनानि । चः समुच्चये । जीवानां प्राणिनामिति । गर्भे
गर्भाधाने, जन्मन्युत्पत्तौ । चशब्दः समुच्चये । तथेति वाक्योप-
क्षेपे । निष्क्रमणे अगारवासार्भिर्गमे, चैवेति समुच्चयावधारणा-
र्थवित्युत्तरञ्च संजत्येते । ज्ञाननिर्वाणे समाहारद्वन्द्वत्वात्केवल-
ज्ञाननिवृत्त्योरेव च । केषां गर्भादिष्वित्याह-शुवनगुरुणां जगज्ज्ये-
ष्ठानां जिनानामर्हताम् । किमित्याह-कल्याणानि श्वःश्रेयसानि,
प्रवन्ति वर्तन्ते, ज्ञातव्यानि ज्ञेयानीति गाथाद्वयार्थः ॥ ३०-३१ ॥

ततश्च-

तेसु य दिण्णेषु धम्मा, देविदाई करिंति जत्तिणया ।

जिणजत्तादि विहाणा, कद्धाणं अप्पणो चैव ॥ ३२ ॥

(तेसु य च्छि) तेषु च दिनेषु दिवसेषु, येषु गर्भादयो वज्रवृत्त-
न्या धर्मधत्तं बन्धारः, पुण्यभाज इत्यर्थः । देवेन्द्रादयः सुरेन्द्र-
प्रभृतयाः, कुर्वन्ति विदधति, मक्तिता बहुमाननम्राः । किमित्याह-
ह-जिनयात्राऽदि-अर्हद्वस्तवपूजास्त्राप्रभृतितम् । कुत इत्याह-
विधानाद्विधिना । अथवा जिनयात्रादिविधानानि । किञ्चूतं जिन-
यात्रादीत्याह-कल्याणं श्वःश्रेयसम् । कस्येत्याह-आत्मनः स्वस्य,
चैवशब्दस्य समुच्चयार्थत्वेन परेषां वेति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

यत एवम्-

इय ते दिणा पसत्था, ता सेसेहिं पि तेसु कायव्वं ।

जिणजत्तादि सद्वरिसं, ते य इमे वक्खमाणस्स ॥ ३३ ॥

इत्थतो हेतोः पूर्वोक्तजीवानां कल्याणफलत्वादिलक्षणोच्ये इति,
येषु जिनगर्भाधानादयो भवन्ति, दिना दिवसाः, दिनशब्दः पुंलि-
ङ्गोऽप्यस्ति । प्रशस्ताः श्रेयांसः । ततः किमित्याह-(ता इति) य-
स्मादेवं तस्मात् शेषैरपि देवेन्द्रादिव्यतिरिक्तैर्मनुष्यैरपि, न के-
वलमिन्द्रादिभिरेवेत्यपिशब्दार्थः । तेषु गर्भादिकल्याणदिनेषु,
कर्त्तव्यं विधेयं, जिनयात्रादि बीतरागोत्सवपूजाप्रभृतिकं वस्तु,
सहर्षं सप्रमोदं यथाभवति । कानि च तानि दिनानीत्यस्यां
जिज्ञासायां सर्वजिनसंबन्धिनो तेषां च वक्तुमशक्यत्वाद्दर्शमान-
तीर्थाधिपतित्वेन प्रत्यासन्नत्वादेकस्यैव महावीरस्य, तानि वि-
वक्षुराह-(ते य च्छि) तानि पुनर्गर्भादिदिनानि इमानि वक्ष्यमा-

एषाऽनन्तरोका प्रवचननीतिरागमन्यायो वर्तते । अथानया को गुण इत्याह-एवमनन्तरोकनीत्या वसतां तद्देवो निवसतां निर्जरा कर्मक्षयः, विपुला बद्धी, अदृच्छादानवतस्य निरतिचार-स्यानुपादनादाशाराधनाच्च । नचैतावदेवात्र फलमित्याह-इह लोकेऽप्यत्रापि जन्मनि, आस्तां परलोके, दोषाः प्रत्यनीककृतो-पद्रव्यक्षणाः, न प्रयन्ति न जायन्ते । नियमादवश्यभावेन गुणाः पुनः राजपरिग्रहाल्लोके मान्यतादयो, भवन्ति जायन्ते । यदाह- "गन्तव्यं राजकुले, द्रष्टव्या यजपूजिता लोकाः । यद्यपि न प्रवन्त्यर्थाः, प्रवन्त्यनर्थप्रतीघाताः" ॥ १ ॥ इति गाथार्थः । १४।

ये गुणा भवन्ति तानेवाह-

दिद्वो पत्रयणगुरुणा राया अणुसासिओ य विहिणा उ ।

तं नत्थि जं ए विररइ, किच्चियमिह आमघाओ चि ॥ १५ ॥

दृष्टोऽवलोकितः, प्रवचनगुरुणा प्रधानाचार्येण, राजा नृपतिः, अनुशासितोऽनुशिष्टश्च, विधिना तु प्रवचननीत्यैव तत्प्रकृत्यनुवर्तना-दिलक्षणया । यदाह-"याद्यादिभावमेवं, सम्यग्विज्ञाय देहिनां गुरु-णा । सद्धर्मदेशनापि हि, कर्त्तव्या तदनुसारेण" ॥ १॥ एवं चासौ प्रमुदितमना तद्वस्तु नास्ति न विद्यते यश्च वितरति न ददाति, सर्वमेव ददातीत्यर्थः । कियत् किंपरिमाणम् ?, अल्पमिति कृत्वा ददात्येवेत्यर्थः । इह यात्राऽवसरे अमाघातः प्राणिघातनिवारण-म्, इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः । इति गाथार्थः ॥ १५ ॥

अनुशासित इत्युक्तमतस्तदनुशासनविधिं प्रस्तावयन्नाह-

एत्थमणुसासणविही, जणिओ सामएणुणुपसंसाए ।

गंभीराहरणेहिं, उत्तीहिं य जावसाराहिं ॥ १६ ॥

अत्र राजविषये, अनुशासनविधिरनुशास्तिविधानं, भणित उक्तः, सूरिभिः । कथम् ?, सामान्यगुणप्रशंसया लोके लोकोचरा-विरुद्धविनयदाक्षिण्यसौजन्यादिगुणस्तुत्या, तथा गम्भीरोदा-हरणैरनुच्छातैः, महापुरुषगतैश्चकिमिश्च प्रणितिभिश्च, भाय-साराभिर्भावगर्भाभिर्नतु तद्विकलामिरिति गाथार्थः ॥ १६ ॥

अनुशासनविधिमेवाह-

सामएणे मणुजत्ते, धम्माओ णरीसरत्तणं ऐयं ।

इय मुणिकर्णं सुंदर !, जत्ता एयम्मि कायव्वो ॥ १७ ॥

सामान्ये बहूनां प्राणिनां साधारणे मनुजत्वे नरत्वे धर्माद् कुशलकर्मणो नरेश्वरत्वं नृपत्वं भवतीति हेयं ज्ञातव्यम् । इति एतद् ज्ञात्वाऽवगम्य, सुन्दर ! नरप्रधान ! यत्न उद्यमोऽत्र धर्मे कर्त्तव्यो विधेयो भवतीति गाथार्थः ॥ १७ ॥

इद्वीण मूलमेसो, सव्वासिं जणमणोहराणं ति ।

एसो य जाणवत्तं, ऐओ संसारजलहिंमि ॥ १८ ॥

अद्वीनां संपदां मूलमिव मूलं कारणम्, एष धर्मः । सर्वासां नरामरसंबन्धिनीनां जनमनोहरणां लोकचतोहारिणिनाम् । इति शब्दो लोकप्रसिद्धस्य संपदां जनमनोहरत्वस्योपदर्शनार्थः । अनेन च सांसारिकफलसाधुत्वमस्यापदर्शितम् । अथ निर्वाण-फलसाधकत्वमस्याह-एष चायमेव यानपालं बोधिस्य इव ज्ञे-यो ज्ञातव्यः, संसारजलधौ प्रवोदधौ तरीतव्य इति गाथार्थः ।

कथं पुनरेव भवतीत्याह-

जायइ य मुहो एसो, उच्चियत्थापायणेण सव्वस्स ।

जत्ताए वीयरगा-ए विसयसारत्तओ पवरो ॥ १९ ॥

जायते संपद्यते, चशब्दः पुनरर्थः, शुनः कुशलानुबन्धः, शुभ-

निमित्तत्वादेव धर्मः, उचितार्थापादनेनानुरूपवस्तुसंपादनेन, स-र्वस्य समस्तजनस्य । इहैव विशेष्यमाह-"जत्ताए" इत्यादि । का-का चेदमवधेयम्-यात्रयोत्सवेन, पुनर्योत्रार्था वा उचितार्थापाद-नेनेति प्रकृतम् । केयम् ?, वीतरागाणां जिनानां, विषयसारत्वतः प्रधानगोचरत्वात् । वीतरागा एव हि निखिलसुखजननातिशा-यिगुणत्वेन यात्रागोचरोऽनुपवर्तितो प्रवर्ततेति प्रवरः प्रधानतरः शेषजनोचितार्थसंपादनोद्भवधर्मोपेक्षया एव जायत इति प्रकृ-तमिति गाथार्थः ॥ १९ ॥

अधिकतराजानुशासनविधौ यो प्रावस्तं प्रकटयन्नाह-

एतं ऐं सव्वसत्ता, सुद्धिया खु अहिसि तम्मि कालम्मि ।

एहिं पि आमघाए-ए कुणसु तं चेव एतेसि ॥ २० ॥

एतया वीतरागयात्रया एतस्या वा, सर्वसत्त्वाः समस्तदेहिनाः, सुखिता एवानन्दवन्त एव, 'खु' शब्दोऽवधारणार्थः । (अहि-सि चि) अचूचः, तस्मिन् काले तदा यदा, जिनानां जन्माद्य-प्रवत् । ततश्च दानीमप्यधुनाऽपि, यथाऽतीतकाल इत्यपिशब्दार्थः । [आमघाएणं ति] प्राकृतत्वादमाघातेन, अमाघिदानेन, कुरुष्व विशेहि, त्वं महाराज ! देव ! सुखितत्वमेव । एतेषां सर्वसत्त्वाना-नामिति गाथार्थः ॥ २० ॥

अथाचार्यो न भवेत्तत्र तदा को विधिरित्याह-

तम्मि असंते राया, दडव्वा सावगेहिं वि कमेण ।

कारेयव्वो य तद्दा, दाणेण वि आमघाओ चि ॥ २१ ॥

तस्मिन् प्रवचनगुरावसत्यधिमाने, उपलक्षणत्वाद्वाजदर्शना-द्यसमर्थे वा, राजा नरपतिर्द्रष्टव्यो दर्शनीयः, आवकैरपि भ्रमणोपासकैरपि, न तु न रूपव्य इत्येतदर्थसंस्मरणार्थोऽपि-शब्दः । क्रमेण नीत्या तद्वाजकुलप्रसिद्धया, कारयितव्यो विधा-पयितव्यो राज्ञा । चशब्दः समुच्चये । तथेति वाक्योपक्षेपमा-त्रार्थः । तथा कारयितव्यमेत्येवं चास्य प्रयोगः । इति नेच्छति चेद्वाजा तं कारयितुं तदा दानेनापि ह्यव्यवितरणतोऽपि न केवलं वचनेनेत्यपिशब्दार्थः । (आमघाओ चि) अमाघातः प्राणिनाम-मारिः, इतिशब्दः समाप्त्यर्थ इति गाथार्थः ॥ २१ ॥

किं चान्यत्-

तेसिं पि धायगाणं, दायव्वं सामपुव्वगं दाणं ।

तत्तियदिणाण उच्चियं, कायव्वो देसणा य सुहा ॥ २२ ॥

तेषामपि न केवलममाघात एव कारयितव्य इत्यपिशब्दार्थः । घातकानां प्राणिवधोपजोविनां मत्स्यवन्धादीनां, दातव्यं देयं, सामपूर्वकं प्रेमोत्पादकवचनपुरस्सरं, दानमज्जादिवितरणं, ताव-दिनानां यात्रापरिणामदिवसानामुचितं योग्यम्; कर्त्तव्या विधेया, देशना च धर्मदेशना च शुभाऽनवघा । यथा-भवतामप्येवं धर्मा-वासिर्भविष्यतीत्यादिरूपा, इत्यनेन च परोपतापपरिहाये धर्मा-र्थिनां श्रेयानित्युक्तमिति गाथार्थः ॥ २२ ॥

एवं क्रियमाणे को गुण इत्याह-

तित्थस्स वसुवाओ, एवं लोगम्मि बोहिल्लानो य ।

केसिं वि होइ परमो, अमोसिं वीयल्लानो चि ॥ २३ ॥

तीर्थस्य जिनप्रवचनस्य, वर्णवादः श्लाघा, एवममुना प्रकारेण दानपूर्वकाऽमाघातकारणलक्षणान्, लोके जने, भवति । ततश्च किमित्याह-बोहिल्लानः सम्यग्दर्शनप्राप्तिः, चशब्दः पुनरर्थो भिन्नक्रमश्च । केषांचिद्भुक्तकर्मणां प्राणिनां, प्रवति जायते, परमः प्रधानोऽक्षेपेण मोक्षसाधकत्वादप्येवं पुनरपरेषां, पुनर्वीजलानः सम्यग्दर्शनबीजस्य जिनशासनपक्षपातरूपद्वयमाध्यवसायलक्ष-

व्याचिह्नविकाचित्रपटनिष्कमणादिग्रहः । न केवलं यात्रेत्यपि शब्दार्थः । एतेषु च तान्येव कल्याणकरूपाणि दिवसान् प्रतीत्याश्रित्य, कर्तव्यं विधेयं भवति । कस्मादेवमित्याह—यद्यस्मात्कारणादेव एव कल्याणदिनलक्षणो विषयो गोचरः प्रधानः शोभनः । मकारस्तु प्राकृतशैलीप्रभवः । तस्या रथनिष्कमणादिकायाः क्रियायाः चेष्टायाः, इदं चावधारणमनागमोक्तदिनव्यवच्छेदार्थमेव द्रष्टव्यम्, आगमोक्तदिनानां त्वागमप्रामाण्यादेव प्रधानत्वात् । अभिधीयते चागमे—“संवच्छरचा-उम्मा—सपसु अष्टादियासु यतिहीसु । सन्वायरेण लग्गइ, जिणवरपूया तवगुणेषु” ॥ १ ॥ तथा प्रतिष्ठानन्तरमष्टादिकाया इहैव विधेयतयोपदिष्टत्वादिति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

ननु कल्याणकदिनेष्वेव यात्रायाः कथं प्राधान्यम् ? बहुफलत्वादिति द्रूमः, एतदेवाह—

विसयप्पगारिसभावे, किरियामेत्तं पि बहुफलं होई ।

सकिरिया विहुण तद्दा, इयरम्मि अवीयरागिण्व ॥ ४३ ॥

विषयस्य क्रियाविशेषगोचरस्य प्रकर्षभाव उत्कृष्टताविषय-प्रकर्षभावः, तत्र, क्रियामात्रमपि अविशेषवत् क्रियाऽपि, आस्तां विशिष्टा, बहुफलं प्रभूतेषुफलं भवति जायते । एतस्यैव व्यतिरेकमाह—सत्क्रिया विशिष्टचेष्टाऽपि आस्तां क्रियामात्रम् । हुशब्दोऽलङ्कृतौ । न तथा न तत्प्रकारा, न बहुफला भवति । इतरस्मिन् विषयस्य प्रकर्षभावे, उक्तमर्थं दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह—अवीतरागे इव पुरुषमात्रवत् । यथाऽस्य वीतरागे गुणोत्कर्षभावेन विषयप्रकर्षभावेन महत्यपि पूजादिका चेष्टा बहुफला न भवति, तथा कल्याणकदिनेष्वप्येवमित्येति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

अथ कल्याणकयात्रामेव पुरस्कुर्वन्नुपदेशमाह—

लक्ष्णं दुल्लहं ता, मणुयत्तं तद्द य पवयणं जइणं ।

उत्तमणिदंसणेसुं, बहुमायो होइ कायव्वो ॥ ४४ ॥

लक्षणा प्राप्य, दुर्लभमसुखजं (ता इति) यस्मादिन्द्रादिभिः कृता बहुफला च कल्याणकयात्रा तस्मात्कारणान्मनुजत्वं नरत्वम् । तथाचेति समुच्चयार्थः । प्रवचनं शासनं, जैनं सर्वज्ञरचितं, जिनमतप्राप्तियुक्तस्यैव विशिष्टोपदेशयोग्यता तत्सफलताकरणे सामर्थ्यं च भवतीति कृत्वा मनुजत्वमित्याद्युक्तम् । उत्तमनिदर्शनेषु प्रधानसत्त्वज्ञातेष्विन्द्रादिलक्षणेपु । तद्यथा कल्याणकयात्रा विधेया देवप्रभुप्रभृतिप्रवर्तितेयं, यत इति बहुमानः पक्वपातो, भवति जायते, कर्त्तव्यो विधेयो, न तु मोहोपहतसत्त्वनिदर्शनेषु यथा यथाऽमुनाऽमुना वाऽस्मत्पितृपितामहादिनाऽन्येन चेदं विहितमिति विधेयमिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

अधिकृतयात्रागतमेवोपदेशान्तरमाह—

एसा उत्तमजत्ता, उत्तमसुवणिण्णाया सइ बुहेहिं ।

सेसा य उत्तमा खल्लु, उत्तमरिद्धिं कायव्वो ॥ ४५ ॥

एसाऽनन्तरोक्ता कल्याणकयात्रा उत्तमयात्रा प्रधानयात्रा, तदन्यस्याः का वाच्येत्याह—उत्तमश्रुतवर्णिता प्रधानागमामिहिता या सा, शेषा च कल्याणकव्यतिरिक्ताऽपि, उत्तमा खल्लु प्रधानैवाऽत्तमश्रुतवर्णिता तु, लोकवृद्धिता तु नेति । अतश्चोत्तमत्वात्सदा बुधैर्विद्वद्भिश्च उत्तमार्था प्रधानविज्ञवेन, न यथाकथंचित्कर्तव्या विधेयेति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

उक्तव्यतिरेके यदापद्यते तदाह—

इयरा वाऽवहुमायोऽवस्था य इमीए णिउणवुद्धीए ।

एयं विचितियव्वं, गुणदोसविहावणं परमं ॥ ४६ ॥

इतरथाऽन्यथा उत्तमार्था तदकरणे । अथोत्तमयात्राया अकरणे तत्र यात्राविशेषाजिघासके उत्तमश्रुते उत्तमनिदर्शनेषु वा बहुमानः प्रीतिस्तद्वहुमानस्तत्प्रतिषेधोऽतद्वहुमानः स भवति । तदुक्तयात्राविशेषस्याकरणान् तथाऽवज्ञा आवधारणा च कृता भवति । अस्यामुत्तमयात्रायामिति निपुणयुक्ता सूक्ष्मधिया । एतदनन्तरोक्तमनर्थद्वयं विचिन्तयितव्यं परिज्ञावनयिम्, यतो गुणदोषविज्ञावनमर्थानर्थान्नोचनं सर्वस्यानुष्ठानस्य परमं प्रधानम्, ततः प्रवृत्तिनिवृत्तिभावादिति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

उत्तमश्रुतोक्तयात्राऽवज्ञानेन लोकवृद्धेर्वात्ताकरणमयुक्तमिति—
दर्शयन्नाह—

जेहम्मि विज्जमाणे, उच्चिय अणुजेदुपूयणमजुत्तं ।

लोगाहरणं च तद्दा, पयमे जगवत्तवयणम्मि ॥ ४७ ॥

ज्येष्ठे वृद्धतरे पुत्राद्यपेक्षया पित्रादौ विद्यमाने सति उचिते निर्दोषत्वेन पूजायोग्ये, अनुज्येष्ठस्य ब्रह्मोः पुत्रादेः, पूजनं सत्कारोऽयुक्तमसंगतम्, यथेति शेष इति दृष्टान्तः । दार्ष्टान्तिकमाह—(लोगाहरणं च) लोकोदाहरणमपि पित्राद्युद्देशेनामुष्मिन्वा मासादौ अमुना च क्रियते यात्राऽतस्तथैव सा नो विधेयेत्येवं लक्षणं, तथा तद्वदयुक्तमेवानुज्येष्ठपूजनवत्, प्रकटं स्पष्टं भगवद्वचने जिनागमे सकलजगज्जनज्येष्ठे सतीति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

अयुक्तत्वमेव लोकोदाहरणस्य भावयन्नाह—

लोगो गुरुतरुगो खल्लु, एवं सति जगवतो विइहोत्ति ।

मिच्छत्तमो य एयं, एसा आसायणा परमा ॥ ४८ ॥

लोक एव सामान्यजन एव, गुरुतरुको गरीयान् । खल्लुवधारणे, तस्य च दर्शित एव प्रयोगः । एवमुक्तनीत्या, जगवद्वचनसद्भावेऽपि लोकप्रमाणीकरणलक्षणे वस्तुनि सति, भगवतोऽपि सकलजगज्ज्येष्ठजिनादपि सकाशादिष्टोऽभिमतः । इतिः समाप्तौ । ततः किमित्याह—मिथ्यात्वं मिथ्यादृष्टित्वम् । ओकारो निपातः पूरणार्थः । चक्षब्दः पुनरर्थकः । एतद्भगवदपेक्षया लोकस्य गुरुतरत्वाभिगमनं विपरीतबोधत्वात्, तथा एषा लोकस्य गुरुतरत्वाभिगमनलक्षणा, आशातना सर्वज्ञावमानना, परमा प्रकृष्टा, अनन्तसंसारवेदित्यर्थः । सर्वज्ञवचनमेव प्रमाणतयाऽङ्गीकर्त्तव्यम् । लोकस्तु तद्विरुद्धानुष्ठान एवेति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

अथ सर्वज्ञमुपदेशमाह—

इय अस्सत्थ वि सम्मं, णाउं गुरुझाघवं विससेण ।

इष्टे पयद्वियव्वं, एसा खल्लु जगवतो आणा ॥ ४९ ॥

इत्येवं कल्याणकयात्रावत्, अन्यत्रापि यात्राव्यतिरिक्ते दानादावपि, सम्यगवैपरीत्येन, ज्ञात्वा विज्ञाय, गुरुझाघवं सारेतरत्वं, विशेषेण परस्पररोपक्षयाऽधिक्येन, इष्टेऽभिगते वैयावृत्यादौ, प्रवर्तितव्यं यतितव्यं, यत एषा खल्लु इयमेवानन्तरोक्तभगवतो जिनस्याज्ञा आदेश इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

अथोपसंहरन्नाह—

जत्ताविहाणमेयं, एणउणं गुरुमुहाउ धीरेहिं ।

एवं वि य कायव्वं, अविरहियं भत्तिमतेहिं ॥ ५० ॥

यात्राविधानं जिनोत्सवविधिः, एतदनन्तरोक्तं ज्ञात्वा विज्ञाय, गुरुमुखात् सुरिवदनाद्, धीरैर्धौमिन्द्रिः, (एवं वि य चि) एवमेवोक्तविधिनैव, कर्त्तव्यं विधेयम्, अविरहितं सन्ततं भक्तिमद्भिर्बहुमान-

माणानि वर्द्धमानस्य महावीरजिनस्य भवन्तीति गाथार्थः ॥३३॥
तान्येवाह-

आसादमुद्वट्टी, चेत्ते तह सुच्छतेरसी चेव ।

मगसिरकिहदसमी, वडसाहे सुच्छदसमी य ॥ ३४ ॥

कसियकिहरे चरिमा, गम्भाइदिणा जहकमं एते ।

इत्युत्तरजोएणं, चउरो तह सातिणा चरमो ॥ ३५ ॥

आपादशुक्लपट्टी आपादभासे शुक्लपक्वस्य पट्टी तिथिरित्येकं दिनम् । एवं चैत्रभासे । तथेति समुच्चये । शुक्लत्रयोदश्येवेति द्वितीयम् । चैत्येवधारणे । तथा मार्गशीर्षकृष्णदशमीति तृतीयम् । वैशाखं शुक्लदशमीति चतुर्थम् । चशब्दः समुच्चयार्थः । कार्तिककृष्णे चरमा पञ्चदशीति पञ्चमम् । पतानि किमित्याह-गर्भादिदिनानि गर्भजन्मनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणदिवसाः, यथाक्रमं क्रमेणैव, एतान्यनन्तरोक्तानि, एषां च मध्ये हस्तोत्तरयोगेन हस्त उत्तरो यामां हस्तोपप्लवित्वा वा उत्तरा हस्तोत्तरा उत्तराफाल्गुन्यः तामिर्योगः संबन्धश्चस्यति हस्तोत्तरायोगः, तेन करणभूतेन, चत्वार्याद्यानि दिनानि भवन्ति । तथेति समुच्चये । स्वातिना स्वातिनक्षत्रेण युक्तः । (चरमो चि) चरमकल्याणक-दिनमिति, प्रकृतत्वादिति गाथाद्वयार्थः ॥ ३४-३५ ॥

अथ किमिति महावीरस्यैवैतानि दर्शितानीत्यत्राह-

अधिगयतित्यविहाया, भगवं ति णिदंसिया इमे तस्स ।

मेसाण वि एवं वि य, णियणियतित्येसु विक्षेया ॥ ३६ ॥

अधिगन्तव्यविधाता वर्द्धमानप्रवचनकर्ता, भगवान्महावीर इति, हेतोर्निर्दिष्टतान्युक्तानि, इमानि कल्याणकदिनानि, तस्य वर्द्धमानजिनस्य, अथ शेषाणां तान्यतिविशद्वाह-शेषाणामपि, न वर्द्धमानस्यैव। रूपभादीनामपि, वर्द्धमानायसर्पिणीभरतकेशा-पेक्षया एवमेवैव तीर्थं वर्द्धमानस्यैव, निजनिजतीर्थेषु स्वकी-यप्रवचनावसरेषु, विक्षेयानि ज्ञातव्यानि, मुख्यवृत्त्या विधेयतयेति। इह च यान्येव गर्भादिदिनानि जम्बूद्वीपजरतानामृपजादिजिनानां तान्येव सर्वभरतानां सर्वैरावतानां च, यान्येव एतेषामस्यामवस-र्पिण्यां तान्येव च व्यत्ययेनोत्सर्पिण्यामपीति गाथार्थः ॥ ३६॥

अथ किमेवं कल्याणकेषु जिनयात्रा विधीयत इत्याह-

तित्यगरे बहुमाणो, अन्नासो तह य जीतकप्पस्स ।

देविदाद्यणुकित्ती, गंभीरपक्खणा होए ॥ ३७ ॥

वसो य पवयणस्सा, इय जत्ताए जिणाण णियमेण ।

मग्गाणुसारिभावो, जायइ एत्तो ज्वि य विसुच्छो ॥३८ ॥

तीर्थकरे जिनविषये, बहुमानः पक्वपातः तद्विदं विदं यत्र भग-वान् अजनीत्यादि विकल्पितः कृतो भवतीति सर्वत्र गम्य-मिति । यात्रयेत्यनेन योगः । तथेति वाक्योपप्लवार्थोऽत्र द्रष्ट-व्यः । अज्यासोऽज्यसनम् । चशब्दः समुच्चये । जितकप्पस्य पूर्वपुरुषाचरितलक्षणाचारस्येति । तथा देवेन्द्राद्यनुकृतिः दे-वाधिपदेवदानप्रवृत्त्याचारानुकरणम् । तथा गम्भीरप्ररूपणा गम्भीरं सामिप्रायमिदं यात्राविधानं न यादृच्छिकमित्यस्य प्ररू-पणा प्रकाशना गम्भीरप्ररूपणा कृता प्रवर्ततीति, तथा होके जनमध्ये; वर्षः प्रसिद्धिर्जायत इति योगः । चशब्दः समुच्चये । कस्य ? प्रवचनस्य जिनशासनस्य, दीर्घत्वं प्राकृतत्वादिति । या-त्रया अनन्तरोक्तविधानोत्सवेन, क्रियमाणयेति गम्यम् । केपाम् ? जिगानां शीतरागाणां, नियमेन नियोगेन, (एत्तोव्वि य चि) यत

एव कल्याणकयात्रया तीर्थकरबहुमानादिकं कृतं भवत्यत एव हेतोर्मागानुसारिभावो मोक्षपथानुकूलाभ्यवसाय आगमानुसारी वा, जायते प्रवर्तते । असौ किंभूतः ? विशुद्धोऽनवद्यः । स्वतो विशु-द्धोऽसौ जायते, विशुद्धशीत्यर्थ इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३७-३८ ॥

यद्यसौ जायते ततः किमित्याह-

तत्तो सयलसमीहिय-सिच्छी णियमेण अविकलं जं से ।

कारणमितीए भणित्तो, जिणेहिं जियरागदोसेहिं ॥३९॥

ततो विशुद्धमागानुसारिभावस्तिकलसमीहितसिद्धिर्निष्-लोप्सितार्थनिष्पत्तिर्नियमेन नियोगेन, कुतः पुनरेतदित्याह-अ-विकलमवन्ध्यं यद् यस्मात्कारणं हेतुः, अस्याः सकल-समीहितसिद्धेरभणितोऽभिहितो, जिनैरर्हद्भिः । जिनाश्च नाम-जिनादयोऽपि भवन्तीत्यत आह-जितरागद्वेषविगतासत्यवा-दकारणैरित्यर्थ इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

अथ कथमसौ मार्गानुसाराभावः सकलसमीहितसिद्धेः कार-णं भणित इत्यत्रोच्यते, शुभचेष्टानिमित्तत्वेन, एतदेव दर्श-यन्नाह-

मग्गाणुसारिणो खड्डु, तत्ताभिणिवेसत्तो मुत्ता चेव ।

होइ समत्ता चेद्धा, असुभा वि य णिरणुवंधत्ति ॥४०॥

मार्गानुसारिणो मोक्षपथानुकूलभावस्य जीवस्य, खलुवाक्या-लङ्घने, शुभैव चेष्टेति संयन्धः । कुत एवमित्याह-तत्ताभिनिवे-शतो वस्तुस्वरूपनिर्णीपातिशयात्, शुभैव प्रशस्तैव, नेतरा । चैवशब्दोऽवधारणार्थः । भवति जायते, समस्ता निःशेषा, चे-ष्टा क्रियाऽशुभा । किं सर्वथा न भवतीत्यस्यामाशङ्कयामाह-अशुभाऽपि चाप्रशस्ताऽपि च । चेष्टेति वर्त्तते । अपि चेति समुच्चये । भवति केवलं निरनुबन्धा अनुबन्धनरहिता-पुनः पुनरभाविनीत्यर्थः । इतिशब्दः समाप्तविति गाथार्थः ॥४०॥

कुतो निरनुबन्धा सेत्याह-

सो कम्मपारतंता, वट्ठ तीए ण जावओ जम्हा ।

इय जत्ता इय वीयं, एवंभूयस्स जावस्स ॥ ४१ ॥

स मार्गानुसारी जीवः कर्मपारतन्त्याच्चारिभोहनीयक-मवशादेव, वर्त्तते प्रवर्त्तते, तस्यामशुभचेष्टार्था, न भावतो न पुनर्भावेनान्तःकरणेन तत्ताभिनिवेशादेव यस्मात्कारणात्त-स्माद् निरनुबन्धेति प्रकृतमिति । कल्याणकयात्राफलनिगम-नायाह-इति यात्राऽनन्तरोक्तकल्याणकजिनोत्सव इत्युक्त्या-येन शुभचेष्टाहेतुलक्षणेन बीजं कारणम्, एवंभूतस्यानन्तरो-क्तस्य सकलसमीहितसिद्धिकारणस्य, भावस्य मार्गानुसारि-परिणामस्य, पूर्वोक्तस्येति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

उत्सवविशेषस्यान्यस्यापि कल्याणकदिनेष्वेव वि-धेयतां दर्शयन्नाह-

ता रहणिकत्वमणादि वि, एतेसु दिसे पनुच कायव्वं ।

जं एसो ज्वि य विसत्तो, पहाणमो तोए किरियाए ॥४२॥

तदिति यस्मात्तीर्थकरबहुमानादयोऽनन्तराभिहितगुणाः क-ल्याणकदिनेषु जिनयात्रायां भवन्ति, तस्माद्रथस्य जिनवि-म्बाधिष्ठितस्य स्यन्दनस्य, जिनगृहाभिष्क्रमणं निर्गमो नगरप-रिभ्रमार्थं रथनिष्क्रमां तदाद्यपि तत्प्रभृतिर्कर्म, आदिश-

तन्निस्तरणकममुपपद्यन्तं कुर्वते, यत पते दोषाः, अतो निष्कारणे न प्रवेष्टव्यमनुयानमिति स्थितम्, कारणेषु च समुत्पत्तेषु प्रवेष्टव्यं, यदि न प्रविशति तदा चत्वारो लघवः ।

कानि पुनस्तानीत्युच्यते-

चेड्यपूया राया-निर्गतं सन्नि वाइ धम्मकहा ।

संकिय पत्त पभावण, पवित्ति कज्जाइ उडाहो ॥

अनुयानं गच्छता चैत्यपूजा स्थिरीकृता भवति; राजा वा कश्चिदनुयानमहोत्सवकारकः संप्रतिनरेन्द्रादिवत् तस्य निमन्त्रणं भवति, संज्ञी श्रावकः, स जिनप्रतिष्ठायाः प्रतिष्ठापनां चिकीर्षति, तथा वादी कृपको, धर्मकथा च तत्र प्रभावनार्थं गच्छति, शङ्कितयोश्च सुत्रार्थयोस्तत्र निर्णयं करोति, पात्रं वा तत्राव्यवाञ्छितिकारकं प्राप्नोति, प्रभावना वा राजप्रव्रजितादिभिस्तत्र गतैर्भवति, प्रवृत्तिश्चाचार्यादीनां कुशलवार्त्सारूपा तत्र प्राप्यते, कार्याणि च कुलादिविषयाणि साधयिष्यन्ते । उडाहश्च तत्रगतैर्निवारयिष्यते । इत्येतैः कारणैर्गन्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः ।

अथ विस्तरार्थं विजगिषुश्चैत्यपूजाराजनिमन्त्रणद्वारे विवृणोति-

सम्ढाबुद्धी रणो, पूयाए धिरत्तणं पभावणं ।

पनिघातो य अणत्थे, अत्था य करावई तित्थे ॥

कोऽपि राजा रथयात्रामहोत्सवं कारयितुमनास्तन्निमन्त्रणे गच्छद्भिः तस्य राज्ञः श्रद्धाबुद्धिः कृता भवति, चैत्यपूजायां स्थिरत्वं, प्रभावना च तीर्थस्य संपादिता प्रवति, ये च जैनप्रवचनप्रत्यनीकाः शासनावर्णवादमहिमोपघातादिकमनर्थं कुर्वन्ति, तस्य प्रतिघातः कृतो भवति, तीर्थे च आस्था स्वपरपक्षयोरादरबुद्धिरुत्पादिता प्रवतीति ।

अथ संज्ञिद्वारं चाह-

एमेव य सन्नीए वि, जिणाए पणिमासु पढमपड्डवणे ।

मा परवाई विग्घं, करिज्ज वाई अओ विसई ॥

संज्ञिनः श्रावकाः केचित् जिनानां प्रतिमासु प्रथमतः (पठवणं चि) प्रतिष्ठापनं कर्तुकामाः, तेषामप्येवमेव, राज इव श्रद्धाबुद्ध्यादिकं कृतं भवति, तथा मा परवादी प्रस्तुतोत्सवस्य विघ्नं कार्षादतो वादी प्रविशति ।

परवादिनिग्रहे च क्रियमाणे गुणानुपदर्शयति-

नवधम्माण धिरत्तं, पभावणा सासणे य बहुमाणो ।

अभिगच्छन्ति य विदुसा, अविग्यपूया य सेयाए ॥

नवधर्मिणामभिनवश्रावकाणां स्थिरत्वं स्थिरीकरणं, शासनस्य च प्रभावना भवति । यथा आह-“प्रतिपत्तिपारमेश्वरं प्रवचनं यत्रेदशा वादद्विधसंपन्ना” इति । बहुमानश्चान्येषामपि शासने भवति, तथा च वादिनमभिगच्छन्ति अभ्यायान्ति विद्वांसः सहृदयाः तद्वादिनः कौतुकाकण्टचिच्छाः, तेषां च सर्वविरत्यादिप्रतिपत्त्या महान् हानो भवति, परवादिना च निगृहीतेन अविघ्नं निष्पत्यहं पूजा कृता सती स्वपक्षपरपक्षयोरिह परत्र च श्रेयसे भवति ।

अथ कृपकद्वारमाह-

आयावैति तवस्सी, ओभावना गया परपवाईण ।

जइ एरमा वि महिमं, उविति कारिति सद्धा यं ॥

तत्र तपस्विनः पष्ठाष्टमादिकृपका आतापयन्ति, ततश्चापमा-

वना द्वाघवं परप्रवादिनां परतीर्थिकानां भवति, तेषां मध्ये ईदृशानां तपस्विनामज्ञायात् । श्रद्धाश्चित्तयन्ति-यदि तावदीदृशा अपि जगवन्तोऽस्माजिः क्रियमाणां महिमां चैत्यपूजां कृत्तुमायान्ति, तत इत ऊर्ध्वं विशेषतः पतस्यां यत्नं विधास्याम इति प्रवर्तमानश्रद्धाका महिमां कुर्वन्ति कारयन्ति च ।

अथ काथिकद्वारमाह-

आयपरसमुत्तारो, तित्थविवद्धी य होइ कहयंते ।

अन्नानाभिगमणे य, पूयाधिरया य बहुमाणो ॥

क्षीराश्रवादिलब्धसंपन्न आक्षेपणीविक्षेपणीसंवेगजनीनिर्वेदनीज्जेदाश्चतुर्विधां धर्मकथां कथयन् धर्मकथेत्युच्यते । तस्मिन् धर्मे कथयति आत्मनः परस्य च संसारसागरात् समुत्तारो निस्तरणं भवति, तीर्थे विवृच्छि भवति, प्रभूते लोकस्य प्रव्रज्याप्रतिपत्तेः । तथा देशानादरेण पूजाफलमुपवर्णयान्यान्याभिगमने अन्यान्यश्रावकबोधने च पूजायां स्थिरता बहुमानश्च कृतो भवति ।

अथ शङ्कितपात्रद्वारे व्याख्याति-

निस्संकियं च काहिइ, उज्जए जं संकियं सुयहरे वि ।

अह वोच्छित्तिकरं वा, दग्धिमात्ति पत्तं दुपक्खाओ ॥

उज्जये सूत्रे अर्थे च, यत्तस्य शङ्कितं तत्तत्र भुतधरेण्यः पार्श्वान्निःशङ्कितं करिष्यति । अथ व्यवच्छित्तिकरं वा पात्रं द्विपक्वात् लप्स्यते । द्वौ पक्वौ समाहृतौ द्विपक्वम्, गृहस्थपक्षः संयतपक्षश्चेत्यर्थः ।

अथ प्रभावनाद्वारमाह-

जाइकुलरुवधणवल-संपन्ना इह्मिंत निक्खंता ।

जयणाजुत्तो य जई, समेच्च तित्थं पभाविंति ॥

जातिर्मातृकपक्षः, कुलं पैतृकपक्षः, रूपमाकृतिः, धनं गणिमधरिममेयपारिच्छेद्यजेदाश्चतुर्धा भवति । प्रभूतं गृहस्थावस्थाया-मासीत्, यत्नं सहस्रयोधिप्रभृतीनामिव सातिशयं शारीरवीर्यम्, एतैर्जात्यादिभिर्गुणैः संपन्नाः, ये च ऋद्धिमन्तः निष्क्रान्ता राजप्रव्रजितादयो, ये च यतनायुक्ता यथोक्तसंयमयोगकलितायतयः, ते समेत्य तत्रागत्य तीर्थं प्रजावयन्ति ।

अपि च-

जो जेण गुणेण हिओ, जेण विणा वा न सिज्जए जं तु ।

सो तेण तंमि कज्जे, सव्वत्थाणं न हावेइ ॥

य आचार्यादियेन प्रावचनिकत्वादिना गुणेनाधिकः सातिशयः, येन वा विद्यासिद्ध्यादिना विना यत्प्रवचनं प्रत्यनीकशिक्षणादिकार्यं न सिद्ध्यति, स तेन गुणेन तस्मिन् कार्ये सर्वस्थानं सकलमपि वीर्यं न हापयति, किं तु सर्वथा शक्त्या तत्र गत्वा प्रवचनं प्रजावयतीति ज्ञावः । उक्तं च-“प्रावचनी धर्मकथा, वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च । जिनवचनज्ञश्च कविः, प्रवचनमुद्गावत्येते” ॥

प्रवृत्तिद्वारमाह-

साहम्मिवायगाणं, खेमसिवाणं च लब्धिं पवित्ति ।

गच्छिहिंति जाहिं तीई, होहिंति न वा वि पुच्छति सो ॥

तत्रान्येषां साधर्मिकाणां चिरदेशान्तरगतानां वाचकानां वा आचार्याणां तत्र प्राप्तः प्रवृत्तिं लप्स्यते, तथा क्लेमं परचक्रा-दुपप्लवाभावः, शिवं व्यन्तरकृतोपप्लवाभावः, तयोरुपलक्षणत्वात् सुभिक्षदुर्भिक्षादीनां चागामिसंवत्सरमाविनां प्रवृत्तिं

वक्षिरिति गार्थः ॥ ५० ॥ इति यात्राविधिप्रकरणं विवरणतः समाप्तम् । पञ्चा०६ वि००१ (अथानुयाने यथा साधवोऽकल्पं परिहरन्ति तथा 'पक्षणा' शब्दे तृतीयजने ७० पृष्ठे दर्शयिष्यते)

अथानुयानविषयो विधिरूप्यते—

आणाइणो य दोसा, विराहणा होइ संजमप्पाए ।

एवं ता वचन्ते, दोसा पत्ते अणेमविहा ॥

निष्कारणेऽनुयानं गच्छत आह्लादयश्च दोषाः, विराधना च संयमात्मनो प्रवर्तते । एवं तावद् व्रजतो मार्गे दोषाः, तत्र प्राप्तानां पुनरनेकविधा दोषाः ।

तत्र संयमात्मविराधनां भावयति—

महिमा उस्सुयजूए, इरियादीं न य विसोइए तत्थ ।

अप्पा वा काया वा, न सुत्तं नेव पम्मितेहणा ॥

महिमा नाम प्रगद्यतः प्रतिमायाः पुष्पांरोपणादिपूजात्मकः सातिशय उत्सवः, तस्य दर्शनार्थमुत्सुकभूत ईर्यादिसमितिर्न विशोधयति । आदिशब्दादेपणादिपरिग्रहः । तत्र चर्यादिनामशोधने आत्मा च कायाश्च विराध्यन्ते । आत्माविराधना कपटक-स्याव्याघुपघातेन, संयमविराधना पक्षां कायानामुपमर्दादिना, तथा त्वरमाणत्वादेव न सूत्रं गुणयति, उपलक्षणत्वादेर्य च ना-नुपेक्षते, नैव प्रतिलेखनां वस्त्रपात्रादेः करोति, मधवा अफाले-ऽविधिना स करोति । एवमेव मार्गे गच्छतां दोषा अभिहिताः ।

अथ न तत्र प्राप्तानां ये दोषास्तानभिधित्सुद्वारगायामाह—

वेइय आहाकम्मं, उगमदोसा य सेह इत्थीओ ।

नारुगसंफासणतं-तुत्तुडुनिष्कम्मकजा य ॥

चैत्यानां स्वरूपं प्रथमतो वक्ष्यं, तत आचार्कम्, तत उन्नम-दोषाः, ततः शैक्षाणां पार्श्वस्थेषु गमनं, ततः स्त्रीदर्शनसमुत्था दोषाः, ततो नाटकाद्यलोकनप्रभवः, ततः संस्पर्शनसमुत्थाः, तदनन्तरं तन्तवः कोलिकजालं तद्विषयाः, तदनु (सुदु चि) पार्श्वस्थादिक्कुलकदर्शनसमुत्थाः, ततो निर्धर्मणां लिङ्गानां यानि कार्याणि तदुत्थिताश्च दोषा वक्ष्यन्ते । इति द्वारगाथासमा-सार्थः । ५० १ ७० । (चैत्यव्याख्या 'वेइय' शब्दे द्रष्टव्या) (यसतिविषयमाचारकर्म 'आचारकम्म' शब्दे चि० भागे ३३० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

अथोन्नमदोषशैक्षद्वारद्वयमाह—

उविण संखोनादी, दुसोहया होति उगमे दोसा ।

वदिज्जंते दड्डु, इयरे सेहा तहिं गच्छे ।

वहवः संयताः समायाता इति कृत्वा धर्मश्रद्धावान् लोकः संयतार्थं स्थापितं भक्तपानादेः स्थापनां कुर्यात् । गृहमाग-तानामक्षेपेणैव वास्याम इति कृत्वा (संज्ञोम चि) यानि गृहाणि साधुनिरनेपणीयदाने अशङ्कनीयानि तेषु शाल्योदनतण्डुल-आवनादिकं भक्तपानं, मोदकशोकवर्त्तिप्रभृतीनि वा आचक-विधानानि निक्षेपेयुः, साधूनामागतानां दातव्यानीति । आदि-शब्दात् क्रीतकृतप्रावृत्तिकादिपरिग्रहः । एते उन्नमदोषाः, तत्र कुशोभ्या दुष्परिहायां भवन्ति; तथा इतरान् पार्श्वस्थादीन् व-हुजनेन वन्द्यमानान् पूज्यमानांश्च दृष्ट्वा शैक्षास्तत्र पार्श्वस्था-दिषु गच्छेयुः ।

स्त्रीनाटकद्वारद्वयमाह—

इत्थी विउव्विया वि हु, चुत्तायं दड्डु दोसाओ ।

एमेव नाटईया, सविग्गमा नव्विगीयाए ।

स्त्रीः विकुर्विता वस्त्रविद्येपनादिनिरलङ्घिताः दृष्ट्वा भुक्तानां दोषाः स्मृतिकौतुकप्रजवाः प्रवन्ति । एवमेव नाटकीया नाट्ययोषितः, सविज्रमाः सविद्यासाः, नर्तितगीतयोः प्रवृत्ता विलोक्य, भुत्वा च लुक्काभुक्तसमुत्था दोषा विज्ञेयाः ।

संस्पर्शनद्वारमाह—

इत्थिपुरिसाण फासे, गुरुगा दड्डुगा सई य संघटे ।

अप्पासंजमदोसा—ऽणुभावरणं पच्छकम्मादी ।

समवसरणे पुष्पांरोपणादिकौतुकेन भूयांसः स्त्रीपुरुषाः समा-याग्वि, तेषां संमर्देन स्पर्शां प्रवर्तते, ततः स्त्रीणां स्पर्शं चत्वारो गुरुवः, पुरुषाणां स्पर्शं चत्वारो लघवः, स्मृतिश्च संघटे लुक्कमो-गिनां भवति, चशब्दादलुक्कमोगिनां कौतुकम् । आत्मसंयमवि-राधनादोषाश्च प्रवन्ति । आत्मविराधना संमर्दे सति इस्तपा-दाद्युपघातः संयमविराधना संमर्दे पुथिव्यां प्रतिष्ठिता पदकाया नावबोध्यन्ते, न च परिहर्तुं शक्यन्ते) अनुजावणपच्छकम्मा-दी चि) साधुना कोऽपि शौचवादी पुरुषः स्पृष्टः संस्नायात्, संस्नानं निरुद्ध्यपरः पृच्छति-किमर्थं स्नासीति ? स ग्राह-सं-यतेन स्पृष्ट इति । एवं परम्परया साधूनां अनुपेक्षोपजायते—यथा 'अहो ! मन्त्रिना एते' एवमनुभायना, पश्चात्कर्म च भवति (आ-दिशब्दादसंस्पर्शादयो दोषाः ।

अथ तन्तुद्वारमाह—

झ्याकोलिंगजाद्वग—कोत्थलकारीए उवरि मेहे य ।

सान्तिमसार्पिते, लहुगा गुरुगा अन्नचीए ॥

असंभार्यमाणे चैत्ये भगवत्प्रतिमाया उपरिष्ठादेता नाम भ-वेयुः, दृता नाम कोलिकपुटकानि । कोलिकजालकानि तु जा-लकाकाराः कोलिकानां झालातन्तुसंतानाः, कोत्थलकारी ज्रम-री, तस्याः संवन्धि गृहोपरि जवेत् । यद्येतानि दृतादीनि शाटय-ति तदा चत्वारो लघवः । अथ न शाटयति ततो भगवतां ज-क्तिः कृता न प्रवर्तते, तस्यां चान्नकर्त्ता चत्वारो गुरुकाः ॥

अथ कुल्लकद्वारं, निर्धर्मकायचारं च व्याख्यानयति—

घडाइ इयरखुडे, दड्डु ओगुंठिया तहिं गच्छे ।

उकुडभरधणाई, ववहारा चव ति लिंगीण ॥

जिंदतस्स अणुमई, अमिज्जंत अजिंद उक्खित्तवणा ।

झिदाणि य पेहंती, नेव य कजेसु साहिज्जं ॥

इतरे पार्श्वस्थास्तेषां ये कुल्लका घृष्टा, आदिग्रहणाद् 'महासु-लेष्टा पंशुरपरुषाञ्जरण' इत्यादि, तानित्यंभूतान् दृष्ट्वा संविग्न-कुल्लका अवगुणित्वा महद्विग्नदेहाः परिजग्नाः सन्तः, तत्र तेषां विङ्किनामन्तिके गच्छेयुः, तेषां च तत्र मिलितानां परस्परमुत्कृष्ट-गृहधनादिविषया व्यवहारा विधादा उपढौकते, ते च व्यवहार-च्छेदनाय तत्र संविग्नान् आकारयन्ति, ततो यदि तेषां व्यवहा-रश्चिद्यते तदा भवति स्फुटस्तेषां गृहधनादिकं ददतः साधो-रनुमतिदोषः । उपलक्षणमिदम्, तेन येषां यद् गृहधनादिकं न दीयते तेषामप्रीतिकप्रद्वेषगमनादयो दोषाः । अथ विङ्किनामे-तद्दोषजन्यात् प्रथमत एव न मिलन्ति, न वा व्यवहारपरिच्छे-दं कुर्वन्ति, तत उत्क्षेपणा उद्घाटना साधूनां भवति, संघाटाद्-हिष्करणमित्यर्थः । विङ्काणि च दूषणानि, ते आकारिताः सन्तः साधूनां प्रेक्षन्ते, नैव च तेषां कार्येषु राजद्विष्टान्तत्वादिषु साहाय्यं

इतरे असंविज्ञा देवकुलिका इत्यर्थः, तान् तन्तुजालवृताकोलि-
कादिषु सत्सु, ते साधवो नोदयन्ति-यथा शीलयत परिकर्मयत
मह्वफलकानीव मह्वफलकानि । मह्वो नाम चित्रफलकज्यग्रहस्त-
स्तस्य च यदि फलकमुज्ज्वलं भवति, ततो लोकः सर्वोऽपि तं
पूजयति । एवं यदि भूयमपि देवकुलानि भूयो भूयः संमार्जना-
दिना सम्यगुज्ज्वलयत, ततो भूयान् लोको जवतां पूजासत्कारं
कुर्यात् । अथ ते देवकुलिकाः सवृत्तिकाश्चेत्यप्रतिवरुगृहकैजा-
दिवृत्तिभोगिनस्ततस्तानभियोजयन्ति निर्जर्त्सयन्ति-यथा एकं
तावदेवकुलानां वृत्तिमुपजीवय द्वितीयमेतेषां संमार्जनदिसारा-
मपि न कुर्वथ । इत्थं युक्ता अपि यदि तन्तुजालादीन्यपनेतुं नेच्छ-
न्ति ततो अदृश्यमानाः स्वयमेव स्फोटयन्ति, अपनयन्तीत्यर्थः ।

कुलकविपरिणामसंभवे यतनामाह-

उज्जलवेसे खुड्डे, करिति उव्वट्टणाइ चोक्खे य ।

नो मुच्चंतस्सहाए, दिति मण्णे य आहारं ॥

कुलकान् उज्ज्वलवेसान् पाण्डुरपट्टचोलपट्टधारिणः उद्वर्त्तन-
प्रकाशनादिना च चोक्कान् शुचिशरीरान् कुर्वन्ति । न च ते कु-
लका असहाया एकाकिनो मुख्यन्ते, वृषभाश्च तेषां मनोज्ञान्
स्निग्धमधुरानाहारानानीय ददति । उरध्वदृष्टान्तेन च प्रज्ञाप-
यन्ति । वृ० १ उ० । (स च दृष्टान्तः ' उरध्व ' शब्दे द्वि० ज्ञा०
७५१ पृष्ठे वक्ष्यते)

अथ निर्द्धर्मकार्येषु यतनामाह-

न मिद्वंति झिगिकजे, अत्यंति च मेझिया उदानीणा ।

विंति य निव्वंधम्मि, करेसु तिन्वं खु जे दंनं ॥

यत्र झिङ्गिनामाकृष्टगृहधनादिकार्येषुपटौकन्ते तत्र प्रथमत
एव न मिलन्ति । अथ तैर्वेलाद् मोटिकया मील्यन्ते ततो मेलिता
अप्युदासीना आसते । अथ ते सुवीरन्-कुस्तस्मदीयस्य व्यव-
हारस्य परिच्छेदम् । तत एव निर्द्धर्मे तैः क्रियमाणे साधवो भवते-
यद्यस्माकं पार्श्वे व्यवहारपरिच्छेदं कारधिष्यथ तत उभयेपा-
पामपि भवतां तीव्रदण्डमागमोक्तप्रायश्चित्तवृत्तं कुर्मः क-
रिष्याम इति ।

' शब्दानिगमादी ' इति पदं व्याख्यानयति-

अप्पाणिगयादी, ठाण्पाइयमहंसवो कुणगो ।

गेलन्नसत्थवसगा, महानई तत्तिया वा वि ॥

अध्वनिर्गता अध्वानमतिलङ्घ्य सहसैव तत्र प्राप्ताः । आदिश-
ब्दादन्यदप्येवंविधं कारणं गृह्यते, स्थानोत्पातिकमहोत्सवं
नाम तत्रापूर्वः कोऽप्युत्सवविशेषः, सहसैव आर्द्धं कर्तुमारब्धः
तं वा श्रुत्वा, यदि वा क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितुं प्रेष्यन्ते, तदानीं ग्वाना-
ग्वानप्रतिचरणव्यापृता वा । अथवा सार्थवशगास्ते तत्र सार्थ-
मन्तरेण गन्तुं न शक्यन्ते । महानदी वा काचिद्वान्तराले, ताम-
भीक्ष्णमुत्तरतां बहवो दोषाः, तावन्मात्रा एव वा ते साधवो
यावतां मध्यादेकस्याप्यन्यत्र प्रेषणं न संगच्छते, अत एतैः कार-
णैरप्रत्युपेक्षितेऽपि प्रविशतां न कश्चिदोपः ।

अत्र यतनामाह-

समण्णना सह अन्ने, वि दड्डिउं दाणमाइ वज्जंति ।

दव्वाई पेहंता, जइ दग्गंती तहवि सुप्पा ॥

यदि समनोक्षाः सांभोगिकाः पूर्वप्रविष्टाः सन्ति ततस्तैः सह
जिक्कामटन्ति । अथ न सन्ति समनोक्षास्ततोऽन्यानप्यन्यसांभो-
गिकानपि दृष्ट्वा दानआर्द्धकादिकुलानि वर्जयन्ति ते, आघाकमां-

दिदौपसंजवात् । शेषेषु कुलेषु पर्यटन्तो (दध्वादीं पेहंत स्ति)
रुच्यतः क्षेत्रतः कावतो जावतश्च शुरुमन्वेपयन्तो, यद्यपि कि-
मपि स्थापनादिकं दौपं दग्गन्ति प्राप्नुवन्ति, तथा शुद्धाः कृप-
कवदशतपरिणामतया श्रुतज्ञानोपयोगप्रवृत्तत्वादिति । गतं परि-
हरणानुयानद्वारम् । वृ० १ उ० ।

अणुजाणण-अनुज्ञापन-न० । अनुमोदने, सूत्र० १. श्रु० ए
अ० । स्था० ।

अणुजाणावणा-अनुज्ञापना-स्त्री० । मुक्तावने, पञ्चा० ६ विव० ।

अणुजाणादिगार-अनुयानाधिकार-पुं० । रथस्य पृष्ठतोऽनु-
व्रजनेन प्रतिष्ठाधिकारे, जी० १ प्रति० ।

अणुजाणित्तए-अनुज्ञातुम्-अव्य० । तथैव सम्यगेतद्वारयाऽ-

न्येषां च प्रवेदयेत्येवमभिधातुमित्यर्थे, स्था० २ ग० १ उ० ।

अणुजात (य)-अनुयात-त्रि० । अनुगते, प्रश्न० २ आश्र०

द्वा० । " सरिसे वसभाणुजाए " अनुजातशब्दः सदृशवचनः ।

वृषभस्य अनुजातः सदृशो वृषभानुजातः । सू० प्र० १२ पाहु० ।

अनुरूपः सम्पदा पितृस्तुल्यो जातोऽनुयातः, अनुगतो वा

पितृविच्युत्याऽनुयातः । पितृसमे सुतजेदे, यथा महायशाः, आदि-

त्ययशसा पित्रा तुल्यत्वात् । स्था० ४ ग० १ उ० ।

आणुजुत्ति-अनुयुक्ति-स्त्री० । अनुगतयुक्तौ, " सव्वाहिं अणु-

जुत्तीहिं, अचयंता जवित्तप " सर्वाभिरर्थानुगताभिर्युक्तिभिः

सर्वैरेव हेतुदृष्टान्तैः प्रमाणभूतैरशक्यन्तः । सूत्र० १ श्रु० ३

अ० ३ उ० । " सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिमं पमिलेहिया "

सर्वायाः काश्चनानुरूपाः पृथिव्यादिजीवनीकायसाधनत्वेनानु-

कूला युक्तयः साधनानि, यदि वा सिद्धचिरुद्धानैकान्तिकपरिहा-

रेण पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपतया युक्तिसंगता

युक्तयस्ताभिर्मतिमान् । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुजेट्ट-अनुज्येष्ट-त्रि० । अनुगतो ज्येष्ठम् । प्रा० । स० ।

ज्येष्ठानुरूपे ज्येष्ठानतिक्रमे च । वाच० । पञ्चा० । जेष्ठसमीपे

वर्तमाने यथा एको द्विकस्य ज्येष्ठः त्रिकस्यानुज्येष्ठः, चतुष्का-

दीनां तु ज्येष्ठानुज्येष्ठः । आ० म० प्र० । अनु० ।

अणुज्जाया-अनूद्यता-स्त्री० । उद्देश्यतारूपे विषयताविशेषे,

ध० १ अधि० ।

अणुज्जियत्त-अर्जितत्व-न० । वराकत्वे, वृ० ३ उ० ।

अणुज्जुय-अनृजुक-त्रि० । असरत्वे कथञ्चित् सरत्वं कर्तुम-

शक्ते, उक्त० ३४ अ० । वक्रे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अणुज्झाण-अनुध्यान-न० । चिन्तने, अष्ट० २४ अष्ट० ।

अणुज्झावित्ता-अनुध्याय-अव्य० । चिन्तयित्वेत्यर्थे, " कम्म-

गरसालाप अणुज्झावित्ता पमिमंविच्छो " आ० म० द्वि० ।

अणुज्जाण-अनुष्ठान-न० । आचारे, स्था० ७ ग० । चैत्यवन्दना-

दिके आचरणे, पञ्चा० ३ विव० । आचारा० । क्रियायाम्, पञ्चा०

१६ विव० । क्रियाकक्षापे, ग० १ अधि० । काक्षाध्ययनादौ,

म० २ श० १ उ० ।

फलवद्भुमसद्बीज-प्ररोहसदृशं तथा ।

साध्वनुष्ठानमित्युक्तं, सानुबन्धं महर्षिभिः ॥ २४३ ॥

फलवतः फलप्रान्तरभाजो भूमस्य न्यग्रोधादेः सद्वन्धं
यद्बीजं, तस्य यः प्ररोहोऽङ्कुरोद्भेदरूपस्तेन सदृशं समं यत्त-

तत्र नैमित्तिकसाधूनां सकाशात्प्रस्यते । यदि वा यत्र देशे स्वयं गमिष्यति तत्र तानि क्लेमादीनि भविष्यन्ति नवेति साधर्मिकादीन् पृच्छति ।

कार्योद्वाहद्वारद्वयमाह—

कुलमाई कजाई, साहिस्सं झिंगिणो य सासिस्सं ।
जे लोगविरुद्धाई, करिंति लोगुत्तराई च ॥

कुलादीनि कुलगणसंघसत्काणि, कार्याणि तत्र गतः शाधयिष्यामि—लिङ्गिणश्च तत्र गतः शासिष्यामि हितोपदेशदानादिना शिक्षयिष्यामि । ये लिङ्गिणो लोकविरुद्धानि लोकोत्तरविरुद्धानि च प्रवचनोद्वाहकराणि कार्याणि कुर्वन्तीति ।

आह—यद्येतानि कारणानि भवन्ति, ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—
एषाहिं कारणेहिं, पुण्वं पढिसेहिंऊण अइगमाणं ।

अद्धाननिगयादी, लग्गा मुच्छा जहा खपओ ॥

एतैश्चैत्यपूजादिभिः कारणैरनुयानं प्रवेष्टव्यमिति निश्चित्य पूर्वं प्रत्युपेक्ष्य ततोऽतिगमनं कार्यम् । अथाध्वनिर्गतास्ते अध्वानम—तिलह्वय सहसैव तत्र प्राप्ताः । आदिशब्दादपूर्वोत्सवादिवक्ष्यमाणकारणपरिग्रहः । एवंविधैः कारणैः प्रत्युपेक्षितेऽपि क्षेत्रे गताः सन्तो यथोक्तां यतनां कुर्वाणा अपि यदि लग्गा अशुद्ध—भक्तादिग्रहणदोषमापन्नास्तथापि शुद्धाः, यथा कृपकः पिएड—निर्गुणौ प्रतिपादितचरितः शुद्धं गंधपयस्रपि निगूढयाह्लाकार—या तथाविधभ्राष्ट्रिकया उन्नितः सन्नाथाकर्मण्यपि गृहीते बुद्धो—ऽशठपरिणामत्वादिति निर्गुणकिगाथासमासार्थः ।

अथैतदेव भाष्यते—

नाऊण य अइगमाणं, गीए पेसिंति पेडिडं कजे ।
उवसय जिकखाचरिया, वाहिं उवभामरादीया ॥
सम्भाविक इयरे वि य, जाणंती मंरवाइणो गीया ।
सेहादीण य थेरा, वंदणजुचिं वहिं कहए ॥

चैत्यपूजादिके कार्ये समुत्पन्ने अनुयानक्षेत्रं प्रत्युपेक्षितुं गीता—थांश्च प्रेषयति, ततो ज्ञात्वा सन्त्यर्प क्षेत्रस्वरूपमतिगमनं कर्त्तव्यम् । किं पुनस्तत्र प्रत्युपेक्ष्यमित्याह—मौलग्रामे उपाश्रयो बहिर्वाह्य—ग्रामेषु च उद्ग्रामकाक्षा भिक्षाचर्या । आदिशब्दात्तस्यां गच्छतामपामन्तराले विश्रामस्थानं, मौलग्रामे च भिक्षाविचारभूमिप्रवृत्तिकं प्रत्युपेक्ष्यम्, तथा सद्भाविका नितरांश्च मरुपादीन् गीतार्थां जानन्ति । यथा अमी सद्भावतः स्वार्थं मण्डपाः कृताः, अमी तु संयतार्थं परं कैतवप्रयोगेणास्मानित्यं प्रत्याययन्ति, आदिग्रहणात् पीठिकादिपरिग्रहः । इत्थं तैः प्रत्युपेक्षिते सुरयः सवाद्यवृत्तगच्छसहिता अनुयानक्षेत्रं प्रविशन्ति । स्थविराश्च बहिरेव वसन्तानाः शैक्वादीनां वन्दनयुक्तिं पार्श्वस्थादिवन्दन—विधिं कथयन्ति, मा भूदन्यथा तद्वन्दने तेषां विपरिणाम इति ।

अथ चैत्यवन्दनविधिमाह—

निस्सकरुमनिस्सकरे, वि चेइए सव्वेहिं पुई तिञ्चि ।
बेलं व चेइयाणि य, नाउं इक्किक्किया वा वि ॥

निश्चाकृते गच्छप्रतिषेधे, अनिश्चाकृते च तच्छिरीते, चैत्ये सर्वत्र तिष्ठः स्तुतयो दीयन्ते । अथ प्रतिचैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वेद्याया अतिक्रमो भवति नृयांसि वा तत्र चैत्यानि, ततो वेदां चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्येति ।

अथ समवसरणाविषयं विधिमाह—

निःसकरे चेइए गुरु, कइवयसहिं य इयरावसहिं ।
जत्थ पुण आनिस्सकडं, पूरिंति तहिं समोसरणं ॥

निश्चाकृते चैत्ये गुरुचार्यः कतिपयैः परिणतसाधुभिः सहितैश्चैत्यमहिमावलोकनाय तिष्ठति । इतरे शैक्वादयस्ते मा पार्श्व—स्थादीन् नृयसा लोकेन पूज्यमानान् दृष्ट्वा तत्र गमनं कार्ष्णुरिति कृत्वा गुरुभिरनुज्ञाता वसतिं व्रजेयुः । यत्र पुनः क्षेत्रे अनिश्चाकृतं चैत्यं तत्राऽऽचार्यः समवसरणं पूरयन्ति, सन्नामापूर्य धर्म—कथां कुर्वन्तीत्यर्थः ।

आह—किं संविज्ञैस्तत्र धर्मकथा, आहो—

श्विदसंविज्ञैरपि ?, उच्यते—

संविज्ञेहिं य कहणा, इयरेहिं अपच्चओ न ओवसमो ।
पव्वज्जाजिमुहा वि य, तेसु वए सेहमादीया ॥

संविज्ञैरुद्यतविहारिभिः कथना धर्मस्य कर्त्तव्या । कुत इत्याह—इतरे असंविज्ञास्तैर्धर्मकथायां क्रियमाणयां श्रोतृणामप्रत्ययो भवति, नैते यथा वादिनस्तथा कारिण इति । नच तेषामुपशमः सम्यग्दर्शनादिप्रतिपत्तिर्भवति । अपि च । प्रव्रज्याजिमुखाः शैक्वादयो वा अद्याप्यपरिणतजिनवचनाः तेषां तेषु व्रजेयुः ; शोभनं खल्वेतेऽपि धर्मं कथयन्तीति ।

आह—निश्चाकृतचैत्ये यदि तदानीमसंविज्ञा न प्रवन्ति ततः को—विधिरित्याह—

पूरिंति समोसरणं, अन्नासइनिस्सचेइएसुं पि ।

इहरा लोगविरुद्धं, सप्पाजंगो य सट्ठाणं ॥

अन्येषामसंविज्ञानामसतिनिश्चाकृतेष्वपि चैत्येषु समवसरणं पूरयन्ति, इतरथा लोकविरुद्धं लोकपवादो भवति—अहो ! अमी मस्सरिणो यदेधमन्यदीयं चैत्यमिति कृत्वा नात्रोपविश्य धर्मकथां कुर्वन्ति, भ्रूजङ्गश्च भ्राष्ट्रानां भवति, नेषामन्यार्थम—न्यर्थयमानानामपि तत्र धर्मकथाया भकरणात् ।

अथ भिक्षाचर्यायां यतनामाह—

पुव्वपविट्ठेहिं समं, हिंरुंती तत्थ ते पमाणं तु ।

साभाविकजिकखाओ, विदंतऽपुव्वा य उवियादी ॥

पूर्वप्रविष्टानामपूर्वं ये क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रदितास्तैः समं भिक्षां द्दिएरुन्ते, तत्र च भिक्षामटतां त एव प्रमाणं गन्तुं कैस्तत्र शुक्लाशुक्लगवेषणा कर्त्तव्या, ते च पूर्वप्रविष्टा इदं विदन्ति—यदेताः स्वामाधिकभिक्षाः स्वार्थनिष्पादिताः, पतास्तु अपूर्वाः संयतार्थं स्थापिता निक्षिप्तादयः ।

स्त्रीसंकुलनाटकशीतयोर्यतनामाह—

वंदे ए इति तंति य, जुवमज्जे थेर इत्थिओ तेणं ।

चिड्ढंति न नारएसुं, अह तंति न पेह रागादी ॥

स्त्रीसंकुलवृन्दे नायान्ति निर्गच्छन्ति च, ये च युवानस्ते मध्ये क्रियन्ते, यतः स्त्रियस्तेन पार्श्वेन स्थविरा वृद्धा भवन्ति, मा भू—वन् वृक्षामुक्तसमुत्था दोषा इति । यत्र नाटकानि निरीक्ष्यन्ते तत्र न तिष्ठन्ति । अथ कारणतस्तिष्ठन्ति, ततो (न पेहं च्छि) न—र्त्तक्यादिरूपाणि न प्रेक्षन्ते, सहसा दृष्टिगोचरागतेषु रागादीन् न कुर्वन्ति, तेन्यश्च प्राप् दृष्टिं निवर्तयन्ति ।

तन्तुजाह्लादिषु विधिमाह—

सीलेह मंसफलए, इयरे चोयंति तंतुमादीसु ।

अभियोजयंति तिसु य, आणिच्छिं फेहंतऽदीसंता ॥

वचनासङ्गानुष्ठानयोर्विशेषमाह—

चक्रभ्रमणं दण्डा—चक्रावे चैव यत् परं भवति ।

वचनासङ्गानुष्ठानयोस्तु तदङ्गापकं ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

(चक्रेत्यादि)चक्रभ्रमणं कुम्भकारचक्रपरावर्त्तनं, दण्डादण्डसं-
योगात्, तदभावे चैव दण्डसंयोगाभावे चैव, यत्परमन्यद्भवति,
वचनासङ्गानुष्ठानयोस्तु तयोस्तु, ज्ञापकमुदाहरणं ज्ञेयम् । यथा
चक्रभ्रमणमेकं दण्डसंयोगाख्यायते प्रयत्नपूर्वकमेव वचनानुष्ठान-
मप्यागमसङ्गात् प्रवर्त्तते । तथा चान्यश्चक्रभ्रमणं दण्डसंयोगा-
भावे केवलादेव संस्कारापरिचयात् संभवति । एवमागमसं-
स्कारमात्रेण वस्तुतो वचननिरपेक्षमेव स्वाभाविकत्वेन यत् प्रव-
र्त्तते तदसङ्गानुष्ठानमितीत्याह जेद इति ज्ञातः ॥ ८ ॥

एषामेव चतुर्णामनुष्ठानानां फलविज्ञानमाह—

अन्युदयफले चाद्ये, निःश्रेयससाधने तथा चरमे ।

एतदनुष्ठानानां, विज्ञेये इह गतापाये ॥ ९ ॥

अन्युदयफले चान्युदयनिर्वर्त्तके च, आद्ये प्रीतिमक्षयानुष्ठाने,
निःश्रेयससाधने मोक्षसाधने, तथा चरमे वचनासङ्गानुष्ठाने,
एतेषामनुष्ठानानां मध्ये, विज्ञेये, इह प्रक्रमे, गतापाये अपायर-
हिते निरपाये ॥ ९ ॥

एतेष्वेव चतुर्णामनुष्ठानेषु पञ्चविधकान्तियोजनमाह—

उपकार्यपकारिविपा—कवचनधर्मांतरा मता क्षान्तिः ।

आद्यद्वये त्रिजेदा, चरमद्वितये द्विभेदेति ॥ १० ॥

(उपेत्यादि) उपकारी उपकारवान्, अपकारी अपकारप्रवृत्तिः ।
विपाकः कर्मफलानुभवमनर्थपरम्परा वा, वचनमागमः, धर्मः
प्रहमादिरूपः, तदुत्तरा तत्प्रधाना मता संमता पञ्चविधा, क्षान्तिः क्षमा,
आद्यद्वये आद्यानुष्ठानद्वये, त्रिजेदा त्रिप्रकारा । चरम-
द्वितये चरमानुष्ठानद्वितये, द्विभेदेति द्विविधा, तत्रोपकारिणि कान्तिरुपकारि-
क्षान्तिरुपकारिक्षान्तिः, तदुक्तदुर्वचनाद्यपि सहमानस्य, तथा अप-
कारिणि क्षान्तिरुपकारिक्षान्तिः, मर्मदुर्वचनाद्यसहमानस्यायम-
पकारी प्रविष्यति इत्यभिप्रायेण क्षमां कुर्वतः । तथा विपाके
क्षान्तिः विपाकक्षान्तिः, कर्मफलविपाकं नरकादिगतमनुपश्य-
तो दुःखक्षीरुतया मनुष्यजावमेव वा अनर्थपरम्परामाहोचयतो
विपाकदर्शनपुरःसरा संभवति । तथा वचनक्षान्तिरागमेवावल-
म्बनीकृत्य या प्रवर्त्तते न पुनरुपकारित्वापकारित्वविपाकाख्य-
माहम्बनत्रयं सा वचनपूर्वकत्वादन्यनिरपेक्षत्वात्तथोच्यते । ध-
र्मोत्तरा तु क्षान्तिश्चेदनस्येव शरीरस्य वेददाहादिषु सौरमादि-
स्वधर्मकल्पा परोपकारिणी न क्रियते, सहजत्वेनावस्थिता
सा तथोच्यते ॥ १० ॥ पौ० १० विव० । अष्ट० । देवपूजनादिके,
द्वा० १३ द्वा० । कर्मणि, आ० म० द्वि० ।

अणुष्टयि—अनुष्ठित—त्रि० । अनुकान्ते, आचा० १ श्रु० ए अ० ४
उ० । आ० म० प्र० । आसेविते, पञ्चा० ६ विव० । “अहंवा अ-
वितहं णो अणुष्ठियं” सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अनुत्थित—त्रि० । द्रव्यतो निपण्णे, भावतो ज्ञानदर्शनचारित्र्यो-
द्योगरहिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुष्टान्त—अनुनयत्—त्रि० । स्वाभिप्रायेण शनैः २ प्रज्ञापयति,
“पुरोहितं तं कमसोऽणुष्टान्तं, णिमंतयंतं च सुप वणेणं”
उत्त० १४ अ० ।

अणुष्टाण्—अनुनादिन्—त्रि० । अनुनदति । अनु-नद-णिनि ।

प्रतिरूपशब्दकारके, “गम्भीरेणानुनादिना” वाच० । “गज्जिय-
सहस्स अणुष्टाण्णा” अनुनादिना सदृशेन । कल्प० ।

अणुष्टाण्—अनुनादित्व—न० । प्रतिरवोपेततारुपे सत्यवचना-
तिशये, स० ३५ सम० । रा० ।

अणुष्टाय—अनुनाद्—पुं० । मेघस्वनादौ, “अणुष्टादे पयादिणज्जे
जिणघरे वा” आ० म० द्वि० ।

अणुष्टास—अनुनाश—पुं० । अनु-नश-घञ् । अनुमरणे, अदूरदेशा-
दावर्थे । संकाशादित्वात् ण्यः । वाच० ।

आनुनाश्य—त्रि० । तददूरदेशादौ, वाच० । अनुनासिके नासा-
कृतस्वरे, स्था० ७ रा० । नासा विनिर्गतस्वरानुगते गेयदोषभेदे,
जं० ५ चक्र० । अनु० । जी० ।

अणुष्टिज्जमाण—अनुनीयमान—त्रि० । प्रार्थ्यमाने, “अह एवं
पि अणुष्टिज्जमाणे येच्छति” नि० चू० १ उ० ।

अणुष्ठत (य) अनुष्ठत—त्रि० । अनुच्छिन्ते मदरहिते, “एतथ
वि भिक्खु अणुष्ठप विणीए” न उक्ततोऽनुष्ठतः । शरीरेणोच्छिन्नः,
आवांन्तस्त्वभिमानग्रहग्रस्तः, तत्प्रतिषेधात्तपोनिर्जरात्मदमपि
न विधत्ते । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । “अणुष्ठप नावणए अप्पहि-
ठे अणाद्ये” अनुष्ठतो ज्ञव्यतो भावतश्च । ज्ञव्यतो नाकाशद-
शी, भावतो न जात्याद्यभिमानवान् । दश० ५ अ० १ उ० ।

अणुष्ठवणा—अनुज्ञापना—स्त्री० । अनुमोदने, “आयप्पमाणमि-
त्तो, चउहिंसि होह उमाहो गुरुणो । अणुष्ठायस्स सभा, न
कप्पई तथ पविसेव” इदानीमनुज्ञापना, सऽपि नामादिभिः
पुं०द्वैव । नामस्थापने सुगमे । ज्ञव्याऽनुज्ञापना त्रिधा—लौकिकी,
लौकोत्तरा, कुप्रावचनिकी च । तत्र लौकिकी सच्चित्ताविचामि-
भभेदैक्षिधा—अश्वाद्यनुज्ञापना प्रथमा । सुक्ताफलवैद्व्याद्यनु-
ज्ञापना द्वितीया । विविधान्नरणवितृषितवनिताद्यनुज्ञापना तृती-
या । लौकोत्तराऽपि सच्चित्तादिजेदात् त्रिधा—शिष्याद्यनुज्ञा
प्रथमा । वस्त्राद्यनुज्ञा द्वितीया । परिहितवस्त्रादिशिष्याद्यनुज्ञा
तृतीया । एवं कुप्रावचनिक्यपि त्रेधाऽवगन्तव्या । क्षेत्रानुज्ञापना
यावतो क्षेत्रस्यानुज्ञापनं विधीयते, यस्मिन्वा क्षेत्रेऽनुज्ञा व्याख्याय-
ते वा । एवं कात्यानुज्ञाऽपि । ज्ञाद्यानुज्ञा आचाराद्यनुज्ञा, एषा चात्र
ग्राह्या । प्रव० ३ द्वा० । (अवग्रहविषयाऽनुज्ञापना ‘उमाह’ शब्दे
द्वि० जा० ६१८ पृष्ठे; वसतिविषया च ‘वसह’ शब्दे द्रष्टव्या)

अणुष्ठवणी—अनुज्ञापनी—स्त्री० । अवग्रहस्यानुज्ञापनीयायां
मापायाम्, स्था० ४ रा० ३ उ० ।

अणुष्ठवित्ता—अनुज्ञाप्य—अव्य० । अनुमोक्षेत्यर्थे, “जिणवर
मणुष्ठवित्ता, अजणघणरुयगविमहसंकासा” आ० म० द्वि० ।

अणुष्ठवियपाणजोयणभोइ(ण्)—अनुज्ञाप्यपानभोजनजो जिन्-
पुं० । आचार्यादीननुज्ञाप्य पानभोजनादिविधातरि, अदत्तादा-
नाविरतेर्द्वितायां प्रावनां प्रतिपन्न, आचा० ३ श्रु० २ अ० ६ उ० ।
आव० ।

अणुष्ठवेमाण—अनुज्ञापयत्—त्रि० । अनुज्ञां ददति, स्वजनादीन्
तत्कालगतसाधर्मिकपरिष्ठापनायामनुज्ञापयतो नातिक्राम-
न्ति” स्था० ६ रा० ।

अणुष्टा—अनुज्ञा—स्त्री० । अनुज्ञानमनुज्ञा । अधिकारदाने,

तथा, तथेति वक्तव्यान्तरसमुच्चये, एतेषां योगाधिकारिणां, साधु सुन्दरमनुष्ठानं यमनियमादिरूपमित्यनेन प्रकारेणोक्तं, शास्त्रेषु साधुबन्धमुचरोत्तरानुबन्धवद् महर्षिभिः परममुनिभिः, शुद्धाधिकारिसमारब्धत्वात्तस्य ॥ २४३ ॥

अत एव—

अन्तर्विवेकसंभूतं, शान्तदान्तमविष्टुतम् ।

नाप्रोक्तवद्वताभार्यं, वहिष्मेषाधिमुक्तिकम् ॥ २४४ ॥

अन्तर्विवेकसंभूतम्, अन्तर्विवेकेन तत्त्वसंवेदननाम्ना संभूतं प्रवृत्तं, शान्तदान्तं, शान्तदान्तपुरुषपरम्भत्वाद्, अत एवाविष्टुतं सर्वथा विषयवर्हिनम् । न्यवच्छेद्यमाह—न नैव, अप्रोक्तवद्वताभार्यम्—अप्राप्तप्रान्तादुद्भवो यस्याः, सा चासौ वता च तस्यायम् । सा हि तता अप्रोक्तवत्त्वेन न ततान्तरमनुबद्धं क्रमात् इदं चानुष्ठानमनुचरोत्तरानुबन्धप्रधानमित्यत उक्तं नाप्रोक्तवद्वताभार्यमिति । तथा वहिष्मेषायां चैत्यवन्दनादिरूपायामधिसुक्तिः शुद्ध यत्र तत्तथा ॥ २४४ ॥

इत्थं विषयस्वरूपाणुबन्धशुद्धिप्रधानमनुष्ठानत्रयमभिधाय साम्प्रतं त्रयस्याप्यवस्थानेदेन संमतत्वाभाविश्विकीर्तुराह—

इष्यते चैतदप्यत्र, विषयोपाधि संगतम् ।

निर्दिशितमिदं तावत्, पूर्वमत्रैः शेषतः ॥ २४५ ॥

इष्यते मन्यते मतिमद्भिः । चः समुच्चये । एतदपि प्रागुक्तमत्र योगचिन्तायां, विषयोपाधिर्विषयशुद्धमनुष्ठानं, किंपुनः स्वरूपशुद्धानुबन्धशुद्धे इत्यपिशब्दार्थः । १. इदमित्याह—संगतं युक्तमेव, निर्दिशितं निरूपितमिदं संगतत्वम्, तावच्छब्दः क्रमार्थः, पूर्वं प्रागत्रैव शास्त्रे शेषतः संक्षेपेण “मुक्ताविच्छाऽपि या श्लाघ्या, तमःक्षयकरी मता” इत्यादिना ग्रन्थेन । विस्तरतस्तु विशेषग्रन्थादवसेयमिति ॥ २४५ ॥

अथ प्रस्तुतमनुष्ठानं यस्य भवति तमधिकृत्याह—

अपुनर्वन्धकस्यैवं, सम्यग्रः योपपद्यते ।

तत्तत्तन्त्रोक्तमखिल—भवस्थानेदसंश्रयात् ॥ २४६ ॥

कापिलसौगतादिशास्त्रप्रणीतं सुसुष्ठुजनयोन्यमनुष्ठानमखिलं तमस्तम् । कुत इत्याह—भवस्थानेदसंश्रयात् । अपुनर्वन्धकस्यानेकस्वरूपाङ्गीकरणात् । अनेकस्वरूपाज्युपगमे हि अपुनर्वन्धकस्य किमप्यनुष्ठानं कस्यामप्यवस्थायामवतरतीति ॥ २४६ ॥ यो० वि० ।

प्रीतिप्रकाशानुष्ठानादिशेषः—

सूत्राश्च विरलाश्चैवा—तिचारा वचनोदये ।

स्थूलाश्चैव घनाश्चैव, ततः पूर्वममी पुनः ॥ ए ॥

(सूत्रमाश्लेष्टि) सूत्रमात्रं लघवः, प्रायशः कादाचित्कत्वात् । विरलाश्चैव सन्तानाभावात् । अतिचारा अपराधा वचनोदये भवन्ति, ततो वचनोदयात् । पूर्वममी अतिचाराः पुनः स्थूलाश्च वादराश्च, घनाश्च निरन्तराश्च भवन्ति । तदुक्तम्—“चरमाद्यायां सूत्रमाः, अतिचाराः प्रायशोऽतिविरलाश्च । आद्यत्रये त्वमी स्थुः, स्थूलाश्च तथा घनाश्चैव” ॥ ६ ॥ द्वा० २८ द्वा० ।

सदनुष्ठानमतः खलु, बीजन्यासात् प्रशान्तवाहितया ।

संजायते नियोगात्, पुंसां पुण्योदयसहायम् ॥ १ ॥

तस्मीं, तभक्तिवचना—संगोपपदं चतुर्विधं गीतम् ।

तत्त्वाभिज्ञैः परमं, पदसाधनं सर्वमेवैतत् ॥ २ ॥

यत्रादरोऽस्ति परमः, प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः ।

शेषत्यागेन करो—ति यच्च तत् प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ ३ ॥

गौरवविशेषयोगाद्, बुद्धिमतो यद्विशुद्धितरयोगम् ।

क्रिययेतरतुल्यमपि, ज्ञेयं तद् भक्त्यनुष्ठानम् ॥ ४ ॥

(सदनुष्ठानमित्यादि) सदनुष्ठानं प्रागुक्तमतः खलु बीजन्यासादस्मात् पुण्यानुबन्धपुण्यनिकेपात्, प्रशान्तवाहितया प्रशान्तं बोद्धुं शीघ्रं यस्य तत् प्रशान्तवादि, तद्भावस्तथा चित्तसंस्काररूपाया, संजायते निष्पद्यते । नियोगाभियमेन, पुंसां मनुष्याणां, पुण्योदयसहायं पुण्यानुभावसहितम् ॥ १ ॥ तदेव जेदद्वारेणाह—(तदित्यादि) तत् सदनुष्ठानं प्रीतिश्च भक्तिश्च यच्चन चासङ्ग—अत्रैते शब्दा उपपदमुपोद्धारिपदं यस्य सदनुष्ठानस्य तत्तथा, चतुर्विधं चतुर्जेंदं, गीतं शब्दितं, प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ २ ॥ आदरः प्रयत्नातिशयोक्तिः परमः, प्रीतिश्चाऽभिरुचिरूपा, हितोदया हित उदयो यस्याः सा तथा भवति । कर्तुंरनुष्ठानः, शेषत्यागेन शेषप्रयोजनपरित्यागेन, तत्काले करोति यच्छातीव धर्मादरात् । तदेवं चतुर् प्रीत्यनुष्ठानं विज्ञेयम् ॥ ३ ॥ द्वितीयस्वरूपमाह—गौरवेत्यादि । गौरवविशेषयोगात्, गौरवं शुक्यं पूजनीयत्वं तद्विशेषयोगात् तद् धर्मसंभवात्, बुद्धिमतः पुंसां सदनुष्ठानं विशुद्धितरयोगं विशुद्धितरण्यापारं, क्रियया करयेन, इतरतुल्यमपि प्रीत्यनुष्ठानतुल्यमपि, ज्ञेयं तदेवंविधं प्रकृत्यनुष्ठानम् ॥ ४ ॥

आह—कः पुनः प्रीतिप्रकृत्योर्विशेषः ? उच्यते—

अत्यन्तवद्वज्रा खलु, पत्नी तद्विद्धिता च जननीति ।

तुल्यमपि कृत्यमनयो—ज्ञातं स्यात् प्रीतिभक्तिगतम् ॥ ५ ॥

[अत्यन्तेत्यादि] अत्यन्तवद्वज्रा खलु अत्यन्तवद्वज्रमेव, पत्नी भार्या, तच्च पत्नीवदत्यन्तैष्टव हिता च हितकारिणीति कृत्वा जननी प्रसिद्धा, तुल्यमपि सदृशमपि, कृत्यं प्रोजनाच्चादनादि, अनयोर्जननीपत्योर्ज्ञातमुदाहरणं स्यात्, प्रीतिप्रकृतिगतं प्रीतिप्रकृतिविषयमिदमुक्तं भवति, प्रीत्या पत्न्या क्रियते, प्रकृत्या मातुरितीयात्र प्रीतिप्रकृत्योर्विशेषः ॥ ५ ॥

तृतीयस्वरूपमाह—

वचनात्मिका प्रवृत्तिः, सर्वत्रौचित्ययोगतो या तु ।

वचनानुष्ठानमिदं, चारित्रवतो नियोगेन ॥ ६ ॥

(वचनेत्यादि) वचनात्मिका आगमात्मिका, प्रवृत्तिः क्रियारूपा सर्वत्र सर्वस्मिन् धर्मेत्यापारे कान्तिप्रत्युपेक्षादौ, औचित्ययोगतो या तु देशकालपुरुषव्यवहाराद्यौचित्येन वचनानुष्ठानमिदमेवं प्रवृत्तिरूपं चारित्रवतः साधोर्नियोगेन नियमनं नान्यस्य जवतीति ॥ ६ ॥

तुल्यस्वरूपमाह—

यत्त्वज्यासानिशयात्, सात्मीभूतमिव चेष्टयते सक्तिः ।

तदसङ्गानुष्ठानं, जवाति त्वेतत्तदा वैधात् ॥ ७ ॥

(यत्त्वित्यादि) यच्च यत् पुनरभ्यासातिशयादभ्यासप्रकर्षाद् भूयो भूयस्त्वासेवनेन, सात्मीभूतमिवात्मसाद्भूतमिव, चन्दनगन्धन्यायेन चेष्टयते क्रियते, सक्तिः सत्पुरुषैर्जिनकादिपकादिभिस्तदेवंविधमसङ्गानुष्ठानं जवाति त्वेतज्जायते, पुनरेतत्तदा वैधाद् वचनवैधादागमसंस्कारात् ॥ ७ ॥

छत्तं वा चामरं वा पटं वा मण्डं वा हिरण्यं वा सुवर्णं वा
 कंसं वा दूतं वा मणिमुत्तियसंस्त्रसिलपवालरचरणमाङ्गं
 संतसारसावज्जं अणुजाणिज्जा, सेत्तं अचित्ता कुप्पावणि-
 या दब्बाणुषा । से किं तं मीसिया ? । मीसिया से जहा
 नामए आयरिएइ वा उवज्जाएइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे
 समाणे इत्थिं वा मुहज्जंगमंडियं वा आसं वा घासगं वा चाम-
 रमंभियं वा सकंभियं वा दासं वा दासिं वा सब्वालंकारविज्ज-
 सियं अणुजाणिज्जा, सेत्तं मीसिया कुप्पावणिया दब्बाणुषा ।
 सेत्तं कुप्पावणिया दब्बाणुषा । से किं तं झोउत्तरिया दब्बा-
 णुषा ? । झोउत्तरिया दब्बाणुषा तिविहा पप्पत्ता । तं जहा-
 सच्चित्ता अच्चित्ता मीसिया । से किं तं सच्चित्ता ? । सच्चित्ता
 से जहा नामए आयरिएइ वा उवज्जाएइ वा पवत्तएइ वा
 थेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेयएइ वा सीसस्स
 वा सीसिणीएइ वा कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे सीसं वा सि-
 स्सिणीयं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं सच्चित्ता । से किं तं अ-
 च्चित्ता ? । अच्चित्ता से जहा नामए आयरिएइ वा उवज्जाएइ
 वा पवत्तएइ वा थेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणाव-
 च्छेइ वा सीसस्स वा सिस्सिणीए वा कम्मि य कारणे तुट्ठे
 समाणे वत्थं वा पायं वा पन्निगहं वा कंवडं वा पायपुच्छ-
 णं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं अच्चित्ता । से किं तं मीसि-
 या ? । मीसिया से जहा नामए आयरिएइ वा उवज्जाएइ
 वा पवत्तएइ वा थेरे वा गणावच्छेइएइ वा सिस्सस्स वा
 सिस्सिणीए वा कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे सिस्सं वा सि-
 स्सिणीयं वा सज्जंमत्तोवगरं अणुजाणिज्जा, सेत्तं मीसिया ।
 सेत्तं लोकोत्तरिया । सेत्तं जाणगसरीरभविमसरीरवइरित्ता
 दब्बाणुषा । सेत्तं नो आगमओ दब्बाणुषा । सेत्तं दब्बाणु-
 षा । से किं तं खेत्ताणुषा ? । खेत्ताणुषा जो णं जस्स खेत्तं
 अणुजाणइ जत्तियं वा खेत्तं जम्मि वा खेत्ते, सेत्तं खेत्ता-
 णुषा । से किं तं काट्ठाणुषा ? । काट्ठाणुषा जो णं ज-
 स्स कालं अणुजाणइ जत्तिया वा काट्ठं अणुजाणइ जम्मि
 वा काले अणुजाणइ, तं तीतं पकुप्पं वा अणुगतं वा व-
 संतहेमंतपाउसं वा अवत्थणइहेउं, सेत्तं कालाणुषा । से किं
 तं जावाणुषा ? । जावाणुषा तिविहा पप्पत्ता । तं जहा-झोग-
 इया, कुप्पावणिया, झोगुत्तरिया । से किं तं झोगइया भावाणु-
 षा ? । से जहा नामए रायाइ वा जुवरायाइ वा जाव रुट्ठे स-
 माणे कस्सइ कोहाइभावं अणुजाणिज्जा, सेत्तं झोइया भावा-
 णुषा । से किं तं कुप्पावणिया जावाणुषा ? । कुप्पावणिया
 से जहा नामए केइ आयरिए वा जाव कस्स वि कोहाइभावं
 अणुजाणिज्जा, सेत्तं कुप्पावणिया । से किं तं लोकोत्तरिया
 भावाणुषा ? । लोकोत्तरिया जावाणुषा से जहा नामए

आयरिए वा जाव कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे काट्ठोच्चियं
 नाणइ गुणजोगिणो विणयस्स खमाप्पहाणस्स सुसील-
 स्स सीसस्स तिविहेणं तिगरणविमुप्पेणं भावेणं आयारं
 वा सूर्यगं वा ठाणं वा समवायं वा विवाहप्यप्पत्ती वा
 णायाधम्मकहा णं वा उवासगदसा उ वा अंतगदसा उ वा
 अणुत्तरोववाइदसा उ वा पएहा वा गरणं वा विनागसुयं वा
 दिट्ठिवायं वा सब्बदब्बगुणपज्जवेहिं सब्बाणुओगं वा
 अणुजाणिज्जा, सेत्तं झोगुत्तरिया भावाणुषा ॥

किमणुष कस्स णुषा, केवइ काट्ठं पवित्तिआ णुषा ।
 आइगरपुरिमताट्ठे, पवत्तिया उसहसेणस्स ॥ १ ॥
 अणुण उणमणी णमणी, नामणि ठवणा पजावो य ।
 पभवण पयर तट्टजयं, मज्जाया नाउ मगो कप्पो य ॥ २ ॥
 संगहसंवरनिज्जर, तिड्ढिकारणं चेव जीववुड्ढियं ।
 पय पवरं चेव तहा, वीसमणुषाई नामाई ॥ ३ ॥ नं० ॥
 अणुण्वइत्त णुषा, उणामि य जस्सियं वि उणमणी ।
 गिहिसाधुहिं णमिज्जति, तम्हा जा होति णमण त्ति ॥
 सुतधम्मचरणधम्मो, णामयती जेण णामती तम्हा ।
 ठविओ य आरियत्ते, जम्हा तो तेण ठवण त्ति ॥
 ठवितो गणाधिवत्ते, होति पत्तूतेण पज्जवो य ।
 सब्बेसिं णामादी-ण होति पज्जवो पसूइ त्ति ॥
 एगट्ठा आयरिया-दीणं रूपं पजावित्ते ।
 जेण विणा णो सिज्जति, तेण विचारो तु निज्जति गणो से ।
 तदुभयद्वियंति नप्पत्ति, इह परलोके य जेण हितं ॥
 गणधरमेव वरेती, जम्हा जत्तेण होति मज्जादा ।
 करणेज्जो कप्पो त्ति य, कप्पो गणकप्पकरणेण ॥
 णाणादिमोक्खमग्गो, सो तम्मि ठितो त्ति तो नवति मग्गो ।
 जम्हा तु णायकारी, णाओ वा एस तो णातो ।
 दब्बे जावे सग्गइ, दब्बे आहारवत्थमादीहिं ॥
 जावे णाणादीहिं, संगेएइति संगहो तेणं ।
 दुविहेण संवरेणं, इंदिय-णोइंदिएसु जम्हा उ ॥
 अप्पाण गणं व तहा, संवरयति संवरो तम्हा ॥
 गणवारणमगिडाए, कुणमाणे णिज्जरेति कम्माई ।
 अन्ने य णिज्जरावे, तम्हा तो णिज्जरा होति ॥
 वातेरित्ता णई इव, एक पमाणाण तरुणमादीणं ।
 होत्ति थिरा वडंतो, तरुव थिरकरणतेणं तु ॥
 जम्हा तु अवोच्चित्ती, सो कुणती णाणचरणमादीणं ।
 तम्हा खड्डु अच्चेदं, गुणप्पसिद्धं हवति णामं तु ॥
 तित्थिकरोहिं कयमिणं, गणधारीणं तु तेहिं सीसाणं ।
 तत्तो परंपरेणं, आयमिणं तेण जीयं तु ॥
 वड्ड य णाणचरणं, गणं तु तम्हा उ तेण बुड्ढिपदं ।

स्था० ३ उ० ३ उ० । अनुमोदने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । इ० ।
निलेपोऽस्य—

से किं तं अणुशा ? । अणुशा ब्रह्मिहा पञ्चत्ता । तं जहा-
नामाणुशा ? , ठवणाणुशा २, दव्वाणुशा ३, खेत्ताणुशा ४,
कालाणुशा ५, जावाणुशा ६ । से किं तं नामाणुशा ? ।
नामाणुशा जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाणं
वा अजीवाणं वा तदुभयस्स वा तदुजयाणं वा अणुएण
प्ति नामं कीरइ, सेत्तं नामाणुशा । से किं तं ठवणाणुशा
? । ठवणाणुशा जेणं कट्टकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चि-
त्तकम्मे वा गंठिमे वा वेदिमे वा पुरिमे वा संघास्मे वा अ-
क्खए वा वरारुए वा एगओ वा अणेगओ वा, सञ्जा-
वट्टवणाए वा असम्भावठवणाए वा अणुएणत्ति ठवण-
विज्जइ, सेत्तं ठवणाणुएणा । नामद्ववणाणं को पइविसेसो ? ।
नामं आवकहियं, ठवणा इत्तिरिया वा हुज्जा आवकहिया
वा, सेत्तं ठवणाणुएणा । से किं तं दव्वाणुएणा ? । द-
व्वाणुएणा दुविह्वा पएणत्ता । तं जहा—आगमओ य, नो आ-
गमओ य । से किं तं आगमओ य दव्वाणुशा ? । आगमओ द-
व्वाणुएणा जस्स णं अणुएणत्ति पयं सिक्खियं त्रियं जियं
मियं परिजियं नामसमं धोससमं अदीणक्खरं अणक्खक्खरं
अव्वाइडक्खरं अक्खलियं अमिलियं अविच्चायेदियं पणि-
पुत्तं पडिपुन्नघोसं कंठोद्विप्पमुक्कगुरुवायणोवगयं से णं
तत्थ वायणाए पुच्छणाए पारियट्ठणाए धम्मकहाए नो अणु-
प्पेहाए कम्हाए अणुवउत्तो दव्वमिति कट्टु नेगपस्स एगे
अणुवउत्ते आगमओ य इका दव्वाणुन्ना दुन्नि अणुवउत्ता
आगमओ दुब्बि दव्वाणुएणाओ तिस्सि अणुवउत्ता आगम-
ओ तिणिण दव्वाणुएणाओ, एवं जावइया अणुवउत्ताओ
तावइयाओ दव्वाणुएणाओ । एवमेव ववहारस्स वि संग-
हस्स एगो वा अणेगो वा ठवउत्ता वा अणुवउत्ता वा द-
व्वाणुणा वा सा एगा दव्वाणुणा ठजुसुयस्स एगे अणु-
वउत्ते आगमओ एगा दव्वाणुएणा पुइत्तं नत्थि इतिहं
सइनयाणं जाणए अणुवउत्तं अवत्यकम्हा जइ जाणए
अणुवउत्ते न भवइ, जइ अणुवउत्ते जाणए ग भवइ, सेत्तं
आगमओ दव्वाणुन्ना । से किं तं नो आगमओ दव्वाणुणा
? । नो आगमओ दव्वाणा ति विह्वा पएणत्ता । तं जहा-जा-
णगसरीरदव्वाणुएणा, भवियसरीरदव्वाणुएणा, जाण-
गसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वाणुणा । से किं तं जाणग-
सरीरदव्वाणुएणा ? । जाणगसरीरदव्वाणुन्ना अणुएण
त्ति पयत्थाहिगारं जाणगस्स जं सरीरं ववगयचुयचाविय-
वत्तदेहं जीवविप्पजहं सिज्जागयं वा संथारगयं वा निसी-
हियागयं वा सिद्धसिद्धागयं वा अहोणं इमेणं सरीर-
समुत्सपणं अणुएत्ति य पयं आधवियं पन्नावियं पइवियं

दंसियं निदंसियं उवदंसियं जहा । को दिहंतो ? । अयं धय-
कुंभे आसी, अयं महुकुंभे आसी, सेत्तं जाणगसरीरदव्वा-
णुणा । से किं तं भवियसरीरदव्वाणुन्ना ? । जे जीवजोणी-
जम्मनिकवन्ते इमेणं चैव सरीरसमुत्सपणं आइत्तेणं
जिणदिट्ठो णं भावो णं अणुएणाति पयंसियकाले सि-
क्खिस्सइ, न ताव सिक्खइ जहा । को दिहंतो ? । अयं धयकुंभे
भविस्सइ, अयं महुकुंभे जविस्सइ, सेत्तं भवियसरीरदव्वा-
णुएणा । से किं तं जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता द-
व्वाणुएणा ? । जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वाणु-
णा ति विह्वा पएणत्ता । तं जहा—लोइया, कुप्पावणिया य, लो-
उत्तरिया । से किं तं लोइया दव्वाणुएणा ? । लोइया दव्वाणु-
णा ति विह्वा पएणत्ता । तं जहा—सचित्ता अचित्ता मीसिया ।
से किं तं सचित्ता ? । सचित्ता से जहा णामए रायाइ वा
जुवरायाइ वा ईसरे वा तलवरे वा मार्गलिणइ वा कोडंविणइ
वा सेट्ठीइ वा इब्बेइ वा सेणावई वा सत्थवाहेइ वा कस्सइ
कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आसं वा इत्थि वा उट्ठं वा
गोणं वा खरं वा घोडयं वा एलयं वा चलयं वा दासं वा
दामिं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं सचित्ता । से किं तं अ-
चित्ता ? । से जहा नामए रायाइ वा जुवरायाइ वा ईमरेइ
वा तलवरेइ वा कोडंविणइ वा मार्गलिणइ वा इब्बेइ वा सेट्ठीइ
वा सेणावई वा सत्थवाहेइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे स-
माणे आसणं वा सयणं वा उत्तं वा चामरं वा पदं वा
मउरं वा हिरणं वा सुवएणं वा कंसं वा मणिमुत्तियसंख-
सिलप्पवाट्ठरत्तरयणमाइयं संतमारसावज्जं अणुजाणिज्जा,
सेत्तं अचित्ता दव्वाणुएणा । से किं तं मीसिया दव्वाणु-
एणा ? । मीसिया दव्वाणुएणा से जहा नामए रायाइ वा
जुवरायाइ वा ईसरेइ वा तलवरेइ वा मार्गलिणइ वा कोडं-
विणइ वा इब्बेइ वा सेट्ठीइ वा सेणावई वा सत्थवाहेइ वा
कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे इत्थिं वा मुहंमरुणयं-
नियं आसं वा घासगं वा मरमंनियं सकंनियं दासं
वा दासिं वा सव्वाहंकारविच्चासियं अणुजाणेज्जा, सेत्तं मी-
सिया दव्वाणुणा । सेत्तं लोइया दव्वाणुएणा । से किं तं कु-
प्पावणिया दव्वाणुणा ? । कुप्पावणिया दव्वाणुणा ति विह्वा
पएणत्ता । जं जहा—सचित्ता अचित्ता मीसिया । से किं तं
सचित्ता ? । से जहा नामए आयरियाए वा उवज्जाइए
वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आमं वा
इत्थिं वा उट्ठिं वा णाणं वा खरं वा घोडं वा अयं वा एल-
गं वा चलयं वा दामं वा दासिं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं
सचित्ता कुप्पावणिया दव्वाणुणा । से किं तं अचित्ता ? ।
अचित्ता से जहा नामए आयरिएइ वा उवज्जाइइ वा
कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आसणं वा सयणं वा

भा, गुरुमाश्या उमा भिक्षा गामंतराणि अविकिञ्चाणि अश-
त्थ असञ्ज्ञादयं गुरुण सुखं पात्रगं जोगीण व अगाढेतराणं
सुखं पात्रगं, पयाणि णव सुणेंति, अत्थं सुणंति, साहवो अ-
भिणवं गुणेंति वा साहैति वा छज्जुयारैति वा सुसं गेहंति
परियहैति छज्जुयारैति वा सबाह्वुह्वलस्स वा गच्छस्स न-
त्थि तारिस्स अणं खेत्तं कारणं बहुव्वतिसंघरं ताण चेव विसो-
हिछाणं पेहंति वा न दूरं गच्छंति भासकप्यं करंता चेव चवहिं
त्थपायंयति अह पुण दव्वं वत्थं पायं दुल्लभं, खेत्तं वा न पदुच्चइ,
ताहे वहुप वि दगसंघे पेहइ, दूरं पि गच्छइ, अरुज्जायणपरेण
वि(गाहा)(आहंयणे)ते च आलंयणं विसुक्के सव्वं पि अणुणयायं
उगणं खेत्तकालं दुगुणतिगुणचउगुणवहुगुणे वा खेत्तकालाह-
कमाणुषाया पक्कप्पस्मि । एस अणुशाकप्पो । पं० चू० ।

अणुहसंवद्वियककसंग-अणुहसंवत्तितककशाङ्ग-त्रि० । मि-
क्षापरिभ्रमणाभावादुष्णलगनाभावेन संवत्तितानि वर्तुलीभू-
तानि अत एवाष्ककेशानि अङ्गानि पाणिपदपृष्ठोदरप्रभृती-
नियेषां ते अनुष्णसंवत्तितककशाङ्गाः । मिक्षाणामभावादुष्णसं-
वन्धाभावेन शीतीभूताङ्गेषु, " अणुहसंवद्वियककसंगा, गि-
रहंति जं अञ्चि न तं सहामो " इ० ३ उ० ।

अणुतद्वेद-अनुतद्वेद-पुं० । वंशस्येव द्रव्यमेवे, स्था०
१० डा० ।

अणुतद्विजायेय-अनुतद्विजायेय-पुं० । इक्षुत्वगादिवद् द्रव्य-
भेदे, प्रका० ११ पद । (तज्जेदाः 'सइद्वमेय' शब्दे वच्यन्ते)

अणुतपि (ण)-अनुतापिन्-त्रि० । अकल्पं किमपि प्रति-
लेख्य अनु पश्चाद् हा ! दुष्टु कारितमित्यादिरूपेण तपति स-
न्तापमनुभवति, इत्येवंशीलोऽनुतापी । अकल्पप्रतिसेवनाज-
न्तरं पश्चात्तापविशिष्टे, व्य० १ उ० ।

अणुताप-अनुताप-पुं० । पश्चात्तापे, आव० ४ अ० । झा० ।

अणुतावि (ण)-अनुतापिन्-पुं० । पुरः कर्मादिदोषदुष्टाहा-
रग्रहणात् पश्चाद् 'हा ! दुष्टु कृतं मया' इत्यादिमानसिकता-
पधारणशीले, इ० ३ उ० ।

अणुताविया-अनुतापिका-स्त्री० । अनुतापयतीति अनुता-
पिका । परस्यानुतापकारिकायां भाषायाम्, " अणुतावियं
खलु ते भासं भासंति " सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

अणुतप्या-अनुत्रिप्या-स्त्री० । 'अपू लज्जायाम्' उत्प्रायस्येन
अप्यते लज्जयते येन तत् उत्त्रप्यं, न उत्त्रप्यमनुत्रप्यमलज्जनीयं
यथा च शरीरशरीरमतोरभेदमधिकृत्य । अहीनसर्वाङ्गे शरीरं
संपदभेदे, " वपुलज्जाय धाऊ, अलज्जणीओ अहीणस-
व्वंगो । होई अणुण्ये सो, अविगलइदियपडिण्णुओ " ति । व्य०
२ उ० । उत्त० । इ० ।

अणुत्त-अनुत्त-त्रि० । अकथिते, ध० ३ अधि० । अभाषिते,
पं० सं० ५ झा० ।

अणुत्तर-अनुत्तर-त्रि० । उत्तरः प्रधानो नास्योत्तरो विद्यते
इत्यनुत्तरः । स्था० १० डा० । सूत्र० । अविद्यमानप्रधानतरे,
भ० ६ श० ३३ उ० । अनन्यसदृशे, आ० म० द्वि० । आचा० ।
ध० । अनुपप्रधाने, विशे० । सर्वोत्कृष्टे, अष्ट० १५ अष्ट० । प्रश्न० ।
कल्प० । आ० म० प्र० । दशा० । उत्त० । औ० ।

केवलिनो दशानुत्तराणि—

केवद्विस्स णं दस अणुत्तरा पणत्ता । तं जहा-अणुत्तरे
नाणे, अणुत्तरे दंसणे, अणुत्तरे चरित्ते, अणुत्तरे तवे,
अणुत्तरे वीरिप, अणुत्तरा खंती, अणुत्तरा मुत्ती, अणु-
त्तरे अज्जवे, अणुत्तरे मइवे, अणुत्तरे लापवे ॥

तत्र ज्ञानावरणक्षयाद् ज्ञानमनुत्तरम्, एवं दर्शनावरणक्षयाद् दर्-
शनम्, मोहनीयक्षयाद् दर्शनं, चारित्रमोहनीयक्षयाच्चारित्रं, चा-
रित्रमोहक्षयादनन्तवीर्यम्, अनन्तवीर्यत्वाच्च तपः शुक्लध्याना-
दिरूपं, वीर्यान्तरायक्षयाद्वीर्यम्, इह च तपःक्षान्तिमुक्त्यार्जव-
मार्दवलाघवानि चारित्रमेकापवेति चारित्रमोहनीयक्षयादेव
भवन्ति । सामान्यविशेषयोश्च कथंचिज्ज्ञेदाज्ञेदेनोपात्तानीति ।
स्था० १० डा० । वृद्धिरहिते च । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।
नास्त्यस्योत्तरं सिद्धान्त इत्यनुत्तरम् । यथाऽवस्थितसमस्त-
वस्तुप्रतिपादकत्वादुत्तमे, आव० ४ अ० । सूत्र० । सर्वोत्कृष्टे
भीजिनधर्मे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अणुत्तरगइ-अनुत्तरगति-त्रि० । सिद्धिगतिप्राप्ते, " एस क-
रेमि पणामं, तिथयरारणं अणुत्तरगइयं " । द० प० ४ प० ।

अणुत्तरमा-अनुत्तराद्या-स्त्री० । अनुत्तरा चासौ सर्वोत्तम-
त्वादग्न्याच लोकाग्रव्यवस्थितत्वादनुत्तराद्या । ईषत्प्राप्तभारायां
पृथिव्याम्, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणुत्तरण-अनुत्तरण-न० । न विद्यते उत्तरणं पारगमनं य-
स्मिन् सति इत्यनुत्तरणः । पारगमनप्रतिबन्धके, उत्त० १ अ० ।

अणुत्तरणवास-अनुत्तरणवास (पाश)-पुं० । न विद्यते उत्त-
रणं पारगमनमस्मिन् सतीत्यनुत्तरणः । स चाऽसौ वासश्चा-
वस्थानमनुत्तरणवासः । अनुत्तरणवासहेतुत्वाद् आयुर्धृत-
मित्यादिवदनुत्तरणवासः । यद्वा-आत्मनः पारतन्त्र्यहेतुतया
पाशयतीति पाशः, ततोऽनुत्तरणश्चासौ पाशश्चाऽनुत्तरणपाशः ।
उभयत्र च सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । संसारावस्थितौ,
पारवश्ये वा । एतच्च सम्बन्धनसंयोगस्यार्थतः फलम् ।
उत्त० १ अ० ।

अणुत्तरणाणदंसणधरे-अनुत्तरज्ञानदर्शनधर-त्रि० । कथञ्चिद्
मिच्छज्ञानदर्शनाधारे, " एवं से उदाहु अणुत्तरदंसी अणुत्तर-
णाणदंसणधरे " सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अणुत्तरणाणि (ण)-अनुत्तरज्ञानिन्-त्रि० । नास्योत्तरं प्र-
धानमस्तीत्यनुत्तरम्, तच्च तज्ज्ञानं च अनुत्तरज्ञानम्, तद-
स्यास्तीत्यनुत्तरज्ञानी । केवलिनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अणुत्तरधम्म-अनुत्तरधर्म-पुं० । नास्योत्तरः प्रधानो धर्मो
विद्यते इति अनुत्तरः । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । श्रुतचारित्राख्ये
धर्मे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अणुत्तरपरक्रम-अनुत्तरपराक्रम-पुं० । परे शत्रवः । ते च द्वि-
धा-छद्मतो मत्सरिणः, भावतः क्रोधादयः । इह भावशत्रुभिः
प्रयोजनं, तेषामेवोच्छेदतो मुक्तिभावात् । आक्रमणमाक्रमः, प-
राजय उच्छेद इति यावत् । परेषामाक्रमः पराक्रमः । सोऽनु-
त्तरोऽनन्यसदृशो यस्येति, " जिने तिथयरे भगवंते अणुत्तर-
परक्रमे अभियणाणी " । अत्र आह-ये खल्वैश्वर्यादिभगवन्तः ते

पवरं पद्मानेमेत्तं, सव्वेतिं रायदेवाणं ॥

एस अणुष्ठाकम्पो, जहाविही वणिणतो समासेणं । पं० भा० ।

तिविहाऽणुष्ठा पष्सा । तं जहा-आयरियत्ताए, उव-
ज्जायत्ताए, गणित्ताए । स्या० ३ ठा० ३ उ० ।

परं प्रति सूत्रार्थदानानुमतौ, जी० १ प्रति० । सूत्रार्थयोरन्यप्र-
दानं प्रत्यनुगमने, व्य० १ उ० । गुरोर्निवेदिते, सम्यगिदं धारया-
न्त्याऽऽध्यापयेति गुरुवचनविशेषे, अनु० । अन्त० । अनुज्ञावि-
धिस्तु योगोत्केपकायोत्सर्गवर्जः सर्वोऽप्युद्देशविधिवद्भव्यः,
नवरं, प्रवेदिते गुरुवदति-सम्यग् धारयान्तेषां च प्रवेदय, अन्या-
नपि पाठयेत्यर्थः । आवश्यकादिषु तदनुलविचारणादिप्रकी-
र्णकेष्वपि चैव एव विधिः, नवरं, स्वाध्यायप्रस्थापनं योगोत्केप-
कायोत्सर्गश्च न क्रियते । एवं सामायिकाद्यध्यायनेपूद्देशकेषु च
चैत्यवन्दनप्रदक्षिणात्रयादिविशेषक्रियारहितसप्तवन्दनक्रमदा-
नादिकः स एव विधिरिति तावदियं चूर्णिकापञ्चिखिता सामा-
चारी । साम्रतं पुनरन्यथाऽपि ताः समुपलभ्यन्ते, न च तथो-
पलभ्य संगोहः कर्त्तव्यः, विचित्रत्वात्सामाचारीणामिति । अ-
नु० । अन्त० । आ० म० चि० । (व्यतिक्रमदेशकालादौ उद्देश-
निषेधः द्वि० भा० ७११ पृष्ठे 'उद्देश' शब्दे; पञ्चानां ज्ञानानां
मध्ये भूतस्यैवाऽनुज्ञा प्रवर्तत इति 'अणुभोग' शब्दे ऽत्रैव भागे
३५३ पृष्ठे समुक्तम्) धनियशतमिपकस्यातीधवणपुनर्वसुषु
अनुज्ञा कार्य्या । द० प० ।

अणुष्ठाअ-अनुज्ञात-त्रि० । जिनानुमते, स्या० ३ ठा० ४
उ० । दत्ताङ्गे, उक्त० २३ अ० । आ० क० ।

अणुष्ठाकम्प-अनुज्ञाकम्प-पुं० । कस्मिन् काले पञ्चाप-
ज्ञातमित्येवंविधौ, पं० भा० ।

.....अहुणा वोचं अणुष्ठाकम्पं तु ।

कएही फाझे गहणं, वत्थाईणं अणुष्ठातं ॥

वत्थप्पायगहणे, वासानासाण्णिगमो सरदे ।

तिण पणम सत्त तद्गुगा, उयम्मि कप्पोदगं जाणो ॥

वत्थादीणं गहणं, णऽणुष्ठातं होति वासासु ।

वासादीणं परेणं, दुमास अणुष्ठासु गिरहंति ॥

वेतिं पुण णेतारणं, सरदे जदि दोण्हगा उयारणतो ।

दगसंघट्टजहणे, ण तिण्हि यं चैव मज्झिमा ॥

सत्ते चठ ठकोसा, गिम्हम्मि-तिण्हि पंच हेमंते ॥

वासासु य सत्त जवे, परेण खेत्तं णऽणुष्ठातं ।

अप्पोदग चि मग्गा, जं तीरीयासु वणिणतं पुच्चि ॥

तं अक्खजोयणे, दगघट्टा जाव सत्ते वा ।

वत्थप्पायगहणे, ण व संथरणम्मि पढमठाणम्मि ॥

पत्तोऽवतिकमम्मि तु, सट्ठाणा सेवणा सुच्छी ।

पढमं ताऽणुस्सग्गो, तेणं तू णवम होति खेत्तेसु ॥

वत्थादीणं गहणं, तत्थेव य होति ठ विहारो ।

एवठाणातिकमे पुण, इवई सट्ठाणतो विसुद्धो तु ॥

किं पुण तं सट्ठाणं, अववादो असति ते होति ।

अथवा एणं गहणं, ठस्सग्गो चैव होइ सो तारे ॥

गेण्हंतस्स तु करणे, सुच्छी तह चैव बोधन्वा ।

जह गेण्हतुवसग्गो, सुच्छीओ वहिस्स एव वित्तिणं ।

गेण्हंतस्स विस्सुच्छी, सट्ठाणं एवमक्खायं ।

अहवा वि इमे अणो, खव तु झाणा वियाहिता ॥

दब्बादीया इण्णो, वोच्छामी आणुप्पुव्वी सो ।

दब्बे खेत्ते काले, वसही भिक्खमंतरे णेयं ॥

सेज्झाई गुरुजोगी, एते ठाणा णिवोहिता ।

दब्बाणाहारादी-णि जाति सुल्लजाई तम्मि खेत्तम्मि ॥

खेत्तं वित्तिण्हं खट्ठु, वत्त मुयंत गगणस्स ।

वत्तणपरियट्ठंती, मुखेति अत्थं गणो तु बालादी ॥

तस्स पट्ठवति खेत्तं, आहारादीहिं संथरणं ।

तत्तियकाले चेलो, वसही जाग्गा तु तिव्वसु लज्जति ।

न विगिद्धमंतरंती, सज्जाउ सज्झ ज.हिं च सुल्लमं च ।

आयरिआण जाग्गं, विण्णेयं चैव णियेयं ।

एते त खव ठाणा, जहिं ठसग्गेण गहण तु ॥

उस्सग्गण विहारो, संथरमाणेण णवसु खेत्तेसु ।

ते सं बुधदुवहीणं, विपेस्सिया वि दगघट्टे य ॥

णवि दूरं गच्छंती, णवमस्स असंजवे वित्तिण्णं ।

दगघट्टं वट्ठुए वी, पेत्ते दूरं पि गच्छेज्जा ॥

दुल्लहम्मि वत्थपादे, ठाण वि एसुं वि णवसु गच्छेज्जा ।

एमेव विहारो वि ह, खेत्ताण सती मुणेयव्वो ॥

आलंघणे विसुच्छे, दुग्गुणं तिग्गुणं चठग्गुणं वा वि ।

खेत्तं कालातीयं, समणुष्ठातं पकप्पम्मि ॥

एस अणुष्ठाकम्पो ॥ पं० ना० ॥

इयानि अणुष्ठाकम्पो-(गाहा)-(वत्थे पाए)अणुष्ठाकम्पि काले
वत्थपायाणि वत्सव्वानि वासरत्ते तायं तेसु वत्सव्वानि, पञ्चा-
ठयाणं नाणुनायाणि निग्गयाणं पुण सरए अत्तेसु खेत्तेसु, जत्थ
गीयत्थसंविग्गेसु वासो न कम्मो तत्थ गेण्हंति, जत्थ वा गीय-
त्थेहि संविग्गेहि कम्मो तेहि गयहि धीरे पञ्चा गेण्हंति, तेसिं
पुण निगच्छत्ताणं जह अद्धं जोयणस्स अतो तिण्हि पंच सत्त
दगसंघट्टा, दगसंघट्टो नाम जाण्हट्टा तहवि अणुष्ठाकम्पं परेण
नाणुष्ठाकं जंति अप्पोदगा मग्गतिरियाए जणियं जाव सत्तसंघ-
ट्टा, एवं अद्धे जोयणे-(गाहा)-(वत्थे पाए) एवं वत्थपायमाहणे
वा तत्थसंथारए य पढमठाणं तु जसग्गेण गहणं नवसु ठाणेसु
पढमट्ठाणंति उस्सग्गेण वुत्तं होइ नवठाणवक्कमे पुण सट्ठाण-
विसोही भवइ उवहिमाइ । किंच । तं सट्ठाणं आवाए ठाइ
उस्सग्गो ताहे अववायमो गहणं । काणि पुण ताणि नव ठाणा-
णि ?-तत्थ (गाहा)-(दब्बे खेत्ते) दब्बाणि जह आहारोवकरणा-
णि खम्भंति तम्मि खेत्तं उग्गमाइ सुद्धाणि (खेत्तं चि) खेत्तं विच्छि-
त्तं मडाजणपाउग्गं अन्नं च तारिसं नत्थि खेत्तं (काले चि) तह-
याए पोसिरीए भिक्खवेज्जा (वसिहि चि) वसिहिया उग्गा हेमंत-
गिम्हवासपाठमा नत्थि नपुंसगाइ दोसरहिया भिक्खा सुख-

ध्याणां चैव गणधरादीनाम् । किञ्चैतानामत आह-अमणगणप्रव-
रगन्धहस्तिनां, अमणोत्तमानामित्यर्थः । तथा स्थिरयशसां, तथा
परीषहसैन्यमेव परीषहघृन्दमेव, रिपुबलं परचक्रं, तत्प्रमदनां,
तथा द्ववद्वाभिरिव, दीप्तान्युज्ज्वलानि, पाठान्तरेण 'तपोदीप्ता-
नि' यानि चारित्रज्ञानसम्यक्त्वानि, तैः साराः सफलाः, विविध-
प्रकारविस्तारा अनेकविधप्रपञ्चाः । प्रशस्ताश्च ये क्षमादयो गु-
णाः तैः संयुतानाम् । कचिद् 'गुणध्वजानामिति' पाठः । तथा अ-
नगाराश्च ते महर्षयश्चेत्यनगरमहर्षयः, तेषामनगरगुणानां वर्ण-
कः श्लाघा, आख्यायत इति योगः । पुनः किञ्चैतानां जिनशि-
ष्याणाम् ? उत्तमाश्च ते जात्यादिभिर्वरतपसश्च ते च ते विशिष्ट-
ज्ञानयोगयुक्ताश्चेत्यतस्तेषामुत्तमवरतपोविशिष्टज्ञानयोगयुक्ता-
नाम् । किञ्च । अपरे यथा च जगत्तितं भगवत इत्यत्र जिनस्य शा-
सनमिति गम्यते । यादृशाश्च श्रुद्धिविशेषा देवासुरमानुषाणां,
रत्नोज्ज्वलक्षयोजनमानविमानरचनं सामानिकाद्यनेकदेवदेवी-
कोटिसमवायनं, मणिरत्नरुमरिक्तदण्डप्रचलत्पताकिकाश-
तोपशोमितमहाध्वजपुरःप्रवर्तिनं, विविधाऽऽस्तोद्यनादगगनाभो-
गपुरणं, चैवमादिवक्षणाः, प्रतिकल्पितगन्धसिन्धुरस्कन्धारोहणं
चतुरङ्गसैन्यपरिवारणं कूत्रचामरमहाध्वजादिमहाराजचिह्न-
प्रकाशनं, चैवमादयश्च सम्यग्विशेषाः समवसरणगमनप्रवृ-
त्तानां, वैमानिकज्योतिष्काणां भवनपतिव्यन्तराणां, राजादि-
मनुजानां च । अथवा अनुत्तरोपपातिकसाधूनाम्, ऋक्वि-
शेषा देवादिस्मयन्धिनस्तादृशा 'आख्यायन्ते' इति क्रियायो-
गः । तथा पर्पदां 'संजयवेमाणित्थी संजयपुत्रेण पविसिञ्चो
वीरं' इत्यादिनोक्तस्वरूपाणां प्रादुर्भावाश्च आगमनानि, क ?-
(जिनवरसमीपे चित्) जिनसमीपे, यथा च येन प्रकारेण, पञ्च-
विध्याभिगमादिना (उपासमीवन्ति) उपासते सेवन्ते राजा-
दयः, जिनवरं तथा 'ख्यायते' इति योगः । यथा च परिक्रमय-
ति धर्मं, लोकगुणरिति जिनवरः, अमरनरासुरगणानां श्रुत्या च
'तस्येति' जिनवरस्य भाषितं, अवशेषाणि क्षीणप्रायाणि, कर्मा-
णि येषां ते तथा । ते च ते विषयविरक्ताश्चेति, अवशेषकर्मवि-
षयविरक्ताः किं ? नराः किम् ? यथा अभ्युपयन्ति धर्ममुदारम् ।
किंस्वरूपमत आह-संजयं तपश्चापि । किञ्चैतमित्याह-बहुविध-
प्रकारं तथा, यथा बहूनि वर्षाणि (अणुचरिय चित्) अनुचर्य
आसेव्य, संयमं तपश्चेति वर्त्तते । तत आराधितज्ञानदर्शनचा-
रित्रयोगाः । तथा (जिनवयणमणुगयमहियभासिय चित्) जिनव-
चनमाचारादि, अनुगतं संवत् नार्दवितर्दमित्यर्थः ; महितं पू-
जितम्, अधिकं वा भाषितं वैरक्ष्यापनादिना ते तथा । पाठान्तरे-
जिनवचनमणुगत्याऽऽनुकूल्येन सुपुभाषितं यैस्ते जिनवचनानुगा-
तिनुभाषिताः । तथा [जिनवराण हियपण मणुणेत चित्] इति
षष्ठी द्वितीयाथ । तेन जिनवरान् हृदयेन मनसा अनुनीय प्राप्य
ध्यात्वेति यावत् । ये च यत्र यावन्ति च भक्तानि च्छेदयित्वा ल-
ब्ध्वा च समाधिमुत्तमभ्यानयोगयुक्ता उपपन्ना मुनिवरोत्तमाः
यथा अनुत्तरेषु, तथा 'ख्यायते' इति प्रक्रमः । तथा प्राप्नुव-
न्ति यथाऽनुत्तरं (तस्य चित्) अनुत्तरविमानेषु विषयसुखं, तथा
ख्यायन्ते (ततो य चित्) अनुत्तरविमानेभ्यः क्रुन्ताः क्रमेण करि-
ष्यन्ति, संयता यथा चान्तः क्रियन्ते तथा ख्यायन्ते । स० ॥

से किं तं अणुत्तरोववाइयदसाओ ? । अणुत्तरोववाइयद-
साएमु णं अणुत्तरोववाइयाणं नगरां उज्जाणां चैइयां
वणखंनं संमोसरणां रायाणो अस्मापियरो वम्मायारि-

या धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइया इहिविसेसा भोगप-
रिच्चाया पव्वज्जाओ परियागा सुयपकिग्गहा तवोवहाणां
पमिमाओ उवसग्गसंलैहणाओ भत्तपच्चवखाणां पाओवग-
मणां अणुत्तरोववाइ चित् उववत्तीसु कुलपचायाइओ पुण वो-
हिलाभा अंतकिरियाओ य आघविज्जंति अणुत्तरोववाइयद-
साणं परिच्चा वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेह्वा
संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ
संगहणीओ संखिज्जाओ पमिवत्तीओ से णं अंगट्टयाए न-
वमे अंगे एगे सुयखंथे तिभि वग्गे तिभि उदेसणकाला तिभि
समुदेसणकाला संखिज्जां पयसहस्सां पयगेणं संखि-
ज्जा अक्खरा अणंताऽऽग्गमा अणंता पज्जवा परिच्चा तसा
अणंता थावरा सासयकरुनिवध्निकाइया जिणपत्तता
प्पावा आघविज्जंति पप्पाविज्जंति परुविज्जंति दंसिज्जंति
निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, से एवं आया एवं नाया एवं
विन्नाया एवं चरणकरणपरुवणा आघविज्जइ, सेत्तं अणु-
त्तरोववाइयदसाओ ॥

(अणुत्तरोववाइयदसासु णमित्यादि) पाठसिद्धं यावदभिगमनम्,
नवरम्, अध्ययनसमूहो वर्गः । वर्गे च वर्गे च दश दशाध्ययनानि,
वर्गश्च युगपदेवोद्दिश्यते इति । त्रय एव उद्देशनकालाः, त्रय एव
समुद्देशनकालाः, संख्येयानि च पदसहस्राणि, सहस्राष्टाधिक-
पदचत्वारिंशद्वक्त्रप्रमाणानि वेदितव्यानि ॥ न० ।

अणुदत्त-अनुदात्त-पुं० । न उदात्तः, विरोधे नञ् । 'नीचैरनु-
दात्तः' पा० ॥ १२३० ॥ इति लङ्किते तादृवादिषु सभागेषु-स्थानेषु-
भागे निष्पन्ने स्वरभेदे, यथा नीचैः शब्देन 'जे निक्खू इत्थकम्मं
करेइ' इत्यादि । वृ० १ वृ० ।

अणुदय-अनुदय-पुं० । वेलाप्राकाले, द्वा० ७ द्वा० ।

अणुदयवयुकिद्धा-अनुदयवयुत्कुष्टा-स्त्री० । यासां विपाको-
दयामावे बन्धादुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मवासिः ; तासु कर्मप्रकृति-
षु, पं० सं० ३ द्वा० । ताश्च 'नारयतिरिखरलदुगुं' इत्यादि-
गाथया 'कम्म' शब्दे वृ० भा० २७६ पृष्ठे दर्शिताः)

अणुदयवर्द्ध-अनुदयवती-स्त्री० । " चरिमसमयस्मि दवियं,
जासिं अन्नत्थ संकमे ताओ । अणुदयवर्द्ध " यासां प्रकृतीनां
दलिकं चरमसमयेऽन्त्यसमये, अन्यत्राऽन्यप्रकृतिषु, स्तिवुकसं-
क्रमेण संक्रमयेत्, संक्रमस्य चान्यप्रकृतिव्यपदेशेनानुभावतः
स्वोदयेन तावत्युदयवत्योऽनुदयवती संज्ञा । इत्युक्तवक्षणासु
कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वा० ।

अणुदयसंकमुकिद्धा-अनुदयसंकमोत्कुष्टा-स्त्री० । यासामनु-
दयसंकमत उत्कृष्टस्थितिलाजः तासु कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३
द्वा० । ('कम्म' शब्दे वृ० भा० ३३० पृष्ठे चासां स्वरूपमावेदयिष्यते)
अणुदरंभरि-अनुदरंभरि-पुं० । अनात्मस्मरौ, द्वा० ६ द्वा० ।

अणुदवि-देशी-कणरहिते, निरवसरे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अणुदहमाण-अनुदहत्-त्रि० । निसर्गानन्तरमुपतापयति,
स्था० १० द्वा० ।

अणुत्तरपराक्रमौ एव, तन्मन्त्रेण विवक्षितभगासंभवात्, ततोऽ-
णुत्तरपराक्रमानित्येतदतिरिच्यते । नैव दोषः-अस्य अनादि-
सिद्धैश्वर्यादिसमन्वितपरमपुरुषप्रतिपादनपरनयवादिनपेध-
परत्वात् । तथाहि-कैश्चिदणुत्तरपराक्रमत्वमन्त्रेणैव हिरण्यग-
र्भादीनामनादिविवक्षितभगयोगोऽभ्युपगम्यते । उक्तं च-“ज्ञा-
नमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च,
सहसिद्धं चतुष्टयम् ” ॥ १ ॥ इत्यादि । अ० म० प्र० ।

अणुत्तरपुष्पसंज्ञार-अणुत्तरपुष्पसंज्ञार-पुं० । अनुत्तरः सर्वो-
त्तमहेतुत्वात् तत्कार्यात्पुष्पसंज्ञारः तीर्थकरनामकर्मलक्षणो
येषां ते तथा । तीर्थह्रस्वः, पं० सू० ४ सूत्र ।

अणुत्तरविमाण-अणुत्तरविमान-न० । नैयामन्यानुत्तराणि विमा-
नानि सन्तीत्यनुत्तरविमानानि । चतुर्दशदेवलोकास्तद्व्यानुत्त-
रोपपातिकदेवविमानेषु, अनु० (अथ वक्तव्यं 'विमान' शब्दे वक्ष्यते)
“कइ णं जंते ! अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! पंच अणु-
त्तरविमाणा पण्णत्ता । ते णं जंते ! किं संखेज्जवित्थना असंखेज्ज-
वित्थना य ? । गोयमा ! संखेज्जवित्थना य असंखेज्जवित्थना
य ” । म० १३ श० ३ उ० । “कइ णं मंते ! अणुत्तरविमाणा पण्ण-
त्ता ? । गोयमा ! पंच अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता । तं जहा-विजय,
वेजयंते, जयंते, अपराजिय, सव्वडसिद्धे य ” । म० १३ श० ६ उ० ।

अणुत्तरोववाइय-अणुत्तरोपपातिक-पुं० । अनुत्तरेषु सर्वोत्त-
मेषु विमानविशेषेषु उपपातो जन्मानुत्तरोपपातः ; स विद्यते
येषां तेऽणुत्तरोपपातिकाः । अ० । उत्तरः प्रधानः । नात्योत्तरो
विद्यते इत्यनुत्तरः । उपपत्तनमुपपातो जन्मेत्यर्थः, अनुत्तरास्ता-
वुपपत्तनमेत्यनुत्तरोपपातः ; सोऽस्ति येषां तेऽणुत्तरोपपातिकाः ।
सर्वाधिसिद्धादेविमानपञ्चकोपपातिषु, । सा० १० श० । विज-
याद्यनुत्तरविमानवासिनि, स० १ सम० ।

अणुत्तरोपपातिकानामनुत्तरोपपातिकत्वम्-

अत्थि णं जंते ! अणुत्तरोववाइया देवा । हुंता ! अत्थि ।
से कण्ठे णं जंते ! एवं वुच्चइ अणुत्तरोववाइया देवा ? ।
गोयमा ! अणुत्तरोववाइयाणं अणुत्तरा सदा अणुत्तरा
रूवा जाव अणुत्तरा फासा, से तेण्डे णं गोयमा ! एवं
वुच्चइ जाव अणुत्तरोववाइया देवा ॥

(अत्थि णमित्यादि) (अणुत्तरोववाइयत्ति) अनुत्तरः
सर्वप्रधानोऽणुत्तरशब्दादिविषययोगादुपपातो जन्मानुत्तरोप-
पातः, सोऽस्ति येषां ते अनुत्तरोपपातिकाः । म० १४ श० ७ उ० ।

देवा अणुत्तरोपपातिकस्य-

से किं तं अणुत्तरोववाइया ? । अणुत्तरोववाइया पंच-
विहा पण्णत्ता । तं जहा-विजया, वैजयंता, जयता, अप-
राजिया, सव्वडसिद्धा । ते समासओ दुविहा पण्णत्ता ।
तं जहा-पञ्जत्तगा य अपञ्जत्तगा य । प्रज्ञा १ पद ।

(अन्तक्रियाद्योऽस्य स्वस्थान एव दृश्याः)

उच्यत्वम्-

अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं एगा रयणी उहं उच्यते-
णं पण्णत्ता ।

(एगा रयणि स्ति) इत्तं यावत्, कौशं कौटिल्येन नदी इति व-
दिह द्वितीया । (उहं उच्यते णं स्ति) वस्तुनो ह्यनेकयोश्चत्वमूर्ध्व-

स्थितस्यैकस्य, अपरं तिर्यक्स्थितस्य, अन्यद्वगुणोन्नतिक्रमः । सा०
१ श० । विजयादिविमानेषूपपात्तिमत्सु साधुषु, स्था० ८ श० ।

अणुत्तरोववाइया णं जंते ! देवा केवइएणं कम्मावसेसेणं
अणुत्तरोववाइयदेवताए उववणा ? । गोयमा ! जावइयं
उहं जत्ति ए समणे णिगंथे कम्मं णिज्जेरेइ, एवइएणं
कम्मावसेसेणं अणुत्तरोववाइयदेवताए उववणा ॥

(जावइयं उहं जत्ति ए इत्यादि) किल पञ्चमकिकः सुसाधु-
र्यावत्कर्म कृपयति, एतावता कर्मावशेषेणानिर्जीर्णेनाऽणुत्तरोप-
पातिका देवा उत्पन्ना इति । म० १४ श० ७ उ० ।

अणुत्तरोववाइयदसा-अणुत्तरोपपातिकदशा-स्त्री० । व० व० ।

अणुत्तरोपपातिकवक्तव्यताप्रतिबद्धा दशा दशाऽध्ययनोपलक्षि-
ता दशाध्ययनप्रतिबद्धप्रथमवर्गयोगाद्दशा ग्रन्थविशेषोऽणुत्तरोप-
पातिकदशा । स्था० १० श० । अनु० । नवमेऽङ्के, मं० पा० स० ।

से किं तं अणुत्तरोववाइयदसाओ ? । अणुत्तरोववाइयद-
सासु णं अणुत्तरोववाइयाणं नगराई उज्जाणाई चेइयाई
वणखंडाई रायाणो अम्मापियरो समोसरणाई धम्मायारि-
या धम्मकहाओ इहलोगपरलोइया इड्डिविसेसा भोगपरिखा-
या पव्वज्जाओ सुयपरिगहा तवोवहाणाई परियागो प-
णिमाओ संसेहणाओ जत्तपाणपव्वक्खाणाई पोंओवगम-
णाई अणुत्तरोववाओ सुकुलपच्चाओ पुण बोहिंसाहो अं-
तकिरियाओ आधविजंति अणुत्तरोववाइयदसासु णं ति-
त्थकरसमोसरणाई परममंगलजगहियाई जिणातिसेसा य व-
हुविसेसा जिणसीसाणं चैव समणणपवरगंधहत्थीणं धि-
रजसाणं परिसहसेसरिउववणपइणाणं तवदिच्चरित्तणा-
ण सम्मत्तसारविविहप्पगारपसत्थगुणसंजुयाणं अणगारम-
हरिसीणं अणगारगुणाण वण्णओ उत्तमवरतवविसिच्छणाण
जोगजुत्ताणं जह य जगहियं भगवओ जारिसा इड्डिविसे-
सा देवासुरमाणुसाणं परिसाणं पाउज्जाओ य जिणसमीवं
जह य उवासंत जिणवरं, जह य परिकहंति धम्मं, लोमगु-
रू अमरनरसुरगणाणं सोऊण य तस्स जासियं अवसेसकम्म-
विमयविरत्ता नरा जहा अब्भुवेति, धम्ममुदालं संजमं तवं वा
विबुहुविहप्पगारं जह वहुणि वासाणि अणुत्तरित्ता आराहि-
यनाणदंसणचरित्तजोगा जिणवयणमाणुगयमाहियसुभासिय-
त्ता जिणवराण हियवेण मणुणेतता जे य जहि जात्तिया-
णि जत्ताणि उअइत्ता लक्खं य समाहिमुत्तमज्जाणजो-
गजुत्ता उववणा मुणिवरोत्तमा; जह अणुत्तरएसु पावंति
जह अणुत्तरं तत्थ विसयसोक्खं तओ य जुआ कमेण का-
हिति संजया जहा य अंतकिरियं एए अन्ने य एवमाइत्था
वित्थरेण ॥

अणुत्तरोपपातिकदशासु तीर्थकरसमवसरणानि । किं ज्ञूतानि ?
परममाङ्गल्यजगत्तानि, जिनातिशेषाश्च यदुविशेषाश्च “ देहं
विमज्जसुयं ” इत्यादयश्चतुस्त्रिंशदधिकतरा वा, तथा जिनाति-

अणुपा (वा) यद्-अनुपातन-न० । अनु-पत-णिच्-स्युद् ।
अवतारणे, ध० २ अधि० ।

अणुपालंत-अनुपाद्ययत्-त्रि० । अनुभवति, “ साया सोक्ल-
मणुपालंतं ” शतं सुखमनुपालयताऽनुभवता । सुखास-
क्तमनसेत्यर्थः । पा० । प्रतिपालयति, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अणुपा (वा) लण-अनुपालन-न० । शिष्यगणरक्षणे, तच्चाकु-
र्वतो दोषः । ध० ३ अधि० । अनुपालने तु शासनप्रत्यनीकत्वादि-
दोषा एव । यतः पञ्चवस्तुप्रकरणे-“ इत्थं पमायस्त्रिलिया, पु-
व्वभासेण कस्त व ण होति । जो तेण वेइ सम्मं, गुरुत्तणं तस्स
सफलं ति ॥१॥ को णाम सारहीणं, सहोज्ज जो भइवाइणो
दमए । दुट्ठे वि अ जे आसे, दमेइ तं आसिअं विंति ॥२॥ जो
आयरेण पढमं, पुव्वा वेऊण नाणुपालेइ । सेहे सुत्तविहीण,
सो पवयणपच्चणीओ स्ति ॥३॥ अवि को वि अपरमत्था, विरु-
द्धमिह परमवे असेवं वा । जं पारिवि अणत्थं, सो खलु तप्प-
व्वओ सव्वो ” स्ति ॥४॥ ध० ३ अधि० ।

अणुपा (वा) लणाकम्प-अनुपालनाकम्प-पुं० । आचार्यं
कथञ्चिद् विपक्षे गणरक्षणविधौ, पं० भा० ।

स चैवम्-

..... अहुणा अणुपालणाकम्पं ।

संखेवसमुद्दिष्टं, बोच्चाभि अहं समासेण ॥
मोहतिगिच्छाएँ गते, णट्ठे खेत्तादि अहं व कालगते ।
आयरिए तम्मि गणें, पालादीरक्खणट्ठाए ॥
कोवि गणी उवणिज्जो, सन्नति जंति तस्स कोवि सीसो तु ।
सुत्तत्थतदुभएहिं, णिम्माओ सो उवेयव्वो ॥
असती य तस्स ताहे, उवेयव्वा कमेण मेणं तु ।
पव्वज्ज कुले णाणे, खेत्ते सुहिदुक्खमुत्तसीसो ॥
गुरु गुरुणं तं तू वा, गुरुमज्जिज्जुव व्व तस्स सीसो तु ।
पव्वज्ज एगपक्खी, एमादी होति णायव्वो ॥
असतीएँ कुञ्जओ वी, तस्स सतीएसु एगपक्खीओ ।
खेत्ते उवसंपन्नै, तस्स सतीए उवेयव्वो ॥
सुहदुक्खियस्स असती, तस्स सतीए सुतोवसंपन्नो ।
एवं त्रियाण तेहिं, सीसम्मि तु मग्गणा णत्थि ॥
पानिच्च गणधरे पुण, उविए तहियं तु मग्गणा इणमो ।
सुत्तत्थमहिज्जंते, अणहिज्जंते इमे जागा ॥
साहारणं तु पढमे, वितिए खेतम्मि ततिएँ सुहदुक्खे ।
अणहिज्जंते मीसे, सेसे एकारस विजागा ॥
पुव्वुद्दिङ्गणस्स तु, एत्थुद्दिष्टं पवाइयंतस्स ।
पुव्वं पच्चुद्दिष्टे, सीसम्मि तु जं तु होति सच्चित्तं ॥
संवच्चरम्मि पढमे, तं संव्वगणस्स आहवति ।
पुव्वुद्दिङ्गणस्सा, पच्चुद्दिष्टं पवाइयंतस्स ॥
संवच्चरम्मि वितिए, सीसम्मि तु जं तु सच्चित्तं ।
पुव्वं पच्चुद्दिष्टे, सीसम्मि तु जं तु होति सच्चित्तं ॥
संवच्चरम्मि ततिए, एतं संव्वं पवाइयंतस्स ।

पुव्वुद्दिष्टं गच्छे, पच्चुद्दिष्टं पवाइयंतस्स ॥

संवच्चरम्मि पढमे, सिस्सिणिणं जं तु सच्चित्तं ।

संवच्चरम्मि वितिए, तं संव्वपवाइयंतस्स ॥

पुव्वं पच्चुद्दिष्टे, पानिच्चियाए उ जं तु सच्चित्तं ।

संवच्चरम्मि पढमे, तं संव्वपवाइयंतस्स ॥

खेत्तुवसंपायरिओ, सुहदुक्खी चैव जति तु सौ उविओ ।

कुञ्जगणसंधिओ वा, तस्स वि सइ होति उ विवेगो ॥

संवच्चराणि तिणिणं उ, सीसम्मि पडिच्चियम्मि तद्विसं ।

एककुञ्जगणिचे, संवच्चर संघ ढम्मासो ॥

तत्थेव य णिम्माए, अणिगए णिगए इमा मेरा ।

सकुले तिणिह तिपाइं, गणें दुगं वच्चरं संघे ॥

ओमादिकारणेहिं, दुम्मेहत्तेण वा ए णिम्मातो ।

काउण कुलसम्मायं, कुलयेरे वा उवट्ठेति ॥

णव हायणाइं ताहे, कुञ्जं तु सिक्खावए पयत्तेणं ।

ण य किंचि तेसिं गेएहति, गणो दुगं एगसंधो तु ॥

एवं तु दुवाइसहिं, समाहिं जदि तत्थ कोवि णिम्मातो ।

तो णिति अणिम्माए, पुण वि कुञ्जादी उवट्ठाणा ॥

तेणेव कमेणं तु, पुणो समाओ हवन्ति वारस तू ।

णिम्माए विहरन्ती, इहरकुञ्जादी पुणोवट्ठा ॥

तह वि य वारसमासो, सीसस्स वि गणधरो होइ ।

तेण परमनिम्माए, इमा विही होइ तेसिं तु ॥

इत्तीसातिकंते, पंचविहु व्व संपदा पत्तो ।

पच्चा पत्तं तुक्कं-पदे पव्वज्जएसु एगपक्खम्मि ॥

पव्वज्जाएसु तेण य, चउभंगो होति एगपक्खम्मि ।

पुव्वाहित वीसरिए, पढमा साति तत्थियजंगेणं ॥

संव्वस्स वि कायव्वं, णिच्चयओ कंकुलं व अकुलं वा ।

काञ्जसञ्जावमत्ते, गारवज्जज्जाएँ काहिंति ॥

एसडणुपाद्यणकम्पो । पं० भा० ।

आयरिया णट्ठावए, आयरिए नट्ठे वा, मोहतिगिच्छाए वा, प-
क्खित्तचित्ते वा, कालगए वा, तस्स य सवालुव्वुओ तस्स ग-
च्छस्स को गणधारी कायव्वो?, तत्थ(गाहा)(पव्वज्जा)जो जस्स
सीसो निम्माएल्लओ तस्स सइ जो पव्वज्जगणपक्खिओ पित्थिय-
ओ पित्थियपुत्तो वा तस्स सइ कुञ्जव्वओ तस्स सइ नाणेगप-
क्खिओ एगवायणिओ तस्स जो तम्मि खेत्ते उवसंपन्नओ आ-
यरिओ सुहदुक्खिओ वा सुयनिमित्तं वा जां तत्थ एगल्लओ
पक्खिओ पयसि उविचारं अहिज्जंताणं कस्स किंवा जवइ,
सीसे ताव उविपल्लए का कहा?, सेसेसु अणहिज्जंतेसु परि-
च्छए उविए आयरिएण निम्मविपल्लए कुञ्जगणसंघत्तिए वा जो
सो आयरिओ उविओ नाऊण य बोच्चेयं सो कुलिब्व पाइत्तम्मि
अत्थं ते चैव आयरिया कालगया ते वि आयरियेण तं निमित्तं
चैव सीसवक्कावरं तम्मि ममत्तं करंता एस अम्हं सज्जंतिओ सो
वि एए मम सज्जंति एत्ति काऊण ममत्तं करेइ, एवं सो निम्मा-

अणुदिक्षण-अनुदीर्ण-न०। न० त० । अनागतकाले उदीरणा-
रहिते चिरेण भविष्यदुदीरणेऽभविष्यदुदीरणे वा कर्मणि, भ०
१ श० ३ उ० ।

अणुदिसा-अनुदिक्-स्त्री० । आग्नेयादिकायां विदिशि, कल्प० ।

आचा० । “पाङ्गपनिष्पद्यं वा वि, उहं अणुदिसामवि” दश०
६ अ० । आचार्योपाध्यायपदद्वितीयस्थानवर्तित्वे, व्य० २ उ० ।
(‘उद्देश’ शब्दे द्वि० जा० ८०८ पृष्ठे उद्देशो षट्यते)

अणुद्विद्वि-अनुद्विष्ट-त्रि० । यावन्तिकादिमेवजाते, प्रभ० १
संख० द्वा० ।

अणुद्धरिक्तुं-अनुद्धरिक्तुं-पुं०-स्त्री० । अनुद्धरीनामके
कुन्युजीवे, वृ० १ उ० । स्या० । स हि चक्षुःश्रेय विभाव्यते न
स्थितः, सूक्ष्मत्वादिति । स्या० ७ ठा० । “जंरयिणं च णं समणे
भगवं महावीरे जाव सव्वदुक्खप्पदीणे तं रयणिं च णं कुंयु-
अणुद्धरीनामं समुप्पन्ना, जा तिया अचलमाणा णिग्गंथाण य
णिग्गंथीण य नो चक्खुप्पासं हव्वमागच्छइ, जा तिया चल-
माणा छउमत्थाणं निग्गंथाण य निग्गंथीण य चक्खुप्पासं
हव्वमागच्छइ” । कल्प० । (‘वीर’ शब्दे व्याख्यास्यते चैतत्)

अणुद्धय-अनुद्धूत-त्रि० । अनुद्धयेण वादनार्थमुत्कृष्टोऽनुद्ध-
तः । वादनार्थमेव वादकैरत्यक्ते मृदङ्गादौ, ज्ञा० १ अ० विपा० ।
जं० । “अणुद्धममुद्धगा” अनुद्धताऽनुद्धयेण वादनार्थमुत्कृष्टा,
अनुद्धता वादनार्थमेव वादकैरत्यक्ता, मृदङ्गा मर्दता यस्यां सा
तथा । ज्ञा० १ अ० । विपा० । भ० । कल्प० । यत्र आनुद्धयेण
यथामार्दङ्गिकविधिकद्वता वादनार्थमुत्कृष्टा मृदङ्गा मर्दताः
सन्ति । जं० ३ वक्र० ।

अणुधम्म-अणुधर्म-पुं० । बुद्धसाधुधर्मापेक्षयाऽगुह्यो धर्मो-
ऽगुधर्मः । देशविरतौ, विशेष० । आ० भ० द्वि० ।

अणुधर्म-पुं० । अनुगतो मोक्षं प्रत्यनुकूलो धर्मोऽणुधर्मः । अहि-
सालक्षणे, परीपहोपसर्गसहनसङ्गणे वा धर्मे, “यसोऽणुधम्मो
मुणिणा पवेदिओ” सूत्र० १ भु० २ अ० १ उ० । अनु पश्चाद्
धर्मोऽणुधर्मः । तीर्थकरानुष्ठानादनन्तरं चर्यमाणे धर्मे, “यसो
ऽणुधम्मो इह संजयाणं” सूत्र० २ भु० ६ अ० । नि० चू० ।
(स यथा पूर्वैराचार्ये तथाऽनुचरणीयमिति ‘अणाइय’ शब्दं
ऽत्रैव ज्ञाने ३०५ पृष्ठे उक्तम्)

अणुधम्मचारि (ण)-अणुधर्मचारिन्-पुं० । तीर्थकरप्रणीत-
धर्मानुष्ठायिनि, “जंसी विरता समुट्ठिया, कासवस्स अणुधम्म-
चारिणो” काश्यपस्य श्रुतमस्वामिनो धर्मानस्वामिनो वा
संबन्धी यो धर्मः, तदनुचारिणस्तीर्थकरप्रणीतधर्मानुष्ठायिनि
इत्यर्थः । सूत्र० १ भु० २ अ० २ उ० ।

अणुपथ-अनुपथ-पुं० । मार्गान्यर्थे, वृ० २ उ० ।

अणुपत्त-अनुप्राप्त-त्रि० । पश्चात्प्राप्ते, उक्त० ३ अ० ।

अणुपयाहिणीकरेमाण-अनुप्रदक्षिणीकुर्वाण-त्रि० । आनुक-
ल्येन प्रदक्षिणीकुर्वाणे, रा० ।

अणुपरियट्ठण-अनुपरिवर्त्तन-न० । पौनःपुन्येन प्रमणे, भ० १
शा० ७ उ० । पाद्वर्ततो प्रमणे, सूत्र० १ भु० ६ अ० । घटीयन्त्रन्या-
येन प्रमणे, आचा० १ भु० ५ अ० १ उ० । न० । “दुक्खान-
मेव आवट्ठं अणुपरियट्ठरं चि” । दुःखानां शारीरमानसज्ञाना-

भावसंघः पौनःपुन्यजननमनुपरिवर्त्तते, दुःखाप्रतीवमग्नो बभ्रमस्य-
ते । आचा० १ भु० २ अ० ३ उ० ।

अनुपर्यटन-न० । भूयोज्यस्तत्रैवागमने, “संसारपारकंखीत्ते
संसारं अनुयट्ठंति” । संसारमेव चतुर्गतिकसंसाररूपम्, अनु-
पर्यटन्ति । सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० ।

देवे णं जंते ! महिद्विणं जाव महेसक्खे पच्चू ! दवणसमुद्धं
अणुपरियट्ठिचाणं हव्वमागच्छिचणं ! हंता । पच्चू ! देवे णं
जंते ! महिद्विणं एवं धायइ संरुदीवं जाव हंता पच्चू ! एवं
जाव रुयगवरं दीवं जाव हंता पच्चू ! तेण परं वीद्विणं जा
णो चेव णं अणुपरियट्ठिजा ॥

(वीद्विणं चि) एकथा दिशा व्यातिक्तामेव (नो चेव णं
अणुपरियट्ठिचि) नैव सर्वतः परिभ्रमेत्, तथाविधप्रयोजना-
भावादिति संज्ञायते । ज० १८ श० ७ उ० ।

अणुपरियट्ठमाण-अनुपरिवर्त्तमान-त्रि० । एकैन्ध्रियादिषु पर्यट-
ति, जन्मजरामरणानि वा बहुशोऽनुभवति । सूत्र० १ भु० ७ अ० ।
अरघट्टघटीन्यायेन वर्तमाने, आचा० १ भु० २ अ० ३ उ० । जी० ।
अणुपरियट्ठिचा-अनुपरिवर्त्य-अव्य० । सामस्त्येन परिभ्रम्येति
प्रादिक्रियेन परिभ्रम्येति वाधे, जी० ३ प्रति० ।

अणु (नु) परिहारि (ण)-अ (णु) नुपरिहारिन्-पुं० ।
परिहारिणः अणु स्तोकं प्रतिहेज्जनादिषु साहाय्यं करोतीति
अणुपरिहारी । यत्र यत्र भिक्षादिनिमित्तं परिहारी गच्छति
तत्र तत्र अनु पश्चात् पृथतो भ्रमः सन् गच्छतीत्यनुपरिहारी ।
व्य० १ उ० । परिहारिकाणामनुचरे, विशेष० । (यथा च अनु-
परिहारिकाणां परिहारिकत्वेवा कर्त्तव्या तथा ‘परिहार’
शब्दे षट्यते) निर्विष्टे, आसेधितविवक्षितचारित्र्ये च । स्या०
३ ठा० ४ उ० ।

अणुपविसंत-अनुप्रविशत्-त्रि० । अनु पश्चाद्भावे चरकादिषु
निर्वृत्तेषु पश्चात्पाककरणकालतो वा पश्चाद् भिक्षार्थं प्रवेशं
कुर्वति, नि० चू० २ उ० ।

अणुपविसिन्ना-अनु(णु)प्रविश्य-अव्य० । अनुकूलं स्तोके वा
प्रविश्येत्यर्थे, नि० चू० ७ उ० ।

अणुपवेस-अनु(णु)प्रवेश-पुं० । अनुकूले स्तोके वा प्रवेशे,
नि० चू० ७ उ० ।

अणुपस्सि (ण)-अनुदर्शिन्-पुं० । अनु द्रष्टुं शीलमस्येत्य-
नुदर्शी । पर्यालोचके, “यथाणुपस्सी णिज्झोसइत्ता” एत-
दनुदर्शी भवति, अतीतानागतसुखामिलायी न भवतीति
यावत् । आचा० १ भु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुपस्सिय-अनुदृश्य-अव्य० । पर्यालोच्येत्यर्थे, सूत्र० १
भु० २ अ० २ उ० ।

अणुपाण-अणुप्राण-त्रि० । अणवः सूक्ष्माः प्राणाः प्राणिनो
येषु ते अणुप्राणाः । सूक्ष्मजन्तुयुक्ते, “जययं विहराहिजोगवं,
अणुपाणा पंथा उरुत्तरा” सूत्र० १ भु० २ अ० १ उ० ।

अणुपा (वा) यकिरिया-अनुपातक्रिया-स्त्री० । प्रमत्तसंय-
तानामपक्षपातं प्रत्येकगुणसंपातिमसत्त्वानां विनाशात्मके
क्रियाभेदे, आ० चू० ४ अ० ।

मित्तं ओसइं वा दाउं वच्चेज्जा, अगणिकाए वा उट्ठिओ संजईण उवस्सओ मा उज्झिहिइ, उज्झे वा अन्न—उवस्सयं काउं वच्चेज्जा, आउक्काए वा नईपूरिए उट्ठिएसुं जय—णं उवकरणं संजइओ वा मा वुज्जेज्जा, आउक्काएण बालमाए वसहिं संठवेउं अन्नं वा दाउं वच्चेज्जा, वियारभूमिं वा एण—मग्गा उट्ठा वा संठवेउं अन्नं वा दाउं वच्चेज्जा, सुतो भाया वा अज्जाए पव्वइओ, सो य अण्णदेसं गंतूण पुव्वगए कालि—याणुओगे व निम्माओ आगओ तं गणधरो घेत्तुं वच्चेज्जा, सं—वेहं वा करेठकामो तत्थेव एसं दाउं संढीढाए वा वोसिरणे वोसछाए वा अणुसिंहं दाउं वच्चेज्जा, एसा विही, तविव—रीया अविही । पं० चू० ।

अणुपा (वा) लणामुच्छ—अनुपालनाशुच्छ—न० । प्रत्याख्या—नजेदे, आव० ।

कंतारे दुब्बिक्खे, आयंके वा महइ समुप्पे ।

जं पालिअं न जग्गं, तं जाणऽणुपालणामुच्छं ॥ ३२ ॥

कान्तारे अरण्ये, दुर्भिक्षे कालविभ्रमे, आतङ्के महति समुत्पन्ने सति यत्पादितं न भ्रमं तज्जानीहानुपालनाशुक्कमिति । “ एतथ उग्गमदोसा सोलस, उप्पायणाए वि दोसा सोलस, एसणाए दोसा दस, एए सव्वे बायालीसं दोसा निच्चपमिसिद्धा, एए कंतारदुब्बिक्खाइसु न जंजइति ” इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ आव० ६ अ० । स्था० । आ० चू० ।

अणुपाडित्ता—अनुपालय—अव्य० । यथा पूर्वैः पालितं तथा पश्चात्परिपालयेत्यर्थे, कल्प० ।

अणुपालिय—अनुपालित—त्रि० । आत्मसंयमानुकूलतया पालिते, स्था० ८ ग० । दशा० ।

अणुपासमाण—अनुपश्यत्—त्रि० । भूयः पश्यति, “ किं मे परो पासइ किं च अण्णा, किं वा हु खलियं न विवज्जयामि । इच्चेव सम्मं अणुपासमाणा, अणागयं नो पमिवंध कुज्जा ” दश० २ चू० ।

अणुपिठ्ठ—अनुपृष्ठ—न० । आनुपूर्व्याम, ‘अणुपिठ्ठसिद्धा’ सम० ।

अणुपुव्व—अनुपूर्व—न० । क्रमे, आचा० १ शु० ६ अ० ३ उ० । स्था० ।

आनुपूर्व्य—न० । मूलादिपरिपाठ्याम्, औ० । “अणुपुव्वसुजा—यदीहलंगुत्थे ” अनुपूर्वेण परिपाठ्या सुप्पु जात उत्पन्नो यः सोऽनुपूर्वसुजातः । स्वजात्युचितकालक्रमजातो हि बलरूपादिगुणयुक्तो भवति, स चासौ दीर्घाक्षगूलो दीर्घपुच्छश्चेति स तथा, अनुपूर्वेण वा स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरलक्षणेन सुजातं दीर्घाक्षगूलं यस्य स तथा । “मधुगुक्षियपिगलक्खो, अणुपुव्वसुजाय—दीहलंगुत्थो ” स्था० ४ ठा० ४ उ० । “ अणुपुव्वसुजायरुलव—द्वभावपरिणया ” आनुपूर्व्या मूलादिपरिपाठ्या सुप्पु जाताः आनुपूर्वीसुजाताः, रुचिराः स्निग्धतया देदीप्यमानरुचिमान्तः, तथा वृत्तजावपरिणताः । किमुक्तं भवति—एवं नाम सर्वास्तु दिक्षु च शास्त्राभिश्च प्रसृता यथा वर्तुलाः संजाता इति । आनुपूर्वीसुजाताश्च ते रुचिराश्च आनुपूर्वीसुजातरुचिराः वृत्तभावपरिणताः । रा० । झा० । जी० । “ अणुपुव्वसुजायवप्प—गम्भीरसीयलजलाओ ” आनुपूर्व्येण क्रमेण नीचस्तरां भावरूपेण सुप्पु अतिशयेन यो जातवप्रः केदारो जलस्थानं तत्र गम्भीरमलब्धतलं शीतलं जलं यासु ताः आनुपूर्व्यसुजातवप्रगम्भीरशीनलजलाः । रा० । झा० । जी० । “ अणुपुव्वसु—

संहयंगुलीए ” आनुपूर्व्येण क्रमेण वर्द्धमाना हीयमाना वा इति गम्यते । औ० जी० । पूर्वस्या अनु, लघव इति गम्यन्ते, अनुपूर्वाः । किमुक्तं भवति—पूर्वस्या उत्तरोत्तरा नखं नखेन हीनाः, ‘णह णहेण हीणाउ ’ इति सामुद्रिकशास्त्रवचनात् । अथवा—आनुपूर्व्येण परिपाठ्या वर्द्धमाना हीयमाना वा इति गम्यते, सुसंहता अविरला अद्भुतः पादाग्रावयथा येषां ते तथा । अत्रानुपूर्वेति विशेषणात्पादाद्गुलाग्रहणं, तासामेव नखं, नखेन हीनत्वात् । जं० २ वक्ता० ।

अणुपुव्वसो—अनुपूर्वशस्—अव्य० । अनुक्रमेणेत्यर्थे, आचा० १ शु० ६ अ० १ उ० ।

अणुप्पइय—अनुत्पतित—त्रि० । उड्ढिने, “ आगासेऽणुप्पइओ ललियचवलकुंडलतिरोडी ” उक्त० १ अ० ।

अणुप्पगंय—अनु (शु) प्रग्रन्थ—पुं० । अनुरूपतयौचित्येन विरतेः न त्वपुण्योदयाद्, अणुरपि, वा सूक्ष्मोऽप्यल्पोऽपि प्रगतो ग्रन्थो घनादिर्यस्य यस्माद् वाऽसावनुप्रग्रन्थः । अपेक्षित्यन्तर्भूतत्वादणुप्रग्रन्थो वा । परिग्रहविरते, स्था० ६ ठा० ।

अणुप्पसु—अनुत्पन्न—त्रि० । वर्त्तमानसमयेऽविद्यमाने, नि० चू० ५ उ० । अलब्धे, ग० १ अधि० । (‘ नमोकार ’ शब्दे तदुत्पन्नानुत्पन्नत्वं दर्शयिष्यते)

अणुप्पदानं—अनुप्रदातुम्—अव्य० । पुनःपुनर्दातुमित्यर्थे, प्र—ति० । उपा० ।

अणुप्पदा (या) ण—अनुप्रदान—न० । पुनःपुनर्दाने, आव० ६ अ० । आचा० । परस्परकेण प्रदाने, ध्य० २ उ० । गृहस्थानां परतीर्थिकानां स्वयूथ्यानां वा संयमोपघातके दाने, जेणेह णिव्वहे भिक्खू, अस्सपाणं तहाविहं ।

अणुप्पयाणमनेसिं, तं विज्जं परियाणिया ॥ आचा० ?

श्रु० ए अ० ।

(‘ धम्म ’ शब्दे अस्या व्याख्या)

अणुप्पत्तु—अनुप्रसृ—पुं० । युवराजे, सेनापत्यादौ च । नि० चू० २ उ० ।

अणुप्पवाएत्ता—अनुप्रवाचयितृ—त्रि० । पाठयितरि, ग० १ अधि० । स्था० । “आयरियउवज्झाए गणंसि सम्मं अणुप्पवाएत्ता प्रवइ” तृतीयं संग्रहस्थानम् । ग० १ अधि० ।

अणुप्पवाएमाण—अनुप्रवाचयत्—त्रि० । वर्णानुपूर्वाक्रमेण पठति, जं० ३ वक्ता० ।

अणुप्पवाय—अनुप्रवाद—पुं० । अनुप्रवदति साधनानुकूल्येन सिद्धिप्रकरणेण प्रवदतीति । नं० । नवमपूर्वे, स्था० ८ ठा० । विशेष० । सा० म० द्वि० । ‘विद्याऽनुप्रवादम्’ इत्यपरं नाम । नं० । अणुप्पवेसण—अनुप्रवेशन—न० । मनसि लब्धाऽऽस्पदीभवने, उक्त० ३ अ० ।

अणुप्पवेसेत्ता—अनुप्रवेशय—अव्य० । “अन्नयरंसि अचित्तंसि सोयगंसि अणुप्पवेसेत्ता” नि० चू० १ उ० ।

अणुप्पसूय—अनुप्रसूत—त्रि० । जाते, आचा० १ शु० १ अ० ८ उ० ।

अणुप्पाइ (ण)—अनुपातिन्—पुं० । अनुपततीत्यनुपाती । घटमाने युज्यमाने, नि० चू० १ उ० ।

आयारिषा कावगया सो तं गच्छ न सुयद्, पत्था भवंतं वधे
हं, तस्य जे ताव आयारिषस्स पडिच्छया तेसि तद्विषसमेव ने-
एहइ, सच्चिचाइ जे आयारिषसीसा ते न सज्जयति तस्स सका-
से तेण चोइयवा तेसु अणहिज्जेते सुचं तत्थ लभइ सच्चिचा-
इ तं सामएहं पढमवरिसे, विईए केचोवसंपन्नओ जं धम्मइ ते
तं न वधंति । केचोवसंपयाए नाइवर्णं डुविहं मेचवए स य
लभंति । तइए वरिसे जं सुहपुप्फोवसंपन्नओ वजइ तं तेसि
द्वामं सुहदुक्खियस्स लानो पुव्वसंथयो पच्छा संथयो य च
उत्थे वरिसे सव्वं गेएहइ । एवं अणहिज्जेते पुण इमे एकारस वि-
भागा-तस्सायारिषस्स सीसा सीसियाओ पडिच्छियाओ जं
जीवं तेणायारिषजणस्स उडिहं अज्जायं तस्स पढमवरिसे स-
च्चिचमच्चिचं वा लभइ, तं सव्वं गुरुणो कावगयस्स वि एगो
विभागो अह इमेण उडिहं पढमवरिसे, तो पवाइयंतस्स जं स-
च्चिचाइ वितिओ विभागो विइए वरिसे पुव्वं उडिहं, पच्छोव-
दिहं वा, सव्वं पवाइयंतस्स तइओ विजाओ, एयं पडिच्छए
सीसस्स पढमवरिसे आयारिषण वा उडिहं तेण वा पडिच्छ-
एण उडिहंतं सव्वं गुरुणो विजाओ, विइए वरिसे आयारिषण
उडिहंतं पढंतस्स सच्चिचच्चिचं धम्मइ । तं सव्वं गुरुणो वि-
जाओ पंचमो इमेण उडिहंतं पवाइयंतस्स उठो विभागो ,
तइए वरिसे आयारिषण वा उडिहं इमेण वा सव्वं पवाइयंतो
गेएहइ वा पयंतो एइविभागो सत्तमो, सीसणियाए जहा पडि-
च्छयस्स निपिह गमा एए दस गमा, पडिच्छयाए । आयारिषण
वा उडिहं इमेण वा पढमवरिसे चैव गेएहइ वाययंतो, एए ए-
कारस विभागा । एवं उभाहे जणियं । पं० चू० ।

संयतिपात्रनं विवक्ष्यम्—

.....वोच्छं अणुवाडणपारं कपं तु ।
अणुपालंति सुविहिगा, गच्छं विहिणा उ जेणं तु ॥
परिकट्टी परिकट्टं, तओ य दुविहां पुणो वि एक्केओ ॥
उवसगखेत्तकाअ-वसेए अज्जाए परिकट्टी ॥
परियट्टियव्वयं खड्डु, परियट्टी चैव होति एगट्टं ।
समणा समणीओ वा, दुविहं परियट्टिव्वं तु ॥
समणपरियट्ट दुविहो, आयरिओ वीयओ उवज्जाओ ।
संजतिपरियट्टो पुण, तिविहो तु पवत्तणी तइया ॥
समणपरियाडि दुविहा, विहिपरियट्टी य आविहिते चैव ।
जतिणि परियट्टियव्वा, नियमेण य कारणा णिमिणा ॥
ताओ बहुवसगा, तेणादिदुसंचराणि खेत्ताणि ।
कालवसेण य संजति, जायतिं द्योगस्स नं तत्तं ॥
तम्हा सव्वपयत्ते-ए रक्खियव्वा उ ताड णियेमेणं ॥
ए वि सरती सोतव्वा, मा इज्ज तासि तु विणासो य ।
संवेगगतिपरिणतो, तासिं परियट्टओ अणुष्ठातो ॥
होति पुण अणरिहो खड्डु, परिकट्टी तू इमो तासि ।
अवहुस्सुए अगीय-त्थे तरुणे य मंदयम्मिण ॥
कंदप्पसीडणट्टा, आविही दोणे य गहणे य ॥
बहुसुयगीतजहएणो, आवासगमादि जाव आयारो ।
तेयमी य बहुसुय-तिव्हसमाणा रतो तरुणे ॥

जो उज्जोगं न कुणति, चरणे सो होति मंदधम्मो तु ।
अणुहुयउल्लावादी, सरीरकिरिआ य कंदप्पी ॥
णिकारणे अणद्धा, संजति वसही तु वच्चए जो तु ।
णिकारणमविहीए, जो देवी गिएहती वा वि ॥
एयारिसे तु अज्जा-ए परिकट्टी तु ए कप्पत्ति ।
कारणेहिं इमेहिं तु, गम्मत ऽज्जाएवस्सयं ॥
उवस्सए य गेएहए, उवही संघपाहुणे ।
सेहडवणुवसे, अणुनाडणणे ठाणे ॥
अणपज्जअगलियाओ, वीयारे पुत्तसंगमे ।
संवेहणवोत्तिरिणे, वोसट्टाणिट्टिए तेहिं ॥
अरिहो ऽ गरिहो वा वी, परियट्टी एवमाहिओ । पं० भा० ।
इयार्णि अणुपादपाकप्यो (गाहा) (परियट्टियव्वयं) परि-
यट्टत्ववओ भाणियव्वो परियट्टंतओ ताव आयारिषउवज्जाओ
साहणं संजइयं आयारिषउवज्जाओ पवत्तिणी परियट्टियव्वयं
दुविहं साह साहुणीओ जतीणं पुण एक्केओ दुविहो विहि-
परियट्टिओ अविहिपरियट्टिओ य तत्थं संजइओ नियमा
परियट्टियव्वाओ, किं कारणं बहुवसणं तारिंति तेयाणि
सुखेत्ताणि य दुसंचराणि काववसेणं संपयं परुव्व द्योगोपंतो
जाओ, एयाओ नरदाइभि पुव्वपरिपाक्षियाओ ते दुट्टे निधारंति ।
तम्हा नियमा परिपाक्षेयव्वाओ । साह भइया केरिसो पुण परि-
यट्टंतओ ? (गाहा) (अवहुस्सुए अवहुस्सुएण) न कप्पइ अगीयत्थे
ए वा गीयत्थो जो तरुणो मंदधम्मो वा नाणुआओ धम्मसट्टि-
ओ वि जो कंदप्पसीलो सो विणाणुआओ अणट्टाप जाइ संज-
इयं वसहिं अविहिदायगो नाम निकारणे देइ, गिएहइ वा,
परिसो न कप्पइ गणधरो अज्जियाणं [गाहा] [उवस्सए] अण-
छागमओ नाम जो इमाइ कारणाई मोत्तुण जाइं काइ पुण ताइं
कारणाई उवस्सए य गेएहए उवस्सओ संजयिणं संजएहिं
पडिलेहेत्तु दायव्वो तमुवस्सयं गणधरो दाउं वज्जेज्जा, निहोसो
गिहाणाइ अज्जाए ओसहो सज्जपत्थजोयणं वा दाउं वज्जेज्जा
उवदिसिउं वा, जहा वा अगिलाणियाए गिहाणियाए संजइए
ओहनिज्जुत्तिगमए णं उवस्सए वा चित्तिमिपिहअंतरीए वसंतो
निहोसो ऊवही उस्सणेण संजइयं गणधरो उग्गमेउं पवत्तिणी-
ए दाउं पव्वेज्जा संघपाहुणए कुलथेराइआ गया इहिमंतो वा
पव्वओ रायसेयावई अमच्चसेडिगणनायगगामावरुअओरुमा
इए तज्जणनिमिचं सेज्जायराइएहवणनिमिचं विहिणा ववेज्जा
सेहडवणं वा रायपुत्तो पव्वइओ मोयपडणीएहिं निव्वुगाइहिं
कहिओ मा एयंसि महिद्धियो होवत्ति अमच्चाईण मग्गंताण
कहिए ताहे आहावैति दवदव्वस्स ताहे अंतट्टाणिए वेज्जाए
पञ्चवैति, असइवेज्जाए गेएहइनियमिं काकण संजइयं पडिस्स-
यमुवैति, ताहे तत्थ अमणुस्संघानीए कंजियाइपनियाइपरि-
सेयं काकण सएहाओ ओसदेइं संति अएहाओ अस्सिं करंति ।
जहा संजइ पडिज्जगति खरकम्माइ आगयाणं मा वोढं करेहासि,
पडिसेहं करंति ; एवं नाइक्कमइ उडिसिउं वा गणधरो अंगसु-
यखंज्जमयणं वव्वेज्जा समुदिसिउं अणुजाणिये वा वि वव्वेज्जा
वरं खुडियाइगोरवेणं आयारिषण उडिहंति काकण भंरणे वा
संजइयं उप्पएणे गणधरो उवसामेउं वव्वेज्जा पवत्तिणी वा
कावगया तत्थ अणुसासणनिमिचं, अणं वा पवत्तिणिं उव्वेउं
वव्वेज्जा अणुपज्जए वा खिचचेत्तज्जक्काइए एए पुव्वणाणि-

विशेषेणातिक्रामति । किमुक्तं भवति-मुक्तिमवाप्नोति । उक्तं २६ अ० । अनु पश्चात्, प्रेक्षाणमनुप्रेक्षा । धर्मध्यानादेः पश्चात्पर्यालोचने, भ० २५ श० ८ उ० । स्था० । आव० । उक्त० । (“ धर्मस्तु यं भाणस्तु चत्वारि अणुपेहाश्च ” इत्यादि धर्मध्यानादिशब्देभ्यश्च दृश्यम्) अर्हद्गुणानां मुहुर्मुहुरनुस्मरणे च । “ अणुपेहाप वदमाणीप गामि काउस्सगं ” ध० २ अधि० ।

आचू० । तत्त्वार्थानुचिन्तायाम्, ल० ।

अणुपेहियव्व-अनुपेक्षितव्य-त्रि० । अन्वाख्यानविधिना परिभाषनीये, पं० सू० १ सू० ।

अणुफास-अनुस्पर्श-पुं० । अनुभावे, “ लोहस्तेवणुफासो, मत्ते अन्नयरामवि ” दश० ६ अ० ।

अणुबंध-अनुबन्ध-पुं० । सातत्ये, स्था० ६ ठा० । अनुबन्धः संतानः प्रवाहोऽविच्छेद इत्यनर्थान्तरम् । पौ० १ विव० । अव्यवच्छिन्नसुखपरम्परया देवमनुजजन्मसु कल्याणपरम्परारूपे सन्ताने, थो० १३ विव० । तत्परिणामाविच्छेदतः प्रकर्षापातितायाम्, पञ्चा० १६ विव० ।

अणुबंधचउक्क-अनुबन्धचतुष्क-न० । प्रयोजनादिकारिसंबन्धाभिधेयचतुष्टये, तच्च ग्रन्थादावभिधातव्यम् । आव० १ अ० । अत्र कश्चिदाह-नन्वधिगतशास्त्रार्थानां स्वयमेव प्रयोजनादिपरिज्ञानं भविष्यतीति निरर्थक एव शास्त्रादौ प्रयोजनाद्युपन्यास इति चेद् । न । अनधिगतशास्त्रार्थानां प्रवृत्तिहेतुतया सफलत्वात् । अथ प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्निश्चयपूर्विका भवति । न च प्रयोजनादावुक्तेऽपि अनधिगतशास्त्रार्थानां तन्निश्चयोपपत्तिः, वचनस्य बाह्यार्थं प्रति प्रामाण्याभावात् । न च संशयतः प्रवृत्तिरुपपन्ना, प्रेक्षावतां कतिप्रसङ्गात्, ततः कथं सार्थकता अधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासस्य । तदेतदपरिनोदितभाषितम् । वचनस्य बाह्यार्थं प्रति प्रामाण्याभावात्, अन्यथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेः । विजृम्भितं चात्र प्रपञ्चतो धर्मसङ्ग्रहणीटीकादाविति ततः परिभाषनीयम् । अथ यदि वचनस्य बाह्यार्थं प्रति प्रामाण्यं तर्हीत एव सम्यग्भिधेयादिपरिज्ञानभावान्निरर्थिका शाले प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः, फलाभावात् । प्रवृत्तौ हि फलमभिधेयादिपरिज्ञानं, तच्चाधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासत एव सिद्धमिति । तदेतद्वालिशविजृम्भितम् । अधिकृतेन हि प्रयोजनाद्युपन्यासेन प्रयोजनादीनामधिगतिर्भवति, सामान्येन नाशेषविशेषपरिज्ञानपुरस्सरा, अधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासस्य सामान्येन प्रवृत्तत्वात् । सामान्यनिष्ठं हि वचः सामान्यं प्रतिपादयति, विशेषनिष्ठं विशेषम् । अतो वचनप्रामाण्यादधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासवाक्यतः सामान्येन प्रयोजनादिकेऽधिगते कथं तु नामास्माकंसविशेषं सामायिकादिपरिज्ञानं स्यादिति विशेषपरिज्ञानाय भवति प्रेक्षावतां शाले प्रवृत्तिः । अन्यच्च यदि वचनस्य न प्रामाण्यमभ्युपगम्यते तथापि न काचिद्विवक्षितार्थकृतिः । आ० म० प्र० ।

अणुबंधच्छेयणा-अनुबन्धच्छेदनादि-पुं० । अनुबन्धं त्रिनन्तीति अनुबन्धच्छेदनः, तदादिः । निरनुबन्धताऽऽपादनादौ कर्मकपणोपाये, “ चित्ताणं कम्माणं, चित्तोच्चिय होइ खवणुवाओ वि । अणुबन्धच्छेयणाइ, सो वण एवं ति णायव्वो ” ॥१॥ पञ्चा० १७ विव० ।

अणुबंधभाव-अनुबन्धभाव-पुं० । अनुभावस्य सत्तायाम्, पञ्चा० ५ विव० ।

अणुबंधजावविहि-अनुबन्धजावविधि-पुं० । प्रत्याख्यातपरिणामाविच्छेदभावस्य विधाने, पञ्चा० ५ विव० ।

अणुबंधवच्छेद-अनुबन्धव्यवच्छेद-पुं० । भवान्तरारम्भकामितरेषां च कर्मणां बन्धभावकरणे, द्वा० १७ द्वा० ।

अणुबंधमुच्छिजाव-अनुबन्धमुच्छिजाव-पुं० । सातत्येन कर्मकयोपशमेनात्मनो निर्मलत्वसदभावे, पञ्चा० ७ विव० ।

अणुबंधावणयण-अनुबन्धावणयण-न० । अणुजजावजातकर्मानुबन्धव्यवच्छेदे, पञ्चा० १५ विव० ।

अणुबन्धिअं-देशी-द्विकायाम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुबंधि (न)-अनुबन्धिन्-त्रि० । अनु-बन्ध-णिनि । हैतौ, ध० २ अधि० । प्रस्फोटकादीनां सातत्यविशिष्टे अननुबन्धिदोषरहिते प्रतिलेखने, स्था० ६ ठा० ।

अणुवद्ध-अनुवद्ध-त्रि० । सदानुगते, जी० ३ प्रति० । आ० म० । गृहीते, नि० चू० १ उ० । निरन्तरमुपचिते, जी० ३ प्रति० । सतते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० । स्था० । अव्यवच्छिन्ने, प्रश्न० १ आश्न० द्वा० । प्रतिवक्षे, द्वा० २ अ० । व्याप्ते, द्वा० २ अ० । पूर्वोपाजितद्वेषवन्धनवद्धे, उक्तं ४ अ० ।

अणुवद्धगुहा-अनुवद्धगुह-स्त्री० । सततयुक्तकायाम्, “ अणुवद्धगुहापरद्धसी उहहतएहवेयणादुग्घट्टयट्टियविवगणमुहविच्छविया ” प्रश्न० ३ आश्न० द्वा० ।

अणुवद्धगिरंतर-अनुवद्धनिरन्तर-त्रि० । अत्यन्तनिरन्तरे, “ अणुवद्धनिरन्तरेयणासु ” अनुवद्धनिरन्तराः अत्यन्तनिरन्तरावेदना येषु ते तथा । प्रश्न० १ आश्न० द्वा० ।

अणुवद्धतिव्वेरे-अनुवद्धतीव्रवैर-त्रि० । अव्यवच्छिन्नोक्तद्वैरभावे, “ अणुवद्धतिव्वेरे, परोप्परं वेयणं उदीरैति ” प्रश्न० १ आश्न० द्वा० ।

अणुवद्धधम्मज्जाण-अनुवद्धधर्मध्यान-त्रि० । अनुवद्धं सततं धर्मध्यानमाकाशितयादिलक्षणं येषां तेऽनुवद्धधर्मध्यानाः । सततप्रवृत्तधर्मध्याने, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अणुवद्धरोसप्पसर-अनुवद्धरोपपसर-त्रि० । अनुवद्धः सततमव्यवच्छिन्नो रोपस्य प्रसरो विस्तारो यस्य सोऽनुवद्धरोपपसरः । निरन्तरकुक्षे, ग० ३ अधि० ।

अणुवद्धविग्गह-अनुवद्धविग्रह-त्रि० । सदा कञ्चहशीले, पं० व० ३ द्वा० ।

निच्चं विग्गहशीलो, काऊण य नाणुतप्प पञ्चा ।

न य स्वाभिउं पसीयइ, सपक्खपरपक्खओ वा वि ॥

नित्यं सततं विग्रहशीलः कञ्चहकरणस्वभावः, कृत्वा च कञ्चहं नानुत्पत्ये पश्चात् । यथाह-किं कृतं मया पापेनेति । तथा क्षमितोऽपि, क्षम्यतां ममायमपराध इति भणितोऽपि स्वपक्वपरपक्वोरपि, न च नैव, प्रसीदति प्रसन्नतां प्रजति, तीव्रकपायोदयत्वात् । अत्र च स्वपक्वे साधुसाध्वीवर्गः, परपक्वे गृहस्थवर्गः । एषोऽनुवद्धविग्रह उच्यते । वृ० १ उ० ।

अणुवेदांघर-अनुवेदान्धर-पुं० । महतां वेदान्धराणामादेशप्रती-

अणुपिय-अनुप्रिय-वि० । प्रियानुकूलं, “अन्नस्स पाणस्सि-
हलोइयस्स, अणुपियं भासति सेवमाये” अनुप्रियं प्रापते
यस्य प्रियं तत्तस्य वदतोऽनुपश्चाद् भापते अनुप्रापते ।
सूत्र० १ अ० ७ अ० ।

अणुपेहा-अनुपेक्षा-स्त्री० । अनुपेक्षणमनुपेक्षा । चिन्तनि-
कायाम्, स्या० ५ ग० ३ उ० । अर्थचिन्तने, घ० ३ अधि० ।
ग्रन्थार्थानुचिन्तने, ग० २ अधि० । सूत्रानुचिन्तनिकायाम्
उच० २ अ० । दश० । अनुपेक्षा स्वाध्यायविशेषः । स तु
मनसस्तत्रैव नियोजनाद् जवति । उच० २ ए अ० । प्रच० ।
अवधाने, प्रति० । तद् विधिरसौ-“जिणवरपवयणपायर-
णयउण गुरुवयणओ सुणियपुव्वे । एगममणो घणियं, चित्ते
चित्तेइ सुयवियरे” ॥ १ ॥ घ० २० ।

एतस्याः फलम्-

अणुपेहाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । अणुपेहाएणं
आणयवज्जाओ सत्त कम्मप्पयदीओ घाणेयवंधणवप्पा-
ओ सिद्धिबंधणवप्पाओ पकरेइ, दीहकालाड्डियाओ
हस्सकाड्डियाओ पकरेइ, तिव्वाणुभावाओ मंदाणुजा-
वाओ पकरेइ बहुपएसगाओ अप्पएसगाओ पकरेइ, आ-
उयं च एं कम्मं सिय वंधइ, सिय नो वंधइ, असायावेयणिज्जं च
णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवाचिणाइ, अणाइयं च एं अण-
वदगं दीहमक्कं चाउरंतसंसारकंतारं त्विप्पामेव वीईवयइ ॥

हे जदन्त ! स्वामिन् ! अनुपेक्षया सूत्रार्थचिन्तनिकया, जीवः
किं जनयति ? । गुरुराह-हे शिष्य ! अनुपेक्षया कृत्वा जीवः
सप्त कर्मप्रकृतीर्ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयानामगोत्रा-
न्तरायरूपाणां सप्तानां कर्मणां प्रकृतयः एकशतचतुःपञ्चाशत्प्र-
माणाः सप्तकर्मप्रकृतयस्ताः सप्तकर्मप्रकृतीर्धर्णियबन्धनवद्धाः
गाढबन्धनवद्धाः, निकाचितवद्धाः, शिथिलबन्धनवद्धाः प्रकरोति ।
यतो हि अनुपेक्षा स्वाध्यायविशेषः, स तु मनसस्तत्रैव नियोज-
नाद्भवति, स चानुपेक्षा । स्वाध्यायो हि आन्यन्तरं तपः, तप-
स्तु निकाचितकर्माणि शिथिलीकर्तुं समर्थं जवत्येव । कथंभूताः
सप्त कर्मप्रकृतीः, आयुर्वर्जाः, प्रकृष्टभावहेतुत्वेन आयुर्वर्जयन्ती-
स्यायुर्वर्जाः । पुनर्हे शिष्य ! अनुपेक्षया कृत्वा, जीवस्ता एव कर्मप्र-
कृतीर्दीर्घकालस्थितिकाः शुभाध्यवसाययोगात् स्थितिक्षाण-
नामपहारेण ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरोति । प्रचुरकालमोग्यानि
कर्माणि स्वल्पकालमोग्यानि करोतीत्यर्थः । पुनर्स्तानुमावाः
कर्मप्रकृतीर्मन्दानुमावाः प्रकरोति, तीव्रः उक्तोऽनुमावो रसो
यासां तास्तीमानुमावाः, ईदृशीः कर्मप्रकृतीर्मन्दो निर्वहोऽनुमा-
वो यासां ता मन्दानुमावाः प्रकरोति, तादृशीः प्रकृतेण विद्वद्भा-
ति, पुनर्वहुप्रदेशाग्रा मध्यप्रदेशाग्राः प्रकरोति । बहुप्रदेशाग्रं कर्म
पुत्रहिकप्रमाणं यासां ताः बहुप्रदेशाग्राः, एतादृशीः कर्मप्रकृती-
रल्पप्रदेशाग्राः प्रकरोति । इत्यनेन अनुपेक्षयाऽशुभश्चतुर्विधोऽपि
बन्धः-प्रकृतिबन्धः स्थितिवन्धोऽनुमागबन्धः प्रदेशबन्धः, शुभत्वे-
न परिणमतीत्यर्थः । अत्र च आयुर्वर्जमित्युक्तम् । तच्च-एकस्मिन्
भवे सकृदेव अन्तर्मुहूर्त्तकाले एव आयुर्जीवो बभूव । च पुनः
आयुःकर्माऽपि स्याद् बभूवति, स्यान्न बभूवति, संसारमध्ये ति-
ष्ठति चेत्तर्हि अशुभमायुर्न बभूवति । जीवेन तृतीयमानादिशेषा-
युक्तेन आयुःकर्म वध्यते, अन्यथा न वध्यते । तेन आयुःकर्मबन्धे
निश्चयो नोक्तः, इत्यनेन मुक्तिं प्रजति तदा आयुर्न बभूवतीत्युक्तम् ।

पुनरनुपेक्षया कृत्वा जीवोऽसातावेदनीयं कर्म शरीरादिदुःख-
हेतु च कर्म । चशब्दादन्याश्चाऽशुभप्रकृतीर्नो भूयो भूय उपचि-
नोति । अत्र भूयोभूयोप्रहणेन एवं ज्ञेयम्-कश्चिद्यतिः प्रमाद-
स्थानके प्रमादं मजेत् तदा बभूवत्यपि इति हार्दम् । पुनरनुपेक्ष-
या कृत्वा जीवश्चातुरन्तसंसारकान्तारं क्षिप्रमेव (वीईवयइ
इति) व्यतिव्रजति । चत्वारश्चतुर्गतिलक्षणा अन्ता अवयवा यस्य
तत् चातुरन्तं, तदेव संसारकान्तारं संसारारण्यं, तद् शीघ्र-
मुल्लङ्घयति । कीदृशं संसारारण्यम् ?, अनादिकम्-आदेरभावा-
द् आदिपहितम् । पुनः कीदृशं संसारकान्तारम् ?, अनवदग्रम-
नागच्छत् अग्रं परिमाणं यस्य तद् अनवदग्रम्, अनन्तमि-
त्यर्थः । प्रवाहापेक्षया अनाद्यनन्तम् । पुनः कीदृशम् ?, दीर्घा-
च्च दीर्घकालं, दीहमक्कम् इत्यत्र मकारो लाक्षणिकः, प्राकृत-
त्वात् ॥ उच० २ ए अ० । तत्रानुपेक्षा चिन्तनिका, तथा
प्रकृष्टशुभभावोत्पत्तिवन्धनतया आयुष्कवर्जाः सप्त कर्मप्रकृ-
तीः, (घणियं ति) वाढं बन्धनं श्लेषणं, तेन वद्धाः, निकाचिता
इत्यर्थः । शिथिलबन्धनवद्धाः किञ्चिन्मुक्ताः । कोऽर्थः ?, अपवर्त्त-
नादिकरणयोग्याः प्रकरोति, तपोरूपत्वाद्स्याः । तपसश्च निका-
चितकर्मकृपणेऽपि कृमत्वात् । उक्तं हि-“तवसा च निक्काइ-
याणं व त्ति” दीर्घकालस्थितिका ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरो-
ति, शुभाध्यवसायवशात् । स्थितिकरणकापहारेणेति भावः । ए-
तच्चैवं, सर्वकर्मणामपि स्थितेरशुभत्वात् । यत उक्तम्-“स-
व्वासि पि ठितीओ, सुमासुभाणं पि होति असुमाओ । माणुस-
तेरिच्छदेवा-उयं च मोचूण सेसाओ” ॥ १ ॥ तीमानुमावाश्चतुः-
स्थानिकरसत्वेन, मन्दानुमावाश्चिस्थानिकरसत्वात्पावनेन
प्रकरोति । इह चाशुभप्रकृतय एव गृह्यन्ते । शुभभावस्य
शुभासु तीमानुभावहेतुत्वात् । उक्तं हि-“सुमपयदीण विसो-
हिपे तिव्वमसुभाणं संकिञ्जेसं ति” अत्र हि-“विसोहिपत्ति” शु-
भभावेन तीम्रमित्यनुजागं वज्जातीति प्रकम् । कश्चिद्विमपि इ-
इयते-“बहुप्पएसगाओ पकरेति” ननु केनाभिप्रायेणायुष्कवर्जाः
सप्तैत्यभिधानम्, शुभायुष्क एव संयतस्य संभवाच्चस्यैव चानुपे-
क्षातास्विकी । न च शुभभावेन शुभप्रकृतीनां शिथिलतादिकरणं,
संक्षेपशहेतुकत्वात् तस्य । आह-शुभायुर्वर्धोऽप्यस्याः किं न फ-
लमुक्तम् । उच्यते-आयुष्कं च कर्म स्याद्बभूवति, स्यान्न बभूवति ।
तस्य त्रिभागादिशेषायुष्कतायामेव बन्धसंज्ञात् । उक्तं हि-
“सिय तिमागतिजागे” इत्यादि । ततस्तस्य कादाचित्कत्वेन
विवक्षितत्वात् । तद्वत्तच्च कस्यचिद् मुक्तिप्राप्तेः तद्वन्धानभिधान-
मिति भावः । अपरं चाशातावेदनीयं शरीरादिदुःखहेतु कर्म ।
चशब्दादन्याश्चाशुभप्रकृतीर्नो नैव भूयोभूय उपचिनोति । भूयो-
भूयोप्रहणं त्वन्यतमप्रमादतः, प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्त्तितयां
तद्वन्धवस्याऽपि संभवात् । अन्ये त्वेवं पठन्ति-“सायावेयणि-
ज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवाचिणोति” इह च शुभप्रकृति-
समुच्चयार्थश्चशब्दः, शेषं स्पष्टम् । अनादिकर्मादेरसंभ-
वात् । चः समुच्चयार्थो योदयते । (अणवदग्रं त्ति) अन-
वगच्छदग्रं परिमाणं यस्य सदाऽवस्थितानन्तपरिमाण-
त्वेन सोऽयमनवदग्रोऽनन्त इत्यर्थः, तम् । प्रवाहापेक्षं चैतत् ।
अत एव (दीहमक्कं ति) मकारो लाक्षणिकः । दीर्घाच्च दीर्घ-
कालं, दीर्घो वाऽऽच्चात्तपरिभ्रमणहेतुककर्मरूपो मार्गो यस्मिन्स-
त्तथा । चत्वारः चतुर्गतिलक्षणा अन्ता अवयवा यस्मिन्सत्त्व-
तुरन्तम्, संसारकान्तारं क्षिप्रमेव (वीईवयइ त्ति) व्यतिव्रजति,

अङ्गुल्याविह्वभारो, सिद्धी तत्थासि रस्यारो ॥ १ ॥
सारयससिनिम्मलसी-लवंधुला बंधुला पिया तस्स ।
ताणं धूया कूया-इगुणजुया बंधुमई नाम ॥ २ ॥
सा पुण कंचणचूरुय-मंडियवाहा अलंकियसरीरा ।
पगईय उम्भडवे-सपरिगया चिछइ सया वि ॥ ३ ॥
अन्नदिणे सा पिउणा, भणिया वयणेहिं पणयपवणेहिं ।
एवं उम्भरुवेसो, वच्चे ! पच्चे न सच्चाण ॥ ४ ॥

यद्गुक्तम्—

"कुलदेसाण विरुद्धो, वेसो रओ वि कुणइ नहु सोहं ।
वणियाण विसेसणं, विसेसओ ताण इत्थीणं ॥ ५ ॥
अइरोसो अइतोसो, अइहासो डुज्जेणेहिं संवासो ।
अइउम्भो य वेसो, पंच वि गरुयं पि बहुयंति" ॥ ६ ॥
इच्छाडुत्तिजुत्तं, बुत्ता वि न मन्नइ इमा किपि ।
चिछइ तदेव निच्चं, पिउपायपसायडुत्तुविया ॥ ७ ॥
प्रत्युच्चवासिणा वि-मलसिद्धिपुत्तेण बंधुदत्तेण ।
सा गंतु तामसिद्धिं, महाविभूईयं परिणीया ॥ ८ ॥
मुत्तण जणयजवणे, बंधुमई बंधुपरियणसमेओ ।
जलहिम्मि बंधुदत्तो, संचविओ जाणवत्तेण ॥ ९ ॥
जा किंचि जूमिजाणं, गच्छइ ता असुहकम्मउदएणं ।
पमिकूलपवणवहरी-पणुल्लियं जलहिमज्जम्मि ॥ १० ॥
सत्थं व विणयहीणे, वियलियसीले विसुद्धाणं व ।
तं पवहणं विणट्ठं, धणुधणणहिरणपमिपुणं ॥ ११ ॥
सो कहकहमवि फलहे-ण बुत्तरं उत्तारचु नीरनिहिं ।
जा पिक्कइ दिसिचक्कं, ता तं निच्छेइ ससुरपुरं ॥ १२ ॥
तो अप्पं जाणावइ, केण वि पुरिसेण निययससुरस्स ।
तं सुणिय हा, किमेयं ति, जंपिरो उट्ठिओ सो वि ॥ १३ ॥
अइउम्भडवेसविसे-सरयणसंकारसारभूसाय ।
बंधुमईय सहिओ, जा से पासे स मल्लिपइ ॥ १४ ॥
वररयणकणयचूरुय-विचूरुसियं ताव रुइरकरजुयसं ।
बंधुमईय छिन्नं, केण वि जूयारचोरेण ॥ १५ ॥
तत्तो सो आरक्खिय-नीओ नासिनु जत्ति संपत्तो ।
पहपरिसमवससुत्त-स्स बंधुदत्तस्स पासम्मि ॥ १६ ॥
तेणं च धुत्तयाप, चितिय मिणमेव पत्तकाहं मे ।
इय मुत्तु तस्स पासे, करजुयसं तक्करो नओ ॥ १७ ॥
पच्चा गयतव्वरतुमु-वसयणवुक्को सल्लुहओ यसो ।
चोरु त्ति काउ तेहिं, सुत्ताय भात्ति पक्खित्तो ॥ १८ ॥
अह रइसारो सिद्धी, नियपुत्तिप निच्चु तमवत्थं ।
धहु कूरिऊण पत्तो, जा जामाउयसमीवं पि ॥ १९ ॥
ता तं सुत्ताजिधं, सहसा पिच्छित्ति वहु च पवविच्चा ।
अंसुभरपुन्नयणो, दुहियो से कुणइ मयंकच्चं ॥ २० ॥
इत्तो य सुजसनामा, चउनाणी तत्थ आगओ तं च ।
नमिउं पत्तो सिद्धी, गुरु वि इय कहइ से धम्मं ॥ २१ ॥
ओ भविआ ! उम्भरुवे-सवज्जणं कुणइ चयह परसगिरं ।
चित्तह जवस्स रुत्तं, जेण न पायेह दुक्खाइं ॥ २२ ॥
तो सोउं संविगो, सिद्धी पणमिन्तु पुत्तप जयवं ! ।
मह जामाउयडुहिया-दि किं कयं डुक्कयं पुत्ति ? ॥ २३ ॥
भणइ गुरु अभिरामे, सां गामं पि इत्थिया पणा ।
आसि अडवि व्य वट्टमय-वाडसुया डुग्गया विहवा ॥ २४ ॥
सा उयरकंदरापू-रण्णमीसरगिहेसु निच्चं पि ।
कम्म करेइ पुत्तो, उ चारप वच्चरुवाइं ॥ २५ ॥

सा ठविय भोयणं सि-क्कगम्मि पुत्तट्टमन्नथा पत्ता ।
कस्सइ गेहे कम्म-त्थमागओ तम्मि जामाऊ ॥ २६ ॥
सा तस्स तप्पणएहा-ण्णमाइकम्मसु निउत्तया पढमं ।
पच्चा खंरुणपीसण-रंघणदल्लयाइ कारविया ॥ २७ ॥
जाया महई वेत्ता, तेण गिहत्थेण वाउल्लत्तणओ ।
नहु सा जिमाविया तो, वृक्खियतिसिया गया सगिहं ॥ २८ ॥
तं दट्टु सुएण बुहा-इएण जणिया सनिछरं पत्ता ।
किं तत्थ तुमं खिसा-सूत्ताप जं न वहु पत्ता ॥ २९ ॥
तीइ वि अणत्थभरिया-इ जंपियं किक्करा तुहं विच्चा ।
जं सिक्कगाउ गहिऊ-ण जोयणं नेव वुत्तोसि ॥ ३० ॥
इय फरुसवयणजाणियं, कम्मं दोहिं वि निकाइयं तेहिं ।
अइनिविमज्जम्मिमावे-ण नेव आलोइयं तं च ॥ ३१ ॥
तेसि दाणरयाणं, संजमरहियाण मज्झिमगुणाणं ।
किंचि सुहजावणाप, वट्टंताणं गलियमाउं ॥ ३२ ॥
तां सो बाहो जाओ, जामाऊ तुज्ज बंधुदत्त त्ति ।
सा पुण दुगयनारी, बंधुमई तुह सुया जाया ॥ ३३ ॥
मवियव्वया निओगा, विचित्तयाप य कम्मपगईय ।
माया जाया जाया, पुत्तो भत्ता य संजाओ ॥ ३४ ॥
तक्कम्मविवगेणं, बंधुमई पाविया करच्छेयं ।
पत्तो य बंधुदत्तो, सुत्तापक्खियणवसणमिणं ॥ ३५ ॥
इय सोउं रइसारो, सिद्धी संजयगरुयसंवेओ ।
गिण्हिय गुरुण पासे, दिक्खं सुहभायणं जाओ ॥ ३६ ॥

इत्युद्धटं वेयमतिशयन्याः,

भुत्वा विपाकं खलु वन्धुमत्याः ।

भव्या जना निर्मलशीलनाज-

स्तद्धत्त देशाद्यविरुद्धमेनम् ॥ ३७ ॥ ध० २० ।

अणुभामग-अनुद्भामक-पुं० । मौलग्रामे भिक्षापरिमाणशी-
ले, वृ० १ उ० ।

अणुजव-अनुभव-पुं० । अनु-भू-अप् । स्मृतिभिन्ने ज्ञाने, वि-
पयानुरूपभवनाच्च बुद्धिवृत्तेरनुभवत्वम् । अनुभवश्च-प्रत्यक्षानु-
मानोपमानशाब्दभेदेन चतुर्विध इति नैयायिकादयः । वेदान्ति-
नो भीमांसकाश्च अर्थापत्त्युपलब्धिंरूपमधिकं जेदद्वयमुररीच-
कुः । वैशेषिकाः सौगताश्च प्रत्यक्षानुमानरूपमेवानुभवद्वयं स्वी-
चकुः, अन्येषां सर्वेषामनयोरन्तर्भावात् । सांख्यादयः प्रत्यक्षा-
नुमानशाब्दा एवेति जेदत्रयीमङ्गीचकुः । चार्वाकाः प्रत्यक्षमात्र-
मिति भेदः । वाच० । स्वसंवेदने, पञ्चा० ५ विव० । आ० ।
आव० । प्रश्न० ।

अनुभवलक्षणं च योगदृष्टिसमुच्चयानुसारेण लिख्यते-
यथार्थवस्तुस्वरूपोपलब्धिपरभावारमणस्वरूपरमणतदास्वा-
दनैकत्वमनुभवः ।

तदप्रकम्—

संधेयं दिनरात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक् ।
बुधैरनुभवो दृष्टः, केवलार्कारुणोदयः ॥ ? ॥
व्यापारः सर्वशास्त्राणां, दिक्प्रदर्शनमेव हि ।
पारं तु प्रापयत्येकोऽ-नुभवो जववारिधेः ॥ ५ ॥
अतीन्द्रियं परं ब्रह्म, विशुद्धानुभवं विना ।
शास्त्रयुक्तिशतेनापि, न गम्यं यद् बुधा जगुः ॥ ३ ॥
ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।

उत्तरपुराऽनुयायिनो वेन्नधरा अनुवेलेधराः । स्वनामस्या-
तेषु नागराजेषु, जी० ३ प्रति० ।

तद्वेदेना, तदावासपर्वताश्च यथा—

कहि णं जंते ! अणुवेलेधराणागरायाणो पणत्ता ? गो-
यमा ! चत्तारि अणुवेलेधराणागरायाणो पणत्ता । तं जहा-
ककोडए, कदमए, कइलासे, अरुणपणे । एतेसिं णं भंते !
चउएइं अणुवेलेधराणागराईणं कति आवासपव्वया प-
एणता ? गोयमा ! चत्तारि आवासपव्वया पएणत्ता । तं
जहा—ककोडए, कदमए, कइलासे, अरुणपणे । कहि णं भंते !
ककोडगस्स अणुवेलेधराइस्स ककोडएणामं आवासप-
व्वते पणत्ते ? गोयमा ! जंवुईवे दीवि मंदरस्स पव्वयस्स
उत्तरपुरच्छिमेणं लवणसमुदं वायालीसं जोयणसयाई उ-
ग्गाहिता एत्य णं ककोडयस्स एणागरायस्स ककोडए णाम
आवासे पएणत्ते, सत्तरसएकवीसाईं जोयणसयाईं, त चेव
पमाणं गोयजस्स, णवरिं सव्वरयणामए अच्चे जाव निर-
वसेसं जाव सीहासणं सपरिवारं अट्ठो स वहुईं उप्पद्दाईं
ककोडगपभाईं, सेसं तं चेव, णवरिं ककोडगपव्वनस्स
उत्तरपुरच्छिमेणं, एवं चेव सव्वं कदमगस्स वि सो चेव ग-
मओ अपरितेसिओ, णवरिं दाहिणपुरच्छिमेणं आवासो
विज्जुजिष्भावी रायहाणी, दाहिणपुरच्छिमेणं कनि जा
से वि एवं चेव, णवरिं दाहिणपच्छिमेणं कइलासा वि
रायहाणी, ताए चेव दिसाए अरुणपणे वि उत्तरपुरच्छि-
मेणं रायहाणी वि, ताए चेव दिसाए चत्तारि वि एगपमा-
णा सव्वरयणामया य ॥

(कहि णमित्यादि) कति भदन्त ! अणुवेलेधरराजाः प्रज्ञताः ?
भगवानाह—गौतम ! सत्वारोऽणुवेलेधरराजाः प्रज्ञताः । तद्यथा-
ककोटकः, कर्दमकः, कैलासः अरुणप्रमथ । (एतसिं णमित्यादि)
एतेषां जन्त ! चतुर्धामनुवेलेधरराजानां कति आवासपर्व-
ताः प्रज्ञताः ? भगवानाह—गौतम ! एकैकस्य एकैकभावेन स-
त्वारोऽणुवेलेधरराजानामावासपर्वताः प्रज्ञताः । तद्यथा—कको-
टकः, विद्युत्प्रमः, कैलासः, अरुणप्रमथ । ककोटकस्य कको-
टकः, कर्दमस्य विद्युत्प्रमः, कैलासस्य कैलासः, अरुणप्रमथस्या-
रुणप्रम इत्यर्थः । ' कहि णं भंते ! ' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् ।
भगवानाह—गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरपु-
र्वस्यां दिशि लवणसमुदं द्वाचत्वारिंशतं योजनसदृशायवगाह्य,
अत्र एतस्मिन्नयकाशे ककोटकस्य शुजगेन्द्रस्य शुजगराजस्य क-
कोटको नाम आवासपर्वतः प्रज्ञतः । (सत्तरसएकवीसाईं जोयण-
सयाईं) इत्यादिका गोस्तूपस्यावासपर्वतस्य या वक्तव्यतो-
का, सेवेहापि अहीनातिरिक्ता प्रणितव्या । नवरं सर्वरत्नमय इति
वक्तव्यं नामनिमित्तचिन्तायामपि, यस्माच्च कृष्णसु कुलिकासु
चापीसु, यावद् विलपङ्क्तिषु, वद्वनि उत्पलानि यावत् शतसदृशप-
त्राणि ककोटप्रभाणि ककोटकाकाराणि ततस्तानि ककोटका-
नीति व्यवहियन्ते । तद्योगात्पर्वताऽपि ककोटकः । तथा कको-
टकनामा देवस्तत्र पल्योपमस्थितिकः परिवसति । नतः ककोट-
कस्यामिन्वात् ककोटकः राजधान्यपि । ककोटकस्यावासपर्वत-

स्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुच्चान् व्यति-
प्रज्यान्त्यास्मिन् लवणसमुद्रे द्वादशयोजनसदृशायवगाह्य कको-
टकमभिधाना राजधानी, विजया राजधानीव प्रतिपत्तव्या । एवं
कर्दमककैलासाराणप्रजवक्तव्यताऽपि भावनीया, नवरं जम्बूद्वीपे
द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य लवणसमुद्रे दक्षिणपूर्वस्यां कर्दमकः,
दक्षिणापरस्यां कैलाशः, अपरोत्तरस्यामरुणप्रमः । नामनिमि-
त्तचिन्तायामपि यस्मात् कर्दमके आवासपर्वते उत्पन्नादीनि क-
र्दमप्रजाणि ततः कर्दमकः । भावना प्रागिव । अन्यैव कर्दमके वि-
द्युत्प्रमो नाम देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति, स च स्व-
जावाद् यत्कर्दमप्रियः । यत्कर्दमो नाम कुङ्कुमागुरुकर्पूरक-
स्तुरिकाचन्दनमेलापकः । उक्तं च—“ कुङ्कुमागुरुकर्पूरकस्तूरी-
चन्दनानि च । महासुगन्धमित्युक्तं—नामका यत्कर्दमः ” ॥ १ ॥
ततः प्राचुर्येण यत्कर्दमसंज्ञवादसौ पूर्वपदद्वारे सत्यज्ञातेतिवत्
कर्दम इत्युच्यते । कैलाशे कैलाशप्रभाणि उत्पन्नादीनि, कै-
लाशनामा च तत्र देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति, ततः कै-
लाशः । एवमरुणप्रमेऽपि वक्तव्यम् । कर्दमका राजधानी कर्द-
मकस्याऽऽवासपर्वतस्य दक्षिणपूर्वया कैलाशा, कैलाशस्यावा-
सपर्वतस्य दक्षिणाऽपरया अरुणप्रमा, अरुणप्रमस्यावासपर्व-
तस्यापरोत्तरया तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुच्चान् व्यतिप्रज्यान्त्य-
स्मिन् लवणसमुद्रे विजया राजधानीव वक्तव्या । जी० ३ प्रति० ।
अणुवज्र-अनुदजट-त्रि० । अनुलवणे, जी० ३ प्रति० । अभि-
मानराहिते, उक्तं २ अ० ।

अणुवज्रनपसत्यकुविल-अनुजटप्रशस्तकृत्ति-त्रि० । अनुव-
ज्रोऽनुलवणः प्रशस्तः प्रशस्तलक्षणः पीनः कुक्कियासां ताः
अनुजटप्रशस्तपीनकुक्कयः । जी० ३ प्रति० ।

अणुवज्रदेवस-अनुदजटवेप-पुं० । धिग्जनोचितनेपथ्यवर्जिते,
स च तृतीयश्रावकगुणविशिष्ट इति ।

संश्रयनुद्वेप इति तृतीयं नेदं प्रचिकटयिषुर्गायापूर्वा-
कमाह—

सहइ पसंतो धम्मी, उब्भनवेसो न सुंदरो तस्स ।

(सहइ इति) राजते शोजते, प्रशान्तः प्रशान्तवेपो, धर्मी धर्म-
वान् धार्मिको, नावश्रावक इत्यर्थः । अतः कारणादुद्वेपः वि-
रुजजनोचितनेपथ्यः । “ लंखस्स व परिहाणं, गसइ व अगे त-
हंगिया गाढा । सिरवेढो डमरेणं, वेसो एसो सिङ्गाणं ” ॥ १ ॥
सिहिण्ण मग्गदसो, उग्घाओ नाहिमंरुत्तं तह य । पासाय अऊ-
पिहिया, कंजुओ एस वेसाणं ” ॥ २ ॥ इत्यादिको न सुन्दरो
नैव शोभाकारी तस्य धार्मिकस्य । स हि तेन सुतरामुपहास-
स्थानं स्यात् “ नाकामी मण्डनप्रियः ” इति लोकोक्तिरिह लोके-
ऽपि कदाचिदनर्थं प्राप्नुयाद्, बन्धुमतीवत् । अन्ये पुनराहुः—
“ संतलणं परिहाणं, जलं च चोवाइयं च मज्झिमयं । सुसि-
लिष्मत्तरीयं, धम्मं लच्छि जसं कुणई ” ॥ १ ॥ परिहाणमखु-
म्भरचल-खुकोडिमज्झाय मणुसरंतं तु । परिहाणमकमंतो,
कंजुओ होइ सुसिलिहो ” ॥ २ ॥ इत्यादि । एतदपि संगतमेव ।
किन्तु कचिदेव देशे कुले वा घटते; धावकास्तु नानादेशेषु च
संभवन्ति, तस्माद्देशकुलाविरुद्धो वेपोऽनुद्वेप इति व्याख्यानं
व्यापकमिह संगतमिति ।

बन्धुमतीज्ञातं त्वेवम्—

अत्थि इह तामलिन्ची, नयरी न अरीहिं कहवि परिभूया ।

चतुर्को भवत्यत एकस्थानिकादिरसो यैः प्रत्ययैर्यासां प्रकृती-
नां जवति तदाह—(गिरिमहिरय इत्यादि) गिरिश्च पर्वतः, मही
च पृथिवी, रजश्च बालुका, जलं च पानीयं, गिरिमहीरजोजला-
नि, तेषु रेखासदृशस्तभिः सदृशास्तुल्यगिरिमहीरजोरेखासदृ-
शास्ते च ते कपायाश्च सम्परायास्तै रसो भवतीति प्रक्रमः । ६३।
कांडगित्याह—

चउठाणाऽ असुहसुह—जहा विगधदेसवाइआवरणा ।

पुमसंजद्वणिगदुतिचउ—ठाणरसा सेसदुगमाइ ॥ ६४ ॥

चतुःस्थानिक आदिर्यस्य रसस्य, त्रिस्थानिकद्विस्थानिकपञ्च-
स्थानिकपरिग्रहः । स चतुःस्थानादिः । कासामित्याह—(असुभ
त्ति) इह षष्ठ्यर्थे प्रथमा । ततः शुभानामशुभप्रकृतीनाम् । इयम-
श्च भावना—इह रेखाशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् गिरिरेखाशब्देन
प्रभूतकालव्यपदेशादतितीव्रत्वं कपायाणां प्रतिपाद्यते। ततश्च गि-
रिरेखासदृशैः कपायैः, अनन्तानुबन्धभिरित्यर्थः । सर्वां सामशुभ-
प्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसबन्धो भवति । आतपशोषिततमगम-
हीरेखासदृशैः कपायैरप्रत्याख्यानावरणैर्मनागूमन्दोदयैरशुभ-
प्रकृतीनां त्रिस्थानिकरसबन्धो भवति । बालुकारेखासदृशैः क-
पायैः प्रत्याख्यानावरणैरशुभप्रकृतीनां द्विस्थानिकरसबन्धः ।
जलरेखासदृशैः कपायैरतिमन्दोदयैः संज्यग्रनाभिधौर्विजपञ्च-
कादिबद्ध्यमाणसप्तदशाऽशुभप्रकृतीनामेकैकस्थानिकरसबन्धो
जवति, न शेषाणां शुभप्रकृतीनामशुभप्रकृतीनामिति हि वक्ष्यामः ।
उक्तोऽशुभानां रसस्य बन्धप्रत्ययः । इदानीं शुभानां रसप्रत्यय-
विभागमाह—(सुहसुह त्ति) शुभप्रकृतीनाम्—अन्यथां च वैपरीत्ये-
न हेतुविपर्ययाच्चतुःस्थानिकादिरसस्य बन्धो भवति । तत्र बा-
लुकाजलरेखासदृशैः कपायैश्चतुःस्थानिको रसबन्धो जवति ।
महीरेखासदृशैः कपायैस्त्रिस्थानिको रसबन्धो जवति । गिरि-
रेखासदृशैः कपायैर्द्विस्थानिको रसबन्धः शुभप्रकृतीनां जवति ।
शुभप्रकृतीनां त्वेकस्थानिको रस एव नास्तीति पूर्वमेवोक्तम् ।
अथ यासां प्रकृतीनामेकद्वित्रिचतुःस्थानिकजैदाच्चतुर्विधोऽपि
रसबन्धः संभवति, यासां चैकस्थानिकवर्जस्त्रिविध एवेत्येतच्चि-
न्तयन्नाह—(विगधदेसवाइआवरणा इत्यादि) विघ्नानि दानवभ-
भोगोपभोगवर्तिन्तरायजैदादन्तरायाणि पञ्च । देशघात्यावरणा
देशघात्यावारिकाः सप्त प्रकृतयः । तद्यथा—मतिज्ञानशुद्धज्ञा-
नावधिज्ञानमनःपर्यायज्ञानावरणाश्चतस्रः । चतुर्दर्शनाच्चतुर्दर्श-
नावधिदर्शनावरणास्तिस्रः, इत्येताः (पुम त्ति) पुंवेदः । संज्वल-
नाश्चत्वारः क्रोधमानमायाहोमाः, इत्येताः सप्तदश प्रकृतयः । कि-
मित्याह—(इगदुतिचउठाणरस त्ति) स्थानशब्दस्य प्रत्येकं
सम्बन्धात् एकस्थानद्विस्थानत्रिस्थानचतुस्थाना रसा यासां
ता एकद्वित्रिचतुःस्थानरसाः । एताः सप्तदशापि प्रकृतयः ए-
कद्वित्रिचतुःस्थानिकरूपेण चतुर्विधेनापि रसेन संयुक्ता बध्य-
न्त इति तात्पर्यम् । तत्रानिबृत्तिवादरे गुणस्थाने संख्येयेषु
भागेषु गतेष्व्यासां सप्तदशानामपि प्रकृतीनामेकस्थानिको रसः
प्राप्यते, शेषस्थानिकास्तु रसास्त्रयाऽप्यासां संसारस्थानजीवा-
नाश्रित्य प्राप्यन्त इति । शेषाः प्रकृतयस्तर्हि किंरूपा भवन्ती-
त्याह—(सेसदुगमाइ त्ति) शेषाः जणितसप्तदशप्रकृतिजन्य उच्चरि-
ताः, सर्वाः शुभा अशुभाश्च प्रकृतयो बध्यन्ते । 'दुगमाइ त्ति' सूच-
नात्सूत्रमिति न्यायाद् द्विस्थानादिरसाः, आदिशब्दाद् त्रिस्था-
नरसाश्चतुःस्थानरसाश्च । शेषाः प्रकृतयो द्विस्थानिकत्रिस्था-
निकचतुःस्थानिकरसयुक्ता भवन्ति, न त्वेकस्थानिकरसयुक्ता
इति ज्ञावः । अयमत्राशयः—सप्तदशप्रकृतिष्वेकैकस्थानिको रसो

बध्यते, न तु शेषास्तु, यतोऽशुभप्रकृतीनामेकस्थानिको रसो
यदि लभ्यते तदाऽनिबृत्तिवादरसंख्येयजागेभ्यः परत एव । तत्र
च सप्तदश प्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाणामशुभप्रकृतीनां बन्ध एव
नास्त्यतः शेषाणामशुभानामेकस्थानिको रसो न जवति । ये-
ऽपि केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणलक्षणे द्वे अपि प्रकृती तत्र
बध्यते तयोरपि सर्वघातित्वाद् द्विस्थानिक एव रसो निर्वर्त्यते,
नैकस्थानिक इति । शुभानां तु सर्वासामप्येकस्थानिको रसो
न भवति, यत इहासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि संक्ले-
शस्थानानि जवन्ति । विशुद्धिस्थानान्येत्यावन्त्येव, यथा यान्ये-
व संक्लेशस्थानान्यारोहति तेष्वेव विशुद्धमानोऽवतरति,
ततश्च यथा प्रासादमारोहतां यावन्ति सोपानस्थानान्यवतर-
तामपि तावन्त्येव तथाऽन्तपीति ज्ञावः । केवलं विशुद्धिस्थाना-
निविशेषाधिकानि । कथमिति चेदुच्यते—क्षपको येष्वावसाय-
स्थानकेषु क्षपकश्रेणिकामारोहति न तेषु पुनरपि निर्वर्तते, तस्य
संक्लेशाभावात्, अतस्तानि विशुद्धिस्थानान्येव जवन्ति न संक्ले-
शस्थानानीति, तैरव्यवसायस्थानैर्विशुद्धिस्थानान्यधिकानि ।
एवं च स्थितेऽत्यन्तविशुद्धौ वर्तमानः शुभप्रकृतीनां चतुः-
स्थानिकं रसमभिनिर्वर्तयति । अत्यन्तसंक्लेशेऽनुवर्तमान-
स्य शुभप्रकृतयो बन्ध एव नागच्छन्ति । या अपि वैक्रियतैज-
सकर्मणाद्याः शुभा नरकप्रायोग्याः संक्लिष्टोऽपि बध्नाति
तासामपि स्वभावात्सर्वसंक्लिष्टोऽपि द्विस्थानिकमेव रसं वि-
दधाति । येषु तु मध्यमाध्यवसायस्थानेषु शुभप्रकृतयो बध्यन्ते
तेषु तासां द्विस्थानिकपर्यन्त एव रसो बध्यते नैकस्थानिकः,
मध्यमपरिणामत्वादेवेति न कापि शुभप्रकृतीनामेकस्थानिक-
रससंभव इति कृता चतुर्विधस्यापि रसरूप प्रत्ययप्रकरणम् । ६४।
सम्प्रति शुभाऽशुभरसस्यैव विशेषतः किञ्चित् स्वरूपमाह—
निबुच्छुरसो सहजो, द्रुतिचउभागकद्विद्विभागतो ।

इगठाणाऽ असुहो, असुहाणं सुहो सुहाणं तु ॥ ६५ ॥

इद्वैवमक्षरघटना—अशुभानामशुभप्रकृतीनां रसोऽशुभः, अशु-
भाध्यवसायानिष्पन्नत्वात् । क इवेत्याह—निम्बवत्पिचुमन्दवत् ।
वत्शब्दस्य लुप्तस्येह प्रयोगो द्रष्टव्यः । तथा शुभानां शुभप्रकृ-
तीनां रसाः शुभाः, शुभाध्यवसायानिष्पन्नत्वात् । क इवेत्याह—इ-
जुवत् इजुयष्टिवत् । तथा डमरुकमणिन्यायाजिम्बेक्षुरसशब्द
एवमप्यावर्त्यते, यथा निम्बरस एव इक्षुरस एव सहजः स्वभा-
वस्य एकस्थानिकरस उच्यते, स एवैकस्थानिकरसो द्वित्रि-
चतुर्भागाश्च ते पृथग्विभिन्नेष्वश्रयेषु कथितैकभागान्तो द्वि-
स्थानिकादिर्भवति । कोऽर्थः ?-द्वौ च त्रयश्च चत्वारश्च द्वित्रिच-
त्वारस्ते च ते भागाश्च द्वित्रिचतुर्भागाः, द्वित्रिचतुर्भागाश्च
ते पृथग्विभिन्नेष्वश्रयेषु कथिताश्च द्वित्रिचतुर्भागाकथिता-
स्तेषामेक एकसंख्यो भागोऽन्तेऽवसाने यस्य सहजरसस्य
स द्वित्रिचतुर्भागाकथितैकभागान्तः । स किमित्याह—एकस्था-
निकादिः । आदिशब्दाद् द्विकस्थानिकत्रिस्थानिकचतुःस्थानि-
करसपरिग्रहः । इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—इह यथा निम्ब-
घोषातकीप्रभृतीनां कटुकद्रव्याणां सहजोऽकथितः कटुको
रस एकस्थानिक उच्यते, स एव भागद्वयप्रमाणः स्थाल्यां
कथितोऽर्द्धावर्तितः कटुकतरो द्विस्थानिकः, स एव भागत्र-
यप्रमाणः स्थाल्यां कथितस्त्रिभागान्तः कटुकतमस्त्रिस्थानिक,
स एव भागचतुष्टयप्रमाणो विभिन्नस्थाने कथितश्चतुर्थभा-
गान्तोऽतिकटुकतमश्चतुःस्थानिकः । तथा इक्षुक्षीरादीनां स-
हजो मधुररस एकस्थानिक उच्यते, स एव सहजो भागद्व-

फाल्गेनैतायता प्राङ्गैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ४ ॥
 केषां न कल्पनादन्वीं, शास्त्रकीरात्रगाहिनी ।
 विरलास्तद्वसास्वाद-विदोऽनुजवजिह्वया ॥ ५ ॥
 परयन्तु ब्रह्म निर्द्वन्द्वं, निर्द्वन्द्वानुभवं विना ।
 कथं लिपिमयी दृष्टि-र्वाङ्मयी वा मनोमयी ॥ ६ ॥
 न मृष्टसिरमोहत्वा-न्नापि च स्वापजागरौ ।
 कल्पनाशिन्याविश्रान्ते-स्तुर्यो वाऽनुजवो दृशा ॥ ७ ॥
 अधिगत्याखिलं शब्द-ब्रह्म शास्त्रदृशा मुनिः ।
 स्वसंवेद्यं परं ब्रह्माऽनुभवेनाधिगच्छति ॥ ८ ॥
 अष्ट० २६ अष्ट० ।

स्वेन स्वेन रूपेण प्रकृतीनां विपाकतो वेदने, विशेषः ।

अणुभवन-अनुजवन-न० । कर्मविपाकवेदनेऽनुजावे, आध०
 ४ अ० ।

अणुभविर्-अणुजवितुम्-अन्य० । प्रोक्तमित्यर्थे, " वेयणा
 अणुभविर् जे संसारम्मि अणंतप" उक्त० १८ अ० ।
 अणुभविता-अनुजय-अन्य० । अनुभवं कृत्वेत्यर्थे, प्रश्न १
 आध० ब्रा० ।

अणुजाग (व)-अनुजाग(व)-पुं० । वैक्रियकरणादिकायामचि-
 न्त्यशक्तौ, स्था० २ जा० ३ उ० । ज्ञा० । आध० । च० प्र० । माहात्म्ये,
 सूत्र० १ भु० ५ अ० १ उ० । वर्णगन्धादिगुणे, विशेषः । शापाद्य-
 नुग्रहविषये सामर्थ्ये, प्रश्ना० २ पद । अनु पश्चाद् यन्धोत्तर-
 कात् प्रजनं सेवनमनुजनम्, अनुभागः । कर्म० ६ कर्म० । कर्मणां
 विपाके, सूत्र० १ भु० ५ अ० १ उ० । उदये, रसे च । स्था० ७
 जा० । दर्श० । तीव्रादिभेदे रसे, स० । "अनुभागो रसः प्रोक्तः,
 प्रवेशो दलसंचयः" कर्म० ५ कर्म० । अनुभागः, रसः, अनुजाव
 इति पर्यायाः ।

अनुजागस्य किञ्चित्तावत् स्वरूपमुच्यते-

इह गम्भीरापारसंसारसरित्पतिमप्यविपरिवर्ती, रागादिताचि-
 वो जन्तुः पृथक्सिद्धानामनन्तप्रागवर्तिभिरप्रत्येक्योऽनन्त-
 गुणैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् कर्मस्कन्धान् प्रतिसमयं गृह्णाति ।
 तत्र च प्रतिपरमाणुकपायविशेषान् सर्वजीवानन्तगुणान् अनुजा-
 गस्याविभागपत्ति (रि) च्छेदनां करोति । केन्द्राभिप्रकृया विद्यमानो
 यः परमानिष्ठोऽनुजागांशोऽतिसूक्ष्मतयाऽर्द्धं न ददाति सोऽविजा-
 गपश्चिच्छेद उच्यते । उक्तं च-"बुद्धीश्चिच्छेदमाप्नोति, अणुभागं सो
 न देहो जो अर्द्धं । अधिभागपश्चिच्छेदो, सो इह अणुभागवंधर्मि" ।
 तत्र चैकैककर्मस्कन्धे यः सर्वजघन्यरसः परमाणुः सोऽपि के-
 द्राभिप्रकृया विद्यमानः किल सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् रसजागान्
 ग्रथच्छति ; अन्यस्तु परमाणुः तानविभागपश्चिच्छेदानिकाधिका-
 न्यग्रच्छति; अपरस्तु तानपि छान्दिकां; अन्यस्तु तानपि चतुर-
 धिकमित्यादिवृद्ध्या तावन्नैवं यावदन्त्य उत्कृष्टरसः परमाणुर्नैव
 शशेरन्तगुणानपि रसजागान् ग्रथच्छति । अत्र च जघन्यरसा
 ये केचन परमाणवस्तेषु सर्वजीवानन्तगुणरसजागयुक्तेष्वन्य-
 स्तत्कल्पनया शतरसांशानां परिकल्प्यते । एतेषां च समुदायः
 समानजातीयत्वादेका वर्गणेत्यभिधीयते । अन्येषां तेषां च-
 रशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायो द्वितीया वर्गणा । अपरे-
 षां तु द्रष्टुत्तरशतरसांशयुक्तानामणूनां समुदायस्त्वृतीया वर्गणा ।

अन्येषां तु द्रष्टुत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायश्चतुर्थी
 वर्गणा । एवमनया दिशा एकैकरसभागवृत्तानामणूनां समुदा-
 यरूपा वर्गणाः सिद्धानामनन्तभागेऽन्येभ्योऽनन्तगुणा वा-
 च्याः । एतासां चैतावतीनां वर्गणानां समुदायः स्पर्शकमित्य-
 मिधीयते । स्पर्शन्त इवोत्तरोत्तररसवृद्ध्या परमाणुवर्गणाः । अ-
 नेति कृत्वा एताश्चानन्तरोक्तानन्तकप्रमाणाः । अथ सत्कल्पनया
 पदं स्थाप्यन्ते-
 निरन्तररस-
 सर्वजीवानन्त-
 क्रमेणारभ्यन्ते ।
 नन्तानि रस-

तीव्रमन्दतया द्विविधोऽनुभागः-

अयं चानुभागः शुभाशुभभेदेन द्विविधानामपि प्रकृतीनां ती-
 व्रमन्दरूपतया द्विविधो भवति ।

अतोऽशुभशुभप्रकृतीनां येन प्रत्ययेनासौ तीव्रो
 वच्यते, येन च मन्दः तन्निरूपणार्थमाह-

तिव्रो अमुहसुहाणं, संकेसविसोहिओ विवज्जयओ ।

मंदरसो गिरिमहिरय-जलरेहासरिकसाएहि ॥६३॥

तत्र प्रथमं तावत्तीव्रमन्दस्वरूपमुच्यते पश्चाद्वक्तार्यः । इह घो-
 पातकीपिचुमन्दाद्यणुभवनस्पतीनां सम्यन्धी सहजोऽर्द्धावर्त्तो
 द्विजागावर्त्तो भागत्रयावर्त्तश्च यथाक्रमं कटुकः कटुकतरः कटु-
 कतमोऽतिशयकटुकतमश्च; तथेष्टुकीरादिद्रव्याणां सम्यन्धी
 सहजोऽर्द्धावर्त्तो द्विजागावर्त्तो प्रागत्रयावर्त्तश्च यथासंख्यं
 मधुरो मधुरतरो मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो जलघसम्ब-
 न्धाद्यथा तीव्रो भवति तथैतपामेव पिचुमन्दादीनां कीरादीनां
 च द्रव्याणां सम्यन्धी सहजो रसो जललघविन्द्वर्द्धचुलुकचुलु-
 फप्रच्युत्यज्जलिकरकुम्भद्रोणादिसम्बन्धाद्यथा यदुजैर्दं मन्द-
 तरादित्वं प्रतिपद्यते तथा अर्द्धावर्त्ताद्योऽपि रसाः । यथा ज-
 ललघादिसम्बन्धान्मन्दमन्दतरमन्दतमादित्वं प्रतिपद्यते तथै-
 वाशुजप्रकृतीनां शुभप्रकृतीनां च रसास्तादृशतादृशकपायवशा-
 चीवत्वं मन्दत्वं चानुविद्धतीति । अक्षरार्थोऽधुना विव्रियते-
 तीव्रो रसो जवति । कासामित्याह- (अमुहसुहाणं ति) अणुभा-
 वशुभाशुभशुभाः, तासामशुभशुभानाम्, अशुभप्रकृतीनां शुभ-
 प्रकृतीनां चेत्यर्थः । कथमित्याह- (संकेसविसोहिओ ति) संकेस-
 श्च विशुद्धिश्च संकेशविशुद्धी, ताभ्यां संकेशविशुद्धितः, आद्यादे-
 राकृतिगणत्वात् तत्प्रत्ययः । यथासंख्यमशुभप्रकृतीनां संक्ले-
 शेन शुभप्रकृतीनां विशुद्धेत्यर्थः । इदमत्र हृदयम्-अशुभप्रकृतीनां
 छान्दसीतिसंख्यानां संक्लेशेन तीव्रकपायोदयेन तीव्र उत्कटो रसो
 जवति । सर्वाशुभप्रकृतीनां तद्वन्धविधायिनां जन्तूनां मध्ये यो य
 उत्कृष्टसंक्लेशो जन्तुः स स तीव्ररसं वज्जातीत्यर्थः । शुभप्रकृती-
 नां विशुद्ध्या कपायविशुद्ध्या तीव्रोऽनुभागो भवति । शुभप्रकृति-
 यन्धकानां मध्ये यो यो विशुद्धमानपरिणामः स स तासां
 तीव्रमनुभागं वज्जातीत्यर्थः । उक्तस्तीव्ररसस्य बन्धप्रत्ययः ।
 सम्प्रति स एव मन्दरसस्याभिधीयते- (विवज्जयओ । मंदरसो
 ति) विपर्ययेण विपर्ययत उक्तवैपरीत्येन मन्दोऽनुक्तो रसो
 जवति । अयमर्थः-सर्वप्रकृतीनामशुभानां विशुद्ध्या मन्दो रसो
 जायते, शुभानां तु मन्दः संक्लेशेनेति । उक्तः संक्लेशविशुद्धि-
 वशादशुभशुभप्रकृतीनां तीव्रो मन्दश्चानुभागः । (एकस्थावि-
 कादिकश्चतुर्विधोऽनुजावः) अयं चैकद्वित्रिचतुःस्थानिकभेदा-

पुङ्गलान् गृह्यन् अनाजोगिकेन वीर्येण तस्मिन्नेव बन्धसमये ज्ञानावरणीयादितया व्यवस्थापनं तन्निर्वचनमित्युच्यते । तथा जीवेन परिणामितस्य विशेषप्रत्ययैः प्रद्वेषनिवृत्तादिभिस्ततस्तमुत्तरोत्तरं परिणामं प्रापितस्य स्वयं वा विपाकप्राप्ततया पर-
निरपेक्षमुदीर्णस्य उदयप्राप्तस्य, परेण वा उदीरितस्य उदयमु-
पनीतस्य, तदुज्जयेन स्वपररूपेणोज्जयेन उदीर्यमाणस्य उदयमुप-
नीयमानस्य गतिं प्राप्य किञ्चिद्विकर्म काश्चिद् गतिं प्राप्य तीव्रानु-
भावं भवति । यथा नरकगतिं प्राप्याऽसातवेदनीयम् असातोदयो हि यथा नारकाणां तीव्रो भवति, न तथा तिर्यगादीनामिति ।
तथा स्थितिं प्राप्य सर्वोत्कृष्टानुभावमिति शेषः । सर्वोत्कृष्टा हि स्थितिमुपगतमञ्जुं कर्म तीव्रानुभावं भवति । यथा मिथ्यात्वं भवं प्राप्य इह किमपि किञ्चिद्भयमाश्रित्य स्वविपाकप्रदर्शनसमर्थम् । यथा निद्रा मनुष्यजवतिर्भयं प्राप्येत्युक्तम् । एतावता किल स्वत उदयस्य कारणानि दर्शितानि । कर्म हि तां तां गतिं स्थितिं जवं वा प्राप्य स्वयमुदयमागच्छतीति । सम्प्रति परत उदयमाह-पुङ्गलं काष्ठलेपुखड्गादिलक्षणं प्राप्य । तथा-
हि-परेण क्लृप्तं काष्ठलेपुखड्गादिकमासाद्य भवत्यसातवेदनी-
यम् । क्रोधादीनामुदयस्तथा पुङ्गलपरिणामं प्राप्य इह किञ्चित्क-
र्म कमपि पुङ्गलमाश्रित्य विपाकमायाति । यथाऽन्यवद्वृत्तस्या-
ऽऽहारस्याजीर्णत्वपरिणामत्वमाश्रित्य असातवेदनीयम् ; ज्ञा-
नावरणीयं तु सुरापानमिति । ततः पुङ्गलपरिणामं प्राप्येत्युक्तम् ।
कतिविधोऽनुभावः प्रकृतः, इत्येष अश्वः । अत्र निर्वचनम-दशवि-
धोऽनुभावः प्रकृतः । तदेव दशविधमनुभावं दर्शयति-(सोयाव-
रणे इत्यादि) इह श्रोत्रशब्देन श्रोत्रेन्द्रियाविषयः कयोपशमः परि-
गृह्यते (सोयविज्ञाणावरणे इति) श्रोत्रविज्ञानशब्देन श्रोत्रेन्द्रियो-
पयोगः, यस्तु निर्वृत्युपलक्षणं ह्येत्येन्द्रियं यदङ्गोपाङ्गं नाम नामकर्म निर्वर्त्यं न ज्ञानावरणविषय इति, न श्रोत्रशब्देन गृह्यते । एवं नेत्रावरणे इत्याद्यपि भावनीयम् । तत्रैकेन्द्रियाणां रसनघ्राणच-
क्षुःश्रोत्रविषयाणां बन्ध्युपयोगानां प्राय आवरणम् । प्रायोग्रहणं च वकुलादिव्यवच्छेदार्थम् । वकुलादीनां हि यथायोगं पञ्चाना-
मपीन्द्रियाणां बन्ध्युपयोगाः फलतः स्पष्टा उपलब्ध्यन्ते । आगमे पि च प्रोच्यन्ते-“पञ्चिन्द्रियो ब्र वडलो, नरो ब्र पञ्चिन्द्रिओवभो-
गाओ । तद् वि न ज्ञह पञ्चि-दिओ च्छि दर्विदिया जावा” ॥ १ ॥
तथा-“जह सुहुमं भावैदिय-नाणं दर्विदियावराहे वि । दव्व-
स्सु य भावम्मि वि, भावस्सुयं पत्तिवाइणं ” ॥ १ ॥ इति । ततः प्राय इत्युक्तम् । त्रीन्द्रियाणां घ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियविषयाणां बन्ध्युपयोगानां त्रीन्द्रियाणां चक्षुःश्रोत्रविषयाणां चतुरि-
न्द्रियाणां श्रोत्रेन्द्रियलब्ध्युपयोगावरणं स्पर्शनेन्द्रियलब्ध्यु-
पयोगावरणं कुष्ठादिव्याधिजिरुपहतदेहस्य कुरूप्यम् । पञ्चेन्द्रि-
याणामपि जात्यन्धादीनां पञ्चाद्या अन्धवधिराश्रूतानां चक्षुरादी-
न्द्रियलब्ध्युपयोगावरणं भावनीयम् । कथमेवमिन्द्रियाणां च बन्ध्युपयोगावरणमिति चेत् ? उच्यते-स्वयमुदीर्णस्य परेण वा उदीरितस्य ज्ञानावरणीयस्य कर्मण उदयेन । तथा चाह-
(जं वेणइ इति) यद्वेदयते परेण क्लृप्तं काष्ठलेपुखड्गादिलक्षणं पुङ्गलं तेनाभिघातजननसमर्थेन (पुगले वा इति) यावद् बहु-
न् पुङ्गलान् काष्ठादिलक्षणान् परेण क्लृप्तान् वेदयते, तैरभि-
घातजननसमर्थः । पुङ्गलपरिणाममभ्यवहताहारपरिणामरूपं पानीयरसादिकमतिदुःखजनकं वेदयते ; तेन वा ज्ञानपरिणत्यु-
पहननान् । तथा (वीससा वा पोगगलपरिणाममिति) विस-
सया यत्पुङ्गलानां परिणामं शीतोष्णातपादिरूपत्वं वेदयते

यदा तदा तत्रेन्द्रियोपघातजननद्वारेण ज्ञानपरिणतामुपहृतायां ज्ञातव्यम् । एकेन्द्रियः किमपि सद्वस्तु न जानाति, ज्ञानपरिण-
तेरुपहृतत्वात् । अयं सापेक्ष उदय उक्तः । निरपेक्षस्य तु विषये सूत्रमिदम्-(तैसि वा उदएणं ति) ज्ञानावरणीयकर्मपुङ्गलानां विपाकप्राप्तानामुदयेन ज्ञातव्यं न जानाति । (जाणिउकामे न जाणइ च्छि) ज्ञानपरिणामेन परिणामितुमिच्छन्नापि ज्ञानपरिण-
त्युपघातात् जानाति । (जाणिउता वि न जाणइ च्छि) प्राग् ज्ञात्वापि पञ्चाक्ष जानीते, तेषामेव ज्ञानावरणीयकर्मपुङ्गला-
नामुदयात् (उच्छन्ननाणीया वि जवइ इत्यादि) ज्ञानावरणीयस्य कर्मण उदयेन जीव उच्छन्नज्ञान्यापि भवति । उच्छन्नं च तज्ज्ञानं च उच्छन्नज्ञानं, तदस्यास्तीति उच्छन्नज्ञानी, सर्वधनादिपा-
गभ्युपगमादिभिः यावत् शक्तिप्रच्छादितज्ञान्यापि भवतीत्यर्थः ।
“ एस णं गोयमा ! नाणावरणिज्जे कम्मे ” इत्याद्युपसंहारवाक्यं कथ्यम् । प्रका० । ३० ।

दर्शनावरणीयस्य—

दरिसणावरणिज्जस्स एं जंते ! कम्मस्स जीवेणं वद्धस्स जाव पोगगलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुजावे पप्पत्ते ? गोयमा ! नवविहे अणुजावे पप्पत्ते । तं जहा-
निहा निहानिहा पयला पयलापयला थीणद्धी चक्खुदंस-
णावरणे अचक्खुदंसणावरणे ओहिदंसणावरणे केवलदंस-
णावरणे जं वेदेइ पोगगलं वा पोगगले वा पुगलपरिणामं वा वीससा वा पोगगलपरिणामं तैसि वा उदएणं पासियव्वं वा न पासइ, पासिउकामे न पासइ, पासित्ता वि न पासइ, उच्छन्नदंसणीया वि जवइ दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदए णं, एस णं गोयमा ! दरिसणावरणिज्जे कम्मे, एस णं गोयमा ! दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं वद्धस्स जाव पोगगलपरिणामं पप्प नवविहे अणुजावे पप्पत्ते ।

प्रश्नसूत्रं पूर्ववत् । निर्वचनमाह-गौतम ! नवाविधः प्रकृतः । तदेव नवाविधत्वं दर्शयति-“निहा” इत्यादि । निहाशब्दार्थमग्रे व-
क्ष्यामः । प्रावार्थस्त्वयम्-“सुहपमिचोहा निहा, दुहपमिचोहा य निहनिहा य । पयला होइ त्रियस्सा, पयलापयला य च्चकमओ ॥ १ ॥ थीणद्धी पुण अइसं, किञ्चिउकम्माण वेयणे होइ । मह-
निहादि ण च्छितिय-वावारपसाहणी पायं ” ॥ २ ॥ चक्षुर्दर्शना-
वरणं चक्षुःसामान्योपयोगावरणम् । एवं शेषेष्वपि ज्ञावनीयम् । (जं वेयइ इत्यादि) यं वेदयते पुङ्गलमृदुशयनीयादिकं (पुगले वा इति) यान् पुङ्गलान् बहून् मृदुशयनीयादीन् वेदयते पुङ्गलपरिणामं माहिपदध्याद्यभ्यवहताहारपरिणाममित्यर्थः, (वी-
ससा वा पोगगलपरिणाममिति) वर्षास्त्रसंस्तनप्रोरूपं, धाराभ्रुनिपातरूपं वा यं वेदयते तेन निद्राद्युदयाक्षपतो दर्श-
नपरिणत्युपघाते । एतावता परत उक्तः । सम्प्रति स्वत उदय-
माह-(तैसि वा उदएणं च्छि) तेषां वा दर्शनावरणीयकर्मपुङ्गला-
नामुदयेन परिणतिविघातेन द्रष्टव्यं न पश्याति । तथा कश्चिद्दर्श-
नपरिणामेन परिणामितुमिच्छन्नापि जात्यन्धत्वादिना दर्शनपरिण-
त्युपघातात् पश्याति-प्राग् दृष्ट्वापि पञ्चाक्ष पश्याति, दर्शना-
वरणीयकर्मपुङ्गलानामुदयात् । किं बहुना ? दर्शनावरणीयस्य कर्मण उदयेन जीव उच्छन्नदर्शन्यापि यावच्छक्तिप्रच्छादित-
दर्शन्यापि जवति । “ एस णं गोयमा ! दरिसणावरणिज्जे कम्मे ” इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

अणुजाग

यप्रमाणः पृथग्भाजने कथितोऽर्थावचितो मधुरतरौ द्विस्था-
निकः, स एव भागत्रयप्रमाणः पृथक्स्थाल्यां कथितस्त्रिमा-
नान्तो मधुरतमस्त्रिस्थानिकः, स एव भागचतुष्कप्रमाणो वि-
भिन्नस्थाने कथितश्चतुर्थभागान्तोऽतिमधुरतमश्चतुःस्थानिकः ।
एवमशुभानां प्रकृतीनां तादृशतादृशकपायनिष्पाद्यः कटुकः
कटुकतरः कटुकतमोऽतिकटुकतमश्च । शुभप्रकृतीनां मधुरो
मधुरतरौ मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो यथासंख्यमेकद्वि-
त्रिचतुःस्थानिको भवति । एवं च रसोऽशुभप्रकृतीनामशुभः,
शुभप्रकृतीनां शुभ इति । तुल्यद्वौ विशेषणौ । स चैवं विशिन्-
ष्टि-यथा सप्तदशाशुभप्रकृतीनामेकस्थानिकरसस्पर्द्धकान्य-
संख्येयव्यक्रियकत्वादसंख्येयानि भवन्ति । तत्र च सर्वज्ञघ-
न्यस्पर्द्धकरसत्वेऽपि निम्नानुपमा । तदनु चानन्तेषु रसपलि-
च्छेदेष्वतिमान्तेषु तदुत्तरं द्वितीयस्पर्द्धकं भवति । एवमुत्त-
रोत्तरक्रमेण प्रवृद्धवृद्धतररसोपेतानि शेषस्पर्द्धकान्यपि भ-
वन्ति । एवं शेषाः शुभप्रकृतीनामपि द्वित्रिचतुःस्थानिकरस-
स्पर्द्धकान्यसंख्येयव्यक्रियकानि प्रत्येकमसंख्येयानि भवन्ति ।
तान्यपि यथोत्तरमनन्तरसपलिच्छेदनिष्पन्नत्वात् परस्परम-
नन्तगुणरसानि । अत उत्तरोत्तरस्पर्द्धकान्यप्यनन्तगुणरसा-
नि, किं पुनरशुभानां द्वित्रिचतुःस्थानिकारसा इति । तथाहि-
अशुभानां निम्नोपमवीर्यो य एकस्थानिको रसस्तत्सादनन्तगु-
णवीर्यो द्विस्थानिकस्ततोऽप्यनन्तगुणवीर्यस्त्रिस्थानिकस्तसा-
दप्यनन्तगुणवीर्यश्चतुःस्थानिक इति परस्परं सुप्रतीतमेवान-
नस्ति । यश्च शुभानामिच्छामो रसोऽभिहितः स द्विस्थानिकर-
सस्य सर्वज्ञघन्यस्पर्द्धक एव इदम् । तदुत्तरस्पर्द्धकेषु चानन्तगु-
णारसा भवन्ति । एतत्सर्वं पञ्चसंग्रहाजिप्रायतो व्याख्यातम-
क्रिञ्च-केचज्ञानावरणादिरूपणां सर्वघातिनीनां विज्ञातिसं-
ख्यानां प्रकृतीनां सर्वाण्यपि रसस्पर्द्धकानि सर्वघातीन्येव
देशघातिनीनां पुनर्मतिज्ञानावरणप्रभृतिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां
सस्पर्द्धकानि कानिचित्सर्वघातीनि कानिचिद्देशघातीनि ।
कानि चतुःस्थानिकरसानि त्रिस्थानिकरसानि वा रसस्पर्द्ध-
कानि तानि नियमतः सर्वघातीनि, द्विस्थानिकरसानि
कानिचिद्देशघातीनि कानिचित्सर्वघातीनि, एकस्थानिकर-
सानि च सर्वघातीन्येव उक्तं च-रसस्पर्द्धकानि सर्व-
तु सर्वाण्यपि देशघातीन्येव उक्तं च-रसस्पर्द्धकानि सर्व-
पि स्वघात्यं ज्ञानादिगुणं ज्ञान्ति । तानि च स्वरूपेण ता-
जनवन्निस्त्रिगुणेषु घृतमिवातिशयेन स्निग्धानि, का-
तुल्यप्रदेशोपचितानि, स्फटिकाम्रगुदवज्जातीय निर्मलानि
च-जो घापइ नियगुणं, सयन्नं सो डोर सव्यधाइरस-
निच्छिद्दो निच्छो, तण्डुलो फलिहम्महरविमन्नो ”
यानि च देशघातीनि रसस्पर्द्धकानि तानि स्वघात्यं ज्ञा-
यं देशतो ज्ञान्ति, तदुदयेऽवश्यं कायोपशमसंभवा-
च स्वरूपेणानेकविधविचरसंकुलानि, कानिचित्कम्यन्न इव
इवातिस्थूरविक्षतसंकुलानि, कानिचित्कम्यन्न इव
चरशतसंकुलानि, कानिचित्पुनरतिमूलमविचरानि
यथा वासांसि । तथा तानि देशघातीनि रसस्पर्द्ध-
कत्वेनानि भवन्ति, वैमल्यरहितानि च । उक्तं च-
इच्छन्नां, इयरो कनकवलं सुसंकासो । विविहव-
क्षप्पसिणेहो अ विमलो य ” ॥ १ ॥ इति प्रकृति-
मनुजागवन्व इति । कर्म० ५ कर्म० । (अघातिर-
जागे १८० पृष्ठे ‘अघातिर’ शब्देऽभिहितम्)

इदानीं तु अनुमीयते । अत्रादौ ज्ञानावरणव्यत्ययः
चित्सुराह—तत्रादौ ज्ञानावरणव्यत्ययः
नाणावरणज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं वच्छस्स
पुडस्स वद्धफासपुडस्स संचियस्स चियस्स उवचियस्स
आवागपत्तस्स विवागपत्तस्स फलपत्तस्स उदयपत्तस्स जी-
वेणं कयस्स जीवेणं निव्वत्तियस्स जीवेणं परिणामि-
यस्स सयं वा उदिन्नस्स परेण वा उदीरियस्स तदुभएण
वा उदीरिज्जभाणस्स गतिं पप्प ठिइं पप्प जवं पप्प पो-
गलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुजावे पणत्ते ?। गोयमा !
नाणावरणज्जस्स णं कम्मस्स जीवेणं वद्धस्स जाव पोग्ग-
लपरिणामं पप्प दमविहे अणुभावे पणत्ते । तं जहा—सोता-
वरणे सोयविन्नाणावरणे नेत्तावरणे नेत्तविन्नाणावरणे घा-
णावरणे घाणविन्नाणावरणे रसावरणे रसविन्नाणावरणे
फासावरणे फामविन्नाणावरणे जं वेदेति पोग्गलं वा पो-
गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा पोग्गलाणं परिणामं
तेसिं वा उदएणं जाणियव्वं न जाणइ, जाणिउ कामे न
जाणइ, जाणित्ता विन जाणइ, उच्छन्ननाणीया वि जवति
नाणावरणज्जस्स कम्मस्स उदएणं, एस णं गोयमा !
नाणावरणज्जे कम्म, एस णं गोयमा ! नाणावरणज्जस्स
कम्मस्स जीवेणं वच्छस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प दस-
विहे अणुभावे पणत्ते ॥

कर्मस्मै जीविते ॥
विदे अणुभावे पण्डिते ॥
ज्ञानावरणीयस्य । एवमिति वाक्यालङ्कारे । भदन्त ! जीवेन
बद्धस्व रागद्वेषपरिणामवशतः कर्मरूपतया परिणमितस्य
स्पष्टस्यात्मप्रदेशैः सह संक्लेशमुपगतस्य (बद्धफालपुच्छस्येति)
पुनरपि गाढतरं बद्धस्यातीव स्पष्टेन स्पृष्टस्य च । किमुक्तं भ-
वति-आवेष्टनपरिवेष्टनरूपतयाऽतीव सौपच्यगाढतरं च ब-
द्धस्येति संचितस्य आवाधाकालातिक्रमणोत्तरकालवेदनयो-
ग्यतया निषिक्तस्य चित्तस्य उत्तरोत्तरस्थितिषु प्रदेशहान्यार-
म्भतया निषिक्तस्य चित्तस्य समानजातीयप्रकृत्यन्तर-
संवृद्ध्याऽवस्थापितस्य उर्पाचित्तस्य समानजातीयप्रकृत्याभिमु-
दलितकर्मणोपचयं नीतस्य आपाकप्राप्तस्य ईपत्पाकाभिमु-
खीभूतस्य विपाकप्राप्तस्य विशिष्टपाकमुपगतस्य, अत एव
फलप्राप्तस्य फलं दातुमभिमुखीभूतस्य । ततः सामग्रीवशादु-
दयप्राप्तत्वादयः क्रमधर्माः, यथा आन्नफलस्य । तथाहि-आन्न-
फलं प्रथमतः ईपत्पाकाभिमुखं भवति, ततो विशिष्टं पाकमु-
पागतं, तदनन्तरं वृत्तिप्रमोदादि फलं दातुमुचितम्, ततः सा-
मग्रीवशादुपयोगप्राप्तं भवति । एवं कर्माऽपीति । ततः पुनर्जी-
वेन कथं बद्धमित्यत आह-(जीवेण कयस्स) जीवेन कर्मब-
न्धनबद्धेनेति गम्यते । कृतस्य निष्पादितस्य जीवो ह्युपयोग-
स्वभावस्ततोऽसौ रागादिपरिणतो भवति, न शेषः, रागादिपरि-
णतश्च स न कर्म करोति । सा च रागादिपरिणतिः कर्मबन्धनब-
द्धस्य भवति, न तद्वियोगे; अन्यथा मुक्तानामप्यवीतरागत्वप्रस-
क्तं । ततः कर्मबन्धनबद्धेन सता जीवेन कृतस्येति स्पष्टव्यम् । उक्तं
च-“जीवस्तु कर्मबन्धन-बद्धो वीरस्य भगवतः कर्त्ता । संतत्स-
नायं च, तदिष्टकर्मात्मनः कर्त्तुः” ॥१॥ तथा जीवेन निर्याचितस्य
इह बन्धसमये जीवः प्रथमतो विशिष्टान् कर्मवर्गणाऽन्तःपातिनः

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्—चतुर्दशविधोऽनुभावः । तदेव च-
तुर्दशविधत्वं दर्शयति—(इष्टा सद्वा इत्यादि) एते शब्दादय
आत्मीया एव परिगृह्यन्ते, नामकर्मविपाकस्य चिन्त्यमानत्वात् ।
तत्र वादित्राद्युत्पादिता इत्येके । तदयुक्तम् । तेषामन्यकर्मोदयनि-
ष्पाद्यत्वात् । इष्टा गतिर्मत्तवारणायनुकारिणी । शिविकाद्यारोहण-
तद्वेति एके, इष्टा स्थितिः सहजा सिंहासनादौ च अन्ये, इष्टं ला-
वण्यं गायविशेषलक्षणं कुङ्कुमाद्यनुलेपनजमिति अपरे, इष्टा य-
शःकीर्त्तिर्यशसा युक्ता कीर्त्तिः । यशःकीर्त्योद्भायं विशेषः-
दानपुण्यकृता कीर्त्तिः, पराक्रमकृतं यशः, (इष्टे उद्भाणकम्म-
वन्नवीरियपुरिसक्कारपरिक्रमे इति) उत्थानं देहचेष्टाविशेषः,
कर्म रेचनञ्चमणादि, वयं शरीरसामर्थ्यादिविशेषः, वीर्यं जी-
वप्रजवः, स एव पुरुषाकारोऽभिमानविशेषः, स एव निष्पा-
दितस्वविषयपराक्रमः । इष्टस्वरता वल्लभस्वरता । तत्र इष्टाः
शब्दाः इति सामान्योक्तावियं विशेषोक्तिस्तदन्यवहुमतत्वापेक्षा-
ऽवगन्तव्या । कान्तस्वरतेति । कान्तः कमनीयः सामान्यतो-
ऽभिलषणीय इत्यर्थः । कान्तः स्वरो यस्य स तथा तद्भावः
कान्तस्वरता । प्रियस्वरतेति । प्रियो भूयोऽभिलषणीयः ; प्रियः
स्वरो यस्य स तथा तद्भावः प्रियस्वरता (मणुञ्जस्सरया
इति) उपरतभावोऽपि स्वास्वयनप्रीतिजनको मनोः स स्व-
रो यस्य स मनोःस्वरता (जं वेपइ इत्यादि) यं वेदयते पुत्र-
हं धीणावर्णकगन्धताम्बुपट्टशिविकासिंहासनकुङ्कुमदानराज-
योगगुलिकादिब्रह्मणम् । तथा च धीणादिसम्बन्धाद् भवन्तीष्टाः
शब्दादय इति परिभाषनीयमेतत् सूत्रमधिया मार्गानुसारितया ।
(पुगले वा इति) यतो बहून् पुत्रज्ञानं वेणुवीणादिकान् वेदय-
तो यं पुत्रज्ञपरिणामं ब्राह्मणाद्याहारपरिणामं विस्त्रसया वा यं
पुत्रज्ञानां परिणामं शुजजलदादिकं तथा चोन्नतान् कज्जसम-
प्रज्ञानेधानवबोध्य प्रहर्षमनसो गायन्ति मत्तयुवतयो रेवुका-
निष्टस्वरानित्यादि, तत्प्रभावात् शुजनामकर्म वेदयते शुजना-
मकर्मफलमिष्टस्वरतादिकमनुभवतीति ज्ञावः । एतावता परत
उक्तः । इदानीं स्वतस्तमाह—[तेसिं वा उदणं ति] तेषां वा
शुभानां कर्मपुत्रज्ञानामुदयेन इष्टशब्दादिकं वेदयते “ एस णं
गोयमा ! ” इत्याद्युपसंहारवाक्यम् । उक्तोऽष्टविधसातवेदनीय-
स्यानुज्ञावः । परतः सातवेदनीयस्योदयमुपदर्शयति—[जं वेपइ
पुगलमित्यादि] यद् वेदयते पुत्रं स्रक्चन्दनादि यान् वा
वेदयते पुत्रज्ञानं यद् स्रक्चन्दनादीन् यं वा वेदयते पुत्रलप-
रिणामं देशकालवयोवस्थाऽनुरूपारपरिणामम् [वीससा वा
पुगलाण परिणामं] विस्त्रसया वा यं पुत्रज्ञानां परिणामकामेऽ
भिलषितं शीतोष्णादिवेदनाप्रतीकाररूपं तेन मनसः समाधान-
सम्पादनात् सातवेदनीयं कर्मानुभवति । सातवेदनीयकर्मफलं
सातं वेदयते इत्यर्थः । उक्तः परत उदयः । सम्प्रति स्वत उदय-
माह—[तेसिं वा उदणं ति] तेषां वा सातवेदनीयपुत्रज्ञानामुद-
येन मनोःशब्दादिव्यतिरेकेणापि कदाचित्सुखं वेदयते, यथा नैर-
यिकास्तीर्थकरजन्मादिकाश्च । “ एस णं गोयमा ! ” इत्याद्युपसं-
हारवाक्यम् । प्रश्नसूत्रं सुगमं, निर्वचनं पूर्ववत् । तथा चाह—“तदेव
पुञ्जा, उच्चरं च, नवरं” इत्यादिना पूर्वसूत्रादस्य विशेषमुपदर्शय-
ति—[अमणुञ्जा सद्वा इत्यादि] अमनोःशब्दाः शब्दाः खरोप्राश्वा-
दिसम्बन्धिन आगन्तुकाः, अमनोःज्ञा रसाः स्वस्याप्रतिभासिनो
दुःखजनकाः, अमनोःज्ञा गन्धा गोमहिषादिमृतकलेवरादिगन्धाः,
अमनोःज्ञानि रूपाणि स्थगतस्त्रीगतादीनि, अमनोःज्ञाः स्पर्शाः क-
र्कशादयः [मणोदुहया इति] दुःखितं मन इति [वयदुहिया

इति] अजव्या वागिति ज्ञावार्थः [कायदुहिया इति] काये
दुःखं यस्यासौ कायदुःखस्तद्भावः कायदुःखिता, दुःखितं कायं
इत्यर्थः [जं वेपइ इत्यादि] यं वेदयते पुत्रं विपशक्कण-
कादि [पुगले वा इति] यान् वा पुत्रज्ञानं बहून् विपशक्क-
णकादीन् वेदयते यं वा वेदयते पुत्रज्ञपरिणाममत्याहारलक्षणं
विस्त्रसया वा यं वेदयते पुत्रज्ञपरिणाममकोऽनभिलषितं
शीतोष्णादिपरिणामं तेन मनसोऽसमाधानसम्पादनात् असा-
तवेदनीयं कर्मानुभवति । असातवेदनीयकर्मफलमसातं वेदय-
त इति भावः । एतेन परत उदय उक्तः । सम्प्रति स्वत उदय-
माह—[तेसिं वा उदणं ति] तेषां वा असातवेदनीयकर्म-
पुत्रज्ञानामुदयेनासातं वेदयते “ एस णं गोयमा ” इत्याद्यु-
पसंहारवाक्यम् ।

अशुजनाम्नः—

दुहनामस्स णं भंते ! पुञ्जा । गोयमा ! एवं चेव, नवरं अ-
णिङ्गा सद्वा जावहीणस्सरता दीणस्सरता त्रणिङ्गस्सरता
अकंतस्सरता जं वेदेइ, सेसं तं चेव जाव चउदसविहे अ-
णुजावे पणत्ते ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनसूत्रं प्रागुक्तार्थवैपरीत्येन भावनीयम् ।
गोत्रं द्विधा—उच्चैर्गोत्रं वा नीचैर्गोत्रं वा । तत्रोच्चैर्गोत्रविषयं
सूत्रमाह—

उच्चागोयस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं पुञ्जा । गोयमा !
उच्चागोयस्स कम्मस्स जीवेणं वप्पस्स जाव अट्टविहे अ-
णुजावे पणत्ते । तं जहा—जातिविमिडता कुञ्जविसिडता
वलविसिडता रुवविसिडता तवविसिडता सुयविसिडता
लान्नविसिडता इस्सरियविसिडता जं वेदेइ पोग्गलं वा
पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं
परिणामं तेसिं वा उदणं जाव अट्टविहे अणुभावे
पणत्ते ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्—अष्टविधोऽनुभावः प्रहसः ।
तदेवाष्टविधत्वं दर्शयति—[जावविसिडता इत्यादि] जात्या-
दयः सुप्रतीताः । शब्दार्थस्वेवम्—जात्या विशिष्टो जाति-
विशिष्टस्तद्भावो जातिविशिष्टता इत्यादिकम् । वेदयते पुत्रं
वाह्यद्रव्यादिलक्षणम् । तथाहि—द्रव्यसम्बन्धाद्वाजादिविशि-
ष्टपुरुषसम्परिग्रहाद्वा नीचजातिकुलोत्पन्नोऽपि जात्यादिसं-
म्पन्न इव जनस्य मान्य उपजायते । बलाविशिष्टताऽपि म-
ल्लानामिव लङ्घितञ्चमणवशाद् । रूपविशिष्टता प्रतिविशिष्टव-
त्कालङ्कारसम्बन्धात् । तपोविशिष्टता गिरिकूटाद्यारोहणेनात्माप-
नां कुर्वतः । श्रुतविशिष्टता मनोःशब्दशसंवेदनात् स्वाध्यायं कु-
र्वतः । लाजविशिष्टता प्रतिविशिष्टरत्नादियोगात् । ऐश्वर्यवि-
शिष्टता धनकनकादिसम्बन्धादिति । (पुगले वा इति) यान्
बहून् पुत्रज्ञानं वेदयते पुत्रज्ञपरिणामं दिव्यफलाद्याहारपरिणाम-
रूपं विस्त्रसया वा यं पुत्रज्ञानां परिणाममकस्माद्भहितज-
लदागमसंवादादिलक्षणं तत्प्रभावाद्दुर्गोत्रं वेदयते दुर्गोत्रं
कर्मफलं जातिविशिष्टत्वादिकं वेदयते । एतेन परत उदय उ-
क्तः । सम्प्रति स्वतस्तमाह—[तेसिं वा उदणं ति] तेषां वा
उच्चैर्गोत्रकर्मपुत्रज्ञानामुदयेन जातिविशिष्टत्वादिकं भवति
“ एस णं गोयमा ! ” इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

सुभणापस्त एं जंते ! कम्मस्त जीवेणं पुच्छा । गोयमा !
सुभनापस्त एं कम्मस्त जीवेणं वप्पस्त जाव चउइसविहे
आपृजावे पप्पत्ते । तं जहा-इहा सदा इहा रुवा इहा गंधा
इहा रसा इहा फासा इहा गई इहा ठिई इहं लाववं इहा
जसोकिची । इहे उड्डाणकम्मवल्लरीरियपुरिसक्कारपरक्कमे
इट्टस्सरता कंतस्सरता पियस्सरता मणुवस्सरता जं
वेदेइ पोग्गलं वा पोग्गक्षे वा पुग्गद्वपरिणामं वा बीससा
वा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं सुज्जनायं कम्मं
वेदेइ, एस एं गोयमा ! सुज्जनायकम्मे, एस एं गोयमा !
सुभनापस्त कम्मस्त जाव चउइसविहे अप्पभावे पप्पत्ते ॥

वेपु सूक्ष्मनामकमोदयवर्तिषु तेजस्कायिकजीवेषु प्रविशन्ति च तपद्यन्ते । संख्येयत्वमेवाह—असंख्येयलोके प्रदेशतुल्या असंख्येयलोकाकाशप्रदेशशक्तिप्रमाणाः । इह च विजातीयजीवानां जात्यन्तरतयोत्पत्तिः प्रदेश उच्यते । इत्थमेव प्रकृतौ प्रवेशनक-शब्दार्थस्य व्याख्यातत्वात् । ततस्ते जीवाः पृथिव्यादिज्योष्णका-येभ्यो वादरतेजस्कायेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायतयोत्पद्यन्ते, इह गृह्यन्ते, ये पुनः पूर्वमुत्पन्नाः तेजस्कायिकाः पुनर्मुत्वा तेनैव पर्यायेणो-त्पद्यन्ते न गृह्यन्ते, तेषां पूर्वमेव प्रविष्टत्वात् । ततः सर्वस्तोका एकसमये समुत्पन्नसूक्ष्माऽग्निकायिकाः । (ततो ति) ततस्तेज्य एकसमयोत्पन्नसूक्ष्माऽग्निकायिकेज्योऽसंख्येयगुणिता असंख्ये-यगुणा अग्निकायाः पूर्वोत्पन्नाः सर्वेऽपि सूक्ष्माग्निकायिकजी-वाः । कथमिति चेत् ? उच्यते—एकः सूक्ष्माग्निकायिको जीवः स-मुत्पन्नोऽन्तर्मुहूर्तं जीवति, एतावन्मात्रायुष्कत्वात् । तेषां तस्मि-इवान्तर्मुहूर्तं ये समयास्तेषु प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रमा-णाः सूक्ष्माग्निकायिकाः समुत्पद्यन्ते, अतः सिद्धमेकसमयोत्पन्न-सूक्ष्माग्निकायिकेज्यः सर्वेषां पूर्वोत्पन्नसूक्ष्माग्निकायिकानामसं-ख्येयगुणत्वम् । तेभ्योऽपि सर्वसूक्ष्माग्निकायिकेज्यस्तेषामेव प्र-त्येकं कायस्थितिः पुनः पुनस्तेनैव काये समुत्पत्तिरङ्गुणा सं-ख्यातगुणा एकैकस्यापि सूक्ष्माग्निकायिकस्य संख्येयोत्सर्पिणी-प्रमाणायाः कायस्थितेरुत्कर्षतः प्रतिपादितत्वादिति । तस्या अपि कायस्थितेः सकाशात् संयमस्थानान्यनुभागबन्धस्था-नानि च प्रत्येकमसंख्येयगुणानि कायस्थितावसंख्येयानां स्थितिवन्धानां भावादकैकस्मिन् च स्थितिवन्धे असंख्येयाना-मनुभागबन्धस्थानानां सद्भावादिति । संयमस्थानान्यप्यनु-भागबन्धस्थानैस्तुल्याभ्येवेति । तेषामुपादानं तत्स्वरूपं चाप्ये-वद्वयामः । अथाऽनुभागबन्धस्थानानीति कः शब्दार्थः ? । उच्यते । तिष्ठत्यस्मिन् जीव इति स्थानम् । अनुभागबन्ध-स्य स्थानमनुभागबन्धस्थानम् । एकेन कापायिकेणाप्यवसा-येन गृहीतानां कर्मपुद्गलानां विवर्तितैकसमयवृत्तसमु-दायपरिमाणमित्यर्थः । तानि चानुभागबन्धस्थानान्यसंख्ये-यलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तेषां चाऽनुभागबन्धस्थानानां नि-ष्पादकाः कषायोदयरूपाः अभ्यवसायविशेषास्तेऽप्यनुभाग-बन्धस्थानानीत्युच्यन्ते, कारणे कार्योपचारात् । तेऽपि चानु-भागबन्धाभ्यवसाया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा इति । प्रव० १६२ द्वा० । क० प्र० । पं० सं० । " अणुभागव-धछाणा अज्जवसायद्व्याणा व एगछा " पं० सं० ५ द्वा० ।

अणुभाग (व) संक्रम-अनुभाग (व) संक्रम-पुं० । अनुजा-गविषये संक्रमभेदे, क० प्र० ।

तत्स्वरूपं च—

" तत्तत्पटुपयं उब्ध-द्विया व ओवद्विया व अविजागा ।

अणुभागसंक्रमो ए-स अन्नपगई निया वा वि " ॥ १ ॥ चि ।

(अन्नपयं ति) अनुभागसंक्रमस्वरूपनिर्धारणम् (अ-विभाग चि) अनुभागाः (निय चि) नीता इति । क० प्र० । पं० सं० । ('संक्रम' शब्दे चास्य विस्तृता व्याख्या)

अणुजागसंतकम्प-अनुजागसंतकर्मन्-न० । अनुजागविषयायां कर्मणः सत्तायाम्, क० प्र० । पं० सं० । ('सत्ता' प्रकरणे व्या-ख्यास्यामि)

अणुजागुदीरणा-अनुभागोदीरणा-स्त्री० । प्रातोदयेन रसेन सहप्रातोदये वेद्यमाने रसे, स्था० ४ ग० २ उ० । क० प्र० । पं०

सं० । (' उद्देशणा ' शब्दे द्वि० भा० ६५६ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)
अणुभागोदय-अनुजागोदय-पुं० । अनुभागविषये कर्मणामु-दये, पं० सं० ५ द्वा० । क० प्र० । (' उदय ' शब्दे द्वि० भा० ७७६ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

अणुभाव-अनुभाव-पुं० । श्रुजानां कर्मप्रकृतीनां प्रयोगकर्मणो-पात्तानां प्रकृतिस्थितिप्रदेशरूपाणां तीव्रमन्दानुभावतयाऽनुज-वने, आचा० १३०२ अ० १ उ० । स० । अचिन्त्यायां वैकियकरणा-दिकायां शक्तौ च । स्था० ३ ग० ३ उ० । प्रभावे च । व्य० २ उ० ।

अणुजावकम्प-अनुजागकर्मन्-न० । अनुभागतो वेद्यमाने क-र्मणि, यस्य हि अनुभावो यथा वद्वरसो वेद्यते । स्था० २ ग० ३ उ० ।

अणुजावग-अनुभावक-त्रि० । चिन्तापके, आ० म० द्वि० ।

अणुजासण-अनुभाषण-न० । आचार्यप्रापणात्पश्चाद् प्रा-पणे, आचार्येण प्रापिते पश्चात् प्राप्यं न पुनः प्रधानीचूया-चार्यभाषणादग्रे प्रापते । " साद्वृणं अणुजासणं, आयरिपणं तु प्रासिप संते । " व्य० ३ उ० । आ० चू० ।

अणुभासण (णा) सुष्ठ-अनुभाषण (णा) सुष्ठ-न० । गुरुव्यचारितस्य शनैः शुद्धोच्चारणरूपे भावविशुद्धिर्भवे, आ० चू० ६ अ० । अनुभाषणाशुद्धं यथा—

" अनुभासणं गुरुवयणं, अक्षरपरयवञ्जणेहि परिशुद्धं ।

पञ्चद्विउडो अमिमुहो, तं जाणऽणुभासणाशुद्धं " ॥ १ ॥

नवरं गुरुमणति—(वोसिरत्त चि) शिष्यस्तु—(वोसि-रामि चि) स्था० ५ ग० ३ उ० । कृतकृतिकर्मप्रत्या-ख्यानं कुर्वन् अनुभाषते गुरुवचनं लघुतरेण शब्देन भण-तीत्यर्थः । कथमनुभाषते ? अक्षरपदव्यञ्जनैः परिशुद्धमनना-नुभाषणायत्नमाह । नवरं गुरुमणति—(वोसिरत्त चि) ' इमो वि भ-णति—(वोसिरामि चि) सेसं गुरुमणियसरिसं भाणियव्व' । किं-भूतः सन् ? कृतप्राज्ञविरजिमुक्त्वस्तज्जानीहि अनुभाषणाशुद्ध-मिति । भाव० ६ अ० ।

अणुनूड-अनुनूति-स्त्री० । अनुनवनमनुनूतिः । अनुनवे, विशेषे । आ० म० प्र० । दश० ।

अणुमड-अनुमति-स्त्री० । अनुमोदने, भाव० ४ अ० । सूत्र० । तत्स्वरूपं च—"कावं सयं परिणते, अणुवारणमनुमती होति एवं मणति तुमं अप्पणो य अणुस्स वा हत्थकम्मं करे-हिति" । आत्मव्यतिरिक्तस्य परस्यैवम्—" इच्छस्स वा अणि-च्छस्स वा बहानिओगा हत्थकम्मं कारावयतो कारावणा प्रणति " नि० चू० १ उ० । आनुकूल्ये, प्रव० ६ द्वा० ।

अणुपड्या-अनुमति-स्त्री० । उज्जयिन्यां देवलासुतस्य राज्ञो प्रायाया अनुरक्तलोचनाया दास्याम्, आ० चू० ११ उ० । भाव० ।

अणुमण-अनुमनन-न० । अनुमोदने, प्रति० । (द्रव्यस्तवा-नुमोदनं साधोः कल्पत इति 'चेइय' शब्दे वक्ष्यते)

अणुमत (य)-अणुमत-त्रि० । अणोरपि मन्तरि, " अणुम-याइं कुडाइं जवति" अणुरपि कुल्लकोऽपि मतो येषु सर्वसा-धुसाधारणत्वात् न तु सुखं दृष्ट्वा तिलकं कुर्वन्तीति । कल्प० ।

नीचैर्गोत्रस्य—

नीयागोयस्स एं भंते ! पुच्छा । गोयमा ! एवं चैव, नवरं जातिविहीणता जाव इस्सरियविहीणता जं वेदेइ पो- गगं वा पोगले वा पोगलपरिणामं वा बीससा वा पोग- लाणं परिणामं तेसिं वा उदणं जाव अट्टविहे अणुभा- वे पणत्तं ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्—अष्टविधोऽनुभावः । तमेवाष्टविधम- नुभावं दर्शयति—[जातिविहीणता इत्यादि] सुप्रतीतम् । [जं वेदेइ पुगलमिति] यं वेदयते पुद्गलं नीचकर्मसंघनरूपं, नीच- पुरुषसंयन्धलक्षणं वा । तथाहि—उत्तमजातिसम्पन्नोऽपि च- त्तमकुलोत्पन्नोऽपि यदि नीचैः कर्मवशाद् यथा जीविकारूपमा- सेवते, चाण्डालाश्च वा गच्छति तदा भवति चाण्डालादिरिव जनस्य निन्द्यः । चलहीनता, सुखरूपनीयविसम्बन्धात् । तपोविहीनता पार्थव्यादिसंसर्गात्, भुतविहीनता विकथाऽपरसाध्वानासादि- संसर्गात्, लाजविहीनता देशकालानुचितकुक्रियाणां सम्पर्कतः, ऐश्वर्यविहीनता कुप्रदकुलत्रादिसम्पर्कत इति । [पुगले वा इति] यान् बहून् पुद्गलान् वेदयते, यथा—पुद्गलपरिणामं घृताकीफलं घृत्यवहृतकफस्युत्पादनेन रूपविहीनतामापाद- यतीत्यादि । विव्रसया वा पुद्गलानां परिणाममभिदूतजलदाग- मविसंवाद्यलक्षणं वेदयते, तत्प्रभावाद् नीचैः कर्म वेदयते, नी- चैः कर्मफलं जात्यादिविहीनतारूपं वेदयते इत्यर्थः । पतायता परत उदय उक्तः । सम्प्रति स्वत उदयमाह—(तेसिं वा उद- णं ति) तेषां वा नीचैर्गोत्रकर्मपुद्गलानामुदयेन जात्यादिवि- हीनतामनुभवति । “एसणं गोयमा !” इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

अन्तरायस्य—

अन्तरायस्स एं जंते ! कम्मस्स जीवेणं पुच्छा । गो- यमा ! अन्तरायस्स कम्मस्स जीवेणं वच्छस्स जाव पंचविहे अणुजावे पणत्ते । तं जडा—दाणंतराए लाभंत- राए भोगंतराए उवजोगंतराए वीरियंतराए जं वेदेति पो- गगं वा जाव बीससा वा तेसिं वा उदणं अन्तरायं कम्मं वेदेइ, एसणं गोयमा ! अन्तरायं कम्मं, एसणं गोय- मा ! जाव पंचविहे अणुभावे पणत्ते ।

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्—पञ्चविधोऽनुभावः प्रकृतः । तदेव पञ्चविधत्वं दर्शयति—(दाणंतराए इत्यादि) दानस्यान्तरा- यो विघ्नः दानान्तरायः । एवं सर्वत्र भावनीयम् । तत्र दानान्- त्रायो दानान्तरायस्य कर्मणः फलम् । दानान्तरायो दानान्तरा- यादिकर्मणामिति । (जं वेदेइ पुगलं वा इत्यादि) यं वेदयते पु- द्गलं विविधविशिष्टरत्नादिसम्बन्धाद् दृश्यते तत्त्रिये एव दाना- न्तरायोदयः सन्धिच्छेदनाद्युपकरणसम्बन्धाद् दानान्तरायकर्मो- दयः, प्रतिविशिष्टाहारसम्बन्धादनर्थार्थसम्बन्धाद् दानान्तो भो- गान्तरायोदयः । एवमुपभोगान्तरायकर्मोदयोऽपि जावनीयः । तथा लघुदायमिघाताद् धीर्यान्तरायकर्मोदय इति । पुद्गलान् वा बहून् तथाविधान् यान् पुद्गलान् वेदयते यं वा पुद्गलपरि- णामं तथाविधाहारौपध्यादिपरिणामरूपम् । तथाहि—दृश्यते तथाविधाऽऽहारौपध्यादिपरिणामाद् धीर्यान्तरायकर्मोदयः । मन्त्रो- पलिकवासादिगन्धपुद्गलपरिणामाद् भोगान्तरायोदयः । यथा सुवन्धुसत्त्वस्य विस्रसया वा पुद्गलानां परिणामं विधं इति- तादिसंज्ञम् । तथाहि—दृश्यन्ते धत्तादिकं दातुकामा अपि

शीतादिनिपतन्तमाहोक्त्य दानान्तरायोदयात् तस्यादातारः, इति तत्रभावात् एव परत उदय उक्तः । स्वतस्तमाह—(तेसिं दाणं ति) तेषां वा अन्तरायकर्मपुद्गलानामुदयेन अन्तरायक- मफलं दानान्तरायादिकं वेदयते । “एसणं” इत्याद्युपसंहारवा- क्यम् । प्रश्ना० ३३ पद । “तम्हा एपसिं कम्मणं, अणुजागे विद्याहिप । एपसिं संवरे चैव, खणणे य अप बुहे” ॥१॥ उत्त० ३३ म० कर्मणः स्वभावे, तद्वक्तुं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—“अणुभातो- सिं सहाओ” क० प्र० । (कर्मणां करणानां वन्धनसंक्रमादीनाम- नुभागवन्धादिभेदाः वन्धादिशब्देभ्य इत्याः) ।

अणुजागअप्पावहुय-अनुभागालपवहुत्वं—न० । अनुभागं प्रत्य- ल्पवहुत्वे । यथा “सच्चत्थोवाइ अणंतगुणबुद्धिजाणाणि असं- खेज्जगुणबुद्धिजाणाणि असंखिज्जगुणाणि संखिज्जगुणबुद्धिजा- णाणि असंखिज्जगुणां जाव अणंतभागबुद्धिजाणाणि असंखि- ज्जगुणाणि” प्रदेशाल्पवहुत्वं यथा—“अष्टविधबंधगस्त य आठ- यभागो थोवो नामगोवाणं तुल्लो विसेसाहिओ नाणुदंसणावर- णंतरायाणं तुल्लो विसेसाहिओ मोहस्स विसेसाहिओ वेय- णिज्जस्स विसेसाहिओ सि” । स्था० ४ ग० २ उ० ।

अणुभागउदीरणोवकम-अनुजागोदीरणोपक्रम-पुं० । प्राप्नोदयेन रसेन सहाप्राप्तोदयस्य रसस्य वेदनाऽऽरम्भे, स्था० ५ ग० १ उ० ।

अणुजागकम्म-अनुजागकर्मन्—न० । अनुभागरूपं कर्मानुभा- गकर्म । रसात्मके कर्मभेदे, म० १ ग० ४ उ० ।

अणुजागणामनिहत्ताउय-अनुभागनामनिधत्तागुपु—न० । अनुजाग आयुष्कर्मद्रव्याणां तीव्रादिभेदो रसः, स एव तस्य वा नाम परिणामोऽनुभागनाम, अथवा गत्यादीनां नामकर्मणामनु- जागवन्धरूपो भेदोऽनुजागनाम, तेन सह निधत्तमायुरनुभाग- नामनिधत्तायुरिति । आयुर्वन्धनेदे, स० । ज० । स्था० ।

अणुभाग (व) बंध-अनुजाग (व) बन्ध-पुं० । अनुभागो विपाकस्तीव्रादिभेदो रस इत्यर्थः, तस्य बन्धोऽनुजागबन्धः । ब- न्धनेदे, स्था० ४ ग० २ उ० । (‘बंध’ शब्देऽस्य व्याख्या)

अणुभागबंधकमवसायद्वारा-अनुभागवन्धाध्यवसायस्थान- न० । कृष्णादिलेख्यापरिणामविशेषे, कर्म० १ कर्म० । सकया- योदया हि कृष्णादिलेख्यापरिणामविशेषाः अनुजागबन्धइतव इतिवचनात् । क० प्र० ।

अणुजाग (व) बंधद्वारा-अनुजाग (व) बन्धस्थान-न० । तिष्ठ- त्यस्मिन् जीव इति स्थानम्, अनुभागवन्धस्य स्थानमनुजागव- न्धस्थानम् । एकेन कायायिकेणाध्यवसायेन गृहीतानां कर्मपुद्- गलानां विशिष्टैकसमयवद्धरससमुदायपरिणामे तास्त्रिषादकेषु कयायोदयरूपेषु अध्यवसायविशेषेषु, प्रव० १६२ ग्रा० ।

एगसमयस्मि ज्ञोए, सुहुमगाणिजिया उ जे उ पविसंति ।

ते हुंतऽसंखलोय-एपसंतुद्धा असंखेजा ॥

तचो असंसगुणिया, अगणिकाया उ तेसिं कायतिई ।

तचो संजमअणुभा-गबंधद्वारासंखाणि वा ॥

लोके इह जगति एकस्मिन् समये पृथिवीकायिकादयो जीवाः (सुहुमगाणिजिया उचि) सप्तम्यर्थत्वात्प्रयमायाः, सुहमाणिजी-

णमिति, अन्यत्र तु विसंवादादिदमप्रमाणमिति व्यवस्थाग्रन्थिमाव-
धीयात् । न खड्गुत्पत्तिमात्रेणैव प्रमाणाप्रमाणविवेकः कर्तुं शक्यः,
तद्दशायामुभयोः सौसदृश्यात् । संवादविसंवादापेक्षायां च
तन्निश्चये निश्चित एवानुमानोपनिपातः; न चेदं प्रतिबन्धप्रतिप-
त्तौ तर्कस्वरूपोपायापाये अनुमानाध्यक्षप्रमाणाज्ञावे च प्रमाणि-
कमानिनस्ते कौतुस्कुती प्रमेयव्यवस्थाऽपीत्यायातात्वदीयहृद-
यस्यैव सर्वस्य शून्यता । साऽपि वा न प्राप्नोति, प्रमाणमन्तरेण
तस्या अपि प्रतिपत्तुमशक्यत्वादिति । अहो ! महति प्रकट-
कष्टसंकटे प्रविष्टोऽयं तपस्वी किं नाम कुर्यात् ? । अथ
“धूमाधीर्वन्निविज्ञानं, धूमज्ञानमधीस्तयोः । प्रत्यक्षानुपलम्भा-
भ्या-मिति पञ्चनिश्चयः ॥ १ ॥” निरूप्यते, अनुपलम्भोऽपि,
प्रत्यक्षविशेष एवेति प्रत्यक्षमेव व्याप्तितात्पर्यपर्याप्तोचनचातुर्यवयं
किं तर्कोपक्रमेणेति चेत् ? , न तु प्रत्यक्षं तावन्नियतधूमाग्नि-
गोचरतया प्राक् प्रावृत्तत्; तद् यदि व्याप्तिरपि तावन्मात्रैव
स्यात्तदाऽनुमानमपि तत्रैव प्रवर्ततेति कुतस्यं धूमान्मही-
धरकन्धराधिकरणाशुशुक्ष्णलक्षणं तद्व्याद्वधूवान्विकल्पः ।
सार्वत्रिकी व्याप्ति पर्याप्तेति निर्णेतुमिति चेत्, को नामैवं नाम-
स्त ? । तर्कविकल्पस्योपलम्भानुपलम्भसम्प्रवर्त्येन स्वीकारात् ।
किन्तु व्याप्तिप्रतिपत्तावयमेव प्रमाणं कक्षीकरणीयः । अथ तथा
प्रवर्तमानोऽयं प्राक् प्रवृत्तप्रत्यक्षव्यापारमेवाऽभिमुखयतीति
तदेव तत्र प्रमाणमिति चेत् । तर्ह्यनुमानमपि शिङ्ग्रादिप्रत्यक्ष-
स्यैव व्यापारमामुखयतीति तदेव वैश्वानरवेदने प्रमाणं, नानु-
मानमिति किं न स्यात् ? । अथ कथमेवं वक्तुं शक्यम् ? शिङ्ग्रादिप्रत्यक्षं
हि शिङ्गगोचरमेव, अनुमानं तु साध्यगोचरमिति कथं तत्तद्
व्यापारमामुखयेत् ? , तर्हि प्रत्यक्षं पुरोवर्तिस्वन्नक्षणेक्षणकृष्णमेव ।
तर्कविकल्पस्तु साध्यसाधनसामान्यावमर्शमनपीति कथं सोऽ-
पि तद्व्यापारमुदीपयेत् ? । अथ सामान्यममान्यमेव, असत्त्वादिति
कथं तत्र प्रवर्तमानस्तर्कः प्रमाणं स्यादिति चेदनुमानम-
पि कथं स्यात् ? , तस्याऽपि सामान्यगोचरत्वाऽव्यभिचारत् ।
“ अन्यत्सामान्यलक्षणं सोऽनुमानस्य विषयः ” इति
धर्मकीर्तिना कीर्तनात् । तत्त्वतोऽप्रमाणमेवैतद्, व्यवहारणै-
वास्य प्रामाण्यात्; सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्या-
रूढेन धर्मधर्मिन्यायेनेति वचनादिति चेत्, तर्कोऽपि तथा-
ऽस्तु । अथ नाऽयं व्यवहारेणाऽपि प्रमाणम्, सर्वथा वस्तुसं-
स्पर्शपराङ्मुखत्वादिति चेत्, अनुमानमपि तथाऽस्तु । अवस्तुनि-
र्भासमपि परम्परया पदार्थे प्रतिबन्धात् प्रमाणमनुमानमिति
चेत्, किं न तर्कोऽपि । अत्रस्तुत्वं च सामान्यस्याद्याऽपि केशरि-
किशोरवक्रकोरुदंष्ट्राङ्गुराकर्षणायमानमस्ति । सदृशपरिणामरू-
पस्यास्य प्रत्यक्षादिपरिच्छेद्यत्वादिति तत्त्वत एवानुमानम्, त-
र्कश्च प्रमाणं प्रत्यक्षवदिति पाषाणरेखा ॥ ७ ॥

अत्रोदाहरन्ति-

यथा यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव ज्वतीति
तस्मिन्नसत्यसौ न ज्वत्येव ॥ ८ ॥

अत्राद्यमुदाहरणमन्वयव्याप्तौ, द्वितीयं तु व्यतिरेकव्याप्ताविति
॥ ८ ॥ रत्ना० ३ परि० ॥ सम्म० (प्रामाण्यमनुमानतो न ग्रहीतुं शक्य-
म्, तस्य प्रमाणत्वाऽसंभवादिति 'प्रमाण' शब्दे वक्ष्यतोपरलोकसि-
द्धावप्यनुमानप्रामाण्यखण्डनम्, अनुमानप्रामाण्यव्यवस्थितिः,
शावरमतानुमाननिरासश्च सम्मतिप्रकरणग्रन्थतोऽवसेयः)
अथाऽनुमानस्य लक्षणायां तावत्प्रकारौ (स्वार्थपरार्थानुमाने)
प्रकाशयन्ति-

अनुमानं द्विप्रकारं, स्वार्थं परार्थं च ॥ ९ ॥

नन्वनुमानस्याध्यक्षस्यैव सामान्यलक्षणमनाख्यायैव कथमादि-
त एव प्रकारकीर्तनमिति चेत् । उच्यते-परमार्थतः स्वार्थस्यैवा-
नुमानस्य प्राचात्, स्वार्थमेव ह्यनुमानं कारणे कार्योपचारात्परा-
र्थे कथ्यते । यद्वदन्ति तत्र प्रवन्तः-“पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थ-
मनुमानमुपचारात्” इति । न हि गोरुपचारितगोत्वस्य च वाही-
कस्यैकं लक्षणमस्ति, यत्पुनः स्वार्थेन तुल्यकक्षतयाऽस्योपादानम्,
तद्वादे शास्त्रे चाऽनेनैव व्यवहारात्कोऽपि च प्रायेणास्योपयो-
गात्तद्व्याधान्यस्यापनार्थम् । तत्र अनु हेतुग्रहणसंबन्धस्मरण-
योः पश्चान्मीयते परिच्छिद्यते ऽर्थोऽनेनेत्यनुमानम् । स्वस्मै प्र-
मातुरात्मेन इदं, स्वस्य वाऽर्थोऽनेनेति स्वार्थम्, स्वावबोधनिव-
न्धनमित्यर्थः । एवं परार्थमपि । अत्र चार्वाकश्चर्चयति-ना-
ऽनुमानं प्रमाणम्, गौणत्वात् । गौणं ह्यनुमानम्, उपचारितप-
क्षादिलक्षणत्वात् । तथाहि-“ज्ञातव्ये पक्षधर्मत्वे, पक्षो अर्थ-
जिघासते । व्याप्तिकावे भवेद् धर्मः, साध्यासिद्धौ पुनर्धयम् ”
॥ १ ॥ इति । अगौणं हि प्रमाणं प्रसिद्धम्, प्रत्यक्षवदिति । त-
त्रायं वराकश्चार्वाकः स्वरूढां शास्त्रां खण्डयन्धियतं भौतम-
नुकरोति । गौणत्वादिति हि साधनमभिधानो भ्रुवं स्थीकृत-
वानेवायमनुमानं प्रमाणमिति कथमेतदेव द्रव्येत् ? । न च
पक्षधर्मत्वं हेतुलक्षणमाचक्ष्महे, येन तस्मिन् इत्ये साध्यधर्मविशि-
ष्टे धर्मिणि प्रसिद्धमपि पक्षत्वं धर्मिण्युपचरेम; अन्यथाऽनुपप-
त्येकलक्षणत्वाद् हेतोः । नापि व्याप्तिं पक्षेणैव श्रमहे, येन तस्मि-
न् इत्ये धर्मे तदारोपयेमहि; साध्यधर्मैणैव तदभिधानात् । नन्वा-
नुमानिकप्रतीतौ धर्मविशिष्टो धर्मी, व्याप्तौ तु धर्मः साध्यमित्य-
जिघास्यत इत्येकत्र गौणमेव साध्यत्वमिति चेत् । भवम् । उच्य-
तत्र मुख्यतल्लक्षणप्राप्तेन साध्यत्वस्य मुख्यत्वात् । तत्किमिह
द्वयं साधनीयम् ? । सत्यम् । न हि व्याप्तिरपि परस्य प्रतीता, तत-
स्तत्प्रातिपादनेन धर्मविशिष्टं धर्मिणमयं प्रत्यायनीय इत्यसिद्धं
गौणत्वम् । अथ नोपादीयत एव तत्सिद्धौ कोऽपि हेतुः, तर्हि कथ-
मप्रमाणिकाप्रामाणिकस्येष्टसिद्धिः स्यादिति नानुमानप्रामाण्य-
प्रतिषेधः साधीयस्तां दधाति । “नानुमानं प्रमेत्यत्र हेतुः स चेत्,
कानुमानानतावाधनं स्यात्तदा । नानुमानं प्रमेत्यत्र हेतुर्न चेत्, कानु-
मानानतावाधनं स्यात्तदा ॥ ११ ॥” इति संप्रदृष्टोक्तः । कथं वा प्रत्य-
क्षस्य प्रामाण्यनिर्णयः ? । यदि पुनरर्थक्रियासंवादात्तत्र तन्निर्णय-
स्तर्हि कथं नानुमानप्रामाण्यम् ? । प्रत्यपीपदाम च-“प्रत्यक्षेऽपि
परोक्षलक्षणमते-येन प्रमारूपता । प्रत्यक्षेऽपि कथं जविष्यति
मते, तस्य प्रमारूपता ॥ १ ॥” इति ॥ ९ ॥

तत्र स्वार्थं व्यवस्थापयन्ति-

तत्र हेतुग्रहणसंबन्धस्मरणकारकं साध्यविज्ञानं स्वा-
र्थमेति ॥ १० ॥

हिनेत्यन्तर्ज्ञातितण्डिलार्थत्वाद् गमयति परोक्षमर्थमिति हेतुः,
अनन्तरमेव निर्देक्ष्यमाणलक्षणस्तस्य ग्रहणं च प्रमाणेन नि-
र्णयः । संबन्धस्मरणं च यथैव संबन्धो व्याप्तिनामा प्राक् तर्क-
णातार्क, तथैव परामर्शस्ते कारणं यस्य तत्तथा । साध्यस्याख्या-
स्यमानस्य विशिष्टं संशयादिशून्यत्वेन ज्ञानं स्वार्थमनुमानं
मन्तव्यम् ॥ १० ॥ रत्ना० ३ परि० ।

अधुना परार्थानुमानं प्ररूपयन्ति-

पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थानुमानमुपचारात् ॥ ११ ॥

पक्षहेतुवचनात्मकत्वं च परार्थानुमानस्य व्युत्पन्नमिति प्रतिपा-

अनुमत-त्रि० । अजीष्टे, आ० म० द्वि० । दानमनुज्ञाते, क-
ल्प० । अनु पश्चादपि मतोऽनुमतः । ज्ञा० १ अ० । विप्रियकरण-
स्यापि (ज्ञा० १ अ०) वैगुण्यदर्शनस्यापि (औ०) कार्यविधा-
तस्य (ज्ञा० १ अ०) पश्चादपि मते, म० २ श० १ उ० । अ-
भिप्रेते, वृ० १ उ० । अजिदन्विते, पश्ये च । औ० । आनुकूल्येन
सम्मतो, जी० १ प्रति० । बहुमते, पञ्चा० ६ विच० ।

अणुमहत्तर-अनुमहत्तर-पुं० । मूलमहत्तराभावे तत्कार्यकारिण, “मूलमहत्तेर असिणिणहिते जो पुच्छणिज्जो धुरे गायति सो अणुमहत्तरः । नि० चू० ६ उ० । मूत्रमहत्तेर असाक्षिहिते यस्तत्र सर्वरपि प्रच्छनीयः, धुरि च प्रथमं तिष्ठति सोऽनुमहत्तरः । वृ० २ च० ।

आणुमाण-आणुमान-पुं० । अणुश्चासौ मानः । स्तोकाहङ्करो,
सुत्र० १ ध्रु० ८ अ० । “ आणुमाणं च मायं च तं परिणाय पं-
त्रिय ” चक्रवर्त्यादिना सत्कारादिना पूज्यमानेनाणुरपि स्तोको-
ऽपि भानोऽहङ्करो न विधेयः, किमुत महात् ? यदि वीक्ष्यममर-
णोपस्थितेनोभ्रतपोनिष्ठदेहेन वा, ‘अहो ! अहमित्येव रूपः’
स्तोकोऽपि गर्वो न विधेयः । सुत्र० २ ध्रु० ८ अ० ।

अनुमान-न० । अतु इति लिङ्गदर्शनसंयन्धानुस्मरणयोः प-
ञ्चाङ्गानां ज्ञानमनुमानम् । स्या० ४ उ० ३ उ० । अविनाशाय-
निश्चयासिद्धासिद्धिज्ञाने, आ० चू० १ अ० । न० । अनु-
पपञ्चाद् शिष्टासिद्धिसंयन्धग्रहणस्मरणानन्तरं मीयते परिच्छिद्य-
ते देशकालस्वप्नाद्यविप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेणेत्यनुमानम् ।
स्या० । प्र० अनु० । "साध्याविनाशतसिद्धात्, साध्यनिश्चायकं
स्मृतम् । अनुमानं तदप्रान्तं, प्रमाणत्वात् समञ्जसम्" ॥१॥ इति
लक्षणसङ्किते प्रमाणभेदे, स्या० ४ उ० ३ उ० । अनुमानस्य
प्रामाण्यम्- (अनुमानं न प्रमाणमिति सिद्धाधियपया प्रत्यक्षस्यैव-
कस्य प्रामाण्यमङ्गीकृत्याह चावांका इति 'आता' शब्दे द्वितीय-
प्रागे १८१ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

साम्प्रतप्रक्रियावादिनां लौकायतिकानां मतं सर्वार्थमत्वाद्गते
उपन्यस्यन् तन्मतमूढस्य प्रत्यङ्गप्रमाणस्यानुमानादि-

प्रमाणान्तरानङ्गीकारे अकिञ्चित्करत्त्वप्रदर्शनेन

तेषां प्रज्ञायाः प्रमादमादर्शयति—

बिना अनुमानेन पराजिसंधि-

मसंविदानस्य तु नास्तिकस्य ।

न साम्प्रतं वक्तुमपि क चेष्टा,

क दृष्टमात्रं च इहा ! ममादः ॥ ५० ॥

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति मन्यते चार्वाकः। तत्र र्सनह्यते-अनुप-
इच्छाद्विज्ञलिक्षिस्वन्धमहणस्मरणानन्तरं मीयते परिच्छिद्यते दे-
शकाद्वसनाच्चविप्रकट्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेणेत्यनुमानम्। प्रस्ता-
वात् स्वार्थानुमानय, तेनानुमानेन वैज्ञिकप्रमाणेन विना परामिसं-
धिं पराजिप्रायमसंविदानस्य सम्यग्ज्ञानानस्य, सुहाय्यः पूर्ववादि-
भ्यो जेदद्योतनार्थः। पूर्वेषां वादिनामास्तिकतया विप्रतिपत्तिस्थाने-
षु क्रोदः कृतः। नास्तिकस्य तु वक्तुमपि नौचित्यं, कुत एव तेन सह
क्रोदः?, इति तु शब्दार्थः। नास्ति परलोकः पुण्यं पापमिति वा म-
तिरस्य “नास्ति काल्तिकदैष्टिकम्”। ६।४। ६६॥ इति हैमसूत्रेण निपा-
तनावास्तिकः। तस्य लौकायतिकस्य वक्तुमपि न साम्प्रतं, वचनम-

प्युच्चारयितुं नोचितम् । ततः तूष्णीभावेन पवांस्य श्रेयान्, दूरे प्रामा-
णिकपरिपदि प्रविश्य प्रमाणोपन्यासगोष्ठी । वचनं हि परप्रत्यायना-
य प्रतिपाद्यते, परेण चाप्रतिपत्तिस्तमर्थं प्रतिपादयन्नसौ सताम-
वधेयवचनो न भवतीत्युक्तमस्य । ननु कथमिव तूष्णी-कतैवाऽस्य
श्रेयसी?, यावता चेष्टाविशेषादिना प्रतिपाद्यस्याऽभिप्रायमनुमाय
सुकरमेवानेन वचनोच्चारणमित्याशङ्क्याह—“क चेष्टा क दृष्टमात्रं
च” इति । केति बृहदन्तरे, चेष्टा इङ्गितं पराभिप्रायरूपस्यानुमेयस्य
विक्रमम् । क च दृष्टमात्रम्-दर्शनं दृष्टं, ज्ञावे के, दृष्टमेव दृष्टमात्रम्, प्रत्य-
क्षमात्रम्, तस्य लिङ्गनिरपेक्षप्रवृत्तित्वात् । अत एव दूरमन्तरमे-
तयोः न हि प्रत्यक्षेणातीन्द्रियाः परचेतोवृत्तयः परिज्ञातुं शक्याः,
तस्यैन्द्रियकत्वात् । मुख्यप्रसादादिचेष्टया तु लिङ्गभूतया पराऽ-
भिप्रायस्य निश्चयेऽनुमानप्रमाणमनिच्छतोऽपि तस्य बलादापत्ति-
तम् । तथाहि—मन्त्रचनश्चवणाऽभिप्रायवानयं पुरुषस्तादृक्मुखप्र-
सादादिचेष्टाऽन्यथाऽनुपपत्तेरिति । अतश्च ‘हृदा प्रमादः’ हृदा
इति श्लेढे, अहो ! तस्य प्रमादः प्रमत्तता, यदनुभूयमानमप्यनुमानं
प्रत्यक्षमात्राङ्गीकारेणापहृते । अत्र च संपूर्णस्य वेत्तेरकर्मकत्वे ए-
वात्मनेपदम्, अत्र तु कर्माऽस्ति, तत्कथमत्रानञ् ? । अत्रोच्यते—अत्र
संवेदितुं शक्तः संविदान इति कार्यम्, ‘वयःशक्तिशिखे’ ॥५॥२॥२॥
इति शक्तौ ज्ञानविधानात् । ततश्चायमर्थोऽनुमानेन विना पराभि-
संहितं सम्पद्येदितुमशक्येति । एवं परबुद्धिज्ञानाऽन्यथाऽनुपप-
त्याऽयमनुमानं हृदादङ्गीकारितः । तथा प्रकारान्तरेणाप्ययम-
ङ्गीकारयितव्यः । तथाहि—चार्वाकः कादिचिज्ज्ञानव्यक्तीः संवादि-
त्येनाव्यभिचारिणीरूपस्य न्याऽन्याश्च विस्वादिद्येन व्यभिचा-
रिणीः, पुनः कालान्तरे तादृशीतराणां ज्ञानव्यक्तीनामवश्यं
प्रमाणेतरते व्यवस्थापयेत् । न च संहितार्थवत्तेनोत्पद्यमानं
पूर्वापरपरामर्शशून्यं प्रत्यक्षं पूर्वापरकालजाविनीनां ज्ञानव्यक्ती-
नां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं निमित्तमुपलक्षयितुं कथमेत ।
न चायं स्वप्रतीतिगोचराणामपि ज्ञानव्यक्तीनां परं प्रति
प्रामाण्यप्रप्रामाण्यं वा व्यवस्थापयितुं प्रभवति । तस्माद्
यथादृष्टज्ञानव्यक्तिसाधर्म्यद्वारेणेदानीन्तनज्ञानव्यक्तीनां प्रामा-
ण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं परप्रतिपादकं च प्रमाणान्तरमनुमा-
नरूपमुपासीत, परलोकादिनिषेधश्च न प्रत्यक्षमात्रेण शक्यः
कर्तुम्, संनिदिनमात्रविषयत्वात्तस्य । परलोकादिकं चाप्रतिबिम्ब
नाशं सुखमास्ते ; प्रमाणान्तरं च नेच्छतीति मिमभेदाकः ।
किञ्च—प्रत्यक्षस्याप्यर्थव्यभिचारादेव प्रामाण्यम् । कथमितरथा
स्नानपानावगाहनाद्यर्थक्रियासमर्थं मरुमरीचिकानिचयबुद्धिनि
जलज्ञाने न प्रामाण्यम् ? । तच्चार्थप्रतिवक्लिङ्गशब्दद्वारा समु-
न्मज्जतोऽनुमानागमयोरप्यर्थव्यभिचारादेव किं नेष्यते ? । व्य-
भिचारिणोरप्यनयोर्दर्शनादप्रामाण्यमिति चेत्, प्रत्यक्षस्याऽपि
तिमिरादिद्वोपांशिश्चिन्तीनाथयुगलावलम्बिभ्योऽप्रमाणस्य दर्श-
नात् सर्वत्राप्रामाण्यप्रसङ्गः । प्रत्यक्षाज्ञासं तदिति चेत्,
इतरत्रापि तुल्यम्, एतदन्यत्र पक्षपातात् । स्यात् ।
ये तु तथागताः प्रामाण्यमूहस्य नोहाञ्चाकिरे, तेषामशे-
पशून्यत्वपातकाऽऽपत्तिः । आः किमिदमकारुण्यकूष्माण्डा-
डव्यरोडामरमभिधीयते ? । कथं हि तर्कप्रामाण्यानुपगम-
मात्रेणेदृशमसमञ्जसमापनीपद्येत ? । शृणु, श्रावयामि
किल, तर्काप्रामाण्ये तावन्नानुमानस्य प्राणाः, प्रतिबन्धप्र-
तिपत्त्युपायापायात् । तदभावे न प्रत्यक्षस्यापि । प्रत्यक्षेण हि
पदार्थान् प्रतिपद्य प्रमाता प्रवर्तमानः कचन संवादादिव प्रमा-

व्यभिचरन्तीह नैवं प्रायाः पयोमुचः” ॥ १ ॥ इति । एवं चन्द्रो-
दयाजलधेर्वृद्धिरनुमीयते, कुमुदविकासश्च । मित्रोदयाजलरुह-
प्रबोधः, धूकमदमोक्षश्च । तथाविधवर्षणात्सत्यनिष्पात्तिः, कृ-
षीबलमनःप्रमोदश्चेत्यादि । तदेवं कारणमेवेहानुमापकं साध्य-
स्य नाकारणम् । तत्र कार्यकारणभाव एव केषांचिद्विप्रतिपत्तिं
पश्यैस्तमेव तावन्नियतं दर्शयन्नाह-तन्तवः पटस्य कारणम्, न तु
पटस्तन्तूनां कारणम् । पूर्वमनुपलब्धस्य तस्यैव तद्भावे उपल-
म्भात् । इतरेषां तु पटाभावेऽप्युपलम्भात् । अत्राह-ननु यदा
कश्चिन्निपुणः पटजावेन संयुक्तानपि तन्तून् क्रमेण वियोजयति,
तदा पटोऽपि तन्तूनां कारणं प्रवत्येव । नैवम् । सत्त्वेनोपयोगाभा-
वात् । यदेव हि ब्रह्मसत्ताकं सत् स्वस्थितिभावेन कार्यमुपकुरुते
तदेव तस्य कारणत्वेनोपदिश्यते । यथा मृत्पिण्डो घटस्य । ये तु
तन्तुवियोगतोऽभावीजवता पटेन तन्तवः समुत्पद्यन्ते, तेषां कथं
पटः कारणं निर्दिश्यते, न हि ज्वराऽजावेन भवत आरोगिता-
सुखस्य ज्वरः कारणमिति शक्यते वक्तुम् । यद्येवं पटोऽप्युत्पद्य-
माने तन्तवोऽजावीजवन्तीति तेऽपि तत्कारणं न स्युरिति चेत् ।
नैवम् । तन्तुपरिणामरूप एव हि पटः, यदि च तन्तवः सर्वथाऽ
भावीजवैयुस्तथा मृन्भावे घटस्येव पटस्य सर्वथैवोपलब्धिर्न
स्यात्, तस्मात्पटकालेऽपि तन्तवः सन्तीति सत्त्वेनोपयोगात्
ते पटस्य कारणमुच्यन्ते । पटवियोजनकाले त्वेकैकतन्तववस्थायां
पटो नोपलभ्यते । अतस्तत्र सत्त्वेनोपयोगाभावाच्चासौ तेषां का-
रणम् । एवं वीरणकटादिष्वपि ज्ञातना कार्या । तदेवं यद्यस्य
कार्यस्य कारणत्वेन निश्चितं तत्तस्य यथासम्भवं गमकत्वेन
वक्तव्यमिति ।

से किं तं गुणेणं ? । गुणेणं-सुवर्णं निकसेणं, पुष्पं गंधेणं, ल-
वणं रसेणं, मङ्गरं आसायणं, वत्थं फासेणं, सेचं गुणेणं ॥

(से किं तं गुणेणमित्यादि) निकषः कपपट्टगता कपितसुव-
र्णरेखा, तेन सुवर्णमनुमीयते । यथा पञ्चदशादिवर्णकोपेतमिदं
सुवर्णं, तथाविधनिकपोपलम्भात्, पूर्वोपलब्धोन्नयसंमतसुवर्णव-
त् । एवं शतपत्रिकादिपुष्पमत्र, तथाविधगन्धोपलम्भात्, पूर्वो-
पलब्धवस्तुवत् । एवंलक्षणं मदिरावस्त्रादयोऽनेकजैदसंभवतो-
ऽनियतस्वरूपा अपि प्रतिनियततथाविधरसास्वादस्पर्शादिगु-
णोपलब्धेः, इति नियतस्वरूपाः साध्ययितव्याः ।

से किं तं अवयवेणं ? । अवयवेणं-महिसं सिंगेणं, कुकुरं
सिहाणं, हस्तिं विसाणेणं, वाराहं दाढाए, मोरं पिच्छे-
णं, आसं खुरेणं, वर्धं नहेणं, चरिं वाङ्मणेणं, दु-
पयं मणुस्सादि, चण्डपयं गवमादि, बहुपयं गोमिआमादि,
सीहं केसरेणं, वसहं कुक्कुहेणं, महिला वलयवाहाए । परि-
अरवंधेण भर्तं, जाणिज्जा महिद्धिअं निवसणेणं । सित्थेण-
दोणपागं, कविं च एकाए गाहाए ॥ १ ॥ सेचं अवयवेणं ॥

(से किं तं अवयवेणमित्यादि) अवयवदर्शनेनावयवी अ-
नुमीयते । यथा महियोऽत्र, तद्विनाभूतशृङ्गोपलब्धेः, पूर्वोप-
लब्धोन्नयसंमतप्रदेशवत् । अयं च प्रयोगो वृत्तिवरणकाल-
न्तरितत्वाद्प्रत्यक्ष एवावयविनि रूढ्यः, तत्प्रत्यक्षतायामध्य-
क्षत एव तत्सिद्धेः अनुमानवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति । एवं शेषोदाहर-
णान्यपि भावनीयानि; नवरं द्विपदं मनुष्यादीत्यादि । मनुष्यो-
ऽयम्, तद्विनाभूतपदद्वयोपलम्भात्, पूर्वदृष्टमनुष्यवत् । एवं

चतुष्पदवहुपदेष्वपि गोम्ही, कर्णशृगाली । “परियरवंधेण
भट्टं” इत्यादिगाथा पूर्वं व्याख्यातैव । तदनुसारेण भावा-
र्थोऽप्यूह इति ।

से किं तं आसएणं ? । आसएणं-अग्निं धूमेणं, सद्धिदं
वद्वागेणं, वुद्धिं अब्भविकारेणं, कुलपुत्रं सीद्धिमायारेणं,
सेचं आसएणं, सेचं सेसवं ॥

(से किं तं आसएणमित्यादि) आश्रयतीत्याश्रयो धूमवला-
कादिस्तत्र धूमादग्न्यनुमानं प्रतीतमेव । आकारैरिङ्गितादिभि-
आप्यनुमानं भवति । तथा चोक्तम्-“आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चे-
ष्टया भापणेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च, लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः” ॥ १ ॥
अत्राह-ननु धूमस्याग्निकार्यत्वात् पूर्वोक्तकार्यानुमान एव गत-
त्वात्किमिहोपन्यासः ? । सत्यम् । किन्त्वग्न्याश्रयत्वेनापि लोके
तस्य रुढत्वाद्वाप्युपन्यासः कृत इत्यदोषः । तदेतद् दृष्टव-
दनुमानम् ।

से किं तं दिट्ठाहम्मवं ? । दिट्ठाहम्मवं दुविहं पण्णत्तं ।
तं जहा-सामन्नदिट्ठं च विसेसदिट्ठं च ॥

[से किं तं दिट्ठाहम्मवमित्यादि] दृष्टेन पूर्वोपलब्धेनार्थेन
सह साधर्म्यं दृष्टसाधर्म्यम्, तद्वमकत्वेन विद्यते यत्र तद् दृष्टसा-
धर्म्यवत् । पूर्वदृष्टार्थः कश्चित्सामान्यतः कश्चिच्च विशेषतो
दृष्टः स्यादतस्तद्गदादिवं द्विविधम्-सामान्यतो दृष्टार्थयोगात्सा-
मान्यदृष्टम्, विशेषतो दृष्टार्थयोगाद्विशेषदृष्टम् ॥

से किं तं सामण्णदिट्ठं ? । सामण्णदिट्ठं-जहा एगो पुरिसो
तहा बहवे पुरिसा, जहा बहवे पुरिसा तहा एगो पुरिसो,
जहा एगो करिसावणो तहा बहवे करिसावणा, जहा बहवे
करिसावणा तहा एगो करिसावणो, सेचं सामण्णदिट्ठं ॥

[से किं तं सामण्णदिट्ठमित्यादि] तत्र सामान्यदृष्टं यथा
एकः पुरुषस्तथा बहवः पुरुषा इत्यादि । इदमुक्तं भवति-ना-
लिकेरद्धीपादायातः कश्चित् तत्प्रथमतया सामान्यत एकं कञ्च-
न पुरुषं दृष्ट्वाऽनुमानं करोति । यथा-अयमेकः परिदृश्यमानः
पुरुष एतदाकारविशिष्टस्तथा बहवोऽत्रापरिदृश्यमाना अपि
पुरुषा एतदाकारसम्पन्ना एव, पुरुषत्वाविशेषात्, अन्याकारत्वे
पुरुषत्वहानिप्रसङ्गाद्, गवादिचत् । बहुषु तु पुरुषेषु तत्प्रथमतो
वीक्षितेष्वेवमनुमिनोति-यथाऽमी परिदृश्यमानाः पुरुषा एत-
दाकारवन्तस्तथाऽपरोऽप्येकः कश्चित्पुरुषः एतदाकारवानेव,
पुरुषत्वाद्, अपराकारत्वे तन्नानिप्रसङ्गाद्, अश्वादिचत् । इत्येवं
कार्योपणादिष्वपि वाच्यम् ।

विशेषतो दृष्टमाह-

से किं तं विसेसदिट्ठं ? । विसेसदिट्ठं से जहा एगो केइ
पुरुसे, बहूणं पुरिसाणं मज्जे पुव्वदिट्ठं पच्चिज्जाणेज्जा-
अयं से पुरिसे बहूणं करिसावणाणं मज्जे पुव्वदिट्ठं करि-
सावणं पच्चिज्जाणेज्जा-अयं से करिसावणे ॥

(से जहा नाम इत्यादि) अत्र पुरुषाः सामान्येन प्रतीता एव के
वहं यदा कश्चित् कश्चित् कश्चित् पुरुषविशेषं दृष्ट्वा तद्दर्शनाहि-
तसंस्कारोऽसंज्ञाततत्प्रमेयः समयान्तरे बहुपुरुषसमाजमध्ये त-
मेव पुरुषविशेषमासीनमुपलभ्यानुमानयति-यः पूर्वमयोपलब्धः
स एवायं पुरुषः, तथैव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, उभयाभिमतपु-

चापेक्षयाऽशोकमतिव्युत्पन्नम् । अतिप्रतिपाद्यापेक्षया तु धूमोऽत्र दृश्यते इत्यादि हेतुवचनमात्रात्मकमपि तद्वचति । बाहुल्येन तत्प्रयोगाभावात् तु नैनत्साक्षात्सूत्रे सूत्रितम्, उपलक्षितं तु द्रष्टव्यम्, मन्दमतिप्रतिपाद्यापेक्षया तु दृष्टान्तादिवचनात्मकमपि तद्वचति । तद्वच्यन्ति—“ मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनयनगमनान्यपि प्रयोज्यानि ” इति । पक्षहेतुवचनस्य च जडरूपतया मुख्यतः प्रामाण्यायोगे सत्युपचारादित्युक्तम्, कारणे कार्योपचारादित्यर्थः । प्रतिपाद्यगतं हि यत् ज्ञानं तस्य कारणं पक्षादिवचनम्, कार्यं कारणोपचारात् । प्रतिपादकगतं हि यत्साध्यानुमानं तस्य कार्यं तद्वचनमिति ॥ २३ ॥

संप्रति व्याप्तिपुरस्सरं पक्षधर्मतोपसंहारं तत्पूर्विकां वा व्याप्तिमात्राणां भिन्नपक्षप्रयोगमङ्गीकारयितुमाहुः—

साध्यस्य प्रतिनियतधर्ममन्वन्धनाप्रसिद्धये हेतोरूपसं-
हारवचनव्रतपक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥ २४ ॥

यथा यत्र धूमस्तत्र धूमश्च ज इति हेतोः सामान्येनाऽधारप्रतिपादावपि, पर्वनादिविशिष्टधर्मधर्मताऽधिगतये धूमश्चात्रेत्येवंपुनःसंहारवचनमवश्यमाश्रयते सांगतः । तथा साध्यधर्मस्य नियतधर्मधर्मतासिद्धये पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्य इति ॥ २४ ॥

अमुमेवार्थं सोपालम्भं समर्थयन्ते—

त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विदधानः

कः खलु न पक्षप्रयोगमङ्गीकुरुते ? ॥ २५ ॥

त्रिविधं कार्यस्वभावानुपलम्भमेवात् । तस्य साधनस्य समर्थनमसिद्धतादिभ्युदासेन ससाध्यसाधनसामर्थ्योपदर्शनम् । नञासमीथितो हेतुः साध्यसिद्धाङ्गम्, अतिप्रसङ्गात् । ततः पक्षप्रयोगमनङ्गीकुर्यता तत्समर्थनरूपं हेतुमनभिधायैव तत्समर्थनं विधेयम्—“ हन्त हेतुरिह जल्प्यते न चे-दस्तु कुत्र स समर्थनाविधिः । तर्हि पक्ष इह जल्प्यते न चे-दस्तु कुत्र स समर्थनाविधिः । ॥ १ ॥ प्राप्यते ननु विवादतः स्फुटं, पक्ष एव किमतस्तदाप्ययथा । तर्हि हेतुरपि लभ्यते ततोऽनुक्त एव तदसौ समर्थयताम् ॥ २ ॥ मन्दमतिप्रतिपत्तिनिमित्तं, सांगत ! हेतुमथाभिधीयाः । मन्दमतिप्रतिपत्तिनिमित्तं, तर्हि न किं परिज्ञप्सि पक्षम् ? ॥ ३ ॥ ” ॥ २५ ॥ रत्ना० ३ परि० । तच्चानुमानं त्रिविधम्—पूर्ववत्, शेषवत्, अदृष्टसाध्यमर्थवच्चति—

से किं तं पुनर्वत् ? पुनर्वत्—माया पुच्छं जहा नष्टं, जुवाणं पुणरागयं । काई पच्चाजिजाणैज्जा, पुन्र्वाग्गेण केणइ ॥ १ ॥ तं जहा—खत्तेण वा वणेण वा—लंछणेण वा मसेण वा तिझण वा, सेचं पुनर्वत् ॥

विशिष्टं पूर्वोपलब्धं चिह्नमिह पूर्वमुच्यते, तदेव निमित्तरूपतया यस्यास्ति तत्पूर्ववत्, तद्वद्वारेण गमकमनुमानं पूर्ववदिति भावः । तथा चाह—“ मायापुच्छं ” इत्यादिश्लोकः । यथा माता स्वकीयं पुत्रं बाल्यावस्थायां नष्टं युवानं सन्तं कालान्तरेण पुनः कथमप्यागतं काचित्स्थलाविधस्तृतिपादवचनी न सर्वा पूर्वदृष्टेन लिङ्गन केनचित् क्षतादिना प्रत्यभिजानीयाद्, मनुष्योऽयमिति अनुमिन्यादित्यर्थः । केन पुनर्लिङ्गेनेत्याह—(खत्तेण वेत्यादि) । खदेहोऽयमेव कान्तम्, आगन्तुकस्तु-द्वधदृष्टादिकृतो व्रणः, लाङ्गनमथतिलकास्तु प्रतीताः । तद्वयमत्र प्रयोगः—

मनुष्योऽयम्, अनन्यसाधारणकृतादिलक्षणविशिष्टलिङ्गोपलब्धः, इति साधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्तयोः सत्त्वेतराभावादयमहेतुरिति चेत् । नैवम् । हेतोः परमार्थेनैकलक्षणत्वात्तद्वद्वेनैव गमकत्वापलब्धः । उक्तं च न्यायवादिना पुरुषचन्द्रेण—अन्यथाऽनुपपन्नत्वमात्रं हेतोः स्वलक्षणम्, सत्त्वाऽसत्त्वे हि तद्वधर्मा । दृष्टान्तद्वयलक्षणे । न च धर्मिसत्तायां धर्माः सर्वेऽपि सर्वदा जवन्त्येव, पटादेः शुक्लत्वादधर्मव्यतिचारात् । ततो दृष्टान्तयोः सत्त्वाऽसत्त्वधर्मो यद्यपि क्वचिद् हेतौ न दृश्यते तथापि धर्मिस्वरूपमन्यथाऽनुपपन्नं भविष्यतीति न कश्चिद्विरोध इति भावः । यत्राऽपि धूमादौ दृष्टान्तयोः सत्त्वाऽसत्त्वं हेतोर्दृश्यते, तथापि साध्यान्यथाऽनुपपन्नत्वस्यैव प्राधान्यात्, तस्यैवैकस्य हेतुलक्षणताऽवसेया । तथा चाह—“ धूमादयं यद्यपि स्यातां, सत्त्वाऽसत्त्वे च लक्षणे । अन्यथाऽनुपपन्नत्व-प्राधान्याल्लक्षणैकता ” ॥ १ ॥ किं च—यदि दृष्टान्तसत्त्वाऽसत्त्वदर्शनाहेतुर्गमक इष्यते, तदा लोहलेख्यं वज्रं, पार्थिवत्वात्काष्ठादिवदित्यादेरपि गमकत्वं स्यात् । अभ्यधायि च—“ दृष्टान्ते सदसत्त्वाज्यां, हेतुः सम्यग्यदीप्यते । लोहलेख्यं जवेद्वज्रं, पार्थिवत्वाद् हुमादिवत् ” ॥ १ ॥ इति । यदि च पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षाऽसत्त्वलक्षणं हेतास्त्रैक्यमन्युपगम्यापि यथोक्तदोषप्रयासाभ्येन सहान्यथाऽनुपपन्नत्वमन्वेषणीयं, तर्हि-सदेवैकं लक्षणतया यत्कुमुचितम्; किं रूपत्रयेणेति । आह च—“ अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? । नाऽन्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ॥ १ ॥ इत्याद्यत्र बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, प्रत्यगहननाप्रसङ्गात्, अन्यत्र यत्तेनोक्तत्वाच्चेति । आह—प्रत्यक्प्रत्ययत्वादेवात्रानुमानप्रवृत्तिरयुक्ता । नैवम् । पुरुषपिपेक्षमात्रप्रत्यक्षातायामपि मनुष्यो न वेति ? संदेहाद् युक्त एवानुमानोपन्यास इति कृतं प्रसङ्गेन ।

से किं तं सेसत्वं ? । सेसत्वं पंचविहं पक्षत्वं । तं जहा—कज्जेण कारणेण गुणेण अवयवेण आसएणं ॥

‘से किं तं सेसयमित्यादि’ पुरुषार्थोपयोगिनः परिजिज्ञासितात् तुरगादेरर्थादन्यो हेयितादिरर्थः शेष इहोच्यते । स गमकत्वेन यस्याऽस्ति तच्छेषवदनुमानम् ।

तच्च पञ्चविधम्, तद्यथा—

से किं तं कज्जेण ? । कज्जेणं सेसे सदेणं जेरिं तादिणं वसजं ढक्किणं मोरं किंकाइणं हयं हंसिणं गयं गुगुलाणं रहं घणघणाइणं, सेचं कज्जेणं ॥

(कज्जेणत्यादि) तत्र कार्येणाऽनुमानम् । यथा हयमहं हेयितेन, अनुमिनुने इत्याद्याहारः । हेयितस्य तत्कार्यत्वात्, तदाऽऽकर्ण्य हयोऽत्रेति या प्रतीतिरुपपद्यते तदिह कार्येण कार्यकारणोत्पन्नं शेषवदनुमानमुच्यते इति भावः । क्वचित्तु प्रथमतः शङ्खशब्देनेत्यादि दृश्यते, तत्रोक्तानुसारतः सर्वोदाहरणेषु भावना कार्यो ॥

से किं तं कारणेण ? । कारणेणं तंतवो पनस्स कारणं, ण पनो तंतुकारणं, वीरणा कनस्स कारणं, ण कनो वीरणाकारणं, मिप्पिनो वनस्स कारणं, ण वनो मिप्पिनकारणं, सेचं कारणेणं ॥

(से किं तं कारणेणमित्यादि) इह कारणेन कार्यमनुमीयते । यथा विशिष्टमेवोक्ततद्दर्शनात् कश्चिद् वृष्टयनुमानं करोति । यदाह—“ रोक्ष्यगवलव्याल-तमालमलिनविवः । वृष्टि

तच्छुद्धीनामधिकृतवाक्यार्थोपकारकत्वेन प्रतिज्ञादीनामिव भा-
वनीयमित्यत्र बहु वक्तव्यं, तच्च नोच्यते, गमानिकामात्रत्वात्प्रा-
रम्भस्येति । दश० १ अ० । (प्रतिज्ञादीनां स्वरूपं सोदाहरणं
स्वस्वस्थाने दृश्यम्)

इदानीं चूयोऽपि भङ्ग्यन्तराज्जा दशावयवेनैव वाक्येन
सर्वमध्ययनं व्याचष्टे निर्युक्तिकारः—

ते उ पङ्गविभक्ती, हेउविजत्ती विवक्ख पमिसेहो ।

दिट्ठतो आसंका, तप्पडिसेहो निगमणं च ॥ ४५ ॥

(त इति) अवयवाः । तु पुनःशब्दार्थः । ते पुनरमी प्रतिज्ञादयः ।

तत्र प्रतिज्ञानं प्रतिज्ञा, वक्ष्यमाणस्वरूपेत्येकोऽवयवः । तथा
विजजनं विजक्तिः, तस्या एव विषयविभागकथनमिति द्वितीयः ।
तथा हिनोति गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानिति हेतुस्तृ-
तीयः । तथा विभजनं विभक्तिरिति पूर्ववच्चतुर्थकः । तथा विसद-
शः पक्षो विपक्षः, साध्यादिविपर्यय इति पञ्चमः । तथा प्रतिषेधनं
प्रतिषेधः, विपक्षस्येति गम्यत इत्यर्थः षष्ठः । तथा दृष्टमर्थमन्तं
नयतीति दृष्टान्त इति सप्तमः । तथा आशङ्कनमाशङ्का, प्रकमाद्
दृष्टान्तस्यैव इत्यष्टमः । तथा तत्प्रतिषेधः, अधिकृताशङ्काप्रति-
षेध इति नवमः । तथा निश्चितं गमनं निगमनम्, निश्चितोऽव-
साय इति दशमः । चशब्द उक्तसमुच्चयार्थ इति गाथासमासा-
र्थः । न्यासार्थं तु प्रत्ययवयवं वक्ष्यति ग्रन्थकार एव ॥ १४२ ॥

तथा चाह—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं—ति पङ्गा अत्तवयणनिदेसो ।

सो य इहेव जिणमए, नऽनत्थ पङ्ग पविजत्ती ॥ १४३ ॥

धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमिति पूर्ववदित्यं प्रतिज्ञा । आह—केयं प्रतिज्ञे-
त्युच्यते ? आसवचननिर्देश इति । तत्रास अप्रतारकः । अप्रतार-
कश्चाशेषरागादिक्रियाद्भवतीति । उक्तं च—“ आगमो आसवच-
न—मासं दोषक्याद्विदुः । वीतरागोऽनुतं वाक्यं, न ब्रूयस्तेत्वसं-
जवात् ” ॥ १ ॥ तस्य वचनमासवचनम्, तस्य निर्देश आसवचननि-
र्देशः । आह—‘अयमागम’ इति । उच्यते—विप्रतिपक्षसंप्रतिपत्ति-
निवन्धनत्वेनैव एव प्रतिज्ञेति नैव दोषः । पाठान्तरं वा—‘साध्यव-
चननिर्देश, इति । साध्यत इति साध्यम्, उच्यते इति वचनमर्थः
यस्मात्स एवोच्यते । साध्यं च तद्वचनं च साध्यवचनम्, साध्या-
र्थ इत्यर्थः । तस्य निर्देशः प्रतिज्ञेत्युक्तः प्रथमोऽवयवः । अधुना
द्वितीय उच्यते—स चाधिकृतो धर्मः किमिहैव जिनशासने अ-
स्मिन्नेव मौनीन्के प्रवचने नान्यत्र कपिलादिमतेषु ? । तथाहि—
प्रत्यक्षत एवोपलक्ष्यन्ते वस्त्राद्यपूतप्रचृतोदकाद्युपभोगेषु परित्रा-
दप्रभृतयः प्राण्युपमर्दं कुर्वाणाः, ततश्च कुतस्तेषु धर्म ? , इ-
त्याद्यत्र बहु वक्तव्यम्, तच्च नोच्यते, ग्रन्थविस्तरमयान्नावि-
तत्वाच्चेति । प्रतिज्ञा प्रविभक्तिरियम्—प्रतिज्ञाविषयविभाग-
कथनेति गायार्थः । उक्तो द्वितीयोऽवयवः ॥ १४३ ॥

अधुना तृतीय उच्यते । तत्र—

सुरपूजो चि हेऊ, धम्मणाणे ठिया उ जं परमे ।

हेउविजत्ती निरुवहि—जिवाण अवहेण य जियंति ॥ १४४ ॥

सुरा देवास्तैः पूजितः सुरपूजितः । सुरग्रहणमिन्द्राद्युपलक्ष-
णम् । इति शब्द उपदर्शने । काश्यम् ? , हेतुः । पूर्ववद् हेत्वर्थसू-
चकं चेदं वाक्यम् । हेतुस्तु सुरेन्द्रादिपूजितत्वादिति द्रष्टव्यः ।
अस्यैव सिद्धतां दर्शयति—धर्मः पूर्ववद् । तिष्ठत्यास्मिन्निति स्था-
नं, धर्मश्चातो स्थानं च धर्मस्थानम्, स्थानमालयः, तस्मिन्

स्थिताः । तुरयमेवकारार्थः, स चावधारणे, अयं चोपरिष्ठात् क्रिय-
या सह योक्ष्यते । यद् यस्मात्, किंभूते धर्मस्थाने ? , परमे प्रधाने,
किम् ? , सुरादिभिः पूज्यन्ते एवेति वाक्यशेषः । इति तृतीयोऽव-
यवः । अधुना चतुर्थ उच्यते—हेतुविभक्तिरियं हेतुविषयविभाग-
कथनम् । अथ क एते धर्मस्थाने स्थिता इत्यत्राह—निरुपधयः ।
उपधिश्चुत्तमाया इत्यनर्थान्तरम् । अयं च क्रोधाद्युपलक्षणम् ।
ततश्च निर्गता उपध्यादयः सर्व एव कपाया येभ्यस्ते निरुपध-
यो निष्कपायाः, जीवानां पृथिवीकायिकादीनामवधेनापीडया,
चशब्दात्तपश्चरणादिना च हेतुभूतेन जीवन्ति प्राणान् धार-
यन्ति ये त एव धर्मस्थाने स्थिता नान्य इति गायार्थः ॥ १४४ ॥

उक्तश्चतुर्थोऽवयवः । अधुना पञ्चममभिधित्सुराह—

जिणवयणपदुट्ठे वि हु, ससुराईए अधम्मरुणो वि ।

मंगलवुच्छीइ जणो, पणमइ आइदुयविवक्खो ॥ १४५ ॥

इह विपक्षः पञ्चम इत्युक्तम् । स चायम्—प्रतिज्ञाविभक्त्योरिति ।
जिनास्तीर्थकरास्तेषां वचनमागमलक्षणं तस्मिन् प्रदिष्टा अ-
प्रीता इति समासः, तान् । अपिशब्दादप्रदिष्टानपि । हु इत्ययं
निपातोऽवधारणार्थः । अस्थानप्रयुक्तश्च स्थानं च दर्शयिष्या-
मः । श्वशुरादीन् । श्वशुरो लोकप्रासिद्ध—आदिशब्दात्पित्रादि-
परिग्रहः । न विद्यते धर्मं रुचिर्येषां ते अधर्मरुचयस्तान् । अपि
शब्दाद्धर्मरुचीनपि । किम् ? , मङ्गलवुच्छा मङ्गलप्रधानया धि-
या । मङ्गलवुच्छैव नामङ्गलवुद्धेत्येवकारोऽवधारणार्थः । किम् ?
जनो लोकः । प्रकर्षेण नमति प्रणमति । आद्यद्वयविपक्ष इति ।
अत्राद्यद्वयं प्रतिज्ञा तच्छुद्धिश्च । तस्य विपक्षः साध्यादेर्विपर्यय
इत्याद्यद्वयविपक्षः । तत्राधर्मरुचीनपि मङ्गलवुच्छा जनः प्रणम-
तीत्यनेन प्रतिज्ञाविपक्षमाह—तेषामधर्मव्यतिरेकाद्, जिनव-
चनप्रदिष्टानपीत्यनेन तु तच्छुद्धेस्तत्राऽपि हेतुप्रयोगप्रवृत्त्या
धर्मसिद्धेरिति गायार्थः ॥ १४५ ॥

विइयदुयस्स विवक्खो, सुरेहिं पुज्जंति जणणजाई वि ।

वुच्छाई वि सुरनया, वुचंते णायपमिवक्खो ॥ १४६ ॥

द्वयोः पूरणं द्वितीयम्, द्वितीयं च तद्वयं च द्वितीयद्वयम्—हेतुस्त-
च्छुद्धिः, इदं च प्रागुक्तद्वयापेक्षया द्वितीयमुच्यते । तस्यायं विप-
क्षः इह सुरैः पूज्यन्ते यज्ञयाजिनोऽपि । इयमत्र भावना—यज्ञ-
याजिनो हि मङ्गलरूपा न भवन्ति, अथ च सुरैः पूज्यन्ते, ततश्च
सुरपूजितत्वमकारणमित्येव हेतुविपक्षः । तथा—अजितेन्द्रियाः
सोपधयश्च यतस्ते वर्तन्ते, अतोऽनेनैव ग्रन्थेन धर्मस्थाने स्थि-
ताः परम इत्यादिकाया हेतुविभक्तेरपि विपक्ष उक्तो वेदितव्य-
इति । उदाहरणे विपक्षमधिकृत्याह—बुद्धादयोऽप्यादिशब्दात् का-
पिलादिपरिग्रहः । ते किम् ? , सुरनता देवपूजिता उच्यन्ते प्रणयन्ते,
तच्चासनप्रतिपक्षैरिति ज्ञातप्रतिपक्ष इति गायार्थः । आह—ननु द-
ष्टान्तमुपरिष्ठाद्वयत्येवं ततश्च तत्स्वरूपे उक्तं च तत्रैव विपक्ष-
स्तत्रप्रतिषेधश्च वक्तुं युक्तः, तत् किमर्थमिह विपक्षस्तत्रप्रतिषेध-
आभिधीयते ? उच्यते—विपक्षसाम्यादधिकृत एव विपक्षद्वारे द्वा-
ववाच्यमभिधीयते, अन्यथेदमपि पृथग्द्वारं स्यात् । तथैव तत्राति-
षेधोऽपि द्वारान्तरं प्राप्नोति, तथा च सति ग्रन्थगौरवं जायते । त-
स्माद्वाच्यार्थमत्रैवोच्यत इत्यदोषः । आह—‘दिट्ठतो आसंका, तप्प-
डिसेहो’—‘ति वचनात् उत्तरत्र दृष्टान्तमभिधाय पुनराशङ्कां तत्र-
प्रतिषेधं च वक्ष्येव । तदाशङ्का च तद्विपक्ष एव । तत्किमर्थमिह
पुनर्विपक्षप्रतिषेधावभिधीयते ? । उच्यते—अनन्तरपरम्पराभेदे-

व्यवत् । इत्येतत् तदा विशेषदृष्टमनुमानमुच्यते, पुरुषविशेषवि-
षयत्वात् । एवं कार्यापणाद्विषयि वाच्यम् ।

तदेवमनुमानस्य त्रैविध्यमुपदर्श्य साम्प्रतं तस्यैव कालत्रय-
विषयतां दर्शयन्नाह—

तस्स समासत्रो तिविहं गृह्यं जवइ । तं जहा—अतीय-
कालगृहणं, पशुप्पसकालगृहणं, अणायकालगृहणं ॥

(तस्सेति) सामान्येनानुवर्तमानमनुमानमात्रं संवच्यते, तस्या-
ऽनुमानस्य त्रिविधं ग्रहणं भवति । तद्यथा—अतीतकालविषयग्र-
हणं ब्राह्मस्य वस्तुनः परिच्छेदोऽतीतकालग्रहणम् । प्रत्युत्पन्नो व-
र्तमानः कालस्ताद्विषयं ग्रहणं प्रत्युत्पन्नकालग्रहणम् । अनागतो
भविष्यत्कालस्तद्विषयग्रहणमनागतकालग्रहणम् । कालत्रयव-
र्तिनोऽपि विषयस्यानुमानात्परिच्छेदो जयतीत्यर्थः ।

से किं तं अतीयकालगृहणं ? अतीयकालगृहणं उच-
णाणि वणाणि निष्पद्यं सव्वं वा मेइणिं पुष्पाणि अ कुं-
रसरणइदीहिआतहागाइं पासिचा तेणं साहिज्जइ, जहा
सुवुट्ठी आमी, सेचं अतीयकालगृहणं ॥

तत्र (उचिणां इति) वृक्षानि लुण्ठानि येषु वनेषु तानि तथा ।
अयमत्र प्रयोगः—सुवृष्टिरिहाऽऽसीद्, लुण्ठननिष्पन्नसस्यपृ-
थ्वीतलजलपरिपूर्णकुण्डादिजलाशयप्रभृतितत्कार्यदर्शनाद्, अ-
निमतदेशवत्, इत्यतीतस्य वृष्टिसंज्ञविषयस्य परिच्छेदः ।

से किं तं पशुप्पकालगृहणं ? पशुप्पकालगृहणं सा-
हूगोअरग्गयं विच्छन्नियपउरभत्तपाणं पासिचा, तेणं सा-
हिज्जइ, जहा सुभिकखे वट्ठइ । सेचं पशुप्पकालगृहणं ॥

साधुं च गोचरागतं भिक्षाप्रतिपदं विशेषेण उदितानि गृह-
स्यैर्दत्तानि प्रचुरभक्षणानि यस्य स तथा तं तादृशं दृष्ट्वा क-
श्चित् साधयति । सुभिक्षामिह वर्तते, साधूनां तद्धेतुकप्रचुरभ-
क्षणलभ्यदर्शनात्, पूर्वदृष्टप्रदेशवदिति ।

से किं तं अणायकालगृहणं ? अणायकालगृहणम् अ-
व्वस्स निम्मल्लत्तं, कसिणाय गिरी सविज्जुआ मेहा । थाणि-
अं वाज्ज्जाओ, संभारत्ता पणिछा य ॥ १ ॥ वारुणं वा
महिंदं वा अस्सयरं वा पसत्तं उप्पायं पासिचा तेणं साहि-
ज्जइ, जहा सुवुट्ठी भविस्सइ । सेचं अणायकालगृहणं ॥

(अव्वस्स निम्मल्लत्तं इति) गाथा सुगमा, नवरं स्तनिनं मेघ-
गर्जितं (वाज्ज्जाओ इति) तथाविधो दृष्टव्यमिचारी प्रद-
क्षिणं दिक्षु भ्रमन् प्रशस्तो वातः (वारुणं इति) आर्क्षमृतादिन-
क्रयप्रभवं माहेन्द्रोहिणीज्योष्ठादिनक्षत्रसम्भवम् । अन्यतरमु-
त्पातमुल्कापातदिग्दाहादिकं प्रशस्तं वृष्ट्यव्यभिचारिणं दृष्ट्वाऽनु-
मीयते—यथा—सुवृष्टिरत्र भविष्यति, तदव्यभिचारिणामनुनिर्मे-
ष्टत्वादीनां समुदितानामन्यतरस्य वा दर्शनाद्, यथाऽन्यव-
दिति । विशिष्टा ह्यत्र निर्मलत्वादयो वृष्टिं न व्यभिचरन्त्यतः
प्रतिपत्त्यैव तत्र निपुणेन भाव्यमिति ।

एएसि चैव विवज्जासे तिविहं गृह्यं भवइ । तं जहा अती-
यकालगृहणं, पशुप्पकालगृहणं, अणायकालगृहणं ।
से किं तं अतीयकालगृहणं ? अतीयकालगृहणं निचिणाइं

अनिप्पसं वा सव्वं वा मेइणी सुक्काणि अकुंडसरनइदीहिआ-
तरागाइं पासिचा तेणं साहिज्जइ, जहा कुवुट्ठी आसी । सेचं
अतीयकालगृहणं । से किं तं पशुप्पकालगृहणं ? पशुप्प-
कालगृहणं साहूगोयरग्गयं जिक्वं अन्नभमाणं पासिचा
तेणं साहिज्जइ, जहा दुम्भिकखे वट्ठइ । सेचं पशुप्पकालगृह-
णं । से किं तं अणायकालगृहणं ? अणायकालगृह-
णम्—धूमयंति दिसाओ, संविअमेइणीअपकिदद्धा । वा-
या नेइआ खल्लु, कुवुट्ठिमेवं निवेयंति ॥ १ ॥ अग्गयं
वा वायव्वं वा अस्सयरं वा अप्पत्तं उप्पायं पासिचा तेणं
साहिज्जइ, जहा कुवुट्ठी भविस्सइ । सेचं अणायकालगृह-
णं, सेचं विसेसादिदं, सेचं दिट्ठसाहम्मवं, सेचमण्णुपणे ।

(एसि चैव विवज्जासे इत्यादि) एतेषामेवोन्नतवनादीनाम-
तीतवृष्ट्यादिसाधकत्वेनोपन्यस्तानां हेतूनां व्यत्यासे व्यत्यये सा-
ध्यस्यापि व्यत्ययः साधयितव्यः यथा कुवुष्टिरिहासीद्वस्तुषणा-
दिदर्शनादित्यादिव्यत्ययः सूत्रसिद्धः । नवरम्—अनागतकाल-
ग्रहणे माहेन्द्रवारुणपरिहारेणाश्वेयवायव्योत्पाता उपन्यस्ताः, ते-
षां वृष्टिविधातकत्वात्, इतरेषां सुवृष्टिहेतुत्वादिति । “सेचं वि-
सेसादिदं, सेचं दिट्ठसाहम्मवं” इत्येतस्मिन्मनद्वयं दृष्टसाधर्म्यसं-
ज्ञानुमानगतभेदत्रयस्य समर्थनानन्तरं गुज्यते । यदि तु सर्व-
वाचनास्यैव स्थाने दृश्यते तदा दृष्टसाधर्म्यतोऽपि समेद-
स्यानुमानप्रविशेषत्वात् कालत्रयविषयता योजनीयैव । अतस्ता-
मप्यभिधाय ततो निगमनद्वयमिदमकारीति प्रतिपद्यन्म । तदे-
तदनुमानमिति । अनु० ।

तत्र कचित्पञ्चावयवेन वाक्येन, क्वचिद्दशावयवेन वाक्येन
परं प्रति दृश्यते—तत्र पञ्चावयवाः—“प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपन-
यनिगमनानि” । अत्र च—“धम्मो मंगलमुक्किं, अहिंसा संजमो
तवो । देवा वि तं जमं संति, जस्स धम्मो सया मणो ” ॥१॥
इति वक्ष्यमधिकृत्य निदर्शयते—

कत्तय पंचावयवं, दसहा वा सव्वहा न पक्किदं ।

न य पुण सव्वं जवइ, हंदी सवियारमक्खायं ॥ ११ ॥

श्रोतारमेवाङ्गीकृत्य कचित्पञ्चावयवं, दशधा वेति—क्वचिद्-
शावयवम् । सर्वथा गुरुभोत्रपक्ष्या न प्रतिपिद्धमुदाहरणाद्यभि-
धानमिति वाक्यशेषः । यद्यपि च न प्रतिपिद्धं तथाऽप्यत्रिहोवे-
णैव च न पुनः सर्वं भग्यते उदाहरणादि । किमित्यत आह—
(हंदी सवियारमक्खायं इति) इंदीत्युपप्रदर्शने । किमुपदर्शय-
ति ? यस्मादिदानीं शास्त्रान्तरे सविचारं सप्रतिपक्षमाख्यात-
म्, साकल्यत उदाहरणाद्यभिधानमिति गम्यते । पञ्चावयवाश्च
प्रतिज्ञादयः । यथोक्तम्—“प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनान्यव-
यवाः” । दश पुनः प्रतिज्ञाविभक्त्यादयः । बह्वयति च—“ ते उ
पइणधिमत्ती हेतुविज्जती ” इत्यादिप्रयोगांश्चेतेषां लाघवा-
यमिदं स्वस्थाने दर्शयिष्याम इति गाथार्थः । दश० १ अ० ।

दशावयवाः पुनरित्यम्—

प्रतिज्ञा १ विभक्तिः २ हेतुः ३ विभक्तिः ४ विपक्षः ५ प्रतिषेधः
६ दृष्टान्तः ७ आशङ्का ८ तत्प्रतिषेधः ९ निगमनम् १० । इह च
दशावयवाः प्रतिज्ञादिशुद्धेरुहिता भवन्ति । अथवत्त्वं च

ज्ञादिविपक्षप्रतिषेधः पञ्चप्रकारोऽप्येक एवेति गाथार्थः ॥१५०॥
पष्ठमवयवमभिधायदानीं सप्तमं दृष्टान्तनामानमभि-
धातुकाम आह—

अरहंत मगगाभी, दिडंतो साहुणो वि समाचिचा ।

पागरएसु गिहीसु उ, एसंतो अवहमाणा उ ॥ १५१ ॥

पूजामर्हन्तीति अर्हन्तः । न रुहन्तीति वा अरुहन्तः । किम् ? दृष्टान्त इति सम्बन्धः । तथा मार्गगामिन इति । प्रक्रमाच्चतुपदिष्टेन मार्गेण गन्तुं शीघ्रं येषां त एव गृह्यन्ते । के च ते ? इत्यत आह—साधवः । साधयन्ति सम्यग्दर्शनादियोगैरपवर्गमिति साधवः, तेऽपि दृष्टान्त इति योगः । किं ज्ञताः ? समाचिचा रागद्वेषरहितचित्ता इत्यर्थः । किमिति तेऽपि दृष्टान्त इति ? अहिंसादिगुणयुक्तत्वात् । आह च—पाकरतेष्वात्मासमं पाकसत्केषु गृहेष्वगारेष्वेषन्ते गवेपयन्ति पिण्डरूपात्मित्यध्याहारः । किं कुर्याणा इत्यत आह—(अवहमाणा उ च्छि) न घ्नन्तोऽघ्नन्तः । तुरवधारणार्थः । ततश्चाघ्नन्त एव, आरम्भाकरणेन पीमामकुर्वाणा इत्यर्थः । एवं द्विविधोऽपि दृष्टान्त उक्तः । दृष्टान्तवाक्यं च दम् । स तु संस्कृत्य कर्तव्योऽर्हदादिवदिति गाथार्थः ॥ १५१ ॥ उक्तः सप्तमोऽवयवः ।

सांप्रतमष्टममभिधित्सुराह—

तत्थ जवे आसंका, उद्दिस्स जई वि कीरण पागो ।

तेण र विसमं नायं, वासतणा तस्स पमिसेहे ॥ १५२ ॥

तत्र तस्मिन् दृष्टान्ते भवेदाज्ञा भवत्याक्षेपः । यथोद्दिष्ट्याऽङ्गीकृत्य यतीनपि संयतानपि । अपिशब्दादपत्याऽऽदीन्यापि । क्रियते निर्वर्त्यते पाकः । कैः ? गृहिभिरिति गम्यते । ततः किमित्यत आह—तेन कारणेन । र इति निपातः किलशब्दार्थः । विपममदुष्यम्, ज्ञातमुदाहरणं वस्तुतः पाकोपजीवित्वेन साधूनामनवचवृत्त्यभावादिति ज्ञातमेवेतत् पूर्वमित्यष्टमोऽवयवः । इदानीं नवममधिकृत्याह—वर्णावृणानि तस्य प्रतिषेध इत्येतच्च भाष्यकृता प्राक्प्रपञ्चितमेवेति न प्रतन्यत इति गाथार्थः ॥ १५२ ॥ उक्तो नवमोऽवयवः ।

साम्प्रतं चरममभिधित्सुराह—

तस्मा उ सुरनराणं, पुज्जत्तं मंगलं सया धम्मो ।

दसमो एस अवयवो, पञ्चहेऊ पुणो वयणं ॥ १५३ ॥

यस्मादेवं तस्मात् सुरनराणां देवमनुष्याणां पूज्यस्तद्भावकृत्स्मात् पूज्यत्वान्मङ्गलं प्राग्विरूपितशब्दार्थं सदा सर्वकालं धर्मः प्रागुक्तः । दशम एवोऽवयव इति संख्याकथनम् । किं विशिष्टोऽयमित्यत आह—प्रतिज्ञाहेत्वोः पुनर्वचनं पुनर्हेतुप्रतिज्ञावचनमिति गाथार्थः । उक्तं द्वितीयं दशावयवम् । साधनाऽङ्गता चावयवानां विनेयाऽपेक्षया विशिष्टप्रतिपत्तिजनकत्वेन भावनीयेत्युक्तोऽनुगमः ॥ १५३ ॥ दश० नि० १ अ० ।

प्रासङ्गिकमभिधाय पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमिति प्रागुक्तं समर्थयन्ते—

पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्गं न दृष्टान्तादिवचनम् ॥ २७ ॥

आदिशब्देनोपनयनिगमनादिग्रहः । पक्षं च यद् व्याप्युपेतं पक्षधर्मतोपसंहाररूपं सौगतैः, पक्षहेतुदृष्टान्तस्वरूपं भाट्टप्राभाकरकापिष्ठैः, पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनलक्षणं नैयायिकवैशेषिकाज्यामनुमानमात्राणि । तदपास्तम् । व्युत्पन्नमतीत्याति

पक्षहेतुवचसोरेवोपयोगात् ॥ २८ ॥

पक्षप्रयोगं प्रतिष्ठाप्य हेतुप्रयोगप्रकारं दर्शयन्ति—

हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथाऽनुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः ॥ २९ ॥

तथैव साध्यसंभवप्रकारेणैवोपपत्तिस्तथोपपत्तिः । अन्यथा साध्याभावप्रकारेणानुपपत्तिरेवान्यथाऽनुपपत्तिः ॥ २९ ॥

अमु एव स्वरूपतो निरूपयन्ति—

सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथाऽनुपपत्तिः ॥ ३० ॥

निगदव्याख्यानम् ॥ ३० ॥

प्रयोगतोऽपि प्रकटयन्ति—

यथा कृशानुमानयं पाकप्रदेशः, सत्येव कृशानुमाने धूमवत्त्वस्योपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेर्वा ॥ ३१ ॥

पतदपि तथैव ॥ ३१ ॥

अमुयोः प्रयोगौ नियमयन्ति—

अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्राऽनुपयोगः ॥ ३२ ॥

अयमर्थः—प्रयोगयुग्मेऽपि वाक्यविन्यास एव विशिष्यते, नार्थः । स चान्यतरप्रयोगेणैव प्रकटीकृत्येति किमपरप्रयोगेण ? इति । ३२ ।

अथ यदुक्तं “न दृष्टान्तादिवचनं परप्रतिपत्तेरङ्गम्” इति तत्र दृष्टान्तवचनं तावन्निराचिकीर्षवस्तत्किं । किं परप्रतिपत्त्यर्थं परैरङ्गीक्रियते ? किं वा हेतोरन्यथाऽनुपपत्तिनिर्णीतये ? यद्वाऽविनाभावस्मृतये ? इति विकल्पेषु प्रथमं विकल्पं तावदूपयन्ति—

न दृष्टान्तवचनं परप्रतिपत्तये प्रजवति, तस्यां पक्षहेतुवचनयोरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ ३३ ॥

प्रतिपत्ता अविस्मृतसंबन्धस्य हि प्रमातुरभिमानयं देशो धूमवत्त्वान्यथाऽनुपपत्तेरित्येतावतैव भवत्येव साध्यप्रतीतिरिति । ३३ ।

द्वितीयं विकल्पं परास्यन्ति—

नच हेतोरन्यथाऽनुपपत्तिनिर्णीतये यथोक्ततर्कप्रमाणादेव तदुपपत्तेः ॥ ३४ ॥

दृष्टान्तवचनं प्रभवतीति योगः ॥ ३४ ॥

अत्रैवोपपत्त्यन्तरमुपवर्णयन्ति—

नियतैकविशेषस्वभावे च दृष्टान्ते साकल्येन व्याप्तेरयोगतो विप्रतिपत्तौ तदन्तराऽपेक्षायामनवस्थितेर्दुर्निवारः समवतारः ॥ ३५ ॥

प्रतिनियतव्यक्तौ हि व्याप्तिनिश्चयः कर्तुमशक्यः । ततो व्यक्त्यन्तरेषु व्याप्यर्थे पुनर्दृष्टान्तान्तरं मृग्यम् । तस्याऽपि व्यक्तिरूपत्वेनाऽपरदृष्टान्तोपेक्षायामनवस्था स्यात् ॥ ३५ ॥

तृतीयविकल्पं पराकुर्यान्ति—

नाऽप्यविनाभावस्मृतये, प्रतिपन्नप्रतिबन्धस्य व्युत्पन्नमतेः पक्षहेतुप्रदर्शनेनैव तत्प्रसिद्धेः ॥ ३६ ॥

दृष्टान्तवचनं प्रभवतीति योगः ॥ ३६ ॥

अमुमेवार्थं समर्थयन्ते—

अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च बहिर्व्याप्तेरुपलवनं व्यर्थम् ॥ ३७ ॥

अयमर्थः—“अन्तर्व्याप्तेः साध्यसंसिद्धिशक्तौ, बाह्यव्याप्तेर्वर्णनं

न दृष्टान्तैर्विधायपनार्थम्, यः खल्वनन्तरप्रयुक्तोऽपि परोक्तत्वादागमगम्यत्वाद्वाधैर्नितिकार्यसाधनायाऽज्ञं न भवति, तत्प्रसिद्धये विपक्षसिद्धौ याऽन्य उच्यते, स परम्परादृष्टान्तः । तथा च तीर्थकरास्तथा साधयश्च द्वावपि भिन्नावेतावुत्तरत्र दृष्टान्ताविधौ स्थिते । तत्र तीर्थकृत्तृकणं दृष्टान्तमङ्गीकृत्येह विपक्षप्रतिषेधावुक्तौ । सार्धस्यविधृत्य तथैवाऽऽज्ञातप्रतिषेधौ दर्शयिष्येते इत्यदोषः । स्यान्मतं प्रागुक्तं विधिना लाघवार्थमनुक्त एव दृष्टान्तः, उच्यतां काममिदं दृष्टान्तविपक्षस्तत्प्रतिषेधश्च स एव दृष्टान्तः, किमित्युत्तरत्रोपदिश्यते, येन हेतुविभक्तेरनन्तरमिदं न प्रययते ? । तथाह्यत्र दृष्टान्ते भव्यमाने प्रतिज्ञादीनामिव द्विरूपस्थापि दृष्टान्तस्याहेतुसाधुवृत्तकणस्यैतादेव विपक्षनत्प्रतिषेधावुपपद्यते । ततश्च साधुवृत्तकणस्य दृष्टान्तस्याज्ञात्वात् तत्प्रतिषेधावुत्तरत्र न पृथग्वक्तव्यो भवतः । तथा च सति प्रत्यक्षाद्यं जायते । तथा प्रतिज्ञाहेतुदाहरणरूपाः सविशुद्धिकास्त्रयोऽप्यवयवाः क्रमेणोक्ता भवन्तीत्यत्रोच्यते-इहाऽभिधीयमाने दृष्टान्तस्यैव प्रतिज्ञादीनामपि प्रत्येकमाज्ञातप्रतिषेधौ यक्तव्यौ स्तः । तथा च सत्यवयवयद्गुणं दृष्टान्तस्य वा प्रतिज्ञादीनामिव विपक्षनत्प्रतिषेधाभ्यां पृथगाशङ्कातत्प्रतिषेधौ न यक्तव्यौ स्याताम् । एवं सति दशावयवा न प्राप्नुयन्ति । दशावयवं चेदं चाप्यं भग्न्यन्तरेण प्रतिषिद्धादयि-
वितमस्याऽपि न्यायस्य प्रदर्शनार्थमत एव यदुक्तं साधुवृत्तकण दृष्टान्तस्याशङ्कातत्प्रतिषेधावुत्तरत्र न पृथग्वक्तव्यौ स्यातामि-
त्यादि, तदपाकृतं वेदितव्यमित्यलं प्रसङ्गेन । एवं प्रतिज्ञादीनां प्रत्येकं विपक्षोऽस्मिन्नितः ॥१४६॥

अधुनाऽयमेव प्रतिज्ञादिविपक्षः पञ्चमोऽवयवो वर्तत इत्येतद-
श्यान्निर्माह—

एवं तु अवयवाणां, चउएह पन्निवस्तु पचमोऽवयवो ।

एतो उटोऽवयवो, विपक्षपन्निसेह तं वोचं ॥ १४७ ॥

एवमित्ययमेवकार उपप्रदर्शने । तुरयभारणे । अयमेवावयववा-
नां प्रमाणाऽङ्गलक्षणां चतुर्णां प्रतिज्ञादीनां प्रतिषेधो विपक्षः
पञ्चमोऽवयव इति । आह-दृष्टान्तस्याप्यत्र विपक्ष उक्त एव, त-
त्किमर्थं चतुर्णामित्युक्तम् ? । उच्यते । हेतोः सपक्षविपक्षाभ्या-
मनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपत्वेन दृष्टान्तधर्मत्वाच्चद्विपक्ष एव चास्या-
न्तर्भावाददोष इत्युक्तः पञ्चमोऽवयवः । अधुना पष्ठ उच्यते-
तथा चाह-इत उत्तरत्र पष्ठोऽवयवो विपक्षप्रतिषेधस्तं वच्येऽभि-
धास्य इति गार्थार्थः ॥ १४७ ॥

इत्थं सामान्येनाभिधायिदानीमाद्यद्वयविपक्षप्रतिषेधमभि-
धातुकाम आह—

सायं सम्मत्त पुमं, हासरई आउनामगोयसुहं ।

धम्मफलं आइडुगे, विपक्षपन्निसेह मो एतो ॥१४८॥

(सायंति) सातवेदनीयं कर्म (सम्मत्तंति) सम्यक्त्वं स-
म्यग्भावः सम्यक्त्वं मोहनीयं कर्मैव (पुमंति) पुंवेदमोहनीयम् ।
(हासंति) हस्यतेऽनेनेति हासस्तद्भावो हास्यम्, हास्यमोहनी-
यम् । रम्यतेऽनयेति रतिः, क्रीडाहेतु रतिमोहनीयं कर्मैव । (आउ-
नामगोयसुहंति) अत्र शुभशब्दः प्रत्येकमभिसंवाध्यते, अन्ते य-
चनात् । ततश्च आयुःशुभं, नामशुभं, गोत्रशुभम्, तत्रायुःशुभं ती-
र्थकरादिसंवाच्यं, नामगोत्रे अपि कर्मण्यो शुभे तेषामिव भवतः ।
तथाहि-यशोनामादि शुभं तीर्थकरादीनामेव भवति । तथो-
चैगोत्रं तदपि शुभं तेषामेवेति । (धम्मफलंति) धर्मस्य फलं

धर्मफलम्, धर्मेण वा फलं धर्मफलम्, एतद्विहादेजिनोक्तस्यै-
व धर्मस्य फलम् । अहिंसादिना जिनोक्तेनैव च धर्मेणैव फल-
मवाप्यते । सर्वमेव चेतत् सुखहेतुत्वाद् हितम् । अतः
स एव धर्मो मङ्गलं, न श्वशुरादयः । तथाहि-मङ्गल्यते हितम-
नेनेति मङ्गलम् । तच्च यथोक्तधर्मेणैव मङ्गल्यते नान्येन, तस्माद्-
सावेव मङ्गलं, न जिनवचनवाह्याः श्वशुरादय इति स्थितम् ।
आह-मङ्गलवृत्त्यैव जनः प्रणमतीत्युक्तं, तत्कथमित्युच्यते मङ्गल-
वृत्त्याऽपि गोपात्राऽङ्गनाऽऽदिमोहतिमिरोपप्लुतवृत्तिदोचनो जनः
प्रणमन्नापि न मङ्गलत्वं निश्चयायावत् । तथाहि न तैर्मरिक्कद्विच-
न्द्रोपदर्शनं सचेतसां चक्षुष्मतां द्विचन्द्राऽऽकारायाः प्रतीतेः प्रत्य-
यतां प्रतिपद्यते । अतद्रूप एव तद्रूपाध्यारोपहारेण तद्रूपचेरिति ।
(आइडुगेति) आद्यद्वयं प्रागुक्तं, तस्मिन्नाद्यवयवविषयं विपक्ष-
प्रतिषेधः । मो इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थः । एष इति यथा वार्ण-
त इति गार्थार्थः । इत्थमाद्यवयवविपक्षप्रतिषेधः प्रतिपादितः । १४८॥
संप्रति हेतुतच्छब्दोऽपि विपक्षप्रतिषेधप्रतिषिद्धादयिष्येदमाह—

अग्निइंदिय सोवहिया, वहगा जइ ते वि नाम पुज्जांति ।

अग्नी वि होज्ज सीओ, इउविज्जचीण पन्निसेहो ॥१४९॥

न जितानि श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि यैस्ते तथोच्यन्ते । उपधि-
श्रुत्वा मायेत्यनर्थान्तरम् । उपधिना सह वर्तन्ते इति सांप्रथयो
मायाधिनः, परव्यंसका इति यावत् । अथवा उपधातीत्युपधि-
व्यंसाद्यनेकरूपः परिग्रहः, तेन सह वर्तन्ते येते तथाविधाः, महा
परिग्रहा इत्यर्थः । (वहगा इति) वधन्तीति वधकाः प्रत्युपम-
र्दकाराः (जइ ते वि नाम पुज्जांति स्ति) यदीति पराभ्युपगम-
संस्पर्शः, त इति याज्ञिकाः । अपिः संज्ञाधने । नाम इति निपा-
तो वाक्यालङ्कारार्थः । येऽजिनेन्द्रियत्वादिदोषपुष्टा यद्वायाजिनो
वर्तन्ते, यदि तेऽपि नाम पूज्यन्ते, एवं तद्विग्रहपि भवेच्छीतः । न
च कदाचिदप्यसौ शीतो नयति । तथा यदीन्द्रियरसजोऽपि धान्ये-
योरःश्वशुराजामादधीरन्, न चैतन्नयति । यथैवमादिरस्यन्तोऽ-
प्रावस्तयेदमपीति मन्यते । अथापि कालदौर्गुण्यात् कथंचिद-
विवेकिना जनेन पूज्यन्ते, तथाऽपि तेषां न मङ्गलत्वसंप्रसिद्धिरे-
काद्यतामतद्रूपेऽपि वस्तुनि तद्रूपाध्यारोपेण प्रवृत्तेः, तथाह्यकलङ्क-
धियामेव प्रवृत्तिर्वस्तुनस्तद्वत्तां गमयति । अतथाभूते वस्तुनि
तद्वृत्त्या तेषामप्रवृत्तेः । सुविशुद्धवृत्त्यश्च दैत्याऽमरन्द्रादयः,
ते चाहिंसादिलक्षणं धर्ममेव पूजयन्ति, न यज्ञयाजिनः । तस्मा-
दैत्यामरन्द्रादिपुजितत्वाद्धर्मं पयोत्कष्टं मङ्गलं, न याज्ञिका इति
स्थितम् । (हेउविज्जचीणंति) एष हेतुतच्छिभक्तयोः (पन्निसेहो
स्ति) विपक्षप्रतिषेधः । विपक्षशब्द इहानुक्तेऽपि प्रकरणाद् ज्ञात-
व्य इति गार्थार्थः । एवं हेतुतच्छब्दोऽपि विपक्षप्रतिषेधो दर्शितः ।

संप्रति दृष्टान्तविपक्षप्रतिषेधं दर्शयन्माह—

बुद्धाई उवयारे, पूयाठाणं जिण्णा उ सज्जावं ।

दिहंते पन्निसेहो, उटो एतो अवयवो उ ॥१५०॥

बुद्धादयः, आदिशब्दात्कापिब्रादिपरिग्रहः । उपचार इति-
सुपां सुपो जवन्तीति न्यायादुपचारेण किञ्चिदतीन्द्रियं कथय-
न्तीति कृत्वा न वस्तुस्थित्या पूजायाः स्थानं पूजास्थानम् ।
जिनास्तु सज्जावं परमार्थमधिकृत्यति चाक्यशेषः । सर्वज्ञत्वा-
द्यसाधारणगुणयुक्तत्वादिति भावना । दृष्टान्तप्रतिषेध इति । वि-
पक्षशब्दोपाद् दृष्टान्तविपक्षप्रतिषेधः । किम् ? पष्ठ एवोऽवयवः ।
तुर्विशेषणार्थः । किं विशेषणम् ? सर्वोऽप्ययमनन्तरोदितः प्रति-

अणुरूप-अनुरूप-त्रि० । अविपमे, स्था० ६ ठा० । अनुकूले, आ० म० प्र० । घटमानेऽर्थे, विशेष० । सदृशे, उक्त० १ अ० । उचिते, ज्ञा० १६ अ० । अनुरिते सादृश्यरूपमिति अव्ययो-भावः । स्वभावसदृशे, सम्म० ।

अणुलाव-अनुलाप-पुं० । पौनःपुन्यभाषणे, “अनुलापो मुहुर्भाषा” इति वचनात् । स्था० ७ ठा० । ज्ञा० ।

अणुलिपण-अनुक्षेपन-न० । सकृद्विज्ञाया भूमेः पुनर्लेपने, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ।

अणुक्षिप्त-अनुक्षिप्त-त्रि० । चन्दनादिना कृतानुलेपे, औ० ।

अणुलितगत्-अनुक्षिप्तगत-त्रि० । अन्विति अतिशयेन लितं विलेपनरूपकृतं गात्रं शरीरं यस्य स तथा । कृतानुरूपशरीरे, तं० ।

अणुलिहंत-अनुलिखत्-त्रि० । अभिलङ्घयति, “गगणतलमखुलिहंतसिहरे” सू० प्र० १८ पाहु० । रा० । तं० । स० । जी० च० प्र० ।

अणुक्षेपण-अनुक्षेपन-न० । शीखण्डादिविलेपने, स्था० ८ ठा० । ज्ञा० । प्रव० । सकृद्विज्ञास्य पुनः पुनरुपलेपने, प्रश्ना० २ पद ।

अणुलेखणतल-अनुक्षेपनतल-न० । अनुलेपनप्रधाने तले, सूत्र० २ ध्रु० २ अ० । पुनरुपलितभूमिकायाम्, “मेयवसापु-थरुधिरमंसचिक्खिहल्लित्ताणुलेखणतला” प्रश्ना० २ पद ।

अणुलोम-अनुलोम-त्रि० । अविपरीते, पं० चू० । अनुकूले, औ० । सूत्र० । आचा० । ज्ञा० । अनुकूलतया वेद्यमाने, जं० २ वक्त० । मनोहारिणि, दश० १ अ० । अनुलोमनार्थद्रव्यानुयोगोऽनुलोमः । अनुलोमे, अनुकूलकरणाय परस्य यो विधीयते यथा क्षेमं भवतामित्यादिरूपे द्रव्यानुयोगमेदे, स्था० ६ ठा० ।

अणुलोमइत्ता-अनुलोम्य-अव्य० । विवादाऽध्यक्षान् सामनीत्यानुलोमान् कृत्वा प्रतिपन्थिनमेव वा पूर्वं तत्पक्षाभ्युपगमेन अनुलोमं कृत्वेत्यर्थे, “अणुलोमइत्ता पठे” स्था० ६ ठा० । अणुलोमवाउवेग-अनुलोमवायुवेग-त्रि० । अनुलोमोऽनुकूलो वायुवेगः शरीरान्तर्वर्ती वातजयो येषां तेऽनुलोमवायुवेगाः । वायुगुल्मरहितोदरमध्यप्रदेशेषु, तं० । जी० । युगलमनुप्यादिषु । आह च टीकाकारः- उदरमध्यप्रदेशे वायुगुल्मो येषां ते तथा, तदभावाच्च तेषामनुलोमो भवति, वायुवेगो मिथुनानाम् इति । जी० १ प्रति० ।

अणुलोमविलोम-अनुलोमविलोम-पुं० । गतप्रत्यार्गतौ, पञ्चा० १६ विव० ।

अणुद्वग-अनुद्वक्-पुं० । कन्दविशेषे, द्वीन्द्रियजीवमेदे च । उक्त० ३ अ० ।

अणुद्वण-अनुद्वण-त्रि० । अगर्विते, दृ० ३ उ० ।

अणुद्वान-अनुद्वान-पुं० । कुत्सिते काका वर्णने, स्था० ३ ठा० ।

अणुद्वोय-अनुद्वक-पुं० । द्वीन्द्रियजाविविशेषे, उक्त० ३६ अ० ।

अणुवद्व-अनुपदिष्ट-त्रि० । आचार्यपरम्पराऽनागते, “उ-स्तुत्तमणुवद्वं नाम जं नो आयरियपरंपरागयं मुक्तव्याक-रणवत्” । नि० चू० ११ उ० । व्य० ।

अणुवत्त-अनुपयुक्त-त्रि० । हेयोपादेयपरीक्षाविकले, अष्ट० १४ अष्ट० । उपयोगशून्ये, नि० ।

अणुवत्त-अनुपदेश-पुं० । स्वभावे, निसर्गः स्वभावोऽनुप-देश इत्यनर्थान्तरम् । स्था० २ ठा० १ उ० । नञः कुत्सार्थत्वात् कुत्सितोपदेशे, आगमवाधितार्थानुशासने, पञ्चा० १२ विव० ।

अणुवत्तोग-अनुपयोग-पुं० । अनर्थे, अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयो-गो निष्कारणतेति पर्यायाः । आव० ६ अ० । शक्तेरनुपयोजने अव्यापारणे, पञ्चा० १४ विव० । उपयोजनमुपयोगो जीवस्य बोधरूपो व्यापारः । स चेह विवक्षिताऽर्थे चित्तस्य विनिवेशस्वरूपो गृह्यते, न विद्यते स यत्र सोऽनुपयोगः पदार्थः । उपयो-गाविषये, “अणुवत्तोगो दब्धं” भावशून्यतायां च । अनु० ।

अणुवक्त-अनुपकृत-त्रि० । उपकृतमुपकारो न विद्यते उपकृतं येषां ते । अकृतोपकारिषु, यो० ए विव० । परैरवर्तितेषु, आव० ४ अ० ।

अणुवक्तपराहिय-अनुपकृतपरहित-त्रि० । उपकृतमुपकारः, न विद्यते उपकृतं येषां ते इमेऽनुपकृताः, अकृतोपकारा इत्यर्थः । ते च ते परास्व, तेज्यो हितं तस्मिन् रतोऽभिरतः प्रवृत्तोऽनुपकृतपरहिनरतः । निष्कारणवत्सले, यो० ६ विव० ।

अणुवक्त-अनुपक्रान्त-त्रि० । अनिराकृते, औ० ।

अणुवक्त-अनुपाख्य-त्रि० । गताऽऽख्यातिके, दृ० १ उ० ।

अणुवक्त-अनुपस्कृत-त्रि० । अकृतोपकारे, “उवक्खन्नाय-खीरदहिमादि । अणुवक्खन्ना सम्बेसु परिविठेसु” नि० चू० १ उ० ।

अणुवगरण-अनुपकरण-न० । उपघेरजावे, व्य० ७ उ० ।

अणुवचय-अनुपचय-पुं० । अनुपचीयमानतायाम्, अनुपादाने च । उक्त० १ अ० ।

अणुवच्चत-अनुव्रजत्-त्रि० । अनु-व्रज-शतृ । अनुगच्छति, प्रा० ।

अणुवजीवि (ए)-अनुपजीविन्-त्रि० । अनाजीविके, पञ्चा० १५ विव० ।

अणुवज्ज-गम्-धा० । गतौ, ज्वा० प० अनिद् । “गमेरई अइच्छा-ऽणुवज्जावज्जसोठ-॥ ७ । ४ । १६१ ॥ इत्यादिसूत्रेण गसधातो-रणुवज्जादेशः । अणुवज्ज-गच्छति । प्रा० ।

अणुवज्जिअं-देशी-प्रतिजागरिते, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । द्वितीयवारं प्रवृत्ते जातव्यवहारादौ, “अणुवत्तो जो पुणो वित्तीयवारं” व्य० ३ उ० ।

अणुवत्तय-अनुवर्तक-त्रि० । सर्वमनोऽनुवृत्तिकर्तरि, ध० ३ अधि० । भावानुकूल्येन सम्यक्परिपालके, पं० व० १ द्वा० । शिष्याणां क्वदोऽनुवर्तिनि, दृ० ४ उ० । चित्रस्वभावानां प्राणिनां गुणान्तराधानधियाऽनुवृत्तिशाले, शिष्याणामनुवर्तनया प्रवाजनायोग्ये गुरौ, ध० ३ अधि० । “आगारङ्गितोहिं, णातुं हियय-त्थितं उवविहेति । गुरुवयणं अनुलोमे, एसो अणुवत्तओ नाम ” पं० व० २ द्वा० । अनुलोममविपरीतमित्यर्थः । पं० चू० । (अनुवर्तकस्य व्याख्या द्वि० भा० ३०५ पृष्ठे ‘आयरिय’ शब्दे वक्ष्यते) अणुवत्तणा-अनुवर्तना-स्त्री० । शिष्यानुपालनायाम्, पं० व० १ द्वा० ।

चन्धमेव । अन्तर्ध्यातेः साध्यमंसिद्धशक्तौ, याज्ञवल्क्येणनं च-
न्धमेव" ॥१॥ मत्पुत्रोऽयं बहिर्द्विकि, पञ्चरूपस्वरान्यथानुपपत्तेः, इ-
त्यत्र बहिर्द्विर्वाह्यनावेऽपि गमकत्वस्य 'स इयामः, ननुप्रत्यात्, इत-
रन्तर्पुत्रवत्, इत्यत्र तु तद्भावेऽप्यगमकत्वस्योपलब्धेर्गिति ॥ ३७॥
रत्ना० ३ परि० (धर्मिणं साध्यत्रेकान्तवादी साध्यम्यतो वैधर्म्यत-
श्च न शक्नोतीति 'अणुगंतव्य' शब्देऽथैव भोगवक्ष्यते) अनुमितं
साध्याविनाभूतहेतुजन्यत्वेनाऽप्युपचाराद् हेतुविशेषे, स्थ. ४३० ३
उ० । ननु शिङ्गप्रदहणं संबन्धस्मरणान्त्यामनुपपन्नान्मानमनुमानम्,
शिङ्गजं ज्ञानमुच्यते । कथं लिङ्गमवानुमानमिति चेत् ? सत्यम्,
किन्तु कारणं कार्योपचारादप्यनुमानम् । यथा-प्रत्यक्षज्ञान-
जनको यदोऽपि प्रत्यक्ष इति । धिरो० दृष्टान्ते, आकाशपटानु-
मानादत्राऽनुमानशब्दो दृष्टान्तवचनः । दशा० १ अ० ।

अणुमाणइत्ता-अनुमान्य-अर्थ० । अनुमानं कृत्यर्थे, व्य० १
उ० । अणुनरापराधनिवेदनेन मृदुदण्डादित्यमाचार्यस्याकल-
न्येत्यर्थे, य० २ अधि० । अ० ।

अणुमाणगराकिय-अनुमाननिराकृत-वि० । अनुमानबाह्ये,
यथा नित्यः शब्दः । यस्तु दोषविषये विशेषे, स्या० १० उ० ।

अणुमाणाज्ञास-अनुमानाभास-पुं० । पक्षानासादिसमुत्थे ज्ञा-
नेऽप्यधार्थाऽनुमाने, रत्ना० ६ परि० ।

अणुमाय-अणुमात्र-वि० । स्तोत्रमात्रे, दश० ५ अ० २ उ० ।

अणुमिड-अनुमिति-स्त्री० । अनु-मा-क्तिच् । अनुमाने व्याप्तिवि-
शिष्टस्य पक्षधर्मताज्ञानार्थेनानुनयभेदे, अनुमोदने च । पति० ।

अणुमु (म्मु) क-अनुमुक्त-वि० । अविमुक्ते, प्रश्न० ४ आध० द्वा० ।

अणुमोडय-अनुमोदित-वि० । अनु-मुद-णिच् । कर्मणि कः । कृता-
ऽनुमोदने स्वानुमतत्वज्ञापनेन प्रोत्साहिते, " भयता यद् व्यय-
सितं तन्मे साध्यनुमोदितम् । प्रार्थमानोऽधिनो यत्र, ह्यर्था नैव
विधातिताः ॥ १ ॥ दानकालेऽथवा तूष्णीं, स्थितः सोऽर्थानुमो-
दितः " इति । उक्तेऽर्थे च, वाच० । यत् त्वया शनुहन्नादि-
कार्यं भव्यं कृतमित्यादिवदने, आनु० ।

अणुमोयग-अणुमोदक-वि० । दानस्य ग्रहणपरिमोहाज्यां प्र-
शंसके संप्रदाने, विशेषे ।

अणुमोयण (णा)-अनुमोदन (ना)-न०-स्त्री० । अ-
नुमतौ, पञ्चा० ५ विव० । भाव० । अनुज्ञाने, सूत्र० १ ध्रु० ८
अ० । प्रश्न० । आधार्कर्मप्रभृतिफलप्रशंसायाम्, अप्रतिषेधने
च । अप्रतिषिद्धमनुमतमिति विद्वत्प्रवादात् । पि० । " दण्डं ना-
णुजाणइ " इत्यंतं मानुजानाति । अनुमोदनेन तस्य वा दीयमा-
नस्याप्रतिषेधनेनाप्रतिषिद्धमनुमतमिति वचनात्कननप्रसङ्गजन-
नाच्च । आह च-" कामं सयं न कुम्बइ, जाणंतो पुण तहा वित-
ग्गादी । वट्टइ तप्पसंगं, अणियइमाणो उ चारेइ " ॥१॥ स्या० ७ एता० ।
जिनपूजादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशंसादिलक्षणायामनुमतौ, पञ्चा०
६ विव० ।

अणुमोयणकम्मजोयगप्पसंसा-अनुमोदनकर्मजोयगप्रशंसा-
स्त्री० । अनुमोदनादाधार्कर्ममोजकप्रशंसायाम्, अक्षतपुण्याः
सुखस्थिका पते, ये इत्थं सदैव लभन्ते यतेत्येवंरूपा । पि० ।
अणुयत्तणा-अनुवर्तना-स्त्री० । आनुकूल्याऽनुपघाते, जी० १
प्रति० । ग्दानोपचारे, वृ० १ उ० । (ग्लानस्याऽनुवर्तना ' नि-
त्ताण ' शब्दे कृष्ट्या)

अणुयत्तणाइजुत्त-अनुवर्तनादियुक्त-वि० । आनुकूल्याऽनुप-
घातसहिते, " अणुयत्तणाइजुत्तो, पासत्थारइसु ता खित्ते " जी०
१ प्रति० ।

अणुयत्तमाण-अनुवर्तमान-वि० । अनुगच्छति, विशेषे । " सह-
इह समत्थेइ य, कुणइ करावेइ गुरुजणाभिमयं । उंदमणुयत्त-
माणो, गुरुजणाराहणं कुणइ ॥ १ ॥ आ० म० प्र० ।

अणुयरिय-अनुचरित-न० । आसेविते, द्वा० १ ध्रु० १ अ० ।

अणुया-अनुज्ञा-स्त्री० । अनुमोदने, सूत्र० २ ध्रु० १ अ० ।

अणुयास-अनुकाश-पुं० । विकासप्रसरे, द्वा० १ ध्रु० १ अ० ।

अणुरंगा-अनुरङ्गा-स्त्री० । गन्ध्याम्, घंसिकायां च । " अ-
णुरंगाइ जाणे " वृ० १ उ० ।

अणुरंभिपल्लय-अनुरञ्जित-न० । अनु-रञ्ज-क । प्राकृते
स्वार्थिक इन्द्रकप्रत्ययः । संप्रदायक्रमरञ्जिते, जं० ३ वक्त० ।

अणुरत्त-अनुरक्त-वि० । अनुरज्ये, औ० । आनु० । अत्यन्त-
स्नेहनाजि, उत्त० १४ अ० । द्वा० । अनुरागवत्याम्, म० १५
श० ६ उ० । पतिरक्तार्या भर्तारं प्रति रागवत्याम्, द्वा० १६
अ० । स्त्रियाम्, " अणुरत्ता अविरत्ता, इडे सहपरितरसक्य-
गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुजवमाणो विहर-
ति " अनुरक्ताऽविरक्ता अनुरज्या भर्तारि प्रतिकृते सत्यपि, न
विप्रियेऽपि विरक्ततां गतेत्यर्थः । औ० । वर्णवादिनि प्रतीकृते,
" अणुयत्ततां विससएण्डोऽज्जुत्तमपरिततो, इच्छति मत्थं
लज्जति साधु । जा तु अवाइज्जतो, ण कसली जइ ममे ण या एति ॥
सो होति अणुरत्तो " पं० ज्ञा० ।

अणुरत्तलोयणा-अनुरक्तलोचना-स्त्री० । उज्जयिनीपुरीश्व-
रस्य देवज्ञानुतस्य राक्षोऽप्रमहिष्याम्, आ० क० । भाव० ।

अणुरसिय-अनुरसित-न० । शब्दायिते, द्वा० ६ अ० ।

अणुराग-अनुराग-पुं० । अनु-रञ्ज-घञ् । प्रीतिविशेषे, आ०
परस्परस्यात्यन्तिफ्यां प्रीतिमत्याम्, वृ० १ उ० । (त्रिवि-
धोऽभिप्लवङ्गरूपः, तद्यथा-दृष्ट्यनुरागो, विषयाऽनुरागः, स्नेहा-
नुरागश्चेति ' राग ' शब्दे वक्ष्यते) विशेषे । यथावस्थितगुणो-
त्कीर्तने तदनुकूपोपचारलक्षणे तीर्थकरनामकर्मबन्धकारणे,
प्रव० १० द्वा० ।

अणुरागय-अन्वागत-वि० । अनु आ-गम्-रू । रेफ आ-
गमिकः । अनुरूपे आगमने, म० २ श० १ उ० ।

अणुरादा-अनुराधा-स्त्री० । अनुगता राधां विशास्त्राम् ।
वाच० । मित्रदेवताके नक्षत्रभेदे, अनु० । जं० । स्था० ।
" अणुराहाणकत्ते चउतारे " पं० सं० । सू० प्र० । ज्यो० ।
(' यक्लत्त ' शब्देऽस्यास्तत्त्वं व्याख्यास्यामः)

अणुरुक्त-अनुरुक्तमान-वि० । अनु-रुक्-यक्-शानच् ।
प्राकृते " समनुपाद् रुधेः " ॥८॥ २४८ ॥ इति छनोः परस्य
रुधेः कर्मभावे ज्ञो वा । अपेक्ष्यमाणे, प्रा० ।

अणुरंधिजंत-अनुरुध्यमान-वि० । अनु-रुध्-यक्-शानच् ।
अपेक्ष्यमाणे, प्रा० ।

सम्प्रत्यविरुद्धानुपलब्धेर्निषेधसिद्धौ प्रकारसंख्यामाख्यान्ति-
तत्राऽविरुद्धानुपलब्धिप्रतिषेधाऽवबोधे सप्त प्रकाराः ॥६४॥

अमूनेव प्रकारान् प्रकटयन्ति-

प्रतिषेधेनाऽविरुद्धानां स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वचरो-
त्तरचरसहचराणामनुपलब्धिः ॥६५॥

एवं च स्वभावानुपलब्धिः, व्यापकानुपलब्धिः, कार्यानुपलब्धिः,
कारणानुपलब्धिः, पूर्वचरानुपलब्धिः, उत्तरचरानुपलब्धिः,
सहचरानुपलब्धिश्चेति ॥ ६५ ॥

क्रमेणामूदाहरन्ति-

स्वभावाऽनुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्र भूतले कुम्भ उपल-
ब्धिद्वक्वणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्याऽनुपलम्भात् ॥६६॥

(उपलब्धिद्वक्वणप्राप्तस्येति) उपलब्धिर्ज्ञानम्; तस्य लक्षणानि
कारणानि चक्षुरादीनि, तैर्हर्षुपलब्धिर्लभ्यते जन्यत इति या-
वत् । तानि प्राप्तः; जनकत्वेनोपलब्धिकारणान्तर्भावात्स तथा
दृश्य इत्यर्थस्तस्याऽनुपलम्भात् ॥ ६६ ॥

व्यापकाऽनुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्र प्रदेशे पनसः, पादपाऽनु-
पलब्धेः ॥६७॥ कार्याऽनुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्राऽप्रतिहतश-
क्तिकं बीजमङ्कुराऽनवलोकनात् ॥६८॥

अप्रतिहतशक्तित्वं हि कार्यं प्रति अप्रतियुक्तसामर्थ्यत्वं
कथ्यते । तेन बीजमात्रेण न व्यभिचारः ॥ ६८ ॥

कारणानुपलब्धिर्यथा-न सन्त्यस्य प्रशमप्रभृतयो भावा-
स्तत्त्वार्थश्रद्धानाऽज्ञावात् ॥६९॥

(प्रशमप्रभृतयो भावा इति) प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्ति-
क्यलक्षणजीवपरिणामविशेषाः । तत्त्वार्थश्रद्धानां सम्यग्दर्शनं
तस्याऽभावः । कुतोऽपि देवद्वयजङ्गमादः पापकर्मणः सका-
शात्सिद्धौस्तत्त्वार्थश्रद्धानकार्यचूतानां प्रशमादीनामभावं गम-
यति ॥ ६९ ॥

पूर्वचराऽनुपलब्धिर्यथा-नोद्वमिष्यति मुहूर्तान्ते स्वातिन-
क्षत्र, चित्रोदयादर्शनात् ॥ १०० ॥ उत्तरचराऽनुपलब्धिर्य-
था-नोदगमत्पूर्वजछपदामुहूर्तात्पूर्ववृत्तरजछपदोद्गमाऽनवग-
मात् ॥ १०१ ॥ सहचराऽनुपलब्धिर्यथा-नास्त्यस्य सम्य-
ग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनाऽनुपलब्धेः ॥ १०२ ॥

इयं च सप्तधाऽप्यनुपलब्धिः साक्षादनुपलब्धमन्त्रद्वारेण परस्पर-
या पुनरेया संज्ञवन्त्यत्रैवान्तर्भावनीया । तथाहि-नास्त्येका-
न्तनिरन्वयं तत्त्वम्, तत्र क्रमाऽक्रमाऽनुपलब्धेरिति या कार्यव्याप-
कानुपलब्धिः, निरन्वयतत्त्वकार्यस्यार्थक्रियारूपस्य यद् व्यापकं
क्रमाऽक्रमरूपं तस्यानुपलब्धसंज्ञावात्, सा व्यापकानुपलब्ध्यावेव
प्रवेशनीया । एवमन्या अपि यथासंज्ञवमास्वेव विशन्ति ॥१०२॥
विरुद्धाऽनुपलब्धि विधिसिद्धौ जेदतो ज्ञायन्ते-

विरुद्धाऽनुपलब्धिस्तु विधिप्रतीतौ पञ्चधा ॥ १०३ ॥

तानेव जेदानाहुः-

विरुद्धकार्यकारणस्वभावव्यापकसहचरानुपलम्भभेदा-
त् ॥ १०४ ॥

विधेयेनाऽर्थेन विरुद्धानां कार्यकारणस्वभावव्यापकसहचरा-
णामनुपलम्भा अनुपलब्ध्यस्तैर्भेदो विशेषस्तस्मात् । ततश्च वि-

रुद्धकार्यानुपलब्धिः, विरुद्धकारणानुपलब्धिः, विरुद्धस्वभावाऽनु-
पलब्धिः, विरुद्धव्यापकाऽनुपलब्धिः, विरुद्धसहचराऽनुपलब्धि-
श्चेति ॥१०४॥

क्रमेणैतासामुदाहरणान्याहुः-

विरुद्धकार्यानुपलब्धिर्यथा-शरीरिणि रोगातिशयः
समस्ति, नीरोव्यापाराऽनुपलब्धेः ॥ १०५ ॥

विधेयस्य हि रोगातिशयस्य विरुद्धमारोग्यम्, तस्य कार्यं वि-
शिष्टो व्यापारः । तस्यानुपलब्धिरियम् ॥१०५॥

विरुद्धकारणानुपलब्धिर्यथा-विद्यतेऽत्र प्राणिनि कष्टमिष्ट-
संयोगाऽज्ञावात् ॥ १०६ ॥

अत्र विधेयं कष्टम्, तद्विरुद्धं सुखम्, तस्य कारणमिष्टसंयोगः,
तस्यानुपलब्धिरेया ॥१०६॥

विरुद्धस्वभावाऽनुपलब्धिर्यथा-वस्तुजातमनेकान्तात्मक-
मेकान्तस्वभावाऽनुपलम्भात् ॥ १०७ ॥

वस्तुजातमन्तरङ्गो बहिरङ्गश्च विश्ववर्त्तिपदार्थसार्थः । अम्य-
ते गम्यते निश्चीयते इत्यन्तो धर्मः, न एकोऽनेकः अनेकश्चासा-
वन्तश्चानेकान्तः; स आत्मा स्वभावो यस्य वस्तुजातस्य तदने-
कान्तात्मकम्; सदसदाद्यनेकधर्मात्मकमित्यर्थः । अत्र हेतुः एका-
न्तस्वभावस्य सदसदाद्यन्यतरधर्मावधारणस्वरूपस्यानुपल-
म्भादिति । अत्र विधेयेनानेकान्तात्मकत्वेन सह विरुद्धः सदाद्ये-
कान्तस्वभावः, तस्यानुपलब्धिरसौ ॥१०७॥

विरुद्धव्यापकाऽनुपलब्धिर्यथा-अस्त्यत्र वाया औण्या-
ऽनुपलब्धेः ॥ १०८ ॥

विधेयया वायया विरुद्धस्तापः तद्व्यापकमौष्ण्यम्, तस्या-
ऽनुपलब्धिरियम् ॥ १०८ ॥

विरुद्धसहचरानुपलब्धिर्यथा-अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानं, स-
म्यग्दर्शनाऽनुपलब्धेः ॥ १०९ ॥

विधेयेन मिथ्याज्ञानेन विरुद्धं सम्यग्ज्ञानं, तत्सहचरं सम्यग्-
दर्शनं, तस्याऽनुपलब्धिरेया ॥१०९॥ रक्षा० ३ परि० ।

अथाऽनुपलब्धेः प्रामाण्यविचारः-

यदपि- " प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः ", प्रमाणाभाव उच्यते ।
साऽत्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि " ॥ १ ॥
(सेति) प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिः आत्मनो घटादिग्राहकतया
परिणामाभावः प्रसज्यपक्षे । पर्युदासपक्षे पुनरन्यस्मिन् घट-
विविक्तताऽऽख्ये वस्तुन्यभावे घटो नास्तीति विज्ञानमित्यभाव-
प्रमाणमभिधीयते । तदपि यथासंभवं प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतमेव ।
तथाहि- " गृहीत्वा वस्तुसद्भावं, स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तितोऽज्ञानं, जायतेऽज्ञानपेक्षया ॥१॥ " इतीयमज्ञा-
नप्रमाणजनिका सामग्री । तत्र च भूतत्वादिकं वस्तु प्रत्यक्षेण
घटादिभिः प्रतियोगिभिः संसृष्टमसंसृष्टं वा गृह्यते ? नाद्यः पक्षः ।
प्रतियोगिसंसृष्टस्य चूतलादिवस्तुनः प्रत्यक्षेण ग्रहणे तत्र प्रति-
योग्यज्ञावग्राहकत्वेनाऽभावप्रमाणस्य प्रवृत्तिविरोधात् । प्रवृत्तौ
वा न प्रामाण्यम्, प्रतियोगिनः सत्त्वेऽपि तत्प्रवृत्तेः । द्वितीयपक्षे-
त्वभावप्रमाणवैयर्थ्यम्, प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनां कुम्भादीनामभा-
वप्रतिपत्तेः । अथ न संसृष्टं नाऽप्यसंसृष्टं प्रतियोगिभिर्भूतला-
दिवस्तु प्रत्यक्षेण गृह्यते, वस्तुमात्रस्य तेन ग्रहणाज्युपगमा-
दिति चेत् ? तदपि दुष्टम् । संसृष्टत्वाऽसंसृष्टत्वयोः परस्परप-
रिहारस्थितिरूपत्वेनैकनिषेधे अपरविधानस्य परिहर्तुमशक्य-

अणुवृत्ति-अनुवृत्ति-स्त्री० । इक्षितादिना गुह्यचित्तं विज्ञाय त-
दाऽऽनुकूल्येन प्रवृत्तौ, विशेष० । आ० म० द्वि० ।

अणुवृत्तोज्ज-अनुपभोज्य-त्रि० । साधूनामुपभोक्तुमयोग्ये, वृ०
३ उ० ।

अणुवृत्त-अनुपम-त्रि० । उपमारहिते, आव० ५ अ० । न त्रिचते
उपमा शरीरसन्निवेशसौन्दर्यादितिगुणैर्यस्य तदनुपमम् । पो०
१५ विव० ।

अणुवृत्तसिरिय-अनुपमश्रीक-त्रि० । निरुपमदेहकान्तिकल्पिते,
आ० म० प्र० ।

अणुवृत्ता-अनुपमा-स्त्री० । स्थायविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

अणुवृत्तमाण-अनुवदत्-त्रि० । पश्चाद् वदति, " आरंभद्वी
अणुवृत्तमाणे हणपाणे चायमाणे " (आचा० १ शु० ६ अ०
४ उ०) " असीत्वा अणुवृत्तमाणस्स वितिथा " अनुवदतोऽनु-
पमवदतः पृष्ठतोऽपृष्ठतोऽपवदतोऽन्येन वा मिथ्यादृष्ट्यादिना
कुशीला इत्येवमुक्तेऽनुवदतः पार्श्वस्यादेः । आचा० १ शु० ६
अ० ४ उ० ।

अणुवृत्त-अनुपत्-त्रि० । आविरते, स्था० २ डा० १ उ० ।
पापानुष्ठानेऽन्योऽनवृत्ते, आचा० १ शु० ५ अ० १ उ० । अवि-
च्छिन्ने, स० ।

अणुवृत्तकायकिरिया-अनुपत्तकायक्रिया-स्त्री० । अनुपत्त-
स्याविरतस्य सावच्छाद् मिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेर्वाकायक्रियोक्ते-
मादिलक्षणा कर्मवन्धनमनुपत्तकायक्रिया । कायिक्याः क्रिया-
या भेदे, न० ३ शु० ३ उ० ।

अणुवृत्तपदरु-अनुपत्तपदरु-पुं० । मनोवाक्यायलक्षणवदरु,
द्विर्विरे, आचा० १ शु० ४ अ० १ उ० ।

अणुवृत्त-अनुपरोध-पुं० । अभ्यापादने, " प्रायोऽन्याऽनुपरोधेन
क्षय्यन्तानं तदुच्यते " । अप्रतियेधे च, घ० १ अधि० ।

अणुवलङ्घि-अनुपलङ्घि-स्त्री० । उप-लङ्घ-किञ् । न० त० ।
लामाऽभावे, प्रत्यक्षाऽजावे च । वाच० ।

सा च—

दुविहा अणुवलङ्घीओ । सओ असओ य ।

स्तरसंगस्स वीतीया, सओ वि दूराइजावओऽजिहिया ।

सुहमा सुत्तत्तणओ, कम्माणुगयस्स जीवस्स ॥ ? ॥

सा च अनुपलङ्घिरेका असतो भवति, यथा—स्तरगृहस्य ।
द्वितीया तु सतोऽप्यर्थस्य भवति । कुत इत्याह—(दूरादिमा-
वादिति) दूरात् सन्नप्यर्थो न दृश्यते, यथा—स्वर्गादिः १ । आ-
दिशब्दादतिसंनिकर्षादतिसौहम्यान्मनोऽनवस्थानादिन्द्रियापा-
दंवात्मतिमान्यादशक्यत्वादावरणादभिभवत्सामान्यादनुपयो-
गादनुपायाद्विस्मृतेरुपरागमान्मोहाद् भिदृशनाद्विकारादक्रियातोऽ-
नधिगमात्कालविप्रकर्षात्स्वभावविप्रकर्षाच्चेति । तच्चाऽतिसञ्चि-
कर्षात्सन्नप्यर्थो नोपलभ्यते । यथा—नेत्रदूषिकापद्मादिः २ । आति-
सौहम्यात्परमाणादिः ३ । मनोऽनवस्थानात्सतोऽप्यनुपलङ्घिः,
यथा नष्टचेतसामर्था इन्द्रियापाटवात् किञ्चिद् बधिरादीनाम् ५ ।
मतिमान्धादनुपलङ्घिः, सतामपि सूक्ष्मशालार्थविशेषाणाम्

६ । अशक्यत्वात्स्वकर्णकृकाटिकामस्तकपृष्ठादीनाम् ७ । आवर-
णाद् वस्त्रादिस्थगितलोचनायाः, कटकुट्यावृतानां च ८ । अजिज्ञ-
वात्सृगसुरतेजसि दिवसे तारकाणां ९ । सामान्यात्सुपल-
ङ्घितस्यापि मापादेः समानजातीयमापादिराशिपतितस्याऽप्र-
त्यभिज्ञानात्सतोऽप्यनुपलङ्घिः १० । अनुपयोगादूपोपयुक्तस्य
शेषविपण्याणाम् ११ । अनुपायाच्छान्यादिभ्यां गोमहिष्यादिपयः-
परिमाणजिज्ञासोः १२ । विस्मृतः पूर्वोपलङ्घस्य १३ । दुरागमाद्
दुरुपदेशात्तत्प्रतिरूपकरीतिकादिविप्रलम्बितमतेः कनकादीनां
सतामप्यनुपलङ्घिः १४ । मोहात्सतामपि जीवादितत्त्वानाम् १५ ।
विदृशनात्सर्वथाऽन्यादीनाम् १६ । वार्त्तक्यादिविकाराद्वहुशः
पूर्वोपलङ्घस्य सतोऽप्यनुपलङ्घिः १७ । अक्रियानो भूखनना-
दिक्रियाऽन्यावाद् वृक्षमूलादीनामनुपलङ्घिः १८ । अनधिगमा-
च्छास्त्राभ्रवणात्तदर्थस्य सतोऽप्यनुपलङ्घिः १९ । काष्ठविप्रकर्षा-
द् दूतमविष्यद्वधमदेवपन्नानमतीर्थकरादीनामनुपलङ्घिः २० ।
स्वभावविप्रकर्षाच्चन्द्रपिशाचादीनामनुपलङ्घिः २१ । तदेवं
सतामप्यर्थानामेकविंशतिविधाऽनुपलङ्घिः । विशेष० आ० चू० ।

त्रिविधा वा, अत्यन्ताद् सामान्यादविस्मृतेश्च—

अचंता सामन्ना, य विस्मृत्ती होइ अणुवलङ्घी तु ।

अनुपलङ्घिरेव त्रिधा भवति । तद्यथा—अत्यन्तादकोन्तनानुप-
लङ्घिः । सामान्याद्विस्मृतेश्च ।

तत्र प्रथमतोऽत्यन्तानुपलङ्घिमाह—

अत्यस्स दरिसणम्मि वि, लङ्घी एगंततो न संभवइ ।

दहुं पि न जाणंतो, बोहियपंका फणससच्च् ॥

अर्थस्य दर्शनेऽपि कस्यचित्सदर्थविषया लङ्घिरेकान्ततो न
संभवति । तथा च बोधिकाः पश्चिमदिग्गतितो ग्लेच्छाः पन-
सं इष्ट्वाऽपि ' पनस ' इत्येवं न जानते ; तेषां पनसस्याऽत्यन्त-
परोक्षत्वात् । न हि तद्देशे पनसः संभवति । तथा पयसाः मधु-
रावासिनः सकृन् इष्ट्वाऽपि ' सकवोऽमी ' इति न जानते, तेषां हि
सकवोऽत्यन्तपरोक्षाः । ततो न तद्दर्शनेऽपि तदङ्गराज्ञः ॥

संप्रति सामान्यतदनुपलङ्घिमाह—

अत्यस्मृगगदम्मि वि, लङ्घी एगंततो न संभवइ ।

सामन्ना बहुमज्जे, मासं पकियं जहा दहुं ॥

अर्थस्यावग्रहेऽपि तदन्येनाऽर्थेन सामान्यात् सादृश्यादेका-
न्ततो लङ्घिरक्षरलङ्घिर्न संभवति । यथा बहुमध्ये पतितं
मापं इष्ट्वाऽपि तदन्येन सामान्याच्च तदक्षरं लभते ।

विस्मृतेरनुपलङ्घिमाह—

अत्यस्सऽपि उवदंभे, अकत्तरलङ्घी न होइ सव्वस्स ।

पुणोवदंभपत्ते, जस्स उ नामं न संसरइ ॥

अर्थस्य पूर्वं पश्चाच्चोपलक्ष्येऽपि सर्वस्याऽक्षरलङ्घिस्तद्विष-
याऽक्षरलङ्घिर्न संभवति । कस्य न भवतीत्यत आह—यस्यार्थे
विवक्षार्थविषयं पूर्वोपलङ्घं नाम न संसरति । तदेवमुक्ता
त्रिविधाऽप्यनुपलङ्घिः । वृ० १ उ० । विशेष० ।

सम्प्रत्यनुपलङ्घि प्रकारतः प्राहुः—

अनुपलङ्घेरपि द्वैरूप्यम्, अविस्मृद्वानुपलङ्घिर्विस्मृताऽनुप-
लङ्घिश्च ॥ ६३ ॥

अविस्मृत्स्य प्रतिषेधेनार्थेन सह विरोधमप्राप्तस्यानुपल-
ङ्घिराविस्मृताऽनुपलङ्घिः । एवं विस्मृताऽनुपलङ्घिरपि । ६३ ॥

अनुपध-त्रि० । ज्ञावत उपधाऽयुक्ते, पं० सं० २ द्वा० ।

अणुवहय-अनुपहत-त्रि० । न० त० । अग्न्यादिभिरविध्व-
स्ते, पि० ।

अणुवहयविधि-अनुपहतविधि-पुं० । अनुत्पन्नमुत्पाद्य दाने,
शुभमिदं च तस्य अन्यस्य गुरुननुज्ञाप्य दाने वा । अनुपहतविधि-
र्यदनुत्पन्नमुत्पाद्य ददाति । अन्ये तु व्याचक्रते-यत्पुनस्तस्य शुभमि-
दं च तत्सोऽन्यस्य गुरुननुज्ञाप्य ददाति "अणुवहियं जं तस्स
उ, दिन्नं तं देह सो उ अन्नस्स" यत्तस्य दत्तं सोऽन्यस्य गुरुन-
नुज्ञाप्य ददाति । क्रमाश्रमणैस्तुच्यमिदं दत्तमित्येपोऽनुपहतवि-
धिः । व्य० १ उ० ।

अणुवहास-अनुपहास-त्रि० । अविद्यमानोपहासे, पञ्चा० ६
वि० ।

अणुवहुआ-देशी०-नववध्वाम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुवाइ(ण्)-अनुपातिन्-त्रि० । अनुपतत्यनुसरतीत्येवंशीलः ।
स्था० ६ उ० । योग्ये, " अणुवाइ सव्वसुत्तस्स " पं० व० २
द्वा० । अनुवदितुं शीलमस्येत्यनुवादी । अनुवादशीले, सूत्र० १
श्रु० १२ अ० ।

अणुवाएज्ज-अनुपादेय-त्रि० । हेये अग्रहीतव्ये, आ० म० द्वि० ।

अणुवाणहय-अनुपानत्क-त्रि० । न विद्येते उपानहौ यस्य
सोऽयमनुपानत्कः । उपानहोरधारके, पो० १ वि० ।

अणुवाय-अनुताप-पुं० । संयोगे, भ० १२ श० ४ उ० ।

अनुपात-पुं० । अनुसरणे, प्रज्ञा० १७ पद । अनुपतनमनु-
पातः । शब्दोच्चारणरूपानुदर्शनादौ, उपा० १ अ० ।

अनुवात-पुं० । आध्यायकविवक्षितपुरपाणामनुकूले वाते,
जं० १ व० । रा० । अनुकूलो वातो यत्र देशे सोऽनुवातः ।
यस्माद् देशाद् वायुरागच्छति तत्र, भ० १६ श० ६ उ० ।

अनुवाद-पुं० । विधिप्राप्तस्य वाक्याऽन्तरेण कथने, वाच० ।
"द्वादश मासाः संवत्सरोऽग्निरुष्णोऽग्निर्हिमस्य मेपजम्" इत्या-
दीनि तु वेदवाक्यान् अनुवादप्रधानानि, लोकप्रसिद्धस्यैवार्थ-
स्यैतेष्वनुवादात् । विशेष० ।

अणुवायवाय-अनुपायवाद-पुं० । पष्ठे मिथ्यात्ववादे, नयो० ।

अणुवालय-अनुपालक-पुं० । आजीविकोपासकभेदे, भ० २४
श० २० उ० ।

अणुवास-अनुवास-पुं० । वर्षावासे अनुवन्दे वा उपित्वा पुन-
स्तत्रैव पश्चाद् वसने, अशिवादिकारणेषु वृद्धादिवासे वा
वसने च । तत्र कल्पः—

.....अहुणा अणुवासणाकप्यं तु ।

बोच्छामि गुरुवदेसा, अणुगहद्वा सुविहियाणं ॥

अणुवासम्मि तु कप्पो, पन्नवग पनुच्च बहुविहा अत्था ।

अणुवासणप पगतं, सुप्पा य तहा असुद्धा य ॥

अणुवासत्थो बहुहा, उज्जासे वण अहव असिवादि ।

बुद्धादी वासो वा, अहवा अणुवसणमणुवासो ॥

वसितं पुणो वि वसती, अणुवासिगवसाहिममङ्गीसण्हा ।

तीयहिगारो एत्थं, सा होज्जा सुद्धऽमुप्पो वा ॥

पट्ठीवंसादीहिं, वंसगकरणादिपहिं तह चेव ।

होति असुप्पा वसही, मूळगुण उच्चरगुणे य तहा ॥

कालप्पुयातिरित्तं, अविमुप्पासु च तासु वसमाणो ।

पावति पायच्छित्तं, मोत्तूणं कारणमिमोहिं ॥

असिवे ओमोयरिण, रायदुट्ठे भए व आगाढे ।

गेझण्ह उत्तमट्ठे, चरित्तसज्जातिए असती ॥

वाहिं सव्वत्थ सिवं, तेण सया काळदुयगम्मि ।

पुणो वि य णहु णिगुच्छे, अणुपच्छा जाव अणुवासी ॥

आल्लवणे विसुद्धे, सुप्पदुत्तं परिहरे पयत्तेण ।

आसज्ज तु परिभोगं, भयणा पडिसेवसंकमणे ॥

असिवादीहिं वसतो, सुद्धाए वसहीए वसे साहू ।

सुप्पासतीए जतती, विसोहिकोनीए पुव्वं ति ॥

जयणत्ती जं जणितं, पुव्वत्ताए तु जेतु जे दोसा ।

ते ते पुव्वं सेवे, कम्मणो वी इमा जयणा ॥

अप्पावहं तु छेउं, जत्थ गुणा तू भवेज्ज बहुतरगा ।

गच्छं गच्छंताण व, तं चेव तहिं करेज्जा तु ॥

असिवादिनिट्ठिए पुण, अव्वक्खेवेण संकमे तत्तो ।

सत्थं तु पन्निच्छंतो, जइ अत्थे तत्थ सुप्पो तु ॥

एतं णयरविहूणं, अणुवासियं जेतु अणिवसे कप्पं ।

कालप्पुयावराहे, संवद्धितमोऽवराहाणं ॥

संवद्धितावराहे, तवावडेदो तहव मूलं वा ।

आयारपक्कपे जं-पमाणेमाण चरमम्मि ॥

अणुवासियाए कप्पो, एमे सो वसितो समासेणं । पं० जा० ।

इयानि अणुवासकप्पो-तत्थ(गाहा)[अणुवासम्मि उ]अणुवासो
नाम वासावासो उवन्दे वा वसित्ता नत्थेव अणुवसह, उवन्दे
मासदुद्वासे चउद्वाहु । तत्थ पुण बहुविहा सुत्तथा । जहा पत्थे
व कप्पे णिए मासकप्पसुत्ते पत्थ पुण अहिगारो अणुवासिज्ज-
तीति । अणुवासिया का पुण सा?, वसही सुद्धा य, असुद्धा य ।
असुद्धा पट्ठीवं सोवंसगकरणो वंठणादि (गाहा) [असिवे] अ-
सिवाइसु कारणेसु असुद्धाए वि वसति रायदुट्ठे कोप्परपट्ठी वा
सोयाणि वा तत्थ तत्थि जाणि वाहिरपहिं केत्तेहिं संजयाणि
दोसकरणाणि जए व बोधिगादिसु गेलसुउत्तिमठे चरित्त इत्थि-
दोस एसणा दोसा असज्जाए वा असइ वा गुणाणं जे तम्मि
वसहीए (गाहा) [आल्लवणे] एव आल्लवणविसुद्धे सत्तज्जए परि-
हरेज्जा जुत्तेण परिभोगं पुण मासज्ज गुणपरियाट्ठित्ति जणियं होइ
जणिया पडिसेहसंकमणे गुणबुद्धिनिमित्तं अच्छेज्जा न सक्केज्जा
असं वसहि केत्तं वा एप्पसु पुण कारणेसु विणासो अणुवास्सि-
यं परिवसइ तस्स संवद्धियावराहे, एस अणुवासणाकप्पो ॥
पं० चू० ।

.....अहुणा बोच्छं अणुवासणाकप्यं ।

अणुवासमासकप्पो, वासावासो इमेसुं तु ॥

जिण्णेर अहलंदे, परिहारितअज्जमासकप्पो तु ।

त्वादिति । सदसद्रूपवस्तुग्रहणप्रवणेन प्रत्यक्षेणैवायं वेद्यते । कश्चित् तु तदघटं चूतमिति स्मरणेन, तदेवेदमघटं भूतलमिति प्रत्यक्षिज्ञानेन, योऽग्निमात्रं न भवति नासौ धूमवानिति तर्केण, नात्र धूमोऽनन्तेरित्यनुमानेन, गृहे गर्गो नास्ति इत्यागमेनाभावस्य प्रतीतिः, अत्राऽभावप्रमाणं प्रवर्तताम् ? । रत्ना० २ परि० । अर्थस्यासन्निकृष्टस्य सिद्ध्यर्थं प्रमाणान्तराप्रमानावमभावाख्यं वर्णयन्ति । तथाऽपरे-अभावोऽपि प्रमाणाऽभावो नास्तीति, अर्थस्यासन्निकृष्टस्येति वचनात् । अन्ये-पुनरभावाख्यं प्रमाणं त्रिधा वर्णयन्ति । प्रमाणपञ्चकाऽभाववृत्तयोऽनन्तरोक्तो नावः । प्रतिषिध्यमानाद्वा, तदव्यञ्जानमात्रा वा, विषयरूपेण तद्विबुध-स्वभाव इत्यनेन च भावप्रमाणेन, प्रदेशादौ घटादीनामभावो गम्यते । तदुक्तम्-

“प्रमाणपञ्चकं यत्र, वस्तुरूपेण जायते ।
वस्तुसत्ताऽवबोधार्थं, तत्राऽज्ञावप्रमाणता ॥ १ ॥

प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते ।
सात्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि ॥ २ ॥

न च प्रत्यक्षेणैवाभावोऽवसीयते, तस्याज्ञावविषयत्वविरोधात् । भावांशेनैवेन्द्रियाणां संयोगात् । तदुक्तम्-“न तावद्विच्छिद्येणैषा, नास्तीत्युत्पद्यते मतिः । जावांशेनैव संवेद्या, योग्यत्वादिच्छिद्यस्य हि” ॥ १ ॥ नाऽप्यनुमानेनासौ साध्यते, हेत्वभावात् । न च प्रदेश एव हेतुः, तस्य साध्यधर्मित्वेनाभ्युपगमात् । न चैवमपि हेतुः प्रतिज्ञा, अर्थकदेशताप्राप्तेः । न च प्रदेशविशेषो धर्मस्तत्सामान्यहेतुः, तस्य घटाऽज्ञावप्यभिचारात् । न हि सर्वत्र प्रदेशघटाभावः शक्यः साध्ययितुम्, सघटस्यापि प्रदेशस्य संज्ञवात् । अथ घटाऽनुपपन्न्या प्रदेशे धर्मिणि घटाऽभावः साध्यते । असदेतत् । साध्यसाधनयोः कस्यचित् संवन्धस्याभावात् । तस्मादभावोऽपि प्रमाणान्तरमेव । न चाऽभावस्य तद्विषयस्याभावादज्ञावप्रमाणान्तरवैयर्थ्यम् । प्रागभावादिभेदेन चतुर्विधस्य वस्तुरूपस्याऽज्ञावस्य भावात् । अन्यथा कारणादिविभागतो व्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसङ्गात् । “न च स्याद् व्यवहारोऽयं, कारणादिविभागतः । प्रागभावादिभेदेन, नाऽज्ञावो यदि निश्चयते” ॥ १ ॥ अज्ञावस्य च प्रागभावादिभेदाऽन्यथानुपपत्तेरप्यापत्या वस्तुरूपताऽवसीयते । तदुक्तम्-“न चावस्तुन पते स्युः, सदा तेनाऽस्य वस्तुता । कार्यादीनामभावः स्या-दित्येवं कारणं विना” ॥ १ ॥ इति । अनुमानप्रमाणाऽवसेया वाऽभावस्य वस्तुरूपता । यदाह “यद्वाऽनुवृत्तिव्याघृष्टि-शुक्तिप्राप्तौ यतस्त्वयम् । तस्माद् गवादिबद्धं वस्तु, प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम्” ॥ १ ॥ अभावस्य चतुर्धा व्यवस्था-प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, इतरेतराभावः, अत्यन्ताभावश्चेति । तत्र-

“क्षीरे दध्नादि यत्रास्ति, प्रागभावः स उच्यते ।
नास्तिता पयसो दधि, प्रध्वंसाभावलक्षणम् ॥ १ ॥
गवि योऽभ्याद्यभावस्तु, सोऽन्योऽन्यज्ञाव उच्यते ।
शिरसोऽवयवा निम्नाः, वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः ॥ २ ॥
शशे शृङ्गादिरूपेण, सोऽन्यन्ताभाव उच्यते” ।

यदि चैतद् व्यवस्थापकमभावाख्यं प्रमाणं न भवेत्, तदा प्रतिनियतवस्तुव्यवस्था दूरोत्सारितैव स्यात् । तदुक्तम्-

“क्षीरे दधि प्रवेदेवं, दधि क्षीरं घटे पटः ।
शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ, चैत्यन्यं मूर्तिरात्मनि ॥ १ ॥
अप्सु गन्धो रसस्त्राग्नौ, वायौ रूपेण तौ सह ।
व्योम्नि तु स्पर्शता ते च, न चेदस्य प्रमाणता” ॥ २ ॥

निरंशभावैकरूपत्वाद्वस्तुनस्तत्स्वरूपग्राहिणाऽध्यक्षेण तस्य सर्वात्मना ग्रहणादगृहीतस्य चापरस्यासदंशस्य तत्राज्ञावात् कथं तदव्यवस्थापनाय प्रवर्तमानमज्ञावाख्यं प्रमाणं प्रमाण्यं भूतमस्तु इति वक्तव्यम्, यतः सदसदात्मके वस्तुनि प्रत्यक्षादिना तत्र सदंशग्रहणेऽप्यगृहीतस्यासदंशस्य व्यवस्थापनाय प्रमाणाभावस्य प्रवर्तमानस्य न प्रामाण्यव्याहृतिः । तदुक्तम्-

“स्वरूपपररूपाभ्यां, नित्यं सदसदात्मके ।

वस्तुनि ज्ञायते किञ्चित्, रूपं कैश्चित् कदाचन ॥ १ ॥

यस्य यत्र यदोद्भूति-जिघ्रिका चोपजायते ।

वेद्यतेऽनुभवस्तस्य, तेन च व्यपदिश्यते ॥ २ ॥

तस्योपकारकत्वेन, वर्ततेऽंशस्त्वदेतर ।

उभयोरपि संचिन्त्यो-रुभयानुगमोऽस्ति तु ॥ ३ ॥

प्रत्यक्षाद्यवतारस्तु, भावांशो गृह्यते यदा ।

व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघ्रिकितः” ॥ ४ ॥

न च भावांशादभिन्नत्वादभावांशस्य तद्ग्रहणे तस्यापि ग्रह इति; सदसदंशयोर्धर्म्यभेदेऽपि भेदाऽभ्युपगमात् । उक्तं च-

“ननु भावादभिन्नत्वात्, संप्रयोगोऽस्ति तेन च ।

नह्यन्यत्वमभेदोऽस्ति, रूपादिवदिहापि न ॥ १ ॥

धर्मयोर्भेद इष्टोऽपि, धर्मं जेदेऽपि नः स्थिते ।

उद्भवाजिन्नत्वात्सत्त्वात्, ग्रहणं चावतिष्ठते” ॥ २ ॥ इत्यादि ।

तदेवमगृहीतप्रमेयाऽभावग्राहकत्वात् प्रमाणज्ञावस्य प्रमाणत्वम्, प्रत्यक्षादिष्वनन्तर्भावात् । प्रमाणान्तरत्वं च व्यवस्थितम् । सम्म० । (सम्मतितर्के ग्रन्थेऽस्मिन् विषये विशेषोऽन्येष्वप्यः)

अणुवलज्जमाण-अनुपलज्जमान-त्रि० । अदृश्यमाने, “अणु-वज्जमाणो धि सुहृदुक्खमाइएहि” दश० १ अ० ।

अणुववायकारग-अनुपपातकारक-त्रि० । उप समीपे पतनं स्थानमुपपातो हविष्यदेशावस्थानम्, तत्कारकस्तदनुष्ठाता तद्विज्ञो गुवादेशादिभोत्या तदव्यवहितदेशस्थायिमिन्नः गुरुणां हविष्ये स्थित्यकारकः, तस्मिन्, उच० १ अ० । अदृशमयादूरं तिष्ठति । उच० १ अ० ।

अणुवसंत-अनुपशान्त-त्रि० । उपशान्तो जितकपायः, न उपशान्तोऽनुपशान्तः । सकपाये, उच० १ ए अ० । उपशमप्रधाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । निर्विकारे, स्था० ।

अणुवसर्गत-अनुपशमयत्-त्रि० । अनुपशमं कुर्वति, व्य० १ उ० ।

अणुवसु-अनुवसु-पुं० । वसु रज्यं तद्भूतः कषायकालिकादिमलापगमाद् वीतराग इत्यर्थः । तद्विपर्ययेणाऽनुवसुः । सरागे, वसुः साधुः, अनुवसुः आवकस्तमिन्, “वीतरागो वसुर्ज्ञेयो, जिनो वा संयतोऽथवा । सरागोऽणुवसुः प्रोक्तः, स्थाविरः भावकोऽथवा” ॥ १ ॥ “वसु वा अणुवसु वा जाणिषु धम्मं जहा तथा” आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अणुवस्तिव्यवहारकारि(ण्)-अनुपश्रितव्यवहारकारिन्-त्रि० । निश्चा रागः, निश्चा संजाता अस्येति निश्चिता, न निश्चितोऽनिश्चिता, स चासौ व्यवहारश्च अनिश्चितव्यवहारः, तत्करणशीला अनिश्चितव्यवहारकारिणः । रागेण व्यवहारकारिणि, व्य० १ उ० ।

अणुवह-अनुपथ-अव्य० । पथः समीपे, अनुपथमेवास्मद्वसथो भवतां वसेत् । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

वासासु पगत्य चउम्मासो एवं परिहारियाणं वि जहा जिणाणं
णवरि आयंविद्येण मासो सव्वो वि डुविहो जिणकप्पो थेरक-
प्पो य, जिणअहाहंदिपरिहारविसुक्खियाणं जिणकप्पो अज्जाणं
थेराणं य थेरकप्पो गच्छपणियकअहाहंदिद्याणं आयरि-
याणं चेव सो विसत्तोग्गहो संजयणगीयत्थपरिमाहियाणं
अत्थि खेत्तं सो आयरियाणं चेव जिणकप्पो निरण्णमाहो
असिवादो कारणा नत्थि थेरकप्पो साण्णग्गहो असिवाइसु
कारणेषु कात्ताइए उउम्मि जिणाणं गुरुओ मासो दिणं दिणं
थेराणं बहुओ मासो दिणं दिणं तम्मि खेत्ते अत्थंताणं चउम्मा-
साइयं जिणाणं तम्मि चेव खेत्ते दिणं दिणं चउगुरुं थेराणं दि-
णे दिणे चउलहुं (गाहा) [तीसपयाऽवराहेति] सोलस उग्ग-
मदोसा, संजोयणाइं पंचदस एसणा दोसा, बारपरिवारीए
पन्नरस उग्गमदोसा पंच संजोयणमाइ तत्थ द्वा एसा वीसा
दस एसणा दोसा एए तीसपयाचराहेति तेसिं अहवा दिवसे
दिवसे अवराहो तीस दिणा मासो जग्गि आयज्जइ जयमाणो वि
अत्थंतो निक्कारणेतेण वग्गइ(गाहा) [वासावासपमाणं] वासावा-
सपमाणं च एयं आयारकप्पे भणियं तम्मि अइक्कंतो उग्गहकाले
अणुवसंतस्स अणुवासिया प्रवइ (गाहा) [दुविहे विहारकाले]
अइक्कंते अट्ठहिं मालेहिं अइपहिं वासं पणियज्जइ तत्थोवहो न
वेप्पइ वासे अइए वेप्पइ (गाहा) [वास उउ] एपसिं त्रियाणं जइ
वहुया एक्कम्मि खेत्ते त्रिया होज्जा वासासु उउम्मि वा अहाहं-
दि पंच दिवसा जाव साहरणा पुहुत्ते वा इरिचित्थि वा रुक्खदेहा
संकमणं एगो एगस्स मूले दस वेयाद्विअं उज्जुयारेइ तस्स पुण
दस वेयाद्वियं उज्जुयारेतस्स मूले अहो उत्तरज्जयणाणि
पदइ जं उत्तरज्जयणाइत्तो सच्चित्ताइ वग्गइ तं दसवे-
याद्वियाइ तस्स देइ दोसो उत्तरज्जयणं उज्जुयारेइ तस्स
मूले अओ वंमचेरे उज्जुयारेइ जाव विवागसुयं जहो-
त्तरपक्षिया सछाणं चेव एइ दसवेयाद्वियइत्तस्स अत्थेपुण एगो
एगस्स मूले आवासगाहाओ पदइ अओ पुण आवस्सकस्स
अत्थं कहेइ अत्थइत्तो वल्लिओ वा एगो दसवेयालियस्स सुत्ते
वाएइ एगो अत्थं कहेइ अत्थइत्तो वल्लिओ एगो उत्तरज्जयणा
वाएइ एगो अत्थं कहेइ अत्थइत्तो वल्लिओ एवं जाव विवाग-
सुयं सव्वत्थ अत्थो वल्लिओ एगो पन्नसिं वाएइ एगो दसवेया-
लियाइणं जाव कप्पव्ववहारणं अत्थं कहेइ अत्थइत्तो वल्लिओ-
एवं जाव विवागसुयं एगो कप्पव्ववहारे कहेइ एगो दिठ्ठिवाइसु-
त्ते वाएइ सुत्तइत्तो वल्लिओ सव्वत्थ पुव्वगयइत्तो वल्लिओ जत्थ
वा मंरली तिज्जइ हेट्ठिछाणं तत्थ पावइ सच्चित्ताइ ते पुण
एगाए वसहीए त्रिया पुप्फावाकिआ वा (गाहा) [सुत्तत्थ] अहवा
एगम्मि गामे एगो खारिओ सुत्तत्थविसारओ पुव्वठिओ तस्स
अन्ने पासे पढंति, तं च खेत्तं थोवं अपज्जत्ते भत्तपाणे द्वा वि
जणा पढंतपओ वेऊणं संजए विसज्जेति अणं खेत्तं माहे तेसिं
अन्नगामं गयाणं परोप्परस्स पढंतारणं तदेव संकमणछाणं सच्चि-
त्ताइ दव्वे जाव आवलिया सछाणगयंति (गाहा) [एसो उ] कात्त-
कप्पो निव्वाघापण वासासु चाउम्मासे उउम्मि अट्ठमासे कार-
णे पुण थेराणं जाहे अणुवासो प्रवइ जाव तं कारणं समत्तं
असिवाइ ताव अणुवासं ता वि जयंता सुद्धा, एस अणुवास-
कप्पो । ५० चू० ।

अणुवासग-अनुपासक-पुं० । न उपासकः श्रावकोऽनुपासकः ।
मिथ्यादृष्टौ, स च ज्ञातकोऽज्ञातकश्च, नायकोऽनायकश्चेति द्वि-

धा । “अणुवासगो वि नायगमनायगो य” एतस्य द्विविधस्या-
ऽपि प्रवाजने चतुर्गुरु, आह्लादयश्च दोषाः । नि० चू० ११.३० ।
उपासकः श्रावक इतरोऽनुपासकः । अश्रावके, नि० चू० ८ उ० ।

अणुवासणा-अनुवासना-स्त्री० । चर्मयन्त्रप्रयोगेणाऽपानेन ज-
उरे तैलविशेषप्रवेशने, ज्ञा० १३ अ० । विपा० । व्यवस्थापना-
याम्, आचा० १ शु० ६ अ० १ उ० ।

अणुवि(वि)ग्ग-अनुद्विग्ग-त्रि० । न० त० । प्रशान्ते, “चरे मंद-
मणुद्विग्गे, अविक्खित्तेण चेतसा” दश० ५ अ० १ उ० । अनु-
द्विग्गः लुधादिजयात् प्रशान्त इति । वृ० १ उ० ।

अणुविरइ-अनुविरति-स्त्री० । देशविरतौ, कर्म० १ कर्म० ।

अणुवीइ-अनुविचिन्त्य-अव्य० । अनु-वि-चिति-इयप् । पर्या-
लोच्येत्यर्थे, प्रश्न० २ सम्ब० द्वा० । आलोच्येत्यर्थे, दश० ७ अ० ।
केवलज्ञानेन ज्ञात्वेत्यर्थे, सूत्र० १ शु० १० अ० ।

अनुवाच्य-अव्य० । आनुकूल्यं वाचयित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ शु० ४
अ० १ उ० ।

अणुवीइनासि(ण्)-अनुविचिन्त्यनापिन्-पुं० । अनुविचि-
न्त्य पर्यालोच्य भापते इत्येवंशीघ्रोऽनुविचिन्त्यनापि । व्य० १
उ० । स्यादलोचितवपनृरूपे वाचिकयिनयमेदे, दश० १ अ० ।

अणुवीइसमिजोग-अनुविचिन्त्यसमितियोग-पुं० । अनुवि-
चिन्त्य पर्यालोच्य ज्ञापणरूपा या समितिः सम्यक्प्रवृत्तिः सा-
ऽनुविचिन्त्यसमितिस्तथोयंगः संबन्धस्तद्रूपो वा व्यापारो वाऽ-
नुचिन्त्य समितियोगः । भाषासमितियोगे, प्रश्न० २ सम्ब० द्वा० ।

अणुवूहण-अनुव्यूहन-न० । प्रशंसने, कल्प० ।

अणुवेदयंत-अनुवेदयत्-त्रि० । अनुभवति, सूत्र० १ शु० ५ अ० १ उ० ।

अनुवेदमाण-अनुपेक्षमाण-त्रि० । अनुपेक्षां कुर्वति, “धुणे उ-
रालं अणुवेदमाणे, विद्याय सोयं अणवेक्खमाणे” सूत्र० १० अ० ।

अणुवो-देशी-तथेत्यर्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुव्वय(अ)-अणुव्रत-न० । अणूनि लघूनि व्रतानि अणुव्र-
तानि । लघुत्वं च महाव्रतापेक्षयाऽल्पविषयत्वादिनेति प्रतीत-
मेवेति । उक्तं च- “सव्वगयं सम्मत्तं, सुए चरित्तेन पज्जवा
सव्वे । देसविरइं पणुच्च, दोएह वि पणिसेवणं कुज्जा” ॥१॥ इति ।
अथवा सर्वविरताऽपेक्षयाऽणोर्लघोरुणिनो व्रतान्यणुव्रतानि ।
स्था० ५ ना० १ उ० ।

अनुव्रत-न० । अनु महाव्रतस्य पश्चादप्रतिपत्तौ यानि व्रतानि
कथ्यन्ते तान्यनुव्रतानि इति । उक्तं च- “जइ धम्मस्स समथे,
जुज्जइ तदेसणं पि साहूणं । तदहिगदोसनिवत्ती, फलंति का-
याणुकपट्ठं” ॥१॥ इति । स्था० ५ ना० १ उ० । आ० । आनु० ।
ध० । श्रावकयोग्येषु देशविरतिरूपेषु स्थूढप्राणातिपातविर-
मणादिषु ;

तानि च-

पंचाणुव्वया पप्पत्ता १ । तं जहा-थूलाओ पाणाइवायाओ
वेरमाणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमाणं, थूलाओ अदिन्ना-
दाणाओ वेरमाणं, सदारसंतोसे इच्छापरिमाणे ।

खेत्ते कालमुवस्सय-पिङ्गहणे य एणत्तं ॥
 एणत्ति पंचएह वि, अणोष्स्स चउपदेहिं तु ।
 खेत्तादीहि विसेसो, जह तह वोच्चं समासेणं ॥
 एत्थि उ खेत्तं जिणक-प्पियाण उउवद्धमासकालो तु ।
 वासासुं चउमासो, वसही अममत्त अपरिकम्मा ॥
 पिमो तु अलेवकडो, गहणं तु एमणा उवरिमादि ।
 तत्थ वि काउमभिग्गह, पंचएहं अषतरियाए ॥
 थेराण अत्थि खेत्तं, तु उग्गहो जाव जोयणसकोसं ।
 णगरं पुण वसहीए, विकालउउवद्धमासो तु ॥
 उस्सग्गेणं जाणिओ, अववाएणं तु होज्ज अहिओ वि ।
 एमेव य वासासु वि, चउमासो होज्ज अहिओ वि ॥
 अममत्त अपरिकम्मो, उवस्सओ एत्थ जंगचउरो तु ।
 उस्सग्गेणं पढमो, तिणिह उ सेसाऽववादेणं ॥
 जत्तं जेवकरं वा, अजेवकरं वा वि ते तु गेएहंति ।
 सत्तहिं वि एसणाहिं, सावेवलो गच्छवासो चि ॥
 अहलंदिआण गच्छे, अप्पन्निवप्पाण जह जिणाणं तु ।
 एवरं कालविसेसो, उउवासे पणगचउमासो ॥
 गच्छे पडिवप्पाणं, अहलंदिणं तु अह पुण विसेसो ।
 उग्गहो जो तेसिं तु, सो आयरियाण आजवति ॥
 एगवसहीए पणगं, उच्चिउ ववगाम कुव्वंति ।
 दिवसे दिवसे अणं, अणंति विही य णियमेणं ॥
 परिहारविमुच्छीणं, जहेव जिणकप्पियाण एवरं तु ।
 आयंविद्धं तु जत्तं, गेएहंति य वासकप्पं च ॥
 अज्जाण परिग्गहियाण, उग्गहो लोतु सो तु आयरिए ।
 काडो दो दो मासा, उउवद्धे तासि कप्पो तु ॥
 सेसं जह थेराणं, पिमो य उवस्सओ य तह तासिं ।
 सो सव्वो वि य उविहो, जिणकप्पो थेरकप्पो य ॥
 जिणकप्पि अद्दाद्धंदी, परिहारविसुच्छियाण जिणकप्पो ।
 थेराणं अज्जाण य, वोधव्वो थेरकप्पो तु ॥
 उविहो य मासकप्पो, जिणकप्पो चेव थेरकप्पो य ।
 णिरपुग्गहो जिणाणं, थेराण अणुग्गहपवत्तो ।
 उउवासकालऽतीते, जिणकप्पीणं तु गुरुगा य ॥
 होति दिणम्मि दिणम्मि वि, थेराणं तेच्चिय लहू तु ।
 तीसं पदाऽवराहे, पुटो अणुवासियं अणुवसंतो ॥
 जे तत्थ पदे दोसा, ते तत्थ तगो समावसो ।
 पक्षरमुग्गमदोसा, दस एसणा एएं पुण वीसं ॥
 संयोजणादि पंचय, एते तीसं तु अवराहा ॥
 एतेहिं दोसेहिं, जदि असंपत्ति लगती तह वि ।
 दिवसे दिवसे सो खलु, काड्ढातीते वसंतो तु ॥
 वासावासपमाणं, आयारे उप्पमाणितं कप्पं ।
 एयं अणुमायंतो, जाणसु अणुवासकप्पं तु ॥

आचारपक्कप्पमी, जह जणियं तीत संवसंतो वि ।
 होति अणुवासकप्पो, तह संवसमाणदोसा तु ॥
 दुविहे विहारकाले, वासावासे तहेव उउवद्धे ।
 मासातीते अणुवाहि, वासातीते जवे उवही ॥
 उउवद्धिपसु अट्टसु, तीतेसु वास तत्थ ए तु कप्पो ।
 धेत्तूणं उवही खलु, वासातीतेसु कप्पति तु ॥
 वास उउ अहलंदे, इत्तिरिसाहणे पुहत्ते य ।
 उग्गहसंकमणं वा, अषोषसकासहिज्जंतो ॥
 वासासु चउम्मासो, उउवद्धे मासलंद पंचहिणा ।
 इत्तिरिउ रक्खमूले, वीसमण्डा वि ताणं तु ॥
 साहारणा तु एते, समट्ठिताणं वहुण गच्छाणं ।
 पक्केण परिग्गहिता, सव्वे पोहत्तिआ होति ॥
 संकमणमन्नसण-स्स सकासे जदि तु ते अहीयंते ।
 सुत्तत्थ तदुजयाइं, संघे अहवा वि पडिपुच्छे ॥
 ते पुण मंरुलियाए, आवालियाए व तं तु गेएहेज्जा ।
 मंरुलियमहिज्जंते, सच्चित्तादी तु जो लानो ॥
 सो तु परंपरएणं, संकमती ताव जाव संठाणं ।
 जहियं पुण आवलिया, तहियं पुण अंतए ठाति ॥
 तं पुण ठितएकाए, वसहीए अहव पुप्फकिष्साओ ।
 अहवा वि तु संकमणो, दव्वस्सिणमो विही अषो ॥
 सुत्तत्थ तदुजयविसा-र्याण थोवे असंतती ओए ।
 संकमणदव्वमंरुलि-आवलियाकप्पअणुवासे ॥
 पुव्वट्ठिताण खेत्ते, जदि आगच्छेज्ज अषअयिरिओ ।
 वहुसु य बहु आगमिओ, तस्स सगासम्मि जदि खेत्तो ॥
 किंचि अहिजेज्जाही, थोवं खेत्तं च तं जदि हवेज्जा ।
 ता ते असंथरंता, दोषि वि साह विभज्जंति ॥
 अषोषस्स सगासे, तेसिं पि य तत्थ धिज्जमाणेणं ।
 आभवणा तह चेव य, जह जणियमणंतरे सुत्ते ॥
 एवं णिव्वाधाते, मासचउमासतो उ थेराणं ।
 कप्पो कारणतो पुण, अणुवासो कारणं जाव ॥
 एसऽणुवासणकप्पो..... । पं० जा० ।

इयाणि अणुवासकप्पो-(गाहा)[जिणथेर]सो पुण अणुवास-
 कप्पो जिणथेरअद्दाद्धंदि य परिहारविसुच्छी य अज्जाणंति एगे-
 गाओ एगस्स वहुं ठाणेहिं खेत्तकाउवस्सयपिङ्गहणे य
 नाणत्तं जिणस्स ताव खेत्तं नत्थि काले उउवद्धे मासो वासा-
 रत्ते चाउम्मासो उवस्सओ अममत्तो अपरिकम्मो भिक्खा अ-
 वेवाहा खेत्तोग्गहो थेराणं अत्थि सक्कोसं जोयणं नगरे वस-
 हि उग्गहो तेसिं काड्ढाओ मासं वा मासाइयं वा उउम्मि कारण-
 मकारणे वासासु चाउमासं वा निक्कारणे कारणे पुण कणाहियं
 उवस्स उ उस्सग्गेण अममत्तो अपरिकम्मो य अववाएण सस-
 मत्तो सपरिकम्मो य पिमो वेवानो अलेवानो य अद्दाद्धंदियाण
 गच्छे अपन्निवप्पाणं जहा जिणाणं नवरि काले उज्जागे गामो
 कीरइ एगेगो ज्ञागे पंचदिवसं जिक्खं हिंमंति, तत्थेव वसंति

स्सागारेणं महत्तरागारेणं सब्वसमाह्वित्तिआगारेणं वोसिरा-
मि " तत एकाशनादिविशेषतपः कारयति, सम्यक्त्वादिदुष्ट-
भताविषयां च देशनां विधत्ते । देशविरत्यारोपणविधिरप्येवमेव ।
व्रतानिलापस्त्वेवम्—“अहञ्चं जंते ! तुम्हाणं समीवे थूलगं पाणा-
इवायं संकप्पओ निरधराहं पच्चक्खामि जावज्जीवाए दु-
विहं तिविहेणं मणेणं वायाए कापणं न करेमि न कारवेमि,
तस्स जंते ! पक्कमामि निदामि गरिहामि अण्णाणं वोसिरा-
मि १ । अहञ्चं जंते ! तुम्हाणं समीवे थूलगं मुसावायं जीहा ङे-
आइहेजं कन्नाऽलीयाइं पंचविहं पच्चक्खामि दक्खिआइ अवि-
सए जावज्जीवाए दुविहमित्यादि २ । अहञ्चं जंते ! तुम्हाणं समी-
वे थूलगं अदत्तादायं खेत्तखण्णाइ चोरंकारकरं रायनिग्गाहक-
रं सच्चित्ताच्चित्तवत्थुविसयं पच्चक्खामि जावज्जीवाए दुविह-
मित्यादि ३ । अहञ्चं जंते ! तुम्हाणं समीवे ओरालियवेउब्बियमे-
यं थूलगं मेहुणं पच्चक्खामि, तत्थ दिव्वं दुविहं तिविहेणं तेरिच्छं
एगविहं तिविहेणं मणुअअहागहियमंगणणं, तस्स जंते ! पक्क-
मामि निदामीत्यादि ४ । अहञ्चं जंते ! तुम्हाणं समीवे अपरिमि-
यपरिगहं पच्चक्खामि धणधन्नाइनवविहवत्थुविसयं इच्छाप-
रिमाणं उवसंपज्जामि जावज्जीवाए अहागहियजंगणणं, तस्स
जंते ! पक्कमामीत्यादि " ५ । एतानि प्रत्येकं नमस्कारपूर्वं वा
रत्रयमुच्चारणीयानि ।

“अहञ्चं जंते ! तुम्हाणं समीवे गुणव्वयतिए उड्ढाहो तिरि-
यगमणविसयं दिसिपरिमाणं परिवज्जामि । उवभोगपरिभोग-
वय भोगयओ अणेतकायवहुवीयरइभोगयाइ परिहरामि ।
कम्मओ णं पन्नरसकम्मादाणाइं इंगालकम्माइयाइं वहुसाव-
ज्जाइं खरकम्माइं रायनियोगं च परिहरामि । अणत्थदंडं अव-
ज्जाणाइअं चउव्विहं अणत्थदंडं जहासत्तीए परिहरामि ।
जावज्जीवाए अहागहियमंगणणं तस्स जंते इत्यादि " ८
त्रीण्यपि समुदितानि वारत्रयम् ।

“अहञ्चं जंते ! तुम्हाणं समीवे सामाइयं देसावगासियं
पोसहोववासं अतिहिसंविभागवयं विभागवयं च जहासत्तीए
पडिवज्जामि जावज्जीवाए आहागहियमंगणणं, तस्स जंते !
इत्यादि " १२ चत्वार्यपि समुदितानि वारत्रयम् ।

“इच्छेइयं संमत्तमूलं पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवा-
लसविहं सावगधम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरामि " वा-
रत्रयमिति ।

अथाणुव्रतादीन्येव क्रमेण दर्शयन्नाह—

स्थूलाहिसादिविरति-व्रतभङ्गेन केनचित् ।

अणुव्रतानि पञ्चाहु-रहिंसादीनि शंजवः ॥२४॥

इह हिंसा प्रमादयोगात्प्राणव्यपरोपणरूपा । सा च-स्थूला
सूक्ष्मा च । तत्र सूक्ष्मा-पृथिव्यादिविषया । स्थूला-मिथ्यादृष्टी-
नामपि हिंसात्वेन प्रसिद्धा या सा । स्थूलानां वा व्रतानां हिंसा
स्थूलाहिंसा । आदिशब्दात् स्थूलमृषावादाऽदत्तादानाऽख्यपरि-
ग्रहाणां परिग्रहः । एतयः स्थूलाहिंसादिभ्यो या विरतिर्निवृत्ति-
स्ताम् । (अहिंसादीनीति) “अहिंसासूत्रताऽस्तेय-ब्रह्मचर्याप-
रिग्रहाद् ” अणुनि साधुव्रतेभ्यः सकाशात्तु धूनि, व्रतानि नि-
यमरूपाणि अणुव्रतानि, अणोर्वा यत्पेक्षया बहुगुणस्थानि-
नो व्रतान्यणुव्रतानि । अथवा-अनु पञ्चान्महाव्रतप्ररूपणापे-
क्षया प्ररूपणीयत्वाद् व्रतानि अनुव्रतानि । पूर्वं हि महाव्रतानि
प्ररूप्यन्ते ततस्तत्प्रतिपत्त्यसमर्थस्यानुव्रतानि । यदाह— “ जह-

धम्मे असमत्थो, जुज्जइ तदेसणं पि साहुं ति " । तानि किय-
न्तीत्याह—(पञ्चेति) पञ्चसंख्यानि, पञ्चाणुव्रतानीति बहुवचन-
निर्देशेऽपि यद्विरतिमित्येकवचननिर्देशः स सर्वत्र विरतिसामा-
न्याऽपेक्ष्येति । शंजवस्त्यर्थकराः, आहुः प्रतिपादितवन्तः । किमवि-
शेषेण विरतिः?, नेत्याह-व्रतभङ्गेनेत्यादि । केनचिद् द्विविधत्रिवि-
धादीनामन्यतमेन व्रतभङ्गेन व्रतप्रकारेण बाहुल्येन हिंसावकाशां
द्विविधत्रिविधादयः पेक्षेव भङ्गाः संभवन्तीति तदादिभङ्गजाह-
ग्रहणमुचितमिति ज्ञावः । ते च भङ्गा एवम्-श्राव्या विरताः, अ-
विरताश्च । तं सामान्येन द्विविधा अपि विशेषतोऽप्यविधा भव-
न्ति । यत आवश्यके-“सामिग्गहा य णिरज्जि-ग्गहा य ओहेण सा-
वया दुविहा । ते पुण विभज्जमाणा, अद्विविहा हुंति णायव्वा” ॥१॥
सामिग्रहा विरता आनन्दादयः, अनजिग्रहा अविरताः कृष्णसा-
त्यकिभ्रेणिकादय इति । अप्यविधास्तु द्विविधत्रिविधादिभङ्गेन-
देन भवन्ति । तथाहि—

“दुविह तिविहेण पढमो, दुविहं दुविहेण वीअओ होइ ।

दुविहं एगविहेणं, एगविहं चेव तिविहेणं ॥ १ ॥

एगविहं दुविहेणं, एगेगविहेणं षट्ठमो होइ ।

उत्तरगुणसत्तमओ, अविरओ वि चेव अठमओ ” ॥२॥

त्रिविधम्-कृतं कारितं च । त्रिविधेन-मनसा वचसा कायेन, यथा
स्थूलाहिंसादिकं न करोत्यात्मना, न कारयत्यन्यैर्मनसा वचसा
कायेनेत्यजिग्रहवान् प्रथमः । अस्य चानुमतिः प्रतिपिद्धा, अपत्या-
दिपरिग्रहसद्भावत्, तैर्हिंसादिकरणे तस्यानुमतिप्राप्तेः । अन्यथा
परिग्रहापरिग्रहयोरविशेषेण प्रव्रजिताऽप्रव्रजितयोरभेदापत्तेः ।
त्रिविधत्रिविधादयस्तु भङ्गा गृहिणामाश्रित्य जगवत्पुत्रा अपि
क्याचित्कत्वाद्देहाधिकृताः; बाहुल्येन पद्धिरेव विकल्पेस्तेषां प्र-
त्याख्यानप्रवृत्त्यात्; बाहुल्यपेक्षया चास्य सूत्रस्य प्रवृत्तेः । क्याचि-
त्कत्वं तु तेषां विशेषविषयत्वात् । तथाहि-यः किल प्रविब्रजि-
षुः पुत्रादिसंततिपाशनाय प्रतिमाः प्रतिपद्यते, यो वा विशेषं
स्वयंचूरमणादिगतं मत्स्यादिमांसं दन्तिदन्ताच्चिकचकर्मादिकं
स्थूलाहिंसादिकं वा कचिदवस्थाविशेषे प्रत्याख्याति, स एव त्रि-
विधत्रिविधादिना करोतीत्यल्पविषयत्वाच्चोच्यते ॥ तथा द्विवि-
धं द्विविधेनेति द्वितीयो भङ्गः । अत्र चोत्तरभङ्गाख्यः, तत्र द्वि-
विधं स्थूलाहिंसादिकं न करोति न कारयति द्विविधेन म-
नसा वचसा १, यद्वा मनसा कायेन २, यद्वा वाचा कायेनेति ३ ।
तत्र यदा मनसा वचसा न करोति न कारयति तदा मनसाऽ-
मिसंधिरहित एव वाचाऽपि हिंसादिकमवृत्तेव कायेन दुष्टे-
ष्टितादि असंज्ञिवत्करोति १ । यदा तु मनसा कायेन न करोति न
कारयति तदा मनसाऽजिसन्धिरहित एव कायेन दुष्टेष्टितादि
परिहरन्नेवानामोगाद्याच्चैव हन्मि घातयामि चेति ब्रूते २ ।
यदा तु वाचा कायेन न करोति न कारयति तदा मनसै-
वामिसन्धिमधिकृत्य करोति कारयति ३ । अनुमतिस्तु त्रिभिः
सर्वत्रैवास्ति । एवं शेषविकल्पा अपि भावनीयाः ॥ द्विवि-
धमेकाविधेनेति तृतीयः । अत्राप्युत्तरभङ्गाख्यः । द्विविधं करणं
कारणं च, एकविधेन मनसा, यद्वा-वचसा, यद्वा-कायेन ॥
एकविधं त्रिविधेनेति चतुर्थः । अत्र च द्वौ भङ्गौ, एकविधं कर-
णम्, यद्वा-करणं, त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन ॥ एकविधं
द्विविधेनेति पञ्चमः । अत्रोत्तरभेदाः षट्, एकविधं करणं, यद्वा-
कारणम्, द्विविधेन मनसा वाचा, यद्वा-मनसा कायेन, यद्वा वाचा
कायेन ॥ एकविधमेकाविधेनेति षष्ठः । अत्रापि प्रतिभङ्गाः षट्, ए-

स्थूत्रा द्वीन्द्रियादयः सस्याः; स्थूलत्वे चैतेषां सकृदलौकिकानां जीवत्वाप्रसिद्धेः; स्थूलविषयत्वात् स्थूलं, तस्मात् प्राणातिपाता-
द । तथा स्थूत्रः परित्यक्तस्तुविषयोऽतिष्ठेति विवेकासमुद्भवः,
तस्मात् मृषायादाद । तथा परित्यक्तस्तुविषयं चायारोपणो-
त्तयेन प्रसिद्धमनितुद्राव्ययसायपूर्वकं स्थूत्रं, तस्मादत्तादानात् ।
तथा स्वदारमन्त्रोपः; आत्मीयकृतप्रादन्येच्छानिवृत्तिरित्युप-
क्षणात्परदारवर्जनमपि ग्राह्यम् । तथा इच्छाया धनादिविषय-
स्याभिलाषस्य परिमाणं नियमनमिच्छापरिमाणम्; देशतः परि-
ग्रहविरतिरित्यर्थः । स्यात् ५ त्रा १ त्र १ । प्राच्य १ । उपा ० ।

(सातिचाराणां प्राणनिपातादीनां व्याख्या सस्थाने)

अस्य ग्रहणविधिः—

तस्मादभ्यासेन तत्परिणामदाह्यं यथाशक्ति द्वादशव्रतस्वीका-
रः, तथा मनि सर्वाङ्गीणविरतेः संभवाद्द्विरतेश्च नराकृत्यात्,
अन्येऽपि च नियमाः सम्यक्त्वयुक्तद्वादशान्यतरव्रतसंयुक्ता ए-
व देशविरतित्वाभिप्रेयज्जकाः। अन्यथा तु प्रत्युत पाभ्येभ्यादि-
भावादिनांयकाः, यत् 'उपदेशात्कारे' सम्यक्त्वाऽणुव्रतादिधा-
रुधर्मरहिता नमस्कारगुणनजिनाचनयदनायतिग्रहणतः भाव-
काभासाः आधुधर्मस्य पाभ्येभ्या इति ।

इत्थं च विधिग्रहणस्यैव कर्त्तव्यत्वात् संग्रहेऽस्य प्रयत्नत इ-
त्यत्र धर्मस्य सम्यगभिधाना प्रतिपत्तौ प्रयत्नत इत्येवं पूर्वं प्र-
तिज्ञातत्वाच्च तद्ग्रहणविधिमेव दर्शयन्—

योगवन्दननिमित्त-दिगाकारविशुद्धयः ।

योग्यापचर्येति विधि-रख्यव्रतमुखग्रहे ॥ २३ ॥

इह विशुद्धिः प्रत्येकमभिसंयत्ये, वृत्तान्ते भूयमाणत्वा-
त् । ततो योगशुद्धिर्वन्दनगुक्तिर्निमित्तशुद्धिर्दिक्गुक्तिराकारशु-
द्धिरित्यर्थः। तत्र योगाः कायवाक्मनोव्यापारलक्षणाः, तेषां शु-
द्धिः सांप्रयोगान्तरगमननिरव्ययनापणगुभचिन्तनादिकृपा; य-
न्दनगुक्तिरस्थलितप्रणिपातादिद्वारकसमुच्चाराणां सञ्चालनका-
योत्तमादिकरणलक्षणा, निमित्तगुक्तिस्तत्कालोच्चलितशुद्धि-
वादिनिनादधचणपुणजन्तुङ्गारचत्रध्वजचामराध्वजलोफनगु-
नगन्धाम्राणादिस्वभावा, दिक्गुक्तिः प्राच्युदीचीजिनकेत्याद्याधि-
ष्टिनाऽऽशासमाश्रयणस्वरूपा, आकारशुद्धिस्तु राजाभियोगादि-
प्रत्याख्यानापवादमुक्तलीकरणात्मिकेति । तथा योग्यानां देव-
गुरुसार्धमिक्खजन्तदीनानाथादीनामुचिता उपचर्या धूपपुष्प-
वस्त्रविलेपनाऽऽसनदानादिगौरवात्मिका चेति विधिः । स च
कुत्र भवतीत्याह—(अणुव्रतति) अणुव्रतानि मुखे आदौ
येषां तानि अणुव्रतमुखानि साधुआवकविशेषधर्माचरणानि,
तेषां ग्रहे प्रतिपत्तौ भवतीति सद्धर्मग्रहणविधिः । विशेष-
विधिस्तु सामाचारीतोऽवसयः। तत्पाठश्चायम्—“पसत्ये खिप्ते
जिणभयणाए पसत्येसु तिहिकरणनफलत्तमुहुत्तचदयेलसु
परिक्खियगुणं सीसं सूरि अण्णो काउं खमासमण्णदाण-
पुव्वं भण्णवेइ-इच्छकारि भगवन् ! तुम्हे अहं सम्यक्त्व-
सामायिकं भुतसामायिकं देशविरतिसामायिकम् आरोवाच-
णीयं नंदिकरावणीयं देवं वंदवेह । तत्रो सूरि सहं वामपासे
ठविच्चा वहुंतियाहिं थुरेहिं संघेण समं देवे वंदेइ जाव मम
दिसंतु । ततः श्रीशान्तिनाथाराधनार्थं करोमि काउस्सगं,
'वंदणवत्तिथाए' इत्यादि सत्तावीसुस्सासं काउस्सगं करेइ,
'श्रीशान्ति' इत्यादिस्तुतिं च भणति । ततो द्वादशाङ्गारा-
धनार्थं करोमि काउस्सगं 'वंदणवत्तिथाए' इत्यादि कायोत्सर्गं
नमस्कारचिन्तनम्, ततः स्तुतिः, तत्रो सुयदेवयाए करोमि

काउस्सगं, अथर्थात्ससिपण्णिमाइ, ततः स्तुतिः, एवं शास-
नदेवयाए करोमि काउस्सगं, अथर्थात् ०॥ या पाति शासनं जैनं,
सद्यः प्रत्युहनाशिनी । साऽभिप्रेतसमृद्धयर्थं, भूषाच्छाशनदे-
यता” ॥ १॥ इति स्तुतिः। समस्तवैयवृत्यकराणां कायोत्सर्गः, ततः
स्तुतिः; नमस्कारं पणित्वापविश्य च शक्रस्तवपाठः। परमेष्ठिस्तवः
'अयं वीरराय' इत्यादि । इयं प्रक्रिया सर्वविधिषु तुल्या, तत्तन्नामो-
च्चारकृतो विशेषः । ततो वंदणपुव्वं सीसो जणइ-इच्छकारि भ-
गवन् ! तुम्हे अहं सम्यक्त्वसामायिकं भुतसामायिकं देशविरति-
सामायिकम्, आरोवाचणीयं नंदिकरावणीयं काउस्सगं करेह ।
तत्रो सीससहिं थो गुरु सम्यक्त्वसामायिकं भुतसामायिकं देश-
विरतिसामायिकं आरोवाचणीयं नंदिकरावणीयं करोमि काउ-
स्सगमिथाइ जणइ । सत्तावीसुस्सासचित्तणं चउवीसत्थयभण्णं
कमां नमस्कारप्रयकरणान्दिथावणं, ततः पृथक् नमस्कारपूर्वकं
वारत्रयं सम्यक्त्वदण्णकपाठः । स चायम्—

“अहं भंते ! तुम्हाणं समीचे मिच्छत्ताओ पणिकमामि संमत्तं
उपसंपज्जामि । तं जहा-द्व्वओ खित्तओ कालओ भावओ । द्व्वओ
णं मिच्छत्तकारणां पयफसामि, सम्मत्तकारणां उवत्तपज्जा-
मि, नो मे कप्पइ अज्जणनिइ अन्नउत्थिये वा अन्नउत्थियदेवया-
णि वा अन्नउत्थियपरिगगहियाणि वा अरिहंतचेइयाणि वंदित्तए वा
नमंसित्तए वा पुट्ठि अणालत्तए णं आणवित्तए वा सत्तावित्तए वा
तेसि वसणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्प-
थाउं वा खित्तओ णं इत्थं वा अथर्था वा कालओ णं जावजीवाए
नायओ णं जाव गहेणं न गदिज्जामि, जाव व्रणेणं न छुडिज्जामि,
जाव संनिवापणं नातिभविज्जामि, जाव अन्नेण वा केणइ रांगा-
यंकाइणाइ एस परिणामो न परिवरुइ, ताव मे एअं सम्मइसणं
नअथ रायभियोगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवयभि-
योगेणं गुरुनिगंहेणं विसिक्ततारेणं वोंसिरामि, ततश्च “अरिहं-
तो महंद्यो जाव” इत्यादिगाथाया वारत्रयं पाठः। यस्तु सम्य-
क्त्वप्रतिपत्त्यन्तरं देशविरतिं प्रतिपद्यते, तस्यात्रैव व्रतोच्चारः।
तत्रो वंदित्ता सीसो भणइ-इच्छकारि भगवन् ! तुम्हे अहं स-
म्यक्त्वसामायिकं भुतसामायिकं देशविरतिसामायिकम्, आरो-
वो । गुरुराह-आरोवेमि । पुणो वंदित्ता भणइ-संदिस किं भण-
मि ?। गुरु भणइ-वंदित्ता पवेइह २। पुणो वंदित्ता भणइ-तुम्हे अहं
समत्तसमाइयं सुयसामाइयं देसविरइसामाइयं आरोवियं इच्छा
मि अणुसाट्ठि-गुरु भणइ आरोवियं २। खमासमणाणं हयेणं सुत्तेणं
अत्येणं तदुनएणं सम्मं धारिज्जादि गुरुगुणेहिं वुह्माहि नित्यारग-
पारगा होइ । सीसो भणइ-इच्छं ३ । तत्रो वंदित्ता भणइ-तुम्हाणं
पवेइयं संदिसह साहूणं पवेपमि । गुरु भणइ-पवेपह ४ । तत्रो
वंदित्ता एगनमुफारमुच्चरंतो समोसरणं गुवं च पयक्खिणेइ,
एवं तिप्पि वेला । तत्रो गुरु निसिज्जाए उवविस्इ । खमासमण-
पुव्वं सीसो भणइ-तुम्हाणं पवेइयं साहूणं पवेइयं संदिसह
काउस्सगं करोमि । गुरु भणइ-करेइह ६ । तत्रो वंदित्ता भणइ-स-
म्यक्त्वसामायिकं ३ स्थिरीकरणार्थं करोमि काउस्सगमि-
त्यादि, सत्तावीसुस्सासचित्तणं चउवीसत्थयभण्णं । ततः स्तु-
रिस्तस्य पञ्चादुम्बर्यादि ३ यथायोग्यमभिग्रहाद् ददाति । तद्-
पडकश्चैवम्—“अहं भंते ! तुम्हाणं समीचे इमे अभिगगहे गि-
णहामि । तं जहा-द्व्वओ खित्तओ कालओ भावओ । द्व्वओ
णं इमे अभिगगहे गिणहामि, खित्तओ णं इत्थं वा अथर्था वा, का-
लओ णं जावजीवाए, भावओ णं अहागहियभंगएणं अरिहंतस-
क्खियं सिद्धसाक्खियं साहुं देव ० अण्ण ० अथर्थाणाभोगेणं सह-

एगुणवच्चं जंगा, दिट्ठा खलु सावयाण जे सुत्ते ।
ते चिअ पंचासगुणा, इगुणवन्नं पक्खिअवच्चा ॥ ३ ॥
सीआव्वं भंगसयं, ते चि अडयालसयगुणं काचं ।
सीयालसपण जुअं, सव्वगा जाण जंगाण ॥ ४ ॥

एकादश्यां वेलायां द्वादशव्रतभङ्गकसर्वसंख्यायामागतं क्रमेण खण्डदेवकुलिकातो हेतुम् । तत्स्थापनाश्लेषः- (# द्वादशव्रतदेव-
कुलिमः न नव च भङ्गा यन्त्रतोऽवसेयाः) एवं संपूर्णा देवकुलि-
का अपि एकविंशत्यादभङ्गादिषु द्वादश द्वादश जावनीयाः । स्था-
पनाः क्रमेण यथा- (# द्वादशव्रतदेवकुलिकायामेकविंशत्येकोन-
पञ्चाशत्सप्तचत्वारिंशच्चतं भङ्गा यन्त्रतोऽवसेयाः) इति प्रसङ्गतः
प्रदर्शिता भङ्गप्ररूपणाः । बालेन च द्विविधत्रिविधादिपञ्च-
म्यवोपयोगिनीत्युक्तमेवावसेयमित्यलं विस्तरेण । धर्मो २
अधि० । पंचा० । प्रव० ।

अणुव्वजंत-अनुव्रजत्-त्रि० । अनुकूवं साध्वभिमुखं प्रजति,
सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुव्वयपणग-अनुव्रतपञ्चक-न० । अणुव्रतानां पञ्चकं यत्र
सोऽनुव्रतपञ्चकः । प्राकृतवशाच्चान्यथा निर्देशः । पञ्चानुव्रतिके,
दर्श० ।

अणुव्वयमुह-अणुव्रतमुख-त्रि० । अणुव्रतानि मुखे आदौ येषां
तानि । साधुभावकविशेषधर्माचरणेषु, ध० २ अधि० ।

अणुव्वया-अनुव्रता-स्त्री० । अन्विति कुलाऽनुकूपं व्रतमाचारो-
ऽस्या अनुव्रता । पतिव्रतायाम्, उक्त० ३० अ० ।

अणुव्वस-अनुव्रश-त्रि० । वशमुपागते, " एवं तुम्हे सरागत्था,
अन्नमक्षमणुव्वसा " । अन्योऽन्यं परस्परतो वशमुपागताः पर-
स्परायत्ताः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुव्विवाग-अनुविपाक-पुं० । अनुरूपे विपाके, " एवं तिरि-
क्खे मणुयासुरेसु, चतुरत्तणंतं तयणुव्विवागं " सूत्र० १ श्रु० ५
अ० २ उ० ।

अणुसंगई-अणुसङ्गति-स्त्री० । आकाशादिरूपस्य परमाणुसं-
योगे, क्वथा० १२ अध्या० ।

अणुसंचरंत-अनुसञ्चरत्-त्रि० । यन्म्रम्यमाणे, सूत्र० १ श्रु०
१० अ० । पञ्चात् सञ्चरणे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुसंधाण-अनुसन्धान-न० । बुद्धोपादाने, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।
विस्मृतस्य ग्रहणे उपादाने, ' तस्सेव पपसेतरण्डुस्सऽणुसंधाणघ-
डणा ' तस्यैव पूर्वगृहीतसूत्रादेः प्रवेशान्तरणस्य कचिद्देशे विस्मृ-
तस्य च या घटना साऽनुबन्धना अनुसन्धानमित्युच्यते । पञ्चा०
१२ विव० ।

अणुसंधियं-देशी-अविरते, द्विकायां च । दे० ना० १ वर्ग ।

अणुसंवेयण-अनुसंवेदन-न० । पञ्चात्संवेदने, अनुभवने च ।
आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

अणुसंसरण-अनुसंसरण-न० । विविदिशां गमनस्य जावदि-
गागमनस्य वा स्मरणे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुसज्जणा-अनुसज्जना-स्त्री० । अनुपत्तौ, व्य० १ उ० ।
(' तित्थाणुसज्जणा ' शब्दे तीर्थस्यानुसज्जनां व्याख्यास्यामः)

अणुसज्जित्था-अनुषक्तवत्-त्रि० । पूर्वकाद्यात्कालान्तरमनु-
वृत्तवति, अ० ६ श्रु० ७ उ० ।

अणुसट्टी-अनुशिष्टि-स्त्री० । अनुशासनमनुशिष्टिः । उपदेशप्र-
दानरूपे स्तुतिकरणे, वक्त्रेण वा वैयावृत्यजेद, व्य० १ उ० ।
नि० चू० । प० व० । शिक्त्रेण, दर्श० । इहलोकाऽपायप्रदर्शने,
वृ० १ उ० । ' तिविहा अणुसट्टी पञ्चत्ता । तं जहा-अयाणुसट्टी
पराणुसट्टी तदुभयाणुसट्टी ' स्था० ३ ग० ३ उ० । तत्र यद्
आत्मानमात्मना अनुशास्ति सा आत्मानुशिष्टिः, यत्पुनः परस्य
परेण वाऽनुशासनं सा पराऽनुशिष्टिः, एवं तदुभयस्मिन् तदुभय-
विषयानुशिष्टिः । व्य० १ उ० । तत्राऽऽत्मनो यथा- " वायाहसि-
सण्णं, करम्मि गहणम्मि जीवणु दु क्खिओ । इरिह जह ण दु
क्खिज्जसि, छुंजंतो रागसेहिंति " ॥ १ ॥ तथा विधेयमिति शेष
इति । स्था० ३ ग० ३ उ० । व्य० ।

दंरुसुलजम्मि होए, मा अमतिं कुण्ह दंडितो मिति ।

एस दुसहो उ दंनो, जवदंननिवारओ जीव ! ॥

अवि यहु विसोहिओत्ते, अण्णाणायारमइल्लिओ जीव ! ॥

अप्पपरे उज्जए अनु-सट्टी य थुइ त्ति एगट्ठा ॥

दण्डः सुलजो यत्रासौ दण्डसुलभस्तस्मिन् लोके, हे जीव !
मा एवं रूपाममतिं कुमतिं कुर्याः । यथाऽहमाचार्येण प्रायश्चित्तदा-
ननो दण्डितोऽस्मीति, यत एव प्रायश्चित्तदानरूपो दण्डो दु-
र्लभः । कस्माद् दुर्लभः, इत्याह-भवदण्डनिवारकः । " निमित्तप-
र्यायप्रयोगे सर्वासां विभक्ततीनां प्रायेः दर्शनम् " इति वार्तिके-
न हेतौ प्रथमा । ततोऽयमर्थः-यत एव दण्डो जव एव संसार
एव दुःसहदुःखात्मकत्वाद् दण्डस्तस्य निवारको भवदण्ड-
निवारकस्तस्माद् दुर्लभः । अपि च । दु निश्चितं हे जीव ! ते आत्मा
अनाचारमलिनः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या विशोधितो प्रवति, तस्मा-
द् न दण्डितोऽस्मीति बुद्धिरात्मनि परिभाषयितव्या । किन्तु-
पकृतोऽहमनुपकृतपरहितकारिभिराचार्यैरिति चिन्तनीयमि-
ति । एवममुना उल्लेखेन आत्मनि परस्मिन् वभयस्मिन्नानु-
शिष्टिरवगन्तव्या । आत्मनि साक्षाद्विमुक्त्या, पतदनुसारं प-
रस्मिन्नुभयस्मिन्नपि च सा प्रतिपत्त्येति ज्ञावः । अनु-
शिष्टिः स्तुतिरित्येकार्थी । अत्रापिशब्दः सामर्थ्याद् गम्यते, ए-
तावपिशब्दावेकार्थी । किमुक्तं प्रवति-अनुशिष्टिः स्तुतिरित्य-
पि द्रष्टव्यमिति । व्य० १ उ० । परानुशिष्टिर्यथा- " ता तंसि भा-
ववेज्जो, भवदुक्खनिपीमिया नुहं एने । हंदि सरणं पवन्ना, मो-
यव्वा पयत्तेणं " ॥ १ ॥ तदुभयाऽनुशिष्टिर्यथा- " कह कह वि मा-
णुसत्ता-इ पायियं चरणपवररयणं च । ता भो ! इत्थं पमाओ,
कइया विन दुज्जए अम्मं " ॥ १ ॥ स्था० ४ ग० ३ उ० । नि० चू० ।
हितोपदेशरूपायां शिक्षायाम्, " सिक्खाण णमो किच्चा, संजया-
णं च भावन्तो । अत्थ धम्मगइं तच्चं, अणुसट्टिं सुणेह मे " ॥ १ ॥
इत्याद्यनायमुनिना श्रेणिकं प्रत्यनुशिष्टिः कृता । उक्त० ३० अ० ।
व्य० । सद्गुणोत्कीर्त्तनेनोपबृंहणे साऽविधेयेति यत्रोपदिश्यते
साऽनुशास्तिः (" जिणकप्प " शब्दे जिनकल्पं प्रतिपद्यमानेन
साधूनामनुशिष्टिर्विद्व्यते) आहरणतद्देशभेदे च, यथा गुणवन्तो-
ऽनुशासनीया प्रवन्ति । यथा साधुशोचनपतितरजःकणापनयनेन
लोकसम्प्राप्तिशीलकलङ्का, तत्कालनायाराधितदेवताकृतप्रा-
तिहार्याचालनिव्यवस्थापितोदकाच्छोटनतोद्घाटितचम्पागोपु-
रत्रया सुज्जका अहो ! शीलवतीति महाजनेनानुशासितेति । इह
च तथाविधवैयावृत्याकरणादिनाऽप्युपनयः संभवति, तस्या-
नेन च महाजनानुशासितमात्रेणोपनयः कृत इत्याहरणतद्देशे-
ति । एवमनभिमतं शत्यागादभिमतं शोपनयनमुत्तरेष्वपि ज्ञाव-

कविधं करणं, यद्वा-कारणं, एकविधेन मनसा, यद्वा-वाचा, यद्वा-कायेन । नदेवं मूलभङ्गाः पदः । पणामपि च मूलभङ्गानामुत्तर-
भङ्गाः सर्वसंख्येयकविंशतिः । तथा चोक्तम्—“ डुविह ति विहा
य डुचिचिभ, तेसि भेशा कमेणिमे हुंति । पदमिजो डुचि ति श्रा,
डुगेग दोनक इगवीसं ” ॥१॥ स्थापना चैवम्—
पयं च पदनिर्देशः कृताभिग्रहः पञ्चयः आद्यः सत्-
मध्योत्तरगुणः प्रनिपन्नगुणव्रतशिः श्रावनागुचरगु-
णः । अथ च सामान्येनोत्तरगुणानाश्रित्यैक एव भेदा विवक्षितः ।
अविरतध्याष्टम् । तथा पञ्चस्वप्यष्टयतेषु प्रत्येकं पदभङ्गीसं-
भवेन उत्तरगुणाऽविरतमीश्वरेन च चार्थिशङ्का अपि आक्षानां
भवन्ति । यदुक्तम्—“ डुविहा विरयाऽविरया, डुविहतिविहा-
णऽडुहा हुंति । वयमेगेग डुचिभ, गुणिभं डुगमिभिश्रवत्तीसं ”
इति ॥१॥ अथ च द्विविधविधिविधादिना भङ्गनिकुरम्येन आचका-
हपञ्चाष्टयनाऽविरतसंहतिनङ्गरुदेवकुलिकाः सूचिताः । ताश्चैक-
कवनं प्रत्यनिर्हितया पञ्चद्वया निष्पद्यन्ते, तासु च प्रत्येकं त्रयो
राशयो भवन्ति । नचवा-आदी गुणराशिर्मध्ये गुणकगशिरन्ते
चागनराशिरिति । तत्र पूर्वमेतासामेव देवकुलिकानां पञ्चद्वया
विवक्षितव्रतनङ्गरुदेवसंख्यारूपा एव सारराशयश्चैवम्—

“ एगवय उभंगा, निदिहा सावयाण जे सुत्ते । तिचिअ
पयवुद्धीए, सत्त गुणा उज्जुभा कमसो ” ॥ १ ॥ सर्वभङ्ग-
राशि जनयतीति शेषः । कथं पुनः परं भङ्गाः सप्तभिर्गुण्य-
न्ते इत्याह—पदवृद्ध्या मृषावादायैककवतयुद्ध्या एकव्रतनङ्ग-
राशिरवधौ व्यवस्थापितत्वाद्विवक्षितव्रतैः एकैकं द्वौनाचारा
इत्यर्थः । तथाहि—एकव्रते पञ्चद्वयाः सप्तभिर्गुणिता जाता द्विचत्वारिंशत्, तत्र पदं निष्पद्यन्ते, जाता अष्टचत्वारिंशत् । एषोऽपि स-
प्तभिर्गुण्यन्ते, पदं च निष्पद्यन्ते, जाताः ३४२ । एवं सप्तगुणनपदप्र-
पक्तेन तावद् यावदेकादश्यां वेत्तायामागतम् ३८४ १२०७२०२
एते च परमपुनर्यारिंशदादयो द्वादशाप्यगतराशयोऽधोभागेन
व्यवस्थाप्यमाना अर्द्धदेवकुलिकाकारां भूमिमावृण्वन्तीति स-
खरुदेवकुलिकेत्युच्यते । स्थापना—

१२	६	६
६६	३६	४८
२२०	२१६	३४२
४६४	१२६६	२४००
७६२	७७७६	१६८०६
६२४	४६६४	११७६४८
७६२	२७६६३६	८२३४४२
४६४	१६७९६१६	५७६४८००
२२०	१००७७६६६	४०३१३६०६
६६	६०४६६१७६	२८२४७४२४८
१२	३६२७९७०५६	१६७७३२६७४२
१	२१७६७८२३३६	१३८४१२८७२०२

संपूर्णदेवकुलि-
कास्तु प्रतिव्रत-
मेकदेवकुलि-
कासङ्ख्यायेन प-
ञ्चद्वयां द्वाद-
श देवकुलि-
काः संभव-
न्ति । तत्र द्वा-
दश्यां देवकु-
लिकायामेक-
द्विकादिसंयो-
गा गुणक-
पाश्चैवम् । तत्र

य” ॥ १ ॥ (दुरगं चि) प्रतिमाद्युत्तरगुणाऽविरतरूपभेदद्वया-
धिका एतावन्तश्च द्वादश व्रतान्यश्रित्य प्रोक्ताः । पञ्चाष्टयतान्या-
श्रित्य तु १६८०६ प्रवन्ति । तत्राप्युत्तरगुणाऽविरतमीश्वरे
१६८०८ भवन्ति । अथ चैकद्विकादिसंयोगा गुणकाः पदं पद-
विंशदयो गुण्यास्त्रिंशदादयश्चागतराशयो यन्त्रकादयः संयोगाः ।
इयमत्र भावना—कश्चित्पञ्चापञ्चाष्टयतानि प्रतिपद्यते । तथा
किञ्च पञ्चकसंयोगाः एकैकस्मिन् संयोगे द्विविधविधिविधा-
दयः परं भङ्गाः स्युः । तेन पदं पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जाताः ३० ।
एतावन्तः पञ्चानां व्रतानामेकसंयोगे भङ्गाः । तथा एकैक-
स्मिन् द्विकसंयोगे ३६ भङ्गाः । तथाहि—आद्यव्रतसंबन्धाद्
यो भङ्गकोऽवस्थितो मृषावादसत्त्वान् परं भङ्गान् लभते । एव-
माद्यव्रतसंबन्धां द्वितीयेऽपि यावत्पष्टोऽपि भङ्गाऽवस्थित एव
मृषावादसत्त्वान् परं भङ्गान् जनते । ततश्च परं, परंभिर्गुणि-
ताः ३६, दश चात्र द्विकसंयोगाः । अतः ३६ दशगुणिताः ३६० । ए-
तावन्तः पञ्चानां व्रतानां द्विसंयोगे भङ्गाः । एवं त्रिकसंयोगादि-
प्यपि भङ्गसंख्याभावना कार्या । पञ्चमदेवकुलिकास्थापना—

६	५	३०
३६	१०	३६०
२१६	१०	२१६०
१२६६	५	६४८०
७७७६	१	७७७६

एवं सर्वां सामपि (पूर्वोत्तराणां) देवकु-
लिकानां निष्पत्तिः स्वयमेवावस्येय ।
इयं च प्ररूपणाऽऽवश्यकनिर्मुक्तगमि-
प्रायेण कृता, भगवत्यभिप्रायेण तु न-
वतन्त्री । साऽपि प्रसङ्गतः प्रदश्यते ।
तथाहि—हिसां न करोति—मनसा

१, वाचा २, कायेन ३, मनसा वाचा ४, मनसा कायेन ५, वाचा
कायेन ६, मनसा वाचा कायेन ७, एतत्करणेन सप्त भङ्गाः । एवं
करणेन २ अनुमत्या ३ करणकारणाभ्यां ४ करणानुमतिभ्यां ५
करणानुमतिभ्यां ६ करणकारणानुमतिभिः ७ । एवं सर्वमिदं
एकैकपञ्चाशद्व्यन्ति । एते च त्रिकालविषयत्वात् प्रत्याख्यान-
स्य कालत्रयेण गुणिताः सप्तचत्वारिंशच्चतं भवन्ति । यदाह—
“ मणययकादयजोगे, करणे कारावणे अणुमर्ह अ ।

इदं गुणतिगजोगे, सत्तासत्ते व गुणवशा ॥ १ ॥
पदमिजो ति शि ति श्रा, डुचि नवा ति शि दो नवा चैव ।
कालतिगेण य सहि श्रा, सीश्रात् होइ भंगसयं ॥ २ ॥
सीश्रात् भंगसयं, पचवफलाणमि जस्त उवमकं ।

सो खलु पयफलाणे, कुसहो सेता अकुसलाओ ” ॥३॥ चि ।

त्रिकालविषयता चातीतस्य निन्द्या, सांप्रतिकस्य संवरेण,
अनागतस्य प्रत्याख्याननेति । यदाह—“ अहं निदामि पकुप्पं
संवरेमि अणागयं पचवफलामि ति ” । एते च भङ्गा अहिसामाश्रि-
त्य प्रदशिताः
व्रतान्तरे-
तत्र पञ्चा-
शद भ-
ङ्गभावाद्

३	३	३	२	२	२	१	१	१
३	२	१	३	२	१	३	२	१
१	३	३	६	६	३	३	६	६

दाः आचकाणां भवन्ति । उक्तं च—“ डुविहा अट्टविहा वा, वत्तीसवि-
हा व सत्त पणतीसा । सोल सय सहस्स जवे, अट्टसयऽट्टतरा
चइणो ” ॥१॥ इदं तु ज्ञेयम्—परमभङ्गीवत्सप्तभङ्गपैकविंशतिज-
ङ्गया, तथा नवभङ्गा ३, तथैकोनपञ्चाशदभङ्गया ४, द्वादश
द्वादश देवकुलिका निष्पद्यन्ते । यदुक्तम्—

“ इगवीसं खलु जंगा, निदिहा सावयाण जे सुत्ते ।

ते चिअ वावीस गुणा, इगवीसं पक्खेवअवा ॥ १ ॥

एगवय नव मंगा, निदिहा सावयाण जे सुत्ते ।

ते चिअ दसगुण काउं, नव पक्खेवमि कायवा ॥ २ ॥

च गुण्यराशयस्त्यमी । एतेषां च पूर्वस्य पूर्वस्य परगुणनेऽग्रेत-
नो गुण्यराशिरायातीत्यानयने बीजम् । एते च पद-पदविंशदा-
दयो द्वादशाऽपि गुण्यराशयः कमशो द्वादश-पदगुण्यवृत्तिभि-
र्गुणकराशिभिर्गुणिता आगतराशयः ७२ आदयो प्रवन्ति, ते दे-
वकुलिकागततृतीयाशितो ज्ञेयाः । स्थापना चाग्ने- (परमभङ्ग्यां
द्वादशव्रतदेवकुलिकायाः) अष्टप्युत्तरगुणा अविरतसंयुक्ताः
१३८४१२८७२०२ भवन्ति । उत्तरगुणाश्च प्रतिमादयोऽभिग्र-
हविशेषा ज्ञेयाः । यदुक्तम्—“ तेरसकोडिसयाहं, चुअसीइअहं
वारस य वक्खा । सत्तासी अ सहस्सा, दो अ सया तह दुरमा

पणुणवन्नं प्रंगा, दिट्ठा खलु सावयाण जे सुत्ते ।

ते चिअ पंचासगुणा, णुणवन्नं पक्खिवेअत्वा ॥ ३ ॥

सीआहं भंगसयं, ते चि अडयालसयगुणं कावं ।

सीयालसपण जुअं, सव्वग्गा जाण जंगण ॥ ४ ॥

एकादश्यां वेलायां द्वादशव्रतभङ्गकसर्वसंख्यायामागा
खण्डदेवकुलिकातो हेयम् । तत्स्थापनाधेमाः-(* द्वादश
कुलिकाः नव च भङ्गा यन्त्रतोऽवसेयाः) एवं संपूर्णा
का अपि एकविंशत्यादिजङ्गादिषु द्वादश द्वादश जावनी
पनाः क्रमेण यथा-(* द्वादशव्रतदेवकुलिकायामेकविंश
पञ्चाशत्सप्तचत्वारिंशच्छतं भङ्गा यन्त्रतोऽवसेयाः) इति
प्रदर्शिता भङ्गप्ररूपणाः । बालेन च द्विविधविधिधा
म्येवोपयोगिनीत्युक्तमेवावसेयमित्यलं विस्तरेण ।
अधि० । पंचा० । प्रव० ।

अणुव्वजंत-अनुव्रजत्-त्रि० । अनुकूळं साध्वभिमुद-
सूत्र० १ शु० ४ अ० १ उ० ।

अणुव्वयपणग-अनुव्रतपञ्चक-न० । अणुव्रतानां
सोऽनुव्रतपञ्चकः । प्राकृतवशाच्चान्यथा निर्देशः । पञ्च
वशं० ।

अणुव्वयमुह-अणुव्रतमुख-त्रि० । अणुव्रतानि मुखे
तानि । साधुभावकविशेषधर्माचरणेषु, ध० २ अधि

अणुव्वया-अनुव्रता-स्त्री० । अन्विति कुलाऽनुरूपं ।
ऽस्या अनुव्रता । पतिव्रतायाम्, उक्त० ३० अ० ।

अणुव्वस-अनुवश-त्रि० । वशमुपागते, "एवं तुभ्ये
अन्नमन्नमणुव्वसा" । अन्योऽन्यं परस्परतो वशमुप
स्वरायत्ताः । सूत्र० १ शु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुव्विवाग-अनुविपाक-पुं० । अनुरूपे विपाके, "
क्वे मणुयासुरेसु, चतुरस्रणंतं तयणुव्विवागं" सूत्र
अ० २ उ० ।

अणुसंगई-अणुसङ्गति-स्त्री० । आकाशादिद्रव्यस्य
योगे, क्वया० १२ अध्या० ।

अणुसंचरंत-अनुसञ्चरत्-त्रि० । वञ्चम्यमाणे, १
१० अ० । पश्चात् सञ्चरणे, आचा० १ शु० १ अ० १

अणुसंधाण-अनुसन्धान-न० । बुद्धोपादाने, सूत्र०
विस्मृतस्य ग्रहणे उपादाने, 'तस्सेव पपसंतरणदुस्स
डणा' तस्यैव पूर्वगृहीतसूत्रादेः प्रदेशान्तरनष्टस्य का
तस्य च या घटना साऽनुबन्धना अनुसन्धानमित्यु
१२ विव० ।

अणुसंधियं-देशी-अविरते, हिक्कायां च । दे०

अणुसंवेयण-अनुसंवेदन-न० । पश्चात्संवेदने,
आचा० १ शु० ५ अ० ५ उ० ।

अणुसंसरण-अनुसंसरण-न० । दिग्विदिशां गम
गागमनस्य वा स्मरणे, आचा० १ शु० १ अ० १

अणुसज्जणा-अनुसज्जना-स्त्री० । अनुपकौ, १
('तित्याणुसज्जणा' शब्दे तीर्थस्यानुसज्जनां)

अणुसज्जित्था-अनुषक्तवत्-त्रि० । पूर्वकाद्या
वृत्तवति, भ० ६ श० ९ उ० ।

अणुस्तरिता

नुशासनम् । संग्रह-

नं । वृ० १ वृ० ।

प्रनुशास्तिविधाने,

। तत्र चोद्यमाने,

१० ४ उ० । सूत्र० ।

प्रत्यमाणे कथञ्चि-

गुरुभिः कठोरव-

० १ वृ० १४ वृ० ।

"तत्तेषां अणुलि-

३ वृ० ३ उ० ।

नपुरस्सरं प्रकाप-

करणे दर्शितार्थे,)

चारमुपलभमाने,

व प्रतिसूचकेभ्यः

तेके अमात्यपुरुषे,

"सूयग तद्वाऽणुस्-

कयविस्तीया, वसंति

वसंति सामंतगण-

अपरशरीराभितता-

यत्ताप वि उद्भूति "

सोयपट्टिप बहु, ज-

मेव अप्या, दायव्वो

गडिसोओ आसमो

ओओ तस्स उता-

वि० । अनुश्रोतसा

तामिनि मत्स्ये, एवं

अयसमीपात् क्रमेण

। ठा० ४ उ० ।

नदीपूरप्रवाहपतित-

प्रवृत्ते, "अणुसोय-

गु । पडिसोयमेव अ-

१ वृ० ।

कमिआमिसर्पणवत्

० । "अणुसोयसुहो

दर्श० ।

कृत्वेत्यर्थे, "अंधं व

शेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चैवं विणिहंति मंदा " सूत्र० १
श्रु० ७ अ० ।

अणुस्सव-अनुश्रव-पुं० । अनुश्रूयते गुरुमुखादित्यनुश्रवः । वे-
दे, द्वा० ७ द्वा० ।

अणुस्सुय-अनुश्रुत-त्रि० । अवधारिते गुरुनिश्चयमाने, उक्त० ४
अ० । श्रवणपथमायाते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । मारतादौ
पुराणे श्रुते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । न उत्सकोऽनुत्सुकः ।
सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । औत्सुक्यरहिते, पं० सू० ४ सू० ।

अणुस्सुयत्त-अनुत्सुकत्व-न० । विषयसुखेऽनुत्तालत्वे, "सुह-
सापणं अणुस्सुयत्तं जणयइ । उक्त० २ ए अ० ।

अणुहवसिष्-अनुजवसिष्-त्रि० । स्वसंवेदनप्रतीते, पञ्चा०
३ विव० ।

अणुहविडं-अनुजय-अव्य० । संवेद्येत्यर्थे, पञ्चा० २ विव० ।

अणुहियासण-अन्वध्यासन-न० । अवचलकायतया सहने,
जं० २ वक्त्र० ।

अणुहूअ-अनुजुत-त्रि० । अनु-भू-क । प्राकृते " केहुः " ॥ ७
४ । ६४ ॥ भुवः के प्रत्यये हूरादेशः । अनुजवविपर्युक्ते, प्रा० ।

अणू-देशी-शास्त्रिजेदे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणूव-अनूप-त्रि० । अनुगता आपो यत्र । व० स० । अन्-स-
मा० । अत उत्त्वम् । जलप्राये स्थाने, वाच० । नद्यादिपानीयव-
हुले, वृ० १ उ० । विज्ञे० । व्य० ।

अणूवदेस-अनूपदेश-पुं० । जलदेशे, व्य० ४ उ० ।

अणुक्क(ग)-अनेक-त्रि० । बहुत्वे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । अनेक-
शब्दघटितप्रयोगा यथा- " अणुगणनायकदंरुमायकराईसर-
तलवरभारुविअकोरुविअमंतिमहामंतिगणकदोवारिअभमअ-
चैरुपिठमहनगरनिगमसेट्टिसेणावइसत्थवायदत्तसंधिवालसकिं
संपरिचुमे " अनेके ये गणनायकादयस्तेषां ब्रह्मस्ततस्तैरिह
तृतीयावहुवचनश्रोपो छप्यः (सकिं ति) सार्द्धं सहैत्यर्थः ।
न केवलं तत्सहितत्वमेव, अपि तु तैः समिति समन्तात् परि-
वृतः परिवारित इति । औ० । " अणुगजाज्जरामरणजोणिवेय-
ण " अनेकजातिजरामरणप्रधानयोनियु वेदना यत्र स तथा ।
(संसार इति विशेष्यम्) औ० । " अणुगजातिजरामरणजोणि-
संसारकलंकलिभावपुण्यभवगम्भवासवसहीपवंचसमइकंता-
सासयमणागयसिक्क " अनेकैर्जातिजरामरणैर्जन्मजरामृत्यु-
भिर्यश्च तासु योनियु संसारः संसरणं तेन च यः कलङ्कली-
भावः कदर्थ्यमानता यश्च दिव्यसुखमनुप्राप्तानामपि पुनर्भवे
संसारं गर्भवसतिप्रपञ्चः, तौ समतिक्रान्तौ, अत एव शाश्वत-
मनागतं काष्ठं तिष्ठन्ति । (सिद्धा इति विशेष्यम्) प्रज्ञा० २ पद ।
अनेकजातिसंभवाद् विचित्रत्वम् । सर्वभावानुव्यापितचित्ररू-
पता । रा० । इह जातयो वर्णनीयवस्तरूपवर्णनानि । स० ।
" अणुगणनकरुगवियरउअरपवायपअरसिहरपउरे " अ-
नेकानि नटानि कटकाश्च गणरुशैला यत्र स तथा । विवराणि,
अवभ्राराश्च निर्जरविशेषाः, प्रपाताश्च भृगवः, प्राग्भाराश्च ईष-
दंचनता गिरिदेशाः, शिखराणि च कूटानि, प्रचुराणि यत्र स
तथा । ततः कर्मधारयः (पर्वत इति विशेष्यम्) ज्ञा० ४ अ० ।

" अणुगणरवामसुप्पसारियअगिउअधनविपुलवइसंधी " अ-
नेकैर्नरव्यामैः पुरुषव्यामैः सुप्रसारितैरग्राह्योऽप्रमेयो घनो नि-
विमो विपुत्रो विस्तीर्णो वृत्तः स्कन्धो येषां ते-अनेकनरव्याम-
सुप्रसारिताग्राह्यनविपुलवृत्तस्कन्धाः । रा० । ज्ञा० । " अणुग-
चुयभावमविषविअहं " अनेके भूता अतीता भावाः सत्त्वाः प-
रिणामा वा प्रव्याश्च भाविनो यस्य स तथा । इति शुकं प्रति-
स्थापत्यापुत्रः । स्था० १ ग्रा० १ उ० । " अणुगमणिरयणविवि-
हणिज्जुत्तविचिच्चिधगया " अनेकानि बहुनिर्माणरत्नानि प्रती-
तानि विविधानि बहुप्रकाराणि नियुक्तानि नियोजितानि येषु
तानि तथा, तानि विचित्राणि चिह्नानि गताः प्राप्ताः ये ते तथा ।
(सुपुरुषवर्णकः) औ० । प्रश्न० । " अनेगमणिरयणविवि-
हसुविरइयनामविधं " अनेकैर्मणिरनैर्विविधं नानाप्रकारं
सुविरचितं नाम चिह्नं निजनामवर्णं पङ्क्तिरूपं यत्र स तथा ।
जं० ३ वक्त्र० । " अणुगमणिकणुरयणपहकरपरिमंरिय-
भागमत्तिचित्तविणिउत्तगमणगुणजणियपैखोलमाणवरललि-
यकुंरुज्जवियअहियआजरणजणियसोमे " अनेकमणिरत्नक-
नकनिकरपरिमरितभागे प्रज्ञाचित्रे विचित्रचित्तिचित्रे विनियु-
क्ते कर्णयोर्निवेशिते गमनगुणेन गतिसामर्थ्येन जनिते कृते प्रेक्षोद्भ-
माने चक्षुषे ये वरललितकुण्डले ताज्यामुज्ज्वलितेनोद्दीपनेनाधि-
काज्यामाजरणाभ्यामुज्ज्वलितेनाधिकैर्वाऽऽजरणैश्च कुण्डलव्यति-
रिक्तैर्जनिता शोभा यस्य स तथा । ज्ञा० १ अ० । " अणुगरइसगर-
जाणजुगगिज्जिधिसिधियपमोयणा " अनेकेषां रथशकटा-
दीनामधोविस्तीर्णत्वात् प्रतिमोचनं येषु ते तथा । रा० । " अणुग-
रायवरसहस्साणुआयमणे " अनेकेषां राजवराणां बद्धमुकुटराणां
सहस्रैरनुयातोऽनुगतो मार्गः पृष्ठं यस्य स तथा । जं० ३ वक्त्र० ।
" अणुगवंपा " अनेकानि वृन्दानि परीधारो यस्याः सा तथा
तस्याः (पर्वतः) रा० । " अणुगवरतुरगमत्तकुंजरइपहकर (सहकर)
सीयसंदमाणीयाइसजाणजुग्गा " अनेकैर्वरतुरगैर्मत्तकुजैः (रह-
पहकरेत्ति) रथानिकरैः (रहसहकरेत्ति वा) रथानां सहकारैः सङ्गा-
तैः शिविकाभिः स्यन्दमानीजिराकीर्णा व्याप्ता यानैर्युगैश्च या सा
तथा । भाकीर्णशब्दस्य मध्यनिपातः प्राकृतत्वात् । अथवा अने-
के वरतुरगादयो यस्यामाकीर्णानि च गुणवान्ति यानादीनि यस्यां
सा । औ० । " अणुगवरद्वयसुत्तमपसत्थसुइरइयपाणिजेहे " अने-
कैर्वरलक्ष्णैरुत्तमाः प्रशस्ताः शुचयो रतिदाश्च रम्याः पाणिद्वेक्षा
यस्य स तथा । औ० । " अणुगवायामजोगवगगणवामइणमल्लजु-
ककरेहि " अनेकानि यानि व्यायामनिमित्तयोग्यादीनि तानि
तथा तैः तत्र योग्या गुणनिका बलानमुदलङ्घनं व्यामर्दनं परस्पर-
स्याङ्गमोदनं मल्लयुद्धं प्रतीतं करणानि चाङ्गभङ्गविशेषा मल्ल-
शास्त्रप्रसिद्धाः । औ० । ज्ञा० । " अणुगवाससयमाउयंतो " अनेकवर्षशतायुष्मन्तः । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । " अणुगसउ-
णिगणमिहुणपवियरिप " अनेकशकुनिमिथुनकानां प्रविचरित-
मितस्ततो गमनं यत्र तत्तथा (प्रयातकुण्डम्) जं० ४ वक्त्र० ।
रा० । " अणुगसंकुकील्लगसहस्सवितते " अनेकैः शङ्कुप्रमाणैः
कीलकसहस्रैर्महद्भिर्हि कीलकैस्तान्निप्रयाया मध्यक्षाः संभव-
न्ति । तथारूपतामाऽसंभवादतः शङ्कुग्रहणं, विततं वितानीकृतं
ताडितमिति भावः । रा० । जी० । " अणुगसयाप " अनेकानि
पुरुषाणां शतानि संख्यया यस्याः सा अनेकशता, तस्याः । रा० ।
" अणुगसाइप्पसाइविमिमा " अनेकशाखाप्रशाखाविटपयस्तन्म-
ध्यजागो वृक्षविस्तारो वा येषां ते (वृक्षाः) । औ० । ज्ञा० ।

नीयमिति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । ' धर्मकथां कुर्वन्ति ' इत्य-
स्यार्थे, वृ० १ उ० ।

अणुसमय-अनुसमय-अव्य० । समयं समयमनुवृत्तीकृत्येत्य-
नुसमयम् । वीप्सायामव्ययीजावः । कर्म० ५ कर्म० । सततमि-
त्यर्थे, उक्त० ५ अ० । प्रतिसमयमित्यर्थे, क० प्र० । प्रति० । प्र-
तिकृणमित्यर्थे, चं० प्र०६ पाहु० । "अणुसमयं अविरहियं गिरं-
तरं उववज्जाति" । अनुसमयमित्यादिपदत्रयमेकार्थम् । अ० ४१
शु० १ उ० ।

अणुसमवयवोत्रवत्तिअ-अनुसमवदनोपपातिक-त्रि० । अ-
नुरूपा समाऽविपना वदनोपपत्तिर्द्धारघटना येपांते तथा । अ-
नुलोमाऽविपमद्वारघटनाके, " सत्तिसूचकलक्षण-अणुसम-
वयवोत्रवत्तिअ " जं० ३ यक्० ।

अणुसय-अनुशय-पुं० । गर्भे, पश्चात्तापे च । अनु० । प्रअ० ।

अणुसरण-अनुस्मरण-न० । सदसत्कर्तव्यप्रवृत्तिहेतुनृतेऽ-
नुचिन्तने, पञ्चा० १ विव० । " शाणानयाणुसरणं, पुव्वगय-
सुयाणुसारणं " आच० ४ अ० । स्मृतौ, विशे० ।

अणुसरियव्व-अनुसर्तव्य-त्रि० । अनुगन्तव्ये, स्था० ५ ठा० १ उ० ।
अनुस्मर्तव्य-त्रि० । अनुचिन्तनीये, " अणुसरियव्वो सुदेण
चिच्छेण पसेव नमोक्कार कयन्नुयं मन्नमाणं " आ० म० द्वि० ।

अणुसरिम-अनुसदृश-त्रि० । अनुरूपे, "अणुसरिसो तस्स हो-
उवज्जाओ" व्य० २ उ० ।

अणुसार-अनुसार-पुं० । अनु-सृ-भावे घञ् । अनुगमने, सह-
शीकरणे च । वाच० । " विउसासु अ लफणणाणुसारिणं " इ-
त्यादि । प्रा० । पारतन्त्र्ये, विशे० ।

अनुस्वार-पुं० । स्वराश्रयेण उच्चार्यमाणे विन्दुरेखया व्यज्य-
माने अनुनासिके वर्णभेदे, वाच० । अनुस्वारो विद्यतेऽस्येति अ-
त्रादिच्य इति मत्वर्थीयोऽयं प्रत्ययः । अनुस्वारवत्त्वेनोच्चार्यमा-
णेऽनङ्गरभृतविशेषे, आ० म० द्वि० । न० । " अणुस्वारं णाम
पङ्गुद्धे अच्चे सत्तं वा संभरिते अच्चेण वा संभारिते जं अफल्-
रविरहितं सहकरणं तमणुस्वारं प्रचति" । आ० चू० १ अ० ।

अणुसासंत-अनुशासत्-त्रि० । शिक्षयति-शिक्षां प्रयच्छति,
उक्त० ४ अ० ।

अणुसासण-अनुशासन-न० । अनुशास्यन्ते सन्मार्गेऽवतार्य-
न्ते सदसद्विवेकतः प्राणिनो येन तदनुशासनम् । धर्मदेशनस-
न्मार्गाऽवतारणे, " अणुसासणं पुढो पाणी, वसुमं पूयणासु ते"
सूत्र० १ शु० १५ अ० । जगवदाज्ञारूपे-आगमे च । " सोच्चा
जगधाणुसासणं, सच्चे तथ करेज्जुयकमे " सूत्र० १ शु० २
अ० ३ उ० । शासनमनु-अव्ययीजावः । यथागममित्यर्थे । स्वातु-
सारिणोति यावत् । "अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिं समं पवेइ-
यं" सूत्र० १ शु० २ अ० १ उ० । शिक्षायासु, ज्ञा० १३ अ० ।
उक्त० । जी० । राजद्विष्टराक्षोऽनुशासनं वक्ष्यामि । पञ्चा० ६
विव० । दुःस्थस्य सुस्थतासंपादने, स० । अनुकम्पायाम्, "अ-
णुकंपं ति वा अणुसासणं ति वा पण्ठा " पं० चू० । अनुशास-
नं ज्ञयमाने वा दृष्टे वा, किमुक्तं ज्ञयति ?-सामाचारीतः प्रतिज-
न्यमानान् कथञ्चिद् कृत्वा तदनुशासति तदनुशासनम् । यदि वा
यां यथांकार्येऽपि सन् कथञ्चिन्न कुर्वते, तत्कस्यचिच्चिक्षणम्,

'यत्तत्तव कृत्यमिति' कृत्वा तदनुशासति यत्तदनुशासनम् । संप्र-
भेदे, व्य० ३ उ० । ' अणुसासइ'-अनुशास्ते । वृ० १ उ० ।

अणुसासणविहि-अनुशासनविधि-पुं० । अनुशासतिविधाने,
पञ्चा० ६ विव० ।

अणुसासिजंत-अनुशास्यमान-त्रि० । तत्र तत्र चोद्यमाने,
" अणुसासिजंतो सुस्सइ " दश० १ अ० ४ उ० । सूत्र० ।

अणुसासिय-अनुशासित-त्रि० । युक्तानि शिक्षमाणे कथञ्चि-
त् स्मृतितादिषु गुरुभिः परूपोक्त्या शिक्षिते-गुरुभिः कठोरव-
चनस्तर्जिते, उक्त० १ अ० । अभिहिते, सूत्र० १ शु० १४ अ० ।

अणुसिद्ध-अनुशिष्ट-त्रि० । शिक्षां गृहीते, " तत्तेण अणुसि-
द्धाते, अपडिच्छेण जाणया " सूत्र० १ शु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुसिद्धी-अनुशिष्टी-स्त्री० । तद्रभावकथनपुरस्सरं प्रक्षाप-
नायाम्, वृ० १ उ० । ('अणुसिद्धी' शब्दप्रकरणे दर्शितार्थे,)
शिक्षायाम्, उक्त० १ अ० ।

अणुमुत्ती-देशी-अनुकूले, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुमूयग-अनुमूचक-पुं० । नगराभ्यन्तरे चारुमुपलभमाने,
सूचककथितं श्रुतं दृष्टं वा, स्वयमुपलब्धं च प्रतिसूचकेभ्यः
कथयति, सामन्तराज्येषु वसतिकृतवृत्तिके अमात्यपुरूपे,
तदृश्यां कृतवृत्तिकायां चैव महिलायाम्, "सूयग तहाऽणुसू-
यग-पडिसूयग सव्वसूयगा चेव । पुरिसा कयविचीया, वसंति
सामंतनगरेसु ॥१॥ महिला कयविचीया वसंति सामंतवण-
रेसु " व्य० १ उ० ।

अणुम् (स्मृ) यत्ता-अनुस्यूतत्व-न० । अपरशरीराभितता-
यां परनिधायाम्, " अचिच्छेसु वा अणुस्यूताप वि उट्ठंति "
सूत्र० २ शु० ३ अ० ।

अणुसोय-अनुश्रोतस्-न० । प्रवाहे, "अणुसोयपटिप बहु, ज-
णम्मि पडिसोयलखलफ्फेण । पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो
होउ कामेणं ॥१॥ अणुसोयसुहो लोगो, पडिसोओ आसमो
सुविहियाणं । अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उच्चा-
रो " ॥२॥ अष्ट० २३ अष्ट० । पं० सू० ।

अणुमोयचारि (ण)-अनुश्रोतधारिन्-त्रि० । अनुश्रोतसा
चरतीति अनुश्रोतधारी । नद्यादिप्रवाहगामिनि मत्स्ये, एवं
मिक्षाके च । यो हि अभिग्रहविशेषादुपाभयसमीपात् क्रमेण
कुलेषु भिद्यन्ते सोऽनुश्रोतधारी । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अणुसोयपट्टिय-अनुश्रोतःप्रस्थित-त्रि० । नदीपूरप्रवाहपतित-
काष्ठवद् विषयकुमार्यद्रव्यक्रियानुकूल्येन प्रवृत्ते, "अणुसोय-
पट्टिप बहु, जणम्मि पडिसोयलखलफ्फेण । पडिसोयमेव अ-
प्पा, दायव्वो होउ कामेणं " ॥१॥ दश० २ चू० ।

अणुसोपसुह-अनुश्रोतःसुख-त्रि० । उदकमिक्षामिसर्पणवत्
प्रवृत्त्याऽनुकूलविषयादिमुक्ते, दश० १ अ० । "अणुसोयसुहो
लोगो " दश० २ चू० ।

अणुस्सग-अनुत्सर्ग-पुं० । अपरित्यागे, दर्श० ।

अणुस्तरिचा-अनुसृत्य-अव्य० । अनुसारं कृत्येत्यर्थे, "अंघं च

प्रसङ्गः। न च तयोर्थो नित्यत्वहानिः। “खल्वयं पर्यायवियुतं, पर्याया खल्ववर्जिताः। क कदा केन किरूपाः, दृष्टा भानेन केन वा ?” ॥१॥ इति वचनात् । न चाकाशं न खल्वयं, लौकिकानामपि घटाऽऽकाशं पटाऽऽकाशमिति व्यवहारप्रासेद्वेराकाशस्य नित्याऽनित्यत्वम् । घटाऽऽकाशमपि हि यदा घटापगमे पटेनाक्रान्तं, तदा पटाऽऽकाशमिति व्यवहारः । न चायमौपचारिकत्वाद्प्रमाणमेव ? उपचारस्याऽपि किञ्चित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । नमस्तौ हि यत्किञ्च सर्वव्यापकत्वं मुख्यं परिमाणं, तत्तद्वाधेयघटपटादिसम्बन्धिनियतपरिणामवशात्कल्पितभेदं सत् प्रतिनियतदेशव्यापितया व्यवहियमाणं घटाकाशपटाकाशादितत्तच्छ्रपदेशनिबन्धनं भवति । तत्तद्घटादिसंबन्धे च व्यापकत्वेनावस्थितस्य व्योम्नोऽवस्थान्तरापत्तिः, ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थावतोऽपि भेदः, तासां ततोऽविष्वग्जावात् । इति सिद्धं नित्याऽनित्यत्वं व्योम्नः । स्वायम्भुवा अपि हि नित्यानित्यमेव वस्तु प्रपन्नाः । तथा चाहुस्ते-त्रिविधः खल्वयं धर्मिणः परिणामो धर्मवृक्षणावस्थारूपः । सुवर्णं धर्मि, तस्य धर्मपरिणामो वर्द्धमानरुचकादिः, धर्मस्य तु वृक्षणपरिणामोऽनागतत्वादिः । यदा खल्वयं हेमकारो वर्द्धमानकं भङ्गक्या रुचकमारचयति, तदा वर्द्धमानको वर्द्धमानतालक्षणं हित्वाऽतीततालक्षणमापद्यते, रुचकस्तु-अनागततालक्षणं हित्वा वर्द्धमानतामापद्यते । वर्द्धमानताऽऽपन्न एव रुचको नवपुराणजावमापद्यमानोऽवस्थापीरणामवात् भवति । सोऽयं त्रिविधः परिणामो धर्मिणः । धर्मवृक्षणावस्थाश्च धर्मिणो जिज्ञाश्चाजिज्ञाश्च । तथा च ते धर्म्यभेदात्तन्नित्यत्वेन नित्याः । भेदाच्चोत्पत्तिविनाशविषयत्वमित्युक्त्यमुपपन्नमिति ॥ अथोत्तरार्द्धं विधियते एवं चोत्पादव्ययप्रौढ्यात्मकत्वं सर्वभावनानां सिद्धेऽपि तद्वस्तु एकमाकाशाऽऽत्मादिकं नित्यमेव, अन्यच्च प्रदं । पघटादिकमनित्यमेवेति । एवकारोऽत्रापि संबध्यते । इत्थं हि पुनर्यवादापत्तिः, अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि स्वाभिप्रेतनित्यत्वादिधर्मसमर्थनप्रवचनाः शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्त्तमाना दुर्नया इति तद्वृक्षणात् । इत्थेनोद्धे-खेन त्वदाकाशद्विपतां नवप्रणं । तशाऽनन्तराधिनां, प्रवृत्तापाः प्रवृत्ताऽन्यसंबन्धव्याप्यानीति यावत् । अत्र च प्रथममादीपमिति परप्रसिद्ध्या अनित्यपक्षोद्धेखेऽपि यदुत्तरत्र यथासंबन्धपरिहारेण पूर्वतरं नित्यमेवैकमित्युक्तं तदेवं ज्ञापयति-यदनित्यं तदपि नित्यमेव कथञ्चित्, यच्च नित्यं तदप्यनित्यमेव कथञ्चित् । प्रक्रान्तवादिजिरप्येकस्यामेव पृथिव्यां नित्याऽनित्यत्वाऽन्युपगमात् । तथा च प्रशस्तकारः-सा तु द्विविधा नित्याऽनित्या च । परमाणुवृक्षणा नित्या, कार्यवृक्षणा त्वनित्येति । न चात्र परमाणुरूपकार्यवृक्षणविषयद्वयभेदाद्वैकाधिकारणं नित्याऽनित्यत्वमिति वाच्यम् ? पृथिवीत्वस्योभयत्राव्यभिचारात् । एवमवादिष्वपीति । आकाशेऽपि संयोगविभागाङ्गीकारात्तैरनित्यत्वं युक्त्या प्रतिपन्नमेव । तथा च स एवाह-“शब्दकारणत्ववचनात्संयोगविज्ञागौ” इति नित्याऽनित्यपक्षयोः संबलितत्वम् । एतच्च लेशतो ज्ञावितमेवेति । प्रलापप्रायत्वं च परवचनानामित्थं समर्थनीयम्, वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणम्, तच्चैकान्तनित्याऽनित्यपक्षयोर्न घटते । अप्रच्युताऽनुत्पन्नस्यैरेकरूपो हि नित्यः । स च क्रमेणार्थक्रियां कुर्वीत ? अक्रमेण वा ? अन्योऽन्यव्यवच्छेदरूपाणां प्रकारान्तराऽसंभवात् । तत्र न तावत् क्रमेण । स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसन्ना कुर्यात् ; समर्थस्य काव्येकायोगात्, काव्येकापिणो वाऽसामर्थ्यप्राप्तेः । समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधाने तं तमर्थं करोतीति चेत्, न

तर्हि तस्य सामर्थ्यम् । अपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात् । “सापेक्षमसमर्थम्” इति न्यायात् । न तेन सहकारिणोऽपेक्षयन्ते, अपि तु कार्यमेव सहकारिण्वसंस्वप्नवत् तानपेक्षत इति चेत्, तर्हि स ज्ञावोऽसमर्थः, समर्थो वा ? समर्थश्चेत्किं सहकारिमुखप्रेक्षणादीनानि तान्युपेक्षते, न पुनर्जडिति घटयति ? ननु समर्थमपि बीजमिवाज्जवाऽनिवादिहसहकारिसहितमेवाहुं करोति, नान्यथा । तर्हि तस्य सहकारिभिः किञ्चिदुपक्रियेत ? न वा ? यदि नोपक्रियेत तदा सहकारिसिद्धानात् प्रागिव किं न तदाऽप्यर्थक्रियायामुदास्ते ? उपक्रियेत चेत्, स तर्हि तैरुपकारो भिन्नोऽजिन्नो वा ? क्रियत इति वाच्यम् । भवेदे स एव क्रियते, इति ज्ञानमिच्छतां भूवृक्षतिरायाता, कृतकत्वेन तस्यानित्यत्वाऽपत्तेः । भेदे तु स कथं तस्योपकारः, किं न सहाविन्याद्रेरपि ? तत्संबन्धात् तस्यायमिति चेत्, उपकार्योपकारयोः कः संबन्धः ? न तावत्संयोगः, खल्वयोरेव तस्य भावात् । अत्र तु उपकार्यं द्रव्यम्, उपकारश्च क्रियेति न संयोगः । नाऽपि समवायः, तस्यैकत्वाद्, व्यापकत्वाच्च । प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावेन सर्वत्र तुल्यत्वाच्च नियतैः संबन्धिभिः संबन्धो युक्तः । नियतसंबन्धिसमर्थे चाङ्गीक्रियमाणे तत्कृत उपकारोऽस्य समवायस्याभ्युपगन्तव्यः, तथा च सत्युपकारस्य भेदाऽभेदकल्पना तदवश्यम् । उपकारस्य समवायादभेदे समवाय एव कृतः स्यात् । भेदे तु पुनरपि समवायस्य न नियतसंबन्धिसंबन्धत्वम् । तच्चैकान्तनित्यो भावः क्रमेणार्थक्रियां कुरुते । नाप्यक्रमेण । नह्येको जावः सकृद्वृक्षणाद्वृक्षणापजातिनीर्युगपत्सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रार्तीतिकम् । कुरुतां वा, तथापि द्वितीयवृक्षणे किं कुर्यात् ? करणे वा क्रमपक्षजावी दोषः । अकरणे त्वर्थक्रियाकारित्वाऽभावादवस्तुत्वप्रसङ्गः । इत्येकान्तनित्यात् क्रमाऽक्रमान्यां व्याप्ताऽर्थक्रिया व्यापकानुपपत्तिवृत्त्याद् व्यापकनिवृत्तौ निवर्त्तमाना स्वव्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्त्तयति । अर्थक्रियाकारित्वं च निवर्त्तमानं स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्त्तयतीति । इति नैकान्तनित्यपक्षो युक्तिक्रमः । एकान्तानित्यपक्षोऽपि न कङ्कीकरणार्हः । अनित्यो हि प्रतिक्षणविनाशी । स च न क्रमेणार्थक्रियासमर्थः, देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्यैवाभावात् । क्रमोऽहि पौर्वापर्यम्, तच्च कालिकस्यासंभवि । अवस्थितस्यैव हि नानादेशकालव्याप्तिदेशक्रमः, काव्यक्रमश्चाभिधीयते । न चैकान्तादिनाशिनि साऽस्ति । यदाहुः-“गो यत्रैव स तत्रैव, यो यदैव नदैव सः । न देशकालयोर्व्याप्ति-ज्ञावानामिह विद्यते ॥१॥ न च सन्तानोपेक्षया पूर्वोत्तरक्षणानां क्रमः संभवति ? सन्तानस्यावस्तुत्वात् । वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि क्षणिकत्वम् ? न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः । अथाऽक्षणिकत्वम् ? तर्हि समाप्तः क्षणमङ्गवादः । नाप्यक्रमेणार्थक्रियाकारिके संभवति, स हि एको बीजपूरादिक्षणो युगपदनेकान् रसादिक्षणान् जनयन् एकेन स्वभावेन जनयेत् ? नानास्वभावैर्वा ? यद्येकेन, तदा तेषां रसादिक्षणानामेकत्वं स्यात्, एकस्वभावजन्यत्वात् । अथ नाना स्वभावैर्जनयति किञ्चिद्वृक्षादिकमुपादानभावेन, किञ्चिद्वृक्षादिकं सहकारित्वेनेति चेत्, तर्हि ते स्वभावास्तस्यात्मभूताः, अनात्मभूता वा ? अनात्मभूताश्चेत्, स्वभावत्वहानिः । यथात्मभूतास्तर्हि तस्यानेकत्वम्, अनेकस्वभावत्वात् । स्वभावानां वा एकत्वं प्रसज्येत, तदव्यतिरिक्तत्वात् तेषाम्, तस्य चैकत्वात् । अथ य एव एकत्रोपादानभावः स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते, तर्हि नित्यस्यैकरूपस्यापि क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः, कार्यसाङ्ग्यं च कथमिष्यते क्षणिकत्वादिना ? । अथ नित्यमेकरूप-

अथेकांतांतरसिद्धकेवलनाण—अनेकान्तरसिद्धकेवलज्ञान-
न० । आग्निनिर्वाधिकज्ञानभेदे, स्या० २ डा० १ उ० ।

अथेकांगिय—अनेकाङ्गिक—पुं० । अनेकपट्टकृते, नि० चू० १ उ० ।
कान्तिकाप्रस्तारात्मके संस्तारभेदे च । व्य० २ उ० ।

अथेकांत—अनेकान्त—त्रि० । न एकान्तो नियमोऽप्यभिचारी यत्र ।
अनियमे, अनिश्चितपक्षके च । वाच० । अनिश्चये, विशे० । एकाभ्ये,
प्रच० ३८ डा० ।

अथेकांतजयपताका—अनेकान्तजयपताका—स्त्री० । हरिजिह्वसुरि-
विरचिते स्नानमयथाते ग्रन्थभेदे, यद्बुद्धिचिवरणं मुनिचन्द्रणा-
कारि । तदुपक्रमे “शेषमतातिशयानां, यस्यानेकान्तजयपताक-
ह । हर्तुमशक्या केनाऽपि वादिना नैमि तं धीरम् ॥१॥ कतिपयवि-
पमपदगतं, यस्येकान्तजयपताकायाः । वृत्तेर्विवरणमहम-
स्पृष्टिदुर्लभै समामेन” ॥२॥ अनेकान्तजयपताकावृत्तिविव० ।

अथेकांतपग—अनेकान्तात्मक—न० । ग्रन्थते गम्यते निश्चीयते
इत्यन्तो धर्मः । न एकोऽनेकः । अनेकथाऽसावन्तश्चानेकान्तः ।
स आत्मा स्वभावो यस्य वस्तुजातस्य तदनेकान्तात्मकम् । स-
द्वसदायनेकधर्माऽऽत्मके, रत्ना० ३ परि० ।

अथेकांतवाय—अनेकान्तवाद—पुं० । स्याद्वादे, स च यथा युक्त-
तामञ्जलि, तथा स्याद्वादमञ्जल्यादिग्रन्थेभ्यः संगृह्यते ।

(१) एकान्तवादवृषणपुरस्सरमनेकान्तवादिमतम् ।

(२) प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणमप्यनेकान्तवादं येऽप्यन्यन्ते
तेषामुन्मत्तताऽऽविर्भाजनम् ।

(३) उत्पादविनाशयोरैकान्तिकताऽन्युपगमनिषेधः ।

(४) वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वम् ।

(५) वस्तुन एकान्तसद्वृत्तत्वं स्वीकृत्यतः साव्यमतस्य
परासने युक्तिः ।

(६) काश्चाद्येकान्तवादाऽपि मिथ्यात्वमेव ।

(७) साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्च साध्यसिद्धिः ।

(८) अनेकान्तवाद एव सन्मार्गः ।

(९) एकान्तवादिनोऽज्ञाः ।

(१०) अनेकान्तवादस्वीकाराऽस्वीकारयोः सम्यक्मिथ्यात्वम् ।

(१) तत्रैकान्तवादवृषणपुरस्सरमनेकान्तवाद्याह—

आदीपमान्योम समस्वजावं,

स्याद्वादमुद्याऽनतिभेदिवस्तु ।

तन्नित्यमैकमनित्यमन्य-

दिति त्वदाऽऽज्ञाद्विपतां प्रज्ञापाः ॥ ५ ॥

आदीपं दीपादारभ्य, आन्योम व्योममर्यादीकृत्य, सर्वं वस्तु प-
दार्थस्वरूपं, समस्वभावम्-समस्तुल्यः स्वभावः स्वरूपं यस्य त-
त्तथा । किञ्च-वस्तुनः स्वरूपं द्रव्यपर्यायात्मकत्वमिति धूमः ।
तथा च वाचकमुख्यः—“ उत्पादव्ययव्युत्पन्नसत् ” इति ।
समस्वभावत्वं कुतः ? इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह—(स्याद्वाद-
मुद्राऽनतिभेदि) स्यादित्यन्ययमनेकान्तद्योतकम् । ततः स्याद्वा-
दोऽनेकान्तवादे नित्यानित्याद्यनेकधर्मशब्दैकवस्त्वभ्युपगम
इति यावत् । तस्य मुद्रा मर्यादा तां नातिभिर्नाति नातिक्रामतीति
स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि । यथाहि—न्यायैकनिष्ठे राजनि राज्य-
भियं शासति सति सर्वाः प्रजास्तन्मुद्रां नातिवर्तितुमीशते,
तदतिक्रमे तासां सर्वार्थहानिभावात् । एवं विजयिनि निष्क-

यदके स्याद्वादमहानरेन्द्रे तदीयमुद्रां सर्वेऽपि पदार्था नाति-
क्रामन्ति; तदुल्लङ्घने तेषां स्वरूपव्यवस्थाहानिप्रसङ्गः । सर्वव-
स्तूनां समस्वभावत्वकथनं च परामीष्टस्यैकं वस्तु व्योमादि
नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपादि अनित्यमेवेति वादस्य प्रतिक्षेप-
यीज्यम् । सर्वे हि भावा द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्याः, पर्या-
यार्थिकनयादेशात् पुनरनित्याः । तत्रैकान्ताऽनित्यतया परै-
रङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्याऽनित्यत्वव्यवस्थापने दिङ्मात्र-
मुच्यते । तथाहि—प्रदीपपर्यायाऽऽपञ्चास्तैजसाः परमाणवः स्वर-
सतस्तलक्षणाद्वाताभिघाताद्वा, ज्योतिःपर्यायं परित्यज्य तमां-
रूपं पर्यायान्तरमासाद्यन्तोऽपि नैकान्तेनानित्याः, पुञ्जद्रव्य-
रूपतयाऽवस्थितत्वात् तेषाम् । नह्येतावतैवाऽनित्यत्वं यावता
पूर्वपर्यायस्य विनाशः, उत्तरपर्यायस्य चोत्पादः । न खलु मृद-
द्रव्यं स्थासककोशकुशलशिवकघटाद्यवस्थाऽन्तराख्यापद्यमा-
नमप्येकान्ततो वितष्टम्, तेषु मृद्द्रव्यानुगमस्याऽऽद्याल्लगोपालं
प्रतीतत्वात् । न च तमसः पौञ्जलिकत्वमसिद्धम्; चाक्षुषत्वाऽ-
न्यथाऽनुपपत्तेः, प्रदीपालोकवत् । अथ यच्चाक्षुषं तत् सर्वं
स्वप्रतिभासे आलोकमपेक्षते, न चैवं तमः, तत् कथं चाक्षुषम् ?
नैवम् । उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासात् । यैस्त्व-
सदादिभिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमालोकं विना नोपलभ्यते,
तैरपि तिमिरमालोकयिष्यते, विचित्रत्वान्नाद्यानाम् । कथम-
न्यथा पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुकाफलाद्या आलोकोपलक्ष-
नाः । प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षाः । इति सिद्धं तम-
आक्षुषं, रूपवत्वाच्च स्पृशत्वमपि प्रतीयते, शीतस्पर्शप्रत्ययज-
नकत्वात् । यानि त्वनिभिन्नावयवत्वमप्रतिघातित्वमनुद्भूतस्पर्-
शविशेषत्वमप्रतीयमानस्य एव विचित्रप्रविजगत्त्वमित्यादीनि
तमसः पौञ्जलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्यस्तानि, तानि
प्रदीपप्रभाद्व्यन्तैरेव प्रतिषेध्यानि, तुल्ययोगक्षेमतत्वात् । नच
वाक्यं तैजसाः परमाणवः कथं तमस्त्वेन परिणमन्त इति ? पुञ्ज-
ज्ञानां तत्तत्सामग्रीसहकृतानां विसदृशकार्योत्पादकत्वस्याऽपि
दर्शनात् । दृष्टो ह्याद्वैतधनसंयोगवशाद्वास्वरूपस्याऽपि बहिर-
भास्वरूपधूमरूपकार्योत्पादः; इति सिद्धो नित्याऽनित्यः प्रदीपः ।
यदाऽपि निर्वाणाद्वर्णं द्वादप्यमानो द्वापस्तदाऽपि नवनवपर्या-
योत्पादविनाशनाकत्वात् प्रदीपत्वान्वयाच्च नित्याऽनित्य
एव । एवं व्योमापि उत्पादव्ययव्योम्यात्मकत्वान्नित्याऽनित्यमेव ।
तथाहि—अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहदानोपग्रह एव
तल्लक्षणम्, “ अवकाशदमाकाशमिति ” यचनात् । यदा
चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगतो विस्रसातो वा एक-
स्माच्चतुःप्रदेशात्प्रदेशान्तरमुपसर्पन्ति, तदा तस्य व्योमस्तै-
रवगाहकैः सममेकस्मिन् प्रदेशे विजगः, उत्तरस्मिन् च प्रदेशे
संयोगः । संयोगविजगौ च परस्परं विरुद्धौ धर्मौ । तद्वदे चा-
वश्यं धर्मिणो प्रेक्षः । तथा चाहुः—“अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा,
यद्विरुद्धधर्माभ्यासः कारणजैद्वन्द्वेति” । ततश्च तदाकाशं पूर्वसं-
योगविनाशलक्षणपरिणामापत्त्या विनष्टम्, उत्तरसंयोगोत्पादा-
व्यपरिणामानुभवान्नोत्पन्नम् । उन्नयत्राऽऽकाशद्रव्यस्यानुगतत्वा-
न्नोत्पादव्यययारेकाधिकरणत्वम् । तथा च “यदप्रच्युतानुत्पन्न-
क्षिरैकरूपं नित्यम्” इति नित्यलक्षणमाचक्षते । तदप्यस्तम् । पयं-
विधस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात् । “तद्वाभाव्यं नित्यम्” इति तु
सत्यं नित्यलक्षणम् । उत्पादविनाशयोः सद्भावेऽपि तद्भावादन्त्य-
यिरूपाद्यन्नयेति तन्नित्यम्, इति तदर्थस्य घटमानत्वात् । यदि हि
अप्रच्युताऽऽदि लक्षणं नित्यमिष्यते, तदोत्पादव्यययोर्निराधारत्व-

भाविनश्च पर्यायास्त एवात्मा स्वरूपं यस्य तदनन्तधर्मात्मकम् । एवकारः प्रकारान्तरव्यवच्छेदार्थः । अत एवाद- [अतोऽन्यथेत्यादि] अतोऽन्यथा चक्रप्रकारवैपरीत्येन, सत्त्वं चस्तुतत्त्वमसूपपादम्-सुखेनोपपाद्यते घटनाकोटिसंदर्भकारोप्यत इति सूपपादम्, न तथाऽसूपपादसु; दुर्घटमित्यर्थः । अनेन साधनं दर्शितम् । तथा हि-तत्त्वमिति धर्मि, अनन्तधर्मात्मकत्वं साध्यो धर्मः, सत्त्वाऽन्यथाऽनुपपत्तेरिति हेतुः, अन्यथाऽनुपपत्त्येकसङ्गणत्वाच्चेतोः । अन्तर्याम्यैव साध्यस्य सिद्धत्वाद् दृष्टान्तादिभिर्न प्रयोजनम् । यदनन्तधर्मात्मकं न भवति, तत्सदपि न प्रवति । यथा-वियदिन्दीवरम् । इति केवलव्यतिरेकी हेतुः, साधर्म्यदृष्टान्तानां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनान्वयाऽयोगात् । अनन्तधर्मात्मकत्वं चाऽऽत्मनि तावत्-साकाराऽनाकारोपयोगिता, कर्तृत्वं, ज्ञोक्तृत्वं, प्रदेशाद्वैकनिश्चलता, अमूर्तत्वमसङ्घातप्रदेशात्मकता, जीवित्यमित्यादयः सहजाविनो धर्माः । इयं विपादशोकसुखदुःखदेवनरनारकतिर्यक्त्वादयस्तु कमजाविनः । धर्मास्तिकायादिष्वप्यसंख्येयप्रदेशात्मकत्वं गत्याश्रुपग्रहकारित्वं मत्यादिज्ञानविषयत्वं तत्तदवच्छेदकावच्छेद्यत्वमवस्थितत्वमरूपित्वमेकद्रव्यत्वं निष्क्रियत्वमित्यादयः । घटे पुनरात्मत्वं, पाकजरूपादिमत्त्वं, पृथुबुध्नोदत्त्वं, कम्बुग्रीवत्वं, जलादिधारणाऽऽहरणादिसामर्थ्यं, मत्यादिज्ञानहेतुत्वं, नयत्वं, पुराणत्वमित्यादयः । एवं सर्वपदार्थेष्वपि नानानयमताभिज्ञेन ज्ञाद्धानार्थश्च पर्यायान् प्रतीत्य वाच्यम् । यत्र चाऽऽप्रशब्दानन्तेष्वपि धर्मेष्वनुवर्तिरूपमन्वयि रूपं ध्वनितम् । ततश्च 'उत्पादव्ययघ्राव्ययुक्तं सत्' इति व्यवस्थितम् । एवं तावदर्थेषु शब्देष्वपि उदात्ताऽनुदात्तस्वरितविद्वृतसंघृतघोषवदघोषताऽल्पप्रमाणमहाप्राणतादयस्तत्तदर्थप्रत्यायनशक्त्यादयश्चावसेयाः । अस्य हेतोरसिद्धविरुद्धाऽनैकान्तिकत्वादिकण्टकोद्धारः स्वयमभ्युद्भाः । इत्येवमुल्लेखशेखराणि ते तव, प्रमाणान्यपि न्यायोपपन्नसाधनवाच्यपान्यपि । आस्तां तावत्साक्षात्कृतद्रव्यपर्यायनिकायो भवान्, यावदेतान्यपि कुवादि-कुरङ्गसंज्ञासिंहनादाः-कुवादिनः कुतिसिन्धवादिनैकांशाग्राहकनयाऽनुयायिनोऽन्यतीर्थिकाः, त एव संसारवनगहनवसनव्यसनितया कुरङ्गा मृगाः, तेषां सम्यक्क्रासने सिंहनादा इव सिंहनादाः । यथा सिंहस्य नादमात्रमप्याकर्ण्य कुरङ्गास्त्रासमासूचयन्ति, तथा भवत्प्रणीतैवंप्रकारप्रमाणवचनान्यपि ध्रुवा कुवादिनस्त्रासमश्नुचते, प्रतिवचनप्रदानकातरतां विभ्रतीति यावत् । एकैकं त्वदुपज्ञं प्रमाणमन्ययोगव्यवच्छेदकमित्यर्थः । अत्र प्रमाणानीति बहुवचनमेवजातीयानां प्रमाणानां भगवच्छासने आनन्त्यज्ञापनार्थम् ; एकैकस्य सूत्रस्य सर्वोदधिसिद्धिस्तत्सर्वसरिद्धालुकाऽनन्तगुणार्थत्वात्, तेषां च सर्वेषामपि सर्वविन्मूलतया प्रमाणत्वात् । अथवा इत्यादि बहुवचनान्ता गणस्य संसूचका भवन्तीति न्यायात्, इति शब्देन प्रमाणवाहुल्यसूचनापूर्वाकं एकस्मिन्नपि प्रमाणे उपन्यस्ते उचितमेव बहुवचनमिति काव्यार्थः ॥ २२ ॥ (सप्तमङ्गीनिरूपणं 'सत्तमङ्गी' शब्दे वक्ष्यते) (उत्पादव्यययोर्लविष्यं स्वस्थाने)

(३) न चोत्पादविनाशयोरैकान्तिकतद्रूपताऽन्युपगमेऽनैकान्तवाद्वाद्याघातः ? , कथञ्चित्तयोस्तद्रूपताऽन्युपगमात् । तदाह—

तिष्ठि वि उपायाई, अजिन्नकाला य जिन्नकाज्ञा य । अत्थंतरं अणत्थं-तरं च दवियाई णायवा ॥ १३॥ अयोऽन्युत्पादविगमस्थितस्वभावाः, परस्परतोऽन्यकालाः । यतो

न पदादेरुत्पादसमय एव विनाशः, तस्यानुत्पत्तिप्रसक्तः । नापि तद्विनाशसमये तस्यैवोत्पत्तिः, अविनाशोत्पत्तेः । न च तत्रादुर्भावसमय एव तत्स्थितिः, सद्रूपेणैवाऽवस्थितस्याऽनवस्थाप्रसक्तिः । तत्रादुर्भावायोगात् । न च रूपघटरूपमृत्स्थितिकाले तस्य विनाशः, तद्रूपेणावस्थितस्य विनाशस्य एव ध्वंसोऽनुत्पत्तिप्रसङ्गत एव युक्तः । तत्त्वयाणामपि भिन्नकालत्वात्, तद्रव्यमर्थान्तरम् । नाना स्वभावादनैकान्ताभावप्रसक्तिः । यतोऽभिन्नकालाश्चोत्पादादयः, न हि कुशुलविनाशघटोत्पादयोर्भिन्नकालता, अन्यथा विनाशात् कायोत्पत्तिः स्यात् । घटाद्युत्तरपर्यायानुपपत्ताद्यपि प्राकृतनपर्यायध्वंसप्रसक्तिश्च स्यात् । पूर्वात्तरपर्यायविनाशोत्पादक्रियाया निर्धारयोगात् । तदाधारभूतद्रव्यस्थितिरपि तदाऽन्युपगन्तव्या । न च क्रियाफलमेव क्रियाः, तस्य प्रागसत्त्वात्, सत्ये वा क्रियावैफल्यत् । तत्त्वयाणामपि भिन्नकालत्वाद् तद्रव्यतिरिक्तं रूपमभिन्नं नचाभावघटोत्पादविनाशापेक्षया भिन्नकालतयाऽर्थान्तरत्वम्, कुशुलघटविनाशोत्पादापेक्षया अभिन्नकालत्वेनार्थान्तरत्वादेकान्तर इति वक्तव्यं रूपम् । द्रव्यस्य पूर्ववस्थायां जिज्ञाजिघ्रतया प्रतीयमानस्योत्तरपर्यायामपि भिन्नाजिघ्रतयैव प्रतीतेरनेकान्तोऽव्याहतः । न चावाधिताप्यक्तादिप्रतिपत्तिविषयस्य तस्य विरोधाद्युद्भावनं युक्तिसंगतम्, सर्वप्रमाणप्रमेयव्यवहारविलोपप्रसङ्गात् । अत एवार्थान्तरमनर्थान्तरं चोत्पादादयो रूपात्तदवापो वा तेन्यस्तथेति हेतुम् । रूपात् तथाभूततद्राहकत्वपरिणततादात्म्यसङ्गणात्प्रमाणादित्यपि व्याख्येयम् । न हि तथानुत्तरप्रमाणप्रवृत्तिः तथानुत्तार्थमन्तरेणोपपन्ना, धूमध्यजमन्तरेण स वेद्यते च । तथाभूतग्राह्यग्राहिकरूपतयाऽनेकान्तात्मकं स्वसंदेहनतः प्रमाणमिति न तदपन्नापः कर्तुं शक्यः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । यद्वा-देशादिविप्रकृष्टा उत्पत्तिविनाशास्थिति-स्वभावा जिज्ञाभिन्नकाला अर्थान्तरानर्थान्तररूपा द्रव्यत्वाद्, द्रव्याद्रव्यातिरिक्तत्वादित्यर्थः । अन्यथोत्पादादीनामभावप्रसक्तः । तेभ्यो वा द्रव्यमर्थान्तरमनर्थान्तरम्, द्रव्यत्वात् । प्रतिज्ञार्थकदेशता च हेतोर्नाशङ्कीया, रूप्यविशेषे साध्ये द्रव्यसामान्यस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् ॥ १३२ ॥

अथैवार्थे प्रत्यक्षप्रतीतमुदाहरणमाह—

जो आञ्चणकाज्ञो, चैव पसारिस्स विणिजुत्तो ।

तेसिं पुण पडिवत्ती-विगमे काढंतरं नत्थि ॥ १३३ ॥

य आकुञ्चनकालोऽङ्गुल्यादेर्द्रव्यस्य, स एव तत्प्रसारणस्य न युक्तः, भिन्नकालतयाऽङ्गुलप्रसारणयोः प्रतीतस्तयोर्भेदः । अन्यथा तयोः स्वरूपाभावापत्तेरित्युक्तं तत्तत्पर्यायाभिन्नस्याङ्गुल्यादि-रूप्यस्यापि तथाविधत्वात्, तदपि भिन्नमन्युपगन्तव्यम् । अन्यथा तदनुपलम्भात् । अभिन्नं च, तद्रव्यस्थयोस्तस्यैव प्रत्यजिज्ञायमानत्वात् । तयोः पुनरुत्पादविनाशयोः । प्रतिपत्तिश्च प्रादुर्भावो, विगमश्च विपत्तिः । प्रतिपत्तिविगमम्, तत्राऽकाशान्तरं भिन्नकालत्वमङ्गुलि-रूप्यस्य च नास्ति पूर्वपर्यायविनाशोत्तरपर्यायोत्पत्त्यङ्गुलिद्रव्योत्पत्तिस्थितौ नामभिन्नकालताऽभिन्नरूपता च प्रतीयते । एकस्यैव तथाविधवर्तात्मकस्याप्युक्तः प्रतीतेः । अथवा काशान्तरं नास्तीत्यत्राऽऽकारप्रभेदात्तत्त्वोत्पादानात् प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थगतेः काशान्तरं काशभेद उत्पादादेर्द्रव्यस्य वाऽस्तीति कथञ्चिद् भेद इत्यर्थः । कथञ्चिद् भेदेनापि प्रतिपत्तेस्तेनोत्पत्तिविनाशस्थिनीनां परस्पररूपपरित्यागप्रवृत्तप्रत्येकज्ञात्मकैकरूपत्वेनापि वर्तमानपर्यायात्मकस्यैवातीतानागतकाशयोः सत्त्वम्, व-

पत्वादक्रमम्, अक्रमाच्च क्रमिणां नानाकार्याणां कथमुत्पत्तिः ? इति चेत् ; अहो ! स्वपक्षपाती देवानां प्रियः, यः खलु स्वयमेकस्मान्निर्देशाद्विपक्षपातकारणाद्युपपन्नकारणसाध्यान्त्यनेककार्याण्यङ्गीकुर्वाणोऽपि परपक्षे नित्येऽपि वस्तुनि क्रमेण नानाकार्यकरणेऽपि विरोधमुद्गावयति । तस्मात् कृण्विकस्यापि भावस्याक्रमेणार्थक्रिया दुर्घटा । इत्यनित्यकान्तादपि क्रमाक्रमयोर्व्यापकयोर्निवृत्त्यैव व्याप्यार्थक्रियाऽपि व्यावर्तते । तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकाऽनुपपन्नविषयत्वेनैव निवर्तते, इत्येकान्तानित्यवादेऽपि न रमणीयः । स्याद्वादे तु-पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेन भायानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा । न चैकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माभ्यासायोगादसन् स्याद्वाद् इति वाच्यम् ? । नित्यानित्यपक्षविलक्षणस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात्, तथैव च सर्वैरनुभवात् । तथा च पठन्ति-“ भागे सिद्धो नरो भागे, योऽर्थो प्रागद्वयात्मकः । तमभागं विजग्नेन, नरसिंहं प्रचक्रेते ” ॥ १ ॥ इति । वैज्ञेयिकैरपि चित्ररूपस्यैकस्याऽवयविनोऽनुपगमात् । एकस्यैव पदादेः अलाऽचलरक्षाऽरक्षाऽऽवृत्ताऽनावृत्तत्वादिविरुद्धधर्माणामुपलब्धेः, सौगतैरप्येकत्र चित्रपटीऽज्ञाने नीलानीलयोर्विरोधानङ्गीकारात् । अत्र च यद्यप्यधिकृतवादिनः प्रदीपादिकं कालान्तराऽवस्यायित्वात् कृण्विकं न मन्यन्ते, तन्मते पूर्वापरान्तावच्छिन्नायाः सत्ताया पथाऽनित्यतालक्षणत्वात् । तथाऽपि बुद्धिसुखादिकं तेऽपि कृण्विकतयैव प्रतिपन्नाः इति तदधिकारेऽपि कृण्विकवादचर्चा नाऽनुपपन्ना । यदाऽपि च कालान्तरावस्यायि वस्तु, तदाऽपि नित्यानित्यमेव । कृणोऽपि न खलु सोऽस्ति, यत्र वस्तुत्पादव्ययधौ व्यात्मकं नास्तीति काव्यार्थः ॥ ५ ॥ स्यात् । (अनेकान्तज्ञानस्य यथार्थत्वं ' मोक्ष ' शब्दे वक्ष्यते)

(२) सामग्रमनाद्यविद्यावासनाप्रवासितसन्मतयः प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणमन्यनेकान्तवादं येऽवमन्यन्ते तेषामुन्मत्ततामाविर्भावयन्नाह—

प्रतिज्ञोत्पादविनाशयोगि,

स्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।

जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते यः,

स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा ? ॥ २ ? ॥

प्रतिक्षणं प्रति समयमुत्पादेनोत्तराकारस्थीकाररूपेण, विनाशेन च पूर्वोऽकारपरिहारलक्षणेन, युज्यत इत्येवंशीघ्रं प्रतिज्ञोत्पादविनाशयोगि । किं तत् ? स्थिरैकं कर्मताऽपक्षमऽस्थिरमुत्पादविनाशयोरनुयायित्वात् त्रिकालवर्ति यदेकं द्रव्यं स्थिरैकम् । एकशब्दोऽत्र साधारणवाची । उत्पादे विनाशे च तत्साधारणमन्वाधिद्रव्यत्वात् । यथा चैत्रमैत्रयोरेका जननी साधारणेत्यर्थः । इत्थमेव हि तयोरेकाधिकरणता, पर्यायाणां कथञ्चिदनेकत्वेऽपि तस्य कथञ्चिदेकत्वात् । एवं त्रयात्मकं वस्तु अर्धक्षमपीक्षमाणः प्रत्यक्षमवलोकयन्नापि, हे जिन ! रागादिजैत्र ! त्वदाज्ञाम, आ सामस्त्येनाऽनन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायतेऽवबुध्यन्ते जीवादयः पदार्था यथा सा आज्ञा, आगमः, शासनम् ; तथाज्ञा त्वदाज्ञा, तां त्वदाज्ञां ज्वत्पणीतस्याद्वादमुद्गा, यः कश्चिद्विवेकी अवमन्यतेऽवजानाति । जात्यपेक्षमेकवचनम्, अयक्षया वा । स पुरुषपञ्चर्यात्तिकी, पिशाचकी वा । वातो रोगविशेषोऽस्यास्तीति वातकी, वातकीऽव वातकी, ग्रातृश्च इत्यर्थः । एवं पिशाचकीव पिशाचकी, भूताविष्ट इत्यर्थः । अत्र वाशब्दः समुच्चयार्थ उपमानार्थो वा । स पुरुषापसदो वातकिपिशाचकिञ्चामधिरोहति; तुलामित्यर्थः । “ बा-

तातीसारपिशाचात् कश्चान्तः ” (७। २। ६१) इत्यनेन [हैमसूत्रेण] मत्वर्थीयः कश्चान्तः । एवं पिशाचकीत्यपि । यथा किञ्च वातेन पिशाचेन वाऽऽक्रान्तवपुर्वस्तुतत्त्वं साक्षात् कुर्वन्नपि तदावेशवशादन्यथा प्रतिपद्यते, एवमयमप्येकान्तवादापसारपरवश इति । अत्र च जिनेति सामिप्रायम्, रागादिजेतृत्वाद्धि जिनः । ततश्च यः किञ्च विगलितदोषकाहुप्यतयाऽवधेयवचनस्यापि तत्र भवतः शासनमवमन्यते तस्य कथं नोन्मत्ततेति भावः । नाथ ! हे स्वामिन् ! अलब्धस्य सम्यग्दर्शनादेर्लेख्यकतया लब्धस्य च तस्यैव निरतिचारपरिपालनोपदेशदायितया च योगक्षेमकर्त्त्वोपपत्तेर्नाथः, तस्यामन्त्रणम् । वस्तुतत्त्वं च-उत्पादव्ययधौ व्यात्मकम् । तथाहि-सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते, विपद्यते वा; परिस्फुटमन्वयदर्शनात् । ललपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन वाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात् । सर्वव्यक्तिषु नियतं कृणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः । “ सत्योऽक्षित्यपचित्योरा-कृतितानि व्यवस्थानात् ” इति वचनात् । ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः, पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तुत्पद्यते, विपद्यते च; अस्त्वक्षितपर्यायानुभवसङ्गात् । न चैवं क्षणं शङ्के पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्वप्नद्रूपत्वात् । न खलु सोऽस्त्वक्षणात् येषां पूर्वाऽऽकारविनाशाज्जहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादाऽविनाशमावी भवेत् । न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षादासीन्यादिपर्यायपरम्पराऽनुभवः स्वप्नद्रूपः, कस्यचिन्नाधकस्याज्ञात्वात् । न नृपादादयः परस्परं मिथ्यन्ते ? , न वा ? । यद्वि मिथ्यन्ते, कथमेकं वस्तु त्रयात्मकम् ? । न मिथ्यन्ते चेत्तथापि कथमेकं त्रयात्मकम् ? । तथा च-“ यद्युत्पादादयो निष्ठाः, कथमेकं त्रयात्मकम् ? । अथोत्पादादयोऽनिष्ठाः, कथमेकं त्रयात्मकम् ? ” ॥ १ ॥ इति चेत् । तद्युक्तम् । कथञ्चिन्निरालक्षणत्वेन तेषां कथञ्चिद् भेदाऽनुपगमात् । तथाहि-उत्पादविनाशधौ व्यापि स्याद् निष्ठा निष्ठाक्षणात्त्वाद् रूपादिवदिति । न च निष्ठाक्षणात्त्वमसिद्धम्; असत् आत्मज्ञातः, सतः सत्तावियोगः, द्रव्यरूपतयाऽनुवर्तनं च खलुत्पादादीनां परस्परमसङ्गीर्णानि लक्षणानि सकललोकसाक्षिकाण्येव । न चामी निष्ठाक्षणा अपि परस्परानपेक्षा अपुष्पवदसत्त्वापत्तेः । तथाहि-उत्पादः केवलो नास्ति, स्थिति विगमरहितत्वात्, कूर्मरोमवत् । तथा विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, तच्छतम् । एवं स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्वदेव । इत्यन्योऽन्यपि क्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपद्यन्म । तथा चोक्तम्-“ घटमैत्रिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिः स्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थं, जनो याति सहेतुकम् ॥ १ ॥ पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽस्ति दधि-व्रतः । अगोरसव्रतो नोजे, तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ” ॥ २ ॥ इति काव्यार्थः ॥ २ ॥

अथाऽन्ययोगव्यवच्छेदस्य प्रस्तुतत्वाद्, आस्तां तावत्साक्षाद्भवान् ; जवदीयप्रवचनावयवा अपि परतीर्थकीतिरस्कारवदकक्षा इत्याशयवान् स्तुतिकारः स्याद्वादव्यवस्थापनाय प्रयोगमुपन्यस्यन् स्तुतिमाह—

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्व-मतांऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।

इति प्रमाणान्यपि ते कुवादि-कुरङ्गसंज्ञासनसिंहनादाः ॥ २ ॥

तत्त्वं परमार्थभूतं वस्तु, जीवाऽजीवलक्षणम्, अनन्तधर्मात्मकमेव, अनन्तास्त्रिकाशविषयत्वादपरिमिता ये धर्माः सहभाविनः क्रमः

माणुषु क्रियोत्पद्यत इति अभ्युपगमादात्मपरमाणुसंयोगाभावे-
ऽप्यपरोऽतिशयो वाच्यः । तद्वच च तत्र दूषणम् । किञ्चासौ
संयोगो ह्यणुकादिनिवर्त्तकः किं परमाण्वाद्याश्रितः, उत तदन्या-
श्रितः, आहोस्विदनाश्रित इति । यथाद्यः पक्षः, तदा तदुत्पत्तावाश्रय
उत्पद्यते, न वेति? यद्युत्पद्यते, तदा परमाणूनामपि कार्यत्वप्रसक्तिः,
तत्संयोगवत् । अथ नोत्पद्यते, तदा संयोगस्तदाश्रितो न स्यात्,
समवायस्याभावात् । तेषां च तं प्रत्यकारकत्वात् । तदकारकत्वे तु
तत्र तस्य प्रागभावानिवृत्तेः, तदन्यगुणान्तरवत् । ततस्तेषां कार्य-
रूपतया परिणतिरप्युपगन्तव्या । अन्यथा तदाश्रितत्वं संयोगस्य
तस्मादन्याश्रितत्वेऽपि पूर्वोक्तप्रसङ्गः । अनाश्रितत्वपक्षे तु निर्हेतु-
कोत्पत्तिप्रसक्तिः । अथ संयोगो नोत्पद्यत इत्यभ्युपगमः, तदा
वक्तव्यं किमसौ सन् वा ऽसन्? यदि संस्तदा तन्नित्यत्वप्रसक्तिः,
सदकारणवन्नित्यमिति ज्ञवतोऽभ्युपगमात् । तथा चासौ गुणो न
भवेद् नित्यत्वेनानाश्रितत्वात्, अनाश्रितस्य पारतन्त्र्यायोगात्, अ-
परतन्त्रस्य चागुणत्वात् । अथासन्निति पक्षः, तदा कार्यानुत्पत्तिप्र-
सङ्गः ; तदभावे प्राग्वद्विशिष्टपरिमाणोपेतकार्यद्रव्योत्पत्त्यभा-
वात् । तथा च जगतोऽदृश्यताप्रसक्तिरिति संयोगैकत्वसं-
ख्यापरिमाणमहत्त्वाद्यनेकगुणानां तत्रोत्पत्तिरप्युपेया, कार-
णगुणपूर्वप्रक्रमेण कार्योत्पत्त्यभ्युपगमादिष्टमेवैतदिति चेत्, ननु
तेषां क आश्रयः? इति वक्तव्यम् । न तावत् कार्यम्, तदुत्पत्तेः
प्राक्तस्यासत्त्वात्, सत्त्वे चोत्पत्तिविरोधात् । न च प्रथमक्षणे निर्गु-
णमेव कार्यगुणोत्पत्तेः प्रागस्तीति वक्तव्यम् । गुणसंबन्धवत् स-
त्तासंबन्धस्याद्यक्षणे अभावः, तत्सत्त्वासंज्ञवात् । न चोत्पत्ति-
सत्तासंबन्धयोरेककालतयाऽऽद्यक्षणे एव सत्त्वम्, तदा रूपादिगु-
णसमवायाभावतोऽनुपलब्धे ततस्तत्सत्तासंबन्धव्यवस्थापना-
संभवात् ; न हि सदित्युपलम्भमन्तरेण तदा तस्य सत्तासंबन्धः,
सत्त्वं वा व्यवस्थापयितुं शक्यम् । न च महत्त्वादेर्गुणद्रव्येण स-
होत्पादतद्द्रव्याधेयता, तद्द्रव्यस्य वा तदाऽऽधारता, अकारण-
स्याश्रयत्वायोगात् । न चैककालयोः कार्यकारणभावः सत्येतर-
गोविपाणयोरिव भवत्पक्षे युक्तः, सन्न न कार्यं तदाश्रयः । अथाण-
वस्तदाश्रयाः, तर्हि कार्यद्रव्यस्यापि त एवाश्रय इत्येकाश्रयौ का-
र्यगुणौ प्राप्तौ । तदभ्युपगमेऽपि तावदयुतसिद्धयोस्तयोः कुण्ठ-
द्वयदाश्रयाश्रयिभावः, अकार्यकारणप्रसङ्गात् । नायुतसिद्धयोः,
अयुतसिद्ध्याश्रयाश्रयिजावविरोधात् । तथा ह्यपृथक्सिद्ध इत्यने-
न भेदनिषेधः प्रतिपाद्यते, समवायाभावेऽन्यस्यार्थस्यात्रासंभवा-
त् । आधाराधेयभाव इत्यनेन चैकत्वनिषेधः क्रियत इति कथम-
नयोरेकत्र सद्भावः । अथान्यत्राधाराधेयभावः, तर्हि तेषां सत्त्व-
मुतासत्त्वमिति वक्तव्यम्? । यथाद्यः पक्षः, तदा संयोगादिगुणा-
कारपरमाणव एव तथाचूतकार्यमिति जैनपक्ष एव समा-
श्रितः स्यात् । द्वितीयपक्षे तु, सर्वानुपलब्धिप्रसक्तिः । यदि च
परमाणवः स्वरूपापरित्यागतः कार्यद्रव्यमारभन्ते स्वात्मनो
व्यतिरिक्तम्, तदा कार्यद्रव्यानुत्पत्तिप्रसक्तिः । न हि कार्यद्रव्य-
परमाणुस्वरूपापरित्यागे स्थूलत्वस्य सङ्गावः, तस्य तद्भावात्म-
कत्वात् । तस्मात्परमाणुरुपपादपरित्यागेन मृदूद्रव्यं स्थूल-
कार्यस्वरूपमासादयतीति वदयवत् पुद्गलद्रव्यपरिणतः आदि-
रन्तो वा न विद्यन्ते, इति न कार्यद्रव्यं कारणेभ्यो मिश्रम् । न चार्था-
न्तरजावगमनं विनाशोऽयुक्तः, इति तद्रूपपरित्यागोपादानात्म-
कस्थितिस्वभावस्य । द्रव्यस्य त्रैकाल्यं नानुपपन्नम् । यथा च
एकसंख्याविभागादपपरिमाणपरत्वात्मकत्वेन प्रादुर्भावात्परमा-
णवः कार्यद्रव्यवत्, तथोत्पन्नाश्चाभ्युपगन्तव्याः । कारणाव-

व्यतिरेकानुविधानोपलम्भात् कार्यताव्यवस्थानिवन्धनस्यात्रा-
पि सङ्गावात् ; इत्ययमर्थः (ततो य) इत्यादिना गाथापश्चाद्धेन प्रद-
र्शितः, तस्मादेकपरिमाणाद् द्रव्याद्विभक्तः विभागात्मकत्वेनो-
त्पन्नः (अणुरिति) अणुर्जातो भवति ; एतदवस्थायाः प्राक्त-
दसत्त्वात् । सत्त्वे वा इदानीमिव प्रागपि स्थूलरूपकार्याभाव-
प्रसङ्गात् । इदानीं वा तद्रूपाऽविशेषात् प्राक्तनावस्थानमिव स्या-
त् । एवं चतुर्विधकार्यद्रव्याभ्युपगमे संगतः । न च य एव का-
र्यद्रव्यारम्भकाः, परैकत्वविरोधात् ; घटद्रव्यप्रागभावप्रध्वंसा-
भावमृत्पिण्डरूपपालदत् । न च प्रागभावप्रध्वंसाभावाद्येत्थरूपत-
या मृत्पिण्डरूपपादरूपत्वमसिद्धम्, तुच्छरूपस्याभावस्याप्र-
माणत्वाच्चजनकत्वेन तद्विषयत्वतो व्यवस्थापयितुमशक्य-
त्वादिति प्रतिपादनात् । न च कपालसंयोगाद् घटद्रव्यमु-
पजायते, तद्विभागाच्च विनश्यतीति मृत्पिण्डस्य घटद्रव्य-
समवायिकारणत्वानुमानमध्यक्षवाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्त-
त्वेन कात्यायन्यायदिष्टम् । न चाल्पपरिमाणतन्तुप्रज्ञवं महत्प-
रिमाणं पटकार्यमुपलब्धमिति घटादिकमपि तदल्पपरिमाणा-
नेककारणप्रज्ञवं कल्पयितुं युक्तम् ; विपर्ययेणापि कल्पनायाः
प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । अव्यक्त्वाद्यस्तु तदितरत्रापि समानः । किञ्च ।
परमाणूनां सर्वदैकं रूपमभ्युपगच्छन्नभावमेव तेषामभ्युपगच्छे-
त् ; अकारकत्वप्रसङ्गात् । तच्च प्रागभावप्रध्वंसाभावविकल्प-
त्वेनानाधेयातिशयत्वात्, वियत्कुसुमवत् । तदसत्त्वे च का-
र्यद्रव्यस्याप्यभावः, तस्यासत्त्वात् । तदभावे च परापरत्वादिप्र-
त्ययादेरयोगात् कात्यादेरप्यमूर्च्छद्रव्यस्याभाव इति सर्वाभाव-
प्रसक्तिः । तथाहि—न तावदध्यक्षं तत् प्रतिपादने व्याप्रियते, क-
पालपर्यन्तघटविनाशोपलब्धे तस्य व्यापारोपलब्धेः । नानुमा-
नमपि ; प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्र तस्याप्यप्रवृत्तेः ; अद्यक्षपूर्वकत्वेन
तस्य व्यावर्णनात् । आगमस्य चात्रार्थे अनुपयोगात् । परमा-
णुपर्यन्ते च विनाशे घटादिध्वंसे न किञ्चिदप्युपलभ्येत, पर-
माणूनामदृश्यत्वेनाभ्युपगमात् । छिन्नघटेन पाकनिकृतिन वा
तेनानेकान्त इति चेत् । न । सर्वस्य पक्षाकृतत्वात् । अवयविनि
च छिन्नस्योत्पन्नत्वात् तस्य च निरवयवत्वाभावावयवतदुत्पत्तिः ;
परमाणुषु तदसंज्ञवात् । पाकान्यथाऽनुपपत्त्या परमाणुपर्यन्तो
विनाशः परिकल्पत इति चेत् । न । विशिष्टसामग्रीविशा-
द्विशिष्टवर्णस्य घटादेर्द्रव्यस्य कयञ्चिद् विनाशोऽप्युत्पत्तिसं-
भवात् । परमाणुपर्यन्तविनाशोऽभ्युपगमे च तद्देशत्वत-
त्संख्यात्वतत्परिमाणत्वोपर्यवस्थापितकर्पराद्यपतप्रत्यक्षोपल-
भ्यत्वादीनि पच्यमाने घटे न स्युः । सूक्ष्मविद्वद्वद्वेदनाने-
कान्तः परिहृत एव ।

न च कपालार्थी घटे मिद्यादापरमाणवन्ते विनाशे ततः

प्रतीतिविरुद्धत्वात्सावभ्युपगन्तव्य इति प्रस्तुत-

मेवाक्षेपद्वारेणोपसंहरत्याचार्यः—

बहुयाण एगसदे, जइ संयोगाहिँ होइ उप्पाओ ।

एणु एगविभागम्मि वि, जुजइ बहुयाण उप्पाओ । १३७।

छाणुकादीनां सति संयोगे यद्येकस्य त्र्यणुकादेः कार्यद्रव्यस्यो-
त्पादो भवति, अन्यैकमभिधानप्रत्ययव्यवहारयोगात् । नहि व-
हुष्वेको घट उत्पन्न इत्यादिव्यवहारो युक्तः । नन्वित्थं क्षमायामे-
कस्य कार्यद्रव्यस्य विनाशोऽपि युज्यत एव बहूनां समानजा-
तीयानां तत्कार्यद्रव्यविनाशात्मकानां प्रभूततया विभक्तात्मना-
मुत्पाद इति । तथाहि—घटविनाशाद् बहूनि कपालानि उत्प-

स्तुनस्यात्मकत्वाऽऽभ्युपगमात् । अतः । तानागतकाव्योरपि तद्वेषेण सत्त्वं उत्पादविनाशयोरजावेन कथं आत्मकत्वं तस्य ? अतीतानागतकाव्योरजावे कथं नित्यत्वमिति वाच्यम् । कथञ्चित्तस्याभ्युपगमात्, त्यक्त्वा पादित्यमानपूर्वोत्तरपर्यायस्यान्यान्यवेषपरित्यागापादानैकनटपुरुषवद् द्रव्यस्य व्यावर्तात्मकत्वात्, सर्वथाऽनित्यत्वे पूर्वोत्तरव्यपदेशाज्ञावप्रसक्तेः । सर्वथा नित्यत्वेऽभ्युपगम्यत्रैकप्रतिज्ञासम्पददेशादिव्यवहाराज्ञावश्च स्यात् । नचैकत्वप्रतिभासो मिथ्या, ततो यदेव विनष्टं शिथिलरूपतया तदेयोत्पन्नं मृदुल्यं घटादिरूपतया, अवस्थितं च मृत्युर्नेति आत्मकं तत् सर्वदा इव्यमवस्थितं यथात्पादव्यवस्थितम् । यथात्पादव्यवस्थितानां प्रत्येकमेकैकरूपं आत्मकं, तथा भूतवर्तमानमविभ्यक्षिरप्येकैकं रूपं त्रिकालतामासादयति ।

इत्येतदेवाह—

उत्पन्नमात्रं कालं, उत्पन्नं ति विगयं विगच्छन्तं ।

दवियं पञ्चवयंतो, त्रिकालविसयं विसेसेऽ ॥ १३४ ॥

उत्पद्यमानसमय एव किञ्चित्पदद्रव्यं तावदुत्पन्नं यद्येकतन्तुप्रवेशक्रियासमये न इव्यं तेन रूपेणोत्पन्नं तर्ह्युत्तराणि तत्रोत्पन्नमित्यत्यन्तानुत्पत्तिप्रसक्तिस्तस्य स्यात् । न चोत्पत्तिप्रसक्तिः, उत्तरोत्तरक्रियाक्षणस्य तावन्मात्रफलोत्पादन एव प्रकृत्यादप्यस्य फलान्तरस्यानुत्पत्तिप्रसक्तेः । यदि च विद्यमाना एकतन्तुप्रवेशक्रिया न फलोत्पादिका, विनष्टा भुतार्तान् भवेत्, असत्त्वात्, उत्पत्त्यवस्थात् । नह्यनुत्पन्नविनष्टयोरसत्त्वे कश्चिद्विशेषः । ततः प्रथमक्रियाक्षणः केनचित् रूपेण तमनुत्पादयति, द्वितीयस्त्वसौ तदेवांशान्तरणोत्पादयति । अन्यथा क्रियाक्षणान्तरस्य वैफल्यप्रसक्तेः । एकेनांशेनोत्पन्नं सन्तुत्तरक्रियाक्षणफलांशेन यद्यपूर्वमपूर्वं तदुत्पद्यते तदेवोत्पन्नं भवेद्, नाऽन्यथेति । प्रथमतन्तुप्रवेशादारभ्यान्त्यतन्तुसंयोगावधि यावदुत्पद्यमानं प्रवन्द्येन तद्वृत्तयोत्पन्नमभिप्रेतानिष्टरूपतया चोत्पत्त्यत इत्युत्पद्यमानमुत्पत्त्यमानं च भवति । एवमुत्पन्नमप्युत्पद्यमानमुत्पत्त्यमानं च जवति । तथोत्पत्त्यमानमप्युत्पद्यमानमुत्पन्नं चेत्येकैकमुत्पन्नादिकालत्रयेण यथात्रैकाह्यं प्रतिपद्यते, तथा विगच्छद्वादिकात्रयेणाप्युत्पादादिरैकैकः त्रैकाह्यं प्रतिपद्यते । तथाहि—यथा यदैवोत्पद्यते न तत्तदैवोत्पन्नमुत्पत्त्यते । यद्यदैवोत्पन्नं न तत्तदैवोत्पद्यते उत्पत्त्यते च । यद्यदैवोत्पत्त्यते तत्तदैवोत्पद्यते उत्पन्नं च । तथा तदेव तदैव यदुत्पद्यते तत्तदैव विगतं विगच्छद्द्विगमिष्यच्च । तथा यदेव यदैवोत्पन्नं तदेव तदैव विगतं विगच्छद्द्विगमिष्यच्च । तथा यदेव यदैवोत्पत्त्यते तदेव तदैव विगतं विगच्छद्द्विगमिष्यच्च । एवं विगमोऽपि त्रिकालमुत्पादादिनादर्शनीयः । तथा स्थित्याऽपि त्रिकाह्यं एव संप्रपञ्चं दर्शनीयः । एवं स्थितिरप्युत्पादविनाशाभ्यां प्रपञ्चाभ्यामेकैकाभ्यां त्रिकाह्यदर्शनीयेति । इव्यमन्योन्यात्मकतया भूतकाव्यत्रयात्मकोत्पादविनाशस्थित्यात्मकं प्रज्ञापर्यैकिकाव्यविषयप्रादुर्भावकमाधारतया तद्विशिष्टि । अनेन प्रकारेण त्रिकालविषयं इव्यस्वरूपं प्रतिपादितं भवति । अन्यथा द्रव्यस्याऽभावात् त्रैकाह्यं दूरोत्सारितमेवेति, तद्वचनस्य मिथ्यात्वप्रसक्तिरिति ज्ञावः । सर्वथाऽन्तर्गमनलक्षणस्य विनाशस्यासंज्ञाद् विनाशजस्य चोत्पादस्य तच्चद्वयाभावे स्थितेरप्यभावात् ।

तत् त्रैकाह्यं दूरोत्सारितमेवेति मन्यमानत्वाद्वादिनः प्रति तदभ्युपगमदर्शनपूर्वकमाह—

द्वन्तरसंजोगा—हिं केऽवि दवियस्स विति उप्पायं ।

उप्पायत्था कुशला, विजागजायं न इच्छन्ति ॥ १३५ ॥

समानजातीयद्रव्यान्तरादेव समवायिकारणात् तत्संयोगासमवायिकारणात्, तत्संयोगासमवायिकारणनिमित्तकारणादिसंयोज्यादवयववि कार्यद्रव्यं भिन्नं कारणद्रव्येभ्य उत्पद्यत इति इव्यस्योत्पादं केचन ब्रुवते । तं चोत्पादार्थानभिज्ञा विभागोत्पादं नेच्छन्ति ।

कुतः पुनर्विजागजोत्पादानभ्युपगमवादिन उत्पादार्थानभिज्ञाः ? । यतः—

अणु अणुएहिं दव्वे, आरब्धे ति अणुयं ति ववएसो ।

तत्तो य पुण विभत्तो, अणु ति जाओ अणु होई ॥ १३६ ॥

ह्याभ्यां परमाणुभ्यां कार्यद्रव्ये आरम्भेऽनुरिति व्यपदेशः, परमाणुद्वयारम्भस्य द्वाणुकस्याणुपरिमाणत्वात् । त्रिभिर्द्वाणुकैश्चतुर्भिर्वाऽऽरब्धे अणुकमिति व्यपदेशः । अन्यथोत्पन्नानुपलब्धिनिमित्तस्य महत्त्वस्याभावप्रसक्तेः । अत्र किञ्च त्रिभिश्चतुर्भिर्वा प्रत्येकं परमाणुभिरारम्भमणुपरिमाणमेव कार्यमिति । आदिपरमाणुनाऽऽरम्भकत्वे आरम्भवैयर्थ्यप्रसक्तिरिति ह्याभ्यां तु परमाणुभ्यां द्वाणुकमारज्यते । अणुकमपि न ह्याभ्यामणुभ्यामारज्यते, कारणविशेषपरिमाणतोऽनुपपन्नोत्पत्त्यप्रसक्तेः, यतो महत्त्वपरिमाणयुक्तं तदुपलब्धियोग्यं स्यात् । तथा चोपपन्नोत्पत्त्यकारणवहुत्वमहत्त्वप्रचयजन्यं च महत्त्वमानं च द्वित्रिपरमाणवारब्धे कार्यं महत्त्वं, तत्र महत्त्वपरिमाणाभावात्तेषामणुपरिमाणास्तुपलब्धियोग्यं स्यात्, तथा चोपपन्नोत्पत्त्यकारणत्वाद् प्रचयोऽप्यवयवाभावाच्च संज्ञवति, तेषामपि ह्याभ्यामणुभ्यां कारणवहुत्वाभावात् । न च त्रयोऽपि, प्रशिथिलावयवसंयोगाभावात् । उपलब्ध्यते च समानपरिमाणैस्त्रिभिः पितृरारब्धे कार्यं महत्त्वं, न ह्याभ्यामिति महत्त्वपरिमाणाभ्यां ताभ्यामेवारब्धं महत्त्वं, न त्रिभिरेवपरिमाणैरारब्धं इति । समानसंख्यातुल्यापरिमाणाभ्यां तन्तुपितृरारब्धे पटादिकार्यं प्रशिथिलावयवतन्तुसंयोगकृतं महत्त्वमुपलभ्यते, न तदितरत्रेति । नन्वेवं यदि कार्यारम्भस्तदा इव्याणि इव्यान्तरमारज्यन्ते, द्विबहुनि वा समानजातीयानीत्यभ्युपगमः परित्यज्यताम्; यतो न परमाणु ह्याणुकादिनामपि त्यक्तजनकावस्थानामनङ्गीकृतस्वकार्यजननलक्षणाभ्यानां च द्वाणुकत्रयणुकादिकार्यनिर्वर्तकत्वम्; अन्यथा प्रागपि तत्कार्यप्रसङ्गात् । अथ न तेषामजनकावस्थात्यागतो जनकस्वभावान्तरोत्पत्तौ कार्यजनकत्वम्, किन्तु पूर्वस्वप्रावग्यवस्थितानामेव संयोगलक्षणसहकारिशक्तिसद्भावात् । तदा कार्यनिवर्तकत्वं प्राक्तनतदज्ञावाच्यं कार्योत्पत्तिः । कारणानामविच्छिन्नस्वरूपत्वेऽपि न च संयोगेन तेषामनतिशयो ध्यावर्त्तते, अतिशयो वा कश्चिदुत्पाद्यते, अनिष्टो मिष्टो वा, संयोगस्येवातिशयत्वात् । न च कथमन्यः संयोगस्तेषामतिशय इति, वाक्यस्याप्यतिशयत्वायोगात् । न हि स एव तस्यातिशय इत्युपलब्धम्, तस्मात्तत्संयोगे सति कार्यमुपलभ्यते, तदज्ञावे तु नोपलब्ध्यत इति संयोग एव कार्योत्पादने तेषामतिशय इति, न तदुत्पत्तौ तेषां सज्जावान्तरोत्पत्तिः, संयोगतिशयस्य तेज्यो निवृत्तादिति । असदेतत् । यतः कार्योत्पत्तौ तेषां संयोगाऽतिशयो प्रवृत्तः, संयोगोत्पत्तौ तु तेषां कोऽतिशयः ? इति वाच्यम् । न तावत्स्व एव संयोगः, तस्याद्यानुत्पत्तिः । नापि संयोगान्तरं तदनभ्युपगमात् । अभ्युपगमेऽपि तदुत्पत्तावयवपरसंयोगातिशयप्रकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेः । न च क्रियातिशयः, तदुत्पत्तावपि पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् । किं चादृष्टोपेक्षादात्माणुसंयोगात्पर-

ज्ञानीत्यनेकमभिधानप्रत्ययव्यवहारो युक्तः, अन्यथा तदसंभ-
वात् । ततः प्रत्येकं ज्ञातृकात्मिकाश्चोत्पादादयो व्यवस्थिता
इत्यनन्तपर्यायात्मकमेकं द्रव्यम्; नत्वनन्ते काले भवत्वनन्तप-
र्यायात्मकमेकं द्रव्यम् । एकसमये तु कथं तत्तदात्मकमवसी-
यते ? । प्रदर्शितदिशा तदात्मकं तदवसीयत इत्यादि—

एगसमयस्मि एगद-वियस्स बहुया वि होति उप्पाया ।

उप्पायसमा विगमा, ठिई उ उस्सग्गओ णियमा ॥ १३८ ॥

एकस्मिन्समये एकद्रव्यस्य बहव उत्पादा भवन्ति, उत्पादस-
मानसंख्या विगमा अपि तस्यैव तदैवोत्पद्यन्ते, विनाशमन्तरे-
णोत्पादस्यासंभवात् । न हि पूर्वपर्यायाविनाशे उत्तरपर्यायः
प्रादुर्भावितुमर्हति । प्रादुर्भावे वा सर्वस्य सर्वकार्यताप्रसङ्गः,
तदकार्यत्वं वा कार्यान्तरस्य च स्यात् । स्थितिरपि सामान्यरू-
पतया तथैव नियता; स्थितिरहितस्योत्पादस्याभावात् । भावे
वा शशशृङ्गादेरप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् ॥ १३८ ॥

एतदेव दृष्टान्तद्वारेण समर्थयन्नाह—

कायमणवयणकिरिया-रूवाइ गई विरोसओ वा वि ।

संजोगनेयओ जा-णणा य दवियस्स उप्पाओ ॥ १३९ ॥

यदैवानन्तानन्तप्रदेशिका हावभावपरिणतपुद्गलोपयोगोप-
जातशशकधिरादिरिणतवशधिमृतशिरोऽङ्गुल्याचक्रोपाङ्ग-
भावपरिणतस्यूरसूक्ष्मतारादिभेदमिच्छावयवात्मकस्य कार्योत्प-
त्तिः, तदैवानन्तानन्तपरमा रूपचित्तमनोवर्गणापरिणतिलभ्यमा-
न उत्पादोऽपि, तदैव वचनस्यापि कायोत्पद्यन्तरवर्गणोत्पत्ति-
प्रतिलम्भप्रवृत्तिरुत्पादः, तदैव च कायात्मनारन्योन्यानुप्रवे-
शाद्विपर्ययीकृतासंख्यातात्मप्रदेशे कायक्रियोत्पत्तिः, तदैव च
रूपादीनामपि प्रतिक्षणोत्पत्तिविनश्वराणामुत्पत्तिः, तदैव च
मिथ्यात्वाऽविरतिप्रमादृक्पायादिपरणतिसमुत्पादितकर्मबन्ध-
निमित्तागामिगतिविशेषाणामप्युत्पत्तिः, तदैव चोत्सृज्यमानोपा-
दीयमानानन्तपरमापवाचनन्तपरमाणुसंयोगविजागानामुत्पत्तिः।
यद्वा-यदैव शरीरादेर्द्रव्यस्योत्पत्तिः, तदैव तत्रैकान्तगतसमस्त-
द्रव्यैः सह साक्षात् पारम्पर्येण वा संयन्धानामुत्पत्तिः, सर्वव्या-
प्तिव्यवस्थिताकाशं धर्माधर्मादिरूपसंयन्धात्, तदैव च भा-
विस्वपर्यायपरज्ञानविषयत्वादीनां चोत्पादनशक्तीनामप्युत्पादः,
शिरोप्रीवाचञ्चुनेत्रपिच्छोदरचरणधनेकाधयवान्तर्भावमयूरा-
रुकरणशक्तीनामिव, अन्यथा तत्र तेषामुत्तरकालमप्यनुगति-
प्रसङ्गात् । उत्पादविनाशस्थित्यात्मकाश्च प्रतिकृषं भावाः शी-
तोष्णसंपर्कादिभेदेन । न च पुराणतया क्रमेणोपलब्धिः प्रतिकृषं
तथोत्पत्तिमन्तरेण संभवति । न चास्मदाद्यध्यक्षं निरवज्ञोप-
धर्मात्मकवस्तुग्राहकं, येनानन्तधर्माणामेकदा वस्तुन्यप्रतिपत्ते-
रभाव इत्युच्येत; अनुमानतः प्रतिकृषमनन्तधर्मात्मकस्य तस्य
प्रदर्शितन्यायेन प्रतिपत्तेः । सकलजैलोप्यव्यावृत्तस्य वस्तुनो-
ऽध्यक्षेण ग्रहणे तद्व्यावृत्तीनां पारमार्थिकतत्त्वमूर्तपतया । अन्य-
था तस्य तद्व्यावृत्त्ययोगात्, कथं नानन्तधर्माणां वस्तुन्यध्य-
क्षेण ग्रहणम् ? । (सम्म०)

अन्योन्यनिरपेक्षतयाऽऽश्रितस्य मिथ्यात्वा—

विनाभूतमेव दर्शयन्नाह—

जे संतवाएँ दोसे, सकोद्व्याया वयंति संखाणं ।

संखाय असव्वाए, तेसिं सव्वेऽपि ते सव्वा ॥ १४० ॥

१०८

येऽनेकान्तसद्वापक्षे द्रव्यास्तिकायाऽऽन्युपगमपदार्थाऽन्युपगमे
शास्त्रीलक्ष्यादापान् वदन्ति, सांख्यानानां क्रियागुणव्यपदेशोपल-
ब्धादिप्रसङ्गादिलक्षणाः, ते सर्वेऽपि तेषां सत्या इत्येवं संबन्धः
कार्यः । ते च दोषा एवं सत्याः स्युः यद्यन्यनिरपेक्षतयाऽ-
न्युपगमपदार्थप्रतिपादकं तच्छब्दं न मिथ्या स्यात्, नाऽन्य-
था । प्रागपि कार्यवस्थात एकान्तेन तत्सत्त्वनिबन्धनत्वासेवा-
म् । अन्यथा कथञ्चित्सत्त्वेऽनेकान्तवादापक्षेदोपाज्ञाव एव
स्यात् । सम्म० ।

(४) वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वम्—

अनन्तरं जगद्वर्णितस्यनेकान्तात्मना वस्तुनो बुधरूपवेद्यत्व-
मुक्तम् । अनेकान्तात्मकत्वं च सप्तमङ्गीप्ररूपेण सुखोन्नेयं स्थादि-
ति साऽपि निरूपिता, तस्यां च विरुद्धधर्माभ्यासितं वस्तु पश्य-
न्त एकान्तवादिनोऽबुधरूपा विरोधमुद्भावयन्ति । तेषां प्रमाण-
मार्गाच्छयनमाह—

उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं,

नार्येष्वसत्त्वं सदवाच्यते च ।

इत्यप्रबुद्धैव विरोधजीताः,

जनास्तेदेकान्तहताः पतन्ति ॥ १४१ ॥

अर्थेषु पदार्थेषु चेतनाऽचेतनेष्वसत्त्वं नास्तित्वं न विरुद्धं न
विरोधावच्छेदम्, अस्तित्वेन सह विरोधं नानुभवतीत्यर्थः । न
केवलमसत्त्वं न विरुद्धम्, किन्तु सदवाच्यते च । सत्त्वाऽवाच्यं च
सदवाच्ये, तयोर्भावौ सदवाच्येते, अस्तित्वावच्छेद्यते इत्यर्थः । ते
अपि न विरुद्धे । तथाहि—अस्तित्वं नास्तित्वेन सह न विरुद्धते ।
अथक्तव्यत्वमपि विधिनिषेधात्मकमन्योन्यं न विरुद्धते । अथवाऽ-
वच्छेद्यत्वं वच्छेद्यत्वेन साकं न विरोधमुद्भवति । अनेन च नास्तित्वा-
ऽस्तित्वावच्छेद्यत्वलक्षणमङ्गत्रयेण सकलसप्तजगत्या निर्विरोध-
तोपलक्षिता; अमीपामेव त्रयाणां मुख्यत्वाच्चेपज्ञानां च संयो-
गजत्वेनामीष्वेवान्तर्जावादिति । नन्वेते धर्माः परस्परं विरुद्धाः,
तत्कथमेकत्र वस्तुन्येषां समावेशः संभवति ? इति विशेषणद्वारेण
हेतुमाह—(उपाधिभेदोपहितमिति) उपाधयोऽवच्छे-
दका भ्रंशप्रकाराः, तेषां जेदो नानात्वं, तेनोपहितमपि तम् । अस-
त्त्वस्य विशेषणमेतत् । उपाधिभेदोपहितं सदर्थेष्वसत्त्वं न वि-
रुद्धम् । सदवाच्यतयोश्च वचनभेदं कृत्वा योजनीयम् । उपाधिभे-
दोपहिते सती सदवाच्यते अपि न विरुद्धे । अथमीभिर्प्रायः-
परस्परपरिहारेण ये वृत्ते, तयोः शीतोष्णवत्सहाऽनवस्थानल-
क्षणो विरोधः । नचात्रैवम्, सत्त्वासत्त्वयोरितरेतरमविष्वग्भावेन
वर्तनाम् । न हि घटादौ सत्त्वमसत्त्वं परिहृत्य वर्तते, पररूपेणाऽ-
पि सत्त्वप्रसङ्गात् । तथा च तद्व्यातिरिक्तार्थान्तराणां नैरर्थक्यम्, ते-
नैव त्रिभुवनार्थसाध्यार्थक्रियाणां सिद्धेः । न चासत्त्वं सत्त्वं प-
रिहृत्य वर्तते स्वरूपेणाप्यसत्त्वप्राप्तेः । तथाच निरुपाध्यत्वात्स-
र्वशून्यतेति; तदा हि विरोधः स्याद्यद्येकोपाधिकं सत्त्वमसत्त्वं च
स्यात् । न चैवम्; यतो न हि येनैवांशेन सत्त्वं तेनैवासत्त्वमपि । किं
त्वन्योपाधिकं सत्त्वम्, अन्योपाधिकं पुनरसत्त्वम् । स्वरूपेण हि स-
त्त्वं, पररूपेण चासत्त्वम् । दृष्टं हि एकस्मिन्नेव चित्रपटाद्यवयविन अ-
न्योपाधिकं तु नीलत्वमन्योपाधिकाश्चेतरे वर्णाः । नीलत्वं हि नी-
लीरागाद्युपाधिकम्, वर्णान्तराणि च तत्तद्व्यञ्जनरूपोपाधिकानि ।
एवं मेचकरेकेऽपि तत्तद्वर्णपुद्गलोपाधिकं वैचित्र्यमवसेयम् । न चै-
र्निर्दृष्टान्तेः सत्त्वासत्त्वयोर्निर्नदेशत्वप्राप्तेः, चित्रपटाद्यवयविन

एवं पुण्यपापादावपि । तस्माद् यत्किञ्चिदेतत् । एवं बन्धमोक्षयो-
रप्यसंभवः । षोडशेऽपि हि य एव वरुः स एव मुच्यते । निरन्व-
यनाशाभ्युपगमे चैकाधिकरणत्वाभावात्सन्तानस्य चात्रास्तव-
त्वात् कृतस्तथोः संभावनामात्रमपीति ? । परिणामिनि चात्मनि
स्वीक्रियमाणे सर्वे निर्वाधमुपपद्यते । “परिणामोऽवस्थान्तर-ग-
मनं न च सर्वथा ह्यवस्थानम् । न च सर्वथा विनाशः, परिणाम-
स्तच्छिदामिहः” ॥१॥ इति वचनात् । पातञ्जलटीकाकारोऽप्याह-
“ अवस्थितस्य रुच्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परि-
णामः ” इति । एवं सामान्यविशेषसदसदभिधायिनाऽनजि-
लाप्यैकान्त्यादेष्वापि सुखदुःखाद्यजावः स्वयमजियुक्तैरभ्यूहः ।
अथोत्तरार्द्धव्याख्या—एवमनुपपद्यमानेऽपि सुखदुःखमोगा-
दिव्यवहारे परैः परतीर्थिकैः, अथ च परमार्थतः शत्रुभिः, पर-
शब्दो हि शत्रुपर्यायोऽप्यस्ति (दुर्नीतिवादव्यसनासिना) नी-
यते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयमाभिरिति नीतयो न-
याः, दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नयाः; तेषां वदनं परेभ्यः
प्रतिपादनं दुर्नीतिवादः । तत्र यद् व्यसनमत्यासक्तिरौचि-
त्यनिरपेक्षा प्रवृत्तिरिति यावत्, दुर्नीतिवादव्यसनम् । त-
देव सद्वोधशरीरोच्छेदनशक्तियुक्तत्वादसिर्वासिः कृपाणः,
दुर्नीतिवादव्यसनासिः । तेन दुर्नीतिवादव्यसनासिना करणचू-
तेन दुर्नयप्रकरणहेवाकल्लेन । एवमित्यनुभवसिद्धं प्रकारमाह ।
अपि शब्दस्य भिन्नक्रमत्वाद्दशेषमपि जगन्निखिलमपि त्रैलो-
क्यम्, तात्स्थान्त्यपदेश इति । त्रैलोक्यगतजन्तुजातं विलु-
प्तम्, सम्यग्ज्ञानादिभावप्राणव्यपरोपेण व्यापादितम् । तत्त्रा-
यस्वेत्याशयः । सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणाः प्रावचनिकैर्गी-
यन्ते । अत एव सिद्धेष्वपि जीवव्यपदेशः । अन्यथा हि
जीवधातुः प्राणधारणार्थेऽभिधीयते । तेषां च दशविधप्राण-
धारणाऽभावादजीवत्वप्राप्तिः । सा च विरुद्धा । तस्मात्संसा-
रिणो दशविधद्रव्यप्राणधारणाज्जीवाः, सिद्धाश्च ज्ञानादिभा-
वप्राणधारणादिति सिद्धम् । दुर्नयस्वरूपं चोत्तरकाव्ये व्याख्या-
स्यामः । इति काव्यार्थः ॥ २७ ॥ स्या० ।

वस्तुनोऽनियतसदसद्रूपत्वमनेकान्तजयपताकार्या न्यक्त्रेण प्र-
त्यपादि परं तल्लेखस्यातिसंक्षिप्तत्वेन दुरवबोधत्वात्सम्प्रतिप्रभृ-
तिग्रन्थैर्गतार्थत्वाच्चास्मान्निरत्रोपेक्षितम् । अनेकान्तजयपता का-
वृत्तिवि० ।

(५) एकान्तेन सर्वं वस्तु सदिति साङ्ख्यमतं तु न युक्तम् ।
युक्तिश्चात्र यत्तावदुच्यते सांख्याभिप्रायेण—सर्वं सर्वात्मकम्; दे-
शकालाकारप्रतिबन्धाच्च न समानकाद्योपलब्धिरिति । तदयुक्तम् ।
यतो जेदेन सुखदुःखजीवितमरणदूरासन्नसूक्ष्मवाद्रसुरूपकुरूपा-
दिकं संसारवैचित्र्यमध्यक्षेणाऽनुच्यते । न च दृष्टेऽनुपपन्नं नाम ।
न च सर्वं मिथ्येत्यभ्युपपन्नं युज्यते, यतो दृष्टहानिरदृष्टरूपना च
पापीयसी । किञ्च । सर्वथैक्येऽभ्युपगम्यमाने संसारमोक्षाभाव-
तथा कृतनाशोऽकृतान्यागमश्च ब्रह्मादपतति । यच्चैतत्सत्त्वरज-
स्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानमित्येतत्सर्वस्य जगतः कार-
णं, तन्निरन्तराः सुहृदः प्रत्येप्यन्ति, निर्युक्तिकत्वात् । अपि च ।
सर्वथा सर्वस्य वस्तुन एकत्वेऽभ्युपगम्यमाने सत्त्वरजस्तमसा-
मप्येकत्वं स्यात् । तद्वदे च सर्वस्य भेद इति । तथा यदप्युच्यते-
सत्त्वस्य व्यक्तस्य प्रधानकार्यत्वात्सत्कार्यवादत्वाच्च मयूरावरु-
करणे चञ्चुपिच्छादीनां सतामेवोत्पादाभ्युपगमादसद्वत्त्वादे
चात्रफलादीनामप्युत्पत्तिप्रसङ्गादित्येतद्वाङ्मात्रम् । तथाहि—यदि
सर्वथा कारणे कार्यमस्ति न तर्ह्युत्पादः, निष्पन्नघटस्येव, अपि

च । मृत्पिण्डावस्थायामेव घटगताः कर्मगुणव्यपदेशा भवेयुः । न
च भवन्ति, ततो नास्ति कारणे कार्यम् । अथाऽनभिव्यक्तमस्ती-
ति चेत् । न । तर्हि सर्वात्मना विद्यते नाऽप्येकान्तेनासत्कार्यवाद
एव । तद्भावे हि व्योमारविन्दानामप्येकान्तेनासतो मृत्पिण्डा-
देर्घटादेरिवोत्पत्तिः स्यात् । न चैतद् दृष्टमिदं वा । अपि चैवं
सर्वस्य सर्वस्मादुत्पत्तेः कार्यकारणभावनियमः स्यात् । एवं
च न शाल्यङ्कुरार्थं शालिवीजमेवाऽऽद्यादपि तु यत्किञ्चिदेवेति
नियमेन च प्रेक्षापूर्वकारिणामुत्पादानकारणादौ प्रवृत्तिरतो ना-
सत्कार्यवाद इति । तदेवं सर्वपदार्थानां सर्वज्ञैत्यवग्रमेत्यत्वादिभि-
र्धर्मैः कथञ्चिदेकत्वम्, तथा प्रतिनियतार्थकार्यतया यदेवार्थक्रि-
याकारि तदेव परमार्थतः सदिति कृत्वा कथञ्चिद्भेद इति सा-
मान्यविशेषात्मकं वस्त्विति स्थितम् । अनेन च स्यादस्ति, स्या-
न्नास्तीति भङ्गकट्येन शेषभङ्गका अपि द्रष्टव्याः । ततश्च सर्वं
वस्तु सप्तभङ्गीस्वभावम् । ते चामी—स्वच्छव्यक्तेष्वकाद्यभावापेक्ष-
या स्यादस्ति, परच्छव्यापेक्षया स्यान्नास्ति । अनयोरेव धर्मयोर्यौ-
गपद्येनाजिधानुमशक्यत्वात् स्यादवक्तव्यम् । तथा कस्यचिदंशस्य
स्वच्छव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात्, कस्यचिच्चंशस्य परच्छव्याद्य-
पेक्षया स्याद्वा, नास्ति वा, वक्तव्यं चेति । तथैकस्यांशस्य स्वच्छव्या-
द्यपेक्षया परस्य तु सामस्येन स्वच्छव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वा-
त् । स्यादस्ति चावक्तव्यं चेति । तथैकांशस्य परच्छव्याद्यपेक्षया
स्यान्नास्ति चावक्तव्यं चेति । तथैकस्यांशस्य स्वच्छव्याद्यपेक्ष-
या, परस्य तु परद्रव्याद्यपेक्षया, अन्यस्य तु यौगपद्येन स्वपरच्छ-
व्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यादस्ति च नास्ति चाऽवक्त-
व्यम् । इयं च सप्तभङ्गी यथायोगमुत्तराऽपि योजनीयेति ।
सूत्र० १ शु० ५ अ० ।

(६) कालाद्येकान्त्यादेऽपि मिथ्यात्वमेवेत्याह—

कालो सहावर्णियर्, पुष्पकयं पुरिसकारणेगता ।

मिच्छन्तं तो चेवा, समासत्रो होति सम्मत्तं ॥ १४६ ॥

कालस्वभावनियतिपूर्वकृतपुरुषकारणरूपा एकान्ताः सर्वेऽपि
एकका मिथ्यात्वम्; त एव समुदिताः परस्परजहद्वृत्तयः स-
म्यक्स्वरूपतां प्रतिपद्यन्ते इति तात्पर्यार्थः ॥ १४६ ॥ (सम्प्र० प० ७०)

तत्र कालादेकान्ताः प्रमाणतः संभवन्तीति तद्वादो मिथ्यात्व-
वाद इति स्थिते त एवाऽन्योन्यसंबन्धपेक्षा नित्याद्येकान्तव्यपोहे-
नैकानेकस्वभावाः कार्यनिर्वर्तनपटवः प्रमाणविषयतया परमा-
र्थनः सन्त इति तत्प्रतिपादकस्य शास्त्रस्यापि सम्यक्त्वमिति
तद्वादः सम्यग्वाद्यतया व्यवस्थितः । यथैते कालाद्येकान्ताः मि-
थ्यात्वमनुभवन्ति, स्याद्वादोपग्रहाच्च त एव सम्यक्त्वं प्रति-
पद्यन्ते, तथाऽऽत्माऽप्येकान्तनित्यानित्यत्वादिधर्माध्यासितो
मिथ्यात्वम्; अनेकान्तरूपतया त्वभ्युपगम्यमानः सम्यक्त्वं
प्रतिपद्यत इत्याह—

एतिय ए णिच्चो ए कुण्डि,

कयं ए वेण्ड एतिय णिन्वाणं ।

एतिय य मोक्खोवात्रो,

छं मिच्छत्तस्स ठाणाइ ॥ १५० ॥

नास्त्यात्मा एकान्त इति सांख्याः । अत एव प्राहुः—यः कर्त्ता, स
न भोक्ता, प्रकृतिवत्, कर्तुर्भोक्तृत्वानुपपत्तेः । यद्वा—येन कृतं
कर्म, नाऽसौ तद् दृष्ट्वा, कृणिकत्वात्, त्रिन्नसंततेरिति बौद्धः ।
क्षणिकत्वाच्च तत्सन्ततेः कृतं न वेदयत इति बौद्ध एवाह—कर्त्ता

निवर्तमानमनन्यशरणतया नित्यत्वेऽवतिष्ठते । तथाहि-क्षणिकोऽर्थः सन् वा कार्यं कुर्यादसन् वा? गत्यन्तरमावात् । न तावदाद्यः पक्षः, समसमयवर्तिनि व्यापारायोगात्, सकलजावानो परस्परं कार्यकारणभावप्राप्त्याऽतिप्रसङ्गाच्च । नापि द्वितीयः पक्षः कोऽर्थं क्षमते । असतः कार्यकरणशक्तिविकलत्वात् । अन्यथा शश-विषाणादयोऽपि कार्यकरणायोऽसहेरन्, विशेषाज्ञावादिति । अनित्यवादी नित्यवादिनं प्रति पुनरेवं प्रमाणयति-‘सर्वे क्षणिकं, सत्त्वात्, अक्षणिके क्रमयौगपद्यान्यामर्थक्रियाविरोधात्, अर्थक्रियाकारित्वस्य च भावस्तत्त्वत्वात् । ततोऽर्थक्रिया व्यावर्तमाना स्वक्रोडोक्ता सत्ता व्यावर्तयेदिति क्षणिकसिद्धिः । न हि नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां क्रमेण प्रवर्तयितुमुत्सहते, पूर्वार्थक्रियाकरण-स्वभावोपमर्दद्वारेणात्तरक्रियायां क्रमेण प्रवृत्तेः, अन्यथा पूर्वक्रियाकरणाविरामप्रसङ्गात् । तत्त्वभावप्रत्यये च नित्यता प्रयाति, अतादवस्थस्यानित्यतास्तत्त्वत्वात् । अथ नित्योऽपि क्रमवर्तिनं सहकारिकारणमर्थमुद्गीकृमाणस्तावदासीत्, पश्चात्तमासाद्य क्रमेण कार्यं कुर्यादिति चेत् । न । सहकारिकारणस्य नित्येऽकिञ्चित्करत्वात् ; अकिञ्चित्करस्याऽपि प्रतिकृतेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । नापि यौगपद्येन नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां कुरुते, अव्यक्तविरोधात् । नष्टोक्तकालं सकलानां क्रियाः प्रारम्भमाणः कश्चिदुपलभ्यते, करोतु वा, तथाऽप्याद्यक्षण एव सकलक्रियापरिसमाप्तेर्द्वितीयादिक्षणेऽप्यकुर्वाणस्यानित्यता वसादादौकते ; करणाकरणयोरैकस्मिन् विरोधात् इति । तदेवमेकान्तद्वयेऽपि ये हेतवस्ते युक्तिसाम्याद् विरुद्धं न व्यभिचरन्तीत्यविचारितरमणीयतया मुख्यजनस्य ध्यातव्यं चोत्पादयन्तीति विरुद्धा व्यभिचारिणो नैकान्तिका इति । अत्र च नित्यानित्यैकान्तपक्षप्रतिकेप एवोक्तः । उपलक्षणत्वाच्च सामान्यविशेषाद्येकान्तवादा अपि मिथस्तुल्यदोषनया विरुद्धा व्यभिचारिण एव हेतुपक्षशस्तीति परिभाषनीयम् । अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते-(परस्परेत्यादि) एवं च कष्टकेषु क्षुद्रशशुषु एकान्तवादिषु परस्परध्वंसिषु सत्सु परस्परस्मात् व्यसन्ते, विनाशमुपयान्तीत्येवंशीलाः, सुन्दोषस्तुन्दवदिति परस्परध्वंसिनः, तेषु हे जिन ! ते तव, शासनं स्याद्वादप्रकरणनिरूपणं द्वादशाङ्गीरूपं प्रवचनं पराभिज्ञाचकानां कष्टकानां सयमुच्छिन्नत्वेनैवाभावाद् धृष्यमपराभवनीयम् । ‘शुक्ताहं कृत्याम्’ (१।४।३५) इति (हैमसू०) कृत्यविधानाद् धर्तुमशक्यं धर्तुमनर्हं वा, जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । यथा कश्चिन्महाराजः पीवरपुण्यपरीपाकः परस्परं विगृह्य सयमेव क्षयमुपेयितुं द्विपत्सु अयत्नसिद्धिनिष्कष्टकथं समूहं राज्यमुपसृज्जानः सर्वोत्कृष्टो भवत्येवं त्वच्छासनमपीति कान्यार्थः ॥ २६ ॥

अनन्तरकाव्ये नित्यानित्याद्येकान्तवादे दोषसामान्यमभिहितम् । इदानीं कतिपयतद्विशेषाभ्यामग्राहं दर्शयंस्तत्प्रकरणकारणमसद्भूतोद्भावकतयोद्भूततयाविधिरिपुजनजनितोपक्षवामिव परित्रातुर्धरित्रोपतंक्षिजगत्पतेः पुरतो ह्यवनत्रयं प्रत्युपकारकारितामाविष्करोति—

नैकान्तवादे सुखदुःखभागौ,
न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।

दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं,
परैर्विदुषं जगदप्यशेषम् ॥ २७ ॥

एकान्तवादे नित्याऽनित्यैकान्तपक्षान्युपगमे, न सुखदुःखमो-

क्षौ घटेते, न च पुण्यपापे घटेते, न च बन्धमोक्षौ घटेते । पुनः पुनर्नम्रः प्रयोगोऽत्यन्ताघटमानतदर्शनार्थः । तथाहि-एकान्तनित्ये आत्मानि तावत् सुखदुःखजोगौ नोपपद्यते । नित्यस्य हि लक्षणम्-‘अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपत्वम्’ । ततो यदाऽऽत्मा सुखमनुच्य स्वकारणकलापसामग्रीवशाद् दुःखमुपगृह्णे, तदा स्वभावमैवादनित्यत्वापत्त्या स्थिरैकरूपताहानिप्रसङ्गः, एवं दुःखमनुभूय सुखमुपभुञ्जानस्यापि वक्तव्यम् । अथावस्थाभेदादयं व्यवहारः । न चावस्थासु भिद्यमानास्वपि तद्वतो भेदः ; सर्पस्येव कृष्णवर्णावधवस्थासु इति चेत् । ननु तास्ततो व्यतिरिक्ता अव्यतिरिक्ता वा ? व्यतिरेके तास्तस्येति संवन्धाभावः, अतिप्रसङ्गात् । अव्यतिरेके तु तद्वानेवेति-तदवस्थितैव स्थिरैकरूपताहानिः । कथं च तदेकान्तैकरूपत्वेऽवस्थात्रेदोऽपि नवेदिति । किञ्च । सुखदुःखभागौ पुण्यपापनिर्वर्त्यौ, तन्निवर्तनं सार्थक्रिया, सा च कूटस्थनित्यस्य क्रमेणाक्रमेण वा नोपपद्यत इत्युक्तप्रायम् । अत एवोक्तम्-(न पुण्यपापे इति) पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभं कर्म । पापं हिंसादिक्रियासाध्यमशुभं कर्म । ते अपि न घटेते, प्रागुक्तीति । तथा न बन्धमोक्षौ । बन्धः कर्मपुञ्जैः सह प्रतिप्रदेशमात्मनो बह्वयःपिण्डवदन्योन्यसंग्रहेपः । मोक्षः कृत्वाकर्मक्षयः । तावत्प्येकान्तनित्ये न स्याताम् । बन्धो हि संयोगविशेषः, स चाप्राप्तानां प्राप्तिरिति लक्षणः । प्राक्कालभाविनि अप्राप्तिरन्याऽवस्था । उत्तरकालभाविनि प्राप्तिश्चान्या । तदनयोरप्यवस्थाभेदोपो हुस्तरः । कथं चैकरूपत्वे सति तस्याकस्मिको बन्धनसंयोगः, बन्धनसंयोगाच्च प्राक् किं नायं मुक्तोऽभवत् ? किञ्च । तेन बन्धनेनासौ विकृतिमनुभवति, न वा ? अनुभवति चेन्नर्मादिवन्नित्यः । नानुभवति चेन्निर्विकारत्वे सता असता वा तेन गगनस्येव न कोऽप्यस्य विशेषः । इति बन्धवैफल्यनित्यमुक्त एव स्यात् । ततश्च विधाणां जगति बन्धमोक्षव्यवस्था । तथा च पठन्ति-‘वर्पातपाभ्यां किं व्योम्नश्चमण्यस्ति तयोः फलम् । चर्मोपमद्वयेत्सोऽनित्यः, क्षतुल्यश्चेदसत्फलः’ ॥ १ ॥ बन्धानुपपत्तौ भोक्तृस्याऽप्यनुपपत्तिबंधनविच्छेदपर्यायत्वान्मुक्तिशब्दस्येति । एवमनित्यैकान्तवादेऽपि सुखदुःखाद्यनुपपत्तिः । अनित्यं हि अत्यन्तोच्छेदधर्मकम् । तथातूते आत्माने पुण्योपादानक्रियाकारिणो नित्यव्यं विनष्टत्वाद् कस्य नाम तत्फलभूतसुखानुभवः ? एवं पापोपादानक्रियाकारिणोऽपि निरवयवनाशे कस्य दुःखसंयदेनमस्तु ? एवं चान्यः क्रियाकारी, अन्यश्च तत्फलमोक्षेत्यसमञ्जसमापद्यते । अथ “ यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आदिता कर्मवासना । फलं तत्रैव संभ्रजे, कर्पासे रक्ता यथा ” ॥ १ ॥ इति वचनान्नासमञ्जसमित्यापि वारुमात्रम्, सन्तानवासनयोरवास्तवत्वेन प्रागेव निर्वाहितत्वात् । तथा पुण्यपापे अपि न घटेते । तयोर्हार्थक्रिया सुखदुःखोपभोगः । तदनुपपत्तिश्चानन्तरमेवोक्ता, ततोऽर्थक्रियाकारित्वाऽभावात्तयोरप्यघटमानत्वम् । किञ्च । अनित्यः क्षणमात्रस्थायी, तस्मिन्नेव क्षणे उत्पत्तिमात्रव्यवस्थात् तस्य कुतः पुण्यपापोपादानक्रियाऽज्जनम् ? । द्वितीयादिक्षणेऽपि चावस्थानुमेव न लभते, पुण्यपापोपादानक्रियाप्राप्ते च पुण्यपापे कुतः ? निर्मूलत्वात्, तदसत्त्वे च कुतस्ततः सुखदुःखभोगः । आस्तां वा कथञ्चिदेतत्, तथाऽपि पूर्वक्षणसदृशोऽन्तरक्षणेन भवितव्यम्, उपादानाऽनुरूपत्वावुपादेयस्य । ततः पूर्वक्षणाद् दुःखितादुत्तरक्षणः कथं सुखितव्यमिति ? कथं च सुखितात्ततः स दुःखितः स्यात् ? विसदृशजागताऽऽपत्तेः ।

भोक्ता चात्मा किन्तु न मुच्यते, सचेतनत्वात्, अन्नव्यवन्, रागादीनामात्मस्वरूपाव्यतिरेकात्, तद्वक्तृये तेषामप्यक्षयादिति ज्ञाथिकः । निर्हेतुक एवासौ मुच्यते, तत्स्वभावतयाव्यतिरेकेण परस्व तत्रोपायस्यानावावृत्तिरिति मण्डूकी प्राह । एतानि पदं मिथ्यात्वस्य स्थानानि, पञ्चमप्येषां पञ्चाणां मिथ्यात्वाधारतयाव्यवस्थितेः । तथाहि-एतानि नास्तित्वादिविशेषणादीनि साध्यधर्मिविशेषणतयोपादीयमानानि किं प्रतिपक्षव्युदासेनोपादीयन्ते ? आहोस्वित् कथंचित्तत्संग्रहेति कल्याणद्वयम् । प्रथमपक्षे-अध्यक्षविरोधः, स्वसंवेदनाध्यक्षतत्त्वतस्तत्त्वस्यात्मरूपस्य प्रतीतिः, कथञ्चित्तस्य परिणामनित्यताप्रतीतिश्च, शरीरादिव्यापारतः कर्तृत्वोपलब्धेः, स्वव्यापारनिर्वर्तितमकरूपादिभोक्तृत्वसंवेदनाच्च, पुञ्जलक्षणतया, रागादिव्यक्ततया च, शमसुखरसावसायां कथञ्चित्तस्योपलब्धेः । स्वात्कर्पतरतमादिभावतो रागाद्युपचयतरतमभावविधायिसम्यग्ज्ञानदर्शनादेरुपलम्भाच्चानुमानतोऽपि विरोधः । तथाभूतज्ञानकार्यान्त्याऽनुपपत्तिचैतन्यलक्षणस्यात्मनः सिद्धिर्घटादिवत् रूपादिगुणतः ज्ञानस्वरूपगुणोपलम्भात् कथञ्चित्तदमिषस्याऽऽत्मलक्षणस्य गुणिनः सिद्धिरिति नानुमानविरोधः, इतरधर्मनिरपेक्षधर्मलक्षणस्य विशेषणस्य तदाधारभूतस्य च विशेष्यस्याप्रसिद्धेः । अप्रसिद्धविशेषणविशेष्योभयदोषैर्दुष्टश्च पक्ष आत्मेति वचनेन, तत्सत्ताऽभिधानं नास्त्यनेन च, तत्प्रतिपक्षमभिधानपदयोः प्रतिज्ञावाक्यव्याघातो लोकविरोधश्च । तथाभूतविशेषणविशिष्टतया धर्मिणो लोके तद्व्यवहियमाणत्वात् स्ववचनविरोधश्च । तत्प्रतिपादकवचनस्येतरधर्मसापेक्षतया प्रवृत्तेर्हेतुरपीतरनिरपेक्षैकधर्मरूपोऽसिद्धः, तथाभूतस्य तस्य क्वचिदनुपलब्धेः सर्वत्र तद्विपरीत एवाभावात् । विरुद्धश्च दृष्टान्तः, साधनधर्माधिकरणतया कस्यचिद्धर्मिणोऽप्रसिद्धेः । तत्र प्रथमः पक्षः नापि द्वितीयः, स्वाभ्युपगमविरोधप्रसङ्गात्, साधनवैफल्यपक्षश्च । तथाभूतस्यानेकान्तरूपतयाऽस्माभिरप्यभ्युपगमात् । तस्माद्व्यवस्थितमेतदेकान्तरूपतया पदव्येतानि । तद्विपर्ययेणाप्येकान्तवादे तथैव तानीति दर्शयन्नाह-

अस्थि अविनाशधम्मा, करेइ वेणुइ अस्थि णिव्वाणं ।

अस्थि अ भोक्खोवाओ, उं भिज्जत्तस ठाणाइं ॥ १५१ ॥

अस्यात्मेति पक्षः पुरणादेर्वादिनः । स चायिनाशधर्मी, एषा प्रतिका कलमतानुसारिणः । कर्तृजोक्तृत्वमात्रोऽसाविति मतं जैमिने । तथाभूत एवासौ अरुस्वरूप इत्यक्षपादकणष्टरूपमतानुसारिणः । अस्ति निर्वाणमस्ति च भोक्कोपाय इत्यामनन्ति नास्तिकपाक्षिकव्यतिरिक्ताः । पास्त्यिदमन् एते चाभ्युपगमाः एकान्तेन तदस्तित्वादेरप्यज्ञानुमानाज्यामप्रतीतेः । तथाभ्युपगमे च स्वास्तित्वेनेवान्यभावास्तित्वेनापि तस्य भावात् सर्वज्ञायसंकीर्णताप्रसङ्गे, स्वस्वरूपाव्यवस्थितः अपुष्पवदस्त्वमेव स्यात्, इत्यादि दूषणमसङ्गत् प्रतिपादितम् । हेतुदृष्टान्तदोषाश्च पूर्ववदत्रापि वाच्याः । चतुर्थपादं तु गाथायाः केचिदन्यथा पठन्ति- 'ह्रस्वसम्मत्तस ठाणाइं ति' । अत्र तु पाठे इतरधर्माजहद्वृत्त्या प्रवर्तमाना एते पदं पक्षाः सम्यक्त्वस्याधारतां प्रतिपद्यन्ति इति व्याख्येयम् । न च स्यादस्यात्मा नित्यादिप्रतिज्ञावाक्यमध्यक्षादिना प्रमाणेन बाध्यते, स्वपरजावाभासकाध्यक्षादिप्रमाणव्यतिरेकेणान्यथाभूतस्याऽप्यक्षादेरप्रतीतेः । तेनानुमानाभ्युपगमात् स्ववचने लोकस्य व्यवहारविरोधोऽपि न, प्रतिज्ञाया अध्यक्षा

दिप्रमाणावसेये सदसदात्मके वस्तुनि कस्यचिद्विरोधस्यासंभवात् । न चाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः, बौद्धिकपरीक्षकैस्तथाभूतविशेषणस्यापि प्रतिपत्त्या सर्वत्र प्रतीतेरन्यस्य वा विशेषणव्यवहारस्योच्छेदप्रसङ्गात् । अन्यथाभूतस्य क्वचिदप्यसंभवाच्चथाभूतविशेषणात्मकस्य धर्मिणः सर्वप्रतीतेनाप्रसिद्धविशेष्यतादोषः । नाप्यप्रसिद्धोभयता दूषणम्, तथाभूतद्वयव्यतिरेकेणान्यस्यासत्त्वतः प्रमाणाविषयत्वहेतुरपि नाप्रसिद्धः, तत्र तस्य सत्त्वप्रतीतेः विपक्षे सत्त्वासंज्ञाभापि विरुद्धः । अनैकान्तिकताऽप्यत एवायुक्ता । दृष्टान्तदोषा अपि साध्यादिविकलत्वादयो नात्र संजनिनः, असिद्धत्वादोपवत्येव साधने तेषां ज्ञावात् । नानुमानतोऽनेकात्मकं वस्तु तद्वादिभिः प्रनीयते । अध्यक्षासिद्धत्वाद्बस्तुप्रतिपक्षेरपि ततस्तस्मिन् विप्रतिपद्यते । तं प्रति तत्प्रसिद्धेनैव न्यायेनानुमानोपन्यासेन विप्रतिपत्तिनिराकरणमात्रमेव विधीयत इति नाप्रसिद्धविशेषणत्वादोषस्यावकाशः । प्रतिकृणपरिणामपरभागादीनां त्रुविकाराद्यानुमागदर्शनाऽन्यथाऽनुपपद्यामानेनाध्यक्षादिवाधादस्मदाद्यक्षस्य सर्वात्मना वस्तुग्रहणासामर्थ्यात् स्फटिकादौ चार्वाग्भागपरभागयोरप्यक्षतपदैकदा प्रतिपत्तेरनवस्थैर्यग्राह्यत्वं प्रतिकृणपरिणामानुमानेन विरुध्यते; अस्य तदनुमाहकत्वात्, कथञ्चित्प्रतिकृणपरिणामस्य तत्प्रतीतस्यैवानुमानतो विनिश्चयात् ।

अनेकान्तव्यवच्छेदेनैकान्ताऽवधारिधर्मोधिकरणत्वेन

धर्मिणं साधयेकान्तवादी न साधमर्थतः

साधयितुं प्रभुर्नापि वैधर्म्यत इति

प्रतिपादयन्नाह-

[७] साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्च साध्यसिद्धिः ।

साहम्मत्रो व्व अत्थं, साहिज्ज परो विहम्मओ वा वि ।

अएणोसं पन्निक्का, दोस वि एए असव्वाया ॥ १५२ ॥

समानस्तुल्यः साध्यसामान्यान्वितसाधनधर्मो यस्यासौ साधर्मा, साधर्म्यदृष्टान्तापेक्षया साधर्मी, तस्य भावः साधर्म्यम्, ततो वाऽर्थ साध्यधर्मादिकरणतया धर्मिणं साधयेत्परः, अन्यविहेतुप्रदर्शनात् । साध्यधर्मिण विवक्षितं साध्यं यदि वैशेषिकादि साधयेत्, नदा तत्पुत्रत्वादेरपि गमकत्वं स्यात्; अन्ययमात्रस्य तत्रापि भावात् । अथ वैधर्म्याद् विगतस्तथाभूतसाधनधर्मो ह्यस्मादसौ विधर्मा, तस्य भावो वैधर्म्यम्, ततो वा व्यतिरेकिणो हेतोः प्रकृतं साध्यं साधयेत्, उभाभ्यां वा ; वाशब्दस्य समुच्चयार्थत्वात् । तथापि पुत्रत्वादेरेव गमकत्वप्रसक्तिः । इयामत्वाभावे च तत्पुत्रत्वादेः, अन्यत्र गौरवपुत्रे अज्ञावात्, उभाभ्यामपि तत्साधने । अत एव साध्यसिद्धिप्रसक्तिः स्यात् । अथाऽत्र कालात्ययापदिष्टत्वादिदोषसद्भावाच्च साध्यसाधकताप्रसक्तिः; असिद्धविरुद्धानैकान्तिकदेत्वाज्ञासमन्तरेणापरहेत्वाज्ञासासंभवात् । न च त्रैकृत्यलक्षणयोगिनाऽसिद्धत्वादिहेत्वाभासता कृतकत्वादेरिवानित्यत्वसाधने संभवति । अस्ति च भवदभिप्रायेण त्रैकृत्यं प्रकृतदेताविति कुतोऽस्य हेत्वाभासता ? अथ भवत्वयं दोषः, येषां त्रैकृत्येऽविनाशपरिसमाप्तिः, नास्माकं च लक्षणहेतुवादिनाम् ; प्रकरणसमादेरपि हेत्वाभासत्वोपपत्तेः त्रैलक्षण्यसद्भावेऽप्यपरस्यासत्प्रतिपक्षात्वादेर्हेतुलक्षणस्यासंभवे तदाभासत्वसंज्ञवात्, 'यस्मात्प्रकरणचिन्ता स प्रकरणसमः' इति प्रकरणसमस्य लक्षणाभिधानात् । प्रक्रियेते साध्यत्वेनाधिक्रियते निश्चितौ पक्षप्रतिपक्षौ यौ नौ प्रकरणम्, तस्य चिन्ता संशया-

क्षसपक्षान्यतरत्वादेरपि प्रकरणसमस्य व्युदासः कुतो द्रष्टव्यः ;
न्यायस्य समानत्वात् । यदप्यत्रासाधारणत्वासिद्धत्वदोषद्वय-
निरासार्थमन्यतरशब्दाभिधेयत्वं पक्षसपक्षयोः साधारणं हेतु-
त्वेन विवक्षितम्, अन्यतरशब्दात् तथाविधार्थप्रतिपक्षस्तस्य
तत्र योग्यत्वादित्यभिधानम् । तदप्यसङ्गतम् । यतो यत्रानियमेन
फलसंबन्धो विविक्षितो भवति तत्रैव लोकेऽन्यतरशब्दप्र-
योगो दृष्टः । यथा-देवदत्तयज्ञदत्तयोरन्यतरं भोजयेत्यत्रानिय-
मेन देवदत्तो यज्ञदत्तो वा भोजनक्रियया संबध्यते, इत्यन्यत-
रशब्दप्रयोगः । नचैवं शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरः ; तस्य पक्ष-
त्वेनान्यतरशब्दवाच्यत्वायोगात् । यदपि यदा पक्षधर्मत्वं प्र-
योक्ता विवक्षति, तदाऽन्यतरशब्दवाच्यः पक्ष इत्याद्यभिधानम् ।
तदप्यसङ्गतम् । एवं विवक्षायामस्य कल्पनासमारोपितत्वेऽन-
र्थरूपतया लिङ्गत्वानुपपत्तेः । नहि कल्पनाविरतस्यार्थत्वं, त्रै-
रूप्यं दोषपक्षिमतम् ; अतिप्रसङ्गात् । तत्त्वे वाऽन्यस्य गमकता-
निबन्धनस्याऽभावात् सम्यग्हेतुत्वं स्यादित्युक्तं प्राक् काला-
त्ययापदिष्टस्य तुल्यलक्षणमसङ्गतमेव । नहि प्रमाणप्रसिद्धत्रै-
रूप्यसद्भावे हेतोर्विषयबाधा संभाविनी, तयोर्विरोधात् । सा-
ध्यसद्भाव एव हेतोर्धर्मिणि सद्भावस्यैक्यम्, तदभाव एव
च तत्र तत्सद्भावो बाधा, भावाभावयोश्चैकत्रैकस्य विरोधः । किं
चाध्यज्ञागमयोः कुतो हेतुविषयबाधकत्वमिति ब्रूव्यम् । सा-
र्थ्यसंभवे तयोर्भावादिति चेत्-हेतावपि सति त्रैरूप्ये तत्समान-
मित्यसावपि तयोर्विषयो बाधकः स्यात् । इश्यते हि चन्द्रा-
र्काद्विषयैर्ग्राह्यत्वं देशान्तरप्राप्तिलिङ्गप्रभवतइत्यनुमानेन
बाध्यमानम् । अथ तत्त्वैर्ग्राह्यत्वं तस्यातदाभासत्वाद् बाध्यत्वं
तद्वैकशाब्दाप्रभवत्वानुमानस्यापि तदाभासत्वाद् बाध्यत्वमित्य-
भ्युपगन्तव्यम् । नचैवमस्त्विति वक्तव्यम्, यतस्तस्य तदाभासत्वं
किमभ्यक्षाध्यत्वादुत त्रैरूप्यवैकस्यात् । न तावदाद्यः पक्षः ।
इतरेतराभ्यदोषसद्भावात् । तदाभासत्वेऽन्यत्वाध्यत्वम्, ततश्च
तदाभासत्वमित्येकासिद्धावन्यतराप्रसिद्धः । नापि द्वितीयः ।
त्रैरूप्यसद्भावस्य तत्र परेणाभ्युपगमात् । अनभ्युपगमे वा तत
एव तस्यागमकत्वोपपत्तेरभ्युपगमात् । नचा-
बाधितविषयत्वं हेतुलक्षणमुपपन्नम्, त्रैरूप्यवन्निश्चितस्यैव तस्य
गमकाङ्गत्वोपपत्तेः । न च तस्य निश्चयः संभवति; स्वसंबन्धि-
नोऽबाधितत्वनिश्चयस्य तत्कालप्राप्तिनोऽसम्यगनुमानेऽपि स-
त्साध्यवन्निश्चितस्यैव तस्य गमकाङ्गत्वोपपत्तेः । न च तस्य निश्चयः
संभवति, स्वसंबन्धिनोऽबाधितत्वनिश्चयस्य तत्कालप्राप्तिनो-
ऽसम्यग्भावादुत्तरकालप्राप्तिनोऽसिद्धत्वात् । सर्वसंबन्धिनस्ता-
दात्विकस्योत्तरकालभाविनश्चासिद्धत्वात्तद्वैकशा सर्वत्र स-
र्वदा सर्वेषामत्र बाधकस्याप्राप्य इति निश्चेतुं शक्यम् । तन्निश्चय-
निबन्धनस्याभावाच्चानुपपन्नस्तन्निबन्धनः ; सर्वसंबन्धिनस्तस्य
सिद्धत्वात् । आत्मसंबन्धिनोऽनैकान्तिकत्वाच्च संवादस्तन्निबन्धनः,
प्रागनुमानप्रवृत्तेः । तस्यासिद्धेरनुमानोत्तरकालं तत्सिद्धाभ्यु-
पगमे इतरेतराभ्यदोषप्रसक्तः । तथाहि-अनुमानप्रवृत्तौ संवादा-
निश्चयः, ततश्चाबाधितत्वावगमे अनुमाने प्रवृत्तिरिति परि-
स्फुटमितरेतराभ्यत्वम् । न चाविनाभावे निश्चयादप्यबाधित-
विषयित्वनिश्चयः ; यतो ब्रह्मयोग्यविनाभावपरिसमाप्तिश्चादि-
नामबाधितविषयत्वनिश्चयेऽविनाभावनिश्चयस्यैवासंभवात् ।
अदि च प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तस्यैव कालात्य-
यापदिष्टत्वं, तर्हि पूर्वोऽयं देवदत्तः, त्वत्पुत्रत्वादुभयाभिमतान्य
पुत्रवत्, इत्यस्यापि गमकता स्यात् । न हि सकलशास्त्रव्याख्या-

तृत्वलिङ्गजनितानुमानबाधितविषयत्वमन्तरेणान्यदध्यक्षवाधि-
तविषयत्वं वा गमकतानिबन्धनमस्यास्ति न चानुमानस्य तुल्यब-
लत्वाच्चानुमानं प्रति बाधकता संजाविनीति वक्तव्यम् ; निश्चितप्र-
तिबन्धलिङ्गसमुत्थस्यानुमानस्यानिश्चितप्रतिबन्धलिङ्गसमुत्थे-
नातुल्यबलत्वात् । अत एव न साधर्म्यमात्राहेतुर्गमकः, अपि त्वा-
क्षित्यतिरेकात् साधर्म्यविशेषात् । नापि व्यतिरेकमात्रात् कि-
न्वङ्गीकृतान्वयात् । तद्विशेषान्वये च परस्परानुविद्धोभयमात्रात् ।
अपि तु परस्परस्वरूपाजहद्वृत्तसाधर्म्यवैधर्म्यरूपत्वात् । न
च प्रकृतहेतौ प्रतिबन्धनिश्चयात्कप्रमाणनिबन्धनं त्रैरूप्यं निश्चित-
मिति । तदभावादेवास्य हेत्वाभासत्वं, न पुनरसत्यप्रतिपक्षत्वाबा-
धितविषयत्वापररूपविरहात् । यदा च पक्षधर्मत्वाद्येन कवास्तव-
रूपात्मकमेकं लिङ्गमभ्युपगमविषयः, तदा तच्चथाभूतमेव वस्तु
प्रसाध्यतीति कथं न विपर्ययसिद्धिः ? नच साध्यसाधनयोः प-
रस्परतो धर्मिणश्चैकान्तभेदे पक्षधर्मयोगो लिङ्गस्योपपत्तिमा-
न, संबन्धासिद्धेः । नच समवायादेः संबन्धस्य निषेधे एकार्थ-
समवायादिः साध्यसाधनयोर्धर्मिणश्च संबन्धः संभवी । एका-
न्तपक्षे तादात्म्यादेतदुत्पत्तिब्रह्मणोऽप्यसावयुक्त एवेति पक्षधर्म-
स्य सपक्ष एव सत्त्वम्, तदेव विपक्षात् सर्वतो व्यावृत्तत्वमिति
वाच्यम् ? ; अन्यव्यतिरेकयोर्भावाभावरूपयोः सर्वथा
तादात्म्यायोगात् । तत्त्वे वा केवलान्वयी केवलव्यति-
रेकी वा सर्वो हेतुः स्यात्, न त्रिरूपवाद् । व्यतिरेकस्य चाभा-
वाभावरूपत्वाहेतोस्तद्वृत्तत्वेऽभावरूपो हेतुः स्यात् । न चाभा-
वस्य तुच्छरूपत्वात् स्वसाध्येन धर्मिणा वा संबन्ध उपपत्तिमा-
न । एवं विपक्षे सर्वत्रासत्त्वमेव हेतोः । स्वकीय व्यतिरेकेण प्र-
तिनियतस्य तत्रासंज्ञवात् । अतस्तदन्यधर्मान्तरं तद्वैकैकपक्ष्यैको
न तुच्चाभावमात्रमिति वक्तव्यम्, यतो यदि सपक्ष एव सत्त्वं वि-
पक्षादव्यावृत्तत्वं न ततो भिन्नमस्ति, तदा तस्य तदेव साधारणं
नोपपत्तिमतः ; वस्तुनूतान्याभावमन्तरेण प्रतिनियतस्य तत्रासंभ-
वात् । अथ ततस्तदन्यधर्मान्तरं, तद्वैकैकपक्ष्यानेकधर्मात्मकस्य हेतोः
तथाभूतस्य साध्याविनाभूतत्वेन निश्चितस्यानेकान्तात्मकवस्तुप्र-
तिपादनात् कथं न परोपन्यस्तहेतुना सर्वेषां विरुद्धानैकान्तेन
व्यासत्त्वम् । किञ्च । हेतुः सामान्यरूपो दोषादीयेत परैः, विशेष-
रूपो वा ? यदि सामान्यरूपः, तदा तद्व्यक्तिनो भिन्नमभिधेयं वा ?
न तावद्भिन्नम् । इदं सामान्यम्, अयं विशेषः अयं तद्वानिति वस्तुत्र-
योपपन्नानुपलक्षणात् । तथा च सामान्यस्य भेदेनानुपलक्षणम्,
शक्यत्वात् । न च समवायवशात् परस्परं तेषां भेदेनानुपलक्षणम्,
यतः समवायस्यैव बुद्धिहेतुत्वमुपगीयते । न च भेदग्रहणमन्त-
रेणेहेदमवस्थितमिति ध्रुवुत्पत्तिसंभवः । किञ्च । नागृहीतविशे-
षणा विशेष्ये बुद्धिरिति कारणादानात्सिद्धान्तः । न च सामान्य-
निश्चयः संस्थानभेदावसायमन्तरेणोपपद्यते यतो दूरं पदार्थ-
स्वरूपमुपलभमानो नागृहीतसंस्थानभेदः-अश्वत्वाविसामान्य-
मुपलब्धुं शक्नोति ; न च संस्थानभेदावगमस्तदाधारोपल-
म्भमन्तरेण संज्ञवतीति कथं नेतरेतराभ्यदोषप्रसङ्गः ? । तथा-
हि-पदार्थग्रहणे सति संस्थानभेदावगमः, तत्र च सामान्यवि-
शेषावबोधः, तस्मिन् सति पदार्थस्वरूपावगतिरिति व्यक्तमित-
रेतराभ्यत्वम्, चक्रकप्रसङ्गो वा । किञ्च । अश्वत्वादेः सामान्यभेद-
स्य स्वाभ्यसर्वगतत्वैककव्यक्तिशून्ये देशे प्रथमतः उपजायमा-
नाया व्यक्तेरश्वत्वाविसामान्येन बोधो न भवेत् । व्यक्तिशून्ये देशे
सामान्यभेदस्य स्वाभ्यसर्वगतस्यानवस्थानात्, व्यक्तान्तरा-

त्वाज्ञासस्याऽयोगात् । यच्च प्रकरणसमस्यानित्यः शब्दोऽनुपपन्न-
माननित्यधर्मकत्वादिन्युदाहरणं प्रदर्शितम् । तद्वसंगतमेव । यतो-
ऽनुपपन्नमाननित्यधर्मकत्वं यदि न ततः सिद्धं तदा पक्षवृत्तितया-
ऽस्यासिद्धेः कथं नासिद्धः ? । अथ तत्र सिद्धं तदा किं साध्यधर्मि-
त्वेन धर्मिणि तत्सिद्धम्, उत तद्विकल्प इति वक्तव्यम् ? । यदि तदन्वितं
तदा साध्यवत्येव धर्मिणि तस्य सद्भावासिद्धेः कथमगमकता ? । न
हि साध्यधर्ममन्तरेणाधर्मिजयनं विहायापरं हेतोरविनाभावित्वं
भवेत् । तथैव समस्ति कथं न गमकता ? । विनाभावनिबन्धनत्वात्
तस्याः । अथ तद्वि कालात्तत्सिद्धं तदा तत्र वर्तमानो हेतुः क-
थं न विरुद्धः ? । विपक्ष एव वर्तमानस्य विरुद्धत्वात् । जयति च
धर्मविकल्प एव धर्मिणि वर्तमानो विपक्षवृत्तिः । अथ संदिग्ध-
साध्यधर्मवति तत्तत्र वर्तते तदा संदिग्धविपक्षवृत्तित्वा-
दनैकान्तिकः । अथ साध्यधर्मव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे यस्य साध्या-
भाव एव दर्शनं स विरुद्धः । यस्य च तदभावेऽप्यसाधनैका-
न्तिकः । न धर्मिण एव विपक्षता; तस्य हि विपक्षत्वे सर्वस्य
हेतोरहेतुत्वप्रसक्तः । यतः साध्यधर्मासाध्यधर्मसदृसत्वाभ्य-
त्वेन सर्वदा संदिग्ध एव साध्यसिद्धेः प्रागन्यथा साध्याभावे
निश्चिते साध्याभावनिश्चयकेन प्रमाणेन बाधितत्वात्तोरप्रवृ-
त्तिरेव स्यात् । प्रत्यक्षादिप्रमाणेन च साध्यधर्मयुक्ततया धर्मिणो
निश्चये हेतौ वैयर्थ्यप्रसक्तिः, प्रत्यक्षादित एव हेतुसाध्यस्य सिद्धेः,
तस्मात्संदिग्धसाध्यधर्माधर्मा हेतोरभ्यवत्येवैव रूपस्य इति ।
यद्यनैकान्तिकस्तत्र वर्तमानो हेतुः, धूमादिरपि तर्हि तथाविध
एव स्यात् । तस्याप्येवं संदिग्धव्यतिरिक्तत्वात् । यदि हि विपक्ष-
वृत्तित्वेन निश्चितो यथा गमकस्तथा सांदिग्धव्यतिरेक्यप्यनुमान-
प्राप्त्यप्यं परित्यक्तमेव भवेत् । ततोऽनुमेयव्यतिरिक्ते साध्यधर्म-
वति वर्तमानः साध्याभावे चानैकान्तिको हेतुः, साध्याभाववत्ये
वानुवर्तमानः पक्षधर्मस्य सति विरुद्ध इत्यभ्युपगन्तव्यम् ।
यच्च विपक्षाद्व्यावृत्तः सपक्षो याऽनुगतः पक्षधर्मो निश्चितः स
स्वसाध्यं गमयति । प्रकृतस्तु यद्यपि विपक्षाद्व्यावृत्तस्तथापि
न स्वसाध्यसाधकः, प्रतिबन्धस्य स्वसाध्यानिश्चयात् । तद-
निश्चयश्च न विपक्षवृत्तित्वेन, किन्तु प्रकरणसमत्वेन, एकशास्त्रा-
प्रभवत्वादेस्तु कालात्तयापादिष्टत्वेनेति । असदेतत् । यतो यदि
धर्मिव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे हेतोः स्वसाध्येन प्रतिबन्धोऽनुपगम्य-
ते, तदा धर्मियुपादीयमानोऽपि हेतुः साध्यस्योपस्थापको न
स्यात् । साध्यधर्मिणि साध्यधर्ममन्तरेणापि हेतोः सद्भावाभ्युप-
गमात्; तद्व्यातिरिक्त एव धर्म्यन्तरे तस्य साध्येन प्रतिबन्धग्रह-
णात् । नचान्यत्र स्वसाध्याविनाभावित्वेन निश्चितोऽप्यत्र सा-
ध्यं गमयत् । अतिप्रसङ्गात् । अथ यदि साध्यधर्मान्यतत्वेन सा-
ध्यधर्मियपि हेतुरन्यथप्रदर्शनकाल एव निश्चितस्तदा पूर्वमेव
साध्यधर्मस्य धर्मिणो निश्चयात् पक्षधर्मताग्रहणस्य वैयर्थ्यम् ।
असदेतत् । यतः प्रतिबन्धप्रसाधकेन प्रमाणेन सर्वोपसंहारेण
साधनधर्मसाध्यधर्माभावे क्वचिदपि न भवतीति सामान्ये-
न प्रतिबन्धनिश्चये पक्षधर्मताग्रहणकाले यत्रैव धर्मियुपग-
म्यते हेतुः, तत्रैव स्वसाध्यं निश्चययतीति पक्षधर्मताग्रहण-
स्य विशेषविषयप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वाच्चानुमानस्य वैयर्थ्यम् ।
नहि विशिष्टधर्मियुपलब्धमानो हेतुस्तदगतसाध्यमन्तरे-
णोपपत्तिमान् अस्य । अन्यथा तस्य स्वसाध्यव्याप्त्तत्वायो-
गात् । नचैवं तत्र हेतुपक्षमेऽपि साध्यविषयसदृसत्तानिश्चयः,
येन संदिग्धव्यतिरेकित हेतोः सर्वत्र भवेत्, निश्चितस्वसा-
ध्याविनाशहेतुपक्षमेवैव साध्यधर्मिणि साध्यप्रतिपत्तिरूप-

त्वात् । नहि तत्र तथाभूतहेतुनिश्चयादपरस्तस्यासाध्यप्रतिपादन-
व्यापारः । अत एव निश्चितप्रतिबन्धैकहेतुसद्भावे धर्मिणि न
विपरीतसाध्योपस्थापकस्य तल्लक्षणयोगिनो हेत्वन्तरस्य स-
द्भावः । तयोर्द्वयोरपि स्वसाध्याविनाशतत्वावित्यानित्यत्वयोश्चै-
कत्रैकान्तवादिमतेन विरोधादसंजयात्, तद्व्यवस्थापकहेत्वो-
रप्यसंभवस्य न्यायप्राप्तत्वात् । संभवे वा तयोः स्वसाध्याविना-
नित्यत्वधर्मयुक्तत्वं धर्मतः स्यादिति कुतः प्रकरणसमस्याऽ-
गमकता । अन्यतरस्यात्र स्वसाध्याविनाभावविकलता तर्हि तत
एव तस्याऽगमकतेति किमसत्प्रतिपक्षतारूपप्रतिपादनप्रयासे-
न ? । किञ्च नित्यधर्मानुपलब्धिः प्रसज्यप्रतिषेधरूपा, पशुदास-
पादाशब्दानित्यत्वे हेतुः ? । न तावदाद्यः पक्षः । अनुपलब्धिमात्रस्य
तुल्यस्य साध्यासाधकत्वात् । अथ द्वितीयः, तदाऽपि स धर्मो
पलब्धिरेव हेतुरिति । यद्यसौ शब्दे सिद्धा, कथं नानित्यता सिद्धिः ?
अथ चिन्तासंबन्धिना पुरुषेणासौ प्रयुज्यत इति न तत्र निश्चिता,
तर्हि कथं संदिग्धासिद्धो हेतुर्वादिनं प्रति प्रतिवादिनस्वसौ
स्वरूपासिद्ध एव ? , नित्यधर्मोपलब्धः ? ; तत्र तस्य सिद्धेः ।
यद्यप्युभयानुपलब्धिनिबन्धना यदा द्वयोरपि चिन्ता, तदैकदेशो-
पलब्धेरन्यतरं हेतुत्वेनोपादनं कथं चिन्तासंबन्धेव द्वितीयः
तस्यासिद्धतां वक्तुं पारयतीत्याद्यभिधानम् । तदप्यसङ्गतम् ।
यतो यदि द्वितीयः संशयापन्नत्वात्तत्रासिद्धतां नोद्भावयितुं
समर्थः प्रथमोऽपि तर्हि कथं संशयित्वादेव तस्य हेतुतामभिधातुं
संशयिताऽपि तत्र हेतुतामनिर्दिध्यात्, तद्व्यासिद्धतामप्यनिर्दिध्या-
तः, त्रान्तेरुभयत्राविशेषात् । यद्यपि साधनकाले नित्यधर्मानुपल-
ब्धिरनित्यपक्ष एव वर्तते न विपक्ष इत्याद्यभिधानम् तदसङ्गतम् ।
विपक्षादेकान्ततोऽस्य व्यावृत्तौ पक्षधर्मत्वे च स्वसाध्यसाधक-
त्वमेव अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकव्यवच्छेदेनापत्रवृत्तिनिश्च-
ये गत्यन्तराभावात् । नहि योऽनित्यपक्ष एव वर्तमानो निश्चितो
वस्तुधर्मः स तत्र साध्यतीति वक्तुं युक्तम् । अथ द्वितीयोऽपि
वस्तुधर्मस्तत्र तावन्निश्चितो न; परस्परविरुद्धधर्मद्वयोस्तद्विना-
शतयोर्वा एकत्र धर्मिययोगात् । योगे वा नित्यत्वयोः शब्दा-
स्य धर्मियेकदा सद्भावादेकान्तरूपयस्तुसद्भावोऽप्युपगतः
स्यात् । तमन्तरेण तद्वतोः स्वसाध्याविनाशतयोस्तत्रायोगात् ।
धर्मिणि तयोरुपलब्धिरेव स्वसाध्यसाधकत्वमिति कुतस्तत्स-
द्भावे परस्परविषयप्रतिबन्धः ? । तत् प्रतिबन्धो हि तयोस्तथा-
भूतयोस्तत्राप्रवृत्तिः सा च त्रैकल्याभ्युपगमे विरोधादयुक्ता;
भावाभावयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया एकत्रायोगात् ।
अथ द्वयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपयोरैकत्रायोगादनित्यधर्मानुप-
लब्धेर्नित्यधर्मानुपलब्धेर्वा बाधा । न । अनुमानस्याऽनुमाना-
न्तरेण बाधायोगात् । तथाहि-तुल्यबलयोर्वा तयोर्वाधक-
भावोऽनुल्यबलयोर्वा ? । न तावदाद्यः पक्षः । द्वयोस्तुल्यत्वे ए-
कस्य बाधकत्वमपरस्य च बाध्यत्वमिति विशेषानुपपत्तेः ।
न च पक्षधर्मत्वाद्यभावादिरेकस्य विशेषः, तस्यानन्युपगमात् ।
अभ्युपगमे वा तत एवैकस्य दुष्टत्वाच्च किञ्चिदनुमानबाधया ।
तत्र पूर्वं पक्षः । नापि द्वितीयः । यतोऽनुल्यबलत्वं तयोः पक्ष-
धर्मत्वादिभावकृतम्, अनुमानबाधाजनितं वा ? । न तावदाद्यः
पक्षः । तस्यानभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वाऽनुमानबाधावैयर्थ्य-
प्रसक्तः । नापि द्वितीयः । तस्याद्यापि विचाराऽऽस्पदत्वात् ।
न हि द्वयोर्लैक्याऽनुल्यत्वे एकस्य बाध्यत्वमपरस्य च बाध-
कत्वमिति व्यवस्थापयितुं शक्यम् । तत्रानुमानबाधाकृतमन्य-
तुल्यबलत्वम्, इतरतः तत्राद्यदोषापत्तेः परिस्फुटत्वात् । एतेन ए-

कल्पितस्वरूपत्रैक्याभ्युपगमोऽप्यसंगतः । परिकल्पितस्य परमार्थसत्त्वे तद्दोषानतिक्रमात्, अपरमार्थसत्त्वे तद्वृत्तकृत्वार्थोपादयतः सत्त्वकृत्वविरोधात् । न च कल्पनाव्यवस्थापितवृत्तकृत्वज्ज्ञेयज्ज्ञेद उपपत्तिमानिति सिद्धस्य निरंशस्वभावस्य किञ्चिद्रूपं वाच्यम् । न च साधर्म्यादिव्यतिरेकेण तस्य स्वरूपं प्रदर्शयितुं शक्यत इति तस्य निःस्वभावताप्रसक्तिः । न चैकलक्षणहेतुवादिनोऽप्यनैकान्तात्मकवस्त्वभ्युपगमाद् दर्शनव्याघात इति वाच्यम् । प्रयोगनैगम एवैकग्रहणो हेतुरिति व्यवस्थापितत्वात् । नचैकान्तवादिनां प्रतिबन्धग्रहणमपि युक्तिसङ्गतम् । अविचलितरूपे आत्मनि ज्ञानपौर्वापर्याजावात् प्रतिक्षणधर्मसिन्धुजयग्रहणानुवृत्त्यैकचैतन्याजावात् । कारणस्वरूपप्रादिणा ज्ञानेन कार्यस्य तत्स्वरूपप्रादिणा कार्यकारणजावादेर्ग्रहः, एकसंबन्धस्वरूपग्रहणेऽपि तद्ग्रहणप्रसक्तेः । न च तद्ग्रहेऽपि निश्चयाऽनुत्पत्तेरदोषः, सविकल्पकत्वेन प्रथमाक्षिसंनिपातजस्याध्यक्षस्य व्यवस्थापनात् । न च कार्यानुज्ञवानन्तरभाविना स्मरणेन कार्यकारणभावोऽनुसंधीयत इति वक्तव्यम् । अनुज्ञत एव स्मरणप्रादुर्भावात् । न च प्रतिबन्धः केनचिदनुमृतः, स्तस्योभयनिष्ठत्वात्; उजयस्य च पूर्वापरकाष्ठजाविन एकेनाग्रहणात् । न च कार्यानुज्ञवानन्तरभाविनः स्मरणस्य कार्यानुज्ञाजनकः, तदनन्तरं स्मरणस्याभावात् । न च कृणिकैकान्तवादे कार्यकारणभाव उपपत्तिमानित्युक्तम् । न च सन्तानादिकल्पनाऽप्यश्रोपयोगिनी । न च स्मरणकालेऽतीततद्विषयमात्रं प्रतीयते, अपि तु तदाऽनुभविताऽपि ग्रहमेवमिदमनुज्ञतवानित्यनुज्ञयित्रा धाराऽनुज्ञतविषयस्तुल्यव्यवसायादेकाधारे अनुज्ञवस्मरणे अभ्युपगन्तव्ये; तद्भावे तथाऽध्यवसायानुपपत्तेः । नचानुज्ञवस्मरणयोरनुगतचैतन्याजावे तद्वर्तमाना अनुभवस्मरणयोस्तदा प्रतिपत्तिर्युक्ता । नहि यत्प्रतिपत्तिकाले यन्नास्ति, तच्च कर्मतया प्रतिपत्तुं युक्तम्; बोधाभावे प्राज्ञप्राहकसंविच्चित्रितयप्रतिपत्तिवत्; अस्ति च तत्कर्मतया अनुभवस्मरणयोस्तदा प्रतिपत्तिरिति कथं कृणिकैकान्तवाद्, तत्र वा प्रतिबन्धनिश्चय इति ? । नचैकान्तवादिनः सामान्यादिकं साध्यं संजयीति प्रतिपादितम्; तस्मादनेकान्तात्मकं वस्त्वभ्युपगन्तव्यम्, अप्यज्ञादेः प्रमाणस्य तत्प्रतिपादकत्वेन प्रवृत्तेः ।

(८) स एव च सन्मार्गः (अनेकान्त एव सन्मार्गः)

इत्युपसंहरन्नाह—

द्वयं खितं कालं, जावं पञ्जायदेससंजोगे ।

भेदं च पशुच्च समा, भावाणं पञ्चवणपञ्जा ॥ १९९ ॥

अव्यक्तेत्रकाष्ठजावपर्यायदेशसंयोगान् भेदं चेत्यष्टौ प्रावानाश्रित्य वस्तुनो भेदे सति समा सर्ववस्तुविषयायाः प्रतिज्ञाप्यरूपायाः स्याद्वादरूपायाः पर्यायान्या मार्ग इति यावत् । तत्र स्वयं पृथिव्यादि, क्षेत्रं तदवयवरूपं तदाश्रयं वा आकाशं, काष्ठं युगपदकिप्रत्ययसिद्धकृणं वर्तमानात्मकं वा, नवपुराणादिलक्षणं भावम्, मूत्राङ्कुरादिब्रह्मणं पर्यायम्, रूपादिस्वभावं देशम्, मूलाङ्कुरपत्रकाष्ठादिक्रमजावि विभागं संयोगं चूम्यादि प्रत्येकं समुदायं स्वयंपर्यायब्रह्मणं भेदं, प्रतिब्रह्मणव्यावर्तनात्मकं वा; जीवाजीवादिभावानां प्रतीत्य समानतया तदतदात्मकत्वेन प्रज्ञापनानिरूपणा या सा सत्पथ इति नहि तदतदात्मकैकव्यवस्थादिभेदाजावे स्मरविषाणादेर्जीवादिद्रव्यस्य विशेषः, यतो न द्रव्यक्षेत्रकालभावपर्यायदेशसंयोगभेदरहितं वस्तु केनचित् प्रत्यक्षाद्यन्यतमप्रमाणेनावगन्तुं शक्यम् । न च प्रमाणागोचरस्य सद्व्यवहा-

रगोचरता संभविनीति तदतदात्मकं तदभ्युपगन्तव्यम् । नह्येकान्ततोऽतदात्मकं अव्यादिभेदभिन्नं व्यतिरिक्तरूपं च प्रमाणं तन्निरूपयितुं शक्यम्, द्रव्यादिव्यतिरिक्तस्य शशशृङ्गवत् कुतश्चित्प्रमाणाप्रतीतिः । नहि ततो अव्यादीनां भेदेऽपि समवायसंबन्धवशात् तत्संबद्धताप्रसङ्गः । संबन्धभेदेन तद्भेदाभेदकल्पनद्वयानतिवृत्तेः । प्रथमविकल्पे समवायानेकत्वप्रसक्तिः । संबन्धिभेदतो भेदात् संयोगवदनित्यत्वप्रसक्तिश्च । द्वितीयकल्पनायामपि संबन्धिसङ्करप्रसक्तिः । नचैवं छत्रदरमकुण्डलादिसंबन्धविशेषविशिष्टदेवदत्तादेरिव समवायिनो जातिगुणत्वादेर्भेदेनोपलब्धेः । नहि य एव दूरभेदवदत्तयोः संबन्धः स एव जत्रादिभिरपि, तत्संबन्धविशेषणाविशेषवैफल्यप्रसक्तेः । न विशेषणं विशेष्यं धर्मान्तराद्व्यवच्छिद्यात्मन्यनवस्थापयद् विशेषणरूपतां प्रतिपद्यते । एवं समवायसंबन्धस्याविशेषे अव्यवस्थादीनामपि विशेषणानामविशेषाच्च जीवाजीवादिद्रव्यव्यवच्छेदकता स्यादिति समवायिसङ्करप्रसक्तिः कथं नासज्येत ? । न च समवायस्तद्ग्राहकप्रमाणाजावात् संजवति, तद्भावे न वस्तुनो वस्तुत्वयोगो भवेदिति तदनेकान्तात्मकैकरूपमभ्युपगन्तव्यम् । नचैकानेकात्मकत्वं वस्तुनो विरुद्धम्, प्रमाणप्रतिपक्षे वस्तुनि विरोधायोगात् । तथाहि—एकानेकात्मकमात्मादि वस्तुं, प्रमेयत्वात्, चित्रपटरूपवत्, प्राज्ञप्राहकाकारसंविच्चिरूपैकविज्ञानस्य प्रत्यात्मसंवेदनीयत्वात् । न च वैशेषिकं प्रति चित्रपटरूपस्यैकानेकत्वमसिद्धम्, प्राक् प्रसाधितत्वात् । नापि प्राज्ञप्राहकसंविच्चिलक्षणरूपत्रयात्मकमेकं विज्ञानं बौद्धं प्रत्यासिद्धम्; तथाचूतविज्ञानस्य प्रत्यात्मसंवेदनीयस्य प्रतिपक्षप्रसक्तेः । स्वार्थाकारयोर्विज्ञानमभिन्नस्वरूपम्, विज्ञानस्य च वेद्यवेदकाकारौ भिन्नात्मनौ, कथञ्चिदनुज्ञवगोचरापत्तौ । एतच्च प्रतिक्षणस्वभावभेदमनुभवदपि न सर्वथा भेदवत् संवेद्यत इति संविदात्मनः स्वयमेकस्य क्रमवर्त्यनेकात्मकत्वं न विरोधमनुभवतीति कथमध्यक्षादिधिरुद्धं निरन्वयविनाशित्वमभ्युपगन्तुं युक्तम् ? । नहि कदाचित् क्वचित् कृणिकत्वमन्तर्बहिर्वाऽभ्यक्ततोऽनुज्ञयते; तथैव निर्णयानुपपत्तेर्भेदात्मन एवान्तर्विज्ञानस्य बहिर्घटादेर्भाभिन्नस्य निश्चयात् । तथा ज्ञतस्यानुभवस्य भ्रान्तिकल्पनायां न किञ्चिदध्यक्षमभ्रान्तब्रह्मणमागं भवेत् । न हि ज्ञानं वेद्यवेदकाकारशून्यं स्पृष्टाकारव्यक्तं परमाणुरूपं वा घटादिकमेकं निरीक्षामहे, यतो बाह्याध्यात्मिकं भेदाभेदरूपतयाऽनुज्ञयमानं भ्रान्तविज्ञानविषयतया व्यवस्थाप्येत । अतो यथादर्शनमेवेयमनुमेयव्यवस्थितिः न पुनर्यथातत्त्वमित्येतदनिश्चितार्थाभिधानम् । नहि क्वचित् केनचित् प्रमाणेनैकान्तरूपं वस्तु तत्त्वमयं प्रतिपन्नवान्, यत एव वदन् शोभत, यदा वाऽप्यक्षविरुद्धो निरंशक्षणिकैकान्तस्ततो नानुमानमप्यत्र प्रवर्तितमुत्सहते, अध्यक्षाधितविषयत्वात् । तस्य तेन निरन्वयविनश्वरं वस्तु प्रतिक्षणमवैक्यमाणोऽपि नावधारयतीति । एतदप्यसदभिधानम् । प्रतिक्षणं विशराकृतया कुतश्चिदप्यनीक्षणात् । अत एव कृणिकत्वैकान्ते च सत्त्वादिहेतुरुपादीयमानः सर्व एव विरुद्धः, अनेकान्त एव तस्य संज्ञवात् । तथाहि—अर्थक्रियालक्षणं सत्त्वम् । न चासौ तदेकान्तक्रमयौगपद्याभ्यां संभवति, यतो यस्मिन् सत्येव यद्भवति तत्तस्य कारणमितरस्य कार्यमिति कार्यकारणलक्षणम् । कृणिके च कारणे सति यदि कार्योत्पत्तिर्भवेत् तदा कार्यकारणयोः सहोत्पत्तेः किं कस्य कारणं किं वा कस्य कार्यं व्यवस्थाप्येत ? । त्रैलोक्यस्य चैकक्षणवर्तिता प्रसज्येत । यदन्तरं यद्भवति तत्तस्य कार्यम्, इतरत् कारणमिति व्यवस्था-

देनागतायस्थानाच्च । ततः सर्वगतमन्युपगन्तव्यम्, एवं च कर्का-
दिभिरिष शावलेयादिभिरपि तदभिव्यज्येत । नच कर्काद्यानामेव
तदभिव्यक्तिसामर्थ्यं, न शावलेयादीनामिति वाच्यम् । यतो यथा
प्रत्यासत्त्या ता एव तदात्मन्यवस्थापयन्ति तथैव ता एवाश्वोऽथ
इत्येकाकारपरामर्शप्रत्ययमुपजनयिष्यन्तीति किमपरतदभि-
व्यक्तिसामान्यप्रकल्पनया ? । नच स्वाश्रयेन्द्रियसंयोगात् प्राक् स्व-
ज्ञानजनने असमर्थं सामर्थ्यं तदा परैरनाश्रयेति शयं तमपेक्ष्य
स्वावभासिज्ञानं जनयति, प्राक्तनासमर्थस्वज्ञावापरित्यागस्वज्ञा-
धान्तरानुत्पादे च तदयोगात् । तथाऽन्युपगमं च क्लृप्तताप्रस-
क्तः । न च स्वाभावेतरस्योपजायमानस्य ततो भेदः, संवन्धासिद्धि-
तस्तद्भावेऽपि प्राग्वत्तस्य स्वावभासिज्ञानजननायोगाच्च प्रति-
प्राप्तः स्यात् । तथा च सामान्यस्य व्यक्तिस्यो जेदेनाप्रति-
भासमानस्यासिद्धत्वाद्हेतुत्वम् । किञ्च । प्रतिव्यक्तिसामा-
न्यस्य सर्वात्मना परिसमाप्तत्वाच्च्युपगमात् एकस्यां व्यक्तावि-
व, शतस्वरूपस्य तदैव व्यक्त्यन्तरे वृत्त्यनुपपत्तेस्तदनुपप-
त्यस्य तत्रासंनवाद् असाधारणता हेतोः स्यात् । यदि
चासाधारणरूपा व्यक्तयः स्वरूपतस्तदा परसामान्ययोगा-
दपि न साधारणतां प्रतिपद्यन्ति इति व्यथा सामान्यप्र-
कल्पना; स्वतोऽसाधारणस्यान्ययोगादपि साधारणरूपत्वाद्
व्यक्तयः, स्वरूपतस्तदा परसामान्ययोगादपि न साधारण-
ता, अनुपपत्तेः । स्वतस्तद्वृत्त्येऽपि निष्फला सामान्यप्रकल्पनेति
व्यक्तिव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्याभावादसिद्धस्तत्त्वज्ञो हे-
तुरिति कथं ततः साध्यसिद्धिः ? । अथ व्यक्तिव्यतिरिक्तं
सामान्यं हेतुः । तद्व्यसन्नमेव । व्यक्तिव्यतिरिक्तस्य व्यक्ति-
स्वरूपवद्व्यक्त्यन्तरानुगमात् सामान्यरूपताऽनुपपत्तेः ।
व्यक्त्यन्तरे साधारणस्यैव वस्तुनः सामान्यमिदमभिधानात् ।
तस्यासाधारणत्वे वा न तस्य व्योक्तस्वरूपाव्यतिरिच्यमान-
मूर्तिता, सामान्यरूपतया भेदाव्यतिरिच्यमानस्वरूपस्य विरो-
धात् । तत्र व्यतिरिक्तमपि सामान्यहेतुः, व्यक्तिस्वरूपवत्सा-
धारणत्वेन गमकत्वायोगात् । अत एव न व्यक्तिरूपमपि हेतुः ।
नचोभयं परस्परानुविद्धं हेतुः, उभयदोषप्रसंगात् । नाप्यनुभ-
यम्, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकाभावे द्वितीयविधानादनु-
भयस्यासत्त्वेन हेतुत्वायोगात् । बुद्धिप्रकल्पितं च सामान्यं व-
स्तुवत्त्वात् साध्येनाप्रतिवदत्वादसिद्धत्वाच्च, न हेतुः । त-
स्मात्पदार्थान्तरानुवृत्तव्यावृत्तरूपमात्मानं विप्रवेकमेव पदार्थ-
स्वरूपं प्रतिपत्तुर्भेदाभेदप्रत्ययप्रसूतिनिबन्धनं हेतुत्वेनोपा-
दीयमानं तथाभूतसाध्यसिद्धिनिबन्धनमन्युपगन्तव्यम् । न च
यदेव रूपं रूपान्तराद्व्यावर्तते तदेव कथमनुवृत्तिमासादयति ? ,
तच्चानुवर्तते, तत्कथं व्यावृत्तिरूपतामात्मसात्करोतीति वक्त-
व्यम् ? , भेदाभेदरूपतयाऽव्यवृत्तः प्रतीयमाने वस्तुस्वरूपे विरो-
धासिद्धेरित्यसकृदावेदितत्वात् । किञ्च । एकान्तवाद्युपन्यस्त-
हेतोः किं सामान्यं साध्यम् ? , आहोस्त्रिद्विशेषः, उतोभयं
परस्परविविक्तम्, उतसिद्धनुभयमिति विकल्पाः ? । तत्र न
तावत्सामान्यम्, केवलस्यासंभवात्, अर्थक्रियाकारित्वविक-
लत्वाच्च । नापि विशेषः, तस्याननुयायित्वेन साधयितुमशक्य-
त्वात् । नाप्युभयम्, उभयदोषानतिवृत्तेः । नाप्यनुभयम्, तस्या-
सतो हेत्वव्यापकत्वेन साध्यत्वायोगात् । एतदेवाह गाथापञ्चाङ्गे-
न; अन्योन्यप्रतिकुष्ठौ प्रतिकिस्तौ द्वावप्येतौ सामान्यविशेषैकान्ता-
वसद्भावाविति, इतरत्रिनिर्मुक्तस्यैकस्य शशशृङ्गादेरिव सा-
धयितुमशक्यत्वात् ।

सामान्यविशेषयोः स्वरूपं परस्परविविक्तमनूय निराकुर्वन्नाह-
द्वद्विषय-वचनं, सामकं पञ्चवस्स य विसेसो ।

एष समोवणीया, विज्जवायं विसेसेति ॥ १५३ ॥

इत्यास्तिकस्य वक्तव्यं वाच्यं विशेषं निरपेक्ष्य सामान्यमात्रम्;
पर्यायास्तिकस्य पुनरनुस्यूताकारविविक्तो विशेष एव वाच्यः ।
एतौ च सामान्यविशेषावन्योन्यनिरपेक्षौ, एकैकरूपतया पर-
स्परप्रधानेन एकत्रोपनीतौ प्रदर्शितौ, विज्ज्यवादमनेकान्तवादं
सत्पथादस्वरूपमतिशयाने, असत्यरूपतया ततस्तावतिशयं हमेते
इति यावत् । विशेषे साध्येऽनुगमाभावतः, सामान्ये साध्ये सिद्ध-
साधनैकत्वतः, प्रधानोभयरूपे साध्ये उभयदोषापात्ततः, अनु-
भयरूपे साध्ये उभयाभावतः, साध्यत्वायोगात् । तस्माद्विवा-
दास्पदाभूतसामान्यविशेषोभयात्मकसाध्यधर्मोधारसाध्यधर्मि-
ण्यन्योन्यानुविद्धसाध्यधर्मवैधर्म्यस्वभावच्यात्मकैहेतुप्रदर्शन-
तो नैकान्तवादपक्षोक्तदोषावकाशः संभवति । अत एव गाथा-
पञ्चाङ्गेनैतौ सामान्यविशेषौ समुपनीतौ परस्परसव्यपेक्षतया
स्याद्वादप्रयागतौ धर्मिण्यवस्थापितौ विज्ज्यवादमेकान्तवादं
विशेषयतो निराकृतः, अत एव तथोरात्मज्ञात्वात् । अन्यथाऽनुमा-
नविषयस्योक्तन्यायेनासत्त्वादित्यपि दर्शयति ।

यत्रानुमानं विषयतयाऽन्युपगन्तव्यमिति दर्शयन्नाह—

हेउविसओवणीयं, जह वयणिज्जं परो नियत्तेइ ।

जइ तं जहा पुरिद्धां, दाइ तो केण जिच्चंति ? ॥ १५३ ॥

हेतुविषयतयोपनीतमुपदर्शितं साध्यधर्मिष्वक्षणं वस्तु पूर्वप-
क्षवादिना 'अनित्यः शब्दः' इत्येव यथा वचनीयं परो रूप-
वादी निवर्तयति, सिद्धसाध्यताऽनुगमप्रदोषाद्युपन्यासेनैकान्त-
वचनीयस्य तद्वितरधर्मोऽनुपपत्त्यानेकदोषप्रदतया निवर्तयि-
तुं शक्यत्वात् । यदि तत्तथा द्वितीयधर्मोक्तान्तं स्यात् शब्दयो-
जननं 'पुरिद्धः' पूर्वपक्षवादी अवर्शयिष्यत्, ततोऽसौ नैव केनचि-
दज्ञेयतः । ततश्चासौ तथाचूतस्य साध्यधर्मिणः प्रदर्शनात् प्र-
दर्शितस्य चैकान्तरूपस्यासत्त्वात्, तत्प्रदर्शकोऽसत्यवादितया नि-
ग्रहाहं इति ।

एतदेव दर्शयन्नाह—

एगंतासन्नूयं, सन्नूयमणिच्चियं च वयमाखो ।

लांइपरिच्चियाणं, वयणिज्जपहं पमइ वाइ ॥ १५४ ॥

आस्तां तावदेकान्तेनासद्भूतमसत्यं, सद्भूतमन्यनिश्चितं वद-
वादी लौकिकानां परीक्षकाणां वचनीयमार्गं पतति । ततोऽनेका-
न्तात्मकाहेतोः तथाचूतमेव साध्यधर्मिणं साधयन्वादी सद्भादी
स्यादिति तथैव साध्याविनाभूतो हेतुधर्मिण्येति तं प्रदर्शनीयः ।
तत्प्रदर्शने हेतोः सपक्षविपक्षयोः सदसत्त्वमवश्यं प्रदर्शनीयमिति
यदुच्यते परैः तदपास्तं भवति । तावन्मात्रादेव साध्यप्रतिपत्तेः ।
न च ततस्तत्प्रतिपत्तावपि विद्यमानत्वाद् रूपान्तरमपि तत्रावश्यं
प्रदर्शनीयम्, ज्ञानत्वादेरपि तत्र प्रदर्शनप्रसक्तेः । अथ सामर्थ्यात्
तत्प्रतीयत इति न वचनेन प्रदर्श्यते तर्ह्यन्यव्यतिरेकावपि तत ए-
वावश्यं प्रदर्शनीयौ; अत एव दृष्टान्तोऽपि नावश्यं वाच्यः । साध-
र्म्यवैधर्म्यप्रदर्शनपरत्वात्त्वस्योपनयनिगमनवचनयोस्तु दूरापा-
स्तता, तदन्तरेणापि साध्याविनाचूतहेतुप्रदर्शनमात्रात् साध्यप्र-
तिपत्त्युपत्तेरन्यथा तदयोगात् । त्रिष्वक्षणे हेतुप्रदर्शनवादिनस्तु-
निराश्वस्त्वन्युपगमविरोधः; निरंशो नैलक्ष्यविरोधात् । परि-

व्यावर्णितस्वरूपमवभासते, प्रतिभासभेदप्रसङ्गात् । यदि च तत्सर्वगतं पिण्डान्तरालेऽप्युपलभ्येत, स्वभावाविशेषादाभ्यामावादनमिव्यक्त्यभ्युपगमेऽभिव्यक्तस्वरूपभेदात् सामान्यरूपता न स्यात् । नचाभ्यभावाभावादभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिसत्प्रत्ययकर्तृत्वे नित्यैकस्वभावस्य युज्येते, तद्रूपयोगिनोऽप्येवं कथं नानैकान्तसिद्धिः । स्वाभ्यसर्वगताप्रकाशितायाः सर्वत्र प्रकाशितत्वात्मसकलवस्तुप्रपञ्चस्य सकृदुपलब्धिप्रसंगो न वा कस्यचिदुपलब्धिप्रसंगविशेषात् प्रकारान्तरेण प्रतीत्यभ्युपगमे, अनेकान्तवाद् एव स्वतः सतां विशेषाणां सत्तासंवन्धानर्थक्यम्, असतां संवन्धानुपपत्तिरिति प्रसङ्गेरक्रियासामान्यसंवन्धाद्व्यक्तीनामक्रियावत्त्वादव्यापकत्वं स्यात् । व्यक्तित्वेरेके व्यक्तित्वलक्षणवत्तत्सामान्यमेव न भवेत् । व्यक्तीनां वा सामान्याव्यतिरेकाद् व्यक्तित्वरूपहानेः, सामान्यस्य तद्रूपता न भवेत् । न च व्यतिरेकाव्यतिरेकपक्षेऽप्यनवस्था, उभयपक्षदोषवैयधिकरण्यसंशयविरोधादिदोषप्रसङ्गात् । सर्वथा तदभावोऽनवस्थादिदोषस्य प्राक् प्रतिपिद्धत्वात् । प्रतीयमानेऽपि तथाभूतेऽतिविरोधादिदोषासङ्गने प्रकारान्तरेण प्रतिभाससंभवात् सर्वशून्यताप्रसंगः । न च सैवास्त्विति धक्तव्यम् । स्वसंवेदनमात्रस्याप्यभावप्रसंगतो निः प्रमाणिकायाः तस्याप्यभ्युपगन्तुमशक्यत्वात् । तथापि तस्याभ्युपगमेन वरमनेकान्तात्मकं वस्तुभ्युपगन्तव्यम्, तस्याबाधितप्रतीतिगोचरत्वात् । तेन रूपादिकृष्णिकविज्ञानमात्रशून्यत्वाद्ऽभ्युपगमः, तथा पृथिव्याद्येकान्तनित्यत्वाभ्युपगमः, तथाऽऽत्माद्यैतानङ्गीकरणं, तथा परब्रह्मकाभावनिरूपणं, ह्यव्यगुणादेरत्यन्तभेदप्रतिज्ञानं च, तथा हिंसातो धर्माभ्युपगमः, यज्ञतो मुक्तिप्रतिपादनमित्याद्येकान्तवादिप्रसिद्धं सर्वमसत् प्रतिपत्तव्यम्; तत्प्रतिपादनहेतूनां प्रदर्शितनित्याऽनेकान्तव्याप्ततत्वेन विरोधात् । इतरधर्मसव्यपेक्षस्यैकान्तवाद्यभ्युपगतस्य सर्वस्य पारमार्थिकत्वात् ; अभिव्यक्तादिप्रतिषेधार्थं विज्ञानमात्राद्यभिधानस्य सार्थकत्वात् । तथाहि— 'अहमस्यैवाहमेवास्य' इत्येकान्तनित्यत्वस्वामिसंयन्धाद्यभिनिवेशप्रभरागादिप्रतिषेधपरं कृष्णिकरूपादिप्रतिपादनं युक्तमेव । सालम्बनज्ञानैकान्तप्रतिषेधपरं विज्ञानमात्राभिधानं सर्वविषयाजिष्वङ्गनिषेधप्रवर्णं शून्यताप्रकाशनं कृष्णिक एवायं पृथिव्यादिरिति एकान्तानिनिवेशमूढद्वेषादिनिषेधपरम्, तन्नित्यत्वप्रणयनं जात्यादिमदोन्मूलनानुगुणमात्राद्यैतत्प्रकाशनजन्मान्तरजनितकर्मफलभोक्तृत्वमेव धर्मानुष्ठानमित्येकान्तनिरासप्रयोगं जनपरब्रह्मकाभावावबोधनं ह्यव्याद्यव्यतिरेकैकान्तप्रतिषेधाय तद्गदाक्ष्यानम् । सम्म० । न० ।

(१) ये च (एकान्तवादिनोऽङ्गाः) विचेतनागमप्रतिपत्तिमात्रमाधयन्ते, तेऽनवगतपरमार्था एवेति प्रतिपादयन्नाह—

पारमेकनयपहृगयं, मुक्तं मुक्तधरसदसंतुष्टा ।

अविकोविअसामत्था, जहागम विभाग पान्विची ॥१५६॥

प्रत्येकनयमार्गगतं सूत्रं कृष्णिकाः सर्वसंस्कारा विज्ञानमात्रमेवेदम्, भो जिनपुत्राः ! यदिदं त्रैधातुकमिति ग्राह्याग्राह्यकोभयशून्यत्वमिति, नित्यमेकं मण्डव्यापि निष्क्रियमित्यादि सद्कारणवन्नित्यमिति "अत्मा रे ! श्रोतव्यो ज्ञातव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादिसत्ता ह्यव्यत्वसंवन्धात् । सद् द्रव्यं च, स्थितिपरलोकिनोऽभावात् परब्रह्मकाभावः । "चोदनाल्लक्षणोऽर्थो धर्मः" । इति धर्माधर्मकृत्यकरी दीक्षेत्यादिकमधीत्य सूत्रधरा वयमिति

शब्दमात्रसंतुष्टा गर्ववन्तोऽविकोविदसामर्थ्याः—अविकोविदमङ्गं सामर्थ्यं येषां ते तथा, अविदितसूत्रव्यापारविषया इति यावत् । किमित्येवं त इत्याह—यथाश्रुतंमवाचिरुद्धा अविवेकेन प्रतिपत्तिरेयमिति कृत्वा सूत्राभिधायिव्यतिरिक्तविषयविप्रतिपत्तित्वात् इतरजनवदङ्गा इत्यभिप्रायः । अथवा स्वयूच्या एव एकनयदर्शने कतिचित्सूत्राण्यधीत्य केचित् सूत्रधरा वयमिति गर्विता यथाऽवस्थितान्यनयसंव्यपेक्षसूत्रार्थापरिज्ञानादवितथात्मविद्वत्स्वरूपा इति गाथाऽभिप्रायः ॥ १५६ ॥

अथैषामेव नयदर्शनेन प्रवृत्तानां यो दोषस्तमुद्भावयितुमाह—

सम्मदंसणमिण्णो, सयद्वसमत्तवयणिज्जणिहोसं ।

अण्णुकोसविण्ण्डा, सलाहमाणा विणासेति ॥ १५७ ॥

सम्यग्दर्शनेतत्परस्परविषयापरित्यागप्रवृत्तानेकनयात्मकम्, तच्च स्यान्नित्य इत्यादि सकलधर्मपरिसमासवचनीयतया निर्दोषम्, एकनयवादिनः स्वविषयैस्तत्र व्यवस्थापनेनात्मात्कर्षेण विनष्टा स्याद्वादाजिगमं प्रत्यनाह्वयमाणा वयं सूत्रधरा इत्यात्मानं श्लाघ्यमानाः सम्यग्दर्शनं विनाशयन्ति, तदात्मनि नयं न स्थापयन्तीति यावत् । अथ न ते आगमप्रत्यनीकाः, तद्भक्तत्वात्, तद्देशपरिज्ञानवन्तश्चेति ॥ १५७ ॥

कथं तद्विनाशयन्त्यत्राह—

ए ह्नु सासणजत्ती मे—त्तएण सिध्दतजाणओ होइ ।

ण वि जाणओ वि णियमा, पसवणा निच्छिओ णाम ? १५८

न च शासनभक्तिमात्रेण सिद्धान्तज्ञाता भवति । न च तदज्ञानवान् प्रावसम्यक्त्ववान् ज्ञवति, अज्ञानस्यार्थस्य विशिष्टरुचिबिषयत्वानुपपत्तेः । तद्भक्तिमात्रेण अज्ञानुसारितं यद् ह्यव्यसम्यक्त्वमार्गानुसारि, अवबोधमात्रानुपपत्तरुचिस्त्राजं तु सर्वे भावसम्यक्त्वसाध्यफलनिवर्तकम्, भावसम्यक्त्वनिमित्तत्वेनैव तस्य ह्यव्यसम्यक्त्वमार्गानुसार्यवबोधसम्यक्त्वरूपतोपपत्तेः । न च जीवादि तत्त्वैकदेशज्ञाताऽपि नियमतोऽनेकान्तात्मकवस्तुरूपप्रज्ञापनायां निश्चितो भवति, एकदेशज्ञानवतः सकलधर्मात्मवस्तुज्ञानविकलतया सम्यक् तद्रूपणासंभात् । तथाहि—सर्वज्ञो यथावस्थितैकदेशज्ञः, जीवादिसकलतत्त्वज्ञाता त्वागमविदः सामान्यरूपतयाऽजिगीयते, मतिभुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेष्विति वचनात् ।

तत्त्वं तु— "जीवाजीवाश्रववन्धसंवरनिर्जराभोक्ताख्याः सप्त पदार्थाः" । तत्र चेतनालक्षणो जीवः । तद्विपरीतलक्षणस्त्वजीवः ; धर्माधर्माकाशकाद्यपुद्गलभेदेन चासौ पञ्चधा व्यवस्थापितः । एतत्पदार्थद्वयान्तर्गतं तन्त्रं सवेऽपि प्राजाः । नहि रूपरसगन्धस्पर्शादयः साधारणासाधारणरूपा मूर्त्तचेतनाचेतनह्यव्यगुणाः, उत्क्षेपणापक्षेपणादीनि च कर्माणि, सामान्यविशेषसमवायाश्च जीवाजीवव्यतिरेकेणाऽऽमस्थितिं लज्जन्ते । तद्वेदेनैकान्ततत्त्वेष्टामनुपलम्भात्, तेषां तदात्मकत्वेन प्रतिपत्तेः । अन्यथा तदसत्त्वप्रसक्तेः । ततो जीवाजीवाभ्यां पृथग् जात्यन्तरत्वेन "द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः" न वाच्याः । एवं "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितर्कनाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानि" च न पृथगभिधेयानि । तथा— "प्रकृतेर्महोस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात्, पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि" ॥ १ ॥ इति चतुर्विंशतिपदार्थाः पुरुषश्चेति न वक्तव्यम् । तथा—दुःखसमुदायमार्गनिरोधाश्चत्वार्येव सत्यानीति न वक्तव्यम् । ते

यां कारणाभिमतं वस्तुमसत्त्वे च भवतस्तदन्तरभावित्वस्य दुर्घटत्वादितरविनष्टादपि च तस्य ज्ञावो ज्ञेयं तदभावाविशेषात् । न चान्तरस्यापि कार्योत्पत्तिकालमप्राप्य विनाशमनुभवतश्चिरातीतस्येव कारणता । यतोऽर्थक्रिया कृणकृये न विरुद्धं । प्राक्काल-भाविस्त्वेन कारणत्वे सर्वं प्रति सर्वस्य कारणता प्रसज्येत, सर्ववस्तुकृणानां विवक्षितकार्यं प्रति भावित्वाविशेषात् । तथा च-स्वपरसन्तानव्यवस्थाऽप्यनुपपन्नैव स्यात् । न च सादृश्यात्तदभावात्, सर्वथा सादृश्यं कार्यस्य कारणरूपताप्रसक्तं कृणमात्रं सन्तानः प्रसज्येन । कथञ्चित्सादृश्यैकान्तवादाप्रसक्तिः । न च सादृश्यं जवदमिप्रायेणास्ति, सर्वत्र वैशङ्कण्याविशेषात् । अन्यथा स्वकृतान्तप्रकोपघोषाच्च कृणिकैकान्तवादिनोऽन्वयव्यतिरेकिप्रतिपत्तिः संजयतीति साध्यसाधनायासिकाग्रविषयायाः साकल्येन व्याप्तेरसिद्धेः । यत्सत्तत् सर्वं कृणिकं यथा शब्दशब्द इत्याद्यनुमानप्रवृत्तिः कथं न ज्ञेयं ? अकारणस्य च प्रमाणविषयत्वमभ्युपगमसाध्यसाधनयोस्मिन्नाग्रविषयव्याप्तिग्रहणस्य दूरोत्सारितत्वात् । "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं विषयः" इति वचनमनुमानोच्छेदकप्रसक्तं ग्राह्याहकाराज्ञानैकत्ववत्, ग्राह्याकाररूपापि युगपदनेकार्थावभासिनश्चैवैकरूपता एकान्तवादाप्रतिपत्तिः । एवं ज्ञान्याऽऽत्मनश्च सदृशं न स्यान्तर्बहिश्च ज्ञानात्मकत्वं कथञ्चिदभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा कथं स्वसंबन्धनाध्यकृता तस्य भवेत् ? तदभावे च कथं तत्त्वाभावसिद्धिर्युक्ता ? कथं च ज्ञानज्ञानं ज्ञानिरूपतयाऽऽत्मनमसंबिदत्तज्ञानरूपतया चावगच्छन्नन्तर्बहिस्तथा नावगच्छेत् । यतो ज्ञानैकान्तरूपताऽऽभ्युपगम्यतदशां भवेत्, कथं च ज्ञान्तविकल्पज्ञानयोः स्वसंबन्धनमभ्रान्तमविकल्पकं वाऽभ्युपगच्छन्ननेकान्तं नाभ्युपगच्छेत् ? ग्राह्याहकारवृत्त्याकारविषेकसंबिदं स्वसंबन्धेनानासंबन्धेन संबन्धपूर्ता याऽनुजनकं कथं क्रमभाविनोर्विकल्पेतरात्मनोऽनुगतसंबन्धनात्मानमनुभवप्रसिद्धं प्रतिक्षेपेत् । ततः क्रमसहजाविनः परस्परविलक्षणान्वाजावान्वाऽनन्यथावस्थितरूपतया व्याप्नुवतः सकललोकप्रतीतं स्वसंबन्धनम्, अनेकान्ततत्त्वव्यवस्थापकमेकान्तवादाप्रतिक्षेपि प्रतिष्ठितमिति । निरंशकृणिकखलकृणमन्तर्याह्यानिश्चिनमापि संविच्चिर्विषयीकरोतीति कल्पनाऽयुक्तिसंगतैव ; अप्रमाणप्रसिद्धिकल्पनायाः सर्वत्र निरङ्कुशत्वात् । सकलसंबन्धताकल्पनप्रसक्तैर्नेहैकस्य संविच्चिः परस्यासंविच्चिः नहि वास्तवसंबन्धभावे परिकल्पितस्य नियामकत्वं युक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । न च वास्तवः संबन्धः परस्य सिद्ध इति तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावात् साध्यसाधनयोः प्रतिबन्धनियमाभावेऽनुमानप्रवृत्तिर्दूरोत्सारितैव । अथ कृणिकाद् निवर्तमानमप्यर्थक्रियालक्षणं सत्त्वमकृणिके च स्वास्त्यतीति न ततोनेकान्तरात्मकवस्तुसिद्धिर्नाकृणिकेऽपि, क्रमयौगपद्याभ्यां तस्य विरोधात् । तथाहि-न तावदकृणिकस्य क्रमयत्कार्यकारणं प्राक्कृणसमर्थस्याभिमतकृणवत् तदकरणविरोधात्मानदसामर्थ्यं पश्चादपि न तत्सामर्थ्यमपेक्षिणामिनोऽनाधेयतिशयत्वात् । स्वभावात्पत्तिविनाशान्युपगमेऽपि नित्यैकान्तवादाविरोधात् । ततो व्यतिरिक्तस्यातिशयस्य कारणेनतिशयस्य प्रागिव पश्चादपि तत्करणसंभवात् । सहकारिणोऽपेक्षाऽपि तस्याभ्युत्थैव, यतोऽसहायस्य प्रागकरणस्वभावस्य पुनः सध्रीसहायस्य कार्यकरणं ज्ञेयं, नहि सहकारिणोऽपेक्षामतिशयमनङ्गीकृत्यतत्सहापक्षोपपत्तिमिति तत्र क्रमेणापरिणामी भावः कार्यं निवर्तयति, नापि यौगपद्येन कालान्तरे, तस्याकिञ्चित्करवेनावस्तुत्वापत्तेः ।

ज्ञानमात्रवशादित्यप्रसक्तैः । न च क्रमयौगपद्यव्यतिरिक्तं प्रकारान्तरं संनवतीत्यर्थक्रिया व्यापिका निवर्तमाना व्याप्यां सत्यां नित्यादप्यादाय निवर्तत इति । यत् सत्तत् सर्वमनेकान्तरात्मकं सिद्धम्, अन्यथा प्रसक्तादिविरोधप्रसक्तैः । न हि भेदमन्तरेण कदाचित् कस्यचिदभेदोपलब्धिः, इदं विषयादाधनेकाकारविवर्तात्मकस्यान्तर्भेदस्य संबन्धनाध्यकृतो वर्णसंस्थानसदाधनेकाकारस्य स्थूलस्य पूर्वापरस्वभावपरित्यागोपादानात्मकस्य झटादेर्बहिरेकस्थेन्द्रियजाध्यकृतः संबन्धनात् । सुखादिरूपादिभेदविकल्पतया चैतन्यग्रहादेः कदाचिदभ्युपगमनागोचरत्वान्महासामान्यस्यावान्तरसामान्यस्य वा सर्वगतासर्वगतधर्मात्मकता समवायस्य ज्ञानवशादोपतः संबन्धेतराभावात् अव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणामन्योन्यं तादात्म्यानिष्ठौ तेष्ववृत्तेः सर्वपदार्थस्वरूपाप्रसक्तिः स्यात् । स्वत एव समवायस्य ज्ञादिषु वृत्तौ समवायमन्तरेणापि द्रव्यादावपि स्वाधारेषु वृत्ति स्वत एव तस्मात्करिष्यन्तीति समवायकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तवद्भेदप्रसक्तिपञ्जप्रतिपत्तेः । अगृहीतस्वभावाद्गृहीतस्वभावस्य अव्यस्य चातद्वतां सामस्येन ग्रहणासंजयात् कथं तदग्रहे तदग्रहणं भवेत् ? अधाराप्रतिपत्तौ तदाधेयस्य तत्त्वेनाप्रतिपत्तेः । सामान्याधेयेषु गृहीतेष्वपि सामान्यादेः वृत्तिविकल्पादिदोषस्तेष्वपि पूर्ववत् समानः, तदाधेयस्य तत्त्वेनाप्रतिपत्तेः । तदग्रहणेऽपि च सामान्यस्य व्यापितः कदाचिदव्यप्रतिपत्तेः सद् द्रव्यमित्यादिप्रतिपत्तिस्तद्वत् न कदाचिद्भवेत्, तदंशानां सामान्यादेरन्यन्तमेदात् । एवं द्रव्यादिपदपदार्थव्यवस्थाऽप्यनुपपन्ना भवेत्, प्रतिभासगोचरचारिणां सामान्यादंशानां पदार्थान्तरताप्रसक्तैः । अथ निरंशं सामान्यमभ्युपगम्यते इति नायं दोषः, तर्हि सकलस्वाभ्यप्रतिपत्त्यभावतो मनागपि न सामान्यप्रतिपत्तिरिति सद् द्रव्यं पृथिवीत्यादिप्रतिपत्तेर्निरात्मजावः स्यात् । तदंशानां सामान्याद्भेदाभेदकल्पनायां द्रव्यादय एव भेदाभेदात्मकाः किं नाभ्युपगम्यन्ते ? इति सामान्यादिकल्पना दूरोत्सारितैवेति कुतस्तद्भेदैकान्तकल्पना ? ततः सामान्यविशेषात्मकं सर्ववस्तु, सत्त्वात् । नहि विशेषपरहितं सामान्यमात्रं सामान्यपरहितं वा विशेषमात्रं संभवति तादृशः कचिदपि, वृत्तिविरोधात् । वृत्त्या हि सत्त्वं व्याप्तं, खलक्षणत्वात्सामान्यलक्षणाद् वा तादृशावृत्तिनिवृत्त्या निवर्तत एव, यतः कचिद् वृत्तिमतोऽपि खलक्षणस्य न देशान्तरवृत्तिः, नान्यं संयोगः, तत्संसर्गव्यवच्छिन्नस्वभावान्तरविरहाद्विशेषविकलः, सामान्यवत् । एकस्य प्रतिसंबन्धस्वभावविशेषाभ्युपगमविशेषाणां तत्स्ववत्त्वं सामान्यलक्षणमेव स्यात् । न च विशेषैरन्यदेशस्थितैः असंयुक्तस्यैकत्र तस्य वृत्तिः, अव्यवधानाविशेषात् । एवं च स्वभावविशेषाणां सामान्यरूपाः सर्व एव भावाः विशेषरूपाश्च तत्र देशकालावस्थाविशेषप्रनियतानां सर्वेषामपि सत्त्वं सामान्यमेकरूपम्, अव्यवधानात् । तस्य च ते विशेषा एव, अनेकं रूपम्, यतस्तदेव सत्त्वं परिणामविशेषापेक्षया गोत्वब्राह्मणत्वादिलक्षणा जातिः, परिणामविशेषाश्च तदात्मका व्यक्तय इति । परस्परव्यावृत्तानेकपरिणामयोगादेकस्यैकानेकपरिणतिरूपता संशयज्ञानस्येवाविरुद्धा व्यक्तित्वव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्योपलब्धि-लक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिः, शशशृङ्गवदसत्त्वात् । सत्त्वरूपादिप्रत्ययः सामान्यविशेषात्मकवस्त्वभावेऽबाधितरूपो न स्यात् । न च चक्षुरादिः बुद्धौ वर्णाकृत्यक्षराकाररूपं सामान्यपर-

अणोगपासंभपरिग्राह्य-अनेकपासवहपरिशुद्धीत-त्रि० । ३
त० । नानाविधव्रतिभिरङ्गीकृते, प्रश्न० २ संब० द्वा० ।

अणोगवहुविविधवीससापरिणय-अनेकवहुविविधविश्रुताप-
रिणत-त्रि० । न एकोऽनेकः, अनेक एकजातीयोऽपि व्यक्तिमे-
दाद् प्रवति । तत आह-वहु प्रभूतं विविधो जातिभेदाच्चानाप्र-
कारः बहुविधः, प्रचूतजातिभेदतो नानाविध इति भावः । स
च केनाऽपि निष्पादितोऽपि संभाव्यत । तत आह-विश्रुतसया स्व-
प्रावेन तथाविधैकैत्रादिसामग्रीविशेषजनितेन परिणतो न पुन-
रीश्वरादिना निष्पादितो विश्रुतापरिणतः । ततः पदत्रयस्य पदद्व-
यमीक्षनेन कर्मधारयः । नानाविधस्वभावोद्भूते, जी० ३ प्रति० ।

अणोगजागत्य-अनेकजागस्य-त्रि० । द्वित्रादिजागस्थे, नि०
चू० २० उ० ।

अणोगजाव-अनेकभाव-त्रि० । बहुपर्याययुक्ते, प्र० १४ श० ४
४ उ० ।

अणोगज्यू-अनेकज्यू-त्रि० । अनेकरूपे, प्र० १४ श० ४ उ० ।

अणोगभेद-अनेकभेद-पुं० । अनेकपर्याये, "अणेतपरिरयं ति वा
अणोगपजयं ति वा अणोग [णाम] भेदं ति वा एगछा " । आ०
चू० १ अ० ।

अणोगरूव-अनेकरूप-त्रि० । ६ व० । नानाप्रकारे, " इह हो-
इयाइं भीमाइं अणोगरूवाइं अवि सुम्निदुम्निगंधाइं सहाइं अणे-
गरूवाइं " । आ० ०१ भु० ६ अ० २ उ० । "सुहुं सुहुं मोहगणे जयंतं,
अणोगरूवा समणं चरंतं । फासा फुसंती असमंजसं च, न ते
सुजिक्खं मणसा पओगे" ॥१॥ उ० ०१ अ० । अनेकमित्यनेकविधं
पर्यवश्यमसंस्थानादिभेदं रूपं स्वरूपमेषामिति अनेकरूपाः ।
त्रयोविंशतिविधाः । उ० ०४ अ० ।

अणोगरूवधुणा-अनेकरूपधुना-स्त्री० । अनेकरूपा संख्यात्रयाद्
अधिका धुना कम्पना यस्यां सा अनेकरूपधुना । उ० ०६ अ० ।
अनेकरूपधूनना-अनेकरूपां चासौ संख्यात्रयातिजमणतो यु-
गपदनेकवत्प्रहणतो वा धूनना कम्पनात्मिका या साऽनेकरू-
पधूनना । उ० ०२६ अ० ।

अनेकरूपधूना-अत्र च धूनं कम्पनमन्यत् प्राग्वत् । उ० ०२६
अ० । अनेकप्रकारं त्रयाणां पुरिमाणामुपरिष्ठाद्धूननात्मके, अने-
कवत्प्राण्येकत्र गृहीत्वा युगपद् धूननात्मके वा प्रमादप्रत्यये
प्रत्युपेक्षणभेदे, घ० ३ अधि० । " एगा मोसा अणोगरूवधुणा "
उ० ०२६ अ० । " अणोगमपकारं कपेति, अथवा अणोगाणि
एगओ काऊण धुणइ पमाणे पमारयंति " पुरिमेसु खोटकेषु
यत्प्रमाणमुक्तं भवति तत् पुरिमादीन् न्यूनाधिकान् वा
करोति । आ० ।

अणोगवयणप्पहाण-अनेकवचनप्रधान-पुं० । नानाविधवाग्-
व्यवहारमिदं, अनेकेषु विविधप्रकारेषु वचनेषु वक्तव्येषु प्रधानो
मुख्यः । अनेकधा वचनप्रकारश्चायं निजशासनप्रवर्तगादौ-
"आदौ तावन्मधुरं, मध्ये रुक्कं ततः परं कटुकम् । भोजनविधिमिव
विबुधाः, स्वकार्यसिद्धौ वदन्ति वचः" ॥ १ ॥ अथवा-" सत्यं
मित्रैः प्रियं स्त्रीभि-रखीकमधुरं द्विषा । अनुकूलं च सत्यं च,
वक्तव्यं स्थामिना सह " ॥ २ ॥ इति । जं ० ३ वच० ।

अणोगवायामजोग-अनेकव्यायामयोजन-पुं० । परिश्रमविशेषे,
" अणोगवायामजोगवमगावामहणमल्लयुद्धकरणेहि संते परि-
स्संते " अनेकानि यानि व्यायामयोग्यानि परिश्रमयोग्यानि वलानं-
व्यामर्दनमल्लयुद्धकरणानि, तत्र वलानं उल्लङ्घनं, व्यामर्दनं पर-
स्परेण बाह्याद्यङ्गमोटनम्, मल्लयुद्धानि प्रतीतानि । पतैः कृत्वा
शान्तः सामान्येन श्रममुपगतः परिश्रान्तः सर्वाङ्गीणं श्रमं प्राप्तः,
एवंविधः सन् ॥ कट्प० ।

अणोगवालसयसंकणिज्ज-अनेकव्यालशतशङ्कुनीय-त्रि० । ३
त० । अनेकैः श्वापदशतैर्मयजनकैः, " अणोगवालसयसंकणिज्ज
या वि होत्था " ज्ञा० २ अ० ।

अणोगावमय-अनेकविषय-त्रि० । अनेके भूयांसो विषया गो-
चरा अर्था वा येषां ते अनेकविषयाः । प्रचूतविषयतानिरूपित-
प्रकारतावत्सु, द्रव्या० ए अघ्या० ।

अणोगविहारि (ण्)-अनेकविहारिन्-त्रि० । स्वविरकल्पि-
के, वृ० ५ उ० ।

अणोगसाहुपूय-अनेकसाधुपूजित-त्रि० । अनेकसाध्वाचरितं,
दश० १ अ० २ उ० ।

अणोगसिद्ध-अनेकसिद्ध-पुं० । एकस्मिन् समये अनेकैः सिद्धाः
अनेकसिद्धाः । प्रश्न० १ आ० ३ द्वा० । एकसमये द्वाादिव्यष्टशता-
न्तेषु, स्था० १ ग० १ उ० । न० । अनेके च एकस्मिन् समये
सिद्ध्यन्त उत्कर्षतोऽष्टोत्तरशतसंख्या वेदितव्याः ।

यस्मादुक्तम्—

वन्तीसा अनयाला, सट्ठी वावत्तरी य वोधव्वा ।

चुल्लसीइ बभळई, छुरहियमदुत्तरसयं च ॥ १ ॥

अस्या चिनेयजनानुग्रहाय व्याख्या-अष्टौ समयान् यावन्निर-
न्तरमेकादयो द्वात्रिंशत्पर्यन्ताः सिद्ध्यन्तः प्राप्यन्ते । किमुक्तं भव-
ति ?-प्रथमे समये जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्षतो द्वात्रिंशत्सि-
द्ध्यन्तः प्राप्यन्ते, द्वितीयेऽपि समये जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्-
षतो द्वात्रिंशत्, एवं यावदष्टमेऽपि समये एको द्वात्रिंशत्पर्यतो द्वा-
त्रिंशत्, ततः परमवश्यमन्तरम्, तथा त्रयस्त्रिंशदादयोऽष्टचत्वारिं-
शत्पर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्तः सप्त समयान् यावत्प्राप्यन्ते परतो
नियमादन्तरम्, तथा एकोनपञ्चाशदादयः षष्टिपर्यन्ता निरन्तरं
सिद्ध्यन्तः षट् समयान् यावदवाप्यन्ते, परतोऽवश्यमन्तरम्, तथा
एकपष्ठ्यादयो द्विसप्ततिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्त उत्कर्षतः
पञ्च समयान् यावदवाप्यन्ते, ततः परमन्तरम्, त्रिसप्तत्यादय-
श्चतुरशीतिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्त उत्कर्षतश्चतुरः सम-
यान् यावत्, तत ऊर्ध्वमन्तरम् । प्रश्ना० १ पद । अन्ये तु व्याच-
कृते-अष्टौ समयान् यदा निरन्तर्येण सिद्धस्तदा प्रथमसमये
जघन्येनैकः सिद्ध्यति, उत्कृष्टतो द्वात्रिंशदिति । द्वितीयसमये
जघन्येनैकः, उत्कृष्टतोऽष्टचत्वारिंशत् । तदेवं सर्वत्र जघन्येनैकः
समयः, उत्कृष्टतो गाथार्थोऽयं प्रावनीयः 'वन्तीसेत्यादि' । स्था०
१ ग० १ उ० । पा० । आ० । न० । घ० ।

अणोगाहगमणिज्ज-अनेकाहगमनीय-न० । अनेकैरहोजिः
अनेकाहैर्वा गम्यत इति अनेकाहगमनीयम् । बहुदिवसै-
र्गन्तव्येऽध्वनि, नि० चू० १६ उ० । आ० ० ।

अणोज-अनेज-द्वि० । निष्कम्पे, "अणोजकम्मुदये" आ० क० ।

था 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि' इति न चकथ्यम् । तत्र-
भेदरूपतयाऽभिधानेऽपि न दोषः, जात्यन्तरकल्पनाया एवा-
द्यदमानत्वात्, राशिद्वयेन सकलस्य जगतो व्याप्तत्वात्,
तदव्याप्तस्य शशभृद्भृत्यत्वात्, शब्दग्रहादेकान्तस्य च
प्राक् प्रतिषिद्धत्वात् । अथाधितरूपोभयप्रतिभासस्य तथाभू-
तचस्तुव्यवस्थापकस्य प्रसाधितत्वाद्विद्याऽविद्योभयभेदाद-
द्वैतकल्पनायामपि त्रिव्यप्रसक्तेः । बाह्यालम्बनभूतभाषापेक्षया
विद्यात्वापपत्तेः । अन्यथा निर्विपर्ययेनोभयोरविशेषात् तत्प्रति-
भागस्याद्यदमानत्वात् । न हि द्वयोर्निरालम्बनत्वे विपर्यस्तावि-
पर्यस्तज्ञानयोरिव विद्याऽविद्यात्वभेदः । ततो नाद्वयं वस्तु, नापि
तद्व्यतिरिक्तमस्ति । अथाभवादीनामप्यनुपपत्तिः, राशिद्वयेन सक-
लस्य व्याप्तत्वात् । न । ततस्तेषां कथञ्चिदभेदप्रतिपादनार्थत्वात् ।
अनयोरेव तथापरिणतयोः सकारणसंसारमुक्तिप्रतिपादन-
परत्वात् । तथाऽभिधानस्यानेन वा क्रमेण तज्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्व-
प्रदर्शनार्थत्वात्, विप्रतिपत्तिनिरासार्थत्वात्, नद्वदभिधानस्यादु-
ष्टत्वात् । तथाहि-आद्यवति कर्म यतः स आद्यः, कायवाङ्मनो-
व्यापारः । स च जीवाजीवाभ्यां कथञ्चिद्विभक्तः, तयैव प्रतीतिवि-
षयत्वात् । भय बन्धात्राये कथं तस्योपपत्तिः ? प्राक्तत्सद्भावे वा
न तस्य बन्धहेतुता । न हि यद्यद्विहेतुकं, तत्तदभावेऽपि भवति,
अतिप्रसङ्गात् । असदेनत् । पूर्वोत्तरापेक्षान्योन्यकार्यकारण-
भावनियमात् । नचेतरेतराध्यक्षः, प्रयाहापेक्षयाऽनादित्वात् ।
पुण्यापुण्यहेतुबन्धहेतुतया चासौ द्विविधः । उत्कर्षापकर्षभेदे-
नानेकप्रकारोऽपि । दूषणगुण्यदिशिव्यादिसंख्याभेदमासाद्यन्
फलानुबन्धननुयन्धिभेदतोऽनेकशब्दविशेषाच्चयतामनुजयति ।
एकान्तवादिना त्वयं नासम्भवतीति ; " कम्मजोगनिमित्तं "
गाथार्थं प्रदर्शयद्भिः प्राक् प्रतिपादितत्वात् । सम्म० ।

(१०) अनेकान्वाद्स्त्रीकाराऽस्त्रीकारयोः सम्यग्भिध्यात्वे-
" इत्येवं गणितिरुग्, निष्ठां द्रव्यद्विधां नायत्वं ।
पञ्चापण अणिच्चं, निष्ठाानिच्चं च सियथादो ॥ ६२ ॥
जो सियचायं भासति, पमाणनयपेसलं गुणाधारं ।
भावेइ से ण णसयं, सो णि पमाणं पययणस्स ॥ ६३ ॥
जो सियचायं निंदति, पमाणनयपेसलं गुणाधारं ।
भावेण डुट्टभाचो, न सो पमाणं पययणस्स " ६४ ॥ ति०:औ०:ज्ञा०।

अणोगकोटि-अनेककोटि-त्रि० । अनेकाः कोटयोऽव्यसङ्ख्या-
यां, स्वस्वरूपपरिमाणे वा येषां तेऽनेककोटयः । कोटिसङ्ख्याके-
षु कौटुम्ब्यादिषु, ज्ञा० । "अणोगकोटीकुटुम्बियादृषणिव्युमुहा"
अनेकाः कोटयोऽव्यसङ्ख्यायां, स्वस्वरूपपरिमाणे वा येषां ते-
ऽनेककोटयः, तैः कौटुम्बिकैः कुटुम्बिभिः, भाकीर्णा संकुलाया
सा तथा, सा चासौ निर्वृता च संतुष्टजनयोगात्सतोपपत्तीति
कर्मधारयः । अन एव सा चासौ सुखा च शुभा च वेति कर्म-
धारयः ॥ ज्ञा० १ अ० । औ० । रा० ।

अणोगक्खरिय-अनेकाक्खरिक-न० । अनेकानि च तानि अक्ष-
राणि तैर्निर्वृत्तमनेकाक्खरिकम् । अक्षरादिनिर्वृत्ते द्विनामभेदे,
अनु० । "से किं तं अणोगक्खरिए ? । अणोगक्खरिए कथा वीणा
लता माला । सत्तं अणोगक्खरिए" । अनु० ।

अणोगखंडी-अनेकखण्डी-खी० । अनेकेषां नश्यतां नराणां
मार्गदूताः खण्डयोऽपहाराणि यस्यां साऽनेकखण्डी । विपा० १
श्रु० ३ अ० । अनेकनश्यत्तरनिर्गमापहाराणां पुण्याम्, ज्ञा० १ अ० ।
१११

अणोगसप्तसप्तविट्-अनेकस्तम्भशतसप्तविट्-त्रि० । ७
त० । अनेकेषु स्तम्भशतेषु सप्तविट् । ७ व० । यत्र वा अने-
कानि स्तम्भशतानि सप्तविट् । अ० ६ श्रु० ३३ उ० । रा० ।
विपा० । " एगं च खं मइं ऋणं करंति अणोगसप्तसप्त-
विट् लीलछियसाहभंजियणं " ज्ञा० १ अ० । ज्ञा० म० ।

अणोगगुणजाणय-अनेकगुणज्ञायक-त्रि० । अनेकेषां गुणाना-
मुपलक्षणत्वाद् दोषाणां च ज्ञायकः । बहुदोषाणां ज्ञायके, "अ-
णोगगुणजाणय पंरिप विदिष् " जं० ३ वक्क० ।

अणोगचित्त-अनेकचित्त-त्रि० । अनेकानि चित्तानि कृपिवाणि-
ज्यावद्वगनादीनि यस्य सोऽनेकचित्तः । कृप्यादिषु व्यापृत-
चित्ते, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणोगजम्म-अनेकजन्मन्-न० । अनन्तमये, पञ्चा० ७ विव० ।

अणोगजीव-अनेकजीव-त्रि० । अनेके जीवा यस्येति । बहुजीवा-
जीवात्मकं कित्वादौ, "पुदवीचित्तमंतमफखाथा अणोगजीवा पु-
ढोसत्ता" दशा० ४ उ० ।

अणोगजोगधर-अनेकयोगधर-पुं० । योगः क्षीराधवादिबन्धि-
कलापसंबन्धः, तं धारयन्तीति अनेकयोगधराः । बन्धिसंपन्नेषु,
सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणोगभूत-अनेकभूत-त्रि० । विविधमत्स्येषु सूक्ष्ममत्स्य-
कलमत्स्यादिषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणोगणपरवरजुज-अनेकनरमवरजुजाग्राह-त्रि० ।
अनेकस्य मनुष्यस्य ये प्रधराः प्रलम्बा वृजा बाहवस्तैरग्राह्यो-
ऽपरिमयोऽनेकनरप्रवरजुजाग्राहः । अनेकपुरुषव्याभैरप्रतिमे-
यस्थोदये वृक्षादौ, रा० ।

अणोगणाम-अनेकनामन्-न० । अनेकपर्यायेषु, "अणोगपरि-
रंयंति वा अणोगपजायंति वा अणोगणामजेदंति वा एगहा"
भा० चू० १ अ० ।

अणोगणिग्गमदुवार-अनैकनिर्गमद्वार-त्रि० । न विद्यन्ते नै-
कानि यदूनि निर्गमद्वाराणि निःसरणमार्गाः यत्र, थ० १ अधि० ।

अणोगतालायराणुचरिय-अनेकतालाचरानुचरित-त्रि० । अ-
नेके च ये तालाचराः तात्रादानेन प्रेक्षाकारिणः तैरनुचरित आ-
सेवितो यः स तथा । औ० । नानाविधप्रेक्षाकारिसेविते, अ० ११
श० ४ उ० । विपा० । पुरादौ, ज्ञा० १ अ० । जं० ।

अणोगदन्त-अनेकदन्त-त्रि० । अनेके दन्ता येषां ते अनेकद-
न्ताः । द्वात्रिंशदन्तेषु, तं० । प्रश्न० । अनेके दन्ता येषां ते अनेक-
दन्ताः । अनेकदन्तयुक्तेषु, तं० ।

अणोगदब्बकखंथ-अनेकअब्बकखंथ-पुं० । अनेकैः सचित्ताऽ-
चित्तलक्षणैर्दब्बैर्निष्पन्नः स्कन्धः अनेकदब्बकखंथः । विशिष्टै-
कपरिणामपरिणतसचेतनाऽचेतनदेशसमुदायात्मके हयादि-
स्कन्धे, विशेष० ।

अणोगपसता-अनेकप्रदेशता-खी० । निष्प्रदेशतायाम्, "भि-
क्षप्रदेशता सैवा-ऽनेकप्रदेशता हि या" । निष्प्रदेशता सैव अनेक-
प्रदेशस्वभावता निष्प्रदेशयोगेन तथा निष्प्रदेशकल्पनयाऽने-
कप्रदेशयोग्यत्वमुच्यते, द्रव्या० १३ अध्या० ।

गेहिं चयन्ति " आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणोवलेवय-अनुपलेपक-त्रि० । कर्मबन्धनरहिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अणोवसंखा-अनुपसङ्ख्या-स्त्री० । संख्यानां संख्या, परिच्छेदः । उप सामीप्येन संख्या उपसंख्या । सम्यग्यथाऽवस्थिता-ऽर्थपरिज्ञानम् । नोपसंख्या अनुपसंख्या । अपरिज्ञाने, " अणां-वसंखा इति ते उदाह, भट्टे सओ ज्ञासइ अम्ह एवं " सूत्र० २ श्रु० १२ अ० ।

अणोवहिय-अनुपधिक-त्रि० । छव्यतो हिरण्यादिकैर्भावतो मायया रहिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणोसहिपत्त-अनौपधिप्राप्त-त्रि० । औपधिवलरहिते, आच० ४ अ० ।

अणोसिय-अनुपिन-त्रि० । अव्यवसिते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।
" अणोसिएणं न करेति णच्चा " थ० ३ अधि० ।

अणोहंतर-अनोघन्तर-पुं० । न ओघन्तरः । संसारोत्तरणं प्रत्यनन्ने, " अणोहन्तरा एय, ण य ओहन्तरित्तप " आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अणोहट्टय-अनपघट्टक-त्रि० । अविद्यमानोऽपघट्टको यदच्छया प्रवर्तमानस्य हस्तग्रहादिना निवर्तको यस्य स तथा । ज्ञा० ८ अ० । वज्राद्धस्नादौ गृहीत्वा निवारकेणाऽनिवारिते स्वच्छन्दप्रवृत्ते, विपा० १ श्रु० २ अ० । " तवेणं सा सुभदा अज्जा अणोहट्टिया अणिवारिता सच्छन्दमती " नि० ३ वर्ग ।

अणोहारेमाण-अनवधारयत्-त्रि० । अनवबुध्यमाने, हा० २६ अष्ट० ।

अणोहिया-अनोघिका-स्त्री० । अविद्यमानजलौघिकायाम्, भ० १५ श० १ उ० ।

अणूदा-स्त्री० । अतिगहनत्वेनाविद्यमानोदायाम्, " एगं महं अणामियं अणोहियं जिन्नावायं दीहमद्धं " भ० १५ श० १ उ० ।

अण्ण (क्)-अन्न-न० । अनित्येन अन्न-जन्ना अद्यते इति अद-के वा । " अन्नाणः " । ४।४।=५। इति सूत्रनिर्देशाद् अन्नार्थनयान् जग्धिः । वाच० । अण्णमण्णकादिके, उक्त० १२ अ० । अशने मोदकादिके भक्ष्ये, उक्त० २० अ० । ओदनादिके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । भोजने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० । उक्त० । औ० ।

अण्य-त्रि० । जिन्ने, सदशे च । वाच० । ' अण्यं ' पृथ-गित्यर्थः । नि० चू० १ उ० । प्रश्न० । प्रश्ना० । स्वाति-रिक्ते, द्वा० २५ द्वा० । प्रश्न० । सर्वनामता चास्य, प्र० २ श० ५ उ० । " नो अण्णदेवे नो अण्णहिं देवाणं देवीणां अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ " भ० २ श० ५ उ० । " अण्णोहिं वहवे एवमाइणो " औ० । रा० । थ० । सूत्र० । अन्यनिकेपः- " अण्णे छक्कत्तं पुण, तदस्समादेशओ चव " अन्यस्य नामादिपदविधौ निकेपस्तत्र नामस्थापने क्लृप्ते, छव्याऽन्यत् त्रिधा-तदन्यत्, अन्यान्यत्, आदेशाऽन्यच्चाति, छव्यपरवच्चैवमिति । स० ।

अण्ण-न० । अकारादौ वर्णे, गमनस्वनात्वे, त्रि० । जन्ने, न० । उक्त० ५ अ० ।

आणय-त्रि० । अण्यते उच्चार्यते इति आणयम् । प्रणिधेये,

" तत्सवितुर्वरेण्यम् " इति । वशब्दो वाक्याद्वङ्कारे ज्ञेयः, रे आणये इत्याकारद्वोपः । जट्टमतेन गायत्रीव्याख्या-जै० गा० ।
अस्य-देशी-तुसाथं, दे० ना० १ वर्ग ।

अस्य (ज) इ (गि) लाय-अन्नग्रायक-पुं० । अन्नं भो-जनं विना ग्लायतीति अन्नग्लायकः । अजिग्रहविशेषात् प्रातरेव दोषाज्जि, औ० । प्रश्न० । सूत्र० ।

रायगिहे जाव एवं वयासी-जावइयं णं जंते ! अस्यगि-लायए समणे निगंथे कम्मं णिज्जरेति, एवइयं कम्मं णर-एमु णेरइयाणं वासेणं वासेहिं वा वाससएण वा खवयंति ? । णो इण्णहे समहे । जावइयं णं जंते ! चउत्थभत्तिए समणे णिगंथे कम्मं णिज्जरेति, एवइयं कम्मं णरएमु णे-रइया वाससएण वा वाससतेहिं वा वाससहस्सेण वा ख-वयंति ? । णो इण्णहे समहे । जावइयं णं भंते ! उट्ठजत्तिए समणे णिगंथे कम्मं णिज्जरेति, एवइयं कम्मं णरएमु णेरइया वाससहस्सेण वा वाससहस्सेहिं वा वाससयसह-स्सेण वा खवयंति ? । णो इण्णहे समहे । जावतियं णं भंते ! अट्ठमभ तए समणे णिगंथे कम्मं णिज्जरेइ, एवइयं कम्मं णरएमु णेरइया वामसयसहस्सेण वा वाससयसहस्सेहिं वा वासकोणीए वा खवयंति ? । णो इण्णहे समहे । जावइयं भंते ! दसमजत्तिए समणे णिगंथे कम्मं णिज्जरेइ, एव-इयं कम्मं णरएमु णेरइया वासकोणीए वा वामकोणीहिं वा वासकोडाकोडीए वा खवयंति ? । णो इण्णहे समहे । से केणहे णं जंते ! एवं बुच्चइ ? । जावइयं अस्यगिलायए समणे णिगंथे कम्मं णिज्जरेइ, एवइयं कम्मं णरएमु णेरइया वासेण वा वासेहिं वा वाससएण वा णो खवयंति, जाव-इयं चउत्थभत्तिए एवं तं चेव पुव्वभणियं उच्चारयेव्वं जाव वासकोणाकोडीए वा णो खवयंति ? । गोयमा ! से जहा णामए केइ पुरिसे जुस्से जराजज्जरियदेहे सिद्धिलतया वलितरंगसंपिण्णग्गचे पविरट्ठपरिसन्नियदंतसेढी उएहा-जिहए तएहाजिहए आतुरे जुंजिते पिवासिए दुव्वले कि-लंते एगं महं कोसवगंडियं मुक्कं जमिलं गंठिह्वं चिक्कणं वाऽद्धं अपत्तियं मुंनेण परसुणा अक्कमेज्जा तए णं से पुरिसे महंताइं सदाइं करेइं, णां महंताइं महंताइं दलाइं अवदाहेइं, एवामेव गोयमा ! णेरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढीकयाइं चिक्कणीकयाइं एवं जहा छइसए जाव णो महपज्जवसाणा भवंति । से जहाणामए केइ पुरिसे अ-हिगरणे आउनेमाणे महता जाव णो पज्जवसाणा जवंति । से जहा णामए केइ पुरिसे तरुणे वट्ठवं जाव मेहावी णि-पुणसिप्पोवगए एगं महं सामझिगंडियं उक्कं अजाडिन्नं अगंठिह्वं अचिक्कणं अवाइद्धं संपत्तियं अतितिक्खेण पर-सुणा अक्कमेज्जा, तए णं से पुरिसे णो महंताइं महंताइं

अणैयालय-अनैयायिक-त्रि० । न्यायेन चरति नैयायिकः, न नैयायिक अनैयायिकः । असन्त्यायवृत्तिके, “अपमिपुषे अणैयाउप असंसुके” । सूत्र० १. शु० २ अ० ।

अणेलिस-अनीदृश-त्रि० । नाऽन्यत्र ईदृशमस्तीति अनीदृशम् । आचा० १ शु० ६ अ० १ उ० । अनन्यसदृशे अचित्तीये, सूत्र० ।

“जे धम्मं सुकुममस्सालि, पमिपुषमणेलिसं” । सूत्र० १ शु० ११ अ० । अनुले, सूत्र० १ शु० ६ अ० ।

अणैवंचय-अनैवंचूत-त्रि० । एवंप्रकारमनापत्ते, “अणैवंचयं पि वेयणं वेदंति” यथा वद्धं कर्मनैवंचूताऽनैवंचूता अतस्ताम्, ध्यन्ते ह्यागमे-कर्मणः स्थितिघातादय इति । ज० ५ श० ५ उ० ।

अणैसणा-अनेपणा-स्त्री० । ईपदर्थे नञ् । न पपणा अनेपणा । प्रमादादेपणायाम्, ध० ३ अधि० । “अणैसणाप पाणेसणाप पाणजोयणाप वीयभोयणाप अणैसणाप” । इदमुक्तं प्रवति-

“अणैसणाप अणन्तरेण दोसेण संकिता अणैसणाप तुट्ठा महस्स सकारेण गहिता” आ०चू० ४ अ० । “सै एसणं जाणमणेसणं च” एपणां गवेपणग्रहणैपणादिकां जानन् सम्यगवगच्छन्नेपणां चोद्गमदोषादिकां तत्परिहारं विपाकं च सम्यगवगच्छन् । सूत्र० १ शु० १२ अ० ।

अणैमणिज्ज-अनेपणीय-त्रि० । एष्यत इत्येपणीयं कल्प्यम्, तन्निषेधादनेपणीयम् । ज० ५ श० ५ उ० । केनचिदोपेक्षाऽशुक्ते, सूत्र० १ शु० ६ अ० । आचा० । उक्त० । साधुनाऽग्राह्ये, उक्त० २० अ० । एष्यते गवेप्यते उद्गमादिदोषविकलतया साधुभिर्यत् तदेपणीयं कर्तव्यं, तन्निषेधादनेपणीयम् । स्था० ३ ज० १ उ० । पि० । “पूयं अणैसणिज्जं च, तं विज्जं परिजाणिया” । सूत्र० १ शु० ६ अ० ।

अनेपणीयपरिहारमधिकृत्याह—

नूपाइं च सहारन्न, तमुद्दिस्सा य जं कर्न ।

तारिसं तु ण गिएहेजा, अन्नपाणं सुसंजए ॥ १ ॥

अभूयन्न भवन्ति भविष्यन्ति च प्राणिनस्तानि चूतानि प्राणिनः समारज्य संरम्भसमारम्भारम्भैरुपतापयित्वा तं साधुमुद्दिश्य साध्वर्थं यत्कृतं तदकल्पितमाहारोपकरण्यादिकं तादृशमाध्या-कर्मदोषदुष्टं सुसंयतः सुनपस्वी तदन्नं पानकं वा न भुञ्जीत । तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्तैवाभ्यवहरेदेवं तेन मार्गाऽनुपाधितो भवति । सूत्र० १ शु० ८ अ० ।

अणैह-अनेहस्-पुं० । कावद्रव्ये, द्रव्या० १२ भव्या० ।

अणोउया-अनृतुका-स्त्री० । न विद्यते ऋतू स्वरूपः, शास्त्र-प्रसिद्धो वा यस्याः सा अनृतुका । अरजस्कायां स्त्रियाम्, यस्या ऋतुकात्वे मासि मासि रक्तं न प्रसूयति एतादृशी स्त्री पुरुषेण सार्द्धं गर्भं न धरते । स्था० ५ ज० ।

अणोक्त-अनुपक्रान्त-त्रि० । अनिराकृते, औ० ।

अणोअसिय-अनवघर्षित-न० । अव्य० स० । अवघर्षणम-वघर्षितं, भावे कः प्रत्ययः; तस्याऽभावोऽनवघर्षितम् । भूत्यादि-नाऽनिर्माज्जने, जी० ३ प्रति० । रा० । “अणोअ (इ) सियणि-म्महाए छायाए स ततो चैव समणुवद्धा” । अनवघर्षितेन निर्मेष्टा तथा छायाया समनुवद्धा युक्ताः । (आदर्शकाः) जी० ३ प्रति० ।

अणोज्ज-अनवद्य-त्रि० । निर्दोषे, ज्ञा० ८ अ० ।

अणोज्जंगी-अनवद्याङ्गी-स्त्री० । जगवतो महावीरस्वामिने दुहितरि जमालिगृहिण्याम्, आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अणोज्जा-अनवद्या-स्त्री० । महावीरस्य दुहितरि, कल्प० । आ० क० । आचा० ।

अणोत्तप्या-अनवत्राप्या-त्रि० । अविद्यमानमवत्राप्यमवत्रपणं वज्जनं यस्य सोऽयमनवत्राप्योऽवज्जनीयः । अहीनसर्वाङ्गत्वे-नालज्जाकरे, प्रव० ६४ द्वा० । दशा० ।

अणोत्तप्या-अनवत्राप्या-स्त्री० । अवज्जनीयशरीरतायाम्, व्य० ६ उ० । (विशेषार्थस्तु ‘अणवतप्या’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३०२ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

अणोक्कमिज्जमाण-अनुपध्वस्यमान-त्रि० । माहात्म्यादपात्य-माने, औ० ।

अणोप-अनवप-त्रि० । मिथ्यादर्शनाऽविरत्यादिविपर्यस्ते, आचा० १ शु० ३ अ० २ उ० ।

अणोमाणतर-अनवमानतर-त्रि० । अतिशयेनासङ्कीर्णे, ज० १३ श० ४ उ० ।

अणोरपार-अनर्वाक्पार-त्रि० । अर्धाङ्गभागपरभागवर्जिते, पञ्चा० १५ वि० । अन्नग्राह्यपरपर्यन्ते, संघा० । विस्तीर्ण-स्वरूपे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । “अणोरपारं आगासं चैव निरालंबं” महत्त्वादनर्वाक्पारम् । प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । “जह समिन्नापमट्ठा, सागरसलिले अणोरपारमि ति” अणोर-पारमिति देशीयवचनं प्रचुरार्थः; उपचाराद् भारद् भागपरभाग-रहिते, आ० म० द्वि० ।

अणोन्नय-देशी-कण्ठरहिते, निरपसरे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अणोवणिहिया-अनौपनिधिकी-स्त्री० । न विद्यते वक्ष्यमा-णपूर्वानुपूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण विरचनं प्रयोजनं यस्य इत्यनौप-पानाधिकी । उक्त्यानुपूर्विकेदे, यस्यां वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादि-क्रमेण विरचनान क्रियते साऽप्यादिपरमाणुनिष्पन्नस्त्वविष-या आनुपूर्व्या अनौपनिधिकीत्युच्यते । अनु० ।

अणोवप-अनुपम-त्रि० । न विद्यते उपमा यस्यासावनुपमः । अनु०, “अनुलसुहसागरगया अव्यावाहं अणोवमं पत्ता” आ० । स० ।

अणोवमदंसि (ण)-अनवमदर्शिन्-पुं० । अवमं हीनं मि-थ्यादर्शनाऽविरत्यादि, तद्विपर्यस्तमनवमं तद् रूपं शीलमस्ये-त्यनवमदर्शी । सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्र्यवाति, आचा० १ शु० ३ अ० २ उ० । “अरतेपयासु अणोवमदंसी णिस्सखो पावेहि कम्महि कोहाइमाणं हाणिया य वीरे” आचा० १ शु० ३ अ० २ उ० ।

अणोवमसरीअ-अनुपमश्रीक-त्रि० । न० व० । निरुपमानशो-जे, “अणोवमसरीआ दासीदासपरिखुडा” ज्ञा० ८ अ० ।

अणोवमसुह-अनुपमसुख-न० । न विद्यते उपमा स्वाभाविक-कात्यन्तिकत्वेन सकलव्यावाधारहितत्वेन सर्वसुखातिशायि-त्वाद्यस्य तत्सुखमानन्दस्वरूपं यदस्मिन्तत् । मोक्षसुखे, “ठाण-मणोवमसुहसुवगयाणं” इति । सम्म० १ काएरु ।

अणोव्यमाण-अनवपतद्-त्रि० । अनवतरति, “अणोव्यमा-

वागयाणं सखिविद्याणं संनिसएणाणं अयमेयाखूवे मिहो-
कहासमुद्धावे समुप्पज्जित्था । एवं खलु समणे नायपुत्ते
पंचअत्थिकाए पण्णवेइ धम्मत्थिकायं जाव आगासत्थि-
कायं । तत्थ एं समणे नायपुत्ते चत्तारि अत्थिकाए अजी-
वकाए पण्णवेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं
आगासत्थिकायं पोमालत्थिकायं एगं च एं समण नाय-
पुत्ते जीवत्थिकायं अरूविकायं जीवकायं पण्णवेइ । तत्थ
एं समणे नायपुत्ते चत्तारि अत्थिकाए अरूविकाए पण-
वेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं आगासत्थिका-
यं जीवत्थिकायं एगं च एं समणे नायपुत्ते पोमालत्थिका-
यं रूवीकायं अजीवकायं पण्णवेइ । से कहमेयं ? मणे एवं ते-
णं काले एं ते एं समण एं समणे जगवं महावीरे जाव० गुण-
सिद्धए चेइए समोसहे जाव परिसा पङ्गिया । ते एं काले एं
ते एं समण एं समणस्स जगवओ महावीरस्स जेहे अंते-
वासी इंदुर्नाने अणगारे गोयमगोत्तेणं एवं जहा विति-
ए सए नियंतुहेसए जाव जिक्खवारियाए अरुमाणे अ-
ह्मापज्जत्तं भत्तपाणं पन्निज्जेमाणे ५ रायगिहाओ जाव-
अतुरियमचवलं जाव चरियं सोहेमाणे ५ तेसिं अस्सउत्थि-
याणं अदूरसामंतेणं बीईवयइ, तए णं ते अस्सउत्थिया
भगवं गोयमं अदूरसामंतेणं बीईवमाणं पासंति, पासइत्ता
अस्समणं सहावेत्ति, सदावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु दे-
वाणुप्पिया ! अहं इमा कहा अविप्पकडा, अयं च एं
गोयमे अदूरसामतेणं बीईवयइ, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया !
अहं गोयमं एयमट्ठं पुच्छित्तए तिकहु अस्समणस्स अंतिए
एयमट्ठं पन्निमुणंति, परिसुणंतित्ता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव
उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता भगवं गोयमं एवं वयासी-एवं
खलु गांयमा ! तव धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे नायपुत्ते
पंचअत्थिकाए पण्णवेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं जाव आ-
गासत्थिकायं तं चेव जाव रूविकायं अजीवकायं पण्ण-
वेइ । से कहमेयं गोयमा ! एवं ? तए एं से भगवं गोयमे
ते अस्सउत्थियं एवं वयासी-नो खलु देवाणुप्पिया ! अ-
त्थिजावं नत्थि चि वयामो, नत्थिजावं अत्थि चि वयामो,
अहो एं देवाणुप्पिया ! सच्चं अत्थिजावं अत्थि चि वया-
मो, सच्चं नत्थिजावं नत्थि चि वयामो, तं चेयसा खलु तु-
ब्जे देवाणुप्पिया ! एयमट्ठं सयमेव पच्छुवेक्खह तिकहु ते
अएणत्थिया एवं वयासी-जेणेव गुणसिलए चेइए जे-
णेव समणे भगवं महावीरे एवं जहा नियंतुहेसए जाव ज-
त्तपाणं पन्निदंसेइ, पन्निदंसेइत्ता समणं भगवं महावीरं बंदइ
नमंसइ नच्चासएणे जाव पज्जुवासेइ ॥

(तेणमित्यादि) (एगओ समुवागयाणं ति) स्थानान्तरेच्च एकत्र

स्थाने समागतानामागत्य च (सखिविद्याणं ति) । उपविष्टानाम्,
उपवेशनं चोत्कुटुकत्वादिनाऽपि स्यादत आह-(सखिसंघाणं ति)
सङ्गततया निषण्णानां सुखासीनानामिति यावत् । (अत्थिकाए
त्ति) प्रवेशराशीन् (अजीवकाए त्ति) अजीवाश्च तेऽचेतनाः, का-
याश्च राशयो अजीवकायास्तान् । 'जीवत्थिकायं' इत्येतस्य स्व-
रूपविशेषणयाह-(अरूवकायं ति) अमूर्तमित्यर्थः । (जीवकायं ति)
जीवनं जीवो ज्ञानाद्युपयोगः, तत्प्रधानः कायो जीवकायोऽतस्त्वं
कैश्चिज्जीवास्तिकायो जडतयाऽभ्युपगम्यते, अतस्तन्मतव्युदासा-
येदमुक्तमिति । (से कहमेयं मणे एवं ति) अथ कथमेतदस्ति कायव-
स्तु, मन्ये इति वितर्कार्थः । एवममुनाऽचेतनादिजिज्ञासेन भवतांति
तेषां समुल्लापः (इमा कहा अविप्पकम त्ति) इयं कथा एयाऽस्ति-
कायवत्कथ्यताऽभ्यालुक्कल्येन प्रकृता प्रकान्ता । अथवा न विशेषेण
प्रकटा प्रतीता अविप्रकटा । "अविप्रप्पकम त्ति" पाठान्तरम् ।
तत्र अविद्धप्रकृता अविज्ञप्रकृता, अथवा न विशेषत उत्प्राब-
ह्यतश्च प्रकटा अभ्युत्पकटा । (अयं च त्ति) । अयं पुनः (तं चेयसा-
इ त्ति) । यस्माद्वयं सर्वमस्ति जावमेवास्तांति वदामः, तथाविध-
संवाददर्शनेन प्रवतामपि प्रसिद्धमिदं तत्तस्माच्चेतसा मनसा
"वेदस्स त्ति" पाठान्तरे-ज्ञानेन प्रमाणाभाधितत्त्वज्ञेनेन (एयम-
ठे ति) अमुमस्ति कायस्वरूपलक्षणमर्थं स्वयमेव प्रत्युपेक्ष्य
पर्यालोचयतेति ।

ते णं काले एं ते णं समण एं समणे भगवं महावीरे महा-
कहापन्निवणे या वि होत्था । काहोदाइ य तं देसं हव्व-
मागए कालोदाइ चि समणे भगवं महावीरे कालोदाइ एवं
वयासी-से नूणं ते कालोदाइ अएणया कयाइ एगयओ
सइयाणं समुवागयाणं तहेव जाव से कहमेयं मणे एवं
से नूणं काहोदाइ अट्ठे समट्ठे । हुंता ! अत्थि । तं सचेणं
एवमट्ठे काहोदाइ ! अहं पंच अत्थिकाए पण्णवेमि, तं जहा-
धम्मत्थिकायं जाव पोगलत्थिकायं तत्थ एं अहं चत्तारि
अत्थिकाए अजीवकाए अजीवत्ताए पण्णवेमि, तहेव जाव
एगं च एं अहं पोगलत्थिकायं रूवीकायं पण्णवेमि, त-
एणं से काहोदाइ समणं जगवं महावीरं एवं वयासी-
एएसि एं जंते ! धम्मत्थिकायंसि अधम्मत्थिकायंसि
आगासत्थिकायंसि अरूवीकायंसि अजीवकायंसि चक्कि-
या केइ आसइत्तए वा चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा सइ-
त्तए वा जाव तुयइत्तए वा ? नो इण्णे समट्ठे । कालोदाइ !
एयंसि एं पोगलत्थिकायंसि रूवीकायंसि अजीवकायंसि
चक्किया केइ आसइत्तए वा जाव तुयइत्तए वा । एयंसि णं
जंते ! पोगलत्थिकायंसि रूवीकायंसि अजीवकायंसि
जीवाणं पावाणं कम्माणं पावफलविवागसंजुत्ता कज्जांति ?
णो इण्णे समट्ठे । कालोदाइ ! एयंसि एं जीवत्थिकायंसि
अरूविकायंसि जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता
कज्जांति ? हुंता ! कज्जांति । एत्थ णं से काहोदाइ संभुद्धे
समणं जगवं महावीरं बंदइ नमंसइ । नमंसइत्ता एवं वयासी-
इच्छामि णं जंते ! तुज्जं अंतियं धम्मं निसामेत्तए एवं जहा

सहाई कोरै, मंताई मंताई दलाई अवदोद्वे, एवांमव गोयमा ! समणाणं णिग्गंथाणं अहावादराई कम्माई सि-
दिलीकयाई णिट्ट जात्र-विष्णामेव परिविच्छत्याई भवन्ति,
जावइयं तावइयं जाव पज्जवनाणा जवन्ति । से जडा वा
केड पुरिसे मुके तणइत्ययं जाव तेयंमि पक्खिवेज्जा, एवं
जहा वट्टमए तहा अयोक्वद्वे वि जात्र पज्जवनाणा भ-
वन्ति, से तेणट्टे णं गोयमा ! एवं युवइ जावइयं अण्णगि-
लायए समणे णिग्गंथे कम्मं णिज्जरेइ, तं चेव जाव को-
माकोडीए वा एो खवयंति ॥

(अद्यगितायने सि) अद्यं चिना ग्नायति ग्लानो भवतीति
अद्यग्रायकः । प्रत्यग्रक्रादिनिष्पत्तिं यावद् बुलु-ज्ञानुनया प्रती-
हितुमशक्नुवन् यः पर्युपितकूरादि प्रातरेव भुङ्क्ते, कूरगदुकप्राय-
इत्यर्थः । ज्ञाणं तारेण तु-निस्सुहत्तान् " सीयकूरभोई अंतपंता-
हारो सि " व्याख्यातम् । अथ कथमिदं प्रत्याख्यम्, यदुत नारफो
महाकथापत्रो मइताऽपि कालेन तावत्कर्म न कुर्याति यावत्साधु-
रूपकथापत्रोऽप्यकालेनेति ? । उच्यते दृष्टान्ततः । स चायम् [सि
जडा नामप केड पुरिसे सि] यथेति दृष्टान्ते, नामेति संज्ञाघने,
'प' इत्यत्र द्वारः । [सि सि] स कश्चिन्पुरुषः । [तुणो सि] जीणो
हानिगतदेहः । स च कारणवशाद्बुद्धनाथेऽपि स्यादन ग्राह-
(जराज्जरियदेहो सि) व्यक्तम् । अत्र एव (सिद्धिलनया यलिनरंग-
संणिणद्धगते सि) शिथिलनया त्वया यन्नितरङ्गं संनिगतं परि-
गतं गात्रं देहो यस्य स तथा । (परिवरलपरिसन्नियदंतसेदि सि)
परिवरलाः केचिकेचिच्च परिश्रितता दन्ता यस्यां सा तथा-
विधा श्रेणिर्दन्तानामेवं यस्य स तथा । (घाउरे सि) आतुरो
उच्यते : [सुंणिप सि] बुद्धचित्तः । पुरिनक इति टीकाकारः ।
(बुद्धभेदि सि) यलद्वानः [किलेति सि] मनःकर्म गतः । एवंरूपो
हि पुरुषश्चेदने असमर्थो जयतीत्येवं विशेषितः । (कोसंवगंति-
येति) ' कोसंव सि ' धूम्रविशेषः, तस्य गतिरुक्ता चण्डविशे-
षत्वात् । (जमिसे ति) जडावती यलितोऽस्तितामिति वृद्धाः ।
(गंठिद्ध ति) ग्रन्थिमतीम् ! (चिकणं ति) मृदुलस्कन्धनिष्पन्नां
(वाइवन्ति) व्यादिग्धां विशिष्टरूपोपदिग्धाम्, यकामिति वृद्धाः ।
(अपत्तियं ति) अपात्रिकां अविद्यमानाधारात्, पर्यभूता च ग-
तिरुक्ता बुद्धेया भवतीत्येवं विशेषिता, तथा परचुरापि मुण्डो-
क्तेदको भवतीति मुण्ड इति विशेषितः । शेषं तद्व्यकान्तं
यावत्प्रशुतचक्षायष्येयमिति । ज० १६ श० ३ उ० ।

अष्टाङ्गउत्त-अन्योक्त-त्रि० । अन्यैः अविवेकिभिः कथिते, औ० ।

अष्टाङ्गउत्थिय-अन्ययुधिक-पुं० । जैनयुथादन्यद्-युथं सङ्ग-
न्तरं, तीर्थान्तरमित्यर्थः ; तदस्ति येषां तेऽन्ययुधिकाः । उपा० १
अ० । अहंतसङ्घापेक्षयाऽन्येषु, औ० । चरकपरिभाषाजकाफ्याऽऽ-
जीवकृत्तुर्भावकप्रभृतियु, नि० चू० १ उ० । परतीर्थिकेषु, औ० ।
ज्ञा० । नि० चू० । आचा० । सरजस्कादिषु, आचा० १ सु० १
अ० १ उ० । तीर्थान्तरीयेषु कपिशिदिषु, ज्ञा० १० अ० ।

(१) अन्ययुधिकाः काष्ठोदायिप्रभृतयः ।

(२) अन्ययुधिकैः सह विप्रतिपत्तिषु बहुप्रविकस्य पर-
भविकस्य वाऽऽयुषो विप्रतिपत्तिः ।

(३) एकोऽजीव एकस्मिन् समये द्वे मायुंयी प्रकरोतीत्यत्र
अन्ययुधिकैः सह विवादः ।

(४) चलचलितमित्यादिकर्मादिषु कुतीर्थिकैः सह विप्र-
तिपत्तिः ।

(५) एकस्य जीवस्थैकस्मिन् समये क्रियाद्वयकरणेऽन्ययु-
धिकैः सह विप्रतिपत्तिः ।

(६) भन्तादानादिक्रियाविषयेऽन्ययुधिकैः सह विप्रति-
पत्तिः ।

(७) भ्रमणानां कृता क्रिया क्रियेत नचेत्यत्र विवादः ।

(८) प्राणातिपातादौ तदचिरमणादौ च वर्तमानस्य जीवस्या-
न्यो जीवोऽन्यो जीवात्मेति विप्रतिपत्त्यः ।

(९) परिचारणा कालगतस्य निग्रन्थस्य भवति न चेति वि-
वादः ।

(१०) बाह्यबाह्यपण्डितते अन्ययुधिकर्मतोक्तेये तयोर्विवादः ।

(११) भाषाविषयेऽन्ययुधिकानां मतोपन्यासः ।

(१२) पञ्चयोजनशतानि मनुष्यलोकां मनुष्यैर्बहुसमाकीर्णः ।

(१३) सर्वे जीवाः अनेकचतुर्थांशदन्तांशेदयन्ते इत्यत्र विवादः ।

(१४) शीलं श्रेयः, धुनें श्रेय इत्यत्रान्ययुधिकैः सह विवादः ।

(१५) सर्वजीवानां मुखविषये विप्रतिपत्त्यः ।

(१६) राजगृहनगरस्य यदिर्धेनारपर्यंतस्याधःसस्य द्वदस्य
विषये विप्रतिपत्त्यः ।

(१७) संसर्गस्तु कापिलादिभिः सह न समाचरणीय
इत्यत्रागादवचनम् ।

(१८) उदकपयोगिकाऽन्ययुधिकैः सह न समाचरणीया ।

(१९) तथाऽन्ययुधिककाफणरचना ।

(२०) नया मृत्वीप्रतृणपफणान्यन्ययुधिकेन न कारयितव्यानि

(२१) तथा शिष्यकादिकोपकरणकारणम् ।

(२२) अन्ययुधिकादिभिः सह गोचरचर्चायै न प्रविशेत् ।

(२३) (दानम्) अन्ययुधिकेन्याऽशनादि न वेयम् ।

(२४) तथा धातुप्रवेदनम् ।

(२५) तथा पादानामाभेदप्रमाजनम् ।

(२६) तथा पदमार्गादि ।

(२७) तथा भूतिकर्मादि मार्गप्रवेदनं च ।

(२८) (याचना) अन्ययुधिकाः पास्तैरुक्तो गृहिणः सुक-
शीला न प्रमाजनीयाः ।

(२९) विचारतर्मेविहारतर्मेर्वा निष्क्रमणम् ।

(३०) विहारः ।

(३१) (शिक्षा) अन्ययुधिकस्य वा गृहस्यस्य शिक्षादि-
शिक्षणम् ।

(३२) अन्ययुधिकादिभिः संचाटीसीघनम् ।

(३३) अन्ययुधिकादिभिः सह संभोगः ।

(३४) अन्ययुधिकैः सस्युपकरणम् ।

(१) तत्र अन्ययुधिकाः काष्ठोदायिप्रभृतयः—

ते एं काले एं ते एं समए णं रायगिहे नामं नयरे होत्था ।

वणओ । गुणसिलए चेइए वणओ जाव पुदविसिलाप-

ट्टओ । तस्स एं गुणसिलपस्स चेइयस्स अदरसामंते बहु-

वे अणउत्थिया परिवसंति । तं जहा-काष्ठोदाई, सेलो-

दाई, सेवाष्ठोदाई, उदए, नामुदए, नमुदए, अणवाणए,
सेलवाए, संसवाणए, मुहत्थी, गाहावई, तं एं तंति
अणउत्थियाणं अणया कयाई एगओ सहियाणं समु-

तद्वृत्तानं चेदं-“दो घयपला महु पलं,दहिस्सऽकादयं मिरियवी-
सा । दस खंडगुलपलाइ,एस रसावु निवइजोगो”॥१॥ पानं सुरा-
दि, पानीयं जलं, पानकं छाक्तापानकादि, शाकस्तक्रासिक इति ।
(आवाय च्छि) आपातस्तत्प्रथमतया संसर्गः (जइए च्छि) मधुर-
त्वात्मनोदरः (दुरुवत्ताए च्छि) दुरुपतया हेतुचूततया (जहा
महासंवप च्छि) वपुशतस्य नृतीयोद्देशको महाश्रवकस्तत्र यथेदं
सूत्रं तथेहाप्यवधेयम् । (एवामेव च्छि) विपमिश्रभोजनवत्, “जी-
वाणं पाणाइवाए” इत्यादौ भवतीति शेषः । (तस्स णं ति) तस्य
प्राणातिपातादेः (तआं पच्छा विपरिणममाणे च्छि) ततः पञ्चा-
दापातानन्तरं विपरिणमतं परिणामान्तराणि गच्छत् प्राणाति-
पातादि, कार्यं कारणोपचारात् प्राणातिपातादिहेतुकं कर्म (दुरु-
वत्ताए च्छि) दुरुपताहेतुतया परिणमति, दुरुपतां करोतीत्यर्थः ।
(ओसइमिस्सं ति) औषधं महातिक्रघृतादि । (एवामेव च्छि)
औषधमिश्रभोजनवत् । (तस्स णं ति) प्राणातिपातविरमणादेः
(आवाए नो भइए भवइ च्छि) इन्द्रियप्रतिकूलत्वात् (परिण-
ममाणे च्छि) प्राणातिपातविरमणादिप्रजनवं पुण्यकर्म, परिण-
मान्तराणि गच्छद् अनन्तरं कर्माणि फलतो निरूपितानि । अय-
क्रियाविशेषमाश्रित्य तत्कर्तृपुरुषद्वयद्वारेण कर्मादीनामल्पत्वबहु-
त्वे निरूपयति-“दो जंते ! इत्यादि”(अगणिकायं समांरभंति च्छि)
तेजस्कामे समांरभेते, उपरुचयतः तच्चैक उज्ज्वालनेन, अन्यस्तु
विभ्यापनेन । तत्रोज्ज्वालने बहुतरतेजसामुत्पादेऽप्यल्पतराणां
विनाशोऽप्यस्ति, तथैव दर्शनाद् । अत उक्तम्-“तथ णं एगे” इत्या-
दि(महाकम्मतराए च्छेव च्छि) अतिशयेन मदत् कर्म ज्ञानावरणा-
दिकं यस्य स तथा, चैवशब्दः समुच्चये । एवं(महाकिरियतराए
चेव च्छि) नवरं, क्रिया दाहरूपा(महासवतराए च्छेव च्छि) बृहत्क-
र्मवन्धहेतुकः । (महावेयणतराए च्छेव च्छि) महती वेदना जीवानां
यस्मात्स तथा । अजन्तरमग्निवकव्यतोक्ता ।

अस्थि णं जंते ! अचित्ता वि पोग्गझा ओजासंति,
उज्जांतेति, तवेति, प्रभासंति । हुंता ! अस्थि । कयेर णं जंते !
अचित्ता वि पोग्गझा ओजासंति, जाव पजासंति । कालो-
दाई ! कुरुस्स अणगारस्स तेयलेस्सा निसइहा समाणी दूरं
गता दूरं निवतइ, देसं गता देसं निवतइ, जहिं २ च णं
मा निवतइ तहिं २ च णं ते अचित्ता वि पोग्गझा ओजासं-
ति जाव पजासंति । एए णं काओदाई ! ते अचित्ता वि पोग्ग-
झा ओभासंति । तए णं से काओदाई अणगारे समणं
भगवं मद्दावीरं वंदइ नमंसइ बहुहिं चउत्थउट्टहमं जाव
अप्पाणं जावेमाणे जहा पढमसए कालासवेसियपुत्ते जाव
सव्वउक्खलपहीणे सेवं भंते ! जंते ! च्छि ।

अग्निश्च सचेतनः सन्नवभासते, एवमचित्ता अपि पुद्गलाः किम-
वभासन्त इति प्रश्नयन्नाह-[अस्थि णमित्यादि] (अचित्ता वि च्छि)
सचेतनास्तेजस्कायिकादयः तावदवभासन्त एवेत्यपिशब्दार्थः ।
(ओभासंति च्छि) प्रकाशा भवन्ति (उज्जांतेति च्छि) वस्तु-
न्योन्यन्ति । (तवेति च्छि) तापं कुर्वन्ति (पजासंति च्छि) तथा-
विधवस्तुदाहकत्वेन प्रभावं ह्नन्ते(कुरुस्से च्छि) विभक्तिविपरि-
णामात् कुचेन दूरं गता (दूरं निवयइ च्छि) दूरगामिनीति दूरे
निपततीत्यर्थः । अथवा दूरे गत्वा दूरे निपततीत्यर्थः । (देसं गता
देसं निवयइ च्छि) अभिप्रेतस्य गन्तव्यस्य क्रमेण तद्वंशे तद-

र्कादौ गमनस्वप्नावेऽतिदेशे तद्वंशे निपततीत्यर्थः । क्त्वा-
प्रत्ययपक्षोऽप्येवमेव । (जहिं जहिं च्छि) यत्र यत्र दूरं वा
तद्देशे वा, सा तेजोवेद्या निपतति (तहिं तहिं) तत्र तत्र
दूरे तद्देशे वा [ते च्छि] । तेजोवेद्या सम्बन्धिनः । म०-७ श०
१० उ० ।

(२) अथान्ययूधिकैः सह विप्रतिपत्तयः प्रदर्श्यन्ते, [आयुः]
तत्र इह जविकस्य परजविकस्य वाऽऽयुः समयं विप्रतिपात्तिः-

अस्रुतस्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं
पएणवेंति, एवं परूवेंति-एवं खलु एगे जीवे एगे णं सम-
ए णं दो आउयाइ पकरेइ । तं जहा-इहभविआउयं च परभ-
विआउयं च; जं समयं इहभविआउयं पकरेइ तं समयं परज-
विआउयं पकरेइ, जं समयं परजविआउयं पकरेइ तं समयं
इहजविआउयं पकरेइ । इहभविआउयस्स पकरणयाए पर-
भविआउयं पकरेइ, परभविआउयस्स पकरणयाए इहजवि-
आउयं पकरेइ । एवं खलु एगे जीवे एगे णं समए णं दो आ-
उयाइ पकरेइ । तं जहा-इहजविआउयं च परभविआउयं च ।
से कहमेयं भंते ? । एवं गोयमा ! जं णं ते अस्रुतस्थिया-
एवमाइक्खंति जाव परजविआउयं च जे ते एवमाइसु, मि-
च्छं ते एवमाइसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामिं
जाव परूवेमि-एवं खलु एगे जीवे एगे णं समए णं एगं
आउयं पकरेइ । तं जहा-इहजविआउयं वा परभविआ-
उयं वा । जं समयं इहजविआउयं पकरेइ, णो तं समयं
परजविआउयं पकरेइ, जं समयं परभविआउयं पकरेइ, णो
तं समयं इहभविआउयं पकरेइ । इहजविआउयस्स पकर-
णयाए णो परभविआउयं पकरेइ, परभविआउयस्स णो इह-
जविआउयं पकरेइ । एवं खलु एगे जीवे एगे णं समए णं
एगं आउयं पकरेइ । तं जहा-इहजविआउयं वा, परभविआ-
उयं वा । सेवं भंते ! भंते ! च्छि; जगवं गोयमे जाव विहरइ ॥

दर्शनान्तरस्य विपर्यस्ततां दर्शयन्नाह- (अणउत्थिए-
त्यादि) अन्ययूथं विवक्षितसङ्गादपरः सङ्गः, तदस्ति
येषां ते अन्ययूथिकास्तीर्थान्तराया इत्यर्थः । एवमिति
वक्ष्यमाणं (आइक्खंति च्छि) आख्यान्ति सामान्यतः । (जा-
संति च्छि) विशेषतः । (पएणवेंति च्छि) उपपत्तिभिः । (परू-
वेंति च्छि) भेदकयनतो द्वयोर्जीवयोरेकस्य वा समयभेदेनायु-
द्वयकरणे नास्ति विरोध इत्युक्तम् । (एगे जीवे इत्यादि) (दो
आउयाइ पकरेइ च्छि) जीवो हि स्वपर्यायसमूहात्मकः, स च
यदैकमायुःपर्यायं करोति तदाऽन्यमपि करोति, स्वपर्यायत्वा-
ज्ज्ञानसम्यक्त्वपर्यायवत्, स्वपर्यायकर्तृत्वं च जीवस्यान्युपगन्त-
व्यमेव । अन्यथा सिद्धत्वादिपर्यायाणामनुत्पादप्रसङ्ग इति ज्ञा-
वः । उक्तार्थस्यैव ज्ञावनाऽर्थमाह-[जमित्यादि] विभक्तिविपरिणा-
माद्यस्मिन्समये, इहभवा वर्तमानजवो यत्राऽऽयुःपि विद्यते फल-
तया तदिहजवायुरेवं परभवायुरपि । अनेन चेहजवायुःकरणसमये
परजवायुःकरणं नियमितम् । अथ परभवायुःकरणसमये इह-
जवायुःकरणं नियमितमाह-(जं समयं परभविआउयमित्यादि)

खंदए तदेव पव्वइए तदेव एकारस अंगाणि० जाव विहरइ, तए णं समणे जगवं महावीरे अणया कयाई रायगिहाओ णय-राओ गुणसिद्धाओ चेइयाओ पणिनिस्वमइ । पडिनिस्वा-मइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ ते णं काले णं से णं स-मए णं रायगिहे नामं नगरे गुणसिलए नामं चेइए ढांत्या । तए णं समणे जगवं महावीरं अणया कयाई जाव समोसद्धे जाव पणिगया, तए णं से काओदाई अणगारे अणया कयाई जेणेव समणे जगवं महावीरं तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता समणं जगवं महावीरं वंदइ नमंसइ । नमंसइत्ता एवं वपासी—

(महाकहापमिवेत्ति) महाकहापमिवेत्ति महाजनस्य त-स्वदेशना (पयसि णं ति) एतस्मिन्नुक्तस्वरूपे (चक्रि-या केइ चि) शक्युयात्कथिन् । (पयसि णं जंते !) पोग्गलारेयकार्यंसीत्यादि) अयमस्य भावार्थः—जीवसंघर्षा-नि पापकर्मणि अशुभस्वरूपफलरूपविपाकदायीनि पु-द्वग्नस्तिकायेन भवन्ति, अचेतनतयनानुभवयजितत्वात्तस्य, जीवास्तिकाये एव च तानि तथा जयन्ति । अनुभवयुक्तस्या-स्तस्येति प्राज्ञालोदायिप्रशङ्कारेण कर्मयत्कथ्यतोक्ता । अशुना तु तत्प्रशङ्कारेणैव ताभ्येय यथा पापफलविपाकादीनि जयन्ति । तथोपदर्शयिषुः—

अत्थि णं जंते ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवाग-संजुत्ता कज्जंति ? । इता ! अत्थि । कहं णं जंते ! जीवाणं पा-वा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? । कालोदाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुणं धालीपागमुद्धं अट्टारस-वंजणाउलं विमुमिसं जोयणं जुंजेजा, तस्स जोयणस्स आवाए जइए जवइ, तओ पच्छा परिणममाणे २ दुरू-वत्ताए दुग्गंधत्ताए जहा महस्सवए जाव जुज्जो जुज्जो परिणमइ, एवमेव कालोदाई ! जीवाणं पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणमद्धे तस्स णं आवाए जइए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे २ दुरूवत्ताए जुज्जो जुज्जो परि-णमइ, एवं जुज्जो जुज्जो काओदाई ! जीवाणं पावा कम्मा जाव कज्जंति । अत्थि णं जंते ! जीवाणं कट्ठाणकम्मा कट्ठाणफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? । इता अत्थि । कहं णं जंते ! जीवाणं कट्ठाणकम्मा० जाव कज्जंति ? । कालो-दाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुणं धालीपागमुद्धं अट्टारसवंजणाउलं ओसहमिसं जोयणं जुंजेजा, तस्स णं जोयणस्स आवाए नो भइए जवइ, तओ पच्छा परिणम-माणे परिणममाणे दुरूवत्ताए सुवत्ताए जाव सुहत्ताए नो दुक्खत्ताए जुज्जो जुज्जो परिणमइ, एवमेव कालोदाई ! जीवाणं पाणाइवायवेरमणे जाव परिगहवेरमणे कोह-विवेगे जाव मिच्छादंसणसत्ताविवेगे तस्स णं आवाए नो जइए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे दुरू-

वत्ताए० जाव नो दुक्खत्ताए जुज्जो जुज्जो परिणमइ । एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं कट्ठाणकम्मा० जाव कज्जंति । दो जंते ! पुरिमा सरिसया जाव सरिसचंदमचोचगरणा अणमणेणं सद्धिं अगणिकायं समारंभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, एगे पुरिसे अगणिकायं नि-व्वावेइ । एएसिं णं जंते ! दोएहं पुरिसाणं कयरे पुरिसे महाकम्मतए चैव महाकिरियतराए चैव महासवतराए चैव महावेयणतराए चैव?, कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मतए चैव जाव अप्पवेयणतराए चैव, जे वा से पुरिसे अगणि-कायं उज्जालेइ, जे वा से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ ? । काओदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे महाकम्मतए चैव जाव महावेयणतराए चैव, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पकम्मतए चैव० जाव अप्पवेयणतराए चैव । से केणट्ठे णं जंते ! एवं बुचइ; तत्थ णं जे से पुरिसे जाव अप्पवेयणतराए चैव ? । कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे बहुतरायं पुदवी-कायं समारंभइ, बहुतरायं आठकायं समारंभइ, अप्पतरायं तेउकायं समारंभइ, बहुतरायं वाउकायं समारंभइ, बहुत-रायं वणस्सइकायं समारंभइ, बहुतरायं तसकायं समारंभइ, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पतरायं पुदविकायं समारंभइ, अप्पतरायं आठकायं स-मारंभइ, बहुतरायं तेउकायं समारंभइ, अप्पतरायं वाउकायं समारंभइ, अप्पतरायं वणस्सइकायं समारंभइ, अप्पतरायं तसकायं समारंभइ, से तणट्ठे णं कालोदाई ! जाव अप्प-वेयणतराए चैव ॥

(अत्थि णमित्यादि) अस्तीदं वस्तु यदुत जीवानां पापानि कर्माणि, पापो यः फलरूपो विपाकः, तत्संयुक्तानि भवन्ती-त्यर्थः । (धालीपागमुद्धं ति) स्थाल्याम्-उज्जालां, पाको यस्य तत् स्थालीपाकम्, अन्यत्र हि पक्रमपकं वा; न तथाविधं स्यादिति चेत् विशेषणं युक्तं भक्तदायवर्जितं ततः, कर्मधारयः । स्थालीपाके-न वा शुद्धमिति विग्रहः । (अट्टारसवंजणाउलं चि) अष्टदशभि-र्लोकप्रसंगैर्व्यञ्जनेः शालनकैः तक्रादिभिर्वा, आकुलं सङ्कीर्णं यत्तत्तथा । अथवाऽष्टदशभेदं च तद् व्यञ्जनाकुलं चेति । अत्र भेदपदलोपेन समासः । अष्टदश जेदाअते—“सूओ १ वणो २ जवणं ३, तिभि य मंसाई ६ गोरसो ७ जूसो ८ । भक्का ९ गुल लावणिया १०, मूलफल ११ हरियंगं १२ मागो १३ ॥ १ ॥ होय रस्ताल्लय १४ तहा, पाणं १५ पाणीय १६ पाणमं चैव १७ । अट्टारसमो सागो १८, निक्खहओ लोइओ पिओ” ॥ २ ॥ तत्र मांसत्रयं जलचरादिसत्तकं, जूयो सुदगतन्दुलजी रक्ककुमायजा-दिरसः, भक्ष्याणि अप्रमत्ताद्यादीनि, गुललावणिया गुलपर्व-ट्टिका लोकप्रसिद्धा, गुरुधाना वा । मूलफलान्येकमवे पदं, हरितकं जीरकादि, डाको वास्तुकादिभार्जिका, रसाद् भक्षिका,

[४] [कर्म] चलच्चलितमित्यादिकर्मादिषु कुटीर्थिकेः
सह विप्रतिपत्तिः—

असुतियया एं जंते ! एवमाइकखंति०, जाव पख्वेति । एवं खलु चलमाणे अचलिते० जाव निज्जरिज्जमाणे अनिज्जि-
स्से दो परमाणुपोगला एगयओ न साहणंति, कम्हा दो
परमाणुपोगलाणं नत्थि सिणेहकाए, दो परमाणुपोगला
एगयओ न साहणंति, तिष्ठि परमाणुपोगला एगयओ साह-
णंति, कम्हा तिष्ठि परमाणुपोगला एगयओ साहणंति ?
तिष्ठि परमाणुपोगलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा तिष्ठि-
परमाणुपोगला एगयओ साहणंति । ते भिज्जमाणा दुहा वि
तिहा वि कज्जंति, दुहा किज्जमाणा एगयओ दिवहे परमा-
णुपोगले भवइ, एगयओ दिवहे परमाणुपोगले भवइ, तिहा
कज्जमाणा तिष्ठि परमाणुपोगला इवन्ति, एव जाव
चत्तारि पंच परमाणुपोगला एगयओ साहणंति, एगय-
ओ साहणित्ता दुक्खत्ताए कज्जंति, दुक्खे वि य एं से ना-
सए सय. नमियं अवचिज्जइयं अवचिज्जइयं पुव्वि जासा-
जासा जासिज्जमाणी जासा अजासा भासा मयं विति-
कंतं च एं जासिय भासा जा सा पुव्वं जासाजासा जा-
सिज्जमाणी भासा अभासा भासासमयं वितिकंतं च एं
जासाजासा सा किं जासओ भासा अजासओ भासा ?
अजासओ एं सा जाना, एं खलु सा जासओ भासा, पु-
व्वि किरिया दुक्खा कज्जमाणी किरिया अदुक्खा किरि-
या समयं वितिकंतं च एं कमा किरिया दुक्खा जा सा
पुव्वं किरिया दुक्खा कज्जमाणा किरिया अदुक्खा कि-
रिया समयं विइकंतं च एं कमा किरिया दुक्खा सा किं क-
रणओ दुक्खा अकरणओ दुक्खा, अकरणओ एं सा दुक्खा,
एं खलु सा करणओ दुक्खा, सेवं वत्तवं सिया, अकिंच
दुक्खं अफुगं दुक्खं अकज्जमाणकनं दुक्खं अकट्टु अकट्टु-
पाणज्यं जीवसत्तावेदणं वेदंति ति वत्तवं सिया, सकह-
मेयं भते ! एवं ? गोयमा ! जं णं ते असुतियया एवमा-
इकखंति० जाव वेदणं वेदंति वत्तवं सिया, जे ते एवं
आहंसु मिच्छंते एवं आहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइ-
कखामि०, एवं खलु चक्ष्म एं चलिते जाव निज्जरिज्जमाणे
निज्जिएणे दो परमाणुपोगला एगयओ साहणंति, क-
म्हा दो परमाणुपोगला एगयओ साहणंति ? दोएहं पर-
माणुपोगलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा दो परमाणुपोग-
ला एगयओ साहणंति, ते भिज्जमाणा दुहा कज्जंति, दुहा
कज्जमाणा एगयओ वि परमाणुपोगले एगयओ पर-
माणुपोगले भवइ । तिष्ठि परमाणुपोगला एगयओ साह-
णंति, कम्हा तिष्ठि परमाणुपोगला एगयओ साहणं-
ति ? तिष्ठि परमाणुपोगलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा

तिष्ठि परमाणुपोगला एगयओ साहणंति, ते निज्जमाणा
दुहा वि तिहा वि कज्जंति, दुहा कज्जमाणा एगयओ पर-
माणुपोगले एगयओ दुपदेसिए खंधे भवइ, तिहा कज्ज-
माणा तिष्ठि परमाणुपोगला भवन्ति, एकं जाव चत्तारि
पंच परमाणुपोगला एगयओ साहणंति, साहणित्ता
खंधत्ताए कज्जंति, खंधे वि य एं से असासए सया समियं
उवचिज्जइयं अवचिज्जइयं पुव्वि भासा अभासा भासि-
ज्जमाणी जासाभासा भासासमयं वितिकंतं च एं भा-
सिया भासा अजासा, जा सा पुव्वि जासा अजासा
भासिज्जमाणी भासाभासा जासामयं वितिकंतं च एं
जासिया भासा अभासा, सा किं जासओ जासा, अजा-
सओ भासा ? भासओ एं जासा सा, एं खलु सा अभा-
सओ जासा । पुव्वि किरिया अदुक्खा जहा जासा तहा
भाणियन्वा, किरिया वि जाव करणओ णं सा दुक्खा नो
खलु सा अकरणओ दुक्खा सेवं वत्तवं सिया, किच्चं दु-
क्खं फुसं दुक्खं कज्जमाणकनं दुक्खं कट्टु कट्टु पाणज्य-
जीवसत्तावेदणं वेदंति ति वत्तवं सिया ।

(चलमाणे अचलिते) चलत्कर्माचक्षितं, चलता तेन चलित-
कार्यकरणाद् वर्तमानस्य चार्ताततया व्यपदे पुमशक्यत्वादवम-
न्यत्रापि वाच्यमिति । (एगयओ न साहणंति ति) एकत एकत्वेन
एकस्कन्धतयेत्यर्थः । न संहन्येते न संहतौ मिश्रितौ स्याताम् ।
(नत्थि सिणेहकाए ति) अहपर्यवराशिर्नास्ति सूक्ष्मत्वात्, त्र्या-
दियंगेतु स्थूलत्वात्सोऽस्ति । (दुक्खत्ताए कज्जंति ति) पञ्चा-
स्तुज्जहाः संहत्य दुःखतया कर्मतया क्रियन्ते जयन्तीत्यर्थः । (दु-
क्खे वि य एं ति) कर्मापि च (सेसि) तत् शाश्वतमनादित्वा-
त् । (सय ति) सर्वदा (समियं ति) सम्यक्सपरिमाणं वा,
चीयते चयं याति, अपचीयते अपचयं याति, तथा [पुव्वं ति]
भाषणात्प्राग् जासति वाग्व्यसंहतिः । [भास ति] सत्यादि-
भाषा स्यात्तत्कारणत्वात् विभङ्गान्तिव्येन वा; तेषां मतमात्रमे-
तन्निरूपपत्तिकमुन्मत्तचचनवत् । अतो नेहोपपत्तिरत्यर्थं गवेपणी-
या । एवं सर्वत्रापीति । तथा [भासिज्जमाणी भासा अजास ति]
निसृज्यमानवाग्द्रव्याप्यभाषा, वर्तमानसमयस्यातिसूक्ष्मत्वेन व्य-
वहारानङ्गत्वादिति । [जासासमयविइकंतं च एं ति] इह क-
प्रत्ययस्य भावार्थत्वात् विज्ञात्विपरिणामाच्च भाषासमयव्यति-
क्रमे च । [भासिय ति] निसृष्टा सती प्राप्ता भवति, प्रतिपाद्य-
स्याभिधेये प्रत्ययोत्पादकत्वादिति । [अभासओ णं भास ति]
अभाषमाणस्य भाषा, भाषणात्पुर्वं पञ्चाच्च तदनुपगमात् [वो
खलु जासओ ति] भाष्यमाणायास्तस्या अननुपगमादिति ।
तथा [पुव्वि किरियेत्यादि] क्रिया कारिकायादिका सा या-
वन्न क्रियते तावत् [दुक्ख ति] दुःखहेतुः [कज्जमाण ति]
क्रियमाणा क्रिया न दुःखा न दुःखहेतुः क्रियासमयव्यति-
क्रान्तं च क्रियायाः क्रियमाणा, व्यतिक्रमे च कृता सती
क्रिया दुःखेति । इदमपि तन्मतमात्रमेव निरूपपत्तिकम् । अथवा
पूर्वं क्रिया दुःखानभ्यासात् क्रियमाणा क्रिया न दुःखा अ-
भ्यासात् कृता क्रिया दुःखानुपपत्तापश्रमादेः [करणओ दु-
क्ख ति] करणमाश्रित्य करणकाले कुर्वत इत्यर्थः । [अक-

एवमेकसमयकार्यतां द्वयोरप्यनिधायैकक्रियाकार्यतामाह—[इह भविष्याड्यस्सेत्यादि] (पकरणया ए चि) करणेन, एवं ख-
द्वित्यादि निगमनम् । (जएणं ते अपएउत्तियया एवमाइक्खं-
ति) इत्याद्यनुवादवाक्यस्यान्ते तत्प्रतीति, न केवलमित्यर्थं वा-
क्यशेषो दृश्यः । (जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु चि) नच
(आहंसु चि) उक्तवन्तः, यथायं वर्तमाननिर्देशोऽधिकृतेऽतीत-
निर्देशः स सर्वो वर्तमानः कालोऽतीतो मवतीत्यस्यार्थस्य
ज्ञापनार्थः, मिथ्यात्वञ्चादौषधम्, एकेनाध्यवसायेन विरुद्धोपा-
युपवर्धनायोगात् । यच्चोच्यते—पर्यायान्तरकरणे पर्यायान्तरं
करोति, स्वपर्यायत्वादिनि । तदनैकान्तिकम् । सिद्धत्व-
करणे संसारित्वाकरणादिति । टीकाकारव्याख्यानां तु—इह
भवायुर्वेदा प्रकरोति वेदयत इत्यर्थः, परभवायुस्तदा प्रक-
रोति प्रवध्नातीत्यर्थः, इहभवायुप्रभोगेन परभवायुर्वध्नाती-
त्यर्थः । मिथ्या चैतत्परमतम् । यस्माज्जातमात्रो जीव इहभवायुर्वे-
दयते, तदैव तेन यदि परभवायुर्वेदं, तदा दानाध्ययनादीनां
वैयर्थ्यं स्यादिति । एतद्व्यायुर्वेधकालादन्यत्रावसेयम् । अन्य-
थाऽऽयुर्वेधकाले इहभवायुर्वेदयते, परभवायुस्तु प्रकरोत्ये-
वेति । भ० १ शु० ६ उ० ।

(३) एको जीव एकस्मिन् समये द्वे आयुषी प्रकरोतीत्यत्र
अन्ययुधिकेः सह विवादः—

अनन्तरोक्तं लक्षणसमुद्भादिकं सत्यं सम्यग्ज्ञानिप्रतिपादि-
तत्वान्मिथ्याज्ञानिप्रतिपादितं त्वसत्यमपि स्यादिति दर्शय-
स्तृतीयोद्देशकस्यादिसूत्रमिदमाह—

असलत्तियया एं भंते ! एवमाइक्खंति, एवं जासंति, एवं
पसवति, एवं परूवेति । से जहानामए जालगंठियाइ वा आणु-
पुब्बिगंठिया अणंतरगंठिया परंपरगंठिया असलमणगंठिया
असलमणगुरुत्ताए असलमणचारियत्ताए असलमणगुरुसंजा-
रियत्ताए असलमणधरुत्ताए चिट्ठंति; एवामेव बहूणं जीवाण
बहूसु आजाइसहस्सेसु बहूंसु आउयसहस्साइ आणुपुब्बि-
गंठियाइ जाव चिट्ठंति, एगं वि य एं जीवे एगेणं समएणं
दो आउयइ पडिसंवेदयइ । तं जहा—इहजत्रियाउयं च पर-
जत्रियाउयं च । जं समयं इहजत्रियाउयं पडिसंवेदेइ, तं स-
मयं परजत्रियाउयं पडिसंवेदेइ, जाव से कहमेयं भंते !
एवं ? गोयमा ! जं एं ने असलत्तियया तं चेव जाव परभवि-
याउयं च जे ते एवमाहंसु तं मिच्छा ? अहं पुण गोयमा !
एवमाइक्खामि-जाव असलमणधरुत्ताए चिट्ठंति, एवामेव एग-
मेगस्स जीवस्स बहूहिं आजाइसहस्सेहिं बहूहिं आउसहस्सा-
इ आणुपुब्बिगंठियाइ जाव चिट्ठंति, एगे वि य एं जीवे एगे-
णं समएणं एगं आउयं पडिसंवेदेइ । तं जहा—इहभविआउयं
वा परभविआउयं वा, जं समयं इहजत्रियाउयं पडिसंवे-
देइ नो तं समयं परजत्रियाउयं पडिसंवेदेइ, जं समयं पर-
जत्रियाउयं पडिसंवेदेइ णो तं समयं इहजत्रियाउयं पडिसं-
वेदेइ, इहजत्रियाउयस्स पडिसंवेदणयाए णो परजत्रियाउ-
यस्स पडिसंवेदणा, परभत्रियाउयस्स पडिसंवेदणयाए णो इह-

भविष्याउयस्स पडिसंवेदणा । एवं खलु जीवे एगेणं सम-
एणं एगं आउयं पडिसंवेदेइ । तं जहा—इहभविआउयं वा
परभविआउयं वा ।

[असलत्तिययाणमित्यादि] [जालगंठिय चि] जालं मत्स्यबन्धनं,
तस्यैव ग्रन्थयो यस्यां सा जालग्रन्थिका । किंस्वरूपा सेत्याह—
[आणुपुब्बिगंठिय चि] आनुपूर्व्या परिपाठ्या ग्रथिता गुम्फिता
आयुचितग्रन्थोनामादौ विधानादन्तोचितानां च क्रमेणान्त एव
करणात् । एतदेव प्रपञ्चयन्नाह—[अणंतरगंठिय चि] प्रथमग्र-
न्थोनामनन्तरव्यवसापितैर्ग्रन्थभिः सह ग्रथिता अनन्तरग्र-
थिता । एवं परम्परैर्व्यवहितैः सह ग्रथिता परम्परग्रथिता ।
किमुक्तं भवति—[अभ्रमभ्रगंठिय चि] अन्योऽन्यं परस्परं ए-
केन ग्रन्थिना सहान्यो ग्रन्थिरन्येन च सहान्य इत्येवं ग्रथिता
अन्योऽन्यग्रथिता । एवं च [अभ्रमभ्रगुरुत्ताए चि] अन्योऽन्येन
ग्रन्थनादं गुरुकता विस्तारिता, अन्योऽन्यगुरुकता, तथा, [अभ्र-
मभ्रभारियत्ताए चि] अन्योऽन्यस्य यो भारः स विद्यते यत्र तद-
न्योऽन्यभारिकं तद्भावस्तत्ता, तथा, एतस्यैव प्रत्येकोक्तार्थद्व-
यस्य संयोजनेन तयोरेव प्रकर्षमभिधातुमाह—[अभ्रमभ्र-
गुरुसंभारियत्ताए चि] अन्योऽन्येन गुरुकं यत्संभारिकं च
सत्तथा, तद्भावस्तत्ता, तथा [अभ्रमभ्रधरुत्ताए चि] अन्योऽ-
न्यं घटा समुदायरचना यत्र तदन्योऽन्यघटं तद्भावस्तत्ता तथा,
[चिट्ठंति] आस्ते, इति दृष्टान्तः । अथ दार्ष्टान्तिक उच्यते—
[एवामेव चि] अनेनैव न्यायेन बहूनां जीवानां संवन्धीनि
[बहुस्तु आजाइसहस्सेसु चि] अनेकेषु देवादोजन्मसु प्र-
तिजीवं क्रमप्रवृत्तेश्चधिकरणभूतेषु बहून्यायुष्कसहस्राणि त-
त्स्वामिजीवानामाजातीनां च बहुसहस्रसंख्यानत्वात् । आनु-
पूर्वीग्रथितानीत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् । नवरमिह भारिक-
त्वं कर्मपुत्रलापेक्षया वाच्यम् । अथैतेपामायुषां को वेदन-
विधिरित्याह—[एगे वि येत्यादि] एकोऽपि जीवः आ-
स्मानेक एकेन समयेनेत्यादि प्रथमशतवत् । अत्रोत्तरम्—
[जे ते एवमाहंसु इत्यादि] मिथ्यात्वं चैवामेवम्—या—
नि हि बहूनां जीवानां बहून्यायुषि जाहग्रथिकावच्छिद्यन्ति तानि
यथास्यं जीवप्रदेशेषु संवद्वानि स्युरसंवद्वानि वा ? यदि संव-
द्वानि, तदा कथं भिज्जात्रजजीवस्थितानां तेषां जालग्रन्थिका
कल्पना कल्पयेतुं शक्या ? तथापि तत्कल्पने जीवानामपि जाह-
ग्रन्थिकाकल्पत्वं स्यात्, तत्संवत्त्वात् । तथा च सर्वजीवानां सर्वा
युःसंवेदनेन सर्वजवजयनप्रसङ्ग इति । अथ जीवानामसंवद्व-
न्यायुषि तदा तच्छादेवादिजन्मेति न स्यादसंवद्वधादेवेति । यच्चो-
क्तम्—एको जीव एकेन समयेन द्वे आयुषी वेदयति । तदपि
मिथ्या । आयुर्द्वयसंवेदने युगपद्वयप्रसङ्गादिति । [अहं पुण
गोयमेत्यादि] इह पक्वे जालग्रन्थिकासंक्रमिकामात्रम् ।
[एगमेगस्सेत्यादि] एकैकस्य जीवस्य न तु बहूनां, बहुज्वाजा-
तिसहस्रेषु क्रमवृत्तेश्चतीतकालकेषु तत्कालापेक्षया सन्तु
बहून्यायुस्सहस्राणि अतीतानि, वर्तमानजवान्ताभ्यभविम-
न्यभविमेक प्रतिवक्तव्यत्वेन सर्वाणि परस्परं प्रतिवद्वानि भव-
न्ति, न पुनरेकमेव एव बहूनि [इहभविआउयं व चि]
वर्तमानभवायुः [परभविआउयं व चि] परभविप्रायोग्यं यद्वर्त-
मानभवे निवक्तं तच्च परजवे गतो यदा वेदयति, तदा व्यपादि-
यते [परभविआउयं व चि] ॥ भ० १ डा० ३ उ० ।

पुनरन्ययूथिकान्तरमतमुपदर्शयन्नाह-

अण्डतथिया णं जंते ! एवमाइक्खंति० जाव एवं खलु एगं जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च, संपराइयं च । जं समयं इरियावहियं पकरेइ । तं समयं संपराइयं पकरेइ । जं समयं संपराइयं पकरेइ । तं समयं इरियावहियं पकरेइ । इरियावहियपकरणयाए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरियावहियं पकरेइ, एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च, संपराइयं च । से कहमेयं जंते ! एवं ? गोयमा ! जएणं ते अण्डतथिया एवमाइक्खंति तं चेव जाव० । जे ते एवमाइसु मिच्छा ते एवमाइसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि ४-एवं खलु एगे जीवे एगसमए एक्कं किरियं पकरेइ, ससमयवत्तव्वयाए नेयव्वं० जाव इरियावहियं संपराइयं वा ॥

[अण्डतथिया णमित्यादि] तत्र च [इरियावहियं ति] ईर्या गमनं, तद्विषयः पन्था मार्ग ईर्यापथस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी, केष्वकाययोगप्रत्ययः कर्मबन्ध इत्यर्थः । [संपराइ च चि] संपरैति परिजृम्भति प्राणी प्रवे एभिरिति संपरायाः कपायाः, तत्प्रत्यया या सा साम्परायिकी, कपायहेतुकः कर्मबन्ध इत्यर्थः । [परडतथिय वत्तव्वं नेयव्वं ति] इह सूत्रेऽन्ययूथिकवत्तव्वं स्वयमुच्चारणीयं, ग्रन्थगौरवभयेनालिखितत्वात्तस्य । तच्चेदम्-“जं समयं संपराइयं पकरेइ, तं समयं इरियावहियं पकरेइ, इरियावहिया-पकरणयाए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरियावहियं पकरेइ, एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च संपराइयं चेति ससमयवत्तव्वयाए नेयव्वं” सूत्रमिति गम्यम् । सा चैवम्-“से कहमेयं जंते ! एवं ? गोयमा ! जएणं ते अण्डतथिया एवमाइक्खंति ४ जाव । संपराइयं च जे ते एवमाइसु, मिच्छा ते एवमाइसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि ४-एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ । तं जहा-इत्यादि पूर्वोक्तानुसारेणाभ्येयमिति । मिथ्यात्वं चास्यैवम्-ऐर्यापथिकी क्रिया अकषाया-दयप्रभवा, इतरा तु कपायोदयप्रभवेति, कथमेकस्यैकदा तयोः संभवः ? । विरोधादिति । म० १ श० १० उ० ।

अण्डतथिया णं जंते ! एवमाइक्खं, एवं जासेइ, एवं पक्खेइ, एवं पक्खेइ-एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं च, मिच्छत्तकिरियं च । जं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, तं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ । सम्मत्तकिरियापकरणयाए मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरियापकरणयाए सम्मत्तकिरियं पकरेइ । एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं, मिच्छत्तकिरियं च । से कहमेयं जंते ! एवं ? गोयमा ! जएणं ते अण्डतथिया एवमाइक्खंति, एवं जासंति, एवं पक्खंति-

ति, एवं पक्खंति-एवं खलु एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ, तदेव जाव सम्मत्तकिरियं च, मिच्छत्तकिरियं च । जे ते एवमाइसु तएणं मिच्छा । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव पक्खेमि-एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं वा, मिच्छत्तकिरियं वा । जं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ णो तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ नो तं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ । सम्मत्तकिरियापकरणयाए नो मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरियापकरणयाए नो सम्मत्तकिरियं पकरेइ । एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं वा मिच्छत्तकिरियं वा । सेचं तिरिक्खजोणीत उदेसओ वीओ ॥

[अण्डतथिया णं जंते ! इत्यादि] अन्ययूथिका अन्यतीर्थिकाः, भदन्त ! चरकादय एवमाचकृते सामान्येन एयं भाषन्ते, स्वशिष्यान् श्रवणं प्रत्यभिमुखानवबुध्य विस्तरणं व्यक्तं कथयन्ति, एवं प्रज्ञापयन्ति प्रकरणेण ज्ञापयन्ति । यथा स्वात्मनि व्यवस्थितं ज्ञानं तथा परेष्वन्युत्पादयन्ति । ति, एवं प्रकथयन्ति तत्त्वचिन्तायामसंदिग्धमतं हि ति निरूपयन्ति-इह खल्वेको जीव एकेन समयेन युगपद् द्वे क्रिये प्रकरोति । तद्यथा-सम्यक्क्रियां च सुन्दराध्ययसायात्मिकाम्, मिथ्यात्वक्रियां चासुन्दराध्ययसायात्मिकाम् । [जं समयमिति] प्राकृतत्वात् ससम्यर्थं द्वितीया, यस्मिन् समये सम्यक् क्रियां प्रकरोति [तं समयमिति] तस्मिन् समये सम्यक् क्रियां प्रकरोति । अन्योऽन्यसंवलनोभयनियमप्रदर्शनार्थमाह-सम्यक्त्वप्रकरणेन मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति, मिथ्यात्वक्रियाप्रकरणेन सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति । तदुभयकरणस्वभावस्य तत्त्वक्रियाकरणात्, सर्वात्मना प्रवृत्तेः । अन्यथा ऽक्रियायोगादिति । एवं खल्वित्यादि निगमनं प्रतीतिार्थम् । [से कहमेयं जंते ! इत्यादि] तत्कथमेतद् भदन्त ! एवम् ? तदेवं गौतमेन प्रश्ने कृते सति भगवानाह-गौतम ! यतः ए इति वाक्यालङ्कारे । ते अन्ययूथिका अन्यतीर्थिका एवमाचकृते इत्यादि प्रावृत्त्यावत् । तन्मिथ्या त एवमाख्यातवन्तः । अहं पुनर्गौतम ! एवमाचक्रे, एवं ज्ञापे, एवं प्रज्ञापयामि, एवं प्रकथयामि-इह खल्वेको जीव एकेन समयेन एकां क्रियां प्रकरोति । तद्यथा-सम्यक्त्वक्रियां वा, मिथ्यात्वक्रियां वा । अत एव यस्मिन् समये सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति न तस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति, यस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति न तस्मिन् समये सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति । परस्परवैवित्थननियमप्रदर्शनार्थमाह-सम्यक्त्वक्रियाप्रकरणेन मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति, मिथ्यात्वक्रियाप्रकरणेन सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति, सम्यक्त्वमिथ्यात्वक्रियायोः परस्परपरिहारावस्थानात्मकतया जीवस्य तदुभयकरणस्वभावव्यायोगात् । अन्यथा सर्वथा मोक्षाभावप्रसक्तेः कदाचिदपि मिथ्यात्वानिवर्त्तनात् । जी० ३ प्रति० ।

(६) अदत्तादानादिक्रियाविषयेऽन्ययूथिकैः

सह विप्रतिपत्तिः-

ते एं कादो एं ते णं समये णं रायगिहें नयरे वएणओ ।

रणश्चो दुष्कृति] अकरणमाश्रित्य अकुर्वन्त इति यावत् [नो
 खलु सा करणश्चो दुष्कृति] अक्रियमाणत्वे दुःखनया तस्या
 अभ्युपगमात् । [सेवं वस्तव्यं सिया] अथ एवं पूर्वोक्तं वस्तु
 वस्तुव्यं स्यादुपपन्नत्वादस्येति । अथान्ययधिकान्तरमतमाह-
 अकृत्यमनागतकालापेक्षया अनिर्घर्तनीयं जीवैरिति गम्यं,
 दुःखमसात् तत्कारणं वा कर्म, तथा अकृत्यत्वादेवास्पृश्यम-
 बन्धनीयं तथा क्रियमाणं वर्तमानकाले कृतं, चार्ताकाले
 तन्निषेधादक्रियमाणकृतं कालत्रयंऽपि कर्मणो बन्धनिषेधाद-
 कृताऽकृता । आभीक्ष्ये द्विचर्चनं, दुःखमिति प्रकृतमेव । के
 इत्याह-प्राणभूतजीवसत्त्वाः । प्राणादिलक्षणं वेदम्-“ प्राणा
 द्वित्रिचतुःप्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चन्द्रिया
 ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः ” ॥१॥ [वेयर्थं ति] शुभाशुभक-
 र्मवेदनां पीडां वा वेदयन्त्यनुभवन्ति । इत्येतद्वक्तव्यं स्यादस्यै-
 धोपपद्यमानत्वात् । यादृच्छिकं हि सर्वलोकं सुखदुःखमिति ।
 यदाह-“ अतर्कितोपसितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःख-
 जानम् । काकस्य तालेन यथाऽभिधानो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृ-
 थाऽभिमानः ” ॥१॥ [से कदमेयं ति] अथ कथमेतत् भदन्त !
 एवमन्ययधिकोक्तन्यायेनेति प्रश्नः ? [जगं ते अणुत्थिय]
 इत्याद्युत्तरम् । व्याख्या चास्य प्राचत् । मिथ्या चैतदेवं यदि
 चलदेव प्रथमसमये चलितं न भवेत्तदा द्वितीयादिष्वपि तद-
 चलितमेवेति न कदाचनापि चलेत्त एव वर्तमानस्यापि वि-
 चक्षणा अतीतत्वं न विरुद्धम् । एतच्च प्रागेव निर्णीतमिति न
 पुनरुच्यते । यद्युच्यते-चलितकार्याकरणादचलितमेवेति । त-
 दयुक्तम् । यतः प्रतिक्षणमुत्पद्यमानेषु स्थासकोशादियस्तुष्व-
 न्यक्षणाभाविघट्णु आद्यक्षणे स्वकार्यं न करोत्येव, असत्त्वाद्,
 अतो यदन्त्यसमयचलितकार्यं विवक्षितं परेण तदाद्यसमय-
 चलितं यदि न करोति तदा क इव दोषोऽत्र कारणानां स्व-
 स्वकार्यकरणस्वभावत्वादिति । यच्चोक्तम्-ह्यौ परमाणू न सं-
 हन्येते, सूक्ष्मतया ज्ञेयाभावात् । तदयुक्तम् । एकस्यापि परमाणोः
 ज्ञेयसंभवात् । सार्द्धं पुञ्जस्य संहतत्वेन तैरेवाभ्युपगमाच्च ।
 यत उक्तम्- [तिथि परमाणुपोगला एग्यश्चो साहसंति, ते मि-
 रजमाणा दुहा वि विहा वि कज्जंति, दुहा कज्जमाणा एग्यश्चो
 दिवहेत्ति] अनेन हि सार्द्धं पुञ्जस्य संहतत्वाभ्युपगमेन तस्य
 ज्ञेयोऽभ्युपगत एवेत्यतः कथं परमाणवोः ज्ञेयाभावेन सत्ता-
 ताभाव इति । यच्चोक्तम्-एकतः सार्द्धं एकतः सार्द्धं इति । एत-
 दप्युच्यते । परमाणोरर्द्धकरणे परमाणुत्वाभावप्रसङ्गात् ।
 तथा यदुक्तम्-पञ्च पुञ्जलाः संहताः कर्मेतया भवन्ति । तद-
 प्यसङ्गतम् । कर्मणोऽनन्तपरमाणुतयाऽनन्तस्कन्धरूपत्वात्-
 श्चायुक्तस्य च स्कन्धमात्रत्वात् । तथा कर्मजीवावरणस्वभा-
 वमिष्यते, तच्च कथं पञ्चपरमाणुस्कन्धमात्ररूपं सदसङ्गतात्-
 प्रदेशात्मकं जीवमावृणुयादिति । तथा यदुक्तम्-कर्म च शा-
 श्वतम् । तदप्यसमीचीनम् । कर्मणः शाश्वतत्वे क्षयोपशमाद्य-
 भावेन ज्ञानादीनां हानेरुत्कर्षस्य चाभावप्रसङ्गात् । दृश्येते च
 ज्ञानादिहानिवृद्धी । तथा यदुक्तम्-कर्म सदा चीयते अपची-
 यते चेति । तदप्येकान्तशाश्वतत्वे नोपपद्यत इति । यच्चोक्तम्-
 प्रापणात्पूर्वं भाषा, नञेतुत्वात् । तदयुक्तमेव । औपचारिकत्वात् ।
 उपचारस्य च तत्त्वतोऽवस्तुत्वात् । किञ्च । उपचारस्तात्त्विके
 वस्तुनि सानि भवतीति तात्त्विको भाषाऽस्तौति सिद्धम् ।
 यच्चोक्तम्-भाष्यमाणा अभ्याषा, वर्तमानसमयस्याव्यावहा-
 रिकत्वात् । तदप्यसम्यक् । वर्तमानसमयस्यैवास्तित्वेन व्यव-

हाराकृत्यादतीतानागतयोश्च विनष्टानुत्पन्नतया सत्त्वं व्यव-
 हारनङ्गत्वादिति । यच्चोक्तम्-भाषासमयेत्यादि । तदप्यसाधु ।
 भाष्यमाणजायाया अभावे भाषासमय इत्यस्याप्यजिलापस्या-
 भावप्रसङ्गात् । यच्च प्रतिपाद्यस्याभिधेयं प्रत्ययोत्पादकत्वा-
 दिति हेतुः । सोऽनैकान्तिकः । करादिचेष्टानामभिधेयप्रतिपाद-
 कत्वे सत्यपि भाषात्वासिद्धेः । तथा यदुक्तम्-अज्ञापकस्य प्रापति ।
 तदसङ्गततरम् । एवं हि सिद्धस्याचेतनस्य वा प्राप्याप्राप्तिप्रसङ्ग
 इति । एवं क्रियाऽपि वर्तमानकाल एव युक्ता, तस्यैव सत्त्वा-
 दिति । यच्चानन्यासाऽन्यासादिकं कारणमुक्तम् । तच्चनैका-
 न्तिकम् । अनन्यासादावपि यतः काचित्सुखादिरूपैव । तथा यदु-
 क्तम्-अकरणतः क्रिया दुःखेति । तदपि प्रतीतिबाधितम् । यतः
 करणकाश्च एव क्रिया दुःखा वा सुखा वा दृश्यते, न पुनः पूर्वं
 पञ्चाहा ; तदसत्त्वादिति । तथा यदुक्तम्-“ अकिञ्च मित्यादि, यद-
 र्गवादिप्रमताभ्यगात् । तदप्यसाधीयः । यतो यच्चकरणादेव कर्म
 दुःखं सुखं वा स्यात्तदा विविधैहिकपारलौकिकानुष्ठानाभा-
 वप्रसङ्गः स्यात् । अन्युपगतं च किञ्चित्पारलौकिकानुष्ठानं
 तैरपि चेति । एवमेतत्सर्वमज्ञानविजृम्भितम् । उक्तं च वृद्धः-
 “ परतिथियवत्तद्य य, पदमस्य दसमयमि नृदेसे । विज्जं-
 गीणा देसा, मइमेया या वि सा सज्जा ॥ १ ॥ सज्ज-
 यमसज्जुप, जंगा चत्तारि हौनि विज्जंगे । उम्मसत्तायसरिंसे,
 तो धम्मणं ति निदिठं ॥ २ ॥ ” सङ्गते परमाणौ असङ्गतमर्को-
 दि, असङ्गते सर्वगात्मनि सङ्गते चैन्यं, सङ्गते परमाणौ सङ्ग-
 तं निष्पदेशत्वं, असङ्गते सर्वगात्मनि असङ्गतमकर्तृत्वमिति ।
 [अहं पुण गोयमा ! एवमाहंखामि] इत्यादि तु प्रतीतिार्यमेवे-
 ति, नवरं । दोहं परमाणुपोगलाणं अतिथि सिण्हकायत्ति]
 एकस्यापि परमाणोः ज्ञातोऽणस्निग्धरूपक्षस्पर्शानामन्यतरद्विद-
 कं स्पर्शद्वयमेकैवास्ति । ततो द्वयोरपि तयोः स्निग्धत्वज्ञावात्
 स्नेहकायोऽस्त्येव । ततश्च तौ विषमस्नेहात्संहन्येते । इदं च
 परमतानुवृत्त्योक्तम् । अन्यथा कदावापि कृत्स्नवैषम्ये संहन्येते ।
 एवं यदाह-“ समनिज्जाइ वंधो, न होइ समसुखसयाइ वि न
 होइ । येमायसुखनिक्ख-त्तेणेण वंधो उ खंधाणं ” ॥१॥ ति ।
 [खंधे वि य ण से असासयत्ति] उपचयापचयिकत्वाद् । अत
 एवाह-[सया समियमित्यादि] [पुण्णि भासा अभासत्ति] भा-
 प्यत इति भाषा, भाषणाच्च पूर्वं न भाष्यत इति नः भाषेति ।
 [भासिज्जमाणी भासत्ति] शब्दार्थोपपत्तेः । [भासिया अ-
 भासत्ति] शब्दार्थवियोगात् । [पुण्णि किरिया अनुक्खत्ति]
 करणात्पूर्वं क्रियैव नास्तीत्यसत्त्वादेव च न दुःखा, सुखाऽपि
 नासावसत्त्वादेव, केवलं परमतानुवृत्त्या दुःखेत्युक्तम्, जहा भासे
 ति वचनात् । [कज्जमाणी किरिया दुक्खा] सत्त्वादिहापि
 यत्क्रियमाणा क्रिया दुःखेत्युक्तम्, तत्परमतानुवृत्त्यैव । अन्यथा
 सुखाऽपि क्रियमाणैव क्रिया । तथा [किरिया समयवित्तिकं च
 यमित्यादि] दृश्यम् । [किञ्च दुक्खमित्यादि] अनेन च कर्मस-
 ता वेदिता, प्रमाणसिद्धत्वादस्य । तथाहि-इह, यद् द्वयोरेषा श-
 ब्दादिविषयसुखसाधनसमंतयारेकस्य दुःखसङ्गणं फलमन्यसे-
 तरत्, न तद्विशिष्टहेतुमन्तरेण सम्प्राप्यते, कार्यत्वात्, घटवत् ।
 यथासौ विशिष्टो हेतुः सकर्मेति । आह च-“ जो तुल्लासादणणं,
 फले विसेमो ए सो विणा हेउं । कज्जसणओ गोयम !, घमो
 ज्व हेउ य से कम्म ” ॥ १ ॥ भ० १ श० १० उ० ।

[५] [क्रिया] एकस्य जीवस्य एकेन समयेन क्रियाद्वयकरणे-

अम्हे पुढवीं अपेच्चेमाणा अणभिहणमाणा० जाव अणो-
द्वेमाणा, तिविहं तिविहेणं संजय० जाव एगंतपडियाया वि
भवामो !, तुज्जेणं अज्जो ! अप्पणा चेव तिविहं तिविहेणं
असंजय० जाव वालाया वि जवह । तए ए त अस्रउत्थिया
थेरे जगवंते एव वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे ति-
विहं तिविहेणं एगंतवालाया वि जवामो ! तए ए त थेरा
भगवंतो अस्रउत्थिए एवं वयासी-तुज्जेणं अज्जो ! रीयं
रीयमाणा पुढवीं पेच्चेह० जाव उद्वेह । तए ए तुज्ज पुढवीं
पेच्चेमाणा० जाव उद्वेहमाणा तिविहं तिविहेणं० जाव एगं-
तवालाया वि भवह । तए ए त अस्रउत्थिया थेरे जगवंते एवं
वयासी-तुज्जेणं अज्जो ! गममाणे अगए वीइकमिज्जमाणे
अवीइकंते रायगिहं नगरं संपाविउकामे असपत्ते, तए ए त
थेरा भगवंतो ते अस्रउत्थिए एवं वयासी-ना खलु अज्जो !
अम्हे गममाणे अगए वीइकमिज्जमाणे अवीइकंते राय-
गिहं नगरं० जाव असंपत्ते अम्हे ए अज्जो ! गममाणे गए
वीइकमिज्जमाणे वीइकंते रायागहं नगरं संपाविउकामे संप-
त्ते तुज्ज एणं अप्पणा चेव गममाणे अगए विइकमिज्ज-
माणे वीइकंते रायगिहं नगरं० जाव असंपत्ते तए ए त थेरा
भगवंतो अस्रउत्थिए एवं पडिहणंति । एवं पडिहणंता गड-
प्पवायनामं अज्जयणं पणवइसु ।

(तेणमित्यादि) तत्र [अज्जो चि] हे आर्याः ! [तिविहं तिविहेणं
ति] त्रिविधं करणादिकं योगमाश्रित्य त्रिविधेन मनःप्रभृति-
करणेन [अदिणं साइज्जह चि] अवत्तं स्वदद्धे अनुमन्यञ्च
इत्यर्थः । (दिज्जमाणे अदिगणे इत्यादि) दीयमानमदत्तं दीयमा-
नस्य वर्तमानकालत्वाद्दत्तस्य च अतीतकालवर्तित्वाद् वर्तमा-
नातीतयोश्चात्यन्तं भिन्नत्वाद्दीयमानं दत्तं न भवति । दत्तमे-
व दत्तमिति व्यपदिश्यते । एवं प्रतिगृह्यमाणादावपि । तत्र दीय-
मानं दायकापेक्षया, प्रतिगृह्यमाणं ग्राहकापेक्षया, निवृज्यमानं
किप्यमाणं पात्रापेक्षयेति [अंतरे चि] अवसरे । अयमजिप्रायः-
यदि दीयमानं पात्रेऽपतितं स्रद्धं जवाति तदा तस्य दत्तस्य स-
तः पात्रपतनलक्षणं ग्रहणं कृतं जवाति । यदा तु तद्दीयमानमद-
त्तं, तदा पात्रपतनलक्षणं ग्रहणमदत्तस्येति प्राप्तामिति । निग्रन्थो-
त्तरवाक्ये तु- [अम्हे ए अज्जो ! दिज्जमाणे दिगे] इत्यादि यदुक्तं,
तत्र क्रियाकालनिष्ठाकाशयोरभेदाद्दीयमानत्वादेर्दत्तत्वादिसमव-
सेयमिति । अथ दीयमानमदत्तमित्यादेर्भवन्मतत्वाद् यूयमेवा-
संयतत्वादिगुणा इत्यावेदनायाऽन्ययूथिकान्प्रति स्थविराः प्राहुः ।
(तुज्जेणं अज्जो ! अप्पणा चेवेत्यादि) (रीयं रीयमाणं चि) रीतं
गमनं, रीयमाणा गच्छन्तो, गमनं कुर्वाणा इत्यर्थः । [पुढवीं पेच्चेह
चि] पृथिवीं आक्रामयथेत्यर्थः । [अभिहणह चि] पादाभ्यामाभिसु-
क्ष्येन ह्य [वत्तेह चि] पादाजिघातं नैव वर्तयथ, श्लक्ष्णतां न-
यथ । [वेसेह चि] श्लेषयथ, चूर्स्यां श्लिष्टान् कुरुथ । [संघा-
पह चि] संघातयथ, संहतान् कुरुथ । [संघट्टेह चि] संघट्ट-
यथ स्पृशथ । [परितावेह चि] परितापयथ, समन्ताज्जातसन्ता-
पान् कुरुथ । [किलामेह चि] क्लमयथ, मारणान्तिकसमुदांतं
गमयथ इत्यर्थः । [उद्वेह चि] उपरुचयथ, मारयथ इत्यर्थः ।

[कायं व चि] कायं शरीरं प्रतीत्योच्चारादिकायकार्यमित्यर्थः ।
[योगं व चि] योगं ग्लानवैद्यावृत्त्यादिव्यापारं प्रतीत्य [रीयं वा
पहुच्च चि] कृतं सत्यं प्रतीत्याप्कायादिजीवसंरक्षणलक्षणं सं-
यममाश्रित्येत्यर्थः । [देसं देसेणं वयामो चि] प्रभृतायाः पृथिव्या
ये विवक्षिता देशास्तैर्ब्रजामो नाविशेषेणैयोऽसमितिपरायणत्वेन
संचेतने देशपरिहारतोऽचेतने देशैर्ब्रजाम इत्यर्थः । एवं (पदेसं प-
देसेणं वयामो) इत्यापि, नवरं देशो नृमेर्महत्क्षरणम्, प्रदेशस्तु ल-
घुतरमिति । अथोक्तगुणयोगेन नास्माकमिवैषां गमनमस्तीत्य-
मिप्रायतः स्थविरा यूयमेव पृथिव्याक्रमणादितोऽसंयतत्वा-
दिगुणा इति प्रतिपादनायाऽन्ययूथिकान् प्रत्याहुः- [तुज्जे-
णं अज्जो ! इत्यादि] भ० ८ श० ७ उ० ।

प्राग्गमनमाश्रित्य विचारः कृतोऽथ तदेवाश्रित्याऽन्ययूथि-
कमतनिषेधतः स एवोच्यते—

ते एणं काले एणं ते एणं समए णं रायगिहे० जाव पुढवीसि-
खापट्टए तस्स एणं गुणमिद्वस्स चेइयस्स अदूरसामंते वहवे
अस्रउत्थिया परिवसंति । तए एणं समए जगवं महावीरे० जाव
समांसहे० जाव परिसा पडिगया । ते एणं काले एणं ते णं समए
णं समएस्स जगवओ महावीरस्स जेहे अंतवासी इंदंजुई
णामं अणगारे जाव उहं जाणु० जाव विहरइ । तए एणं ते
अस्रउत्थिया जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ । उवाग-
च्छत्ता भगवं गोयमं एवं वयासी-तुज्जेणं अज्जो ! तिविहं
तिविहेणं असंजय० जाव एगंतवालाया वि भवह । तए एणं
भगवं गोयमे ते अस्रउत्थिए एवं वयासी-से केणं कारणे-
णं अज्जो ! अम्हे तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंत-
वालाया वि भवामो ! तए एणं ते अस्रउत्थिया भगवं गोयमं
एवं वयासी-तुज्जेणं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पाणं पेच्चेह,
अजिहणह० जाव उद्वेह । तए एणं तुज्जे पाणे पेच्चेमाणा
जाव उद्वेहमाणा तिविहं० जाव एगंतवालाया वि जवह । तए
एणं जगवं गोयमे ते अस्रउत्थिए एवं वयासी-णो खलु
अज्जो ! अम्हे रीयं रीयमाणा पाणा पेच्चेमो० जाव उद-
वेमो अम्हे एणं अज्जो ! रीयं रीयमाणा कायं च जोयं च
रीयं च पहुच्च दिस्सा पदेस्सा वयामो, तए एणं अम्हे दि-
स्सा २ वयमाणा पदिस्सा ५ वयमाणा एणो पाणे पेच्चेमो०
जाव एणो उद्वेमो, तए एणं अम्हे पाणे अपेच्चेमाणा० जाव
अणोद्वेमाणा तिविहं तिविहेणं० जाव एगंतपडिया वि० जाव
भवामो, तुम्हे एणं अज्जो ! अप्पणो चेव तिविहं तिविहेणं० जाव
एगंतवालाया वि भवह । तए एणं ते अस्रउत्थिया भगवं
गोयमं एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे
तिविहं० जाव वि जवामो ! तए एणं भगवं गोयमे ते
अस्रउत्थिए एवं वयासी-तुम्हे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा
पाणे पेच्चेह० जाव उद्वेह, तए एणं तुम्हे पाणे पेच्चेमाणा०
जाव उद्वेहमाणा तिविहं० जाव एगंतवालाया वि जवह ।
तए एणं जगवं गोयमे ते अस्रउत्थिए एवं पडिहणइ । पडि-

गुणसिद्धयै चेद ए वस्यत्रा० जाव पुढीसिद्धावद्वा तस्म
 यं गुणसिद्धयस्त ए चैद्यस्त अदूरसामते बहवे अस्यउत्थिया
 परिवसन्ति । ते एं समये णं समये जगव महावीरे आदिगरे
 चाव समवसदे जाव परिसा पन्निगया । ते ण कावे एं ते एं
 समए एं समएस्म भगवओ महावीरस्स बहवे अंतवासी
 थेरा जगवंतो जाइसंपत्ता कुलसंपत्ता जहा विइयसए० जाव
 बीवियासा भरणजयपिप्पमुका समएस्म जगवओ महा-
 बीरस्स अदूरसामते उहुंजाण अहो सिरा भाणकोटोव-
 वगया संजयं तवसा अप्पाणं भावेयाणा जाव विदरांत ।
 तए एं ते अएणउत्थिया जेणैव थेरा भगवंतो तेणैव उवा-
 गच्छन्ति । उवागच्छन्तिचा ते थेरे भगवंते एवं वयासी-तुज्जे
 एं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं असंजयअविरयअप्पमिहय
 जहा सत्तमसए विइओ उदेसओ० जाव एगंतवालाया-
 वि जवह । तए णं ते थेरा भगवंतो ते अएणउत्थिए
 एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं ति-
 विहेणं असंजय अविरय० जाव एगंतवालाया वि भवामो ।
 तए णं ते अएणउत्थिया ते थेरे जगवंते एवं वयासी-
 तुज्जे एं अज्जो ! अदिणं गिएहह , अदिणं जुंजह,
 अदिणं साइज्जह, तए एं ते तुज्जे अदिणं गेएहमाणा,
 अदिणं जुंजमाणा, अदिणं साइज्जमाणा, तिविहं तिवि-
 हेणं असंजय अविरय० जाव एगंतवालाया वि जवह । त-
 ए एं ते थेरा जगवंतो ते अएणउत्थिए एवं वयासी-केणं
 कारणेणं अज्जो ! अम्हं अदिणं गेएहामो , अदिणं
 जुंजामो, अदिणं साइज्जामो, तए एं अम्हे अदिणं
 गेएहमाणा० जाव अदिणं साइज्जमाणा, तिविहं तिविहेणं
 असंजय० जाव एगंतवालाया वि जवामो ! तए एं ते अए-
 णउत्थिया ते थेरे जगवंते एवं वयासी-तुज्जे णं अज्जो !
 दिणमाणे अदिणे पन्निगाहिज्जमाणे अपन्निगाहि
 निसिरिज्जमाणे आणिसिद्धे, तुज्जे एं अज्जो ! दिणमा-
 णं पन्निगाहणं असंपत्तं एत्थ एं अंतरा केइ अवहरिज्जा
 गाहावइस्स एं तं मंते ! णो खलु तं तुज्जे तए एं तु-
 ज्जे अदिणं गिएहह० जाव अदिणं साइज्जह, तए एं
 तुज्जे अदिणं गिएहमाणा० जाव एगंतवालाया वि जवह ।
 तए एं ते थेरा जगवंतो ते अएणउत्थिए एवं वयासी-नो
 खलु अज्जो ! अम्हे अदिणं गिएहामो, अदिणं जुं-
 जामो , अदिणं साइज्जामो । अम्हे एं अज्जो ! दिणं
 गिएहामो, दिणं जुंजामो, दिणं साइज्जामो । तए एं अ-
 म्हे दिणं गिएहमाणा, दिणं जुंजमाणा, दिणं साइज्ज-
 माणा तिविहं तिविहेणं संजयविरयपन्निहय जहा सत्तम-
 सए० जाव एगंतपन्नियाया वि जवामो । तए णं ते अएणउ-

त्थिया ते थेरे जगवंते एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो !
 तुज्जे दिणं गिएहह० जाव दिणं साइज्जह । तए एं तु-
 ज्ज दिणं गिएहमाणा० जाव दिणं साइज्जमाणा, एगंतप-
 न्नियाया वि भवह । तए एं ते थेरा जगवंतो ते अएणउ-
 थिए एवं वयासी-अम्हे एं अज्जो ! दिज्जमाणे दिसे
 पन्निगाहेज्जमाणे पन्निगाहि पन्निगिरिज्जमाणे निसिद्धे अ-
 म्हे एं अज्जो ! दिज्जमाणां पन्निगाहणं असंपत्तं , एत्थ
 णं अंतरा केइ अवहरिज्जा अम्हे एं तं नो खलु गाहाव-
 इस्स तए एं अम्हे दिणं गिएहामो , दिणं जुंजामो ,
 दिणं साइज्जामो । तए एं अम्हे दिणं गिएहमाणा०
 जाव दिणं साइज्जमाणा तिविहं तिविहेणं संजय० जाव
 एगंतपन्नियाया वि भवामो; तुज्जे एं अज्जो ! अप्पणा चेव
 तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंतवालाया वि भवह । तए
 एं ते अस्यउत्थिया ते थेरे जगवंते एवं वयासी-केणं कार-
 णेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं जाव एगंतवालाया वि भ-
 वामो ! तए एं ते थेरा जगवंतो ते अस्यउत्थिए एवं व-
 यासी-तुज्जे एं अज्जो ! अदिणं गिएहह , तए एं
 तुज्जे अदिणं गेएहमाणा० जाव एगंतवालाया वि भवह ।
 तए एं ते अस्यउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी-केणं
 कारणेणं अज्जो ! अम्हं अदिणं गिएहामो० जाव एगंत-
 वालाया वि भवामो ! तए एं ते थेरा भगवंतो ते अस्यउ-
 थिए एवं वयासी-तुज्जे एं अज्जो ! दिज्जमाणे अदिसे
 तं चेव० जाव गाहावइस्स णं तं नो खलु तं तुज्जे तए
 एं तुज्जे अदिणं गिएहह । तं चेव० जाव एगंतवालाया
 वि जवह । तए एं ते अस्यउत्थिया थेरे भगवंते एवं वयासी-
 तुज्जे णं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंत-
 वालाया वि भवह । तए एं ते थेरा भगवंतो ते अस्यउत्थिए
 एवं वयासी-केणं कारणेणं अम्हे तिविहं तिविहेणं० जाव
 एगंतवालाया वि जवामो ! तए एं ते अस्यउत्थिया ते थेरे
 भगवंते एवं वयासी-तुज्जे एं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पुढवीं
 पेचेह, अभिहणह, वचेह, लेनेह, संघाएह, संघहेह, परितावेह,
 किद्धामेह, उवहवेह, तए णं तुज्जे पुढवीं पेचेमाणा अजिह-
 णमाणा० जाव उवहवेमाणा तिविहं तिविहेणं असंजयअ-
 विरय० जाव एगंतवालाया वि भवह । तए एं ते थेरा
 जगवंतो ! ते अस्यउत्थिए एवं वयासी-नो खलु अज्जो !
 अम्हे रीयं रीयमाणा पुढवीं पेचेमो अभिहणामो० जाव उव-
 हवेमो ; अम्हे एं अज्जो ! रीयं रीयमाणा कार्यं वा जोगं वा
 रीयं वा पडुच्च देसं देसेणं वयामो, पदेसं पदेसेणं वयामो,
 तेणं अम्हे देसं देसेणं वयमाणा पदेसं पदेसेणं वयमाणा,
 नो पुढवीं पेचेमो अजिहणामो० जाव उवहवेमो, तए एं

अस्रउत्थिया एं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवंति-
एवं खलु पाणाइवाए मुसावाए० जाव मिच्छादंसणसद्धे
वट्टमाणस्स अस्से जीवे अस्से जीवाया पाणाइवायवेरमणे०
जाव परिग्गहवेरमणे कोहविवेगे० जाव मिच्छादंसणसद्ध-
विवेगे वट्टमाणस्स अस्से जीवे अस्से जीवाया उप्पत्तियाए०
जाव पारणाभियाए वट्टमाणस्स अस्से जीवे अस्से जीवाया
अग्गहे ईहा अवाए वट्टमाणस्स० जाव जीवाया उट्ठाणे०
जाव परक्कमे वट्टमाणस्स० जाव जीवाया खेरइयचे तिरि-
क्खमाणस्स देवत्ते वट्टमाणस्स० जाव जीवाया खाणा-
वरणिज्जे० जाव अंतराइये वट्टमाणस्स० जाव जीवाया,
एवं कएहलेस्साए० जाव सुक्खेस्साए सम्मादिट्ठीए ३,
एवं चक्खुइंसणे ४ आभिणिबोहियणाणे ५ मइअण्णा-
णे ३ आहारसएणाए ४ एवं ओरालियसरीरे ५, एवं
मणजोए ३, सागरोवओगे अण्णागारोवओगे वट्टमाणस्स
अएणे जीवे अएणे जीवाया, से कहमेयं जंते ! एवं ? ।
गोयमा ! जएणं ते अएणउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव
मिच्छं ते एवमाइंसु । अइं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि०
जाव परूवेमि-एवं खलु पाणाइवाए० जाव मिच्छादंसणस-
द्धे वट्टमाणस्स सच्चैव जीवे सच्चैव जीवाया० जाव अण्णा-
गारोवओगे वट्टमाणस्स सच्चैव जीवे सच्चैव जीवाया ।

अन्ययूथिकप्रक्रमदेवेदमाइ—(अस्रउत्थिया णमित्थादि)
प्राणातिपातादिषु वर्तमानस्य देहिनः (अस्से जीव ति) जी-
वति प्राणाद् धारयतीति जीवः, शरीरं प्रकृतिरित्यर्थः । स-
च्चान्यो व्यतिरिक्त अन्यो जीवस्य देहस्य सम्बन्धी अधिष्ठा-
तृत्वादात्मा जीवात्मा, पुरुष इत्यर्थः । अन्यत्वं च तयोः पुद्गला-
पुद्गलस्वभावत्वात् । ततश्च शरीरस्य प्राणातिपातदिषु वर्तमा-
नस्य दृश्यमानत्वात् । शरीरमेव तत्कर्तृ, न पुनरात्मैत्येके । अ-
न्ये त्वाहुः-जीवतीति जीवो नाकरादिपर्यायः, जीवात्मा तु स-
र्वभेदानुगामि जीवस्त्वयं द्रव्यपर्याययोश्चान्यत्वम्, तथाविधप्र-
तिभासभेदनिबन्धनत्वात्, घटपटादिवत् । तथाहि-रूपमनुग-
ताकारां बुक्तिं जनयति, पर्यायास्त्वननुगताकारमिति । अन्ये
त्वाहुः-अन्यो जीवोऽन्यश्च जीवात्मा जीवस्यैव स्वरूपमिति ।
प्राणातिपातादिविविक्तक्रियाभिधानं चेह सर्वावस्थासु जीवजी-
वात्मनोर्भेदव्यापनार्थमिति परमतम् । स्वमतं तु—(सच्चैव जीवे
सच्चैव जीवाय ति) स एव जीवः शरीरं स एव जीवात्मा जीव
इत्यर्थः, कथञ्चिदिति गम्यम् । नह्यनयोरत्यन्तं भेदः, अत्यन्तभेदे
देहेन स्पृष्टस्यासंवेदनप्रसङ्गो देहकृतस्य च कर्मणो जन्मान्तरे
वेदनाभावप्रसङ्गः । अन्यकृतस्यान्यसंवेदने चाकृताच्यागमप्रस-
ङ्गोत्पन्नम्, अनेदे च परलोकाभाव इति । रूपपर्यायव्याख्या-
नेऽपि न रूपपर्याययोरत्यन्तभेदस्तथानुपपद्यते । यश्च प्रति-
भासभेदो नासावात्यन्तिकतद्भेदकृतः, किन्तु पदार्थानामेव तुल्या-
तुल्यरूपकृत इति जीवात्मा जीवस्वरूपम् । इह तु व्याख्याने
स्वरूपयतो न स्वरूपमत्यन्तं भिन्नं, भेदे हि निःस्वरूपता तस्य
प्राप्नोति । नच शब्दभेदे वस्तुनो भेदोऽस्ति, शिलापुत्र-
कस्य वपुरित्यादाविवेति ॥ म० १७ श० २ उ० ।

(९) [परिचारणा] परिचारणा काव्यगतस्य निर्ग्रन्थस्य—

अस्रउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति, पप्पवेति, परूवेति-
एवं खलु नियंतकालगए समाणे देवञ्जएणं अप्पाणएणं
से णं तत्थ नो अस्रदेवे नो अस्सेति देवाणं देवीओ अ-
भिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, एणे अप्पणिच्चियाओ
देवीओ अजिजुंजिय अजिजुंजिय परियारेइ, अप्पणामेव
अप्पाणं विजब्बिय २ परियारेइ; एगे वि य एं जीवे एगं-
णं समएणं दो वेदे वेदेइ । तं जहा-इत्थिवेयं च पुरिसवेयं
च । एवं अस्रउत्थियवत्तव्याण्यव्वा० जाव इत्थिवेयं च
पुरिसवेयं च स कहमेयं जंते ! एवं ? । गोयमा ! जसं ते अस्र-
उत्थिया एवमाइक्खंति० जाव इत्थिवेयं च पुरिसवेयं य ।
जंते एवमाइंसु, मिच्छा ते एवमाइंसु । अइं पुण गोयमा !
एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-एवं खलु नियंते कालगए
समाणे अन्नयेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो जवंति,
महिट्ठिएसु० जाव माणुभागेसु दूरंगतीसु चिरट्ठितीसु से णं
तत्थ देवे जवइ महिट्ठिए० जाव दस दिसाओ उज्जावेमाणे
पन्नासेमाणे० जाव पडिक्खे, से णं तत्थ अएणे देवे अस्सेति
देवाणं देवीओ अजिजुंजिय २ परियारेइ, अप्पणिच्चि-
याओ देवीओ अजिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, नो
अप्पणामेव अप्पाणं वेजब्बियं परियारेइ, एगे वि य णं जीवे
एगेणं समएणं एगं वेदं वेदेइ । तं जहा-इत्थिवेदं वा पुरि-
सवेदं वा । जं समयं इत्थिवेदं वेदेइ एणे तं समयं पुरिसवेदं
वेदेइ, जं समयं पुरिसवेदं वेदेइ एणे तं समयं इत्थिवेयं
वेइ । इत्थिवेयस्स उदएणं नो पुरिसवेदं वेदेइ, पुरिसवेयस्स
उदएणं नो इत्थिवेयं वेइ । एवं खलु एगे जीवे एगेणं सम-
एणं एगं वेदं वेदेइ । तं जहा-इत्थिवेदं वा पुरिसवेदं वा ।
इत्थी इत्थिवेएणं उदिसेणं पुरिसं पत्थेइ, पुरिसो पुरिस-
वेदेण उदिसेणं इत्थि पत्थेइ । दो वेए अस्समं पत्थेइ ।
तं जहा-इत्थी वा पुरिसं, पुरिसो वा इत्थिं ॥

(अस्रउत्थिए इत्यादि) (देवञ्जएणं ति) देवज्ञतेन आत्मना का-
रणज्ञतेन नो परिचारयतीति योगः (सेणं ति) असौ निर्ग्रन्थदेवस्त-
त्र देवलोके नो नैव (अस्र ति) अन्यान् आत्मव्यतिरिक्तान् देवान्
सुरान्, तथा नो अन्येषां देवानां संबन्धिनीर्देवीः (अजिजुंजिय
ति) अभियुज्य वशीकृत्य आगच्छन् वा परिचारयति परिमुञ्जे
(एणे अप्पणिच्चियाओ ति) आत्मीया (अप्पणामेव अप्पाणं विज-
ब्बिय ति) स्त्रीपुरुषरूपतया विकृत्य । एवं च स्थिते (एगे वि य
णमित्यादि परउत्थियवत्तव्याण्यव्वा ति) एवं चेयं ज्ञातव्या-
“जं समयं इत्थिवेयं वेइ तं समयं पुरिसवेयं वेइ, जं समयं
पुरिसवेयं वेइ तं समयं इत्थिवेयं वेइ, इत्थिवेयस्स वे-
यणयाए पुरिसवेयं वेइ पुरिसवेयस्स वेयणयाए इत्थिवेयं
वेइ, एवं खलु एगे वि य णमित्यादि” मिथ्यात्वं चैवामेवम्-स्त्री-
रूपकरणेऽपि तस्य देवस्य पुरुषत्वात्पुरुषवेदस्यैवैकत्र समये
उद्यो न स्त्रीवेदस्य, वेदपरिवृत्त्या वा स्त्रीवेदस्यैव न पुरुषवेद-
इत्योदयः; परस्परविरुद्धत्वादिति । [देवलोएसु ति] देवजनेषु

इणइत्ता जेणव समणं जगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ ।
उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ एणंसइ णच्चा-
सखे जाव पज्जुवासइ गोयमादि मणणे भगवं महावीरे
भगवं गोयमं एवं वयासी—मुट्ठु ण तुम्ह गोयमा ! ते अण-
उत्थिए एवं वयासी—साहु णं तुमं गोयमा ! ते अणउ-
त्थिए एवं वयासी—अत्थिए णं गोयमा ! ममं वहवे अंतेवासी
समणा णिगंथा उउमत्था जे एं एो पजू एय वागराणं वा-
गरेत्तए जहा एं तुमं तं मुट्ठु णं तुमं गोयमा ! ते अणउ-
त्थिए एवं वयासी—साहु णं तुमं गोयमा ! ते अणउत्थिए
एवं वयासी ॥

[पेखेइ चि] आकामथ (कार्यं च चि) देहं प्रतीत्य यजाम
इति योगः देहश्चेकमनश्को भवति, तदा यजामो नान्यथा, अ-
श्वशकटादिनेत्यर्थः । योगं च संयमव्यापारं ज्ञानाद्युपपन्नकम,
प्रयोजनं निष्ठाऽटनादि न तं विनेत्यर्थः [रीयं च चि] गमनं च
अत्वरितादिकं गमनविशेषं प्रतीत्याश्रित्य कथमित्याह—[दिस्सा
दिस्स चि] इत्था इत्था । [पदिस्सा पदिस्स चि] प्रकरणे इत्था
इत्था । ॥ १० ॥ १८ ॥ २० ॥

(७) भगवानां कृता क्रिया क्रियेत—
न वा ? इत्यत्र विवादः—

अष्टउत्थिया णं जेत ! एवमाइक्खइ, एवं भासेइ, एवं
परुवेइ—कहणं समणा एं निगंथा एं किरिया कज्जंति ?
तत्थ जा सा कमा कज्जइ एो तं पुच्छंति ? । तत्थ जा सा
कडा एो कज्जइ एो तं पुच्छंति २ । तत्थ जा सा अकमा
कज्जइ तं पुच्छंति ३ । तत्थ जा सा अकडा एो कज्जइ एो
तं पुच्छंति ४ । से एवं वत्तवं सिया अक्खिं दुक्खं अफुत्तं
दुक्खं अक्खज्जमाणकं दुक्खं अकट्टु अकट्टु पाणा जूया
जीवा सत्तावेयणं वेयंति, वत्तवं जे ते एवमाइसु । ते मिच्छा ।
अइ पुण एवमाइक्खामि, एवं जासामि, एवं पन्नवेमि, एवं
परुवेमि—किं दुक्खं किज्जमाणं कं दुक्खं कट्टु कट्टु पाणा
जूया जीवा सत्तावेयणं वेयंति चि वत्तवंसिया ॥

“अष्टउत्थियेत्यादि” प्रायः स्पष्टम्, किन्त्यन्यतीर्थिका इह ताप-
सा विजङ्गमानवन्त एवं वक्ष्यमाणप्रकारमाख्यान्ति सामान्यतो
भाषन्ते, विशेषतः क्रमेणैतदेव प्रज्ञापयन्ति प्रकथयन्तीति
पर्यायरूपपदद्वयेनोक्तमिति । अथवाऽऽख्यान्तीपञ्चापन्ते, व्यक-
तः पञ्चापयन्ति, उपपत्तिमिबोधयन्ति प्रकथयन्ति प्रज्ञे-
दिकथनत इति । किं तादित्याह—कथं केन प्रकारेण भगवानां
निर्ग्रन्थानां मत इति शेषः । क्रियत इति क्रिया कर्म, सा
क्रियते भवति दुःखायेति विवक्षेति प्रश्नः । इह स्वत्वारो भङ्गाः
तद्यथा—कृता क्रियते विहितं सत्कर्म दुःखाय भवतीत्यर्थः १ ।
एवं कृता न क्रियते २, अकृता क्रियते ३, अकृता न क्रियत
इति ४ । एतेष्वनेन प्रश्नेन यो भङ्गः प्रष्टुमिष्टं शेषभङ्गनि-
राकरणपूर्वकमभिधानुमाह—[तत्थ चि] तेषु चतुर्षु भङ्गकेषु म-
ध्ये प्रथमं द्वितीयं चतुर्थं च न पुच्छन्ति । एतन्नयस्यात्यन्तस्वेरेवि-

पयतया तत्प्रवृत्त्याप्यप्रवृत्तेरिति । तथाहि—याऽसौ कृता क्रि-
यते यत्तत्कर्म कृतं न भवति नो तत् पुच्छन्ति, अत्यन्तविरोधे-
नासम्भवात् । तथाहि—कृतं चेत्कर्म कथं न भवतीति ? उच्यते ।
न भवति चेत्कथं कृतं तदिति, कृतस्य कर्मणोऽजघनाभावात् ।
तत्र तेषु याऽसावकृता यत्तदकृतं कर्म नो क्रियते न भवति
नो तां पुच्छन्ति अकृतश्चासतश्च कर्मणः स्वरविषाणकल्पत्वा-
दिति । अमुमेव च भङ्गत्रयं निषेधमाश्रित्यास्य सूत्रस्य त्रिस्था-
नकावतार इति संज्ञायते । तृतीयभङ्गकस्तु तत्सम्मत इति
तं पुच्छन्ति । अत एवाह—तत्र यासावकृता क्रियते यत्तदकृतं पु-
र्वमविहितं कर्म भवति दुःखाय सम्पद्यते, तां पुच्छन्ति पूर्वका-
वृत्तत्वस्याप्रत्यक्षतया । ऽसत्त्वेन दुःखानुभूतेश्च प्रत्यक्षतया स-
त्त्वेनाकृतकर्मभवनपक्षस्यासम्मतत्वादिति । पुच्छतां चायमभि-
प्रायः—यदि निर्ग्रन्था अपि अकृतमेव कर्म दुःखाय देहिनां भव-
तीति प्रतिपद्यन्ते, ततः स्पष्टं शोभनं अस्मत्समानबोधत्वादिति ।
शेषाच्च पुच्छन्तस्तृतीयमेव पुच्छन्तीति भावः । [सेचि] अयं
तेषामकृतकर्मभ्युपगमवतामेव वक्ष्यमाणप्रकारं वक्तव्यमुद्धापः
स्यात् । त एव वा एवमाख्यान्ति परान् प्रति यदुत अथैवं व-
क्तव्यं प्रकथनीयं तत्त्ववादिनां स्याद्भवेत्, अकृते सति कर्म-
णि दुःखानाभावात् । अकृत्यमकरणीयमन्यनीयमप्राप्तव्यमना-
गते काले जीयानामित्यर्थः । किं दुःखं ? दुःखदेतुत्वात्कर्म [अ-
कुलंति] अस्पृश्यं कर्माकृतत्वादेव, तथा क्रियमाणं च वर्तमान-
काले यथ्यमानं कृतं वाऽतीतकाले यच्च क्रियमाणम् । द्वन्द्वकत्वं,
कर्मधारयो वा । न क्रियमाणकृतमक्रियमाणकृतम् । किं तद्, दुःख-
म् ? “अकिञ्च दुक्खमित्यादि” पदत्रयं [तत्थ जा सा अकमा
कज्जइ] तं पुच्छतीत्यन्यतीर्थिकमताश्रितं कालत्रयात्म्यनमा-
श्रित्य त्रिस्थानकावतारोऽस्य रूपव्यः । किमुक्तं प्रवर्तीत्याह—
अकृत्या अकृत्या कर्म । प्राणा द्वीन्द्रियादयः, चूतास्तरवः, जीवाः
पञ्चेन्द्रियाः, सत्त्वाः पृथिव्यादयः । यथोक्तम्—“प्राणा द्वि-
चतुःश्रोताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया देयाः,
शेपाः सत्या इतीरिताः ” ॥ १ ॥ वेदनां पीनां वेदन्यतीति व-
क्तव्यमित्यर्थं तेषामुद्धापः । एतद्वा ते अज्ञानोपहतबुद्धयो प्राप-
न्ते परान् प्रति यदुत एवं वक्तव्यं स्यादिति प्रकम् । एवमन्यती-
र्थिकमतमुपदर्श्य निराकुर्वन्वाह—[जे ते इत्यादि] य एते अ-
न्यतीर्थिका एवमुक्तप्रकारमाहुः [सति] उक्तवन्तो मिथ्या अस-
म्भ्रुकतेऽन्यतीर्थिका एवमुक्तवन्तः, अकृतायाः क्रियात्वानुपपत्तेः ।
क्रियते इति क्रिया यस्यास्तु कथञ्चनानपि करणं नास्ति सा कथं
क्रियेति ? अकृतकर्मानुभवने इह वदमुक्तसुखिनः सुखितादिनि-
यतव्यवहाराज्ञाप्रसङ्ग इति स्वमतमाविष्कुर्वन्वाह—[अह-
मित्यादि] अहमित्यहमेव नान्यतीर्थिकाः, पुनःशब्दो विशेष-
णार्थः । स च पूर्ववाक्याद्योदुत्तरवाक्याथस्य विलक्षणतामाह—
[एवमाइक्खामीत्यादि] पूर्ववत् । कृत्यं करणीयमनागतकाले
दुःखं तदेतत्त्वात्, कर्म स्पृश्यं स्पृष्टलक्षणवन्धावस्थायोग्यम्, क्रि-
यमाणं वर्तमानकाले कृतमतीते अकरणं नास्ति कर्मणः कथञ्च-
नापीति भावः । स्वमतसर्वस्वमाह—कृता कृत्वा, कर्मेति गम्यते ।
प्राणादयो वेदनां कर्मकृतशुभाशुभानुभूतिं वेदन्यन्त्यनुप्रयन्तीति
वक्तव्यं स्यात्सम्यग्वादिनाम् । स्था ३ डा ७ १ उ ० ।

[जीवजीवात्मानौ] (तत्र अतीन्द्रियस्य जीवस्य सिद्धिं ‘मनुक’
शब्दे मरुका करिष्यते)

(८) प्राणातिपातादौ तद्विरमणादौ च वर्तमानस्यान्यो जी-
वोऽन्यो जीवात्मेति विप्रतिपत्तिः—

(एवंभूयं वेयणं ति) यथाविधं कर्म निबन्धमेवंभूतामेवंप्रकार-
रतयोत्पन्ना वेदनामसातादिकर्मोदयं वेदयन्त्यनुभवन्ति । मि-
थ्यात्वं चैतद्वादिनामेवमन-हि यथा वदन् तथैव सर्वं कर्माऽनुभू-
यते, आद्युः कर्मणो व्यभिचारात् । तथाहि-दीर्घकाष्ठानुभवनी-
यस्याप्याद्युःकर्मणोऽप्यपीयसाऽपि कालेनानुभवो भवति, कथम-
न्यथाऽल्पमृत्युव्यपदेशः सर्वजनप्रसिद्धः स्यात् । कथं वा महा-
संयुगादौ जीवन्मृताणामप्येकदैवमृत्युरुपपद्येतेति । [अणोवच्यं
पिं चि] यथा वरुं कर्म नैवमृताऽनेवमृता, अतस्ताम् । भूयन्ते
ज्ञानमे-कर्मणः स्थितिघातरसञ्जातादय इति ॥ म० ५ श० ५ उ० ।

अण्डतथिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेति-
एवं खलु सव्वे पाणा जूया जीवा सत्ता एगंतदुक्खं वे-
यणं वेयंति, से कहमेयं भंते ! एवं ? गोयमा ! जएणं ते
अण्डतथिया० जाव मिच्छं ते एवमाइंसु । अइं पुण गोयमा !
एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-अत्थेगइया पाणाजूया
जीवा सत्ता एगंतदुक्खं वेयणं वेयंति । आहच्च सायं अत्थे-
गइया पाणा जूया जीवा सत्ता एगंतं सायं वेयणं वेयंति,
आहच्च असायं वेयणं वेयंति, अत्थेगइया पाणा ४ वेमायाए
वेयणं वेयंति, आहच्च सायमसायं से केण्डे णं ? गोयमा !
नेरइया णं एगंतदुक्खं वेयणं वेयंति, आहच्च सायं भवणवइ-
बाणमंतरजोइमवेमाणिया एगंतं सायं वेयंति, आहच्च असा-
यं पुढविकाइया० जाव मणुस्सा वेमायाए वेयंति, आहच्च
सायमसायं , से तेण्डे णं ॥

(अण्डतथियेत्यादि) (आहच्च सायं ति) कदाचित्सातां वे-
दनाम् । कथमिति ? उच्यते-“उववापण च सायं, नेरइओ देवक-
म्मुणा वा वि” । (आहच्च असायं ति) देवा आहननप्रियविप्रयो-
गादिष्वसातां वेदनां वेदयन्तीति । (वेमाया य चि) विविधया
मात्रया कदाचित्सातां, कदाचिदसातामित्यर्थः । ज० ६
श० १० उ० ।

(१४) [शीलम्] शीलं भेयः , श्रुतं भेय इत्यत्रान्ययुक्तैः

सह विवादः—

रायगिहे० जाव एवं वयासी-अण्डतथिया णं भंते ! एव-
माइक्खंति० जाव परूवेति-एवं खलु शीलं सेयं, सुयं सेयं,
सुयं शीलं सेयं, से कहमेयं जंते ! एवं ? गोयमा ! जं णं ते
अण्डतथिया एवमाइक्खंति० जाव-जे ते एवमाइंसु, मिच्छा
ते एवमाइंसु । अइं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि०
जाव परूवेमि-एवं खलु मए चचारि पुरिसजाया पषत्ता ।
तं जहा-शीलसंपषे नाम एगे नो सुयसंपषे ? । सुयसंपषे
नाम एगे नो शीलसंपषे ? । एगे शीलसंपषे वि सुयसंपषे
वि ? । एगे नो शीलसंपषे नो सुयसंपषे ॥ तत्थ णं जे से
पढमे पुरिसजाए, से णं पुरिसे सीलव अमुयवं उवरए
अविषायधम्मे । एस णं गोयमा ! मए पुरिसे देसाराहए पष-
त्ते ? । तत्थ णं जे से दोवे पुरिसजाए, से णं पुरिसे असी-

लवं सुतवं अण्डवरए विणायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए
पुरिसे देसविराहए पणत्ते ? । तत्थ णं जे से तच्चे पुरिस-
जाए से णं पुरिसे सीलवं सुतवं उवरए विणायधम्मे, एस
णं गोयमा ! मए पुरिसे सव्वाराहए पणत्ते ? । तत्थ णं
जे से चउत्थे पुरिसजाए, से णं पुरिसे असीलवं असु-
तवं अण्डवरए अविणायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए-
पुरिसे सव्वविराहए पणत्ते ।

अस्य चूर्ण्यनुसारेण व्याख्या-एवं लोकसिद्ध्यर्थेन खलु
निश्चयेन इहाऽन्ययुक्तिकाः केचित्क्रियामात्रादेवाऽमीष्टाऽर्थसि-
द्धिमिच्छन्ति । न च किञ्चिदपि ज्ञानेन प्रयोजनं, निश्चेष्टत्वात् ;
घटादिकरणप्रवृत्तावाकाशादिपदार्थवत् । पठ्यते च-“क्रियैध
फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीमध्यमोगङ्गा, न
ज्ञानात्सुखितो भवेत् ” । १ । तथा-“जहा खरो चंदणजारवाही,
भारस्स जागी न हु चंदणस्स । एवं खु नाणी चरणेण हीणा,
नाणस्स जागी न हु समगइए” । १ । अतस्ते प्ररूपयन्ति-शीलं भे-
यः प्राणातिपातादिविरमण्यनानाध्ययनादिरूपा क्रियैव भेयोऽति-
शयेन प्रशस्यं, स्थाव्यपुरुषार्थसाधकत्वाच्चेयं वा समाधयणीयं
पुरुषार्थविशेषार्थिना । अन्ये तु ज्ञानादेवेष्टार्थसिद्धिमिच्छन्ति, न
क्रियातः, ज्ञानविकलस्य क्रियावतोऽपि फलसिद्धदर्शनात् । अ-
धीयते च-“विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता । मिथ्या-
ज्ञानात्प्रवृत्तस्य, फलसंवादादर्शनात् ” ॥ १ ॥ तथा-“पढमं नाणं
तवोदया, एवं चिहं सव्वसंजए । अस्साणी किं काही किं वा, नाहो
वेयपाचयं ” ॥ १ ॥ अतस्ते प्ररूपयन्ति-श्रुतं भेयः, श्रुतं श्रुतज्ञा-
नं तदेव भेयोऽतिप्रशस्यमाधयणीयं वा, पुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वा-
त् ; न तु शीलमिति । अन्ये तु ज्ञानक्रियाभ्यामन्योन्यनिरपेक्षा-
न्यां फलमिच्छन्ति । ज्ञानं क्रियाविकलमेवोपसर्जनीभूतक्रियं वा
फलदम् । क्रियाऽपि ज्ञानविकला उपसर्जनीभूतज्ञाना वा फलदे-
ति भावः । भण्यते च-“किञ्चिद्वेदमयं पात्रं, किञ्चित्पात्रं तपोम-
यम् । आगमिष्यति यत्पात्रं, तत्पात्रं तारयिष्यति ” ॥ १ ॥ अत-
स्ते प्ररूपयन्ति-श्रुतं भेयः, तथा शीलं भेयः, द्वयोरपि प्रत्येकं पुरु-
षस्य पवित्रतानिवन्धनत्वादिति । अन्ये तु व्याचकृते-शीलं भे-
यस्तावन्मुख्यवृत्त्या, तथा श्रुतं भेयः, श्रुतमपि भेयो, गौणवृत्त्या
तदुपकारित्वादित्यर्थः, इत्येकीयं मतम् । अन्यदीयमतं तु श्रुतं
भेयस्तावत् । तथा शीलमपि भेयो, गौणवृत्त्या तदुपकारित्वादि-
त्यर्थः । अयं चार्थ इह सूत्रे काकुपागल्लभ्यते । एतस्य च प्रथ-
मव्याख्यानेऽन्ययुक्तिकमतस्य मिथ्यात्वं, पूर्वोक्तपक्षत्रयस्यापि फ-
लसिद्धावनङ्गत्वात्, समुदायपक्षस्यैव च फलसिद्धिकारणत्वात् ।
आह च-“नाणं पयासयंसो, इओ तवो संजमो य गुत्तिकरो ।
तिहं पि समाओगो, मोक्खो जिणसासणे भणिमो ” ॥ १ ॥
तपःसंयमौ च शीलमेव । तथा-“संजोगसिद्धीं फलं व-
यंति, न हु एगचकेण रहो पयाइ । अंधो य पंगू य वणे स-
मिच्छा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ” ॥ १ ॥ चि । द्वितीयव्याख्यान-
पक्षेऽपि मिथ्यात्वं, संयोगतः फलसिद्धेर्दृष्टत्वादेकैस्य प्रधानेत-
रविवक्षाया असङ्गतत्वादिति । अहं पुनर्गौतम ! एवमाख्यामि,
यावत्प्ररूपयामीत्यत्र श्रुतयुक्तं शीलं भेय इत्येतावान् वाक्यशेषो
द्वयः । अथ कस्मादेवमत्रोच्यते-[एवमित्यादि] एवं वक्ष्यमा-
णन्यायेन [पुरिसजायं चि] पुरुषप्रकाराः [सीलव अमुयवं चि]
कोऽर्थः ? [उवरए अविषायधम्मे चि] उपरतो निवृत्तः खलुक्खा

मध्ये [उवचत्तारो जयंति चि] प्राकृतशैल्या उपपत्ता भवती-
ति दृश्यम् । “महिद्विप” इत्यत्र यावत् करणादिर्दृश्यम्-“मह-
ज्जुइए महायले महाजले महासोपसे महाखुभागे हारविराड्-
यवत्थे कम्पयुत्थियंभियभूए ” । बुडिका वादुरकिंका [अंग-
यकुंलमडुगंरुक्कणीठधारी] अङ्गदानि बाह्यभरणविशेषान्,
कुण्डलानि कर्णभरणविशेषान्, मृगगण्डानि चोद्धितकपो-
लानि, कर्णपोडानि कर्णभरणविशेषान्, धारयतीत्येवं शीलौ यः
स तथा । [विचित्रहत्थाजरणे विचित्रमात्रामउत्थिमउने] वि-
चित्रमाला च कुसुममृक्क मौडो मस्तके मुकुटं च यस्य स त-
था, इत्यादि यावत् । [रिक्कीए जुईए पजाए गायए अथीए ते-
ए णं वेस्साए दस दिसाओ उज्जाएमाणे चि] नत्र ऋद्धिः परि-
वारादिका, युतिरिष्टाधेसंयोगः, प्रभा पानादिद्विस्तः, गायो ज्ञाना,
अर्चिः शरीरस्पर्शनदिनेजोअभावा, तेजः शरीरपोचि, लक्ष्या दे-
हवर्णः, एकार्थविते । उद्दोशेतयन्त्रकाशकरणेन [पजासेमाणे
चि] प्रजासयन् शोनयन् इह यावत्करणादिर्दृश्यम्- [पा-
साइए] रूपणां चित्तप्रसादजनकः [दरसणिज्जे य] पश्यन्नु-
भं आभयति [अभिरुवे] मनोऋक्कः [पभिरुवे चि] ऊष्टारं द्र-
ष्टारं प्रति रूपं यस्य स तथेति । एकेनैकदा एक एव वेदो वेद्यत ।
इह कारणमाह- [इत्थी इत्थीवेएणमित्यादि] भ० २ श० ५ उ० ।

(१०) बाह्यपणिरुतते—

अस्रउत्थिया णं जंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवे-
ति-एवं खलु समणा पंडिया समणोवासगा बालपंनिया ।
जस्स णं एगपाणाए वि दंने अणिकित्ते, से णं एगंतवा-
ले चि वत्तव्वं सिया, से कहमेयं जंते ! एवं ? गोयमा ! जं णं
ते अस्रउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव वत्तव्वं सिया, जे ते
एवमाइंहु, मिच्छं ते एवमाइंसु । अइं पुण गोयमा ! ० जाव
परूवेमि-एवं खलु समणा पंडिया समणोवासगा बाल-
पंनिया, जस्स णं एगपाणे वि दंने णिकित्ते, से णं णो
एगंतवाले चि वत्तव्वं सिया ॥

एतत्किञ्च पक्कद्वयं जिनाजिमतमेवानुवादपरतयोक्त्वा च्छितीयप-
कं दूयन्तस्ते इदं प्रज्ञापयन्ति- (जस्स णं एगपाणाए वि दंने-
इत्यादि) [जस्स चि] येन देहिना एकप्राणिन्यध्यैकत्रापि जीवे
सापराधादी, पृथिवीकायिकादौ वा किं पुनर्यदुपु दपणे वधः ।
[अणिकित्ते चि] अनिकितोऽनुज्जितोऽप्रत्याख्यातो भवति ।
स एकान्तवाले इति वक्तव्यः स्यात् । एवं च अमणोपासका एका-
न्तवादा एव न बाह्यपणिरुता, एकान्तवाद्यव्यपदेशनिवन्धनस्यासर्व-
प्राणिदेहप्रत्यागम्य भावादिति परममम् । स्वमतं तु-एकप्राणिन्य-
पि येन देहपरिहारः कृतोऽसौ नैकान्तेन बाह्यः, किं तर्हि ? बाह्य-
पणिरुतः, विरत्यंशसद्भावेन मिश्रत्वात्तस्य । एतदेवाह- (जस्स णं-
मित्यादि) एतदेव बालत्वादिजीवादिषु निरूपयन्नाह- (जीवाण-
मित्यादि) प्राणुजानां संयतादीनामिहोक्तानां च पणिरुतादीनां
यद्यपि शब्द एव भेदो नार्थतस्तथापि संयतत्वादिव्यपदेशः
क्रियाव्यपेक्षा, पण्डितत्वादिव्यपदेशस्तु बोधविशेषापेक्ष इति ।
ज० १७ श० २ उ० ।

(११) ज्ञाप-—

रायगिहे० जाव एवं वयामी-अस्रउत्थिया णं भंते ! एव-
माइक्खंति० जाव परूवेति-एवं खलु केवली जक्खाएसेणं

आइस्संति । एवं खलु केवली जक्खाएसेणं आइहे सयाणे
आइच्च दो भासाओ भासइ । तं जहा-भोसं वा, सच्चाभोसं
वा, से कहमेयं जंते ! एवं ? गोयमा ! जं णं ते अणउ-
त्थिया० जाव जं णं एवमाइंसु, मिच्छं ते एवमाइंसु । अइं पुण
गोयमा ! एवमाइक्खामि०-णो खलु केवली जक्खाएसेणं
आदिस्सइ, णो खलु केवली जक्खाएसेणं आइहे सयाणे
आइच्च दो भासाओ भासइ । तं जहा-भोसं वा, सच्चाभोसं
वा, केवली णं असावज्जाओ अपरोवघाइयाओ आइच्च दो
भासाओ भासइ । तं जहा-सच्चं वा असच्चाभोसं वा ॥

(जक्खाएसेणं आइस्सइ चि) देवादेशेनाविद्यतेऽधिष्ठीयत
इति [नो खलु इत्यादि] नो खलु केवली यक्कावेशेनाविद्यते
ऽनन्तवीर्यत्वात्तस्य । (अथाइहि चि) अन्याविष्टः परवशीकृतः स-
त्यादिभाषाद्वयं च ज्ञापमाणः केवली उपधिप्रग्रहमणिधानादिकं
विविधं वस्तु ज्ञापत इति । भ० १८ श० ७ उ० ।

(१२) [मनुष्यलोकोः] पञ्चयोजनशतानि मनुष्यलोको
मनुष्यवृक्षसमाकीर्णः—

अस्रउत्थिया णं जंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेति-से
जहा नामए जुवई जुवाणे हत्थेणं हत्थं गेयहज्जा, चक्कस्स वा
नाभी अरगाउत्तासिया, एवामेव चत्तारि पंच जोयणसयाई
बहुसमाइएणे मणुयलोए मणुस्सेहि, से कहमेयं भंते ! एवं ?
गोयमा ! जं णं ते अस्रउत्थिया जाव माणुस्सेहि जे एवमाइंसु,
मिच्छा ते एवमाइंसु । अइं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव-
एवामेव चत्तारि पंच जोयणसयाई बहुसमाइएणे नेरइएहि ।

(अस्रउत्थियेत्यादि) (बहुसमाइहे चि) अत्यन्तमाकीर्णम्,
मित्यात्यं च तद्वचनस्य विजृम्भानपूर्वकत्वादवसेयमिति ॥ ज०
५ श० ६ उ० ।

(१३) [वेदना] सर्वे जीवा अनेवभूतां वेदनां वेदयन्ते
इत्यत्र विवादः—

अस्रउत्थिया णं जंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेति-सन्वे
पाणा सन्वे जूया सन्वे जीवा सन्वे सत्ता एवंज्यं वेयणं
वेदंति, से कहमेयं भंते ! एवं ? गोयमा ! जं णं ते अस्रउ-
त्थिया एवमाइक्खंति० जाव वेदंति ; जे ते एवमाइंसु, मिच्छा ते
एवमाइंसु । अइं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परू-
वेमि-अत्थेगइया पाणा जूया जीवा सत्ता एवंज्यं वेयणं
वेदंति, अत्थेगइया पाणा जूया जीवा सत्ता अणेवंभूयं वेय-
णं वेदंति । से केणहे णं अत्थेगइया तं चेव उच्चारेयव्वं ?
गोयमा ! जणं पाणा जूया जीवा सत्ता जहा कमा कम्मा
तहा वेयणं वेदंति, तेणं पाणा जूया जीवा सत्ता एवंभूयं
वेयणं वेदंति, जेणं पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कहा
कम्मा नो तहा वेयणं वेदंति, तेणं पाणा जूया जीवा सत्ता
अणेवंज्यं वेयणं वेदंति, से तेणहे णं तदेव ॥

(१७) संसर्गस्तु तैः [कापिष्ठादिभिः] सह न समाचरणीय एव [आगाढवचनम्] यथा-

अन्ययूथिकं वा गृहस्थं वा आगाढं वा वदति-

जे न्निक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ । ॥ १८ ॥

आगाढ इत्यादि ।

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा फरुसं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ । १० । जे न्निक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं फरुसं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ । ११ । जे न्निक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा अण्णयरेण अच्चासायणाए अच्चासादइ, अच्चासायंतं वा साइज्जइ । १२ ।

आगाढगाहासुत्तं-

आगाढफरुसमीसग-दसमुद्देसम्मि वसितं पुवं ।

गिहिअण्णत्थियएहिं, ते चेव य होति तेरसमे ॥ १९ ॥

जहा दसमुद्देसे भदंनं प्रति आगाढफरुसमीसगसुत्ता भण्णिता, तहा इह गिहत्थअण्णउत्थियं प्रति वक्तव्या । इमेहिं जातिमातिपहिं गिहत्थ अण्णत्थियं वा ऊणतरं परिभवंतो आगाढं फरुसं वा भण्ति-

जातिकुलरुवभासा-धणवलपाहणएणापरिभोगे ।

सत्तवयवुद्धिनागर-तक्करभयकेयकम्मकरे ॥ २० ॥

जादि ताव मम्मपरिध-द्वितस्स मुण्णिणो वि जायते मग्गं ।

किं पुण गिहंण मग्गं, न न्विस्सति मम्मविच्छो णं ॥ २१ ॥

जातिकुलरुवभासा धणेण बलेण पाइसत्तणेण य एतेहिं दाणं प्रति अदाता संति वि धणे, किमत्तणेण अपरिजोगी हीनस्सो वयसा अपडिप्पओ मंदबुद्धिः स्वतो नागरस्तं ग्राम्यं परिभवति । तं वा गिहत्थं अण्णत्थियं वा तत्करप्रभृतककर्मकरजावे हि धियं परिभवति ॥ जदि ताव कोहणिगहपरा वि जदि णो जातिमातिममेण वड्डिया कप्पंति, किं पुण गिहिणो सुतरां कोपं करिप्पन्तीत्यर्थः ।

सो य उप्पन्नमतं इमं कुज्जा-

स्विप्पं मरेज्ज मारे-ज्ज वि कुज्जा-उग्गेहणा दाणिं ।

देसव्वा वंचकरे, संताउसंतेण पक्सिप्पे ॥ २२ ॥

अप्पणा वा मग्गुप्पणो मरेज्ज, कुवितो वा साहुं मारेज्जा, रुद्धो वा साहुं रायकुलादिणे गेहवावेज्जा, साधुणा वा सेहिओ देस-च्चागं करेज्ज, संतेण असंतेण वा प्रत्यभिषो एवं कुर्यात् । नि० चू० १३ उ० ।

(१८) उदकवीणिका-

जे न्निक्खू दगवीणियं अण्णउत्थियएहिं वा गारत्थियएहिं वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

पाणी तं दगं वीणिया वासोदगस्स वीणिया वि

कोवणानिमित्तं णिज्जुत्तिकारो भण्ति-

वासाम्दगवीणिय, वसहीसंवच्छ एतरे चेव ।

वसहीसंवच्छा पुण, वड्डिया अंतो वरितीथा णिच्च ॥ २४ ॥

वासाम्दगवीणिया कज्जति । सा दुविहा-वसहीए संवच्छा, इतरा असंवच्छा । वसहीसंवच्छा ति विहा विहिता-वड्डिया, अंतो, उवरि च । इमं ति विहाए वि विक्खाणं णिच्च-

परिगट्ठ विहिता उम्मि-ज्जाण अंतो व ओदए वा वि ।

इम्मियतलमाले वा, पणालिहिं व उवरिच्छू ॥ २५ ॥

जा सा वसहीसंवच्छा सा निच्च परिगाहो, जा सा अंतो संवच्छा सा चूमी उम्मिज्जति, सिरा वा उप्पड्डिगा वा-सोदगं वा विहिं पविट्ठं, जा सा उवरि संवच्छा सा इम्मियतले हम्मतले भायाओ वा मंरुविगाच्छादितमाले वा वासोदगं पविट्ठं जायले वा पणालिच्छिं ।

वसही य असंवच्छा, उदगागमणकइमे चेव ।

पढमा वसहिणिमित्तं, मग्गणिमित्तं दुवे इतरा ॥ २६ ॥

वसही असंवच्छा ति विहा-उदगस्स आगमो उदगागमो, व-सहिं तंण आगच्छति पविसति स्ति, अंगणे वा जत्थ साहुणो अच्छंति तं नाणउदगं एति, णिग्गमणपहे वा उदगं एति, तत्थ कइमो प्रवति, तत्थ पढमा जा वसही तेण पविसति स्ति, ते अण्णतो दगवाहो कज्जति, मा वसहीविणासो न्विस्सति, इयरासु दुसु जा अणं एति, जा य णिग्गमपहे, एता अण्णतो दगवीणिया कज्जति, मा उदगं ठाहिं स्ति, न च संसज्जति, तत्थ अंति तणं ताणं तस्स पाणविराहणा कज्जमो वा होहि स्ति मग्गणिमित्तं णाम मा मग्गो रुद्धिहिं स्ति, उदगेण कइमेण वा वसहिसंवच्छासु वि दगवीणिया कज्जति ।

एते सामण्णतरं, दगवीणिय जो उ कारवे न्निक्खू ।

गिहिअण्णत्थियएण व, अयगोलसमेण आणादी ॥ २७ ॥

अयं बोहः, तस्स गोत्रो पिणो, सो तत्तो समंता दहति । एवं गिहिअण्णत्थियओ वा समंततो जीवोवघाती, तम्हा एतेहिं ण कारवे ।

दगवीणियएणदिया इमे-

दगवीणिय दगवाहो, दगपरिगालो य होति एगट्ठा ।

विणयति जम्हा तु दगं, दगवीणिय भण्णते तम्हा ॥ २८ ॥

पुच्छके एगदिया, पच्छके दगवीणियं शिरुत्तं ॥ २९ ॥

गिहिअण्णत्थियएहिं दगवीणियं कारवैतस्स इमे दोसा-

आया तु हत्थपादं, इंदियजायं च पच्छकम्मं वा ।

फामुगमफामुदेसे, सव्वसिणाणे य लहुगाय ॥ ३० ॥

[आय इति] आयविराहणा-तत्थ हत्थं पादं वा लूसेज्जा, इंदियाण अण्णतरं वा लूसेज्जा, अहवा इंदियजायमिति वैदियादिया, ते विराहेज्जा, पच्छकम्मं वा करेज्जा, तत्थ फामुगं पं देसे मास-वहुं, सव्वे चउलहुं, अफामुगं पं देसे, सव्वे वा चउलहुं, अप्पणो करैतस्स एते चेव दोसा ।

दगवीणियाए अकरणे इमे दोसा-

पणगादिहरितमुच्छण-संजमआताअजीरोगेण्णे ।

वहिता वि आयसंजम-उवधाणासे दुगंठा य ॥ ३१ ॥

कारणेण करेज्ज वि दगवीणियं । किं कारणं ?, इमं-

वसहीए दुल्लभाए, वाघातजुयाए अहव सुलभाए ।

पापात् अविज्ञानधर्माभावात्तोऽनधिगतभुतज्ञानो यावत्तपस्वी-
त्यर्थः । गीतार्थानि श्रुततपश्चरणनिरनो गीतार्थ इत्यन्ये । [देसा
राहपत्ति] देशं स्तोकमंशं मोक्षमार्गस्याराधयतीत्यर्थः । सम्य-
ग्धोषरीहृतत्वात्क्रियापरत्वाच्चेति । [असीलवं सुयवं ति] कोऽर्थः ?
[अणुवरप विस्वायधम्मेत्ति] पापादिनिवृत्तौ ज्ञानधर्मा च अ-
विरतसम्यग्वाधिरिति ज्ञावः । [देसधिराहपत्ति] देशं स्तोकमं-
शं ज्ञानादित्रयरूपस्य मोक्षमार्गस्य तृतीयभागरूपं, चारित्रं वि-
राधयतीत्यर्थः ; प्राप्तस्य तस्यापापनादप्राप्तेर्वा [सत्त्वाराहप
त्ति] सर्वं त्रिप्रकारमपि मोक्षमार्गमाराधयतीत्यर्थः ; भुतशब्देन
ज्ञानदर्शनयोः संगृहीतत्वात् । नहि मिथ्यादर्ष्टिर्निज्ञातधर्मा तत्त्व-
तो भवतीति । एतेन समुदितयोः शोऽभुतयोः श्रेयस्त्वमुक्तमि-
ति (सत्त्वाराहप) इत्युक्तम् । म० ८ श० १० उ० ।

(१५) [सुखम्] सर्वजीवानां सुखविषये विप्रतिपत्तयः—

अष्टउत्थिया एं जंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेति—जा-
वइया गयगिहे एगरे जीवा, एवइयाणं जीवाणं नो च-
क्रिया केइ सुहं वा उहं वा० जाव कोलडिगमायमावे निपा-
वमायमावे कलममायमावे मानमायमावे मुग्गमायमावे जुयमा-
यमावे द्विक्खमायमावे अजिनिव्वट्टेत्ता उवदंसित्तए से कहमेयं
जंते ! एवं ? गोयमा ! जखं ते अष्टउत्थिया एवमाइक्खंति०
जाव मिच्छं ते एवमाइहं सु, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि०
जाव परूवेमि—सव्वलोए वि य एं सव्वजीवाणं नो चक्रिया
केइ सुहं वा तं चव० जाव उवदंसित्तए से केणट्टे एं ? गोयमा !
अयणं जंयुदीवे दीवे० जाव विसेसाहि ए परिकखेवेणं पष्-
त्ते । देवेणं महिक्खि० जाव महाणुजागे एगं महं सविज्जेवण-
गंधसमुग्गमंगहाय तं अवइत्तेइ । अवइत्तेत्ता० जाव इणमेव
कइ केवलकपे जंयुदीवं दीवं तिहिं अचछरानिवाएहि तित्त-
त्तलुत्तो अणुपरियट्ठित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, से नूणं गो-
यमा ! से केवलकपे जंयुदीवे दीवे तिहिं घाणपोगमोहिं
फुमे ? इत्ता ! फुडे, चक्रियाणं गोयमा ! केइ तेसिं घाणपो-
गमजाणं कोलडिगमायमावे० जाव उवदंसित्तए एो इणट्टे सप-
ट्टे । से तेणट्टे एं जाव उवदंसित्तए जीवेणं जंते ! जीवे जी-
वे ? गोयमा ! जीवे ताव नियमा, जंवे जीवे वि नियमा जीवे ।

(अष्टउत्थीत्यादि)—(नो चक्रिय चि) न शक्नुयात् ।
(जाव कोलडिगमायमावे चि) आस्तां बहुबहुनरं वा या-
वत्, कुवत्तास्थिकमात्रमपि, तत्र कुवत्तास्थिकं धवरकुवत्तः, (नि-
पाव चि) वल्लः, (कल चि) कलायः, (जुय चि) यूका ;
“ अयस्समित्यादि ” दृष्टान्तोपनयः । एवं यथा गन्धपुञ्जज्ञाना-
मिति सूक्ष्मत्वेनामूर्तकल्पत्वात्कुवत्तास्थिकमात्रादिकं न दर्शयितुं
शक्यते । एवं सर्वजीवानां सुखस्य दुःखस्य चेति । म० ६ श०
१० उ० ।

(१६) [इदः] राजगृहनगरस्य बहिर्वैजारापर्यंतस्याऽधः—

स्थस्य इदस्य विषये विप्रतिपत्तयः—

अष्टउत्थिया एं भंते ! एवमाइक्खंति, जासंति, पएण-
वंति, परूवेति—एवं खलु रायगिहस्स नयरस्स बहिया वे-

जारस्स पव्वयस्स अहे एत्थ एं महं एगे हरए अघे पष्त्ते ।
अणोगाइं जोयणाइं आयामविकखंजेणं नाणादुमखंक्रमं-
उदेसे सस्मिरीए० जाव परिकूवे, तत्थ एं वहवे उदारा
वलाहया संसेयंति, समुच्छियंति, वासंति, तव्वतिरिचे वि य
एं सया समिजं उसिणे आउकाए अभिनिस्सवइ, से कह-
मेयं भंते ! एवं ? गोयमा ! जखं ते अष्टउत्थिया एवमाइ-
क्खंति० जाव जे ते एवमाइक्खंति, मिच्छं ते एवमाइक्खंति ।
अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि, जासेमि, पष्खेमि, परूवेमि-
एवं खलु रायगिहस्स नयरस्स बहिया वेभारपव्वयस्स अदूर-
सामंते एत्थ एं महातवोवतीरप्यजवे नामं पासवणे पष्त्ते ।
पंच धणुसयाइं आयामविकखंजेणं नाणादुमखंक्रमंउदेसे
सस्मिरीए पासादीए दरिसिणज्जे अजिक्खे पडिक्खे, त-
त्थ णं वहवे उसिणजोणिया जीवा य पोगेला य उदगताए
वक्कमंति, विउक्कमंति, चयंति, उवचयंति, तव्वतिरिचे वि य
एं सया समियं उसिणे उसिणे आउआए अजिनिस्सवइ,
एस एं गोयमा ! महातवोवतीरप्यजवे पासवणे, एस णं
गोयमा ! महातवोवतीरप्यजवस्स पासवणस्स अट्टे पष्त्ते ।
सेवं जंते ! भंते चि जगवं गोयमं समणं जगवं महावीरं
वंदइ नमंसइ ॥

(अष्टउत्थियेत्यादि) [पव्वयस्स अहे चि] अधस्तात्तस्योपरि प-
र्यंत इत्यर्थः । (हरप चि) इदः [अघे चि] अघानिष्ठानः । क्वचित्तु
(हरप चि) न इदयते, अघे इत्यस्य च स्थाने अघे चि इदयते, तत्र
च आप्यः अपां प्रजवः, इद एव वेति (ओरात्त चि) विस्तीर्णाः,
(वलाहय चि) मेघाः, (संसेयंति चि) संस्त्रियन्ति, उत्पादजि-
मुलीजवन्ति (समुच्छंति चि) संसृजन्त्युत्पद्यन्ते (तव्वतिरिचे य
चि) इदं पूरणादतिरिक्तं उन्कलित इत्यर्थः । (आउयाए चि)
अप्यायः [अभिनिस्सवइ चि] अभिनिश्चयति कुरति [मिच्छं ते
एवमाइक्खंति चि] मिथ्यात्वं चैतदाख्यानस्य विजङ्गज्ञानपूर्वक-
त्वात्प्रायः सर्वज्ञचननिरुद्धत्वाद् व्यावहारिकप्रत्यक्षेण प्रायोऽन्य-
थोपगन्माधावगन्तव्यम् । [अदूरसामंते चि] नातिदूरे नाप्यति-
समीप इत्यर्थः । (एत्थ णं ति) प्रश्नापकेनोपदेश्यमाने (महात-
वोवतीरप्यजवे नामं पासवणे चि) आतप इव आतप उष्णना,
महोष्मासायातपश्चेति महातपो, महाऽऽतपस्य उपतीरं तरि-
समीपे प्रभव उत्पादो यस्यासौ महातपोपतीरप्रभवः । प्रभवति
कुरतीति प्रभवणः, प्रस्यन्दन इत्यर्थः । (वक्कमंति) उत्पद्यन्ते,
(विउक्कमंति) विनश्यन्ति । एतदेव व्यत्ययेनाह—च्यवन्ते
उत्पद्यन्ते चेति । उक्तमेवार्थं निगमयन्नाह—(एस खमित्यादि)
एषोऽनन्तरोक्तरूपः, एष वा अन्ययूथिकपरिकल्पिताप्यसं-
ज्ञो महातपोपतीरप्रभवः प्रभवण उच्यते । तथा एष यो-
ऽयमनन्तरोक्तरः (उसिणजोणिए इत्यादि) स महातपोपती-
रप्रभवस्य प्रभवणस्यार्थोऽभिधानान्वर्थः प्रज्ञप्तः । म० २
श० ५ उ० ।

इति दर्शिता अन्ययूथिकैः सह विप्रतिपत्तयः । (अन्ययूथि-
कविशेषैः कापिलादिभिः सह विवादास्तु तत्तच्छब्देभ्यः, 'समो-
सरण' शब्दे च दर्शयिष्यन्ते)

चित्तं वा सरह, अस्यमसा गिहत्थऽस्यउत्थिया, ताण वितरति पय-
च्छति, कारयतीत्यर्थः । अहवा गुरुः पृष्टः साधुभिर्यथा-गृहस्था-
न्यतीर्थिकैर्वा कारयामः । ततः प्रयच्छते, अनुज्ञां ददातीत्यर्थः ।
जणिओ सुत्तथो ॥ नि० चू० ५ उ० ।

पढमवितियाण करणं, सुहुममवी जो तु कारण भिक्खू ।
गिह्मिअस्यतिथिएण व, सो पावति आणमादीणि ॥ १९॥
पढमं बहु परिकम्मं, वितियं अप्पपरिकम्मं, सेसं कंठं । ज-
म्हा एते दोसा तम्हा—

घटितसंठविते वा, पुव्वं जमिते य होति गहणं तु ।
असती पुव्वकढाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ २०॥
नि० चू० ५ उ० ।

जे जिकखू दंरुयं वा लद्धियं वा अवलेहणियं वा विणु-
सूयं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिघट्टवे-
इ वा, जम्माइवेइ वा, अलमप्पणो कारणयाए सुहुममवि-
यां कप्पइ, जाणमाणे सरमाणे अन्नमन्नस्स वि सरमाणे
वियरति, वियरंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

पढमवितियाण करणं, सुहुममवी जो तु कारवे भिक्खू ।
गिह्मिअण्णउत्थिएण व, सो पावति आणमादीणि ॥ २१॥
घटितसंठविते वा, पुव्वं जमिते य होति गहणं तु ।
असती पुव्वकढाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ २२॥
वेल्लुमयी गवलमयी, वुविधा सूयी समासतो होति ।
चउरंगुल्लप्पमाणा, सामिच्चणसंधण्डाए ॥ २३॥
एकेका सा तिविधा, बहुपरिकम्मा य अपरिकम्माए ।
अपरीकम्मा य तहा, णातव्वा आणुपुव्वीए ॥ २४॥
अच्छंगुल्लप्पमाणां, थिज्जंतो होति सपरिकम्मा तु ।
अच्छंगुल्लमेगं तु, उज्जंती अप्पपरिकम्मं ॥ २५॥
जा पुव्ववट्ठिता वा, पुव्वं संठवितं तत्थ सा वा वि ।
लब्धति पमाणजुत्ता, सा णायव्वा अधाकरुगा ॥ २६॥
पढमवितियाण करणं, सुहुममवी जो तु कारवे भिक्खू ।
गिह्मिअण्णउत्थिएण व, सो पावति आणमादीणि ॥ २७॥
घटितसंठविते वा, पुव्वं जमिते य होति गहणं तु ।
असती पुव्वकढाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ २८॥

गाहा सव्वाओ पूर्ववत् । नि० चू० १ उ० ।

(२२) अन्ययुथिकादिभिः सह गोचरचर्यायै न प्रविशेत्-
जे भिक्खू गिहत्थाण वा अण्णउत्थियाण वा सीओदग-
परिभोयणा वा हत्थेण वा मत्तेण वा दन्विण्ण वा जाय-
णेण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगा-
हेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

इमो सुत्तथो—

गिह्मिअण्णउत्थिएण व, सूयीमादीहितं तु मत्तसे ।
जे जिकखू असणादी, पडिच्छते आणमादीणि ॥ १३॥

गिहत्था सोत्तियवभणादि, अन्नतिथिया परिव्वायगादि, उदग-
परिभोगी मत्तओ सूई, अहवा कोइ सूईवादी तेण दवेज्जा, सो य
सीओदगपरिभोगी मत्तओ उल्लंकाकमादि तेण गेहंतस्स आ-
णादिया दोसा, चउल्लहुं च से पच्छित्तं । इमे सीतोदगपरिभो-
गणो मत्ता—

दगवारगवट्ठिया, उल्लंकाऽऽयमणिवल्लभा उ एट्ठगा ।
मयवारवट्ठगमत्ता, सीओदयभोगिणो एते ॥ १३॥

दगवारगो गट्ठुअवं आयमणी लोहिया कछमओ उल्लंकाओ
कट्टमओ वारओ वट्ठुयं कप्पयंतं पि कछमयं । एतेसु गेहंतस्स
इमे दोसा—

नियमा पच्चाकम्मं, धोतो वि पुणो दगस्स सो वत्थं ।
तं पि य सत्थं असणो—दगस्स संसज्जते वएणं ॥ १४॥

भिक्खप्पयाणोवलित्तं पच्चा धुवंतस्स पच्चाकम्मं स मत्तगो
असणादिरसमाविओत्ति उदगस्स सत्थं भवति, तमुदगमवी-
यचूतं संसेव्यते य ॥ १५॥

सीओदगजोईणं, पडिसिद्धं मा हु पच्चाकम्मं ति ।

किं होति पच्छकम्मं, किं व न होति त्ति ते सुणसु ॥ १६॥
जेण मत्तेण सच्चित्तोदगं परिभुंजति, तेण भिक्खग्गहणं पडि-
सिद्धं । सीसो पुच्छति—कहं पच्चाकम्मं भवति, णो जवति वा? ।
आचार्य माह—सुणसु—

संसद्धमसंसद्धे, भावे सेसे य निरवसेसे य ।

हत्थे मत्ते दव्वे, मुच्छ—ममुच्छे तिगट्ठाए ॥ १७॥

संसद्धे हत्थे संसेसे मत्ते सावसेसे दव्वे एप्पसु तिसु पदेसु अट्ठ
जंगाकायव्वाविसमा सुद्धा, समा असुद्धा जंगेसु इमा गहणविधी-

पढमे गहणं सेसे—सु वि जत्थ सा सुहं क्खु सेसं तु ।

असेसु तहा गहणं, असव्वसुक्खे वि वा गहणं ॥ १८॥

(अनेसु त्ति) सेसेसु जंगेसु जदि देयं दव्वं सुक्खं अवलेकनं
सुक्खं मरुगकुम्भादितो गज्जं पच्चाकम्मस्स अभावात् विति-
यपदं ॥ १९॥

असिवे ओमोयरिए, रायहुट्ठे जए व गेलाएहे ।

अच्छाण रोहए वा, जयणा गहणं तु गीयत्था ॥ २०॥

पूर्ववत् अनुसरणीया । नि० चू० १ उ० ।

जे जिकखू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा असणं
वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देइ, देयंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ २१॥

जे जिकखू असणादी, देज्जा गिह्मि अहव असातिथीणं ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तिविराहणं पावे ॥ २२॥
तेसिं असातिथियगिहत्थाणं दितो आणादी पावति, चउल्लहुं
च ॥ २३॥

सव्वे वि य खल्लु गिहिया, परप्पवादी य देसविरता य ।

पडिसिद्धाणकरणे, जेण परालोगकंलीण ॥ २४॥

एतेसु दानं शरीरद्वयभाकरणं अथवा दान एव करणं यः

एतेहिं कारणेहिं, कप्पति ताहे सयं करणं ॥१४०॥

पणगो वल्ली समुच्छद्, आदिग्रहणतो वेदियादि समुच्छति,
हरियक्षाभो उद्धति, एसा संजमविराहणा । आयविराहणा
सीतवससहीय भत्तं न जीरति, ततो गेवधं जायति, एते
वसदिसंबद्धाप दगवीणियाए अकज्जमाणीए दोसा, वसदिस-
संबद्धाप बहिया एमे दोसा-उदगागमे णणे अनादरे चिखिच्च-
द्धे लुतिआयविहारणा संजमे पणगा हरिता वेदिया वा उयदि-
विणासो कद्दमेण मग्निणवासा कुमुच्छिज्जति । कारणे गिहिअ-
सत्तित्थिपिहं वि कारविज्जति ।

वित्तिपदमणिउणे वा, थिउणे वा केणई भवे असहू ।

वाधातो व साहुस्स, नरिक्करणं कप्पती ताहे ॥ १४१ ॥

पच्चाकडसानिग्गह—गिरनिग्गहज्जद् य असणी वा ।

गिहिअसत्तित्थिए वा, गिहिपुव्वं एतरे पच्चा ॥१४२॥

दो वि पूर्ववत् कण्ठातो । नि० चू० १ उ० ।

(१९) [उपकरणरचना] अन्यर्थिकः चिखि-

मलिकादि कारयति-

जे निक्खू सोत्थियं वा रज्जुयं वा चिन्नमिद्धिं वा असत्तित्थि-
एण वा गारत्थिएण वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ ॥१४३॥

सुत्ते सुत्ते भवा सोत्थिया, यत्तकंयत्त्यादिक्का इत्यर्थः । रज्जुए
भवा रज्जुआ, दोरकि चि सुत्तं नयति ।

उष्णवहणउमरणे, वासे उव्वक्खणी जओ एति ।

उल्लवहिं विरद्धेति व, अंतोवहिं कासिए इतरं वा ॥१४४॥

जाय मंतओ न परिदुधिज्जति ताव पच्छमे धरिज्जति, अच्चाणे
वा जाय थंमिं न ध्वज्जति ताव आदितो गतो युज्जति, जओ
उज्जक्खणी एति, ततो कम्मवत्तिमिली दिज्जति, वासासु वा
उल्लवहिं विरद्धेति दोरे जहासंक्कं अंतं बहिं फसिण इतरं वा ।

पंचविधचिन्नमिलीए, जो पुव्वं कप्पती गहणं ।

असती पुव्वकडाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥१४५॥

वित्तिपदमणिउणे वा, निउणे वा होज्ज केणई असहू ।

वाधातो व साहुस्स, नरिक्करणं कप्पती ताहे ॥ १४६ ॥

गाहा पूर्ववत् कण्ठा । नि० चू० १ उ० ।

(२०) सूचीप्रभृत्युपकरणान्यन्ययुधिकेन वा गृहस्थेन
वा कारयति-

जे निक्खू सूचियस्स उत्तरकरणं अन्नउत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

सूयीमादीयाणं, उत्तरकरणं तु जो तु कारेज्जा ।

गिहिअसत्तित्थिएण व, सो पावति आणमादीणि ॥१४६॥

उव्वगाहिता सूया-दिया तु एकेकए गुरुस्सेव ।

गच्छं व समासज्जा, अणायसेकेक्क सेसेसु ॥ १४७ ॥

सूची पिप्पलओ गहच्छेयणं कणसोदणं उव्वगाहितोव-
करणं, एते य एकेक्का गुरुस्स भवन्ति । सेसा तेहिं चेव कज्जं
कारेति, महल्लगच्छं वा समासज्ज अणायसा भओहमया सव्वस-
सिगमयी वा सेससाहुणं एकेक्का भवति । किं पुण उत्तर-
करणं ? । इमं—

पासग मद्धिणिसीयण—पज्जण रिउकरण ओत्तरणं ।

सुहुमं पि जं तु कीरति, तदुत्तरं मूलणिव्वत्ते ॥१४८॥

पासगं विवंधं डिज्जति, गृहकरणं मद्धिणिसीयणं णिसाणे पज्ज-
णं ओहकारागारे रिज्जु उज्जुकरणं पर्यं सव्वं उत्तरकरणं । अहवा
मूलनिव्वत्ते उयदि सुहुममवि जं कज्जति तं सव्वं उत्तरकरणं ॥

सूयीमादीयाणं, थिप्पनिकरणं तु कप्पती गहणं ।

असती थिप्पनिकम्मे, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १४९ ॥

नि० चू० १ उ० ॥

(२१) शिष्यादिकोपकरणकारणम्—

जे भिक्खू सिकंणे वा सिकगणंतं वा अन्नउत्थिएण

वा गारत्थिएण वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ ॥१५०॥

जे भिक्खू सिकरोप्पादि सिकंणं पसिं जारिंसे वा परिध्यायग-
स्स सिकंणं अणंतओ उपाणओ उच्छागणं भणति, जारिंसे का-
वन्निस भोगयत्तुलियाणं, एस सुत्तथो । इदं थि निज्जुत्ति-
विथरो—

सिकगकरणं दुविधं, तमथावरजीवदेहणिप्पणं ।

अंडगवाज्जग कीमज—होरुव्वन्नादिगतेरस ॥ १४९ ॥

जे निक्खू पिप्पलगस्स उत्तरकरणं अणउत्थिएण वा
गारत्थिए वा कारेइ, कारंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

पिप्पलगणहच्छेदण—सोधणं च व होति एवं तु ।

गवरं पुण थाणत्तं, परिभोगे होति थाणव्वं ॥ १७३॥

एवं पिप्पलगणहच्छेयणसोदणं य एकेके चउरो सुत्ता, अरथो
पूर्ववत् । परिभोगे विसेसो इमे—

वत्थं जिदिस्सामिति, जाइ उ पादज्जिदणं कुणति ।

अथवा वि पादज्जिदण, काहिंतो जिदती वत्थं ॥१७४॥

थावत्थं जिदिस्सामिति, जाइ उ कुणंति सल्लमुद्धरणं ॥

अहवा सल्लमुद्धरणं, काहिंतो जिदतो थावत्थे ॥ १७५ ॥

पिप्पलगणहच्छेयणाणं अप्पणे इमा विधी—

मज्जे वा गेहिइत्ता, हत्थे उत्ताणयम्मि वा काउं ।

चूमीए व उवेत्तुं, एस विधी होति अप्पणणे ॥ १८६ ॥

उभयतो धारणसंभवा मज्जे गेहिइत्तण अप्पेति । सेसं कंठं ॥

कणं सोधिस्सामिति, जाइ तु दंतसोधणं कुणति ।

अहवा वि दंतसोधण, काहिंतो सोहती कणे ॥ १८७ ॥

लान्नाल्लान्तपरिच्छा, दुल्लभअचियत्तसहसअप्पणाए ।

वारससु वि सुत्तेसु अ, अव्वरपदा ह्वेति थायव्वा ॥१८८॥

जे भिक्खू ज्ञाउयपायं वा दारुपायं वा मद्धियापायं वा
चउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिधट्ठीवेति वी, संठवेइ
वा, जम्माइति वा, अल्लमप्पणो कारणयाए सुहुममवि थो
कप्पइ, जाणमाणे सरमाणे अन्नमन्नस्स वि सरमाणे वियर-
ति, वियरंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

(जे भिक्खू ज्ञाउयपायं वा इत्यादि) दो द्वियकंजुघटितं मृ-
न्मयं कपातकादि परिघट्टणं णिमोभणं संठवणं मुहादीणं
जम्मावणं विसमाणं समीकरणं अन्नं पज्जंतं सक्केति, अप्पणो
काउं ति वुत्तं नयति, जाणइ अहा ण वट्ठति, अन्नउत्थियगारत्थि-
पदे कारावेत्तं जाणति वा, सुत्तं सरति, एस अन्नओववेसो प-

अणुपविस्त्रय वा, निस्त्रयस्त्रय वा, अणुपविस्त्रय वा नि-
स्त्रयस्त्रय वा सास्त्रय ॥ ३९ ॥

अन्यतीर्थिकाश्चरकपरिवाजकशाक्याजीवकवृक्षवृक्षप्रभृतयः,
गृहस्था मरुगादिभिक्षायाः, परिहारिणो मूलचरदोसे परिह-
रति, अहवा मूलचरगृहो धरेति, आचरतीत्यर्थः । तत्प्रतिपक्ष-
भूतो अपरिहारी । ते य अणुपविस्त्रया गिहस्था ।

सूत्रम्-

णो कप्पति निस्त्रयस्त्रया, गिहस्था अथवा वि अणुपविस्त्रया ।
परिहारियस्त्रय परिहा-रिण गंतुं विराराण ॥ ३०० ॥

सर्कि समानं युगपत् एकत्र आहाकम्मं गाहापविस्त्रया सा-
वज्जमनादियोगत्रये करणत्रये च गाहावतिकुलं । अस्य व्याख्या-
गाहगिहं गाहा गेहं स्ति वा गिहं ति वा पगं, तस्येति गृहस्थ पतिः
प्रभुः स्वामी, गृहपतिरित्यर्थः । दारमत्यादिसमुदायो कुलं पिणं
वा य परिवापत्ति। अस्य व्याख्या-पिणो असणादी गिहिणा दीय-
मानस्य पिणस्य पात्रे पातः, अनया प्रज्ञया एतद्विष्टो जहा-वाहं
जुअयणिवलं जं चेत्तं गामं पविष्ठो । अत्रेण पुच्छियं-किं निमित्तं
गामं पविष्ठोसि ? भणाति-सुत्तपायपरियाप धरणपायपरियाप
स्ति, तदेव पिणवापपडियाप स्ति । किंच-इदं सूत्रं लोकोत्तरवभ-
यसंज्ञाप्रतिपक्षं किंचित् स्वयमयं संज्ञाप्रतिपक्षं जति, अणुप-
विस्त्रयति । अह्य व्याख्या चरगादि गाहा । अनु पश्चाद्भावे चरगादि-
सु शियेष्टेसु पच्छा पागकरणकालतो वा पच्छा, एवं अनुशब्दः
पश्चाद् योगे सिद्धः ।

एतो एगतरेण, सहितो जो गच्छती विराराण ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पाव ॥ ३०१ ॥

एतो एगतरेण गिहस्थेण वा अणुपविस्त्रयेण वा समं पविस्त्र-
तस्स आणादिया दोसा । आयसंजमविराहणाओ जावणा । गाहा
पंरुंगादिपसु सर्कि हिंडंतस्स पययणो भावणा जयति, लोगो
वयति-पंरुंगादिपसायओ लभंति, सयं न लभंति, असारवचन-
प्रयत्नत्वात् । अथवा लोगो वदन्ति-अशक्तिमंता य परवोगे वा अ-
दिअदाणा आत्मानं न विदति, शूछा इति । एते पंरुंगादि शिष्य-
स्तमच्युपगन्ता वसति, यत एभिः सार्द्धं पर्यटते, किंचान्यत् ।
अधिकरणगाहा, गिही अयगोहसमाणो ए वट्टति भणितुं, एहिं
णिसीदतु वट्टवयाहिं वा भणतो अधिकरणं गिहस्थो अशक्ती
साह लद्धी एव णति, साहुस्स अंतगयं अह संजतो अलकीतो
गिहस्थस्स अंतरायं जेण समं हिंडति, दातारस्स वा अचित्तं
किं मया समं हिंसति स्ति, अधिकरणं च भवे, अखंजेज्ज पड्डो
अवस्सयं अगणिणा डहेज्ज, पंता वयादि वा करेज्ज, एगस्स वा
गिहिणा गिहिणीणि उ दांएह वि तेज्ज तं चेव अंतरायं अवि-
यताए संखडा तीया य साहुस्स करेज्ज, दातारस्स वा करेज्ज,
उयस्स वा कुज्जा, दोएहता अट्टाणीणि य एगस्स देज्ज, साहुस्स
गिहस्थस्स वा, तं चेव अंतरादी दोसा । जतो मण्णति-संजयप-
दोसगाहा । संजयगिही उभयदोस इति गतार्था । एवं अणेगहा
च स्ति । अस्य व्याख्या-एहे दुपदे चउप्पदे एवपप च, एतेसु चेव
हडेसु वयादिपसु वा वि सुमतिपसु साधुगिहं वा एगंतरं सं-
केज्ज, उभयं वा किह पुणाति संकेज्ज, एते समणमाहणा प-
रोप्परं विरुद्धा वि एगतो अडंति, ए एते जे वा ते वा एणं एते
चोरा चोरिया वा, कामी वा दुपयादि वा अवहडामपहिं ज-
म्हा एते दोसा, तम्हा गिहस्थस्सतिथीहिं समं भिक्षाए ए प-

विसियव्वं, वितियपदेण कारणे पविसेज्जा वि । जतो वितिय-
पदगाहा । अंचियं दुग्भिक्षं, एतेसु अंचियादिसु एतोहिं गिह-
स्थस्सतिथीहिं समं भिक्षा लब्धति, अन्नदान लब्धति; अतो
तेहिं समाणं अडे, सो य जदि अहा भहो णिमेनेह वा, अहा भ-
इएण पुण समाणं दो तिणि घरा, अण्हा ते चेवांसंखडादी ।
रायदुडे सो रायवल्हो गिलाएस्स सह एत्थ भोयणादि, सो
दव्वावति, अण्हा ए लब्धति, भिक्षायरियं वा वचंतस्स उ वि
सरीरं तेण रक्खति, पडिणीयसाणे वावारेति । आदिसहातो गो-
णसूयरातीए विपविस्त्रतो पुण इमा विही पुव्वगते गाहा गिहस्थ-
स्सतिथिपसु पुव्वपविट्ठे पत्तं वा पुव्वपविट्ठो अण्भावे ति, परि-
सं तापं दरिसेति जेण गज्जति, जहा एतेण समाणं हिंसति, अ-
डंतस्स य इमो विही पुव्वं पच्छा कम्मरूपसु तओ पच्छा क-
म्मअण्णिल्लोसु, तओ अहाजइमरूपसु तओ अहाभइमण्णलिं-
णा अहाजइए वि, एस चेव कमा । नि० चू० २ उ० ।

जे निक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावड्कु-
लेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियं वा गारत्थियं वा
अमणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय
जायात, जायंतं वा साइज्ज ॥ १ ॥ जे निक्खू आ-
गंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावड्कुलेसु वा परियाव-
सहेसु वा अण्णउत्थीज वा असणं वा पाणं वा खाइमं
वा साइमं वा ओजासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइ-
ज्ज ॥ २ ॥ जे निक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु
वा गाहावड्कुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियाणि
वा गारत्थियाणि वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं
वा ओजासिय ओजासिय जायति, जायंतं वा साइज्ज ॥ ३ ॥

‘जे निक्खू’ पूर्ववत् आगंतारो-जत्थ आगारा आगंतुं विहरंति,
तं आगंतारं, गामपरिसंघाणं तिष्ठत्तं भवति । आगंतुगणं वा
कयं अगारं आगंतारं, यदिया वासो स्ति, आरामे अगारं आरा-
मागारं, गिहस्स पती गिहपती, तस्स कुलं गिहपतिकुलं, अन्य-
गृहमित्यर्थः । गिहपज्जायं मोत्तुं पव्वज्जा परियापज्जा, तेहिं
आवसहो परियावसहो, एतेसु गणेसु चित्तं अणुपविस्त्रयं वा
गारत्थियं वा असणाइ ओभासति, साइज्जाति वा, तस्स मास-
लहु । एस सुत्तथो । इमा सुत्तफासिया-

आगंतारादीसु, असणादी जासती तु जो भिक्षू ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ २ ॥

आगंतारादिसु गिहस्थमण्णतिथियं वा जो भिक्षू असणादि
ओभासति सो पावति आणा, अणवत्थमिच्छत्तविराहणं च ॥ २ ॥

आगमकयमागारं, आगंतुं जत्थ चिद्धति अगारा ।

परिमणं पज्जाओ, सो चरगादी तु एगेगविहो ॥ ३ ॥

आगमा क्वत्ता, तोहिं कयं अगारं आगंतुं जत्थ चिद्धति, अ-
गारं तं आगंतारं परि समंता गारणं गिहभावं गतेत्यर्थः । पज्जा-
योपवज्जा, सो य चरगपरिव्यायगसक्कआजीवागमादि नेगविधो
जहेतरा ॥ ३ ॥

जदेतरा तु दोसा, इवेज्ज ओभासिते अठाणम्मि ।

अविचया भावणता, एते जदे इमे होंति ॥ ४ ॥

परशोककाङ्क्षी भ्रमणः तस्यैतत् प्रतिषिद्धं , अहवा एतेषु दाणं करणं किं पानिसिद्धं जेण समणो परलोकाकङ्क्षी ?। चादक आह—

जुत्तमदाणमसीले, कननामइओ उ होति समण इव ।

तस्स मज्जुत्तमदाणं चोदग ! सुण, कारणं तत्त ॥१७०॥

जुत्तं अणुउत्थियगिहेत्थेषु अविरतेसु चि काउं दाणं य दि-
ज्जति, जो पुण देसविरतो सामाज्यकरो तस्स जं दाणं पानि-
सिज्जति, पयमज्जुत्तं, जेण सो समणज्जो उज्जति । आचार्य
आह—हे चोदक ! पथ कारणं सुणसु—

रंघण-किसि-वाणिज्जं, पावति तस्स पुव्व विणिउत्तं सो ।

कयसामाज्यजोगि वि, मयस्स अपक्कमाणस्स ॥

अदि वि सो कयसामाज्यो उचस्सप अत्थति, तदा वि तस्स पु-
व्विज्जता अहिकरणजोगा पावति चि रंघणजोगो कयिकरणजोगो
वाणिज्जजोगो य, एतेण कारणेण तस्स दाणमज्जुत्तं । चादक-
णणु भणियं समणो इव सावयो । उच्यते-आचम्मेण तु समणे ते
जेण सव्वविरतो ण ज्जति । जओ अणुउत्थि-

सामाज्य पारेउं, य णिगगतो साहुवसहीए ।

अहिकरणं सातिज्जति, उता हु तं वोसरति सव्वं ॥१७२॥

आयरियो सोसं पुच्छनि-सामाज्यं करेमि चि । साधुवसही वि
तो पत्ततो आरम्भ जाव सामाज्यं पारेऊण न णिगगतो साधु-
वसहीए पोसहसालाओ वा एयस्मि साइयकालो तस्स अ-
धिकरणजोगा पुव्वपवत्ता कज्जति, तो सा किं सातिज्जति,
उताहु ते वोसरति सव्वे । उच्यते-य वोसरति साइज्जति,
अदि साइज्जति पवं भणंतस्स सव्वविरतो लभति ॥ १७२ ॥

हुविहतिविहे ण रुज्जति, अणुमत्रा तेण सा ण पनिरुद्धा ।

अणुओ ण सव्वविरतो, स समामति सव्वविरओ य ॥१७३॥

पाणादिवायादियाणं पंचएहं अणुव्वतानं सो विरति क-
रेति । (हुविधं तिविधेण चि) हुविधेण करेति, य कारयेति,
तिविधं मणेण वायाए कापणं ति । पत्थ तेणं अणुमती य वि-
रुद्धा, तेण कारणेण बडसामाति ता वि सो सव्वविरतो य
लभति, किं चाऽन्यत् ॥ १७३ ॥

कामी सधरं-गणतां, मूलपइष्ठा स होइ दइष्ठा ।

डेयणभेयणकरणे, उदिठकनं च सो जुंजे ॥ १७४ ॥

णट्टेहितविस्सरिते, णिष्से वा मइलिण व वोच्चे य ।

पञ्चाकम्मपवदणा, धुयावणं वा तदइस्स ॥ १७५ ॥

पंच विसया-कामेति चि कामी सगृहेण सगृहः, अङ्गना
क्री, सह अङ्गनया साङ्गनः, मूलपइष्ठा, देसविरति चि जुत्तं भ-
वति । साधूणं सव्वविरतो वृत्तादिच्छेदेन पृथिव्यादिभेदेन
प्रवृत्तः सामाधिकमावाद्वन्यत्र जं च उदिठकडं तं कडसा-
माइओ वि मुंजति; पवं सो सव्वं य भवति, एतेण कारणेण
तस्स य कप्पति दाउं इमो । अहवा—

विवियपदे परंक्षिगे, सेहइष्ठाये य वेज्जसाहारे ।

अच्छाण देसगलणे, असती पडिहारिते गहणं ॥ १७६ ॥

एयस्स इमा विमासा कारणे । परतिथियाण मज्जे अ-
च्छतावेज्ज, सेहो उहो रणत्तणा देज्ज, गिही अणुउत्थी वा णिव्वं-

घेण मग्गेज्ज, तदा से दिज्जति, सेहे वा गिहिवेसणितो
भावतो पव्वइओ तस्स देज्जा, सत्थेण वा पव्वया अद्दाणं साहु-
तिथिगिहियं तत्तत्कारणेहि गिहीण अच्छिणं तं साधु गिहीण
पव्वज्जिणेज्जा, अथवा अद्दाणे भंतिपंतिथिमादियाण देज्जा,
वेज्जस्स वा गिहाणत्ता आणियस्स देज्जा, तं च जहा वि-
ज्जति तदा पुव्वभाणियं जत्थ गिहीणं अणुउत्थियाण य
साधूण य मंचियका जे उल्लेजे भसपाणमंडियमादिया साहारं
ण दिणं तत्थ ते गिही अणुउत्थिया विभज्जापयव्वा, अह
ते अणिच्छा साधु भणेज्जा, अहं वा ते पंता, ताहे साधु विभज्ज-
ति, साहुणा विभयंतेण सव्वेसिं वि हु समग्गमेव विज्जइयव्वं,
एयव्वेसो ॥ १७६ ॥ नि० चू० १५ उ० ।

से जिक्खु वा जिक्खुणी वा गाहावतिकुलं जाव पवि-
मिंतुकामं णो अणुउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परि-
हारिउ वा अपरिहारिएण सच्चि गाहावइकुलं पिंढवायपनि-
याए पविसिज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा ।

(से भिक्खु वा इत्यादि) स जिक्खुयावद् गृहपतिकुलं प्रवेष्टु-
काम एभिर्वक्ष्यमाणैः सार्द्धं न प्रविशेत्, प्राक् प्रविष्टो वा नाति-
क्रामेदिति संबन्धः । यैः सह न प्रवेष्टव्यं ताद् स्वनामग्राह-
माद-नभान्यतीर्थकाः सरजस्कादयो गृहस्थाः, पिरनोपजीविनो
धिज्जातिप्रभृतयस्तैः सह प्रविशताममी दोषाः । तथा-ते पृष्ठतो
या गच्छेयुरप्रतो धा, तेऽप्राप्तो गच्छन्तो यदि साधुनवृत्त्या गच्छे-
युस्तनस्तत्कृत ईर्याप्रत्ययः कर्मवन्धः, प्रवचनछाद्यर्थं च, तेषां वा
स्वजात्यापुत्कर्ष इति । अथ पृष्ठतस्तनस्तत्प्रवेष्टो, दातुर्वा अज-
कस्य क्षामं च, दाता संविमज्ज दद्यात्तेनाद्यमोदर्यादौ दुर्मिक्षा-
दौ प्राणवृत्तिर्न स्यात्, इत्येवमादयो दोषाः । तथा परिहारस्तेन
चरति परिहारिकः, पिरनदोषपरिहरणादुसुकविहारी, साधुरि-
त्यर्थः । स एवेगुणकलितः साधुरपरिहारिकेण पार्ववस्थावस-
नः कुशीलसंसकथयाचञ्चकुरेण न प्रविशेत्, तेन सह प्रविष्टा-
नामनेपणीयजिक्काग्रहणाग्रहणकृता दोषाः । तथाहि-अनेपणीयग्र-
हणे तत्प्रवृत्तिरनुज्ञाता भवत्यग्रहणे तैः सहाऽसंखडादयो दोषाः ।
तत एताद् दोषान् ज्ञात्वा साधुर्गृहपतिकुलं पिरनपातप्रतिक्रि-
या तैः सह न प्रविशेन्नापि निष्क्रामेदिति । आचा० २ भु० १
अ० १ उ० ॥

(२३) [दानम्] अन्यवृत्तिकेज्योऽशनादि न देयम्-

से जिक्खु वा भिक्खुणी वा० जाव पविडे समाणे णो अणु-
उत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा परिहारिओ वा अपरिहा-
रियस्स वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देज्ज
वा, अणुपदेज्ज वा ॥

सास्यतं तद्दानार्थप्रतिषेधमाह-

(से भिक्खु इत्यादि) स भिक्खुयावद् गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नु-
पवृत्तगन्तादुपाश्रयत्वा वा तेज्योऽन्यतीर्थिकादिज्यो दोषसं-
भवादेशनादिकं न दद्यात्, स्वतो नाप्यनुप्रदापयेदपरेण गृहस्था-
दिनेति । तथाहि-तेज्यो दीयमानं दद्या लोकोऽभिमन्येत, एत
ह्यध्विधानामपि दक्षिणार्हाः । अपि च । तदुपपन्नादसंयमप्रवर्त-
नादयो दोषा जायन्त इति । आचा० २ भु० १ अ० १ उ० ।

जे जिक्खु अणुउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारि-
ओ वा अपरिहारिएण वा गाहावइकुलं पिंढवायपदियाए

अट्टाणचित्तो ज्ञासिते पंतजइदोसा । पंतस्स अचियत्तं भवति,
ओभासणता-अहो ! इमे भइदोसा ।

जइ आतरोसि दीसइ, जइ य विमग्गंति मं अट्टाणम्मि ।
दंतेंदिया तवस्सी, तं देमि ण भारितं कज्जं ॥१॥

जहा पयं सादुस्सातरो दीसति, जहा-अयं अट्टाणचित्तं विम-
ग्गंति-दंतेंदिया तवस्सी तो देमि अइं पंतेंसि णूणं से भारितं
कज्जं, आपत्कल्पमित्यर्थः ॥ ५ ॥

सट्ठिगिहिं अणत्थित्थी, करिज्ज ओजासिए तु सो असते ।
उग्गमदोसेगतं, खिणं से संजतट्ठाए ॥ ६ ॥

अट्टास्यास्तांति आत्ती, सो य गिही, अष्टउत्थिओ वा, ओभा-
सिए समाणसे इति । स गिही अष्टउत्थिओ वा खिणं तु रियं
सएहं उग्गमदोसाणं अष्टतरं करेज्जा संजयछाप ॥ ६ ॥

एवं खड्डु निणकप्पे, गच्छो णिकारणम्मि तह चेव ।
कप्पति य कारणम्मी, जनणा ओजासितुं गच्छे ॥ ७ ॥

पयं ता जिणकप्पे प्रणियं गच्छयासिणो वि णिकारणे एवं
चेय कारणजाते पुण कप्पति । धेरकप्पियाणं ओभासितं किं
चित्कारणं इमं-

गेअएह रायदुडे, रोहग अट्टाण अंचिते ओमे ॥
एतेहिं कारणेहिं, असती डंभंति ओजासे ॥ ८ ॥

गिज्ञाणट्ठाण य दुडे वा रोहगे वा अतो अपयंता अंचिते वा, अं-
चियणं णाम दाअसंधी, तथ भवणी उ संधिआ उ ण याणिप्पणं,
णिप्पण्णे वा ण सज्जति, ओमं दुर्निक्कं, एवं अंचिय ओमे, दीर्घं
वुमिक्कमित्यर्थः । एतेहिं कारणेहिं अज्जभंते ओजासेज्जा-

जिएणं समतिकंतो, पुव्वं जतिज्जण पणगपणगेहिं ॥
तो मासिएसु पच्छ वि, ओजासणमादिंसु असदो ॥ ९ ॥

इमा जयणा-पदमं पणगदोसेण गेयहति पच्छा दस पणरस
वीस भिखमासदोसेण य एवं पणगभेदहिं जाहे निष्णं समति-
कंतो ताहे मासि अट्टाणेषु ओभासणादिसु जतति, असदो । तथ
तु ओभासणे इमा जयणा-

तिगुणगतेहिं ण दिट्ठो, णीया वुत्ता तु तस्स उ कहेइ ।
पुट्ठापुट्ठा व ततो, करेति जं सुत्तपमिक्कुट्टं ॥ १० ॥

पदमं घरे ओजासिज्जति अदिछे, एवं तयो वा रायघरे गवेसि-
यव्वो, तथ भज्जा ति णीया वत्तव्वा, तस्स आगयस्स कहेज्जइ-
साधू तव सगासं आगया, कज्जेणं घरे अदिट्ठे पच्छा आगंतारा-
दिसु दिठ्ठस्स घणमणादि सव्वं कहेतु, तेण वंदिते अवंदिते वा
तेणैव पुट्ठं अपुट्ठा वा जं सुत्ते पमिसिक्कं तं कुव्वंति, ओजासंति
इत्यर्थः ।

जे जिकवू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावड्कु-
लेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियं वा गारत्थियं वा को-
उहद्वपडियाणं पनियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खा-
इमं वा साइमं वा ओजासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा
साइज्जइ ॥ ४ ॥

एवं अष्टउत्थिया वा गारत्थिया वा, एवं अणउत्थिणीओ
वा गारत्थिणीओ वा ।

पदम्मी जो तु गमो, सुत्ते विति ए वि होति सो चेव ।
ततिय चउत्थे वि तहा, एगत्तपुहत्तसंजुत्ते ॥ ११ ॥

पदमं सुत्ते जो गमो, विति ए वि पुरिसपोहत्थियसुत्ते सो चेव
गमो । ततियचउत्थेसु वि इत्थिसुत्तेसु सो चेव गमो ॥ ४ ॥

जे जिकवू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावड्कु-
लेसु वा परियावसहेसु वा अष्टउत्थियाणं वा गारत्थियाणं
वा कोउहद्वपनियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं
वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ ५ ॥ जे जिकवू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा
गाहावड्कुलेसु वा परियावसहेसु वा अणउत्थियाणं वा
गारत्थियाणं वा कोउहद्वपनियाणं पनियागयं समाणं अ-
सणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय
जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥ जे भिकवू आगंतारेसु वा
आरामागारेसु वा गाहावड्कुलेसु वा परियावसहेसु वा
अणउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा कोउहद्वपनि-
याणं पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा
साइमं वा ओजासिय ओजासिय जायति, जायंतं वा
साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिकवू आगंतारेसु वा इत्यादि कोउहलंति यावत्, कौतु-
केनेत्यर्थः ।

गाहासूत्राणि-

आगंतारेसु, आरामगारे तह गिहा वसही ।
पुव्वट्ठिताण पच्छा, एज्ज गिहं अष्टउत्थिय वा केई ॥ १२ ॥

तमागतं जे असणातीतो भासति, तस्स मासलड्डुं, धम्मं
सावगधम्मं वा पेच्छामो । एत्तो गाहा-

अहज्जावेणं कोऊ-हल केई वंदगणिमित्तं ।

पुच्छिस्सामो केई, धम्मं दुविधं व पेच्छामो ॥ १३ ॥

एगो एगतरेणं, कारणजातेण आगतं संतं ॥

जो जिकवू ओभासति, असणादी तस्सिमा दोसा ॥ १४ ॥

तस्सिमे भइपंतदोसा-

आतपरोजासणता, अदिषदिषे व तस्स अचियत्तं ।

पुरिसो जासणदोसा, सविसेसतरा य इत्थीसु ॥ १५ ॥

अलहे अप्पणो ओभासणा सुद्धा लमंति तिषि अदिषे परस्स
ओभासणा कियणे त्ति, अदिषे वा अचियत्तं भवति, महायण-
मज्जे वा पणइ, ते देमि त्ति, पच्छा अचियत्तं भवति, दाओ पुरि-
से ओभासणदोसा एव केवला, इत्थिआसु ओभासणदोसा,
संकादोसा य, आयपरसमुत्था य दोसा ।

जहो उग्गमदोसे, करेज्ज पच्छा अभिहरादीणि ।

पंता पेलवगहणं, पुणरावत्तिं तहा दुविधं ॥ १६ ॥

अहओ उग्गमेगतरदोसं कुज्जा, पच्छाभिहडं पागाडाभि-
हडं वा अयेज्जपंता साहुसु पेलवगहणं करेज्ज-अहो इमे
अदिषदाणा, जो आगच्छति तमोभासंति, साहुसावगधम्मं

वा साइज्जइ ॥ १२१ ॥ जे भिक्खू अश्वत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं तेह्णेण वा घण्ण वा वाण्णेण वा वसाण्ण वा मंखेज्ज वा, जिंलिगेज्ज वा, मंखंतं वा जिंलिगंतं वा साइज्जइ ॥ १२२ ॥ जे जिक्खू अश्वत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं लोद्धेण वा क्केण वा पोउमचुष्सेण वा उद्धोद्धिज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा उद्धोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥ १२३ ॥ जे भिक्खू अणत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं सीओदगवियरेण वा उसिणोदगवियरेण वा उच्छोद्धेज्ज वा, पधोयेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोर्यंतं वा साइज्जइ ॥ १२४ ॥ जे जिक्खू अणत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं फूमेज्ज वा, रयेज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ १२५ ॥ जे जिक्खू अणत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं सिवणं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ १२६ ॥

एवं जाव तइयो उइसो गमो णेयव्वो, णवरं अश्वत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा अभिलावो जाव ।

जे भिक्खू गामाणुगामं दइज्जमाणे अश्वत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा सीसदुवारिमं करेइ, करंतं वा साइज्जइ १६६ तृतीयोद्देशकगमनिका चत्वारिंशतिसुत्रवक्तव्या यावत् । जे भिक्खू अश्वत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा सीसदुवारियं कारतीत्यादि ॥

पायण मज्जणादी, सीसदुवारादि जे करेज्जाहिं ।

गिहअश्वत्थित्थियाण व, सो पावति आणमादीणि । ३५ ।

अश्वत्थं पायच्छित्तं, आणादिया य दोसा भवति । मिच्छते धिरीकारणं सेहादियाण य तत्थ गमणं पवयणस्स ओभावणं; जम्हा एते दोसा तम्हा एतेसि वेयावच्च णो कायव्वं । कारणे पुण कायव्वं-

वितियपदमणज्जे, करेज्ज अवि को वि ते व अप्पज्जे ।

जाणंते वा वि पुणो, परलिगे सेहमादीसु ॥ ३६ ॥

कारणे परव्विगपवणो करेज्जा, सेहो वा अणलो विगिज्जियव्वो, किमिति करेत्तो सुद्धो, तस्सगतो वा पञ्चत्तणं करेत्तो सुद्धो ॥ नि० चू० ११ उ० ।

(२६) पदमार्गादि-

जे जिक्खू पदमगं वा संकमं वा अवलंबणं वा अश्वत्थिय-एण वा गारत्थियएण वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ । ११ ।

जे जिक्खू पूर्ववत् । पदं पदाणि, तेसि मग्गो पदमग्गो, सो माणा संकमिज्जति, जेण सो संकमो काष्ठचारेत्यर्थः । अवलंबिज्जति चि । जं तं अवलंबं सो पुण वेति, ताम्चावलंबो वा, चगारो समुच्चय-वाची । एते अश्वत्थित्थियएण वा गिहत्थेण वा कारावेति, तस्स मासगुं, आणादिणा य । इदानीं निज्जुती-

पदमगसंकमाहं-वण वसहिंसवद्धमेतरो चेव ।

विसमं कइमओ दपे, हरिते तसपाणजातिसु वा ॥ १२२ ॥

अस्य व्याख्या-

पदमग्गो सोवाणा, ते ते तज्जा व होज्ज इतरे वा ।

तज्जाता पुढवीए, इद्दगमादी अतज्जा य ॥ १२३ ॥

पदानां मार्गः पदमार्गः, सो पुण मग्गो सोवाणा । ते दुविहा-तज्जाया, इतरे अतज्जाया । तस्मि जाता तज्जाता, पुढवि चेव खणिकुण कता, न तस्मि अजाया अतज्जाया, इद्दगपासाणादिहिं कता, एकेका वसहीए संवक्का, एतरा असंवक्का, वसहीए लग्गा विता, असंवक्का अगणए अगणपेवसदारे वा, तं पुण विसमे कहमे वा उदरे वा हेरिपसु वा जातेसु तसपाणेसु वा घणा-संसत्तेसु करोति । इदानीं संकमो चि ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

अस्य व्याख्या-

दुविधो य संकमो खलु, अणंतरपइट्ठितो य वेहासो ।

दव्वे एगमणेगो, वलावद्धो चेव णायव्वो ॥ १२४ ॥

संकमिज्जति, जेण सो संकमो, सो दुविहो । खलु अवधारणे । अणंतरपइट्ठितो-जो भूमीए चेव पइट्ठितो, वेहासो-जो खंभासु वा वेहोसु वा पइट्ठितो । एकेको दुविहो-एगंगिओ य अणेगंगिओ य, एकानेकपइट्ठितेत्यर्थः । पुनरप्येकेको वलस्थिरविकल्पेन नेयः, तदपि विषमकर्ममादिषु कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १२४ ॥

अस्य व्याख्या-

आलंबणं तु दुविहं, भूमीए संकमे व णायव्वं ।

दुहत्तो व एगतो वा, वि वेदिया सा तु णायव्व ॥ १२५ ॥

एतस्स चेव संकमस्स अवलंबणं कज्जति, तं अवलंबणं दु-विहं भूमीए वा संकमे वा भवति । भूमिप विसमे लग्गणणि-मित्तं कज्जति, संकमे वि लग्गणणिमित्तं कज्जति, सो पुण दुहत्तो एगओ वा भवति, सा पुण वेदिय चि भवति, मत्ताय-लवो वा ॥ १२५ ॥

एतेमामसुतरं, पदमगं जो तु कारण जिक्खू ।

गिहअश्वत्थित्थियएण व, सो पावति आणमादीणि । १२६ ।

एतेसि पयमगसंकमावलंबणानामसुतरं जो भिक्खू गिह-त्थेण वा अश्वत्थित्थियएण वा कारवेति, सो आणादीणि पावेति, इमे दोसा ॥ १२६ ॥

खणमाणे कायवधो, अवि ते वि य वणस्स तितसाण ।

खणणेण तच्छणेण व, अहिदुहरमादिआघाए ॥ १२७ ॥

तस्मि गिहत्थे अश्वत्थित्थिय वा, खणंते छन्नं जीवनि कायाणं विराहणा भवति, अइ वि पुढवी अचित्ता भवति, तद्वा वि वणस्स तितसाणं विराहणा । अहवा पुढवीखणणे अहिं दहुरं वा घापज्जा, कठं वा तच्छित्तोऽभंतरे अहिं उंदुरं वा घापज्जा, एसा संजमविराहणा, आयाप हत्थं वा पादं वा लसेज्जा, अहिमादिणा वा खज्जेज्जा, जम्हा एते दोसा तम्हा य तेहि कारवेज्जा, अववाएणं कारवेज्जा वि ॥ १२७ ॥

वसहीउद्धभताए, वाघातजुताए अवध सुलभाए ।

एतेहिं कारणेहिं, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १२८ ॥

उद्धभा वसही, मग्गंतेहिं वि य लम्भति, अहवा सुलभा

वंता अग्रीयमीसे पुण अग्रीयत्थं पुरतो पन्तिसेधेडं पच्छत्तो त-
स्स अणुवत्तिऊण भणति-मा पुण आणेइ, तत्थेय अम्हे हिंन्ता
पद्दामो, णिमंतंज्जा । अहवा जइ अषदोसवज्जितं जइपंतदोसा
वा ण जवंति, ताहे गेएइति, इमं च जणंति—

तुमे दूराहडं एमं, आदरेण सुमंभितं ।

मुहवणो य ते आसी, विवणो तेण गेएइमो । १६ ।

तुमे दूराओ आणियं वेसवाराइयाण सुसंभियं कयं तुज्ज
पन्तिसेधिते मुहवणो विवणो वि आसी, तेण गेएहामो, एवं
जयणाए गेएइति, पसंगो णिवारितो अगिया य वंचिया आइड प्र-
तिनिवृत्तनावात्मीकृतत्वात्, एवं इत्थियासु वि, एवं मुहत्त सुत्ते
वि १६ ॥ नि० चू० ३ उ० ॥

(१४) धातुप्रवेदनम्—

जे न्निक्खू अएणउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा गारत्थि-
याणिहिं वा धाउं पावेइड, पावेपंतं वा साइज्जइ । १७ ।

जे न्निक्खू अषउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा गार-
त्थियाणिहिं वा धाउं पवेइड, पवेपंतं वा साइज्जइ । १७ ।

यस्मिन् धम्यमाने सुवर्णं पाने, स धातुः ।

अएणयरारं धातुं, निर्हि व आइक्खते तु जे भिक्खू ।

गिहिअस्रत्थितियाण व, सो पावति आणमादीणि । १८ ।

अस्रयरगइणातो बद्धनेदा धातुणिधानणिधीणिहितं स्थापितं,
इत्थिज्जातमित्यर्थः । तं जो मद्दाकावमतादिणा णाउं अक्खाति,
तस्स आणादिया दोसा । इमे धातुनेदा—

तिविहो य हांति धातु, पासाण रसो य मट्टिया चेव ।

सो पुण सुवण वुत्तं, वरतरकालायसादीणं ॥ १९ ॥

सपरिगइेतरो वि य, होइ निर्ही जलगओ य थलगो य ।

कयाऽकय होति सव्वो, अहिकतरं कायवहो धातुम्मि । २० ।

अथ पासाणे ज्जुत्तिणो ज्जुत्ते वा धममाणे सुवखादि पन्ति,
सो पासाणधातु, जेण धातुपाणिपण तंवगादि आसंतं सुवणा-
दि भवति, सो रसो जप्पति । जा मट्टियाजोगजुत्ता अजुत्ता वा
धममाणा सुवखादि भवति, सो धातुमट्टिया, कालायसं लोहं
आदिगइणाओ मणिरयणमोत्तियप्पवालगरादिणिहाणे इमो
विगप्पो । (सपरि) गाहा । सो गिही मण्ययदेवतेहिं परिगहितो वा
दिज्ज, अपरे ज्जो वा सो जले वा होज्ज, थले वा, जो स थये,
सो वुविधो-णिक्खतो वा अनिक्खओ वा, सव्वो चेव णिसी-
इक्खेण इविधो-कयक्खो अकयक्खो वा, रुवगामरणादि कय-
क्खो, चक्कपिण्डितं अकयक्खो । से परिगहे अधिकतरा दोसा,
कहेतस्स णिहाणगसाभिसमीवातो धातुणिहिंवसयं साधुं धा-
तुज्जायं कारवेति, एतो धातुदंसणे दोसा । इमो णिधाणे मयू-
रं कदिहंतो—

अहिकरणं जा करणं, निहिम्मि म्कोरगइणादी ।

मोरणिवंऽकियदीणा-रपिहियणिहिणाणएण ते कहिया ।

दिछा ववहरमाणा, कओ तए परंपरागइणं ॥ २१ ॥

मयूरंको णामराया, तेण मयूरंकेण अंकितं दीणारा, आहरणा-
दिया, नेहिं दीणारोहिं णिहाणं उवियं, तस्मि उचिते बद्धकालो

गतो, तं केणइ णेमिस्सिणा णिहिलक्खणेण णायं, तं तेहिं उक्खा-
यं, ते दीणारा ववहरंता रायपुरिसोहिं दिछा । सो वणिओ, तेहिं
रायपुरिसोहिं रायसमीवं णीतो । रखा पुच्छिओ-कतो एते तुब्भ
दीणारा ?। तेण कहियं-अमुगसमीवातो । एवं परंपरेण ताव णियं,
जाव जंदि उक्खंतं, तेहिं सो गहितो, दंभियो य, असंजयणिग्गहणं
अधिकरणं णिद्धिओ, क्खणेण य निसि जागरणं कायव्वं, अहवा
णिहिदंसणे अधिकरणं जागरणं णाम यजनकरणं उवाव्वचन-
धुवपुष्पावद्धिमादिकरणे अधिकरणमित्यर्थः । णिहिलक्खणे य
विभीस्सिगा-मकोरगादि वि सतुंमा भवति, तत्थ आयधिराह-
णादि रायपुरिसोहिं य गहणं, तत्थ गेएहणकइणादिया दोसा,
एत्थ इमं वितियपदं—

असिवे ओमोयरिए, रायदुत्ते भए व गेलसे ।

अच्छाण रोहकज्ज-इजातवादी पचावणादिसु ॥ २२ ॥

असिवे वेज्जो आणितो, तस्स दंसिज्जति, धातुणिहाणं वा,
ओमे असंथरंता गिहिअस्रत्थितिय सहाय वेचुं धातुं करोति, णि-
हिं वा गेएइति, रायदुत्ते एणो उवसमण्ठा सयमेव, जो वा तं
उवसमेति, तस्स वा धाउं णिधानं वा दंसेति, बोधिगादिजयतो
जो तापेति, तस्स दंसेति, गिज्ञाणकज्जे सयं गेएइति, वेज्जस्स
वा दंसेति, अद्धाणे जो णित्थारेति, रोहगे असंथरंता सहायस-
हिता गेएइति, अहवा जो रोहगे आधारचुनो, तस्स दंसेति, कु-
ळाइकज्जे वा संजतिमादिणिमित्तं वा अक्खजाते वादी वा उदा-
सीणगइण्डा पवयणपमावण्डा पूयादिकारणणिमित्तं सहाय-
सहितो गिहिअस्रत्थितियपदि धातुं णिहाणं वा गेएहेज्ज ।
नि० चू० १३ उ० ।

(२५) पादानामासर्जनप्रमासर्जनम्—

जे न्निक्खू अएणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पायं आ-
मज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ
। ११ । जे भिक्खू अएणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पाए
संवाहेज्ज वा, पझिमहेज्ज वा, संवाहंतं वा पलिगइंतं वा
साइज्जइ ॥ ११ । जे न्निक्खू अएणउत्थियस्स वा गार-
त्थियस्स वा पाए तेह्णेण वा घएण वा वसाएण वा एवणी-
एण वा मंत्वेज्ज वा, भिल्लिगेज्ज वा, मंत्वंतं वा निल्लिगंतं वा
साइज्जइ ॥ ११ । जे न्निक्खू अएणउत्थियस्स वा गारत्थि-
यस्स वा पायं लांदेण वा कक्कंण वा पोउमज्जुसेण वा उद्धोले-
ज्ज वा, उच्चट्टेज्ज वा, उद्धोअंतं वा उच्चट्टंतं वा साइज्जइ । ११ ।
जे भिक्खू अषउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पायं सी-
ओदगवियमेण वा उसिणोदगवियमेण वा उच्चोल्लेज्ज वा,
पधोएज्ज वा, उच्चोल्लंतं वा पधोयंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ।
जे न्निक्खू अषउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं आ-
मज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ ११ । जे न्निक्खू अषउत्थियस्स वा गारत्थि-
यस्स वा कायं फुमेज्ज वा एज्ज वा, जाव साइज्जइ
॥ ११ । जे न्निक्खू अषउत्थियस्स वा गारत्थियस्स
वा कायं संवाहेज्ज वा, पझिमहेज्ज वा, संवाहंतं वा पलिगइंतं

પથોવેજ્જ વા, ઉચ્છોલંતં વા પથોવંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૨૬ ॥
 જે ભિક્ખુ અણગતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો
 કાયંસિ વણં ફૂમેજ્જ વા, રણ્ણ વા, મંલેજ્જ વા, ફૂમંતં વા
 રયંતં વા મંલંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૨૭ ॥ જે નિક્ખુ અણગ-
 તિયણ વા ગારતિયણ વા અસિયણં વા અપ્પણાં કાયસિ
 ગંઠં વા પલિયં વા અરિયં વા અસિયં વા મંગદલં વા અણ-
 યરેણ વા તીલેણ વા સત્થજાણ અચ્છિદિજ્જ વા, વિચ્છિ-
 દિજ્જ વા, અચ્છિદંતં વા વિચ્છિદંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૨૮ ॥
 જે ભિક્ખુ અણગતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો
 કાયંસિ ગંઠં વા પલિયં વા અરિયં વા અસિયં વા જંગદલં
 વા અણયરેણ વા તીલેણ વા સત્થજાણ અચ્છિદિત્તા વા,
 વિચ્છિદિત્તા વા, પયં વા સોણિયં વા ણીહરજ્જ વા, વિનો-
 દિપ્પજ્જ વા, ણીહ તં વા વિનોદંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૨૯ ॥ જે ભિ-
 ક્ખુ અણગતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો કાયંસિ
 ગંઠં વા પલિયં વા અરિયં વા અસિયં વા જંગદલં વા
 અણયરેણ વા તીલેણ વા સત્થજાણ વા અચ્છિદાવેજ્જ
 વા, વિચ્છિદાવેજ્જ વા, પયં વા સોણિયં વા ણીહા-
 રાવેજ્જ વા, વિસોહિયાણ્ણ વા, સીઓદગવિયરેણ વા
 હસિણોદગવિયરેણ વા ઉચ્છોલંજ્જ વા, પથોવેજ્જ વા,
 ઉચ્છોલંતં વા પથોવંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૩૦ ॥ જે નિક્ખુ
 અણગતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો કાયંસિ ગંઠં
 વા પલિયં વા અરિયં વા અસિયં વા જંગદલં વા અણયરેણ
 વા તિક્લેણ વા સત્થજાણ વા અચ્છિદાવેજ્જ વા, વિચ્છિ-
 દાવેજ્જ વા, પયં વા સોણિયં વા ણીહારાવેજ્જ વા, વિનો-
 દિયરેણ વા આલેવણજાણ આલેપેજ્જ વા, વિલેપેજ્જ વા,
 આલિપંતં વા વિલિપંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૩૧ ॥ જે ભિક્ખુ અણ-
 ગતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો કાયંસિ ગંઠં વા
 પલિયં વા અરિયં વા અસિયં વા જંગદલં વા અણયરેણ
 વા તીલેણ વા સત્થજાણ વા અચ્છિદાવેજ્જ વા, વિચ્છિદાવે-
 જ્જ વા, પયં વા સોણિયં વા ણીહારાવેજ્જ વા, વિસોહિયા-
 ણ્ણ વા અણયરેણ વા આલેવણજાણ તેલ્લેણ વા ઘણ વા
 વાણેણ વા વસાણ વા ણવણીણ વા અઢિભેજ્જ વા,
 મંલેજ્જ વા, અઢિભગંતં વા મંલંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૩૨ ॥ જે
 નિક્ખુ અણગતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો કાયં-
 સિ ગંઠં વા પલિયં વા અરિયં વા અસિયં વા મંગદલં વા અણ-
 યરેણ વા તિક્લેણ વા સત્થજાણ વા ણિદિત્તા વા, નિદિત્તા
 વા, પયં વા સોણિયં વા ણીહારાણ્ણ વા, વિસોહિયાણ્ણ વા,
 અણયરેણ વા ધુવણવાણ ધુયાણ્ણ વા, પધુયાણ્ણ વા, ધુયા-
 વંતં વા પધુયાવંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૩૩ ॥ જે ભિક્ખુ અપ્પણો પાલુકિ
 મેયં વા અણગતિયણ વા ગારતિયણ વા અંગુલિય નિવેસિ-
 યાય નિવેસિયાય ણીહરાવઃ, ણીહરાવંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૩૪ ॥

જે ભિક્ખુ અણગતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો દી-
 હાઆં ણહસિહાઓ કપ્પાવેજ્જ વા, સંઠાવેજ્જ વા, કપ્પા-
 વંતં વા સંઠાવંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૩૫ ॥ જે ભિક્ખુ અણગતિયણ
 વા ગારતિયણ વા અપ્પણો દીહાઈં વત્થીરોમાઈં કપ્પાવેજ્જ
 વા, સંઠાવેજ્જ વા, કપ્પાવંતં વા સંઠાવંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૩૬ ॥
 જે ભિક્ખુ અણગતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો
 દીહાઈં જંધારોમાઈં કપ્પાવેજ્જ વા, સંઠાવેજ્જ વા, કપ્પાવંતં
 વા સંઠાવંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૩૭ ॥ જે નિક્ખુ અણગતિયણ
 વા ગારતિયણ વા અપ્પણો દીહાઈં સીસકેસાઈં કપ્પાવેજ્જ
 વા, સંઠાવેજ્જ વા, કપ્પાવંતં વા સંઠાવંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૩૮ ॥
 જે ભિક્ખુ અણગતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો દીહાઈં કણ-
 રોમાઈં કપ્પાવેજ્જ વા, સંઠાવેજ્જ વા, કપ્પાવંતં વા સંઠાવંતં વા
 સાહજ્જઃ ॥ ૩૯ ॥ જે ભિક્ખુ અણગતિયણ વા ગારતિયણ
 વા અપ્પણો દીહાઈં જૂરોમાઈં કપ્પાવેજ્જ વા, સંઠાવેજ્જ વા,
 કપ્પાવંતં વા સંઠાવંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૪૦ ॥ જે ભિક્ખુ અણગ-
 તિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો દીહાઈં ચક્કૂરોમા-
 ઈં કપ્પાવેજ્જ વા, સંઠાવેજ્જ વા, કપ્પાવંતં વા સંઠાવંતં વા
 સાહજ્જઃ ॥ ૪૧ ॥ જે નિક્ખુ અણગતિયણ વા ગારતિયણ
 વા અપ્પણો દીહાઈં ણકરોમાઈં કપ્પાવેજ્જ વા, સંઠાવેજ્જ
 વા, કપ્પાવંતં વા સંઠાવંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૪૨ ॥ જે નિક્ખુ
 અણગતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો દીહાઈં મસ્તુ-
 રોમાઈં કપ્પાવેજ્જ વા, સંઠાવેજ્જ વા, કપ્પાવંતં વા સંઠાવંતં
 વા સાહજ્જઃ ॥ ૪૩ ॥ જે નિક્ખુ અણગતિયણ વા ગારતિય-
 ણ વા અપ્પણો દીહાઈં કક્કરોમાઈં કપ્પાવેજ્જ વા, સંઠા-
 વેજ્જ વા, કપ્પાવંતં વા સંઠાવંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૪૪ ॥ જે ભિ-
 ક્ખુ અણગતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો દીહાઈં
 પાસરોમાઈં કપ્પાવેજ્જ વા, સંઠાવેજ્જ વા, કપ્પાવંતં વા સંઠા-
 વંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૪૫ ॥ જે ભિક્ખુ અણગતિયણ વા ગાર-
 તિયણ વા અપ્પણો દીહાઈં ઉચ્છરહાઈં રોમાઈં કપ્પા-
 વેજ્જ વા, સંઠાવેજ્જ વા, કપ્પાવંતં વા, સંઠાવંતં વા સાહજ્જઃ
 ॥ ૪૬ ॥ જે નિક્ખુ અણગતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પ-
 ણો દંતે સીઓદગવિયરેણ વા હસિણોદગવિયરેણ વા
 ઉચ્છોલાવેજ્જ વા, પથોવાવેજ્જ વા, ઉચ્છોલંતં વા પથોવંતં
 વા સાહજ્જઃ ॥ ૪૭ ॥ જે ભિક્ખુ અણગતિયણ વા ગારતિય-
 ણ વા અપ્પણો દંતે ફૂમાવેજ્જ વા, રયાવેજ્જ વા, મં-
 લાવેજ્જ વા, ફૂમાવંતં વા રયાવંતં વા મંલાવંતં વા સાહજ્જઃ
 ॥ ૪૮ ॥ જે નિક્ખુ અણગતિયણ વા ગારતિયણ વા
 અપ્પણો ઓદ્દે આમજ્જેજ્જ વા, પમજ્જેજ્જ વા, આમજ્જાવંતં
 વા પમજ્જાવંતં વા સાહજ્જઃ ॥ ૪૯ ॥ જે નિક્ખુ અણગતિયણ
 વા ગારતિયણ વા અપ્પણો ઓદ્દે સંવાહાવેજ્જ વા,

वसही, किं तु वाघातनुता लभति, ते य वाघायद्वचपडि-
वद्धा, भावपडिवद्धा, जोतिपडिवद्धा इत्यादि । पच्छजं कंठं ।

सयं करणे ताव इमेरिसो साहू करति—

जितिदिओ धिणी दक्खो, पुव्वं तक्कम्मभावितो ।

उवउचो जती कुज्जा, गीयत्थो वा असागरे ॥ १२६ ॥

इवियजएमाणो जिइदिओ, जीवदयान् धिणी. अणोणकिरि-
याकरणे दक्खो, (पुव्वमिति) गिहत्थकालं तक्कम्मभावितो णाम
तत्कर्माभिधानं स च रहकारधराणि पुत्रत्यादि, यतो प्रयोजितः,
स च उपयुक्तः कुर्यात्, मा जीवोपयानो भविष्यति. एवं तावत्
क्कम्मभावितो गीयत्थो, तस्स अभावे अगीयत्थो, तक्कम्मभा-
वितो तस्स भावे, तत्कर्माभिधानितो तस्य अभावे गीयत्थो अ-
गीयत्थो य अपंतं सव्वे वि असागरे करेति । जइ तेहि प-
दमगसंकमालंयणेहि कज्जं सम्मत्तं तदा इमा सामाचारी-

कतकज्जे तु मा होज्जा, तथो जीविविराधणा ।

मोचुं तज्जायसामाणे, सेसे वि करणं करे ॥ १३० ॥

कति परिसंमत्ते कज्जे मा जीवविराधणा जयेत्, तथो तस्मात्
साधुप्रयोगात् अतः तज्जातो सामाणे मोचुं सेसे वि करणं
विष्णासणं कुज्जा, तज्जायणं विष्णासे स्ति, मा पुढविक्काइय-
विराधणा भविस्सति अवययं । उस्सगे पत्ते अववाओ
भणति—

विनियपदमणिउणे वा, णिउणे वा केणई भवे असहू ।

वायाओ उवहिस्सा, पक्खरणं कप्पती ताहे ॥ १३१ ॥

वित्तियपदं अवधानो, तेण सयं करेति, गिहिणा कारयेति, कंठं,
जणनि-सयं अणिउणो णिउणो वा केणइय रोगान्तेण भसहू
सहुणो वा वाघानो विग्घंते च आयरियगिलाणो ति पओअणं
परो गिहत्थो जतो अण्णा पुढ्वाजिहियकारणानो असमत्थो,
ताहे तेण कारावणं कप्पंतं, तेसि गिहत्थाण कारावणं इमो
कमो-

पच्छाकम सानिगद, णिरानिगद जइएण व अमणी ।

गिहिअएणतितियए वा, गिहिपुव्वं एतरे पच्छा ॥ १३२ ॥

पच्छाकमो पुराणो पढं ताव तेण कारियज्जति, तस्स
अभावे सानिगदो गिहीयाणुव्वतो सावगो, ततो निरनिगदो
हंसणसावगो, तथो अथा भइएण असणिगिहिणा मिथ्याह-
णिना पच्छाकमादि परतित्थिया वि चउगे दक्खवा । एतेसि पुण
पुव्व गिहिणा कारयेयव्वं, पच्छा परतित्थिया अप्पतरपच्छाकम-
दोसातो ॥ १३२ ॥ नि० सू० १३० ।

जे निकखू अणउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो
पाए आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं
वा साइज्जइ ॥ १३॥ जे भिक्खू अणउत्थियएण वा गार-
त्थियएण वा अप्पणो पाए संवाहेज्ज वा, पल्लिमज्जेज्ज वा,
संवाहंतं वा पल्लिमहंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे निकखू
अणउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो पाए तेहेण
वा घएण वा वषेण वा वसाएण वा एवणीएण वा मंखेज्ज
वा, जिल्लिगेज्ज वा, मंखंतं वा जिल्लिगंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जे भिक्खू अणउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो
पाए लोप्पेण वा कंकेण वा एहाणेण वा पोउमचुएणेण वा
मिणहाणेण वा उव्वहेज्ज वा, परियहेज्ज वा, उव्वहंतं वा
परियहंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥ जे निकखू अणउत्थियएण वा
गारत्थियएण वा अप्पणो पाए सीओदगवियेण वा उसि-
णोदगवियेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उच्छोलेतं
वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥ जे निकखू अणउत्थियएण
वा गारत्थियएण वा अप्पणो पाए फूमज्ज वा, रएज्ज वा,
मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥ जे
भिक्खू अणउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो पायं
आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा
साइज्जइ ॥ १९ ॥ जे भिक्खू अणउत्थियएण वा गारत्थियएण
वा अप्पणो कार्यं संवाहेज्ज वा, पल्लिमहेज्ज वा, संवाहंतं वा
पल्लिमहंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥ जे भिक्खू अणउत्थियएण वा
गारत्थियएण वा अप्पणो कार्यं तेहेण वा घएण वा वषेण
वा वसाएण वा एवणीएण वा मंखेज्ज वा, भिल्लिगेज्ज वा,
मंखंतं वा भिल्लिगंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥ जे निकखू अणउ-
त्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो कार्यं लोप्पेण वा
कंकेण वा एहाणेण वा पोउमचुएणेण वा वषेण वा सिण-
हाणेण वा उव्वहेज्ज वा, परियहेज्ज वा, उव्वहंतं परियहंतं वा
साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे निकखू अणउत्थियएण वा गारत्थियएण वा
अप्पणो कार्यं सीओदगवियेण वा उसिणोदगवियेण
वा उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उच्छोलेतं वा पधोवंतं वा
साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिक्खू अणउत्थियएण वा गारत्थिय-
एण वा अप्पणो कार्यं फूमज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा,
फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे भिक्खू अण-
उत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो कार्यं वणं आ-
ज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ
॥ २५ ॥ जे भिक्खू अणउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अ-
प्पणो कार्यं वणं संवाहेज्ज वा, पल्लिमहेज्ज वा, संवाहंतं वा
पल्लिमहंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ जे भिक्खू अणउत्थियएण
वा गारत्थियएण वा अप्पणो कार्यं वणं तेहेण वा घएण
वा वषेण वा वसाएण वा एवणीएण वा मंखेज्ज वा,
जिल्लिगेज्ज वा, मंखंतं वा भिल्लिगंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥
जे भिक्खू अणउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो का-
र्यं वणं लोप्पेण वा कंकेण वा एहाणेण वा पोउमचुए-
णेण वा सिणहाणेण वा उव्वहेज्ज वा, परियहेज्ज वा, उव्व-
हंतं वा परियहंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे भिक्खू अण-
उत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो कार्यं वणं सीओ-
दगवियेण वा उसिणोदगवियेण वा उच्छोलेज्ज वा,

वा गारत्थियाणं वा आगमी संनिमित्तं करेइ, करंतं वा सा-
इज्जइ ॥२१॥ जे भिक्खू अस्य उत्थियाणं वा गारत्थिया-
णं वा लक्खणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे
भिक्खू अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा सुमिणं करेइ,
करंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिक्खू अस्य उत्थियाणं वा
गारत्थियाणं वा विज्जं पउंजइ, पउंजंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥
जे भिक्खू अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा मंतं पउंजइ,
पउंजंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खू अस्य उत्थियाणं
वा गारत्थियाणं वा जोगं पउंजइ, पउंजंतं वा साइज्जइ
॥ २६ ॥ नि० चू० १३ उ० ।

मार्गप्रवेदनम्—

जे भिक्खू अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा णट्ठाणं
विपरियासियाणं मगं वा पवेदेइ, संधिं वा पवेदेइ, मगाणं
वा संधिं पवेदेइ, संधिओ वा मगं पवेदेइ, पवेदंतं वा सा-
इज्जइ ॥ २७ ॥

इमो सुत्तथो—

नट्ठा पथि फिट्ठित्ता, मूढा उ दिसाविजाग मयुणंता ।
तं वि य दिसं पढं वा, पवेति विवज्जिया वनं ॥ ४८ ॥
पथि प्रनट्ठानां पण्यनं कथयति, अरुचीय वा मूढाणं दिसिभागं
अमुणंताणं वि दिसि विभागेण पढं कहेति । जतो चेव आगता
तं चेव दिसं गच्छंताणं विवज्जित्ता वल्लणं सम्भावं कहेति ॥ ४८ ॥

मगो खज्जु सगरुपट्ठो, पंथो वा तन्विज्जिता संधी ।

सो खज्जु दिमाविनागो, पवेयणा तस्स कट्ठणाओ ॥ ४९ ॥

संधी संखेयगो जतो गमिस्सति सो दिसाभागो, तं तेसि
मूढाणं पवेदेति, कथयतीत्यर्थः । सगरुमगा उज्जुसंधिसंखे-
यं पवेदेति, उज्जुसंधिसंखेयया वा सगडमगं पवेदेति, कथय-
ति स्ति वुत्तं भवति । अहवा सज्जो चेव पट्ठो मगो भवति, संधी
पथं बोधेयत्वं । अहवा पंथुगमो चेव संधी, पथस्स वा संधी
अंतरे कहेति, संधी उ वा जो वामदक्खिणो पट्ठो, तं कहेति ४९

गिहिअस्यत्थियाण व, मगं संधी उ जां पवेदेति ।

मगातो वा संधिं, संधीतो वा पुणो मगं ॥ ५० ॥

गतार्था । तेसि गिहिअणत्थियाणं मगादि कहेतो इमं
पावति—

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्ताविराहणं तहा दुविहं ।

पावति जम्हा तेणं, एते उ वए विवज्जेज्जा ॥ ५१ ॥

दुविहा आयरसंजमविराधणा, तेसि साधुविधिं तेणपहेणं
गच्छंताणं इमे अणे दोसा—

उक्कायाण विराहण, सावय तेणोविहिं वि छुविहेहिं ।

जं पावति जाता वा, पदोस तेसि तहिंओसि ॥ ५२ ॥

जं ते गच्छंता उक्काय विराहेति, स विराधंतो तं निप्पसं पाव-
ति, तेण वा पहेण गच्छंताणं ते सावयोवहं सरीरोवहितेणोवहं
पावति, (जं पावेति स्ति) जं वा ते गच्छंता अणेसि उवहं करेति,

जतो वा ते अणिछिदिट्ठतो स्वयं पावंति, ततो ते तस्स पथवि-
हंगस्स साधुस्स अणस्स वा साधुस्स पदोसमावज्जेति, अम्हे
पडिणियत्तणेण परिसपंथं बूढा, इमेणं पंतावणादि करेज्ज ।
अधवा दातो विधेज्ज ॥

वितियपदमणप्पज्जे, पावे अवि को वि ते व अप्पज्जे ।

अप्पाण असिव अहिओ—गआतुरादीसु जाणमवि ५३ ॥

खित्तादिगो अणप्पज्जो सेहो वा, अवि कोवि नो विधेज्ज, अ-
प्पज्जे वि अट्ठाणे वा सत्थस्स पढं अजाणतस्स विधेज्ज । अ-
सिवे गिलाणकज्जे वा वेज्जस्स कप्पियारिस्स वा आणिज्ज-
तस्स पंथमुवदिसति । अभियोगो स्ति वल्लारातिणा देसितो गहि-
ते एवमादिकरणेहिं जाणंतो वि कहेतो सुद्धो ॥ नि० चू०
१३ उ० ॥

(२८) [वाचना] अन्ययूथिकाः पाखण्डिनो गृहिणः सुख-
शीला वा न प्रव्राजनीयाः—

जे भिक्खू अणत्थियाणं वा गारत्थियं वा वाएइ,
वायंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खू अणत्थियं वा
गारत्थियं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥
जे भिक्खू पासत्थं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥
जे भिक्खू पासत्थं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥
जे भिक्खू उसणं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ । २९ ॥ जे
भिक्खू उसणं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ । ३० ।
जे भिक्खू कुसीलियं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ । ३१ ।
जे भिक्खू कुसीलियं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ
। ३२ । जे भिक्खू णितियं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ
। ३३ । जे भिक्खू णितियं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ,
। ३४ । जे भिक्खू संसत्तं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ
। ३५ । जे भिक्खू संसत्तं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइ-
ज्जइ । ३६ ।

एवं पासत्थे दो सुत्ता, उसणे दो, कुसीले दो, संसत्ते दो, णि-
तिये दो, एतेसि वायणं देति, पडिच्छति, जावत्तेण वा सच्चेसु
अट्ठाच्छंदवज्जिएसु चरलहुं, अहवा अत्थे व अट्ठाच्छंदं चउगुदं,
सुत्ते अत्थेसु—

आप्पापासंभिय गिही, सुहसीलं वा वि जो उ पव्वज्जे ।

अहव पडिच्छति तेमि, चाओस्स य साति पोरंसि ॥ २२४ ॥

(पोरिसि स्ति) सुत्तपोरिसि अत्थपोरिसि वा दैतस्स, तेसि
वा समीचातो पोरिसि करंतस्स, अहवा एक्को पोरिसि वापंत-
स्स, अणेगासु इमं—

मतरत्तं तवो होति, ततो वेदो पहावति ।

वेदेण त्तिमपरिया, एतो मूलं ततो दुगं ॥ २२५ ॥

सत्तदिवसे चउगुदं तवो, ततो एक्के दिवसे चउगुदं वेदो,
ततो एक्केक्कादिवसे मूळणवट्ठा पारंछिया, अहवा तवो, तहेव य
चउगुदं, वेदो, सत्तदिवसे सेसा, एक्केक्के दिवसं अहवा तवो
तहेव । गुरु, वेदो, सत्तदिवसे, सेसा एक्केक्के, अहवा चउगुदो

पलिमद्वावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पलिमद्वावंतं वा साइज्जइ । ५३ । जे भिक्खू अस्यउत्थिएण वा गार-
 त्यिएण वा अप्पणो ओट्ठे तेहेण वा घएण वा वणएण
 वा वसाएण वा एवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगा-
 वेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ । ५४ । जे
 भिक्खू अस्यउत्थिएण वा गारत्यिएण वा अप्पणो ओट्ठे
 लोप्पेण वा कक्केण वा एहाएण वा पउमचुम्भेण वा वणे-
 ण वा उट्ठोलावेज्ज वा, उव्वट्ठावेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा
 उव्वट्ठावंतं वा साइज्जइ । ५५ । जे निक्खू अस्यउत्थिएण वा
 गारत्यिएण वा अप्पणो ओट्ठे सीओदगवियेण वा उमि-
 णोदगवियेण वा उट्ठोलावेज्ज वा, पथोवाएज्ज वा, उट्ठो-
 लावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ । ५६ । जे भिक्खू अण-
 जत्यिएण वा गारत्यिएण वा अप्पणो ओट्ठे फूमावेज्ज वा,
 रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखा-
 वंतं वा साइज्जइ । ५७ । जे निक्खू अस्यउत्थिएण वा गार-
 त्यिएण वा अप्पणो अच्चिणि आमज्जावेज्ज वा, पमज्जा-
 वेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । ५८ । जे
 भिक्खू अस्यउत्थिएण वा गारत्यिएण वा अप्पणो अ-
 च्छिणि संवाहावेज्ज वा, परिमद्वावेज्ज वा, मंवाहावंतं वा
 पलिमद्वावंतं वा साइज्जइ । ५९ । जे निक्खू अस्यउत्थिएण
 वा गारत्यिएण वा अप्पणो अच्चिणि तेहेण वा घएण
 वा वणएण वा वसाएण वा एवणीएण वा मंखावेज्ज
 वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं
 वा साइज्जइ । ६० । जे निक्खू अस्यउत्थिएण वा
 गारत्यिएण वा अप्पणो अच्चिणि लोप्पेण वा कक्केण
 वा एहाएण वा पउमचुम्भेण वा वणेण वा उट्ठो-
 लावेज्ज वा, उव्वट्ठावेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा उव्वट्ठावंतं
 वा साइज्जइ । ६१ । जे भिक्खू अणजत्यिएण वा गार-
 त्यिएण वा अप्पणो अच्चिणि सीओदगवियेण वा
 उमिणोदगवियेण वा उट्ठोलावेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा,
 उट्ठोलावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ । ६२ । जे भिक्खू
 अणजत्यिएण वा गारत्यिएण वा अप्पणो अच्चिणि
 फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रया-
 वंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । ६३ । जे निक्खू
 अणजत्यिएण वा गारत्यिएण वा अप्पणो अच्चिमज्जं
 वा कएणमलं वा दंतमलं वा णहमलं वा णीहरावेज्ज,
 णीहरावंतं वा साइज्जइ । ६४ । जे निक्खू अणजत्यिए-
 ण वा गारत्यिएण वा अप्पणो कायाउसेयं वा जलं वा पं-
 कं वा मल्लं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहावेज्ज वा, णीहरावं-
 तं वा विसोहावंतं वा साइज्जइ । ६५ । जे भिक्खू गामाण-

गामं दुइज्जमाणं अणजत्यिएण वा गारत्यिएण वा
 अप्पणो सीसदुवारियं करेइ, करंतं वा साइज्जइ । ६६ ।
 सुत्तथो जहा ततिउहेसगे, तहा भणियच्चं, णवरं अस्यउत्थिएण
 कारवेइ चि वस्तव्वं । एवं प्रलम्बाधिकारः समाप्तः ।
 पादप्पमज्जणादी, सीसदुवारादि जो करेज्जाहि ।
 गिहिअस्यतिथिएहिं व, सो पावति आणमादीणि । ५८ ।
 तेहिं अणजत्यिएहिं गारत्यिएण वा कारवेइतस्स खु किं
 कज्जं ? उच्यते-

कुज्जा व पच्छकम्मे, से य मलादीहिं होज्ज व अवएणो ।
 संपातमेव होज्जा, उच्चोद्वणजावणे कुज्जा । २५६ ।

ते साहुस्स पावे पमज्जिता पच्छाकम्मं करेइ, साहुस्स प्रस्वेदं
 मलं वा ददुं धाणं वा तेसि अघाइकण असुइ, इति अवधं भासे-
 ज्ज, अजयणाए वा पमज्जंता संपातमेव होज्ज, बहुणा वा दजे
 अजयणाए धोवंता उच्चोद्वणदोसं करेज्जा, सुमि टिए वा
 पाणी कावेज्ज, इमो अववादो ॥ २५६ ॥

वितियपदमणप्पजो, कारेज्जवि कोवि ते वि अप्पजं ।
 जाणंते वा वि पुणो, परझिगे सेहमादीसु ॥ २५७ ॥

अणप्पभो कारवेज्जा, सेहो वा अजाणंता कारवेज्जा, कारणेण
 वा परलिगे गहिते परलिगिभज्जहिओ कारवेज्जा, सेहो वा उव-
 चितो जाव ण दिक्खिज्जति तेण कारवेज्जा । २५८ । किंचान्यत्-

पच्छाकम्मादीहिं, विस्सामावेउ यदि उज्जातो ।

पणविज्ज भाविताणं, सति देइ इत्यकप्पं तु ॥ २५९ ॥

साहुण अभावे पच्छाकम्मेण, आदिसहातो गिहीयाण्वण
 दंसणं, सावणेण वा एतेहिं विस्सामय, को विस्सामाविज्जा ? वा-
 दी वा अच्चाणगतो वा उज्जातो भ्रान्तः । जे भाविता ते पणवि-
 ज्जंति । साधूनां पादरजः श्रेष्ठमाङ्गल्यं शिरसि धारयन्ते न दोषः ।
 जे पुण अभाविता तेसि सति मधुरपवणविज्जमानेन इत्यकप्पो
 तेसि दिज्जति, मा पच्छाकम्मं करिस्सं । नि० चू० १५ उ० ॥

('अस्यमणकिरिया' शब्दे संवाधनपरिमर्दनसूत्राणि वक्ष्यन्ते)

(२७) भूतिकर्मादि-

जे भिक्खू अस्यउत्थियाणं वा गारत्यियाणं वा नूइकम्मं
 करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे निक्खू अस्यउत्थि-
 याणं वा गारत्यियाणं वा पसिणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ
 ॥ १५ ॥ जे निक्खू अस्यउत्थियाणं वा गारत्यियाणं वा
 पसिणापसिणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥ जे भि-
 क्खू अस्यउत्थियाणं वा गारत्यियाणं वा पसिणं कहेइ,
 कहंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥ जे निक्खू अस्यउत्थियाणं वा
 गारत्यियाणं वा पमिणापसिणं काहेइ, काहंतं वा साइज्जइ
 ॥ १८ ॥ जे भिक्खू अस्यउत्थियाणं वा गारत्यियाणं वा
 तीतनिमित्तं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥ जे भिक्खू
 अस्यउत्थियाणं वा गारत्यियाणं वा पमिपुसं निमित्तं करेइ,
 करंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥ जे निक्खू अस्यउत्थियाणं

चादति से परिवारं, अकरेमाणे मणादिवासद्ध ।

अव्वो च्छिन्तिकरस्स उ. सुयज्जत्तीए कुण्ह प्यं ॥३९॥

दुविहाऽसति एतेसिं, आहारादीं करोति सव्वं तो ।

पणिहाणी व जयंते, अत्तद्धा एवमेव गण्हंतो ॥ ३६ ॥

जो तस्स परिवारो पासत्थादियाण वामी स परिवारो सहावि संताण करैति, असंता वा णत्थि सहा, एव असती एसो सि-
क्खगो आहारादि सव्वं पणं परिहाणीते जयणा, तं तस्स
विसोहिकोमीहिं सयं करैता सुत्थति, अप्पणो वि एमेव पुव्वं
सुद्धं गेएहति । असति सुद्धस्स पच्छा विसोहिकोमीहिं गेएहंतो
सिक्खति, अववादपदेण वसुज्जइ । नि० चू० १९ उ० ।

(९) विचारभूमेर्विहारभूमौ निष्क्रमणम्-

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा बहिया विचारभूमिं वा विहा-
रभूमिं वा णिक्खममाणे वा पविसमाणे वा णो अणउत्थि-
एण वा गारत्थिएण वा परिहारियो वा अपरिहारिएणं
सद्धिं बहिया विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खमेज्ज
वा, पविसेज्ज वा ॥

(से भिक्खु वेत्यादि) स त्रिचुर्वहियिचारभूमिं संज्ञायुत्सर्ग-
भूमिं तथा विहारभूमिं स्वाध्यायभूमिं तैरन्यतीर्थिकादिभिः सह
दोषसंज्ञवान्न प्रविशेदिति संबन्धः । तथाहि-विचारभूमौ प्राप्ति-
कोदकस्वच्छवह्मपनिर्भेपकृतोपघातसद्भावादिविहारभूमौ वा सि-
क्खान्तालापकविकथनजयात्, सेहायसहिष्णुकलहसद्भावाच्च
साधुस्तु तैः सह न प्रविशेत्, नापि ततो निष्क्रामेदिति । आचा० २
भु० १ अ० १ उ० ।

जे निक्खु अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ
वा अपरिहारिएण वा सद्धिं बहिया विहारभूमिं वा विचार-
भूमिं वा निक्खमइज्ज वा, पविसइज्ज वा, निक्खमंतं वा प-
विसेतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

(जे भिक्खु अणउत्थियेत्यादि) सम्मावोत्तरिणं विचारभूमि-
असज्जाप सज्जायभूमि जा सा विहारभूमि, सा उज्जामगपोरि-
स्सि वि भळति णो कप्पति । “ एत्तो एगतरेणं ” गाहा केण ।

वीयारभूमिदोसा-संका अपवत्तणं कुरुक्या वा ।

दवअप्पकनुसगंघे, असती व करेज्ज उट्ठाहं ॥३०२॥

वीयारभूमि असती, पणिणीए तेण सावए वा वि ।

रायहुटे रोधग, जयणाए कप्पते गंतुं ॥ ३०३ ॥

विचारभूमिप पुरीसा वा, तसद्योए अ दोसासंका (अपव-
त्तणं ति) अपवत्तं य मुत्तणिरहे त्रीणि सख्यादिप मट्ठि-
याए बहुदवेण य कुरुक्या करेयव्वा, एत उज्जोलये ओप्पील-
णादी दोसा । अह कुरुक्यं ए करेति, उट्ठाहो अप्पणे वा दवेण
कलुसेण वा दवेण णिद्धेयंतं दंठं चउत्थरसियादिणा वा गंधि-
ल्लेण अभावे वा दवस्स अणुल्लेविते जणपुरओ उट्ठाहं करेज्ज,
जम्हा पते दोसा तम्हा तेहिं सद्धिं ण गंतव्वं, अववादपए जे
वउज्ज । (विचार) गाहा । अणओ विचारभूमिप असति जदि ते
गिहत्थअणउत्थिया वदंति, ततो वपज्ज, जतो अणावातमसं
लोभं ततो इमे पडिणीनएण सावयवोधितदोसा । अंतरे

तत्थ वा थंभिले गतस्स, अतो गिहत्थेहिं समं गटे, ते निवारैति,
रायहुटे रायगल्लभेण समाणं गम्मइ, राहपपगा चेव सएणा-
भूमि परिसोहिं कारणेहिं जयणाए गम्मति, सा य इमा जयणा-
पच्छाकडत्तदंसण, अससिगिहिए तओ कुल्लिगीसु ।

पुव्वमसोयवादिमु, पउरदवेमट्ठिया य कुरुया य ॥ ३०४ ॥

पुव्वं पच्छाकनेसु गिहीयाणुव्वपसु तेसु चेव दंसणसावपसु
ततो एसु चेव कुत्तिथिएसु ततो अससिगिहत्थेसु ततो कुल्लि-
गिएसु असएणीसु सव्वासु सव्वेसु पुव्वं असोयवादिमु पच्छा
सोयवादिमु दूरं दूरेण परं मुट्ठो डुवे लववज्जितो पउरदवेणं म-
ट्ठियाए य कुरुक्यं करैतो अ दोसो ।

एमेव विहारम्मी, दोसा उट्ठं चगादिया बहुधा ।

असती पणिणीयादिमु, त्रितयं आगाढजोगिस्स ॥ ३०५ ॥

विहारभूमिप वि. प्रायशः एत एव दोषाः । उरुञ्चकादयश्च अ-
धिकतरा बहवः । अन्ये उरुञ्चका कुट्टिदा उट्ठंति वा वंदनादिषु
प्रत्यनीकादिद्वितीयपदं पूर्ववत् । चादको भणति-जयंति-
दोसा तत्थ तेहिं सामणं गंतुं वित्थियपदेण विसज्जाओ मा की-
रउ । आयरिओ भणति-आगाढजोगिस्स उदेससमुदेसादओ
अवस्सं कायव्वा, उवस्सए य असम्भावोहिं पणिणीयादि, अतो
तेण समाणं गंतुं करैतो सुद्धो । नि० चू० २ उ० ।

(३०) विहारः-

से निक्खु वा निक्खुणी वा गामाणुगामं दूज्जमाणे णो
अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ अपरिहा-
रिएण वा सद्धिं गामाणुगामं दूज्जज्जा ॥ ४१ ॥

तथा (से निक्खु वेत्यादि) स भिक्कुग्रीमाद् ग्रामान्तरम्, उप-
लक्षणार्थत्वाभगरादिकमपि (दूज्जमाणे स्ति) गच्छन्नेभिरन्य-
तीर्थिकादिभिः सह दोषसंज्ञवान्न गच्छेत् । तथाहि-कायिकादि
निरोधे सत्यात्मविराधना, व्युत्सर्गे च प्रासुकाप्रासुकग्रहणादावु-
पघातसंयमविराधने भवतः । एवं भोजनेऽपि दोषसंज्ञो जाय-
नीयः, सेहादिविप्रतारणादिदोषश्चेति । आचा० २ भु० १ अ० १ उ० ।

जे निक्खु अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ
वा अपरिहारिएहिं सद्धिं गामाणुगामं दूज्जइ, दूज्जंतं वा
साइज्जइ ॥ ४१ ॥

ग्रामादयो ग्रामो ग्रामानुग्रामम् । शेषः पूर्वसुत्रार्थवत् ॥ ४१ ॥

णो कप्पनि निक्खुस्सा, परिहारस्सा उ अपरिहारिणं ।

गिहिअसत्तिथिएण व, गामाणुगामं नु विहरिचा ॥ ३०६ ॥

एत्तो एगतरेणं, सहितो दूज्जती तु जे निक्खु ।

सो आणाअणवत्तं, मिच्छत्तविगहणं पावे ॥ ३०७ ॥

“ उरु गतौ ” दूज्जइति रीयति, गच्छतीत्यर्थः । रीयमाणो ति-
थगराणं आणं आणम्मि जे अणवत्तं करेति, मिच्छत्तं अर्धेसिं
जणयति, आयरियसंजमविराहणं पावति । इमं च पुरिसवि-
ज्जाणेण पच्छित्तं-

मासादीया गुरुगा, मासो अविसेसियं चउएहं पि ।

एवं सुत्ते पत्या-ए होति सट्ठाण पच्छित्तं ॥ ३०८ ॥

अगीयत्थनिक्खुणो गीयत्थभिक्खुणो उवज्जायस्स आयरिय-

वा सत्तदिवसे, ततो चउगुरु, ततो सत्तदिवसे, ततो उल्लह
सत्तदिवसे, ततो उगुरु सत्तदिवसे, ततो एते चेव, वेदो
सत्त सत्त दिवसे, ततो मृगणवद्वपपरिचया एफक-
कदिणं, अहवा ते चेव चउलहुगादिगा सत्तसत्तदिवसिगा, ततो
वेदो, अहुपणगादिगा सत्तसत्तदिवसिगा सत्तसत्तदिवसेणयन्वा,
जाव उगुरु, ततो मूलगुणवद्वपपरिचया एफककदिवसं;
गिदिअसुत्थित्थियसु इमे दोसा ।

मिच्छत्तथिरीकरणं, तित्थिस्सोत्तावणा य गेएहं तु ।
देति पवंचणकरणं, तेणोवक्खेवकरणं च ॥ २६ ॥

कहं मिच्छत्तं थिरतरं ? उच्यते-तं ददुं तेसिं समीवे गच्छं मिच्छ-
दिठी चित्तेति-इमे चेव पहाणतरा जाता, एते पि एतेसिं समीवे
सिक्खन्ति, होगो ददुं भण्णाति, एतेसिं अप्पणो आगमो णत्थि,
परे संति, ताणि सिक्खन्ति, णिस्सारं पवयणं ति ओभावणा, अह
तोसिं देति, ना ते सहइत्थ्यादिनाथिता महाजणमध्ये चट्टं चोरं
बुद्धा विलियासणय करीसए पिलुअए चि । एवमादि पवंचणं
करंति उद्गहं च, अहवा तेणोवसिप्पिकरण भक्खेवेति, चोयणं
करेज्जा, दूसेज्जा वा २२६ ॥

गिदिअसुत्थित्थियाणं, एए दोसा व दंत गेएहंते ।

गहणपनिच्छण दोसा, पासत्थादीणि पुच्छत्ता ॥ २७ ॥

कंठा, णवरं पासत्थादिसु गहणपनिच्छणदोसा जे ते एएणरस-
मे उद्देसगे बुत्ता, ते दहव्या, वंदणपसंसणादिया वा तेरसमं
जम्हा एते दोसा तम्हा गिदिअसुत्थित्थिया वा ण चाएयव्या,
परपासंसिलक्खणं जो अक्खणं मिच्छत्तं कुव्वंते कुत्तित्थिए
वा एति, जिणवयणं वा णाजिगच्छति, सो परपासंती, जो पुण
गिही अएणत्तिथिओ वा इमेत्थिओ-

नाणचरणे पक्खण, कण्ठति गिही अहव अएण पासंती ।

पयएहिं संपउत्तो, जिणवयमएणासगती जाति ॥ २८ ॥

णाणदंसणचरित्ताणि पक्खेति । जिणवयणचोरो एति सो सं.
पासंती चेव सो वाइज्जइ, जं तस्स जोग्गं ॥ २२८ ॥

एते व त्रिपमुक्को, गच्छति गति अएणत्तिथीणं ।

पवज्जाए अजिमुह, एति गिही अहव अन्नपासंती ॥

उववायविहारं वा, पासत्था ओवगंतुकामं वा ॥ २९ ॥

जो असुत्थित्थियाणुक्खा गती, तं गच्छति, सेसं कंठं, जवे कार-
णं वा पज्जा वि(पवज्जाए) गाहा । गिही अन्नपासंती वा पव-
ज्जाजिमुहं सावणं वा उज्जीवणिपत्ति जाव सुत्तयो, अत्थतो जाव
पिडेसणा, एस गिहत्थादिसु अववादो, इमो पासत्थादिसु अववा-
दो ति चि वग्रसंपदा उज्जपविहारीणं उवसंपणो जो पासत्था-
दी सो उववादविहारद्वितो तं वा चापज्ज, अहवा पासत्था दि-
साणजो संविग्गविहारं उवगंतुकामो, अण्णुत्थिकाम इत्यर्थः ।
तं वा पासत्थादिमावठितं चेव चापज्जा जाव अण्णुत्थेति, एवं
मायणा दिट्ठा, तेसिं समीवातो गहणं कहं होज्जा ? उच्यते-

वित्थियपदसमुच्चेदो, दसाहि ते तहा पक्कंति ।

असुत्थ व असतीए, पक्कमंते व जयणाए ॥ ३० ॥

जस्स जिक्खुस्स णिरूपपरिया उवद्वित्ति, णिरूपपरियागो गाम
११५

जस्स तिथि वरिसाणि पगियायस्स संपूराणि, तस्स य आया-
रपगणो अधिज्जियव्वो, आयरियाय कालगते एसेव समुच्चेदो ।
अहवा कस्सइ साहुस्स आयारपगण्यस्स देसेण अणधीते स-
मुच्चेदो य जाओ, एतेसिं सव्वो आयारपगण्यो पढमस्स वित्थिय-
स्स य देसो य अवस्सं अधिज्जियव्वो, सा कस्स पासे अधि-
ज्जियव्वो । उच्यते-

संविग्गपच्छाकमत्ति-च्छपुत्तसारुवि पक्कंते ।

अण्णुत्थित्ते अ असती, अणिच्छेसु तत्थ वति देसा वीति ॥ ३१ ॥

सगच्छे चेव जो गीयत्था, तेसिं असति परगच्छे संविग्गम-
ण्णसगासे, तस्स असति परगच्छे संविग्गमण्णस्स, ताहे भ-
अस्स वि असति पत्ति पत्ति, अन्नसंभोइयस्स वि असति पत्ति,
अन्नसंभोइयस्स वि असावणिआदि उक्कमेणं असंविग्गं सु तेसु
वि णितियादिगाणाओ आवकहाए पक्कमाविस्सा, अणिच्छि
जाव अहिज्जइ, ताव पक्कमाविस्सा, तहा वि अणिच्छे तस्सेव
सगासे अहिज्जइ, सव्वत्थ वंदणादीणि न हावेइ । पसेवजयणा
तेसिं असतीए पच्छाकमादिसु पच्छाकमो चि, जेण चारिं प-
च्छाकंठं भिक्खंतो भिक्खं हिन्इ वा, न वा सारुविगो पुण
मुक्खितवत्थपरिहिओ मुंमसिहं धरेइ । अभज्जो अप-
चादिसु जिक्खं हिन्इ । अएणे मण्ठि-पच्छाकमसिक्खपुत्ता
चेव जे असिहा ने सारुविगा, एएणि सगासे सारुविगाइ प-
च्छाणुलोमणं अधिज्जति, तेसु सारुविगादिसु पडिक्कंते अण्णु-
त्थि चि सामानियपडिक्कंता प्रतारोपितो अण्णुत्थिओ, अहवा प-
च्छाकमादिएसु पक्कंतेसु एते सव्वे पासत्थादि पच्छाकमा-
दिया य अण्णं सेसं एउ पक्कमाविज्जति, (अणिच्छेसु तत्थ व-
तिदेसा वीति चि) । अस्य व्याख्या-

देसो सुत्तमहीयं, न तु अत्या अत्थितो व असमत्ती ।

असति मण्णुसमण्णुसे, इयरेतरपक्खीयमपक्खीयं ॥ ३२ ॥

पुव्वं कंठं । (असति मण्णुसमण्णुसे चि) पयं गच्छति (इतरे-
तर चि) असति णितियाण इतरा संसत्ता, तेसिं असति इतरा
कुशीला एयं णायव्वं, एसो वि अत्थो गच्छे चेव तेसु वि पुव्वं
जेसि विग्गापरिकएसु इमेत्थि, जे पच्छाकमादिया मुंनं वा
गा ते पच्छाकमादिया । जावज्जीवाए भिक्कमाविज्जति
जावज्जीवमणिच्छेसु जाव महिज्जति, तह वि अणिच्छेसु जदि ।

मुंनं व धरेमाणे, सिहं च पडित्ताणित्थासिस्साह ।

लिंगेण मसागरिण, ण वंदणादीणि होवेति ॥ ३३ ॥

(मुंनं धरे चि) तारयोहरणादि दव्वलिगं दिज्जति, जाव उद्दे-
साद् करेइ, सा सहस्सवसिहं फेनेतु । एमेव दव्वलिगं दिज्जति,
अणिच्छि सु दव्वलिगं वा णो इच्छति फेनेतु, सो स सिहस्सेव
पासे अधिज्जत सखिगे ठिओ चेव असागरिण पएसेसु य
पुयत्तिकाओ वंदणाइ सव्वं ण हावेइ, तेण वि वारयव्वं पच्छा-
कमयस्स पासत्थादिसुयस्स वा जस्स पासे अधिज्जति, तत्थ
वेयावव्वं ण करे । इमो विही-

आहार उवहि सेज्जा-एसणमादीसु होति जतियव्वं ।

अण्णुपेयणकारावण, सिक्खति य पदम्मि सो मुच्छो ॥ ३४ ॥

अदि तस्स आहापादिया अत्थितो, पहाणं अइ अत्थि, ताहे
सव्वं अप्पणा एसणज्जं आहारादि उप्पाययव्वं, अप्पणा
असमत्तो-

ततो मिच्छं अणभिग्गहाभिग्गहियं । नि० चू० १३ उ० ॥

(३२) [संघाटीसीवनम्] अन्ययूथिकादिभिः संघाटीं
सीवयति—

जे भिक्खू अप्पणो संघानियं अस्यउत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा सीवावेइ, सीवावंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

अप्पणो अप्पणिज्जं संघाटीं याम सवरी सरहसति ति काक-
ण दोहिं अंतहिं मज्जे य जदि अस्यउत्थिएण स सरहसादिणा
गिहत्थेण तुष्ठागादिणा संसिद्धावेइ अप्पणेण ॥ १२ ॥

शिकारणम्मि अप्पण, कारणे गिहि अधव अस्यतित्थीहिं ।
संघाडिं सीवावे, सो पावति आणमादीणि २५ ॥

जदि शिकारणे अप्पणा सीवेति, कारणे वा अणउत्थियगार-
त्थिएहिं सिव्वावेति, तस्स मासलहुं, आणादिया इमे दोसा-
णिकारणम्मि लहुगो, गिज्ञाण आरोवणा पविट्ठम्मि ।

अप्पइकाईसजमे, कारणमुच्छो खलु विधीए ॥ २६ ॥

विदे आयविराहणा छप्पतियवाधमसंजमविराहणा, कारणे
वि दीए सयं सिव्वंतो सुद्धो । चोदग आह-पढमुद्देसगे परकरणे
मासगुवं वक्षियं, इह कइं मासलहुं भवति । आयरिय आह-

कामं खलु परकरणे, गुरुमासो तु वक्षिओ पुव्वं ।

कारणियं पुण सुचं, सयं वड्ढाणायते लहुओ ॥ २७ ॥

योगधुणममुंचंते, पलिमंथो उग्गमो तु पनियत्थो ।

एगस्स वि अक्खंवे, अवहारो होति सव्वेसिं ॥ २८ ॥

कामं अणुमयत्थे, खलु पूरणे, पुव्वं पढमुद्देसप, इह तु कार-
णिए सुत्ते अप्पणो अणुसाते परेण सीवावंतस्स मासलहुं,
सवडिय इमे दोसा । (योगधुणे) गाहा । जदि यइं पडिलेहंति
अयोगरुवधूणणदोसा, अह वंधी मोत्तुं पडिलेहंति पुणो वं-
धति, सुत्तयपलिमंथो भवति, पडियत्थो उग्गमो णेगेण,
अक्खिचे एगे वि सव्वेसिं अपहारो भवति, अकारणे सि-
व्वये य इमा दोसा-

सयसिन्वणम्मि चिट्ठं, गिलाणआरोवणा तु सविसेसा ।

डिज्जति य संजमम्मी, सुत्तादी अकरणे इमं च ॥ २९ ॥

अप्पणो सिव्वंतो सूयीपविद्धो ताहे गिलाणारोवणा सवि-
सेसा सपरितावमहादुक्खा छप्पतियवाधे असंजमो भवति,
तत्थ लहुगो सुत्तयपोरसिं य करेति, जहासंखं सुत्तयासे इहं
अत्थं नासेइ, काइमं व परकारवणे दोसवंसयं ।

अविसुद्धाण काया, पप्फोरुण अप्पया य वा तीय ।

पच्छाकम्मं वसिया, अप्पति वेधो य हरणं च ॥ ३० ॥

अविसुद्धाणं अपुढवीकायादियाणं उवरिं ठवेति, कायवि-
राहणा, पप्फोडणे छप्पया पडंति, वाउसंघट्टणा य घाणावडि-
यवज्जिएण देससव्वण्णाणं करेज्ज, छप्पया उवाविधेति,
अप्पणो वा ऊरुयं विधति, हरेज्ज वा तं संघाडिं । इदाणि
अप्पणो सिव्वणकारणं भण्ति—

वितियं तु चइमुट्टोरगा, य गेलम्भविसमवत्थे य ।

एतंहिं कारणेहिं, संसिन्वणमप्पणा कुज्जा ॥ ३१ ॥

बुद्धी तस्स हत्था वा पाया वा कंपति, न तरति पुणो रसं उव्वेज्जं,

अधवा उट्टोरगा गिलाणो वा न तरति, पुणो २ संउव्वेज्जं विस-
मवत्थाणि वा एगं सीविज्जंति, एतेहिं सयं सीवंतो सुद्धो, ज-
इषेण तिरिण वंधा, एको दंसंते, वितीओ पासंते, ततियो सज्जे
वि । तिषि उक्कोसेण उ भवंति, कारणे अणउत्थिएण सि-
व्वावेति ।

वितियपदमण्डिते वा, णिउणे वा होज्ज केण वी असह ।

वाघातो व सहस्सा, परकरणं कप्पती ताहे ॥ ३२ ॥

अप्पणा अणित्थो वा असह गिलाणवाघातो गिलाणाति, पओ-
यणेण वा वंरी एवं पओए कारवेज्जं कप्पति, इमाए जयणाए-
पच्छाकनसाभिग्गह-णिरज्जिग्गह जइएण व असएणी ।

गिहिअएणतित्थिएहिं, असोयसोए गिही पुव्वं ॥ ३३ ॥

पच्छाकनो पुराणो पढमं तेण ततो अणुव्वयसंपणो सावओ
साभिग्गओ, ततो सरणी भइओ, असएणी भइओ, एते चउरो
गिहिजेदा । अणउत्थिं एए चउरो जेदा एक्के असोयसोय
जेया कायव्वा, पुव्वं गिहीसु, पच्छा सोयवादिपु, पच्छा अण-
तित्थिएसु । नि० चू० ५ उ० ।

जे भिक्खू निगंथीणं संघानी अणउत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा सिव्वावेइ, सिव्वावंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

अणउत्थिएण गिहत्थेण सिव्वावेति, तस्स चउलहु, आणादि-
या य दोसा ।

संघानीओ चतुरो, तिपमाणा ता जवे दुविहा ।

एगमणेगं छम्मी, अहिकारोऽणोगखंणीए ॥ ५१ ॥

प्रायेण (संघडिज्जति ति) संघानी गुणसंघायकारिणी वा, सं-
घानी देसीभासातो वा पाउरणे संघानी, ततो संघा, पमा-
णेण चउरो प्रमाणेन तिपमाणाणा एगा इहत्था वीहा, इ-
हत्थविथारा सा उ उव्वस्सए अत्थमाणीए भवति, दोतिहत्थ-
वीहा, तिहत्थविथारा, तत्थेणा भिक्खायरियाए, धितिया बियारं
गच्छती पाडणति, चउहत्थ चउहत्था वीहा, चउहत्थविथारा,
एया सव्वा वि पासगल्ला पुणो एक्केक्का दुविहा । पच्छा
कंठं ॥

तं जो उ संजतीणं, गिहीण अहवा वि अणउत्थीणं ।

सिव्वावेती भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥ ५२ ॥

तं संजती संजतेयं संघाडिं जो आयरितो गिहत्थेण अणउत्थि-
एण वा सिव्वावेति, तस्स आणादिणो दोसा ।

कुज्जा वा अजियोगं, परेण पुट्टे व संकि उट्टाहो ।

हीणाहियं व कुज्जा, अप्पइणा संहरिज्जा उ ॥ ५३ ॥

सो गिही अणउत्थी वा तत्थ वसीकरणप्पयोगं करेज्ज, अ-
क्षेण वा पुट्टो-कस्स संतियं वत्थं । सो कधिज्ज संजती-संज-
तियं, ताहे तस्स संको भवति, उट्टाहं वा करेज्ज, नूणं को विसं-
बंधो अत्थि, तेण एतो सिव्वेति, प्रमाणेण हीणमहीणं वा करेज्ज,
छप्पयातो उट्टेज्ज, मारेज्ज वा, तं वा संघानि करेज्ज, सिव्वंतो
वा चित्तो तत्थ परितावणादिनिष्फलं अप्फोसणादि वा पच्छा-
कम्मं कुज्जा, जम्हा एते दोसा तम्हा इमो विही-

द्विषपरिकम्मितं खलु, अणुज्जलवहिं तु गणहरो देति ।

गुज्जोवहिं तु गणिणी, सिव्वेति जहारिहं मिणं तु ॥ ५४ ॥

ज अतिप्पमाणं तं विदंति, उ कुतिमादिणा परिकम्मियं अ-

स्स एनोसि चउपह वि मासादी चउगुरु मन्, अइवा मासउणुं
चेव तवकालविसेसियं । अइवा अविसेसियं चेव मासउणुं । चोद-
ग-आइ-फि णिमिसिमिह सुत्ते पुरिसविभागेण पच्छित्तं दिण्णं ।
आचार्य्य आह-सर्वसूत्रप्रदर्शनार्थम् । एवं सुत्ते २ पत्थाण सट्ठाण
पच्छित्तं दट्ठवन् । इमा संजमविराहणा-

संजतगतीएँ गमणं, ठाण्णिर्मायण उ अट्ठणं वा वि ।
वीसमणादि पन्निस्सुय-उच्चारदी अवीसत्या ॥ ३०६ ॥
मानादीया गुरुणा, जिक्खू व समाजिनेगआपरिण ।
मासो विसेभिओ वा, चउएहवी चउमु सुत्ते ॥ ३१० ॥

जदा संजओ सिग्घगतीए वा वच्चति, तदा गिहत्थो वि-
निनो अधिकरणं भवति, तएहा लुहाए व परिताविज्जति,
तथिप्पयं वीसमन्तो य सच्चित्तपुढविकाए उद्धाणं निसी-
यणे तु अट्ठणं वा करेति, भत्तपाणादियाण उच्चारपासवणेसु
य सागारिओ भिकाउ अवीसत्या साहुणिस्साए वा गच्छति,
तो फलादि खाएज्जा, अहिकरणं साह वा तस्स पूरओ विति-
यपदं नेपेहेज्जा । परितावणाधिप्पयं पादपमज्जणादि वा
ए करेज्जा, तथ वि सट्ठाणं अह करेति, उवाहो ।

भाष्यकारणैवायमर्थ उच्यते-

अत्यन्तिलभगतरे, ठाणादी खण्डवहि उवाहो ।
धरणणिसग्गे वा तो-जयस्स दोसा पमज्जणए ॥ ३११ ॥
साहुणिस्साए वा साह अथंडिले ठाण्ज्ज, सद्धोवहिणा भारं
दुंडुडीच उवाहं करेति, धरणणिसग्गे वा वायकाइयसणाए
उभयहा दोसो पमज्जतस्स उवाहो, अपमज्जणे य विराहणा
जम्हा ए गच्छे ॥ ३११ ॥

त्रितियपदं अट्ठाणे, मूढमयाणंत दुट्ठण्डे वा ।
उवहीसररितेणग-सावयजयदुल्लभपवेसे य ॥ ३१२ ॥
अट्ठाणे सत्थिपहिं समं वच्चति पंथाउ वा मूढो दिसातो वा
मूढो, साह जाव पंथे उच्चरेति पंथमयाणंतो वा जाणा गिहिं
समं गच्छेज्ज, रायदुट्ठे वा रायपुरिसेहिं समं गच्छे, योधिगा-
दिमया एओ वा तेहिं समाणं णिहोसो इवेज्ज, तेणगभए वा
गच्छे, सावयभए वा अल्लमि वा एगरदेसरज्जे दुल्लभपवेसे
तेहिं समं पविसेज्ज । अण्णहा ए लम्भति । तथ पुण एगरा-
दिषु विहरंतो तथ अत्यंतो णितितो भवति, तेहिं समाणं
गच्छंतो इमा जयणा-

णिवत्तएँ पिट्ठउ गमणं, वीसमणादी पदा तु अल्लमि ।
सावयसररितेणग-जएणुतिट्ठाण जयणा तु ॥ ३१३ ॥
णिज्जए पिठ्ठओ गच्छति, पिट्ठतो णिना सव्वपमज्जणादि सा-
मायारि पंजजति, वीसमणसि पदा अदि असंजतो थंडिले करे-
ति, तो संजया अण्णयन्निहे जायति, तेण सावयमयं जइ पिठ्ठ-
तो, तो मज्जतो पुरतो वा गच्छति, मज्जे तए पुरतो पिठ्ठओ वा ग-
च्छति ॥ ३१३ ॥ नि ८० २ ७० ।

(३१) [शिक्षा] अन्यश्रुतिकं वा गृहस्थं वा शिल्पादि
शिक्षयति-

जे जिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा सिप्यं वा सि-
होणं वा अट्ठापदं वा कक्करयं वा वुगाहं वा सलाहं वा

सलाहत्थियं वा सिक्खावेदं, सिक्खावंतं वा साइज्ज । ८ ।
(जे जिक्खू अण्णउत्थियं वा इत्यादि) सिप्यं तुष्णादि, सि-
होणो चण्णणा, अट्ठापदं भूतं, कक्करयं गृहाह कक्कहो,
सलाहा कक्ककरुण्णओणो । एस सुत्तथो । इमा णिज्जुती-

सिप्पासिलोगादीहिं, मेसकलाओ वि मूइया होति ।
गिहिअण्णतित्थियं वा, सिक्खावेते तपाणादी ॥ २० ॥

सेसा उ गणियलक्खणसउणक्यादिसुच्चिया ण गिहिं अण-
तित्थी वा सिक्खावेय्या । जो सिक्खावेति, तस्स आणादिया
य दोसा, चउउणुं च से पच्छित्तं ॥ २० ॥

सिप्पासिलोगे अट्ठा-वए य कक्करुगुग्गहसलाहा ।
तुंनाग वल्ल जतो, हेतू कलहुचरा कव्वो ॥ २१ ॥

पुव्वकेण सुपसिक्का गाहा, पच्छकेण जहासंखं तथ उदाहरणं ।
सिप्यं जं आयारिओवदेसेण सिक्खिज्जति, जहा तुष्णां तुष्णा-
दि, सिहोणो गुणवयणेहिं वल्लणा, अट्ठापदं चउरंगेहिं भूतं,
अइवा इमं अट्ठापदं-

अम्हेण वि जाणाओ, पुट्ठो अट्ठापयं इमं वेति ।
सुणगाविसालकूरं, येच्छति पक्कजातमि ॥ २२ ॥

पुच्छितो अपुच्छितो वा भवति-अम्हे णिमिसं ण सुट्ठु जाणामो,
एसियं पुण जाणामो, परंपरमायकाले वधि कूरं सुणगाविज्जाओ
ण जवति, अणिष्ठा वा भणितो विणासं । अट्ठवत् कृतविप्र-
णादायश्च दोषा भवन्ति । अइवा कर्कटहेतुसर्वज्ञावैषम्यप्रति-
पत्तिः । अथाह-यथा दोषो मूर्तिमदसूरसदुःखमेदतो ज्ञानका-
लमेदाश्च कारकभूतचिरोपाश्च विरुद्धं सर्वज्ञावैषम्यम् । अथ नैवं,
ततः प्रतिज्ञाहानिः । वुग्गहो रायादीणं असुककाले कम्भो भवि-
स्सति । रणो वा जुद्धं सगुरुमादिण कम्भे जयमादिसति । दो-
एहं वा कलहं ताणं उक्कस्स उत्तरं कहेति । सलाहं चि, कथा-
सम्भावं कहेति । कव्वोहिं वा धारितो कथं करेति । सलाहकहत्थे-
यं ति, सव्वकालो तो सूचितातो भवति, ताणि अण्णतित्थिमादं । णि
सिक्खावेति, चउलहु, आणादी य संजमे दोसा । अधिकरणं
उस्सग्गावेदसे य इमं वितियपदं-

असिवे ओमोयिरिण, रायदुट्ठे जए व गेहाएणे ।

अट्ठाण रोहए वा, सिक्खावणया उ जयणाए ॥ २३ ॥
रायादिमणं वा ईसरं सिक्खावेतो असिक्खगहितो तप्पभावा
ओट्ठागादि लज्जति, ओमे वा पुव्वति सोच्चा रायदुट्ठे ताणं करेति ।
वोहिगादिजये ताणं करेति । गिहानस्स वा उस्सहातिपहिं उव-
ग्गहं करिस्सति । अट्ठाण रोहगेसु वा उवग्गहकारी जविस्सति ।
पयमादिकारणे अवैक्खिज्जण इमाए जयणाए सिक्खावेति । २३ ।

संविग्गमसंविग्गो, धावियं तु साहेज्ज पढमतोगीयं ।
विचरीयमगीए पुण, अण्णभिग्गहमाइ तेण परं ॥ २४ ॥

पण्णपरहाणीए जाहे चउउणुं पत्ता तेसु जतितं ते से वि अ-
संतंरतो ताहे संविग्गो धाविअं गीयर्थं सिक्खावेति, पच्छा
असंविग्गो धावितं गीयर्थं, अगीएसु विचरीयं कज्जति, ततो अ-
संविग्गो धावितं अगीतं, ततो संविग्गं अगीयं, अन्यविपरीतक-
रणाद् हेतुमज्जावत्तां कस्सियति । संविग्गं अगीतार्थः । पच्छा ग-
हियाणुव्वयं, ततो पच्छा वंसणसाधणे, ततो पच्छा महाजइयं,

वितियपदसेहसाहा-रणा य गेलस रायदुचे य ।

आहार तेण अष्ठा-ण सेहण संज तत्वेव ॥ ६८२ ॥

पुर्वं संयुक्तो पञ्चा संयुक्तो वा पुर्वं पगमायणो आसी, स तस्स गेहेण आगतो जदि ण भुंजति तो परिणमति, अतो सेहेण संमं भुंजति, परिवेद्धितो वि तेसागपसु मा तेसि संका भविस्सति-किं एस अपसागारियं समुदिसति च्ति, अम्हे वा वि करेति मा बाहिरमावं गच्छपरिवेद्धितो भुंजति । साहारणं वा लब्धं, तं ण चेव भुंजियव्वं । अह कक्कमंडिओ ताहे घेत्तुं तीरं भुंजति । अह दाया भदैति ताहे तेहिं चेव सदि परिवुडो वा भुंजति, गिलाणो वा वेज्जस्स पुरतो समु-दिसेज्जा, जयणाप कुरुकुरं करेज्जा, रायदुहे रायपुरिसेहिं णि-ज्जंतो तेहिं परिवेद्धितो भुंजेज्ज । आहारतेणेषु तेसि पुरओ भुंजेज्ज, अद्धान तेण सावयमया सत्थस्स मज्जे चेव भुंजति । सेहागं सव्वेसि एक्कावसही होज्जा, बाहिगादिमप जणेषु सह कंदराइसु अत्थति । तत्थ तेसि पुरतो समुदिसेज्ज, ओमे कहिं वि सत्ताकारे तत्थेव भुंजंता ण लम्भति, भायणेषु ण लम्भति । तत्थेव भुंजेज्जा सागारिए एक्को परिवेसणं करे, वट्टमाइसु संतरं संभुंजति, णाडं दुविहेण दवेण कुरुकुरं करेइ । सव्वेसु जहासंमवं एसा जयणा । नि० चू० १६ उ० ।

अणुतत्त्वियदेवय-अन्ययूयिकदैवत-न० । ६ त० । परतीर्थिक-पूज्येषु हरिहरादिषु देवेषु, उपा० १ अ० । औ० । आ० चू० । प्रति०

अणु तत्त्वियपरिगाहिय-अन्ययूयिकपरिगृहीतं-त्रि० । तीर्था-न्तरीयैः पूज्यत्वादिनाऽङ्गीकृतेऽर्हचैत्यादौ, उपा० १ अ० ।

अन्ययूयिकास्तदैवतानि, तत्परिगृहीतानि वा अर्हचैत्यानि, भाव-को न वन्देत् । तदुक्तं सम्यक्त्वं प्रतिपद्यमानेनाऽऽनन्देन-“ गो खलु जंत ! कप्पइ अज्जप्पजिइ अणुतत्त्विया वा अणुतत्त्विय-देवयाणि वा अणुतत्त्वियपरिगाहियाणि वा अरिइतचेइयाइ वादिच्च वा णमंसिच्च वा ” उपा० १ अ० । औ० । अन्ययूयि-कपरिगृहीतानि वा अर्हचैत्यानि अर्हत्प्रतिमालक्षणानि यथा भौ-तपरिगृहीतानि वीरभद्रमहाकाश्यादीनि । उपा० १ अ० । आ० चू० ।

अणुतत्त्वो (तो) (दो)-अन्यतस्-अव्य० । अन्य-तसिब् । “ तो दा तसा वा ” ॥ ८२ ॥ १६० ॥ इति सूत्रेण तसः स्थाने तो दो इत्यादेशौ, पक्षे दशोपपन्नः । प्रा० । “ नहु दाहामि ते निक्कं, निक्खु जायाहि अणुतत्त्वो ” । न हु नैव दास्यामि ते तुज्यं भित्तां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्ताम् । उक्त० १ अ० ।

अणुतत्त्वो-अणुतत्त्वो-पुं० । सुत्रार्थपौरुष्युत्तरकाशं भित्ताकाले, “ अणं अणकाले, पाणं पाणकाले ” सूत्र० २ शु० १ अ० ।

अणुतत्त्वो-अणुतत्त्वो-त्रि० । चैतन्यादन्ये गुणा येषां तान्यन्यगुणा-नि । अचैतनेषु, “ पंचएहं संजोए, अणुगुणाणं च चेषणाइ गुणो ” आधारकावित्यगुणा पृथिवी । सूत्र० १ शु० १ अ० १ उ० ।

अणु (न) गोत्तिय-अन्यगोत्रीय-पुं० । गोत्रं नाम तथाविधैकपुरुषप्रज्जवां वंशः । अन्यच्च तद् गोत्रं चान्यगोत्रं तत्र जवा अन्यगोत्रीयाः । अतिचिरकालव्यवधानवशेन बुद्धितगो-त्रसंबन्धेषु, ध० १ अधि० । “ वैवाह्यमन्यगोत्रीयैः, कुलशीलसमैः समम् ” । ध० १ अधि० ।

अणु (न) गहण-अन्यग्रहण-न० । गानजाते मुखवि-कारे गानधर्विके, “ अन्नग्रहणं चि गन्नग्रहस्स उभओ कण्ठंकेसु सरणीतो मणतो सुवानसंगहयासु य आणा-यत्तं मुहं जं तं हवेज्ज, अहवा अणुगहो गधव्विओ चि ” । नि० चू० १७ उ० ।

अणुजोग-अन्ययोग-पुं० । कार्यान्तरजननसंबन्धे, अनेकान्त-जयपताकावृत्तिविव० ४ अधि० ।

अणुजोगवचचेद-अन्ययोगवचचेद-पुं० । अन्ययोगस्य कार्यान्तरजननसंबन्धवृत्तकणस्याभावे, अनेकान्तजयपताका-वृत्तिविव० ४ अधि० ।

अणुजोगवचचेयवत्तीसिया-अन्ययोगवचचेदद्वात्रिंशिका-ली० । श्रीमल्लिपेणविरचितस्याद्यादमज्जय्याख्यवृत्तिवृत्त-यिते श्रीहेमचन्द्रसुरिद्विहिते निःशेषदुर्वादिपरिपदधिक्रमे-दक्ते द्वात्रिंशत्यधमये ग्रन्थे, श्रीहेमचन्द्रसुरिणा जगत्प्रसिद्ध-श्रीसिद्धसेनादिवाकरविरचितद्वात्रिंशकानुकारि श्रीवर्कमानजि-नस्तुतिरूपमयोगवचचेदान्ययोगवचचेदाभिधानं द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशकाद्वितयं विद्वज्जनमनस्तत्त्वावबोधनिबन्धनं विदधे । स्या० । (कुर्ताथैकैः श्रीवीरेण सह अन्ययोगश्चिन्तितः । यथा श्रीवीरो यथार्थवाद । तथा अन्येऽपि सांगतादयो देवाः यथार्था द्यादिनस्तेषां न्यवचेदो निषेधः अन्ययोगवचचेदः) [स्याद्-वादमञ्जरीदिप्यर्ण]

अणुजोसिय-अन्ययोंपित्-ली० । परकीयकक्षत्रेषु, मनुष्या-णां देवानां तिरश्चां च परिणीतसंगृहीतभेदभिन्नेषु कक्षत्रेषु, ध० २ अधि० ।

अणु (न) अणु (न)-अन्योन्य-त्रि० । अन्यशब्दस्य कर्मव्य-तिहारे द्वित्वम्, पूर्वपदे सुञ्च । “ ओतोऽहं वाऽन्योन्यः ” । ८ । १ । ५६ ॥ इत्यादि-सूत्रेण अत्वं वा । परस्परार्थे, प्रा० ।

अणु (न) त (य) र-अन्यतर-त्रि० । अन्य-रुतर । बहूनां मध्ये एकतरे, औ० । “ अणुयरेसु आमियोगेसु देवलोकेसु देवताप उववज्जइ ” अन्यतरेषु केषुचिदित्यर्थः । म० १ श० १ उ० । नि० चू० । “ अणुयरे वा दीहकाक्षपडिबन्धे एवं तस्स न भवइ ” जं २ वक्क० । नि० चू० । उक्त० । “ अणुयरेसु देवलोकेसु ” अन्यतरदेवानां मध्ये इत्यर्थः । स्या० ४ डा० १ उ० । आचा० ।

अणुतरग-अन्यतरक-पुं० । एकस्मिन्काले आत्मपरयोरन्यमन्य-तरं तारयन्तीति अन्यतरकाः । अन्यतर-अणु । पृषोदरादित्वाद्-ह्रस्वः, स्वार्थे कः । तपोवैयावृत्यविषयकसामर्थ्याभावेन केव-लमुज्जयं युगपत्कर्तुमशक्नुवत्सु एकस्मिन्काले आत्मपरयोरेकतरं तारयत्सु प्रायश्चित्ताहंपुरुषेषु, व्य० १ उ० ।

अणुतत्त्विय-अन्यतीर्थिक-पुं० । चरकपरिव्राजकशाक्या-जीवकवृद्धाचकप्रवृत्तिषु, नि० चू० ११ उ० । जिज्जुमौतिका-दिषु वा, ध० २ अधि० । परदारौनिकेषु, आव० ६ अ० ।

अणुतत्त्वियपञ्चाङ्गयोग-अन्यतीर्थिकप्रवृत्तानुयोग-पुं० । अन्यतीर्थिकम्यः कापिष्ठादिन्यः सकाशात् प्रवृत्तः स्वकीयाचा-रवस्तुतत्त्वमनुयोगो विचारः, तत्करणार्थं शास्त्रसन्दर्भ इत्यर्थः, सोऽन्यतीर्थिकप्रवृत्तानुयोग इति । पापशुतजेद-स० २६ सम० ॥

गुञ्जोवही तिष्ठि कप्पा चउरो संघाडीतो पातं पायणिज्जोगो य,
एवं गणहरो परिकम्मिंतं देति, सेसो गुञ्जोवही तं गणिणी सरी-
रपमायं मिणित्ति सिव्येति, कारणे गिहि अत्रतिथीण या सिव्या-
चेति ॥ ५४ ॥

वितियपदमणिज्जणे वा, निउणे वा होज्ज कण्णी असह ।

गणिगणहर गच्छे वा, परकरणं कप्पती ताहे ॥ ५५ ॥

गणी उवज्जओ, गणहरो आयरिओ, अओ वा गच्छे बुद्धो तरणो
चा बुद्धसोओ, ते सिव्येज्जा, अह ते असह होज्जा, गच्छे वा नत्थि
कुसडो, ताहे गिहिअत्रतिथीणा या सिव्याचेति ।

तत्थ इमो कप्पो—

पच्छाकमसाजिगह—निरजिगहज्जए य व अमएणी ।

गिहिअमृतिथिएण व, गिहि पुव्वं एतरे पच्छा । ५६ ।

पूर्ववत् सिव्यावणे इमो विही—

आगातेणं असती, संग्रणं गंतु सिव्यावे ।

पासोद्वय अवाखिचां, तो दोसे वेंजणा ण जायंति । ५७ ।

सो गिहत्थो अत्रतिथीओ या साहुसमीवं अह पयच्छीए आ-
गतो सिव्याधिज्जति । जदि अभासागतो य अज्जति, तो तस्स
जं संग्रणं तं गंतु सिव्याधिज्जति, जयणाए उप्पदातो पुव्वं अत्रत्थ
संकाभिज्जति, तस्स समीवे अवप्पिच्छो वि तो णिवणो वाचा
व चिट्ठति, जाव सिव्ययं, एवं पुव्वुत्ता दोसा ण जवति ।

(३३) संभोगः—

जे भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उ-
वहासे णिक्खिवड, णिक्खिवंतं वा साइज्जड । ३७ । जे
भिक्खू अणुत्तियएण वा गारत्तियएण वा सद्धिं जुज्जड,
भुजंतं वा साइज्जड । ३८ । जे भिक्खू आमृततियएहिं वा
गारत्तियएहिं वा सद्धिं आवेद्विय परिवेद्विय जुज्जड, जुजंतं
वा साइज्जड । ४० ।

अमृततियया तच्चप्पिया दि वंभणा केत्थिया गारत्था, तेहिं सद्धिं
एगभायणे ज्ञेययं एगदुतिदिसिच्चियसु आवेदिओ, सव्वदिसि
उत्तिसु परवेद्विओ । अहवा आह मर्यादया वेद्वितः, दिसि विदिसा-
सु विच्छिण्णद्वितेसु परिवेद्वितः । अहवा एगपंतीयसु आवेद्वितः,
दुगादिसु पंवीसु समंता पट्टियाम्भु परिवेद्वितो ।

गिहिअमृतिथिएहिं व, सद्धिं परिवेद्वितो व तं मज्जे ।

जे भिक्खू असणादी, भुजंज्जा आणमादीणि ॥ ६७३ ॥

अमृततियएहिं सद्धिं भुजति, अमृततियआण वा मज्जे उतो
परिवेद्वितो वा जुजति, तस्स आणादिया दोसा । ओहओ चउ-
बहुं पच्छिचं । विभायतो इमं—

पुव्वं पच्छा संशुय, असोयसोयवाः य लहुगा वा ।

चउरो वा जमलपदा, चरिमपदे दोहि वी गुरुगा ॥ ६७४ ॥

पुव्वं संशुया असोयवादी य पच्छा संशुया । (असोय च्छि) एतेसु
चउसु पप्पु लहुगा (चउरो च्छि) (जमलपदं ति) कालतवेहिं
विसेसिज्जति जाव चरिमपदं पच्छा संशुनो सोयवादी, तत्थ
चउबहुगं तं कावतवेहिं वि गुरुगं भवति ।

सुत्थीसु चउ गुरुगा, लहुगा अणुत्तियीसु ।

परत्तियणि उगुरुगा, पुव्वावरसमणसत्तं ॥ ६७५ ॥

एयासु चैव सुत्थीसु पुरं पच्छा असोयसोयासु चउगुरुगा काल-
तवेहिं विसेसिता, एतेसु चैव अमृतिथियपुरिसेसु चउसु उछ-
दुगा कालतवविसिद्धा, एयासु चैव परत्तियणीसु उगुरुगा, पु-
व्वसंशुयासु समणीसु वेदो, (अवर च्छि) पच्छा संशुतासु सम-
णीसु अट्ठमं ति सूत्रं । अयमपरः कल्पः—

अहवा वि णाववच्छे, अणुव्वओवासए व चउलहुगा ।

एसु वि य दोसु इत्थी—सुणालवदे चउ गुरुगा ॥ ६७६ ॥

णालवदेण पुरिसेण मणालवदेण य गहिताणुव्वओवासणेण
एतेसु दोसु चउलहुगा, एयासुं वि य दोसु इत्थीसु णालवदे य अ-
विरयसम्मदिच्छिं पतेसु वि चउगुरुगा ।

अणालदंसणित्तियसु, लहुग पुरिसे य दिट्ठ—आभट्ठे ।

दिट्ठित्थि पुम अदिट्ठे, मेहुणजोई य उगुरुगा ॥ ६७७ ॥

इत्थीसु मणालवदासु अविरयसम्मदिट्ठिसु, दिट्ठानट्ठेसु पुरि-
सेसु, एतेसु दोसु वि लहुगुगा, इत्थिसु दिट्ठामहासु, पुरिसेसु अ-
दिट्ठानट्ठेसु, (मेहुणि च्छि) मावलपिच्छयधाता (जोइय च्छि) पु-
व्वमज्जा, एतेसु चउसु वि उगुरुगा ।

अदिट्ठज्जासु थीसु, संजोइयसंजतीण वेदो य ।

अमणुणसंजतीए, मूलं थी फाससंवंधा ॥ ६७८ ॥

इत्थीसु अदिट्ठानट्ठासु संजोइयसंजतीसु य एयासु दोसु वि
उओ (अमणुण च्छि) असंजोइयसंजतीसु सूत्रं, इत्थीहि सह
भुजंतस्स फासे संबंधो, आयपरोज्जयदोसा, वेहे संकाइया य
दोसा, जदि संजति संति तो समुइसो, तो चउलहुं, अधिकरणं च ।

पुव्वं पच्छाकम्मं, एगतरदुगुंछउलहुगुहाहो ।

अणोणामयगहणं, खच्छगहणे य अवित्तं ॥ ६७९ ॥

पुरेकम्मं संजतेण सह भोत्तज्जं, हत्थपादादिसुइं करेइ, संजतो
भुजिस्सइ । अधिगतं रंधावेति, पच्छाकम्मं कोवि पत्तोति
सवेलं एहाणं करेज्ज । पच्छिचं वा पडिबज्जे, संजतेण वा छुत्ते
अपहुणंते अणं पि रंधेज्जा, संजतो गिही वा एगतरो दुगुंछ
करेज्जा, चिल्लिगभायेण वा उहुं करेज्जा, अण्णेण दिट्ठे उडाहो
भवति, कासादिरोगा वा संकमेज्ज । अधिकतरं लक्षेण वा
अवियत्तं भवेज्ज ।

एवं तु भुंजमाणे, तेहिं सद्धिं तु वप्पिता दोसा ।

परिवरितो जदि भुंजड, तो चउ लहु इमं दोसा ॥ ६८० ॥

परिवारितमज्जगते, सव्वपयारेण होति चउ लहुगा ।

कुरुकुरकरणे दोसा, एमादिसु उगमा होति ॥ ६८१ ॥

मज्जे उतो जयस्स परिवारिओ जइ भुंजड, अहवा समंता
परिवारितो दोइहं तिइहं वा जइ मज्जगओ भुंजति, सव्वप-
गारोहिं चउलहुं गिहिभायणे य ण भुंजियव्वं । तत्थ भुंजंतो
अयाराओ मस्सति । कंससु कंसपायसु सिलो गो वा एवमुग्ग-
मादिसु भुंजंतस्स उडाहो भवति, कं चिय दवेण य उडाहो,
इयरेण आउक्कायविराहणा, बहुदवेण कुरुकुरकरणे उप्पि-
लावणादि दोसा, जम्हा एवमादी दोसा तम्हा क्तेहिं सद्धिं
परिवेद्विएण वा न भुंजियव्वं ।

पाये आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, णो तं सातिण् णो तं
णियमे, सेसं तं चेव, एवं खट्ठु तस्स जिकखुस्स वा जिकखु-
णीए वा सामगियं सत्तमओ सत्तिकओ सम्मत्तो ॥

क्रिया रजःप्रमार्जनादिकास्ता अन्योन्यं परस्परतः साधुना
कृतप्रतिक्रियया न विधेया इत्येवं नेतव्योऽन्योन्यक्रियास-
त्कक इति । आचा० २ शु० १३ अ० ।

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण
वा गारत्थिएण वा आमज्जेज वा, पमज्जेज वा, आमज्जंतं
वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥१६॥ जे जिकखू णिग्गंथे णि-
ग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवा-
हेज्ज वा, पल्लिमहेज्ज वा, संवाहंतं वा पल्लिमहंतं वा सा-
इज्जइ ॥१७॥ जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्ण-
उत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेह्णेण वा घएण वा वएणेण
वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा, जिल्लिगेज्ज वा,
मंखंतं वा भिल्लिगंतं वा साइज्जइ ॥१८॥ जे जिकखू णि-
ग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा
लोद्धेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउममुष्सेण वा वसेण
वा उद्धोलेज्ज वा, उव्वट्ठेज्ज वा, उद्धोलंतं वा उव्वट्ठंतं वा साइ-
ज्जइ ॥१९॥ जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउ-
त्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियहेण वा उसि-
णोदगवियहेण वा उच्छोद्धेज्ज वा, पधोएज्ज वा, उच्छो-
लंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥२०॥ जे जिकखू णिग्गंथे
णिग्गंथस्स पाये अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फू-
मेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं
वा साइज्जइ ॥२१॥ जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं
अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पम-
ज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ॥२२॥
जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णउत्थिएण वा
गारत्थिएण वा संवाहवेज्ज वा, पल्लिमहावेज्ज वा, संवा-
हवेज्जावंतं वा पल्लिमहावेज्जावंतं वा साइज्जइ ॥२३॥ जे भिक्खू
णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण
वा तेह्णेण वा घएण वा वएणेण वा वसाएण वा णवणी-
एण वा मंखावेज्ज वा, जिल्लिगावेज्ज वा, मंखावंतं वा
जिल्लिगावंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे जिकखू णिग्गंथे
णिग्गंथस्स कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लो-
द्धेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउममुष्सेण वा वएणेण
वा सिहाणेण वा उव्वट्ठावावेज्ज वा, परिवट्ठावावेज्ज वा,
उव्वट्ठावंतं वा परिवट्ठावंतं वा साइज्जइ ॥२५॥ जे जिकखू
णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण
वा सीओदगवियहेण वा उसिणोदगवियहेण वा उच्छो-
लावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवा-

साइज्जइ ॥२६॥ जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अ-
ण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज
वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा सा-
इज्जइ ॥२७॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वर्णं
अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पम-
ज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ॥२८॥
जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वर्णं अण्णउत्थि-
एण वा, गारत्थिएण वा संवाहिवेज्ज वा, पल्लिमहावेज्ज
वा संवाहिवेज्जावंतं वा पल्लिमहावंतं वा साइज्जइ ॥२९॥
जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वर्णं अण्णउत्थि-
एण वा गारत्थिएण वा तेह्णेण वा घएण वा वसेण वा
वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिल्लिगावेज्ज वा,
मंखावंतं वा जिल्लिगावंतं वा साइज्जइ ॥३०॥ जे भिक्खू
णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वर्णं अण्णउत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउममुष्सेण
वा वसेण वा सिहाणेण वा उव्वट्ठावेज्ज वा, परिवट्ठावेज्ज
वा, उव्वट्ठावंतं वा परिवट्ठावंतं वा साइज्जइ ॥३१॥ जे भिक्खू
णिग्गंथे णिग्गंथस्स वा कायंसि वर्णं अण्णउत्थिएण वा
गारत्थिएण वा सीओदगवियहेण वा उसिणोदगवियहेण
वा उच्छोद्धावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोद्धावंतं वा पधोवा-
वंतं वा साइज्जइ ॥३२॥ जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स का-
यंसि वर्णं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा,
रयाएज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं
वा साइज्जइ ॥३३॥ जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि
अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंनं वा पल्लियं वा
अरियं वा आसियं वा जंगदलं वा अण्णयरेण वा तीखे-
ण वा सत्थजाएण वा अच्छिदावेज्ज वा, विच्छिदावेज्ज
वा अच्छिदावंतं वा विच्छिदावंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥
जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि अण्णउत्थिएण
वा गारत्थिएण वा गंडं वा पल्लियं वा अरियं वा आसियं
वा जंगदलं वा अण्णयरेण वा तिकखेण वा सत्थजाएण
वा अच्छिदावेज्ज वा, विच्छिदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं
वा णीहरावेज्ज वा, विसोहियाएज्ज वा, णिहरावंतं वा
विसोहियावंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥ जे जिकखू णिग्गंथे
णिग्गंथस्स कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंनं
वा पल्लियं वा अरियं वा आसियं वा जंगदलं वा अण्णय-
रेण वा तिकखेण वा सत्थजाएण अच्छिदावेज्ज वा, विच्छि-
दावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहिया-
वेज्ज वा, सीओदगवियहेण वा उसिणोदगवियहेण वा
उच्छोद्धावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोद्धावंतं वा पधोवा-

अणमस्यकिरिया-अन्योन्यक्रिया-स्त्री० । परस्परतः साधुना
कृतप्रतिक्रियया विधेयायां रजःप्रसाजनादिकायां क्रियायाम्,
अन्योन्यं क्रियाश्च अन्योन्यक्रियाः । सप्तके दर्शिता यथा-
से भिक्षू वा निक्षुणी वा अणमस्यकिरियं अण्म-
स्थियं संसेइयं णो तं सातिणं णो तं णियमे, से अणमस्यणो-

निकखू णिगंथे णिगंथस्स अच्चिणि अस्सज्जं गारत्थिणं
 आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा
 पमज्जावंतं वा साइज्जइ ॥ ६३ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगं-
 थस्स अच्चिणि अएणउ० वा गारत्थिएण वा संवाहिया-
 वेज्ज वा, पमिमावेज्ज वा, संवाहियावंतं वा पमिमावंतं वा
 साइज्जइ ॥ ६४ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगंथस्स अच्चिणि अ-
 एणउ० गारत्थि० तेह्णेण वा घएण वा वसाएण वा एव-
 णीएण वा मंखावेज्ज वा, निलिगावेज्ज वा, मंखावंतं वा
 भिलिगावंतं वा साइज्जइ ॥ ६५ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगंथ-
 स्स अच्चिणि लोक्केण वा कक्केण वा एहाएण वा पउमचुम्भे-
 ण वा वस्सेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावंतं
 वा उव्वट्टावंतं वा साइज्जइ ॥ ६६ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगं-
 थस्स अच्चिणि अएणउ० गारत्थि० सीओदगवियहेण वा
 लसिणोदगवियहेण वा उच्चोलावेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा,
 उच्चोलावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ ॥ ६७ ॥ जे भिक्खू णि-
 गंथे णिगंथस्स अच्चिणि अएणउत्थि० गारत्थि० फूमावा-
 एज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखावाएज्ज वा, फूमावावंतं वा रयावंतं
 वा मंखावावंतं वा साइज्जइ ॥ ६८ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगं-
 थस्स अस्सज्जं गारत्थि० अच्चिमलं वा कएणमलं वा दंतमलं
 वा णहमलं वा णीहरावेज्ज वा० जाव साइज्जइ ॥ ६९ ॥ जे
 भिक्खू णिगंथे णिगंथस्स कायाउसेयं वा जलं वा पंकं
 वा मल्लं वा अएणउ० गारत्थि० णीहरावेज्ज वा, विमो-
 हावेज्ज वा० जाव साइज्जइ ॥ ७० ॥ जे भिक्खू णिगंथे णि-
 गंथस्स गामाणुगामं दुइज्जमाणे अएणउत्थिएण वा गार-
 त्थिएण वा सीसदुवारियं करावेइ, करावंतं वा साइज्जइ ॥ ७१ ॥
 आमज्जनं सकुत्त, पुनः२ प्रमार्जनम्, (जा समणि) गाहा । आदिस-
 हाओ वंधणादिस्सुत्ता पंच, कायस्सुत्ता ३, वणस्सुत्ता ४, गंरुस्सुत्ता
 ३, बाहुकिमिस्सुत्तं एहसिहारोपमार्हंस्सुत्तं च, एताणि उत्तरो-
 ट्ठणासिगास्सुत्तं च अच्चिणामज्जणस्सुत्ता तिष्ठि मुहस्सुत्तं सय-
 सुत्तं अच्चिमज्जाइ सुत्तं, सीसज्जवारियस्सुत्तं च । एते चत्तालीसं
 सुत्ता तत्तिओहंसगगमेण भाणियन्वा । तत्थ सयंकरणे इह पुण
 णिगंथीणं समणस्स अस्सुत्तिथिएण वा गारत्थिएण वा कारवेत्ति
 च्चि; सेसा इमं अधिकयस्सुत्ते भएणंति-

समणण संजतीहिं, असंजतीओ गिहत्थेहिं ।

गुरुगा लहुगा चउ वा, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥ ११ ॥

संजतीओ जदि समणस्स पायपमज्जणादि करेति, तो चउगु-
 रुगा (असंजतीओ च्चि) गिहत्थिओ जइ करेति, तत्थ वि चउगुरुगा,
 गिहत्थपुरिसा जदि करेति, तो चउलहुगा, आणादिया य दोसा
 भवंति ॥ ११ ॥

मिच्छते उट्ठाहो, विराहणा फासजावसंधे ।

पनिगमणादी दोसा, चुत्ताजोगी य णायन्वा ॥ १२ ॥

इत्थियाहिं कीरंतं पासित्ता कोइ मिच्छत्तं गच्छेज्जा-एते-
 कावमिय च्चि, संजमविराहणा य, इत्थिफासे मोहोदयो, परो-

परओ वा फासेण भावसंधो इवेज्ज, ताहे पडिगमणं अएण-
 तिथियादी दोसा, अहवा फासज्जो चुत्ताजोगी सा पुव्वरयादि
 संभरिज्जा, अहवा चित्तिज्ज-परिसो मम भोइयाए फासो परि-
 सी वा मम भोइया आसी, अष्टुत्तभोइस्स इत्थिफासेण कोठ-
 यादि विजासा-

दीहं व णीससेज्जा, पुच्छा कहि एरिसेण कहि एणं ।

ममजाइया एरिसी, सा वा चलणे बदे एवं ॥ १३ ॥

यो वा संजओ संजनीयाए पमज्जमाणीए दीहं णीससिज्जा,
 जाहे, सो पुच्छति-किमेयं दीहं ते नीससियं ? । सो मणाति-कि
 एरिसेण मणाति कहि एणं ति, निव्वंधे कहेइ, मम भाइया एरिसी
 तुमं वी सा वा चरणे पमजंती दीहं णीससेज्जा, पुच्छा कहं एं
 च एवं चेव एते संजतिहिं दोसा ॥ १३ ॥

एते चेव य दोसा, असंजतीयाहिं पच्छकम्मं च ।

आतपरमोहुदीरउ, पाउसच हु मुत्तथपरिहाणी ॥ १४ ॥

गिहत्थीसु अतिरिक्तदोसा पच्छाकम्मं इत्ये सीतोदकेण प-
 च्छावेज्जा, पादआमज्जणादीहिं य उज्जलवेसस्स अप्पणो मोहो
 उदिज्जेज्जा-सोणामि वा अहं, को मे परिसकामो ति च्चि गव्वो इ-
 वेज्ज, तं वा उज्जलवेसं दहुं अस्सेत्ति इत्थियाणं मोहो उदिज्जेज्ज,
 सरीरपाउसचं च कतं जयति, आव तं करेति ताव सुत्तथप-
 लिमंथो ॥ १४ ॥

संपातिमादिघातो, विवज्जिओ जे च होगपरिवाओ ।

गिहिएहिं पच्छकम्मं, तम्हा समणेहिं कायव्वं ॥ १५ ॥

पमज्जमाणं संपातिमे अभिघापज्ज अजयत्तणेण (विवज्जितो
 ति) साधुणा विभूसापरिवज्जिएण होयव्वं । भणियं च-“विभूसा
 इत्थिसंसग्गी,, ति सिलो गो । एयस्स विवरीयकरणे मे भवे
 होगपरिवादी य, जारिसं सवेज्जगहणं एरिसेण अनिवृत्तेन भवि-
 तव्यम्, एवमादि इत्थिसु दोसा । गिहत्थपुरिसेसु वि इत्थिफा-
 सादिया मोत्तुं एते चेव दोसा, पच्छकम्मं च । इमे य दोसा-

अजयंते पप्फोहे, ते पाएग उप्पीलणं च संपादी ।

अतिपेज्जणामि आता, फोडणं खय अट्ठिजंगादी ॥ १६ ॥

संजओ अजयणाए पप्फोहेतो पाणे अभिघेणेज्ज, बहूण वा द-
 वेण घोवंतो पाणे उप्पीलावेज्ज वा, खिद्धवंधे वा संपातिमा पने-
 ज्जहा । एस संजमविराहणा । आयविराहणा इमा-तंण गिहिणा
 अतीव पेड्धिओ पादो, ताहे संधी वि करेज्ज, फोडणं ति गित्थर-
 हल्लेज्जा, णहादिणा वा खयं करेज्ज, अट्ठि वा जेजेज्ज ॥ १६ ॥

एते चेव य दोसा, असंजतीयाहिं पच्छकम्मं च ।

गिहिएहिं पच्छकम्मं, पच्छा तम्हा तु समणेहिं ॥ १७ ॥

गताया, किंचि विसेसो । पुव्वकेण गिहत्थी भणिता, पच्छकेण
 गिहत्था, दो वि पाए पप्फोहेते कुच्छं करेज्ज, कुच्छंतो पच्छा-
 कम्मसंजवो, जम्हा एते दोसा तम्हा समणण समणेहिं काय-
 व्वं, णो गिहत्था अस्सुत्तिथिया वा उदेयन्वा ॥ १७ ॥

वितियपदमणप्पज्जे, अप्पाण्ण्वात अप्पणो उ करे ।

पमज्जणादी तु पदे, जयणाए समयोरिहे भिक्खू ॥ १८ ॥

अणप्पज्जे कारवेज्जा, अणप्पज्जेस्स वा कारविज्जंति, अज्जेणे
 पनिवरणो वा अतीव उच्चा उप्पमज्जणादी पदे अप्पणो चेव

वेनं वा साइज्जइ ॥३६॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंनं वा पलियं वा अरियं वा हासं वा आसियं वा भंगद्वं वा अएणयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण वा अच्चिदावेज्ज वा, विच्चिदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरापज्ज वा, विमोहियावेज्ज वा, अएणयरेण वा आलेवणजाएण वा विसेवणजाएण वा आलिंपावंतं वा विलिंपावंतं वा साइज्जइ ॥३७॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंनं वा जाव अणयरेण वा आलेवणजाएण तेत्थेण वा जाव साइज्जइ ॥३८॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंनं वा पडियं वा अरियं वा आसियं वा जंगद्वं वा अणयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्चिदावेज्ज वा विच्चिदावेज्ज वा पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहिपाएज्ज वा, अणयरेण वा धूवेण जीवाएण धूवावेज्ज वा, पधूवावेज्ज वा, धूवावंतं वा पधूवावंतं वा साइज्जइ ॥३९॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाटुकिमियं वा कुच्छिकिमियं वा अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अंगुलीयाण निवेसिय २ णीहरावेज्ज वा, णीहरावंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाउएद्वसिहाउ अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४१॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइ वत्थीरोमाइ अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइ जंघारोमाइ अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४३॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइ सीसकंसाइ अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइ कणरोमाइ अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४५॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइ नूरोमाइ अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४६॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइ अक्किपत्ताइ अएणउत्थिएण वा, गारत्थिएण वा, कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४७॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइ चक्खुरोमाइ अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा,

संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४७॥ जे जिकवू
 णिगंथे णिगंथस्स दीहाइं णक्खोमाइं अण्णउ० गारत्थि०
 कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा सा-
 इज्जइ ॥४८॥ जे जिकवू णिगंथे णिगंथस्स दीहाइं मंझ-
 रोमाइं अण्णउत्थि० गारत्थि० कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज
 वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥ ५० ॥ जे जि-
 कवू णिगंथे णिगंथस्स दीहाइं कक्खरोमाइं अण्णउ०
 गारत्थि० कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठा-
 वंतं वा साइज्जइ । ५१ । जे जिकवू णिगंथे णिगंथस्स
 दीहाइं पासरोमाइं अण्णउ० गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज
 वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ५२ ।
 जे जिकवू णिगंथे णिगंथस्स दीहाइं उत्तरउट्ठाइं अण्ण-
 उ० गारत्थि० कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा
 संठावंतं वा साइज्जइ ॥५३॥ जे जिकवू णिगंथे णिगं-
 थस्स दंतं अण्णउ० गारत्थि० अघसंवेज्ज वा, पघसंवे-
 ज्ज वा, अघसंतं वा पघसंतं वा साइज्जइ ॥५४॥ जे भिक्खू
 णिगंथे णिगंथस्स दंतं वा अण्णउ० गारत्थि० सीओ-
 दगवियडेण वा ठसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा,
 पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ
 । ५५ । जे जिकवू णिगंथे णिगंथस्स दंतं अण्णउत्थिएण
 गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा,
 फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ॥५६॥ जे
 जिकवू णिगंथे णिगंथस्स उट्ठे अण्णउ० गारत्थि० आम-
 ज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जा-
 वंतं वा साइज्जइ ॥ ५७ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगंथस्स
 उट्ठे अण्णउ० गारत्थि० संवाट्ठिवावेज्ज वा, पलिमदा-
 वेज्ज वा, संवाट्ठिवावंतं वा पलिमदावंतं वा साइज्जइ । ५८ ।
 जे जिकवू णिगंथे णिगंथस्स उट्ठे अण्णउ० गारत्थि०
 तेट्ठेण वा घण्ण वा वप्पेण वा वमाएण वा णवणीएण
 वा मंखावेज्ज वा, जिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भि-
 ङ्गिगावंतं वा साइज्जइ । ५९ । जे जिकवू णिगंथे णिगंथस्स
 उट्ठे अण्णउ० गारत्थि० लोप्पेण वा ककेण वा एहाणेण
 वा पडमचुप्पेण वा वप्पेण वा उट्ठोलावेज्ज वा, उव्वट्ठा-
 वेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा उव्वट्ठावंतं वा साइज्जइ ॥ ६० ॥
 जे भिक्खू णिगंथे णिगंथस्स उट्ठे अण्णउ० गारत्थि०
 सीओदगवियडेण वा ठसिणोदगवियडेण वा उच्छोला-
 वेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा
 साइज्जइ । ६१ । जे भिक्खू णिगंथे णिगंथस्स उट्ठे अण्णउ०
 गारत्थि० फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखावेज्ज वा,
 फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । ६२ । जे

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं जंधारोमाइं अस्सउ-
त्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा,
कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ।१।८। जे निक्खू णि-
ग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं सीसकेसाइं अएणउत्थिएण वा
गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पवेज्ज वा,
संठवेइ वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ।१।९। जे
भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं कएणरोमाइं अस्सउ-
त्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा,
कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ।१।१०। जे भिक्खू णि-
ग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं नूमहरोमाइं अस्सउत्थिएण वा
गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा सं-
ठावंतं वा साइज्जइ ।१।११। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए
दीहाइं चक्खुरोमाइं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा
कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइ-
ज्जइ ।१।१२। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं अच्चि-
पचाइं अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा,
संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ।१।१३। जे
भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं णक्कोरोमाइं अस्सउत्थि-
एण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, क-
प्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥१।१४॥ जे निक्खू णिग्गंथे
णिग्गंथीए दीहाइं कक्खुरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा,
कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ।१।१५। जे निक्खू णिग्गंथे
णिग्गंथीए दीहाइं पासरोमाइं अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण
वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा
साइज्जइ ॥१।१६॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं
उत्तरउट्टाईं अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा,
संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ।१।१७। जे नि-
क्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दंतें अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण
वा अधसाएज्ज वा, पधसावेज्ज वा, अधसावंतं वा पधसा-
वंतं वा साइज्जइ ।१।१८। जे निक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए
दंतें अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियरेण
वा उसीणोदगवियरेण वा उच्छोद्धावेज्ज वा, पधोवाएज्ज
वा, उच्छोद्धावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ॥ १।१९ ॥
जे निक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अस्सउंगारत्थिउदंतें फूमावेज्ज
वा, रधावेज्ज वा० जाव साइज्जइ ।१।२०। जे भिक्खू णि-
ग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अएणउत्थिएण गारत्थिएण वा आ-
मावेज्ज वा, पमावेज्ज वा, आमावेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा
साइज्जइ ।१।२१। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अ-
एणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहवेज्ज वा, पलि-
महावेज्ज वा, संवाहंतं वा पल्लिमहावंतं वा साइज्जइ ।१।२२।

जयणा पकरेज्ज, अप्पणो अससो संजयहिं कारवेज्जा ॥ १८ ॥

असती य संजयाणं, पच्छाकरमादिपहिं कारेज्जा ।

गिहअस्रतित्थिएहिं, गिहत्थि-परतित्थि-तिविहाहिं । १९ ।

असती संजयाणं पच्छाकरमाहिं कारवेति, तस्रो सान्निगापहिं, ततो गिराभिगहंहिं, ततो अदामहपहिं, ततो गियन्नपहिं निच्छ-दिट्ठीहिं, ततो अग्निमाहियमिच्छादिट्ठीहिं, ततो अषत्तित्थिएहिं मि-च्छादिट्ठीमादिपहिं, पुण्यं असोयवादीहिं, पच्छा सोयवादीहिं, ततो पच्छा गिहत्थिपरतित्थित्थित्थिदिहाहिं ति, ततो गिहत्थीहिं णालव-च्चाहिं अणालवच्चाहिं ति विधाहिं धेरमज्झमतकणीहिं, एवं पर-तित्थिएपहिं वि, संजतीहिं वि, एवं चेव, एसो चेव अयो वित्थ-रतो भस्यति, तस्रो पच्छा गिहत्थिपरतित्थित्थित्थिदिहाहिं ति । गिह-त्थी पुविहा-णालवच्चा अणालवच्चा । ततो इमेहिं गिहत्थीहिं णालवच्चाहिं-

माताजगिणीधूया-अज्जियाण अयिद्वियाण असतीए ।

अणियद्विय येरेहिं, मज्झिमतरणीहिं अषत्तित्थीहिं ॥ २० ॥

माता भगिणी धूया अज्जियाणसुत्तरी य, एतेसि असतीए, पयाहिं चेव अएणतित्थिणीहिं, एतेसि असतीए अणास्रवच्चाहिं गिहत्थीहिं ति विधाहिं कमेण धेरमज्झमतकणीहिं, तस्रो पयाहिं चेव अएणतित्थियाहिं ति ॥ २० ॥

तिविहाण वि पयाणं, असतीए संजतिमादिजगिणीहिं ।

अत्थि य जगिणी ण सती, तप्पच्छा ज्वसेसतिविहाहिं ॥ २१ ॥

माताजगिणीधूया-अज्जियाण वि य सेसतिविहा तु ।

एतासि असतीए, ति विहा वि करोति जयणा तु ॥ २२ ॥

अणालवच्चाणं धेरमज्झमतकणीहिं असति संजतीतो माता जगिणी धूयाय अज्जियाण पचमादि ततो करोति, ततो पच्छा भव-सेसास्रो अणास्रवच्चास्रो ति विहास्रो धेरमज्झमतकणीस्रो करा-वेति वा, एयस्मि चेव अये अएणापरिपक इमा गाथा-(माता-भगिणी) । (एतासि असतीए चि) मायभगिनिनादियाणं ति, सेसं ति विहाव चि अणास्रवच्चास्रो संजतीस्रो ति विधास्रो धेरम-ज्झमतकणी य जयणा जहा फाससंबच्चादि ण जयति, तदा कारवेति, करंति वा ॥ २१ ॥ २२ ॥

जे भिक्खु णिगंथे णिगंथीए पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जा-वंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । ७३ । जे भिक्खु णिगंथे णिगंथीए पाए अषउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवा-हावेज्ज वा, पलिमहावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पलिमहावंतं वा साइज्जइ ॥ ७३ ॥ जे भिक्खु णिगंथे णिगंथीए पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वण्णिएण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, जि-ल्लिगेज्ज वा, मंखंतं वा जिल्लिगंतं वा साइज्जइ । ७४ । जे भिक्खु णिगंथे णिगंथीए पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा ककेण वा एहाणेण वा पउम-जुएणेण वा वण्णेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्ठेज्ज वा, परिवट्ठेज्ज वा, उव्वट्ठंतं वा परिवट्ठंतं वा साइज्जइ । ७५ ॥ जे भिक्खु णिगंथे णिगंथीए पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा

एण वा सीओदगवियनेण वा उसिणोदगवियनेण वा उच्छो-लेज्ज वा, पथोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पथोवंतं वा साइज्जइ । ७६ । जे भिक्खु णिगंथे णिगंथीए पाए अएणउत्थिएण वा गार-त्थिएण वा फूमेएज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ । ७७ । जे भिक्खु णिगंथे णिगं-थीए काये अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जा-वेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । ७८ । जे भिक्खु णिगंथे णिगंथीए कायं अएण-उत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहावेज्ज वा, पलिमहावेज्ज वा, मंवाहावंतं वा पलिमहावंतं वा साइज्जइ । ७९ । जे भिक्खु णि-गंथे णिगंथीए कायं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वण्णेण वा मंखावेज्ज वा, जिल्लिगावेज्ज वा, मंखावंतं वा जिल्लिगावंतं वा साइज्जइ । ८० । जे भिक्खु णिगंथे णिगंथीए कायं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोक्केण वा ककेण वा एहाणेण वा पउम-जुएणेण वा वण्णेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्ठेज्ज वा, परिवट्ठेज्ज वा, उव्वट्ठवंतं वा परिवट्ठवंतं वा साइज्जइ । ८१ । जे भिक्खु णिगंथे णिगंथीए कायं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियनेण वा उसिणोदगवियनेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ । ८२ । जे भिक्खु णिगंथे णिगं-थीए कायं फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमा-वंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । ८३ । जे भि-क्खु णिगंथे णिगंथीए कायंसि वणं अषउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आम-ज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । ८४ । जे भिक्खु णिगंथे णिगंथीए कायंसि वणं अषउत्थिएण वा गार-त्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, जिल्लिगावेज्ज वा, मंखावंतं वा जिल्लि-गावंतं वा साइज्जइ ॥ ८५ ॥ जे भिक्खु णिगंथे णिगंथस्त कायंसि वणं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा ककेण वा एहाणेण वा पउमजुएणेण वा सिणीहाणेण वा उव्वट्ठेज्ज वा, परिवट्ठेज्ज वा, उव्वट्ठवंतं वा परिव-ट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥ ८६ ॥ जे भिक्खु णिगंथे णिगंथीए कायंसि वणं अषउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियनेण वा उसिणोदगवियनेण वा उच्छोला-वेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ ॥ ८७ ॥ जे भिक्खु णिगंथे णिगंथीए कायंसि वणं अषउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रया-वेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा

बन्धोऽन्योन्यवेधस्तस्मात् पञ्चदशाद्यारोप एकैकस्मिन् स्थापने
संयुज्यते इत्यर्थः । नि० चू० २० व० ।

**असमसङ्गतास-अन्योन्याभ्यास-पुं० । अन्योन्यं परस्परम-
न्यासः । परस्परं गुणने, अनु० ।**

**अरण्यमण्युज्जारिक्ता-अन्योन्यज्जारिकता-छी० । मन्यो-
न्यस्य यो यो भारः स विद्यते यत्र तदन्योन्यज्जारिकं, तद्भाव-
स्तत्ता । परस्परं ज्ञारवत्त्वे, ज० ५ श० ३ वृ० ।**

आएणमए णमणुगय-अन्योन्यानुगत-त्रि०। परस्परानुबन्धे, नं०।

आसन्नमसमसंपत्त-अन्योन्यासंप्राप्त-त्रि० । परस्परमसंलभे,
जी० ३ प्रति० ।

अणमणसंवात-अन्योन्यसंवात-पुं० । परस्परमेकत्र सं-
वाते, व्य० ३ व० ।

अस्यमष्टासिणहृपनिवृद्ध-अन्योन्यस्नेहप्रतिवृद्ध-त्रि० । प-
रस्पर्शं स्नेहेन प्रतिबद्धे, भ० १ श० ५ उ० । येनैकस्मिन् चा-
ह्यमाने गृह्यमाणे वा परमपि चलनादिधर्मोपेतं भवति ।
जी० ३ प्रति० ।

असुप्रयं-देशी-पुनरुत्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अस्मलिंग-अन्यलिङ्ग-न० । अन्यतीर्थिकानां नेपथ्ये, वृ० १३०।

अएगङ्गिसिद्ध-अन्यङ्गिसिद्ध-पुं० । परिव्राजकादिसं-
न्धिनि बलकलकपायादिवस्त्रादिरूपे द्रव्यलिङ्गे व्यवस्थिताः
सन्तो ये सिद्धास्तोऽन्यलिङ्गसिद्धाः । नं० । परिव्राजकादिलि-
ङ्गसिद्धेषु, ल० । आ० । थ० ।

आणव-अणव-पुं० । अणोसि सन्त्यसिन् । अणत्-व । स-
लोपः । समुद्रे, उदकयुक्ते, जलदातरि, सूर्ये, इन्द्रे च । वाच० ।
अणो जलं विद्यते यत्रासारणवः । “अणसो लोपश्च” ॥ इति
(वार्तिकेन) वप्रत्ययः सकारलोपश्च । द्रव्यतो जलधौ,
भावतश्च भवे, उत्त० ५ अ० ।

अएणवंसि महोघंसि, एगे तिण्णे दुरुत्तरे ।

तत्त्य एगे महापने, इमं पणहमुदाहरे ॥

एतस्मिन् कीदृशि ? , (महोघंसि त्ति) महानोघः प्रवाहो द्रव्य-
तो जलसंबन्धो, भावतस्तु भवपरम्परात्मकः प्राणिनामत्यन्त-
माकुलीकरणहेतुः, चरकादिसमूहो वा यस्मिन् स महौघस्त-
स्मिन् । महत्त्वं चोभयत्रागाधतयाऽष्टष्टपरपारतया च मन्तव्य-
म् । तत्र किम् ? इत्याह—(एक इति) असहायो रागद्वेषादिसह-
भावनिरहितो गौतमादिरित्यर्थः । तरति परं पारमाप्नोति, त-
त्कालापेक्षया वर्तमाननिर्देशः (दुरुत्तरे इति) विभक्लिव्यत्याद्
दुरुत्तरे दुःखेनोत्तरीतुं शक्ये । दुरुत्तरमिति क्रियाविशेषणं वा ।
नहि यथाऽसौ तरति तथा परैर्गुरुकर्मभिः सुखेनैव तीर्यते, अत
एव एक इति संख्यावचनो वा । एक एव जिनमतप्रतिपक्षः,
न तु चरकादिमताकुलितचेतसोऽन्ये तथा तरीतुमीशत इति ।
(तत्रेति) गौतमादौ तरणप्रवृत्ते (एक इति) । तथाविधतीर्थक-
रनामकर्मोदयादनुत्तरावाप्तविभूतिरद्वितीयः । किमुक्तं भवति ?-
तीर्थकरः सद्येक एव भरते संभवतीति । महती निरावरण-
तया अपरिमाणा प्रज्ञा केवलज्ञानात्मिका संविदस्येति महाप्र-
ज्ञाः । स किमित्याह—इममनन्तरवक्ष्यमाणं हृदि विपरिवर्तमान-

प्रत्यक्षं प्रक्रमात्तरणोपायं पठति। स्पष्टमसंदिग्धम् । पठ्यते च-
(पणहंति) पृथ्यते इति प्रश्नः। तं प्रष्टव्यार्थरूपमुदाहरेदिति भूते
लिङ् । तत उदाहरेदुदाहृतवान् । पठ्यते च-“अश्ववांसि महो-
धंसि एगे तिष्ठे दुरुक्षरे” चि । अत्र तु प्रत्यये विशेषः-त-
तश्चार्णवान्महौघाद् दुरुक्षरात् तीर्ण इव तीर्णस्तीरप्राप्त इति
योगः । एको घातिकर्मसाहित्यरहितः, (तत्रेति) स देवमनु-
जयोः परिपदि एकोऽद्वितीयः, स च तीर्थकृदेव । शेषं प्राग्व-
दिति सूत्रार्थः । उक्त० ५ अ० ।

अण्वं-अण्वत्-त्रि० । सप्तविंशतितमे लोकोच्चरमुद्धर्ते, जं०
७ वक्ष० ।

आणवणस-अन्यव्यपदेश-पुं० । परस्य व्यपदेशे, इदं हि शर्करादिपुंड्रखण्डघृतपूरादिकं यज्ञदत्तसंबन्धीति व्रतितः भावयत् ढौकयत्यदेयबुद्ध्या, न च व्रतितः स्वामिनाऽननुज्ञातं गृह्णन्तीति नियमोऽपि तेन भग्नः, शर्करादिकं च रक्षितमिति तृतीयोऽतिचारः । प्रव० ७ द्वा० ।

अस्रवालय-अणपालक-पुं० । कालोदाय्यादिके अन्ययूथिके,
म० ७ श० १० उ० ।

आणविहि-अन्नविधि-पुं० । सूफकारकलायाम्, जं० २
वत्त० । स० । ज्ञा० । औ० ।

आएणह-अन्वहं-अव्य० । अहि अहि वीप्सायेंऽव्ययी० । अच्
समा० । प्रत्यहमित्यर्थे, वाच० । निरन्तरमित्यर्थे, ध० १ अधि० ।

आण (अ) (इ) हा-अन्यथा-अन्यथा अन्येन प्रकारेणेत्य-
र्थे, आत्मा० १ अ० ५ अ० ३ उ० । आ० म० । पं० व० ।

अण्हाकाम-अन्यथाकाम-पुं० पारदार्थ्ये, हा०१३अष्ट० द्वा०।

अणुववत्ति-अन्यथाऽनुपपत्ति-स्त्री० । अन्यथा अन्यभावेन अनुपपत्तिः असंभवः। स्यामावाप्रयोज्यसंभवे, अर्थापत्तिप्रमाणे च। तथाहि-पीनो देवदत्तो दिवा न वृद्धेः इत्यादौ दिवाऽभोक्तुर्देवदत्तस्य पीनत्वं रात्रिभोजनं विनाऽनुपपन्नम्, इति ज्ञानाद् रात्रिभोजनकर्तृवृत्तिपीनत्वेन रात्रिभोजनं कल्प्यते । वाच०। साध्याऽभावप्रकारेणानुपपत्तौ, असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथाऽनुपपत्तिः। रत्ना० । “अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ?। नान्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ?” ॥ १ ॥ सूत्र० १ अ० १२ अ० ।

असहाभाव-अन्यथाभाव-पुं० । अन्यथा अन्यरूपेण जावो-
यस्य । यथारूपमुचितं ततोऽन्यथारूपेण भवने, वाच० । विपरिण-
मने, व० ४ उ० ।

अमहावाङ् (ण्)-अन्यथावादिन्-त्रि० । अनृतवादिनि,
 “अणुवक्यपराणुगहपरायणा जं जिणा जगप्पवरा जिअराग-
 दोससंमोहा य नऽमहावाङ्गो तणं” आव० ४ अ० ।

अण्वहि-अन्यथा-अव्य० । अन्यत्र “त्रपो हिहत्याः” ८ । ३ ।
६१ । इति त्रुपप्रत्ययस्थाने हि ह त्या आदेशाः । अन्यस्मिन्
स्थाने इत्यर्थे, प्रा० ।

असहिभाव-अन्यथाभाव-पुं० । विपरिणमने, वृ० ४ उ० ।

अण्णाइडु-अन्वाविष्ट-त्रि० । अभिन्यासे, ज० १४ श० १ उ० ।
परवशीकृते, म० १८ श० ६ उ० ।

जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए उट्ठे अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेद्वेण वा घएण वा वएणेण वा वसाएण वा एवणीएण वा मंखाएज्ज वा, भिल्लिगाएज्ज वा, मंखावंतं वा जिद्धिगावंतं वा साइज्जइ । ११३ । जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए उट्ठे अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोप्पेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुणेण वा व-
 षेण वा उट्ठोलावेज्ज वा, उव्वट्ठावेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा उव्वट्ठावंतं वा साइज्जइ । ११४ । जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए उट्ठे अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा नीओदगवि-
 यडेण वा उसिणोदगवियेण वा उट्ठोलावेज्ज वा, प-
 थोवावेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ । ११५ । जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए उट्ठे अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखा-
 वेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । ११६ । जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए अच्चिणि अएणउ-
 त्थिएण वा गारत्थिएण वा आमावेज्ज वा, पमावेज्ज वा,
 अमावेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा साइज्जइ । ११७ । जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए अच्चिणि अएणउत्थिएण वा गार-
 त्थिएण वा संवाहावेज्ज वा, पल्लिमहावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पल्लिमहावंतं वा साइज्जइ । ११८ । जे भिक्खू णिगं-
 थे णिगंथीए अच्चिणि अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेद्वेण वा घएण वा वएणेण वा वसाएण वा एवणी-
 एण वा मंखावेज्ज वा, भिल्लिगावेज्ज वा, मंखावंतं वा जि-
 ल्लिगावंतं वा साइज्जइ । ११९ । जे भिक्खू णिगंथे णिगं-
 थीए अच्चिणि अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लो-
 प्पेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुणेण वा वएणे-
 ण वा उट्ठोलावेज्ज वा, उव्वट्ठावेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा उव्वट्ठावंतं वा साइज्जइ । १२० । जे भिक्खू णिगंथे णि-
 गंथीए अच्चिणि अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियेण वा उसिणोदगवियेण वा उट्ठोला-
 वेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ । १२१ । जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए अ-
 च्चिणि अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा,
 रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखा-
 वंतं वा साइज्जइ । १२२ । जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए कायाउ अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सेयं वा जंझं
 वा पंकं वा मल्लं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहावेज्ज वा, णि-
 हरावंतं वा विसोहावंतं वा साइज्जइ । १२३ । जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए गामाणुगामं दुइज्जमाणे अएणउत्थिए-
 ण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करेइ, करंतं वा साइज्जइ । १२४ । जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए

पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमावेज्ज वा, पमावेज्ज वा, आमावेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा साइ-
 ज्जइ । १२५ । जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए का-
 याउ अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अच्चिमल्लं वा
 कणमल्लं वा दंतमल्लं वा णहमल्लं वा णीहरावेज्ज वा० जाव
 साइज्जइ । १२६ । एवं सव्वं गिद्धगमगिद्धगमप्पसरिसं णे-
 यव्वं जाव जे णिगंथीए णिगंथीए गामाणुगामं दुइज्जमाणे
 अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करावेइ,
 करावंतं वा साइज्जइ । १२७ । जे भिक्खू णिगंथे णिगं-
 थीए पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज
 वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइ-
 ज्जइ । १२८ । एवं तं एतेण वा मएण सरिसा शेयव्वा
 जाव जे णिगंथीए णिगंथीए गामाणुगामं दुइज्जमाणे
 अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करावेइ,
 करावंतं वा साइज्जइ । १२९ ।

सुत्ता एकचत्तालीसं ततिउद्देशगमा जाव सीसदुवारे चि
 सुत्तं; अत्थो पूर्वथत् ।

एमेव गमो नियमा, णिगंथीए पं होइ णायव्वो ।

कारवण संजोहिं, पुव्व अवरम्मि य पदम्भी तु ॥ १३० ॥

संजमो गारत्थमादिपहिं संजतीणं पदे पमज्जणादि कारवेत्ति,
 उत्तरोत्तु ण संनयति, अन्नफलणाप वा संभवति । नि० चू०
 १७ उ० ।

अष्टमस्रगंथिय-अन्योन्यग्रथित-त्रि० । परस्परैकैकेन ग्रन्थिना
 सहाऽन्यो ग्रन्थिरन्येन च सहाऽन्य इत्येवं ग्रथिते, भ० ५ श०
 ३ उ० ।

अष्टमस्रगुरुयत्ता-अन्योन्यगुरुकता-त्वी० । अन्योन्येन ग्रन्थ-
 नाद् विस्तीर्णतायाम्, ज० ५ श० ३ उ० ।

अष्टमस्रगुरुयसंज्ञारियत्ता-अन्योन्यगुरुकसंभारिकता-त्वी० ।
 अन्योन्येन गुरुकं यत्संभारिकं च तत्तथा, तज्जावस्तत्ता । अन्या-
 न्येन ग्रन्थनाद् विस्तारसंभारवत्त्वे, ज० ५ श० ३ उ० ।

अष्टमस्रघटता-अन्योन्यघटता-त्वी० । अन्योन्यं घटन्ते सं-
 वधनन्तीति अन्योन्यघटाः । जी० ३ प्रति० । अन्योन्यं घटाः
 समुदायरचना यत्र तदन्योन्यघटम् । अन्योन्यं घटाः समु-
 दायो येषां तेऽन्योन्यघटाः । परस्परसंबन्धतायाम्, ज० ५
 श० ३ उ० ।

अष्टमस्रएणपुट्ट-अन्योन्यस्पृष्ट-त्रि० । स्पर्शनमात्रेण मिथः
 स्पृष्टे, भ० १ श० ६ उ० । जी० ।

अष्टमस्रएणवच्छ-अन्योन्यवच्छ-त्रि० । अन्यान्यं जीवाः पु-
 ञ्जलानां, पुञ्जलाश्च जीवानामित्येवमादिरूपेण गाढतरसंबन्धे,
 भ० १ श० ६ उ० ।

अष्टमस्रएणवेह-अन्योन्यवेध-पुं० । अन्यस्याऽन्यस्यां संबन्धे, नि०
 चू० २० उ० । “अएणोएणवेहओ माचि चि” अन्योन्यस्य वेधः सं-

जो सक्त्वं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाण पावगं ॥

अर्थः प्रयोजनं, तद्भावो निरर्थः, तदेव निरर्थकं, तस्मिन् सति विरतो निवृत्तः, कस्मात् ? , मिथुनस्य भावः कर्म वा मैथुनमग्रहः, तस्मात् , आभवान्तरविरतावपि यदस्योपादानं तस्यैवातिगृ-
हिहेतुतया दुस्सज्जत्वात् । उक्तं हि-“ दुप्परिच्चया कामा इमे ”
इत्यादि । सुष्ठु संवृतः सुसंवृतः । इन्द्रियसंवरणेन, यः साक्षादिति
परिस्फुटं नाभिजानामि, धर्मे वस्तुस्वभावं (कल्लाण चि) वि-
न्दुल्लोपात्कल्याणं शुभं, पापकं वा तद्विपरीतं चेत्यस्यां गम्यमा-
नत्वात् । यद्वा-धर्ममाचारं, कल्याण्यन्तनीरुक्ततया मोक्षः । तमा-
नयति प्रापयतीति कल्याणो मुक्तिहेतुः, तं, पापकं वा नरकादि-
हेतुः । अयमाशयः-यदि विरतौ कश्चिदर्थः सिद्ध्येन्नैवं ममाज्ञा-
नं नवेत् । उक्तं ३ अ० । “अज्ञानं खलु कष्टं, क्रोधादिभ्योऽपि
सर्वपापेभ्यः । अर्थं हितमहितं वा, न वेत्ति येनावृतो लोकः” ॥१॥
उक्तं २ अ० । आव० । आचा० । दर्श० । “नातः परमं मन्ये, जगतो
हुः शकारणम् । यथाऽज्ञानमहारोगो, दुरन्तः सर्वदेहिनाम्” ॥१॥
आचा० १ अ० ३ अ० १ उ० । “अज्ञानं वस्तु जिज्ञासु-नं मु-
क्षेत् कर्मदोषिवत् । ज्ञानिनां ज्ञानमन्वीक्ष्य, तथैवेत्यन्यथा न तु”
॥१॥ आ० म० द्वि० । रा० । “अष्टागभो रिपू अष्टो, पाणिणं णेव
विज्जति । एत्तो सक्किरियातीए, अणत्था विस्सतो मुदा ” ॥ १॥
पं० सु० ५ सु० ।

कदाचित्सामान्यचर्ययैव न फलावाप्तिरत आह—

तवोवहाणमादाय, पमिमं पमिवज्ज उ ।

एवं पि विहरओ मे, उज्जमं न नियदुइ ॥

(पाईटीका)

तपो नद्रमहाभवादि, उपधानमागमोपचाररूपमाचाम्लादि, आ-
दाय स्थीकृत्य, चरित्वेति यावत् । प्रतिमां मासिष्यादिनिष्ठुप्रति-
मां, (पमिवज्ज उ चि) इति प्रतिपद्याङ्गीकृत्य । पठ्यते च-“ पडिमं
पडिवज्जितो चि ” प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्याज्युपगच्छति । पथम-
पि विशेषचर्ययाऽपि, आस्तां सामान्यचर्ययेत्यपिशब्दार्थः । विह-
रतो निष्प्रतिपद्यन्त्वेनानियतं विचरतः, न दायतीति कृत्वा ज्ञाना-
वरणादिकर्म, न निवर्त्तते नापैतीति मिच्छुभिर्न चिन्तयेदित्युच-
रेण संवन्धः । अज्ञानाभावापेक्षे तु समस्तशास्त्रार्थनिकपोपल-
क्षतायामपि न दर्पाऽऽज्ञातमानसो भवेत्, किन्तु पूर्वपुरुषसि-
द्धानां विज्ञानातिशयसागरानन्त्यं श्रुत्वा साम्प्रतं पुरुषाः कथं
स्त्रबुद्ध्या मन्दयन्तीति परिजावयन् विगलितावद्येपः सन्नेवं
भावयेत्-“ निरद्वयं ” सूत्रद्वयम् । अक्षरगमनिका सैव, नवरं (नि-
रद्वयमि चि) निरर्थकेऽपि प्रक्रमात्प्रज्ञावक्षेपे रतो, मैथुनात्सुसं-
वृतः सन्निरुद्धात्मा, सत्योऽहं यः साक्षात्समज्ञं नाभिजानामि,
धर्मे कल्याणं पापकं वा । अयमभिप्रायः-“ जे एगं जाणति, से
सव्वं जाणति, जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ” इत्याऽऽगमात् ।
अष्टागोऽहमेकमपि धर्म्मं वस्तुस्वरूपं न तत्त्वतो वेद्मि, ततः सा-
क्षाद्भावस्वभावावप्राप्तिं चेत् न विज्ञानमस्ति, किमतोऽपि मुकु-
लितवस्तुस्वरूपपरिज्ञानतोऽवलेपेनेति भावः । तथा तप उपधा-
नादिभिरप्युपक्रमणहेतुभिरुपक्रमितुमशक्ये अज्ञानि दारुणे वैरि-
णि निष्प्रतिपत्तिकः किल ममाहङ्कारावसर इति सूत्रद्वयार्थः ।

साम्प्रतमावृत्त्या पुनः स्थूलारमङ्गीकृत्य प्रकृतसूत्रोपकृति-

मज्ञानसङ्गावे उदाहरणमाह—

परिततो वायणाएँ, गंगाकूलेऽपि धयसगरुयाए ।

संवच्चरोहिँ दिज्जइ, वारसयं असंखयज्जयणं ॥

(पाईटीका)

परितान्तः खिन्नो वाचनया गङ्गाकूलेऽपि ता अशकटायाः संवत्स-
रैरधीते द्वादशभिरसंस्कृताध्ययनमिति गाथाकारार्थः । भावार्थ-
स्तु वृद्धसंप्रदायादवसेयः । स चायम्-गङ्गातीरे द्वौ भ्रातरौ वैरा-
ज्ञादीकां गृहीतवन्तौ, तत्रैको विद्वान् जातः, द्वितीयस्तु मूर्खः । यो
विद्वान् सोऽनेकशिष्याभ्यापनादिना खिन्न एव चिन्तयति स्म-
अहो ! धन्योऽयं मे भ्राता यः सुखेन तिष्ठति, निद्रादिकमवसरे
कुर्वन्नस्ति । अहं तु शिष्याभ्यापनादिकष्टे पतितोऽस्मीति चि-
न्तयन् काव्यमिदं चकार—

“मूर्खत्वं हि सखे ! ममापि रचितं तस्मिन् यदग्नौ गुणाः,
निश्चिन्तोऽवृद्धभोजनो २ उत्रपमाना ३ नक्तं दिवा शायकः ४ ॥
कार्याकार्यविचारणान्धबधिरौ ५ मानापमाने समः ६,
प्रायेणाऽऽमयवर्जितो ७ दृढवपु ८ मूर्खः सुखं जीवति” ॥१॥

परं नैवं चिन्तयति स्म—

“ नानाशास्त्रसुभाषितामृतसरैः श्रोत्रोत्सवं कुर्वतां,
येषां यान्ति दिनानि परिभूतजनव्याधायामखिन्नात्मनाम् ।
तेषां जन्म च जीवितं च सफलं तैरेव भूर्भूषिता,
शेषैः किं पशुवद्विवेकरहितैर्भूभारभूतैर्नरैः ” ॥ २ ॥

एवं परिभूतगुणान् अचिन्तयन् मूर्खगुणांश्चासतोऽपि चिन्त-
यन् ज्ञानावरणीयं कर्म बद्धा दिवं गतः । ततश्च्युतो भरतक्षेत्रे
आभीरपुत्रो जातः । क्रमेण परिणीतः । तस्य पुत्रिका जाता ।
सा रूपवती । अन्यदा अनेक आभीरा धृतभृतशकटाः काञ्चिन्न-
गरं प्रति गच्छन्ति स्म, असावपि तत्सार्थं धृतभृतं शकटं गृ-
हीत्वा चलितः । मार्गे सा पुत्री शकटखेटनं करोति स्म । ततस्त-
द्रूपव्यामोहितैराभीरपुत्रैः अपथे खेदितानि शकटानि तानि
सर्वाणि भग्नानि । तादृशं संसारस्वरूपं दृष्ट्वा संजातवैराग्यः स
आभीरः तां पुत्रीमुद्वाह्य दान्तां जमाह । उत्तराध्ययनयोगोद्बु-
धनावसरे अलंभ्ययाऽध्ययनोद्देशे कृते तस्य आभीरभिर्ज्ञाना-
वरणोदयो जातः, न तदध्ययनमायाति स्म, आचाम्भ्यान्वेव क-
रोति, उच्चैःस्वरेण तदध्ययननिर्घोषं करोति स्म । एवञ्च कुर्वत-
स्तस्य द्वादशवर्षप्रान्ते अज्ञानपरीपहं सम्यग्धिसहमानस्य
केवलज्ञानं समुत्पन्नम् । एवमज्ञानपरीपहे आभीरसाधुकथा ।
प्रतिपक्षे च भौमद्वारम् । तत्राऽप्येतत्सूत्रसूचितमुदाहरणम्—

इमं च परिसं तं च, तारिसं पेच्छ केरिसं जायं ? ।

इय भणइ स्थूलजहो, सम्मायधरं गतो संतो ॥

(पाईटीका)

इदं चेति द्रव्यम्, ईदृशमिति स्तम्भमूलस्थितमतिप्रभूतं
च, अतिशयज्ञानित्वेन तस्य हृदि विपरिवर्त्तमानतया द्रव्यस्ये-
वमाने ईदृशः, (तच्चेति) तस्याज्ञानतः परिभ्रमणं, तादृशमिति
विप्रकटपटुर्गदेशान्तरविषयं यस्य, कीदृशं केन सदृशं जातम् ? ।
न केनापि, नहि कश्चिद् गृहे सति हृदये द्रव्यार्थी बहि-
र्भ्राम्यतीति भावः । इतीत्येवं भणति स्थूलभद्रः स्वजातिरिव
स्वजातिरत्यन्तसुहृद्गृहं गतः सन्निति गाथार्थः ।

संप्रदायश्चात्र-यस्य च ज्ञानाजीर्णं स्यात् तेनापि ज्ञानपरी-
पहो न सोढः । तत्रार्थे स्थूलभद्रकथा—

स्थूलभद्रस्वामी विहरन् बालमित्रद्विजगृहं गतः, तत्र तमदृष्ट्वा

अष्टा (चा) इति-अन्यादृश-वि०। अन्यादृशशब्दस्य “अन्या दृशोऽन्यादृश इति” । ७ । ४ । १३ । इति अर्पणश्रे अष्टा इति-त्यादेशः । प्रकाशान्तरतामापन्ने, प्रा० ।

अष्टाणसि (ण)-अज्ञातैपि-पुं० । जातिकुलसद्व्यनि-रूप्यतादिनाऽपरीकृतोऽज्ञातः, तादृशं गृहस्थमाहाराद्यर्थमे-पयतीत्येवंशीलोऽज्ञातैपि । उच० २ अ० । अज्ञातो जातिभुता-दिमिरेपत्युञ्जति अर्थात् पिण्डादीनि इत्यज्ञातैपि । उच० ३ अ० । अज्ञातस्तपस्वितादिजिर्गुणैरनवगत एवयते प्रासादिकं गवेषय-तीत्येवंशीलोऽज्ञातैपि । उच० १५ अ० । यत्र कुले तस्य साधो-स्तपनियमादिगुणो न ज्ञातस्तत्र एवयते प्रासादिकं गृहीतुं चाञ्जत इत्येवंशीलोऽज्ञातैपि । उच० १५ अ० । विनिष्टगुणैर-ज्ञात एव भिक्षुणरते, “अकामकामी अष्टा (चा) एसी परि-व्यय स भिक्षु” उच० १५ उ० ।

अष्टाण-अज्ञान-न० । न ज्ञानमज्ञानम् । सम्यग्ज्ञानादितर-स्मिन् ज्ञाने, आव० ।

अष्टाणं परियाणामि, नाणं उवसंपजामि । आव० ५ अ० ।

(नाणे चि) ज्ञानिनः सम्यग्दृष्टयः, अज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयः । आह च-“अविसेसिया महश्चिय, सम्महिद्विस्स ता मज्झाणं । मज्झाणं मिच्छा-दिद्विस्स सुयं पि एमेव” ॥ १ ॥ इति । अज्ञानता च मिथ्यादृष्टिबोधस्य, सदसतोर्गविशेषात् । तथा-हि-सन्त्यर्था इह, तत्सत्त्वं कथंचिदिति विशेषितव्यं भवति, स्वरूपेणेत्यर्थः । मिथ्यादृष्टिस्तु मन्यते-सन्त्येवेति, ततश्चा-पररूपेणापि तेषां सत्यमसङ्गः । तथा न सन्त्यर्था इह, तदस-त्त्वं कथञ्चिदिति विशेषितव्यं भवति, पररूपेणेत्यर्थः । स तु-न सन्त्येवेति मन्यते, तथा च तत्प्रतिषेधकचवनस्याप्यजावः प्रसज्यतीति । अथवा शशविषाणादयो न सन्तीत्येतत्कथ-ञ्चिदिति विशेषणीयम्, यतस्ते शशमस्तकादिसमवेततयैव न सन्ति, न तु शशश्च विषाणं च, शशश्च वा विषाणं, शृङ्गि-पूर्वजवप्रदणपेक्षया शशविषाणम्, तद्वत्तयाऽपि न सन्तीति, तदेव सदसतोः कथञ्चिदित्येतस्य विशेषणस्यानन्युपगमात् । तस्य ज्ञानमप्यवधार्यत्वेन कुत्सितत्यादज्ञानमेव । आह च-“अहं बुद्ध्यणमवयणं, कुच्छियसीलमसीलमसईप । जअर त-क्षाणं पि हु, मिच्छादिद्विस्स अन्नाणं” ॥ १ ॥ इति । तथा मिथ्यादृष्टे-रप्यवसायो न ज्ञानम्, प्रवहेतुत्वात्, मिथ्यात्यादिवत् । तथा यद्वज्रोपलब्धेरुन्मत्तचयत्वाज्ञानफलस्य सत्क्रियालक्षणाभावा-दन्वयस्य सहस्तगतदीपप्रकाशवदिति । आह च-“सदसद-विसेसणाओ, भवहेतु जइरियओवलंमाओ । नाणफलाना-वाओ, मिच्छादिद्विस्स अन्नाणं” ॥ ८ ॥ इति । स्या० २ उ० ४ उ० । अ० । आव० । “अष्टाणजमंतमच्छपरिहृत्थमणिभुर्तेदि-यमहामगरतुरियचरियसोखुम्भमाणनयंतचववचंचलचचंतपु-म्मतजलसमूहं” अज्ञानान्येव जमंतो मत्स्याः (परिहृत्येति) दक्षा यत्र स तथा । अग्निभूता-यनुपशान्तानि यानीन्द्रियाणि तान्येव महामकरास्तेषां यानि त्वरितानि शीघ्राणि चरितानि चेष्टितानि तैः (सोखुम्भमाणेति) वृक्षं कुम्भमाणो नृत्यन्निव नृत्यंश्च चपलानां मध्ये चञ्चलआरिधरत्वेन चलंश्च क्षाना-न्तरगमनेन घूर्णंश्च आस्यन् जलसमूहो जलसंघातः, अन्यत्र जलसमूहो यत्र स तथा तं, संसारमिति भावः । औ० । नमः कुत्सार्यत्वात् कुत्सितं ज्ञानमज्ञानमिति । अनु० । ज्ञाना-वरणकर्मोदयजनिते, आव० ४ अ० । आत्मपरिणामे, दर्श० ।

मिथ्यात्वमितिमिरोपप्लुतदृष्टेर्जीवस्य विपर्यस्त बोधे, विशेष० । उच० । अज्ञानमनवयोधः । उच० ३ अ० । मूढतारूपे, आतु० । ज्ञाना-भावे मिथ्यादृष्टिकृतीर्थिकपार्श्वस्थादिसंवाग्धिशालावगाहना-त्मके, दर्श० । उच० । स० । संशयविपर्ययादिरूपे मिथ्याज्ञाने, द्वा० २१ द्वा० । जीवाजीवविवेकरहिते, अष्ट० १२ अष्ट० । सद्वोधा-भावे, दर्श० । कुशास्त्रसंस्कारे, औ० । कुत्सितत्वं च मिथ्यात्व-संयतितत्वात् । उक्तं च-“अविसेसिया महश्चिय, सम्महिद्विस्स ता मज्झाणं । मज्झाणं मिच्छा-दिद्विस्स सुयं पि एमेव” ॥ ८ ॥ उ० २ उ० ।

तश्च अज्ञानं मिथ्यात्वमिति उच्यते—

अज्ञाने तिविहे पणत्ते । तं जहा-देस-अण्णाणे, सन्व-अण्णाणे, जाव-अण्णाणे ।

(अज्ञानेत्यादि) ज्ञानं हि कल्पपर्यायविषयो बोधः, तन्निषेधोऽ-ज्ञानं, तत्र विवक्षितरूप्यं देशतो यदा न जानाति तदा देशाज्ञा-नम्, अकारप्रत्येयात् । यदा च सर्वतो न जानाति तदा सर्वा-ज्ञानम् । यदा विवक्षितपर्यायतो न जानाति तदा भावाज्ञानमि-ति । अथवा देशादिकानमपि मिथ्यात्वविशिष्टमज्ञानमेवेति । अकारप्रत्येयं विनाऽपि न दोष इति । स्या० ३ उ० ३ उ० ।

अण्णाणे णं भंते ! कइविहे पणत्ते ! गोयमा ! तिविहे पणत्ते । तं जहा-मइअण्णाणे सुयअण्णाणे विजंगनाणे । से किं तं मइअण्णाणे ! मइअण्णाणे चउच्चिहे पणत्ते । तं जहा-उग्गहे० जाव धारणा । से किं तं उग्गहे ! उग्गहे उच्चिहे पणत्ते । तं जहा-अत्थोग्गहे य वंजणोग्गहे य । एवं जहेव आभिणिवोहियानां तहेव, एवरं एगडियवज्जं० जाव नोइंदियधारणा, सेचं धारणा । सेचं मइअण्णाणे । से किं तं सुयअण्णाणे ! सुयअण्णाणे जं इमे अण्णाणि एहिं मिच्छादि-द्विहिं जहा नंदिए जाव चचारि य वेदा संगोवंगा । सेचं सुयअण्णाणे । से किं तं विभंगनाणे ! विभंगनाणे अणे-गविहे पणत्ते । तं जहा-गामसंठिए नगरसंठिए जाव सखि-वेससंठिए दीवसंठिए समुदसंठिए वाससंठिए वामहरसं-ठिए पन्नयसंठिए रुक्खसंठिए थूजसंठिए हयसंठिए गय-संठिए नरसंठिए किंनरसंठिए किंपुरिससंठिए महोरग-संठिए गंधव्वसंठिए उसभसंठिए पणुपसयविहगवानरणा-णासंठाणसंठिए पणत्ते । ज० ८ श० ५ उ० ।

मोहविजृम्भणे, सूत्र० १ सु० १ अ० ३ उ० । आचा० । ज्ञायते सुतत्त्वमनेनेति ज्ञानं भुताख्यम्, तदभावोऽज्ञानम् । प्रव० ७६ द्वा० । अज्ञानं-अकर्षे गर्वः प्रज्ञाऽभावे दैन्यचिन्तनमित्युभयथा । उच० २ अ० । अज्ञानभावाऽभावाभ्यां द्विधा सोढव्ये एकवि-शे परीयदन्ते । अज्ञानपरीयद्वयं सोढव्य एव, न तु कर्मविपाक-जादज्ञानादुद्धिजेत । आव० ४ अ० । तदुक्तम्-“विरतस्तपसो-पेतः, कृत्स्नोऽहं तथापि च । धर्मादि साक्षात्तैवेके, नैवं स्यात् कमकालविव” ॥ ११ ॥ आव० १ अ० ।

एतदेव सूत्रकृतं प्रपञ्चयिषुस्तावदभावपक्षमङ्गीकृत्याह—

निरङ्गामि विरओ, मेहुणाओ सुसंजुदो ।

बपरिज्ञानम्, उपायमन्तरेण न चोपेयस्य विशिष्टपरिज्ञानस्यावा-
सिरिति । न च ज्ञानं ज्ञेयस्य स्वरूपं परिच्छेत्तुमलम् । तथाहि-
यत्किमप्युपलभ्यते, तस्यावार्गमध्यपरजागैर्भाव्यम् । तत्रावार्गमा-
गस्य बोधलब्धेर्नैतरयोः, तेनैव व्यवहितत्वात् । अवार्गभागस्यापि
भागत्रयकल्पनात् तत्सर्वारतीयभागपरिकल्पनया परमाणुपर्य-
वसानता, परमाणोश्च स्वाज्ञायिकविप्रकृष्टत्वाद्वान्दशनिर्ना नो-
पलब्धिरिति । तदेवं सर्वज्ञस्याभावादसर्वज्ञस्य च यथावस्थि-
तवस्तुस्वरूपापरिच्छेदात्सर्ववादिनां च परस्परविरोधेन पदार्थ-
स्वरूपाभ्युपगमात् यथोत्तरपरिज्ञानिनां प्रमादवतां बहुतरदा-
पसंभवादज्ञानमेव श्रेयः । तथाहि-यद्यज्ञानवान् कथाञ्चित्पादेन
शिरसि हन्यात्, तथापि चित्तशुद्धेर्न तथाविधदोषानुपपत्ती स्या-
दित्येवमज्ञानिन एववादिनः सन्तोऽसंबन्धा नैवैवंविधां चित्त-
विष्णुर्ति वितर्ण इति । तत्रैवंवादिनस्ते अज्ञानिका अकोविदा
अनिपुणाः सम्यक्परिज्ञानाविकला इत्यवगन्तव्याः तथाहि-यत्तै-
रभिहितम्-ज्ञानवादिनः परस्परविरुद्धार्थवादितया न यथाथंवा-
दिन इति तद्भवतु असर्वज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनामयथा-
र्थवादित्वम् । न चाभ्युपगमवादा एव बाधायै प्रकल्प्यन्ते, सर्व-
ज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनां तु न क्वचित्परस्परतो विरोधः, स-
र्वज्ञत्वाभ्युपगमादनुपपत्तेरिति । तथाहि-प्रक्रीणाश्रोपाऽऽवरणतया
रागद्वेषमोहानामनुनकारणानामज्ञायाश्च तद्वाक्यमयथार्थमित्येवं
तत्प्रणीतागमवतां न विरोधवादित्वमिति । ननु च स्यादेतत्, यदि
सर्वज्ञः कश्चित्स्यात्, नचासौ संभवतीत्युक्तं प्राक् । सत्यमुक्तम्,
अयुक्तं तूक्तम् । तथाहि-यत्सावदुक्तम्-न चासौ विद्यमानोऽप्युपल-
भ्यतेऽर्वाग्दृशिभिः । तदयुक्तम् । यतो यद्यपि परचेतोवृत्तीनां
दुरन्ध्रवत्वात्सरागा वीतरागा इव चेष्टन्ते, वीतरागाः सरागा इव,
इत्यतः प्रत्यक्षेणानुपलब्धिः, तथापि संज्ञवानुमानस्य सद्भावाच्च
तद्विषयप्रमाणभावाच्च तदस्तित्वमनिवार्यम् । संज्ञवानुमानं
त्विदम्-व्याकरणादिना शास्त्राभ्यासेन संस्क्रियमाणायाः प्रज्ञाया
ज्ञानातिशयो ज्ञेयावगमं प्रत्यु-
पलब्धः, तदत्र कश्चित्प्राभूताभ्यासवशात्सर्वज्ञोऽपि स्या-
दिति । न च तदज्ञावसाधकं प्रमाणमस्ति । तथाहि-न ता-
वद्वान्दृशिभिः प्रत्यक्षेण सर्वज्ञाभावः साधयितुं शक्यः । तस्य
हि तज्ज्ञानाज्ञेयविज्ञानशून्यत्वात् । अशून्यत्वाभ्युपगमे च सर्व-
ज्ञत्वाऽऽपत्तिरिति । नाप्यनुमानेन, तदव्यभिचारिज्ञानभावा-
दिति । नाप्युपमानेन सर्वज्ञाभावः साध्यते, तस्य सादृश्यवलेन
प्रवृत्तेः । न च सर्वज्ञाभावे साध्ये तादृग्विधं सादृश्यमस्ति,
येनासौ सिध्यतीति । नाप्यर्थापत्त्या, तस्याः प्रत्यक्षादिप्रमा-
णपूर्वकत्वेन प्रवृत्तेः । प्रत्यक्षादीनां च तत्साधकत्वेनाप्रवर्तमा-
नात् तस्याप्यप्रवृत्तिः । नाप्यागमेन, तस्य सर्वज्ञसाधकत्वेनापि
दर्शनात् । न प्रमाणपञ्चकाभावरूपेणाभावेन सर्वज्ञाभावः
सिध्यति । तथाहि-सर्वज्ञ सर्वदा न संभवति, तद्ग्राहकप्र-
माणमित्येतद्वान्दृशिर्नो वक्तुं न युज्यते, तेन हि देशकालविप्र-
कृष्टानां पुरुषाणां यद्विज्ञानं तस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्, तद्ग्रहणे
वा तस्यैव सर्वज्ञत्वाऽऽपत्तेः । न चार्वाग्दृशिनां ज्ञानं निवर्तमानं
सर्वज्ञाभावं भावयति, तस्याभ्यापकत्वात् । न चाभ्यापकव्या-
वृत्त्या पदार्थव्यावृत्तिर्युक्तेति । न च वस्तुन्तरविज्ञानरूपो भावः
सर्वज्ञाभावसाधनायालम्, वस्तुन्तरसर्वज्ञयोरेकज्ञानसंसर्गप्र-
तिबन्धाभावात् । तदेवं सर्वज्ञसाधकप्रमाणाभावात्संज्ञवानुमा-
नस्य च प्रतिपादितत्वादस्ति सर्वज्ञः, तत्प्रणीतागमाभ्युपगमा-
च्च मतभेददोषो दूरापास्त इति । तथाहि-तत्प्रणीतागमाभ्यु-

पगमवादिनामेकवाक्यतया शरीरमात्रव्यापी संसार्यात्माऽस्ति,
तत्रैव तद्गुणोपलब्धेः । इति इतरतराभ्युपगमात् नवतरस्येव ।
यतोऽन्यस्यमानायाः प्रज्ञाया ज्ञानातिशयः स्वात्मन्यपि दृष्टो, न
च दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति । यदव्यभिहितम्-तद्यथा न च ज्ञानं ज्ञे-
यस्य स्वरूपं परिच्छेत्तुमलम्, सर्वत्रावार्गभावेनेत्यवधानात्सर्वा-
ऽऽरातीयभागस्य च परमाणुरूपतयाऽतीन्द्रियत्वादित्येतदपि
वाह्यमात्रमेव । यतः सर्वज्ञज्ञानस्य देशकालस्वभावव्यवहिताना-
मपि ग्रहणाभास्ति व्यवधानसंभवः । अर्वाग्दृशिज्ञानस्याप्यवय-
वद्वारेणाभ्युपगमिनि प्रवृत्तेर्नास्ति व्यवधानम् । न ह्यवयवो
स्वावयवैर्व्यवधीयत इति युक्तिसंगतम् । अपि च-अज्ञान-
मेव श्रेय इत्यत्राऽज्ञानमिति किमयं पर्युदासः ? आदोऽस्थि-
त्यस्यप्रतिषेधः ? । तत्र यदि ज्ञानादन्यदज्ञानमिति, ततः
पर्युदासवृत्त्या ज्ञानान्तरमेव समाधितं स्यात्, नाज्ञानवाद-
इति । अथ ज्ञानं न ज्ञवतीत्यज्ञानं, तुच्छो नीरूपो ज्ञानाभावः,
स च सर्वसामर्थ्यरहित इति कथं श्रेयानिति ? अपि च-अज्ञानं
श्रेय इति प्रसज्यप्रतिषेधे न ज्ञानं श्रेयो ज्ञवतीति क्रियाप्रतिषेध-
एव कृतः स्यात् । एतच्चाध्यक्षवाधितम्, यतः सम्यग्ज्ञानादर्थ-
परिच्छेद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियार्थो न विसंवाद्यत इति । किञ्च-
अज्ञानप्रमादवद्भिः पादेन शिरःस्पर्शनेऽपि स्वल्पदोषवतां प-
रिज्ञायैवाज्ञानं श्रेय इत्यभ्युपगम्यते । एवं च सति प्रत्यक्ष एव
स्यादभ्युपगमविरोधो नानुमानं प्रमाणमिति । तथा तदेवं
सर्वथा तेऽज्ञानवादिनोऽकोविदा धर्मोपदेशं प्रत्यनिपुणाः, स्व-
तोऽकोविदेभ्य एव स्वाक्षिप्येभ्यः, आहुः कथितवन्तः । गान्द-
सत्वाच्चैकवचनं सूत्रे कृतमिति । शाक्या अपि प्रायशोऽज्ञानिकाः
अविज्ञोपचितं कर्म बन्धं न यातीत्येवं यतस्तेऽभ्युपगमयन्ति ।
तथा ये च बाह्यमत्तसुखादयोऽस्पृश्यविज्ञाना अव्यक्ता इत्येक-
मभ्युपगमं कुर्वन्ति, ते सर्वेऽप्यकोविदा छष्ट्या इति । तथाऽज्ञा-
नपक्षसमाश्रयणाधानानुविचिन्त्य ज्ञापणान्मृषा ते सदा वदन्ति,
अनुविचिन्त्य भाषणं यतो ज्ञानं सति भवति, तत्पूर्वकत्वाच्च
सत्यत्वादस्यातो ज्ञानानभ्युपगमादनुविचिन्त्य भाषणाज्ञावः, त-
दभावाच्च तेषां मृषावादित्वमिति ॥ २ ॥ सूत्र ० १ ध्रु १२ अ० ।
इति दशितं सद्गुणमज्ञानिनां मतम् । अथ कियन्तस्ते इति
दर्शयति निर्युक्तिरुद्ध-

अष्टाध्याय सत्तद्धी

साम्प्रतमज्ञानिकानामज्ञानादेव विवक्षितकार्यसिद्धिमिच्छतां
ज्ञानं तु सदापि निष्फलम्, बहुदोषत्वाच्चेत्येवमभ्युपगमवतां
सप्तपरिनेनोपायेनावगन्तव्याः-जीवाजीवादीन् नव पदार्थान्
परिपाठ्या व्यवस्थाप्य तदधोऽग्नी सप्त भङ्गकाः संस्थाप्याः-सत्,
असत्, सत्सत्, अवकव्यम्, सदवकव्यम्, असदवकव्यम्,
सदसदवकव्यमिति । अजिलापस्त्वयम्-सन् जीवः, को वेत्ति ?
किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥१॥ असन् जीवः, को वेत्ति ? किं वा तेन
ज्ञातेन ? ॥२॥ सदसन् जीवः, को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ?
॥३॥ अवकव्यो जीवः, को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥४॥
सदवकव्यो जीवः, को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥५॥ असद-
वकव्यो जीवः, को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥६॥ सदसदवक-
व्यो जीवः, को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥७॥ एवमजीवादिष्वपि
सप्त भङ्गकाः । सर्वेऽपि मिलितास्त्रिपष्टिः । तथाऽग्नेऽग्नी चत्वारो
भङ्गकाः । तद्यथा-सती जावोत्पत्तिः, को वेत्ति, किं वा तया ज्ञात-
या ? ॥१॥ असती भावोत्पत्तिः, को वेत्ति, किं वा तया ज्ञातया ? ॥२॥
सदसती भावोत्पत्तिः, को वेत्ति, किं वा तया ज्ञातया ? ॥३॥ अवकव्या

तद्भार्या पृथ्वान्-कृते पतिर्गतः। सा प्राह-परदेशे धनाज्जनार्थं गतोऽस्ति । ततः स्वामी तद्गृहस्तम्भमूलस्थितं निधिं पश्यन् स्तम्भमभिमुखं हस्तं कृत्वा "इदमिदं शय, स च तादृशः" इति भणित्वा गतः। ततः कालान्तरे गृहागतस्य विप्रस्य तद्भार्याया स्थूलभद्रस्वामिवचोऽपि पितम् । तेन पण्डितेन ज्ञातम्-अत्रा-चश्यं किञ्चिदस्ति । नतः खानिनः स्तम्भः। लब्धो निधिः । एवं स्थूलभद्रेण ज्ञानपरोपहो न सोढः । शेषसाधुभिरपीदृशं न कारयेत् । उक्तः ३ अ० । (विपयान्तरं 'परीसह' शब्दे वक्ष्यते) भारतकाव्यनाटकादिलौकिकधुतरूपे पापधुनप्रसङ्गे, स्या० ८ अ० । भावशुद्धप्रतिषेधाविशेषे, व्य० । तत्त्वं च-

अत्रपरपमाणं, अत्रपञ्चत्तस नो पञ्चत्तस ।

इरियाइसु न्यत्ये, अवदते एयमाणं ॥

पञ्चानां प्रमादाम्पतरेणापि प्रमादेनासंप्रयुक्तस्याक्रोहीकृत-स्यात् एव ईर्यादिषु समतिषु नृताये न तत्त्वतो वर्तमानस्य यद्वा-धनमेतदज्ञानम् । व्य० १० अ० । कुशाखसंस्कारे च, औ० । निज्ञाने (ज्ञानरहिते), वि० । म० १ अ० ६ उ० ।

अण्णाणओ-अज्ञानतस्-प्रव्य० । ज्ञानावरणोत्कटतयेत्यर्थे, दश० १ अ० ।

अण्णाणकिरिया-अज्ञानक्रिया-स्त्री० । ५ त० । अज्ञानान् क्रियमाणयोश्चेष्टाक्रमणोः, स्या० ३ अ० ३ उ० । (अण्णाण-किरिया तिविहा 'किरिया' शब्दे वक्ष्यते)

अण्णाणिवचि-अज्ञाननिर्वृत्ति-स्त्री० । अज्ञानस्य निर्वृत्तौ, म० । "कश्चिद्वा णं भंते ! अण्णाणिवचि पण्णात्ता ?। गोयमा ! तिविहा अण्णाणिवचि पण्णात्ता । तं जहा-मइअण्णाणिवचि, सुयअ-ण्णाणिवचि, विजंगणाणिवचि । पयं जस्स जइ जाय येमा-णिमा ।" ज० १६ अ० ८ उ० ।

अण्णाणतिग-अज्ञानत्रिक-न० । नञ्शब्दः कुत्सायां, मिथ्या-ज्ञानानामित्यर्थः । तेषां त्रिकं अज्ञानत्रिकम् । मिथ्याज्ञानादित्यर्थे, पं० सं० १ अ० ।

अण्णाणदोस-अज्ञानदोष-पुं० । अज्ञानात्कुशाखसंस्काराद् हिंसादिष्वधर्मस्वरूपेषु नरकादिकारणेषु धर्मदुष्टाऽप्युद्धार्य या प्रवृत्तिस्तल्लक्षणो दोषोऽज्ञानदोषः । अथवा उक्तलक्षणमज्ञानमेव दोषोऽज्ञानदोष इति । स्या० ४ अ० १ उ० । रौद्रभ्यानस्य लक्षणमेवे, म० २५ अ० ९ उ० । औ० । प्रमाददोषे, आचा० १ अ० ५ अ० १ उ० । ग० ।

अण्णाणपरीसह-अज्ञानपरीपह-पुं० । "ज्ञानचारित्र्युक्तोऽस्मि, त्वयस्योऽहं तथापि हि । इत्यज्ञानं विपहेत, ज्ञानस्य क्रमलो जवेत्" ॥१॥ इति सोढव्ये परीपहमेदं, ध० ३ अधि० । प्रव० ("अण्णाण" शब्देऽत्रैव भागे ४८८ पृष्ठेऽस्य तत्त्वमावेदितम्)

अण्णाणपरीसहविजय-अज्ञानपरीपहविजय-पुं० । अज्ञोऽयं पशुसमो नवेति किञ्चिदित्येवमधिकपवचनं सम्यक् सहमानस्य परमदुष्करतपोऽनुष्ठाननिरतस्य नित्यमप्रमत्तचेतसो न मेऽद्यापि ज्ञानातिशयः समुत्पद्यते इति चिन्तने, पञ्चा० १३ वि० ।

अण्णाणफल-अज्ञानफल-वि० । अज्ञानमनवबोधस्तत्फलानि, ज्ञानावरणरूपाणीत्यर्थः । धर्माचार्यगुरुभुतनिन्दारूपेषु ज्ञानावरणकर्मसु, उक्त० २ अ० ।

अण्णाणया-अज्ञानता-स्त्री० । भवानो निर्ज्ञानस्तस्य भावो-ऽज्ञानता । स्वरूपेणानुपद्वम्भे, म० १ अ० ६ उ० ।

अण्णाणवचि-अज्ञानवचि-स्त्री० । आत्मनोऽज्ञानस्य ज्ञाना-ऽवरणीयोदयनो लाजे, "अण्णाणवचि णं भंते ! कश्चिद्वा पण्णात्ता ?। गोयमा ! तिविहा पण्णात्ता । तं जहा-मइअण्णाणवचि, सुयअण्णा-णवचि, विजंगणाणवचि" म० ८ अ० १ उ० ।

अण्णाणवाइ (ण्)-अज्ञानवादिन्-त्रि० । सति मत्प्रादिके हेयोपादेशप्रदर्शके ज्ञानपञ्चके अज्ञानमेव धेय इत्येवं वदति अज्ञानिके, सूत्र० १ अ० १२ अ० ।

अण्णाणसत्य-अज्ञानशास्त्र-न० । भारतकाव्यनाटकादौ लौकिकधुते, स्या० ९ अ० ।

अण्णाण (ण्)-अज्ञानिन्-त्रि० । न ज्ञानमज्ञानं, तद्विद्यते येन तेऽज्ञानिनः । अज्ञानमेव धेय इति वदत्सु वादिमेवेषु, सूत्र० १ अ० १२ अ० । ज्ञाननिष्ठवधादिषु, "अण्णाणो अण्णाणं वि-णइत्ता वेणइयवाद्" । सूत्र० १ अ० १२ अ० । न ज्ञानिनोऽ-ज्ञानिनः । नञ्शब्दः कुत्सायां । मिथ्याज्ञानेषु, पं० सं० १ अ० । "अण्णाणी कम्मं खवेति वहुयाहिं वासकोमीहि, तण्णाणी तिवि-गुत्तो खवेइ ऊसासमिच्छेण" उक्त० १ अ० । अण्णाणी किं काही, किंवाणाही वेयपावणं" इत्यादि । सूत्र० १ अ० ७ अ० ।

अण्णा(वा)णिय-अज्ञानिन्-पुं० । न ज्ञानमज्ञानं, तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः । अज्ञानशब्दस्योत्तरपदत्वाद् वा मतवर्थाः । यथा-गौरखरयदरयमिति । प्राकृतं स्वार्थिकः कः । सूत्र० १ अ० १ अ० १ उ० । अज्ञानिक-पुं० । अज्ञानेन चरन्तीति आज्ञानिकाः । अज्ञानं वा प्रयोजनं येषां ते आज्ञानिकाः । आच० ६ अ० । सम्यग्ज्ञान-रहितेषु अज्ञानमेव धेय इत्येवं वादिषु, सूत्र० १ अ० १ अ० १ उ० ।

तन्मतं चेत्थमुपगम्यस्याह सूत्रकृत्-

अण्णाणिया ता कुमत्ता पि संता ,

असंयुया खो वितिगिच्च तिया ।

अंकोविया आहु अकोविण्हि ,

अण्णाणवीडु मुसं वयेति ॥ २ ॥

ते चाज्ञानिकाः किञ्च वयं कुशलाः, इत्येवं वादिनोऽपि सन्तोऽसंस्तुता अज्ञानमेव धेय इत्येवंवादितया असंवकाः । असं-स्तुतत्वादं विचिकित्सा चित्तविष्णुतिश्चित्तज्ज्ञान्तिः संशीति-स्तां न तीर्णा नातिक्रान्ताः । तथाहि-ते ऊचुः ये एते ज्ञानिनस्ते परस्परविरुद्धवादितया असंवका असंस्तुतत्वादेव विचिकित्सा, न यथार्थवादिनो ज्ञानिन् । तथाहि-एके सर्वगतमात्मानं वदन्ति । तथाऽन्ये असर्वगतम् । अपरे अद्विष्टपर्वमात्रम् । केचन इयमाक-तन्दुलमात्रम् । अन्ये मूर्तममूर्तं हृदयमध्यवर्तिनं ललाटस्थवस्थि-तमित्याद्यात्मपदार्थ एव सर्वपदार्थपुरःसरे तेषां नैकवाक्यता । नचातिशयज्ञानी कश्चिदस्तीति यद्वाक्यं प्रमाणीक्रियेत । नचासौ विद्यमानोऽप्युपलब्धतेऽर्जामृदशिना । "नासर्वज्ञः सर्वं जानाति" इति वचनात् । तथाचोक्तम्-"सर्वज्ञोऽसावितिह्येत-तत्कालेऽपि बुभुक्षुभिः । तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञान-शून्यैर्विज्ञायते कथम् ?" । १ । न च तस्य सम्यक् तदुपायपरिज्ञानाभावात्संज्ञकः, संभवाभावश्चे-तरेतराभ्यत्वात् । तथाहि-न विशिष्टपरिज्ञानमृते तदवाप्त्युपा-

भावोत्पत्तिः, को वेत्ति? किं वा तथा ज्ञातया? । १४। सर्वेऽपि सप्त-
पञ्चरित्युत्तरं भङ्गकथयन्मुपपन्नजावाचयवोपेक्षमिह भावोत्पत्तौ न
संज्ञयतीति नोपन्यस्तम् । उक्तं च—“अज्ञानिकवादिमतं, नव जी-
वादीन् सदादिसप्तविधान् ॥ भावात्पत्तिः सदसद्, द्वेषा वाच्या
च को वेत्ति?” ॥ १॥ सूत्र० १ भु० १२ अ० पतञ्जल्युपपत्तेरुपात्तसप्त-
पञ्चरिति । तत्र सन् जीव इति को वेत्तीत्यस्यायमर्थः—न कस्याचि-
द्विशिष्टं ज्ञानमस्ति, योऽनीन्द्रियान् जीवादीन् न भोक्त्यते । न च
तैर्ज्ञातैः किञ्चित्फलमस्ति । तथाहि—यदि नित्यः सर्वगतोऽ-
मूर्तो ज्ञानादिगुणोपेतः, एतद्गुणव्यतिरिक्तो वा, ततः कतमस्य
पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति, तस्मादज्ञानमेव श्रेय इति । सू० १
भु० १ अ० २ उ० । प्रव० । आचा० । सा० । आव० । न० ।

साम्प्रतमज्ञानमतं दूषयितुं दृष्टान्तामाह—

जविणो मिगा जहा संता, परिचायेण वज्जिआ ।
असंकिआइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ॥ ६ ॥
परियाणिआणि संकंता, पासिताणि असंकिणो ।
अएणाणजयसंविग्गा, संपलिति तहिं तहिं ॥ ७ ॥
अहं तं पवेज्ज वज्जं, अहे वज्जस्स वा वए ।
मुवेज्ज पयपासाओ, तं तु मेदे ण देहइ ॥ ८ ॥

(जविणो इत्यादि) यथा जविनो वेगवन्तः सन्तो मृगा आ-
रण्याः पश्यः, परि समन्तात् आयते रत्नतीति परित्राणं, तेन
वर्जिता रहिताः, परित्राणविकला इत्यर्थः । यदि वा परित्राणं
वागुरादियन्धनं, तेन तर्जिता भयं गृहीताः सन्तो भयोद्भ्रा-
न्तलोचनाः सभाकुलोभूतान्तःकरणाः सम्यक् विवेकविकलाः,
अशङ्कनीयानि कूटपाशादिरहितानि स्थानान्यशङ्काहानि, ता-
न्येव शङ्कन्ते, अनर्थोत्पादकत्वेन गृह्णन्ति । यानि पुनः शङ्का-
हानि, शङ्का संजाता येषु योग्यत्वाच्चानि शङ्कितानि, शङ्कायो-
भ्यानि वागुरादीनि, तान्यशङ्कितस्तेषु शङ्कामकुर्वाणस्तत्र
तत्र पाशादिकं संपर्ययन्त इत्युत्तरेण संबन्धः ॥ ६ ॥

पुनरप्येतदेवाऽतिमोहाविष्करण्यायाह— [परियाणीत्यादि]
परित्रायते इति परित्राणं तज्ज्ञातं येषु तानि, यथा परित्राणयु-
क्तान्येव शङ्कमाना अतिमूढत्वाद्विपर्यस्तबुद्ध्यस्मात्तर्क्यपि भय-
मुत्प्रेक्षमाणानां, पाशितानि पाशोपेतान्यनर्थोत्पादकानि, अशङ्कि-
नः, तेषु शङ्कामकुर्वाणः सन्तोऽज्ञानेन भयेन च [संविमं ति]
सम्यक् व्याप्ता वशीभूताः शङ्कनीयमशङ्कनीयं वा तत्रापरित्रा-
णोपेतं, पाशाद्यनर्थोपेतं वा, सम्यक्विवेकेनाऽज्ञानानां, तत्र त-
त्राऽनर्थवहुले पाशावागुरादिकं बन्धने, संपर्ययन्ते समेकीभावे-
न, परि समन्तात्, अयन्ते यान्ति वा, गच्छन्तीत्युक्तं भवति । तदेवं
दृष्टान्तं प्रसाध्य नियतिवादाद्येकान्ताऽज्ञानवादिनो दार्ष्टान्ति-
कत्वेनाऽऽयोज्याः । यतस्तेऽप्येकान्तवादिनोऽज्ञानकास्त्राश्रयभूता-
नेकान्तवादवर्जिताः सर्वदोषविनिर्मुक्तकालेश्वरादिकारणवा-
दाभ्युपगमेनाऽनाशङ्कनीयमनेकान्तवादमाशङ्कन्ते । शङ्कनीयं
च नियत्यज्ञानवादमेकान्तं न शङ्कन्ते । ते एवमभूताः परित्रा-
णाहेऽप्यनेकान्तवादे शङ्कां कुर्वाणा युक्त्या धटमानकमनर्थ-
बहुलमेकान्तवादमशङ्कनीयत्वेन गृह्णन्तोऽज्ञानावृतास्तेषु तेषु
कर्मबन्धस्थानेषु संपर्ययन्त इति ॥ ७ ॥

पूर्वदोषैरुपपन्नाचार्यो दोषान्तरद्वित्तया पुनरपि प्राक्तनह-
ृष्टान्तमभिहित्याह—[अहं तं पवेज्ज इत्यादि] अथानन्तरमसौ
मृगस्तत्र [वज्जमिति] वज्जं बन्धनाकारेण व्यवस्थितम् ।

वागुरादिकं वा बन्धनं, बन्धकत्वाद्बन्धमित्युच्यते । तदेवंभूतं
कूटपाशादिकं बन्धनं यद्यसाधुपरि प्लवेत्—तदधस्तादतिक्र-
म्योपरि गच्छेत्, तस्य बन्ध्यादेर्वन्धनस्याधो गच्छेत्तत एव
क्रियमाणेऽसौ मृगः, पदे पाशः पदपाशो वागुरादिवन्धनं,
तस्मान्मुच्यते । यदि वा पदं कूर्तं, पाशः प्रतीतः, ताभ्यां मुच्यते ।
कचित् पदपाशादीति पठ्यते । आदिप्रवृत्ताद्वृत्ताङ्गनमारणा-
दिकाः क्रिया गृह्यन्ते । एवं सन्तमपि तमनर्थोत्पादकं परिहर-
णोपायं मन्यो अमोऽज्ञानावृतो न देहतीति न पश्यतीति ॥

कूटपाशादिकं चापश्यन् यामवस्थामाप्नोति, तां दर्शयितुमाह—

अहिअप्पाऽहियएणाणे, विसमंतेणुवागते ।

स वन्धे पयपासेणं, तत्थ धायं नियच्छइ ॥ ९ ॥

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिआ ।

असंकिआइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ॥ १० ॥

धम्मपणवणा जा सा, तं तु संकंति मूढगा ।

आरंजाइं न संकंति, अविअत्ता अकोविआ ॥ ११ ॥

सन्नप्यगं विठकस्सं, सन्नं एमं विहूणिआ ।

अप्पत्तिअं अकम्मसे, एयमट्ठं मिगे जुए ॥ १२ ॥

(अहीत्यादि) स मृगोऽहितात्मा । तथाऽहितं प्रज्ञानं बोधो
यस्य सोऽहितप्रज्ञानः । स चाहितप्रज्ञानः सन् विपमान्तेन
कूटपाशादियुक्तप्रदेशेनोपागतः । यदि वा विपमान्ते कूटपाशा-
दिके आत्मानमनुपातयेत् । तत्र चासौ पतितो बद्धश्च तेन
कूटादिना पदपाशादीननर्थवहुलानयस्याविशेषान् प्राप्तः, तत्र ब-
न्धने, घातं विनाशं, नियच्छति प्राप्नोतीति ॥ ९ ॥

एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य सूत्रकार एव दार्ष्टान्तिकमज्ञानविपाकं
दर्शयितुमाह—(एवं तु इत्यादि) एवमिति यथा मृगा अ-
ज्ञानावृता अनर्थमनेकशः प्राप्नुवन्ति । तुरवधारणे । एव-
मेव, भ्रमणाः कंचिद्, पाक्षपक्षविशेषाभिनाः । एके, न सर्वे ।
किं भूतास्ते इति दर्शयति—मिथ्या विपरिता दृष्टिर्वैयमज्ञानवा-
दिनां, नियतिवादिनां वा ते मिथ्यादृष्टयः । तथा अनार्याः
भारज्जाताः सर्वदेयधर्मेभ्य इति आर्याः, न आर्या अनार्या
अज्ञानावृतत्वादसदनुष्ठायिन इति यावत् । अज्ञानावृतत्वं
च दर्शयति—अज्ञाद्विगतान्यशङ्कनीयानि सुधर्मोऽज्ञानादीनि,
शङ्कमानाः, तथा शङ्कनीयान्यपयवहुलान्येकान्तपक्षसमाभ्य-
णानि, अशङ्किनो मृगा इव मूढचेतसस्तत्तदारभन्ते, यद्य-
दनर्थाय संपद्यन्त इति ॥ १० ॥

शङ्कनीयाशङ्कनीयविपर्यासमाह—(धम्मपणवणेत्यादि) धर्मस्य
ज्ञान्यादिदृष्टवृत्तणोपेतस्य या प्रज्ञापना प्ररूपणा । तं त्विति ।
तामेव शङ्कन्ते । असंख्यमप्ररूपणमित्येवमध्यवस्थन्ति । ये पुनः
पापोपादानभूताः समारम्भास्ताश्चाशङ्कन्ते किमिति । यतोऽप्यक्ता
मुधाः सहजसङ्घिवेकविकलाः, तथा अकोविदा अपाकिताः
सञ्जास्त्रासबोधरहिता इति ॥ ११ ॥

ते च अज्ञानावृता यन्नाप्नुवन्ति, तद्दर्शनायाह—(सन्नप्यग-
मित्यादि) सर्वत्राप्यात्मा यस्यासौ सर्वात्मको लोभः, तं विधूये-
ति संबन्धः । तथा विविध उक्तैर्गोर्वो व्युत्कर्षो मान इत्यर्थः ।
तथा (एमं ति) माया, तां विधूय । तथा (अप्पत्तिअं ति) क्रोधं
विधूय । कषायविधूनेन च मोहनीयविधूनेनमावेदितं भवति ।

वत्ते इत्यन्यादत्तहरः । ग्रामनगरादिषु चौर्यकृति, उत्त०७ अ० ।
अस्मा (ना) दि (रि) स-अन्यादत्त-त्रि० । अन्येव द-
श्यते । अन्य-दृश्-कश्, आत्वम् । “ दृशेः किष्टकृसकः ”
८१।४२। इति ऋतो रिः । अन्यसदृशे, प्रा० ।

अएणाय-अन्याय-त्रि० । न्यायादपेते, सूत्र० १ भु० १३ अ० ।

अएणायजासि(ण्)-अन्यायजापिन्-त्रि० । अन्यायं मा-
पितुं शीघ्रमस्य सोऽन्यायजापिन् । यत्किञ्चन मापिणि, अस्थान-
जापिणि, गुर्वाद्यधिकेपकरे च । “ जे विग्गहीप अएणायमासी,
न से समे होइ अज्जपत्ते ” सूत्र० १ भु० १३ अ० ।

अस्मायया-अज्ञातता-स्त्री० । तपसो यशःपूजाऽऽद्यर्थित्वेना-
प्रकाशयद्भिः करणे, स० ३२ सम० । कोऽर्थः ? पूर्व परीपह-
समर्थानां यदुपधानं क्रियते, तद्यथा लोको न जानाति
तथा कर्तव्यम्, विज्ञातं वा कृतं न नयेत्, प्रच्छन्नं वा कृतं न-
येत् । आव० ४ अ० ।

अज्ञातद्वारमाह-

कोसंवि अजिअसेणो, धम्मवसू धम्मघोस-धम्मजसो ।

विगयजया विणयवर्द्ध, इद्विविज्जसाइ परिकम्मे ॥ १ ॥

कौशाम्बीत्यस्ति पुस्तत्रा-जितसेनो महीपतिः ।
धारिणीत्यभिधा देवी, तत्र धर्मवसुगुरुः ॥ १ ॥
धर्मघोषो धर्मयश-स्तस्यान्तेवासिनाबुधौ ।
आसीद्विनयवत्याख्या, तत्र तेषां महत्तरा ॥ २ ॥
तच्छिष्या विगतभया, विदधेऽनशनं तपः ।
महाप्रभावनापूर्वं, सङ्गृह्णां निरयामयत् ॥ ३ ॥
तौ च धर्मवसोः शिष्यौ, कुरुतः परिकर्मणाम् ।

इतश्च-

उज्जेणिऽवतिवच्छण, पाणय सुरद्वन्द्वणो चैव ।

धारिणीऽवतिभेणे, मणिप्पन्नो वच्छगातीरे ॥ १ ॥

उज्जयिन्यस्ति पूर्वभृत्, प्रद्योतस्तत्सुताबुधौ ।
आद्यः पालकनामाऽभू-क्षुगोपालकः पुनः ॥ ४ ॥
गोपालकः प्रवव्राज, पालको राज्यमासदत् ।
अवन्तिवर्धनो राष्ट्र-वर्द्धनश्चति तत्सुतौ ॥ ५ ॥
तौ राज-युवराजौ च, कृत्वाऽभूत्पालको व्रती ।
धारिणीकुक्षिजोऽवन्ति-सेनोऽभूद् युवराजसू ॥ ६ ॥
भूभुजाऽन्येयुरुधाने, स्वेच्छस्थाऽदर्शि धारिणी ।
ऊच दूत्याऽनुरक्तस्तां, सा नैच्छद्भ्रशमीलिता ॥ ७ ॥
यथा भावेन साऽवोच-अ भ्रातुरपि लज्जसे ? ।
ततोऽसौ मारितस्तेन, खशीलं साऽथ रक्षितुम् ॥ ८ ॥
ययौ सार्थेन कौशाम्बी-मात्तस्वामरणोच्चया ।
भूभुजो यानशालायां, स्थिताः साध्वीर्निरीक्ष्य सा ॥ ९ ॥
वन्दित्वा आविका साऽभूत्, क्रमाच्च व्रतमग्रहीत् ।
गर्भे न सन्तमप्याष्यद्, व्रतलोभमयात्पुनः ॥ १० ॥
ज्ञातो महत्तरायाः स्वः, सद्भावाऽथ निवेदितः ।
सुयुतं स्थापिता साऽथ, राजौ पुत्रमजीजनत् ॥ ११ ॥
स्वमुज्जगरणाद्यैस्तं, तदैवामृष्य नृपतेः ।
सौधाङ्गणे स्थापयित्वा, प्रच्छन्ना स्वयमस्थित ॥ १२ ॥
पार्थिवोऽजितसेनस्तं, दृष्ट्वाऽऽकाशतलस्थितः ।

गृहीत्वाऽदात्पट्टराज्ञया, असुतायाः सुतं जवात् ॥ १३ ॥
पृष्टा साध्वीभिराख्यत्सा, मृतोऽज्युज्जितस्ततः ।
पट्टराज्ञया समं चक्रे, साऽथ सख्यं गताऽप्रातैः ॥ १४ ॥
मणिप्रभास्यस्तत्सुनुर्मृते राज्ञ्यभवन्नृपः ।

साध्याः स चातिजक्तोऽस्या, राजा चावन्तिवर्धनः ॥ १५ ॥
ज्जाताऽमारि न साऽथाऽभूत्, पश्चात्तापेन पीडितः ।
राज्यं ज्ञानुसुतेऽवन्ति-सेने न्यस्याग्रहीद् व्रतम् ॥ १६ ॥
सा कौशाम्बीनृपाङ्ग-मयाचन्न स दत्तवान् ।
धर्मघोषस्तयोरंकः, प्रपेदेऽनशनं यनिः ॥ १७ ॥

भूयान्ममापि विगत-भयाया इव सत्कृतिः ।
द्वैतीयीकस्तु कौशाम्बी-मवन्ती चान्तरा गिरौ ॥ १८ ॥
गुहायां वत्सकातीरे निरीहोऽनशनं व्यधात् ।
इतश्चागत्य कौशाम्बी, रुरोधायन्तिसेनराट् ॥ १९ ॥
धर्मघोषान्तिके नागाद्, भयत्रस्तस्ततो जनः ।
स च चिन्तितमप्राप्तो, मृतो द्वारेण निर्गतः ॥ २० ॥
न लज्यते ततः क्षितो, द्वारोपरितलेन सः ।

साऽथ प्रव्रजिता दध्या, मा नृद्युक्ते जनक्यः ॥ २१ ॥
ततश्चान्तःपुरे गत्वाऽ-वोचन्मणिप्रजं रट् ।
ज्जात्रा सद कथं योत्स्ये, सोऽवक् कथमिदं ततः ? ॥ २२ ॥
सर्वं प्रबन्धमाचक्ष्य, पृच्छाऽभ्यां प्रत्यथो न चेत् ।

पृष्ट्वाऽम्बाऽऽप्यत्कथावृत्तं, नाममुद्रामदर्शयत् ॥ २३ ॥
राष्ट्रवर्द्धनसत्कानि, सर्वाण्यभरणानि च ।
अथोचे प्रसरद्भ्रज्जे, सोचे तं सोऽपि भोत्स्यते ॥ २४ ॥
इत्युक्त्वा सा विनिर्गत्या-ऽवन्तिसेनदलेऽग्रामत् ।
उपलब्ध जनाः सर्वेऽ-वन्तिसेननृपस्य ताम् ॥ २५ ॥
आख्यक्षिहागताऽम्बा ते, दृष्टोऽप्यज्ञनाम ताम् ।
मातः ! कथमिदं चक्रे, सर्वं तस्याप्यचीकथत् ॥ २६ ॥
तेदय तव सोदर्यो, मिलितौ तावथो मिथः ।

स्थित्वैकमासं कौशाम्ब्यां, द्वावप्युज्जयिनीं गतौ ॥ २७ ॥
नित्यं सगुरुकाऽम्बाऽपि, वत्सकातीरपर्वते ।
तत्रारोहावरोहान्ते, कुर्वतो वीक्ष्य संयतान् ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा तेऽप्यगमन्नन्तु, नृपौ नत्वा मुनिं मुदा ।
चक्रतुर्द्धावपि स्थित्वा, महिमानं जनैः सह ॥ २९ ॥
एवं तस्याजनि श्रेष्ठा-अनिच्छतोऽपि हि सत्कृतिः ।
द्वितीयस्येच्छतोऽप्यासी-अ सरःसरवोऽपि हि ॥ ३० ॥

ततो धर्मयशोऽवशिरीहं तपः कार्यम् । आ० क० ।

अएणायवइविवेग-अज्ञातवाग्विवेक-पुं० । शुचाद्युक्त्योग्या-
योग्यधिपयत्यादिरूपो यस्तं । वाग्विवेकमज्ञातवत्सु, द्वा० ।

“ अज्ञातवाग्विवेकानां, परिभूतत्वाभिमानिनाम् ।

विषयं वर्तते वाचि, मुखेनाशीधिपस्य तत् ” ॥ द्वा० २ द्वा० ।

अएणायसील-अज्ञातशील-त्रि० । परिभूतैरप्यज्ञातस्वभावे,
अग्रहणीये च । “ ताणं अएणायसीलाणं (नारीणं) ” तासां ना-
रीणामज्ञातशीलानां परिभूतैरप्यज्ञातस्वभावानाम् । यद्वा-न ज्ञा-
तं नाङ्गीकृतं शीलं ब्रह्मस्वरूपं याभिस्ता अज्ञातशीलास्तासाम् ।
यद्वा-नजः कुत्सार्थत्वात् कुत्सितं ज्ञातं शीलं साध्वीनां याभिः
परिव्राजिकायोगिन्यादिभिस्ता अज्ञातशीलास्तासाम्, तं० ।

अएणारंजणिवित्ति-अन्यारंजनवृत्ति-स्त्री० । कृष्याद्यार-
म्भत्यागे, “ अएणारंजणिवित्तीप, अप्पणा हिट्ठणं चेव ” ।
पञ्चा० ७ विव० ।

धर्मो वा, तदर्थेनस्ते किल ययं सत्कर्माधका इत्येवं संधाय
प्रज्यायामुधताः सन्तः पृथिव्यन्वचनस्पत्यादिकायोपमर्देन ।
पचनपाचनादिक्रियासु प्रवृत्ताः सन्तस्तत्तत् स्वयमनुतिष्ठन्ति,
अन्येषां चोपादिशन्ति, येनाभिप्रेताया मोक्षातेष्वयन्ति । अथ-
वा तावन्मोक्षाभावस्तमेवं प्रवर्तमाना अधर्मं पापमापयेरन् ।

पुनरपि तद्व्युत्पत्तिधित्तयाऽऽह-

एवमेगे वियक्काहिं, नो अन्नं पञ्जुवांसिया ।

अप्पणो य वियक्काहिं, अयमंजु हि दुम्मई । २१ ।

एवं तक्काइ साहिंता, धम्मायम्मे अकोविया ।

दुक्खं ते नाञ्जुट्ठेति, सज्जणी पंजरं जहा ॥ २२ ॥

सयं सयं पमंमता, गरहंता परं वयं ।

जे उ तत्थ विजस्संति, संसारं ते विजस्मिया ॥ २३ ॥

(एवमित्यादि) एवमनन्तरोक्तया नीत्या एकै केचनाऽज्ञानि-
का चित्तकान्तिर्मांसाभिः स्वोद्योक्तताभिरसत्कल्पनाभिः,
परमन्यामर्हतादिकं ज्ञानयादिनं न पर्युपासते न सेवन्ते । स्वा-
वलेपप्रहृष्टता वयमेव तत्त्वज्ञानानिज्ञानपराः केचिदित्येवं
नान्यं पर्युपासते इति । तथाऽऽस्मीयैर्विकल्पैरेवमभ्युपगतवन्तो
यथाऽयमेवास्मीयोऽज्ञानमेव धेय इत्येवमात्मको मार्गः । (अञ्जु
रिति) निर्दोषतयाद् व्यक्तः स्पष्टः परैस्तिरस्कृतुमशक्यः, अञ्जुर्वा
प्रगुणोऽङ्कुटिलः, यथावस्थितार्थाभिधापित्वात् । किमिति एवम-
निदधति ?-इदंस्मादर्थे । यस्मात्ते दुर्मतयो विपर्यस्तबुद्ध्य
इत्यर्थः ॥ २१ ॥

साम्प्रतमज्ञानवादिनां स्पष्टमेवाऽनर्थोऽनिधित्तयाऽऽह-(एवं त-
क्काइ इत्यादि) एवं पूर्वोक्तन्यायन तर्कया स्वकीयविकल्प-
नया साधयन्तः प्रतिपादयन्तो धर्मं ज्ञान्यादिकेऽधर्मे च जी-
वोपमर्दापादिते पापेऽकोविदा अनिपुणा दुःखमसातोदयप्रक-
णं तद्धेतुं वा, भिर्यात्वाशुपथितकर्मवन्धनं नातिशेदयन्ति, अति-
शयमेतद्व्यवस्थितम् । तथा ते न श्रोतव्यन्यपनयन्तीति अत्र दृष्टान्त-
माह-यथा पञ्जरसः शकुनिः पञ्जरं श्रोतयितुं पञ्जरवन्धनादात्मानं
मोचयितुं नाश्रमं, एवमसाधयि संसारपञ्जरादात्मानं मोचयितुं
नाश्रमिति ॥ २२ ॥

अधुना सामान्येनैकान्तवादिमतद्वयणार्थमाह-(सयं सयमि-
त्यादि) स्वकं स्वकमात्मीयं च दर्शनमभ्युपगतं प्रयसन्तो
वर्णयन्तः समर्थयन्तो वा, तथा गर्हमाणा निन्दन्तः परकीयां
वाच्यम् । तथाहि-सांख्याः सर्वस्याविर्भावतिरोभाववादिनः सर्वं
वस्तु कृष्णिकं निरन्वयं निरीश्वरं वेत्यादिवादिनो बौद्धान् दूष-
यन्ति । तेऽपि नित्यस्य क्रमयौगपद्याच्यामर्थक्रियाधिरहात् सां-
ख्यान् । एवमन्येऽपि ब्रह्मवा इति । तदेवं य एकान्तवादिनः ।
तुल्यधारणे निमग्नमथ । तत्रैव तेष्वेवाऽस्मीयात्मीयेषु दर्शनेषु
प्रशंसां कुर्वाणाः परवाचं च विगर्हमाणा विद्वस्वन्ते निद्रांस
त्राऽऽचरन्ति । तेषु वा विशेषेणोशन्ति स्वशास्त्रविषये विशिष्टं
शुक्तिवातं वदन्ति । ते चैवं वादिनः संसारं चतुर्गतिभेदेन संसृ-
तिरूपं विविधमनेकप्रकारमुत्पादयन्ते भिताः संवदाः तत्र वा
संसारे वपिताः संसारान्तर्गतैः सर्वदा प्रवन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥
सूत्रं १ सु० १ अ० २ उ० ॥

अएणाणियवाइ (य)-अज्ञानिकवादिन-पुं० । अज्ञानमच्यु-
पगमद्वारेण वेयामास्ति तेऽज्ञानिकास्त एव वादिनोऽज्ञानिकवा-
दिनः । अज्ञानमेव भेय इत्येवं प्रतिशेषे, स्था० ४ उ० ४ सूत्र० ।
१३४

अएणात (य)-अज्ञात-त्रि० । अनभिगते सम्यगनवधारिते,
ध० ३ अधि० । अनुमानेनाऽविपर्ययते, । प्र० ३ श० ६ उ० ।
स्वयं स्वजनादिसंबन्धाऽकथनेन गृहस्थैरपरिज्ञातस्यभावादि-
भावे भिक्वो, प्रश्न० १ सम्म० ६० । यत्र प्रामादौ प्रतिमा
प्रतिपन्ना, तथाऽविदिते, प्रव० ६७ उ० । जातिकुलसद्गुणा-
दिनाऽपरीक्षिते, वच० २ अ० । राजादिप्रवृत्तितयेनाविदित-
स्य भैक्ष्यं, पञ्चा० १७ विव० । "अस्मायं णाम जहा, अचिच्चकरो
चित्तं काकण ण जाणति" अज्ञानान् अल्पविज्ञानत्वादित्यर्थः ।
नि० चू० १५ उ० ।

अएणात (य) उच्च-अज्ञातोच्च-न० । विशुद्धोपकरणग्रहणे,
वश० २ उ० । परिचयाकरणे, दश० ९ अ० ३ उ० ।

अएणाओं दुविहं, दन्वे भावे य होइ नायव्वं ।

दव्वुंते खेगविहं, लोणरिमीणं मुणेयव्वं ॥

अज्ञातोच्चं द्विविधम् । तद्यथा-दन्वे भावे च । तत्र द्रव्योच्चम-
नेकविधे लोकमृतीणां तापसानां ज्ञातव्यम् ।

तदेवनेकविधं द्रव्योच्चमाह-

उक्खल्ल खलए दव्वी, दंमे संसासए य पोत्ती य ।

आमे पक्के य तहा, दव्वोछे होइ निक्खेवो ॥

तापसा उच्चवृत्तयः, उक्खल्ले उदितेषु तन्मुनेषु ये परिश्रिताः
शालितभुलादयस्तान् उच्चित्य रन्धन्ति । (खलए स्ति)
अले धान्ये मर्दिते संप्लुदे च यत् परिश्रितं तत् उच्चिच्यन्ति ।
(दव्वी ति) धान्यराशयंदेफया दव्वी उत्पाद्यते तद्
गृह्णन्ति । एवमन्यत्रापि प्रतिदिवसं (वंरु चि) स्वामिनम-
नुज्ञाप्य यद् धान्यराशेरकया यष्टया उत्पाद्यते तद् गृह्णन्ति,
एतदेवमन्यत्रापि प्रतिदिवसं (संसासए स्ति) अन्नमुपदे-
शिनीभ्यां यद् गृह्यते शाल्यादिकं तावन्मानं प्रतिगृहं गृह्णन्ति ।
यद्यपि बहुकं पश्यन्ति शाल्यादि, तथापि न मुष्टिं भृत्वा गृ-
ह्णन्ति [पोत्ती य चि] स्वामिनमनुज्ञाप्य धान्यराशौ पोत्ति
क्षिपन्ति, तत्र यत् पोत्ती लगति तद् गृह्णन्ति । एवमन्यत्रापि ।
तथा आमे, पक्के वा यश्चरकादयो भिक्षाप्रविष्टा भृगयन्ते, एव
भवति द्रव्योच्चं निक्षेपः ।

संप्रति भावोच्चमाह-

पदिमापदिवाणे ए-स जयवमज्ज किर एत्तिया दत्ती ।

आदियति चि न नज्जइ, अचाओं तवो जणितो ॥

प्रतिमाप्रतिपन्न एव भगवान् अथ किल एतावद् वचीरा-
दत्ते इति न प्रायते, तेन तस्य भगवतस्तपोऽज्ञातोच्चं भवति ।
न्य० १० उ० ।

अएणात (य) चरय-अज्ञातचरक-पुं० । अज्ञातोऽनुपदर्शित-
सौजन्यादिभावः संश्रयति यः स तथा । औ० । अज्ञातेषु वा
गृहेषु चरतीति अज्ञातः । अज्ञातगृहे वा चरामीत्यभिप्रवर्तते,
सूत्र० २ सु० २ अ० ।

अएणातपिण-अज्ञातपिण्ड-पुं० । अज्ञातश्चासौ पिण्डश्चाज्ञात-
पिण्डः । अन्तर्ग्रान्तरूपे पिण्डे, अज्ञातेभ्यः पिण्डोऽज्ञातपिण्डः ।
अज्ञातेभ्यः पूर्वोऽपरसंस्तुतेभ्य उच्चवृत्त्या लब्धे पिण्डे, "अ-
ज्ञातपिण्डे हि पासपज्जा, यो पूयणं तवसा आवाहेज्जा" ।
सूत्र० १ सु० १ अ० १ उ० ।

असादत्तहर-अन्यादत्तहर-त्रि० । अन्यैरदत्तमनिच्छं हरत्या-

अण्येसि (ण)—अन्वेपिन्—त्रि० । अन्वेपुं शीघ्रमस्येति अन्वेपी ।
मार्गणाशीले, आचा० १ भु० २ अ० ६ उ० ।

अण्येसितरिअंगुलिअ—अन्योन्यान्तरिताङ्गुलिक—त्रि० । अ-
न्योन्यं परस्परमन्तरिता अङ्गुलयो ययोस्तावन्योन्यान्तरिताङ्गु-
लयः । दर्श० । अव्यवहितकरशास्त्राकेषु, पञ्चा० ३ विव० ।

अण्येसिणकार—अन्योन्यकार—पुं० । परस्परं वैयावृत्यकर-
णे, वृ० ३ उ० ।

अण्येसिगमण—अन्योन्यगमन—त्रि० । परस्पराभिगमनीये,
प्रश्न० २ सम्ब० द्वा० ।

अण्येसिजणिय—अन्योन्यजनित—त्रि० । परस्परकृते, “ अ-
ण्येसिजणियं च होज्ज हासं, अण्येसिगमणं च होज्ज कम्म” ।
प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ।

अण्येसिपक्खपणिवक्खजाव—अन्योन्यपक्कप्रतिपक्कजाव—
पुं० । अन्योन्यं परस्परं यः पक्कप्रतिपक्कभावः पक्कप्रतिपक्कत्व-
मन्योन्यपक्कप्रतिपक्कभावः । परस्परं पक्कविरोधे, तथाहि—य
एव मीमांसकानां नित्यः शब्दः इति पक्कः, स एव सौगतानां
प्रतिपक्कः; तन्मते शब्दस्यानित्यत्वात् । य एव सौगतानामनि-
त्यः शब्द इति पक्कः स एव मीमांसकानां प्रतिपक्कः । एवं सर्व-
योगेषु योज्यम् । स्या० ।

अण्येसिपगगहियत्त—अन्योन्यप्रगृहीतत्व—न० । परस्परेण
पदानां वाक्यानां वा सापेक्षतायाम्, स० ३५ सम० । सप्तदशे
सत्यवचनातिशये, रा० ।

अण्येसिमूढदुष्टातिकरण—अन्योन्यमूढदुष्टातिकरण—न० । अ-
न्योन्यस्य मूढस्य दुष्टस्य च यदतिकरणं तथाविधक्रियासु पौ-
नःपुन्यप्रवृत्तिस्तत्तथा, ततोऽन्योन्यमूढदुष्टातिकरणम् । परस्परं
मूढदुष्टयोः क्रियासु प्रवर्तने, तत्राऽन्योन्यस्यातिकरणं पर-
स्परेण पुरुषयोर्वैदविकारकरणं मूढातिकरणं पञ्चमनिष्ठावश-
विवर्तनम् । दुष्टातिकरणं तु द्विविधम्—कपायतो विषयतश्च ।
तत्र स्वपक्वे कपायतो लिङ्गिघातः । विषयतस्तु द्विक्रिनि प्रतिसे-
धा । परपक्वे तु कपायतो राजवधः, विषयतस्तु राजदारसेव-
ति । अथवा “अन्योन्यमूढदुष्टातिकरणतः” इति व्याख्येयम् ।
तत्र चादिशब्दात्तीर्थकराद्याशातनाकरणपरिग्रहः । अस्माद् वि-
षयपाराङ्गिकं भवति । पञ्चा० १६ विव० ।

अण्येसिसमणुवक्ख—अन्योन्यसमनुवक्ख—त्रि० । परस्परानुग-
ते, “ अण्येसिसमणुवक्खं, णिच्छयतो भणियविसयं तु ” पञ्चा०
६ विव० ।

अण्येसिसमणुरत्त—अन्योन्यसमनुरत्त—त्रि० । परस्परं स-
ख्यौ, वृ० ६ उ० ।

अण्येसिसमाधि—अन्योन्यसमाधि—पुं० । परस्परं समाधौ,
“ अण्येसिसमाधी ए एवं वणं विहरन्ति ” यो यस्य गच्छान्तर्ग-
तादेः समाधिरभिहितस्तद्यथा सप्तापि गच्छवासिनां निगच्छनि-
र्गतानां द्वयोरग्रहः पञ्चसु अभिग्रहः इत्यनेन विहरन्ति ॥ आचा०
२ भु० १ अ० ११ उ० ।

अण्येसिपस—अन्योपदेश—पुं० । आहरणतद्देशाख्योदाहरणभेदे,
अण्येसिपसओ ना—हियवाई जेति नत्थि जीवो उ ।

दाणाफलं तेसिं, न विज्झई चण्ह तदोसं ॥ ७९ ॥

अन्योपदेशतः अन्योपदेशेन नास्तिकवादी बोकायतो वक्तव्यः
इति शेषः । अहो ! धिक्कटं येषां वादिनां नास्ति जीव एव, न
विद्यते आत्मैव, दानादिफलं वा तेषां न विद्यते, दानहोमयागत-
पःसमाध्यादिफलं स्वर्गापवर्गादि तेषां वादिनां न विद्यते, न
स्तीत्यर्थः । कदाचिदेतच्छ्रुत्वेन मृयुर्मा जघनु, का नो हानिः ?
नह्यन्युपगमा एव बाधायै प्रवर्ततेति । ततश्च सत्त्वैचिदयान्य-
थाऽनुपपत्तितस्ते संप्रतिपत्तिमानेतद्व्याप्त्यर्थं विस्तरण । गम-
निकामाश्रमेतद्गुदाहरणदेशना चरणकरणानुयोगानुसारेण भाव-
नीयति । गतं निश्चाद्वारम् । दश० १ अ० ।

अण्येसिसरिअ—देशी—अतिक्रान्ते, दे० ना० १ वर्ग ।

अण्येसिजण—धा०, पालनाभ्यवहारयोः, रथादि०, पात्रेण १०,
स०, अनिद् । अभ्यवहारे भोजने, आत्म०, स०, अनिद् । प्रा-
कृते—“ भुजो भुजजिभजेमकम्माएहसमाणवमद्वद्धाः ” । पृ
४ । ११० । इति छजेरपदादेशः । अण्येसि—छुत्ते । प्रा० ।

अण्येसिती—भुज्जाना—स्त्री० । भोजनं कुर्वत्याम्, तं० । औ० ।

अण्येसि—आश्रव—पुं० । आश्रुणोत्यादत्ते कर्म यैस्ते आश्रवाः ।
पा० । अभिविधिना भौति भवति कर्म येभ्यस्ते आश्रवाः ।
कर्मोपादानभूतेषु प्राणातिपातादिषु पञ्चसु, प्रश्न० १ आश्र०
द्वा० । (आश्रववक्तव्यता प्रश्नव्याकरणेषु आदावेव कृता,
सा च प्राणातिपातादिषु शब्देष्वेव दृश्या)

“ जंक् । इणमो अण्येसि—संवरविणिच्छियं पवयणस्स ।
णिस्संदं वोच्छामी, णिच्छयत्यं सुभासियत्थं महेसीहि ” । १ ।
प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । स्या० । उक्त० । “ पंचविहो पञ्चो,
जिणेहि इह अण्येसि अणादीवो । हिंसा १ मोल २ मदिचं ३,
अवधं ४ परिगहं चैव ५ ” ॥ १ ॥ प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अण्येसिकर—आश्रवकर—पुं० । आश्रवः कर्मोपादानं, तत्करण-
शील आश्रवकरः । प्राणातिपाताद्याश्रवजनकेऽप्रशस्तमनो-
विनयभेदे, स्या० ७ डा० । अश्रुभकर्माश्रवकारिणि, ग०
१ अधि० । औ० । आचा० ।

अण्येसिनावणा—आश्रवजावना—स्त्री० । सत्तम्यां भावनायाम्,
अथाश्रवभावना—

“ मनोवचोवपुयोंगाः, कर्म येनाश्रुमं शुभम् ।
भविनामाश्रवन्त्येते, प्रोक्तास्तेनाश्रवा जिनैः ॥ १ ॥
मैत्र्या सर्वेषु सत्त्वेषु, प्रमोदेन गुणाधिके ।
मध्यस्थेष्वविनीतेषु, रूपया दुःखितेषु च ॥ २ ॥
तं तथा वासितं स्वान्तं, कस्यचित्तुण्यशालिनः ।
विदधाति शुभं कर्म, द्विचत्वारिंशदात्मकम् ॥ ३ ॥
रौद्रार्थेध्यानमिध्यात्व—कपायविषयैर्मनः ।
आक्रान्तमश्रुमं कर्म, विदधाति द्व्यशीतिधा ॥ ४ ॥
सर्वज्ञगुरुसिद्धान्त—संघसद्गुणवर्णनम् ।
कृतं हितं च वचनं, कर्म संचिनुते शुभम् ॥ ५ ॥
श्रीसद्गुरुसर्वज्ञ—धर्मधार्मिकदूषकम् ।
उन्मार्गदेशवचन—मश्रुमं कर्म चेप्यति ॥ ६ ॥
देवार्चनगुरुपास्ति—साधुविभ्रामणादिकम् ।
वितन्वतां सुगुप्ता च, तनुर्वितनुते शुभम् ॥ ७ ॥

अस्मावएस-अन्यापदेश-पुं० । अन्यस्य परस्य संबन्धीदं
गुरुखाणादीत्यपदेशो व्याजोऽन्यापदेशः । परकीयमेतत्तेन
साधुष्यो न दीयते इति नाधुसमङ्गं भणने जानन्तु साधयो
यद्यस्मै तद् भकादिकं ज्ञेयं तदा कथमस्मज्जं न दद्यादिति
साधुसंप्रत्ययार्थम् । अथ वा अस्मादानात् नमादादेः पुण्यम-
स्तिवति ज्ञणे च , एव अतिथिर्मांविनागस्य पञ्चमोऽतिचारः ।
५० २ अधि० ।

अस्मावएस-अन्वित-त्रि० युक्ते, सूत्र० १. ३०. १० अ० व्य० उत्त० ।

अस्मावएस-अग्निकापुत्र-पुं० । जयसिंहनाम्नो यणिकपुत्रस्य
जानेः अग्निकायाः पुत्रे , ती० । कतमः स महामुनिः ! । तदनु
जगाद् नैमित्तिकः-ध्वनां, देव ! उत्तरमपुरायां चास्तव्यो देवदत्ता-
व्यो वणिक् पुत्रो दिव्याशयं दक्षिणमधुरामगमत्, तत्र तस्य ज-
यसिंहनाम्ना वणिकपुत्रेण सह सौहार्दमभवत् । अन्यदा तद्गृहे
वृक्षानोऽधिकानाम्ना तज्जामि स्थाने भोजनं परिवेष्य यातव्य-
जनं कुर्वतो रम्यरूपामालोक्य तस्यामनुरक्तः । द्वितीयेऽपि वरकान्
शोच्य जयसिंहो देवदत्तमनयाऽऽविष्टोऽहदमज्यधाद्-अहं तस्मा
एव ददे स्वसारम्, यो मदगृहं दूरे न भवति, प्रत्यहं तां तं च
यथा पद्यामि, यावदपत्यजम् तावदादि मदगृहे स्थाता, तस्मै
जामि दास्यामीति । देवदत्तोऽप्यामित्युक्त्या गुभेऽपि तां पर्यण-
वीत् । तथा सह जोगान् भुञ्जन्तस्यान्यदा पितृभ्यां हेमः प्रेषितः,
याचयतस्तस्य नेत्रे शयितुमभु प्रवृत्ते , ततस्तथा हेतुः पृष्ठे
याचन्नाश्रयीत् तावत्तयाऽऽदाय लेखः स्वयं वाचितः । पत्रं च दं
श्लिन्नितमासीद् गुरुभ्याम्-“यद् वत्स ! भावां वृद्धौ निकटनि-
धनौ, यदि नौ जीवन्तौ दिदृक्षसं तदा द्रागागन्तव्यमिति” तदनु
सा पतिमाभ्यास्य ज्ञातं दृष्ट्वाऽप्यजिज्ञासुः सह प्रतस्थं
चोत्तरमधुरां प्रति । सगमां कमान्मार्गे स्तुमस्तुन, नामास्य
पितरौ करिष्यन् इति देवदत्तोऽपि परिजनस्तमनेकमभिकापुत्र
इत्युल्लासितवान् । क्रमेण देवदत्तोऽपि स्वपुरीं प्राप्य पितरौ प्रण-
म्य च शिष्टं तयोरपयत् । संधीरेणुस्थायं तौ नन्तुश्चक्रात । तथा
ऽप्यग्निकापुत्र इत्येव पत्रये , असौ वर्द्धमानश्च प्रातनारुणोऽपि
जोगांस्तुनयद्विधुय जयसिंहाचार्यपादत्रे दक्षामग्रहीत् । गीता-
र्थोन्नुतः प्राग्द्वार्यार्थकम् । अन्यदा विहरन् सगच्छोऽद्वैतं पुष्प-
भद्रपुरं गङ्गानटस्थं प्राप्तः । तत्र पुष्पकेतुर्वृषः । तद्वीं पुष्पवती ।
तयोभुमर्जो पुष्पचूडः पुष्पचूडा चेति पुत्रः पुत्री चाभूताम् । तौ
च सह वर्द्धमानौ क्रीडन्तौ परस्परं प्रीतिमन्तौ जाता । राजा
दध्यौ-यद्येतौ वियुज्येते, तदा ज्ञं न जीवतः । अहमप्यनयोर्विरहं
सोदुमनीशः, नस्मादनयोरेव विवाहं करोमीति ध्यात्वा मन्त्रिमि-
त्रपौरांश्चनेनाऽपृच्छद्-जोः । यन्ममाऽन्तःपुरउत्पद्यते, तस्य कः
प्रभुः ? । तैर्विद्यसम्-देव ! अन्तःपुरोत्पन्नस्य किं वाच्यम्, यद्देशम-
ध्येऽप्युत्पद्यते रत्नं, तज्जाया यथेच्छं विनियुक्ते, कोऽत्र बाधः ? । त-
च्छ्रुत्वा स्याभिप्रायं निवेद्य देव्यां वारयन्त्यामायि तयोरेव संबन्ध-
मघदयन्तुपः । तौ दम्पती भोगान् हृष्टः स्म । राज्ञी तु पत्युपमान-
वैराग्याद् अतमादाय स्वर्गे देवोऽनूत् । अन्यदा पुष्पकेतौ कथाशेषे
पुष्पचूलो राजाऽनूत् । स च देवप्रयुक्तावधिविस्तयोरकृत्यं ज्ञात्वा
स्वनेपु पुष्पचूडायै नरकानदर्शयत्, तद्दुःखानि च । सा च प्रवृ-
द्धा भीता च पत्युः सर्वमावेदयत् । सोऽपि शांतिमचीकरत् । स
च देवः प्रतिनिशं नरकौस्तस्या अदर्शयत् । राजा तु सर्वोस्ती-
थिकानाह्वय पत्रञ्च-कीदृशा नरकाः स्युरिति ! । कौञ्चिज्ज्ञेवासम्,
कैरपि दारिरूपम् , अपरैः पारतन्त्र्यमिति तैर्नरका आचचकिरे,

राज्ञी तु मुखं मोटयित्वा तान् विसंवादिषदसौ व्यभ्राक्षीत् । अथ
नृपोऽधिकपुत्राचार्यमाकार्यं तदेवाप्राक्षीत् । तेन तु यादृशान्
देव्यपश्यत् तादृशा एवोक्ता नरकाः । राज्ञी प्रोचे-भगवन् ! ज्ञव-
द्विरपि किं स्वप्ने दृष्टः ? । कथमन्यथेत्यं वित्थ । सुरिरयदद्-भद्रे !
जिनागमात्सर्वमवगम्यते । पुष्पचूडाऽधोचद्-भगवन् ! केन कर्मणा
ते प्राप्यन्ते ? । गुरुगृणाद्-भद्रे ! महारम्भपरिग्रहेऽगुरुप्रत्यनीकतया
पञ्चेन्द्रियवधान्मांसादाराद्य तेष्वङ्गिनः पतन्ति । क्रमेण स सुरि-
स्तस्यै सर्गानन्दं शयत् स्वप्ने । राज्ञ्या तथैव पासापिडनः पृष्ठानपि
व्याजचारिवाचो विमृश्य नृपस्तमेवाचार्यं स्वर्गस्वरूपमप्राक्षीत् ।
तेनापि यथायत्तत्रोदिते स्वर्गावाति कारणमपृच्छद् राज्ञी । ततः
सम्यक्त्वमूलौ गृहियतिधर्मावदिशद् मुनीशः । प्रतिबुद्धा च सा
सधुकर्मा नृपमनुज्ञापयति स्म प्रज्यायै । सोऽप्यचे-यदि मदगृह
एव भिक्षामादत्से तदा प्रज्जातयोरीकृते नृपवचांसि सा सौत्सव-
मभूत्तस्याचार्यस्य शिष्या, गीतार्थो च । अन्यदा च दुर्मिकं शु-
तोपयोगाद् ज्ञात्वा सुरिर्गच्छं देशान्तरे प्रैषीत् । स्वयं तु परीक्ष-
णजगत्तयलस्तत्रैवास्थात्, नृकपानं च पुष्पचूडाऽन्तःपुरादानीय
गुरवेऽदात् । कमात्तस्या गुरुभूषणभाचनप्रकर्षात् कपकभेष्या-
रोडात्केवलज्ञानमुत्पेदे । तथाऽपि गुरुवैयावृत्याश्च निवृत्ता, या-
वादि गुरुणान ज्ञायते केवलीति तावत्पूर्वप्रयुक्तं विनयं केवल्यपि
नात्येति । साऽपि यद् यद् गुरोर्बुचितं, दक्षिणं च तत्सदृशसिं-
पादिनवती । अन्यदा तु वर्धयन् सा पिण्डमाहरत् । गुरुभि-
रभिहितम्-चमसे ! भुतज्ञाऽ. स, किमिति वृष्टौ त्वया नीताः पिण्डा
इति ? । साऽभाषीद्-भगवन् ! यत्राध्वनि अप्कायोऽचित्त एवा-
सीत्तेनैवायासिपमदम् । कुतः प्रायश्चित्तोऽपि ? । गुरोर्द-भ-
सः कथमेतद्वेद ? । तयोचे-केवलं ममास्ति । ततो मिथ्या मे बुद्धतं
केवल्यशातनति मुचसपृच्छत्तां गच्छाधिपः-किमहं सेत्स्यामि
नवेति ? । केवल्यचे-मा हृष्यमधृतिम्, गङ्गामुचरतां यो प्रविष्यति
केवलम् । ततो गङ्गामुचरीतुं जांकेः सह नावमारोहत् सुरिः ।
यत्र यत्र स न्यपीदसत्र नैर्मकुमारंजे , तदनु मध्यदेशासीने
मुनौ सर्वाऽपि नौर्मकुं हृन्ना । ततो लोकैः सुरिर्जहो क्लिप्तः । दु-
र्भगीकरणाधिरारुपा प्राग्भवपत्न्या व्यन्तरीभूतयाऽन्तर्जहं शूत्रे
निहितः । शूलप्रोतोऽप्यमप्याजीवविराधनामेव शोचयन्नाऽऽम-
पीमां, तप कभेष्यां रुढोऽन्तर्गतकेवलीभूय सिद्धः । आसन्नैः सुरै-
स्तस्य निर्वाणमहिमाचक्रं । त एव तत्तीर्थं प्रयाग इति जगति पप्र-
थे । प्रकृष्टो यागः-पूजाऽन्वेति प्रयागः । ती० ३६ कल्प० संथा० ।
आय० । ग० ।

अस्मी-देशी-देवरभार्यायां , नानादायां , पितृव्यसदि च । दे०
ना० १ वर्ग ।

अस्म-अज्ञ-त्रि० । स्वज्ञावविभावाविवेचके , “ मज्जत्यज्ञः
किञ्चाज्ञानं , विद्यायामिव सुकरः । ज्ञानीति मज्जति ज्ञाने , मराह
इव मानसे ” ॥ १ ॥ पं० १६ विव० ।

अस्मावएस-अग्नि-त्रि० । अन्यशब्दस्य कर्मव्यति-
हारे द्वित्वम्, पूर्वपदे सुभ । “ ओतोऽह्नाऽन्योऽन्य० ” ॥ ८ । १ । ५६ ।
इत्यादिसूत्रस्य वैकल्पिकत्वेनौतः स्थानेऽह्नावे संयोगादित्येन
ह्रस्वे तथारूपम् । प्रा० । ह्रस्वाभावे ‘अषांश’ । ओघ० पि० । वृ० ।
अस्मावएस-अग्नेपणा-स्त्री० , मार्गणायाय , आ० म० द्वि० ।
प्रार्थनायां च, आचा० १ भु० ८ अ० ८ च० । सूत्र० । आ० म० ।

अतिखवेयरणी-अतीक्ष्ण (नैऋ) (दृश्य) वैतरणी-स्त्री० ।
परमाधार्मिकविकृतिनरकनद्याम्, तं० ।

अतिदुपुरव-अदृष्टपूर्व-त्रि० । पूर्वमदृष्टमदृष्टपूर्वम्, पेशाच्यां त-
थारूपनिष्पत्तिः । प्रथममेव दृष्टे, "परिसं अतिदुपुरवं" । प्रा० ।

अतिक्ष-अतृप्त-त्रि० । न० त० । असन्तुष्टे, उक्त० "एवं अद-
क्षाणि समाप्यंतो, भावे अतितो दुहिओ अणिस्सो" उक्त० १५
अ० । "अतित्ता कामाणं" । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अतितृप्त-अतृप्तात्मन्-त्रि० । सांग्रिलाले, पा० ४ विष० ।

अतितृप्तान्न-अतृप्तान्न-पुं० । ६ त० । तर्पणं तृप्तं, तृप्तिरिति
यावत् । तस्य लाभस्त्वृत्तलान्नः, न तथाऽतृप्तान्नमः सन्तोषाऽप्रा-
प्तौ, उक्त० ३२ अ० ।

अनित्ति-अतृप्ति-स्त्री० । असन्तुष्टौ, उक्त० ३४ अ० । सा च क्षि-
तीयं अद्वालक्षणम् ।

संप्रत्यतृप्तिस्वरूपं द्वितीयमभिधित्पुराह-

तित्तिं न चेव विंदइ, सप्पाजोगेण नाणचरणेसु ।

वेयावचतवाइसु, जहविरियं जावओ जयइ ॥ ६४ ॥

तृप्तिं संतोषं कृतकृत्योऽहमेतावतैवेत्येवं रूपं, (नवैवेति) चशब्दस्य
पूरणत्वाच्चैव विन्दति प्राप्नोति । अद्धाया योगेन संवन्धेन ज्ञान-
चरणयोर्विषये ज्ञाने पठितं यावता संयमानुष्ठानं निर्वहतीति
संखित्य न तद्विषये प्रमाद्यति, किं तर्हि नयनवश्रुतसंपदुपाज्जेने
विशेषतः सोत्साहो भवति । तथा चोक्तम्-

"जइ जइ सुयमवगाहइ, अइसरसपसरसंजुयमउज्वं ।

तइ तइ पइहाइ सुणी, नवनवसंवेगसच्चाए" ॥ १ ॥

तथा-

"अथो जस्स जिणुत्तमेहिं भणिओ जायमि मोहक्खए,
यद्धं गोयममाइपहिं सुमहावुक्कीहि जं सुत्तओ ।

संवेगाइगुणाणं बुद्धिजणं तित्थेसनामावहं,
कायव्वं विहिणा सया नधनवं नाणस्स संपज्जणं" ॥ १ ॥

तथा चारित्र्यविषये विशुद्धविशुद्धतरसंयमस्थानावाप्तये सद्भाव-
नासारं सर्वमनुष्ठानमुपयुक्तमेवानुतिष्ठति, यस्मादप्रमादकृताः स-
र्वेऽपि साधुव्यापारा उत्तरोत्तरसंयमकण्ठकारोहणेन केवलज्ञा-
मलामाय भवन्ति । तथा चागमः-

"जोगे जोगे जिणसा-सणमि दुक्खक्खया पंडजंते ।

इक्कम्मि अणंता, वट्ठंता केवली जाया" ॥ १ ॥

तथा वैयावृत्यतपसी प्रतीते, आदिशब्दात्प्रत्युपेक्षणाप्रमाज-
नादिपरिग्रहः । तेषु यथा वीर्यं सामर्थ्यानुरूपं जावतः सद्भाव-
सारं यतते प्रयत्नवान् भवति । घ० र० ।

अतितिलाभ-अतृप्तिलान्न-पुं० । ६ त० । तृप्तिप्राप्त्यभावे,
"संजोगकावे य अतितिलामे" उक्त० ३४ अ० ।

अतित्य-अतीर्थ-अव्य० । तीर्थस्याऽभावोऽतीर्थम् । तीर्थस्या-
नुत्पादे, (अपान्तराले) व्यवच्छेदे च । प्रज्ञा० १ पद ।

अतित्यगरसिद्ध-अतीर्थकरसिद्ध-पुं० । न तीर्थकराः सन्तः
सिद्धाः । सामान्यकेवलेषु सत्सु गौतमादिवत् सिद्धेषु, प्रज्ञा० १
पद । ल० । पा० । आ० । स्था० । न० ।

अतित्यसिद्ध-अतीर्थसिद्ध-पुं० । तीर्थस्याभावोऽतीर्थम्, ती-
र्थस्याभावानुत्पादोऽपान्तराले व्यवच्छेदो वा, तस्मिन्नेव सि-
क्तास्तेऽतीर्थसिद्धाः । न० । तीर्थान्तरसिद्धेषु, आ० । तीर्थान्तरे
साधुव्यवच्छेदे जातिस्मरणादिना प्राप्तापवर्गमार्गा मरुदेवी-
वत् सिद्धाः । स्था० १ ग० १ उ० । नहि मरुदेव्यादिसिद्धिगम-
नकाले तीर्थमुत्पन्नमासीत् । न० । घ० । तथा तीर्थस्य व्यव-
च्छेदश्चक्षुःप्रभस्वामिसुविधिस्वाम्यपान्तराले । तत्र ये जाति-
स्मरणादिनाऽपवर्गमवाप्य सिद्धास्ते तीर्थव्यवच्छेदसिद्धाः ।
प्रज्ञा० १ पद । स्था० ।

अतित्यावणा-अनित्यापनः-स्त्री० । उल्लङ्घनयायाम्, पं० सं०
५ द्वा० ।

अतिदुर्ख-अतिदुःख-न० । अतिदुःसहे, आचा० १ भु० ६
अ० २ उ० ।

अतिदुःखधम्म-अतिदुःखधर्म-त्रि० । अतीव दुःखमज्ञातावेद-
नीयं धर्मः स्वभावो यस्य तत्तथा । अक्किनिमेषमात्रमपि कालं
न यत्र दुःखस्य विश्रामः । तादृशे नरकादिस्थाने, सूत्र० । "सया
य कलुणं पुण धम्मगणं, गाढोवणीयं अतिदुःखधम्मं" ।
सूत्र० १ भु० ५ अ० १ उ० ।

अतिधूत-अतिधूत-त्रि० । अतीव धूतमष्टप्रकारं कर्म यस्य
सोऽतिधूतः । प्रचूतकर्मणि, सूत्र० २ भु० २ अ० ।

अतिधूर्त-त्रि० । बहुलकर्मणि, "अयं पुरिसे अतिधुत्ते अइ-
यारक्खे" सूत्र० २ भु० ५ अ० ।

अतिपाप्त-अतिपार्थ-पुं० । परेवते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां
जाते सप्तदशे तीर्थकरे, सं० ८४ सम० ।

अतिपणया-अतेपनया-स्त्री० । स्वेदलासाधुजलकरणकारण-
परिवर्जने, पा० । घ० ।

अतिमुच्चय-अतिमूर्च्छित-त्रि० । अत्यन्तमूर्च्छितोऽतिमूर्च्छितः ।
विषयदोषदर्शनं प्रत्यभिभूततामुपगते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अतिद्विय-अतैल-न० । सर्वथा तैलांशरहिते, तं० ।

अतिवचंत-अतिव्रजत्-त्रि० । अतिशयेन प्रजति गच्छतीति,
अति-वज्-शतृ । बाहुल्येन गच्छति, जी० ३ प्रति० ।

अतिविज्ज-अतिविद्य-पुं० । जातिवृत्तसुखदुःखदर्शनादतीव वि-
द्या तत्त्वपरिच्छेत्री यस्याऽप्तावतिविद्यः । जातनिर्वेदे तत्त्वज्ञे,
"तम्हाऽतिविज्जं परमंति णच्चा, आयंकदंसी ण करेइ पावं" ।
आचा० १ भु० १ अ० २ उ० ।

अतिविद्वस्-पुं० । विशिष्टप्रज्ञे, आचा० १ भु० ३ अ० २ उ० ।

अतीरंगम-अतीरङ्गम-त्रि० । तीरं गच्छन्तीति तीरङ्गमाः
(क्षच्प्रत्ययः) । न तीरङ्गमा अतीरङ्गमाः । तीरं गन्तुमसमर्थेषु,
आचा० ।

अतीरंगमा एए, णा य तीरंगमिचए ।

अपारंगमा एए, णा य पारंगमिचए ॥ १ ॥

(अतीरंगमा इत्यादि) तीरं गच्छन्तीति तीरंगमाः, पूर्व-
वत् क्षच्प्रत्ययादिकम् । न तीरङ्गमा अतीरङ्गमाः (एते
इति) ताव प्रत्यक्षभावमापन्नाः कुतीर्थिकादीन् दर्शयति । न च

मांसाशनसुरापान-अनुधातनचौरिकाः ।
 पारदार्यादि कुर्वाण-मशुमं कुर्वते वपुः ॥८॥
 पतामाभवभावनामविरतं यो भावयेद्भावत-
 स्तस्यानर्थपरम्परैकजनकाद् दुष्टाऽऽभवौघात्मनः ।
 व्यावृत्त्याऽखिलदुःखादावजलदे निःशेषशर्मावलो-
 निर्माणप्रवणं शुभाभवगणं नित्यं रतिः पुष्यति ॥ १४ ॥
 प्रव० ६७ द्वा० ।

अएहाणग-अज्ञानक-न० । शरीरमज्जनाकरणे, म० १ श० १
 उ० । औ० । स्था० ।

अत-अत्-पुं० । अत्ति भवते जगदिति सृष्टिसंहारकृत्वात् । अ-
 क्षपादसम्भते शिवे, उक्तं च-“अक्षपादमते देवः, सृष्टिसंहारकृ-
 च्छिवः । विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो, नित्यबुद्धिसमाभयः” ॥ १ ॥
 “धियो यो नः प्रचोदयाऽत्” अनति सातत्येन गच्छति ‘ग-
 त्यर्था ज्ञानार्थाः’ इति वचनात् अवगच्छतीति अत् स-
 र्वज्ञः, धियो यो नः प्रचोदयाऽत्-इत्यत्र बौद्धिस्तथा व्याख्या-
 नात् । जै० गा० । (परमेतादृक् शब्दः प्राकृते न प्रयोक्तव्यः)

अतंत-अतन्त्र-त्रि० । न-तन्त्रं कारणं, तदधीना विवक्षा वा
 यस्य । कारणानधीने अनापत्ते, अने० वृत्ति० विव० ।

अनकण्णिज्ज-अतर्कणीय-त्रि० । अनभिलषणीये, वृ० १ उ० ।

अतकिओवड्डिय-अतर्कितोपस्थित-न० । अनभिसन्धिपूर्वि-
 कायामर्यमात्तौ यहच्छायायाम्, यथा-काकतालीयम्, अजाकृ-
 पाणीयम्, आतुरमेपजीयम्, अन्धकण्टकीयमित्यादि ।
 आचा० १ भु० १ अ० १ उ० ।

“अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजात-
 कम् । काकस्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽ-
 भिमानः ॥ १ ॥” भ० १ श० १० उ० ।

अतकिओवड्डि-अतर्कितोपधि-पुं० । अतर्कणीये उपधौ, यमु-
 पधि न कोऽपि तर्कयति विशेषतः परिभाषयति । व्य० ८ उ० ।

अतज्जाय-अतज्जात-त्रि० । अनुत्पज्जातीये, आव० ४ अ० ।

अतज्जाया-अतज्जाता-स्त्री० । अनुत्पज्जातीये क्रियमाणायां
 परिष्ठापनिकायाम्, आव० ४ अ० ।

अतड-अतट-पुं० । अदीर्घे तटे, “अतडुववातो सोचेव मगो” ।
 वृ० १ उ० ।

अतणु-अतनु-त्रि० । न विद्यते तनुः शरीरं येषां तेऽतनवः ।
 सिद्धेषु, प्रव० ३१४ द्वा० ।

अतत्तवेइत्त-अतत्त्ववेदित्व-न० । साक्षादेव वस्तुतत्त्वमहातुं
 शीघ्रमस्य पुरुषविशेषस्य । अर्वावर्द्धिनि, ध० १ अधि० ।

अतत्तवेइवाय-अतत्त्ववेदिवाद-पुं० । अतत्त्ववेदिनः साक्षादेव
 वस्तुतत्त्वमहातुं शीघ्रमस्य पुरुषविशेषस्यावर्गावर्द्धिनि इत्यर्थः ।
 वादो वस्तुप्रणयनमत्त्ववेदिवादः । साक्षादवीक्षमाणेन हि
 प्रमात्रा प्रोक्ते वस्तुप्रणयनेनातत्त्ववेदिवादः सम्यग्वाद इति ।
 ध० १ अधि० ।

अतत्तिय-अतात्त्विक-त्रि० । अवास्तवे तात्त्विकाभावे, द्वा०
 १६ द्वा० ।

अतत्तुचुक-पुं० । अणद्विज्ञपाटनदुर्गमभञ्जके हरिवक्त्राग्रामचै-
 १२५

त्यत्रोदके चौलुक्यवंशीयभीमदेवनरेन्द्रसमकाक्षीने तुरकमहारे
 राक्षि, ती० ४१ कस्य ।

अतर-अतर-पुं० । न तरीतुं शक्यते इत्यतरः । रत्नाकरे, वृ० १
 उ० । सागरे, प्रव० १ द्वा० । अतिमहत्त्वादुर्विषयचरीतुमचिरात्पारं
 नेतुं न शक्यत इत्यतराणि । सागरोपमकाक्षेषु, कर्म० ५ कर्म० ।
 असमर्थे, नि० चू० १ उ० । ग्लाने, वृ० १ उ० ।

अतरंत-अतरत्-त्रि० । असहे, नि० चू० १ उ० । व्य० । ग्लाने,
 ध० ३ अधि० ।

अतव-अतपस्-त्रि० । ६ व० । तपसा विहीने, “अतयो न होति
 भोगो” वृ० ४ उ० । न० त० । तपसामभावे, उक्त० २३ अ० ।
 अतसी-अतसी-स्त्री० । (अवसी-तीसी) कुमायाम्, ग० २
 अधि० । अतसी बल्कलप्रधानो वनस्पतिः, यत्सूत्रं मातृवादिदेशे
 प्रसिद्धम् । अनु० । नि० चू० । प्रज्ञा० ।

अतह-अतथ-मह-तत्-कथ च । मिथ्याचूतेऽर्थे, सूत्र० १
 भु० १ अ० ३ उ० ।

अतथ्य-न० । असदर्थमिधायित्वे, “अणवक्षतमहं नेत्ति,
 य ते संबुद्धचारिणो” सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० । आविद्य-
 माने, आचा० १ भु० ६ अ० ४ उ० । वितथेऽसद्चूले,
 आचा० १ भु० ६ अ० २ उ० ।

अतद्व्याण-अतथाज्ञान-न० । न विद्यते यथा वस्तु तथा ज्ञानं
 यस्य तत्तथा । मिथ्यादृष्टिजघ्नस्ये, तस्य वितथज्ञानत्वात् ।
 नास्ति यथैव ज्ञानमवबोधः प्रतीतिर्यस्मिंस्तत्तथा । अज्ञातकस्ये
 वा, वक्तव्याऽवभासमाने एकान्तवाचन्युपगते वा वस्तुनि,
 तथाहि-एकान्तेन नित्यमनित्यं वा वस्तु तैरभ्युपगमं, प्रतिभाति च
 तत् परिणामितयेति तदतथाज्ञानमिति । एष दशमो व्यानु-
 योगः । आ० १० द्वा० । यथा प्रच्छन्नीयार्थं प्रदृश्यस्य ज्ञानं तथैव
 प्रच्छकस्यापि ज्ञानं यत्र प्रश्ने स तथाज्ञानो ज्ञानतमश्च इत्यर्थः ।
 एतद्विषयीतस्त्वतथाज्ञानः । अज्ञानतमश्चे, म० ६ श० ८ उ० ।

अतार-अतार-त्रि० । ६ व० । तरीतुमशक्ये, नदीप्रवाहादौ
 यस्य हि तरणं नास्ति । “अथाहमतारमपोरिसीयं सीओद्-
 गमि अण्णं मुयंति” । ज्ञा० १४ अ० ।

अतारिय-अतारिय-त्रि० । अनतिष्ठकनीये, सूत्र० १ भु० ३ अ०
 २ उ० ।

अतारि(लि)स-अतादृश-त्रि० । न० स० । अतत्सदृशे, “अता-
 रिस्ते मुणी अहंतरे” । आचा० १ भु० ६ अ० १ उ० । उक्त० ।
 अतिउद्-अतिवृत्त-त्रि० । अतिक्रान्तो वृत्तादतिवृत्तः । वृत्तम-
 जानति, सूत्र० । “जंसी गुहाय जलणेऽतिउद्दे, अविजाणओ गज्जइ,
 लुत्तपणो” ज्वलनेऽग्नावतिवृत्तो वेदनामिच्छतत्वात् स्वकृत-
 दुःखरितमजानत् हुतप्रज्ञो गतप्रज्ञाविवेको दन्द्यते । सूत्र० १
 भु० ५ अ० १ उ० ।

अतितिण-अतिन्तिन-त्रि० । न० त० । अलाभेऽपि ईषद्यात्
 किञ्चनामापिणि, दश० १ अ० । सकृत्किञ्चिदुक्ते, चूयो-
 भूयोऽसुययाऽवचरि च । दश० १ अ० ।

अतिक्खतुंड-अतीक्ष्णतुण्ड-त्रि० । अनन्यन्तभेदकमुक्ते, प-
 द्वा० १६ विव० ।

आर्त्त-त्रि० । ग्यानीभूते, भ० ३५ श० १ उ० । दुःखार्त्तं, स्या० ७ उ० । “कम्मत्ता दुग्गमा चेव, इच्छाहं सुपुढो जणा” पूर्वा-
खरितैः कर्मभिरार्त्ताः पूर्वसकृतकर्मणः फलमनुभवन्ति, यदि
वा कर्मभिः कृष्यादिभिरार्त्तास्तत्कर्तुमसमर्थाः । सुत्र० १ श्रु० ३
अ० १ उ० ।

अत्तववसास-आत्मोपन्यास-पुं० । आत्मान एव उपन्यासो
निवेदनं यस्मिंस्तदात्मोपन्यासम् । उदाहरणे, दोषे, उपन्यास-
नेदे च । दश० ।

इदानीमात्मोपन्यासद्वारं विवृण्वन्नाह-

अत्तववसासमि य, तत्तागजेयमि पिंगलो थवई ।

आत्मान एवोपन्यासो निवेदनं यस्मिन् तदात्मोपन्यासम्, तत्र
च तद्भागभेदे पिङ्गलः स्थपतिरुदाहरणमित्युक्तराधः । ज्ञावार्थः
कथानकगत्यः । स चायम्-“इह एगस्स रत्तो तलागं सब्बरज्ज-
स्स सारत्तुअं, तं च तलागं वरिसे वरिसे भरियं जिज्जइ । तादे
राया जणइ-को सो उवाओ होज्जा, जेण तं न भिज्जेज्जा । तत्थ
एगो कविइओ मण्णुतो जणति-जदि नवरं महाराय ! अच्चिपिं-
गलो, कविलियाओ से दादियाओ, सिरं से कविइयं, सो जीव-
तो चेव जम्मि ठाणे भिज्जति तम्मि ठाणे णिक्खमति, तो णवरं
ण भिज्जति । पच्छा कुमारामहेण भणियं-महाराय ! एसो चेव
परिसो, जारिसयं जणति, परिसो नत्थि अओ । पच्छा सो तत्थेव
मारेत्ता निक्खितो । एवं परिसं णो भाणियव्वं जं अप्पव-
हाय भवइ ” । इदं लौकिकम् । अनेन लोकोत्तरमपि सूचि-
तम् । एकग्रहणेन तज्जातीयग्रहणात्तत्र चरणकरणानुयोगेनैवं
भूयाद् यदुत-“लोइयधम्माओ वि हु. जे पम्भट्टा णराइमा
ते उ । कह दव्वसोयरहिमा, धम्मस्साराइया होति ” ॥ १ ॥
इत्यादि । द्रव्यानुयोगे पुनरेकेन्द्रिया जीवाः, व्यक्तोच्छ्वास-
निःश्वासादिजीवल्लिङ्गसद्भावात्, घटवत्, इह ये जीवा न भव-
न्ति न तेषु व्यक्तोच्छ्वासनिःश्वासादिजीवल्लिङ्गसद्भावः, यथा
घटे, न च तथैतेष्वसद्भाव इति तस्माज्जीवा एवैते इत्यत्रात्म-
नोऽपि तद्रूपापत्त्याऽऽत्मोपन्यासत्वं भावनीयमिति । उदाहर-
णदोषता चास्याऽऽत्मोपघातजनकत्वेन प्रकटयैवेति न ज्ञायते ।
गतमात्मोपन्यासद्वारम् । दश० १ अ० ।

अत्तकम्-आत्मकृत-त्रि० । आत्मार्यं कृते स्वगृहार्थमेव स्था-
पिते, वृ० १ उ० ।

अत्तकम्म-आत्मकर्मन्-न० । ६ त० । स्वदुश्चरिते, “ निच्चु-
व्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई ” दश० ५ अ० २ उ० ।
आत्मा अष्टप्रकारकर्मणाऽऽयतकरणकारणामोदनादिनिर्दिष्यते
तदात्मकम् । दृश्यं । यत्पाचकादिसम्बन्धि कर्म पाकादिलक्षणं,
ज्ञानावरणीयादिलक्षणं वा, तदात्मनः सम्बन्धि क्रियतेऽनेनेत्या-
त्मकम् । वृ० ४ उ० । आधाकर्मशब्दार्थं, पि० । निक्केपोऽस्य-तदेवमु-
कमात्मघ्नं नाम । सम्प्रत्यात्मकर्मनाम्नोऽवसरः । तदपि चात्मक-
मं चतुर्धा । तद्यथा-नामात्मकर्म, स्थापनाऽऽत्मकर्म, कृष्यात्म-
कर्म, भावात्मकर्म वा । इदं चाधाकर्मैव तावज्जावनीयम्, याव-
न्नोद्भागमतो ज्ञानशरीरं कृष्यात्मकर्म ।

ज्ञानशरीरमव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु कृष्यात्मकर्म प्रतिपादयति-

दव्वम्मि अत्तकम्मं, जं जो उ ममायए भवे दव्वं ।

यः पुरुषो यद्रव्यादिकं कृष्यं ममायते-ममेति प्रतिपद्यते । तन्म-

मेति प्रतिपादनं, तस्य पुरुषस्य (दव्वम्मि अत्तकम्मं ति) ज्ञा-
नीरजव्यशरीरव्यतिरिक्तम् । द्रव्ये द्रव्यविषये, आत्मकर्म
भवति । आत्मसंबन्धित्वेन कर्मकरणमात्मकर्म, इति व्युत्पत्त्याऽऽ-
त्मधयणात् । ज्ञावात्मकर्म च द्विधा । तद्यथा-आगमतः, नो-
आगमतश्च । तत्रागमत आत्मकर्मशब्दार्थज्ञाता चोपयुक्तः ।
नो आगमतः पुनराह-

भावे असुइपरिणओ, परकम्म अत्तणे कुणइ ।

अशुजपरिणतोऽशुमेन प्रस्तावादाधाकर्मग्रहणरूपेण भावेन
परिणतः परस्परपाचकादेः संबन्धे यत्कर्म पचनपाचनादिजनितं
ज्ञानावरणीयादि, तदात्मनः संबन्धि करोति । तच्च परसंबन्धिनः
कर्मण आत्मीयत्वेन करणं, ज्ञावे भावत आत्मकर्म, नो आगमतो
भावात्मकर्मैत्यर्थः । भावेन परिणामविशेषेण परकीयस्यात्मसं-
बन्धित्वेन कर्मकरणं भावात्मकर्मैति व्युत्पत्तेः ।

एतदेव सार्द्धं वा गाथया भावयति-

आहाकम्मपरिणओ, फासुयमवि संकिइइपरिणामो ।

आयपमाणो वज्जइ, तं जाणसु अत्तकम्मे ति ॥ १ ॥

परकम्म अत्तकम्मा, करेइ तं जो गिण्हितुं जुंजे ॥

प्रासुकमचेतनलक्षणमेतदेवपीयं च स्वरूपेण भक्तादिकम् ।
आस्तामाधाकर्मैत्यपिशब्दार्थः । संक्लिष्टपरिणामः सन्नाधाकर्म
ग्रहणपरिणतः सन्नादत्ते गृहण्य यथाऽऽहमतिशयेन व्याख्यान-
लब्धिमान्, मदगुणाध्यासाधारणविद्वत्तादिकृपाः, सूर्यस्य भाव-
नमिव कुत्र कुत्र न वा प्रसरन्निरोहन्ति । ततो मदगुणावर्जित
एव सर्वोऽपि लोकः पक्त्वा पाचयित्वा च मल्लमिष्टमिदमोद-
नादिकं प्रयच्छतीत्यादि, स इत्यमाददानः साक्षादारम्भकर्तव्य
ज्ञानावरणीयादिकर्मणा बध्यते । ततस्तज्ज्ञानावरणीयादिकर्म
बन्धनमात्मकर्म जानीहि । इयमत्र भावना-आधाकर्म, यद्वा-
स्वरूपेण अनाधाकर्मोपि जन्तिवशतो मदर्थमेतान्निष्पादितमित्या-
धाकर्मग्रहणपरिणतो यदा गृह्णाति तदा स साक्षादारम्भक-
तैव स्वपरिणामविशेषतो ज्ञानावरणीयादिकर्मणा बध्यते, यदि
पुनर्न गृह्णीयात्तर्हि न बध्येत । तत आधाकर्मग्राहिणा यत्पर-
स्य पाचकादेः कर्म तदाऽऽत्मनोऽपि क्रियत इति परकर्म आ-
त्मकर्म करोतीति बध्यते । एतदेव स्पष्टं व्यनक्ति- (परकम्मे-
त्यादि) तत आधाकर्म यदा साधुगृहीत्वा भुङ्क्ते स परस्परं
पाचकादेर्यत्कर्म तदात्मकर्म करोति, आत्मनोऽपि संबन्धि
करोतीति भावार्थः ।

अमुं च भावार्थमस्य वाक्यस्याजानानः परो जात-

संशयः प्रक्षयति-

तत्थ जेव परकिरिया, कहं तु अन्नत्थ संकमइ ।

तत्र परकर्म आत्मकर्म करोतीत्यत्र वाक्ये भवेत् परस्य वक्त-
व्यम् । यथा-कथं परक्रिया परस्य सत्कं ज्ञानावरणीयादि कर्म,
अन्यत्र आधाकर्मभोजके साधौ संक्रामतीति भावः । न खलु जा-
तुच्चिदपि परकृतं कर्म अन्यत्र संक्रामति । यदि पुनरन्यत्रापि संक्र-
मेत्तर्हि कृपकभेणिमधिरूढः कृपापरीतचेताः सकलजगज्जन्तुक-
र्मनिर्मुक्तापादनसमर्थः सर्वेषामपि जन्तूनां कर्म ज्ञानात्मनि संक्र-
मय्य कृपयेत् । तथा च सति सर्वेषामेककालं मुक्तिरूपं जायेत । न
जायते, तस्माच्चैव परकृतकर्मणामन्यत्र संक्रमः । उक्तं च-कृपकभे-
णिपरिगतः समर्थः सर्वकर्मिणां कर्म कृपयित्वा भवेत् कृपापरी-
तात्मको यदि कर्मसंक्रमः स्यात्परकृतस्य । परकृतकर्मणि यस्मा-

ते तीरङ्गमनायोद्यता अपि तीरं गन्तुमक्षमं, सर्वज्ञोपदिष्टसन्मार्गा-
भावादिति भावः । तथा (अपारंगमा इत्यादि) पारस्तदः, परकूलं,
तद्वच्छन्तीति पारंगमाः, न पारङ्गमा अपारङ्गमाः । (एत इति) पु-
र्योकाः, पारंगतोपदेशान्नावादपारंगता इति भावनीयम् । न
च ते पारंगतोपदेशमृते पारङ्गमनायोद्यता अपि पारं गन्तुमक्षमम् ।
अथवा गमनं गमः, पारस्य पारं वा गमः पारगमः ।
सूत्रे त्वनुस्वारोऽङ्गाक्षणिकः । न पारगमोऽपारगमस्तस्मा अपा-
रगमनाय । असमर्थसमासोऽयम् । तेनायमर्थः-पारगमनाय ते
न भवन्तीत्युक्तं प्रवृत्तिः । नतश्चानन्तमपि संसारं संसारान्तर्वर्तिन
एवास्ते, यद्यपि पारगमनायोद्यमयन्ति तथापि ते सर्वज्ञोपदे-
शविकल्पाः स्वकचित्चित्ततशास्त्रवृत्तयो नैव संसारपारं गन्तु-
मक्षमम् । आचा० १ भू० २ अ० ३ उ० ।

अतुच्छजाव-अतुच्छजाव-त्रि० । अकार्पण्ये, पं० ष० ४ द्वा० ।
उदराशये, पञ्चा० ६ विष० ।

अतुरिय-अत्वरित-त्रि० । स्तिमिते, ध० ३ अधि० । उच० ।
विषा० । "अतुरियमचयलमसंभंताए अविवेचिष्याय रायहंसस-
रिस्तीए गईए" । अत्वरितया मानसौत्सुक्यरहितया । कल्प० ।
देहमनश्चाप्यरहितं यथामवत्येवम् । अ० ११ भू० ११ उ० । रा० ।

अतुरियगइ-अत्वरितगति-त्रि० । मायया लोकावर्जनाय
मन्दगामिनि, वृ० १ उ० ।

अतुरियभासि [ण्]-अत्वरितजापिन्-त्रि० । विवेकभाषि-
णि, आचा० १ भू० २ अ० ६ उ० ।

अतुल-अतुल-त्रि० । तुलामतिक्रान्ते, संथा० । असाधारणे,
स० ३० सम० । निरुपमे, प्रअ० १ आअ० द्वा० ।

अत्त-आत्त-त्रि० । आ-दा-क । गृहीते, उच० १७ उ० । क-
रतपरिगृहीते, ज्ञा० १ अ० । भीमो भीमसेन इति न्यायात्
आचो गृहीतः सूत्रार्थो यैस्ते आचाः । गीतार्थेषु, वृ० १
उ० । स्था० ।

आत्मन्-पुं० । स्वस्मिन्, उच० ३३ अ० । जीवे, आचा० १ भू०
६ अ० १ उ० । पञ्चा० । स्वजावे, मं० ।

आत्र-त्रि० । आ अत्रिविधिना प्रायते दुःखात्संरक्षति सुखं चो-
त्पादयतीति आत्रः । दुःखं सुखं साधके, "गेरइआ णं जंते ! किं
अत्तापोगला मणत्तापोगला वा ?" ज० १४ श० ९ उ० । स्था० ।

आप्त-त्रि० । आप्ते, उच० १२ अ० । अतीव सुपुपरिकर्मिते, सू०
प्र० २० पादु० चं० प्र० । स्था० । आसिद्धिं रागद्वेषमोहानामैका-
न्तिक आत्यन्तिकञ्च कथं, सा यस्याऽस्ति स आप्तः । अस्मादि-
त्वान्मत्त्वर्थोऽप्रत्ययः । स्था० । यथार्थदर्शनादिगुणयुक्तं पु-
र्ये, मं० । दशा० । रागादिविप्रमुक्ते, सूत्र० १ भू० ६ अ० ।
जी० । अप्रतारके, अप्रतारकञ्च (प्रकीर्णदोषः सर्वज्ञः) अशेषदो-
षक्याद् भवतीति । उक्तं च- "आगमोऽस्मात्तवचन-भासं दोषक्या-
द् विदुः । वीतरागोऽनुतं वाक्यं, न म्याकेत्वसंभवात्" ॥ १ ॥
दशा० १ अ० । व्य० ।

नाणमादीणि अत्ताणि, जेष अत्तो उ सो जवे ।

रागदोषस्पहीणो वा, जे न इहा व सोधिण् ॥ ५ ॥

ज्ञानादीनि ज्ञानदर्शनचारित्र्याणि येनाप्तानि स भवत्याप्तः ।
ज्ञानादिभिरप्युक्ते स आप्त इति व्युत्पत्त्यन्तरम् । यो वा रागद्वे-

पप्रहीणः स आप्तः । यदि वा (इहा) इष्टाः, शोघी शोधिषिष्ये
आप्ताः ॥ ५ ॥ व्य० १० उ० ।

आप्तसकृपं प्रकथयन्ति-

अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते; यथाज्ञानं चा-
निषत्ते स आप्तः ॥ ४ ॥

आप्यते प्राप्यते अर्थोऽस्मादित्याप्तः । यज्ञ-आप्तिः रागादिदो-
षक्षयः, सा विद्यते यस्येत्यर्थः आदित्वादचि भासः । जानन्नापि
हि रागादिमान् पुमानन्यथाऽपि पदार्थान् कथयेत्, तद्व्यवच्छि-
न्ये यथाज्ञानमिति । तदुक्तम्- "आगमोऽस्मात्तवचन-भासि
दोषक्यं विदुः । कीणदोषोऽनुतं वाक्यं, न म्याकेत्वसंभवात्" ॥ १ ॥
अभिधानं च ध्वनः परम्परयाऽप्यत्र दृष्टव्यम् । तेनाकर-
विलेखनद्वारेण, अङ्गोपदर्शनेनमुखेन, करपद्मव्यादिवेष्टाविशे-
षवशेन वा शब्दस्मरणायः परीक्षार्थविवरणं विज्ञानं परस्यो-
त्पादयति, सोऽप्याप्त इत्युक्तं प्रवृत्तिः । स च स्मर्यमाणः शब्दः
आगम इति ॥ ४ ॥

कस्मादमूढशस्त्रैवाप्तत्वमित्याहुः-

तस्य हि वचनमविसंवादि जवति ॥ ५ ॥

यो हि यथावस्थिताभिधेयवादी परिक्रान्तुसारेण तदुपदेश-
कुशलञ्च भवति, तस्यैव यस्याहचनं विसंवादशून्यं संजायते ।
मूढयज्ञकवचने विसंवादसंदर्शनात् । ततो यो यस्यावज्ञकः
स तस्याप्त इति श्रुत्यायं श्लेच्छसाधारणं वृद्धानामाप्तलक्षणम-
नूदितं प्रवृत्तिः ॥ ५ ॥

आप्तमेदौ दर्शयन्ति-

स च द्वेषा-लौकिको, लोकोत्तरश्च ॥ ६ ॥

लोके सामान्यजनरूपे भवो लौकिकः । लोकादुत्तरः प्रधान-
मोक्षमार्गोपदेशकत्वाद्युलोत्तरः ॥ ६ ॥

सांख्ये वदन्ति-

लौकिको जनकादिलोकोत्तरस्तु तीर्थकरादिः ॥ ७ ॥

प्रथमाऽऽदिशब्देन जनन्यादिग्रहः । द्वितीयाऽऽदिशब्देन तु
गणधरादिग्रहणम् ॥ ७ ॥ रत्ना० ४ परि० ।

न च वाक्यमाप्तः कीणसर्वदोषः, तथाविधं चाप्तत्वं कस्यापि
नास्तीति । यतो रागादयः कस्यचिदत्यन्तमुच्छिद्यन्ते, अस्मादा-
दिषु तदुच्छेदप्रकारोपकारोपलभ्यात्, सूर्याद्यावारकजलदपद-
वत् । तथा जादुः- "देशतो नाशिना भावाः, इष्टा निश्चिन्नभ-
राः मेघपङ्कषादयो यज्ञ-देवं रागादयो मताः" ॥ १ ॥ इति । यस्य च
निरवयवतयैवे विहीनाः स एवाप्तो जगन्नाद सर्वज्ञः । अथाना-
दित्वाद्वागादीनां कथं प्रकथय इति चेत् ? । न । उपायतस्तद्भावा-
त्, अनादेरपि सुवर्णमलस्य कारमुत्पुटपाकादिना विलयोपल-
भ्यात् । तद्वदेवानादीनामपि रागादिदोषाणां प्रतिपक्षदूतरत्न-
यान्यासेन विद्योपपत्तेः, कीणदोषस्य च केषलज्ञानाव्यभि-
चारत्वं सर्वज्ञत्वम् । तत्सिद्धिस्तु ज्ञानतारतम्यं कचिद्विज्ञानं, ता-
रतम्यत्वात्, आकाशपरिमाणतारतम्यवत् । तथा-सूक्ष्मान्ति-
तद्वरायाः, कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वात्, कितिधरकथंसा-
धिकरणभूमिश्च जवत् । एवं चन्द्रसूर्योपरागादिसूचकव्येतिर्ज्ञा-
नाविसंवादान्यथाऽनुपपत्तिप्रभृतयोऽपि हेतवो वाच्याः । दशा० ।
सूत्र० । साधूनां शोधिषिष्ये इष्टे प्रायश्चित्तदे, व्य० १० उ० । मोक्षे,
सूत्र० १ भू० १० अ० । एकान्तहिते, त्रि० । अ० १४ श० ६ उ० ।

अत्तगवेसय-आत्मगवेपक-पुं० । आत्मानं चारिवात्मानं गवे-
पयतीति आत्मगवेपकः । कथमयं मम स्यादिति संयमजीवमा-
र्गयितारि, “ तिगिच्छं नाभिनन्देजा, संचिक्खेऽत्तगवेसए । एवं
खु तस्स सामखं, जज्ज कुजा न कारवे ” ॥१॥ उक्त० २ उ० ।

नो ताहिं विहभेजा, चरेज्जऽत्तगवेसए ।

आत्मानं गवेपयेत्, कथं मयाऽऽत्मा भवान्निस्तारणीय इत्य-
न्वेपयते । “ आत्मगवेपकसिद्धिः स्वरूपापत्तिः ” इति वचना-
त् । सिद्धिर्वाऽऽत्मा । ततः कथं ममाऽऽत्मा स्यादित्यन्वेपक आ-
त्मगवेपकः । यद्वा आत्मानमेव गवेपयत इत्यात्मगवेपकः । किमु-
क्तं भवति? चित्रालङ्कारशालिनीरपि स्त्रियोऽवगच्छेय तद्दृष्टि-
न्यासस्य दुष्टताऽवगमात् ऊटिति ताज्यो दृशुपसंहारत आत्मा-
न्वेष्टैव ज्ञवति । उक्त० ३ अ० ।

अत्तगामि (ण)-आप्त (त्म) गामिन्-पुं० । आप्तं(मोक्षं) ग-
च्छति तच्छीघ्रः । मोक्षगमनशीले आत्महितगामिनि, सर्वज्ञो-
पदिष्टमार्गगामिनि वा मुनौ, “ मुसं न द्या मुणि अत्तगामी ”
सूत्र० १ भु० १० अ० ।

अत्तगुण-आत्मगुण-पुं० । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेयप्रयत्नधर्मा-
धर्मसंस्कारेषु जीवगुणेषु, सूत्र० १ भु० १२ अ० ।

अत्तचित्त-आत्मचिन्तक-पुं० । आत्मानमेव चिन्तयतीति । प-
रकार्त्तमनपेक्षैवात्मानं चिन्तयति गणधारणाद्येत्ये, व्य० ।

अब्भुज्जयमेगयरं, पण्वज्जिस्संति अत्तचित्तो उ ।

जो वि गणे वि वसंतो, न वहति तत्ती तु अनेसि ॥१॥

य आत्मानमेव केवलं चिन्तयन्मन्यते-यथाऽहमन्युद्यतं जिन-
कल्पं यथा लन्दकद्वपानमेकतरं प्रतिपत्स्ये इति आत्मचिन्तकः ।
योऽपि गणेऽपि गच्छेऽपि वसन् तिष्ठन् न वहति न करोति, तृप्ति-
मन्येषां साधूनां सोऽप्यात्मचिन्तकः । एतौ चावप्यात्मचिन्तकाव-
नहीं । व्य० ३ उ० ।

अत्तद्व-आत्मपट्ट-पुं० । आत्मा पट्ट इति । पञ्चानां ज्ञूताना-
मात्मा पट्टः प्रतिपाद्यत इत्ययं पञ्चमं सूत्रकृताङ्कस्य प्रथमोद्देश-
कस्य अर्थाधिकारे, सूत्र० ।

सांप्रतमात्मपट्टवादिमतं पूर्वपक्कयितुमाह-

संति पंच महब्भूया, इह मेगेलिं आहिया ।

आयद्वो पुणो आहु, आया लोगे य सामए ॥१॥

(संतीत्यादि) सन्ति विद्यन्ते, पञ्च महाज्ञूतानि पृथिव्यादीनि, इहा-
स्मिन्संसारे, एकैषां वेद्वादिनां सांख्यानं शैवाधिकारिणां च, एत-
दाख्यातमाख्यातानि च ज्ञूतानि ते च वादिन एवमाहुरेवमाख्या-
तवन्तः-यथा आत्मपट्टानि आत्मा पट्टो येषां तानि आत्मपट्टानि, ज्ञू-
तानि, विद्यन्त इति । एतानि चात्मपट्टानि ज्ञूतानि यथाऽन्येषां वादि-
नामनित्यानि तथा नामीपामिति दर्शयति-आत्मा, लोकश्च पृथि-
व्यादिरूपः शाश्वतोऽविनाशी । तत्रात्मनः सर्वव्यापित्वादमूर्त-
त्वाच्चाकाशस्येव शाश्वतत्वम्, पृथिव्यादीनां च तद्रूपाप्रच्युतेरवि-
नश्वरत्वमिति ॥ १५ ॥

शाश्वतत्वमेव ब्रूयः प्रतिपादयितुमाह-

दुहओ ण विणस्संति, नो य उपज्जए अस् ।

सव्वे वि सव्वहा भावा, नियतीभावमागया ॥ १६ ॥

(दुहओ ण विणस्संतीत्यादि) ते आत्मपट्टाः पृथिव्यादयः

पदार्थाः (उज्जयत इति) निर्हेतुकसहेतुकविनाशघ्नेन न विनश्य-
न्ति । यथा बौद्धानां स्वत एव निर्हेतुको विनाशः । तथा च ते
कच्चुः-“ जातिरेव हि प्राधानां, विनाशे हेतुरिप्यते । यो जा-
तश्च न च ध्वस्तो, नश्येत्पश्चात्स केन च? ” ॥ १ ॥ तथा च वै-
शेषिकाणां बहुलादिकारणसाक्षिभ्यो विनाशः सहेतुकः । तेनोप-
यरूपेणापि विनाशेन लोकैकान्तनोर्न विनाश इति तात्पर्यार्थः ।
यदि वा (दुहओ ण) द्विरूपादात्मनः स्वभावाच्चैतनचितनरूपाश्च
विनश्यतीति । तथाहि-पृथिव्यस्तज्जोवाय्वाकाशानि रूपापरि-
त्यागतया नित्यानि ; न कदाचिदनीदृशं जगदिति कृत्वा आ-
त्माऽपि नित्य एव, कृतकत्वादित्यर्थो हेतुभ्यः । तथा चोक्तम्-
“ नैनं विन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदय-
न्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥१॥ अच्चेद्योऽयमदाहोऽय-मवि-
कार्योऽयमुच्यते । नित्यः सर्वगतः स्थाणु-रचलोऽयं सनातनः ”
॥ २ ॥ एवं च कृत्वा नासदुत्पद्यते, सर्वस्य सर्वत्र सद्भावात् ।
असति च कारकव्यापाराभावात् सत्कार्यवादः । यदि वा अस-
दुत्पद्येत, स्वरदिषाणादेरप्युत्पत्तिः स्यादिति । तथा चोक्तम्-“ अ-
सदकरणादुपादानप्रहणात्सर्वसंभवाभावात् । शक्तस्य शक्यकर-
णात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम् ” ॥३॥ एवं च कृत्वा मृत्पिण्डेऽपि
घटोऽस्ति, तदर्थिनां मृत्पिण्डोपादानात् । यदि वा असदुत्पद्येत,
ततो यतः कुतश्चिदेव स्यान्नावश्यमेतदर्थिनां मृत्पिण्डोपादान-
मेव क्रियते, इत्यतः सदेव कारणे कार्यमुत्पद्यत इति । एवं च
कृत्वा सर्वेऽपि प्राजाः पृथिव्यादय आत्मपट्टा नियतिभावं नित्य-
त्वमागताः, नाभावरूपताम् । अभूत्वा च भावरूपतां प्रतिपद्यन्ते ।
आविर्भावतिरोज्ञाचमात्रत्वादुत्पत्तिविनाशयोरिति । तथा चाजि-
हितम्-“ नासतो जायते भावो, नात्रावो जायते सतः ” ।
इत्यादि । अस्योत्तरं निर्युक्तिरुदाह-“ को वेप ” इत्यादि प्राक्-
न्येव गाथा । सर्वपदार्थनित्यत्वाच्च्युपगमे कर्तृत्वपरिणामो न
स्यात्, ततश्चात्मनोऽकर्तृत्वे कर्मव्याप्रावः । तद्भावाच्च को वेद-
यति, न कश्चित्सुखदुःखादिकमनुभवतीत्यर्थः । एवं च सति
कृतनाशः स्यात् । तथा असतश्चोत्पादाभावे येयं मया आत्मनः
पूर्वभावपरित्यागेनापरजावोत्पत्तिरङ्गणा पञ्चधा गतिरुच्यते, सा
न स्यात् । ततश्च मोक्षगतेरजावादीक्रादिक्रियाऽनुष्ठानमनर्थकमाप-
द्यते । तथाऽप्रच्युताऽनुत्पन्नास्मिरैकस्वभावात्वेन त्वात्मनो देवमनु-
ष्यगत्यागती, तथा विस्मृतेरजावाद् जातिस्मरणादिकं वा न
प्राप्नोति । यच्चोक्तम्-सदेवोत्पद्यते । तदप्यसत् । यतो यदि सर्वथा
सदेव, कथमुत्पादः? उपादयेत्, तर्हि सर्वदाऽसदिति । तथा चोक्तम्-
“ कर्मण्यव्यपदेशाः, प्रागुत्पन्नं सन्ति यत्तस्मात् । कार्यमस-
द्विज्ञेयं, क्रियाप्रवृत्तेश्च कर्तृणाम् ” । १ । तस्मात्सर्वपदार्थानां कथं-
चिन्नित्यत्वं सदसत्कार्यवादश्चेत्यवधार्यम् । तथा चाभिहितम्-
“ सर्वव्यक्तिषु नियतं, कृणे कृणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः ।
सत्यश्चित्यपचिलो-राकृतिजातिव्यवस्थानात् ” ॥१॥ इति । तथा-
“ नावयः स हि भेदत्वा-ज भेदोऽन्यवृत्तितः । भूदेद्वयसंस-
र्ग-वृत्तिजात्यन्तरं घटः ” ॥१॥ सूत्र० १ भु० १ अ० १ उ० ।

अत्तद्व-आत्मस्थ-त्रि० । आत्मनि तिष्ठतीति आत्मस्थः । जी-
वस्थे, “ आत्मस्थं त्रैलोक्य-प्रकाशकं निष्क्रियं परानन्दमातीतादि-
परिच्छेदक-मङ्गं ध्रुवं चेति समयज्ञाः ” ॥१॥ पो० १५ विव० ।
आत्मार्थ-त्रि० । आत्मजोगार्थे स्वभोगार्थे, ध० २ अधि० ।
आत्मनोऽर्थः आत्मार्थः । अर्थ्यमानतया स्वर्गादौ, आत्मैवार्थ
आत्मार्थः । आत्मव्यतिरिक्ते, मोक्षे च । उक्त० । “ इह कामनिय-
त्तस्य, अत्तच्छे नाऽवरज्ज्ज् ” उक्त० ८ अ० । हा० ।

आक्रामति संक्रमो विज्रागो वा, तस्मात् सत्त्वानां कर्म यस्य संपन्नं तेन तद्वैद्यते । तत्कथमुच्यते परकर्म आत्मकर्माकरो-
तीति ? इदं च वाक्यं पूर्वान्तर्गतम् । अन्यथाऽपि केचित्परमा-
र्थमजानाना व्याख्यानयान्ति । ततस्तन्मतमपाकर्तुमुपपन्नसद्भाद-

कूटजवर्षाणैर् केई, परप्पज्जे वि विंति वंधो चि ।

केचित् संप्रज्या एव प्रवचनरहस्यमजानानाः कूटोपमायाः
कूटदृष्टान्तेन, द्रवने-परप्रयुक्तैः परेण पाचकादिना निष्पा-
दितेऽप्योदनादौ साधोस्नग्नाहकस्य भवति बन्धः । एतदुक्तं
भवति-यथा व्यापने कूटे स्थापिते मृगस्त्येव बन्धो, न व्या-
धस्य, तथा गृहस्थेन पाकादौ कृते तद्गाहकस्य साधोर्बन्धः, न
पाककर्तुः । ततः परस्य यत्कर्म ज्ञानावरणीयादि संनवति,
तदाधाकर्मग्राही स्वस्त्येव संयन्धि करोतीत्युच्यते । तदेतद-
सद्भुक्तम् । जिनवचनविरुद्धत्वात् । तथाहि-परस्यापि साक्षा-
द्वारम्भकत्वेन नियमतः कर्मबन्धसंनवस्ततः कथमुच्यते
तद्ग्राहकस्य साधोर्बन्धो, न पाककर्तुः ? । न च मृगस्यापि प-
रप्रयुक्तिमात्राद्बन्धः, किन्तु स्वस्मादेव प्रमादादिदोषात्; एवं
साधोरपि ।

तथा चैतदेव निरुक्तिरुदाह-

जणइ य गुरु पमत्तो, वज्जइ कूडे अद्रक्खो य ।

एमेव जावक्खने, वज्जइ जो असुभजावपरिणामो ॥१॥

तम्हा उ असुजजावो, वज्जेयव्वो..... ।

भणति प्रतिपादयति, चः पुनरर्थः । पुनरर्थश्चायम्-एकं केचन
सम्यग् गुरुचरणपर्युपासनाधिकप्रतया यथाऽवस्थितं तत्त्वमेव-
दितारोऽनन्तरोक्तं द्रवने-गुरुः पुनर्गतयान् अयशोभद्रसूरिरेव-
माह । एतेनैतद्वाच्येति-जिनवचनमवितर्कं, जिज्ञासुना नियमतः
प्रज्ञावनाऽपि सम्यग्गुरुदचरणकमसपर्युपासनमास्थेयम्, अन्यथा
प्रज्ञाया अर्धतयात्रुपपत्तेः । तदुक्तं च-"तत्तदुत्प्रेक्ष्यमाणानां,
पुराणरागमैर्विना । अनुपासितवृत्तानां, प्रज्ञा नतिप्रसीदति" ॥१॥
गुरुवचनमेव दर्शयति-मृगोऽपि खलु कूटः स वध्यते यः प्रम-
त्तोऽदृक्कश्च जयति । यस्तु प्रमत्तो दृक्कश्च स कदाचनपि न
वध्यते । तथाहि-अप्रमत्तो मृगः प्रथमत एव कूटदेशं परिहरति ।
अथ कथमपि प्रमादवशात् कूटदेशमपि प्राप्नोति भवति तथाऽपि
यावन्नाद्यापि बन्धः पतति, तावद्भक्ततया जगति तद्विषयादपसंप-
त्ति । यस्तु प्रमत्तो दृक्कताराहृतश्च, स वध्यत एव । तस्मान् मृगोऽपि
वध्यते । परमार्थतः स्वप्रमादक्रियावशात्, न परप्रयुक्तिमात्रात् ।
(एवमेव) अनेनैव मृगदृष्टान्तोक्तप्रकारेण (जावक्खने) संयमरूप-
जावबन्धनाय कूटमिव कूटमाधाकर्म, तत्र स वध्यते, ज्ञानावर-
णीयादिकर्मणा युज्यते, योऽशुभभावपरिणाम आहारमापद्यते,
आधाकर्मग्रहणात्मकाशुभभावपरिणामो, न शेषः । न खल्वाधा-
कर्मेण कृतेऽपि यो न तद् गृह्णाति, नापि भुङ्क्ते, स ज्ञानावरणी-
याऽऽदिना पापेन वध्यते । नहि कूटे स्थापिते यो मृगस्तदेश एव
नायाति, आयातोऽपि यत्नतस्तदंशं परिहरति, स कूटे बन्धमा-
प्नोति । तत्र परप्रयुक्तिमात्राद् बन्धो येन परोक्तनीत्या परकृतकर्मण
आत्मकर्माकरणमुपपद्यते, किन्त्वशुभाप्यवसायजावतः । तस्मा-
दशुभो भाव आधाकर्मग्रहरूपः साधुना प्रयत्नेन वर्जयित-
व्यः । परकर्म करोतीत्यत्र वाक्यं प्राचार्थः प्रागेव दर्शितः ।
यथा-परस्य पाचकादेर्यत्कर्म तदात्मकर्माकरोति, किमुक्तं ज-
वाति ?-तदात्मन्यपि कर्म करोतीति, ततो न कश्चिदोषः । परक-

मणश्चात्मकर्माकरणमाधाकर्मणो ग्रहणे भोजने वा सति भवति
यथा, तत्र उपचारादाधाकर्म आत्मकर्मेत्युच्यते । न तु तदाऽऽधा-
कर्म, यदा स्वयं करोति, अन्येन वा कारयति, कृतं वाऽनुमोदते,
तदा भवेद् दोषः । यदा तु स्वयं न करोति, नापि कारयति, ना-
प्यनुमोदते, तदा कस्तस्य ग्रहणे दोष इति ?

अत्राह-

कामं सयं न कुब्बइ, जाणंतो पुण तद्वा वि तग्गाही ।

वहेइ तप्पसंगं, अगिण्हमाणो उ वारेइ ॥ १ ॥

कामं सम्मतमेतत्, यद्यपि स्वयं न करोत्याधाकर्मः उपलक्षण-
मेतत्, न वारयति, तथापि मर्दयमेतन्निष्पादितमिति जानानो यदि
आधाकर्म गृह्णाति तर्हि तद्ग्राही । तत्पसंगम्-आधाकर्मग्रहणप्र-
सङ्गं वर्कयति । तथाहि-यदा स साधुराधाकर्म जानानो गृह्णाति,
तदाऽन्येषां साधूनां दायकानां च एवंयुक्तिरुपजायते-नाधाकर्म
भोजने कश्चनापि दापः; कथमन्यथा स साधुर्जानानोऽपि गृही-
तवान् ? इति । तत्र एवंतेषां बुद्धयुत्पादे संनत्या साधुनामाधाक-
र्मभोजनं दाघंकात्रं पदजावनिकायविधातः, स परमार्थतस्तो-
न प्रवर्त्यते । यस्तु न गृह्णाति स तथाभूतप्रसङ्गवृत्तिं निवारयति;
प्रवृत्तेरेवाभावात् । तथा आह-(अगिण्हमाणो उ वारेइ) ततोऽ
तिप्रसङ्गदोषमयान्तककारितदोषरहितमपि नाधाकर्म भुञ्जीत ।
अन्यथा तदाधाकर्म जानानोऽपि मृगजानो नियमतोऽनुमोदते ।
अनुमोदना हि नाम-अप्रतिषेधनम् । अप्रतिषेधनमुमोदनमिति
विचित्रयादात् । तत्र आधाकर्मभोजनं नियमतोऽनुमोदनदोषोऽ-
निवारितप्रसरः अपि च-एवमाधाकर्मभोजने कदाचिन्मनोहा-
द्वारजोन्नतमिच्छदपूनथा स्वयमपि पचन् पाचयेद्वा । तस्माच्च
सर्वथा आधाकर्म भोजक्यमिति स्थितम् । तदेवमुक्तमात्मकर्मे-
ति नाम ॥ पि० । नि० खू० ।

अन्यग-आत्मग-त्रि० । आत्मानि गच्छतीति आत्मगः । आन्तरे,
"विद्या ण अन्यं सोयं" सूत्रं ॥ १ शु० ॥ ए अ० ।

अन्यगवेमण-आर्त्तगवेपण-न० । कल्याणापत्सु, आर्त्तस्य, उप-
लक्षणमेतत् । आर्त्तस्य वा, गवेपणं दुर्लभद्रव्यसंपादनादिरू-
पमार्त्तगवेपणम् । औपचारिकविनयजेदे, व्य० १ उ० ।

अन्यगवेसणया-आर्त्तगवेपणता-ली० । आर्त्तं ग्यानीभूतं गवे-
पयति भेषज्यादिना योऽसावार्त्तगवेपणः । तद्भावा आर्त्तगवेपण-
ता । भ० २५ श० ५ उ० । आर्त्तस्य दुःखार्त्तस्य गवेपणमौप-
धादेरित्यार्त्तगवेपणम्; तदेवार्त्तगवेपणतेति । पीडितस्योपकार
इत्यर्थः । स्था० ७ उ० ।

आत्म (१) गवेपणता-ली० । आत्मना, आप्तेन वा चृत्वा गवे-
पणं सुस्थदुःस्थतयोरन्येषां कार्यमिति । लोकोपचारविनय-
जेदे, स्था० ७ उ० । अ० ।

साम्प्रतमार्त्तगवेपणरूपविनयप्रतिपादनार्थमाह-

दव्वावइमाईं, अत्तमणत्ते गवेसणं कुणइ ।

कल्याणदि दुर्लभद्रव्यसंपत्तौ च । तथा च भवति केषुचिद्
देशेष्वन्यथादिपु दुर्लभं घृतादिद्रव्यमिति । आदिशब्दात् कौ-
आपदादिपरिग्रहः । तत्र केनापि कान्तारादिपत्तने, कात्रापादि
दुर्लभे, भावापदि गाढगन्धान्तरे । आर्त्तस्य पीडितस्य अन्यन्तस-
हिष्युतया, आर्त्तस्य वा यथाशक्ति यद् गवेपणं करोति दुर्ल-
भद्रव्यादिसंपादयति, स आर्त्तगवेपणविनयः । व्य० १ उ० ।

कस्य वचनमाप्तवचनं, तस्य निर्देश आप्तवचननिर्देशः । सर्व-
शोकागमे, "धम्मो भंगलमुक्तिं" इति पञ्चा अक्षयवर्णनिर्देशः ।
दश० १ अ० ।

अक्ष (५५) संजोग-आत्मसंयोग-पुं० । आत्मनः संयोगे औ-
पशमिकादिभिर्भावैर्वैज्यस्य सम्यन्धरूपे संयोगभेदे, उक्त० १
अ० । ("संजोग" शब्दे चैव विशेषतो दर्शयिष्यते)

अक्षसंपरिग्राहिय-आत्मसंपरिगृहीत-त्रि० । आत्मैव संप्र-
गृहीतः-सम्यक् प्रकरणे गृहीतो येनाहं विनीतः सुसाधुरित्ये-
वमादिना स तथा । आत्मोत्कर्षप्रधाने, दश० ६ अ० ४ उ० ।

अक्षसक्त्वय-आत्मसाक्षिक-त्रि० । आत्मा एव साक्षिको
यस्येति आत्मसाक्षिकः । स्वसाक्षिके, " आत्मसाक्षिकसद-
र्म-सिद्धौ किं शोकयात्रया ? " अष्ट० २३ अष्ट० ।

अक्षसम-आत्मसम-त्रि० । आत्मतुल्ये, दश० १० अ० ।

अक्षसमाहि-आत्मसमाधि-पुं० । ६ त० । स्वपक्षसिद्धौ, मा-
ध्यस्थवचनादिना पराऽनुपधाते च । सूत्र० १ श्रु० ३ उ० ३ अ०

अक्षसमाहिय-आत्मसमाधिक-पुं० । चित्तस्वास्थ्यवति, सू-
त्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

आत्मसमाहित-त्रि० । आत्मना समाहित आत्मसमाहितः । ज्ञा-
नदर्शनचारित्र्योपयोगे सदोपयुक्तं, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।
आत्मा समाहितोऽस्येत्यात्मसमाहितः । आहिताग्न्यादिदर्श-
नादार्पित्वाद् वा निष्ठास्तस्य परनिपातः । यद्वा-प्राकृते पृथक्-
रनिपातोऽस्तस्य । समाहितात्मेत्यर्थः । शुभव्यापारवति, आचा०
१ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

अक्षमुक्त-आप्तशून्य-त्रि० । आप्तो वीतरागस्तस्य वाक्यं
सिद्धान्तस्तेन शून्यं वर्जितमाप्तशून्यमिति मध्यपदज्ञोपी समा-
सः । आप्तवाक्येन शून्यमाप्तशून्यं स्वमत्या असंभावितं विर-
च्य श्लोके ग्रन्थगौरवाद्भिन्ने, (देवसेन एतत्प्रपञ्चनमचीकरत्)
द्रव्या० ६ अष्ट्या० ।

अक्ष (आय) हिय-आत्महित-न० । ६ त० । आत्मोपका-
रके, प्रश्न० ५ सम्य० द्वा० । विशेषः । आत्महितं दुःखेनाऽसुमता
संसारे पर्यटताऽकृतधर्मानुष्ठानेन हन्यते अवाप्यत इति । त-
थाहि-" न पुनरिदमतिदुर्लभ-मगाधसंसारजलधिभिन्नष्टम् ।
मानुष्यं ज्ञातक-तन्निष्ठाविलसितप्रतिमम् " ॥१॥ सूत्र०
१ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अक्षा-देशी-जनन्याम, पितृष्वसदि, श्वश्रवाय, वयस्यायां च ।
दे०ना० १ वर्गः ।

अक्षागम-आत्मागम-पुं० । अपौरुषेये आगमे, " वयणेण का-
यजोगा, भावेण य सो अणादिसुखस्स । गहणम्मि य नो हेऊ,
सत्थं अक्षागमो कहं णु " ॥१॥ उक्त० २ अ० ।

अक्षाण-अत्राण-त्रि० । ६ ब० स० । अनर्थप्रतिघातकवर्जिते,
प्रश्न० १ आध० द्वा० । शरणविरहिते, आ० म० द्वि० ।
स्कन्धन्यस्तल्लगुद्वितीये देशान्तरे गच्छति, कार्पाटिके च । वृ० ।
विरुद्धराज्येऽयं विहरणविधिः-

अक्षाण चोर भेया, वग्गुर सोनिय पलाइणो रहिका ।
पडिचरंगा य सहाया, गमणागमणम्मि नायव्वा ॥

(अक्षाण चि) संयता आत्मनैव चौरादिसहायविरहिता ग-
च्छन्ति । एष चूर्णान्निप्रायः । निशीथचूर्णान्निप्रायस्तु-(अक्षा-
ण चि) अत्राणां नाम स्कन्धन्यस्तल्लगुद्वितीया ये देशान्तरे
गच्छन्ति, कार्पाटिका वा । वृ० १ उ० । आत्मशब्दस्य तृतीयक-
वचनेऽपि 'अक्षाण चि' रूपं भवति । " अक्षाण अणिग्गहिया
करेति " आत्मना अनिगृहीता, अनिगृहीतात्मन इत्यर्थः । प्र-
श्न० ५ आध० द्वा० ।

अक्षाहिद्विअ-आत्माधिक-त्रि० । आत्मलब्धिके, ध० ३ अधि० ।

अक्षि-आक्षि-ली० । उपलब्धौ, द्वा० १० द्वा० । रागद्वेषमोहा-
नामैकान्तिके आत्यन्तिके च कृते, स्या० ।

अक्षिज्ज [य]-आत्रेय-पुं० । अत्रिंशदे ऋषौ, " जीरेणो ज्रो-
जनमात्रेयः " आ० क० । (' संखेव ' शब्दे कथा कृष्ट्या)

अक्षीकरण-आत्मीकरण-न० । अनात्मन आत्मत्वेन करणं आ-
त्मीकरणम् । आत्मसात् करणे, पि० । स्ववशीकरणे, नि० चू० ।
तच्च राजादीनां संयतैर्न करणीयम् । तदुक्तम्-

जे भिक्खु रायं अक्षीकरेइ, अक्षीकरंत वा साइज्जइ । नि० चू० ।
अक्षीकरणं रक्षो, साक्षावियं कइतवं च णायव्वं ।

पुण्यावरसंवप्पं, पच्चक्ख परोक्खमेक्केकं ॥ २ ॥

तं पुण अक्षीकरणं दुविधं-साक्षावियं, कइतवियं च । साभा-
वियं संतं सधं चेतसो, तस्स सयणिज्जउ, केतवं पुण अलियं ।
ते पुणो एक्केकं दुविधं-पुव्वं संनुता वा (अवरमिति) पक्खा संनुतं ।
पुणो दुविधं-पच्चक्खं, परोक्खं च । पच्चक्खं सयमेव करेति,
परोक्खं अण्णैः कारवैति । अइवा राज्ञः समक्कं प्रत्यक्कम्, अ-
न्यथा परोक्खं भवति । संते पच्चक्खपरोक्खं इमं भण्णति-

रायमरणम्मि कुलधर-गताए जातो मि अवहियाए वा ।

निव्वासियपुत्तोवमि, असुगच्छगएण जातो वा ॥ ३ ॥

रायाणं मते देवी आचल्लसत्ता कुलधरं गया, तस्से अइं पुत्तां,
जहा-खुड्ढकुमारो । अवधेयाए य जहा-पठमावतीए करक्कू-
कोईयरायपुत्तो णिच्छूहो । अण्णन्थ गतेणं तेणाहं जातो, जहा-
अभयकुमारो । असुगच्छगएण रएणा अइं जातो, यथा-वसुदे-
वेण अरकुमारो, उत्तरमहुरवणिपण वा अणं णियपुत्तो संतं प-
रकरणं कहं संजवति ।

दुल्लभपवेसलज्जा-सुगो व एमेवप्पच्चमादीहिं ।

पच्चक्खपरोक्खं वा, करेज्ज वा संथवं को वि ॥ ४ ॥

तत्थ रायकुले दुल्लभो पवेसो, लज्जालुओ वा, सो साधू अप्प-
णो असत्तो, असक्षीकरणं काओ, ताहे अमच्चमादीहिं कारवैति,
एमेव गहणाओ असत्तं संवज्जति । एते चैव कुलधरादिकारणा
जहावल्लज्जाणंतो पच्चक्खं परोक्खं संथवं करेज्ज, अमच्चमा-
दीहिं वा कारवेज्ज ।

एत्तो एगतरेणं, अक्षीकरणं तु संतऽसंतेणं ।

अक्षीकरेति रायं, लड्डगा वा आणमादीणि ॥ ५ ॥

संते पच्चक्खे परोक्खे वा मासल्लं, असंते पच्चक्खे परो-
क्खे वा चउल्लं, आणादिणो य दोसा, अण्णलोमे पडिडोमे वा
उवसग्गे करेज्ज ।

राया रायसुही वा, रायामित्ता अमित्तसुहिणो वा ।

अच्छकरणयुक्त-आत्मार्थकरणयुक्त-त्रि० । आत्महितार्थकरणयुक्ते, पं० च० ।

अच्छगुरु-आत्मार्थगुरु-त्रि० । आत्मनः स्वस्य अर्थः प्रयोजनं गुरुर्यस्य स आत्मार्थगुरुः । उच्यते ३३ अ० । आत्मार्थ एव जघन्यो गुरुः पापप्रधानो यस्य स आत्मार्थगुरुः । दश० १ अ० । स्वप्रयोजननिष्ठे, "चित्तेहि ते परितावेह बाले, पीडिते अच्छगुरु किलहे" उच्यते ३२ अ० ।

अच्छचित्तग-आत्मार्थचिन्तक-पुं० । आत्मन एव केवलस्यार्थं भक्तादिलक्षणं चिन्तयति, न बाह्यादीनाम्, तथाकल्पसामाचारदित्यात्मार्थचिन्तकः । यद्वा-आत्मार्थो नाम अतीचारमलिनस्यात्मनो यद्योक्तेन प्रायश्चित्तविधिना निरतिचारकरणं चिन्तयतीत्यर्थः । चिन्तयतीत्यात्मार्थचिन्तकः । परिदारतपः प्रतिपन्नत्वेनाऽऽत्मार्थमात्रचिन्तके, व्य १ अ० ।

अच्छद्विष-आत्मार्थिक-त्रि० । आत्मार्थं भवमात्मार्थिकम् । आत्मनोऽर्थं आत्मार्थस्तास्मिन् नवमात्मार्थिकम् । आत्मन एवार्थं, "वचनं ज्ञेयं माह्वानं, अच्छद्विषं सिद्धमेवगपयत्" ॥ ब्राह्मणानामात्मनोऽर्थं आत्मार्थस्तास्मिन् नवमात्मार्थिकम्, ब्राह्मणैरन्यात्मनैव ज्ञेयम्, नचाऽन्यस्मै देयम् । उच्यते १२ अ० ।

अच्छता-आत्मता-स्त्री० । आत्मनो जाय आत्मता । जीवास्तितायाम्, स्वकृतकर्मपरिणता च । "इह खलु अच्छताय तेहि तेहि कुलोहि मज्जिसेयण संचूता" आचा० १ सु० ६ अ० १ उ० ।

अच्छताण-आत्मत्राण-न० । ६ त० । आत्मरक्षायाम्, सूत्र० १ सु० ११ अ० ।

अच्छतासंवृत-आत्मात्मसंवृत-त्रि० । आत्मन्यात्मना संवृतस्य प्रतिसंज्ञाने, ज० ३ श० ३ अ० ।

अच्छदुष्कारि(ण्)-आत्मदुष्कृतकारिन्-त्रि० । स्वपापविधायिनि, "संपराय गियच्छति, अच्छदुष्कारिणो" सूत्र० १ सु० ८ अ० ।

अच्छदोस-आत्मदोष-पुं० । ६ त० । आत्मापराधे, स्था० ८ अ० ।

अच्छदोसोत्रसंहार-आत्मदोषोपसंहार-पुं० । ६ त० । स्वकीयदोषस्य निरोधद्वक्षणे एकविंशे योगसंग्रहे, स० ३३ सम० ।

अत्रोदाहरणम्-

वारवइ अरिहमिचे, अणुच्छरी चेव तह य जिणदेवे ।
रोगस्स य उप्पत्ती, पन्निसेहो अप्पसंहारे ॥१॥

आरवत्या महापुर्या-महंमित्रो वणिग्वरः ।
अनुच्छरी प्रिया तस्य, जिनदेवश्च तत्सुतः ॥ १ ॥
रोगस्तस्यान्यदोषप्रभः, शक्यते न चिकित्सितुम् ।
आहुर्वैद्या रुजोऽमुष्य, निवृत्तिर्मांसमक्षयात् ॥ २ ॥
स्वजनाः पितरौ चायं, सर्वे प्रेम्णा भणन्ति तम् ।
सोऽवदत्त नैव भोक्ष्येऽहं, सुचिरं रक्षितं व्रतम् ॥ ३ ॥
मृत्युं स्वीकृत्य सावधं, प्रत्याचक्षौ विचक्षणाः ।
अज्ञेनाध्यवसायेन, स्वात्मदोषोपसंहृतेः ॥ ४ ॥
अत्राप्य केवलज्ञानं, सिक्तिसौधं जगाम सः ।
आ० क० । आच० । आ० चू० ।

अच्छपणह(ण्)-आच्छ(स) प्रज्ञाहन्-पुं० । आच्छां सिद्धा-

न्तादिअवणतो गृहीतामातां वा इहलोकपरलोकयोः सद्व्यो-
धरूपतया दितां प्रज्ञात्मात्मनोऽन्येषां वा बुद्धिकृतकव्याकुलीक-
रणतो हन्ति यः स आच्छप्रज्ञाहा, आसप्रज्ञाहा वा । स्वस्य परेषां च
तत्त्वबुद्धिहन्तरि पापप्रमणे, उच्यते १७ अ० ।

अच्छपण्येसि(ण्)-आत्मप्रज्ञान्वेपिन्-पुं० । आत्मनः प्रज्ञा
ज्ञानमात्मप्रज्ञा, तामन्वेष्टुं शीलं यस्य स आत्मप्रज्ञान्वेपी । आ-
त्मज्ञानाऽन्येषिणि आत्महितान्वेषिणि, सूत्र० १ सु० ६ अ० ।

आत्मप्रज्ञान्वेपिन्-पुं० । आसो रागादिदोषविप्रमुक्तः, तस्य प्रज्ञा
केवलज्ञानाख्या, तामन्वेष्टुं शीलं यस्य स आसप्रज्ञान्वेपी ।
सर्वज्ञोक्तान्वेषिणि, "वीराजे अच्छपण्येसी, धितिमंता जिहं-
दिआ" । सूत्र० १ सु० ९ अ० ।

अच्छपणहह(ण्)-आत्मप्रज्ञहन्-पुं० । आत्मनि प्रभ आत्मप्र-
भस्तं हन्यात्मप्रज्ञाहा । केनचित्कृतस्य प्रभस्य वञ्चके पापप्र-
मणे, यथा-यदि कश्चित्परः पृच्छेत, किं भवान्तरयायी अयमा-
त्मा, उत नेति ? । ततस्तमेव प्रभमतिवाचाक्षतया हन्ति, यथा-
नास्त्यात्मा, प्रत्यक्षादिप्रमाणैरनुपलभ्यत्वान्, ततोऽयुक्तोऽयं
प्रभः, सति हि धर्मिणि धर्मोऽभिप्रेत्यन्त इति । उच्यते १७ अ० ।

अच्छपसणहोस्स-आत्मप्रसन्नलेश्य-त्रि० । आत्मनो जीवस्य
प्रसन्ना मनागप्यकमुपाधीताद्यन्यतरा लेश्या यस्मिंस्तदात्मप्र-
सन्नलेश्यम् । उच्यते १२ अ० ।

आत्मप्रसन्नलेश्य-त्रि० । आत्मा प्राणिनामिह परत्र च हिता प्राप्ता
वा तैरेव प्रसन्ना लेश्योक्तरूपा यस्मिंस्तदात्मप्रसन्नलेश्यम् ।
आत्मनिर्मलत्वकारणेन तेजःपद्मशुभ्रादिलेश्यात्रयेण सहिते,
"धम्मं हरणं वंसे, संति तिथे अणाविले । अत्तप्पसण-
लेश्से," उच्यते १२ अ० ।

अच्छजाव-आत्मजाव-पुं० । स्वाभिप्राये, सूत्र० १ सु० १३ अ० ।

अच्छमइ-आर्त्तमति-त्रि० । आर्त्ते आर्त्तध्याने मतिर्येषां ते आर्त्त-
मतयः । आर्त्तध्यानेऽप्युक्तेषु, आतु० ।

अच्छमाण-आवर्त्तमान-त्रि० । आ-वृत्त-शानच् । "यावत्ता-
वजीविताऽऽवर्त्तमानावटप्राचारकदेवकुलैवमेवेवः" ॥ ८१२७१ ॥
इति वस्य बुद्धिः । संयोगादित्वाद् हसः । अभ्यस्यमाने, प्रा० ।

अच्छमुख-आत्ममुख-पुं० । आत्मेऽप्यु मध्ये मुखमिव सर्वज्ञ-
ताप्रधानत्वेन मुख्ये "शास्त्रादेर्यः" ॥ ७१११४ ॥ इति [हैम-
सूत्रेण] तुल्ये यः प्रत्ययः । आसप्रधाने केवलज्ञानिनि, तं० ।

अच्छय-आत्मज-पुं०-स्त्री० । आत्मनः पितृशरीराज्जात इत्या-
त्मजः । अङ्गजे पुत्रे, तादृश्यां पुत्र्यां च । यथा भरतस्याऽऽदि-
त्यशः । स्था० १० अ० । ज्ञा० । विपा० ।

अच्छलब्धिय-आत्मलब्धिक-पुं० । यः आत्मन एव स-
त्का लब्धिर्भक्तादिलाभो यस्याऽऽसावात्मलब्धिकः । स्वल-
ब्धिके, पंचा० १२ वि० ।

अच्छव-आर्त्तव-त्रि० । अतुरस्य प्राप्तः, अण् । अतुमवे पुष्पा-
दौ, "आर्त्तवान्युपपुञ्जाना, पुष्पाणि च फलाणि च" रजसि
च, वाच० । नि० चू० । (अस्य व्याख्या 'गम्भ' शब्दे वक्ष्यते)

अच्छवयणशिद्देस-आत्मवचननिर्देश-पुं० । आसस्य अप्रतार-

मतस्यैव दुष्टतयोपनायके ज्ञाने, यथा पिङ्गलेनाऽऽत्मा । तथाहि-
कथमिदं तन्मागमभेदं भविष्यतीति राज्ञा पृष्टः । पिङ्गलाभिधानः
स्वपतिरवोचत्-भेदस्थाने कपिष्ठादिगुणे पुरुषे निष्ठाते सतीति ।
अमात्येन तु स एव तत्र तद्गुणत्वाद्निष्ठात इति । तेन आत्मैव नि-
युक्तः स्ववचनदोषात् । तदेवंविध आत्मोपनीतमिति । अत्रोदाहरणं
यथा-“ सर्वे सत्त्वा न हन्तव्याः ” इत्यस्य पक्षस्य दूषणाय क-
श्चिद्वाह-अन्यधर्मस्थिता हन्तव्या विष्णुनेव दानवाः । इत्ये-
वंवादिनामात्मा हन्तव्यनयोपनीतो धर्मान्तरस्थितपुरुषाणामिति,
तदोपता तु प्रतीतैवास्येति । स्था० ४ ग्रा० ३ उ० ।

अत्यं-अर्थ-पुं० । अर्थनमर्थः । अदृष्टेऽपि बलयादौ श्रुत्वा तद-
भिप्रायमात्रे, दश० १ अ० । विद्यापूर्वे धनार्जने, आ० म० द्वि० ।
अर्थतेऽधिगम्यतेऽर्थ्यते वा याच्यते बुद्धरसुन्निरित्यर्थः । व्याख्या-
ने, “जो सुत्ताभिप्याओ, सो अर्थो अज्जपय जम्ह त्ति” । स्था० २
ग्रा० १ उ० । विशेष० । औ० । “अत्यस्त इमे अणुआंगो त्ति वा
निओगो त्ति वा भासति वा विभासति वा वत्तियंति वा एगछा”
आ० चू० १ अ० । अर्थस्त्रिविधः-सुखाधिगमः, दुरधिगमः, अन-
धिगमश्च ओतारं प्रति भिद्यते । तत्र सुखाधिगमो यथा-चक्रुष्म-
तश्चिचकर्मनिपुणस्य रूपसिद्धिः । दुरधिगमस्तु-अनिपुणस्य । अन-
धिगमस्तु-अन्धस्य । तत्रानधिगमरूपोऽवस्त्वेव । सुखाधिगम-
स्तु-विचिकित्साविषय एव न प्रवति । दुरधिगमस्तु-देशका-
वस्वभावविप्रकृष्टविचिकित्सागोचरीभवति । आचा० १ शु० ५
अ० ५ उ० । ऋ-गौतौ, अर्थते गम्यते, ज्ञायत इत्यर्थः । विशेष० । सूत्रा-
जिधेये, उत्त० १ अ० । प्रव० नि० चू० । आ० म० प्र० । पं० व० ।
दशा० न० । ज्ञानाचाराविषयभेदे यथार्थं पञ्चार्थः करणीयः, न-
त्वर्थभेदः । दश० १ अ० । (“णागायार” शब्दे विशेषो ब्रूयते) पं०
व० नि० चू० । सूत्रतात्पर्ये, ध० ४ अधि० । अर्थते प्राथ्यत इत्यर्थः ।
स्वर्गापवर्गप्राप्तिकारणचूते, उत्त० १ अ० । द्रव्ये, आव० ४ अ० ।
मणिकनकादौ, कल्प० । शब्दादिविषयभावेन परिणमे द्रव्यस-
मूहे, विशेष० । राजलक्ष्म्यादौ, स्था० ३ ग्रा० ३ उ० । आचू० ।
“स्यानचतुर्थार्थे वा” ॥ ८ । २ । ३३ ॥ इति संयुक्तस्यार्थज्ञागस्य
उन्वं प्रयोजने एव प्रवति । धने तु ‘अर्थो’ । प्रा० । अर्थते गम्यते,
साध्यत इत्यर्थः । सूत्रस्याभिप्राये, “जो सुत्ताभिप्याओ, सो अ-
र्थो अज्जपय जम्हा” विशेष० । आ० म० प्र० । सूत्र० ध० । आचा० ।

अधुना त्वर्थावसरस्तवेदमाह-

(धम्मो एसुवइड्डो,) अत्यस्त चउव्विहो उ निक्खेवो ।

ओदेण उव्विहउत्यो, चउसइविहो विजागेण ॥ १५ ॥

अर्थस्य चतुर्विधस्तु निक्केपो नामादिभेदात् । तत्रौघेन सामा-
न्यतः पक्षिधोऽर्थः । आगमनोऽगमन्यतिरिक्तो द्रव्यार्थः चतु-
पष्टिविधो विभागेन विशेषेणेति गाथासमुदायार्थः ।

अवयवार्थं त्वाह-

धन्नाणि रयण थावर-दुपय चउण्य तहेव कुविअं च ।

ओदेण उव्विहउत्यो, एसो धीरोहं पन्नतो ॥ १६ ॥

धान्यानि यवादीनि, रत्नं सुवर्णम्, स्थावरं भूमिशृहादि, द्विप-
दं गन्धादि, चतुष्पदं गवादि, तथैव कुप्यं च ताम्रकलशाद्यने-
कविधम् । ओघेन पक्षिधोऽर्थः, एपोऽनन्तरोदितः, धीरैस्तीर्थ-
करणधरैः, प्रकृतः प्रकृत इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

एनमेव विभागोऽभिधित्तुराह-

चउवीसा चउवीसा, तिग दुग दंसहा अणेगविह एव ।

सव्वेसिं पि इमेसिं, विभागमहयं पवक्खामि ॥ १७ ॥

(चतुर्विंशतिचतुर्विंशतीति) चतुर्विंशतिविधो धान्यार्थो, र-
त्नार्थश्च (त्रिद्विदशधेति) त्रिविधः स्थावरार्थः, त्रिविधो
द्विपदार्थः, दशविधश्चतुष्पदार्थः । अनेकविध एवेत्यनेकविधः
कुप्यार्थः । सर्वेषामप्यमीषां चतुर्विंशतिचतुर्विंशत्यादिसंख्याजि-
हिनानां धान्यादीनां विभागं विशेषम्, अथानन्तरं प्रवक्ष्यामी-
त्यर्थः ॥ १७ ॥ दश० ६ अ० । (धान्यादीनां व्याख्या स्वस्था-
ने दर्शयिष्यते) “अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्तेण ।
आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखकारणम्” ॥ १ ॥ स्था०
३ ग्रा० ३ उ० । ‘धि० द्रव्यं दुःखवर्द्धनम्’ । दश० १ अ० । ‘धिगर्थो-
ऽनर्थमाजनम्’ इति वा पाठान्तरम् । ध० ३ अधि० ।

इदानीमर्थ इति तृतीयं भेदं प्रकटयितुराह-

सयज्ञाणत्यनिमित्तं, आयासकिद्वेसकारणमसारं ।

नाज्जण धणं धीमं नहु लुब्बइ तम्मि तण्णयम्मि ॥ १६ ॥

इह धनं ज्ञात्वा तत्र न लुब्धयतीति योगः । किं विशिष्टं धनम्-
सकलानर्थनिमित्तं समस्तदुःखनिवन्धनम् । आयासाश्चित्तखेदः ।

यथा-

“राजा रोत्स्यति किं तु मे हुनवहो दग्धा किमेतर्कन,
किं वाऽमो प्रप्रविष्णवः कृतनिजं लास्यन्त्यद्रो गोत्रिकाः ।

मापिप्यन्ति च दस्यवः किमु तथा नष्टा निस्त्रानं लुवि,
ध्यायन्नेवमहादिवं धनयुतोऽप्यास्तेतरां दुस्त्रितः” ॥ १ ॥

तथा क्रुशः शरीरपरिश्रमस्तयोः कारणं निवन्धनम् । तथाहि-
“अर्थार्थं नक्रचक्राकुलजलनिर्द्वयं केचिद्वृक्षस्तरन्ति,
प्रोद्यच्छ्रुत्वाजिघातोत्थितशिलिकणकं जन्यमन्ये विशान्ति ।
शीतोष्णाम्भःसमीरग्लपिततनुक्षताः क्लेशिकां कुर्वतेऽन्ये,
शिष्टं चानल्पजेदं विदधति च परे नाटकाद्यं च केचित्” ॥ २ ॥

तथा असारं, सारफलासंपानाद् । यदाह-

“व्याधीओ निरुणद्धि मृत्युजननज्यानि-क्येन कर्म,
नेष्टाऽनिष्टवियोगयोगहृतिहृत्तन्व्यइ न च प्रेत्य च ।

चिन्ताबन्धुविरोधबन्धनवधत्रासाऽऽस्पदं प्रायशो,
वित्तं वित्तविचक्षणः क्षणमपि क्षेमावहं नेहते” ॥ ३ ॥

इत्थं भूतं धनं ज्ञात्वा, न लुब्धयति नैव गृह्यति, धीमान् बुद्धि-
मान्, तस्मिन् द्रव्ये, चारुदत्तवत् तनुकमपि स्तोक्मपि आस्तां
बह्मित्यपेरर्थः । भावश्चावको हि नान्यायेन तदुपार्जनाय
प्रवर्तते, नाप्युपार्जिते तृष्णावान् भवति, किं तर्हि-

“आयादद्धं नियुज्जीत, धर्मे समाधिकं ततः ।

शेषेण शेषं कुर्वीत, यत्ततस्तुच्छमैहिकम्” ॥ १ ॥

इति विमृशन् यथायोगं तत्सप्तज्ञेयां व्ययतीति । ध० २० ।
अर्थ्यते परिच्छिद्यते इति अर्थः । पदार्थे, “सदेव सत् स्यात्स-
दिति विद्याऽर्थो, मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः” । स्था० । अर्थ्यत
इत्यर्थः । द्रव्ये, गुणे च, “अर्थो द्रव्ये गुणे वा वि” उत्त० १ अ० ।
पुरुषार्थभेदे, यतो हि सर्वप्रयोजनसिद्धिः । ध० १ अधि० । प्रयो-
जने, “स्यानचतुर्थार्थे वा” ॥ ८ ॥ ३३ ॥ इति [हैमसूत्रेण] उक्तमर्थं
कदाचित्तं भवति । “अणुगहृत्यं सुविहियाणं” इत्यत्र प्रयोज-
नार्थकत्वेनैवाऽर्थशब्दस्य व्याख्यानात् । ओघ० । आव० । ध० ।
“अर्थो त्ति वा हेउत्ति वा कारणं त्ति वा एगछं” नि० चू० २० उ० ।

निकषुस्स व संवंधी, संवंधिमुही व तं सोच्चा ॥ ६ ॥

सयमेव राया; राज्ञः सुहृदः, ते पुनः स्वजना मित्राणि वा; राधो अमित्राः; ते स्वजना दायदाः, अस्वजनाः केनचित्कारणेन नि-
रुद्धाः । अमित्राण्य वा जे सुहिणो, साधुस्स वा जे संवंधिणो,
ताण्य वा संवंधीण्य जे सुही, तत् सोच्चा दुविह उवसग्गे करेज्ज ।

संजमविग्यकरे वा, सररीवाहाकरे व भिक्खुस्स ।

अणुल्लोमे पडिलोमे, कुज्जा उविधे व उवसग्गो ॥ ७ ॥

संजमविग्यकरे वा उवसग्गे सररीवाहाकारके वा करेज्ज, जे
संजमविग्यकरा ते अणुकूला इतरे पडिकूला । एते दुविहे उव-
सग्गं करेज्ज ॥ ७ ॥

तत्थिमे अणुकूला-

साइज्जमु रज्जसिरि, जुवरायत्तं व गेएहसु व भोगे ।

इति राय तस्सुहीसु वि, उच्चेज्जितरे व तं धेत्तुं ॥ ८ ॥

राया भणति-रज्जसिरि साइज्जसु, अयं ते पयच्छामि
जुवरायत्तं, विसिद्धे वा भोगे गेएहसु । इति उपप्रदर्शने । राया
एव । तस्य सुहृदः, तेऽप्येवमेवाहुः । (इतरे त्ति) जे रण्यो पडिणी-
या, पडिणीयाण्य वा जे सुहिणो, ते तं उप्पव्वावेउ धेत्तुं वि उ-
त्थाण्यं करेज्जा, उउमरं करंतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

सुहिणो व तस्स विरिय-परक्कमे णाउ साइते रण्यो ।

तो सेही एस णिवं, अम्हे तु ण सुह पगणेइ ॥ ९ ॥

जे पुण भिक्खू, ते तस्स साइस्स विरिययलपरिकमा णा-
उ उप्पव्वावेति, साहेति वा, रण्यो सो तं उप्पव्वावेइ, ते पुण
किं उप्पव्वावेति, एस रायाणं तो सेहिति चि । अम्हे रायाण्य
सुह पगणेइ ॥ ९ ॥

इमे सररीवाहाकरा पडिकूला उवसग्गा-

ओजासिउ धिम्मु-निएण कुज्जा व रज्जविगं मे ।

एमेव सुहि दरिसिते, णियप्पदोसितरे मारे ॥ १० ॥

राया भणति-अहो ! इमेण समणेषु महापणमज्जे ओमासिओ
धिग् सुहिउतेन दुरात्मना य एवं भापने, अहवा एय भांगा-
मिलायी मम परिसं भिदिउं रज्जविगं करेज्ज, तं सो राया
हणेज्ज वा, धंथेज्ज वा, मारेज्ज वा, रण्यो जे सुही, तेहि आणेओ
रण्यो दरिसिते, राया तहेव पडिकूलं उवसग्गं करेज्ज ।
इतरे खाम जे रण्यो अमित्रा, अमित्रसुहिणो वा, ते रण्यो पडि-
णीयतापं तं मारेज्ज, भिक्खुस्स रणिया वा पडिलोमे उवसग्गे
करेज्ज ॥ १० ॥

उद्धंसियमो लोगं-सि भागहारी व होहि वा माणे ।

इति दायिगादिणीता, करेज्ज पडिलोममुवसग्गे ॥ ११ ॥

उद्धंसिय चि ओमासिया-अम्हे एतेण लोणे मज्जे ओमा-
सिया वा एस अम्हं भागहारी होहि चि, मा वा अम्हं अधि-
कतरो पथ रायकुले होहि चि, दुब्बयणयापवंआइपहि उच्चा-
वेति वा, जम्हा एते दोसा तम्हाण्य कप्पति रण्यो अचीकरणं
काउं, कारणे पुण कप्पति ॥ ११ ॥

गेलएण रायउडे, अवरज्जविक्खरोहगज्जाणे ।

ओमृञ्जावण सासण-णिकसमणुवदेसकज्जेसु ॥ १२ ॥

गिलाणस्स वेज्जेण उवदिहं-हंसवेल्लं कल्लाययं तिचगं, महा-
तिचगं वा, कल्लमसालिओयणो वा, ताण्य परं रण्यो हवेज्ज,
ताहे जयणाप अचीकरणं करेति ॥ १२ ॥

इमा जयणा-

पणगादिमतिकतो, परोक्खं ताहे संतऽसंतेणं ।

एमेव य पच्चक्खं, जावे णाणं तु चउयजुओ ॥ १३ ॥

पण्यपरिहायीए जाहे मासलहुं पत्तो ताहे संतं परोक्खं
रण्यो य भावो जाणियव्वो, प्रियाप्रियेति, जो य रयणउज्जुत्तो
यो दर्शनीयः तेजस्वी वा स अचीकरणं करेति, रायउडे
वा उवसमण्णा वेरज्जे वा आत्मसंरक्षणायं विक्खरज्जे वा
संकमण्णा रोहगे वा णिगमण्णा अवमंता वा भत्तहा
रण्यो वा सद्धि अक्काणं गच्छंता वहुसु वप्पत्तिएसु कारणेसु
एवमेव अप्पुच्छंती प्रत्तहा, वादकावे वा पघयणउज्जावण्णा,
पडिणीयस्स वा सासणहा अचीकतो वा जो णिक्खमेज्ज, तव-
हा धम्मं वा पडिचज्जितकामस्स धम्मोवदेसदाण्णा कुलगणा-
दिकज्जेसु वा अणेगेसु ।

एतोहिं कारणंहिं, अर्चीकरणं तु होति कायव्वं ।

रायारक्खियनागर-एंगम सव्वे चि एस गमो ॥

एतोहिं उच्चकारणेहिं वा रण्यो अचीकरणं करेज्ज, रायाणं जो रक्ख-
ति सो रायारक्खिओ-राजशरीररक्कः । तथ चि सो केव एगरं
रक्खति जो सो णगररक्खिओ-कोट्टपासओ । सव्वपगईओ जो
रक्खति सो णियमारक्खिओ-सो सेछ । देसो विसओ, तं जो र-
क्खति सो देसारक्खिओ-चारेद्वरणिकः । एताणि सव्वाणि जो
रक्खति सो सव्वारक्खिओ । एतेषु सर्वकार्येष्वपूच्छनीयः स च,
महायज्ञाधिकतयेत्यर्थः । एतेसि पंचएहं सुत्ताणं इमं पच्छुं अ-
इदेसं करेति, रायारक्खियणगरणंगमे सव्वे । अपिहाव्वादेशा-
रक्किओ द्रष्टव्यः । एतेसु चि एसेव उवसग्गाऽववायगमो वृद्धो ।
नि० चू० ४ उ० ।

सुवपाउस्सेवम्-

जे भिक्खू रायारक्खियं अचीकरेइ, अचीकरंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खू एगररक्खियं वा अचीकरेइ,

अचीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे भिक्खू णिगमर-
क्खियं वा अचीकरेइ, अचीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

जे भिक्खू सव्वारक्खियं अचीकरेइ, अचीकरंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ ११ ॥ जे भिक्खू गामरक्खियं अचीकरेइ, अची-

करंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥ जे भिक्खू देसरक्खियं अ-
चीकरेइ, अचीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥ जे भिक्खू

सीमरक्खियं अचीकरेइ, अचीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

जे भिक्खू रण्यो रक्खियं अचीकरेइ, अचीकरंतं वा साइज्जइ
॥ १५ ॥ नि० चू० ४ उ० ।

अचुक्करिस-आत्पोत्कर्ष-पुं० । पञ्चमे गौणमोहनीयकर्मणि, स०
५२ सम० । अहमेव सिद्धान्तार्थवेदी नापरः कश्चिन्मनुष्योऽ-
स्तीत्येवंरूपेऽभिमाने, "ण करोति दुक्खमोक्खं, उज्जममाणो वि
संजमतवेसु । तम्हा अचुक्करिसो, वज्जेयव्वा जतिजणेणं" ॥ १॥
सू० १ सु० १३ अ० ।

अचुक्कोसिय-आत्पोत्कर्ष-पुं० । आत्पोत्कर्षोऽस्ति येषां ते
आत्पोत्कर्षिकाः । गर्वप्रधानेषु वानप्रस्थेषु, औ० ।

अत्तोवणीय-आत्पोपनीत-न० । आत्मैवोपनीतस्तथा निवेदि-
तो नियोजितो यस्मिंस्तत्तथा । परमतद्वयणायोपात्ते सति आत्म-

अथकामय-अर्थकाम-त्रि० । अर्थे द्रव्ये कामो वाञ्छामात्रं य-
स्याऽसावर्थकामः । छन्दस्य वाञ्छके, ज० १ श० ७ उ० ।

अथकिरिया-अर्थक्रिया-स्त्री० । सुखदुःखोपज्ञो, स्या० ।

अथकिरियाकारि [ण्]-अर्थक्रियाकारिन्-त्रि० । अर्थक्रि-
याकरणशील, आ० म० द्वि० ॥

अथकुसल—अर्थकुशल—पुं० अर्थोपार्जनं हस्तहाववादिप-
रित्यागेन कुर्वति, दश० ५ अ० ५० २० ।

सम्प्रत्यर्थकुशल इति द्वितीयं भेदं व्याचिख्यासुर्गाथापूर्वार्द्धस्य
द्वितीयं पादमाह—

....., सुणइ तयत्थं तहा सुतित्यम्मि ।

शृणोत्याकर्णयति, तदर्थं सूत्रार्थं, तथा तेनैव प्रकारेण स्वशू-
तिकौचित्यरूपेण, सुतीर्थं सुगुरुमूले । यत आह—

“तित्थे सुत्तत्थाणं, गहणं विहिणा उ इत्थ तित्थमिणं ।
उभयन्नु चेव गुरु, विहिआ विणयाइ ओचित्तो” ॥१॥ इत्यादि ।
अत्रायमाशयः—ऋषिपुत्रपुत्रवत् संविग्नगीतार्थगुरुसमीपश्र-
वणसमुत्पन्नप्रवचनार्थकौशलेन प्रावभावकेण भाव्यमिति ।

ऋषिमरुपुत्रकथा चैवम्—

“इत्थेव जंबुद्वीवे, भारद्वाजस्तस्मिन्निमे खन्ने ।
अत्थि पुरी आलभिया, न कया वि अरीहि आलभिया ॥१॥
सुगुरुपसायउल्लसिय—विमलवहुवयणअत्थकोसल्लो ।
इसिभइपुत्तनामो, सन्तो तत्थासि सुवियन्तो ॥ २ ॥
अन्ने वि तत्थ निवसे—ति सावया आवया सुदढधम्मा ।
इसिभइसुओ कइया, वि तेहि मिलिपहि इय पुओ ॥ ३ ॥
ओ भो देवाणुपिया ! देवाण ठिई कहेसु अम्हाण ।
सो वि डु पवयणभणियत्थसत्थकुसलो वि इय जणइ ॥ ४ ॥
असुरा१ नागा२ विज्जू, ३ सुवज्ज अग्गी उ ५ वाउ ६ थाणिया ७ या
उदही ८ दीव ९ दिसा वि य, १० दसहा इह हुंति जवणवई ॥ ५ ॥
पिसाय१ न्यूया २ जक्खया य, ३ रक्खसा ४ किंनरा य ५ किंपुरिसा ६ ।
महोरगा य ७ गंधवा ८, अट्टविहा वाणमंतरिया ॥ ६ ॥
ससि १ रवि २ गह ३ नक्खत्ता, तारा ४ जोइसिय पंचहा देवा ।
वेमाणिया य दुविहा, कप्पगया कप्पउतीया य ॥ ७ ॥

तत्र कल्पगताः—

सोहंमी-१-साण २ सणं-कुमार ३ माहिद ४ वंज ५ संतगया ६ ।
सुक्क७सहस्साराणय६, पाणय१० आरणय११ अचुयजा१२ ।

कल्पातीतास्त्वमे—

सुदरिसण १ सुप्पवद्धं २, मणोरमं ३ सव्वमह ४ सुविसाहं ५ ।
सोमणसं ६ सोमाणस ७, पीइकरं चेव ८ नंदिकरं ९ ॥ ६ ॥
विजयं च १ वेजयंतं, २ जयंतं ३ अपराजियं य ४ सव्वं ५ ।
पप्पु जे गया ते, कप्पाईया मुणेयवा ॥ १० ॥
चमरवत्ति अयर माहियं, दिवहुपलियं तु सेसजम्माणं ।
आउं दो देसुणं, तारापलियं वणयराणं ॥ ११ ॥
पलियं वासरवक्खं, वाससहस्सं च पलिय मळं च ।
चउभागो य कमेणं, ससिरविगहरिक्खताराणं ॥ १२ ॥
दो१ साहि२सत३साहिय४, दस५चउ६सत७अयर जा सुरको
यक्किक्का ८ हिगतदुवरि—तिचीस अणुचरेसु परं ॥ १३ ॥
दसवरिससहस्साई, जवणवईसुं ठिई जहआओ ।

पलचउजागो चंदा—इचउसु तारेसु अरुभागो ॥ १४ ॥
पलियं१अहिय२दो अयर३, साहिया४सत५दसय६चउ७सय८।
सतरस ८ ज सहस्सारे, तदुवरि इग अयरवुद्धि ति ॥ १५ ॥

अह जन्नुकोसठिई, अयरा तिचीस हुंति सव्वहे ।
पतो परेण देवा, देवाण ठिई य विच्छिन्ना ॥ १६ ॥
इसिभइपुत्तकहियं इणमठं, सुद्धियं पि ते सत्ता ।
सव्वे असहंता, नियनियगेहेसु संपत्ता ॥ १७ ॥
सुपभूयभत्तिआइ—यपवरपुरद्वयवहुसमुहनओ ।
अह तत्थ वीरसामी, चामीयरसमपहो पत्तो ॥ १८ ॥
सिरिपवयणउत्थप्पण—पुव्वं जयता य पायनमणत्थं ।
इसिभइपुत्तराहिया, ते सव्वे सावया पत्ता ॥ १९ ॥
काउं पयाहि णतिगं, सुभत्तिजुत्ता नमिउ ते सार्मि ।
निसियंति उचियदेसे, इय धम्मं कइइ सुवणगुरु ॥ २० ॥
ओ जविथा ! अइडुलहं, नरजम्मं लहिय उल्लमह सययं ।
अन्नाण हणणमल्ले, पवयणभणियत्थकोसल्ले ॥ २१ ॥
इय आयभियधम्मं, ते सत्ता विनवन्ति जयपडुणो ।
तं देवविइविसेसं, सव्वं इसिभइसुयकहियं ॥ २२ ॥
तो संसइ संसयरे—णुपुंजहरणे समीरणो सामी ।
ओ भद्दा ! देवविइं, एमेव अहं पि जंपेमि ॥ २३ ॥
इय सोउं ते सत्ता, इसिभइसुयं सुयत्थकुसलकाइ ।
आमितु नमितु-पहुं तं, संपत्ता नियनियगिहेसु ॥ २४ ॥
इयो वि वंदिय जिणं, पुच्छियपसिणाईं सगिहमणुपत्तो ।
वरकमसुव्व पट्टं नि डु, अन्नत्थ सुवासण भविण ॥ २५ ॥
सम्म इसिभइपुत्तो, चिरकालं पालिकण गिहियम्मं ।
कयमासभत्तयाओ, जाओ सोहम्मसगसुरो ॥ २६ ॥
अरुणां पि विमाणे, चउपलियाईं तहिं सुदं वुत्तुं ।
चविय विदेहे पवयण—कुसलो होउं सिवं गमिही ॥ २७ ॥
एवं निशम्य सम्यग्, भव्याः ! ऋषिमरुपुत्रसुचरित्रम् ।
भवत जवतापहारिणु, कुशलधियः प्रवचनार्थेषु ” ॥ २८ ॥

इति ऋषिपुत्रपुत्रकथा । इत्युक्तः प्रवचनकुशलकस्य अर्थकुशल
इति द्वितीयो भेदः । ध० २० ।

अत्यक्—अकाएरु—न० । प्राकृते—“गोणादयः ” ॥ ७। २। ७४ ॥
इति अत्यक्कादेशः । अनवसरे, प्रा० । दे० ना० ।

अत्यक्जाया—अकाएरुयाञ्चा—स्त्री० । अकालप्रार्थनायाम्,
वृ० ३ व० ।

अत्यगवेसि (ण्)—अर्थगवेषिन्—त्रि० । छान्दान्वेषणकृति,
म० १५ श० १ उ० ।

अत्यगद्गाण—अर्थग्रहण—न० । अर्थपरिज्ञाने, व्य० ७ उ० ।
अर्थनिश्चयकरणे,

अत्रार्थग्रहणद्वारं विवरीषुराह—

मुत्तम्मि य गहियम्मी, दिडंतो गोण—साक्षिकरणेणं ।

उवभोगफलासाक्षी, मुत्तं पुण अत्यकरणफलं ॥ १ ॥

सूत्रे गृहीते सति अवश्यं तस्यार्थः श्रोतव्यः । किं कारणमिति
चेदुच्यते—इष्टान्तोऽत्र गवा बलीवर्देन, शास्त्रिकेन । तत्र गोदृष्टा-
न्तो यथा—कश्चिद्वलीवर्दः सकलमपि दिवसं वाहयित्वा हलादर-
कघट्टान्मुक्तः सन् सुन्दरामसुन्दरां वा चारियां प्राप्नोति, तां स-
र्वामनास्वादयन् चरत्येव । पश्चाद् घ्रातः सन् उपविश्य प्राक् चीर्यै

साम्प्रतं धर्मादीनामेव संपन्नतासंपन्नते अभिधित्सुराह-
धम्मो अत्थो कामो, भिन्ने ते पिंडिया पडिसवत्ता ।

जिणवयणं उच्चिन्ना, अवसत्ता ह्येति नायव्वा ॥५९॥

धर्मोऽर्थः कामः, अथ एते पिण्डिता युगपत्संपातेन प्रति-
सपत्ताः परस्परविरोधिनः, लोके, कुप्रवचनेषु च । ययो-
कम्—“अर्थस्य मूलं निरुक्तिः क्षमा च, कामस्य चित्तं च वपुर्व-
यश्च । धर्मस्य दानं च दया दमश्च, मोक्षस्य सर्वोपरमः
क्रियासु” ॥ १ ॥ इत्यादि । एते च परस्परविरोधिनोऽपि सन्तो
जिनप्रवचनप्रवतीर्णाः, ततः कुशलाशययोगतो व्यवहारेण
धर्मादितत्त्वस्वरूपतो वा निश्चयेन असपत्ताः परस्परविरोधि-
नो न भवन्ति, द्वातव्या इति गाथार्थः ॥ २६ ॥

तत्र व्यवहारेणाविरोधमाह—

जिणवयणं परिणप, अवत्यविहिआणुठाणओ धम्मो ।

सच्छाऽऽसयप्पयोगा, अत्थो वीसंभओ कामो ॥ ३० ॥

जिनवचने यथावत् परिणते सति अवस्थोचितविहितानुष्ठा-
नात् स्वयोन्यानामपेक्ष्य दर्शनादिआवकप्रतिमाङ्गीकरणे नि-
रतिचारपालनाद्भवति धर्मः । स्वच्छाऽऽशयप्रयोगाद्विशि-
ष्टलोकितः पुण्यबलाच्चाथः विभक्तत उचितकलत्रादौकर-
णताऽपेक्षो विभक्तमेव काम इति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अधुना निश्चयेनाविरोधमाह—

पम्मएण जत्तं मोन्सो, सामयमउलं सिवं अणावाहं ।

तमभिप्पेया माह, तम्हा धम्मऽत्थकाम चि ॥ ३१ ॥

धर्मस्य निरतिचारस्य, फलं मोक्षो निर्माणम्, किं विशिष्टम् ?
इत्याह—शाश्वतं नित्यम्, अनुलमनन्यतुलम्, शिवं पवित्रम्, अ-
नायासं आधावर्जितमेतदेवार्थः । तं धर्मार्थं मोक्षमभिप्रेताः काम-
यन्तः साधवो यस्मात्समादर्मार्थकामा इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

एतदेव उदयमाह—

परल्लोगमुत्तिमग्गो, नत्थिहु मोक्खो चि विति अविहिन्नु ।

सो अत्थि अत्रितहो जिण—मयम्मि पवरो न अत्तत्थ ॥ ३२ ॥

परल्लोको जन्मान्तरलक्षणो, मुक्तिमार्गो, ज्ञानदर्शनचरित्राणि
नास्त्येव मोक्षः सर्वकर्मक्षयलक्षण इत्येवं श्रुते अधिधिज्ञा-
न्यायमार्गाप्रवेदिनः । अत्रोत्तरम्—स परल्लोकादिः अस्त्येवा-
वितथः सत्यो, जिनमते वीतरागवचने प्रवरः पूर्वापराविरो-
धेनः, नान्यत्रैकान्तानित्यादौ, हिंसादिविरोधादिति गाथार्थः
॥ ३२ ॥ दश० ६ अ० ।

अस्त—पुं० । मेरौ, यतस्तेनान्तरितो रविरस्तंगत इति व्यपदि-
श्यते । स० ३८ सम० । निरस्ते अविद्यमाने, त्रि० आ० १३ अ० ।
अस्—न० । अस्त्येते क्षिप्यते । अस्—पुं० । क्षेप्ये शरादौ,
वाच० । धनुरादिषु, थ० २ अधि० । रिपुक्षेपणमात्रे साधने,
प्रहरणमात्रे अङ्गादावपि, वाच० ।

अत्थअवगम—अर्थवगम—पुं० । ६ त० । अर्थपरिच्छेदे, दश० १ अ० ।

अत्थंगय—अस्तंगत—त्रि० । अस्तपर्वतं प्राप्ते, दश० ८ अ० ।

अत्थन्तर—अर्थान्तर—न० । वस्तुवन्तरे, यो० १६ विव० । पृथग्भूते,
दर्श० । गामभ्रममिदधतोऽसत्यभेदे, अ० ३ अधि० । न्यायमते
उद्देश्यसिद्ध्यर्थं प्रयुक्तशब्दसामर्थ्यापनुद्देश्यसिद्ध्यनुकूले दुष्ट-
साधनवाक्ये, वाच० ।

अत्यन्तरुभावणा—अर्थान्तरोद्भावना—स्त्री० । अलीकवचन-
भेदे, यथेश्वरादिः कर्त्ता समस्तस्यास्य जगतः क्रोधादिक-
पायाऽऽध्मातचेतसः प्रच्छन्नपापस्य । दर्श० ।

अत्थकंखिय—अर्थकाङ्क्षित—त्रि० । काङ्क्षा गृह्णि, आसक्तिरित्य-
र्थः । अर्थे द्रव्ये काङ्क्षा अर्थकङ्क्षा, सा संजाता अस्येति अर्थका-
ङ्क्षितः । म० १ श० ७ उ० । प्राप्तेऽप्यर्थे अविच्छिन्नेच्छे, म० १३
श० ६ उ० ।

अत्थकप्पिय—अर्थकट्टिपक—पुं० । आवश्यकादिभुतमधीतवति, वृ०
अर्थकट्टिपकमाह—

अत्थस्स कप्पिओ खलु, आवस्सगमादि जाव मूयगर्न ।

मोत्तणं ज्ञेयमुयं, जेण अहीयं तदत्थस्स ॥

आवश्यकमादि कृत्वा यावत् सूत्रकृतमङ्गं तावत्, यद् येना-
धीतं स तस्यार्थस्य कल्पिको भवति । सूत्रकृतान्नस्योपर्येपि ज्ञे-
यभुतं मुक्त्वा यद् येनार्थीतं सूत्रं स तस्य सूत्रस्य समस्तस्या-
प्यर्थस्य कल्पिको भवति । ज्ञेयसूत्राणि पुनः पठितान्यपि याव-
दपरिणतं, तावन्न आन्यते, यदा तु परिणतं भवति तदा क-
ल्पिकः ॥ ७ ॥ पु० १ उ० ।

अत्थकय—अर्थकृत्—स्त्री० । अर्थार्थे, “ आसणदानं च अत्थकय”
दर्श० ६ अ० ।

अत्थकर—अर्थकर—पुं० । अर्थस्य करस्तत्करणशीलोऽर्थकरः ।
प्रशस्तविचित्रकर्मक्षयोपशमाविर्भावतो विद्यापूर्वं धनार्जनकर-
णशीले, आ० म० द्वि० ।

अत्थकहा—अर्थकथा—स्त्री० । अर्थस्य कथा तदस्या उपायप्रति-
पादनपरे वाक्यप्रवन्धात्मके कथाभेदे, उक्तं च—“ सामादि-
धातुवादादि—कृष्यादिप्रतिपादिका । अर्थोपादानपरमा, कथाऽर्थ-
स्य प्रकीर्तिता” ॥ १ ॥ तथा—“ अर्थव्ययः पुरुषार्थोऽयं, प्रधानः
प्रतिभासते । नृणादपि लघु लोके, धिगर्थरहितं नरम्” ॥ १ ॥ इति
एतदेव विस्तरत उक्तम् ।

अधुनाऽर्थकथामाह—

विज्जासिप्पमुवाओ, अणिवेओ संचओ य दक्खत्तं ।

सामं दंडो भेओ, उवप्पयाणं च अत्थकहा ॥ १६१ ॥

विद्या ज्ञानमुपायोऽनिर्वेदः संचयश्च दक्षत्वं साम दण्डो
भेद उपप्रदानं चार्थकथा, अर्थप्रधानत्वादित्युक्तार्थः । प्रावा-
र्थस्तु वृक्षविवरणादवसेयः । तथेदम्—“ विज्जं पणुच्चअत्थक-
हा; ओ विज्जाए अत्थं उवज्जयति; जहा—एणेण विज्जा सा-
हिया, सा तस्स पंचयं पइप्पजायं देइ । जहा वा—सव्वइस्स
विज्जाहरचक्खयट्ठिस्स विज्जापजावेण भोगा उवणया । सव्वइ-
स्स उप्पत्ती जहा य सहुकुळे वत्थितो, जहा य महेसरो नामं
कयं । एवं निरवसेसं जहाऽऽवस्सए जोगसंगहेसु, तहा भाणिय-
व्वं । विज्ज चि गयं ॥ इयाणि सिप्पे चि । सिप्पेणऽत्थो उवज्जि-
णइ चि । एत्थ उदाहरणं कोक्कासो जहाऽऽवस्सए । सिप्पे चि
गयं ॥ इयाणि उवाए चि । एत्थ दिठ्ठो चाणक्को । जहा—चाण-
क्केण बहुविहोहिं अत्थो उवज्जिओ । कइं, दो मज्झाउरत्ताओ ।
एयं पि अक्खणायं जहाऽऽवस्सए तहा भाणियव्वं । उवाए चि
गयं ॥ इयाणि अणिवेए संचएय पक्खमेव उदाहरणं—अस्मणवा-
णिओ । सो वि जहाऽऽवस्सए, तहा भाणियव्वो” (अग्रतनं तु
‘दक्ख’ शब्दे वक्ष्यते) दश० ३ अ० । विद्यादिभिरर्थैस्तत्प्रधाना
कथा अर्थकथा । सदसद्रूपात्मकं वस्तुस्वरूपमिति पदार्थ-
संयन्धिन्यां वार्तायाम्, स्था० ॥

“ काउं पणामं च अथदायिस्स पज्जुखमासमणस्स ”
नि० चू० १ उ० ।

अत्यधम्मणासाणवेत्त-अर्थधर्माज्यासानपेतत्व-न० । अ-
र्थधर्मप्रतिबद्धतारूपे सत्यवचनातिशये, औ० । रा० ।

अत्यधर-अर्थधर-पुं० । अर्थवोरु, स्था० ४ ग० १ उ० ।

“ सुइत्तरा अत्यधरो, अत्यधराओ होइ तज्जनयधरो ”
आ० म० प्र० ।

अत्यपज्जय-अर्थपर्याय-पुं० । अर्थकदेशप्रतिपादकेषु पर्या-
येषु, अर्थरूपेषु पर्यायेषु च । विशेष० । अर्थविषयं पर्येत्यवगच्छ-
ति यः सोऽर्थपर्यायः । ईदृग्नृतार्थग्राहकत्वे, सम्म० ।

अत्यपडिवात्ति-अर्थप्रतिपात्ति-स्त्री० । अर्थवबोधे, “ नि-
यमासापे णणेत, समाणसोऽहम्मि अत्यपडिवात्ती ” । विशेष० ।

अत्यपय-अर्थपद-न० । उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सदित्यादिवद-
र्थप्रधाने पदे, विशेष० ।

अत्यपिवासिय-अर्थपिपासित-त्रि० । पिपासेव पिपासा- प्रा-
प्तेऽप्यर्थेऽनुत्तिः । अर्थे अर्थस्य वा पिपासा संजाता अस्येति
अर्थपिपासितः । तं० । अप्राप्तार्थविषयसञ्जाततृप्णे, म० १५
श० १ उ० ।

अत्यपुरिस-अर्थपुरुष-पुं० । अर्थार्जनव्यापारपरे पुरुषभेदे, यथा-
मम्मणवाणिक । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अत्यपुहत्त-अर्थपृथक्त्व-न० । “ अतो सुयस्स विसओ, ततो
जिन्नं सुयं पुहत्तं ति ” अर्थः किमुच्यते?, इत्याह-भुतस्य विषयो
विधेयः, तस्माच्चार्थात्कथञ्चिद् भिन्नत्वात्सूत्रं पृथगुच्यते । प्रा-
कृतत्वात्तदेव पृथक्त्वम् । सुप्रार्थलक्षणोभयरूपे भुतज्ञाने अ-
र्थस्य पृथक्त्वम् । भुतज्ञाने तस्य अर्थपृथक्त्वसंज्ञितत्वात् ।
“ अत्याओ य पुहुत्तं, जस्स तओ वा पुहत्तओ जस्स ” अर्था-
त्पृथक्त्वं कथञ्चिद् भेदो यस्य तदर्थपृथक्त्वम् । स चार्थः पृ-
थक्त्वतः पार्थक्येन भेदेन वर्तते यस्य तदर्थपृथक्त्वम् । भुत-
ज्ञाने, “ ते वंदिकण सिरसा, अत्यपुहत्तस्स तेहि काहियस्स ।
सुयणाणस्स भगवओ, णिज्जुत्तिं कित्तस्सामि ” विशेष० ।
आ० म० ।

अत्यपुहुत्त-अर्थपृथक्त्व-न० । “ अथस्स व पिहुमाओ, पुहुत्त-
मथस्स वित्थरंतं ति ” पृथु सामान्येन विस्तीर्णमुच्यते, तस्य
भावः पृथुत्वम् । अर्थस्य पृथुत्वमर्थपृथुत्वम् । जीवाद्यर्थविस्त-
रात्मके भुतज्ञाने, भुतज्ञानमात्रे च । तस्यार्थपृथुत्वसंज्ञितत्वात् ।
“ जं वा अथेण पुहुं, अत्यपुहुत्तं ति तम्माओ ” अर्थेन पृथु
विस्तीर्णमर्थपृथु । तद्भावोऽर्थपृथोर्भावः-अर्थपृथुत्वम्; ध-
र्मधर्मिणोरभेदोपचारात् । भुतज्ञाने, “ अत्यपुहुत्तस्स तेहि
काहियस्स ” । विशेष० ।

अत्यपोरिसी-अर्थपौरुषी-स्त्री० । अर्थप्रतिबद्धायां पौ-
रुष्याम्, ध० ३ अधि० । “ अत्यपोरिसिं णं करोति, मासलहुं ”
नि० चू० १ उ० ।

अत्यणवर-अर्थप्रवर-त्रि० । अर्थः प्रवरो यत्र तदर्थप्रवरम् ।
मुख्यार्थके वस्तुनि, यस्य हि वस्तुनोऽर्थ एव प्रधानचतः । विशेष० ।
अत्यवहुल-अर्थवहुल-त्रि० । अर्थो बहुलो यस्मिन्स्तदर्थवहु-

लम् “ कचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद् विज्ञाया क्वचिदन्यदे-
व । विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुल्यकं वदन्ति ” ॥१॥

“ अत्यवहुलं महत्तं, हेरनिवाओवसग्गांभीरं ” दश० ५ अ० ।
अत्यमेय-अर्थजेद-पुं० । आगमपदार्थस्याज्यथापरिकल्पने,

जीत० । “ आवंतीके यावंती ढोगम्मि विप्परामुसंति ” इ-
त्यत्र आचारसूत्रे यावन्तः केचन लोकेऽस्मिन् पाक्षिण्डोके वि-
परामृशन्तीत्येवंविधार्थाभिधाने, अवन्तीजनपदे केषां रज्जुं
वातात् कूपे पतितानां लोकाः स्पृशन्तीत्यन्यथयित्वाऽऽह । व्य०
१ उ० । घ० । दश० । ग० ।

अथेति दारं-

वज्जणमज्जिदमाणे, अवन्तिमादीण अत्यगुरुणो तु ।

जो असोऽणणुवाई, णाणादिविराहणा णवरिं ॥१॥

वज्जणं सुत्तं, अणहाकरणं जेदो, ण जिदमाणो अजिदमाणो,
अविपासंतो च्चि भणितं होति । तं सु चैव वज्जणेसु अभिषेसु
असं अत्थं विकप्पयति । कहं?, जहा-(अवन्तिमादीणं ति) अवन्तिके
यावन्ती लोके, समणा य माहणा य (विप्परामुसंति च्चि) अवन्ती
णामं जणवओ, केय च्चि रज्जुवं ति णाम, पनिया कूवे लोयंसि
णाया । जहा-कूवे केया पनिया, ततो धावन्ति समणा भिक्खुगाह
माहणा धिज्जाईया । ते समणमाहणा कूवे उयरिडं पाणियमज्जे
विधिधं परामुसंति । आदिसहातो असं पि सुत्तं एवं कप्पति ।
असंति असहा अत्थं कप्पयति, एवं अत्थे असहा कप्पिय सो ह ।
अत्थे गुरुणो उ । अथस्स अणणाणि वज्जणाणि करंतस्स मास-
गुरु । अहः असं अत्थं करोति, तो चउगुरुणा । (जो असो च्चि) भणि-
तो अभणितो असो सो य अणिद्धिदुस्सुवो, (अणणु-
पाति च्चि) अनुपततीत्यनुपाती, घटमानो युज्यमान इत्यर्थः ।
न अनुपाती अननुपाती, अघटमान इत्यर्थः । तमधरुमाणमत्थं
सुत्ते जोजयंतो (णाणादिविराहण च्चि) णाणं आदी जेसिं ता-
णिमाणि णाणादीणि । आदिसहातो वंलणचरिसा; ते य विराहे-
ति, विराहणा खंरुणा मंजणा य एगछा । (णवरिं ति) इह पर-
लोगगुणपावणवुदासत्थं णवरिसहो पवत्तो, विराहणाए केय-
लेत्यर्थः । अथेति दारं गम्य । नि० चू० १ उ० ।

अत्यजोगपरिवज्जिय-अर्थभोगपरिवर्जित-स्त्री० । द्रव्येण
जोगैर्भर्यरहितं, प्रश्न० ३ आश्रं० द्वा० ।

अत्यमंरुली-अर्थमण्डली-स्त्री० । द्वितीयायां पौरुष्याम्, आचा-
र्याः सूत्रार्थे प्रज्ञापयन्ति, शिष्याश्च शृण्वन्तीत्येवंरूपायामर्थपौ-
रुष्याम्, ध० ३ अधि० । ही० । (एतद्विधिः ‘वचसंपया’ शब्दे
द्वितीयभागे ९८४ पृष्ठे सप्रपञ्चं कृष्यः)

अत्यमय-अस्तमय-न० । सूर्यादेर्दृश्यस्य सतोऽदृश्यीभवने,
म० २ श० १० उ० ।

अत्यमद्वयखाणि-अर्थमद्वयत्वानि-पुं० । ज्ञायाऽभिधेया अर्थाः,
विज्ञाया-(वार्तिक)ऽभिधेया महार्थाः, तेषामर्थमहार्थानां खानि-
रिव अर्थमहार्थखानिः । भाषावार्तिकरूपायुयोगविधावतिपटी-
यसि, “अत्यमद्वयखाणि सुसमणवक्खणकहणणिआणि” न० ।

अत्यमहुर-अर्थमधुर-त्रि० । परलोकावनुगार्थे, “ वयणाइं
अत्यमहुराइं ” पं० ब० ४ द्वा० ।

अत्यमाण-आसीन-वि० । इमशानादावास्थीयमाने, “तत्थ से
अत्यमाणस्स, उंवसग्गाजिन्नारप” उत्त० २-अ० ।

रोमन्थायते, रोमन्थायमानश्च तदास्वादमुपलभते । ततोऽसौ नी-
रसं कचवरं परित्यजति । एवमयमपि गृहघासारकचट्टान्मुकः
प्रथमं यत्किमपि सूत्रं चारिकम्पं गुरुसकाशादधिगच्छति, तत्स-
र्वमथास्वादनविरहितं गृह्णाति । ततः सूत्रे गृहीते अर्थग्रहणं
करोति । यदि पुनरर्थं न गृह्णीयात् तदा तत्सूत्रं निरास्वादमेव
संजायते; अर्थे तु भुते सम्यक् तदर्थनवबुद्ध्यमानः सन्नसौ यथा-
वदवधारयत्युपदेष्टुं, परिहरति विन्दुमात्रेणादिदोषदुष्टान् क-
चवरकम्पनानिज्ञापयति । शालिकरणद्वयान्तः पुनरयम् । यथा-
कम्पकः शास्त्रं महता परिश्रमेण निष्पाद्य ततो लघनमन्नपव-
नादिप्रक्रियापुरस्सरं कोष्ठागारे प्रक्षिप्य यदि तैः शालिभिः स्ना-
ययेयादीनामुपजोगं न करोति, ततः शालिसंग्रहः तस्याफलः सं-
पद्यते । अथासौ करोति तैः शालिभिर्यथायोगमुपजोगं ततः शा-
लिसंग्रहः सफलो जायते । एवं द्वादशवार्षिके सूत्राभ्ययने परि-
श्रमे कृतेऽपि यदि तदीयमर्थं न शृणुयात्तदा स सर्वोऽपि परि-
श्रमो निष्फल एव भवेत् । अर्थे तु भुते सम्यगवधारिते च सफलः
स्यात् । अत एवाद-उपभोगफलाः शालयः, सूत्रं पुनरर्थकरणफ-
लम् । चरणकरणादिरूपमृशार्थाचरणादिरूपस्तदर्थ्याचरणफलं,
तच्च सूत्रोक्तार्थाचरणं भुत एवार्थं भवति, नान्यथा ।

अतः-

जइ वारसवासाई, मुत्तं गहियं सुणाहि से अहुणो ।

वारस चैव समाओ, अथ्यं तो नाहिसि नवा एं ॥२॥

यदि द्वादशवर्षाणि त्वया सूत्रं गृहीतम्, अतस्तस्य सूत्रार्थ-
मधुना द्वादशैव समा वर्षाणि शृणु । ततोऽर्थं शृण्वन् स्वज्ञा-
नाचारकर्मक्षयोपशमानुसारेण ज्ञास्यसि वा, न वा (श्रुमि-
ति) तं विवक्षितमर्थम् (वृ०) किंच-संज्ञासूत्रादीन्यनेकवि-
धानि सन्ति । इत्यनेकधा सूत्राणां संभवे तदर्थप्रवणमन्त-
रेण न शक्यते कौटुशमिति विवेकं कर्तुम्, इति कर्तव्यमर्थ-
ग्रहणम् । अथ ते शिष्या श्रूयुः-यः कण्ठतः सूत्रे निवृत्तोऽ-
र्थस्तेनैव धर्यं तुष्टाः, किमस्माकं दुराधिगमत्वाद्वहुपरिक्लेशेन
" मञ्जुण णिसणुज्ज अफ्फा " इत्यादिप्रक्रियापुरस्सरमर्थ-
ग्रहणप्रयासेनेति । एते इत्थं ब्रुवाणाः प्रज्ञापयितव्याः । कथ-
मित्याह-

जे सुत्तगुणा खलु ल-क्खणम्मि कहिया उ भुत्तमाई य ।

अथ्यगहणमराद्धा, तेहिं चिय पप्पविज्जंति ॥

पीठिकायां लक्षणद्वारे ये सूत्रस्य गुणाः ' निदोसं सारवं-
तं च ' इत्यादिना कथिताः । यद्वा-(सुचमाई य चि) " सुचं तु
सुचमेव उ " इत्यादिना प्रतिपादिताः, तैरेव हेतुभिरर्थग्रहणे
मरात्ता अलसाः शिष्याः प्रज्ञाप्यन्ते । यथा-भो भद्राः ! निदोप-
सारवद्विभक्तोमुक्तादयः सूत्रस्य गुणा भवन्ति, ते च यथा-
विधि गुरुमुक्तादर्थं धूयमाण एव प्रकटीभवन्ति । किंच-यथा-
द्वासप्ततिकलापणैडतो मनुष्यः प्रसुप्तः सन्न किञ्चित्तासां क-
लानां जानीते । एवं सूत्रमप्यर्थेनावोधितं सुप्तमिव द्रष्टव्यम् ।
विचित्रार्थनिबद्धानि सोपस्काराणि च सूत्राणि भवन्ति । अतो
गुरुसंप्रदायादेव यथावदवसीयन्ते न यतस्तत इत्थं युक्ति-
शुक्लैर्वचोभिः प्रज्ञापितास्ते विनेयाः प्रतिपद्यन्ते-गुरुणामुपदेशं
शृण्वन्ति द्वादशवर्षाणि विधिवदर्थम् । इति गतमर्थग्रहण-
द्वारम् ॥ वृ० १ उ० ।

अथ्यजाय-अर्थजात-न० । द्रव्यप्रकारे, पञ्चा० १० विव० ।

१२७

अथ्यजुति-अर्थयुक्ति-स्त्री० । हेयतरूपार्थयोजनायाम्, दश०
५ अ० १ उ० ।अथ्यजोषि-अर्थयोनि-स्त्री० । अर्थस्य योनिरर्थयोनिः । रा-
जलदम्यावेरुपाथे, "तिविहा अथ्यजोषी पञ्चत्ता । तं जहा-सा-
मे, दंडे, मेण " सामदण्डादीनामन्यत्र स्वरूपम् । स्था० ३
ठा० ३ उ० ।अथ्यणा-अर्थन-न० । ज्ञानार्थं परस्याऽऽचार्यस्य पार्श्वेऽव-
स्थाय ज्ञानाविगुणार्जने, उक्त० २६ अ० ।अथ्यणय-अर्थनय-पुं० । अर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थनयः स्था० ।
रत्ना० । मुख्यवृत्त्या जीवाद्यर्थसमाभयणात् । आ० म० द्वि० ।
यथाकथञ्चिच्छब्दा एव प्रधानमित्यभ्युपगमपरत्वादर्थनयः ।
अनु० । यो धर्ममाश्रित्य वस्तुस्थसंग्रहव्यवहारसूत्राभ्यप्रत्य-
यः प्रादुर्भवति सोऽर्थनयः; अर्थवशेन तदुत्पत्तेः । अर्थप्रधा-
नतयाऽऽसौ व्यवस्थापयतीति । सम्म० । अर्थमेव प्राधान्येन
शब्दोपसर्जनमिच्छति । सूत्र० २ ध्रु० ७ अ० ।

अथ्यप्पवरं सद्दो, सद्दाणं वत्थुमुज्जुमुत्तंता ॥

अनुसूचान्ताभ्यत्यारो नया वस्तु ध्रुवते प्रतिपादयन्ति । कथ-
म्भूतम् ? इत्याह-अर्थप्रवरं शब्दोपसर्जनम् । अथवा अर्थप्रवरं-
प्रधानभूतो मुख्योऽर्थो यत्र तदर्थप्रवरम् । शब्द उपसर्जनमप्रधा-
नभूतो गौणो यत्र तच्छब्दोपसर्जनम् । शेषास्तु शब्दावयवयो-
र्व्यत्ययमिच्छन्ति । विशेष० ।अत्राण्ण-अर्थज्ञान-पुं० । अभिधेयावबोधे, पञ्चा० १२
विव० ॥अथ्यणिऊर-अर्थनि(कुर) पूर-न० । चतुरशीतिलक्षैर्गुणि-
तेऽर्थनिपूराङ्गे, अनु० ।अथ्यणिऊरंग-अर्थनिपूराङ्ग(निकुराङ्ग)-न० । चतुरशी-
तिलक्षैर्गुणिते नलिते, अनु० । स्था० जी० ।अथ्यणिजावणा-अर्थनिर्यापणा-स्त्री० । अर्थः सूत्राभिधेयं
वस्तु, तस्य निरिति श्रृंशं, यापना निर्वाहणा, पूर्वापरसाङ्गत्ये-
न स्वयं ज्ञानतोऽन्येषां च कथनतो निर्गमतो निर्यापणा । वा-
चनासंपदभेदे, उक्त० १ अ० ।

अर्थस्य निर्यापणामाह-

निज्जवगो अथ्यस्स य, जो उ वियाणाइ अथ्य सुत्तस्स ।

अथ्येण वि निव्वहति, अथ्यं पि कहेइ जं जणियं ॥

अर्थस्य निर्यापक इति यद्वाणितं तस्यायमर्थः-यो नाम सूत्र-
स्थार्थं कथ्यमानं विजानाति । यदि वा-अर्थेन निर्वहति-अर्था-
वधारणवलेन सूत्रपाठे निर्वहमुपयति, तस्यार्थमपि कथय-
ति, आस्तां सूत्रं ददातीत्यपिशब्दार्थः । व्य० १० उ० ।

अथ्याणियय-अर्थनियत-त्रि० । अर्थनिबन्धने, सम्म० ॥

अथ्यत्थिअ-अर्थार्थिन्-त्रि० । अर्थमर्थयते इति अर्थार्थी । द्र-
व्यप्रयोजने, म० १५ श० १ उ० । औ० । ज्ञा० । जं० ।अथ्यदंरु-अर्थदण्ड-पुं० । शरीराद्यर्थदण्डे, प्रश्न० ५ सम्ब०
ठा० ।

अथ्यदायि (ण)-अर्थदायिन्-त्रि० । सूत्राभिधेयप्रदायि,

अथालोचन—अर्थालोचन—न० । अर्थस्य सामान्येन ग्रहणे,
आ० चू० १ अ० ।

अथावगम—अर्थवग्रह—पुं०। अवग्रहणमवग्रहः, अर्थस्यावग्रहो-
ऽर्थावग्रहः । अनिर्देशसामान्यमात्ररूपाद्यर्थग्रहणे, आह च न-
न्वध्ययनचूर्णिकृत—“सामान्यवाच्यविशेषणरहित्यस्त अवग्राह-
ति” । प्रज्ञा० ५ पद । आचा० ।

अथावत्ति—अर्थापत्ति—स्त्री०। अर्थस्य अनुकार्यस्य, आपत्तिः सि-
द्धिः । वाच०। “प्रमाणपट्टविज्ञातो, यत्रार्थो नान्यथा भवेत् । अदृष्टं
कल्पयेदन्यं, साऽर्थापत्तिरुदाहृता” ॥ १ ॥ इत्युक्तवक्ष्ये प्रमाणभेदे,
रक्षा० २ परि०। सूत्र०। दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा, नोपपद्यत इति अदृष्टा-
र्थकल्पने, सम्म०। तां प्रमाणचतुष्कवादिनोऽनुमानेऽन्तर्भावयन्ति, त-
स्याः प्रमाणत्वेऽनुमानेऽन्तर्भूतत्वात् । तथाहि—दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽ-
न्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पनाऽर्थापत्तिः । न चासावर्थोऽन्यथाऽ-
नुपपद्यमानत्वावगमे अदृष्टार्थपरिकल्पनानिमित्तम् । अन्यथा स
येन विनोपपद्यमानत्वेन निश्चितस्तमपि परिकल्पयेत्, येन विना
नोपपद्यते तमपि वा न कल्पयेत्; अनवगतस्यान्यथाऽनुपपन्नत्वेना-
र्थापत्युत्थापकस्यार्थस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वे सत्यप्यदृष्टार्थप-
रिकल्पकत्वासंभवात् । संभवे वा द्विक्रस्याप्यनिश्चितनियमस्य
परोक्षार्थानुमापकत्वं स्यादिति, तदपि नार्थापत्युत्थापकादर्थ-
जिघेत् । स चान्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः, तस्यार्थस्य न भूयो-
दर्शननिमित्तः सपक्षे । अन्यथा लोहलेखं वज्रं, पार्थिवत्वात्,
काष्ठवदित्यत्रापि साध्यसिद्धिः स्यात् । नापि विपक्षे तस्यानुपल-
म्भनिमित्तोऽसौ । व्यतिरेकनिश्चायकत्वेनानुपलम्भस्य पूर्वमे-
व निबिद्धत्वात्; किं तु विपर्यये तद्वाधकप्रमाणनिमित्तः ।
तच्च बाधकं प्रमाणमर्थापत्तिप्रवृत्तेः प्रागेवानुपपद्यमानस्यार्थ-
स्य तत्र प्रवृत्तिमद्वयुपगन्तव्यम् । अन्यथाऽर्थापत्या तस्याऽ-
न्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमेऽन्युपगम्यमाने यावत्तस्याऽन्यथा-
ऽनुपपद्यमानत्वं नावगतम्, न तावदार्थापत्तिप्रवृत्तिः । यावच्च
न तत्प्रवृत्तिः, न तावदार्थापत्युत्थापकस्यार्थस्याऽन्यथानुप-
पद्यमानत्वावगम इतीतरेतराश्रयत्वात्तार्थापत्तिप्रवृत्तिः ।

अत एव यदुक्तम्—

“अविनाभावित्वाच्च, तदेव परिगृह्यते ।
न प्रागवगतेत्येवं, सत्यप्येषा न कारणात् ॥ १ ॥
तेन संबन्धवेत्तायां, संबन्धन्यतरो ध्रुवम् ।
अर्थापत्यैव मन्तव्यः, पश्चादस्त्वनुमानता” ॥ २ ॥ इत्यादि ।

तन्निरस्तम् । एवमन्युपगमे अर्थापत्तेरनुत्थानस्य प्रतिपा-
दितत्वात् । स च तस्य पूर्वमन्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः किं
दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्यः ? , आहोस्वित्ससाध्यधर्मि-
प्रवृत्तप्रमाणसंपाद्यः ? , इति । तत्र यद्याद्यः पक्षः । तदाऽत्रापि
वक्तव्यम् । किं तद् दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्तं प्रमाणं साध्यधर्मि-
ण्यपि साध्यान्यथाऽनुपपन्नत्वं तस्यार्थस्य निश्चाययति, आहो-
स्विद् दृष्टान्तधर्मियेव । तत्र यद्याद्यः पक्षः; तदाऽर्थापत्युत्था-
पकस्यार्थस्य, द्विक्रस्य वा स्वसाध्यप्रतिपादनव्यापारं प्रति न
कश्चिद्विशेषः । अथ द्वितीयः । स न युक्तः । न हि दृष्टान्तधर्मिणि
निश्चितस्वसाध्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वोऽर्थोऽन्यत्र साध्यधर्मिणि
तथा भवति । न च तथात्वेनानिश्चितः स साध्यधर्मिणि स्वसा-
ध्यं परिकल्पयतीति युक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । अथ द्विक्रस्य दृष्टा-
न्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणत्ववशात् सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनियतत्व-
निश्चयः । अर्थापत्युत्थापकस्य त्वर्थस्य स्वसाध्यधर्मिण्येव प्रवृत्ता-

त्प्रमाणात्सर्वोपसंहारेणादृष्टार्थाऽन्यथाऽनुपपद्यमानत्वनिश्चय इ-
ति द्विक्रार्थापत्युत्थापकयोर्भेदः । नास्माद्भेदादार्थापत्तेरनुमानं
भेदमासादयति । अनुमानेऽपि स्वसाध्यधर्मिण्येव विपर्यया-
हेतुव्यावर्तकत्वेन प्रवृत्तं प्रमाणं सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनिय-
तत्वनिश्चायकमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा सर्वमनेकान्तात्मकं, स-
त्त्वादित्यस्य हेतोः पक्षीकृतवस्तुव्यतिरेकेण दृष्टान्तधर्मिणोऽभा-
वात्कथं तत्र प्रवर्तमानं बाधकं प्रमाणमनेकान्तात्मकत्वनियत-
त्वमवगमयेत् सत्त्वस्य ? । न च साध्यधर्मिणि दृष्टान्तधर्मिणि च
प्रवर्तमानेन प्रमाणेनार्थापत्युत्थापकस्यार्थस्य द्विक्रस्य च यथा-
क्रमं प्रतिबन्धो गृह्यत इत्येतावन्मात्रेणार्थापत्यनुमानयोर्भेदोऽ-
न्युपगन्तुं युक्तः । अन्यथा पक्षधर्मत्वसाहितहेतुसमुत्थादनुमा-
नात्तद्विहितहेतुसमुत्थमनुमानं प्रमाणान्तरं स्यादिति प्रमाणप-
ट्टकादौ विशीर्येत । नियमवतो द्विक्रत्परोक्षार्थप्रतिपत्तेरवि-
शेषात् ततस्तद्विधमित्यभ्युपगमे, स्वसाध्याविनाभूतादार्थादर्थ-
प्रतिपत्तेरविशेषादनुमानादार्थापत्तेः कथं नाभेदः ? । सम्म० ।
अर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरम्, यतस्तस्या लक्षणम्—दृष्टः श्रुतो
वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पनम् ।

कुमारिहोऽप्येतदेव ज्ञाप्यवचनं विभजन्नाह—

“प्रमाणपट्टविज्ञातो, यत्रार्थो नान्यथा भवेत् ।
अदृष्टं कल्पयत्यन्यं, साऽर्थापत्तिरुदाहृता ॥ १ ॥
दृष्टा पञ्चमिरन्यस्माद्, भेदेनोक्ता श्रुतोऽङ्गवा ।
प्रमाणप्रादिणीत्वेन, यस्मात्पूर्वविलक्षणा” ॥ २ ॥

प्रत्यक्षादिभिः बहूभिः प्रमाणैः प्रसिद्धो योऽर्थः स येन विना
नोत्पद्यते तस्यार्थस्य प्रकल्पनमर्थापत्तिः । यथाऽनेदाहकत्वम्,
तत्र प्रत्यक्षपूर्विकाऽर्थापत्तिः । यथाऽग्नेः प्रत्यक्षेणोष्णरूपशोभुपल-
भ्य दाहकशक्तियोगोऽर्थापत्या प्रकल्प्यते । न हि शक्तिरन्यत्परि-
च्छेद्या; नाप्यनुमानादिसमधिगम्या; प्रत्यक्षेणार्थेन शक्तिसङ्के-
पेन कस्यचिदर्थस्य संबन्धसिद्धेः । अनुमानपूर्विका त्वर्थापत्तिर्य-
थाऽदित्यस्य देशान्तरप्राप्त्या देवदत्तस्यैव गत्यनुमानम् । ततो
गमनशक्तियोगोऽर्थापत्याऽवसीयते । उपमानपूर्विका त्वर्थापत्तिर्य-
था—गवयवद् गौरित्युक्तेरार्थाद्दाहदोहादिशक्तियोगस्तस्याः प्रती-
यते, अन्यथा गोत्वस्यैवायोगात् । शब्दपूर्विकाऽर्थापत्तिर्यथा—श-
ब्दादर्थप्रतीतिः शब्दस्यार्थेन संबन्धसिद्धिः । अर्थापत्तिपूर्विकाऽ-
र्थापत्तिर्यथोक्तप्रकारेण शब्दस्यार्थेन संबन्धसिद्धावर्थनित्यत्व-
सिद्धिः, पौरुषेयत्वे शब्दस्य संबन्धायोगात् । अभावपूर्विकाऽ-
र्थापत्तिर्यथा—जीवतो देवदत्तस्य गृहेऽप्रदर्शनादार्थाद् बहिर्भावः ।
अत्र चतसृभिरर्थापत्तिभिः शक्तिः साध्यते । पञ्चस्यां नि-
त्यता । बह्वृषां गृहाद् बहिर्भूतो देवदत्त एव साध्यते । इत्येवं
षट्प्रकाराऽर्थापत्तिः । अन्ये तु—श्रुतार्थापत्तिमन्यथोदाहरन्ति-
‘पीनो देवदत्तो दिवा न लुङ्के’ इति वाक्यश्रवणाद् रात्रिभो-
जनवाक्यप्रतिपत्तिः श्रुतार्थापत्तिः । गवयोपमिताया गोस्तज्ज्ञा-
नप्राप्तताशक्तिरुपमानपूर्विकाऽर्थापत्तिः ।

तदुक्तम्—

तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञानात्, तदा दहनशक्तिता ।
बह्वेरनुमिता सूर्ये, यानात्तच्छक्तियोगिता ॥ १ ॥
पीनो दिवा न लुङ्के इत्येवं प्रतिबन्धः श्रुतौ ।
रात्रिभोजनविज्ञानं, श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥ २ ॥
गवयोपमिताया गो—स्तज्ज्ञानप्राप्तशक्तिता ।
अभिधानप्रसिद्धार्थ—अर्थापत्याऽवबोधितात् ॥ ३ ॥

अत्यमित्र-अस्तमित-त्रि० । अत्यन्तास्तंगते, द्वा० ४ अ० ।

अत्यमित्रोदित-अस्तमितोदित-त्रि० । अस्तमितश्चासौ हीन-
कुशोत्पत्तिदुर्गतत्वदुर्गतत्वादिना, उदितश्च समृद्धिकीर्तिसुग-
तिशोभादिनेति अस्तमितोदितः । प्रथमावस्थायां हीनं पञ्चान्न
निर्दिष्टे प्राप्ते पुरुषजाने, स्था० । यथा हरिकेशबलाभिधानोऽनगरः ।
स हि जन्मान्तरोपपन्ननैविर्गोत्रकमेवशाद्वामहरिकेशाभिधान-
चाण्डालकुलतया, दुर्भगतया दूरिततया च पूर्वमस्तमितादित्य
इवानन्युदयवत्त्वाद्गन्तमिति, पञ्चाग्रतिपक्षप्रवृत्त्यो निष्कम्प-
चरणशुणार्वाजितद्वन्द्वतसाक्षिभ्यतया प्राप्तसिद्धितया सुगति-
गततया च उदित इति । स्था० ४ अ० ३ उ० ।

अत्यमित्यमिय-अस्तमितास्तमित-पुं० । अस्तमितश्चासौ सूर्य
इव दुष्कुञ्जतया, दुष्कर्मकारितया च कीर्तिसमृद्धिकृष्णनेत्रो-
विर्वाजितत्वात्, अस्तमितश्च दुर्गतिगमनादित्यस्तमितास्तमितः ।
पौर्वापर्येण दुर्गते, स्था० । यथा काशानिधानः सौकरिकः । स हि
सूकरैश्चरति मृगयां करोतीति यथार्थः सौकरिक एव दुष्कुञ्जो-
त्पन्नः प्रतिदिनं मदिपपञ्चशतीव्यापादक इति पूर्वमस्तमितः,
पञ्चादपि मृत्वा सप्तमनरकपृथिवीं गत इति अस्तमित एवेति ।
स्था० ४ अ० ३ उ० ।

अत्ययारिया-देशी-संख्यायाम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अत्यरय-आस्तरक-न० । आच्छादके, द्वा० म० प्र० । जी० रा० ।

अस्तरजस्-त्रि० । निर्मेष्टे, " अत्यरयमिडमसूरगोत्थयं "
आस्तरकेण प्रतीतेन मृदुमसूरकेण वा, अथवाऽस्तरजसा निर्मे-
लेन मृदुमसूरकेण अवस्तुतमाच्छादितं यत्तत्तया । न० ११
श० ११ उ० ।

अत्यमुष्ट-अर्थलुब्ध-त्रि० । लब्धयान्नसे, म० १५ श० १ उ० ।

अत्यव-अर्थवत्-त्रि० । पञ्चविंशे मुहूर्त्ते, कन्द० ।

अत्यवति-अर्थपति-पुं० । धनपतौ, व्य० ७ उ० ।

अत्यदाय-अर्थवाद-पुं० । अर्थस्य लक्षणया स्तुत्यर्थस्य नि-
न्दार्थस्य वा वादः । वद्-करणे घञ् । प्रशंसनीयगुणवाचके,
निन्दनीयदापवाचके च शब्दविशेषे । भावे घञि तत्कथने,
वाच० । अर्थवादस्तु द्विधा-स्तुत्यर्थवादो निन्दार्थवादश्च । तत्र
"पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादिकस्तुत्यर्थवादः । तथा तत्र "स स-
र्वाविद्यस्यैवा महिमा तु दिव्ये ब्रह्मपुरे होषव्योऽन्यात्मा सुप्रतिष्ठि-
तस्तमकरं वेदयतेऽथ यस्तु स सर्वज्ञः सर्वविश्वमेवाविवे-
श" इति । तथा-"एकया पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति"
इत्यादिकश्च सर्वोऽपि स्तुत्यर्थवादः । "एकया पूर्णया" इत्यादि
विधियादोऽपि कस्मान्न भवतीति चेत् । उच्यते । शेषस्याग्निहो-
त्राद्यनुष्ठानस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति । "एष वाच प्रथमो यज्ञो योऽ-
ग्निहोमः योऽनेनानिष्टाऽन्येन यजते स गर्तमच्यपतत्" अत्र पशु-
मेधादीनां प्रथमकरणं निन्द्यत इत्ययं निन्दार्थवादः । " द्वादश
मासाः संवत्सरोऽग्निरुष्णोऽग्निर्हिमस्य मेपजम् " इत्यादीनि तु
वेदवाक्यान्त्यनुवादप्रधानानि, लोकप्रसिद्धस्यैवार्थस्यैवेत्यनुवा-
दादिति । विशेष० । आ० म० ।

अत्यविगप्पणा-अर्थविकल्पना-स्त्री० । अर्थज्ञेदोपदर्शने, आ०
म० द्वि० ।

अत्यविणय-अर्थविनय-पुं० । विनयशब्दे वक्ष्यमाणार्थके
विनयभेदे, दश० ७ अ० ।

अत्यविण्णय-अर्थविनिश्चय-पुं० । अपापरक्लेशकल्याणावहे-
च अर्थावितथभावे, "पुच्छिजप्रथविणिच्छयं" । दश० ८ अ० ।

अत्यविष्णुण-अर्थविज्ञान-न० । ६ त० । ऊहापोहयोगा-
न्मोहसन्देहविपर्ययासंयुक्तासेन ज्ञानरूपे बुद्धिगुणे, ध० १ अधि० ।

अत्यविदूषण-अर्थविहीन-त्रि० । अगीतार्थे, व्य० ३ उ० ।

अत्यसंपयाण-अर्थसंप्रदान-न० । अर्थदाने, " अत्यसंपयाणं
वल्लयइति" । अर्थदानं करोतीत्यर्थः । विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अत्यसत्थ-अर्थशास्त्र-न० । अर्थगमनिमित्तं शास्त्रमर्थशास्त्रम् ।
आ० म० प्र० । अर्थोपायव्युत्पादनग्रन्थे कौटिल्यराजनीत्यादौ,
ज्ञा० १ अ० । प्र० । न० । "अत्यसत्थकोसल्लयमोदी तदा उव-
वन्ना" आ० च्यु० १ अ० । आ० म० द्वि० । (वदाहरणमस्य "वेणु-
इया" शब्दे वक्ष्यते)

अत्यमत्यकुमल-अर्थशास्त्रकुशल-त्रि० । ७ त० । नीतिशास्त्रा-
दिषु कुशले, अं ३ वक्त्र० ।

अत्यसार-अर्थसार-पुं० । द्रव्यतत्त्वे, आ० म० द्वि० ।

अत्यसिद्ध-अर्थसिद्ध-पुं० । अर्थो धनं स इतराऽसाधारणो
यस्य सोऽर्थसिद्धः । मम्मणवणिगवत् सिद्धनेदे, ध० २ अधि० ।
"पवरथो अथपरोऽव मम्मणो अथसिद्धो च " प्रचुरार्थः
प्रचूतार्थः, अर्थपरोऽर्थनिष्ठः, अर्थसिद्धोऽतिशययोगान्मम्मणव-
णिग्वदिति गाथादल्लार्थः । आ० म० द्वि० । भावार्थस्तु कथा-
नकादयसेयः (स च 'मम्मण' शब्दे वक्ष्यते) लोकोत्तररीत्या दशमे
अर्थसिद्धे, जं० ७ वक्त्र० । पेरवते जविष्याति पञ्चमे तीर्थकरे, ति० ।

अत्यमुण-अर्थशून्य-न० । निर्यादिकेऽर्थहीने पदे, स्था० १
अ० १ उ० ।

अत्या-आस्था-स्त्री० । स्वपक्षाणामर्हत्कृते तीर्थे बहुमानत्वे,
जीवा० १ अधि० ।

अत्याण-अस्थान-न० । अविषये, द्वा० १५ द्वा० ।

अत्यादा (या)ण-अर्थादान-न० । द्रव्योपादानकरणे अष्टाङ्ग-
निमित्ते, स्था० ३ अ० ४ अ० । (अस्मिन्नेव भागे १६८ पृष्ठे 'अणव-
दृष्ट' शब्दे व्याख्यातमेतत्)

अत्याम-अस्थामन्-त्रि० । सामान्यतः शक्तिविकसे, न० ७ श०
ए उ० । शारीरिकवक्षविकसे, ज्ञा० १ अ० । विपा० ।

अत्यारिय-अस्तारिक-पुं० । सूक्ष्मप्रदानेन शालिलवनाय
केत्रे क्लियमाणे कर्मकरे, व्य० ६ उ० ।

अत्यारो-देशी-साहाय्ये, दे० ना० १ वर्ग ।

अत्यालंबण-अर्थालम्बन-न०-पुं० । अर्थो वाक्यस्य भावा-
र्थः । आलम्बनं वाच्ये पदार्थे अर्हत्स्वरूपे उपयोगस्यैकत्वम् ।
अर्थश्च आलम्बनं चार्थालम्बने । अर्थे, आलम्बने च । अर्थाल-
म्बनयोश्चैतद्वन्द्वनादौ विभावनम् । अष्ट० २७ अष्ट० ।

अत्यालिय-अर्थालीक-न० । क्लियार्थमसले, प्र० २ आ-
अ० द्वा० ।

साम्प्रतमस्तिकायद्वारमाह -

एएसि एं भंते ! धम्मत्थिकाय अधम्मत्थिकाय आगास-
त्थिकाय जीवत्थिकाय पोग्गलत्थिकाय अच्चासमया एं दब्ब-
डयाए कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसा-
हिया वा ? गोयमा ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगास-
त्थिकाए, एए तिन्नि वि तुह्वा दब्बडयाए सब्बत्थोवा, जीव-
त्थिकाए दब्बडयाए अणंतगुणे, पोग्गलत्थिकाए दब्बडयाए
अणंतगुणे, अच्चासमए दब्बडयाए अणंतगुणे ॥

(एएसि एं भंते ! धम्मत्थिकायेत्यादि) धर्मास्तिकायोऽधर्मा-
स्तिकाय आकाशास्तिकायः । एते त्रयोऽपि छव्यार्थतया छव्यमे-
वाथो छव्यार्थस्तस्य भावो छव्यार्थता, तथा छव्यरूपतया इत्य-
र्थः । तुल्याः समानाः, प्रत्येकमेकसङ्ख्याकत्वात् । अत एव सर्वे
स्तोकाः, तेभ्यो जीवास्तिकायो छव्यार्थतयाऽनन्तगुणः । जीवानां
प्रत्येकं तद्व्यवत्वात्, तेषां च जीवास्तिकायेऽनन्तत्वात् । तस्मादपि
पुञ्जत्वास्तिकायो छव्यार्थतयाऽनन्तगुणः । कथम् ? इति चेत् ।
उच्यते-इह परमाणुद्विप्रदेशकादीनि पृथक् २ द्रव्याणि, तानि
च सामान्यतस्त्रिधा । तद्यथा-प्रयोगपरिणतानि, मिश्रपरिणता-
नि, विश्रसापरिणतानि च । तत्र प्रयोगपरिणतान्यपि तावज्जीव-
भ्योऽनन्तगुणानि, एकैकस्य जीवस्यानन्तैः प्रत्येकं ज्ञानावरणी-
यादिकर्मसु पुञ्जलस्कन्धैरावेष्टितत्वात् । किं पुनः शेषाणि ? ततः
प्रयोगपरिणतेभ्यो मिश्रपरिणतान्यनन्तगुणानि । तेभ्योऽपि विश्र-
सापरिणतान्यनन्तगुणानि । तथा चोक्तं प्रज्ञप्तौ- “सब्वत्थोवा
पुग्गळा पद्दोगपरिणया मीसपरिणया अनन्तगुणा, वीससापरि-
णया अनन्तगुणा” इति । ततो ज्ञवति जीवास्तिकायात् पुञ्जलास्ति-
कायां छव्यार्थतया अनन्तगुणः । तस्मादप्यच्चासमयो द्रव्यार्थ-
तया अनन्तगुणः । कथम् ? इति चेत् । उच्यते-इहैकस्यैव परमा-
णोरनागते काले तत्तद्विप्रदेशकविप्रदेशकयावद्दशप्रदेशकसंख्या-
तप्रदेशकाऽसंख्यातप्रदेशकाऽनन्तप्रदेशकस्कन्धान्तःपरिणामित-
या अनन्ता भाविनः संयोगाः पृथक् पृथक् कालाः केवलप्रदेशोप-
लब्धाः । यथा चैकस्य परमाणोस्तथा सर्वेषां प्रत्येकं द्विप्रदेश-
कादिस्कन्धानां च अनन्ताः संयोगाः पुरस्कृताः पृथक् पृथक्
काला उपलब्धाः । सर्वेषामपि मनुष्यकैत्रान्तर्वर्तिततया परिणा-
मसंभवात् । तथा क्षेत्रतोऽप्ययं परमाणुरमुष्मिन् आकाशप्रदेशे
अमुष्मिन् काष्ठे अवगाहियते, इत्येवमनन्ता एकस्य परमाणो-
र्भाविनः संयोगा यथैकस्य परमाणोस्तथा सर्वेषां परमाणूनां,
तथा द्विप्रदेशकादीनामपि स्कन्धानामनन्तप्रदेशस्कन्धपर्यन्तानां
प्रत्येकं तत्तदेकप्रदेशाद्यवगाहमेदतोभिन्नभिन्नकाशा अनन्ता भा-
विनः संयोगाः । तथा काष्ठतोऽप्ययं परमाणुरमुष्मिन् आकाशप्रदे-
शे एकसमयस्थितिकः, इत्येवमेकस्यापि परमाणोरेकस्मिन् आका-
शप्रदेशेऽसंख्यया भाविनः संयोगाः । एवं सर्वेष्वप्याका-
शप्रदेशेषु प्रत्येकमसंख्यया भाविनः संयोगाः । ततो भूयो
भूयस्तथाऽऽकाशप्रदेशेषु परावृत्तौ कालस्यानन्तत्वादनन्ताः
काष्ठतो भाविनः संयोगाः । यथा चैकस्य परमाणोस्तथा सर्वेषां
परमाणूनां सर्वेषां च प्रत्येकं द्विप्रदेशकादीनां स्कन्धानां, तथा
भावतोऽप्ययं परमाणुरमुष्मिन् काष्ठे एकगुणकाष्ठको भवती-
त्येवमेकस्यापि परमाणोर्भिन्नभिन्नकालाः अनन्ताः संयोगाः ।
यथा चैकस्य परमाणोस्तथा परमाणूनां च सर्वेषां च द्विप्रदे-
शाकादीनां स्कन्धानां पृथक् पृथक् अनन्ता भावतः पुरस्कृताः

संयोगाः । तदेवमेकस्यापि परमाणोर्द्व्येकैत्रकालभावविशेष-
संबन्धवशादनन्ता भाविनः समया उपलब्धाः, यथैकस्य
परमाणोस्तथा सर्वेषां परमाणूनां सर्वेषां च प्रत्येकं द्वि-
प्रदेशकानां स्कन्धानाम् । न चैतत्परिणामकाष्ठवस्तुव्यतिरेक-
परिणामिपुञ्जत्वास्तिकायादिव्यतिरेके चोपपद्यते । ततः सर्वमिदं
च तात्त्विकमवसेयम् । उक्तं च-“संयोगपुरस्कृताश्च, नाम
भाविनि हि युज्यते काले । न हि संयोगपुरस्कृतारो, ह्यसतां केषां
चिदुपपन्नः” ॥१॥ इति यथा च सर्वेषां परमाणूनां च द्विप्रदेशका-
दीनां स्कन्धानां प्रत्येकं छव्यकैत्रकाष्ठभावविशेषसम्बन्धवशादन-
न्ता भाविनोऽच्चासमयाः, तथा अतीता अपीति, सिद्धः पुञ्जत्वास्ति-
कायादनन्तगुणोऽच्चासमयो छव्यार्थतयेति । उक्तं छव्यार्थतया
परस्परमल्पवहुत्वमिति ।

इदानीमेतेषामेव प्रदेशार्थतया तदाह-

एएसि एं भंते ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगास-
त्थिकाए जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए अच्चासमया एं पदे-
सडयाए कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा
विसेसाहिया वा ? गोयमा ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थि-
याए, एएसि एं दो वि तुह्वा पदेसडयाए सब्बत्थोवा,
जीवत्थिकाए पदेसडयाए अणंतगुणा, पोग्गलत्थिकाए प-
देसडयाए अणंतगुणा, अच्चासमए पदेसडयाए अणंतगुणा,
आगासत्थिकाए पदेसडयाए अणंतगुणा ।

(एएसि एं भंते ! धम्मत्थिकायेत्यादि) धर्मास्तिकायोऽध-
र्मास्तिकायः, एतौ द्वावपि परस्परं प्रदेशार्थतया तुल्यौ, उभयो-
रपि लोकाकाशप्रदेशत्वात् । शेषास्तिकायाऽवच्चासमयोपलब्धः
च सर्वस्तोको । ततो जीवास्तिकायः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः,
जीवास्तिकाये जीवानामनन्तत्वात् । एकैकस्य च जीवस्य लो-
काकाशप्रदेशपरिमाणप्रदेशत्वात् । तस्मादपि पुञ्जत्वास्तिकायः
प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः । कथमिति ? उच्यते-इह कर्मस्कन्ध-
प्रदेशा अपि तावत्सर्वजीवप्रदेशेभ्योऽनन्तगुणाः, एकैकस्य च जी-
वप्रदेशस्यानन्तानन्तैः कर्मपरमाणुभिरावेष्टितपरिवेष्टितत्वात् ।
किं पुनः सकलपुञ्जलास्तिकायप्रदेशस्ततो भवति ? जीवास्ति-
कायात्पुञ्जलास्तिकायः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, तस्मादप्यच्चास-
मयः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, एकैकस्य पुञ्जलास्तिकायप्रदेशस्य
प्रागुक्तक्रमेण तत्तद्व्यतिरेककालजात्यविशेषसंबन्धभावतोऽन-
न्तानामतीताच्चासमयानामवन्तानामनागतसमयानां भावात् ।
तस्मादाकाशास्तिकायप्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, अञ्जोकस्य
सर्वतोऽप्यनन्तताभावात् । गतं प्रदेशार्थतयाऽप्यल्पवहुत्वम् ।

इदानीं प्रत्येकं छव्यार्थप्रदेशार्थतयाऽल्पवहुत्वमाह-

एएसि एं भंते ! धम्मत्थिकायस्स दब्बडयाए पदेसडयाए
कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहि-
या वा ? गोयमा ! सब्बत्थोवा एगे धम्मत्थिकाए दब्बडयाए,
सो चेव पदेसडयाए असंखिज्जगुणा । एएसि एं भंते ! अध-
म्मत्थिकायस्स दब्बडयपदेसडयाए कयरे कयरेहिं तो अप्पा
वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सब्बत्थोवे
एगे अधम्मत्थिकाए दब्बडयाए, सो चेव पदेसडयाए असं-
खिज्जगुणे । एतस्स एं भंते ! आगासत्थिकायस्स दब्बडपदे-

शब्दे वाचकसामर्थ्यात्, तन्नित्यत्वप्रमेयता ।
प्रमाणामावनिर्णीत-चैत्रामावनिशेषितात् ॥ ४ ॥
गेदाच्चैत्रयिर्जावसिक्त्या त्विह दर्शिता ।
तामजावोत्थितामन्या-अर्थापत्तिमुदाहरेत् ॥ ५ ॥ इत्यादि ।

इयं च पदप्रकाराऽप्यर्थापत्तिर्नाचक्ष्ण्य, अतीन्द्रियशक्त्याद्यर्थ-
विषयत्वात् । अत एव नानुमानम् । प्रत्यक्षावगमप्रतिषेधिरूपम-
चत्वेन तस्योपबर्णनात्, अर्थापत्तिगोचरस्यार्थस्य कदाचिदप्य-
ध्यक्षाविषयत्वात् । तेन सहायार्थापत्त्युपापकस्यार्थस्य संवधाप्र-
तिपत्तेः; तदैवार्थापत्त्या ततस्तस्य प्रकल्पना । सम्म० ।

अत्यावत्तिदोष-अर्थापत्तिदोष-पुं० । सूत्रदोषजदे, यत्रार्था-
पत्त्याऽनिष्टमात्रपति तत्रार्थापत्तिदोषः । यथा-“गृहकुक्षुटो न
हन्तव्यः” इत्युक्ते अर्थापत्त्या शेषघातोऽङ्गुष्ठ इत्यापतति । विशेष० ।
अनु० । यथा-“ब्राह्मणो न हन्तव्यः” इत्यर्थाद्ब्राह्मणघाताय । आ०
म० द्वि० । वृ० ।

अत्याह-अस्ताध-(य) त्रि० । अगाधे, अस्तं निरस्तमवि-
द्यमानमधस्तत्वं प्रतिष्ठानं यस्य तदस्ताधः । स्ताधो वा प्रति-
ष्ठानं, तदभावादस्ताधम् । ज्ञा० १४ अ० । पि० । यत्र नासि-
का न धुइति तत् स्ताधम्, यत्र तु नासिका धुइति तदस्ता-
धम् । वृ० ४ उ० । पञ्चदशे प्रारत्तातीतजने, प्रव० ६ द्वा० ।

अत्याहिगम-अर्थाधिगम-पुं० । अभिधेयावगमे, पञ्चा० ४ धिव० ।

अत्याहिगार-अर्थाधिकार-पुं० । ६ त० । यो यस्य सामयिका-
ध्ययनस्यात्मीयोऽर्थस्तदुक्तीर्तनविषयके उपक्रमभेदे, “से किं
तं अत्याहिगारे ? अत्याहिगारे जो जस्त अज्जयणस्त अत्या-
हिगारे । तं जहा-“सावज्जजोगविरे, उक्किरणगुणपभोयपमि-
त्ता । अलियस्स निदणावण-तिगिच्छगुणधारणा खेव ” ॥ १ ॥
लेखं अत्याहिगारे” । अनु० । आचा० ।

अतिथि-अस्ति-अव्य० । “स्तस्य थोऽसमस्तस्तम्बे” ॥ ७ ॥ १४५ ॥
इति सूत्रेण स्तभागस्य यः । प्रा० । अस्तीति तिङन्तकियावचनप्र-
तिरूपको निपातः । औ० । जीवा० । बह्वर्थे, सूत्र० १ भु० १ अ० १ उ० ।
निपातस्याऽध्ययत्वेन, अव्ययस्य च “सदृशं त्रिषु विज्ञेयु, सर्वास्तु
च विभक्तिषु । वचनेषु च सर्वेषु, यत्र व्येति तदव्ययमिति” ॥ १ ॥
बहुत्वप्रतिपादनात् । औ० । “अथेगइया दुअषाणी” । सन्त्येक-
काः ब्राह्मणिनः । जी० ३ प्रतिष्ठा अस्तिशब्दस्यार्थं निपातस्त्रिकाह-
विषयः । आचा० १ भु० ४ अ० ४ उ० । त्रिकालवर्तिषु विद्यमानेषु
अर्थेषु, अभूवद् भवन्ति भविष्यन्ति च इति प्रत्ययवत्सु,
स्था० ३ डा० १ उ० । “अतिथि णं जंतं । जीवाणं पाणाद्वापणं
किरिया कज्जह” । म० १ शृ० १ उ० । आच० । “अतिथि य १ निञ्चो
२ कुण्डे, ३ कयं च वेदे ४ अतिथि निव्वाणं ५ । अतिथि य मोक्खो-
वाओ, ६ उः सम्मत्तस्स जाणाई” ॥ १ ॥ प्रव० १४८ द्वा० । येन येन
यदा यदा प्रयोजनं तत् तत्तदा तदाऽस्ति भवति जायते इति ।
अस्य आनन्दहेतुत्वात् सुखजदे च, स्था० १० गा० । प्रवेशे,
स्था० १० गा० । अनु० । वत्त० । अस्तीति निपातः सर्व-
सिद्धवचनः । यदाह शाकटायनन्यासकृत-अस्तीति निपातः
सर्वसिद्धवचनेष्विति । अनु० ।

अतिथि(ण)-अर्थिन्-त्रि० । अर्थशब्दात् अस्यर्थे ‘अर्थाच्चाऽस-
न्निहिते’ इति वार्तिकेन इति । याचके, वाच० । यः परस्मान्मयेदं
अर्थमिति याचते । व्य० १ उ० । अर्थवति ईश्वरे, पञ्चा० १०
१२५

विव० । स्वामिनि, त्रिशे० ।

अतिथि-अस्थिक-पुं० । बहुवीजकवृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १
पद । तत्फले, न० । आचा० १ भु० १ अ० ५ उ० ।

अर्थिन्-त्रि० । याचके, स्वामिनि च । “धणी अतिथो” प्रा० ।

आस्तिक-पुं० । अस्तीति मतिरस्येति आस्तिकः । तत्त्वान्तर-
अवगेषि जिज्ञासकतत्त्वविषये निराकाङ्क्षप्रतिपत्तिमति, ध० ।

यदाह—

“मयइ तमेव सच्चं, निस्सकं जं जिणेहि” पक्षसं ।

सुहपरिणामो सम्मं, कंखाइ वि सुत्ति आरहिओ” ॥ ५ ॥

यत्राप्यस्य मोहवशात्कचन संशयो भवति, तत्राप्यप्रतिहेतय-
मर्गत्वा श्रीजिनभक्तगणिकमाभ्रमणोदिता—

“कथं य मइदुब्बलेणं, तच्चिय आयरिअविहओ वा वि ।

मेअगइणत्तणेण य, नाथावरणोदपणं च ॥ १ ॥

हेअदाहरणासं-जवे अ सइ सुदु जं न बुज्जेअ ।

सव्वसुमयमविहं, तदा वि तं चित्थं म इमं ॥ २ ॥

अणुवकयपराणुमाह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा ।

जिअरागदोसमोहा, यऽनअदा वाइयो तेणं ” ॥ ३ ॥

यथा वा सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनानादङ्करस्य प्रवति नरो मि-
थ्याद्यष्टिः । सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाजिहितमिति । ध० २ अधि० ।

“आस्तिकमतमात्माद्याः, नित्यानित्यात्मका नव पदार्थाः । काल-
नियतिस्वभावे-इवरात्मकतकाः स्वपरसंस्थाः ॥ १ ॥ कालयह-
ज्जानियतीश्वरस्वभावात्मनश्चतुरसीतिः” ॥ स्था० ४ गा० ४

उ० । आव० । जीवा० । चार्वाकादिभिन्नदर्शनस्वीकर्तेरि-
च । न० । तं० ॥

अतिथिकाय-अस्तिकाय-पुं० । अस्तीत्यर्थं त्रिकालवचनो नि-
पातः, अभूवद् भवन्ति भविष्यन्ति चेति प्रावना । अतो-
ऽस्ति च ते प्रदेशानां कायाश्च राशय इति अस्तिशब्देन प्र-
देशप्रदेशाः कचिदुच्यन्ते, ततश्च तेषां वा कायाः अस्तिकायाः ।
स्था० ४ गा० १ उ० । अव्ययविशेषेषु धर्मास्तिकायादिषु,
म० २ शृ० १० उ० । दर्श० । आ० चू० ।

ते च—

चत्वारि अतिथिकाया अजीवकाया पञ्चत्ता । तं जहा-
धम्मतिथिकाए अधम्मतिथिकाए आगासतिथिकाए पोमल-
तिथिकाए । चत्वारि अतिथिकाया अरुविकाया पञ्चत्ता । तं
जहा-धम्मतिथिकाए, अधम्मतिथिकाए, आगासतिथिकाए,
जीवतिथिकाए ।

अजीवकाया अचेतनत्वादिति अस्तिकाया मूर्त्ताऽमूर्त्ता भवन्ती-
त्यमूर्त्तप्रतिपादनाय अरुण्यस्तिकायसूत्रम् । रूपं मूर्त्तिवर्णा-
दिमत्त्वं, तदस्ति येषां ते रूपिणः, तत्पर्युदासादारूपिणोऽमूर्त्ता
इति । स्था० ४ डा० ४ उ० । जी० । इत्या० ।

एते प्रदेशाग्रेण तुल्याः—

चत्वारि पपसग्गेणं तुक्षा पक्षत्ता । तं जहा-धम्मतिथिका-
ए, अधम्मतिथिकाए, लोगागासे, एगे जीवे ।

प्रदेशाग्रेण प्रदेशप्रमाणेन तुल्याः समानाः सर्वेषामेषामसं-
ख्यातप्रदेशत्वात् । स्था० ४ गा० ३ उ० ।

ज्ञानगुणस्य प्रतिप्राणिस्वसंवेदनसिद्धत्वात् क्लीबस्यास्तित्वमव-
गन्तव्यम् । न च गुणिनमन्तरेण गुणसत्ता युक्ता, अतिप्रसङ्गात् ।
न च देह एवास्य गुणी युज्यते, यतो ज्ञानममूर्त्तं चिद्रूपं सदेव, इ-
न्द्रियगोचरातीतत्वादिधर्मापेतम्, अतः तस्यानुरूप एव कश्चिद्
गुणी समन्वेपणीयः । स च जीव एव, न तु देहः, विपरीतत्वात् ।
यदि पुनरनुरूपोऽपि गुणानां गुणी कल्प्यते, तर्ह्यनवस्था । रूपादि-
गुणानामप्याकाशादेर्गुणित्वकल्पनाप्रसङ्गादिति । पुद्गलास्तिका-
यस्य तु घटादिकार्यान्वयाऽनुपपत्तेः, प्रत्यक्षत्वाच्च सत्त्वं प्रती-
तमेवेति । अनु० ।

अस्तिकायानामस्तिकायत्वम्—

एगे जंते ! धम्मत्थिकायप्पदेसे धम्मत्थिकाए चि वत्त-
व्वं सिया ? । गोयमा ! णो इण्णहे समहे, एवं दोन्नि वि तिन्नि
वि चत्तारि पंच ढ सत्त अट्ठ नव दस संखेज्जा असंखेज्जा
जंते ! धम्मत्थिकायप्पदेसा धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सि-
या ? । गोयमा ! णो इण्णहे समहे, एगपदेसूणे वि य णं
धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया ? । णो इण्णहे समहे,
से केण्णहेणं भंते ! एवं बुच्चइ, एगे धम्मत्थिकायप्पदेसे नो
धम्मत्थिकाये चि वत्तव्वं सिया, जाव एगपदेसूणे वि य णं
धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया । से णूणं
गोयमा ! खंने चक्के सगले चक्के ? । जगवं ! नो खंने चक्के स-
गले चक्के । एवं ठत्ते धम्मे दंने दूसे आउहे मोयए । से
तेण्णहेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ, एगे धम्मत्थिकायप्पदेसे णो
धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया० जाव एगपदेसूणे वि य णं
धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया । से किं
खाइए णं जंते ! धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया । गोयमा !
असंखेज्जा धम्मत्थिकायप्पएसा, ते सव्वे कसिणा पडि-
पुष्ठा निरवसेसा एक्कगहणगहिया । एस णं गोयमा !
धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया । एवं अहम्मत्थिकाए वि ।
आगासत्थिकायजीवत्थिकायपोगलत्थिकाए वि एवं चेव,
नवरं तियहं पि पएसा अण्णंता जाणियव्वा, सेसं तं चेव ।

(खंडे चक्के इत्यादि) यथा अण्णं चक्रं चक्रं न भवति, अण्ण-
चक्रमित्येवं तस्य व्यपदिश्यमानत्वात्, अपि तु सकलमेव चक्रं
चक्रं भवति । एवं धर्मास्तिकायः प्रदेशेनाप्यूनो न धर्मास्तिकाय
इति वक्तव्यः स्यात् । एतच्च निश्चयनयदर्शनम् । व्यवहारजन्यम-
ते तु एकदेशेनोनमपि वस्तु वस्त्वेव । यथा अण्णोऽपि घटो घट
एव, छिन्नकण्ठोऽपि श्वा श्वेव । भणति च—“एकदेशविकृतमन-
न्यवदिति” । (से किं खाइए चि) अथ किं पुनरित्यर्थः । (संखे
चि) समस्तास्ते च देशापेक्षयाऽपि भवन्ति, प्रकारकात्स्न्येऽपि
सर्वशब्दप्रवृत्तेः । इत्यत आह—(कसिण चि) कृत्वा न तु
तदेकदेशापेक्षया सर्व इत्यर्थः । ते च स्वस्वभावरहिता अपि भव-
न्तीत्यत आह—प्रतिपूर्णा आत्मस्वरूपेणाविकल्पाः, ते च प्रदेशा-
न्तरापेक्षया स्वस्वभावान्यूना अपि तथोच्यन्ते इत्याह—(निरव-
सेसा चि) प्रदेशान्तरतोऽपि स्वस्वभावेनान्यूनाः । तथा—(पगगह-
णगहिया चि) एकग्रहणेनैकशब्देन धर्मास्तिकाय इत्येवं वक्त-
व्येन गृहीता ये ते तथा, एकशब्दान्निधेया इत्यर्थः । एकार्थाच्चै-

ते शब्दाः । (पएसा अण्णंता जाणियव्व चि) धर्माधर्मयोर-
संख्येयाः प्रदेशा उक्ताः । आकाशादीनां पुनः प्रदेशा अनन्ता वा-
च्याः ; अनन्तप्रदेशकत्वाभ्यानामपीति । उपयोगगुणो जीवा-
स्तिकायः प्राग्दर्शितः । ज० २ श० १० उ० ।

प्रदेशनिपूदनम्—

एयंसि णं भंते ! धम्मत्थिकायअहम्मत्थिकायआगा-
सत्थिकायंसि चक्रिया केइ आसइत्तए वा सुइत्तए वा चि-
ट्ठित्तए वा णिसीयत्तए वा, तुयट्ठित्तए वा ? । णो इण्णहे समहे,
अण्णंता पुण तत्थ जीवा आगाढा । से केण्णहेणं भंते ! एवं
बुच्चइ—एयंसि णं धम्मत्थि० जाव आगासत्थिकायंसि नो च-
क्रिया केइ आसइत्तए वा० जाव आगाढा । गोयमा ! से जहा
णामए कूमागारसाला सिया दुहआं वित्ता गुत्ता गुत्तदुवारा
जहा रायप्पसेणइज्जे० जाव दुवारवयाणां पिहेति । दुवार०
तांसे य कूमागारसालाए बहुमज्जदेसजाए जह्खेणं एक्को
वा दो ना तिप्पि वा । उक्कोसेणं पदीवसहस्सं पदीवेज्जा,
से णूणं गोयमा ! ताओ पदीवलेस्साओ असमससंव-
वाओ असमसपुट्ठाओ० जाव आममसधरुत्ताए चिट्ठित्त,
इंता चक्रिया णं गोयमा ! केइ तासु पदीवलेस्सासु आसइ
त्तए वा० जाव तुयट्ठित्तए वा । जगवं ! णो इण्णहे समहे ।
अण्णंता पुण तत्थ जीवा आगाढा । से तेण्णहेणं गोयमा !
एवं बुच्चइ० जाव आगाढा ॥

एतस्मिन् णमिति वाक्यालङ्कारे (चक्रिय चि) शफनुयात् ।
कश्चित्पुरुषः । ज० १३ श० ४ उ० ।

प्रमाणम्—

धम्मत्थिकाए णं जंते ! केमहालए पप्पत्ते ? । गोयमा !
लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ता
णं चिट्ठइ । एवं अहम्मत्थिकाए लोयाकासे जीवत्थिकाए
पोगगहत्थिकाएक्काजिहवावा ॥

(केमहालए चि) सुसजाचप्रत्ययत्वाभिर्देशस्य, किं महत्त्वं
यस्यासौ किमहत्त्वः । (लोए चि) लोको लोकप्रमितत्वात्,
लोकव्यपदेशाद्वा, उच्यते च—“पंचत्थिकायमहं लोयमित्यादि”
लोके चासौ वर्तते । इदं चाप्रश्नितमप्युक्तम्, शिष्यहितत्वाद्वा-
चार्यस्येति । लोकमात्रो लोकपरिमाणः, स च किञ्चिन्न्यूनोऽपि
व्यवहारतः स्यादित्यत आह—(लोयप्पमाणे चि) लोकप्रमाणो
लोकप्रदेशप्रमाणत्वात्तत्प्रदेशानाम् । स चान्योन्यानुबन्धेन स्थित
इत्येतदेवाह—(लोयफुडे चि) लोकेन लोकाकाशेन सकलस्व-
प्रदेशैः स्पृष्टो लोकस्पृष्टः । तथा लोकमेव च सकलस्वप्रदेशैः
स्पृष्टा तिष्ठतीति पुद्गलास्तिकायो लोकं स्पृष्टा तिष्ठतीत्यनन्तरमु-
क्तमिति । भ० २ श० १० उ० ।

वर्णगन्धरसादिः—

धम्मत्थिकाए णं कति वप्पे, कति गंधे, कति रसे, कति
फासे ? । गोयमा ! अवन्ने अगंधे अरसे अफासे अरूवी
अजीवे सासए अवट्ठिए लोयदव्वे, ते समासओ पंचविहं
पप्पत्ते । तं जहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ गु-

सद्व्याप कयरे कयरेहिंनो अप्पा वा ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे एगे आगासत्थिकाए दव्वट्ठयाए, सो चेव पदेसट्ठयाए अणंतगुणा । एतस्म एं जंते ! जीवत्थिकायस्स दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंनो अप्पा वा ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे जीवत्थिकाए दव्वट्ठयाए, सो चेव पदेसट्ठयाए असंखिज्जगुणा । एतस्स एं जंते ! पोगलत्थिकायस्स दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंनो अप्पा वा ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पोगलत्थिकाए दव्वट्ठयाए, सो चेव पदेसट्ठयाए असंखिज्जगुणा, अद्दासमए ण पुच्छिज्जइ, पदेसाचावा ।

सर्वस्तोको धर्मास्तिकायो द्रव्यार्थतया, एकत्वात् । प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, श्लोकाकाशप्रदेशपरिमाणप्रदेशात्मकत्वात् । एवमधर्मास्तिकायस्त्वनपि भावनीयम् । आकाशास्तिकायो द्रव्यार्थतया सर्वस्तोकः, एकत्वात् । प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, अपरिमितत्वात् । जीवास्तिकायो द्रव्यार्थतया सर्वस्तोकः, प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, प्रतिजीवं श्लोकाकाशप्रदेशभावात् । तथा-सर्वस्तोकः पुद्गलास्तिकायो द्रव्यार्थतया, द्रव्याणां सर्वत्वापि स्नोकत्वात् । स एव पुद्गलास्तिकायस्तद्व्यपेक्षया प्रदेशार्थतया चिन्त्यमानोऽसंख्येयगुणः । ननु बहवः खलु जगत्पन्तप्रदेशका अपि स्कन्धा विद्यन्ते, ततोऽनन्तगुणः कस्मात् भवन्ति ? तद्युक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । इह हि स्वस्या अनन्तप्रदेशकाः स्कन्धाः ; परमाणवादयस्तथैव ह्यः । तथा वक्ष्यति सूत्रम्-“स-व्यथोधा यणंतपपसिया खंधा दव्वट्ठयाए, परमाणुपोगला द-व्वट्ठयाए अनन्तगुणा, संखेज्जपपसिया खंधा दव्वट्ठयाए सं-खेज्जगुणा, असंखेज्जपपसियाए खंधा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा” इति । ततो यदा सर्वे एव पुद्गलास्तिकायाः प्रदेशार्थतया चिन्त्यन्ते तदा अनन्तप्रदेशकानां स्कन्धानामतिस्तोकत्वात्पर-माणूनां चातिपटुत्वात्तेषां च पृथक् २ द्रव्यत्वात् असंख्येयप्रदेशकानां च स्कन्धानां परमाण्वेक्षया असंख्येयगुणत्वादसंख्येय-गुण एवोपपद्यते, नान्नागुणः । (अद्दासमए ण पुच्छिज्जइ ति) अद्दासमयो द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया न पृच्छ्यते । कुतः ? , इ-त्याह-प्रदेशाभावात् । आह-कोऽयमद्दासमयानां द्रव्यार्थतानि-यमः, यावता प्रदेशार्थनाऽपि तेषां विद्यते यः ? तथाहि-यथा अ-नन्तानां परमाणूनां समुदायस्कन्धो भण्यते, स च द्रव्यः, तद्व-यवाश्च प्रदेशाः तथेहापि सकलः कालो द्रव्यम्, तद्वयवाश्च स-मयाः प्रदेशा इति । तद्युक्तम् । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकवैयर्थ्यात्, परमा-णूनां समुदायः तदा स्कन्धो भवति, यदा ते परस्परसापेक्षतया परिणमन्ते, परस्परनिरपेक्षाणां केवलपरमाणूनामिव स्कन्धत्वा-योगात् । अद्दासमयास्तु परस्परं निरपेक्षा एव, वर्तमानसमय-भावे पूर्वापरसमययोरद्वाभावात् । ततो न स्कन्धत्वपरिणामः । तदभावाच्च नाद्दासमयाः प्रदेशाः, किं तु पृथक् द्रव्याण्येवेति ।

सम्यग्रमीपां धर्मास्तिकायादीनां सर्वेषां युगपद् द्रव्यार्थप्र-देशार्थतयाऽल्पवहुत्वमाह-

एएसि एं जंते ! धम्मत्थिकाय अधम्मत्थिकाय आगासत्थि-काय जीवत्थिकाय पोगलत्थिकाय अद्दासमया एं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंनो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए

आगासत्थिकाए य, एए णं तिन्नि वि तुल्ला, दव्वट्ठयाए स-व्वत्थोवा धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए य, एए एं दोषि वि तुल्ला पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जीवत्थिकाए दव्व-ट्ठयाए अणंतगुणे, सो चेव पदेसट्ठयाए असंखिज्जगुणे, पोगलत्थिकाए दव्वट्ठयाए अणंतगुणे, सो चेव पपसट्ठ-याए असंखेज्जगुणे, अद्दासमए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए अणं-तगुणे, आगासत्थिकाए पदेसट्ठयाए अणंतगुणा ॥

(एएसि णं जंते ! इत्यादि) धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायः, एते त्रयोऽपि द्रव्यार्थतया तुल्याः, सर्वस्तो-काश्च प्रत्येकमेकसंख्याकत्वात् ३ । तेभ्यो धर्मास्तिकायोऽधर्मा-स्तिकायः, एतौ ह्यापि प्रदेशार्थतयाऽसंख्येयगुणौ, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः ५ । तभ्यां जीवास्तिकायो द्रव्यार्थतया अनन्तगु-णः, अनन्तानां जीवद्रव्याणां भावात् ६ । स एव जीवा-स्तिकायः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, प्रतिजीवमसंख्येयानां प्र-देशानां भावात् ७ । तस्मादपि प्रदेशार्थतया जीवास्तिकाया-स्तुप्पलास्तिकायो द्रव्यार्थतया अनन्तगुणः, प्रतिजीवप्रदेशं ज्ञा-नावरणीयादिकर्मपुद्गलस्कन्धानामप्यनन्तानां भावात् ८ । स एव पुद्गलास्तिकायः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, अत्र भावना प्रागिव ९ । तस्मादपि प्रदेशार्थतया पुद्गलास्तिकायात् अद्दासमयो द्रव्यार्थतया अनन्तगुणः, अत्रापि भावना प्रागिव १० । तस्मादप्या-काशास्तिकायः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, सर्वार्थेऽपि दिक्षु वि-दिक्षु तस्यान्तर्भावात्, अद्दासमयस्य च मनुष्यक्षेत्रमात्रभावात् ११ । गतमस्तिकायम् । प्रज्ञा ३ पद । “ चउहिं अतिकाएहिं शोणे फुदे पन्नसे । तं जहा-धम्मत्थिकाएणं अधम्मत्थिकाएणं जीवत्थिकाएणं पोगलत्थिकाएणं ” एवा ४ ज ३ ३ उ० ।

अथवा-

कइ णं भंते ! अतिकाया पएणत्ता ? । गोयमा ! पंच अतिकाया पएणत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थि-काए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोगलत्थिकाए ।

धर्मास्तिकायादीनां चोपन्यासेऽयमेव क्रमः । तथाहि-धर्मा-स्तिकायादिपदस्य माहूलिकत्वाद् धर्मास्तिकाय आदावुक्तः, तदनन्तरं च तद्विपक्षत्वाद् धर्मास्तिकायः । ततश्च तदाधारत्वाद् आ-काशास्तिकायः । ततोऽनन्तत्वाद् सूक्ष्मत्वसाधर्म्याज्जीवास्तिका-यः, ततस्तदुपपन्नकत्वात् पुद्गलास्तिकाय इति ॥ म० २ श० १० उ० । तेषामस्तित्वम् । अत्र च जीवपुद्गलानां गत्यन्यथाऽनुपपत्ते-र्धर्मास्तिकायस्य तेषामेव स्थित्यन्यथाऽनुपपत्तेरधर्मास्तिकायस्य सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । न च वक्तव्यं तत्रतिस्थिती च भविष्यतः, धर्माधर्मास्तिकायं च न भविष्यत इति । प्रतिबन्धानावादाने-कान्तिकेतेति । तानन्तरेणापि तदभणनेऽल्लोकेऽपि तत्प्रसङ्गात् । यद्विपक्षलोकेऽपि तद्वर्ततिस्थिती स्यातां, तदाऽल्लोकस्यानन्त-त्वाद्भोकाभिगन्त्य जीवपुद्गलानां तत्र प्रवेशवेकद्विषादिजीवपु-द्गलयुक्तः सर्वथा तच्छून्यो वा कदाचिद्भोक्तः स्यात्, नैतद् दृष्टमिदं चेत्याद्यन्यदपि क्षणजालमप्यस्ति, नोच्यते ग्रन्थविस्तरभया-दिति । आकाशं तु जीवादिपदार्थानामाधारः, अन्यथाऽनुपपत्ते-रस्तीति श्रेयम् । न च धर्माधर्मास्तिकायावेव तदाधारौ प्रविष्यत इति वक्तव्यम् । तयोस्तत्रतिस्थितिसाधकत्वेनोक्तत्वात् । न चान्यसाध्यं कार्यमन्यः प्रसाधयति, अप्रसङ्गात् । इति घटादि-

सत् " इति वचनात् । आ०म० द्वि० । ['खणियवाद्' शब्दऽस्य उपपत्तिर्दृष्ट्या] गुणभेदे, "तत्राऽस्तित्वं परिज्ञेयं, सद्भूतत्व-
गुणः पुनः" । तत्र इदं परिज्ञेयम्-सत्तया यो जवति यस्मा-
त्सद्भूततया व्यवहारो जायते, स चास्तित्वगुणः । उच्यते ०११
अध्या० । धर्मधर्मिणोरभेदात् सद्भवस्तुनि, भ० ।

यस्य वस्तुनो यथैवास्तित्वं तथैव जगवता तीर्थकरेण प्रकृत-
मिति दिदर्शयिष्येथावद् वस्तुपरिणामं दर्शयन्नाह—

से णूणं भंते ! अस्थित्तं अस्थित्ते परिणमद्, णत्थित्तं
णत्थित्ते परिणमद् ? । हुंता गोयमा ! ० जाव परिणमद् ॥

(से णूणमित्यादि) [अस्थित्तं अस्थित्ते परिणमद् इति]
अस्तित्वमङ्गुल्यादेरङ्गुल्यादिजावेन सत्त्वम् । उक्तं च— " स-
र्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च । अन्यथा सर्वभावाना-
मेकत्वं संप्रसज्यते " ॥ १ ॥ तच्चेह श्रुजुत्वादिपर्यायरूपमव-
सेयम्; अङ्गुल्यादिङ्गुल्यास्तित्वस्य कथं चिदङ्गुत्वादिपर्यायाव्य-
तिरिक्तत्वात् । अस्तित्वेऽङ्गुल्यादेरेवाङ्गुल्यादिभावेन सत्त्वे
वक्रत्वादिपर्याय इत्यर्थः । परिणमति-तथा भवति । इदमुक्तं
भवति-द्रव्यस्य प्रकारान्तरेण सत्ता प्रकारान्तरसत्तायां व-
र्तते । यथा-सृष्टव्यस्य पिण्डप्रकारेण सत्ता घटप्रकारसत्ताया-
मिति । (नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमद् इति) नास्तित्वमङ्गु-
ल्यादेरङ्गुल्यादिजावेनास्तित्वम्, तच्चाङ्गुल्यादिजाव एव । तत-
श्चाङ्गुल्यादेर्नास्तित्वमङ्गुल्यादिस्तित्वरूपमङ्गुल्यादेर्नास्तित्वेऽङ्गुल्या-
देः पर्यायान्तरेणान्तरविरूपे परिणमति । यथा-सृष्टो नास्तित्वं
तन्वादिरूपं सृष्टास्तित्वरूपे पट्टे इति, अथवा अस्तित्वमिति
धर्मधर्मिणोरभेदात्सद्वस्तुस्तित्वे सत्त्वे परिणमति । सत्सदेव
भवति, नात्यन्तं विनाशि स्यात् । विनाशस्य पर्यायान्तरग-
मनमात्ररूपत्वात् । दं।पादिविनाशस्यापि तमिस्त्रादिरूपतया
परिणामात् । तथा नास्तित्वमत्यन्ताजावरूपं यत् खरविषा-
णादि, तन्नास्तित्वेऽत्यन्ताजाव एव वर्तते । नात्यन्तमसतः
सत्त्वमस्ति, खरविषाणस्येवेति । उक्तं च— " नासतो जायते
भावो, नाभावो जायते सतः " । अथवा अस्तित्वमिति धर्म-
भेदात्सद्वस्तित्वे सत्त्वे वर्तते । यथा-पटः पटत्व एव । नास्तित्वे
चाह-नास्तित्वे सत्त्वे वर्तते, यथाऽपटोऽपटत्व एवेति ।

अथ परिणामहेतुर्दर्शनायाह—

जं तं भंते ! अस्थित्तं अस्थित्ते परिणमद्, णत्थित्तं णत्थि-
त्ते परिणमद्, तं किं पओगसा, वीससा ? । गोयमा ! प-
ओगसा वि तं वीससा वि तं ॥

(जं तमित्यादि) (अस्थित्तं अस्थित्ते परिणमद् इति) पर्यायः
पर्यायान्तरतां यातीत्यर्थः । (णत्थित्तं णत्थित्ते परिणमद् इति) व-
स्त्वन्तरस्य पर्यायः-तत्पर्यायान्तरतां यातीत्यर्थः । (पओगसा चि)
सकारस्याऽऽगमिकत्वात्प्रयोगेण जीवव्यापारेण । (वीससा चि)
यद्यपि लोके विस्मयशब्दो जरापर्यायतया कृदस्तथापीह समा-
चार्यो दृश्यः । इह प्राकृतत्वाद् 'वीससाप' इति वाक्ये वीससेत्युक्त-
मिति । अत्रोत्तरम्—(पओगसा वि तं ति) प्रयोगेणापि तदस्ति-
त्वादि, यथा-कुलालव्यापाराद् मृत्पिण्डो घटतया परिणमति,
अङ्गुलिश्रुजुता वा वक्रतयेति । अपिः समुच्चये । (वीससा वि-
तं ति) यथा-शुभ्राश्रमशुभ्राश्रतया । नास्तित्वस्यापि नास्तित्व-
परिणामे प्रयोगविस्मययोरेतान्येवोदाहरणानि । वस्तुन्तरापेक्ष-

या मृत्पिण्डादेरस्तित्वस्य नास्तित्वात् । सत्सदेव स्यादिति व्या-
ख्यानान्तरेऽप्येतान्येवोदाहरणानि, पूर्वोत्तरावस्थयोः सद्रूपत्वा-
दिति । यदप्यज्ञावोऽज्ञाय एव स्यादिति व्याख्यातम्, तत्रापि प्र-
योगेणापि तथा विस्मयस्याऽपि अज्ञावो भाव एव स्यात्, न प्र-
योगादेः साफल्यमिति व्याख्येयमिति । ज० ।

अयोक्तस्वरूपस्यैवार्थस्य सत्यत्वेन प्रज्ञापनीयतां दर्शयितुमाह—
से णूणं जंते ! अस्थित्तं अस्थित्ते गमणिज्जं जहा परि-
णमद् दो आलावगा, तहा गमणिज्जेण वि दो आलावगा
जाणियन्वा, जाव तहा मे अस्थित्तं अस्थित्ते गमणिज्जं, जहा
ते जंते ! एत्थं गमणिज्जं, तहा ते इह गमणिज्जं, जहा
ते इह गमणिज्जं तहा ते इत्थं गमणिज्जं ? । हुंता गोयमा !
जहा मे इत्थं गमणिज्जं तहा मे इह गमणिज्जं ॥

अस्तित्वमस्तित्वे गमनीयं सद्रूपसत्त्वेनैव प्रज्ञापनीयमित्य-
र्थः । (दो आलावगा चि) (से णूणं जंते ! अस्थित्तं अस्थित्ते गमणि-
ज्जमित्यादि) 'पओगसा वि तं वीससा वि तं' इत्येतदन्त एकः,
परिणामभेदाभिधानात् । 'जहा ते जंते ! अस्थित्तं अस्थित्ते
गमणिज्जमित्यादि' तदा 'मे अस्थित्तं अस्थित्ते गमणिज्जं'
इत्येतदन्तस्तु द्वितीयोऽस्तित्वनास्तित्वपरिणामयोः समता-
भिधायीति । एवं वस्तुप्रज्ञापनाविषयां समभावनां जगवतोऽ-
भिधायाथ शिष्यविषयां तां दर्शयन्नाह—'जहा ते इत्यादि' यथा
स्वकीयपरकीयताऽनपेक्षतया समत्वेन विहितमिति प्रकृत्या उप-
पकारवृद्ध्या वा ते तत्र भदन्त ! [एत्थं चि] एतस्मिन्म-
यि सन्निहिते स्वशिष्ये गमनीयं वस्तुप्रज्ञापनीयम् । तथा तेनैव
समताद्वयप्रकारेण उपकारधिया वा [इहं ति] इहास्मि-
न् गृहिपात्रपिरुकादौ जने गमनीयं वस्तुप्रकाशनीयमिति प्रश्नः ।
अथवा [एत्थं ति] स्यात्मानि यथा गमनीयं सुखाप्रियत्वादि, तथा
इह परात्मानि । अथवा यथा प्रत्यक्षाधिकरणार्थतया एत्थमि-
त्येतच्छब्दरूपमिति गमनीयम्, तथा इह इत्थमित्येतच्छब्दरू-
पमिति, समानार्थत्वाच्चयोरपीति । ज० १ श० ३ उ० ॥

अस्थिभाव-अस्तित्ताव-पुं० । विद्यमानभावे, "अस्थिभावो चि
वा विज्जमाणभावो चि वा एगद्धा" आ० चू० १ अ० ।

अस्थि (थि) र-अस्थिर-त्रि० । न० त० । प्राकृते—" सधयध-
भाम् " ङ । १ । ७७ । इति थस्य प्राप्तमपि इत्वं प्रायिकत्वात्
जवति । प्रा० । अहदे, ओघ० अतरे, नि० चू० १० उ० । धृति
संज्ञनहीनत्वेन बलहीने, व्य० ३ उ० । चले च, उत्त० २० अ० ।
अपरिचिते, " अस्थिरस्स पुण्वगदियस्स वत्तणा जं इह थि-
रीकरणं " पञ्चा० १२ विव० । जीर्णे, आचा० २ श्रु० ३ अ० २ उ० ।
अस्थास्तुद्रव्ये, ज० ।

अस्थिरं प्रबोदति स्थिरं वा प्रबोदति इति चिन्तयन्नाह—

से णूणं जंते ! अस्थिरे पलोदइ, नो थिरे पलोदइ, अ-
स्थिरे जज्जइ, नो थिरे जज्जइ, सासए वाअए वालियत्तं
असासयं सासए पंडिए पंभियत्तं असासयं ? । हुंता गोयमा !
अस्थिरे पलोदइ ० जाव पंभियत्तं असासयं, सेवं जंते !
जंते ! चि० जाव विहरइ ।

(अस्थिरे चि) अस्थास्तु द्रव्यं लोष्टादि, प्रबोदति परिवर्तते, अ-

णओ । दन्वओ णं धम्मत्थिकाए एगे दन्वे, खेत्तओ झोग-
प्पमाणमेत्ते, कालओ न कयाइ न आसि न कयाइ न-
त्थि जाव निवे, भावओ अवन्ने अंगंघे अरसे अफासे,
गुणओ गमणगुणे । अधम्मत्थिकाए वि एवं चेव, नवरं गु-
णओ णाणगुणे । आगामत्थिकाए वि एवं चेव, नवरं से-
त्तओ णं आगासत्थिकाए लोयाझोयप्पमाणमेत्ते अणंते
चेव जाव गुणओ अवगाहगुणे । जीवत्थिकाए णं भंते !
कइ वसो, कइ गंधे, कइ रमे, कइ फासे ! गोयमा ! अवन्ने
जाव अरूवी जीवे सासए अवट्टिए लोणदन्वे, से समासओ
पंचविहे पएणत्ते । तं जहा-दन्वओ० जाव गुणओ । दन्व-
ओ णं जीवत्थिकाए अणंताइ जीवदन्वाइ, खेत्तओ झो-
गप्पमाणमेत्ते, कालओ न कयाइ न आसि० जाव निवे,
जावओ पुण अवन्ने अंगंघे अरसफासे, गुणओ उव-
ओगगुणे । पोग्गलत्थिकाए णं भंते ! कइ वएणे, कइ गं-
धरसफासे ! गोयमा ! पंचवन्ने पंचरमे दुगंधे अट्टफासे
रूवी अजीवे सासए अवट्टिए लोणदन्वे । से समामओ पं-
चविहे पएणत्ते । तं जहा-दन्वओ सेत्तओ कालओ भाव-
ओ गुणओ । दन्वओ णं पोग्गलत्थिकाए अणंताइ दन्वाइ,
खेत्तओ लोयप्पमाणमेत्ते, कालओ न कयाइ न आसि०
जाव निवे, जावओ वण्णमंते गंधरसफासमंते, गुणओ ग-
हणगुणे ॥

(अथये इत्यादि) यत एवाथर्णादिरत एवाकपी अमूर्त्तः, न तु
निःस्वभावः, नञः पर्युदासवृत्तित्वात् । शाश्वतो ह्यव्यतोऽव-
स्थितः प्रदेशतः (लोणदन्वे चि) लोकास्य पञ्चास्तिकायात्म-
कस्यांशचूर्तं ह्ययं लोकद्रव्यम् । भावत इति पर्यायतः (गुण-
ओ चि) कार्यतः [गमणगुणे चि] जीवपुञ्जानां गतिपरिण-
तानां गत्युपग्रहमहेतुः, मत्स्यानां जलमिवेति । [णाणगुणे चि] जी-
वपुञ्जानां स्थितिपरिणतानां स्थित्युपग्रहमहेतुः, मत्स्यानां सल-
मिवेति । [अवगाहगुणे चि] जीवादीनामवकाशहेतुः, वदराणां
कुरुरमिव । [उवभागगुणे चि] उपयोगश्चैतत्सं साकारानाका-
रभेदम् । [गहणगुणे चि] ग्रहणं परस्परं सम्बन्धनं जीवि-
न वा, औदारिकादिभिः प्रकारैरिति । भ० २ श० १० उ० ।

अवगाहनादयः-

धम्मत्थिकाए णं भंते ! केमहाद्वए पएणत्ते ! गोयमा !
लोणं लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफूने लोयं चेव उग्गाहि-
त्ताणं चिट्ठति, एवं जाव पोग्गलत्थिकाए । अहे लोए णं
जंते ! धम्मत्थिकायस्स केवइयं ओगाढे ! गोयमा ! साइरेणं
अर्धं ओगाढे, एवं एएणं अजिलावेणं जहा वियइसए०
जाव ईसिप्पञ्जारणं । जंते ! पुढवीओयागासस्स किं सं-
खेज्जइजागं ओगाढा पुच्छा ! गोयमा ! णो संखेज्जइजागं
ओगाढा, असंखेज्जइजागं ओगाढा, णो संखेज्जइजागे
ओगाढा, णो असंखेज्जइजागे ओगाढा, णो सव्वं लो-
यं ओगाढा, सेसं तं चेव ।

“धम्मत्थिकाएणं भंते !” इत्यादिरालापकः; तत्र च नवरं
केवलं “लोयं चेव फुसित्ताणं चिट्ठं ति” । एतस्य स्थाने-
“लोयं चेव ओगाहिताणं चिट्ठं” इत्ययमिलापो इदं इति ।
ज० २० श० २ उ० ॥

(अस्तिकायानां विषयेऽन्ययुक्तिकः सह विप्रतिपत्तयः ‘अणणउ-
त्थिय’ शब्देऽस्मिन्नेव जागे ४४६ पृष्ठे दर्शिताः)

मध्यप्रदेशाः-

कइ णं जंते ! धम्मत्थिकायस्स मज्झप्पदेमा पएणत्ता !
गोयमा ! अट्ट धम्मत्थिकायस्स मज्झप्पदेमा पएणत्ता ।
कइ णं जंते ! अट्ट धम्मत्थिकायस्स मज्झप्पदेमा पएणत्ता !
गोयमा ! एवं चेव । कइ णं जंते ! आगासत्थिकायस्स मज्झ-
प्पदेमा पएणत्ता ! गोयमा ! एवं चेव । कइ णं जंते ! जीवत्थि-
कायस्स मज्झप्पदेमा पएणत्ता ! गोयमा ! अट्ट जीवत्थिकाय-
स्स मज्झप्पदेमा पएणत्ता । एएसि णं जंते ! अट्ट जीव-
त्थिकायस्स मज्झप्पदेमा कइसु आगासपदेमेसु ओगाढा
होति ! गोयमा ! जहणयेणं एकांसि वा दाहिं वा तिहिं
वा चण्हिं वा पंचहिं वा अहिं वा उक्कासेणं अइसु णो
चेव णं सत्तसु । सेवं भंते ! भंते ! चि ॥

प्रत्येकं जीवानामित्यर्थः । ते च सर्वस्यामवगाहनार्थां मध्य-
प्राग एव जवन्तीति मध्यप्रदेशा उच्यन्ते । (जहणेणं एकांसि ये-
त्यादि) सङ्कोचविकाशधर्मन्यासेनाम् । (उक्कासेणं अइसु
चि) एकैकस्मिन्नेव तेषामवगाहनात् । (नो चेयं णं सत्तसु चि)
वस्तुस्वभावादिति । भ० २५ श० ४ उ० ॥ स्था० । (अस्तिका-
यविषयं काशोदायिसंवादः ‘अणणउत्थिय’ शब्देऽस्मिन्नेव भा-
गे ४४६ पृष्ठे दर्शितः)

अतिथिकायधम्म-अस्तिकायधर्म-पुं० । अस्तयः प्रदेशास्तेषां
कायो राशिरस्तिकायः । स एव (संज्ञया) धर्मो गतिपर्याये जीव-
पुञ्जयोर्धारणावित्यस्तिकायधर्मः । स्था० १० जा० । गत्युप-
ग्रहमलक्षणधर्मास्तिकायनामके ह्यव्यधर्मः, स्था० ३ जा० ३ उ० ॥

अतिथिक्-अस्तिक्य-न० । अस्तीति मतिरस्येत्यास्तिकाः ।
तस्य जावः कर्म वा आस्तिक्यम् । तत्त्वान्तरावयणेऽऽपि जिनो-
क्तत्रविषये निराकाङ्क्षायां प्रतिपत्तौ, ध० २ अधि० । अस्तिका-
यादिविषयास्तिकधर्माद्यायाम्, दश० । सन्ति खलु जिनेन्द्रो-
पदिष्टा अतीन्द्रिया जीवपरलोकादयो जावा इति । परिणामे,
ध० २ अधि० । संथा० ।

अतिथिण (न) तिप्पवाय-अस्तिनास्तिप्रवाद-न० । यल्लो-
के यथाअस्ति यथा वा नास्ति; अथवा स्याद्वाज्ञिप्रायत-
स्तदेवास्ति, तदेव नास्तीत्येवं प्रवदतीति । स० । यन्नस्तु लो-
केऽस्ति धर्मोस्तिकायादि, यन्न नास्ति खरभृङ्गादि, तत्प्रवदती-
ति । अथवा सर्वं वस्तु स्वरूपेणास्ति, पररूपेण नास्तीति प्रव-
दतीति, अस्तिनास्तिप्रवादम् । चतुर्थे पूर्वश्रुते, न० । तस्य पदपरि-
माणं पट्ठिपदशतसहस्राणि । स० । “अतिथिणत्थिप्पवायपुव्व-
स्स णं अट्ठारस वत्थु दस वूलिया वत्थु पण्णा” । न० ।

अतिथि-अस्तित्व-न० । अस्ति-भावे त्व । विद्यमानत्वे, दश०
१ अ० । अर्थक्रियाकारित्वे, “यदेयार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थं

व्युत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वाच्च कायाकारपरिणतेऽन्युपगमः । नापि प्रागविद्यमानस्य चैतन्यमुत्पद्यते, आहोस्विद्विद्यमानं तावदविद्यमानम्; अतिप्रसङ्गात्, अन्युपेतागमलोपाद्धा । अथ विद्यमानमेव सिद्धं तर्हि जीवत्वं तथाऽऽत्माऽद्वैतवाद्यपि वाच्यः । यदि पुरुषमात्रमेवेदं सर्वम्, कथं घटपटादिषु चैतन्यं नोपलभ्यते ? तथा तदैक्यभेदनिबन्धनानां पक्षहेतुदृष्टान्तानामभावात्साध्यसाधनाभावः तस्मान्नैकान्तेन जीवाजीवयोरप्रावः, अपि तु सर्वपदार्थानां स्याद्वादाश्रयणाज्जीवः स्यादजीवः, अजीवोऽपि च स्याज्जीवः । इत्येतच्च स्याच्चादाश्रयणं जीवपुद्गलयोरन्योन्यानुगतयोः शरीरस्य प्रत्यक्तयाऽप्येकैवोपपन्नमाद्वयमिति ॥ १३ ॥

जीवास्तित्वे च सिद्धे तन्निबन्धनयोः सदसत्क्रियाद्वाराऽऽयातयोर्धर्माधर्मयोरस्तित्वप्रतिपादनायाह—

णत्थि धम्मे अधम्मे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि धम्मे अधम्मे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १४ ॥

(णत्थि धम्मे अधम्मे वेत्यादि) धर्मः श्रुतचारित्र्यात्मको जीवस्यात्मपरिणामः कर्मकृत्यकारणमात्मपरिणामः, एवमधर्मोऽपि मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकपाययोगरूपः कर्मबन्धकारणमात्मपरिणाम एव । तावन्चूतो धर्मोऽधर्मौ काश्चस्वभावनियतींश्चरादिमतेन न विद्यते इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । काद्यादय एवास्य सर्वस्य जगद्वैचित्र्यस्य धर्माधर्माव्यतिरेकेणैकान्ततः कारणमित्येवमभिप्रायं कुर्यात्, यतः त एवैकका न करणम्, अपि तु समुदिता एवेति । तथा चोक्तम्—“न हि कालादीर्हितो, केवलहेतितो जायए किंचि । इह मुग्गरं धणां वि, ता सव्वे समुदिया हेतु ” ॥१॥ इत्यादि । यतो धर्माधर्ममन्तरेण संसारवैचित्र्यं न घटामियति, इत्यतोऽस्ति धर्मः सम्यग्दर्शनादिकः, अधर्मश्च मिथ्यात्वादिक इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेदिति ॥१४॥

सतोश्च धर्मोऽधर्मयोर्वन्धमोक्तसदृभाव इत्येतद्वर्णयितुमाह—

णत्थि वंधे व मोक्खे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि वंधे व मोक्खे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १५ ॥

[णत्थि वंधे व मोक्खे वा इत्यादि] बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशात्मकतया कर्मपुद्गलानां जीवेन स्वव्यापारतः स्वीकरणम् । न चामूर्त्तस्यात्मनो गगनस्येव न विद्यत इत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत् । तथा तदभावाच्च मोक्षस्याप्यभाव इत्येवमपि संज्ञां नो निवेशयेत् । कथं तर्हि संज्ञां निवेशयेत् ? इत्युत्तरार्त्तेन दर्शयति— अस्ति बन्धः कर्मपुद्गलैर्जाविस्य, इत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति । यत्तुच्यते—मूर्त्तस्यामूर्त्तिमता संबन्धो न युज्यत इति । तदयुक्तम् । आकाशस्य सर्वव्यापितया पुद्गलैः संबन्धो दुर्निवार्यः, तदभावे तद्वापित्वमेव न स्याद् अन्यथास्य विज्ञानस्य हृत्पूरमादिरादिना विकारः समुपलभ्यत, न चासौ संबन्धमृते । अतो यत्किञ्चिदेतत् । अपि च—संसारिणाममुपमतां सदा तैजसकार्मणशरीरसद्भावादात्यन्तिकममूर्त्तत्वं न भवतीति । तथा तत् प्रतिपक्कचूतो मोक्षोऽप्यस्ति, तद्भावे बन्धस्याप्यप्रावः स्यात्, इत्यतोऽप्येव बन्धनापगमस्वभावो मोक्षोऽस्तीत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥१५॥

बन्धसद्भावे चावश्यंभावी पुण्यपापसद्भाव इत्यतस्तद्भावं निषेधद्वारेणाह—

णत्थि पुष्से व पावे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि पुण्ये व पावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १६ ॥

नास्ति न विद्यते पुण्यं शुभकर्मप्रकृतिवृत्तणम्, तथा पापं तद्विपर्ययलक्षणं नास्ति न विद्यते इत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत् । तदभावप्रतिपत्तिनिबन्धनं त्विदम्—तत्र केषां चिन्नास्ति पुण्यं, पापमेव ह्युत्कर्षावस्थं सत्पुण्यदुःखनिबन्धनम् । तथा—परेषां पापं नास्ति, पुण्यमेव ह्यपचीयमानं पापं कार्यं कुर्यादिति । अन्येषां तृमयमपि नास्ति । संसारवैचित्र्यं तु नियतिस्वभावादिकृतम् । तदेतदयुक्तम् । यतः पुण्यपापशब्दौ संबन्धिशब्दौ, संबन्धिशब्दानामेकस्य सत्ता परसत्त्वानान्तरीयकतो, नेतरस्य सत्तेति । नाप्युजयाभावः शक्यते वक्तुम्, निबन्धनस्य जगद्वैचित्र्यस्याभावात् । न हि कारणमन्तरेण क्वचित्कार्यस्योत्पत्तिर्दृष्टा । नियतिस्वभावादिविवादस्तु नष्टोत्तराणां पादप्रसारिकाणां पादप्रसारिकाप्रायः । अपि च—तद्भावेऽन्युपगम्यमाने सकलक्रियावैयर्थ्यम्, तत् एव सकलकार्योत्पत्तिः । इत्यतोऽस्ति पुण्यं पापं चेत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । पुण्यपापे चैवं रूपं, तद्यथा—“पुद्गलकर्मशृङ्गं य—सत्पुण्यमिति जिनशास्त्रेन दृष्टम् । यदशुभमथ तत्पाप—मिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम् ” इति ॥ १६ ॥

न कारणमन्तरेण कार्यस्योत्पत्तिरतः पुण्यपापयोः प्राशुक्योः कारणभूतावाश्रवसंवरौ तत्प्रतिषेधद्वारेण दर्शयितुं काम आह—

णत्थि आसवे संवरे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि आसवे संवरे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १७ ॥

(णत्थि आसवे संवरे वेत्यादि) आश्रवति प्रविशति कर्म येन स प्राणातिपातादिरूप आश्रवः कर्मोपादानकारणम् । तथा—तन्निरोधः संवरः । एतौ द्वावपि न स्त इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । तदभावप्रतिपत्त्या शङ्काकारणं त्विदम्, कायवाङ्मनःकर्मयोगः स आश्रव इति यथेदमुक्तं तथेदमप्युक्तमेव—“ उच्चा—लियम्मि पाप इत्यादि ” ततश्च कार्यादिव्यापारेण कर्मबन्धो न भवतीति । युक्तिरपि—किमयमाश्रव आत्मनो भिन्नः, उताऽभिन्नः ? । यदि भिन्नो नामासावाश्रवो घटादिवदभेदेऽपि नाश्रवत्वम्, सिद्धात्मनामपि आश्रवप्रसङ्गात् । तदभावे च तन्निरोधवृत्तणस्य संवरस्याप्यभावः सिद्ध एव । इत्येवमात्मकमध्यवसायं न कुर्यात् । यतो यत्तदनैकान्तिकत्वं कायव्यापारस्य “उच्चालयम्मि पाप ” इत्यादिनोक्तं, तदस्माकमपि सम्मतमेव । यतोऽयमस्माभिरप्युपयुक्तकर्मबन्धोऽन्युपगम्यते । निरुपयुक्तस्य कर्मबन्धः, तथा भेदाभेदोभयपक्षसमाश्रयणात्तदेकपक्षाभितदोपाभावः । इत्यस्याश्रवसद्भावः, तन्निरोधश्च संवर इति । उक्तं च—“ योगः शुद्धः पुण्या—श्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः । वाकायमनोगुप्ति—भिराश्रवः संवरस्तूक्तः ” ॥१॥ इत्यतोऽस्त्याश्रवस्तथा संवरश्चेत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥१७॥

आश्रवसंवरसदृभावे चावश्यंभावी वेदनानिर्जरासदृभाव इत्यतस्तं प्रतिषेधद्वारेणाह—

णत्थि वेयणा णिज्जरा वा, णेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि वेयणा णिज्जरा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १८ ॥

(णत्थि वेयणेत्यादि) वेदना कर्मानुभववृत्तणा, तथा—निर्जरा कर्मपुद्गलशाटनवृत्तणा । एते द्वे अपि न विद्येते, इत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत् । तदभावं प्रत्याशङ्काकारणमिदम् । तद्यथा—“पल्लोपमसागरोपमशतानुभवनीयं कर्मान्तर्मुहूर्तेनैव क्षयमुपयाति ” इत्यन्युपगमात् । तदुक्तम्—“जं अष्ठाणी कम्मं, खवेइ यहुयाई वास-

ध्यात्मचिन्तायामस्थिरं कर्म तस्य जीवप्रदेशेऽप्यः प्रतिसमयच-
लेनेनास्थिरत्वात् प्रवेष्टयति, चन्द्रोदयनिर्जरादिपरिणामैः प-
रिवर्तते, स्थिरं शिलादि न भवेत्तु । अध्यात्मचिन्तायां तु
स्थिरो जीवः, कर्मकृत्येऽपि तस्य अवस्थितत्वात्सां प्रवेष्टति,
उपयोगप्रकृणस्वभावाच्च परित्यजेत । तथा अस्थिरं जडस्वभावं
नृणादि प्रज्यते विदलयति । अध्यात्मचिन्तायामस्थिरं कर्म त-
द्भज्यते व्यपैति, नथा स्थिरमनश्चरन्त्यशत्राकादि न ज्यते,
अध्यात्मचिन्तायां स्थिरा जीवः, स च न भज्यते, शाश्वतत्वादि-
नि । जीवप्रस्ताधादिदनाह—(सासप वाज्ञे त्ति) बालको
व्यवहारतः शिशुः, निश्चयतोऽसंयतो जीवः, स च शाश्वतः, द्रव्य-
त्वात् । (वाग्निवत्तं ति) इह कप्रत्ययस्य स्वाधिक्याद्बालत्वम्,
व्यवहारतः शिशुत्वम्, निश्चयनस्य संयतत्वम् । तच्च शाश्वतम्,
पर्यायत्वादिनि । एवं पणिरुतमृगमपि, नवरं पणिरुतो व्यवहारेण
शास्त्रज्ञो जीवः, निश्चयतस्तु संयत इति । भ० १ श० १५ उ० ।
अनस्य च, स्थिरा नाम येषां तत्रैव गृहाणि, अस्थिरा येषाम-
न्यत्र गृहाणि । सू० १ उ० ।

आस्थि (धि) रुक्क—अस्थिरपदक—न० । अस्थिराऽशुभदुर्भग-
दुःस्वराऽनादेयाऽपशः कीर्तिरूपे नामकमेतदपदके, कर्म० १
कर्म० ।

आस्थि (धि) रणाम (ण)—अस्थिनामन्—न० । यदुदया-
त्कर्णज्जिह्वायवयवा अस्थिराश्चपञ्चा जयन्ति, तस्मिन् नाम-
कमेतदे, कर्म० १ कर्म० ।

आस्थि (धि) रतिग—अस्थिरत्रिक—न० । अस्थिराऽशुभाऽ-
वशः कीर्तिसंज्ञे कर्मत्रिके, कर्म० ४ कर्म० ।

आस्थि (धि) रदुग—अस्थिरद्विक—न० । अस्थिराशुनायवे
कर्मद्विके, कर्म० २ कर्म० ।

आस्थि (धि) रवय—अस्थिरव्रत—त्रि० । अस्थिराणि गृहीत-
मुक्तनया चलानि प्रतान्यस्येत्वास्थिरव्रतः । कदाचिद् व्रतं गृ-
ह्णाति कदाचिद् मुञ्चति । उच० २० प्र० ।

आस्थि (धि) वाय—अस्तिवाद—पुं० । सतां यस्तूनां सत्त्वा—
भ्युपगमं, यथा—“ अस्थि य गिह्यो कुर्याद, कथं च वेपद् अस्थि
गिह्याणं । अस्थि य मोक्नोवाग्नो, उः सम्मत्तस्स ताणाहं” ॥१८॥
प्रय० १४० द्वा० । एतमेवास्तिवादं समयसरणं जगवांस्तोर्थकर
आवयति । त्रि० । लोकादीनां यस्तुतः सत्त्वमस्तिवत्त्वमङ्गीकार्य-
मेवाऽन्यथा त्वनाचार इति ।

सर्वशून्यवादमतनिरासेन लोकाद्योक्तयोः प्रविभागेनास्तित्वं
प्रतिपादयितुकाम आह—

एतिय लोए अलोए वा, एव सन्नं निवेशए ।

अतिय लोए अलोए वा, एवं सन्नं निवेशए ॥ १५ ॥

यदि वा सर्वत्र धीर्यमस्ति, नास्ति सर्वत्र धीर्यम्, इत्यनेन सा-
मान्येन वस्तुस्थित्युक्तम् । तथाहि—सर्वत्र वस्तुनो धीर्यं शक्ति-
रर्थक्रियासामर्थ्यं मनसः स्वविषयज्ञानोत्पादनम्, तच्चैकान्तेना-
त्यन्ताभावाच्छशविषयाणादेरप्यस्तित्वं संज्ञां न निवेशयेत्, स-
र्वत्र धीर्यं नास्तीति नो एवं संज्ञां निवेशयेदिति । अनेनावाशिष्टं
वस्तुस्थित्वं प्रसाधितम् । इदानीं तस्यैव वस्तुन ईषद्विशे-
षितत्वेन लोकाद्योक्तरूपतयाऽस्तित्वं प्रसाधयन्नाह—(एतिय लोए

अलोए इत्यादि) लोकाद्युत्तराद्वस्तुस्थित्युक्तयोः धर्माधर्माकाशादिप-
ञ्चास्तिकायात्मको वा स नास्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् ।
तथाऽऽकाशास्तिकायात्मकस्यैकः, स च न विद्यत एवेत्येवं
संज्ञां नो निवेशयेत् । तदभावप्रतिपत्तिनिवन्धनं त्विदम् । त-
द्यथा—प्रतिभासमानं वस्तुवयवद्वारेण वा प्रतिभासेत, अवय-
विद्वारेण वा । तत्र न तावदवयवद्वारेण प्रतिभासनमुत्पद्यते, निरं-
शपरमाणूनां प्रतिभासमानासम्भावत्सर्वास्तीयाप्रागस्य परमा-
णवात्मकत्वात्, तेषां च कृत्रस्थविक्रानेन छद्ममप्यप्यत्वात् । तथा
चोक्तम्—“यावद् दृश्यं परस्ताव-ज्ञातः स च न दृश्यते । निरंशस्य
च नागस्य, नास्ति उपलब्धदर्शनम्” ॥१॥ इत्यादि । नाप्यवयवद्वारेण
विकल्प्यमानस्यावयविन एवाभावात् । तथाहि—असौ स्वावयवेषु
प्रत्येकं सामस्येन वा वर्तते, अशांशभावेन वा । सामस्येनाव-
यविवदुत्पत्तिप्रसङ्गात् । नाप्यंशेन, पूर्वविकल्पानतिक्रमेणानवस्थाप्र-
सङ्गात् । तस्माद्विचार्यमाणं न कथंचिद्वस्तुत्वात्मकं भावं लभते । त-
तस्तत्सर्वमेवैतन्मायास्वप्नेन्द्रजालमदमरीचिकाविधानसदृशम् ।
तथा चोक्तम्—“यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, विधिर्यन्ते तथा तथा ।
यद्येते स्ययमर्थिन्यो, रोचन्ते तत्र के वयम्” ॥१॥ इत्यादि । त-
देव वस्तुजाये तद्विशेषज्ञातलोकाभावाः सिद्ध एवेत्येवं नो संज्ञां
निवेशयेत्, किन्त्यस्ति लोका उर्ध्वाधस्तियैर्ग्रहो वैशाखस्थानस्य-
तकटिन्यस्तकरयुग्मपुरुषसदृशः, पञ्चास्तिकायात्मको वा । तद्व-
तिरिक्तत्वात् लोकाऽप्यस्ति, संवन्धिशब्दत्वात् लोकावयवस्याऽनुपपत्ते-
रिति भावः । युक्तिश्चात्र—यदि सर्वं नास्ति, ततः सर्वान्तःपातित्वा-
त्प्रतिषेधकोऽपि नास्ति, इत्यतस्तदभावात् प्रतिषेधाभावाऽपि च
सति परमार्थभूते वस्तुनि मायास्वप्नेन्द्रजालादिव्यवस्था । अन्य-
था किमाश्रित्य, को वा मायादिकं व्यवस्थापयत् ? इति । अपि
च—“सर्वाभावो यथाभीष्टो, युक्त्यभावे न सिध्यति । साऽस्ति चेत्स-
य नस्त वं, तस्मिन् सर्ववस्तु सत्” ॥१॥ इत्यादि । यदप्यवय-
वावयविविभागकल्पनया दूषणमभिधीयते, तदस्याहृतमतानजि-
घ्रेन । तन्मतं वैयंजुतम् । तद्यथा—नैकान्तेनावयवा एव, नाप्य-
वयवेष्वेव चेत्यतः स्याद्वादाश्रयणात्पूर्वोक्तविकल्पदोषानुपप-
त्तिरित्यतः कथंचिल्लोकोऽस्येवमलोकोऽपीति स्थितम् ॥१२॥

तदेवं लोकालोकास्तित्वं प्रतिपाद्याधुना तद्विशेषभूतयो-
र्जीवाजीवयोस्तित्वप्रतिपादनायाह—

एतिय जीवा अजीवा वा, एव सन्नं निवेशए ।

अतिय जीवा अजीवा वा, एवं सन्नं निवेशए ॥ १३ ॥

(एतिय जीवा अजीवा चेत्यादि) जीवा उपयोगलक्षणाः
संसारिणो मुक्ता वा, तेन विद्यन्ते—तथा अजीवाश्च, धर्माधर्माका-
शपुत्रलकालात्मका गतिस्थित्यवगाहानच्छायातपोद्योतादिच-
र्तनालक्षणा न विद्यन्ते इत्येवं संज्ञां परिज्ञानं नो निवेशयेत्, ना-
स्तित्वनिवन्धनं त्विदम्, प्रत्यक्षेणानुपलभ्यमानत्वात् । जीवा न
विद्यन्ते, कायाकारपरिणामानि मृतान्येव धावनवद्वगनादिकां क्रियां
कुर्वन्तीति । तथाऽऽप्ताद्वैतवादादमताभिप्रायेण—“पुरुष एवेदं सर्वं
यद्भूतं यच्च भाव्यम्” इत्यागमात् । तथा अजीवा न विद्यन्ते, स्वै-
र्यैव चेतनाचेतनस्यात्ममात्रनिर्यातित्वात्, नो एवं संज्ञां निवेशये-
त् । किं त्वस्ति जीवः सर्वस्यास्य सुखदुःखादेर्निवन्धनकृतः स्व-
संविच्चिसिद्धोऽहंप्रत्ययग्राहः, तथा तद्वतिरिक्ता धर्माधर्माकाश-
पुत्रलादयश्च विद्यन्ते । सकलप्रमाणज्येष्ठेन अर्थक्षेणानुपलभ्यमान-
त्वात् । तदुणानां मृतचैतन्यवादीव वाच्यः किं तानि भवदभि-
प्रेतानि मृतानि नित्यानि, वत अनित्यहृदी यदि नित्यानि, ततोऽऽ-

पृथिव्याश्रिता अपि नारकाः समानजातीयाश्रयणादेकप्रकारा एव । तथा तिर्यञ्चोऽपि पृथिव्यादयः स्थावराः, तथा द्वित्रिचतुः-पञ्चेन्द्रियाश्च द्विपट्टियोनिबद्धकप्रमाणाः सर्वेऽप्येकविधा एव । तथा मनुष्या अपि कर्मभूमिजाऽकर्मभूमिजान्तरद्वीपकसंमूर्च्छ-नजात्मकजन्मनादत्यैकविधत्वेनैवाश्रिताः । तथा देवा अपि ज-वनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकजन्मेन भिन्ना एकविधत्वेनैव गृ-हीताः । तदेवं सामान्यविशेषाश्रयणात्तुर्विध्यं संसारस्य व्यव-स्थितम्; नैकविधत्वम्, संसारवैचित्र्यदर्शनात् । नाप्यनेकविध-त्वम्, सर्वेषां नारकादीनां स्वजात्यनतिक्रमादिति ॥ २३ ॥ २४ ॥

सर्वभावानां सप्रतिपक्षत्वात्संसारसदृजावे सति अवश्यं त-द्विमुक्तिलक्षणया सिद्ध्याऽपि ज्ञवितव्यमित्यतोऽधुना सप्रति-पक्षां सिद्धिं दर्शयितुमाह—

णत्थि सिद्धी असिद्धी वा, ऐवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि सिद्धी असिद्धी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २५ ॥

(णत्थि सिद्धीत्यादि) सिद्धिरशेषकर्मच्युतिवृत्तकणा, तद्विपर्यस्ता आसिद्धिर्नास्तीत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत्, अपि त्वसिद्धेः संसार-विबद्धकणायाश्चातुर्विध्यनानन्तरमेव प्रसाधिताया अविगाने नास्ति त्वं प्रसिद्धम्, तद्विपर्ययेण सिद्धेरप्यस्तित्वमनिवारितमित्यतोऽ-स्तिसिद्धिरसिद्धिवैत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति स्थितम् । इदमुक्तं ज्ञवति-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकस्य मोक्षमार्गस्य सदावर्क-मैक्यस्य च, पीडोपशमादिनाऽप्येकैव दर्शनात् । अतः कस्यचिद-त्यान्तकर्मदानसिद्धेरस्ति सिद्धिरिति । तथा चोक्तम्—“दोपा-वरणयोर्हानि-निर्दोषाऽस्त्यतिशायिनी । क्वचिद्यथा स्वहेतुज्यो, बहिरन्तर्मैक्यम्” ॥ १ ॥ इत्यादि । सर्वज्ञसद्भावोऽपि संज्ञवानुमा-नाद् रूपव्ययः । तथा हि-अभ्यस्यमानायाः प्रज्ञाया व्याकरणादिना शास्त्रसंस्कारेणोत्तरोत्तरवृद्ध्या प्रज्ञातिशयो रूपव्ययः । तत्र क-स्यचिद्व्यन्तातिशयप्राप्तेः सर्वज्ञत्वं स्यादिति संभवानुमानेन चैत-दाशङ्कनीयम् । तद्यथा-ताप्यमानमुदकमत्यन्तोष्णतामियाज्जगि-साङ्गवेत् । तथा—“दशहस्तान्तरं व्योम्नि, यो नामोत्प्लुत्य गच्छ-ति । न योजनमसौ गन्तुं, शक्तोऽज्यासशतैरपि” ॥ १ ॥ इति ह्यष्टान्त-द्राष्टान्तिकयोरसाम्यात् । तथाहि-ताप्यमानं जलं प्रतिक्षणं क्षयं गच्छेत्, प्रज्ञा तु विवर्धते । यदि वा प्लोपोपलब्धेरव्याहतमग्नि-त्वम् । तथा ध्वनविषयेऽपि पूर्वमर्यादाया अनतिक्रमाद्योज-जनोत्पन्नवनाज्जावस्तत्परित्यागे चोत्तरोत्तरं वृद्ध्या प्रज्ञाप्रकर्षगम-नवद्योजनशतमपि गच्छेत्, इत्यतो ह्यष्टान्तद्राष्टान्तिकयोरसा-म्यात्तदेवं नाशङ्कनीयमिति स्थितम् । प्रज्ञावृद्धे च बाधकप्रमा-णाभावादस्ति सर्वज्ञत्वप्राप्तिरिति । यदि वाऽज्ञानचृतसमुद्रक-ह्यष्टान्तेन जीवाकुञ्चत्वाज्जगतो हिंसाया दुर्निवारत्वात्सिद्ध्याभा-वः । तथा चोक्तम्—“जले जीवाः स्थले जीवाः, आकाशे जीवमा-लिनि । जीवमाद्याऽऽकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः ?” ॥ १ ॥ इत्यादि । तदेवं सर्वस्यैव हिंसकत्वात्सिद्ध्याभाव इति । तदेतद-युक्तम् । तथाहि-सदोषयुक्तस्य पिहिताश्ववद्वारस्य पञ्चसमिति-समितस्य त्रिगुणशुभस्य सर्वथा निरवाद्यानुष्ठायिनो द्विचत्वा-रिंशद्दोषरहितमिक्काभुज ईर्यासमितस्य कदाचिद्व्ययतः प्राणि-व्यपरोपणेऽपि तत्कृतबन्धाभावः, सर्वथा तस्यानवद्यत्वात् । तथा चोक्तम्—“उत्थाद्येयस्मि पाप” इत्यपि प्रतीतम्, तदेवं कर्म-बन्धाभावात्सिद्धेः सद्भावोऽव्याहतः; सामर्थ्यभावादसिद्धि-सद्भावोऽपीति ॥ २५ ॥

साम्प्रतं सिद्धानां स्थाननिरूपणायाह—

णत्थि सिद्धी नियं ठाणं, ऐवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि सिद्धी नियं ठाणं, एवं सन्नं निवेसए ॥ २६ ॥

सिद्धेरशेषकर्मच्युतिवृत्तकणाया निजं स्थानमीपत्रागमाराख्यं व्य-वहारतः, निश्चयतस्तु तदुपरि योजनक्रोशपरम्भागस्तत्प्रतिपाद-कप्रमाणाभावात्स नास्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, यतो बाधक-प्रमाणाभावात्साधकस्य चागमस्य सद्भावात् तत्सत्ता दुर्निवार-ति । अपि च-अपगताशेषकलमपाणां सिद्धानां केनचिद्विशिष्टेन स्थानेन भाव्यम्, तच्चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्याग्रचूतं द्रष्ट-व्यम् । न च शक्यते वक्तुमाकाशवत्सर्वव्यापिनः सिद्धा इति । यतो लोकलोकव्याप्याकाशम् । नचालोके परद्रव्यास्याकाशमा-त्ररूपत्वात् लोकमात्रव्यापित्वमपि नास्ति, विकल्पाधुनपपत्तेः । त-थाहि-सिद्धावस्थायां तेषां व्यापित्वमन्युपगतम्; उत प्रागपि? न तावत्सिद्धावस्थायाम्, तदव्यापित्वमवने निमित्ताभावात् । ना-पि प्रागवस्थायाम्, तद्भावे सर्वसंसारिणं प्रति नियतसुखदुःखानु-जयो न स्यात् । न च शरीराद्वहिरवस्थितमवस्थानमस्ति, तत्स-त्तानिवन्धनप्रमाणस्याभावात् । अतः सर्वव्यापित्वं विचार्यमाणं न कथञ्चिद् घटते । तद्भावे च लोकोग्रमेव सिद्धानां स्थानम् । त-द्वतिश्च कर्मविमुक्तस्योर्ध्वं गतिरिति । तथा चोक्तम्—“लाभो परं-रुफले, भग्नी धुमे वसू धणुविमुक्ते । गह पुण्यपमोगेण, एवं सि-द्धाण वि गईओ” ॥ १ ॥ इत्यादि । तदेवमस्ति सिद्धिः, तस्याश्च निजं स्थानमित्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ २६ ॥

साम्प्रतं सिद्धेः साधकानां तत्प्रतिपक्षभूतानामसाधूनां चास्ति-त्वं प्रतिपिपादयिषुः पूर्वपक्षमाह—

णत्थि साहू असाहू वा, ऐवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि साहू असाहू वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २७ ॥

नास्ति न विद्यते ज्ञानदर्शनचारित्रक्रियोपेनो मोक्षमार्गव्यवस्थि-तः साधुः, संपूर्णस्य रत्नत्रयानुष्ठानस्याभावात्, तदभावाच्च तत्प्र-तिपक्षभूतस्यासाधोरप्यभावः, परस्परपेक्षितत्वात् । एतच्चव-स्थानस्यैकतराभावे द्वितीयस्याप्यभाव इत्येवं संज्ञां नो निवेशये-त्, अपि त्वस्ति साधुः, सिद्धेः प्राप्तसाधितत्वात् । सिद्धिसत्ता च न साधुमन्तरेण । अतः साधुसिद्धिस्तत्प्रतिपक्षभूतस्य वाऽसाधोरि-ति । यश्च संपूर्णरत्नत्रयानुष्ठानाभावः प्रागाशङ्कितः, स सिद्धान्ता-भिप्रायमनुधैव । तथाहि-सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्यारकाद्विष्टस्य स-त्संयमवतः श्रुतानुसारेणाऽऽहारादिकं श्रुद्धुर्बुद्ध्या गृह्यतः क-चिदज्ञानादनेपणीयग्रहणसंज्ञवेऽपि सततोपयुक्ततया संपूर्णमेव रत्नत्रयानुष्ठानमिति । यश्च प्रहयमिदं चाभक्ष्यम्, गम्यमिदं चा-गम्यम्, प्रासुकमेषणीयमिदमिदं च विपरीतमित्येवं रागद्वेषसंभ-वेन समजावरूपस्य सामायिकस्याभावः कैश्चिच्चोद्यते, तत्तेषां चोदनमज्ञानविजृम्भणात् । तथाहि-न तेषां सामायिकवतां साधूनां रागद्वेषतया ज्ञद्याज्ञद्यादिविवेकोऽपि तु प्रधानमो-क्षाङ्गस्य सच्चारित्रस्य साधनार्थमपि चोपकारापकारयोः सम-भावतया सामायिकम्, न पुनर्मक्ष्याज्ज्ञययोः समभाववृत्त्ये-ति ॥ २७ ॥

तदेवं मुक्तिमार्गप्रवृत्तस्य साधुत्वम्, इतरस्य चासाधुत्वं, प्रव-र्त्याधुना च सामान्येन कल्याणपापवतोः सद्भावं प्रतिषेधनिषे-धद्वारेणाह—

णत्थि कद्धाणपावे वा, ऐवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि कद्धाणपावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २८ ॥

कोडीहि । तस्याणीं तिदि गुप्तो, चयेर ऊसासमितेण " ॥ १ ॥
इत्यादि । तथा क्षपकध्रेण्यां च भट्टित्वेव कर्मणो भस्मोकर-
णात्, यथाक्रमयज्ञस्य चानुभवनाभावे वेदनाया अभावस्तद-
भावाच्च निजराया अपोत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत् । किमिति ?
यतः कस्याचिदेव कर्मण एवमनन्तरकया नीत्या क्षपणात्त-
पसा प्रदेशानुनयेन चापरस्य नृदयोदीरणान्यामनुभवनामि-
त्यनोऽस्ति वेदना । यत आगमोऽप्येवंभूत एव । तद्यथा—“ पु-
त्र्यं दुश्चिन्तायां, दुष्पुत्रिकेनाय कन्गात् । चेत्ता मांफ्ता एतिय
अयेत्ता ” इत्यादि वेदनासिद्धौ च निजराशि सिद्धयेत्य-
तोऽस्ति वेदना निजरा येत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ १८ ॥

वेदनानिजरे च क्रियाऽक्रियत्वं ततस्तदभावप्रतिषेधनिषेधपू-
र्यकं दर्शयितुमाह—

एतिय किरिया अकिरिया वा, एव सन्नं निवेसए ।

अतिय किरिया अकिरिया वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १९ ॥

(एतिय किरिया अकिरिया वा इत्यादि) क्रिया परिस्पन्द-
नक्षया, तद्विपर्यस्ता त्वक्रिया, ते द्वे अपि न स्तो न विद्येते ।
तथाहि—सांख्यानो सर्वव्यापित्यादात्मन आकाशस्येव परि-
निष्ठादिका क्रिया न विद्यते । शाक्यानां तु क्षणिकत्वा-
त्सर्वपदार्थानां प्रतिसमयमन्यथा याऽन्यथात्वेः पदार्थस-
त्वेच, न तद्व्यतिरिक्ता काचित्क्रियाऽस्ति । तथा चोक्तम्—“ भू-
तिर्यथा क्रिया सैव, कारकस्यैव चोच्यते । ” इत्यादि । तथा
सर्वपदार्थानां प्रतिक्षणमवस्थान्तरगमनात्सक्रियात्वम्, अतो
न क्रिया विद्यते इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । किं तर्हि—अ-
स्ति क्रिया अक्रिया येत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । तथाहि—शरी-
रात्मनोर्देशादेशान्तरायातिनिमित्ता परिस्पन्द्यात्मिका क्रिया प्र-
त्यक्षपक्षेपज्ञच्यते, सर्वथा निष्क्रियत्वं चात्मनोऽप्युपगम्यमा-
ने गगनस्येव वण्ममोक्ताधभावः ; स च दृष्टेष्टवाधितः । तथा
शाक्यानामपि प्रत्यक्षेणोत्पत्तिरस्य क्रियेत्यतः कथं क्रियाया भना-
वः । अपिच—यकान्तेन क्रियाऽभावे संसारमोक्षभावः स्यात् ।
इत्यनोऽस्ति क्रिया, तद्विपर्ययता चाक्रिया, इत्येवं संज्ञां
निवेशयेदिति ॥ १९ ॥

तदेवं सक्रियात्मनि सति क्रोधादिसंज्ञाव इत्येनदर्शयितुमाह—

एतिय कोहे वमाणे वा, एव सन्नं निवेसए ।

अतिय कोहे वमाणे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २० ॥

स्वपरात्मनोरप्रीतिलक्षणः क्रोधः, स चानन्तानुबन्धप्रत्याख्या-
नायरणसंन्यस्तनभेदेन चतुर्थाऽऽगमे पठ्यते । तथैतावद्भेद एव
मानो गर्वः । एतौ द्वावपि, न स्तो न विद्येते । तथाहि—क्रोधः के-
याचिन्मतेन मानांश एव, अभिमानप्रवृत्तीतस्य तत्कृतावत्यन्त-
क्रोधोदयदर्शनात् । क्षपकध्रेण्यां च भेदेन क्षपणानुपपन्नात् ।
तथा किमयमात्मधर्मः, आहोस्वित्कर्मणः, उतान्यस्येति । तत्रा-
त्मधर्मत्वे सिद्धानामपि क्रोधादयप्रसङ्गः । अथ कर्मणः, ततस्तद-
न्यकपायोदयेऽपि तदुदयप्रसङ्गात् । मूर्तत्वाच्च कर्मणो हि घटस्ये-
व तदाकारोपलब्धिः स्यात् । अन्यधर्मत्वे त्वकिञ्चित्करत्वम् । अतो
नास्ति क्रोध इत्येवं मानाभावोऽपि वाच्य इत्येवं संज्ञां नो निवे-
शयेत् । यतः कपायः कर्मोदयवर्ती दृष्टेष्टकृतत्रुकुटीरज्ञो रक्तवद-
नो गन्तव्येदमित्तुसमाकुलः क्रोधाधानः समुपलभ्यते । न चा-
सौ मानांशः, तत्कार्याकरणात्, तथा परनिमित्तेत्यापितस्याच्चे-
ति । तथा जीवधर्मकर्मणोरुभयोरप्ययं धर्मस्तद्धर्मत्वेन च प्रत्ये-
१३१

कविचल्पदोषानुपपत्तिः, अनभ्युपगमात् । संसार्यात्मनो कर्म-
णा सार्द्धं पृथग्भवनाभावाच्चतुर्भयस्य च न नरसिंहवद्वस्त्वन्तर-
त्वात् । इत्यनोऽस्ति क्रोधो मानश्चेत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २० ॥

साम्प्रतं मायाशोभयोरस्तित्वं दर्शयितुमाह—

एतिय माया व लोजे वा, एव सन्नं निवेसए ।

अतिय माया व लोजे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २१ ॥

(एतिय माया व लोमेत्यादि) अत्रापि प्राग्वन्मायाशोभयोरभा-
वादीनां निराकृत्यास्तित्वं प्रतिपादनीयमिति ॥ २१ ॥

साम्प्रतं तेषां च क्रोधादीनां समासेनास्तित्वं प्रतिपादयन्माह—

एतिय पेजे व दोने वा, एव सन्नं निवेसए ।

अतिय पेजे व दांसे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २२ ॥

(एतिय वेजेत्यादि) प्रीतिलक्षणं प्रेम पुत्रकलत्रधनधान्याद्या-
त्मोदेषु रागाः, तद्विपरीतस्त्याग्याभ्योपघातकारिणि द्वेषः, तावतौ
द्वावपि न विद्येते । तथाहि—केयांचिदभिप्रायः । यदुत—मा-
याशोभावेवाययौ विद्येते, न तत्समुदायरूपोऽवयव्यस्ति ।
तथा क्रोधमानावेव स्तः, न तत्समुदायरूपोऽवयव्य इति ।
तथा श्वययवभ्यो यद्यभिप्रायोऽवयव्यो तर्हि तद्वेदेनास एव
नासौ । अथ निधः, पृथगुपग्रभः स्यात्, घटपटवत् । इती-
त्येवमसिद्धिकल्पमूढतया नो संज्ञां निवेशयेत् । यतोऽवयवा-
वयविनोः कथांचिद्भेद इत्येवं वेदानेदावयवतृतीयकसमाश्रय-
णात्प्रत्यक्षपक्षाधितदोषानुपपत्तिः । इत्येवं चास्ति प्रीतिलक्षणं
प्रेम, अमोतिब्रह्मणश्च द्वेष इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २२ ॥

साम्प्रतं कपायसंज्ञावे सिद्धे सति तत्कार्यज्ञोऽवयवभावी
संसारसंज्ञाव इत्येतत्प्रतिषेधनिषेधद्वारेण प्रतिपादयितुमाह—

एतिय चाउरंते संसारे, एव सन्नं निवेसए ।

अतिय चाउरंते संसारे, एवं सन्नं निवेसए ॥ २३ ॥

एतिय देवो व देवी वा, एव सन्नं निवेसए ।

अतिय देवो व देवी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २४ ॥

(एतिय चाउरंते इत्यादि) चत्वारोऽन्ता गतिभेदाः नरकतिर्यङ्म-
रामरत्नकृष्णा यस्य संसारस्यासौ चतुरन्तः संसार एव कान्ता-
रः, भयैकहेतुत्वात् । स च चतुर्विधोऽपि न विद्यते; अपि तु सर्वेषां
संस्तिरूपत्वात्कर्मवन्धात्मकतया च दुःखैकहेतुत्वात् । अथवा
नारकदेवयोरनुपलभ्यमानत्वात्तथैकमनुप्ययोरंश सुसुदुःखोत्क-
र्षतया तद्व्यवस्थानाद् द्विविधः संसारः, पर्यायनयाश्रयणात् त्वने
कविधः, अतश्चातुर्विध्यं न कथंचिद् घटत इत्येवं संज्ञां नो निवेशये-
त् । अपि त्यस्ति चतुरन्तः संसार इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । यच्छू-
म्-एकविधः संसारः, तत्रोपपद्यते । यतोऽयत्नेयं तिर्यक्मनुप्ययो-
र्भेदः समुपलभ्यते । न चासायेकविधत्वे संसारस्य घटते । तथा
संभवानुमानेन नारकदेवानामप्यास्तित्वाभ्युपगमाद् द्वैविध्यमपि
न विद्यते । संभवानुमानं तु पुण्यपापयोः प्रकृष्टफलभुजस्तन्म-
ध्यफलभुजां तिर्यक्मनुप्याणां दर्शनात् । अतः संभाव्यते प्रकृ-
ष्टफलभुजां ज्योतिषां च प्रत्यक्षेणैव दर्शनात् । अथ तद्विमाना-
नामुपलभ्यः, एवमपि तदधिष्ठातृभिः कैश्चिद्व्यतिव्यमित्यनुपमा-
नेन गम्यते । प्रवृत्तीतवरप्रदानादिना च तद्वस्तित्वानुमान-
मिति । तद्वस्तित्वं तु प्रकृष्टपुण्यफलभुज इव प्रकृष्टपापफलभु-
गिरपि भाव्यमित्यतोऽस्ति चातुर्विध्यम् । संसारस्य पर्याय-
नयाश्रयणे तु यदनेकविधत्वमुच्यते । तदयुक्तम् । यतः सप्त

किञ्चाऽन्यत्—

दक्षिणाए पमीलंभो, अत्थि वा एत्थि वा पुणो ॥
ए वियागरेज्ज मेहावी, संति मग्गं च बूहए ॥ ३२ ॥

(दक्षिणाए इत्यादि) दानं दक्षिणा, तस्याः प्रतिलभः प्राप्तिः, स दानवाजोऽस्माद्दृष्ट्यादेः सकाशादस्ति नास्ति वेत्येवं न व्यापृणीयात्, मेहावी मर्यादाव्यवस्थितः । यदि वा स्वयूथस्य तीर्थान्तरीयस्य वा दानं ग्रहणं वा प्रतिलभः । स एकान्तनास्ति संभवति, नास्ति वेत्येवं न श्रूयात्, एकान्तेन तद्दानग्रहणनिबंधं दोषोत्पात्तसंज्ञवात् । तथाहि—तद्दाननिषेधेऽन्तरायसंज्ञः, तद्विचित्रं च तद्दानानुमतावप्यधिकरणोद्भव इत्यतोऽस्ति दानं न वेत्येवमकान्तेन न श्रूयात् । कथं तर्हि श्रूयात् ? इति दर्शयति—शान्तिमोक्षः, तस्य मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारिवात्मकः, तमुपबृंहयेद्भवेत् । यथा मोक्षमार्गाजिबुद्धिर्भवति तथा श्रूयादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—पृष्ठः केनचिद्विधिप्रतिषेधमन्तरेण देयप्रतिग्रहकविषयं निरवद्यमेवं श्रूयादित्येवमादिकमन्यदापि ॥ ३२ ॥

साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिघृक्षुराह—

इत्थेएहिं ठाणेहिं, जिणदिद्धेहिं संजए ।

धारयंते उ अप्पाणं, आभोक्त्वाए परिव्वएज्ज । ३३ । जि वेमि ।

इत्येतैरेकान्तनिषेधद्वारेणानेकान्तविधायिभिः स्थानैर्वाक्संयमप्रधानैः समस्ताध्ययनोक्तैः रागद्वेपरहितैर्जिनैर्दण्डरूपलब्धैर्न स्वमतिविकल्पोत्थापितैः, संयतः सन् सयमवानात्मानं धारयन्नभिर्विविधधर्मदेशनावसरे वाच्यम् । तथा चोक्तम्—“सावज्जणवज्जाणं, वयणाणं जो ण जाणइ विसंसे” इत्यादिस्थानैरात्मानं वर्तयन्नामोक्तायाश्चोपकर्मकृत्यार्थं मोक्षं यावत्परि समन्तात्संयमानुष्ठाने ब्रजे, गच्छेत्स्वमिति विधेयस्योपदेशः । इतिः परिसमाप्त्यर्थे । श्रवीमीति पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

अर्थीकरण—अर्थीकरण—न० । अर्थयते अर्थी वा करोति अर्थं जनयते इत्यर्थीकरणम् । राजादीनां प्रार्थने, तैर्वाऽऽत्मनः प्रार्थनाकारणे, नि० चू० ।

जे जिक्खु रायं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥
जे भिक्खु रायरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥
जे जिक्खु एगररक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥
जे जिक्खु गामरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥
जे जिक्खु देसरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥
जे जिक्खु सीमारक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥
जे जिक्खु णिगमरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥
जे जिक्खु सव्वारक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

अत्ययते अत्थी वा, करेइ अत्थं व जणयते जम्हा ।

अत्थीकरणं तम्हा, विज्जादिणिमिचमादीहिं ॥ ३२ ॥

साहू रायाणं अत्थेति प्रार्थयते, साधू वा तदा करोति जहा सो राया तस्स साहुस्स अत्थीभवति, प्रार्थयतीत्यर्थः । साधुर्वा

तस्य राज्ञः अर्थं जनयति । जम्हां एवं करोति तम्हा अत्थीकरणं जणयति । साधू रायाणं जणयति—मम अत्थि विज्जा, निमिचं वा तीताणागतं । ताहे सो राया अत्थीभवति । आदिसदातो रसायणादिजोगा । इमं अत्थीकरणं ।

धातुनिषाणदरिसणे, जणयंतं तत्थ होति सट्ठाणं ।

अत्थी अत्थी अत्थे—ए संतऽसंतेण लहु लहुया ॥ २३ ॥

धातुवादेण वा से अत्थं करोति, महाकालमतेण वा से णिहिं दरिसेति । एवं अत्थं जणयतो सट्ठाणपच्छित्तं, उक्ताया चउसु लहुया । सीहावलोयणेण गतोऽप्यर्थः पुनरुच्यते—अत्थी, अत्थी, अत्थी, पत्तेसु संतेसु मासवहुं, असंते चउलहुं ।

एके एगतरेणं, अत्थीकरणेण जो तु रायाणं ।

अत्थीकरोति भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥ २४ ॥

राया भिक्खुस्स संजम अणुगेलस एतोहिं राया चत्तारि गाहाओ जाव एतेहिं । नि० चू० ४ उ० ।

अत्यु (त्योव) गह—अर्थीवग्रह—पुं० । अर्थयते इत्यर्थः । अर्थस्यावग्रहणमर्थवग्रहः । सकलरूपादिविशेषनिरपेक्षाऽनिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थवग्रहणलक्षणे मतिज्ञानभेदाऽवग्रहभेदे, न० । स० । कर्म० । भू० । स्था० । प्रज्ञा० । “सामन्नरुवाइं विसेसणरहिं यस्स अनिहेसस्स” अवग्रहणमवग्रह इति । न० । प्रव० । अर्थयतेऽधिगम्यते, अर्थयते वाऽन्विष्यते इति अर्थः । तस्य सामान्यरूपस्याशेषनिरपेक्षानिर्देश्यस्य रूपादेरवग्रहणं प्रथमपरिच्छेदमर्थवग्रह इति निर्विकल्पकं ज्ञानं दर्शनमिति यदुच्यते इत्यर्थः । स नैश्चयिको यः स सामयिकः । यस्तु व्यावहारिकः शब्दोऽयमित्याद्युल्लेखवान् सोऽन्तर्माहूर्तिक इति । अयं पञ्चेन्द्रियमनःसंवन्धात् पोढा इति । स्था० २ उ० । (अर्थवग्रहस्य सोपपत्तिकः स्वरूपविवेकः ‘उगगह’ शब्दे द्वितीयभागे ६६८ पृष्ठे द्रष्टव्यः) स च मनःसहितेन्द्रियपञ्चकजन्यत्वात्पोढा । प्रव० २१६ उ० ।

तथा च सूत्रम्—

अत्थोवगगहे एं जंते ! कतिविहे पसुत्ते ? । गोयमा !
छन्विहे पसुत्ते । तं जहा—सोइदीयअत्थोवगगहे ? , चक्खि-
दियअत्थोवगगहे २, घाण्हियअत्थोवगगहे ३, जिब्बि-
दियअत्थोवगगहे ४, फासिदियअत्थोवगगहे ५, नोइदि-
यअत्थोवगगहे ६ ॥ प्रज्ञा० १९ पद । स्था० ।

अथ कोऽयमर्थवग्रहः ? । स्वरिराह—अर्थवग्रहः षड्विधः प्रज्ञसः । तद्यथा—ओत्रेन्द्रियार्थवग्रह इत्यादि । ओत्रेन्द्रियेणार्थवग्रहो व्यञ्जनावग्रहानन्तरकालमेकसामायिकमनिर्देश्यसामान्यरूपार्थवग्रहं ओत्रेन्द्रियार्थवग्रहः । एवं प्राणजिह्वास्पर्शेनेन्द्रियार्थवग्रहेष्वपि वाच्यम् । चक्षुर्मनसोस्तु व्यञ्जनावग्रहो न भवति । ततस्तयोः प्रथममेव रूपद्रव्यगुणक्रियाविकल्पनाऽतीतमनिर्देश्य सामान्यमात्ररूपार्थवग्रहणमर्थवग्रहोऽवसेयः । तत्र—(नोइदियअत्थोवगगहे चि) नो-इन्द्रियं मनः । तच्च द्विधा—द्रव्यरूपं, भावरूपं च । तत्र मनःपर्याप्तिनामकम्मोदयतो यन्मनःप्रायोग्यवर्गणादलिकानादायं मनस्त्वेन परिणमति, तद्रव्यरूपं मनः । तथाचाह चूर्णिकृत्-

(पण्य कल्याणपावे वेत्यादि) यथेष्टार्थफलसम्प्राप्तिः कल्याणः, तत्र विद्यते, सर्वाशुचितया निरात्मकत्वात् । सर्वपदार्थानां यो-
क्ताभिप्रायेण, तथा तदभावे कल्याणशब्दो न कश्चिद्विद्यते, तथाऽऽ-
त्मनूतयाद्यभिप्रायेण पुरुष एवेदं सर्वमिति कृत्वा पापं पाप-
वात् वा न कश्चिद्विद्यते, तदेवमुभयोरप्यत्राद्यः । तथा चोक्तम्-
" विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । मुनि चैव इव-
पाके च, परिभूताः समदर्शिनः " ॥ १ ॥ इत्येवमेव कल्याणपाप-
काजावरूपां संज्ञां नो निवेशयेत् । अपि त्वस्ति कल्याणं, कल्याण-
शब्दो विद्यते, तद्विपर्ययं पापं तद्वद्विद्यते, इत्येवं संज्ञां
निवेशयेत् । तथाहि-नैकान्तेन कल्याणानाया यो यदैरभि-
हितः, सर्वपदार्थानामशुचित्वामनयात्, सर्वाऽशुचित्वं च शुच-
स्याशुचित्वप्रतिपत्तिः । नापि निरात्मनः स्वऽप्यशुचित्वप्रकाशनायापेक्षया
सर्वपदार्थानां विद्यमानत्वात्परऽव्यादिनिस्तु न विद्यन्ते, सदस-
दात्मकत्वाद्बन्धुनः । तदुक्तम्-स्वपरसत्ताव्युदासोपादानां त्वाद्यं
दि बन्धुनो बन्धुत्वमिति । तथाऽऽत्माद्वैतभाषायाज्जात्यापा-
भावोऽपि नास्ति, अद्वैतभावे हि सुखी दुःखी सरोगो नीरोगः
सुरूपः कुरूपो दुर्भगः सुतपोऽर्थवान् दूरिद्रः, तथाऽयमन्तिकोऽयं
तु दूर्वायान् इत्येवमादिको जगद्विषयभावाऽध्यक्षसिद्धोऽपि
न स्यात् । यद्य समदर्शित्वमुच्यते ब्राह्मणचाण्डालादियु, तदपि
समानर्पणोपादननो द्रष्टव्यम्; न पुनः कर्मात्पादितवैविध्यना-
योऽपि तेषां ब्राह्मणचाण्डालादीनामस्तीति । तद्वैधं कथंचिकल्या-
णमस्ति, तद्विपर्ययं तु पापकमिति । न चैकान्तं कल्याणमेव,
यतः केवलानां प्रकीर्णघनघातिकर्मचतुष्टयानां सातासातोदय-
संज्ञावात् । तथा नारकानामपि पञ्चेन्द्रियत्वविशिष्टज्ञानादिस-
ंज्ञायानैकान्तेन नैऽपि पापयन्त इति । तस्मात्कथंचिकल्याणं कथं
चित्पापमिति स्थितम् ॥ २ ॥

तदेवं कल्याणपापयोरनेकान्तरूपत्वं प्रसात्यैकान्तं

दूषयितुमाह—

कल्याणे पावप वा वि, ववहारो ण विज्झइ ।

जं वैरं तं न जाणंति, समणा बालपंडिया ॥२॥

(कल्याणे पावप इत्यादि) कथं सुखमारोग्यं शोभनत्वं वा,
तदणनैति कल्याणम्, तदस्यास्तीति कल्याणः " अर्थे आ-
दिभ्योऽच् " ५ । २ । १२७ ॥ इत्यनेन पाणिनीयसूत्रेण मत्वर्थी-
याऽच्प्रत्ययान्तः, कल्याणयानिति यावत् । पापकशब्दोऽपि
मत्वर्थीयाऽच्प्रत्ययान्तो द्रष्टव्यः, तदेवं सर्वथा कल्याणवा-
नेवायम्, तथा पापयानेवायमित्येवंभूतो व्यवहारो न विद्यते ।
तदैकान्तनूतस्यार्थस्यैवात्मावात् । तदभावस्य च सर्ववस्तूनामने-
कान्ताश्रयणेन प्रापप्रसाधितत्वादिति । एतच्च व्यवहाराभावा-
श्रयणं सर्वत्र प्रागपि योजनीयम् । तद्यथा-सर्वत्र वीर्यमस्ति
नास्ति वा सर्वत्र वीर्यमित्येवंभूत एकान्तिको व्यवहारो न
विद्यते । तथा नास्ति लोकोऽलोको वा, तथा सन्ति जीवा अजी-
वा इति वेत्येवंभूतो व्यवहारो न विद्यते इति सर्वत्र संवन्धनी-
यम् । तथा वैरं वज्रं तद्वत्कर्म वैरं, विरोधो वा वैरम्, तयेन
परोपतापादिनैकान्तपक्षसमाश्रयणेन वा भवति, तत्ते अमणा-
स्तीर्थिका बाला इव बाह्या रगद्वेषकक्षिताः परिभूताभिमानिनः
ह्युक्तकर्मदर्पाभ्यां न जानन्ति, परमाधैतूतस्याहिसालकृणस्य
धर्मस्थानेकान्तपक्षस्य चाऽनाश्रयणादिति । यदि वा यदैरं तत्ते
अमणा बाह्याः परिभूता वा न जानन्तीत्येवं वाचं न निज्जेदित्यु-
च्यते संवन्धः । किमिति न निज्जेत् ? । यतस्ते किञ्चिज्ज्ञान-

न्त्येव । अपि च-तेषां तन्निमित्तकोपोत्पत्तयेत्येवंभूतं वचस्तत्र
वाच्यम् । यत उक्तम्—"अपत्तिं जेण सिया, बाधु कुप्पिज्ज
वा परो । सव्वसो तं ण भासेज्जा, ज्ञासं आहियगामिणि " ॥१॥
इत्यादि ॥ २९ ॥

अपरमपि वाक्संयममधिकृत्याऽऽह—

असेसं अकल्यं वा नि, सव्वदुक्खे ति वा पुणो ।

वज्झा पाणा न वज्झन्ति, इति वार्यं न नीसरे ॥३०॥

(असेसमित्यादि)अशेषं कृत्स्नं तत्साक्षात्तमभिप्रायेण कृतं नित्यमि-
त्येवं न भूयात्, प्रत्यर्थं प्रतिसमयं चान्यथान्यथाभावदर्शनात् ।
स एवायमित्येवंभूतस्यैकत्वसाधकस्य प्रत्यभिज्ञानस्य लूनं पुन-
र्जातेषु केशनखादिष्वपि प्रदर्शनात् । तथापि शब्दादेकान्तेन
ज्ञाणकमित्येवमपि वाचं न निज्जेत्, सर्वथा कृणिकत्वे पूर्वस्य
सर्वथा विनष्टत्वाद्भूतस्य निर्हेतुक उत्पादः स्यात् । तथा च
सति "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोर्न्यानपेक्षणात्" इति । तथा
सर्वं जगद् द्रुःखात्मकमित्येवमपि न भूयात्, सुखात्मकस्या-
पि सम्यग्दर्शनादिभावेन दर्शनात् । तथा चोक्तम्—"तणसंयार-
निस्सणां, वि मुणिघरो णट्ठरागमयमोहो । जं पावइ मुत्तिमुहं,
कत्तो तं चक्खवट्ठी वि" ॥ १ ॥ तथा-यत्थास्योरपारदारिकादयः,
अवध्या वा, नत्कर्मानुमतिप्रसंगान्, इत्येवंभूतां वाचं सातुष्टानप-
रायणः साधुः परव्यापारनिरपेक्षो न निज्जेत् । तथाहि-सिंह-
व्याघ्रमाजारादीन् परसत्त्वव्यापादनपरायणान् दृष्ट्वा मात्स्यस्यम-
यलभ्यते । तथा चोक्तम्—"मैत्रीप्रमोदकारवयमाभ्यस्यादीनि
सत्त्वगुणाधिकफलिभ्यमानविनयेषु" इति । एवमन्योऽपि वा-
क्संयमो द्रष्टव्यः । तद्यथा-अमी गवाद्यो बाह्या न बाह्याः, त-
थाऽमी वृक्षादयश्छेदा न छेदा वेत्यादिकं यच्चो न वाच्यं साधु-
नेति ॥ ३० ॥

अयमपरो वाक्संयमप्रकारोऽन्तःकरणशुद्धि—

समाश्रितः प्रदर्श्यते—

दीसंति समियाचारा, जिक्खुणा साहुजीविणो ।

एए मिच्छोवजीवंति, इति दिट्ठिं न धारए ॥ ३१ ॥

इत्यन्ते समुपलभ्यन्ते स्वशास्त्रोक्तेन विधिना निभूतः संयत
आत्मा येषां ते निज्जात्मानः । कश्चिपात्रः-(समियाचारं सि) ।
सम्यक् स्वशास्त्रविहितानुष्ठानाद्विपरीत आचारोऽनुष्ठानं येषां
ते सम्यग्वाचाराः, सम्यग्वा इतो व्यवस्थित आचारो येषां ते
समिताचाराः । के ते ? , भिक्षुणशिला जिक्खामावृत्तयः । तथा
साधुना विधिना जीवितुं शीलं येषां ते साधुजीविनः । तथाहि-
ते न कस्यचिदुपरोधविधानेन जीवन्ति । तथा क्लान्ता दान्ता
जितक्रोधाः सत्यसन्धा दृढमता युगान्तरमात्रदृष्टयः परिपूतोद-
कपाथिनो मौनिनः सदा तायिनो विविक्तैकान्तध्यानाध्यासि-
नोऽकोकुच्याः, तानेवंभूतानयथार्था अपि सरागा अपि वीतरा-
गा इव चेष्टन्ते, इति मवैते मिथ्यात्वोपजीविन इत्येवं दृष्टिं न
धारयेन्नैवं भूतमप्यवसायं कुर्यात्, नाप्येवंभूतां वाचं निज्जेत्-
यथैते मिथ्योपचारप्रवृत्ता मायाविन इति, लुब्धस्येन ह्यवोन्मार्शि-
नेवंभूतस्य निश्चयस्य कर्तुमशक्यत्वादित्यभिप्रायः । ते च स्व-
युष्या वा भवेयुस्तीर्थान्तरीया वा; तावुजावपि न वक्तव्यौ सा-
धुना । यत उक्तम्—" यावत्परगुणपरदो-पकीर्तने व्यापृतं मनो
भवति । तावद्वरं विज्झुके ध्याने व्यग्रं मनः कर्तुम् " ॥ १ ॥
इत्यादि ॥ ३१ ॥

इमपदार्थदर्शना यद्वाहृतमजिहितमागमः, तं अरुस्व । हे अद-
ददर्शन !, अदक्कदर्शन ! इति वा, असर्वज्ञोक्तज्ञानानुयायिन् !
तमात्मीयमाग्रहं परित्यज्य सर्वज्ञोक्ते मार्गे अज्ञानं कुर्विति ता-
त्पर्यार्थः । किमिति सर्वज्ञोक्ते मार्गे अज्ञानमसुमान्न करोति ये-
नैवमुपदिश्यते । तन्निमित्तमाह-हं दीत्येवं गृहाण । हुशब्दो वा-
क्यालङ्कारे, सुष्ठु अतिशयेन निरुद्धमावृतं दर्शनं सम्यक् अव-
बोधरूपं यस्य सः । केनेत्याह-मोहयतीति मोहनीयम्, मिथ्या-
दर्शनादि; ज्ञानावरणीयादिकं वा, तेन कृतेन कर्मणा निरुद्धदर्शनः
प्राणी सर्वज्ञोक्तं मार्गं न अरुत्ते । अतस्तन्मार्गअज्ञानं प्रति चोद्यत
इति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अदक्खुव-अपश्यवत्-त्रि० । अपश्योऽन्धः, तेन तुल्यं कार्या-
कार्याविवेचित्वादपश्यवत् । अन्धसदृशे कार्याकार्याननिज्ञे,
सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अदद-अदद-त्रि० । दुर्वये, व्य० ४ उ० । आचा० ।

अददधिर्-अददधृति-त्रि० । धृतिरहिते, नि० चू० १ उ० । असम-
र्थे, नि० चू० १ उ० ।

अदण-अदन-न० । अद-ल्युट् । जोजने, वृ० १ उ० ।

अदक्ष-अदत्त-त्रि० । आकुलीभूते, वृ० १ उ० । विपादीकृते, "तेणं
वि य गिलाणेण ते अदक्षा " नि० चू० १० उ० ।

अदत्त(दिष्ठ)-अदत्त-त्रि० । न० त० । अवितीर्णे, प्रश्न० ३ आ-
अ० द्वा० घ० । अदत्तद्रव्यग्रहरूपे तृतीये आश्रवभेदे, प्रश्न० १
आअ० द्वा० । "हिंसामोसमदिष्ठवंपरिगहे " प्रव० १ द्वा० ।

अदत्त(दिष्ठ)हारि(ण्)-अदत्तहारिन्-त्रि० । अदत्तमप-
हर्तुं शीलमस्याऽऽसावदत्तहारी । परद्रव्यापहारके, "जे लूसप
होइ अदत्तहारी, ण सिफ्फती से य वियस्स किंचि" सूत्र० १
श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अदत्ता (दिष्ठा) दाण-अदत्तादान-न० । अदत्तस्य स्वा-
मिजीवतीर्थकरगुणभिरवितीर्णस्थाननुज्ञातस्य सचिन्ताचि-
त्तमिभ्रमेदस्य वस्तुन आदानं ग्रहणमदत्तादानम् । तच्च वि-
विधोपाधिवशादनेकविधम् । " एगे अदिष्ठादाणे " स्था० १
दा० १ उ० । सूत्र० । चौर इति व्यपदेशनिबन्धने, उपा० १
अ० । परस्वापहारे, आव० ६ अ० । आ० चू० ।

यथा च तददत्तादानं प्रश्न० ३ अधर्मद्वारे यादक् १ यन्नाम
२ यथा च कृतं ३ यत्फलं ददाति ४ ये च कुर्वन्ति ५ इति प-
ञ्चभिर्द्वारैः क्रमेण प्रकृपितं, तथैवेह प्रदर्श्यते-

- (१) यादशमदत्तादानस्वरूपं तत्प्रतिपादनम् ।
- (२) अदत्तादानस्य नामानि ।
- (३) (यथा च कृतं) ये चादत्तादानं कुर्वन्ति तन्निरूपणम् ।
- (४) अदत्तादानं यत्फलं ददाति तन्निरूपणम् ।
- (५) आचार्योपाध्यायादिभ्योऽदत्तादाननिरूपणम् ।
- (६) लघुस्वकमदत्तं गृहाति ।
- (७) तपस्तैर्न्यादि न कुर्वीत ।

(१) तत्र यादशमदत्तादानस्वरूपं तत्प्रतिपाद-
यैस्तावदाह-

जंबू ! ततियं च अदिष्ठादाणं हरदहमरणजयकयुसता-
सणपरसंतिगगिज्जलोजमूलकाज्ञाविसमसंसियं अदोऽच्छि-
द्यतएहपत्थाणपत्थांइमइयं अकित्तिकरं अण्णजं णिद-

मंतरविधुरवसणमगणउस्सवमत्तपमत्तपसुत्तवंचणाऽऽखि-
वणधायणपराणिहुयपरिणामतत्करजणवहुमयं अकलुणं रा-
यपुरिसरक्खियं सया साहुगरहणिज्जं पियजणमित्तजणभे-
दविप्पीतिकारकं रागदोसवहुत्वं पुणो य उप्पुरसमरसंगाम-
डमरकलिकलहवहकरणं दुग्गतिविणिवायवहुणं जवपुनब्ज-
वकरं चिरपरिचियं अणुगयं दुरंतं तइयं अधम्मदारं ॥

हे जम्बू ! तृतीयं पुनराश्रवद्वाराणां किमदत्तस्य धनादेरा-
दानं ग्रहणमदत्तादानम् ? 'हर दह' इत्येतौ हरणदाहयोः पर-
प्रवर्तनार्थौ शब्दौ, हरणदहनपर्यायौ वा छान्दसाविति । तौ च
मरणं च मृत्युः, मयं च भीतिरेता एव कलुषं पातकं, तेन त्रा-
सनं त्रासजनकं च रूपं यत्तत्तथा । तच्च तत् तथा (परसंत-
गत्ति) परसत्के धने यो गृहिलोभो रौद्रध्यानान्विता भूच्छा,
स मूलं निबन्धनं यस्यादत्तादानस्य तत्तथा । तच्चेति कर्मधार-
यः । कालआर्थरात्रिविषयः, विषमश्च पर्वतादिदुर्गः, तैः संश्रित-
माश्रितं यत्तत्तथा । ते हि प्रायः तत्कारिभिराश्रीयत इति । (अ-
होच्छिद्यतएहपत्थाणपत्थांइमइयं ति) अधः अधोगतौ, अ-
च्छिद्यतएहपत्थाणानां अनुदितवाञ्छानां, यत् प्रस्थानं यात्रा, तत्र प्र-
स्तोत्री प्रस्ताविका प्रवर्तिका मतिवृद्धिर्यस्मिंस्तत्तथा । अकी-
र्तिकरणमनार्यम्, एते व्यक्ते । तथा छिद्रः प्रवेशद्वारम्, अन्तर-
मवसरः, विधुरमपायः, व्यसनं राजादिवत्ततापः, एतेषां
मार्गणम्, उत्सवेषु मत्तानां च प्रमत्तानां च प्रसुप्तानां च वञ्चनं
च प्रतारणम्, आक्षेपणं च चित्तव्यग्रताऽऽपादनम्, घातनं च
मारणम्, इति द्वन्द्वः । तत एतत्परत एतन्निष्ठोऽनिभृतोऽनुप-
शान्तः परिणामो यस्यासौ छिद्रान्तरविधुरव्यसनमार्गणोत्स-
वमत्तप्रमत्तप्रसुप्तवञ्चनाक्षेपणघातनपरानिभृतपरिणामः । स
चासौ तत्स्करजनः, तस्य बहुमतं यत्तत्तथा । वाचनान्तरे त्विदमे-
वं पठ्यते- " णिद्विसमपावगेत्यादि " छिद्रविषमपापकं च नित्यं
छिद्रविषमयोः संबन्धीदं पापमित्यर्थः । अन्यदाऽऽहितन्यायं
प्रायः कर्तुमशक्यमिति भावः । अनिभृतपरिणामसांक्षिप्तं तत्स्कर-
जनवहुमतं चेति । अकरणं निर्दयं, राजपुरुषरक्षितम्, तैर्निवारित-
मित्यर्थः । सदा साधुगर्हणीयं, प्रतीतम् । प्रियजनमित्रजनानां
जेदं वियोजनं विप्रीतिं विप्रियं करोति यत्तत्तथा । रागद्वेषवहु-
लं, प्रतीतम् । पुनश्च पुनरपि (उप्पुर स्ति) उप्पुरेण प्राचुर्येण
समरो जनमरकयुक्तो यः संग्रामो रणः स उप्पुरसमरसंग्रामः,
स च रुमरं भीत्यापलायनं, कलिकदहश्च राटीकदहो, न तु
रतिकलहः । वधश्चानुशयः, एतेषां करणं कारणं यत्तत्तथा ।
दुर्गतिविनिपातवर्द्धनं, प्रतीतम् । भवे संसारे, पुनर्भवान् पुनरु-
त्पादान् करोतीत्येवं शीघ्रं यत्तत्तथा । चिरं परिचितम्, अनुगत-
मव्युच्छिन्नतयाऽनुवृत्तं, दुरन्तं दुष्टावसानं विपाकदारुणत्वात्
तृतीयमधर्मद्वारं पापोपाय इति ॥

(२) अथ यन्नामेत्यभिधातुमाह-

तस्स य नामाणि गोणाणि हुंति तीसं । तं जहा-चोरिकं
१ परहं २ अदत्तं ३ कूरिकं ४ परलामो ५ असंजमो
६ परधणम्मि मेही ७ झोलिका ८ तत्करत्तणं ९ ति य
अवहारो १० इत्यलहुत्तणं ११ पावकम्मकरणं १२ ते-
एकौ १३ हरणविष्णणासो १४ आदियणा १५ लुपणा
धणणा १६ अप्पच्चमो १७ ओवीक्षो १८ अक्खेवो १९

"मणपज्ज त्ति नामकम्मोदयथो जोगो मणो दव्वे धेत्तुं मणत्ते-
ण परिणामिया दव्वमणो भण्णइ" तथा-द्रव्यमनोऽवष्टम्भेन
जीवस्य यो मननपरिणामः स भावमनः । तथा चाह चृणि-
कार एव- " जीवो पुण मणसपरिणामकिरियापथो भावमणो ।
किं भणियं होर ?-मणद्व्यालंयणो जीवस्स मणवाचारो भा-
वमणो भण्णइ" । तत्रैव भावमनसा प्रयोजनम्, तद्ग्रहणं ह्यवश्यं
द्रव्यमनसोऽपि ग्रहणं भवति ; द्रव्यमनोऽन्तरेण भावमनसो-
ऽस्तम्भचात् । भावमनो विनाऽपि च द्रव्यमनो भवति ; यथा
भवस्थकेवलिनः ; तत् उच्यते भावमनसेह प्रयोजनम् । तत्र
नोऽन्वित्र्येण भावमनसोऽर्थावग्रहो द्रव्येन्द्रियव्यापारनिरपेक्षो
वटाद्यर्थस्वरूपपरिभावनाऽभिमुखः प्रथममेकसामायिको रूपा-
द्यर्थाकारादिविपरिणामाधिकला नन्दंश्रयसामान्यमावचि-
नाऽस्तम्भको बोधो नोऽन्वित्र्यार्थावग्रहः । न० । अयं च नैव्यधिक
एकसामायिकः । व्यावहारिकस्त्वान्तर्माहृतिकः । स्था० ६ डा० ।
अतु (रयो) गहण-अर्थावग्रहण-न० । कलनिश्चये, भ०
११ श० ११ उ० ।

अतुपुन-देशी-अथौ, दे० ना० १ चर्ग ।

अतुप्पत्ति-अर्थोत्पत्ति-स्त्री० । उत्पद्यते यस्मादिति उत्पत्तिः ।
अर्थोत्पत्तिर्व्यवहार उच्यते अर्थोत्पत्तिः । करणव्यवहारे,
व्य० १ उ० ।

अत्येर-अस्यैर्य-न० । अस्थिरत्वे, अष्ट० ४ अष्ट० ।

अत्योपायण-अर्थोत्पादन-न० । द्रव्याऽऽवर्जने, प्रथ० २२ डा० ।

अत्योभय-अस्तोजक-न० । न० ४० । स्तोत्रकरहिते गुणवत्सूत्रे,
अनु० । "उय व इकारो इत्ति अ-कारणइय योजया हुंति" उत
वै हाऽऽदिप्रभृतीनामकारणप्रवेष्टाः स्तोत्रकाः । तद्ग्रहितमस्तोभ-
कम् । वृ० १ उ० । विशेषः ।

अयव्यण-अर्थव्यण-पुं० । चतुर्थवेदे, "जाव अथव्यणकुसलेया
वि होत्था" विपा० १ श्रु० ५ अ० ।

अद्-अद्-अ० । आश्रयं, "धियो यो नः प्रचोदयात्" अदिति
आश्रय्यरूपस्तत्कारणेऽनिवृत्तत्वात्, ततश्च हे अत् ! " विरामे
य" ॥ १ । ३ । ५ ॥ इति दस्य तः । साङ्ख्याभिप्रायेण गा० व्या-
ख्या । ज० गा० । एतादृशः प्रयोगः प्राकृते न प्रयुज्यते ।

अदंन-अदण-पुं० । प्रशस्तयोगत्रये, अहिसामावे च । "एगे
अदंने" स० १ सम० ।

अदंरकु (को) दंमि-अदण्डकुदण्डिम-त्रि० । दण्डलज्यं द्रव्यं
दण्ड एव । कुदण्डेन निर्वृत्तं द्रव्यं कुदण्डिमम्, तत्रास्ति यत्र
तत्तथा । दण्डकुदण्डाभ्यामगृह्यमाणरूप्ये नगरादौ, तत्र दण्डो-
ऽपराधानुसारिण राजग्राह्यं द्रव्यम् ; कुदण्डस्तु-कारणिकानां
प्रजापराधान्महत्पराधिनोऽपराधेऽल्पं राजग्राह्यं द्रव्यमिति ।
"उरुक्कं उक्कं उक्कं अदिज्जं भमेज्जं अमरुप्पवेसं अदंरको-
दंमिं अथरिं गणियावरनारुज्जलियं" (पुरीवर्णकः) न०
११ श० ११ उ० । डा० । ज० । कल्प० ।

अदंतवण-अदन्तवन-त्रि० । दन्तधावनरहिते, अदन्तधावनो
धर्मो धीरमहापदमयोस्तीर्थेऽनुज्ञातः । स्था० ६ डा० ।

अदंभग-अदंभक-त्रि० । वज्रनाऽनुगतवचनविरहिते, व्य० ३ उ० ।
१३२

अदं (इं) साण-अदर्शन-न० । न० न० । प्राकृते-"समासे वा" ॥ ७ । १ ।
६७ ॥ इति दस्य वा द्विवचम् । प्रा० । चाक्षुषज्ञानाभावे, न विद्यते
दर्शनं दृश्यस्येत्यदर्शनः । अन्धे, स्थानार्कित्तोदयवति च । ग०
१ अधि० । न विद्यते दर्शनं सम्यक्त्वमस्येति व्युत्पत्तेः । अयं च
दीकृतः सन् विकलतया यत्र तत्र वा संचरन् पट्टायान् विरा-
धयेद्विषमकीलकफण्टकादिषु च पतेत् । स्थानार्कित्तु प्रविष्टो
गृहिणां साधूनां च मारणादि कुर्यात् । प्रथ० १०७ डा० । ध० ।

"जुविहो अदंसणो खलु, जाति उवघाततो य णायव्वो ।

उवघातो पुण तिविहो, चाहीउवघान्अज्जणत्ताए ॥ १ ॥

संगेण चिय अवरो, थीणद्धीओ मुण्यव्वो ।

एत्तेसि खो हि इमा, जहकमेणं सुण्यव्वो ॥ २ ॥

चिठियणयणे तह से-सएसु थीणद्धिनो तु कमसो तु ।

उग्गुस चउग्गुस चरिमं, दोसा तहिं दिक्खिते इणमो ॥ ३ ॥

उक्कायविउरमणत्ता, आवरुणं खण्णकटमादीसु ।

थंमिहअपरिउहो, अंधस्स ण कप्पतो दिक्खा ॥ ४ ॥

अवहति य महादोसं, दंसणकम्मोदएण थीणद्धी ।

एगमणेगय व से, जं काही तं तु आघजे ॥ ५ ॥ पं० भा० ।

चौर, दे० ना० १ चर्ग ।

अदक्खु-अदष्ट-त्रि० । न० ४० । अर्वागदर्शने, सूत्र० १ श्रु० २
अ० ३ उ० ।

अदक्ख-त्रि० । अनिपुणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अपरय-त्रि० । पश्यतीति पश्यः, न पश्योऽपश्यः । अन्धे,
सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । आकाङ्क्षीत् इत्यस्यापि 'अदक्खु'
इति रूपम् । प्रति० । भ० ।

अदक्खुदंसण-अदक्षदर्शन-त्रि० । असर्वज्ञोक्तज्ञासनानुयायिनि,
सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अदष्टदर्शन-त्रि० । असर्वज्ञोक्तज्ञासनाऽनुयायिनि, सूत्र० १ श्रु०
२ अ० ३ उ० ।

अपरयकदर्शन-त्रि० । अपश्यकस्यापि सर्वज्ञस्यान्युपगतं द-
र्शनं येनाऽसावपश्यकदर्शनः । स्वतोऽर्वागदर्शनि, सूत्र० ।

अदक्खुव दक्खुवाहियं, सहसु अदक्खुदंसणा ।

इदि हु मुनिरुद्धदंसणं, मोहणिज्जेण कमेण कम्मुणा ११

(अदक्खुवेत्यादि) पश्यतीति पश्यः, न पश्योऽपश्यो-
ऽन्धः, तेन नुत्यं कार्याकार्याविवेचित्वादपश्यवत् । तस्याऽऽ-
मन्त्रणं हे अपश्यवत् ! अन्धसदृश ! प्रत्यक्षस्यैवैकस्या-
ऽन्युपगमेन कार्याकार्याननिर्ज्ञ !, पश्येन सर्वज्ञेन, व्याहृतमु-
क्तं सर्वज्ञागमं, अद्वय प्रमाणीकुरु, प्रत्यक्षस्यैवैकस्याऽऽन्युप-
गमेन समस्तव्यवहारविलोपेन हंत ! इतोऽसि, पितृनिवन्धनस्या-
ऽपि व्यवहारस्याऽसिचेरिति । तथाऽपश्यकस्याऽपि असर्वज्ञस्याऽ-
न्युपगतं दर्शनं येनासावपश्यकदर्शनः ; तस्याऽऽमन्त्रणं वा हे
अपश्यकदर्शन ! स्वतोऽर्वागदर्शी भवति तथाविधदर्शनप्रमाणश्च
सन् कार्याकार्याविवेचितयाऽन्धवदभविष्यत् यदि सर्वज्ञान्यु-
पगतं नाऽकरिष्यत् । यदि वाऽद्विज्ञो वा अनिपुणो वा यादृश-
स्तादृशो वाऽचक्षुर्दर्शनमस्याऽसावचक्षुर्दर्शनः केवलदर्शनः
सर्वज्ञस्तस्माद्यदवाप्यते हितं तत् अद्वय । इदमुक्तं प्रवर्ति-
अनिपुणेन निपुणेन वा सर्वज्ञदर्शनेन हितं अद्वयव्ययम् । यदि
वा हे अदष्ट ! हे अर्वागदर्शन ! दष्टाऽतीताऽनागतव्यवहितस-

यगलितनिज्जेलितंतफुरफुरंतविगल्लमम्महयविगयगाढदिष-
पहारमुच्चितरुलंतविज्जलविज्ञावकल्लुणे हयजोहजमततु-
रगड्ढाममत्तकुंजरपरिसंक्रियजणणिम्मुकुण्णिण्णद्वयभ—
गरहवरनट्टासिरकारिकलेवराकिण्णपाकेयपहरणविकिन्ना-
जरणचूमिजागे नच्चंतकबंधपउरे भयंकरवायसपरिलित्त-
गिष्मंरुलभमतंजयंअधकारगंभीरे, वसुवसुहविकंपितव्व पच्च-
कखपिउवणं परमरुद्वीहणं दुप्पवेसतरं अजिबर्नि-
ति संग्गामसंकरं पणधणमहंता, अवेरे पाइक्कचोरसंघा-
सेणावड्चौरवदपागाहिका यअरुविदेसजुगवासी काहह-
रितरत्तपीतमुक्किअणेगसयचिंधपट्टवंधा परविंसण अभि-
हणंति दुष्सा धणस्म कज्जे, रयणागरसागरं च उम्मीसहस्स-
मालाऽऽकुलविगयपोतकल्लकल्लंतकलितं पाताल्लकल्लसह-
स्सवायवसवेगसल्लिल्लुप्पममाणदगरयरयंअधकारं वरफेण-
पउरधवद्वपुल्लपुल्लसमुट्टियाट्टहासं मारुयविकुल्लज्जमाणपा-
णियजलमालुप्पल्लुलियं तं पिय समंतओ कखुजियल्लुलि-
तंखोखुम्भमाणपक्खद्वियचलियविपुल्लजलचकवालमहान-
दीवेगतुरियआपूरमाणा गभीरविपुल्लआवत्तचंचलज्जममाण-
शुप्पमाणव्वल्लंतपच्चोणियंतपाणियपधावितखरफरुसपयंदवा-
ल्लियसल्लिल्लफुट्टंतवीचिकल्लोद्वंसकुलं महामगरमच्छकच्छ-
भोहारगाहतिमिंसमारसावयसमाहृतसमुच्चायमाणयपूरघो-
रपउरं कायरजणहिययकंपणं घोरमारसंतं महज्जयं भ-
यंकरं पतिजयं उच्चासणं अणोरपारं अगासं चैव निरवद्वं-
उप्पाइयपवणधणियणोद्वियउववरितरंगदरियअतिवेगच-
कखुपहमोच्छरंतं कत्थइ गंभीरविज्जलज्जियगुंजियनिग्घायग-
रुयनिवतितसुदीहनीहारिदूरमुच्चंतगंजीरधुगधुगंतिसहं पभि-
पहरंभंतजक्खरक्खसकूहंरुपिसायरुसियतज्जायउवसग —
सहस्ससंकुलं वहुप्पाइयचूयं विरचित्तलिहोमधूमउवचारादि-
ष्वरुहिरउच्चणाकरणपयतजोगपयतचरियं परियंतजुगंस्तका-
ल्लकप्पोवमं दुरंतमहानइनइवइमहान्जीमदरिसणिज्जं दुरणुचं-
विसमप्पवेसं दुक्खुत्तारं दुरासयं लवणसाद्विल्लपुरणं
असितासियसमुच्चियगेहिं हत्थतरेकेहिं वाहणेहिं अतिवड्-
त्ता समुद्वमज्जे हणंति, गंतूण जणस्स पोत्ते परद-
व्वहरा नरा निरणुकंपा, निरवेक्खा गामागरनगरखे-
हकव्वडमंरुवदोणपहपट्टयासमणिगमज्जणवयं ते य धणस-
मिप्पे हणंति, धिरहिययच्चिन्नलज्जा वंदिग्गह गोगहा य
गेहंति, दारुणमतिनिक्किवा णियं हणंति छिंदिति गेहसंधि-
निक्खित्ताणि य हरंति, धणधणदव्वजायाणि जणवयकु-
लाणं निग्घिणमदी परदव्वहिं जे अविरया, तदेव केई
अदिष्सादाणं गवेसमाणा काढाकालेसु संचरंता चित्तग-
पज्जलियसरसदरद्वक्कहियकळेवरे रुहिराद्विधवदणअक्खय-
खादियपीतमइणिज्जमतंजयकरं जंबुयखिक्खियंते धूयकय-

घोरसहे वेयालुट्टियविमुक्कहकहंतपहासितवीहणग—
निरजिरामे अतिवीजच्छदुज्जिभगंधदरिसणिज्जे सुसाणे
वणे सुसधरलेणअंतरावणगिरिकंदरविसमसावयसमाकुलेसु
वसाहेसु किलिस्संता सीतातवसोसियसरीरा दह्छविनि-
रयातिरियजवसंकरदुक्खसंज्जारवेदणिज्जाणि पावकम्माणि
संचिणंता दुल्लजजक्खणपाणभोयणपिवासिया भुंजिया
किहंता मंसकुणिमकंदमूले जं किंचि कयादारा उच्चिग्ग-
उप्पुया असरणा अरुवीवासं उव्वेति, वाहसतसंकणीयं
अयसकरा तकरा जयंकरा कस्स हरामोत्ति अज्ज दव्वं इति
समामंतं करेति, गुज्जं बहुयस्स जणस्स कज्जकरणेसु
विग्घकरा मत्तप्पमत्तपमुत्तवीसत्थद्विहदाती वसणम्लुदएसु
हरणल्लुच्ची विग्गव रुहिरमहिया परितत्ति नरवतिमज्जायम-
तिकंता सज्जणजणदुग्गंछिया सकम्मेहिं पावकम्मकारी अ-
मुजपरिणया य दुक्खभागी निच्चाउल्लदुहमनिव्वुप्पमणा इहं
लोके चैव किलिस्संता परदव्वहरा नरा वसणसयमावसा ।

(तं पुणेत्यादि) तत् पुनः कुर्वन्ति चौर्यं तस्कराः, तदेव चौर्यं कुर्वन्तीत्येवंशील्लाः तस्कराः परप्रव्यहराः, प्रतीतम, ठेका निपुणाः, कृतकरणा बहुशो विहितचौरानुष्ठानाः, ते च लब्धल-
क्षाश्च अवसरज्ञाः कृतकरणलब्धलक्षाः, साहसिका धैर्यवन्तः, लघुलक्षाश्च तुच्छात्मानः, अतिमहेच्छाश्च ह्योजग्रस्ताश्चेति समासः ।
[दहराभोवील्लगा य स्ति] ददरेण गल्लददरेण, वचनाटोपेनेत्यर्थः ।
अपवीर्यन्ति गोपायन्तमात्मस्वरूपं परं धिलज्जीकुर्वन्ति ये ते ददरापवीरिकाः, मुष्णन्ति हि शतात्मानः—तथाविधवचनाक्के-
पप्रकटितस्वभावं मुग्धजनमिति । अथवा—ददरेणोपवीर्यन्ति जातमनोबाधं कुर्वन्तीति ददरोपवीरिकाः, ते च शक्तिं कुर्वन्ती-
ति शक्तिकाः । अभिमुखाः परं मारयन्ति ये तेऽज्जिमराः । अणुं देयं द्रव्यं भज्जन्ति न ददति ये ते अणुजल्लकाः । भग्नाः ह्योपिताः सन्धयः विप्रतिपत्तौ संस्था यैस्ते भग्नसन्धिकाः, ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । राजजुष्टं कोशहरणादिकं कुर्वन्ति ये ते तथा । विषयान्मण्डलात् (निच्छूदंति) निर्धारिता ये ते, तथा लोकवाह्या जनवदिष्कृताः, ततः कर्मधारयः । सद्धोह-
काश्च घातकाः, उहोहकाश्च वा अटव्यादिदाहकाः, ग्रामघातका-
श्च पुरघातकाश्च पथि घातकाश्च गृहादिप्रदीपनककारिणः तीर्थ-
भेदाश्च तीर्थमोचका इति द्वन्द्वः । लघुहस्तेन हस्तद्वयाधवेन संयु-
क्ता ये ते । तथा (जूयकरे स्ति) झूतकराः, खण्डरक्षाः शुल्क-
पात्राः, कोट्टपाला वा, स्त्रियाः सकाशात् स्त्रीमेव चोरयन्ति, स्त्रीरूपा वा ये चौरास्ते स्त्रीचौराः, एवं पुरुषचौरका अपि । सन्धि-
च्छेदाः स्नात्रस्नानकाः, एतेषां द्वन्द्वः । ततस्ते च ग्रन्थिभेदका इति वक्तव्यम् । परधनं हरन्ति ये ते तथा परधनहारिणः । ह्यो-
मान्यवहरन्ति ये ते ह्योमावहराः । निःशक्ततया भयेन परप्रणा-
न्विनादयैव मुष्णन्ति ये ते ह्योमावहरा उच्यन्ते । आक्षिपन्ति यशीकरणादिना ये ते ततो मुष्णन्ति ते आक्षेपिणः । एतेषां द्व-
न्द्वः । [इरुकारण स्ति] हठेन कुर्वन्ति ये ते हठकारकाः । पाणान्त-
रेण—“परधनहारलोहावहारवक्खेवहिंरुकारक स्ति” सर्वेऽप्ये-
ते चौरविशेषाः । निरन्तरं मर्दयन्ति ये ते निर्मर्दकाः । गृहचौराः
प्रच्छन्नचौराः, गोचौराः, अश्वचोरकाः, दासीचौराश्च प्रतीताः ।

पक्षेवो १० विस्त्रेवो १? कूड्या १२ कुलमसी १२३ कंखा
२४ लालपणपत्यणा २५ (असासणाय) वसणं १६ इच्छा
मुच्छाय १७ तएदा गेहीय १८ नियदकम्मं १९ अवरो-
च्छत्ति वि य ३० । तस्स एयाणि एवमाईणि नामधेज्जाणि
हुंति तीसं अदिएणादाणस्स पावकसिक्खुमकम्मवहुलस्स
अणेगाइं ।

“तस्सेत्यादि” सुगममा तद्यथेत्युपदर्शनार्थः (चोरिजंति) चोर-
जं चोरिका, सैव चौरिक्कम् १, परस्मात् सकाशात् इतं परदत्तम्
२, अदत्तम्-अधिनीर्णम् ३, (कूरिकन्ति) कूरचित्तं, कूरो वा
परिजनो येनामास्ति ते कूरिणस्तेः कृतमनुष्ठितं यच्च तथा । क्वचित्तु
‘कुण्टुककृतमिति’ दृश्यते । तत्र कुण्टुकाः काकटुकयोजमाया
अयोण्याः सदगुणानामिति ४, परलामः परस्माद् द्रव्यागमः ५,
असंयमः ६, परधने शुद्धिः ७, (लौघिकचित्ति) लौघ्यम् ८, तस्कर-
त्वमिति ९, अपहारः १०, (हत्थलचणंति) परधनहरणकृतिसतो
हस्तो यस्यास्ति स हस्तश्च, तद्भावो हस्तलत्वम् । पाठान्तरेण-
‘हस्तप्रयुज्यमिति’ ११, पापकर्मकरणं १२, (तेणिकचित्ति) स्तौनि-
कस्तेष्वम् १३, हरणेन मोचणेन विप्रणाशः परद्रव्यस्य, हरणं
च तद् विप्रणाशः १४, (आदियणचित्ति) आदानं, परधनस्येति
गम्यते १५, लोपेन अथच्छेदनं धनानां द्रव्याणां, परस्येति ग-
म्यते १६, अश्रयकारणत्वाद् अश्रयः १७, अवपीरुनं परेषामि-
त्यवपीरुः १८, आक्षेपः, परद्रव्यस्येति गम्यते १९, क्षेपः परद-
त्ताद् द्रव्यस्य प्रेरणम् २०, एवं चिक्षेपोऽपि २१, कूटता तुला-
दीनामन्यथात्म्यम् २२, कुलमपी वा कुलमालिभ्यहेतुरिति कृत्वा
२३, काइहा, परद्रव्य इति गम्यते २४, (आश्रयणपत्यणचित्ति)
लालपनस्य गार्होतलपनस्य प्रार्थने च प्रार्थना लालपनप्रार्थना,
चौर्यं हि कुर्वन् गार्होतलपनानि तदपलापकपाणि, दीनधनरूपाणि
वा प्रार्थयति च, तत्र हि कृते तान्यवश्यं धकज्यानि जघन्ती-
ति भावः २५, व्यसनं व्यसनहेतुत्वात् । पाठान्तरेण-“असा-
सणाय वसणं” आशंसनाय विनाशाय व्यसनमिति २६,
इच्छा च परधने प्रत्यमिलापा, मूर्च्छां तत्रैव गाढानिष्वङ्गरूपा,
तद्धेतुकत्वाददत्तग्रहणस्येति इच्छा मूर्च्छां नदुच्यते २७, तृ-
ष्णा च प्राप्तद्रव्यस्याव्ययेच्छा, शुद्धिआप्राप्तस्य प्राप्तिधाञ्जा,
तद्धेतुकं चादत्तादानमिति तृष्णा शुद्धिआश्च्यत इति २८,
निरुत्तेर्मर्यादायाः कर्म निरुक्तिकर्म २९, अविद्यमानानि परे-
षामक्तीणि छुट्यतया यत्र तदपरोक्षम्, असमक्कमित्यर्थः । इतिः
रूपप्रदर्शनं, अपिचेति समुच्चये ३० । इह च कानिचित्पदानि
सुगमत्वाच्च व्याख्यातानि । (तस्स चित्ति) यस्य स्वकर्म प्राग्गणितं
तस्यादत्तादानस्येति संबन्धः । एतान्यनन्तरोद्दिनानि त्रिशदिति
योगः । एवमादिकानि एवंप्रकाराणि वाञ्छेकानीति सम्बन्धः ।
अनेकानीति क्वचित् दृश्यते । नामधेयानि नामानि जघन्ति । किं
चूतस्य अदत्तादानस्य?, पापेनापुण्यकर्मरूपेण कलितानि च युद्धेन
कलुषाणि मलीमसानियानि कर्माणि मित्रहोडाविद्यापाररूपा-
नि, तैर्बहुलं प्रचुरं यत्तानि वा बहुलानि बहूनि यत्र तच्चथा, तस्य ।

(३) अथ येऽदत्तादानं कुर्वन्ति तानाह—

तं पुणं करेति चोरियं तकरा परदच्चहरा केया कयकरणह-
प्पलक्खा साहसिया हाहुससा अतिमहिच्छलोजगत्था दह-
रओबीलका य गिच्छिया अहिमरा अणभंजका जगसंधि-
या रायकुळकारी य विसयनिच्छुदक्षोक्कवज्झा उहहकगाम-

घायकपुरघायकपंथघायकआदीवकतित्थजेया लहुहत्थसं-
पज्जा जूयकरा खंदरक्खत्थीचोरपुरिसचोरसंधिच्छेया य ने-
त्तिजेदका परधणहरणलोमावहारअक्खेवी हरकारकनि-
म्महगगूदचोरगोचोरअस्सचोरकदासिचोरा य एकचोरा यं
ओकट्टकसंपदायकओठिपकसत्यघायकविलकोडीकारका यं
निग्गाहविप्पुं पगा बहुविहतेणिकहरणवुद्धी, एते अस्से यं
एवमादी परस्स दब्बाहिं ने अविरेया ॥

विपुलवज्रपरिगहा य बहुवो रायाणो परधणम्मि गिच्छा
सए दब्बे असंतुष्टा परविसए अहिहणंति छुप्पा परधणस्सं
कज्जे, चउरंगसमचवलसमगा निच्छियवरजोहजुप्पसप्पा
य अहमहमिति दप्पिएहिं सेनेहिं संपरिबुवा पजमसगनमू-
इचकसागरगुरुवूहादिएहिं अणीएहिं उच्छरंता आभंभूय
हरंति परधणाइं । अवरे रणसीसलप्पलक्खा संगामं अति-
वयंति, सएणप्पवप्परियरउप्पामियचिंधपट्टगहियाऽऽ-
उहपट्टहरणा मादिवरवम्मणुंभिया आविष्कजालिका कवयक-
दइया उरसिरमुहवदकंउतोणा, पाइयवरफलकराचियपह-
करसरजसखरचावकरकराचियतुनिसितसरवरिसवमकरकमु-
यंतघणचंरुवेगधाराविवायमग्गे अणेगधणुंमदल्लगसांधि-
तउच्छन्नियमत्तिकणगवामकरगाहियस्सेडगानिम्मज्ञानिकिद्धल-
गपडरंतकुंततोमरचकगयापरसुमुसललंगल्लसललजमभि—
रिपालतवज्रपट्टिमचम्मेद्वयणमोडियमोगवररफद्विहजंतप-
त्यरउहणतोणकुवेणीपीडाकलिए इलीपहरणमिद्धिभि-
लितखिप्पंतविज्जुज्जलविरचितसमप्पहनहतत्ते फुरुपहर-
णे महारणसंखभेरिवरतूरपउरपकुपडहाइयनिनायगंभीरण-
दितपक्खुभियविपुलपोसे हयगयरहजोहतुरियपसरियर-
युद्धततमंधकारवहुसे कापरनरनयणहियपवाजलकरे विलु-
लियउकडवरमउरुकिरिमुकोंदोमुदामाऽऽनोवियपगमप-
डागउच्छियधयवेजयंतिचामरचक्षंतवत्तंधकारगंभीरे हय-
हेसियहत्थियगुलगुलाइयरहयणयणाइयपाइकरहराइयअ-
फोनियसीइनायाछिलियविपुदुकुडकंउकयसइजीमगज्जिए
सयरयहसंतउसंतकक्षकझरवे असूणियवयणरुइजीमदस-
णाधरोडगादददसप्पहारकरणज्जयकरे अमरिसवसं तव्वर-
त्तनिहारितऽच्छिरेदिद्धिकुदचेडियतिवलीकुदिवभिगुडिक-
यझझाफे वधपरिणयनरसहस्सविक्रम्मवियंजियवले वगंततु-
रंगरहपडावियसमरभडावार्नियच्छेयझाधवपहारसाधितस-
भूरसवियवाहुजुलमुक्कऽह्हासपुक्तंवोडवहुसे कलक-
लगाफलफलावारणगहियगयवरपत्थंतदरियजक्खलपरा-
प्परपझगलुप्पगवियविउसितवरासिरोसतुरियअजिंसुहप-
हरंतविण्णकरिकरियं गियकरे अवइडनिमुक्कचित्थफा-
न्नियपगलियरुद्विरक्खपत्थमिकइमचिक्खिअपहे कुडिदालि-

विरूपघोषकरणं, उत्कृष्टउत्कृष्टनादः, आनन्दमहाध्वनिरित्यर्थः । कण्ठकृतशब्दश्च, तथाविधो गंलरवः, त एव भीमगर्जितं मेघध्वनिर्यत्र स तथा तत्र । एकहेलया हसतां रूपतां वा कल-लंक्कणो रवो यत्र स तथा तत्र । तथा अश्रुनितेनेपत्तुश्रीकृतेन व-दनेन ये रौद्राजीयणास्ते तथा । तथा जीमं यथा जवतीत्येवं दश-नैरधरोष्ठौ गाढं दृष्टौ यैः, ते तथा । ततः कर्मधारयः ततस्तेषां जटानां सत्प्रहरणे सुष्ठु प्रहारकरणे उद्यताः प्रयत्नप्रवृत्ताः करा यत्र स तथा तत्र । तथा अमर्षवशेन कोपवशेन तीव्रमत्यर्थं रक्त लाहिते निर्दारिते विस्फारिते अक्षिणी ह्योचने यत्र स तथा । वैरप्रधाना दृष्टिवैरदृष्टिः, तथा वैरदृष्ट्या वैरबुद्ध्या वैरजावेन ये क्रुद्धाश्चे-ष्टिताश्च तैः । त्रिवली कुटिला वलित्रया वक्रा मुकुटिर्नयनल-लाटविकारविशेषकृता ललाटे यत्र स तथा तत्र । तथा वध-परिणतानां मारणाध्यवसायवतां नरसहस्राणां विक्रमेण पुरु-षाकारविशेषेण विजृम्भितं विस्फुरितं यत् शरीरसामर्थ्यं यत्र स तथा तत्र । तथा बह्वग्नुरङ्गः रथैश्च प्रधाविता वेगेन प्रवृत्ता ये समरभट्टाः संग्रामयोधास्ते तथा । आपतिता योद्धुमुद्यताः, डेका दक्षा लाघवप्रहारेण दक्षताप्रयुक्तघातेन साधिता निर्मिता येस्ते तथा (समूरसविय चि) समुच्चित्रं हर्षातिरेकादूर्ध्वोक्तं बाहुयुगलं यत्र तत्तथा, तथथा भवतीत्येवं मुक्तादृहासाः कृत-महाहासध्वनयः । (पुष्कंतं चि) पूतकुर्वन्तः पूतकारं कुर्वाणाः, ततः कर्मधारयः । ततस्तेषां यो बोलः कलकशः स बहुबो यत्र स तथा तत्र । तथा (फलगावरणगहिय चि) स्फाराश्च फलकानि च आवरणानि च सन्नादा गृहीतानि येस्ते तथा [गयवरपत्थंतं चि] गजवरान् रिपुमतङ्गजान् प्रार्थयमाना हन्तुमारोढुं वाऽभिलषमाणास्तत्र शकास्तच्छीघ्रा वा ये ते त-था । ततः कर्मधारयः । ततस्ते च ते हस्तमटल्लाश्च दर्पितयो-धद्वया इति समासः । ते च ते परस्परप्रलम्भाश्च, अन्योन्यं यो-कुमारब्धा इत्यर्थः । ते च ते युद्धगर्विताश्च योधनकलाविज्ञान-गर्विताः, ते च ते विकोशितवरांसिभिः निष्कर्षितवरकरवालैः, रो-पेण कोपेन त्वरितं शीघ्रम्, अभिमुखमानिमुख्येन प्रहरद्भिश्चिन्नाः करिकरा येस्ते तथा । ते चेति समासः । तेषां [विगिय चि] व्यङ्गिताः खण्डिताः करा यत्र स तथा तत्र । तथा [अवष्टु चि] अपविष्टास्तोमरादिना सम्यग्विष्टाः निशुद्धभिन्नाः स्फाटि-त्वाश्च विदारिता यैः, तेभ्यो यत्प्रगलितं रुधिरं तेन कृतो भूमौ यः कर्ममस्तेन चिक्चिल्ला विह्वीनाः पन्थानो यत्र स तथा तत्र । तथा कुक्षौ दारिताः कुक्षिदारिताः, गलितं रुधिरं स्रवन्ति रुहन्ति वा भूमौ लुण्ठन्ति, निम्बेलितानि कुक्षितो वहिष्कृतानि अ-न्त्राणि उदरमध्यावयवविशेषा येषां ते तथा । [फुरफुरताविगल चि] फुरफुरायमाणाश्च विकलाश्च विकलेन्द्रियवृत्तयो ये ते । तथा मर्मणि हता मर्महताः, विकृतो गाढो यत्र दत्तः प्रहारो येषां ते तथा । अत एव मूर्छिताः सन्तो भूमौ लुण्ठन्तः विह्वलाश्च नि-स्सहाङ्गाः ये ते तथा । तथा कुक्षिदारितादिपदानां कर्मधारयः । ततस्तेषां विज्ञापः शब्दविशेषः करुणा दयाऽऽस्पदं यत्र स तथा तत्र, तथा हता विनाशिता योधा अश्वारोहादयो येषां ते तथा । तत्र ते यदृष्ट्या संग्रामन्तस्तुरगाश्च उद्दाममत्तकुञ्जराश्च परि-शङ्कितजनाश्च भीतजनाः (निम्मुक्छिन्नध्वय चि) निर्मूलाः त्रिभाः केतवो भग्ना दृष्टिता रथवराश्च यत्र स तथा । नष्टशिरोमि-श्रिन्नमस्तकैः करिकवेवैः दन्तिशरीरैराकीर्णा व्याप्ताः । पतित-प्रहरणा ध्वस्तायुधाः, विकिर्णान्तरणा विविताश्चकाराः, चूमेर्भागा

देशा यत्र स तथा । ततः कर्मधारयः, तत्र । तथा नृत्यन्ति क-वन्धानि शिरोरहितकलेवरानि प्रचुरानि यत्र स तथा । जयंकर-वायसानां [परिधिचगिक् चि] परिधीयमानगृद्धानां यन्मण्डलं चक्रवाहं ग्राम्यतः संचरतस्तस्य या ग्राया तथा यदन्धकारं तेन ग-म्भीरो यः स तथा । तत्र संग्रामे, अपरे राजानः परधनगृहाः, अ-तिपतन्तीति प्रकृतम् । अथ पूर्वोक्तमेवार्थं संक्षिप्ततरेण वाक्येनाह-वसवो देवाः, वसुधा च पृथिवी, विकाम्पिता येस्ते तथा । ते इवरा-जान इति प्रक्रमः । प्रत्यक्मिव साक्षादिव तद्धर्मयोगात् पितृवन् श्रमशानं प्रत्यक्पितृवन्म (परमरुक्वीहणं ति) अस्यर्थदारुणं भ-यानकं दुष्प्रवेशतरकं प्रवेष्टुमशक्यं, सामान्यजनस्येति गम्यम् । अ-तिपतन्ति प्राविशन्ति संग्रामसंकटं संग्रामसगहनं, परधनं परद्वयं (महंतं चि) इच्छत इति । तथा अपरे राजन्या अन्ये (पाश्चको-रसंघा) पक्षातिरूपचौरसमूहाः, तथा सेनापतयः किं स्वरूपाः, चौरवृन्दप्रकर्षकाश्च, तत्प्रवर्तका इत्यर्थः । अटवीदेशे यानि दुर्गा-णि जलस्थलदुर्गरूपाणि तेषु वसन्ति ये ते तथा । कालहरितर-कर्पीतशुक्राः, पञ्चवर्णा इति यावत् । अनेकशतसंख्याश्चिह्नप-ट्टा वद्धा येस्ते तथा । परविषयानभिघ्नन्ति, बुद्ध्या इति व्यक्तम् । धनस्य कार्यं धनकृते इत्यर्थः । तथा रत्नाकरभूतो यः सागरः, तथा तं चातिपत्याभिघ्नन्ति, जनस्यापातानिति सम्बन्धः । ऊर्मयो वीचयस्तत्सहस्राणां मालाः पङ्क्त्यस्ताभिराकुक्षो यः स तथा । आकुला जलाभावेन व्याकुलितचित्ता ये च तोयपोताः विगतजज्ञयानपात्राः सांयात्रिकाः (कलकलंतं चि) कलक-लायमाना इत्यर्थेण कुर्वाणास्तैः कलितो यः स तथा । अनेना-स्यापयजलत्वमुक्तम् । अथवा-ऊर्मिसहस्रमालानिराकुलोऽति-व्याकुलो यः स तथा । तथा विगतपोतैर्विगतसंबन्धनाबोद्धिभैः कलकलं कुर्वद्भिः कलितो यः स तथा । ततः कर्मधारयः । तथा-तम् । तथा पाताहाः पाताहकशस्तेषां यानि सहस्राणि तैर्घात-वशाद्देगेन यत्संविद्धं जलधिजलम् (उच्छ्रममाणं ति) उत्पाद्यमानं तस्य यदुदकरजस्तोयरेणुस्तदेव रजोऽन्धकारं धूलीतमो यत्र स तथा तम् । वरः फेनो निष्पीरः प्रचुरो धवसः (पुष्टपुल चि) अन-वरतं यः समुत्थितो जातः स एवाद्दहासो यत्र । वरफेन एव वा प्रचुरादिविशेषणोऽद्दहासो यत्र स तथा तम् । मास्तेन विकोच्य-माणं पानीयं यत्र स तथा, जलमाशानां जलकल्लोलानामुत्पलः समूहः (हुल्लिय चि) शीघ्रो यत्र स तथा, ततः कर्मधार-योऽस्तस्तम् । अपिचेति समुच्चये । तथा समन्ततः सर्वतः लुभितवा-युप्रभृतिभिर्व्याकुलितं लुभितं तीरभुवि लुभितं (लोक्लुब्धमान-चि) महामत्स्यादिभिर्भृशं व्याकुलीक्रियमाणं, प्रस्त्रवितं निर्ग-च्छत्पर्वतादिस्त्रलितं, चक्षितं स्वस्थानगमनप्रपन्नं, विपुलं विस्ती-र्णं, जलचक्रवाहं तोयमण्डलं यत्र स तथा । तथा महानदीवैर्गैर्ग-ङ्गाऽऽदिनिम्नगाजवैः त्वरितं यथा जवतीत्येवमापूर्यमाणो यः स तथा । गम्भीरा अन्नबन्धमत्स्याः, विपुला विस्तीर्णाश्च ये आवर्त्ता जलप्रमाणस्थानरूपास्तेषु चञ्चलं यथा भवन्तीत्येवं भ्रमन्ति संचरन्ति, गुप्यन्ति व्याकुलीभवन्ति, (उच्छ्रतं ति) उच्छ्रलन्ति वा ऊर्ध्वमुखानि चञ्चन्ति प्रत्यग्वनिवृत्तानि वाऽधःपतितानि पानीया-नि प्राणिनो वा यत्र स तथा । अथवा जलचक्रवालेति नदीनां विशेषणमापूर्यमाणेति चावर्त्तानामिति । तथा प्रधाविता विग-तगतयः खरपरुषा आतिर्कशः प्रचण्डाः रौद्रा व्याकुलितस-ल्लिख विह्वलितजलाः स्फुटन्तो विदार्यमाणा ये वीचिरूपाः कल्लोवाः, न तु वायुरूपाः कल्लोवाः तैः सङ्कुलो यः स तथा । त-तः कर्मधारयोऽस्तस्तम् । तथा महामकरमत्स्यकच्छपाश्च (उद्दा-

पतेपां द्रव्यः । अतस्ते च एकचारा ये एकाकिनः सन्तो हरन्ती-
ति । [ओकद्वि] अपकपका ये गेहाद् ग्रहणं निष्कालय-
न्ति चौराण्याकार्य परपुत्राणि नोपयन्ति, चौरपुत्रवहा वा । संप्र-
दायकाश्चौराणां नृककादिं प्रयच्छन्ति । (ओष्पिप सि) अच-
च्छिम्पकाश्चौरविशेषा एव । सार्धधातकाः प्रतीताः । विलकाली-
कारकाः परव्यामोहनाय विसर्वरचनवादिनो, विसर्वरचन-
नकारिणो वा । पतेपां द्रव्यः । ते च निग्रहाद्ग्रहणाग्निप्राण रा-
जादिना गृहीता इत्यर्थः । ते चैते विप्रशोपकाश्चेति समासः ।
बहुविधेन (तेणिष्क सि) स्तेयेन हरणे युक्तियोगं ते बहुविह-
तेणिष्कहरणयुक्ताः । पाठान्तेरेण- (बहुविधतहाऽवहरणयुद्धि
सि) बहुविधा तथा तेन प्रकारेणापहरणे युक्तियोगं ते तथा ।
एते उक्तृपाः अन्ये चैतेभ्यः एवंप्रकारा अदत्तमादवतीति प्रक-
मः । कथं तु नास्ते ? इत्याह-परस्य द्रव्याये अविरता अनिवृत्ताः ॥
इति ये अदत्तादानं कुर्वन्ति ते उक्ताः ॥

अधुना त एव यथा तत् कुर्वन्ति तदुच्यते-विपुलं वलं सा-
मर्थ्यं परिग्रहश्च परिवारे येषां ते तथा । ते च यद्वो रा-
जानः परधने गृह्णाः । इदमधिकं वाचनान्तरे पदत्रयम् । तथा
स्वयं द्रव्यं असंतुष्टाः परविषयान् परदेशानभिप्रैरन्ति ब्रुवन्तः,
धनस्य हने इत्यर्थः । चतुर्भिर्द्विजैर्नक्तं समाप्तं वा यद्वलं सै-
न्यं तेन समग्रा युक्ता ये ते तथा । निश्चितैर्निश्चयवद्भिर्वर्योपैः
सह ययुक्तं संग्रामस्तत्र भ्रष्टा संजाता येषां ते तथा, ते च ते
अहमिन्येवं दर्पिताश्च दर्पयन्त इति समासः । तैरेवंविधैः भृत्यैः
पदातिभिः । कश्चित्सैन्यैरिति पठ्यते । संपरिवृताः समेताः, तथा
पञ्चशकटसूचीचक्रसागरगहनव्यूहानि, तैः । इह व्यूहशब्दः प्र-
त्येकं संयन्यते । तत्र पक्षाकारो व्यूहः पद्मव्यूहः, पर्यामनभि-
भर्तृनीयसैन्यविन्यासविशेषः । एवमन्येऽपि पञ्च । एतै रचि-
तानि यानि तानि तथा तैः । कैः ? भर्तृकैः सैन्यैः । अथवा-पक्षा-
दिभ्यूहा आदियेषां गोमूत्रिकाव्यूहादीनां ते तथा । तैरुपलक्षितैः,
कैः ? भर्तृकैः । (उच्छ्ररंत सि) आस्त्येवन्त आच्छादयन्तः, परा-
नीकानिति गम्यम् । अभिभूय जित्वा, तान्येव हरन्ति, परध-
नानीति व्यक्रमः । अपरे सैन्यादृतेभ्यो नृपेभ्योऽन्ये स्वयं यो-
द्धारो राजानो रणशर्ये संग्रामशिरसि प्रकृष्टरणे लब्धं लब्धं
यस्ते तथा । ' संग्रामं ति ' द्वितीया सप्तम्यर्थेति कृत्वा संग्रामे
रणे अतिपतन्ति स्वयमेव प्रविशन्ति, न सैन्यमेव योध-
यन्ति । किभूताः ? सन्नद्धाः सन्नहनादिना कृतसन्नाहाः, यद्वा प-
रिकराः कवचां यैस्ते तथा । उत्पाटितो गाढबद्धश्चिह्नपटो ने-
त्रादिचीवरामको मस्तके यैस्ते तथा । गृहीतान्यायुधानि श-
स्त्राणि प्रहरणानि यैस्ते तथा । अथवा-आयुधप्रहरणानां सै-
न्यान्नेप्येन कृतो विशेषः । ततः सन्नद्धादीनां कर्मधारयः । पूर्वा-
कमेव विशेषणं प्रपञ्चयन्नाह-'मादी' तनुत्राणविशेषः, तेन धरव-
र्मणा च प्रधानतनुत्राणविशेषेणैव गुण्डिताः प्रेरिता ये ते
मादीवरवर्मगुण्डिताः । पाठान्तरेण- (वम्मटिबम्मगुण्डिता)
तत्र 'गुडा' तनुत्राणविशेष एव; अन्यत् तथैव । आविद्धा परि-
हिता जालिका लोहकञ्चुको यैस्ते तथा । कवचेन तनुत्राण-
विशेषेणैव कण्टकिताः कृतकवचा ये ते तथा । उरसा वक्षसा
सह शिरोमुखा ऊर्ध्वमुखा वद्धा यन्त्रिताः कण्ठे गले तोषा-
स्तूपीराः शरभयो यैस्ते उरःशिरोमुखवद्धकण्ठतोषाः ।
तथा [पासिय सि] हस्तपाशितानि चरफलकानि प्रधानफ-
लकानि यैस्ते तथा । तेषां सत्को रचितो रणोचितरचनाविशेष-
श्च परप्रयुक्तप्रहरणप्रहारप्रतिघाताय कृतः [पहकर सि] समु-

दायो यैस्ते तथा । ततः पूर्वपदेन सह कर्मधारयः । अतस्तेः
सरभसैः सहर्षैः खरचापकरैः निपुणकोवण्डहस्तैः, धानुष्कैरि-
त्यर्थः । ये कराञ्चिताः कराकृष्टाः सुनिशिता अतिनिशिताः
शरा वाणास्तेषां यो वर्षवटकरको वृष्टिविस्तारो (मुयंत सि)
मुच्यमानः स एव धनस्य मेघस्य चण्डवेगानां धाराणां नि-
पातः तस्य मार्गो यः स तथा । तत्र 'मतेसि' पाठान्तरं च । तत्र
मत्प्रत्ययान्तत्वाग्निपातवति संग्रामेऽतिपतन्तीति प्रक्रमः ।
तथा अनेकानि धनूयि च मण्डलाग्राणि च सङ्गविशेषाः, तथा
सन्धिताः क्षेपणायोर्गोर्णा उच्छ्रलिता ऊर्ध्वगताः शक्यश्च वि-
श्लक्ष्णः, कनकाश्च वाणाः, तथा चामकरगृहीतानि खेट-
कानि च फलकानि, निर्मला निकृष्टाः खड्गाश्च उज्ज्वलवि-
कोशीकृतकरवालाः । तथा प्रहरन्ति प्रहारप्रचुत्तानि कुन्तानि
च शस्त्रविशेषाः, तोमराश्च धावविशेषाः, चक्राणि च अराणि,
गदाश्च दण्डविशेषाः, परशवश्च कुठाराः, मुशलानि च प्रती-
तानि, लाङ्गलानि च हस्तानि, शूलानि च, लगुडाश्च प्रतीताः । मि-
न्दियालाश्च शस्त्रविशेषाः । श्वलाश्च भल्लाः । पाट्टिशश्चास्त्र-
विशेषः, चर्मपट्टश्च चर्मनखपापाणां, घनाश्च मुञ्जरविशेषाः, मौ-
ष्टिकाश्च मुष्टिप्रमाणपापाणां, मुञ्जराश्च प्रतीताः, वरपरिधाश्च
प्रवलागलाः, यन्त्रप्रस्तराश्च गोफणादिपापाणां, कुक्ष्याश्चट्ट-
कराः, तोषाश्च शरभयः, कुवेण्यश्च कडिगम्याः, पीठानि च
आसनानीति द्रव्यः । एभिः प्रतीताप्रतीतैः प्रहरणविशेषैः कलि-
तो युक्तो यः स तथा । तत्र इलीभिः करवालविशेषैः प्रहरणैश्च
(मिलिर्मिश्रित सि) चिकचिकायमानैः (क्षिपंत सि) क्षिप्य-
माणैः विद्युतः क्षणप्रमाया उज्ज्वलाया निर्मलाया विरचिता वि-
हिता समा सद्यश्च प्रभा दीप्तियं तत् तथा । तदेवंविधं न-
भस्तलं यत्र स तथा ; तत्र संग्रामे तथा स्फुटप्रहरणे स्फुटानि
व्यक्तानि प्रहरणानि यत्र स तथा तत्र संग्रामे, तथा महारणस्य
संघर्षाणि यानि शब्दाश्च, जेरी च दुन्दुभिः, वरतूर्यं च लोकप्रती-
तम्, तेषां प्रचुराणां पटानां स्पष्टध्वनीनां पटानां च पटहकानामा-
हतानामास्फालितानां निनादेन ध्वनिना गर्भीरेण बहलेन ये न-
न्दिताः हृष्टाः, अजुमिताश्च जीतास्तेषां विपुलो विस्तीर्णो घोषो
यत्र स तथा तत्र । हयगजरयोर्धेभ्यः सकाशात् त्वरितं शी-
घ्रं प्रसृतं प्रसरमुपगतं यद्गजो घृल । तदेवोद्धततमान्धका-
रमतिशयं प्रवलं तमिषं तेन बहुलो यः स तथा तत्र, तथा का-
तरनराणां नयनयोर्दृढयस्य च (बावहि सि) व्याकुलत्वं क्लोत्रं
करोतीत्येवंशीलो यः स तथा तत्र । विलुलितानि शि-
थिलतया चञ्चलानि यान्युत्कटवराण्युन्नतप्रवराणि मुकुटानि
मस्तकाभरणविशेषाणि किरीटानि च तान्येव शिखरत्रयोपेता-
नि, कुण्डलानि च कर्णाभरणानि, वनुदामानि च नक्षत्रमात्राऽभि-
धानाभरणविशेषाः, तेषामाटोपः स्फारता सा विद्यते यत्र स
विलुलितोत्कटवरमुकुटाकिरीटकुण्डलोद्धदामाटोपित इति । तथा
प्रकटा याः पताकाः, उच्छ्रिताश्च ऊर्ध्वकृता ये गजगवनादिचञ्चाः,
वैजयन्त्यश्च विजयसूचिकाः पताका एव चामराणि चञ्चन्ति उ-
त्राणि च तेषां सप्तम्यर्थे यदन्धकारं तेन गर्भीरोऽज्ञानमध्यो
यः स तथा कर्मधारयः, ततस्तत्र; हयानां यद् द्वेपितं शब्दविशे-
षः, हस्तिनां यद् गुरुगुलायितं शब्दविशेष एव, तथा रथानां यत्
(धणधणाय सि) धणधणेत्येवंरूपस्य शब्दस्य करणम्, तथा (पा-
इक सि) पदातीनां यत् (हरहरादय सि) हरहरेतिशब्द-
करणम्, आस्फोटितं च करास्फोटकं सिंहनादश्च सिंहस्यैव
शब्दकरणम्, (बिलिय सि) सपिटं सीत्कारकरणम्, विधुष्टं च

इति व्यक्तम् । किञ्च—(विगन्व चि) वृका इव नास्तरविशेषा इव, (रुहिरमहिंयं ति) द्योहितेच्छवः (परितत्ति) परित्यजति सर्वतो भ्रमन्ति । पुनः कथंभूताः, नरपतिमर्यादामतिक्रान्ता इति प्रतीतम् । सज्जनजनेन विशिष्टलोकेन, जुगुप्सिता निन्दिता ये ते तथा, स्वकर्मनिर्हेतुभूतैः, पापकर्मकारिणः पापानुष्ठायिनः, अशुभपरिणताश्चाशुभपरिणामाः, दुःखज्वालिनि इति प्रतीतम् । (निष्ठाविल [उल] दुहमनिव्वुइमण चि) नित्यं सदा आविलगं सकासुष्यमाकुलं वा दुःखं प्राणिनां दुःखहेतुं, अनिवृत्तं स्वास्थ्यरहितं मनो येषां ते तथा । इह लोक एव क्लिश्यमाना व्यसनशतसमापन्नाः, पतानि पदानि व्यक्तानीति ।

(४) अथ तदेवेत्यादिना परधनहरणे फलद्वारमुच्यते—

तदेव केइ परस्स दब्बं गवेसमाणा गहिया य हता य वद्धा रुप्पा य तुरियं अतिधाकिया पुरवरं सम्पिया चारगहचारभडचाकुरणा तेहिं य कप्पकप्पहारनिइयाऽऽरक्खियखरफरुसवयणतज्जणगलत्थद्वउत्थलणाहिं विमणा चारगवसहिं पविसिया निरयवसहिसरिसं तत्थ वि गोम्मिकपहारदुम्मणा निन्नच्छणकमुयवयणभेसणग(जय)आभिज्जूया अक्खित्तखिवसणा मल्लिणहंमिखंरुवसणा, उक्कोमल्लंचनपासुमगणपरायणेहिं गोम्मिगजमेहिं विविदेहिं वंधणेहिं, किं ते इडिनियमवालरज्जुयकुण्डगवरत्तदोहसंकलहत्थंडयवज्जपट्टदामकणिकोडणेहिं अस्सेहिं य एवमादिएहिं गोम्मिकमंभोवगरणेहिं कुक्खसमुदीरणेहिं संकोरुणमोरणेहिं वज्जंति मंदपुष्पा संपुक्कवारुलोहंपंजरज्जूमिधरनिरोहकूवचारगकीलणजूपचक्कविततबंधणत्तंजंछेणउच्छलणवंधणविहंमणाहिं य विदेहियंता अहकोरुगगादउरसिरवच्छउच्छूरिय(यंत)फुरंतउरकंरुगमोरणेहिं संवप्पा य नीससंता सीसावेडउरुयाद्ववप्पदसंधिवंधणतत्तसलागसुइआकोरुणाणि तच्छणविमाणाणाणि य खारकडुयतिचत्तावणजायणकारणसयाणि बहुयाणि पावियंता, उरघोकीदिस्सगादपेद्वणअड्डिकसंजगसंपसुलिया गलकादकलोहदंडउरउदरवत्थिपिडिपरिपीलिया मच्छंतहिययसंचुस्सियंगुपंगा आसत्तिकिकरेहिं; केय अविराहियवेरिएहिं जमपुरिससंनिभेहिं पहया ते तत्थ मंदपुष्पा चडवेला वज्जपट्टपोरा इति वा कसद्वत्तवत्तवेत्तपहारसततादियंगुपंगा किवणा लवंतवम्मवणवेयणविमुहियमणा घणकोट्टिमनियद्वज्जुयलसंकोरियमोहिया य कीरंति, निरुद्धारा एया अस्सा य एवमादीओ वेयणाओ पावा पावंति, अर्दंति दिया वसट्टा बहुमोहमोहिया परणधम्मि बुद्धा फासिंदियविसयतिव्वगिप्पा इत्थिगयरुवसरसंगंधइट्टरतिमहियजोगतएदाइया य धणतोसगा गहिया य जे नरगणा पुणारविते कम्मदुव्वियट्टा उवणीया रायकिंकराणं तेसिं वधसत्थगपादयाणं विल्लउडीकारकाणं लंचसयगेखहयार्ण कूरुक्कवडमायाणियनिअायरणपणिद्विंचणविसारयाणं बहुविहआदियसयजंप-

काणं परलोकपरमुहाणं निरयगतिगामियाणं तेहिं य आपत्तजा(जी) यदंदा तुरियं उग्घाडिया पुरवरेहिं सिंघाडगतियचउक्कचत्तरमहापहपहेसु वेत्तदंरुद्वउरुक्कडेल्लेडपत्थरपणालियपणोद्विमुद्विद्वत्तपादपयिहजाणुकोप्परप्पहारसंजगमथितगत्ता अट्टारसकम्मकारिणा पायियंगुपंगा कलुणा सुक्कोट्टकंठगलताद्वुजिज्जा जायंता पायियं विगयजीवियासा तएदाइत्ता वरागा तं पिय न लहंति, वज्जपुरिसेहिं धामियंता तत्थ य खरफरसपडहधट्टितकूरुगगदरुद्वनिसड्डपरामद्ववज्जकरकुकिजुयनिवसिया सुरत्तकणवीरगहियविमुकुलकंठेगुणवज्जदूतआविष्मल्लदाममरणजयुप्पससेयमायतणेहउन्नुपियकिनिस्सगत्ता जुल्लगुंमियसरिरयरएभरियकेसा कुसंजगुकिस्समुक्कया जिस्सजीवियासा घुणंता वज्जपाणपीया तिलं तिन्नं चैव जिज्जमाणा सरीरविकत्तलोहिओलित्तकागणिमंसाणि स्वायियंता पावा खरफरसएहिं ताज्जिज्जमाणदेहा वातिकनरनारिसंपरिबुद्धा पिच्छिज्जंता य नागरजणेण वज्जनेवत्थिया पणिज्जंति एगरमज्जेण किवणकलुणा अत्ताणा असरणा अणाहा अवंधवा वंधुविप्पहीणा विपिक्खंता दिसो दिसिं मरणजयुव्विग्गा आघायणपमिदुवारसंपाविया अधएणा मूलगाविलगजिस्सदेहा ते य तत्थ कीरंति, परिकप्पियंगुपंगा उद्धंविज्जंति रुक्खसादेहिं केइ कलुणाइ विद्ववमाणा। अवरे चउरंगधणियवद्धा पव्वयकडगा पमुच्चंते दूरपातवहुविसमपत्थरसहा। अस्से य गयचलणमद्वणनिम्महिया कीरंति, पावकारी अट्टारसखंमिया य कीरंति मुंरपरिसुहिं । केइ उक्खित्तकसोड्डनासा उप्पाडियनयणदसणवसणा जिज्जिंदियांचिया जिस्सकससिरा पणिज्जंति जिज्जंति य अमिणा निव्विसया जिस्सहत्थपाया य पमुच्चंति, जाव जीवबंधणाय कीरंति । केइ परदव्वहरणबुद्धा कारगलानियलजुयलरुप्पा चारगाए इतसारा सयणविप्पमुक्का मिच्चजणनिरकया निरासा बहुजणधिकारसइलज्जाइया अलज्जा अणुवच्छुद्धापरच्छसिउहत्ताएहवेयणदुग्घट्टाट्टियविक्खमुहविठविया विहलमइलदुव्वट्टा किलंता कासंता वाहिया य आमोज्जिचूयगत्ता परूदनहकेससमंमुरोमा मलमुत्तम्मि णियगम्मि खुत्ता तत्थेव मया अकामका बंधिज्जण पाए सुक्कहिया खाइयाए छूटा, तत्थ य वगसुणयसियाद्वकोट्टमंजारवंदसंढासतुंरुपक्खिगणविविद्वमुहसयविद्वुत्तगत्ता कयविहंगा । केइ किमिणाइ कुथितदेहा अणिद्वयणेहिं सप्पमाणा सुट्टु कयं जं मओ चि पावो तुड्डेण जणेण इणमाणा दव्वजावणका य हुंति सयणस्स चि य दीहकालं मया संता पुणो परद्वोगसमावप्पा नरगे गच्छंति । निरभिरामे अंगारपद्वित्तककप्पअव्वत्तसीयवेयणाऽऽसा-

र त्ति] जलजन्तुविशेषाः, ते च ग्राहतिभिर्गुणमारुच्यते । द्वन्द्वः ।
तेषां समाहृताश्च परस्परैणोपहृताः [समुद्घातमात्रं य त्ति]
समुद्घातवन्तश्च प्रहाराय समुत्तिष्ठन्तो ये पुराः संघाः घोरा रौ-
चास्ते च प्रचुरा यत्र स तथा तम् । कातरनरहृदयकम्पनमिति
प्रतीतम् । घोरा रौद्रं यथा भवतीत्येवमारसनं शब्दायमानं, महाभ-
यादीन्येकार्थानि । [अणोरपारं ति] अनर्वाकपारमिव महत्त्वा-
दनर्वाकपारम्, आकाशमिव निरालम्बम्, न हि तत्र पततः किञ्चिदालम्बनमवाप्यत इति भावः । औत्पातिकपवनेनोत्पा-
तजनितवायुना [धारिण्यत्ति] अत्यर्थं, वेन [षोडशित्यत्ति] नोदिताः
प्रेरिता उपर्युपरि निरन्तरं तरङ्गाः कल्लोलास्ते, दत्त इव अति-
वेगोऽतिक्रान्तः शेषवेगं यो वेगस्तेन, लुप्ततृतीयकवचनदर्शना-
त् । चक्षुःपथे दृष्टे मार्गे [मोच्छ्रतं कथ्यते इति] कचिद्देशे गम्भी-
रं विपुलगर्जितं मेघस्येव ध्वनिर्गुञ्जितं च, गुञ्जालक्षणा-
तोयं च निर्धातव्यं गगने व्यन्तरकृतो महाध्वनिः, गुरुकनि-
पतितं च विद्युदादिगुरुकद्रव्यनिपातजनितध्वनिर्यत्र स तथा ।
सुदीर्घानिर्हादी अहस्वप्रतिरवो [दूरसुच्छंतं ति] दूरे भूय-
माणो गम्भीरो धुगधुगित्येवंरूपश्च शब्दो यत्र स तथा कर्म-
धारयः । ततस्तम् । पथि मार्गे [कर्मं ति] कण्ठानाः संच-
रिष्णूनां मार्गं स्मृत्यन्तो ये यत्पराक्षसकूष्माण्डपिशाचव्य-
न्तरविशेषाः, तेषां यत्प्रगर्जितं, उपसर्गसहस्राणि च । पाठा-
न्तरेण—[रुसियसज्जायउचसग्गसहस्स ति] तत्र यत्तादृशश्च
रुपिताः, तज्जातोपसर्गसहस्राणि, तैः सङ्कुलो यः स तथा तम् ।
बहूनि च औत्पातिकानि उत्पाताद् भूतः प्रातो यः स तथा । वा-
चनान्तरे—उपद्रवेणाभिभूतो यः स उपद्रवाभिभूतः । ततः प्र-
तिपथेत्यादिना कर्मधारयः । अतस्तम् । तथा विरचितो बलिना
उपहारेण होमनाश्रिकारिकया धूमेन उपचारो देवतापूजा यै-
स्ते तथा । दत्तं वितीर्णं अधिरं यत्र तत्तथा, तच्च तद्वर्चनाक-
रणं च देवतापूजनं च तत्र प्रयता ये ते तथा । योगेषु प्रवह-
णोचितव्यापारेषु प्रयता ये ते तथा । ततो विरचितेत्यादीनां
कर्मधारयः । अतस्तैः सांयात्रिकैरिति गम्यते । चरितः सेवि-
तो यः स तथा तम् । पर्यन्तयुगस्य सकलयुगान्तिमयुगस्य यो-
ऽन्तकालः क्षयकालस्तेन कल्पा कल्पनीया उपमा रौद्रत्वा-
द्यस्य स तथा । दुरन्तं दुरवसानं महानदीनां गङ्गादी-
नां चेतरासां पतिः प्रमुर्यः स तथा । महाभीमो दृश्यते यः स
तथा । कर्मधारयः । अतस्तम् । दुःखेनानुवर्त्यते सेव्यते यः स
तथा तम् । विषमप्रवेशं दुष्प्रवेशं, दुःखोत्सारमिति च प्रतीतम् ।
दुःखेनाश्रीयत इति दुराश्रयस्तं, सवणसलिलपूर्णमिति व्यङ्ग्यम् ।
असिताः कृष्णाः, सिताः सितपटाः, समुच्छ्रिता उद्धाकृता येषु
तान्यसितसितसमुच्छ्रितानि तैः चौरप्रवहणेषु कृष्णा एव
सितपटाः क्रियन्ते, दूरादनुपलक्षणेहेतोरित्यसितेत्युक्तम् ।
[इत्यतरेकेहि ति] सांयात्रिकयानपात्रेभ्यः सकाशाद्दत्त-
रैवेवगवद्भिरित्यर्थः । बाहनैः प्रवहणैरतिपत्य पूर्वोक्तविशेष-
णं सागरं प्रविश्य समुद्रमध्ये भ्रमन्ति, गत्वा जनस्य सांया-
त्रिकलोकस्य, पोतान् यानपात्राणि, परद्रव्यहरणे ये निरनु-
कम्पा निःशुक्रास्ते तथा । वाचनान्तरे—परद्रव्यहरा नरा निर-
नुकम्पाः [निरवेक्लं ति] परलोकं प्रति निरवकाङ्क्षा निर-
पेक्षाः । ग्रामो जनपदाश्रितः सन्निवेशविशेषः, आकरो लवणाद्यु-
त्पत्तिस्थानम्, नकरः अकरवायिलोकः, सेटं घृहीप्राकारः, कर्वटं
कुनगरं, मण्डयं सर्वतोऽनासन्नसन्निवेशान्तरं, द्रोणपथं जल-
स्थलपथोपेतं, पत्तनं जलपथयुक्तं, स्थलपथयुक्तं वा, रत्नमूभि-

रित्यन्योऽप्यभ्यस्तपसविनिवासः, निगमो वयिर्गजननिवासः,
जनपदो देशः इति द्वन्द्वः । अतस्तांश्च धनसमृद्धान् भ्रमन्ति । तथा
सिरहृदयाः तत्रार्थे निश्चलचित्ताच्छिन्नलज्जाश्च ये ते तथा ।
वन्दिग्रहगोप्रह्रांश्च गृह्णन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा—दारुणमतयः
निष्कृपा निग्नन्ति, विन्दन्ति गेहसन्धिमिति तम् । निक्षिप्तानि
स्वस्थानन्यस्तानि हरन्ति, धनधान्यद्रव्यजातानि धनधान्यरूप्य-
प्रकारान् । केयाम् ? इत्याह—जनपदकुलानां लोकगृहाणां, निर्गुणम-
तयः परस्य द्रव्याद्यैरविरताः, तथा । तथैव पूर्वोक्तप्रकारेण के-
चिद्वत्तादानमवतीर्णं कृत्यं गवेपयन्तः कात्वाकालयोः सञ्चर-
णस्योचितानुचितरूपयोः सञ्चरन्तो भ्रमन्तः, (चियग ति)
चितिषु प्रतीतासु प्रज्ज्वलितानि वह्निदीप्तानि सरसानि इन्ध-
नादियुक्तानि दग्धधानि ईषन्नस्मीकृतानि कृष्टान्याकृष्टानि तथा-
विधप्रयोजनाग्निः कठेवराणि मृतशरीराणि यत्र तत्तथा, तत्र
इमशाने । क्लिश्यमाना अटवीवाससुपयन्तीति संबन्धः । पुनः किं
चूते ? अधिरक्षितवदनानि अक्रान्तानि समग्राणि, मृतकानि इति
गम्यते । आदितानि प्रकृतानि, पीतानि च शोणितापेक्षया, यका-
मिस्तास्तथा, तामिश्च नाकिनीभिः शाकिनीभिः भ्रमन्तीभिः तत्र
सञ्चरन्तीभिः मयङ्करं यत्र तं अधिरक्षितवदनाकृतआदितपीत-
नाकिनीभ्रमङ्गयङ्करम् । कचिद्वक्त इत्येतस्य स्थाने—“ अद्वरं ”
इति पठ्यते । तत्र चाभिर्निर्भयाभिरिति व्याख्येयम् । (जंबुयाक्षि-
विजयंते ति) शिखरीतिशब्दायमानः, गृगाक्षः, ततः कर्मधारयः ।
अतस्तत्र । तथा घूकृतघोरशब्दे कौशिकविहितरौद्रध्वाने, वेता-
क्षेभ्यः विकृतपिशाचेभ्य उत्थितं समुपजातं विशुद्धं शब्दान्त-
रामिश्रं (कहकहेति ति) कहकहायमानं यत्प्रहसितं तेन (वी-
हणं ति) भयानकम् । अत एव निरजिरामं वा रमणीयं यत्र
तत्तथा । तथा तत्र, अतिबीजत्सदुरजिगन्धे इति व्यक्तम् । पाठा-
न्तरेण—अतिदुरभिगन्धवीमत्सदृशनीये इति । कस्मिन्नेवंभूते ? इ-
त्याह—इमशाने पितृवने, तथा वने कानने यानि शून्यगृहाणि प्रतीता-
नि, क्षयनानि शिष्टामयगृहाणि, अन्तरे ग्रामादीनामरूपे, आपणा
हृष्टाः, गिरिकन्दराश्च गिरिगृहाः इति द्वन्द्वः । ताञ्च ताः विषमवहा-
पदसमाकुलान्तेति कर्मधारयः, अतस्तासु । कासु एवविधासि-
त्याह—वसतिषु वा स्थानेषु वा क्लिश्यन्तः, शीतानपशोषितश-
रीरा इति व्यक्तम् । तथा दग्धच्छवयः शीतादिरुपहतत्वचः,
तथा निरयतिर्येजव एव यत्सङ्कटं गहनं तत्र यानि दुःखानि
निरन्तरदुःखानि तेषां यः सम्भारो बाहुल्यं, तेन वेद्यन्ते अनुचू-
यन्ते यानि तानि तथा । तानि पापकर्माणि संस्मिन्वन्तो बध्न्तः दु-
र्धर्मं दुरापं भक्ष्याणां मोदकादीनामशनम्, ओदनादीनां पानानां
च मद्यजडादीनां भोजनं प्राशनं येषां ते तथा । अत एव पिपा-
सिता जाततृणः, (कुंक्षिय ति) वृष्टिकृताः क्लान्ता स्थानी-
चूनाः, मांसं प्रतीतम् (कुण्णिं ति) कुणपः शवः, कन्दसूत्रानि
प्रतीतानि, यत्किञ्चिच्च यथावाप्तवस्तु । इति द्वन्द्वः । पतैः कृतो वि-
हित आहारे भोजनं यैस्ते तथा । उद्विग्ना उद्वेगवन्त उत्सुता उ-
त्सुकाः, अशरणाः अत्राणाः । किम् ? इत्याह—अटवीवासमरणयव-
सनमुपयन्ति । किं चूतम् ? व्यालशतशङ्खनीयं भुजगादिभिर्मय-
ङ्करमित्यर्थः । तथा अयशस्कराः तस्करा मयङ्कराः, एतानि पदानि
व्यक्तानि । कस्य हरामश्चोरयामः, इति इव, विवक्षितम् । अद्या-
स्मिन्नदिनि, कृत्यं रिक्तम्, इति एवंप्रकारं, सामान्यं कुर्वन्ति, शुद्धं
रहस्यम्, तथा बहुकस्य जनस्य, कार्यकरणेषु प्रयोजनविधानेषु,
विप्लवरा अन्तरायकारकाः, मत्तप्रमत्तप्रसुतविश्वस्ताद् विदे
अवसरे भ्रन्तीत्येवंशीला ये ते तथा । व्यसनान्पुदयेषु हरणकुस्य

आक्रोशविशेषाः, कटुकवचनानि च कटुकवचनैर्वा भीषणकानि च भयजननानि, तैरभिज्ञता ये ते तथा । पाठान्तरेण-पञ्चो यद्-भयं तेनाभिज्ञता ये ते तथा । आक्रितनिवसना आक्रष्टपरिधानवस्त्राः, महिनं दण्डिस्त्रावरुणं वसनं वस्त्रं येषां ते तथा । च-त्कोचालश्चोर्ध्वव्यवहृत्येतत्त्वादिभिर्लोकैः प्रतीतप्रेदयोः पार्श्व-दुःशुसिगतनरसमीपाद्, उन्मार्गणं याचनं, तत्परायणास्तन्निष्ठा ये ते तथा, तैः, गौलिमकभटैः कर्तुभिः, विविधैर्वन्धनैः करणभूतैर्वन्ध-न्त इति संबन्धः । [किंते त्ति] तद्यथा- [हडि त्ति] काष्ठविशेषः, निगमानि बोहमयानि, बालरज्जुका गवादिवालमयी रज्जुः, कुद-रुणकं काष्ठमयं प्रान्ते रज्जुपाशं, वरत्रा चर्ममयी महारज्जुः, बो-हसङ्कला प्रतीता, हस्ताण्डकं बोहादिमयं हस्तयन्त्रणं, वध्यपह-श्चर्मपट्टिका, दामकं रज्जुमयपादसंयमनं, निष्कोटनं च वन्धनवि-शेषः । इति द्वन्द्वः । ततस्तेरन्यैश्चाकन्यतिरिक्तैरेवमादिकैरेवंप्रका-रैर्गौलिमकज्जाणोपकरणैर्गौलिमकपरिच्छदविशेषैः दुःखसमुदी-रणैरसुखप्रवर्त्तकैः । तथा संकोचना गात्रसङ्कोचनम्, मोटना च गात्रभञ्जना, ताभ्याम्, किम् ? इत्याह-वच्यन्ते । के ? इत्याह-मन्दपुण्याः । तथा संपुटं काष्ठयन्त्रं, कपाटं प्रतीतम् । लोहपञ्जरे भूमिगृहे च यो निरोधः प्रवेशनं स तथा । कूपोऽन्धकूपादिः, चार-को गुप्तिगृहं, कीलकाः प्रतीताः, यूपो युगं, चक्रं रथाङ्गं, विततवन्धनं प्रतर्दितबाहुजङ्घाशिरसः संयन्त्रणम्, [खंमाले-ण ति] स्तम्भमागलनं, स्तम्भालगनमित्यर्थः । चर्कं चरणस्य यद्वन्धनं तत्तथा । एतेषां द्वन्द्वः । तत एभिर्नो विधर्मणाः कदर्थनास्तास्तथा, ताभिश्च [विहेमियतं ति] विहेम्यमाना वध्यमानाः, संकोदिता मोदिताः क्रियन्त इति सम्यग्धः । अधः कोटकेन कोटाया ग्रीवायाः अधोनयनेन, गाढं वाढं, उरसि हृदये, शिरसि च मस्तके, ये वद्धास्ते तथा । ते च ऊर्ध्वपुरिताः श्वासपुरितोर्ध्वकायाः, उर्ध्वा वा स्थिताः, धूल्या पूरिताः । पाठान्तरे- [उर्ध्वपुरियतं त्ति] ऊर्ध्वपुरितान्त्रा ऊर्ध्वगतान्त्राः, स्फुरदुरः-कण्टकाश्च, कम्पमानवक्त्रस्थान्, इति द्वन्द्वः । तेषां सतां यन्मोदनं मर्दनं, आग्नेरना वा, विपर्यस्तीकरणं वा, ते तथा । ताभ्यां विहेम्य-माना इति प्रकृतम् । अथवा-स्फुरदुरःकण्टका इह प्रथमावबुव-चनलोपो ह्रस्वः । ततश्चांमोदनाग्नेरनाज्यामित्येतदुत्तरत्र योज्य-न्ते । तथा च वद्धाः सन्तः निःश्वसन्तो निःश्वासान्विमुञ्चन्तः, शीर्षावेष्टनं च वरत्रादिना शिरोवेष्टनं, [चरयाश्च त्ति] ऊर्वोर्ज-ङ्घ्योर्दोरो दारणं, ज्वालो वा ज्वलनं, यः स तथा स च । पाठान्तरेण- [चरयाश्च त्ति] ऊरुकयोरावलनं ऊरुकावलः । वपरु-कानां काष्ठयन्त्रविशेषाणां, सन्धिषु जानुकूर्परादिषु, वन्धनं वप-रुकसन्धिवन्धनं, तच्च तप्तानां शङ्काकानां कीलरूपाणां, सूचीनां शृङ्खलीकृणाग्राणां, यान्याकुट्टनानि कुट्टनेनाङ्गे प्रवेशनानि, तानि तथा, तानि चेति छन्दः । तानि प्राप्यमाणा इति संबन्धः । त-क्कणानि च वास्या काष्ठस्येव, विमाननानि च कदर्थनानि, तानि च तथा, क्षाराणि तिलक्षाराणि, कटुकानि मरीचादीनि, तिकानि निम्बादीनि, तैर्यत् [नावण त्ति] तस्य दानं तद्वादि यातना-कारणशतानि कदर्थनाहेतुशतानि, तानि बहुकानि प्राप्यमाणाः । तथा उरसि वक्त्रसि, (घाभि त्ति) महाकाष्ठं, तस्या दत्ताया द्वितीयायाः, निवेशिताया इत्यर्थः । यज्ञादप्रेरणं तेनास्थिकानि हृद्भुजि संभग्नानि [सपांसुलग त्ति] सपाश्वर्यानीनि येषां ते तथा । गद्य इव वनिशमिव घातकत्वेन यः स गद्यः, स चासौ कालकलोहदण्डश्च कालायसयष्टिः, तेन उरसि वक्त्रसि, वदरे च जठरे च, वस्तौ च गुह्यदेशे, पृष्ठे च पृष्ठे, परिपीमिता ये ते

तथा । (मथ्यंत त्ति) मथ्यमानं हृदयं येषां ते तथा । इह यकारस्य छकारादेशश्छान्दसत्वात् । तथा संचूर्णिताङ्गो-पाङ्गाश्चेति समासः । आङ्गसिक्किरैः यथाऽऽदेशकारिभिः, किं-कुर्वाणैः ? । केचित् केचन, आविराधिता एवाऽनपराद्धा एव, वै-रिका ये ते तथा तैः, यमपुरुषसन्निभैः, प्रहता इति प्रकृतम् । ते अदत्तहारिणः । तत्र चरकगते मन्दपुण्या निर्भाम्याः, चर्मवेद्या चपेटा, चर्मपट्टः चर्मविशेषपट्टिका, पौरा इति बोहकुशी-विशेषः, कपश्चर्मयष्टिका, दत्ताक्तं च, वरत्रा चर्ममयी महारज्जुः, वेत्रो जलवशाः, एभिर्नैः प्रहारास्तेषां यानि शतानि तैस्ता-डितान्यङ्गोपाङ्गानि येषां ते तथा, रूपणाः दुस्थाः, दम्भमान-वर्माणि यानि व्रणानि कृतानि, तेषु या वेदना पीमा, तथा विमु-खीकृतं चौर्याद्विरज्जितं मनो येषां ते तथा । घनकुट्टनेन घन-तारुनेन निर्वृत्तं घनकुट्टिमम्, तेन निगमयुगलेन प्रतीतेन, संको-दिताः सङ्कोचिताः, मोदिताश्च जग्नाङ्गाः, ये ते तथा । ते च क्रिय-न्ते विधीयन्ते, आङ्गसिक्किरैरिति प्रकृतम् । किं भूताः ? निद-धारा निरुद्धपुरीषोत्सर्गाः, अविद्यमानसम्भरणा नष्टवचनोच्चा-रणा वा; एता अन्याश्च एवमादिका एवंप्रकाराः वेदनाः पापाः पापफलचूताः, पापकारिणो वा प्राप्नुवन्ति । अदन्तोन्धियाः, वृत्तिवशेन विषयपारतन्त्र्येण ऋताः पीडिता वशाताः, बहुमो-हमोहिताः, परधने लुब्धा इति प्रतीतम् । स्पर्शनेन्द्रियविष-ये स्त्रीकलेवरादौ, तीव्रमत्यर्थं, गृह्णा अज्युपपन्ना ये ते तथा । स्त्रीगता ये रूपशब्दरसगन्धास्तेषु इष्टाऽभिमता या रतिः, तथा स्त्रीगत एव महितो वाञ्छितो यः स्त्रीभोगो निधुवनं, तेन या तृष्णा आकाङ्क्षा, तथा अर्दिता वाधिता ये ते तथा । ते च धनेन तृष्यन्तीति धनतोपकाः, गृहीताश्च राजपुरुषैरिति गम्यम् । ये केचन नरगणाः चौरनरसमूहाः, (पुनरवि त्ति) एकदा ते गौ-लिमकनराणां समर्पिताः तैश्च विविधवन्धनवद्धाः क्रियन्त इत्युक्त-म्, ततः तेभ्यः सकाशात् पुनरपि ते कर्मदुर्विदग्धाः, कर्मपापक्रि-यासु विषये फलपरिज्ञानं प्रति विज्ञाः, उपनीताः दौकिताः । राज-किङ्कराणां, किंविधानाम् ? (तैसि त्ति) ये निर्दयादिधर्मयुक्तास्ते-षाम्, तथा वधशास्त्रकपाठकानां इति व्यक्तम् । विद्वद्वर्गकार-काणां तिविद्वद्विद्वत्कर्तृणां विलोकनाकारकाणां वा, लज्जाशतग्रा-हकाणां, तत्र लज्जा वत्कोचाविशेषः । तथा कूटं मानादीनामन्यथा-करणं, कपटं वेषभाषावैपरीत्यकरणं, माया प्रतारणशुक्तिः, निष्कृति-र्वञ्चनक्रिया, तयोर्वा प्रच्छादनार्थं माया क्रियैव, एतासां यदाचर-णं प्राणिधिना एकाग्रचित्तप्रधानेन यद्वञ्चनं, प्राणिधीनां वा गृहपुरु-षाणां यद्वञ्चनं तच्च, तत्र विशारदाः परिहृता ये ते तथा । तेषां बहु-विधाऽऽश्रितशतजल्पकानां, परलोपपराङ्मुखानां, निरयगतिगा-मिकानामिति व्यक्तम् । तैश्च राजकिङ्करैः, आङ्गसमादिष्टं, जातं दु-ष्टनिग्रहविषयमाचरितं, दण्डश्च प्रतीतः, जीतदण्डो वा रूपदण्डो, जीवदण्डो वा जीवितनिग्रहलक्षणो, येषां ते तथा । त्वरितं शीघ्रमुद्धादिताः प्रकाशिताः, पुरवरे शृङ्गाटिकादिषु, तत्र गृह्णाटकं सिङ्गाटकाकारं त्रिकोणस्थानमित्यर्थः । त्रिकं रथ्यात्रय-लीलन-नस्थानम्, चतुष्कं रथ्याचतुष्कमीलनस्थानम्, चत्वरमेनकरथ्या-पतनस्थानम्, चतुर्मुखं देवकुक्षिकादि, महापथो राजमार्गः, पन्था सामान्यमार्गः, किंविधाः सन्तः प्रकाशिताः ? इत्याह-वेत्रदण्डो लकुटः, काष्ठं, वेष्टुः, प्रस्तरश्च, प्रसिद्धाः । (पणालि त्ति) प्रकृष्टा नाली शरीरप्रमाणा दीर्घतरा यष्टिः, (पणोश्चि त्ति) प्रणोदितो जा-तदण्डः, मुष्टिर्दत्ता पादपाणिर्वा जानुकूर्परं चैतान्यपि प्रसिद्धा-नि । एभिर्नैः प्रहारास्तैः संभग्नान्यामर्दितानि मायितानि विद्वोमिता-

यणोदिष्यसततदुक्खसयसमजिज्ञूष ततो वि उच्चट्टिया समा-
णा पुणो वि पवज्जंति तिरियजोणि, तर्हि पि निरओवमं अ-
णुजवंति वेयणं ते, अणंतकाद्वेण जति णाम कर्हि वि मणुय-
जावं ल्हिंति खेगेहिं णिरयगतिगमणतिरीयजवसयसहस्स-
परियट्ठं हिं तस्य वि य जवंताऽणारिया नीचकुलसमुप्पमा
लोयवज्जा तिरिक्खजूया य अकुसला कामभोगतिसिया
जहिं निवंधंति निरयवत्तणि जवप्पवंचकरणपणोस्ति पुणो वि
संसारवत्तणेममुदं धम्ममुदविज्जिया अणज्जा कूरा मिच्छ-
त्तमुतिपवणा य हुंति, एगंतदं रुद्धो वेदंता कोसिकारकी मो
व्व अप्पगं अट्ठकम्मतंतुयणवंधणेणं, एवं नरगतिरियनर अ-
मरगमणपेरंतक्कवाड जम्मजरा मरणकरणगंजं रदुक्खप-
व्वुभियपजरसद्धिं संजोगवियोगवां चिचिंतापसंगपसारिय
वहंवंधमद्दविपुलकल्लोलकल्लुणविज्जित्तोजकलकलंत-
बोलवहुलं अवमाणफेणित्त्वस्सिणपुलंपुलप्यन्यरोगवे-
यणपरभवविणियायफरुनधारिसणसमावन्वियकटिणकम्म-
पत्तरतरंगरिगंतनिच्चमच्चुभयतोयपट्ठं कसायपायाजसं-
कुलं भवसयसहस्सजज्ञसंचयं अणंतं उव्वेज्जयं अणोर-
पारं महब्जयं जयंकरं पज्जवं अपरिमियमहिच्छकद्रुसमति-
वाडवेगज्ज-ममाणोऽऽसापिवासापायाजकामरतिरागदो-
सचंधणवहुविहसंकप्पविज्जदगरयरयंऽथकारमोहमहावत्त-
भोगजममाणुप्पमाणुच्छलंतवहुगब्जवासपच्चोणियचपा-
णिपथावियवसणसमावणरणचंरुमारुयसमाइयमणुसुधी-
च। वाकुलितजंगफुटंतनिट्टकल्लोलमंकुलजज्ञं पमादवहुचंरु-
ट्टसावयसमाइयउच्चायमाणपूरघोरविदंसणत्थऽणत्थवहु-
लं अष्ठाणजर्मतमच्चपरिदक्खअनिहुतिदिपमहामरतुरिय-
चरियत्त्वोक्खुब्भमाणसंतावनिच्चयचलंतचवद्वचंचद्वअत्ता-
णासरणपुव्वकम्मसंचयोदिष्वज्जवेदिज्जमाणद्वसयवि —
वागघुणंतजज्ञसमूहं इहिरससायगारवोहारगहियकम्मपहि-
वदसत्तकट्टिज्जमाणनिरयतज्जदुत्तसणविससवहुलअरति-
रतिभयविषायसोगमिच्छत्तसेलसंकमं अणाइसंताणकम्मवं-
धणज्ञेसचिक्खिद्वदुट्टचारं अमरनरतिरियगतिगमणकु-
लपरियचविपुलवेहं हिंसाऽद्वियअदत्तादाणमेहुणपरिग-
हारंभकरणकारावणाणुमोयणअट्टविहअणिट्टकम्मपिनिंतगु-
रुजाराकंतदुग्गजलोघदूरनिचो लिज्जमाणउम्मगानिमग दु-
ल्लवत्तं सरीरमणोमयाणि दुक्खाणि उप्पियंता सातासा-
यपरितावणमयं उव्वुज्जिनिव्वुज्जयं करोति। चउरंतमहंतमणवय-
गं रुदं संसारसागरं अट्टियअणालंबणपतिट्टाणमप्पमेयं
चुलसीइजोणिसयसहस्सगुविहं अणाहोकरमंधकारं अणंत-
कालं जाव णिच्चं उत्तत्थमुष्ठाभयसणसंपज्जता संसारसा-
गरं वसंति उन्निमग्गवासवसाहिं, जहिं जहिं आउयं निवंधंति
पावकम्मकारिणो वंधवजणसयणमिचपरिवज्जिया अणि-

ट्टा जवंति । अणादिज्जदुव्विणीया कुट्टाणासणसेज्जाकु-
भोयणा असुयणो कुसंहयणकुप्पमाणकुसंठिया कुरूवा
वहुकोहमाणमायाहोभा बहुमोहा धम्मसस्यसम्मत्तपब्जट्टा
दारिद्रोवद्ववाजिज्ञूया निचं परकम्मकारिणो जीवणत्थरहि-
या किवणा परिपिन्ताकिका दुक्खलद्धादारा अरसविरस-
तुच्छकयकुक्खिपूरा परस्स पच्छंता रिद्धिसकारभोयणविसेस-
समुदयविहिं निंदंता अप्पकं, कयंतं च परिवयंता, इह य पुरे
कडाइं कम्माइं पावगाइं विमणसो सोएण रुज्जमाणा परि-
जूया हुंति, सत्तपरिवज्जिया य ठोभा णिक्कद्व्यासमयसत्थप-
रिवज्जिया जहाजायपसुजूया अवियत्ता निच्चं नीयकम्मोव-
जीविणो ह्योयकुच्छणिज्जा मोहमणोरहनिरासवहुल्ला आसा-
पासपिन्निव्वपाणा अ. थोप्पायणकामसोक्खे य ह्योयस. रे
हुति । अफलवतगा य मुट्ठु अवि अ उज्जवंता तदिवसुज्जु-
त्तकम्मकयदुक्खसंतवियसित्थपिंदसंचयपरा खीणदव्वसा-
रा णिच्चं अथुवधणधणकोसपरिजोगविवाज्जिया रहिय-
कामभोगपरिभोगसव्वसोक्खा परसिरिभोगोवभोगनिस्सा-
णमग्गणापरायणा वरागा अकामिकाए विणियंति दुक्खं,
एव मुहं, एव णिब्बुतिं, उवलंजंति, अचंतविपुलदुक्खस-
यसंपलिता परदव्वं हिं जे अविरया । एतो सो अदिष्सादाण-
स्स फलविवागो इहलोए परओए अ अप्पमुहो बहुदुक्खो
महब्जयो बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वास-
सहस्सेहिं मुच्चाति न य अवदेयित्ता अत्थि हु मोक्खो ति ए-
वमाइं सु नायकुलनंदणो महप्पा जिणो उव्वीरनामधेयो क-
हेसंय अदिष्सादाणस्स फलविवागं, एव तं ततियं पि अ-
दिणादाणं हरदहमरणजयकद्रुसतासणपरसंतिकागि-
ज्जज्ञोजमूहं, एवं जाव चिरपरिगयमणुगयं दुरंतं ततियं
अहम्मदारं सम्मत्त ति वेमि ।

(तदेवेत्यादि) तथैव यथापूर्वमभिहिता, केचित्केचन, परस्य
द्रव्यं गवेपयन्त इति प्रतीतम् । शुद्धताश्च राजपुरुषैः, इत्याश्च य-
एषादिभिः, यश्च कश्चश्च रज्ज्वादिभिः संयमिताः, चारकादिनि-
रुद्धाश्च (तुरियं ति) त्वरितं शीघ्रं, अतिघ्राटिता भ्रामिता अ-
तिचर्तिता या, भ्रमिता एव पुरुषं नगरं समर्पिता ढौकितः, चौर-
ग्राहाश्च चारभटाश्च चाटुकाराश्च ये ते तथा । तैश्च चौरग्राह-
चारभटचाटुकारैः चारकवसतिं प्रवेशिता इति सम्बन्धः । कर्प-
टप्रहाराश्च लकुटाकारवालितचीवरैस्तामनाः, निर्दया निष्करुणा
ये आरक्षिकास्तेषां संबन्धीनि यानि अरपरुषवचनानि अतिक-
र्ष्यभणितानि, तर्जनानि च वचनविशेषाः (गलत्थल चि)
गलप्रहयं, तथा (उत्थलण चि) अपवर्तना, अपप्रेरणा इत्य-
र्थः । तास्तथा, तानि चेति पदचतुष्टयस्य द्वन्द्वः । तानिः विमनसो
विषयचेतसः सन्तः चारकवसतिं गुप्तिशुद्ध्यं प्रवेशिताः । किं भू-
ताम् ? निरयवसतिसदृशमिति व्यक्तम् । तत्रापि चारकवसतौ,
(गोम्मिक चि) गौम्मिकस्य गुप्तिपादस्य संबन्धिनो ये प्र-
हारा घाताः (द्रुमण चि) द्रव्यनानि उपतापानि, निर्भर्त्सनानि

येषां ते तथा । तत्र केशाः शिरोजाः, इमभूणि कूर्चरोमाणि, शेषा-
णि तु रोमाणीति । (मयमुचमिस्ति) पुरीषमूत्रं निजके, (खुच सि)
निमग्नाः, तत्रैव चारकवन्धने मृताः, अकामुकाः मरणेऽनग्निबाधाः,
ततश्च बहु पादयोराकृष्टाः, स्नातिकायां [बृहत्ति] किंताः,
तत्र तु स्नातिकायां, वृकशुनकशृगाद्यक्रोरुमार्जारवृन्दस्य संदंश-
कतुण्डैः पक्षिगणस्य च विविधमुखशतैर्विमुक्तानि गात्राणि येषां
ते तथा । कृता विहिता वृकादिभिरेव [विहंग सि] विभागाः,
अणुशः कृता इत्यर्थः । केचिदन्ये- [किमिणाह सि] कृमिव-
न्तश्च, कुथितदेहा इति प्रतीतम् । अनिष्टवचनैः शय्यमाना
आक्रोश्यमानाः । कथम् ? इत्याह-सुष्टु कृतं, ततः कदर्थनमि-
ति गम्यते । यदिति यस्मात्कदर्थनान्मृतः पाप इति । अथवा
सुष्टु कृतं सुष्टु सम्पन्नं, यन्मृतं पप पाप इति । तथा तुष्टेन जने-
न हन्यमानाः, वृज्जामापयन्ति प्रापयन्तीति वृज्जापनास्त एव
कुत्सिताः लज्जापनकाः, लज्जावहा इत्यर्थः । ते च ज्वन्ति जा-
यन्ते, न केवलमन्येषां, स्वजनस्यापि च दीर्घकालं यावदिति त-
था मृताः सन्तः, पुनर्मरणानन्तरं, परलोकसमापन्ताः जन्मान्तर-
समापन्ताः, निरये गच्छन्ति, कथं ज्ञेयं ? निरमिरामे । अङ्गाराश्च
प्रतीताः । प्रदीप्तकं च प्रदीपनकं च तत्कल्पस्तदुपमो योऽत्यर्थं शी-
तवेदनेनासातमेन कर्मणा उदीर्णानि उदीरितानि, सततानि अ-
विच्छिन्नानि यानि दुःखशतानितैः समभिजृहो यः स तथा तत्र ।
ततस्ततोऽपि नरकादुद्गृह्यताः सन्तः पुनः प्रपद्यन्ते तिर्यग्योनि-
म्, तत्रापि निरयोपमानामनुभवन्ति वेदनाम्, ते अनन्तरोदिता-
दक्षग्राहिणः, अनन्तकालेन यदि नाम कयश्चिन्मनुजमात्रं ब्र-
भन्ते इति व्यक्ताम् । कथम् ? इत्याह-नैकेषु बहुषु, निरयगतौ यानि
गमनानि तिरश्चां च ये भवास्तेषां ये शतसहस्रसंख्यापरिव-
र्तास्ते तथा तेषु, अतिक्रान्तेषु सन्तिविति गम्यते । तत्रापि च म-
नुजत्वव्याप्ते ज्वान्ति जायन्तेऽनार्याः शक्यवनवन्वरादयः । किं
मृताः ? नीचकुलसमुत्पन्नाः, तथा आर्यजनेऽपि मगधादौ समु-
त्पन्ना इति शेषः । लोकवाद्या जनवर्जनीयाः, भवन्तीति गम्यस्म-
ति-
र्यग्भूताश्च, पशुकल्पा इत्यर्थः । कथम् ? इत्याह-अकुशलास्तत्वे-
निपुणाः, कामभोगे वृथिता इति व्यक्तम् । [जर्हि ति] यत्र नरकादि-
प्रवृत्तौ, न तु मनुजत्वं लभन्ते, यत्र निवर्धन्ति (निरयवत्तपि सि)
निरयवर्तिन्यां नरकमार्गे, ज्वप्रपञ्चकरणेन जन्मप्राप्त्यर्थकरणेन,
[पणोस्ति सि] प्रणोदीनि तत्प्रवर्तकानि, तेषां जीवानामिति हृदयम् ।
यानि तानि तथा । अत्र द्वितीयावदुवचनद्वयोः द्रष्टव्यः । पुन-
रपि आवृत्त्या संसारो जवो (नेम सि) मूलं येषां तथा, दुःस्ना-
नीति जवः । तेषां यानि मूलानि तानि तथा, कर्माणीत्यर्थः ।
तानि निवर्धन्तीति प्रकृतम् । इह च मूला इति वाच्ये मूल इ-
त्युक्तं प्राकृतत्वेन शिङ्गव्यत्ययादिति । किं भूतास्ते मनुजत्वे वर्त-
माना भवन्ति ? इत्याह-धर्मभूतिविवर्जिताः धर्मशास्त्रविकल्पा
इत्यर्थः । अनार्या आर्येतराः, क्रूराः, जीवोपघातोपदेशकत्वात् ।
कुद्राः, तथा मिथ्यात्वप्रधाना विपरीततत्त्वोपदेशकाः श्रुतिसि-
द्धान्ततां प्रपन्ना अच्युपगताः, तथा ते च भवन्तीति । एकान्त-
दण्डरुचयः, सर्वथा हिंसनश्च इत्यर्थः । वेष्टयन्ते कोशिकाकार-
कीटश्च, आत्मानमिति प्रतीतम् । अष्टकर्मलक्षणैस्तनुमिथ्यद्वनं
बन्धनम् । तथा एवमनेन आत्मनः कर्ममिबन्धनलक्षणप्रकारेण
नरकत्रिभ्यङ्गरामरेषु यद्गमनं तदेव पर्यन्तचक्रवालं बाह्यपरि-
धेर्यस्य स तथा तम्, संसारसागरं वसन्तीति सम्बन्धः । किं भू-
तम् ? इत्याह-जन्मजरामरणान्येव करणानि साधनानि यस्य
तत्तथा, तच्च गम्भीरदुःखं च, तदेव प्रकृतमितं सञ्चलितं प्रचुरं

सञ्चलितं यत्र स तथा तम् । संयोगवियोगा एव वीच्यस्तरङ्गा
यत्र स तथा । चिन्ताप्रसङ्गः चिन्तासातत्यं, तदेव प्रसृतं प्रसरा-
यस्य स तथा । वधा हननानि, वन्धाः संयमनानि, तायेव म-
हातो दीर्घतया, विपुलाश्च विस्तीर्णतया, कल्लोद्या महोर्म-
यो यत्र स तथा; करुणविषापिते लोभ एव कलकल्लायमानो यो
बोलो ज्वनिः स बहुलो यत्र स तथा । ततः संयोगादिपदानां
कर्मधारयः । अतस्तत् । अवमाननमेवापूजनमेव, केनो यत्र स तथा ।
तीर्थास्त्रिसनं वाऽत्यर्थनिन्दा पुष्टपुष्टप्रचुता अनवरतोद्भूता या
रोगवेदनास्ताश्च परिभवविनिपातश्च पराजिनवसम्पर्कः, पर-
पधर्पणानि च निष्ठुरवचननिर्मित्तितानि, समापातितानि समाप-
न्नानि, येन्यस्तानि तथा तानि च तानि कठिनानि कर्कशानि,
दुर्जनीत्यर्थः । कर्माणि च ज्ञानावरणादीनि, क्रिया वा, ये प्रस्त-
राः पायाणाः, तैः कृत्वा तरङ्गरिङ्गद वीचिमिश्रचवन्, नित्यं ध्रुवं,
मृत्युश्च भयं चेति त एव वा तोयपृष्ठं जलोपरितनभागो यत्र
स तथा । ततः कर्मधारयः । अथवा-अपमानेन फेनेन, फेनमिति
तोयपृष्ठस्य विशेषणम् । अतो बहुवीहिरेव अतस्तत् । कषाया एव
पातालाः पातालकलशास्तैः संकुलो यः स तथा तम् । ज्वसहसा-
ण्येव जलसञ्चयस्तोयसमूहो यत्र स तथा तम् । पूर्वजननादि-
जन्यदुःखस्य सञ्चलितोक्ता, इह तु जवानां जननादिधर्मवतां
जलविशेषसमुदायतोकेति न पुनरुक्तत्वम् । अनन्तमकार्यं, उद्धेज-
नकमुद्धेगकरम्, अनर्वाकपारं-विस्तीर्णस्वरूपम्, महाप्रयादिवि-
शेषणत्रयमेकार्थम् । अपरिमिता अपरिमाणा ये महेश्चा बृह-
दग्निलाभा लोकास्तेषां कलुषाऽविशुद्धा या मतिः सा एव
वायुवेगस्तेन (उद्धम्ममाण सि) उत्पाद्यमानं यत्तत्तथा । तस्य
भाशा अग्राप्तार्थसम्भावनाः, पिपासाश्च प्राप्तार्थकाङ्क्षाः, त एव
पातालाः पातालकलशाः, पातालं वा समुद्रजलतलं, तेभ्यस्तस्मा-
द्वा कामरतिः शब्दादिष्वभिरतिः, रागद्वेषवन्धनेन च बहुविधसं-
कल्पाश्चेति द्वन्द्वः । तद्वृत्तस्य विपुलस्योदकरजस उदकरेणो-
र्यो रयो वेगस्तेनान्धकारो यः स तथा तम् । कलुषमतिवातेनाऽऽ-
शादिपातालाद्युत्पाद्यमानकामरत्याद्युदकरजोरयोऽन्धकारमि-
त्यर्थः । मोह एव महाघर्षो मोहमहावर्तः, तत्र भोगा एव कामा
एव, भ्राम्यन्तो मपरुत्तेन सञ्चरन्तो, गुप्यन्तो व्याकुलीभवन्त
उद्धलन्त उच्छद्यन्तो, बहवः प्रचुराः, गर्जवासे मध्यप्रागवितरे,
प्रत्यवानिवृत्ताश्च उत्पत्त्य निपतिताः, प्राणिनो यत्र जले तत् तथा ।
तथा प्रधावितानि इतस्ततः प्रक्षेपेण गतानि यानि व्यसनानि तानि
समापन्नाः प्राप्ता ये ते । पागन्तरेण-बाधिताः पीमिता ये व्यसन-
समापन्ना व्यसनिनः, तेषां हृदि यत् प्रक्षेपितं तदेव चण्डमारुत-
स्तेन समाहतममनोज्ञं वीचिव्याकुलितं प्रङ्गैस्तरङ्गैः, स्फुटम् वि-
दलन्, अनिष्टैस्तैः कल्लोद्यैर्महोर्मिजिः संकुलं च जलं तोयं यत्र स
तथा तम् । मोहावर्तभोगरूपज्ज्वालादिविशेषणप्राणिकं व्यस-
नमापन्नवदितलक्षणदण्डमारुतसमाहतादिविशेषणं जलं यत्रेत्य-
र्थः । प्रमादा मद्यादयः, त एव बहवश्चण्डा रौद्राः, दुष्टाः क्रूराः, श्वा-
पदा व्याघ्रादयः, तैः समाहता अभिमृता ये (उच्छायमाणग सि)
उत्तिष्ठन्तो (विविधचेष्टासु) समुद्रपक्वे मत्स्यादयः, संसारपक्वे
पुरुषादयः, तेषां यः पूरः समूहस्तस्य ये घोरा रौद्रा विष्वंसनार्था
विनाशलक्षणाः, अनर्था अपायाः, तैर्बहुलो यत्र स तथा । अ-
ज्ञानान्येव ज्ञमन्तो मत्स्याः (परिदक्ष सि) दक्षा यत्र स तथा ते ।
अनिभृतान्युपशान्तानि यानीन्द्रियाणि, अनिभृतेन्द्रिया वा ये
देहिनिस्तान्येव, त एव वा, महामकरास्तेषां यानि त्वरितानि
शीघ्राणि, चरितानि चेष्टानि, तैरेव (लोक्लुग्गमाण सि) भृशं कुच्य-

नि गात्राणि येषां ते तथा । अष्टादश कर्मकरणाः-अष्टादश चौरप्र-
सूनिहेतवः । तत्र चौरस्य, तत्प्रसूनीनां च लक्षणमिदम्

“चौरः १ चौरापको २ मन्त्री, ३ जेदः ४ काणककयी ५ ।

अन्नदः ६ स्थानदश्चैव, ७ चौरः सप्तविधः स्मृतः” ॥ १ ॥

अत्र काणककयी बहुमूल्यमपि अल्पमूल्येन चौरादृतं काणकं
हीनं कृत्वा श्रीणातीत्यवशीलः ।

“भलनं १ कुशत्रं २ तर्जा ३, राजनागो ४ ऽवशोकनम् ५ ।

अमार्गदर्शनं ६ शय्या ७, पदभङ्गस्तर्ध्वम् च ॥ १ ॥

विश्रामः ८ पादपनन १०-मासनं ११ गोपनं तथा १२ ।

खण्डस्य खादनं चैव १३, तथाऽन्यन्मोहराजिकम् १४ ॥ २ ॥

पद्या १५-अन्य १६-इक १७ रज्जुनां, १८-प्रदानं ज्ञानपूर्वकम् ।

पनाः प्रस्तुताः कृपाः, अष्टादश मनीषिभिः” ॥ ३ ॥

तत्र भलनम्-न मेत्तम्यं जघनाऽइमेव त्वद्विषये जलप्यामीत्या-
दिवाक्यैश्चौर्यविषयं प्रोक्ताऽहम् १ । कुशत्रम्-मिलितानां सुख-
दुःखनृत्ताप्रभः २ । तर्जा-हस्तादिना चौर्यं प्रति प्रेषणादिसंज्ञा-
करणम् ३ । राजनागो-राजमाव्यद्रव्यापहवः ४ । अवशोकनम्-हरतां
चौराणामुपेक्षावृद्धा दर्शनम् ५ । अमार्गदर्शनम्-चौरमार्गप्रच्छे-
दकार्ता मार्गान्तरकथनेन तदपज्ञातम् ६ । शय्या-शयनीयसमपणा-
दि ७ । पदभङ्गः-पश्चाद्युत्पदप्रचारादिद्वारेण ८ । विश्रामः-स्वशृ-
ङ्ग एव आसनाद्यनुज्ञा ९ । पादपननम्-प्रणामादिगौरवम् १० । आ-
सनम्-विष्टरदानम् ११ । गोपनम्-चौरापह्वयम् १२ । खण्डखाद-
नम्-मण्डकादिनक्तप्रयोगः १३ । मोहराजिकं शोकप्रसिद्धम् १४ ।
पद्याऽन्युदकरज्जुनां प्रदानमिति प्रज्ञानान्तरप्रज्ञायां दूरमार्गम-
मज्जनितभ्रमापनोदितत्वेन पादेभ्यो दितं पथमुणजलतलादि त-
स्य १५, पाफाद्यर्थं चानेः १६, पानाद्यर्थं च शीतोदकस्य १७, चौर-
पदतचतुष्पदविषयन्धनार्थं च रज्जुनाम् १८, प्रदानं चितरणम् । प्रा-
नपूर्वकं चेति सर्वत्र योज्यम्, अज्ञानपूर्वकस्य निरपराधत्वादिनि ।

तथा पातिताङ्गोपाङ्गाः कर्तव्यताङ्गोपाङ्गाः, तैः राक्षः किङ्करीरि-
ति प्रकृतम् । करुणाः, शुष्कोष्ठकण्ठगलतालुजिह्वाः, याचमानाः
पानीयम्, विगतजीविताशाः, तृष्णादिताः, वराका इति स्फुटम् ।
(तं पिय सि) तदपि पानीयमपि न हजन्ते, वक्ष्येपु नियुक्ता ये
पुरुषाः-ते वध्यपुरुषाः, तैर्वाध्यमानाः प्रेयमाणाः । तत्र च धारणे,
खरपक्षयोऽप्रथमकृतिनो यः पट्टको मिथिलमकः, तेन प्रचञ्चनार्थं
पृष्ठदेशे घटिताः प्रेरिता ये ते तथा । कुरग्रहः कटिग्रहः, तेन च
गाढवैर्निस्फुटमत्यर्थं परावृष्टाः गृहीता ये ते तथा । ततः कर्म-
धारयः । वक्ष्यानां सम्बन्धि यत् करकुटीयुगं वक्ष्यविशेषयुगलं
तत्तथा, तन्निवसिताः परिहिताः । पागान्तरे-वधाश्च करकुट्यो-
हस्तलक्षणः, तयोः युगं युगत्रं, निवसिताश्च ये ते तथा । सुर-
कैः कण्वैरैः कुसुमविशेषैः, ग्रथितं गुम्फितं, विमुकुलं विकसि-
तं, कण्ठे गुण इव कण्ठे गुणं, कण्ठसुखसदृशमित्यर्थः । वध्यदूत
इव वध्यदूतः, वक्ष्यविह्वलित्यर्थः । आविष्टं परिहितं, माध्यव-
म कुसुममाङ्गा, येषां ते तथा, मरणभयादुत्पन्नो यः खेदः तेनायत-
मायामवद् यथा भवतीत्येवं खेदेन अनुपितानीव स्नायितानीव
क्लिन्नानि चार्त्रीकृतानि गात्राणि येषां ते तथा । चूर्णेनाङ्गरादी-
नां गुणिरुतं शरीरं, कुसुमरजसा वातोत्खातेन रेणुना च धूत्री-
रूपेण भरिताश्च नृताः केशा येषां ते तथा । कुसुमकेन राग-
विशेषेण उत्कीर्णा गुणिरुता सूर्जजा येषां ते तथा । विज्जिजीवि-
ताशा इति प्रतीतम् । घूर्णमानाः, जयविक्रमत्वात् । वक्ष्याश्च ह-
स्तव्याः, प्राणप्रीताश्च उच्छ्वासादिप्राणप्रियाः, प्राणपीता वा प्रक्लि-
तप्राणा ये ते तथा । पागान्तरेण-(वेज्जायण्भीयं सि) वध-

केन्यो प्रीता इत्यर्थः । ‘तिस्रं तिस्रं चैव विज्जमाणा’ इति व्यक्तम् ।
शरीरपद्धिकृतानि विज्ञानि लोहितवक्षितानि यानि काकर्णीमां-
सानि रुद्धणखण्डपिशितानि तानि तथा, खाद्यमानाः, पापाः
पापिनः, खरकरशतैः रुद्धणपापाणनृतैः, चर्मकोशकविशेषशतैः,
स्फुटितवंशशतैः ताड्यमानदेहाः, वातिकनरनारीसंपरिवृताः
घातो येषामस्ति ते वातिकाः, वातिका इव वातिकाः, अयन्त्रिता
इत्यर्थः । तैर्नरनारीनिश्च समन्तात्परिवृता ये ते तथा । प्रेक्ष्यमा-
णाश्च, नागरजनेनेति व्यक्तम् । वध्यनेपथ्यं संजातं येषां ते वध्य-
नेपथ्यताः । प्रणीयन्ते नीयन्ते नगरमध्येन सन्निवेशमध्यभागेन,
कृपणानां मध्ये करुणाः कृपणकरुणाः, अत्यन्तकरुणा इत्यर्थः । अ-
प्राणाः, अनर्थप्रतिघातकाप्रायात् । अशरणाः, अर्थप्रापकाप्रायात् ।
अनाथाः, योगक्षेमकारिविरहितत्वात् । अवान्धवाः, धान्धवानाम-
नर्थकत्वात् । वन्धुविप्रहीणाः, वान्धवैः परित्यक्तत्वात् । विप्रेक्षमा-
णाः पश्यन्तः (दिसो दिसं ति) पक्ष्या दिशोऽन्यां दिशं, पुनस्त-
स्या अन्यां दिशमित्यर्थः । मरणभयेनोद्विग्ना ये ते तथा । (आ-
द्यायण सि) आघातनं च वध्यचूमिमण्डलस्य प्रतिहारम् । द्वार-
मेव संप्रापिता नीता ये ते तथा । अभ्रान्याः, शूलान्ते शूलका-
न्ते विज्जोऽवस्थितो जिहो विदारितो देहो येषां ते तथा ।
ते च, तत्र आघातने, क्रियन्ते विधीयन्ते । तथा परिकल्पिता-
ङ्गोपाङ्गाः विज्ञावयवाः, उल्लभ्यन्ते वृक्षशाखाभिः । केचि-
त् करुणानि, वचनानीति गम्यन्ते; विलपन्त इति । तथा
अपरे चतुर्वर्गेषु हस्तपादलक्षणेषु (धणियं) गाढं बद्धा ये
ते तथा । पथतकटकटकाद् दृग्गोः, प्रमुच्यन्ते क्लिप्यन्ते, दूरात्पातः
पननं च, यद्विषयमप्रस्नरेषु धन्यन्तासमपापाणेषु, सहन्ते ये ते
तथा । तथाऽन्ये वाऽपरे गजचरणमलनेन निर्मर्दिता दक्षिता ये
ते तथा । ते क्रियन्ते । कैः १, इत्याह-मुण्डपरशुभिः कुपटकुडैः ।
तीक्ष्णैर्हि तैर्नात्यन्तं वेदोत्पद्यत इति विशेषणमिति । तथा
केचित् अन्ये, उत्कृष्टकर्णोष्ठनासाभिरुज्ज्वलवर्णवदशनच्छदमा-
याः, उत्पादितनयनदशनवृण्णा इति प्रतीतम् । जिह्वा रसना,
आञ्जिता आकृष्टा, जिह्वी कर्णी, शिरश्च, नयनाद्याः येषां ते
तथा । प्रणीयन्ते, आघातस्थानमिति गम्यते । विद्यन्ते च खण्डव-
न्ते, असिना खड्गेन, तथा निर्धिपया देशाद् निष्कासिताः, विज्ज-
हस्तपादाश्च, प्रमुच्यन्ते राजकिङ्करीस्त्यज्यन्ते, विज्जहस्तपादा
देशादिष्कास्यन्त इति भावः । तथा यावज्जीवचन्धनाश्च कि-
यन्ते, केचिदपरे, कैः १, इत्याह-परज्ज्वहरणमुच्छा इति प्रती-
तम् । कारागङ्गया चारकपरिवेन, निगमयुगलैश्च रुद्धा नियन्त्रिता
ये ते तथा । ते क १, इत्याह-[चारगाण सि] चारकं गुप्तैः, किं
विधाः सन्तः १, इत्याह-हतसार अपहृतकृष्याः, स्वजनविप्रमुक्ता
मित्रजननिराकृताः निराशाश्चेति प्रतीतम् । बहुजनविषकारश-
ब्देन हज्जायिताः प्राप्तब्रज्जाः ये ते तथा । ब्रजब्रजा विगतलज्जाः,
अनुवच्छुद्धा सततबुभुक्षया, प्रारब्धाभिभूता अपराद्धा वा ये ते
तथा । शीतोष्णतृष्णावेदनया दुर्घटया दुःप्राच्यादनया, घटिताः
स्पृष्टा ये ते तथा । विवर्णं मुखं, विरूपा च ऽविः शरीरत्वक्, येषां
ते विवर्णं मुखविच्छादिकाः । ततोऽनुवक्ष्येत्यादिपदानां कर्मधार-
यः । तथा विफला अग्रतोऽविद्यार्थाः, मन्त्रिणा मन्त्रीमसाः, दुर्बला-
श्चासमर्था ये ते तथा । ज्ञान्ता ग्ज्ञानाः, तथा कासमाना रोगवि-
शेषात्कुतिसतशब्दं कुर्वाणाः, व्याधिताश्च सञ्जातकुष्ठादिरोगाः,
आमेनापकरसेनाभिभूतानि गात्राण्यङ्गानि येषां ते तथा । प्रक-
टानि वृक्षमुपगतानि, वृक्षत्वेनासंस्काराद् नक्षकेशमश्वरोमाणि

सस्पर्शानां परिजोगे आसेवने यत्तत् सर्वसौख्यमानन्दो यैस्ते तथा । परेषां यौ श्रियाः भोगोपजोगौ तयोर्यन्निश्चाणं निश्चा, तस्य मार्गणपरायणा गवेणपराः, ये ते तथा । तत्र भोगोपजोगयोरयं विशेषः—“ सइ छुज्जइ चि भोगो, सो पुण आहारपुप्फमाईओ । उवभोगो उ पुणो पुण, उवज्जुज्जइ वत्थनिवयाइ ” ॥ १ ॥ इति । वराकास्तपस्विन अकामिकया अनिच्छया, विनयन्ति प्रेरयन्ति, अतिवाहयन्तीत्यर्थः । किं तत् ? इत्याह—दुःखमसुखं, नैव सुखं, नैव निर्द्वैति स्वास्थ्यमुपपन्नन्तं प्राप्नुवन्ति, अत्यन्तविपुलदुःखशतसंप्रदीप्ताः परस्य दुःखेषु ये अविरता भवन्ति, ते नैव सुखं लभन्त इति प्रस्तुतम्, तदेव यादृश फलं ददाति तादृशमभिहितम् । अधुनाऽन्ययनोपसंहारार्थमाह—(पसो सो) इत्यादि सर्वं पूर्ववत् । प्रश्न० ३ आश्र० ब्रा० । (पञ्चमं ये च कुर्वन्तीति द्वारं तृतीयचारेण सहैवोक्तमिति न पृथगुक्तम्) । (अदत्तादानस्य द्रव्यकालजावभेदाः “अदत्तादाणवेरमण” शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते)

(५) आचार्योपाध्यायादिभ्योऽदत्तादाननिरूपणम्—

जे भिक्खू आयरियउवज्जभाएहिं अवादिणं गिरं आइयति, आइयंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

गिरं चि बाणी वयणं, तं पुण सुत्ते चरणे वा जातं आयरियउवज्जभाएहिं अदत्तं गेएहाति, तत्थ सुत्ते एकं, अत्थे दो, चरणमूत्त-रगुणेसु अणेगविहं पच्छित्तं ।

उविहमदत्ता उ गिरा, सुत्ते अत्थे तदेव चारित्तं ।

सुत्तयेसु सुयम्मी, भासा दोसे चरित्तमि ॥ २५ ॥

एति थियगारवेणं, बहुसुत्तमेण अक्षतो वा वि ।

गंतुं अपुच्छमाणो, उजयं अस्सावदेसेणं ॥ २६ ॥

जा सुत्ते गिरा, सा दुविधा—सुत्ते, अत्थे वा । चरणे सा सावज्ज-दोसज्जुत्ता जासा । कहं पुण सोऽदिक्षं आइयत्ति ? उच्यते—(पति थिय) गाहा । तस्स किंचि सुत्तयं संदिद्धं, सो सत्वं पति थियउहंति गारवेण इमे ण पुच्छति, सीसत्तं वा न करेइ, बहुसुओ वाऽहं जणामि कहमसं पुच्छित्तं ? एवमादिगारवद्धितो अक्षतो वि ण गच्छति, गतो वा ण पुच्छति, ताहे जत्थ सुत्तं अत्थाणि वा इज्जंति तत्थ चिलिमिबिक्कुनं कडं तरिओ वा वि अस्सावसेसेण वा गतागतं करेत्तो सुणेति, उभयं पि अस्सावदसेण ।

एसा सुत्त अदत्ता, होति चरित्तमि जा स सावज्जा ।

गारत्थियजासा वा, दड्डर पलिओ वि सा वा वि ॥ २७ ॥

चरित्ते दड्डरं ससरं करेति, आलोयणकाले पलिओ, सेति क-ताकते वा अत्थि पलिओ वि चि, सेसं कंठं ॥

वित्तिओ वि य आएसो, तवतेणादीणि पंच तु पदाणि ।

जे जिकखू आदियती, सो खमओ आम मोणं वा ॥ २८ ॥

तवतेणे वयतेणे रूपतेणे य जे नरे आयारमावतेणे य कुव्वइ देवकिम्बिसं, एतेसि इमा विभासा, (खमओ) गाहा—से जावदुव्व-लो भिक्खागओ, अक्षत्थ वा पुच्छिओ सो—तुमं खमओ चि भंते !, ताहे सो भणाति—आमं, मोणेण वा अत्थति । अहवा भणा-ति—को जतीसु खमणं पुच्छवइ ? तेणे चि तुमं, सो धम्मकहीओ दीणे मित्तिओ गणी वायगो वा ।

पच्छ वि जणाति आमं, तुयहीको वा वि पुच्छति जतीणं ।

धम्मं कहिवादिवयणे, रूवे णीयद्व पणिमाए ॥ २९ ॥

भणाति रूवे—तुमं अम्ह सयणोऽसि, अहवा तुमं सो पडिमं पडिवसमासी, पत्थेव तदेव तुयिहकादि अत्थति ।

वाहिरउवाणवल्लिओ, परपच्चयकारणा उ आयारे ।

माहुसदाहरणं तहिं, सावे गोविंदपव्वज्जा ॥ ३० ॥

आयारतेणे महुराकोनेइहा उदाहरणं, ते भावसुखा परप्प-त्तिणिमित्तं वाहिरकिरिया सुदुउज्जुत्ता जे, ते आयारतेणा । भाव-तेणो जहा—गोविंदवायगो वादे णिजिओ, सिद्धंतहरणयाए पव्वयमज्जुवगतो पच्चा सम्मत्तं पडिवरणो । एवमादि गिराणं अदत्ताणं णो गहणं कायव्वं, पक्कंता वयणभंसो कतो भवति । मुसावादिया य वरणभंसदोसा—

एतेसामस्यतरे, गिरिं अदत्तं तु आदिया जे तु ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ३१ ॥

कंठ्या । आवस्यसद्धानं ण पच्छित्तं, ते अदत्तं पि आदियज्ज ।

वित्थियपदमणप्पज्जे, आदिणं अवि को वि ते व अप्पज्जे ।

उदाइ संजमद्दा, दुल्लजदव्वेणं जाणंता ॥ ३२ ॥

जेत्तादिचित्तो वा आइयज्ज, सेहो वा अजाणंतो (उदाइ चि) उवसंपसाण वि न देइ, तस्स उवसंपसो अप्पवसंपसो वा जत्थ गुणेइ, वप्पणाणेइ वा, कस्स वि तत्थ कुडं तरिओ सुणेति, गयागयं वा करेत्तो संजमे हेवं वत्ति । अत्थितो कश्मियादि-चि, पुच्छिओ दिट्ठो वि न दिट्ठति, भणेज्जा जत्थ वा संजयजासा ते प्रासिज्जमाणा सागारिणा संजयभासाओ गेएहेज्जा, तत्थ अवि-दिक्षा ते गारत्थिगभासाए भासेज्जा । आयरियस्स गिहाणस्स वा, सयपाणेण वा, सहस्सपाणेण वा दुल्लमदव्वेण कज्जं तदहा-णिमित्तं पडेजेज्ज । असं वा किंचि संयववयणं जणेज्ज । तदहावेव तेणादि वा पंचपदे भणेज्जा । नि० चू० १६ उ० । “आदिआदाणे सुहुमं, वादरं च । तत्थ सुहुमं तणनगव्वारमल्लगादीणं गहणे । वादरं हिरसुववसादि ” । महा० ३ अ० ।

स्वाम्यदत्तादि—

स्वामिजीवतीर्थकरगुर्वदत्तमेवेनादत्तं चतुर्विधम् । तत्र स्वाम्य-दत्तं तृणोपलकाष्टादिकम्, तत्र स्वामिना दत्तम् १ । जीवादत्तं यत्स्वामिना दत्तमपि जीवेनादत्तम्, यथा प्रज्ज्यापरिणामविक-लो मातापितृभ्यां पुत्रादिगुरुभ्यो दीयते २ । तीर्थकरादत्तं यत्ती-र्थकरैः प्रतिपिक्कमाधाकर्मादि गृह्यते ३ । गुर्वदत्तं नाम स्वामिना दत्तमाधाकर्मादिदोषरहितं गुरुननुज्ञाप्य यद् गृह्यते ४ । इति चतुर्विधस्याप्यत्र परिहारः । इत्युक्तं तृतीयं व्रतम् । य० ३ अधि० ।

चित्तमंतमाचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहु ।

दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहंसि अजाइया ॥ ३४ ॥

चित्तवद् द्विपदादि, अचित्तवकिरण्यदि; अल्पं वा—मूल्यतः, प्रमा-णतश्च । यदि वा बहु—मूल्यप्रमाणाज्यामेव । किं बहुना ?—दन्तशो-धनमात्रमपि तथाविधं तृणादि अवग्रहे यस्य तत्तमयाचित्वा न गृह्णन्ति साधवः, कदाचनेति सूत्रार्थः । दश० ६ अ० ।

(६) लघुस्वकमदत्तं गृह्णाति—

जे भिक्खू लहुसयं अदत्तं आदियाति, आदियंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

माणो यः स तथा । सन्तापः, एकत्र शोकादिकृतः, अन्यत्र वारु-
चाश्रितो नित्यं यत्र स सन्तापनित्यकः । तथा चलन् चपलश्च-
लश्च यः स तथा, अतिचपल इत्यर्थः । स च अत्राणानामशरणानां
पूर्वकृतकर्मसञ्चयानां, प्राणिनामिति गम्यम् । यदुदीर्णं वज्रं
पापं तस्य यो वेद्यमानो दुःखस्वरूपो विपाकः स एव घूर्णश्च
भ्रमन् जलसमूहो यत्र स तथा । ततोऽज्ञानादिपदानां कर्मधार-
यः । अतस्तम् । ऋक्षिरससातल्लक्षणाणि यानि गौरवाख्यशुभाख्य-
वसायविशेषाः, त एवापहारा जलचरविशेषाः, तैर्गृहीता ये क-
र्मसंनिष्ठाः सन्ताः, संसारपक्षे ज्ञानावरणादिवक्षाः, समुद्रपक्षे
विचित्रचेष्टाप्रसक्ताः । (कश्चिज्ज्ञानं सति) आकृष्यमाणा नरक
एव तलं पातालं (दुर्घं ति) तदभिमुखं सञ्चा इति सन्नकाः
क्षिप्त्वा, विपणणाश्च शोकिताः, तैर्बहुतो यः स तथा । अरतिरति-
भयानि प्रतीतानि । विपादो दैन्यं, शोकस्तदेव प्रकर्षावस्थम् । मि-
थ्यात्वं विपर्यासः, एतान्येव शब्दाः पर्यतास्तैः सद्वृत्तयोः स तथा ।
अनादिसन्तानो यस्य कर्मबन्धनस्य तत्तथा, तच्च त्रेशाश्च रा-
गादयस्तल्लक्षणं यत् चिन्मिष्टं कर्ममस्तेन द्रुपु दुरुत्तारो यः स
तथा । ततः स ऋक्षीत्यादिपदानां कर्मधारयः, अतस्तम् । अमर-
नरतिर्यग्गतौ यत्क्रमेण सैव कुटिलपरिवर्ता चक्रपरिवर्तना, विपु-
क्षा विस्तीर्णा, वेष्टा जलवृष्टिश्चक्षणा, यत्र स तथा तम् । हिंसाऽग्नी-
कादृक्षादानमपुनरपि हलक्षणा ये आरम्भाभ्यापाराः, तेषां यानि
करणकारणानुमोदनानि तैरप्यधिधमनिष्टं यत्कर्म पितृकृतं साञ्चि-
तं, तदेव शुद्धमारस्तेनाक्रान्ता ये ते तथा, तद्गुणैरेव व्यसनान्येव
यो ज्ञौघस्तेन दूरमत्यर्थः, निबोध्यमानैः निमज्जमानैः, (उन्मग्नानि-
मग्ना सति) उन्मग्ननिमग्नैर्कूर्वाभोजलगमनानि कुर्वन्तः, दु-
र्लभं तलं प्रतिष्ठानं यस्य स तथा तम् । शरीरमनोमयानि दुः-
खानि उत्पिबन्त आसादयन्तः, सातं च सुखम्, असातपरिता-
पनं च दुःखजनितोपतापः, एतन्मयमेतदात्मकम्, (उन्मुनिन्मु-
न्यं ति) उन्मग्ननिमग्नत्वं कुर्वन्तः । तत्र सातमुन्मग्नत्वमिव,
असातपरितापनं निमग्नत्वमिवेति । चतुरर्णं चतुर्विभागं दि-
ग्भेदगतभेदाभ्यां महान्तं प्रतीतम्, कर्मधारयोऽत्र इयः । अन-
द्यदग्रमनन्तं, क्वं विस्तीर्णं, संसारसागरमिति प्रतीतम् । किं-
भूतम् ? इत्याह-अस्थितानां संयमाव्यवस्थितानामविद्यमान-
मालम्ब्य प्रतिष्ठानं च त्राणकारणं यत्र स तथा तम्, अप्रमेय-
मसर्ववेदिनाऽपरिच्छेद्यं, चतुर्ष्पीतियोनिशतसहस्रगुणितम्,
तत्र योनयो जीवानामुत्पत्तिस्थानानि, तेषां चासंख्यातत्वेऽपि
समवर्णगन्धरसस्पर्शानामेकत्वविवक्षणादुक्तसंख्याया अवि-
रोधित्वं द्रष्टव्यम् । तत्र गाथा-“ पुदवि ७ दग ७ अगणि ७
मारुय ७, एकेके सत्त जोगिलक्काओ । वणुपत्तेय १० अर्यं-
ते १४, दस चोदस जोगिलक्काओ ॥१॥ विगल्लिदिपसु दो दो,
चउरो चउरो नारयसुरेसु । तिरिपसु हुंति चउरो, चोदस ल-
क्काय मणुपसु ” ॥ २ ॥ इति । अनालोकानामज्ञानमन्धकारो
यः स तथा तम् । अनन्तकालमपर्यवसितकालं यावत्, नित्यं
सर्वदा, उत्तस्ता उदगतत्रासाः, शून्याः इतिकर्षव्यतामूढाः,
भयेन संज्ञाभिश्च आहारमैथुनपरिग्रहादिभिः, संप्रयुक्ता युक्ताः
ततः कर्मधारयः । वसन्ति अध्यासते, संसारसागरमिति प्रकृ-
तम् । इह च वसेनिरुपसर्गस्यापि कर्मत्वं संसारस्य, ज्ञान्दसत्त्वा-
दिति । किं भूतं संसारम् ? उन्मिग्नानां वासस्य वसनस्य वस-
तिस्थानं यः स तथा तम् । तथा यत्र यत्र ग्रामकुलादौ आयुर्निब-
ध्नन्ति पापकारिणश्चौर्यविधायिनः, तत्र तत्रेति गम्यते । वा-
न्धवजनादिवर्जिता भवन्तीति क्रियासम्बन्धः । बान्धवजनेन

आत्रादिना, स्वजनेन पुत्रादिना, मित्रैश्च सुहृद्भिः परिवर्जिता
ये ते तथा । अनिष्टाः, जनस्येति गम्यते, भवन्ति जायन्ते । अना-
देयदुर्विनीता इति प्रतीतम् । कुस्थानासनशय्याश्च ते, कुभोजि-
नश्चेति समासः । (असुइणोत्ति) अशुचयोऽशुतयः, कुसंहननाः
छेदवर्त्या संहननयुक्ताः, कुप्रमाणा अतिदीर्घा अतिह्रस्वा वा,
कुसंस्थिता हुण्डादिस्थानाः । इति पदत्रयस्य कर्मधारयः । कु-
रूपाः कुन्सितवर्णाः, बहुकोधमानमायालोभा इति प्रतीतम् ।
चनुमोहा अतिकामा अत्यथाज्ञाना वा, धर्मसंज्ञाया धर्मबुद्धेः,
सम्यक्त्वाच्च ये परिभ्रष्टास्ते तथा । दारिद्र्योपद्रवाभिभूताः,
नित्यं परकर्मकारिण इति प्रतीतम् । जीव्यते येनार्थेन ह्येषेण
तद्रव्यरहिता ये ते तथा । कृपणा रक्षाः, परापिण्डतर्ककाः पर-
द्वेषभोजनगवेषकाः, दुःखलब्धाहारा इति व्यक्तम् । अरसेन
हिंस्वादिभिरसंस्कृतेन, विरसेन पुराणादिना, तुच्छेन अल्पेन,
भोजनेनेति गम्यते । कृतकुक्षिपूरा यैस्ते तथा । तथा परस्य सं-
बन्धिनं प्रेक्ष्यमाणाः । पश्यन्ति किम् ? इत्याह-ऋद्धिः सम्पत्,
सत्कारः पूजा, भोजनमशनम्, एतेषां ये विशेषाः प्रकाराः, तेषां
यः समुदायः, उदयवर्तित्वं वा, तस्य यो विधिविधानमनुष्ठानं,
स तथा तम् । ततश्च निन्दन्ता जुगुप्समानाः, (अप्रकं ति) आ-
त्मानं, कृतान्तं च दैवं, तथा परिवदन्तो निन्दन्तः, कानि ? इत्याह-
[इह य पुरे कडाइं कम्माइं पावगाइं ति] इहैवमन्नरघटना-
पुराकृतानि च जन्मान्तरकृतानि कर्माणि इह जन्मनि पाप-
कान्यशुभानि । फचित्पापकारिण इति पाठः । विमनसो
दीनाः, शोकेन दह्यमानाः, परिभूता भवन्तीति सर्वत्र संबन्ध-
नीयम् । तथा सत्त्वपरिवर्जिताश्च [छोम सति] निस्सहायाः
क्षोभणीया वा, शिल्पचित्रादिकला धनुर्वेदादिः, समयशास्त्र-
म-जैनबौद्धादिसिद्धान्तशास्त्रम्, एभिः परिवर्जिता ये ते
तथा । यथाजातपशुच्युताः शिक्वाऽऽभरणादिवर्जितवह्नीवह्नीदि-
सदृशाः, निर्विशानत्वादिसाधर्म्यात् । (अवियश्च सति) अप्रतीत्यु-
त्पादकाः, नित्यं सदा, नीचान्यधमजनोचितानि, कर्माण्युपजीव-
न्ति तैर्वृत्तिं कुर्वन्ति ये ते तथा । लोककुत्सनीया इति प्रतीतम् ।
मोहाद् ये मनोरथा अभिज्ञापास्तेषां ये निरासाः केषास्तैर्बहुला
ये ते तथा । अथवा-मोघमनोरथा निष्फलमनोरथाः, निराश्व-
हुलाश्च आशाऽत्राचप्रचुरा ये ते तथा । आशा इच्छाविशेषः, सैव
पाशो बन्धनं तेन प्रतिवक्षाः संख्याः, निर्यान्त इति गम्यम् । प्राणा
येषां ते तथा । अर्थोत्पादानं ह्यव्यार्जनं, कामसौख्यं प्रतीतम्, तत्र
च लोकसारे लोकप्रधानं, भवन्ति जायन्ते, (अफलवन्तगा यत्ति)
अफलवन्तः अप्राप्तका इत्यर्थः । लोकसारता च तयोः प्र-
तीता । यथाहुः-“ यस्यार्थस्तस्य मित्राणि, यस्यार्थस्तस्य वा-
न्धवाः । यस्यार्थः स पुमर्होके, यस्यार्थः स च परिभूतः ” ॥१॥
इति । तथा-“ राज्ये सारं वसुधा, वसुधधरायां पुरं पुरे सौधम् ।
सौधं तस्यं तस्ये, वराङ्गनाऽनङ्गसर्वस्वम् ” ॥१॥ इति । किं ज्ञाताः,
अपीत्याह-सुष्टुपि च (उज्ज्वलं सति) अत्यर्थमपि च प्रयतमानाः ।
उक्तं च-“ यद्यदारजते कर्म, नरो दुष्कर्मसंचयात् । तच्चद्विफल-
तां याति, यथा बीजं महोदरे ” ॥ १ ॥ तद्विवसं प्रतिदिनमु-
द्युक्तैरुच्यतेः सद्भिः कर्मणो व्यापारेण कृतेन यो दुःखेन कष्टेन सं-
स्थापितो मीलितः सिक्थानां पिण्डस्तस्यापि सच्चये पराः प्र-
धाना ये ते तथा । क्लीगुह्यसारा इति व्यक्तम् । नित्यं सदा
अध्रुवा अस्थिराः, घनानामणिमादीनां, धान्यानां शाक्यादीनां,
कोशा आश्रया येषां स्थिरत्वेऽपि तत्परिमोगेन वर्जिताश्च ये ते
तथा । रहितं त्यक्तं कामयोः शब्दरूपयोः भोगानां च गन्धर-

तथा वि से न जाणइ, किम्मे किञ्चा इमं फलं ॥४७॥
लब्ध्वाऽपि देवत्वं तथाविधक्रियापावनवशेन उपपन्नो देवकि-
ल्लिषे देवकिल्लिषकाये तत्राप्यसौ न जानात्यविश्रुत्वाविधाना
किं मम कृत्वा इदं फलं किल्लिषिकदेवत्वमिति सूत्रार्थः ।

अत्रैव दोषान्तरमाह-

ततो वि से चच्चा णं, लब्धिही एलमूअयं ।

नरगं तिरक्खजोणं वा, वोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ ४८ ॥

ततोऽपि दिवलोकादसौ च्युत्वा लप्स्यत पद्ममूकतामजभा-
षाऽनुकारित्वं मानुषत्वे, तथा नरकं, तिर्यग्योनिं वा. पारम्पर्येण
लप्स्यते । बोधिर्यत्र सुदुर्बलः । सकलसम्पन्नवन्धना यत्र जिन-
धर्मप्राप्तिर्दुरापा । इह च प्राप्नोत्येकमूकतामिति वाच्ये अस-
कृद्भाषप्राप्तिस्थापनाय लप्स्यत इति जविष्यत्काष्ठनिर्देशः । इति
सूत्रार्थः । दश० ५ अ० ३ उ० । (अदत्तादानस्य दर्पिका क-
ल्पिका च प्रतिसेवा स्वस्थान एव वक्ष्यते) (शब्दादिविषयगृह्यौ
अदत्तादानमापतितमिति उक्त० ३२ अध्यायने दर्शितमन्यत्र
वक्ष्यते) (साधर्मिकादिस्तेन्यं “ अणवच्छेप ” शब्देऽस्मिन्नेव
भागे २५७ पृष्ठे दर्शितम्)

अदत्ता (दिष्ठा) दाणकिरिया-अदत्तादानक्रिया-स्त्री० ।

आत्माद्यर्थमदत्तग्रहणे, स्था० ५ उ० २ उ० । स्वामिजीवगुरुती-
र्थकरादत्तग्रहणे, ध० ३ अधि० ।

अदत्ता (दिष्ठा) दाणवत्ति-अदत्तादानप्रत्ययिक-पुं० ।

न० । अदत्तस्य परकीयस्यादानं स्वीकरणमदत्तादानं स्तेयं,
तत्प्रत्ययिको दण्डः । एतच्च सप्तमे क्रियास्थाने, सूत्र० ।

अहावेरे सत्तमे किरियाठाणे अदिन्नादाणवत्तिए त्ति आ-
हिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसेआयहेउं वा० (खाइहेउं
वा अगारहेउं वा) जात्र परिवारहेउं वा सयमेव अदिन्नं आदि-
यइ, अन्नेणं वि अदिन्नं आदियावेति, अदिन्नं आदियंतं अन्नं
समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ,
सत्तमे किरियाठाणे अदिन्नादाणवत्तिए त्ति आहिण ।

एतदपि प्राग्वद् ज्ञेयम् । तद्यथा नाम कश्चित्पुरुष आत्मनिमित्तं
(कृतिनिमित्तम्, अगारनिमित्तं) यावत्परिवारनिमित्तं परद्रव्य-
मदत्तमेव गृह्णीयात्, अपरं च ग्राहयेद्, गृह्णन्तमप्यपरं समनु-
जानीयादित्येवं तस्यादत्तादानप्रत्ययिकं कर्म संवध्यते । इति
सप्तमं क्रियास्थानमाख्यातमिति । सूत्र० २ शु० २ उ० । आ०
चू० । प्र० व० । स्था० ।

अदत्ता (दिष्ठा) दाणविरइ-अदत्तादानविरति-स्त्री० । प-
रद्रव्यहरणविरतौ, महा० ७ अ० ।

अदत्ता (दिष्ठा) दाणवेरमण-अदत्तादानविरमण-न० ।

अदत्तादानाद् विरमणमदत्तादानविरमणम् । स्वाम्याद्यनु-
ज्ञातं प्रत्याख्यामीति स्तेयविरतिरूपे व्रतभेदे, प्रज्ञ० ३ सम्म०
झा० । तत्र स्थूलकाऽदत्तप्रत्याख्यानं तृतीयमणुव्रतं, सर्वोऽद-
त्तप्रत्याख्यानं तृतीयं महाव्रतमिति ।

तत्र स्थूलकादत्तविरमणमित्यम्--

“ तदाऽर्णतरं च णं थूलगं अदिष्ठादाणं पक्खस्सामि दुविहं ति-
विहेणं ण करेमि, ण कारवेमि मणसा वयसा कायसा ” ।
स्थूलकमदत्तादानं चौरइति व्यपदेशनिबन्धनम् । उपा० १ अ० ।

थूलगमदत्तादाणं समणोवासओ पक्खस्साइ, से अदिष्ठादा-
णे दुविहे पम्भते । तं जहा-सचित्तादत्तादाणे, अचित्ता-
दत्तादाणे अ ॥

अदत्तादानं द्विविधम्--स्थूलं, सूक्ष्मं च । तत्र परित्युक्त-
विषयं । चौर्यारोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमिति दुष्टाध्यवसायपूर्वकं
स्थूलम्, विपरीतमितरत्, स्थूलमेव स्थूलकं, स्थूलकं च तत्
अदत्तादानं चेति समासः । तच्चूमणोपासकः प्रत्याख्यातीति
पूर्ववत् । ‘ से ’ शब्दो मागधदेशीप्रसिद्धो निपातस्तच्छब्दार्थः ।
तच्चादत्तादानं द्विविधं प्रकृतम्, तीर्थङ्करगणधरैर्द्विप्रकारं प्ररूपित-
मित्यर्थः । तद्यथेति पूर्ववत् । सइ चित्तेन सचित्तं-द्विपदादिद्व-
कणं वस्तु, तस्य केनादौ सुन्यस्तदुन्यस्तविस्मृतस्य स्वाभिना
अदत्तस्य चौरबुद्ध्या आदानं सचित्तादत्तादानम् । आदानमिति
प्रदणम् । अचित्तं वस्तुकनकरत्नादि, तस्यापि केनादौ सुन्यस्त-
दुन्यस्तविस्मृतस्य स्वाभिनाऽदत्तस्य चौर्यबुद्ध्याऽऽदानमचित्ता-
दत्तादानमिति ।

अदत्तादाणे को दोसो ?, अकज्जेते वा के गुणा ?, एत्थं
इमं एगं चेव उदाहरणं । जहा-एगा गोह्मी सावगो जतीए
गोह्मीए एगत्थपगरणं वट्टइ, जाणगते गोह्मिहएहिं घरं पेह्वि-
यं थेरीए एक्केको मोरपुत्तेण पाए पम्तीए अंकिओपजाए
य रओ निवेइयं । राया जणइ-कहं ते जाणियव्वा ? । थेरी
जणइ-एते पादेसु अंकिया नगरसमागमे दिष्ठा, दो वि
तिनि चत्तारि सव्वा गोह्मिगहिया । एगो सावगो जणइ-न
हरामि, न झंझिओ । तेहिं वि जणियं-न एस हरइ । तेहिं वि-
मुक्को । इयरे सासिया अवि य सावगेण गोह्मी न पविसि-
यव्वं । जइ कहं वि पओयणेण पविसइ, ताओ हारगं हिं-
सादि न देइ, न य तेसिं आओगह्माणेसु गइ । आव० ६ अ० ।

तस्यातिचाराः-

तयाऽर्णतरं च णं थूलगअदिष्ठादाणस्स पंच अइयारा
जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा-तेनाहं, तकरप्प-
ओगे, विरुप्परज्जाइक्कमे, कूरुतुवाकुममाणे, तप्पभिरुवग-
ववहारे । उपा० ? अ० ।

एतानि समाचरन्तिचरति, तृतीयानुव्रत इति । “ दोसा पुण-
तेनाहरुपहियं राया वि जाणेज्जा, सामी वा पच्चभिजाणेज्जा,
ततो मारेज्ज वा, दंनेज्ज वा ” इत्यादयः शेषेष्वपि वक्तव्याः ।
उक्तं सातिचारं तृतीयानुव्रतम् । आव० ६ अ० । पा० । ध०
२० । ध० ।

सर्वस्माददत्तादानाद् विरमणे त्वित्थम्-

अहावेरे तवे जंते ! महव्वए अदिष्ठादाणाओ वेरमणं ।
सव्वं भंते ! अदिष्ठादाणं पक्खस्सामि । से गांमे वा नगरे वा रक्खे
वा अप्पं वा बहु वा अणु वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्त-
मंतं वा नेव सयं आदिन्नं गिहिज्जा, नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गि-
एहाविज्जा, अदिन्नं गिहंते वि अन्ने न समणुजाणामि जाव-
ज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि,
न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते !

लहु थोवं, अदत्तं तेणं, आदियणं गहणं, साइज्जणा अ-
णुमोयणा, मासल्लहु पच्छित्तं ।

तं अदत्तं दव्यादि चउव्विहं-

दव्वे खेत्ते काले, भावे लहुसणं अदत्तं तु ।

एतेसि णाणत्तं, वोच्चांमि अहाऽऽणुपुव्वीए ॥ ७१ ॥

दव्वसेत्तकालाणं गहणं, साइज्जणा अणुमोयणा, मासल्लहु
पच्छित्तं, तं अदत्तं दव्यादिहं चउव्विहं ।

दव्वसेत्तकात्राणं इमं वन्सत्ताणं-

दव्वे करुणादिपमु, खेत्ते उच्चारत्तामिमादीसु ।

कात्ते इत्तरियमवी, अच्चाइ तु चिट्ठमादीसु ॥ ७२ ॥

यणुस्सतिभेओ इज्जालादीणं पत्तिं, कट्ठो यंसो, आदि-
गहणाओ अयलेहणिया, दारुदंडपादपुंजणमादि, एते अण-
गुत्राते गेएहति । खेत्तओ अदत्तं गेएहति उच्चारभूमि, आदि-
गहणाओ पासवणत्ताओ अणिज्जेयणत्तुमीए अणुगुत्राविचा उ-
च्चारदी आयरइ । खित्तओ अदत्तं गतं । काले इत्तरं स्तोफं
अणुयं चिट्ठति । भिक्खादि हिंसतो जाय वासं वसति धित्तिं
वा पक्खित्ति, अच्चां ये वा अणुगुत्रावेत्ता रुक्खंदट्टासु चित्ति
निसीयति, तुयट्ठति वा, दव्याइसु वि मासल्लहुं ॥

इदाणीं जाये अदत्तं-

भावे पाओगस्सा, अणुणुव्वणा तु तप्पमताए ।

उयंते उव्वप्पे, वासाणं वुह्वसे य ॥ ७३ ॥

उव्वप्पे वासासु वा, वुह्वसां ये वा, तप्पमताए पाओगाऽ-
णुणुव्वणत्तावेण परिणयस्स दव्यादिसु येय भावओ लहु अद-
त्तं, अतुया साद वुह्वसे जं जेसु जं जोगं पाउणं नण्णति ।

लहुसमदत्तं गेएहत्तस्स को दोसो?, इमो-

एतेमामणत्तरं, लहुसमदत्तं तु जो तु आदियइ ।

सो आणा अणवत्तं, मिच्चत्तविराहणं पावे ॥ ७४ ॥

कारणतो गेएहतो अपच्छिंसी, अदोसो य ।

अच्चाण गेल्लणे ओ-मऽसिंवे गामाणुगामिमित्तिवद्वा ।

तेणासावयमसगा, सीतं वासं दुरहियासं ॥ ७५ ॥

अच्चाणाओ णिगता परिसंता गामं चियाले पत्ता, ताहे अ-
णुणवितं इज्जनादि गेएहेज्ज । वसहीए वि अणुणवियाए
उपज्ज, आगाहगेल्लणे तुरियकज्जे खिप्पमेव अणुणवितं
गेएहेज्ज, ओमादरियाए नत्तादि अदिणं सयमेव गेएहेज्ज । अ-
सिचगाह्तिताणं ए को वि देइ, ताहे अदिणं संथारयादि गे-
एहेज्ज । गामाणुगामं इज्जमाणा चियाले गामं पत्ता । जइ य
वसही ण वसति, ताहे वाहिं वसंतु, मा अदत्तं गेएहतु । अह
वाही दुव्विहा-तेणासिचातिवासावायामसगेहिं वा खिज्जिज्ज-
ति, सीयं वा दुरहियासं, जहा उत्तरावहे अणवरत्तं वा सं
पत्ति ।

एतेहिं कारणेहिं, पुव्वउ घेत्तु पच्छऽणुणवणा ।

अच्चाण णिगतादी, दिंमदिद्वे इमं होति ॥ ७६ ॥

एतेहिं तेणादिकारणेहिं वसहिसामीए दिंठे अणुणवणा, अ-
दिठे अच्चाण णिगतादी, सयणसमोसिगाइ अणुणवणं धरसा-

मिणा अदिपणं घेत्तु धरसामियमणुणवेति इमेण वि-
हाणेण-

पडिद्वेइएऽणुणवणा, अणुओमणफरसणाय अहियासो ।

अतिरिच्चमिदायणणि-गमणे वा दुविधेदो य ॥ ७७ ॥

पडिद्वेइं सि । अस्य व्याख्या-

अब्जासत्थं गंतु-ए पुच्छणा दूरपत्तिमा जतणा ।

तदिसमेत्तपक्खिण-पत्तम्मि कहिति सज्जावं ॥ ७८ ॥

सो धरसामी जदि खेत्तं खलंगं वा गते जदि अब्भासतो
गंतुं अणुणविज्जति । अह दूरं गतो ताहे संघारओ णाम विधे-
ज्जाहिं । आगमेउं तं दिसं अदूरं गंतुं पक्खिणति जाहे साहू समी-
यं पत्तो ताहे अणुलोमधयणेहिं पक्खिज्जति ॥

अणुसासणं सजाती, म जाति मणुख चित्तइ वि तु अद्वंते ।

अज्जिउगणिमिचं वा, वंधणगा से य ववहारो ॥ ७९ ॥

जहा गोजातिमंरुलसुओ गोजातिमेव जाति, मासणे वि णो
महिस्सादिसु तिति करोति । एवं वयं पि माणुसा माणुसमेव जा-
मो । जदि तह वि ण वेति, फरसाणि वा भणति, ताहे सो फरसं
ण भणति, अधियासिज्जइ । जइ तह वि णिच्छमेज्ज, ततो विज्जाए,
सुणेहिं वा वसी कज्जात, णिमित्तं वा आउंटाविज्जति । तस्स
असति रुक्खमादिसु वाहिं वसंतु, मा य तेणं समाणं फरसेतु । अ-
ह वाहिं दुव्विहंभेओ-आयसंजमाणं उ फरणसरीराणं वा संज-
मथरिचाणं वा पणयणं य अतिरिचंते, लद्धयत इत्यर्थः । ताहे अ-
णाति-अग्गे सहामो, ज एस आगतिमं सो एस रायपुत्तो ण
सहिस्सति, एस वा सहस्सजोधी, सो धि कयकरणो किंच कर-
णं वपति, जहाति । जहा-विस्सत्तिणा पुच्छिपहारेण संधम्मि
कविट्ठा पक्खिया एस दायणा, तह वि अचायमाणे वंधिउं वधेति,
जाय पनायं सो य जइ रायकुलं गच्छति, तत्थ तेणं समाणं व-
वहारो कज्जाति, कारणियाणं आगतो भणति-अग्गेहिं रायदियं
आधिंठेहिं सुसित्ता सावर्थाहं वा खज्जं वा, तो राणो अभिदियं-
मयसो य भयंतो परकृतनिज्जायथ तपस्विनः, रायरक्खियाणि
य तपोवणाणि, ण दोसे सि । नि० सू० २ उ० । लघुकादत्तं
पुनः-अननुज्ञापिततृणक्षेपकारमज्जकालिकवृक्षादिच्छायाविश्रम-
णादिविषयम् । जीत० ।

(७) गृहादौ तपस्तैर्न्यादि न कुर्वीत-

तवतेणं वयतेणं, रुवतेणं अ जे नरे ।

आपारभावतेणं अ, कुर्वई देवकिंविंसं ॥ ४६ ॥

तपस्तेनः, चाक्रस्तेनः, रूपस्तेनस्तु यो नरः कश्चिद्, आचारभा-
वस्तेनथ पात्रयन्त्राणि क्रियां तथा भावदोषात्किंविंसं करोति
किंविंसं किं कर्म नियतंतीत्यर्थः । तपस्तेनो नाम कृपकरूपक-
तुल्यः कश्चित्केनचित् पृष्टस्त्वमसौ कृपक इति ? स पूजार्थमा-
ह-अहम् । अथवा चकिं-साधव एव कृपकाः । तूर्णीं वाऽऽस्ते ।
एवं चाक्रस्तेनो धर्मकशकादितुल्यरूपः कश्चित्केनचित्पृष्ट इति ।
एवं रूपस्तेनो राजपुत्रादितुल्यरूपः । एवमाचारस्तेनो विशिष्टा-
चारवस्तुल्यरूप इति । भावस्तेनस्तु-परोत्तमेक्षितं कथञ्चित् कि-
ञ्चित् भुत्वा स्वयमनुत्तरेक्षितमपि मयैतत्पक्षेन चर्चितमित्यादेति
सुवार्थः ।

अयं चेत्यनुत्तः-

लघूणा वि देवत्तं, उव्वओ देवकिंविंसे ।

एणकेण समल्लङ्घकचणाणं अपरिगहसंबुदेण लोमम्मि विहरियव्वं, जं पिय ह्वाज्जाहि दव्वजातं खलगतं खेत्तगतं रत्नमंतरगयं च किंचि, पुप्फफलतयप्पवात्तकंदमूलतणकट्टसकराई अप्पं च बहुं च अणु वा धूळगं वा न कप्पाति। जगहे अदि-
एणम्मि गेएहेज्ज, जे हण्णि हणि उगहे अणुमाविय गेएहियव्वं वज्जेयव्वो य सव्वकात्तं अवियत्तघरप्पवेसो अवि-
यत्तजत्तपाणं अवियत्तपीढफलगसेज्जासंधारगवत्थपायकं-
वलदंरुगरयोहरणनिसेज्जचोत्तपट्टमुहपोत्तियपादपुंछणा -
दि भायणजंमोवहिज्जवरणं परपरिवाओ परस्स दोसो
परववएसेण जं च गिएहेति परस्स नासंजं च सुकयं दाण-
स्स य अंतराईयं दाणस्स विप्पवासे पेसुएणं चेव मच्छ-
रित्तं च। जे वि य पीढफलगसेज्जासंधारगवत्थपायकंवल-
दंरुगरओहरणनिसेज्जचोत्तपट्टमुहपोत्तियपायपुंछणादि भा-
यणजंमोवहिज्जवरणं असंविज्जागी असंगहरुई तववयतेणे
य रूवतेणे य आयारे चेव भावतेणे य सदकरे ञ्जकरे
कलहकरे वेरकरे विकहकरे असमाहिकारके सया अप्प-
माणभाई सततं अणुवद्धेरे य निच्चोसी, स तारिसए
नाराहए वयमिणं ॥

(जंबू इत्यादि) तत्र जम्बूरित्यामन्त्रणम् । (दनमणुत्तायसंवरो-
नाम चि) दत्तं च वित्तीर्णमन्त्रादिकम्, अनुज्ञातं च प्रातिहा-
रिकपीठफलकादिग्राह्यमिति गम्यते । इत्येवंरूपः संवरो दत्ता-
नुज्ञातसम्बर इत्येवं नामकं भवति तृतीयं, सम्बरद्वारमिति ग-
म्यते । हे सुव्रत ! जम्बूनामन्त्रं महाव्रतमिदं, तथा गुणानामेहि-
कामुष्मिकोपकाराणां कारणभूतं व्रतं गुणव्रतम् । किं स्वरूपमि-
दम् ? इत्याह-परद्वयहरणप्रतिविरतिकरणयुक्तम्, तथा अपरि-
मिता अपरिमाणद्वयविषया, अनन्ता वाङ्मया, या तृष्णा विद्या-
मानद्रव्याव्ययेच्छा, तथा यदनुगतं महेच्छं वा अविद्यमानद्व-
यविषये महामिल्लापं यन्मनो मानसं, वचनं च वाक्, ताभ्यां
यत्कलुषं परधनविषयत्वेन पापकृपादानं ग्रहणं तत्सुष्ठु निगृही-
तं नियमितं यत्र तत्तथा । तथा सुसंयमितमनसा संवृतेन चेत-
सा हेतुना हस्तौ च पादौ च निजृता परधनादानव्यापारादुपर-
तौ यत्र तत् सुसंयमितमनोहस्तपादनिजृतम् । अनेन च विशो-
षणद्वयेन मनोवाक्कायनिरोधः परधनं प्रति दर्शितः । तथा नि-
ग्रन्थं निर्गतवाह्यान्त्यन्तरग्रन्थम्; नैष्ठिकं सर्वधर्मप्रकर्षपर्यन्तव-
र्त्ति; नितरामुक्तं सर्वकैरुपादेयतयेति निरुक्तम्, अव्यभिचारि-
तं वा; निराश्रवं कर्मादानरहितम्; निर्मयमविद्यमानराजादिम-
यम्; विमुक्तं बोजदोषत्यक्तम्; उत्तमनखपुष्पाणां (पवरव
लवण चि) प्रधानवस्त्रवतां च सुविहितजनस्य च सुसाधुवोक्त-
स्य सम्मतमज्जिमत्तं यत्तथा । परमसाधूनां धर्मचरणं धर्मानुष्ठानं
यत्ततथा । यत्र च तृतीये सम्बरे, ग्रामाकरणगरानिगमखेटक-
र्वटमण्डपद्रोणमुखसंवाहपत्तनाश्रमगतं च, ग्रामादिव्याख्या पू-
र्ववत् । किञ्चिदनिर्दिष्टस्वरूपं द्रव्यं रिक्तम् । तदेवाह-मणिमौक्तिक-
शिलाप्रवाहकांसूक्ष्मरजतवरकनकरत्नादिकमित्याह । पति-
तं भ्रष्टं (पण्डितं ति) विस्मृतं, विप्रणष्टं स्वामिकैर्गविषयद्विरपि
न प्राप्तं, न कल्पते न युज्यते, कस्यचित् असंयतस्य संयतस्य वा,
कथयितुं वा प्रातिपादयितुम्, अर्थग्रहणप्रवर्त्तनं मा नूदितिकृत्वा;

गृहीतुं वाऽऽदातुं, तन्निवृत्तत्वात् साधोः । यतः साधुर्नैव ज्ञातेन वि-
हर्तव्यमित्यत आह-हिरण्यं रजतं, सुवर्णं च हेम, ते विद्येते यस्य
हिरण्यसुवर्णिकः, तन्निपेधेनाहिरण्यसुवर्णिकः, तेन, समं तुल्यं
उपेक्षणीयतया लेपुकाञ्चने यस्य स तथा । तेन अपरिग्रहो ध-
नादिरहितः संवृतश्चन्द्रियसंबरेण यः सोऽपरिग्रहसंवृतः । ते-
न लोके विहर्तव्यमासितव्यं संचरितव्यं वा, साधुर्निति गम्यते ।
यदपि च प्रवेदं द्रव्यजातं द्रव्यप्रकारं, खलगतं धान्यमलनस्था-
नाश्रितं, क्षेत्रगतं कर्षणचूमिसंश्रितं, (रत्नमंतरगयं च चि) अर-
ण्यमध्यगतम् । वाचनान्तरे-‘जलथलगतं खेत्तमंतरगयं च चि’
इत्यते । किञ्चिदनिर्दिष्टस्वरूपं, पुष्पफलत्वकृप्रवाहकन्दमूलतृण-
काष्ठशर्करादि प्रतीतम् । अल्पं वा मूल्यतो, बहु वा तथैव;
अणु वा स्तोमं प्रमाणतः, स्थूलकं वा तथैव, न कल्पते न यु-
ज्यते । अवग्रहे ग्रहस्थितिरुत्पत्तिरूपे, अदत्ते स्वामिनाऽनुज्ञातं,
ग्रहीतुमादातुं, ‘जे’ इति निपातग्रहणे निषेध उक्तः । अधुना
तद्विधिमाह-(हणि हणि चि) अहन्यहनि, प्रतिदिनमित्यर्थः ।
अवग्रहमनुज्ञाप्य, यथेह भवदीयेऽवग्रहे इदम्, इदं च साधुप्रा-
योग्यं द्रव्यं ग्रहीष्यामि इति पृष्टेन तत्स्वामिना एवं कुरुते इत्य-
नुमते सतीत्यर्थो गृहीतव्यमादातव्यं, वर्जयितव्यञ्च सर्वकालं
(अवियत्त चि) साधुर्न प्रति अप्रीतिमतो यद् गृहं तत्र यः
प्रवेशः स तथा । (अवियत्त चि) अप्रीतिकारिणः संबन्धि यन्त्र-
कृपानं तत्तथा, तद्वर्जयितव्यमिति प्रक्रमः । तथा-अवियत्तपीठ-
फलकशय्यासंस्तारकवस्त्रपात्रकम्बलदण्डरजोहरणनिषद्या-
चोत्तपट्टमुखपोत्तिकापादप्रोम्बनादि प्रतीतमेव । किमंबन्धि-
जेदम् ? इत्याह-ज्ञाजनं पात्रं, ज्ञातुं च तदेव मृगमयं, उपधि-
श्च वरत्नादिः, एते एवोपकरणमिति समासतस्तद्वर्जयितव्यमिति
प्रक्रमः । अदत्तमेतत् स्वामिनाऽनुज्ञातमिति कृत्वा । तथा-परप-
रिवादो विकृत्यनं वर्जयितव्यमिति । तथा-परस्य दोषो दूषणं,
द्वयो वा वर्जयितव्यः, परिवदनायेन दूषणीयेन च तीर्थकरगुरु-
ज्म्रां तयोऽनुज्ञानत्वेनादत्तकृत्वादि । अदत्तद्वयं इदम्-
‘सामीजीवादत्तं, तित्थयेरणं तदेव य गुरुहं’ इति । तथा-पर-
स्याचार्यग्लानादेर्व्यपदेशेन व्याजेन च यच्च गृह्णाति आदत्ते वै-
यावृत्त्यकरादिस्तत्तेनान्येन च वर्जयितव्यम्, आचार्यादेरेव दाय-
केन दत्तत्वादि । तथा-परस्य परसंबन्धि नाशयति मत्सरादपहृते,
यच्च सुकृतं संचरितमुपकारं वा तद् सुकृतं तस्य नाशनं वर्जयितव्यं ।
तथा-दानस्य चान्तरायिकं विघ्नः, दानविप्रणशो दत्तापह्नापः, तथा
पैशुन्यं चैव पिशुनकर्म मत्सरित्वं च परगुणानामसहनं, तीर्थकरा-
द्यननुज्ञातत्वाद् वर्जनीयमिति । तथा-(जे वि येत्था दि) योऽपि च पी-
ठफलकशय्यासंस्तारकवस्त्रपात्रकम्बल दण्डरजोहरणनिषद्या-
चोत्तपट्टमुखपोत्तिकापादप्रोम्बनादि प्राजनभाणोपप्युपकरणं प्र-
तीत्येति गम्यते । असंविभागी आचार्यग्लानादीनामेषणगुणाविशु-
द्धिद्वयं सन्न विजजते, असौ नाराधयति व्रतमिति संबन्धः । तथा
[असंगहरुई चि] गच्छोपग्रहकरस्य पीठादिकस्योपकरणस्यैष-
णादोपविमुक्तस्य द्रव्यमानस्यात्मभरित्वेन न विद्यते संग्रहे रु-
चिर्यस्यासावसंग्रहः । (तववयतेणय चि) तपश्च वाक् च
तपोवाचौ, तयोः स्तेनश्चौरः-तपोवाक्स्तेनः । ततः स्वभावतो
दुर्बलाङ्गमनगरमवबोधय कोऽपि किञ्चन व्याकरोति । तथा भोः
साधो ! सत्यम् ? यः श्रूयते तत्र गच्छे मासकृपकः । एवं पृष्टे यो विव-
क्षितकृपकोऽसन्नप्याह-एवमेतत् । अथवा धूर्त्ततया ब्रूते-भोः आव-
काः ! साधवः कृपका एव भवन्ति । आवकस्तु मन्यते-कथं स्व-
यमात्मानमयं प्रह्वारकः कृपकतया निस्पृहत्वात् प्रकाशयति ? ।

पन्निकमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि, तच्चे जंते ! महव्वए उवच्छिओ मि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमाणं ॥ ३ ॥

अथापरस्मिंस्तृतीये भदन्त ! महायते अदत्तादानाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत् । तद्यथा—ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वेत्यनेन क्षेत्रपरिग्रहः । तत्र प्रसति बुद्ध्यादीन् गुणान् इति ग्रामः, तस्मिन् । नास्मिन् करो विपत्ति इति नकरम् । अरख्यं काननादि । अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवद्वा अचित्तवद्वेत्यनेन तु छत्रपरिग्रहः । तत्रालं मूढ्यत परएककाद्यादि, बहु-यज्जादि । अणु प्रमाणतो यज्जादि । रूपमेरएककाद्यादि । एतच्च चित्तवद्वाऽचित्तवद्वेति, चेतनाचेतनमित्यर्थः (येव सयं अदिणं गिएहेज्जा चि) नैव स्वयमदत्तं गृह्णामि, नैवायैरदत्तं प्रादयामि, अदत्तं गृह्णोऽन्यन्यान् न समनुजानामीत्येतत्पावज्जी-वमित्यादि च जायार्थमधिकृत्य पूर्ववत् । विशेषस्त्वयम-अदत्तादानं चतुर्विधम्—इत्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । इत्यतोऽस्पादौ, क्षेत्रतो ग्रामादौ, कालतो रात्र्यादौ, भावतो रागद्वेषाद्याम् । इत्यादिचतुर्नैवै त्वियम्—“द्वयओ नामेगे अदिन्नादाणे यो भायओ १ । भावओ नामेगे नोद्वयओ २ । एगेद्वयओ वि भायओ वि ३ । एगे यो द्वयओ नो जायओ ४ । तस्य अरत्तड्ड-ट्टस्त साहुणो कदि वि अणणुणयेऊण तणाइ मेण्ढओ द्वयओ अदिन्नादाणं नो प्रायओ, इरामीति अणुजयस्स तदसंपत्तीए भावओ नोद्वयओ । एवं चेव संपत्तीए जायओ द्वयओ वि । चरिमभंगो पुण सुओ । ” दश० ४ भ० ।

अहावरं तत्त्वं महव्वयं पच्चाइक्खामि सव्वं अदिन्नादाणं, से गामे वा एगरे वा अरण्ये वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा धुं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एव सयं अदिणं गिएहेज्जा, एवएहेहि अदिणं गिएहेज्जा, अणं पि अदिणं गिएहंतं ए समणुजाणेज्जा जावज्जावाए जाव वोसिरामि । तस्सिमाओ पंच जावणाओ जवंति—तत्थिमा पदमा जावणा—अणुवीइमि उगहं जाइ से णिगंये णो अणुवीइमि उगहं जाइ से णिगंये । केवली यूया—अण-एवीइमितोगहं जाति, से णिगंये अदिणं गिएहेज्जा, अणुवीइमि उगहं जाति से णिगंये णो अणुवीइमितो-गहजाइ चि पदमा जावणा ॥ १ ॥ अहावरा दोच्चा जावणा—अणुएणविय पाणजोयणओई से णिगंये णो अणुएणविय पाणजोयणओई । केवली यूया—अणुएणविय पाणजोई से णिगंये अदिणं जुंजेज्जा । तम्हा अणुएणविय पाणजोयणओई से णिगंये णो अणुएणविय पाणजोयणओइ चि दोच्चा जावणा ॥ २ ॥ अहावरा तच्चा जावणा—णिगंयेणं उगहंसि उगहंतिसि ए-त्तावता व उगहणसीलए सिया । केवली यूया—णिगंये-णं उगहंसि उगहियंसि एत्तावता व अणोगहणसीले अदिणं उगिहजेज्जा णिगंयेणं उगहंसि एत्ता-वता व उगहणसीलए सि चि तच्चा जावणा ॥ ३ ॥

अहावरा चउत्था जावणा—णिगंयेणं उगहंसि उगहियंसि अभिक्खणं २ उगहणसीलए सिया । केवली यूया—णिगंयेणं उगहंसि उगहियंसि अभिक्खणं २ अणोगहणसीले अदिणं गिएहेज्जा, णिगंये उगहंसि उगहियंसि अभिक्खणं २ उगहणसीलए चि चउत्था भावणा ॥ ४ ॥ अहावरा पंचमा जावणा—अणुवीइमितोगहं जाइ से णिगंये साहम्मिएसु णो अणुएवीइमि उगहं जाति । केवली यूया—अणुवीइमि उगहं जाति से णिगंये साहम्मिएसु अदिणं उगिहजेज्जा । से अणुवीइमि उगहं जाति से णिगंये साहम्मिएसु णो अणुएवीइमि उगहं ति पंचमा भावणा ॥ ५ ॥ एत्तावता महव्वए सम्मं जाव आणाए आराहिने आविचवइ तवं जंते ! महव्वए । आचा० २ थु० ? अ० ॥

तस्य चेमे अतीचाराः—

एवं तृतीयेऽदत्तस्य, तृणादेर्ग्रहणादणुः ।

क्रोधादिभिर्वादोऽन्य-सचित्ताद्यपहारतः ॥ ५० ॥

एवं पूर्वोक्तरीत्या सूक्ष्मवादरूपेण द्विविध इत्यर्थः । तृतीयेऽस्तेयव्रते प्रक्रमादतिचारो भवतीति शेषः । तत्र अणुः सूक्ष्मः, अदत्तस्य स्वाध्यादिनाऽननुज्ञातस्य तृणादेर्ग्रहणादनाभोगे-नाङ्गीकरणाद्व्यति, तत्र तृणं प्रसिद्धम् । आदिशब्दाद् रुगल-च्छारमल्लकादिरूपादानम् । अनाभोगेन तृणादि गृह्णोऽतिचारो भवति, आभोगेन त्वनाचार इति ज्ञायः । तथा—क्रोधादिभिः कर्मादेरन्यथा साधर्मिकणां चरकादीनां गृहस्थानां वा संश्लिष्ट सचित्तादि सचित्ताचित्तमिभ्रवस्तु, तस्याऽपहारतोऽपहरणप-रिणामाद् वादोऽतिचारो भवतीति संबन्धः । यतः “तइअस्मि वि एमेव य, दुयिहो खड्ड एस होइ विषेओ । नणरुगलहारम-हुग, अविदिणं गिएहओ पदमं” ॥ १ ॥ अनाभोगेनेति तदुचित्ति-लेशः । “साहम्मि अन्नसाह-म्मि आणगिहि आणकोहमा-ईहि । सचित्ताइ अवहरओ, परिणामो होइ धोओ च” ॥ २ ॥ साधर्मिकाणां साधुसाध्वीनाम्, अन्यसधर्माणां चरकादीनामि-ति तदुचित्तिरित्युक्तः तृतीयव्रतततिचाराः । ध० ३ अधि० । एतदेव सर्वस्माददत्तादानविरमणं दत्ताऽनुज्ञातसंवरनाम्ना स्वरूपोप-दर्शनपूर्वकं सभायनाकं प्रशल्याकरणेषु तृतीयसंवरद्वारेऽभि-हितम् । तस्य चेदमादिमं सूत्रम्—

जंनु ! दचमणुएणासंवरो नाम होइ ततियं, सुव्वय ! महव्वयं गुणव्वयं परदव्वहरणपविर्विरइकरणजुत्तं अपरिमियमणंत-तएहामणुगयमाहिच्चमणवयणकटुसआयाणमुनिग्गहियं सु-संजामियमणइत्थपायनिहुयं निगंयं निड्ढिकं निरुत्तं निरासवं निज्जयं विमुत्तं उत्तमनरवन्नभपरवल्लवणमुविहितजणसम्मंतं परमसाहुधम्मचरणं अत्थ य गायगरनगरनिगमलेरुक्कव्वरु-मंरुवदोणमुहसंवाइपट्ठणासमगयं च किंचिदव्वं-माणिसुत्तसि-ल्लप्पवाडकंसदूसरययवरकणगरयणमादि पन्नियं पस्सइ विप्प-णइं न कप्पति कस्स ति कहेउं वा, गेएहेतुं वा, अहिरस्स सुव-

इदं तु तृतीयभावनावस्तु शय्यापरिकर्मवर्जनं नाम । तथैवम्-
पीठफलकशय्यासंस्तारकार्यतायै वृत्ता न छेत्तव्याः, न च छे-
दनेन तद्भूम्याश्रितवृत्तादीनां कर्त्तनेन, भेदनेन च, तेषां पाया-
णादीनां वा शय्याशयनीयं कारयितव्या । तथा-यस्यैव गृह-

इतिहृत्तैवविधमात्रौकल्यपरिहारपरं सकलसाधुसाधारणं च-
 , चनमाविष्करोतिः, इत्यतः स एवायं यो मया विवक्षितः । इत्येवं
 परसंबन्धि तप आत्मनि परप्रतिपत्तितः सम्पादयैस्तपस्तेन उच्य-
 ते । एवं जगवन् ! स त्वं वाग्मी ? इत्यादिभावनया परसंबन्धिर्वा
 चाचमात्मनि तथैव सम्पादयन् वाक्स्तेन उच्यते । तथा (क्वते-
 ये य चि) एवं रूपवत्तमुपपन्नस्य स त्वं रूपवानित्यादि भावन-
 या रूपस्तेनः । रूपं च द्विधा-शारीरसुन्दरता, सुविहितसाधुने-
 पथ्यं च । तत्र साधुनेपथ्यं यथा-“दहोऽरुगाउ-मन्वे, जेसि जल्ले ण
 फासियं अंगं । मडिणा य चोलपट्टा, दोखि य पाया समफळाया”
 ॥१॥ तत्र सुविहिताकाररत्ननायं जनमुपज्जीवितुकामः सुविहितः,
 सुविहिताकारशारी रूपस्तेनः । (आयारे चेव चि) आचारे साधु-
 सामाचार्यादिविषये स्तेनो यथा-स त्वं यः क्रियारुचिः श्रूयते ?
 इत्यादिभावना । तथैव [भावतेणे य चि] ज्ञानस्य भुतज्ञानावि-
 विशेषस्य स्तेनो ज्ञावस्तेनः । यथा-कमपि कस्यापि भुतविशेषस्य
 व्याख्यानविशेषमन्यतो बहुयुतावुपभुत्य प्रतिपादयति, यथाऽयं
 मया पूर्वभुतपर्यायोऽन्युद्दिता नान्य एवमभ्युद्दितां प्रज्जरिति ।
 -तथा-शब्दकरो राज्ञो महता शब्देनोवापः साध्यायादिकारको-
 गृहस्थजगामभाषको वा । तथा-भ्रष्टाकरो येन येन गणस्य भेदो
 भवति तत्तत्कारी, येन गणस्य मनोदुःखमुत्पद्यते तद्गापी ।
 -तथा-कलहकरः कलहहेतुजुतकर्तव्यकारी । तथा-वैरकरः, प्र-
 तीतः । विख्याकारी-स्त्र्यादिकथाकारी । असमाधिकारकश्चि-
 त्तास्वास्थ्यकर्ता स्वस्य, परस्य वा । तथा-सदा अप्रमाणभोजी-
 द्वाविशत्कवलाधिकाहारजोका । सततमनुष्यवैरश्च सततम-
 नुष्यवैरं प्रारब्धमित्यर्थः, वैरं वैरिकर्म्म येन स तथा । नित्य-
 रोपी सदाकोपः (से तारिसे चि) स सादृशः पूर्वोक्तस्वरूपः ।
 (नाराहण वयमिणं ति) नाराधयति न निरतिचारं करोति, व्रतं
 महाव्रतम्, इदम्-अदत्तादानविरतिस्वरूपं, स्वाम्यादिभिरननु-
 क्रातकारित्यात्तस्येति ।

अहं केरिसणं पुणार्हं आराहणं वयमिणं, जे से उवाहिं
 भत्तपाणादाणसंगहणकुसले अचंचत्वालदुव्वल्लगिज्ञाण-
 बुद्धमासखवणे पवत्तिआयरियजवज्झाणं सेहं साहम्मिणं
 तवस्सि कुल्लगणसंघचेइयं ये निज्जरह्णी वेयावच्चं अणि-
 स्सियं दसविहं बहुविहं करेइ, न य अवियत्तस्स धरं पवि-
 सइ, न य अवियत्तस्स भत्तपाणं गिएहइ, न य अवियत्त-
 स्स सेवइ पीढफल्लगसेज्जासंधारगवत्तपायकं वल्लदंढगरओ-
 हरणनिसेज्जचोवपट्टमुहपोत्तियपायपुंज्जाणं भायणभंनोव-
 हिठवगरणं, न य परिवायं परस्स जंपति, न यावि दोसे प-
 रस्स गेहइति, परववएसेण वि न किंचि गेहइति, ण य वि-
 परिणामेति कंचि जणं, ण यावि णासेति दिएणसुकयं
 दाळण य काळण य ण होइ पच्चाताविते, संविभाग-
 सीद्धे संगहोवगहकुसले, से तारिसेण आरादेति वयमिणं ॥

अथ प्रश्नार्थः । कीदृशः पुनः, ‘आर्हं’ इति अन्नहारे, आराधयति
 व्रतमिदम् ? इह प्रश्नोत्तरमाह-(जे से इत्यादि) यः साधुरूप-
 धिमत्तपानादानं च संग्रहणं च तयोः कुशलो विधिज्ञो यः स
 तथा । वाञ्छयेत्यादि समाहारद्वन्द्वः । ततोऽप्यन्तं यद्वाञ्छवृत्तग्रा-
 नवृत्तमासङ्गकं तत्तथा । तत्र विषये वैयावृत्यं करोतीति योगः ।
 तथा-प्रवृत्त्याचार्यापाध्याये, इह द्वन्द्वैकत्वाच्च प्रवृत्त्यादिषु । तत्र

प्रवर्तितलक्षणमिदम्-“तवसंजमजोगेसुं, जो जोगो जत्थ तं
 पवत्तेइ । असहुं व नियत्तेइ, गणतत्तिल्लो पवत्तेइ” ॥१॥ इतरौ प्र-
 तीतौ । तथा-(सेहं चि) शैक्वे अजिनवप्रव्रजिते, साधर्मिके समा-
 नधर्मिके, लिङ्गप्रवचनाभ्यां तपस्विनि चतुर्थजकादिकारिणि,
 तथा कुलं गच्छंसमुदायरूपं चन्द्रादिकं, गणः कुलसमुदायः
 कोटिकादिकः, संवृत्तसमुदायरूपः, चैत्यानि जिनप्रतिमाः, ए-
 तासां योऽर्थः प्रयोजनं स तथा । तत्र च निर्जरायः कर्मक्षयकामः,
 वैयावृत्यं व्यावृत्तकर्मरूपमुपपन्नमित्यर्थः । अनिश्रितं काली-
 दिनिरपेक्षं, दशविधं दशप्रकारम् । आह च—

“वेयावच्चं वावन्-भावो इह धम्मसाहणमिमिं स ।

अन्नाइयाण विहिणा, संपायणमेस भावत्थो ॥ १ ॥

आयरिय १ उचज्जाण २, थेर ३ तवस्सी ४ गिज्ञाण ५ सेहाण ६
 साहम्मिय ७ कुल ८ गण ९ संघ १० संगयं तमिह कायव्वं” ॥२॥

इति । बहुविधं प्रकृष्टानादिदानभेदेनानेकप्रकारं, करोतीति ।
 तथा-न च नैव च (अवियत्तस्स चि) अप्रीतिकारिणो
 गृहं प्रविशति । न च नैव च [अवियत्तस्स चि] अप्रीति-
 कारिणः सत्कं गृह्णाति यद् प्रकृष्टानम् । न वा [अवियत्तस्स चि]
 अप्रीतिकर्तुः सत्कं सेवते भजते, पीढफलकशय्यासंस्तारकवल्-
 पात्रकम्यद्वयकरजोहरणनिपद्याचोवपट्टकमुत्तपासिकापाद-
 श्रोष्ठनादि जाजनमात्रनोपभुगुपकरणम् । तथा-न च परिवादं
 परस्य जल्पति, न चापि दोषान् परस्य गृह्णाति । तथा-परव्य-
 पदेशेनापि श्रानादिव्याजेनापि, न किञ्चिद् गृह्णाति, न च विपरि-
 णमयति दानादिधर्मादिमुत्कीकरोति, किञ्चिदपि जनम् । न
 चापि नाशयति अपहवद्वारेण वृत्तमुकृतं वितरणरूपं सुचरितं
 परसंबन्धि, तथा-दत्ता च देयं, कृत्वा वैयावृत्यादिकार्यं, न
 भवति पञ्चात्तापवाद् । तथा-संविभागशीलः लब्धमत्तादिसं-
 विभागकारी । तथा संग्रहे शिष्यादिसंग्रहणे, उपग्रहे च तेषामेव
 प्रकृष्टानादिदानेनोपपन्नमेव यः कुशलः स तथा । (से तारिसे
 चि) स सादृश आराधयति व्रतमिदमदत्तादानविरतिलक्षणम् ।

इमं च परद्वन्द्वहरणवेरमणपरिरक्त्वणद्वयाणं पवयणं
 जगवया सुकट्ठियं अत्तहियं पेच्चानाविकं आगमसिं भइं
 सुच्छं नेयाउयं अत्तुडिहं अनुत्तरं सव्वदुक्खपावाणं विउ-
 सपणं ॥

(इमं चेत्यादि) इमं च प्रत्यक्षं प्रवचनमिति संबन्धः । परद्व-
 न्द्वहरणवेरमणस्य परिरक्षणं पालनं स एवार्थः, तद्भावस्तत् ।
 तस्यैव प्रवचने शासनमित्यादि व्यक्तम् ।

अस्य पञ्च भावना—

तस्स इमा पंच जावणाओ ततियस्म वयस्स हुंति परद्व-
 हरणवेरमणपरिरक्त्वणद्वयाणं । पढमं देवकुल्लसभापवाऽऽवस-
 हस्सखमूलआरामकंदराऽऽगरागिरिगुहकम्मंतुज्जाणजाण-
 साञ्जकुवियसालमंढवमुष्णधरसुमाणलेणआवणे अस्समि य
 एवमादियस्मि दगमट्टियवीजहरिततसपाणअसंसत्ते अहा-
 कने फासुए विविनं पसत्ते उवस्सए होइ विहरियव्वं ।
 आहाकम्मवहुत्ते य जे से आसियसम्मज्जिओसित्तसोहिय-
 द्वाणदुमण्डिपणअण्डिपणजलणजंरुवालणं अंतोवाहिं
 मज्जे च अमंजमो जत्थ वट्ठति संजयायं अहा वज्जयव्वे हु

गुरुपुरतोऽप्रकटिता, आलोचना-आलोचनाहं पापं येन सोऽ-
दत्तालोचनः । अकृतालोचने, ग० १ अधि० ।

अदत्ताहार-अदत्ताहार-पुं० । चौरं, "अदत्ताहारा वा से अव-
हरति रायाणो वा से विक्षुपेति" आचा० १ शु० २ अ० ३ उ० ।

अदम्भ-अदम्भ-त्रि० । न० त० । दम्भ-रङ् । दम्भमल्पम्, न
दम्भमदम्भम् । भूर्यये (अनल्पे), जं० ३ वक्त्र० ।

अदम्भवाह-अदम्भवाह-त्रि० । अदम्भं वहतीति अदम्भवाहः ।
भूरित्राहकेऽन्वाहौ, "अदम्भवाहं अमेलनयणं कोकासियं बह-
पत्तलञ्च" जं० ३ वक्त्र० ।

अदय-अदय-त्रि० । निर्दये, नि० चू० १ उ० ।

अदक्षन्त-अदक्षन्त-त्रि० । अदक्षाने, व्य० २ उ० ।

अदस-अदस-त्रि० । दशरहिते, दश० ७ अ० ।

अदारुय-अदारुय-त्रि० । काष्ठादिरहिते, तं० ।

अदिज-अदेय-त्रि० । न० व० । क्रयविक्रयनिषेधेन अविद्यमा-
नदातव्ये नगरादौ, म० ११ श० ११ उ० । यत्र हि न केनापि
कस्यापि देयमिति । जं० ३ वक्त्र० । कल्प० ।

अदिङ्-अदृष्ट-त्रि० । न० त० । अनुपलब्धे, ज्ञा० १६ अ० ।
" तेसिमधि वरायाणमदिङ्कल्लणाणमहमिदमच्चभुयं किपि
संपादयामीति " आ० चू० १ अ० । प्रागूजन्मकृतकर्मणि, नं०
ज्ञा० । आ० म० । विशेष० । आव० । म० । (अदृष्टिः 'कम्म'
शब्दं तृतीयजाने ३४३ पृष्ठे दृष्ट्या) नैयायिकसम्भते गुण-
जने, 'कर्तृफलदाय्यात्मगुण आत्ममनःसंयोगजः स्कार्यविधि-
धर्माऽधर्मरूपतया नेद्वान्-अदृष्टाख्यो गुणः' इति वैशेषिकैः प-
राङ्गाऽदृष्टस्वरूपमुपवर्णितम् । कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुधर्मः, अध-
र्मस्तु-अप्रियप्रत्यवायहेतुरिति । एतच्च तत्समवायिकारणस्या-
त्मनो मनस आत्ममनःसंयोगस्य च निमित्तासमवायिकारण-
त्वेनान्युपगतस्य निषेधात् कारणाभावे कार्यस्याप्यभावात्
सर्वमनुपपन्नम् । सम्म० । अदृष्टधर्मेणि पुरुषे, व्य० १० उ० ।

अदिङ्दस-अदृष्टदेश-पुं० । अदृष्टपूर्वदेशान्तरे, व्य० १० उ० ।

अदिङ्धम्म (ए)-अदृष्टधर्मन्-त्रि० । न० व० । सम्यगनुपल-
ब्धभुतादिधर्मिणि, दश० १ अ० । दशा० ।

अदिङ्भवाव-अदृष्टभाव-पुं० । अवश्यकादिभुतमदृष्टवति, वृ० १ उ० ।

अथादिमादृष्टभावद्वारं विवृणोति-

आवासगमाईया, मूयगमा जाव आइमा जावा ।

ते उ ए दिङ्गा जेणं, अदिङ्भवावो हवइ एसो ॥ १ ॥

आवश्यकादयः सूत्रकृताङ्गं यावत् ये आगमग्रन्थास्तेषु ये
पदार्था अजिघेयास्ते आदिमा भावा उच्यन्ते, (ते उ) ते पुनर्जीवा
येन न दृष्टा नावगताः स एषोऽदृष्टभाव इति । उपलक्षणत्वादा-
दिमादृष्टभावो जवतीति । वृ० १ उ० ।

अदिङ्गलाभिय-अदृष्टलाभिक-पुं० । अदृष्टस्यापि अपवारका-
दिमन्याधिर्गतस्य ओत्रादिभिः कृतोपयोगस्य ज्ञादेरदृष्टाद् वा
पूर्वमनुपपन्नधातृकाङ्क्षाभो यस्यास्ति स तथा । औ० । तेन वा
चरतीति अदृष्टलाभिकः । अभिग्रहविशेषधारके भिक्षाचरके,
सूत्र० २ शु० २ अ० ।

अदिङ्गसार-अदृष्टसार-त्रि० । अगीतार्थे, पं० चू० ।

अदिङ्गहृद्-अदृष्टहृत्-त्रि० । अदृष्टोत्प्रेषणिकेपदमानीते, घ०
२ अधि० । आव० । ३.

अदिङ्गाणुजाव-अदृष्टाणुजाव-पुं० । क० स० । अदृष्टफलविषा-
के, विशेष० ।

अदिष्ण-अदत्त-त्रि० । स्वामिजीवतीर्थकरगुरुभिरवित्तीर्णं, स्वा०
१ ग० १ उ० । " अदिष्णे से वि अ पिचित्तम् " औ० । परकी-
ये रुच्ये, आचा० ८ अ० १ उ० ।

अदैन्य-न० । अदीनभावे, ज्ञा० १५ ज्ञा० ।

अदिष्णविचार-अदत्तविचार-त्रि० । न दत्तो विचारः प्रवेशो
मत्र तान्यदत्तविचाराणि । अननुज्ञातप्रवेशेषु कौण्डिकादीनां गृहेषु,
व्य० ८ उ० ।

अदित्त-अदृष्ट-त्रि० । न० त० । दर्पारहिते ज्ञान्ते, वृ० १ उ० ।

अदिस्म-अदृश्य-त्रि० । न० त० । चक्षुषोऽविषये, उक्त० २३
अ० । " पञ्चक्षेत्रे आहारनीहारे अदिस्ते मंसचक्षुणा " स०
३४ सम० ।

अदिस्समाण-अदृश्यमान-त्रि० । अनुपलभ्यमाने, आव० ५
अ० । अनुपदिश्यमाने, आचा० १ शु० ३ अ० २ उ० ।

अदीण-अदीन-त्रि० । अकृणिते दीनाकाररहिते, प्रज्ञ० १
सम्ब० ज्ञा० । शोकाज्जावात् । अन्त० ७ वर्ग । प्रसन्नमनसि
स्वजायस्ये, नि० चू० ३ उ० ।

अदीणचित्त-अदीनचित्त-त्रि० । अदैन्यवन्मानसे, पञ्चा०
१८ विव० ।

अदीणमणस-अदीनमनस्-त्रि० । अदीनं मनो यस्य स अदी-
नमनाः । सुव्रत्त्वाद्दीनमनाः अदीनमानसो वा । उक्त० २ अ० ।
अनिष्कम्पचित्ते, आ० म० प्र० ।

अदीण्या-अदीनता-स्त्री० । अज्ञानाद्यलामेऽपि वैक्लव्याभावे,
ज्ञा० २५ ज्ञा० । तद्रूपे निष्ठुक्षिप्ते, दश० १० अ० ।

अदीणचित्ति-अदीनचित्ति-त्रि० । आहाराद्यलामेऽपि शुरुवृ-
त्तौ, दश० ११ अ० ।

अदीणसत्तु-अदीनशत्रु-पुं० । क्रुद्धदेशनाथे हास्तिनागपुरवा-
स्तव्ये स्वन.मन्याते राजनि, स्वा० ५ ग० १ उ० । ज्ञा० । "अ-
दीणसत्तुस्स रणो धारणीपामोक्खाणं देवीसहस्सं उ रोहेया
वि होत्था " विपा० २ शु० १ अ० ।

अदु-अथ-अव्य० । अथशब्दो निपातः । निपातानामनेकार्थ-
त्वाद् अत इत्यस्यार्थे, सूत्र० १ शु० २ अ० २ उ० । आनन्त-
र्ये, आचा० ११ अ० १ उ० ।

अदुक्खणया-अदुःखनता-स्त्री० । दुःखस्य करणं दुःखनं,
तद्विद्यमानं यस्यासावदुःखनः, तदुभावस्तत्ता । अदुःखकरणे,
म० ७ शु० ६ उ० । दुःखोत्पादने मानसिकाऽसातानुदीरणे,
या० । घ० ।

अदुगुहिय-अनुगुप्तित-त्रि० । अगर्हिते, "अदुगुहियमणग-

पतेरुपाश्रये निलये वसेत-निवासं करोति, शय्यां शयनीयं तत्र गवेषयेन्मुगयेत् । न च विषमां सर्तां समां कुर्यात् । न निर्वीतप्रवातोत्सुकत्वं, कुर्यादिति वर्त्तते । न च दंशमशक्रेषु विषयेषु क्षुभितव्यम्-क्षोभः कार्यः । अतश्च दंशाद्यपनयनार्थमग्निर्धूमो वा न कर्त्तव्यः । एवमुक्तप्रकारेण संयमबहुलः पृथिव्यादि-सरक्षणप्रचुरः, संवरबहुलः प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारनिरोध-प्रचुरः, संवृतबहुलः कपायेन्द्रियसंवृतप्रचुरः, समाधिबहुलश्चित्तस्वास्थ्यप्रचुरः, धीरो बुद्धिमानक्षोभो वा, परीपहेषु कार्येण स्पृश्यन् न मनोरथमात्रेण तृतीयसंवरमिति प्रक्रम-गम्यम् । सततमध्यात्मनि आत्मानमाधिकृत्य आत्मालम्बनं, ध्यानं चित्तिनिरोधस्तेन युक्तो यः स तथा । तत्रात्मध्यानं 'अमुगगन्धे, अमुगकुले, अमुगसिस्ते, अमुगरम्मठाण्डिण, न मतव्विराहणे' इत्यादिरूपम् । (समीपं ति) समितः समितिभिः, एकः ससहायोऽपि रागाद्यभावात् चरेदनुतिष्ठेत्, धर्मं चारित्र्यम् । अथ तृतीयभावनानिगमनायाह-एवमन्तरो-दितन्यायेन शय्यासमितियोगेन शयनीयविषयसम्यक्प्रवृत्तियोगेन, शेषं पूर्ववत् ।

चतुर्थं साधारणपिंडवायलाजे सइ भोचव्वं संजण स-मितं, न सायमूपादिकं, न कलु धनं, न वेगियं, न तुरियं, न चव्वं, न साहसं, न य परस्स पीलाकरं सावज्जं, तह भोतव्वं जइ से ततियं वयं न सीयति साधारणपिंडवायलाजे मुद्धमे-दिष्सादाखवयनियमवेरमाणे, एवं साधारणपिंडवायलाभे स-मितिजोगेण जाविओ जवति अंतरप्पा णिच्चं अहिकरण-कारणावणपावकम्मविरते दत्तमणुप्पायउमाहस्यी ॥४॥

इह चतुर्थं भावनावस्तु अनुज्ञातभक्तादिभोजनलक्षणम् । तथै-वम्-साधारणः सङ्घादिसार्थमिकस्य सामान्यो यः पिण्डः, त-स्य भक्तादेः, पात्रस्य पतदुग्रहलक्षणस्य, उपलक्षणत्वात् उपपन्न-रस्य च, पात्रे वाऽधिकरणे, लाभो दायकात्सकाशात् प्राप्तिः स साधारणपिण्डपात्रलाभः, तत्र सति, भोक्तव्यमभ्यवहर्तव्यम् । परिमोक्षव्यं च केन कथम्?, इत्याह-संयतेन साधुना, (समितं ति) सम्यक्, यथाऽदत्तादानं भवतीत्यर्थः । सम्यक्त्वमेवाऽह-न शाकसूपादिकम्, साधारणस्य पिण्डस्य शाकसूपादिकं भागे मुज्यमाने सङ्घादिके साधोऽप्रीतिरुपपद्यते । ततस्तद्वदचं भवति । तथा-न कलु धनं प्रचुरं, प्रचुरभोजनंऽप्यप्रीतिरेव, प्रचुरभोज-नता च साधारणे पिण्डे भोजकान्तरापेक्षया वेगेन मुज्यमाने भवतीति । तत्रिंप्रधायाह-न वेगितं, प्रासस्य गिलने वेगवत् । न त्वरितं मुखेक्षेपे; न चपलं हस्तप्रीत्यादिरूपकायचलनवत् । न सा-हसमवितर्कितम्, अत एव न च परस्य पीलाकरं च तत्सावद्यं चेति परस्य पीलाकरं सावद्यम्, किं बहुनोक्तेन?, तथा भोक्तव्यं सं-यतेन नित्यं यथा (सं) तस्य संयतस्य, तद्वा, तृतीयमतं न सी-दति ब्रूयति । डुरीकं चेदं, सुदमत्वात् । इत्यत आह-साधार-णपिएरुपात्रे ज्ञाते विषयभूते सङ्घां सुनिपुणमतिरक्कणीयत्वा-दणुकमपि तदित्याह-अदत्तादानविरमणश्रवणेन व्रतेन यक्षिय-मनमात्मनो नियन्त्रणं तत्तथा । पात्रान्तरेण-अदत्तादानाद् व्रत-मिति बुद्ध्या नियमेनावश्यतया यद्विरमणं निवृत्तिस्तत्तथा । एतद्विगमयन्नाह-एवमुक्तन्यायेन साधारणपिएरुपात्रज्ञानं वि-षयभूते समितियोगेन सम्यक्प्रवृत्तिसंयत्नेन भावितो जव-त्यन्तरात्मा । किंभूतः?, इत्याह-'निश्चमित्यादि' तथैव ।

पंचमं साहम्मिएसु विणओ पंजियव्वो । उवयरण-पारणासु विणओ पंजियव्वो, वायणपरियट्ठणासु विण-ओ पंजियव्वो, दाणगहणपुच्छणासु विणओ पंजिय-व्वो, निक्खमणपवेसणासु विणओ पंजियव्वो, अणेषु य एवमाइसु बहुसु कारणसत्तेसु विणओ पंजियव्वो, विण-ओ वि तवो, तवो वि धम्मो, तम्हा विणओ पंजियव्वो गुरुसु साहुसु तवस्सिऽसु य, एवं विणएण जाविओ जवति । अंतरप्पा निच्चं अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरते द-त्तमणुप्पायउमाहस्यी ॥५॥

[पंचमं ति] पञ्चमं ज्ञाववस्तु । किं तदित्याह-साधर्मिकेषु विनयः प्रयोक्तव्यः । एतदेव विषयभेदेनाह-(उवयरणपारणासु-त्ति) आत्मनोऽप्यस्य वा उपकरणं ग्लानाद्यवस्थायामन्येनोपका-रकरणम्, तच्च पारणे तपसः क्षुतस्कन्धादिक्षुतस्य पारगमनम्, उप-करणपारणे, तयोः विनयः प्रयोक्तव्यो, विनयश्चेच्छाकारादिदानेन वशात्कारपरिहारादिलक्षण एकत्र, अन्यत्र च गुर्वनुकूपा भोजना-दिकृत्यकरणलक्षणः । तथा-वाचना सूत्रग्रहणं, परिवर्त्तना तस्यैव गुणनम्, तयोर्विनयः प्रयोक्तव्यो वन्दनादिवानलक्षणः । तथा-दानं बन्धस्यान्नादेर्ग्लानादिच्यो वितरणं, ग्रहणं तु तस्यैव परेण दीय-मानस्यादानम्, प्रच्छन्ना निश्चुनसुत्रार्थप्रश्नः, एतासु विनयः प्रयो-क्तव्यः; तत्र दानग्रहणयोर्गुर्वनुकूललक्षणः । प्रच्छन्नायां तु बन्ध-नादिविनयः । तथा-निष्क्रमणप्रवेशनायास्तु आबन्धियकीर्तिषध्या-दिकरणम् । अथवा हस्तप्रसारणपूर्वकं प्रमार्जनानन्तरं पादवि-क्षेपलक्षणः । किं बहुना प्रत्येकं विषयमण्यन्तेत्यत आह-अन्य-पु चैवमादिकेषु कारणशतेषु विनयः प्रयोक्तव्यः । कस्मादेवमि-त्याह-(विनयोऽपि) न केवलमनशनादितपः, अपि तु विनयोऽपि तयो व्रतेत, आन्यन्तरतपोभेदेषु पठितत्वात्तस्य । यद्येवं ततः किम्?, अत आह-तपोऽपि धर्मः, न केवलं संयमो धर्मः, तपोऽपि धर्मो वर्तते, चारित्र्यांशत्वात्तस्य । यत एवं तस्माद्विनयः प्रयोक्त-व्यः । केषु? इत्याह-गुरुषु साधुषु नपस्विषु च भट्टमादिका-रिषु; विनयप्रयोगे हि तीर्थकराद्यनुज्ञास्वरूपादत्तादानविरमणं परिपालितं जवतीति पञ्चमभावनानिगमनार्थमाह-एवमुक्तन्या-येन जाचितो जवत्यन्तरात्मा । किंभूतः?-'नित्यमित्यादि' पूर्ववत् ॥

एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं चारियं होइ सुणणिहियं इ-मोहि पंचहिं वि कारणेहिं मणवयणकायपरिरिक्खिण्हिं निच्चं आमरणंतं च एस जोगो नेयव्वो षिइमया मइमया अणो-सवो अकलुसो अच्चिहो अपरिस्साई असंकिद्धो सुब्बो सव्वजिणमणुप्पाओ, एवं तइयं संवरदारं फासियं पाडियं सोहियं तिरियं किट्टियं सम्मं आराहियं आणाए अणुपाडियं भवति, एवं नायसुणिणा भगवया पडविं पळविं पसिष्कं सिच्चवरसासणमिणं आधवियं सुदेसियं पसत्तं ततियं संवरदारं सम्मतं चि वेमि ।

इदं च निगमनसूत्रं पुस्तकेषु किञ्चित् साक्षादेव यावत्करणेन च दर्शितम् । व्याख्या चास्य प्रथमसम्भाराध्ययनवद्वसेयेति समाप्तमष्टमाऽध्ययनविवरणम् । प्रश्न०३ सम्ब० द्वा० ।

अदत्ता (दिष्ठा) लोयण-अदत्तालोचन-प्र० । अदत्ता

तथापि नेदमध्ययनं तेज्यः समुत्थितमतो न तैरिहाधिकारः। कि-
न्त्यार्चककुमारान्निधानगारात्समुत्थितमतस्तेनैवेहाधिकार इ-
तिकृत्वा तद्वक्तव्यताऽभिधीयते । एतदेव निर्युक्तिद्वन्द्व- [अ-
द्दपुस इत्यादि] अस्याः समासेनायमर्थः-आर्द्रकपुरे नगरे आ-
र्द्रको नाम राजा, तत्सुतोऽप्यर्चकान्निधानः कुमारः, तद्वंशजाः
किल सर्वेऽप्यर्चकाभिधाना एव जन्वन्तीति कृत्वा । स चानगारः
संवृतः । तस्य च श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिसमवसरणे गो-
शालकेन सार्कं हस्तितापसैश्च वादोऽभूत् । तेन च ते एत-
दध्ययनार्थोपन्यासेन पराजिताः, अत इदमभिधीयते । ततस्त-
स्मादार्चकात्समुत्थितमिदमध्ययनमार्चकीयमिति गाथासमा-
सार्थः । व्यासार्थं तु स्वत एव निर्युक्तिद्वन्द्वार्चकपूर्वमवोपन्यासे-
नोत्तरत्र कथयिष्यतीति ।

ननु च शाश्वतमिदं द्वादशाङ्गं, गाणपितृकमार्द्रककथानकं तु
अर्धवर्द्धमानतीर्थावसरे, तत्कथमस्य शाश्वतत्वमित्याशङ्क्याह-
कामं दुवालसंगं, जिणवयणं सासयं महाजागं ।

सव्वज्जयणां तद्वा, सव्वक्खरसासिवाओ य ॥ ५ ॥

(काममित्यादि) काममित्येतद्व्युपगमे, इष्टमेवैतदस्माकम् ।
तद्यथा-द्वादशाङ्गमपि जिनवचनं शाश्वतं नित्यं महाभागं महा-
नुभावमामर्षोपध्यादिभूद्विद्विसमन्वितत्वात् केवलमिदं, सर्वाण्य-
प्यध्ययनान्येवंभूतानि, तथा सर्वाङ्गरसन्निपाताश्च मेलापका
द्रव्यार्थादेशा नित्या एवेति ॥ ५ ॥

ननु च मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानं भवत इत्याशङ्क्याह-

तह वि य कोई अत्थो, उप्पज्जति तम्मि समयम्मि ।

पुव्वमणिओ अणुमतो, इति इसिजासिए य जहा । ६ ।

(तह वि य इत्यादि) यद्यपि सर्वमपीदं ऊर्ध्वार्थतः शाश्वतं, तथा-
पि कोऽन्यर्थस्तस्मिन्समये तथा क्षेत्रे च कुतश्चिदार्चकादेः सका-
शादाविर्भावमास्त्विति, स तेन व्यपदिश्यते । तथा-पूर्वमप्य-
सावर्थोऽन्यमुद्दिश्योकोऽनुमतश्च जयति, अपिभाषितेपूत्तरा-
ध्ययनादिषु यथेति ।

सांप्रतं विशिष्टतरमध्ययनोन्धानमाह-

अज्जदण्ण गोसा-लजिक्खुवंजवतितिदंभीणं ।

जह हत्थितावसाणं, कहियं इणमो तद्वा वोच्चं ॥ ७ ॥

(अज्जदण्णेत्यादि) आर्याद्रकेण समवसरणाभिमुखमुच्चलि-
नेन गोशालकजिह्वोस्तथा ब्रह्मवतिनां त्रिदपिरुनां यथा ह-
स्तितापसानां च कथितमिदमध्ययनार्थजातं तथा वक्ष्ये सूत्रेणे-
ति । सूत्रं २ श्रु० ६ अ० ।

अद्ग-आर्द्रक-न० । अर्दयति रोगान् । अर्द-अन्तर्भूतल्यर्थं रक्त्वं,
दीर्घश्च, संज्ञायां कन् । आर्द्रायां भूमौ जातं वा पुन । आर्द्रय-
ति जिह्वाम्, आर्द्र-णिच्-नुन् वा । मूलप्रधाने वृक्षजेदे, आर्द्रि-
काऽप्यत्र । स्त्री० । वाच० । गृह्वेदे, आच्चा० २ श्रु० १ अ० ७ व० ।
(आर्द्रकशब्दार्थो नगरमेवादिकं च 'अद्' शब्दे समुक्तम्) ।

अद्ग (य) कुमार-आर्द्रककुमार-पुं० । आर्द्रकनामधेये कु-
मारे, स्था० २ श्रु० ६ अ० ।

अथाऽर्द्रककुमारस्य निरवशेषा वक्तव्यता-

(१) निर्युक्तिद्वन्द्वताभिप्रायेण संक्षिप्तमार्द्रककुमारकथानकम् ।

(५) आर्द्रककुमारेण सह विचरमानस्य गोशालकस्य तीर्थ-
द्वद्विषयेऽस्याऽऽविष्करणम् ।

(३) तत्रार्द्रककुमारस्य समाधानम् ।

(४) अपगतरागद्वेषस्य प्रज्ञापमाणस्यापि दोषाभावः ।

(५) बीजाद्युपजोगिनो न श्रमणव्यपदेशभाजः ।

(६) समवसरणाद्युपजोगवतोऽपि भगवतो न कर्मबन्धः ।

(७) केवलां भावशुद्धिमेव मन्यमानस्य बौद्धस्य ख्यातम् ।

(८) हिंसामन्तराऽपि मांसो न प्रक्षणीयः ।

(९) आर्द्रककुमारेण सह ब्राह्मणानां विवादः ।

(१०) एकदण्डिभिः सहार्द्रककुमारस्योत्तरप्रत्युत्तराणि ।

(११) तथा हस्तितापसैः सहोक्तिप्रत्युक्तयः ।

(१) तत्र तावत्पूर्वमवसम्बन्धि आर्द्रककथानकं
गाथाभिरेवं निर्युक्तिद्वन्द्वम्-

गामे वसंतपुरये, सामयिओ भरणसहिओ निक्खंतो ।
जिक्खाऽऽयरिया दिट्ठा, ओहामिय जत्तवेहासं ॥ ८ ॥

संवेगसमावन्ने, माई जत्तं चइन्नु दियलोए ।

चउऊणं अद्दपुरे, अद्दसुओ अद्दओ जाओ ॥ ९ ॥

पीती य दोएिह दूतो, पुच्छणमजयस्स पच्छ वेसो उ ।

तेणावि सम्मादिट्ठि-त्ति होज्ज पन्निमाऽरहम्मि गओ ॥ १० ॥

दइं संबुद्धो र-क्खिओ य रायाण वाहणपलाओ ।

पव्वावंतो धरितो, रज्जं न करेति को अओ ॥ ११ ॥

अगणितो निक्खंतो, विहरइ पन्निमाइ दारिगा चइओ ।

सुवरणवसुहाराओ, रओ कहणं च देवीए ॥ १२ ॥

वरआइ पिता तीसे, पुच्छण कहणं च वरण दोवारे ।

जाणाइ पायविवं, आगमणं कहण निगमणं ॥ १३ ॥

पन्नियागए सर्मावे, सपरीवारा वि जिक्खुपान्वयणं ।

जोग सुतो पुच्छण सु-त्तवंधं पुत्ते य निगमणं ॥ १४ ॥

रायगेहागं चोरा, रायजया कहण तेसि दिक्खाया ।

गोसालजिक्खुवंभी-तिदंभियातावसेहिं सह वादो ॥ १५ ॥

वादे पराइचे, सव्वे वि य समणमब्बुवगताओ ।

अद्गसहिया सव्वे, जिणवीरसामिनिक्खंता ॥ १६ ॥

(गामे इत्यादि गाथाएकम्) आसां चार्थः कथानकादवसेयः ।
तच्छेदस-भगधजनपदे वसन्तपुरग्रामः, तत्र सामायिको नाम कुटु-
म्बी प्रतिवसति स्म । स च संसारमयोद्विग्नो धर्मघोषाचार्यान्तिके
धर्मे श्रुत्वा सपत्नीकः प्रव्रजितः । स च सदाचारतः संविज्ञैः
साधुभिः सार्द्धं विहरति स्म, इतरा साध्वीभिः सहैति । कदाचि-
च्छासायेकस्मिन्नगरे निक्कार्थमटन्तीं दृष्ट्वा तामसौ तथाविधक-
मौदयात्पूर्वतानुस्मरणेन तस्यामध्युपपन्नः, तेन चात्मीयोऽजि-
प्रायो छितीयस्य साधोर्निवेदितः, तेनापि चैतत् प्रवर्तित्याः, त-
याऽपि चानिहितम्-न मम देशान्तरे एकाकिन्या गमनं युज्यते । न
चासौ तत्राप्यनुबन्धं त्यज्यतीत्यतो ममास्मिन्नवसरे भक्तप्रत्या-
ख्यानमेव श्रेयः, न पुनर्गतविलोपनम् । इत्यतस्तथा भक्तप्रत्या-
ख्यानपूर्वकमात्मेन्द्रियनमकारि, मृता साऽगात्तव देवलोकात् ।
श्रुत्वा चैनं व्यतिकरमसौ संवेगमुपगतः । चिन्तितं च तेन-तथा
व्रतमङ्गमयादिदमनुष्ठितम्, मम त्वसौ संजात एवेत्यतोऽहम्-
पि भक्तप्रत्याख्यानं करोमीत्याचार्यस्यानिवेद्यैव मायावी, पर-
मसंवेगापन्नोऽसावपि ज्ञकं प्रत्यास्थाय दिवं गतः । ततोऽपि च

रहियमणवज्जमिमं वि एगघा " आ० म० द्वि० । सामायिके,
" अनिहं च अदुगुत्तितमणगरहितं अणवच्चं चेव एगघा " आ०
चू० १ अ० । अनिन्दिते, आ० ।

अदुट्ट-अदुट्ट-त्रि० । न० त० । दोपरहिते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।
अद्विष्ट-त्रि० । द्वेपरहिते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अदुडचेत (स्) अदुडचेतस्-त्रि० । ६ व० । मकलुपान्तःक-
रणे, " तितिक्खण्ण पाणि अदुडचेयसा " आचा० १ भु०
५ अ० ४ उ० ।

अदुत्तरं-अथापर-अव्य० । अतोऽनन्तरमित्यर्थे, " अदुत्तरं च
णं गोयमा ! पत्तुणं चमरे असुरिदे " अथापरं चेदं च साम-
ख्यातिशयमर्णनम् । म० ३ श० १ उ० । " अदुत्तरं च णं मम
समणा णिग्गया " इय० १ अ० । जी० ।

अदुय-अद्रुत-न० । मशीघ्रे, म० ७ श० ए उ० ।

अदुयत्त-अद्रुतत्त्व-न० । समर्चिशो सत्यवचनातिशये, स०
३५ सम० ।

अदुयवंधण-अद्रुतवन्धन-न० । दीर्घकालिकयन्धने, सूत्र०
३ भु० २ अ० ।

अदुवा-अथवा-अव्य० । पक्षान्तरापन्यासद्वारेणाऽन्युच्चयोपद-
शने, आचा० १ भु० १ अ० ३ उ० । सूत्र० ।

अदूर-अदूर-त्रि० । न० त० । अविप्रकृष्टे, म० १ श० १ उ० ।

अदूरग (य) अदूरग-त्रि० । शरीराऽनतिभेदके शल्पे क-
यटकादौ, पञ्चा० १६ विव० । परस्परसमीपवर्तिनि, सूत्र० १
भु० ४ म० २ उ० ।

अदूरगेह-अदूरगेह-न० । प्रत्यासन्नप्रातिवेदिमकगृहे, मू० २ उ० ।

अदूरसामंत-अदूरसामन्त-पुं० । दूरं विप्रकृष्टं, सामन्तं च सन्नि-
कृष्टं, तन्निषेधाददूरसामन्तम् । नातिदूरे नातिसमीपे, म० १ श०
१ उ० । अनिकटाऽऽसन्ने उचितदेशे, औ० । द्वा० । " अज्जसुह-
म्मस्स भण्णारस्स अदूरसामंतं उक्कं जाणु जाव विहरति " ति० १ वर्ग ।

अदूरागय-अदूरागत-त्रि० । समीपवेशं प्राप्ते, " अदूरागय बहु-
संपत्ते अद्धाण पमिषण्णे अंतरापदे वट्ठ " म० २ श० १ उ० ।

अदूसिय-अदूपित-त्रि० । अजिष्वङ्गणाकहुपिते, पञ्चा० ६ विव० ।

अदेसकालपल्लावि (ण)-अदेशकालप्रलापिन्-पुं० । अदे-
शकाले अनवसरप्रलपनशीलोऽनवसरप्रलापी । ('चंचल' शब्दे
दर्शिते) भाषाचपलभेदे, वृ० १ उ० ।

अदेसाकाशावरण-अदेशाकाशावरण-न० । प्रतिपिक्तो देशो-
ऽदेशः, प्रतिपिद्धः काशोऽकाशः, तयोरदेशकालयोरवरणं
वरणाजावः-अदेशाऽकालावरणम् । प्रतिपिद्धदेशकालयोश्चर-
णाभावरूपे शुद्धिर्मन्त्रेदे, अदेशाकाशाचारी हि-चौरादिभ्योऽ-
वश्यमुपचवमाप्नोति; अदेशाकालावरणं बलाबलाविचारणम् ।
ध० १ अधि० ।

अदोस-अद्वेष-पुं० । तत्त्वविषयेऽप्रीतिपरिहारे, यो० १६ विव० ।

अद्व-अद्व-पुं० अपो वदाति । अण्-दा-क । ६ त० । " सर्वत्र
अवराभवके " ॥८॥ १ । ७५॥ इति सूत्रेण बलोपः । प्रा० मेघे,

मुस्तायां च, तस्याश्चाऽत्यन्तशीतवीर्यत्वेन वैद्यकोर्केऽलमयमुख-
स्याश्च तथात्वम्, आप्यन्ते व्याप्यन्ते श्रुतमासपक्षतिथिनक्षत्र-
योगकरणवारादयो येन । आप-द्व-ह्रस्वश्च । वत्सरे, वाच० ।
अर्द-पुं० । अर्दयेते गम्यतेऽनेनेति अर्दः । आकाशे, म० २०
श० २ उ० ।

आर्द्ध-त्रि० । अर्द-रक्-दीर्घश्च । क्लिष्टे सरसे सजले व-
स्तुनि, सूत्र० ।

अस्य निक्षेपार्थं सूत्रकृताङ्गनिर्युक्तिरुदाह—

नामं उवणा अदं, दन्वदं चेव होइ जावदं ॥

एतो खलु अदभ्रओ, निक्खेवो चजविहो होइ ॥ १ ॥

[नामं उवणा अदमित्यादि] नामस्थापनाद्रव्यभावनेदाच्च-
तुर्थाऽऽर्द्रकस्य निक्षेपो द्रष्टव्यः ।

तत्र नामस्थापने अनाहत्य द्रव्यार्थप्रतिपादनार्थमाह—

उदगदं सारदं, णविअदं खलु तहा सिणेहदं ॥

एयं दन्वदं खलु, भावेणं होइ रागदं ॥ २ ॥

(उदगदमित्यादि) तत्र द्रव्यार्थं विधा-आगमतो, नो आग-
मतश्च । आगमतो ज्ञाता, तत्र चातुपयुकोऽनुपयोगो द्रव्यमि-
तिरुत्था । नो आगमतस्तु कशरीरजव्यशरीरव्यतिरिक्तम् । यदुद्-
केन मृत्तिकादिकं द्रव्यमार्द्राकृतं तदुदगार्द्रम् । सारार्द्रं तु-य-
द्विः शुष्कार्द्रमप्यन्तर्मध्ये सार्द्रमास्ते, यथा-श्रीपर्णसौवर्चला-
दिकम् । 'णविअदं' तु-यत् स्निग्धत्वगुण्यं मुकाफलरकाशो-
कादिकं तदजिधीयते, वसयोपालिप्तं वासारार्द्रम् । तथा-श्लेष्मा-
र्द्रं चकलेपापुपलितं स्तम्भकुण्ड्यादिकं यद्रव्यं तस्मिन्धाकार-
तया श्लेष्माद्रमभिधीयते । एतत्सर्वमप्युदगार्द्रादिकं द्रव्यार्द्रमे-
वाजिधीयते, खलुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । प्राचात्रै तु पुनः राग-
स्नेहाभिध्वङ्गः, तेनार्द्रं यज्जीवद्रव्यं तन्नावाार्द्रमित्याजिधीयते ।

साम्प्रतमार्द्रककुमारमधिकृत्यान्यथा

द्रव्यार्द्रं प्रतिपादयितुमाह—

एगजविय वप्फाज्ज, जो अजिमुहओ नामगोए य ।

एते तिन्नाऽऽदेसा, दन्वम्मि अदगे होंति ॥ ३ ॥

[एगजविय इत्यादि] एकेन भवेन यो जीवः स्वर्गादेरगत्या-
र्द्रककुमारत्वेनोत्पत्स्यते । तथा-ततोऽप्यासन्नतरो ब्रह्मायुष्कः ।
तथा-ततोऽप्यासन्नतमोऽजिमुहनामगोत्रः, योऽनन्तरसमयमेवा-
र्द्रकत्वेन समुत्पत्स्यते । एते त्रयोऽपि प्रकारा द्रव्यार्द्रके द्रष्टव्या
इति । भावार्द्रकं तु-आर्द्रककुमार इति नगरभेदे, तदधिपतौ
राजभेदे, तत्सुते, तद्वंशजेषु च । सूत्र० २ भु० ६ अ० । कान्ति-
न्ययुके, आनुगुण्ययुके च । अद्विन्यादिके पष्ठे नक्षत्रे, स्त्री० ।
वाच० । आर्द्राया रुद्रे देवता । ज्यो० ६ पादु० ।

अद्विज्ज-आर्द्रकीय-न० । आर्द्रकात्समुत्थितमध्ययनमार्द्रकी-
यम् । आर्द्रककुमारवक्तव्यताप्रतिषेधे सूत्रकृताङ्गस्य द्वितीयश्रु-
तस्कन्धस्य पष्ठेऽध्ययने, सूत्र० ।

निरुक्तं तु विस्तरतो निर्युक्तिरुतैवेत्यमुक्तम्—

अद्वपुरा अद्वसुतो, नामेण अद्वगो य अणगारो ।

ततो समुद्वियमिणं, अज्जमणं अद्विज्जं चि ॥ ४ ॥

[अद्वपुरा इत्यादि] आर्द्रकायुष्कनामगोत्राप्यनुभवन् भावा-
र्द्रो जवति । यद्यपि शृङ्गवेरादीनामप्यार्द्रकसंज्ञायवहारोऽस्ति,

सत्तागओ गणओ चिकखुमज्जे ।

आइक्खमाणो बहुज्जमत्थं ,

न संघयाती अव्वरणं पुण्वं ॥ २ ॥

तं च राजपुत्रकमारैककुमारं प्रत्येकबुद्धं भगवत्समीपमागच्छन्तं गोशालकोऽवधीत्-यथा हे आर्द्रक ! यदहं ब्रवीमि तच्चृणु । पुरा पूव, यदनेन प्रवर्त्तयितुं कृतं तच्चैदमिति दर्शयति-एकान्ते जनरहिते प्रदेशे चरितुं शीलमस्येत्येकान्तचारी, तथा आभ्यतीति भ्रमणः, पुराऽऽसीत्तपश्चरणोद्युक्तः, सांप्रतं तृप्येस्तपश्चरणविशेषैर्निर्मलस्सितो मां विहाय देवादिमध्यगतोऽसौ धर्मं किल कथयति, तथा भिक्षून् बहुनुपनीय प्रतृतशिष्यपरिकरं कृत्वा भवद्विधानां मुग्धजनानामिदानीं पृथक् पृथक् विस्तरणाचष्टे धर्ममिति शेषः ॥ १ ॥ पुनरपि गोशालक एव ' सा जीविया ' इत्याद्याह-येयं बहुजनमध्यगतेन धर्मदेशना युष्मदुरुणा-ऽऽरब्धा सा जीविका प्रकर्षेण-स्थापिता प्रस्थापिता, एकाकी विहरन् बौकिकैः परिचूयत इति मत्वा लोकपङ्क्ति-मित्तं महान् परिकरः कृतः । तथा चोच्यते- " कुत्रं तात्रं पात्रं, वस्त्रं यद्वि च चर्चयति जिह्वुः । वेष्टेण परिकरेण च, किय-ताऽपि विना न जिह्वाऽपि " ॥१॥ तदनेन दम्भप्रदानेन जीवि-कार्यमिदमारब्धम् । किञ्चूतेन?, अस्थिरेण, पूर्वं ह्ययं मया सार्क-मेकाक्यन्तप्रान्ताशनेन शून्यारामदेवकुलादौ वृत्तिं कल्पितवान् ; नच तथाचूतमनुष्ठानं सिकताकवक्षस्त्रास्वादं यावज्जीवं कर्तुं लभ्, अतो मां विहाययं बहुन् शिष्यान् प्रतार्यैवञ्चूतेन स्फु-टाटोपेन विहरतीत्यतः कर्त्तव्येऽस्थिरश्चपलः, पूर्वचर्यापरित्या-गेनापरकल्पसमाभ्यात् । एतदेव दर्शयति-समायां गतः सदेवमनुजपर्यादं व्यवस्थितो (गणओ स्ति) गणशो बहुशः, अनेकश इति यावत् । भिक्षूणां मध्ये गतो व्यवस्थितः, आचक्षा-णो बहुजनेभ्यो हितो बहुजन्योऽर्थस्तमर्थं बहुजनहितं कथयन् विहरति । एतच्चास्यानुष्ठानं पूर्वापरेण न संघत्ते । तथाहि-यदि सांप्रतीयं वृत्तं प्राकारत्रयं सिंहासनाशोकवृक्षजामण्डलचाम-रादिकं मोक्षाङ्गमभविष्यत्ततो या प्राक्तन्येकचर्या क्लेशबहुला तथा कृता सा क्लेशाय केवलमस्येति, अथ कर्मनिर्लेरणहेतुका परमार्थचूता ततः साम्प्रतावस्था परप्रतारकत्वाद् दम्भकल्पे-त्यतः पूर्वोत्तरयोरनुष्ठानयोर्मौनव्रतिकधर्मदेशनरूपयोः परस्पर-रतो विरोध इति ॥ २ ॥

अपि च—

एगंतमेवं अणुवा वि इण्हिह,

दोवग्गमन्नं न समेति जम्हा ।

(एगंतमित्यादि) यद्येकान्तचारित्र्यमेव शोभनं, पूर्वमाश्रितत्वा-त्ततः सर्वदाऽन्यनिरपेक्षैस्तदेव कर्त्तव्यम् । अथ चेदं साम्प्रतं महा-परिवारवृत्तं साधु मन्यते, ततस्तदेवादावप्याचरणीयमासीत् । अपि च-के अध्येते गायोऽस्तपवदत्यन्तविरोधनी वृत्ते नैकत्र सम-चार्यं गच्छतः । तथाहि-यदि मौनन धर्मस्ततः किमियं महता प्रव-न्द्वेन धर्मदेशना ? अथःनयैव धर्मस्ततः किमिति पूर्वं मौनव्रत-माललाप ? । यस्मादेवं तस्मात्पूर्वोत्तरव्याहतिः ।

(३) तदेवं गोशालकेन पर्यनुयुक्त आर्द्रककुमारः श्लोक-आर्द्रकोत्तरदानायाह—

पुण्वि च इण्वि च अण्णागतं वा,

एगंतमेवं पणिसंघयाति ॥ ३ ॥

(पुण्वि चेत्यादि) पूर्वं पूर्वस्मिन्काले; यन्मौनव्रतिकत्वं, या चैकचर्या, तच्छब्दस्थत्वाद् घातिकर्मचतुष्टयक्यार्थम् । सांप्रतं यन्महाजनपरिवृतस्य धर्मदेशनाविधानं, तत् प्राग्वद्धभयोपप्रा-दिकर्मचतुष्टयकृपणोद्यतस्य विशेषतस्तीर्थकरणान्नां वेदनार्थम्, अपरासां चोद्येर्गोत्रशुभायुर्नामादीनां शुभप्रकृतीनामिति । यद्वि वा पूर्वं साम्प्रतमनागते च काले रागद्वेपरहितत्वादेकत्वज्ञानाऽ-नतिक्रमणाच्चैकत्वमेवानुपचारितं भगवान्शेषजनहितं धर्मं क-थयन् प्रतिसंदधाति । न तस्य पूर्वोत्तरयोरवस्थयोराशंसारहित-त्वाद्भेदोऽस्ति, अतो यदुच्यते भवता पूर्वोत्तरयोरवस्थयोरसाङ्ग-त्वं, तत् प्लवत इति ॥ ३ ॥

एतद्धर्मदेशनया प्राणिनां कश्चिदुपकारो

भवत्युत नेति ? ; भवतीत्याह—

सभिच्च लोगं तसयावराणं,

खेमंकरं समणे माहणे वा ।

आइक्खमाणो वि सहस्समज्जे,

एगंतयं सारयती तद्वच्च ॥ ४ ॥

सम्यग्गथावस्थितं लोकं पशून्ध्यात्मकं मत्वाऽवगम्य केवल-लोकेन परिच्छिद्य, तस्यन्तीति प्रसास्त्रसनामकमोदयात्, द्वान्द्रिया दयः, तथा-तिष्ठन्तीति स्थावराः स्थावरनामकमोदयात्, स्वावराः पृथिव्यादयः, तेनानुभयेयामपि जन्तूनां, केमं शान्तिः-रक्षा, तत्कर-णशीलः केमंकरः आभ्यतीति भ्रमणः-द्वादशप्रकारतपोनिष्ठ-देहः । तथा- ' मा हण ' इति प्रवृत्तियस्यासौ माहनः, ब्राह्मणे-वा, स एवंभूतो निर्ममो रागद्वेपरहितः, प्राणिहितार्थं न ला-भपूजाभ्यात्यर्थं धर्ममाचक्षाणोऽपि, प्राग्वत् क्षुद्रस्यावस्थायां मौनव्रतिक इव चाकस्यत उत्पन्नदिव्यज्ञानत्वाद्भाषाशुण-दोपविवेकशतया भाषणैर्नैव गुणावाप्तेः, अनुत्पन्नदिव्यज्ञानस्य तु मौनव्रतिकत्वेनेति । तथा-देवासुरनरतिर्यक्सहस्रमध्येऽपि व्य-वस्थितः, पङ्काधारपङ्कजवत्, तदोषव्यासङ्गाभावात् । ममत्ववि-रहादाशंसादोपविकलत्वादेकान्तमेवासौ सारयति-प्रख्यातिं नयति, साधयतीति यावत् । ननु चैकाकिपरिकरोपेतावस्थयो-रस्ति विशेषः, प्रत्येक्षैवोपलभ्यमानत्वात् । सत्यमस्ति । विशेषं बाह्यतो, नत्वान्तरतोऽपि दर्शयति-तथा प्राग्वत्, अर्चा लेश्या शुक्रघ्नानाख्या यस्य स तयार्चः? यदि वाऽर्चा शरीरं, तच्च प्राग्व-द्यस्य स तयार्चः? तयाहि-असावशोकाद्यप्रतिहार्योपेतोऽपि नो-त्सेकं याति, नापि शरीरं संस्काराय च विदधाति । स हि भगवा-नात्यन्तिकरागद्वेपप्रहाणादेकाक्यपि जनपरिवृतो, जनपरिवृ-तोऽप्येकाको, न तस्य तयोर्वसयाः कश्चिद्विशेषोऽस्ति । तथा चो-क्तम्- " रागद्वेषौ विनिर्जित्य, किमरण्ये करिष्यसि ? । अथ नो नि-र्जितावेतौ, किमरण्ये करिष्यसि ? " ॥१॥ इत्यतो बाह्यतनं गम-नान्तरमेव कषायजयादिकं प्रधानं कारणमिति स्थितम् ॥४॥

(४) अपगतरागद्वेषस्य प्रभाषमाणस्यापि दोषाभाव

दर्शयितुमाह—

धम्मं कहंतस्स उ णत्थि दोसा,

खंतस्स दंतस्स जित्तिदियस्स ।

भासाय दोसे य विवज्जगस्स,

गुणे य भामाय णिसेवगस्स ॥ ५ ॥

तस्य भगवतोऽपगतघनघातिकलङ्कस्योत्पन्नसकलपदार्था-

प्रत्यागत्याऽऽर्द्रपुरे नगरे आर्द्रकसुत आर्द्रकामिधानो जातः । सा-
ऽपि च देवलोकाकच्युता वसन्तपुरे नगरे श्रेष्ठिकुत्रे दारिका जा-
ता । इतराऽपि च परमरूपसंपन्नो यौवनस्थः संवृत्तः । अन्यदाऽ-
सावार्द्रकपिता राजगृहनगरे श्रेष्ठिकस्य राज्ञः स्नेहाविष्करणार्थं
परमप्राभृतोपेतं महत्तमं प्रेषयति स्म । आर्द्रककुमारोऽसौ पृष्टः-
यथा-कस्यैतानि महार्द्राण्यत्युप्राणि प्राभृतानि मत्पित्रा प्रेषितानि
यास्यन्तीति । असावकथयत्-यथा-आर्यदेशे तव पितुः परममित्रं
श्रेष्ठिको महाराजः, तस्यैतानीति । आर्द्रककुमारेणाप्यभाणि-किं
तस्यास्ति कश्चिद्योगः पुत्रः ? । अस्तीत्याह । यद्येवं, मत्प्रहितानि
प्राभृतानि प्रवृत्ता तस्य समेषु यानीति प्रणित्वा, महार्द्राणि प्राभृ-
तानि समर्प्यानिहितम्-वक्ष्योऽसौ महत्तनायथाऽऽर्द्रककुमार-
स्त्वयि स्निह्यतीति । स च महत्तमो गृहीतोऽन्यप्राभृतो राजगृह-
मगात् । गत्वा च राजद्वारपात्रनिवेदितो राजकुलं प्रविष्टः । इष्टञ्च
श्रेष्ठिकः । प्रणामपूर्वं निवेदितानि प्राभृतानि । कथितं च यथा
सांदिष्टम् । तेनाप्यासनाशनताम्लादिना यथाहं प्रतिपत्त्या सं-
मानितः । द्वितीये चाह्वयार्द्रककुमारसत्त्वानि प्राभृतान्यमयकुमा-
रस्य समर्पितानि; कथितानि च तत्प्राप्त्युत्पादकानि तत्संदिष्ट-
वचनानि । अत्रयकुमारेणापि परिणामिक्यबुद्ध्या परिणामितम्-
नूनमसौ ज्ञेयः समाससमुक्तिगमनश्च, तेन मया सार्द्धं प्रीति-
मिच्छतीति । तदिदमत्र प्राप्तकालम्-यदादितोऽर्थकप्रतिक्रम-
तिमासं दर्शनेन तस्यानुग्रहः क्रियते, इति मत्वा तथैव कृतम् ।
महार्द्राणि च प्रेषितानि प्राभृतानीति । उक्तञ्च महत्तमः-यथा-
मत्प्रहितप्राभृतमेतदेकान्ते निरूपणीयम् । तेनापि तथैव प्रति-
पन्नम् । गन्धसाधारणकपुरम् । समर्पितं च प्राभृतं राज्ञः, द्विती-
ये चाह्वयार्द्रककुमारस्येति । कथितं च यथासांदिष्टम् । तेनाप्ये-
कान्ते स्थित्वा निरूपिता प्रतिमा । तां च निरूपयत कदाऽ-
पोदविमर्शनेन समुत्पन्नं जातिस्मरणम् । चिन्तितं च तेन-यथा-
ममाभ्यकुमारेण महानुपकारोऽकारि स चर्मप्रतिबोधत इति । त-
तोऽसावार्द्रकः संजातजातिस्मरणोऽचिन्तयत्-यस्य मम देवलो-
कमोगैर्यथोत्सवं संपद्यमानैस्तु सिर्गानुत्तस्यामीभिस्तु चैर्मातुषैः
स्वल्पकाहीनैः काममोगैस्तु सिर्गविष्यतीति कृतस्सयम् । इत्येत-
त्परिगणय्य निर्विष्यकाममोगो यथोचिनजोगमकुर्वन् राज्ञां संजा-
तमयेन मा कचिद्यायादित्यतः पञ्चभिः शतैः राजपुत्राणां रक्षयि-
तुमारेजे । आर्द्रककुमारोऽप्यश्ववाहनिकया विनिर्गतः, प्रधाना-
श्वेन प्रपलायितः । ततश्च प्रव्रज्यां गृहहन् देवतया सोपसर्गं प्रव-
तोऽद्यापि भणित्वा निवारितोऽप्यसावार्द्रको राज्यं तावच्च क-
रोति स्म । कोऽन्यो मां विहाय प्रव्रज्यां गृहीष्यतीत्यजिंसाय तां
देवतामवगणय्य प्रव्रजितः । विहरन्त्यदाऽप्यतरप्रतिमाप्रतिपन्नः
कायोत्सर्गव्यवस्थितो वसन्तपुरे तथा देवल्लोकाकच्युतया श्रेष्ठि-
कुत्रे परदारिकामध्यगतया 'आरमत्येषमममर्ता' इत्येवमुक्ते-
त्यनन्तरमेव तत्सन्निहितदेवतयाऽर्द्रकज्योदशकोटिपरिमाणा 'शो-
भनं व्रतमनयेति' भणित्वा हिरण्यवृष्टिमुक्ता । तां च हिरण्यवृष्टिं
राजा गृहहन् देवतया सर्पाद्युत्थानतो विधृतः । अभिहितं च तथा-
यथैतद् हिरण्यं जातमस्या दारिकायाः, नान्यस्य कस्यचिदित्य-
तस्तत्पित्रा सर्वं संगोपितम् । आर्द्रककुमारोऽप्यनुकूलोपसर्गं इति
मत्वाऽश्वेनान्यत्र गतः । गच्छति च काले दारिकायाः वरकाः समा-
गच्छन्ति स्म । पृष्टौ च पितरौ तथा-किमेवामागमनप्रयोजनम् ? । क-
थितं च ताज्याम्-यथैत तव वरका इति । ततस्तथोक्तम्-तात !
सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते नानेकशः; दत्ता चाहं तस्मै यत्संवन्धि हि-
रण्यजातं प्रव्रज्युद्गीतम् । ततः सा पित्राऽज्ञाणि-कित्वं तं जानी-

ये ? । तथोक्तम्-तत्पादगतानि ज्ञानदर्शनतो जानामीति । तदेवमसौ
तत्परिज्ञानार्थं सर्वस्य भिक्षार्थिनो जिज्ञां दापयितुं निरूपिता ।
ततो द्वादशजिर्वर्षैर्गतेः कदाचिन्नासौ प्रवितव्यतानियोगेन तत्रै-
व विहरन्समायातः; प्रत्यभिज्ञातश्च तथा तत्पादचिह्नदर्शनतः ।
ततोऽसौ दारिका सपरिवारा तत्पृष्ठतो जगाम । आर्द्रककुमारो-
ऽपि देवतावचनं स्मरन्तथाविधकर्मोदयादवश्यं प्रवितव्यतानि-
योगेन च प्रतिभन्तस्तथा सार्द्धं ह्यनकि स्म जोगात् । पुत्रश्चोत्प-
न्नः । पुनरार्द्रककुमारेणासावभिहिता-साम्रतं ते पुत्रो द्वितीयः,
अहं स्वकार्यमनुतिष्ठामि । तथा सुतव्युत्पादनार्थं कार्पासकर्त-
नमारब्धम् । पृष्टा चासौ बालकेन-किमम् । एतन्नवत्या प्रार-
ब्धमितरजनाचरितम् ? । ततोऽसावचोचत्-यथा तव पिता प्रव-
जितुकामः, त्वं चाद्यापि शिशुरसमर्थोऽर्थार्जने, ततोऽहमना-
या स्त्रीजनोचितेनानिन्देन विधिनाऽऽत्मानं प्रवृत्तं च किञ्च पा-
द्यपिभ्यामीत्येतदाहोच्येदमारब्धमिति । तेनापि बालकेनोत्पन्नप्र-
तिभया तत्कर्तितसुत्रेणैव कार्यं मद्बद्धो यास्यतीति 'तन्मनाऽनुकूल-
मापिणोपविष्ट एवासौ पिता परिवेष्टितः । तेनापि चिन्तितम्-या-
वन्तोऽमी बालककृतवेषधनतन्तवस्तावन्त्येव वर्षाणि मया गृहे स्था-
तव्यमिति । निरूपिताश्च तन्तवो यावद्वादश, तावन्त्येव वर्षाण्य-
सौ गृहवासे व्यवस्थितः । पूर्णपुद्गादशसु संवत्सरं गृहाभिर्गतः,
प्रव्रजितश्चेति । ततोऽसौ सूत्रार्थनिष्पन्न एकाकिविहारेण विह-
रन् राजगृहमभिमुखं प्रस्थितः । तदन्तरात्रे च तद्गृहणार्थं यानि
प्राक् पित्रा निरूपितानि पञ्च राजपुत्रशतानि, तस्मिन्नात्र नष्टे
राजभयाद्विलङ्घ्याश्च न राजान्तिकं जन्तुः । तत्रादवीडुर्गेण चौर्येण
वृष्टि कल्पितवन्तः । तस्मासौ इष्टः प्रत्यभिज्ञातश्च । ते च तेन पृ-
ष्टाः-किमिति प्रव्रजिरेवंचूर्तं कर्माभितम् ? । तैश्च सर्वै राजमयादिकं
कथितम् । आर्द्रककुमारवचनाच्च संवृत्ताः प्रव्रजिताश्च । तथा राज-
गृहनगरप्रवेशे गोशालको, इस्तितापसाः, ब्राह्मणाश्च बाधे परा-
जिताः । तथाऽर्द्रककुमारदर्शनादेव इस्ती बन्धनाद्भिमुक्तः । ने
च इस्तितापसादय आर्द्रककुमारधर्मकथाक्षिता जिनवीरसम-
वसरणे निष्क्रान्ताः । राज्ञा च विदितवृत्तान्तेन महाकुतूहलापू-
रितहृदयेन पृष्टः-अगवन् ! कथं त्वदर्शनतो इस्ती निरर्गलः
संवृत्तः ? , इति महाद् जगवतः प्रभाव इति । एवमभिहितः स-
आर्द्रककुमारोऽप्रवीजवमगाययोत्तरम्-

ए दुर्करं वारणपासमोयणं, गयस्स मयस्स वणम्मि रायं ।।
जहा उ तत्थावन्निपणं तंतुणा, सुदुकरं मे पमिहाइ मोयणं ।। ७।
(ण दुक्कर्मित्यादि) न दुक्करमेतत्तरपाशैर्वन्धनमवसरणस्य वि-
मोचनं वने, राजन् ! एतन्तु मे प्रतिभाति दुक्करम्-यच्च तत्रावलि-
तेन तन्तुना बन्धस्य मम प्रतिमोचनमिति । स्नेहतन्तवो हि जन्तु-
नां दुक्कळेदा भवन्तीति भावः । गतमार्द्रककथानकम् । इति
दर्शितं समासतो निर्युक्तिताऽर्द्रककथानकम् । अथ तदेव
सूत्रहृद् ध्यासेन दर्शयन्नाह-

(१) यथा च गोशालकेन सार्द्धं चादोऽनृद्धार्द्रककुमारस्य
तथाऽनेनाभ्ययनेनोपदिश्यते-

पुरा कर्दं अद् ! इमं सुणेह-

मंगंतयारी समणे पुराऽऽसी ।

सै भिक्षुणो उवणेत्ता अणेगे,

आइक्खति एहं पुढो विथरेण ॥ १ ॥

सा जीविया पङ्कविताऽथरेण ,

पावाङ्गो पुढो किट्यंता,

सयं सयं दिष्टिं करोति पाज ॥ ११ ॥

इमां पूर्वोक्तां, वाचम । तुशब्दो विशेषणार्थः, त्वं प्रादुष्कृत-
अकाशयन्, सर्वानपि प्रावादुकान्, गर्हसि जुगुप्ससे, यस्मात्सर्वेऽ-
पि तीर्थिका बीजोदकादिभोजिनोऽपि संसारोच्छिद्ये प्रवर्तन्ते,
ते तु भवता नाज्युपगम्यन्ते । ते तु प्रावादुकाः पृथक् २ स्त्रीयां
स्त्रीयां दष्टिं प्रत्येकं स्वदर्शनं कीर्तयन्तः, प्रादुष्कुवन्ति प्रकाश-
यन्ति । यदि वा श्लोकपञ्चाङ्गमाद्रककुमार आह-सर्वे प्रावादुका य-
थावस्थितं स्वदर्शनं प्रादुष्कुवन्ति, तत्रात्राप्याद्य वयमपि स्वद-
र्शनाविर्भावने कुर्मः । तद्यथा-अप्राशुकेन बीजोदकादिपरिभोगि-
नः कर्मबन्ध एव केवलं, न संसारोच्छेद इतीदमस्मदीयं दर्शनम् ।
एवं व्यवस्थिते काऽत्र परिनिर्दाः, को वाऽऽभ्योत्कर्षः ? इति ॥ ११ ॥

किञ्च—

ते अन्नमन्नस्स विगरहमाणा,

अक्खन्ति उ समणा माहणा य ।

सतो य अत्थी असतो य एत्थी,

गरहाम दिष्टिं ण गरहाम किञ्चि ॥ १२ ॥

ते प्रावादुकाः, अन्योन्यस्य परस्परं तु, स्वदर्शनप्रतिष्ठाऽऽशया पर-
दर्शनं गर्हमाणाः स्वदर्शनगुणानाचक्रते । तुशब्दात्परस्परतो न्या-
हृतमनुष्ठानं चानुतिष्ठन्ति । ते च अमणा निर्ग्रन्थादयो, ब्राह्मणा द्वि-
जातयः, सर्वेऽप्येते स्वकं पक्वं समर्थयन्ति, परकीयं च दूषयन्ति ।
तदेव पञ्चाङ्गेन दर्शयति- (सतो चि) स्वत इति स्वकीये पक्वे
स्वाज्युपगमेऽस्ति पुण्यं, तत्कार्यं च स्वर्गापवर्गादिकमस्ति। अस्म-
तः पराज्युपगमाच्च नास्ति पुण्यादिकमित्येवं सर्वेऽपि तीर्थिकाः
परस्परव्याघातेन प्रवृत्ताः; अतो वयमपि यथावस्थिततत्त्वप्ररूप-
णतो युक्तिविकलत्वादेकान्तदष्टिं गर्हामो जुगुप्सामः, नह्यसावे-
कान्तो यथावस्थिततत्त्वाविर्भावको भवतीत्येवं व्यवस्थिते त-
त्त्वस्वरूपं वयमाचक्राणां न किञ्चिद्गर्हामः, काणकुण्डोदघट्टनादि-
प्रकारेण केवलं स्वपरस्वरूपाविर्भावने कुर्मः; न च वस्तुस्वरूपा-
विर्भावने परापवादः । तथा चोक्तम्—

“ नेत्रैर्निरीक्ष्य विद्वक्कण्टककीटसर्पान्,

सम्यक् पथा व्रजत तान्परिहृत्यं सर्वान् ।

कुक्षानकुशुतिकुमार्गकुदष्टिदोषान्,

सम्यग्विचारयति कोऽत्र परापवादः ? ” ॥ १ ॥ इत्यादि ।

यदि चैकान्तवादिनमेवास्त्येव नास्त्येव वाऽभ्युपगमवतामयं प-
रस्परगर्हाभ्यो दोषो नास्माकमनेकान्तवादिनां, सर्वस्यापि
सदादेः कथञ्चिदभ्युपगमात् । एतदेव श्लोकपञ्चाङ्गेन दर्श-
यति- (स्वत इति) स्वद्रव्यक्षेत्रकालमावैरस्ति । तथा- (परत
इति) परद्रव्यादिभिर्नास्तीत्येवं पराभ्युपगमं दूषयन्तो गर्हा-
भ्योऽन्येकान्तवादिनः । तत्स्वरूपनिरूपणतस्तु रागद्वेषवि-
रहाच्च किञ्चिद्गर्हाम इति स्थितम् ॥ १२ ॥

एतदेव स्पष्टतरमाह—

ए किञ्चि रूवेणऽभिधारयामो,

सदिष्टिमगं तु करेमि पाजं ।

मग्ने इमे किट्टिणं आरिण्हिं,

अणुचरे सप्पुरिसेहिं अणु ॥ १३ ॥

न कञ्चन भ्रमणं, ब्राह्मणं वा; स्वरूपेण जुगुप्सिताङ्गावयवो-

दघट्टनेन जात्या तल्लिङ्गग्रहणोदघट्टनेन वाऽभिधारयामो गर्ह-
णादुज्जोदघट्टयामः, केवलं स्वदष्टिमार्गे तदभ्युपगतं दर्शनं
प्रादुष्कुर्मः प्रकाशयामः । तद्यथा—

“ ब्रह्मा लूनशिरा हरिर्दृशि सरग् व्यालुप्तशिभो हरः,

सूर्योऽप्युल्लिखितोऽनलोऽप्यखिलभुक्तोमः कलङ्काद्वितः ।

स्वर्नाथोऽपि विसंस्थुलः खलु वपुःसंस्थैरुपस्थैः कृतः,

सन्मार्गस्सल्लनान्नवन्ति विपदः प्रायः प्रभूणामपि ” ॥ १ ॥

इत्यादि । एतच्च तैरेव स्वागमे पठ्यते, वयं तु श्रोतारः केव-
लमिति । आर्द्रककुमार एव परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षसाध-
नार्थं श्लोकपञ्चाङ्गेनाह- (मग्ने चि) अयं मार्गः पन्थाः सम्य-
दर्शनादिकः कीर्तितो व्यावर्णितः । कैः?, आर्यैः, सर्वत्रैरस्त्या-
द्यधर्मदूरवर्तिभिः । किंभूतो धर्मः?, नास्मादुत्तरः प्रधानो वि-
द्यत इत्युत्तरः, पूर्वापरव्याहृतत्वाद्, यथावस्थितजांवादिप-
दार्थस्वरूपनिरूपणाच्च । किंभूतैरार्यैः?, सन्तश्च ते पुरुषाश्च
सत्पुरुषास्तैश्चतुर्लेशदतिशयोपेतैराविर्भूतसमस्तपदार्थावि-
र्भावकदिव्यङ्ग्यैः । किंभूतो मार्गः?, अणु व्यक्तः-निर्दोषत्वा-
त्प्रकटः, अणुर्वा; वकैकान्तपरित्यागादकुटिल इति ॥ १३ ॥

पुनरपि स्वसद्वर्धर्मस्वरूपनिरूपणायाऽऽह—

उहं अहेवं तिरियं दिसामु,

तसा य जे थावर जे य प्राणा ।

ज्याहिसंकाजिदुगुंछमाणा,

णो गरहती बुसिमं किञ्चि लोए ॥ १४ ॥

उर्ध्वमधस्तिर्यक्त्वेवं सर्वास्वपि दिक्षु प्रकारापेक्षया, भावदि-
गपेक्षया वा, तामु ये जसा, ये च स्थावराः प्राणिनः । चशब्दौ
स्वगतानेकभेदसंज्ञकौ । भूतं सद्भूतं तथ्यं, तत्राभिप्राय-
तथ्यनिर्णयेन प्राणातिपातादिकं पातकं जुगुप्समानो गर्हमाणः;
यदि वा भूताभिप्राय- सर्वसावधमनुष्ठानं जुगुप्समानो नैव प-
रलोकं कञ्चन गर्हति निन्दति (बुसिमं ति) संयमवानिति । तदेवं
रागद्वेषवियुक्तस्य वस्तुस्वरूपाविर्भावने, न काचिद्गर्हति । अथ
तत्रापि गर्हा भवति, तर्हि न ह्युण्णोऽग्निः, शीतमुदकं, विषं मारणा-
त्मकमित्येवमादि किञ्चिद्वस्तुस्वरूपमाविर्भावनीयमिति ॥ १४ ॥

स एवं गोशालकमतानुसारी वैराशिको निराकृतोऽपि

पुनरन्येन प्रकारेणाऽऽह—

आगंतगारे आरामगारे,

समणे उ जीते ण उवेति चासं ।

दक्खा हु संते वहवो मणुस्सा,

ऊणाऽतिरिच्छा य लवाऽलवा य ॥ १५ ॥

स विप्रतिपक्षः सञ्चारकमेवाह-योऽसौ भवत्संबन्धी तीर्थ-
करः स रागद्वेषभययुक्तः । तथाहि-असावागन्तुकानां कार्पटि-
कादीनामगारमागन्तागारं, तथाऽऽरामेऽगारमाराभाचारं, त-
त्राऽसौ भ्रमणो भवतीर्थकरः । तुशब्द एवकारार्थः । मीत एवासौ
तपोध्वंसनजयासत्रागन्तागारादौ न वासमुपैति, न तत्रासनस्था-
नशयनादिकाः क्रियाः कुर्वते । किं तत्र भयकारणम् ?, इति चेत्त-
दाह—दक्षा निपुणाः प्रभूतशास्त्रविशारदाः । तुशब्दो यस्माद-
र्थः । यस्माद्बहवः सन्ति मनुष्याः, तस्मादसौ तद्गीतो न वासं त-
त्र समुपैति न तत्र समातिष्ठते । किंचुताः, न्यूनाः स्वतोऽवसा-

विर्भावज्ञानस्य जगद्भ्युद्धरणप्रवृत्तस्यैकान्तपरहितप्रवृत्तस्य स्वकार्यनिरपेक्षस्य धर्मं कथयतोऽपि, तु शब्दस्य अपिशब्दाथत्वात्, नास्ति कश्चिदोषः किंभूतस्य?, इत्याह-ज्ञानसिद्धस्य, अनेन क्रोधनिरासमाह । तथा-दान्तस्योपशान्तस्य, अनेन मानव्युदासमाह । तथा-जितानि स्वविषयप्रवृत्तिनिषेधेनेन्द्रियाणि येन स जितेन्द्रियः, अनेन तुलोभनिरासमाह । मायायास्तु ज्ञेयमनिरासादेव निरासो ह्यव्ययः, तन्मूलत्वात्तस्याः । आपादोषाः-असत्यसत्याभ्युपकर्कशाऽसत्यशब्दाधारणादयः, तद्विवर्जकस्य तत्परिहर्तुः । तथा-भाषाया ये गुणाः-हितमितदेशकालासंदिग्धभाषणादयः । तन्निषेधकस्य सतो ह्यवतोऽपि नास्ति दोषः । अश्वस्य हि बाहुव्येन मौनव्रतमेव भयः, समुत्पन्नकेवलस्य तु भाषणमपि गुणायति ॥ ५ ॥

किंभूतं धर्ममसौ कथयति ?, इत्याह-

महन्वप पंच आणुवप य,

तदेव पंचासव संवरे य ।

विरतिं इह सामाण्यमि पने,

लवावसर्पी समणे चि नपि ॥ ६ ॥

महान्ति च तानि व्रतानि प्राणातिपातविरमणादीनि, तानि च साधूनां प्रज्ञापितवान् पञ्चापि । तदपेक्षयाऽणुनि लघूनि व्रतानि पञ्चैव, तानि आचकानुद्दिश्य प्रज्ञापितवान् । तथैव पञ्चाभवान् प्राणातिपातादिरूपान् कर्मणः प्रवेशद्वारभूतान्; तत्संवरं च सप्तदशप्रकारं संयमं प्रतिपादितवान् । संवरवतो हि विरतिर्मन्वृत्यतो विरतिं च प्रतिपादितवान् । चण्डास्तफलभूतौ निर्जराभौ-कौ च । इहस्मिन् प्रयत्ने, लोके वा, भ्रमणस्य जावः भ्रमण्य-संपूर्णः संयमः, तस्मिन् वा विधेये मूलगुणान् महाव्रताण्यवतरूपान्, तथा-उत्तरगुणान् महाव्रताण्यवतरूपान्, कृत्स्ने संयमे विधातव्ये । प्राज्ञ इति क्वचित्प्रायः । प्राज्ञे तत्प्रतिपादितवानिति । किंभूतोऽसौ ?, इव कर्म, तस्मात् (अवसर्पीति) अवसर्पणशीलोऽवसर्पी, अभ्यसीति भ्रमणः तपश्चरणयुक्तः, इत्येतदहं ब्रवीमि । स्वयमेव च भगवान्पञ्चमहाव्रतोपपन्न इन्द्रियनोऽन्द्रियगुप्तो विरत-आसौ लवावसर्पी सन् स्वतोऽन्येषामपि तथाज्ञतमुपदेशं दत्तवान्, इत्येतद् ब्रवीमीति । यदि वाऽऽर्ककुमारवचनमाकर्ण्य-ऽसौ गोशालकस्तत्प्रतिपक्षभूतं वक्तुकाम इदमाह-इत्येतच्छब्द-मायं वदहं ब्रवीमि तच्चतुष्टयं त्वम, इति ॥ ६ ॥

यथाप्रतिज्ञातमेवाह गोशालकः-

सीतोदगं सेवञ् बीयकार्यं,

आहायकम्पं तह इत्थियाओ ।

एगंतचारिसिह अम्ह धम्मे,

तवस्सिणो णाजिसमेति पार्वं ॥ ७ ॥

भवतेवमुद्ग्राहितम्-परार्थं प्रवृत्तस्याशोकादिप्रातिहार्यपरिग्रहः, तथा शिक्षादिपरिकरा, धर्मदेशना च, न दोषायोति यथा, तथाऽस्माकमपि सिद्धान्ते यदेतद्व्यमाणं, तन्न दोषायोति । शीतं च तद्भुदकं च शीतोदकमप्राशुकोदकम्; तत्सेवनं परिभोगं करोतु, तथा-बीजकायोपजोगम्, आधां कर्माभ्रयणं, स्त्रीप्रसङ्गं च विदधातु, अनेन च स्वपरोपकारः कृतो ज्ञवतीति । अस्मदीये धर्मे प्रवृत्तस्य एकान्तचारिण आरामोद्यानादि-प्येकाकिविहायेतस्य तपस्विनो नाभिसमेति-नाभिसंक्लेशमु-

पयाति; पापमशुभकर्मोति । इदमुक्तं ज्ञवति-एतानि शीतोदकादीनि यद्यपीषत्कर्मबन्धाय, तथापि धर्माधारं शरीरं प्रतिपादयत एकान्तचारिणस्तपस्विनो बन्धाय न भवन्तीति ॥ ७ ॥

(५) बीजाद्युपभोगिनो न भ्रमणव्यपदेशभाजः-

सीतोदगं वा तह बीयकार्यं,

आहायकम्पं तह इत्थियाओ ।

एयाई जाणं पडिसेवमाणा,

अगारिणो अस्समणा भवंति ॥ ८ ॥

एतत्परिहर्तुकाम आह-एतानि प्राशुपन्यस्तानि अप्राशुकोदकं परिभोगादीनि प्रतिसेवन्तोऽगारिणो गृहस्थास्ते भवन्त्यभ्रमणाभ्रमजिताश्चैव जानीहि । यतः-“अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमलुब्धता” इत्येतच्छ्रमणश्लक्षणं केषां शीतोदक-बीजाधाकर्मस्त्रीपरिभोगवर्ता नास्तीत्यतस्ते नामाकाराप्यां भ्रमणाः, न परमार्थानुष्ठानत इति ॥ ८ ॥

पुनरप्यार्द्रक एवैतद्ब्रूयणायाह-

सिया य बीओदगइत्थियाओ,

पडिसेवमाणा समणा भवंतु ।

अगारिणो वि य समणां जवंतु,

सेवंति ऊते वि तहप्पगारं ॥ ९ ॥

स्यादेतद्भवदीयं मतं, यथा ते एकान्तचारिणः क्षुत्तिपासादिप्रधानतपश्चरणपीभिताश्च तत्कथं ते न तपस्विनः ?, इत्येतद्वाशङ्क्याऽऽर्द्रक आह-(बीजादगं चि) यदि बीजाद्युपभोगिनोऽपि भ्रमणा इत्येवं ज्ञवताऽभ्युपगम्यते, एवं तर्ह्यगारिणोऽपि गृहस्थाः भ्रमणा भवन्तु, तेषामपि देशिकावस्थायाभावात्सावतामपि निष्किञ्चनतयैकाकिविहारित्वं, क्षुत्तिपासादिपीडनं च संभाव्यते । अत आह-(सेवंति ऊ) नुरवधारणे, सेवन्त्येव, तेऽपि गृहस्थाः । तथाप्रकारमेकाकिविहारिकादिमिति ॥ ९ ॥

पुनरप्यार्द्रको बीजोदकादिभोजिनां दोषानिघित्सयाऽऽह-

जे यावि बीओदगजोत्ति चिकखु,

भिकखं वि हिंदंति य जीवियडी ।

ते णातिसंजोगमविप्पहाय ,

कायोवगाऽणंतकरा भवंति ॥ १० ॥

ये चापि भिक्षवः प्रव्रजिताः, बीजोदकभोजिनः सन्तो ह्यव्यतो ब्रह्मचारिणोऽपि भिक्षां वाऽटन्ति जीवितार्थिनः, ते तथाभूताः, ज्ञातिसंयोगं स्वजनसंबन्धं, विप्रहाय त्यक्त्वा कायात्कायेषु चोपगच्छन्तीति कायोपगाः, तद्गुणमर्हकारम्भप्रवृत्तत्वात्; संसारस्यानन्तकरा भवन्तीति । इदमुक्तं भवति-केवलं स्त्रीपरिभोग एव तैः परित्यक्तोऽसावपि ह्यव्यतः । शेषेण तु बीजोदकाद्युपभोगेन गृहस्थकल्पा एव ते । यत्तु जिज्ञाऽटनादिकमुपन्यस्तं तेषां, तद् गृहस्थानामपि केषांचित्संभाव्यते, नैतावता भ्रमणं जानं इति ॥ १० ॥

अधुनैतदाकर्ण्य गोशालकोऽपरमुत्तरं दातुमसमर्थोऽन्यतोऽर्थिकान्तरहायान् विधाय सोल्लुण्ठनसारं वक्तुकाम आह-

इमं वयं तुं तुम पावकुब्बं,

पानाइणो गरिहासि सव्व एव ।

प्राप्ते क्रियमाणे तस्योदयार्थं भ्रमण इति ब्रवीत्यहमिति ॥२०॥
नचैवंचूता वणिज इत्येतदार्ककुमारो दर्शयितुमाह—
समारजते वणिजा नूयगामं,
परिगहं चैव ममायमाणा ।
ते एतिसंजोगमविष्पहाय,
आयस्स हेउं पगरंति संगं ॥ २१ ॥

ते हि वणिजः, चतुर्दशप्रकारमपि नूतग्रामं जन्तुसमूहं, समार-
भते तदुपमार्दिकाः क्रियाः प्रवर्तयन्ति, क्रयविक्रयार्थं शकट्या-
नवाहनोष्टमण्डलिकादिभिरनुष्ठानैरिति । तथा—परिग्रहं क्षिपद्-
चतुष्पदधनधान्यादिकं मर्माकुर्वन्ति ममेदमित्येवं व्यवस्था-
पयन्ति । ते हि वणिजो ज्ञातिभिः स्वजनैः सह यः संयोगस्तम-
विप्रहायापरित्यज्य, आयस्य लाभस्य हेतोर्निमित्तादपरेण सार्कं
सङ्गं संबन्धं प्रकुर्वन्ति । भगवांस्तु पङ्कजीवरक्षापरोऽपरिग्रहस्त्य-
क्तस्वजनपक्वः सर्वत्राप्रतिवक्तो धर्मार्थमन्वेपयन् गत्वाऽपि धर्म-
देशनां विधत्ते, अतो भगवतो वणिग्भिः सार्कं न सर्वसाध-
र्म्यमस्तीति ॥२१॥

पुनरपि वणिजां दोषमुद्गाढयन्नाह—

विचैसिणो मेट्टणसंपगाढा,
ते नोयण्ढा वणिजा वयंति ।
वयं तु कामेसु अज्जोववन्ना,
अणारिया पेमरसेसु गिच्छे ॥ २२ ॥

विचं ब्रूयं तदन्वेष्टुं शीघ्रं येषां ते विचैसिणः । तथा—मैथुने स्त्री-
संपर्कं, संपगाढा अभ्युपपन्नाः । तथा—ते भोजनार्थमाहारार्थं, व-
णिज इत्येतद्व्यवजन्ति, वदन्ति वा । तांस्तु वणिजो वयमेवं भूम-
यथैते कामेभ्यश्चुपपन्ना गृह्णाः, अनार्यकर्मकारित्वादनार्या रसेषु
च सातागौरवादिषु गृह्णा मूर्च्छिताः, नत्वेवंभूता भगवन्तोऽहं-
न्तः, कथं तेषां तैः सह साधर्म्यमिति ?, दूरत एव निरस्तैषा
कथेति ॥ २२ ॥

किञ्चान्पत्—

आरंभं चैव परिगहं च,
अविउस्मिया णिसिसय आयदंढा ।
तेसिं च से उदए जं वयासी,
चउरंतऽणंताय छुहाय ऐह ॥ २३ ॥

आरम्भं सावधानुष्ठानं च, तथा—परिग्रहं चाऽन्युत्सृज्यापरित्यज्य,
तस्मिन्नेवारम्भे क्रयविक्रयपचनपाचनादिके, तथा—परिग्रहे च
धनधान्यद्विरण्यसुवर्णक्षिपद्चतुष्पदादिके, निश्चयेन श्रिता वद्धा
निःश्रिताः, वणिजो भवन्ति, तथाऽऽत्मैव दण्डो, दण्डयतीति
दण्डो, येषां ते भवन्त्यात्मदण्डाः, असदाचारप्रवृत्तेरिति । ज्ञावो-
ऽपि चैषां वणिजां परिग्रहारस्त्वतां स उदयो लाभो यदर्थं ते
प्रवृत्ताः, यं च त्वं लाभं वदसि, स तेषां चतुरन्तश्चतुर्गतिको यः
संसारोऽनन्तस्तस्मै तदर्थं जवतीति । न चेद्वासावेकान्तेन तत्प्र-
वृत्तस्यापि जवतीति ॥ २३ ॥

एतदेव दर्शयितुमाह—

एगंत एऽचंतिग उदएवं, वयंति ते दो वि गुणोदयस्मि ।
से उदए सादि मणंत पत्ते, नमुदयं साहयइताइ णाई ॥ २४ ॥

एकान्तेन जवतीत्येकान्तिकः, तथा न, तद्वाभार्थं प्रवृत्तस्य विपर्य-
यस्यापि दर्शनात् । तथा—नाप्यात्यन्तिकः सर्वकालजावी, तत्कृत्यद-
र्शनात्; स तेषामुदयो लाभो नैकान्तिको नात्यन्तिकश्चेत्येवं तद्विदो
वदन्ति । तौ च द्वावपि जावौ विगतगुणोदयौ भवतः । एतदुक्तं
भवति—किं तेनोदयेन द्वाज्ररूपेण यो नैकान्तिकः, नात्यन्तिकश्च,
पञ्चादनर्थायेति । यश्च भगवतः (से) तस्य दिव्यज्ञानप्राप्तिल-
क्षण उदयो लाभो यो वा धर्मदेशनाऽवाप्तनिर्जरावृत्तः, स च
सादिरनन्तश्च । तमेवंभूतमुदयं प्राप्तो भगवानन्येषामपि तथा-
नूतमेवोदयं साधयति कथयति, श्लाघते वा । किंभूतो भगवा-
न ?, तावी । अय-वय-मय-पय-वय-तय-णय-गतावित्यस्य
दण्डकघातोर्णैर्निप्रत्यये रूपम्, मोक्षं प्रति गमनशील इत्यर्थः ।
त्रायी वा, आसन्नजन्म्यानां प्राणकरणात् । तथा—ज्ञाती, ज्ञाता कृत्रि-
या, ज्ञातं वा वस्तुजातं विद्यते यस्य स ज्ञाती; विदितसमस्तवेद्य
इत्यर्थः । तदेवंभूतेन भगवता तेषां वणिजां निर्विवेकिनां कथं
सर्वसाधर्म्यमिति ? ॥ २४ ॥

(६) सांप्रतं कृतदेवसमवसरणपञ्चावहरीदेवचन्द्रकसिंहासनाद्यु-
पजोगं कुर्वन्नप्याधाकर्मकृतवसतिनिषेधकसाधुवत्कथं तदनुम-
तिवृत्तेन कर्मणाऽसौ न द्विष्यते?, इत्येतज्ज्ञेयावृत्तमाशङ्क्याऽऽह—

अहिंसयं सवपयाणुकंपी,
धम्मे ठियं कम्मविवेगहेउं ।
तमायदंमेहं समायरंता,
अवोहिए—ते पडिरूवमेयं ॥ २५ ॥

असौ भगवान् समवसरणाद्युपभोगं कुर्वन्नप्याहिंसकः सन्नुप-
भोगं करोति । एतदुक्तं भवति—नहि तत्र भगवतो मनागप्या-
शंसा, प्रतिबन्धो वा विद्यते, समतृणमणिमुकालोष्टकाञ्चनतया
तदुपभोगं प्रति प्रवृत्तेर्देवानामपि प्रवचनोद्दिभावविपृणां कथं
नु नाम ज्ञ्यानां धर्माभिमुखं प्रवृत्तिर्यथा स्यादित्येवमर्थमात्म-
लाभार्थं च प्रवर्तनात्, अतो जगवानहिंसकः । तथा—सर्वेषां
प्रजायन्त इति प्रजा जन्तवः, तदनुकम्पी च, तान्संसारे पर्यट-
तोऽनुकम्पयते तच्छ्रीवृत्तः । तमेवंरूपं धर्मपरमार्थरूपे व्यव-
स्थितं कर्मविवेकहेतुभूतं जवद्विधा आत्मदण्डैः समाचरन्त
आत्मकल्पं कुर्वन्ति, वणिगादिभिरुदाहरणैः । एतच्चावोधेरज्ञान-
स्य प्रतिरूपं वर्तते । एकं तावदिदमज्ञानं यत्स्वतः कुमारप्रवर्तनम् ।
द्वितीयं चैतत्प्रतिरूपमज्ञानं यद्भगवतामपि जगद्वन्द्यानां सर्वाति-
शयनिधानभूतानामितरैः समत्वापादनमिति ॥ २५ ॥

साम्प्रतमार्ककुमारमपहस्तितगोशालकं ततोभगवदजिमुखं
गच्छन्तं दृष्ट्वाऽथान्तराद्ये शाक्यपुत्रीया जिह्ववद्भूमचुर्यदेतद्वणि-
मृष्टान्तदूषणेन बाह्यमनुष्ठानं दूषितं, तच्छोभनं कृतं जवता; यतो-
ऽतिफलप्रायं बाह्यमनुष्ठानम्, आन्तरमेव त्वनुष्ठानं संसारमोक्षयोः
प्रधानाङ्गम्, अस्मात्सिद्धान्ते चैतदेव व्यावर्त्यते । इत्येतदार्ककु-
मार ! जो राजपुत्र ! त्वमवहितः शृणु, श्रुत्वा चावधारयेति भाणि-
त्वा ते जिह्वका आन्तरानुष्ठानसमर्थकमात्मोयसिद्धान्ताऽऽविर्जा-
वनायेदमाहुः—

पिन्नागपिंढीमवि विच्छसूले,
केई पएज्जा पुरिसे इमे ति ।
अझाउयं वा वि कुमारए ति,
स क्षिंपती पाणिवहेण अम्हं ॥ २६ ॥

हीनाः, जात्याद्यनिरिक्ता वा, ताभ्यां पराजितस्य महौष्ठायाभ्रंश इति । तानेव विशिनष्टि-लपन्तीति लपा वाचाज्ञाः, धोपिताने-
कनर्कविचित्रदण्डकाः । तथा-न लपा मौनव्रतिका निष्ठितयोगाः,
शुटिकादियुक्ता वा, यद्वाशदभिधेयविषया वागेव न प्रवर्तते । त-
तस्तद्भयेनासौ युष्मत्तीर्थकुदागन्तागारादौ नैव व्रजतीति ॥२५॥

पुनरपि गोशालक एवाऽऽह-

मेधाविणो सिक्खिप बुद्धिपंता ,

सुचोहं अत्योहं य णिच्छयन्ना ।

पुच्छिमुमाणं अणगार अणे,

इति संकमाणो ण उवेति तस्य ॥ १६ ॥

मेधा विद्यते येषां ते मेधाविनो ग्रहणधारणसमर्थाः, तथाऽऽचा-
र्यादेः समीपे शिक्षां प्राहिताः शिक्षिनाः, तथोत्पत्तिफयादिचतुर्वि-
धबुद्ध्युपेना बुद्धिमन्तः, तथा-सूत्राऽपि सूत्रविषयेऽर्थे चिन्तित्यज्ञाः,
यथावस्थितसूत्रार्थवेदिन इत्यर्थः । ते चैवंभूताः सूत्रार्थविषयं मा
प्रश्नमकार्षुः, अन्येऽनगरा एके केचन, इत्येवमसौ शङ्कमानस्तेषां
विम्यन्न तत्र तन्मध्ये उपेत्युपगच्छतीति । ततश्च न अत्रुमार्ग
इति, भययुक्त्याचस्य । तथा-स्लेशविषयं गत्वा न कदाचि-
रुर्मदेशनां च करोति, आर्य देशेऽपि न सर्वत्र । अपि तु कुत्र-
चिद्देश्यतो विपमदृष्ट्याद्वागद्वेषवत्यसाविति ॥ १६ ॥

एतद् गोशालकमतं परिहर्तुकाम आर्द्रक आह-

णोऽकामकिच्चा ण य बालकिच्चा ,

रायाभिआगेण कुओ नएणं ? ।

वियागरेज्जा पसिणं न वा वि ,

सकामकिच्चं णिह आरियाणं ॥ १७ ॥

स हि भगवान्प्रेक्षापूर्वकारितया नाकामकृत्यो भवति, कमनं
काम इच्छा; न कामोऽकामस्तेन कृत्यं कर्त्तव्यं यस्यासावकामकृ-
त्यः, स एवैततो न भवति, अनिच्छाकारी न भवतीत्यर्थः । यो ह शु-
भ्रेक्षापूर्वकारितया वर्तते, सोऽग्निष्टमपि स्वपरात्मनो निरर्थक-
मपि कृत्यं कुर्वति । भगवांस्तु-सर्वज्ञः सर्वदर्शी परहितैकरतः कथं
स्वपरात्मनो निरूपकारकमेवं कुर्यात् ? । तथा च-बालस्येव कृत्यं
यस्य स बालकृत्यं, न चासौ बालवदनाद्योचितकारी, न परानु-
रोधानापि गौरवारुर्मदेशनादिकं विधत्ते । अपि तु यदि कस्यचि-
द्भव्यसत्त्वस्योपकाराय तद्भाषितं भवति, ततः प्रवृत्तिर्भवति, नान्य-
था । न राजाभियोगेनासौ धर्मदेशनादौ कथञ्चित्प्रवर्तते, ततः
कुतस्तस्य प्रयेन प्रवृत्तिः स्यादित्येवं व्यवसिते केनचित्कचित्संश-
यकृतं प्रश्नं व्यागृणीयाद् । यदि तस्योपकारो भवत्युपकारमन्तरेण
न च नैव व्यागृणीयाद्, यदि वाऽनुत्तरसुराणां मनःपर्यायज्ञानिनां
च कल्पमनसैव तन्निर्णयसंभावादतो न व्यागृणीयादित्युच्यते ।
यदप्युच्यते भवता-यदि वीतरागोऽसौ किमिति धर्मकथां क-
रोतीति चेदित्याशङ्क्याह-स्वकामकृत्येन स्वेच्छाचारितयाऽसा-
वपि तीर्थकुशामकर्मणः कृपणाय न यथाकथञ्चिदतोऽसावग्लानः,
इहास्मिन्तंसारे आर्यकृते चोपकारयोग्ये आर्याणां हि सर्वदेय-
धर्मदूरवीक्षिनां तदुपकाराय धर्मदेशनां व्यागृणीयादसाविति ।

किञ्चाऽन्यत्-

गंता च तत्था अदुवा अगंता ,

वियागरेज्जा समियाऽऽसुपणे ।

१३५

अणारिया दंसणओ परिचा,

इति संकमाणा ण उवेति तस्य ॥ १८ ॥

स हि भगवान् परहितैकरतो गत्वाऽपि विनेयासकाम, अथवा-
ऽप्यगत्वा यथा भव्यसत्त्वोपकारो भवति तथा भगवन्तोऽर्हन्तो
धर्मदेशनां विदधति । उपकारे सति गत्वाऽपि कथयन्ति, असति
तु स्थिता अपि न कथयन्ति । अतो न तेषां रागद्वेषसंज्ञव इति ।
केवलमाशुप्रसः सर्वज्ञः समतया समदृष्टितया चक्रवर्त्तिद्रमका-
दिषु पृष्ठे वा धर्मं व्यागृणीयाद् ; "जहा पुषस्स कथइ तहा
तुच्छस्स कथइ" इति वचनात् । इत्यतो न रागद्वेषसंज्ञावस्तस्ये-
ति । यत्पुनरनार्यदेशमसौ न व्रजति तत्रेदमाह-भानार्याः क्लेशभा-
याकर्मनिर्बंधिष्कृताः, दर्शनतोऽपि परि समन्तादिता गताः, प्रपृष्टा
इति यावत् । तदेवमसौ जगवानित्येतत् तेषु सम्यग्दर्शनमात्रमपि
कथञ्चित् प्रवृत्ति इत्याशङ्कमानस्तत्र न व्रजतीति । यदि वा विप-
रीतदर्शनिनो भवन्त्यनार्याः शक्यवनादयः, ते हि वर्तमानसु-
खमेधैकमङ्गीकृत्य प्रवर्तन्ते न पारलौकिकमङ्गीकुर्वन्त्यतः स-
कर्मपराङ्मुखेषु तेषु भगवान्न याति, न पुनस्तद्वर्णादिवुद्ध्यति । य-
दप्युच्यते त्वया-यथाऽनेकशास्त्रविशारदगुटिकासिद्धिचासि-
द्धादितोऽधिकपरामर्शमयेन न तत्समाजे गच्छतीति । एतदपि बाल-
प्रलपिनप्रायम् । यतः सर्वज्ञस्य भगवतः समस्तैरपि प्रावाङ्मुके-
मुखमप्यवशोकयितुं न शक्यते, आदस्तु दूरोत्सारित एवेत्यतः
कुतस्तस्य पराजवः । भगवांस्तु कवहालोकेन यत्रैव स्वपरोपका-
रं पश्यति तत्रैव गत्वाऽपि धर्मदेशनां विधत्त इति ॥ १८ ॥

पुनरन्येन प्रकारेण गोशालक आह-

पणं जहा वणिण् उदयट्ठी, आयस्स हेउं पणरेति संगं ।

तओवमे समणे नायपुत्ते, इच्चेव मे होति मती वियक्को ॥ १९ ॥

यथा वणिक् कश्चिदुदयार्थं पण्यं व्यवहारयोग्यं ज्ञापनं कर्तुं
रागरुक्स्तूरिकाम्यरादिकं देशान्तरं गत्वा विक्रीणाति, तथा
आयस्य लाजस्य हेतोः कारणान्महाजनसङ्गं विधत्ते, तदुपमोऽय-
मपि भवत्तीर्थकरः भ्रमणो ज्ञातपुत्र इत्येवं मे मम मतिर्भवति,
वितक्को मीमांसा वेति ॥ १९ ॥

एवमुक्तो गोशालकेनार्द्रक आह-

नवं न कुज्जा विहुणे पुराणं,

चिच्चाऽमइं ताई स आह एव ।

पन्नावया वंनवतं ति बुत्ता,

तस्सोदयट्ठी समणे चि वेमि ॥ २० ॥

योऽयं प्रवता दृष्टान्तः प्रदर्शितः, स किं सर्वसाधर्म्येण, उत हे
ज्ञतः ? ; यदि देशतस्ततो न नः कृतिमाद्यति । यतो वणिक्पदं
यत्रैवोपचर्य पश्यति तत्रैव क्रियां व्यापारयति, न यथाकथञ्चि-
दित्येतावता साधर्म्यमस्येव । अथ सर्वसाधर्म्येणेति । तन्न
युज्यते । यतो भगवान् विदितवेद्यतया सावधानुष्ठानरहितो नव
प्रत्यग्रं कर्म न कुर्यात् । तथा-विधूनयत्यपनयति पुरातनं यज्ञ-
चोपप्रादिकर्म वरम् । तथा-न्यक्त्वा अमतिं विमतिं, प्रायीजग-
वाद् सर्वस्य परित्राणशीला, विमतिपरित्यागेन चैवंचूत एव प्र-
वतीति भावः । तायी वा मोक्षं प्रति । अय-वय-मय-पय-वय-तय-
णय गतावित्यस्य रूपम् । स एव भगवानेवाऽऽह-यथा विमति-
परित्यागेन चैवभूत एव भवतीत्येतावता च संदर्भेण ब्रह्मणो
मोक्षस्य, जतं ब्रह्मवतमित्येतदुक्तम् । तस्मिन्भोके, तदर्थं वाऽनु-

किञ्चान्यत्-

वायान्नियोगेण जमावहेजा,
खो तारिमं वायमुदाहरिजा ।
अट्टाणमेयं वयणं गुणारणं,
खो दिक्खिए वूय ऽनुदालमेयं ॥ ३३ ॥

वाचाऽभियोगो वाग्नियोगः, तेनापि यद्यस्मात्, आवहेत् पापं कर्म, ततो विवेकी प्राणगुणदोषज्ञो, न तादृशीं प्राणामुदाहरेन्नाभिदध्यात् । यत एवं ततोऽस्थानमेतद्वचनं गुणानाम्, नहि प्रव्रजितो यथावस्थितार्थान्निधायेतदनुदारमसुष्ठु परिस्थूरं निःसारं निरूपयितुं वचनं द्रव्यात् । तद्यथा-पिण्याकोऽपि पुरुषः, पुरुषोऽपि पिण्याकः । तथाऽल्लाबुकमेव बालकः, बालक एवाऽल्लाबुकमिति ॥ ३३ ॥

साम्प्रतमार्द्रककुमार एव तं भिक्षुकं युक्तिपराजितं सन्तं

सोद्धुएवं विभणिपुराह-

लण्हे अट्टे अट्टो एव तुव्वे,
जीवाणुभागे सुविचिंति ए य ।
पुव्वं समुदं अवरं च पुट्टे,
ओलोइए पाणितले ठिए वा ॥ ३४ ॥

अट्टो । युष्माग्निः, अथानन्तर्ये वा, एवंचूताभ्युपगमे सति लब्धा-र्थो विज्ञानं यथावस्थितं तत्त्वमिति तथावगतः सुविचिन्तितो भव-द्विर्जीवानामनुभागः कर्मविपाकस्तत्पीनेति, तथैवंभूतेन विज्ञानेन भवतां यशः पूर्वसमुद्रमपरं च पृष्ठं गतमित्यर्थः । तथा भवद्वि-रेवंविधविज्ञानावज्ञोक्तनेनावज्ञोक्तिः पाणितलस्थ इवायं लोक इति; अट्टो ! जवतां विज्ञानातिशयः, यदुत प्रवन्तः पिण्याक-पुरुषयोर्बालाऽल्लाबुकयोर्वा विशेषानभिज्ञया पापस्य कर्मणो यथेतद्भावाभावं प्राकल्पितवन्त इति ॥ ३४ ॥

तदेवं परपक्वं दूपयित्वा स्वपक्वस्थापनायाऽऽह-

जीवाणुजार्गं सुविचिंतयंता,
आहारिया अन्नविहे य सोहिं ।
न वियागरे अन्नपओपजीवी,
एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥ ३५ ॥

मौनीन्द्रशासनप्रतिपन्नाः सर्वज्ञोक्तमार्गाऽनुसारिणो जीवाना-मनुज्ञागमवस्थाविशेषं, तदुपमर्द्धेन पीनां वा, सुष्ठु विचिन्तयन्तः पर्यालोचयन्तोऽन्नविधौ शुक्तिमाहृतवन्तः स्वीकृतवन्तः, द्विचत्वारिंशद्वोपरहितेन, शुक्लेनाहारेणाहारं कृतवन्तो न तु यथा भवतां पिशिताद्यपि पात्रपतितं न दोषायेति । तथा-अन्नपदोपजीवी मा-तृस्थानोपजीवी सन् न व्यागृणीयात् । एषोऽन्तरोक्तो, अनुपञ्चा-द्धर्मोऽनुधर्मस्तीर्थकरानुष्ठानादनन्तरं प्रवर्तीत्यमुना विशिष्यते । इहास्मिन् जगति, प्रवचने वा, सम्यग्यतानां सत्साधूनां न तु पुन-रेवंविधभिक्षूणामिति । यच्च भवद्विरोदनादेरपि प्रापयङ्गस-मानतया हेतुभूततया मांसादिसादृश्यं चोद्यते, तद्विज्ञाय लोक-तीर्थान्तरीयमतम् । तथाहि-प्रापयङ्गत्वेन तुल्येऽपि किञ्चिन्मांसं किञ्चिच्चामांसमित्येवं व्यवह्रियते । तद्यथा-गोक्षीरकधिरादेर्न-ह्यान्नद्वयव्यवस्थितिः, तथा-समानेऽपि स्त्रीत्वे ज्ञायार्हवद्वादी ग-म्यागम्यव्यवस्थितिरिति । तथा-शुष्कतर्कदृष्ट्या यो प्राण्याङ्गत्वा-दिति हेतुर्भवतोपन्यस्यते । तद्यथा-"जक्खणीयं भवेन्मांसं, प्रा-

पयङ्गत्वेन हेतुना । ओदनादिवदित्येवं, कश्चिदाहेति तार्किकः" ॥ १ ॥ सोऽसिद्धानैकान्तिकविरुद्धोपदुष्टत्वादपकर्णनीयः । तथाहि-निरंशत्वाद् वस्तुनस्तदेव मांसं, तदेव च प्रापयाङ्ग-मिति प्रतिज्ञार्थकदेशादसिद्धः । तद्यथा-नित्यः शब्दो नित्यत्वा-त् । अथ भिन्नं प्रापयङ्गं, ततः सुतरामासिद्धः, व्यधिकरणत्वात् । यथा-देवदत्तस्य गृहं, काकस्य काप्यर्यम् । तथाऽनैकान्तिकोऽपि, श्वादिमांसस्याभक्ष्यत्वात् । अथ तदपि क्वचित्कथञ्चित्केपांचि-द्भक्ष्यमिति चेत् ? एवं च सत्यन्यादेरभक्ष्यत्वादनैकान्तिकत्वम् । तथा-विरुद्धव्यभिचार्यपि, यथाऽयं हेतुर्मांसस्य भक्ष्यत्वं साधय-ति, एवं वृक्षानामपूज्यत्वमपि । तथा-लोकविरोधिनी चेयं प्रति-ज्ञा । मांसोदनयोरसाम्याद् दृष्टान्तविरोधश्चेत्येवं व्यवस्थिते यदुक्तं प्राग्-यथा वृक्षानामपि पारणाय कल्पत एतदिति, तदसाध्विति स्थितम् ॥ ३५ ॥

अन्यदपि जिह्मकौकमार्द्रककुमारोऽनूय दूपयितुमाह-

सिणायमाणं तु दुवे सहस्से,
जे नोयए णिति ए जिकुवुयाणं ।
असंजए लोहियपाणि से ज,
णियच्छते गरिहम्मिहेव लोए ॥ ३६ ॥

स्नानकानां बोधिसत्त्वकल्पानां जिह्मणां नित्यं यः सहस्रद्वयं प्रोजयेदित्युक्तं प्राक् । तद् दूपयति-असंयतः सन् रुधिराद्विषपा-णिरनार्य इव गर्हो निन्दो जुगुप्सापदवीं साधुजनानामिह लोक एव निश्चयेन गच्छति, परल्लोके वाऽनार्यगम्यां गतिं यातीति । एवं तावत्सावद्याऽनुष्ठानानुमन्तृणामपात्रभूतानां यद्दानं तत्क-र्मवन्धायेत्युक्तम् ॥ ३६ ॥

किञ्चान्यत्-

थूणं उरव्वं इह मारिया णं,
उदिट्ठभत्तं च पगप्पइत्ता ।
तं द्वाणतेल्लेण उवक्खडेत्ता,
सपिप्पल्लीयं पगरंति मेत्तं ॥ ३७ ॥

मार्द्रककुमार एव तन्मतमाविष्कुर्वन्निदमाह-स्थूलं बृहत्काय-मुपचितमांसशोणितम्, उरभ्रमुरणकम्, इह शाक्यशासने, भिक्षुकसंघोद्देशेन व्यापाद्य घातयित्वा, तथोदिष्टभक्तं च प्रक-ल्पयित्वा, तद्भ्रममांसं लवणतैलाभ्यामुपसंस्कृत्य पाच-यित्वा, सपिप्पलीकमपररुच्यसमन्वितं प्रकर्षेण भक्षणयोग्यं मांसं कुर्वन्तीति ॥ ३७ ॥

संस्कृत्य च यत्कुर्वन्ति तर्ह्यशयितुमाह-

तं जुंजमाणा पिसितं पज्जतं,
ण ओवड्ढिप्पामो वयं रएणं ।
इवेवमाहंसु अणज्जधम्मं,
अणारिया बाल रसेसु गिद्धा ॥ ३८ ॥

तत्पिशितं शुक्रशोणितसंभूतमनार्यं इव भुञ्जाना अपि प्र-भूतं तद्रजसा पापेन कर्मणा न वयमुपलिप्स्यामः, इत्येवं धा-ष्टर्षोपेताः प्रोक्षुः। अनार्याणामिव धर्मः स्वभावो येषां ते तथाऽ-नार्यकर्मकारित्वादनार्याः, बाला इव बाला विवेकरहितत्वाद्-सेषु च मांसादिकेषु गृह्णा अभ्युपपन्नाः ॥ ३८ ॥

पिण्याकः खलः, तस्य पिण्डिर्जितकं, तद्चेतनमपि सत् फास्मि-
श्चित्संज्ञमेवेच्छादिविषये केनचिद्व्ययता प्रावरणं खड्गोपरिकृतं,
तच्च मेच्छेनान्वेषुं प्रवृत्तेन पुरुषोऽयमिति मत्वा, खड्गपिण्डया सह
गृहीतम्, ततोऽसौ म्लेच्छो वस्त्रवेष्टितां तां खड्गपिण्डीं पुरुषबु-
द्ध्या शूले प्रोतां पाचकेऽपचत् । तथा-अत्राबुक् तुम्बकं कुमारोऽ-
यमिति मत्वाऽप्रावेव पपाच, स चैवं चित्तस्य दृष्टत्वात्प्राणिव-
धजनितेन पातकेन युज्यते, अन्मत्सिद्धान्ते चित्तमूलत्वाच्चुमा-
शुजपन्थस्य, इत्येवं नावदकुशलचित्तप्रामाण्यादकुर्वन्नापि प्राणा-
तिपातप्रतिघातफलेन युज्यते ॥ २६ ॥

अमुमेव दृष्टान्तं वैपरात्येनाऽऽह-

अहवा वि विष्णु मिलाकषु मूत्रे,

पिन्नागबुद्धीर् नरं पपञ्जा ।

कुमारं वा वि अलाभ्यं नि ,

न लिप्स्य पाणिवहेण अहं ॥ २७ ॥

अथवाऽपि सत्पुरुषं खलबुद्ध्या कश्चिन्म्लेच्छः शूलप्रोतमग्नौ
पचेत्, तथा-कुमारं बालं, तुम्बकबुद्ध्याऽप्रावेव पचेत् । नैवमे-
वासौ प्राणिवधजनितेन पातकेन लिप्यतेऽस्माकमिति ॥ २७ ॥

किञ्चाऽन्यत्-

पुरिमं च विष्णु कुमारं वा,

सूत्रम्भि केई पपञ्जायते ।

पिन्नायपिणी सतीमारुद्धेत्ता,

बुद्ध्या तं कपति पारणाप् ॥ २८ ॥

पुरुषं वा, कुमारं वा, विद्ध्या शूले कश्चित्पचेत्जाततेजस्यशावा-
कश्च खलपिण्डायमिति मत्वा सतीं शोभनां तदेतद्बुद्धानामपि
पारणाय भोजनाय कपते योग्यं भवति ; किनुनापरेषाम् ? ।
एवं सर्वास्यसास्वचित्तितं मनसाऽसंकलितं कर्मचयं नाग-
च्छत्यस्मत्सिद्धान्ते । तदुक्तम्-“अभिमानोपचितं विपरिधानोप-
चिन्मीर्यापथिकं सप्रान्तिकं चेति कर्मोपचयं न याति” ॥ २८ ॥

पुनरपि शाक्य एव दानफलमधिकृत्याऽऽह-

सिणायगाणं तु पुत्रे सहस्त्रे,

जे जोयए पितिए भिक्खुयाणं ।

ते पुन्रखं सुमहं जिणित्ता ,

जवंति आरोप्य महंतसत्ता ॥ २९ ॥

स्नातका बोधिसत्त्वाः । तुशब्दात्पञ्चशिखापदिकादिपरिग्रहः ।
तेषां भिक्षुकाणां सहस्रद्वयं, ये निजे शाक्यपुत्रीये धर्मे व्यचक्षिताः
केचिदुपासकाः पचनपाचनाद्यपि कृत्वा भोजयेयुः समांसगु-
दाडिमेनेष्टेन भोजनेन, ते पुरुषा महासत्त्वाः श्रद्धालवः पुण्य-
स्कन्धं महान्तं समावर्ज्य, तेन च पुण्यस्कन्धेनारोप्याख्या देवा
भवन्त्याकाशोपगाः, सर्वोत्तमां देवगतिं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥

(७) तदेवं बुद्धेन दानमूलः, शीलमूलश्च धर्मः प्रवेदितः, त-
देहागच्छ, बौद्धसिद्धान्तं प्रतिपद्यस्वेत्येवं भिक्षुकैरभिहितः
सन्नार्थकोऽनाकुलया दृष्ट्या तान्वीक्ष्यावाचेवं वक्ष्यमाण-
मित्याह-

अजोगरूवं इह संजयाणं,

पावं तु पाणाण पसज्ज कानं ।

आवेहिए दोएह वि तं असाह,

वयंति जे यावि पडिस्सुणंति ॥ ३० ॥

इहास्मिन्मघदीये शाक्यभते, संयतानां भिक्षुणां, यदुक्तं प्राक्,
तदत्यन्तेनायोग्यरूपमघटमानकम् । तथाहि-अहिंसार्थमुत्थितस्य
त्रिगुप्तिगुप्तस्य पञ्चसमितिसमितस्य सतः प्रमजितस्य सम्यग्-
ज्ञानपूर्विकां क्रियां कुर्वतो भावशुद्धिः फलवती भवति, तद्विपर्य-
स्तमतेस्त्यज्ञानावृतस्य महामोहाकुलीकृतान्तरात्मतया खड्गपु-
रुषयोर्विषयमज्ञानतः कुतस्या भावशुद्धिः । अत्यन्तमसाम्प्रतमे-
तद् बुद्धमतानुसारिणाम्, यत्खलबुद्ध्या पुरुषस्य शूले प्रोतनप-
चनादिकम् । तथा बुद्धस्येवाभवुद्ध्या पिशितभक्षणाभुमत्यादिक-
मिति । एतदेव दर्शयति-प्राणानामिन्द्रियाणामपगमेन तुशब्द-
स्यैवकारार्थत्वात् पापमेव कृत्वा रससातागौरवादिशुद्धास्तद-
भावं व्यावर्णयन्ति । एतच्च तेषां पापाभावव्यावर्णनमयोऽप्ये
अयो-
धिज्ञाभार्थं तयोर्द्वयोरपि संपद्यते, अतोऽसाध्येतत् । कयोर्द्वयोः?,
इत्याह-ये वदन्ति पिण्याकबुद्ध्या पुरुषपाकेऽपि पातकाज्ञावं, ये
च तेज्यः शृण्वन्त्येतयोर्द्वयोरपि वर्गयोरसाध्येतदिति । अपि च-
नाज्ञानावृतमूढजनभावबुद्ध्या बुद्धिर्भवति । यदि च स्यात्, संसा-
रमोचकादीनामपि तर्हि कर्मविमोक्षः स्यात् । तथा-भावशुद्धिमेव
केयलामच्युपगच्छतां भवतां शिरस्तु एरुमुएरुनपिएरुपातादिकं,
चैत्यकर्मणादिकं चानुष्ठानमनर्थकमापद्यते, तस्मादेवंविधया ज्ञा-
यशुद्ध्या बुद्धिरपजायन इति स्थितम् ॥ ३० ॥

परपक्षं दूयित्वाऽऽर्द्रकः सपक्वाऽविर्जायनायाऽऽह-

उहुं अहेयं तिरियं दिसासु,

विन्नाय द्विगं तसथावराणं ।

नूपाजिसंकाइ हुगच्छमाणा,

वदे करेजाव कुओ विहऽत्थि ? ॥ ३१ ॥

ऊर्ध्वमधस्तिर्यधु या दिशः प्रज्ञापनादिकास्तासु सर्वास्वपि
दिक्षु, प्रसानां, स्थावराणां च जन्तूनां यन्नसंस्थावरत्वेन जीव-
श्चिद्वं चक्षनस्पन्दनाकुरोऽब्रवच्छेदभ्रानादिकं, तद्विज्ञाय चूतामि-
शङ्क्या जीवोपमदोऽत्र भविष्यतीत्येवंबुद्ध्या सर्वमनुष्ठानं जुगु-
प्समानस्तदुपमदं परिहरन् वदेत् । (कुनोऽपि) भतः कुतोऽस्तीहा-
सिधेवंचूतेऽनुष्ठाने क्रियमाणे प्रोच्यमाने वाऽस्मत्पक्षे युष्मदापा-
दितो दोष इति ? ॥ ३१ ॥

अधुना पिण्याके पुरुषबुद्ध्यासम्भवमेव दर्शयितुमाह-

पुरिसे चि विञ्चत्ति न एवमत्थि ,

अणारिए से ष्पुरिसे तहा हु ।

को संजवा पिन्नागपिन्नियाए ? ,

वाया वि एसा बुइया असच्चा ॥ ३२ ॥

तस्यां पिण्याकपुरुषां पुरुषोऽयमित्येवमत्यन्तजडस्यापि विज्ञाति-
रेव नास्ति, तस्माद्य एवं वक्ति सोऽप्यन्तोऽपुरुषः । तथाऽभ्युपगमेन,
तुशब्दस्यैवकारार्थत्वेऽनार्थ एवासौ यः पुरुषमेव खड्गोऽयमिति
मत्वा इतऽपि नास्ति दोष इत्येवं वदेत् । तथाहि-कः संभवः
पिण्याकां पुरुषबुद्धेः ?, इत्यतो वागपीयमीदृगसत्येति, सत्योपघा-
तकत्वात् । ततश्च निःशङ्कप्रहार्यनालोचको निर्विवेकतया धरुषते,
तस्मात् पिण्याककाष्ठान्दावपि प्रवर्तमानेन जीवोपमर्द्धनीक्षणा
साशङ्केन प्रवर्तितव्यमिति ॥ ३२ ॥

जे जोयए णितिए कुलाद्वयाणं ।

से गच्छतीं होदुवसंपगादे,

तिन्वाभितावं एरगाजिसेवी ॥ ४४ ॥

आतकानां सहस्रद्वयमपि नित्यं ये भोजयन्ति । किंचूतानाम् ? कुलानि गृहाणि, ग्रामिणान्वेषणार्थिनो नित्यं येऽटन्ति ते कुलाटा मार्जाराः, कुलाटा इव कुलाटा ब्राह्मणाः । यदि वा-कुलानि कृत्रि-यादिगृहाणि तानि नित्यं पिरुपातान्वेषिणां परतर्कुकाणामात्म-यो येषां ते कुलालयास्ते । निन्द्यजीविकोपगतानामेवंभूतानां यो सहस्रद्वयं भोजयेत्सः सत्पात्रनिक्षिप्तदानो गच्छति बहुवेदनाशु गतिषु । किंचूतः सन् ? होदुवैरामिषपैरैः गृहैः रससातागौरवाशु-पपक्षैः जिह्वेन्द्रियवशगैः संप्रगाढो व्याप्तः । यदि वा-किंचूते नरके याति ? होदुवैरामिषगृध्रुभिरसुमन्निर्व्याप्तो यो नरकस्तस्मिन्नि-ति । किंचूतश्चासौ दाता ? नरकाभिसेवी प्रवति । तदर्थयति-तीक्ष्णोऽसह्यो योऽभितापः क्रकचपाटनकुम्भीपाकतप्तत्रपुपानशा-न्मलयाग्निङ्कनदिरूपः, स विद्यते यस्यासौ तीव्राभितापी । इत्येवंभू-तवेदनाजितसत्त्वयस्त्रिंशत्सागरोपमानि यावदप्रतिष्ठाननरकाधि-वासी प्रवतीति ॥ ४४ ॥

दयावरं धम्म दुगंउमाणा,

बहावहं धम्म पसंसमाणा ।

एगं वि जे जोययती असीलं,

णिओ णिसं जाति कुओऽसुरेहि ? ॥ ४५ ॥

दया प्राणिषु कृपा, तथा वरः प्रधानो यो धर्मस्तमेव धर्मः, दुगुप्स-मानो निन्द्यन्, तथा-वधं प्राणयुपमर्दमावहतीति वधावहस्तं त-थाभूतं धर्मं, प्रशंसन् स्तुवन्, एकमप्यशीलं निर्वृत्तं, परजीवका-यापमर्देन यो ज्ञोजयेत्, किं पुनः प्रभूताम् ? नृपो राजन्यो वा यः कश्चिन्मूढमतिधार्मिकमात्मानं मन्यमानः स वराको निशेव नि-त्यान्धकारत्वाग्निशा नरकभूमिर्ना याति, कुतस्तस्यासुरेष्वप्य-धमदेवेष्वपि प्राप्तिरिति ? तथा-कर्मवशादसुमतां विचित्रजाति-गमनाज्जातेरशाश्वतत्वम्, अतो न जातिमदां विधेय इति । यदपि कैश्चिद्रुच्यते यथा-ब्राह्मणा ब्रह्मणो मुखाद्विनिर्गताः, बाहुभ्यां कृत्रि-याः, ऊरुभ्यां वैश्याः, पद्भ्यां शूद्राः, इति । एतदप्यप्रमाणात्वादति-फलप्रायम् । तदप्युपगमे च न विशेषो वर्णानां स्यात् । एकस्मात्प्र-सूतेर्ब्रह्मशास्त्राप्रतिशास्त्राप्रभृतमनसोऽन्तरादफलवद् ब्रह्मणो वा मुखादेरवयवानां चातुर्वर्ण्यावासिः स्यात्, न चैतदप्यते भवद्भिः । तथा-यदि ब्राह्मणादीनां ब्रह्मणो मुखादेरुद्भवः, साम्प्रतं किं न जायते ? अथ युगादावेतदित्येवं सति, दृष्टहानिरदृष्टकल्पना स्या-दिति । तथा यदि कैश्चिदभ्यधायि सर्वज्ञनिक्षेपावसरे, तद्यथा-सर्वज्ञरहितोऽनीतः कालः, कालत्वाद्वर्तमानकालवत् । एवं च सत्ये-तदपि शक्यते वक्तुम्-यथा नातीतः कालो ब्रह्ममुखादिविनिर्गत-चातुर्वर्ण्यसमन्वितः, कालत्वाद्वर्तमानकालवत् । भवति च विशेषे पक्वीकृते सामान्यहेतुरित्यतः प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धता नाशङ्क-नीयेति । जातेऽनित्यत्वं युष्मत्सिद्धान्त एवाभिहितम् । तद्यथा-‘शूगाहो वा एष जायते यः स पुरीषो दह्यते’ इत्यादिना । तथा-“सद्यः पतति मांसेन, बाह्व्या हवणेन च । ज्येष्ठेण शूचीप्रव-ति, ब्राह्मणः क्षीरविक्रयी ” ॥ १ ॥ इत्यादिलोके चावश्यंभावी जातिपातः । यत उक्तम्-“कायिकैः कर्मणां दापै-याति स्था-वरतां नरः । वाचिकैः पक्विमृगतां, मानसैरन्यजातिताम् ” ॥ १ ॥ इत्यादिगुणैरप्येवंविधैर्न ब्राह्मणत्वं युज्यते । तद्यथा-“प-

दशतावि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि । श्रममेधस्य व-चनात्, न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ” ॥ १ ॥ इत्यादि वेदोक्तत्वाभावं दोष इति चेत् । नन्विदमभिहितमेव-“न हि स्यात्सर्वा भू-तानि ” इत्यतः पूर्वोत्तरविरोधः । तथा-“आततायिनमाया-न्त-मपि वेदान्तं रणे । जिघांसन्तं जिघांसीया-न्न तेन ब्रह्मा भवेत्” ॥ १ ॥ तथा-“शूद्रं दत्त्वा प्राणायामं जपेत्, अपहसितं वा कुर्यात्, यत्किञ्चिद्वा दद्यात्, तथा-“नास्थिजन्तूनां शकटभरं मारयित्वा ब्राह्मणं ज्ञोजयेत् ” इत्येवमादिका देशना विद्वज्जन-मनांसि न रञ्जयतीत्यतोऽत्यर्थमसमञ्जसमिव लक्ष्यते युष्म-दर्शनमिति ॥ ४५ ॥

(१०) तदेवमार्ककुमारं निराकृतब्राह्मणाधिवादं भगवदन्ति-कं गच्छन्तं दृष्ट्वा एकदण्डिर्नृणांस्तराह्णे एवमूचुः । तद्यथा-नो आर्कककुमार ! शोभनं कृतं भवता यदेते सर्वास्मप्रवृत्ता गृहस्थाः शब्दादिविषयपरायणाः पिशिताशनेन राक्षसकल्पा द्विजातयो निराकृताः, तस्मात्प्रतमस्तिसिद्धान्तं शृणु, श्रुत्वा चाव-धारय । तद्यथा-सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, “प्रकृतेर्म-होस्ततोऽदङ्कार-स्तस्माद्गणश्च पौरुषकः । तस्मादपि पौरुषका-त्पञ्च- (तन्मात्राणि ते-) ज्यः पञ्च चूतानि” ॥ १ ॥ तथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति । एतत्त्वादेतैरप्याश्रितमतः पञ्चविंशतितत्त्व-परिज्ञानादेव मोक्षावाप्तिरित्यतोऽस्तिसिद्धान्त एव श्रेयास्मापर इति । तथा न युष्मत्सिद्धान्तोऽतिदूरेण भिद्यते इति ।

एतदर्थयितुमाह-

दुहत्रो वि धम्मांम समुट्टियामो,

अस्सि सुट्ठिच्चा तद् एसकालं ।

आयारसीहे वुड्ढएऽह नाणं,

ए संपरायम्मि विसेसमत्थि ॥ ४६ ॥

योऽयमस्मकर्मो, भवदीयमार्हतः, स उज्जरूपोऽपि कथंचित्स-मानः । तथाहि-युष्माकमपि जीवास्तित्वे सति पुण्यपापबन्ध-मोक्षसद्भावः, न लोकायतिकानामिव तदजावे प्रवृत्तिः, नापि बौ-द्धानामिव सर्वाधारभूतस्यान्तरात्मन एवाभावः । तथाऽस्माकम-पि पञ्च यमा अहिंसादयः, प्रवृत्तां च त एव पञ्च महाव्रतरूपाः । तथेन्द्रियनोऽन्द्रियनियमोऽप्यावयोस्तुल्य एव । तदेवमुज्जरसि-न्धुधर्मे बहुसमाने सम्यगुत्थानोत्थिता यूयं, वयं च, तस्मादस्मि-न् धर्मे सुष्ठु स्थिताः, पूर्वस्मिन् काले, वर्तमाने, पक्षे-च, यथाशुद्धीत-प्रतिज्ञानिर्बोद्धारः । न पुनरन्ये यथा व्रतेऽभ्यस्यन् विधानेन प्रव्रज्यां मुक्त्वन्तो, मुञ्चन्ति, मोक्षयन्ति चेति । तथाऽऽचारप्रधानं शीलमुक्तं यमनियमलक्षणं न फलवत्, कुहकाजीवनरूपम्, अथानन्तरं ज्ञानं च मोक्षाङ्गनयाऽमिहितं, तच्च श्रुतज्ञानं, केवलार्थं च, यथा-स्वमावयोर्दृष्टेने प्रसिद्धम् । तथा-संप्रव्रज्यन्ते स्वकर्मजिज्ञास्यन्ते प्राणिनो यस्मिन्संपरायः संसारः, नहिस्मिन्नावयोर्न विशेषोऽस्ति । तथाहि-यथा प्रवृत्तां कारणे कार्ये नैकान्तेनासदुत्पद्यते, अस्मा-कमपि तथैव, उक्त्यात्मतया नित्यत्वं भवद्भिरप्याश्रितमेव । तथो-त्पादविनाशावापि-युष्मदभिप्रेतौ, आविर्भाववितरोजावाश्रयणा-दस्माकमपीति ॥ ४६ ॥

पुनरपि तथैवैकदण्डिर्नृणः सांसारिकजी-

वपदार्थसाध्यापादनयाऽऽहुः-

अव्वत्तरुपं पुरिसं महंतं,

एतच्च तेषां महत्तज्जयति दर्शयति—

जे यावि भुञ्जति तद्वप्यगारं ,
सेवन्ति ते पावमजाणमाणा ।
मणं न एयं कुमला कर्त्तौ ,
वाया वि एमा बुद्ध्या उ मिच्छा ॥ ३९ ॥

ये चापि रसगीरयगृहाः शास्त्रोपदेशयन्तिनः, तथाप्रकारं स्थूलोत्तमं संस्कृतं धूलयणमरिचादिसंस्कृतं पिशितं च, भुञ्जतेऽन्नं, तेऽनार्याः, पापं कर्मयम, अज्ञानाना निर्विधेकिनः, सेवन्ते आददन्ते । तथा चोक्तम्—

“हिंसामूलमभ्यमास्यदमलं ध्यानस्य रीऽस्य यद् ,
भोभत्सं वधिराधिलं कृमिशृङ्गं दुर्गन्धपूयादिकम् ।
शुक्लाभ्रप्रमथं नितान्तमलिनं सद्भिः सदा निन्दितं ,
को भुङ्क्ते नरकाय राक्षससमो मांसं तदात्मबुद्धः ? ” ॥ १ ॥

अपि च—

“मांसं भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांसमिदाद्वयदम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं, प्रवदन्ति मनोपिणः ” ॥ २ ॥

तथा—

“योऽस्ति यस्य च नन्मांस-नुभयोः पश्यतान्तरम् ।
एकस्य क्षणिका नृमि-रस्यः प्राण्यर्थियुज्यते ” ॥ ३ ॥
नद्वयं महादोषं मांसादनमिति मत्वा यद्विधेयं तद्वर्जयति—
एतदेवंभूतं मांसादनाभिलाषकं मनोऽन्तःकरणं, कुशला नि-
पुणा मांसाशित्वविषाकचेदिनस्तन्निवृत्तिगुणाभिज्ञाश्च, न कु-
र्यन्ति, तदभिलाषादात्मनो नियतयन्तीत्यर्थः । आस्तां तावन्न-
क्षणं, घागप्येषा यथा मांसभक्षणेऽप्येव इत्यादिका भावत्यभि-
हितोक्ता मिथ्या । तुशब्दान्मनोऽपि तदनुमत्यादौ न विधेय-
मिति । तन्निवृत्तां चेद्वैद्यानुपमा श्लाघा, अमुत्र च स्वर्गापवर्ग-
गमनमिति । तथा चोक्तम्—

“भुत्वा दुःखपरम्परामतिघृणां मांसाशिनां दुर्गतिं,
ये कुर्वन्ति शुभोदयेन विरतिं मांसादनस्यादरात् ।
तद्दोर्घायुरद्विषितं गदगजा संभाव्य यास्यन्ति ते,
मत्स्यैवृद्धभोगधर्ममतिषु स्वर्गापवर्गेषु च” ॥ ३६ ॥ इत्यादि ।
न केवलं मांसादनमेव परिहाव्यमन्यदपि मुमुक्षूणां परि-
हर्षव्यमिति दर्शयितुमाह—

सर्वेसि जीवाण दयद्वयाप ,
सावज्जदोर्मं परिवर्जयन्ता ।
तस्मंकिणो इमिणो नापुन्ता ,
उद्दिष्टजचं परिवर्जयन्ति ॥ ४० ॥

सर्वेषां जीवानां प्राणार्थिनां, न केवलं पञ्चेन्द्रियाणामेवेति स-
र्वग्रहणम् । दयार्थतया दयानिमित्तं सावद्यमारम्भं महानयं दोष-
इत्येवं मत्वा तत्परिवर्जयन्तः साधवः । तच्छब्दिनो दोषशक्ति-
अपयो महामुनयो ज्ञातपुत्रीयाः श्रीमन्महावीर्यकमानशिष्याः,
उद्दिष्टं दानाय परिकल्पितं यज्ञकूपानादिकं, तत्परिवर्जयन्ति । ४०।

किञ्च—

चूयानिसंकारे दुर्गन्धमाणा ,
सर्वेसि पाण्णा विहाय दंरं ॥
तन्हा ए भुञ्जन्ति तद्वप्यगारं,
१४०

एतोऽणुधम्पो इह संजयाणं ॥ ४१ ॥

भूतानां जीवानाम्, उपमदंशद्वया सावद्यमनुष्ठानं जुगुप्समाना-
परिहरन्तः, तथा-सर्वेषां प्राणिनां दपक्यतीति दपकः समुपता-
पत्तं, विहाय परित्यज्य, सम्यगुत्थिताः सत्साधवो यतस्ततो न
वृञ्जते, तथाप्रकारमाहारमशुक्लातीयमेयोऽनुधर्मः, इहास्मिन्प्रव-
चने, संयतानां यतीनां तीर्थकराचरणात् अनुपश्चाद्येत इत्यनुना-
विशेष्यते । यदि चाणुरिति स्नोकेनाप्यतिचारेण वा याध्यते
विशिष्यपुष्पमिव सुकुमार इत्यतोऽणुना विशेष्यत इति ॥ ४१ ॥

किञ्चाऽन्यत्—

निगांधधम्ममि इमं समाहिं ,
अस्सिं मुडिवा अणिहो चरेजा ।
युक्कं मुणी सीलगुणोवेष ,
अचत्थत्तं पाउणती सि होगे ॥ ४२ ॥

अस्मिन्मौनोन्मथर्मे पाण्णाभ्यन्तररूपो ग्रन्थोऽस्यास्तीति नि-
ग्रन्थः, स चासां धर्मश्च निग्रन्थधर्मः, स च भुतचारिप्राण्यः,
कान्त्यादिको वा सत्यलोकः, नस्मिन्नेवंभूतं धर्मं व्यवासिते, इमं पूर्वो-
क्तं समाधिमनुप्राप्तः, अस्मिन्धातुकादत्परिदारूपे समाधौ, सुष्ठु
अतिशयेन स्थित्वा, अनीहोऽस्मायः॥ अथवा-निदम्यत इति निहाः,
न निहोऽनिहः, परीर्यद्वेषोऽहितः । यदि वा-स्निह धनघने, स्निह
इति स्नेहकपयन्धनरहितः संयममनुष्ठानं चरेत् । तथा-बु-
द्धोऽन्यगततत्त्वा, मुनिः कालत्रयध्वं, शीलंन क्रोधाद्युपशमक-
पेण, गुणंश्च मूर्खोत्तरगुणचूरीरुपेना युक्त इत्येवंगुणकलि-
तोऽन्यधतां सर्वगुणातिशायिनीं सर्वगुणोपरमरूपां संतोषादिम-
कां श्लाघां प्रशंसां लोके लोकोत्तरे वाऽऽप्नोति ।

तथा चोक्तम्—

“राजानं तृणतुल्यमेव मनुने शक्रेऽपि नैयादरो ,
चित्तोपाज्जनरक्षणव्ययकृताः प्राप्नोति नो वेदनाः ।
संसारान्तरपर्यापीह लभते संमुक्तवशिन्यः ,
संतोषात्पुरुषोऽमृतत्वमधिपचायात्सुरेन्द्रार्थितः” ॥ १ ॥ इत्यादि ।

(६) तद्वयमाङ्ककुमारं निराकृतगोशालकाजीवकवौकृतम-
भिसमीदय साम्प्रतं द्विजातयः प्रोचुः॥ तद्यथा-नो आर्क्षककुमार !
शोभनमकारि भयता, यदेते वेदयाद्ये द्वे अपि मते निरस्ते,
तत्साम्प्रतमप्याहृतं वेदयाद्यमेव, अतस्तदपि नाश्रयणाहं भवद्वि-
धानाम् । तथाहि-नवान् क्रत्रिययरः, क्रत्रियाणां च सवैवर्णोत्तमा
प्राप्तिगता पयोपास्याः, न शुद्धाः, अतो, यागादिविधिना ब्राह्मणसे-
वैव युक्तिमनीत्यतस्मत्प्रतिपादनायाऽऽह—

सिणायगाणं तु पुवे सहस्से ,
जे जोयए णितिए माहणाणं ।
ते पुन्नसंघे सुमहज्जाणिता ,
जवन्ति देवा इति वेयवाओ ॥ ४३ ॥

तुशब्दो विशेषणार्थः॥ पदकमाभिरता वेदाध्यापकाः शौचाचा-
रपरतया नित्यं स्नायिनां प्रवृत्तारिणः स्नातकाः, तेषां सहस्रद्वयं
नित्यं ये भोजयन्तः कामिकाहारेण ते समुपाजितपुष्पस्कन्धाः
सन्तो देवाः स्वर्गनिवासिनो जवन्तीत्येवंभूतो वेदयाद इति॥४३॥

अधुनाऽऽङ्ककुमार एतद् दूययितुमाह—

सिणायगाणं तु पुवे सहस्से ,

पि सत् तदसर्वैर्बोर्वाभ्यर्च्यैः समं सदृशं तुल्यमुदाहृतमुपन्य-
स्तं, स्वमत्या स्वाभिप्रायेण, न पुनर्यथावस्थितपदार्थनिरूपणेन ।
अथवा-आयुष्मन् ! हे एकदण्डिन् ! विपर्यासमेव विपर्ययमेवो-
दाहरेदसर्वज्ञो यदशोभनं तच्छोभनत्वेन, इतरत्तितरयेति ।
यदि वा (विपर्यास इति) भक्तोन्मत्तप्रवृत्तापवदित्युक्तं प्रवर्ततेति ॥५१॥

(११) तदेवमेकदण्डिणो निराकृत्याऽर्द्रककुमारो यावद् ज-
गदन्तिकं प्रजति तावद् हस्तितापसाः परिवृत्य तस्मिन्निदं च
प्रोचुरित्याह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं,
वाणेण मारेण महागयं तु ।
सेसाण जीवाण दयद्वयाप,
वासं वयं विचि पकप्पयामो ॥ ५२ ॥

हस्तिनं व्यापाद्यात्मनो वृत्तिं कल्पयन्तीति हस्तितापसाः, तेषां
मध्ये कश्चिद्बृहत्तम एतदुवाच । तद्यथा-भो भार्द्रककुमार ! सशु-
तिकेन सदाऽऽवृत्तवृत्त्वमालोचनीयम्, तत्र ये अमी तापसाः
कन्दमूलफलाशिनस्ते बहुनां सत्त्वानां स्थावरानां तदाश्रितानां
बोद्धव्यराविषु जङ्गमानामुपघाते वर्तन्ते । येऽपि च भैक्ष्येणात्मानं
वर्तयन्ति तेऽप्याशंसादोषवृषिता इत्येतद्भाटादयमानाः पिपी-
लिकादिजन्तूनां उपघाते वर्तन्ते । वयं तु संवत्सरेणापि, अपि-
शब्दात् षण्मासेन चैकैकं हस्तिनं महाकायं वाणप्रदारेण
व्यापाद्य शेषसत्त्वानां दयार्थमात्मनो वृत्तिं वर्तनं तदामिषेण वर्य-
मेकं यावत्कल्पयामः । तदेवं वयमेकसत्त्वोपघातेन प्रभूततर-
सत्त्वानां रक्षां कुर्म इति ॥ ५२ ॥

साम्प्रतमेतदेवाऽऽर्द्रककुमारो हस्तितापसमतं

दूषयितुमाह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं,
पाणं हणंता अणियत्तदोसा ।
सेसाण जीवाण वहेऽद्भगा य,
सिया य थोवं मिहिणो वि तम्हा ॥ ५३ ॥

संवत्सरेणैकैकं प्राणिनं भ्रतोऽपि प्राणातिपातादनिवृत्तदोषा-
स्ते भवन्ति । आशंसादोषश्च भवतां पञ्चेन्द्रियमहाकायसत्त्व-
वधपरायणानामतिदुष्टो भवति । साधूनां तु-सूर्यरश्मिप्रका-
शितवीथिषु युगमात्रदृष्ट्या गच्छतामीर्यासमितिसमितानां
द्विचत्वारिंशदोषरहितमाहारमन्वेषयतां लामालामसमवृ-
त्तीनां कुतस्तस्य आशंसादोषः ? । पिपीलिकादिसत्त्वोपघातो
वेत्यर्थः । स्तोकसत्त्वोपघातेनैवभूतेन दोषाभावो भवताऽभ्युप-
गम्यते, तथा च सति गृहस्था अपि स्वारम्भदेशवर्तिन एव प्रा-
णिनो भवन्तीति शेषाणां च जन्तूनां क्षेत्रकालव्यवहितानां भव-
दभिप्रायेण वधेन प्रवृत्ता यत एवं तस्मात्कारणात्स्यादेवं स्तो-
कप्रतिस्वरूपं यस्माद् भवन्ति ततस्तेऽपि दोषरहिता इति ॥५३॥

साम्प्रतमार्द्रककुमारो हस्तितापसान्दूषयित्वा

तदुपदेष्टारं दूषयितुमाह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं,
पाणं हणंता समणव्वयेसु ।
आयाऽहिं ते पुरिसे अणजे,
ए तारिसे केवज्झिणो जंवंति ॥ ५४ ॥

अमणानां यतीनां व्रतानि अमणव्रतानि, तेष्वपि व्यवस्थि-
ताः सन्त एकैकं संवत्सरेणापि ये भवन्ति, ये चोपदिशन्ति,
तेऽनार्याः, असत्कर्मानुष्ठायित्वात् । तथा-आत्मानं परेषां चा-
हितास्ते पुरुषाः बहुवचनमार्पत्वात् । न तादृशाः केवलिनो भ-
वन्ति । तथाहि-एकस्य प्राणिनः संवत्सरेणापि घाते येऽन्ये पि-
शिताश्रितास्तत्संस्कारे च क्रियमाणे स्थावरजङ्गमा विनाश-
मुपयान्ति, ते तैः प्राणिवधोपदेष्टृभिर्न दृष्टाः । न च तैर्निरव-
धोपाया माधुर्यार्थवृत्त्या यो भवति स दृष्टः, अतस्तेन केवल-
मकेवलिनो विशिष्टवियेकरहिताश्चेति ।

तदेवं हस्तितापसाभिराकृत्य भगवदन्तिकं गच्छन्तमार्द्र-
ककुमारं महता कलकलेन लोकेनाभिपूयमानं तं समुप-
लभ्य अभिनवगृहीतः संपूर्णलक्षणसंपूर्णो हस्ती समु-
त्पन्नस्तथाविधविवेकोचितं यद् यथाऽऽर्द्रककुमारोऽयमपक्व-
ताशेषतीर्थिको निष्प्रत्यूहं सर्वज्ञपादपद्मान्तिकं वन्दनाय
प्रजति, तथाऽहमपि यद्यप्यपगताशेषवन्धनः स्यां तत एनं
महापुरुषमार्द्रककुमारं प्रतिबुद्धतस्करपञ्चशतोपेतं, तथा-
प्रतिबोधितानेकवादिगणसमन्वितं परमया भक्त्यैतदन्तिकं
गत्वा वन्दामीत्येवं यावदसौ हस्ती कृतसंस्कारस्तावन्नद-
न्नदिति शुद्धितसमस्तवन्धनः सन्नार्द्रककुमाराभिमुखं प्रद-
त्तकर्णतालस्तथोर्ध्वप्रसारितदीर्घकरः प्रधावितः, तदनन्तरं
लोकेन कृतहाहारवर्गमकलकलेन पूकृतम् । यथा-‘ धिक्
कष्टं हतोऽयमार्द्रककुमारो महर्षिर्महापुरुषः ’ तदेवं प्रलप-
न्तो लोका इत्येतद्व्यप्रलप्यमानाः, असावपि वनहस्ती स-
मागत्याऽऽर्द्रककुमारसमीपं भक्तिसंभ्रमावनाप्रभागात्तमाङ्गो
निवृत्तकर्णतालः त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य निहितधरणीतलदन्ताप्र-
भागः स्पृष्टकराग्रतश्चरणयुगलः सुप्रणिहतमनाः प्रणिपत्य भ-
हर्षिवनाभिमुखं ययाविति । तदेवमार्द्रककुमारतपोनुभावा-
द्वन्धनोन्मुखं महागजमुपलभ्य स पौरजनपदः श्रेणिकराजस्त-
मार्द्रककुमारं महर्षिं तत्तपःप्रभावं चाभिनन्द्याज्जिवन्ध च प्रो-
वाच-भगवन् ! आश्चर्यमिदं, यदसौ वनहस्ती तादृग्विधाच्छ-
कोच्छेद्याच्छृङ्खलावन्धनाद्युष्मत्तपःप्रभावान्मुक्त इत्येतदतिदुष्क-
रमित्येवमभिहिते, भार्द्रककुमारः प्रत्याह-भोः श्रेणिक महाराज !
नैतदुष्करं यदसौ वनहस्ती बन्धनान्मुक्तः । अपि त्वेतदुष्करं य-
त्त्वेहपाशमोचनं, एतच्च प्राङ्गिर्युक्तिगाथया प्रदर्शितम् । सा चेयम्-
‘ यदुष्करं वारणपासमोचनं, गयस्स भत्तस्स वणम्मि रायं ॥ जहा
उ तत्थाऽव्वलिपण तंतुणा, सुदुष्करं मे पमिहाइ मोचयं ॥ १॥
एवमार्द्रककुमारेण राजानं प्रतिबोध्य तीर्थकरान्तिकं गत्वाऽ-
ज्जिवन्ध च प्रगवन्तं भक्तिभरानिर्भर आसाञ्चके । भगवानपि
तानि पञ्चापि शतानि प्रव्राज्य तच्छिष्यत्वेनोपनिन्य इति ॥५४॥

साम्प्रतं समस्ताच्ययनार्थोपसंहारार्थमाह—

बुद्धस्स आणापे इमं समाहिं,
आस्सि सुउच्छिवा तिविहेण ताई ।
तरिंवं समुहं च महाभवोपे,

आयाणवतं समुदाहरेज्जा ॥ ५५ ॥ चि वेमि ।

बुद्धोऽवगततत्त्वः सर्वज्ञो वीरवर्द्धमानस्वामी, तस्य, आज्ञया तदा
ऽऽगमेन, इमं समार्थं सत्कर्मावासिलक्षणमवाप्यास्मिन् समर्थो
सुष्ठु स्थित्वा मनोवाक्कायैश्च प्रणिहतेन्द्रियो न मिथ्यादृष्टिमुप-
न्यते, केवलं तदाचरणजुगुप्सां त्रिविधेनापि करणेन न विधत्ते ।
स एवंचूत आत्मनः परेषां च त्राणशीलः, तायी वा गमनशीलः

सृष्टातुं अक्षयमवश्यं च ।

सर्वेभ्यु भूतेषु वि सव्वतो ते ,

चंदो व्व ताराहिं समत्यरूवे ॥ ४७ ॥

पुरि शयनात्पुरुषो जीवः, तं यथा भवन्तोऽन्युपगतवन्तस्तथा पयमपि । तमेव विशिनष्टि-अमृतत्वादव्यक्तं रूपमस्यासावव्यक्त-रूपः, तथा करचरणशिरोश्रीवाद्यवयवतया स्वनोऽवस्थाना-त् । तथा-महान्नं लोकव्यापिनं, तथा-सनातनं शाश्वतं, अव्ययं-तया नित्यं, नानाविधगतिसंभवेऽपि चैतन्यलक्षणान्मस्वरूपस्याप्र-च्युतेः । तथा-अक्षयं केनचित्प्रदेशानां खगमशः कर्तुमशक्यत्वा-त् । तथा-अव्ययम्, अनन्तेनापि काञ्चनेकस्यापि तत्प्रदेशस्य व्यया-भावात् । तथा-सर्वेष्वपि भूतेषु कार्याकारपरिणतेषु प्रतिशरीरं सर्वतः सामस्याश्रित्यत्वाद् साक्षात्मा भवति । क इयं, चन्द्र इव शशीव, ताराभिराश्रित्यन्यादिभिर्नैकैरेयया समस्तरूपः संपूर्णः सं-बन्धमुपयात्येवमसावपि आत्मा प्रत्येकं शरीरैः सह संपूर्णः सं-बन्धमुपयाति, तदेवमेकद्विजिर्दृश्यं साम्यापादनेन सामवाद्पु-ष्पं कं स्वदर्शनारोपणार्थमाद्र्ककुमारोऽभिहितः, यत्रैतानि संपूर्णा-नि निरुपचरितानि पूर्वोक्तानि विशेषणानि धर्मसंसारयोर्विद्यन्ते, स एष पक्षः सधुतिकेन समाश्रयितव्यो ज्ञेयः । एतानि चास्म-दीय एष दर्शने यथोक्तानि सन्ति नार्हेते, अतो ज्ञेयताऽप्यस्म-दर्शनेनैवाभ्युपगन्तव्यमिति ॥ ४७ ॥

तदेवमभिहितः सप्ताङ्ककुमारस्तदुत्तरदानायाऽऽह—

एयं ण मिज्जति ए संसरंति ,

न माहणा खत्तिय वेसपेस्सा ।

कीना य पक्खी य सरीसिवा य,

नरा य सर्वे तह देवल्लोए ॥ ४८ ॥

यदि वा प्राक्तनश्लोकः “अव्ययरूपं” इत्यादिको वेदान्तवाद्या-त्माद्वैतमतेन व्याख्यातव्यः । तथाहि-ते एकमेवाव्यक्तं पुरुषमात्मा-नं महान्तमाकाशमिव सर्वव्यापिनं सनातनमनन्तमक्षयमव्ययं सर्वेष्वपि भूतेषु चेतनाचेतनेषु सर्वतः सर्वात्मतयाऽसौ व्यव-स्थित इत्येवमभ्युपगतवन्तः । यथा-सर्वास्वपि तारास्त्वेक एव च-न्द्रः संबन्धमुपयात्येवं चासावपि, इत्यस्य चोत्तरदानायाह-(एव-मित्यादि) एवमिति । तथा-भवतां दर्शने एकान्तेनैव नित्योऽवि-कार्यात्माऽऽन्युपगम्यते इत्येवं पदार्थाः सर्वेऽपि नित्याः । तथा च सति कुतो बन्धमोक्षसद्भावः । बन्धाज्ञावाद्यनारकतिर्यङ्नरा-भरलक्षणश्चतुर्गतिकः संसारः । मोक्षाज्ञावाद्यनिरर्थकं प्रतग्रहणं ज्ञेयतां, पञ्चरात्रोपदिष्टयमनियमप्रतिपत्तिश्चेत्येवं च यदुच्यते ज्ञेयता यथाऽऽद्योस्तुल्यो धर्म इति । तदयुक्तमुक्तम् । तथा-सं-सारान्तर्गतानां च पदार्थानां न साम्यम् । तथाहि-भवतां द्रव्यै-कत्ववादिनां सर्वस्य प्रधानाद्विभक्तत्वात्कारणमेवास्ति, कार्यं च कारणान्निष्ठात्वात्सर्वात्मना न विद्यते । अस्माकं च द्रव्यपर्यायो-ज्यवादिनां कारणे कार्यं द्रव्यात्मतया विद्यते, न पर्यायात्मकत-या । अपि च-अस्माकमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमेव सदित्युच्यते, ज्ञेयतां तु ध्रौव्यं युक्तमेव सदिति । यावत्प्राविर्भावतिरोभावौ भवतोच्येते, तावपि नोत्पादविनाशावन्तरेण भवितुमुत्सहेते । तदेवमैदिकामुष्मिकचिन्तायामावयोरनं कथञ्चित्साम्यम् । किंच-सर्वव्यापित्वे सर्वोत्तमानाविकारित्वे चात्माद्वैते चाभ्युपगम्य-माने नारकतिर्यङ्नराऽभरनेदेन बालकुमारकसुभगद्वर्गाऽऽ-द्यद्विरुद्धादिनेदेन वा न मीयेरञ्ज परिक्रयेरन्, नापि स्वकर्मचो-

दिता नानागतिषु संसरन्ति, सर्वव्यापित्वादेकत्वाद्वा । तथा-न ब्रा-ह्मणाः, न क्षत्रियाः, न वैश्याः, न प्रेस्था न शूद्राः, नापि कीटपक्षि-सरीसृपाश्च भवेयुः । तथा-नराश्च सर्वेऽपि देवलोकाश्चेत्येवं नाना-गतिभेदेनोन्निद्येरन् । अतो न सर्वव्यापी आत्मा, नाभ्यात्माद्वैतवा-दोऽप्यायाति, अतः प्रत्येकं सुखदुःखानुभवः समुपलभ्यते । तथा-शरीरत्वकूपयन्तमात्र एवात्मा, तत्रैव तद्व्युत्पन्नानोपलब्धेरिति स्थितम् ॥ ४८ ॥

तदेवं व्यवस्थिते युष्मदागमो यथार्थमिधायी न भवति, अ-सर्वज्ञप्रणीतत्वात्, असर्वज्ञप्रणीतत्वं चैकान्तपक्षसमाश्रयणादि-त्येवमसर्वज्ञस्य मार्गोद्भावने दोषमाविर्भावयन्नाह—

द्वोयं अयाणित्तिह केवळेण ,

कहंति जे धम्ममजाणमाणा ।

णासंति अप्पाण परं च एट्ठा ,

संसारधोरम्मि अणारपारे ॥ ४९ ॥

लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं, वराचरं वा श्लोकम्, अज्ञात्वा केवळेन दिव्यज्ञानायमासेनेहास्मिन् जगति, ये तीर्थिका भजानाना अवि-ज्ञांसो धर्मं दुर्गतिगमनमार्गस्यागंताभूतं, कथयन्ति प्रतिपादयन्ति, ते स्थितो नष्टा अपरानपि नो ज्ञायन्ते । कः, घोरे ज्ञयानके संसार-सागरे (अणोरपारे सि) भर्वाण्यभागपरभागवर्जितेऽनाद्यनन्त इत्ये-वंचूते संसारार्णेव आत्मानं प्रक्षिपन्तीति यावत् ॥ ४९ ॥

साम्प्रतं सम्यग्ज्ञानवतामुपदेष्टुणां गुणानाविर्भावयन्नाह—

द्वोयं विजाणंतिह केवळेण ,

पुत्तेण नाणेण समाहिजुता ।

धम्मं समत्तं च कहंति जे ऊ,

तारंति अप्पाण परं च तित्ता ॥ ५० ॥

लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं केवलालोकेन केवलिनो विविध-मनेकप्रकारं जानन्ति विद्वन्तीहास्मिन् जगति प्रकपेण जाना-ति पक्षः, पुण्यहेतुत्वात् पुण्यम् । तेन तथाभूतेन ज्ञानेन समा-धिना च युक्ताः, समस्तं धर्मं भुतचारिरूपं, ये तु परद्वितीयः, कथयन्ति प्रतिपादयन्ति, ते महापुरुषास्ततः संसारसागरे तीर्णाः, परं च तारयन्ति सदुपदेशदानत इति केवलिनो लोकं जानन्ती-त्युक्तं यत्पुनर्ज्ञानेनेत्युक्तं तद् बौद्धमतोच्चदेन ज्ञानाधार आत्मा अस्तीति प्रतिपादनार्थमिति । एतदुक्तं ज्ञेयता-यथाऽऽदेशिकः सम्यग्मार्गज्ञ आत्मानं परं च तदुपदेशवर्तिनं महाकान्ताराद्वि-धकितदेशप्रापणेन निस्तारयत्येवं केवलिनोऽप्यात्मानं परं च संसारकान्ताराद्विस्तारयन्तीति ॥ ५० ॥

पुनरप्यार्षककुमार एवाह—

जे गरहिंयं ठाणमिहावसंति ,

जे यावि द्वोए चरणोववेया ।

उदाहंते तु समं मईए ,

अहाउसो ! विप्परियासमेव ॥ ५१ ॥

असर्वज्ञप्ररूपणमेवंचूतं भवति । तद्यथा-ये केचित्संसारान्त-वर्तिनोऽशुभकर्मणोपेताः समन्वितास्तद्विपाकसहायाः, गृहीतं नि-न्दितं जगत्पित्तं निर्निधेकिजनावरितं, स्थानं पदं कर्मास्तुष्टानरूप-मिहास्मिन् जगति, आसेवन्ते जीविकाहेतुमाश्रयन्ति, तथा च-ये सदुपदेशवर्तिनो लोकेऽस्मिन् चरणेन विरातिपरिणामरूपेणोपेताः समन्विताः, तेषामुजयेषामपि, यदनुष्ठानं शोभनाशोभनस्वरूपस-

अद्वारिड-अर्द्धारिष्ट-पुं० । कोमलकाके, आ० म० प्र० ।

अद्विय-अद्वित-त्रि० । पीनिते, व्य० १० उ० ।

अद्वोहि (ए)-अद्वोहिन्-त्रि० । कस्याऽन्यवञ्चके, घ० ३ अधि० ।

अद्व-अर्द्ध-न० । "अर्द्धसूत्राऽर्द्धेऽन्ते वा" । ८ । २५ ४१ । इति सूत्रेण संयुक्तस्य द्वयविकल्पनात्तत्र द्वः प्रा० । समप्रविभागे, एकदेशे च । विशेष० । "अर्द्धऽगुलसोऽणिको जेद्व्यमाणो असी भवि-ओ" । जं० ३ वक्० ।

अद्वतो-दशी-पर्यन्ते, दे० ना० १ वर्ग ।

अद्व (द्वा) ए-अध्वन्-पुं० । प्राकृते-“पुंस्यन आणो राज-वच्च” ८ । ३ । २६ । इति सूत्रेण अनः स्थाने वा आण इत्यादेशः । प्रा० । पथि, को० । मार्गे, ज्ञा० १४ अ० । नि० चू० ।

अद्वानं पि य द्रुविहं, पंयो मगो य होइ नायव्वो ॥

अद्व द्विविधः, तद्यथा-पन्थाः, मार्गश्च । पन्था नाम यत्र ग्रामन-गरपट्टीव्रजिकानां किञ्चिदेकतरमपि नास्ति । यत्र पुनर्ग्रामानुग्रामपरम्परयाऽवसितं भवति स ग्रामे मार्ग उच्यते । वृ० १ उ० । प्रयाणके, विपा० १ भु० ३ अ० ।

अद्व (द्वाण) कप्-अध्वकल्प-पुं० । अध्वनि गृह्यमाणे कल्पे कमनीये आहारे, वृ० १ उ० । ('विहार' शब्दे एतद्वि-धिर्द्रष्टव्यः)

अद्वकरिस-अर्द्धकर्प-पुं० । पक्षस्याऽएमांशे, अनु० ।

अद्वकविट्ट-अर्द्धकपिथ-पुं० । अर्द्धकपिथाकारवति, "अ-रुक्कविट्टसंछाणसंतिथं" उत्तानीकृतमर्द्धमात्रं कपिथस्यैव यत् संस्थानं तेन संस्थितमर्द्धकपिथसंस्थानसंस्थितम् । सू० प्र० १८ पाहु० ।

अद्वकुल (न) व-अर्द्धकुल (ड) व-पुं० । मगधदेशप्रसिद्धे धान्यमानविशेषे, रा० ।

अद्वकोस-अर्द्धकोश-पुं० । धनुःसहस्रे, जं० ४ वक्० ।

अद्वकखणं-देशी-प्रतीक्षणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अद्वकखणं-देशी-सज्ञाकरणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अद्वकित्त(चि)कमख-अर्द्धाक्षकटाक्ष-न० । अर्द्ध तिर्यग्-वृत्तमक्षि येषु कटाक्षरूपेषु चेष्टितेषु ते । अर्द्धकटाक्षेषु, "अरु-ऽच्चिकमखसिद्धिर्पाहं लूसेमाणा उवेति" जी० ३ प्रति ।

अद्व कखय-अर्द्धाक्षि-त्रि० । अर्द्धविकृतलोचने, महा० ३ अ० ।

अद्वखन्ना-अर्द्धखन्ना-स्त्री० । अर्द्धजङ्घां नद्यन्यामुपानदि, वृ० ३ उ० ।

अद्वचन्द-अर्द्धचन्द-पुं० । अर्द्धचन्द्राकारे सोपाने, ज्ञा० १ अ० । स० । सौधर्मकलोऽर्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थितः । रा० ।

अद्वचक्रवाल-अर्द्धचक्रवाल-न० । गतिविशेषे, स्या० ७ ग० ।

अद्वचक्रवाला-अर्द्धचक्रवाला-स्त्री० । अर्द्धवलयाकारायां अ-णौ, स्या० ७ ग० ।

अद्वजद्व-अर्द्धजद्व-त्रि० । सार्द्धेषु पञ्चसु, आ० म० प्र० ।

अद्वजुवा-देशी-मोचक्राख्यपादत्राणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अद्वजिष्ठ-अर्द्धजिष्ठ-त्रि० । जीर्णाऽजीर्णे, आ० म० द्वि० ।

अद्वजोयण-अर्द्धजोयण-न० । योजनस्यार्द्धमर्द्धयोजनम् । गव्यूतौ, वृ० ४ उ० ।

अद्वजुम-अर्द्धजुम-त्रि० । अर्द्धमष्टमं येषां तान्यर्द्धाष्टमानि । सार्द्धसप्तसु, ज्ञा० १ अ० । "अरुद्धमाण य राइदियाणं य विइक्कनाणं" स्या० ६ ग० । सार्द्धसप्ताहोरात्राधिकेषु-अर्द्धांतेषु, कर्म० १ कर्म० ।

अद्वणाराय-अर्द्धनाराय-न० । अर्द्धे नाराचमुजयतो मर्कटय-न्धो यत्र तदध्वनाराचम् । मर्कटकैकदेशवन्धनद्वितीयपार्श्वकी-लिकासंवन्धरूपे चतुर्थसंहने, स० । यत्र हि एकपार्श्वे मर्कट-वन्धो द्वितीयं च पार्श्वे कीलिका भवति । जी० १ प्रति० । कल्प० । पं० सं० । कर्म० । तं० । स्था० ।

अद्वतुला-अर्द्धतुला-स्त्री० । तुलाप्रमाणस्यार्द्धे, अनु० ।

अद्वद्व-अर्द्धद्व-न० । चतुर्जागे, वृ० ३ उ० ।

अद्वद्व-अर्द्धद्व-स्त्री० । अर्द्धाया अर्द्धाद्व । दिव-सस्य रजन्या वा एकदेशे प्रहरादौ । स्था० १० ग० ।

अद्वद्वामीसय-अर्द्धद्वामिश्रक-न० । मद्धाद्यावियं मिश्रकं स-त्वाऽसत्यमर्द्धाद्यामिश्रकम् । सत्यमृषामेदे, यथा काश्चित्किंमि-श्रितम्योजने प्रहरमात्र एव मर्द्धाहमित्याह । स्या० १० ग० ।

अद्वपंचममुदुत्त-अर्द्धपञ्चममुदुत्त-पुं० । अर्द्धपञ्चमाश्व ते सु-हृताश्च अर्द्धपञ्चममुदुत्ताः । नवसु घटिकासु अर्द्धपञ्चमा मुदुत्ता यस्य । ६ व० । नवघटिकापरिमिते, "जया णं भंते ! उक्को-सिया अद्वपंचममुदुत्ता दिवसस्स राइए वा पोरिसी जव्व" म० ११ श० ११ उ० ।

अद्वपल-अर्द्धपल-न० । कर्पद्वये, अनु० ।

अद्वपल्लिअंका-अर्द्धपर्य्य(न्य)ङ्गा-स्त्री० । करावेकपादनिवे-शनलक्षणयां लक्षणायाम्, स्या० ५ ग० १ उ० ।

अद्वपेडा-अर्द्धपेडा-स्त्री० । पेडाया अर्द्धमर्द्धपेडा । पेडायाः समखण्डे । अर्द्धपेडार्द्धपेडा । पेडार्द्धसमानगमनञ्चक्षणे गोचर-जेदे, पञ्चा० १८ विव० । दशा० । "अरुपेडा इमीए चव अरु-संविद्या घरपरिवाडी" पं० व० २ ग० । अर्द्धपेडाऽन्येवमेव, नव-रमर्द्धपेडासदृशं स्थानयोर्दिग्द्वयं संवच्योर्गृहश्रेणयोरेव पर्यट-ति, वृ० १ उ० । स्या० । उक्त० । घ० । ग० ।

अद्वभरत-अर्द्धभरत-पुं० । जरतस्यार्द्धमर्द्धभरतम् । भरतार्द्धे, "अरुभरहस्स सामिका धीरकिञ्चि पुरिसा" प्रश्न० ४ आश्र० ग० ।

अद्वभरहप्पमाणमेत्त-अर्द्धभरतप्रमाणमात्र-त्रि० । अर्द्धजरत-स्य यत्प्रमाणं तदेव मात्रा प्रमाणं यस्य स तथा । सातिरेकत्रि-पट्टणाधिकयोजनशतद्वयमिते, "अरुजरहप्पमाणमेत्तं वोदि विसेणं विसपरिणयं विसट्टमाणि करेत्तए" (वृश्चिक आशो-वियो वा) स्या० ४ ग० ४ उ० ॥

अद्वभामह-अर्द्धभामह-न० । मगधार्द्धविषयभाषानिबन्धे, अ-ष्टादशदेशांजापानियते च । नि० चू० ११ उ० ।

अद्वभामही-अर्द्धभामही-स्त्री० । "रसोर्लशौ" (८ । ४ । २८७) मागध्यामित्यादिमागधीभाषाप्रकरणेनापरिपूर्णायां प्राकृतभाषा-

भोक्तृं प्रति, स एवं भूतस्तरीनुमनिबद्धस्य समुद्रमिव दुस्तरं प्र-
हामवौघो भोक्तृार्थमादीयत इत्यादानं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यरू-
पं तद्विद्यते यस्यासावादानवान् साधुः स च सम्यग्दर्शनेन स-
त्ता परतीर्थिकतपःसमुच्छ्वादिदर्शनेन मौनीन्द्रादर्शनाद्य प्रच्य-
यने; सम्यग्ज्ञानेन तु यथावस्थितवस्तुप्ररूपणतः समस्तप्राया-
हुकवादिनिराकरणेनारेयं यथावस्थितमोक्तमार्गमाविर्भावय-
तीति; सम्यक्चारित्र्येण तु समस्तनूतग्रामदितैपया निरुद्धाभव-
द्धारः सन् तपोविशेषाच्चानेकभावोपाज्जितं कर्म निर्जरयति । स्व-
तोऽप्येयां चैवंप्रकारमेवधर्ममुपाहरेद्वायुणीयादित्यर्थः । इतिः
परिसामान्यर्थे, ब्रवीमाति ॥ ५५ ॥ सूत्रं २ भू० ७ अ० ॥

अद्भुत (य) पुर-आर्द्धकपुर-न० । नगरजेदे, यत्र आर्द्धककु-
मार उत्पन्नः । सूत्रं २ भू० ६ अ० ।

अद्भुतचन्दण-आर्द्धचन्दन-न० । सरसचन्दनं, औ० । " अ-
द्भुतचन्दणाणुलिङ्गता इतिसिलिचपुष्पगसाङ्गं सुहुमाङ्गं
रुसंकिलिङ्गाङ्गं वन्याङ्गं पवरपरिहिया " इति । आर्द्धेण सरसे-
न चन्दनेनानुसिंसं गात्रं येषां ते आर्द्धचन्दनानुसिंसगात्राः ।
(सुपुरुषवर्णकः) औ० ।

अद्भुत-अर्द्धन-पु० । अर्द्ध-व्युद्गता, पीनायां, वधे, याचने
च । वाच० । स्वनामक्यते राजनि च, येन पञ्चावर्ती प्रार्थयित्वा
माणिक्यदेवप्रतिमाऽऽनीता । त० ५. कल्प ।

अद्भुतो (एणो)-दर्श-अ. कुत्रे, दे० ना० १ र्ग० ।

अ व अद्भुत-३० । निगाहिते. आच० ६ अ० ।

अद्भुत-अद्भुत-न० । रुद्राद्युचितरूप्याभावे, पञ्चा० ३ विष० ।

अद्भुत-आर्द्ध-न० । आ-ऊह-भावे एयुद् । उत्कायने, करणे
व्युद् । द्रव्यपाकायान्नानुत्ताप्यमाने उदकतैर्बादौ, उपा० ३ अ ।

अद्भुत-आर्द्ध-त्री० । उद्भवेयताके नक्षत्रजेदे, अनु० । " दो अ-
द्भुतो " स्या० २ डा० ३ उ० । " अद्भुतं नृपञ्चसे " सू०
प्र० १० पाठु० । " अद्भुतं नृपञ्चसे एगतरे " पं० सं० १ द्वार ।

अद्भुतः । आदर्शित-न० । अ. दर्शनेन पवित्रीकृते, वृ० १ उ० ।

अद्भुतो-दर्श-वर्णने, दे० ना० १ वर्ग ।

अद्भुत-आदर्श-जु० । वर्णने, स० ।

अद्भुतं पेहमाणे मणुसं किं अद्भुतं पेहति, अचाणं
पेहति, पलिजागं पेहति ? गोयमा ! णां अद्भुतं पेहति,
णां अचाणं, पलिजागं पेहति । ए० एतेणं अजिलावेणं
असिं मणिं वृद्धं पाणं वेहं फाणियरसं ।

(अद्भुतमिति) आदर्शं (पेहमाणे ति) प्रेक्ष्यमाणो मनुष्यः
किमादर्शं प्रेक्षते, आर्द्धोस्विदात्मनः ? अत्रात्मशब्देन शरीरम-
भियुज्यते । उत पलिजागमिति ? प्रतिजागं प्रतिविम्बम् । भगवा-
नाह-आदर्शं तावत्प्रेक्षत एव, तस्य स्फुटस्वरूपस्य यथावस्थि-
ततया तेनोपलभ्यमानम् । आत्मानं आत्मशरीरं पुनर्न पश्यति, त-
स्य तत्राभावात् । स्वशरीरं हि आत्मनि व्यवस्थितं नादर्शं,
ततः कथमात्मशरीरं तत्र च पश्येत इति ? प्रतिजागं स्वशरीर-
स्य प्रतिविम्बं पश्यति । अयं किमात्मकः प्रतिविम्बः ? उच्यते-छा-
या पुद्गलालम्बकम् । तथाहि-सर्वमौन्विक्यकं वस्तु स्थूलं चयापचय-
१४१

धर्मकं, रश्मिवच्च; रश्मय इति ग्रायापुद्गला व्यवस्थिते । ते च
ग्रायापुद्गलाः प्रत्यक्षत एव सिद्धाः, सर्वस्यापि स्थूलवस्तुन-
श्चायाया अभ्युत्पत्ता प्रतिप्राप्तिप्रतीतेः । अन्यच्च-यदि स्थूलव-
स्तु व्यवहिततया, दूरस्थिततया वा नादर्शादिव्यवगाढरश्मिर्म-
वति, ततो न तस्माच्चद् दृश्यते, तस्मादवसीयते-सन्ति च्छा-
यापुद्गला इति । ते च च्छायापुद्गलास्तत्तत्सामग्रीवशाद्विचित्र-
परिणमनस्वभावाः । तथाहि-ते ग्रायापुद्गला विवा वस्तुन्य-
न्नास्वरप्रतिगताः सन्तः स्वसंबन्धिद्रव्याकारमा विज्ञाणाः इया-
मरूपतया परिणमन्ते, निशि तु कृष्णाणां, एतच्च प्रसरति
दिवसे सूर्यकरनिकरम्, निशि तु चन्द्रोद्योतं प्रत्यक्षत एव
सिद्धम् । त एव च्छायापरमाणव आदर्शादिमास्वरद्रव्यप्रतिग-
ताः सन्तः स्वसंबन्धिद्रव्याकारमाधाना यादृग्वर्णाः स्वसंब-
न्धिनि रूढ्ये कृष्णो, नीलः, सितः, पीतो वा, तदभाः परिणमन्ते ।
एतदप्यादर्शादिव्यवगाढतः सिद्धम् । ततोऽधिकृतसूत्रेऽपि ये म-
नुष्यस्य ग्रायापरमाणव आदर्शादिकमुपसंक्रम्य स्वदेहवगा-
भतया, स्वदेहाकारतया च परिणमन्ते, तेषां तत्रोपलब्धिर्न श-
रीरस्य, ते च प्रतिविम्बवद्भावाः । अत उक्तं न शरीरं पश्य-
ति, किन्तु प्रतिभागमिति । नैवेतस्त्वमनीषिकाविजृम्भितम् ।

यत उक्तं आगमे-

" मासा उ विवा छाया, अमासुरगता निशि तु कालामा ।

सा खेव मासुरगया । स्वदेहवज्जा मुण्येयवा ॥ १ ॥

जे आदर्शसं तस्यो, देहावयवा हवति संकता ।

तोसिं तत्पञ्चलकी, पगासयोगा न इयरेसि " ॥ २ ॥

एतन्मुद्राटीकाकारोऽप्याह-यस्मात्सर्वमेव हि ऐन्द्रियकं स्थू-
लं रूढ्यं चयापचयधर्मकं, रश्मिवच्च भवति, यत आदर्शादिव्यु-
त्पत्ता स्थूलस्य दृश्यतेऽवगाढरश्मिनः । न चादर्शं अनवगाढर-
श्मिनः स्थूलद्रव्यस्य कस्त्वचिर्दर्शनं भवति । नचान्तर्हितं दृश्यते
किञ्चित्, अतिदूरस्थं वा इति ।

पलिमाणं प्रतिभागं (पेहति) पश्यति । एवमसिमण्यादिविष-
याप्यपि पद् सूत्राण्यपि भावनीयानि । सूत्रपात्रोऽप्येवम्-" अ-
सिं देहमाणं मणुसे किं असिं देहं, अचाणं देहं, पलिजागं
देहं " इत्याद । प्रज्ञा० १५ पद । स्या० । स्फटिकादिमणौ,
नि० चू० १३ उ० । " अणापार " शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३१३ पृष्ठे
आदर्शं मुखप्रक्षोकनप्रस्तावेऽप्येतदुक्तम्)

अद्भुतगणानं (न)-आदर्शप्रश्न-पुं० । प्रश्नविद्याभेदे, यथा आ-
दर्शं देवतास्वतारः क्रियते । एतद्भुतकल्पनाप्रतिवक्त्रे प्रश्नव्याकर-
णानामष्टमऽप्ययने च । परमिदानीं प्रश्नव्याकरणेषु एतदध्ययनं
न दृश्यते । स्या० १० डा० ।

अद्भुतविज्ञा-आदर्शं वद्या-स्य० । विद्याविशेषे, यथाऽऽनुर
आदर्शं प्रतिविम्बितोपमृज्यमानः प्रगुणो जायते । व्य० ५ उ० ।

अद्भुतसमान-आदर्शसमान-पुं० । आदर्शेन समानस्तुल्य इति
अमणोपासकजेदे, स्या० । यो हि माधुभिः प्रज्ञाप्यमानानुत्तरीप-
वादादीनामामकान् भावान् यथावस्थितपद्यते संहिताथानां द-
र्शकवत्, स आदर्शसमानः । स्या० ४ डा० ३ उ० ।

अद्भुतमल्लग-आर्द्धमल्लग-न० । प सुवृत्तसंवन्धिनि मधुरे, (इति
संप्रदायः) च० २ अधि० । पञ्चा० । " अद्भुतमल्लगपमाण स-
चित्तपुढविकायं गेएहंति " नि० चू० १ उ० । शृणुवृत्तसंवन्धिनि
मुकुरे, प्रव० ४ डा० ।

पेक्षः, न खलु यथोक्ताब्जाकालः क्रियां गोदोहाद्यात्मिकामपेक्ष्य प्रवर्तते, किं तु सूर्यादिगतिम् । तथाहि-यावद्यावत्त्रैत्र्यं स्वकि-
रौर्दिनकरश्चन्द्रश्च द्योतयते तद् दिवस उच्यते, परतस्तु रात्रिः ।
तस्य च दिवसस्य परमनिरूपोऽसंख्यतमो प्रागः समयः । ते
चासंख्येया आवलिका इत्यादि । एवं च प्रवृत्तस्यास्य कावस्य
सूर्यादिगतिक्रियां विहाय काऽन्या गोदोहादिक्रियापेक्षेति ? के
पुनस्ते समयादयोऽब्जाकालभेदा इत्याह नियुक्तिकारः-“सम-
यावलिथमुद्गता, दिवसमहोरत्तपक्षमासा य । संवत्सरयुगप-
ल्लिया, सागररश्मिपिपरियद्वा ॥” विशेषः ।

एतदेव सूत्रमुदाह-

से किं तं अब्जाकाले ? अब्जाकाले अणोर्गविदे पण्यते । तं
जहा-समयद्वयाए आवलियद्वयाए० जाव उस्सपिणीयत्त-
याए । एस एं मुदंसणा अब्जादोहारच्छेयणेणं छिज्जमा-
णा जाहे विभागं णो हव्वमागच्छइ, सेत्तं समए । समयद्व-
याए असंखेज्जाणं ममयाणं समुदयसमितिसमागमेणं एगा
आवलियत्ति वुच्चइ, संखेज्जाओ आवलियाओ जहा सा-
न्निहंसए० जाव तं सागरोवमस्स एगस्स भवे परीमाणं ॥

(से किं तं अब्जाकाले इत्यादि) अब्जाकालोऽनेकविधः प्रकृतः ।
तद् यथा- (समयद्वयाए ति) समयरूपोऽयः समयार्थस्त्वद्वाच-
स्त्वत्ता, तथा, समयनावेन इत्यर्थः । एवमन्यत्रापि । यावत् कर-
णात् ‘मुद्गताद्वयाए’ इत्यादि दृश्यमिति । अथानन्तरोक्तस्य स-
थादिकाऽस्य स्वरूपमभिधातुमाह- एत एवमित्यादि) एषाऽ-
नन्तरोक्तोत्सर्पिण्यादिका (अब्जादोहारच्छेयणेणं ति) द्वौ हा-
रौ भागौ यत्र च्छेदने, द्विधा वा कारु करणं यत्र तद्, द्विहारे द्वि-
धाकारं वा, तेन । (जाहे ति) । यदा, समय इति शेषः । “सेत्त-
मित्यादि” निगमनम् । (असंखेज्जाणमित्यादि) असंख्यातानां
समयानां संवन्धिनो ये समुदया वृन्दानि तेषां याः समितयो
मल्लनानि तासां यः समागमः संयोगः समुदयसमितिसमागम-
स्तेन, यत्कालमानं भवतीति गम्यते; सैकावलिक्तेन प्रोच्यते ।
(सान्निहंसए ति) वयुशतस्य सप्तमोद्देशके । भ० ११ श० ११३० ।

अब्जाखिएण-अध्वखिन्न-त्रि० । पथि बहुचलनेन परिभ्रान्ते,
“जो पुण अब्जाखिन्नं, अतोहि पूरइ तं दानं ।” पि० ।

अब्जाधेय-अब्जाच्छेद-पुं० । आवलिकाद्विके, क० प्र० पं० सं० ।

अब्जादय-अब्जादक-पुं० । मगधदेशसंवन्धिनि मानविशेषे, औ० ।

अब्जाण-अध्वन्-पुं० । पथि, “पुंस्यन आणो राजवच्च ”
॥ ८ । ३ । ५६ । इत्यनः स्थाने आगेत्यादेशः । प्रा० ।

अध्वान-न० । प्रयाणके, “अब्जाणेहि सुहेहि पातरासंहि जेणेव
सात्तारुची चोरपल्ली तेणेव उवागच्छइ” विपा० १ शु० ३ अ० ।

अब्जाणकप-अध्वकदप-पुं० । मार्गविहरणविधौ, (स च यथा
वद् ‘विहार’ शब्दे दर्शयिष्यते) लेशतस्त्वत्र-

.....अहुणा अब्जाणकप वोच्चापि ।

जेहिं च कारणेहिं, अब्जा णो गम्भ ते इण्णो ॥ १ ॥

असिबे ओमोदरिए, रायदुडे जए व आगादे ।

देसुद्धाणे अपर-कमे य अब्जाणतो पण्णे ॥ २ ॥

उदहरे सु भक्खे, अब्जाण पवज्जणं च दप्पेणं ।
दिवसादी चउ लहुगा, चउ गुरुगा कालगा होंति ॥३॥

उगमउप्पादणए-सणाए जे खलु विराहिते ठाणे ।

तं जिण्णएणं तस्स उ, पायाच्चित्तं तु दायव्वं ॥ ४ ॥

पुदवां आऊ तेऊ, वाउ वणस्सति तसा य आणंता ।

इयरेसु परिचेसु य, जं जिहिं आरोवणा जणित्ता ॥५॥

लहुआं गुरुओ लहु गुरु, चत्तारि उच्च लहुया य ।

छगुळु ठेदो मूलं, अणवद्वप्पोधपारंवां ॥ ६ ॥

असिबे ओमोदरिए, रायदुडे जए व आगादे ।

गीयत्था मज्झत्था, सत्थस्स गवेसणं कुज्जा ॥ ७ ॥

कालमकालं जोती, एतूण य अहिवति अणुएणवणा ।

जिच्छू मिच्छादिट्ठी, धम्मकहा एणमेत्ते य ॥ ८ ॥

सत्थयसमिए खंणी-परिच्छेणे खलु तदेव पोगल्लिए ।

धम्मकहाणिमित्तणं, वसहं पुण दव्वल्लिगेणं ॥ ९ ॥

संथे पंथे तेणे, पंचविहो उगहो य दव्वणं ।

सुखग्गामे दव्व-गहणं जयणाए गीयत्था ॥ १० ॥

तुवरे फले य पत्ते, गो महिसे सुत्तरा य दृत्थी य ।

आणवमणातवे थि य, जयणाए जाणगे गहणं ॥११॥

पिप्पल्लगमूति आरिग-एकखव्वणतद्वियपुमगपत्ते य ।

कत्तिय कत्तरि सिक्कग-संविदूए लाउ चेव वत्तीय ॥१२॥

पेत्तिय सेंजिय गुट्ठिगा-णं अगदसत्थकोसे य ।

जं चाहु व गूहकरं, गेएहुइ अब्जाणकप्पमि ॥ १३ ॥

सीहाण्णा य पुरतो, वसन्नाणुमगतो समएणंति ।

पंथे तं पि य जंता, थेंति जा अरूपज्जत्ती ॥ १४ ॥

दंरुय मिच्छदिट्ठी, समुदाण णिवारणं चणिव्विसए ।

सारुविसएण जइग-वसन्ना पुण दव्वल्लिगेणं ॥ १५ ॥

उवकरणचरित्ताणं, विद्धोयणा सरीरदोयणागादे ।

धम्मकहाणिमित्तणं, पुद्दागकज्जेण आगादे ॥ १६ ॥

असिवादिंकारणेहिं, अब्जाण पवज्जणं अणुएणातं ।

उवकरणउव्वपमिले-हिणए सत्थेण गंतव्वं ॥ १७ ॥

वच्चंताणं असदू, को तांण तरेज्ज गंधपादेहिं ? ।

अपरक्कमो तु तादे, तदियं तु इमे थि मग्गज्जा ॥ १८ ॥

एगखुरए दुक्खं, दुपिए अणुवंधि तह य अणुरंगा ।

अह जइया वि जायति, असतो अणुसद्धिमादीहिं ॥१९॥

एगखुरा आसादी, दुगुरा उदादि दुपिय जइादी ।

अणुवंधो सकमादी, अणुरंगप्पिसां तु बोधव्वा ॥२०॥

एएसु पुव्ववद्व-कुरादिजातित्तु सिक्कपुत्तादी ।

असतो य खुड्डओ वा, जिगाववेगेण कहुति तु ॥ २१ ॥

आवासियम्मि सत्थे, तस्सेव तमं पि आपणंति पुणो ।

अह जणति गता संता, अणेज्जाह वि ममं पयं ॥२२॥

तादे य वक्कमादी, चारेद। तेति असतिए खुड्डो ।

लक्षणवदुहायां भाषायाम्, औ० । प्राकृतादीनां पणानां भाषाविशेषाणां मध्ये या भाषायां नाम भाषा "रमोलंशो" भाषाभ्यामित्यादिलक्षणवती, सा असमाश्रितस्वकीयसमग्रलक्षणाद्भागहीत्युच्यते । "भगवं च षां अद्भागहीप भासाप धम्ममाइक्खइ" इति द्वाविंशो बुद्धातिशयः । स० ३४ सम० । विपा० प्रज्ञा० । रा० । आचा० । आ० म० । "अद्भागही भासा भासिज्जमाणी विसिज्जइ" भाषा किल पट्टिधा भवति, यद्वाह- "प्राकृतसंस्कृतभाषा-पिशाचभाषा च शौरसेनी च । पट्टोऽत्र भूरिभेदो, देशविशेषादपमंशः" ॥१॥ म० ५ श० ४३० ।

अद्भागस-अर्धभास-पुं० । अर्धभासस्य । एकदे० त० स० । पञ्च-दशाहत्मके भासस्याहंरूपे पञ्चात्मके काले, प्रश्न० १ संव० द्वा० । अद्भागसि-अर्धभासि-क-त्रि० । पाक्षिके, "अद्भागसिप कत्तरिमुंढे चि" यदि कर्तव्यां कारयति तदा पक्षे पक्षे गुप्तं कारणीयम्, चुरकर्तव्यांश्च लोके प्रायश्चित्तम् । कल्प० ।

अद्भरत्तकालसमय-अर्धरात्रकालसमय-पुं० । समयः समा-चारोऽपि भवतीति कालेन विशेषितः । कालरूपः समयः कालसमयः । स आऽनर्द्धरात्ररूपोऽपि भवतीत्यतोऽनर्द्धरात्र-कालसमयः । निशीथे रात्रेर्मध्यकाले, "अद्भरत्तकालसम-यसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी" इत्यादि । म० ११ श० ११ उ० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्भरत्त-अर्धरत्त-पुं० । लवस्य तर्मेऽथे, ज्यो० १ पाहु० ।

भागः; समयः संकेतादिवाचकोऽप्यास्ति, ततो विविक्ष्यतेऽस्मात् रूपः
समयः (अनु०) पट्टसाटिकादृष्टान्तसिद्धे सर्वसूक्ष्मे पूर्वापरको-
टिविप्रमुक्ते वर्तमाने एकस्मिन् कालांशे, अनु० जी०। यद् द्रव्या-
णि, तत्र पञ्च धर्मास्तिकायादयोऽस्तिकायाः, षष्ठोऽस्मात्समयः ।
अस्य अस्तिकायत्वाजायः, वर्तमानकृष्णकृष्णत्वनैकत्वात्, अ-
तीताऽगागतयोरसत्त्वात् । अ० २ श० १० उ० । अनु० । बहुप्र-
देशत्व एव हि अस्तिकायत्वम् । अत्र त्वनीतानागतयोर्विनष्टो-
त्पन्नत्वेन वर्तमानस्येव काष्ठप्रदेशस्य सद्भावाद् नत्वेवमावृत्ति-
कादिकालाजायः, समयश्च न्य एव तदुपपत्तिरिति चेद्, भवतु
तर्हि, को निवारयिता ? । “समयावस्थियमुहुत्ता दिवसमहो-
रत्तपञ्चममासा य” इत्याद्यागमविरोध इति चेत् । नैवम् । अ-
जिप्रायापरिज्ञानात् । व्यवहारनयमतेनैव तत्र त्वच्युपगमात् ;
अत्र तु निश्चयनयमतेन तदसत्त्वप्रतिपादनात् । नहि पुद्गलस्क-
न्धे परमाणुसंघात इवावस्थिकादिगतसमयसंघातः कश्चिदव-
स्थितः समस्तीति तदसत्त्वमसौ प्रनिपद्यते, इत्यञ्च विस्तरण ।
अनु० । (‘समय’ शब्दे एतत्प्रकरणेन वक्ष्यते)

अद्वि-अद्वि-पु० । आपो धीयन्ते ऽस्मिन् । धा-आधारे कि ।
सरोधरे, समुद्रे च । वाच० । ऊर्मी, अष्ट० १ अष्ट० । सागरोपमे
(काष्ठविशेषे), द्वा० २६ द्वा० ।

अत्रधिः(ति) करण-अधृतिकरण-न० । अधिकरणे [कञ्हे],
नि० चू० १० उ० ।

अर्द्धीकारग-अर्द्धीकारक-त्रि० । अर्द्धमहं करोमि, अर्द्धं पुन-
स्त्वया कर्तव्यमित्येवंकारके, वृ० ३ उ० ।

अर्द्ध-अर्थचतुष्क-त्रि० । अर्द्धाधिकत्रिषु, प्रश्न० ४ आश्र०
द्वा० । कर्म० ।

अर्द्ध-अर्थोक्त-त्रि० । अर्द्धभाषिते, “अदुत्तेण उ पंचाला”
व्य० १० उ० ।

अर्द्ध(धु)व-अधुव-त्रि० । अवश्यं जावि विद्यामान्ते सूर्योदयवद्
ध्रुवम् । न तथा यत्तदधुवम् । आचा० १ ध्रु० ५ अ० २ उ० । अनियत-
सत्त्वे, “अधुवा अनियता असासया सटणपटणविद्धंसणधम्मा
कामभोगा” इ० १ अ० । अस्थिरे, “अधुवधणधणकोसपरिभो-
गविवज्जिया” । अधुवा अस्थिरा धनानां गणिमादीनां, धान्यानां
शाब्दादीनां, कोशा आश्रया येषां स्थिरत्वेऽपि तत्परिजोगेन
वर्जिताश्च ये ते तथा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । प्रव० । चले,
आचा० १ ध्रु० ८ अ० १ उ० । दशा० ।

अर्द्ध(धु)ववधिणी-अधुववन्धिनी-स्त्री० । न० त० । ध्रुववन्धि-
नीप्रकृतिप्रतिपक्षासु कर्मप्रकृतिषु, यासां च निजहेतुसद्भावेना-
वश्यं बन्धस्ताः । क० प्र० । (ताश्च त्रिसप्ततिसङ्ख्याकाः “कम्म”
शब्दे तृतीयभागे २६१ पृष्ठे दर्शयिष्यन्ते)

अर्द्ध(धु) वसंतकम्म-अधुवसत्कर्मन्-न० । सत्कर्मजदे, यत्पु-
नरनवासगुणानामपि कदाचिद् जवति कदाचिन्न तदधुवस-
त्कर्म । पं० सं० ३ द्वा० ।

अर्द्ध(धु) वसत्कम्मिया-अधुवसत्कर्मिका-स्त्री० । ध्रुवसत्क-
र्मिकाप्रतिपक्षभूतासु कर्मप्रकृतिषु, क० प्र० ।

अर्द्ध(धु) वसत्तागा-अधुवसत्ताका-स्त्री० । अधुवा कदाचिद्
भवन्ति कदाचिन्न जवन्तीत्येवमनियता सत्ता यासां ता अधु-

वसत्ताकाः । पं० सं० ३ द्वा० । कदाचित्कमभिनीषु कर्मप्रकृतिषु,
कर्म० ५ कर्म० । पं० सं० । (‘कम्म’ शब्दे तृतीयभागे २६४ पृष्ठे
तासां स्वरूपं द्रष्टव्यम्)

अर्द्ध(धु) वसाहण-अधुवसाधन-न० । अधुवाणि नश्वराणि
साधनानि मानुष्येभ्यः प्रात्यादीनि यस्य तदधुवसाधनम् । अ-
नित्यहेतौ, पञ्चा० १६ विव० ।

अर्द्ध(धु) वोदया-अधुवोदया-स्त्री० । ध्रुवोदयप्रतिपक्षासु क-
र्मप्रकृतिषु, कर्म० । यासां तु व्यवच्छिन्नोऽप्युदयो ज्ञेयोऽपि प्रादु-
र्भवति तथाविधद्रव्येभ्यः काष्ठभवभावस्वरूपं पञ्चविधं हेतुसंब-
न्धं प्राप्य ता अधुवोदयाः । “अव्युच्छिन्नो उदयो, जाणं पण्ड-
ण ता ध्रुवोदया” कर्म० ५ कर्म० । (‘कम्म’ शब्दे द्वितीयभागे
२७१ पृष्ठे प्रतिपादयिष्यते चैतत्)

अर्द्धोवमिय-अर्द्धोपम्य-न० । औपम्यमुपमा पल्यसागररूपा,
तत्प्रधाना अर्द्धा कालोऽर्द्धोपम्यम् । राजदन्तादिदर्शनादौपम्य-
शब्दस्य परनिपातः । पल्योपमादौ उपमाकाले, स्या० ८ उ० ।
उपमानमन्तरेण यत्कालप्रमाणमनतिशयिना गृहीतुं न शक्यते
तदौपमिकमिति भावः । “दुविहे अर्द्धोवमिए पञ्चे । तं जहा-
पलिओवमे चव, सागरोवमे चव ” । स्या० ९ उ० ४ उ० ।

स च जेदप्रभेदाभ्यां समासतोऽष्टविधः—

अर्द्धविहे अर्द्धोवमिए पञ्चे । तं जहा-पलिओवमे १ सा-
गरोवमे २ ओसपिणीए ३ उस्सपिणीए ४ पांगलपरि-
यहे ५ अतीतदधा ६ अणाययदधा ७ सब्बदा ८ ।

पल्योपमसागरोपमयोरुपमाकालता स्पष्टा ; अवसर्णिणयादी-
नां तु सागरोपमनिष्पन्नत्वाद् उपमाकालत्वं ज्ञावनीयम् । समया-
दिशार्पणप्रदेशलिकान्तःकालोऽनुपमाकालः । स्या० ८ उ० ।

अध-अध-अव्य० । आनन्तर्ये, “अध सत्सरीरो जगवं मकर-
च्चजो ” (पैशाचीप्रयोगः) प्रा० । नि० चू० ।

अध-अध-अव्य० । न० त० । निन्दे, “अधसा सूलगाजि-
सुदेहा” प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । “नरगा उवठिया अधसा ते
वि य दीसन्ति” प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अध(ह) म-अधम-त्रि० । जघन्ये, “निग्घिमणसोऽहम-
विवारं” [अधमविपागमिति] अधमो जघन्यो नरकादिप्राप्ति-
लक्षणो विपाकः परिणामो यस्य तत्तथाविधम् । [आर्तध्यानम्]
आच० ४ अ० । “अहो वयइ कोहेण माणेणं अहमा गर्ह” मानेन
अधमा गतिर्भवति । गर्हभोष्ट्रमहिषसूकरादिगतिः स्यात् ।
उत्त० ९ अ० ।

अध(ह) म्-अधर्म-पुं० । गतिपरिणतानां तत्त्वजावाध-
रणाद्धर्मः । अनु० । न धर्मोऽधर्मः । अधर्मास्तिकाये जीवपुद्ग-
लानां स्थित्युपपत्त्यकारिणि, स्या० १ उ० १ उ० । “एगे अधर्मे”
एकोऽधर्मोऽनन्तप्रदेशोऽपि द्रव्यार्थतया । स० १ सम० । आ० ।
मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकथाययोगरूपे कर्मबन्धकारणे आत्मप-
रिणामे, “णत्थि धम्मे अधर्मे वा, जेवं सन्नं णिवेसए” सूत्र०
२ ध्रु० ५ अ० । (यतिनां गृहिणां चाधर्मपक्षप्रदर्शनं “पुरि-
सविजयविभंग” शब्दे करिष्यते) सावधानुष्ठानरूपे पापे,
“अधर्मेण चव विट्ति कप्पेमाणे विहरइ ” अधर्मेण पापेन

लिंगविवेगं काउं, चारंती जा गताच्छाणं ॥ ३३ ॥
 एवं हुंभुरादीसु वि, जयणा जा जत्य सा तुकापञ्चा ।
 सुत्तत्यजाणएणं, अप्पावहुयं तु छायाव्वं ॥ ३४ ॥
 एतेसामएणतरं, अवगाढा णो णिसेवेज्जा ।
 तट्ठाणगावराहे, संवट्टियमोऽवराहाणं ॥ ३५ ॥
 संवट्टियावराहे, तवावत्थ दो तहेव मूळं वा ।
 आयारपक्खे जं, पमाणणिम्माणचरिमम्मि ॥ ३६ ॥
 अष्टाणकम्प एसो, । पं० जा० ।

अस्य चूर्णः—अष्टाणकम्पामि तिष्ठि परिसाओ कीरति, सीह-
 परिसा पुरओ, वसन्नपरिसा मज्झमो मिगा य मज्जे, वसन्ना भं-
 ते । जाहे उच्चिन्ना अष्टाणं ताव न परित्वेति; अष्टाणकम्पं जाव
 अष्टपञ्चत्ती, सा पुण सत्यवाहो मिच्छादिच्छी समुदाणं वा नि-
 चारेज्जा धम्मकहाइ पञ्चवणा, सारुवियसन्नमहणहिं वा पञ्च-
 वेति । अह वसन्ना दृष्टलिंगं काकण पण्येति वा णं । गाहा-
 (वयकरणत्ति)सो पुण मिच्छादिच्छिओ उचधारणं वा विद्येवेज्जा,
 चरित्तसरंरमाइं वा पच्छा धम्मकहाइ पुलागकज्जं करेति, आ-
 गाढे कइं पुण गंतव्य सम्भेहिं विं, अह कोइ न तरइ वहिं उ अत-
 रंता । गाहा-(पगफ्लुरत्ति) पच्छा वहुत्तुरं ममाति, सिरुपुत्तसा-
 वओ वा णं कइइ, असइं खुहुओ लिंगविवेगेणं आवासिएपञ्च-
 प्पिणंति । अह भणज्जा-तत्थ गया पच्छप्पिणंज्जाह, ताहे लिंग-
 विवेगेणं खुहे उचारेइ । एवं गोणोऽयि दुप्पिओ नाम वत्थी-
 अणुरंगी, सकरुअणुवंधी, पयंसा, पयं अप्पावहुयं नाकण ।
 गाहा सिद्धं जाव पमाणणिम्माणचरिमम्मि । एस अष्टाण-
 कम्पो । पं० चू० ॥

अष्टाणगमण-अध्वगमन-न० । पथि विहरणे, “गणत्थ अ-
 ष्टाणगमणे णो कप्पइ, सगनं वा जाव संदमाणियं वा डुरुहि-
 त्ताणं गच्छिन्नए ” श्री० । स्था० ।

अष्टाणणिगय-अध्वनिर्गत-त्रि० । मार्गनिर्गते, व्य० ५ उ० ।

अष्टाणपनिवन्न-अध्वप्रतिपन्न-त्रि० । मार्गप्रतिपत्ते, ज० २ श०
 १ उ० । (अन्तरापथे वर्तमाने) विहारं वा कुर्वति, वृ० । अस्य त्रयो
 भेदाः । तद्यथा—“ दूताहिरुविहारी, ते वि य होती सपडि-
 वक्खा ” वृ० ५ उ० ।

अष्टाणवायणा-अध्ववाचना-स्त्री० । अध्वनि मार्गे सूत्रार्थ-
 प्रदाने, व्य० १ उ० ।

अष्टाणसीसय-अध्वशीर्षक-न० । कान्तारादिनिर्गमरूपे प्र-
 वेशरूपे, पि० । ततः परं समुदायेन सार्यकेन सह गन्तव्यम् ।
 तस्मिन्, व्य० ४ उ० । निर्भयमार्गान्ते, वृ० ३ उ० ।

अष्टाणिय-आध्वनिक-त्रि० । पथिके, वृ० ४ उ० ।

अष्टापञ्चकलाण-अष्टाप्रत्याख्यान-न० । कालाख्यामका-
 माश्रित्य पौरुषादिकालमाने, आ० ६ अ० ।

पतञ्च दशमं प्रायश्चित्तमित्यं प्रतिपादितम्—

अष्टापञ्चकलाणं, जं तं कालप्पमाणेणएणं ।
 पुरिमप्पोरिसीए, मुहुत्तमासऽद्धमासेहिं ॥ १७ ॥

अष्टाकाले प्रत्याख्यानं यद्, तत्कालप्रमाणकडेन भवति पुरि-
 १४२

मन्दिपौरुषीण्यां मुहुत्तमासाहमासैरिति गाथासंक्षेपायः ॥ १७ ॥
 आ० चू० ६ अ० ।

अवयवार्थः पुनः—

अष्टा कालो तस्स य, पमाणमद्वं तु जं जवे तमिह ।

अष्टापञ्चकलाणं, दसमं तं पुण इमं जाणियं ॥ १८ ॥

अष्टाशब्देन कालस्तादृग्भिधीयते, तस्य च कालस्य मुहुत्तपौ-
 रुष्यादिकं प्रमाणमप्युपचारात् । (अहं ति) अष्टां वदन्तीति
 शेषः । तुशब्दो अप्यर्थो भिन्नक्रमश्च यथास्थानं योजित एव ।
 ततो ऽष्टापरिमाणपरिच्छिन्नं यत्प्रत्याख्यानं प्रवेत्त तदिह अष्टा-
 प्रत्याख्यानं दशमं पूर्वोक्तजाव्यतीनप्रत्याख्यानादीनां चरमभि-
 त्यर्थः । तत्पुनरिदं वक्ष्यमाणं भणितं गणधरैरिति ॥ १ ॥

तदेवाह—

नवकारपोरिसीए, पुरिमट्ठेगासणेगठाणे च ।

आयंभिलऽजत्ते, चरिमे य अभिगमे विगई ॥ २ ॥

अत्र भीमसेनन्यायेन नमस्कारशब्दात् परतः सहितशब्दो
 द्रष्टव्यः । ततो नमस्कारश्च, कोऽर्थः—नमस्कारसहितं च पौरुषी
 च नमस्कारपौरुषी, तस्मिन्, नमस्कारविषये, पौरुषीविषये चेत्स-
 र्थः । पूर्वोक्तं च, एकासनं च, एकस्थानं चेति समाहारे सप्तम्ये-
 कवचने, पूर्वोक्तविषये एकासनविषये एकस्थानविषये च । तथा-
 आचामास्मं च अभिकार्यं च आचामास्मनाभिकार्यं, तत्र आचामा-
 स्मविषये उपवासविषये च । तथा—चरिमे चरमविषये । तथा-
 अभिगमे अभिगमविषये । तथा—(विगई च) विहृतिविषये; सप्त-
 म्येकवचने सुप्तमत्र द्रष्टव्यमिति । दशभेदमिदमष्टाप्रत्याख्यानम् ।
 नवेकासनादिप्रत्याख्यानं कथमष्टाप्रत्याख्यानम्, नष्टात्र का-
 लनियमः श्रूयते । सत्यम् । अष्टाप्रत्याख्यानपूर्वाणि प्रायेणैका-
 सनादीनि क्रियन्ते इत्याष्टाप्रत्याख्यानत्वेन भण्यन्त इति ॥ २ ॥
 प्रव० ४ ब्रा० ।

अष्टापञ्जाय-अष्टापथ्याय-पुं० । कालकृतधर्मे, स्था० ७ उ० ।

अष्टापारिविचि-अष्टापारिवृत्ति-स्त्री० । कालपरावृत्तौ, “अ-
 ष्टापारिविच्छिओ, पमत्त इयं सहस्ससो किन्ना । ” क० प्र० ।

अष्टापामीमय-अष्टापामिश्रक-न० । काष्ठविषये सत्यमृषाजनेदे,
 यथा कस्मिंश्चित्प्रयोजने सहाय्यैस्त्वरयद् परिणतप्राये वासर
 एव रजनी वर्तत इति श्रुतीतीति । स्था० १० उ० ।

अष्टापामीसिया-अष्टापामिश्रता-स्त्री० । अष्टा कालः, स चेह
 प्रस्तावाद् दिवसो रात्रिर्वा परिगृह्यते, संमिश्रितो यथा साऽष्टा-
 मिश्रिता । सत्यमृषाजाप्रायेदे, यथा-दिवसे वर्तमान एव वदति-
 त्तिष्ठ रात्रिर्जातेति, रात्रौ वा वर्तमानायामुत्तिष्ठोद्गतः सूर्य
 इति । प्रज्ञा० ११ पद ।

अष्टारूप-अष्टारूप-त्रि० । अष्टा कालः, सैव रूपं सजावो
 यस्य तद्वारूपम् । काष्ठस्वभावे, पञ्चा० ५ विष० ।

अष्टावकृति-अष्टापक्रान्ति-स्त्री० । अष्टस्य समप्रविज्ञागरूप-
 स्य एकदेशस्य वा एकादिपदात्मकस्यापक्रमणमवस्थानं, शेष-
 स्य तु ज्ञादिपदसंघातस्यैकदेशस्योद्धे गमनं यस्यां रचनायां
 साऽष्टापक्रान्तिः । (समयपरिज्ञाषया) पदत्रयमध्यादेकदेशाऽ-
 पक्रान्तौ, विशेषः ।

अष्टासमय-अष्टासमय-पुं० । अष्टा कालः, तत्तत्क्षणः समयः
 कृणोऽष्टासमयः । म० २ श० १० उ० । अष्टायाः समयो निर्दिष्टागो

भिः । एवं स्थितिदर्शनेऽपि किं न तत्कारणस्याधर्मास्तिकाय-
स्य निश्चयः । अथायमप्यभिधीत-न कदाचिदसौ तत्कारण-
त्वेनेक्षित इति । ननु बाह्यार्थेऽपि तुल्यमेतत् । न हि सोऽपि त-
दाकारतया कदाचिदवलोकितः । अथ मनस्कारस्य चित्रपना-
यामेव व्यापारः, न तु नियतकारत्वे, अतस्तत्रार्थः कारणं क-
स्यते, एवं तर्हि जीवपुद्गलपरिणाममात्र एव कारणं, स्थितिप-
रिणतौ पुनरधर्मास्तिकायापेक्षाकारणत्वेन व्याप्रियत इति किं
न कल्पते ? । अथासौ सर्वदा सर्वस्य सन्निहित इत्यनियमेन
स्थितिकारणं भवेत् । ननु एवमर्थोऽपि किं न सन्निहित इत्येवं
स्वाकारमर्पयति ? । अयं चक्षुरादिव्यापारमयपेक्षते, अधर्मा-
स्तिकायोऽपि तर्हि स्वपरगतो विश्रसाप्रयोगानपेक्षते इति नान-
योर्विशेषमुत्पद्यमानः । तथा-ज्ञाजनमाचारः सर्वव्यापारं जीवादी-
नां नभ आकाशम्, अवगाहोऽवकाशस्तद्वृत्तमस्येत्यवगाहवृत्त-
णम्, तद्व्यावृत्तं प्रवृत्तानामात्मस्वनीभवति, अनेनावगाहकारण-
त्वमाकाशस्योक्तम् । न चास्य तत्कारणत्वमस्ति, यतो यद-
द्वन्द्वव्यतिरेकानुविधायि तत्तत् कार्यम्, यथा-चक्षुरादिव्यव-
तिरेकानुविधायि रूपादिविज्ञानम्, आकाशान्वयव्यतिरेकानुवि-
धायी चावगाहः । तथाहि-सुषिररूपमाकाशं, तत्रैव चावगा-
हः, न तु तद्विपरीते पुद्गलादौ । अथैवमवगाहोऽपि कथं
नावगाहः ?, उच्यते-स्यादेवं यदि कश्चिदवगाहिता भवेत् ।
तत्र तु धर्मास्तिकायस्य जीवादीनां चासत्त्वेन तस्यैवाभाव
इति कस्यासौ समस्तु ? । नन्वेवमपि न तत्सिद्धिः, हेतोरसिद्धत्वात्,
तदसिद्धिश्चावगाहजावात् ; सति हि तस्मिन् भवत्यन्यथा । न च
तत्सत्त्वसिद्धिरस्ति, अवगाहात्वे च व्यतिरेकस्याप्यसिद्धिरस्ती-
ति । उक्तं २७ अ० ।

अथ (ह) म्मदाण-अधर्मदान-न० । अधर्मकारणस्यासौ दानं च,
अधर्मपोषकं वा दानमधर्मदानम् । दानभेदे, यथा-“हिंसाऽनृत-
चौर्योद्यत-परपरिग्रहप्रसक्त्यः । यद्दीयते हि तेषां, तज्ज्ञान-
यादधर्माय ” ॥ १ ॥ इति । स्था० १० अ० ।

अथ (ह) म्मदार-अधर्मदार-न० । आश्रयद्वारे, “पदमं अहम्म-
दारं सम्मत्तं ति वेमि” प्रश्न० १ आश्र० छा० ।

अथ [ह] म्मपक्ख-अधर्मपक्ख-पुं० । अनुपशान्तस्थाने, “अध-
म्मपक्खस्स विज्जेने एवमाहिप्प, तस्स णं इमां तिज्जे तेव छाह
पावडुयसयां ज्वंतीति भाक्खाई । तं जहा-किरियावाईणं,
अकिरियावाईणं, अजाणियवाईणं, वेणुइयवाईणं, ” सूत्र० २
श्रु० ३ अ० ।

अथ (ह) म्मपज्जण-अधर्मपज्जन-त्रि० । अधर्मे जनयतीति अ-
धर्मपज्जनः । लोकानामप्यधर्मोत्पादके, रा० ।

अथ (ह) म्मपणिमा-अधर्मप्रतिमा-स्त्री० । अधर्मविषया प्रतिमा ।
अभुतचारित्रविषयायां प्रतिज्ञायाम्, अधर्मप्रधाना वा प्रतिमा
अधर्मप्रतिमा । अधर्मप्रधाने शरीरे, “एगा अध (ह) म्मपणि-
मा, जं सि (से) आया परिकिल्लेस त्ति” एका अधर्मप्रतिमा,
सर्वस्य परिक्लेशकारणतयैकरूपत्वात् । अत एवाह-“जं से इत्या-
दि) यद्यस्मात्, से तस्याः स्वास्यात्मा जीवः । अथवा-(सि त्ति)
पात्रान्तरम् । सोऽधर्मप्रतिमावानात्मा परिक्लिश्यते । ततश्च
प्राकृतत्वेन लिङ्गव्यत्ययाद् यस्यामधर्मप्रतिमायां सत्यामात्मा
परिक्लिश्यते सा एकैवेति । स्था० १ अ० १ अ० ।

अथ [ह] म्मपलज्ज-अधर्मप्रज्जन-त्रि० । न धर्मे प्ररज्यन्ते
आसजन्ति ये ते । न० १२ श० २ अ० । अधर्मप्रायेषु कर्मसु प्रक-

र्षेण रज्यते इत्यधर्मप्ररज्जनः । रज्यते इत्यमिति कृत्वा रेफस्थाने
लकारः । ज्ञा० १७ अ० । अधर्मरागिणि, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अथ (ह) म्मपडोइ (ण्)-अधर्मप्रलोकिन्-त्रि० । न धर्ममुपादे-
यतया प्रलोकयति यः सोऽधर्मप्रलोकी । न० १२ श० २ अ० । अध-
र्ममेव प्रलोकयितुं शीलं यस्यासावधर्मप्रलोकी । ज्ञा० १८ अ० ।
अधर्मस्यैव उपादेयतया प्रेक्षके [परिज्ञापके], विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अथ (ह) म्मराइ (ण्)-अधर्मरागिन्-त्रि० । अधर्मे एव रागो
यस्य सोऽधर्मरागी । दशा० ६ अ० ।

अथ (ह) म्मरुइ-अधर्मरुचि-त्रि० । न विद्यते धर्मे रुचिर्येषां ते
अधर्मरुचयः । दश० १ अ० ।

अथ (ह) म्ममुदायार-अधर्मसमुदाचार-त्रि० । न धर्मरूपश्चा-
रित्रात्मकः समुदाचारः समाचारः सप्रमोदो वाऽऽचारो यस्य
स तथा । न० १२ श० २ अ० । चारित्रविकले दुराचारे, विपा०
१ श्रु० १ अ० ।

अथ (ह) म्मसलसमुदायार-अधर्मसलसमुदाचार-त्रि० ।
अधर्मे एव शीलं स्वभावः समुदाचारश्च यत्किञ्चनानुष्ठानं यस्य
स तथा । स्वभावतश्चेष्टया चाऽधर्मिके, ज्ञा० १८ अ० । विपा० ।

अथ [ह] म्माणुय-अधर्मानुग-त्रि० । धर्मे भुतरूपमनुगच्छती-
ति धर्मानुगः, न धर्मानुगोऽधर्मानुगः । म० १२ श० २ अ० ।
भुतचारित्राजवमनुगते, विपा० १ श्रु० १ अ० । अधर्मे कर्तव्ये-
ऽनुक्ताऽनुमेदने यस्यासावधर्मानुगः । ज्ञा० १८ अ० । अधर्मानु-
ज्ञायके, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अथ (ह) म्मिजोय-अधर्मियोग-पुं० । निमित्तवशीकर-
णादिप्रयोगे, स० ३० सम० ।

अथ [ह] म्मिड्ड-अधर्मिष्ठ-त्रि० । अतिशयेन धर्मो धर्मिष्ठः,
न धर्मिष्ठोऽधर्मिष्ठः । म० १२ श० २ अ० । अतिशयेन नि-
धर्मे निक्षिप्तकर्मकारित्वादतिशयेन धर्मवर्जिते, ज्ञा० १७ अ० ।
विपा० । रा० । सूत्र० ।

अधर्मीष्ठ-त्रि० । अधर्मिणामिष्ठः । अधर्मिणां वल्लभे, म० १२
श० २ अ० ।

अधर्मेष्ठ-त्रि० । धर्मे भुतचारित्ररूपः एवेष्टः पूजितो वा यस्य
स धर्मेष्टः । न धर्मेष्टोऽधर्मेष्टः । अधर्मे एव इष्टो वल्लभः पू-
जितो वा यस्य स तथा । अधर्मेष्टके, अधर्मसमाजके वा ।
म० १२ श० २ अ० ।

अथ [ह] म्मिय-अधार्मिक-त्रि० । न धार्मिकोऽधार्मिकः । धर्मे-
ण भुतचारित्रात्मकेन चरतीति धार्मिकः (तथा न) म० १२ श० २
अ० । अधर्मेण चरतीति अधार्मिकः । ज्ञा० १७ अ० । पापिनि, विपा०
१ श्रु० ३ अ० । असंयते, स्था० । धर्मे भवं, धर्मो वा प्रयोजनमस्येति
धार्मिकम्, (तथा न) न० १० । धार्मिकविपर्ययस्ते, स्था० ४ अ० १ अ० ।

अथ (ह) र-अधर-पुं० । न ध्रियते । घृह-अच् । न० त० ।
वाच० । अधस्तनदशनच्छुदे, जं० २ वक्ष० । न० । उपा० । प्रश्न० ।
आत्मान्तिके कारणे, वृ० ३ अ० ।

अथ (ह) रगमण-अधरगमन-न० । अधोगतिगमनकारणं,
“तद्वा गवालीकं च गुरुयं भणति अध (ह) रगमणं”
प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

सावधानुपानेव दहनाद्गुननिर्लाभनादिना कर्मणा वृत्तिर्यतनं कल्पयन् कुर्वाणो विहरति, इणं १८ अ० । रा० । विपा० । म० । आव० । पोरुशे गोणाग्रहाणि च, तस्याऽचारिरूपत्वात् । प्रअ० ४ आध० द्वा० ।

अध (ह) म्पक्खाइ-अधर्मत्थ्याति-त्रि० । अधर्मेण क्याति-र्यस्य । रा० । न धर्माद् क्यातिर्यस्येति च । म० १२ श० २ उ० । अधिचमानधर्मोऽयनित्येवं प्रसिद्धिके, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अध (ह) म्पक्खाइ (ण)-अधर्माऽऽख्या यन्-त्रि० । अधर्ममाख्यातुं शीघ्रं यस्य स तथा । इणं १८ अ० । न धर्ममाख्यातीत्येवंशोलो वा । ज० ३ श० ७ उ० । अधर्मप्रतिपादके, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अध (ह) म्पुत्त-अधर्मयुक्त-न० । ३ त० । पापसंबन्धे तदोपोदाहरणनेदे, स्था० । यत्किं उदाहरणं कस्यचिदर्थस्य साधनायोपादीयने केवलं पाणाग्निधानरूपं, येन चोक्तेन प्रतिपाद्यस्याधर्मबुद्धिरूपजायते, तदधर्मयुक्तमिति तथा-उपायेन कार्याणि कुर्यात्, कोलिकनलदामवत् । तथाहि-पुत्रजादकमत्कोटकमार्गणोपन्यस्यधित्वामानामशेषमत्कोटकानां तसजलस्य विषे प्रक्षेपणतो मारणदशनेन रञ्जिताचित्ताणक्यावस्थापितेन चौरादे नलदामाभिधानकुविन्देन चौर्यसदकारितालक्षणोपायेन विद्यासिता मिलिताञ्चौरा विषमिधर्मोजनदानतः सर्वे व्यापादिता इति । आहरणनदोयता चास्याधर्मयुक्तत्वात्तथाविधश्रोतुरधर्मबुद्धिजनक्याच्चेति, अत एव नैयविधमुदाहर्तव्यं यतिनेति । स्था० ४ ग० ३ उ० । इदं च नलदामकुविन्दाहरणं बौद्धिकम्, । तथैव-“चाणकेण णंदे उच्छाड्य चंदगुत्ते रायाणए उविष एव स-अं वणिगत्ता जहा सिक्खाए, तत्थ णंदमंतिणहिं मणुस्सेहिं सह चोरग्गाहो मिलिओ णगरं मुसइ । चाणको वि अथं चोरग्गाहं च उविडकामो तिदंनं गडेऊण परिवायगवेसेण णयरं पविट्ठो, गओणलदामकोलियसगासं, उवविट्ठो वणणसालाए अथइ, तस्स दारओ मक्कौरुणहिं खाइओ, तेण कालएण विदं खाणित्ता द्वा । ताहे चाणकेण जसइ-किं एए नइसि ? , कोविओ भणइ-जइ एए, समूलजाअ ण उच्छाड्जंति, तो पुणो वि खाइस्संति । ताहे चाणकेण चित्तिर्य-एस मए लदे चोरग्गाहो , एस णंदतेणया समुत्थया उच्छरिसिहिइ । चोर-ग्गाहो क ओ, तेण तिदंमिणा विस्संमिया-अग्गे सम्मिलिया मुसामो ति । तेहिं अणे वि अक्खाया-जे तत्थ मुसगा बहुया, सुहततरां मुसामो ति । तेहिं अणे वि अक्खाया । ताहे ते तेण चोरग्गाहेण मिळिऊण सव्वे वि मारिया । एवं अहम्मज्जुचं ण भाणियव्वं, थय कायव्वं ति । इदं तावबौद्धिकम् । अनेन लोकोत्तरमपि चरणकरणानुयोगं छव्यानुयोगं चाधिकृत्य सूचितमवगतव्यम्, एकग्रहणाच्छातीयग्रहणमिति न्यायात् । तत्र चरणकरणानुयोगेन-“एवं अहम्मज्जुचं, कायव्वं किं वि भाणियव्वं वा । थोवगुणं बहुदोसं, विसेसओ ठाणपत्तेणं ॥ १ ॥ त-म्हा सो अणेसि पि आलंवरणं होइ ” छव्यानुयोगे तु-“वाद्-म्मि तदा रुवे, विज्जाय बणेण पवयणछाप । कुज्जा सावज्जं पि हु, जइ मोरीण उलिमादीसु ॥ १ ॥ सो परिवायगो विलक्खी-कओ ति” ॥ औदाहरणदोयता चास्याधर्मयुक्तत्वादेव भावनीयेति । गतमधर्मयुक्तधारम् । दश० १ अ० ।

अध (ह) म्पत्थिकाय-अधर्मास्तिकाय-पुं० । न धारयति

गतिपरिणतावपि जीवपुद्गलौस्तत्स्वभावतया नाऽवस्थापय-ति, स्थित्युपपन्नकत्वात्तस्येति अधर्मः, स चासौ अस्तिकाय-अ । उच० ३५ अ० । कर्म० । जीवपुद्गलानां स्थितिपरिणामप-रिणतानां तत्परिणामोपपन्नकेऽमूर्तेऽसङ्ख्यातप्रदेशसङ्घा-तात्मके द्रव्यविशेषे, प्रज्ञा० । पद० । अनु० । स्था० । आव० । द्रव्या० । (सिद्धिरस्य ‘अस्तिकाय’ शब्दे ऽस्मिन्नेव भागे ५१३ पृष्ठे दर्शिता)

तत्त्वं च—

अहम्मत्थिकाए णं जंते ! जीवः णं किं पवचइ ? गो-यमा ! अहम्मत्थिकाए णं जीवाणं ठाणणिसीयणतुयट्ठण, मणस्स य एगतीभावकरणयं जे यत्तमं तद्गप्पगारा थि-रसजावा सव्वे ते अहम्मत्थिकाए पवत्तं तं ठाणलक्ख-णं अहम्मत्थिकाए ।

(ठाणणिसीयणतुयट्ठण ति) कार्यात्संगासनशयनानि, प्रथे-मायहुवचनलोपदर्शनात् । तथा मनसश्च अनेकत्वस्यैकत्वस्य भवनमकत्वोपपन्नस्य यत्करणं तत्तथा । ज० १३ श० ४ उ० ।

अस्यैवाम्यभिवचनानि—

अहम्मत्थिकायस्स णं जंते ! केवया अजिवयणा पस-त्ता ? गोयमा ! अणंगा अजिवयणा पसत्ता । तं जहा-अधम्मंति वा अधम्मत्थिकाएति वा, पाणातिवाय० जाव मिच्छादंससङ्घोति वा इरियाअममि त वा० जाव उच्चारपा-सवण० जाव पारिहवाणिगया असमिर्त्तीनि वा मगअगुत्ती-ति वा वड्ढगुत्तीति वा कायअगुत्तीति वा, जे यावस्से तह-प्पगारा सव्वे ते अहम्मत्थिकायस्स अजिवयणा । ज० १० श० १ उ० ।

‘अट्ट अहम्मत्थिकायमज्जप्पएसा पसत्ता’ । ते च रुचकरुपा इति । स्था० ८ ग० ।

अधर्मास्तिकायसिद्धिः-अधर्मोऽधर्मास्तिकायः, स्थितिः स्थानं गतिनिर्वाचरित्यर्थः । तल्लक्षणमस्येति स्थानलक्षणः । स हि स्थि-तिपरिणतानां जीवपुद्गलानां स्थितिलक्षणकार्यं प्रत्येककारण-त्वेन व्याप्रियत इति, तेनैव लक्ष्यत इत्युच्यते । अनेनाप्यनुमान-मेव सूचितम् । तत्त्वेदम्-यद्यत्कार्यं तत्तदपेक्षाकारणवत्, यथा-अ-टादि कार्यम् । तथा चासौ स्थितिः, यच्च तदपेक्षाकारणं तदधर्मा-स्तिकाय इति । अत्र च नैयायिकादिः सौगतो वा यदेत-नास्त्य-धर्मास्तिकायः, अनुपलभ्यमानात्, शशविषाणवत् । नत्र यदि नैयायिकः, तदाऽसौ वाच्यः-कथं प्रवतोऽपि दिगादयः सन्ति ? , अथ दिगादिप्रत्ययलक्षणकार्यदर्शनाद्भवति हि कार्यात्कारणानु-मानम्, एवं सति स्थितिलक्षणकार्यदर्शनादयमप्यस्तीति किं न गम्यते ? । अथ तत्र दिगादिप्रत्ययकार्यस्यान्यतोऽसंभवात्तत्को-रणभूतान् दिगादीन् अनुमिमिमहे इति मतिरिहाप्याकाशादीनां भवगाहनादिस्वस्वकार्यव्यापृतत्वेन ततोऽसंज्ञवादः, अधर्मा-स्तिकायस्यैव स्थितिलक्षणं कार्यमिति किं नानुमीयते ? । अथा-सौ न कदाचिद् दृष्टः, एतदिगादिष्वपि समानम् । अथ सौगतः, सांध्येवं वक्तव्यः, यथा-भवतः कथं बाह्यार्थसंसिद्धिः ? , नहि कदाचिदसौ प्रत्यक्षगोचरः, साकारज्ञानवादिनः सदा तदाकारं-स्यैव संवेदनात् । तथा च तस्याप्यनुलक्ष्यमानत्वादप्राव एव । अथाकारसंवेदनेऽपि तत्कारिणमर्थं परिकल्पते, धूमज्ञान इवा-

एकेको वि य दुविहो, गच्छगतो णिगतो चेव ॥ १६६ ॥

साधिकरणे साधु दुविधेन अधिकरणेन प्रवर्तितं चिमं दुविधं-सपक्खाधिकरणं, परपक्खाधिकरणं च । सपक्खाधिकरणकारी गच्छगतो, गच्छणिगतो वा, एवं परपक्खाधिकरणे वि दुविधं । नि० चू० १० उ० ।

(२) अस्य निक्षेपस्त्वित्यं निर्युक्तिरुदाह-

नामं उवणा दविण, भावे य चउव्विहं तु अहिगरणं ।
दव्वम्मि जंतमादी, जावे उदओ कसायाणं ॥

नामाधिकरणं, स्थापनाधिकरणं, रुव्याधिकरणं, जावाधिकरणं चेति चतुर्विधमधिकरणम् । तत्र नामस्थापने गताये, रुव्याधिकरणम्-आगमतो, नो आगमतश्च । आगमतो-अधिकरणशब्दार्थं निरूपयन्तु प्रयुक्ते च्छा, नो आगमतो अशरीरजन्यशरीरव्यतिरिक्तम् । रुव्याधिकरणे यन्त्रादिकं रूपव्ययम्, यन्त्रं नाम दलनयन्त्रादि । भावे जावाधिकरणे कपायाणां क्रोधादीनां उदयो विज्ञेयः ।

तत्र रुव्याधिकरणं व्याख्यानयति-

दव्वम्मि उ अधिकरणं, चउव्विहं होइ आणुपुव्वीए ।
निव्वत्तण निक्खण्णे, संजोयण निसिरिणे य तदा ॥

रुव्ये रुव्यविषयमधिकरणं चतुर्विधं प्रवृत्त्यानुपूर्व्या परिपाटया । तद्यथा-निर्वर्तनाधिकरणं, निक्षेपणाधिकरणं, संयोजनाधिकरणं, निसर्जनाधिकरणं च । वृ० १ उ० ।

णिव्वत्तणे अधिकरणं दुविधं-मूलकरणं, उत्तरकरणं च । तत्तु मूलणिव्वत्तणाधिकरणं अहविहं भवति-पदमे पंच सरीरा, संघारुणसारुणे य उज्जए वा ।

परिद्वेहणा पमज्जाण, अकरण अविधी य णिक्खिवणा २३५
(पदमे चि) णिव्वत्तणाधिकरणे पंच सरीरा ओराव्वियादि, संघातकरणं सादनकरणं च । एवं अहविहं मूलकरणं ॥ २३५ ॥

पुनः णिव्वत्तणाधिकरणसरूपं प्रवर्तति-

णिव्वत्तणा य दुविहा, मूलगुणे वा वि उत्तरगुणे य ।
मूले पंच सरीरा, दोसु ते संघातणा णत्थि ॥ २३७ ॥

णिव्वत्तणाधिकरणं दुविधं-मूलगुणणिव्वत्तणाधिकरणं, उत्तरगुणणिव्वत्तणाधिकरणं च । मूले ओराव्वियादि पंच सरीरा दृष्टव्या । दोसु य तेयकम्मपसु सव्वे काले संघातणा णत्थि, अनाद्यत्वात् ॥ २३७ ॥

संघातणा य परिसा-डणा य उज्जयं व जाव आहारं ।

उज्जयस्स आणियतठिती, आदी अंतं य समओ तु ॥ २३८ ॥

त्रिकं त्रिविधं संभवति, उभयं संघातपरिसामौ, तस्स त्रिती अणियता, द्विकादिसमयसंभवात् । संघातो आयातोऽपि सर्वपरिसामौ, अंतं एगे एगसमयता ॥ २३८ ॥

सर्वसंघातप्रदर्शनायमाह-

हविपूओ कम्मगारे, दिहंता होंति तिसु सरीरेसु ।

करणे य खंधकरणे, उत्तरकरणं तु संघडणा ॥ २३९ ॥

हवि चित्तं, तत्तु जो पूतो पचति सो हविपूओ सो य धयपुणो ज-अथ प्रवर्तितं । संघायसंघते पक्खित्ते पदमसमय एगंतेण धयगहणं क-आसजो-वितिआदिसमपसु गहणं मुंचति य, कम्मकारो होइकारो,

तेण जहा तपितमायसं जले पक्खित्तं, पदमसमय एगंतेण जालातणं करोति, वितिआदिसमपसु गहणं मुंचति य । एवं तिसु ओराव्वियादिसरीरेसु पदमसमय गहणमेव करोति, वितिआदिसमपसु संघातपरिसामौ, तेयगकम्मार्णं सव्वकालं न संघातपरिसामौ, अनाद्यत्वात् । पंचएहं विज्जेते सव्वसामौ । अहवा तिसु एहं ओराव्वियाविज्जेआहारगणं मूळंगकरणा अह-सिरो, उरं, उदरं, पुठी, दो याहाओ, दोणि य ऊरु, सेसं उत्तरकरणं । अहवा तिसु आइहेसु ओरालादी, उत्तरकरणं वेज्जेण, खंधकरणं त्रिफलादिघृतादिना वञ्चकरणं । अथवा इमं चउव्विहं सव्वकरणं संघायकरणं परिसाडणाकरणं ॥ २३९ ॥

संघाय परिसारुणा, य मीसे तहे व पमिसेहे ।

परुसंखण्णुणादी, उट्ठनि रित्थाणुकरणं तु ॥ २४० ॥

परिसारुणाकस्सं, तत्तु ओराव्विय एगिदियादि पंचविधं, तज्जोयं पट्ठुणादिणा । जहा सिक्खसेणारिणं अस्सए कता, जहा वा एगेण आयरिणं सीसस्स उवदिट्ठो जोगे जहा महिसो भवति, तं च सुयं आयरिस्स माइणिज्जेण, सों य णिक्खमे उ णिक्खंतो माहिसं उपादेवं सोयरियाण हत्थे विक्खिण्ण । आयरिणं सुयं, तत्तु गतो मणाति-किं ते एएण ? अहं ते रयणजोगं पयच्छामि । दव्वे आहराहि । ते य आहरिता आयरिणं संजो-तिता, एगंते णिक्खित्ता मणितो-पत्तिण कालेण ओक्खणेज्जाहि, अहं गच्छामि । तेण उक्खित्तो दिट्ठिविसो सप्पो जातो । सो तेण मारितो, अधिकरणच्छेओ, सो वि सप्पो अंतो मुहुत्तेण मओ । एवं जो णिव्वत्तेइ सरीरं तं अधिकरणकहं, जतो सुत्ते भाणियं-जिवेणं जंते ! ओराव्वियसरीरं णिव्वत्तेमाणे किं अधिकरणं ? अधिकरणी जीवो, अधिकरणी सरीरं, अधिकरणं णिव्वत्तणाधिकरणं ॥ णिव्वत्तणाधिकरणं गतं ॥ नि० चू० ४ उ० ।

निक्षेपणाधिकरणं द्विधा-लौकिकं, लोकोत्तरिकं च । तत्र यन्मत्स्यग्रहणार्थं गलनामा होइकएट्ठो कुएट्ठं वा मृगादीनां ग्रहणाय जालं वा, लावकादीनामर्थाय निक्षिप्यते शतद्रव्यादीनि घरघट्टादीनि वा यन्त्राणि स्थाप्यन्ते, तदेतल्लौकिकं निक्षेपणाधिकरणम् । यस्तु होकोत्तरिकं तत् परुविधम्-यत्र पात्राशुपकरणं निक्षिपति तत्र न प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति १, न प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति २, प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति ३, यत्तु प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति तद् प्रत्युपेक्षितं ४, दुःप्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितम् ५, सुप्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितं ६ करोति । एवमेते षडङ्गा निक्षेपणाधिकरणम् । यस्तु सप्तमो भङ्गः सुप्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितं करोतीति लक्षणः, स नाधिकरणं; शुद्धत्वात् । यद्वा-यद्दुत्तं पानकं वा अपावृतं स्थापयति तन्निक्षेपणाधिकरणम् । वृ० १ उ० ।

इयानि संजोयणा, सा दुविहा-होइया, होउत्तरिया य ।

होइया अनेकविहा-

विसगरमादी लोए, लोउत्तरं भचोवधिमादिम्मि ।

अंतो वहि आहारे, विहियविधा सिच्चणा उवधी ॥ २४१ ॥

कंठादिलोअणिसिरण-ओत्तरणा पमादणा जोगे ।

मूलादि जाव चरिमं, अधवा वी जं जहि क्कमति ॥ २४२ ॥

नि० चू० ५ उ० ।

संयोजनाधिकरणमपि द्विविधम्-लौकिकलोकोत्तरिकमे-दात् । तत्र लौकिकं रोगाद्युत्पत्तिकारणं; विषगरादिनि-पत्तिनिवन्धनं वा रूपव्यं संयोजनम् । लोकोत्तरिकं तु

अध [इ] रिम-अधरिम-त्रि० । अविद्यमानं धरिममृण-
द्रव्यं यस्मिँस्तत्तथा । ज्ञा० १ अ० । विपा० उत्तमर्णधमर्णोभ्यां
परस्परं तद्वृत्तार्थं न विचदनीयं, किन्तु अस्मत्पार्श्वे सुद्धं गृ-
हीत्वा श्रृणुमुक्तलनीयमिति राजाश्राविशिष्टे नगरादौ, जं० ३
वत्त० । विपा० ।

अध [इ] री-अधरी-स्त्री० । पेपयशिलायाम्, “ अध-
(इ) रीसंठाणसंठिया दो वि तस्स पाया ” उपा० १ अ० ।

अध [इ] रीशोढ-अधरीशोपु-पुं० । शिलापुत्रके, “ अध-
रीलोढसंठाणसंठियाओ पापसु अंगुलीओ ” उपा० १ अ० ।

अध (इ) रुढ-अधरोपु-न० । द्र० स० । इत्यः संयोगे दी-
र्घस्य ” । = । १ । ८४ । इति सूत्रेण ओतो इत्यः । प्रा० । उपरि-
स्थाधःस्त्रोपुयुग्मे, प्रअ० ३ आध० द्वा० । अधस्तनदन्तच्छ्र-
दे, “ ओयवियसिलपवालविवफलसधिमधरुहा ” नं० ।

अध [इ] व [वा]-अधवा-अव्य० । विकल्पे, नि० चू०
१० उ० ।

अधारणिज-अधारणीय-त्रि० । अविद्यमानो धारणीयोऽध-
मर्णो यस्मिँस्तत्तथा । ज्ञा० १ अ० । अविद्यमानाधमर्णे पुरादौ,
विपा० १ अ० ३ अ० । आत्मनो धारयितुमशक्ये, म० ७
श० ६ उ० । अयापनीये, यापनां कर्तुमात्मनोऽशक्ये च । ज्ञा०
८ अ० । विपा० । जं० ।

अधि [हि]-अधि-अव्य० । आधिक्ये, म० १ श० १ उ० ।

अधि [हि] इ-अधृति-स्त्री० । धृतेरभावे, “ तो तुमे पिया एवं
वसणं पाविओ तस्स अधिइ जाया सुणिचओ चेव उद्धाय-
लोहदंडगहा य वियडाणि भंजामि ” आच० ४ अ० ।

अधि [हि] ग-अधिक-त्रि० । अत्यर्थे, वृ० १ उ० ।

अधि (हि) गय-अधिगम-पुं० । अधिगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते
पदार्था येन लोऽधिगमः । आच० ३ अ० । गुरुपदेशजे यथा-
ऽवस्थितपदार्थपरिच्छेदे, एष सम्यक्त्वस्य हेतुविशेषः । नि-
सर्गाद्वाऽधिगतो जायते । तत्र पञ्चाध्या-औपशमिकं १ क्षायि-
कं २ क्षायोपशमिकं ३ वेदकं ४ सास्वादनं च ५ ॥ ध० २ अधि० ।
“ जुगवं पि समुपन्नं, सम्मत्तं अधिगमं विसोदेह ” भाव० ३ अ० ।
“ गुरुपदेशमालम्ब्य, सर्वेषामपि देहिनाम् । यत्तु सम्यक् अद्-
धानं तत्, स्यादधिगमजं परम् ” ॥ १ ॥ “ जीवादीणमधि-
गमो, मिच्छत्तस्स अओवसमभावे । अधिगमसम्मं जीवो,
पावेइ विमुक्कपरिणामो ” ॥ ध० २ अधि० ।

अधि [भि] [हि] गमरुइ-अधि [भि] गमरुचि-पुं० स्त्री० ।
अधिगमो विशिष्टं परिज्ञानं, तेन रुचिः जिनप्रणीततत्त्वानि ज्ञापकपा-
यस्यासावधिगमरुचिः । प्रव० १४६ द्वा० । सरागदर्शनार्थमेदे,
प्रज्ञा० १ पद ।

तत्स्वरूपं च-

सो होइ अग्निगमरुई, सुअनाणं जस्स अत्यओ दिट्ठं ।
एकारस अंगाई, पइअगा दिट्ठिवाओ य ॥

यस्य श्रुतज्ञानमर्थतो दृष्टं, किमुक्तं भवति ? येन श्रुतज्ञानस्वा-
र्थोऽधिगतो भवतीति । किं पुनस्तच्छ्रुतज्ञानम् ? इत्याह- (एका-
रस अंगाई ति) एकादशाङ्गानि आचाराङ्गादीनि, प्रकीर्णकान्यु-
१४३

सराग्यननमन्धाध्यानादीनि, दृष्टिवादः परिकर्मसूत्राद्यङ्गत्वेऽपि
पृथगुपादानमस्य प्राधान्यक्यापनार्थम् । चक्षुर्वाङ्मनोपाङ्गानि चै-
व पपातिकादीनि, स नवत्यधिगमरुचिः । प्रव० १४९ द्वा० । स्था० ।
अर्हतः सकलसूत्रविषयिण्यां रुचौ, ध० २ अधि० ।

अधि [भि] गमसम्मदंसण-अधिगमसम्यग्दर्शन-न० । इत० ।
गुरुपदेशादिजन्ये सम्यग्दर्शनमेदे, यथा भरतस्य । “ अग्निगम-
सम्मदंसणे, झुविहे पणत्ते । पणिवार्ई चेव, अपणिवार्ई चेव । ”
प्रतिपतनं शीघ्रं प्रतिपाति, सम्यग्दर्शनमौपशमिकं, क्षायोपशमि-
कं वा । अप्रतिपाति क्षायिकम् । स्था० २ उ० १ उ० ।

अधि (हि) गय-अधिकृत-न० । अधि-कृ-नावे-क । अधि-
कारे, दश० १ अ० ।

अधिगत-त्रि० । प्राप्ते, उक्त० १० अ० । विज्ञाते, व्य०
२ उ० । पञ्चा० ।

अधि (हि) गरण-अधिकरण-न० । अधिक्रियतेऽस्मिन्नि-
ति अधिकरणम् । आधारे, यथा चक्रमस्तके घटः । नि० चू०
१ उ० । अधिक्रियते नरकगतियोग्यतां प्राप्यते आत्मानेनेत्य-
धिकरणम् । कलहे, आभृते च । वृ० १ उ० । स० ।

(१) अधिकरणनिरुक्तानि समानार्थकानि च ।

(२) अधिकरणनिकेयः ।

(३) अधिकरणं न करणीयम् ।

(४) कृत्वा तु व्युपशमनीयम् ।

(५) अधिकरणोत्पत्तिकारणानि ।

(६) उत्पन्ने च व्युपशमनीयमेव नोपेक्षणीयम् ।

(७) प्रावतिकेयः ।

(८) अधिकरणं कृत्वाऽन्यगणसंक्रान्तिर्न कर्तव्या ।

(९) गच्छादनिर्गतस्याधिकरणे समुत्पन्ने विधिः ।

(१०) जरपक्ष्याणि भणित्वा गच्छादनिर्गतो विधिः ।

(११) गृहस्थैः सहाधिकरणं कृत्वाऽन्यपक्षमस्य पिण्डग्रह-
णादि न कार्यम् ।

(१२) अनुत्पन्नमधिकरणमुत्पादयति ।

(१३) कारणे सत्युत्पादयेत् ।

(१४) पुराणान्यधिकरणानि कान्तव्युपशमितानि पुनरुदी-
रणम् ।

(१५) निर्ग्रन्थैर्व्यतिकृष्टमधिकरणं नोपशमनीयम् ।

(१६) निर्ग्रन्धीनिर्व्यतिकृष्टमधिकरणं व्युपशमनीयम् ।

(१७) साधिकरणेनाकृतप्रायश्चित्तेन सह न संभोगः कार्यः ।

(१८) अधिकरणयधिकरणनिरूपणम् ।

(१) इमे अधिकरणनिरुक्ता, पण्डित्या य-

अहिकरणमहोकरणं, अहरगतीगाहगं अहोतरणं ।

अकृतिकरणं च तद्वा, अहीकरणं च अहिकरणं ॥ १६५ ॥

मावाधिकरणं कर्म बन्धकारणमित्यर्थः । अथवा-अधिकं अति-
रिक्तं उत्सृज्य करणं अधिकरणम् । अथो अधस्तात् आत्मनः क-
रणम् । अथवा अधमा जघन्या गतिस्तामात्मानं प्राहयतीति । अ-
थो अधस्तादवतारचूर्मि गृहीतश्रेण्यानि वा । न धृतिरपतिरित्यर्थः,
अस्याः करणम् । अधीरस्य असत्त्ववतः करणं अधिकरणम् ।
अथवा-अधीः अशुक्तिमान् पुरुषः स तं करोति, इत्यधिकरणम् ।

सो अधिकरणो दुविधो, सपक्खपरपक्खतो य नापक्खो ।

क्षामितं विनाशमितं, विनाशितं क्षपितमिति च एकार्थानि पदानि भवन्ति । तथा-प्राभृतं प्रहेणकं प्रणयनमिति वा त्रीण्येकार्थानि । तानि तु प्राभृतादीनि नरकस्य मन्तव्यानि । यत्र एतदधिकरणं नरकस्य सामन्तकादेशप्राभृतमुच्यते । एवं प्रहेणकप्रणयनपदे अभिज्ञावर्नीये ।

इच्छा न जिष्णोदसो, आढा उ ए आदरो जहा पुर्व्वि ।

जुंजण वास मणुजे, सेस मणुषे च इतरे वा ॥

इच्छा नाम जिनादेशस्तीर्थकृतमुपदेशोऽयमिति कृत्वा नादरादीनि पदानि करोति, किं त्वसच्छब्देन । तथा आढा नाम आदरस्तं यथा पूर्व्वमुचिताल्लापादिभिः कृतवांस्तथा कुर्याद्वा न वा; शेषाणि त्वभ्युत्थानादीनि सुगमानीतिकृत्वा भाष्यकृता न व्याख्यातानि । अत्र च संभोजनसंवासनपदे मनोज्ञेषु सांभोगिकेषु भवतः, शेषाणि त्वादराभ्युत्थानवन्दनोपशमनपदानि मनोज्ञेषु वा सांभोगिकेषु, इतरेषु वा असांभोगिकेषु भवेयुः । कृता भाष्यकृता विषमपदव्याख्या । वृ० १ उ० ।

(५) अधिकरणोत्पत्तिकारणानि—

अथ कथं तदुत्पद्यते ? इत्याशङ्कावकाशमवलोक्य तदुत्थानकारणानि दर्शयति—

सच्चित्ते य अचित्ते, मीसवओगयपरिहारदेसकहा ।

सम्मं खाउट्टत्ते, अदिगरणमओ समुप्पज्जे ॥

सच्चित्ते शैक्षादौ, अचित्ते वक्षपात्रादौ, मिश्रके स्वभाण्डमात्रकोपकरणैः शिखादौ, अनासेव्ये अपरेण गृह्यमाणे, तथा वचोगतं व्यत्यात्रेडितादि । तत्र चाविधीयमाने परिहारः स्थापना, तदुपलक्षितानि यानि कुलानि तेषु प्रवेशे क्रियमाणे देशकथायां वा विधीयमानायां एतेषु स्थानेषु प्रतिनोदितो यदि सम्यक् नावर्तते न प्रतिपद्यते; अतोऽधिकरणमुत्पद्यत इति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति—

आज्जव्वमदेमाणे, गिएहंतं तहव मग्गमाणे य ।

सच्चित्तेतरमीसे, वितहपन्निवत्तिओ कलहो ॥

आभाव्यं नाम शैलं, शैलः कस्याप्याचार्यस्योपतस्थे, प्रज्ज्यां गृह्णातीति । तमुपस्थितं मत्वा विपरिणमय्य परः कश्चिदाचार्यो गृह्णाति । ततो मूलाचार्यो ब्रवीति—किमिति मदीयमाभाव्यं गृह्णासि ? पूर्व्वगृहीतं वा शैलादिकं याचितो मदीयमाभाव्यं किं न प्रयच्छसीति ? एवमाभाव्यं सचित्तमचित्तं मिश्रं वा तत्कालगृह्यमाणं पूर्व्वगृहीतं वा भार्यमाणमपि यदा वितथप्रतिपत्तितो न ददाति तदा सकलहो भवति । वितथप्रतिपत्तिर्नाम परस्याभाव्यमपि शैलादिकमनाभाव्यतया प्रतिपद्यते ।

वचोगतद्वारमाह—

वेच्चाभेलण सुत्ते, देसीभासा पवंचणे चेव ।

अन्नम्मि य वत्तव्वे, हीणाहियअक्खरे चेव ॥

सूत्रे सूत्रविषये, व्यत्यात्रेरुना अपरापरोद्देशकाध्ययनश्रुतस्कन्धेषु घट्टनाऽऽज्ञापकश्लोकादीनां योजना । यथा—“सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविडं न मरिज्जिडं ” इत्यत्रेदमालापकपदं घटते—“सव्वे पाणपिया उ ” इत्यादि । तथाभूतं सूत्रं परावर्तयन् किमेवं सूत्रं व्यत्यात्रेरुयसीति प्रतिनोदितो यदि न प्रतिपद्यते तदाऽधिकरणं भवति । देशीभाषा नाम भरुमाहवमहाराष्ट्रादिदे-

शानां प्रापातोऽन्यत्र देशान्तरे आपमाण उपहस्यते, उपहस्यमानश्च संखनं करोति । यद्वा-प्रपञ्चनं वचनानुकारेण वा करोति, ततः प्रपञ्च्यमानः साधुना सहाधिकरणमुत्पद्यते । अन्यस्मिन् वा वक्तव्ये कोऽप्यन्यद्वक्ति । यद्वा—हीनाक्करमधिकाक्करं वा पदं वक्ति । तत्र हीनाक्करं भास्कर इति वक्तव्ये भास्कर इति वक्ति । अधिक्राक्करं सुवर्णमिति वक्तव्ये सुसुवर्णमिति ब्रवीति ।

परिहारकद्वारमाह—

परिहारियमउर्विते, उवियमणद्धाएँ णिव्विसंते वा ।

कुच्छियकुले य पविसइ, वा जइ णाउट्टणे कलहो ।

गुरुलानवाद्यादीनां यत्र प्रायोग्यं लभ्यते तानि कुलानि पारिहारिकारणयुच्यन्ते, एकं गीतार्थसंघाटकं मुक्त्वा शेषसंघाटकानां परिहारमर्हन्तीति व्युत्पत्तेः । तानि यदि न स्थापयति, स्थापितानि वा अनर्थं निष्कारणं निर्व्विशति, प्रविशतीत्यर्थः । यद्वा—पारिहारिकाणिनाम कुत्सितानि ज्ञात्यादिजुगुप्सितानीति भावः । तेषु कुत्रेषु प्रविशति । एतेषु स्थानेषु यदि नावर्तते न वा तेषु प्रवेशादुपरमते ततः कलहो भवति ।

देशकथा—

देसकहा परिकट्टणे, एके एके व देसरागम्मि ।

सोरद्धदेस एगे, दाहिण वीयम्मि अदिगरणं ।

न वर्त्तते साधूनामीदृशी कथा कथयितुम् । स ग्राह-कोऽसि त्वं?, येनैवं मां वारयसि । तथाऽप्यस्थिते अनुपरते सत्यधिकरणं भवति । यद्वा—(एकेके व देसरागम्मि चि) एकः साधुः सुराष्ट्रं वर्णयति, यथा रमणीयः सुराष्ट्रो विषयः । द्वितीयः ग्राह-कूपमणुक ! त्वं किं जानासि?, दक्षिणापथ एव प्रभानो देशः । एवमेकैकदेशरागेणोत्तरप्रत्युत्तरिकं कुर्वाणयोरधिकरणं भवति । वृ० १ उ० । नि० चू० ।

(६) उत्पत्ते च व्युपशमनीयमेव नोपेक्षणीयम्—

एवमुत्पत्ते अधिकरणे किं कर्त्तव्यम् ?, इत्याह—

जो जस्स उ उवसमई, त्रिज्जभवणं तस्स तेण कायव्वं ।

जो उ उवेइ कुज्जा, आवज्जइ मासियं लहुगं ॥

यः साधुर्यस्य साधोः प्रज्ञापनया उपशाम्यति तस्य तेन साधुना विद्यापनं क्रोधाग्निनिर्वापणं कर्त्तव्यम् । यः पुनः साधुरूपेणां कुर्यात् स आपद्यते मासिकं लघुकम् ।

लहुओ उ उवेहाए, गुरुओ सो चेव उवहसंतस्स ।

उच्छुयमाणा लहुगा, सहायगत्ते सरिसदोसा ॥

उपेक्षां कुर्वाणस्य लघुको मासः; उपहसत एव मासो गुरुकः । अथ उत्प्रावल्येन तुदति अधिकरणं करोति, विशेषत उच्छेजयतीत्यर्थः । ततश्चत्वारो लघुकाः । अथ कलहं कुर्वतः सहायकत्वं साहाय्यं करोति, ततोऽसावधिकरणकृता सहसदृशदोष इति कृत्वा सदृशं प्रायश्चित्तमापद्यते, चतुर्गुरुकमित्यर्थः ।

तथा चाऽऽह—

चउरो चउगुरु अहवा, विसेसिया होंति भिक्खुमाईणं ।

अहवा चउगुरुगादी, हवन्ति उच्छेदनिट्टवणा ॥

त्रिबुध्वभोषाध्यायाचार्याणामधिकरणं कुर्वतां प्रत्येकं चतुर्गुरुकम्, ततश्चत्वारश्चतुर्गुरुका भवन्ति । अथवा त एव चतुर्गुरुकाः,

भक्तोपधिनास्याविषयसंयोजनम् । वृ० १ उ० ।

इयाणि णिसिरणा कुविधा-ओइया, ओउत्तरिया, (लोइया) णिसिरणे तिविधा-सहसा पमापण ; अणानोगेण य, पुआइ-ट्टेण जोगेण । किंचि सहसा णिसरति पंचविधपमायत्तरेण पमत्तो णिसरति, एतंत विस्सति अणामोगो तेण णिसरति । नि० चू० ४ उ० ।

निसर्जनाधिकरणमपि लौकिकम्-शुश्रूक्षिकचक्रपापाणादीनां निसर्जनम् । लोकोत्तरिकं तु सहसाकारादिना यत्कण्टककट्टरादीनां भक्तपानान्तःपतितानां निसर्जनम् । वृ० १ उ० ।

इयाणि णिव्वत्तणादिसु पच्चित्तं, तत्थ णिव्वत्तणे मूलादि पच्चत्तं । पणिदियादी णिव्वत्तये तस्स अभिक्खमेवं दुच्च पढमवारप मूलं, वितियवारप अणवत्तं, ततियवारप पारंत्तियं, अधवा जं ओह कमति संघट्टणादिकं आयाविरादणादिपिप्पयं वा ।

एणिदियमादीसु तु, मूलं अधवा वि होति सट्ठाणं ।

कुसिरैतरनिप्पयं, उचरकरणांमि पुव्वुत्तं ॥ २४४ ॥

पणिदियं जाव पंचिदियं णिव्वत्ते, तस्स मूत्तं, अहवा वि होति सट्ठाणं ति "उक्कायचउत्तु" गाहा । परित्तं णिव्वत्तेति चउत्तुत्तुं, अण्यंते चउत्तुत्तुं, वेइदिपहिं उ लत्तु, वेइदिप उत्तुत्तुं, चउत्तिदिपहिं वेदो, पंचेदिप मूलं, उचरकरणे कुसिराकुसिरणिप्पयं पुव्वुत्तं, इहय पढमुत्तं पढमसुत्ते णिक्खिव्वसंजोगणिस्सिरणेसु इमं पच्चित्तं-

तिय मासिय तिग पणए, एणित्थवसंजोगगुरुगलहुगा वा ।

कुसिरैतरसंतरणिंरं-तरे य वुत्तं णिसरणंमि ॥ २४५ ॥

सत्तजंगीय पढमवितियततिपसु भंगेसु मासवत्तुं, चउत्तपंचमत्तुत्तु पणए, चरिमो सुत्तो तथकाव्वितेसितो कायव्वो । आहारे उचकरणे वा पगे चउत्तुत्तुं, दांसु चउत्तुत्तुं । अहवा-सामरणेण आहारे चउत्तुत्तुं, उचकरणे वत्तुत्तुं, णिसिरणे कुसिरा अउत्तुत्तुं य संतरणिंरंतेरेसु वुत्तं पच्चित्तं पढमसुत्ते । दव्वाहि-करणे गयं । नि० चू० ४ उ० ।

अथ भावाधिकरणमाह-

अह तिरिय उक्ककरणे, वंथण निव्वत्तणा य निक्खित्तवणं ।

उवसमत्तएण उव्वं, उदएण भवे अहिगरणं ॥

इह श्रोधादीनामुदयो भावाधिकरणमित्युक्तम् । अतस्तेषामेवाधस्तियगृह्णकरणे अधोगतिनयने तिर्यगातिनयने ऊर्ध्वगतिनयने च स्वरूपं वक्तव्यम् । वृ० १ उ० ।

(३) अधिकरणं च न करणीयम्-

अहिगरणकडस्स निक्खुणो, वयमाणस्स पसज्ज दावणं ।

अट्ठे परिहायती बहू, अहिगरणं न करिज्ज पणिं ॥ १९॥

अधिकरणं कडहः, तत्करोति तच्छ्रौलक्ष्येयधिकरणकरः । तस्यैवंचूतस्य भिक्कोः, तथाधिकरणकरो दावणां प्रयानकां वा प्रसज्ज प्रकटमेव, बाचं ध्रुवतः सतोऽर्धोऽर्धोऽर्धः, तत्कारणतूतो वा संयमः, स बहु परिहीयते चंसमुपयाति । इदमुक्तं भवति-बहुना कालेन यदाजितं विप्रकृष्टेन तपसा महत्पुण्यं तत्कडहं कुर्वतः परोपधातिनीं च वाचं ध्रुवतस्तत्क्षणमेव चंसमुपयाति । तथाहि-
" जं अज्जियं समील-ल्लपहिं तव नियमवममरुहिं । माहुतयं कलहता, छुडे अह सागपचेहिं " इत्येवं मत्वा मनागप्याधिकरणं न कुर्यात् परिश्रुतः सदसद्विवेकोति । सूत्र० १ सु० २ अ० ३ उ० ।

(४) कृत्वा तु व्युपशमनीयम्-

जिक्खू य अहिगरणं कडुत्तं अहिगरणं विवसमिच्चा वि ओसइयपाहुमे; इच्छाए परो आदाइज्जा, [इच्छाए परो नो आदाइज्जा,] इच्छाए परो अब्बुट्टेज्जा, [इच्छाए परो नो अब्बुट्टेज्जा,] इच्छाए परो वंदिज्जा, इच्छाए परो नो वंदिज्जा, इच्छाए परो संजुंजेज्जा, इच्छाए परो नो संजुंजेज्जा, इच्छाए परो संवसिज्जा, इच्छाए परो नो संवसिज्जा, इच्छाए परो उवसमिज्जा; जो उवसमइ तस्स अत्थि आराइणा, जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराइणा । तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं स किमाहु-जंते ! ; उवसमसारं सामन्नं ॥

भिक्खुः सामान्यः साधुः, चशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादाचार्योपाध्यायावपि शृण्वेते । अधिक्रियते नरकगतिगमनयोग्यतां प्राप्यते आत्मा अनेनेत्यधिकरणम्, कडहः प्राप्नुतमित्येकार्थाः । तत्कृत्वा तथाविधरूप्येकत्रादिसाविध्योपबृंहितकथायः मोहनीयोदयो द्वितीयसाधुना सह विधायः ततः स्वयमन्योपदेशेन वा परिभिद्येत तस्यैहिकामुष्मिकापायबहुलं तां तदधिकरणं विविधमनेकैः प्रकारैः सापराधप्रतिपत्तिपुरस्सरं मिथ्याउक्कृतप्रदानेन तां व्युपशमय्य उपशमं नीत्वा ततो विशेषेण वासायितमवसानं नीतं प्राप्नुतं कडहो येनाप्यवसायितप्राप्नुतो व्युत्सृष्टकडहो भवेत् । किमुक्तं भवति-शुद्धसकाशे स्वच्छास्मरितमासौख्यं, तत्प्रदत्तप्रायश्चित्तं च यथावत्प्रतिपद्य, चूयस्तदकरणायाच्युत्तिष्ठेत् । आह-येन सह तदधिकरणमुत्पन्नं स व्युपशम्यमानो-ऽपि नोपशम्यति ततः को विधिः, इत्याह-"इच्छाए परो आदाइज्जा" इत्यादि सूत्रम् । इच्छाया यथा स्वरूपस्यापारमाश्रियेत, प्रागेव संभाषणादिमिरादरं कुर्याद्वा न वेति भावः । एवमिच्छया परस्तमच्युत्तिष्ठेत् । इच्छया परो न साधुना सह संजुञ्जीत, एकमएकल्यां भोजनं दानप्रदण्यसंभोगं वा कुर्यात् । इच्छया परो न संजुञ्जीत । इच्छया परस्तेन साधुना सह संवसेत्, समेकी-नृत्यैकत्रोपाध्ये वसेत्, इच्छया परो न संवसेत् । इच्छया पर उपशम्येत् । परं य उपशम्यति कथायतापापगमेन निवृत्तो भवति तस्यास्ति सम्यग्दर्शनादीनामाराधना, यस्तु नोपशम्यति तस्य नास्ति तेषामाराधना, तस्मादेवं विचिन्त्यात्मनैवोपशान्त्युपशमः कर्त्तव्यः । शिष्यः प्राह-[स किमाहु-जंते !] अथ किमत्र कारणमाहुर्मदन्त ! परमकल्याणयोगिनस्तीर्थकरादयः ? । स्मृतिराह-उपशमसारं श्रामण्यं, तद्विहीनस्य निष्फलतयाभिधानात् । उक्तं च दशवैकालिकनिर्युक्तौ-"सामन्नमणुचरंत-स्स कसाथा जस्स उक्कडा होति । मज्झमि उच्छुपुप्फं, च निष्फलं तस्स सामन्नं " ॥ १ ॥ इति सूत्रार्थः ।

अथ विपमपदानि भाष्यकृद् विवृणोति-

धेप्पंति चसदेणं, आयरिया जिक्खुणीओ अ ।

अहवा जिक्खुगइणा, गइणं खट्ठु होइ सव्वेसिं ॥

इह सूत्रे भिक्खुश्चेति यश्चशब्दः, तेन गणी, उपाध्यायः, तथा आचार्यो, भिक्खुणश्च गृह्यन्ते । अथवा-भिक्खुपदोपादानात् सर्वेषामप्याचार्यादीनां ग्रहणे तज्जातीयानां सर्वेषां ग्रहणमिति वचनात् ।

स्वामिय विनासिय विणा-सियं च खवियं च होइ एगट्ठा ।

पाहुण पहेण पणयण, एगठा ते उ निरयस्सा ॥

पि प्रविष्टः, तयोश्च युक्ते लभेऽसहवेदनात्तैर्न हस्तिना वनखण्डस्य
शूर्पं कृतमिति, एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः—यथा तेषामुपेक्ष-
माणानां तत्पक्षसरः सर्वेषामप्याश्रयभूतं विनष्टं, तस्मिँश्च विन-
श्यमाने तेऽपि विनष्टाः, एवमत्राप्याचार्यादीनामुपेक्षमाणानां
महान् दोष उपजायते । कयमिति चेत् ? उच्यते—इह तावधि-
करणकारिणां लुपेक्षितौ परस्परं मुष्टामुष्टि वा दण्डादपि वा
युध्येतां, ततश्च परम्परया राजकुले ज्ञाते सति महान् दोषः, यतः
स राजादिस्तेषां साधूनां बन्धनं वा, ग्रामनगरादनिष्कासनं
वा, कण्टकमर्दनं वा कुर्यात् ।

किञ्चान्यत्—

तावो भेदो अयसो, हाणी दंसणचरित्तनाणाणं ।

साहुपदोसो संसा-रवट्ठणो सादिकरणस्त ॥

तापो, भेदो, अयसो, हानिर्दर्शनज्ञानचारित्राणां, तथा-साधुप्र-
द्वेषः संसारवर्जनो जवति, एते साधिकरणस्य दोषा भवन्तीति
समासार्थः ।

अथैनामेव गाथां विवृणोति—

अइजणिय अजणिए वा, तावो जेदो उ जीवचरणणं ।

रुवसरिसं न सीलं, जिम्हं मषे अयस एवं ॥

तापो द्विधा—प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । तत्रातिभणिते सति चिन्तय-
ति-धिक्कां येन तदानीं स साधुर्वहुनिर्विधैरसद्व्याख्यानैरभ्या-
स्यतः—इत्यमित्थं चाक्रुष्टः, एष प्रशस्तस्ताप उच्यते । अथाभणितं
न तथाविधं तस्य मुखे जणितं, ततश्चिन्तयति—हा ! मन्दज्ज्ञास्यो
विस्मरणशीलोऽहं यन्मया तदीयं जात्यादिमर्मनिकुरम्बनं प्रका-
शितं, एष अप्रशस्तस्तापो मन्तव्यः । तथा कलहं कृत्वा जीवि-
तजेदं चरणजेदं वा कुर्यात्, पश्चात्तापात्तत्तत्तत्सो विहायसादि-
मरणमभ्युपगच्छेयुः, उन्निष्क्रमणं वा कुर्यादिति ज्ञावः । लोकोऽपि
ब्रूयात्—अहो ! अमीषां भ्रमणानां रूपसदृशं बहिः प्रशान्ताकारं रूप-
मवलोभ्यते, तादृशं शीघ्रं मनःप्रणिधानं नास्ति । यद्वा—किम् ?
मन्ये जिह्वं लज्जनीयं किमप्यनेन कृतं, येनैवं प्रमत्तानवदनो ह-
स्यते, एवमादिकमयशः समुच्छद्यति ।

आकुट्ट तालिए वा, पक्खापक्खि कलहम्मि गणभेदो ।

एगयर सूयएहिँ व, रायादि सिट्ठे गहणादी ॥

जकारमकारादिभिर्ध्वनैराकृष्टे, तान्निते वा चपेटादृष्टादि-
भिराहते सति, पक्षापक्षि परस्परपक्षपरिग्रहेण साधूनां कलहे
जाते सति गणभेदो जवति, तथा-तयोः पक्षयोर्मध्यादेकतरपक्षेण
राजकुलं गत्वा शिष्टे कथिते सति, सूचकैर्वा राजपुरुषविशेषैः
राजादीनां ज्ञापिते ब्रह्मण्यार्कण्यदयो दोषा जवन्ति ।

वत्तकलहो वि न पदइ—ज वत्तलत्तं यदंमणे हाणी ।

जह कोहाइविवट्ठी, तह हाणी होइ चरणे वि ॥

वृत्तकलहोऽपि कलहकरणोत्तरकालमपि कषायकश्रुतितः प-
श्चात्तापतत्तमानसो वा यत्र पठति, तेन ज्ञानपरिहाणिः, साधौ प्रद्वे-
यिते साधार्मिकवात्सल्यं विराधितं भवति, अवात्सल्ये च दर्शन-
परिहाणिः, यथा च क्रोधादीनां कषायाणां वृद्धिस्तथा चरणे-
ऽपि चारित्रस्य परिहाणिर्भवति, विद्युत्संयमस्थानप्रति-
घातेनाविद्युत्संयमस्थानेषु गमनं भवतीत्यर्थः । एतच्च व्यव-
हारमाधित्योक्तम् ।

निश्चयतस्तु—

अकसायं खु चरित्तं, कसायसहितो न संजओ होइ ।

सादूण पदेसेण य, संसारं सो विवहेइ ।

खुशब्दस्यैवकारार्थत्वादकषायमेव कषायविरहितमेव चारित्र्यं
मगवद्भिः प्रकृतम्, अतो निश्चयनयाजिप्रायेण कषायसाहितः संयत
एव न भवति, चारित्र्यशून्यत्वात् । तथा साधूनामुपरि यः प्रद्वे-
पस्तेनासौ संसारं वर्जयति, दीर्घतरं करोति । यत एते दोषा-
स्तत उपेक्षा न विधेया ।

किं पुनस्तर्हि कर्तव्यम् ? इत्याह—

आगाढे अहिगरणे, उवसम अवकट्ठणा य गुरुवयणं ।

उवसमह कुणह जायं, बड्ढणया सायपत्तेहिँ ॥

आगाढे कर्कशे, अधिकरणे उत्पन्ने द्वयोरप्युपशमः कर्तव्यः ।
कथमित्याह—कलहायमानयोस्तयोः पार्श्वस्थितैः साधुनिरप-
कर्णमपसारणं कर्तव्यम्, गुरुभिश्चोपशमनार्थमिदं वचनमभि-
धातव्यम्—आर्याः ! उपशम्यतां पशाम्यत । अनुपशान्तानां कुतः
संयमः ? कुतो वा स्वाध्यायः ? तस्मादुपशमं कृत्वा स्वाध्यायं
कुरुत । किमेवं ह्रमकवत् कनकरसस्य शाकपत्रैः छर्दना परित्यागं
कुरुत ? । कः पुनरयं ह्रमकः ? उच्यते—

जहा—एगो परिव्वायगो दमगपुरिसं चितासोगसागराव-
गाढं पासति । पुच्छति य—किमेवं चितापरो ? तेण से सब्जा-
वो कहितो, दारिहाजिजुतो मि त्ति । तेण जसइ सो—इस्सरं
तुमं करेमि, जतो सीतातववातपरिस्समं अगणंतेहिँ
तिमाखुधावेयणं सहंतेहिँ वंजचारीहिँ अचित्तकंदमूलपत्त-
पुफफफशाहारीहिँ समीपत्तपुढएहिँ जावतो अरुसमाणं—
हिँ धेत्तव्वो । एस से उवचारो । तेण दमगेण सो कणगरसो
उवचारेण गहितो, तुंवयं भरितं । ततो णिग्गतो तेण परि-
व्वायगेण भणियं-सुरुत्तेण वि तुमे एस सागपत्तेण ण छड्ढि-
यव्वो । ततो सो परिव्वायगो गच्छंतो दमगपुरिसं पुणो २
भणति—मम पत्तावेण ईसरो जविस्सासि । सो य पुणो २
वज्जमाणो रुट्ठो भणति—जं तुज्झ पसाएण इस्सरत्तणं, तेण
मे न कज्जं, तं कणगरसं सागपत्तेण ढड्ढेति । ताहे परिव्वा-
यगेण जणियं—हा हा दुरात्मन ! किमेयं तुमे कयं ? ।

जं अज्जियं समीख—जएहिँ तवनियमवंजमइएहिँ ।

तं दाणि पच्छ नाहिँह, ढड्ढंतो सागपत्तेहिँ ॥

यद्वर्जितं शमोसंबन्धिभिः खल्लकैः पत्रपुटैस्तपोनियमब्रह्म-
युक्तैः तदिदानीं शाकपत्रैः परित्यज्य पश्चात्परित्यागकाला-
दूर्द्धमुपरि तं ज्ञास्यासि, यथा—दुष्टु मया कृतं, यच्चिरसंचितः
कनकरसः शाकपत्रैरुत्सिच्य परित्यक्तः । एवं परित्राजकेषु
द्रमक उपालब्धः । अथाचार्यस्तावधिकरणकारिणां लुपालभते ।
अर्चा यच्चारित्रं कनकरसस्थानीयं तपोनियमब्रह्मचर्यमयैः श-
मीखल्लकैरर्जितं परीषहोपसर्गादिभ्रमं न गणयसि, चिरात्कथं
कयमपि मीक्षितं तदिदानीं शाकपत्रसदृशैः कषादैः परित्यजन्तः
पश्चात्परित्यक्तमानसनाः स्वयमेव ज्ञास्यासि । यथा—हा ! बहुका-
लोपार्जितेन संयमकनकरसेन तुम्बकस्थानीयं स्वजीवबहुचूर्णं

तपःकाव्यविशेषिता भवन्ति । तद्यथा-जिज्ञोष्यतुर्गुरुकं तपसा, कालेन च व्युत्क्रमम् । वृषभस्य तदेव कालगुरुकम् । उपाध्यायस्य तपेगुरुकम् । आचार्यस्य तपसा कावेन च गुरुकम् । अथवा चतुर्गुरुकादारभ्य ऋदे निष्ठापना कर्त्तव्या । तद्यथा-जिज्ञुराधिकरणं करोति चेत् चतुर्गुरुकम् । वृषभस्य परुल्लघुकम् । उपाध्यायस्य परुगुरुकम् । आचार्यस्याधिकरणं कुर्वाणस्य ऋद् इति । यथा वाऽधिकरणकरणे आदेशतयेन प्रायश्चित्तमुक्तम्, तथा साहाय्यकरणेऽपि ऋष्यव्यमः समानदोषत्वात् ।

अथोपेक्षाव्याख्यानमाह-

परपत्तिया न किरिया, मोत्तु परट्टं च जयसु आयट्टे ।

आवि य उवेहा युत्ता, गुणो वि दोसो हवइ एवं ॥

इहाधिकरणं कुर्वतो इष्टा मध्यस्थभावेन तिष्ठति, नाप्येवमप्युपदेशं प्रयच्छति । यतः परपत्तया या क्रिया कर्मसंबन्धः सा अस्माकं न ज्ञाति, परकृतस्य कर्मण आत्मनि संक्रमाभावात् । तथा यद्येतावाधिकरणादुपशम्येते, ततः परार्थेऽन्यो ज्ञवति । तं च परार्थं मुक्ता यदि मोक्षार्थिनस्तत आत्मार्थ एव स्वाध्यायादिके यतश्च यत्नं कुरुत । अपि चेत्यन्युच्यते । ओघनिर्युक्तिशब्देऽप्युपेक्षा संयमाङ्गतया प्रोक्ता-“ उवेहा संजमो बुत्तो ” इति वचनान् । यद्वा-मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यागि सत्त्वगुणाधिकाङ्गि इयमानाविनेषु मध्ये स्थापयन् या उपेक्षा प्रोक्ता ततः सैव साधूनां कर्तुमुचितेति ज्ञावः । अथ सरिराह-“ गुणो वि दोसो हवइ ” यदिदमविनेषु माध्यस्थ्यमुपदिष्टं तद् संयतापेक्षया, न पुनः संयतानङ्गीकृत्य; यस्मादसंयतेष्वियमुपेक्षा क्रियमाणा गुणः, संयतेषु क्रियमाणा महान् दोषो नवति । उक्तं चौघनिर्युक्ता-ध्वपि-“ संजयगिदचोयणाचोयणे य वावार उवेहा ।

अथ 'परपत्तिया न किरिय ति' पदं भावयति-

जइ परो पमिसेविका, पावियं पमिसेवणं ।

मज्ज मोणं चरंतस्स, के अट्टे परिहायई ? ॥

यदि पर आत्मव्यतिरिक्तः पापिकामकुशलकर्मोपाधिकरणादिकां प्रतिसेवनां प्रतिसेवते ततो मम मौनमाचरतः को नाम ज्ञानादीनां मध्यादर्थः परिहीयते ? न कोऽपीत्यर्थः ॥

अथ 'मोत्तु परट्टं च जयसु आयट्टे' इति पदं व्याचष्टे-

आयट्टे उवउत्ता, मा परमड वावका होइ ।

इंदि परट्टाउत्ता, आयट्टविणासगा होंति ॥

आत्मायां नाम ज्ञानदर्शनचारित्र्यरूपं पारमार्थिकं स्वकार्यम्, तत्रोपयुक्ता ज्ञवत । मा परकार्ये अधिकरणोपशमनादौ व्यापृता ज्ञवत । इंदिति हेतुप्रदर्शने, यस्मात्परार्थायुक्ता आत्मार्थविनाशकाः स्वाध्यायध्यानाद्यात्मकार्यपरिमन्यकारिणो भवन्ति ।

अथोपहसनोत्तेजनाद्वारे युगपद् व्याचष्टे-

एसो वि ताव दमयतु, हसइ व तस्सोमयाएँ ओहसणा ।

उत्तरदाणं तह मो-सराहि अह होइ चत्तअणा ॥

द्वयोधिकरणं कुर्वतोरेकस्मिन् सीदति सति आचार्योऽन्यो वा ब्रवीति-पयोऽपि तावददान्तपूर्वः, दम्यतामिदानीमनेन, यदि वा तस्वावमतायाः, पश्चात्करणे इत्यर्थः ; स्वयमहंहासैकपहसति, एतदुपहसनमुच्यते । तथा नयोर्मध्याधः सीदति तस्योत्तरदा-

नभ-अमुकममुकं च श्रुहि इत्येवं शिक्षापणम्, यद्वा-मा अमुष्माद-पसरत्वं, इदीचुय तथा लग यथा न तेन पराजीयसे । अथैषा उत्तेजनाऽजिघीयते ॥

अथ साहाय्यकरणं व्याख्यानयति-

वायाए इत्येहिं, पाएहिं व दंतद्वारुमादीहिं ।

जो कुणइ सहायत्तं, समाणदोसं तयं विति ॥

द्वयोः कलहायमानयोर्मध्यादेकस्य पक्षे सूत्वा यः कोऽपि वाचा हस्ताभ्यां वा पद्भ्यां वा दन्तैर्वा लघुकादिभिर्वा साहाय्यं करोति, तं तेनाधिकरणकारिणा सह समानदोषं तीर्थकरादयो भुवते ।

अथाचार्याणामुपेक्षां कुर्वाणानां सामान्येन वा अधिकरणे

अनुपशम्यमाने दोषदर्शनार्थमिदमुदाहरणमुच्यते-

अरत्तमज्जे एगं सव्वतो वणसंदमहिंयं महंतं सरं अत्थि ।
तत्थ य बहुणि जलचरथलचरखदचरसत्ताणि अचंति ।
तत्थ एगं महत्तं इत्थिजुहं परिवसइ, अन्नया य गिएहकाले
तं इत्थिजुहं पाणियं पाठं एहाउत्तिन्नं मज्जाएहदेसकाले
सीयल्लखलगायाए सुहं सुहेणं चिट्ठइ । तत्थ य अदूरदेसे
दो सरना भंजिउमारप्पा । वणदेवयाए अंते दहुं सव्वेसिं
सज्जासाए आघोसियं-

“नागा! वा जलवासीया!, सुणेह तसथावरा ! ।

सरना जत्थ भंजति, अज्जावो परियत्तइ” ॥ १ ॥

ता मा एते सरदे उवेक्खवइ, वारेइ तुम्हे । एवं जणिया वि ते जलचरा ऽणो चिंतेति-किं अमहं एते सरना जडंता काहिंति? । तत्थ य एगो सरदो तो पिड्ढितो सो धाम्मिज्जंतो सुहपमुत्तस्स एगस्स जूहाहिवस्स विलं ति काउं नासापुहं पविट्ठो । विड्ढो वि तस्स पिड्ढो चेव पविट्ठो; ते सिरकपाले जुल्लं संपलगा । तस्स इत्थिस्स महती अरई जाया । तज्जो वेयणट्ठे मेहइए असमाहीए वट्टमाणो उट्टेत्ता तं वणसंनं चूरेइ । बहवे तत्थ विस्संता धाइया, जलं च आदोहितेण जलचरा धाइया, तद्वाग-पाली य जेइया, तद्वागं विणट्ठं, ताहे जलचरा सव्वे वि णट्ठा ।

जो नागा हस्तिनः ! जलवासिनो मत्स्यकच्छपादयः ! अपरे च ये वसा भृगपञ्चपक्षिप्रभृतयः ! स्थावराश्च सहकारादयो वृक्षाः !, एते सर्वेऽपि यूयं शृणुत मदीयं वचनम्-यत्र सरसि सरदौ मण्डितः-कलहं कुरुतः ; तस्याज्जावः परिवर्तते, विनाशः संभाव्यत इति भावः ।

अमुमेवार्थमाह-

वणसंदसरे जलथल-खदचरवीसमण देवथाकहणं ।

वारेइ सरदुवेक्खण, धारुण गयनास चूरणया ॥

वनक्षपणमिते सरसि जलथलखदचराणां विभ्रमणं, तत्र सरदजल-नं हृष्टा वनदेवतया, 'नागा वा जलवासीया' इत्यादि श्लोककथनं कृत्वा धारयत सरदौ कलहायमानावित्युपदिष्टम् । ततश्च तैर्नागादिभिः सरदयोऽपेक्ष्यं कृतम्, एकस्य च सरदस्य द्वितीयेन घाटनं कृतं, ततोऽसौ घाट्यमानो गजनासापुहं प्रविष्टवान् । तत्पृष्ठतोऽद्वितीयोऽ-

वश्यकवेद्यायाम् । एवं चतुरो धारानेकैकस्मिन् दिने नोद्यते, तच्चाधिकरणं प्रभाते प्रतिक्रान्तानां स्वाध्याये अग्रस्थापिते ।

एवमादौ कारणे तदुत्पद्यते-

दुष्पट्टिज्ञेहियमादिसु, नोदिर्षं सम्मं अपन्निवज्जचे ।

ए वि पट्टवैति उवसम-कादो ए सुच्छोजियं वाऽसी ॥

दुष्पत्युपेक्षितं कुर्वन्; आदिशब्दादत्युपेक्षमाणः, असामाचार्या वा प्रत्युपेक्षमाणो नोदितः सम्यग् यदि न प्रतिपद्यते, ततो अधिकरणं भवेत् । उत्पन्ने चाधिकरणे यदि स्वाध्यायेऽग्रस्थापिते स्वयमेवोपशान्तस्ततः सुन्दरम् । अथ नोपशान्तस्ततो यः प्रस्थापनार्थमुपतिष्ठते स धारणीयः । यथा-तिष्ठतु तावद् यावत् सर्वे पि नो मिलिताः, तत आगतेषु सर्वेषु सूरयो भुवते-आर्याः ! पश्यत इमे साधवः स्वाध्यायं न प्रस्थापयन्ति । ते चेष्टोत्तरं प्रयच्छन्त्यवश्यं-कालो न शुक्रः, पराजितं तेषां साधूनां सूत्र-भुतं, ततो न स्थापयन्ति । एवं भणतो मासगुरु, साधवश्च सर्वेऽपि प्रस्थापयन्ति स्वाध्यायं च कुर्वन्ति ।

काले प्रतिक्रान्ते जिज्ञावेलायां जातायामिदमाचार्यो ज्ञेयन्ते-

णोतरण अज्जत्तही, ण च वेद्वा अज्जुण्णाऽजिष्णं ।

ण य पन्निमंति उवसम, णिरतीयारा तु पच्छाऽऽह ॥

आर्य ! साधवस्त्यदीयेनानुपशमनेन भिक्षां नावचरन्ति, तत उपशमं कुरु । स चेष्टोत्तरं प्राह-यूयमभक्तार्थिनो, न वा जिज्ञावेद्वा, एवमुक्ते सर्वेऽप्यवतरन्ति, तस्यामुपशान्तस्य द्वितीयं मास-गुरु । जिज्ञानिवृत्तेषु साधुषु गुरवो ज्ञान्ति-आर्य ! साधवो न भुञ्जते । स प्राह-नूनं साधूनां न जीर्णम् । एवमुक्ते सर्वेऽपि समु-दिता जुञ्जते, तस्य पुनस्तृतीयं मासगुरु । चूयोऽपि प्रतिक्रमणवे-लायां भणन्ति-आर्य ! साधवो न प्रतिक्रामन्ति, उपशमं कुरु । न चेष्टोत्तरं प्रत्याह-तुरिति वितर्के, संभावयाम्यहं निरतीचाराः भ्रमणास्तेन न प्रतिक्रामन्ति, एवमुक्ते सर्वेऽपि प्रतिक्रामन्ति । तस्य पुनश्चतुर्थं मासगुरु । एवं प्रभातकाले अधिकरणे उत्पन्ने विधिरुक्तः ।

अन्नस्मि वि कादम्मी, पढंत हिंदंत मंडवाऽवस्से ।

तिन्नि व दोषि व मामा, होंति पडिक्कंत गुरुगा उ ॥

अथान्यास्मिन् काले अधिकरणमुत्पन्नम्, कवेत्याह-पठतां दीना-धिकादिपठने, भिक्षां दिपुरुमानानां, मयमल्यां वा समुद्दिशतामा-वश्यके वा । तत्र यदि द्वितीयवेलायामधिकरणमुत्पन्नं तदा त्रयो गुरुमासाः, चतुर्थवेलायामुत्पन्ने अनुपशान्तस्य द्वौ गुरुमा-सौ, एवं विज्ञाया कर्त्तव्या । अथ प्रतिक्रान्ते प्रतिक्रमणे कृते-ऽपि नोपशान्तस्ततश्चतुर्गुरुकाः ।

एवं दिवसे दिवसे, चाउकाले तु सारणा तस्म ।

जति वारे ए सारेति, गुरुण गुरुगो तु तति वारे ॥

एवमनुपशान्तस्य दिवसे दिवसे चतुष्काले स्वाध्यायप्रस्था-पनादिसमयरूपे, तस्य सारणा कर्त्तव्या । यदि यावतो धारान् आचार्यो न सारयति तावतो धारान् मासगुरुकाणि भवन्ति ।

एवं तु अगीतत्ये, गीतत्ये सारिए गुरु मुद्धो ।

जति तं गुरु ए सारं, आवत्ती होइ दोएहं पि ।

एवं दिने दिने सारणाविधिरगीतार्थस्य कर्त्तव्यः, यस्तु गीतार्थः स यद्येकं दिनं स्वाध्यायजिज्ञासकार्थनावश्यकद्वयोषु चतुर्षु स्थानेषु सारितस्तदा परतस्तमसारयन्नपि गुरुः शुक्रः, यन्नि पुन-

स्तमगीतार्थं गीतार्थं वा गुरुं सारयति ततो द्वयोरप्याचार्य-स्यानुपशान्तस्य प्रायश्चित्तस्यापत्तिः । अन्ये भुवते-अगीतार्थ-स्यानुपशान्तस्योऽपि नास्ति प्रायश्चित्तं, यस्तु गुरुगीतार्थं न नोदयति, तस्य प्रायश्चित्तम् ।

गच्छो य दोषि मासे, पक्खे पक्खे इमं परिहवइ ।

जत्तणसज्जायं, वंदण लावं ततो परेण ॥

एवमनुपशान्तस्य गच्छो द्वौ मासौ सारयति, इदं पुनः पक्के पक्के परिहृयति । तद्यथा-अनुपशान्तस्य पक्के गते गच्छे तेन सार्द्धं भक्तार्थं न करोति, न गृह्णाति वा, न वा किमपि तस्यं ददातीत्यर्थः । द्वितीये पक्के गते स्वाध्यायं तेन समं न करोति, तृतीये पक्के गते वन्दनं न करोति, चतुर्थोऽपि पक्को यदा गतो भ-वति ततः परमाद्यापमपि तेन सार्द्धं वर्जयति ।

आयरिय चउर मासे, संजुजति चउर देइ सज्जायं ।

वंदणलावे चउरो, तेण परं मूळनिच्छुजणा ॥

आचार्यः पुनश्चतुरो मासान् सर्वैरपि प्रकारैस्तेन समं संजु-क्ते, ततः परं चतुरो मासान् जकार्यं वर्जयति, स्वाध्यायं तु ददाति । ततश्चतुरो मासान् स्वाध्यायं परिहृत्य वन्दनालापौ द-दाति, ततः परं वर्षे पूर्णे सांवत्सरिके प्रतिक्रान्तेऽनुपशान्तस्य गणाक्षिकासनं कर्त्तव्यम् ।

एवं वारसमासे, दोसु तवो सेसए जवे वेदो ।

परिहीयमाण तद्वि-से तव मूळं पडिक्कंते ॥

एवं द्वादशमास्यामप्यनुपशान्तोऽद्वयोरपि मासयोर्थावक-च्छेन विसर्जितस्तावत्तपः प्रायश्चित्तमेव, शेषेषु दशसु मासेषु पञ्चरात्रिदिवं वेदो यावत्सांवत्सरिकम्, एवं प्राप्तं जवाति-पर्यु-षणारात्रौ प्रतिक्रान्तानामधिकरण उत्पन्ने एव विधिरुक्तः । (प-रिहायमाण तद्वि-से तव मूळं पडिक्कंते) पर्युषणापारणकदिनादैकैकदिवसेन परिहीयता, तावत्तपः यावत्तद्वि-से, पर्युषणादिवस एवाधिकरण उत्पन्ने तत्र तपो मूलं वा भवति तच्छेदः । अथ प्रतिक्रमणं कु-र्वतामुत्पन्नं ततः सांवत्सरिके कायोत्सर्गे कृते मूलं च केवलं भवति ।

एतदेव सुव्यक्तमाह-

एवं एकेकादिणे, हवेतु उवणादिणे वि एसेव ।

चेइयवंदणसारे, तम्मि वि कावे तिमासगुरु ॥

भारूपदशुद्धपञ्चम्यामनुदिते आदित्ये यद्यधिकरणमुत्पद्यते ततः पर्युषणायामप्यनुपशान्ते संवत्सरो जवाति । षष्ठ्यामुत्पन्ने एकदिवसो न संवत्सरः । सप्तम्यां दिवसद्वयम् । एवमेकैकं दिनं ह्यपयित्वा तावत्तपः यावत् प्रस्थापनादिनं पर्युषणादिवसः । तत्र वाऽनुदिते रवौ कदाह उत्पन्ने एवमेव नोदना कर्त्तव्या । प्रथमं स्वाध्यायप्रस्थापनं कर्तुकामैः सारणीयम्, ततश्चैत्यवन्दनार्थं गन्तुकामाः सारयेयुः । तत्राप्यनुपशान्ते प्रतिक्रमणवेलायां सार-यन्ति । एवं तस्मिन्नापि पर्युषणाकालदिवसे त्रिषु स्वाध्यायप्रस्था-पनादिषु स्थानेषु नोदितस्यानुपशान्तस्य त्रीणि मासगुरु-काणि भवन्ति ।

पडिक्कंते पुण मूळं, पन्निमंते व होज्ज अधिकरणं ।

संवच्छरमुस्सगो, कयम्मि मूळं न सेसाइं ॥

पर्युषणादिने सर्वेषामधिकरणानां व्यवच्छिन्तिः कर्त्तव्येतिह-

कृत्वा पश्चात्कलहायमानैः शाकवृक्षपत्रस्थानीयैः कपायैरु-
त्सिच्योत्सिच्यायमसारोक्तः, शिरस्तुण्डमुण्डनादिश्च प्रव-
न्याप्रयासो मुधैव विहित इति ।

आह-कथमेकमुद्धर्त्तमाविनाऽपि क्रोधादिना चिरसंचितं
चारित्रं क्षयमुपनीयते ? उच्यते—

जं अज्जियं चरित्तं, देसुणाए वि पुव्वकोणीए ।

तं पि य कसायमेतो, नातइ नरो मुहुत्तेण ॥

यदजितं चारित्रं देशोनयाऽप्यष्टवर्षाघ्ननयाऽपि पूर्वकोट्या तद-
पि स्तोकमल्पतरकालोपाजितमित्यपिशब्दार्थः । तदपि कपायि-
तमात्रः, उदीर्यमात्रक्रोधादिकपाय इत्यर्थः । नाशयति हारयति,
नरः पुरुषो, मुहुत्तेन, अन्तर्मुहुत्तेनेति भावः । यथा-प्रभूतकाल-
संचितोऽपि महान् वृषराशिः सक्तृत्वज्वालितेनापि अग्निना
क्षकलोऽपि भस्मसाद्भवति; एवं क्रोधानलेनापि सकृदुदीरितेन
चिरसंचितं चारित्रमपि भस्मीभयतीति हृदयम् । एवमाचा-
र्येण सामान्यतस्तयोरनुशिष्टिर्दातव्या, नस्येकमेव कञ्चन वि-
शिष्य भवनीयम् ।

यत आह—

आयरिणं न जणे अह, एग निवारेइ मासियं लहुगं ।

रागदोसविमुक्को, सोयपरसमो उ आयरिओ ॥

आचार्यो नैकमधिकरणकारिणं भणति अनुशास्ति । अथा-
चार्य एकमेव निवारयति अनुशास्ति न द्वितीयम्, ततो मा-
सिकं लघुकमपद्यते, असामाचार्यानिष्पद्यमिति भावः । त-
स्मादाचार्यो रागद्वेषविमुक्तः शीतगृहसमो भवेत् । शीतगृहं
नाम वर्दकिरत्ननिर्मितं चक्रवर्तिगृहम्; तस्य वर्षास्वनिघातप्र-
वातम्; शीतकाले सोष्मम्; ग्रीष्मकाले शीतलम्; यथा च तस्य-
कथार्चनः सर्वतुल्यं तथा क्रमकोदेरपि प्राक्तनपुरुषस्य तत्सर्व-
तुल्यमेव भवति । एवमाचार्येरापि निर्विशेषं भवितव्यम् ।

अथ विशेषं करोति, तत इमे दोषाः—

वारेइ एस एवं ; मयं न वारेइ पक्खरागेणं ।

बाहिरभाव गाढतर-गं तुपं च पक्खसी एक्कं ॥

एष आचार्य आत्मीयोऽयमिति बुद्ध्या अमुं वारयति; एवं प-
क्षरागेण क्रियमाणेन अननुशिष्यमाणः साधुर्वाह्यभावं गच्छ-
ति । यद्वा-स अननुशिष्यमाणो गाढतरमधिकरणं कुर्यात् । अ-
थवा-तमाचार्यं परिस्फुटमेव श्रूयात्-त्वं मामेवैकं बाह्यतया
प्रक्षसे, ततश्चात्मानमुद्धृत्य यदि भारयति, तत आचार्यस्य पा-
राङ्मिकम्; अथो निष्क्रामति ततो मूलम् । तस्मात् द्वावप्यनुशा-
सनीयौ, अनुशिष्टौ च यद्यनुशासितौ ततः सुन्दरम् । अथैक
उपशान्तो न द्वितीयः, तेन चोपशान्तेन गत्वा स स्वापराधप्र-
तिपत्तिपुरस्सरं क्षामितः, परमसौ नोपशम्यति । आह-कथ-
मेतदसौ जानाति यथाऽयं नोपशान्तः?, उच्यते-यदा वन्द्यमा-
नोऽपि न वन्दनं प्रतीच्छति । यदि वाऽवमरत्नकोऽसौ ततस्तं
रत्नाधिकं न वन्दते, आद्रियमाणोऽपि वा नाक्षयते ।

एवं तमनुपशान्तमुपलक्ष्य ततोऽसौ किं करोतीत्याह—

उवसंतोऽणुवसंतं, पासिज्जा विणवेइ आयरियं ।

तस्स उ पणवणट्ठा, निक्खेवो परो इमो होइ ॥

उपशान्तः साधुरनुपशान्तमपरं दृष्ट्वा आचार्यं विज्ञापयति—

कृमाधमणाः ! उपशान्तोऽहं, परमेय ज्येष्ठार्योऽमुको वा नोप-
शम्यति । तत आचार्योऽस्मस्य प्रज्ञापनार्थं परनिक्षेपं कुर्वन्ति ।
पृ० १ उ० । (स च परनिक्षेपः ' पर ' शब्द एव करिष्यते)

(५) अथ भावपरो व्याख्यायते, जावः कृपोपशमादिः, तद-
पेक्षया परो जावान्तरवर्त्ती, जावान्तरः स वेदोदयिकजावधु-
चिगृह्यते । तथा चाऽऽह—

आदणमञ्जुद्वाणं, वंदण संजुजणा य संवासो ।

एयाइं जो कुणइ, आराहण अकुणओ नत्थि ।

अकसायं निव्वाणं, सव्वोइं वि जिणवरोइं पवचं ।

सो लब्बइ भावपरो, जो उवसंतो अणुवसंतो ॥

आदरः, अभ्युत्थानं, वन्दनं, संभोजनं, संवासश्चेत्येतानि पदानि
य उपशान्तो नृत्वा करोति तस्याऽऽराधना अस्ति, यस्त्वेतानि
न करोति तस्याऽऽराधना नास्ति । एतेन "जो उवसमइ तस्स
अत्थि आराहणा" इत्यादिकः सूत्रावयवो व्याख्यातः । अथ
किमर्थमादरादिपदानामकरणे आराधना नास्ति?, इत्याह-अ-
कपायं कपायाभावसंभवि निर्वाणं सकलकर्मक्षयलक्षणं सर्वैरपि
जिनवैरः प्रकृतम् । अतो यः कश्चिदुपशान्तेऽपि साधयनुपशान्त
मादरादिपदानामकरणेन सकपायः स भावपरो लभ्यते, आद-
यिकभाववर्त्तित्वात् ।

अथाचार्यस्तमुपशान्तं सार्धं प्रज्ञापयन् प्रस्तुतयोजनां कुर्वन्नाह—

सो वट्ठइ उदइए, भावे तुं पुण खओवसमियम्मि ।

जइ सो तुइ जावपरो, एमेव य संजमतवार्यं ॥

नो मञ्ज ! द्वितीयः साधुरद्याप्यौदयिके भावे वर्तते; त्वं पुनः
क्वापोपशमिके भावे वर्तसे । अतो यथाऽसौ त्वपेक्षया
भावपरस्तथा संयमनपोभ्यामप्येवं परः पृथग्भूत इत्यतस्त्वया
न काचित्तदीया चिन्ता विधेया । पृ० १ उ० । नि० चू० ।

(६) अधिकरणं कृत्वाऽन्यगणसङ्क्रान्तिर्न कर्तव्या—

निकखु य अहिगरणं अवि ओसमिच्छा इच्छिज्जा अन्नं गणं
उवसंपज्जित्ता णं विहरिचए, कप्पइ तस्स पंचराइंदियं ठेयं
कनुं, परिनिव्वियि २ दोच्चं पि तमेव गणं पन्निनेअन्नं
सिया, जइ वा तस्स गणस्स तद्वा सिया ॥

भिक्षुः, चशब्दादाचार्योपाध्यायौ वा, अधिकरणं कृत्वा तदधि-
करणमप्यवशमस्य, इच्छेदन्यगणमुपसंपद्य विहर्तुम्, ततः कल्पते
तस्य अन्यगणसंक्रान्तस्य पञ्चरात्रिदिवं छेदं कर्तुम्, ततः परि-
निर्वाप्य २ कोमलवचःसलिलसेकेन कपायाक्षिसंतप्तं सर्वं
शतिलीकृत्य, द्वितीयमपि चारं तमेव गणं संघं प्रतिनेतव्यः
स्यात् । यथा वा तस्य गणस्य, तथा कर्त्तव्यमेवेति सूत्रार्थः ।
पृ० १ उ० ॥

(७) गच्छादनिर्गतस्याऽधिकरणे उत्पन्ने विधिः—

गच्छा अणिग्गयस्सा, अणुवसमंतस्सिमो विधी होइ ।

सक्कायजिकखनच-इ पाओसए य चउर एकेके ।

गच्छादनिर्गतस्यानुपशान्तोऽयं विधिर्भवति-सुखोदयकाक्षे यः
स्याध्यायः क्रियते तदवसरे प्रथममसौ नोद्यते, द्वितीयं मि-
त्रावतरणवेलायां, तृतीयं मकार्यनाकाले, चतुर्थं प्रादोषिका-

अथवा येन प्रकार्यनादिना पदेन गच्छान्निर्गतः, ततो द्वितीयपद-
मन्यगणे गतस्य प्रारभ्यते । यथा-गच्छान्निर्गतार्थेन पदेन निर्गतः,
ततोऽन्यं गणं गतेन तेन समं गणो न शुद्धे, स्वाध्यायं पुनः करो-
ति । एवं स्वाध्यायपदेन निर्गतस्य वन्दनं करोति । वन्दनपदेन
निर्गतस्याज्ञापं करोति । आज्ञापपदेन निर्गतस्य परगच्छ-
ः अनुभिरपि पदैः परिहारं करोति । ' भिक्षुगणायरियाणं '
इत्यादिना तु त्रयाणामप्यन्यप्रायश्चित्तानि गृहीतानि । वृ० ५
उ० । नि० चू० । (द्वितीयपदं कारणे सत्युत्पादयदित्यधि-
कारेऽनुपदमेव वक्ष्यते)

(१०) खरपरुषाणि भणित्वा गच्छान्निर्गतो विधिः—

यद्यधिकरणं कृत्वा प्रज्ञापितोऽपि नोपशाम्यति,

स किं करोति ?, इत्याह—

खरपरुषानिदुर्गाहं, अहं सो भणितं अज्ञापयिष्यामि ।

निगमणं कलुसहियं, सगणे अहं परगणे य ॥

अथासौ खरपरुषानिदुराणि अभणितव्यानि वचनानि भ-
णित्वा कलुषितहृदयः स्वगच्छान्निर्गमनं करोति, ततो निर्गतस्य
तस्य स्वगणे परगणे च प्रत्येकमष्टौ स्पर्शकानि वक्ष्यमाणा-
नि भवन्ति ।

खरपरुषानिदुरपदानि व्याख्याति—

उहं सरोसं भणियं, हिंसग-मम्मवयणं खरं तं तु ।

अक्रोसं गिरुवचारिं, तमसचं पिडुरं होति ॥

ऊर्ध्वं महता स्वरेण सरोसं यद्भणितं-हिंसकं मर्मघट्टनवचनं
वा, तच्च खरं मन्तव्यम् । अकारमकारादिकं यदाक्रोशवचनं यच्च
निरुपचारिं विनयोपचाररहितं तत्परुषम् । यदसत्यं सभाया अ-
योग्यं, कस्त्वमित्यादिकं तद् निदुरं भण्यते ।

ईदृशानि भणित्वा गच्छान्निर्गतस्याचार्यः प्रायश्चित्तवि-
भागं दर्शयितुकाम इदमाह—

अहंऽहं अष्टमासा, मासा हंतऽहं अहं पयारो ।

वासासु अ संचरणं, ण चेव इयरे वि पेसंति ॥

स्वे गणे यान्याचार्यसत्कान्यष्टौ स्पर्शकानि, तेषु पक्षे अपरा-
परस्मिन् स्पर्शके संचरतो अष्टावर्द्धमासा भवन्ति । परगण-
मध्येऽप्यष्टसु स्पर्शकेषु पक्षे पक्षे संचरतो अष्टावर्द्धमासाः ।
एवमुभयेऽपि मीलिता अष्टौ मासा भवन्ति, अष्टसु च अतु-
वर्द्धमासेषु साधूनां प्रचारो विहारो भवतीति कृत्वा अष्टावर्द्धं
कृतम् । वर्षासु चतुरो मासान् तस्याधिकरणकारिणः साधोः
संचरणं नास्ति वर्षाकाल इति कृत्वा इतरेऽपि येषां स्पर्शकेषु
संक्रान्तस्तेऽपि तं प्रज्ञाप्य वर्षावास इति कृत्वा यतो गणादाग-
तस्तत्र न प्रेषयन्ति, तत्र यानि स्वगणे अष्टौ स्पर्शकानि, तेषु
संक्रान्तस्य तैः स्वाध्यायभिक्षाभोजनप्रतिक्रमणवेलासु प्रत्येकं
सारणा कर्तव्या । 'आर्य ! उपशमं कुरु' यद्येवं सारयन्ति
ततो मासगुरुकम् ।

तस्य पुनरनुपशाम्यत इदं प्रायश्चित्तम्—

सगणमि पंच राइ-दियाणि दस परगणे गणेषुं ।

अष्टसु होइ पसरस, बीसा तु गयस्स ओससो ॥

स्वगणे स्पर्शकेषु संक्रान्तस्यानुपशाम्यतो दिवसे दिवसे प-
ञ्चरात्रिदिवश्छेदः, परगणे मनोकेषु सांभोगिकेषु संक्रान्तस्य
दशरात्रिदिवः; अन्यसांभोगिकेषु संक्रान्तस्य दशरात्रिदिवः,
अन्यसांभोगेषु पञ्चदशरात्रिदिवः । अवसत्रेषु गतस्य विंश-
तिरात्रिदिवश्छेदः । एवं भिक्षोः कृतम् ।

अथोपाध्यायाचार्ययोः कथ्यते—

एमेव य. होइ गणी, दसदिवसादी भिण्णमासंते ।

पसरसादी तु गुरू, चउसु वि णणेषु मासंते ॥

एवमेव गणितेन उपाध्यायस्यापि अधिकरणं कृत्वा परगण-
संक्रान्तस्य मन्तव्यम् । नवरं दशरात्रिदिवमादौ कृत्वा भिक्ष-
मासान्तस्तस्य छेदः । एवमेव गुरोरप्याचार्यस्य चतुर्थं स्वग-
णपरगणे सांभोगिकान्यसांभोगिकावसत्रेषु पञ्चदशरात्रिदि-
वादिको मासिकान्तश्छेदः । एतत्पुरुषाणां स्वगणादिस्थान-
विभागेन प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

अथ तथैव स्थानेषु पुरुषविभागेन प्रायश्चित्तमाह—

सगणमि पंचराइ-दियाइ जिकखुस्स तदिवसं वेदो ।

दंस होइ अहोरत्ता, गणिआयरिए व पसरसा ॥

स्वगणे संक्रान्तस्य भिक्षोस्तदिवसादारभ्य दिने दिने पञ्च-
रात्रिदिवश्छेदः । गणितेन उपाध्यायस्य दशरात्रिदिवः । आचा-
र्यस्य पञ्चदशरात्रिदिवः ।

असगणे भिक्षुस्स य, दस राइदिया जवे वेदो ।

पसरस अहोरत्ता, गणिआयरिए भवे बीसा ॥

अन्यगणे सांभोगिकेषु संक्रान्तस्य भिक्षोर्दशरात्रिदिवश्छेदः ।
उपाध्यायस्य पञ्चदशरात्रिदिवः । आचार्यस्य विंशतिरात्रिदिवः ।
एवमन्यसांभोगिकेषु अवसत्रेषु च प्रागुक्तानुसारेण नेयम् ।
वृ० ५ उ० ।

एवं एकेकादिणं, हवेतु उवणा दिणे वि एमेव ।

चेइयवंदणसारिए, तम्मि व काले तिमासगुरू ॥२१॥

पासत्यादिगयस्स य, बीसं राइदियाइ जिकखुस्स ।

पणवीस उवज्झाप, गणिआयरिए जवे मासो ॥२१॥

गणस्य गणे वा आचार्यः, अधवा-गणित्वमाचार्यत्वं च
यस्यास्यसौ गणिआयरिओ । नि० चू० १० उ० ।

अथैवं प्रतिदिनं छिद्यमाने पर्याये पक्षेण कियन्तो मासा अ-
मीषां छिद्यन्ते ?, इति जिज्ञासायां छेदसंकल्पनामाह—

अह्माइज्जा मासा, अह्माइ मासा हवंति बीसं तु ।

पंच उ मासा पक्खे, अह्माइ चत्ताउ जिकखुस्स ॥

स्वगणसंक्रान्तस्य भिक्षोः प्रतिदिनं पञ्चकच्छेदेन छि-
द्यमानस्य पर्यायस्य पक्षेणार्द्धतृतीया मासाः छिद्यन्ते ।
तथाहि-पक्षे पञ्चदश दिनानि भवन्ति, तैः पञ्च गुणयन्ते,
जाता पञ्चसप्ततिः । तस्या मासानयनाय त्रिशता जागे
हृते अर्द्धतृतीयमासा ह्वयन्ते, स्वगणे चाष्टौ स्पर्शकानि, तेषु
पक्षे पक्षे संचरतः पञ्चकच्छेदेन विंशतिर्मासाश्छिद्यन्ते । तथाहि-
पञ्चदशाष्टनिर्गुणिता जानं विंशोत्तरं शतम्, तदपि पञ्चभि-
र्गुणिने ज्ञानानि पदशानि । तेषां त्रिशता भागे हृतं विंशतिर्मासा

त्वा प्रतिश्रुते सनाते प्राचक्ष्यके यदि नोपशान्तः, ततो मूत्रम् ।
(पमिज्जमेते व सति) अथ प्रतिश्रुतेन प्रारब्धे यावत् सांवत्सरिको
महाकायात्सर्गः, तावदधिकरणे ह्येत मूत्रमेव केवलं, न शेषाणि
प्रापश्चित्तानि ।

संवत्सरं च रुद्धं, आपरिओ रक्त्वप पयत्तेणं ।

जदि एणम उवसमेज्जा, पव्वयराईसरित्तरोसो ॥

एवमाचार्यस्तं रुद्धं संवत्सरं यावत् प्रयत्नेन रक्ताति । किमर्थम् ?
इत्याह—यदि नाम कथञ्चिदुपशाम्यते । अथ संवत्सरेणापि
नोपशाम्यति, ततः पर्यंतराजोसदृशरोपः स मन्तव्यः ।

तस्य वर्षादूर्ध्वं को विधिः ?, इत्याह—

अण्णे दो आपरिया, एक्केकं वरिसमुवेयस्स ।

तेण परं गिहिण सौ, वितियपदे रायपव्वइए ॥

तं वर्षादूर्ध्वं मूत्राचार्यसमीपाश्रितमन्यौ ह्यावाचार्यौ क्रमेणैकै-
कं वर्षमेतेनैव विधिना प्रयत्नेन संरक्तः, तन्मध्याद्येनोपशमित-
स्तस्यैवासीत् शिष्यः । ततः परं वर्षत्रयादूर्ध्वमेव शृङ्गाक्रियते, स ह-
स्तदीपं लिङ्गमपाकरोतीत्यर्थः । द्वितीयपदे राजप्रमजितस्य
लिङ्गं प्रस्तारदोपनयात्र हियते । एवं निक्षौरकम् ।

एमेव गणायरिए, गच्छम्मि तवो उ तिन्नि पक्खाई ।

दो पक्खा आपरिए, पुच्छा य कुमारदिद्धतो ॥

एवमेव गणिन आचार्यस्य च मन्तव्यम् । नवरमुपाध्यायस्या-
नुपशाम्यतां गच्छे वसतस्त्रिंशद्विंशतः प्रायश्चित्तम्, परतश्चे-
दः । आचार्यस्यानुपशाम्यतो द्वौ पक्षौ तपः, परतश्चेदः । शिष्यः
पुच्छति—किं सदृशापराधे विषमं प्रायश्चित्तं प्रयच्छथ ?, रागद्वे-
षिणो यूयम् । आचार्यः प्राह—कुमारदृष्टान्तोऽत्र प्रवति । स
चोत्तरत्राभिशास्यते । उपाध्यायस्य त्रयः पक्षास्ते दिवसीकृताः
पञ्चत्वारिंशद्विंशतिवसा प्रवन्ति ॥

ततः—

पणयात्तदिणे गणियो, चउहा काऊण साहिएकारो ।

जत्तउण—सज्जाए, वंदणलावे य हावेति ।

गणिनः संयन्त्रिनः पञ्चत्वारिंशद्विंशतिवसाः चतुर्धा क्रियन्ते । च-
तुर्भागे च, साधिकाः सपादा एकादश दिवसा प्रवन्ति । तत्र
गच्छ उपाध्यायेन सममेकादश दिनानि मकार्थनं करोति । एवं
स्वाध्यायवन्दनाद्यापनपि प्रत्येकमेकादश दिनानि यथाक्रमं क-
रोति, परतस्तु परिहापयति । पञ्चत्वारिंशद्विंशतिसान्तरं
चोपाध्यायस्य दशकच्छेदः । आचार्यस्तथैवोपाध्यायमपि चतु-
र्भिश्चतुर्भिर्मामैकार्थनादीनि परिहापयन् संवत्सरं सारयति ।
आचार्यस्य द्वौ पक्षौ दिवसीकृतौ त्रिंशद्विंशतिवसा प्रवन्ति ।

ततः—

तीसदिणा आपरिए, अउड्ढदिणा तु हावणा तत्थ ।

गच्छेण चउपदेहिं, णिच्छुदे लगती छेदे ॥

त्रिंशद्विंशतिवसाश्चतुर्थभागेन विप्रक्ता मर्चाष्टमादिवसा भवन्ति ।
तत्र गच्छ आचार्येण सहार्चाष्टमानि दिवसानि मकार्थनं करोति ।
एवं स्वाध्यायवन्दनाद्यापनमपि यथाक्रममर्चाष्टमादिवसैः प्रत्येकं
हापयति । ततः परं गच्छेन चतुर्धिरपि मकार्थनादिभिः पदैर्नि-
ष्कासित आचार्यः पञ्चदशके उदे लगति ।

ततः—

संकतो अण्णगणं, सगणेण पवजितो चउपदेहिं ।

आयरिओ पुण वरिसं, वंदणलावेहि सारेइ ॥

स्वगणेन मकार्थनादिभिश्चतुर्भिः पदैर्देवा वजितः, तदा अन्य-
गणं संक्रान्तः, पुनरन्यगणस्याचार्यो केवलं वन्दनाद्यापनार्थो
ह्याचार्यो पदाचार्यो संसृज्जानः सारयति यावद्वर्षम् ।

सज्जायमाइएहिं, दिणे दिणे सारणा परगणे वि ।

नवरं पुण नाणत्तं, तवो गुरुस्सेयरे उदो ॥

परगणेऽपि संक्रान्तस्य आचार्यस्य स्वाध्यायादिभिः पदैर्दिने
दिने सारणा क्रियते । नवरं परगणोपसंक्रान्तस्येवं नानात्वं विवे-
च्यः । अन्यगणसकस्य गुरोरसारयतस्तपः प्रायश्चित्तम्, इतरस्य
पुनरधिकरणकारिण आचार्यस्यानुपशान्तस्य उदेः । अत्र परः
प्राह—रागद्वेषिणो यूयम्-आचार्ये शीघ्रं उदे प्रापयथः, उपाध्यायं
बहुतरेण, भिक्षुं ततोऽपि चिरतरेण । एवं त्रिचूपाध्याययोर्भवतां
रागः, आचार्ये उदेः । अत्र सूरिः प्रागुद्दिष्टं कुमारदृष्टान्तमाह—

सरिसावंपाफणंदो, जुवरणो भोगहरणवंधादी ।

मज्झिम वंधवहादी, अव्वत्ते कअस्सिं सत्ति ॥

“एगस्स रओ तिन्नि पुत्ता-जेओ, मज्झिमो, कण्णिमो । तेहि य
तिहिं वि सभत्थियं—पितरं मारित्ता रज्जं तिहा बिज्जयामो, तं च
रणाणायं, तस्य जेओ जुवराया, तुमं पमाणचूओ कोस एवं करे-
सिं सत्ति ?, तस्स भोगहरणवंधणत्तराणादिया सव्वे दंरूपगारा
कया । मज्झिमो रायप्पहायो ति काउं तस्स भोगहरणं न कथं,
बंधवहादिया कया । अव्वत्तो कण्णेओ एतेहिं विचारिओ ति काउं
तस्स कण्णचिमोऊणवंधो लिसा वंडो य कओ, न भोगहरणादिया”
अकुरगमनिका-सदृशेऽप्यपराधे सुधराजस्य भोगहरणवंधणा-
दिको महान् दण्डः कृतः । मध्यमस्य बंधवधादिको, न भोगह-
रणम्, अशक्तः कनिष्ठस्तस्य कर्णामेदनादिकः, लिसा च कृतः ।
अयमर्थोपनयः । यथा—लोकैर्लोकोत्तरंऽप्युत्कृष्टमध्यमजघन्येषु
पुरुषवस्तुषु बृहत्तमो लघुर्लघुतरश्च यथाक्रमं दण्डः क्रियते ।

प्रमाणभूते च पुरुषे अक्रियास्तु वर्तमाने एते दोषाः—

अप्पच्चय वीसत्थ—त्तणं च ह्योगे गरहा दुरहिगमो ।

आणाए य परिभवो, एवे भयं तो तिहा दंडो ॥

एत एवाचार्या प्रणन्ति, अकपायं चारित्रं भवति, स्वयं पुनरि-
त्यं रुच्यन्ति । एवं सर्वेपूदेदोषप्रत्ययो भवति । शेषसाधूनाम-
पि कपायकरणे विश्वस्तता भवति, लोको वा गर्ही कुर्यात् । प्र-
धान एवामोपायं कथं करोतीति, रोपणश्च गुरुः शिष्याणां प्रती-
च्छकानां च दुरधिगमो भवति, रोपणस्य चाज्ञां शिष्याः परिज-
वन्ति, न च भयं तेषां भवति, अतो वस्तुविशेषेण विधा
दण्डः कृतः ।

गच्छम्मि उ पट्टवए, जम्मि पदे निग्गतो वितियं ।

जिक्खुगणायरियाणं, मूलं अणवड्ढ—पारंची ॥

गच्छे यसिन् पदे प्रस्थापिते निर्गतस्ततो द्वितीयं पदं परगणे
संक्रान्तः प्राप्नोति, तद् यथा-तपसि प्रस्थापिते यदि निर्गतस्तत-
श्चेदं प्राप्नोति, उदे प्रस्थापिते निर्गतस्ततो मूत्रम्, एवं त्रिचूपाध्याय-
गणावच्छेदकस्यानवस्थाप्ये आचार्यस्य पारश्चिके पर्यवस्यति ।

त्पापात्तदा मुच्यते, यदात्मनो विशोधिमवति । तत आह-आ-
त्मानं विशोधयेत् पापमलस्फोटनतो निर्मलीकुर्यात् । विशुद्धिः
पुनः पुनः करणतायामुपपद्यते । ततस्तामेवाऽऽह-अकरणता
अकरणीयता, तथा अभ्युत्तिष्ठेत् । पुनरकरणतया अभ्युत्था-
नेऽपि विशोधिः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या भवति । तत आह-य-
थाहं यथायोग्यं तपःकर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते । तच्च प्रायश्चि-
तमाचार्येण श्रुतेन श्रुतानुसारेण यदि प्रस्थापितं प्रदत्तं तदा
आदातव्यं ब्राह्मं स्याद्भवेत् । अथ श्रुतेन न प्रस्थापितं तदा
नादातव्यं स्यात् । स चाऽऽलोचको यदि श्रुतेन प्रस्थाप्यमान-
मपि तत्प्रायश्चित्तं नाददाति न प्रतिपद्यते ततः स निष्कृ-
तव्यः, अन्यत्र शोधं कुरुष्वेति निषेधनीयः स्यात् । इति
सुत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः—

अवियत्त कुलपवेसे, अङ्गुलिं अणेसणिजपद्विसेहे ।

अवहारमंगलुत्तर-सजावअवियत्तमिच्छते ॥

अविदितभूमिस्थाने कथमधिकरणमुत्पन्नम् ? इत्यस्यां जिज्ञा-
सायामभिधीयते-कस्मिंश्चित् कुले साधवः प्रयिशन्तोऽप्रीतिक-
रास्तत्राजानतामनाजोगाद्वा प्रवेक्ष्य गृहपतिराक्रोशेद्, वा हन्याद्,
वा साधुरप्यसहमानः प्रत्याक्रोशेत्; ततोऽधिकरणमुत्पद्यते । ए-
वमतिभूमिं प्रविष्टे अनेपणीयमिक्काया वा प्रतिपेधे, शैक्षस्य वा
संज्ञातकस्यापहारे, यात्राप्रस्थितस्य वा गृहिणः साधुं दृष्ट्वा
अमङ्गलमिति प्रतिपत्तौ समयविचारेण वा प्रत्युत्तरं दातुमस-
मर्थो गृहस्थस्यभावेन वा क्वापि साधौ (अवियत्ते) अनिष्टे
दृष्टे अभिप्रदमिष्यादृष्टेर्वा सामान्यतः साधाववलोकिते अधि-
करणमुत्पद्यते ।

पद्विसेधे पद्विसेधो, भिक्षुवियारे विहार गामे व ।

दोसा मा होज्ज बहू, तम्हा आलोयणा सोधी ॥

भगवद्भिः प्रतिषिद्धं न वर्तते साधूनामधिकरणं कर्तुम्, एवं
विधिप्राप्तयेधे भूयः प्रतिपेधः क्रियते । कदाचित्तदाधिकरणं
गृहिणा समं कृतं भवेत्, कृत्वा च तस्मिन्नुपशमिते मिक्कायां न
द्विषद्भनीयम्, विचारचमौ विहारभूमौ वा न गन्तव्यम्, ग्रामानु-
ग्रामं न विदत्तव्यम् । कुतः ? इत्याह-मा बहवो बन्धनकण्टक-
मर्दनादयो दोषा भवेयुः । तस्माच्च गृहस्थमुपशमस्य गुरुणाम-
स्तिके आलोचना दातव्या । ततः शोधः प्रतीक्षणीया ।

इदमेव भावयति—

अधिकरणं गृहस्थेहि, ओसारणं कहुणा य आगमणं ।

आलोयणं पत्यवणं, अपेसणे होति चउ बहुगा ॥

गृहस्थैः सममधिकरणे उत्पन्ने द्वितीयेन साधुना तस्य साधोरप-
सारणं कर्तव्यम् । अथ नापसरति ततो बाहौ गृहीत्वा आक-
र्षणीयः । इदं च वक्तव्यम्-न वर्तते मम त्वया साधिकरणेन
समं मिक्कामट्टितम् । अतिप्रतिश्रये परिनिवर्तमाने । एवमुक्त्वा
प्रतिश्रयमागत्य गुरुणामालोचनीयम् । ततो गुरुभिरुपशमनार्थं
वृषभास्तस्य गृहस्थस्य मूले प्रेषणीयाः । यदि न प्रेषयन्ति त-
दा चतुर्लघुः ।

आणादिणो य दोसा, वंधणणिच्छुभणकरुणमादाय ।

वृगाहणं सत्येणं, अगणवकरणं विसं वारे ॥

आज्ञादयश्च दोषाः । स च गृहस्थो येन साधुना सहाधिक-
रणं कृतं तस्यानेकेषां वा साधूनां बन्धनं निष्कासनं वा कुर्यात् ।
कटकमादाय सर्वानपि साधून् कोऽपि व्यपरोपयेत् । व्युदयाह-
यं वा लोकस्य कुर्यात् । नास्त्यमीषां दत्ते परलोकफलम्, य-
द्वाऽमी संज्ञां व्युत्सृज्य विकिरन्ति, न च निर्लेपयन्ति, खड्गादिना
वा शस्त्रेण साधुना हन्यात् । अग्निकायेन वा प्रतिश्रयं दहेत् ।
उपकरणं वा अपहरेत्, विपं गरादिकं वा दद्यात्, भिक्षां वा
वारयेत् ।

तच्च वारणमेतेषु स्थानेषु कारयेत्—

रज्जे देसे गामे, णिवेसणे गिहे निवारणं कुणाति ।

जा तेण विणा हाणी, कुलगणसंघे य पच्छारो ॥

राज्ये सकलेऽपि निवारणं कारयेत् । एतेषां भक्तमुपधि वस-
ति वा मा दद्यात् । एवं देशे, ग्रामे, निवेशने, गृहे वा, निवारणं
करोति । ततो या तेन भक्तादिना विना परिहाणित्वा वृषजानप्रे-
षयन् गुरुः प्राप्नोति । अथवा यः प्रभवति स कुलस्य गणस्य सङ्घ-
स्य वा प्रस्तारं विस्तरेण विनाशं कुर्यात् ।

एयस्स एत्थि दोसो, अपरिक्खिय दिक्खगस्स अह दोसो ।
पञ्चु कुज्जा पच्छारं, अपञ्चु वा कारणे पञ्चुणा ॥

गृहस्थः चिन्तयति-एतस्य साधोर्नास्ति दोषः, किं तु य एन-
मपरीक्ष्य दीक्षितवान् तस्याऽयं दोषः । अतस्तमेव धातयामी-
ति विचिन्त्य प्रष्टुः स्वयमेव प्रस्तारं कुर्यात् । अप्रष्टुरपि क-
व्यं राजकुले दत्त्वा प्रष्टुणा कारयेत् ।

यत एते दोषाः—

तम्हा खलु पडवणं, पुब्बि वसजा समं च वसजेहि ।

अणुलोमण पेच्छामो, णिति अणिच्छेपि तं वसजा ॥

तस्मादृषमाणं तत्र स्थापनं कर्तव्यम् । (पुब्बि ति) येन साधुना
अधिकरणं कृतं तावन्न प्रेषयन्ति यावदृषमाणं पूर्वं प्रज्ञापयन्ति ।
किं कारणम् ? उच्यते-स गृहस्थः तं दृष्ट्वा कदाचिदाहन्यात् ।
अथ ज्ञायते न हनिष्यति ततो वृषमैः समं तमपि प्रेषयन्ति । तत्र
गताश्चादुकूलबच्चोभिरनुलोमं प्रगुणीकरणं तस्य कुर्वन्ति । अ-
थासौ गृहस्थो ब्रूयात्-आनयत तावत्तं कलहकारिणं येनैकवारं
पद्यामः, पश्चात् क्षमये । नच ततो वृषभास्तदभिप्रायं ज्ञात्वा
तं साधुं गृहिणः समीपमानयन्ति । अथासौ साधुनेच्छति ततो
बलादपि वृषजास्तं तत्र नयन्ति ।

ते च वृषभा ईदृशगुणयुक्ताः प्रस्थाप्यन्ते—

तस्संवंधि सुही वा, पगया ओयस्सिणो गहियवका ।

तस्संव सुहीसहिया, गर्मेति वसभा तगं पुव्वं ॥

तस्य गृहिणः, संयतस्य वा संबन्धिनः सुहृदो वा ते भवेयुः प्र-
गता लोकप्रसिद्धाः, ओजस्विनो बलीयांसः, गृहीतवाक्या आ-
देयवचसः, ईदृशा वृषजाः, तस्यैव गृहिणः सुहृद्भिः सहिताः तत्तं
गृहस्थं पूर्वं गमयन्ति ।

कथम् ? इत्याह—

सो निच्छुम्भति साहू, आयरिए तं च जुज्जसि गमंत्तुं ।

नाकण वत्थुजावं, तस्स जदी णिति गिहिसहिया ।

येन साधुना त्वया सह कलहितं स साधुराचार्यैः साम्प्रतं

लेज्यन्ते । एवमुत्तरत्रापि गुणकारभागाद्व्ययमेण स्वबुद्धोप-
युज्य मासा आत्रितव्याः । परगणे संक्रान्तस्य त्रिकोदशकेन जे-
देन त्रिचमानस्य पर्यायस्य पक्षेण पञ्च मासाभिज्यन्ते, दशकेन-
च जेदेनाष्टभिः पक्षैश्चत्वारिंशन्मासाभिज्यन्ते, एवं त्रिकोदशकम् ।

उपाध्यायस्य पुनरिदम्—

पंच उ मासा पक्खे, अट्ठहिं मासा हवन्ति चत्ताउ ।

अप्पड्डमास पक्खे, अट्ठहिं सट्ठी जवे गण्णिणो ॥

उपाध्यायस्यापि स्वगणे दशकेन जेदेन पक्षेण पञ्च मासाः,
अष्टभिः पक्षैर्गुणिताश्चत्वारिंशन्मासाः त्रिच्यन्ते, तस्यैव परगणे प-
ञ्चदशकेन जेदेनार्धमासाः पक्षेण त्रिच्यन्ते । परगणे त-
पञ्चाष्टभिः पक्षैर्गुणिताः पष्टिमासा गणितव्यच्यन्ते ।

अप्पड्डमास पक्खे, अट्ठहिं मासा हवन्ति सट्ठी तु ।

दस मासा पक्खेण, अट्ठहिं उसीती उ आयरिण ॥

आचार्यस्य स्वगणे संक्रान्तस्य पञ्चदशकेन जेदेन त्रिचमाने प-
याये पक्षेणार्धमासा अष्टभिः पक्षैर्गुणिताः पष्टिमासाभिज्य-
न्ते । तस्यैव परगणसंक्रान्तस्य त्रिंशेन जेदेन पक्षेण दश मासा
अष्टभिः पक्षैर्योतिर्मासाभिज्यन्ते । एवं स्वगणे परगणे च सां-
जोगिकेषु संक्रान्तस्य जेदे संवलनाप्रमिहिता । अन्यसांजोगिकेषु
अवसत्रेषु च संक्रान्तस्य त्रिकोदशकाद्यास्याचार्यस्य वाऽन्यैव
दिशा जेदे संकलना कर्त्तव्या ।

एसा विही उ निगणें, सगणे चत्तारि मास उक्कोसा ।

चत्तारि परगणम्भी, तेण परं मूल निच्छुजणं ॥

एष विधिगच्छाभिर्गतस्त्योक्तः । अथ च स्वगणे अष्टसु स्पर्ध-
केषु पक्षे पक्षे संचरतश्चत्वारो मासा उत्कर्षतो भवन्ति । परग-
णेऽप्येवं चत्वारो मासाः । एवमप्येवपि चत्वारो मासाः । ततः
परं यद्युपशान्तस्ततो मूलम् । अथ नोपशान्तस्तदा निष्कासनं
कर्त्तव्यम् ; लिङ्गमपहरणीयमित्यर्थः ।

चाण्ण रागदोसे, सगणे थोवं इमं तु नाणत्तं ।

पंतावण निच्छुजणं, परकुञ्जघरघोनिण ए गया ॥

शिष्यः प्रेरयति—रागद्वेषिणो यूयं, यत् स्वगणे स्तोत्रं जेदगा-
भितं दत्तम्, परगणे तु प्रभूतम् । एवं स्वगणे प्रवृत्तां रागाः, पर-
गणे द्वेषः । गुरुराह—इदं जेदनानात्वं कुर्वतो वयं न रागद्वेषिणः ।

तथा चात्र दृष्टान्तः—

एगस्स गिहिणो चउरो भज्जाओ । ततो य तेग कम्हि एगे
सरिसे अवराहे कते पंतवैता णीहमेम गिह्वाओ चि निच्छू-
ढा, तत्त्येगा कम्हि इयरधरम्मि गया, विइया कुञ्जघरं, ततिया
नत्तुणो एगसरीरो धोनिओ चि वयंसो, तस्स धरं गया,
चउत्थी निच्छुभंती वि वारसहाए दग्गा द्दण्णमाणी वि न
गच्छइ, जणइ य—कतो णं वच्चामि?, नत्थि मे अओ
गइविसओ, जइ वि मारेहि तदा वि तुमं चेव गती सरणं
चि तत्थेव त्रिया ।

केनापि गृहिणा चनष्टृणां भार्याणां प्रतापनं कुट्टनं कृत्वा
गृहाभिरासन्नं कृतं तत्रैकापरगृहम्, द्वितीया कुलगृहम्,

तृतीया घोटिको मित्रं, तद्वहं गता, चतुर्थी तु न कापि गता ।

तत्रो तुद्वेण चउत्थी घरसामिणी कया । तइयाए धोमिय-
घरं जंतोए सो चेव अणुवाचितो विगतरोसेण खरंठिता, आ-
णीता य । वितियाए कुञ्जघरं जंतोए जं पिउगिहवत्तं गहिं
गाढतरं रुद्वेण अओहिं जणिएहिं वि गतरासेण खरंठिता, दं-
निया य । पढमा दूरे णड्ढेत्त न ताए किंवि पओयणं, महंते-
ण वा पच्छिन्नदंढेण दंढिं आणिज्जइ । एवं परसंजोइया
ओसणा, कुञ्जघरसंजोइया, अन्नसंजोइया, धोदियसमा
संजोइया, अनिग्गमे सघरसमा गच्छे जाव दूरतरं ताव
महचरो मंओ जवइ । बृ० ५३० ।

(११) गृहस्थैः सहाधिकरणं कृत्वाऽन्यवशमन्य पिण्ड-

ग्रहणादि न कार्यम्—

भिक्षु य अहिकरणं कडुत्तं अहिकरणं अविओस-
मिच्छा नां से कप्पइ गाहाइकुञ्जं जत्ताए वा पाणाए वा
निकखमित्तए वा पविसित्तए वा, वहिया वियारजूमि वा
विहारजूमि वा निकखमित्तए वा, पविसित्तए वा, गामाण-
गामं वा दूज्जत्तए गणातो वा गणं संकमित्तए वा, वासा-
वात्तं वा वत्थुं, जत्थे व अप्पणाऽऽयरियवज्जभायं पा-
सेज्जा, वहुस्सुयं वज्जगामं तस्संतिण आलोइज्जा, पन्निक्कमि-
ज्जा, निदिज्जा, गरहिज्जा, विगुंज्जा, विसोइज्जा, अकरणयाए
अग्गुंज्जा, अहारिहं तत्रोक्कमं पायच्छित्तं पमिवज्जेज्जा, से
य सुएण पड्विण् आदिइत्तवे सिया, से य सुएण नो पड्व-
विण् नो आदिइत्तवे सिया, से य सुएण पड्वेज्जमाणे
नो आइया स निच्छुद्वियव्वं सिया ॥

अस्य संबन्धमाह—

केण कयं कीस कयं, निच्छुजओ एस किं इहाणेति । ।

एसो वि गिही तुदितो, करेज्ज कइहं असहमाणो ॥

केनैवं वहनं काष्ठानयनं कृतं, कसादेतत् कृतं, निष्कासितोऽ-
प्येव किमर्थमिहानयति, एवमादिभिर्वचोभिर्गृहिणा तुदितो
व्यथितः कश्चिदसहमानः कलहं कुर्यात् । अत इदमधिकरणस्य
प्रमारभ्यते । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-भिर्बुः प्रागु-
क्तः, चशब्दादुपाध्यायादिपरिग्रहः । अधिकरणं कलहं कृत्वा
नो कल्पते तस्य तदधिकरणमन्यवशमन्य गृहपतिकुलं भ-
क्ताय वा पानाय वा निष्कसितुं वा, प्रवेष्टुं वा, ग्रामादुग्रामं वा
गन्तुं विवर्तुं, गणाद्वा गणं संकमितुं, वर्षावासं वा वस्तुं, किंतु
यत्रैवात्मन आचार्योपाध्यायं पश्येत् । कयं भूतम्?, बहुभुतं जेद-
गन्थादिकुशलम् । बह्वागमं अर्थतः प्रभूतागमम्, तत्र तस्यान्तिके
आलोचयत् स्वापराधं वचसा प्रकटयेत् । प्रतिक्रमेव सि-
ध्वाऽदुःकृतं तद्विषये दद्यात् । निन्धाद् आत्मसाक्षिकं जुगु-
प्सेत, गहं त गुरुसाक्षिकं निन्धात् । इह च निन्दनं गह्यं वा
तात्त्विकं तदा भवति तदा, तत्करणतः प्रतिनिवर्तते । तत-
आह—व्यावर्तत तस्मादपराधपराशिवर्तत, व्यावृत्तावपि कृता-

एतदेव व्याचष्टे-

संजयगणो तदधिपो, गिही तु गामपुरदेसरज्जे वा ।
एतेति चिय अहिवा, एगतरज्जुओ उभयतो वा ॥

संयतगणः प्रतीतः; तेषां संयतानामधिपस्तदधिपः, आचार्य इत्यर्थः। ये गृहिणः स्वग्रामपुरदेशराजवास्तव्याः, एतेषामधिपतयो वा भवेयुः, तत्र ग्रामाधिपतिः, जोगिकाधिपतिः, पुराधिपतिः, ग्रंथी, कोट्टपात्रो, देशाधिपतिर्देशरक्षको देशव्यापृतको वा, राज्याधिपतिर्महामन्त्री, राजा वा; एतेषामेकतरेणोजयेन वा युक्तो व्रजति, तत्रेयं प्रायश्चित्तमार्गणा-

तहि वचंते गुरुगा, दोसु तु उद्धुग गहण उगुरुगा ।

उगिगणपहरण वेदो, मूलं जं जत्य वा पंथे ॥

संयतगणेन तदधिपेन वा उजयेन वा सहानं व्रजामीति संकल्पे चतुर्थेषु । पदभेदमादौ कृत्वा तत्र व्रजतश्चतुर्गुरु, प्रहरणस्य मार्गणायां दर्शने च द्वयोरपि परमलघु, प्रहरणस्य ग्रहणे परगुरु । उक्तीर्णे प्रहरणे वेदः । प्रहारे दत्ते मूलम् । यद्वा-परितापनादिकं पुण्यव्यादिविनाशनं यत्र पथि ग्रामे वा करोति तन्निष्पन्नमपि मन्तव्यम् । तथा गृहस्वर्गोऽपि ग्रामेण वा, ग्रामाधिपतिना यावद् राज्येन वा, राज्याधिपतिना वा, उभयेन वा, सह व्रजामीति संकल्पे चतुर्गुरु । पथि गच्छतः प्रहरणं च गृह्यतः परमलघु, गृहीते परगुरुः शेषं प्राग्भवत् । एवं मित्रोः प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

एसेव गमो नियमा, गणियायरिये य होइ णायव्वो ।

एवरं पुण णाणत्तं, अणवद्वप्पो य पारंची ॥

एष एव गमो नियमाज्ञाणि उपाध्यायस्याचार्यस्य, चक्राङ्कणावच्छेदिकस्य वा मन्तव्यः । नवरं पुनरत्र नानात्वमधस्तादेकैकपदद्वयसेन यत्र मित्रोर्मूलं, तत्रोपाध्यायस्याऽन्यथाप्यम्, आचार्यस्य पाराञ्चिकम् ।

तपोऽहं च प्रायश्चित्तमित्थं विशेषयितव्यम्-

निकखुस्स दोडि लहुगा, गणवच्छे गुरुग एगमेगेणं ।

उवजाए आयरिए, दोहि च गुरुं च णाणत्तं ॥

मित्रोरेतानि प्रायश्चित्तानि द्वाभ्यामपि नपःकालाज्यां सधुकाणि, गणावच्छेदिकस्यैकतरेण-तपसा कालेन वा गुरुकाणि, उपाध्यायस्याचार्यस्य च द्वाभ्यामपि-तपःकालाज्यां गुरुकाणि, एतज्ज्ञानात्वं विशेषः ।

काऊण अकाऊण वं, उवमत उवट्टियस्स पच्छित्तं ।

मुत्तेण उ पटवणा, अमुत्त रागो व दोसो वा ॥

गृहस्य प्रहारादिकमपकारं कृत्वाऽऽहं वा यद्युपशान्तो निवृत्तः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यर्थं वाऽऽलोकनाभिधानपूर्वकमपुनःकरणोपस्थितस्तदा प्रायश्चित्तं दातव्यम् । कथम्? इत्याह-सूत्रेण प्रायश्चित्तं प्रस्थापनीयम्, असूत्रोपदेशेन तु प्रस्थापयतो रागो वा द्वेषो वा भवति । प्रचूतमापन्नस्य स्वल्पदाने रागः । स्तोकमापन्नस्य प्रभूतदाने द्वेषः ।

एवं रागद्वेषाभ्यां प्रायश्चित्तदाने दोषमाह-

योवं जाति आवसो, अतिरंगं दाति तस्स तं होति ।

मुत्तण उ पटवणा, मुत्तमणिच्छंति निज्जुहणा ॥

स्तोकं प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्य यावद् व्यतिरिक्तं ददाति, ततो

यावता अधिकं तावत्तस्य प्रायश्चित्तदातुः प्रायश्चित्तम्, आहो-दयश्च दोषाः । अथेनं ददाति ततो यावता न पूर्यते तावदात्मना प्राप्नोति । अतः सूत्रेण प्रस्थापना कर्त्तव्या । यस्तु सूत्रोक्तं प्रायश्चित्तं नेच्छति, स वक्तव्यः-अन्यत्र शोधं कुरुष्व । एषा निर्यूहणा प्रच्यते ।

अस्या एव पूर्वार्द्धे व्याचष्टे-

जेणऽहिं ऊणं वा, ददाति तावतियमपणो पावे ।

अहवा सुत्तादेसा, पावति चउरो अणुग्घाया ॥

यत् यावता अधिकमूनं ददाति तावदात्मना प्राप्नोति । अथवा सूत्रादेशादनातिरिक्तं ददानश्चतुरोऽनुद्धातान्मासान् प्राप्नोति ।

तच्चेदं निशीथदशमोद्देशकान्तर्गतसूत्रम्-

जे निक्खु उग्घाए अणुग्घाएयं देइ, अणुग्घाए उग्घाएयं वा देइ, देतं वा साइज्जइ ॥?६॥

(तस्य चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तमित्यर्थः)

अथ द्वितीयपदमाह-

वितियं उप्पाएउं, सासणपंते असज्ज पंच पया ।

आगादे कारणम्भी, रायस्संसारिए जतया ॥

द्वितीयपदं नाम अधिकरणमुत्पादयेदपि शासनप्रान्तः प्रवचनप्रत्यनीकोऽस्ताभ्यश्च न यथा, तथा शासितुं शक्यते; ततस्तेन समधिकरणमुत्पाद्य शिक्षणं कर्त्तव्यम् । तत्र च स्वयमसमर्थः संयतग्रामनगरदेशराज्यलक्षणानि पञ्चापि पदानि सहायतया गृहीयात् । आगादे कारणे राजसंसारिका राजान्तरस्थापना, तामपि यतनया कुर्यात् । तथाहि-यदि राजा अतीव प्रवचनप्रान्तोऽनुशिष्यादिभिरनुकूलोपायैर्न उपशमयति, ततस्तं राजानं स्फोटयित्वा तद्वंशजमन्यवैशजं वा भर्त्स्य राजानं स्थापयेत् ।

यश्च तं स्फोटयति स ईदृग्गुणयुक्तो प्रवति-

विज्जाओरस्सवल्ली, तेयसद्वद्धं सहायलद्धी वा ।

उप्पादेउं सासति, अतिपंतं काइगज्जो व्व ॥

यो विद्यावत्तेन युक्तः, यथा-अर्थस्वपुटः औरसेन वा वत्तेन युक्तः, यथा-बाहुवल्ली । तेजोवत्त्वा वा सत्ताधिकः, यथा-ब्रह्मदत्तः । संतूतभवे सहायसद्विधयुक्तः, यथा-हरिकेशधरः । ईदृशोऽधिकरणमुत्पाद्यतिप्रान्तमतीवप्रवचनप्रत्यनीकं शास्ति, कायिकाचार्य इव । यथा कालिकाचार्यो गर्दभिल्लराजानं शासितवान् । ६०४ उ० ।

कथानकं चेत्यम्-

को उ गद्गभिल्लो?, को वा काइगज्जो?, कस्मि कावे सासितो?। प्रणति-उज्जेणी णाम एगरी, तत्थ य गद्गभिल्लो णाम राया, तत्थ कालगज्जा णाम आयरिया जोतिसणिमित्तवज्जिया, ताण मणिणी रूपवती । पढमे वयसि बट्टमाणा गद्गभिल्लेण गद्गिया, अंतपुरे बूढा, अज्जकालगा विषयैति; संघेण य विषयो ण मुंचति । ताहं रुद्धो अज्जकालगो पइयं करोति-जइ गद्गभिल्लं रायाणं रज्जाओ ण उम्मूलेमि तो पवयणसंजमोवघायणाणं तमुवेक्खणाणं य गतिं गच्छामि । ताहे कालगज्जो कथणेण उम्मच्छनीचूतो तिगच्छक्कच्चरमहाजणघाणेसु इमं पववंतो हिंरुति-जइ गद्गभिल्लो राया, तो किमतः परम्?, जइ वा अंतपुरं रम्मं, तो किमतः परम्?। विसयो जइ वा रम्मो, तो किमतः परम्?। सुणिवेचा पुरी जइ, तो किमतः परम्?, जइ वा जणो सुवेसो, तो किमतः परम्?, जइ वा हिंरुमि वो भिक्खं, तो किमतः परम्?, जइ सुखे देवकुत्रे वसामि, तो

निष्कास्यते, यस्मिन्नायं च वचो गुरवो न मुष्टु श्रूयन्ति ; अत आचार्यान् गमयितुं त्वं युज्यसे-युक्तो भवसि । एवमुक्ते यथा-चार्यं गमयति-कामयति ततो नष्टम् । अथ ब्रूते-पश्यामस्तावत्तं कलङ्कारिणम् । ततो प्रात्या वस्तुतो गृहस्थस्य भावं किमयं हन्तुकामस्तमानाययति, सत कामयितुकामः ? , एवमभिप्रायं ज्ञात्वा तस्यायं लुब्धः, अतस्ते अस्मादित एव तं साधुं तत्र नयन्ति ।

अथास्तौ गृही नीयकथागनया नोपशाम्यति तनस्तस्य

साधोर्गच्छस्य च रक्षणार्थमयं विधिः-

वीमुं जवस्सए वा, ठवेति पेसंति फट्ठपतिणो वा ।

देति सहाए सव्वे, वि णेति गिद्धिणे अणुवसंते ॥

विध्वगन्त्यस्मिन्नुपाश्रये तं साधुं स्थापयन्ति, अन्यग्रामे वा यः स्पर्ककपतिस्तस्यान्तिके प्रेषयन्ति, निर्गच्छतश्च तस्य सहायान् ददन्ति । अयं मासकल्पः पूर्णस्ततः सर्वेऽपि निर्यान्ति निर्गच्छन्ति । एष गृहस्थेऽनुपशान्ते विधिः ।

अथ गृहस्थ उपशाम्यति न साधुस्तदा तस्येदं प्रायश्चित्तम्-

अविओसियम्मि लहुगा, भिक्खवियारे य वसहिगामे य ।

गणसंक्रमणे भएणनि, इहं पि तत्थेव वच्चाहि ॥

अधिकरणे अव्ययशमिते यदि भिक्षां हिरुते, विचारज्जुमि वा गच्छति, वसतेनिंगत्यापरसाधुवसति गच्छति; ग्रामानुग्रामं विहरति; सधेयुं चतुल्लघु । अथापरं गणं संक्रमति, ततस्तेरन्यगण-साधुभिर्भूयते-इहापि गृहिणः क्रोधनाः सन्ति, ततस्तत्रैव व्रज ।

इदमेव सुव्यक्तमाह-

इह वि गिहं अवि सइणा, एय वोच्छिष्ठा इहं तुह कसाया ।

आमंसि आगामं, जणइस्ससि वच्च तत्थेव ॥

इहापि ग्रामे गृहिणो अविषदणाः क्रोधनाः, न चेह समागत-स्य तत्र कपाया व्यवच्छिन्नाः । अतोऽन्येषामप्यस्मदादीनामायासं जनयिष्यन्ति, तस्मात्तत्रैव व्रज ।

सिद्धम्मि न संगिज्जति, संकतम्मि उ अपेमणे लहुगा ।

गुरुगा अजयणकट्ठणे, एगतरदोसतो जं वा ॥

अनुपशान्ते साधो गणान्तरं संक्रान्ते मूलाचार्येण साधुसंघाट-कस्तत्र प्रेषणीयः, तेन च संघाटकेन शिष्टे कथिते सति द्वितीयाचार्यो न संगृहीयात्, अथ मूलाचार्यः संघाटकं न प्रेषयति, तदा चतुल्लघु । संघाटको यद्ययतनया कथयति ततश्चतु-शुर्व । अयतनकथनं नाम-बहुजनमध्ये गच्छे गत्वा भणति-एष निर्धर्मो गृहिमिः सममाधिकरणं कृत्वा समायातः, सकलेनापि गच्छेन नोपशान्तः । एवमयतनया कथितेन साधुरे-कतरस्य गृहिणः साधुसंघाटकस्य मूलाचार्यस्य वा प्रद्वेपतो यत्करिष्यति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

तस्मादयं विधिः-

उवसामितो गिहत्थो, तुमं पि खामंहि एहि वच्चाओ ।

दोसा हु अणुवसंते, एय य मुज्झइ तुज्ज सामइयं ॥

पूर्वं गुरुणामेकान्ते कथयित्वा ततः स्वयमेकान्तेन भण्यते, उपशामितः स गृहस्थः, एहि व्रजाम, त्वमपि तं गृहस्थं ज्ञा-

मय, अनुपशान्तस्येह परत्र च बहवो दोषाः, समभावः सामा-यिकम् । तच्चैवं सकपायस्य भवतो न शुद्ध्यति न शुद्धं भवति । एवमेकान्ते भणितो यदि नोपशाम्यति ततो गणमध्येऽप्येव-मेव भणनीयः । ततोऽपि चेन्नोपशाम्यति प्रत्युत चेतसि चिन्तयेत्-तस्य गृहिणो निमित्तेनेहाप्यवकाशं न लभे ।

ततः-

तमनिमिरपमल्लज्जतो, पावं चिंतेइ दीहंसंसारो ।

पावं ववसिउकामो, पच्छिच्चे मग्गणा होति ॥

कृष्णचतुर्दशीरज्ज्यां द्रव्याभावस्तम उच्यते । तस्यामेव च रात्रौ यदा रजो धूमधूमिका भवति तदा तमस्तिमिरं भ-ण्यते । यदा पुनस्तस्यामेव रज्ज्यां रजःप्रभृतयो मेघदुर्दिनं च भवति तदा तमस्तिमिरपटलमभिधीयते । यथा तत्रैवान्ध-कारे पुरुषः किञ्चिदपि न पश्यति, एवं यस्तीव्रतीव्रतरतमेन कपायोदयेनाभिभूतो भण्यते, तमःशब्दस्येहोपमार्थवाचक-त्वात् । एवं भूतश्चेदपराधे हि तमपश्यन् दीर्घसंसारो तस्य गृह-स्थस्योपरि पापमैश्वर्याज्जीविताद्वा संशयिष्यामीति रूपं चिन्त-यति । एवं च पापं कर्तुं व्यवसिते तस्मिन्नियं प्रायश्चित्ते मा-ग्गणा भवति ।

वच्चांमि वच्चमाणे, चउरो लहुगा य होति गुरुगा य ।

उग्गिणम्मि य छेदो, पहरण मूलं च जं तत्थ ॥

व्रजामि तं गृहस्थं व्यपरोपयामीति संकल्पे चतुर्लघवः । पद-भेदादारभ्य पथि व्रजतस्तुतुर्गुरुवः । यदि यद्विलोपादिकं प्रहरणं मार्गयति तदा पल्लघवः । प्रहरणं लब्धे गृहीते च पदगुरुवः । उक्तीर्थे प्रहारं छेदः । प्रहारे पतिते यदि न स्त्रियते ततः छेद एव । अथ मृतस्ततो मूलम् । यत् स्वयं परितापनादिकं संभव-ति तच्च वक्तव्यम् ।

एते चापरे दोषाः-

तं चेव णिद्धवेती, वंधणणिच्छुज्जणकरुमहो य ।

आयरिए गच्छम्मि य, कुलगणसंघे य पत्थारे ॥

स गृहस्थस्तं संयतं वधार्थमागतं दृष्ट्वा कदाचित्तत्रैव निद्राप-यति-व्यापादयति, तं ग्रामनगरादेशो निर्दोषयति; कटकमर्दे-न वा गृह्णाति । अथवा कटकमर्दो कष्ट एतस्य सर्वमपि गच्छं व्यापादयति; यथा-पालकस्कन्धकाचार्यगच्छम् । अथवा बन्धननिष्कासनादिकमाचार्यस्य अपरगच्छस्य वा करोति । तथा कुलसमवायं कृत्वा कुलस्य बन्धादिकं कुर्यात् । एवं गणस्य वा, संघस्य वा एष प्रस्तारः । एवमेकाकिनो व्रजत आरोपणा दोषाश्च भणिताः ।

अथ सहायसहितस्याऽऽरोपणमाह-

संजतगणो गिहगणो, गामे नगरे व देसरज्जे य ।

अहिवतिरायकुलम्मि य, जा जिहं आरोवणा जणिया ॥

बहवः संयताः संयतगणः, तं सहायं गृह्णाति, एवं गृहगणं वा सहायं गृह्णाति । स च गृहगणो ग्रामं वा नगरं वा देशं वा रा-ज्यं वा भवेद् ; ग्रामादिवास्तव्यजनसमुदाय इत्यर्थः । एतेषां चासंयतादीनां, येऽधिपतयः तान् वा सहायत्वेन गृह्णा-ति । अन्यद्वा राजकुलं गृहीत्वा गच्छति । यथा-कालिकाचार्येण त्रिकराजवृन्दम्; तत्र चैकाकिनो या यत्र संकल्पादेवारोपणा भणिता सा चेहापि द्रष्टव्या ।

(१५) निर्ग्रन्थैर्व्यतिकृष्टमधिकरणं नोपशमनीयम्-
नो कप्यऽ निगन्थाणं वित्तिगिडाई पाहुडाई विजसमि-
त्तए ॥ १० ॥

अस्य संबन्धमाह-

वित्तिगिडा समणाणं, अज्वित्तिगिडा य होइ समणीणं ।
मा पाहुडं पि एवं, भवेज्ज सुत्तस्स आरंजो ॥

व्यतिकृष्टा भ्रमणानां दिग्भवति, अव्यतिकृष्टा भ्रमणीनामित्यन-
न्तरसूत्रद्वयेऽभिहितमेव । तच्चाकर्ष्य मा प्राभूतमप्येवं भवे-
दित्येतदधिकृतसूत्रस्यारम्भः । अस्य व्याख्यानं कल्पते निर्ग्र-
न्थानां व्यतिकृष्टानि क्षेत्रविकृष्टानि, प्राभूतानि कलहानित्य-
र्थः । विजसमितुमुपशमयितुम्, किं तु यत्रोत्पन्नं न तत्रोपशम-
यितुं कल्पते । इत्येष सूत्राकारार्थः ।

अत्र ज्ञाप्यप्रपञ्चः-

सेज्जासणातिरित्ते, इत्यादी घट्ट भायणाभेदे ।
वंदंतमवंदंते, उप्पज्जइ पाहुमं एवं ॥

शय्यासनातिरिक्ते, किमुक्तं जवति? अतिरिक्तां शय्याप्रतिरिक्ता-
नि वाऽऽसनानि, परिग्रहे कुर्वति वार्यमाणे, यदि वा इस्तादि ह-
स्तपादादिकं पादेन संघट्ट्याऽऽक्रम्य क्रमयित्वा व्रजति, यद्वा-
कथमप्यनुपयोगतो प्राजननेदे, अथवा पूर्वं वन्दमाने पश्चाद-
वन्दने प्राभूतं नाम कलहस्तदेवमुत्पद्यते ।

आधिगरणसमुप्पत्ती, जावुत्ता पारिहारियकुलम्भि ।

सम्ममणाज्जंते, अधिकरण तओ समुप्पज्जो ॥

उत्पत्तिसंभवे सति ततः सम्यगनाथसत्माने अधिकरणं समु-
त्पद्यते ।

आधिगरणे उप्पन्ने, अवित्तोसवियम्भि निगगं समणं ।

जेऽऽसाइज्जइ जुंजइ, मासा चत्तारि जारीया ॥

अधिकरणे उत्पन्ने सति यैः सहाधिकरणमुदपादि, तस्मिन्न-
वित्तोषिते निर्गतं भ्रमणं य आसादयति प्रतिगृह्णाति स्वसत्ता-
मात्रेण, यश्च तेन सह जुञ्जे तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो मासाः,
भारिका गुरवः ।

सगणं परगणं वा वि, संक्रंतमवित्तोसिते ।

वेदादि वस्मिया सोही, नाणत्तं तु इमं भवे ॥

येन सहाधिकरणमुपजातं तस्मिन्नवित्तोषिते स्वगणं परगणं वा,
संक्रान्तमधिकृत्य या वेदादिका शोधिः पूर्वं कल्पाध्ययने व-
र्णिता साऽत्रापि तथैव वक्तव्या; नवरमत्र यच्चानात्वं तदेवं व-
क्ष्यमाणं जवति ।

तदेवाऽऽह-

मा देहं टाणमेयस्स, पेसणे जइ तो गुरु ।

चऊगुरु ततो तस्स, कहंते वि चऊखद्द ॥

अन्यत्र गतस्य यथाचार्यः साधुसंघाटं, संदेशं वा प्रेषयति, य-
द्वेपोऽधिकरणं कृत्वा समागतो वर्तते, तस्मादेतस्य स्थानं मा
देहि इति; तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुणं । ततः प्रेषणानन्तरं
यस्य पार्श्वे सोऽन्यत्र गतस्तस्य स प्रेषितो यदि कथयति तदा
तस्मिन्नपि प्रायश्चित्तं चतुर्गुणं ।

अतस्तत्रैवे दोषाः-

ओहावणं व वेहासं, पदोसा जं तु काहिति ।

मूलं ओहावणे होइ, वेहासे चरमं जवे ॥

यद् यस्मात्प्रेषणे, कथने वा; प्रदेपादवधावनं करिष्यति । वेहा-
यसं वा, वैहायसं नामोत्कटं वनम् । तत्रावधावने तेन कृते
सति प्रेषयितुः कथयितुर्वा मूलं प्रायश्चित्तम्; वैहायसे चरमं
पाराश्रिकमिति ।

अन्यच्च-

तत्तयऽन्नत्थ न वा सं-वदेति मे न वि य नंदमाणं ।

नंदंति ते खल्लु मए, इति कल्लुसऽप्पा करे पावं ॥

मम तत्रात्मीयसमीपे अन्यत्रैवेहागतस्य जन्मान्तरवैराद्या स
न संवदति, नापि च मयि नन्दति ते नन्दन्ति, महाप्रद्वेषतोऽनुख-
भावात् । ततो न जन्मान्तरवैरिणः ते मम पृष्ठं मुञ्चन्तीति वि-
चिन्त्य कल्लुपात्मा पापं कुर्यात् ।

किं तत् ? इत्याह-

आदीवेज्ज व वसहिं, गुरुणो अन्नस्स घाय मरणं वा ।

कंरुच्छारिज्ज बूसय-सहितो सयमुरस्स वढवं तु ॥

कंरुच्छारिज्जो नाम ग्रामो, ग्रामाधिपतिर्वा; लूपका वा सहाया-
स्तेन सहितः, स्वयं वा औरसो यत्तत्रान्, वसतिमादीपयेत्;
गुरोरन्यस्य वा घातं, मारणं वा कुर्यात् ।

किं तत् ? इत्याह-

जइ जासइ गणमज्जं, अवप्पयोगा व नत्थ गंतूण ।

अवित्तोसमिण् एत्था-गतो चित्ते चेव ते दोसा ॥

यः प्रेषितो, यद्वा-अवप्रयोगाद् अन्येन कार्येण तत्र गत्वा गण-
मध्ये सकलगणसमकं यदि ज्ञापते, यथा-एषोऽधिकरणं कृत्वा
येन सहाधिकरणमनृत्तस्मिन्नतोपिते अत्रागत इति, (ते इति) त-
स्यापि त एव प्रागुक्ता दोषाः ।

जम्हा एए दोसा, अविही पेसणे य कहणे य ।

तम्हा इमेण विहिणा, पेसण कहणं तु कायव्वं ॥

यस्मादविधिना प्रेषणे, कथने च एतेऽनन्तरोदिता दोषाः, तस्मा-
दनेन वक्ष्यमाणेन विधिना प्रेषणं कथनं च कर्त्तव्यम् ।

तमेव विधिमाह-

गणिणो अत्थि निव्वजेयं, रहिते किम्बपेसितो ।

गमोति तं रहे चेव, नेच्छे सहमहं खु तो ॥

अन्येन प्रयोजनेन प्रेषितः सत्त्वरहिते विधिके प्रदेशे, अथ
निर्भेदं तदधिकरणरहस्यं गणिन आचार्यस्य गमयति कथयति
क्रमेणाचार्यस्तं कृताधिकरणं रहस्येव गमयति । यथा-त्वमित्य-
मित्यमधिकरणं कृत्वाऽत्र समागतो, न च स उपशमित इति ।
एवमुक्ते यदि स नेच्छेद् यथा-अहं नाधिकरणं कृत्वा समागतः,
यस्त्विदं ह्यते तेन सहाहं (खु) निश्चितमिति ।

गुरुसमक्खं गमितो, तहावि जइ नेच्छइ ।

ताहे वि गणमज्जम्भि, जासते नातिनिडुरं ॥

एवं तस्यानिच्छायां स प्रयोजनान्तरव्याजेन प्रेषितो रहसि
गुरुसमक्रमधिकरणं कथञ्चनापि तच्चित्तमनुप्रविश्य कथय-
ति, यथा रोषं न विदधाति । तथा-गमितोऽपि यदि नेच्छति

किमतः परम् ? एवं जामेत्त मो काशगज्जा पारमकुजं गनो, तथ
पगो साहि चि राया नण्णि, ते ममज्जाणां निमित्तादिपिं हिं
आउट्टेति, अण्णया तस्स नाहाणुमादिणा परमसानिणा कान्दि वि
कारणे भट्टेण कटारिया सहेउ पेसिया, सीसं डिदाडि चि । तं
आकोप्पमाणं आयानं पेन्चिऊण सो य विनणो संजानो, अण्णा-
णं मारिउं चयत्तिमो । ताहे काशगज्जेण भण्णो-मा अण्णाणं
मारोहि । साहिणा नणियं-परमनानिणा रुट्टेण पण्ण अण्णितं ण
नीरइ । कालगज्जेण नणियं-एदि हिंदुगदेसं चयामो । रण्णा
पनिन्यं । ननुल्लाण य अण्णेनि पि पंचाण उंनीए साहिणा
मुभं, केण कटारियाओ सहेउ पेसियाओ । तेण पुव्विल्लेण
दूया पेसिया, मा भण्णाणं मारोइ । एदि चयामो हिंदुगदेसं । ते
ऊत्तमो पि सुरुट्टणया, काओ य णयपाउसो यट्टइ । तारिसे
काले एसांरइ गंतुं तत्थ मंडुवाइं कया वि विभक्तिणं जं काशग-
ज्जो समज्जाणां सो तथ अधियो राया उचितो, ताहे सगवंसो
उप्पण्णो, वत्ते य चरिसाकाले काशगज्जेण जण्णिओ-गदजिह्वं रा-
याणं रोहोमो, ताहे न्नामा रायाणो जं गदजिह्वेण अयमाणिता
ते मेलाभा अणो य, नतो उज्जेण । रोहितानस्स य गदजिह्वेण ए-
का विज्जा गदहिक्खधारिणी अति, सा य एगम्मि अट्टावणे पर-
वलाभिमुता उचिया, ताहे परमे मयकणे गदहिज्जो राया अट्टम-
नचांययासी तं अयरोइ, ताहे सा गदभी महेनेण सहेण पा-
ट्टि । निरिओ मनुओ वा जो परएट्टिओ सहे सुणेनि स सधो
सहे वमनो भयविभलो ण सहेणो धराणिनं णियइ । कालग-
ज्जो य गदजिह्वं भट्टमज्जोययासिणं सव्वविधाणुदक्खाणं
अट्टलनं जोहाण णिरुपेति, जाहे एस गदनी मुहं चिन्सेनि
जाय य सहे ण करेति ताव जमगसमगण मुहं पुरेज्जा ।
ताहे पुरिसेहिं तहेय कयं, ताहे सा घाणमंतरं तरस गद-
जिह्वस्स उचारि हगिउं मुत्तवं चट्टीणं कयं, ताहे सो वि गद-
भिह्वो अयओ उम्माविओ, गदिया उज्जेणी, भगिणी पुणरवि सं-
जम उचिया । नि० चू० १० उ० ॥

(१२) अनुत्पन्नमधिकरणमुत्पादयति -

जे जिकवु एवाइं अणुण्णाइं अहिगरणाइं उप्पाएइ,
उप्पायंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

नवं यपुरातनं न भवति, अणुत्पन्ना संयकवावे भविज्जमाणा
आधिकं करणं, संयमयोगातिरिक्तमित्यर्थः । नि० चू० ५ उ० ।

(१३) कारणे सत्युत्पादयेत्—

वितियपदमणप्पज्जो, उप्पादे वि कोविते व अण्णज्जो ।
नाणं ते वा वि पुणो, विगिचण्णहा य उप्पाए ॥ २८ ॥
अणप्पज्जो अकोवितो वा रोहो वा अण्णरिहो कारणं पचा-
वितो कतो, कारणे सो अधिकरणं कावं विगिचियव्वो ॥ नि०
चू० ५ उ० ।

कारणान्तरमाह—

खेत्तादिऽकोविओ वा, अनलविवेगट्टया व जाणं पि ।
अहिगरणं तु करेत्ता, करेज्ज सव्वाणि वि पयाणि ॥
क्षिप्तचित्तः, आदिशब्दाद् दमचित्तो, यत्प्रविष्टो वा, अनात्म-
नशत्वाद्धिकरणं कुर्यात् । अकोविदो वा अद्याप्यपरिणतजिन-
वचनः शैकः, स अज्ञत्वाद्धिकरणं विदध्यात् । यद्वा-ज्ञानश-
पि गीतायोऽपीत्यर्थः । अनलस्य-अवज्याया अयोत्यस्य लपुंस-

काहेः कारणे दीक्षितस्य तत्कारणपरिसमाप्तौ विवेचनार्थं
परिगृह्यमाणाय तेन सहाधिकरणं करोति, कृत्वा चाधिकरणं
सर्वाण्यप्यनादरादीनि पदानि कुर्यात् ।

स्पष्टतरं भावयति—

कारणे अनले दिक्खा, सम्पत्तेऽणुसद्धि तेण कलहो वि ।

कारणे सहाविता णं, कलहो अणोष्य तेणं वा ॥

कारणे अनलस्यायोग्यस्य दीक्षा दत्ता, समाप्ते च तस्मिन्
कारणे तस्यानुशिष्टिः क्रियते । तथाऽप्यनिर्गच्छता तेन समं
कलहोऽपि कर्तव्यः । कारणे वा शब्दप्रतिषेधार्थं वसतो स्थिताः,
ततोऽप्यन्यं तेन शब्दकारिणा समं कलहः क्रियते येन श-
ब्दो न भूयते । नृ० ५ उ० ।

(१४) पुराणान्यधिकरणानि कान्तव्युपशमितानि—

पुनरुदीरयति—

जे जिकवु पोरणाइं अहिगरणाइं खामियविउसमियाइं
पुणो उदीरेइ, उदीरंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

पोरणा पूर्व उप्पणा, अधिकरणं पूर्ववत् । दोसावगमो जमा,
तं च खामियं भणति । विविधं ओसमियं विउसमियं मिच्छा-
ज्जाणपदार्थं । अहवा-खामियं वायाप, मणसा विउसमियं, व्यु-
त्पद्यं, ताणि जो पुणो उदीरेइ उप्पादयति तस्स मासलहुं ।

खामियविउसमियाइं, अधिकरणाइं तु जे य उप्पाए ।

पावाणा तत्थ तिसि, तुज्जणजुत्तं पक्खया णमो ॥ २९ ॥

पावाणा, साधुधर्मं व्यवस्थिता इत्यर्थः । कइं उप्पाएति ? कति
साधुयो पुव्वं कलहिता, तस्मि य खामियविउसमि ते तथेगो भ-
णाति-अइं णाम तुमं तदा एवं भणितो, भासी ण जुत्तं तुज्ज, इथेरो
पनिज्जणति-अइं पि ते किं जणितो ? । इथेरो जणाति-इयाणि
किं ते सुयामि, एवं उप्पाएति ।

स उप्पायगो—

उप्पादगमुप्पणं, संवच्चो कक्खने य पाहूयं ।

आविट्ठणा य पुच्छण, समुग्घतोऽतिघायणे चेव ॥ ३० ॥

पुणो ते वि कलुसिया उप्पायगा, जोहि उप्पणं, संवच्चं णाम-वा-
याए परोप्परं समिउमारद्धा, कक्खनं णाम, पासणितेहिं वि ओ-
समिज्जमाणा वि णोवसमंति, (पाहुअंति) रोसवसेण थवेऽवले
जुक्कं लम्मा, आविट्ठणा-पगो णिहओ, जो सो णिहिदो सो पु-
च्छितो । मारणांतियसमुग्घाएण समोहतो, अतिघायणा मारणं ।

एनेसु णवसु ठाणेसु उप्पायगस्स इमं पच्छित्तं—

लहुओ लहुगा गुरुगा, उम्मासा होति हहुगगुरुगा य ।

वेदो मूलं च तहा, अणवट्टप्पो य पारंची ॥ ३१ ॥

वितियादिसु चउलहुगादी पच्छित्ता, उप्पादगपइं ण भवति
त्ति कावं ।

तावो भेदो अयसो, हाणी दंसणचरित्ठणाणाणं ।

साधुपदोमो संसा-रवट्टणादी उदीरंते ॥ ३२ ॥

वितियपदमणप्पज्जो, ओदीरे वि कोविते व अण्णज्जो ।

नाणं ते वा वि पुणो, विगिचण्णहा उदीरेज्जा ॥ ३३ ॥

पूर्ववत् । नि० चू० ५ उ० ।

रायदुडं ओमं, आसवं वा अंतर तर्हि वा ॥

अथवा सोऽधिकृतः क्षमयितुमना भञ्जयितुं विहारं प्रतिपद्य-
कामो लग्नं प्रत्यासन्नं ततो गन्तुं न शक्नोति । अथवा-अन्त-
राले तत्र वा यत्राधिकरणमुत्पन्नं, भिक्षाया अज्ञातो, यदि वाऽन्त-
रस्तत्र वा राजाद्विष्टमवमौदर्यमशिवं वा ।

सवरपुलिंदादिजयं, अंतर तर्हियं च अहं वहुजाहि ।

एषण कारणेणं, वद्यंतं कं पि अप्पाहे ॥

अन्तरा तत्र वा शवरभयं पुलिन्दभयम्, आदिशब्दात् स्तेनश्चे-
च्छादिजयपरिग्रहः । भवेत्, त एतैः कारणैस्तत्र गन्तुमशक्नुवन्
यः कोऽप्यन्यः श्रावको वा, सिद्धपुत्रो वा, मिथ्यादृष्टिर्वा, तत्र ज-
को व्रजति, तं संदेशयति । यथाऽहमधुनोपशान्त एतैश्च कारणै-
रगन्तुमशक्तः, तस्मात्त्वमग्रागत्य मया सह क्षमणं कुरु ।

ततः संदेशे कथितेऽनेन यत्कर्त्तव्यं तदाह—

गंतूय सो वि तर्हियं, सपक्खपरपक्खमेव मेलित्ता ।

खामेइ सो वि कज्जं, व दीहए आगतो जेण ॥

यस्य संदेशः कथापितः स तत्र गत्वा यैस्तदधिकरणं कृतं
सपक्वं परपक्वं च मेलयित्वा तं क्षमयति; सोऽपि च क्षम्यमाणो
येन कारणेनागतस्तत्कारणं तस्य साक्षाद्दीक्षयति कथयति ।

अहं नत्थिको वि वच्चंतो, ताहे उवसमाति अप्पणा ।

खामेइ जत्थ मिलत्ती, अदिहे गुरुणंतियं काउं ।

अथ नास्तिकोऽपि तत्र व्रजन् यस्य संदेशः कथ्यते तर्हि आ-
त्मना स्वयमुपशमयति, सर्वथा मनसोऽधिकरणमुपशमपरायण-
तया स्फोटयति, ततो यत्र मिलति तत्र क्षमयति । ३ य न का-
पि मिच्छति, ततस्तास्मिन्नदृष्टे गुरुणामन्तिकं कृत्वा तं मनसि
कृत्य क्षमणं करोति । व्य० १ उ० । ('वसह') शब्दे साधुसा-
ध्वीकलहे यतना 'एकवर्गमा' प्रस्तावे द्रष्टव्या)

(१६) निर्ग्रन्थीभिर्व्यतिकृष्टमप्यधिकरणं—

व्युपशमनीयम्—

कप्पइ निर्गंयीणं वित्तिगिह्वाइ पाहुकाइ वित्तोसञ्चए ॥

कल्पते निर्ग्रन्थीनां व्यतिकृष्टानि कलहान् वित्तोपयितुमुपशम-
यितुमित्येष सूत्राकारार्थः ।

संप्रति भाष्यप्रपञ्चः—

निर्गंयीणं पाहुड, वित्तोसवियव्वं वित्तिगिह्वाइ ।

किह पुण होज्ज ठप्पसं ? चेइयधरंवंदमाणीणं ॥

चेइययुतोण जणणे, उएहं उ अस्सतो बहि अञ्जांति ।

परितावियाम धणियं, कोइलसदाहिं तुम्भाहिं ॥

निर्ग्रन्थीनां प्राप्नुं विनोषयितव्यमुपशमयितव्यं भवति व्यतिकृ-
ष्टम् । शिष्यः प्राह—कथं केन प्रकारेण पुनस्तासामधिकरणमुत्पन्नं
स्यात् ? । सूरिराह—काश्चनाऽऽर्थिकाश्चेत्यवन्दनाय चैत्यगृहं ग-
ताः, तस्मिंश्च चैत्यगृहे बहिर्मुखमपरुपादिकं न समस्ति; ततश्चै-
त्यगृहमध्यस्थिताश्चेत्यानि वन्दन्ते, तासां च वन्दमानानां प्र-
थनस्तुतेरारण्याऽन्याः काश्चन संयत्यः समागताः, ताश्च मध्ये
अवकाशो नास्तीति बहिरुष्णे स्थिताः । ततो विस्तरेण चै-
त्यस्तुनीनां नष्टेन ता वदिः स्थिताः उपशेन परितोष्यमाना धद-

न्ति-युष्माग्निः कोकिलाशब्दाभिर्घणियमतिशयेन वयं परितो-
षिताः । तथा—

जग्घंति नाडनाई, कलंऽपि कलभाणणीण तुम्हाण ।

विप्पगत्ते जवतीणं, जायंते जयं नरवतीतो ॥

युष्माकं कलभाननानां तु खरमनीक्षाननानां पुरतः कलामपि
मनागपि नाटकानि नार्हन्ति, ततो भवतीनां विप्रकृते कारणम-
जानानानामस्माकं जयं नरपतितो यद् यूयं नाटकं प्रक्षेप्यथ्वे ।

इति असद्वृणवत्तेजित-मञ्जुत्था तो समंति तत्थेव ।

अमुणाम सव्वगणजं-रुणे व गुरुसिद्धिमा मेरा ॥

इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेणासद्वृणवत्ताभिर्या वत्तेजिताः कोपं प्रा-
हितानां मध्यस्थाः संयत्यस्तत्रैव शमयन्ति । न च तास्तद् भ-
एरुनं कस्यापि आवितवत्यः । अथ मध्यस्थानां संयतीनामज्ञा-
वतो चेलावशाद्वा सर्वगणस्य भएरुनमभूत् तर्हि सर्वगणभएरु-
ने स्वस्वगुरुशिष्टं कर्त्तव्यम् । ततस्तावुपशमयतः । अथ लज्जातो
जयतो वा न स्वस्वगुरोर्निवेदितं तर्हि तत्रेयं मर्यादा ।

एतदेवाऽऽह—

गणहरगमणं एगा-ऽऽयरियस्स दोन्नि वा वग्गा ।

आसन्नगम दूरे, च पेसणं तं च वितियपयं ॥

समस्तस्यापि गणस्य जगृजे गते आत्मीयस्य समीपे गमनम्,
अथवा एकस्याच्चार्यस्य संवन्धिनौ तौ द्वावपि संयतवर्गौ, तत
एकस्य समीपे गच्छतः, ततः स एकस्तौ वा द्वौ गणधरो तदधि-
करणं यत्र चैत्यगृहेऽन्यत्र चोत्पन्नं तत्र द्वावपि वर्गौ नीत्वा उप-
शमयतः । अथ लज्जादिना स्वस्वगुरोर्निवेदितमेकतरश्च पक्षो
निर्गतः, तत आह—(आसन्नत्वादि) यद्यासन्नं गतोऽपान्तराले
च निर्जयं ततः स आनाय्यते, अथ सापायं तर्हि तासां
गणधर आगच्छति, आगत्य क्षमणं करोति । अथ दूरे गतस्तर्हि
वृषजानां प्रेषणं कर्त्तव्यम्, ततो वृषभाः समेय ताः संयतीः
क्षमयन्ति । अथ द्वितीयपक्षो नोपशान्तस्ततः पुनरावृत्तौ जाता-
यां पूर्वोक्तवदेवं प्रागुक्तं द्वितीयं पदमवसातव्यम् । यत्र मिश्रन्ति
तत्रैव क्षमयन्ति । अमिलने गुरुणामन्तिके इति ।

एतदेव मूढतः सविस्तरं चिन्ताययिषुरिदमाह—

चेइयधरं नइत्ता, जत्थुप्पन्नं च तत्थ विज्झवणं ।

दज्ज भया व आसिहे, दुव्वेगतरनिग्गम इमं तु ॥

स्वस्वगुरुनिवेदने कृते तौ द्वावपि गुरुसंयतीवर्गद्वयमपि चै-
त्यगृहं नीत्वा, अथवा यत्रान्यत्रोत्पन्नमधिकरणं तत्र नीत्वाऽधि-
करणस्य विध्यापनं कुरुतः । अथ लज्जया जयाद्वा गुरुणामशि-
ष्टमजवत् । द्वयोश्च पक्षयोर्मध्ये एकतरस्य पक्षस्य निर्गम-
स्तत इदं कर्त्तव्यम्—

आसन्नपणायाए, अणवाए वा से गणहरा गम्म ।

जगुनाय अजिक्खामण, आणाविज्जऽन्नहिं वा वि ॥

यद्यासन्नं निर्जयं च ततस्ता निर्गताः संयत्यः स्वगणेन सह
आनाय्यन्ते । अथ सापायं ततस्तासां गणधर आगच्छति, तत-
स्ताः संयत्य आनीताः, गणधरो वा एकक आगतो यत्र जनकालं
जयरुनमभूत्, तत्रानाय्यन्ते । अन्यत्र वा आनाय्य परस्परम-
जिज्ञमणं कार्यम् । अथ दूरे गतास्तर्हि वृषजाः समागत्य संयतीः
क्षमयन्ति । व्य० ७ उ० ।

ततः प्रहरदिवसाद्यातिक्रमेण प्रस्तावान्तरमारभ्य गणमध्ये तं भाषते, परं नातिनिष्ठुरम् ।

कथं तं ज्ञापते ?, इत्याह—

गणस्त गणिणो चैव, तुम्ही निगते तथा ।

अर्थिती मद्गती आसी, सो विवक्षो य तज्जितो ॥

तदा नस्मिन्कात्रे त्वयि अधिकरणं कृत्वा निर्गते समस्तस्यापि गणस्य, गणनश्चाचार्यस्य मद्गती अभूतिरासीत् । येन च सह तवाधिकरणमभूत् सोऽपि विपक्षो गणिना गणेन च तज्जितः ।

गणेषु गणिणा चैव, सारेज्ज तपज्जपिणो ।

तादे अन्नावदेनेण, विवेगो से विहिज्जइ ॥

यद्यमुक्तानन्तरं तत्रस्थेन गणेन गणिना च स सम्यक् सारणीयः शिञ्जणीयः, येन स्वदोषं प्रतिपद्य तत्र गत्वा विपक्षं क्रमयति । अथ स तथा सार्यमाणोऽकस्मिन् नोपशमं नीतो दुःस्वप्ना-वत्वात्ततोऽप्यापदेशेन तस्य विवेकः परित्यागो विधीयते ।

केनोपदेशेन ?, इत्याह—

महाजणां इमो अमहं, खेत्तं पि न पटुप्पति ।

व इद्दी सान्नरुद्धा वा, यत्तपत्ता वि नत्ति णो ॥

अयं माधुसाय्यीलक्षणो महान् जनोऽस्माकमेतावतां न चैतत् क्षेत्रं प्रभवति, संकीर्णत्वात् । यदि वा यस्यैः सन्निरुद्धा संफटा वर्तन्ते, तत एतावन्तः माधवोऽत्र न नास्ति, अथवा यत्र पात्राण्यस्माकं संप्रति न सन्ति । अगिश्वाभ्रचात्र तथाविधः शमोऽप्यस्ति, साधवोऽप्येतेऽस्तीवासहजनाः, नस्मात् यूयमन्यत्र कापि गच्छत । यदि पुनः स सार्यमाण उपशममधिगच्छति, ततः स यत्तपमाणेन विधिनापशमयितव्यः ।

तत्र प्रथमनोऽधिकरणोपशमनस्थानमाह—

सगणिपरगणिणा, समणुत्तेयरंण वा ।

रहस्सादि व उण्णं, जं जहि तं तदि खेव ॥

सगणसक्तेन परगणसक्तेन वा तेनापि समनोऽङ्गेन सामेगिकेने-तरेण वा सह रहसि वा, आदिशब्दादरहसि वा, यतो यथाधिकरणमुत्पन्नं तत्तत्र कृपयेदुपशमयेत् ।

तत्रोपशमनविधिमाह—

एको व दां व निगम, उण्णं जत्थ तत्थ वाममणं ।

गामे गच्छ दु गच्छे, कुल्लगणसंघे य विइयपयं ॥

एको वा, द्वौ वा, याश्चाद्वात्रयो वा, चत्वारो वा, येऽधिकरणं कृत्वा निर्गतास्ते यत्र ग्रामं नगरं वाऽधिकरणमुत्पन्नं तत्रानायन्ते, आनीय यैः सहाधिकरणमच्युतैः सह व्युपशमनं काम्रणं कार्यम् । तत्पुनरधिकरणमेकस्मिन् गच्छे, यदि वा द्वयोर्गच्छयां, अथवा कुले, यदि वा गणे, यदि वा संघे, समुत्पन्नं स्यात्, (विइयपदमिति) अत्रापि द्वितीयपदमपवादपदम् । ततो वक्ष्यमाणकारणवैकल्यमपि प्राज्ञं वितोषयेत् । ततश्च वितोषणमत्र प्राचयिष्यते ।

सामप्रतमधिकरणमुत्पन्नं यथोपशमयितव्यं तथा चाऽऽह—

तं जेत्ति एहिं दिइं, तेत्तियमेत्ताण मेलणं कावं ।

गि हियाण व साहूण व, पुत्तोऽज्जिय दांवि खामंति ॥

तदधिकरणमुत्पन्नं यावज्जिगृहस्थैः संयतैर्वा दृष्टं तावन्मात्रा-
१४९

यां गृहस्थानां साधूनां च मीलनं कृत्वा तेषां पुत्रतो द्वावपि परस्परं क्रमयतः । कुलादिसमवाये यद्युत्पन्नं ततः कुलादिसमवाये कृत्वा क्रमयतः । किं कारणम् ?, यावन्मात्रैर्गृहिभिः संयतैर्वा दृष्टं तावतां मीलनं कृत्वा परस्परं क्रमयतः, तत्राऽऽह—

नवणीयतुह्यहिया, साहू एवं गिदिणो उ नाहिंति ।

न य दंरुजया साहू, काहिंती तत्थ वोसमणं ॥

नवनीततुल्यद्वंद्व्याः साधवः, एवं गृहिणः, तुशब्दादभिनवशै-क्लादयश्च ज्ञास्यन्ति । न च दंरुजयात्साधवोऽधिकरणे समुत्पन्ने व्युपशमनं करिष्यन्ति, किं तु कर्मकृपणाय, एवं ज्ञास्यन्ति, एवंरूपा च प्रतिपत्तिः शुभोदयपरम्पराहेतुः, अतस्तावतां मीलनं कृत्वा परस्परं तौ क्रमयतः ।

संप्रति यदुक्तं 'विइयपयामिति' तदव्याख्यानार्थम् इ—

वित्तियपदे वित्तिगिहे, वित्तोसवेज्जा उवड्ढिते वड्ढसो ।

विइतो जइ न उवत्तमे, गतो य सो अबदंसेसु ॥

द्वितीयपदे व्यतिक्रष्टव्यमपि प्राभूतानि वित्तोपयेदुपशमयेत् । कथम् ?, इत्याह—येन सहाधिकरणं यदृशो यद्वन् धारान् कृतं, तस्योपस्थितस्तं क्रमयति, स च क्रम्यमाणो द्वितीय उपशमयति । यदि नोपशमेत् अनुपशान्नाश्च गतोऽप्यं देशं ततः—

काक्षेण च उवमतो, वज्जिज्जंतो व अन्नमन्नेहिं ।

खीरादिमलच्छीणं व, देयय गेहन्न पुडो वा ॥

तस्यान्यदेशं गतस्य यदुता काक्षेन गतेन तस्य कयायाः प्रत-नवोऽभवन्, तत उपशान्तः । अथवा-अन्योन्यैः साधुभिः कृता-धिकरण एव इति स्थानविद्युज्यमान एव स्वचेतसि संकथयति-यथा कयापरोपेणाहं स्थाने स्थानं विद्युज्यमानः, नस्मादन्नं कया-यैरिते पुनरावृत्तिः, अथवा क्षीरादिसलब्धीनां क्षीराभवादि-लब्धीनामुपदेशतः समदुपगमयान् देवतया शिक्तः, यदि वा ग्लान्त्येन पृष्टस्तन्निश्चयति-यदि कथमपि साधिकरणोऽग्नि-योऽहं ततः सापराधिकां भवामि, तस्मात्सं गत्वां पशमयामि ।

एवं जातपुनरावृत्तिना यत्कर्तव्यं तदाह—

गंतुं खामेयव्वो, अहव न गच्छेज्जिंमोहिं दोरेहिं ।

नं।यद्वग उवसगो, तदिंयं वा तत्स हाज्जंत ॥

तेन जातपुनरावृत्तिना यत्रोत्पन्नमधिकरणं तत्र गत्वा शमयितव्यः । अथवा-एतेर्धक्ष्यमाणैर्दोषैस्त्र न गच्छेद्यत्रोत्पन्नमधि-करणम् । केदोषैः ?, इत्यत आह—निजकाः स्वजनाः तस्य तत्र विद्यन्त, ततस्तत्र गतस्य तैरुपसर्गः क्रियते ।

तथा—

गामो उड्ढिउ हुज्जा, अंतर वा जणवतो निण्डवगणं ।

अन्नं गतां न तरई, अहवा गेलन्नं पणिचरई ॥

यत्र ग्रामेऽधिकरणमुत्पन्नं स ग्राम उचित उद्गशीभूतः, अथवा अन्तर्गज्जनादुत्पिनां, यदि वा येन सममधिकरणमज्ञायत स निहवगणं प्रविष्टवान् । अन्यत्र गत इतरो वा खानो जातस्त-तो गन्तुं न शक्नोति । अथवा ग्लानं प्रतिचरति ।

अबहुजय पणिचजे, भिक्खादि अलंज अंतर तदिं वा ।

करण, अधिगणं? गोयमा ! अधिगणं वि, अधिगणं पि । से केणट्टेणं भंते ! एवं पुच्छ-अधिगणं वि, अधिगणं पि । गोयमा ! अतिरतिं पुरुच से तेणट्टेणं जाव अधिगणं वि, अधिगणं पि । पुढवीकाइए णं जंते ! ओराद्वियसरीरं णिव्व-त्तिणमाणे किं अधिगणं, अधिगणं ? एवं चेव, एवं जाव मणुस्से । एवं वेउव्वियसरीरं पि, णवरं जस्स अत्थि । जीवे णं भंते ! आहारगसरीरं णिव्वत्तिणमाणे किं अधिगणं पुच्छा ? गोयमा ! अधिगणं वि, अधिगणं पि । से केणट्टेणं जाव अधिगणं पि ? गोयमा ! पमादं पुरुच से तेणट्टेणं जाव अधिगणं पि । एवं मणुस्से वि । तेया सरीरं जहा ओरालियं; एवरं सव्वजीवाणं जाणियव्वं । एवं कम्मगसरीरं पि ॥

(अधिगणं वि अधिगणं पि ति) पूर्ववत् । (एवं चेव ति) अनेन जीवसूत्राजिलापः पृथिवीकायिकसूत्रे समस्तो वाच्य इति दर्शितम् । (एवं वेउव्वीत्यादि) व्यक्तम् । (नवरं जस्स अत्थि ति) इह तस्य जीवपदस्य वाच्यमिति शेषः । तत्र नारकदेवानां वायोः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्गानुष्णाणां च तदस्तीति ज्ञेयम् । (पमायं पुरुच ति) इहाहारकशरीरं संयमयनामेव भवति । तत्र चाधिरंतरभावेऽपि प्रमादादधिकरणित्वमवसेयम् । दण्डकचिन्तायां चाहारकं मनुष्यस्यैव भवतीत्यत उक्तम्- (एवं मणुस्से वि ति) ।

जीवे णं भंते ! सोइंदियं णिव्वत्तिणमाणे किं अधिगणं, अधिगणं । एवं जहंव ओरालियमरीरं तहेव सोइंदियं पि जाणियव्वं, एवरं जस्स अत्थि सोइंदियं । एवं सोइंदियं चरिंदियं धाणियजि, नदियफासिंदिया, ण वि जाणियव्वं; जस्स जं अत्थि । जीवे णं भंते ! मणजोगे णिव्वत्तेमाणे किं अधिगणं, अधिगणं ? एवं जहंव सोइंदियं तहेव णिरवसेसं । वड्जोगं एवं चेव, एवरं एणंदिय-वज्जाणं । एवं कायजोगे वि, एवरं सव्वजीवाणं जाव वेमाणिए । सेवं जंते ! भंते ! ति । ज० १६ श० १ उ० ॥

अधिक्रियते प्राणिदुर्गतावननेति अधिकरणम् । दानेनाऽसंयतस्य सामर्थ्योपपन्नतः पापारम्भप्रवर्तने, हा० २७ अष्ट० । आधारे, व्याकरणशास्त्रे- “कर्तृकर्मव्यवहिता-मसाक्षाद्धारयेत् क्रियाम् । उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ, शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ” ॥ १ ॥ इति हरिपरिभाषिते अधिकरणसंज्ञके कर्तृकर्मद्वाराक्रियाश्रये कारके, यथा-गृहे स्थाल्या-मन्नं पचतीत्यादौ गृहस्य कर्तृद्वारा, स्थाल्याश्च कर्मद्वारा, परम्परया पाकक्रियाश्रयत्वाद् गृहदेः । वाच० ।

अधि (हि) गरणक्रिया-अधिकरणक्रिया-स्त्री० । अधिकरणविधयिका क्रिया अधिकरणक्रिया । कलहविषयके व्यापारे, अधिकरणक्रिया द्विविधा-निर्वर्तनाधिकरणक्रिया, संयोजनाधिकरणक्रिया च । तत्राद्या-सङ्गादीनां तन्मुष्ट्यादीनां निर्वर्तनलक्षणा । द्वितीया तु-तेषामिव सिद्धानां संयोजनलक्षणेति । अथवा प्राणिनां दुर्गत्यधिकारित्वकारणे, क्रियामात्रे च । “अधिगणकिरियापवत्तगा बहुविहं अनत्थं अवमहं अप्पणो परस्स य करेति ” प्रश्न० २ आश० द्वा० ।

अ (आ) धि (हि) गरणिया-अधिकरणिकी-स्त्री० । अधिक्रियते स्थाप्यते नरकादिष्वात्मा येन तदधिकरणमनुष्ठानविशेषो बाह्यं वस्तु चक्रसङ्गादि, तत्र भवा, तेन वा निर्वृत्ता, आधिकरणिकी । प्रश्न० २१ पद । सङ्गादिनिर्वर्तनलक्षणे क्रियाभेदे, स० ७ सम० । स्था० ।

अस्या भेदाः—

अधिगणिया णं जंते ! किरिया कइविहा पण्त्ता ? मंनियपत्ता ! इविहा पण्त्ता । तं जहा-संजोयणाधिगण-किरिया य, निव्वत्तणाधिगणकिरिया य ॥

(संजोयणाधिगणकिरिया य ति) संयोजनं हलगरविष-कूटयन्त्राद्यङ्गानां पूर्वनिर्वर्तितानां मूलनं, तदेवाधिकरणक्रिया संयोजनाधिकरणक्रिया । (णिव्वत्तणाधिगणकिरिया य ति) निर्वर्तनमतिशक्तितोमरादीनां निष्पादनं, तदेवाधिकरणक्रिया निर्वर्तनाधिकरणक्रिया । म० ३ श० ३ उ० । अधिकरणक्रिया द्विधा-अधिकरणप्रवर्तना, अधिकरणनिर्वर्तना च । तत्र निर्वर्तनेनाधिकरणक्रिया द्विविधा-मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया, उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया च । तत्र मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया-पञ्चानां शरीरकाणां निर्वर्तनम् । उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया-हस्तपादाङ्गोपाङ्गानां निर्वर्तनम् । अथवा मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया-असिंशक्तिमिण्ड-पालादीनां निर्वर्तनम् । संयोजनाधिकरणक्रिया-तेषां वियु-क्तानां संयोजनमिति । अथवा संयोगः विषगरहलकूटय-नुर्यन्त्रादीनां, निर्वर्तनाधिकरणक्रिया श्वलकेण कालकूटमु-क्तादीनाम् । कूटपाशनिर्वर्तने क्रियाभेदे च । आ० चू० ४ अ० ।

अधि (हि) गरणी-अधिकरणी-स्त्री० । कर्माणंपकरणविशेषे, यत्र लाढकारा अयोधनेन लाढानि कुट्टयन्ति । म० ६ श० १ उ० ।

तेणं कालेणं तेणं समणं रायगिहेण जाव पण्जुवासमाणे एवं वयानी-अत्थि णं जंते ! अधिकरणम्मि वाउयाए वड्कमइ ? इंता अत्थि । से जंते ! किं पुट्टे उदाइ, अपुट्टे उदाइ ? गोयमा ! पुट्टे उदाइ, णो अपुट्टे उदाइ । से जंते ! किं सभरीरी णिक्खमइ, असरीरी । णिक्खमइ ? एवं जहा खंदए जाव से तेणट्टेणं जाव णो असरीरी । णिक्खमइ ।

(अत्थि ति) अस्ययं पक्षः, (अधिगणमिति) आधिकरण्यं, (वाउयाए ति) वायुकायः, (वड्कमइ ति) व्युत्क्रामति अयोधनाभिघातेनोत्पद्यते, अयञ्चाक्रान्तसंजघत्वेनादावचेतन-तयोत्पन्नाप्रपि पञ्चात् स चेतनीजवर्तीति संभाव्यत इति । वत्प-न्नञ्च सन् प्रियत इति प्रत्ययज्ञाह-“से भंते” इत्यादि । (पुट्टे ति) स्पृष्टः स्वकायशस्त्रादिना सशरीरञ्च कलेवराश्लिष्कामिति काम-णाद्यपेक्षया औदारिकाद्यपेक्षया त्वशरीरं । ति । म० १६ श० १ उ० ।

अधि (हि) गार-अधिकार-पुं० । अधि-क-घञ् । ओघतः प्रपञ्चप्रस्तावे, “अधिगारो पुव्वुत्तो चउव्विहो विइयचूलिय-ज्झयणे ” दश० १ अ० । प्रयोजने, “अधिगारो इह तुमो एणं ” वय० ९ उ० । नि० चू० । व्यापारे, “अधिगारो तस्स वि-जणं ” आत्ता० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अधि (हि) हंत-अधितिष्ठत्-घि० । निवसति, नि० चू० १२ उ० ।

सूत्रम्-

साहिगरणं निगम्यं निगम्ये गिएहमाणे वा अगिएहमाणे वा नातिक्रमः ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् ।

अथ भाष्यम्-

उपपन्ने अहिगणने, ओममणं लुविहऽतिक्रमं दंडु ।

अगुसासणभासनिर्हं-जणा य जो तोए पन्निक्खो ॥

संयत्या गृहस्थेन सममधिकरणे उत्पद्ये द्विविधमतिक्रमं दण्डु तस्याधिकरणस्य व्ययशमने कर्तव्यम् । किमुक्तं नयति?—स गृहस्थोऽनुपशान्तः सन् नत्याः संयत्याः संयमभेदं, जीवित-भेदं चेति द्विविधमतिक्रमं कुर्यात् । तत्र उपशमिन्यमधिकरणम् । कथम्?, इत्याहु-यस्तस्याः संयत्याः प्रणिपत्तो गृहस्थस्तस्य प्रयमनः कोमलवचनैर्गुणासनं कर्तव्यम् । तथाऽप्यतिष्ठति प्रापणं नापनं कर्तव्यम् । तथाऽप्यभिभवतो निरुम्भणं, यस्य या जन्निस्तेन तथा निवारणं कर्तव्यम् । ३० ६ ३० ।

(१७) साधिकरणेनाऽकृतप्रायश्चित्तेन सह न संभोगः कार्य्य-ने भिक्खु साहिगरणं अविओसमियपाहुनं अकडप-च्छिनं परं तिरायाओ विष्फादियं अविष्फादियं संभुजइ, संभुजंतं वा साइज्जइ । १९ ।

अदि णिहंसे, निक्खु पुण्ववणितो सहाधिकरणः कपायमा-यशुभभावाधिकरणसहित इत्यर्थः । विविधं विविधेहि वा पगा-रेहि विउसमियं उचत्तामियं । किं तं?, पाहुनं, कलहमित्यर्थः । ण विओसमियं अविओसमियं, पाहुनं, तस्मि पाहुनकरणे जे प-च्छित्तं जेण सां करपच्छित्तो । “अमानोनाः प्रणिपेधे” न कृतं प्रायश्चित्ते भट्टनप्रायश्चित्तं, जो तं संभुजणसंभोगेण सं-भुजति, एगमंनन्नीप, नमुंजइ सि वुत्तं भयानि, अहवादाणगदेण संभोगेण भुंजति तस्स चउगुणा आणादिणा य दोसा । नि० चू० ४ ३० ।

(१८) अथ दण्डकमेणाऽधिकरणयधिकरणद्वयनिरूप-णायाऽऽह-

जीवे णं भंते ! अहिगणणी, अहिगणं ? । गोयमा ! जीवे अधिगणं वि, अधिगणं वि । ते केणट्टेणं भंते ! एवं वु-च्चइ-जीवे अधिगणणी वि, अधिगणं वि ? । गोयमा ! अ-विरतिं पणुच्च से तेणट्टेणं जाव अधिगणं वि अधिगणं पि । एरइए णं भंते ! किं अधिगणणी, अधिगणं ? । गोयमा ! अधिगणणी वि, अधिगणं पि । एवं जहेव जीवे तहेव एरइए वि, एवं एरइए जाव वेमाणिए ।

(जीवे णमित्यादि) । (अहिगणणी वि चि) अधिकरणं दुर्गतिनिमित्तं वस्तु, तच्च विवक्षया शरीरमिन्द्रियाणि च, त-था बाह्यो हलगत्यादिपारिग्रहः, तदस्यास्तीत्याधिकरणणी जीवः । (अहिगणं पि चि) शरीराद्यधिकरणेभ्यः कथञ्चिद्व्यतिरि-क्तत्वादधिकरणं जीवः । एतच्च द्वयं जीवस्याविरतिं प्रती-त्याच्यते; तेन यो विरतिमानसः शरीरादिभावेऽपि नाधिकर-णी, नाप्यधिकरणम्, अविरतियुक्तस्यैव शरीरादेरधिकरणत्वा-दिति । एतदेव चतुर्थीसतिदण्डके दर्शयति-(नेरइए इत्यादि) अधिकरणणी जीव इति प्रागुक्तम् । स च दूरवर्तिनाऽप्यधिकर-णेन स्यात्, यथा-गोमान् । इत्यनः पुनरुक्ति-

जीवे णं भंते ! किं साहिगणणी, एरइगणणी ? । गोयमा ! साहिगणणी, एो एरइगणणी । से केणट्टेणं पुच्छा ? । गोय-मा ! अविरतिं पणुच्च से तेणट्टेणं जाव एो एरइ-गणणी । एवं जाव वेमाणिए ॥

(साहिगणणि चि) सह सहभाविनाऽधिकरणेन शरीरादिना वचत इति समासान्तेन द्विधः साधिकरणणी । संसारिजीवस्य शरीरेन्द्रियरूपाधिकरणस्य सर्वदैव सहचरितत्वात्साधिकरण-त्वमुपदिश्यते । शब्दाद्यधिकरणपेक्षया तु स्वस्वामिभावस्य तदविरतिरूपस्य सह वर्तित्वाच्चावः साधिकरणणीत्युच्यते । अत एव वक्ष्यति-(अविरतं पणुच्च चि) अत एव संयतानां शरीरा-दिसद्भावेऽप्यविरतेरनाद्याद्य साधिकरणित्वम् । (निरहिगणणि चि) निर्गतमधिकरणमस्मादिति निरधिकरणणी । समासान्तविधे-रधिकरणदूरवर्त्तित्वार्थः । स च न भवति, अविरतेरधिकरण-मूनाया अदूरवर्त्तित्वादिति । अथवा-सहाधिकरणभिः पुत्रमि-त्रादिभिर्वर्तेत इति साधिकरणणी । कस्यापि जीवस्य पुत्रादीनाम-भावेऽपि तद्विषयविरतेरनाद्यात्साधिकरणित्वमवसेयम् । अत एव नो निरधिकरणणीत्यपि मन्तव्यामिति ।

अधिकरणाधिकारादेवेदमाह-

जीवे णं भंते ! किं आयाहिगणणी, पराहिगणणी, तदु-जयाहिगणणी ? । गोयमा ! आयाहिगणणी वि, पराहिगणणी वि, तदुभयाधिकरणणी वि । से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव तदुजयाहिगणणी वि ? । गोयमा ! अविरतिं पणुच्च से तेणट्टेणं जाव तदुजयाहिगणणी वि । एवं जाव वेमा-णिए ।

(आयाहिगणणि चि) अधिकरणणी कृत्वादिमान्, आत्मनाऽधि-करणणी आत्माधिकरणणी । ननु यस्य हृत्वादि नास्ति स कथमधि-करणणी ? इत्यत्रोच्यते-अविरत्यपेक्षया, इत्यत एवाऽविरतिं प्रतीत्ये-ति वक्ष्यति । (पराहिगणणि चि) परतः परेषामधिकरणे प्रवर्तने-नाधिकरणणी पराधिकरणणी, (तदुभयाहिगणणि चि) तयोरात्म-परयोर्द्वयं तदुजयं, ततोऽधिकरणणी यः स तथेति ।

अथाधिकरणस्यैव हेतुरूपणायाऽऽह-

जीवे णं भंते ! अधिगणणे किं आयप्पओगणिव्वत्तिए, परप्पओगणिव्वत्तिए, तदुजयप्पओगणिव्वत्तिए ? । गोयमा ! आयप्पओगणिव्वत्तिए वि, परप्पओगणिव्वत्तिए वि, तदु-जयप्पओगणिव्वत्तिए वि । से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! अविरतिं पणुच्च से तेणट्टेणं जाव तदुजयप्पओ-गणिव्वत्तिए वि । एवं जाव वेमाणियाणं ।

(आयप्पओगणिव्वत्तिए चि) आत्मनः प्रयोगेण मनःप्रभृति-व्यापारेण निर्वर्त्तितं निष्पादितं यत्तत्तथा । एवमन्यदपि द्वयम् । न नु यस्य वचनादिपरप्रवर्त्तनवस्तु नास्ति तस्य कथं परप्रयोगनि-र्वर्त्ततादि भाविष्यति ? इत्याशङ्कामुपदर्श्य परिहरन्नाह-(से केण-मित्यादि) अविरत्यपेक्षया त्रिविधमप्यस्तीति भावनीयमिति । अथ शरीराणामिन्द्रियाणां योगानां च निर्वर्त्तनार्था जीवादे-रधिकरणित्वादिप्रकरणयन्निदमाह-

जीवे णं भंते ! ओराखियसरीरं णिव्वत्तिएमाणे किं अधि-

तथा चाऽऽह ज्ञाप्यकृत—

“संस्कार्याणि च कं-रूपाणि छुट्टाणं विणिहिदुं” सुगमम् ।
 अस्मिंश्च षट्स्थानके षोढा वृद्धिरुक्ता । तद्यथा—अनन्तजाग-
 वृद्धिः, असंख्येयजागवृद्धिः, संख्यातजागवृद्धिः, संख्येयगुण-
 वृद्धिः, असंख्येयगुणवृद्धिः, अनन्तगुणवृद्धिश्च । तत्र यादृशोऽ-
 नन्ततमो जागोऽसंख्येयतमः संख्येयतमो वा गृह्यते ; यादृशस्तु
 संख्येयोऽसंख्येयोऽनन्तो वा गुणकारः स निरूप्यते—तत्र यदपे-
 क्त्या अनन्तजागवृद्धिस्तस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना
 भागो द्वियते, हते च जागे द्विधिः सोऽनन्ततमो भागः । तेनाधि-
 कमुत्तरं संयमस्थानम् । किमुक्तं ज्ञवति ?—प्रथमस्य संयमस्था-
 नस्य ये निर्विजागा जागास्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना
 भागे हते सति ये लभ्यन्ते ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागैर्नागैर्द्वि-
 तीये संयमस्थाने निर्विजागा अधिकाः प्राप्यन्ते, द्वितीयस्य
 संयमस्थानस्य ये निर्विजागास्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन रा-
 शिना भागे हते सति यादृशतो लभ्यन्ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागैर-
 अधिकास्तृतीये संयमस्थाने निर्विजागा भागाः प्राप्यन्ते । एवं
 यद् यत् संयमस्थानमनन्तजागवृद्धमुपलभ्यते तत्तत् पाश्चात्य-
 संयमस्थानस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हते सति
 यद् यल्लभ्यते तावत्प्रमाणेनानन्ततमेन भागेनाधिकमवगन्तव्य-
 म् । असंख्येयजागवृद्धिः पुनरेवम्—पाश्चात्यस्य पाश्चात्यसं-
 यमस्थानस्य सत्कानां निर्विभागजागानामसंख्येयलोकाकाश-
 प्रदेशप्रमाणेन राशिना जागे हते सति यद् यल्लभ्यते सोऽसं-
 ख्येयतमो भागः, स्वतस्तेनासंख्येयतमेन जागेनाधिकानि असं-
 ख्येयजागवृद्धिः स्थानानि वेदितव्यानि । संख्येयजागवृद्धि-
 कानि चैवम्—पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य उत्कृष्टेन संख्येयेन
 जागे हते सति यद् यल्लभ्यते स स संख्येयतमो भागः । ततस्ते-
 न तेन संख्येयतमेन भागेनाधिकानि संख्येयजागवृद्धिः स्थान-
 नानि वेदितव्यानि । संख्येयगुणवृद्धिः पुनरेवम्—पाश्चात्यस्य
 पाश्चात्यसंयमस्थानस्य ये ये निर्विजागा जागास्त ते उत्कृष्टेन
 संख्येयकप्रमाणेन राशिना गृह्यन्ते ; गुणिते च सति यादृशतो
 यावन्तो ज्ञवन्ति तावत्तावत्प्रमाणानि संख्येयगुणाधिकानि स्था-
 नानि दृष्टव्यानि । एवमसंख्येयगुणवृद्धिः, अनन्तगुणवृद्धिः
 च भावनीयानि; नवरमसंख्येयगुणवृद्धौ पाश्चात्यस्य पाश्चात्य-
 संयमस्थानस्य निर्विजागा भागा असंख्येयलोकाकाश-
 प्रदेशप्रमाणेनासंख्येयेन गृह्यन्ते । अनन्तगुणवृद्धौ तु सर्वजीव-
 प्रमाणेनानन्तेन । इत्थं च जागहारगुणकारकल्पनं मा स्वमनी-
 यिकाशिल्पकल्पितं मंस्थाः । यत् उक्तं कर्मप्रकृतिसंग्रहियां
 षट्स्थानकगतजागहारगुणकारविचाराधिकारे—“सर्वजि-
 याणमसंख्ये-ज्ञा जागसंख्येजगत्स जेदुस्त । भागो तिस्रु गुण-
 णा तिस्रु,” ॥ इति । प्रथमाच्च षट्-
 स्थानकादूर्ध्वमुक्तक्रमेणैव द्वितीयं षट्स्थानकमुत्तिष्ठति, एवमेव
 तृतीयम् । एवं षट्स्थानकान्यपि तावद्वाच्यानि यावत्संख्येयलो-
 काकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति । उक्तं च—“उद्गाणगश्रवसाणं,
 अन्नं उद्गाणयं पुणो अन्नं । एवमसंख्या लोगा, उद्गाणाणं मुण्य-
 व्वा” ॥ इत्थंभूतानि च असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि षट्-
 स्थानकानि संयमश्रेणिरूप्यते । तथा चाऽऽह—“उद्गाणा उ असं-
 ख्या, संजमसेढी मुण्यव्वा” तथा (हे स त्ति) कृष्णादयो हेदयाः
 स्थितिविशेषाः, उत्कृष्टानां सर्वोत्कृष्टानां स्नातवेदनीयप्रभृती-
 नां विशुद्धप्रकृतीनां संबन्धिनो विशुद्धाः स्थितिविशेषा वेदि-

अस्माच्च कएरुकात्परतो यदन्यदनन्तरं संयमस्थानं ज्ञवति तत्
 पूर्वसादसंख्येयभागाधिकम् । एतदुक्तं भवति—पाश्चात्यकएरु-
 सत्कचरमसंयमस्थानगतनिर्विभागजागापेक्षया कएरुकादनन्तरे
 संयमस्थाने निर्विजागा भागा असंख्येयतमेन जागेनाधिकाः
 प्राप्यन्ते, ततः पराणि पुनरपि कएरुकमात्राणि संयमस्थानानि
 यथोत्तरमनन्तजागवृद्धानि भवन्ति । ततः पुनरेकमसंख्येयभागा-
 धिकं संयमस्थानं, ततो भूयोऽपि, ततः पराणि कएरुकमात्राणि
 संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तजागवृद्धानि ज्ञवन्ति । ततः पुन-
 रप्येकमसंख्येयजागाधिकं संयमस्थानम्; एवमनन्तभागाधिकैः
 कएरुकप्रमाणैः संयमस्थानैर्बहुवृत्तानि असंख्येयजागाधिकानि
 संयमस्थानानि तावच्छक्तव्यानि यावत्तान्यपि कएरुकमात्राणि
 भवन्ति । ततश्चरमादसंख्येयभागाधिकसंयमस्थानात्पराणि
 यथोत्तरमनन्तजागवृद्धानि कएरुकमात्राणि संयमस्थानानि
 भवन्ति । ततः परमेकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानम्, ततो
 भूवादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति
 भूयोऽपि तेनैव क्रमेणाभिधाय पुनरप्येकं संख्येयभागाधिकं
 संयमस्थानं वक्तव्यम् । इदं द्वितीयं संख्येयभागाधिकं संयम-
 स्थानम् । ततोऽनेनैव क्रमेण तृतीयं वक्तव्यम् । अमूनि चैवं
 संख्येयभागाधिकानि स्थानानि तावद् वक्तव्यानि यावत्क-
 एरुकमात्राणि भवन्ति । तत उक्तक्रमेण भूयोऽपि संख्येयभा-
 गाधिकसंयमस्थानप्रसंगे संख्येयगुणाधिकमेकं संयमस्थानं
 वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि
 प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुन-
 रप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततो भूयोऽपि
 मूलादारभ्य यावन्ति ज्ञवन्ति संयमस्थानानि तावन्ति तथैव
 वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं
 वक्तव्यम् । अमून्येव संख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि
 तावद्वक्तव्यानि यावत्कएरुकमात्राणि भवन्ति । तत उक्तक्रमेण
 पुनरपि संख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसंगे असंख्येयगुणा-
 धिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य या-
 वन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तेनैव क्र-
 मेण भूयोऽपि वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधि-
 कं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति
 संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणा-
 धिकसंयमस्थानं वक्तव्यम् । यावन्ति अमूनि चैवं संख्येयगुणा-
 धिकसंयमस्थानानि तावन्त्यसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थाना-
 नि तावद्वक्तव्यानि यावत्कएरुकमात्राणि भवन्ति । ततः पू-
 र्वपनिपात्या पुनरप्यसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसंगे अ-
 नन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादा-
 रभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति त-
 थैव क्रमेण भूयोऽपि वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमनन्तगुणा-
 धिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य ताव-
 न्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमनन्त-
 गुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । एवमनन्तगुणाधिकानि
 संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कएरुकमात्राणि ज्ञवन्ति ।
 ततो भूयोऽपि तेषामुपरि पञ्चदृक्तात्मकानि संयमस्थानानि
 मूलदारभ्य तथैव वक्तव्यानि । यत्पुनरनन्तगुणवृद्धिस्थानं तत्र
 प्राप्यते, षट्स्थानकस्य परिसमाप्तत्वात् । इत्थंचूतान्यसंख्ये-
 यानि कएरुकानि समुद्दिष्टानि षट्स्थानकं ज्ञवति ।

अपगण्डसुक्त-अपगण्डसुक्त-त्रि० । अपगतं गण्डमपद्रव्यं यस्य तदपगतगण्डम्, तच्च शुक्लम् । निर्दोषार्जुनसुवर्णवस्तुवृत्ते, तथा अपगण्डमुदकफेनं तत्तुल्यमपगण्डशुक्लम् । उदकफेनवदवदाते, “अणुत्तरं धम्ममुद्गच्छता, अणुत्तरं माणवरं क्रियाई । सुसुक्तं कं अवगंरुसुक्तं, संखिदुपगतं वदातसुक्तं” सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अपचय-अपचय-पुं० । अभावे, उक्त० १ अ० ।

अप (प) चक्ख-अप्रत्यक्ष-त्रि० । अचाक्षुषे, आ० म० द्वि० । अप्रत्यक्षवर्त । बुद्धिः, प्रत्यक्षोऽर्थ इति वचनात् । ल० ।

अप (प) चक्खणि-अप्रत्याख्यान-पुं० । न विद्यते प्रत्याख्यानमणुव्रतादिरूपं येषु । स्या० ४ अ० १ उ० । न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येयामुदयासेऽप्रत्याख्यानाः । देशविरत्याचारकेषु कथा-येषु, यदज्ञाणि-“नाल्पमप्युत्सहेद्येषां, प्रत्याख्यानं न होदयात् । अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो, द्वितीयेषु निवेशिता” ॥ १ ॥ ने चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । कल्प० । न० त० । मनागपि विरतिपरिणामाज्ञावे, न० । प्रज्ञा० । पं० सं० ।

अप (प) चक्खणि-अप्रत्याख्यानक्रिया-स्त्री० । अप्रत्याख्यानेन निवृत्त्यभावेन क्रिया कर्मव-आदिकरणमप्रत्याख्यानक्रिया । ज० १ श० २ उ० । अप्रत्याख्यानजन्ये कर्मबन्धे, अप्रत्याख्यानमेव क्रिया । अप्रत्याख्यानक्रियाया अभावे, म० १ श० ६ उ० ।

तद्भेदाः—

अपचक्खणि-अप्रत्याख्यानक्रिया दुविधा पन्नत्ता । तं जहा-जीव-अपचक्खणि-अप्रत्याख्यानक्रिया चैव, अजीव-अपचक्खणि-अप्रत्याख्यानक्रिया चैव ।

(जीव-अपचक्खणि-अप्रत्याख्यानक्रिया चैव चि) जीवविषये प्रत्याख्यानभावेन यो बन्धादिव्यापारः सा जीवाप्रत्याख्यानक्रिया । तथा- (अजीव-अपचक्खणि-अप्रत्याख्यानक्रिया चैव चि) यदजीवेषु मद्यादिष्व-प्रत्याख्यानात् कर्मबन्धनं सा अजीवाप्रत्याख्यानक्रियेति । स्या० २ अ० १ उ० । आ० चू० ।

सा च अविरतस्य-

अपचक्खणि-अप्रत्याख्यानक्रिया एं भंते ! कस्स कज्जइ ? गोय-मा ! अन्नयरस्स वि अपचक्खणिस्स ॥

अप्रत्याख्यानक्रिया अन्यतरस्याप्यप्रत्याख्याननिः, अन्यतरदपि, न किञ्चिदपीत्यर्थः । यो न प्रत्याख्याति, तस्येति भावः । प्रज्ञा० २२ पद ।

समैव सा सर्वस्य—

जंते ! चि जगवं गोयमे समणं जगवं महावीरं वंदइ, नयंसइ, वंदइत्ता एमंसइत्ता एवं वयासी-से एणं भंते ! से-डिस्स य तणुयस्स किणस्स खत्तियस्स य समा चैव अपचक्खणि-अप्रत्याख्यानक्रिया कज्जइ ? । हुंता गोयमा ! सेट्ठियस्स० जाव अपचक्खणि-अप्रत्याख्यानक्रिया कज्जइ । से केणट्ठेणं जंते ! ? गोयमा ! अविरइं पकुच्च, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-सेट्ठियस्स य तणु० जाव कज्जइ ॥

(भंते ! इत्यादि) तत्र ‘भंते ! चि’ हे भदन्त ! इति, एवंमा-

न्येति शेषः । अथवा-भदन्त इति कृत्वा, गुरुरितिकृत्वेत्यर्थः । (सेट्ठियस्स चि) श्रीदेवताध्यासितसौवर्णपट्टविमृषितशिरोवेष्टनोपेतपौरजननायकस्य [तणुयस्स चि] दरिद्रस्य [किणस्स चि] रङ्गस्य [खत्तियस्स चि] राज्ञः [अपचक्खणि-अप्रत्याख्यानक्रियाया अभावोऽप्रत्याख्यानजन्यो वा कर्मबन्धः, [अविरइ चि] इच्छाया अनिवृत्तिः, सा हि सर्वेषां समैवेति । ज० १ श० ए उ० । “ से नूनं भंते ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य समा चैव अपचक्खणि-अप्रत्याख्यानक्रिया कज्जइ ? । हुंता गोयमा ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य० जाव कज्जइ ? । से केणट्ठेणं एवं वुच्चइ० जाव कज्जइ ? । गोगमा ! अविरइं पकुच्च से तेणट्ठेणं जाव कज्जइ ” । म० ७ श० ८ उ० ।

अप (प) चक्खणि (ण)-अप्रत्याख्याननि-त्रि० न० त० । अप्रत्याख्यातरि, अविरते यो न प्रत्याख्याति । प्रज्ञा० २२ पद । म० । (के केऽप्रत्याख्याननिः ? इति “ पचक्खणि ” शब्दे दर्शयिष्यते)

अप (प) चक्खाय-अप्रत्याख्यात-त्रि० । अकृतप्रत्याख्याने, म० ७ श० ८ उ० ।

अप (प) चय-अप्रत्यय-पुं० । अविद्वासे, नि० चू० १६ उ० । प्रत्ययाज्ञावरूपे चतुर्दशगोणार्हाके, प्रश्न० २ आश० द्वा० । सप्तदशे गौणादत्तादाने च, तस्य अप्रत्ययकारणत्वात् । प्रश्न० ३ आश० द्वा० ।

अपचयकारण-अप्रत्ययकारक-त्रि० । विभ्वासविनाशके, प्रश्न० २ आश० द्वा० ।

अपचल-अप्रत्यय-त्रि० । अयोध्ये, नि० चू० ११ उ० । कस्मिन्, अन्तोऽप्रत्ययः, अयोन्य एकार्थाः । नि० चू० ११ उ० । आय० ।

अपचणुतावि (ण)-अपश्चात्तापिन्-त्रि० । आलोचितेऽपराधे पश्चात्तापमकुर्वति निर्दराज्जागनि आलोचनादानयोग्ये, ज० २५ श० ७ उ० । अपश्चात्तापी नाम यः पश्चात्परितापं न करोति—‘ हा ! दुष्टं कृतं मया यद् आलोचितमिदानीं प्रायश्चित्तं तपः कथं करिष्यामीति ? ’ किन्त्वेवं मन्यते-कृतपुण्योऽहं यत्प्रायश्चित्तं प्रतिपन्नवानिति । व्य० १ उ० । स्या० ।

अपचणुमाणा-अपचणुदयत्-त्रि० । प्रचणुदमकुर्वति, “अपिणहवमाणा अपचणुमाणा जहातूयमवितहमसंदिद्धं पयः मङ्ग आदक्खचइ” ज्ञा० १ अ० ।

अप चणु-अपश्चिम-त्रि० । त विद्यते पश्चिमोऽस्मादित्यपश्चिमः । सर्वान्तिमं, “तित्ययरणं अपच्छिमे जयइ” न० । चरमे मरणे, कल्प० । आव० । आ० म० । अकारस्त्वमङ्गलपरिहारायः । पश्चात्कालजाविनि, स० । “अपच्छिमे दरिसणे [मेघकुमारस्य] जविस्सइ धि कट्टु” अकारस्यामङ्गलपरिहारार्थत्वात्, पश्चिमं दर्शनं भविष्यति एतत्केशदर्शनमपनीतकेशावस्थस्य मेघकुमारस्य दर्शनं सर्वदर्शनं पाश्चात्यं भविष्यतीति प्राचः । अपश्चिममपश्चिमं पौनःपुन्येन मेघकुमारस्य दर्शनमेतदर्थं नेन भविष्यतीत्यर्थः । ज्ञा० १ अ० । म० । प्रव० । आ० क० ।

अपच्छिममारणं त्रियसंक्षेपहृणाभूमणा-अपश्चिममारणान्तिकः संलेखनागोपणा-स्त्री० । पश्चिमैवाऽमङ्गलपरिहारार्थमपश्चिम-

तस्याः । तत एतेषां संयनस्थानादीनां संबन्धिषु शुभेषु स्था-
नेषु वर्तमानस्तद्ग्राहक आध्यात्मग्राहकः , आत्मानमेतेषां
संयमस्थानादीनां विशुद्धानामधोऽधस्तात्करोति ।

यदि नाम संयनस्थानादीनामधस्तादात्मानमाध्यात्मग्राही-
करोति ततः किं दूषणं तस्यापतितम् ? , अत आह-

भावावयारमाहे-उपपगे किंचिनूच(णगो) ।

आदाकम्पगाही, अहो अहो नेह अप्पाणं ॥ १ ॥

आवानां संयमस्थानादिरूपाणां विशुद्धानामधस्ताद् हीनेषु ही-
नतरेषु अप्यवसायेष्वधतारमवतरणमात्मन्याधाय कृत्वा किंचि-
न्यूनचरणाय इति । इह चरणेनाग्रः प्रधानचरणायः स च नि-
श्चयनयननपेक्षया कृष्णकपायादिरुपायचारित्र्यः परिगृह्यते ।
न च नस्य प्रमादसंभवेनापि औद्यम्य, एफान्तेन होमादिमोहनौ-
यस्य विनाशात् । ततो न तस्याध्यात्मप्रदणसंभवः, इति किञ्चि-
दन्यूनप्रदणम् । किञ्चिन्न्यून चरणेनाग्रः प्रधानः किञ्चिन्न्यूनचर-
णायः । स च परमार्थत उपशान्तमाह उच्यते । अतिशयव्या-
पनार्थं चैनपुक्तम् । ततोऽयमर्थः-किञ्चिन्न्यूनचरणायोऽपि याव-
त्, आस्तां प्रमत्तसंयमादिरिति । आध्यात्मग्राही अधोऽधो रत्न-
प्रभादिनरकादौ नयत्वात्मानम् , एतद्भूषणमाध्यात्मग्राहिणः ।

एतदेव ज्ञापयति-

बंधइ अहेभवाउं , पकरेइ अहामुहइ कम्माइं ।

यणकरणं तिन्वेण उ, जावेण चओवचऽया य ॥ २ ॥

आध्यात्मग्राही विशुद्धेन्यः संयमादिस्थानेन्योऽन्यीर्य अ-
धोऽधोवर्तिषु हीनेषु हीनतरेषु जावेषु वर्तमानोऽधोजवस्य
रत्नप्रभादिनरकरूपस्य प्रवस्य संयन्धि आयुर्वर्जानि । शेषा-
यपि कर्माणि गत्यानीनि अथोमुखानि अधोगत्यभिमुखानि ,
अधोगतिनयनशीलानित्यर्थः । प्रकरोति प्रकरणे दुस्सहकडुक-
नीमानुजावयुक्तया करोति यज्जाति । यज्जानो च सतामाधा-
कर्मविषयपरिभोगशाल्यवृत्तिः निरन्तरमुपजायमानेन ती-
व्रेण तीव्रतरेण भावेन परिणामेन घनकरणं यथायोगं विभक्त-
रूपनया निकाचनारूपतया वा व्यवस्थापनम् । तथा प्रतिकृण-
मन्यन्यपुल्लप्रदणेन चय उपचयश्च । तत्र स्तोततरा वृद्धिश्च-
यः , प्रभूततरा वृद्धिरुपचयः । एतेन च व्याख्याप्रज्ञासमु-
पाचार्येणानुवर्त्तनम् । तथा च व्याख्याप्रज्ञासमुपा-
“ आदाकम्पऽअं हुजमाणं समणे निगमं अकम्पपगमीओ
बंधइ ; अहे बंधउ , अहे विणइ , अहे उवचिणइ ” इत्यादि ।
तत एषं खति-

तेतिं गुरुणमुदए-ण अप्पगं दुगईएँ पवदंतं ।

न वएइ विचारउं, अहरगतिं निति कम्माइं ॥ ३ ॥

तेषामधोजवायुरादीनां कर्मणां गुरुणामधोगतिनयनस्वभाव-
तया गुरुणां च गुरुणि तेषामुदयेन विपाकवेदनानुभवरूपेण, विपा-
कवेदनानुभवरूपोदयवशादित्यर्थः । दुर्गती प्रपतन्तमात्मानं वि-
चारयितुं निवारयितुमाध्यात्मग्राही न शक्नोति । यतः कर्माणि
अधोभवयुगदीनि उदयप्राप्तानि बलादधरगतिं नरकादिरूपां न-
यन्ति । न च कर्मणः कोऽपि बलीयान्, अन्यथा न कोऽपि नरकं
यायात्, न वा कोऽपि दुःखमनुभवेत् । तस्मादाध्यात्मं अ-
धोगतिनिवन्धनमित्यर्थः कर्मसंयुज्यते । तदेवमुक्तमध्यात्मं
नाम् । पि० ।

अधो (हो) हि-अधोऽधो-पुं० । परमावधेरधोवर्त्यवधिर्यस्य
साऽधोऽधोः । परमावधेरधोवर्त्यवधियुक्ते जीवे , “अधोहि
समोदयणं चेव अप्पाणेणं आया अहेहोणं जाणइ ” इत्या० २
ठा० ३ उ० ।

अन्तर-अन्तर-न० । “वर्गेऽन्त्यो वा” टी१।३०। इति सूत्रेणानु-
स्वारवैकल्पिकत्वम् । व्यवधाने, प्रा० ।

अन्वरी-स्त्री०-अन्व-न० । उदरमन्यावयवे, “पाइ विलगि
अन्वरी सिरु व्हसिउं बंधस्सु ” प्रा० ॥

अनाइस-अन्याहस-त्रि० । “अन्याहसोऽनाइसावरइसौ” ८ ।
भा११३। इति अन्याहसशब्दस्य अनाइसेत्यादेशः । अन्यसद्वो,
अन्यप्रकारे च । प्रा० ।

अप-अप-स्त्री० । व० व० । जले, “ पुज्जापोहवया नक्खत्ते किं
देवयाए पक्खत्ते ? अपदेवयाए ” सू० प्र० १० पाहु० ।

अप (प) इहाण-अप्रतिष्ठान-पुं० । न विद्यतं प्रतिष्ठानमौदा-
रिकशरीरादेः कर्मणो वा यत्र सोऽप्रतिष्ठानः । मोक्षे, आचा०
१ धु० ५ अ० ६ उ० । सत्तम्यां नरकपृथिव्यां पञ्चानां काष्ठादीनां
नरकाभासानां मध्यवर्तिनि नरकावासे, इत्या० ४ डा० ३ उ० ।
सूत्र० । तस्येन्द्रे च । जी० ३ प्रति० । “अप्यइहाणे नरए एणं
जोयणसयसहस्सं आयाणविफ्फभेणं ” पं० सं० १ डा० ॥

अप (प) इहिय-अप्रतिष्ठित-त्रि० । न० त० । प्रतिष्ठानरहिते, इत्या०
४ डा० १ उ० । क्वचिदप्रतिष्ठिते, अशरीरिणि च । आचा० २ सु० ।

अप (प) इक्षपसरियत्त-अप्रकीर्णप्रसृतत्व-न० । सुसंयन्ध-
स्य सतः प्रसरणे, असंयद्धाधिकारित्वातिविस्तारयोरभावे
सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० । औ० ।

अपउड्ड-अपक्व-त्रि० । अग्निना संस्कृते, पञ्चा० १ विव० ।

अपएस-अप्रदेश-त्रि० । न० व० । प्रदेशरहितत्वे, इत्या० १०
अप्या० । अवयवाभावाद् निर्देशे, म० २० श० ५ उ० । निर-
न्वये, विशेष० । इत्या० । नञः कृतार्थत्वाद्वाक्पाणिक्त्वेनाशि-
ष्टजनाकोर्यत्वेन वा कुत्सिते प्रदेशे, पञ्चा० ७ विव० । (जी-
वानां सप्रदेशत्वाप्रदेशत्वचिन्ता ‘पएस’ शब्दे बह्व्यते)

अपओस-अपद्रेप-पुं० । अमत्सरे माध्यस्थ्ये, पञ्चा० ३ विव० ।

अपंनिय-अपाएरुत-पुं० । सद्बुद्धिरहिते, वृ० १ उ० ।

अपंथ-अपय-पुं० । अशखोपहतपृथिव्याम् , वृ० १ उ० ।

अपक्व-अपक्व-त्रि० । अन्यादिनाऽसंस्कृते शालिगोधूमौषधादौ,
प्रव० ८ डा० । पाकमप्रापिते , प्रस० ५ सम्ब० डा० ।

अपक्वोसहिजक्खणया-अपक्वोषधिभक्षणता-स्त्री० । अपक्वाया
अग्निनाऽसंस्कृताया ओषधेः शास्त्रादिकाया भक्षणता भोजनम-
पक्वोषधिभक्षणता । भोजनत उपजोगपरिभोगवतातिचारजेदे,
उपा० १ अ० ।

अपक्वगाहि (ष्)-अपक्वगाहि-त्रि० । न पक्वं गृह्णातीत्यप-
क्वगाही । शास्त्राधितपक्वाग्रदणशीले, इत्या० ९ डा० ।

अपगंइ-अपगएह-अपगतं गपनं दोषो यस्माच्चदपगएहम् ।
निर्देशे, उक्कफेने च । सूत्र० १ धु० ६ अ० ।

अप (प) निवृज्मंत-अप्रतिवृध्यमान-त्रि० । कर्मकर्तृव्यं प्रयोगः । क्वचिदपि प्रतिबन्धमकुर्वति, व्य० २ उ० ।

अप (प) निवृद्ध-अप्रतिवृद्ध-त्रि० । प्रतिबन्धरहिते, अप्रतिवृद्धरहिते, प्रव० १०४ छा० । “अप्रतिवृद्धो अनलो व” प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । महा० । पञ्चा० । अप्रतिवृद्धितेऽनुपहृते, पो० ६ विव० ।

अप (प) निवृद्ध्या-अप्रतिवृद्धता-स्त्री० । मनसि निरभि-
प्वृद्धतायाम्, नीरोगत्वे, उच० ३० अ० । तत्फलम्—

अपनिवृद्ध्या ए णं जंते ! जीवे किं जणयइ ? अप-
विदया ए णं निस्संगत्तं जणयइ, निस्संगत्तेणं जीवं एगे
एगगचित्ते दिया य राओ य असज्जमाणे अपनिवृद्धे यावि
विहरइ ।

अप्रतिवृद्धतया मनसि निरभिप्वृद्धतया निःसङ्गत्वं बहिः स-
ह्यभावं जनयति, निःसङ्गत्वेन जीव एको रागादिविक्रयतया
तत एवैकाग्रचित्तो धर्मेकतानमना एकाग्रतानिबन्धकहेत्वभा-
वं दिवा च रात्रौ वाऽसज्ज, कोऽर्थः ?—सर्वदा बहिः सङ्गं त्यजन्
अप्रतिवृद्धापि विहरति । कोऽभिप्रायः ?—विशेषतः प्रतिबन्ध
विक्रलो मासकल्पादिनोद्यतविहारेण पर्यटति । उच० २९ अ० ।

अप (प) निवृद्ध-विहार-अप्रतिवृद्धविहार-पुं० । अप-
तिवृद्धस्य विहारोऽप्रतिवृद्धविहारः । छव्यादिषु सर्वभावेषु अभि-
प्वृद्धरहितत्वेनैकज्ञानवस्थाने, प्रव० । अप्रतिवृद्धस्य सदा सर्वकाल-
मभिप्वृद्धरहित इत्यर्थः । गुरुपदेशेन हेतुभूतेन । क ? इत्याह-
सर्वज्ञावेपुं छव्यादिषु । तत्र छव्ये भावकादौ, क्षेत्रे निर्वातवस-
त्यादौ, काले शरदादौ, भावे शरीरोपचयादौ, अप्रतिवृद्धः ।
किमित्याह-मासादिविहारेण सिद्धान्तप्रसिद्धेन विहरोद्धिहारं कु-
र्यात् । यथोचितं संहननाद्यौचित्येन नियमादवश्यंभाव इति ।
एतदुक्तं भवति-छव्यादिप्रतिवृद्धः सुखलिप्सुनया तावदेकत्र
न तिष्ठेत्, किं तर्हि, पुष्टालम्येन मासकल्पादिना, विहारोऽपि च
द्रव्याद्यप्रतिवृद्धस्यैव सफ्रः । यदि पुनरमुकं नगरादिकं गत्वा
तत्र महर्षिकान् भावकानुपाज्यामि, तथा च करोमि, यथा
मां विहायापरस्य ते भक्ता न भवन्तीत्यादिद्वयप्रतिबन्धेन, त-
था-निवातवसत्यादिजनितरत्युत्पादकममुकं क्षेत्रमिदं तु न त-
थाविधमित्यादि क्षेत्रप्रतिबन्धेन, तथा-परिपक्वसुरजिशाल्यादि-
सस्यदर्शनादिरमणीयोऽयं विहरता शरत्कात्यादिरित्यादिका-
लनिबन्धेन, तथा-स्निग्धमधुराद्याहारादिलाभेन तत्र गतस्य म-
म शरीरपुष्ट्यादिस्तुखं भविष्यत्यत्र न तत् संपद्यते । अपरं चै-
वमुद्यतविहारेण विहरन्तं मामेवोद्यतं होका भाणिष्यन्त्यमुकं तु
शिथिलमित्यादिज्ञावप्रतिबन्धेन च मासकल्पादिना विहरति,
नदाऽसौ विहारोऽपि कार्यासाधक एव । तस्मादवस्थानं विहारो
वा छव्याद्यप्रतिवृद्धस्यैव साधक इति । प्रव० १०४ द्वा० ।

अप (प) निवृज्मंत-अप्रतिवृध्यमान-त्रि० । शब्दा-
न्तराण्यनवधारयति, म० ६ श० ३३ उ० ।

अप्रत्युद्गमान-त्रि० । वैरागतमानसत्वादनपह्नियमाणमानसे,
न० ए श० ३३ उ० । ओ० ।

अप (प) निवार-अप्रतीकार-पुं० । व्यसनापरिचारे, प-
ञ्चा० २ विव० । आचा० ।

अप (प) द्विरु-अप्रतिरूप-त्रि० । अपगनुवृत्त्यात्मके वि-

नये, दश० ए अ० २ उ० ।

अप (प) निवृद्ध-अप्रतिवृद्ध-त्रि० । न० त० । असंजाते,
ज्ञा० १ अ० ।

अप (प) मिलच्छसम्पत्तरयणपडिलंज-अप्रतिलब्धसम्पत्त्व-
रत्नप्रतिलम्भ-त्रि० । असंजातविपुलशुद्धसमुद्भवे, ज्ञा० १ अ० ।

अप (प) दिलेस्स-अप्रतिलोश्य-त्रि० । अतुल्यमनोवृत्तिषु,
“अपमिलेस्सासु सामणेरया दांता इणमेव णिंमंथं पावयणं
पुरां काडं विहरंति” औ० ।

अप (प) दिलेहण-अप्रत्युपेक्षण-न० । न प्रत्युपेक्षणमप्रत्युपेक्ष-
णम् । गोचरापन्नस्य शय्यादेश्चक्षुषाऽनिरीक्षणे, आच० ६ अ० ।

अप (प) मिद्धेहणासील-अप्रतिद्वेखनाशील-त्रि० । दृष्ट्या
प्रमार्जनशीले, कल्प० ।

अप (प) दिलेहिय-अप्रतिद्वेखि-(प्रत्युपेक्षि) त-त्रि० ।
जीवरक्षार्थं चक्षुषाऽनिरीक्षिते, उपा० १ अ० ।

अप (प) मिलेहियदुप्पमिलेहियउच्चारपासवण्णूमि-अ-
प्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितोच्चारप्रश्रवण्णूमि-स्त्री० । अप्रत्युपे-
क्षिता जीवरक्षार्थं चक्षुषा न निरीक्षिता दुष्प्रत्युपेक्षिताऽस-
म्यग् निरीक्षिता उच्चारः पुरीषः प्रश्रवणं मूत्रं तयोर्निमित्ते
भूमिः स्थण्डिलमप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितोच्चारप्रश्रवणभूमिः ।
पोषधोपवासस्य तृतीयातिचारभेदे, उपा० १ अ० । ध० ।
आ० चू० ।

अप (प) मिलेहियदुप्पमिलेहियसिज्जासंथारय-अप्रत्युपेक्षि-
तदुष्प्रत्युपेक्षितशय्यासंस्तारक-पुं० । अप्रत्युपेक्षितो जीवर-
क्षार्थं चक्षुषा न निरीक्षित उद्भ्रान्तचेतोवृत्तितयाऽसम्यग् नि-
रीक्षितः शय्या शयनं तदर्थं संस्तारकः । कुशकम्बलफल-
कादिः शय्यासंस्तारकः । ततः पदत्रयस्य कर्मधारयं भवत्य-
प्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितशय्यासंस्तारकः । पोषधोपवासस्य
प्रथमातिचारभेदे, अतिचारत्वं चास्य उपभोगस्यातिचारहे-
तुत्वात् । उपा० १ अ० । आ० चू० । पञ्चा० ।

अप (प) दिलेहियपण्ण-अप्रतिद्वेखितपञ्चक-न० । त-
ली १ आलिङ्गनिका २ मस्तकोपधानं ३ गल्लमसूरिका ४ आस-
नक्रिया ५ पञ्चके, जीत० ।

अप (प) निज्जोमया-अप्रतिज्जोमता-स्त्री० । आनुकूल्ये,
म० २५ श० ७ उ० । स्था० ।

अप (प) निवाइ(ए)-अप्रतिपातिन्-त्रि० । प्रतिपतनशीलं प्र-
तिपाति, न प्रतिपाति अप्रतिपाति । सदाऽवस्थायिनि, न० । अनुप-
रतसभावे, ध० ३ अधि० । आमरणान्तभाविनि, आ० म० प्र० ।
आकेवलोत्पत्तेः स्थिरे, कल्प० । स्था० । केवलज्ञानादर्वाङ्म-
शमनुपयाति अवधिज्ञानविशेषे, न० । विशेषे । आ० म० ।

से किं तं अपमिवाइयं ओहिनाणं ? अपडिवाइ ओहिना-
णं जेणं अद्वोगस्स एगमवि आगासएसं जाणइ, पासइ,
तेणे परं अपडिवाइ ओहिनाणं । सेत्तं अपडिवाइ ओ-
हिनाणं ॥६॥

(से किं नमित्यादि) अथ किं तदप्रतिपात्यवधिज्ञानम् ? सूचि-

अपनिपोगल-अप्रतिपुद्गल-न० दारिद्र्यं, नि० चू० ५ उ०।

म० १८ श० १ उ० । (जीवादीनामर्थानां प्रथमत्वादिविचारः 'पढम' शब्दे दर्शयिष्यते)

अपढमस्वगङ्—अप्रथमस्वगति—स्त्री० । अप्रशस्तविहायोगतौ , कर्म० ५ कर्म० ।

अपढमसमय—अप्रथमसमय—पुं० । द्वितीयादिके समये, स्था० २ ग० ३ उ० ।

अपढमसमयउववण्णग—अप्रथमसमयोपपन्नक—पुं० । न० त० । प्रथमसमयोपपन्नव्यतिरिक्तेषु नैरयिकादिषु वैमानिकपर्यन्तेषु, "येरइया दुन्निहा पणत्ता । तं जहा—पढमसमयोववण्णगा चेव, अपढमसमयोववण्णगा चेव० जाव वेमाणिया" स्था० ३ ग० २ उ० ।

अपढमसमयउवसंतकसायवीयरागसंजम—अप्रथमसमयोपशा—
न्तकसायवीतरागसंयम—पुं० । क० स० । न प्रथमः समयः प्राप्तो येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ उपशान्तकसायवीतरागसंयमश्च तथा । उपशमश्रेणिप्रतिपन्नवीतरागसंयमभेदे, स्था० ७ ग० ।
अपढमसमयएगिंदिय—अप्रथमसमयैकेन्द्रिय—पुं० । प्रथमसमयैकेन्द्रियजिज्ञे, यस्यैकेन्द्रियस्यैकेन्द्रियत्वे प्रथमः समयो नास्ति । स्था० १० ग० ।

अपढमसमयकवीणकसायवीयरागसंजम—अप्रथमसमयकीण—
कसायवीतरागसंयम—पुं० । न प्रथमः समयः प्राप्तो येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ उपशान्तकसायवीतरागसंयमश्च तथा । उपशमश्रेणिप्रतिपन्नवीतरागसंयमभेदे, स्था० ७ ग० ।

अपढमसमयसजोगिजवत्थ—अप्रथमसमयसयोगिभवस्थ—पुं० । अप्रथमो ह्यादिः समयो यस्य सयोगित्वे स तथा, स चासौ भवस्थश्चेति अप्रथमसमयसयोगिभवस्थः । सयोगिजवस्थभेदे, स्था० २ ग० १ उ० ।

अपढमसमयसिद्ध—अप्रथमसमयसिद्ध—पुं० । न प्रथमसमयसिद्धोऽप्रथमसमयसिद्धः । परम्परासिद्धविशेषणाप्रथमसमयवर्तिनि, सिद्धत्वसमयाद् द्वितीयसमयवर्तिनि सिद्धविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । आ० । स्था० ।

अपढमसमयसुद्धमसंपरायसंजम—अप्रथमसमयसूद्धमसंपरायसंयम—पुं० । न प्रथमः समयः प्राप्तो येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ सूद्धमः किट्टीकृतः संपरायः कयायः संज्वलनद्वोमल्लक्षणो वेद्यमानो यसिन्स तथा । सरागसंयमभेदे, स्था० ७ ग० ।

अपसुविय—अप्रज्ञापित—त्रि० । प्रज्ञापनामप्रापिते, "सो य से-
जातपो अपसुविओ पन्नाविओ वा घरे भणाति" नि० चू० ३ उ० ।

अपत्त—अपात्र—त्रि० । अयोग्ये, वृ० १ उ० । अमाजने, नि० चू० १ ए उ० ।

अप्राप्त—त्रि० । पर्यायेणोपस्थापनाभूमिमनधिगते, घ० ३ अधि० । अनधिगते, व्य० ४ उ० । पि० । पूर्वमश्रुते, द्वा० १५ छा० ।

अपत्तजात—अपजात—त्रि० । न विद्यते पत्रजातं पक्कोद्भू-
तो यस्यासावपत्रजातः । भजातपक्कोद्भवे पक्विजाते, "जहा
दिया पोत्तमपत्तजातं, सावासगा पविडं मन्नमाणं" सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ॥

अपत्तजोवणा—अप्राप्तयौवना—स्त्री० । यौवनावस्थामप्राप्तायाम्,
सा च गर्भं न धरति प्राय आद्वादशवर्षकादार्तवाभावात् । स्था० ५ डा० २ उ० ।

अपत्तजूमिग—(य)—अप्राप्तजूमिक—पुं० । न प्राप्ता भूमिका येन
सोऽप्राप्तभूमिकः । दूरस्थत्वेनेष्टस्थानमप्राप्ते "जोयणमादि
अपत्तभूमिआ वारसओ जाव" (नि० चू०) "जं जो-
यणमादीसु ठाणेसु जाव वारस जोयणा ते सब्बे अपत्तभू-
मिया भवंति" नि० चू० १० उ० ।

अपत्तविसय—अप्राप्तविषय—त्रि० । अप्राप्तोऽसंबद्धोऽसंक्लिष्टो वि-
षयो ब्राह्मवस्तुरूपो यस्य तदप्राप्तविषयं लोचनम् । अप्राप्तकारि-
णि इन्द्रियजाते, "लोयणमपत्तविसयं, मणो व्व जमणुग-
हाइ सुणति" । विपा० १ ध्रु० २ अ० ।

अपत्तिय—अपात्रिक—त्रि० । अविद्यमानाधारे, म० १६ श० ३ उ० ।
अप्रीतिका—स्त्री० । अप्रेम्णि, पञ्चा० ७ दिव० ।

अपत्थ—अपथ्य—त्रि० । अहिते, "अपत्थं अंवगं मुच्चा, राया
रज्जं तु हारप" उक्त० ७ अ० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ विव० ॥

अप(प्य)त्थण—अप्रार्थन—न० । अजिलापस्याऽकरणे, उक्त० ३२ अ० ।

अप(प्य)त्थिय—अप्रार्थित—त्रि० । अमनोरथगोचरीकृते, जं० ३ वक्क० ।

अप(प्य)त्थियपत्थ(स्थिय)—अप्रार्थितप्रार्थक—त्रि० । अप्रा-
र्थितं केनाप्यमनोरथगोचरीकृतं प्रस्तावान्तरणं, तस्य प्रार्थकोऽ-
जिज्ञासी । मरणार्थिनि, जं० ३ वक्क० । "कसणं एस अप्पत्थियप-
त्थप डुरंतपंतवक्कणे" म० ३ श० ३ उ० । उपा० ।

अपद(य)—अपद—न० । न० य० । बाहनवृक्षादौ, चरणहीने, परि-
ग्रहे, आ० चू० ६ अ० । अष्टादशे सूत्रदोषभेदे, यत्र हि पद्यबन्धेऽ-
न्यच्छन्दोऽधिकारेऽन्यच्छन्दोऽभिधानम्, यथाऽऽर्ण्यापदेऽजि-
घातव्ये वैताद्वीयमभिदध्यात् । विशेष० । यत्र गाथायके गीतिका-
पदं वा नवासिकापदं वा क्रियते । वृ० १ उ० । आ० म० ।
दादिमात्रवीजपुरकादौ वृत्ते, विशेष० । अनु० । न विद्यते
पदमवस्थाविशेषो यस्य सोऽपदः । मुक्तात्मनि, "अपयस्स पयं
णत्थि" आचा० १ श्रु ५ अ० ६ उ० ।

अपदंस—अपदंश—पुं० । पित्तरुचि, नि० चू० १ उ० ।

अप(प्य) दुस्समाण—अप्रद्विष्यत्—त्रि० । प्रद्वेषमगच्छति, अन्त० ४ वर्ग ।

अपद्वंत—अपद्वत्—त्रि० । म्रियमाणत्वे, ज० ३ श० १ उ० ।

अपप्यकारित्त—अप्राप्यकारित्व—न० । विषयदेशं गत्वा कार्य-
कारित्वे, जं० । (नयनमनसोरप्राप्यकारित्वं द्वितीयभागस्य ५५७
पृष्ठे 'इंदिय' शब्दे वक्ष्यते)

अप(प्य) भु—अप्रभु—पुं० । मृतकादौ, घ० ३ अधि० । ओघ०
अप(प्य) मज्जणसील—अप्रमार्जनशील—त्रि० । अप्रमार्ज-
नशीले, कल्प० ।

अप(प्य) मज्जित्ता—अप्रमार्ज्य—अव्य० । प्रमार्जनामकृतेत्यर्थे,
"पासाईसागारिणं, अपमज्जित्ता वि संजमो होइ । तं चेव
पमज्जंते, असागारिणं संजमो होइ ॥" प्रव० ६६ द्वा० ।

राह-अप्रतिपात्यवधिज्ञानं, येनावधिज्ञानेनालोकस्य संपन्धि-
नमेकमप्याकाशप्रदेशम्, आस्तां बहूनाकाशप्रदेशानित्यपि श-
ब्दार्थः । पश्येत् । एतच्च सामर्थ्यमात्रमुपचर्यते न त्वलोके कि-
ञ्चिदप्यवधिज्ञानस्य द्रष्टव्यमस्ति; एतच्च प्रागेवोक्तम् । तत आ-
रभ्याऽऽप्रतिपत्त्या केवलप्राप्तेरवधिज्ञानम् । अयमत्र भावार्थः-
एतावति ज्ञायोपशमं संप्राप्ते सत्यात्मा विनिहितप्रधानप्रतिपक्ष-
बोधसंघातनरूपतिरिच न भूयः कर्मशुश्रूषा परिभूयते, किन्तु
समाप्तादितैतावदालोकजयाप्रतिनिवृत्तः शेषमपि कर्मशु-
संघातं विनिर्जित्य प्राप्नोति केवलराज्यश्रियमिति, तदेतदप्रति-
पात्यवधिज्ञानम् । तदेवमुक्ताः पटव्यवधिज्ञानस्य भेदाः ।

सम्प्रति उच्यतेपेक्षयाऽवधिज्ञानस्य भेदान् चिन्तयति-

तं समासश्चो चउव्विहं पक्षत्तं । तं जहा-दव्वओ, खेत्तओ,
काव्वओ, भावओ । तत्थ दव्वओ एं ओहिनाणी जह-
न्नेणं अणंताइं रुविदव्व्वाइं जाणइ, पासइ । उक्कोसेणं सव्व्वाइं
रुविदव्व्वाइं जाणइ, पासइ । खेत्तओ णं ओहिनाणी जह-
न्नेणं अंगुल्लस्स असंखिज्जइ भागं जाणइ, पासइ । उक्को-
सेणं असंखिज्जइ अल्लोणे लोणप्पमाणमित्ताइं खंकाइं जा-
णइ, पासइ । काव्वओ एं ओहिनाणी जहन्नेणं आवलि-
गाए असंखिज्जइ भागं जाणइ, पासइ । उक्कोसेणं असंखि-
ज्जाओ उस्सप्पणीओ अवसप्पणीओ अईयमणागयं च
कालं जाणइ पासइ । भावओ एं ओहिनाणी जहन्नेणं
अणंते जावे जाणइ पासइ । उक्कोसेणं वि अणंते भावे
जाणइ, पासइ । सव्वभावाणमणंतज्जाणं जाणइ, पासइ ॥

“ओहीजवपच्चइओ, गुणपच्चइओ य वस्सिओ उविहो ।

तस्स य वट्ठ विगप्पा, दव्वे खेत्ते य कास्से य ॥१॥

नेरइय-तित्त्यकारा, ओहिस्स वाहिरा हुंति ।

पासंति सव्वओ खलु, सेसा देसेण पासंति ” ॥ २ ॥

सेत्तं ओहिनाणं ॥ नं ।

(टीका चास्य ‘ ओहि ’ शब्दे तृतीयभागे १४१ पृष्ठे अवधि-
क्षेत्रप्रकरणेन गतार्था सुगमा च नेहोपन्यस्तति)

अप (प) निसंज्ञीण-अप्रतिसंज्ञीण-त्रि० । अकुशलैन्द्रि-
यकपायाद्यनिरोधके, स्था० ।

तस्य च त्रीणि सूत्राणि-

चत्तारि अपनिमंलीणा पप्पत्ता । तं जहा-कोहअपनिमं-
लीणे, माणअपनिमंलीणे, मायाअपनिमंलीणे, लोभ-
अपनिमंलीणे ॥

पुनः-

चत्तारि अपनिमंलीणा पप्पत्ता । तं जहा-माणअपनिमं-
लीणे, वइअपनिमंलीणे, कायअपनिमंलीणे, इंदिय-
अपनिमंलीणे ॥ स्था० ४ ठा० २ उ० ।

(टीका चास्य प्रतिसंज्ञीणस्यैव भावनीया)

पंच अपनिमंलीणा पप्पत्ता । तं जहा-सोईदियअपनि-

संलीणे, जाव फासिंदियअपनिमंलीणे । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

अप (प) निमुणेत्ता-अप्रतिश्रुत्य-अव्य० । प्रतिश्रवणमक-
त्वेत्यर्थे, आव० ४ अ० ।

अपनिसेह-अप्रतिषेध-पुं० । अनिवारये, पञ्चा० ६ विव० ।

अपनिस्सावि (ए)-अप्रतिस्त्राविन्-त्रि० । पाषाणायोमयमा-
जनं न प्रतिस्त्रवति । प्रतिस्त्रवणरहिते, दर्श० ।

अप (प) निहृरु-अप्रतिहृत्य-अव्य० । अर्पणमकृत्वेत्यर्थे, वृ० ३ उ० ।

अप (प) निहृणंत-अप्रतिघ्नत्-त्रि० । तद्वचनमविकुट्टयति,
वृ० १ उ० ।

अप (प) निहृय-अप्रतिहृत-त्रि० । अप्रतिघातरहिते अक्षणिमते,
ज्ञा० १६ अ० । कटकुक्ष्यपर्वतादिभिरस्कलिते, स० १ सम० ।
अविसंवादके, औ० ४० । केनापि अनिवारिते, उच० ११ अ० ।
अन्येभ्यः ब्रह्मयितुमशक्ये, उच० ११ अ० ।

अप (प) निहृयगइ-अप्रतिहृतगत-त्रि० । अप्रतिहृताविहारे,
“अपनिहृयगई गामे गामे य एगरायं णगरे णगरे पंचरायं
वृक्षंते य जिहंदिप” प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । संयमे गतिः प्रवृ-
त्तिर्न इत्येतेऽस्य कथञ्चिदिति भावः । स्था० ६ ठा० ।

अप (प) निहृयपक्वलायपक्वकम्म-अप्रतिहृतप्रत्याख्यातपा-
पकर्मन्-त्रि० । प्रतिहतं निराकृतमतीतकालकृतं, निन्वादिकर-
णेन प्रत्याख्यातं च वर्जितमनागतकालविषयं पापकर्म प्राणाति-
पातादि येन स प्रतिहृतप्रत्याख्यातपापकर्मा, तन्निषेधादप्रति-
हृतप्रत्याख्यातपापकर्मा । अनिपिद्धातीतानागतपापकर्मणि, ज०
१ श० १ उ० ।

अप (प) निहृयवल-अप्रतिहृतवल-त्रि० । अप्रतिहतं केना-
न्यनिवारितं बलं यस्य स अप्रतिहृतवलः (उच०) अप्रतिह-
तमन्यैश्च लक्षयितुमशक्यं बलं सामर्थ्यमस्येति अप्रतिहृतवलः ॥
सहजसामर्थ्यवति, उच० ११ अ० ।

अप (प) निहृयवरणाणंदं सणधर-अप्रतिहृतवरज्ञानदर्शनधर-
पुं० । अप्रतिहृते कटकुक्ष्यादिभिरस्कलिते, अविसंवादके वा । अत-
एव क्वायिकत्वाद्वा वरे प्रधाने ज्ञानदर्शने केवज्ञाख्ये विशेष-
सामान्यबोधात्मके धारयति यः स तथा । केवलज्ञानदर्शनाप-
पयुक्ते जिने, अ० १ श० १ उ० । स० । औ० ।

अप (प) निहृयसासण-अप्रतिहृतशासन-त्रि० । ६ व० । अक्ष-
यिस्ताङ्के, “अपनिहृयसासणे अ सेणवई” ज्ञा० १६ अ० ।

अप (प) निहृय-अप्रतिहारक-पुं० । न० । प्रत्यर्पणायोग्ये
शय्यासंस्तरके, आन्धा० २ शु० २ अ० ३ उ० ।

अप (प) दोकार-अप्रतीकार-त्रि० । सूतिकर्मादिरहिते, “किं ते
सोऽहत्तपइहलुदवेयणअपमीकारअरुविजस्मणा शिञ्चमउ-
विगणवासजगाणं” प्रश्न० १ आश्व० द्वा० ।

अप (प) रुपपप्प-अप्रत्युत्पन्न-त्रि० । अनागमिके प्रतिपत्त्यकुश-
ले, “अपपुप्पस्ये य तहिं, कहेइ तह्मज्झितो अस्से” । व्य० ६
उ० । नि० चू० ।

अपठम्-अप्रथम-त्रि० । न० त० । प्रथमताधर्मरहिते सत्तादौ,

कर्णिकारणि दुष्टानि, तत्परीहारतस्तथा ॥ ७ ॥
गीनं नृपं च साक्षेपं, क्षुब्धिता नाप्रमादतः ।
कर्तव्या साधुनाऽप्येवं, सर्वदाऽप्यप्रमादितः ॥ ८ ॥
आ० क० । आच० । आ० चू० । प्र० । प्रमादाभावे, आचा०
१ भू० ५ अ० ४ उ० । अप्सु स्थानेषु अप्रमादवतो भवितव्यम् ।

प्रमादो न कार्यः—

अद्विं ठाणेहिं सम्मं संघमियव्वं जइयव्वं परक्कमियव्वं,
अस्सि च एं अद्वे नो पमाएव्वं जवइ, अमुयाणं धम्माणं सम्मं
सुणणयाए अञ्जुडेयव्वं, सुयाणं धम्माणं आंगिएहयाए
ओवहारणयाए अञ्जुडेयव्वं जवइ, तवाणं कम्माणं संज-
मेणं अकरणयाए अञ्जुडेयव्वं जवइ, पोराणाणं कम्माणं
तवसा विगिचणयाए विसोहणत्ताए अञ्जुडेयव्वं जवइ,
असंगिहियपरिजणस्स संगिएहयाए अञ्जुडेयव्वं जवइ,
सेहं आयारगोयरं गहणयाए अञ्जुडेयव्वं जवइ, गिलाण-
स्स अगिह्याए वेयावच्चं करणयाए अञ्जुडेयव्वं भवइ, सा-
हम्मियाणं अहिगरणंसि उप्पन्नंसि तत्थ अणिसिओव-
स्सिए अपक्खगाही मज्जत्यजावचूए कइममु साहम्मिया
अप्पसद्दा अप्पज्झा अप्पतुमत्तुमा उवसामणयाए अञ्जुडे-
यव्वं भवइ ।

कपट्यम् । नगरमष्टासु स्थानेषु वस्तुषु सम्यग्घटितव्यम्-अप्राप्तेषु
योगः कार्यः । यतितव्यम्-प्राप्तेषु तद्विधयोगार्थं यतः कार्यः । पराक्र-
मितव्यम्-शक्तिक्रयेऽपि तत्प्राप्तने पराक्रम उत्साहातिरेको विधे-
यः । किं बहुना ?-एतस्मिन्मष्टस्थानकलङ्कणे वक्ष्यमाणेऽयं न प्रमाद-
नीयम्-न प्रमादः कार्यो भवति । अश्रुतानामनाकार्णितानां धर्माणां
भुतमेदानां सम्यक् अवणतायै वाऽन्युत्थातव्यमन्युपगन्तव्यं ज-
चनि । एवं भुतानां ओत्रेन्द्रियविषयीकृतानामवग्रहणतायै मनो-
विषयीकरणतयोपधारणतायै आविष्कृतस्मृतिवासनाविषयी-
करणायेत्यर्थः । (विगिचणयाए स्ति) विवेचना निजरेत्य-
र्थः, तस्यै । अत एव आत्मनो विशुद्धिर्विशोधना, भक्त-
हृत्कम् ; तस्यै इति । असंगुहीतस्यानाश्रितस्य, परिजनस्य
शिष्यवर्गस्येति । (सेहं ति) विभक्तिपरिणामाच्चेत्क-
स्याजिनवप्रवृजितस्य, (आयारगोयरं ति) आचारः साधुस-
माचारस्तस्य गोचरो विषयो व्रतपदकादिआचारगोचरः । अ-
थवा-आचारश्च ज्ञानादिविषयः पञ्चधा, गोचरश्च त्रिका-
चर्येत्याचारगोचरम् । इह विजकिविपरिणामादाचारगोचर-
स्य ग्रहणतायां शिक्कणे शैक्कमाचारगोचरं प्रादयितुमित्यर्थः ।
(अगिह्याए स्ति) अग्न्या अस्वेदेनेत्यर्थः । वै-
यावुत्थं प्रतीति ३.५ : । (अघिगरणंसि स्ति) वि-
रोधे, तत्र साधर्मिकेषु निमित्तं रगः, उपाश्रितं द्वेषः । अथवा-नि-
श्चिन्नादारादिलिप्ता, उपाश्रितं शिष्यकुलाद्यपेक्षा । तद्वर्जितो यः
सोऽनिश्चितापाश्रितः । न पक्कं शास्त्राश्रितं गृह्णतीत्यपेक्षा ।
अत एव मध्यस्थजावं भूतः प्रातो यः स तथा । स भवेदिति
शेषः । तेन च तथाभूतेन कथं नु केन प्रकारेण साधर्मिकाः
साधवः, अल्पशब्दा विगतराटीमहात्वनयः, अल्पकृष्णा विग-
ततथाविधप्रकीर्णवचनाः, अप्पतुमत्तुमा विगतक्रोधना वि-
कारविशेषाः जाविप्पन्तीति जावयतोपशमनायाधिकरणस्या-
न्युत्थातव्यं जवतीति । स्था० ८ उ० ।

किञ्च-

अण्णपरमं नाणी, एो पमाए कयाइ वि ।

आयगुत्ते सया धीरे, जायमायाए जावए ।

"अण्णपरमं" इत्याद्यनुष्टुप् । न विद्यते अन्यः परमः प्रधा-
नोऽस्मादित्यन्यपरमः संयमः, तं ज्ञानी परमार्थवित्तो प्रमाद-
येत्, तस्य प्रमादं न कुर्यात्कदाचिदपि । यथा आप्रमादयत्ता
भवति तथा दर्शयितुमाह- (आयगुत्ते इत्यादि) इन्द्रियनोद-
न्धितात्मना गुप्त आत्मगुप्तः । सदा सर्वकालम्, यात्रा संयम-
यात्रा, तस्यां मात्रा यात्रामात्रा । मात्रा च- 'अन्वाहारो ए सदे'
इत्यादि, तथाऽऽत्मानं यापयेद्, यथा विषयानुदीरणेन दीर्घका-
लं संयमाधारदेहप्रतिपादने भवति तथा कुर्यात् । आचा० १
भू० ३ अ० ३ उ० ।

अपरं च-

उदाहु वीरे अप्पमादो महामोहे अलं कुसलस्स पमा-
एणं संति मरणं संपेहाए जिउरधम्मं संपेहाए ॥

(उदाहु इत्यादि) उन्मादव्येन आहोक्त्वान् । कोऽस्तौ ? वीरः,
अपगतसंसारभयः, तीर्थकुदित्यर्थः । किमुक्त्वान् ? तदेव, पूर्वो-
क्तं वा दर्शयति-अप्रमादः कस्यचिः । क ? महामोहे अज्ञानप्रमि-
ष्यक् एव महामोहकारणव्यान्महामोहः तत्र, प्रमादवता न
प्राप्यम् ; आह- (अज्ञमित्यादि) अलं पर्याप्तम् । कस्य ? कुश-
लस्य निपुणस्य-सूक्ष्मेक्षिणः । केजालम् ? मद्यविषयकपायनिष्का-
विकाररूपेण पञ्चविधेनापि प्रमादेन, यतः प्रमादो दुःखाद्यभि-
गमनात्योक्त इति स्यात् । किमाज्ञम्य प्रमादेनाज्ञम् ? इत्युच्यते ।
(संति इत्यादि) शमनं शान्तिरशेषकर्मोपगमः, अतो मोक्ष एव
शान्तिरिति । श्रियन्ते प्राणिनः पौनःपुन्येन यत्र चतुर्गतिके सं-
सारे स मरणः संसारः । शान्तिश्च मरणश्च शान्तिमरणं, समा-
हारद्वन्द्वः । तत्संप्रेक्ष्य पर्यालोच्य, प्रमादवतः संसारानुपस्मस्तप-
रित्यागाच्च मोक्ष इत्यतद्विचार्येति हृदयम् । स चाकुशलः प्र-
क्ष्य विषयकपायप्रमादं न विदध्यात् । अथ च शान्त्या उपश-
मेन मरणं मरणावधिः, यावत्तिष्ठतो यत्कलं भवति तत्पर्यालो-
च्य प्रमादं न कुर्यादिति । किञ्च- (जिउर इत्यादि) प्रमादो हि
विषयाभिष्वङ्गरूपः शरीराधिष्ठानस्य च शरीरं जिउरधम्मं स्व-
त एव जिघ्रत इति । जिउरं स एव धम्मः स्वभावो यस्य तज्जि-
उरधम्मः । एतत्समीक्ष्य पर्यालोच्य प्रमादं न कुर्यादिति सचेन्धः ।
आचा० १ भू० ३ अ० ४ उ० । प्रमादवर्जनरूपायां ४६ गौणा-
हिसायाम्, प्र० १ नम्य० द्वा० यत्नातिशये, पं० व० १ द्वा० ।
उपयोगपूर्वकरणक्रियायाम्, नि० चू० १ उ० ।

सर्वक्रियास्वप्नमाद इति चतुर्थं साधुबिक्कम-

सुगइनिमित्तं चरणं, तं पुण्ण छ्वायसंजमो चेव ।

सो पाझिउं न तीरइ, विगहाइपमायजुत्तेहिं ॥ ११० ॥

शोभना गतिः सुगतिः सिद्धिरिव, तस्या निमित्तं कारणं, चर-
णं यतिधर्मः । तदुक्तम्- "नो अन्नहा वि सिद्धी, पाविज्जइ जं तन्नो
रमोए वि ॥ एतो चेव उवाभो, आरंजावट्टमाणो उ " ॥ १ ॥

तथा-

" विरहिततरकायना बाहुदणैः प्रचरन्,
कथमपि अलराशिं धीयना लङ्घयन्ति ।

न तु कथमपि सिद्धिः साध्यते शीलहीनैः,

हृदयति यातिधर्मे चित्तमेवं विदित्वा " ॥ १ ॥ इति ।

अप (८१) मज्जिय-अप्रमानित-वि० । रजोहरणयस्वाञ्जलादि-
नाऽविशोधिते, प्रच० ६ द्वा० ।

अप (८२) मज्जियचारि(ण्)-अप्रमानितचारिण्-पुं० । अपमा-
ज्जिने, भगस्थाननिर्वादनशयनादि करणनिक्रमे। चारादिपरिष्ठापनं
च कुर्वति, "अपमज्जियचारोया वि जयइ," इति षष्ठं समाधि-
स्थानम् । दशा० । प्रश्न० । १ अं०

अप (८३) मज्जियदुष्पमज्जियउच्चारपासवण्णूप्मि-अप्रमानित-
दुष्पमानिताचारमसूत्रणूप्मि-झं० । पोषधोपवासस्याति-
चारभेदे, उपा० १ अ० । आच० ।

अप (८४) मज्जियदुष्पमज्जियसिज्जासंथार-अप्रमानितदुष्पमा-
जितशय्यानंस्तार-पुं० । पोषधोपवासस्यातिचारे, इदं प्रमाज-
नं शय्यादौ सेवनकाले वस्त्रोपान्तादिनेति दुष्टमविधिना प्रमाज-
नं दुष्पमाज्जंम् । आच० ६ अ० । उपा० ।

अप (८५) मत्त-अप्रमत्त-वि० । न प्रमत्तोऽप्रमत्तः । यद्वा-नास्ति
प्रमत्तमस्येत्यप्रमत्तः । पं० सं० १ द्वा० । आच० । अज्ञाननि-
चायिकयादिपष्टप्रमादरहिते, ग० २ अधि० । धा० । ते च
प्रायो जिनकलिरक-परिष्ठापविशुद्धिक-यथालन्दकालेक-प्रति-
माप्रतिपन्ना, तेषां सततोपयोगसम्मयात् । नं० । सं० । न वि-
द्यते प्रमत्तः प्रमादो मयविषयकपायविकयाप्रमादाप्यो यस्य ।
अप्रमादिनि, "अहो य रात्रौ य अप्रमत्तेण हुंति " प्रश्न०
५ सम्य० द्वा० । निष्ठादिप्रमादरहिते, "अप्रमत्ते समाहिण
म्माइ " आच० १ ध्रु० ए अ० २ उ० । "अप्रमत्ते सया
परिक्रमेज्जा " आच० १ ध्रु० ४ अ० १ उ० । "अप्रमत्ते जप
णिचं " (दश०) । "मुस्तुलप त्रायस्सियमपमत्ते " (दश०)
प्रयत्नयति च । "अप्रमत्तो अहिंसभो " । दश० १ अ० ।

अप (८६) मत्तसंजय-अप्रमत्तसंयत-पुं० । न प्रमत्तोऽप्रमत्तः,
नास्ति वा प्रमत्तमस्यालावप्रमत्तः; स चासौ संयतश्चाप्रमत्त-
संयतः । कर्म० ३ कर्म० प्रच० । सर्वप्रमादरहिते सत्तमगुणस्था-
नकचर्चिनि, सं० १४ सम० ।

स च-

अप्रमत्तो दुविहो-कसायअप्रमत्तो य, जोगअप्रमत्तो
य । तस्य कसायअप्रमत्तो दुविहो-खीणकसाओ, निगह-
परो य । एत्थ निगहपरेण अहिगारो कइं तस्स अप्प-
मत्तचं भवति । कोहोदयनिरोहो वा, उदयपत्तस्स वा विफ-
ट्ठीकरणं, एवं जाव लोभो चि । जोगअप्रमत्तो मणवयणका-
यजोगोहिं तिहिं व गुत्तो । अहवा अकुसलमणनिरोहो,
कुसलमणउदीरणं वा मणसो वा एगत्तीजावकरणं ।
एवं वइए वि, एवं काए वि, तद्वा इदिएसु सोइंदियविसय-
पयारनिरोहो वा । सोइंदियविसयए तेसु वा अत्थेसु
रागदोसविणिग्गहो, एस अप्रमत्तो । आ० चु० ४ अ० ।

तस्य काष्ठः-

अप्रमत्तसंजयस्स एं भंते । अप्रमत्तसंजमे वट्टमाणस्स
सब्बावि य णं अप्रमत्तप्पाकाइओ केव चिरं होइ । मंभिया ।

एगं जीवं पडुच्च नइएणेणं अंतो मुहुत्तं उकोसेणं पुव्वकोटी
देसूणा पाणा जीवं पडुच्च सव्वच्चं; सेवं जंते । जंते । चि ।

(जहणेणं अंतो मुहुत्तं ति) किलाप्रमत्ताकायां वर्तमान-
स्यान्तमुहुत्तमप्ये मृत्युर्न भवतीति; चूर्णिकारमतं तु प्रमत्तसं-
यतवर्जः सर्वोऽपि सर्वविरतोऽप्रमत्त उच्यते, प्रमादाभावात् ।
तु चापश्यमश्रेणीं प्रतिपद्यमानो मुहुत्ताभ्यन्तरे काष्ठे कुर्वन् अक्ष-
न्यकाष्ठो लज्ज्यत इति; देशोनपूर्यकोटी तु केवलिनमाश्लेष्टेति ।
(नाणा जीवे पडुच्च सव्वच्चं) इत्युक्तम् । अथ सर्वाकाभावि-
भावान्तरप्रकूपणायाम्-मते ! भंते ! चि इत्यादि । भ० १ दश० ३
उ० । पञ्चा० । नं० ।

अप (८७) मत्तसंजयगुणहाण-अप्रमत्तसंयतगुणस्थानं-नं० ।
सप्तमे गुणस्थानके, प्रच० २२४ द्वा० ।

अप (८८) माण-अप्रमाण-न० । प्रमाणातिरिक्ते, वृ० ३७० । यदा
सिद्धान्ते पुरुषस्याहार उक्तोऽस्ति तस्मादाहारप्रमाणात् स्वाहु
लोभेन अधिकनाहारं करोति, तदाऽप्रमाणो द्वितीय आहारदोषः ।
उच० २४ अ० । ('प्रमाण' शब्देऽस्य विधृतिः) प्रमाणाप्यविरुद्धे, रत्ना० ।

प्रसङ्गायातमप्रामाण्यरूपमपि धर्मं प्रकटयन्ति-

तदितरत्रप्रामाण्यमिति ॥ १९ ॥

तस्मात्प्रमेयाव्यभिचारित्वादितरत्र प्रमेयव्यभिचारित्वमप्रो-
माण्यं प्रत्येयम् । प्रमेयव्यभिचारित्वं च ज्ञानस्य स्वयतिरिक्त-
प्राज्ञापेक्षैव लक्षणायम्, स्वस्मिन् व्यभिचारस्यासंज्ञात् ।
तेन सर्वे ज्ञानं स्वापेक्षया प्रमाणमेव, न प्रमाणाभासम् ।
बहिरर्थापेक्षया तु किञ्चित्प्रमाणम्, किञ्चित्प्रमाणाभासम् ।
रत्ना० १ परि० ।

अप (८९) माणजोइ (ण्)-अप्रमाणभोजिन्-वि० । आभिर्श-
कवलाधिकाहारजोकरि, प्रश्न० ३ सम्य० द्वा० ॥

अप (९०) माय-अप्रमाद-पुं० । न प्रमादोऽप्रमादः । प्रमाद-
यजनलक्षणे पट्टिशयोगसंग्रहे, सं० ३२ सम० ।

तत्र उदाहरणम्-

रायगिह मगहसुंदरि-मगहसिरी कुसुमसत्थपक्खेवो ।

परिहरिअ अप्रमत्ता, नटंगी अचवी जुक्का ॥ १ ॥

पुरे राजगृहेऽत्रासी-जरासन्धो महानृपः ।

गाथक्यौ तस्य मगध-सुंदरीमगधभिर्यौ ॥ १ ॥

चेन्नासौ स्यात्तदैकाऽहं, राजा च स्याद्दशे मम ।

मगधश्रीस्ततो दुष्टा, तस्या नाट्यस्य वासरे ॥ २ ॥

विपभावितसौवर्ण-केसरायितसुचिभिः ।

संचलितैः कर्णिकरैः, रङ्गात्सङ्गमपूजयत् ॥ ३ ॥

अक्का मगधसुन्दर्या, विद्योपयाभ्युदते स तान् ।

किमेपु कर्णिकारिपु, न लीयन्ते मधुमताः ॥ ४ ॥

सदोपाणि स्फुटं पुण्या-एयेताम्यत्र च चेदहम् ।

द्रव्ये-योग्यान् नार्चाया, भावितानि विषेण वा ॥ ५ ॥

प्राप्यन्ता स्यान्मम तत-स्तदुपायेन बोधये ।

अत्रान्तरेऽवतीर्णा च, रङ्गे मगधसुन्दरी ॥ ६ ॥

मङ्गले गीयमानेष्का, प्राणायत्तीतिकामिमाम् ।

पत्तं वसंतमासे, एत्राओ अपमोइअम्भिं धुट्ठम्भि ।

मूत्तूण कण्ठिआरए, भमरा सेवंति चूअकुसुमाइ ॥ १ ॥

श्रुत्वा गीतिमपूर्वा तां, जडे मगधसुन्दरी ।

स्था० २ ग्रा० ३ उ०। (एतत्सुत्रं पद्याऽयमुपलभ्यते । चन्द्रप्रज्ञौ धृतसंग्रहगाथासु तु न दृश्यते) अपरस्त्वरम्भुदयविघ्नहेतु-
भिरजिता अनजित्नुना अपराजिताः । उक्त० ३६ अ० । अनुत्त-
रोपपातिकदेवविशेषेषु, प्रज्ञा० १ पद । तद्विमाने च, जी० ३
प्रति० । स्था० । सप्तमे प्रतिवासुदेवे; ती० १ कल्प० । जम्बू-
द्वीपस्य चतुर्थे, लवणसमुद्रस्य धातकीखण्डस्य पुष्करोद-
समुद्रस्य कादोदस्य समुद्रस्य च द्वारे, जी० ३ प्रति० ॥
(जम्बूद्वीपादिशब्देषु विवृतिरस्य द्रष्टव्या) श्रीअग्रमस्यामि-
नां त्रिपाटितमे पुत्रे, कल्प० । स्वनामख्याते चतुर्दशपूर्वधरे
आचार्ये च, नन्दिनः नन्दिमित्रः अपराजितः गोवर्धनो जङ्ग-
बाहुश्चेति पञ्च भूतकेवलिनः । जै० ६० । मेरोरुत्तरे रुचकपर्व-
तस्य कूटभेदे, न० । स्था० ८ ग्रा० ।

अपराध्या-अपराजिता-स्त्री० । महावत्सानिधानविजयक्षेत्रे
वर्तमाने पुरीयुग्मे, " दोअपराध्याभो " (स्था०) वप्रकाव-
तीविजयक्षेत्रे वर्तमाने पुरीयुगले च । " दो अपराध्याभो "
स्था० २ ग्रा० ३ उ० । अपराजिता राजधानी, वैश्रमणकूटो
नाम वक्रस्कारादिः । जं० ४ वक्र० । दशमरात्रौ, जं० ७ वक्र० ।
कल्प० । अञ्जनाक्षौ, उत्तरदिक्स्थायी पुष्करिण्याम्, ती० २ कल्प० ।
क्षी० । अङ्गारस्य महाग्रहस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ग्रा० २ उ० । प-
थं सर्वेषां ग्रहादीनां चतुर्थी अग्रमहीपी अपराजिता । जी० ३ प्रति० ।
रुचक्रवासिन्यामष्टम्यां दिक्कुमारं महत्तरिकायाम्, जं० ५ वक्र० ।
आ० म० । स्था० । आ० चू० । अष्टमवलदेववासुदेवयोर्मतारि,
आव० १ अ० । अष्टमतीर्थकरस्य निष्कमणशिविकायाम्, स०
७२ सम० । अहिच्छन्दास्थे महौपधिजने, ती० ७ कल्प० ।

अपरामुष्टविधेयस-अपरामृष्टविधेयांशु-न० । स्वनामख्याते
अनुमानदोषे, अपरामृष्टविधेयांशं यथा । अनित्यशब्दः कृतक-
त्वादिति । अत्र हि शब्दस्यानित्यत्वं साध्यं, प्राधान्यात् पृथ-
क्निर्देश्यम्, न तु समासे गुणान्नायकालुच्यकलङ्कितमिति । पृथक्-
निर्देशेऽपि पूर्वमनुवाद्यशब्दस्य निर्देशः शस्यतरः, समानाधि-
करणतायां तदनुविधेयस्यानित्यत्वस्याऽलङ्घ्यास्पदस्य नस्य
विधातुमशक्यत्वात् । रत्ना० ८ परि० । ति० ।

अपरिआइतए-अपर्यादाय-अव्य० । अगृहीत्वेत्यर्थे, भ० २५
श० ७ उ० ।

अपरिआविय-अपरितापित-त्रि० । स्वतः परतो वाऽनुपजात-
कायमनःपरितापे, आव० ।

अपरिकम्म-अपरिकर्म्मन्-त्रि० । साधुनिमित्तमाद्येपनादिपरि-
कर्मवर्जिते, पं० ४० ४ द्वा० । नि० चू० ।

अपरिक्रम-अपराक्रम-त्रि० । न० त० । पराक्रमरहिते, " नयं
तुमं मेढाञ्जुषे (इत्यादि) अत्यामे अवहे अपरिक्रमे " अपरा-
क्रमो निष्पादितस्वफज्जाजिमानाविशेषपराहितत्वात्, अचङ्क्रमणतो
वा । ज्ञा० १ अ० ।

अपरिक्खदिट्ठ-अपरीह्यहृष्ट-त्रि० । अविमृश्योक्ते, " अप-
रिक्खदिट्ठं ण ह्रु एव सिद्धी " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अपारीक्खिय-अपरीक्षित-त्रि० । अकृतपरीक्षे उपस्थापनायोग्ये,
ध० ३ अधि० । " अपरिक्खिओ माधवप निसेवमाणे होति अपरि-
क्खि " ध० ३ अधि० । अपरिक्खिओ पुव्वद्धं अपरिक्खिद्धं " अना-

लोच्य आयो ह्यजः प्राप्तिरित्यर्थः । व्ययो ह्यव्यस्य प्रणाशः । ते च
आयव्येय अनाद्योचितं पन्निसेवमाणस्स सपरिक्खपन्निसेवणा
भवतीत्यर्थः । अपरिच्छं चित्तं गतं । नि० चू० १ उ० ।

अपरीक्ष्य-अव्य० । अनाद्योच्येत्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अपरिखेदितं-अपरिखेदितत्व-न० । अनायाससम्भवात्मकं
चतुर्भिरो बुद्धवचनातिशये, औ० ।

अपरिग्रह-अपरिग्रह-पुं० । न विद्यते धर्मोपकरणाद्वैतं शरी-
रोपजोगाय स्वल्पोऽपि परिग्रहो यस्य स तथा । प्रत्याख्यातप-
रिग्रहे साधौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । " अपरिग्रहा अणारं-
जा, भिक्खू ताणं परिव्वप " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । आचा० ।
न विद्यते परिसमन्तात् सुखार्थं गृह्यत इति परिग्रहो यस्यासा-
वपरिग्रहः । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । धनादिरहिते, प्रश्न० ३
सम्ब० द्वा० ।

अपरिग्रहसंदुर्ग-अपरिग्रहसंवृत-त्रि० । क० स० । धनादिर-
हिते इन्द्रियसंवरेण च संवृते, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ।

अपरिग्रहा-अपरिग्रहा-स्त्री० । न विद्यते परिग्रहः कस्यापि य-
स्याः साऽपरिग्रहा । वृ० ६ उ० । साधारणस्त्रियाम्, " अपरिग्रहा
शियाप, सेवगपुरिसो उ कोइ आलसो । " व्य० ३ उ० ।

अपरिग्रहिया-अपरिग्रहीता-स्त्री० । वेद्यायामन्यसत्कायां गृही-
तमाटिकुलाङ्गनायाम्, अनायायाम्, आ० । ध० २० । उक्त० ।
आव० । विधवायाम्, ध० २ अधि० । देवपुत्रिकायां, घटवा-
स्यां च । " अपरिग्रहिया नाम जो मातादीहि ण परिग्रहिया,
अन्वि कुलटा य सा । अण्णे पुण्ण भणति-देवपुत्तिया धनदासी
वा-पवमादि, सो पुण्ण भागीप वा भागीप गच्छति, जो भागीप
गच्छति, तस्स जदि अपणेणं पढमं भागी दिन्नो सा ण वट्ट-
ति परनियतस्स गंतुं, जा पुण्ण अभागीप गच्छति, सा जइ
अण्णेणं जणिओ-अल्ल अहं तुमप समं सुविस्सामि ; ताप य
पुच्छित्तं तस्स ण व च्छि अंतराइयं काउं " आ० चू० ५ उ० ।

अपरिग्रहियागमण-अपरिग्रहीतागमन-न० । अपरिग्रही-
तायां गमनमपरिग्रहीतागमनम् । अपरिग्रहीतया सह मैथुन-
करणस्वरूपे अस्वदारसन्तोषाख्यचतुर्थाणुप्रतातिचारजेदे, अ-
तिचारताऽस्य अतिक्रमादिभिः । उपा० १ अ० । परदारत्वेन
रुद्धत्वात् । ध० २० । आव० ।

अपरिचित्तकामजोग-अपरित्यक्तकामजोग-पुं० । न परित्यक्ताः
कामजोगा येन । गृहीतकामजोगे, कामौ च शब्दरूपे, भोगाश्च
गन्धरसस्पर्शाः, कामजोगाः । अथवा-काम्यन्त इति कामाः,
मनोऽज्ञा इत्यर्थः । ते च ते ह्युच्यन्त इति भोगाश्च शब्दादय इति
कामजोगाः । न परित्यक्ताः कामजोगा येन स तथा । स्था० २
ग्रा० ४ उ० ।

अपरिच्छ-अपरीक्ष-त्रि० । युक्तपरीक्षाविकले, व्य० १० उ० ।

अपरिच्छस-अपरिच्छन्न-त्रि० । परिच्छदरहिते, व्य० ३ उ० ।
परिवाररहिते, व्य० १ उ० ।

अपरिच्छय-अपरीक्षक-त्रि० । उत्सर्गापवादयोरायव्ययाध-
नाद्योच्य प्रतिसेवमाने, जी० ३ ।

नपुनक्षरं पदार्थसंयम एव, पुर्याज्जल्यजनपवनपनस्पति-
यसकायजीवरक्षेयः । किमुक्तं भवति? एतेषु पदजीवनिकायेष्वेक-
वपि जीवनिकायं विराचयन् जगत्तुं पद्माविद्योपकारित्यादचा-
रेत्री संसारपरिवर्त्तकम् ।

अथात्वादुः प्रतिदत्तकलत्रानोदतानिजाः आधर्मकासगाणि—
मित्राः—

‘सन्धानेनो जह फो-इ अनयो नरयइस्स चिन्नु ।
माणाहरणे पावइ, यहंभणु दप्यहरणं पा ॥ १ ॥
नइ उप्पायनहवय-सन्धानेविचीव गिरेइत्तण जई ।
एगमवि विराइतो, प्रमस्वरत्तो इणइ योहि ॥ २ ॥
तो इयवोही पच्चा, कयावरणाहुसरिसमियममियं ।
पुण वि जयोपहिपमिओ, भमइ अरामरणजुगाम्मि ॥ ३ ॥

किंच—

जजीवनिकायमह-व्यापण परिपालयाइ अरुधत्तो ।
अह पुण ताई न रक्खइ, जणादि को नाम सो धम्मो? ॥ ४ ॥
जजीवनिकायदया-विषयिओ नेव विषयिओ न गिही ।
अरुधत्ताओ जुळो, जुळइ गिहिदाणधम्माओ” ॥ ५ ॥ इत्यादि ।
स पुनः संयमः पालयितुं वर्कयितुं (न तोरइ चि) न शक्यते;
विकया विवचाः कया यज्जकयाया रोदिणीकयायां सप्रपञ्चं
प्रकृतिना; आदिशब्दाद्विषयकयायाविपरिग्रहः, नल्लक्षणः प्रमा-
दो विकयादिप्रमादः । तद्युक्तैः संयमः प्रतिपालयितुं न शक्यते ।
अतः सुसाधुजिहसी न विधेय इति ।

प्रमादस्यैव विशेषतोऽप्यायहेतुतामाह—

पण्वर्जं विज्जं वि न, साहंतो होइ जो पमाइल्लो ।

तस्स न सिज्जइ एस, करेइ गरुणं च अवयारं ॥ १ ॥ १ ॥

प्रमत्यां जिनदीक्षां विद्यामिय स्वीदेवताधिष्ठितामिव साध-
वद् नयति यः (पमाइल्लु चि) प्रमादवान् “आल्लिखल्लोत्ताल-
वंत-मंतैस्सेरमणाः मतोः” ॥ २ ॥ १५९ ॥ इति (हेमस्-
त्रात्) वचनात् । तस्य प्रमादधतो न सिद्धाति-न फल-
दानाय संपद्यते, यथा पारमेश्वरी दीक्षा, विधेयः चकारस्य
भिन्नक्रमत्वात् । करोति च गुणं महान्तमपकारमनर्थमिति ।
भावार्थः पुनरयम्—यथा अत्र प्रमादधतः साधकस्य विद्या
फलदा न भवति, प्रदसंक्रमादिकमनर्थं च संपादयति, तथा
शीतलविहारिणो जिनदीक्षाऽपि न केवलं सुगतिसंपत्तये
न भवति, किन्तु दुर्गतिदीर्घमवग्रमणापायं च विदधाति,
आर्यमङ्गोरिव । उक्तं च—

“सौवर्णविहारो अलु, भगवंतासायणा-निओएण ।
ततो भवो सुदीहो, किलेसवहुलो जओ भणियं ॥ १ ॥

तित्थवरपवयणसुयं, आयरियं गणहरं महिहीयं ।

आसायंतो बहुसो, अणंतसंसारिओ भणिओ” ॥ २ ॥ चि ।

तस्मादप्रमादिना साधुना भवितव्यमिति । ध० २० । (आ-
र्यमङ्गकथा च ‘अज्जमंगु’ शब्देऽस्मिन्नेव जागे २११ पृष्ठे
वर्णिता) सम्यक्त्वपराक्रमाख्ये एकोनत्रिंशे उत्तराख्यने,
ख० ३५ सम० ।

अप (प्य) मायपदिज्ञेहा-अप्रमादमत्युपेक्षणा-ली० । व-
द्विधा अप्रमादेन प्रमादविपर्ययेण प्रत्युपेक्षणा अप्रमादप्रत्यु-

पेक्षणा । अप्रमादेन प्रत्युपेक्षायाम्, “कुर्विहा अप्रमायपडि-
सेहा पण्णा । तं जहा—” अणुच्चावियं अचलितं, अणु-
पेक्षामोर्त्ति चेव । कुप्पुमिमा णव कोडा, पाणीपाणवितो-
हणी” ॥ स्था० ६ ठा० । (‘अणुच्चाविय’ शब्दादीनां
व्याख्याऽस्मिन् भागे ३८३ पृष्ठे ‘अणुच्चाविय’ शब्दे, तथा
च सस्यशब्देषु कृष्ट्या)

अप (प्य) मायजावणा-अप्रमादजावणा-ली० । मघादि-
प्रमादानामनासेवने, आचा० २ सु० १५ अ० ।

अप (प्य) मायबुद्धिणगतण-अप्रमादबुद्धिजनकत्व-न० ।
अप्रमत्ततामकपोत्पादकत्वे, पञ्चा० ५ विव० ।

अप (प्य) मायपदितेवणा-अप्रमादप्रतिज्ञेवना-ली० । अप्रम-
त्तकत्वप्रतिज्ञेयायाम्, नि० चू० १ उ० ।

अप (प्य) मेय-अप्रमेय-त्रि० । न० त० । प्रमाणेनापरिच्छे-
ये, प्रश्न० ४ आश० द्वा० । “अणंतमप्यमेयमविषयधम्मचारं-
चक्रवर्ती नमोत्तु ते अरहंतो चि कट्टु बंदइ” अप्रमेयः, तद्-
गुणानां परैरप्रमेयत्वात् । आ० म० प्र० । प्राकृतजनापरिच्छेदे
मोक्षे, ध० १ अधि० । अशरीरजीवस्वरूपस्य कृष्टस्यैवैक-
तुमशक्यत्वादिति । पा० ।

अपयमाण-अपचमान-त्रि० । न विद्यन्ते पचमानाः पाचका
यत्रासौ अपचमानः । पाकक्रियानिर्वर्तकाऽसेविते, पचते इति
पचमानः न पचमानोऽपचमानः । पाकमकुर्वति, “अं मए इ-
मस्स धम्मस्स केवलपिअणस्स (इत्यादि) अपयमाणस्स
(इत्यादि) पंचमहव्ययजुत्तस्स” ख० ३ अधि० ।

अपया-अप्रजा-ली० । अपत्यविकलायां स्त्रियाम्, वृ० १ उ० ।

अपर-अपर-त्रि० । न विद्यते परः प्रधानोऽस्मादित्यपरः ।
संयमे, आचा० १ सु० ३ अ० ३ उ० । पूर्वोक्तादन्यस्मिन्, “अ-
परा खाम जा सा पुर्वि भणित्ता ततो जा अएणा सा अपरा”
नि० चू० २० उ० ।

अपरक्रम-अपराक्रम-त्रि० । न विद्यते पराक्रमः सामर्थ्यम-
स्मिन्नित्यपराक्रमम् । जङ्गावलपरिधीये, आचा० १ सु० ८
अ० १ उ० ।

अपरक्रमरण-अपराक्रमरण-न० । न विद्यते पराक्रमः
सामर्थ्यमस्मिन्नित्यपराक्रमम् । सामर्थ्यं नष्टे मरणे, किं तन्म-
रणम्?, तच्च यथा-जङ्गावलपरिधीयानामुदधिनाम्नामार्कसं-
मुद्रायामपराक्रमं मरणमभूत्, अयमादेशाद् इष्टान्तो, वृद्ध-
वादादायात इति । आचा० १ सु० ८ अ० १ उ० । (अस्मिन्ने-
व जागे २११ पृष्ठे “अज्जससुद” शब्दे विशेषोऽस्य कृष्ट्याः)

अपरपरिगहिय-अपरपरिगृहीत-त्रि० । अनन्यस्वामिना परि-
गृहीतं अव्याकृते, न पराशरस्तेन परिगृहीतमपरपरिगृहीतम् ।
चित्तिवैरपरैः साधुभिः परिगृहीते, “अव्योगेसु अपरपरिमा-
देसु अपरपरिगहियसु” वृ० ३ उ० । (‘उमाह’ शब्दे द्वितीय-
भागे ७०८ पृष्ठे चतुर्विधा व्याख्याऽस्य कृष्ट्या)

अपराइत (य) -अपराजित-त्रि० । न० त० । पराजयमभाते,
वाच० । अन्येनाजिते, सुत्र० १ सु० २ अ० २ उ० । अपरिच्युते, प्रश्न०
४ आश० द्वा० । दाससतिवमे महाप्रदे, पुं० । “दो अपराजिया”

असत्यपरिणयं अफासुयं जाव णो पणिगाहेज्जा । से जिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण मंथुजायं जाणेज्जा । तं जहा-उंवरमंथुं वा णग्गोहमंथुं वा पिलक्खुमंथुं वा आसोत्थमंथुं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं मंथुजायं आमंथं दुरुक्कं साणुवीयं अफासुयं जाव णो पणिगाहेज्जा ।

“ से भिक्खू वेत्यादि ” स्पष्टम्, णवरं (मंथुत्ति) पूर्णम् । (दुरुक्कं ति) ईषत्पिष्टम् । (साणुवीयं ति) अविच्छस्तयोनिबीजमिति ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, आमन्नागं वा पूतिपिण्णगं वा महं वा मज्जं वा सप्पि वा खोलं वा पुराणं एत्थ पाणा अणुप्पसूया एत्थ पाणा जाया एत्थ पाणा संवुद्धा एत्थ पाणा अबुक्कंता एत्थ पाणा अपरिणता एत्थ पाणा अविच्छत्ता णो पणिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत् पुनरेवं जानीयात्तद्यथा- (आमन्नागं वेत्ति) आमपक्षं अरणिकतन्दुलीयकादि । तच्चाहं पक्षमपक्वं वा, (पूतिपिण्णगं ति) कुथितलज्जम् । मधुमये प्रतीते, सप्पि पृथुतम्, खोलं मद्याधःकदम्बः, एतानि पुराणानि न ग्राह्याणि । यत् एनेषु प्राणिनो अनुप्रसूता जाताः, संवृक्षाः, अव्युत्क्रान्ताः, अपरिणताः, अविच्छस्ता नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमेकाधिकान्येवैतानि, किञ्चिद्देहाद्वा भेदः ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, उच्चुमेरुं वा अंककरोल्लुं वा कसेरुं वा सिंघानं वा पूतिआल्लुं वा अस्सयरं वा तहप्पगारं आमं असत्यपरिणयं जाव णो पणिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) (उच्चुमेरुं वेत्ति) अपनीतत्वगिभ्रुगणिका (अंककरोल्लुं वेत्ति) एवमादीन्वनस्पतिविशेषान् जलजा-न् । अन्यद्वा तथाप्रकारमाममश्लोपहतं नो प्रतिगृहीयादिति ॥

से भिक्खू वा जिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा, उप्पलं वा उप्पल्लणलं वा जिसं वा जिसमणलं वा पोक्खलं वा पोक्खलविज्जागं वा अस्सयरं वा तहप्पगारं जाव णो पणिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत् पुनरेवं जानीयात्तद्यथा- उप्पलं नीलोत्पलादि, नाहं तस्यैवाधारः । जिसं पञ्चकन्दमूलं, जिसमणलं पञ्चकन्दोपरिवर्तिनी वृता, पोक्खलं पञ्चकेसरं, पोक्खविभागं पञ्चकन्दः । अन्यद्वा तथाप्रकारमाममश्लोपहतं नो प्रतिगृहीयादिति ॥

से जिक्खू वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, अग्गवीयाणि वा मूलवीयाणि वा खंधवीयाणि वा पोरवीयाणि वा अग्गजायाणि वा मूलजायाणि वा खंधजायाणि वा पोरजायाणि वा णस्सत्थ तक्कलित्त्यएण वा तक्कलिसीसेण वा णाडिपरमत्थएण वा खज्जूरमत्थएण वा ताहमत्थएण वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमं असत्यपरिणयं जाव णो पणिगाहेज्जा ।

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत् पुनरेवं जानीयात्तद्यथा- अग्गवीजानि जपाकुसुमादीनि, मूलवीजानि जायादीनि, स्कन्धवीजानि शल्लक्यादीनि, पर्ववीजानि इक्ष्वादीनि । तथा अग्गजा-तानि मूलजातानि स्कन्धजातानि पर्वजातानीति । (णस्सत्थत्ति) नान्यस्मादग्रेदानीयान्यत्र प्ररोहितानि, किन्तु तत्रैवाग्रादौ जातानि, तथा (तक्कलित्त्यएण वा) तक्कली णमिति वाक्यालङ्कारे । तन्मस्तकं तन्मध्यवर्ती गर्भः । तथा कन्दलीशीर्षकन्दलीस्तथ-कः । एवं नातिकेरादेरपि दृष्टव्यमिति । अथवा कन्दल्यादिम-स्तकेन सदृशमन्यद्यच्छित्त्वाऽनन्तरमेव ध्वंसमुपयाति, तत् तथाप्रकारमन्यदाममश्लोपपरिणतं न प्रतिगृहीयादिति ॥

से जिक्खू वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, उच्चुं वा काणं अंगारियं सम्मिस्सं वियदूसितं वेत्तं वा कन्दलीजसुयं वा अस्सयरं वा तहप्पगारं आमं असत्यपरिणयं जाव णो पणिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत् पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा- उच्चुं वा (काणं ति) व्याधिविशेषात्सच्छिच्छं, तथा- अङ्गारिकतं वि-वर्णीचूतं, तथा- सम्मिधं स्फुटितत्वक् (वियदूसितं ति) वृकैः गृ-गाद्वैर्वा ईपद्भक्तं, न ह्येतावता रन्ध्राद्युपकृतेण तत्प्राप्तुकं प्रवर्ती-ति सूत्रेण्यस्यासः । तथा वेन्नामं (कन्दलीजसुयं वेत्ति) कन्दली-मध्यं तथाऽन्यदप्येवंप्रकारमाममश्लोपहतं न प्रतिगृहीयादिति ॥

से भिक्खू वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, लसुणं वा लसुणपत्तं वा लसुणणाहं वा लसुणकं-दं वा लसुणचोयं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमं असत्यपरिणयं जाव णो पणिगाहेज्जा ॥

लसुणपत्तं सुगमम् । णवरं (चोयं ति) कोशकाकारा लसुण-स्य बाह्यत्वक । सा च यावत्साक्षात् तावत्साधेति ॥

से भिक्खू वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, अत्थिअं वा कुंजिपक्कं तिंहुं वा वेदुयं वा पल्लं वा कासवणादियं वा अस्सयरं वा आमं असत्यपरि-णयं जाव णो पणिगाहेज्जा ॥ से जिक्खू वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, कणं वा कणकुंडगं वा कणपूयत्तिं वा चाउलं वा चाउलपिठं वा तिहं वा तिहपिठं वा तिहपप्पगं वा अस्सयरं वा तहप्पगारं आमं असत्यपरिणयं जाव लाभे संते णो पणिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) (अत्थिअं ति) वृक्कविशेषपल्लम् । (तेंहुअं ति) टेम्बरुयम्, (विलुअं ति) विट्ठं, (कासवणादियं) श्रीपर्णीफलं, कुम्भीपक्षशब्दः प्रत्येकमजिसंघयते । एतदुक्तं भ-वति-यदस्त्रिकफलादि गर्तादावप्राप्तपाककालमेव बलात्पाक-मानीयते तदाममपरिणतं न प्रतिगृहीयादिति (से इत्यादि) कणमिति शाब्दादेः कणिकास्तत्र कदाचिन्नाभिः संभवेत् । कणि-ककुण्डं कणिकाभिर्मिश्राः कुक्कुसाः, (कणपूयत्तिं ति) क-णिकाभिः पूपलिका, अत्रापि मन्दपकादौ नाभिः संजायते । शेषं सुगमम् । आचा० २ भु० १ भु० ८ उ० । स्वभाववर्णै, नि० चू० १७ उ० । रसरुधिरादिधातुत्वेन परिणाममगते, पञ्चा० ३ विव० ।

अपरिणय-अपरिणत-त्रि० । न परिणतं रूपान्तरमापन्नमपरिणतम् । स्वरूपेणावस्थिते परिणाममप्राप्ते, यथा दुग्धं दुग्धजाव एवावस्थितं दधिभावमनापन्नमपरिणतम् । पि० । देयं द्रव्यं मिश्रमचित्तत्वेन परिणमनादपरिणतम् । घ० ३ अधि० । अप्राप्तुकीभूतं देयद्रव्यं, तद्वान् अपातति सप्तमे पपणादोषे च, न० । घ० ३ अधि० । प्रव० । अपरिणतमिति यदेयं न सम्यग्विचीभूतं दातृग्राहकयोर्था न सम्यग्ज्ञावोपेतम् । आचा० २ ध्रु० १ ऋ० ७ उ० । यदा द्रव्येण अपरिणममाहारं जायो नम, उभयोः पुरुषयोरुहारे वर्तते, तन्मये एकस्य साधवे दातुं मनोऽस्ति, एकस्य च नास्ति, तदाहारनपरिणतदोषयुक्तं स्यात्, अपरिणतदोष-आहमः ।

तच्चापरिणतद्वारमाह-

अपरिणयं पि य दुविहं, द्रव्यं जावे य दुविहमिकेकं ।

द्रव्यमि होइ उक्तं, भावमि य होइ रुज्जलगा ॥

अपरिणतमपि त्रिविधं, तद्यथा-द्रव्ये द्रव्याविषयं, भावे जावविषयं, द्रव्यरूपमपरिणतं, भावरूपमपरिणतं चेत्यर्थः । पुनरप्येकैकं दातृगृहीतसंयन्धाद् द्विधा । तद्यथा-द्रव्यापरिणतं, दातृसत्कं च । एवं जावापरिणतमपि ।

तद् द्रव्यापरिणतस्वरूपमाह-

जीवनामि अविगए, अपरिणयं गए जीद दिहंतो ।

दुद्धदहीइ अभउं, अपरिणयं परिणयं जउं ॥

जीवत्वे सचेतनत्वे अविगते अग्रे पृथिवीकायादिकं द्रव्यमपरिणतमुच्यते, गते तु जीवे परिणतम् । अत्र दृष्टान्तो दुग्धदधिनी । यथा हि-दुग्धत्वात्परिणतं दधिभावमापन्नं परिणतमुच्यते, दुग्धजावे चाऽस्ति अपरिणतम्, एवं पृथिवीकायादिकमपि स्वरूपेण सजीवं सजीवत्वात्परिणतमपरिणतमुच्यते । जीवेन च विप्रमुक्तं परिणतमिति । तच्च यदा दातुः सत्तायां वर्तते तदा दातृसत्कम्, यदा तु गृहीतुः सत्तायां तदा गृहीतृसत्कमिति ॥

संप्रति दातृविषयं भावापरिणतवत्-

दुग्माईसामने, जइ परिणमइ उ तत्थ एगस्स ।

देमि चि न सेसाणं, अपरिणयं जावओ एयं ।

एवं द्विकादिसामान्ये आधादिद्विकादिसाधारणे देयवस्तुनि यच्चैकस्य कस्यचिद् द्वाभीत्येवंभावः परिणमति, शेषाणामेतद्भावतोऽपरिणतम्, न भावापेक्षया देयतया परिणतमित्यर्थः । अथ साधारणानिसृष्टस्य दातृभावापरिणतस्य च कः परस्परं प्रति विशेषः ? । उच्यते-साधारणानिसृष्टं दायकपटोक्तत्वे, दातृ-जावापरिणतं तु दायकसमकृत्वे इति ।

संप्रति गृहीतृविषयं भावापरिणतमाह-

एगेण वा वि तेसिं, मममि परिणायियं न इयरेण ।

तं पि हु होइ अगेज्जं, सज्जलगा सामि-साहू वा ॥

एकेनापि केनचित् अग्रेतनेन पात्रात्येन वा पृथगीयमिति मनसि परिणमति, न इतरेण द्वितीयेन, तदपि भावतोऽपरिणतम्-पि कृत्वा साधूनामप्राप्त्यर्थं, शङ्कितत्वात्, कलहादिदोषसंभवाच्च । संप्रति द्विविधस्यापि भावापरिणतस्य विषयमाह- (सज्जल-१५१)

गेत्यादि) तत्र दातृविषयं जावापरिणतं आतृविषयं स्वाभिषयं च । गृहीतृविषयं जावापरिणतं साधुविषयम् उक्तमपरिणतद्वारम् । पि० । एतच्च साधूनामकल्यम्, शङ्कितत्वात्, कलहादिदोषसंभवाच्च । घ० ३ प्रति० । ग० । “ अपरिणयं द्रव्यं भासलहुं चउलहुं अह सद्धानपत्तिचं ” पं० चू० (अपरिणतप्रदणनिधेयः ‘ पाण्यग ’ शब्दे वक्ष्यते)

अपरिणतफलोपधिप्रदणम्-

से भिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव पविसमाणे से आगं-तारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावतिकुलेसु वा परियाव-सहेसु वा अक्षरंघाणि वा पाणरंघाणि वा सुरजिंरंघाणि वा अग्याय से तत्थ आसायवडियाए मुच्चिए गिच्छे ग-दिए अज्जोववसे अहो ! गंधो अहो ! गंधो णो गंधमाघा-एज्जा । से जिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पु-ण जाणेज्जा, माहुरं वा विरालियं वा सासवणाणियं वा अक्षतरं वा तहप्पगारं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं जाव लामे संते णो पडिगाहेज्जा ।

(से जिक्खु वेत्यादि) (आगतारेसु वे चि) पत्तनाद् बहिर्गृहेषु तेषु आगत्यागत्य पथिकाद्यस्तित्थन्तीति । तथाऽऽरामगृहेषु वा पर्यावसथेष्विति, भिक्षुकादिमठेषु चेत्येवमादिष्वन्नपानगन्धाद् सुरभीनाद्याय स भिक्षुस्तेष्वास्वादनप्रतिज्ञया मूर्च्छितोऽभ्युप-पन्नः सन्न अहो ! गन्धः, अहो ! गन्ध इत्येवमादृवाच्यं गन्धं जि-घृक्षेदिति । पुनरप्याहारमधिकृत्याह-‘से जिक्खु वेत्यादि’ सुगमम् । साधुकमिति कण्डुको जलजः । वेराहियमिति कन्द एव स्थ-लजः । (सासवनाणियं ति) सर्वपकन्दस्य इति ।

किञ्च-

से जिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव पविडे समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, पिप्पलि वा पिप्पल्लिचुसं वा मिरियं वा मि-रियचुसं वा सिंगेरं वा सिंगेरचुसं वा अक्षतरं वा तह-प्पगारं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं लामे संते जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव पविडे समाणे सेज्जं पुण पलंवज्जातं जाणेज्जा । तं जहा-अंवपलंवं वा अंवारगपलंवं वा तालपलंवं वा जिज्जिरिपलंवं वा सु-रभिपलंवं वा सद्धइपलंवं वा अक्षतरं वा तहप्पगारं पलं-वजातं आगमं असत्थपरिणयं अफासुयं अणेसणिज्जं जाव लामे संते नो पडिगाहेज्जा । से जिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव पविडे समाणे सेज्जं पुण पवालजातं जाणेज्जा । तं जहा-आसो-त्थपालं वा णग्गोहपवालं वा पिलक्खुपवालं वा पीयूरप-वालं वा सद्धइपवालं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं पवाल-जायं आगमं असत्थपरिणयं अफासुयं अणेसणिज्जं जाव णो पडिगाहेज्जा । से जिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण सरइयजायं जाणेज्जा । तं जहा-अंवसरकुयं वा कविडसरकुयं वा दाळिमसरकुयं वा विड्ढमरकुयं वा अक्षयरं वा तहप्पगारं सरकुयजायं आगं

एतत्स्वरूपं सप्रतिपक्षं निरूपेदह्यन्तप्रदर्शनपूर्वकमुच्यते—
अपरिस्त्राविद्वारमाह—

परिसाङ् अपरिसाङ्, दब्बे जावे य लोग-उत्तरिण् ।

एकेको वि य दुविहो, अपमच्च-वहुङ्गं दिट्ठतो ॥

परिस्त्रावितुं शीलमस्येति परिस्त्रावी; तद्विपरितोऽपरिस्त्रावी । उभावपि द्विविधौ-द्रव्ये, भावे च । तत्र द्रव्यतः परिस्त्रावी घटादिः, अपरिस्त्रावी तुम्बकादिः । भावतः परिस्त्रावी । एकैकोऽपि द्विविधः, तद्यथा- (लोग सि) लौकिकः । (उत्तरिण् सि) पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् लोकोत्तरिकः । तत्र लौकिके भावतः परिस्त्राविणि अमात्यद्वयान्तः ।

स चायम्—

“ एगो राया, तस्स कम्मा गइजस्स जारिसा, सो निच्चं खोलाप अमुक्कियाप अत्थइ । सो अन्नया अमच्चेणं एंगते पुच्छिओ-किं तुम्मे जट्टारयपादा खोलाप आवठियाप अत्थइ, न कस्सइ सीमं कम्मा य दरिसेह ? । रत्ता सज्जावो कहिओ; भणियं च-मा रहस्समन्नयं काहिसि सि । तेण अगंभीरयाप तं रहस्सं अप्पहियासमाणेण अरुविं गंतुं रुक्खकोरु रे मुहं छोदूण भणियं-गइजकन्नो राया । राया तं रुक्खं अन्नेण केणइ ठेनुं वादिसं कयं, भवियव्वयावसेण य तं रण्णो पुरओ पढमं वाइयंतवज्जं तं भणइ-गइजकन्नो राया । रत्ता अमच्चो पुच्छिओ-तुम्मे परं एयं रहस्सं नायं, कस्स ते कहियं ? । अमच्चेण जहावत्तं सिट्ठं । एस बोइओ अपरिस्त्रावी । लोउत्तरिओ जो अप्पहियासमाणो पुच्छिओ वा अपुच्छिओ वा अपरिणयायं अववायपयाणि कहेइ ” ।

ईदृशस्य परिस्त्राविणः सूत्रं यो ददाति तस्य चत्वारो लघवः । अर्थं ददाति तस्य चत्वारो गुरवः । यत एवं ततो अपरिस्त्राविणो वातव्यम् । सोऽपि द्विधा-लौकिको, लोकोत्तरिकश्च । तत्र लौकिके अपरिस्त्राविणि बहुक्याः दृष्टान्तः ।

स चायम्—

“ राया सिछी अमच्चो आरक्खिओ मूलदेवो य एक्काए पुरोहिजज्जाए वहुङ्गीए अईयरुवंसिणीए अज्जोववन्ना । ताए सव्वेसि सकेअओ त्रितो, ते भागया दुवारे गिया । ताए भन्तिजइ महिलारहस्सं जाणेह तो पविसह । ते जणति-य जाणामो, मूलदेवेण भणियं-अहं जाणामि । ताए भणियं-पविसह सि, पविट्ठो पुच्छिओ-किं महिलारहस्सं? तेण भणियं-मारिज्जंतेहिं वि अन्नस्स न कहेयव्वं । “ त्वं विदग्धः कामुकः ” इति तुहाए सव्वरत्ति रमिओ । पजाए रत्ता पुच्छिओ मूलदेवो-किं महिलारहस्सं? । मूलदेवो जणइ-अहं एयं उट्ठावं पि न जाणामि । रण्णा अवलवइ सि वज्जो आण्णो, तह वि न कहेइ, ताहे थेज्जाङ्गीए आगंतुं रन्नो पुरतो कहियं-ब्रह्मा एयं चेव महिलारहस्सं, जं सरीरक्खाए वि न कस्सइ मीसइ सि । एस बोइओ अपरिस्त्रावी । लोउत्तरिओ पुण जो ठेअसुअस्स रहस्सियाणि अपवायपयाणि सुणिच्चा उच्छिओ, तओ जइ कोइ अपरिणओ पुच्छइ-किं एयं कहिज्जइ ? । भणइ-चरणकरणं साहूणं वनिज्जइ ” । ईदृशस्यापरिस्त्राविणो यदि सूत्रं न ददाति तदा चतुर्ध्रु । अर्थं न ददाति तदा चतुर्गुरु । ३० १ उ० । ३० । परिस्त्रावति आस्त्रवति कर्मवन्तातीत्येवं शीलः परीस्त्रावी, तन्निषेधादपरिस्त्रावी । अवन्धके निरुद्धयोगे, अयं च पञ्चमः स्नातकभेदः । उत्तराच्यनेपु त्वईन् जिनः केवलीत्ययं पञ्चमो भेद उक्तः, अपरिस्त्रावीति तु नाधीतम् । ज० २५

श० ६ उ० । स्था० । न परिस्त्रावति नालोचकदोषानुपसृत्याऽन्यस्मै प्रतिपादयति य एवं शीलः सोऽपरिस्त्रावी । आलोचकदोषाऽप्रख्यापके आलोचनां प्रतीच्छके, “ जो अन्नयस्स उ दोसे न कहेइ अपरिस्त्राई सो होइ ” ३० ७ उ० । पञ्चा० । ३० । व्य० । यो न परिस्त्रावति परिकथितात्मगुहाजलमित्येवं शीलोऽपरिस्त्रावी । आलोचनामाश्रित्य आचाराङ्गोक्ततृतीयमङ्गतुल्य इत्यर्थः । ग० १ अधि० ।

अपरिसाङ्-अपरिशाटि-पुं० । परिशाटिर्वर्जिते, प्रश्न० १ आ-अ० द्वा० । शय्यासंस्तारके, नि० चू० २ उ० । फलकादिमये, ३० ३ उ० । अनवयवोज्जने च, “ अपरिसाङ् अक्खोवज्जणवणाणुलेवणभूयं ति ” म० ७ श० १ उ० ।

अपरिसाङ्गिय-अपरिशाटित-त्रि० । परिशाटिरहिते, उत्त० १ अ० ।

अपरिसुच्छ-अपरिशुच्छ-त्रि० । सदोषे, पञ्चा० ३ विव० । अयुक्तियुक्ते, आव० ४ अ० ।

अपरिसेस-अपरिशेष-त्रि० । निःशेषे, प्रश्न० २ आ० द्वा० ।

अपरिहारिय-अपरिहारिक-पुं० । न परिहारिकोऽपरिहारिकः । पार्थवस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दरूपे, आचा० १ भु० १ अ० १ उ० । मूलोत्तरगुणदोषाणामपरिहारके, मूलोत्तरगुणानां वाऽधारके, अन्यतीर्थिकगृहस्थे वा । नि० चू० २ उ० ।

अपरोवताव-अपरोपताप-पुं० । परपीनापरिहारिणि, पं० सू० २ सू० । अपरोवतावि (न)-अपरोपतापिन्-पुं० । साधूनां वर्णवादिनि, पं० चू० ।

अपलिअ-अपक्क-त्रि० । अग्निनाऽलंस्कृते, ३० २ अधि० ।

अपलिउंचमाण-अप्रतिकुञ्चयत्-त्रि० । अगोपयति, आचा० २ भु० ५ अ० १ उ० ।

अपलिउंचि-अपरिकुञ्चिन्-त्रि० । अमायाविनि, व्य० १ उ० ।

अपलिउंचिय-अप्रति (परि) कुञ्चय-त्रि० । न परिकुञ्चयमपरिकुञ्चयम् । अकौटिल्ये, व्य० १ उ० ।

अप्रति (परि)-कुञ्चय-अव्य० । मायामकृत्वेत्यर्थे, व्य० १ उ० । नि० चू० ।

अपलिच्छस-अपरिच्छन्न-त्रि० । परिच्छदरहिते, व्य० ३ उ० ।

अपलिमंथ-अपरिमन्थ-पुं० । परिमन्थः स्वाध्यायादिकृतिस्तदन्नावोऽपरिमन्थः (उत्त०) स्वाध्यायादौ निरालस्ये, उत्त० २६ अ० । अप (प) लीण-अप्रलीन-त्रि० । असंबन्धे, सूत्र० १ भु० १ अ० ।

अपवग्ग-अपवर्ग-पुं० । जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदतया सर्वदुःखप्रहाणलक्षणे मोक्षे, सूत्र० १ भु० १३ अ० । संघा० । “ तद्भावेऽपवर्ग इति ” तस्य रागादिकयस्य भावे सकललोकाद्व्योक्तिलोकनशालिनोः केवलज्ञानदर्शनयोर्लब्धौ सत्यां निस्तीर्णमवार्णवस्य सतो जन्तोः अपवर्ग उक्ते निरुद्ध उद्भवतीति । किं लक्षणः? इत्याह- “ स आत्यन्तिको दुःखविगम इतीति ” सोऽपवर्गः, अत्यन्तं सकलदुःखशक्तिनिर्मूलनेन भवतीति आत्यन्तिको

अपरिणामग-अपरिणामक-पुं० । न विद्यते परिणामो यद्वा-
काशेपरिणामनं यस्य स तथा । अ० १ उ० । उत्सर्गैकवचौ पुरुषे,
नं० । जी० १ प्रति० ।

अपरिणामकमाह—

जो दृग्गवित्कयका-ज्ञावयो जं जहा जिणक्त्वायं ।
तं तह असद्वहंतं, जाण अपरिणामयं साहुं ॥

यो द्रव्यक्षेत्रकालभावकृतं तद् न अद्वधाति तं तथा अत्रादधतं
जानाहि अपरिणामकं साधुम् । वृ० १ उ० । पं० व० ।
(' परिणाम ' शब्दव्याख्यानवसरं अतिपरिणामकस्यापि
व्याख्याऽन्यथापि, तत्रैवास्यापि शब्दस्य व्याख्या दृष्टान्तश्च
कृष्टव्यः)

अपरिणिष्ठाण-अपरिनिर्वाण-न० । परि समन्ताद् निर्वाणं सु-
खं परिनिर्वाणं, न परिनिर्वाणमपरिनिर्वाणम् । समन्तात् शरीर-
मनःपानाकरे, " सत्वेसि सत्ताणं असायं अपरिनिष्ठाणं
नहम्भयं दुक्खं " आवा० १ भु० १ अ० १ उ० ।

अपरिषत्त-अपरिज्ञप्त-त्रि० । मज्ञापिते, कल्प० ।

अपरिष्ठाय-अपरिज्ञात-त्रि० । रूपरिक्त्या स्वरूपतोऽनवगते,
प्रत्याख्यानपरिक्त्या चाप्रत्याख्याते, स्था० ५ डा० २ उ० । आवा० ।
अपरितंत-अपरितान्त-त्रि० । अपरितान्ते परिभ्रममगच्छति,
नं० । प्रश्न० । पं० भा० । 'अपरितन्तोऽनुत्तय-तडुमपसु' पं० चू० ।

अपरितंतजोगि (ए)-अपरितान्तयोगिन्-त्रि० । अपरिता-
न्तोऽविभ्रान्तो योगः समर्थयस्य सोऽपरितान्तयोगः । स्वार्थि-
केभ्रान्तत्वाच्चापरितान्तयोगी । अन्त० ७ वर्ग । अविभ्रान्तसमा-
थौ, अणु० ३ वर्ग । अपरितान्ता अभ्रान्ता योगा मनःप्रभृत्यः स-
दनुष्ठानेषु यस्य स तथा ; तत अपरिभ्रान्तसंयमे प्रयते, प्रश्न०
१ सम्ब० डा० ।

अपरितावणया-अपरितापनता-स्त्री० । शरीरपरितापाजु-
त्पादने, भ० ५ श० ५ उ० । परितापाजुत्पादने, घ० ३ अधि० ।
समन्ताच्छरीरसन्तापपरिहारे, पा० ।

अपरिताविय-अपरितापित-त्रि० । स्वतः परतो वाऽनुपजात-
कायमनःपरितापे, जी० ३ प्रति० ।

अपरित्त-अपरित-पुं० । न० त० । साधारणशरीरे, स्था० ३
डा० २ उ० । अनन्तसंसारे वा जीवे, भ० ६ श० ३ उ० ।

अपरित्ते दुविहे पणत्ते । तं जहा-कायअपरित्ते य, संसा-
रअपरित्ते थ ॥

कायापरीतोऽनन्तकायिकः ; संसारंपरीतः सम्यक्त्वादिनाऽ
कृतपरिमितसंसारः । प्रज्ञा० १८ पद । कायापरीतः साधारणः,
संसारपरीतः कृष्णपाक्षिकः । जी० ३ प्रति० ।

तत्र—

संसारअपरित्ते दुविहे पाणत्ते । तं जहा-अणादिण अ-
पज्जवसिए, अणाइए सपज्जवसिए ॥

संसारपरीतो द्विधा-अनाद्यपर्यवसितो यो न कदाचनापि
संसारव्यवच्छेदं करिष्यति, यस्तु करिष्यति सोऽनादिसपर्य-

वसितः । प्रज्ञा० १८ पद । अनादिकोऽपर्यवसितो येन जातु-
चिदपि सिद्धिं गन्ता, अनादिको वा सपर्यवसितो भवविशेषः ।
जी० २ प्रति० । (कायापरीतादिव्याख्यानं ' अंतर ' शब्देऽ-
स्मिन्नैव भागे ७७ पृष्ठे दृश्यम्)

अपरिचूय-अपरिजुत-त्रि० । अपरिभवनीये, स्था० ७ डा० ।

अपरिजोग-अपरिजोग-पुं० । परिजोगाभावे, स्था० ५ डा० २
उ० । नि० चू० ।

अपरिमाण-अपरिमाण-त्रि० । न विद्यते परिमाणं यस्य स
तथा । क्षेत्रतः कालतो वा इयत्सारहिते, " अपरिमाणं वि आ-
णाइ, इहमेगोसिमाहियं " सूत्र० १ भु० १ अ० ४ उ० । नि० चू० ।

अपरिमिय-अपरिमित-त्रि० । अपरिमाणे, न परिमितोऽपरि-
मितः । अनु० । परिमाणरहिते, " अपरिमियमहिच्छकलुसम-
तिवाउवेगउद्धम्ममाणं " अपरिमिता अपरिमाणा ये महेच्छा
वृद्धमिद्याया अविरता षोकास्तेषां कलुषाऽविशुद्धा मतिः स-
पव वायुवेगस्तेन उत्पाद्यमानं यत्तथा । प्रश्न० ३ सम्ब०
डा० । आवा० । "अपरिमियनाणदंसणधरंहि" (तीर्थकृद्भिः)
प्रश्न० १ सम्ब० डा० । वृ० । दर्श० । अनन्ते, औ० । वृद्धि,
"अपरिमियं च वसाये, कव्वं गजं ति नायव्वं" दृश० २ अ० ।

अपरिमियपरिगह-अपरिमितपरिग्रह-पुं० । अपरिमितव्या-
प्तौ परिग्रहणं परिग्रहः । परिमाणरहितपरिग्रहे, आवा० ६ अ० ।
अपरिमियवत्त-अपरिमितवत्त-त्रि० । अपरिमितं बलं यस्य
सोऽपरिमितबलः । निर्विशेषवीर्यान्तरायकयादनन्तबलशालि-
नि, " तत्तो वत्ता वत्तमहा, अपरिमियवत्ता जिणवर्दि " वि-
शे० । सूत्र० । " अपरिमियवत्तवीरियजुत्ते " अपरिमितानि
बलादीनि, तैर्युक्तो यः स तथा । उपा० ३ अ० ।

अपरिमियमणत्ततण्हा-अपरिमितानन्ततृष्णा-स्त्री० । अपरि-
माणकल्पविषया अनन्ता वाऽकृया या तृष्णाऽविद्यमानकल्प्याऽऽ-
येच्छा । अपरिमितवाञ्छायाम्, प्रश्न० ३ सम्ब० डा० ।

अपरिमियसत्तजुत्त-अपरिमितसत्त्वयुक्त-त्रि० । अपरिमित-
मियत्तारहितं यत्सत्त्वं धृतिबलं तेन युक्तः । अपरिमितधैर्यं,
वृ० ३ उ० ।

अपरियत्तमाणा-अपरावर्तमाना-स्त्री० । न परावर्तमाना अप-
रावर्तमाना, पं० सं० ३ डा० । परावर्तमानप्रकृतिमिच्छासु कर्म-
प्रकृतिषु, पं० सं० ३ डा० । (मूलप्रकृतीनां बन्धादिप्रस्तावे
' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २९१ पृष्ठे दर्शयिष्यन्त एताः)

अपरियाइत्ता-अपर्यादाय-अव्य० । परितः समन्तादगृहीत्वे-
त्यर्थे, स्था० २ डा० १ उ० । सामस्येनागृहीते, स्था० १ डा० १ उ० ।
अपरियाणित्ता-अपरिज्ञाय-अव्य० । रूपरिक्त्याऽज्ञात्वा प्रत्या-
ख्यानपरिज्ञया चाप्रत्याख्यायेत्यर्थे, स्था० २ डा० १ उ० ।

अपरियार-अपरिचार-त्रि० । न० व० । प्रविचारणमैथुनोप-
सेवारहिते, अप्रविचारे, प्रज्ञा० ३५ पद ।

अपरिविडिय-अप्रतिपतित-त्रि० । विधे, पश्चा० ७ विव० ।

अपरिसा (स्सा) इ (वि) (ए)-अपरिज्ञाविन्-पुं० ।
परिज्ञावितुं शीलमस्य परिज्ञावी । न परिज्ञावी अपरिज्ञावी ।
द्रव्यतः स्त्वारहिते तुम्बकादौ, भावतः भुतार्थकुर्याकारकेऽ-
नुयोगदानयोग्ये, वृ० ।

विधाहाररहिते, पञ्चा० १७ वि० ॥ “ छुट्टेणं भत्तेणं अपाण-
यणं ” जं० २ वक्त्र० ॥ पानकसदृशेषु शीतलत्वेन दाहोपशमहे-
तुषु स्थालीपानकादिषु, गोशालकसम्मतपदार्थेषु च । म० १५
श० १ उ० । (तत्प्रदर्शने 'गोसाहक' शब्दे करिष्यामि) पानकाहार-
वर्जिते, जं० ४ वक्त्र० । पानीयपानपरिहारवति, स्था० ६ ग० ।
एकान्तरोपवासे, ध० ३ अधि० ।

अपाय-अपाद-त्रि० । विशिष्टच्छन्दोरचनायोगोत्पादवर्जिते,
दश० १ अ० । उक्त० ।

अपायच्छिन्न-अपादच्छिन्न-त्रि० । अच्छिन्नचरणे, नि० चू०
१४ व० ।

अपार-अपार-त्रि० । अनन्ते, स० ।

अपारंगम-अपारङ्गम-त्रि० । पारस्तटः परकूलं तद् गच्छती-
ति पारङ्गमः, न पारङ्गमोऽपारङ्गमः । पारगतोपदेशाभावाद्-
पारंगमे, “ अपारंगमा एष, ण य पारंगमित्तप ” । एते कुतीर्थका-
दयः अपारङ्गमा इत्यादि । पारस्तटः परकूलं, तद् गच्छन्तीति पा-
रङ्गमाः, न पारङ्गमा अपारङ्गमाः, एत इति पूर्वोक्ताः । पारगतोप-
देशाभावाद् पारङ्गता इति भावनीयम् । न च ते पारगतोपदेश-
मृते पारङ्गमनायोद्यता अपि पारं गन्तुमलम् । अथवा गमनं
गमः, पारस्य पारे वा गमः पारगमः । सूत्रे त्वनुस्वारोऽलाङ्-
णिकः, न पारगमोऽपारगमस्तस्मा अपारगमाय । असमर्थस-
मासोऽयम् । तेनायमर्थः-पारगमनाय ते न भवन्तीत्युक्तं भ-
वति । ततश्चानन्तमपि संसारान्तर्गतं एवासते । यद्यपि पार-
गमनायोद्यमयन्ति तथापि ते सर्वशोपदेशविकलाः स्वरुचि-
रचितशास्त्रवृत्तयो नैव संसारपारं गन्तुमलम् । आचा० १
श्रु० २ अ० ३ व० ।

अपारग-अपारग-त्रि० । अतीरं गामिनि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।
अपारमगो-देशी-विभामे, दे० ना० १ वर्ग ।

अपाव-अपाप-त्रि० । अपगताशेषकर्मकलङ्के, सूत्र० १ श्रु० १ अ०
३ उ० ।

अपावभाव-अपापज्ञाव-त्रि० । लब्ध्याद्यपेक्षारहिततया शुद्ध-
चित्ते, दश० ६ अ० १ उ० ।

अपावमाण-अपाप्रवृत्-त्रि० । अनासादयति, ओघ० ।

अपावय-अपापक-पुं० । शुभचिन्तारूपे प्रशस्तमनोविनये, स्था०
७ ठा० । अपापवाक्प्रवर्तनरूपे वाग्विनये, ज० २५ श० ७ उ० ।

अपावा-अपावा-स्त्री० । अपापाऽपरनाम्न्यां पुर्याम्, यत्र श्रीम-
हावीरः स्वामी निर्वृत्तः । स्था० ।

अपास-अपाश-पुं० । अन्वधने, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अपासत्थया-अपार्श्वस्थता-स्त्री० । न पार्श्वस्थोऽपार्श्वस्थ-
स्तस्य भावस्तत्ता । पार्श्वस्थतापरिहारे, अनया चागमिष्यद्भू-
ताकारणानि कुर्वता आशंसाप्रयागो न विधेयः । स्था० १० ठा० ।

अपासिक्ता-अदृष्टा-अव्य० । अनालोच्येत्यर्थे, नि० चू० १ व० ।

अपि (वि)-अपि-अव्य० । सम्भावने, उक्त० ४ उ० । स्था० ।
वाढार्थे, रा० ।

अपिहृणया-अपिहृणता-स्त्री० । यद्यपिदितामनपरिहारे, म० ७
श्रु० ६ व० ।

अपिय-अप्रिय-त्रि० । अप्रीतिकरे, ज० ६ श० ३३ उ० । अप्रि-
यदर्शने, जी० १ प्रति० । अप्रीतिके, “ अचियत्तं ति वा अपिय-
त्तं ति वा एगदुं ” व्य० ३ उ० ।

अपिवाणिज्योदग-अपानीयोदक-पुं० । अपातव्यजले मेघे, ज०
७ श० ६ उ० ।

अपिमुण-अपिमुन-त्रि० । छेदनमेदनयोरकर्तरि, दश० १९ अ०
३ उ० ।

अपीङ्कारग-अप्रीतिकारक-त्रि० । अमनोहे, स्था० ३२ ग० १ उ० ।

अपीङ्गराहेय-अप्रीतिकरहित-त्रि० । अप्रीतिवर्जिते, पञ्चा०
७ वि० ।

अपीङ्गतर-अप्रीतितर-त्रि० । अमनोङ्गतरे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अपीड(ल)णया-अपीडनता-स्त्री० । पादाद्यनवगाहने, पा० ४० । ध० ।

अपीडिय-अपीडित-त्रि० । संयमतपःक्रियया आभवनिरोधाऽ-
नशनादिरूपतया पीरुयाऽदुःखिते, पं० सू० ४ सू० ।

अपुच्छिय-अपृष्ट-त्रि० । पृच्छामगते, “ अपुच्छिओ न भासि-
ज्जा, प्रासम, णस्स अंतरा । पिट्ठिमंसं न खाज्जा, मायामोसं
विज्जप ॥ ” दश० ७ अ० ।

अपुज्ज-अपूज्य-त्रि० । न० त० । अवन्दनीये, आव० ३ अ० ।

अपुष्ट-अपृष्ट-त्रि० । दुर्बले, वृ० ३ उ० । अपुष्कले, सूत्र० १
श्रु० १४ अ० ।

अपृष्ट-त्रि० । अङ्गीप्सिते, म० ३ श० १ उ० ।

अपुष्टधम्म-अपुष्टधर्म-पुं० । अपुष्टोऽपुष्कलः सम्यगपरिज्ञानो
धर्मः भूतचारित्राख्यो दुर्गतिप्रसूतजन्तुधरणस्वभावो येनासाव-
पुष्टधर्मा । अगीतार्थे, “ एवं नु सेहे वि अपुष्टधम्मे, धम्मं न जा-
णाइ अनुज्झमाणे ” सम्यगपरिणतधर्मपरमार्थे, सूत्र० १ श्रु०
१४ अ० ।

अपुष्टद्वामिय-अपृष्टद्वामिक-पुं० । न पृष्टद्वामिकोऽपृष्टद्वामि-
कः । हे साधो ! किं ते दीयते ! इत्यादिप्रश्नमन्तरेण भिक्षां लभ-
माने भिक्षाचरकभेदे, धर्मधर्मिणोरजेदोपचाराद् भिक्षाचर्या
भेदे च । औ० ।

अपुष्टवागरण-अपृष्टवाकरण-न० । अपृष्टे सति प्रतिपादने,
“ एयं सत्त्वं अपुष्टवागरणं नेयव्वं ” म० ३ श० १ व० ।

अपुष्टाद्वयण-अपुष्टाद्वयन-न० । अद्वैतापवादकारणे, प्रव०
३ द्वा० ।

अपुष्टाकरणसंगय-अपुनःकरणसंगत-त्रि० । पुनरिदं मिथ्याचर-
णं न करिष्यामीत्येवं निश्चयान्विते, पञ्चा० ११ वि० ।

अपुष्टाच्यव-अपुनश्च्यव-पुं० । न पुनश्च्यवनं व्यवोऽपुनश्च्यवः,
देवेभ्यश्च्युत्वा तिर्य्यगादिषूपत्यभावे, उक्त० ३ अ० ।

अपुणबंधय-अपुनर्वन्धक-पुं० । न पुनरपि बन्धो मोहनीय-
कर्मोत्कृष्टस्थितिवन्धनं यस्य स अपुनर्वन्धकः । पञ्चा० ३ वि० ।
भावसारे धर्माधिकारिभेदे, यो० वि० । यस्तु तां तथैव कृप-
यन् ग्रन्थिप्रदेशमागतः पुनर्न तां भङ्गयति त्रेत्यति च ग्रन्थि

दुःखविगमः । सर्वशरीरमानसाशमेविरहः, सर्वजीवलोकासा-
धारणानन्दानुभवश्चेति । ध० १ अधि० ।

अपवर्गवर्गीय-अपवर्गवर्गीज-न० । मोक्षस्य कारणे, पौ० ६ विव० ।

अप (प) वृत्त-अप्रवर्तन-न० । अप्रवृत्तौ, पञ्चा० ४ विव० ।

अपनाय-अपवाद-पुं० । द्वितीयपदे, नि० सू० २० उ० ।

अप (प) विन्न-अप्रवृत्त-त्रि० । तत्त्वतो व्यावृत्ते, पञ्चा० ४ विव० ।

अप (प) वित्ति-अप्रवृत्ति-स्त्री० । गाढं मनोवाङ्मयायामनव-
तारे, ध० १ अधि० ।

अप (प) संसणिज्ज-अप्रशंसनीय-त्रि० । साधुजनैः प्रशंसां
कर्तुमयोग्ये, तं० ।

अप (प) सञ्ज-अप्रसद-त्रि० । अप्रसूये, व्य० ७ उ० ।

अप (प) सञ्जपुरिसाणुग-अप्रसङ्गपुरुषानुग-त्रि० । अ-
प्रसृष्टपुरुषानुसारिणः, (व्य०) "गणिणी गुणसंपत्त्याऽपसङ्गपुरि-
साणुगा ।" व्य० २ उ० ।

अप (प) सत्य-अप्रशस्त-त्रि० । न० तं० । अशोभने, "अ-
पसत्ये संजने चयइ" भाव० ५ अ० । विशेष० । भ० । व्य० ।
अश्रेयसे, अनादेये, स्था० ३ उ० ३ उ० । वलवर्णादिनिमित्तं
प्रतिषेधेति, व्य० १० उ० ।

अपसत्यत्वेच-अप्रशस्तत्वेच-न० । शरीरादिकेच, नि० सू० १० उ० ।

अपसत्यद्वय-अप्रशस्तद्वय-न० । अस्थ्यादौ अशोभनद्वये,
नि० सू० ११ उ० ।

अपसत्यद्वेस्सा-अप्रशस्तत्वेरया-स्त्री० । कृष्णील्लकापोता-
स्तु तिस्रपु लेदयास्तु, उच० ३४ अ० ।

अपसत्यविहगगतिनाम-अप्रशस्तविहगगतिनामन्-न० । वि-
हायोगतिनामज्ज्ञे, यदुदयात्पुनरप्रशस्ता गतिर्भवति, यथा आदि-
रादीनां तदप्रशस्तविहायोगतिनाम । कर्म० ६ कर्म० ।

अपसारिया-अपसारिका-स्त्री० । पटाक्षिकायाम्, वृ० २ उ० ।

अपमु-अपशु-पुं० । न० व० । द्विपदचतुष्पदादि (परिग्रह) र-
हितं, "समणे भविस्सामि अणगारे भाकिचणे अपुत्ते अपस्
परदत्तजोगी" आचा० २ सु० ७ अ० १ उ० ॥

अपस्समाण-अपश्यत्-त्रि० । अनीकमाणे, "अपस्समाणे प-
स्सामि, देवे जक्खे य गुज्जणे ।" सं० ३० सम० ।

अपहिड-अप्रहृष्ट-त्रि० । अहसति, दश० ५ अ० २ उ० ।

अपहु-अप्रहृ-पुं० । मृतकादौ, ध० ३ अधि० ।

अपहुन्वत-अप्रहृवत्-त्रि० । अप्रभाववति, व्य० १० उ० ।

अपाइया-अपात्रिका-स्त्री० । पात्ररहितायास् (निर्ग्रन्थ्यास्),

निर्ग्रन्थ्या पात्ररहितया न भवितव्यम्-

नो कप्पइ निर्गन्धीए अपाइयाए हुंतए ।

नो कप्पते निर्ग्रन्थ्या अपात्रायाः पात्ररहिताया भवितुमिति
सूत्रार्थः ।

अथ प्राथम्यम्-

गोणे साणे व्व वते, ओभावण खिसणा कुलधरे य ।

गासइ खइय लज्जा, सुण्हाए होति दिहुंतो ॥

पात्रकमन्तरेण यत्र तत्र समुद्देशनीयम् । ततो लोको ह्याद् यथा-
गोत्रैव चारिं प्राप्नोति तत्रैवावेष्टा चरति । यथा वा भवानो यत्रैव
सद्व्यमन्याहारं लभते तत्रैव निरूपो भुङ्क्ते । एवमेता अपि गोभवान-
सद्व्ययो यत्रैव प्राप्नुवन्ति तत्रैव भुङ्क्ते । तथा लोकस्य पुरतः समु-
द्दिशन्ति-अहो ! आभिर्गोत्रतं भवान्मतं वा प्रतिपन्नं, एवं न प्रव्रजता
भवति । (खिसणा कुलधरे य चि) तास्तथा भुङ्क्षाना इष्ट्वा
तदीयकुलगृहे गत्वा लोकः खिसां कुर्यात् । यथा-युष्मदीया
कुहितरः स्तुपा वा याः पूर्वं चन्द्रसूर्यकिरणैरप्यस्पृष्टाणां तास्ताः
साम्प्रतं सर्वलोकपुरतो गाव इव चरन्त्यो हिएरन्ते । एवमुक्ते ते
चूयस्ताः स्वगृहमानयन्ति । 'नासइ' अत्यर्थं च आदितं भक्षणं
लोकस्य पुरतः सर्वासु कुर्वतीषु लोको ह्याद्-अहो ! बहुभक्षकाः,
अस्ति स्त्रीणां च लज्जा विभूषणं, सा चैतासां नास्तीति । अत्र च
लज्जायां स्तुपा दृष्टान्तो भवति । स च द्विधा-प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च ।
प्रशस्तं तावदाह-

उच्चासणम्मि सुण्हा, ए णिसीयइ णावि नासए उच्च ।

णावि पगासे जुंजइ, गिएहइ वि य ण नाम अप्पाणं ॥

यथा-स्तुपा यधुरस्यैरासने न निषीदति, नाप्येवं महता श-
ब्देन भाषते, न च प्रकाशे चूभागे हृङ्क्ते, आत्मीयं च नाम न
गृह्णाति न प्रकटयति, एवं संयतीतिरपि भवितव्यम् ।

अप्रशस्तस्तुपादृष्टान्तः पुनरयम्-

अहवा महापयार्णि, सुण्हा ससुरे य इक्कमेक्कस्स ।

दलमायेण विणासं, संजानातेण पावंति ॥

अथवा प्रकारान्तरेण स्तुपादृष्टान्तः क्रियते-महापदानि वि-
कृष्टतराणि पदानि, स्तुपा इव ह्युरस्यैकैकस्य, परस्परं प्रयच्छतो,
यथा लज्जानाथेन विनाशं प्राप्नुतः, तथा संयत्यपि निर्लज्जा
विनश्यतीत्युक्तार्थः । भावार्थस्त्वयम्-एगस्स धिज्जाइयस्स भ-
ज्जाए मयाए पुत्तेण से अट्टिया णिमायत्तिका ओगंगनीया-
णि इयरेहिं सुण्हाससुरेहिं हासखिइययं करेतेहिं निज्जल्लण-
ओ निस्संणिआ रुदिआ अतिघायपुव्वणं विगिहतरां पयाइं
देतेहिं एकमेक्कस्स सागारियं पडुप्पायं दो वि विण्णत्ताणि, एवं
निज्जल्लणं विणासो भुज्जा ।

द्वितीयपदमाह-

पायस्स वि तेण्हिए, भामिणं बूढे व सावयमए वा ।

बोहिमए खित्ता इव, अपाइया हुज्ज विइयपए ॥

पात्रस्यामात्रे स्तेनकतया हृते अग्निभावाद् ध्यामिते वक्रपू-
रेण क्लिप्ते पात्रे श्वापदजये बोधिकभये वा शीघ्रं पात्राणि परित्य-
ज्य नष्टा सती खिसखित्ता वा, आदिशब्दाद्यक्षाविष्टा वा अपा-
त्रिका पात्ररहिता द्वितीयपदे भवेत् । वृ० ५ उ० ।

अपात्रक-अपावृत-त्रि० । न विद्यते प्रावृतं प्रावरणं यस्ये-
त्यप्रावृतकः । स्था० ५ उ० १ उ० । औपक्षिकाद्युपरितनोपक-
रणरहिते, वृ० ५ उ० ।

अपाणय-अपानक-त्रि० । जालवर्जिते, अं० ३ वक्र० । चतु-

संज्ञेशाऽयोगतो भूयः पुनरपि, तीव्रसंज्ञेशाऽयोगेन कल्याणा-
कृतया च उत्तरोत्तरभववैराग्यादिकल्याणनिमित्तभावेन वा ।
यद्यस्माद् वर्तते या सा तस्मात्तात्त्विकी वास्तवरूपा, प्रकृतिः
स्वभावलक्षणा धर्माऽईजीवस्य ज्ञेया; तदन्या तु तस्या भ-
न्या पुनः प्रकृतिरुपचारत उपचारितरूपा तात्त्विकप्रकृति-
विद्यकणत्वात्तस्याः ।

एनां चाश्रित्य शास्त्रेषु, व्यवहारः प्रवर्तते ।

ततश्चाधिकृतं वस्तु, नान्यथेति स्थितं श्रुतः ॥ १८५ ॥

एनां चैनामेव तात्त्विकीं प्रकृतिं चाश्रित्यापेक्ष्य, शास्त्रेषु यो-
गप्रतिषेधेषु, व्यवहारः पूर्वसेवादिः, प्रवर्तते प्रज्ञापनीयतामेति ।
ततश्च तस्मादेव हेतोरधिकृतं पूर्वसेवालक्षणं वस्तु तात्त्विकं,
नान्यथा पुनर्वन्धकं व्यतिरिच्य इति स्थितं प्रतिष्ठितं, हि स्फु-
टम्, अद् एतत् ।

तथा-

शान्तोदात्तत्वमत्रैव, शुद्धानुष्ठानसाधनम् ।

सूक्ष्मभावोदसंयुक्तं, तत्त्वसंवेदनानुगम् ॥ १८६ ॥

शान्तस्तथाविधेन्द्रियकषायविकारविकलः, उदात्त उच्चोच्च-
तराद्याचरणस्थितिवद्भूतः । ततः शान्तश्चासावुदात्तश्च
शान्तोदात्तः, तस्य प्रावस्तत्त्वम् । अत्रैव प्रोक्तप्रकृतौ सत्यां, जा-
यते शुद्धाऽनुष्ठानसाधनं निरवद्याचरणकारणम् । तथा-सूक्ष्म-
भावोदसंयुक्तं बन्धमोक्षादिनिपुणभावपर्यालोचनयुतम् । अत
एव तत्त्वसंवेदनानुगं तत्त्वसंवेदनसंज्ञितज्ञानविशेषसमन्वितम् ।

ततः-

शान्तोदात्तः प्रकृत्येह, शुभजावाश्रयो मतः ।

धन्यो भोगसुखस्येव, विज्ञाढ्यो रूपवान् युवा ॥ १८७ ॥

शान्तोदात्त उक्तरूपः, प्रकृत्या स्वभावेनेह जने, शुभभावाश्रयः
परिशुद्धचित्तपरिणामस्थानं, मतो जन्तुः । अत्र दृष्टान्तमाह-
धन्यः सौभाग्यादेयतादिना धनार्हो भोगसुखस्येव शब्दरूपरस-
गन्धस्पर्शसेवालक्षणस्य यथाऽऽश्रयः, विज्ञाढ्यो विभवनायकः,
रूपवान् शुभशरीरसंस्थानः, युवा तरुणः पुमान् ।

एतदेव व्यतिरेकत आह-

अनीदृशस्य च यथा, न भोगसुखमुत्तमम् ।

अशान्तादेस्तथा शुद्धं, नानुष्ठानं कदाचन ॥ १८८ ॥

अनीदृशस्य च धन्यादिविशेषणविकलस्य पुनर्यथा न भोगसु-
खं शब्दादिविषयानुभवलक्षणम्, उत्तमं प्रकृतम्, अशान्तादेरशा-
न्तस्यानुदात्तस्य च । तथा भोगसुखवत्, शुद्धं निर्वाणान्वन्धवी-
जकल्पं नानुष्ठानं देवपूजनादि, कदाचन क्वचिदपि काले ।

तर्हि किं स्यात्?, इत्याशङ्क्याऽऽह-

मिथ्याविकल्परूपं तु, द्वयोर्द्वयमपि स्थितम् ।

स्वबुद्धिकल्पनाशिष्टि-निर्मितं न तु तत्त्वतः ॥ १८९ ॥

मिथ्याविकल्परूपं तु मरुमरीचिकादिषु सुगन्धसृगादीनां जला-
दिप्रतिभासाकारं, पुनर्द्वयोरुक्तविद्यकणयोर्भोगधार्मिकयोर्द्वय-
मपि भोगसुखानुष्ठानरूपं, किं पुनरेकैकमित्यपिशब्दार्थः । स्थितं

प्रतिष्ठितम् । किमुक्तं प्रवर्तते ?-स्वबुद्धिकल्पनाशिष्टिनिर्मितम् ।
स्वबुद्धिकल्पना स्वच्छन्दमतिविकल्परूपा, सैव शिल्पी वैज्ञानि-
कस्तेन निर्मितं घटितम् ; न तु न पुनस्तत्त्वतः परमार्थतस्त-
द्भोगसुखं धर्मानुष्ठानं चेति ।

तद्भावनाऽर्थमाह-

भोगाङ्गशक्तिवैकल्यं, दरिद्रायौवनस्थयोः ।

सुरूपरागाशङ्के च, कुरूपस्य स्वयोषिति ॥ १९० ॥

इह भोगाङ्गानि रूपादीनि । यदाह धात्स्यायनः-“रूपयोवै-
चकूपयसौभाग्यमाधुर्वैश्वर्याणि भोगसाधनम्” इति । तत्रापि रूप-
वयोविज्ञातत्वादिनि प्रधानानीति । एतदेव त्रितयमपेक्षयाऽऽह-
‘भोगाङ्गशक्तिवैकल्यं’ भोगाङ्गानां रूपादीनां, शक्तिर्भोगासेव-
नलक्षणाया वैकल्यमज्ञातः, दरिद्रायौवनस्थयोर्दरिद्रस्य भोगा-
ङ्गविरहोऽयौवनस्थस्य त्वशक्तिरिति । सुरूपरागाशङ्के च कुरूपे
भोगुमारब्धे स्त्रीगते सुन्दरे संस्थाने रागोऽभिष्वङ्गातिरेकः,
आशङ्का च स्त्रीगतानुरागसंदेहरूपा तस्मिन्, ततः कुरूपरागश्चा-
शङ्का च सुरूपरागाशङ्के, पुनः कुरूपस्य तु पुंसः स्वयोषिति
स्वस्त्रियामिति ।

ततश्च-

अभिमानसुखाभावे, तथा क्लिष्टान्तरात्मनः ।

अपायशक्तियोगाच्च, नहीत्यं भोगिनः सुखम् ॥ १९१ ॥

अभिमानसुखाभावे अहं सुखीत्येवं चित्तप्रतिपत्तिरुपलक्षण-
स्याभिमानसुखस्याभावे सति, तथेति विशेषणसमुच्चये । क्लिष्टा-
न्तरात्मनोऽप्युपमायेच्छत्वेन साध्याधचित्तस्यापायशक्तियोगाच्चा-
पायस्य निर्वाहशरीरव्यवच्छेदरूपस्य दरिद्रायौवनस्थयोः कुरूप-
स्य वा कश्चिमतस्त्रीकृतोच्छाटनादेर्यो शक्तियोग्यता, तस्या यो-
गात्संबन्धात्, चः समुच्चये । किम्?, इत्याह-नहि नैवेत्यमनाद्य-
त्वादिविशिष्टस्य भोगिनः सुखं भोगजं यद्विचक्षणैर्मृग्यत इति ।

यथा च तद्भोगसुखमनुष्ठानं च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावेन
स्यात्तां तथाऽऽह-

अतोऽन्यस्य तु धन्यादे-रिदमत्यन्तमुत्तमम् ।

यथा तथैव शान्तादेः, शुद्धानुष्ठानमित्यपि ॥ १९२ ॥

अतः प्रागुक्ताभोगिनः सकाशात्, अन्यस्य तु अन्यप्रकार-
माजः, पुनः धन्यादेरुक्तरूपस्य भोगिन इदं भोगसुखमत्यन्त-
मुत्तमं, शेषभोगसुखातिशायि यथा स्यात्तथैव, शान्तादेः शान्तो-
दात्तप्रकृतेरनुष्ठानं प्रस्तुतमित्यपीदमपि ज्ञेयम् ।

एवं सति यत्स्यात्तदाह-

क्रोधाद्यबाधितः शान्तः, उदात्तस्तु महाशयः ।

शुभानुबन्धिपुण्याच्च, विशिष्टमतिसंगतः ॥ १९३ ॥

क्रोधाद्यबाधितः शान्तः, उदात्तस्तु उदात्तः, पुनर्महाशयो
गाम्भीर्यादिगुणोपेतत्वेन महाचेताः, शुभानुबन्धिपुण्याच्च पु-
ण्यानुबन्धिनः पुण्यात्सकाशात्पुनर्विशिष्टमतिसंगतो मार्गा-
नुसारिप्रौढप्रज्ञानुगतः सन् ।

किमित्याह-

ऊहतेऽयमतः प्रायो, नवबीजादिगोचरम् ।

कान्ताऽऽदिगतगेयाऽऽदि, तथा भोगीव सुन्दरम् ॥ १९४ ॥

सोऽपुनर्वन्धक उच्यते । “ पावं ण तिच्चनावा कुणइ ” इति वचनान् । थ० ३ अधि० ।

एतद्वज्रं यथा—

पावं ण निव्वभावा. कुणइ ण बहुमन्नई भवं घोरं ।

उच्चिअट्ठिं च मेवइ, सन्नत्य वि अपुणवंधो ति ॥

पापमशुचं कर्म, नत्कारणत्वाच्चिन्साऽऽपि पापम् । तद् नैव तद्विनायाद् गाढमन्त्रिप्रपणिणामान्तराणि । अत्यन्तोत्कट-
निध्याग्यादिक्रयोपशमेन प्रत्याऽऽनर्तनमन्यविशेषतयात्तीव्रेति वि-
शेषणादापन्नम्—अर्न व्रमावात्करोत्यपि, तथाविधकर्मदोषात् । त-
था न यद् नन्यने न बहुमानविपर्ययो करोति, प्रवं संसारं, घोरं
रौद्रं, घोरत्वावगमात् । तथा—उच्चितास्थितिमनुरूपप्रतिपत्तिं, च
दाहः समुच्चये । सेवने भजने । कर्मज्ञाघवात्सर्वत्रापि, आस्तामेक-
ग्रन्थशकालावस्थापेक्षया सनस्तेष्वपि देवातिथिमातापितृप्रभृ-
निपु मार्गानुसारितानिमुखत्वेन मयूरशिथुदृष्टान्तादपुनर्वन्धकः,
उच्चिनयंचना जीव इत्येवंविधक्रियालिङ्गा भयतीत्यलं प्रस-
ङ्गेन । थ० १ अधि० । द्रा० ।

प्रकारान्तरेण—

जवाजिनन्दिदोषाणां, प्रतिपक्षगुणैर्युतः ।

वर्द्धमानगुणप्रायो, अपुनर्वन्धको मतः ॥ १७८ ॥

जवाजिनन्दिदोषाणां ‘जुजो लोभरतिर्दोषो मत्सरी’ इत्यादिना
प्रागर्थान्तराणां, प्रतिपक्षगुणैरनुवृत्तानिर्लोभनादिभिर्युतां, वर्द्धमा-
नगुणप्रायो वर्द्धमानाः शुक्लपक्षरूपापतिमएकलमिथ प्रतिपक्ष-
मुल्लसन्तो गुणा औदार्यदाक्षिण्यादयः, प्रायो बाहुल्येन यस्य
स तथा । अपुनर्वन्धको धर्माधिकारी मतोऽन्निप्रेतः ।

अस्यैषा मुख्यरूपा स्यात्, पूर्वमेवा यथोदिता ।

कल्याणाशययोगेन, शेषस्याप्युपचारतः ॥ १७९ ॥

अस्यापुनर्वन्धकस्यैषा प्रागुक्तमुख्यरूपा निरुपचारिता, स्यान्न-
चेत् । पूर्वसेवा देवादिपूजा रूपा, यथोदिता यत्रकारा निरूपिता
प्राक् । कल्याणाशययोगेन मनान् मुख्यनिकृञ्जगुणभावसंबन्धेन,
शेषस्यापुनर्वन्धकापेक्षया विशङ्कणस्य सकृद्वन्धकादेः, उपचारत
औपचारिकी पूर्वमेवा स्यात्, अद्यापि तथाविधभववैराग्या-
भावाच्चस्य ॥ १७९ ॥

इह केचिन्मार्गपतितमार्गाभिमुखावपि शेषशब्देनाहुः । तद्य
न युज्यते, अपुनर्वन्धकावस्थाविशेषरूपत्वाच्चयोरपुनर्वन्धकप्र-
हणेनैव गतत्वात् । यतो ललितविस्तरार्था मार्गलक्षणमित्यमु-
क्तम्—इह मार्गश्चेतसोऽवकगमनं, वृजङ्गमनलिकाऽऽयामनुल्यो
विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवाही क्रयोपशमविशेष
इति । तत्र प्रविष्टो मार्गपतितः मार्गप्रवेशयोग्यभावापन्नो मार्गा-
भिमुखः, एवं च नैतावपुनर्वन्धकावस्थायाः परपरतरावस्था-
भाजौ वक्तुमुचितौ, भगवदाज्ञावगमयोग्यतया पञ्चसूत्रकवृत्ताव-
नयोरुक्तत्वात् । यथोक्तं तत्र—इयं च भागवती सदाज्ञा सर्वैवा-
ऽपुनर्वन्धकादिगम्या । अपुनर्वन्धकादयो ये सत्त्वा उत्कृष्टां क-
र्मस्थितिं तथाऽपुनर्वन्धकत्वेन कृपयन्ति ते खल्वपुनर्वन्धकाः ।
आदिशब्दान्मार्गपतितमार्गाभिमुखादयः परिगृह्यन्ते, दृढप्रति-
ज्ञासोचनादिगम्यलिङ्गाः । एतद्वन्धकं न संसारान्ननिवृत्तिगम्येति ।
संसारोऽभिनन्दिनश्चापुनर्वन्धकप्रागवस्थाभाजो जीवा इति ।

ननुपचारितं वस्त्वैव न भवति, तत् कथमुपचारतः शेषस्य पू-
र्वसेवा स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

कृन्थास्या उपन्यासः, शेषापेक्षोऽपि कार्यतः ।

नासन्नोऽप्यस्य बाहुल्या—दन्यथैतत्प्रदर्शकः ॥ १८० ॥

कृतञ्च कृतः पुनरिह अस्याः पूर्वसेवायाः उपन्यासः प्रज्ञाप-
नारूपः शेषापेक्षोऽपि अपुनर्वन्धकजावासन्नजीवानाश्रित्य,
कार्यतो भाविनीं प्रावरूपां पूर्वसेवामपेक्ष्य नङ्गलोदकं पाद-
रोग इत्यादिदृष्टान्तात् । यतः, न नैवाऽऽसन्नोऽपि समीपवर्त्यपि,
जीवोऽस्यापुनर्वन्धकाभावस्य, किं पुनरप्यमेवेत्यपिशब्दार्थः । बा-
हुल्यात्प्रायेणान्यथाऽपुनर्वन्धाचारविलक्षणो वर्तते इत्येतस्या-
र्थस्य प्रदर्शको व्यापकः । न हि मृत्पिण्डादिकारणं कार्याद्
घटादेर्बाहुल्येन वैलक्षण्यमनुभवद् दृश्यते, किन्तु कथञ्चित्तु-
ल्यरूपतामिति ।

इदमेवाधिकृत्याह—

शुद्ध्यद्वाके यथा रत्नं, जात्यं काञ्चनमेव वा ।

गुणैः संयुज्यते चित्रै—स्तद्वात्माऽपि दृश्यताम् ॥ १८१ ॥

शुद्ध्यच्छुद्धिमनुभवत् चाप्युत्पुटपाकादिसंयोगेन, लोके व्य-
वहाराहजनमध्ये यथा रत्नं पद्मरागादि, जात्यमकृत्रिमं, का-
ञ्चनमेव वा चासीकरं वा, गुणैः कान्त्यादिभिः, संयुज्यते सं-
लिप्यति, चित्रैर्नानाविधैस्तदुचितैः, तद्वद् रत्नकाञ्चनवत्, आ-
त्माऽपि जीवः शुद्ध्यद्वा, किं पुनरत्नकाञ्चने ? इत्यपिशब्दार्थः ।
दृश्यताम्—ऊहापोहचक्षुषाऽवलोक्यतामिति ।

अत्रैव मतान्तरमाह—

तत्प्रकृत्यैव शेषस्य, केचिदेनां प्रचक्षते ।

आलोचनाद्यजावेन, तथाऽनाजोगसङ्गताम् ॥ १८२ ॥

सा यद्व्यमाणविशेषणानुरूपा या प्रकृतिः स्वभावस्तथा शेषस्य
सकृद्वन्धकादेः, केचित् शास्त्रकारा एतां पूर्वसेवां, प्रचक्षते व्या-
कुर्वते, न पुनः सर्वे । कीदृशीम् ? इत्याह—‘आज्ञोचनाद्यभावेन
आलोचनस्योदस्य, आदिशब्दादपोहस्य, निर्णयस्य, मार्गविषय-
स्याभावेन, तथाऽनाभोगसंगतां, तथा तत्प्रकारः, कथञ्चिदपि
भवस्वरूपाऽनिर्णायको योऽनाजोग उपयोगाभावस्तसंगतां
पूर्वकारणभावेनोपचारितत्वमुक्तमत्र चानाभोगद्वारेणेति ॥

एतदेव समर्थयमान आह—

युज्यते चैतदप्येवं, तीव्रं मज्जविषे न यत् ।

तदावेगो भवासङ्ग—स्तस्योच्चैर्विनिवर्तते ॥ १८३ ॥

युज्यते च घटत एवैतदप्यनन्तरोक्तं वस्तु, किं पुनः परस्परोक्त-
म् ? इत्यपिशब्दार्थः । एवं यथा केचित्प्रचक्षते । अत्र हेतुः—तीव्रस्य-
न्तमुत्कटे, मज्जविषे कर्मवन्धयोग्यताङ्गणे, न नैव, यद्यस्मात्,
तदावेगो मज्जविषावेगः । किंरूपः ? इत्याह—जवासङ्गः संसार-
प्रतिबन्धः, तस्य शेषजीवस्य, उच्चैरत्यन्तं, विनिवर्तते, मनागपि
हि तन्निवृत्तौ तस्यापुनर्वन्धकत्वमेव स्यात् इत्यौपचारिक्येव,
शेषस्य पूर्वस्यैवेति स्थितम् ॥

अथ यां प्रकृतिमाश्रित्य पूर्वसेवा स्यात्तां, तद्विपर्ययं चाऽऽह—

संक्षेपायोगतो ज्ञेयः, कल्याणाङ्गतया च यत् ।

तात्त्विकी प्रकृतिर्ज्ञेया, तदन्या तूपचारतः ॥ १८४ ॥

व्यभिचारी, प्रवर्तते समुन्मीलति । इदमुक्तं भवति-यथा भववी-
जादिगोचरमतिनिपुणमूहते, तथा क्रमेणात्मनः कर्मणा वियो-
गो घटत एवमप्यूहते इति ।

एवं सति यत्सिद्धं तदाह-

एवंलक्षणयुक्तस्य, प्रारम्भादेव चापरैः ।

योग उक्तोऽस्य विद्वद्भिर्गोपेन्द्रेण यथोदितम् ॥२००॥

एवंलक्षणयुक्तस्य पूर्वोक्तोहगुणसमन्वितस्य, प्रारम्भादेव प्रा-
रम्भमेव, पूर्वसेवावक्तव्यमाश्रित्य, अपरैस्तीर्थान्तररीयैर्योगो व-
क्ष्यमाणनिरुक्तः, उक्तोऽस्यापुनर्वन्धकस्य, विद्वद्भिर्विचक्षणैः,
गोपेन्द्रेण योगशास्त्रकृता, यथोदितं यत्प्रकारमिदं वस्तु, तथो-
दितमिति । यो० वि० ॥

पुनरपि—

शुक्लपक्षेन्दुवत्प्रायो, वर्द्धमानगुणः स्मृतः ।

नवाभिनन्दिदोषाणां-मपुनर्वन्धको व्यये ॥ १ ॥

अस्यैव पूर्वस्यैवोक्ता, मुख्याऽन्यस्योपचारतः ।

अस्यावस्थान्तरं मार्ग-पतिताभिमुखौ पुनः ॥ २ ॥

(शुक्लेति)शुक्लपक्षेन्दुवदुज्ज्वलपक्षचन्द्रवत्, प्रायो बाहुल्येन,
वर्द्धमानाः प्रतिकलमुल्लसन्तो, गुणा औदार्यदाक्षिण्यादयो य-
स्य भवाभिनन्दिदोषाणां प्रागुक्तानां कृत्वादीनां व्ययेऽपगमे
सत्यपुनर्वन्धकः स्मृतः ॥ १ ॥ (अस्यैवेति) अस्यैवापुनर्वन्धक-
स्यैवोक्ता गुर्वदिपूजालक्षणा पूर्वसेवा, मुख्या कल्याणाशययो-
गेन निरुपचरिता, अन्यस्यापुनर्वन्धकातिरिक्तस्य सकृद्वन्धका-
देः, पुनरुपचारतः सा, तथाविधप्रवचैराग्याभावात् । मार्गपति-
तमार्गभिमुखौ पुनरस्यापुनर्वन्धकस्य, अवस्थान्तरं दशाविशे-
परूपः, मार्गो हि चेतसोऽवकगमनं नृजङ्गमनविकाऽस्यामतुल्यो
विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसधाही कृत्योपशमविशेषः,
तत्र प्रविष्टो मार्गपतितो मार्गप्रवेशयोग्यभवत्त्वोपपन्नश्च मार्ग-
भिमुख इति । नद्येवमेतावपुनर्वन्धकावस्थयाः परतरावस्थानाजौ,
भगवदाज्ञावगमयोग्यतया पञ्चसूत्रकवृत्तावनयोरुक्तत्वात् ।

अपुनर्वन्धकस्यैवानुष्ठानं युक्तम्—

योग्यत्वेऽपि व्यवहितौ, परे त्वेतौ पृथग् जगुः ।

अन्यत्राप्युपचारस्तु, सामीप्ये बहुजेदतः ॥ ३ ॥

[योग्यत्वेऽपीति] परे त्वेतौ मार्गपतितमार्गाभिमुखौ योग्यत्वेऽ
पि व्यवहितावपुनर्वन्धकापेक्षया दूरस्थाविति, पृथगपुनर्वन्ध-
काङ्गिभौ जगुः । अन्यत्रापि सकृद्वन्धकादावपि, उपचारस्तु पु-
र्वसेवायाः सामीप्येऽपुनर्वन्धकसन्निधानलक्षणे सति, बहुमेदतोऽ
तिजेदाभावात् ॥ ३ ॥ द्वा० १४ द्वा० १ पं० सू० । र्वाजधान-
मपि ह्यपुनर्वन्धकस्य । नचास्यापि पुनरुपचारतः संसारः । (४०) न
होवं प्रवर्तमानो नेष्टसाधक इति भग्नोऽन्येतद्यत्तल्लिङ्गोऽपुनर्वन्धक
इति तं प्रत्युपदेशसाफल्यं नानिवृत्ताधिकारायां प्रकृतान्वेगमूत
इति कापिलाः । न वा पुनर्भवविपाक इति च सौगताः । अपुन-
र्वन्धकास्त्वैवच्युता इति जैनाः । तच्छ्रोतव्यमेतदादरेण परिमा-
वनीयम् । ल० ॥

अपुणवन्धव-अपुनर्जव-त्रि० । न० व० । पुनर्भवसम्भवरहिते,
यतः पुनर्जन्म न भवति, “सिद्धिगणितयं सासय-मन्वावाहं
अपुणवन्धं पसत्थं सोमं” (ब्रह्मचर्य्यं), ततः पुनर्भवसम्भवा-
भावात् । प्रश्न० १ आश्र० छा० ।

अपुणवन्धव-अपुनर्जव-त्रि० । अपुनस्तथाजायमाने, “अपु-
णवन्धवे सिया” अपुनर्जावं स्यात् कर्म, पुनस्तथाऽवन्धकत्वेन ।
पं० सं० १ द्वा० ।

अपुणरागम-अपुनरागम-त्रि० । नित्ये, जन्मादिरहिते चादश० १ सू० ।

अपुणरावत्तय-अपुनरावर्तक-पुं० । न० व० । अविद्यमानपुन-
र्भाववतादे, सिद्धिगत्याख्येऽर्थे, पुनर्भवबीजकर्माभावात्, तत्प्रा-
प्तानां पुनरजननात् । सं० १ सम० । औ० । “अपुनरावत्तयं
सिद्धिगणितयमधेयं त्रयं संपाविडकामेण” प्र० १ श० १ उ० ॥

अपुणरावित्ति-अपुनरावृत्ति-पुं० । न० । न पुनरावृत्तिः संसारे
ऽवतारो यस्मात् तत्तथा । सिद्ध्याख्येऽर्थे, ध० २ अधि० । रा० ।
पुनरावृत्त्यभावे, पं० सू० ।

“अतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः, क्षयं प्रयातः पुनरोत्ति चन्द्रमाः ।
गतं गतं नैव तु संनिवर्तते, जलं नदीनां च नृणां च जीवितम्” । १ ।
पं० सू० ५ सू० ।

“दग्धे बीजे यथा-अत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः

कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः” ॥ १ ॥ ल० ॥

अपुणरुत्त-अपुनरुक्त-त्रि० । न० त० । पुनरुक्तिदोषरहिते,

“अपुणरुत्तेहि महाविचेहि संयूषई” । रा० । जं० । भा० म० ।

“अनुवादादरवीप्सा-भृशार्थविनियोगहेत्वसुयासु ।

इयत्संभ्रमविस्मय-गणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम्” ॥ १ ॥ दर्श० ।

अपुणए-अपुणय-त्रि० । न० व० । अविद्यमानपुणये, विपा० १

सु० ७ अ० । तीव्रासातोदये वर्तमाने, “सामा णेरइयाणं, प-

वत्तयंती अपुण्णं” । सूत्र० १ सु० ५ अ० १ उ० । अनार्ये

पापाचारे, भावा० १ सु० ६ अ० १ उ० ।

अपूर्ण-त्रि० । पूर्णव्यतिरिक्ते, “अदृष्टं अधस्ता अपुष्ठा”

अपूर्णाः, अपूर्णमनोरथत्वात् । विपा० १ सु० ७ अ० ।

अपुणकल्प-अपूर्णकल्प-पुं० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुणकल्पिय-अपूर्णकल्पिक-पुं० । गीतार्थे असहाये,

व्य० १० उ० ।

अपुत्त-अपुत्र-त्रि० । न० व० । सुतरहिते, “अपुत्रस्य न सन्ति

लोकाः । (‘होगवाय’ शब्देऽस्य स्मरणं वक्ष्यते) । स्वजनवन्धुर-

हिते, निर्ममे च । आचा० २ सु० ६ अ० २ उ० ।

अपुम-अपुम्-पुं० । नपुंसके, ओघ० । वृ० । “अहमेत्तिप

अपुमं प्राणिओ परिसेवामि” नि० चू० १ उ० ।

अपुरस्कार-अपुरस्कार-पुं० । पुरस्करणं पुरस्कारः । गुणवा-

नयमिति गौरवाध्यारोपः, न तथाऽपुरस्कारः । अवज्ञास्पदत्वे,

“गरहणाय अपुरस्कारं जणयइ” उक्त० २६ अ० ।

अपुरस्कारगय-अपुरस्कारगत-त्रि० । अपुरस्कारं गतः प्राप्तोऽ-

पुरस्कारगतः । सर्वत्रावभाऽऽस्पदीचुते, उक्त० २६ अ० ।

अपुरव-अपूर्व-त्रि० । पूर्वमदृष्टते, ‘पूर्वस्य पुरवः’ । भा० २७० ॥

इति शौरसेन्यां पूर्वशब्दस्य पुरवेत्यादेशः । “अपुरवं नाद्वयं ।

अपुरवागदं । पक्वे-अपुवं पदं । अपुव्वागदं” । प्रा० ॥

अपुरिस-अपुरुष-पुं० । न पुरुषः । न० त० । नपुंसके, स्या० ६ ग० ।

ऊहते वितर्कयति, अयमपुणर्वन्धकः, अतो विशिष्टमनिसां-
गत्यात् प्रायो बहुव्येन । कथम् ? इत्याह—भववीजादिगोचरं भ-
ववीजं भवकारणम्; आदिशब्दाद्भवस्वरूपं भवफलं च गृह्यते ।
यथा—“एष णं अणाज्जीवे अणाज्जीवस्स भवे अणाइकम्म-
संयोगनिव्वत्तिप दुक्खस्से दुक्खफले दुक्खाणुवंधिप्ति” ततो
भववीजादिगोचरो यत्र तत्तथा, क्रियाविशेषणमेतत् । अथवा
भववीजादिगोचरो विषय ऊहनीयतया भववीजादिगोचरस्तम् ।
अत्र इष्टान्तः—कान्तादिगतगेयादि । कान्ता वल्लभा, आदिश-
ब्दाच्चदन्यागायनादिग्रहः । तत्रतं तत्प्रतिबद्धं यद् गेयं गीतम्,
आदिशब्दादृपरसादिशेषेन्द्रियविषयग्रहः । तथा तत्प्रकारो गे-
याद्युद्देश्यो भोगी, स इव सुन्दरं मनोहारीन्द्रियविषयस्थान-
मागममिति । यथा विचक्षणो भोगी सुन्दरं कान्तादिगतगेयादि
ऊहते तथाऽयं भववीजादिकमिति भावः ।

यथोहते तथैवाऽऽह—

प्रकृतर्जदयोगेन, नासमो नाम आत्मनः ।

हेत्वजेदादिदं चारु, न्यायमुद्राऽनुसारतः ॥ १९९ ॥

प्रकृतेः परपरिकल्पितायाः सत्त्वरजस्तमोरूपायाः, स्वप्रक्रिया-
याश्च ज्ञानावरणादिलक्षणायाः, भेदयोगेनैकान्तेनैव जेदेनेत्यर्थः ।
न नैवासमो विसदृशो, नामः परिणामश्चेतन्यश्चानोन्मीलनादि-
कः प्रत्यक्षत एवोपलभ्यमानः, आत्मनो जीवस्य स्यात्, किन्तु स-
र्वजीवानां सर्वदैव सम एव प्राप्नोति । कुतः ? इत्याह—हेत्वभे-
दात् । हेतोः प्रकृतिभेदलक्षणस्याभेदाद् नानात्वात् । नह्य-
भिन्ने हेतौ कचिदपि फलभेद उपपद्यत इति कृत्वा इदमेकान-
न्तेनैव प्रकृतिभेद आत्मनः परिणामवैसदृश्यासाङ्ग्यलक्षणं
वस्तु चारु संगतं वर्तते । कुतः ? इत्याह—न्यायमुद्राऽनुसा-
रतः, न्यायस्य मुद्रा कृतप्रयत्नेरपि परैरनुल्लङ्घनीयत्वाद् राजा-
दिमुद्रायत्त, तस्या अनुसारतोऽनुवर्तनात् । तथाहि—यदि प्रकृ-
तिभेदे सत्यपि परिणामनानात्वमात्मन इष्यते, तदा मुक्ताना-
मपि प्राप्नोति, संसारिणां मुक्तानामपि च प्रकृतिभेदविशेषात् ।

एवं च सर्वस्तद्योगा—दयमात्मा तथा तथा ।

भवे भवेदतः सर्व—प्राप्तिरस्याविरोधिनी ॥ १९६ ॥

एवं च प्रकृतिभेद आत्मनः परिणामनानात्वसाङ्ग्ये सति पुनः
किं स्यादित्याह—सर्वः निरवशेषः, तद्योगात्प्रकृतिसंयोगात्कथ-
ञ्चिदैक्यापत्तिलक्षणात्, अयम्—अपुणर्वन्धकाद्यवस्थाभाग्,
आत्मा जीवः, तथा तथा नरनारकादिपर्यायमाकृत्वेन भवे सं-
सारं, भवेत्स्यात् । अतस्तथा तथा भवनात् सर्वप्राप्तिः संसारा-
पवर्गावस्थालाभरूपाऽस्यात्मनोऽविरोधिनी अविघटमाना सं-
पद्यते । प्रकृतियोगात्तस्य संसारवस्था, विप्रयोगाच्च मुक्ता-
श्चस्थेति भावः ।

सांक्षिप्तिकमल्लाद यद्वा, न हेतोरस्ति सिद्धता ।

तज्जिह्वं यद्भेदेऽपि, तत्काशादिविभेदतः ॥ १९७ ॥

सांक्षिप्तिकमल्लात्कर्मबन्धयोग्यतालक्षणादनदिविभवात्वात्,
सांक्षिप्तिकमलं परिहृत्येत्यर्थः । यदेति ऊहस्यैव पक्षान्तरसू-
चकः । ‘न’ नैव, हेतोरन्यस्येश्वरानुग्रहादेः परिणामचित्रतायां
साध्यायां सिद्धता प्रमाणप्रतिष्ठिता । ईश्वरो हि अप्रतिस्कलित-
वैराग्यवान् । यतः पठ्यते—“ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जग-
त्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सह सिद्धं चतुष्टयम्” ॥ १ ॥

ततः कथमसौ कञ्चनानुगृहीयाच्चिगृहीयाद्वा ? किञ्चासौ योग्यता-
मपेक्ष्य प्रवर्तते, इतरथा वेति द्वयी गतिः । किं चातः ? यदि
प्रथमः पक्षः, तदा सैव योग्यता हेतुः, किमीश्वरानुग्रहनिग्रहा-
भ्याम् ? अथेतस्या, तदा सार्वत्रिकावेवानुग्रहनिग्रहौ स्यातां
न तु विभागेन, न वा कचित्, निमित्ताभावात् । यतः पठ्यते—
“नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् ॥

अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसंभवः” ॥ १ ॥ इति ॥

सांक्षिप्तिकमलमेवात्मनां परिणामवैचित्र्यहेतुः ।
तत्सांक्षिप्तिकमलं, भिन्नं नानारूपम्, यद्यस्मात्कारणात्,
अभेदेऽपि कथञ्चित्सामान्यरूपतया । एतदपि कुतः ? इत्याह—
तत्कालादिविभेदतः ते शास्त्रान्तरप्रसिद्धा ये कालादयः काल-
स्वभावनियतिपूर्वकृतपुरुषकारलक्षणा हेतवः सर्वजगत्यज-
नकाः, तेषां विभेदतो वैसदृश्यात् । इदमुक्तं भवति—काशादिभे-
दात्तत्सांक्षिप्तिकं मलमात्मना सह जेदाभेदवृत्ति सद्यतो ना-
नावृत्तं रूपं वर्तते, ततस्तद्वशादेव परिणामवैचित्र्यमात्मनाम-
नुपचरितमेवोपपद्यते, न पुनरीश्वरानुभावात् । प्रागुक्त्युक्त्या
तस्य निराकृतत्वात् ; इति वा चिन्तयत्यसाविति ॥

इदमेव समर्थयति—

विरोधिन्पि चैवं स्या—तथा लोकेऽपि दृश्यते ।

स्वरूपेतरहेतुज्यां, भेदादेः फलचित्रता ॥ १९८ ॥

विरोधिन्पि च विघटमानैव च सर्वाधंप्राप्तिरित्यनुवर्तते, न
पुनः कथञ्चिदपि विरोधिनी; एवं सांक्षिप्तिकमल्लादन्यहेत्वज्यु-
पगमे सति, स्यान्नचेत् । यथा च विरोधिनी सर्वप्राप्तिः, तथाऽ-
नन्तरमेव दर्शितेति । तथेति हेत्वन्तरसमुच्चये । लोकेऽपि, शास्त्रे
तावद्दर्शितैवेत्यपिशब्दार्थः । दृश्यते विज्ञाप्यते । स्वरूपेतरहेतु-
ज्यां स्वरूपेतरहेतुः परिणामिकारणम् । यथा—मृदघटस्य, इतरः
पुनर्निमित्तहेतुर्यथा—तस्यैव चक्रवीचरादि, ताभ्यां तावाभिलेख-
र्थः । जेदादेर्जेदादभेदाच्च, यथायोगं संबन्धात्स्वरूपहेतुमपेक्षया
जेदात्, इतरापेक्षया च भेदात् । किमित्याह—फलचित्रता कार्या-
णां नानारूपता । यदि हि मृन्मात्रक एव घटः स्यात्तदा सर्वघ-
टानां मृन्मयत्वाविशेषादेकाकारतैव स्यात् । तथा बाह्यामत्र-
निमित्तत्वे परिणामिकारणविरोधेन कर्मरोमादेरिव न कस्यचि-
त्कार्योऽस्योत्पत्तिः स्यादिति । स्वरूपेतरहेतु समाभिलेखाभेदवृ-
त्त्या भेदवृत्त्या च कार्यमुत्पद्यमानं चित्ररूपतां प्रतिपद्यते । एवं
च सांक्षिप्तिके मले सर्वजीवानां परिणामिकारणे सति तत्का-
लादिबाह्यकारणसव्यपेक्षतायां चित्रकर्मबन्धकानां नानापरि-
णामप्राप्त्या सर्वो लोकः शास्त्रप्रसिद्धो नरनारकादिपर्यायः,
तदुप्रासात् पुनरपुणर्वन्धकत्वादि यावत्सर्वकलेशग्रहाणि लक्षणा
मुक्तिरिति सर्वमनुपचरितमुपपद्यत इत्युहते इति ॥

ततः किमित्याह—

एवमूहप्रधानस्य, प्रायो मार्गानुसारिणः ।

एतद्वियोगविषयोऽप्येष सम्यक् प्रवर्तते ॥ १९९ ॥

एवमुक्तरूपेण ऊहप्रधानस्य वितर्कसारस्य, प्रायो बहुव्येन,
मार्गानुसारिणो निर्वाणपथानुकूलस्यापुणर्वन्धकत्वेन कचिद-
न्यथाऽपि प्रवृत्तिरस्य स्यादिति प्रायो ग्रहणम् । एतद्वियो-
गविषयोऽपि आत्मना सह प्रकृतिविघटनगोचरः, किं पुनर्भ-
ववीजादिगोचर इत्यपिशब्दार्थः । एष ऊहः, सम्यग्गृहीतार्था-

अपेय-अपेय-त्रि० । मद्यमांसरसादिके (पातुमनहं), नि०
चू० २ उ० ।

अपेयचक्रु-अपेतचक्रु-त्रि० । होचनरहिते, वृ० १ उ० ।

अपेहय-अपेहक-त्रि० । अपेक्षिणि, निर्जरापेक्षिकर्मकृपापे-
क्षक इति । आव० ४ अ० ।

अपोगल-अपुद्रल-पुं० । न विद्यन्ते पुद्रला येषां तेऽपुद्रलाः
सिद्धाः । पुद्रलरहिते, स्था० ३ ग० १ उ० ।

अपोरितिय-अपौरुषिक-त्रि० । पुरुषः प्रमाणमस्येति पौरुषि-
कम् ; तन्निषेधादपौरुषिकम् । पुरुषप्रमाणाभ्यधिकेऽगाधजला-
दौ, ' अथाहमपोरिसियं पक्षिष्वेज्जा ' ज्ञा० ५ अ० ।

अपोरिसीय-अपौरुषेय-त्रि० । पुरुषः परिमाणं यस्य तत्पौ-
रुषेयं, तन्निषेधादपौरुषेयम् । पुरुषप्रमाणाभ्यधिकेऽगाधे जलादौ
" अथाहमतारमपोरिसीयं ति " ज्ञा० १४ अ० । पुरुषेणाकृते
वचने, अपौरुषेयो वेदः, वेदकारणस्याभूयमाणात्वात् । स्था० १०
ग० । ल० । पं० व० । नं० । (वेदानामपौरुषेयत्वविमर्शः ' आगम'
शब्दे द्वितीयभागे ५३ पृष्ठे प्रतिपादयिष्यते)

अपोह-अपोह-पुं० । अपोहनमपोहः । निश्चये, " होह अपोहो
वाओ " । अपोहस्तावत् किमुच्यते ? , इत्याह-अपोहो भवत्य-
पायः । योऽयमपोहः स मतिज्ञानतृतीयभेदोऽपाय इत्यर्थः ।
विशे० । नं० । उक्तिपुक्तिभ्यां विरुद्धादर्याद् हिंसादिकात्
प्रत्यपायव्याप्यत्वेन विशेषज्ञाने, (घ०) एष पष्ठो बुद्धिरुणः ।
अ० १ अधि० । पृथग्भावे, तत्स्वरूपायां प्रतिशेखनायां च तथा
चक्रुया निरूपयति यदि तत्र सर्वसम्भवो भवति, तत उद्धारं
करोति सत्त्वानामन्यज्ञोमे सति, स चापोहः प्रतिशेखना नवति ।
ओष० । बौद्धाजिमतो वादविशेषे, तथाहि-अपोहवादिना बु-
द्ध्याकारो बाह्यरूपतया गृहीतः शब्दार्थ इतीष्यते । यथो-
क्तम्- " तद्व्याऽऽरोपगत्याऽन्य-व्यावृत्त्यधिगतैः पुनः । शब्दा-
र्थोऽर्थः स एवेति, वचनेन विरुध्यते " ॥ १ ॥ इति । सम्म० २ ।
काण्ड । (विशेषस्तु शब्दार्थनिरूपणावसरे ' सहृत्थ ' शब्देऽपोह
विचारो रुष्टव्यः)

अप्प-अल्प-त्रि० । स्तोके, सूत्र० १ भु० ५ अ० २ उ० । आ-
वा० । पिं० । प्रज्ञा० । औ० । प्रश्न० । आव० । स्या० । चं० प्र० ।
नि० चू० । आ० चू० । अभावे, आचा० १ भु० ८ अ० ६ उ० ।
उत्त० । अनु० । आ० म० । रा० । अल्पशब्दो भाववाचकः ।
स्था० ७ ग० । वृ० ।

अप्प (अ)-आत्प्रन्-पुं० । अत सातत्यगमने । अतति सततं ग-
च्छति विशुद्धिसंक्लेशात्मकपरिणामान्तराणां त्यात्मा । उत्त० १ अ० ।
आ० चू० । अत् मनित्, प्राकृते- " भस्मात्मनोः पो वा " ८ । २ ।
५१ । इति सूत्रेण संयुक्तस्य वा पः । प्रा० । जीवे, यत्ने, मन-
सि, वृत्तौ, बुद्धौ, अर्के, वन्द्यौ, वायौ, स्वरूपे च । " अप्पणा चेव
हदीरेह " आत्मना स्वयमेव । म० १ श० ३ उ० । " अप्पणा अप्प-
णो कम्मक्खयं करित्तप " आत्मनाऽऽत्मनः कर्मक्षयं कर्तुमिति ।
ज्ञा० ५ अ० । आ० चा० । " अप्पणो भासाप परिणामेण " ।
स्वभाषापरिणामेनेत्यर्थः । उत्त० २ अ० । " अप्पणा णई वेतर-
णो, अप्पणा मे कूरुसामली " उत्त० २० अ० । देहे, आत्मन आ-
धारभूतत्वात् । उत्त० ३ अ० । (अस्मिन्नेव भागे ' अणाह ' शब्दे ३१५ पृष्ठे व्याख्यातमेतत्)

अप्पउद्धदुप्पउद्धतुच्छजक्खणय-अपकदुप्पकतुच्छजक्खणक-
न० । अपकं अग्निना संस्कृतं, दुष्पकं चार्कस्विन्नं तुच्छं च निः-
सारमिति द्वन्द्वः । तेषां, धान्यानामिति गम्यम् । भक्षणमद-
नं तदेव स्वार्थिके कप्रत्यये सति अपकदुष्पकतुच्छभक्षणकम् ।
भोगपरिभोगोपभोगवृत्तातिचारे, पञ्चा० १ विव० ॥

अप्पआयण-अप्रयोजन-न० । अप्रयोजने निष्कारणतायाम्,
अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयोगो निष्कारणतेति पर्यायाः । आव०
६ अ० ।

अप्पंरु-अन्पाएरु-त्रि० । अल्पान्यएरुानि कीटकादीनां यत्र
तदल्पारुम् । अल्पशब्दोऽत्राभावे वर्तते । अपरुकरहिते,
आचा० १ भु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्पकंप-अप्रकम्प-त्रि० । अविचक्षितसत्त्वे, " मंदरो इव अप्प-
कंपे " मेरुरिवानुकूलानुपसर्गैरविचलितसत्त्वः । स्था० १० ग० ।

अप्पकम्प-अल्पकर्मन्-त्रि० । लघुकर्मणि, स्था० ४ ग० ।
३ उ० ।

अप्पकम्मतर-अल्पकर्मतर-त्रि० । स्तोककर्मतरे, अकर्मतरे
च । " इंगालभूय मुम्मुरज्जुप छारियज्जुप तओ पच्छा अप्पकम्म-
तराप चेव " अङ्गाराद्यवस्थामाश्रित्याल्पशब्दः स्तोकार्थः । क्षारा-
वस्थायां त्वजावार्थः । म० ५ श० ६ उ० । नैरयिका ये नरकेषु
उत्पन्नास्तेषु, (के महाकर्मतराः ? , केऽल्पकर्मतराः ? , इति
' उववाय ' शब्दे द्वितीयभागे १८० पृष्ठेऽवलोकनीयम्)

अप्पकम्मपच्चायाय-अल्पकर्मप्रत्यायात-त्रि० । अल्पैः स्तोकेः
कर्मभिः करणज्रतैः प्रत्यायातः प्रत्यागतो मानुषत्वमिति अल्प-
कर्मप्रत्यायातः । एकत्र जनितत्वात्ततोऽल्पकर्मा सन् यः प्रत्या-
यातः स तथा । लघुकर्मतयोत्पत्ते, स्था० ४ ग० १ उ० ।

अप्पकाल-अल्पकाल-त्रि० । अल्पः कालो यस्य तदल्पकालम् ।
इत्वरकाहे, अनु० ।

अप्पाकिरिय-अल्पक्रिय-त्रि० । लघुक्रिये, स्था० ४ ग० ३ उ० ।

अप्पाकिरिया-अल्पक्रिया-स्त्री० । निरवद्यायां वसतौ, पं० व०
३ द्वा० ।

जा पुण जहुत्तदोसे-हिं वज्जिया कारिया सअट्ठाए ।

परिकम्मविप्पमुक्का, सा वसही अप्पाकिरियाओ ॥

या पुनर्यथोक्तदोषैः काष्ठातिक्रान्तादिलक्षणैर्वर्जिता केवलं
स्वस्यात्मनोऽर्थाय कारिता परिकर्मेणा च विप्रमुक्ताः सर्वस्यापि
परिकर्मणः स्वत एवाग्रे प्रवर्तितत्वात्, सा वसतिरल्पाक्रिया
वेदितव्या ।

सम्प्रति यतनौ दर्शयितुकाम इदमाह-

हिद्विह्वा उवरिह्वा-हिं वाहिया न उ लज्जंति पाहं ।

पुव्वाण्णाऽज्जिण्णं, चउमु भय पच्छिमाऽभिनवा ॥

अधस्तन्य उपरितनाभिर्वाच्यन्ते, बाधिताश्च सत्यो न तु नैव, हजन्ते
प्राधान्यम् । इयमत्र भावना-नवाऽपि वसतयः क्रमणे स्थाप्यन्ते
तत्रालपक्रिया निर्दोषेति प्रथमम् । तद्यथा-अल्पक्रिया, कालाति-
क्रान्ता, उपस्थाना, अभिक्रान्ता, अनभिक्रान्ता, वर्ज्या, महावर्ज्या,
सावद्या, महासावद्या च । अत्राशस्तनी अल्पक्रिया, अस्यां यदि

अपुरिमकारपरकम-अपुरुपाकारपराक्रम-त्रि० । न० व० । पुरुपाकारः पराक्रमश्च न विद्यते यस्य सोऽपुरुपाकारपराक्रमः । अनिष्पादितप्रयोजनेन निष्पादि-योजनेन वा पौरुषानिमानेन रहिते, विपा० १ शु० ३ अ० । म० ।

अपुरिमवाय-अपुरुषवाद-(त्रि०)-पुं० । स्त्री० । अपुरुषो नपुंसक-स्तद्वादः, चाग्रा । वृ० ६ उ० । नपुंसकोऽन्यन्त्येवंचार्तायाम्, "अपुरिसचायं वयमाणे, दासचायं वयमाणे, इष्येइ कथस्स" द्वितीयः प्रस्तारः । (व्याख्याऽन्यत्र) । स्था० ६ ग० ।

अपुरोहित्य-अपुरोहित-त्रि० । नास्ति पुरोहितो यत्र । शान्तिक-मंकारिरहिते, यत्र तथाविधप्रयोजनाभावात् पुरोहितो नास्ति । म० ३ श० १ व० ।

अपुव्व-अपूर्व-त्रि० । न० त० । अजिनवे अनन्यसदृशे, प्रव० २२४ द्वा० । प्रति० । अवृत्तपूर्व, आ० म० द्वि० । अपूर्वकरणे, आ० ४ अ० द्वा० ॥

अपुव्वकरण-अपूर्वकरण-न० । अपूर्वामपूर्वा क्रियां गच्छती-न्दपूर्वकरणम् । तत्र च प्रथमसमय एव स्थितिघातरसघात-गुणश्रेणिगुणसंक्रमाः, अन्यच्च स्थितिवन्धः, इत्येते पञ्चाप्य-धिकारा यौगपद्येन पूर्वमप्रवृत्ताः प्रवर्तन्ते इत्यपूर्वकरणम् । आचा० १ पु० ए अ० १ व० । प्रमासं पूर्वमपूर्वस्य, स्थितिघात-रसघाताद्यपूर्वार्थनिर्वर्तनं वा । अपूर्वं च तत्करणं च अपूर्वक-रणम् । नव्यानां सन्त्यक्तत्वाद्यनुगुणे विशुद्धतरूपे परिणामवि-शेषे, आ० म० प्र० । पञ्चा० । वृ० । यो० । ('करण' शब्दे तृतीय-जगते ३५६ पृष्ठे व्याख्यास्यते चैतत्) अपूर्वमजिनवं प्रथममि-त्यर्थः । करणं स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसंक्रमस्थिति-स्थानां पञ्चानामर्थानां निर्वर्तनं यस्यासायपूर्वकरणः । अष्टमगुणस्थानकं प्रतिपद्ये जीवे, कर्म० । तथाहि-बृहत्प्रमाणाय ज्ञानावरणायादिकर्मस्थितेरपर्वतनाकरणेन अणुननल्यीकरणं स्थितिघात उच्यते । रसस्थापि प्रचुरीभूतस्य सतोऽपवर्तनाकरणेन खरुननमल्यीकरणं रसघात उच्यते । एतौ द्वावपि पूर्वगुणस्थानेषु विशुद्धेरन्पत्वादुत्पादेव कृतवान् । अपु-पुनर्विशुद्धेः प्रकृष्टत्वाद् बृहत्प्रमाणतया अपूर्वाविमो करोति । तथा उपरितनस्थितेर्विशुद्धिचशदपवर्तनाकरणेनावतारितस्य दलिकस्यातमुद्धतप्रमाणमुद्यत्तणदुपरि क्षिप्रतरक्पणाय प्र-तिक्षणमसंबन्धेयगुणवृद्ध्या विरचनं गुणश्रेणिः । स्थापना-एतां च पूर्वगुणस्थानेष्वविशुद्धत्वात् कालतो जाधीयसीं दलिकर-चनामाश्रित्याप्रथीयसीमल्पदलिकस्यापवर्तनाद्विरचितवान् । इह तु तामेव विशुद्धत्वादपूर्वा कालतो ह्रस्वतरां दलिकरचनामाश्रि-त्य पुनः पुन्युतरां बहुतरदलिकस्यापवर्तनाद् विरचयतीति । तथा वध्यमानशुभप्रकृतिष्ववध्यमानाशुभप्रकृतिद्विशिकस्य । प्रतिक्षण-मसंबन्धेयगुणवृद्ध्या विशुद्धिचशानयनं गुणसंक्रमः । तमप्यसा-विहापूर्वं करोति । तथा स्थिति कर्मणामगुद्धत्वात् प्राग्जाधी-यसीं वच्छवान्, इह तु तामपूर्वा विशुद्धत्वादेव हसीयसीं व-भ्नातीति (स्थितिवन्धः) । अयं चापूर्वकरणो द्विधो-क्षपकः, उपशमकश्च । क्षपणोपशमनार्हत्वाच्चैवमुच्यते ; राज्याहंकुमा-रगजवत् । न पुनरसौ क्षपयत्युपशमयति वा । कर्म० २ कर्म० । प्रव० । पं० सं० । दर्श० । अष्ट० । आचा० ।

अपुव्वकरणगुणद्वानग-अपूर्वकरणगुणस्थानक-न० । अपु-र्वकरणस्य गुणस्थानकमपूर्वकरणगुणस्थानकम् । अष्टमगुण-

स्थानके, प्रव० २२४ द्वा० । एतच्च गुणस्थानकं प्रपन्नानां का-लत्रयवर्तिनो नानाजीवानपेक्ष्य सामान्यतोऽसंबन्धेयलोकाकाश-प्रदेशप्रमाणाप्यवसायस्थानानि भवन्ति । कथं पुनस्तानि प्रवन्तीति विनेयजनानुग्रहार्थं विशेषतोऽपि प्रकृत्यन्ते-इह ताव-दिदं गुणस्थानकमन्तमुद्धतकालप्रमाणं भवति । तत्र च प्रथम-समयेऽपि ये प्रपन्नाः, प्रपद्यन्ते, प्रपत्स्यन्ते, च तदपेक्षया जघ-न्यादीन्युत्कृष्टान्तान्यसंबन्धेयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाप्यवसाय-स्थानानि लज्यन्ते, प्रतिपन्नृणां बहुत्वादध्यवसायानां च विचि-त्रत्वादिति भावनीयम् । ननु यदि कालत्रयापेक्षा क्रियते तदै-तद् गुणस्थानकं प्रतिपन्नानामनन्तान्यध्यवसायस्थानानि कस्याच्च भवन्ति ? अनन्तजीवैरस्य प्रतिपन्नत्वादनन्तैरेव च प्रतिपत्स्यमा-नत्वादिति । सत्यम् । स्यादेवं यदि तत्प्रतिपन्नृणां सर्वेषां पृथक् पृथक् भिन्नान्येवाध्यवसायस्थानानि स्युः, तच्च नास्ति, बहुनामेका-ध्यवसायस्थानवर्तितादपरीति । ततो द्वितीयसमये तदन्यान्य-धिकतराण्यध्यवसायस्थानानि लज्यन्ते । तृतीयसमये तदन्या-न्यधिकतराणि । चतुर्थसमये तदन्यान्यधिकतराणीत्येवं तावन्ने-यं यावच्चरमसमयः । एतानि च स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमभिव्याप्नुवन्ति । तद्यथा-४००००००० अत्र प्रथमसमयज-घन्याध्यवसायस्थानात्प्रथमसमयोत्कृष्टमध्यवसायस्थानमनन्त-गुणविशुद्धम्, तस्माच्च द्वितीयसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम्, ततोऽपि त्रितीय-३०००००० समयजघन्यात्तदुत्कृष्टमनन्तगु-णविशुद्धम्, तस्माच्च-तृतीय-२००००० समयजघन्यमनन्तगु-णविशुद्धम् । ततोऽपि तदुत्कृष्ट-१०००० मनन्तगुणविशुद्धमि-त्येवं तावन्नेयं यावच्चिचरमसमयोत्कृष्टात् चरमसमय-जघन्यमनन्तगुणविशुद्धम् ; ततोऽपि तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्ध-मिति । एकसमयगतानि चामून्यध्यवसायस्थानानि परस्परम-नन्तभागवृद्धसप्तपातभागवृद्धिसदृशपातभागवृद्धिसंबन्धेयगुणवृ-द्धसंबन्धेयगुणवृद्धमनन्तगुणवृद्धिरूपपदस्थानकपतितानि । युग-पदेतद् गुणस्थानप्रविष्टानां च परस्परमध्यवसायस्थानव्यावृत्ति-लक्षणा निवृत्तिरप्यस्तीति निवृत्तिगुणस्थानकमप्येतदुच्यते । अ-त एवोक्तं सूत्रे-"नियद्वि अनियद्वीत्यादि" । कर्म० १ कर्म० । प्रव० ।

अपुव्वगुणग्राहण-अपूर्वज्ञानग्रहण-न० । अपूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तरं ग्रहणमपूर्वज्ञानग्रहणम् । तथाष्टादशं तीर्थकरनामकर्म-वन्धकारणम् । अपूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तरं ग्रहणे, आ० म० प्र० । प्रव० ।

अपु (पु) स्मृत्य-अल्पोत्सुक-त्रि० । अविमनस्के, आचा० २ शु० ३ अ० १ व० ।

अपुद्गत्-अपृथक्त्व-त्रि० । अविद्यमानं पृथक्त्वं प्रस्तावात्सं-यमयोगेज्यो विमुक्तवस्वरूपं यस्यासावपृथक्त्वः । सदा संयम-योगवति, (उच०) संयमयोगेज्योऽग्निश्रे, (उच०) "अपुहत्ते सुप्यणिहिय विहरत्" उच० ३६ अ० ।

अपुहत्ताणुभोग-अपृथक्त्वानुयोग-पुं० । अनुयोगमेदे, यत्रैकसि-धेव सूत्रे सर्वे एव चरणादयः प्रकृत्यन्ते, अनन्तागमपर्यायत्वात् सूत्रस्य । दश० १ अ० ।

अपूया-अपूजा-स्त्री० । पूजामावे, "पूयाऽपूया हियाऽहिया" स्था० ५ ग० ३ उ० ।

अपूरत-अपूरयत्-त्रि० । अनाचरति, आ० म० द्वि० ।

नादिषु अविद्यमानकौतूहले, अल्पशब्दस्येहाविद्यमानार्थत्वात् ।
वृ० ३ उ० ।

अप्यकोह-अल्पक्रोध-पुं० । अविद्यमानकपायजेदे, प्रावाव-
मोदरिकां प्रतिपत्ते, औ० ।

अप्यक्खर-अल्पाक्षर-न० । अल्पान्यक्षराणि यस्मिन्स्तदल्पा-
क्षरम् । औ० । मिताक्षरे, गुणवर्ति सूत्रे, यथा सामायिकसूत्रम् ।
अप्रचूताक्षरे, विशेष० । औ० । अनु० । आ० म० । “अप्यक्खरं
महत्तमं अणुगहत्तमं सुविहियानं” ओघ० ।

अप्यक्खरं महत्तमं, महक्खर-अप्यस्थ दोसु वि महत्तमं ।

दोसु वि अप्यं च तथा, जणियं सत्यं च लवियप्पं।?३॥

अत्र च चतुर्भङ्गिका-अप्यक्खरं ति अल्पान्यक्षराणि यस्मिन् तद-
ल्पाक्षरं, स्तोकाक्षरमित्यर्थः । (महत्तमं चि) महानर्थो यस्मिन् तत्
महार्थं, प्रचूतार्थमित्यर्थः । तत्रैकं शास्त्रं अल्पाक्षरं प्रवर्ति महार्थं च,
प्रथमो भङ्गः । अथवाऽन्यत्किञ्चन भवति ? (महक्खर-अप्यस्थ)
महाक्षरं, प्रचूताक्षरं भवतीति हृदयम् । अल्पार्थं, स्वल्पार्थ-
मिति हृदयम्, द्वितीयो भङ्गः । अथवाऽन्यत्किञ्चन भवति ?
(दोसु वि महत्तमं) द्वयोरपीति अक्षरार्थयोः भूतत्वादक्षराथो-
न्नयं परिगृह्यते । एतदुक्तं भवति-प्रचूताक्षरं प्रचूतार्थं च, तृती-
यो भङ्गः । तथाऽन्यत् किञ्चन भवति ? इत्याह- (दोसु वि अप्यं च
तथा) द्वयोरपि अल्पम्, अक्षरार्थयोः । एतदुक्तं भवति-अल्पाक्ष-
रमल्पार्थं चेति । तथेति-तेन आगमोक्तप्रकारेण, प्रणितमुक्तं,
शास्त्रं, चतुर्विधकल्पं चतुर्विधमित्यर्थः ।

अधुना चतुर्णामपि भङ्गिकानामुदाहरणदर्शनार्थमियं गाथा-
सामायारी ओहे, णायज्झयणा य दिट्ठिवाओ य ।

लोइय कयासादि अणु-कमा य पकरेति कारणा चउरो।?४।

ओघसामाचारो प्रथमभङ्गके उदाहरणं भवति । ततः प्रचूता-
क्षरत्वमल्पार्थं चेति द्वितीयक्रमः । ज्ञाताध्ययनादिपद्याङ्गे प्रथम-
भूतस्कन्धे तेषु कथानकान्युच्यन्ते । ततः प्रचूताक्षरत्वमल्पार्थं
चेति द्वितीयभङ्गके ज्ञाताध्ययनान्युदाहरणम् । चशब्दादन्यच्च
यदस्यां कोटौ व्यवस्थितम् । इष्टिवादश्च तृतीयभङ्गके उदाहरणम् ।
यतोऽसौ प्रचूताक्षरः प्रचूतार्थश्च, चशब्दात्तदेकदेशोऽपि । चतु-
र्भङ्गोदाहरणप्रतिपादनार्थमाह- (लोइय कयासादि चि) लौकिकं
चतुर्भङ्गोदाहरणम्, किञ्चन ? , कयासादि । आदिशब्दाच्छिव-
भक्षादिग्रहः । (अणुकम चि) अनुक्रममिति । अनुक्रमेण परिपा-
ठ्येवं तृतीयार्थं पञ्चमी । कारकाणि कुर्वन्तीति कारकाण्युदाह-
णान्युच्यन्ते । चत्वार्येति । यथासंख्येनैवेति । ओघ० ।

अप्यग-आत्मन्-पुं० । स्वस्मिन्, “जइ अप्यगं न साहयमि
तो कहं अन्नं विणिमगो नगराओ” । अव० ४ अ० । आचा० ।
सूत्र० । प्रश्न० ।

अप्यगास-अप्रकाश-पुं० । अन्धकारे, नि० चू० १ उ० ।

अप्यगुत्ता-देशी-कपिकञ्चाम, दे० ना० १ वर्ग ।

अप्यचित्तय-आत्मचिन्तक-पुं० । अभ्युद्यतमरणं वा प्रतिपत्तुं
निश्चिते, व्य० १० उ० ।

अप्यजंदमइ-अल्पच्छन्दमति-त्रि० । आत्मच्छन्दा अत्मायत्ता
मातेर्यस्य कार्येष्वसावात्मच्छन्दमतिः । स्वान्निप्रायकार्यकारिणि,
“कस्स न होही वेसो, अणुवुवगतो निरुवगारी य । अप्यच्छ-
न्दमइ तो, पडियतो गुंतुकामो य” ॥ आ० म० प्र० । विशेष० ।

अप्यज्ज-अ-आत्मज्ञ-त्रि० । आत्मानं जानातीति आत्मज्ञः ।

“ओ अः” ८।२ । ८३ । इति सूत्रेण अस्य वा युक्तं । याथार्थ्येना-
त्मतत्त्वज्ञातरि, प्रा० । अपरायत्ते, नि० चू० १ उ० ।

अप्यज्जोइ-आत्मज्योतिष्-पुं० । आत्मैव ज्योतिरस्य सोऽयमा-
त्मज्योतिः । ज्ञानात्मके पुरुषे, वेदे ह्ययं पुरुष आत्मज्योतिश्चेना-
भिधीयते ।

अत्यमिप् आइचे, चंदे संतासु अग्गिवायासु ।

किं जोइरयं पुरिसो ? , अप्यज्जोइ चि णिदिट्ठो ॥

अस्तमिते आदित्ये, चन्द्रमस्यस्तमिते, शान्तेऽग्नौ, शान्तायां
वाचि याज्ञवल्क्यः-“किं ज्योतिरेवायं पुरुषः ? , आत्मज्योतिः सप्रा-
प्तिरिति होवाच” । ज्योतिरिति ज्ञानमाह, आदित्यास्तमयादौ ।
किं ज्योतिः ? , इत्याह-अयं पुरुष इति, पुरुष आत्मेत्यर्थः । अयं च
कथंभूतः ? , इत्याह-(अप्यज्जोइ चि) आत्मैव ज्योतिरस्य सोऽय-
मात्मज्योतिः, ज्ञानात्मक इति हृदयम् । निर्दिष्टो वेदविदूभिः
कथितः, ततो न ज्ञानं भूतधर्म इत्यर्थः । विशेष० ॥

अप्यज्जो-देशी-आत्मवशे, दे० ना० १ वर्ग ॥

अप्यज्ज-अल्पज्ज-त्रि० । विगततथाविधविप्रकीर्णवचने,
स्था० ८ उ० । प्र० । भावावमोदरिकां प्रतिपत्ते, रा० ।

अप्यनिकटय-अप्रतिकण्टक-त्रि० । न विद्यते प्रतिमल्लः कण्टको
यत्र तदप्रतिकण्टकम् । अप्रतिमल्ले, रा० ॥

अप्यनिवरिय-अप्रतिवृत्त-पुं० । प्रादोपिके काले, “अप्यडि-
वरियं काष्ठं धेत्तुं य वेयप” प्रादोपिककालं यथा साधवः प्र-
तिजागरितं गृह्णन्ति । वृ० १ उ० ।

अप्यण-आत्मीय-त्रि० । अपत्रंशे, “शीघ्रादीनां वहिष्ठादयः”
८।४ । ४२२ । इति सूत्रेण आत्मीयस्य ‘अप्यण’ इत्यादेशः । स्वकीये,
“फोरेति जेहि अरुउं अप्यणं” । प्रा० । स्वस्मिन्, वत्त० १ अ० ।
प्रश्न० । चं० प्र० । शरीरे, आचा० १ ध्रु० २ अ० ४ उ० ।

अप्यणउन्द-आत्मच्छन्द-त्रि० । स्वतन्त्रे, “वहियुए तं घर क-
हि किंण णंदं जेत्यु कुहुवणं अप्यण-उन्दं” । प्रा० ।

अप्यणट्ट-आत्मार्य-त्रि० । अनेन मे जीविका भविष्यतीति ।
स्वार्थे, दर्श० ।

अप्यणय-आत्मीय-त्रि० । प्राकृते-“ईयस्यात्मनो णयः” । ८ ।
२ । १३३ । इति सूत्रेण आत्मनः परस्य यस्य णय इत्यादेशः ।
स्वकीये, प्रा० ।

अप्यणण-आत्मज्ञान-न० । ६ त० । वादादिव्यापारकाष्ठे
किममुं प्रतिवादिनं जेतुं मम शक्तिरस्ति नवेति आलोचनरूपे
प्रयोगमतिसंपन्नेदे, वत्त० १५ अ० । आत्मपरिज्ञानमित्यप्यत्रा
ध० २० ।

अप्यणिज्ज-आत्मीय-त्रि० । स्वकीये, “अप्यणिज्जियाए महि-
लाए” । आ० म० द्वि० । नि० चू० । दशा० ।

अप्यणो-स्वयम्-अव्य० । स्वयमित्यव्ययार्थे, “स्वयमोऽर्थे अप्य-
णो न वा” । ८ । २ । २०६ । इति सूत्रेण स्वयमित्यव्ययार्थे ‘अ-
प्यणो’ इत्यस्य वा प्रयोगः । “विसयं विअसंति अप्यणो कम-
लसरा” । पक्के-‘सयं चैव मुणसि करणिज्जं’ । प्रा० । “अप्यणो

अतिरिक्तं काष्ठं तिष्ठन्ति ततः सा काष्ठातिक्रान्ता, या बाध्यते सा काष्ठातिक्रान्ता भवतीति ज्ञावः। काष्ठानिक्रान्तामपि यदि प्रागनि-
हितस्वरूपा काष्ठमयोदां द्विगुणां द्विगुणामपरीहृत्यापागच्छन्ति,
ततः सा उपस्थानया बाध्यते, उपस्थाना सा भवतीति ज्ञावः। एवं
यथासंभवनपुण्यं वक्तव्यम्। (पुष्पाणुद्य चि) आसां च नवानां
शय्यानां मध्ये काष्ठानिक्रान्ता पूर्वा सा अनुज्ञाता, अस्पक्रियाया
अज्ञाने सा आध्ययणीया इति ज्ञावः। तस्या अप्यभावे शे-
पाणां पूर्वा उपस्थाना सा अनुज्ञाता, एवं या या पूर्वा सा सा
अनुज्ञाता नायत्तकस्या यावत् सायथायाः महासायथायाः पूर्वा
सा अनुज्ञाता। एवं पूर्वस्याः पूर्वस्या भग्ने उत्तरस्या उत्तरस्या
अनुज्ञा वेदिनव्या। अग्निनवं (च वसु भय चि) चनस्पु वसतिपु,
अग्निनवेति दोषः संवध्यते। अग्निनवं दोषं न ज्ञा विकल्पय, कदा-
चिद्भवति कदाचिन्न भवतीति ज्ञानं। ईत्यर्थः। अत्रापीयं ज्ञावना-
भननिक्रान्तायानपरिचुकेति कृत्वा चिरकनायामप्यभिनवदोषो
नवति। घर्ज्यादिषु पुनर्या अपरिचुकास्तासु नाभिनवदोषः।
एषा भजना पश्चिमा। (अग्निनव सि) पश्चिमा नाम महासाव-
द्योपाध्ययः, तस्मिन् अभिनवकृते वा चिरकृते वा अपरिचुके
वा अभिनवदोषा भवन्ति, एकपक्षनिर्धारणात्। एतैर्मूढगुणा-
दिदोषैर्यः परिहर्तुं जानाति, स ग्रह्ये कल्पिकः।

कथं पुनर्जानाति परिहर्तुम् ? इति चेद्, आह-

उगमउप्पायणए-मणाहिं सुद्धं गवेमए वसहिं ।

तिविहं तिहिं विसुक्कं, परिहर नवगेण जेदेण ॥

उगमेन, उपादनया, एवमया, शुद्धां वसतिं गवेपयति। तत्र
नयाणां पदानामग्रे भग्नाः। तेषु चोपरितनेषु सप्तसु भग्नेष्वशुद्धां
परिहर्तुं यो जानाति स ग्रह्ये कल्पिकः। कथंभूतां वसतिमु-
क्तादिशुद्धां गवेपयति ?, इत्यत आह-त्रिविधां ज्ञातादिनेद-
त्त्रिप्रकारात्। तथा-त्रिभिर्मेनसा वाचा कायेन च, विसुद्धां
गवेपयति। तथा-ज्ञातादीस्तिष्ठोर्ऽपि वसती। उग्रमाद्युक्ता नयकेन
भेदेन परिहरति। तथा-मेनसा न गृह्णाति, नापि ग्राहयति,
नापि गृह्णतमनुजानीते। एवं वाचा कायेन च वक्तव्यमिति।

पडियमुयगुणियधारिय, उवउचो जो जणो परिहरति ।

आज्ञोयणमायरिए, आयरिउ विसोहिकारो से ॥

अस्या व्याख्या प्राग्वत्। उक्तः शय्याकल्पिकः। वृ० १ उ०।

इदानीमस्पक्रियाऽभिधानमधिकृत्याऽह-

इह खलु पाईयं वा ४ जाव तं रोयमाणेहिं अप्पणो सयघा-
ए तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराई चेइयाई भवन्ति, तं आ-
एसणाणि वा० जाव गिहाणि वा महया पुढविकायसमार-
जेणं० जाव अगणिकाए वा उज्जालियपुच्चे जवति। जे जयं-
तरो तहप्पगाराई आपसणाणि वा० जाव गिहाणि वा उ-
वागच्छंति, इतरा इतरेहिं पाहुनेहिं एगपक्खं ते कम्मं सेवन्ति,
अयमाउसो अप्पसावज्जा किरिया त्रि जवति। एवं खलु
तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणी वा सामगियं।

इहेत्यादि सुगमम्; नवरं अल्पशब्दोऽभाववाचीति। एत-
त्तस्य त्रिकोः भामग्र्यं संपूर्णं भिक्खुजाव इति। "कालाह-
१५४

कंतुवघाणा अभिक्कंता चेव अणभिक्कंता य वज्जा य महावज्जा
सावज्जमहप्पकिरिया य" एताश्च नव वसतयो यथाक्रमं नव-
भिरनन्तरसूत्रैः प्रतिपादिताः। आसु च अभिक्कान्ताऽस्पक्रिये
योग्ये, शोपास्त्वयोग्या इति। आचा० २ सु० २ अ० २ उ० ॥

वसतिपरिकर्मग्रादनक्षेपनादि-

से य णो सुक्खे फासुए उंठे अहेसणिजे णो य खलु
सुक्खे इमेहिं पाहुनेहिं तं वाअणओ लेवणओ, संथारउ-
वारपिडुणाओ पिंरुवतेसणाओ ॥

इदानीन्तरसूत्रे अल्पक्रिया शुद्धा वसतिरभिदिता, इहाप्यादि-
सूत्रेण तद्विपरीतां वर्णयितुमाह-(से इत्यादि) अत्र च कदा-
चित् कश्चित्साधुर्वसत्यन्वेपणार्थं भिक्षार्थं वा गृहपतिकुलं
प्रविष्टः सन् केनचित्कूळालुनैवमभिधीयते। तद्यथा-'प्रचुराल-
पानोऽयं ग्रामः, अतोऽत्र भवतो वसतिं प्रतिगृह्य स्यात्तुं युक्तम्'
इत्येवमनिर्दिष्टः सत्त्वमाचक्रीत-न केवलं पियरूपातः प्रासुको
दुर्जनस्तद्वासावपि यत्रासौ भुज्यते स च प्रासुक आधाकम्मोदि-
रहितः प्रतिश्रयो दुर्लभः। (उंठे सि) छादनासुत्तरगुणदोषर-
हितः। एतदेव दर्शयति-(अहेसणिज्ज सि) यथाऽसौ मूलोत्तर-
गुणदोषरहितत्वेनैपणीयो भवति, तथाभूतो दुर्लभ इति।

ते चामी मूलोत्तरगुणाः-

"पट्टी वंसो दो धा-रणाउ चत्तारि मूलेवल्लीओ।

सुल्लगुणेहिं विसुक्का, एसा य अदागडा वसही ॥ १ ॥

धंसगकडणो कपण-ग्रायणक्षेवणदुवारत्तमी य।

परिकम्मविष्णुमुक्का, एसा मूलुत्तरगुणेसु ॥ २ ॥

दूमियधूमियवासिय-उज्जोविय वलि कडा अवसा य।

सित्ता सम्मछा वि य, विसोहिकोनी गया वसही" ॥ ३ ॥

अत्र च प्रायशः सर्वत्र संभवितादुत्तरगुणानाम्, तानेव दर्श-
यति। न चासौ शुद्धो भवत्यमीभिः कर्मोपादानकर्मभिः। त-
द्यथा-ग्रादनतो द्वादिना, क्षेपनतो गोमयादिना, संस्तारक-
मपवर्तकमाभित्य, तथा द्वारमाभित्य वृद्धल्लुत्वापादनतः,
तथा द्वारस्थगनं कपाटमाभित्य, तथा पिएरूपातैयणामाभित्य।
तथाहि-कस्मिंश्चित्प्रतिश्रये प्रतिवसतः साधून् शय्यातरपि-
एमेनोपनिमन्त्रयेत्, तद्ग्रहे निषिद्धाचरणं, अग्रहे तत्प्रवेयादि सं-
ज्ञवः। इत्यादिजिरुत्तरगुणैः शुद्धः प्रतिश्रयो दुरापः। शुद्धे च प्रति-
श्रये साधुना स्थानादि विधेयम्। यत उक्तम्-"मूलुत्तरगुणसुद्धं,
यीपसुपंडगनिवज्जियं वसहिं। सेवेज्ज सव्वकाहं, विवज्जए
होति दांसाओ" ॥ १ ॥ मूलोत्तरगुणशुद्धावासावपि स्वाध्या-
यादिभूमिसमन्वितो विविक्तो दुराप इति। आचा० २ सु० २
अ० ३ उ०।

अप्पकिलंत-अल्पकान्त-त्रि०। अल्पं स्तोत्रं क्लान्तं क्लमो येषां ते
अल्पकान्ताः। अल्पवेदनेषु, य० २ अधि०। 'अवणिज्जो मे कलामो
अप्पकिंताणं बहुसुमेणं दिवसे वइकन्तो'। आचा० ३ अ०।

अप्पकुवकुइय-अल्पकौकुच्य-त्रि०। ६ य०। अल्पस्पन्दने,
करादिजिरुत्तरमेव चलति, अल्पशब्दोऽभाववाची, अल्पमसत्,
'कुक्कुपं'कौकुच्यं करचरणम्। त्रमणाद्यसंघेष्टात्मकमस्येत्यल्पकौ-
कुच्यः। हस्तपादशिरःप्रमुखशरीरावयवानधुष्वाने, "निसी-
एज्जअप्पकुक्कुप"। उत्स० १ उ० ॥

अप्पकोउहल्ल-अल्पकौतुल-त्रि०। ६ य०। लीरूपदर्श-

कर्मबन्धो यस्यां साऽप्यलेखा । चतुर्थ्यां पिण्डैरुपपायाम्, तथा चाऽऽचाराङ्गम्—“अस्मिन् स्रज्जु पणिग्गदियसि अप्ये पच्छाकस्मे अप्यपञ्चवजाय ” ध० ३ अधि० ।

अप्यवस—आत्मवश—त्रि० । स्ववशे, ग० २ अधि० ।

अप्यवसा—आत्मवशा—स्त्री० । नार्याम्, तस्या निरङ्कुशात्वेन स-
च्छन्दात्वात् । प्रा० को० ।

अप्यवाइ (ए)—आत्मवादिन्—पुं० । ‘पुरुष एवेदं सर्वमित्या-
दि’ प्रतिपन्ने वादिनि, नं० ।

अप्यवीय—अटपवीज—त्रि० । अविद्यमानानि बीजानि शाल्या-
दीनि नीवारश्यामाकादीनां यस्मिंस्तत् अल्पबीजम् । बीजस्योप-
लक्षणत्वात् एकेन्द्रियादिरहिते, उक्त० १ अ० । आचा० ।

अप्यवृद्धि—अल्पवृद्धि—स्त्री० । आसारे, प्रा० को० ।

अप्यवृद्धिकाय—अल्पवृद्धिकाय—पुं० । अल्पः स्तोकोऽविद्यमानो
वा, वर्षणं वृष्टिरधःपतनं वृष्टिप्रधानः कायो निकायोऽल्पवृष्टि-
कायः । वर्षणधर्मयुक्तं च उदकं वृष्टिः, तस्याः कायो राशिर्वृष्टि-
कायः । अल्पश्चासौ वृष्टिकायश्चाल्पवृष्टिकायः । स्तोके व्योमनि
पतदप्याय, स्था० ।

अल्पवृष्टेश्च त्रीणि कारणानि—

तिहिं ठाणेहिं अप्यवृद्धिकाए सिया । तं जहा—तेसिं च एं
दैसंसि वा पएसंसि वा णो बह्वे उदगजोणिया जीवा य
पोगला य उदगत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उवव-
ज्जंति देवा नागा जक्खा एो सम्मभाराहिंया भवंति ।
तत्थ समुद्धियं उदगपोगलं परिणयं वासिउकामं अचं देसं
साहरंति, अब्जवइलंगं च एं समुद्धियं परिणयं वासिउ-
कामं वाजयाए विहूयेइ । इच्चेहिं तिहिं ठाणेहिं अप्यवृ-
द्धिकाए सिया ।

(तेसिं ति)मगधादौ, चशब्दोऽल्पवृष्टिकारणान्तरसमुच्चयार्थः ।
णमित्यलङ्कारे । देशे जनपदे, प्रदेशे तस्यैव एकदेशरूपे, वाशब्दौ
विकल्पायौ । उदकस्य योनयः परिणामकारणभूता उदकयोनयः
त एवोदकयोः निका उदकजननस्वभावाः, व्युत्क्रामन्ति उत्पद्यन्ते,
व्यपक्रामन्ति, व्यवन्ते, एतदेव यथायोगं पर्यायत आचष्टे-व्यवन्ते,
उत्पद्यन्ते, क्षेत्रस्वभावादित्येकम् । तथा देवा वैमानिका ज्योति-
ष्काः, नागा नागकुमाराः, जवनपत्युपलक्षणमेतत् । यक्का भूता
इति व्यन्तरोपलक्षणम् । अथवा देवा इति सामान्यम् । नागादय-
स्तु विशेषम्, एतद्ग्रहणं च प्राय एवमेवंविधे कर्मणि प्रवृत्तिरि-
ति ज्ञापनाय; विचित्रत्वाच्चा सूत्रगतेरिति; नो सम्यगाराधिता
भवन्ति । अविनयकरणाज्ञानपदैरिति गम्यते । ततश्च तत्र मग-
धादौ देशे प्रदेशे वा तस्यैव समुत्थितमुत्पन्नम्-उदकप्रधानं पौ-
त्रजं पुत्रलसमूहो, मेघ इत्यर्थः । उदकपौत्रलं तथा परिणतमुद-
कदायकावस्थां प्राप्तम् । अत एव विद्युदादिकारणात् वर्णितुकामं
सदन्यं देशं मगधादिकं, संहरन्ति नयन्तीति द्वितीयम् । अश्वा-
णि मेघास्तैर्बर्द्धलकं दुर्दिनम्, अश्ववर्द्धकम् । (वाठयाए त्ति)
वायुकायः प्रचण्डवातो विधुनाति विध्वंसयतीति तृतीयम् ।
“इच्चे” इत्यादि निगमनमिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । अल्प-
शब्दस्याजावचनत्वाद् अविद्यमानवर्णे, “अक्षया कयाइं पढमं

सरदकावसमयंसि अप्यवृद्धिकायंसि ” ज० १५ श० १ उ० ।

अप्यसंतचित्त—अप्रशान्तचित्त—त्रि० । उत्कटक्रोधादिदूषित-
प्राप्ते, पञ्चा० २ विव० ।

अप्यसंतमद्—अप्रशान्तमति—त्रि० । अपरिणतशिष्ये, “अप्र-
शान्तमतौ शाल्म—सद्भावप्रतिपादनम् । दोषायाभिनवोदीर्ण-
शमनीयमिव ज्वरे ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अप्यसंस्त्रिय—आत्मसाक्षिक—न० । आत्मा स्वजीवः, स स्व-
संविद्यप्रत्यक्षविषयिपरिणामपरिणतः साक्षी यत्र तदात्मसाक्षि-
कम् । स्वकृष्टकेऽनुष्ठाने, “साहुसक्खियं देवसक्खियं अप्य-
सक्खियं ” पा० ।

अप्यसत्तचित्त—अटपसत्तचित्त—त्रि० । आपत्स्ववैकृत्यकरम्-
व्यवसानकरं च सत्त्वमुक्तम् । ततश्चाल्पं तुच्छं सत्त्वं यत्र तद-
ल्पसत्त्वं, तच्चित्तं यस्य सोऽल्पसत्त्वचित्तः । चेत्तसा विफलवे,
“ए हि अप्यसत्तचित्तो धम्माहिगारी जओ हाइ ” । पञ्चा०
२ विव० ।

अप्यसत्तम—आत्मसत्तम—त्रि० । आत्मना सत्तमः । सत्तानां पू-
रणः । आत्मा वा सत्तमो यस्यासावात्मसत्तमः । अन्यैः परमैः
सह विद्यमाने, “मल्लीणं अरहा अप्यसत्तमे मुंने भविच्छा ”
स्था० ७ ठा० ।

अप्यसत्तिय—अल्पसाक्षिक—त्रि० । निःसारे, “सुसमन्था वऽस-
मन्था, कीरंति अप्यसत्तिया पुरिसा । दीसंति सूरवादी,णारी-
वसगा ए ते सूर ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अप्यसद्—अल्पशब्द—पुं० । विगतराट्यां ज्वनौ, स्था० ८
ठा० । राज्यादावसंयतजागरणभयात् । ज० २५ श० ७ उ० ।
अल्पकवदे, कलहक्रोधकार्ये, स्त्री० ।

अप्यसरयक्ख—अल्पसरजस्क—न० । अल्पे तृणादौ, आचा० २
श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अप्यसार—अल्पसार—न० । अल्पं च तत्सारं चेत्यल्पसारम् ।
प्रमाणतोऽल्पे वस्तुनः सारे, ज्ञा० १ अ० । “अप्यसारं तुत्थं-
ति जीवा वंधणं ” आ० म० प्र० । “अप्यसारियं शेवं उवचर-
ति ” नि० चू० १ उ० ।

अप्यसावज्जकिरिया—अल्पसावर्द्धक्रिया—स्त्री० । शुद्धायां वसतौ,
आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० । (‘वसही’ शब्देऽस्याः सूत्रम्)

अप्यसुय—अल्पश्रुत—त्रि० । अनधीतागमे, ज्ञा० २६ ठा० ।

अप्यसुह—अल्पसुख—त्रि० । ५ व० । प्रोगसुखलवसम्पा-
दके, अविद्यमानसुखे च । प्रश्न० १ भाष० द्वा० ।

अप्यहरिय—अल्पहरित—त्रि० । अल्पानि हरितानि दूर्वाप्रवाहा-
दीनि यत्र तत्तथा । दूर्वादिरहिते, आचा० २ श्रु० ७ अ०
६ उ० ।

अप्यहिंसा—अप्याहिंसा—स्त्री० । अल्पशब्दोऽजाववाची । अ-
ल्पानामेव प्राणिनां हिंसायाम्, व्य० १ उ० ॥

अप्या—आत्मन्—पुं० । अतति सातत्येन गच्छति तौस्तात् ज्ञान-
दर्शनसुखादिपर्यायानित्याद्यात्मादिशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तसंज्ञवा-
त् । आ० म० द्वि० । जीवे, उक्त० २० अ० । (आत्मसिद्ध्यादिव-
कल्पता ‘आता’ शब्दे द्वितीयभागे १६७ पृष्ठे दृष्ट्या)

सेत्तपाइंति " आत्मन आन्मीयानि । विपा० १ ध्रु० २ अ० ।
अप्यनर-अप्यतर-त्रि० । अतिशयिते स्तोके, " अप्यतराय से
पावे कम्मे कज्जइ " । म० ७ श० ६ उ० । आचा० । सूत्र० ।

अप्यनरवन्ध-अप्यतरवन्ध-पुं० । अत्यल्पे कर्मणां बन्धे, यदा त्व-
प्रविधादिग्रहवन्धको भूत्वा पुनरपि सप्तविधाद्यल्पतरवन्धको
भवति स एव प्रथमस्तनय एयाद्यल्पतरवन्धः (कर्म०) ।
यदा तु प्रचृताः प्रवृत्ताः परिणामविशेषतः स्तोकां यदुमा-
रनने यथाऽप्य वच्चा सप्त यन्नाति; सप्त वा वच्चा पच्चा वच्चा
एका, तदानीं स यन्थोऽल्पतरः । तथा चाऽऽह- " एगाइऊण-
विअंथा " एकादिभिरैकद्विधादिभिः प्रवृत्तिरूपेण बन्धे चित्ति-
यप्रकारः, अप्यनर इत्यर्थः । कर्म० ५ कर्म० ।

अप्यतुमनुम-अप्यनुमनुम-त्रि० । विगतकोधननोविकारविशेषे,
स्या० ७ अ० ।

अप्यत्त-अप्यत्व-न० । तुच्छत्वे, पं० व० ४ द्वा० ।

अप्यनिय-अप्रीतिक-न० । आप्तत्वात्तयारुपम् । अग्रेणि, म० ७
अ० १ उ० । य० । आ० म० । दर्श० । अप्रीतिस्त्वभावे, म० १३
श० १ उ० । मनसः पीक्यायाम्, आचा० २ ध्रु० ७ अ० २ उ० ।
कोपे, सूत्र० १ ध्रु० १ अ० २ उ० । अपकरणे, नि० चू० १ उ० ।
अप्यत्याम-अप्यस्यामन्-त्रि० । अप्यसामर्थ्ये, सूत्र० १ ध्रु० २
अ० ३ उ० ।

अप्यधन-अप्यधन-त्रि० । अप्यमूल्ये, " महाधने अप्यधने
व वत्थे, मुच्छिज्जती ओ अधिवित्तभावे " वृ० ३ उ० ।

अप्यपरमग-अप्यप्रदेशक-त्रि० । अप्यं स्तोके प्रदेशाग्रं कर्म
द्विकपरिमाणं यस्य सः । स्तोके प्रदेशाग्रके कर्मणि, प्र० १
शु० १ उ० ।

अप्यपज्जवजाय-अप्यपर्यायजात-न० । अल्पे तुपादौ त्य-
जनीये, ध० ३ अधि० ।

अप्यपरिणयति-आत्मपरनिवृत्ति-स्त्री० । आत्मनः परेषां च प-
रेभ्यो निवृत्तौ, आलोचनाप्रदानतः स्वयमात्मनो दोषेभ्यो निवृ-
त्तिः, कृतानां तद् दृष्ट्वाऽप्यन्ये आलोचनाभिमुखा भवन्तीत्यन्येषा-
मपि दोषेभ्यो निवर्तनमिति ॥ व्य० १ उ० ॥

अप्यपरिगह-अप्यपरिग्रह-पुं० । अप्यधनधान्यादिस्वीकारे, औ० ।
अप्यपरिच्चाय-अप्यपरित्याग-पुं० । स्वल्पतरुगुणपरिहारे,
पञ्चा० १७ विच० ।

अप्यप्राण-अप्यप्राण-त्रि० । अप्यशब्दोऽभावाभिधायी तथे-
हापि, सूत्रत्वेन मत्पर्यायस्योपात् प्राणाः प्राणिनः, अप्या अविद्य-
मानाः प्राणिनो यस्मिँस्तद्व्यप्राणम् । अवस्थितागन्तुकजी-
विविरहिते उपाध्यादौ, उक्त० १ अ० । अप्यः प्राणः प्राणन-
क्रिया यस्मिन् । वषट्तेदे, यस्याश्चरणे अप्यप्राणवायोर्न्यापारस्त-
स्मिन्, स च शिक्षायामुक्तः- " अयुग्मा वर्गयमगाः, वणआल्पास-
वः स्मृताः " इति । तथा च वर्गेषु प्रथमतृतीयपञ्चमवर्गाः य-
मगा यवरलाभ्य अप्यसावः । तादृशवर्णोच्चारणवाह्यप्रयत्ने,
वाह्यप्रयत्नस्तु एकादशधा-विचारः संचारः आसो नादो घोषो-
ऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति ।
अप्यः प्राणः प्राणहेतुकं बलमस्य । अप्यवन्ने, त्रि० । वाच० ।

अप्यपानासि (ण)-अप्यपानाशिन-त्रि० । अप्यं पानमशि-

तुं शीघ्रमस्यासावल्पपानाशी । यत्किञ्चन पानपातरि, सूत्र० १
ध्रु० २ अ० ।

अप्यपिमासि (ण)-अप्यपिएमाशिन-त्रि० । अप्यं स्तोके
पिएममशितुं शीघ्रमस्यासावल्पपिएमाशी । यत्किञ्चनाशितुं,
तथा च आगमः- " हे जन्तव ! आसीय, जतथ ततथ व सुहोवण-
यनिहा । जेण व तेषु व संतु-इ धीरमुणिओ सिते अप्पा " ॥ १॥
सूत्र० १ ध्रु० १ अ० ।

अप्यभक्ति (ण)-अप्यभक्तिन्-त्रि० । स्तोकाहारकारिणि,
उक्त० १५ अ० ।

अप्यभव-अप्यभव-पुं० । परीतसांसारिकत्वे, प्रति० ।

अप्यजाति (ण)-अप्यजापित्-त्रि० । कारणे परिमितव-
कारि, दश० ७ अ० । " अप्यं भासेज्ज सुवप " । तथा सुव्रतः
साधुरत्वं परिमितं हितं च भावेत्, सर्वदा विकथारहिता भवे-
दित्यर्थः । सूत्र० १ ध्रु० ७ अ० ।

अप्यनूय-अप्यनूत-त्रि० । अप्यसत्त्वे, स्या० ५ अ० १ उ० ।

अप्यमइ-अप्यमति-त्रि० । अप्यबुद्धौ, क० प्र० ।

अप्यमहग्घाजरण-अप्यमहार्धाजरण-त्रि० । अप्यानि स्तोके
भारवन्ति महार्धाभरणानि बहुमूल्यवद्भूषणानि यस्यासौ तत्त-
था । अप्यभारवद्बहुमूल्यभूषणयुक्ते, " एहाए सुहव्वावेसाइं
अप्यमहग्घाजरण साओ गिहाओ पकिनिक्कमइ " उपा० १ अ० ।

अप्यरय-अप्यरत-त्रि० । अप्यमिति अविद्यमानं रतमिति क्री-
नितं मोहनीयकर्मोदयजनितमस्येति अप्यरतः । क्रीमाविरहिते ह-
वसत्तमादौ, उक्त० १ अ० । कण्ठपरिगते कण्ठयनकल्परतर-
हिते, दश० ९ अ० ४ उ० ।

अप्यरजसु-त्रि० । रजोरहिते, उक्त० २ अ० । प्रतनुबध्यमानक-
र्मणि, " सिक्क वा हवइ सासए देवे वा अप्यरप महिद्धिप "
उक्त० १ अ० ।

अप्यलाहलदि-अप्यलान्नबन्धि-पुं० । अप्या तुच्छा वस्त्रपा-
त्रादिलान्ने लब्धिर्यस्य सोऽल्पलान्नबन्धिः । क्लेशेन वस्त्रपात्राद्य-
त्पादके, वृ० १ उ० ।

अप्यलीण-अप्रलीन-त्रि० । असंप्रदे तीर्थिकेषु गृहस्थेषु पार्श्व-
स्यादिषु संश्लेषमकुर्यति, " अणुक्कस्से अप्यलीणे, मज्जेण मुखि
जावप " सूत्र० १ ध्रु० १ अ० ४ उ० ।

अप्यलीयमाण-अप्रलीयमान-त्रि० । कामेषु मातापित्रादिके
वा लोके न प्रलीयमाना अप्रलीयमानाः । अनभिपक्ते, आचा०
१ ध्रु० ६ अ० २ उ० ।

अप्यलेव-अप्यलेप-त्रि० । ६ अ० । अप्यशब्दोऽज्ञाववाचकः ।
पृथुकादौ निर्लेपे, आव० ४ अ० । चल्लचणकादौ नीरसे, ध०
३ अधि० ।

अप्यदेवा-अप्यलेपा-स्त्री० । निर्लेपे पृथुकादि गृहस्तत्रुत्थी
पिण्डेष्वप्यायाम्, आव० ४ अ० । ध० । आचा० । पञ्चा० । सूत्र० ।
" जस्स दिज्जमाणदन्वस्स णिप्पावचरणगादिस्स लेवो ण भव-
ति सा अप्यलेवा " नि० चू० १६ उ० । आ० चू० । अप्यलेपि-
काऽप्यत्र, स्या० ७ अ० । स्तोकोऽप्यः पञ्चात्कर्मादिजनितः

य आचयभागो योवो नामगोयाणं तुल्लो विसेसाहिओ नाण-
इंसयावरणंतरायाणं तुल्लो विसेसाहिओ मोहस्स विसेसाहि-
ओ वेयाणिज्जस्स विसेसाहिओ त्ति ।" स्था० ४ ग० २ उ० ।

(२) तत्र द्वारसंग्रहगाथाद्यम्—

दिसिगइंदियकाए, जोए वेए कसायझेसाओ ।

सम्मत्तणाणदंसण-संजमउवओगआहारे ॥ ? ॥

भासगपरित्तपज्ज-त्तिसुहुमसखी जवऽत्थि से चरिमे ।

जीवएँ खेत्तं बंधे, पुग्गल-महदंडए चेव ॥ २ ॥

प्रथमं दिग्द्वारम् १, तदनन्तरं गतिद्वारम् २, तत इन्द्रियद्वारम् ३, ततः कायद्वारम् ४, ततो योगद्वारम् ५, तदनन्तरं वेदद्वारम् ६, ततः कपायद्वारम् ७, ततो क्षेत्राद्वारम् ८, ततः सम्यक्त्वद्वारम् ९, तदनन्तरं ज्ञानद्वारम् १०, ततो दर्शनद्वारम् ११, ततः संयमद्वारम् १२, तत उपयोगद्वारम् १३, तत आहारद्वारम् १४, ततो प्रासकद्वारम् १५, ततः (परित्त इति) परीताः प्रत्येकशरीरिणः शुक्लपात्रिकाश्च; तद्द्वारम् १६, तदनन्तरं पर्याप्तिचारम् १७, ततः सूक्ष्मद्वारम् १८, तदनन्तरं संज्ञिद्वारम् १९, ततो (भव-
त्ति) भवसिद्धिचारम् २०, ततोऽस्तीति-अस्तिकायद्वारम् २१, ततश्चरमद्वारम् २२, तदनन्तरं जीवद्वारम् २३, ततः क्षेत्रद्वारम् २४, ततो बन्धद्वारम् २५, ततः पुद्गलद्वारम् २६, ततो महादण्डकः २७, इति सर्वसंख्यया सप्तविंशतिद्वाराणि । प्रज्ञा० ३ पद ।

(तत्र गायोपन्यस्तकममनाद्याक्तरानुक्रमतो द्वाराणि निरूप-
यिष्यन्ते, तथा मध्येऽन्यतः किञ्चिद् संगृहीतं प्रक्षिप्य प्ररू-
पयिष्यतेऽल्पबहुत्वम्) (अनुज्ञागबन्धस्थानानामल्पबहुत्वं 'बंध'
शब्दे द्रष्टव्यम्)

(३) [अवगाहना] पृथ्वीकायादीनां जघन्याद्यवगाहन-
याऽल्पबहुत्वम्—

एएसि णं जंते ! पुढवीकाइयाणं आऊ-तेऊ-वाऊ-
वणस्सइ-काइयाणं सुहुमाणं वादराणं पज्जत्तगाणं अप-
ज्जत्तगाणं जह्मिओसिया ओगाहणाए कयरे कयरोहिंतो०
जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमणिगो-
यस्स अपज्जत्तगस्स जह्मिओसिया ओगाहणा ? । सुहुमवा-
ऊकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जह्मिओसिया ओगाहणा अ-
संखेज्जगुणा २ । सुहुमतेऊ० अपज्जत्तगस्स जह्मिओसिया ओ-
गाहणा असंखेज्जगुणा ३ । सुहुमआऊ० अपज्जत्तगस्स जह-
मिओसिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ४ । सुहुमपुढवी० अपज्ज-
त्तगस्स जह्मिओसिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ५ । वादरवा-
ऊकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जह्मिओसिया ओगाहणा असंखे-
ज्जगुणा ६ । वादरतेऊ० अपज्जत्तगस्स जह्मिओसिया ओगाहणा
असंखेज्जगुणा ७ । वादरआऊ० अपज्जत्तगस्स जह्मिओसिया
ओगाहणा असंखेज्जगुणा ८ । वादरपुढवी० अपज्जत्तगस्स
जह्मिओसिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ९ । पत्तेयसरीरवा-
दरवणस्सइकाइयस्स वादरनिओयस्स, एएसि णं अपज्ज-

त्तगाणं जह्मिओसिया ओगाहणा दोएह वि तुल्ला असंखेज्ज-
गुणा १० । ११ । सुहुमनिओयस्स पज्जत्तगस्स जह्मिओसिया
ओगाहणा असंखेज्जगुणा १२ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स
उकोसिया ओगाहणा विसेसाहिया ? ३ । तस्स चेव पज्जत्तग-
स्स उकोसिया ओगाहणा विसेसाहिया ? ४ । सुहुमवाऊकाइ-
यस्स पज्जत्तगस्स जह्मिओसिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ५ ।
तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उकोसिया विसेसाहिया १६ । तस्स
चेव पज्जत्तगस्स उकोसिया ओगाहणा विसेसाहिया १७ ।
एवं सुहुमतेऊकाइयस्स वि १८ । १९ । २० । एवं सुहुम-
आऊकाइयस्स वि २१ । २२ । २३ । एवं सुहुमपुढवीका-
इयस्स वि । २४ । २५ । २६ । एवं वादरवाऊकाइयस्स
वि २७ । २८ । २९ । एवं वादरतेऊकाइयस्स वि ३० ।
३१ । ३२ । एवं वादरआऊकाइयस्स वि ३३ । ३४ । ३५ ।
एवं वादरपुढवीकाइयस्स वि ३६ । ३७ । ३८ । सव्वेसिं
तिविहेणं गमेणं भाणियव्वं वादरनिओयस्स जह्मिओसिया
ओगाहणा असंखेज्जगुणा ३९ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स
उकोसिया ओगाहणा विसेसाहिया ४० । तस्स चेव प-
ज्जत्तगस्स उकोसिया ओगाहणा विसेसाहिया ४१ ।
पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइयस्स जह्मिओसिया ओगाहणा
असंखेज्जगुणा ४२ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उकोसिया
ओगाहणा असंखेज्जगुणा ४३ । तस्स चेव पज्जत्तगस्स
उकोसिया असंखेज्जगुणा ४४ ।

इह किल पृथिव्यसेजोवायुनिगोदाः ५ प्रत्येकं सूक्ष्मवादर-
भेदाः । एवमेते दश; एकादश च प्रत्येकं वनस्पतिः । एते च प्रत्येकं
पर्याप्तकापर्याप्तकभेदाः २२ । तेऽपि जघन्यात्कृष्टावगाहनाः, इत्येवं
चतुश्चत्वारिंशदजीवजैरेषु स्तोकादिपदन्त्यासेनावगाहना व्या-
ख्येया । स्थापना चैवम्—पृथ्वीकायस्याऽधः सूक्ष्मवादरपदे,
तयोरधः प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तपदे, तेषामधः प्रत्येकं जघन्यात्कृ-
ष्टा चावगाहनेति । एवमपकायादयोऽपि स्थाप्याः । प्रत्येकवन-
स्पतेरधः पर्याप्तापर्याप्तपदद्वयम्, तयोरधः प्रत्येकं जघन्यात्कृ-
ष्टा चावगाहनेति । इह च पृथिव्यादीनामकुल्लासंख्येयजा-
गमात्रावगाहनत्वेऽप्यसंख्येयजैदत्वाद्बहुलासंख्येयभागस्येतर-
तरापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वं न विरुध्यते, प्रत्येकशरीरवनस्पती-
नां चोत्कृष्टावगाहना योजनसहस्रं समधिकमेव गन्तव्येति । प्र०
११ श० ३ उ० ।

(अस्तिकायद्वारे धर्मास्तिकायादीनां ह्यन्यार्थतयाऽल्पबहु-
त्वम् 'अस्तिकाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५१४ पृष्ठे समुक्तम्)
(आत्मनामल्पबहुत्वम् 'आता' शब्दे द्वितीयजगते १७० पृष्ठे
वक्ष्यते)

(४) [आयुः] द्रव्यस्थानाद्यायुषामल्पबहुत्वम्—

एयस्स णं जंते ! दव्वट्ठाणाउयस्स खेत्तट्ठाणाउयस्स ओ-

अप्पाइय-अप्पायित-त्रि० । मनोद्गादरः स्वस्थाभूतः, पु० १ उ० ।

अप्पाउअ-अल्पायुष्क-वि० । स्तोत्रजीविते, प्र० १ आ० १० ॥

अप्पाउअत्ता-अल्पायुष्कता-ग्री० । अल्पमायुष्यस्यासावल्पा-
युष्कः, तदभावनता । अल्पायुष्कतायाम्, भ० ५ श० ६ उ० ।
अल्पमायुर्जीवितं यद् तदल्पायुः, नद् नायस्तत्ता । जघन्यायुद्धे,
स्था० ३ उ० १ उ० । (अल्पायुषः कारणं 'आत्र' शब्दे द्वि-
तीयनामे ११ पृष्ठे चक्ष्यते)

अप्पाउन-अप्पाउत-पुं० । प्रावरणवर्जके अभिप्रदविशेषप्रादके,
स्त्र० २ श्रु० २ अ० ।

अप्पाउरण-अप्पावरण-न० । प्रावरणनिषेधात्तद्विषयोऽभि-
प्रदोऽप्यप्रावरणम् । पञ्चा० ५ वि० । प्रावरणत्यागरूपेऽभि-
प्रदप्रत्याख्यानजदे, प्र० ४ उ० । प्र० पञ्च आकाराः—“ अ-
निगदेलु अप्पाउरणं कोइ पञ्चत्ताइ, तस्स पंच (आगारा)
प्रत्यत्यपणाभागे, महसागारे, चोत्तपट्टागारे, महत्तरागारे सव्व-
सनादियचियागारे य ” ।

तथा च सुलम्—

अप्पाउरणं पक्खिज्जति अन्नत्थेऽण्णाजोगेणं, सहसागारेणं,
चोत्तपट्टागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाद्विचियागा-
रेणं वोसिरं चि । आ० ६ अ० ।

चोत्तपट्टकादन्यत्र सागारिकप्रदर्शने चोत्तपट्टके गृह्यमाणेऽपि
न भङ्ग इत्यर्थः । प्र० ४ उ० ।

अप्पाण-आत्पन्-पुं० । स्वस्मिन्, प्र० २ आ० १० ॥ “ पुं-
त्यन आपो राजवत् ” । उ० ३।५६ । पुंलिङ्गे यत्मानस्यान्नन्तस्य
स्याने प्राण इत्यादेशो वा भवति; पक्षे यथादर्शने राजवत्कार्ये
नवति । आणादेशे च “अतः सेनोः” (८।३।२) इत्यादयः प्रवर्त-
न्ते । पक्षे तु राज्ञः “जस्-शम्-उत्ति-उत्तां णो” (८।३।५०)
“टो णा” (८।३।२४) “इणममामा” (८।३।५३) इति प्रयतन्ते । अप्पा-
णो । अप्पाणा । अप्पाणं । अप्पाणे । अप्पाणेण । अप्पाणेहि ।
अप्पाणाओ । अप्पाणासुत्तो । अप्पाणस्स । अप्पाणाण । अप्पा-
णम्मि । अप्पाणेषु । अप्पाण-कम् । पक्षे राजवत् । अप्पा ।
अप्पो । हे अप्पा ! हे अप्पा ! अप्पाणो चिद्वृत्ति । अप्पाणो
पेच्छ । अप्पाणा । अप्पेहि । अप्पाणो । अप्पाओ । अप्पाउ । अ-
प्पाहि । अप्पाहिन्तो । अप्पा । अप्पासुत्तो । अप्पाणो धणं । अ-
प्पाणं । अप्पे । अप्पेसु । प्रा० । (य आत्मानमादर्शयति पश्यति
इति 'अप्पायार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३१३ पृष्ठे दर्शितम्)
स्वजाये, न० । स्था० २ उ० २ उ० ।

अप्पाणरक्खि (ण)—आत्परक्खिन्-त्रि० । आत्मानं रक्खति
पापेभ्यः कुगतिगमनादिभ्य इत्येवंशील आत्मरक्षी । आत्मनः
पापेभ्यो निवारके, उक्त० ४ अ० ।

अप्पाधार-अल्पाधार-पुं० । अल्पस्य सूत्रस्य अर्थस्य वा आधा-
रोऽल्पाधारः । सूत्रार्थनैपुण्यविक्रमे, व्य० १ उ० ।

अप्पावहुय(ग)-अल्पवहुत्व-न० । अल्पं च स्तोत्रं बहु च प्र-
चूतमल्पबहु, तदभावोऽल्पवहुत्वम् । दीर्घत्वासंयुक्तत्वे च प्रा-
कृतत्वादिति । स्था० ४ उ० २ उ० । गत्यादिरूपमार्गणास्था-
नादीनां परस्परस्तोत्रयुक्ते, कर्म० ४ कर्म० ।

(१) अल्पवहुत्वस्य चातुर्विध्यनिरूपणम् ।

(२) द्वारसंग्रहः ।

(३) पृथ्वीकायादीनां जघन्याद्यवगाहनयाऽल्पवहुत्वम् ।

(४) अन्यस्थानाद्यायुषामल्पवहुत्वम् ।

(५) आहारद्वारे आहारकानाहारकजीवानामल्पवहुत्वम् ।

(६) सेन्धियाणां परस्परमल्पवहुत्वम् ।

(७) उद्यतनापवर्तनयोरल्पवहुत्वम् ।

(८) उपयोगद्वारे साकारानाकारोपयुक्तानामल्पवहुत्वम् ।

(९) कपायद्वारे क्रोधकपायादीनामल्पवहुत्वम् ।

(१०) कायिकद्वारे सकायिकानामल्पवहुत्वम् ।

(११) क्षेत्रद्वारे जीवाः कस्मिन् क्षेत्रे स्तोकाः कस्मिन् ग्रहव-
हत्यादिनिरूपणम् ।

(१२) गतिद्वारे चतुःपञ्चाष्टगतिसमासेनाल्पवहुत्वम् ।

(१३) चरमद्वारे चरमाचरमाणामल्पवहुत्वम् ।

(१४) जीवद्वारे जीवपुद्गलादीनामल्पवहुत्वम् ।

(१५) ज्ञानद्वारे ज्ञानिप्रमुखाणामल्पवहुत्वम् ।

(१६) दर्शनद्वारे दर्शनिनामल्पवहुत्वम् ।

(१७) दिग्द्वारे दिगनुपातेन जीवानामल्पवहुत्वम् ।

(१८) परीतद्वारे परीतापरीतनोपरितानामल्पवहुत्वम् ।

(१९) पर्याप्तद्वारे पर्याप्तापर्याप्तनोपर्याप्तानामल्पवहुत्वम् ।

(२०) पुञ्जद्वारम् ।

(२१) बन्धद्वारे आयुःकर्मबन्धकादीनामल्पवहुत्वम् ।

(२२) भवसिद्धिकद्वारम् ।

(२३) भाषकद्वारम् ।

(२४) महादण्डकद्वारम् ।

(२५) योगद्वारे चतुर्दशविधस्य संसारसमापन्नजीवस्य यो-
गानामल्पवहुत्वम् ।

(२६) योनिद्वारम् ।

(२७) क्षेत्रयाद्वारे सत्क्षेत्रयानामल्पवहुत्वम् ।

(२८) वेदद्वारम् ।

(२९) शरीरद्वारे आहारकादिशरीरिणामल्पवहुत्वम् ।

(१) तत्त्वचतुर्विधम्—

चउत्विहे अप्पावहुए पणत्ते । तं जहा-पगइ-अप्पावहुए,
ठिइ-आणुभाव-पएस-अप्पावहुए ।

प्रकृतिविषयमल्पवहुत्वं बन्धापेक्षया, यथा-सर्वस्तोकप्रकृतिब-
न्धक उपशान्तमोहादिकविधबन्धकः, उपशमकादिसूक्ष्मसं-
परायः परुषविधबन्धकः, बहुतरबन्धकः सप्तविधबन्धकः, त-
तोऽष्टविधबन्धक इति । स्थितिविषयमल्पवहुत्वं यथा—“ स-
न्वत्योवो संजयस्स जहन्नओ ठिइवंधो एगिदियवायरपज्जल-
गस्स जहन्नओ ठिइवंधो असंखिज्जगुणो ” इत्यादि । अनुज्ञां
प्रत्यक्षवहुत्वं यथा—“ सव्वत्योवाइ अणंतगुणबुद्धिछाणाणि
असंखिज्जगुणबुद्धिछाणाणि, असंखिज्जगुणाणि संखिज्जगुणबु-
द्धिछाणाणि असंखिज्जगुणाइ जाव अणंतभागबुद्धिछाणाणि
असंखिज्जगुणाणि ” । प्रदेशाल्पवहुत्वं यथा—अद्विविधबन्धगस्स

(नैरयिकाद्यायुपामल्पबहुत्वम्—“ आळ ” शब्दे द्वितीयभागे ११-१२ पृष्ठे दर्शयिष्यते) (जातिनामनिधत्तायुरादीनां भेदाः ‘ आउबंध ’ शब्दे द्वितीयभागे ३६ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)

(५) [आहारद्वारम्] आहारकानाहारकजीवानामल्पबहुत्वम्—
एएसि एं भंते ! जीवाणं आहारगाणं अणाहारगाणं य कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अणाहारगा आहारगा असंखिज्जगुणा ।

सर्वस्तोका जीवा अनाहारकाः, विग्रहगत्यापन्नादीनामेवानाहारकत्वात् । उक्तं च—“ विग्गहगइमावन्ना, केवल्लिणो समुदया अजोगी य। सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारगा जीवा ” ॥१॥ तेज्य आहारका असंख्येयगुणाः । ननु वनस्पतिकायिकानां सिद्धेज्योऽप्यनन्तत्वात् तेषां चाहारकतयाऽपि लज्यमानत्वात् कथमनन्तगुणा न भवन्ति ? तदयुक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिकानात् । इह सूक्ष्मनिगोदाः सर्वसङ्ख्याऽप्यसंख्येयाः, तत्राप्यन्तर्मुहूर्तसमयराशितुल्याः सूक्ष्मनिगोदाः सर्वकालविग्रहे वर्तमाना लज्यन्ते । ततोऽनाहारका अप्यतिबहुवः सकलजीवराश्यसंख्येयभागतुल्या इति । तेज्य आहारका असंख्येयगुणाः, ते च नानन्तगुणाः । गतमाहारद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० । (इन्द्रियाणामवगाहनयाऽल्पबहुत्वं, तेषां कर्कशादिगुणाश्च ‘ ईदिय ’ शब्दे द्वितीयभागे ५५४ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)

(६) [इन्द्रियद्वारम्] सेन्द्रियाणां परस्परमल्पबहुत्वम्—
एएसि एं जंते ! सइंदियाणां एगिंदियाणं वेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं अणेइआण य कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया चउरिंदिया विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, वेइंदिया विसेसाहिया, अणिंदिया अणंतगुणा, एगिंदिया अणं० । सइंदिया वि० ।
सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रियाः संख्येयाः, दशयोजनकोटाकोटिप्रमाणविष्कम्भसूचीप्रतिप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्यश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, विष्कम्भसूच्यास्तेषां प्रभूतसंख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणत्वात् । तेज्योऽपि त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततरसंख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणत्वात् । तेज्योऽपि द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततरसंख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणत्वात् । तेज्योऽपि त्रीन्द्रिया अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेज्योऽपि एकेन्द्रिया अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेज्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तेज्योऽपि सेन्द्रिया विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियादीनामपि तत्र प्रज्ञेपात् । तदेवमुक्तमेकमौघिकानामल्पबहुत्वम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । अर्थतत्त्वेत्यम्—
“ पण १ चउ २ ति ३ दुय ४ अणिंदिय ५, एगिंदिय ६ सइंदिया कमा हुंति । योवा १ तिणि य अहिया ४, दोऽणंतगुणा ६ विसेसाहिया ” ॥ १ ॥ म० २५ श० ३ उ० । जी० ।

इदानीमेतेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि एं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं वेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं अपज्जत्ताणं कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया अपज्जत्ताणं, चउरिंदिया

अपज्जत्ताणं विसेसाहिया, तेइंदिया अपज्जत्ताणं विसेसाहिया, वेइंदिया अपज्जत्ताणं विसेसाहिया, एगिंदिया अपज्जत्ताणं अणंतगुणा, सइंदिया अपज्जत्ताणं विसेसाहिया ।

सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रिया अपर्याप्ताः एकस्मिन्प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खरुणानि तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् । तस्यश्चतुरिन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूताङ्गुलासंख्येयभागखरुणप्रमाणत्वात् । तेज्यस्त्रीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूततरप्रतराङ्गुलासंख्येयभागखरुणमानत्वात् । तेभ्योऽपि द्वीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूततमाङ्गुलासंख्येयभागखरुणप्रमाणत्वात् । तेज्य एकेन्द्रिया अपर्याप्ता अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानामपर्याप्तानामनन्ततया सदा प्राप्यमाणत्वात् । तेज्योऽपि सेन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियाद्यपर्याप्तानामपि तत्र प्रज्ञेपात् । गतं द्वितीयमल्पबहुत्वम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० ।

अधुनैतेषामेव पर्याप्तापर्याप्तगतमल्पबहुत्वमाह—

एएसि एं जंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं वेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं पज्जत्ताणं कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पज्जत्ताणं चउरिंदिया पंचिंदिया पज्जत्ताणं विसेसाहिया, तेइंदिया पज्जत्ताणं विसेसाहिया, वेइंदिया पज्जत्ताणं विसेसाहिया, एगिंदिया पज्जत्ताणं अणंतगुणा, सइंदिया पज्जत्ताणं संखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोकाश्चतुरिन्द्रियाः पर्याप्ताः, यतोऽल्पायुषश्चतुरिन्द्रियाः, ततः प्रभूतकालमवस्थानाभावात् । पृच्छासमये स्तोका अपि प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खरुणानि तावत्प्रमाणा वेदितव्याः । तेभ्यः पञ्चेन्द्रियपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूताङ्गुलासंख्येयभागखरुणमानत्वात् । तेज्योऽपि द्वीन्द्रियाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूततरप्रतराङ्गुलासंख्येयभागखरुणमानत्वात् । तेज्योऽपि त्रीन्द्रियाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, स्वभावत एव तेषां प्रभूततमप्रतराङ्गुलासंख्येयभागखरुणप्रमाणत्वात् । तेज्य एकेन्द्रियाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां पर्याप्तानामनन्तत्वात् । तेज्यः सेन्द्रियाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रज्ञेपात् । गतं तृतीयमल्पबहुत्वम् । सम्प्रत्येषामेव सेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तगतान्यल्पबहुत्वान्याह—

एएसि एं भंते ! सइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सइंदिया अपज्जत्ता पज्जत्ताणं सइंदिया संखेज्जगुणा । एएसि एं भंते ! एगिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगिंदिया पज्जत्ताणं एगिंदिया अपज्जत्ता असं० । एएसि एं भंते ! वेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा वेइंदिया पज्जत्ता वेइंदिया अपज्जत्ता असं०

गाहणद्व्याणायस्स जावद्व्याणायस्स कयरे कयरेहिंतो
जाव विसेनाहिया ? । गायमा ! सन्वत्योवे सेत्तद्व्याणाउए
ओगाहणद्व्याणायस्स असंखेज्जगुणे, द्व्यद्व्याणायस्स असंखे-
ज्जगुणे भावद्व्याणायस्स असंखेज्जगुणे, “ खेत्तोगाहणद्व्ये,
जावद्व्याणायस्स च अप्पवहुं । खेत्ते सन्वत्योवे, सेत्तद्व्याणा
असंखेज्जा ” ॥ १ ॥

(एयस्स एं भंते ! द्व्यद्व्याणायस्स चि) द्व्यं पुत्तलद्व्यं,
तस्य स्थानं भेदः परमाणुद्विभेददेशकादि, तस्यायुः स्थितिः ।
अथवा द्व्यस्याणुत्वादिभावेन यत् स्थानमवस्थानं, तद्रूपमायुः,
द्व्यस्थानायुः, तस्य; (खेत्तद्व्याणायस्स चि) क्षेत्रस्याका-
शस्य, स्थानं भेदः पुत्तलावगाहकृतः, तस्यायुः-स्थितिः । अथवा
क्षेत्रे एकप्रदेशादौ, स्थानं यत्पुत्तलानामवस्थानं, तद्रूपमायुः, क्षेत्र-
स्थानायुः । एवमवगाहनास्थानायुर्भावस्थानायुश्च; नवरमवगा-
हनानियतपरिमाणुक्षेत्रावगाहान्वयं पुत्तलानाम् । भावस्तु काल-
त्वादिः । ननु क्षेत्रस्यावगाहनायाश्च को भेदः ? उच्यते-क्षेत्रम-
वगाहमेव । अवगाहना तु-विवक्षितक्षेत्रादन्यत्रापि पुत्तलानां
तत्परिमाणुवगाहान्वयमिति । “ कयरे ” इत्यादि कथ्यम् । एषां
च परस्परं पण्यवदुक्तव्याख्या गाथाऽनुसारेण कार्या । ताश्चैमा-
“ खेत्तोगाहणद्व्ये, भावद्व्याणायस्स अप्पवहुयस्से ।

थोवा असंखगुणिया, तिप्पि य सेत्ता कहं नेया ? ॥ १ ॥
खेत्ताऽमुत्तत्ताओ, तेण समं यथपण्यमाभावा ।

तो पोगल्लण थोवो, खेत्तावद्व्याणकालो व ” ॥ २ ॥

अयमर्थः-क्षेत्रस्याऽमुर्त्तत्वेन क्षेत्रेण सद पुत्तलानां विविध-
मध्यमस्थस्य स्नेहादेरजावगमैकत्र ते चिरं तिष्ठन्तीति श्रेयः । य-
द्भावेन तत् इत्यादि न्यक्तम् ।

अथावगाहनायुषो बहुत्वं भाव्यते-

“ अत्र खेत्तगयस्स वि, तं चियमाणं चिरं पि संधत्त ।
ओगाहणनासे पुण, खेत्ताऽअसं कुमं होइ ” ॥ ३ ॥

इदं पूर्वार्धेन क्षेत्राकाशा अधिकाऽवगाहनाद्येत्युक्तम् । उत्तर-
ार्धेन तु अवगाहनाकाशो जाधिका क्षेत्रादेति ।

कथमेतदेवम् ? इत्युच्यते-

“ ओगाहणावयदा, खेत्ता अक्रिया व यदा य ।

न व ओगाहणकालो, खेत्तामेत्तसंबन्धो ” ॥ ४ ॥

अवगाहनायामगमनक्रियायां च नियता क्षेत्राया विवक्षिता,
अवगाहनासंज्ञा एवाक्रियासंज्ञाः । एवं च तस्या-भावाद्भू-
त्यतिरेके चात्रावात् । अवगाहना तु-न क्षेत्रमात्रनियता, क्षेत्रा-
काशा अभावेऽपि तस्या भावादिति ।

अथ निगमनम्-

“ अम्हा तत्थ ऽअत्थ य, सन्वे ओगाहणा प्रवे खेत्ते ।

तम्हा खेत्ताओ-ऽवगाहणद्व्या असंखगुणा ” ॥ ५ ॥

अथ द्व्ययुषो बहुत्वं भाव्यते-

“ संकोयविकोयण व, उवरमियाए ऽवगाहणाए वि ।

तत्थियमेत्ताणं चिय, चिरं पि दव्वाणऽव्यंथाणं ” ॥ ६ ॥

संकोचेन, विकोचेन वा उपरतायामप्यवगाहनायां यावन्ति
द्व्याणि पूर्वमासंस्तावतामेव चिरमपि तेषामवस्थानं संभवति ।
अनेनावगाहनानिवृत्तावपि द्व्यं न निवर्तत इत्युक्तम् ।

अथ द्व्यनिवृत्तिविशेषेऽवगाहना निवर्तत एवेत्युच्यते-

“ संघायमेयओ वा, दव्वोवरमे पुणाइ संखिसे ।

नियमा तद्व्योगा-इणाइ नासो न संवेहो ” ॥ ७ ॥

सङ्घातेन, पुत्तलानां भेदेन वा तेषामेव यः संक्षिप्तः स्तोकाव-
गाहनः स्कन्धो न तु प्राकनावगाहनः, तत्र यो द्व्योपरमो क-
व्यान्यथात्वं, तत्र सति, न च सङ्घातेन न संक्षिप्तः स्कन्धो भवति,
तत्र सति सङ्घातरत्वेनापि तत्परिणतेः भवणाद् नियमात्तेषां
द्व्याणामवगाहनाया नाशो भवति ।

कसादेवम् ? इत्यत उच्यते-

“ ओगाहणा दव्वे, संकोयविकोयओ व अवयदा ।

न व दव्वं संकोयण-विकोयमेत्तस्मि संबन्धं ” ॥ ८ ॥

अवगाहनाकाशद्व्येऽवयदा नियतत्वेन संबन्धः । कथम् ? सङ्को-
चाद्विकोचाच्च, सङ्कोचादि परिहृत्येत्यर्थः । अवगाहनविषये
सङ्कोचविकोचयोरभावे सति भवति, तत्संज्ञावे च न भवती-
त्येव द्व्येऽवगाहना नियतत्वेन संबन्धेत्युच्यते । हुमत्वेऽदिर-
त्वमिवेति । उक्तविपर्ययमाह-न पुनर्द्व्यं सङ्कोचविकोचमात्रे
सत्यप्यवगाहनायां नियतत्वेन संबन्धं सङ्कोचविकोचाभ्यामव-
गाहनानिवृत्तावपि द्व्यं न निवर्तत इत्यवगाहनायां तन्नियत-
त्वेनासंबन्धमित्युच्यते, अदिरत्वे हुमत्ववदिति ।

अथ निगमनम्-

“ अम्हा तत्थ ऽअत्थ य, दव्वं ओगाहणाइ तं खेव ।

दव्वया संखगुणा, तम्हा ओगाहणकालो ” ॥ ९ ॥

अथ भावायुर्बहुत्वं भाव्यते-

“ संघायमेयओ वा, दव्वोवरमे वि पज्जवा संति ।

तं कसिणगुणविरामे, पुणाइ दव्वं न ओगाहो ” ॥ १० ॥

सङ्घातादिना द्व्योपरमेऽपि पर्यवाः सन्ति, यथा-घृष्टपुटे शु-
क्लादिगुणाः । सकलगुणोपरमे तु न तद्रूपं, न चावगाहनाऽनुव-
र्तते । अनेन पर्यवाणां चिरं स्थानं, द्व्यस्य त्वचिरमित्युक्तम् ।

अथ कसादेवम् ? इत्युच्यते-

“ संघायमेयबंघा-णुवत्तिणी णिक्खमेव दव्वका ।

न उ गुणकालो संघा-यमेयमत्तऽकसंबन्धो ” ॥ ११ ॥

सङ्घातभेदसङ्काशाभ्यां धर्माभ्यां यो बन्धः संबन्धस्तदनुव-
र्तिनी तदनुसारिणी, सङ्घाताद्यभाव एव द्व्यकाशाः सङ्गावात्,
तद्भावे चात्रावात्; नपुनर्गुणकालः, सङ्घातभेदमात्रकालसंबन्धः
सङ्घातादिभावेऽपि गुणानामनुवर्त्तनादिति ।

अथ निगमनम्-

“ अम्हा तत्थ ऽअत्थ य, दव्वे खेत्तावगाहणासुं व ।

तं खेव पज्जवा सं-ति वा तदका असंखगुणा ” ॥ १२ ॥

“ आह अपेयंतो यं, दव्वोवरमे गुणाण ऽवत्थाणं ।

गुणविप्परिणाममि य, दव्वविससो य ऽपेयंतो ” ॥ १३ ॥

द्व्यविशेषो द्व्यपरिणामः ।

“ विप्परिणयमि दव्वे, कस्सि गुणपरिणइ भवे ज्जुगवं ।

कस्मि विपुत्तदवत्थे, वि होइ गुणविप्परिणामो ” ॥ १४ ॥

“ प्रणइ सच्चं किं पुण, गुणबाहुजा न सन्वगुणनासो ।

दव्वस्स तदक्खे, वि बहुत्तराणं गुणाण विई ” ॥ १५ ॥ सि । अ०
५ शृ० ७ उ० ।

नकपायपरिणामकालापेक्षया क्रोधादिकपायपरिणामकालस्य यथोत्तरं विशेषाधिकतया क्रोधादिकपायाणामपि यथोत्तरं विशेषाधिकत्वभावात् । लोभकपायिण्यः सामान्यतः सकपायिणो विशेषाधिकाः, मानादिकपायाणामपि तत्र प्रक्षेपात् । सकपायिण इत्यत्रैवं व्युत्पत्तिः—कपायशब्देन कपायोदयः परिगृह्यते, तथा च लोके व्यवहारः—सकपायोऽयं, कपायोदयवान्ति-त्यर्थः । सह कपायेण कपायोदयेन वर्तन्ते सकपायोदयाः विपाकावस्थां प्राप्ताः स्वोदयमुपदर्शयन्तः कपायकर्मपरिमाणवन्तस्तेषु सत्सु जीवस्यावश्यं कपायोदयसंभवात् । सकपाया विद्यन्ते येषां ते सकपायिणः, कपायोदयसहिता इति तात्पर्यार्थः । गतं कपायद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० । सकपायिणामकपायिणां चाक्षपद्मत्वचिन्तायां, सर्वस्तोका अकपायिणः, सकपायिणोऽनन्तगुणाः । जी० = प्रति० । (कामभोगविषयमक्षपद्मत्वं 'कामभोग' शब्दे वक्ष्यते)

(१०) [कायद्वारम्] सकायिकानामक्षपद्मत्वम्—

एएसि णं जंते ! सकायाणं पुढविकायाणं आउकायाणं तेउकायाणं वाउकायाणं वणस्सइकायाणं तसकायाणं अकायाणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाया, तेउकाया असंखेज्जगुणा, पुढविकाया विसेसाहिया, आउकाया विसेसाहिया, वाउकाया विसेसाहिया, अकाया अणंतगुणा, वणस्सइकाया अणंतगुणा, सकाया विसेसाहिया वा ॥

सर्वस्तोकासकायिकाः, द्वीक्रियादीनामेव असकायिकत्वात्; तेषां च श्रेयकायापेक्षया अत्यल्पत्वात् । तेज्यस्तेजस्कायिका असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात् । तेज्यः पृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूतासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेज्योष्कायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततरासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यो वायुकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेज्योष्कायिका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेज्यो वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशराशिमानत्वात् । तेज्यः सकायिका विशेषाधिकाः, पृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । लक्ष्मौघिकानामक्षपद्मत्वम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । अर्थतत्त्वम्—“तस-तेउ-पुढवि-जल-वा, उकाय-अकाय वणस्सइसकाया ७ । थोवा १ ऽसंखगुणाहिय २, तिज्जिउ ३ दोऽणंतगुणा ७ अहिय” इति । प्र० २५ श० ३ उ० पं० सं० ।

इदानीमेतेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमक्षपद्मत्वमाह—

एएसि णं जंते ! सकायाणं पुढविकायाणं आउकायाणं तेउकायाणं वाउकायाणं वणस्सइकायाणं तसकायाणं य अपज्जत्तगाणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाया अपज्जत्तगा, तेउकाया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पुढविकाया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, आउकाया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, वणस्सइकाया अपज्ज-

त्तगा अणंतगुणा । सकाया अपज्जत्तगा विसेसाहिया । प्रज्ञा० ३ पद । (टीका चास्य सुगमाऽतो न प्रतन्यते)

साम्प्रतमेतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमक्षपद्मत्वमाह—

एएसि णं जंते ! सकायाणं पुढविकायाणं आउकायाणं तेउकायाणं वाउकायाणं वणस्सइकायाणं तसकायाणं य पज्जत्तगाणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाया पज्जत्तगा, तेउकाया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पुढविकाया पज्जत्तगा विसेसाहिया, आउकाया पज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाया पज्जत्तगा विसेसाहिया, वणस्सइकाया पज्जत्तगा अणंतगुणा, सकाया पज्जत्तगा विसेसाहिया । प्रज्ञा० ३ पद ।

(टीका सुगमा)

साम्प्रतमेतेषामेव सकायिकादीनां प्रत्येकं पर्याप्तापर्या-

सगतमक्षपद्मत्वमाह—

एएसि णं जंते ! सकायाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सकाया अपज्जत्तगा, सकाया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं जंते ! पुढविकायाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पुढविकाया अपज्जत्तगा, पुढविकाया पज्जत्तगा संखिज्जगुणा । एएसि णं जंते ! आउकायाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा आउकाया अपज्जत्तगा, आउकाया पज्जत्तगा संखिज्जगुणा । एएसि णं जंते ! तेउकायाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा तेउकाया अपज्जत्तगा, तेउकाया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं जंते ! वाउकायाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा वाउकाया अपज्जत्तगा, वाउकाया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं जंते ! वणस्सइकायाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा वणस्सइकाया अपज्जत्तगा, वणस्सइकाया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं जंते ! तसकायाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाया पज्जत्तगा, तसकाया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । प्रज्ञा० ३ पद ।

(टीका सुगमा)

साम्प्रतमेतेषामेव सकायिकादीनां समुदितानां पर्याप्तापर्याप्तगतमक्षपद्मत्वं पञ्चममाह—

खेज्जगुणा । एएसि खं जंते ! तेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ता-
णं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! गोयमा ! सव्वत्थो-
वा तेइंदिया पज्जत्तगा, तेइंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्ज-
गुणा । एएसि खं भंते ! चउरिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! गोयमा ! सव्वत्थोवा
चउरिंदिया पज्जत्तगा, चउरिंदिया अपज्जत्तगा अमं-
खेज्जगुणा । एएसि खं भंते ! पंचिंदियाणं पज्जत्तापज्ज-
त्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! गोयमा ! सव्व-
त्थोवा पंचिंदिया पज्जत्तगा, पंचिंदिया अपज्जत्तगा
असंखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः सेन्द्रिया अपर्याप्ताः, इह सेन्द्रिया एव बहव-
न्तत्रापि सूक्ष्माः, तेषां सर्वद्वोकापवत्त्वात् । सूक्ष्मा अपर्याप्ताः
सर्वस्तोकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणा इति । सेन्द्रिया अपर्याप्ताः स-
र्वस्तोकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः । एवमेकेन्द्रिया अपर्याप्ताः
सर्वस्तोकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणा भावनीयाः । तथा सर्वस्तो-
का द्वीन्द्रियाः पर्याप्ताः, यावन्ति प्रतेरऽहुत्त्वस्य असंख्येयभाग-
मात्राणि खरूपाणि तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् । तेज्योऽपर्याप्ता
असंख्येयगुणाः, प्रतरगताहुत्वासंख्येयभागखरूपात्रत्वात् ।
एवं त्रिचतुरिन्द्रियावत्त्वान्यापि वक्तव्यानि । गतं षडल्पबहु-
त्वात्तत्कं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ।

सम्प्रत्येतेषां सेन्द्रियादीनां समुचितानां पर्याप्तापर्याप्तानामल्प-
बहुत्वमाह—

एएसि खं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं वेइंदियाणं
तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! गोयमा ! सव्वत्थोवा
चउरिंदिया पज्जत्तगा, पंचिंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया,
वेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, तेइंदिया पज्जत्तगा विसे-
साहिया, पंचिंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, चउरिं-
दिया अपज्जत्तगा विसेसाहिआ, तेइंदिया अपज्जत्तगा
विसेसाहिआ, वेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, एगिं-
दिया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सइंदिया अपज्जत्तगा विसे-
साहिया, एगिंदिया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सइंदिया पज्ज-
त्तगा विसेसाहिया, सइंदिया विसेसाहिया ।

इदं प्रागुक्तद्वितीयतृतीयारूपबहुत्वभावनानुसारिणां स्वयं प्रा-
वनीयम्, तत्त्वतो भावितत्वात् । गतमिन्द्रियद्वारम् ॥ प्रज्ञा० ३३ पद ।
जी० । प्रव० । (इन्द्रियोपयोगाद्धाविषयमल्पबहुत्वम्—‘इंदियउ-
वभोग्का’ शब्दे द्वितीयभागे ५६८ पृष्ठे प्रकृपयिष्यते)

(७) [उद्धर्तनाऽपवर्तनयोरल्पबहुत्वम्]- सम्प्रति द्वयोरपि
उद्धर्तनापवर्तनयोरल्पबहुत्वं सूत्रकृत् प्रतिपादयति—

योवं एएसगुणहा-णि अंतरे दुसु जहन्ननिकखेवो ।
कमसो अणंतगुणिओ, दुसु वि अइत्थावणा तुह्वा ॥ २२२ ॥
त्राघाएणऽणुभाग-कंडगमेकावग्गणाऊणं ।

उक्किडो निकखेवो, ससंतबंधो य सविसेसो । २२३ ॥

एकस्यां विधिं स्थितौ यानि स्पर्शकानि तानि क्रमशः स्था-
प्यन्ते । तद्यथा-सर्वजघन्यं रसस्पर्शकमादौ, ततो विशेषाधि-
करसं द्वितीयम्, ततो विशेषाधिकरसं तृतीयम् । एवं तावत्स-
र्वात्कृष्टरसमन्ते । तत्राऽऽविस्पर्शकादारभ्योत्तरोत्तरस्पर्शकानि
प्रदेशापेक्षया विशेषादीनानि, अन्तिमस्पर्शकादारभ्य पुनरधोऽधः
क्रमेण प्रदेशापेक्षया विशेषाधिकानि, तेषां मध्ये एकस्मिन् द्विगु-
णवृद्धान्तरे द्विगुणहान्यन्तरे वा यत् स्पर्शके याति तत् सर्वस्तो-
कम् । मयवा ज्ञेहप्रत्ययस्य स्पर्शकस्य अनुभागद्विगुणवृद्धान्तरे,
द्विगुणहान्यन्तरे वा यदनुभागपटवत् तत्सर्वस्तोकान्येव प्राप्यन्ते ।
जन्दिमोस्सिण्डु प्रभृतानि, इति स्पर्शकसंख्यापेक्षया द्वयोरपि नि-
क्षेपस्तुल्यः । एवमातिशयापनस्य मुक्त्येनैवेऽपि च भावनीयम् ।
क्रमश इति च सकलगाथाऽपेक्षया योजनीयम् । ततो नयोरप्यति-
श्यापना व्याघातबाह्या अनन्तगुणा, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्या ।
ततो ‘वाघापणेत्यादि’ व्याघातेन यद् उत्कृष्टं अनुभागकण्टकमे-
कया वर्गणया एकसमयमात्रस्थितिगतस्पर्शकसंज्ञितरूपया क-
नम्, एषा उत्कृष्टानुभागकण्टकस्याश्रित्यापना, सा अनन्तगुणा ।
तत उद्धर्तनापवर्तनयोरुत्कृष्टे निक्षेपो विशेषाधिका, स्वस्थाने तु
परस्परं तुल्यः । ततः (ससंतबंधो य सविसेसो ऽति) पूर्वबन्धोत्क-
ृष्टस्थितिकर्मानुभागेन सह उत्कृष्टस्थित्यनुभागबन्धो विशेषा-
धिकाः । क० प्र० ॥

(८) [उपयोगद्वारम्] साकाराज्ञाकारो-

पयुक्तानामल्पबहुत्वम्—

एएसि खं जंते ! जीवाणं सागारोवउत्ताणं अण्णागारोव-
उत्ताणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! गोयमा ! सव्वत्थो-
वा जीवा अण्णागारोवउत्ता सागारोवउत्ता संखिज्जगुणा ।

इहानाकारोपयोगः कालः सर्वस्तोकाः, साकारोपयोगकालस्तु
सङ्ग्रेष्यगुणः । ततो जीवा अप्यनाकारोपयोगोपयुक्ताः सर्व-
स्तोकाः, पृच्छासमये तेषां स्तोकांनामेवावाप्यमानत्वात् ।
तेभ्यः साकारोपयोगोपयुक्ताः सङ्ग्रेष्यगुणाः, साकारोपयोगका-
लस्य दीर्घतया तेषां पृच्छासमये बहूनां प्राप्यमाणत्वात् । गतमु-
पयोगद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० । पं० सं० । क० प्र० ।

(कति सञ्चितानां कति असञ्चितानामवकल्पकसञ्चितानां षड्-
कसमर्जितानां यावच्चतुरङ्गितिसमर्जितानां, कर्मप्रदेशाग्राह्या-
मल्पबहुत्वं ‘बंध’ शब्दे प्रदेशबन्धावसरे वक्ष्यते)

(९) [कपायद्वारम्] क्रोधकपायादीनामल्पबहुत्वम्—

एएसि खं जंते ! जीवाणं सकसाईणं कोहकसाईणं
माणकसाईणं मायाकसाईणं झोजकसाईणं अकसाईणं
य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! गोयमा ! सव्वत्थोवा
जीवा अकसाई, माणकसाई अणंतगुणा, कोहकसाई विसे-
साहिया, मायाकसाई विसेसाहिया, झोजकसाई विसेसाहि-
या, सकसाई विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका अकपायिणः, सिद्धानां कतिपयानां च मनुष्याणाम-
कपायत्वात् । तेभ्यो मानकपायिणो मानकपायपरिणामवतोऽनन्त
गुणाः, षड्रूपि जीवनिकायेषु मानकपायपरिणामस्याऽवाप्यमान-
त्वात् । तेभ्यः क्रोधकपायिणो विशेषाधिकाः, तेभ्यो मायाकपायि-
णो विशेषाधिकाः, तेज्योऽपि क्षोभकपायिणो विशेषाधिकाः, मा-

त्वात् । तेज्यो वायुकायिका विशेषाधिकाः, प्रभृततमासंख्येय-
लोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेज्यो वनस्पतिकायिका अनन्त-
गुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । जी० ६ प्रति० ।

सम्प्रति एतेषामेवानिन्द्रियसहितानां दशानामल्पबहुत्वमाह-
एएसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं अउकाइयाणं तेउ०,
वाउ०, वणप्फति०, वेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचि-
दियाणं अणिदियाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० जाव
विसेसाहिया ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचेदिया, चउरिंदिया
विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, वेइंदिया वि०, तेउकाइ-
या असंखेज्जगुणा । पुढविकाइया वि०, आउकाइया वि०,
वाउकाइया वि०, अणिदिया अणंतगुणा, वणप्फतिकाइया
अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रियाः, चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, त्रीन्द्रि-
या विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेजस्कायिका
असंख्येयगुणाः, पृथिवीकायिकाः विशेषाधिकाः, अप्कायिका
विशेषाधिकाः, वायुकायिका विशेषाधिकाः, अनिन्द्रिया अन-
न्तगुणाः, वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः । जी० १० प्रति० ।

अधुनाऽमीषामेव सूक्ष्मादीनां प्रत्येकं पर्याप्तगता-
न्यल्पबहुत्वान्याह-

एएसि णं भंते ! सुहुमाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमा अपज्ज-
त्तगा, सुहुमा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते !
सुहुमपुढविकाइयाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमपुढविकाइया
अपज्जत्तया, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा ।

इह बादरेषु पर्याप्तयोऽपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, एकैकपर्या-
प्तनिश्चया असंख्येयानामपर्याप्तानामुत्पादात् । तथा चोक्तं प्राक्
प्रथमे प्रज्ञापनाख्ये पदे-“ पज्जत्तगनिस्साए अपज्जत्तगा
वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्ज ” इति । सूक्ष्मेषु
पुनर्नायं क्रमः । पर्याप्ताऽपरापर्याप्तापेक्षया चिरकावस्थायिन
इति । सदैव ते बहवो लभ्यन्ते । तत उक्तम्-सर्वस्तोकाः सूक्ष्मा
अपर्याप्ताः, तेज्यः सूक्ष्माः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः, एवं पृ-
थिवीकायिकादिष्वपि प्रत्येकं भावनीयम् । गतं चतुर्थमल्पब-
हुत्वम् ।

इदानीं सर्वेषां समुद्दितानां पर्याप्तापर्याप्तगतं पञ्चममल्पबहु-
त्वमाह-

एएसि णं भंते ! सुहुमआउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा सु-
हुमआउकाइया अपज्जत्तया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा
संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमतेउकाइयाणं पज्जत्ता-
पज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्व-
त्थोवा सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगा, सुहुमतेउकाइया प-
ज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमवाउकाइयाणं

पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! । गो-
यमा ! सव्वत्थोवा सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया, सुहुमवा-
उकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते !
सुहुमवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहु-
मवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा, सुहुमवणस्सइकाइया पज्ज-
त्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमनिगोदाणं
पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगा सुहुमनि-
गोदा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमाणं
सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं
सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमनिगोदाणं
य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया, सुहुमपुढ-
विकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया अ-
पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया विसे-
साहिया, सुहुमतेउकाइया पज्ज० संखेज्जगुणा, सुहुमपुढवि-
काइया पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा
विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुम-
निगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमनिगोदा पज्जत्त-
गा संखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा,
सुहुमा अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमा वणस्सइकाइया
पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सुहुमा पज्जत्तगा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः सूक्ष्मास्तेजस्कायिका अपर्याप्ताः, कारणं प्रागेवो-
क्तम् । तेभ्यः सूक्ष्माः पृथिवीकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ।
तेज्यः सूक्ष्माप्कायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः । तेज्यः सूक्ष्मवा-
युकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः । अत्रापि कारणं प्रागेवोक्तम् ।
तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः । अपर्याप्ते-
भ्यो हि पर्याप्ताः संख्येयगुणाः । इत्यनन्तरं भावितम् । तत्र
सर्वस्तोकाः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता उक्ताः । इतरे च सू-
क्ष्मपर्याप्ताः पृथिवीकायिकादयो विशेषाधिकाः विशेषाधिकत्वं च
मनागधिकत्वम्, न द्विगुणत्वं न त्रिगुणत्वं वा । ततः सूक्ष्मते-
जस्कायिकेभ्योऽपर्याप्तेभ्यः पर्याप्ताः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः संख्येय-
गुणाः सन्तः सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्तेभ्योऽपि असंख्येयगुणा
भवन्ति । तेज्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः ।
तेज्यः सूक्ष्माप्कायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः । तेज्योऽपि सू-
क्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा
अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, तेषामतिप्राचुर्यात् । तेज्यः सूक्ष्मनि-
गोदाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानामोघ-
तः संख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्या-
प्ता अनन्तगुणाः, प्रतिनिगोदमनन्तानां तेषां भावात् । तेज्यः
सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्तकाः विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथिवी-
कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । तेज्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायि-

एप्पसि णं जंते ! सकाड्याणं पुढविकाड्याणं आउकाड्याणं नेउकाड्याणं वाउकाड्याणं वणस्सइकाड्याणं तमकाड्याणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सन्वत्थोवा तमकाड्या पज्जत्तगा, तसकाड्या अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, तेउकाड्या अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पुढविकाड्या अपज्जत्तगा विसेसाहिया, आउकाड्या अपज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाड्या अपज्जत्तगा विमेसाहिया, तेउकाड्या पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, पुढविकाड्या पज्जत्तगा विमेसाहिया, अप्पकाड्या पज्जत्तगा विमेसाहिया, वाउकाड्या पज्जत्तगा विसेसाहिया, वणस्सइकाड्या अपज्जत्तगा अणंतगुणा, वणस्सइकाड्या पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सकाड्या अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सकाड्या पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सकाड्या विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः सत्त्वसत्त्वकायिकाः पर्याप्तकाः, तेभ्यस्सत्त्वकायिका एवाऽपर्याप्तका असंख्येयगुणाः; द्विन्द्रियादीनामपर्याप्तानां पर्याप्त-
द्विन्द्रियादिभ्योऽसंख्येयगुणत्वात् । ततस्तेजस्कायिका अपर्याप्ता
असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । ततः
पृथिव्यम्बुवायवोऽपर्याप्ताः क्रमेण विशेषाधिकाः । ततस्तेजस्का-
यिकाः पर्याप्ताः सत्त्वधेयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानां
संख्येयगुणत्वात् । ततः पृथिव्यव्यायवः पर्याप्ताः क्रमेण विशेषा-
धिकाः । ततो वनस्पतयोऽपर्याप्ता अनन्तगुणाः । पर्याप्ताः सत्त्वधेय-
गुणाः । तदेवं कायद्वारे सामान्येन पञ्चसूत्राणि प्रतिपादितानि ॥

सम्प्रत्यस्मिन्नेव द्वारे सूक्ष्मवायुकायिकेभ्येन

पञ्चदश सूत्राण्याह—

एप्पसि णं भंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाड्याणं सुहुमआ-
उकाड्याणं सुहुमतेउकाड्याणं सुहुमवाउकाड्याणं सुहुम-
वणस्सइकाड्याणं सुहुमणिओयाणं य कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सन्वत्थोवा सुहुमतेउकाड्या
सुहुमपुढविकाड्या विसेसाहिया, सुहुमआउकाड्या विसे-
साहिया, सुहुमवाउकाड्या विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा
असंखेज्जगुणा । सुहुमवणस्सइकाड्या अणंतगुणा, सुहुमा
विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः असंख्येयलोकाकाशप्रदेश-
प्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, प्र-
भूतासत्त्वधेयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्माकायि-
काः, प्रभूततरासंख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मवा-
युकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासत्त्वधेयलोकाकाशप्रदेशरा-
शिमानत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा असंख्येयगुणाः । सूक्ष्म-
ग्रहणं वादरव्यवच्छेदार्थम् । द्विविधा हि निगोदाः—सूक्ष्माः,
वादराश्च । तत्र वादराः सूरणकन्दादियु, सूक्ष्माः सर्वलोकापभाः,
ते च प्रतिगोलकमसत्त्वधेया इति सूक्ष्मवायुकायिकेभ्योऽसंख्ये-
यगुणाः । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, प्रतिनि-
गोदमनन्तानां प्रावात् । तेभ्यः सामानिकाः सूक्ष्मजीवा विशेष-
पाधिकाः, सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रकृताः । गतमौ-
घिकानामिदमल्पबहुत्वम् ।

इदानीमेतेषामेवाऽपर्याप्तानामाह—

एप्पसि णं भंते ! सुहुमअपज्जत्तगाणं सुहुमपुढविकाड्या
अपज्जत्तगाणं सुहुमआउकाड्या अपज्जत्तगाणं सुहुमते-
उकाड्या अपज्जत्तगाणं सुहुमवाउकाड्या अपज्जत्तगाणं
सुहुमवणस्सइकाड्या अपज्जत्तगाणं सुहुमनिगोदा अपज्ज-
त्तगाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा !
सन्वत्थोवा सुहुमतेउकाड्या अपज्जत्तगा, सुहुमपुढविका-
ड्या अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमआउकाड्या अपज्ज-
त्तगा विसेसाहिया, सुहुमवाउकाड्या अपज्जत्तगा विसे-
साहिया, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहु-
मवणस्सइकाड्या अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सुहुमा अप-
ज्जत्तगा विसेसाहिया ॥

इदमपि प्रागुक्तक्रमेणैव भावनीयम् ।

सम्प्रत्येतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एप्पसि णं जंते ! सुहुमपज्जत्तगाणं सुहुमपुढविकाड्यापज्ज-
त्तगाणं सुहुमआउकाड्यापज्जत्तगाणं सुहुमतेउकाड्यापज्जत्त-
गाणं सुहुमवाउकाड्यापज्जत्तगाणं, सुहुमवणस्सइकाड्यापज्ज-
त्तगाणं सुहुमनिगोदपज्जत्तगाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा
वा० ४ ? । गोयमा ! सन्वत्थोवा सुहुमतेउकाड्या पज्जत्तगा,
सुहुमपुढविकाड्या पज्जत्तगा विसेसाहिया । सुहुमआउकाड्या
पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमवाउकाड्या पज्जत्तगा विसे-
साहिया, सुहुमनिगोदा पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमवण-
स्सइकाड्या पज्जत्तगा अणंतगुणा, सुहुमा पज्जत्ता विसेस-
हिया ।

इदमपि प्रागुक्तक्रमेणैव भावनीयम् । प्रश्ना० ३ पद ।

पृथिव्यतेजोवायुवनस्पतिर्द्विन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रि-
याणां नवानामल्पबहुत्वचिन्तायामाह—

अप्पावहुगं सन्वत्थोवा पंचिंदिया, चत्तारिंदिया विसेसा-
हिया, तेइंदिया विसेसाहिया, वेइंदिया विसेसाहिया, तेउ-
काड्या असंखेज्जगुणा, पुढवि० आउ० वाउ० विसे-
साहिया, वणस्सइकाड्या अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रियाः, संख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणविष्क-
म्भसूचीप्रमितराश्यसंख्येयजागवर्त्यसंख्येयभेनिगताकाशप्रदेश-
राशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, विष्कम्भसू-
च्यास्तेषां प्रभूतसंख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि
त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततरसंख्येय-
योजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि द्वीन्द्रिया विशेषाधि-
काः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततमसंख्येययोजनकोटीकोटि-
प्रमाणत्वात् । तेभ्यस्तेजस्कायिका असंख्येयगुणाः, असंख्ये-
यलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः पृथिवीकायिका विशे-
पाधिकाः, प्रभूतासंख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्यका-
यिका विशेषाधिकाः, प्रभूततरासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाण-

काः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः । सूक्ष्मेषु हि अपर्याप्तिन्यः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः । यथापान्तरात्रे विशेषाधिकत्वं तदल्पमिति न संख्येयगुणत्वव्याघातः । तेन्यः सूक्ष्मपर्याप्तका विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथिव्यादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यः सूक्ष्मा विशेषाधिकाः, अपर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् ॥ १५ ॥ तदवमुक्तानि सूक्ष्माधितानि पञ्चसूत्राणि ।

सम्प्रति बादराधितानि पञ्चोक्तक्रमेणानिधित्सुराह—

एएसि एं मंते ! बादराणां बादरपुढविकाइयाणं बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसररीरवादरवणस्सइकाइयाणं बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाणं य कयरे कयरोहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया, बादरतेउकाइया असंखेज्जगुणा, पत्तेयसररीरवादरवणस्सइकाइया असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया असंखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया अणंतगुणा, बादरा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका बादरवसकायिकाः, द्वीन्द्रियादीनामेव बादरवसत्वात्, तेषां च शेषकायेभ्योऽल्पत्वात् । तेभ्यो बादरतेजस्कायिका असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेश—प्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि प्रत्येकशरीरवादरवणस्सइकायिका असंख्येयगुणाः, स्थानस्यासंख्येयगुणत्वात् । बादरतेजस्कायिका हि मनुष्येभ्यः पञ्च भवन्ति । तथा चोक्तं द्वितीयस्याभाष्ये पदे—“कहि एं मंते ! बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पञ्चत्ता ? । गोयमा ! सत्ताणेषु अंतो मणुस्सक्खित्ते अद्वाउज्जेसु दीवसमुद्देशु निब्बाघाएणं पन्नरसकम्मभूमिसु वाघाएणं पंचसु महाविदेहेसु एत्थ एं बायरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पञ्चत्ता, तत्थेव बायरतेउकाइयाणमपज्जत्तगाणं ठाणा पञ्चत्ता” इति । बादरवणस्सइकायिकेषु त्रिष्वपि लोकेषु भवनादिषु । तथा चोक्तं तस्मिन्नेव द्वितीये आभाष्ये पदे—“कहि एं मंते ! बायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पञ्चत्ता ? । गोयमा ! सत्ताणेषु सत्तसु घणोददीसु सत्तसु घणोदहियलपसु अद्दोलोए पायबेसु भवणेषु भवणपत्थनेसु उद्धोए कप्पेसु विमाणेषु विमाणावलियासु विमाणापत्थनेसु तिरियलोए अगनेसु तलापसु नदीसु वहेसु बापीसु पुक्करिणीसु दीहियासु गुज्जालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु विलपंतियासु उज्जरेसु निज्जरेसु चिह्वरेसु पम्भेसु विपिन्नेसु दीवेसु समुद्देशु सव्वेसु वेव जल्लासणसु जल्लुण्णेषु, एत्थ एं बायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पञ्चत्ता” । तथा—“अत्थेव बायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा तत्थेव बायरवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पञ्चत्ता” इति । ततः क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वादुपपद्यन्ते बादरतेजस्कायिकेभ्योऽसंख्येयगुणाः प्रत्येकशरीरवादरवणस्सइकायिकाः । तेभ्यो बादरनिगोदा असंख्येयगुणाः, तेषामत्यन्तसूक्ष्मावगाहनत्वात्, जलेषु सर्वत्रापि च प्राक्ता । पनकशैवाहादयो हि जले अवश्यं भाविनः, ते च यादरान्तकायिका इति । तेभ्योऽपि बादरपृथि-

वीकायिका असंख्येयगुणाः, अष्टसु पृथिवीषु सर्वेषु विमानमवनपर्वतादिषु भावात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा बादरवाउकायिकाः, समुद्देशु जलप्राप्त्यात् । तेभ्यो बादरवाउकायिका असंख्येयगुणाः, सुषिरे सर्वत्र वायुसंघवात् । तेभ्यो बादरवणस्सइकायिका अनन्तगुणाः, प्रतिबाहरनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात् । तेभ्यः सामान्यतो बादरा जीवा विशेषाधिकाः, बादरवसकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । गतमेकमौधिकानां बादराणामल्पबहुत्वम् ।

इदानीं तेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमाह—

एएसि एं मंते ! बादरा पज्जत्तगाणं बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगाणं बादरआउकाइया अपज्जत्तगाणं बादरवाउकाइया अपज्जत्तगाणं बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगाणं पत्तेयसररीरवादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगाणं बादरनिगोदा अपज्जत्तगाणं बादरतसकाइया अपज्जत्तगाणं य कयरे कयरोहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया अपज्जत्तगा, बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पत्तेयसररीरवादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, बादरअपज्जत्तगा विसेसाहिया २ । सर्वस्तोका बादरवसकायिका अपर्याप्तकाः, युक्तिरत्र प्रागुक्तैव । तेभ्यो बादरतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । इत्येवं प्रागुक्तक्रमेणैवमल्पबहुत्वं भावनीयम् । गतं द्वितीयमल्पबहुत्वम् ।

इदानीमेतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि एं मंते ! बादरपज्जत्तगाणं बादरपुढविकाइया पज्जत्तगाणं बादरआउकाइया पज्जत्तगाणं बादरतेउकाइया पज्जत्तगाणं बादरवाउकाइया पज्जत्तगाणं बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगाणं पत्तेयसररीरवादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगाणं बादरनिगोदपज्जत्तगाणं बादरतसकाइया पज्जत्तगाणं य कयरे कयरोहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पज्जत्तगा, बादरतसकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पत्तेयसररीरवादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा अनन्तगुणा, बादरपज्जत्तगा विसेसाहिया ॥ ३ ॥

बादरैकैकनिगोदमनन्तानां सद्भावात् । तेभ्यः सामान्यतो वा-
दरा अपर्याप्तका विशेषाधिकाः, बादरत्रसकायिकापर्याप्तादी-
नामपि तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यः सूक्ष्मवचनस्पतिकायिका अपर्याप्ता
असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदपर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदापर्याप्ता-
नामसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मापर्याप्ता विशे-
षाधिकाः, सूक्ष्मतेजस्कायिकापर्याप्तादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ।
गतं द्वितीयमल्पबहुत्वम् । प्रका० ३ पद । जी० ।

अधुनैतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं जंते ! सुहुमपज्जत्तयाणं सुहुमपुढविकाइयपज्ज-
त्तयाणं सुहुमआउकाइयपज्जत्तयाणं सुहुमतेउकाइयपज्ज-
त्तयाणं सुहुमवाउकाइयपज्जत्तयाणं सुहुमवणस्सइकाइयप-
ज्जत्तयाणं सुहुमनिगोयपज्जत्तयाणं बादरपज्जत्तयाणं वा-
दरपुढविकाइयपज्जत्तयाणं बादरआउकाइयपज्जत्तयाणं वा-
दरआउकाइयपज्जत्तयाणं बादरतेउकाइयपज्जत्तयाणं वा-
दरवाउकाइयपज्जत्तयाणं बादरवणस्सइकाइयपज्जत्तयाणं
पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइयपज्जत्तयाणं बादरनिगोदप-
ज्जत्तयाणं बादरतसकाइयपज्जत्तयाणं य कयरे कयरेहिंतो अ-
प्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पज्जत्तया
बादरतसकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीर-
वादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, बादरनिगो-
दा पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया पज्जत्तया
असं०, बादरआउकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, वाद-
रवाउकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमतेउकाइया
पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तया वि-
सेसाहिया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहु-
मवाउकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा पज्जत्त-
या असंखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया अणं-
त्तगुणा, बादरा पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया
पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमा पज्जत्तया विसेसाहिया ।

(सुहुमपज्जत्तयाणमित्यादि) । सर्वस्तेका बादरतेजस्का-
यिकाः पर्याप्ताः, तेभ्यो बादरत्रसकायिकाः, बादरप्रत्येकवच-
नस्पतिकायिकाः, बादरनिगोदाः, बादरपृथिवीकायिकाः,
बादराष्कायिकाः, बादरवायुकायिकाः पर्याप्ता यथोत्तरमसंख्ये-
यगुणाः । अत्र प्रावना बादरपञ्चसूत्र्यां यत् तृतीयं पर्याप्तसूत्रं
तद्वक्तव्यम् । बादरपर्याप्तवायुकायिकेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः
पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, बादरवायुकायिका हि असंख्येयप्रतर-
प्रदेशराशिप्रमाणाः, सूक्ष्मतेजस्कायिकास्तु पर्याप्ता असंख्ये-
यलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः, ततोऽसंख्येयगुणाः । ततः
सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः सूक्ष्माष्कायिकाः सूक्ष्मवायुकायिकाः
पर्याप्ताः क्रमेण यथोत्तरं विशेषाधिकाः । ततः सूक्ष्मवायुकायि-
केभ्यः पर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्तका असंख्येयगुणाः, तेषा-
मतिप्रचूततया प्रतिगोलकं भावात् । तेभ्यो बादरवचनस्पतिका-
यिका जीवाः पर्याप्तका अनन्तगुणाः, प्रतिबादरैकैकनिगोदम-
नन्तानां भावात् । तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्याप्तका विशे-

षाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षे-
पात् । तेभ्यः सूक्ष्मवचनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः,
बादरनिगोदपर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदपर्याप्तानामसंख्येयगुणत्वात् ।
तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, सूक्ष्मतेजस्का-
यिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् ॥ गतं तृतीयमल्पबहु-
त्वम् । प्रका० ३ पद । जी० ।

इदानीमेतेषामेव सूक्ष्मबादरादीनां प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तानां
पृथक् २ मल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं जंते ! सुहुमाणं बादराणं य पज्जत्तापज्जत्ताणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा
वादरा पज्जत्तया, बादरा अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमा
अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमा पज्जत्तया संखेज्जगुणा ।
एएसि णं जंते ! सुहुमपुढविकाइयाणं बादरपुढविकाइ-
याणं य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरपुढविकाइया पज्जत्तया, बादर-
पुढविकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमपुढविका-
इया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया पज्ज-
त्तया संखेज्जगुणा । एएसि णं जंते ! सुहुमआउकाइया-
णं बादरआउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरआउकाइया
पज्जत्तया बादरआउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा,
सुहुमआउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमआ-
उकाइया पज्जत्तया संखेज्जगुणा । एएसि णं जंते !
सुहुमतेउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं य पज्जत्तापज्जत्ताणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा
बादरतेउकाइया पज्जत्तया, बादरतेउकाइया अपज्जत्तया
असंखेज्जगुणा । सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्ज-
गुणा, सुहुमतेउकाइया पज्जत्ता संखेज्जगुणा । एएसि णं
जंते ! सुहुमवाउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं य पज्ज-
त्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! । गो-
यमा ! सव्वत्थोवा बादरवाउकाइया पज्जत्तया, बादर-
वाउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा । सुहुमवाउकाइया
अपज्जत्तया असंखेज्ज०, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तया अ-
संखेज्जगुणा । एएसि णं जंते ! सुहुमवणस्सइकाइयाणं
बादरवणस्सइकाइयाणं य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरवणस्स-
इकाइया पज्जत्तया, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया अ-
संखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखि-
ज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तया संखेज्जगुणा ।
एएसि णं जंते ! सुहुमनिगोदाणं बादरनिगोदाणं य पज्ज-
त्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! । गोयमा !
सव्वत्थोवा बादरनिगोदा पज्जत्तया, बादरनिगोदा अप-

असंख्येयगुणाः। तेभ्यो वादराप्कायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः। तेभ्यो वादरायुकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः। एतेषु पदेषु युक्तिः प्रागुक्ता अनुमरणीया ॥ तेभ्यो वादरनेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, यतो वादरायुकायिकाः पर्याप्ताः संख्येयेषु प्रतेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणाः, वादर-तेजस्कायिकाश्चापर्याप्ता असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः, ततो भवन्त्यसंख्येयगुणाः। ततः प्रत्येकशरीरवादरवणस्पतिकायिकाः, वादरनिगोदाः, वादरपृथिवीकायिकाः, वादराप्कायिकाः, वादरायुकायिका अपर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणा वक्तव्याः। यद्यपि चैत प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणास्तथाऽप्यसंख्यातस्यासंख्यातभेदभिन्नत्वादिस्थं यथोत्तरमसंख्येयगुणत्वं न विदुर्भवेत्। तेभ्यो वादरवणस्पतिकायिका जीवाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः, प्रतिवादरैकैकनिगोदमनन्तानां जीवानां ज्ञात्वात्। तेभ्यः सामान्यतो वादराः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, वादरतेजस्कायिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात्। तेभ्यो वादरवणस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणा एकैकपर्याप्त-वादरवणस्पतिकायिकनिगोदनिभयाः, असंख्येयानामपर्याप्त-वादरवणस्पतिकायिकनिगोदानामुत्पादात्। तेभ्यः सामान्यतो वादरा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, वादरतेजस्कायिकादीनामप्यपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात्। तेभ्यः पर्याप्तापर्याप्तविशेषणरहिताः सामान्यतो वादरा विशेषाधिकाः, वादरपर्याप्ततेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्। गतानि वादराधितान्यपि पञ्च सूत्राणि।

सम्प्रति सूत्रमयादरसमुदायगतं पञ्चसूत्रीमभिधितुः प्रथमं औधिकं सूत्रमवाद्रसूत्रमाह-

एषसि णं भंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुम-आठकाइयाणं सुहुमतेठकाइयाणं सुहुमवाठकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमनिगोदाणं वादराणं वादरपुढविकाइयाणं वादरआठकाइयाणं वादरतेठकाइयाणं वादरवाठकाइयाणं वादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइयाणं वादरनिगोदाणं वादरतसकाइयाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा वादरतसकाइया १, वादरतेठकाइया असंखेज्जगुणा २, पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइया असंखेज्जगुणा ३, वादरनिगोदा असंखेज्जगुणा ४, वादरपुढविकाइया असंखेज्जगुणा ५, वादरआठकाइया असंखेज्जगुणा ६, वादरवाठकाइया असंखेज्जगुणा ७, सुहुमतेठकाइया असंखेज्जगुणा ८, सुहुमपुढविकाइया विसेसाहिया ९, सुहुमआठकाइया विसेसाहिया १०, सुहुमवाठकाइया विसेसाहिया ११, सुहुमनिगोदा असंखेज्जगुणा १२, वादरवणस्सइकाइया अणंतगुणा १३, वादरा विसेसाहिया १४, सुहुमवणस्सइकाइया असंखेज्जगुणा १५, सुहुमा विसेसाहिया १६ ॥

(एषसि णं भंते ! इत्यादि) इह प्रथमं वादरगतमव्यवहृतं वादरसूत्रां यत्प्रथमं सूत्रं तद्वद्भावनं यावद्वादरायुकायिक-पदम्। तदनन्तरं यत्सूत्रमगतमव्यवहृतम्। ततः सूत्रमप-ञ्चसूत्रां यत्प्रथमं सूत्रं तद्वत्, तावदायमसूत्रमनिगोदचिन्ता।

तदनन्तरं वादरवणस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, प्रतिवाद-रनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात्। तेभ्यो वादरा विशेषा-धिकाः, वादरतेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्। तेभ्यः सूत्रमवणस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, वादरनिगोदेभ्यः सु-द्रमनिगोदानामसंख्येयगुणत्वात्। तेभ्यः सामान्यतः सूत्रमा विशेषाधिकाः, सूत्रमतेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्। गतमेकमव्यवहृतम्। प्रश्ना० ३ पद। जी०।

इदानीमेतेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमाह-

एषसि णं भंते ! सुहुमअपज्जत्तयाणं सुहुमपुढविकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमआठकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमतेठकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमवाठकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमनिगोदा अपज्जत्तयाणं वादरा अपज्जत्तयाणं वादरपुढविकाइया अपज्जत्तयाणं वादरआठकाइया अपज्जत्तयाणं वादरतेठकाइया अपज्जत्तयाणं वादरवाठकाइया अपज्जत्तयाणं वा-दरवणस्सइकाइया अपज्जत्तयाणं पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तयाणं वादरनिगोदा अपज्जत्तयाणं वादर-तसकाइया अपज्जत्तयाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा वादरतसकाइया अपज्जत्तगा १, वादरतेठकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा २, पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ३, वादरनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ४, वादरपुढ-विकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ५, वादरआठका-इया अपज्जत्तगा असंखे० ६, वादरवाठकाइया अपज्ज-त्तगा असंखेज्जगुणा ७, सुहुमतेठकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ८, सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसा-हिया ९, सुहुमआठकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया १०, सुहुमवाठकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया ११, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा १२, वादरव-णस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा १३, वादरा अप-ज्जत्तगा विसेसाहिया १४, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा १५, सुहुमा अपज्जत्तगा विसेसाहिया १६।

सर्वस्तोका वादरवणस्पतिका अपर्याप्ताः। ततो वादरतेजस्का-यिका वादरप्रत्येकवणस्पतिकायिकवादरनिगोदवादरपृथिवी-कायिकवादराप्कायिकवादरायुकायिका अपर्याप्ताः क्रमेण य-थोत्तरमसंख्येयगुणाः। अत्र भावना वादरपञ्चसूत्रां यद् द्विती-यमपर्याप्तकसूत्रं तद्वत्कर्त्तव्या। ततो वादरायुकायिकेभ्योऽ-संख्येयगुणाः सूत्रमतेजस्कायिका अपर्याप्ताः, अतिप्रभृतासंख्ये-यलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्। तेभ्यः सूत्रमपृथिवीकायिकाः सूत्रमायुकायिकाः सूत्रमनिगोदा अप-र्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणाः। अत्र भावना सूत्रमपञ्चसूत्रां यद् द्वितीयं सूत्रं तद्वत्। तेभ्यः सूत्रमनिगोदाऽपर्याप्तेभ्यो वा-दरवणस्पतिकायिका जीवा अपर्याप्ता अनन्तगुणाः, प्रति-

क्षेत्रानुपातेन क्षेत्रानुसारेण नैरयिकः श्रित्यमानाः सर्वस्तोकाः
त्रैलोक्ये लोकत्रयसंस्पर्शिनः । कथं लोकत्रयसंस्पर्शिनो नैरयि-
काः ? कथं वा ते सर्वस्तोकाः ? इति चेत्, उच्यते-इह ये मेरु-
शिखरे ब्रह्मजनदधिमुखपर्वतशिखरादिषु वा वापिषु वर्तमाना
मन्त्यादयो नारकधूतिपत्सव ईक्षिकागत्या प्रवेशान् विक्षिपन्ति,
ते किल त्रैलोक्यमपि स्पृशन्ति, नारकव्यपदेशं च लभन्ते, त-

ज्जत्तया अनंखिज्जगुणा, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तया अ-
संखिज्जगुणा, सुहुमनिगोदा पज्जत्तया संखिज्जगुणा ॥

सर्वत्रेयं भावना-सर्वस्तोका बादराः पर्याप्ताः, परिमितक्रेत्रवर्ति-
त्वान् । तेज्यो बादरा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, एकैकबादरप-
र्याप्तनिश्चया असंख्येयानां बादरपर्याप्तानामुत्पादात् । तेज्यः सू-
क्ष्मा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, सर्वलोकोत्पत्तितया तेषां क्रेत्र-
स्यासंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्माः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः, चि-
रकालावस्थायितया तेषां सदैव संख्येयगुणतयाऽवाप्यमानत्वा-
त् । गते चतुर्यमल्पवद्वत्त्वम् ॥

इदानीमेतेषामेव सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनां बादरपृथिवीका-
यिकादीनां च प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तानां च समुदायेन पञ्चममध्य-
युत्वमाह-

एणसि णं जंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुमआ-
उकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवण-
स्सइकाइयाणं सुहुमनिगोदाणं बादराणं बादरपुढविकाइयाणं
बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं
बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइयाणं
बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे
कयरोइत्तो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा वा-
दरतेउकाइया पज्जत्तया १, बादरतसकाइया पज्जत्त-
या असंखिज्जगुणा २, बादरतसकाइया अपज्जत्तया अ-
संखिज्जगुणा ३, पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइया पज्ज-
त्तया असंखिज्जगुणा ४, बादरनिगोदा पज्जत्तया अ-
संखिज्जगुणा ५, वायरपुढविकाइया पज्जत्तया असंखे-
ज्जगुणा ६, बादरआउकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा
७, बादरवाउकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा ८, बादरते-
उकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा ९, पत्तेयसरीरवा-
दरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखेज्ज० १०, बादर-
निगोदा अपज्जत्तया असंखे० ११, बादरपुढविकाइया
अपज्जत्तया असंखे० १२, बादरआउकाइया अपज्जत्तया
असंखे० १३, बादरवाउकाइया अपज्जत्तया असंखे० १४,
सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा १५, सु-
हुमपुढविकाइया अपज्जत्तया विसैसाहिया १६, सुहुम-
आउकाइया अपज्जत्तया विसैसाहिया १७, सुहुमवाउका-
इया अपज्जत्तया विसैसाहिया १८, सुहुमतेउकाइया पज्ज-
त्तया संखे० १९, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तया विमे-
साहिया २०, सुहुमआउकाइया पज्जत्तया विसैसाहिया
२१, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तया विसैसाहिया २२, सुहु-
मनिगोदा अपज्जत्तया असंखे० २३, सुहुमनिगोदा पज्जत्तया
संखे० २४, बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया अणंतगुणा २५,
बादरा पज्जत्ता विसैसाहिया २६, बादरवणस्सइकाइया अप-
ज्जत्तया असंखिज्जगुणा २७, बादरा अपज्जत्तया विसैसाहिया
२८, बादरा विसैसाहिया २९, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्ज-

त्तया असंखि० ३०, सुहुमा अपज्जत्तया विसैसाहिया
३१, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तया असंखे० ३२, सु-
हुमा पज्जत्तया विसैसाहिया ३३, सुहुमा विसैसाहिया ३४ ।

(एणसि णं जंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणमित्था-
दि) सर्वस्तोका बादरतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः, आवलि-
कासमयवर्गकतिपयसमयन्यूनैरावल्लिकासमयैर्गुणिते यावान्
समयराशिस्तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् १ । तेज्यो बादरतसका-
यिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यहुत्तासंख्येयमा-
गमात्राणि अपर्याप्ता तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् २ । तेज्यो बादरत-
सकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यहुत्तासं-
ख्येयमागमात्राणि अपर्याप्ता तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् ३ । ततः प्र-
त्येकशरीरवादरवणस्पतिकायिक ४ बादरनिगोदा ५ बादरपृथ्वी-
कायिक ६ बादरापकायिक ७ बादरवायुकायिकाः ८ पर्याप्ता
यथोत्तरमसंख्येयगुणाः । यद्यप्येते प्रत्येकं प्रतरे यावन्त्यहुत्ता-
संख्येयमागमात्राणि अपर्याप्ता तावत्प्रमाणास्तथाप्यहुत्तासंख्ये-
यमागस्यासंख्येयमेदमिभत्वादित्यं यथोत्तरमसंख्येयगुणत्व-
मभिधीयमानं न विरुध्यते । एतेज्यो बादरतेजस्कायिका अपर्या-
प्ता असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणात्वात् १ । ततः
प्रत्येकशरीरवादरवणस्पतिकायिक १० बादरनिगोदा ११ बाद-
रपृथिवीकायिक १२ बादरापकायिक १३ बादरवायुकायिका
अपर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणाः १४, ततो बादरवायुकायिके-
भ्योऽपर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः १५,
ततः सूक्ष्मपृथिवीकायिक १६ सूक्ष्मापकायिक १७ सूक्ष्मवायुका-
यिका अपर्याप्ता यथोत्तरं विशेषाधिकाः १८ । ततः सूक्ष्मतेज-
स्कायिकाः पर्याप्ताः संख्यातगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्ताना-
मोघत एव संख्येयगुणत्वात् १९ । ततः सूक्ष्मपृथिवीकायिक-
२० सूक्ष्मापकायिक २१ सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्ता यथोत्तरं वि-
शेषाधिकाः २२ । तेज्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः,
तेषामतिग्राभूत्येन सर्वलोकेषु भावात् २३ । तेभ्यः सूक्ष्मनि-
गोदाः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्ताना-
मोघत एव सदा संख्येयगुणत्वात् । एते च बादरापर्याप्ततेजस्का-
यिकादयः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदपर्यवसानाः बोधशपदार्था यथ-
प्यन्यत्राविशेषेणासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणातया सङ्गीयन्ते,
तथाप्यसंख्येयस्यासंख्येयमेदमिभत्वादित्यमसंख्येयगुणत्वं वि-
शेषाधिकत्वं संख्येयगुणत्वं प्रतिपाद्यमानं न विरोधमागिति २४ ।
तेभ्यः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदेभ्यो बादरवणस्पतिकायिकाः पर्याप्ता
अनन्तगुणाः, प्रतिषादरैकैकनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात् २५ ।
तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरपर्या-
प्ततेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् २६ । तेभ्यो बादरवण-
स्पतिकायिका अपर्याप्तका असंख्येयगुणाः, एकैकपर्याप्तबा-
दरनिगोदनिश्चया असंख्येयानां बादरनिगोदापर्याप्तानामुत्पादात्
२७ । तेभ्यः सामान्यतो बादरा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, बाद-
रतेजस्कायिकादीनामप्यपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् २८ । तेभ्यः
सामान्यतो बादरा विशेषाधिकाः, पर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात्
२९ । तेभ्यः सूक्ष्मवणस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः,
बादरनिगोदेभ्यः सूक्ष्मनिगोदानामप्यपर्याप्तानामप्यसंख्येयगु-
णत्वात् ३० । ततः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्तका विशेषाधिकाः
सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामप्यपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् ३१ ।
तेभ्यः सूक्ष्मवणस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, सूक्ष्म-
वणस्पतिकायिकापर्याप्तेभ्यो हि सूक्ष्मवणस्पतिकायिकपर्याप्तासं-

सम्प्रति क्षेत्रानुपातेन मानुषीविषयमल्पबहुत्वमाह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवाओ माणुस्सीओ तेलुके उ-
हलोयतिरियलोए संखेज्जगुणाओ, अहोलोयतिरियलोए
संखेज्जगुणाओ, उहलोए संखेज्जगुणाओ, अहोदोए
संखेज्ज०, तिरियलोए संखेज्ज० ॥

क्षेत्रानुपातेन मानुष्यश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोकाः लोकोक्त्यस्पर्श-
न्य ऊर्ध्वलोकादधोदोके समुत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्रातवश-
विनिर्गतदूरतरात्मप्रदेशानामथवा वैक्रियसमुद्रातगतानां केव-
लिसमुद्रातगतानां वा त्रैलोक्यसंस्पर्शिन्यः तासां चातिस्तो-
कत्वमिति सर्वस्तोकाः ताभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्ग्लोके ऊर्ध्वलो-
कतिर्यग्ग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये संख्येयगुणाः, वैमानिकदेवानां शेष-
कायाणां चोर्ध्वलोकात्तिर्यग्ग्लोके मनुष्यस्त्रीत्वेनोत्पद्यमानानां
तथा तिर्यग्ग्लोकगतमनुष्यस्त्रीणां ऊर्ध्वलोके समुत्पित्सूनां मार-
णान्तिकसमुद्रातवशाद् दूरतरमूर्ध्वविनिर्गतात्मप्रदेशानामद्यापि
काष्ठमकुर्वतीनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शनभावात्, तासां चो-
ज्यासामपि बहुतरत्वात् । ताभ्योऽधोलोकतिर्यग्ग्लोके प्रागु-
क्तस्वरूपप्रतरद्वयरूपे संख्येयगुणाः, तिर्यग्ग्लोकात्ममनुष्यस्त्रीभ्यः
शेषेभ्यो वाऽधोदोक्तिकग्रामेषु यदि वाऽधोलौकिकग्रामरूपात्
शेषाद्वा तिर्यग्ग्लोके मनुष्यस्त्रीत्वेनोत्पित्सूनां कासाञ्चिद-
धीलौकिकग्रामेष्ववस्थानतोऽपि यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शस-
म्भवात्, तासां च प्रागुक्तभ्योऽतिबहुत्वात् । ताभ्योऽप्यूर्ध्व-
लोके संख्येयगुणाः, क्रीडार्थं चैत्यवन्दनानिमित्तं वा सौमन-
सादिषु प्रभूततराणां विद्याधरीणां संभवात् । ताभ्योऽपि
अधोलोके संख्येयगुणाः, स्वस्थानत्वेन तत्रापि बहुतराणां
भावात् । ताभ्यस्तिर्यग्ग्लोके संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यासंख्येयगुण-
त्वात्, स्वस्थानत्वाच्च । गतं मनुष्यगतिमधिकृत्याल्पबहुत्वम् ।

इदानीं देवगतिमधिकृत्याऽऽह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा उहलोए उहलोयतिरि-
यदोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोदोए
तिरियलोए असंखेज्ज० । अहोलोए संखिज्जगुणाओ,
तिरियलोए संखिज्जगुणाओ ॥

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमाना देवाः सर्वस्तोकाः, ऊर्ध्वलोके
वैमानिकानामेव तत्र भावात्, तेषां चाऽल्पत्वात् । येऽपि
भवनपतिप्रभृतयो जिनेन्द्रजन्ममहादौ मन्दरादिषु गच्छन्ति
तेऽपि स्वल्पा एवेति सर्वस्तोकाः । तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्ग्लोके
ऊर्ध्वलोकतिर्यग्ग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये असंख्येयगुणाः, तद्धि ज्यो-
तिष्काणां प्रत्यासन्नमिति स्वस्थानम् । तथा भवनपतिव्यन्तर-
ज्योतिष्का मन्दरादौ सौधर्मादिकल्पगताः स्वस्थानगमागमेन,
तथा ये सौधर्मादिषु देवत्वेनोत्पित्सवो देवायुःप्रतिसंवेद्यमा-
नाः स्वोत्पत्तिदेशमभिगच्छन्ति यथोक्तप्रतरद्वयं स्पृशन्ति । ततः
स्नामस्येन यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शिनः परिभाव्यमाना अति-
बहव इति पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यस्त्रैलोक्यसंस्पर्शि-
नः संख्येयगुणाः । ततो भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका
देवास्तथाविधप्रयत्नविशेषवशात् वैक्रियसमुद्रातेन समवह-
ताः सन्तस्त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति, ते चेत्थं समवहताः प्रागु-
क्तप्रतरद्वयस्पर्शिन्यः संख्येयगुणाः, केवलवेदसोपलभ्यन्त इति
संख्येयगुणाः । तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्ग्लोके अधोलोकतिर्यग्ग्लो-

कसंज्ञे प्रतरद्वये वर्तमानाः संख्येयगुणाः । तद्धि-प्रतरद्विकं
भवनपतिव्यन्तरदेवानां प्रत्यासन्नतया स्वस्थानं, तथा बहवो
भवनपतयः स्वप्नावस्थास्तिर्यग्ग्लोकगमागमेन तथोद्धर्तमानाः
तथा वैक्रियसमुद्रातेन समवहतास्तथा तिर्यग्ग्लोकवर्तिनस्ति-
र्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्या वा भवनपतिव्यन्तेनोत्पद्यमाना भवनपत्या-
युरनुभवन्तो यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शिनोऽतिबहव इति संख्ये-
यगुणाः । तेभ्योऽधोदोके संख्येयगुणाः, भवनपतीनां स्वस्था-
नमिति कृत्वा तेभ्यस्तिर्यग्ग्लोके संख्येयगुणाः, ज्योतिष्कव्यन्त-
राणां स्वस्थानत्वात् ।

अधुना देवीरधिकृत्याल्पबहुत्वमाह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवाओ देवीओ उहलोए उहलोय-
तिरियदोए असंखेज्जगुणाओ, तेलुके संखेज्जगुणाओ,
अहोदोयतिरियलोए असंखेज्जगुणाओ, अहोदोए संखे-
ज्जगुणाओ, तिरियदोए संखिज्जगुणाओ ॥

सर्वं देवसूत्रमिवाऽविशेषेण ज्ञावनीयम् । तदेवमुक्तं देव-
विषयमौघिकमल्पबहुत्वम् ।

इदानीं भवनपत्यादिविशेषविषयं प्रतिपिपादयिषुः प्रथमतो
भवनपतिविषयमाह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा जवणवासी देवा उहलोए उह-
लोयतिरियलोए असंखेज्जगुणाओ, तेलुके संखिज्जगुणा,
अहोलोयतिरियदोए असंखेज्जगुणा, तिरियदोए असं-
खिज्जगुणा, अहोलोए असंखेज्ज० । खेत्ताणुवाएणं सव्व-
त्थोवा जवणवासिणीओ देवीओ उहलोए तिरिदोए
असंखि०, तेलुके संखेज्जगुणाओ, अहोलोए तिरिय-
दोए असंखेज्ज०, तिरियदोए असंखिज्ज०, अहोदोए
असंखिज्ज० ॥

क्षेत्रानुपातेन भवनवासिनो देवाश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोकाः
ऊर्ध्वलोके, तथादि-केषाञ्चित् सौधर्मादिष्वपि कल्पेषु पूर्वसंग-
तिकनिश्चया गमनं भवति । केषाञ्चिन्मन्दरे तीर्थकरजन्ममहिमा-
निमित्तम्, अञ्जनदधिमुखेऽष्टकानिमित्तम्, अपरेषां मन्दिरादिषु
क्रीडानिमित्तं गमनम् । एते च सर्वेऽपि स्वल्पा इति सर्वस्तोकाः ।
ऊर्ध्वलोके तेन्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्ग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वयेऽसंख्ये-
यगुणाः, कथमिति चेत्?, उच्यते-इह हि तिर्यग्ग्लोकस्था वैक्रि-
यसमुद्रातेन समवहता ऊर्ध्वलोकतिर्यग्ग्लोकं च स्पृशन्ति ।
यथा ते तिर्यग्ग्लोकस्था एव मारणान्तिकसमुद्रातेन समव-
हता ऊर्ध्वलोके सौधर्मादिषु देवलोकेषु वादरपर्याप्तपृथिवीका-
यिकतया वादरपर्याप्ताऽपकायिकतया वादरपर्याप्तप्रत्येकवनस्प-
तिकायिकतया च शृम्भेषु मणिविधानादिषु स्थानेषूपेतुकामा
अद्याऽपि स्वभावायुःप्रतिसंवेद्यमाना न पारभाषिकं पृथिवी-
कायिकाद्यायुः । द्विविधा हि मारणान्तिकसमुद्रातेन समवहताः
केचित्पारजाविकमायुः प्रतिसंवेद्यन्ते, केचिन्नेति । तथा चोक्तं
प्रज्ञप्तौ-“जीवे णं भंते ! मारणंतिगसमुद्राएणं सम्मोहए सम्मोह-
णित्ता जे भविण मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेण वायरपुढवि-
काइयत्ताए उववज्जितए, से णं भंते ! किं तत्थ गए उववज्जिज्जा,
उयाहु पकिनियत्तेत्ता उववज्जइ । गोयमा ! अत्थेगइए तत्थ
गए चेव उववज्जइ, अत्थेगइए ततो पडिनियत्तित्ता, दोषं

कालमेव नरकेषूपग्रे नारकायुक्तप्रतिसंवेदनात्ते चेत्तद्वत्ताः
रुनिपय इति सर्वस्मोक्ताः । अन्ये तु व्याचक्षते-नारका एव
यथोक्तयापीयुः तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमानाः समुद्रतटगतो
विहितनिजात्मप्रदेशादप्युः पश्यन्ति । ते हि किञ्च नदा नारका
एव निर्विघादं तदायुक्तप्रतिसंवेदनात् त्रैलोक्यसम्पत्तिं य-
थोक्तयापीयुः प्रवेशद्वारप्रदेशादप्युः विहितमन्वादिनि । तेषामधो-
कान्तिर्यग्लोकमङ्गाः प्रागुक्तप्रतरद्वयस्य मन्वादिनाऽसंख्येयगुणाः,
यतो बहुलोऽसंख्येयपु द्वीपसमुद्रेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका नर-
केषूपग्यमाना यथोक्तप्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततो भवन्ति पूर्वोक्त-
भ्योऽसंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यासंख्यानगुणत्वात् । मन्दरादिकेव-
दसंख्येयद्वीपसमुद्रागमकं क्षेत्रमसंख्येयगुणमित्यतो भवन्त्यसं-
ख्येयगुणाः । अन्ये त्वभिधत्ति-नारका एवासंख्येयपु द्वीपसमु-
द्रेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमाना नारणान्तिकसमुद्रातेन वि-
हितनिजात्मप्रदेशादप्युः द्रष्टव्याः । ते हि नारकायुःप्रतिसंवेदना
नारका उद्भूतमाना अप्यसंख्येयाः प्राप्यन्ते, इति प्रागुक्तभ्योऽ-
संख्येयगुणाः, तेषामधोलोकेऽसंख्येयगुणाः, तस्य तेषां स्वस्था-
नत्वात् । उक्तं नारकगतिमधिकृत्य क्षेत्रानुपानेनाऽप्यवहुत्वम् ।

इदानीं तिर्यगतिमधिकृत्याऽह-

स्वेच्छाणुवाणं सवत्त्योवा तिरिक्खजोणिया उहुल्लोय-
निरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए संखेज्ज
अमंखेज्जगुणा, तेषुके असंखेज्जगुणा, उहुलोए असंखि-
ज्ज०, अहोलोए विनेसाहिया ॥

इदं सर्वमपि सामान्यतो जीवसूत्रमिव भाषनीयम् । तदपि
तिरिक्ख एव सूत्रमनिर्गोदानधिकृत्य भाषितम् ।

अधुना तिर्यग्योनिकस्त्रीविषयमवपवदुत्यमाह—

स्वेच्छाणुवाणं सवत्त्योवा तिरिक्खजोणियाओ उहु-
लोयनिरियलोए असंखेज्ज०, तेषुके असंखेज्ज०, अहो-
लोयतिरियलोए संखेज्जगुणाओ, अहोलोए संखेज्जगु-
णाओ, तिरियलोए संखेज्जगुणाओ ।

क्षेत्रानुपानेन तिर्यग्योनिकाः स्त्रियश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोका ऊर्ध्व-
लोके, इह मन्दरादिवापीप्रभृतिष्वपि हि पञ्चेन्द्रियतिर्यग्यो-
निकाः स्त्रियो भवन्ति, ताश्च क्षेत्रस्याऽल्पत्वात् सर्वस्तोकाः ।
ताभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्ग्लोकसङ्के प्रतरद्वये वर्तमाना असंख्येय-
गुणाः । कथमिति चेत् ? उच्यते-यावत्सहस्रारदेवलोकस्ता-
यद्वा अपि गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रिययोनिरूपयन्ते, किं
पुनः शेषकायाः ? ते हि यथासंभवाप्युपरिवर्तिनाऽपि तत्रो-
त्पद्यन्ते ; ततो ये सहस्रारान्ता देवा अन्येऽपि च शेषकाया
ऊर्ध्वलोकान्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रीत्वेन तदायुःप्रतिसंवेदयमाना
उत्पद्यन्ते, याः तिर्यग्ग्लोकान्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रिय ऊर्ध्वग्लो-
के देवत्वेन शेषकायत्वेन चोत्पद्यमाना मारणान्तिकसमुद्राते-
नोत्पत्तिदेश निजनिजात्मकप्रदेशादप्युः विक्रिपन्ति, ता यथोक्तप्र-
तरद्वयं स्पृशन्ति । तिर्यग्योनिकाः स्त्रियश्च ताः ततोऽसंख्येयगु-
णाः, क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात् । ताभ्य ऊर्ध्वलोक्ये संख्येयगुणाः,
यस्मादधोलोकाद्भवपनिमित्यन्तरनारकाः शेषकाया अपि चो-
र्ध्वग्लोकेऽपि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रीत्वेनोत्पद्यन्ते । ऊर्ध्वग्लोकाद्देवा-
दयाऽप्यथोलोके च ते समवहता निजनिजात्मप्रदेशादप्युः स्त्री-
नपि लोकान् स्पृशन्ति । प्रभूताश्च ते तथा तिर्यग्योनिकरूपायुः-

प्रतिसंवेदनात् । तिर्यग्योनिकाः स्त्रियश्च ततः संख्येयगुणाः । ३।
नाभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोकसङ्के प्रतरद्वयं वर्तमानाः संख्येय-
गुणाः, बहुलो हि नारकादयः समुद्रातमन्तरंगाऽपि तिर्यग्य-
लोके तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रीत्वेनोत्पद्यन्ते । तिर्यग्लोकवर्तिनश्च
जीवास्तिर्यग्योनिकस्त्रीत्वेनाऽधोलौकिकग्रामेष्वपि च ते च
तथोत्पद्यमाना यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । तिर्यग्योनिकस्या-
युःप्रतिसंवेदनाच्च तिर्यग्योनिकस्त्रियोऽपि तथाऽधोद्वौकिक-
ग्रामा यांजनसहस्रावगाहाः पर्यन्तेऽर्वाक् क्वचित्प्रदेशे नवयांजन-
शतावगाहा अपि तत्र काश्चित्तिर्यग्योनिकस्त्रियोऽवस्थानेनापि
यथोक्तप्रतरद्वयाध्यासिन्यो वर्तन्ते, ततो भवन्ति पूर्वोक्तभ्यः
संख्येयगुणाः । ४। ताभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, यतोऽधोलौ-
किकग्रामाः सर्वेऽपि च समुद्रा यांजनसहस्रावगाहाः, ततो
नवयांजनशतानामधस्ताद् वा वर्तन्ते मत्स्याप्रभृतिकाः तिर्य-
ग्योनिकस्त्रियस्ताः स्वस्थानत्वात् प्रभूता इति संख्येयगुणाः,
क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात् । ताभ्यस्तिर्यग्लोके संख्येयगुणाः ।
उक्तं तिर्यग्योगतिमप्यधिकृत्याऽप्यवहुत्वम् ।

इदानीं मनुष्यगतिविषयमाह—

स्वेच्छाणुवाणं सवत्त्योवा मणुस्सा तेषुके उहुलोयति-
रियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए संखेज्ज
गुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, निरियलोए संखेज्जगुणा ।

क्षेत्रानुपानेन मनुष्याश्चिन्त्यमानाः त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः
सर्वस्तोकाः, यतो ये ऊर्ध्वलोकान्ताधोलौकिकग्रामेषु समुत्पिप्तयो
मारणान्तिकसमुद्रातेन समवहता जघन्ति, ते केचित्समुद्रा-
तवशाद्बहिर्निर्गतेः स्वात्मप्रदेशेऽस्त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति, येऽपि च
धैकियसमुद्रातमाहारकसमुद्रातं धा गताः तथाविधप्रयत्नवि-
शेषादुत्तरमुद्राऽधोलौकिकग्रामप्रदेशाः, ये च केवलसमुद्रातग-
तास्तेऽपि त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति । स्तोकाश्चेति ऊर्ध्वस्तोकाः, ते-
ष्व ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसङ्के प्रतरद्वयसं-
स्पर्शिनोऽसंख्येयगुणाः, यत इह वैमानिकदेवाः शेषकायाश्च यथा-
संभवमूर्ध्वलोकान्तिर्यग्लोके मनुष्यत्वेन समुत्पद्यमाना यथो-
क्तप्रतरद्वयसंस्पर्शिनो भवन्ति । विद्याधराणामपि च मन्दरादि-
षु गमनं, तेषां च युक्तरुधिरादिपुञ्जले संमूर्च्छिममनुष्याणामु-
त्पाद इति, ते विद्याधरा रुधिरादिपुञ्जलसंमिश्रा अवगच्छन्ति ।
तथा संमूर्च्छिममनुष्या अपि यथोक्तप्रतरद्वयस्पर्शवन्त उपजाय-
न्ते, ते चातिथः च इत्यसंख्येयगुणाः, तेषामधोलोकतिर्यग्लोकसं-
धोलोकान्तिर्यग्लोकसङ्के प्रतरद्वयसंख्येयगुणाः, यतोऽधोलौकिक-
ग्रामेषु स्वभावन एव बहवो मनुष्याः, ततो ये तिर्यग्लोकान्तिर्यग्लो-
कसंख्येयगुणाः । यथाऽधोलौकिकग्रामेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्य-
त्वेन संमूर्च्छिममनुष्यत्वेन वा समुत्पिप्तयो ये चाऽधोलोकान्-
धोलौकिकग्रामरूपात् शेषाद्वा मनुष्येभ्यः शेषकायेभ्यो वा ति-
र्यग्लोकसंख्येयगुणाः, तेषामधोलोकान्तिर्यग्लोकसंख्येयगुणाः,
सौमनसादिषु क्रीडार्थं चैत्यवन्दननिमित्तं वा
प्रनूतराणां विद्याधरचारुमुनीनां ज्ञात्वा । तेषां च यथायोगं
रुधिरादिपुञ्जलयोगतः संमूर्च्छिममनुष्यसंज्ञत्वात् । तेषामधो-
लोके संख्येयगुणाः, स्वस्थानत्वेन बहुत्वभावात् । तेष्वस्तिर्यग्य-
लोके संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात्स्वस्थानत्वाच्च ।

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमाना एकेन्द्रिया जीवाः सर्वस्तोका ऊर्ध्व-
लोकतिर्यग्लोके ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये, यतो ये तत्र-
स्था एव केचन, ये चोर्ध्वलोकातिर्यग्लोके, तिर्यग्लोकाद्वा ऊर्ध्व-
लोके समुत्पत्तयः कृतमारणान्तिकसमुद्घातास्ते किल विव-
क्षितप्रतरद्वयं स्पृशन्ति, स्वल्पाश्च ते इति सर्वस्तोकाः। तेभ्योऽ-
धोलोकतिर्यग्लोके विशेषाधिकाः, यतो ये अधोलोकातिर्यग्लो-
के, तिर्यग्लोकाद्वाऽधोलोके ईद्विकागत्या समुत्पद्यमाना विव-
क्षितप्रतरद्वयं स्पृशन्ति, तत्रस्थाश्च ऊर्ध्वलोकाद्वाधोलोको
विशेषाधिकाः, ततो बहवोऽधोलोकातिर्यग्लोके समुत्पद्यमाना
अत्राप्यन्ते, इति विशेषाधिकाः । तेभ्यस्तिर्यग्लोके असंख्येयगु-
णाः, उक्तप्रतरद्विकक्षेत्रातिर्यग्लोकक्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात् ।
तेभ्यश्चैलोक्येऽसंख्येयगुणाः, बहवो हि ऊर्ध्वलोकादधोलोके अ-
धोलोकाद्वा ऊर्ध्वलोके समुत्पद्यन्ते । तेषां च मध्ये बहवो मार-
णान्तिकसमुद्घातवशाद्विद्विषात्मप्रदेशदृष्ट्यास्तेनैव लोकात्
स्पृशन्ति, ततो भवन्त्यसंख्येयगुणाः । तेभ्य ऊर्ध्वलोके असंख्ये-
यगुणाः, उपपातक्षेत्रस्याऽतिबहुत्वात् । तेभ्योऽधोलोके विशे-
षाधिकाः, ऊर्ध्वलोकक्षेत्रादधोलोकक्षेत्रस्य विशेषाधिकत्वात् ।
एवमपर्याप्तविषयं पर्याप्तविषयं च सूत्रं ज्ञावयितव्यम् ।

अधुना द्विन्द्रियादिविषयमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वेइंदिया उह्लोए, उह्लोयतिरि-
यलोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असं०, अहोलोयतिरि-
यलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वेइंदिया अपज्ज-
त्तया उह्लोए, उह्लोयतिरियलोए संखेज्जगुणा, तेलुके
असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा,
अहोलोए संखे०, तिरियलोए संखे० । खेत्ताणुवाएणं
सव्वत्थोवा वेइंदिया पज्जत्तया उह्लोए, उह्लोयतिरिय-
लोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरि-
यलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वेइंदिया उह्लोए,
उह्लोयतिरियलोए असं०, तेलुके असंखेज्जगुणा, अधोलोए
संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्व-
त्थोवा वेइंदिया अपज्जत्तया उह्लोए, उह्लोयतिरियलोए
असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरिय-
लोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वेइंदिया पज्जत्तया
उह्लोए, उह्लोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखे-
ज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए
संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं
सव्वत्थोवा चउरिंदिया जीवा उह्लोए, उह्लोयतिरिय-
लोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलो-
यतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा,
तिरियलोए संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा चउ-
रिंदिया जीवा अपज्जत्तया उह्लोए, उह्लोयतिरियलो-

ए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरिय-
लोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा चउरिंदिया
जीवा पज्जत्तया उह्लोए, उह्लोयतिरियलोए असंखेज्ज-
गुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असं-
खेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखे० ।

क्षेत्रानुपातेन क्षेत्रानुसारेण चिन्त्यमाना द्विन्द्रियाः सर्वस्तो-
काः ऊर्ध्वलोके, ऊर्ध्वलोकस्यैकदेशे तेषां संभवात् । तेभ्य ऊर्ध्व-
लोकतिर्यग्लोके प्रतरद्वये असंख्येयगुणाः, यतो ये ऊर्ध्वलोकात्
तिर्यग्लोके तिर्यग्लोकाद् वा ऊर्ध्वलोके द्विन्द्रियत्वेन समुत्पत्तुका-
मास्तदायुरनुभवन्त ईद्विकागत्या समुत्पद्यन्ते । ये च द्विन्द्रिया
एव तिर्यग्लोकादूर्ध्वलोके ऊर्ध्वलोकाद्वा तिर्यग्लोके द्विन्द्रियत्वे-
नान्यत्वेन वा समुत्पत्तुकामाः कृतप्रथममारणान्तिकसमुद्घा-
ता अत एव द्विन्द्रियायुःप्रतिसंवेद्यमानाः समुद्घातवशाच्च
दूरतरविक्षिप्तनिजात्मप्रदेशदृष्ट्याः, ये च प्रतरद्वयाऽभ्यासित-
क्षेत्रसमासीनास्ते यथोक्तप्रतरद्वयस्पर्शिनो बहवश्चेति पूर्वोक्ते-
भ्योऽसंख्येयगुणाः। तेभ्यश्चैलोक्येऽसंख्येयगुणाः, यतो द्विन्द्रि-
याणां प्राचुर्येणोत्पत्तिस्थानान्यधोलोके तस्माद्वाऽतिप्रभूतानि
तिर्यग्लोके, तत्र ये द्विन्द्रिया अधोलोकादूर्ध्वलोके द्विन्द्रियत्वेना-
न्यत्वेन वा समुत्पत्तुकामाः कृतप्रथममारणान्तिकसमुद्घाताः
समुद्घातवशाच्चोत्पत्तिदेशं यावद्विद्विषात्मप्रदेशदृष्ट्यास्ते द्वि-
न्द्रियायुःप्रतिसंवेद्यमानाः, ये चोर्ध्वलोकादधोलोके द्विन्द्रि-
याः शेषकाया यावद् द्विन्द्रियत्वेन समुत्पद्यमाना द्विन्द्रियायुरनु-
भवन्ति, त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः ते च पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः, ते-
भ्योऽधोलोकतिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणाः । यतो ये द्विन्द्रिया अ-
धोलोकातिर्यग्लोके ये च द्विन्द्रियास्तिर्यग्लोकादधोलोके द्वि-
न्द्रियत्वेन शेषकायत्वेनोत्पत्तयः कृतप्रथममारणान्तिकसमु-
द्घाता द्विन्द्रियायुरनुभवन्तः समुद्घातवशेनोत्पत्तिदेशं याव-
द्विद्विषात्मप्रदेशदृष्ट्यास्ते यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । प्रभूता-
श्चेति पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणास्तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः,
तत्रोत्पत्तिस्थानानामतिप्रचुराणां ज्ञावात् । तेभ्योऽपि तिर्यग्लो-
के संख्येयगुणाः, अतिप्रचुरतराणां योनिस्थानानां तत्र भावात् ।
यथेदमौघिकं द्विन्द्रियसूत्रं तथा पर्याप्ताऽपर्याप्तद्विन्द्रियसूत्रौघि-
कत्रिन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तौघिकचतुरिन्द्रियपर्याप्ताऽपर्याप्तसूत्रा-
णि भावनीयानि ।

साम्प्रतमौघिकपञ्चेन्द्रियविषयमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पंवेइंदिया तेलुके, उह्लोयतिरि-
यलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए संखेज्जगुणा,
उरुह्लोए संखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
असंखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पंवेइंदिया अपज्ज-
त्तया तेलुके, उरुह्लोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलो-
यतिरियलोए संखेज्जगुणा, उरुह्लोए संखेज्जगुणा, अहो-
लोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा ॥

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमानाः पञ्चेन्द्रियाः सर्वस्तोकाः त्रैलोक्ये
त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः, यतो येऽधोलोकादूर्ध्वलोके ऊर्ध्वलोकाद्वा-
ऽधोलोके शेषकायाः पञ्चेन्द्रियायुरनुभवन्त ईद्विकागत्या समु-

पि मारुग्नितयसमुद्रापणं समोदणंति, समोदणित्ता तयो पच्चा उचवज्जदत्ति" स्वभावायुःप्रतिसंवेदनाच्च ते भवनवासिन एव लभ्यन्ते । ते इत्थंभूता उत्पत्तिदेशे विकसितात्मप्रदेशदण्डास्तथा ऊर्ध्वघोकेगमनागमनतस्तत्प्रतरद्वयप्रत्यासन्नक्रीमास्थानञ्च यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । ततः प्रागुक्तैर्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यः रैल्लोक्ये वैश्वान्यसंस्पर्शिनः संख्येयगुणाः, यतो ये ऊर्ध्वघोके तिर्यक्पञ्चोन्मित्रा भवनपत्तिव्हेनोत्पत्तुकामाः, ये च स्वस्थाने वैक्रियसमुद्घातेन मारणान्तिकप्रथमसमुद्घातेन वा तथाविधतीव्रप्रयत्नविशेषेण समवहतास्ते वैश्वान्यसंस्पर्शिन इति संख्येयगुणाः, परस्थानसमवहतैर्यः स्वस्थानसमवहतानां संख्येयगुणत्वात् । तेभ्योऽधोलोकोक्तिर्यग्लोके अधोलोकोक्तिर्यग्लोका तस्मै प्रतरद्वयेऽसंख्येयगुणाः, स्वस्थानप्रत्यासन्नतया तिर्यग्घोके गमनागमनजायतः स्वस्थानस्थितक्रोधादिसमुद्घातगमनतश्च बहूनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शभावात् । तेभ्यः तिर्यग्घोकेऽसंख्येयगुणाः, समवसरणादौ धन्दननिमित्तं द्वीपेषु च रत्नणीयेषु क्रीमानिमित्तमागमसम्भवादागतानां च चिरकालमव्यवस्थानात् । तेभ्योऽधोलोकेऽसंख्येयगुणाः, भवनवासिनामधोलोकस्य स्वस्थानत्वात् । एवं भवनवासिदेवीगतमल्पबहुत्वं भावनीयम् ।

सम्प्रति व्यन्तरगतमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा जोइसिया देवा उच्चलोए, उच्चलोयतिरियलोए असंखिज्ज०, तेषुके संखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए असंखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा जोइसिया देवीओ उच्चलोए, उच्चलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणाओ, तेषुके संखेज्जगुणाओ, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणाओ, अहोलोए संखि०, तिरियलोए असंखे० ॥

क्षेत्रानुपातेन ज्योतिष्काश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोकाः ऊर्ध्वघोके, केपाञ्चिदेव मन्दरे तीर्थकरजन्ममहोत्सवनिमित्तम्, अञ्जनदधिमुखेष्वष्टाहिकानिमित्तम्, अपरेषां केपाञ्चिद् मन्दरादिषु क्रीडानिमित्तं गमनसंभवात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोकोक्तिर्यग्लोके प्रतरद्वयरूपेऽसंख्येयगुणाः, तन्नि प्रतरद्वयं केचित्स्वस्थाने स्थिता अपि स्पृशन्ति, प्रत्यासन्नत्वात् । अपरे वैक्रियसमुद्घातसमवहताः, अन्ये ऊर्ध्वलोके गमनागमनभावतस्ततोऽधिकृतप्रतरद्वयस्पर्शिनः पूर्वोक्तैर्योऽसंख्येयगुणाः । तेभ्यल्लोक्ये वैश्वान्यसंस्पर्शिनः संख्येयगुणाः । ये हि ज्योतिष्कास्तथाविधतीव्रप्रयत्नवैक्रियसमुद्घातेन समवहतालीनपि लोकान् स्वप्रदेशैः स्पृशन्ति, ते स्वभावतोऽप्यतिबहु इति पूर्वोक्तैर्यः संख्येयगुणाः । तेभ्योऽधोलोकोक्तिर्यग्लोके प्रतरद्वये वर्तमाना असंख्येयगुणाः, यतो बहवोऽधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादिनिमित्तम्, अधोलोके क्रीडानिमित्तं गमनागमनभावतो बहवश्चाऽधोलोका ज्योतिष्केषु समुत्पद्यमाना यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततो घटन्ते पूर्वोक्तैर्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयगुणाः, अधोलोके, बहूनामधोलोके क्रीडानिमित्तमधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादिषु चिरकालमवस्थानात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणास्तिर्यग्घोके, तिर्यग्लोकस्य तेषां स्वस्थानत्वात् । एवं ज्योतिष्कदेवीसूत्रमपि भावनीयम् ।

सम्प्रति वैमानिकदेवविषयमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वेमाणिआ देवा उच्चलोयतिरियलोए, तेषुके संखेज्ज०, अहोलोयतिरियलोए संखिज्ज०, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्ज०, उच्चलोए असंखिज्ज० । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवाओ वेमाणिणीओ देवीओ उच्चलोयतिरियलोए, तेषुके संखेज्जगुणाओ, अहोलोयतिरियलोए संखिज्ज०, अहोलोए संखेज्ज०, तिरियलोए संखेज्ज०, उच्चलोए असंखे० ॥

क्षेत्रानुपातेन क्षेत्रानुसारेण चिन्त्यमाना वैमानिका देवाः सर्वस्तोका ऊर्ध्वलोकोक्तिर्यग्लोकेऽसंखेयगुणाः, यतो ये अधोलोके तिर्यग्घोके वा वर्तमाना जीवा वैमानिकेऽप्युत्पद्यन्ते, ये च तिर्यग्घोके वैमानिका गमनागमनं कुर्वन्ति, ये च विचक्षितप्रतरद्वयाध्यासिनः क्रीमास्थानं संश्रिताः, ये च तिर्यग्घोके स्थिता एव वैक्रियसमुद्घातमारणान्तिकसमुद्घातं वा कुर्वाणास्तथाविधप्रयत्नविशेषादूर्ध्वमात्रप्रदेशदण्डं निरुज्जति, ते विचक्षितं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । ते चाहप इति सर्वस्तोकाः । तेभ्यल्लोक्ये संख्येयगुणाः । कथमिति चेद् ! उच्यते—इह येऽधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादिनिमित्तमधोलोके वा क्रीमानिमित्तं गताः सन्तो वैक्रियसमुद्घातं मारणान्तिकसमुद्घातं वा कुर्वाणास्तथाविधप्रयत्नविशेषाद् दूरतरमूर्ध्वविक्षितात्मप्रदेशदण्डाः, ये च वैमानिकभावादीक्षिकागत्या च्यवमाना अधोलौकिकग्रामेषु समुत्पद्यन्ते, ते किल त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति । बहवश्च पूर्वोक्तैर्यः इति संख्येयगुणाः । तेभ्योऽपि अधोलोकोक्तिर्यग्लोके प्रतरद्वयसंखेयगुणाः, अधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादौ गमनागमनभावतो विचक्षितप्रतरद्वयाध्यासिनः समवसरणादौ वाऽवस्थानतो बहूनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शभावात् । तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, अधोलौकिकग्रामेषु बहूनां समवसरणादाववस्थानाभावात् । तेभ्यस्तिर्यग्घोके संख्येयगुणाः, बहुषु समवसरणेषु बहुषु च क्रीडास्थानेषु बहूनामवस्थानाभावात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोकेऽसंख्येयगुणाः, ऊर्ध्वलोकस्य स्वस्थानत्वात्, तत्र च सदैव बहुतरभावात् । एवं वैमानिकदेवीविषयसूत्रमपि भावनीयम् ॥

सम्प्रत्येकेन्द्रियादिगतमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा एगिंदिया जीवा उच्चलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेषुके असं०, उच्चलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा एगिंदिया जीवा अपज्जत्तगा उच्चलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेषुके असंखेज्जगुणा, उच्चलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा एगिंदिया जीवा पज्जत्तगा उच्चलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेषुके असंखेज्जगुणा, उच्चलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया ॥

अहोद्वोयतिरियलोए विसेसाहिया, तेलुके असंखेज्जगुणा, उरुद्वोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया अपज्जत्तया उरुद्वोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखिज्जगुणा, तेलुके असंखिज्जगुणा, उरुद्वोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया पज्जत्तया उरुद्वोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखिज्जगुणा, उरुद्वोए असंखेज्जगुणा, अहोद्वोए विसेसाहिया ॥

इमानि पञ्चदशापि सूत्राणि प्रागुक्तैकेन्द्रियसूत्रवद्भावनीयानि । साम्प्रतमौधिकत्रसकायपर्याप्तापर्याप्तत्रसकायसूत्राण्याह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तसकाइया तेलुके, उरुद्वोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोद्वोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, उरुद्वोए संखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए असंखिज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तसकाइया अपज्जत्तया तेलुके, उरुद्वोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोद्वोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, उरुद्वोए संखिज्जगुणा, अहोद्वोए संखिज्जगुणा, तिरियलोए असंखिज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तसकाइया पज्जत्तया तेलुके, उरुद्वोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोद्वोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, उरुद्वोए संखिज्जगुणा, अहोद्वोए संखिज्जगुणा, तिरियलोए असंखेज्जगुणा ।

इमानि पञ्चेन्द्रियसूत्रवद्भावनीयानि । गतं क्षेत्रद्वारम् । प्रश्ना० ३ पद । (१२) [गतिद्वारम्] चतुर्गतिसमासेन पञ्चगतिसमासेनाष्टगतिसमासेन वाऽल्पबहुत्वम्—

एतेसि णं जंते ! णेरइयाणं जाव देवाणं य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सा, नेरइया असंखेज्जगुणा, देवा असंखेज्जा, तिरिया अणंतगुणा ।

प्रश्नसूत्रं पाठसिद्धम् । भगवानाह—गौतम ! सर्वस्तोकाः मनुष्याः, भ्रूणसंख्येयज्जागवर्तिनजः प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यत्तं प्रथमं वर्गमूलं तद् द्वितीयेन वर्गमूलेन गुणयते, गुणिते च सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणास्तु भ्रूणेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् । तेभ्यो देवा असंख्येयगुणाः, व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां नैरयिकेभ्योऽप्यसंख्येयगुणतया महादण्डके पठितत्वात् । तेज्योऽपि तिर्यञ्चोऽनन्ताः, वनस्पतिजीवानामनन्तत्वात् । जी० ४ प्रति० । पं० सं० ।

पञ्चगतिसमासेनाल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं जंते ! णेरइयाणं तिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं देवाणं सिद्धाणं य पंचगइसमासेणं कयरे कयरे—

हिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सा, णेरइया असंखेज्जगुणा, देवा असंखेज्जगुणा, सिद्धा अणंतगुणा, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनुष्याः, पणवनिच्छेदनकच्छेद्यराशिप्रमाणत्वात् । स च पणवतिच्छेदनकदायो राशिरग्रे ('सरीर' शब्दे) दर्शयिष्यते । तेज्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः सवन्धिनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयवर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणास्तु धनीकृतस्य लोकस्यैकप्रदेशिकोपु श्रेष्ठेषु यावन्तो नजः प्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवा असंख्येयगुणाः, व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां च प्रत्येकं प्रतरासंख्येयमागवर्तिभ्रूणगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सिद्धा अनन्तगुणाः, भ्रूणव्येभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तेभ्यः स्तिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तदेवं नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवसिद्धपाणां पञ्चानामल्पबहुत्वमुक्तम् । प्रश्ना० ३ पद ।

एतच्चैवमर्थतो गाथा—

“नर-नेरइया देवा, सिद्धा तिरिया कमेण इह होंति ।

थोव असंख असंखा, अणंतगुणिया अणंतगुणा” ॥१॥भ०२५

श० ३ उ० ।

साम्प्रतं नैरयिकतिर्यग्योनिकतिर्यग्योनिकीमनुष्यमानुषीदेवदेवीवृक्षणानां सप्तानामल्पबहुत्वचिन्तायामाह—

अप्पाबहुयं सव्वत्थोवा माणुस्सीओ, मणुस्सा असंखेज्जगुणा, नेरइया असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियाओ असंखेज्जगुणाओ, देवा संखेज्जगुणा, देवीओ संखेज्जगुणाओ, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

प्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवानाह—सर्वस्तोका मानुष्यः, कतिपयकोटी-कोटिप्रमाणत्वात् । ताज्यो मनुष्या असंख्येयगुणाः, संसृष्टममनुष्याणां भ्रूणसंख्येयज्जागप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः । तेभ्यस्तिर्यग्योनिकाः स्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयमागवर्तिभ्रूयाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो देवाः संख्येयगुणाः, वाणमन्तरज्योतिष्काणामपि जलचरतिर्यग्योनिकीभ्यः संख्येयगुणतया महादण्डके पठितत्वात् । तेज्यो देव्यः संख्येयगुणाः, द्वाविंशद्वगुणत्वात् । “वत्तीसगुणा वत्तीसरूवअहिया उ होंति देवाणं देवीओ” इति वचनात् । ताज्यस्तिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, वनस्पतिजीवानामनन्तान्तत्वात् । जी० ७ प्रति० ।

इदानीमेतेषामेव सिद्धसहितानामष्टानामल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं जंते ! णेरइयाणं तिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं मणुस्सीणं देवाणं सिद्धाणं य अडगतिसमासेणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सीओ, मणुस्सा असंखेज्जगुणा, नेरइया असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियाओ असंखेज्जगुणाओ, देवा असंखेज्जगुणा, देवीओ संखेज्जगुणाओ, सिद्धा अणंतगुणा, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

त्यन्ते ये च पञ्चेन्द्रिया ऊर्ध्वशोकाधोलोके अधोलोका-
दूर्ध्वशोके शेषकायव्येन पञ्चेन्द्रियत्वेन चांगितसवः कृतमार-
णान्तिकमुद्धानाः समुद्धानवशाद्येतत्पत्तिदशं यावद् चित्ति-
सात्मप्रदेशदण्डाः पञ्चेन्द्रियायुरद्याप्यनुभवन्ति, ते त्रैलो-
क्यसंस्पर्शिनः, ते चाले इति सर्वस्तोकाः । तेन्य ऊर्ध्वलोक-
निर्यग्शोके प्रतरद्वयरूपेऽसंख्येयगुणाः, प्रभूततराणामुपपानेन
समुद्धानेन वा यथाऽप्रतरद्वयसंस्पर्शसंभवात् । तेभ्योऽधो-
लोकनिर्यग्शोके संख्येयगुणाः, अतिप्रभूततराणामुपपानसमुद्-
धातान्यामधोलोकतिर्यग्लोकसंस्पर्शप्रतरद्वयसंस्पर्शभावात् । ते-
न्य ऊर्ध्वलोक संख्येयगुणाः, वैमानिकानामवस्थानभावात् ।
तेभ्योऽधोलोक संख्येयगुणाः, वैमानिकदेवेभ्यः संख्येयगुणानां
नैरयिकाणां तत्र भावात् । तेभ्यस्तिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणाः, सं-
मूर्च्छिमज्जन्तरत्तचरादीनां व्यन्तरज्योतिष्काणां समूर्च्छिमम-
नुप्याणां च तत्र भावात् । एवं पञ्चेन्द्रियापर्याप्तसूत्रमपि माव-
नीयम् ।

पञ्चेन्द्रियपर्याप्तसूत्रमिदम्-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पांचिदिया पज्जत्ता उरुद्वोए,
उरुद्वोयतिरियद्वोए असं०, तेजुके असं०, अहोद्वोयतिरि-
यलोए संखेज्ज०, अहोलोए संखेज्ज०, तिरियलोए असं-
खेज्जगुणा ।

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमानाः पञ्चेन्द्रियाः पर्याप्ताः सर्वस्तोका-
ऊर्ध्वलोकं, प्रायो वैमानिकानामेव तत्र जायात् । तेभ्य ऊर्ध्वशोके-
तिर्यग्शोके प्रतरद्वयरूपेऽसंख्येयगुणाः, विवाहेतप्रतरद्वयप्रत्या-
सन्नज्योतिष्काणां तद्व्याप्तिनक्षत्राधिनव्यन्तरतिर्यग्पञ्चेन्द्रिया-
णां वैमानिकव्यन्तरज्योतिष्काधिरचरणमुनितिर्यक्पञ्चेन्द्रि-
याणामूर्ध्वशोके तिर्यग्लोकं च गमनागमने कुर्यतामधिकृतप्रतर-
द्वयरूप्यात् । तेभ्यल्लैश्वर्ये विश्लोकसंस्पर्शिनः असंख्येयगुणाः ।
कथमिति चेत् ? यतो ये भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका
विद्याधरा वा अधोलोकाः कृतवैक्रियसमुद्धानास्तथाविधप्र-
यत्नविशेषादूर्ध्वशोकेऽपि चित्तितात्मप्रदेशदण्डास्तु त्रीणापि
शोकात् स्पृशन्तीति संख्येयगुणाः । तेभ्योऽधोलोकातिर्यग्लोकं प्र-
तरद्वयरूपे संख्येयगुणाः, बहवो हि व्यन्तराः स्वस्थानप्रत्यासन्न-
तया भवनपतयस्तिर्यग्लोकं ऊर्ध्वलोकं वा व्यन्तरज्योतिष्कवै-
मानिका देवा अधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादावधोशोके
क्रीडादिनिमित्तं च गमनागमनकरणतः, तथा समुद्रेषु कचित-
निर्यक्पञ्चेन्द्रियाः स्वस्थानप्रत्यासन्नतया, अपरे तद्व्याप्ति-
तक्षेत्राधिनतया यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततः संख्येयगु-
णाः । तेभ्योऽधोलोक संख्येयगुणाः, नैरयिकाणां भवनपतीनां च
तत्रावस्थानात् । तेभ्यस्तिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणाः, तिर्यक्पञ्चे-
न्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्काणामवस्थानात् । तदेवमुक्तं पञ्चे-
न्द्रियाणामल्पबहुत्वम् ।

इदानीमेकेन्द्रियज्जेदानीं पृथिवीकायिकादीनां पञ्चानामौघिक-
पर्याप्तापर्याप्तभेदेन प्रत्येकं त्रीणि त्रीण्यवयवबहुत्वान्वाह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पुदविकाइया उह्लोयतिरि-
यलोए, अहोद्वोयतिरियद्वोए विसेसाहिया, तिरियलोए
असंखेज्जगुणा, तेजुके असंखेज्जगुणा, उह्लोए असंखे-
ज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्व-

त्थोवा पुदविकाइया अपज्जत्तया उह्लोयतिरियलोए,
अहोलोयतिरियद्वोए विसेसाहिया, तिरियद्वोए असंखेज्ज-
गुणा, तेजुके असंखेज्जगुणा, उह्लोए असंखेज्जगुणा,
अहोद्वोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा
पुदविकाइया पज्जत्तया उह्लोयतिरियद्वोए, तिरियलोय-
अहोलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेजुके
असंखेज्जगुणा, उह्लोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसा-
हिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा आउकाइया उह्लोयति-
रियद्वोए, अहोद्वोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियद्वोए
असंखेज्जगुणा, तेजुके असंखेज्जगुणा, उह्लोए असंखेज्ज-
गुणा, अहोद्वोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा
आउकाइया अपज्जत्तया उह्लोयतिरियलोए, अहो-
द्वोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखे-
ज्जगुणा, तेजुके असंखेज्जगुणा, उरुद्वोए असंखेज्जगुणा,
अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा आ-
उकाइया पज्जत्तया उरुद्वोयतिरियलोए, अहोद्वोयतिरि-
यद्वोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेजुके अ-
संखेज्जगुणा, उरुद्वोए असंखेज्जगुणा, अहोद्वोए विसे-
साहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउकाइया उह्लोय-
तिरियद्वोए, अहोलोयतिरियद्वोए विसेसाहिया, तिरियद्वोए
असंखेज्जगुणा, तेजुके असंखेज्जगुणा, उरुद्वोए असंखेज्ज-
गुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा
तेउकाइया अपज्जत्तया उरुद्वोयतिरियद्वोए, अहोद्वोयति-
रियद्वोए विसेसाहिया, तिरियद्वोए असंखेज्जगुणा, तेजुके
असंखेज्जगुणा, उरुद्वोए असंखेज्जगुणा, अहोद्वोए वि-
सेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउकाइया पज्ज-
त्तया उरुद्वोयतिरियद्वोए, अहोद्वोयतिरियलोए विसेसाहि-
या, तिरियद्वोए असंखेज्जगुणा, तेजुके असंखेज्जगुणा, उ-
रुद्वोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खे-
त्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया उरुद्वोयतिरियद्वोए,
अहोद्वोयतिरियद्वोए विसेसाहिया, तिरियद्वोए असंखेज्ज-
गुणा, तेजुके असंखेज्जगुणा, उरुद्वोए असंखेज्जगुणा,
अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउ-
काइया अपज्जत्तया उरुद्वोयतिरियलोए, अहोद्वोयतिरि-
यद्वोए विसेसाहिया, तिरियद्वोए असंखेज्जगुणा, तेजुके
असंखेज्जगुणा, उरुद्वोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए वि-
सेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया पज्ज-
त्तया उरुद्वोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियद्वोए विसेसा-
हिया, तिरियद्वोए असंखेज्जगुणा, तेजुके असंखेज्जगुणा,
उरुद्वोए असंखेज्जगुणा, अहोद्वोए विसेसाहिया । खेत्ताणु-
वाएणं सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया उरुद्वोयतिरियलोए,

यादागतानामेव प्रथमसमये वर्तमानानां प्रथमसमयतिर्यग्यो-
निकत्वात् ।

द्वितीयमेवम्—

एएसि णं जंते ! अपढमसमयणेरइयाणं अपढमसमय-
तिरिक्खजोणियाणं अपढमसमयमणूसाणं अपढमसमयदेवा-
णं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा अपढमसमयमणूसा, अपढमसमयणेरइया अ-
संखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, अपढम-
समयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका अप्रथमसमयमनुष्याः, तेज्योऽप्रथमसमयनैरयिका
असंख्येयगुणाः, तेज्योऽप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, ते-
भ्योऽप्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानाम-
नन्तत्वात् ।

तृतीयमेवम्—

एएसि णं पढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयणेरइयाणं कयरे
कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढ-
मसमयणेरइया, अपढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा । ए-
सि णं जंते ! पढमसमयतिरिक्खजोणियाणं अपढमसमयति-
रिक्खजोणियाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयतिरिक्खजोणिया, अपढमस-
मयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा । मणुयदेवाणं अप्पाबहुयं
जहा नेरइया ।

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयनैरयिकाः, अप्रथमसमयनैरयिका
असंख्येयगुणाः । तत्र प्रथमसमयतिर्यग्योनिकाः सर्वस्तोकाः, अ-
प्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, तथा सर्वस्तोकाः प्रथम-
समयमनुष्याः, अप्रथमसमयमनुष्याः असंख्येयगुणाः । तथा स-
र्वस्तोकाः प्रथमसमयदेवाः, अप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः ।

सर्वसमुदायगतं चतुर्थमेवम्—

एएसि णं भंते ! पढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयणेरइ-
याणं पढमसमयतिरिक्खजोणियाणं, अपढमसमयतिरिक्ख-
जोणियाणं पढमसमयमणूसाणं अपढमसमयमणूसाणं पढम-
समयदेवाणं अपढमसमयदेवाणं सिद्धाणं य कयरे कयरेहिं-
तो० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमय-
मणूसा, अपढमसमयमणूसा असंखेज्जगुणा, पढमसमयणे-
रइया असंखेज्जगुणा, पढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसम-
यतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयनेरइया
असंखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, निष्ठा
अणंतगुणा, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयमनुष्याः, अप्रथमसमयमनुष्या अ-
संख्येयगुणाः, तेज्यः प्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, तेभ्यो
ऽपि प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि प्रथमसमयति-
र्यग्योऽसंख्येयगुणाः, तेज्योऽपि प्रथमसमयनैरयिका असंख्ये-
यगुणाः, तेज्योऽप्यप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सि-
द्धा अनन्तगुणाः, तेज्योऽप्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगु-
णाः । जी० ६ प्रति० ।

प्रथमसमयाप्रथमसमयजेदेन भिन्नानां नैरयिकतिर्यग्योनिकम-
नुष्यदेवसिद्धानां दशानामल्पबहुत्वान्यत्रापि चत्वारि ।

तत्र प्रथममिदम्—

एतोसि णं भंते ! पढमसमयणेरइयाणं पढमसमयतिरिक्ख-
जोणियाणं पढमसमयमणूसाणं पढमसमयदेवाणं पढमसमय-
सिद्धाणं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयसिद्धा पढमसमयमणूसा
असंखेज्जगुणा, पढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, पढम-
समयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोणिया अ-
संखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, अष्टोत्तरशतादूर्द्धमभावात् ।
तेभ्यः प्रथमसमयमनुष्या असंख्येयगुणाः, तेज्यः प्रथमसमयनै-
रयिकाः असंख्येयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयदेवाः असंख्येय-
गुणाः, तेज्यः प्रथमसमयतिर्यग्योऽसंख्येयगुणाः ।

द्वितीयमिदम्—

एतोसि णं जंते ! अपढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयति-
रिक्खजोणियाणं अपढमसमयमणूसाणं अपढमसमयदेवाणं
अपढमसमयसिद्धाणं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसा-
हिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अपढमसमयमणूसा, अप-
ढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असं-
खेज्जगुणा, अपढमसमयसिद्धा अणंतगुणा, अपढमसमय-
तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका अप्रथमसमयमनुष्याः, अप्रथमसमयनैरयिका अ-
संख्येयगुणाः, अप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, अप्रथमस-
मयसिद्धा अनन्तगुणाः, अप्रथमसमयतिर्यग्योऽनन्तगुणाः ।

तृतीयम्—

एएसि णं जंते ! पढमसमयणेरइयाणं य अपढमसमयणेरइ-
याणं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा पढमसमयणेरइया, अपढमसमयणेरइया असं-
खेज्जगुणा । एतोसि णं जंते ! पढमसमयतिरिक्खजोणि-
याणं अपढमसमयतिरिक्खजोणियाणं य कयरे कयरेहिंतो०
जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमस-
मयतिरिक्खजोणिया, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणं-
तगुणा । एतोसि णं जंते ! पढमसमयमणूसाणं अपढमस-
मयमणूसाणं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयमणूसा, अपढमसमयमणूसा
असंखेज्जगुणा । जहा मणूसा तद्वा देवा वि । एतोसि णं जं-
ते ! पढमसमयसिद्धाणं अपढमसमयसिद्धाणं य कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयसिद्धा, अपढमसमयसि-
द्धा अणंतगुणा ।

प्रत्येकभावानैरयिकतिर्यग्यमनुष्यदेवानां पूर्ववत् । सिद्धानामेवं
सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, अप्रथमसमयसिद्धा अनन्त-
गुणाः ।

सर्वस्तोका मानुष्यो मनुष्यस्त्रियः, संख्येयकौटोत्थिप्रमाण-
त्वात् । ताज्यो मनुष्या असंख्येयगुणाः, इह मनुष्याः सं-
मूर्च्छनजा अपि गृह्यन्ते, वेदस्याविचक्रणात् । ते च संमूर्च्छ-
नजा वान्तादिषु नगरनिर्दिष्टनान्तेषु जायमाना असंख्येयाः प्रा-
प्यन्ते । तेज्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः, मनुष्या ह्युत्पेदसि
श्रेण्यसंख्येयजागतप्रदेशराशिप्रमाणा लघ्नन्ते । नैरयिकास्त्य-
हुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिसत्कद्वितीयवर्गमूलगुणितप्रथमवर्गमू-
लप्रमाणश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः, ततो भवन्त्यसंख्ये-
यगुणाः, तेज्यस्तिर्यग्योनिकाः स्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, प्रतरासं-
ख्येयजागवत्यसंख्येयश्रेणिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताज्यो-
ऽपि देवा असंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयजागवत्यसंख्येयश्रेणिग-
तप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्योऽपि देव्यः संख्येयगुणाः, द्वाविंश-
हणत्वात् । ताज्योऽपि सिद्धा अनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि तिर्य-
ग्योनिका अनन्तगुणाः । अत्र युक्तिः प्रागेवोक्ता । प्रश्ना० ३ पद ।

अर्थतथैवं गाथा-

“ नारी नर नैरया, तिरिथि सुर देवि सिद्ध तिरिया य ।
शोव असंखगुणा चड, संखगुणाऽणंतगुण दोषि ॥ २ ॥
भ० २५ श० ३ उ० ।

अथ(समासेन)प्रथमाप्रथमसमयविशेषणेन गतिप्लवधुत्वम्-
अप्पावहु-एतेसि णं भंते ! पदमसमयणेरइयाणं० जाव पद-
मसमयदेवाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेमाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पदमसमयमणुस्सा, पदमसमयणेरइया
असंखेज्जगुणा, पदमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, पदमसमयति-
रिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा । एतेसि णं भंते ! अपदमसम-
यणेरइयाणं जाव० अपदमसमयदेवाणं कयरे कयरेहिंतो०
जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! एवं चेव; नवरं अपदमस-
मयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा । एतेसि णं जंते ! पदमस-
मयणेरइयाणं अपदमसमयणेरइयाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव
विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पदमसमयणेरइया,
अपदमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, एवं चेव तिरिक्ख-
जोणिया, नवरं अपदमसमयतिरिक्खजोणिया अणंत-
गुणा । मणुयदेवाणं अप्पावहुयं जहा नैरइया । एएसि णं
भंते ! पदमसमयणेरइयाणं० जाव अपदमसमयतिरिक्खजो-
णियाणं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पदमसमयमणुस्सा, अपदमसमयमणुस्सा
असंखेज्जगुणा, पदमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, पदमसमय-
देवा असंखेज्जगुणा, पदमसमयतिरिक्खजोणिया असंखेज्ज-
गुणा, अपदमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, अपदमसमयदेवा
असंखेज्जगुणा, अपदमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।
प्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोकाः प्रथमसमय-
मनुष्याः, श्रेण्यसंख्येयभागमात्रत्वात् । तेज्यः प्रथमसमयनैरयि-
का असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूतानामेकस्मिन् समये उत्पादसंभ-
वात् । तेज्यः प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, व्यन्तरज्योतिष्का-
णामतिप्रभूततराणामेकस्मिन् समये उत्पादसंभवात् । तेभ्यः
प्रथमसमयतिर्यग्योऽसंख्येयगुणाः, इह ये नारकादिगति-
त्रयादागत्य तिर्यक्प्रथमसमये वर्तन्ते ते प्रथमसमयतिर्यग्योः, न
शेषाः, ततो यद्यपि प्रतिनिगोदमसंख्येयभागः सदा विप्रहृगति-

प्रथमसमयवर्त्ता ब्रह्मते, तथापि निगोदानामपि तिर्यक्त्वात् न ते
प्रथमसमयतिर्यग्योः, एतज्यः संख्येयगुणा एव । साम्प्रतमेतेषामेव
चतुर्णामप्रथमसमयानां परस्परमल्पबहुत्वमाह-“एएसि णमि-
त्यादि” प्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवानाह-गौतम ! सर्वस्तो-
का अप्रथमसमयमनुष्याः, श्रेण्यसंख्येयभागमात्रत्वात् । ते-
ज्योऽप्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, अहुलमात्रक्षेत्र-
प्रदेशराशेः प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान्
प्रदेशराशिः तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्ता-
वत्प्रमाणात्वात् । तेज्योऽप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, व्य-
न्तरज्योतिष्काणामतिप्रभूतत्वात् । तेभ्योऽप्रथमसमयतिर्यग्यो-
निका अनन्तगुणाः, वनस्पतीनामनन्तत्वात् । साम्प्रतमेतेषामेव
नैरयिकादीनां प्रत्येकं प्रथमसमयाप्रथमसमयगतमल्पबहुत्व-
माह-“एएसि णं जंते !” इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवा-
नाह-गौतम ! सर्वस्तोकाः प्रथमसमयनैरयिकाः, एकस्मिन्
समये संख्यातीतानामपि स्तोकाणामेवोत्पादात् । तेज्योऽप्रथ-
मसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, चिरकाद्यावस्थायिनां तेषाम-
भ्योऽन्योत्पादेनातिप्रभूतत्वात् । एवं तिर्यग्योनिकमनुष्यदेव-
सुत्राण्यपि वक्तव्यानि, नवरं तिर्यग्योनिकसुत्रेऽप्रथमसमयति-
र्यग्योनिका अनन्तगुणा वक्तव्याः, वनस्पतिजीवानामनन्त-
त्वात् । साम्प्रतमेतेषामेव प्रथमसमयाप्रथमसमयानां समु-
दायेन परस्परमल्पबहुत्वमाह-“एएसि णमित्यादि” प्रश्न-
सूत्रं सुगमम् । जगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोकाः प्रथमसमय-
मनुष्याः, एकस्मिन् समये संख्यातीतानामपि स्तोकाणामे-
वोत्पादात् । तेज्योऽप्रथमसमयमनुष्या असंख्येयगुणाः, चिर-
कालावस्थायितया अतिप्राजूत्येन लभ्यमानत्वात् । तेज्यः प्रथ-
मसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूततराणामेकस्मिन्
समये उत्पादसंभवात् । तेज्यः प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः,
व्यन्तरज्योतिष्काणामेकस्मिन् समये अतिप्राजूत्येण कदा-
चिदुत्पादात् । तेभ्यः प्रथमसमयतिर्यग्योनिका असंख्येयगुणाः,
नारकवर्जगतित्रयादप्युत्पादसंभवात् । तेभ्योऽप्रथमसमयनैर-
यिका असंख्येयगुणाः, अहुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः प्रथमव-
र्गमूले द्वितीयवर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमा-
णासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेज्यो-
ऽप्रथमसमयदेवाः असंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयजागवतिश्रेण्या-
काशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्योऽप्रथमसमयतिर्यग्योनिका
अनन्तगुणाः, वनस्पतिजीवानामनन्तत्वात् । जी० ८ प्रति० ।

अत्र (व्यासेन) चत्वार्यल्पबहुत्वानि, तद्यथा-

सिद्धेणं जंते ! सिद्धं चि कालतो केव चिरं होति ?
गोयमा ! सादि ए अपज्जवसि ए । (जी०)

तत्र प्रथममिदम्-

एएसि णं जंते ! पदमसमयणेरइयाणं पदमसमयतिरिक्ख-
जोणियाणं पदमसमयमणुस्साणं पदमसमयदेवाणं य कयरे०
जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पदमसमयमणु-
स्सा, पदमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, पदमसमयदेवा अ-
संखेज्जगुणा, पदमसमयतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा ॥
सर्वस्तोकाः प्रथमसमयमनुष्याः । तेज्यः प्रथमसमयनैरयिका
असंख्येयगुणाः । तेज्यः प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, तेभ्यः
प्रथमसमयतिर्यग्योनिका असंख्येयगुणाः, नारकादिशेषगतित्र-

ला अपि जीवेज्योऽनन्तगुणाः, किं पुनः कार्मेणादिपुद्गलरा-
शिसहिताः । तथा पञ्चदशविधप्रयोगपरिणताः पुद्गलाः स्तो-
काः, तेभ्यो मिश्रपरिणताः अनन्तगुणाः, तेज्योऽपि विस्त्रसाप-
रिणता अनन्तगुणाः, त्रिविधा एव च पुद्गलाः सर्व एव भव-
न्ति । जीवाश्च सर्वेऽपि प्रयोगपरिणतपुद्गलानां प्रतनुकेऽनन्त-
भागे वर्तन्ते यस्मादेवं तस्माज्जीवेभ्यः सकाशात् पुद्गलाः बहु-
भिरनन्ताऽनन्तकैर्गुणिताः सिद्धा इति ।

आह च-

" जं जेण परिगहियं, तेयादिजिएण देहमेकेकं ।
तत्तो तमणंतगुणं, पोग्गलपरिणामओ होइ ॥ १ ॥
तेयाओ पुण कम्मण-मणंतगुणियं जओ विणिहिदुं ।
एवं ता बद्धाई, तेयगकम्माइ जीवेहि ॥ २ ॥
एत्तोऽणंतगुणाई, तेसिं चिय जाणि होति मुक्काई ।
इह पुण थोवत्ताओ, अगगहणं सेसदेहाणं ॥ ३ ॥
जं तेसिं मुक्काई, पि होति सघाणऽणंतभागस्मि ।
तेण तदगाहणमिहं, बद्धावद्धाण दोएहं पि ॥ ४ ॥
इह पुणतेयसरीरग-बद्धं चिय पोग्गला अणंतगुणा ।
जीवेहिं तो किं पुण, सहिया अवसेसरासीहिं ॥ ५ ॥
थोवा मणिया सुत्ते, पन्नरसविहप्यओगयाओमा ।
तत्तो मीसपरिणया-ऽणंतगुणा पोग्गला जणिया ॥ ६ ॥
ते वीससा परिणया, तत्तो मणिया अणंतसंगुणिया ।
एवं तिविहपरिणया, सब्बे वि य पोग्गला लोए ॥ ७ ॥
जं जीवा सब्बे वि य, एक्कस्मि पओगपरिणयाणं पि ।
वट्टंति पोग्गलाणं, अणंतभागस्मि तणुयस्मि ॥ ८ ॥
बहुपहिं अणंतारणं, तहिं तेण गुणिया जिएहिंतो ।
सिद्धा भवंति सब्बे, वि पोग्गला सब्बलोमास्मि " ॥ ९ ॥

मनु पुद्गलेज्योऽनन्तगुणाः समया इति यदुक्तम् । तच्च संगतम् । ते-
भ्यस्तेषां स्तोकात्वात् । स्तोकात्वं च मनुष्यक्षेत्रमात्रवर्तित्वात्सम-
यानां पुद्गलानां च सकललोकवर्तित्वादिति । अत्रोच्यते-सम-
यक्षेत्रे ये केचन द्रव्यपर्यायाः सन्ति, तेषामेकैकस्मिन् साम्प्रतं
समयो वर्तते । एवं च साम्प्रतं समयो यस्मात्समयक्षेत्रद्रव्यपर्य-
वगुणो भवति तस्मादनन्ताः समया एकैकस्मिन् समये
जवन्तीति । आह च-

" होति य अणंतगुणिया, अद्धासमया उ पोग्गलेहिंतो ।
मणु थोवा ते नरखे-समेत्तवत्तणाओ चि ॥ १ ॥
मणणइ समयक्षेत्र-स्मि संति जे केइ दव्वपज्जाया ।
वट्टइ संपयसमओ, तेसिं पत्तेयमेक्के ॥ २ ॥
एवं संपयसमओ, जं समयक्षेत्रपज्जवज्जुत्तयो ।
तेणाणंता समया, भवंति एक्केकसमयस्मि " ॥ ३ ॥
एवं च वर्तमानोऽपि समयः पुद्गलेज्योऽनन्तगुणो जवति,
एकद्रव्यस्याऽपि पर्यायाणामनन्तत्वात् । किं च । केवलमित्थं
पुद्गलेज्योऽनन्तगुणाः समयाः सर्वलोकद्रव्यप्रदेशपर्याये-
ज्योऽनन्तगुणास्ते संजवन्ति । तथाहि-यत्समस्तलोकद्र-
व्यप्रदेशपर्यवराशेः समयक्षेत्रद्रव्यप्रदेशपर्यवराशिना भक्ता-
स्तुभ्यते । एतद्भावना चैवं किल-असद्भावकल्पनया दृक्कणं
लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवराणां तस्य समयक्षेत्रद्रव्यप्रदेशपर्यवराशि-
ना कल्पनया सहस्रमानेन भागे हृते शतं द्रव्यम्, ततश्च
किल तात्त्विकसमयशते गते लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवसंख्या तु-
ल्या समयक्षेत्रद्रव्यप्रदेशपर्यवरूपसमयसंख्या लज्यते । स-
मयक्षेत्रापेक्षया असंख्यातगुणलोकस्य कल्पनया शतगुण-

त्वात् । तथाऽन्येष्वपि तावत्सु तात्त्विकसमयेषु गतेषु ताव-
त्त एवौपचारिकसमया जवन्तीत्येवमसंख्यातेषु कल्पनया श-
तमानेषु तात्त्विकसमयेषु पौनःपुन्येन गतेष्वनन्ततमायां कल्प-
नया सहस्रतमायां वेलायां गता जवन्ति । तात्त्विकसमया
लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवमात्राः कल्पनया दृक्प्रमाणाः, एवं चैकै-
कस्मिंस्तात्त्विकसमयेऽनन्तानामौपचारिकसमयानां भावात्स-
र्वलोकद्रव्यप्रदेशपर्यवराशेरपि समया अनन्तगुणाः प्राप्नुवन्ति,
किं पुनः पुद्गलेभ्यः ? इति ।

यदाह-

" जं सब्बलोगदव्व-प्पएसपज्जवगणस्स जइयस्स ।
जण्णइ समयक्षेत्र-प्पएसपज्जायपिणेण ॥ १ ॥
एवइसमपहिं गपहिं, लोगपज्जवसमा समयसंखा ।
लब्भइ अओहिं पि य, तत्तियमेत्तेहिं तावइया ॥ २ ॥
एवमसंखेज्जेहिं, समपहिं गतेहिंतो गयाहिं ति ।
समयाओ धोगदव्व-प्पएसपज्जायमेत्ताओ ॥ ३ ॥
इय सब्बलोगपज्जव-रासीओ वि समया अणंतगुणा ।
पावंति गणिज्जंता, किं पुण ता पोग्गलेहिंतो ? " ॥ ४ ॥

अन्यस्तु प्रेरयति-उत्कृष्टतोऽपि पण्मासमात्रमेव सिक्किगते-
रन्तरं भवति. तेन च सेत्स्यदृश्यः सिक्किज्योऽपि च जीवेज्यो-
ऽसंख्यातगुणा एव समया जवन्ति । कथं पुनः ? सर्वजीवेज्यो-
ऽनन्तगुणा भविष्यन्तीति इहाप्यौपचारिकसमयापेक्षया स-
मयानामनन्तगुणत्वं वाच्यमिति । अथ समयेज्यो द्रव्याणि
विशेषाधिकानीति कथम् ? । अत्रोच्यते-यस्मात्सर्वे समयाः प्र-
त्येकं द्रव्याणि, शेषाणि च जीवपुद्गलधर्मास्तिकायादीनि ते-
ष्वेव क्षितानीत्यतः केवलेज्यः समयेज्यः सकाशात् समस्तद्रव्या-
णि विशेषाधिकानि भवन्ति, न संख्यातगुणादीनि, समयद्र-
व्यापेक्षया जीवादिद्रव्याणामव्यपत्तरत्वादिति ।

उक्तं च-

" एत्तो समपहिंतो, होति विसेसाहियाई दव्वाइ ।
जं भेया सब्बे चिय, समया दव्वाइ पत्तेयं ॥ १ ॥
सेसाई जीवपोगल-धम्माधम्मं वराई छुद्धाई ।
दव्वदुयार्ये समण-सु तेण दव्वा विसेसाहिया ॥ २ ॥

नन्वद्धासमयानां कस्माद्द्रव्यत्वमेवेत्यतः ? समयस्कन्धापेक्षया
प्रदेशार्थत्वस्यापि तेषां युज्यमानत्वात् । तथाहि-यथा स्कन्धो
द्रव्यं सिद्धं, स्कन्धापर्यया अपि यथाप्रदेशाः सिद्धाः, एवं सम-
यस्कन्धवर्तिनः समया भवन्ति, प्रदेशाश्च द्रव्यं चेति ! अत्रोच्यते-
परमाणूनामन्योऽन्यसव्यपेक्षत्वेन स्कन्धत्वं युक्तम्, अद्धासम-
यानां पुनरन्योऽन्यापेक्षिता नास्ति । यतः कालसमयाः प्रत्येक-
त्वे च काल्पनिकस्कन्धजावे च वर्तमानाः प्रत्येकवृत्तय एव, त-
त्स्वभावत्वात्तस्मात्तेऽन्योऽन्यनिरपेक्षाः, अन्योऽन्यनिरपेक्षत्वाच्च
न ते वास्तवस्कन्धनिष्पादकाः, ततश्च तेषां प्रदेशार्थतोति ।

उक्तं चात्र आह-"अद्धासमयाणं किं, पुण दव्वदुयएव नियमेणं ।
तेसिं पएसट्टा थिहु, जुज्जइ खंधं समासज्ज ॥ १ ॥
सिद्धं खंधो दव्वं, तदवयवा वि य जहा पएस चि ।
इय तव्वत्ती समया, होति पएस य दव्वं च ॥ २ ॥
मणणइ परमाणूणं, अओन्नमेक्ख खंधया सिद्धा ।
अद्धासमयाणं पुण, अओन्नमेक्खया नत्थि ॥ ३ ॥
अद्धासमया जम्मा, पत्ते पत्तेयखंधजावे य ।
पत्तेयवत्तिणो चिय, ते तेणओन्ननिरवेक्खा " ॥ ४ ॥

समुदायगतं चतुर्थमेवम्-

एएसि एं भंते ! पदमसमयणेरइयाणं अपदमसमयणेरइ-
याणं पदमसमयतिरिक्खजोणियाणं अपदमसमयतिरिक्ख-
जोणियाणं पदमसमयमणूसाणं अपदमसमयमणूसाणं पदम-
मयदेवाणं अपदमसमयदेवाणं पदमसमयसिद्धाणं अपदम-
समयसिद्धाणं कयरे कयरेहिंनो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा
विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पदमसमयसिद्धा,
पदमसमयमणूसा असंखेज्जगुणा, अपदमसमयमणूसा असं-
खिज्जगुणा, पदमसमयणेरइया असंखिज्जगुणा, पदमसमय-
देवा असंखिज्जगुणा, पदमसमयतिरिक्खजोणिया असं-
खेज्जगुणा, अपदमसमयणेरइया असंखिज्जगुणा, अपद-
मसमयदेवा असंखिज्जगुणा, अपदमसमयसिद्धा अणंत-
गुणा, अपदमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, तेज्यः प्रथमसमयमनुप्या
असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयमनुप्या असंख्येयगुणाः,
तेज्यः प्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, तेज्यः प्रथमसम-
यदेवा असंख्येयगुणाः, तेज्यः प्रथमसमयतिर्यञ्चोऽसंख्येयगु-
णाः, तेज्योऽप्रथमसमयनैरयिका अनन्तगुणाः, तेभ्योऽप्रथम-
समयदेवा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयसिद्धा अनन्त-
गुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयतिर्यञ्चोऽनन्तगुणाः । भावना सर्व-
त्रापि प्राग्वत् । नवरं सूत्रे संक्षेप इति । जी० १० प्रति० ।

संप्रति गुणस्थानकेष्वेव वर्तमानानां जन्तूनामल्पवहुत्वमाह-

(पण दो खीण दु जोगी, ऽणुदीरग अजोगि) थोव उवसंता ।
संखगुण खीण मुहुमा, नियट्ठिअपुच्च समा अहिया ॥ ६१ ॥

(थोव उवसंत चि) स्तोका उपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनो
जीवाः, यतस्ते प्रतिपद्यमाना उत्कर्षतोऽपि चतुष्पञ्चाशत्प्रमा-
णा एव प्राप्यन्ते इति । तेज्यः सकाशात् क्षीणमोहाः संख्ये-
यगुणाः, यतस्ते प्रतिपद्यमाना एकास्मिन् समयेऽष्टोत्तरश-
तप्रमाणा अपि लज्यन्ते । एतच्चोक्त्यपवादपेक्षया कम । अन्यथा
कदाचिद्विपर्ययोऽपि द्रष्टव्यः । स्तोकाः क्षीणमोहाः, यद्वस्तु
तेज्य उपशान्तमोहाः, तथा तेज्यः क्षीणमोहभ्यः सकाशात्
सूक्ष्मसंपराया निवृत्तिवाद्वा पूर्वकरणे विशेषाधिकाः, स्वस्था-
ने पुनरेते चिन्त्यमानास्त्रयोऽपि समास्तुल्या इति ॥ ६१ ॥

जोगि अपमत्त इयरे, संखगुणा देससासणा मीसा ।

अविरय अजोगि मिच्छा, असंसल चउरो दुवेऽणंता ॥ ६२ ॥

तेभ्यः सूक्ष्मादिज्यः सयोगिकेवलिनः संख्यातगुणाः, तेषां
कोटिपृथक्त्वेन लज्यमानत्वात् । तेभ्योऽप्रमत्ताः संख्येयगुणाः,
कोटिसहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात् । तेभ्य (इयर चि) अ-
प्रमत्तप्रतियोगिनः प्रमत्ताः संख्येयगुणाः, प्रमादजावो हि बहु-
नां बहुकावं च लज्यन्ते, विपर्ययेण त्वप्रमाद इति न यथोक्त-
संख्याभ्याघातः । (देसेत्यादि) देशविरतसास्वादनमिध्याविरत-
लङ्घनाद्व्याधारे यथोत्तरमसंख्येयगुणाः, अयोगिमिध्यादष्टि-
लङ्घणी च द्वौ यथोत्तरमनन्तगुणौ, तत्र प्रमत्तेभ्यो देशविरता
असंख्येयगुणाः, तिरश्चात्मप्यसंख्यातानां देशविरतिजावात् ।

सास्वादानास्तु कदाचित्सर्वथैव न भवन्ति, यदा भवन्ति तदा
अधन्येनैको द्वौ वा, उत्कर्षतस्तु देशविरतेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः,
तेभ्यो मिध्या असंख्येयगुणाः, सास्वादानाकाया उत्कर्षतोऽ-
पि परावलितामात्रतया स्तोकात्वात् । मिध्याकायाः पुनरन्त-
मुहूर्तप्रमाणतया प्रभूतत्वात् । तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः अविरत-
सम्यगुदृष्टयः, तेषां गतिचतुष्टयेऽपि प्रभूततया सर्वकालसं-
भवात् । तेभ्योऽप्ययोगिकेवलिनो भवस्थाभवस्थभेदमिध्या
अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽप्यनन्तगुणा मि-
ध्यादृष्टयः, साधारणवनस्पतीनां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् ।
तेषां च मिध्यादृष्ट्यादिति । तदेवमभिहितं गुणस्थानवर्तिनां
जीवानामल्पवहुत्वम् । कर्म० ४ कर्म० । पं० सं० ।

(१३) [चरमद्वारम्] चरमाचरमाणामल्पवहुत्वम्-

एएसि एं जंते ! जीवाणं चरिमाणं अचरिमाणं य कयरे
कयरेहिंनो अप्पा वा बहुया वा० ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा
जीवा अचरिमा, चरिमा अणंतगुणा ।

इह येषां चरिमो भवः संभवी योग्यतयाऽपि ते चरमा उच्यन्ते । ते
चार्थाद् भव्याः, इतरेऽचरमा अभव्याः सिद्धाश्च, उज्जयेयामपि च-
रमाचरमजावात् । तत्र सर्वस्तोका अचरमाः, अभव्यानां सिद्धानां
च समुदितानामप्यजघन्योत्कृष्टयुक्तानन्तकपरिमाणत्वात् । ते-
भ्योऽनन्तगुणाचरमाः, अजघन्योत्कृष्टानन्तानन्तकपरिमाण-
त्वात् । गतं चरमद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । (रत्नप्रभादीनां चर-
माचरमगतमल्पवहुत्वं, सङ्गतप्रदेशस्य सङ्गतप्रदेशावगाढस्य
परिमणुलादेभ्यमादिष्विषयमल्पवहुत्वं च ' चरम ' शब्दे एव
दर्शयिष्यते)

(१४) [जीवद्वारम्] जीवपुल्लसमयद्रव्यप्रदेशपर्यायाणा-
मल्पवहुत्वम्-

एएसि एं जंते ! जीवाणं पोग्गसाणं अप्पासमयाणं
सव्वदव्वाणं सव्वपएसणं सव्वपज्जवाणं य कयरे कयरे-
हिंनो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा पोग्ग-
सा अणंतगुणा, अप्पासमया अणंतगुणा, सव्वदव्वा वि-
सेसाहिया, सव्वपदेसा अणंतगुणा, सव्वपज्जवा अणंतगुणा ।
प्रज्ञा० ३ पद ।

तदेवमर्थतः-

' जीवा १ पोग्गल २ समया ३, दत्त्व ४ पएसया ५ पज्जवा ६ चेव ।
थोवाऽणंताऽणंता, विसेसाहिया पुवेऽणंता ' ॥ १ ॥
इह भावना-यतो जीवाः प्रत्येकमनन्तानन्तैः पुद्गलैर्वक्ताः प्रायो
भवन्ति, पुद्गलास्तु जीवैः संयक्ता असंबन्धाश्च भवन्तीत्यतः
स्तोकाः पुद्गलेभ्यो जीवाः ।

यदाह-

" जं पोग्गलावक्का, जीवा पापणं होति तो थोवा ।

जीवेहि विरहियाऽविर-हिया च पुण पोग्गला संति " ॥ १ ॥

जीवेभ्योऽनन्तगुणाः पुद्गलाः कथम् ? यत्तैजसादिशरीरं येन जी-
वेन परियुहीतं तत्ततो जीवात्पुद्गलपरिणाममाश्रित्य अनन्तगुणं
भवति, तथा-तैजसशरीरात्प्रदेशतोऽनन्तगुणं कर्मणम्, एवं च
ते जीवप्रतिबद्धेऽनन्तगुणे जीवविमुक्ते च ते ताभ्यामनन्तगुणे
ज्वतः, शेषशरीरचिन्ता त्विह न कृता, यस्मात्तानि मुक्तामपि
स्वे स्वे स्थाने तयोरनन्तनागे वर्तन्ते, तदेवमिह तैजसशरीरपुद्ग-

तो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा ओ-
हिदंसणी, चक्खुदंसणी असंखज्जुणा, केवलदंसणी
अणंतगुणा, अचक्खुदंसणी अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका अवधिदर्शनिनः, देवनैरयिकाणां कतिपयानां च
संक्षिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामवधिदर्शनभावात् । तेभ्यश्चक्षु-
दर्शनिनोऽसंख्येयगुणाः, सर्वेषां देवनैरयिकगर्भजमनुष्याणां सं-
क्षितिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च असंक्षितिर्यक्पञ्चे-
न्द्रियाणां चक्षुदर्शनभावात् । तेभ्यः केवलदर्शनिनोऽनन्तगुणाः,
सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽचक्षुदर्शनिनोऽनन्तगुणाः, वनस्प-
तिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् । गतं दर्शनद्वारम् । प्रज्ञा०
३ पद । कर्म० । जी० ।

(१९) [दिग्द्वारम्] दिगनुपातेन जीवानामल्पबहुत्वम्—

दिमाण्वाएणं सव्वत्थोवा जीवा पच्चिमेणं, पुरच्छि-
मेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसे-
साहिया ।

इह दिशः प्रथमे आचाराख्येऽङ्गे अनेकप्रकारा व्यावर्णिताः,
तत्रेह क्षेत्रदिशः प्रतिपत्तव्याः, तासां नियतत्वात् । इतरासां च
प्रायोऽनवस्थितत्वादनुपयोगित्वाच्च, क्षेत्रदिशां च प्रभवस्तिर्य-
ग्लोकमध्यगतादृष्टप्रदेशाद् रुचकाद् । यत उक्तम्—“अष्टपयसो
रुयगो, तिरियलोयस्स मज्झियारम्मि । एस पमथो दिसाणं,
एसेव भवे अणुदिसाणं” ॥ १ ॥ इति दिशामनुपातो दिगनुस-
रणं, तेन दिशोऽधिष्ठयति तात्पर्यार्थः । सर्वस्तोका जीवाः
पश्चिमेन पश्चिमायां दिशि । कथमिति चेत् ?, उच्यते—इदं ह्यल्प-
बहुत्वं वादरानधिकृत्य रूप्यं, न सूक्ष्माणां, सर्वज्ञोकापन्नानां
प्रायः सर्वत्राऽपि समत्वात् । वादरेष्वपि मध्ये सर्वबहुवो वन-
स्पतिकायिकाः, अनन्तसंख्याततया तेषां प्राप्यमाणत्वात् । ततो
यत्र ते बहवः तत्र बहुत्वं जीवानां, यत्र त्वल्पे तत्राल्पत्वम् । वन-
स्पतयश्च तत्र बहवो यत्र प्रचूता आपः । “जत्थ जञ्जं तत्थ वणं”
इति वचनात् । तत्रायदयं पनकशैवालादीनां भावात् । ते च
पनकशैवालादयो वादरनामकमांदये वर्तमाना अपि अत्य-
न्तसूक्ष्मावगाहनत्वादतिप्रभूतपिण्डीभावाच्च सर्वत्र सन्तोऽपि
न चक्षुषा ग्राह्याः । तथा चोक्तमनुयोगद्वारेण—“तेणं बाल-
ग्गा सुहुमपणगजीवस्स सरीरोगाहणार्हितो असंखेज्जगुणा”
इति । ततो यत्रापि नैते दृश्यन्ते तत्रापि ते सन्तीति प्रतिप-
त्तव्याः । आह च मूढटीकाकारः—इह सर्वबहुवो वनस्प-
तय इति कृत्वा यत्र ते सन्ति तत्र बहुत्वं जीवानां, तेषां च बहु-
त्वम् “जत्थ आउकाओ तत्थ नियमा वणस्सइकाया” इति ।
“पणगसेवालढढाई थायरा वि होति, सुहुमा आणगिम्मा न-
चक्खणा” इति । उदकं च प्रचूतं समुद्रेषु द्वीपद्विगुणवि-
ष्कम्नात् । तेष्वपि च समुद्रेषु प्रत्येकं प्राचीप्रतीचीदिशोर्यथा-
क्रमं चन्द्रसूर्यद्वीपाः, यावति च प्रदेशे चन्द्रसूर्यद्वीपा अवगाढा-
स्तावत्युदकाभावः, उदकाभावाच्च वनस्पतिकायिकाभावः, के-
वलं प्रतीच्यां दिशि लवणसमुद्राधिपसुखितनामदेवावासभूतो
गौतमद्वीपो लवणसमुद्रेऽन्यधिको वर्तते, तत्र च उदकाभा-
वाद्धनस्पतिकायिकानामभावात् । सर्वस्तोका जीवाः पश्चिमायां
दिशि, तेभ्यो विशेषाधिकाः पूर्वस्यां दिशि, तत्र हि गौतमद्वीपो
न विद्यते, ततस्तावता विशेषपाधिका भवन्त्यतिरिच्यन्ते, ते
न्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषपाधिकाः, यतस्तत्र चन्द्रसूर्यद्वीपा

न विद्यन्ते, तदभावात्तत्रोदकं प्रचूतं, तत्प्राप्त्याच्च वनस्पतिका-
यिका अपि प्रचूता इति विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्युदीच्यां दिशि
विशेषाधिकाः । किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते—उदीच्यां हि
दिशि संख्येययोजनेषु द्वीपेषु मध्ये कस्मिंश्चिद् द्वीपे आयामवि-
ष्कम्भाच्यां संख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणं मानसं नाम सरः स-
मस्ति, ततो दक्षिणदिगपेक्षया अस्यां प्रचूतमुदकम्, उदकबाहु-
ल्याच्च प्रचूता वनस्पतयः, प्रचूता द्वीन्द्रियाः शङ्खादयः, प्रचूता-
स्तद्वज्रशङ्खादिकलेवराश्रिताः त्रीन्द्रियाः पिपीलिकादयः, प्र-
चूताः पद्मादिषु चतुरिन्द्रिया जम्बरादयः, प्रचूताः पञ्चेन्द्रिया
मत्स्यादयः, इति विशेषाधिकाः ॥

इदानीं विशेषेण तदाह—

दिसाण्वाएणं सव्वत्थोवा पुढविकाइया दाहिणेणं, उत्त-
रेणं विसेसाहिया, पुरिच्छिमेणं विसेसाहिया, पच्चिमेणं
विसेसाहिया । दिसाण्वाएणं सव्वत्थोवा आउकाइया पच्च-
च्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहि-
या, उत्तरेणं विसेसाहिया । दिसाण्वाएणं सव्वत्थोवा तेउ-
काइया दाहिणुत्तरेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, पच्चिमेणं
विसेसाहिया । दिमाण्वाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया पुर-
च्छिमेणं, पच्चिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया,
उत्तरेणं विसेसाहिया ॥

दिगनुपातेन दिगनुसारेण, दिशोऽधिष्ठयति जायः । पृथिवी-
कायिकाभिन्यमानाः सर्वस्तोकाः दक्षिणस्यां दिशि । कयमि-
ति चेत् ?, उच्यते—इह यत्र घनं तत्र बहवः पृथिवीकायिकाः,
यत्र सुपिरं तत्र स्तोकाः, दक्षिणस्यां दिशि बहूनि भवनपतीनां भ-
वनानि, बहवो नरकावासास्ततः सुपिरप्राभृत्यसंभवात्, सर्व-
स्तोका दक्षिणस्यां दिशि पृथिवीकायिकाः । तेन्य उत्तरस्यां दि-
शि विशेषाधिकाः, यत्र उत्तरस्यां दिशि दक्षिणदिगपेक्षया
स्तोकानि जवनानि, स्तोका नरकावासास्ततो घनप्राचृत्यसं-
भवाद् बहवः पृथिवीकायिका इति विशेषाधिकाः । तेन्योऽपि
पूर्वस्यां दिशि विशेषाधिकाः, रविशशिद्वीपानां तत्र भावात् ।
तेभ्योऽपि पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः । किं कारणमिति चेत् ?,
उच्यते—यावन्तो रविशशिद्वीपाः पूर्वस्यां दिशि तावन्तः पश्चि-
मायामपि, तत एव तावता साम्यम् । परं ध्वणसमुद्रे गौत-
मनामा द्वीपः पश्चिमायामधिकोऽस्ति, तेन विशेषाधिकाः । अत्र
पर आह—ननु यथा पश्चिमायां दिशि गौतमद्वीपोऽन्यधिकः
समस्ति, तथा तस्यां पश्चिमायां दिशि अघोलौकिकग्रामा अपि
योजनसहस्रावगाहाः सन्ति, ततः खातपूरितन्यायेन तत्सुह्या
एव पृथिवीकायिकाः प्राप्नुवन्ति, न विशेषाधिकाः । नैतदेवम् ।
यतोऽघोलौकिकग्रामावगाहां योजनसहस्रं, गौतमद्वीपस्य पुनः
पद्सप्तत्यधिकं योजनसहस्रमुच्चैस्त्वं, विष्कम्भस्तस्य द्वादश-
योजनसहस्राणि, यच्च मेरोरारण्याघोलौकिकग्रामेभ्योऽर्वाकु-
हीनत्वं हीनतरत्वं तत्पूर्वस्यामपि दिशि प्रभूतगतादिसम्भवात्
समानम् । ततो यद्यघोलौकिकग्रामच्छिन्नेषु बुद्ध्या गौतमद्वीपः
प्रक्षिप्यते, तथापि समधिक एव प्राप्यते, न तुल्य इति । तेन स-
मधिकेन विशेषाधिकाः पश्चिमायां दिशि पृथिवीकायिकाः । उक्तं
दिगनुपातेन पृथिवीकायिकानामल्पबहुत्वम् । इदानीमप्यायि-
कानामल्पबहुत्वमाह—(दिसाण्वाएणं सव्वत्थोवा आउकाइया

अथ ह्येभ्यः प्रदेशा अनन्तगुणा इति । एतत्कथम् ? उच्यते-
अद्वालयमप्येभ्यः भाकाशप्रदेशानामनन्तगुणत्वात् । ननु कै-
वप्रदेशानां कालसमयानां च समानेऽप्यनन्तत्वे किं कारणमा-
धित्याकाशप्रदेशा अनन्तगुणाः, कादृशमप्यत्र तदनन्तभाग-
वर्तिन इति ? उच्यते-एकस्यामनाद्यपर्ययसितायानाकाशप्रदे-
शार्थयामकैकप्रदेशानुसारं स्तिर्यगायतधेणीनां कल्पनेन ता-
ज्योऽपि कैकप्रदेशानुसारं चोर्ध्वाधमायतधेणीधरचनेन
आकाशप्रदेशचनो निष्पद्यते, कादृशमप्येभ्योऽपि तु सैव धेणी
नयति, न पुनर्वनः, ततः कालसमयाः स्नोका भवन्तीति ।

इह गाथा-

" एतो सत्यपयसा-ऽणंतगुणा खपयसऽणंतता ।

स-यागामनयंतं, जेण जिणिंदेहि पञ्चत्तं ॥ १ ॥

आह समेऽणंतच-स्मि खेतकाद्याणं किं पुणं निमित्तं ? ।

भणियं खमनंतगुणं, कादोऽपयणंतभागमि ॥ २ ॥

अन्नं नभसेदोप, जणादयाप अपज्जवसियाप ।

निष्फज्जं खमि यणो, न उ काले तेण सो धांघो " ॥ ३ ॥

प्रदेशेभ्योऽनन्तगुणाः पर्याया इत्येतद्वाचनार्थं गाथा-

" एतो य अणंतगुणा, पज्जाया जेण नहपयसमि ।

एकंजमि अणंता, अगुरुमह पज्जाया भणिया " ॥ १ ॥ इति ।

म० २५ श० ३ उ० । गते जीवद्वारम् ।

(१५) [ज्ञानद्वारम्] ज्ञानिनामल्पबहुत्वम्-

एपि एं भंते ! जीवाणं आजिणिबोहियणाणीं सुय-
णाणीं ओहिणाणीं मणपज्जवणाणीं केवलणा-
णीं य कयरे कयरेहिंता अप्पा वा ४ ? । गोयमा ! स-
व्वत्थोवा मणपज्जवणाणीं, ओहिणाणीं असं०, आजिणि-
बोहियणाणीं सुयणाणीं दोवि तुह्वा विसेसाहिया, केवल-
णाणीं अणंतगुणा ।

सर्वस्नोका मनःपर्यवज्ञानिनः, संयतानामेवामर्षीयध्यादिप्र-
दिप्राप्तानां मनःपर्यवज्ञानसंभवात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा अत्र-
धिज्ञानिनः, नैरयिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानामप्यवधिज्ञान-
संभवात् । तेभ्यः आजिनिबोधिकज्ञानिनः भुतज्ञानिनश्च विदो-
पाधिकाः, संज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामेवावधिज्ञानविकल्पा-
नामपि केपाञ्चिदामिनिबोधिकभुतज्ञानभावात् । स्वस्थाने तुह्ये
ऽपि परस्परं तुह्याः । " जत्थ मइनाणं तत्थ सुअनाणं, जत्थ सुय-
नाणं तत्थ मइनाणं " इतिवचनात् । तेभ्यः केवलज्ञानिनोऽनन्त-
गुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । उक्तं हि ज्ञानिनामल्पबहुत्वम् ।

इदानीं प्रतिपक्षभूतानामज्ञानिनामल्पबहुत्वमाह-

एपि एं भंते ! जीवाणं मइअप्पाणीं सुयअप्पाणीं
विजंगनाणीं य कयरे कयरेहिंता अप्पा वा ४ ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा जीवा विभंगनाणीं, मइअप्पाणीं सुयअप्पाणीं
दोवि तुह्वा अणंतगुणा ।

सर्वस्नोका विभङ्गज्ञानिनः, कनिपयानामेव नैरयिकदेवतिर्यक्-
पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां विभङ्गभावात् । तेभ्यो मत्पज्ञानिनः भुनाज्ञा-
नितोऽनन्तगुणाः, वनस्पतीनामपि मत्पज्ञानभुताज्ञानभावात् ।
स्वस्थाने तु परस्परं तुह्याः । " जत्थ मइअप्पाणं तत्थ सुयअ-
प्पाणं, जत्थ सुयअप्पाणं तत्थ मइअप्पाणं " इति वचनात् ।

संप्रत्युभयेषां ज्ञानाज्ञानिनामल्पबहुत्वमाह-

एपि एं भंते ! जीवाणं आजिनिबोहियणाणीं सु-
यणाणीं ओहिणाणीं मणपज्जवणाणीं केवलणा-
णीं मतिअप्पाणीं सुयअप्पाणीं विभंगनाणीं य-
कयरे कयरेहिंता अप्पा वा ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा
जीवा मणपज्जवणाणीं, ओहिणाणीं असंखिजगुणा,
आजिनिबोहियणाणीं सुयणाणीं य दोवि तुह्वा विसेसाहि-
या, विजंगनाणीं असंखज०, केवलनाणीं अणंतगुणा,
मइअप्पाणीं सुयअप्पाणीं य दोवि तुह्वा अणंतगुणा ।

सर्वस्नोका मनःपर्यवज्ञानिनः, संयतानामेवामर्षीयध्यावृद्धि-
प्राप्तानां मनःपर्यवज्ञानसंभवात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा अत्रधिज्ञा-
निनः, तेभ्यः आजिनिबोधिकज्ञानिनः भुतज्ञानिनश्च विशेषाधि-
काः, स्वस्थाने तु ङावपि परस्परं तुह्याः । अत्र नाचना प्रागे-
वोक्ता । तेभ्योऽसंख्येयगुणा विभङ्गज्ञानिनः, यस्मात्सुरगतौ
निरयगतौ च सम्यग्दृष्टिभ्यो मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः पठ्य-
न्ते, देवनैरयिकाश्च सम्यग्दृष्टयोऽवधिज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयो
विभङ्गज्ञानिन इत्यसंख्येयगुणाः, तेभ्यः केवलज्ञानिनोऽनन्तगु-
णाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यो मत्पज्ञानिनः भुनाज्ञानिन-
ज्ञानन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् ;
तेषां च मत्पज्ञानिभुताज्ञानित्वात् । स्वस्थाने तु ङावपि परस्परं
तुह्याः । गते ज्ञानद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद० । म० । जी० । कर्म० ।

इदानीं ज्योतिष्काणामल्पबहुत्वमाह-

एतेसि एं भंते ! चंदिमसूरिअगहणवखत्तताराकवाणं
कयरे कयरेहिंता अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसे-
साहिया वा ? । गोयमा ! चंदिमसूरिआ दुवे तुह्वा सव्व-
त्थोवा, एखत्ता संखजगुणा, गह्वा संखजगुणा, ता-
राकवा संखजगुणा ॥

(एतेसि णमित्यादि) एतेषामनन्तरोक्तानां, प्रत्यक्षप्रमाणोचराणां
वा, भदन्त ! चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराकृपाणां कतरं कतरेभ्योऽल्पाः
स्तोकाः । वाऽत्र धिकल्पसमुच्चयार्थं । कतरं कतरेभ्यो बहुका वा
कतरेभ्यस्तुह्या वा, अत्र विभक्तिपरिणामेन तृतीया व्याख्येया ।
कतरं कतरेभ्यो विशेषायति ? । गौतम ! चन्द्रसूर्या एते ह्येऽपि
परस्परं तुह्याः, प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चन्द्रसूर्याणां समसंख्या-
कत्वात् । ग्रंथेभ्यो प्रहादिभ्यः सर्वेऽपि स्तोकाः, तेभ्यो नक्षत्राणि
संख्येयगुणानि, अष्टाधिशतिगुणत्वात् । तेभ्योऽपि प्रहाः संख्ये-
यगुणाः, सातिरेकविगुणत्वात् । तेभ्योऽपि ताराकृपाणि संख्ये-
यगुणानि, प्रज्ञाकोटाकादिगुणत्वादिति । ज० ७ वज्र० । ज्ञानप-
र्यायाणामल्पबहुत्वम् । ज० ८ श० २ उ० । " सव्वत्थोवा नाणी,
अणणाणीं अणंतगुणा " । जी० १ प्रति० । जसंस्थावरनोवसना-
स्थावरणामल्पबहुत्वम्- " अप्पावहुं सव्वत्थोवा तसा, खोतसा
खोथावर अणंतगुणा " । जी० २ प्रति० । (निर्ग्रन्थानां पुलाकादी-
नामल्पबहुत्वं ' निर्ग्रन्थ ' शब्दे वक्ष्यते)

(१६) [दर्शनद्वारम्] दर्शनिनामल्पबहुत्वम्-

एपि एं जंते ! जीवाणं चखुदंसणीं अचखुदंस-
णीं ओहिदंसणीं केवलदंसणीं य कयरे कयरेहिं-

संखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणद्धेहिंतो वाहुयप्पजापुढविणेरइण्हितो बीयाए रुकरप्पजाए पु-
ढवीए खेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा,
दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणद्धेहिंतो रुकरप्पभा
पुढविणेरइण्हितो इमी से रयणप्पजाए पुढवीए खेरइया
पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणद्धेणं
असंखेज्जगुणा ।

सप्तमपृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्बिभाविभ्यो नैरयिकेच्यो ये
सप्तमपृथिव्यामेव दक्षिणात्यास्तेऽसंख्येयगुणाः, तेच्यः षष्ठपृ-
थिव्यां तमप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्बिभाविच्यो-
ऽसंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ? उच्यते-इह सर्वोत्कृष्टपा-
पकारिणः संक्षिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याः, सप्तमनरकपृथिव्या-
मुत्पद्यन्ते । किञ्चिद्दीनहीनतरपापकर्मकारिणश्च षष्ठ्यादिषु
पृथिवीषु सर्वोत्कृष्टपापकर्मकारिणश्च सर्वस्तोकाः बहवश्च य-
थोत्तरं किञ्चिद्दीनतरादिपापकर्मकारिणः, ततो युक्तमसंख्येय-
गुणत्वं सप्तमपृथिवीदक्षिणात्यनारकापेक्षया षष्ठपृथिव्यां पूर्वो-
त्तरपश्चिमनारकाणाम् । एवमुत्तरोत्तरपृथिवीरप्यधिकृत्य भाव-
यितव्यम् । तेच्योऽपि तस्यामेव षष्ठपृथिव्यां दक्षिणस्यां दिशि
नारका असंख्येयगुणाः । युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । तेच्योऽपि पञ्चमपृ-
थिव्यां धूमप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनांऽसंख्येय-
गुणाः, तेच्योऽपि तस्यामेव षष्ठमपृथिव्यां दक्षिणात्या असं-
ख्येयगुणाः । एवं सर्वोत्पि क्रमेण वाच्यम् ।

पञ्चेन्द्रियतिरश्चामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा पांचिंदियतिरिक्खजोणिया प-
च्चच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसा-
हिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ।

इदं च तिर्य्यक्पञ्चेन्द्रियसूत्रमपकायसूत्रवत् ।

मनुष्याणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा मणुस्सा दाहिणउत्तरेणं, पु-
रच्छिमेणं संखेज्जगुणा, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया ।

सर्वस्तोका मनुष्या दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च, पञ्चानां जरतक्के-
त्राणां पञ्चानामैरावतक्केत्राणामल्पत्वत्वात् । तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि
संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात् । तेभ्योऽपि पश्चिमायां
दिशि विशेषाधिकाः, स्वभावत एवाधोलौकिकग्रामेषु मनुष्य-
बाहुल्यभावात् ।

भवनवासिनामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा जवणवासी देवा पुरच्छिम-
पच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखे-
ज्जगुणा ॥

सर्वस्तोका जवनवासिनो देवाः, पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि
तत्र भवनानामल्पत्वात् । तेभ्य उत्तरदिग्भाविनांऽसंख्येयगुणाः,
स्वस्थानतया तत्र भवनानां बाहुल्यात् । तेच्योऽपि दक्षिणदिग्भा-
विनांऽसंख्येयगुणास्तत्र भवनानामतीव बाहुल्यात् । तथाहि-
निकाये २. चत्वारि चत्वारि जवनशतसहस्राण्यतिरिच्यन्ते, कृ-
ष्णपाक्षिकाश्च बहवस्तत्रोत्पद्यन्ते, ततो जवन्यसंख्येयगुणाः ।

व्यन्तराणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वाणमंतरा देवा पुरच्छिमेणं,
पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं
विसेसाहिया ।

व्यन्तरसूत्रे ज्ञावना-यत्र शुषिरं तत्र व्यन्तराः प्रचरन्ति, यत्र
घनं तत्र न । ततः पूर्वस्यां दिशि घनत्वात् स्तोका व्यन्तराः । ते-
च्योऽपरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, अधोलौकिकग्रामेषु शुषिर-
सम्भवात् । तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, स्वस्था-
नतया नगरावासबाहुल्यात् । तेभ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि वि-
शेषाधिकाः, अतिप्रभूतनगरावासबाहुल्यात् ।

ज्योतिष्काणामल्पबहुत्वमाह—

दिमाणुवाएणं सव्वत्थोवा जांसिया देवा पुरच्छिमपच्च-
च्छिमेणं, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ॥

तथा सर्वस्तोका ज्योतिष्काः, पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि
चन्द्रादित्यद्वीपेपूथानकल्पेषु कतिपयानामेव तेषां भावात् । ते-
च्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः, विमानबाहुल्यात्, कृ-
ष्णपाक्षिकाणां दक्षिणदिग्भावित्वाच्च । तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि
विशेषाधिकाः, यतो मानसे सरसि बहवो ज्योतिष्काः क्रीडा-
स्थानमिति क्रीडन्त्यापृताः नित्यमासते । मानससरसि च ये म-
त्स्यादयो जलचरास्ते आसन्नविमानदर्शनतः समुत्पन्नजातिस्मर-
णात् किञ्चिद्भ्रमं प्रतिपद्याऽनशानादि च कृत्वा कृतनिदानास्तत्रो-
त्पद्यन्ते । ततो जवन्योत्तराहा दक्षिणात्येभ्यो विशेषाधिकाः ।

वैमानिकानामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा सोहम्मे कप्पे पुरच्छिम-
पच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं विसेसा-
हिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा ईसाणे कप्पे पुर-
च्छिमपच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं
विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा सणंकुमारे
कप्पे पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहि-
णेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा माहिंदे
कप्पे पुरच्छिमेणं पच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा,
दाहिणेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वंज-
लोए कप्पे देवा पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं अ-
संखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं हंतए कप्पे देवा पुरच्छिमप-
च्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं
सव्वत्थोवा देवा महासुक्के कप्पे पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं,
दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा
देवा सहस्सारे कप्पे पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं
असंखेज्जगुणा । तेषां परं बहुसमोववन्नगा समणाउसो ।

तथा सौधर्मे कल्पे सर्वस्तोकाः पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि
वैमानिका देवाः, यतो यान्यावलिकाप्रविष्टानि विमानानि तानि
चतसृष्वपि दिक्षु तुल्यानि, यानि पुनः पुष्पावकीर्णानि तानि
प्रभूतानि असंख्येययोजनविस्तृतानि, तानि च दक्षिणस्यामुत्त-
रस्यां दिशि, नान्यत्र, ततः सर्वस्तोकाः पूर्वस्यां पश्चिमायां च
दिशि । तेच्य उत्तरस्यां दिशि असंख्येयगुणाः, पुष्पावकीर्णवि-

इत्यादि) सर्वस्तोका अप्कायिकाः पश्चिमायां दिशि, गौ-
तमदीपस्थाने तेषामभावात् । तेज्योऽपि विशेषाधिकाः
पूर्वस्यां दिशि, तेज्योऽपि विशेषाधिका दक्षिणस्यां दिशि,
चन्द्रमूर्यदीपाभावात् । तेज्योऽप्युत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः,
मानसरः सञ्ज्ञावात् । तेजस्कायिकानामल्पबहुत्वम्—(दिसा-
ण्वापणं सञ्चत्योवा तेजकाइया इत्यादि) तथा दक्षिणस्यामुत्तर-
स्यां च दिशि सर्वस्तोकाः तेजस्कायिकाः, यतो मनुष्यक्षेत्रे
एव वादरास्तेजस्कायिका नान्यत्र; तथापि यत्र बहवो मनुष्याः
तत्र ते बहवो बाहुव्येन पाकारम्भसम्भवात्, यत्र त्वस्ये तत्र
स्तोकाः । तत्र दक्षिणस्यां दिशि पञ्चसु उत्तरेषु, उत्तरस्यां दिशि
पञ्चस्वैरावतेषु क्षेत्रस्याल्पत्वात् स्तोका मनुष्याः । तेषां स्तो-
कत्वेन तेजस्कायिका अपि स्तोकाः; अल्पपाकारम्भसम्भवात् ।
ततः सर्वस्तोका दक्षिणोत्तरयोर्दिशोः तेजस्कायिकाः; स्वस्थाने
तु प्रायः समानाः । तेज्यः पूर्वस्यां दिशि संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य
संख्येयगुणत्वात् । ततोऽपि पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः,
अधोऽधौकिकग्रामेषु मनुष्यबाहुव्यत्वात् । इदानीं वायुकायिकाना-
मल्पबहुत्वम्—(दिसाण्वापणं सञ्चत्योवा वाउकाइया पुर-
च्छिमेणमित्यादि) । इह यत्र आपिरं तत्र वायुर्यत्र च वनं तत्र
वायवभावः । तत्र पूर्वस्यां दिशि प्रचूतं वनमित्यस्या वायवः,
पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः, अधोऽधौकिकग्रामेषु सम्भवात् ।
उत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, भवननरकावासबाहुव्येन शाय-
रबाहुव्यत्वात् । ततोऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकं, उत्तर-
दिगपेक्षया दक्षिणस्यां दिशि भवनानां नरकावासानां चाति-
प्रचूतत्वात् ।

तथा यत्र प्रभूता आपस्तत्र प्रभूताः पनकादयोऽनन्तकायि-
का वनस्पतयः, प्रचूताः शङ्खादयोऽदीन्द्रियाः, प्रचूताः पिपरी-
भूतशैवालाद्याभिताः कुन्धादयः ब्रीन्द्रियाः, प्रचूताः पद्-
माद्याभिताः भ्रमरादयश्चतुरिन्द्रिया इति ।

इदानीं वनस्पत्यादीनामल्पबहुत्वम्—

दिसाण्वापणं सञ्चत्योवा वणस्सइकाइया पञ्चच्छिमेणं,
पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरे-
णं विसेसाहिया । दिसाण्वापणं सञ्चत्योवा वेइदिया पञ्च-
च्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया,
उत्तरेणं विसेसाहिया । दिसाण्वापणं सञ्चत्योवा तेइदिया
पञ्चच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसा-
हिया, उत्तरेणं विसेसाहिया । एवं चउरिंदिया वि ॥

वनस्पत्यवदिसुवाणि चतुरिन्द्रियसूत्रपयन्तानि अप्कायिक-
सूत्रवज्जावनीयानि ।

नैरयिकाणामल्पबहुत्वम्—

दिसाण्वापणं सञ्चत्योवा षेरइया पुरच्छिमपञ्चच्छिमेणं, उ-
त्तरदाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाण्वापणं सञ्चत्योवा
रयणप्पजा पुढविनेरइया पुरच्छिमपञ्चच्छिमेणं, उत्तरेणं
दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाण्वापणं सञ्चत्योवा सकर-
प्पजा पुढविनेरइया पुरच्छिमपञ्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं अ-
संखेज्जगुणा । दिसाण्वापणं सञ्चत्योवा षेरइया वाडुयप्पजा

पुढविपुरच्छिमपञ्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।
दिसाण्वापणं सञ्चत्योवा पंकप्पजा पुढविनेरइया पुरच्छिम-
पञ्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाण्वापणं
सञ्चत्योवा धूमप्पजा पुढविनेरइया पुरच्छिमपञ्चच्छिमउत्तरेणं,
दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाण्वापणं सञ्चत्योवा तमप्पभा
पुढविनेरइया पुरच्छिमपञ्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखे-
ज्जगुणा । दिसाण्वापणं सञ्चत्योवा अहेसत्तमा पुढविने-
रइया पुरच्छिमपञ्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

नैरयिकसूत्रे सर्वस्तोकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्विभाविनो नैर-
यिकाः, पुष्पावकीर्णनरकावासानां चात्राल्पत्वात्, बहूनां प्रायः
संख्येययोजनविस्तृतत्वाच्च । तेज्यो दक्षिणदिग्भागविभाविनो
संख्येयगुणाः, पुष्पावकीर्णनरकावासानां तत्र बाहुव्यत्वात्, तेषां
च प्रायोऽसंख्येययोजनविस्तृतत्वात्, कृष्णपाक्षिकाणां तस्यां
दिशि प्राचुर्येणोत्पादाच्च । तथाहि—द्विविधा जन्तवः, शुक्रपा-
क्षिकाः, कृष्णपाक्षिकाश्च । तेषां लक्षणमिदम्—किञ्चिदनुपुल्लप-
रावर्तार्कमात्रसंसारस्ते शुक्रपाक्षिकाः, अधिकतरसंसारजाजि-
नस्तु कृष्णपाक्षिकाः । उक्तञ्च—“जेसिमवद्धो पुगल-परियट्ठो सेस-
ओ य संसारो । ते शुक्रपभियया जल्ल, अदीर्घे पुण कएहपक्खी-
ओ” ॥ १ ॥ अत एव च स्तोकाः शुक्रपाक्षिकाः, अल्पसंसारि-
णां स्तोकात्वात् । बहवः कृष्णपाक्षिकाः, प्रचूतसंसारिणामतिप्र-
चूरत्वात् । कृष्णपाक्षिकाश्च प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्प-
द्यन्ते, न शेषासु दिक्षु, तथास्वाभाव्यात् । तच्च तथास्वाभावे
पूर्वाचार्यैरेवंयुक्तिरुपपद्यते । तथा—कृष्णपाक्षिका दीर्घतरसं-
सारजाजिन उच्यन्ते । दीर्घतरसंसारजाजिनश्च बहुपापोदया-
ज्जवन्ति, बहुपापोदयाश्च क्रूरकर्माणः, क्रूरकर्माणश्च प्रायस्तथा-
स्वाजाज्याद । तज्जवत्सिद्धिका अपि दक्षिणस्यां दिशि समुत्प-
द्यन्ते, न शेषासु दिक्षु । यत उक्तम्—“पायमिदं क्रूरकम्मा, भवत्सि-
द्धिया वि दाहिणल्लेसु । नेरइयतिरियमणुया, सुराइठाणेसु
गच्छन्ति” ॥ १ ॥ ततो दक्षिणस्यां दिशि बहूनां कृष्णपाक्षिका-
णामुत्पादसंभवात्, पूर्वोक्तकारणद्वयाच्च सम्भवन्ति पूर्वोत्तरप-
श्चिमदिग्भाविभ्यो दक्षिणाया असंख्येयगुणाः । यथा च सा-
मान्यतो नैरयिकाणां दिग्विभागेनाल्पबहुत्वमुक्तमेव प्रति-
पृथिव्यपि वक्तव्यम्, युक्तेः सर्वत्रापि समानत्वात् । तदेवं प्रति-
पृथिव्यपि दिग्विभागेनाल्पबहुत्वमुक्तम् ।

इदानीं सप्तपि पृथिवीरधिकृत्य दिग्विभागेनाल्पबहुत्वमाह—

दाहिणेहिंतो अहेसत्तमा पुढविनेरइहिंतो छट्ठीए त-
माए पुढवीए नेरइया पुरच्छिमपञ्चच्छिमउत्तरेणं असंखे-
ज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणल्लोहिंतो तमा-
पुढविनेरइहिंतो पंचमा धूमप्पभाए पुढवीए नेरइया पुर-
च्छिमपञ्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असं-
खेज्जगुणा । दाहिणल्लोहिंतो धूमप्पभा पुढविनेरइहिंतो
चउत्थिए पंकप्पजाए पुढवीए षेरइया पुरच्छिमपञ्चच्छि-
मउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।
दाहिणल्लोहिंतो पंकप्पजापुढविनेरइहिंतो तइयाए वा-
ल्लुयप्पजाए पुढविनेरइया पुरच्छिमपञ्चच्छिमउत्तरेणं अ-

यंग्लोके अनन्तगुणाः, यतस्तिर्यग्भोकस्य यत्सत्त्वापरितनमेकप्रादेशिकं प्रतरं यत्तर्ध्वभोकस्य सर्वाधस्तनमेकप्रादेशिकं प्रतरमेते के अपि प्रतरे ऊर्ध्वभोकतिर्यग्लोक उच्यते । ते चाऽनन्ताः संख्येयप्रदेशिकाः, अनन्ता असंख्येयप्रदेशिकाः, अनन्ता अनन्तप्रदेशिकाः, स्कन्धाः स्पृशन्तीति द्रव्यार्थः । अनन्तगुणाः । तेभ्योऽधोभोकतिर्यग्भोके प्रागुक्तप्रकारेण प्रतरद्वयरूपे विशेषाधिकाः, क्षेत्रस्य आयातविष्कम्भमात्र्यां मनः विशेषाधिकत्वात् । तेभ्यस्तिर्यग्भोके असंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्य ऊर्ध्वभोके असंख्येयगुणाः, यतस्तिर्यग्भोके क्षेत्रादूर्ध्वभोके क्षेत्रमसंख्येयगुणमिति । तेभ्योऽधोलोके विशेषाधिकाः, ऊर्ध्वभोकादधोभोकस्य विशेषाधिकत्वात् । देशेनसत्तरज्जुप्रमाणो ह्यूर्ध्वलोकः, समाधिकसत्तरज्जुप्रमाणस्त्वधोलोकः ।

सम्प्रति दिगनुपातेनाल्पबहुत्वमाह—

दिसाण्वाणं सवत्थोवा पांग्गद्वा उद्दिसाए, अहोदिसाए विसेसाहिया, उत्तरपुरच्छिमेण दाहिणपच्चच्छिमेण य दोवि तुद्वा असंखेज्जगुणा, दाहिणपुरच्छिमेण उत्तरपच्चच्छिमेण य दोवि तुद्वा विसेसाहिया, पुरच्छिमेण असंखेज्जगुणा, पच्चच्छिमेण विसेसाहिया, दाहिणेण विसेसाहिया, उत्तरेण विसेसाहिया ।

दिगनुपातेन दिगनुसारेण चिन्त्यमानाः दृक्काः सर्वस्तोका ऊर्ध्वदिशि, इह रत्नप्रभासमचूमितलमेकमध्ये अष्टप्रादेशिको रुक्कस्तस्माद्विनिर्गताश्चतुःप्रदेशाः, ऊर्ध्वो दिक् यावद्भोकान्तः । ततस्तत्र सर्वस्तोकाः पुद्गलाः, तेभ्योऽधोदिशि विशेषाधिकाः, अधोदिगपि रुक्कादेव प्रभवति । चतुःप्रदेशा यावद्भोकान्तस्ततस्तस्याविशेषाधिकत्वात् । तत्र पुद्गला विशेषाधिकाः, तेभ्य उत्तरपूर्वस्यां दक्षिणपश्चिमायां च प्रत्येकमसंख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः सन्तस्ते द्वे अपि दिशौ रुक्काद्विनिर्गते मुकावलिंसंस्थिते तिर्यग्भोकान्तमधोभोकान्तमूर्ध्वलोकान्त पर्यवसिते, तेन क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणात्वाच्च पुद्गला असंख्येयगुणाः, क्षेत्रं तु स्वस्थाने सममिति । पुद्गला अपि स्वस्थाने तुल्याः, तेभ्योऽपि दक्षिणपूर्वस्यामुत्तरपश्चिमायां च प्रत्येकं विशेषाधिकाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । कथं विशेषाधिका इति चेत्?, उच्यते—इह सौमनसगन्धमादनेषु सप्त सप्त कूटानि, विद्युत्प्रभमाख्यवतोर्निव नव, तेषु च कूटेषु धूमिकावश्यायादिसूत्रमपुद्गलाः प्रचूताः संभवन्ति, ततो विशेषाधिकाः । स्वस्थाने तु क्षेत्रस्य पर्वतादेश्व समानत्वानुल्याः । तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि असंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः पश्चिमायां विशेषाधिकाः, अधोलौकिकग्रामेषु शुषिरभावतो बहूनां पुद्गलानामवस्थानात् । तेभ्यो दक्षिणस्यां विशेषाधिकाः, बहुभवनशुषिरभावात् । तेभ्य उत्तरस्यां विशेषाधिकाः, यत उत्तरस्थामायाविविष्कम्भमात्र्यां संख्येययोजनकांटीकोटिप्रमाणं मानसं सरः, तत्र ये जलचराः, पनकशैवालादयश्च सत्त्वास्ते अतिबहव इति तेषां ये तैजसकर्मणपुद्गलास्ते अधिकाः प्राप्यन्ते, इति पूर्वाक्येभ्यो विशेषाधिकाः । तदेवं पुद्गलविषयमल्पबहुत्वमुक्तम् ॥

इदानीं सामान्यतो द्रव्यविषयं क्षेत्रानुपातेनाऽऽह—

खेत्ताण्वाणं सवत्थोवाइं दव्वाइं तेषुके, उद्दुलोयतिरियलोए अणंतगुणाइं, अहोत्रोयतिरियलोए विसेसाहियाइं,

उद्दुलाए असखेज्ज०, अहोलोए अणंतगुणाइं, तिरियलोए संखिज्जगुणाइं ।

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमानानि द्रव्याणि सर्वस्तोकानि त्रैलोक्यसंस्पर्शीनि, यतो धर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकायाऽकाशास्तिकायाऽद्रव्याणि पुद्गलास्तिकायाऽमहास्कन्धा जीवास्तिकायाऽमरणास्तिकसमुदातेनातीवसमवहता जीवास्तिकायाऽद्रव्यापिनः, ते चाल्पे इति सर्वस्तोकानि । तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके प्रागुक्तस्वरूपप्रतरद्वयात्मके अनन्तगुणानि, अनन्तैः पुद्गलद्रव्यैरनन्तैर्जीवद्रव्यैः तस्य संस्पर्शनात् । तेभ्योऽधोभोकतिर्यग्लोके विशेषाधिकानि, ऊर्ध्वलोकतिर्यग्भोकादधोभोकतिर्यग्भोकस्य मनाश्च विशेषाधिकत्वात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोके असंख्येयगुणानि, क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्योऽधोलोके अनन्तगुणानि । कथमिति चेत्?, उच्यते—इहाधोलौकिकग्रामेषु काष्ठोऽस्ति, तस्य च कालस्य तत्तत्परमाणुसंख्येयाऽसंख्येयानन्तप्रादेशिकद्रव्यक्षेत्रकाष्ठजावपर्यायसंबन्धवशात्प्रतिपरमाणुवादिद्रव्यमनन्तता, ततो भवन्त्यधोलोकेऽनन्तगुणानि, तेभ्यस्तिर्यग्भोकेऽसंख्येयगुणानि, अधोलौकिकग्रामप्रमाणानां कणानां मनुष्यलोके काष्ठद्रव्याधारचूते संख्येयानामवाप्यमानत्वात् ।

साम्प्रतं दिगनुपातेन सामान्यतो द्रव्याणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाण्वाणं सवत्थोवाइं दव्वाइं अहोदिसाए, उद्दुदिसाए अणंतगुणाइं, उत्तरपुरच्छिमेण दाहिणपच्चच्छिमेण य दोवि तुद्वाइं असंखेज्जगुणाइं, दाहिणपुरच्छिमेण उत्तरपच्चच्छिमेण य दोवि तुद्वाइं विसेसाहियाइं, पुरच्छिमेण असंखेज्जगुणाइं, पच्चच्छिमेण विसेसाहियाइं, दाहिणेण विसेसाहियाइं, उत्तरेण विसेसाहियाइं ।

दिगनुपातेन दिगनुसारेण चिन्त्यमानानि सामान्यतो द्रव्याणि सर्वस्तोकानि अधोदिशि प्राग्व्यापणितस्वरूपायाम् । तेभ्य ऊर्ध्वदिश्यनन्तगुणानि । किं कारणमिति चेत्?, उच्यते—इह ऊर्ध्वलोके मेरोः पञ्चयोजनशतकं स्फटिकमयं कारणं, तत्र चन्द्रादित्यप्रजाऽनुप्रवेशाद् द्रव्याणां कृषादिकाश्चप्रतिभागोऽस्ति, कालस्य च प्रागुक्तनीत्या प्रतिपरमाणुवादिद्रव्यमानत्वात् । तेभ्योऽनन्तगुणानि, तेभ्य उत्तरपूर्वस्यामीशान्यां, दक्षिणपश्चिमायां, नैऋतकोणे इत्यर्थः । असंख्येयानि, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । स्वस्थाने तु द्रव्याण्यपि परस्परं तुल्यानि, समानक्षेत्रत्वात् । तेभ्यो दक्षिणपूर्वस्थामाग्नेय्याम्, उत्तरपश्चिमायां, वायव्यकोणे इति भावः । विशेषाधिकानि, विद्युत्प्रभमाख्यवन्तकूटाभितानां धूमिकावश्यायादिस्तद्वपुद्गलद्रव्याणां बहूनां सम्भवात् । तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि असंख्येयगुणानि, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः पश्चिमायां विशेषाधिकानि, अधोलौकिकग्रामेषु शुषिरभावतो बहूनां पुद्गलद्रव्याणामवस्थानात् । ततो दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकानि, बहुभवनशुषिरभावात् । तत उत्तरस्यां विशेषाधिकानि, तत्र मानससरसि जीवद्रव्याणां तदाभितानां तैजसकर्मणपुद्गलस्कन्धद्रव्याणां च ज्ञयसां भावात् ।

सम्प्रति परमाणुपुद्गलानां संख्येयप्रदेशानामसंख्येयप्रदेशानामनन्तप्रदेशानां परस्परमल्पबहुत्वमाह—

एएसि एं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं संखेज्जपदेसियाणं असंखेज्जपदेसियाणं अणंतपदेसियाणं य संघाणं दव्वंइ—

कदमल्पचतुर्थं पुत्रलानां स्वयार्थत्वमङ्गीकृत्य व्याख्येयम्, तथा-
सम्प्रदायात् । तत्र केत्रानुपातेन केत्रानुसारेण विन्यस्यमानाः पु-
त्राः जैलोक्ये जैलोक्यसंस्पर्शिनः सर्वरत्नाकाः, सर्वस्तोकानि
जैलोक्यव्यापीनीति पुत्रद्रव्यव्याप्तीति भावः । यस्मान्महात्म-
त्वाच्च जैलोक्यव्यापिनस्ते खल्पा इति । तेभ्य ऊर्द्धलोकति-

वक्तव्याः । ते चैवम्—“ सञ्चरथोवा एगपपसोगाढा एगगुणक-
कखरुफासा दब्बड्याए संखेज्जपपसोगाढा एगगुणककखरु-
फासा दब्बड्याए संखेज्जगुणा ” इति । एवं संखेयगुणकक-
शस्पर्शा असंखेयगुणककशस्पर्शा वाच्याः । एवं मृदुगुल-
धव अवशेषाश्चत्वारः शीतादयः स्पर्शाः, यथा वर्णादय उक्ता-
स्तथा वक्तव्याः । तत्र पाठोऽप्युक्तानुसारेण सुगमत्वात् स्वयं
भावनीयः । प्रश्ना० ३ पद ।

एएसि णं जंते ! परमाणुपोगगलाणं दुपदेसियाणं य खं-
धाणं य दब्बड्याए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा
तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! दुपदेसिएहिंतो खं-
धेहिंतो परमाणुपोगगला दब्बड्याए बहुया । एएसि णं भंते !
दुपदेसियाणं तिपदेसियाणं य खंधाणं दब्बड्याए कयरे
कयरेहिंतो बहुया० ? गोयमा ! तिपदेसिएहिंतो खंधेहिंतो
दुपदेसिया खंधा दब्बड्याए बहुया । एवं एएणं गमएणं जाव
दसपदेसिएहिंतो एवपदेसिया खंधा दब्बड्याए बहुया ।
एएसि णं जंते ! दसपपसा पुच्छा ? गोयमा ! दसपदेसिए-
हिंतो खंधेहिंतो संखेज्जपपसिया खंधा दब्बड्याए बहुया ।
एएसि णं भंते ! संखेज्जा पुच्छा ? गोयमा ! संखेज्जपप-
सिएहिंतो खंधेहिंतो असंखेज्जपदेसिया खंधा दब्बड्याए
बहुया । एएसि णं जंते ! असंखेज्जपदेसिया पुच्छा ? गोयमा !
असंखेज्जपदेसिएहिंतो खंधेहिंतो अणंतपदेसिया खंधा द-
ब्बड्याए बहुया । एएसि णं भंते ! परमाणुपोगगलाणं दुप-
देसियाणं य खंधाणं पदेसड्याए कयरे कयरेहिंतो बहुया ? गो-
यमा ! परमाणुपोगगलेहिंतो दुपदेसिया खंधा पदेसड्याए
बहुया । एवं एएणं गमएणं जाव एवपपसिएहिंतो खंधे-
हिंतो दसपपसिया खंधा पदेसड्याए बहुया । एवं सञ्चर-
थोवा पुच्छियव्वं । दसपपसिएहिंतो खंधेहिंतो संखेज्जपपसिया
खंधा पदेसड्याए बहुया, संखेज्जपपसिएहिंतो खंधेहिंतो
असंखेज्जपपसिया खंधा पदेसड्याए बहुया । एएसि णं भंते !
असंखेज्जपपसियाणं पुच्छा ? गोयमा ! अणंतपपसिएहिंतो
खंधेहिंतो असंखेज्जपपसिया खंधा पपसड्याए बहुया । ए-
एसि णं जंते ! एगपपसोगाढाणं दुपदेसोगाढाणं य पोग-
गलाणं य दब्बड्याए कयरे कयरेहिंतो विसेसाहिया वा ? गो-
यमा ! दुपदेसोगाढेहिंतो पोगगलेहिंतो एगपदेसोगाढा पोग-
गला दब्बड्याए विसेसाहिया । एवं एएणं गमएणं तिपदेसो-
गाढेहिंतो पोगगलेहिंतो दुपदेसोगाढा पोगगला दब्बड्याए
विसेसाहिया जाव दसपपसोगाढेहिंतो पोगगलेहिंतो एव
पदेसोगाढा पोगगला दब्बड्याए विसेसाहिया । एएसि
णं जंते ! दसपपसा पुच्छा ? गोयमा ! दसपदेसोगाढेहिंतो
पोगगलेहिंतो संखेज्जपपसोगाढा पोगगला दब्बड्याए बहुया,
संखेज्जपपसोगाढेहिंतो पोगगलेहिंतो असंखेज्जपपसोगाढा
पोगगला दब्बड्याए बहुया । एवं पुच्छा सञ्चरथोवा ज्ञाणियव्वा ।

एएसि णं जंते ! एगपपसोगाढाणं दुपदेसोगाढाणं पोगगलाणं
पदेसड्याए कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ? गो-
यमा ! एगपदेसोगाढेहिंतो पोगगलेहिंतो दुपदेसोगाढा
पोगगला पदेसड्याए विसेसाहिया । एवं जाव एवपदेसोगा-
ढेहिंतो पोगगलेहिंतो दसपपसोगाढा पोगगला पदेसड्याए-
ए विसेसाहिया । दसपपसोगाढेहिंतो पोगगलेहिंतो संखेज्ज-
पपसोगाढा पोगगला पदेसड्याए बहुया । संखेज्जपपसोगा-
ढेहिंतो पोगगलेहिंतो असंखेज्जपदेसोगाढा पोगगला पपस-
ड्याए बहुया । एएसि णं जंते ! एगसमयट्ठिइयाणं दुस-
मयट्ठिइयाणं य पोगगलाणं दब्बड्याए जहा ओगाह-
णा वत्तव्वया, एवं ठितीए वि । एएसि णं जंते ! एगगु-
णकादयाणं दुगुणकादयाणं य पोगगलाणं दब्बड्याए ।
एएसि णं जहा परमाणुपोगगलादीणं तदेव वत्तव्वया जि-
रवसेसा, एवं सञ्चेमि वएणगंधरसाणं । एएसि णं भंते !
एगगुणककखरुफाणं दुगुणककखरुफाणं य पोगगलाणं दब्बड्या-
ए कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा !
एगगुणककखरुफेहिंतो पोगगलेहिंतो दुगुणककखरुफा पोगगला
दब्बड्याए विसेसाहिया, एवं जाव एवगुणककखरुफेहिंतो
पोगगलेहिंतो दसगुणककखरुफा पोगगला दब्बड्याए विसे-
साहिया, दसगुणककखरुफेहिंतो पोगगलेहिंतो संखेज्जगुण-
ककखरुफा पोगगला दब्बड्याए बहुया । संखेज्जगुणक-
कखरुफेहिंतो पोगगलेहिंतो असंखेज्जगुणककखरुफा पो-
गगला दब्बड्याए बहुया । असंखेज्जगुणककखरुफेहिंतो पो-
गगलेहिंतो अणंतगुणककखरुफा पोगगला दब्बड्याए बहुया ।
एवं पदेसड्याए सञ्चरथोवा पुच्छा भाणियव्वा, जहा ककखरुफा ।
एवं मउयगुरुराहुया वि सीयउसिणणिद्धलुक्खा जहा
वएणा । एएसि णं भंते ! परमाणुपोगगलाणं संखेज्जपप-
सियाणं असंखेज्जपपसियाणं अणंतपपसियाणं खंधाणं द-
ब्बड्याए पदेसड्याए दब्बड्यपदेसड्याए कयरे कयरेहिंतो०
जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सञ्चरथोवा अणंतप-
देसिया खंधा दब्बड्याए, परमाणुपोगगला दब्बड्याए
अणंतगुणा, संखेज्जपपसिया खंधा दब्बड्याए संखेज्जगुणा,
असंखेज्जपपसिया खंधा दब्बड्याए असंखेज्जगुणा, पदे-
सड्याए सञ्चरथोवा अणंतपदेसिया खंधा, पदेसड्याए
परमाणुपोगगला, अपदेसड्याए अणंतगुणा, संखेज्जपदे-
सिया खंधा पदेसड्याए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपपसिया
खंधा पदेसड्याए असंखेज्जगुणा, दब्बड्यपपसड्याए स-
ञ्चरथोवा अणंतपदेसिया, दब्बड्याए ते चैव, पदेसड्याए
अणंतगुणा, परमाणुपोगगला दब्बड्याए अपपसड्याए
अणंतगुणा, संखेज्जपपसिया खंधा दब्बड्याए संखेज्जगु-
णा, ते चैव पदेसड्याए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपपसिया

याए पएसडयाए दब्बडपदेसडयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा दब्ब-
डयाए, परमाणुपोगला दब्बडयाए अणंतगुणा, संखेज्जपदे-
सिया खंधा दब्बडयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसिया
खंधा दब्बडयाए असंखेज्जगुणा, पदेसडयाए सव्वत्थो-
वा अणंतपदेसिया खंधा, पदेसडयाए परमाणुपोगला अ-
णंतगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा पदेसडयाए संखेज्जगुणा,
असंखेज्जपदेसिया खंधा पदेसडयाए असंखेज्जगुणा, द-
ब्बडपदेसडयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा, दब्ब-
डयाए ते चेव, पदेसडयाए अणंतगुणा, परमाणुपोगला
दब्बडपदेसडयाए अणंतगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा
दब्बडयाए संखेज्जगुणा, ते चेव य पदेसडयाए सं-
खेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसिया खंधा दब्बडयाए असं-
खेज्जगुणा, ते चेव पदेसडयाए असंखेज्जगुणा ॥

अथास्यान् पाठसिद्धम् । नवरमत्राक्षरपदुत्पत्त्याभावात् सर्वत्र
तथास्वान्वाच्यं कारणं वाच्यम् ।

संश्रयेतेषामेव क्षेत्रस्याध्यात्म्येनाह्वयदुन्यमाह—

एएसि णं जंते ! एगपएसोमादाणं संखेज्जपएसोमादाणं
असंखेज्जपएसोमादाणं य पोगलाणं दब्बडयाए पदेसड-
याए दब्बडपदेसडयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गो-
यमा ! सव्वत्थोवा एगपदेसोवगादा पुगला दब्बडयाए, सं-
खेज्जपदेसोवगादा पुगला दब्बडयाए संखेज्जगुणा, असं-
खेज्जपदेसोवगादा पोगला दब्बडयाए असंखेज्जगुणा,
पदेसडयाए सव्वत्थोवा एगपदेसोवगादा पोगला, पदेसडयाए
संखेज्जपदेसोमादा पोगला, पदेसडयाए संखेज्जगुणा, असं-
खेज्जपदेसोमादा पोगला पदेसडयाए असंखेज्जगुणा,
दब्बडपदेसडयाए सव्वत्थोवा एगपदेसोमादा पोगला, दब्ब-
डपदेसडयाए संखेज्जपदेसोमादा पोगला दब्बडयाए
संखेज्जगुणा, ते चेव पएसडयाए संखेज्जगुणा, असं-
खेज्जपएसोमादा पोगला दब्बडयाए असंखेज्जगुणा, ते
चेव पएसडयाए असंखेज्जगुणा । एएसि णं जंते !
एगसमयड्वितीयाणं संखेज्जसमयड्वितीयाणं असंखे-
ज्जसमयड्वितीयाणं य पोगलाणं दब्बडयाए पदेसड-
याए दब्बडपदेसडयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०
४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगसमयड्वितीया पोगला
दब्बडयाए, संखेज्जसमयड्वितीया पोगला दब्बडयाए सं-
खेज्जगुणा, असंखेज्जसमयड्वितीया पोगला दब्बडयाए
असंखेज्जगुणा, पदेसडयाए सव्वत्थोवा एगसमयड्वि-
तीया पोगला, पदेसडयाए संखेज्जसमयड्वितीया पोगला,
पएसडयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जसमयड्वितीया पोग-

ला पदेसडयाए असंखेज्जगुणा, दब्बडपदेसडयाए सव्व-
त्थोवा एगसमयड्वितीया पोगला, दब्बडपएसडयाए संखेज्ज-
समयड्वितीया पोगला दब्बडयाए संखेज्जगुणा, ते चेव
पदेसडयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जसमयड्वितीया पो-
गला दब्बडयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसडयाए
असंखेज्जगुणा । एएसि णं जंते ! एगगुणकादगाणं सं-
खेज्जगुणकालगाणं असंखेज्जगुणकादगाणं अणंतगुण-
कादगाणं य पोगलाणं दब्बडयाए पदेसडयाए दब्बडपदे-
सडयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! जहा
परमाणुपोगला तहा जाणियव्वा । एवं संखेज्जगुणकाल-
याणं वि । एवं सेसाणं वि वएणरसगंथा जाणियव्वा,
फासाणं कक्खममयगक्यलहुयाणं जहा एगपदेसो-
मादाणं जाणियं तहा जाणियव्वं, अवसेसा फासा जहा
वएणा भणिया तहा जाणियव्वा ॥

इह क्षेत्राधिकारतः क्षेत्रस्य प्राधान्यात्परमाणुकाद्यनन्ताणुका-
स्कन्धा अपि विवक्षितैकप्रदेशावगाढा आधाराधेययोरभेदोप-
चारादेकद्रव्यत्वेन व्यपदिश्यन्ते । ते इत्थंभूता एकप्रदेशावगाढाः
पुद्गलाः पुद्गलद्रव्याणि सर्वस्तोकानि, भोकाकाशप्रदेशप्रमाणानी-
त्यर्थः । नहि स कश्चिदेवंभूत आकाशप्रदेशोऽस्ति, य एकप्रदेशा-
वगाहनपरिणामपरिणतानां परमाणवादीनामवकाशप्रदानपरि-
णामेन परिणतो न वर्तते इति । तेभ्यः संख्येयप्रदेशावगाढाः
पुद्गला द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ? उच्यते-
इदपि क्षेत्रस्य प्राधान्याद् द्रव्यकाद्यनन्ताणुकास्कन्धा द्विप्रदे-
शावगाढा एकद्रव्यत्वेन विवक्ष्यन्ते, तानि च तथामूतानि पुद्ग-
लद्रव्याणि पूर्वोक्तैः संख्येयगुणानि । तथाहि-सर्वस्तोकप्रदेशा-
स्तत्त्वतोऽसंख्येया अपि असत्कल्पनया दृश परिकल्प्यन्ते, ते च
प्रत्येकचिन्तार्या दर्शयन्ति दृश एकप्रदेशावगाढानि पुद्गलद्रव्या-
णि ब्रह्मानि, तेष्वेव दृशसु प्रदेशेष्वन्यग्रहणान्यमोक्षणद्वारेण
यह्यो द्विकसंयोगा लक्ष्यन्ते, इति भवन्त्येकप्रदेशावगाढेभ्यो द्वि-
प्रदेशावगाढानि पुद्गलद्रव्याणि संख्येयगुणानि । एवं तेभ्योऽपि
विप्रदेशावगाढानि । एवमुत्तरोत्तरं यावदुल्लस्यसंख्येयप्रदेशाव-
गाढानि । ततः स्थितमेतत्-एकप्रदेशावगाढेभ्यः संख्येयप्रदेशा-
वगाढपुद्गला द्रव्यार्थतया संख्येयगुणा इति । एवं तेभ्योऽसं-
ख्येयप्रदेशावगाढाः पुद्गला द्रव्यार्थतयाऽसंख्येयगुणाः, असंख्या-
तस्य असंख्यातभेदभिन्नत्वात् । प्रदेशार्थतासूत्रं द्रव्यार्थपञ्चाया-
र्थतासूत्रं च सुगमत्वात् स्वयं भावनीयम् । कालभावसूत्राण्यपि
सुगमत्वस्त्वयंजावयितव्यानि, नवरं " जहा परमाणुपोगला
तहा जाणियव्वा " इति । यथा प्राक् सामान्यतः पुद्गला वक्ता-
स्तथा एकगुणकादगादयोऽपि वक्तव्याः । ते चैवम्— " सव्व-
त्थोवा अणंतपएसिया खंधा एगगुणकालगा परमाणुपोगला
दब्बडयाए एगगुणकालगा अणंतगुणा, संखेज्जपएसिया
खंधा एगगुणकालगा संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया खंधा
एगगुणकालगा असंखेज्जगुणा, पएसडयाए सव्वत्थोवा अणंत-
पएसिया खंधा एगपरमाणुपोगला एगगुणकालगा अणंतगुणा " इत्यादि । एवं संख्येयगुणकालकानामनन्तगुणकालकाना-
मपि वाच्यम् । एवं शेषवर्गगन्धरसा अपि वक्तव्याः । कर्क-
शशुद्धुस्तद्वधः स्पर्शा यथा एकप्रदेशावगाढा भवितास्तंथा

संख्येयगुणाः, तथा सर्वस्तोका इन्द्रियोपयुक्ताः । इन्द्रि-
योपयोगो हि प्रत्युत्पन्नकावविषयः, यतः तदुपयोगका-
लस्य स्तोकत्वात् पृच्छासमये स्तोका अवाप्यन्ते । यदा तु तमे-
वार्थमिन्द्रियेण दृष्ट्वा विचारयत्यथ संख्याऽपि तदा नोऽन्द्रियो-
पयुक्तः स व्यपदिश्यते । ततो नोऽन्द्रियोपयोगस्यातीतानागत-
कालविषयतया बहुकालत्वात्संख्येयगुणा नोऽन्द्रियोपयुक्ताः,
तथा सर्वस्तोका अनाकारोपयुक्ताः, अनाकारोपयोगकालस्य
स्तोकत्वात् । साकारोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, अनाकारोपयोग-
कात्साकारोपयोगस्य संख्येयगुणत्वात् । इदानीं समुदाय-
गतं सूत्रोक्तमलवबहुत्वं भाव्यते, सर्वस्तोका जीवाः आयुष्क-
र्मणो बन्धकाः, आयुर्वन्धकालस्य प्रतिनियतत्वात् । तेज्योऽपर्या-
प्ताः संख्येयगुणाः, यस्मादपर्याप्ता अनुज्जयमानमवविभागाद्यव-
शेषायुपः पारभाविकमायुर्वन्धन्ति, ततो द्वौ त्रिभागावबन्ध-
कालौ, एकोऽवन्धकाल इति बन्धकालादवन्धकालः संख्येय-
गुणः, तेन संख्येयगुणा एवाऽपर्याप्ता आयुर्वन्धकेज्यः, तेज्यो-
ऽपर्याप्तेभ्यः सुप्ताः संख्येयगुणाः, यस्मादपर्याप्तेषु च पर्याप्तेषु
च सुप्ता लभ्यन्ते । पर्याप्ताश्चापर्याप्तेभ्यः संख्येयगुणाः, इत्य-
पर्याप्तेभ्यः सुप्ताः संख्येयगुणाः, तेभ्यः समवहताः संख्ये-
यगुणाः, बहूनां पर्याप्तेष्वपर्याप्तेषु च भारणान्तिकसमुदायेन
समवहतानां सदा लभ्यमानत्वात् । तेभ्यः सातावेदकाः
संख्येयगुणाः, आयुर्वन्धकापर्याप्तकसुप्तेष्वपि सातावेदकानां
लभ्यमानत्वात् । तेभ्यः इन्द्रियोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, असा-
तवेदकानामपि इन्द्रियोपयोगस्य लभ्यमानत्वात् । तेभ्योऽना-
कारोपयोगोपयुक्ताः, इन्द्रियोपयोगेषु नोऽन्द्रियोपयोगेषु वा
ऽनाकारोपयोगस्य लभ्यमानत्वात् । तेभ्यः साकारोपयुक्ताः
संख्येयगुणाः, इन्द्रियोपयोगेषु नोऽन्द्रियोपयोगेषु साकारोप-
योगकालस्य बहुत्वात् । तेभ्यो नोऽन्द्रियोपयुक्ता विशेषाधिकाः,
नोऽन्द्रियाऽनाकारोपयुक्तानामपि तत्र प्रकृतात्, साकारानाका-
रोपयुक्तानामपि तत्र प्रकृतात् । अत्र विनेयजनानुग्रहार्थमसंज्ञा-
वस्थापनया निदर्शनमुच्यते-इह सामान्यतः किल साकारोप-
युक्ता द्विनवत्यधिकं शतम् १६२ ते च किल द्विधा-इन्द्रियसाका-
रोपयुक्ताः, नोऽन्द्रियसाकारोपयुक्ताश्च । तत्रोन्द्रियसाकारोपयु-
क्ताः किलाऽतीवस्तोका इति विंशतिसंख्याः कल्पन्ते; शेषं
द्विसप्तत्युत्तरं शतम् १७२ । नोऽन्द्रियसाकारोपयुक्ता नोऽन्द्रिया-
नाकारोपयुक्ताश्च द्विपञ्चाशत्कल्पाः । ततः सामान्यतः साकारो-
पयुक्तेभ्यः इन्द्रियसाकारोपयुक्तेषु विंशतिकल्पेष्वपनीतेषु द्वि-
पञ्चाशत्कल्पेषु अनाकारोपयुक्तेषु तेषु मध्ये प्रकृतेषु द्वे शते च-
तुर्विंशत्यधिकं भवतः । ततः साकारोपयुक्तेभ्यो नोऽन्द्रियोपयु-
क्ता विशेषाधिकाः, तेज्योऽसातवेदका विशेषाधिकाः, इन्द्रियो-
पयुक्तानामप्यसातवेदकत्वात् १० । तेभ्योऽसमवहता विशेषा-
धिकाः, सातवेदकानामप्यसमवहतत्वभावात् । तेभ्यो जागरा वि-
शेषाधिकाः, समवहतानामपि केषांचिज्जागरत्वात् १२ तेभ्यः प-
र्याप्ता विशेषाधिकाः, सुप्तानामपि केषांचित् पर्याप्तत्वात् । सुप्ता हि
पर्याप्तापर्याप्ता अपि भवन्ति; जागरास्तु पर्याप्ता एवेति नियमः
१३ । तेभ्योऽपि पर्याप्तेभ्यः आयुःकर्मावन्धका विशेषाधिकाः,
अपर्याप्तानामप्यायुःकर्मावन्धकभावात् १४ । इदमेवावबहुत्वं
विनेयजनानुग्रहाय स्थापनाराशिभिरुपदिश्यते-इह द्वे पङ्क्ती उ-
पर्यधोभावेन न्यस्येते । तत्रोपरितन्यां पङ्क्ती आयुःकर्मबन्धका
अपर्याप्ताः सुप्ताः समवहताः सातवेदका इन्द्रियोपयुक्ता अनाका-
रोपयुक्ताः क्रमेण स्थाप्यन्ते, तस्या अधस्तन्यां पङ्क्तौ तेषामेव

पदानामधस्ताद् यथासंख्येयमायुरवन्धका पर्याप्ता जागरा अस-
मवहता असातवेदका नोऽन्द्रियोपयुक्ताः साकारोपयुक्ताः स्थाप-
ना चेयम्-आद्यमिति तत्परिमाणं संख्यायामेकः स्थाप्यते । ततः
शेषपदानि किल जघन्येन संख्येयगुणानीति द्विगुणो द्विगुणाकृस्त-
षु स्थाप्यते । तद्यथा-द्वौ चत्वार अष्टौ पुरुषा द्वाविंशत् चतुः-
पष्टिः; सर्वोऽपि जीवराशिरनन्तानन्तस्वरूपोऽप्यसत्कल्पनया
वदपञ्चाशदधिकशतद्वयपरिमाणः परिकल्प्यते । ततोऽस्मादाशे-
रायुर्वन्धकादिगताः संख्याः शोधयित्वा यत् शेषमवतिष्ठते तदा-
युरवन्धकादीनां परिमाणे स्थापयितव्यम् । तद्यथा-आयुरवन्धका-
दिपदे द्वे शते पञ्चपञ्चाशदधिके, शेषेषु यथाोक्तक्रमं द्वे शते, चतुष्प-
ञ्चाशदधिके द्वे शते, द्विपञ्चाशदधिके द्वे शते, अष्टचत्वारिंशद-
धिके द्वे शते, चत्वारिंशदधिके द्वे शते, चतुर्विंशत्यधिके द्वि-
नवत्यधिकं शतम् । एवं च सति उपरितनपङ्क्तिगतान्यनाकारो-
पयुक्तपर्यन्तानि पदानि संख्येयगुणानि, द्विगुणद्विगुणाधि-
कत्वात् । ततः परं साकारोपयुक्तपदमपि संख्येयगुणम्, त्रिगुण-
त्वात् । शेषाणि तु नोऽन्द्रियोपयुक्तादीनि प्रतिलोमं विशेषाधि-
कानि, द्विगुणत्वस्यापि क्वचिदभावात् । प्रज्ञा० ३ पद ।

(प्रकृतिबन्धादीनाम्)

सम्प्रति प्रागुक्तचतुर्विधबन्धे योगस्थानानि कारणं, प्रकृतयः प्रदे-
शाश्च तत्कार्यं वर्तन्ते । तथा स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि का-
रणं, स्थितिविशेषास्तु तत्कार्यम्, अनुभागबन्धाध्यवसायस्था-
नानि कारणम्, अनुजागस्थानानि तु तत्कार्यं वर्तन्त इति कृत्वा
सप्तानामप्येषां पदार्थानां परस्परमवबहुत्वमभिहितसुराह-

सेद्विअसंखिज्जंसे, जोगाणाणि पयमिठिइमेया ।

विद्वंषज्जवसाया-ऽणुजागठाणा असंखगुणा ॥८५॥

योगो वीर्यम्; तस्य स्थानानि वीर्याविभागान्नासङ्घातरूपाणि । कि-
यन्ति पुनस्तानि भवन्ति?, इत्याह-(सेद्विअसंखिज्जंसे चि) श्रेणि-
रसंख्येयांशः श्रेण्यसंख्येयांशः । एतदुक्तं भवति-श्रेणैवेद्वयमा-
णस्वरूपाया असंख्येयभागे यावन्त आकाशप्रदेशा भवन्ति, ताव-
न्ति योगस्थानानि । एतानि चोत्तरपदापेक्षया सर्वस्तोकानीति
शेषः । तत्र यथैनानि योगस्थानानि भवन्ति तथोच्यते- इह कि-
ल सूक्ष्मनिगोदस्यापि सर्वजघन्यवीर्यवध्ययुक्तस्य प्रदेशाः के-
चिदल्पवीर्ययुक्ताः केचित्तु बहुबहुतरवहुतमवीर्योपेताः; तत्र
सर्वजघन्ययुक्तवीर्यस्यापि प्रदेशस्य संवन्धि वीर्यं केवलिप्रज्ञा-
छेदेन छिद्यमानमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान् भागान्
प्रयच्छति, तस्यैवोक्तपृथ्वीर्ययुक्तप्रदेशे यद्वीर्यं तदेतेज्योऽसंख्ये-
यगुणान् भागान् प्रयच्छति ।

उक्तं च-

“ पन्नाप ठिज्जंता, असंखलोगाण जत्तियपपसा ।

तत्तियवीरियभागा, जीवपपसम्मि एक्के ॥ १ ॥

सव्वज्जहगविरिए, जीवपपसम्मि तत्तिया संखा ।

तत्तो असंखगुणियं, बहुविरिए जियपपसम्मि ” ॥ २ ॥

भागा अविजागपरिच्छेदा इति चानर्थान्तरम् । ततः सर्व-
स्तोका विजागपरिच्छेदकालितानां लोकासंख्येयभागवर्त्यसं-
ख्येयप्रतरप्रदेशराशिसंख्यानां जीवप्रदेशानां समानवीर्यपरि-
च्छेदतया जघन्यैका वर्गणा । तत एकेन योगपरिच्छेदेनाधिका-
नां तावतामेव जीवप्रदेशानां द्वितीया वर्गणा । एवमेकैकयोगप-

संधा दब्बड्याए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसड्याए अ-
संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! एगपदेसोगादाणं संखेज्ज-
पदेसोगादाणं असंखेज्जपदेसोगादाणं पोग्गलाणं दब्बड्याए
पएसड्याए दब्बडपएसड्याए कयरे कयरेहिंतो जाव विसे-
साहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगपएसोगादा पोग्गला
दब्बड्याए, संखेज्जपएसोगादा पोग्गला दब्बड्याए
संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसोगादा पोग्गला दब्बड-
याए असंखेज्जगुणा, पएसड्याए सव्वत्थोवा एगप-
एसोगादा पोग्गला, पएसड्याए संखेज्जपएसोगादा पोग्ग-
ला, पदेसड्याए असंखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसोगादा पो-
ग्गला पदेसड्याए असंखेज्जगुणा, दब्बडपएसड्याए सव्व-
त्थोवा एगपएसोगादा पोग्गला, दब्बडपएसड्याए संखेज्ज-
पएसोगादा पोग्गला, दब्बड्याए संखेज्जगुणा, ते चेव पदे-
सड्याए संखेज्जगुणा । असंखेज्जपएसोगादा पोग्गला द-
ब्बड्याए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसड्याए असंखेज्जगु-
णा । एएसि णं जंते ! एगसमयद्धितीयाणं संखेज्जसमयद्धि-
तीयाणं असंखेज्जसमयद्धितीयाणं य पोग्गलाणं जहा ओ-
गाहणाए तहा त्रितीए वि जाणियव्वं अप्पावहुगं । ए-
सि णं जंते ! एगगुणकालगाणं संखेज्जगुणकालगाणं
असंखेज्जगुणकालगाणं अणंतगुणकालगाणं य पोग्गला-
णं दब्बड्याए पदेसड्याए दब्बडपएसड्याए एएसि जहा
परमाणुपोग्गलाणं अप्पावहुगं तहा एएसि पि अप्पा-
वहुगं । एवं सेसाणं वि वएणगंधरसाणं । एएसि णं भं-
ते ! एगगुणककखनाणं संखेज्जगुणककखनाणं असंखेज्ज-
गुणककखनाणं अणंतगुणककखनाणं य पोग्गलाणं य दब्ब-
ड्याए पदेसड्याए दब्बडपदेसड्याए कयरे कयरेहिंतो जाव
विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगगुणककखना
पोग्गला दब्बड्याए, संखेज्जगुणककखना पोग्गला दब्बड-
याए संखेज्जगुणा, असंखेज्जगुणककखना पोग्गला दब्बड-
याए असंखेज्जगुणा, अणंतगुणककखना पोग्गला दब्बड-
याए अणंतगुणा, पदेसड्याए एवं चेव । एवरं संखेज्जगु-
णककखना पोग्गला पदेसड्याए असंखेज्जगुणा । सेसं
तं चेव । दब्बडपदेसड्याए सव्वत्थोवा एगगुणककखना पो-
ग्गला, दब्बडपदेसड्याए संखेज्जगुणककखना पोग्गला द-
ब्बड्याए संखेज्जगुणा, ते चेव पदेसड्याए संखेज्जगुणा,
असंखेज्जगुणककखना दब्बड्याए असंखेज्जगुणा, ते चेव
पदेसड्याए असंखेज्जगुणा, अणंतगुणककखना दब्बड्याए
अणंतगुणा, ते चेव पदेसड्याए असंखेज्जगुणा । एवं मउ-
यगुखलहुया वि अप्पावहुगं । सीयउसिणणिच्छलुक्खा-
णं जहा वएणाणं तहेव ॥

डीका सुगमा प्रज्ञापनापादेन गतार्था चेति नेहोप-यस्यते ।

अ० १५ अ० ४ उ० ।

१६३

(प्रयोगादिपरिणतानामव्यवहृतत्वं 'परिणाम' शब्दे वक्ष्यते)
(आहारायाऽस्पृश्यमानानामनास्वाद्यमानानां च पुत्रस्तानां
परस्परमव्यवहृतत्वं- 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५०१ पृष्ठे
प्रतिपादयिष्यते) (प्रत्याख्यानाविषयमव्यवहृतत्वं 'पञ्चवक्त्राण'
शब्दे वक्ष्यते) (प्रवेशनकमाश्रित्य 'पवेसण' शब्दे
निरूपयिष्यते)

(२१) [बन्धद्वारम्] आयुःकर्मबन्धकादीनामव्यवहृतत्वं-

एएसि णं जंते ! जीवाणं आउस्स कम्मस्स बंधगाणं
अबंधगाणं अपज्जत्ताणं पज्जत्ताणं मुत्ताणं जागराणं स-
मोहयाणं असमोहयाणं सातावेदगाणं असातावेदगाणं ई-
दियउवउत्ताणं णोईदियउवउत्ताणं सागारोवउत्ताणं अ-
णागारोवउत्ताणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा
तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा
आउस्स कम्मस्स बंधगा, अपज्जत्ता संखिज्जगुणा, मुत्ता
संखिज्जगुणा, समोहया संखिज्जगुणा, सातावेदगा संखि-
ज्जगुणा, ईदियउवउत्ता संखिज्जगुणा, अणागारोवउत्ता
संखिज्जगुणा, सागारोवउत्ता संखिज्जगुणा, नोईदियउ-
वउत्ता विसेसाहिया, असातावेदगा विसेसाहिया, अस-
मोहिया विसेसाहिया, जागरा विसेसाहिया, पज्जत्ता
विसेसाहिया, आउस्स कम्मस्स अबंधगा विसेसाहिया ॥

इहायुःकर्मबन्धकाबन्धकानां पर्याप्तपर्याप्तानां सुसजाप्रतां
समवहतासमवहतानां सातावेदकासातावेदकानाम्, इन्द्रियोप-
युक्तनोन्द्रियोपयुक्तानां साकारोपयुक्ताऽसाकारोपयुक्तानां स-
मुदायेनाऽव्यवहृतत्वं वक्ष्यम् । तत्र प्रत्येकं तावद् भूमि-येन समु-
दाये सुखेन तदवगम्यते । तत्र सर्वस्तोका आयुषो बन्धकाः, अ-
बन्धकाः संख्येयगुणाः, यतोऽनुभूयमानजवायुरपि त्रिभागाव-
शेषपारमविक्रमायुर्जीवा बध्नन्ति, त्रिभागात्रिभागाद्यवशेषे
वा, ततो द्वौ त्रिभागावबन्धकाल एकं त्रिभागो बन्धकाल
इति बन्धकेभ्योऽबन्धकाः संख्येयगुणाः । तथा सर्वस्तोका अ-
पर्याप्तकाः, पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः । एतच्च सूक्ष्मजीवानधि-
कृत्य वेदितव्यम् । सूक्ष्मेषु विधाहो व्याघातो न भवति, ततस्तद्-
भावद्वहृन्नां निष्पत्तिः, स्तोकानामेव चानिष्पत्तिः । तथा सर्व-
स्तोकाः सुप्ताः, जागराः संख्येयगुणाः, एतदपि सूक्ष्मानेकेन्द्रि-
यानधिकृत्य वेदितव्यम्, यस्मादपर्याप्ताः सुप्ता एव लभ्यन्ते,
जागरा अपि । उक्तं मूलटीकायाम्- 'जम्हा अपज्जत्ता सुप्ता ल-
भन्ति केऽप्यपज्जत्ता जेसिं संखिज्जा समया अतीता ते य
थोवा, इयरे वि थोयगा चेव, सेसा जागरा पज्जत्ता संखिज्ज-
गुणा' इति । जागराः पर्याप्तास्तेन संख्येयगुणा इति । तथा स-
मवहताः सर्वस्तोकाः, यत इह समवहता मारणान्तिकसमुद्घा-
तेन परिगृह्यन्ते, मारणान्तिकश्च समुद्घातो मरणकाले, न शेष-
काले, तत्रापि न सर्वेषामिति सर्वस्तोकाः । तेभ्योऽसमवहताः
संख्येयगुणाः, जीवनकालस्यातिवहुत्वात् । तथा सर्वस्तोकाः
सातावेदकाः, यत इह बहवः साधारणशरीरा अल्पे प्रत्येकश-
रीरिणः, साधारणशरीराश्च बहवोऽसातावेदकाः, स्वल्पाः सा-
तावेदिनः, प्रत्येकशरीरिणस्तु चूयांसः सातावेदकाः, स्तोका
असातावेदिनः, ततः स्तोकाः सातावेदकाः, तेभ्योऽसातावेदकाः

दा भवन्ति, किं पुनः सर्वप्रकृतीः सर्वजीवानांभ्यः प्रकृतिभेदे-
ज्यः ? , स्थितिभेदानामसंख्यातगुणत्वमित्यतः प्रकृतिभेदे-
भ्यः स्थितिभेदाः असंख्यातगुणा भवन्तीति ; तथा स्थि-
तिभेदेभ्यः सकाशात् स्थितिवन्धाध्यवसायाः पदैकदेशे पद-
समुदायोपचारात् स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्यातगु-
णानि । तत्र स्थानं स्थितिः ? कर्मणोऽवस्थानं, तस्या वन्धः स्थि-
तिवन्धः । अध्यवसानान्यध्यवसायाः, ते चेह कषायजनिता जीव-
परिणामविशेषाः । तिष्ठन्ति जीवा एष्विति स्थानानि, अध्यवसा-
या एव स्थानान्यध्यवसायस्थानानि ; स्थितिवन्धस्य कारणभू-
तान्यध्यवसायस्थानानि स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानानि, तानि स्थि-
तिभेदेभ्योऽसंख्येयगुणानि, यतः सर्वजघन्योऽपि स्थितिविशे-
षोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरध्यवसायस्थानैर्जन्यते । उ-
त्तरे तु स्थितिविशेषास्तैरेव यथोत्तरं विशेषवृद्धैर्जन्यन्ते ;
अतः स्थितिभेदेभ्यः स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्यात-
गुणानि सिद्धानि ज्ञवन्ति । तथा—(अणुभागघाणं चि) पदै-
कदेशे पदसमुदायोपचारः/दनुभागस्थानान्यनुभागवन्धाध्यव-
सायस्थानानि । तत्रानु पश्चाद्वन्धोत्तरकालं भज्यते सेव्यतेऽनुभू-
यत इत्यनुजागो रसः, तस्य वन्धोऽनुजागवन्धः, अध्यवसानान्य-
ध्यवसायाः, ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषाः । ति-
ष्ठन्ति जीवा एष्वेति स्थानानि, अध्यवसाया एव स्थानान्यध्य-
वसायस्थानानि, अनुभागवन्धस्य कारणभूतान्यध्यवसायस्था-
नान्यनुभागवन्धाध्यवसायस्थानानि । स्थितिवन्धाध्यवसायस्था-
नेभ्यस्तान्यसंख्येयगुणानि भवन्ति, स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानं
लोकैकमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुक्तम् । अनुजागवन्धाध्यवसायस्थानं
त्वेकैकं जघन्यतः सामायिकम्, उक्तवृत्तस्त्वष्टसामायिकान्तमेवो-
क्तमत एकस्मिन्नापि नगरकल्पे स्थितिवन्धाध्यवसायस्थाने त-
दन्तर्गता नगरान्तर्गतांश्चैर्नैर्चैर्गृहकल्पानि नानाजीवान् काल-
ज्जेदेनैकजीवान् कालज्जेदेनैकजीवं वा समाभ्रत्यासंख्येयलो-
काकाशप्रदेशप्रमाणान्यनुभागवन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति ।
तथाहि—जघन्यस्थितिजनकानामपि स्थितिवन्धाध्यवसायस्था-
नानां मध्ये यदाद्यं सर्वलघुस्थितिकं वन्धाध्यवसायस्थानं
तस्मिन्नापि देशक्षेत्रकालभावजीवभेदेनासंख्येयलोकाकाशप्र-
देशप्रमाणान्यनुभागवन्धाध्यवसायस्थानानि प्राप्यन्ते । द्विती-
यादिषु तु तान्यप्यधिकान्यधिकतराणि च प्राप्यन्ते इति सर्वे-
ष्वपि स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानेषु भावनाः कार्याः । अतः स्थि-
तिवन्धाध्यवसायस्थानेभ्योऽनुजागवन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्ये-
यगुणातीति ।

ततो कम्मपणसा, अणंतगुणिया तओ रसच्छेया ।

ततस्तेभ्योऽनुभागवन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः, कर्मप्रदेशाः कर्म-
स्कन्धा अनन्तगुणिता भवन्ति । अयमत्र तात्पर्यार्थः—प्रत्येकम-
भत्यान्तगुणैः सिद्धान्तज्ञागवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नान्न-
भ्यान्तगुणानेव स्कन्धान् मिथ्यात्वाद्भिर्भिर्हेतुभिः प्रतिसमयं जी-
वो गृह्यतीत्युक्तम् । अनुभागवन्धाध्यवसायस्थानानि तु सर्वाण्य-
प्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्येवाभिहितानि, अतोऽनुभाग-
वन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः कर्मप्रदेशा अनन्तगुणाः सिद्धा भवन्ति ।
तथा(तओ रसच्छेयं चि) ततस्तेभ्यः कर्मप्रदेशेभ्यो, रसच्छेदा न-
न्तगुणा ज्ञवन्ति । तथाहि—इह क्षीरनिम्बरसाद्यधिश्रयणैरित्रा-
नुभागवन्धाध्यवसायस्थानैस्तन्नुल्लेखिव कर्मपुद्गलेषु रसो ज-
न्यते, स चैकस्यापि परमाणोः संबन्धि केवद्विप्रकृत्या विद्यमानः

सर्वजीवानन्तगुणानविभागपरिच्छेदान् प्रयच्छति । यस्मान्नागा-
दपि सूक्ष्मतयाभ्यो भागो नोत्तिष्ठति सोऽविभागपरिच्छेद उ-
च्यते । एवं भूताश्चानुभागस्याविभागपरिच्छेदा रसपर्यायाः स-
र्वकर्मस्कन्धेषु प्रतिपरमाणुसर्वजीवानन्तगुणाः संप्राप्यन्ते । यतः—

“गहणसमयमि जीवो, उप्पापइ उ गुणे सपच्चयओ ।

सच्चजियाणंतगुणे, कम्मपणसेसु सव्वेसु” ॥

गुणशब्देनेहाविभागपरिच्छेदा उच्यन्ते । शेषं सुगमम् । क-
र्मप्रदेशाः पुनः प्रतिस्कन्धं सर्वेऽपि सिद्धानामप्यनन्तभाग एव
वर्तन्ते । अतः कर्मप्रदेशेभ्यो रसच्छेदा अनन्तगुणाः सिद्धा भ-
वन्तीति । कर्म० x कर्म० । (औदारिकादिशरीरवन्धकानामल्पव-
हुत्वं तु 'सरीर' शब्द एव दृश्यम्)

(२२) [भवसिद्धिकद्वारम्] भवसिद्धिकद्वारमाह—

एएसि णं जंते ! जीवाणं जवसिद्धियाणं अजवसिद्धि-
याणं नोजवसिद्धियाणं नोअभवसिद्धियाणं य कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा ० ४ ! गोयमा ! सव्वत्थोवा अभवसिद्धिया,
नोजवसिद्धिया नोअजवसिद्धिया अणंतगुणा, भवसिद्धिया
अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका अजवसिद्धिकाः अभव्याः, जघन्ययुक्तानन्तकपरि-
माणत्वात् । उक्तं चानुयोगद्वारेषु—“उल्लोसए परिमाणंतकवे
पक्खिस्से जइजयजुत्ताणं तयं होइ अभवसिद्धिया वि तत्तिया
चेव चि” तेभ्यो नोभवसिद्धिका नोअभवसिद्धिका अनन्तगुणाः,
यत उभयप्रतिषेधवृत्तयः सिद्ध्यन्ते चाजघन्योत्कृष्टयुक्तानन्तक-
परिमाणा इत्यनन्तगुणाः । तेभ्यो भवसिद्धिका अनन्तगुणाः,
यतो जघन्यनिगोदस्यैकस्थानन्तभागकल्पाः सिद्धा प्रथ्यजीवरा-
शिनिगोदाश्वाससंख्येया लोके इति । यतं भवसिद्धिकद्वारम् ॥
प्रज्ञा० ३ पद ॥

(२३) [भापकद्वारम्] भापकाप्रापकाल्पवहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! जीवाणं जासगाणं अजासगाणं य
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुह्या वा विसेसा-
हिया वा ! गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा जासगा, अजासगा
अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका भापका भापालब्धिसंपन्नाः, द्वीन्द्रियादीनामेवं
भापकत्वात् । अभापका ज्ञापकाल्पहीना अनन्तगुणाः, वद-
स्पतिकायिकानामनन्तत्वात् । प्रज्ञा० ३ पद । सत्यादिज्जेदेन
ज्ञापणामल्पवहुत्वम् । प्रज्ञा० ११ पद । (ज्ञाप्याद्रव्याणां कण्डा-
दिभिर्भेदेभिर्मिथ्यामानानामल्पवहुत्वं च 'ज्ञासा' शब्दे वक्ष्यते)

(२४) [महादपरुक्कद्वारम्] सर्वजीवाल्लवहुत्वम्—

अह भंते ! सव्वजीवप्पहुं महादंरुयं वत्तइस्सामि, सव्व-
त्थोवा गम्भवरुक्कंतियमणुस्सा, मणुस्सीओ संखेज्जगुणाओ,
वादरतेउकाइया पज्जत्तया असंसिज्जगुणा, अणुत्तरोववा-
इया देवा असंखेज्जगुणा, उवरिमगेवेज्जगा देवा संखेज्जगु-
णा, मज्जिमगेवेज्जगा देवा संखेज्जगुणा, हेडिमगेवेज्जगा,
देवा संखेज्जगुणा, अचुए कप्पे देवा संखेज्जगुणा, आरणे क-

रिच्छेदवृक्षा यदमानानां जीवप्रदेशानां समानजातीयरूपा यनीकृतशोकाकाशधेरेरसंख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणं वर्गणा वाच्याः ।

एताश्चैतावत्योऽप्यसत्कल्पनया पदं स्थाप्यन्ते—

१५	१५	१५
१४	१४	१४
१३	१३	१३
१२	१२	१२
११	११	११
१०	१०	१०

तत्र जघन्यवर्गणायां जीवप्रदेशा मसंख्येयवीर्यजागान्विताः । अथ सत्कल्पनया त्रयस्त्रयः स्थाप्यन्ते, एताश्चैतावत्यः समुदिता एकं वीर्यस्पर्ककमित्युच्यते । अथ स्पष्टं इति कः शब्दार्थः ? उच्यते—एकैकोत्तरवीर्यभागवृक्षा परस्परं स्पष्टन्ते वर्गणा यत्र तत् । तत् ऊर्ध्वमेकं द्वादिभिर्वा वीर्यपरि-

च्छेदैरधिका जीवप्रदेशा न प्राप्यन्ते । किं तर्हि ? प्रथमस्पर्कचरमवर्गणायां जीवप्रदेशेषु यावन्तो वीर्यपरिच्छेदास्तेभ्योऽसंख्येयशोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरेव वीर्यपरिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशाः, अतस्तेषामपि समानवीर्यभागानां समुदायो द्वितीयस्पर्कस्याद्यवर्गणा । तत एकेन वीर्यभागैनाधिकानां समुदायो द्वितीयवर्गणा । एवमेकोत्तरवृक्षक्रमेणैता अपि श्रेयसंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिमाना वाच्याः । एतासामपि समुदायो द्वितीयं स्पष्टकम् । इत ऊर्ध्वं पुनरप्येकोत्तरवृक्षिनं बभूवते । किं तर्हि—असंख्येयलोकाकाशप्रदेशानुत्पत्त्यैरेव वीर्यभागैरधिकास्तत्प्रदेशाः प्राप्यन्ते, अतस्तेनैव क्रमेण तृतीयस्पर्कमारभ्यते । पुनस्तेनैव क्रमेण चतुर्थम्, पुनः पञ्चममित्येवमेतान्यपि वीर्यस्पर्कानि श्रेयसंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणानि वाच्यानि । एषां चैतावतां स्पष्टकानां समुदाय एकं योगस्थानकमुच्यते । इदं तावदेकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये सर्वजघन्यवीर्यस्य योगस्थानकमभिहितं, तदन्यस्य तु किञ्चिदधिकवीर्यस्य जन्तोः, अनेनैव क्रमेण द्वितीयं योगस्थानकमुत्तिष्ठते । तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण तृतीयम्, तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण चतुर्थम् । इत्यमुना क्रमेणैतान्यपि योगस्थानानि नानाजीवानां काष्ठभेदेनैकजीवस्य वा श्रेणेरसंख्येयभागवर्तिनमप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति । ननु जीवानामनन्तत्वाच्छेदायोगस्थानान्यनन्तानि कस्माच्च भवन्ति ? नैतदेवम्—यत एकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽनन्ताः स्थावरजीवा घर्तन्ते, त्रसास्त्वैकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽसंख्याता घर्तन्ते, तेषां च तदेकैकमेव विधत्तवमतो त्रिसदृशानि यथोक्तमानान्येव योगस्थानकानि भवन्ति । तथाऽपर्याप्ताः सर्वेऽप्येकस्मिन् योगस्थानके एकसमयमवतिष्ठन्ते । ततः परमसंख्येयगुणवृक्षेषु प्रतिसमयमन्योन्ययोगस्थानकेषु संक्रामन्ति, पर्याप्तास्तु सर्वेऽपि स्वप्रायोग्ये सर्वजघन्ययोगस्थानके जघन्यतः समयमुत्कृष्टतश्चतुरः समयान् यावद्वर्तन्ते, ततः परमन्ययोगस्थानकमुपजायते, स्वप्रायोग्योत्कृष्टयोगस्थानके तु जघन्यतः समयम्, उत्कृष्टतस्तु द्वौ समयौ, मध्यमेपु जघन्यतः समयम्, उत्कृष्टतस्तु क्वचित् चतुरः, क्वचित्पञ्च, क्वचित् पदं, क्वचित् सप्त, क्वचिदष्टौ समयान् यावद्वर्तन्ते इति । अथ चैतावानपि योगो मनःप्रभृतिसहकारिकारणवशात्संक्षिप्य सत्यमनोयोगः १, असत्यमृषामनोयोगः ३ । असत्यामृषामनोयोगः ४ । सत्यवाग्योगः १, असत्यवाग्योगः २, सत्यमृषावाग्योगः ३ असत्यामृषावाग्योगः ४ । औदारिककाययोगः १,

औदारिकमिभकाययोगः २, वैक्रियकाययोगः ३, वैक्रियमिभकाययोगः ४, आहारककाययोगः ५, आहारकमिभकाययोगः ६, कार्मणकाययोगमेवतः पञ्चदशधा प्रोक्त इत्यलं प्रसंगेन । एतेभ्यश्च योगस्थानेभ्योऽसंख्येयगुणाः असंख्यातगुणिताः । (पयमि सि) भेदशब्दस्य प्रत्येकं संवन्धात् प्रकृतिभेदात् स्थितिभेदाच्च ज्ञानावरणादीनां भेदाः । " असंख्यगुणं चि " पदमनुभागबन्धस्थानानि यावत्सर्वत्र योजनीयम् । इयमत्र भावना—इह तावदावश्यकदिप्यवधिज्ञानदर्शनयोः क्षयोपशमवैचित्र्यादसंख्यातास्तावज्ज्ञेयं भवन्ति । ततश्च तदावरणबन्धस्यापि तावत्प्रमाणज्ज्ञेदाः संगच्छन्ते, वैचित्र्येण वरुस्यैव विचित्रकृत्योपशमोपपत्तेरिति । कथं पुनः क्षयोपशमवैचित्र्येऽप्यसंख्येयभेदत्वं प्रतीयते ? इति चेत् । उच्यते—क्षेत्रतारतम्येनेति । तथाहि—त्रिसमयाहारकसूक्ष्मपनकसत्त्वावगादनामानं जघन्यमवधिद्विकस्य क्षेत्रं परिच्छेद्यतयोक्तम् । यदाह सकलभुतपारदश्वा विम्बानुग्रहकाम्यया विहितानेकशास्त्रसंदर्भो भगवान् श्रीभद्रयाहुस्वामी—“ जावइय तिसमयाहा-रगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स । ओगाइणा जह्णा, ओहीखिचं जह्मं तु ” ॥ १ ॥ उत्कृष्टं तु सर्ववहुतेजस्कायिकजन्तूनां शुचिः सर्वतो भ्रमिता यावन्मात्रं क्षेत्रं स्पृशति तावन्मात्रं तस्य प्रमाणं भवति । यदाहुः श्रीमद्वाराण्यपादाः—“ सख्यदुभगणिजीवा, निरंतरं जसियं भरिज्जसु । खिच्चं सख्यदिसागं, परमोही खिचिनिदिहो ” ॥ १ ॥ इति । ततो जघन्यात् क्षेत्रादारण्य प्रदेशवृक्षा प्रवृत्तोत्कृष्टक्षेत्रविषयत्वे सत्यसंख्येयभेदत्वमवधिद्विकस्य क्षेत्रतारतम्येन नवति । अतस्तदावारकस्यावधिद्विकस्यापि नानाजीवानां क्षेत्रादिभेदेन बन्धवैचित्र्यादुदयवैचित्र्याच्चासंख्येयगुणभेदत्वम् । एवं नानाजीवानाभित्य मतिज्ञानावरणादीनां क्षेत्राणामप्यावरणानां तथाऽन्यासामपि सर्वासां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च क्षेत्रादिभेदेन बन्धवैचित्र्यादुदयवैचित्र्याच्चासंख्याता ज्ञेदाः संपद्यन्ते इति ।

उक्तं च—

“ जग्हा उ ओहिबिसओ, उक्कोसे सख्यदुयसिदिहो ।

जसियमित्तं फुसई, तसियमित्तप्यएससमो ॥ १ ॥

तत्तारतम्यमेया, जेण बहू हुंति आवरणजणिया ।

तेणासंख्यगुणत्तं, पयरीणं जोगओ जाण ” ॥ २ ॥

चतसृणामानुपूर्वाणां बन्धोदयवैचित्र्येणासंख्याता ज्ञेदाः, ते च लोकस्यासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशितुल्या इति बृहच्छतकचूर्णिकारोक्ता विशेषाः । ननु जीवानामनन्तत्वात्तेषां बन्धोदयवैचित्र्येणानन्ता अपि प्रकृतिज्ञेदाः कस्माच्च भवन्ति ? नैतदेवम्, सदृशानां बन्धोदयानामेकत्वेन विधत्तवत्त्वादिसदृशस्वेतावन्त एव तद्भेदा भवन्ति । ते च ज्ञेदाः प्रकृतिज्ञेदन्वात्प्रकृतय इत्युच्यन्ते । नतश्च योगस्थानेभ्योऽसंख्यातगुणाः प्रकृतयः, यत एकैकस्मिन् योगस्थाने वर्तमानैर्नानाजीवैः कालभेदादेकजीवेन वा सर्वा अभ्येताः प्रकृतयो बध्यन्ते इति । तथा तेभ्यः प्रकृतिभेदभ्यः स्थितिभेदाः स्थितिविशेषा अन्तर्मुहूर्त्तसमयाधिकान्तर्मुहूर्त्तत्रिसमयाधिकान्तर्मुहूर्त्तदिलक्षणा असंख्यातगुणा भवन्ति । एकैकस्याः प्रकृतेरसंख्यातैः स्थितिविशेषैर्वाध्यमानत्वादेकमेवहि प्रकृतिज्ञेदं कश्चिज्जीवोऽप्येन स्थितिविशेषेण बध्नाति, स एव च तं कदाचिदन्येन, कदाचिदन्यतरेण, कदाचिदन्यतमेनेत्येवमेकं प्रकृतिज्ञेदमेकं जीवमाभित्यासंख्याताः स्थितिज्ञे-

कार्या, यावदानतकल्पः ५ । तेज्योऽप्युपरितनमैवेयकत्रिकदे-
वेज्यो मध्यमैवेयकत्रिकदेवाः संख्येयगुणाः ६ । तेज्योऽप्य-
धस्तनमैवेयकत्रिकदेवाः संख्येयगुणाः ७ । तेज्योऽच्युतक-
ल्पदेवाः संख्येयगुणाः ८, तेज्योऽप्यारणकल्पदेवाः संख्येय-
गुणाः । यद्यप्यारणाच्युतकल्पौ समश्रेणिकौ, समविमान-
संख्याकौ च, तथाऽपि कृष्णपाक्षिकास्तथास्वाभाष्यात् प्रा-
चुर्येण दक्षिणस्थां दिशि समुत्पद्यन्ते, नोत्तरस्थां, बहवश्च
कृष्णपाक्षिकाः, स्तोकाः शुक्लपाक्षिकाः, ततोऽच्युतकल्पदेवापे-
क्षया आरणकल्पे देवाः संख्येयगुणाः ९ । तेज्योऽपि प्राणत-
कल्पे देवाः संख्येयगुणाः १० । तेज्योऽप्यानतकल्पे देवाः सं-
ख्येयगुणाः, भावना आरणकल्पवत्कर्तव्या ११ । तेज्योऽधःस-
प्तमनरकपृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, श्रेण्यसंख्येयमा-
गगतननःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १२ । तेज्यः पृथ्वीव्यां
नैरयिका असंख्येयगुणाः, पतच्च प्रागेव दिगनुपातेन नैरयिका-
ल्पवदुत्वाचिन्तायां ज्ञावितम् १३ । तेज्योऽपि सहस्रारकल्पदेवा
असंख्येयगुणाः, पृथ्वीवर्धनैरयिकपरिणामहेतुश्रेण्यसंख्येयजा-
गापेक्षया सहस्रारकल्पदेवपरिणामहेतोः श्रेण्यसंख्येयजाग-
स्यासंख्येयगुणत्वात् १४ । तेज्यो महाशुक्ले कल्पे देवा असं-
ख्येयगुणाः, विमानवाहुल्यात् । तथाहि-पद्सहस्राणि विमा-
नानां सहस्रारकल्पे, चत्वारिंशत्सहस्राणि महाशुक्ले, अन्यच्च
अधोविमानवासिनो देवा बहुबहुतराः, स्तोकास्तोकातराभ्योप-
रितनोपरितनविमानवासिनः, ततः सहस्रारदेवेभ्यो महाशुक्ल-
कल्पे देवा असंख्येयगुणाः १५ । तेज्योऽपि पञ्चमयमप्रजाभि-
धाननरकपृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, बृहत्तमश्रेण्य-
संख्येयभागवर्तितनमःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १६ । तेज्योऽपि
छान्तके कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, अतिबृहत्तरश्रेण्यसंख्ये-
यभागगतनमःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १७ । तेज्योऽपि च-
तुर्थी पङ्कप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, युक्तिः
प्रागुक्तैव भावनीया १८ । तेज्योऽपि ब्रह्मलोके कल्पे देवा
असंख्येयगुणाः, युक्तिः प्रागुक्तैव १९ । तेज्योऽपि तृतीयस्यां
बालुकाप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकाः संख्येयगुणाः २० । ते-
ज्योऽपि माहेन्द्रकल्पे देवा असंख्येयगुणाः २१ । तेज्योऽपि सन-
त्कुमारकल्पे देवा असंख्येयगुणाः, युक्तिः सर्वत्रापि प्रागुक्तैव २२ ।
तेज्यो द्वितीयस्यां शर्कराप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगु-
णाः । एते च सप्तमपृथिवीनारकादयो द्वितीयपृथिवीनरकपर्य-
न्ताः प्रत्येकं स्वस्थाने चिन्त्यमानाः सर्वेऽपि घनीकृतश्लोकाश्रेण्य-
संख्येयभागवर्तितनमःप्रदेशराशिप्रमाणा द्रष्टव्याः, केवलं श्रेण्यसं-
ख्येयभागोऽसंख्येयभेदमिन्नः, तत इत्यमसंख्येयगुणतया अल्प-
बहुत्वमभिधीयमानं न विरुध्यति २३ । तेज्यो द्वितीयनरक-
पृथिवीनारकेभ्यः समूर्च्छिममनुष्या असंख्येयगुणाः, ते हि अङ्गु-
लमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः संबन्धिनि तृतीयवर्गमूलेन गुणिते प्र-
थमवर्गमूले यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणानि खण्डानि, या-
वन्त्येकस्यामेव प्रादेशिक्यां श्रेणौ भवन्ति तावत्प्रमाणाः २४ ।
तेभ्य ईशाने कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, यतोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रप्र-
देशराशेः संबन्धिनि द्वितीये वर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते
यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणास्तु घनीकृतस्य लोकस्यै-
कप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नमःप्रदेशास्तावत्प्रमाणा ईशा-
नकल्पगतो देवदेवः समुदायस्तत्तत्किञ्चिदूनद्वात्रिंशत्तमभागक-
ल्पा ईशानदेवाः, ततो देवाः समूर्च्छिममनुष्येभ्योऽसंख्येयगुणाः
२५ । तेज्य ईशानकल्पे देव्योऽसंख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुण-

त्वात् । “ वत्तीसगुणा वत्तीसरुवश्चाहियाओ हौति देवीओ ”
इति वचनात् २६ । ताज्यः सौधर्मकल्पे देवाः संख्येयगुणाः,
तत्र विमानवाहुल्यात् । तथाहि-तत्र द्वात्रिंशत्तमसहस्राणि
विमानानामष्टविंशतिशतसहस्राणि ईशाने कल्पे, अपि च-द-
क्षिणदिग्बर्ती सौधर्मकल्पः, ईशानकल्पस्तत्तरदिग्बर्ती, दक्षिण-
स्थां च दिशि बहवः कृष्णपाक्षिकाः समुत्पद्यन्ते । ततः ईशा-
नदेवेभ्यः सौधर्मदेवाः संख्येयगुणाः । नन्विदं युक्तिर्माहेन्द्रस-
नत्कुमारकल्पयोरप्युक्ता, परं तत्र माहेन्द्रकल्पापेक्षया सनत्कु-
मारकल्पदेवा असंख्येयगुणा उक्ताः, इह तु सौधर्मकल्पे सं-
ख्येयगुणाः तदेव तत्कथम् ? उच्यते-वचनप्रामाण्यात् । न चात्र
पाठत्रयः, यतोऽन्यत्राप्युक्तम्-“ ईसाणे सव्वत्थ वि, वत्तीस-
गुणा व हौति देवीओ । संखेज्जा सोहम्मे, तओ असंखा भवणवा-
सी ” ॥१॥ इति ॥२॥ तेज्योऽपि तस्मिन्नेव सौधर्मकल्पे देव्यः संख्ये-
यगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् । “ सव्वत्थ वि वत्तीसगुणाओ हौ-
ति देवीओ ” इति वचनात् २७ । ताज्योऽप्यसंख्येयगुणा
भवनवासिनः । कथम् ? इति चेत् । इह अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशरा-
शेः सम्वन्धिनि प्रथमे वर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते या-
वान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणानुर्धनीकृतस्य लोकस्य एक-
प्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नमःप्रदेशास्तावत्प्रमाणा भवनप-
तिदेवदेवीसमुदायः, तत्तत्किञ्चिदूनद्वात्रिंशद्भागकल्पाश्च भवन-
पतयो देवाः, ततो घटन्ते सौधर्मदेवीभ्यस्तेऽसंख्येयगुणाः २८ ।
तेज्यो भवनवासिनो देव्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् २९ ।
ताज्योऽप्यस्यां रत्नप्रजायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः,
अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः सम्वन्धिनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन
वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणानु श्रेणिषु
यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् ३० । तेज्योऽपि ख-
चरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः पुरुषा असंख्येयगुणाः, प्रतराऽसंख्य-
यभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगतप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ३१ । ते-
ज्योऽपि खचरपञ्चेन्द्रियास्तिर्यग्योनिकाः स्त्रियः संख्येयगुणाः,
त्रिगुणत्वात् । “ तिगुणा तिरुवश्चाहिया, तिरियाणं इत्थिया
मुणयव्वा ” इति वचनात् ३२ । ताज्यः स्थलचरपञ्चेन्द्रियास्ति-
र्यग्योनिकाः पुरुषाः संख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरासंख्येयभागव-
र्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ३३ । तेज्यः स्थ-
लचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः स्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात्
३४ । ताज्यो जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः पुरुषाः संख्ये-
यगुणाः, बृहत्तमप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्र-
देशराशिप्रमाणत्वात् ३५ । तेज्यो जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्यो-
निकाः स्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् ३६ । ताज्यो व्यन्तरा-
देवाः पुंवेदोदयिनः संख्येयगुणाः, यतः संख्येययोजनकोट्य-
कोटिप्रमाणानि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे
भवन्ति तावन्तः सामान्येन व्यन्तराः, केवलमिह पुरुषा विव-
क्षिता इति सकलसमुदायापेक्षया किञ्चिदूनद्वात्रिंशत्तमभा-
गकल्पा वेदितव्याः । ततो घटन्ते जलचरयुवतिज्यः संख्येयगुणाः
३७ । तेज्यो व्यन्तर्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ३८ ।
ताज्यो ज्योतिष्कदेवाः संख्येयगुणाः, ते हि सामान्यतः पदपञ्चा-
शदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणानि सूचीरूपाणि खण्डानि याव-
न्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणाः ; परमिह पुरुषा विव-
क्षिता इति ते सकलसमुदायापेक्षया किञ्चिदूनद्वात्रिंशत्तमभा-
गकल्पाः प्रतिपत्तव्याः, तत उपपद्यन्ते व्यन्तरीज्यः संख्येयगु-
णाः ४० । तेज्यो ज्योतिष्कदेव्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुण-
त्वात् ४१ । ताज्यः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका नपुंसकाः

पे देवा संखेज्जगुणा, पाणए कप्पे देवा संखेज्जगुणा, आणए कप्पे देवा संखेज्जगुणा; अहेसत्तमाए पुढवीए ऐरइया असंखेज्जगुणा, ठट्ठीए तमाए पुढवीए नेरइया अमं०, सहस्सारे कप्पे देवा असंखिज्जगुणा, महासुके कप्पे देवा असंखिज्जगुणा, पंचमाए धूमप्पभाए पुढवीए ऐरइया असं०, लंतए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा; चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, वंभळोए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा, तच्चाए बालुयप्पजाए पुढवीए ऐरइया असंखेज्जगुणा, माहिंदे देवा असंखेज्जगुणा, सणकुमारे कप्पे देवा असंखेज्जगुणा; दोच्चाए सक्करप्पभाए पुढवीए ऐरइया असं०, संमुच्चिममणुस्सा असंखेज्ज०, ईसाणे कप्पे देवा अमं०, ईसाणे कप्पे देवीओ संखे०, सोहम्मे कप्पे देवा संखेज्ज०, सोहम्मे कप्पे देवीओ संखेज्जगुणाओ, जवणवासीदेवा असंखेज्जगुणा, जवणवासिणीओ देवीओ संखिज्जगुणाओ, इमी से रयणप्पजाए पुढवीए ऐरइया असंखिज्जगुणा, खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा, खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ संखिज्जगुणाओ, थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा, थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ संखिज्जगुणाओ, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा संखेज्जगुणा, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ संखिज्जगुणाओ, बाणमंतरा देवा संखेज्जगुणा, बाणमंतरीओ देवीओ संखेज्ज०, जोइसिया देवा संखेज्जगुणा, जोइसिणीओ देवीओ संखिज्जगुणाओ, खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया नपुंसया संखेज्ज०, थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया नपुंसया संखेज्ज०, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया नपुंसया संखे०, चठरिंदिया पज्जत्तया संखेज्ज०, पंचिंदिया पज्जत्ता विसेसाहिया, वेइंदिया पज्जत्ता विसे०, पंचिंदिया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, चठरिंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया, तेइंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया, वेइंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया, पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, वादरनिगोदा पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, वादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, वादरआउकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, वादरवाउकाइया पज्जत्तगा असंखिज्जगुणा, वादरतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखिज्जगुणा, वादरनिगोदा अपज्जत्तया संखिज्जगुणा, वादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, वादरआउकाइया अपज्जत्तगा असंखिज्जगुणा, वादरवाउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमपुढवि-

काइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया; सुहुमआउकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमतेउकाइया पज्जत्तगा असंखिज्ज०, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा अपज्जत्ता असंखे०, सुहुमणिगोदा पज्जत्तया संखिज्जगुणा, अजवसिद्धिया अणंतगुणा, पडिवत्तियसम्मदिट्ठी अणंतगुणा, सिद्धा अणंतगुणा; वादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा अणंतगुणा, वादरपज्जत्ता विसेसाहिया, वादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, वादरअपज्जत्तया विसेसाहिया, वादरा विसेसाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमा अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तया संखेज्ज०, सुहुमपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमा विसेसाहिया, जवसिद्धिया विसेसाहिया, निगोदा जीवा विसेसाहिया, वणस्सइजीवा विसेसाहिया, एगिंदिया विसेसाहिया, तिरिक्खजोणिया विसेसाहिया, मच्छदिट्ठी विसेसाहिया, अविरया विसेसाहिया, छउमत्तया विसेसाहिया, सजोगी विसेसाहिया, संसारत्तया विसेसाहिया, सव्वजीवा विसेसाहिया ॥

इदानीं महादण्डकं विवक्षुर्गुरुमापुच्छति—(अहं मेते ! इत्यादि) अथ जदन्त । सर्वजीवास्तपवदुत्वं सर्वजीवान्तपवदुत्वं वक्तव्यतात्मकं महादण्डकं वर्तयिष्यामि, रत्नयिष्यामीति तात्पर्यार्थः । अनेन एतत् ज्ञापयति—तीर्थकारानुज्ञामात्रापेक्ष एव भगवान् गणधरः सूत्ररचनां प्रति प्रवर्तते, न पुनः श्रुताभ्यासपुरस्सरमिति । यद्वैतज्ञापयति—कुशलेऽपि कर्मणि विनेयेन गुरुमनापुच्छन् न प्रवर्तितव्यं, किन्तु तदनुज्ञापुरस्सरम्, अन्यथा विनेयत्वायोगात् । विनेयस्य हि लक्षणमिदम्—“गुरोर्निवेदितात्मा यो, गुरुमावाजुवर्तकः । मुक्त्यर्थे चेष्टते नित्यं, स विनेयः प्रकीर्तितः” ॥ १ ॥ गुरुरपि यः प्रच्छनीयः स एवं रूपः—“धर्मज्ञो धर्मकर्ता च, सदा धर्मप्रवर्तकः । सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ-देशको गुरुव्यते” ॥ १ ॥ इति । महादण्डकं वर्तयिष्यामीत्युक्तम् । ततः प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—(सव्वत्थोवा गम्भवकत्तियमणुस्सेत्यादि) सर्वस्वोका गम्भव्युत्क्रान्तिका मनुष्याः, संख्येयकोटीकोटिप्रमाणत्वात् १ । तेभ्यो मानुष्यो मनुजस्त्रियः—संख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात् । उक्तं च—“सत्तावीसगुणा पुण, मणुष्याणं तदहिया चेव” इति २ । ताभ्यो वादरतैजस्कायिकाः पर्याप्ता संख्येयगुणाः, कतिपयवर्गन्यूनावलिकाघनसमयप्रमाणत्वात् ३ । तेभ्योऽनुत्तरोपपातितो देवा असंख्येयगुणाः, क्षेत्रपद्व्योपमासंख्येयभागवर्तिनमःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ४ । तेभ्य उपरितनग्नैवेयकत्रिकदेवाः संख्येयगुणाः, बृहत्तरक्षेत्रपद्व्योपमानसंख्येयभागवर्तिनमःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । एतदपि कथञ्चन संख्येयम्, इति चेत् । उच्यते—विमानवाहुल्यात् । तथाहि—अनुत्तरदेवानां पञ्च विमानानि विमानशतं त्परितनग्नैवेयकत्रिकदेवानां प्रतिविमानं वाऽसंख्येया देवा यथा यथा चाधोवर्तीनि विमानानि तथा तथा देवा अपि प्राञ्चुर्येण ब्रह्मन्ते, ततोऽवसीयते—अनुत्तरोपपातिदेवेभ्यो बृहत्तरक्षेत्रपद्व्योपमासंख्येयभागवर्त्योकाशप्रदेशराशिप्रमाण उपरितनग्नैवेयकत्रिकदेवाः । एवमुत्तरत्र ५पि प्रावना

यामपि मिलितानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । अभव्याश्च युक्तान्तकसंख्यामात्रपरिमाणास्ततो प्रव्यापेक्षया ते किञ्चिन्मात्रा भव्याश्च प्रागभ्यपरिहारेण चिन्तिताः । इदानीं तु बादरसूक्ष्मनिगोदचिन्तायां तेऽपि प्रक्षिप्यन्त इति विशेषाधिकाः, प्रत्येकशरीरिणामपि धनस्पतिजीवा विशेषाधिकाः, प्रत्येकशरीरिणामपि धनस्पतिजीवानां तत्र प्रक्षेपात् ८९ । तेज्यः सामान्यतो धनस्पतिजीवा विशेषाधिकाः, प्रत्येकशरीरिणामपि धनस्पतिजीवानां तत्र प्रक्षेपात् ८९ । तेज्यः सामान्यत एकेन्द्रिया विशेषाधिकाः, बादरसूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९० । तेज्यः सामान्यतस्तिर्यग्योनिकाः विशेषाधिकाः, पर्याप्तापर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामपि तत्र प्रक्षेपात् ९१ । तेज्यश्चतुर्गतिभाविनो मिथ्यादृष्टयो विशेषाधिकाः, इह कतिपयाविरतसम्यग्दृष्ट्यादिसंज्ञिव्यतिरेकेण शेषाः सर्वेऽपि तिर्यञ्चो मिथ्यादृष्टिचिन्तायां चासंख्येयनारकादयस्तत्र प्रक्षिप्यन्ते । ततस्तिर्यग्जीवराश्यपेक्षया चतुर्गतिका मिथ्यादृष्टयश्चिन्त्यमाना विशेषाधिकाः ९२ । तेभ्योऽप्यविरता विशेषाधिकाः, अविरतिसम्यग्दृष्टीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९३ । तेभ्यः सकषायिणो विशेषाधिकाः, देशविरतादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९४ । तेभ्यश्चक्षुषा विशेषाधिकाः, उपशान्तमोहादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९५ । तेज्यः सयोगिनो विशेषाधिकाः, सयोगिकेवल्लिनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९६ । तेभ्यः संसारस्था विशेषाधिकाः, अयोगिकेवल्लिनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९७ । तेभ्यः सर्वजीवा विशेषाधिकाः, सिद्धानामपि तत्र प्रक्षेपात् ९८ । गतं महादएकद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । पं० सं० ।

(२५) [योगद्वारम्] चतुर्दशविधस्य संसारसमापन्नजीवस्य योगानामल्पबहुत्वम्—

एषसि खं भंते ! चउइसविहाणं संसारसमावसगाणं जीवाणं जहएणुकोसगस्स जोगस्स कयरे कयरेहि तो जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमस्स अपज्जत्तगस्स जहएणए जोए ? , बादरस्स अपज्जत्तगस्स जहएणए जोए असंखेज्जगुणे २ , वेइंदियस्स अपज्जत्तगस्स जहएणए जोए असंखे० ३ , एवं तेइंदियस्स ४ , एवं चउरिंदियस्स ५ , असएणपंचिंदियस्स अपज्जत्तगस्स जहएणए जोए असंखेज्जगुणे ६ , सएणपंचिंदियस्स अपज्जत्तगस्स जहएणए जोए असंखे० ७ , सुहुमपज्जत्तगस्स जहएणए जोए असंखेज्जगुणे ८ , बादरस्स पज्जत्तगस्स जहएणए जोए असंखेज्जगुणे ९ , सुहुमस्स अपज्जत्तगस्स उकोसए जोए असंखेज्जगुणे १० , बादरस्स अपज्जत्तगस्स उकोमए जोए असंखे० ११ , सुहुमस्स पज्जत्तगस्स उकोसए जोए असंखे० १२ , बादरस्स पज्जत्तगस्स उकोसए जोए असंखे० १३ , वेइंदियस्स पज्जत्तगस्स जहएणए जोए असंखे० १४ , एवं तेइंदियस्स वि १५ , एवं जाव सप्पिपंचिंदियस्स पज्जत्तगस्स जहएणए जोए असंखे० १६ , वेइंदियस्स अपज्जत्तगस्स उकोसए जोए असंखे० १७ , एवं तेइंदियस्स वि १८ , एवं चउरिंदियस्स वि १९ , एवं जाव सप्पिपंचिंदियस्स अपज्जत्तगस्स उकोसए जोए असंखे० २० , वेइंदियस्स पज्जत्तगस्स उकोसए जोए असंखे० २१ , वेइंदियस्स पज्जत्तगस्स उकोसए जोए असंखे० २२ , एवं तेइंदियस्स वि २३ , एवं जाव सप्पिपंचिंदियस्स पज्जत्तगस्स उकोसए जोए असंखेज्जगुणे २४ ।

(जहणुकोसगस्सं जोगस्स त्ति) जघन्यो निरुद्धः काश्चिद्व्यक्तिमाश्रित्य स एव च व्यक्त्यन्तरापेक्षयात्कर्ष उल्लेखो जघन्योत्कर्षः, तस्य योगस्य वीर्यान्तगयक्षयोपशमादिसमुत्थकायादिपरिस्पन्दस्य एतस्य च योगस्य चतुर्दशजीवस्थानसम्बन्धाज्जघन्योत्कर्षप्रेक्षाद्याष्टविंशतिविधस्याल्पत्वबहुत्वादि—जीवस्थानकविशेषाद्भवति, तत्र (सव्वत्थोवेत्यादि) सूक्ष्मस्य पृथिव्यादेः सूक्ष्मत्वाच्चरीरस्य तस्याप्यपर्याप्तकत्वेनासम्पूर्णत्वाच्चत्रापि जघन्यस्य विवक्षितत्वात्सर्वेभ्यो यो वक्ष्यमाणेभ्यो योगेभ्यः सकाशात् स्तोकाः सर्वस्तोको भवति, जघन्यो योगः स पुनर्वैग्रहिकार्मणौदारिकपुरुषग्रहणप्रथमसमयवर्त्ता, तदनन्तरञ्च समयवृत्त्याऽजघन्योत्कृष्टो यावत्सर्वोत्कृष्टो न भवति । (वायुस्सेत्यादि) बादरजीवस्य पृथिव्यादेरपर्याप्तकजीवस्य जघन्यो योगः पूर्वाकापेक्षयाऽसङ्ख्यान्गुणोऽसंख्यातगुणवृद्धो बादरत्वादेवेति । एवमुत्तरत्राप्यसंख्यातगुणत्वं दृश्यम् । इह च यद्यपि पर्याप्तकत्रीन्द्रियोत्कृष्टकायापेक्षया पर्याप्तकानां द्वीन्द्रियाणां सङ्ज्ञिनामसाङ्ज्ञिनां च पञ्चेन्द्रियाणामुत्कृष्टः कायः संख्यातगुणो भवति, संख्यातयोजनप्रमाणात्वात्, तथापीह योगस्य परिस्पन्दस्य विवक्षितत्वात्तस्य च क्षयोपशमविशेषसामर्थ्याद्यथोक्तमसंख्यातगुणत्वं न विरुध्यते, न ह्यल्पकायस्याल्प एव रूपन्दो भवति, महाकायस्य वा महानेव, व्यत्ययेनापि तस्य दर्शनादिति । अ० २५ श० १ उ० ।

एतस्यैव योगाल्पबहुत्यस्य व्याख्यायिका गाथा—

सुहुमनिगोयाइखण—ऽपज्जोगवायरविगलअसएणमणा ।

अपज्ज लहुपढमहुगुरु, पजह स्सियरो असंखगुणो ॥१३॥

तत्र सूक्ष्मनिगोदस्य सूक्ष्मसाधारणस्य लब्धपर्याप्तकस्य सर्वजघन्यवीर्यस्येति च सामर्थ्याद् दृश्यम् । तस्यैव सर्वजघन्ययोगस्य प्राप्यमाणत्वादिक्रणः प्रथमोत्पत्तिसमयः सूक्ष्मनिगोदादिक्रणः, तत्र सप्तम्येकवचनलोपश्च प्राकृतत्वात् । किम् ? इत्याह—(अपज्जोग त्ति) अल्पः सर्वस्तोको योगो वीर्यं, व्यापार इति यावत् । ततो बादरस्य (विगल त्ति) विकलस्य । (असएण त्ति) असाङ्गिनः ' अपज्ज त्ति ' प्रत्येकं संबन्धात्सूक्ष्मनिगोदबादरलक्षणस्य गुरुत्कृष्टो योगो संख्येयगुणो वाच्यः । ततः प्रथमादिकस्य (पज्जहस्सियरो असंखगुण त्ति) पर्याप्तस्य हस्त्वो जघन्य इतर उल्लेखयोगो यथाक्रममसंख्येयगुणो वाच्य इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वम्—सूक्ष्मनिगोदस्य लब्धपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगः सर्वस्तोकाः १ । ततो बादरैकेन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २ । ततो द्वीन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः ३ । ततश्चोन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः ४ । ततश्चतुरिन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः ५ । ततोऽसंक्षिपञ्चेन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः ६ । ततः संक्षिपञ्चेन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः ७ । ततः सूक्ष्मनिगोदस्य लब्धपर्याप्तस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ८ । ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः ११ । ततः सूक्ष्मनिगोदस्य पर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १२ । ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १३ ॥

असमत्ततमुक्तिद्वो, पज्जहविपर एव विट्ठाणा ।

संख्येयगुणाः। कचिन् 'असंख्येयगुणाः, इति पात्रः; स न ममी-
चीनः, यन इत ऊर्चये पथानचतुरिन्द्रिया वदयन्ते तेऽपि ज्यो-
तिष्कदेवापेक्षया संख्येयगुणा एवोपपद्यन्ते । तथाहि-पदपञ्चा-
शदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणानि सूचीरूपाणि रागरागिण्यवन्त्ये-
कस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा ज्योतिष्काः । उक्तं च-“उप-
पन्नसंख्येयगुणसङ्ख्येयगुणोऽसंख्येयगुणः” इति ।
अङ्गुलसंख्येयगुणानामात्राणि च सूचीरूपाणि रागरागिण्यवन्त्येक-
स्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणाऽधुनैरिन्द्रिया-। उक्तं च-“पञ्चता-
पञ्चता-यित्ति चरु असिधियां अयदरंति । अंगुलसंख्याऽसंख्येय-
पदमन्त्रं पुढोपयत्” । अङ्गुलसंख्येयगुणापेक्षया पदपञ्चाशद-
धिकमङ्गुलशतद्वयं सङ्ख्येयगुणं, ततो ज्योतिष्कदेवापेक्षया परि-
भाष्यमानाः पर्याप्तचतुरिन्द्रिया अपि सङ्ख्येयगुणा एव घटन्ते,
किं पुनः पर्याप्तचतुरिन्द्रियापेक्षया सङ्ख्येयभागमात्रसंख्येय-
न्द्रियपुंसका इति ४२ । तेभ्योऽपि स्थलचरपञ्चेन्द्रियपुं-
सकाः संख्येयगुणाः ४३ । तेभ्योऽपि जलचरपञ्चेन्द्रियपुं-
सकाः संख्येयगुणाः ४४ । तेभ्योऽपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियाः संख्ये-
यगुणाः ४५ । तेभ्योऽपि पर्याप्ताः संख्येयसङ्ख्येयगुणाः पञ्चे-
न्द्रिया विशेषाधिकाः ४६ । तेभ्योऽपि पर्याप्ता द्वान्द्रिया वि-
शेषाधिकाः ४७ । तेभ्योऽपि पर्याप्तत्रान्द्रिया विशेषाधिकाः
४८ । यद्यपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियादीनां पर्याप्तत्रान्द्रियपर्यन्तानां
प्रत्येकमङ्गुलासंख्येयगुणानामात्राणि सूचीरूपाणि रागरागिण्यव-
न्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणान्यवशिष्टेष्वन्यत्र यथेते,
तथाऽङ्गुलासंख्येयगुणस्य संख्येयभेदभित्त्वादिस्थं विशेषाधि-
क्यमुच्यमानं न शिक्छम् । उक्तं चेत्यप्यवश्यमुच्यमानाणि-“तत्रो-
नपुंसकसङ्ख्येयसंख्या भवत्यत्र जलचरपुंसका चतुरिन्द्रिया तत्रो-
पपञ्चानि पञ्चता किंचिद्व्यति” ४८ । तेभ्योऽपि पर्याप्तत्रान्द्रिय-
भ्याऽपर्याप्ताः पञ्चेन्द्रिया असंख्येयगुणाः, अङ्गुलासंख्येयगुण-
ानामात्राणि रागरागिण्यवन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमा-
णा ४९ । तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधि-
का ५० । तेभ्योऽपि त्रान्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ५१ । तेभ्यो
द्वान्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, यद्यपि चापर्याप्ताधुनैरिन्द्रि-
याद्वयोऽपर्याप्तद्वान्द्रियपर्यन्ताः प्रत्येकमङ्गुलसंख्येयगुणानामात्रा-
णि रागरागिण्यवन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमा-
णा अन्यत्राविशेषणाः, तथाऽङ्गुलासंख्येयगुणस्य विचित्र-
त्वादित्थं विशेषाधिक्यमुच्यमानं न विरोधमास्फन्दति ५२ ।
तेभ्योऽपि द्वान्द्रिया र्यासंख्येयः प्रत्येकवाद्भवनस्पतिकायिकाः
पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, यद्यपि चापर्याप्तद्वान्द्रियादित्थं पर्या-
प्तवाद्भवनस्पतिकायिका अप्यङ्गुलासंख्येयगुणानामात्राणि सूचीरू-
पाणि रागरागिण्यवन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा अ-
न्यत्रोक्ताः, तथाऽङ्गुलासंख्येयगुणस्य संख्येयभेदभित्त्वादित्थमसं-
ख्येयगुणत्वपरिमाणान्तराणामङ्गुलासंख्येयगुणानामात्राणो-
ऽसंख्येयगुणहीनः परिगृह्यते, ततो न कश्चिद्विरोधः ५३ । ते-
भ्यो वाद्भवनगोदा अनन्तकायिकशरीररूपाः पर्याप्ता असंख्ये-
यगुणाः ५४ । तेभ्योऽपि वाद्भवनपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता असं-
ख्येयगुणाः ५५ । तेभ्योऽपि पर्याप्तवाद्भवनकायिका असंख्येय-
गुणाः, यद्यपि च पर्याप्तवाद्भवनस्पतिकायिकाऽप्यकायि-
काः प्रत्येकमङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि सूचीरूपाणि रागरागिण्यव-
न्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा अन्यत्राविशेषेणो-
क्ताः, तथाऽङ्गुलासंख्येयगुणस्य संख्येयभेदभित्त्वादित्थमसं-
ख्येयगुणत्वपरिमाणान्तराणामङ्गुलासंख्येयगुणानामात्राणो-
ऽसंख्येयगुणहीनः परिगृह्यते, ततो न कश्चिद्विरोधः ५६ । तेभ्यो वाद्भवन-

पर्याप्तकायिकेभ्यो वाद्भवनपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः,
यनोक्तलोकासंख्येयगुणसंख्येयप्रतरगतनजाः प्रदेशराशि-
प्रमाणत्वात् ५७ । तेभ्यो वाद्भवनजलकायिका अपर्याप्ता असं-
ख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ५८ ।
तेभ्यः प्रत्येकशरीरवाद्भवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्ये-
यगुणाः ५९ । तेभ्योऽपि वाद्भवनगोदा अपर्याप्ता असंख्येय-
गुणाः ६० । तेभ्यो वाद्भवनपृथिवीकायिका अपर्याप्ता असंख्ये-
यगुणाः ६१ । तेभ्यो वाद्भवनकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः
६२ । तेभ्यो वाद्भवनपृथिवीकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ६३ ।
तेभ्यः सूक्ष्मजलकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ६४ ।
तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ६५ ।
तेभ्यः सूक्ष्मकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ६६ । तेभ्यः
सूक्ष्मवायुकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ६७ । तेभ्यः सूक्ष्म-
जलकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, अपर्याप्तसूक्ष्मेभ्यः
पर्याप्तसूक्ष्माणो स्वभावत एव प्राचुर्येण भावात् । तथा चाह
अस्यामेव प्रज्ञापनायां संप्रहणीकारः-“जायानमपञ्चता, बहु-
तरगा वायराण विज्ञेया । सुदुमाण य पञ्चता, ओदेण य केव-
ली चिति” । ६८ । तेभ्योऽपि सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता
विशेषाधिकाः ६९ । तेभ्योऽपि सूक्ष्मकायिकाः पर्याप्ता विज्ञे-
याधिकाः ७० । तेभ्योऽपि सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्ता विज्ञे-
याधिकाः ७१ । तेभ्योऽपि सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता असंख्येय-
गुणाः ७२ । तेभ्योऽपि पर्याप्ताः सूक्ष्मनिगोदाः संख्येयगुणाः,
यद्यपि च पर्याप्तजलकायिकादयः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदपर्यन्ता
अविशेषेणान्यथाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा उक्ताः,
तथाऽपि लोकासंख्येयत्वात्सांख्येयभेदभित्त्वादित्थमप्य-
वश्यमुच्यमानमुपपन्नं प्रपञ्चम् ७३ । तेभ्योऽमवसि-
द्धिका अनन्तगुणाः, जघन्ययुक्तानन्तकप्रमाणत्वात् ७४ ।
तेभ्यः प्रतिपतितसम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणाः ७५ । तेभ्यः सिद्धा
अनन्तगुणाः ७६ । तेभ्योऽपि वाद्भवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता
अनन्तगुणाः ७७ । तेभ्योऽपि सामान्यतो वाद्भवनपर्याप्ता विज्ञे-
याधिकाः, वाद्भवनपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ।
७८ । तेभ्यो वाद्भवनपर्याप्तनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, ए-
कैकवाद्भवनगोदपर्याप्तनिध्यासंख्येयगुणानां वाद्भवनपर्याप्तनिगो-
दानां संभवात् ७९ । तेभ्यः सामान्यतो वाद्भवनपर्याप्ता विज्ञेया-
धिकाः, वाद्भवनपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ८० ।
तेभ्यः सामान्यतो वाद्भवन विज्ञेयाधिकाः, पर्याप्तपर्याप्तानां तत्र
प्रक्षेपात् ८१ । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असं-
ख्येयगुणाः ८२ । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्ता विज्ञेया-
धिकाः, सूक्ष्माऽपर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्
८३ । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः,
पर्याप्तसूक्ष्माणामपर्याप्तसूक्ष्मेभ्यः स्वभावतः सदैव संख्येय-
गुणतया प्राप्यमाणत्वात्, तथा केवलवेदसांऽनुपलब्धेः ८४ ।
तेभ्योऽपि सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विज्ञेयाधिकाः, पर्याप्त-
सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ८५ । तेभ्यः
पर्याप्ताऽपर्याप्तविज्ञेयपरिहृताः सूक्ष्मा विज्ञेयाधिकाः, अप-
र्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ८६ । तेभ्योऽपि मवसिद्धिका 'भवे सिद्धिर्येषां ते भव-
सिद्धिकाः' भव्या विशेषाधिकाः, जघन्ययुक्तानन्तकमात्राभ्य-
परिहारेण सर्वजीवानां भव्यत्वात् ८७ । तेभ्यः सामान्यतो नि-
गोदजीवा विज्ञेयाधिकाः, इह भव्याभ्यव्याप्तिप्राचुर्येण
वाद्भवनसूक्ष्मनिगोदजीवराशावेव प्राप्यन्ते, नान्यत्र, इत्येषां सर्वे-

यसरीरस्स जहएणए जोए असंखेज्जगुणे ५, कम्मग-
सरीरस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ६, आहारग-
मीसगस्स जहएणए जोगे असंखेज्जगुणे ७, आहा-
रगमीसगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ८, ओराद्धि-
यमीसगस्स वेउव्वियमीसगस्स । एएसि एं उक्कोसए
जोए दोएह वि तुद्धे असंखेज्जगुणे ९, असच्चापोस-
मणजोगस्स जहएणए जोए असंखेज्जगुणे १०, आ-
हारगस्स सरीरस्स जहएणए जोए असंखेज्जगुणे ११,
तिविहस्स मणयोगस्स चउव्विहस्स वइजोगस्स एएसि
एं सत्तएह वि तुद्धे जहएणए जोए असंखेज्जगुणे १२,
आहारगसरीरस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १३,
ओराद्धियसरीरस्स वेउव्वियसरीरस्स चउव्विहस्स य म-
णजोगस्स चउव्विहस्स य वइजोगस्स । एएसि एं दस-
एह वि तुद्धे उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १४ ।

टीका सुगमा । भ० २५ श० १ उ० ।

मनोयोग्यादीनामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं जंते ! जीवाणं सजोगीणं मणजोगीणं वय-
जोगीणं कायजोगीणं अजोगीणं य कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गो-
यमा ! सब्बत्थोवा जीवा मणजोगी, वयजोगी असंखे-
ज्जगुणा, अजोगी अणंतगुणा, कायजोगी अणंतगुणा,
सजोगी विसेसाहिया ।

सर्वस्तोका मनोयोगिनः, संख्यसंज्ञिपर्याप्ता एव हि मनोयोगि-
नः, ते च स्तोका इति; तेभ्यो वाग्योगिनोऽसंख्येयगुणाः, द्वीन्द्रि-
यादीनां वाग्योगिनां संज्ञिभ्योऽसंख्यातगुणत्वात् । तेभ्योऽयोगि-
नोऽनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः काययोगिनोऽनन्ताः,
धनस्पतीनामनन्तत्वात् । यद्यपि निगोदजीवानामनन्तानामेकं
शरीरं तथापि तेनैकेन शरीरेण सर्वेऽप्याहारादिग्रहणं कुर्वन्ती-
ति सर्वेषामपि काययोगित्वान्नानन्तगुणत्वव्याघातः । तेभ्यः
सामान्यतः सयोगिनो विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियादीनामपि वाग्यो-
ग्यादीनां तत्र प्रक्षेपात् । गतं योगचारम् । प्रज्ञा० ३ पद । कर्म०
जी० । ५० सं० ।

(२६) [येनिद्वारम्] शीतादियोनिकानाम्-

एतेसि एं भंते ! जीवाणं सीतजोणियाणं उसिणजोणियाणं
सीतोसिणजोणियाणं अजोणियाणं य कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सब्बत्थोवा जीवा सीतोसिणजो-
णिया, उसिणजोणिया असंखेज्जगुणा, अजोणिया अणंत-
गुणा, सीतजोणिया अणंतगुणा ।

अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाः शीतोष्णयोनयः शीतोष्णो-
न्नययोनिकाः, प्रवनवासिगर्भजतिर्यक्पञ्चेन्द्रियगर्भजमनुष्य-
व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानामेवोन्नययोनिकत्वात् । तेभ्योऽसं-
ख्येयगुणा उष्णयोनिकाः, सर्वेषां सूक्ष्मवादरमेदमिन्नानां तैज-
स्कायिकानां प्रभूततराणां नैरयिकाणां कतिपयानां पृथिव्यन्वा-
युप्रत्येकवनस्पतीनां बोधयोनिकत्वात् । अयोनिका अनन्तगुणाः

सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः शीतयोनिका अनन्तगुणाः, अनन्त-
कायिकानां सर्वेषामपि शीतयोनिकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् ।

सचित्ताचित्तमिश्रयोनिकानाम्-

एतेसि एं जंते ! जीवाणं सचित्तजोणीणं अचित्तजो-
णीणं मीसजोणीणं अजोणीणं य कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सब्बत्थोवा जीवा मीसजोणि-
या, अचित्तजोणिया असंखेज्जगुणा, अजोणिया अणंत-
गुणा, सचित्तजोणिया अणंतगुणा ।

अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोका जीवा मिश्रयोनिकाः, गर्भव्यु-
त्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामेव मिश्रयोनिकत्वात् । ते-
भ्योऽचित्तयोनिका असंख्येयगुणाः, नैरयिकदेवानां कतिपयानां च
प्रत्येकं पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियसंभू-
त्विमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंभूत्विममनुष्याणामचित्तयोनिकत्वात् ।
तेभ्योऽप्ययोनिका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । ते-
भ्यः सचित्तयोनिका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानां सचित्तयो-
निकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् ।

संवृतविवृतयोनिकानाम्-

एतेसि एं जंते ! जीवाणं संवुरुजोणियाणं वियुरुजोणियाणं
य संवुरुवियुरुजोणियाणं अजोणियाणं य कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सब्बत्थोवा संवुरुवियुरुजोणिया,
वियुरुजोणिया असंखेज्जगुणा, अजोणिया अणंतगुणा,
संवुरुजोणिया अणंतगुणा ।

अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाः संवृतविवृतयोनिकाः, गर्भव्यु-
त्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामेव संवृतविवृतयोनिकत्वा-
त् । तेभ्यो विवृतयोनिकाः संख्येयगुणाः, द्वीन्द्रियादीनां चतुरिन्द्रि-
यपर्यवसानानां संभूत्विमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंभूत्विममनुष्याणां
च विवृतयोनिकत्वात् । तेभ्योऽयोनिका अनन्तगुणाः, सिद्धानाम-
नन्तत्वात् । तेभ्यः संवृतयोनिका अनन्तगुणाः, धनस्पतीनां संवृ-
तयोनिकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । प्रज्ञा० ८ पद ।

(२७) [भेइयाद्वारम्] सलेइयानामल्पबहुत्वम्-

तत्र सलेइयाऽलेइयानामल्पबहुत्वचिन्तायाम्- "सब्बत्थोवा
अलेस्सा, सलेस्सा अणंतगुणा" जी० १ प्रति० ।

सम्प्रति सलेइयादीनामष्टानामल्पबहुत्वमाह-

एएसि एं भंते ! जीवाणं सलेसाणं किएहलेसाणं नील-
लेसाणं काउलेसाणं तेउलेसाणं पम्हलेसाणं मुकलेसाणं
अलेसाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा !
सब्बत्थोवा जीवा मुकलेस्सा, पम्हलेस्सा संखेज्जगुणा, तेउ-
लेस्सा संखेज्ज०, अलेस्सा अणंतगुणा, काउलेस्सा अणंत-
गुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, किएहलेस्सा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः शुक्लेश्याः, लान्तकादिष्वेवानुत्तरपर्यवसानेषु
वैमानिकेषु देवेषु कतिपयेषु च गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु कर्मभूमिकेषु
संख्येयवर्षायुष्केषु मनुष्येषु तिर्यक्क्षीपुनपुंसकेषु कतिपयेषु सं-
ख्येयवर्षायुष्केषु तस्याः संज्ञवात् । तेभ्यः पद्मलेश्याकाः संख्येय-
गुणाः, सा हि सनत्कुमारमादेन्द्रब्रह्मलोककल्पवासिषु देवेषु
तथा प्रभूतेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु कर्मभूमिकेषु संख्येयवर्षायुष्के-

अपनेयर संखगुणा, परमपञ्चविं असंखगुणा ॥५४॥

असनात्ता अपर्याप्तस्ते च ते त्रसात्त द्वीन्द्रियादयोऽसमाप्त-
साः, अपर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः, संख्यसंक्षिपञ्चेन्द्रियास्तेषामु-
क्तयोऽसमाप्तसंख्येयगुणो वाच्यः । अयमयोः पर्याप्तवा-
दरैकेन्द्रियोत्कृष्टयोगाद् द्वीन्द्रियस्य लक्ष्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो यो-
गोऽसंख्येयगुणः १४ । ततस्त्रीन्द्रियस्य लक्ष्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो
योगोऽसंख्येयगुणः १५ । ततश्चतुरिन्द्रियस्य लक्ष्यपर्याप्तक-
स्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १६ । ततोऽसंक्षिपञ्चेन्द्रियस्य ल-
क्ष्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १७ । ततः संक्षिप-
ञ्चेन्द्रियस्य लक्ष्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १८ ।
(पञ्चजडं चि) ततस्त्रसानां पर्याप्तानां जघन्यो योगोऽसंख्ये-
यगुणो वाच्यः १९ । ततोऽविश्यर (चि) त्रसानां पर्याप्तानामुत्कृष्टो
योगोऽसंख्येयगुणो वाच्यः २० । इत्यङ्गराधेः । जावार्यस्त्वयम-
ततः संक्षिपञ्चेन्द्रियस्य लक्ष्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टयोगात्पर्याप्तद्वीन्द्रिय-
स्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २१ । ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य
जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २२ । ततश्चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य
जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २३ । ततोऽसंक्षिपञ्चेन्द्रियस्य पर्या-
प्तकस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २४ । ततः संक्षिपञ्चेन्द्रियस्य
पर्याप्तस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २५ । ततः पर्याप्तद्वीन्द्रि-
यस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २६ । ततः पर्याप्तत्रिन्द्रियस्यो-
त्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २७ । ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृ-
ष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २८ । ततः पर्याप्तसंख्युत्कृष्टयोगादनुत्त-
रोपपातिनामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २९ । ततो प्रवेयकदेवा-
नामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३० । ततो भागभूमिजानां तिर्य-
क्षमनुप्याणामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३१ । ततोऽप्याहारकशरी-
रिणामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३२ । ततः शेषवदनारकतिर्यक्ष-
मनुप्याणां यथोत्तरमुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३३ ।

अथ सुखाद्ययोधायाद्यवहुवपदानां यन्त्रकमुपदर्शयते । तथेदम्-

सूत्रमनि० अप० ज- घ० योग सर्वस्ता० १	वादर० अप० जघ० योग असं० २	द्वीन्द्रि० अप० ज- घ० यो० असं० ३
त्रीन्द्रि० अप० जघ० यो० असं० ४	चतुरि० अप० जघ० यो० असं० ५	असंक्षि० अप० ज- घ० यो० असं० ६
संक्षि० अप० जघ० यो० असं० ७	सूत्रमनि० पर्या० ज० यो० असं० ८	वादरपर्या० जघ० यो० असं० ९
द्वीन्द्रि० पर्या० जघ० यो० असं० १०	त्रीन्द्रिय० पर्या० जघ० यो० असं० ११	चतुरि० पर्या० जघ० यो० असं० १२
असंक्षिपर्या० जघ० यो० असं० १३	संक्षिपर्या० जघ० यो० असं० १४	सूत्रमनि० गोद अप० उत्कृष्टयो० असं० १५
वादर अप० उत्कृ० यो० असं० १६	द्वीन्द्रि० अप० उ- त्कृ० यो० असं० १७	त्रीन्द्रि० अप० उत्कृ० यो० असं० १८
चतुरिन्द्रि० अप० उ- त्कृ० यो० असं० १९	असंक्षिअप० उत्कृ० यो० असं० २०	संक्षि अप० उत्कृष्टो यो० असं० २१
सूत्रमनि० पर्या० उ- त्कृ० यो० असं० २२	वादर पर्या० उत्कृ० यो० असं० २३	द्वीन्द्रि० पर्या० उत्कृ० यो० असं० २४
त्रीन्द्रि० पर्या० उत्कृ० यो० असं० २५	चतुरि० पर्या० उत्कृ० यो० असं० २६	असंक्षि पर्या० उत्कृ० यो० असं० २७
संक्षि पर्या० उत्कृ० यो० असं० २८	अनुत्तरो० उत्कृ० यो० असं० २९	प्रवेयकदेव० उत्कृ० यो० असं० ३०
जागभूमि० तिर्य० उत्कृ० यो० असं० ३१	आहारक० उत्कृष्टो यो० असं० ३२	देवना० ति० मनु० उत्कृ० यो० असं० ३३

गुणकारश्चात्रापि सूत्रमन्त्रपत्योपमासंख्येयभागरूपः प्रत्येकं
प्राप्तः । तदत्र जघन्ययोगी जघन्यकर्मप्रदेशग्रहणं जघन्यस्थिति
च विदधाति, योगवृक्षौ च तद्वृक्षिरपीति स्थितमिति । (एष
त्रिंशत्तन्त्रादि) एवम्, मकारस्य लोपः, प्राकृतत्वात् । पूर्वोक्त-
योगप्ररूपणान्यायेन सूत्रमैकेन्द्रियादिजीवक्रमेणैव स्थितानां
स्थानानि स्थितिस्थानानि, वाच्यानीति शेषः । तत्र जघन्य-
स्थितिरारण्य एकैकसमयवृद्ध्या सर्वोत्कृष्टनिजस्थितिपर्यवसानाः
ये स्थितिभेदास्ते स्थितिस्थानान्युच्यन्ते । कथं पुनरेतानि वा-
च्यानि ! इति, कियङ्गुणानि पुनरेतानि ?, इत्याह-संख्यगु-
णानि । तत्र संख्यां संख्या, तामर्हति संख्याः " वृषादिभ्यो
यः " ६ । ४ । १७ । इति (हेमचन्द्रेण) सप्रत्ययः । ततः
संख्यः संख्येयः संख्यात इत्यर्थो गुणो गुणकारो येषां तानि
संख्यगुणानि, संख्यातगुणितानीत्यर्थः । किं सर्वपदेयु संख्यात-
गुणान्येव, अदोस्विदस्ति कस्मिंश्चित्पदे विशेषः ?, इत्याह-
(परमपञ्चविं असंखगुणं चि) परं केवलम्, अपर्याप्तद्वीन्द्रि-
ये अपर्याप्तद्वीन्द्रियपदे, तानि स्थितिस्थानानि असंख्यातगुणानि
२ । ततः सूत्रमैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि संख्या-
तगुणानि ३ । ततो वादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि
संख्यातगुणानि ४ । एतानि च पदोपमासंख्येयभागसमयतु-
स्थानि स्थितिस्थानानि भवन्ति । यत एकैन्द्रियाणां जघन्यो-
त्कृष्टस्थित्योरन्तरालमेतावन्मात्रमेवेति, ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्य
स्थितिस्थानान्यसंख्यातगुणितानि पदोपमासंख्येयभागमात्रा-
णीति कृत्वा ५ । ततस्तस्यैव द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थिति-
स्थानानि संख्यातगुणितानि ६ । ततस्त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तकस्य
स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि ७ । ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्या-
प्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि ८ । ततश्चतुरिन्द्रिय-
स्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि ९ । ततः पर्या-
प्तचतुरिन्द्रियस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि १० । ततोऽ-
संक्षिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि
११ । ततोऽसंक्षिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सं-
ख्यातगुणानि १२ । ततः संक्षिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थिति-
स्थानानि संख्यातगुणानि १३ । ततः संक्षिपञ्चेन्द्रियस्य पर्या-
प्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणानि भवन्तीति १४ ।

स्थापना-

सू० अप० स्थिति स्तो०	वादर अप० स्थि- ति सं०	द्वीन्द्रिय अप० स्थि- ति असं०	त्रीन्द्रि० अप० स्थि- ति सं०	चतु० अप० स्थि- ति सं०	असंक्षि० अप० स्थि- ति सं०	संक्षि० अप० स्थि- ति सं०
सूत्रम० प० स्थि- ति सं०	वादर प० स्थि- ति सं०	द्वीन्द्रि० प० स्थि- ति सं०	त्रीन्द्रि० प० स्थि- ति सं०	चतु० प० स्थि- ति सं०	असं० प० स्थि- ति सं०	संक्षि० प० स्थि- ति सं०

तदेवं निरूपितानि योगप्रसङ्गेन स्थितिस्थानानि । कर्म० ५ कर्म०

योगस्यैवाप्यवहुत्वं प्रकारान्तरेणाऽऽह-

एयस्स णं भंते ! पन्नरसविहस्स जहणुक्कोसगस्स
कयंरं कयंरहितो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा !
सव्वत्थोवे कम्मगमरीरस्स जहणए जोए ? , ओरात्ति-
यमीसगस्स जहणए जोए असंखेज्जगुणे २, वेउत्थिय-
मीसगस्स जहणए जोए असंखेज्जगुणे ३, ओरात्ति-
यमरीरस्स जहणए जोए असंखेज्जगुणे ४, वेउत्थि-

ज्जगुणा १, संमुच्छिमपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं जहा ते-
उकाइयाणं २, गब्भवक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं
जहा ओहियाणं, तिरिक्खजोणियाणं नवरं काउलेस्सा सं-
खिज्जगुणा ३, एवं तिरिक्खजोणियाणं वि ४ ।

‘पुढवीकाइयाणमित्यादि’ सुगमम् । द्वित्रिचतुरिन्द्रियविषयमपि
पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकसूत्रे कापोतलेइया असंख्यातगुणा नत्व-
नन्तगुणाः, पञ्चेन्द्रियतिरिक्खां सर्वसंख्यायाऽप्यसंख्यातत्वात् ।
संमुच्छिमपञ्चेन्द्रियतिरिक्खां यथा तेजस्कायिकानामुक्तं तथा व-
क्तव्यम् । तेजस्कायिकानामिव तेषामप्याद्यलेइयात्रयमात्रसद्भा-
यात् । गर्भव्युत्क्रान्तिकपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकसूत्रम्-तेजोलेइया-
न्यः कापोतलेइयाः संख्येयगुणा वक्तव्याः, तावतामेव तेषां केव-
लवेदसोपलब्धत्वात्, शेषमौघिकसूत्रं वक्तव्यम् । एवं तिर्यग्यो-
निकानामपि सूत्रं वक्तव्यम् । तथाचाऽऽह-(एवं तिरिक्ख-
जोणियाणि स्ति) ।

अधुना संमुच्छिमगर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियकूलीविषयं
सूत्रमाह-

एतेसि णं भंते ! संमुच्छिमपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं
गब्भवक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणियकएहलेस्साणं जाव
मुक्कलेस्साणं य कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा गब्भवक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणिया मुक्क-
लेस्सा, पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा, तेउलेस्सा संखिज्जगुणा,
काउलेस्सा संखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, क-
एहलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्सा संमुच्छिमपंचिदियति-
रिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया,
कएहलेस्सा विसेसाहिया । एतेसि णं भंते ! संमु-
च्छिमपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणियाणं अ-
कएहलेस्साणं जाव मुक्कलेस्साणं य कयरे कयरेहिं तो अ-
प्पा वा० ४ ? । गोयमा ! जहेव पंचमं तद्वा इमं पि उट्ठं जा-
णियव्वं ॥

एतच्च प्राग्वाचनीयम् । इदं किञ्च पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाधि-
कारे षष्ठं सूत्रम्, अन्तरोक्तं च पञ्चमम् । अत उक्तम्-(जहेव
पंचमं तद्वा इमं उट्ठं भाणियव्वं)

अधुना गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियतिर्यक्कूलीविषयं
सूत्रमाह-

एतेसि णं भंते ! गब्भवक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं
तिरिक्खजोणियाणं य कएहलेस्साणं जाव मुक्कलेस्साणं य
कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा गब्भ-
वक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणिया मुक्कलेस्सा, मुक्कलेस्सा-
ओ तिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ, पम्हलेस्सा ग-
ब्भवक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, पम्ह-
लेस्साओ तिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ, तेउ-
लेस्सा संखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ,
काउलेस्सा संखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया,

कएहलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ संखिज्जगुणा-
ओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएहलेस्साओ वि-
सेसाहियाओ ॥

“ एतसि णं भंते ! ” इत्यादि सुगमम् । नवरं सर्वास्वपि लेइया-
सु स्त्रियः प्रचुराः, सर्वसङ्ख्यायाऽपि च तिर्यक्पुरुषेज्यास्तिर्यक्-
स्त्रियस्त्रिगुणाः, “ त्रिगुणाऽतिर्यक्त्रिहिया, त्रिरियाणं इतिरिया मुणे-
यव्वा ” इति वचनात् । ततः संख्यातगुणा उक्ताः, नपुंसका-
स्तु गर्भव्युत्क्रान्तिकाः कतिपय इति न ते यथोक्तमव्यवहृत्य
व्याचक्षन्ति ॥

सम्प्रति संमुच्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकगर्भव्युत्क्रान्तिकपञ्चे-
न्द्रियतिर्यग्योनिकतिर्यक्कूलीविषयमष्टमं, तथा सामान्यतः पञ्चे-
न्द्रियतिर्यग्योनिकतिर्यक्कूलीविषयं नवमं, तथाच सामान्यत-
स्तिर्यग्योनिकतिर्यक्कूलीविषयं दशमं सूत्रमाह-

एतेसि णं भंते ! संमुच्छिमपंचिदियतिरिक्खजोणिया-
णं गब्भवक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजो-
णियाणं य कएहलेस्साणं जाव मुक्कलेस्साणं य कयरे
कयरेहिं तो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा गब्भवक्क-
तियतिरिक्खजोणिया मुक्कलेस्सा, मुक्कलेस्साओ चि संखि-
ज्जगुणाओ, पम्हलेस्साओ संखिज्जगुणाओ, तेउलेस्साओ
गम्भ चि संखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ चि संखेज्जगुणा, का-
उलेस्साओ चि संखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया,
कएहलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ,
नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएहलेस्साओ विसेसा-
हियाओ, काउलेस्साओ संमुच्छिमपंचिदियतिरिक्खजो-
णिया असंखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कएह-
लेस्सा विसेसाहिया ॥ एतसि णं भंते ! पंचिदियतिरि-
क्खजोणियाणं तिरिक्खजोणियाणं य कएहलेस्साणं जाव
मुक्कलेस्साणं य कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा पंचिदियतिरिक्खजोणिया मुक्कलेस्सा, मुक्कले-
स्साओ संखिज्जगुणाओ, पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा, पम्ह-
लेस्साओ संखिज्जगुणाओ, तेउलेस्सा संखेज्जगुणा,
तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ, काउलेस्सा संखेज्जगुणा,
नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा विसेसाहिया,
काउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसा-
हियाओ, कएहलेस्साओ विसेसाहियाओ ॥ एतेसि णं
भंते ! तिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणियाणं य कएह-
लेस्साणं जाव मुक्कलेस्साणं य कयरे कयरेहिं तो अप्पा
वा० ४ ? । गोयमा ! जहेव एवमं अप्पावहुगं, तद्वा इमं पि,
नवरं काउलेस्सा तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा । एवं
एते दस अप्पावहुगा तिरिक्खजोणियाणं १० । एवं मणु-
स्साणं वि अप्पावहुगा चाणियव्वा; नवरं पच्छिमगं अ-
प्पावहुगं एत्थि ॥

पु मनुष्यस्त्रीपुनपुंसकेषु तथा गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यग्योनिकस्त्री-
पुनपुंसकेषु असंख्येयवर्षायुकेष्वप्यव्यते, सनत्कुमारादिदेवाद्य-
श्च समुदिता लान्तकादिदेवादिभ्यः संख्येयगुणाः, इति प्रवन्ति
शुक्लेत्याकेभ्यः पञ्चलेस्याकाः संख्येयगुणाः, तेज्यस्तेजोले-
स्याकाः संख्येयगुणाः, सर्वेषां सौधमैरानज्योतिष्कदेवानां क-
तिपयानां च भवनपतिव्यन्तरगर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-
मनुष्याणां वादराऽपर्याप्तिकेन्द्रियाणां च तेजोलेस्याभावात् ।
नन्वसंख्येयगुणाः कस्मान्न भवन्ति, कथं न भवन्ति ? इति ।
चेत् । उच्यते-इह ज्योतिष्का भवनवासिभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः,
किं पुनः सनत्कुमारादिदेवेभ्यः, ते च ज्योतिष्कालेजोलेस्याका-
स्तथा सौधमैरानकल्पदेवाश्च ततः प्राप्नुवन्त्यसंख्येयगुणाः । तद-
मुक्तम् । घन्तुतत्वापरिज्ञानात् । त्रैव्यापदे हि गर्भव्युत्क्रान्तिकति-
र्यग्योनिकानां संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतियग्योनिकानां च कृष्ण-
त्रैव्याद्यल्पवदुत्वे सूत्रं च द्यति-“सत्ययोवा गम्भवर्द्धतियतिरि-
फन्नजोणिया सुक्लेस्सा, तिरिफन्नजोणियाभो संखेज्जगुणाभो, प-
द्दत्रेस्सा गम्भवर्द्धतियतिरिफन्नजोणिया संखेज्जगुणा, तिरिफन्नजो-
णियाभो संखेज्जगुणाभो, तेजत्रेस्सा गम्भवर्द्धतियतिरिफन्नजोणिया
संखेज्जगुणा, तेजत्रेस्साभो तिरिफन्नजोणियाभो संखेज्जगुणाभो”
इति महाद्वयके च तिर्यग्योनिकस्त्रीभ्यो व्यन्तरज्योतिष्काश्च
संख्येयगुणा वक्ष्यन्ते । ततो यद्यपि भवनवासिभ्योऽप्यसंख्येयगुणा
ज्योतिष्काः, तथापि पञ्चलेस्याकेभ्यस्तेजोलेस्याकाः संख्येयगुणा
एव । इदमत्र तात्पर्यार्थः-यदि केचन्नाह देवानेव पञ्चलेस्यान-
धियुक्त्य देवा एव तेजोलेस्याकाभिन्यन्ते ततो भवनसंख्येय-
गुणाः, यावता तिर्यक्संमिश्रया पञ्चलेस्याकेभ्यस्तिर्यक्संमिश्रा
एव तेजोलेस्याकाभिन्यन्ते, तिर्यक्श्च पञ्चलेस्या अपि अति-
बहवस्ततः संख्येयगुणा इति । तेज्यः अत्रेस्याका अनन्तगुणाः,
सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः कापोतलेस्या अनन्तगुणाः, वनस्प-
तिकायिकानामपि कापोतलेस्यायाः संजवात्, वनस्पतिकायि-
कानां च सिद्ध्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तेज्योऽपि नीललेस्या
विशेषाधिकाः, प्रभूतराणां नीललेस्यासंभवात् । तेभ्योऽपि
कृष्णलेस्याका विशेषाधिकाः, प्रभूतानां कृष्णलेस्याकत्वात् ।
सामान्यतः सलेस्या विशेषाधिकाः, नीललेस्याकादीनामपि तत्र
प्रक्षेपात् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० ।

तदेवं सामान्यतोऽप्यवहुत्वं चिन्तितं, संप्रति नैरयिकेषु
तच्चिन्तयन्नाह-

एतेसि णं भंते ! नेरइयाणं कएहलेस्साणं नीललेस्साणं
काउलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा
वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा नेरइया
कएहलेस्सा, नीललेस्सा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा अ-
संखेज्जगुणा ।

नैरयिकाणां हि तिस्रो लेस्याः । तद्यथा-कृष्णलेस्या, नीललेस्या,
कापोतलेस्या । उक्तञ्च-“काऊपदोसु तस्या-ए मीसिया नीहि-
या चउत्थीए । पंचमियाए मिस्सा, कएहा तसो पदमकएहा”
॥ १ ॥ ततः त्रयाणामेव पदानां परस्परमद्वयवहुत्वचिन्ता, तत्र
सर्वस्तोकाः कृष्णलेस्या नैरयिकाः, कतिपयपञ्चमपृथिवीगतन-
रकावासेषु पृष्ठानां सूत्रम्यां नैरयिकाणां कृष्णलेस्यासङ्गात् ।
ततोऽसंख्येयगुणा नीललेस्याः, कतिपयेषु तृतीयपृथिवीगतनर-
कावासेषु चतुर्थ्यां समस्तायां पृथिव्यां कतिपयेषु पञ्चमपृथि-
वीगतनरकावासेषु नैरयिकाणां पूर्वोक्तभ्योऽसंख्येयगुणानां नी-

ललेस्याभावात् । तेज्योऽप्यसंख्येयगुणाः कापोतलेस्याः, प्रथम-
द्वितीयपृथिव्योस्तृतीयपृथिवीगतेषु च कतिपयेषु नरकावासेषु
नारकाणामनन्तरोक्तभ्योऽसंख्येयगुणानां कापोतलेस्यासङ्गा-
त् ।

अधुना तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेष्वल्पवदुत्त्वमाह-

एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियाणं कएहलेस्साणं०
जाव सुक्लेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा
तुह्वा वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा तिरिक्ख-
जोणिया सुक्लेस्सा, एवं जहा ओहिया, नवरं अद्देस्सवज्जा ।
(एवं जहा ओहिया इति) एवमुपदर्शितेन प्रकारेण प्राग्वत्
औधिकास्तथा वक्तव्याः, नवरमलेस्यावर्जोस्तिरिक्खामलेस्याना-
मसंभवात् । ते चैवम-सर्वस्तोकास्तिर्यग्योनिकाः शुक्लेस्या-
स्ते च जघन्यपदे संख्याता द्रष्टव्याः १, तेज्योऽसंख्येयगुणाः प-
ञ्चलेस्याः २, तेभ्योऽपि संख्येयगुणास्तेजोलेस्याः ३, तेज्यो-
ऽप्यनन्तगुणाः कापोतलेस्याः ४, तेभ्योऽपि नीललेस्या वि-
शेषाधिकाः ५, तेभ्योऽपि कृष्णलेस्या विशेषाधिकाः ६, ते-
भ्योऽपि सलेस्या विशेषाधिकाः ७ ।

साम्प्रतमेकेन्द्रियेष्वल्पवदुत्त्वमाह-

एतेसि णं जंते ! एणिंदियाणं कएहलेस्साणं० जाव तेउ-
लेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? गोयमा ! स-
व्वत्थोवा एणिंदिया तेउलेस्सा, काउलेस्सा अणंतगुणा,
नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा विसेसाहिया ॥
सर्वस्तोका एकेन्द्रियास्तेजोलेस्याः, कतिपयेषु वादरपृथिव्य-
प्राप्त्येकवनस्पतिकायिकेष्वपर्याप्तावस्थायां तस्याः सङ्गात् ।
तेज्यः कापोतलेस्या अनन्तगुणाः, अनन्तानां सूत्रमवावरानिगो-
द्वजीवानां कापोतलेस्यासङ्गात् । तेज्योऽपि नीललेस्या वि-
शेषाधिकाः, तेज्योऽपि कृष्णलेस्या विशेषाधिकाः । अत्र भाष-
ना प्रागेवोक्ता ।

सम्प्रति पृथिवीकायिकादिविषयमल्पवदुत्वं वक्तव्यम् । तत्र पृ-
थिव्यव्वनस्पतिकायानां चतस्रो लेस्याः, तेजोवायुकायानां तिस्र-
इति तथैव सूत्रमाह-

एतेसि णं जंते ! पुढवीकाइयाणं कएहलेस्साणं० जाव
तेउलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? गोयमा !
जहा ओहिया एणिंदिया, नवरं काउलेस्सा असंखिज्ज-
गुणा, एवं आउकाइयाणं वि । एतेसि णं जंते ! तेउ-
काइयाणं कएहलेस्साणं नीलकाउलेस्साणं य कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा० ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा तेउकाइया
काउलेस्सा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा विसे-
साहिया, एवं वाउकाइयाणं वि । एतेसि णं जंते ! वणस्स-
इकाइयाणं कएहलेस्साणं० जाव तेउलेस्साणं य जहा ए-
णिंदियाणं वेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं जहा तेउकाइया-
णं । एतेसि णं भंते ! पंचिंदियनिरिक्खजोणियाणं कएह-
लेस्साणं० जाव सुक्लेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा
बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! जहा ओ-
हियाणं तिरिक्खजोणियाणं, नवरं काउलेस्सा असंखि-

(एप्पसि णमित्यादि) सर्वस्तोका जवनवासिनो देवास्तेजो-
लेइयाकाः। युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । तेभ्यस्तेजोलेइयाका भवनवा-
सिन्यो देव्यः संख्येयगुणाः, देवेभ्यो हि देव्यः सामान्यतः प्र-
तिनिकायं द्वात्रिंशद्गुणास्तत्रोत्पद्यन्ते संख्येयगुणत्वमिति । ते-
ज्यः कापोतलेइया भवनवासिनो देवा असंख्येयगुणाः, तेज्यो-
पि नीललेइया विशेषाधिकाः, तेज्योऽपि कृष्णलेइया विशेषा-
धिकाः । युक्तिरत्र प्रागुक्ताऽनुसरणीया । तेभ्यः कापोतलेइया भव-
नवासिन्यो देव्यः संख्येयगुणाः, भावना प्रागुक्तभावनानुसारेण
भावनीया । ताभ्यो नीललेइया विशेषाधिकाः, ताज्यः कृष्णले-
इया विशेषाधिकाः, एवं वाणमन्तरविषयमपि सूत्रत्रयं भाव-
नीयम् ।

ज्योतिष्कविषयसूत्रम्—

एतेमि णं जंते ! जोइसियाणं देवाणं देवीण य तेउले-
स्साणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थो-
वा जोइसियदेवा तेउलेस्सा, जोइसिणीओ देवीओ तेउले-
स्साओ संखिज्जगुणाओ ।

ज्योतिष्कविषयमेकमेव सूत्रं, तन्निकाये तेजोलेइयाव्यतिरेकेण
लेइयान्तरासम्भवात्, पृथग् देवदेवीविषयसूत्रद्वयासम्भवात् ।

वैमानिकदेवविषयं सूत्रमाह—

एतेमि णं जंते ! वेमाणियाणं देवाणं तेउलेस्साणं पम्ह-
लेस्साणं सुकलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुकलेस्सा, पम्हलेस्सा
असंखिज्जगुणा, तेउलेस्सा देवा असंखिज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः शुक्ललेइयाः, लान्तकादिदेवानामेव शुक्ललेइयास-
म्भवात् । तेषां चोत्कर्षतोऽपि श्रेयसंख्येयभागगतप्रदेशराशि-
मानत्वात् । तेज्यः पद्मलेइया असंख्येयगुणाः, सनत्कुमारमा-
हेन्द्रब्रह्मशोककल्पवासिनां सर्वेषामपि देवानां पद्मलेइयासंभ-
वात् । तेषां चातिवृद्धतमश्रेयससंख्येयभागवर्तिनमःप्रदेशरा-
शिप्रमाणत्वात् । लान्तकादिदेवपरिमाणहेतुश्रेयससंख्येयभागा-
पेक्षया ह्यर्थायां परिमाणहेतुश्रेयससंख्येयभागोऽसंख्येयगुणः, ते-
ज्योऽपि तेजोलेइया असंख्येयगुणाः, तेजोलेइया हि सौधर्मेशा-
नदेवानाम्, ईशानदेवाश्चाद्भुतमात्रेण प्रदेशराशिसम्बन्धिनि
द्वितीयवर्गमूत्रे तृतीयवर्गमूत्रेण गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भव-
ति तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकांशु श्रेणिषु
यावन्तो नमःप्रदेशाः तावत्प्रमाणाः, ईशानकल्पगतदेवसमु-
दायस्तद्गतकिञ्चिद्भूतद्वात्रिंशत्तमजागकल्पाः, तेज्योऽपि सौध-
र्मकल्पदेवाः संख्येयगुणाः स्वतो जवन्ति, पद्मलेइयेभ्यस्तेजोलेइया
असंख्येयगुणाः, देव्यश्च सौधर्मेशानकल्पयेरेव, तत्र च केवला ते-
जोलेइया, तेजोलेइयान्तरासम्भवात् ; न तद्विषये पृथक्सूत्रमतः ।

सम्प्रति देवदेवीविषयं सूत्रमाह—

एप्पसि णं जंते ! वेमाणियाणं देवाणं देवीण य तेउले-
स्साणं पम्हलेस्साणं य सुकलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा सु-
कलेस्सा, पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा, तेउलेस्सा असंखिज्ज-
गुणा, तेउलेस्साओ वेमाणिणीओ देवीओ संखेज्जाओ ।

‘एप्पसि णं जंते !’ इत्यादि सुगमम्, नवरं “तेउलेस्साओ वेमाणि-
ण”ओ देवीओ संखेज्जगुणाओ”देवेभ्यो देवीनां द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ।

अधुना भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकविषयं सूत्रमाह—

एप्पसि णं जंते ! भवणवासीणं देवाणं वाणमन्तराणं जो-
इसियाणं वेमाणियाणं देवाणं य कएहलेस्साणं जाव सु-
कलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! स-
व्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुकलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखि-
ज्जगुणा, तेउलेस्सा असंखिज्जगुणा, तेउलेस्सा जवनवा-
सी देवा असंखिज्जगुणा, काउलेस्सा असंखिज्जगुणा,
नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा विसेसाहिया,
तेउलेस्सा वाणमन्तरा देवा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा अ-
संखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा वि-
सेसाहिया, तेउलेस्सा जोइसिया देवा संखेज्जगुणा । एतेमि
णं जंते ! जवनवासिणीणं वाणमन्तरीणं जोइमिणीणं
वेमाणिणीणं य कएहलेस्साणं जाव तेउलेस्साणं य कयरे
कयरेहिंतो अप्पा वा० ? । गोयमा ! सव्वत्थोवाओ दे-
वीओ वेमाणिणीओ तेउलेस्साओ, जवनवासिणी-
ओ तेउलेस्साओ असंखेज्जगुणाओ, काउलेस्साओ
असंखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएह-
लेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउलेस्साओ वाणमन्तरीदेवी-
ओ असंखेज्जगुणाओ, काउलेस्साओ असंखेज्जगुणाओ,
नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएहलेस्साओ विसेसाहिया-
ओ, तेउलेस्साओ जोइसिणीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ।

(एप्पसि णं जंते ! भवणवासीणमित्यादि) तत्र सर्वस्तोका वैमा-
निका देवाः शुक्ललेइयाः, पद्मलेइया असंख्येयगुणाः, तेजोलेइया
असंख्येयगुणाः, इत्यत्र ज्ञावनाऽनन्तरमेव कृता । तेभ्योऽपि भव-
नवासिनो देवास्तेजोलेइयाका असंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ?
उच्यते—अद्भुतमात्रेण प्रदेशराशेः संबन्धिनि प्रथमवर्गमू-
त्रेण गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणासु घनीकृ-
तस्य लोकस्य एकप्रादेशिकांशु श्रेणिषु यावान् प्रदेशराशिस्ता-
वत्प्रमाणो भवनपतिदेवीसमुदायः, तत्रतकिञ्चिद्भूतद्वात्रिंशत्तम-
भागकल्पाः भवनपतयो देवास्तत इमे प्रभूता इति घटन्ते सौ-
धर्मेशानदेवेभ्यस्तेजोलेइयाका असंख्येयगुणाः, तेज्यः कापोत-
लेइया जवनवासिन एवासंख्येयगुणाः, अल्पार्थिकानामप्यतिप्र-
भूतानां कापोतलेइयासम्भवात् । तेभ्योऽपि भवनवासिन एव
नीललेइया विशेषाधिकाः । युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । तेभ्योऽपि
वाणमन्तरास्तेजोलेइयाका असंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ?
उच्यते—इहासंख्येययोजनकोटीकांष्ट्रिप्रमाणानि सूचीरूपाणि ख-
रुमानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावान् व्यन्तरदेवदेवीस-
मुदायः, तत्रतकिञ्चिद्भूतद्वात्रिंशत्तमजागकल्पा व्यन्तरदेवाः, तत
इमे भवनपतिभ्योऽतिप्रभूततमा इत्युपपद्यन्ते । कृष्णलेइयेभ्यो भ-
वनपतिभ्यो वाणमन्तरास्तेजोलेइयाका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि
वाणमन्तरा एव कापोतलेइयाका असंख्येयगुणाः, अल्पार्थिकावा-
मपि कापोतलेइयाज्ञावात् । तेभ्योऽपि वाणमन्तरा नीललेइया वि-
शेषाधिकाः, तेज्योऽपि कृष्णलेइया विशेषाधिकाः, अत्रापि युक्तिः
प्रागुक्ताऽनुसरणीया । तेजोलेइया ज्योतिष्का देवाः संख्येयगुणाः,
यतः पट्पञ्चाशदधिकाद्भूतशतद्वयप्रमाणानि सूचीरूपाणि याव-

भावना प्रागुक्तानुसारेण कर्त्तव्या । विर्यग्योनिकविषयां सूत्र-
संकलनानाह—“ एवमेते दस अप्पावहुगा तिरिक्कज्जाणिया-
णमिति” सुगमम्; नयरमिदं पुर्याचार्यप्रदर्शिते संप्रदर्शनाय-

“ओदियपणंदि १ संसु-च्छिया य २ भवन्तिरिक्कत्तथ्योऽथ
संसुच्छगन्नतिरिया, ५ मुच्छतिरिक्कत्त य ६ गन्नमि ७ ॥ १ ॥
संसुच्छगन्नत्तथ्यो, ८ पण्दिदितिरिगन्धियाओ ९ इत्थो उ १० ।
दस अप्पावहुगभेया, तिरियाणं इति गायत्र्या ” ॥ २ ॥

यथा तिरिक्कान्द्रपयदुत्त्वान्युक्तानि तथा मनुष्याणामपि वक्त-
व्यानि; नवरं पञ्चमं दशममन्त्रपदुत्त्वं नास्ति, मनुष्याणा-
मनन्तत्वात्वात्; तदभावं “ काउत्तसा ग्रन्थगुणा ” इति-
पदासंभवात् ।

अधुना देवविषयमव्यवहृत्यमाह-

एतेसि णं भंते ! देवाणं कएहलेस्माणं जाव मुक्कलेस्सा-
ण य कयरे कयरेहिता अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! मन्वत्योवा
देवा मुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखेज्जगुणा, काउत्तेस्सा
असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा
विसेसाहिया, तेउत्तेस्सा संखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोका देवाः शुक्लेश्याः, लात्तकादिदेवद्योकेष्वेव तेषां स-
द्भावात् । तेभ्यः पद्मलेश्या असंखेयगुणाः, जवनपतिव्यन्तरदे-
वेषु सनत्कुमारदिदेवभ्योऽसंखेयगुणेषु कापोतलेश्यासद्भावा-
त् । तेभ्योऽपि नीललेश्या विशेषाधिकाः, प्रभूतराणां भवन-
पतिव्यन्तराणां तस्याः संभवात् । तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या वि-
शेषाधिकाः, प्रभूतराणां तेषां कृष्णलेश्याकत्वात् । तेभ्योऽपि
तेजोलेश्याः संखेयगुणाः, कतिपयानां जवनपतिव्यन्तराणां स-
मस्तानां ज्योतिष्कसौधमेशानदेवानां तेजोलेश्याकत्वात् ।

अधुना देवीविषयं सूत्रमाह-

एप्पसि णं भंते ! देवीणं कएहलेस्माणं जाव तेउत्तेस्साण
य कयरे कयरेहिता अप्पा वा बहुया वा तुट्ठा वा विसे-
साहिया वा ? । गोयमा ! मन्वत्योवाओ देवीओ काउत्तेस्सा-
ओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएहलेस्साओ विसे-
साहियाओ, तेउत्तेस्साओ संखेज्जगुणाओ ।

(एप्पसि णं जंते ! देवीणमित्यादि) देव्यश्च सौधमेशानान्ता
एव न परत इति तासां चतस्र एव श्रेण्यास्ततस्तद्विरयमेवा-
ह्यवहुत्वमभिधित्सुना “जाव तेउत्तेस्साण य” इत्युक्तम् । सर्व-
स्तोका देव्यः कापोतलेश्याः, कतिपयानां जवनपतिव्यन्तरदेवा-
नां कापोतलेश्याभावात् । तेभ्यो विशेषाधिका नीललेश्याः, प्र-
भूतानां भवनपतिव्यन्तरदेवानां तस्याः सम्भवात् । तेभ्योऽपि
कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, प्रभूतानां तासां कृष्णलेश्याकत्वात् ।
ताभ्यस्तेजोलेश्याः संखेयगुणाः, ज्योतिष्कसौधमेशानदेवाना-
मपि समस्तानां तेजोलेश्याकत्वात् ।

सम्प्रति देवदेवीविषयं सूत्रमाह-

एतेसि णं जंते ! देवाणं देवीण य कएहलेस्माणं जाव
मुक्कलेस्माण य कयरे कयरेहिता अप्पा वा० ४ ? । गोयमा !
मन्वत्योवा देवा मुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखेज्जगुणा,
काउत्तेस्सा असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया,
कएहलेस्सा विसेसाहिया, काउत्तेस्साओ देवीओ संखेज्ज-

गुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएहलेस्साओ
विसेसाहियाओ, तेउत्तेस्सा देवा संखेज्जगुणा, तेउत्तेस्सा-
ओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोका देवाः शुक्लेश्याः, तेभ्योऽसंखेयगुणाः पद्मलेश्याः,
तेभ्योऽप्यसंखेयगुणाः कापोतलेश्याः, तेभ्यो नीललेश्या विशेष-
पाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, एतावत्प्रागेव
भावितम् । तेभ्योऽपि कापोतलेश्याका देव्यः संखेयगुणाः । ताभ्य
भवनपतिव्यन्तरानिकायान्तर्गता वेदितव्याः, अन्यत्र देवीनां का-
पोतलेश्याया असंभवात् । देव्यश्च देवभ्यः सामान्यतः प्रतिनि-
कायं द्वाविशदुणाः, ततः कृष्णलेश्याभ्यो देवीभ्यः कापोतलेश्याया
असंभवात् । देव्यश्च देवभ्यः सामान्यतः प्रतिनिकायं द्वाविश-
दुणाः, ततः कृष्णलेश्याभ्यो देवीभ्यः कापोतलेश्या देव्यः संखे-
यगुणा अपि घटन्ते, ताभ्यो नीललेश्या विशेषाधिकाः, ताभ्यः
कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः अत्रापि प्राप्तवद् भावना । तेभ्योऽपि
तेजोलेश्या देवाः संखेयगुणाः, कतिपयानां भवनपतिव्यन्तरा-
णां समस्तानां ज्योतिष्कसौधमेशानदेवानां तेजोलेश्याकत्वात् ।
तेभ्योऽपि तेजोलेश्याका देव्यः संखेयगुणाः, द्वाविशदुष्टत्वात् ।

सम्प्रति भवनवासिदेवविषयं सूत्रमाह-

एतेमि णं भंते ! जवनवासीणं देवाणं कएहलेस्माणं
जाव तेउत्तेस्माण य कयरे कयरेहिता अप्पा वा० ४ ? ।
गोयमा ! मन्वत्योवा जवणवासी देवा तेउत्तेस्सा, काउ-
त्तेस्सा असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कएह-
लेस्सा विसेसाहिया ।

(एप्पसि णं भंते ! इत्यादि) सर्वस्तोकास्तेजोलेश्याः, महर्क-
यो हि तेजोलेश्याका जवन्ति, महर्क्यश्चाहरे, इति सर्वस्तोकाः ।
तेभ्योऽसंखेयगुणाः कापोतलेश्याः, अतिशयेन प्रभूतानां का-
पोतलेश्यासंभवात् । तेभ्यो नीललेश्या विशेषाधिकाः, अति-
प्रभूतराणां तस्याः संभवात् । तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषा-
धिकाः, अतिप्रभूतराणां कृष्णलेश्याभावात् । एवं जवनपति-
देवीविषयमपि सूत्रं ज्ञायनीयम् ।

तद्य-

एतेमि णं जंते ! जवणवासिणीणं देवीणं कएहलेस्सा-
णं जाव तेउत्तेस्माण य कयरे कयरेहिता अप्पा वा० ४ ? ।
गोयमा ! एवं चेव ।

अधुना भवनपतिदेवदेवीविषयं सूत्रमाह-

एप्पसि णं जंते ! भवणवासीणं देवाणं देवीण य कएह-
लेस्माणं जाव तेउत्तेस्माण य कयरे कयरेहिता अप्पा वा०
४ ? । गोयमा ! । मन्वत्योवा भवणवासी देवा तेउत्तेस्सा, भ-
वणवासिणीओ तेउत्तेस्साओ संखेज्जगुणाओ, काउत्ते-
स्सा भवणवासी असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसा-
हिया, कएहलेस्सा विसेसाहिया, काउत्तेस्साओ जवण-
वासिणीओ संखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहिया-
ओ, कएहलेस्साओ विसेसाहियाओ, एवं वाणमंतराण वि-
तिसेव अप्पावहुगा जहेव जवणवासीणं तहेव भाणियव्वा ।

संखेज्जगुणाओ, जरहेरवयवासकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुद्धाओ संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्म-
भूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुद्धाओ संखेज्जगुणाओ ।
सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकाऽकर्मभूमकमनुप्यस्त्रियः, क्षेत्रस्याद्य-
त्वात् । ताभ्यो देवकुक्कुरकुक्कुरस्त्रियः संखेयगुणाः, क्षेत्रस्य संखे-
यगुणत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः, समानप्रमाण-
क्षेत्रत्वात् । ताभ्यो हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुप्यस्त्रियः सं-
खेयगुणाः, देवकुक्कुरकुक्कुरक्षेत्रापेक्षया हरिवर्षरम्यक्षेत्रस्यातिप्र-
चुरत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य समानत्वा-
त् । ताभ्योऽपि हैमवतहैरवयवताकर्मभूमकमनुप्यस्त्रियः संखे-
यगुणाः, क्षेत्रस्याल्पत्वेऽपि अल्पस्थितिकतया बहूनां तत्र तासां
सम्भवात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽपि
भरतैरवतकर्मभूमकमनुप्यस्त्रियः संखेयगुणाः, कर्मभूमित-
या स्वभावत एव तत्र प्राचुर्येण संभवात् । स्वस्थानेऽपि द्वयो-
रपि परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकर्म-
भूमकमनुप्यस्त्रियः संखेयगुणाः, क्षेत्रबाहुल्यादजितस्वामि-
काले इव च स्वभावत एव तत्र प्राचुर्येण जावात्, स्वस्थानेऽपि
द्वयोरपि परस्परं तुल्याः । उक्तं तृतीयमल्पबहुत्वम् ॥

अधुना चतुर्थमाह-

एतासि णं जंते ! देवत्थियाणं जवणवासीणं वाणमंतरीणं
जोइसियाणं वेमाणिणीणं य कयरा कयराहितो अप्पा वा० ४
! गोयमा ! सव्वत्थोवाओ वेमाणियदेवित्थियाओ, जवणवा-
सीदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, वाणमंतरदेवित्थियाओ
असंखेज्जगुणाओ, जोइसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ।
सर्वस्तोका वैमानिकदेवस्त्रियः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यद्
द्वितीयं वर्गमूहं तस्मिन् तृतीयेन वर्गमूहेन गुणिते यावत्
प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य बोकस्य एकप्रादेशि-
कीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशा द्वात्रिंशत्तमजागहीनास्तावत्
प्रमाणत्वात् । प्रत्येकं सौधमेशानदेवस्त्रीणां ताभ्यो भवनवासि-
देवस्त्रियोऽसंखेयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यत् प्रथमं
वर्गमूहं तस्मिन् द्वितीयेन वर्गमूहेन गुणिते यावत्प्रदेशरा-
शिस्तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावान् प्रदेशराशिर्द्वात्रिंशत्तमजाग-
हीनस्तावत्प्रमाणत्वात् । ताभ्यो व्यन्तरदेवस्त्रियोऽसंखेयगुणाः,
संखेययोजनप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि अण्डानि यावन्त्ये-
कस्मिन् प्रतरे जवन्ति, तेन्योऽपि द्वात्रिंशत्तमजागेऽपनीते यच्छे-
पमवतिष्ठते तावत्प्रमाणत्वात् तासाम् । ताभ्यः संखेयगुणा
ज्योतिष्कदेवस्त्रियः, बट्टपञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणैकप्रा-
देशिकश्रेणिमात्राणि अण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे जवन्ति
ताभ्यो द्वात्रिंशत्तमे भागेऽपसारिते यावत्प्रदेशराशिर्भवति
तावत्प्रमाणत्वात् । उक्तं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ॥

इदानीं समस्तस्त्रीविषयं पञ्चममल्पबहुत्वमाह-

एतासि णं जंते ! तिरिक्खजोणियाणं जद्वयरीणं थ-
लयररीणं खद्वयरीणं मणुस्सित्थियाणं कम्मभूमियाणं
अकम्मभूमियाणं अंतरदीवियाणं देवित्थियाणं जवणवा-
सिणीणं वाणमंतरीणं जोतिसियाणं वेमाणिणीणं य क-
यरा कयराहितो अप्पा वा० ४ ! गोयमा ! सव्वत्थो-

वा अंतरदीवगअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ, देवकु-
लचरकुक्कुरकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्ज-
गुणाओ, हरिवासरम्मगवासअकम्मभूमगमणुस्सित्थिया-
ओ दो वि संखेज्जगुणाओ, हैमवतहैरवयवासअकम्मभूमग-
मणुस्सित्थियाओ दो वि असंखेज्जगुणाओ, जरहेरवयवा-
सकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्जगुणाओ, पुव्व-
विदेहअवरविदेहवासकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि सं-
खेज्जगुणाओ, वेमाणियदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ,
जवणवासिदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, खद्वयराति-
रिक्खजोणित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, थद्वयरातिरि-
क्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, जद्वयरातिरिक्खजो-
णित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, वाणमंतर्देवित्थियाओ संखे-
ज्जगुणाओ, जोतिसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकाकर्मभूमकमनुप्यस्त्रियः, ताभ्यो देवकु-
क्कुरकुक्कुरकर्मभूमकमनुप्यस्त्रियः संखेयगुणाः, ताभ्योऽपि हरि-
वर्षरम्यकस्त्रियः संखेयगुणाः, ताभ्योऽपि हैमवतहैरवय-
वतस्त्रियः संखेयगुणाः, ताभ्योऽपि भरतैरवतकर्मभूमकमनु-
प्यस्त्रियः संखेयगुणाः, ताभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहमनु-
प्यस्त्रियः संखेयगुणाः । अत्र भावना प्राग्वत् । ताभ्यो
वैमानिकदेवस्त्रियोऽसंखेयगुणाः, असंखेयश्रेण्याकाशप्रदे-
शराशिप्रमाणत्वात्तासाम् । ताभ्यो जवनवासिदेवस्त्रियोऽसं-
ख्यातगुणाः । अत्र युक्तिः प्रागेवोक्ता । ताभ्यः खचरतिर्य-
ग्योनिकस्त्रियोऽसंखेयगुणाः, प्रतरासंखेयजागवर्त्यसंखेय-
श्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तासाम् । ताभ्यः स्थल-
चरतिर्यग्योनिकस्त्रियः संखेयगुणाः, बृहत्प्रतरासंखेयजागव-
र्त्यसंखेयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो जल-
चरतिर्यग्योनिकस्त्रियः संखेयगुणाः, बृहत्तमप्रतरासंखेयजाग-
वर्त्यसंखेयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो वाण-
मन्तरदेवस्त्रियः संखेयगुणाः, संखेययोजनकोटाकोटिप्रमाणैक-
प्रादेशिकश्रेणिमात्राणि अण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे जवन्ति ते-
न्यो द्वात्रिंशत्तमे भागेऽपहृते यावान् राशिस्तिष्ठति तावत्प्रमा-
णत्वात् । ताभ्योऽपि ज्योतिष्कदेवस्त्रियः संखेयगुणाः । एतच्च प्रा-
गेव भावितम् । उक्तानि स्त्रीणां पञ्चाप्यल्पबहुत्वानि । जी० २ प्रति०
साम्प्रतं नपुंसकानामुच्यते-

एतेसि णं भंते ! नेरइयनपुंसकाणं तिरिक्खजोणियन-
पुंसकाणं मणुस्सनपुंसकाणं य कतरे कतरेहितो जाव विसे-
साहिया वा ! गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सनपुंसका, ने-
रइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियनपुंसका
अणंतगुणा ।

प्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोका मनुष्यन-
पुंसकाः, श्रेष्ठसंखेयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो-
ऽपि नैरयिकनपुंसका असंखेयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशरा-
शौ तद्गतप्रथमवर्गमूहगुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति ता-
वत्प्रमाणासु घनीकृतस्य बोकस्य एकप्रादेशिकासु श्रेणीषु
यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्तासाम् । तेन्यस्तिर्यग्यो-
निकनपुंसका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामनन्तत्वात् ।

न्ति जगद्गानि एकस्मिन् प्रनरे भवन्ति तावत्प्रमाणो ज्योतिष्कदेवदेवीसमुदायः, न जगत्किञ्चिद्नष्टात्रिशत्तमजागकल्पा ज्योतिष्कदेवाः, नतः कृष्णज्ञेयभ्यो शाणमन्तरेभ्यः संख्येयगुणा एव घटन्ते ज्योतिष्कदेवाः, न त्वसंख्येयगुणाः, सूचीरूपसङ्गप्रमाणहेतोः संख्येययोजनकांटाकांठ्येयकृया पदपञ्चाशदधिकाङ्गुशतद्वयसंख्येयजागमात्रवर्तिन्यात् ।

सम्प्रति भवनवास्यादिदेवदेवीविषयं, तदनन्तरं जवनवास्यादिदेवदेवीसमुदायविषयं सूत्रमाह—

एतासि एं जंते ! जवणवासीणं० जाव वेमाणिगाणं देवाण य देवीण य काहलेस्साणं० जाव मुक्कलेस्माण य कयरे कयरेहिंनो अप्पा वा०५ । गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिगा देवा मुक्कलेस्सा, पम्भेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउंस्सा असंखेज्जगुणा, तेउंस्सा भवणवाभीदेवा असं०, तेउंस्सा भवणवामिणीओ संखेज्ज०, काउंस्सा जवणवासी असं०, नीलंस्सा विसेमाहिया, काहलेस्सा विसेसाहिया, काउंस्सा भवणवामिणीओ संखेज्ज०, नीलंस्साओ विनेसाहियाओ, काहलेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउंस्सा वाणमंतरा असं०, तेउंस्साओ वाणमंतरा असं०, नीलंस्सा विसेमाहिया, काहलेस्सा विसेसाहिया, काउंस्साओ वाणमंतरा असं०, नीलंस्साओ विसेसाहियाओ, काहलेस्सा विसेमाहिया, तेउंस्सा जोइसिया संखे०, तेउंस्साओ जोइसियाओ संखेज्जगुणाओ ।

पतञ्ज सूत्रद्वयमपि प्रागुक्तभावनानुसारेण भावनीयम् । प्रका० १७ पद । (क्षेत्रास्थानानामल्पवहुत्वं तु 'क्षेस्सा' शब्दे वक्ष्यते) (वर्गणाया अल्पवहुत्वं यन्मप्ररूपणावसरे वक्ष्यते)

(२७) इदानीं वेदद्वारमाह—

एतासि एं जंते ! जीवाणं सवेदगाणं इत्थीवेदगाणं पुरिसवेदगाणं नपुंसगवेदगाणं अवेदगाणं य कयरे कयरेहिंनो अप्पा वा०५ । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा पुरिसवेदगा, इत्थीवेदगा संखेज्जगुणा, अवेदगा अणंतगुणा, नपुंसगवेदगा अणंतगुणा, सवेदगा विसेसाहिया ।

सर्वस्तोकाः पुरुषवेदाः, संक्षिप्तमेव तिर्यक्रममुप्याणां देवानां च पुरुषवैवभावात् । तेभ्यः स्त्रीवेदाः संख्येयगुणाः, यत उक्तं जीवामिगमे—“तिरिक्खजोणियपुरिसंहितो तिरिक्खजोणियइत्थीओ तिगुणाओ तिरुवाहियाओ य तथा मणुस्सपुरिसंहितो मणुस्सइत्थीओ सत्तावीसगुणाओ सत्तावीसरुउत्तराओ य तथा देवपुरिसंहितो देवत्थीओ वत्तीसगुणाओ वत्तीसरुउत्तराओ य ” इति । ब्रह्मचार्पिरप्युक्तम्—

“ तिगुणा तिरुवअहिया, तिरियाण इत्थिया मुणेरव्वा । सत्तावीसगुणा पुण, मणुयाणं तदहिया चेव ॥ १ ॥ वत्तीसगुणा वत्ती—सरुवअहिया य तह य देवाणं । देवीओ पन्नत्ता, जिणेहि जियरागदोसंहि ” ॥ ५ ॥

अवेदका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यो नपुंसकवेदा अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । सामान्यतः सवेदका विशेषाधिकाः, स्त्रीवेदकपुरुषवेदकानामपि तत्र प्रक्षेपात् । प्रका० ३ पद । जी० ।

सवेदानामल्पवहुत्वचिन्तायाम्—

अप्पावहुगं—सव्वत्थोवा अवेदगा, सवेदगा अणंतगुणा । एवं सकमाती चेव अकसाती चेव जहा सवेया य तहेव जाणियव्वा । जी०? प्रति० । भ० ।

अथ वेदविशेषवतां स्त्रीपुंनपुंसकानां प्रत्येकमल्पवहुत्वम्—तत्र स्त्रीणां पञ्चाल्पवहुत्वानि । तथा—प्रथमं सामान्येनाल्पवहुत्वम्, विशेषचिन्तायां द्वितीयं त्रिविधतिर्यकुस्त्रीणाम्, तृतीयं त्रिविधमनुप्यस्त्रीणाम्, चतुर्थं चतुर्विधदेवस्त्रीणाम्, पञ्चमं मिथस्त्रीणाम् । तत्र प्रथममल्पवहुत्वमभिधित्सुराह—

एतासि एं भंते ! तिरिक्खजोणित्थियाणं मणुस्मित्थियाणं देवित्थियाणं कयरा कयराहिंनो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवाओ मणुस्मित्थियाओ, तिरिक्खजोणित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ।

(एतासि एं भंते ! इत्यादि) सर्वस्तोका मनुप्यस्त्रियः, संख्यातकोटाकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्यस्तिर्यग्योनिकाः स्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं तिर्यकुस्त्रीणामतियहुतवा संभवात्, द्वीपसमुद्राणां वाऽसंख्येयत्वात् । तत्ताभ्योऽपि देवस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, भवनवासिष्यन्तरज्योतिष्कसौधमेशानदेवीनां प्रत्येकमसंख्येयधेयकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । १ ।

द्वितीयमल्पवहुत्वमाह—

एतासि एं भंते ! तिरिक्खजोणित्थियाणं जलयरिणं थलयरिणं खहयरीणं य कयरा कयराहिंनो अप्पाओ वा बहुयाओ वा तुह्वाओ वा विसेसाहियाओ वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवाओ खहयरतिरिक्खजोणियाओ, थलयरतिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ, जलयरतिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोकाः खचरतिर्यग्योनिकास्त्रियः, ताभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकास्त्रियः संख्येयगुणाः, खचराभ्यः स्थलचराणां स्वभावत एव प्राचुर्येण ज्ञावात् । ताभ्यो जलचरस्त्रियः संख्येयगुणाः, लचणे कालोदे स्वयंभूरमणे च समुद्रे मत्स्यानामतिप्राचुर्येण ज्ञावात् । स्वयंभूरमणसमुद्रस्य च शेषसमस्तद्वीपसमुद्रापेक्षयाऽतिप्रचूतत्वात् ।

अधुना तृतीयमाह—

एतासि एं भंते ! मणुस्सित्थियाणं कम्मचूमियाणं अकम्मचूमियाणं अंतरदीविगाणं य कयरा कयराहिंनो अप्पा वा०५ । गोयमा ! सव्वत्थोवाओ अंतरदीवगअकम्मचूमगमणुस्सित्थियाओ, देवक्रुउत्तरक्रुअकम्मचूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुह्वाओ संखेज्जगुणाओ, हरिवासरम्मगवासअकम्मचूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुह्वाओ संखेज्जगुणाओ, हेमवयहिराणवयवानअकम्मचूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुह्वाओ

क्वजोषियणपुंसकाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं म-
क्षुस्मणपुंसकाणं कम्मजूमिकाणं अकम्मजूमिकाणं अंतर-
दीवकाणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा !
सव्वत्थोवा अहेसत्तमपुढविनेरइयनपुंसका, उट्टपुढविनेरइ-
यनपुंसका असंखेज्जगुणा० जाव दोच्चा, पुढविनेरइयनपुंसका
असंखेज्जगुणा, अंतरदीवगमणुस्सणपुंसका असंखेज्जगु-
णा, देवकुरुत्तरकुरुअकम्मजूमिका दो वि संखेज्जगुणा, जाव
पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सणपुंसका दो वि सं-
खेज्जगुणा, रयणप्पमापुढविनेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा,
खहयरपंचेदियतिरिक्खजोषियणपुंसका असंखेज्जगुणा,
थलयरा संखेज्जगुणा, जलयरा संखेज्जगुणा, चतुरिंदियतिरि-
क्खजोषियणपुंसका विसेसाहिया, तेइंदियनपुंसगा विसेसाहि-
या, वेइंदियनपुंसगा विसेसाहिया, तेज्जकाइयएगिंदियनपुंसगा
असंखेज्जगुणा, पुढविकाइयएगिंदियनपुंसगा विसेसाहिया,
आउकाइयनपुंसगा विसेसाहिया, वाउकाइया विसेसाहिया, व-
णस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोषियणपुंसका अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका अधःसप्तमपृथिवीनैरयिकनपुंसकाः, तेज्यः पष्ठपञ्च-
मचतुर्थतृतीयाद्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका यथोत्तरमसंख्ये-
यगुणाः, द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकेभ्योऽन्तरद्वीपजमनुष्यन-
पुंसका असंख्येयगुणाः, एनदसंख्येयगुणत्वं संमूर्जनमनुष्या-
पेक्षे, तेषां नपुंसकत्वाद्, एतावतां च तत्र संमूर्जनसंभवात् । ते-
भ्यो देवकुरुत्तरकुरुकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका हेमवतहैरयव-
ताकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका भरतैरवतकर्मभूमकमनुष्यनपुंस-
काः पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका यथोत्तरं
संख्येयगुणाः, स्वस्थानचिन्तायां तु द्वये परस्परं तुल्याः, पू-
र्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकेभ्योऽस्यां प्रत्यक्त उ-
पलभ्यमानायां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकनपुंसका असंख्ये-
यगुणाः, तेभ्यः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकाः असंख्ये-
यगुणाः, तेभ्यः स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका जल-
चरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं संख्येयगुणाः, ज-
लचरपञ्चेन्द्रियनपुंसकेभ्यश्चतुरिन्द्रियत्रान्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंस-
का यथोत्तरं विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसके-
भ्यस्तेजस्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः,
तेज्यः पृथिव्यम्बुचायुतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषा-
धिकाः, वाय्वेकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकेभ्यो वनस्पतिकायि-
कैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः । युक्तिः सर्वत्रा-
ऽपि प्रागुक्तानुसारेण स्वयं भावनीया । इत्युक्तानि पञ्च नपुंस-
कानामपि अल्पबहुत्वानि । जी० ३ प्रति० ।

सांप्रतं पुरुषाणामुच्यन्ते-तानि च पञ्च । तद्यथा-प्रथमं सामा-
न्याल्पबहुत्वम् १, द्वितीयं त्रिविधातिर्यक्पुरुषावपिपयम् २, तृतीयं
त्रिविधमनुष्यपुरुषविपयम् ३, चतुर्थं चतुर्विधदेवपुरुषविपयम्
४, पञ्चमं मिश्रपुरुषविपयम् ५ ।

तत्र प्रथमं तावदभिधित्सुराह—

(एतेसि यं जंते ! देवपुरिमाणं जवणवासीणं वाणमंत-
राणं जोइसियाणं वेमाणियाणं य कयरे कयरेहितो अप्पा

वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्व-
त्थोवा वेमाणियदेवपुरिसा, जवणवइदेवपुरिसा असंखे-
ज्जगुणा, वाणमंतरदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, जोइसिय-
देवपुरिसा संखेज्जगुणा ।)

(एषसि यं मंते ! इत्यादि) सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः, संख्येयको-
टीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः तिर्यग्योनिकपुरुषा असंख्येयगु-
णाः, प्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशि-
प्रमाणत्वात्तेषाम् । तेभ्यो देवपुरुषाः संख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरा-
संख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशितुल्यत्वात् ।
तिर्यग्योनिकपुरुषाणां यथा तिर्यग्योनिकस्त्रीणां मनुष्यपुरुषाणां
यथा मनुष्यस्त्रीणामल्पबहुत्वं वक्तव्यम् । संप्रति देवपुरुषाणाम-
ल्पबहुत्वमाह—सर्वस्तोका अनुत्तरोपपातिकदेवपुरुषाः, क्षेत्रप-
त्योपमासंख्येयभागवर्त्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्य
उपरितनग्रेवैयकदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, बृहत्तरक्षेत्रपत्योपमा-
संख्येयभागवर्तिनमःप्रदेशराशिमानत्वात् । कथमेतदवसेय-
मिति चेत् ? उच्यते—विमानबाहुल्यात् । तथाहि—अनुत्तरदेवानां
पञ्च विमानानि, विमानशतं तूपरितनग्रेवैयकप्रस्तटे, प्रतिविमानं
चासंख्येया देवाः, यथाऽत्राऽधोऽधोवर्तीनि विमानानि तथा
तथा देवा अपि प्राचुर्येण लभ्यन्ते; ततोऽवसीयते—अनुत्तरवि-
मानवासिदेवपुरुषापेक्षया बृहत्तरक्षेत्रपत्योपमासंख्येयभागव-
र्तिनमःप्रदेशराशिप्रमाणा उपरितनग्रेवैयकप्रस्तटे देवपुरुषाः,
एवमुत्तरत्रापि भावना विधेया । तेभ्यो मध्यमग्रेवैयकप्रस्तटे
देवपुरुषाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यधस्तनग्रेवैयकप्रस्तटे देवपु-
रुषाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्युत्तकल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः,
यद्यप्यारणाच्युतकल्पौ समभ्रेणिकौ समविमानसंख्याकौ न,
तथापि कृष्णपाक्षिकास्तथास्वाभाव्यात् प्राचुर्येण दक्षिणस्यां
दिशि समुत्पद्यन्ते । अथ के ते कृष्णपाक्षिकाः ? उच्यते—इह द्व-
ये जीवाः, तद्यथा—कृष्णपाक्षिकाः, शुक्लपाक्षिकाश्च । तत्र येषां
किञ्चिद्भूतोपाईपुल्लपराचर्तः संसारस्ते शुक्लपाक्षिकाः, इतरं
दीर्घसंसारमाजिनः कृष्णपाक्षिकाः । उक्तं च—“ जेसिमवहो
पोग्गह—परियट्ठो सेसथो य संसारो । ते सुक्कपक्खिया खलु,
अहिए पुण कएदपक्खीभो ” ॥१॥ अत एव स्तोकाः शुक्लपा-
क्षिकाः, अल्पसंसाराणां स्तोकानामेव भावात् । बहवः कृ-
ष्णपाक्षिकाः, दीर्घसंसारानामनन्तानां भावात् । अथ कथमेत-
दवसातव्यं कृष्णपाक्षिका प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्प-
द्यन्ते ? उच्यते—तथास्वाभाव्यात् । तच्च तथास्वाभाव्यमेव पू-
र्वाचार्यैर्युक्तिनिरूपवाहितम्, कृष्णपाक्षिकाः खलु दीर्घसंसारमा-
जिन उच्यन्ते, दीर्घसंसारमाजिनश्च बहुपापोदयात्, बहुपा-
पोदयाश्च कूरकर्मणः, कूरकर्मणश्च प्रायस्तथास्वाभाव्यात् ।
तद्वचसिद्धिका अपि दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, यत वक्तव्य-
“ पायमिह कूरकम्मा, भवासिद्धिया वि दाहिणिह्वेसु । नेरइय-
तिरियमखुया, सुरा य वाणेषु गच्छंति ” ॥१॥ ततो दक्षिण-
स्यां दिशि प्राचुर्येण कृष्णपाक्षिकाणां संभवादुपपद्यतेऽच्यु-
तकल्पदेवपुरुषापेक्षया आरणकल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, ते-
भ्योऽपि प्राणतकल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यान्त-
कल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, अत्रापि प्राणतकल्पापेक्षया सं-
ख्येयगुणत्वं, कृष्णपाक्षिकाणां दक्षिणस्यां दिशि प्राचुर्येण भा-
वात् । एते च सर्वेऽप्यनुत्तरविमानवास्यादय आनतकल्पवा-
सिपर्यन्तदेवपुरुषाः प्रत्येकं क्षेत्रपत्योपमसंख्येयभागवर्तिनमः-

सम्प्रति नैरयिकनपुंसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं जंते ! नेरइयनपुंसकाणं० जाव अहेसत्तमपुढ-
विनेरइयनपुंसकाण य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेसाहिया
वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अहेसत्तमपुढविनेरइयनपुंसका, व-
डपुढविणेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा० जाव दांवा, पुढवि-
नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, इमी नेरयणप्पमाए पुढवीए
नेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा ॥

(एएसि णमित्यादि) सर्वस्तोका अधःसप्तमपृथिवीनैरयिक-
नपुंसकाः, अल्पतरधेयसंख्येयजागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताका-
शप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि पष्ठपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः,
तेभ्योऽपि पञ्चमपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, ते-
भ्योऽपि चतुर्थपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्यो-
ऽपि तृतीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि
द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्यातगुणाः, सर्वेषामप्येतेषां
पूर्वपूर्वनैरयिकपरिमाणहेतुधेयसंख्येयजागवर्त्यसंख्येय-
गुणाः, संख्येयगुणधेयसंख्येयजागवर्त्यसंख्येयप्रदेशराशिप्रमा-
णत्वात् । द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकंभ्यांऽस्यां रत्नप्रभायां
पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, अद्भुतमात्रज्ञप्रदेशराशौ
तदुगतप्रथमवर्गमूलगुणिते यावान् प्रदेशराशिस्त्वावत्प्रमाणा-
सु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्त आ-
काशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । प्रतिपृथिवी च पूर्वोत्तरपश्चि-
मदिग्भाविना नैरयिकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यो दक्षिणदिग्भाविना-
ऽसंख्येयगुणाः, पूर्वपूर्वपृथिवीगतदक्षिणदिग्भागभाविभ्योऽप्यु-
त्तरस्यामुत्तरस्यां पृथिव्यामसंख्येयगुणाः, पूर्वोत्तरपश्चिमदि-
ग्भाविन इत्यादि ॥

सम्प्रति तिर्य्यग्योनिकनपुंसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियनपुंसकाणं एगिंदिय-
तिरिक्खजोणियनपुंसकाणं पुढविकाइयएगिंदियणपुंसका-
णं० जाव वनस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका-
णं वेइंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं तेइंदियचउरिंदिय-
पंचेइंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जलयरथलयरखहय-
राण य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा !
सव्वत्थोवा खहयरतिरिक्खजोणियणपुंसका, थलयरतिरि-
क्खजोणियनपुंसका संखेज्जगुणा, जलयरतिरिक्खजोणि-
यनपुंसका संखेज्जगुणा, चतुरिंदियतिरिक्खजोणियनपुंस-
का विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, वेइंदिया विसेसा-
हिया, तेउकाइयएगिंदियतिरिक्खा असंखेज्जगुणा, पुढ-
विकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणिया विसेसाहिया, एवं
आठवाउ०, वणस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंस-
का अणंतगुणा ॥

(एएसि णमित्यादि) सर्वस्तोकाः अचरपञ्चेन्द्रियतिर्य्यग-
नपुंसकाः, प्रतरासंख्येयजागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशरा-
शिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः स्थलचरतिर्य्यग्योनिकनपुंसकाः संख्ये-
यगुणाः, बृहत्तरप्रतरासंख्येयजागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगतनभःप्र-

देशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि जलचरतिर्य्यग्योनिकनपुंसकाः
संख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरासंख्येयजागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताका-
शप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि चतुरिन्द्रियतिर्य्यग्योनिकन-
पुंसका विशेषाधिकाः, असंख्येयकोटीकोटिप्रमाणाकाशप्रदेश-
राशिप्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु
यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यः स्थलीन्द्रियतिर्य्यग्यो-
निकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततरश्रेणिगताकाशप्रदेशराशि-
मानत्वात् । तेभ्योऽपि द्वीन्द्रियतिर्य्यग्योनिकनपुंसका विशेषा-
धिकाः, प्रभूततमश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्यः त-
जस्कान्तिकेन्द्रियतिर्य्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, सूक्ष्म-
बादरभेदभिन्नानां नेपामसंख्येयश्लोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् ।
तेभ्यः पृथिवीकायिकैकेन्द्रियतिर्य्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधि-
काः, प्रचुतासंख्येयश्लोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्यो-
यिकैकेन्द्रियतिर्य्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततरा-
संख्येयश्लोकाकाशप्रदेशमानत्वात् । तेभ्योऽपि धायायिकैके-
न्द्रियतिर्य्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासंख्येय-
श्लोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि वनस्पतिकायिकै-
केन्द्रियतिर्य्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाश-
प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ।

अधुना मनुष्यनपुंसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! मणुस्सणपुंसकाणं कम्मजूमिकाणं अकम्म-
जूमिकाणपुंसकाणं अंतरदीवकाण य कयरे कयरेहिंते अप्पा
वा० ५ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अंतरदीवगाऽकम्मजूमगमणु-
स्सणपुंसका, देवकुलउत्तरकुलअकम्मजूमगा दो वि संखेज्ज-
गुणा, एवं जाव पुण्विदेहअगरविदेहकम्मजूमगमणुस्स-
णपुंसगा दो वि संखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः अन्तरद्वीपजमनुष्यनपुंसकाः, पते च संसृज्जनजा
द्रष्टव्याः, गर्भेभ्युत्क्रान्तिकमनुष्यनपुंसकानां तत्रासंभवात्,
संहतासु कर्मभूमिजास्तत्र भवेयुरपि । तेभ्यो देवकुलउत्तरकुल-
कर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, तद्गतगर्भजमनुष्या-
णामन्तरद्वीपजगर्भजमनुष्येभ्यः संख्येयगुणत्वात् । गर्भजमनु-
ष्योच्चारद्याधयेण च संसृज्जनमनुष्याणामुत्पादात् । स्वस्थाने
तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । एवं तेभ्यो हरिवर्षरम्यकवर्षा-
कर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि
परस्परं तुल्याः । हेमवतदेरायवतवर्षाकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः
संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । तेभ्यो
भरतैरवतवर्षाकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, स्व-
स्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । तेभ्यः पूर्वविदेहापर-
विदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु
द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । युक्तिः सर्वत्रापि तथैवानुसर्तव्या ।

सम्प्रति नैरयिकतिर्य्यग्योनिकनपुंसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं जंते ! नेरइयनपुंसकाणं रयणपुढविनेरइयनपुं-
सकाणं० जाव अहेसत्तमपुढविनेरइयनपुंसकाणं तिरिक्खजो-
णियनपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुढविकाइय-
एगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं० जाव वणस्सइकाइयए-
गिंदियनपुंसकाणं वेइंदियतेइंदियचउरिंदियपंचेइंदियतिरि-

तेभ्योऽपि नरैतवतवर्षकर्मचमकमनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः, अजितस्वामिकावे उत्कृष्टपदे स्वभावत एव नरैतवतेषु च मनुष्यपुरुषाणामतिप्राचुर्येण संभवात् । स्वस्थाने च द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य तुल्यत्वात् । तेभ्योऽपि पूर्वविदेहापर-विदेहादकर्मचमकमनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः, क्षेत्रबाहुल्यात् । अजितस्वामिकावे इव स्वभावत एव मनुष्यपुरुषाणां प्राचुर्येण संभवात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तेभ्योऽप्यनुत्तरोपपातिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, क्षेत्रपदयोपमासंख्येयजागवर्त्याकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तदनन्तरं सुपरिननप्रैवेयकप्रस्तद-देवपुरुषा अच्युतकल्पदेवपुरुषा आरणकल्पदेवपुरुषाः प्राणत-कल्पदेवपुरुषा आनतकल्पदेवपुरुषा यथोत्तरं संख्येयगुणाः । जावना प्रागिव । तदनन्तरं सदृशारकल्पदेवपुरुषा बान्तककल्प-देवपुरुषा ब्रह्मलोककल्पदेवपुरुषा माहेन्द्रकल्पदेवपुरुषाः सनत्कु-मारकल्पदेवपुरुषा ईशानकल्पदेवपुरुषा यथोत्तरमसंख्येयगु-णाः, सौधर्मकल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, सौधर्मकल्पदेवपु-रुषेभ्यो भवनवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः । भावना सवे-आपि प्रागिव । तेभ्यः क्षत्रचरतिर्यग्योनिकपुरुषा असंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयजागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाण-त्वात् । तेभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः संख्येयगुणाः, तेभ्यो-ऽपि जलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः संख्येयगुणाः । युक्तिरत्रापि प्रा-गिव । तेभ्योऽपि बाणमन्तरदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, संख्येय-योजनकोटीकोटिप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिकमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे प्रवृत्ति तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भाग-स्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो ज्योतिष्कदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः । युक्तिः प्रागेवोक्ता । जी० २ प्रति० । इति प्रतिपादितानि स्त्री-पुंनपुंसकानां प्रत्येकमल्पबहुत्वानि ।

इदानीं समुदितानामुच्यन्ते-तानि चाष्ट । तत्र-प्रथमं सामान्येन तिर्यक्छायापुरुषनपुंसकप्रतिबन्ध, एवमेतदेव मनुष्यप्रतिबन्ध द्वि-तीयम्, देवस्त्रीपुरुषनारकनपुंसकप्रतिबन्ध तृतीयम्, सकलस-न्मिश्रं चतुर्थम्, जलचर्यादिविभागतः पञ्चमम्, कर्मचमिजादि-मनुष्यादिविभागतः षष्ठं, भवनवास्यादिव्यादिविभागतः सप्तमं, जलचर्यादिविजातीयव्यक्तित्वापकमष्टमम् ॥

तत्र प्रथममभिधित्सुराह—

एतेसि एं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं तिरिक्खजोणि-यपुरिसाणं तिरिक्खजोणियणपुंसकाणं य कयरे कयरेहिं-तो० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तिरिक्ख-जोणियपुरिसा, तिरिक्खजोणियत्थीओ संखेज्जगुणाओ, तिरिक्खजोणियणपुंसका अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकास्तिर्यक्पुरुषाः, तेभ्यस्तिर्यक्छायाः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताज्यस्तिर्यक्पुंसका अनन्तगुणाः, निगोदजी-वानामनन्तत्वात् ।

संप्रति द्वितीयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि एं भंते ! मणुस्सित्थीणं मणुस्सपुरिसाणं मणु-स्सणपुंसकाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सपुरिसा, मणुस्सित्थीओ संखेज्जगुणा-ओ, मणुस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः, कोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो मनुष्यास्त्रियः संख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात् । तेभ्यो

मनुष्यनपुंसकाश्च संख्येयगुणाः, श्रेण्यसंख्येयजागगतप्रदेशरा-शिप्रमाणत्वात् ।

संप्रति तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! देवित्थीणं देवपुरिसाणं नेरइयनपुंसकाणं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा नेरइयनपुंसगा, देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, देवित्थीओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोका नैरयिकनपुंसकाः, अद्भुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशौ स्वप्र-थमवर्गभूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणास्तु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्र-देशस्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवपुरुषा असंख्येयगुणाः, अ-संख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणायां शुचौ यावन्तो नभःप्रदेशा-स्तावत्प्रमाणास्तु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशस्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवस्त्रियः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ।

संप्रति सकलसंमिश्रं चतुर्थमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं तिरिक्खजोणियपु-रिसाणं तिरिक्खजोणियनपुंसगाणं मणुस्सित्थीणं मणु-स्सपुरिसाणं मणुस्सनपुंसगाणं देवित्थीणं देवपुरिसाणं ने-रइयनपुंसकाणं य कयरे कयरेहिंतो० ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सपुरिसा, मणुस्सित्थीओ संखेज्ज-गुणाओ, मणुस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा, नेरइयणपुं-सका असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियपुरिसा असं-खेज्जगुणा, तिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, तिरिक्खजोणियनपुंसका अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः, तेभ्यो मनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः । तेभ्यो मनुष्यनपुंसका असंख्येयगुणाः । अत्र युक्तिः प्रागुक्ता । ते-भ्यो नैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, असंख्येयश्रेण्याकाशप्रदे-शराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यस्तिर्यग्योनिकपुरुषा असंख्येयगुणाः, तेभ्यस्तिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्यातगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताज्यो देवपुरुषाः संख्येयगुणाः, प्रभूततरप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येय-श्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवस्त्रियः संख्ये-यगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् । ताज्यस्तिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्त-गुणाः, निगोदजीवानामनन्तत्वात् ।

संप्रति जलचर्यादिविभागतः पञ्चममल्पबहुत्वमाह—

एतासि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं जल्यरीणं थल्यरीणं खल्यरीणं तिरिक्खजोणियपुरिसाणं जल्यराणं थल्यराणं खल्यराणं तिरिक्खजोणियणपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजो-णियणपुंसकाणं पुढक्काइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंस-गाणं० जाव वणस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसगा-णं बेइंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं, तेइंदियचतुरिंदियपं-चेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जल्यराणं थल्यराणं ख-ल्यराणं कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा खल्यरतिरिक्खजोणियपुरिसा, खल्यरतिरि-

प्रदेशराशिप्रमाणा दृष्ट्याः । "आणयपाणयमार्दं पल्लुस्साप्स-
क्षमाणा उ" इति वचनात् । केवलमसंख्येया भागां विचित्र-
इति परस्परं यथोक्तं संख्येयगुणत्वं न विरुध्यते । आनतकल्प-
देवपुरुरेभ्यः सहस्रारकल्पवासिदेवपुरुरा असंख्येयगुणाः,
घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणेरसंख्येयतमे भागे
यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्संपादयन्तेऽपि महाशु-
क्लकल्पवासिदेवपुरुरा असंख्येयगुणाः, बृहत्तरश्रेण्यसंख्येयभा-
गाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा दृष्ट्या । कथमेतत् प्रत्येयमिति चेत् ।
उच्यते-विमानयादृष्ट्यात् । तथाहि-पदसहस्राणि विमानानां
सहस्रारकल्पे, चत्वारिंशत्सहस्राणि महाशुक्ले, अन्यथाधोवि-
मानवासिनो देवा बहुबहुतराः, स्तोकरस्तोकरा उपरितनधि-
मानवासिनः, तत् उपपद्यते सहस्रारकल्पदेवपुरुरेभ्यो महाशु-
क्लकल्पवासिदेवपुरुरा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि लान्तकल्प-
देवपुरुरा असंख्येयगुणाः, बृहत्तरश्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनमा-
प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि ब्रह्मलोककल्पवासिनो
देवपुरुरा असंख्येयगुणाः, स्र्योयुदसमश्रेण्यसंख्येयजागवर्त्या-
काशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि माहेन्द्रकल्पदेवपुरुरा
असंख्येयगुणाः, न्यस्तबृहत्तरश्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनमा-
प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सनत्कुमारकल्पदेवा असंख्येयगुणाः, विमा-
नयादृष्ट्यात् । तथाहि-द्वादशशतसहस्राणि सनत्कुमारकल्पे वि-
मानानाम्, अष्टौ शतसहस्राणि माहेन्द्रकल्पे, मन्यश्च दक्षिणदि-
ग्भागवर्ती सनत्कुमारकल्पो, माहेन्द्रकल्पश्चोत्तरदिग्बर्ती, दक्षिण-
स्यां च दिशि बहवः समुत्पद्यन्ते कृष्णपाक्षिकाः, तत् उपपद्यते
माहेन्द्रकल्पात्सनत्कुमारकल्पदेवा असंख्येयगुणाः । एते च सर्वेऽपि
सहस्रारकल्पवासिदेवाः सनत्कुमारकल्पवासिदेवपर्यन्ताः
प्रत्येकं स्वस्थाने चिन्त्यमाना घनीकृतशोकैकश्रेण्यसंख्येयजाग-
वताकाशप्रदेशराशिप्रमाणा दृष्ट्याः । केवलं श्रेण्यसंख्येयभा-
गोऽसंख्येयभेदस्तत् इत्थमसंख्येयगुणनया अल्पबहुत्वमभिधी-
यमानं न विरोधमाह । सनत्कुमारकल्पदेवपुरुरेभ्य ईशानकल्प-
देवपुरुरा असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः संबन्धि-
नि द्वितीयवर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशि-
स्तावत्संख्याकास्तु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणी-
षु यावन्तो नमःप्रदेशास्तेषां यावान् द्वाविंशत्तमो भागस्तावत्प्र-
माणत्वात् । तेभ्यः सौधर्मकल्पवासिदेवपुरुराः संख्येयगुणाः,
विमानयादृष्ट्यात् । तथाहि-अष्टाविंशतिः शतसहस्राणि विमाना-
नामीशानकल्पे, द्वाविंशत् शतसहस्राणि सौधर्मकल्पे, अपि च-
दक्षिणदिग्बर्ती सौधर्मकल्पः, ईशानकल्पश्चोत्तरदिग्बर्ती, दक्षिण-
स्यां च दिशि बहवः कृष्णपाक्षिका उत्पद्यन्ते । तत् ईशानकल्प-
वासिदेवपुरुरेभ्यः सौधर्मकल्पवासिदेवपुरुराः सङ्ख्येयगुणाः ।
नन्विदं युक्तिः सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोरप्युक्ता, परं तत्र माहे-
न्द्रकल्पापेक्षया सनत्कुमारकल्पदेवा असंख्येयगुणा उक्ताः, इह
तु सौधर्मकल्पे संख्येयगुणाः, तदेतत्कथम् ? उच्यते-तथावस्तु-
स्वाभाव्यात् । एतच्चावसीयते प्रष्टापनादौ, सर्वत्र तथा भणनान् ।
तेभ्योऽपि भवनवासिदेवपुरुरा असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षे-
त्रप्रदेशराशेः संबन्धिनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन वर्गमूलेन गु-
णिते यावान् प्रदेशराशिरुपजायते तावत्संख्याकास्तु घनीकृतस्य
लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नमःप्रदेशास्तेषां या-
वान् द्वाविंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्यन्तरदेवपु-
रुराः संख्येयगुणाः, संख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणैकप्रादेशि-
कश्रेणिमात्राणि स्रग्दानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति, तेषां

यावान् द्वाविंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यः संख्येय-
गुणा ज्योतिष्का देवपुरुराः, पदपञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणै-
कप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि स्रग्दानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भव-
न्ति तेषां यावान् द्वाविंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात् । जी० २
प्रति० । इति चत्वार्यल्पबहुत्वान्युक्तानि । (इह अत्र टीका-
कारस्यात्यादयः पाठः सम्मत इदानीं तनप्रतिपु तु अन्यादंश
इति शब्दतो मेव आभाति, अर्थतस्तु न मेव ।)

सम्प्रति पञ्चममल्पबहुत्वमाह—

एतेसि खं भने ! तिरिक्खजोणियपुरिसाणं जल्लयराखं
यज्जयराणं खहयराणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मजूमगाणं अ-
कम्मजूमगाणं अंतरदीवगाणं देवपुरिसाणं णवणवासीणं
वाणमंतराणं जोतिसियाणं वेमाणियाणं सोधम्माणं जाव
सव्वद्वसिक्खगाणं य कयरे कयरेहिंती० जाव विसेसाहिया ।।
गोयमा ! सव्वत्थोवा अंतरदीवगमणुस्सपुरिसा, देवकुडउच-
रकुडअकम्मजूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, इ-
रिवासरम्मवासअकम्मजूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्ज-
गुणा, हेमवतहेरखवतासअकम्मजूमगमणुस्सपुरिसा दो
वि संखेज्जगुणा, जरहेरवयवासकम्मजूमगमणुस्सपुरि-
सा दो वि संखेज्जगुणा, पुब्बविदेहअवरविदेहकम्मजु-
मगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, अणुत्तरोववा-
त्तिदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, उवरिमगेवेज्जदेवपुरिसा सं-
खेज्जगुणा, मज्झिमगेवेज्जदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, हिं-
डिमगेवेज्जदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, अच्चुते कप्पे देवपु-
रिसा संखेज्जगुणा, आरणकप्पे देवपुरिसा संखेज्ज-
गुणा, पाणयकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, आणतकप्पे
देवपुरिसा संखेज्जगुणा, सहस्रारकप्पे देवपुरिसा अ-
संखेज्जगुणा, महाशुक्लकप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा
जाव माहिंद कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, सणकुमार-
कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, ईसाणकप्पे देवपुरिसा असं-
खेज्जगुणा, सोधम्मे कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा,
भनणवासिदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, खहयरतिरिक्खजो-
णियपुरिसा असंखेज्जगुणा, थलयरतिरिक्खजोणियपु-
रिसा संखेज्जगुणा, जज्जयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखे-
ज्जगुणा, वाणमंतरदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, जोतिसिय-
देवपुरिसा संखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोका अन्तरद्वीपजमनुष्यपुरुराः, क्षेत्रस्य स्तोक्त्यात् ।
तेभ्यो देवकुडउचरकुडमनुष्यपुरुराः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य बाहु-
व्यात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तेभ्योऽपि इति-
वपरिभ्यकवर्षाकर्ममूमकमनुष्यपुरुराः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्या-
तिबहुत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य
समानत्वात् । तेभ्योऽपि हेमवतहेरखवताकर्ममूमकमनु-
ष्यपुरुराः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्याल्पत्वेऽल्पत्वेऽल्पद्विधितया प्रा-
चुर्येण सम्यमानत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः ।

वा० ४ ! गोयमा ! सव्वत्थोवा अंतरदीवकअकम्मचूमिकम-
णुस्सित्थीओ मणुस्सपुरिसा य एतेणं दां वि तुह्वा सव्व-
त्थोवा, देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मचूमगमणुस्सित्थीओ मणु-
स्सपुरिसा य एतेणं दां वि तुह्वा संखेज्जगुणा; एवं
हरिवासरम्मवासे, एवं हेमवते हेरणवते, जरहेरवतवास-
कम्मचूमगमणुस्सपुरिसा दां वि संखे०, जरहेरवयकम्मचूम-
गमणुस्सित्थीओ दां वि संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरवि-
देहकम्मचूमगमणुस्सपुरिसा दां वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेह-
अवरविदेहकम्मचूमगमणुस्सित्थियाओ दां वि संखेज्ज-
गुणाओ, अणुत्तरोवचातियदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा ;
उवरिमगेवेज्जा देवपुरिसा संखेज्जगुणा० जाव आणतकप्पं
देवपुरिसा संखेज्जगुणा, अहेसत्तमाए पुढवीए नेरइयणपुंस-
गा असंखेज्जगुणा, अहीए नेरइयणपुंसका असंखेज्जगु-
णा, सहस्सारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, महा-
सुक्के कप्पे असंखेज्जगुणा, पंचमाए पुढवीए नेरइयणपुंस-
का असंखेज्जगुणा, तंतए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगु-
णा, चउत्थीए पुढवीए नेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा,
वंभलोए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, तच्चाए पुढवी-
ए नेरइया असंखेज्जगुणा, माहिंदे कप्पे असंखेज्जगुणा,
सणकुमारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, दोच्चाए पु-
ढवीए नेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, अंतरदीवगअक-
म्मचूमगमणुस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा । देवकुरुउत्तरकुरु-
अकम्मचूमगमणुस्सणपुंसका दां वि संखेज्जगुणा, एवं० जाव
विदेहोत्ति । ईसाणकप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, ईसाण-
कप्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, सांधम्मे कप्पे देवपु-
रिसा संखेज्जगुणा, मोधम्मे कप्पे देवित्थियाओ संखेज्ज-
गुणाओ, जवणवासिदेवपुरिसा असंखे०, भवणवासिदे-
वित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ; इमी सै रयणप्पजाए पुढ-
वीए नेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, खहयरतिरिक्खजो-
णियपुरिसा संखेज्जगुणा, खहयरतिरिक्खजोणित्थिया-
ओ संखेज्जगुणाओ, थलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखे-
ज्ज०, थलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखे०, जलयरतिरि-
क्खजोणियपुरिसा संखेज्ज०, जलयरतिरिक्खजोणि-
त्थियाओ संखेज्जगुणाओ, वाणमंतरदेवपुरिसा संखेज्जगु-
णा, वाणमंतरदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, जोइसिय-
देवपुरिसा संखेज्ज०, जोइसियदेवित्थियाओ संखेज्जगु-
णाओ । खहयरपंचेदियतिरिक्खजोणियणपुंसका असंखेज्ज-
गुणा, थलयरनपुंसका संखे०, जलयरनपुंसका संखे०,
चतुरिंदियणपुंसका वित्तेमाहिया, तेइदिया वित्तेसाहिया, वें-
दिया वित्तेसाहिया, तेउकाइयएणिंदियतिरिक्खजोणिय-
नपुंसका असंखे०, पुढवि० वित्तेमाहिया, आउ० वित्तेसाहि-

एतासि णं जंतं ! देवित्थीणं जवणवामीणं वाणमंतरीणं
जोइमीणं वेमाणिणीणं देवपुरिसाणं भवणवासीणं० जाव
वेमाणिग्याणं सोधम्मकाणं० जाव मेविज्जकाणं अणुत्तरोववा-
इयाणं णेरइयनपुंसकाणां रयणप्पमापुढविनेरइयनपुंसकाणं०
जाव अहेसत्तमापुढविनेरइयनपुंसगाणं कयरे कयंहेत्ता०
जाव त्रिसैसाहिया वा !। गीयमा । सव्वत्थोवा अणुत्तरोववा-
इया देवपुरिसा, उवरिमगेवज्जा देवपुरिसा संखेज्जगुणा, तहे-
व० जाव आणतकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, अहेसत्तमाए
पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, षट्ठीए पुढवीए
नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, सहस्सारे कप्पे देवपुरिसा
असंखेज्जगुणा, महासुक्के कप्पे देवा असंखेज्जगुणा,
पंचमाए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, लंतए
कप्पे असंखेज्जगुणा, चउत्थीए पुढवीए नेरइया असं-
खेज्जगुणा, वंभल्लोए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,
तथाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, माहिंदे कप्पे दे-
वपुरिसा असंखेज्जगुणा, सणंकुमारे कप्पे देवपुरिसा
असंखेज्जगुणा, दोच्चाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा,

रे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा परिमंढवसंठाणा दव्वट्टयाए, वट्टासंठाणा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, चउरंसासंठाणा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, तंसासंठाणा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, आयतसंठाणा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, अणित्थंत्या संठाणा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा । पदेसट्टयाए सव्वत्थोवा परिमंरुळा संठाणा, वट्टासंठाणा पदेसट्टयाए संखेज्जगुणा । जहा दव्वट्टयाए तहा पदेसट्टयाए वि० जाव अणित्थंत्या संठाणा पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा । दव्वट्टपदेसट्टयाए सव्वत्थोवा परिमंरुळा संठाणा, दव्वट्टयाए सो चेव गमगो भाणियव्वो० जाव अणित्थंत्या संठाणा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, अणेत्थंत्येहिंतो संठाणेहिंतो दव्वट्टयाएहिंतो परिमंरुळा पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, वट्टासंठाणा पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, सो चेव पदेसट्टयाए गमओ जाणियव्वो० जाव अणित्थंत्या संठाणा पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा । न० ५५ श० ३ उ० ।

(पदकसमजितानां यावच्चतुरशीतिसमजितानामल्पबहुत्वं 'बचवाय' शब्दे द्वितीयभागे ६२२ पृष्ठे निरूपयिष्यते)

[सम्यक्त्वद्वारम्] सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टीनामल्पबहुत्वम्—

एएसि एं भंते ! जीवाणं सम्मादिडीणं मिच्छादिडीणं सम्मामिच्छदिडीणं च कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सम्मामिच्छदिडी, सम्मादिडी अणंतगुणा, मिच्छादिडी अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयः, सम्यग्मिथ्यादृष्टिपरिणामकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणतयाऽतिस्तोकात्वेन तेषां पृच्छासमये स्तोकाणामेव ब्रज्यत्वात् । तेभ्यः सम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽपि मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः, वनस्पतिक्वायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात्, तेषां च मिथ्यादृष्टित्वादिति । प्रज्ञा० ३ पद ।

सम्यक्त्वद्वारे सास्वादनसम्यग्दृष्टयः स्तोकाः, औपशमिकसम्यक्त्वात्केषांचिदेव प्रच्यवमानानां सास्वादनत्वात् । तेभ्य औपशमिकसम्यग्दृष्टयः सङ्ख्यातगुणाः ।

मीसा संत्वा वेयग—असंखगुण खइय मिच्छ दु अणंता । संनियर थोवडणंता—एणहार थोवेयर असंत्वा ॥ ४४ ॥

तेभ्य औपशमिकसम्यग्दृष्टयो मिथाः संख्यातगुणाः, तेभ्यो (वेयग चि) क्षाद्योपशमिकसम्यग्दृष्टयोऽसंख्यातगुणाः । तेभ्यः क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणाः, क्षायिकसम्यक्त्ववतां सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽपि मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः, सिद्धेभ्योऽपि वनस्पतिजीवानामनन्तगुणत्वात्, तेषां च मिथ्यादृष्टित्वादिति । कर्म० ४ कर्म० ।

[सिद्धिविषयकम्] सिद्धासिद्धयोरल्पबहुत्वम्—

एएसि एं भंते ! सिद्धाणं असिद्धाणं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सिद्धा, असिद्धा अणंतगुणा ।

“एएसि णमित्थादि” प्रश्नसूत्रं सुगमम् । प्रगवानाह—गौतम ! सर्वस्तोकाः सिद्धाः, असिद्धा अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामतिप्रभृतत्वात् ।

(सूत्राद्वारम्) सूत्रमवादनोसूत्रमनोवादराणामल्पबहुत्वम्—

एएसि एं भंते ! सुहुमाणं वादराणं नोसुहुमाणं नोवादराणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा नोसुहुमा नोवादरा, वादरा अणंतगुणा, सुहुमा असंखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोकाः जीवा नोसूत्रमा नोवादराः, सिद्धा इत्यर्थः ; तेषां सूत्रमजीवराशेर्वादराशेऽनन्तभागकल्पत्वात् । तेभ्यो वादरा अनन्तगुणाः, वादरनिगोदजीवानां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणत्वात् । तेभ्यः सूत्रमा असंखेयगुणाः, वादरनिगोदेभ्यः सूत्रमनिगोदानामसंखेयगुणत्वात् । गतं सूत्रमद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । कर्म० क० प्र० । पं० सं० । (स्थितिवन्धानामल्पबहुत्वं 'बंध' शब्दे द्रष्टव्यम्)

अप्पाभिणिवेस—आत्माजिनिवेश—पुं० । पुत्रत्रातृकलत्रादिष्वात्मीयाभिनिवेशे, नैरात्म्यावगतौ आत्माजिनिवेशः । न० ।

अप्पायंक—अल्पातङ्क—त्रि० । अल्पशब्दोऽभाववाची । अल्पः सर्वथाऽविद्यमान आतङ्को ज्वरादिर्यस्याऽऽसावल्पातङ्कः । जी० ३ प्रति० । रा० । अनातङ्के नीरोगे, म० १४ श० १ उ० । अरोगिणि, आचा० १ सु० २ अ० ६ उ० । उपा० । रोगमुक्ते, ध० ३ अधि० । ओघ० ।

अप्पारंभ—अल्पाभारम्भ—त्रि० । कृप्यादिरूपं पृथिव्यादिजीवोपमं दे एवं कुर्वाणे, औ० ।

अप्पावय—अप्रावृत—त्रि० । अस्यगिते, सूत्र० १ सु० ५ अ० १ उ० ।

अप्पावयदुवार—अप्रावृतद्वार—पुं० । अप्रावृतमस्थगितं द्वारं गृहमुखं यस्य सोऽप्रावृतद्वारः । ददसम्यक्त्वे, यस्य हि गृहं प्रविश्य परतीर्थिकोऽपि यद्यत् कथयति तदसौ कथयतु, न तस्य परिजनोऽप्यन्यथा भावयितुं सम्यक्त्वाच्छावयितुं शक्यते इति यावत् । सूत्र० २ सु० ६ अ० ।

अप्पाह—संदिश—धा० । सम्-दिश-तुदा० । वार्ताकथने, प्राकृते—“संदिशेरप्पाहः” ॥ ८ । ४ । १०० ॥ इति सूत्रेण संपूर्वकस्य दिशेरप्पाहादेशः । प्रा० ४ पाद । अप्पाहति संदिशति व्य० १ उ० । अप्पाहति संदेशं कथयति, यथा—मया कृतोऽमुकस्य समीपे कायोत्सर्ग इति । व्य० ४ उ० ।

अप्पाहाण—अप्राधान्य—न० । अप्रधानत्वे, पञ्चा० १ विव० ।

अप्पाहार—अल्पाहार—पुं० । अल्पआसौ आहारश्च अल्पाहारः । स्तोकाहारे, अल्प आहारो यस्य सोऽल्पाहारः । स्तो-कमाहारमाहारयति साधौ, म० ।

अट्टकुकुकिअंगप्पमाणमेत्ते कवले आहारसाहारेमाणे अप्पाहारे ।

कुक्कुट्यपरुकस्य यत्प्रमाणं मानं तत्परिमाणं मानं येषां ते तथा । अथवा कुटीव कुटीरकमिव जीवस्याश्रयत्वात् कुटी शरीरं, कुत्सिता अणुचिप्रायत्वात् कुटी कुकुटी, तस्या अणुक-

या, वाउ० विसेसाहिया, वणप्फइकाइयएगिदिपतिरे-
क्वजोणियणुमका अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकमनुप्यस्त्रियो मनुप्यपुरुषाश्च, स्व-
स्थाने तु द्वयेऽपि तुल्याः। युगत्रयमीपेतत्वात् । एवं देवकु-
त्तरकुर्वकर्मन्मकमहरिचपरंरयकवर्षाकर्मन्मकमैमयतहैरय-
यनाकर्मन्मकमनुप्यस्त्रियोपुरुषा यथोत्तरं संख्येयगुणाः, स्व-
स्थाने तु परस्परं तुल्याः। तेज्यो भरतैरयतकर्मन्मकमनुप्यपु-
रुषा द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः। ते-
ज्यो भरतैरयतकर्मन्मकमनुप्यस्त्रियो द्वयोऽपि संख्येयगुणाः,
स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः। ताभ्यो पूर्वविदेहापरविदेहक-
र्मन्मकमनुप्यपुरुषा द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु पर-
स्परं तुल्याः। तेज्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकर्मन्मकमनु-
प्यस्त्रियो द्वयोऽपि संख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्व-
स्थाने तु परस्परं तुल्याः। ताभ्योऽनुत्तरापपातिकोपरितनप्रवेय-
कमभ्यमभवेयकाधत्तनभवेयकाच्युतराणमाणतानतकल्पदेवपु-
रुषाः यथोत्तरं संख्येयगुणाः; ततोऽधःसप्तमपष्टपृथिवीनैरयि-
कसहस्रारकल्पदेवपुरुषा महाशुककल्पदेवपुरुषाः पञ्चमपृथि-
वीनैरयिकलान्तककल्पदेवपुरुषाश्चतुर्थपृथिवीनैरयिकनपुंसक-
ग्रहज्ञाककल्पदेवपुरुषात्तृतीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकमाहेन्द्रकल्प-
सनत्कुमारकल्पदेवपुरुषाद्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकान्तरद्वी-
पनपुंसका यथोत्तरं संख्येयगुणाः। ततो देवकुत्तरकुर्वकर्म-
न्मकः; रिवरैरयकवर्षाकर्मन्मकमैमयतहैरययताकर्मन्मक-
भरतैरयतकर्मन्मकपूर्वविदेहापरविदेहकर्मन्मकमनुप्यनपुंस-
काः यथोत्तरं संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वये परस्परं तुल्याः।
तन ईशानकल्पदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, तत ईशानकल्पे दे-
वस्त्रियः संख्ये०। ताभ्यः सौधर्मकल्पे देवपुरुषस्त्रियः संख्ये०। ते-
भ्यो भयनवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, तेज्यो भयनवासिदे-
वस्त्रियः संख्येयगुणाः। ताभ्योऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैर-
यिकनपुंसका असंख्येयगुणाः। ततः अचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः
अचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः स्थलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः स्थलचर-
तिर्यग्योनिकस्त्रियः जलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः जलचरतिर्यग्यो-
निकस्त्रियो बाणमन्तरदेवपुरुषाः बाणमन्तरदेवस्त्रियो ज्योति-
ष्कदेवपुरुषाः ज्योतिष्कदेवस्त्रियो यथोत्तरं संख्येयगुणाः।
ततः अचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः।
ततः स्थलचरजलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकाः क्रमेण
संख्येयगुणाः, ततः अतुरिन्द्रियत्रोन्द्रियद्वीन्द्रियतिर्यग्योनिक-
नपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः। ततस्तेजस्कथिकैकेन्द्रिय-
तिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, ततः पृथिव्यव्यायुका-
यिकतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः। वनस्प-
तिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः, निगोद-
जीवानामनन्तत्वात्। जी० २ प्रति०।

शरीरमाश्रित्य सशरीराशरीरास्त्वहुत्वचिन्तायाम्-

"सर्वतथोवा ससरीरी, असरीरी अणंतगुणा"

(शए) [शरीरद्वारम्] आहारकादिशरीरिणाम्-

अप्पावहुं-सर्वतथोवा आहारगसरीरी, वेदवियसरीरी
असंख्येयगुणा, ओराहियसरीरी असंख्येयगुणा, अ-
सरीरी अणंतगुणा, तेयाकम्मासरीरी दो वि तुष्ठा अ-
णंतगुणा।

सर्वस्तोका आहारकशरीरिणः, उत्कर्षतोऽपि सहस्रपृथक्त्वेन
प्राप्यमाणत्वात्। तेभ्यो वैक्रियशरीरिणोऽसंख्येयगुणाः; देवनार-
काणां कतिपयवर्गे जतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुप्यवायुकाधिकानां च वै-
क्रियशरीरत्वात्। तेज्य औदारिकशरीरिणोऽसंख्येयगुणाः, इहा-
नन्तानामपि जीवानां यस्माद्विकर्मौदारिकं शरीरं ततः स एक-
औदारिकशरीरी परिगृह्यते, ततोऽसंख्येयगुणा एवौदारिकशरी-
रिणा नानन्तगुणाः। आह व भूश्रुटीकाकारः 'औदारिकशरीरिभ्यो-
ऽशरीरा अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात्, औदारिकशरीरिणां
च शरीरापेक्षया असंख्येयत्वादिति'। तेज्योऽशरीरिणोऽनन्त-
गुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात्। तेज्यः तैजसशरीरिणः कार्मणश-
रीरिणः अनन्तगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः। तै-
जसकार्मणयोः परस्परविनाप्राप्तित्वात्। इह तैजसशरीरं कार्-
मणशरीरं च निगोदेवपि प्रतिजीवं विद्यते, इति सिद्धेज्योऽप्य-
नन्तगुणत्वम्। जी० ६ प्रति०। (औदारिकादिशरीराणां चाल्पव-
हुत्वं 'सरीर' शब्दे वक्ष्यते) (संकमविषयमल्पवहुत्वं 'संकम'
शब्दे द्रष्टव्यम्) (समुदातविषयमल्पवहुत्वं 'समुग्धाय' शब्दे
प्रकृपयिष्यते)

[संक्षिप्तारम्] संख्यसंज्ञिनोऽसंज्ञिनामसंज्ञिनामल्पवहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं सन्नीणं असन्नीणं नोसन्नीणं
नोअसन्नीणं य कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ?। गोय-
मा ! सर्वतथोवा सन्नी, नोसन्नी नोअसन्नी अणंतगुणा,
असन्नी अणंतगुणा।

सर्वस्तोकाः संज्ञिनः, समनस्कानामेव संज्ञित्वात्। तेज्यो नोसं-
ज्ञिनो नोऽसंज्ञिनोऽनन्तगुणाः, उभयप्रतिषेधवृत्ता हि सिद्धाः, तेच
संज्ञिभ्योऽनन्तगुणा एवेति। तेभ्योऽसंज्ञिनोऽनन्तगुणाः, वनस्पती-
नां सिद्धेज्योऽप्यनन्तगुणत्वात्। प्रज्ञा० ३ पद। (आहारादिऽज्ञो-
पयुक्तानां नैरयिकादीनामल्पवहुत्वं 'सन्ना' शब्दे वक्ष्यते) (सा-
मायिकादिसेयतविषयमल्पवहुत्वं 'संजय' शब्दे एव द्रष्टव्यम्)
(संयमस्थानानामल्पवहुत्वं 'संजमद्वाण' शब्दे भावयिष्यते)

[संयमद्वारम्] संयतानामसंयतानां नोसंयत-

नोअसंयतानामल्पवहुत्वम्-

एएसि णं जंते ! जीवाणं संजयाणं असंजयाणं संजयासं-
जयाणं नोसंजयाणं नोअसंजयाणं य कयरे कयरेहिंते अप्पा
वा० ४ ?। गोयमा ! सर्वतथोवा जीवा संजया, संजयासंजया
असंख्येयगुणा, नोसंजता नोअसंजता अणंतगुणा, अ-
संजता अणंतगुणा।

सर्वस्तोकाः संयताः, उत्कृष्टपदेऽपि तेषां कोटिसहस्रपृथक्त्वप्र-
माणतया लक्ष्यमानत्वात्। "कोटिसहस्रपुटुत्वं मण्ड्यलोप
संजयाणं" इति वचनात्। तेज्यः संयतासंयता देशविरता असं-
ख्येयगुणाः, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामसंख्यातानां देशविरतिसङ्गा-
त्वात्। तेज्यो नोसंयता नोअसंयता अनन्तगुणाः, प्रतिषेध-
वृत्ता हि सिद्धाः, ते चानन्ता इति। तेज्योऽसंयता अनन्त-
गुणाः, वनस्पतीनां सिद्धेज्योऽप्यनन्तत्वात्। प्रज्ञा० ३ पद।

संस्थानानामल्पवहुत्वम्-

एएसि णं जंते ! परिमंरुद्धवद्वचरंसंतसआयतअणित्यंत्था-
यं संज्ञाणं दव्वड्ढयाए पदेसड्ढयाए दव्वड्ढपदेसड्ढयाए कय-

अप्पोसहिमंतवल-अट्पौपधिमन्त्रवल-त्रि० । अट्पं स्तोकमौ-
पधिमन्त्रवलं यस्य स तथा । स्तोकेनौपधिमन्त्रवत्त्वेन युते,
'अप्पोसहिमंतवल्लो नहु अप्पाणं तिगिस्सिहिस्सि' आब०४ अ० ।
अप्पालिण-आस्फालन-न० । इस्तेनाऽऽतामने उत्तेजने,
औ० । दशा० । भम्माहोरम्माणं वादनमास्फालनमिति प्र-
सिद्धम् । रा० । आ० चू० ।

अप्पालिज्जंत-आस्फाल्यमान-त्रि० । इस्तेनाऽऽताम्यमाने,
" अप्पालिज्जंतीणं भंमाणं होरंमाणं " रा० ।

अप्पा (फा) लिय-आस्फालित-त्रि० । आ समन्तात्स्फारं
प्रापिते, व्य० १ उ० ।

अप्पिह-अस्पृह-त्रि० । स्पृहाविरहिते " उपसर्गाननिष्टेष्टा-
त्रेकोऽमीरस्पृहः क्षमेत् " आ० म० द्वि० ।

अप्पुमिय-अस्फुटित-त्रि० । अजर्जरे, जं० २ वक्र० । " अक्षं-
डस्फुमिआ कायव्वा " अस्फुटिताः सर्वविधाधनापरित्यागेन,
दश० ६ अ० ।

अप्पुमियदंत-अस्फुटितदन्त-त्रि० । अस्फुटिता अजर्जरा ज-
रारहिता दन्ता येषां तेऽस्फुटितदन्ताः । जी० ३ प्रति० । अजर्ज-
रदन्तेषु, जं० २ वक्र० । औ० । राजिरहितदन्तेषु, तं० व्य० क० ७० ।

अप्पुस-आक्रान्त-त्रि० । आ-क्रम-क्त । " केनाप्पुसादयः " ८ । ४ । २५८ । इति कविशिष्टस्याऽऽक्रान्तशब्दस्याप्पुसादेशः ।
प्रा० ४ पाद । व्याप्ते, " अप्पुसा समार्णः " नि० । अप्पुसं चि,
आस्पृष्टा व्याप्ता, आक्रान्ता इति यावत् । अनु० । जं० । रा० ।

अप्पोआ (या)-अप्पोया-औ० । वनस्पतिविशेषे, जी० ३
प्रति० । व्य० । जं० । प्रज्ञा० ।

अप्पोदिअ (ह)-आस्फोटित-न० । करास्फोटे, जं० ३ वक्र० ।
प्रश्न० । ज० । ज्ञा० । क० १० ।

अप्पो (फो) व-अप्पोव-पुं० । वृक्षाद्याकीर्णं, अप्पोव इति
किमुक्तं भवति-भास्तीर्णवृक्षगुल्मवृक्षतासंज्ञ इत्यर्थः, इति
बृह्वाः । उक्त० १८ अ० ।

अप्पोवमंरु-अप्पो (फो) वमएरुप-पुं० । अप्पोवश्चासौ म-
एडपः । नागवल्लीक्षाकादिभिर्वेष्टिते स्थाने, " अप्पोवमंरुवमि,
ज्जायइ कखवियासवे " उक्त० १ अ० ।

अप्परुस-अपरुप-न० । अनिष्टुरे, मनःप्रह्लादके, व्य० ३ उ० ।

अप्परुसजासि (ए)-अपरुपभाषिन्-त्रि० । अपरुपमनिष्ठुरं
तद्भाषणशालोऽपरुपमापी । वाग्धिनयविशेषं प्रतिपन्नं, व्य० १ उ० ।

अप्परुवादि (ए)-अप्परुवादिन्-पुं० । न विद्यते कस्याश्चि-
त् क्रियायाः फलमित्येववादिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अप-
रुवादिनश्चाऽक्रियावादिन इति तत्रैवेतन्मत उपन्यस्य दूषितम् ।

तीर्थान्तरीयाणामफलवादित्वम्—

अगारमावसंता वि, अरण्या वा वि पव्वया ।

इमं दरिसणमावप्सा, सव्वज्जुक्खा त्रिमुच्चई ॥ १९ ॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते ओहंतराहिया ॥ २० ॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपारगा ॥ २१ ॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते गव्वस्स पारगा ॥ २२ ॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते जम्मस्स पारगा ॥ २३ ॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते दुक्खस्स पारगा ॥ २४ ॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते मारस्स पारगा ॥ २५ ॥

साम्प्रतं पञ्चनूतात्माऽद्वैततज्जीवतच्छरीराकारकात्मपट्टकणि-
कपञ्चस्कन्धवादिनामफलवादित्वं वक्तुकामः सूत्रकारस्तेषां स्व-
दर्शनफलाभ्युपगमं दर्शयितुमाह—(भगवतेत्यादि) भगारं गृहं
तदावसन्तस्तस्मिंस्तिष्ठन्तो गृहस्था इत्यर्थः । आरण्या वा ता-
पसादयः, प्रव्रजिताश्च शाक्यादयः । अपिः सम्भावने । इदं ते
संज्ञायन्ति-यथेदमसदीयं दर्शनमापन्ना आश्रिताः सर्व-
दुःखेभ्यो विमुच्यन्ते । आप्तवादेकवचनं सूत्रं कृतम् । तथाहि-
पञ्चनूततज्जीवतच्छरीरवादिनामयमाशयः-यथेदमसदीयं दर्श-
नं ये समाश्रितास्ते गृहस्थाः सन्तः सर्वेभ्यः शिरस्तुण्डमुखन-
दएराजिनजटाकापायचोचरधारणकेशोल्लुञ्चनभोग्यस्तपश्चर-
णकारकेशरूपेभ्यो दुःखेभ्यो मुच्यन्ते । तथाहुः—“तपांसि यात-
नाश्रिताः, संयमो जोगवञ्चनम् । अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालकीर्ण-
वदयत ” ॥ १ ॥ इति । सांन्यादयस्तु-मोक्षवादिन एवं संभा-
वयन्ति-यथा येऽस्मदीयं दर्शनमकर्तृत्वात्माऽद्वैतपञ्चस्कन्धा-
दिप्रतिपादकमापन्नाः प्रव्रजितास्ते सर्वेभ्यो जन्मजरामरणगर्भ-
परम्पराऽनेकशरीरमानसाऽतितीव्रतराऽसातोदयरूपेभ्यो दुः-
खेभ्यो विमुच्यन्ते । सकलद्वन्द्वविनिर्मोक्षं मोक्षमास्कन्दन्तीत्यु-
क्तं भवति ॥ १६ ॥ इदानीं तेषामेवाऽफलवादित्वाविष्करण-
याह—(ते णावीत्यादि) ते पञ्चनूतवाद्याणाः, नापि नैव, सन्धि-
छिन्नं विवरं, स च कस्यनावमेदाद् द्वेधा-तच्च कस्यसन्धिः
कुड्यादिः, नावसन्धिर्ज्ञानावरणादिविवररूपः, तमज्ञात्वा ते
प्रवृत्ताः । णमिति बान्यालङ्कारे । यथा-आत्मकर्मणोः स-
न्धिर्द्विधा भावलक्षणो भवति, तथा अबुद्धा इव ते बराका
दुःखमोक्षार्थमन्युद्यता इत्यर्थः । यथा त एवंभूतास्तथा प्रति-
पादितं, लेशतः प्रतिपादयिष्यते च । यदि वा संधानं सन्धि-
रुत्तरोत्तरपदार्थपरिज्ञानं, तदज्ञात्वा प्रवृत्ता इति । यतश्चैवम-
तस्ते न सम्यग्धर्मपरिच्छेदे कर्तव्ये विद्वांसो निपुणाः, जनाः प-
ञ्चनूतास्तित्वादिवादिनो बोका इति । तथाहि-ज्ञान्यादिको द-
शविधो धर्मस्तमज्ञात्वैवान्यथा च धर्मं प्रतिपादयन्ति । यत्फला-
भावाच्च तेषामफलवादित्वं तदुत्तरग्रन्थेनोद्देशकपरिसमाप्त्य-
वसानेन दर्शयति-ये ते त्विति । तुमहं इव शब्दार्थः । य इत्यस्या-
नन्तरं प्रयुज्यते । ये च ते एवमनन्तरोक्तप्रकारवादिनो नास्ति-
कादयः, ओघो भवौघः संसारः, तत्तरणशीलास्ते न भवन्तीति
श्लोकार्थः ॥ २० ॥ तथा न ते वादिनः संसारगर्भजन्मदुःखमा-
रादिपारगा भवन्तीति । २१ । २२ । २३ । २४ । २५ ।

नाणाविहाईं दुक्खाईं, ऽणुहवींते पुणो पुणो ॥

संसारचक्रवालमि, मच्चुवाहिजगकुले ॥ २६ ॥

उच्चावयाणि गच्छंता, गज्जमेसंतिऽणंतमो ।

नायपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणोचमे । २७ ।

निवाणकनुदरपूरकत्वादाहारः कुकुट्यण्णकम्, तस्य प्रमाणतो मात्रा द्वित्रिंशत्तमांशरूपा येषां ते कुकुट्यण्णकप्रमाणमात्राः । अतस्तेपानयमनिर्णयः-यात्रान् यस्य पुरुषस्याहारस्य द्वित्रिंशत्तमो भागस्तत्पुरुषापेक्षया कथलः । इदमेव कथलमानमाश्रित्य प्रसिद्धकथलचतुःपञ्चादिमानाहारस्यापि पुरुषस्य द्वित्रिंशत्तमा कथलैः प्रमाणमात्रतोपपन्ना स्यात्, नहि स्वजोजनस्याहं युक्तवतः प्रमाणमात्रत्वमुपपद्यते । प्रथमव्याख्यानं तु प्राचिकपञ्चमयगन्तव्यमिति । (अप्पाहारो चि) अल्पाहारः, साधुभवनोति गम्यम् । अथवाऽष्टौ कुकुट्यण्णकप्रमाणमात्रान् कथलानाहारमाहारयति कुर्वति साधौ अल्पाहारः स्तोकाहारः, आहारचतुर्थांशरूपत्वात्तस्य । अ० ७ श० १ उ० । व्य० । आचा० । (अल्पाहारस्य इन्द्रियाणि विषयेषु न वर्तन्ते इति 'जिणकप्पिय' शब्दे वक्ष्यते)

अप्पाहिगरण-अल्पाधिकरण-पुं० । अल्पमविद्यमानमधिकरणं स्वपक्षपरपक्षविषयो यस्य तत्तथा । श्वा० ६ डा० १० उ० । निष्कण्ठे, स्था० ८ डा० ।

अप्पिच्छ-अद्वेष-त्रि० । अल्पा स्तोका धर्मोपकरणप्राप्तिनाशविषयत्वेन, न तु सत्कारादिकांमिनया महती, अल्पशब्दस्याभाववाचित्वेनाविद्यमाना इच्छा वाञ्छा यस्येत्यल्लेखः । उच० ३ अ० । अमहेच्छे, औ० । धर्मोपकरणमात्रधारिणि, उच० २ अ० । न्यूनोदरतयाऽऽहारपरित्यागिनि, दश० ८ अ० । अल्पाः स्तोकाः परिप्रहारस्मेषिच्छाऽन्तःकरणप्रवृत्तिर्येषां ते तथा । सूत्र० २ ध्रु० २ अ० । मणिकनकादिविषयप्रतिबन्धरहिते, जी० ३ प्रति० । तं० । जं० ।

अप्पिय-अप्रिय-अ० । प्रियस्याभायोऽप्रियम् । वित्तदुःखासिकायाम्, सूत्र० १ ध्रु० ४ अ० १ उ० । न प्रियमाप्रियम् । अप्रीतिहेतौ, अ० १ श० ५ उ० । उपा० । द्वेषे, स० । यदि दर्शनायातकास्तेऽपि न प्रिययुक्तिमुत्पादयति । जी० १ प्रति० । प्रेमाश्रयिष्ये, स्था० ८ डा० । "अणिट्ठा अकंता अप्रिया अमणुआ अमणा एकठा" विपा० १ ध्रु० १ अ० । "कोहं असखं कुव्विज्जा, धारिज्जा पियमप्पियं" । अप्रियमपि कर्णकद्रुकतया तदनिष्टमपि, शुरुवचनमिति गम्यते । उच० १ अ० ।

अर्पित-त्रि० । प्राकृतसुखतेन दौकिते, उच० ३ अ० । आहिते, ज० ५ श० ७ उ० । दौकिते, विपा० १ ध्रु० २ अ० । विशेषिते, स्था० १० डा० । "अप्पियमयं विसेसो, सामन्नमणप्पियनयस्स" विशे० । "जहा दवियमप्पियं तं तहेव" यद् व्यमर्षितं प्रतिपादयितुमर्हम् । सम्म० १ काण्ड ॥

अल्पित-त्रि० । अल्पं क्रियते स्म, अल्प-कृतार्थे णिच्, कर्मणि कः । अल्पीकृते, "मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः" वाच० ।

अप्पियकारिणी-अप्रियकारिणी-स्त्री० । श्रोतुमृतनिवेदनादिरूपायां भाषायाम्, "अप्पियकारिणि च मासं न जासिज्जा सया सपुज्जो" दश० ६ अ० ३ उ० ।

अप्पियणय-अर्पितनय-पुं० । अर्प्यते विशेष्यते इत्यर्पितो वि. शेषः, तन्नादी नयोऽर्पितनयः । विशेष एवास्ति न सामान्यमिति समयप्रसिद्धे नये, विशेषः । सम्म० ।

अप्पियता-अप्रियता-स्त्री० । अप्रमेहेतुतायाम्, अ० ६ श० ३ उ० ।

अप्पियववहार-अर्पितव्यवहार-पुं० । अर्पित इति व्यवहारो १६६

यस्मिन् सोऽयमर्पितव्यवहारः । मयूरव्यंसकादित्वात् समासः । अर्पितानामन्नायिकादिप्रायः । स्वाधारे भाववति, ज्ञाताश्रमित्यादिरूपेण ज्ञानमस्येत्यादिरूपेण वचनव्यापारेण वक्ष्यास्थापिते व्यवहारे, उच० १ अ० ।

अप्पियवह-अप्रियवह-त्रि० । अप्रियं दुःखकारणं तद् प्रतीति अप्रियवधाः । दुःखहेतुनिवारके, "सव्वे पाणापियाउया सुहसाया डक्खणभिकूला अप्पियवहा" आचा० १ ध्रु० २ अ० ३ उ० । अप्पियस्सर-अप्रियस्वर-त्रि० । प्रेमाश्रयिष्यस्वरे, स्था० ८ डा० ।

अप्पियाणप्पिय-अर्पितानर्पित-न० । द्रव्यं ह्यर्पितं विशेषितं यथा जीवद्रव्यम्, किंविधम् ? संसारीति, संसार्यपि त्रसरूपं, त्रसरूपमपि पञ्चेन्द्रियम्, तदपि नररूपमित्यादि । अनर्पितमविशेषितमेव यथा जीवद्रव्यमिति । ततश्चाप्यर्पितं च तदनर्पितं चेत्यर्पितानर्पितं द्रव्यं प्रवर्ततीति सामान्यविशेषकथनरूपे द्रव्यानुयोगभेदः, स्था० १० डा० ।

अप्पीकय-आत्मीकृत-त्रि० । आत्मना गाढतरमागृहिते, "पुट्टं रेणुं च तणुम्मि वद्धमप्पीकयं" विशे० । आत्मप्रदेशैस्तनुसक्तोत्ययद् मिथीकृतम् । आ० म० चि० ।

अप्पुट्ठाइ (ण्) अल्पोत्थायिन्-त्रि० । अल्पमुत्थातुं शीघ्रमस्येत्यल्पोत्थायी । प्रयोजनेऽपि अपुनःपुनरुत्थानशीले, उच० १ अ० । "अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई निसीयल्लप्पकुक्कुय" उच० १ अ० ।

अप्पुत्तिगपणगदगमट्टियामक्कसंताण-अल्पोत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तान-त्रि० । उत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानरहिते, तत्रोत्तिङ्गः पिपीलिकासन्तानकः, पनको नृम्यावावृद्धिविशेषः, उदकमृत्तिका अचिरात्पायाकीकृता मृत्तिका, मर्कटसन्तानको मृतातन्तुजालम् । आचा० १ ध्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अप्पुदय-अल्पोदक-त्रि० । मौमान्तरिकोदकरहिते, आचा० १ ध्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अप्पुल्ल-आत्मीय-त्रि० । आत्मनि भवम् । "हस्वः संयोगे" ॥८१॥८॥ "मस्मात्मनोः पो वा" ॥८१॥५॥ इति त्रस्य पः । "अनादौ" ॥८१॥८॥ इति प्यः । "डिक्खुल्लो भवे" ॥८१॥६३॥ इति सूत्रेण "उल्ल" प्रत्ययः । आत्मनि ज्ञेये, प्रा० २ पाद ।

अप्पुस्सुय-अल्पौत्सुक्य-त्रि० । औत्सुक्यवर्जिते, औ० १० । अनुत्सुके, ज्ञा० १ अ० । अविमनस्के, आचा० ३ ध्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अप्पो-देशी-पुं० । पितरि, दे० ना० १ वर्गे ।

अप्पोअंभ-आप्तोपाह्वम्भ-पुं० । आसेन हितेन, गुरुणेत्यर्थः । उपाह्वम्भो विनेयस्याविहितविधायिन आप्तोपाह्वम्भः । अविधिप्रवृत्तस्य शिष्यस्य गुरुणा मार्गे स्थापनाय उपाह्वम्भे, (तीर्थकृता) "अप्पोल्लंजनिमिच्छं पदमस्स णायज्जयणस्स अयमंठे पण्णत्ते चि वेमि" ज्ञा० १ अ० ।

अप्पोल्ल-देशी-त्रि० । उद्वेष्टनादुत्पिरे, "अप्पोल्लं मिडुप-एहं च, पणिपुणं हत्थपूरिसं" वृ० ३ उ० । नि० चू० ।

अप्पोवरणसंधारण-अल्पोपरणसन्धारण-न० । अल्पमेवोपकरणे सन्धारणीये, यो० १ विव० ।

अप्पोवहित-अल्पोपधित्व-न० । अनुवर्णयुक्तस्तोकोपधित्वे, दश० ३ चू० ।

अप्पोम-अल्पावश्याय-त्रि० । अवस्तनोपरितनावश्यायविपु-रूचयिते, आचा० १ ध्रु० ८ अ० ६ उ० ।

स्तेषां मूलं कारणं यत्तत्तथा । आह च—“ किं किं न कुण्ड किं किं, न भासय चित्तं य किं किं न । पुरिसो विसयासचो, विह-
लंघलिङ्गं मजेण ” १ । कातराः परीपहभीरवः, अत एव कापु-
रुषाः कुत्तिसतनरास्तैः सेवितं यत्तत्तथा । सुजनानां सर्वपापवि-
रतानां यो जनसमूहस्तस्य वर्जनीयं परिहरणीयं यत्तत्तथा ।
उच्यते च—“ जो सेवइ किं लम्भइ, ” इति (गाथा) वध-
स्तारुनं, वन्धः संयमनं, विधातो मारणम्, पभिरपि दुष्करो
विधातो यस्य तद्वधवन्धविधातुर्विधातम् । गाढरोगाणां हि
महापद्यप्यग्रेष्ठा नोपशाम्यति । आह च—

“ कृशः काणः खक्षः भवणरहितः पुच्छविकलः,

क्षुधाक्लामो जीर्णः पिठरककपालार्पितगलः ।

व्रणैः पूयङ्गिभैः कृमिकुलचितैराचितननुः,

शुनीमन्वेति श्वा इतमपि च हन्येव मदनः ” ॥ १ ॥

दर्शनचारित्रमोहस्य हेतुभूतं तन्निमित्तम् । ननु चारित्रमोह-
स्य हेतुरिदमिति प्रतीतम् । यदाह—“ तिक्कसाओ बहुमो-दप-
रिणओ रागदोससंजुओ । वंधइ चरित्तमोहं, दुविहं पि चरित्त-
गुणघाह ” ॥ १ ॥ द्विविधं कषायनोकषायमोहनीयमेवात् । यत् पुन-
दर्शनमोहस्य हेतुभूतमिदमिति, तन्न प्रतिपद्यामहे, तदेतत्त्वेनाभ-
णनात् । तथाहि—तत्केतुप्रतिपादिका गायैवं ध्रुयते—“ अरहंतसिक्क-
चेइय-तवसुयगुरुसाहुसंघपरणीओ । वंधइ वंसणमोहं, अणंत-
संसारिओ जण ” ॥ १ ॥ भवतीह वाक्यशेषः । सत्यम्, किन्तु स्व-
पक्काग्रक्षसेवनेन वा संघप्रत्यनीकता, तथा दर्शनमोहं वन्तोऽ-
ग्रक्षचर्यं दर्शनमोहहेतुनां न व्यभिचरति । भपयते च स्वपक्काग्र-
क्षसेवकस्य मिथ्यात्वबन्धः, अन्यथा कथं कुलैजयोधिरसाव-
मिदितः ? । आह च—“ संजइचउत्थमंगे, चेइयद्वेय य पव-
यणुइहे । रिसिघाये य चउत्थे, मूलगगी बोहिलाजस्स ” ॥ १ ॥
इति । चिरं परिचितमनादिकालासेवितम् । चिरपरिगतं वा
पाठः । अनुगतं अनवच्छिन्नं दुरन्तं दुष्टफलं चतुर्थमधर्मद्वारसा-
भवद्वारमिति अग्रक्षस्वरूपमुक्तम् ।

अथ तदेकार्थकद्वारमाह—

तस्स य णामाणि गोणाणि इमाणि हुंति तीसं । तं जहा-
अव्यंभ १ मेहुण २ चरंत ३ संसग्गि ४ सेवणादिकारो ५
संकप्पो ६ बाहणा पदाण ७ दप्पो ८ मोहो ९ मणसंखो-
भो १० अणिग्गहो ११ विग्गहो १२ विघाओ १३ वि-
भंगो १४ विञ्जमो १५ अहम्मो १६ असीदया १७ गाम-
धम्मतची १८ रती १९ रागचिता २० कामजोगमारो २१
वैरं २२ रहस्स २३ गुज्जं २४ बहुमाणो २५ वंजचेर-
विग्घो २६ वावत्ति २७ विराहणा २८ पसंगो २९ का-
मगुणो चि ३० वि य । तस्स पयाणि प्रवमादीणि नामपे-
ज्जाणि हुंति तीसं ॥

‘तस्सेत्यादि’ सुगमम् । अग्रक्षकुशलानुष्ठानं १, मैथुनं मिथुनस्य
शुभस्य कर्म २, चतुर्थमाश्रयद्वारमिति गम्यते पाठान्तरेण ।
‘चरंत’ चि चरन् विश्वं व्याप्नुवन् ३ संसर्गः सम्पर्कः, ततः क्ली-
पुंसंसर्गविशेषरूपत्वात् संसर्गजत्वात्संसर्गात्युच्यते । आह च—
“ नामापि क्लीति संज्ञादि, त्रिकरोत्येव मानसम् । किं पुनर्द-

शनं तस्याः, विलासोल्लासितव्रुवः ” ॥ १ ॥ ४ । सेवनां चौर्यादि-
प्रतिसेवनामधिकारो नियोगः सेवनाधिकारः, अग्रक्षप्रवृत्तो
हि चौर्याद्यनर्थसेवास्वधिकृतो भवति । आह च—“ सर्वेऽनर्था
विधीयन्ते, नैरर्थकत्वालसैः । अर्थस्तु प्रार्थ्यते प्रायः, प्रेयसी-
प्रेमकामिभिः ” ॥ १ ॥ इति ५ । संकल्पो विकल्पः, तत्प्रभवत्वादस्य
संकल्पा इत्युक्तम् । उक्तं च—“ कामं जानामि ते रूपं, संकल्पा-
त्किञ्च जायसे । न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भवि-
ष्यसि ” ॥ १ ॥ इति ६ । बाधना बाधहेतुत्वात् । केपाम् ? इत्या-
ह—पदानां संयमस्थानानां प्रजानां वा लोकानाम् । आह च—
“ यथेह लोकेष्वपरं नराणां-मुत्पद्यते दुःखमसह्यवेगम् । विका-
शिनीलोत्पन्नचारुनेत्राः, मुक्त्वा स्त्रियस्तत्र न हेतुरन्यः ” ॥ १ ॥
इति ७ । दर्पो देहदसता, तज्जन्यत्वादस्य दर्प इत्युच्यते । आह
च—“ रसा पगामं न निसेवियव्या, परं रसा दित्तिकरा हवन्ति ।
दित्तं च कामा समज्जिद्वन्ति, पुमं जहा सावफलं तु पक्खी ” ॥ १ ॥
अथवा दर्पं सौभाग्याद्यभिमानस्तस्य भवं चेदं न हि प्रशमाहै-
न्याद्वा पुरुषस्यात्र प्रवृत्तिः सम्भवतीति दर्प एवोच्यते । तदुक्तं—
“ प्रशान्तवाहिचिचस्य, संभवन्त्यखिलाः क्रियाः । मैथुनव्यतिरेकि-
ण्यो, यदि रागं न मैथुनम् ” ॥ १ ॥ इति ८ । मोहो मोहनं वेदरूपमोहनी-
योदयसंपाद्यत्वादस्याज्ञानरूपत्वाद्वा मोह इत्युच्यते । आह च—

“ इदं वस्तु परं न पश्यति जगत्यन्धः पुरोऽवस्थितं,

रागान्धस्तु यदस्ति तत् परिहरन् यन्नास्ति तत्पश्यति ।

कुन्देन्दिवरपूर्णचन्द्रकलशभीमस्तृतापल्लवे,

रोषो नोऽद्युचिराशिपु प्रियतमाग्रात्रेपु यन्मोदते ” ॥ १ ॥ ९ ।

मनःसंज्ञोऽगः चित्तचलनं, तद्विनेदं न जायते इति । उच्य-
ते च—“ तिक्करुक्कपक्ककम्-प्यहारनिग्गिज्जजोगसन्नाहा । ज-

हरिसि जो वा जुवई-णं जं निसेवन्ति गयगव्या ” ॥ १ ॥ १० ।

अनिग्रहोऽनिपेधा मनसो विषयेषु, प्रवर्तमानस्येति गम्यते ।

एतत्प्रभवत्वाच्चास्यानिग्रह इत्युक्तम् ११ । (विग्गहो चि)

विग्रहः कलहः तत्केतुत्वादस्य विग्रह इत्युच्यते । उक्तं च—

“ ये रामरावणादीनां, संग्रामप्रस्तमानवाः । ध्रुयन्ते क्लीनि-

मित्तेन तेषु कामो निवन्धनम् ” ॥ १ ॥ अथवा (बुग्गहो चि) वि-

ग्रहो विपरीतोऽभिनिवेशस्तत्प्रभवत्वादस्य तथैवोच्यते । यतः

कामिनामिदं स्वरूपम्—“ दुःस्वात्मकेषु विषयेषु सुखाजिमानः, सौ-

ख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः । उत्कीर्णवर्णपदपाङ्क्तिरिवा-

न्यरूपं, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् ” ॥ १ ॥ १२ । विघातो

गुणानामिति गम्यते । यदाह—“ जइ वा खो ” गाथाद्वयम् १३ । वि-

भङ्गो विराधना गुणानामेव १४ । विभ्रमो भ्रान्तत्वमनुपादेयेष्वपि

विषयेषु परमार्थबुद्ध्या प्रवर्त्तनाद्, विभ्रमाणां मदनविकाराणा-

माश्रयत्वाद्भिन्नमा इति १५ । अधर्मः, अचारित्ररूपत्वात् १६ ।

अशीलता चारित्रवर्जितत्वम् १७ । ग्रामधर्माः शब्दादयः काम-

गुणास्तेषां तस्मिन्वेपथं पालनं च ग्रामधर्मतसिः, अग्रक्षपुरोहि-

तं कुर्वन्तीति अग्रक्ष्यापि तथोच्यते १८ । रतिः रतं, निधुवनमि-

त्यर्थः १९ । रागो रामानुभूतिरूपत्वादस्य, क्वचिद्वागचिन्तेति

पाठः २० । कामभोगैः सह मारो मदनं मरणं वा कामभोग-

मारः २१ । वैरं वैरहेतुत्वात् २२ । रहस्यमेकान्तकृत्यत्वात् २३ ।

गुह्यं गोपनीयत्वात् २४ । बहुमानः बहूनां मतत्वात् २५ । ब्रह्म-

चर्यं मैथुनविरमणं, तस्य विप्रो व्याघातो यः स तथा २६ ।

न्यापत्तिः भ्रंशो, गुणानामिति गम्यते २७ । एवं विराधना २८ । प्र-

सङ्गकामेषु प्रसजनमभिप्रेक्षः २९ । कामगुणो मकरकेतुकार्थः ।

३० । इती रूपप्रदर्शने । अपिचेति समुच्चये । तस्याग्रक्ष एता-

यन्मुनस्ते प्राप्नुवन्ति तद्देशयिदुमाह- (नासायिडाई इत्यादि)
नानाभिधानि चतुप्रकाराणि दृष्टान्यन्तानां दयल जपन्यनुनयन्ति
पुनः पुनः । तथाहि-नरं कुरु करपत्रदाग्ण-कुम्भीपाक-तनाय-
शास्त्रमन्त्रानां निरुद्धादीनि निरर्थक्यं च शीतोष्णादिदमना नाना-
नाऽस्तिनागरांपण्युक्तमादीनि, मनुष्येषु इष्टविशेषाणां पुंसयोग-
शोकाकन्दनादीनि, देवेषु चाभियोगे-शक्तिविशेषां न्यवना-
कान्येन कप्रकाराणि दुःखानि, ये पंचेनना गादिनस्ते पानःपुन्येन
समनुभवन्ति । एतेन च श्रेयसाच्च नयेत्तरनशेकात्तेषु पांड्यम् ।
दोषं मुगमं यावदुदेशरुमनामिरिनि ॥ २६ ॥ नवमुद्यावचा-
नोति-अधनोत्तमानि नानाप्रकाराणि चासस्थानानि गच्छन्तीनि
गच्छन्तो जमन्तो गर्ताऽन्तेप्यन्ति यान्यन्यनन्तशो निर्विच्छेद-
निनि प्रवीनोति । मुधमंस्नानी जन्मम्यामिने प्रत्याह-प्रवीन्यहं
नीधेगुगङ्गा न स्वमनोपिकया, स चाहं प्रवीमि, येन मया ती-
र्थरुमकाशाच्छ्रुतम् । एतेन च क्षणिकवादिनिरासो रुद्रयः ।
। २७ । सूत्र० १ भु० १ अ० १ उ० ।

अफास-अस्पृश-त्रि० । न विद्यते स्पृशोऽष्टप्रकारो मृदुकर्क-
शादिस्त्वयथः । यो० १६ वि० । अशुनस्पृशे एकान्तोद्वजनी-
य, सूत्र० १ भु० ५ अ० १ उ० ।

अफानुय-अमानुक-न० । न प्रगता असवोऽमुमन्तो यसात्त-
दप्रानुकम् । सर्जाये, भ० ५ श० ६ उ० । सविचे, आचा० १
भु० १ अ० १ उ० । सूत्र० १ सा० ।

अफानुयपाडिसेवि (ए)-अमानुकप्रतिसेविन्-त्रि० । अमानु-
कं सचिचं प्रतिसचिनुं शीघ्रमस्य स भवत्यप्रामुदप्रतिसेवी ।
सचेतनजगदादिवस्तुप्रतिसेवनशीले, "अफानुयपरिसेविष्य, णामं
वृज्जं य सीलवादी य ।" सूत्र० १ भु० ७ अ० ।

अफुन-अशुद्रय-त्रि० । स्पष्टमयोग्ये, " अफुसं दुष्कृतं " अ-
स्पृश्यं कर्माकृत्यादेव । स्था० ३ भा० २ उ० ।

अफुममाणग-अशुशद्गति-पुं० । अशुशान्ती सिद्ध्यन्त-
रालप्रदेशान् गतियस्य सोऽस्पृशद्गतिः । अन्तरालप्रदेशाना-
मस्पर्शनेनैवार्थं गच्छति सिद्धे, श्री० ।

उज्जुसदीपमित्रे अफुसमाणगई उहुं एकसमणं अ-
विगद्वेणं उहुं गता सागारोवउत्ते सिज्जिहि सि ॥

अन्तरालप्रदेशस्पर्शने हि नैकेन समयेन सिद्धिः, इष्यते च त-
त्रक एव समयः, य एव आयुष्कादिकर्मणां क्षयसमयः स एव
निर्याणसमयोऽनोऽन्तराले समयान्तरस्याभावाद् अन्तरालप्र-
देशानामसंस्पृशंमिति सूत्रमभ्यायमर्थः केवलिंगम्यो प्रा-
वत इति । श्री० ॥ " अफुसमाणगती वितियं समयं ण फुसति,
ग्रहवा जेसु अवगाढो जं य फुसति वहुमयिगच्छमाणो तत्तिप
चेव आगासपदेसे फुसमाणो गच्छति " । भा० चू० २ अ० ।

अवृज-अवन्ध्य-त्रि० । न वन्ध्यमवन्ध्यम् । अवश्यकार्यका-
रिणि, सूत्र० । अवन्ध्यमेकादशं पूर्वम्, वन्ध्यं नाम निष्कलं, न
विद्यते वन्ध्यं यत्र तदवन्ध्यम्, सफलमित्यर्थः । तत्र हि-सर्वे-
ऽपि ज्ञानतपःसंयमयोगाः शुभफलेन सफला वर्यन्ते, अग्रशस्ता-
अ प्रमादादिकाः सर्वे अशुनफला वर्यन्तेऽनोऽवन्ध्यम्, तस्य
च परिमाणं पर्वविशतिपदकोटयः । स० । " अवन्ध्यपुव्वस्स णं
धारस वत्थू पण्यथा " न० । स० । अवश्यकार्यकर्तारि, सूत्र०
२ भु० १ अ० ।

अवन्ध्य-अवन्ध्य-पुं० । वन्धाभावे, पं० सं० ५ भा० ।

अवन्ध्य-अवन्ध्यक-पुं० । निरुक्तयोगे, भ० २५ श० ६ उ० । भा०
म० द्वि० ।

अवन्ध्य-अवन्ध्य-त्रि० । स्थजनसम्पाद्यकार्यरहिते, प्रश्न०
१ आश्र० भा० ।

अवन्ज-अव्रजान्-न० । अकुशले कर्मणि, तस्य मेयुनं विवक्षितम्,
अत्यन्ताकुशलत्वात्तस्य । प्रश्न० ४ भा० भा० ।

तच्छायादशधा-

अद्वारसविहे अवन्जे ओरादिअं च दिव्वं, मणवयकाए-
ण जाणए अणुमोअणकारावणकरणेणऽद्वारसा वंभं ॥

इह मूलनो विधा प्रष्टवति-श्रौदारिकं तिर्यक्ष्मनुप्याणां, दि-
व्यं च नवनवास्यादीनां, वशन्त्यस्य व्यवहितः संवन्धः । मनो-
वाह्याः कारणं, विधा योगेन त्रिविधेनैवानुमोदनकारणकरणेन
निरूपितं, पश्चात्तु पूर्वापन्थासः अग्राह्यादशधा प्रवति । इयं
प्रावना-श्रौदारिकं स्वयं न करोति मनसा वाचा कायेन, नान्येन
कारयति मनसा वाचा कायेन, कुर्वन्तं नाजुमोदते मनसा वाचा
कायेन । एवं वैक्रियमणि । आया० ४ अ० । एतच्च प्रअव्याकरणानां
चतुर्थेऽप्यने यथा यादशादिद्वारपञ्चकेन । द्वारपञ्चकं चेदम्-
" जारिस्सभो १ जेनामा २, जह य कया ३ जारिस्सं फसं इति ४ ।
जे वि य फरेति पावा ५, पाणवहं तं निसामेह " ॥ १ ॥
प्रश्न० ५ भा० भा० ।

तत्र यादशमग्रेहीनकारार्थप्रतिपादनायेवं सूत्रम्-

जंय् ! अयं च चउत्तं सदेवमाणामुरस्स होयस्स प-
त्यणिज्जं पंकपण्णपामजाद्वच्यं इत्थीणुरिसनपुंसगवेदावि-
एहं तयमंजमवंभचेरविग्यं भेदायणवहुपमादमूलं कायरका-
पुरिससेविषं मृयणजणवज्जणिज्जं उहंनरयतिरियानिहो-
क्कपड्डाणं जरापरणरोगमोगवहुलं वधवंधं विघायजुविघायं
दंसणचरित्तमोहस्स हेउभूयं चिरपरिचयमाणपगयं दुत्तं
चउत्तं अहम्मदरं ॥

(जंय् ! इत्यादि) जम् । इति शिष्यामन्त्रणम् । अग्रह अकुशलं
कर्म, तपोऽहं मथुनं विवक्षितम्, अत्यन्ताकुशलत्वात्तस्य । आह च-
" नो किञ्चि अणुशायं, पत्तिस्सिच्चा वि जिणचरिदेहि । मुत्तं मेहुण-
मेगं, न जं विणा रागदोसंहि " । १ । सकारः पुनरर्थः । चतुर्थे सूत्र-
क्रमपञ्जया सहदेवमनुजामुरेयो लोकः स तथा, तस्य प्रार्थनी-
यमज्जिज्ञपणीयम् यतः- " हरिहरदिरययगर्भं-प्रमुखे भुवनेन को-
ऽप्यसौ शूरः । कुसुमविशिष्यस्य विशिष्या-नस्त्वद्यद्यो जिनाह-
न्यः " ॥ १ ॥ पञ्चो महान् कर्दमः, पनकः स एव प्रतलः, सूत्रमः
पाशो वन्धनविशेषः, जातं मत्स्यवन्धनम् । एतद्वचुत्तमेतदुपमं
कवङ्कनिमित्तत्वेन दुर्मोचनत्वेन च साधर्म्यात् । उक्तं च-

" सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां,
ब्रह्मां तावद्विषते विनयमपि समालम्बते तावदेव ।
ब्रूचापाकृष्टमुक्ताः अवणपथजुपो नीलपद्ममाण एते,
यावद्भीतावतीनां न हृदि धृतिमुपो दृष्टिवाणाः पतन्ति " ॥ १ ॥
तथा श्रीपुरुषनपुंसकवेदानां चिह्नं लक्षणं यत्तस्य । तपः सं-
यमब्रह्मचर्यविग्रमिति व्यक्तम् । तथा भेदस्य चारित्रजोवित-
विनाशस्यायतः नान्याभया ये बहवः प्रमादा मद्यविकपाद्य-

चेव कक्षिया नाणामणिकणमहरिहृतवाणेषुज्जलविचित्त-
दंनहिं सल्लिखियाहिं नरवडिसिरिसमुदयप्पकासणकराहिं
वरपट्टण्णयाहिं सामेद्धरायकुलसेवियाहिं काझागुरुपवरकुंदुरु-
कतुरुक्कधूववासविसिद्धगंधुखूयाजिरामाहिं चिद्धियाहिं उ-
जयो पासं पि चामराहिं उक्खिप्पमाणाहिं सुद्धसीयलवाय-
वीयियंगा अजिता अजियरहा हड्डसुसद्धकणपाणी संखच-
कगयसत्तिणंदगधरा पवरज्जसुक्कयविमद्धकोथूजकिरीर-
धारी कुंडलउज्जोवियाणणा पुंरुरीयणया एगावडिकंठरड-
यवच्छा मिरिवच्छमुलंछणा वरजसा सव्वाउयसुरजिकु-
मुमरडयपलंबसोहंतवियसंतविचित्तवणमालरडयवच्छा अ-
ड्डामयविज्जत्तद्धक्खणपमत्थसुंदरविराड्यंगुपंगा मत्तगयव-
रिंदद्धाद्वियविक्रमविलसियगती कम्मिमुत्तकनीलपीयकोसे-
ज्जवाससा पवरदित्तेया सारयणवयणियमधुरगंजीराणि-
ध्धोसा नरसीहा सीहविक्रमगती अत्थमिया-पवरराय-
सीहा सोम्मा वारवयिपुएणचंदा पुव्वकयतवप्पजावा नि-
विद्धसंचियसुहा अण्णेगवाससयमाउवंतो जज्जाहि य जण-
वयप्पहाणाहिं द्वाद्धियंता अतुलसदफरिसरसखगंधे य
अण्णजवित्ता ते वि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता का-
माणं, चुज्जा मंरुद्धियणरवरिंदा सवद्धा सअंतेउरा सपरिसा
सपुरोहिया अमच्चंडङ्गायकसेणावतिमांतिणीतिकुसला
णाणामणिरयणाविपुद्धधणधणसंचयनिहिसमिद्धकोसा र-
ज्जसिरिविपुद्धमण्णजवित्ता विकोसंता वड्ढेण मत्ता ते वि
उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं, चुज्जा उत्तरकु-
रुदेवकुरुवणविवरपायचारिणो नरगणा भोगुत्तमा जोगल-
क्खणधरा जोगसस्मिरीया पसत्थसोमपडिपुएणरुवदरि-
सण्णिज्जा मुजायसव्वंगसुंदरंगा रत्तुपलपत्तकंतकरचरण-
कोमलतद्धा सुपडिद्वियकुम्भचारुचलणा आण्णपुव्वसुसंहयंगुद्धी-
या उल्लयतणुवंनिच्छनखा संठियसुसिद्धिद्वगूढगोपा एणी-
कुरुविंदावत्तवट्टाणुपुव्वजंधा समुग्गनिमग्गगूढजाणु गयगय-
णमुजायसंनिजोरुवरवारणमत्ततुद्धविक्रमविद्धासियगती व-
रतुरगमुजायगुज्जदेसा आयणहयो व्व निरुवड्ढेवा पमुड्यवरतु-
रयसीहअड्रेगवट्टियकनी गंगावत्तगदाहिणावत्ततरंगजंगुर-
विकिरणवोहियविकोसायंतपम्हगंभीरवियडनाभी साहयसा-
णंदमुसद्धदप्पणनिगरियवरकणगड्डसरिसवरवड्डरवड्डियम-
ज्जा उज्जगसमसंहियजत्तणुकसिणनिष्आदिज्जलरुहसु-
कुमालमज्जरामराथी ऊसविंद्गमुजायपीणकुच्छी भूभोद-
रा पम्हवियरुणाभी संनयपासा संगतपासा सुंदरपासा मु-
जायपासा मितमाड्यपीणरड्यपासा अकरंरुयकणगरुयगनि-
म्पद्धमुजायनिरुवहयदेहधारी कणगसिद्धातद्धपसत्थसमत-
द्धउवड्यवित्थिष्णपिहुलवच्छा जुयमस्मिभा पीणरड्यपीवर-
पउद्धसंठियमुसितिद्धविसिद्धलद्धसुणिचियधणथिरसुवंधसंधी

पुरवरफलिवट्टियचुजा नूडप्सरविपुलभोगआयाणफल-
िउच्छुद्धदीहवाहुरत्तलोवड्यमउयमंसद्धासुजायद्धक्खणपस-
त्थअच्छिद्धाद्वपाणी पीवरसुजायकोमद्धवरंगुद्धी तंयनद्धिण-
सुद्धरुद्धनिद्धणखा निद्धपाणिद्वेहा चंदपाणिद्वेहा सूरपाणि-
द्वेहा संखपाणिद्वेहा चक्कापाणिद्वेहा दिसासोवत्थियपाणिद्वेहा
रविसिसिंखवरचक्कादिसासोवत्थिविभत्तसुरड्यपाणिद्वेहा व-
रमहिसवराहसीहसद्धलरिमहनागवरणरिपुष्पविउल्लखंधा चउ-
रंगुल्लिप्पमाणकंबुवरसरिमगीवा अवट्टियमुविज्जत्तचित्तसमं-
सुउवचियमंसद्धपसत्थसद्धविपुद्धहणया उवचियसिलप्प-
वाद्धविंवलसच्चिजाअथोद्धा पंडुरससिमकद्धविमद्धसंखगो-
खीरफेणकुंददगरयमुणालियाधवलदंतसेदी अखंरुदंता अ-
फुमियदंता अविस्सदंता सुणिद्धदंता मुजातदंता एगदंत-
सेदी व्व अण्णेगदंता हुतवड्डनिद्धं तथोतत्तत्तवणिज्जरत्तद्धा-
तादुजीहा गरुडायतउज्जतुंगनासा अवदालियपुंरुरीयनय-
णा विकोसियधवद्धपत्तद्धच्छा आणामियचावरुयलकिण्ह-
व्वनरायिसंठियसंगयायतमुजायजूमगा अद्धाणिपमाणजुत्त-
सवणा मुस्सवणा पीणमंसद्धकवोलदेसभागा अचिरुगय-
वाद्धचंदसंठियमहानिद्धाद्धा उड्डपतिपमिपुष्पसोमवयणा उ-
त्तागारुत्तमंगदेसा धणनिचियसुवद्धक्खण्णस्यकूमागर-
निभपिंमियगसिरा हुतवड्डनिद्धंतथोतत्तत्तवणिज्जरत्तकेसं-
तकेसज्जमी सामद्धिपौरुधणनिचियच्छोमियमिद्धविमयपस-
त्थसुहुमद्धक्खणमुगंधसुंदरजुयमोयगभिगनीद्धकज्जलपट्टि-
द्धभमरणनिष्निउरंवनिचियकुंचियपयाहिणावत्तमुद्धसि-
रया मुजायसुविभत्तसंगयंगा द्धक्खणवज्जणगुणोववेया पस-
त्थवत्तीसद्धक्खणधरा हंसस्सरा कौचस्सरा हुंदुहिस्सरा सीह-
स्सरा मेघस्सरा ओघस्सरा सुस्सरा सुस्सरनिग्घोसा वज्जि-
सभनारायसंधयणा समचउरंसंठाणसंठिया णाया उज्जोव-
यंगमंगा पसत्थज्जवी निरातंका कंकगहणा कवोतपरिणामा
सउणिपासपिद्धतरोरुपरिणया पउमुप्पद्धमरिसगंधसासु-
रभिवयणा अण्णद्धोमवाउवेगा अवदायनिष्काद्धा विग्ग-
हउल्लयकुच्छी अमयरसफलाहारी तिगउयसमुच्छिया तिप-
लिओवमाद्धितीया तिप्पि य पड्डिओवमाइं परमाउं पाद्धइत्ता ते
वि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं, पमदा वि य तेसिं
हुंति सोमा मुजायसव्वंगसुंदरिओ पहाणमहिद्धागुणेहिं जुत्ता
अतिकंतविसप्पमाणमउयसुकुमाद्धकुम्भसंठियसिलिद्धचलणा
उज्जुमउयपीवरसुसंहतंगुद्धीओ अब्बुल्लतरड्यतद्धिणतं-
वमुड्डनिच्छनखा रोमरहियवट्टसंठियअजहस्यपसत्थलक्ख-
णअकोप्पजंधजुयद्धा सुणिम्मित्तमुनिगूढजानुमंमलपसत्थ-
सुवच्छसंधी कयद्धीखंधाड्रेगसंठियनिव्वणसुकुमाद्धमउयको-
मलअविरद्धा समसहितवट्टपीवरनिरंतरोरु अद्धावयवीतिपद्ध
संठियपसत्थवित्थिष्णपिहुलसोणी वदणायामप्पमाणदुगु-

नि उपदर्शितस्वरूपाणि, एवमादीनि एवंप्रकाराणि, नामधेयानि त्रिशङ्खन्ति । काकाऽऽधेयं प्रकारान्तरेण पुनरन्यान्यपि भवन्तीति भावः । उक्तं यन्नानेति द्वारम् ।

अथ ये तत्कुर्वन्ति तद् द्वारमुच्यते—

तं च पुण नितेविति नुरगणा अच्छरा मोहभोहित-
मती अनुर ? नृयग २ गुरु ३ विज्जुज्जलणदीवउद-
हिदिसिपवणयणिय १० अणपन्नियपणपन्नियइसिवाइय
नृयवाइयकंदिपमहाकंदियकूंदरुपयंगदेवा पिसायनृयज-
कखरखलसकिण्णरकिपुरिसमहारगंगध्वनिरियजेइसवि-
माणवासिमाणयगणा जलयरथलयरखहचरा य मोह-
पन्नियचिच्चा अविनएहा कामजोगानिसिया णं तएहाए
बलवईए महईए समजेनृया गउिता य अतिमुच्छिता य
अवंजे ओसएणा तामसेण भावेण अणुमुका दंसणचरिभ-
मांहस्म पंजरं पि व कंति अक्षमणं सेवमाणा, जुज्जो २
अनुरमुरातिरियमणुयजोगरतिविहारसंपज्जा य चक्कवट्टी-
सुरनरवतिसक्या सुरवर व्व देवलोए जरहनगणगरनिगम-
जणवयपुरवरदोणमुहखेरुक्कवरुमरुवसंवाहपट्टणसहस्समं-
नियं थिमियमंयणियं एगच्छत्तं ससागरं जुंजिऊण वमुहं न-
रसीहा नरवतिनरिंदा नरवसहा मरुवसज्जकप्पा अञ्ज-
दियं रायतेयलच्छीए दीप्पमाणा सोमा रायवंमतिलगा र-
विममिंसखवरचकमोत्थियपनागजवमच्छकुम्भरहवरजग —
भयणविमाणतुरंगतोरणगोपुरमगिरयणनंदियावचमुसल-
लंगलमुरइयवरकप्पखलमिगवति महासणसुरुधूचवरमउ-
रुसरियकुएलकुंजरवरवसज्जपदीवमंदरगरुलज्जभयइंदकेउ-
दप्पणअट्टावयचाववाणनखत्तमेहमेहलवीणाजुगच्छत्त-
दामदामिणिकमंरुलुकमलयंटावरपोतसूचीसागरकुमुदागर-
मगरहारगागरनेउरणगणगरवइकिण्णरमयूरवररायहंस-
सारसचकोरचकोवागमिहुणचामरखेरुगपन्वीसगाविपंचिव-
रतालियंटासिरियाभिसंयमेयणिखगंकुसविमन्नकलसार्जि-
गारवच्चामाणगपसत्यउत्तमविज्जत्तवरपुरसलखणधरा व-
त्तीसरायवरसहस्साणुजायमग्गा चउसड्डिसहस्सपवरजुव-
तीणयणकंता रत्ताभा पउमपम्हकोरंटगदामचंपगसुतत्त-
वरकणकनिकसवएणा सुजायसव्वंगसुंदरंगा महग्यवर-
मट्टागुगयविचित्तरागणीपणीनिम्मियदुगुल्लवरचीगप-
ट्टकोसेज्जतोणीमुत्तकविच्चिसियंगा वरसुरभिगंधवरजुएणवा-
सवरकुमुमजरियमिरया कप्पियच्छेयायरियमुकयरइदमाल-
करुंगयतुभियवरज्जसणपिण्णदेहा एकावलिंकंउसुरइयव-
च्छपलंवपलंवमाणमुकयपउत्तरिज्जमुदियापिगलंगुडि—
या उज्जलनेवत्थगइयाचिह्वगविरायमाणा तेएण दिवाकरो
व्व दिच्चा सारयनवत्थणियमहुरंगभीरनिच्छयोसा उप्पएण-
समत्तरयणचकरयणपहाणा नवनिहिपइणा समिच्छकोसा
१७०

चाउरंता चाउराहिं सेणाहिं समणुजाइज्जमानमग्गा तुरंग-
पतीगयपतीरहपतीनरपतीविपुलकुडवीसुयजसा सारयससि-
सकलसोम्मवयणा सारा तिलोक्कनिगयपभावलच्छसदा
समत्तजरहाहिवा नरिंदा ससेलवणकाणयं च हिमवंतसा-
गरंतं धीरा भोत्तूण जरहवासं जियसत्त पवररायसीहा
पुव्वकरुतवप्पजावा निविट्टसंचियमुहा अणेगवाससयमा-
उव्वंतो जज्जाहि य जणवयप्पहाणाहिं हाद्वियंता अतुलस-
इफरिसरसरुवंगंथे य अणुजविच्चा ते वि उव्वणमंति मरणधम्मं
अविचिच्चा कामाणं, जुज्जो बलदेवा वासुदेवा य, पवरपुरिसा
महावद्वपरकमा महाधणुवियट्टका महासत्तसागरा दुद्धरा
धणुधरा नरवसजा रामकेसवा भायरो सपरिसा वसुदेवस-
मुहविजयमादिसाराणं पज्जुएणपथिवसंवअनिरुक्कनिस-
इउम्मयसारणयममुहमुहमुहादीणं जायवाणं अमुद्धाणं वि
कुमारकोफीणं हिययइया देवीए रोहिणीए देवीए देवईए
य दियणंदहियज्जानंदणकरा सोलसरायवरसहस्साणं जा-
यमग्गा सोलसदेवीसहस्सवरणयणहिययइया शाणाम-
णिकणगरयणमोत्थियपवाहधणधणधसंचया रिच्छिसमिद्धको-
सा इयगयरहसहस्ससाभी गामागरणगरखेडक्कवरुमरुवदो-
णमुहपट्टणासमसंवाहसहस्साथिमियनिव्वुयप्पमुदितजण—
निविहसस्सेयनिप्पज्जमाणमेइणीसरसरियतलागसेलका—
णणआरामुज्जाणमणाभिरामपरिमंइयस्स दाहिणह्वेयहु-
गिरिविज्जत्तसत्त व्ववणजलंपरिगहस्म उव्विहकाहगुणकम-
जुत्तसत्त अद्धजरहस्म सामिका धीरकिचिपुरिसा ओहवहा अ-
तिवहा अनिहया अपराजियनत्तुमइणा रिउसहस्समानमहणा
साणुकोसा अमच्छरी अचवला अचंदा मियमंजुल्लपज्जावा
इसियगंभीरमहुरज्जणिया अञ्जुवगयवच्छला सरस्सा ल-
क्खणवंजणगुणोववेवा माणुम्माणपमाणपरिपुण्णसुजायस-
व्वंगमुदरंगा ससिसोमाकारकंता पियदंसणा अमस्सणा प-
यंरुदंरुप्पयारंगंजीरदरिसिज्जा ताहवज्जयउविच्छगरुलकेउ-
वज्जवगज्जंतदरितदप्पयमुडियचाणूरचूरगा रिद्धवसमघा-
ती केसरीमुहविष्फारगा दरियज्जागदप्पमइणा जमलज्जुल्ल-
भंजगा महासज्जिणपूयणरिपू कंसमउमोहगा जरासंधमाणा-
महणा तेहि य अविरलसमसहियचंदमंरुलसमप्पजेहिं सु-
रमरीयकवयविणिमुयंतंतेहिं सप्पकिंदंतेहिं आयवचेहिं ध-
रिज्जंतंतेहिं विरायंता ताहि य पवरगिरिकुहरविहरणस-
मुच्छियाहिं निरुवहयचमरिपच्छिमसरीरसंजायाहिं अम-
इलसियकमज्जविमुकुल्लज्जहितरयतगिरिसिहरविमन्नससिकि-
रणसरिसकइहोयनिम्मलाहिं पवणाहयचवन्नचलियसलि-
लियनचियवीयिपसरीयखीरोदगपवरसागरूपूरचवन्नाहिं मा-
णससरपसरपरचियावासविसयावेसाहिं कणगगिरिसिहरसं-
सियाहिं ओवाउप्पायचवन्नजवियासिग्घवेगाहिं इंसवधुयाहिं

अबाध्य-त्रि० । परैर्बाधितुमशक्ये, स्या० ।

अवज्जसिद्धंत-अबाध्यसिद्धान्त-पुं० । अबाध्यः परैर्बाधितुमशक्यः सिद्धान्तः स्याद्वादधृतलक्षणोऽस्य तथा । कुतार्थिकोपन्यस्तकुहेतुसमूहाशक्यबाधस्याद्वादरूपसिद्धान्तप्रणयनमण-नाद् वचनातिशयसंपन्ने तीर्थकरे, "अबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम्" स्या० ।

अवज्जा-अबाध्या-स्त्री० । अयोध्यायाम्, जं० ४ वक्त्र० । ती० । गन्धिलाख्यविजयक्षेत्रयुगले पुरीयुगले, "दो अवज्जाओ" स्या० २ ग० ३ उ० ।

अवच्छ-अवच्छ-न० । पद्यगद्यबन्धनरहिते ग्रन्थे, आ०म०द्वि० ।

अवच्छद्विय-अवच्छास्थिक-न० । अवच्छमस्थि यस्य तदवच्छास्थिकम् । अनिष्पन्ने फले, "निष्ठे य यच्छद्विय वि एवं एमेव य हौति बहुवीप" विशेष० । आ० म० । अथाप्यवच्छवीजे अनिष्पन्ने, वृ० १ उ० ।

अवच्छसुय-अवच्छश्रुत-न० । गद्यात्मके श्रुते, विशेष० । आ० म० । ('करण' शब्दे व्याख्या)

अवच्छिय-अवच्छिक-पुं० । स्पृष्टं जीवेन कर्म न स्कन्धबन्धव-रुद्रुमवदवच्छं, तदेवामस्तीत्यवच्छिकाः । "अतोऽनेकस्वरात्" ७।२।६। इति द्वैससूत्रेण इक्षप्रत्ययः । स्पृष्टकर्मविपाकप्ररूपकेषु निह्वयभेदेषु, स्या० ७ डा० । आ० म० । विशेष० ।

यथा चावच्छिकानां दृष्टिर्गोष्ठामाहिलाइशपुरनगरे समुत्पन्ना
तथाभिधित्सुराह-

पंचसया चुलसीया, तस्या मिळिं गयस्स वीरस्स ।

तो अवच्छियदिष्ठी, दसउरनयरे समुप्पन्ना ॥

पञ्च वर्षशतानि चतुरशीत्यधिकानि (५७४) तदा सिळिं गतस्य महावीरस्य, ततोऽवच्छिकनिह्वदृष्टिर्दशपुरनगरे समुत्पन्नेति ।

कथं पुनरियमुत्पन्ना ?, इत्याह-

दसउरनगरुच्चुधरे, अज्जरविखयपूसमित्ततियगं च ।

गोष्ठामाहिलनवम-फमेसु पुच्छा य विजस्स ॥

(एतद्भावार्थस्तु आर्यरक्षितवक्यतातोऽवसेयो यावद् गोष्ठामाहिलनिह्वो जातः । कथा च 'अज्जरविखय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१५ पृष्ठे समुक्ता) गोष्ठामाहिलो मथुरात भागत्य पृथ-गुणाश्रये स्थितः । विशेष० ।

दुर्बलिकापुष्पमित्रोऽपवादप्रदण्डादिना व्युद्ग्राहयति साधूज च व्युद्ग्राहयितुं शक्नोति, दुर्बलिकापुष्पमित्रः समीपे चाभिमानतो न किञ्चिच्छृणोति, किन्तु व्याख्यातमण्डिकोपस्थितस्य चिन्तनिकां कुर्वता विन्यस्यान्तिके समाकर्णयति । अन्यदा चाप्रमनवमपूर्वयोः कर्मप्रत्याख्यानविचारेऽजिनिवेशाद्विप्रति-पन्नो वक्ष्यमाणनीत्या निह्वो जात इति । अथ प्रकृत-("सो ऊण कालधम्मं, गुरुणो गच्छम्मि पूसम्मिच्चं च" इत्यादि) गाथाऽङ्गरार्थोऽनुधीयते-कालो मरणं तल्लक्षणो धम्मः पर्यायः कालधर्मः, तं गुरोरार्यरक्षितस्य श्रुत्वा तथा पुष्पमित्रं च गच्छेऽधिपतिं स्थापितमाकर्ण्य गोष्ठामाहिलः संज्ञातमत्सराभ्यवसायः किलेदं चकार-

किमित्याह-

वीसुं वसहीएँ ठिओ, ठिइऽनेसणपरो य स क्याए ।

विजस्स सुणइ पासे-ऽणुजासमाणस्स वक्खाणं ॥

विश्वस्वसतौ, स्थितः क्षिप्रान्वेषणपरः स गोष्ठामाहिलः कदाचिद्विन्ध्यस्यानुभाषमाणस्य चिन्तनिकां कुर्वतः पार्श्वे व्याख्यातं शृणोतीति । विशेष० ।

(कर्मविषया विप्रतिपत्तिः) ततः किम् ?, इत्याह-

कम्मप्पवायपुव्वे, वच्छं पुट्टं निकाइयं कम्मं ।

जीवपएसेहिँ समं, सुइकळावोवमाणो ॥

उच्चट्टणुकैरो, संजोभो खवणमणुजवो वा वि ।

अणिकाइयम्मि कम्मे, निकाइए पायमणुजवणं ।

सो ऊ जणइ सदासं, वक्खाणमिणं ति पावइ जओ जे ।

मोक्खानावो जीव-प्पएसकम्माविजमाणो ॥

इह कर्मप्रवादनाम्यष्टमे पूर्वे कर्मविचारे प्रस्तुते दुर्बलिकापुष्पमित्र एवं व्याख्यानयति । तद्यथा-जीवप्रदेशैः सह बद्धमात्रमेव कर्म प्रवर्तते । यथा-अकपायस्येयापथप्रत्ययं कर्म, तच्च कालान्तरस्थितिमवाप्यैव जीवप्रदेशेभ्यो विघटते, शुष्ककुड्यापतितचूर्णमुष्टिवदिति । अन्यत्तु (पुट्टं ति) बद्धमित्यत्रापि संबध्यते, ततश्च बद्धं स्पृष्टं चेत्यर्थः । तत्र बद्धं जीवेन सह संयोगमात्रमापन्नं; स्पृष्टं तु जीवप्रदेशैरात्मीकृतम् । एतच्चेत्यर्थं बद्धं सत्कालान्तरेण विघटते आर्द्धलेपकुड्ये सस्नेहचूर्णवदिति । (निकाइयं ति) बद्धं स्पृष्टं चेत्यत्रापि संबध्यते । ततश्चापरं किमपि कर्म बद्धं स्पृष्टं निकाचितं भवतीत्यर्थः । तत्र तदेव बद्धस्पृष्टं गाढतराध्यवसायेन बद्धत्वात्पवर्तनादिकरणाद्यो-ग्यतां नीतं निकाचितमुच्यते । इदं च कालान्तरेऽपि विपाकतोऽनुभवमन्तरेण प्रायेणापगच्छति, गाढतरबद्धत्वाद्, बाह्यकुड्येऽपि तनिविडम्भेतकाहस्तकवदिति । अयं च विविधोऽपि बन्धः सूचीकलापोपमानाद्भावनीयः । तद्यथा-शुणवेष्टितसूचीकलापोपमं बद्धमुच्यते, लोहपट्टवद्धसूचीसंघातसदृशं तु बद्धस्पृष्टमभिधीयते, बद्धस्पृष्टनिकाचितं त्वन्नितसघनाहतिक्रोमीकृतसूचीनिचयसन्निभं भावनीयमिति । नन्यनिकाचितस्य कर्मणः को विशेषः ?, इत्याह-(उच्चट्टणेत्यादि) इह कर्मविषयाण्यष्टौ करणानि भवन्ति । उक्तं च-"बंधणसंकमऽणुव-ट्टणा य उच्चट्टणा उइरणया । उच्चसावणा निवत्ती, निकायणा वत्तिकरणाइ" ॥१॥ तत्र निकाचिते कर्मणि स्थित्यादिखण्डनरूपा (उच्चट्टणं ति) उपवर्तना प्रवर्तते । तथा-(उच्चट्टो ति) स्थित्यादिवर्द्धनरूप उत्कोच उद्धर्तना । तथा-(संजोभो ति) असातादेः सातादौ क्षेपणरूपः संक्रमः । तथा-(खवणं ति) प्रकृत्यन्तरसंक्रमितस्य कर्मणः प्रदेशोदयेन निर्भरणं क्षणम् । तथा-(अणुभवो ति) स्वेन स्वेन रूपेण प्रकृतीनां विपाकतो वेदनमनुभवः । इदं खोपलक्षणमुदीरणादीनां, तदेतान्यपवर्तनादीनि सर्वाण्यप्यनिकाचिते कर्मणि प्रवर्तन्ते । निकाचिते तु प्रायो विपाकेनानुभवमेव प्रवर्तते, न पुनरपवर्तनादीनीत्यनयोर्विशेषः । समाची-र्णविकृष्टतपसामुत्कदाध्यवसायवशेन 'तवसा' उ निकाइयाणं पीति' वचनात्रिकाचितेऽपि कर्मण्यपवर्तनादिकरणप्रवृत्तिर्भवतीति प्रायोग्रहणम् । तदत्र व्याख्याने क्षीरनीरन्यायेन धृतितायोगोलकन्यायेन वा जीवप्रदेशैः सह कर्म संबद्ध-

णियविमात्रमसंज्ञमुपचजहणवरधरीओ वज्जविराड्यपम-
त्यञ्जचणनिरोदरीओ तिवालिवाञ्जिततणुनमितमज्झभाओ
उज्जुयसममद्वियजच्चनणुकासिणनिष्ठआदेज्जलरुहमुकुमा-
त्रमउयमुविभत्तरोमगडं गंगावत्तगदाहिणावत्तनरंगयं-
गरविकिराणनरुणवोहिन्न अक्रोमार्यनपउमगंजीरविगमनाभी
अणवज्जदपसत्तवमुजायपणीणकुच्छी नमनपासा सन्नयपामा
मुजायपामा मियमार्यनपीणगययपामा अकरंनुयकणगरू-
यगनिम्मलमुजायनिम्बद्वयगायलट्ठं कंचणकलसप्पमाण-
समसंहितलट्ठकुच्यआमेल्लगजमलमुयञ्जवाट्टियपओहरा भुयं-
गअणुपुव्वतणुयगोपुच्छवट्ठममसहितानिम्मियआदेज्जलरुह-
वाहा तंवनहा मंसलगाहट्टया कोमलपीवरंगुद्धीया णिष्ठ-
पाणिञ्जेहा ससिमूरसंखच्चनरसोत्थियविभत्तमुविरड्यपा-
णिञ्जेहा पीणुणयकखच्चत्थिप्पदेमपनिपुणगज्जकपोला चउ-
रंगुलमुप्पमाणकंशुवरमरिसगीवा मंसलसंठियपसत्थद्वणुया
दाञ्जिमपुप्फप्फकासपीवरपञ्चवकौचियवराधरा सुंदरोत्तरद्धा
दद्विदगरयकुंदचंदवासंतिमउज्जअनिद्विमलदसणा रत्तुप्प-
लरत्तपउमपत्तमुकुमालतासुगीहा कणवीरमउज्जकुडिलअ-
वुणुयउज्जतुंगासा सारदनवकमज्जकुमुयकुवल्लयदलनिग-
रमरिमल्लवत्थपमत्थनिम्मज्जकंतनयणा अनामियचारुड-
लकिएहरासंगयमुजायतणुकसिणनिष्ठचूमगा अट्ठीण-
पमाणजुत्तमवणा मुरुमवणा पीणमट्ठगंरुलेहा चउरंगुल-
विसाज्जसमनिमाला कोमुदिरयणिकराविमज्जपणिपुणसोमव-
यणा उत्तुणयउत्तमंगा अकविलमुमिणिष्ठदीहमिरया उ-
त्तज्जयमुवयूज्जदामणिकर्मरुक्कज्जसत्ताविसोत्थियपडागज-
वमच्छकुम्मरट्टवरमयरज्जयअंकयाज्जअंकुसअट्टावयमुपतिट्ठ-
अमरासिरियाभिसेतारणमेयिणज्जदधिवरपवरभवणगिरि-
वरवरायंसमुल्लिखययसभनीहचामरपसत्थवत्तसिलवत्त-
णधरीओ इंससरिच्छगतीओ कोइलमहुयरिगिराओ
कंता सव्वस्स अणुमयाओ ववगयवडीपडियवंगद्वुवणवाहि-
दांजगसोयमुक्काओ उच्चत्तेण य नरथोवृणमूसियाओ सि-
गारागारचारुवेमा सुंदरयणज्जहणवयणकरचद्वणणयणा झा-
वणारुवज्जोव्वणणुओववेया णंदणवणविवरचारिणीओ अ-
च्छराओ उत्तरकुलमाणसच्छराओ अच्छेरगयेच्छिणिया-
ओ तिसि पलिओवमाई परमाउं पालयित्ताओ वि उवण-
मंति मरणधम्मं अतिच्चा कामाणं, मेहुणसन्नपणिद्धा य मोहभ-
रिया सत्येहिं हणंति एकमेकं विसयं विमउदीरएहिं अवरे
परदरिहिं हणंति विमुणिया धन हासं सयणविपण्णासं च
पाउणंति, परस्स दाराओ जे अविरया मेहुणसत्तसंपणि-
द्धा य मोहभरिया अस्सा हत्थी गवा य महिसा मिगा य मा-
रिति एकमेकं मणुयगणा वानरा य पक्खी य विरुज्जांति
मिच्चाणि सिप्यं जवंति, सत्तू समयधम्मगणो य चिंदंति

पारदारी धम्मगुणरया य वंजयारी खणेण उल्लोहयचरि-
त्ताओ जसमंतो सुव्वया य पारवंति अयसकिंति रोगत्ता वाहि-
ता वड्ढंति रोयवाही, दुवे य द्वापदुराराहगा जवंति, इहद्वोए
चेव परलोए परस्स दाराओ जे अविरया तदेव केइ परस्स
दारं गवेसमाणा गहिंया य हया य वच्छरुद्धा य एवं जाव
गच्छंति विपुज्जमोहानिचूयसत्ता मेहुणमूळं च सुव्वए तत्थ
तत्थ वत्तपुव्वा संगामा जणक्खयकरा सीताए दोवतीए य
कए रूपिणीए पउमावतीए ताराए कंचणाए रत्तमुज्जहाए
अहिद्धायाए सुवणगुलियाए किन्नरिए य मुरुवविज्जुमती-
ए रोहिणीए य अणेषु य एवमांसु बहवे महिलाकए
सुच्चाति अतिकंता संगामा गामधम्ममूढा, इह लोए ताव
नट्टा परलोए य नट्टा महया मोहतिमिरंधकारे धोरे तस-
थावरमुहुमवायारंसु पज्जत्तमपज्जत्तकसाहारणसरीरपत्तेयसरी-
रेसु य अंरुजपोयजजराउजरसजसंसेइमसंमुच्छिमउज्जिज्जज-
ववांसु य नरगतितिरियदेवमाणसेसु जरामरणरोगसोगय-
हुले पडिओवमसागरोवमाई मणादीयं अणवदग्गं दीहमदं
चाउरंतंसमारकंतारं अणुपरियट्ठंति जीवा महामोहवसंसनि-
विद्धा; एसां सो अवंजस्म फज्जविवागो इह लोइओ परदोइ-
ओ य अणसुद्धो वहुदुक्खो मदवन्नओ वहुवरयप्पगादो दारुणो
कक्कमो अमाओ वामसहस्संदिं मुच्चंति न य अवयंइत्ता
अत्थि हु मोक्खो चि एवमांसु नायकुज्जनंदणो महप्पा
जिणो वरवीरनामधेज्जो कहेसी य अवंधस्स फज्जविवागो,
एयं तं अवंजं पि चउत्तं पि मदेवमणुयामुरस्स लोणस्स
पत्थयिज्जं एवं चिरपरिचियमणुणयं दूरं तं चउत्तं अहम्म-
दारं सम्पत्तं चि वेमि ।

(तं च पुण निसेविति चि) तच्च पुनरब्रह्म निषेवन्ते सुर-
गणा वैमानिकदेवसमूहाः साप्सरसाः सदेवीकाः, देव्योऽपि
सेवन्त इत्यर्थः (इत्यादिटीकाऽनुयोगिनी महती चेत्युपेक्षिता)
प्रश्न० ४ आश्र० ब्रा० ।

शेषद्वारचयं मध्य एवायातम् । अब्रह्म मैथुनमिति पर्यायौ ।
(मैथुनशब्देन चोच्यमानो विषयो ' मेहुण ' शब्द एव वक्ष्यते)
“ अवंधच्चारि धोरं, पमायं दुरहिदियं । नायरंति मुणी द्वाए,
मेयापणाविज्जणं ” ॥१॥ दश० ६ अ० ।

अवंधवज्जण-अब्रह्मवर्जन-न० । दिवा रात्रौ वा पत्न्याद्याधि-
त्य मैथुनत्यागरूपायां पृष्ठ्यामुपासकप्रतिमायाम्, तत्स्वरूपं
चैवम्-“ पुण्योदियगुणजुत्तो, विसंसमो विज्जयमोहणिज्जो य ”
प्रश्न० १ आश्र० ब्रा० । (' उत्रासगपनिमा ' शब्दे द्वितीयमने
११०५ पृष्ठे व्याख्याऽस्य द्रष्टव्या)

अवज्ज-अवध्य-त्रि० । वधमर्हति यत् । न० त० । वधानहं,
“ अवमाणयं वज्जाणं ” अकारलोपे ' वज्जाणं ' इति भवति ।
तत्र अवध्यानां वधानर्हाणामपि विद्वद्विचनतो वध्यत्वेन स्या-
पितानां सुदर्शनसुजातादीनामिव देवताप्रातिहार्यतो निराकृत-
वध्यत्वदोषाख्यम् । संथा० ।

यास्तोथेकरान्तिके गमनशक्तिरित्येवमपि यावदसौ न किञ्चिन्मन्यते तावत्सन्धेनोद्वाह्य बाह्यः कृतोऽनाद्योचितप्रतिक्रान्तश्च काशं गतः ॥ ५४२ ॥ विशेषः ॥

अवम्हन्-अवम्हण-त्रि० । न० व० । मागध्याम्-“न्य-
एय-ऊ-ञां ङ्यः” । ८ । ४ । २६३ ॥ इति सूत्रेण एयस्थाने द्वि-
रुक्तो ङ्यः । प्रा० ४ पाद । ब्रह्मण्यशून्ये, अर्थाभा० अव्ययी०, त०
वा । ब्रह्मण्याजावे, वाच० ।

अवल-अवल-न० । न वलं सामर्थ्यमुत्कर्षो वा । अभावे न० त० ।
बलाभावे, वाच० । शरीरबलवर्जिते, त्रि० । विपा० १ श्रु० ३ म० ।
सूत्र० । म० । विषमपक्षादौ गन्तुमसमर्थे, जारं बोद्धुमसमर्थे च ।
सूत्र० १ श्रु० २ म० ३ उ० । ज० । ज्ञा० ।

अवलत्त-अवलत्त-न० । अवलस्य जावोऽवलत्तव्य । बला-
भावे, वृ० ६ उ० ।

अवला-अवला-स्त्री० । महिलायाम्, को० । अकिञ्चित्करा-
याम्, वृ० १ उ० ।

अवह्रिद्व-अवहित्य-न० । आकारगोपने, वाच० । मैथुने, सूत्र०
१ श्रु० ६ अ० ।

अवहिर्मण-अवहिर्मनस्-त्रि० । न विद्यते बहिर्मनो यस्यासा-
वबहिर्मनाः । सर्वज्ञोपदेशवर्तिनि, आच्चा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

अवह्रिद्वेस्स-अवह्रिल्लेश्य-त्रि० । अविद्यमाना बहिः संयमा-
द् बहिस्ताल्लेदया मनोवृत्तिर्यस्यासावबह्रिल्लेश्यः । म० २ श्रु०
१ उ० । प्रश्न० । औ० ।

अवहुवादि (ण्)-अवहुवादिन्-त्रि० । असकृदव्याकुवाणे,
आच्चा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अवहुस्सुय (त)-अवहुश्रुत-पुं० । बहु श्रुतं यस्य स बहुश्रुतः,
न बहुश्रुतोऽवहुश्रुतः । अनधीतनिशीयाध्ययने, अधुनाद्यस्तन-
श्रुते च । नि० चू० १ उ० । अवहुश्रुतो नाम येनाचारप्रकटपो
निशीयाध्ययननामकः सूत्रतोऽर्थतश्च नाधीतः । व्य० ३ उ० ।
बहुश्रुतस्वरूपं च तद्विपर्ययपरिज्ञाने तद्विविक्तं सुखेनैव ज्ञायत
इत्यवहुश्रुतस्वरूपमाह—

जे यावि होइ निव्विज्जे, थप्पे दुद्धे अणिगहे ।

अनिकत्तणं उद्धवइ, आविणीए ऽवहुस्सुए ॥ ५ ॥

(जे यावि चि) यः कश्चित्, चापिशब्दौ भिन्नक्रमत्वाद् उक्त-
रत्र योद्धेयेते, भवति जायते, निर्गतो विद्यायाः सम्यक्शक्षा-
वगमरूपाया निर्विघ्नोऽपि यस्तन्बोऽहङ्कारी, लुब्धो रसादिगु-
ह्यमान्, न विद्यते विग्रह इन्द्रियनियमनात्मकोऽस्येत्यनिग्रहो
ऽभीष्टं पुनः पुनरुत्प्राप्त्येनासंबद्धभाषितादिरूपेण व्यपति वक्ति
उद्धपति । अविनीतश्च विनयविरहितो (अवहुस्सुए चि) य-
स्यदोर्नित्याजिसंवन्धात् सोऽवहुश्रुत उच्यते इति शेषः । सवि-
द्यस्याऽप्यवहुश्रुतत्वं, बहुश्रुतफलाभावादिति भावनीयम् । एत-
द्विपरीतस्त्वर्थाद्बहुश्रुत इति सूत्रार्थः ।

कृतः पुनरीदृशमवहुश्रुतत्वं लभ्यते, इति तत्कारणमाह—

अह पंचहि ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लम्पइ ।

थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥ ३ ॥

अथेत्युपन्यासार्थः । पञ्चभिः पञ्चसंख्यैस्तिष्ठन्त्येषु कर्मवशगा
जन्तव इति स्थानानि, तैः यैरिति वक्ष्यमाणैर्हेतुभिः शिक्षणं शि-
क्षा, ग्रहणसेवनात्मिका न लज्यते नावाप्यते, तैरीदृशमवहुश्रु-
तत्वमवाप्यते इति शेषः । कैः पुनः सा न लभ्यते ? इत्याह—
स्तस्माद् मानात्, क्रोधात् कोपात्, प्रमादेन मद्यविषयादिना,
रोगेण गलतकुष्ठादिना, आलस्येनानुत्साहात्मना, शिक्षा न ल-
ज्यते इति । क्रमश्च समस्तानां व्यस्तानां च हेतुत्वमेवं द्योत-
यतीति । उक्त० ११ अ० ।

अवालुया-अवालुका-स्त्री० । अवालुशब्दार्थे चिकणप-
दार्थे, तं० ।

अवाहा-अवाधा-स्त्री० । बाधु-लोभने, बाधते इति बाधा, कर्मण
उदयः । न बाधाऽवाधा । कर्मणो बन्धस्योदयस्य चान्तरे, म०
६ श्रु० ३ उ० । स० । जं० । बाधा परस्परं संश्लेषतः पीडनं,
न बाधाऽवाधा । म० १४ श्रु० ८ उ० । व्यवधानापेक्षयाऽन्तरे,
स० ४२ सम० । विशेषः । आ० चू० । (अवाधया अन्तरम्-‘अंतर’
शब्देऽस्मिन्नेव प्रागे ७८ पृष्ठे उक्तम्)

मंदरस्स णं जंते ! पव्वयस्स केवइयाए अवाहाए जोइसं चारं
चरइ ? ! गोयमा ! इकारसेहिं इक्खीसेहिं जोयणसएहिं अवाहाए
जोइसं चारं चरइ । लोगंताओ णं जंते ! केवइयाए अवाहाए
जोए जोइसे पणत्ते ? ! गोयमा ! एकारसिं एकारसेहिं जो-
अणसएहिं अवाहाए जोइसे पणत्ते । धरणितालाओ णं
जंते ! सत्तहिं णउएहिं जोअणसएहिं जोइसं चारं चरइ ।
एवं सूरविमाणे अट्ठहिं सएहिं चंदविमाणे अट्ठहिं अ-
सीएहिं उवरिल्ले ताराखे एवहिं जोअणसएहिं चारं
चरइ । जोइसस्स णं जंते ! हेट्ठिह्वाओ तलाओ केवइयाए
अवाहाए सूरविमाणे चारं चरइ ? ! गोयमा ! दसहिं जो-
अणेहिं अवाहाए चारं चरइ । एवं चंदविमाणे णउएहिं
जोअणेहिं चारं चरइ । उवरिल्ले ताराखे दसुत्तरे जोअ-
णसए चारं चरइ, सूरविमाणाओ चंदविमाणे असीए जो-
अणेहिं चारं चरइ, सूरविमाणाओ जोअणसए उवरिल्ले
ताराखे चारं चरइ, चंदविमाणाओ वीसाए जोअणेहिं
उवरिल्ले ताराखे चारं चरइ ।

(मंदरस्स णं जंते ! इत्यादि) मन्दरस्य मन्दन्त ! पर्वतस्य
कियत्या अवाधयाऽपान्तराद्देन ज्योतिश्चक्रं चारं चरति ? । ज-
गवानाह—गौतम ! जगत्स्वभावादेकादशजिरेकविंशत्याधिकै-
र्यौजनशतैरित्येवंरूपयाऽबाधया ज्योतिषं चारं चरति । कि-
मुक्तं भवति ?—मेरुतश्चक्रवाहेन एकविंशत्यधिकान्येकादशयोज-
नशतानि मुक्ता चक्रं ज्योतिश्चक्रं ताराखे चारं चरति, प्र-
क्रमाज्जम्बूद्वीपगतमवसेयम् । अन्यथा लवणसमुद्रादिय्योति-
श्चक्रस्य मेरुतो दूरवर्तित्वे प्रमाणासंभवः । पूर्वं तु सूर्यच-
न्द्रवक्तव्यताधिकारं अवाधाद्वारे सूर्यचन्द्रयोरेव मेरुतोऽबाधा
रक्षा, साम्प्रतं तारापट्टस्य, इति न पूर्वापरविरोध इति । अथ
स्थिरं ज्योतिश्चक्रमलोकतः कियत्या अवाधया अर्वाग् भवति-
ष्ठत इति पिपुच्छिषुश्चतुर्थे द्वारमाह—(लोगंताओ णमित्यादि)

मिनि पर्यवसितम् । विन्ध्यसमीपे भुत्वा तथाविधकर्मोदयाद्भि-
निवेशेन विप्रतिपत्तो गोष्ठामाहितः प्रतिपादयति-ननु सद्योप-
मिदं व्याख्यानम्-यस्मादेवं व्याख्यायमाने भवतां मोक्षाभावः
प्राप्नोति, जीवप्रदेशः सह कर्मणामविभागेन तादात्म्येनाव-
स्थानादिति ।

अमुनेवार्थं प्रमाणनः साधयन्नाह-

न हि कर्म जीवाद्भो, अवेदं अविभागो पणसो न्व ।
तदणवगमादमोक्त्वो, जुत्तमिणं तेष वक्तव्यं ॥

नहि नैव कर्म जीवादेतत्ति प्रतिज्ञा । अविभागाद् वक्ष्ययो-
गोक्तकन्यायतो जीवेन सह तादात्म्यादित्यर्थः, एष हेतुः ।
(पणसो न्वेति) जीवप्रदेशशशिवदित्यर्थः, एष दृष्टान्तः ।
इदं यद्येन सहाविभागेन व्यवस्थितं न तत्ततो वियुज्यते, यथा
जीवात्तत्प्रदेशनिकुरन्त्यम् । इत्येते चाविभागो जीवकर्मणो-
भेदव्यतिरिक्तं न तस्माद्वियुज्यते, ततस्तदपगमात्तस्य कर्मणो-
जावादनपगमादवियोगात्सर्वदेव जीवानां सकर्मकत्वान्मात्रा-
ज्ञावः, तेन तस्यादिदमिदं मदीयं व्याख्यानं फलं युक्तमिति ।

तदित्याह-

पुष्टो जहा अवधो, कंचुदणं कंचुओ समवेइ ।
एवं पुष्टमवधं, जीवं कर्म समवेइ ॥

यथा स्पृष्टः स्पर्शनमात्रेण संयुक्तोऽयम्-हीरनीरन्यायादलोही-
चुन एव कंचुको विपथरनिर्माकः कंचुकिनं विपथरं समन्वेति
समनुगच्छति, एवं कर्माणि स्पृष्टं संपकचुकवत्स्पर्शनमात्रे-
णैव संयुक्तमयम् वक्ष्यपिगुडादित्यायादलोहीभूतमेव जीवं
समन्वेति, एवमेव मोक्षोपपत्तेरिति । विशेषः । “यतो यद्वेत्स्य-
ते तेन, स्पृष्टमात्रे तदित्यताम् । कंचुको कंचुकेनेव, कर्म
भेत्स्यति चात्मनः ” ॥ १ ॥ प्रयोगः-यद्येन भविष्यत्पृथग्भावं,
तत्तेन स्पृष्टमात्रं, यथा कंचुकः कंचुकिना, भविष्यत्पृथग्भावं
च कर्म जीवेन । उक्तं ३ अ० ।

[प्रत्याख्यानविषया विप्रतिपत्तिः]

तदेवं कर्मविचारे विप्रतिपत्तिमुपदृश्येदानीं प्रत्याख्यानविष-
यां विप्रतिपत्तिमुपदृश्यन्नाह-

मोक्षणं यन्नमाणं, पचक्खाणं पुणो नवमपुण्ये ।
सो जावजीव विदिर्यं, तिदिहं तिदिहेण सादृणं ॥

स गोष्ठामाहितः कर्मविचारे विप्रतिपन्नः पुनरन्यदा नवम-
पूर्वं “ करोमि मते । सामाश्रयं सर्वं सावज्जं जागं पचक्खामि
जावजीवाय ” इत्यादि । यावज्जीवावधिर्कं साधूनां संवन्ध-
प्रत्याख्यानं अप्रयमानं विन्ध्यसमीपे विचार्यमाणं शृणोति ।

तदेव कृत्वा किं करोति ?, इत्याह-

जंपइ पचक्खाणं, अपरीमाणाइ होइ सेयं तु ।
जेसिं तु परीमाणं, तं दुट्ठं आसंसा होइ ॥

गोष्ठामाहितो जल्पति-ननु प्रत्याख्यानं सर्वमपि अपरिमाण-
तया अवधिरहितमेव क्रियमाणं श्रेयोहेतुत्वाच्छ्रेयः शोभनं
भवति, येषां तु व्याख्यानं प्रत्याख्यानस्य यावज्जीवादिपरिमाण-
प्रवर्धिविधीयते तेषामनेन तत्प्रत्याख्यानमाशंसदोषद्वष्टत्वात्
दुष्टं सद्योपं प्राप्नोति ।

अत्र भाष्यम्-

आसंसा जा पुणे, सेविस्सामि ति दूसियं तीए ।
जेय सुयम्मि वि जणियं, परिणामाओ अमुच्छं तु ॥

आसंसातः प्रत्याख्यानं दुष्टमित्युक्तम् । तत्रासंसा का ?, इ-
त्याह-(जंति) या एवंविधपरिणामरूपा । कथंभूतः परिणामः?,
इत्याह-पूर्णं प्रत्याख्याने देवलोकानां सुराङ्गनासंभोगादिभो-
गानां सेविष्ये, इत्येवंभूतपरिणामरूपा च या आसंसा, तया
प्रत्याख्यानं दूषितं भवति । कुतः ?, इत्याह-येन भूतेऽप्यागमे-
ऽपि भणितं, दुष्टपरिणामाशुभेः प्रत्याख्यानमशुभं भवति ।
तथा चागमः-“ सोही सद्वहणा जा-जणा य विणपऽण्णमा-
सणा चेव । अणुपाहणा विसांही, भारविसांही भवे उछा ” ॥
तत्र ‘पचक्खाणं सर्वमुदेसियं’ इत्यादिना भद्धानादिषु व्या-
ख्यातेषु भावविशुद्धेयं व्याख्यानं तत्प्रकृतोपयोगीति दृश्यते ।
“यणेण च दोसेणं, परिणामेण वनदूसियं जंतु । तं खलु पच-
क्खाणं, भावविशुद्धं मुणेयत्वं” ॥१॥ इति । विशेषः । (एते विप्र-
तिपत्ती २५६ पृष्ठे ‘कर्म’ शब्दे, ‘पचक्खाणं’ शब्दे च वक्ष्येते)
एवं युक्तिभिः प्रमापितेऽपि यावदसौ न किञ्चित्प्रतिपद्यते ततः
किं संजातम् ?, इत्याह-

इय परणविओ वि न सो, जाहे सदइइ पूसामित्तेण ।
अज्जगणत्थेरोइ य, काउं तो संघरुमवायं ॥

आहूय देवयं वेइ जाणमाणो वि पचयणिमिचं ।
वच्च जिणिदं पुच्छसु, गयागया सा परिकहेइ ॥
संघो सम्मावाइ, गुरुपुरो गो ति जिणवरो जणइ ।
इयो मिच्छावाइ, सत्तमओ निण्णओऽयं ति ॥
एइमे सामत्यं, कत्तो गंतुं जिणिदमूलम्मि ।
वेइ कदपुयणाए, संघेण तओ कओ वउभो ॥

चतसृणामप्यासामङ्गरार्थः सुगम एव । जाधार्थस्तु कथानक-
शेषादवसेयः । तद्येदम्-एवं युक्तिभिः प्रज्ञाप्यमानो यावदसौ न
किमपि भद्वत्ते तावत्पुष्पमित्राचार्यैरन्यगच्छगतयदुश्रुतस्थवि-
राणामन्तिके नीतः, ततस्तैरेत्युक्तोऽसौ-यादृशं स्वरूपः प्ररूपय-
न्यार्थरक्षितसूरिभिरपि तादृशमेव प्ररूपितं, न हीनाधिकम्, ततो
गोष्ठामाहितोऽङ्गम्-किं यूयमप्यो जानीध ?, तीर्थकरैस्तादृशमेव
प्ररूपितं यादृशमदं प्ररूपयामि । ततः स्थविरैरुक्तम्-मिथ्याभि-
निविष्टो मा कार्योस्तीर्थकराशातनाम्, न किमपि त्वं जानासि ।
ततः सर्वविप्रतिपत्तेः तस्मिन् सर्वैरपि तैः संघसमवायः कृतः ।
सर्वेषां च संघेन देवताद्धानार्थं कायोत्सर्गो विहितः ततो ज-
द्विका काचिदेवता समागता । सा वदति स्म-संदिश्य किं क-
रोमि ? । ततः संघः प्रस्तुतमर्थं जानन्नपि सर्वजनप्रत्ययनिमित्तं
ब्रवीति-महाविदेहं गत्वा तीर्थकरमापुच्छस्व, किं दुर्वलिकापु-
ष्पमित्रप्रमुखाः संघो यज्जगति तत्सत्यमुत यद्गोष्ठामाहितो वद-
ति ? । ततस्तथा प्रोक्तम्-मम महाविदेहं गमनागमने कुर्वन्त्याः
प्रत्युहानुधातार्थमनुग्रहं कृत्वा कायोत्सर्गं कुरुत, येनाहं गच्छा-
मि । ततस्तथैव कृतं संघेन । गता च सा । पृष्टा च भगवन्तं प्र-
त्यागता कथयति स्म-यदुत तीर्थकरः समादिशति-दुर्वलिका-
पुष्पमित्रपुरस्सरसंघः सम्यग्वादी । गोष्ठामाहितस्तु मिथ्या-
वादी ; सप्तमस्यां निहव इति, तदेतच्छ्रुत्वा गोष्ठामाहितो
ब्रवीति-नन्वद्विद्विषयं तत्रापी, का नमैतस्याः कष्टपुतना-

संविन्धनी स्तूपिका शिखरं यस्य तद् मणिकनकस्तूपिकाकम् ।
तथा विकसितानि शतातपत्राणि पुष्करिकाणि द्वारादौ प्रतिकृ-
तित्वेन स्थितानि तिष्ठकाश्च भित्त्यादिषु चन्द्राणि रत्नमयाश्चा-
र्द्धचन्द्रद्वाराग्रादिषु तैश्चित्रं विकसितम्, आतपत्रपुष्करीक-
तिष्ठकार्द्धचन्द्रचित्रम् । तथा—अन्तर्धर्दिश्च मृच्छं मृच्छ-
मित्यर्थः । तथा—तपनीयं सुवर्णविशेषस्तन्मस्या बालुकायाः
सिकतायाः प्रस्तटः प्रतरो यत्र तत्तथा ; तपनीयबालुका-
प्रस्तटतया सुवर्णस्पर्शं शुभस्पर्शं वा । तथा सञ्जीवाणि
सञ्जीवानि रूपाणि नरयुग्मादीनि रूपाणि तत्र तद् सञ्जीक-
रूपम् । प्रासादीयं मनःप्रसादहेतुः । अत एव दर्शनीयं द्रष्टुं यो-
ग्यं, तद्दर्शनेन वृत्तेरसंभवत् । तथा—प्रतिविशिष्टमसाधारणं रूपं
यस्य तत्तथा । (एवं सूरविमाणे वीत्यादि) यथा चन्द्रविमान-
स्वरूपमुक्तमेवं सूर्यविमानं ताराविमानं च वक्तव्यं, प्रायः सर्वे-
षामपि ज्योतिर्विमानानामेकरूपत्वात् । तथा चोक्तं समवायाङ्गे-
“ केवश्या एं भंते ! जोशसियावासा पञ्चत्ता ! गोयमा ! श्मो-
से रयण्णपमाए पुदवीए बहुसमरमणिज्जाओ नूमिजागाओ स-
त्तनउयाइं जोयणसयाइं वहुं उप्पइत्ता दसुत्तरजोयणस-
यवाहल्ले तिरियमसंखेज्जे जोइसविसए जोइसियाणं देवाणं
असंखेज्जा जोइसिया विमाणावासा पञ्चत्ता ; तेषां जोइसि-
यविमाणावासा अण्हग्गा पमुसियपहसिया विविहमाणिरय-
णजसिचित्ता तं वेवणं जाव पासाईया दुरिसणिज्जा पमिक्वा” ।
चं० प्र० १५ पाठो० न बाधा अवाधा । अनाक्रमणे, रा० । जी० ।
स्था० । औ० ॥

अवाहिरिय-अवाहिरिक—त्रि० । बहिर्भवा बाहिरिका । “ अ-
भ्यात्मादिभ्य इकण्” । ६ । ३ । ७७ । इति हैमसूत्रेण इकण्प्रत्ययः ।
प्राकारबहिर्वर्तिनो गृहपकृतिरित्यर्थः । न विद्यते बाहिरिका
यत्र तद्बाहिरिकम् । यस्य प्राकाराद् बहिर्गृहाणि न सन्ति
तस्मिन् स्थाने, वृ० १ उ० ॥

अवाह्व—त्रि० । ग्रामस्यात्यन्तमबहिर्भूते, “ अवाहिरए कण्णइ
हेमंतगिम्हासु मासं वत्थए ” व्य० १ उ० ।

अवाह्वणिआ—अवाधोनिआ—स्त्री० । अवाधया उक्तलक्षणया
ऊनिका अवाधोनिआ । ज० ६ श० ३ उ० । अवाधाकालप-
रिहीनायाम्, “ अवाह्वणिआ कम्मठिई पणत्ता” । ज० १० प्रति० ।

अविद्ध—अविद्ध—त्रि० । बेधरहिते, व्य० ८ उ० । तं० ।

अविष्कृत्त—अविष्कृत्त—पुं० । स्वनामभ्यासे तीर्थिकमेदे,
यदपि गजतुरगस्यन्दनादिव्यतिरिक्तनिमित्तप्रभवः संख्याप्र-
त्ययः, गजादिप्रत्ययविलक्षणत्वाद्, वस्त्रचर्मकम्बले नीलप्रत्य-
यवदिति संख्याप्रसिद्धप्रत्यये अविष्कृत्तार्कं प्रमाणम् । तदयु-
क्तम् । गजादिव्यतिरिक्तसंकेतादिप्रभवत्वेनेष्टत्वात् सिद्धसाध्य-
तादोषाघातत्वात् । सम्म० २ कारणम् ।

अवीय—अद्वितीय—त्रि० । केनचिदपरेण सहावर्तमाने, यथाहि
अवजश्चतुस्सहस्रया राज्ञां सार्द्धं, मल्लिपाइवीं त्रिजिस्सिभिः
शतैः, वासुपुज्यः षडशत्या, शेषाश्च सहस्रेण सह प्रवजितास्तथा
भगवान् न केनाप्यतोऽर्चिताः । कल्प० ।

अबुद्ध—अबुद्ध—त्रि० । अविपश्चिति, दश० ९ अ० । अविवेकि-
नि, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अबुद्धनिन्दा—

जे अबुद्धा महाभागा, वीराऽमम्पत्तदंसिणो ।

अमुष्णं तेसि परकंतं, सफहं होइ सव्वसो ॥ २२ ॥

ये केचनाऽबुद्धा धर्मे प्रत्यविज्ञातपरमार्था व्याकरणशुक्तकर्त-
दिपरिज्ञानेन जातावलेपाः पण्डितमानिनोऽपि परमार्थवस्तुत-
त्त्वानवबोधोद्बुद्धा इत्युक्तम् । नच व्याकरणपरिज्ञानमात्रेण
सम्यक्त्वव्यतिरेकेण तत्त्वावबोधो भवतीति । तथा चोक्तम्—

“ शास्त्रावगाहपरिघट्टनतत्परोऽपि,

नैवाऽबुद्धः समज्जिगच्छति वस्तुतत्त्वम् ।

नानाप्रकाररसजावगताऽपि दर्वी,

स्वादं रसस्य सुचिरादपि नैव वेत्ति” ॥ १ ॥

यदि वा अबुद्धा इव बलवीर्यवन्तः, तथा महान्तश्च ते
भागाश्च महाभागाः । भागशब्दः पूजावचनः । ततश्च म-
हापूज्या इत्यर्थः । लोकविश्रुता इति । तथा वीराः परानी-
कजैदिनः सुभटा इति । इदमुक्तं प्रवर्ति-परिज्ञाता अपि त्या-
गादिभिर्गुणैर्लोकपूज्याः । अपि च—तथा सुभट्वादं बह-
न्तोऽपि सम्यक्तत्त्वपरिज्ञानविकलाः केचन प्रवन्तीति दर्श-
यति—न सम्यग् असम्यक्, तत्त्वावोऽसम्यक्त्वम् । तद् द्रष्टुं
शीलं येषां ते तथा, मिथ्यादृष्टय इत्यर्थः । तेषां च बालानां य-
त्किमापि तपोदानाभ्ययनयमनियमादिषु पराक्रान्तमुद्यम-
स्तदबुद्धमविशुद्धकारि, प्रत्युक्त कर्मबन्धाय, भावोपहतत्वात्,
सनिदानत्वाच्चेति, कुवैद्यचिकित्सावद्विपरीताऽबुद्धधीति । तच्च
तेषां पराक्रान्तं सह फलेन कर्मबन्धेन वर्तन इति सफलम् । सर्वेश
इति । सर्वोऽपि तत्क्रिया तपोऽनुष्ठानादिका कर्मबन्धायैवेति
॥ २२ ॥ सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । बोधाविषये, वाच० ।

अबुद्धजागरिया—अबुद्धजागरिका—स्त्री० । उग्रस्थज्ञानवतां
जागरिकायाम्, म० “ अबुद्धा अबुद्धजागरियं जागरंति चि”
अबुद्धाः केवलज्ञानाभावेन यथासंभवं शेषज्ञानसद्भावाच्च बु-
द्धसदृशाः ते च, अबुद्धानां उग्रस्थज्ञानवतां या जागरिका सा
तथा तां जाग्रति । ज० १२ श० १ उ० ।

अबुद्धसिरी—देशा—मनोरथाधिकफलप्राप्तौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अबुद्धिअ—अबुद्धिक—त्रि० । तत्त्वज्ञानरहिते, ग० १ अधि० । अ-
ज्ञानिनि, पं० चू० । बुद्धिरहिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अबुद्ध—अबुद्ध—पुं० । विरोधे, अप्राशस्त्ये वा । न० त० । बु-
धभिन्ने मूर्खे, अल्पज्ञाने च । वाच० । अज्ञानाने, सूत्र० १ श्रु० २
अ० १ उ० । बाधिशे, प्रज्ञ० १ आश्र० द्वा० । तत्त्वपरिज्ञान-
विकले, वृ० १ उ० ।

अबुद्धजण—अबुद्धजन—त्रि० । अबुद्धोऽविपश्चित्तजनः परिजनो य-
स्य स अबुद्धजनः । अकल्याणमित्रपरिजने, “ विसयसुहेसु प-
सत्थं, अबुद्धजणकामरागपमिद्धं” दश० २ अ० ॥

अवोह—अवोध—पुं० । न० त० । अनवगमे, घ० १ अधि० ।

अवोहंत—अवोधयत्—त्रि० । अजागरयति, उक्त० २६ अ० ।

अवोहि—अवोधि—स्त्री० । न० त० । अज्ञाने, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।
जिनधर्मानवाप्तौ, औत्पत्यादिवुद्ध्यभावे च । म० १ श्रु० ६ उ० ।
मिथ्यात्वकार्ये ज्ञाने, “ अवोधि (हि) परियाणामि वोहि उव-
संपज्जामि” आव० ४ अ० ।

कस्यायोधिर्भवति ?, इति प्रश्नस्योत्तरमाह—

मिच्छादंसणत्ता, सनिदाणा किएहलेसमोगादा ।

लोकान्ततः भनोकादितोऽर्वाक् कियत्या अवाधया प्रकमाव स्थिरं ज्योतिश्चक्रं प्रकृतम् ? । भगवानाह—गौतम ! जगत्-स्वभावाद् एकादशभिरेकादशाधिकैर्योजनशतैरवाधया ज्योतिषं प्रकृतं. प्रकमात् स्थिरं बोध्यम्, चरज्योतिश्चक्रस्य तत्राभावादिति । अथ पञ्चमद्वारं पृच्छति—' धरणितालाभो यं भंते !' इत्यनेन तत्सूत्रैकदेशेन परिपूर्णं प्रश्नसूत्रं बोध्यम् । तच्च—' धरणितालाभो यं भंते ! उहं चप्पइत्ता केवइआए अवाहाए दिछिञ्जे जोइसे चारं चरइ ? । गोयमा ! " इत्यन्तं वस्त्वैकदेशस्य वस्तुस्वरूपस्मारकत्वनियमात् । तत्रायमर्थः—धरणितालाव समयप्रसिद्धात् समभूतलभूजागादूर्ध्वमुत्पत्य कियत्यावाधया अधस्तनं ज्योतिषं तारापटलं चारं चरति ? । भगवानाह—गौतम ! सप्तभिन्नवत्यधिकैर्योजनशतैरित्येवंरूपया अवाधया अधस्तनं ज्योतिश्चक्रं चारं चरति । अथ सूर्यादिविषयमवाधास्वरूपं संक्षिप्य भगवान् स्वयमेवाह—(एवं सूर्यविमाणे भद्रादि सपदि चंद०) इत्यादि । एवमुक्त्यायेन यथासमभूमिजागादधस्तनं ज्योतिश्चक्रं नवत्यधिकसप्तयोजनशतैस्तथा समभूमिजागादेव सूर्यविमानप्रभृभिर्योजनशतैश्चन्द्रविमाननशीत्यधिकैर्योजनशतैरुपरितनं तारापटलं नवभिर्योजनशतैश्चारं चरति । अथ ज्योतिश्चक्रचारकत्रापेक्षया अवाधाप्रश्नमाह—(जोइसेस्स णमित्यादि) ज्योतिश्चक्रस्य दशाक्षरयोजनशतबाहुल्यस्याधस्तनासत्तात् कियत्या अवाधया सूर्यविमानं चारं चरति ? । गौतम ! दशभिर्योजनैरित्येवंरूपया अवाधया सूर्यविमानं चारं चरति । अत्र च सूर्यसमभूमिजागादूर्ध्वं नवत्यधिकसप्तयोजनाऽतिक्रमे ज्योतिश्चक्रबाहुल्यमूलचून आकाशप्रदेशप्रतरः सांऽवधिर्मन्तव्यः । एवं चन्द्रादिसूत्रेषुपि । एवं चन्द्रविमानं नवत्या योजनैरित्येवंरूपया अवाधया चारं चरति । तथा उपरितनं तारापटलं दशाधिके योजनशते ज्योतिश्चक्रबाहुल्यप्राप्ते इत्यर्थः, चारं चरति । अथ गतार्थमपि शिष्यस्युपावनार्थमाह—सूर्यादीनां परस्परमन्तरं सूत्रकदाह—(सूर्यविमाणाओ इत्यादि) सूर्यविमानात् चन्द्रविमानं अशीतियोजनैश्चारं चरति । सूर्यविमानात् योजनशतेऽतिक्रान्ते उपरितनं तारापटलं चारं चरति । चन्द्रविमानाद् विंशत्या योजनैरुपरितनं तारापटलं चारं चरति ॥ अत्र सूचनामात्रत्वात् सूत्रेऽनुक्ताऽपि प्रहाणां नक्षत्राणां च क्षेत्राणां च क्षेत्रविजागव्यवसा मतान्तराधिता संग्रहणिवृत्त्यादौ दर्शिता छिद्यते-

" शतानि सप्त गत्वोर्ध्वं, योजनानां ध्रुवस्तलात् ।
नवति च स्थितास्ताराः, सूर्याऽधस्तात्प्रस्तले ॥ १ ॥
तारकापटलात्वा, योजनानि दशोपरि ।
सूर्याणां पटलं तस्मादशीति शीतरोचिषः ॥ २ ॥
चत्वारि तु ततो गत्वा, नक्षत्रपटलं स्थितम् ।
गत्वा ततोऽपि चत्वारि, बुधानां पटलं भवेत् ॥ ३ ॥
शुक्राणां च गुरुणां च, जौमानां मन्दसंज्ञिनाम् ।
त्रीणि त्रीणि च गत्वोर्ध्वं, क्रमेण पटलं स्थितम् ॥ ४ ॥ इति ।
जं ७ वक्षः ।

(मन्दरस्स णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । मन्दरस्य पर्वतस्य जम्बूद्वीपगतस्य सकृन्नतिर्यग्शोकमध्यवर्तिनः कियत्क्षेत्रमवाधया सर्वतः कृत्वा चारं चरति ? । भगवानाह—(ता एकारसेत्यादि) ता इति पूर्ववत् । एकादश योजनशतानि एकाविंशत्यधिकानि अवाधया कृत्वा चारं चरति । किमुक्तं भ-

वति? मेरोः सर्वतः एकादश योजनशतान्येकाविंशत्यधिकानि मुच्यतदन्तरं चक्रवाह्यतया ज्योतिश्चक्रं चारं चरति । (ता लोथं-ताओ णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । लोकान्तादर्वाक्, णमिति वाक्याहङ्कारे । कियत्क्षेत्रमवाधया कृत्वा ज्योतिषं प्रकृतम् ? । भगवानाह—(एकारसेत्यादि) एकादश योजनशतानि एकादशाधिकानि अवाधया कृत्वा अपान्तरालं विधाय ज्योतिषं प्रकृतम् । (ताजंबूदीवे णं दीवे कयरे नक्खत्ते) इत्यादि सुगमम् । नवरमभिजिज्ञात्रं सर्वाण्यन्तरं नक्षत्रमयरुद्धमपेक्ष, एवं मूढादीन्यपि सर्ववाह्यादीनि वेदितव्यानि । (ता चंदविमाणे णमित्यादि) संस्थानविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह—(ता भद्रकविदुगेत्यादि) भद्रकपितृमुत्तानीकृतमर्द्धमात्रं कपितृं तस्येव यत् संस्थानं तेज्यः संस्थितमर्द्धकपितृसंस्थानसंस्थितम् । आह—यदि चन्द्रविमानमर्द्धमात्रकपितृफलसंस्थानसंस्थितं तत् तदयकाले भ्रस्तमनकाले यदि वा तिर्यक्परिभ्रमत् पौर्णमास्यां कस्माच्चर्द्धकपितृफलाकारं नोपलभ्यते, कामं शिरस उपरि धर्तमानं वर्तुलमुपलभ्यते भर्द्धकपितृस्य शिरस उपरि दूरमवस्थापितस्य परजागादशनतो वर्तुलतया दृश्यमानत्वात् ? । उच्यते—इहार्द्धकपितृफलाकारं चन्द्रविमानं न सामस्येन प्रतिपत्तव्यम्, किंतु तस्य चन्द्रविमानस्य पीठं, तस्य च पीठस्योपरि चन्द्रदेवस्य ज्योतिश्चक्रराजस्य प्रासादः, तथा कथञ्चनपि व्यवस्थितो यथा पीठेन सह भूयाद् वर्तुल आकारो नवति, स च दूरजावाद् एकान्तरतः समवृत्ततया जनानां प्रतिभासते, ततो न कविचद् बोधः । नचैतत् स्वमनीषिकाया जृम्भितम् । यदेतदेव जितनक्षत्राणिक्-माभ्रमणन विशेषणवत्यामाक्षेपपुरस्सरमुक्तम्—

" भद्रकविदुगारा, उद्वयऽथमण्णिमि कहं न दीसंति ।

ससिसुराण विमाणा, तिरियक्खेसछियाणं च ? ॥ १ ॥

उत्ताणऽर्द्धकविद्या-गारं पीठं तदुपरि पासाओ ।

वह्मा वेखेण तओ, समवद्धं दूरभावाओ ॥ २ ॥

तथा सर्वं निरवशेषं स्फटिकमयं स्फटिकविशेषमणिमयं, तथा अभ्युक्ता आभिसुख्येन सर्वतो विनिर्गता उत्सृता प्रबलतया सर्वास्तु दिक्षु प्रसृता या प्रभा दीप्तिस्तथा सितं ह्युक्तमभ्युक्तो-च्चूतप्रभासितं, तथा विविधा अनेकप्रकारा मणयश्चन्द्रकान्त्या-दयो रत्नानि कर्कतनादीनि तेषां भक्तयो विच्छिन्निविशेषाः तामिश्रत्रमनेकरूपवत्, आश्चर्यवद्वा त्रिविधमणिरत्नचित्रमः तथा वातोद्धृता वायुकरिप्ता विजयोऽभ्युदयस्तत्संज्ञिका वैजयन्त्यभिधाना याः पताकाः । अथवा विजया इति वैजयन्तीनां पार्श्वकर्णिका उच्यते, तत्प्रधाना वैजयन्त्यो विजयवैजयन्त्यः पताकास्ता एव विजयवर्जिता वैजयन्त्यः, उत्रातिच्छत्राणि च उपरिपरि स्थितातपत्राणि तैः कश्चित्, ततो वातोद्धृतविजयवैजयन्ती-पताकाच्छत्रातिच्छत्रकश्चित्, तुल्यमुद्यम, अत एव (गगनतलमण्डलिदंत सिंहं रति) गगनतलमण्डलमण्डलिदंत, अग्निद्वयच्छिन्न-रं यस्य तद् गगनतलानुलिखच्छिन्नम् । तथा जालानि जाह्नकानि तानि च भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि, तदनन्तरेषु विशिष्टशोभानिमित्तं रत्नानि यत्तद् जाह्नान्तररत्नम्, सुते चात्र प्रथमैकवचनलोपो रुद्धः । तथा पञ्चराट्टमीक्षितमिव बहिष्कृतमिव पञ्चरोन्मीक्षितमिव । यथा हि किञ्च किमपि वस्तु पञ्चराट्टवंशादिमयप्रच्छादनविशेषाद् बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टजायत्वात् शोभने, एवं तदपि विमानमिति भावः । तथा—मणिकनकानां

सत्यासादं सुखिमल-वसत्याहं व्यथापयत् ॥ ४० ॥
 यात्रोपनम्रसंघस्या-निघ्नविघ्नविघातनम् ।
 कुरुतेऽन्नाम्बिका देवी, पूजिता बहुनिर्विघ्नैः ॥ ४१ ॥
 युगादिदेवचैत्यस्य, पुरस्तादत्र चादमनः ।
 एकरात्रेण घटितः, शिल्पिना तुरगोत्तमः ॥ ४२ ॥
 वैक्रमे वसुवस्वर्क १२८८, मितेऽन्दे नेमिमन्दिरम् ।
 निर्ममे लृणिवस-त्याह्वयं सचिन्नेन्दुना ॥ ४३ ॥
 कपोपलमयं विष्यं, श्रीतेजःपालमन्त्रिराद् ।
 तत्र न्यास्थत् स्तम्भतीर्थे, निष्पन्नं दृक्कुमुधाऽञ्जनम् ॥ ४४ ॥
 मूर्तीः स्वपूर्ववश्यानां, हस्तिशालं च तत्र सः ।
 न्यवीविशद्विशां पत्युः, श्रीसोमस्य निदेशतः ॥ ४५ ॥
 अहो ! शोभनदेवस्य, सूत्रधारशिरोमणेः ।
 तच्चैत्यरचनाशिल्पा-न्नाम ह्येजे यथार्थताम् ॥ ४६ ॥
 वज्राववातः समुद्येन, मैनाकोऽस्यानुजो गिरेः ।
 समुद्रत्वातोऽन्वनेन, दपनेत् मन्त्रीश्चरो भवात् ॥ ४७ ॥
 तीर्थद्वयेऽपि मन्त्रेऽस्मिन्, दैवान् स्नेह्यैः प्रचक्रतुः ।
 अस्यान्दारं द्वौ शक्राव्ये, वह्निवेदार्कसम्मते १२४३ ॥ ४८ ॥
 तत्राद्यतीर्थस्योक्तार्ता, लल्लो महर्णसिहभूः ।
 पीथमस्त्वितरस्याभूदुक्तार्ता, चण्डसिंहजः ॥ ४९ ॥
 कुमारपादभूपाल-इचौलुक्ककुलचन्द्रमाः ।
 श्रीवीरचैत्यमस्योच्चैः, शिखरे निरमीमपत् ॥ ५० ॥
 तत्तत्कौतूहलाकीर्णं, तत्तदोपविबन्धुरम् ।
 धन्याः पश्यन्त्यर्बुदार्कं, नैकतीर्थपवित्रितम् ॥ ५१ ॥
 ह्यथः श्रोत्रसुधाकल्पः, श्रीजिनप्रभसूरिभिः ।
 श्रीमद्वर्बुदकल्पोऽयं, चतुरैः परिवीयताम् ॥ ५२ ॥
 इति श्रीअर्बुदाचक्षकल्पः समाप्तः ॥ ती० ८ कल्पः ।

अठमं-अष्टमं-न० । अपो विमर्ताति अष्टमम् । मेघे, रा० । अपमं-
 शो-“ लिङ्गमतम् ॥ ” ८ । ४ । ४४५ ॥ इति सूत्रेण पुंस्त्वम् ।
 “अस्मा लङ्गा मीगसिर्हि, पहिठ रडंतउ जाइ । जो पहा गिरि-
 गिब्रण-मण्ड, सो किं धणाहि धणाइ” ॥१॥ प्रा० ४ पाद । अष्टाणि
 सन्त्यसिन्नित्यम्रम् । ‘अष्टादिभ्यः’ । ७।२।४६ इति हैमसूत्रेण म-
 त्वर्थीयोऽप्रत्ययः । आकाशे, “ अन्नवहलप विउव्वइ ” । अष्टे
 यानि वार्दलकानि तानि विकुर्वन्ति, आकाशे मेघान् विकुर्वन्ती-
 त्यर्थः । रा० । सा० । आ० म० ।

अठमं-अष्टमं-पुं० । अष्टि-अष्ट-भावे घञ् ; कुत्वम् ।
 स्तोकेन तैलादिना मर्दने, एकवारं तैलमर्दने च । नि०चू०३३० ।

अठमं-अष्टमं-पुं० । अष्टि-अष्ट-भावे घञ् ; कुत्वम् ।
 स्तोकेन तैलादिना मर्दने, एकवारं तैलमर्दने च । नि०चू०३३० ।
 साधूनामन्यञ्जनं न कार्यम्—

नो कप्पइ निगंथाण वा निगंथीण वा परिवासिएण
 तेहेण वा घणण वा नवणीएण वा वसाए वा गत्तं अठमं-
 गित्तए वा पक्खित्तए वा नवत्थ आगाढेहिं रोगायंकेहिं ।

अस्य सम्बन्धमाह—

ससिणेहो अमिणेहो, दिज्जइ मक्खित्तु वा तगं दिति ।
 सब्बो त्रि वणो द्विप्पइ, बुद्धा उ वा मक्खणा भूया ॥

आलेपः सखेहोऽस्नेहो वा दीयते, ततो यथा स्नेहेन प्रकृतं क्रियते,
 नवा, तथाऽनेनाऽभिधीयते । यद्वा-अणं प्रकृत्वा तत्कमनन्तरसूत्रोक्त
 माद्वेपं प्रयच्छन्ति; न वा सर्वोऽपि अणं आद्वेप्यते । द्विधा वा अङ्ग-
 णा भूयात्, कृतो अणोऽपि प्रकृत्यते, आद्वेपोऽपि प्रकृतितुं दीयत इति
 ज्ञावः । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-नो कल्पते परिवासि-
 तेन वा तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा गात्रमन्य-
 क्तितुं वा, बहुलेन तैलादिना प्रकृतितुं वा स्वल्पेन तैलादिना, नान्यत्र
 गाढगाढेभ्यो रोगातङ्केभ्यः, तान्मुक्ता न कल्पते इत्यर्थः । दोषाश्चात्र
 त एव संचयादयो मन्त्रव्याः ।

आह-यद्येवं परिवासितेन न कल्पते प्रकृतितुं, ततस्तद्विषयानी-
 तेन कल्पिष्यते ।

सुरिराह—

तद्विषयमक्खणम्पी, लहुओ मासो उ होइ बोधव्वो ।

आणायणा विराहण, धूलि सरक्खो य तसपाणा ॥

तद्विषयानर्तितेनापि यदि प्रकृत्यति तदा लघुमासः, आश्वादयश्च
 दोषाः, विराधना च संयतस्य भवति । तथाहि-प्रकृतिं गात्रे
 धूलिर्हंगतिः सरजस्को वा सचिचरजोरूपो वा तेनोक्तो लग-
 ति, तेन चीवराणि मलिनीक्रियन्ते, तेषां धावने संयमविराधना,
 स्नेहगन्धेन वा ये असप्राणिनो लगन्ति तेषां विराधना भवेत् ।

धुवणाधुवणे दोसा, निसि भत्तं उप्पिद्वावणं चव ।

चउसत्त स मइ तलिया, उव्वट्टणमाइ पडिमंथो ॥

स्नेहेन मलिनीकृतानां चीवराणां गात्राणां च धावनाधावनयो-
 रभयोरपि दोषाः । तथाहि-यदि न धाव्यन्ते तदा निशि भक्तम्,
 अथ धाव्यन्ते ततः प्राणिनामुल्लाघना भवेत् । उपकरण-
 शरीरयोर्वा कृशत्वं च भवति । (स मइ त्ति) स एव हेवाको ल-
 गति, प्रकृतिं च गात्रपादयोर्मा धूरी लगिप्यति इतिकृत्वा तन्नि-
 काऽपि नह्यति, तत्र गर्वो निर्माद्वधत्त्यादयो दोषाः । यावत्स्व-
 गात्रस्योद्धर्तनादिकं करोति तावत्सूत्रार्थपरिमन्थो भवति ।

तद्विषयमक्खणेण उ, दिट्ठा दोसा जहा उ मक्खिज्जा ।

अट्ठाणेषुव्वाए-ऽपवाए अरक्खुजयणाओ ॥

तद्विषयमक्खणेन जनिता पते दोषा इष्टाः । द्वितीयपदे यथा
 प्रकृत्येत तथाऽभिधीयते-अष्टगमनेनाभारोद्धान्तः, परिभ्रान्तो वा,
 तेन वा कटी गृहीता, अर्बुदं तद्धारोपे जातं कच्छूः पामा,
 तथा वा कोऽपि गृहीतस्ततो यतनया म्रक्षयेदपि ।

तामेवाह—

सन्नाईकयकज्जो, धुवितं मक्खेउ अत्थए अंते ।

परिपीय गोमयाई-उव्वट्टणा धोवणे जयणा ।

संज्ञा गमनम्, आदिशब्दादागमनादिकं च कायकृते कृतकार्यो, न
 संसृष्टादकृतकार्यः, सर्वोणि वहिर्गमनकार्याणि समाप्येत्यर्थः ।
 स यावन्मात्रं प्रक्षणीयं तावन्मात्रमेव धावित्वा प्रकाश्य ततो
 प्रकृत्यति, प्रकृत्यित्वा च प्रतिश्रयस्यान्तस्तावदास्ते यावत्तेन
 गात्रेण तन् तैलादिकप्रक्षणं परिपीतं भवति । ततो गोमया-
 दिना तस्योद्धर्तनं कृत्वा यतनया यथा प्राणिनां प्लावना न भव-
 ति तथा धावनं कार्यम् ।

जह कारण तद्विषयं, तु कप्पइ तह जवेज्ज इयरं पि ।

आयरियवाहि वसमे-हिं पुच्छिए वेज्ज संदेसो ॥

यथा कारणे तद्विषयानीतं प्रक्षणं कल्पते, तथेतरदपि परिवा-

इदं मे मरंति जीना, तेषां हृदहा नवे बोही ॥

मिथ्यादर्शनं विपर्यस्तदर्शनं, मिथ्यात्वं तु मिथ्याक्रियाद्यभिलाष-
रूपं, न च रताः, नथा सह निदानेन देवत्वादिप्रार्थनारूपेण वर्तन्ते
इति सनिदानाः । तथा कृष्णां सर्वार्थमरूपां वेदयां जीवपरिणाम-
रूपामवगाढाः प्राप्ता इहास्मिन् जगति एवंविधा ये जीवा
स्त्रियन्ते तेषां हृत्तनो नयेदं बोधिः । आनु० ।

अवोहिक्कुस-अवोधिकलुप-वि० । मिथ्यादृष्टं, दश० ४ अ० ।

अवोहिदीय-अवोधिदीय-न० । अवोधेर्जन्मान्तरे जिनधर्माऽ-
प्राप्ता वीजनिष वीजं हेतुरवोधिदीयम् । पञ्चा० ४ विव० । स-
म्यन्दर्शनाभावहेतोः, पञ्चा० ७ विव० ।

अवोहिय-अवोधिक-न० । अर्थज्ञा० अव्ययी० स० । मिथ्यात्व-
फलं (अज्ञाने), दश० ६ अ० । न विद्यते बोधिर्यस्य सोऽवो-
धिकः । बोधरहिते, " निश्चयस्य न जायन्ति, मित्रमस्तु ध्व अ-
वोहिया " सूत्र० १ ध्रु० १ अ० २ उ० । अविद्यमानबोधिके, औ०
अविद्यमानो बोधोऽस्मात् । नवान्तराव्याप्त्यजिनधर्मलाभाप्रति-
जागरेणाङ्गे, " अप्रपणो य अवोहीय, महामोहं पकुब्बइ " ।
स० ३० सम० ।

अबुय-अर्बुद-पुं० । स्वनामख्याते (आबू) पर्वते, ती० ।

नक्तया चैवम-

अहन्तौ प्रणिपत्याऽहं, श्रीमन्नाजयेनेमितौ ।
महादेवरुदराख्यस्य, कल्पं जल्पामि शेषतः ॥ १ ॥
देव्याः श्रीमातुरुत्पत्ति-मादौ वचये यथाश्रुतम् ।
यद्विद्यमानतो ह्यप, प्रख्यातो ह्यपि पर्वतः ॥ २ ॥
श्रीरत्नमाग्नगरे, राजाऽभूद्वल्लोचनः ।
सोऽनपत्यतया दूनः, प्रेपीच्छाकुनिकान् वहिः ॥ ३ ॥
शिरस्यां काष्ठमारिण्या-स्ते दुर्गा दुर्गतस्त्रियाः ।
वीक्ष्य व्यजिज्ञपन् राक्षे, प्राव्यस्यास्त्वरपदे सुतः ॥ ४ ॥
राज्ञाऽऽदिष्टा सगर्भव, सा हन्तुं तन्नरेर्निशि ।
गते क्षिप्ता कायचिन्ता-व्याजात् तस्माद् वहिर्निरेत् ॥ ५ ॥
साऽधृतं सन्मत्याऽऽर्ता, चाप वनातान्तरेऽमुचत् ।
गते चाऽऽनीय तच्छुत्ता-नभिर्देवैस्तैरयानि सा ॥ ६ ॥
पुण्येरितामै स्तन्यं चा-पीप्यत् सन्मत्याद्वये मृगी ।
प्रवृद्धैर्जसिष्टकुशाला-महालक्ष्याः पुरोऽन्यदा ॥ ७ ॥
सुग्याश्चतुर्णां पादाना-मथो नूतननाणकम् ।
जातं भुत्वा शिशुरूपं, लोके वार्ता व्यजुम्भत ॥ ८ ॥
नव्यो नृपोऽधृतं कोऽपीति, श्रुत्वा प्रेपीद् भटान्पुः ।
तद्वधायाय तं दृष्ट्वा, सायं ते पुरगोपुरे ॥ ९ ॥
बालदस्याभियाऽमुञ्चन्, गोयूथस्यायतः पथि ।
तत्तथैव स्थितं भाग्या-देकस्तुक्ता पुरोऽनवत् ॥ १० ॥
तत्प्रेर्य च चतुष्पादा-न्तराले तं शिशुं न्यधात् ।
तच्छ्रुत्वा मन्त्रिवाक्यात्, राजाऽमस्तौरसं मुदा ॥ ११ ॥
श्रीपुञ्जाख्यः क्रमात्सोऽधृतं, नृपस्तस्याऽभवत्सुता ।
श्रीमाता रूपसंपन्ना, केवलं भवगानना ॥ १२ ॥
तद्वैराग्याक्षिर्विपया, जातु जातिस्मरा पितुः ।
न्यवेदयत् प्राग्भवं स्वं, यदाऽहं जानरी पुरा ॥ १३ ॥
संचरन्त्यर्बुदे शाशि-शाखां तालुनि केनचित् ।
विहता वृक्षाश्च रूपं मे, कुण्डेऽपतत् तरोरधः ॥ १४ ॥
तस्य कामिततीर्थस्य, माहात्म्याद् नृतनुर्मम ।
मस्तकं तु तथैवास्ते-ऽप्याप्यतः कपिमुष्यहम् ॥ १५ ॥

श्रीपुञ्जोऽक्षेपयच्छीर्षं, कुण्डे प्रेष्य निजान् नरान् ।

ततः सा नृमुखी जङ्गे, तपस्वी चार्बुदे गिरौ ॥ १६ ॥

व्योमगामन्यदा योगी, दृष्ट्वा तां रूपमोदितः ।

आडुर्चायां लपत् प्रेम्णा, मां कथं वृष्टुपे शुभे ? ॥ १७ ॥

सोचेऽत्यगादाद्ययोमो, रात्रेस्तावदतः परम् ।

ताम्रचूरुतादर्चाङ्क, कयाचिद्विद्यया यदि ॥ १८ ॥

शैलेऽत्र कुण्डे दृष्ट्वा, पद्या द्वादश तर्हि मे ।

वरः स्या इति चेदस्यै-द्वियास्याऽवीकरत्स ताः ॥ १९ ॥

स्वशक्त्या कुण्डरवे, कृतके कारिते तथा ।

निपिक्कोऽपि विवाहाय, नास्थात्कृतैतवं विदन् ॥ २० ॥

सरिच्छीरेऽथ तं स्वसा, कृतवीचाहसंभृतिम् ।

सोचे त्रिशूलमुत्सृज्य, विबोद्धुं संनिधेहि मे ॥ २१ ॥

तथाहृत्योपागतस्य, पादयोर्विकृतान् शुनः ।

नियोज्य साऽस्य शूलेन, हृद्यक्षेण वधं व्यधात् ॥ २२ ॥

इत्याजन्माभ्यङ्गशीला, जन्म नीत्वा स्वराप सा ।

श्रीपुञ्जः शिखरे तत्र, तत्प्रासादमवीकरत् ॥ २३ ॥

परमासान्तेऽर्बुदाख्योऽस्या-ऽधोभागेऽक्षेधलत्यहिः ।

ततो विकम्पस्तत्सर्वः, प्रासादशिखरं विना ॥ २४ ॥

लौकिकासंवादः-

नन्दिबर्धन इत्यासीत्, प्राक् शैलोऽयं हिमाद्रिजः ।

कालेनार्बुदनागाधि-ष्ठानात्तर्बुद इत्यनूत् ॥ २५ ॥

वसन्ति द्वादश ग्रामाः, अस्योपरि धनोद्गुराः ।

तपस्विनो गौगाधिकाः, राष्ट्रिकाश्च सहस्रशः ॥ २६ ॥

न स वृद्धो न सा वल्ली, न तत्पुष्पं न तत्फलम् ।

न स स्कन्धो न सा शाखा, या नैवात्र निरीक्ष्यते ॥ २७ ॥

प्रदीपवन्महोपध्वो, जात्यहम्यत्र रात्रिषु ।

सुरभीणि रसाढ्यानि, वनानि विविधान्यपि ॥ २८ ॥

खच्चन्दोऽहदच्छोर्मि-स्तौरमुकुसुमान्विता ।

पिपासुतप्ताऽऽनन्दाऽत्र, जाति मन्दाकिनी धुनी ॥ २९ ॥

चकासत्यस्य शिखरा-पयुक्तुङ्गानि सहस्रशः ।

परिस्त्रवन्ति सूर्यस्य, येषु रथ्या अपि कृणम् ॥ ३० ॥

चरन्तीवज्रतैलेभ-कन्दायाः कन्दजातयः ।

दृश्यन्ते च प्रतिपदं, तत्तत्कार्यप्रसाधिकाः ॥ ३१ ॥

प्रदेशाः पेशलाः कुण्डे-स्तत्तदाश्चर्यकारिभिः ।

अस्य धातुखनीजिह्व, निर्जैरैश्चाभृतोदकैः ॥ ३२ ॥

काक्यिते कृते चोच्चै-द्राकोक्यितकुण्डितः ।

प्राङ्मवति वाःपूरः, कुर्धन् खलह्वारवम् ॥ ३३ ॥

श्रीमाताऽचक्षेभ्वरस्य, वशिष्ठाधम एव च ।

अत्रापि लौकिकास्तोर्थाः, मन्दाकिन्यादयोऽपि च ॥ ३४ ॥

महादेरस्य नेतारः, परमारनरेश्वराः ।

पुरी चन्द्रावती तेषां, राजधानी निधिः श्रियाम् ॥ ३५ ॥

कलयन् विमलां बुक्तिं, विमलो दण्डनायकः ।

सैत्यमवर्ज्यस्याघात, पैतृप्रतिमान्वितम् ॥ ३६ ॥

आराध्याभ्यां जगवर्ता, पुत्रसंपदपस्पृहः ।

तीर्थस्यापनमच्यर्थं, चम्पकद्रुमसन्निधौ ॥ ३७ ॥

पुष्पक्षण्डामरुचिर्, दृष्ट्वा गोमयगोमुखम् ।

तत्राग्रहीद् भुवं दण्डेन, श्रीमातुर्भवनांतिके ॥ ३८ ॥ (युग्मम्)

राजानके श्रीघान्धूके, कुक्कं श्रीगुर्जरेश्वरम् ।

प्रसाद्य भक्त्या तं चित्र-कूटादानाय तन्निरा ॥ ३९ ॥

वैक्रमे वसुवस्वाशा १०८८, मितेऽन्दे भूरिरैव्ययात् ।

अभ्यन्तरेण नगरमध्यभागेन बाहिरिका नगरबहिर्भागो यत्र त-
त्तथा । नगरमध्ये बाहिरिकाया विद्यमानत्वे, दशा० १० अ० ।

अब्जं (बिंज) तरय- अभ्यन्तरक-पुं० । राजानमतिप्रत्या-
सन्नीभूयावत्प्रगति, व्य० १ उ० ।

अब्जं (बिंज) तरदादि-अभ्यन्तरलब्धि-स्त्री० । अभ्यन्त-
रावधेः प्राप्तौ, तथाचोक्तं चूर्णौ-“ तस्य अभ्यन्तरलब्धी नाम
जन्तु से त्रियस्स ओहिनाणं समुप्पसं ततो ठाणाओ आ-
रज्ज सो ओहिनाणी निरंतरसंबद्धं संखेज्जं वा असंखेज्जं
वा खित्तओ ओहिणा जाणइ पासइ एम अभ्यन्तरलब्धिं चि ”
विशे० । “अभ्यन्तरलब्धी सा, जन्तु पर्ववप्यज्जं च संबन्धो । सं-
बन्धोहिनाणं, अभ्यन्तरओऽवहीनाणी ” ॥७५३॥ विशेष० ।

अब्जं (बिंज) तरसंबुक्ता-अभ्यन्तरशम्बुक्ता-स्त्री० । अभ्यन्त-
राद् मध्यभागात् शङ्खवृत्तगत्या त्रिक्रमाणस्य बहिर्निस्सरणे
भवन्त्यां गोचरचूर्णौ, ध० ३ अधि० । यस्यां क्षेत्रबहिर्भागाच्छ-
ङ्खवृत्तगत्याऽऽदन् क्षेत्रमध्यभागमायाति साऽभ्यन्तरशम्बुक्ता ।
स्था० ६ उ० ।

अब्जं (बिंज) तरसगड्ढिका-अभ्यन्तरशकटोष्णिका-स्त्री० ।
अहुद्धौ मीलयित्वा विस्तार्य पाष्णीं तु बाह्यतस्तिष्ठत्युत्सर्गे,
एष भणितोऽभ्यन्तरशकटोष्णिकादोष इति । कायोत्सर्गस्यो-
ष्णिकादोषभेदे, प्रश्न० ५ द्वा० । आव० ।

अब्जं (बिंज) तरोहि-अभ्यन्तरावधि-पुं० । अवधिभेदे, अयं
अभ्यन्तरावधिः प्रदीपप्रभापटलवदवधिमता जीवेन सह सर्व-
तो नैरन्तरव्येण सम्बन्धोऽस्मिन् देशरहित एकस्वरूपोऽत एवा-
यं सम्बन्धावधिदेशावधिश्चोच्यते । विशेष० ।

अब्जं (बिंज) तरिया-अभ्यन्तरिका-स्त्री० । अभ्यन्तरभाग-
वर्तिन्यां जवनिकायाम्, ज्ञा० १ अ० ।

अव्ययवर्ण-अभ्याख्यातव्य-त्रि० । (अभ्याख्यानदाप्ये,)
अभ्याख्यानं नामाऽसदमियोगः, यथा चौरं चौरमित्याह । आचा०
१ सु० १ अ० ३ उ० ।

अव्ययवर्ण-देशी-अकीर्तौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अव्ययवर्ण-अभ्याख्यान-न० । अभिमुख्येन आख्यानं दो-
षाविष्करणमभ्याख्यानम् । ज्ञ० ५ श० ६ उ० । औ० । प्रक-
टमसहोपारोपणे, प्रज्ञा० २२ पद । प्रज्ञा० । आव० । अस-
द्वृषणमिधाने, प्रज्ञा० २ आश्र० छा० । अभिन्यसने, असद्व्या-
रोपणे च । आव० ५ अ० । परस्याभिमुखं दूषणवचने, प्रज्ञा० २
आश्र० द्वा० । प्रव० । असदमियोगे, यथा चौरं चौरमित्याह ।
आचा० १ सु० १ अ० ३ उ० । औ० । सूत्र० । “ एगे अव्य-
यवर्णाणि ” स्था० १ उ० १ उ० ।

अधिकरत्नाधिकमवमरत्नाधिकोऽभ्याख्याति-

दो साहस्रमिया एगतो विहरति, तेहि एगे तस्य अस्मयं
अकिञ्चिद्वारं पस्तिसेवित्ता आहोइज्जा-अहु णं भंते !
अमुपणं साहुणा सधिं इमियस्मि कारणस्मि मेहुणप-
स्तिसेवी । पच्चयहं च सयं पस्तिसेवियं जएणति । तस्य
पुच्छियव्वे-किं पस्तिसेवी ? अपस्तिसेवी ? । से य वण्जा-

पस्तिसेवी परिहारपत्ते । से य वण्जा-णो पस्तिसेवी, णो
परिहारपत्ते । जे से पमाणं वदति से य पमाणाउ धेतव्वं
सिया । से किमाहु भंते !, सच्चपइष्ठा ववहारा ॥ २५ ॥

द्वौ साधर्मिकौ सांभोगिकौ, एकत एकेन संघाटकेन विहरतः, तत्र
तयोर्द्वयोर्मध्ये एक इतरस्याभ्याख्यानप्रदाननिमित्तमन्यतरद्
“अवियत्तं” अभ्युपगच्छति, न परस्यैव केवलस्याभ्याख्यानं
ददाति, तत आह-(पच्चयहं चेत्यादि) परेपामाचार्याणा-
मन्येषां च साधूनामेव संवदति, अन्यथा को नामात्मानं प्रति से-
वितमभिमन्यत इति प्रत्ययो विश्वासः स्यादिति हेतोः स्वयमपि
च प्रतिसेवितमिति भणति । एवमुक्तो यस्याभ्याख्यानमदापि
स प्रष्टव्यः-किं वा प्रवान् प्रतिसेवी, न वा ? । तत्र यदि स
वदेत्-प्रतिसेवी, ततः स परिहारतपोभाक् क्रियते, उपलक्ष-
णमेतत् । छंदादिप्रार्थ्याश्च भागीपि क्रियते इति द्रष्टव्यः । अथ स
वदेत्-नाहं प्रतिसेवी; तर्हि परिहारः प्राप्तः स्यात् । न परिहार-
तपःप्रभृति प्रायश्चित्तभाक् क्रियते इति भावः । स च प्रतिसेवी
वा यदभ्याख्यानदाता “ से ” तस्य प्रतिसेवनायां प्रमाणं चर-
कादि वक्ति; तस्मात्प्रमाणाद् गृहीतव्यो निश्चेतव्यः सः । अथ किं
कस्मात्कारणादेवमाहुर्भवन्तः ? हे प्रवत ! । सूरिराह-सत्यप्रति-
कृत्यवद्वारास्तीर्थकैरेर्दक्षितास्ततो न यथाकथञ्चित्प्रतिसेवी
अप्रतिसेवी वा क्रियते । एष सूत्राकारार्थः ।

अधुना निर्युक्तिभाष्यविस्तरः । तत्र भिक्षाचर्याविचारचू-
मिगमनाधहारादिषु यो रत्नाधिकतरः कुतश्चिदोपादयमो जातः
स तमवमरत्नाधिकं यैः कारणैरभ्याख्यानेन दूषयति तानि
प्रतिपादयिषुराह-

रयणाहियवायएणं, खलियमिद्वियपेद्वणाएँ उदएणं ।

देव उह महुणम्मि य, अव्ययवर्णं कुर्गम्मि ॥

रत्नाधिकवातेन रत्नाधिकोऽहमिति गर्वेण अवमरत्नाधिकं द-
शविधचक्रवाहसामाचार्यामस्वलितमपि कपायोदयेन तर्जय-
ति । यथा-हे दुष्ट ! शैल ! स्वलितोऽसीति । तथा पर्यापथिकीं
प्रतिक्रम्य प्रथममेव परावर्तयन्तं, यदि वा अभ्यन्तरपदं पदेन
विच्छिन्नं सूत्रमुच्चारयन्तं हा दुष्ट ! शैल ! मित्रितमुच्चारय-
सीति तर्जयति । तथा (पेल्लण सि) अन्यैः साधुभिर्चार्यमा-
णोऽपि कपायोदयतः स्वहस्तेन प्रेरयति तर्जयति । ततः सो-
ऽवमरत्नाधिकः कपायितः सन् चिन्तयति-एष रत्नाधिक-
वातेनेत्यं बहुजनसमक्षं तर्जयति, अथैष सामाचारी, रत्ना-
धिकस्य सर्वं क्लृप्तमिति, ततस्तथा करोमि यथैष मम
हृषुको भवति । एवं चिन्तयित्वा तौ द्वावपि भिक्षाचर्यायै ग-
तौ, तत्र च तृषितौ बुद्धितौ चेत्येवं चिन्तितवन्तौ-अस्मिन्नार्या-
देवकुले वृक्षविषमे वा प्रथमाह्निकां कृत्वा पानीयं पास्याम इति,
एवं चिन्तयित्वा तौ तदभिमुखं प्रस्थितौ, अनन्तरे अवमरत्ना-
धिकः परिव्राजिकामेकां तदभिमुखं गच्छन्तीं दृष्ट्वा स्थितः,
उपलब्ध एष इदानीमिति चिन्तयित्वा तं रत्नाधिकं वदति-अ-
हो ! अथ ज्येष्ठार्थ ! कुत त्वं प्रथमाह्निकां, पानीयं वा पिब, अहं
पुनः संज्ञां व्युत्सृज्यामि, एवमुक्त्वा त्वरितं मैशुने अभ्याख्यानं
दातुं वसतावागत्याहोचयति ।

तथा दर्शयति-

जेह्ज्जेण अकज्जं, सज्जं अज्जाधरे कयं अज्जं ।

उवजीवितोऽस्य जंते !, मए वि संसइकप्पो व्व ॥

सिन्त्रं अक्षरं कारणे कल्पने । कथामिति चेत् ? अत आह—आचा-
यस्य कोऽपि व्याधिरुपपन्नस्ततो वृषभैः वैद्यः पूर्वोक्तविधिना
प्रष्टव्यः, तेन च संदेश उपदेशो दत्तो भवेत्, यथा—शतपा-
कादीनि तैलानि यदि भयान्ति ततः चिकित्सा क्रियते ।

ततः किं कर्तव्यम् ? इत्याह—

मयपाग महस्सं वा, सयमाहस्सं व हंसपरुनेद्धं ।

दुग उ णीय असई, परिवासिज्जा जयं धीरे ॥

शतपाकं नाम तैलं तदुच्यते—यद्यपि यानां शतेन पच्यते । यद्वा-
एकेनाप्यौषधेन शतवारं पक्वं परिवासयेत् । एवं सहस्रपाकं
शतसहस्रपाकं च मन्तव्यम् । हंसपाकं नागहंसेन औषधस-
नारम्भवृत्तेन यदेतत्तैलं पच्यते । मरुतैलं मरुदेशे पर्वतादुत्पद्यते ।
एवंविधानि दुर्लभद्रव्याणि प्रथमं तद्वैद्यसिक्कानि मार्गणीया-
नि, अथ दिने दिने न लभ्यन्ते ततः पञ्चकपरिहाण्या चतु-
शुदमातो दूरावस्थानीय धीरो गीतार्थो यतनया अल्पसागारि-
के स्थाने अन्वहं च्छीरेण वेष्टयित्वा परिवासयेत् ।

इदमेव सुव्यक्तमाह—

प्याणि मखण्ण्डा, पाण्डा परिदिणं ण लंभेज्जा ।

पण्डाणीए जइं, चउगुरु पत्तो अदोसोड ॥

एतानि शतपाकादीनि अक्षरार्थं पानार्थं वा प्रतिदिनं यदि न
लभ्यन्ते ततः पञ्चकपरिहाण्या यत्तिवा चतुर्गुरुकं, यदा प्राप्नो-
मवति तदा परिवासयन्नप्यदोषो न प्रायश्चित्तमाह । वृ० ५ उ० ।
सू० ॥ “सेसे परो कार्यं तेल्लेण वा वण्ण वा वसाए वा मक्खेज्ज
वा अभमंगेज्ज वा णो तं सातिपे णो तं णियमे ” आचा० २
धु० १३ अ० । “ जे भिक्खू अंगादाणं तेल्लेण वा वण्ण वा ण-
वणीएण वा वसाए वा अभमंगेज्ज वा मक्खेज्ज वा अभमंगंतं
वा मंवंतं वा साइज्जइ ” नि० चू० १ उ० । (‘ अंगादाण ’
शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४० पृष्ठे व्याख्यातमेतत्) “ अभमंगणं
विहिपरिमाणं करेइ ” उपा० १ अ० । (‘ आणंद ’ शब्दे द्वितीय-
भागे १०९ पृष्ठे दर्शयिष्यते सूत्रम्)

अभमंगिपल्लय—अन्यत्रित—त्रि० । स्नेहाभ्यक्तशरीरे, वृ० १ उ० ।
पि० । प्रा० म० । ओघ० ।

अवजंगि (गे) ता—अन्यज्य—अव्य० । तैलादिना अन्यद्रव-
कृत्वेत्यर्थे, स्था० ३ उ० । आचा० ।

अवजंगिय—अन्यत्रित—त्रि० । स्नेहेन मर्दिते, पि० ।

अवजं (विज) तर—अन्यन्तर—त्रि० । पुत्रकलत्रादिवत्
प्रत्यासन्ने, स्था० ८ उ० ।

आभ्यन्तर—त्रि० । अभ्यन्तरे भवमाभ्यन्तरम् । मध्यस्थे, स्था०
२ उ० । १ उ० । पि० । विपा० । ज्ञा० । अभ्यन्तरभागवर्तिनि,
रा० । जी० । “ सव्वभन्तराणं तरं मंडलं उव्वसंकमिस्सा चारं
चरइ ” जं० ७ वत्त० ।

अवमं (विम) तरओसचित्तकम्प—अन्यन्तरतःसचित्र-
कर्मन्—त्रि० । मध्ये चित्रकर्मरमणीये, कर्म० २ कर्म० । कल्प० ।

अवमं (विम) तरकरण—अन्यन्तरकरण—न० । भावसंग्रह-
मेदे, व्य० तच्च—अभ्यन्तरकरणं नाम द्वयोः साध्वोर्गच्छमेढीभूत-
योः अभ्यन्तरे कुलादिकार्यनिमित्तं परस्परमुल्लपतोऽस्तृतीयस्थो-

पशुधूपोर्वेहिःकरणं, अथवाऽपविष्टः सन्नभ्यन्तरे गत्वा तद् ग-
च्छादिप्रयोजनं कृते, एतदभ्यन्तरकरणम् । यदि वा तेन सह
ये बाह्यभावं मन्यन्ते तानपि तथाऽनुवर्त्तयति यथा तं तेजस्विन-
मभिमन्यन्ते, एतदभ्यन्तरकरणम् (व्य०) ।

पूयण जहा गुरुणं, अभन्तर दोएइमुल्लवंताणं ।

तइयं कुण्ठी वहिया, वेइ गुरुणं च तं पिच्छे ॥

पूजनं यथाक्रमं गुरुणामभ्यन्तरकरणं यदभ्यन्तरे द्वयोरुल्लपतो-
स्तृतीयमुपशृङ्खुं बहिः करोति, यदि वा तद् गच्छादिप्रयोजनं
पृष्टः सन्नभ्यन्तरं गत्वा गुरुणां कृते कथयति । व्य० ३ उ० ।

अवमं (विज) तरग—आन्यन्तरक—पुं० । आसन्नमन्त्रिप्रभृतौ,
विपा० १ सु० ३ अ० । स्था० ।

अवमं (विज) तरठाणिज्ज—अन्यन्तरस्थानीय—पुं० । आ-
भ्यन्तरनामसु प्रेष्यपुरुषेषु, “ अभिन्तरठाणिज्जे पुरिसे सहा-
वेइ ” ज्ञा० १३ अ० ।

अवमं (विज) तरतव—अन्यन्तरतपस्—न० । अभ्यन्तरमन्त-
रस्यैव शरीरस्य तापनात्सम्यग्दृष्टिभिरेव तपस्तथा प्रतीयमान-
त्वाच्च, तच्च तत्तपश्चेति अभ्यन्तरतपः । औ० । औक्तिकैरनाभिज्ञ-
व्यत्वाच्च तन्त्रान्तरीयैश्च परमार्थतोऽनासेव्यमानत्वाच्च मो-
क्षप्राप्त्यन्तररूपवाचाचन्यन्तरमिति । स्था० ६ उ० । स० । पं०
व० । पञ्चा० । ग० । म० । उत्त० । अभ्यन्तरस्यैव शरीरस्य
कर्मण्यलक्षणस्य तापकत्वाच्चन्यन्तरतपः । प्रश्न० ५ सन्न० द्वा० ।
प्रायश्चित्तादौ तपोज्जेदे, औ० । “ प्रायश्चित्तं ध्यानं, धैर्यादृत्यं
विनयमयोः तसर्गः । स्वाध्याय इति तपः षट्-प्रकारमाभ्यन्तरं
प्रवति ” ॥ १ ॥ ध० १ अधि० । ग० । उत्त० । “ क्विविहे अभमं-
तरिपे तवे पक्खे । तं जहा—पायाच्छित्तं विण्णो वेयावच्चं स-
ज्जाओ माणं वि उस्सग्गो ” स्था० ६ उ० ।

अवजं (विम) तरतो—अन्यन्तरतस्—अव्य० । सप्तम्यर्थे त-
सिद्ध । अभ्यन्तरे मध्ये इत्यर्थे, “ सत्तएहं पयमीणं, अभिन्तर-
तो उ कोकिकोडीए ” । आ० म० प्र० ।

अवमं (विज) तरदेवसिय—अन्यन्तरदैवसिक—न० । दिव-
साभ्यन्तरसम्भवेऽतिचारे, “ अब्बुत्तिओमि अभमं—तरदेवसियं
वा सामेवं ” इति । ध० २ अधि० ।

अवजं (विम) तरपरिस—अन्यन्तरपरिषत्—पुं० । औ० । व-
यस्यमण्डलीस्थानीयायां परममित्रसदृश्यां समित्यपरनामि-
कायां देवेन्द्राणां पर्षदि, रा० । स्था० ।

अवमं (विज) तरपाणीय—अन्यन्तरपानीय—त्रि० । अभ्यन्तरे
पानीयं यस्य स तथा । मध्यस्थजलयुक्ते चौरपल्ल्यादावर्थे,
ज्ञा० १८ अ० ।

अवमं (विज) तरपुक्खरब्ब—अन्यन्तरपुष्करार्ध—न० । मा-
नुषोत्तरपर्वतादूर्वाग्रमेव पुष्करवल्लीपस्यार्थे, जी० ३ प्रति० । सू०
प्र० । (नामनिरुक्त्यादि ‘ पुष्करवरदीव ’ शब्दे व्याख्यास्यते)

अवमं (विज) तरपुष्फल—अन्यन्तरपुष्पफल—त्रि० । अ-
भ्यन्तराणि अभ्यन्तरजागवर्त्तिनि पुष्पाणि च फलानि च पु-
ष्पफलानि येषाम् । पञ्चावृत्तत्वाद् बहिरदृश्यपुष्पफलके वृत्ते, रा० ।

अवजं (विज) तरवाहरिय—अन्यन्तरबाहिरिक—त्रि० । सहा-

स्तमवमरत्नाधिकं श्रूयात्-यदि मया कदापि युवत्या सह कृत-
मकार्यं ततः किं त्वया बहुना मध्ये अहमेवमज्याख्यातः-अनेन
कृता प्रतिसेवनेति । किन्त्वहमेवैकान्ते वक्तव्यो भवामि । यथा
उभु कृतमालोचनां गृहाण गुरुणामन्तिक इति । मम रोपेण त्वया-
ऽऽत्मीयमपि शीलं विगोपितम्, एवं सद्भावो ज्ञायते । एतावता
“ आवस्सग आउट्टण, सम्भावे वा ” इति व्याख्यातम् । इदा-
नीमसद्भावे इति व्याख्यानयति-“ अभासमाणाण परोत्परं
वा ” इति । अथ कदाचित् रोपतः परस्परं न संलपतः, तदा
तयोः परस्परमभापमाणयोर्भूतार्थपरिज्ञानाभावे तपस्वी कपको
देवताध्यानार्थं कायोत्सर्गं कुर्यात् । कायोत्सर्गेण च देवतामाक-
म्प्य पृच्छति-कोऽज्योर्द्वयोर्मध्ये सम्यग्वादी, को वा मिथ्या-
वादीति ? तत्र यदेवता श्रुते तत्प्रमाणम् । तेन तप इति द्वारं
व्याख्यातम् ।

अधुना सङ्गद्वारं व्याचिख्यासुरिदमाह—

किंचि तद्वाऽतद् दीसइ, चउभंगे पंत देवया जहा ।

अत्तीकरेइ मूलं, इयरे सच्चपतिस्साओ ॥

सर्वप्रकारेणाज्ञायमाने भूतार्थे संघसमवायं कृत्वा तस्मै आवे-
द्यते-रत्नाधिको वदति नाहं कृतवान्प्रतिसेवनाम्; इतरो श्रुते
द्वावपि प्रतिसेवितवन्ताविति, तत्र किं कर्त्तव्यमिति ? । एवमा-
दिना कृते ये संघमध्ये गीतार्थास्ते वदन्ति-किञ्चित्स्थानाभावं तथा
भावेन दृश्यते; किञ्चित्स्थानाभावमन्यथाभावेन; किञ्चिदन्यथाभा-
वं तथाभावेन; किञ्चिदन्यथाभावमन्यथाभावेन । एषा चतुर्जङ्गी ।
अस्यां चतुर्जङ्ग्यां प्रथमो भङ्गः प्रतीतः । द्वितीयभङ्गभावना त्वे-
वम्-कोऽपि कथापि घनप्रदेशे गच्छति । तत्र केचिदारक्षका अ-
पगतक्रमा असिन्धुग्रहस्ता वदन्ति । ततः कदाचिदेवता भक्ति-
का मा विनश्यत्वेयं पुरुष इति तं दूरान्तरितं दर्शयति । तृतीय-
भङ्गः-भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः सागारिकमकपायितं सङ्ग-
मकः कपायितं दर्शयति । चतुर्थभङ्गः-कस्याश्चिद्विपदि दासं
राज्ञा कारितराजनेपथ्यं विनश्यन्तं दृष्ट्वा कदाचिद्भूदेवता
तदनुकम्पया स्त्रियं दर्शयति । एवं प्रान्ता भङ्गा च देवता
अन्यथाचूतं यद्वस्तु अन्यथा करोति-अन्यथा भूतं दर्शयति,
ततो दृष्टमपि तावद्प्रमाणमत्र । ननु ज्ञायते-किमपि दृष्टमवम-
रत्नाधिकन, अथ च सत्यप्रतिज्ञा व्यवहारास्तार्थकृद्भिन्नरूपदिष्टा-
स्तस्माद्यद् रत्नाधिका श्रुते-न मया प्रतिसेवितमिति तत्प्र-
माणतः शुद्ध एव न प्रायश्चित्तभागिति । यदपि चावमरत्नाधि-
को वक्ति-मया प्रतिसेवितमिति, तदपि प्रमाणमतस्तस्य मूलं
प्रायश्चित्तमिति । व्य० १. ३० ।

अञ्जच्छृणु-अञ्जच्छृणु-वि० । मेघावृते, वृ० १. ३० ।

अञ्जद-देशी-प्रसिद्धशब्दः । अनुव्रजने, “ अमरुवंचिउ वे
पयई, पेम्मु निअत्तइ जावै । सव्वासण-रिउ-संभव-हो, कर
परिअत्ता तावै ” । प्रा० । प्रेमशब्देन प्रिया वाच्या, अजेदोप-
चारात् । यथा प्रेमवतीत्युच्यते, तथा प्रेमापीत्युच्यते । प्रिया
प्रियमिति शेषः । प्रियम्, (अमरुवंचिउ इति) अनुव्रज्य
सुत्कालाख्य यावद् द्वौ पादौ निवर्त्तते तावत् सर्वाशनरिपु-
संभवस्य चन्द्रस्य कराः किरणाः परिवृताः, प्रसृता इत्यर्थः ।
सर्वमश्नातीति ‘नन्द्यादि०’ ॥ ५ । १ । ५२ ॥ इत्यनः प्रत्ययः ।
सर्वाशनोऽग्निः, तस्य रिपुर्जलं, तत्संभवश्चन्द्रः । अनुव्रजने रते
‘अमरु’ इति ‘वंच कत्याप्र०’ वंचयते लोकान् ‘स्वराणां०’
॥ ७ । ४ । २३८ ॥ अमरुवंचिउ ॥ दुं० ४ पाद ॥

अञ्जणुष्ठा-अज्यनुज्ञा-ली० । कर्त्तव्यानुमतिदाने, स्था० ।

अथात्र भगवतो महावीरस्याऽज्यनुज्ञातानि प्रदर्शयन्ते—

पंच ठाणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं नि-
गंयाणं णिच्चं वसियाइं णिच्चं कित्तियाइं णिच्चं युइयाइं
णिच्चं पसत्याइं निच्चमग्गणुष्ठाइं भवंति । तं जहा-खंतं ।
मोत्ती अज्जवे मद्दे लायेवे । पंच ठाणाइं समणाणं० जाव
अम्भणुन्नायाइं भवंति । तं जहा-सच्चे संजमे तवे चियाए
वंभचेरवासे । पंच ठाणाइं समणाणं० जाव अम्भणुन्नायाइं
जवंति । तं जहा-उक्खित्तचरणे णिक्खित्तचरणे अंतचरणे
पंतचरणे बूहचरणे । पंच ठाणाइं० जाव अञ्जणुन्नायाइं भवं-
ति । तं जहा-अन्नायचरणे अन्नवेलचरणे मोणचरणे संसट्ठक-
प्पिण्णे तज्जायसंसट्ठकप्पिण्णे । पंच ठाणाइं० जाव अम्भणुन्नायाइं
जवंति । तं जहा-उवनिहिण्णे सुद्धेसणिण्णे संखादत्तिण्णे दिट्ठझा-
भिण्णे पुट्ठझाभिण्णे । पंच ठाणाइं० जाव अञ्जणुन्नायाइं ज-
वंति । तं जहा-आयंविद्वण्णे निव्विड्णे पुरिमद्विण्णे परिमिय-
पिण्णवाइण्णे जिन्नपिण्णवाइण्णे । पंच ठाणाइं० जाव अम्भणुन्ना-
याइं जवंति । तं जहा-अरसाहारे विरसाहारे अंताहारे
पंताहारे बूहाहारे । पंच ठाणा० जाव भवंति । तं जहा-
अरसजीवी विरसजीवी अंतजीवी पंतजीवी बूहजीवी । पंच
ठाणाइं० जाव भवंति । तं जहा-ठाणाइण्णे उक्कुमुआसणिण्णे
पणिमड्ढाइवीरासणिण्णे णेसज्जिण्णे । पंच ठाणाइं० जाव ज-
वंति । तं जहा-दंढायण्णे लंगंढसाइं आयावण्णे अवाउडण्णे
अकंरुयण्णे ॥

नित्यं सदा वर्णितानि फलतः कीर्तितानि संशब्दितानि, ना-
मतः (बुझ्याइं ति) व्यक्ताचोक्तानि, स्वरूपतः प्रशस्तानि
प्रशंसितानि श्लाघितानि, शंसु स्तुताविति वचनात् । अभ्यनु-
ज्ञातानि कर्त्तव्यतया अनुमतानि भवन्तीति । अयं च सूत्रोक्तोपः
प्रतिसूत्रे वैयावृत्यसूत्रं यावत् दृश्यते इति । स्था० ५. ३० । ३० ।
(क्षान्त्यादीनां व्याख्या स्वस्थाने वक्ष्यते)

असत्याऽज्याख्यानां कुर्वतः क्रिया—

जे एं जंते ! परं अझिएणं असञ्चएणं अभक्तव्याख्यानं
अञ्जकखाइ, तस्म एं कट्ठप्पागरा कम्मा कज्जंति ! गोयमा !
जे एं परं अझिएणं असंतएणं अभक्तव्याख्यानं अञ्जकखाइ,
तस्म एं तट्ठप्पागरा चेव कम्मा कज्जंति, जत्थेव एं अभि-
समागच्छइ तत्थेव एं पणिसंवेदेइ । तयो से पच्चा वेदेइ
सेवं जंते ! भंते ! चि ।

अग्नीकेन चूतनिहवरूपेण पाशितब्रह्मचर्यसाधुविषयेऽपि
नानेन ब्रह्मचर्यमनुपालितमित्यादिरूपेण (असम्भूयणं ति)
अभूतोद्भावनरूपेण अचौरेऽपि चौरोऽयमित्यादिना । अथवा
अग्नीकेन असत्येन तच्च रुच्यतोऽपि भवति, सुब्रह्मादिना मृगा-
दीन्पृथस्य जानतोऽपि नाहं जानामि इत्यादि । अत आह-अस-

ज्येष्ठार्येणाद्य सद्य इदानीं। मार्यागृहे कृतमकार्यं मेषुनाजिसे-
वात्रकणं, ततो भद्रन्त ! तत्संसर्गतो मयाऽपि संसृष्टकल्पो म-
नुनप्रतिसेवा, अत्रास्मिन्प्रस्तावे उपजीविनः ॥

अहवा उच्चारगतो, कुर्मगमाईकनिश्वदेसम्मि ।

वेनी कयं अकज्जं, जेड्जेणं सह मए वि ॥

अथवेत्यभ्याख्यानस्य प्रकारान्तरदर्शने। कुर्मगमादौ कविश्लो-
के गहनप्रदेशे उच्चाराय गनस्तत्र च ज्येष्ठार्येण सह मयापि कु-
तनकार्यमिति । तस्माद् व्रतानि मन सांप्रतमारोपयत ।

एवमुक्ते सुरिनिः स एवं वक्तव्यः—

तस्मागते वयाइं, दाहामो देति वाऽऽउरंतस्स ।

अन्ये पुण नाए, अलियनिमित्तं न भूझं तु ॥

याऽस्तौ त्वया अभ्याख्यातः स यदा आगतो भविष्यति तदा
तस्मिन्नागते व्रतानि दास्यामः । अथ स त्वरमाणो ह्ये-भग-
वन् । कुशाग्रस्थितया तादृजलचिन्दुरिवातिचञ्चलं जीवितमि-
ति न शक्यते ज्ञानमात्रमप्यव्रतेन स्थातुम्, इत्यधुनैव ममारोप्यतां
व्रतादीनांति । तत्सर्वं त्वरमाणस्य ददति व्रतानि, याज्ञवल्क्यो
विकल्पायः । तत्र पुनर्ज्ञातार्थो गवेषणीयः, किमयं सत्यं ह्ये,
उताग्रीकम् ? तत्र यथा ज्ञातार्थो गवेषणीयस्तथाऽनन्तरमेव व-
क्तव्यम् । ज्ञातार्थं च ज्ञातं यदि सत्यं, तदा ह्येयोरपि भूझं दीयते ।
अथालीकम्, ततो याऽऽख्यातः स शुद्धः, इतरस्य त्वभ्या-
ख्यातुर्भूझं न दीयते, किन्तुलीकनिमित्तं शृणुवादप्रत्ययं चतु-
गुरुकं प्रायश्चित्तमिति ।

सम्प्रति यथा ज्ञातार्थो प्रायते तथा प्रतिपिपाद-
विपुर्द्वाराधामाह—

चरियापुच्छणपेसण, कावाझिय तवसंयो य जं जणइ ।

चउजंग निरिक्खा दे-वया य तहियं विही एसो ॥

तत्र तत्रार्थं ज्ञातव्ये एव विधिः—चरिका परिभाषिका, तस्याः
प्रच्छनाय वृषमाणार्थं प्रेषणं स चेत्सत्यवादी न मन्यते तत्तस्तौ
द्यापि पृथगाश्रयं प्रेक्ष्य तत्र वृषभाः तत्स्वरूपगवेषणाय का-
पाक्षिकरूपेण प्रेष्यन्ते । कापाक्षिकग्रहणमुपसङ्गणम्, तेन सरज-
स्कादिरूपेणापीत्यपि द्रष्टव्यम् । एवमपि ज्ञातार्थानिरूपणे (तयो
चित्) तपः स्वकायोत्सर्गेण देवतामाकम्प्य पृच्छति । एतस्यापि
प्रकारस्याभावे संघो मेलयित्वा प्रच्छनीयः, तेन च निरीक्रिणो
निरीक्रकानधिकृत्य चतुर्भङ्गी—कचिच्चयाज्ञातं तथाज्ञावेन पश्य-
न्तीत्यादिरूपा वक्ष्यमाणा प्रकुर्यते । गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वा-
त् । सा च चतुर्भङ्गी ब्रह्मप्रान्तदेवता आधित्य संभवति । एव
द्वारागाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीपुराह—

आलोइयम्मि तिउणो, कज्जं से सीसए तयं सव्वं ।

परिसिद्धिम्मि य इयरो, भणाइ वीर्यं पि ने नात्थि ॥

अभ्याख्यातः साधुरागतः सन् आलोचयति—प्रथमाक्षिकां या-
धन्न जानामि द्वितीयः संघाटकः कापि गत इति केवलोऽहमा-
गतोऽस्मि । तत आचार्यां श्रुते-सम्यगालोचय । ततः स स्मृ-
त्वा आलोचयति, यावत्तस्मिन्नापि तृतीये वारे तदाहोचितम् ।
ततस्त्रिगुणं त्रिकृत्य आलोचितं यदि न प्रतिसेधितमित्यात्रोच्य-
नि, ततो येन कारणेन त्रीन् वारान् आलोचायितस्तत्कार्यं कारणं
सर्वं तस्य शिष्यते कथ्यते, यथा-स एव तव संघाटकस्त्वया सह
१७३

किञ्चिन्मात्रं हि पिबत्वा समागतो ह्ये-ज्येष्ठार्येण आर्यागृहे वृक्ष-
विषमे च कचित्प्रदेशे कृतमकार्यम्, तत्संसर्गतो मयाऽपि सं-
सृष्टकल्प उपजीवित इति । ततोऽभ्याख्यातसाधुर्वदति-
न मया प्रतिसेधितम् । एवं तेन प्रतिपिप्ते प्रतिसेवने इतरोऽभ्या-
ख्यानप्रदाता भवति—अहो ! ज्येष्ठार्य ! तव द्वितीयमपि व्रतं
नास्ति, आस्तां चतुर्थमित्यपिशब्दार्थः ।

दोएहं पि अणुमण्णं, चरिया वसहे पुच्छियपमाणं ।

अनत्थ वसह तुम्हे, जा कुणिमो देव उस्सगं ॥

एवं ह्येयोरपि विवदतोरेवमुच्यते—चरिका पृच्छयतां यत्सा
वक्ष्यति सत्यमाणापिष्यते । एवमुक्ते यदि तौ द्वावप्यनुमन्येते,
ततो ह्येयोरनुमतेन, संमत्या इत्यर्थः । वृषभाश्चरिकां प्रष्टुं प्रेष्य-
न्ते, ते च तत्र गताः प्रथमतश्चरिकां प्रष्टापयन्ति, प्रष्टाप्य पृच्छ-
न्ति—किमत्र सत्यम्, अलीकं वा ? एवं वृषभैश्चरिका पुष्टा सती
यद् ह्येते तत्प्रमाणं कर्तव्यम् । तत्र चरिकायोक्तम्—भगवन् ! अभ्य-
ख्यानं तेन द्वितीयेन तस्मै दत्तमिति । एतद्योक्तं वृषभा वस-
तावागत्य गुरवे निवेदयन्ति । यथावस्थिते निवेदिते यद्यन्य-
तरो वदति—गूढयति चरिका न सम्यक्कथयति । तदा गुरवो
द्वावपि श्रुते युयमन्यत्र वसति याचयित्वा तत्र वसथ, या-
वद्द रात्रौ देवताराधनार्थं कायोत्सर्गं कुर्मः । किमुक्तं जव-
ति ?—कायोत्सर्गेण देवतामाकम्प्य पृच्छामः—कोऽयं सत्य-
वादी, को वाऽलीकवादी ? इति ।

एवमुक्ते तौ द्वावपि वसत्यन्तरे गते यद्

भवति तदभिधित्सुराह—

अडिगमादी वसभा, पुञ्चि पच्छा वजंति निसि सुणणा ।

आवस्सग आउट्ण, सब्भावे वा असब्भावे ॥

अस्थिकाः कापालिकाः, आदिशब्दात्सरजस्कादिपरिग्रहः, त-
द्रूपाः सन्तः । किमुक्तं जवति ?—कापालिकं वेपं सरजस्कवेपं
कृत्वा यस्यां वसती द्वावपि जनी तिष्ठतस्त्रयं पूर्वं वृषभा गच्छ-
न्ति । यदि वा तयोर्गतयोः पश्चात्तत्र च गत्वा रात्रौ मातृस्थाने
सुप्ता इव तिष्ठन्ति, तथापि तयोः परस्परमुल्लापं श्रूयन्ति ।
तयोश्चावश्यकं कर्तुं कामयोर्योऽसावधमरत्नाधिकोऽभ्याख्यान-
दाता, स इतरं प्रति मिथ्यादुष्कृतेनोपस्थित एतद्ब्रूयति—त्वं मया
असता अभ्याख्यानेनाभ्याख्यातोऽस्तौ मिथ्यादुष्कृतमिति ।
ततो रत्नाधिको श्रूय—किं नाम तवापकृतं मया, यत्नासदाभ्या-
ख्यानं मे दत्तमिति ? । अथमरत्नाधिको भाषते—त्वं नित्य-
मेव यत्र तत्र वा कार्यं सम्यग् प्रवर्त्तमानमपि हे दुष्ट ! शैष्-
क ! इति तर्जयसि, तेन मया त्वमसदाभ्याख्यानेनाभ्याख्यातः ।
एवमावश्यके भावप्रत्ययवेलायामावर्त्तने भावप्रत्याख्याने अ-
लीकाभ्याख्याने सद्भाषो ज्ञायते । अथ न परस्परसंभाषणतः
सद्भावो ज्ञायते, तदा सद्भावपरिज्ञानाभावे तपस्वी प्रष्टव्य
इति शेषः ।

तथाचाऽह—

सदो चि मं जाससि निच्चमेव,

वहुण मज्झम्मि तत्रो कहेमि ।

अमासमाणाण परोपरं वा,

देवाण—मुस्सग तवस्सि कुज्जा ॥

नित्यमेव सर्वकालमेव यद् हे शत्रु ! शैष्क ! इति मां भाष-
से, तेन त्वमसताभ्याख्यानेनाभ्याख्यातः । अथ स रत्नाधिक-

शुद्धोऽप्यासः-

अप्यासोऽपि प्रायः, प्रभूतजन्मानुगो जवति शुद्धः ।
कुलयोग्यादीनामिह, तन्मूलाधानयुक्तानाम् ॥ १३ ॥

(अभ्यासोऽपीत्यादि) अभ्यासोऽपि परिचयोऽपि, प्रायो वा-
हृत्येन, प्रभूतजन्मानुगोऽनेकजन्मानुगतो, भवति जायते. शुद्धो
निर्दोषः, कुलयोग्यादीनां गोत्रयोगिव्यतिरिक्तानां कुलयोगिप्र-
वृत्तचक्रप्रभृतीनामिह प्रक्रमे, तासां मैत्र्यादीनां मूलाधानं मू-
लस्थापनं बीजप्यासस्तदुक्तानाम् । कुलयोगिगणकृणं चेदम्-“ये
योगिनां कुले जाता-स्तद्धर्मानुगताश्च ये । कुलयोगिन उच्यन्ते,
गोत्रवन्तोऽपि नापरे ” ॥ १ ॥ गोत्रयोगिनश्च-“सामान्येनोत्तमा
प्रव्याः, सर्वत्राद्वेषिणश्च ते । दयालवो विनीताश्च, बोधवन्तो जि-
तेन्द्रियाः ” ॥ १ ॥ इत्याद्याभिधानात् ॥ १३ ॥

कस्य पुनरयमभ्यासः शुद्धो भवति ? इत्याह-

अविराधनया यतते, यस्तस्यायामिह सिद्धिमुपयाति ।

गुरुविनयः श्रुतगर्भो, मूलं चास्या अपि ज्ञेयः ॥ १४ ॥

(अविराधनयेत्यादि) विराधना अपराधासेवनं, तन्निषेधाद-
विराधनया हेतुचूतया, यतते प्रयत्नं विधत्ते, यः पुरुषस्तस्य
प्रयतमानस्यायमभ्यासः, इह प्रस्तुते, सिद्धिमुपयाति सिद्धिभाग्
जवति । गुरुविनयः प्रागुक्तः, श्रुतगर्भ आगमगर्भो, मूलं च का-
रणं चास्या अप्यविराधनाया, ज्ञेयो ज्ञातव्यः । पौ० १२ विव० ।

अथाऽभ्यासज्ज्ञेदाः-

अने जणंति तिबिहं, सययविसयजावजोगओ एवरं ।

धम्ममि अणुट्ठाणं, जहुत्तरपहाणरुवं तु ॥ १ ॥

एअं च ए जुत्तिस्वमं, शिच्छयणयजोगओ जओ विसए ।

भावेण य परिहीणं, धम्माणुट्ठाणमो किहणु ॥ २ ॥

ववहारओ उ जुज्जइ, तहा तहा अपुणवंधगाईसु ॥ इति ॥

एतदर्थो यथा-अन्ये आचार्या भुवते-त्रिविधं त्रिप्रकारं सतत-
विषयजावयोगतः, योगशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् सतता-
दिपदानां सतताभ्यासादौ लाक्षणिकत्वात्सतताभ्यास-विषया-
भ्यास-भावाभ्यासयोगादित्यर्थः । नवरं केवलं धर्मेऽनुष्ठानं य-
थोत्तरं प्रधानरूपम्, तुरेवकारार्थः । यदुत्तरं तदेव सततं प्रधान-
मित्यर्थः । तत्र सतताभ्यासो-नित्यमेव मातापितृविनयादिवृत्तिः ।
विषयाभ्यासो-मोक्षमार्गनायकेऽहंलक्षणे पौनःपुन्येन पूजना-
दिप्रवृत्तिः । प्रावाभ्यासो-भावानां सम्यग्दर्शनादीनां भवोद्वेगेन
भूयोभूयः परिशीलनम् । एतच्च द्विविधमनुष्ठानं न शुक्तिक्लमं नो-
पपत्तिसहं, निश्चयनययोगेन निश्चयनयामिप्रायेण, यतो-माता-
पित्रादिविनयस्वभावे सतताभ्यासे सम्यग्दर्शनाद्यनाराधनारूपे
धर्मानुष्ठानं दूरापास्तमेव । विषय इत्यनन्तरमापिर्गम्यः । विषये-
ऽपि अर्हदादिपूजालक्षणे विषयाभ्यासेऽपि । भावेन भववैराग्या-
दिना परिहीणं धर्मानुष्ठानं कथं नु, न कथञ्चिदित्यर्थः । ओकारः
प्राकृतत्वात् । परमार्थो योगरूपत्वाद्धर्मानुष्ठानस्य निश्चयनयम-
ते भावाभ्यास एव धर्मानुष्ठानम्, नान्यद्वयमिति निर्गवः । व्यव-
हारात् व्यवहारनयादेशात् शुन्यते द्वयमपि तथा तथा तेन
तेन प्रकारेण अपुनर्वन्धकादिषु अपुनर्वन्धकप्रवृत्तिषु । तत्रापुनर्व-
न्धकः पापं न तीव्रजावत्करोतीत्याद्यलक्षणः । आदिशब्दादपु-
नर्वन्धकस्यैव विशिष्टोत्तरावस्थाविशेषभाजौ मार्गाभिमुखमार्ग-
पतितौ, अविरतसम्यग्दृष्ट्यादयश्च गृह्यन्त इति । ध० १ अधि० ।

अभ्यासकरण-अभ्यासकरण-न० । पार्श्वस्थादिधर्माच्च्युत-
स्य पुनस्तत्रैव संस्थानलक्षणे संजोगभेदे, स० ए० सम० । व्य० ।
ये अभ्यासगतास्तेषामात्मसमीपवर्तित्वकरणे, व्य० ३ उ० ।

अभ्यासग-अभ्यासक-पुं० । निक्षेपे, “ शिक्खेवो स्थापनाभ्या-
सक इत्यनर्थान्तरम् ” आ० चू० १ अ० ।

अब्जासगुण-अभ्यासगुण-पुं० । गुणभेदे, स च भोजनादि-
विषयः । तद्यथा-तदहर्जातवाद्यकोऽपि प्रवान्तराभ्यासात् स्त-
नादिकं मुख एव प्रक्षिपति, उपरतरुदितश्च भवति । यदि वाऽ-
भ्यासवशात्सतमसेऽपि कबलादेर्मुखविषयप्रक्षेपाद् व्याकुलित-
चेतसोऽपि च तुदन्नात्रकण्डूयनमिति । आचा० १ भू० २ अ० १ उ० ।
अब्जासजगिण्यपसर-अभ्यासजनितप्रसर-त्रि० । आसेवनोद्-
भूतवेगे, पं० व० १ द्वा० ।

अभ्यासस्थ-अभ्यासस्थ-त्रि० । निकटवर्तिनि, व्य० ६ उ० ।

अभ्यासवृत्ति-अभ्यासवृत्तित्व-न० । अभ्यासो गौरव्यस्य
समीपं तत्र वर्तितुं शीलमस्येत्यभ्यासवृत्तिः, तद्भावोऽभ्यासवृत्ति-
त्वम् । म० २५ श० ७ उ० । गुरुपादपीठिकाप्रत्यासन्नवर्तित्व-
लक्षणे लोकोपचारविनये, व्य० १ उ० । औ० । स्था० । ग० ।

अभ्यासप्रत्यय-पुं० । अभ्यासो देवाको वर्णनीयासन्नता वा
प्रत्ययो निमित्तं यत्र दीयते तदभ्यासप्रत्ययम् । देवाकेन
वर्णनीयासन्नतया वा प्रकाशनादौ, एतेन सतो गुणाद् दी-
पयति । दृश्यते ह्यभ्यासान्निर्दिषयाऽपि निष्कृष्टाऽपि च प्र-
वृत्तिः, सन्नहितस्य च प्रायेण गुणानामेव प्रदणमिति । स्था०
४ ग० ४ उ० । नि० चू० ।

अभ्यासप्रीतिक-न० । अभ्यासे प्रीतिकं प्रेम अभ्यासप्रीति-
कम् । लोकोपचारविनयभेदे, म० २ श० ५ उ० ।

अभ्यासवृत्ति-अभ्यासवृत्ति-स्त्री० । नरेन्द्रादीनां समीपेऽव-
स्थाने, दश० ६ अ० १ उ० ।

अभ्यासाइसय-अभ्यासातिशय-पुं० । अभ्यासप्रकर्षे, पौ०
१० विव० ।

अब्जासासण-अभ्यासासन-न० । उपवरणीयस्यान्तिकेऽव-
स्थाने, स० ११ सम० ।

अब्जासिय-अब्जाधित-त्रि० । अविरादिदेशोद्भवे, वृ० ३ उ० ।

अभिग-अभ्यङ्ग-पुं० । स्नेहने, ज्ञा० १७ म० । पश्चादुन्मर्दने,
दशा० ६ अ० ।

अग्निगिय-अभ्यङ्गित-त्रि० । अभ्यङ्गः कियते स्म यस्य ।
तस्मिन्, ज्ञा० १ अ० ।

अग्निरु-सय-गम-धातुः । मेढने, “ समा अभिगः ” । ७ ।
४ । १६४ इति सूत्रेण समा युक्तस्य गमेरभिग आदेशः । अ-
भिग-संगच्छते । प्रा० ४ पाद ।

अग्निस्व-अग्निस्व-त्रि० । अविवृते, ध० २ अधि० ।

अभ्युक्तवणीया-अभ्युक्तवणीया-स्त्री० । पवनप्रेरितासु उदकक-
र्णिकासु, वृ० १ उ० ।

अब्जगम-अभ्युक्त-पुं० । उदये, सूत्र० १ भू० १४ अ० ।

कृतेन दुष्टानि सन्धित्वा दशोभनरूपेणाचैरेषि चारोऽप्यमित्यादिना (अभिपन्नराणेण नि) आनिमुख्येनाख्यानं दोगविष्करगमभ्याख्यानं. तेन अभ्याख्याति ज्ञे। (कटपगार स्ति) कथं प्रकाराणि ? किं प्रकाराणीत्यर्थः । (नटपगार स्ति) अभ्याख्यानरुतानीत्यर्थः । (जन्धेय पनिन्यादि) यत्रैव मानुषत्वादायनिसमागच्छति उन्मथनं तत्रैव प्रनिसंयेदयत्यभ्याख्यानफलं कर्म, ततः पश्चादेदयति निजेरयनान्यर्थः ॥ न० ५ शु० ७ उ० ।

अभ्यागुप्ताय-अन्यनुज्ञान-वि० । कतंयतयाऽनुमते, स्या० ५ उ० १ उ० ।

अभ्यन्त-अन्यस्त-वि० । अभि-अस्-क । पौनःपुन्येनैकजातीयक्रियाक्रमेण पुनःपुनरावर्तिते, " शेषयेऽन्यस्तविद्यानां यौवनं विषयेऽप्याम् " । " उभे अभ्यस्तम् " ॥ ६ । १ । ५ ॥ उक्तयोः कृतद्विषयोरनयोः धातुभागयोः । " नाभ्यस्ताच्छतुः " ॥ ७ । १ । ७ ॥ " अभ्यस्तम्य च " ॥ ६ । १ । ३ ॥ याच० । शुणिते, विशे० । आ० म० । प० व० ।

अभ्यन्तया-अन्यर्थना-स्त्री० । परस्परप्रवर्तनायां 'त्वं ममेदं कार्यमनुष्य वा कुत' इत्येवं रूपायाम्, पञ्चा० ११ चि० । " जइ अभ्यन्तये प्रपरे, कारणजाने करेज्ज सो को वि । तन्ध वि इच्छाकारो, न कप्पइ वञ्चभिभोगासो " ॥ १॥ आ० म० द्वि० । (अभ्यन्तयायां मरुकद्वयान्तः " इच्छकार " शब्दे द्वितीयभागे ५७५ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

अभ्यपटल-अनूपटल-न० । मेघयुन्दे, पृथिवीकायपरिणामनिर्णये च । (अत्रक-तथक) । " अभ्यपटलपिगमुज्ज्वलेण " (अत्रेण) अभ्यपटलमिव मेघयुन्दमिव वृद्धायाहेतुत्वात् अनूपटलं, पिङ्गवं च कपिशं सुवर्णकडिङ्गकानिर्मितत्वात् उज्ज्वलं निर्मलं यत्तत्तथा । अथवा अभ्यपटलं पृथिवीकायपरिणामविशेषमपटलमिव पिङ्गवं चोज्ज्वलं च तत्तथा । तेन। औ० । सूत्र० । जी० । प्रज्ञा० ।

अभ्यपिसाय-देशो-राहो, दे० ना० १ वगं ।

अभ्यवायुया-अनूवायुका-स्त्री० । अभ्यपटलमिववायुकारूपे खर्यादरपृथिवीकायजेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । सूत्र० ।

अभ्यनद्विय-अन्यर्हित-वि० । राजानात्यादिपुत्रे गौरविके, (वृ०) राजमान्यं, वृ० १ उ० । नि० चू० ।

अभ्यराग-अभ्यराग-पुं० । सायं सूर्यकरयोगाद् मेघानां नानावर्णं मेघं, प्रज्ञा० १७ पद ।

अभ्यरुक्त्व-अभ्यवृक्ष-पुं० । अभ्यात्मको वृक्षोऽभ्यवृक्षः । म० ३ शु० ६ उ० । वृक्षाकारेण परिणतेऽग्रे, जी० ३ प्रति० । अनु० । अभ्यवहलय-अत्रवाद्वक्ष-न० । अभ्यरूपं वारो जलस्य दलकं कारणमभ्यवाद्वक्षकम् । मेघे, म० १५ शु० १ उ० । अत्र आकाशे वाद्वक्षकमभ्यवाद्वक्षकम् । नजोगतमेघे, " अभ्यवहलयाई विउवइ " आ० म० प्र० । अत्राणि मेघास्तैर्वाद्वक्षकम् । मेघैः कृते, स्या० ३ उ० ३ उ० । रा० ।

अभ्यसंभा-अभ्यमन्या-स्त्री० । सन्ध्याकाखे नीलाद्यभ्यपरिणतौ, जी० ३ प्रति० ।

अभ्यसंयक-अभ्यसंस्तुत-न० । मेघैराकाशाच्छादने, स्या० ४ उ० ४ उ० ।

अभ्यसण-अभ्यसन-न० । अभि-अस्-ल्युट् । अभ्यासे, पौनःपुन्येनैकक्रियाकरणे पुनःपुनरावर्तने, वाच० । " अभ्यसनं ति वा गुणं ति वा एगच्चा " दृश० १ म० ।

अभ्यसिय-अभ्यस्य-अभ्य० । अभ्यासीकृत्येत्यर्थे, ह्रस्वा० ६ अभ्या० ।

अभ्यहिय-अभ्यधिक-वि० । अत्यर्थे, प्रअ० ४ आअ० द्वा० । म० । " अभ्यहियमीममेरवपगारेण " । अभ्यधिकं यथा भवत्येवं प्रीममेरवोऽतिमीमो रवप्रकारे यस्य स तथा तेन (एनद्वेन) द्वा० १ अ० । प्रज्ञा० । " अभ्यहियं सोमितुमादत्ता " द्वा० म० प्र० । " अभ्यहियरायतेयलच्छीप " कल्प० ३ कृष ।

अभ्यहियतरग-अभ्यधिकतरक-वि० । विपुलतरे (विस्तीर्णं,) न० ।

अभ्यागम-अभ्यागम-पुं० । आनिमुख्येनागम्यतेऽत्र । अभि-आ-गम्-क-अप् । युक्ते, कर्मणि अप् । अतिके, करणे अप् । विरोधे, भावे अप् । अभ्युत्थानं, अभिघाते च अभिमुखगमने, वाच० । प्रा० । भासववासे, नि० चू० १ उ० ।

अभ्यागमिय-अभ्यागमिक-पुं० । आगन्तुकेषु, वृ० १ शु० २ अ० ३ उ० ।

अभ्यागम-अभ्यागत-पुं० । अभि-आ-गम्-क । जिज्ञासामीणे गृहं गतेऽतिथौ, वाच० । " तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे, येन त्यक्ता महात्मना । अतिथिं तं विजानीया-च्छेयमभ्यागतं विदुः " ॥ १॥ इत्यतिथेर्भेदोऽस्य । आवा० १ शु० २ अ० १ उ० ।

अभ्यागमसिय-अभ्यागमशिक-न० । सहकारादेर्द्विधाधोभागवर्तिनि प्रतिश्रये, वृ० २ उ० ।

अभ्याम-अभ्यास (शु)-पुं० । अभ्यसनमभ्यासः । अशूद्र-न्यासादित्यस्यानिर्णयस्य घञ् । कर्म० ५ कर्म० । हेवाके, स्या० ४ उ० ४ उ० । परिचये, पो० १ विव० । गुणने, अनु० । ज्ञापनायाम्, " अभ्यासं ति वा भावणं ति वा " (एकार्थम्) वृ० १ उ० । अभ्यासादेव हि सर्वक्रियासु सुकौशलमुन्मीलति, अनुभवसिद्धं चेदं लिखनपठनसंख्यानगाननृत्यादिसर्वकलाविज्ञानेषु सर्वेषाम् । उक्तमपि-" अभ्यासेन क्रियाः सर्वाः, अभ्यासात्सकलाः कलाः । अभ्यासाद्भ्यानमौनादि, किमभ्यासस्य दुष्करम् ? " ॥ १ ॥ निरन्तरं विरतिपरिणामाभ्यासे च प्रेत्यापि तदनुवृत्तिः स्यात् । यत उक्तम्-" जं अभ्यासइ जं धो, गुणं च दोसं च एत्थ जम्मस्मि । तं पावइ परदोष, तेण य अभ्यासजोपयं " । घ० २ अधि० । अत्र दृष्टान्तः-कश्चिन्नोपस्तद्वृत्तौ नर्णकमुत्क्रिप्य गवान्तिके नयत्यानयति वा ततोऽसावनेनैव क्रमेण प्रत्यहं प्रवर्द्धमानमपि घत्समुत्तिपशभ्यासवशाद् द्विहायनं त्रिहायनमप्युत्क्रिपत्येवं साधुरप्यभ्यासात् ज्ञानैः शूनैः परीपहोपसर्गजयं विधत्त इति । सूत्र० १ शु० ११ अ० । ध्याने, एकावलम्बनेन मनःस्थैर्यं च । विशेष० । " तत्राभ्यासः स्थितौ भ्रमः " तत्राभ्यासः स्थितौ वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठे परिणामे भ्रमो यत्नः पुनःपुनस्तथा-त्वेन चेत्तसि निवेशनरूपः । तदाह-" तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास इति । " स च विरं चिरकालं नैरन्तर्येणादरेण चाश्रितो दृढभूमिः स्थिरो भवति । तदाह-" स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिरिति " । द्वा० ११ द्वा० ।

लाघवअणुज्जयत्तं, तद्वागयाणं अवएणो य ॥

एते एव दोषाः प्रवचनापञ्चाजनादयोऽन्यतीर्थीकपि नव-
न्ति, नवरं सविशेषतराः शङ्कादिभिर्दोषैः समधिकतरा मन्त-
व्याः । गृहिणामन्यतीर्थिकादीनां चाज्युत्थाने सामान्यत इमे
दोषाः । तद्यथा-लाघवमेतज्ज्योऽप्ययं हीन इत्येवं लक्षणो लघु-
भाव उपजायते । अनूर्जितत्वं वराकत्वमुपदर्शितं भवति ।
तथाहि-लोको ब्रूयात् अहो ! अदत्तादानाः भवान इव वरा-
का अमी यदेवमाहारादिनिमित्तमवितरकाणामपि चादूनि
कुर्वन्ति । तथा तेन यथावस्थितपदार्थोपलम्भात्मकेन प्रकारेण
गतं ज्ञानमेवां तथागताः, सद्गतार्थवेदिनस्तार्थकरा गणधरा इ-
त्यर्थः । तेषामवर्णवादो भवति । यथा-नामी सम्यग्मोक्षमार्गं
दृष्टवन्तः ।

अथ संयतीनामज्युत्थाने दोषान् विशेषतो दर्शयन्नाह—

पायं तवस्मिणीओ, करेति किङ्कम्म मो सुविहियाणं ।
एमुत्तिङ्ग वतिणि, जवियव्वं कारणेणेत्य ॥

संयतीमज्युत्तिष्ठन्तं दृष्ट्वा कश्चिदभिनवधर्मो चिन्तयेत्-प्राय-
स्तपस्विन्यः संयत्याः सुविहितानां कृतिकर्म कुर्वन्ति । 'मो'
इति पादपूर्णे । एष पुनर्भवति नमुत्तिष्ठति, तद्भविष्यमत्र का-
रणेनेति । एवं शङ्कायां चतुर्गुरु, निःशङ्किते मूलम्, यत एते
दोषास्ततो नैषामज्युत्थानं विधेयम् ।

अथ येषामज्युत्थातव्यं तदज्युत्थानाकरणे प्रायश्चि-
त्तमभिधित्तुराह—

आयरिए अभिसेगे, जिकखुम्मि तद्देव होइ खुड्डे य ।
गुरुगा लहुगा लहुगो, जिन्ने पन्निओमवितिणं ॥

आचार्ये अभियेके भिक्षो तथैव जुल्लके आचार्यादीन् प्राधु-
णिकान् यथाक्रममनज्युत्तिष्ठति गुरुका लघुका लघुको मि-
श्रमासाश्चेति प्रायश्चित्तानि । द्वितीयादेशेन इदमेव प्रायश्चित्तं
प्रतिबोध्यं प्रतीपक्रमेणाचार्यादीनां वक्तव्यम् । आचार्यस्य
मिश्रमासः, अभियेकस्य लघुमासः, भिक्षोः चतुर्लघवः, जु-
ल्लकस्य चतुर्गुरु इति भावः । एवं संप्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनमेव विवृणोति—

आयरियस्सायरियं, अणुद्वयंतस्स चउगुरु होंति ।
वसजे जिकखुक्खुड्डे, लहुगा लहुगो य भिन्नो य ॥

आचार्यस्य आचार्यं प्राधूर्णकमायान्तमनुत्तिष्ठतश्चतुर्गुरुवो भ-
वन्ति, वृषभमनुत्तिष्ठतः चतुर्लघुकाः, जुल्लकमनुत्तिष्ठतो लघुकः,
निश्चुमनुत्तिष्ठतो मिश्रमासः । एवमाचार्यस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

शेषाणामतिदिशति—

सट्ठाणपरट्ठाणे, एमेव वसजजिकखुक्खुड्डाणं ।
जं परट्ठाणे पावइ, तं चेव य सोवि सट्ठाणे ॥

एवमेव वृषभमिच्छुल्लकानामपि स्वस्थानपरस्थाने प्रायश्चित्तं
वक्तव्यम्, स्वस्थानं नाम वृषभस्य वृषभस्थानं, वृषभस्याचार्यो मि-
श्रस्थानम् । एवं भिक्षुकुल्लकयोरपि स्वस्थानपरस्थानभावना कर्त-
व्या । अत्र च यत्परस्थाने आचार्यः प्राप्नोति तदसावपि वृषभादिः
स्वस्थाने प्राप्नोति । किमुक्तं भवति-वृषभस्य प्राधूर्णकमाचार्यम-
नज्युत्तिष्ठतश्चतुर्गुरुकाः, वृषभस्थानज्युत्थाने चतुर्लघवः, भिक्षो-
रनज्युत्थाने मासलघु, जुल्लकस्थानज्युत्थाने मिश्रमासः । एवं

भिक्षुकुल्लकयोरपि मन्तव्यम् । अत्र परस्थानमाचार्यस्य वृषभा-
दयः, तेषामज्युत्थाने यथास्मौ चतुर्लघुकादिकमापन्नवान् तथा
वृषभादयोऽपि स्वस्थानमनज्युत्तिष्ठन्तस्तदेव प्राप्नुवन्ति ।

अथैतदेव प्रायश्चित्तं तपःकालाभ्यां विशेषयन्नाह—

दोहिं वि गुरुगा एते, आयरियस्स तवेण काळेण ।
तवगुरुगा काळगुरु, दोहि वि लहुगा य खुड्डस्स ॥

आचार्यस्यैतानि चतुर्गुरुकादीनि प्रायश्चित्तानि, द्वाज्यामपि
गुरुकाणि कर्तव्यानि । तद्यथा-तपसा, काळेन च वृषभस्य तपो-
गुरुकाणि । भिक्षोः कालगुरुकाणि, जुल्लकस्य द्वाभ्यामपि तपो-
कालाभ्यां लघुकाणि ।

अहवा अधिसिट्ठं चिय, पाहुणयागंतुए गुरुमादी ।
पावेंति अणुट्ठिता, चउगुरु लहुगा लहुगजिन्नं ॥

अथवेति प्रायश्चित्तस्य प्रकारान्तरताद्येतकः । अविशिष्टमेवा-
चार्यादिभिर्विशेषैर्विरहितं प्राधूर्णकमागन्तुकमनुत्तिष्ठन्तो गुर्वा-
दय आचार्यप्रभृतयो यथाक्रमं चतुर्गुरुकचतुर्लघुकलघुमासमि-
श्रमासान् प्राप्नुवन्ति । तद्यथा-आचार्यस्य यं वा तं वा प्राधूर्णक-
मागतमनज्युत्तिष्ठतश्चतुर्गुरु, वृषभस्य चतुर्लघु, भिक्षोर्लघुमा-
सः, जुल्लकस्य मिश्रमास इति ।

अहवा जं वा तं वा, पाहुणं गुरुमणुट्ठिहं पावे ।
जिन्नं वसजो मुक्कं, जिकखु लहु खुड्ड चउगुरुगा ॥

अथवा यं वा तं वा प्राधूर्णकमनुत्तिष्ठन् गुरुमाचार्यो मिश्रमासं
प्राप्नोति, वृषभः जुल्लमासं, लघुमासमित्यर्थः । भिक्षुश्चतुर्लघुकम्,
जुल्लकः चतुर्गुरुकम् । एतेन “ पडिहोमवितिणं ति ” पदं
व्याख्यातम् ।

अथ किमर्थमयं द्वितीयादेशः प्रवृत्तः ?, इत्याह—

वायणवापारणध-म्मकहणसुत्तत्थाचित्ताणुं च ।
वाउद्विए आयरिए, विइयादेसो उ जिन्नाइ ॥

इहाचार्यस्यानेकधा व्याक्रेपकः । तद्यथा-वाचनानामनुयोगः ।
सा विनेयानां दातव्या । व्यापारणं साधूनां वैद्यावृत्त्यादिषु यथा-
योग्यं विधेयम् । आदानां धर्मकथनं विधातव्यम् । भूयस्सूत्रा-
र्थयोश्चिन्तनानुपेक्षाः कर्तव्याः । एवमादिषु कार्येषु निरन्तरमा-
चार्यो व्याकुक्षितो भवति । वृषभादयस्तु न तथा व्याकुक्षा इ-
त्यतोऽयं मिश्रमासादिर्द्वितीय आदेशः प्रवृत्तः । इयमत्र भाव-
ना-आचार्यो बहुव्याकुक्षतया प्राधुणकमागच्छन्तं दृष्ट्वाऽपि ना-
ज्युत्थानं पारयेत् ; अतस्तस्य स्वल्पतरं प्रायश्चित्तम् । वृषभ-
मिच्छुल्लकास्तु यथाक्रममल्पतारालपतमव्याक्षेपाः, ततो लघु-
मासादीनि प्रभूतप्रभूततरप्रभूततमावि तेषां प्रायश्चित्तानीति ।

अथ जुल्लकस्य गुरुतमप्रायश्चित्तदाने विशेषकारणमाह—

वेसइए लहुमुड्डइ, धूनीधवलो असंफुनो खुड्डो ।
इति तस्स होंति गुरुगा, पालेइ हु चंचलं दंनो ॥

जुल्लको बालः स लघुशरीरतया सुखेन उपविशति, उत्ति-
ष्ठति वा ; क्रीडनशीलतया च प्रायेण धूनीधवलो रजोगुण्ड-
तदेव, असंस्फुटश्चासंवृतोऽसौ भवति । अतो यद्यसावपि
प्राधुणकमागतं नोत्तिष्ठति महद्दूषणमाप्नोति । अत एतस्य चतु-
र्गुरुकाः प्रायश्चित्तम् । किञ्च-यश्चञ्चलः स्वभावाच्चपलोऽपि

अभुगय-अभ्युक्त-३० । अभिमुगमुद्रतोऽभ्युक्तः । उपा-
दिने. श्री० । अभिमुग्येन स्वयंतो विनिर्गते, चं० प्र० १८ पादु० ।
अभुगवदुत्पत्ते यद्विदुं प्रवृत्ते, उच्यते च । प्रा० १ अ० । ज० ।
विपा० । अभिमुग्येन मनानुवने, रा० । ज० । अभ्युक्तं,
रा० । जी० । अभ्युक्तमनो विनिर्गते, जं० २ यत्न० । अति-
रन्धीयतया द्रष्टृणां प्रत्यभिमुखमुद्रावस्थेन स्थिते, रा० ॥
" अभुगयमवलमल्लियाधिन उधवलदने " अभ्युदगतमु-
कुत्रा आयनकुम्भजं ये मल्लिकाविचक्रिलास्तद्वद् विमलौ द-
नौ यन्त्य । अथवा प्राकृत्यात् मल्लिकामुकुत्रवदभ्युदगता-
मुद्रतां विनम्रधवलदन्तौ यस्य तदभ्युदगतमुकुत्रमल्लिकावि-
म्रधवलदन्तम् (हस्तिनम्) । उपा० २ अ० । " अभुगयमउ-
त्रमल्लियाधवलसरिससंज्ञाणं " अभ्युदगतान्युद्यतानि मुकुत्रम-
ल्लिकय कोरकावस्थयिचक्रिलकुम्भवद् धवलानि तथा स-
दृशं समं संस्थाणं येषां तानि । जं० ७ यत्न० । " अभुगय-
लुक्यवद्वेदरज्यनोरणधररज्यज्ञोद्विजसालिभंजियाणं " अ-
भ्युदगते उच्छिन्ने मुकुत्रवज्रवेदिकायाः सम्बन्धिनि तोरणधरे
रचिता वीलास्थिताः शालजञ्जिका यस्यां सा तथा, ताम् ।
(निबिडाम्) भ० ९ श० ३३ उ० । प्रा० म० । ज्ञा० । रा० ।
प्रदुरवज्रपदे च, द्वा० १ अ० ।

अभुगय-वि० । उच्ये, भ० १२ श० ५ उ० ।

अभुगयभिगार-अभ्युक्तचक्रार-अभ्युक्तोऽभिमुखमुक्त उपा-
दिता भृङ्गारो यस्य स तथा । तथाभूते महाभागे, श्री० । म० दशा० ।

अभुगयमुसिय-अभ्युक्तोऽभ्युक्तोऽभ्युक्त-वि० । अभ्युदगतयासा-
मुच्छिन्नज्येष्ठभ्युदगतोऽभ्युक्तः । प्रत्यर्थमुच्ये, भ० । " अभुगयमुसि-
यपहसिया " अभ्युदगतमज्जोदगतं वा यथा भवत्येवमुच्छि-
न्नज्येष्ठभ्युदगतोऽभ्युक्तः । अत्यर्थमुच्ये इत्यर्थः । प्रथमेकवच-
नस्योपस्थापन इदम् । तथा प्रहसित इव प्रजापटनापरिगततया
प्रहसितः । प्रभया वा सितः शुक्लः, संबद्धा वा प्रभासित
इति । भ० २ श० २ उ० । स० । जं० । जी० ।

अभुगय-अभ्युद्यत-वि० । यद्विदुं प्रवृत्ते, " अभुगयसु
अभ्युद्यतसु अभ्युद्यतसु " (मेघसु) प्रा० १ अ० । सोद्यमे,
ज्ञा० ५ अ० । उद्यतविहारिणि, व्य० ४ उ० । " अभुगयं नुविधं-
अभ्युद्यतमरणेण, अभ्युद्यतविहारेण वा " नि० चू० १६ उ० ।

अभ्युद्यतविहारमरणयोः स्वरूपमाह—

जिण-मुद-जहाइदे, तिविहो अभुजओ अह विहारो ।

अभ्युजयमरणं पुण, पाउवगमणिगिणिपरिआ ॥

जिनकल्पः, शुक्रपरिहारकल्पो, यथालन्दकल्पश्चेति त्रिविधो-
ऽभ्युद्यतः, अथैव विहारो मन्तव्यः । अभ्युद्यतमरणं पुनस्त्रि-
विधम्—पादपोषगमनमिच्छिन्नोमरणं, परिज्ञेति भक्तप्रत्याख्यानम्,
शुद्धिश्चाप्येतेषु अभ्युद्यतरूपतया श्रेयसी ।

अतः कतरदनयोः प्रतिपत्तयम् ? उच्यते—

सयमेव आउकालं, नाउं पेडिउ वा बहुं सेसं ।

सुवहुगुणहाजकत्सं, विहारमभुजयं जवइ ॥

स्वयमेवायुःकालं सातिशयश्रुतोपयोगाद्बहु दीर्घं शेषमवशि-
ष्टमात्रेण ज्ञात्वा दृष्ट्वा वाऽप्युद्यतशययुक्तमाचार्यं बहु शेषः-
१९४

भवत्युच्यते; ततः सुवहुगुणलाभकाङ्क्षी सन् विहारमभ्युद्यतं भवति,
प्रतिपद्यत इत्यर्थः । वृ० १ उ० । ('जिणकल्पिय' शब्देऽस्य विधिः)

अभ्युजयमरण-अभ्युद्यतमरण-न० । अभ्युद्यतस्य मरणे, तस्मि-
न्निमित्तमिति अनन्तरमुक्तम् । वृ० १ उ० । नि० चू० । पं० व० ।
संथा० । (पादपोषगमनादिषु वक्तव्यताऽस्य)

अभ्युजयविहार-अभ्युद्यतविहार-पुं० । अभ्युद्यतानां जिन-
कल्पिकादीनां विहारे, पं० व० ४ द्वा० । वृ० । (स च त्रिविध
इति ' अभ्युजय ' शब्दे उक्तम्)

अभ्युद्यत-अभ्युद्यतान-न० । अभिमुख्येनोत्थानमुदगमन-
मभ्युद्यतम् । ग० २ अधि० । उच्यते । तदुचितस्यागतस्य अ-
भिमुखमुत्थाने, पञ्चा० १७ विध० । दश० । द्वा० । विनयार्ह-
स्य दर्शनादेवाऽऽसनत्यजने, स्था० ७ ठा० । ससंभ्रममासन-
मोचनं, उच्यते ३ अ० । व्य० । प्रव० ।

एष दर्शनविनयभेद इत्थं समाचरणीयः—

अभ्युद्यतं लङ्गा, पासत्यादन्नतिथीणं ।

मंजुषीण पुणो तह, संजइवग्गे य गुरुगा ठ ॥

साधुभिः साधूनामेवाभ्युत्थानं विधेयं न गृहस्थादीनां, त-
त्रापि संविज्ञानामेव न पार्श्वस्थादीनाम् । अथ पार्श्वस्थादीना-
मन्यतीर्थिकानां गृहिणां वाऽभ्युत्थानं करोति तदा चत्वारो ल-
घवः । तथा संयत्यादीनामन्यतीर्थिनीनां संयतवर्गस्य अभ्यु-
त्थाने चतुर्गुरवः ।

अथाथैव दोषानुपदर्शयति—

उट्टेइ इत्थि जइ एस चिंति, धम्मं तिओ नाम न एस साहू ।
दक्खिन्नपन्ना वसमेइ चेवं, मिच्छच्चदोसा य कुल्लिगिणीसु ॥

संयतं कस्या अपि स्त्रिया अभ्युत्तिष्ठन्तं दृष्ट्वा आश्चर्यादिभिर-
न्तयेत्—यथैव साधुः स्त्रियमायान्तं दृष्ट्वा अभ्युत्तिष्ठति । तथा
नामेति संभावनायाम् । संभावयाम्दहं नैव सम्बन्धमेव श्रुतचा-
रित्रात्मकं स्थितः, अन्यथा किमेव एनामभ्युत्तिष्ठन्ति ? अपि
च—एवं स्त्रिया अभ्युत्तिष्ठन् दाक्षिण्यवान् प्रवति । दाक्षिण्यप-
ण्यत्वे तस्या वशमायत्ततामुपैति । ततश्च ब्रह्मचर्यविराधनाद-
यो दोषाः । यास्तु कुल्लिग्नियस्ताः परिव्राजिकाप्रभृतयः, तास्तु-
अभ्युत्थीयमानास्तु यथा भद्रकादीनां मिथ्यात्वगमनादयो
दोषा भवन्ति ।

अन्यतीर्थिकेषु पुनरिमे दोषाः—

ओजावणा पवयणे, कुतित्यउभावणा अबोही य ।

खिसिजंति य तप्प—खिलपाहे गिहिसुव्वया वल्लियं ॥

भो भागवत ! सौमनादीनामन्यतीर्थिकानामभ्युत्थाने प्रथम-
चरममहती अपम्राजना भवति—अहो ! निस्सारं प्रवचनममी-
षां यदेवमन्यदर्शनिनामभ्युत्थानं विदधाति, तदीयस्य च
कुतीर्थस्योद्भावना प्रभावना प्रवति—यतदेव दर्शने शोभनतरं
यदेवं जैना अप्येतत्प्रतिपन्नानभ्युत्तिष्ठन्तीति । (अबोही य-
त्ति) प्रवचनलाघवप्रत्ययं मिथ्यात्वमोहनीयं कर्मोपचित्य भ-
वोद्घौ परिभ्रमन् बोधिलामं नासादयन्ति । ये च गृहिणः सु-
मताः शोभनाण्युद्यतधारकाः, सुआचका इत्यर्थः, ते तत्पक्षिकैः
शाक्यादिपक्षपातिभिरुपासकैः, बालिकमत्यर्थं खिन्त्यन्ते—अस्मा-
कमेव दर्शनं सर्वोत्तमं, भवदीयशुरूणामपि गौरवाहंत्वात् ।

एष चेव य दोसा, सविसेसयरऽन्नतिस्थिगीसु पि ।

पूर्वोक्तमेव प्रायश्चित्तम् । सूत्रार्थपौरुषी लेपप्रदानं प्रतिलेखनम् (आइयणं ति) 'आदानं' समुद्देशनं धर्मकथां वा विदधानाः प्रचलायमाना वा नाच्युत्तिष्ठन्ति । अत्रापि तदेव वृषभादिविषयं प्रायश्चित्तम् । ग्लानो वा उत्तमार्थप्रतिपत्तौ वा शक्नोति सत्यां यदि नोत्तिष्ठति तदा तस्यापि प्रायश्चित्तम् । यत एवमतः सर्वेषामच्युत्थानं भवति । इदमत्र हृदयम्-आचार्याणामनच्युत्थाने सूत्रपौरुषीकरणादीनि कदालम्बनानि, यथा प्रमायमाहापकोऽर्द्धपत्रितो वर्तते, द्वेपो वा पात्रके नाद्यापि परिपूर्णं दत्तः, प्रतिहेस्ननादिकं वा सम्प्रति कुर्वाणोऽस्मि; ग्लानो वा कृतभक्तप्रत्याख्यानो वा ऽहमस्मीति, किन्तु सर्वैरपि सूत्राध्ययनादिव्यापारं परिहृत्याच्युत्थातव्यम्, एवं तावदुपाश्रये विधिरभिहितः ।

अथान्यत्र गृहादौ रथ्यादिषु वा यत्र दृश्यते तत्रायं विधिः—
द्रागयमुद्वेजं, अजिनिगंतुं नमंति यं सन्वे ।

दंडगहणं च मोक्षं, दिडे उद्धाणमन्नत्ये ॥

दूरादाचार्यमागतं दृष्ट्वा आभिमुख्येन निर्गत्य सर्वेऽपि साधवो (णमिति) एनमाचार्यं नमन्ति शिरसा वन्दन्ते, यदा च गुरव उपाश्रयं प्रविशन्ति तदा दण्डकग्रहणमपि कर्त्तव्यम्, अन्यत्र तु गृहादौ दृष्टे गुरौ दण्डकग्रहणं मुक्त्वा अच्युत्थानमेव कर्त्तव्यम् ।

एवमच्युत्थाने के गुणाः ?, इत्याह—

परपक्वो य सपक्वो, होऽ अगम्यत्तणं च उद्धाणे ।

सुयपूयणा थिरत्तं, पभावणा निज्जरा चैव ॥

परपक्वः परपात्राण्डनः, स्वपक्वः पार्श्वस्थादिवर्गः, तयोरगम्यत्थमनभिमवनीयता गुरोरच्युत्थाने भवति, तथा गुरवो बहुभुता भवन्तीति भुतपूजनमपि कृतं स्यात् । अन्येषामच्युत्थानादौ विनये सीदतां स्थिरत्वमनुष्ठितं भवति । प्रभावना च शासनस्यैवं कृता भवेत्-अहो ! शोभनमिदं प्रवचनं यत्रैवंविधो विनयो विधीयते, निर्जरा च कर्मक्षयरूपा विपुला जवति, विनयस्याभ्यन्तरतपोभेदत्वात् तस्य च निर्जरानिबन्धन-तया सुप्रतीतत्वात् ।

आह-यः प्रव्रजितः सर्वपापोपरतस्तस्य किं नाम विनयेन कार्यम् ?, इति उच्यते—

अकारणा नत्थिह कज्जसिद्धी,

नयाऽणुवाएण उ वेति तएणा ।

उवायवं कारणसंपज्जो,

कज्जाणि साहेऽ पयत्तवं च ॥

अकारणा कार्यस्य सिद्धिरिहासिद्धिर्जगति नास्ति, यद्यस्य कार्यस्योपादानं कारणं तत्तेन विना न सिध्यतीत्यर्थः । यथा मृत्पिण्डं विना घट इति । कारणसद्भावेऽपि न च नैव, अनुपायेन उपायाभावेन कार्यं भवतीति तज्ज्ञाः कार्यसिद्धिवेदिनो वदन्ति । यथा मृत्पिण्डसद्भावेऽपि चक्रचीवरौदकाद्युपाय-मन्तरेण घटो न सिद्ध्यति; यः पुनः उपायवान् कारणसंयुक्त-प्रयत्नवान् भवति स साधयति, यथा कुम्भकारो मृत्पिण्डमासाद्य चक्रचीवराद्युपायसाविध्यजनितापष्टम्भः स्वहस्तव्यापार-णरूपं प्रयत्नं कुर्वन् घटं निर्माति ।

आह-यद्येवमुपायकारणयुक्तः कार्याणि साधयति ततस्तु ते किमायातम् ?, इत्याह—

: धम्मस्स मूढं विणयं वयंति, ...

धम्मो य मूढं खलु सोगईए ।

सा सोगई जत्थ अवाहया उ,

तम्हा निसेव्वो विणयो तदट्ठा ॥

धर्मस्य भुतचारित्ररूपस्य मूढं प्रथममुत्पत्तिकारणं विनयम-च्युत्थानादिरूपं वदन्ति, तीर्थकरादय इति गम्यते । स च धर्मः, खलुरवधारणे, सुगतेर्मूलं कारणं मन्तव्यम् । दुर्गतौ प्रपतन्तं प्राणिनं धारयति सुगतौ च स्थापयतीति निरुक्तिसिद्धत्वात्, तस्येति भावः । अथ सुगतिः कीदृशी गृह्यते ?, इत्याह—सा सुगतिरभिधीयते-यत्रावाधना, जुत्तिपासारोगशोकादीनां शरीरमानसानां बाधानामज्ञावसिद्धिरित्यर्थः । यत एवं तस्मात्तदर्थं सुगतिनिमित्तं विनयो निषेव्यः । इदमत्र हृदयम्-इह कार्यं तावदव्यावाधसुखलक्षणो मोक्षः, तस्य च कारणं भुतचारित्ररूपः सर्वज्ञभाषितो धर्मः सद्गुरोरच्युत्थानवन्दनादिविनयवृत्त-णमुपायमन्तरेण न साधयितुं शक्यते । अतः परम्परया मोक्ष-कारणमेवायमिति मत्वा तदर्थं विनय आसेव्यत इति ।

आह-युक्तं पौरुषीलेपप्रदानादिकारणादच्युत्थानम्, ग्लानोत्तमार्थप्रतिपन्नयोस्तु किमर्थमच्युत्थानम् ?, उच्यते—
मंगलसप्पाजणणं, विरियायारो न हाविओ चैव ।

एएहिं कारणेहिं, अतरंतपरिस्सउद्धाणं ॥

अतरन्तो ग्लानः (परिन्ति) मनुष्ययलोपात् परिज्ञावान् अनशनी, एतया गुरुणामच्युत्थाने मङ्गलं जवति, ततश्च ग्लान-स्याचिरादेव प्रगुणीभवनं, कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य तु निर्विघ्न-मुत्तमार्थसाधनं स्यात् । यथा ग्लानपरिज्ञा भवति तथा गुरुम-च्युत्तिष्ठति, शेषाणामच्युत्थाने श्रद्धाजननं विहितं, यद्येपोऽप्येवं गुरुमच्युत्तिष्ठति, ततोऽस्माभिः सुतरामच्युत्थातव्यम् । अपि च-एवं कुर्वता ग्लानेन परिज्ञावता च धीर्याचारो न हापितो भवति, अत एतैः कारणैरेताज्यामच्युत्थातव्यम् ।

(अच्युत्थानाकरणे प्रायश्चित्तम्)

प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमुपदर्शयन्नाह—

चंकमणे पासवणे, वीयारे साहु संजई सर्नी ।

सन्निणि वाइ अमच्चे, संवे वा रायसहिए वा ॥

पणगं च भिन्नमासो, मासो लहुगो य होऽ गुरुगो य ।

चत्तारि उट्ठ लहु गुरु, वेदो मूढं तह उगं च ॥

इह प्रथमगाथायाः द्वितीयगाथायाश्च पदानां यथासंख्येन योजना । तद्यथा-आचार्यं चक्रमणं कुर्वाणं दृष्ट्वा नाच्युत्तिष्ठति पञ्चकं पञ्च रात्रिदिवानि प्रायश्चित्तम्, प्रभवणभूम्यामागतं नाच्युत्तिष्ठति भिन्नमासः, विचारसंज्ञां कृत्वा समागतस्यानच्युत्थाने मासगुरु, संयतीभिः सार्द्धमागतस्यानुत्थाने चतुर्बन्धु, संज्ञि-नः आवकाः, तैः सममायातमनुत्तिष्ठतश्चतुर्गुरु, असंज्ञिभिः सममायातस्यानच्युत्थाने षड्वन्धु, संज्ञिनीभिरसंज्ञिनीभिश्च स्त्रीभिः सममायान्तमनच्युत्तिष्ठतः षड्गुरु । वादिना सार्द्धमा-याते अनच्युत्थिते छेदः, अमात्येन सार्द्धमागते मूलम्, संघेन सार्द्धं समायाते अनुत्थिते अनवस्थाप्यम्, राज्ञा सहितं सूरि-मागतमनुत्तिष्ठतः पाराश्रिकम् ।

अथ किमर्थं स्त्रीभिः सममायाते गुह्यतरं प्रायश्चित्तम् ?, उच्यते—

पूयंति पूयं इ-त्थियाउ पाएण ताउ बहुसत्ता ।

नन् गुणोदीनां नाभ्युत्तिष्ठति; तं दृग्दः प्रायश्चित्तवशात् दीय-
मानः पालयानि, चञ्चलमपनयतीत्यर्थः ।

अपि च—

नृ ता दन्तव्याणं, पावः बालो वि पयणु दांते ।

हणु दाणि अकस्मिणं, पमाउं रक्खणा मेने ॥

पालस्यापि गुरुके प्रायश्चित्ते दत्ते नानि शेषमाश्रयिष्यन्त्येयुः-
पन्दि नावदं यान्ते अपि प्राचूर्णके प्रनन्युत्थानमाश्रयणं प्रननु-
के चत्तरेऽप्यपराधे एवं दृग्दस्थाने प्राप्नोति । (हणु दाणिं ति)
न इदानीन्तनाक प्रनत्तुमन्युत्थाने प्रमादं कर्तुमक्रममुचित-
मिति शेषमाश्रयणस्यापि रक्खणं कर्तुं भवति । आह—अच्युत्था-
नमकुर्वतामान्मसंयमयोस्तापत्काचिदपि विराधना नास्ति
ततः किंकारण्यनयनेयं प्रायश्चित्तं दीयते ? ।

उच्यते—

दिद्वेतां बुवखरण, अणुत्तितां नृ गुणो पत्तो ।

नन्ना उद्वेयवो, पाहुणओ गच्छ आयरिओ ॥

इह प्राचूर्णकमाचार्यमनुत्तिष्ठद् भगवतामाज्ञामतिक्रामति । तया-
चात्र द्व द्वरेण दासेन दृष्टान्तः—“ एगो राया, से केणइ बुअ-
क्यवरणं प्रादाहिओ । रसा से पट्टे यंधिउ पहाणं रज्जं दिव्वे । तत्थ
द्वेनननभोइयाइणो अ बुअकखरोत्ति काउं परिनाधणं तस्स अ-
णुत्ताणाइयंन करेत्ति । नाहि तेणु ते अणुत्तितां दंभिया, मारिया
य । जे विणीया ते अणुत्ति, तेसिं तेणु परितुट्ठेण रज्जसंवि-
भागे दिव्वे ” । अथाधोपनयः—यथा तैरभ्युत्तिष्ठन्निरिह लोके
गुणः प्राप्तः तथा साधवोऽपि प्राचूर्णकमाचार्यमभ्युत्तिष्ठन्त
इह परमं च गुणानासादयन्ति, तस्मात्प्राचूर्णक आचार्यः सफ-
लेनापि गच्छेतामन्युत्थातथ्यः ।

अनुमेव द्वावदृष्टान्तं व्याख्यानयति—

आराहितां रज्ज मपट्टवंधं, कासी य राया उ बुवखरस्स ।

पमासमाणं मुकुत्तीणमादी, नादंति तं तेणु य ते विणीया ॥

आराधितः केनापि गुणविशेषेण परितोषं प्रापितः सन् राजा
द्वावदृष्टकस्य सपट्टवन्धं राज्यमकार्षीत्, पट्टवन्धनपतिं तं विहि-
तवानिति भावः । ततः तं द्वावदृष्टकराजं राज्यं प्रशासनं कु-
र्त्तानादयो नाक्रियन्ते, वयं कुर्त्तानाः, अयं तु हीनकुलोत्पन्नः ।
आदिशब्दाद् वयं प्रधानपुरुषाः, अयं पुनः कर्मकर इत्यादि
परिभवबुद्ध्या नाच्युत्थानादिकमादरं तस्य कुर्वन्ति, ततः ते तेन
राज्ञा विनीताः शिक्षां प्रापिताः, ‘ विनयः शिक्षाप्रणेत्योः ’
इति वचनात् ।

कथं शिक्षिताः ?, इत्याह—

सव्वस्मं हाऊणं, निज्जूदा मारिया य विवदंता ।

जोगोहं संविज्जा, अणुत्तअणुत्तणा जे उ ॥

सर्वस्वमपहृत्य ते स्वनगराभिर्यूहा निष्काशिताः, ये च तत्र
निष्काश्यमाना विवदन्ते—किमस्माभिरपराद्धं यो यो द्वावदृष्टको
अविध्यति तस्य तस्य किं वयमच्युत्थानं करिष्यामः ?, इत्यादि
कलहायन्ते, ते विवदमाना मारिताः । ये तु तत्राबुक्त्वा अच्यु-
त्थानादिकारिणोऽनुत्थाना अगर्हितास्ते भोगैः संविभक्ताः, रा-
ज्यभोगसंविभागस्तेषां कृतः । एष दृष्टान्तः ।

अयमधोपनयः—

अहिराया तित्थयरो, इयरो उ गुरु उ होइ नायव्वो ।

साह जहा व दंभिय, पसत्थमपसत्थगा होंति ॥

यथा अधिराजो मौलपृथिवीपतिः, तथा तीर्थंकरः, यथा इतरो
द्वयद्वरकराजः, तथा तीर्थंकराधिराजेनवानुज्ञाताचार्यः पदपट्ट-
बन्धमहितगणाधिपत्यराज्यं गुरुराचार्यो ज्ञातव्यो प्रयति ।
यथा च ते प्रशस्ताप्रशस्तरूपा दण्डिकास्तथा साधवोऽप्युज्य-
सनावा भवन्ति ।

तत्र—

नह ते अणुत्तिता, द्वियसव्वस्सा उ कुक्खमाज्जागी ।

इय एणो आयरियं, अणुत्तिताण वोच्चेदो ॥

यथा ते दण्डनटमोजिकादयो द्व्यकरकनूपतिमनुत्तिष्ठन्तो ह-
तसर्वस्या ऐहिकस्य दुःखस्याभागिनः संजाताः । इत्येवमा-
चार्यमप्यनुत्तिष्ठतां दुर्विनीतसाधूनां ज्ञाने, उपसन्नत्वादर्शनचा-
रित्रयोश्च व्ययच्छेदो भवति । ततश्चानेकेषां जन्मजरामरणा-
दिदुःखानामाग्नितस्ते संजायन्ते, एषोऽप्रशस्तोपनयः ।

अथ प्रशस्तोपनयः—

उट्ठाणसिज्जासणमाइहिं, गुरुस्स जे होंति सयाऽणुकुला ।

नाउं विणीए अह ते गुरु उ, संगिहई देइ य तेसिं सुत्तं ॥

उत्थानं—गुरुमागच्छन्तं दृष्ट्वा ऊर्ध्वं भवनं, शय्या सुन्दराव-
काशे गुरुणां संस्तारकरचतम, आसनमुपवेशनयाम्यनिपथा-
दिरचनम् । यद्वा—(सेज्जासणं ति) गुरुणां शय्याया आसनाश्च
नीचतरशय्यासनयोरभ्ययणम् । आदिशब्दादङ्गीक्षप्रसङ्गादि
परिग्रहः । एवमादिभिर्धन्यजैर्देयैः शिष्याः सदैव गुरोरनुकूला
भवन्ति तान् विनीतान् ज्ञात्वा, अथानन्तरं गुरुः संशुद्धाति ।
मयैते सम्यक्पालनीया इत्येवं संग्रहबुद्ध्या स्वीकरोति, सूत्रं च
तेषां प्रयच्छति, ततश्च ते इह परमं च कल्याणपरम्परानाजने
जायन्ते ।

अथ प्रशस्तोपनयं विशेषतो जावयन्नाह—

पज्जायजईमुत्तओ य बुद्धा, जत्तमिआ सीससमिच्चिपंता ।

कुव्वंतऽव्वणं अह ते गणाउ, निज्जूई नो य ददाइ सुत्तं ॥

पर्यापतो ये बुद्धास्ते अवमरालिकोऽयमिति बुद्ध्या, जातिम-
यिहृत्य ये बुद्धाः, पट्टिपर्वजमपर्याया इत्यर्थः, ते बालकोऽयमि-
ति बुद्ध्या, भुततद्वच तमङ्गीकृत्य ये बुद्धास्तेऽष्टपञ्चतोऽयमिति बु-
त्वा, जात्याभ्युत्थानादिभिः परिवारसंपदुपेता अल्पपरिवारोऽय-
मिति बुद्ध्या, गुरोरवज्ञानमन्युत्थानक्षणां कुर्वन्ति । अथैवमव-
ज्ञाकरणानन्तरं गुरुस्तान् स्वगच्छनगराभिर्यूहति । ये च व-
हुपाक्षिकत्वादिभिः कारणैर्निर्यूहयतुं न शक्यन्ते, तेषां भोग-
संविभागादप्युत्थानं भुतं न प्रयच्छति । एवं तावत्प्राचूर्णकमाचा-
र्यमङ्गीकृत्याभ्युत्थानानाम्युत्थानयोग्योऽनुत्थानोपवर्णिताः ।

अथ सामान्यतो गच्छमध्ये स्थितस्यैवाचार्यस्यानच्युत्थाने
दोषमाह—

मज्झत्थ पोरिसीए, लेवे पमिस्सेह आइयण धम्मे ।

पयद्व गिलाणे तह उ—चमद्व सव्वेसिं उट्ठाणं ॥

आचार्यमागच्छन्तं दृष्ट्वा गच्छसाधवो मत्स्थानास्तिष्ठन्ति, ततः

शास्त्रा समितिर्मानसी मानसिकोपश्रोगनिष्पन्ना । किमुक्तं भवति ?-यदा साधुरेपणासमितो भवति, तदा श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैर्हस्तमात्रकधावनदिसमुत्थेषु शब्दादिपूषयुज्यते । अत एवास्या मनोगुप्तेऽर्थकत्वं, शेषास्तु समितय ईर्याआदाननिके-पोच्चारदिपारिष्ठापनिकाख्याः कायिक्यः-कायचेष्टानिष्पन्नाः । अत एवासां तिसृणामपि कायगुप्त्या सहैकत्वम् । (मणो उ स-व्वास्तु अविरुद्धो चि) मानसिक उपयोगः सर्वासु पञ्चस्वपि समितिष्वविरुद्धः, समितिबन्धकेऽप्यस्तीति भावः । अत एव मनोगुप्तस्य सर्वासां समितीनां मनोगुप्त्या सहैकत्वं मन्तव्यम् । आह-भिक्षार्थं गृहद्वारे स्थितस्य तत्राद्वारादीनि कल्पनीयानि मार्गयतः श्रोत्रादिनिरूपयुक्तस्य भाषासमितिमनोगुप्त्ये-पणासमीतीनां तिसृणामपि संभवो दृश्यते । अतः किमासा-मेकत्वमुतान्यत्वम् ? इत्याशङ्क्याऽऽह-

वयसमितो चिय जायइ, आहारादीणि कप्पणिज्जाणि ।
एमणउवज्जोगे पुण, सोयाई माणसी जवइ ॥

शङ्कितभ्रक्तादिदशदोपरहितं मया ग्राह्यमित्येपणासमिति-भावसंयुक्तो यदा साधुराहारादीनि कल्पनीयानि मार्गयति तदा वाक्कसमित एवासौ जायते, न पुनर्मनोगुप्तः, इत्येवकारार्थः । यदा तु श्रोत्रादिभिर्येपणायामुपयोगं करोति तदा मानसी नाम गुप्तिर्मवेव, मनोगुप्तिरित्यर्थः । न पुनर्वाग्भाषासमितिः । इदमेव तात्पर्यम्-भाषासमितिः, मनोगुप्तिश्चेति द्वे समितिगुप्ती युगपन्न भवतः, किन्तु भिन्नकालं, यद्यपि च "मणो य सव्वास्तु अविरुद्धो चि" वचनाद् भाषासमितावपि मानसिकोपयोगः समस्ति, तथापि गौणत्वादसौ सन्नपि न विवक्ष्यत इति ।

अपि च-

जो वि य ठियस्स चेद्वा, इत्यादीणं तु भंगियाईसु ।
सो वि य इरियासमिती, न केवदं चंक्रमंतस्स ॥

न-केवलं चङ्क्रमतश्चङ्क्रमणं कुर्वत एव ईर्यासमितिः किन्तु स्थितस्य गमनागमनक्रियामकुर्वतो भङ्गिकादिपु जङ्गवहुलगम-बहुलादिश्रुतेषु परावर्तमानेषु जङ्गकादिरचना ययाऽपि इस्तादी-नां चेष्टा साऽपि परिस्पन्दरूपत्वादीर्यासमितिः प्रतिपत्तव्या । अथ परेण प्रागुक्तं चङ्क्रमणं निरर्थकमित्यादि तत्परिहाराय चङ्क्रमणगुणानुपदर्शयति-

वायाई सट्ठाणं, वयंति कुर्विया उ संनिरोद्देणं ।
लाघवमगिपमुत्तं, परिस्समजओ अचंक्रमतो ॥

अनुयोगदानादिनिमित्तं यश्चिरमेकस्थानोपवेशनलक्षणः सं-जिरोधः तेन कुपिताः स्वस्थानाच्चलिता ये वातादयो धातवस्ते चंक्रमतो ज्ञेयः स्वस्थानं व्रजन्ति । लाघवं शरीरे बहुजाय उपजा-यते । अग्निपटुत्वं जातरान्नपादवं च भवति । यस्तु व्याख्याना-दिजनितः परिश्रमः तस्य जयः कृतो भवति । एते चङ्क्रमतो गु-णा भवन्ति, अतो न निरर्थकं चङ्क्रमणम् ।

आह यद्येवं ततः किमवश्यं तत्राभ्युत्थानं कर्तव्यमुत न ?
इत्यत्रोच्यते-

चंक्रमणे पुण जइयं, मा पल्लिमथो गुरुवितिन्नम् ।

पण्णियायवंदणं पुण, काऊण सइं जहाजोगं ॥

पुनःशब्दो विशेषणे । स चैतद्विशिनष्टि-प्रश्रवणविचारसूच्यादे-रागतस्य गुरोः कर्तव्यमेवाभ्युत्थानम् । चङ्क्रमणे पुनर्मकं वि-

कल्पितम् । कथम् ? इत्यत आह-भासूत्रार्थपरावर्तनायाः परिम-न्यो व्याघातो भवति इति कृत्वा यदि गुरवो अनभ्युत्थानं वितर-न्ति तदा नाभ्युत्थातव्यम् । परमेवं गुरुभिर्वितीर्णे सति सद्देक-वारमभ्युत्थानं विधाय प्रणिपातवन्दनशिरःप्रणामलक्षणं कृत्वा भगवन् । अनुजानीध्वमिति भणित्वा यथायोगं यथेप्सितं सूत्रार्थगुणनादिकं व्यापारं कुर्यात् । अथवा गुरवो न वारयन्ति ततो नियमादभ्युत्थातव्यम् ।

पुनरपि परः प्रेरयति-यदि चङ्क्रमणाभ्युत्थाने सूत्रार्थपरिम-न्यदोषो भवति तत इदमस्मादिरुच्यते-

अइसुइमिदं बुच्चइ, जं चंक्रमणे वि होइ उठाणं ।

एवमकारिज्जंतो, जइगभोई व मा कुज्जा ॥

अतिसुष्ठुतीव प्रबुद्धं जनेचितमिदं भवद्भिरुच्यते-यच्चङ्क्रमणेऽ-प्यभ्युत्थानं कर्तव्यं भवति । सूरिराह-एवं चङ्क्रमणविषयमभ्यु-त्थानमकार्यमाणा भङ्गकनोजिकस्येव प्रसङ्गतो मा शेषमप्यवि-नयं कार्पुरिकृत्वा चङ्क्रमणेऽपि अभ्युत्थानं कार्यते । अथ को-ऽयं भङ्गकनोजिकः ? इत्युच्यते । "जहा-एगो भोइओ तस्स रत्ता तुणेण गाममंरुवं पसासणे दिअं । सो तत्थ गतो, ताहे ते गामि-ल्लया तुछा भइओ सामी छद्धो चि (अज्जुरित्थर्थः) तओ ते जो-इयं विअवेनि-अहे तव पुत्ताणुपुत्तियं तिअ जाया, तो अम्हे चित्तिणिज्ज चि काठं करं पुव्वपरिमाणाओ थोवतरं करेहि, जो-इएण अब्बुवगयइ । अअया जं जं ते विअवेति तो तं सो भइ-ओ तेसिं गामेल्लयाणं अनुगहं करेइ । अइवीसत्थत्तणेण ल-द्धपसरा ते जहारिहं विण्णं भंसिउमादत्ता । ततो भोइयेण रुणेण ते गामिल्लया दंभिया, केइ उइविया" । एस दिट्ठतो । अ-यमत्थोवणभो-"चंक्रमणे अण्णुत्ताणे, सेसं पि विण्णियं प-रिहविज्ज, ततो रुठो आयरिओ पच्चिंसं दंढिज्जा, जे य तत्थ अच्चतावराहिणो ते गच्छाओ निच्छुजिज्जा, विणयमकारिज्जंता य ते इह लोए पारदोए य परिच्चत्ता जवन्ति । आयरिओ य सरणमुवगयाणं तेसिं न सरेक्खणकारी भवइ, अओ चंक्रमणे वि ते अब्बुद्गाणं कारिज्जंति" ।

अपि च-

वसज्जाण हांति इहुगा, असारणे सारणे अपच्चित्ता ।

ते वि य पुरिसा जुविहा, पंजरजग्गा अजिमुहा य ॥

ये ते गुरुचङ्क्रमणादिषु नाभ्युत्तिष्ठन्ति तान् यदि वृषभा न सार-यन्ति-कस्मादाचार्यान्नाभ्युत्तिष्ठन्ति ? ततो वृषज्जाणां चतुर्लघवः । अथ वृषभैः प्रतिनोदिताः परं ते न प्रतिश्रुण्वन्ति, ततः सारणं कृते सति वृषभा अग्रायश्चित्ताः, इतरे प्रायश्चित्तमापद्यन्ते । अ-नभ्युत्थाने असारणायां चामी दोषा प्रवन्ति-ये प्रतीच्छकां उ-पसंपत्प्रतिपत्त्यर्थमायाताः ते द्विविधा पुरुषा भवन्ति-पञ्जर-जग्गाः, संयमाभिमुखाश्च । तत्र गच्छे वसतां यदाचार्योपाध्या-यप्रवर्तकं सविरगणावच्छेदिकाख्यपदस्थपञ्चकस्य पारतन्त्र्यं यावत् परस्परं प्रतिनोदनाः, एतत् पञ्जरमुच्यते, एतस्मात् प-ञ्जराज्ज्जा निन्दिताः पञ्जरभग्नाः । संयमाभिमुखास्तु-पार्श्वस्था-द्यवयवमग्नविहारिगच्छाचारित्राभिलापितात्संविग्नगच्छं प्रवेष्टु-कामाः तत्र ये पञ्जरभग्ना आगतास्तपामनभ्युत्थानविषयाः ।

मुख्यस्तु पार्श्वस्थाद्यप्रतिनोदनां दृष्ट्वा चिन्तयति-

जग्गा कटी अब्बुत्ता-णेण देइ अब्बुद्गाणगे सोही ।

अनिरोहमुहो वामो, होहिइ णे इत्थ चिंढामो ॥

एषण कारणेण, एरिमेमुं इत्यिया एत्य ॥

इह द्विजः प्रायेण पृजितं पृजयन्ति, यमेवाचार्यादिकं साधु-
प्रावर्त्तादिभिरभ्युत्थानां पुज्यमानं पश्यन्ति तस्यैव पुत्रां वि-
दधन्ति, तत्र द्विजः प्रायेण लघुसन्त्वास्तुच्छाशया भवन्ति । ततः
साधुभिरनन्त्युत्थानयमानमाचार्यं गाढनरं परिजययुद्धा पश्य-
न्ति, न किमप्येष प्राचार्यो ज्ञानानि, न वाऽयं विशिष्टगुणवान् सं-
गाव्यने, अन्यथा किमेते साधवो नान्युत्तिष्ठन्ति, एवमेतेन का-
रणेन पुत्रेषु साधुप्रावर्त्तादिषु एव लघुनप्रायश्चित्तमुक्त्वा
यथातः द्विजोऽधिकृत्य गुरुनमुत्तम ।

अथ राजा सार्कं समागतस्यानन्त्युत्थानं किं कारणं
पाराञ्चिकम् ?, इत्याह-

पापणिद्धा एति महायणेण समं फाति दोसो गच्छइ एषमु
नणु वि गज्जं वक्कं होज्ज कइं वा परिज्जेते वेमुज्जं वा कु-
न्वियवेमामि मणुस्से वट्ठा ॥

राजादयश्चक्षिमतः प्रायेण पादुल्येन महाजनेन सामन्तमन्त्रि-
हत्तमादीनां महता समवायेन समं समागच्छन्ति, तत एतेषु तनु-
रपि सन्तोऽपि अगन्त्युत्थानमात्रमकृणो दोषः स्फूर्ति गच्छति,
नयेन विस्तरतीति भावः । अपि च-साधुभिरनन्त्युत्थाने आ-
चार्यः परिभूतो भवति, परिभयपदमुपगच्छतीत्यर्थः । परिभूत-
न्य च वाक्यं यच्च कथं नाम राजादीनां प्राप्तामुपादेयं भवेत् ?,
यैदूर्यमिव रत्नं कृत्स्नतवेण कार्पादिकथेयधारिणि मनुष्यं वर्तमानं
यथा नदीये हस्ते स्थितं सदनर्ष्यमपि तत्र जनस्योपादेयम्, एवं
गुरुणामपि धर्मकथावाक्यं गाढनर्यामाधुर्यगुणैरनर्ष्यमपि परिभू-
तनया न राजादीनामुपादेयं भवति । नदनुपादेयतायां च तेषां
मन्यदर्शनादिप्रतिपत्तिरपि न जयति, अतो राजा सार्कं समा-
यानं अनन्त्युत्थानयमाने पाराञ्चिकम् ।

परः प्राह-युक्तं प्रश्नवर्णभूम्यादेवगतस्याभ्युत्थानम्, यन् च-
ङ्क्रमणं कुर्यतोऽभ्युत्थानं तदास्माकं युक्तितमं प्रतिभाति ।

यतः-

अवस्सकिरियाजोगे, वट्ठं साहुपूजया ।

परिफग्गुं तु पासापां, चंक्रमंते वि उट्ठाणं ॥

विचारविहारादिको योऽवश्यं कर्तव्यः क्रियायोगस्तत्र वर्त-
मानो यदा समागच्छति तदा साध्वी धैर्यलो तस्य पूज्यता ।
यदा तु चङ्क्रमणं करोति तदा निरर्थको योगो वर्तते । अतश्च-
ङ्क्रमत्यपि गुप्तौ यदुत्थानं तत्परिफल्गु निर्धुमेव पश्यामः । यत-
उक्तं जगत्पाम्-“ जावं च णं से जीवं आरंजे वट्ठं संरंभे वट्ठ-
इ तावं च णं तस्स जीवस्स अंतकिरिया न जवइ ” ॥

अत्र सृष्टिविधानमाह-

कामं तु एअमाणो, अरंजईसु वट्ठं जीवो ।

सो उ अणट्ठी णट्ठो, अवि बाह्णं पि उक्खांवे ॥

काममनुमतं यदेव जीव एजमान आरम्भादिषु कर्मबन्धकार-
णेषु वर्तते, स तु स पुनः परस्परबन्धोऽनर्थो निष्कारणं नेष्टो नाभि-
मतः । अपि बाह्योक्तेषु बाह्योपमात्रेऽपि, किं पुनः चङ्क्रम-
णादिरित्यपिशब्दार्थः । अर्थोपापनं-यः सार्थकः चङ्क्रमणा-
दिव्यापारः स इष्ट एवेति ।

अथ सार्थकोऽपि व्यापारः कथमिष्टः ?, इत्यस्यां जिज्ञासायां यथा
१७५

योगत्रयंऽपि व्यापार्यमाणे दोषा यथा च गुणा भवन्ति तदेतत् प्र-
तिपादयन्ति-

मणो य वाया काओ अ, तिविहो जोगसंगहो ।

ते अजुत्तस्स दोसाय, जुत्तस्म य गुणावहो ॥

मनोयोगो चाग्योगः काययोगश्चेति त्रिविधो योगसंग्रहो भव-
ति, संक्षेपतस्त्रिधायोगो जयतीत्यर्थः । ते मनोवाक्काययोगा
क्रयुक्तस्य अनुपयुक्तस्य दोषाय कर्मबन्धाय जवन्ति, युक्तस्य तु
त एव गुणावहकर्मनिर्जराकारिणः संपद्यन्ते ।

इदमेव ज्ञाययति-

जइ गुत्तस्मरियाई, न होति दोसा तदेव समियस्स ।

गुत्तोऽठियप्पमायं, रंभइ समिई सचेट्ठस्स ॥

यथा किञ्च मनोवाक्कायगुत्तस्य ईयादिप्रत्यया अनुपयुक्तगम-
नादिक्रिया समुत्था दोषा न भवन्ति, तथैव समितस्यापि च-
ङ्क्रमणं कुर्यत ईयादिप्रत्यया दोषा न जयन्त्येव । किं कारणम् ?,
इत्याह-यदा किञ्च गुप्तिषु मनोगुप्स्यादिषु स्थितो जयति तदा
योऽगुप्तिप्रत्ययः प्रमादस्ते निरुणक्ति, तन्निरोधाय तत्प्रत्ययकर्मपि
न बभ्नाति, यस्तु समितौ स्थितः संचोष्टस्य यः प्रमादो यश्च तत्प्र-
त्ययः कर्मबन्धस्तयोर्निरोधं विदधाति ।

परः प्राह-यो गुत्तः स समितौ जयत्युत नेति ?, यो वा समितः
स गुत्तो भयत्युत नेति ?, ।

अत्रोच्यते-

समितो नियमा गुत्तो, गुत्ते समियचणम्मि भइअण्वो ।

कुसलवइमुदीरंतो, जं वइसमितो वि गुत्तो वि ॥

इह समितयः प्रतीचाररूपा इष्यन्ते, गुत्तयस्तु प्रतीचारप्र-
तीचारोभयरूपाः । प्रतीचारो नाम कायिको वाचिको व्यापारः,
ततो यः समितः सम्यग्गमनजापणादिवेष्टायां प्रवृत्तः, स नि-
यमाद् गुत्तो गुप्तिगुक्तो मन्तव्यः । यत्र गुत्तः समितत्वे भक्तव्यो
विकल्पनीयः, तत्र समितः कथं नियमाद् गुत्तः ?, इत्याह-कुशलां
निरवयतादिगुणोपेतो वाचमुदीरयन् यस्माद्वाक्समितोऽपि गु-
त्तोऽपि । किमुक्तं भवति ?-यः सम्यगनुविचिन्त्य निरवयतां भाषां
जापते स जापासमितोऽपि वाग्गुत्तोऽपि च भवति, गुत्तरप्र-
तीचाररूपतयाऽप्यभिधानात् । अतः समितो नियमाद् गुत्त इति ।

गुत्तः समितत्वे कथं जजनीयः ?, इत्याह-

जो पुण कायवईओ, निरुज्ज कुसलं मण उदीरेइ ।

चिइइ एक्कगमणा, सो खट्ठु गुत्तो न समितो उ ॥

यः पुनः कायवाचौ निरुध्य कुशलं शुभं मन उदीरयन् एका-
ग्रमना धर्मध्यानाद्युपयुक्तचित्तः तिष्ठति स खलु गुत्त उच्यते, न
समितः, प्रतीचाररूपत्वात् । यस्तु कायवाचौ सम्यक् प्रयुक्ते
स गुत्तोऽपि समितोऽपि मन्तव्यः ।

अथ समितिगुत्तीनां परस्परमवतारं दर्शयन्माह-

वायगसमिई विइया, तइया पुण माणसी भवे समिई ।

सेसा उ काइया उ, मणो उ सव्वासु अविरुद्धो ॥

वाचिकसमितिः, सा द्वितीया वाग्गुप्तिर्मन्तव्या । यदा कि-
ञ्च भाषासमितो भवति तदा यथा भाषाया असमितिप्र-
त्ययकर्मबन्धं निरुणक्ति तथा वाग्गुप्तिप्रत्ययमपि कर्मबन्धं नि-
रुणक्ति, एवं भाषासमितिवाग्गुप्त्योरैकत्वम् । तृतीयं पुनरेष-

संस्थानवन्तौ पयोधरौ स्तनौ यस्याः सा तथा । (वरतरुणी)
जी० ३ प्रति० । झा० । अत्युत्कटे, आ० म० प्र० । जं० । रा० ।

अब्जुत्त-स्ना-धा०, पर०, अदा० । शौचे, " स्नातेरब्जुत्तः " ।
। ८ । ४ । १४ । इति सूत्रेण धातोः ' अब्जुत्त ' इत्यादेशः ।
अब्जुत्त-स्नाति । प्रा० ४ पाद । प्र-दीप्-धा०, दिवा० ।
आत्मप्रकाशे, " प्रदीपेस्तेअव-संभ्रमसंघुक्ताब्जुत्ताः " ८ । ४ ।
१५२ । इति सूत्रेण प्रदीप्यतेः ' अब्जुत्त ' आदेशः । अब्जु-
त्त-प्रदीप्यते । प्रा० ४ पाद ।

अब्जुदय-अच्युदय-पुं० । राजलक्ष्म्यादिलाभे, झा० २ अ० । अ-
च्युदयो यथेह राज्याभिषेकादिप्रीतये भवति तथा स्वगापवर्ग-
प्राप्तिहेतुत्वादस्य संस्कारकस्य, अत एषोऽच्युदयः । संथा० ।

अब्जुदयफल-अच्युदयफल-त्रि० । अभ्युदयनिवर्तके, पो०
ए विव० ।

अब्जुदयहेतु-अच्युदयहेतु-पुं० । कस्याणनिमित्ते, पञ्चा० ८
विव० ।

अब्जुदयावुच्छित्ति-अच्युदयावुच्छित्ति-स्त्री० । स्वर्गादेरव्य-
वच्छेदे सन्ततौ, पो० ६ विव० ।

अब्जुय-अद्भुत-त्रि० । सकलस्रष्टवनातिशायिनि भुतशिल्प-
त्यागतपशौर्यकर्मादिके अपूर्वे वस्तुनि, उपचारात् तद्दर्श-
नअवगादिभ्यो जाते विस्मयरूपे रसविशेषे, पुं० । अनु० ।

अद्भुतरसं स्वरूपतो ह्यक्षयत्वाऽऽह-

विम्हयकरो अपुञ्जो, अनुत्तुअपुञ्जो य जो रसो होइ ।
हरिसविसाओपपत्ती-अक्खणा उ अब्भुओ नाम ॥ ६ ॥

अब्भुओ रसो जहा-

अब्भुअतरमेह एत्तो, अन्नं किं अत्थि जीवलोगमि ।

जं जिणवयणे अत्था, तिकालजुत्ता मुणिज्जंति ।

कस्मिंचिदुभूते वस्तुनि दृष्टे विस्मयं करोति, विस्मयोत्कर्ष-
रूपो यो रसो प्रवति सोऽद्भुतो नामेति संदृष्टः । कथंभूतः ? ,
अपूर्वोऽनुभूतपूर्वो वा । अनुभूतपूर्वः किंचक्षणः ? , इत्याह-
हर्षविषादोत्पत्तिद्वक्षणः, शुभे वस्तुन्यद्भुते दृष्टे हर्षजननल-
क्षणः, अशुभे तु विषादजननलक्षण इत्यर्थः । उदाहरणमाह-"अ-
ब्भुय"-गाहा । इह जीवलोकेश्चदभुततरं इतो जिनवचनात् कि-
मन्यदस्ति, नास्तीत्यर्थः । कुतः ? , इत्याह-यद्यस्माज्जिनवचने-
नार्था जीवादयः सूक्ष्मव्यवहिततिरोहिताऽत्रान्द्रियामूर्तादि-
स्वरूपा अतीतानागतवर्तमानरूपाः त्रिकालयुक्ता अपि ज्ञायन्त
इति । अनु० । " अब्भुय गीए अब्भुय वाइए अब्भुय नहं " अ-
द्भुतमाश्चर्यकारि । रा० ।

अब्जुवगम-अच्युपगम-पुं० । अङ्गीकरणे, स्था० २ गा० ४ उ० ।

अब्जुवगमसिद्धत-अच्युपगमसिद्धान्त-पुं० । सिद्धान्तभेदे, पुं०

स च-

जं अब्भुविच्च कीरइ, सेच्छाए कहा स अब्भुवगमो उ ।

मीतो वन्ही गयजू-इ तणगे मग्गुस्वरसिगा ॥

यत्त-अच्युपेत्य स्वेच्छया अभ्युपगम्य वादकथा क्रियते । यथा-
श्रीतो वन्हिः, गजयूयं तृणाग्रे, मञ्जुलकाकस्य, खरस्य च शृङ्ग-

म, इत्येषोऽभ्युपगमसिद्धान्तः । पु० १ उ० । अपरीक्षितार्थभ्युप-
गमाच्चक्षिषेपपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः । तद्यथा-किंशब्दः ? ,
इति विचारे कश्चिद्वदाह-अस्तु द्रव्यं शब्दः, स तु किं नित्योऽ-
थानित्य इत्येवं विचारः । सूत्र० १ शु० १२ अ० ।

अब्जुवगय-अच्युपगत-त्रि० । अजि आभिमुख्येनोपगतः ।
आचा० २ शु० ३ अ० १ उ० । अभ्युपगमवन्ति, व्य० ७ उ० ।
संप्राप्ते, पा० । भुतसंपदोपसंपन्ने, आ० म० प्र० । अङ्गीकृते,
पं० व० १ द्वार ।

अब्जोवगमिया-अच्युपगमिकी-स्त्री० । अभ्युपगमेनाङ्गीक-
रणेन निर्वृत्ता तत्र भवा वाऽऽभ्युपगमिकी । स्वयमभ्युपगतायां
(वेदनायाम्) । स्था० २ गा० ४ उ० । या हि स्वयमभ्युपगम्यते
यथा-साधुभिः प्रवज्याप्रतिपत्तितो ब्रह्मचर्यचुमिशचनकेशो-
ब्जुञ्जनातापनादिभिः शरीरपीडाभ्युपगमनम् । ज० १ शु० ४
उ० । " दुविहा वेदणा पणत्ता । तं जहा-अब्जोवगमिया य
उवक्कमिया य " प्रज्ञा० ३४ पद ।

अभग-अजग-त्रि० । न भग्नोऽजग्नः । सर्वथाऽविनाशिते,
" एवमादिपहिं आगारेहिं अजग्नो अविराहिओ हुज्ज मे काउ-
स्सगो " । आव० ५ अ० । ध० । ल० । आ० चू० ।

अभगसेण-अभगमेन-पुं० । विजयाभिधानचौरसेनापति-
पुत्रे, विपा० । तत्कथानकं चेदम्-

तच्चस्स उक्खेवो एवं खलु-जंभू ! तेषां कालेणं तेषां
समएणं पुरिमतालणामं णयरं होत्था, रिच्छिं तस्स एं
पुरिमतालस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ एं अ-
मोहदंसी उज्जाणं, तत्थ एं अमोहदंसिस्स जक्खस्स
जक्खायतणे होत्था, तत्थ एं पुरिमताले महव्वले
णामं राया होत्था, तत्थ एं पुरिमतालस्स णयरस्स
उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए देसपत्ते अरुवी संसया । एत्थ
एं साल्लारुवी णामं चोरपट्ठी होत्था, विसमगिरिकं-
दरकोलंवसणिविद्धा वंसीकलंकपागारपरिक्खत्ता वि-
एणसेवविमपपवायफरिहोवगूढा अज्जितरपाणिया सु-
दुद्धभज्जपेरंता अणेगखंडी विदितजणदिणनिगम-
प्पवेसा भुवहुयस्स विक्कविजयस्स जणस्स दुप्पवेसाया
वि होत्था । तत्थ एं साल्लारुवीए चोरपट्ठी विजए
णामं चोरसेणावइ परिवसइ, अहम्मिएण जाव ह्यो-
हियपाणी बहुणयरणिग्गयजसे सूरं दहप्पहारे साहस्सिए
सइवेही असिद्धिपदमद्वे, से एं तत्थ साल्लारुवी चोर-
पट्ठीए पंचएहं चोरसयाणं आहिवच्चं जाव विहरइ । तए एं
से विजए चोरसेणावइ बहुणं चोराण य पारदारियाण
य गंठिच्छेयाण य संधिजेयाण य खंरुपट्ठाण य अण्णे-
सिं च बहुणं विण्णभिण्णवाहिराऽहियाणं कुम्मेया वि
होत्था । तएणं विजयचोरसेणावइपुरिमतालस्स णयरस्स
उत्तरपुरिच्छिमिल्लं जणवयं बहुहिं गामघाणहिं य णयर-

अस्माकं पूर्वस्मिन् गच्छे वसनामाचार्यस्य चङ्क्रमणादियु
वारं वारं अभ्युत्थानेन कटो जग्ना, अथासौ नान्युत्थीयते तदा
शोधि प्रायश्चित्तं प्रयच्छति, गाढं च खरपरपैः खरपट्टयति, अ-
स्मिन् गच्छे न प्रायश्चित्तं, न च खरपट्टना, अतोऽनिरोधोऽनि-
यन्वणा, तेन सुखं सुखदार्था वासोऽत्र 'रे' अस्माकं प्रविष्यति, ति-
ष्ठामो वयमत्रेति कृत्वा तवैव तिष्ठयुः, न भूयः स्वगच्छं गच्छेयुः ।

जे पुण उज्जयचरणा, पंजरभगो न रोयए ते उ ।

अन्नत्थ वि सइरत्तं, न लब्धं एति तत्थेव ॥

ये पुन रुद्यतचरणाः स्वल्पेऽप्यनन्युत्थानादावपराधे सम्यक्-
प्रतिनादनाकारिणः तान् पञ्जरजज्ञो न रोचयन्त, न रुचिपथं
प्रापयन्ति । चिन्तयति च-अन्यत्रापि गच्छान्तरे स्वैरित्वं स्वात-
न्त्र्यं न लभ्यते इति विचिन्त्य तत्रैव स्वगच्छे एति समागच्छति ।

अत्र संयमाग्निमुखोऽसौ समागन्तस्ततः किम् ?, इत्याह-

चरणोदासीणे पुण, जो विण्णहाय आगतो सम्मो ।

सो तेसु पविममाणो, सट्ठं वट्ठे अज्जओ वि ॥

यः पुनः अमणश्चरणोदासीनान् पार्श्वस्थादीन् सुखशीलविहा-
रिणो विप्रहाय संयमामिमुखः समागतः स तेषु गच्छान्त-
रीयेषु साधुषु प्रविशन् उभयेषामपि साधूनां भ्रष्टां वर्धयति ।
तथाहि-यत्र गच्छे असौ प्रविशति तद्दीयाः साधवः चिन्तय-
न्ति-एष "सुन्दरा भमी" इति परिज्ञाव्यास्माकं मध्ये प्रविशति,
अतः सुन्दरतरं कुर्महे । यस्मादपि गच्छादायातः तद्दीया अपि
चिन्तयन्ति-अस्मान् सुखशीलानिति विज्ञायैव गच्छान्तरे गच्छ-
ति, अतो वयमुद्यता भवाम इति ।

अथासौ संयमामिमुखस्तत्रापि सामाचारीहापनं प्रतिनोदना-
या भभावं च पश्यति, ततश्चिन्तयति-

इत्य वि भेराहाणी, एते वि ङु सारवारणासुका ।

अत्रे वयः अग्निमुद्गो, तप्पच्चयनिज्जराहाणी ॥

अत्रापि गच्छे, न केवलं पूर्वस्मिन्नत्यपिशब्दार्थः । मर्यादाया
अन्युत्थानादिसामाचार्या हानिरिच्छोक्त्यते, एतदपि च साधवः
सारणवारणया मुक्ताः परिस्फुटं प्राक्तनगच्छसाधव इव नि-
रर्गलाः समीक्ष्यन्ते, अतः को नामामीषां समीपे स्थास्यतीति
मत्वा स संयमामिमुखः साधुरन्यान् गच्छान्तरीयान् सा-
धून् प्रजति प्रविशति । प्रविशतु नाम गच्छान्तरं, का नो हानि-
रिति चेत् ?, अत आह-तत्प्रत्यया-तस्य साधोः संयमानुपाह्वानो-
पष्टम्भकारणहेतुका या निर्जरा, तस्या हानिः प्राप्नोति, सा
न भवतीत्यर्थः ।

आह-किं कारणमसौ तेषु तत्र विशति ?, इत्याह-

जहि नत्थि सारणा वा-रणा य पडिवायणा य गच्छम्मि ।

सो उ अगच्छो गच्छो, संजमकामीण मोत्तवो ॥

विस्मृते क्वचित् कर्तव्ये भवतेदं न कृतमित्येवंरूपा स्मारणा
सारणा, अकर्तव्यनिषेधो वारणा, उपलक्षणत्वादप्यथा कर्तव्य-
मनाभोगादिना अन्यथा कुर्वतः सम्यक् प्रवर्तना प्रेरणा, चारित-
स्यापि पुनः पुनः प्रवर्तमानस्य खरपरयोः किमिः शिक्कणं प्रति-
नोदना, एताः सारणादयो यत्र गच्छे न सन्ति स गच्छो गच्छ-
कार्याकरणाद्गच्छो मन्तव्यः । अत एव संयमकामिना संयमा-

भिमुखेन साधुना मोक्षयोऽसौ, नाभयणीय इति भावः । गा-
थायां प्राकृतत्वादिकारस्य दीर्घत्वम् ।

प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमभिधित्सुः प्रस्तावनामाह-

अयमपरो उ विकप्पे, पुब्बावरवाह्य ति ते बुद्धी ।

लोए वि अण्णेगविहं, नण्ण भेसज मो रुजोवसमे ॥

अयमत्रेनगाथायां वक्ष्यमाणोऽपरः प्रायश्चित्तस्य विकल्पः प्र-
कारः । अत्र परः प्राह-पूर्वापरव्याहतमिदम्, पूर्वमन्यादृशं प्राय-
श्चित्तमुक्त्वा यदिदानीमन्यादृशमभिधीयते तदेतत् पूर्वापरवि-
रुद्धमिति ते तव बुद्धिः स्यात् । तत्रोच्यते-ननु लोकेऽपि रुजोपश-
मे विधातव्ये यथा त्रिफलात्रिकटुकादिभेदादनेकविधं ज्ञेयजं,
'मो' इति पादपूरणे । प्रयुज्यमानं दृष्टमेव, एवमत्राप्येकस्यै-
वान्युत्थानस्य तथा केनमहाजनादिभेदेनानेकविधं प्रायश्चित्त-
मभिधीयमानं न विरुद्ध्यते ।

इत्थं पराजिघृत्तं परिहृत्य प्रायश्चित्तमाह-

वीयारसाहुमंजइ-निगमयमासंघरायसहिए तु ।

सहुगो लहुगा गुरुगा, उम्मासा छेदमूडुगं ॥

आचार्यं विचारभूमेरागतं नाभ्युत्तिष्ठन्ति मासलघु, साधुभिः
सममायातमनन्युत्तिष्ठतां चतुर्लघवः, संयतीभिः समं चतुर्गुर-
वः, निगमैः पौरवणिग्विशेषैः समं षडलघवः, घट्टया महत्तरा-
दिगोष्ठीरुपसमवायलक्षणया समं छेदः, संघेन समं सुलम्,
राज्ञा सममनवस्थाप्यम् । (सहिए सि) संघसहितेन राज्ञा
सममायातमनन्युत्तिष्ठतां पाराश्रिकम् । गतमन्युत्थानम् । वृ०
३ उ० । (यत्रावसरे यैर्वा कारणैरभ्युत्थानं न कर्तव्यं तदे-
तत् सर्वं 'अइसेस' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४ पृष्ठे दर्शितम्)
पुनर्नैतत्करिष्यामीत्यन्युपगमे, स्था० ३ उ० ३ उ० । प्रयत्ने,
स्था० २ उ० १ उ० । आसनत्यागरूपे, संभोगासंभोगस्थाने
यथा पार्श्वस्थादेरन्युत्थानं कुर्वेत्सद्विस्तंभोग्यः । स० १२ सम० ।
प्रव० । आव० । आ० चू० । गुरुनागतान् घट्टा स्वकीय-
स्थानादूर्ध्वमवने, उच० ३३ अ० । (अन्युत्थाने दण्डकः
'सक्कार' शब्दे दर्शयिष्यते) (त्रिभिः स्थानैर्देवा अभ्युत्तिष्ठे-
युरिति 'मण्डुस्तलोय' शब्दे दर्शयिष्यते) ।

अञ्जुट्टितए-अन्युत्थातुम्-अव्य० । अन्युपगन्तुमित्यर्थे, स्था०
२ उ० १ उ० ।

अञ्जुट्टिय-अन्युत्थित-त्रि० । कृतोद्यमे, "अञ्जुट्टियं रायरि-
सिं, पञ्चजागणमुत्तमं" उच० ९ अ० । "अञ्जुट्टियसु मेहेसु"
प्रवर्षणाय कृतोद्यमेषु, ज्ञा० १ अ० । प्रारब्धे, घ० ३ अधि० ।
अभ्युदिते, उच० ६ अ० । सं० ।

अञ्जुट्टेत्ता-अन्युत्थातु-त्रि० । अन्युपगन्तरि, स्था० ५
उ० १ उ० ।

अञ्जुट्टेयव-अन्युत्थातव्य-त्रि० । अन्युपगन्तव्ये, स्था० ८ उ० ।

अञ्जुणाय-अन्युत्थत-त्रि० । वज्रतिमति, ज्ञा० १ अ० ।

"अञ्जुष्टयदइयतलिणतंवसुइनिद्धनखा" अन्युत्थता रतिदाः
सुखदाः, अथवा रचिता इव रचिताः, तद्धिनाः प्रतद्धाः, तान्ना
आरकाः, शुचयः पवित्राः, क्षिग्धाः कान्ताः, नखा येषां ते तथा ।
प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । "अञ्जुणयपीणरइयसंठियपओहरा"
अन्युत्थतावृक्षौ पीनौ स्थूलौ रतिदौ सुखप्रदौ संक्षितौ विशिष्ट-

घाएहि य गोमहणेहि य वंदिगहणेहि य पंथकोट्टेहि य
 स्वत्तखणणेहि य उवीक्षेमाणे उवीक्षेमाणे विद्धंसेमाणे
 विद्धंसेमाणे तज्जेमाणे तज्जेमाणे ताद्वेमाणे ताद्वेमाणे
 णित्थाणे णित्थाणे णित्थाणे करेमाणे विहरइ, मह-
 व्वलस्स रएणो अज्जिक्खणं २ कप्पाइं गिएहइ, तत्थ एं
 विजयस्स चोरसेणावस्स खंधसिरी णामं चारिया होत्था ।
 अहीणं तत्थ एं विजयचोरसेणावस्स पुत्ते खंधसिरीए
 भारियाए अत्तए अज्जगसेणं णामं दारए होत्था अही-
 णं । तेणं काद्वेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरं
 पुरिमतालणामं णयरे जेणेव अमोहदंसी जज्जाणे तेणेव
 समोसदे परिसा राया निग्गओ, धम्मो कहिओ, परिसा राया
 विग्गओ, तेणं काद्वेणं तेणं समएणं समणस्स जगवओ
 महावीरस्स जेहे अन्तेवासी गोयमे० जाव रायमग्गं समो-
 वगादे तत्थ एं बहवे इत्थी पासइ, तए एं तं पुरिसं राया
 पुरिसा पढमंसि चच्चरंसि णिसियावित्ति, णिसियावित्ति
 अट्टचुद्धपिडए अग्गउयाएइ कसप्पहारेहि ताद्वेमाणे २
 कयुणं काकणिमंसाइं खावेइ, खावेइत्ता रुहिरपाणं च पाय-
 त्ति । तयाणंतं च एं दोच्चं पि चच्चरंसि अट्टमहापिडए,
 अग्गयो घाएयति, घाएयत्तिता एवं तथे० अट्टमहापिडए,
 चउत्थे० अट्टमहामाडए, पंचमे पुत्ता, ज्जे सुएहा, सत्तमे
 जामाडया, अट्टमे धूयाओ, णधमे णत्तुया, दसमे णत्तुयओ,
 एकारसे णत्तुयावइ, वारसमे णइणीओ, तयारसमे वास्सिय-
 पतिया, चउडसमे पिळस्सियाओ, पण्णरसमे मासियाओ पइ-
 याओ, सोडसमे मासियाओ, सत्तरसमे मासियाओ, अट्ठा-
 रसमे अवसेसं भित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरिजणं अग्ग-
 ओ घायंति, घायंतिता कसप्पहारेहि ताद्वेमाणे ३ कयुणं का-
 कणिमंसाइं खावेइ रुहिरपाणं च पाएइ । तए एं से भगवं गो-
 यमे तं पुरिसं पासइ, पासइत्ता अयमंयारूवे अज्जवत्थिये ५
 समुप्पस्ये० जाव तहेव णिग्गए एवं वयासी-एवं खलु अहं
 भंते ! से एं जंते ! पुरिसे पुव्वभवे के आसी० जाव विहरइ ।
 एवं खलु गोयमा ! तेणं काद्वेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्वि-
 चारहेवासे पुरिमताद्वे णामं णयरे होत्था, रिद्धि० ३ तत्थ एं
 पुरिमताले उदये णामं राया होत्था, महया तत्थ एं पुरिमताद्वे
 निक्कए णामं अंनयाणियए होत्था, अट्ठे० जाव अपरिभूए
 अट्ठम्मिणं जाव दुप्पन्नियाणंदं तस्स एं णिएणियस्स अं-
 दयवाणियस्स बहवे पुरिसा दिक्खज्जिज्जत्तवेयणा कट्ठाकट्ठि
 कोडालियाओ य पत्थियाए पन्निए गेएहइ, गेएहइत्ता पुरि-
 मताद्वस्स णयरस्स परिपेरंते सुबहुकाकअंरए य घूतिअंर-
 ए य पारेवइटेहिज्जिस्वगिमयूरिकुडिअंरए य आणेसिं
 चेव बहूणं जलयरथलयरखहयरमाइंणं अंराइं गेएह-

इ, गेएहइत्ता पत्थियपन्निगाइं जरेइ, जरेइत्ता जेणेव
 निएणए अंरवाणियए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता
 णिएणयस्स अंरवाणियस्स उवणेइ, तए एं तस्स
 णिएणयस्स अंरवाणियस्स बहवे पुरिसा दिएणभए
 बहवे कायअंरए य० जाव कुकुअंरए य आणेसिं च बहूणं
 जलथलखचरमाइंणं अंरए तवएसु य कंरएसु य जज्ज-
 णएसु य इंगाद्वेसु य तलित्ति जज्जंति सोद्धित्ति, तद्धित्ता
 जज्जंता सोद्धित्ता य रायमग्गं अंतरावणंसि अंदयपणियणं
 वित्ति कप्पेमाणे विहरइ, अप्पणो वि य एं से णिएणए
 अंरवाणियए तेसिं बहुहि कायअंरएहि य० जाव कुकुडि-
 अंरएहि य सोद्धेहि तद्धिं भज्जे सुरं च ४ आसाए ४
 विहरइ, तए एं से णिएणए अंरए एयकम्मे ४ सुबहुपावं
 समाज्जित्ता एगं त्राससइस्सं परमाउं पालइ, पालइत्ता कालमासे
 कालं० तच्चाए पुढवीए उक्कोसत्तसागरोवमट्ठितीएसु थेरइ-
 एसु थेरइत्ताए उववसं, से एं ताओ अणंतरं उव्वइत्ता
 इहेव सालाववीए चोरपट्ठीए विजयस्स चोरसेणावस्स खं-
 दसिरीए भारियाए कुडिअंसि पुत्तच्चाए उववसं, तए एं से
 खंदसिरीजारियाए अक्षया कयाइं तिहं मासाणं बहुपन्नि-
 पुष्पाणं इमेयारूवे दोहद्वे पाउव्वनूए-धम्माओ एं ताओ अम्म-
 याओ ४ जाणं बहुहि भित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरियण-
 महिद्धाएहिं अस्सेहि य चोरमहिद्धाहिं सक्खि संपरिवुत्ता
 एहाया० जाव पायच्छित्ता सव्वाहंकारचुसिया विउलं
 असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च ५ आसाएमाणे ४ विह-
 रइ । जिमियभुत्तुत्तरागयाओ पुरिसयेवत्थिया सप्पद० जाव
 पहरणावरणाभरिएहि य फलएहिं णिकिद्धाहिं असीहिं
 अंसागएहिं तोणेहिं सजीवेहिं धणुहिं समुक्खित्तेहिं सरेहिं
 समुद्धावेलियाहिं य दामाहिं लंबियाहिं उसारियाहिं
 उरुधंदाहिं जिप्पत्तरेणं विज्जमाणे विज्जमाणे महया २
 उकिट्ठ० जाव समुद्धरवज्जंयं पि व करेमाणीओ साह्याड-
 वीए चोरपट्ठीए सव्वओ समंताओ दोएमाणीओ २ अ-
 हिंरमाणीओ २, दोहलं वि णित्ति-तं जइ अइ अहं पि
 बहुहिं णाइणियगसयणसंबंधिपरियणमहिद्धाइं अस्सेहिं सा-
 ह्याडवीए चोरपट्ठीए सव्वओ समंताओ दोएमाणीओ २
 आहिंरमाणीओ २ दोहलं विणिज्जामि त्ति कइ तंसि
 दोहलंसि अवणिज्जमायंसि० जाव जिज्यामि तए एं से
 विजए चोरसेणावइ खंदसिरीजारियं उहय० जाव पासइ
 एवं वयासी-किएहं तुमं देवा उहय० जाव जिज्यासि,
 तए एं सा खंदसिरी भारिया विजयं एवं वयासी-एवं
 खलु देवाण्णपिया ! ममं तिहं मासाणं० जाव जिज्यामि, तए
 एं से विजये चोरसेणावइ खंदसिरीजारियाए अंतियं
 एयमडं सोच्चा णिसम्म खंदसिरीभारियं एवं वयासी-

अजज्जिय-अभय-त्रि० । अभविते अविराधिते, आत्मा० १ शु०
१ अ० १ उ० ।

अजहप्पवेसा-अभटप्रवेशा-स्त्री० । अविद्यमानो भटानां राजा-
ज्ञादायिनां पुरुषाणां प्रवेशः कुटुम्बगृहेषु यस्यां सा तथा । यत्र
राजाज्ञां दातुं भटाः प्रवेष्टुं न शक्नुवन्ति तादृशं पुर्याम्,
भ० १२ शु० ४ उ० । जं० । ज्ञा० । विपा० ।

अजत्तह-अभक्तार्थ-पुं० । भक्तेन भोजनेनार्थः प्रयोजनं भक्ता-
र्थः, न भक्तार्थोऽभक्तार्थः । अथवा न विद्यते भक्तार्थो यस्मिन्
प्रत्याख्यानविशेषे सोऽभक्तार्थः । उपवासे, ध० २ अधि० ।

अत्र पञ्चाकाराः, तथा च सूत्रम्—

सूरे उगए अभत्तहं पच्चक्खाइ, चउव्विहं पि आहारं
असणं पाणं खाइमं साइमं अभत्तयाभोगेणं सहसागारेणं
पारिष्ठावणियागारेणं मत्तरागारेणं सब्बसमाहिवत्तियागा-
रेणं वोसिरइ ।

अस्यार्थः—(सूरे उगए) सूर्योद्गमादारभ्य, अनेन भोजनानन्तरं
प्रत्याख्यानस्य निषेध इति श्रूते । भक्तेन भोजनेनार्थः प्रयोजनं
भक्तार्थः, न भक्तार्थोऽभक्तार्थः । अथवा—न विद्यते भक्तार्थो य-
स्मिन् प्रत्याख्यानविशेषे सोऽभक्तार्थः, उपवास इत्यर्थः । आका-
राः पूर्ववत् । नवरं पारिष्ठापनिकाकारे विशेषः, यदि त्रिविधा-
हारस्य प्रत्याख्याति तदा पारिष्ठापनिकं कल्प्यते, यदि तु चतु-
र्विधाहारस्य प्रत्याख्याति पानकं च नास्ति तदा न कल्प्यते,
पानके द्वादशिते कल्प्यत एव । (वोसिरइ) भक्तार्थमशनादि
वस्तु व्युत्सृजति । प्र० ४ द्वार । ध० । आव० । आ० च० ।
ल० प्र० । पंचा० ।

अजत्तहिय-अभक्तार्थिक-पुं० । उपवासिके, ओघ० । द्वितीयेऽ-
हि भोक्त्रि, पं० व० २ द्वार ।

अभत्तपाण-अभक्तपान-न० । जकपानात्तात्रे, व्य० ७ उ० ।

अजय-अभय-न० । न० त० । विशिष्टे आत्मनः स्वास्थ्ये निभे-
यस्यार्थमभूमिकानियन्धनभूतायां धृतौ, ल० । रा० । “अभयं
पत्थिवा तुमं, अभयदाया भवाहि य” । उ० १८ अ० । प्रा-
णिरक्षायाम्, सूत्र० १ शु० ६ अ० । अविद्यमानं जयमस्मिन् स-
त्वानामित्यजयः । सप्तदशविधे संयमे, आत्मा० १ शु० १ अ० ५
उ० । सप्तप्रकारकभयरहिते, त्रि० । सूत्र० १ शु० ६ अ० । श्रेणि-
कपुत्रे अभयकुमारे, पुं० । आ० च० १ अ० । आ० म० । ध० ।
अभयंकर-अभयङ्कर-त्रि० । अभयं प्राणिनां प्राणरक्षारूपं स्व-
तः परतश्च सदुपदेशदानात् करोतीत्यजयङ्करः । स्वतो हिंसानि-
वृत्तत्वेन परतश्च हिंसां मा कार्षीरित्युपदेशदानेन प्राणिनामनु-
कम्पके, “अभयंकरे वीरअणतचक्ख” सूत्र० १ शु० ६ अ० ।
निर्भयकरे, तं० ।

अभयकरण-अभयकरण-न० । जीवानामभयकरणे, (पं० व०)

मुत्तूण अभयकरणं, परोवयारो वि नत्थि अणो त्ति ।

इंमिगितेणगणायं, न य गिहिवासे अविगडं तं ॥ २२ ॥

मुक्त्वाऽजयकरणमिहलोकपरलोकयोः परोपकारोऽपि नास्त्य-
न्य इति । अत्र दृष्टान्तमाह—रुक्मिणीस्तेनकज्ञातमत्र कृष्य-
म् । न च शुद्धान्ते अविकलं तद्-अभयकरणमिति गाथायः ॥
पं० व० १ द्वार ।

अभयकुमार-अजयकुमार-पुं० । श्रेणिकस्य राज्ञः नन्दादेव्यामु-
त्पन्ने पुत्रे, ज्ञा० ।

तद्वक्तव्यता—

पहमस्स य एणं भंते ! अज्जयणस्स के अहे पसत्ते ? ।
एवं खलु जं व ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जम्बुद्वी-
वे दीवे चारहेवासे दाहिणहृत्तरहे रायगिहे णामं नयरे
हेत्था । वणओ—गुणसिलए चेईए वणओ—तत्थ एणं
रायगिहे एयरे सेणिए णामं राया हेत्था । महिमाहिमं-
तवणओ—तस्स णं सेणियस्स रत्तो नंदा नामं देव ।
हेत्था, सुकुमादपाणिपाया वणओ—तस्स णं सेणियस्स
पुत्ता नंदाए देवीए अत्तए अजए नामं कुमारे हेत्था ।
अ. १. १. ०. जाव सुरुवे सामजेयदं मउवप्पयाणणीतिसुप्पत्त-
नयविहिन्तू ईहापूः मगणगवेसणं अत्थसत्थमई विसारए
उप्प त्थाए वेणइयाए कमयाए परिणामियाए चउव्विहाए
वुद्धिए उव्वए, पेणियस्स राणो बहुसु कज्जेसु य कुटुंबे-
सु य मंतसु य गज्जंसु य रत्तंसु य निच्छंसु य आ-
पुच्छिणिज्जे पमिपुच्छणिज्जे मेढीपमाणे आहारे आलंघणे
चक्खुमेढीज्जए पमाणज्जए आहारज्जए आलंघणज्जए चक्ख-
सव्वकज्जेसु सव्वकमियासु लच्छपच्चए विइएणावियारे २
रज्जधुरचित्ते यावि हेत्था, सेणियस्स राणो रज्जं च
रत्तं च कोमं च कोट्टागारं च वटं च वाहणं च पुरं च अ-
तेउरं च सयमेव समुप्पेक्खमाणे समुप्पेक्खमाणे विहरति ॥
एवमित्यादि सुगमं, नवरम्-एवमिति वक्ष्यमाणप्रकारोऽर्थः प्रहस-
इति प्रक्रमः । खलु वाक्यालङ्कारे । जम्बूरित्यामन्त्रणे । इहेवेति ।
देशतः प्रत्यासन्नेन पुनरसंबन्धेयत्वात् जम्बुद्वीपानामन्यत्रेति-
भावः । (इत्यादिटीका सुगमा नोपन्यस्यते) ज्ञा० १ अ० न० ।
नि० स्था० विशेष० आ० म० ध० र० । (‘मेहकुमार’ शब्दे-
ऽपूर्वसाङ्केतिकदेवमेतन्नं वक्ष्यते)

अभयकुमारकथा चेत्यम्—

अस्ति स्वस्तिकवत् पृथ्याः, पृथ्याः संपद आस्पदम् ।

सुचक्रमङ्गलन्यास, पुरं राजगृहाभिधम् ॥ १ ॥

प्रहृष्टप्रौढमिश्रित्व-काननैकपरभ्रमः ।

सुधोज्ज्वलगुणश्रेणिः, श्रेणिकस्तत्र पार्थिवः ॥ २ ॥

आगमार्थपरिज्ञान-विस्फूर्जद्वुचिबन्धुरः ।

तस्याजयकुमाराख्यो, नन्दनो विश्वनन्दनः ॥ ३ ॥

आगच्छदन्त्यदा तत्र, मुनिपञ्चशतीयुतः ।

प्रकटीकृतसद्धर्मा, सुधर्मा गणभृद्गरः ॥ ४ ॥

वन्दितुं तत्पदद्वन्द्वं, सर्वज्ञां श्रेणिको नृपः ।

शस्त्रनोत्सर्पणामिच्छ-जगज्जस्तपरिच्छदः ॥ ५ ॥

नानायानसमारूढ-स्तथाऽन्योऽपि पुरीजनः ।

प्रक्सिंभारसंजात-रोमाञ्चोच्चुसितां गतः ॥ ६ ॥

एवं प्रजावनां प्रेक्ष्य, तत्रैकः काष्ठमारिकः ।

गत्वा प्रक्षया शुक्रतन्वा-ऽश्रौपीद्धर्ममिमं यथा ॥ ७ ॥

जन्तुघातो मृपाऽस्तेय-महस्र च परिग्रहः ।

भो भो प्रख्याः ! विमुच्यन्तां, पञ्चैते पापहेतवः ॥ ८ ॥

मगहणं डिए गहियजत्तपाणिए तं दंनं पक्खिवाद्येमाणं चि-
द्धइ, तए णं से दंनं जेणेव अभंगसेणे चोरसेणावइए तेणे-
व उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता अजंगसेणेणं चोरसेणावइणा
सद्धिं संपल्लगेया वि होत्था । तए णं से अजंगसेणे चोर-
सेणावइ तं दंनं खिप्पमेव हयमहियं जाव पन्तिहेइति,
तए णं से दंनं अभंगसेणे चोरसेणावइ हयं जाव प-
न्तिहेइए समाणे अत्थामे अवले अवीरिए अपुरिसका-
रपरक्के आधारणिज्जेमि ति कट्ठु जेणेव पुरिमताझे ण-
यरे जेणेव महव्वले राया तेणेव उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता
करयलं एवं वयासी-एवं खलु सायी ! अभंगसेणचोरसे-
णावइ विसमज्जगहणं डिए गहियजत्तपाणिए णो ख-
लु से सका केणइ सुवहुएण वि आमवलेण वा हत्थिवले-
ण वा जोहवलेण वा रहवलेण वा चाउरंगिणं पि उरं
उरेण गियइत्तए, ताहे सामेण य भेदेण य उवप्पदाणेण य
वीरंजमाणे उपत्तेयावि होत्था । जे दंनेण य वियसे अ-
जंजतरगा सीसगसमाभित्तणाइणियसयणसंविपरियणं च
विपुझेणं धणकणगरयणसंतसारमावए जेणं भिदइ अज-
गसेणस्स य चोरसेणावइ अजिक्खणं अजिक्खणं महत्थाइं
महग्गाइं महरिहाइं पाहुडाइं पेमेइत्ता अजंगसेणं च चोरसे-
णावइ वीसंजमाणेइ, तए णं से महव्वले राया अण्णया
कयाइ पुरिमताझे णयरे एगं महं महइ महालियं कूनागार-
सालं करेइ, अणेगखंभसयपासा ४, तए णं महव्वले राया
अण्णया पुरिमताले णयरे उस्सुक्कं जाव दसरत्तं पमोयं उ-
ग्घोसावेइ, उग्घोसावेइत्ता कोहुंविपुसिसे सदावेइ, सदावेइत्ता
एवं वयासी-गच्छइ णं तुब्बे देवाणुप्पिया । साझारुवीए
चोरपट्ठीए तत्थ णं तुब्बे अजंगसेणं चोरसेणावइणं कर-
यलं जाव वयह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमतां
महव्वलस्स रण्णो उस्सुक्कं जाव दसरत्तं पमोदज्जघोसिए
तं किं देवाणुप्पिया ! विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं
पुप्फवत्थगंधमन्नालंकारे य इहं हव्वमाणिज्ज उदाहु सयमेव
गच्छित्ता तए णं कोहुंविपुसिसे महव्वलस्स रण्णो करयलं
जाव पन्तिमुणेइ, पन्तिमुणेइत्ता पुरिमतालाओ णयराओ
पन्ति पन्ति णाश्विकेइहिं अच्चाणेहिं सुहेहिं पातरासेहिं
जेणेव साझारुवी चोरपट्ठी तेणेव उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता
अजंगसेणं करयलं जाव एवं वयासी-एवं खलु देवा-
णुप्पिया ! पुरिमतालं महव्वलस्स रण्णो उस्सुक्कं जाव
उदाहु सममेव गच्छित्ता, तए णं से अभंगसेणे ते कोहुं-
वियपुरिसे एवं वयासी-अह णं देवाणुप्पिया ! पुरि-
मतां सयमेव गच्छामिए कोहुंविपुसिसे सकारेइ, सकारे-
इत्ता पन्तिविसज्जेइ । तए णं से अजंगसें बहुहिं भित्तं
जाव परिक्खे, एहाएणं जाव पायच्छित्ते सव्वालंकारविज्ज-

सिए सालारुवी चोरपट्ठीओ पक्खिक्खमइ, पद्धिक्ख-
मइत्ता जेणेव पुरिमतां जेणेव महव्वले राया तेणेव
करयलपरिगहियं महव्वलं रायं नपणं विजएणं वद्धावेइ,
वद्धावेइत्ता महत्थं जाव पाहुकं उवखेइ, तए णं से महं
अजंगसेणस्स चोरस्स तं महत्थं जाव पन्तिच्छेइ, अजंग-
सेणचोरसें सकारेइ संमाणेइ, संमाणेइत्ता विसज्जेइ कू-
नागारसाझवणे आवासएहिं दक्षयइ । तए णं से अजंग-
सेणे चोरसेणावइ महव्वलेणं रण्णो विसज्जिए समाणे जेणेव
कूनागारसाझा तेणेव उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता तए णं से
महं कोहुंविपुसिसे सदावेइ, सदावेइत्ता एवं वयासी-ग-
च्छइ णं तुब्बे देवाणुप्पिया ! विपुलं असणं पाणं खाइमं
साइमं उवक्खमावेइ, उवक्खमावेइत्ता तं विपुलं असणं पाणं
खाइमं साइमं सुरं च १ सुवहुपुप्फगंधमन्नालंकारं च अभं-
गसेणस्स चोरसें कूनागारसाझाए उवखेइ । तए णं से
कोहुंविपुसिसे करयलं जाव उवखेइ, तए णं से अजंग-
सें बहुहिं भित्तसद्धिं संपरिवुत्ते एहाएणं जाव सव्वालंकार-
विज्जसिए तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च आ-
साएमाणे ४ पमत्ते विहरइ । तए णं से महं कोहुंविपुसिसे
सदावेइ, सदावेइत्ता एवं वयासी-गच्छइ णं तुब्बे देवाणु-
प्पिया ! पुरिमतालस्स णयस्स दुवाराइं पिडिति, पिडितित्ता मह-
व्वलस्स रण्णो ते उवणेइ, तए णं महं अभंगसेण चोरो एते
णं विदाणेणं वज्जं आणवेइ, एवं खलु गोयमा ! अभंगसेण
चोणं पुरां जाव विहरइ । अजंगसेणेणं जंते ! चोरसे-
णावइ कालमासे काझं किच्चा कहिं गच्छिहिंति कहिं उवव-
ज्जिहिंति ! गोयमा ! अभंगसेणचोरसें सत्तावीसं वासाइं
परमाउं पाझित्ता अजेव तिभागावसेसे दिवसे सूलीं जिष्ण-
कए समाणे कालमासे काझं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए उक्को-
सेणं णेरइएमु उववज्जिहिंति, से णं ताओ अण्णतरं उवट्ठित्ता
एवं संसारो जहा पढेणं जाव पुढवीं, तओ उवट्ठित्ता वाणा-
रसीए णयरीए सुयरत्ताए पच्चायाहिंति, से णं मच्चसोयरी-
एहिं जीवियाओ विवरोविए समाणे तत्थेव वाणारसीए
णयरीए सेट्ठकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चाहिंति, से णं तत्थ उस्सुक्क-
वाझजावे एवं जहा पढेणं जाव अंतकाहिंति ति णिक्खेवो ।

(एवं खलु चि) एवं वक्ष्यमाणप्रकारेणार्थः प्रकृतः, खलु वाक्या-
लङ्कारे । (जंबू चि) आमन्त्रणे, (देसप्यत्ते चि) मण्डलप्रान्ते
(विसमगिरिकंदरे कोलंबसंनिविष्टा) विषमं यज्जिरेः कन्दरं
कुहरं तस्य यः कोलम्बः प्रान्तः तस्य सन्निविष्टा सन्निवेशिता
या सा तथा । कोलम्बो हि लोके अवनतं वृक्षशालाप्रमुच्यते ।
इहोपचारतः कन्दरं प्रातः कोलम्बो व्याख्यातः । विपा० ३ सु०
३ अ० । (इत्यादिटीका सुगमेति न गृहीता) चारतपुरराजनि,
आ० चू० ६ अ० ।

अजयपंदा-अभयनन्दा-स्त्री० । बुद्धिनिधाने, अष्ट० १ वर्ग ।
अभयदय-अभयद(क)य-पुं० । अभयं विशिष्टमात्मनः स्वास्थ्य-
म, निःश्रेयसधर्मेनिबन्धनभूता परमा धृतिरिति ज्ञातः । तत अभयं
ददातीति अजयदः । जी० ३ प्रति० । ल० । तदित्यंभूतमभयं
शुण्यप्रकर्षयोगादचिन्त्यशक्तियुक्तत्वात् सर्वथा परार्थकारित्वा-
द् भगवन्त एव ददातीति । ध० २ अधि० । रा० । न जयं द-
यते ददाति प्राणापहरणसिकेऽप्युपसर्गकारिप्राणिनीत्यजयद-
यः । अथवा-सर्वप्राणिजयपरिहारवती दयाऽनुकम्पा यस्य सो-
ऽभयदयः । अहिंसाया निवृत्ते, उपदेशदानतो निवर्तके च ।
भ० १ श० १ ल० । औ० । ध० । भयानामज्ञावाद् जयस्याज्ञावो
ऽभयं, तद्वाक्यः । तीर्थकरे, कल्प० १ क० ।

अजयदाण-अजयदान-न० । दानजेदे, ग० ।

“ यः स्वज्ञावात्सुखैषिभ्यो, भूतेभ्यो दीयते सदा ।
अभयं दुःखभीतेभ्यो-ऽभयदानं तदुच्यते ” ॥ १ ॥ ग० २ अधि० ।
नहि ज्ञयस्तमो धर्म-स्तस्मादन्योऽस्ति हृतले ।
प्राणिनां भयज्जीताना-मजयं यत्प्रदीयते ॥ ५१ ॥
द्रव्यधेनुधरादीनां, दातारः सुलभा हवि ।
हुल्लेभः पुरुषो लोके, यः प्राणिव्यजयप्रदः ॥ ५२ ॥
महतामपि दानानां, कावेन क्रीयते फलम् ।
भीतान्जयप्रदानस्य, क्वय एव न विद्यते ॥ ५३ ॥
दत्तमिष्टं तपस्तप्तं, तीर्थसेवा तथा भूतम् ।
सर्वाण्यजयदानस्य, कलां नार्हन्ति पौडश्याम् ॥ ५४ ॥
एकतः कृतवः सर्वे, समप्रवरदक्षिणः ।
एकतो भयज्जीतस्य, प्राणिनः प्राणरक्षणम् ॥ ५५ ॥
सर्वे वेदा न तत्कुर्युः, सर्वे यज्ञा यथोदिताः ।
सर्वे तीर्थाभियेकाश्च, यत्कुर्यात्प्राणिनां दया । ५६ । ध० २० ।
अभयदेव-अजयदेव-पुं० । नवाङ्गवृत्तिकारके स्वनामख्याते
आचार्ये, स्था० ।

(१) तच्चरित्रं त्वेवमाख्यान्ति—

धारापुष्पां नगर्यां महीधरस्य श्रेष्ठिनो धनदेव्यां नाम भार्याया-
मजयकुमारो नाम पुत्ररत्नं जज्ञे । स च धारायामेव समवसूत-
स्य वर्द्धमानसूरिशिष्यजिनेश्वरसूरिणोऽन्तिके प्रवव्राज । ततः प्र-
ज्ञातिशयात्प्राप्तशुश्रूष्यजन्मपर्यायः कुमारावस्थ एव वर्द्धमानसू-
रिणाऽन्यनुज्ञातो विक्रीयसं० १०८८ मिते वर्षे आचार्यपदम-
ध्यतिष्ठत् । तदानीं दुष्कालादिमिरप्ययनक्षेत्रादिषु विरहादा-
गमानां वृत्तयो व्युच्छिन्नप्राया आसन्, इत्येकदा निशि शुभ्रप्या-
नाऽवास्थितं तमजयदेवसूरिं शासनदेवताऽवोचत्-भगवन् !
पूर्वाचार्यैरेकादशस्वप्यङ्गेषु टीकाः कृताः, तास्तु द्वे एवावशिष्टे,
शेषा व्युच्छिन्ना इति संप्रति ताः पुनरुज्जीव्य सहोऽनुग्राह्य इति ।
आचार्येणोक्तम्-शासनाऽधीश्वरि मातः ! अल्पबुद्धिरहमेतद्
गहनं कार्यं कर्तुं कथं शक्नुयाम् ? यतस्तत्र यदि किञ्चिदप्यु-
त्सृज्यं स्यात्तन्महतेऽनर्थाय संसारपाताय भवेदिति । ततो देव-
तयोक्तम्-भगवन् ! त्वामहं समर्थमेव मत्वाऽवोचम् । यत्र च
त्वं संशयिष्यसे तत्र तत्क्षणमेवाहं स्मरन्त्या, अहं च महावि-
देहं गत्वा तत्र सीमन्धरस्वामिनं पृष्ट्वा त्वां वक्ष्यामीति न कि-
ञ्चिदनुपपन्नं त्रविष्यति, इति प्रवचनदेव्योत्साहितस्तत्कार्यं प्रा-
रमत । समाप्तेः पूर्वमेव आचामाग्लतपसा निशि जागरणैश्च
धातुप्रकोपाद् विकृतशुधिरः समजायत । तदा द्विष्टलोकैः सह-
र्षं प्रावाद्यत-यद्यमभयदेव उत्सृज्यं व्याख्याति स्मेति, कुपिता

शासनदेवी अस्य शरीरे कुष्ठरोगमुदपादयत् । तमपवादमा-
कर्ण्य दुःखितमाचार्यं रात्रावागत्य धरणेऽस्तं रुधिररोगं
व्यनाशयत् । अकथयच्च-स्तम्भनग्रामपाश्वर्यं सेढिकानद्यास्तटे
चूमिमध्ये श्रीपाश्वरनाथप्रतिमाऽस्ति, यस्याः प्रभावाद् नागा-
ह्वेन रससिद्धिराप्ता, तां प्रकटय्य तत्र महातीर्थं प्रवर्त्तय,
ततस्त्वं विधृताऽपकीर्त्तिर्भविष्यासि । ततस्तत्राऽजयदेवसूरिणा
' जय तिहुअण ' इत्यादि द्वात्रिंशद्गाथात्मकं स्तोत्रमुद्गीर्य
सङ्गसमकं सा प्रतिमा प्रकटयिता, तस्मात्तस्याचार्यस्य महद्य-
शः सर्वत्र प्रोद्बुध्यत् । पश्चात्तद्वचसा तस्य स्तोत्रस्य द्वे
गाथे वियोज्य त्रिंशद्गाथात्मकमेव प्राचीकटत्, तादृशमेवाद्यापि
चपलभ्यते । सा च प्रतिमा ' खम्भात ' नगरेऽद्यापि पूज्यमाना
वरीवर्त्ति । सा च नेमिनाथशासनसमये २२२२ वर्षे कृतेति तत्प्र-
तिमाया आसनपृष्ठे टङ्कितमस्ति, पश्चाद् नवाङ्गेषु वृत्तीः पञ्चा-
शकादिटीकाश्च निर्माय कर्पटवाणिजनगरे वि०सं० ११३५
मिते देवलोकं गतः । जै० ६० । इत्येकोऽभयदेवसूरिः ।

अनेन चात्मकतत्त्वध्वेषेण स्वपरिचयोऽदर्शितः—

धीमदजयदेवसूरिनाम्ना मया महावीरजिनराजसन्तानवर्त्ति-
ना महाराजवंशजन्मनेव संविम्बमुनिवर्गप्रवरश्रीमज्जिनचन्द्रा-
चार्यान्तेवासियशोदेवगणिनामधेयसाधोरुत्तरसाधकस्येव वि-
द्याक्रियाप्रधानस्य साहाय्येन समर्थतम, तदेवं सिद्धमहानि-
धानस्येव समापिताधिकृतानुयोगस्य मम भङ्गलार्थं पूज्यपूजा-
नमो भवते वर्तमानतीर्थनाथाय श्रीमन्महावीराय, नमः प्रति-
पन्निसार्थप्रमथनाय श्रीपाश्वरनाथाय, नमः प्रवचनप्रबोधिकार्यै
श्रीप्रवचनदेवतायै । नमः प्रस्तुतानुयोगशोधिकायै श्रीद्वोणा-
चार्यप्रमुखपण्डितपर्यदे, नमश्चतुर्वर्णाय श्रीभ्रमणसङ्गभट्टारका-
येति । एवं च निजवंशवत्सलराजसन्तानिकस्येव ममासमा-
नमिममायासमातिसफलतां नयन्तो राजवंश्या इव वर्द्धमान-
जिनसन्तानवर्तिनः स्वीकुर्वन्तु, यथोचितामितोऽर्थजातमनुति-
ष्ठन्तु सुप्रचितपुरुषार्थसिद्धिमुपयुञ्जतां च योत्येन्य इति ।

किञ्च—

संत्सम्प्रदायहीनत्वा-त्सद्गुह्यस्य वियोगतः ।
सर्वस्वपरशास्त्राणा-मदष्टेरस्मृतेश्च मे ॥ १ ॥
वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धितः ।
सूत्राणामतिगाम्भीर्या-न्मतिभेदाच्च कुत्रचित् ॥ २ ॥
कुष्ठानि संजवन्तीह, केवलं सुविवेकिभिः ।
सिद्धान्तानुगतो योऽर्थः, सोऽस्माद्वाह्यो न चेतः ॥ ३ ॥
शोध्यं चैतज्जिने ज्ञै-र्मामवज्जिर्दयापरैः ।
संसारकारणाद् घोरा-दपसिद्धान्तदेशनात् ॥ ४ ॥
कार्या न वा क्षमाऽस्मात्सु, यतोऽस्माभिरनाग्रहैः ॥
एतन्नमनिकामात्र-मुपकारीति चर्चितम् ॥ ५ ॥
तथा संभाव्य सिद्धान्ताद्, शोध्यं मध्यस्थया धिया ।
द्वोणाचार्यादिभिः प्राङ्गै-रनेकैराहतं यतः ॥ ६ ॥
जैनग्रन्थविशालदुर्गमवनाडुच्चित्य गाढभ्रमं,
सद्वाख्यानफञ्जान्यमूनि मयका स्थानाङ्गसद्भाजने ।
संस्थाप्योपहितानि दुर्गतनरप्रायेण ह्यव्यर्थना,
श्रीमत्सङ्गविजोरतः परमसावेव प्रमाणहृत् ॥ ७ ॥
श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकाव्या-
च्छतेन विंशत्यधिकेन युक्ते ।
समासद्वयेऽतिगते (वि०सं० ११२०) निवद्धा
स्थानाङ्गटीकाऽल्पविशेषोऽपि गम्या ॥ ८ ॥ स्था० १० ग० ।

इत्याकर्ष्य नरेन्द्राद्या, पर्यङ्गत्वा गृहेऽगमत् ।
 रुमकः स तु तत्रैव, स्वार्थाधी तस्थिवान् स्थिरः ॥ १८ ॥
 गुहस्तमूचे चित्तम-भ्रितितं ब्रूहि ! सोऽब्रवीत् ।
 जानामि यदि वः पादान्, चरिष्यामि सर्वदा ॥ १९ ॥
 ततः प्रमाज्य तं सद्यो, गुरवः कृतयोगिनाम् ।
 अर्पयामासुराचारं, शिष्यामामासुराद्यु ते ॥ २० ॥
 तं गीतार्थयुतं भिक्षा-चर्यायामन्यदा गतम् ।
 प्रागवस्थाविदः पौराः, प्रेष्य प्राहुरहंयवः ॥ २१ ॥
 अहो ! महर्षेस्त्यक्ताऽयं, महासत्त्वो महामुनिः ।
 इति यत्रोक्तिः पित्रै-रुपहास्यत सोऽवहम् ॥ २२ ॥
 ततोऽसौ शैकफत्वाचं, परीषदमसासदिः ।
 सुधर्मस्वामिना प्रोच्ये-ऽनुचानेन वचस्विना ॥ २३ ॥
 संयमे किं समाधान-मस्ति ते सुपु सोऽभ्यधात् ।
 अस्ति युष्मत्प्रसादेन, विहारोऽन्यत्र चेद् भवेत् ॥ २४ ॥
 विधास्यते समाधिस्ते, वसेत्युक्त्वा गुहस्ततः ।
 अभयस्यागतस्याख्या-द्विहारो नो भविष्यति ॥ २५ ॥
 अभयः स्माह नः कस्मा-द्वकस्मादीदृशः प्रजो ! ।
 अप्रसादोऽथ तेऽत्रोच्यु-मुनेरस्य परीषदम् ॥ २६ ॥
 अजयोप्यभ्यधादेकं, दिवसं स्वीयतां प्रभो ! ।
 नियतं न चेदेव, न स्यात्तव्यं ततः परम् ॥ २७ ॥
 भोमित्युक्ते मुनीन्द्रेण, निस्तन्द्रः शासनोन्नतौ ।
 जगाम धाम सद्गर्भ-धामधामाऽभयस्ततः ॥ २८ ॥
 रत्नानामसप्तानां, रत्नगर्जाधिपोऽङ्गणे ।
 कोटिप्रयीं समाकृष्य, राशित्रयमर्च्यकरत् ॥ २९ ॥
 तुष्टो राजा ददात्युच्ये-रत्नकोटिप्रयीं जनाः ! ।
 गृहीतैनां यथेष्टं हि, पदद्वेनेत्यथोपयत् ॥ ३० ॥
 ततोऽमिलद् मुतं लोको, लोभुषः सोऽभयेन तु ।
 वभापे गृह्यतामेया, रत्नकोटिप्रयीं मुधा ॥ ३१ ॥
 नृप्याभिः स्वगृहं गत्वा-ऽनया किन्तु गृहीतया ।
 यावज्जीवं विमोक्षय्यं, जलमर्गिन् स्त्रियस्तथा ॥ ३२ ॥
 इत्याकर्ष्य जनास्तूर्ण-मुत्कर्षास्तज्जिघृक्षवः ।
 विन्यतो निश्चलास्तस्थुः, सिंहादं मृगा इव ॥ ३३ ॥
 अत्रयः प्राह भोः ! कस्मा-द्विद्वन्वस्तेऽप्यदोऽवदन् ।
 लोकोत्तरमिदं लोकाः, किं कश्चित्कुतुम्भवरः ? ॥ ३४ ॥
 सोऽब्रूव-मुनिना तेन, तस्यैव त्रयमप्यदः ।
 तत्कुतो हसतैवं त-मतिदुष्करकारकम् ? ॥ ३५ ॥
 न जानीमो वयं स्वार्थ-स्तस्यैवः सत्त्वमीदृशम् ।
 तस्मिन्मर्चयिष्याम-स्तदिदानीं महामते ! ॥ ३६ ॥
 अभयेन समं गत्वा, भीमन्तस्ते प्रणम्य तम् ।
 महर्षे कामयामासुः, स्वापरार्थं मुहुर्मुहुः ॥ ३७ ॥
 इत्येवमजयो जैन-शासनार्थविशारदः ।
 अतिष्ठिपज्जनं मुग्धं, चिरं धर्मे जिनादिते ॥ ३८ ॥
 इत्येत्य हतपापकश्मलं,
 सज्जना अभयवृत्तमुज्ज्वलम् ।
 शिक्षयन्तु कृतसर्वमङ्गलं,
 संततं प्रवचनार्थकौशलम् ॥ ३९ ॥ ४० ॥

अभयघोष-अभयघोष-पुं० । स्वनामक्यति वैधे, ४० ॥

अजयघोषकथा चेत्यम्-

आसीत् पूर्वविदेहेषु, शत्रुसंहतिदुर्जये ।

१७७

वत्सावत्याख्यविजये, प्रवरा पुः प्रभङ्गरा ॥ १ ॥
 तस्यां सुविधिवैधस्य, सज्जः सत्कर्मकर्मणः ।
 आसीदभयघोषाख्यो, वैशविद्याविशारदः ॥ २ ॥
 नरेन्द्रमन्त्रिसार्थेश-नगरभ्रष्टानां सुताः ।
 प्रशस्याः सद्गुणभ्रष्टयो, वयस्यास्तस्य जङ्गिरे ॥ ३ ॥
 मिलितानामथामीषा-मन्येषुर्वैधमन्दिरे ।
 भागादनगारवृत्तिः, साधुर्माधुकरिं चरत् ॥ ४ ॥
 तं पृथ्वीपालभूपाल-पुत्रं नाम्ना गुण्याकरम् ।
 निरुद्धकुपुं तं दृष्ट्वा, प्रोचिरे वैधनन्दनम् ॥ ५ ॥
 सदाऽर्थदाम्निर्वैध्यावद्, भवन्निर्मल्यते जनः ।
 न कस्यचित्तपस्यादे-भ्रिकित्वा क्रियते किल ॥ ६ ॥
 जगाद् वैधजन्माऽपि, चिकित्सोऽयं मुनिर्मया ।
 भो भद्रा ! निश्चितं किन्तु, भेदजानि न सन्ति मे ॥ ७ ॥
 तेऽप्युचुर्वैधे मूल्यं, शाधि साध्वीपधानि नः ।
 उवाच सोऽपि गोशीर्ष-चन्दनं रत्नकमलम् ॥ ८ ॥
 लक्षयेन तव केयं, तृतीयं तु मदोक्तम् ।
 विद्यते लक्षपाकाख्यं, तैलं तद् दृष्ट्वा तं हुतम् ॥ ९ ॥
 लक्षद्वयं गृहीत्वाऽथ, गत्वा ते कुत्रिकापणे ।
 अथाचन्तौपथे तौस्तु, भ्रष्टेषु किं प्रयोजनम् ? ॥ १० ॥
 तेऽवोचन् कुपितः साधो-भ्रिकित्वाऽऽप्यां विधास्यते ।
 आकर्ण्य तद्वचः भ्रष्टी, चेतस्येवमचिन्तयत् ॥ ११ ॥
 यैषां प्रमादशार्दूल-काननं यौवनं हृदः ।
 विवेकवधुरा बुद्धिः, क्व चेयं बाधकोचिता ? ॥ १२ ॥
 माध्यामीदृशं योग्यं, अराजर्जैरवर्षणाम् ।
 यत् कुर्वन्त्यपि तद्दहो !, धन्यैर्भारोऽयमुद्यते ॥ १३ ॥
 एवं विचिन्त्य स भ्रष्टी, ते समप्यौपथे मुधा ।
 भावितात्मा प्रथमाज, वमाज च महोदयम् ॥ १४ ॥
 कृत्वा समप्रसामग्रीं, तेऽग्रिमा जकिशालिनाम् ।
 समं वैधवरेण्येन, प्रययुः साधुसन्निधौ ॥ १५ ॥
 नत्वाऽनुष्ठाप्य तैलेन, सर्वाङ्गे अक्षितः स तैः ।
 वेष्टितः कम्बलेनाथ, निरीयुः कुमयस्ततः ॥ १६ ॥
 शीतत्वात्तत्र ते लम्बाः, निर्यञ्जितैः प्रपीडितः ।
 लिप्तश्च चन्दनेनाशु, स्वास्थ्यमाप मुनिः कृणात् ॥ १७ ॥
 त्रिरेवमाद्यवेलयां, निर्ययुः कुमयस्ततः ।
 मांसगास्तु द्वितीयस्यां, तृतीयस्यां च तेऽस्थिगाः ॥ १८ ॥
 तान् कूर्मीस्ते दयावन्त-विचक्षिपुर्गोकलेवरे ।
 संरोहण्या च तं साधुं, सद्यः सज्जं प्रचक्रिरे ॥ १९ ॥
 कामयित्वा च नत्वा च, गत्वाऽन्तर्नगरं ततः ।
 चैत्यं चक्रुश्च विक्रीय, तेऽर्द्धमूढ्येन कम्बलम् ॥ २० ॥
 गृहीत्वा गृह्णित्वं च, पश्चात् कृत्वा च संयमम् ।
 ते पञ्चाप्यन्युतेऽभूव-भिन्द्रसामानिकाः सुराः ॥ २१ ॥
 ततश्च्युत्वा विदेहेषु, दृष्ट्वा पञ्चापि सोदराः ।
 ते प्रव्रज्य च सर्वार्थ-सिद्धेऽभूव सुरोत्तमाः ॥ २२ ॥
 ततोऽप्यभयघोषस्य, जीवद्भ्युत्वाऽत्र भारते ।
 बभूव नव्यसंदोह-बोधनः प्रथमो जिनः ॥ २३ ॥
 शेषास्तु भरतो बाहु-बलिर्ग्राही च मुन्दरी ।
 जङ्गिरे तदपत्यानि, प्रापुश्च परमं पदम् ॥ २४ ॥
 एवं निशम्याऽभयघोषवृत्तं,
 मुदा गुरुणां गुणराजिप्राजाम् ।
 दाने सदाऽप्यौषधभेषजादेः,
 कृतोद्यमा भवजना भवन्तु ॥ २५ ॥ ४० ॥

अभयपदाण-अभयप्रदान-न० । दानभेदे, “ दाणाण सेठं अभयपदाणं ” तथा स्वपराजुप्रहार्यमर्थिने दीयत इति दानम-
नेकधा. तेषां मध्ये जीवानां जीवितार्थिनां प्राणकारित्वादजय-
दानं श्रेष्ठम् । तदुक्तम्-“ दीयते त्रियमाणस्य, कोटि जीवित-
मेव वा । धनकोटिं न गृह्णीयात्, सर्वो जीवितुमिच्छति ” ॥१॥
गोपालाङ्गनादीनां दृष्टान्तदारेणार्थो बुद्धौ सुखेनारोहतीति ।
अतोऽभयप्रदानप्राधान्यस्यापनार्थं कथानकमिदम्-

“वसन्तपुरे नगरे भरिदमनो नाम राजा । स च कदाचिच्चतुर्व-
धुसमेतो जातावनस्थः क्रीडायमानस्तप्यति । तेन कदाचिच्छोरो
रक्तकरवीररुतमुष्णमात्रो रक्तपरिधानो रक्तचन्दनोपलसितश्च
प्रहतवप्यनिधिरुमो राजमार्गेण नीयमानः सपत्नीकेन दृष्टः ।
दृष्ट्वा च ताभिः पृष्टम्-किमनेनाकारीति ? । तासामेकेन राज-
पुरुषेणाऽऽवेदितम्-यथा-परद्रव्यापहारेण राजाविरुद्धमिति ।
तत एकया राजा विवृण्व-यथा यो भवता मम प्राग् चरः प्रति-
पन्नः सोऽधुना दीयताम्, यथाऽहमस्योपकरोमि किञ्चित् । रा-
ज्ञाऽपि प्रतिपन्नं, ततस्तथा स्नानादिपुरःसरमलङ्कारेणाऽहङ्कृतो
दीनारसहस्रव्ययेन पञ्चविधान् शब्दादीन् विषयानेकमहः प्रा-
पितः । पुनर्द्वितीययाऽपि तथैव द्वितीयमहो दीनारशतसहस्र-
व्ययेन लालितः । ततस्तृतीयया तृतीयमहो दीनारकोटिव्ययेन
सत्कारितः । चतुर्थ्या तु राजानुमत्या मरणारुक्षितोऽभयप्रदा-
नेन । ततोऽसावन्याभिर्हसिता, नास्य त्वया किञ्चिदस्त्वमिति ।
तदेवं तासां परस्परं बहुपकारविषये विवादे जाते राजाऽसा-
वेव चौरः समाहूय पृष्टः, यथा केन तव बहुपकृतमिति ? । तेना
ऽप्यभाणि-यथा न मया मरणमहाभयभीतेन किञ्चित् स्नाना-
दिकं सुखं विज्ञायीति । अभयप्रदानाकर्णनेन पुनर्जन्मानमिवा-
त्मानमवैमीति । अतः सर्वदानानामभयप्रदानं श्रेष्ठमिति स्थित-
म् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अभयसेण-अभयसेन-पुं० । वारतकपुरराजनि, पि० । प्राव० ।

अभया-अभया-स्त्री० । दधिवाहननृपस्य स्वनामक्यातायां
राज्याम, ती० ३५ कल्प । तं० । हरीतक्याम, नि० चू० १५
उ० । घ० । भाचा० ।

अजयारिष्ठ-अजयारिष्ठ-न० । स्वनामक्याते मद्यविशेषे, सूत्र०
१ श्रु० ७ अ० ।

अजवसिद्धि-अजवसिद्धि-पुं० । न भवसिद्धिकोऽभव-
सिद्धिकः । अजव्ये, स्या० १ उ० १ उ० । न० । “ गेरस्या दु-
विहा पञ्चता । तं जहा-भवसिद्धिया चैव, अजवसिद्धिया चैव०
जाव वेमाणिना ” स्या० २ उ० २ उ० ।

अजविय (व्व)-अजव्य-पुं० । न० त० । तथाविधानादिपा-
रिणामिकभावात् (कदाचनाऽपि) सिद्धिगमनायोप्ये जीवे,
कर्म० ३ कर्म० । कुतो नात्रव्यः सिद्धि गच्छति । आह-ननु
जीवत्वसाम्येऽप्ययं भव्यः, अयं चात्रव्य इति किं कुतोऽयं विशे-
षः ? । नच वक्तव्यं यथा जीवत्वे समानेऽपि नारकतिर्वागादयो
विशेषास्तथा भव्याऽभव्यत्वविशेषोऽपि भविष्यतीति, यतः
कर्मजनिता एव नारकादिविशेषाः, न तु स्वाभाविकाः; भव्या-
ऽभव्यत्वविशेषोऽपि यदि कर्मजनितस्तदा जवतु, को निवा-
रयिता ? , न चैवम् । इत्येतदेवाऽऽह-

होतु व जइ कम्मकओ, न विरोहो नारगाइनेद व्व ।

जण्ह भव्वाज्ज्वा, सजावओ तेण संदेहो ॥

जयतु वा यदि कर्मकृतो जव्याभव्यत्वविशेषो जीवानामिष्यते,

नात्र कश्चिद्विरोधः, नारकादिनेदवत् । नचैतदस्ति, यतो भव्याऽ-
भव्याः स्वभावत एव जीवाः, न तु कर्मत इति यूयं जणथ; ते-
नास्माकं संदेह इति, परेणैवशुके सतीत्याह-

दव्वाइते तुल्ले, जीवन्हाणं सहावओ भेओ ।

जीवाजीवाइगओ, जह तह जव्येराविसेसो ॥

यथा जीवनजसोर्भव्यत्वसन्त्रप्रमेयत्वज्ञेयत्वादौ तुल्येऽपि जी-
वार्जावत्वचेतनाचेतनत्वादिवस्वभावतो भेदः, तथा जीवानामपि
जीवत्वसाम्येऽपि यदि भव्याऽभव्यकृतो विशेषः स्याच्छिं को
दोषः ? , इति ।

इत्थं संबोधितो भव्यत्वादिविशेषमन्युपगम्य दूषणान्तरमाह-

एवं पि जव्यजावो, जीवत्तं पि व सभावजइओ ।

पावइ निच्चो तम्मि य, तदवत्थे नत्थि निव्वारणं ॥

नन्वेवमपि जव्यभावो नित्योऽविनाशी प्राप्नोति, स्वभावजाती-
यत्वात्स्वाभाविकत्वाज्जीवत्ववत् । भवत्ववमिति चेत्, तदयुक्तम् ।
यतस्तस्मिन् जव्यभावे तदवस्थे नित्यावस्थाभिनि नास्ति नि-
र्वाणम्, ‘सिद्धो न भव्यो नाप्यभव्यः’ इति वचनादिति ।

नैवम्, कुतः ? , इत्याह-

जह धरुपुव्वाजावो-ऽनाइसहावो वि संनिहाणेवं ।

जइ भवत्ताभावो, जवेज्ज किरियाएँ को दोसो ? ॥

यथा घटस्य प्रागजावोऽनादिसवभावजातीयोऽपि घटोत्पत्तेः स-
न्निधाने विनश्यतो दृष्टः, एवं भव्यत्वस्यापि ज्ञानतपःसचिचरण-
क्रियोपायतोऽभावः स्याच्छिं को दोषः संपद्यते ? , न कश्चिदिति ।

आक्षेपपरिहारौ प्राऽऽह-

अणुदाहरणमभावो, खरसिगं पि व मई न तं जम्हा ।

भावो च्चिय स विसिद्धो, कुंजाणुप्पत्तिमेत्तेणं ॥

स्यान्मतिः परस्य तत्तु-अनुदाहरणमसौ प्रागभावः, जावरूपत-
यैवावस्तुत्वात्, खराविषाणवत् । तत्र, यस्माद्भाव एवासौ घटप्रा-
गभावस्तत्कारणभूतानादिकाश्च प्रवृत्तपुद्गलसंघातरूपः, केवलं
घटानुत्पत्तिमात्रेण विशिष्ट इति, भवतु तर्हि घटप्रागभाववद्भव्य-
त्वस्य विनाशः केवलम्, इत्थं सति दोषान्तरं प्रसज्यति, किम् ? ,
इत्याह-

एवं भव्युच्छेओ, कोट्टागारस्स अवचज्जव च्चि ।

तं नाणुत्तत्तणओ-ऽणागयकाद्वं वराणं व ॥

नन्वेवं सति जव्योच्छेदो भव्यजीवैः संसारः शून्यः प्राप्नोति,
अपचयात् । कस्य यथा समुच्छेदः ? , इत्याह-स्तोकस्तोकाऽऽकृष्य-
माणधान्यस्य जूतकोष्ठागारस्य । इदमुक्तं भवति-कालस्वान-
न्त्यात्यपमासपर्यन्ते चावश्यमेकस्य जव्यस्य जीवस्य सिद्धि-
मनात्कमेणापचीयमानस्य धान्यकोष्ठागारस्येव सर्वस्यापि
भव्यराशेरुच्छेदः प्राप्नोतीति । अत्रोत्तरमाह-तदेतन्न, अनन्त-
त्वाद्भव्यराशेः, अनागतकालाकाशवदिति । इह यद् बृहदनन्तकेना-
ऽनन्तस्तोकस्तोकतयाऽपचीयमानमपि नोच्छिद्यते, यथा-प्रतिस-
मयं वर्तमानतात्माऽपचीयमानोऽप्यनागतकालसमयराशिः,
प्रतिसमयं बुद्ध्या प्रवेशापहारेणापचीयमानः सर्वजन्मप्रदेशरा-
शिर्वा, इति न जव्योच्छेदः ।

कुतः ? , इत्याह-

जं चातीयाणागय-काला तुल्ला जओ य संसिद्धो ।

तस्याचार्यजिनेश्वरस्य मद्वद्वादिप्रतिस्पर्दिनः ,
तद्वन्धोरपि बुद्धिसागर इति स्यातस्य सुरेभुवि ।
अन्धोऽप्यनिबन्धनधुरवचःशब्दादिसल्लङ्घनः,
असिंविज्ञाविहारिणः भुतनिधेश्वारित्रचूनामयेः ॥ ८ ॥
शिष्येणाभयदेवाख्य-सूरिणा विवृतिः कृता ।
ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्य, भुतभक्त्या समासतः ॥ ९ ॥ (युग्मम्)
निवृत्तिककुलनभस्त-चन्द्रोणाख्यसूरिमुष्येन ।
पपिमतगणेन गुणव-त्रियेण संशोधिता चेत्यम् ॥ १० ॥
एकादशसु शतेष्वथ, विशत्यधिकेषु विक्रमसमानाम् (सं० ११२०)
भणहिलपाटकनगरे, विजयदशम्यां च सिद्धेयम् ॥ ११ ॥ ज्ञा० २ भु० ।
यस्मिन्नतीति भुतसंयमभिया-
यप्राप्नुवत्यथ परं तथाविधम् ।
स्वस्याश्रयं संवसतोऽतिदुःखिते,
धीवर्धमानः स यतीश्वरोऽभवत् ॥ १ ॥
शिष्योऽभवत्तस्य जिनेश्वराख्यः, सूरिः कृतानिन्यविचित्रशास्त्रः ।
सदा निराश्रमविहारवर्ती, चन्द्रोपमश्चन्द्रकुलाम्बरस्य ॥ २ ॥
अन्योऽपि विज्ञो भुवि बुद्धिसागरः, पापिडत्यचारित्रगुणैरनूपमैः
शब्दादिलक्ष्यप्रतिपादकानय-ग्रन्थप्रणेता प्रवरः क्षमावताम् ॥ ३ ॥
तयोरिमां शिष्यवरस्य चाक्याद्,
धृतिं व्यधात् श्रीजिनचन्द्रसूरिः ।
शिष्यस्तयोरेव विमुग्धबुद्धि-
ग्रन्थार्थबोधेऽभयदेवसूरिः ॥ ४ ॥
बोधो न शास्त्रार्थगतोऽस्ति तादृशो,
न तादृशी वाक्पटुताऽस्ति मे तथा ।
न चास्ति टीकेह न वृत्तिनिर्मिता,
हेतुः परं मेऽत्र कृतौ विमोर्ध्वः ॥ ५ ॥
यदिह किमपि दग्धं बुद्धिमान्याद् विकरं,
मयि विहितकृपास्तस्कीधनाः शोधयन्तु ।
विपुलमतिमतोऽपि प्रायशः सावृतः स्या-
न्नाह न मतिविमोहः किं पुनर्मादृशस्य ? ॥ ६ ॥
चतुरधिकविंशतियुते, वर्षसहस्रे शते (सं० ११२४) च सिद्धेयम् ।
धवलकपुरे प्रसस्यै, धनपत्योर्विकुञ्जचन्द्रिकयोः ॥ ७ ॥
भणहिलपाटकनगरे, संघदैर्वर्तेमानबुधमुष्यैः ।
श्रीश्रोणाचार्यायै-विद्वद्भिः शोधिता चेति ॥ ८ ॥ पञ्चा० १६ वि० ।
"अदिस्सई तयवत्थो, जिणनाहो पणसयाद् वरिसायं ।
तयणुं धरणदिनिमिअ-सञ्जिज्जो विइअसुअसारो ॥ ५५ ॥
सिरिअजयदेवसूरी, दूरीकयदुरिअरोगसंघाओ ।
पयडं तित्थं काही, अहीणमाइप्पदिप्यंतं" ॥ ५६ ॥ ती० ६ कल्प ।
(२) राजगच्छीये प्रद्युम्नसूरिशिष्ये, येन धादमहाणवो नाम
ग्रन्थो विरचितः, 'न्यायवर्णसिंह' इति च विरुदं लेखे । वि० सं०
१२७६ वर्षे पार्श्वनाथचरित्रनाम्नो ग्रन्थस्य कर्त्रा भाणिष्यचन्द्रसू-
रिणा तत्र लिखितम्-यद् धादमहाणवकृतोऽजयदेवसुरेण नवमो-
ऽस्मीति । अभयदेवसुरेरेव शिष्यः धनेश्वरसूरिमुञ्जराजस्य मान्यो
गुरुरासीदिति तत्समयोऽनुमातुं शक्यते । अनेनैव अभयदेवसूरि-
णा तत्त्वबोधविधायिनी नाम सम्मतिटीका विरचितेति । जै० ६० ।
एतच्च स्फुटमेव प्रतिज्ञाति ग्रन्थसमाप्तौ-
"इति कतिपयसूत्रव्याख्यया यन्मयाऽऽप्तं,
कुशलमतुलमस्मात्सम्मतैर्ज्येष्ठसार्थैः ।
भवभयमजिभूय प्राप्यतां ज्ञानगर्भं,
विमलमजयदेवस्थानमानन्दसारम् ॥ १ ॥
पुण्यद्वानवादिद्विर्दधनघटाकुलधीकुम्भपीठ-

प्रबन्धसौदृचतमुक्ताफलविशदयशोराशिनिर्घस्य तूष्णम् ।
गन्तुं दिग्दन्तिदन्तच्छब्दनिहितपदं व्योम पर्यन्तमागात्,
स्वरूपब्रह्माण्डभाणोदरनिविडतरोपिपिरुतैः संप्रतस्थे ॥ २ ॥
प्रद्युम्नसूरैः शिष्येण, तत्त्वबोधविधायिनी ।
तस्यैवाभयदेवेन, सम्मतैर्विवृतिः कृता ॥ ३ ॥ सम्म० ३ काण्ड ।
इत्ययं द्वितीयोऽभयदेवसूरिः ॥

(३) हर्षपुरीयगच्छोद्भवो मल्लधारीत्यपरनामके सूरौ, स च
कोटिकगणस्य मध्यमशाखायां प्रश्रवाहनकुलसंभूतः स्थूलज-
स्वामिनो वंश्यः । एकदा हर्षपुराद् विहरन् अणहिल्लपट्टननगरे
यदिःप्रदेशे सपरिवारः स्थितः, अन्यदा श्रीजयसिंहदेवनरे-
न्द्रेण गजस्कन्धाकूटेन राजवाटिकाऽऽगतेन दृष्टो मल्लमहिनवस्त्र-
देहः, राधा च गजस्कन्धावतीर्य दुष्करकारक इति दर्शं तस्य
"मल्लधारी" इति नामेति । जै० ६० ।

तथा च विविधार्थकल्पे जिनप्रभसूरिः-

"सिरिपणहवाहणकुलसंभूतो हरिसपुरीयगच्छाङ्गकारभूति-
ओ अभयदेवसूरी हरिसओ रामो एगथा गामाणुगामं विहरं-
तो सिरिअणहिल्लवाडयपट्टणमागओ, तिओ बाहिं पपसे सप-
रिवारो, अणया सिरिअर्यासिहदेवनरिदेण गयसंधाकूटेण रायवा-
डियागणण दिओ मल्लमल्लिखवत्थदेहो, रायण गयसंधाओ भोअ-
रिणण दुकरकारमो सि दिखं 'मल्लधारी' सि नामं, अन्तियिण
नयरमज्जे नीओ रणा, दिखो उवस्सओ धयवसहीसमीवे, तत्थ
तिमासूरिणो" ती० ४० कल्प । अस्य गुरुर्जयसिंहसूरिर्नामाऽसीत्,
हेमचन्द्रसूरिनामा च शिष्योऽभवत् । येन वि० सं० ११७० वर्षे 'ज-
वभावना' नाम ग्रन्थो व्यरचितः, येनैकसहस्रं ब्राह्मणा जैनीकृताः,
यदुपदेशादजयमेरुनगराद्दूरवर्तिनि 'मेरुता' ग्रामे प्रसिद्धं
तज्जिनमन्दिरं कारितम् । किञ्च-अस्यैव अभयदेवसुरेणपदेशाद्
भुवनपालराजेन जिनमन्दिरे पूजाकृद्भिर्देयः करो माचितः । अ-
जयमेरुराजेन जयसिंहेनापि तदुपदेशान्भासस्य द्वयोरष्टम्योर्द्वै-
योश्चतुर्विंशोः शुक्लपञ्चम्यां च स्वराज्ये प्राणिमात्रवधो निवा-
रितः । शाकम्भरीराजेन पृथ्वीराजेन च तदुपदेशाद् रणस्तम्भ-
पुरे स्वर्णकलशोपशोभितं जिनमन्दिरं कारितम् । यदा च सो-
ऽभयदेवसूरिरनशनेन देवलोकां गतस्तदा तस्य शवं चन्दनम-
रथे निधायान्नसंस्कारः कृतः, तस्य च शवरथस्य पश्चात् सर्वे
एव नागरो लोको जयसिंहराजश्च पृष्ठतोऽनुजगाम । दग्धे च
तदजस्य रोगोपश्रवनाशकमिति मत्वा सर्वलोका वक्षिष्युः ।
इत्येतत्सर्वं रणस्तम्भपुरीयजिनमन्दिरे शिष्याणां लिखितमुपल-
भ्यते । इत्ययं तृतीयोऽभयदेवसूरिः । जै० ६० ।

(४) जलेश्वरसूरिशिष्ये सं० १२४८ वर्षे विवेकमञ्जर्याः
कारकस्य भासरस्य गुरौ, अनेन च भट्टयादुकृतसामुद्रिकशा-
स्त्रोपरि टीका कृता । केचिदेन श्रीशान्त्याचार्यशिष्यं मन्यन्ते ।
इत्ययं चतुर्थोऽभयदेवसूरिः । जै० ६० ।

(५) कल्पपाटीयगच्छोद्भवो विजयेन्द्रसूरिशिष्ये देवप्रसूरि-
गुरौ, अनेन काशिराजाद् 'वार्दिसिंह' इति विरुदं लेखे । 'ज-
यन्तविजयं' नाम महाकाव्यं च वि० सं० १२७८ वर्षे निर्ममे ।
इत्ययं पञ्चमोऽभयदेवसूरिः । जै० ६० ।

(६) गुणाकरसूरिसहवासिनि, येन वि० सं० १४२६ वर्षे
सरस्वतीपाटननगरे जकामरस्तोत्रटीका कृता, १४५१ वर्षे 'तिज-
यपट्टस' नामकं स्तोत्रं च निर्मितम् । जै० ६० ।

निदर्शयन्ति-

यथा चेतनाचेतनयोः ॥ ६६ ॥

न खलु चेतनमात्मतत्त्वमचेतनपुद्गलात्मकतामचक्षत्, कक्ष-
यति, कक्षयिष्यति वा; तच्चैतन्यविरोधात् । नाप्यचेतनं पुद्ग-
लतत्त्वं चेतनस्वरूपताम्; अचेतनत्वविरोधात् ॥ रत्ना० ३
परि० । नं० । सम्म० । अज्ञावचातुर्विध्यं चावश्यमाश्रयणीयम् ।
तदुक्तम्-“ कार्यरूप्यमनादिः स्यात्, प्रागज्ञावस्य निह्वे ।
प्रध्वंसस्य त्वभावस्य, प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥ १ ॥ सर्वात्मकं
तदेकं स्या-दन्यापोहव्यतिक्रमे ” इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १
उ० । (सम्प्रत्यादिग्रन्थभ्यो विशेषोऽवगन्तव्यः) परिचाराज्ञावो
द्विविधः-विद्यमानाज्ञावोऽविद्यमानाभावश्च । विद्यमानः सन्
अज्ञावोऽसन् वैयावृत्त्यादेरकरणाद् विद्यमानाज्ञावः । अवि-
द्यमानः सन्नभावोऽविद्यमानाभावः । व्य० २ उ० ।

अज्ञाविय-अज्ञावित-त्रि० । असंसर्गप्राप्ते प्राप्तसंसर्गे वा व-
ज्रतन्तुविकल्पे, अयोग्ये च । “ अज्ञाविया परित्ता ” तृतीयमा-
श्रय्यम् ॥ स्था० १० उ० ।

अज्ञावियक्वेत्त-अज्ञावितक्षेत्र-न० । क० स० । संविग्रसाधु-
विषयभ्रष्टाविकल्पे, पार्श्वस्थादिमाविते च क्षेत्रे, वृ० ३ उ० ।
अज्ञावृग-अज्ञावृक-न० । न० त० । वेष्टकादिरूपमाधुकवि-
कक्षणे चक्षनादौ, पं० व० ३ द्वार । आव० ।

अभासग-अज्ञापक-पुं० । ज्ञापाऽपर्याप्ते अयोगिसिद्धे, एके-
न्द्रिये च । स्था० २ उ० ४ उ० । अनु० । चं० प्र० । (“ भासग ”
शब्दे दण्डकोऽस्य वक्ष्यते)

अज्ञासा-अज्ञापा-स्त्री० । मृपाभाषायाम्, सत्यामृपायां च ।
म० २५ श० ३ उ० ।

अभासिय-अभासिक-त्रि० । अदीप्तिमति भूम्यादिके द्रव्ये,
नि० चू० १३ उ० ।

अभि-अभि-अव्य० । आभिमुख्ये, अनु० । आचा० । विपा० ।
संमुखे, नं० । विकल्पे, पदार्थसंज्ञावने च । नि० चू० १ उ० । क-
श्चित्प्रकारं प्राप्तस्य द्योतने, आभिमुख्ये, अजिलापे, वीप्सायां,
लक्षणे, समन्तादर्थे च । वाच० ।

अभिआवक्ष-अज्यापक-त्रि० । अजिमुखं समापन्ने, सूत्र० १
श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

अभि (भी) इ-अभिजित्-न० । ब्रह्मदेवताके नक्षत्रभेदे, स्था०
२ उ० ३ उ० । अनु० । “ दो अभिई ” स्था० २ उ० ३ उ० ।
जं० । तच्च उत्तरापादानक्षत्रस्य शेषचतुर्थीशशसहितश्रवणनक्ष-
त्राद्यकक्षाचतुष्करूपम् । शब्द० । “ अजीइणक्खत्ते तितारे ”
पं० सं० २ द्वार । नक्षत्रेण सहाऽस्य योगस्तत्रैव । ज्यो० ६ पादु० ।
वीतभयनगरराजस्योदायनस्य प्रज्ञावत्यां देव्यामुत्पन्ने पुत्रे, म० ।
स च प्रव्रजता स्वपित्रा तज्ज्ञानिने केशिकुमारश्रमणे राज्यम-
धिष्ठापिते द्विष्टः सन् संवेक्षणया मृतः सन्नसुरकुमारदेवत्वेनो-
त्पन्नः । म० १३ श० ६ उ० । स्था० ।

तए णं तस्स अजीइकुमारस्स अक्षया कयाइं पुव्वरत्ता-
वरत्तकालसमयांसि कुटुंबजागरियं जागरमाणस्स अयमेया-

रूवे अज्जत्तिए जाव समुप्पज्जित्था, एवं खलु अहं उदा-
यणस्स पुत्ते पजावइए देवीए अत्तए । तए णं से उदायणें
राया ममं अवहाय णियगं भायाणिज्जं केसीकुमारं रज्जे ठा-
वेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए । इ-
मेणं एयारूवेणं महता अपत्तिएणं मणोमाणसीएणं दुक्खेणं
अजिज्जुए समाणे अंतेउरपरियाद्वसंपरिवुभे सज्जंमत्तोवग-
रणमायाय वीइभयाओ णयराओ णिगच्छइ, णिगच्छ-
इत्ता पुव्वाणुपुव्वि चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणोव
चंपा णयरी, जेणोव कूणिए राया, तेणोव उवागच्छइ, उवा-
गच्छइत्ता कूणियं रायं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । तत्थ वि
णं से विठलभोगसमितिस्समण्णाए यावि होत्था । तए णं
से अभीइकुमारे समणोवासए यावि होत्था; अभिगयणं जाव
विहरइ । उदायणम्मि रायरिसिम्मि समणुवक्खेरे यावि हो-
त्था । तेणं काळेणं तेणं समणं इमीसे रयणप्पजाए पुढवीए
णिरयपरिसामंतेसु चोयड्ढिअसुरकुमारावाससयसहस्सा प-
षत्ता । तए णं से अजीइकुमारे वड्ढं वासाइं समणोवासणं
परियायं पाउणइ, पाउणइत्ता अद्धमासियाए संवेइण्णाए
तीसं भत्ताइं अणसणं ३ तस्स ठाणस्स अणादोइयपरिकंते
कादमासे कादं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णिर-
यपरिसामंतेसु चोयड्ढीए आतावा० जाव सहस्सेसु अक्षय-
गंसि आयावा असुरकुमारावासंसि आतावासंसि असुर-
कुमारदेवत्ताए उववसो, तत्थ णं अत्येगइयाणं असुरकुमा-
राणं एगं पड्ढिओवमड्ढिइं पषत्ता । तस्स णं अजीइस्स देवस्स
एगं पलिओवमं ठिइं पषत्ता । से णं अभीइदेवे ताओ देव-
दोगाओ आउक्खएणं ३ अणंतरं उव्वड्ढित्ता कट्ठिं गच्छि-
हिति, कट्ठिं उव्वज्जिहिति ? । गोयमा ! महाविदेहे वासे
सिज्जिहिति० जाव अंतं काहिति, सेवं जंते ! जंते ! ति ॥
(अप्पत्तिएणं मणोमाणसिएणं दुक्खेणं ति) अप्रीतिकेना-
प्रीतिस्वभावेन मनसो विकारो मानसिकं, मनसि मानसिकं, न
बहिरुपपन्नद्वयमाणविकारं यत्तन्मनोमानसिकं, तेन । केनैवंविधे-
न ? , इत्याह-दुःखेन । (सभंरुमत्तोवगरणमायाय स्ति) स्वां
स्वकीयां भाएरुमात्रां भाजनरूपपरिच्छेदमुपकरणं च शय्या-
दि, गृहीत्वेत्यर्थः । अथवा-सह भाएरुमात्रया यदुपकरणं त-
त्तथा, तदादाय (समणुवक्खेरि स्ति) अव्यवच्छिन्नैवेरिजावः ।
(निरयपरिसामंतेसु स्ति) नरकपरिपार्श्वतः (चोसणीए आ-
यावा असुरकुमारावासेसु स्ति) इह “ आयाव स्ति ” असुर-
कुमारविशेषाः, विशेषतस्तु नावगम्यन्त इति । म० १३ श० ६ उ० ।
लोकोत्तररीत्या द्वादशे दिवसे, कल्प० ६ क० । श्रेयिकस्य धारिण्यां
जाते पुत्रे, अणु० । स च वीरान्तिके प्रव्रज्य पञ्च वर्षाणि आमण्यं
परिपाल्य विजये विमाने उत्पन्न इति अनुत्तरोपपातिकदशा-
नां १ वर्गे १० अव्ययने सूचितम् । अणु० १ वर्ग । अभि-
मुखीचूय जयति शत्रून्, अभि-जि-क्विप् । शत्रुजयि-
नि, यात्रानुकूलवृत्तभेदे, पञ्चदशधा विभक्तदिनस्याष्टमे भा-
गे, स्मृतिप्रसिद्धे कुतपकाले च । वाच० । द० प० ।

एको अणंतभागो, जन्वाणमईयकालेण ॥
एस्सेण तत्तिओ च्चिय, जुत्तो जंतो वि सव्वजन्वाण ।
जुत्तो न समुच्छेओ, होज्ज मई कहमिणं सिद्धं ।
जन्वाणमणंतत्तण-मणंतजागो व कह विमुक्कोसि ।
कात्तादओ व मंरिय !, मह वयणाओ वि पक्खिज्जा ।

यस्मात्प्रातीतानागतकालौ तुल्यत्वात्, यतः प्रातीतेनावन्तेनापि कालेनैक एव निगोदानन्ततमो भागोऽद्यापि ज्ञानानां सिद्धः, पथ्यता-
ऽपि भविष्यत्कालेन तावन्मात्र एव भव्यानन्तभागः सिद्धिं गच्छन्
युक्तो घटमानको न हीनाधिकः, भविष्यतोऽपि कालस्याती-
ततुल्यत्वात् । तत एवमापि सति न सर्वभव्यानामुच्छेदो युक्तः,
सर्वेषांपि कालेन तदनन्तभागस्यैव सिद्धिगमनसंभयोपदर्शनात् ।
अथ परस्य मतिर्भवेत्-कथमिदं संसंवद्धम्-यदुतानन्ता
ज्ञानाः, तदनन्तभागश्च सर्वेष्वेव कालेन सेत्स्यति ? इति ।
अत्रोच्यते-कात्ताकाशादय इवानन्तास्तावद्भव्याः, तदनन्तभा-
गस्य च मुक्तिगमनात्कालाकाशयोरिव न सर्वेषामुच्छेद इति
प्रतिपद्यस्य । मद्बचनाद्वा मरिणक ! सर्वमेतच्छ्रुदेहीति । विशेषेण
पञ्चा० । द्वा० कर्म० । आ० । नं० । घृ० । दशा० ।

अज्ञारिय-अभार्य-पुं० । अपर्लिके, कल्प० ।

“ पञ्चावती च समुधाच विना वधूटो,
होजा न काचन नरस्य भवत्यवश्यम् ।
नो केवलस्य पुरुषस्य करोति कोऽपि,
विश्वसमेव विद एव भवेदभार्यः ” ॥ १ ॥ कल्प० १ क० ।

अभाव-अभाव-पुं० । अशुभभावे, उच्य० १ अ० । जीवादयः
पदार्था अन्यापेक्षया भभावाः । निपेधे, भ० ४२ श० १ उ० ।
यिनाये, घृ० १ उ० । असज्जवे, दश० १ उ० । असत्तायाम्,
पञ्चा० ३ विव० । स० (अभावप्रामाण्यम्) यदपि—

“ प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभावा उच्यते ।
साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि ” ॥ १ ॥

(सेति) प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिः, आत्मनो घटादिग्राहकतया परिणा-
माभावः प्रसज्यपक्षे, पर्युदासपक्षे पुनरन्यस्मिन् घटविविक्तव्ये
वस्तुनि अभावे घटो नास्तीति विज्ञानम्, इत्यभावप्रमाण-
मभिधीयते । तदपि, यथासंभवं प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतमेव । तथाहि—

“ गृहीत्वा वस्तुसद्भावं, स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिता ज्ञानं, जायतेऽज्ञानपेक्षया ” ॥ १ ॥

इयमभावप्रमाणजनिका सामग्री । तत्र च भूतलादिकं वस्तु
प्रत्यक्षेण घटादिभिः प्रतियोगिभिः संसृष्टम्, असंसृष्टं वा गृह्ये-
त ? । नाद्यः पक्षः । प्रतियोगिसंसृष्टस्य भूतलादिवस्तुनः
प्रत्यक्षेण ग्रहणे तत्र प्रतियोग्यभावग्राहकत्वेनाभावप्रमाण-
स्य प्रवृत्तिविरोधात् । प्रवृत्तौ वा न प्रामाण्यम्, प्रतियोगि-
नः सर्वेऽपि तत्प्रवृत्तेः । द्वितीयपक्षे तु-अभावप्रमाणवैयर्थ्यं,
प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनां कुम्भादीनामभावप्रतिपत्तेः । अथ न
संसृष्टं नाप्यसंसृष्टं प्रतियोगिभिर्भूतत्वादि वस्तुप्रत्यक्षेण गृह्यते,
वस्तुमात्रस्य तेन ग्रहणाभ्युपगमादिति चेत् । तदपि दुष्टम् ।
संसृष्टत्वासंसृष्टत्वयोः परस्परपरिहारस्थितिरूपत्वेनैकनिपेधे-
ऽपरविधानस्य परिहर्तुमशक्यत्वात्, इति सदसद्रूपवस्तुग्रह-
णप्रवर्णेन प्रत्यक्षेणैवायं वेद्यते । क्वचित्तु-तद्वधटं भूतलमिति
रूपरणेन, तदेवेदमवधटं भूतलमिति प्रत्याभिज्ञानेन, योऽभिज्ञान
१७८

भवति नासौ धूमवानिति तर्केण, नात्र धूमो नाग्निरित्यनुमानेन,
गृहे गगौ नास्तीत्यागेनाभावस्य प्रतीतिः क्वाऽभावप्रमाणं प्रव-
र्तताम् ? । रत्ना० २ परि० ।

अस्यैव प्रकारानाह—

स चतुर्धा-प्रागभावः प्रध्वंसाज्ञाव इतरेतराभावोऽत्य-
न्ताज्ञावश्च ॥ ५८ ॥

प्राक् पूर्वं वस्तुत्पत्तेरभावः, प्रध्वंसश्चावभावाच्च, इतरस्ये-
तरस्मिन्नभावः, अत्यन्तं सर्वदाऽभावः । विधिप्रकारास्तु प्रा-
कनैर्नोचिरे । अतः सूत्रकृद्भिरपि नाभिदधिरे ॥ ५८ ॥

तत्र प्रागभावमाविर्भावयन्ति—

यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागजा-
वः ॥ ५९ ॥

यस्य पदार्थस्य निवृत्तावेव सत्यां, न पुनरनिवृत्तावपि, अ-
तिव्याप्तिप्रसक्तेः । अन्धकारस्यापि निवृत्तौ क्वचिद् ज्ञानोत्प-
त्तिर्दर्शनादन्धकारस्यापि ज्ञानप्रागभावत्वप्रसङ्गात् । नचैवमपि
रूपज्ञानं तन्निवृत्तावेवोत्पद्यत इति तत्प्रति तस्य तत्त्वप्रसक्ति-
रिति याच्यम् । अतीन्द्रियदर्शिनि नर्कचरादौ च तद्भावेऽपि
तद्भावात् । (स इति) पदार्थः, (अस्येति) कार्यस्य ॥ ५९ ॥

अत्रोदाहरन्ति—

यथा मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पि-
ण्डः ॥ ६० ॥

प्रध्वंसाभावं प्राहुः—

यन्मुत्पत्तौ कार्यस्यावर्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाज्ञा-
वः ॥ ६१ ॥

यस्य पदार्थस्योत्पत्तौ सत्यां प्रागुत्पन्नकार्यस्यावश्यं नियमेन,
अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । विपत्तिविधटनं, सोऽस्य कार्यस्य प्रध्वं-
साज्ञावोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

उदाहरन्ति—

यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य क-
लशस्य कपालकदम्बकम् ॥ ६२ ॥

इतरेतराभावं वर्णयन्ति—

स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराज्ञावः ॥ ६३ ॥
स्वभावान्तराद्य पुनः स्वस्वरूपादेव तस्याभावप्रसक्तेः, स्व-
रूपव्यावृत्तिः स्वस्वभावव्यवच्छेद इतरेतराभावोऽभ्यापोहनामा
निगद्यते ॥ ६३ ॥

उदाहरणमाहुः—

यथा स्तम्भस्वजावात्कुम्भस्वजावव्यावृत्तिः ॥ ६४ ॥

अत्यन्ताभावमुपविशन्ति—

कालत्रयापेक्षिणी हि तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ता-
भावः ॥ ६५ ॥

अतीतानागतवर्तमानरूपकालत्रयेऽपि याऽसौ तादात्म्यपरि-
णामनिवृत्तिरेकत्वपरिणतिव्यावृत्तिः, सोऽत्यन्ताभावोऽभिधी-
यते ॥ ६५ ॥

करणादिति । गता आभियोगिकी भावना । सू० १ उ० ।
म० । स्था० । औ० ।

अभिओयण-अभियोजन-न० । परेषां विद्यामन्त्रादिभिर्वशी-
करणे, प्रज्ञा० ३० पद । आव० ।

अभिकंखमाण-अभिकाङ्क्ष-त्रि० । कर्तुमिच्छति, दश० ६
अ० ३ उ० ।

अभिकंखा-अभिकाङ्क्षा-स्त्री० । अभिलाषं, सूत्र० १ शु० २
अ० २ उ० । आचा० ।

अभिकंत-अभिक्रान्त-त्रि० । अतिवृद्धिते, आचा० १ शु० ४
अ० ५ उ० । भावे निष्ठाप्रत्ययः । अभिक्रमणे, दश० ४ अ० ।

अभिकंतकिरिया-अभिक्रान्तक्रिया-स्त्री० । चरकादिभिर-
नवसेवितपूर्वायां वसतौ, आचा० १ शु० २ अ० २ उ० ॥

अभिकंतकूरकम्म-अभिक्रान्तकूरकर्मन्-त्रि० । हिंसादिक्रिया-
प्रवृत्ते, सूत्र० १ शु० २ अ० । आचा० ।

अभिकंतवय-अभिक्रान्तवयस्-न० । जरामतिमृत्युं वाऽतिक्रान्ते,
आद्यवयोद्वयातिक्रमे जरान्निमुखे वयसि, बालादीनां चयोप-
चयवत्यवस्था-तामभिमुखमाक्रान्ते, आचा० १ शु० २ अ० २ उ० ।

अभिक्रमण-अभिक्रमण-न० । अभिमुखं क्रमणे, आचा० १
शु० ५ अ० ८ उ० ।

अभिक्रममाण-अभिक्रममाण-त्रि० । गच्छति, आचा० १ शु०
१ अ० २ उ० ।

अभिक्रम्य-अभिक्रम्य-अव्य० । आभिमुख्येन क्रान्तेत्यर्थे, सूत्र०
१ शु० १ अ० ३ उ० ।

अभिक्रवण-अभीक्ष्णम्-अव्य० । अनवरते, आ० म० प्र० ।
ज० । प्रश्न० । विशेष० । सूत्र० । आचा० । पुनःशब्दार्थे, स्था० ५
उ० १ उ० । “एते समुपप्लेज्जा अभिक्खणं अभिक्खणं इति-
कहं भक्तकहं” स्था० २ उ० ४ उ० । अभीक्ष्णं पुनःपुनः । विशेष० ।
शु० । नि० चू० । दश० । स० । ज्योभूयः । दशा० १० अ० ।
रा० । बारंवारम् । कल्प० ६ क० । उत्त० । असकृत् । दशा० २
अ० । भृशम् । स० ३० सम० । “अभिक्खणमोधारणं भा-
सइ” आव० ४ अ० ।

अभिक्रवणसेवण-अभीक्ष्णनिषेवण-न० । अभीक्ष्णप्रतिसे-
वने, व्य० ३ उ० ।

अभिक्रमाइण-अभीक्ष्णमायिन्-त्रि० । बहुशो मायाविनि,
व्य० ३ उ० ।

अभिक्रवसेवा-अभीक्ष्णसेवा-स्त्री० । प्रमाणाधिकसेवायाम्,
नि० चू० १ उ० ।

अभिक्रवाद्याभिय-अभिज्ञाद्याभिक-पुं० । अतुच्छानवज्ञानमा-
ह्वके भिन्नाचर्याविषयकाभिज्ञहविशेषधारके साधौ, औ० सूत्र० ।

अभिक्रवासेवणा-अभीक्ष्णसेवना-स्त्री० । असकृदासेवना-
याम्, नि० चू० १ उ० ।

अभिगज्जंत-अभिगर्जत्-न० । घनत्वनिमुञ्चने, उपा० २ अ० ।

अभिगम-अभिगम-पुं० । सम्यग्धर्मप्रतिपत्तौ, पा० घ० दशा० ।

अभिगमाः—

धेरे भगवते पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंति । तं जहा-
सचित्ताणं दब्बाणं विउसरण्याए, अचित्ताणं दब्बाणं
अविउसरण्याए, एगसादिणं उत्तरसंगकरणेणं, चक्खु-
प्फासेअंजलिपगहेणं, मणसा एगचीकरणेणं ॥

(अभिगमेणं ति) प्रतिपत्त्या अभिगच्छन्ति समीपं गच्छन्ति ।
(सचित्ताणं ति) पुष्पताम्बूलादीनां (विउसरण्याए चि)
व्यवसर्जनया त्यागेन, (अचित्ताणं ति) वस्त्रमुद्रिकादीनां, (अ-
विउसरण्याए चि) अत्यागेन, (एगसादिणं ति) अनेको-
त्तरीयशाटकानां निषेधार्थमुक्तम् । (उत्तरसंगकरणेणं ति)
उत्तरासङ्ग उत्तरीयस्य देहे न्यासविशेषः, चक्खुःस्पर्शं दृष्टिपाते,
(एगचीकरणेणं ति) अनेकत्वस्यानेकालम्बनत्वस्य एकत्वं
करणं एकात्म्यनत्वकरणं एकत्वीकरणं, तेन । म० २ श० ५ उ० ।
दर्श० । सूत्र० । वस्तुनः परिच्छेदे प्राप्तौ अभिगम्यतेऽस्मिन्नित्य-
भिगमः, इति व्युत्पत्त्या वस्तुपरिच्छेदाधिकरणे, दश० ४ अ० ।

अभिगमण-अभिगमन-न० । अभिमुखगमने, दशा० १० अ० ।
घ० । ज्ञा० । नि० । सूत्र० । सर्वबाह्यमण्डलादभ्यन्तरप्रविशने,
सू० प्र० १३ पाहु० । “ अभिगमणच्याए ” अवगमलक्षणाया-
र्थेत्यर्थः । ज्ञा० १२ अ० ।

अभिगमणजोग-अभिगमनयोग-त्रि० । अभिमुखगमनायो-
चिते, रा० ।

अभिगमरुइ-अभिगमरुचि-पुं० । अभिगमो विशिष्टं परिज्ञानं,
तेन रुचिर्यस्यासौ अभिगमरुचिः । सम्यक्त्वभेदे, तद्वति च ।
प्रच० १४ए द्वार ।

सो होइ अभिगमरुइ, सुयणाणं जस्स अत्यओ दिट्ठं ।
एकारस अंगाई, पइष्मगा दिट्ठिवाओ य ।

यस्य श्रुतज्ञानमर्थतो दृष्टमेकादशाङ्गानि, प्रकीर्णकमित्यत्र जा-
तावेकवचनम् । ततोऽयमर्थः-प्रकीर्णानि उत्तराध्ययनादीनि,
दृष्टिवादः, चशब्दादुपाङ्गानि च, स भवत्यभिगमरुचिः । प्रज्ञा०
१ पद । चत्त० ।

अभिगमसह-अभिगमभाष्-पुं० । प्रतिपत्त्याणुमते, घ० ३ अधि० ।

अभिगमसम्मत्त-अभिगमसम्यक्त्व-न० । जीवाजीवपुण्यपा-
पाश्र्वसम्बरनिर्जराबन्धमोक्षेषु परीक्षितनवपदार्थाभिगमप्रत्य-
यिके सम्यक्त्वभेदे, आ० चू० ४ अ० । “ अभिगमसम्मदंसणे
दुविहे पणत्ते । तं जहा-पडिवाई चेव, अपरिवाई चेव ” ।
स्था० २ उ० १ उ० ।

अभिगय-अभिगत-पुं० । न० । आभिमुख्येन गतः । प्रविष्टे,
शु० १ उ० ।

अभिगिज्ज-अभिगृह्य-अव्य० । अङ्गीकृत्य अभिमुखीभूयेत्यर्थे,
स्था० २ उ० १ उ० ।

अभिगिज्जंत-अभिगृह्यत्-त्रि० । आभिमुख्येन लुच्यमाने
लोमवशागमवने, सूत्र० २ शु० २ उ० ।

अभिगाह-अभिग्रह-पुं० । आभिमुख्येन ग्रहोऽभिग्रहः । नि० चू०
२ उ० । अभिगृह्यत इत्यभिग्रहः । प्रतिज्ञाविशेषे, आव० ६ अ० ।

अभिज्ञानिय-अज्ञिगुज्य-अव्य० । सम्यन्धमुपागत्य प्रतिस्पर्द्धे, स्था० ३ ग० ४ उ० । वशीकृत्याश्चिप्य वा इत्येतेषामर्थे, दशा० १० अ० ।

अभिज्ञोग-अभियोग-पुं० । अज्ञियुज्यमाननायाम्, स द्विविधो-दैवो मानुषिकश्च । व्य० ८ उ० । (स च 'उवसम्पत्त' शब्दे द्वितीयभागे १०२६ पुष्ट्याख्यास्यते) अभियोजनमाभियोगः । राजाभियोगादिके अनिच्छतोऽपि व्यापारणे, ध० २ अधि० । आदेशकर्मणि, औ० । प्रश्न० । आज्ञायाम्, स्था० १० ठा० । वशीकरणे, नि० चू० १ उ० । अभिज्ञेय, आव० ५ य० । वृ० । सूत्र० । गवे, आव० ५ अ० । अभियोजनं विद्यामन्त्रादिभिः परेषां वशीकरणादिरभियोगः । स च द्विधा । यदाह-

दुविहो खलु अभिज्ञोगो, दन्वे भावे य होइ नायव्वो ।
दव्वम्मि होति जोगा, विज्जामंताइ भावम्मि ॥

इदानीम् (अभिज्ञोगोऽस्ति) व्याख्यानयन्नाह-(दुविहो खलु अभिज्ञोगोऽस्ति) इह द्विविधो अभियोगः-द्रव्याभियोगो, ज्ञावाभियोगश्च ज्ञातव्यः । तत्र द्रव्यं योगो रूप्ययोगश्चूर्णम्, तन्मिधः पिएमो द्रव्याभियोगपिएमः, स च परित्यजनीयः । भावाभियोगश्च विद्यया मन्त्रेण वा पिएडं ददाति स च भावाभियोगः पिएडः । स च परिष्ठापनीय इति । अत्र अगार्या दृष्टान्तः-
"एगा अविरइया, सा अणिहा पइयो, ताए परिव्याइया अवस्थिया-किंवि मतेण अभिमंतिऊण मम देहि, जेण पई मे चल्तो होइ, ताहे ताए अभिमंतिऊण कूरो दिशो । अविरइयाए चितियं-मा एसां दिन्नो मरेज्ज, तथो ताए अणुकं-पाए उज्जडरुडियाए छुट्ठिओ, सो गइहेण आइओ, सो रप्ति घरदारं खोदिउमारको, ताणि निगयाणि जाव पेच्छंति गइहेण खोदिज्जंत, सा अविरइया नणइ-किमेय स्ति ? ताए सभावो कहिओ, तोहिं वि सा चरिया दंनाविया, एस दोसो, एवं ताव जइ तिरियाणं एस अवथा होइ, माणुसस्स पुण सुइयरं होइ, अथो एरिसो पिडो न चेत्तव्वो" ॥

अमुमेवार्यं गाथाभिरुपसंहरन्नाह-

विज्जाए हो अगारी, अवियत्ता सा य पुच्छए चरियं ।

अभिमंतणोदणस्स उ,अणुकंपत्तणमुस्सणं च खरे ॥६०४॥

विद्याभिमन्त्रिते पिएमं अगारीदृष्टान्तः-सा भर्तृस्वायत्ता न रोचते । सा च चरिकां परित्राजिकां पृच्छति पत्युर्वशीकरणार्थम् । तथा अभिमन्त्रणमोदनस्य कृत्वा दत्तं, तत्राऽपि अगार्या पत्युर्मरणालोकम्पया न दत्तः स मोदनः, किन्तु उत्सन्नः, परित्यागः कृतः । स च खरेण भक्ति इति ।

वारस्स पिट्ठणम्मि य, पुच्छण कइणं च हो अगारीए ।
सेठ्ठे चरिआ दंन, एवं दोसा इहिं पि सया ॥

स च गर्दज आगत्य द्वारं पिट्ठति मन्त्रवशीकृतः सन्, शेषं सुगमम् । एवं भावाभियोगे दृष्टान्त उक्तः ।

इदानीं द्रव्याभियोगे चूर्णवशीकरणपिएमः, स उच्यते-

"एगा अविरइया, सा य गुरुअस्स निक्खुणो अज्झोववणा अणुरत्ता, ताहे सा तं पत्थेइ, अणिज्जंतस्स खुष्साभियोगेण संजोएड भिक्खं पडिवेसिय धरे काऊण द्वाविंयं ताए, जओ चेव तस्स साहुस्स पणिगहे पडियं तओ चेव तस्स साहुस्स तत्तो मणो हीरइ, तेण य णायं, ताहे णियइति, थियइओ आय-

रियाणं पडिमाहं काउं काइयभूमि वच्चइ, जाव आयरियाणं पि तत्तो हुत्तो जावो हीरति, ताहे सो सीसो आगतं आलोएइ, मम पि अस्थि भावो, तं पत्थं संजागनुवेषु कओ पिमो अस्थि, ताहे परिष्ठविज्जइ, जो विहि परिष्ठयेण सो उवरिं भविहि स्ति" । एवमेव विसकयं पि । "एगा अगारी साहुणो अज्झोववणा, सो य णो इज्जति, ताए रुट्ठाए विसेण मिस्सा निक्खि दिसा । तस्स य दिज्जमेत्ताणं वेव सिरावेयणा जाया, परिणयट्ठो गुरुणो समप्पेऊण काइणं वोसिरइ, जाव गुरुणो वि सीसवेयणा जाया, तं च गुरुणा गंधेण णायं, जहा इमं विसमिस्सं, अहवा तथ लवणकया निक्खि पनिया, ताहे तं विसं उप्पिसइ । एवं णाते परिट्ठविज्जति" ॥

इदानीममुमेवार्यं गाथाभिरुपसंहरन्नाह-

जोगम्मि उ अविरइया, अज्झोववा सुखवज्जिक्खुम्मि ।

कमयोगिमणिच्छंत-स्स देइ निक्खं अमुहजावो ॥६०६॥

योगे अविरतिकागृहस्थीदृष्टान्तः-अभ्युपपन्ना रक्ता सुरूपे भिक्षो, अनिच्छितस्तत्कर्मकर्तुः कृतयोगां भिक्षां, भिक्षापिएमं ददाति । पुनश्च तस्य साधोर्प्रदृष्टान्तरेव अज्झमभावां जातः ।

तदभिमुखं चिन्तयति-

संकाए स नियट्ठो, दाऊण गुरुस्स काइयं विसरे ।

तेसिं पि अमुहजावो, पुच्छा य ममं पि उस्सयणा ॥६०७॥

तथा च वाङ्मया योगकृतभिक्षाशुक्लया निवृत्तः भिक्षापरिभ्रमणात् । शेषं सुगमम् ।

एमेव संकियम्मि वि, दाऊण गुरुस्स काइए विमरे ।

गंधाई विष्णाए, उस्मण्डविही सियालवहे ॥ ६ ॥

एवमेव विपकृतोऽपि दृष्टान्तः-गुरोर्देत्वा समर्थयित्वा कायिकां व्युत्सृजति, तेन गुरुणा गन्धादिना भिक्षातम् । आदिप्रदृष्टान्तस्तस्य उत्सर्जनं परित्यागः क्रियते, तत्र विधिना परिष्ठापनं कर्त्तव्यम्, नानाविधिना अविधिपरिष्ठापने सति भृगाल्लादिवधो भवति । ओ० । वृ० ।

अभिज्ञोगी-अभिज्ञोगी-स्त्री० । आ समन्तादाभिमुख्येन युज्यन्ते प्रेक्ष्यकर्मणि व्यापार्यन्ते इत्याभियोग्याः किङ्करस्थानीया देवविशेषास्तेषामियमाभियोगी । ज्ञावनायाम्, वृ० ।

अथाभियोगीमाह-

कोउअ-चूर्ई-पसिणं, पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी ।

रिद्धिरससायगुरुओ, अभिज्ञोगीभादणं कुणइ ॥

आदिरससातगुरुकः सन् कौतुकाजीवी भूतिकर्माजीवी, प्रभाजीवी, प्रभाप्रभाजीवी, निमित्ताजीवी च जवति एवंविध आभियोगीभावनां करोतीति ॥ (वृ०)

अथ आदिरससातगुरुक इति पदव्याख्यानार्थमाह-

एयाणि गारवट्ठा, कुणमाणो आभिज्ञोगियं वंधइ ।

वीथं गारवरहिओ, कुवं आराह गुत्तं च ।

एतानि कौतुकादीनि आदिरससातगौरवार्यं कुर्वाणः प्रयुज्जानः सन्नाभियोगिकं देवादिप्रेष्यकर्मव्यापारफलं कर्म वध्नाति । द्वितीयमपवादपदमत्र भवति-गौरवरहितः सन्नतिशयज्ञाने सति निस्पृहवृत्त्या प्रवचनप्रभावनार्थमेतानि कौतुकादीनि कुर्वन्सारथको जवति, उच्चैर्गानं च कर्म वध्नाति, तीर्थोन्नति-

अभिघट्टिजमाण-अभिघट्टयमान-त्रि० । वेगेन गच्छति, रा० ।
अभिघाय-अभिघात-पुं० । अभिहनने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।
लकुटादिप्रहारे, जीत० । नि० चू० । “ गोफणधणुमा-
दिअभिघातो ” गोफणा च दवरकमयी प्रसिद्धा-तया, धनुप्रभृ-
तिभिर्वा वेपुकमुपलं वा यत्प्रक्षिपति, एषोऽभिघात उच्यते ।

अथवा-

विह्वणणंतकुसादी-सिणेइउदगादि आवरिसणं तु ।

काओ तु विवसत्थे, खारो तु कल्लिवमादीहिं ॥

विधुवनं बीजनकं, गुंतकं वल्लं, कुशो दर्भस्तत्प्रभृतिभिर्बीज-
यन् यत्प्राणिनो अभिहन्ति, एष वा अभिघात उच्यते, केहो नाम
उदकेन, आदिशब्दाद् घृतेन तैलेन वा, आवरणं करोति । कायो
नाम द्विपदादीनां विष्यम्, प्रतिरूपमित्यर्थः । वृ० ४ उ० ।

अभिचंद-अभिचन्द-पुं० । अवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रे जाते प-
ञ्चदशानां दशमे, सतानां चतुर्थे वा कुलकरे, जं० २ वक्त्र० ।
“ अभिचंदेण कुलगरे ब्रधणुसयाहं उकुं उच्चत्तेणं होत्था ”
स्था० २ गा० १ उ० । आ० क० । आ० म० । कल्प० । (पत्न्या-
दयः ‘ कुलकर ’ शब्दे वक्ष्यन्ते) दशार्हपुरुषभेदे, अन्त० १
वर्ग । दिवसस्य षष्ठे मुहूर्ते, चन्द्र० १० पाहु० । स० । ज्यो० ।

अभिजप्प-अभिजप्प-पुं० । शब्दायैकीकरणे, सम्म० । अन्ये तु (सौ-
गन्विशेषाः) शब्द एवाभिजप्पत्वमागतः शब्दार्थ इति । स चा-
भिजप्पः शब्द एवायं इत्येवं शब्देऽयस्य निवेशनम्, सोऽय-
मित्यभिसंबन्धः । तस्माद्यदा शब्दस्यायं सहैकीकृतं रूपं प्रवति
तदा तं स्वीकृतार्थाकारं शब्दमभिजप्पमित्याहुः । सम्म० १ का-
ण्ड । (एषां कण्ठनम् ‘ आगम ’ शब्दे द्वितीयभागे ७५ पृष्ठे वक्ष्यते)

अभिजाइ-अभिजाति-स्त्री० । कुलीनतायाम्, उक्त० ११ अ० ।

अभिजाणमाण-अभिजानत्-त्रि० । आसेवनापरिक्रियाऽऽसे-
वमाने, आचा० १ शु० ८ अ० ४ उ० ।

अभिजाय-अभिजात-त्रि० । अभि प्रशस्तं जातं जन्म यस्य
सः कुलीने, वाच० । अं० । कुलीनलक्षणम्-

“ प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते संच्रमविधिः,

प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः ।

अनुवसेको लक्ष्म्या निरभिजवसाराः परकथाः,

श्रुते चाऽसन्तोषः कथमनभिजाते निवसति ? ” । १। घ० १ अधि० ।
लोकोत्तररीत्या दिवसभेदे, चं० प्र० १० पाहु० । ज्यो० ।

अभिजायत्त-अभिजातत्त्व-न० । चक्षुः प्रतिपाद्यस्यैव सूमि-
कानुसारितायां सत्यवचनातिशयरूपायाम्, स० ३५ सम० ।

अभिजायसह-अभिजातश्रद्ध-त्रि० । उत्पन्नतत्त्वस्त्वौ, उक्त०
१४ अ० ।

अभिजुंजिता-अभियोक्तुम्-अन्य० । विद्यादिसामर्थ्यतस्तदनु-
प्रवेशेन व्यापारयितुम् । म० ३ श० ५ उ० ।

अभिजुंजिय-अभियुज्य-अन्य० । वशीकृत्य, आश्लिष्य, म० २
हा० ५ उ० । व्यापार्य, स्मारयित्वा-एवमर्थे, सूत्र० १ शु० ५
अ० २ उ० ।

अभियोक्तुम्-अन्य० । विद्यादिसामर्थ्यतस्तदनुप्रवेशेन व्या-
पारयितुमित्यर्थे, प्रति० ।

अभिजुत्त-अभियुक्त-त्रि० । परिहृते, नं० । संपादितदूपणे, झा०
१४ अ० । स्या० ।

अभिज्जा-अभिध्या-स्त्री० । अभिध्यानमभिध्या । स० ५२ सम० ।
धनादिष्वसन्तोषे परिग्रहे, हा० १३ अष्ट० । द्वा० । तदात्मके गौ-
णमोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम० ।

अभिहुय-अभिपुत-त्रि० । आभिमुख्येन स्तुतोऽभिपुतः । आ-
व० २ अ० । स्वनामजिः कीर्तिते, ल० । अजु० ।

अभिहुय-अभिपुत-त्रि० । अध्यवसायरूपेण व्याप्ते, गर्जाधा-
नादिदुःखैः पीडिते, सूत्र० १ शु० २ अ० ३ उ० ।

अभिणंदण-अभिजिन्दन-पुं० । अस्यामवसर्पिण्यां जाते भरत-
क्षेत्राये चतुर्थे तीर्थकरे, (आ० म०) तथा अभिनन्द्यते देवेन्द्रादि-
भिरित्यभिजिन्दनः । सर्व एव भगवन्तो यथोक्तस्वरूपा इत्यतो
विशेषहेतुप्रतिपादनायाह-“ अभिजिन्दणं अभिजिन्दणा तेण ” शक्रो
गर्जादारभ्यामीदृशं प्रतिकृणं यमभिवन्दितावानिति अभिनन्दनः ।
हृद्बहुलमिति वचनात् कर्मण्यनन्द । तथा च वृक्षसम्प्रदायः-
“ गम्भष्पजिर्दे अभिषक्खणं सक्केण अभिचंदिया इतो तेण सो अ-
भिजिन्दणो ति नामं कयं ” आ० म० दि० । घ० । स० । आ०
चू० । आ० क० । “ अभिजिन्दणो अ भरहे, परवप नंदिसेणजिण-
चंदे ” ति (समकालमुत्पन्नौ) ती० ६ कल्प । स्था० । प्रव० ।
लोकोत्तररीत्या आवणमासे, सू० प्र० १० पाहु० ।

अभिणंदंत-अभिजिन्दयत्-त्रि० । राजानं समृद्धिमन्तमाचक्षा-
णे, औ० । जय जीवेत्यादिप्रणनतोऽभिवृद्धिमाचक्षणे, म० ८
श० ८ उ० । प्रीतिं कुर्वति, संथा० ।

अभिणंदमाण-अभिजिन्दयत्-त्रि० । समृद्धिमन्तमाचक्षणे,
कल्प० ५ क्ष० ।

अभिणंदिजमाण-अभिजिन्दमान-त्रि० । जनमनःसमूहैः स-
मृद्धिमुपनीयमाने जय जीव नन्देत्यादिपर्यालोचनात् । औ० ।
संस्तूयमाने, स्था० ९ गा० ।

अभिणंदिय-अभिजिन्दित-पुं० । लोकोत्तररीत्या आवणे मासि,
ज्यो० ४ पाहु० ।

अभिणय-अभिजिनय-पुं० । अभि-नी-करणे अच् । हस्तभाव-
व्यञ्जके शरीरचेष्टादौ, भावे अचि-अभिनेयपदार्थस्य शरीरचे-
ष्टाभाषणादिभिरनुकरणे, अभिनयति बोधयत्यर्थमत्र-आधारे
अच् । शरीरचेष्टादिभिर्दृश्यपदार्थज्ञापके रूपकादौ दृश्यकाव्ये,
वाच० । “ चउव्विहे अभिणय पण्णसे । तं जहा-दिट्ठतिप, पारं सुप,
सामंतोवणिप लोगमज्जवासिप ” स्था० ४ गा० ४ उ० । अन्ये-
ककाश्चतुर्विधमभिनयमभिनयन्ति । तद्यथा-दार्ष्टान्तिकं, प्राति-
श्रुतिकं, सामान्यतो विनिपातिकं, लोकाध्यवसानिकमिति । एते
नाट्यविधयोऽभिजिनयविधयश्च जरतादिसङ्गीतशास्त्रज्ञेय्योऽव-
सेयाः । आ० म० प्र० । रा० ।

अभिणव-अभिजिनव-त्रि० । प्रत्यग्रे अजीर्णे, पो० ५ विव० ।
विशिष्टवर्णादिगुणोपेते, जी० ३ प्रति० ।

अभिणवधम्म-अभिनवधर्मन्-पुं० । अधुनैव गृहीतप्रव्रज्ये, वृ० ४ उ० ।

साध्याचारविशेषे, यथेष्टमाहारादिकममीषां कल्पते, इत्थं च न कल्पते । वृ० १ उ० । स च द्रव्यादिविषयभेदाच्चतुर्विधः । ध० ३ अधि० । तत्र द्रव्याभिग्रहो लेपकृदादिद्रव्यविषयः, क्षेत्राभिग्रहः स्वभ्रामपरग्रामादिविषयः, कालाभिग्रहः पूर्वा-एहादिविषयः, भावाभिग्रहस्तु गानहसनादिप्रवृत्तपुरुषादिविषयः । औ० । प्रव० ।

हिमन्ति तत्रो पच्छा, अमुच्छ्रिया एसणाएँ उवउत्ता ।

द्ववादभिगहजुआ, मोक्खट्ठा सव्वजावेणं ॥ ए७ ॥

हिमन्ति अटन्ति ततः पश्चाद्, विधिनिर्गमनान्नरमित्यर्थः । अमुच्छ्रिता आहारादौ मूर्छामकुर्वन्तः, एषणायां ग्रहणविषयायाम्, उपयुक्तास्तत्पराः, द्रव्याद्यभिग्रहयुता वक्ष्यमाणद्रव्याद्यभिग्रहोपेताः, मोक्षार्थं तदर्थं विहितानुष्ठानत्वात्, भिक्षाटनस्य सर्वभावेन सर्वभावाभिसन्धिना तद्व्यावृत्त्यादपि मोक्षार्थत्वादिति गाथार्थः ।

तत्र द्रव्याभिग्रहानाह—

लेवपञ्चेवजुअं वा, अमुगं दव्वं व अज्ज धिच्छामि ।

अमुगेणं च दव्वेणं, अहं दव्वाभिगहो चेव ॥ ए८ ॥

लेपवज्जुगार्थादि, तन्मिथं वा, अलेपवद्वा तद्विपरीतम्, अमुकं द्रव्यं वा मरुकादि, अद्य ग्रहीष्यामि अमुकेन वा द्रव्येण दूर्वाकुन्तादिना, अथायं द्रव्याभिग्रहो नाम साध्याचरणविशेष इति गाथार्थः ।

क्षेत्राभिग्रहमाह—

अट्टउ गोअरज्जुमि, एलुगवियखंभमेत्तगहणं च ।

सग्गामपरग्गामे, एवइअ गिहाण खेतम्मि ॥ ए९ ॥

अट्टौ गांवरज्जुमयो वक्ष्यमाणस्रक्काः, तथा एलुकविष्कम्भमात्रग्रहणं च, यथोक्तम्—‘एलुकविष्कम्भइत्ता’ । तथा स्वग्रामपरग्रामयोरेतान्वन्ति च गृहाण क्षेत्रे इति; स क्षेत्रविषयोऽभिग्रह इति गाथार्थः । पं० व० २ द्वार ।

कालाभिग्रहमाह—

काळे अभिगहो पुण, आई मज्झं तहेव अवसाणे ।

अप्पत्ते सइ काळे, आई विइओ अ चरिमम्मि ॥

काले कालविषयोऽभिग्रहः पुनरयम्—आदौ मध्ये तथैवावसाने भिक्षावेलायाः, एतदेव व्याचष्टे—अप्राप्ते भिक्षाकाले यत्पर्यटति स प्रथमोऽभिग्रहः । यस्तु सति प्राप्ते भिक्षाकाले चरति स द्वितीयो मध्यविषयोऽभिग्रहः । यत्पुनश्चरमेति कालान्ते भिक्षाकाले पर्यटति सोऽवसानविषयोऽभिग्रहः ।

कालत्रयेऽपि तु गुणदोषानाह—

दित्तगपडिच्छगणं, हविज्ज सुहुमं पि मा हु अवियत्तं ।

इय अप्पत्ते अइए, पवत्तणं मा ततो मज्जे ॥

दत्तप्रतीच्छकयोरिति—भिक्षादातुरगारिणो भिक्षाप्रतीच्छकस्य च वनीपकादेर्मा भूत् सूक्ष्ममप्यवियत्तमप्रीतिकम्, इत्यस्माकेतोरप्राप्तेऽतीते च—भिक्षाकालेऽटनं श्रेय इति गम्यते । (पवत्तणं मा ततो मज्जेति) अप्राप्ते अतीते वा पर्यटतः प्रवर्त्तनं पुरःकर्मपञ्चात्कर्मादेर्मा भूत्, तत एतेन हेतुना मध्ये प्राप्ते भिक्षाकाले पर्यटति॥

अथ भावाभिग्रहमाह—

उक्खित्तपाइचरगा, भावजुया खड्डु अभिगहा हौति ।

गायंतो व रुदंतो, जं देइ निसस्रमादीया ॥

उत्क्रिस्तं पाकपित्ररात्पूर्वमेव दायकेनोद्धृतं तद् ये चरन्ति गवे-पयन्ति ते उत्क्रिस्तचरकाः। आदिशब्दाद् निक्षिप्तचरकाः, संख्या-दक्षिकाः, इष्टलाभिकाः, पुष्टलाभिका इत्यादयो गृह्यन्ते । त एते गुणगुणिनोः कथंचिद्भेदाद्भावयुताः स्वत्वभिग्रहा प्रवन्ति, भावाभिग्रहा इति ज्ञावः । यद्वा—गायन् यदि दास्यति तदा मया ग्रहीतव्यम्, एवं रुदन् वा, निषणादिर्वा, आदिग्रहणादुत्थितः, सं-प्रस्थितश्च यद्दाति तद्विषयो योऽभिग्रहः स सर्वोऽपि ज्ञावा-भिग्रह उच्यते ।

तथा—

ओस्सकणअहिसकण, परंमुहालंकिण य इयरो वा ।

जावऽन्नयरेण जुओ, अहं जावाभिगहो नाम ॥

अवष्यक्कन्नपसरणं कुर्वन्, अन्नियक्कन् संमुखमागच्छन्, परा-हमुखः प्रतीतः, अन्नहृतः कटककेयूरादिभिः, इतरो वा अन्नहृ-कृतः पुरुषो यदि दास्यति तदा आश्रमित्येतेषां भावानामन्यत-रेण भावेन युतः, अथायं भावाभिग्रहो नामेति । वृ० १ उ० । आत्मा० । “तए खं समणे जगवं महाघोरे गम्भत्थे चैव इमेया क्वे अभिगहं अज्जिगियहइ—नो खलु मे कप्पइ अम्मापिडहि जीवेंतेहिं मुने जवित्ता अगाराओ अणुगारियं पव्वइत्तए ” । कल्प० ५ क० । श्रीचरः पञ्चाभिग्रहानभिगृह्यास्थिकग्रामं प्रति प्रस्थितः। अभिग्रहास्त्रैते—‘नाप्राप्तिमदृशुहे वासः१, स्थेयं प्रतिम-या सदा २। न गोहिविनयः कार्यः ३, मौनं ४ पाणी च भोजनम् ५” ॥१॥ कल्प० ५ क० । प्रत्याख्यानभेदे, “पंच चतुरो अभिगह” पञ्च चत्वारः अभिग्रहे आकाराः—“अभिगहोऽसु अप्पावरणं कोइ पञ्चप्पसाइ, तस्स पंच (आगारा,) अक्षत्थऽणामेणे सहसा-गारे चोलपट्टागारे महत्तरागारे सेसेसु चोलपट्टागारो णत्थि विगईए अट्ट नव य आगारा” आच० ६ अ० । ध० । ल० । प्र० । इदमेव दर्शनं शोभनं नान्यदित्येवरूपे कुमतपरिग्रहे, स्था० २ उ० १ उ० । गुरुनियोगकरणानिस्तथै, द्वा० २ए द्वा० । एष कायिकविनयभेदः। व्य० १ उ० । दृश० । पं० सं० । प्रकाशकरणे, अभियोगे, अभिमुख्येनोद्यमे गौरवान्विते च । वाच० ।

अभिगहियसिज्जासणिय—अभिगृहीतशय्यासनिक—पुं० ।

शय्यासनभिग्रहयुते साध्याचारे, कल्प० ।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अण्णिगहिय-सिज्जासणियण हुत्तए ॥

नो कल्पते साधूनां, साध्वीनां वा (अणभिगहियत्ति) न अभिगृहीते शय्यासने येन स अनभिगृहीतशय्यासनः, अन-भिगृहीतशय्यासन एव अनभिगृहीतशय्यासनिकः । स्वार्थे इक्ष्ण प्रत्ययः । तथाविधेन साधुना (हुत्तएत्ति) प्रवितुं न क-ल्पते । वर्षासु मणिकुट्टिमे पीठफलकादिग्रहणवतैव प्राव्यम्, अन्यथा शीतलायां भूमौ शयने उपवेशने च कुन्वादिचिराध-नोत्पत्तेः । कल्प० ९ ल० ।

अभिगहिया—अभिगृहीता—स्त्री० । अभिग्रहवत्यामेपणायाम्, प्रव० । अभिग्रहश्चैवम्—तासां सप्तानामेपणानां मध्ये आद्ययो-र्योरग्रहणं, पञ्चसु ग्रहणं, पुनरपि विचक्रितदिवसे मन्थानां पञ्चानां मध्ये द्वयोरभिग्रहः। प्रव० ६ द्वा० । “अभिगहहरहिया ए-सणा जिणकप्पियाणं” नि० चू० ४ उ० । प्रतिनियतावधारणे, यथा इदमिदानीं कर्तव्यमिदं नेति । प्रज्ञा० ११ पद ।

एको व हुवे होज्जा, बहुया उ कहुं समावचा ॥

पूर्वस्मिन् कल्पे नास्ति अध्ययने भिन्नप्रमत्तो नृदन्तैः परमक-
ल्याणयोगिभिरुपवर्णितः, ततः कथं परिहारतपःप्रायश्चित्ताऽऽप-
त्तिर्यतः पारिवारिका प्रवेयुः? अपि च-एको द्वौ वा पारिवारत-
प आपद्येयाताम्, एकस्य एकाकिदोषाणां द्वयोरसमाप्तकल्पदो-
षाणां संभवात् । ये च बहवस्ते च समाप्तकल्पकल्पत्वात्
परस्परं रक्षणपरायणाः कथं पारिवारिकत्वं समापन्ना इति ?

अत्राचार्य आह—

चोयग ! बहुउप्पत्ती, जोहा व जहा तहा समणजोहा ।

दव्वच्छद्वये जोहा, भावच्छलणे समणजोहा ॥

हे चोदक ! परीपहाणामसहनेन श्रोत्रेन्द्रियादिविषयेष्विष्टानि-
ष्टेषु रागद्वेषाभिगमनेन परिहारतपःप्रायश्चित्तस्थानापत्त्या बहु-
नां पारिवारिकाणामुत्पत्तिर्न विरुद्धा । अथवा-यथा योधाः स-
न्नद्धबद्धकवचा अपि रणे प्रविष्टाः प्रतिपन्थिपुरुषैस्तथाविधं
कमप्यवसरमवाप्य देशतः, सर्वतो वा छल्यन्ते, तथा भ्रमण-
योधा अपि मूलगुणोत्तरगुणेष्वत्यन्तमप्रमत्ततया यतमाना अ-
पि छलनामाप्नुवन्ति । सा च छलना द्विधा-छल्यतो, भावत-
श्च । छल्यतश्छलना कृद्वादिभिः । भावतः परीपदोपसर्गाद्यैः ।
तत्र छल्यच्छलने छल्यतश्छलनविषयाः, योधा रणे प्रविष्टा भटाः,
भावच्छलने जावच्छलनविषयाः भ्रमणयोधाः ॥

सम्प्रति यदुक्तं यथा योधास्तथा भ्रमणयोधा इति तद् व्याख्या-
नयति-

आवरिया वि रणमुहे, जहा उल्लिज्जंति अप्पमत्ता वि ।

बलणा वि होइ हुविहा, जीवंतकरी य इयरी य ॥

यथा योधा आवृता अपि सन्नद्धसन्नाहा अपि अप्रमत्ता अपि
च रणमुखे प्रविष्टाः प्रतिजदैश्छल्यन्ते । सा च छलना द्विधा-
जीवितान्तकरी, इतरा च । तत्र यथा जीवताद् व्यपरोप्यते
सा जीवितान्तकरी, यथा तु परितापनाऽऽद्यापद्यते नापेक्ष्यते
सा इतरा ।

मूढगुणउत्तरगुणे, जयमाणा वि हु तहा उल्लिज्जंति ।

भावच्छलणा य पुणो, सा वि य देमे य सव्वे य ॥

तथा यतयो रागादिप्रतिपक्षभावनासञ्ज्ञासञ्ज्ञा यथा-
गमं मूलगुणेषु उत्तरगुणेषु चात्यप्रमत्ततया यतमाना अपि 'हु'
निश्चितं, भावच्छलनया परीपदोपसर्गादिभिः सन्मार्गच्यावनरू-
पया छल्यन्ते । साऽपि च जावच्छलना द्विधा-देशतः, सर्वतश्च ।
तत्र यथा तपोऽहं प्रायश्चित्तमापद्यते-सा देशतो जावच्छलना ।
यथा मूलमाप्नोति-सा सर्वतः ।

एवं परिहारीया-परिहारीया व होज्ज बहुया तो ।

ते एगंत निसीहिय-मज्जिसिज्जं वा वि चेएज्जा ॥

यतो रणे प्रविष्टा योधा इव भ्रमणयोधा अपि परीपहादि-
मिच्छल्यन्ते, तत एवमुक्तेन प्रकारेण, बहवः पारिवारिका अपा-
रिवारिकाश्च प्रवेयुः । तदेवं पारिवारिकापारिवारिकवहुत्वमुप-
पाद्याधुना सूत्रावयवान् व्याचिन्त्यासुराह-(ते एगंत इत्यादि) ते
बहवः पारिवारिका अपारिवारिका वा एकान्तत एकान्ते विवि-
क्ते प्रदेशे प्रत्यासन्न दूरतरे वा नैपेधिकीमभिगम्या वाऽपि अजि-
निषद्यामपि चेतयेयुर्गच्छेयुः, गन्तुमिच्छेयुरित्यर्थः ।

तत्र का नैपेधिकी, का वा अजिगम्या ?, इति व्याख्यानयति-

ठाणं निसीहि य चि य, एगडुं जत्थ ठाणमेवेगं ।

चेतेति निसि दिया वा, सुतत्थ निसीहिया सा उ ॥

सज्झायं काठाणं, निसीहिया तो निसिं चिय उवेति ।

अजिवासिउं जत्थ निसिं, उवेति पातो तई सेज्जा ॥

तिष्ठन्ति स्वाध्यायव्यापृताः अस्मिन्निति स्थानम् । निषेधेन
स्वाध्यायव्यतिरिक्तशेषव्यापारप्रतिषेधेन निवृत्ता नैपेधिकी ।
ततः स्थानमिति वा, नैपेधिकीति वा (एगडुमिति) एकार्थम्;
द्वावप्येतौ तुल्यार्थाविति भावः । व्युत्पत्त्यर्थस्य द्वयोरप्यविशिष्ट-
त्वात् । यत्र स्थानमेवं स्वाध्यायनिमित्तमेकं, न तु ऊर्द्धस्थानं
अवागवर्त्तनस्थानं वा चेतयन्ति । निशि रात्रौ दिवा वा सा
सूत्रार्थहेतुज्ञता नैपेधिकी । एतेनास्मिन् या नैपेधिक्यु-
क्ता सा सूत्रार्थप्रायोग्या नैपेधिकी प्रतिपत्तव्या, न तु काल-
करणप्रायोग्या नैपेधिकी प्रतिपत्तव्या । किमुक्तं भवति ?,
यस्यां नैपेधिक्यां दिवा स्वाध्यायं कृत्वा दिवैत्र, यदि वा
निशि च स्वाध्यायं कृत्वा निश्येव निशायामवश्यं नैपेधि-
की वसतिमुपयन्ति सा अभिनैपेधिकी । यस्यां पुनर्नैपेधिक्यां
दिवा निशायां वा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुपित्वा प्रातर्वसतिमु-
पर्यान्ति (तई इति) तका अभिशय्या अभिनिषद्येति ज्ञावः ।

अथ स्थविरा आपृष्टा अपि यदा न गच्छन्ति, तदा किं
कल्पते, न वा ? इत्याशङ्क्यामाह—(येरा एहमित्यादि)
स्थविरा आचार्यादयः, चशब्दा वाक्यभेदे, एहमिति
वाक्यालङ्कारे, स तेषां पारिवारिकानामपारिवारिकाणां वा वि-
तरेयुरनुजानीयुरनैपेधिकीमभिगम्यां वा गन्तुं, एवममुना प्रका-
रेण, एहमिति पूर्ववत्, कल्पते अभिशय्यायामभिनिषेधिक्यां वा
(चने तप इति) गन्तुम् । (येरा एहमित्यादि) स्थविराः, एह-
मिति प्राग्वत् । नो नैव, तेषां वितरेयुरेवममुना प्रकारेण नो
कल्पते एकान्ततोऽभिनिषद्यामभिनिषेधिकीं वा गन्तुम् । (जे ए-
मित्यादि) यः पुनर्गमिति वाक्यालङ्कारौ, स्थविरैराधितोऽन-
नुज्ञातः सन् एकान्ततोऽभिनिषद्यामभिनिषेधिकीं वा (चेतेइ)
गच्छति, ततः (से) तस्य स्वान्तरात् स्वकृतमन्तरं स्वान्तरं
तस्मात्, यावन्न मिलति यावद्वा स्वाध्यायभूमेर्नोत्तिष्ठति ता-
वद् यद् विचालं तत् अन्तरं तस्मात्स्वकृतादन्तरात् वेदो वा
पञ्चरात्रिन्दिवादिकः, परिहारो वा परिहारतपो वा मासलघु-
कादिः । एष सूत्रार्थः ॥

अधुना निर्युक्तिविस्तरः—

निष्कारणमि गुरुगा, कज्जे लहुया अपुच्छणे लहुओ ।

पफिसेहम्मि य लहुया, गुरुगमणे होंतऽगुग्घाया ॥

यदि निष्कारणे कारणाभावे अजिगम्यामभिनिषेधिकीं वा
गच्छन्ति, ततस्तेषां प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । अथ
कार्यं समुत्पन्ने गच्छन्ति, तत्र प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वारो लघु-
मासाः । कार्यमुपरिष्ठाद् वर्णयिष्यते । यदि पुनः कार्यं समुत्पन्ने
अनापृच्छ्य गच्छन्ति, तदा अपृच्छने लघुको मासलघुः ।
पृच्छायामपि कृतायां यदि स्थविरैः प्रतिषेधे गच्छन्ति ततो
लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः । (गुरुगमणे इत्यादि) गुरुराचार्यः
स यदि गच्छत्यभिगम्यामभिनिषेधिकीं वा ततस्तस्य भवन्त्य-
नुद्घातगुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः ॥

ये पुनर्वसतिपात्राः समर्था निवृत्तवस्ते यदीच्छन्ति ततस्तेषामि-
मे दोषाः—

तेषाऽऽदेमगिलाणे, कामणइत्थीनपुंसमुच्छा वा

अभिषिक्तं-अभिनिष्क्रान्तं-त्रि० । अधीताचारदिशास्त्रे, तद-
र्थमावनेपवृंहितचरणपरिणामे च । आचा० १ ध्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिषिगिज्ज-अभिनिगृह्य-अन्य० । अवबुध्येत्यर्थे, आचा०
१ ध्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अभिषिचारिया-अभिनिचारिका-स्त्री० । अभिमुख्येन निय-
ता चरिका; सूत्रोपदेशेन बहुवचनिकादिषु द्रव्यज्ञानामाध्यायनि-
मित्तं पूर्वाह्ने काले समुत्कृष्टसमुदाने बहुगमने, व्य० ४ उ० ।

अभिषिपया-अभिनिप्रजा-स्त्री० । अभि प्रत्येकं नियता वि-
विक्षा प्रजा अभिनिप्रजा । प्रत्येकं विविक्तायां प्रजायाम्,
व्य० ६ उ० ।

अभिषिवोह-अभिनिवोध-पुं० । अर्थाभिनिमुखो नियतः प्र-
तिनियतस्वरूपो बोधो बोधविशेषोऽभिनिवोधः । अभिनिबु-
ध्यतेऽनेनास्मादस्मिन् वेति । मतिज्ञाने, तदावरणक्षयोपशमे च ।
आ० म० प्र० । सम्म० । न० । आव० । स्था० । अभिमुख्येन
निश्चितत्वेन च बुध्यते संवेदयते आत्मा तदित्यभिनिवोधः ।
अवग्रहादिज्ञाने, अभिनिबुध्यते वस्तुवगच्छतीति अभिनि-
वोधः । मतिज्ञानात्मनि, विशेष० ॥

अभिषिष्ट-अभिनिवर्तन-न० । व्यावर्तने, आचा० १ ध्रु०
३ अ० ४ उ० ।

अभिषिविह-अभिनिविष्ट-त्रि० । यद्वाऽऽदरे, उक्त० १४ अ० ।
यद्वाऽऽग्रहे, उक्त० १४ अ० । अभिविधिना निविष्टम् । न० १२
श० ३ उ० । जीवप्रदेशेषु अभिव्याप्त्या निविष्टे अतिगाढतां
गते, भ० १३ श० ७ उ० ।

अभिषिवेश-अभिनिवेश-पुं० । अतत्त्वाग्रहे, पञ्चा० १४ वि० ।
विचावष्टम्ने, ओघ० । तद्रूपे योगशास्त्रप्रसिद्धे क्लेशभेदे, द्वा० ।

विदुषोऽपि तथारूढः, सदा स्वरसवृत्तिकः ।

शरीराद्यवियोगस्या-भिनिवेशोऽजिलापतः ॥ ३० ॥

(विदुषोऽपीति) विदुषोऽपि परिपुष्टस्यापि, तथारूढः पूर्व-
जन्मानुभूतमरणदुःखाभाववासनावद्वाद् भूयः समुपजायमानः,
शरीरादीनामवियोगस्याजिलापतः शरीरादिवियोगो मे मा-
भूदित्येव लक्षणम्, अभिनिवेशो प्रवति, सदा निरन्तरं, स्वर-
सवृत्तिकोऽनिरुद्धधीनप्रवृत्तिकः । तदुक्तम्—'स्वरसवाही
विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः' इति । २० । द्वा० २५ द्वा० । "कहं
वक्षो एष विचारे सोऽभिनिवेशेन अवग्रहा कम्मं वज्जइ"
आ० म० द्वि० ।

अभिषिवेह-अभिनिवेश-त्रि० । वेधने, वाच० । उन्माने,
आ० म० प्र० ।

अभिषिवगगा-अभिनिवगगा-स्त्री० । अभि प्रत्येकं निय-
तो वगडः परिक्रैपो यस्यां सा अभिनिवगगा । पृथक्परिक्रै-
पायाम्, व्य० ६ उ० ।

अभिनिर्व्याकृता-स्त्री० । पृथग्निर्विकृतायां वसतौ, व्य० १ उ० ।

अभिषिष्व-अभिनिर्वृत्त-त्रि० । साक्षोपाकृतायुशिरोरोमा-
दिकमाभिनिर्वृत्तनासंपादिते, आचा० १ ध्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिषिष्वद्विष्टा-अभिनिर्वृत्त-अन्य० । समाकृष्येत्यर्थे, "अ-
भिषिष्वद्विष्टा णं उवदसेज्जा" सूत्र० २ ध्रु० १ अ० । विधाये-
त्यर्थे, "दंसहस्सं अभिषिष्वद्विष्टा णं उवदसेज्जा" भ० ५
श० ४ उ० ।

अभिषिष्व-अभिनिर्वृत्त-त्रि० । क्रोधाद्युपशमेन शान्तीभूते,
मुक्ते, सूत्र० १ ध्रु० २ अ० १ उ० । विषयकपायाद्युपशमाच्छीती-
भूते, आचा० १ ध्रु० ६ अ० ४ उ० । ह्योनादिजयाभिरातुरे,
"खंतेऽभिनिष्वुडे दंते, वीतगिक्की सदा जए" । क्रोधादिपरित्या-
गाच्छान्तीभूते, सूत्र० १ ध्रु० ५ अ० । "पावाओ विरतेऽभिनिष्वुडे"
सूत्र० १ ध्रु० २ अ० १ उ० । "अभिनिष्वुडे अमाई" अभिनिर्वृत्त-
ग्रहणं संसारमहातरुकन्दोच्छेद्यविप्रतिपत्त्या । आचा० १ ध्रु० १
अ० १ उ० ।

अभिषिसज्जा-अभिनिपया-स्त्री० । अभि रात्रिमभिव्याप्य
स्वाध्यायनिमित्तमागता निपीदन्त्यस्यामित्यभिनिपया । अभि-
नैपेधिक्यां स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुपित्वा प्रत्युपे प्रतियातायां
वसतौ, व्य० १ उ० ।

वहवे परिहारियाऽपरिहारिया इच्छेज्जा-एगंतओ अभि-
निसिज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेति; तए णो एं कप्पति थेरे
अण्णपुच्छिता एगंतओ अभिनिसिज्जं वा अभिनिसीहियं
वा चेइतए । कप्पइ एहं थेरे अपुच्छिता ते एगंतओ अभिनि-
सेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइतए; थेरा य एहं से (ते)
वियारिज्जा-एवं एहं कप्पइ अभिनिसिज्जं वा अभिनिसीहियं
वा चेतेतए । थेरा एहं नो वितरेज्जा-एवं एहं णो कप्पइ
एगंतओ अभिनिसिज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेतेतए । जो
णो थेरेहिं आवित्तिएहं अभिनिसिज्जं वा अभिनिसीहियं
वा चेतेति, से संतरा छेदे वा परिहारे वा ॥ ३५ ॥

वहवस्त्रिभूतयोऽनेके पारिहारिका उक्तशब्दार्था, वहवोऽपारि-
हारिका इच्छेयुरेकान्ते विधिक्षेपदेशान्तरे वसत्यन्तरे वा अभिनि-
पयाम्, अभि रात्रिमभिव्याप्य स्वाध्यायनिमित्तमागता निपीद-
न्त्यस्यामित्यभिनिपया, तां वा, तथा निपेधः-स्वाध्यायव्यतिरेकेण
सकृन्न्यापारप्रतिपेधः; तेन निर्वृत्ता नैपेधिका । अभि अभिनि-
व्येन संयतप्रायोग्यतया नैपेधिका अभिनैपेधिका, तां वा । इय-
मत्र भावना-तत्र दिवा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रौ वसतिमेव साध-
यः प्रतियन्ति, सा अभिनैपेधिका । अभिनैपेधिक्यामेव स्वा-
ध्यायं कृत्वा रात्रिमुपित्वा प्रत्युपे वसतिमुपागच्छन्ति सा
अभिनिपयेति । तामभिनिपयामभिनिपेधिकां वा (चेति तए इति)
गन्तुं, तत्र, नो नैव, 'से' तेषां पारिहारिकाणामपारिहारिकाणां च
कल्पते, स्वविराज् आचार्यादीन् अनापृच्छ्य (एकान्ततः) एकान्ते
विविक्ते प्रदेशे, वसत्यन्तरे वा अभिनिषद्यामभिनिपेधिकां वा ग-
न्तुम्, उच्छ्वासनिश्वासव्यतिरेकेण शेषसाधुव्यापाराणां समस्ता-
नामपि गुरुपृच्छाऽधीनत्वात् । तदेवं प्रतिषेधसूत्रमभिधाय स-
म्प्रति विधिसूत्रमाह—(कप्पति एहं थेरे अपुच्छिता) इ-
त्यादि सुगमम् । इह पारिहारिका नाम आपन्नपरिहारतपसो-
ऽभिधीयन्ते ।

तत्र चोदकं प्राह -

पुचंसि अप्पमत्तो, भिक्खू उववसितो जयंतेहिं ।

तत्थ वि य इमे दोसा, होंति गयाणं मुणेयव्वा ॥

यत्रापि च विविक्ते प्रदेशे ते निष्कारणगामिनो अभिशय्या-
मभिनैपेधिकी वा व्रजन्ति, तत्रापि तेषां गतानामिमे वक्ष्यमा-
णा दोषा भवन्ति ज्ञातव्याः ।

तानेवाऽभिधित्सुर्चारगाथामाह-

वीयारतेणआर-क्खितिरिक्खा इत्थिओ नपुंसा य ।

सविसेसतरा दोसा, दप्पगयाणं हवतेते ॥

कथमप्यकालगमने विचारे विचारभूमावप्रत्युपेक्षितायां,
तथा स्तेनाशङ्कायां, [आरक्खित्ति] आरक्काशङ्कायां वा, तथा
तिरश्चां चतुष्पदादीनां संज्ञा, तथा स्त्रियो वा दत्तसंकेतास्तत्र
तिष्ठन्ति, नपुंसका वा दत्तसंकेतास्तत्र तिष्ठन्ति-इत्याद्याशङ्का-
यामेते वक्ष्यमाणाः सविशेषतरा दोषा दर्पगतानां निष्कारण-
गतानां प्रवन्ति ।

तदेव सविशेषतरत्वं दोषाणां प्रतिचारमभिधित्सुः प्रथमतो
विचारद्वारमधिकृत्याऽऽह-

अप्पनिलेहियदोसा, अविदिस्से वा हवन्ति उज्जयम्पि ।

वसहीवाघाएण य, एतमणंते य दोसा उ ॥

यदि नाम ते दर्पहताः कथमप्यचक्षुर्विषयवेलायां गता भ-
वेयुः, ततः संस्तरकोचारप्रश्रवणादिषु भूमिष्वप्रत्युपेक्षितासु ये
दोषा ओघनिर्युक्तौ सविस्तरमाख्यातास्ते सर्वेऽप्यत्रापि वक्त-
व्याः । तथा विकालवेलायां गमनं यदि कथमपि शय्यातर उ-
च्चारप्रश्रवणयोग्यमवकाशं न वितरेत् ततोऽवितरीणं ननु ज्ञाते
अवकाशे उज्जयस्मिन् उच्चारप्रश्रवणवृत्तौ प्रवन्ति दोषाः । तथा हि-
यदि अननुज्ञाते अवकाशे उच्चारं प्रश्रवणं वा कुर्वन्ति तदा कदा-
चित् शय्यातरस्तेषामेव वसत्यादिव्यवच्छेदं कुर्यात्, यदि वा
सामान्येन दर्शनस्योपरि विद्वेषतः सर्वेषामपि साधूनामिति । अथ-
वा कथमप्यद्याक्लणिकतया वसतेरभिधित्सुरूपया व्याघातो ज-
वेत्, ततो रात्रिं मृद्ववसतिमागच्छतां तेषां इवापदादिभिरात्मवि-
राधना । अथ नायान्ति वसन्ति तदा अभिशय्यायाः समीपे अप्र-
त्युपेक्षितस्थानाश्रयणतः संयमविराधना । गतं विचारद्वारम् ।

अधुना स्तेनद्वारमारक्षिकद्वारं च युगपदभिधित्सुराह-

सुष्साइं गेहाइं उव्वेति तेणा,

आरक्खिया ताणि य संचरन्ति ।

तेणो त्ति एसो पुररक्खिओ वा,

अन्नोन्नसंकाएँऽतिवायएज्जा ॥

शून्यानि गृहाणि, स्तेनाः विवक्षितगृहे प्रवेशनाय वेलां प्रती-
क्षमाणाः, आरक्षिकादिभयतो वा उपयन्ति । तानि च शून्यानि
गृहाणि आरक्षिकाः पुररक्षिकाः 'मा कार्श्चदन्न प्रविष्टश्चौरो द्यू-
यात्' इति संचरन्ति प्रविशन्ति । एवमुभयेषां प्रवेशसंभवे अन्यो-
ऽन्याशङ्का आरक्षिका अभिशय्यायामग्रे प्रविष्टं साधुमुपवृत्तं
स्तेन एव व्यवतिष्ठते इति; स्तेना अग्रे प्रविष्टास्तत्र प्रविशन्तं
साधुं दृष्ट्वा पुररक्षक एव प्रविशतीत्येवंरूपया, स्तेना आरक्षिका
वा अतिपातयेयुः व्यापादयेयुः । गतं स्तेनारक्षिकद्वारम् ।

सम्प्रति तिर्यग्द्वारमाह-

दुगुंछियां वा अदुगुंछिया वा, ...

दिच्चा अदिच्चा व तहिं तिरिक्खा ॥

चउप्पिया वालसरीसिवा वा,

एणो व दो तिस्सि व जत्थ दोसा ॥

तत्र अभिशय्यायामभिनैपेधिकां वा चतुष्पदाः तिर्यञ्चो द्विधा
भवेयुः । तद्यथा-जुगुप्सिता नाम निन्दिताः, ते च गर्दभीप्रवृत्तयः ।
तद्विपरीता अजुगुप्सिताः, गोमहिष्यादयः । एकैके द्विधा; तद्य-
था-दृष्टाश्च दर्शयिताः, तद्विपरीता अदृष्टाः, न केवलमिदं-
भूताश्चतुष्पदा भवेयुः, किंतु व्याघ्रा ज्ञजङ्गादयः, सरीसृपा वा-
गृहगोधिकादयः, इत्यभ्युदयेषु च तिर्यक्षु चतुष्पदेषु व्याघ्रसरी-
सृपेषु, एको द्वौ त्रयो वा दोषा भवेयुः । तत्र एकः-आत्मविरा-
धनादीनामन्यतमः, द्वौ साधुजनेदेनात्मविराधनासंयमविराधने,
त्रयः-कस्याप्यात्मविराधना, कस्यापि संयमविराधना, कस्या-
प्युभयविराधनेति । अत्र चतुर्भङ्गी-कस्याप्यात्मविराधना, न
संयमविराधना १, कस्यापि संयमविराधना, नात्मविराधना २,
कस्याप्यात्मविराधनाऽपि संयमविराधना ३, कस्यापि नो-
भयविराधनेति ४ । उपलक्षणमेतत्-जुगुप्सिततिर्यक्चतुष्पदसं-
भवे विरूपाऽऽशङ्कासंभवतः प्रवचनोद्वाहोऽपि स्यादिति ।
गतं तिर्यग्द्वारम् ।

अधुना स्त्रीनपुंसकद्वारे युगपदभिधित्सुराह-

संगारदिन्ना व उव्वेति तत्थ,

ओहा पन्निच्छन्ति निलिच्छमाणा ।

इत्थी नपुंसा व करेज्ज दोसे,

तस्सेवणट्ठाएँ उव्वेति जे उ ॥

संगारः संकेतः, स दत्तो यैस्ते संगारदत्ताः, निष्ठान्तस्य पर-
निपातः प्राकृतत्वात्, सुखादिदर्शनाच्चा । दत्तसंकेता इत्यर्थः ।
इत्थंभूताः सन्तस्तत्राभिधित्सुरादिषु उपयन्ति गच्छन्ति, एवं
लोकानामाशङ्का भवेत् । अथवा तत्र गतेषु जनानामेव-
माशङ्का समुपजायते । तथा स्त्रियो नपुंसका वा ओघा इति ।
तन्मुखान् निरीक्षमाणाः प्रतीक्षन्ते, ततोऽस्मी गताः । यदि वा
तासां स्त्रीणां नपुंसकानां वा सेवनार्थं ये तत्रोपयन्ति पुरुषास्ते
'अस्मत्कुर्यादिसेवनार्थमेतेऽत्र संयताः समागताः' इति दोषान्
अभिधाताऽचर्णवादादीन् कुर्युः ।

तदेवं यस्मादकारणे निर्गतानामिमे दोषास्तस्माच्च निष्कारणे
गन्तव्यं, कारणे पुनर्गन्तव्यम् । तथाचाऽऽह-

कप्पइ उ कारणेहिं, अजिसेज्जं गंतुमज्जिनिसीहिं वा ।

लहुगा उ अगमणम्मि, ताणि य कज्जाणिमाइं तु ॥

कल्पते पुनः कारणैरस्वाध्यायादिब्रह्मैवंक्षयमाणैरभिधित्सुरा-
मभिनैपेधिकी वा प्रागुक्तशब्दार्थी गन्तुं, यदि पुनर्न गच्छन्ति
ततो लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः प्रायश्चित्तम् । तानि पुनः
कार्याणि कारणानि इमानि वक्ष्यमाणानि ॥ तान्येवाऽऽह-

असजाइयपाहुणए, संसट्ठे दुट्ठिकायसुयरहसे ।

पढमचरमे दुगं तु, सेमेसु य होइ अभिसेज्जा ॥

वसतावस्वाध्यायः, प्राचूर्णका वा बहवः समागताः, वसतिश्च
संकटा, ततः स्वाध्याये, प्राचूर्णकसमागमे, तथा संसट्ठे प्रा-
यश्चित्तातिभिरुपाश्रये. तथा दुट्ठिकाये निपतति गलन्त्यां वसतौ,
तथा श्रुतरहस्ये वेदश्रुतादौ व्याख्यातुमुपक्रान्ते, अभिशय्या,

ऊणत्तणेण दोसा, हवंति एए उ वसहीए ।

ये वसतिपाशास्तैर्वसंतरूनत्वे हीनत्वे एते गाथापूर्वाच्छा दोषा भवन्ति । तद्यथा—स्तेनाञ्जोरास्ते ' गताः साधवो वसतेः ' इति ज्ञात्वा वसतावापतेषु, आदेशा आधुर्णकास्ते वा समागच्छेयुः, तेषां च समागतानामविश्रामादिप्रसक्तिः, समर्थसाध्यावात् । (गिज्ञाण स्ति) ग्लानो वा, तेषामभावे व्याधिपीडितो समाधिमाप्नुयात् । (कामण स्ति) दाहो वा प्रदीपनकेन वस-तेर्ज्ञेयात् । तथा स्तोकाः साधवो वसतौ तिष्ठन्तीति स्त्रियो नपुंसका वा कामविह्वलाः समागच्छेयुः । तत्रात्मपरोमयस-मुत्था दोषाः । तथा मूर्खा कस्यापि पित्तविचशतो भूयात् । तद्वत् यतो वसतिपाशानामिमे विनिर्गमे दोषास्तस्माच्चैरपि शक्यादिषु न गन्तव्यमित्येव द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

व्यासार्थं तु भाष्यकृदाह—

दुविहाऽवहार सोही, एसणघातो य जा य परिहाणी ।

आएसमविस्सामण—परितावणया य एकतरे ॥

स्तेनैरपहारो द्विविधः । तद्यथा—साध्वपहारः, उपप्यपहारश्च । तस्मिन् द्विविधेऽप्यपहारे शोधिः प्रायश्चित्तम् । तद्यथा—यद्येकं साधुमपहरन्ति स्तेनास्तदा वसतिपाशानां प्रायश्चित्तं मूलम् । अथ द्वावपहरन्ति ततोऽनवस्थान्यम् । त्रिप्रभृतीनामपहरणे पारा-ञ्चिकम् । तथा जघन्योपप्यपहारे पञ्चरात्रिन्दिबम् । मध्यमो-पप्यपहारे मासलघु । उत्कृष्टोपप्यपहारे चतुर्गुरुकम् । तथा एष-णाया घातः प्रेरणमेषणघातः, स च स्यात् । तथाहि—भवत्यु-पधिपात्रादिकमन्तरेण एषणाघातः, तत एषणाप्रेरणे यत्प्राय-श्चित्तं तदापद्यते तेषां वसतिपालानामिति । तथा (जा य प-रिहाणि स्ति) या च परिहाणिरुपधिमन्तरेण शीतादिवाधित-स्य, तत्क्षेपणप्रयतमानस्य वा, सञ्चार्यस्य च संशयः, तस्मिन्निमित्तकम-पि समापद्यते प्रायश्चित्तम् । तत्र सूत्रपौरुष्या अकरणे मासलघु । अर्थपौढव्या अकरणे मासगुरु । अयोपधिगवेपणेन दीर्घकाद्यतः सूत्रं नाशयन्ति ततश्चतुर्बन्धु । अर्थनाशने चतुर्गुरु । तथा तेषु वसतिपात्रेषु साधुष्वभिज्ञायादिगतेषु आदेशानामाधुर्णकानां समागतानामभ्वपरिश्रान्तानामविश्रामणे वा अनागाढा प-रितापनोपजायते, तस्मिन्पञ्चमपि नेपापद्यते प्रायश्चित्तम् । (एकत्तरं स्ति) तेषु वसतिपालेष्वभिज्ञायादिगतेषु यो मुक्त एकतरो वसतिपालः, स एको द्वौ बहवो वा, ' यथागच्छन्ति प्राधूर्णकाः ते सर्वेऽपि नियमतो विश्रामयितव्याः ' इति जिनप्रवच-नमनुसरन् बहुभ्याधूर्णकान् विश्रामयन् यदनागाढमागाढं वा प-रितापनामाप्नोति तस्मिन्निमित्तकमपि समापद्यति तेषां प्रायश्चित्तम् ।

साम्प्रतमस्या एव गाथायाः पञ्चार्कं व्याख्यानयति—

आदेसमविस्सामण—परितावणे तेसऽवच्छलत्तं च ।

गुरुकरणे वि य दोसा, हवंति परितावणादीया ॥

आदेशानां प्राधूर्णकानामविश्रामणे, ' गाथायां मकारोऽस्लात्तणि-कः, ' एवमन्यत्रापि कृष्टव्यम् । दीर्घाभ्वपरिश्रमतो यदनागाढमा-गाढं वा परितापनं; तथा तेष्वदेशेषु समागतेषु अवस्तव्यत्वम-वास्तव्यकरणं तस्मिन्पञ्चं तेषां प्रायश्चित्तम् । अन्यच्च वसति-पालेष्वपि शक्यादिगतेषु प्राधूर्णकानां समागतानामन्याभावे गुरुः स्वयं वास्तव्यं करोति, गुरुकरणेऽपि च दोषा भवन्ति परि-तापनादयः । तथाहि—गुरोः स्वयं करणे सुकुमारतया अनागाढमा-गाढं वा परितापनं स्यात्, परितापनाच्च रोगसमागमः, रोगसमा-

गमे च बहूनां स्वगच्छपरगच्छीयानां सूत्रार्थहानिः, भावकादीनां चर्मदेशनाश्रवणव्याघातः, लोके चावर्णवादः । यथा—दुर्विनीता एते शिष्या इति । गतमादेशद्वारम् ।

अधुना ग्लानद्वारमाह—

सयकरायमकरणे वा, गिज्ञाणपरितावणा य दुविहो वि ।

वालोवहीण दाहो, तदचमसो व आदित्ते ॥

वसतिपालेष्वभिज्ञायादिगतेषु, द्विधा व्याख्यामपि प्रकाराभ्यां ग्लानस्य परितापना । तद्यथा—स्वयंकरणे, अकरणे वा । तथाहि—ग्लानो यदि स्वयमुद्धर्तनादिकं करोति, तदाऽपि तस्याऽ-नागाढादिपरितापनासंभवः । अथ न करोति, तथापि परिता-पनासंभवः, ततस्तस्मिन्निमित्त आपद्यते तेषां प्रायश्चित्तम् । अन्यच्च यः पञ्चान्मुक्तो वसतिपालः स यदा प्रच्युतं ग्लानस्य ग्लानानां वा कतव्यं करोति, तदा सोऽपि परितापनमनागाढमागाढं वा-ऽपद्यते ; ततस्तदेतुकमपि प्रायश्चित्तम् । गतं ग्लानद्वारम् । अधुना कामणद्वारमाह—(वालोवहीणमित्यादि) तेषु समर्थेषु वसतिपालेषु बाह्यं वसतिपालं मुक्त्वा अभिशय्याममनैवेधि-कीं वा गतेषु अग्निकायेन प्रदीप्ते उपाश्रये वालानामुपधीनां च दाहो भवेत् । तत्र यद्येकोऽपि साधुर्नियते तदा चरमं पाराञ्चि-कं प्रायश्चित्तम् । अथ न नियते किन्तु दाहमागाढमनागाढं वा परितापनामाप्नोति तदा तस्मिन्पञ्चं प्रायश्चित्तम् । अयोपधिर्जघ-न्यो मध्यम उत्कृष्टो वा दह्यते ततस्तस्मिन्पञ्चं प्रायश्चित्तम् । (तदचमसो व चित्ति) तदर्थं बालनिस्तारणार्थम्, उपधिनिस्तारणा-र्थं वा अन्यः प्रविशेत्, तदा कदाचित्तोऽपि वालो दह्येत अन्यच्च प्रविशन्; ततस्तदुभयानिमित्तमापद्यते प्रायश्चित्तम्, लोके च महान् अवर्णवादः । गतमग्निद्वारम् ।

अधुना क्रीनपुंसकद्वारमाह—

इत्थीनपुंसगा वि य, ओमत्तणओ तिहा भवे दोसा ।

अजिघाय पित्ततो वा, मुच्छा अंतो व वाहिं च ॥

स्त्रियो नपुंसका वा, अवमत्वेन हीनत्वेन, ' स्तोकाः साधवो वसतौ तिष्ठन्ति, परिणतव्रताश्चान्यत्र गता वर्तन्ते ' इति ज्ञात्वा समागच्छेयुस्तदागमने च त्रिधा आत्मपरोमयसमुत्थत्वेन दो-षाः स्युः । तथाहि—यत् कुर्यादिकमुपलभ्य स्वयं क्रोभमुपय-न्ति साधवः, एष आत्मसमुत्थो दोषः । यत्पुनः स्वयमनुभूयतः साधून् बलात् रुष्यादिकं क्रोभयति, एष परसमुत्थः । यदा तु स्वयमपि क्षुण्यन्ति, रुष्यादिकमपि च क्रोभयति, तदा उभय-समुत्थ इति ॥ मूर्खद्वारमाह—(अजिघातेत्यादि) वस-तेरन्तःस्थितस्य वसतिपालस्य कथमपि जराजीर्णत्वादिना पतन्त्यां वसतौ काष्ठादिभिः शरीरस्योपरि निपतद्भिर्व-हिर्वा वसतेः स्थितस्य कथमपि वातादिना पात्यमानेन तरुणा, तरुशाखाया वा अजिघातेन मूर्खो भवेत् । उ-पब्रह्मणमेतत्—अनागाढा आगाढा वा परितापना स्यात् । यदि वा वसतेरन्तर्बहिर्वा व्यवस्थितस्यापि ततः पित्तप्रकोपतो मू-र्खो भवेत् । तत एकाकिनः सतस्तस्य को मूर्खमुपशमयेत् ? । ततस्तस्मिन्पञ्चप्रायश्चित्तसंभवः, प्रभूतश्च जनापवादः । तद्वत् प-ञ्चान्मुक्तानां वसतिपालानां दोषा अभिहिताः ।

सम्प्रति ये अजिज्ञायादिगतास्तेषां दोषानभिधत्सु रिदमाह—

जत्य वि य ते वयंती, अभिसेज्जं वा निसीहिं वा वि ।

प्रत्याख्यायते यस्यै दातव्यमित्येवमादि सर्वे कथ्यते इति भावः ।
कथं किंस्वरूपः सोऽङ्गीतार्थो नायकः स्थापनीयः ? इत्यत आह—
मज्जत्थोऽकंदप्पी, जो दोसे दिहइ देहओ चव ।
केसु उ ते सीएज्जा, दोसेसु ते इमे सुणसु ॥

मध्यस्थो-रागद्वेपविरहितः, अकन्दर्पी-कन्दर्पोद्दीपनभाषिता-
दिविकल्पः, एवंभूतो नायकः स्थापनीयः । तेन च साधवोऽ
समाचारी समाचरन्तः शिक्षणीयाः, शिक्षमाणाश्च यदि कथ-
येयुः, यथा-यदि वयमेवं कुर्मस्ततस्तव किम् ? कस्त्वम् ?
इत्यादि, तदा स (लेहओ चव चि) लोचकवत् तेषां सर्वेषां
साधूनां दोषान् अविस्मरणनिमित्तं मनसि लिखति, सम्यगव-
धारयतीत्यर्थः । अथ केषु ते साधवः सीदेयुः, यान् स स्व-
चेतसि धारयति ? । सुरिराह—तान्दोषानिमान् वक्ष्यमाणा-
न् शृणुत ।

तत्र यदुक्तं “एपसि असतीए” इत्यादि, तद्व्याख्यानार्थमाह—
थेरपवितीगीया-ऽसतीए मेरकहंतऽगीयत्ये ।

भयगौरवं च जस्स उ, करेति सयमुज्जतो जो य ॥

स्थविरस्य, प्रवर्तिनः, उपलक्षणमेतत्-गणावच्छेदस्य च, तथा
गीतस्य गीतार्थस्य भिन्नोरसति अभावे अङ्गीतार्थोऽपि प्रेषणी-
यः, तस्मिन्नाङ्गीतार्थे प्रेष्यमाणे (मेर चि) मर्यादां सामाचार्यं
यथोक्तस्वरूपां कथयन्ति, किंविशिष्टः सोऽङ्गीतार्थः प्रेष्यः ? ,
आह—(भयगौरवमित्यादि) यस्य भयं साधवः कुर्वन्ति, यस्य
चानुवर्तना गुणतो भयतो गौरवं यथोचितं कुर्वन्ति । यश्च स्व-
यमात्मना समुद्युक्तोऽप्रमादी, सोऽङ्गीतार्थो नायकः प्रवर्तनीयः ।
किं कारणमिति चेत् ? , उच्यते-असमाचारीरूपदोषप्रतिपे-
धनार्थम् ।

अथ के ते असमाचारीरूपा दोषाः ? , अत आह—

पनिलेहणऽसज्भाए, आवस्सगदंरविशयराइत्थी ।

तेरिच्छवाणमंतर-पेहा नहवीणिकंदप्पे ॥

प्रतिषेधनायामस्वाध्याये आवश्यकदण्डे, उपलक्षणमेतत्-दण्ड-
कादौ विषये, तथा विनये वन्दनकादौ, तथा राक्षि, स्त्रियां, तिर्यक्षु
हस्त्यादिषु, बाणमन्तरे बाणमन्तरप्रतिमायां विषणिषु रथेन ग-
च्छन्त्यां प्रेक्षायां काष्ठग्रहणादौ, (नहवीण चि) नखवीणिंकार्यां, क-
न्दर्पे वा समाचारीरूपाः दोषाः । एष चारगाथासंक्षेपार्थः । एतेन
यदुक्तं प्रागुक्तानिमान् दोषान् शृणुतेति तद्व्याख्यानमुपक्रान्त-
मिति स्पष्टम् ।

तत्र प्रतिलेखनाद्वारमस्वाध्यायद्वारं च विवरीपुराह—

पनिलेहणसज्भाए, न करेति हीणाहियं च विवरीयं ।

सेज्जोवहिसंधारय-दंडगजचारमादीसु ॥

प्रतिषेधनानां स्वाध्यायं वा मूलत एव न कुर्वन्ति, यदि वा ही-
नमधिकं विपरीतं वा विपर्यस्तकर्म कुर्वन्ति । तत्र येषु स्थानेषु
प्रतिषेधना संभवति, तानि स्थानान्युपदर्शयति-श्रव्योपधि-सं-
स्तारकदण्डकोच्चारदिषु । इयमत्र भावना-श्रव्या वसतिः, त-
स्याः प्रत्युपेक्षणं मूलत एव न कुर्वन्ति, यदि वा हीनमधिकं
वा कुर्वन्ति, अथवा यः श्रव्यायाः प्रत्युपेक्षणाकालस्तस्मिन् न
कुर्वन्ति, किन्तु काश्चातिक्रमेण । एवमुपधेः, संस्तारकस्य, दण्डका-
देश्च भावनीयम् । तथा उच्चारदिभूमि न प्रत्युपेक्षन्ते, हीनम-
धिकं वा, यदि वा कालातिक्रमेण प्रत्युपेक्षन्ते इति । स्वाध्याय-

मपि मूलत एव न कुर्वन्ति । यदि वा अप्रस्थापिते कुर्वन्ति ।
यदि वाऽकाक्षिकवेलायामुत्काक्षिकवेलायां वा कुर्वन्ति ।

सम्प्रति आवश्यकदिद्वारव्रितयमाह—

न करेती आवस्सं, हीणाहियनिविट्टपाउयनिसभा ।

दंडगहणादि विणयं, रायणियादीण न करेति ॥

आवश्यकं मूलत एव न कुर्वन्ति, यदि वा हीनमधिकं वा, कायो-
त्सर्गाणां हीनकरणतः कुर्वन्ति, अधिकं वाऽनुप्रेक्षार्थं कायोत्सर्गा-
णामेव चिरकालकरणतः कुर्वन्ति । यदि वा निविष्टा उपविष्टाः,
प्रावृताः शीतादिभयतः, कल्पादिकप्रावरणप्रावृता निय-
ष्ठास्त्वचवर्तनेन निपतिताः प्रकुर्वन्ति । गतभावश्यकद्वारम् ।
(दंडगहणादि चि) दण्डग्रहादौ, दण्डग्रहणं भावरुमात्रकादी-
नामुपलक्षणम्, दण्डकादीनां ग्रहादौ ग्रहये, निक्षेपे च, न प्रत्युपेक्ष-
णं, नापि प्रमाज्जनं, दुष्प्रत्युपेक्षितादि वा कुर्वन्ति । गतं दण्डग-
रम् । विनयद्वारमाह—(विणयं ति) विनयं रत्नाधिकादीनामा-
चार्यादीनां यथा रत्नाधिकं न कुर्वन्ति । गतं विनयद्वारम् ।

राजादिद्वारकदम्बकमाह—

रायं इत्थि तह अ-स्समादि वंतर रहे य पेहंति ।

तह नखवीणियादी, कंदप्पादी वि कुर्वन्ति ॥

राजानं निर्गच्छन्तं वा, स्त्रियं वा सुरुपामिति विशिष्टाभरणा-
लङ्घ्यतामागच्छन्तीं वा, तथा ‘ निरिक्ख ’ इत्यस्य व्याख्यानम्-
अश्वादिकमभ्वं वा हस्तिनं वा राजवाहनमतिप्रभूतगुणाकीर्णं,
व्यन्तरं तथात्वविभूत्या विपणिमार्गेषु गच्छतः प्रत्यागच्छतो वा
प्रेक्षन्ते । एतेन राजस्त्रीतिर्यग्वाणमन्तरद्वाराणि व्याख्यातानि ।
तथेत्यनुक्तसमुच्चयार्थः, स चेदमनुक्तं समुच्चिनोति-काष्ठप्रत्यु-
पेक्षणं न कुर्वन्ति, न वा काष्ठं प्रतिजागरति । गतं प्रेक्षाद्वारम् ।
तथा नखवीणिकादिकं नखवीणावादनम् । आदिशब्दाद् नखानां
परस्परं घर्षणमित्यादिपरिग्रहः । तथा कन्दर्पादि कन्दर्पकौ-
कुच्यकोयुकादि कुर्वन्ति ।

एपसु वट्टमाणे, अट्टिणं पनिलेहण इमा मेरा ।

हियए करेइ दोसे, गुरुए कहणं स देइ ते सोहिं ॥

एतेष्वनन्तरादितेषु दोषेषु वर्तमानान्, धारयतीति क्रियाध्या-
हारः । कृतेऽपि वारणे यदि ते न तिष्ठन्ति, प्रतिषेधन्ति वा-यदि
वयमेवं कुर्मस्ततः किं तव ? , को वा त्वम् ? , इत्यादि । ततो-
ऽस्थिते, प्रतिषेधिते वा नायके इयमनन्तरमुच्यमाना (मेर चि)
मर्यादा सामाचारी । तामेवाह-हृदये तान् दोषान् करोति, कृत्वा
च गुरवे कथयति, स च गुरुर्देदाति तेषां शोधि प्राय-
श्चित्तमिति ।

सम्प्रति वक्ष्यमाणार्थसंग्रहाय द्वारगाथामाह—

अतिवहुयं पच्छित्तं, अदिषु वाहे य रायकन्ना य ।

ठाणाऽसति पाहुणए, न उ गमणं मास कक्करणे ॥

चोदकवचनम्-अतिबहुकं प्रायश्चित्तं गुरुमासादि न दातव्यम्,
तद्दाने व्रतपरिणामस्यापि हानिप्रसक्तेः । अत्र गुरुवचनम्-“ जो
अच्छिणण सुज्झइ ” इत्यादि वक्ष्यमाणं, यः पुनरालोचनाप्र-
दानेन प्रायश्चित्तलक्षणं शक्यं नोकरति-तस्मिन्नदत्ते अदत्ता-
लोचने व्याधो दृष्टान्तः । यः पुनराचार्यः शिष्यस्य प्रायश्चित्त-
स्थानार्पितं जानन्नपि न शोधि ददाति, तस्मिन्नदत्ते अदत्तप्रा-

अभिनैपेधिकी वा गन्तव्या । तत्र (पदमचरमे दुर्गं त् इति) प्रथमे सूत्रक्रमप्रामाण्यादस्वाध्याये, चरमे श्रुतरहस्ये, द्विक्रममिश्रया-भिन्नैपेधिकीलक्षणं यथायोग्यं गन्तव्यं, शेषेषु च प्राधूर्णकसं-सक्तवृष्टिकायरूपेषु, भवत्यभिज्ञशय्या गन्तव्या ।

तत्रास्त्यनानुपूर्व्यपि व्याख्याया इति न्यायव्यापनार्थं प्रथ-मतः श्रुतरहस्यमिति चरमद्वारं विवरीपुरिदमाह-

येयमुपविज्जमंता, पाहुनि अवगीय महिमदिट्ठता ।

इइ दोसा चरमपए, पदमपए पोरिसीभंगो ॥

वेदधुतानि प्रकल्पव्यवहारादीनि, तानि वसतौ अपारिणाम-कोऽतिपरिणामको वा शृणुयात्, तथा विद्यामन्त्रांश्च वसतौ क-स्यापि दीयमानान् अविगीतो निर्दमो शृणुयात्, प्रानृतं वा यो-निप्रानृतादिरूपं वसतौ व्याख्यायमानम्, अविगीतः कथमपि शृणुयात् । तच्छब्दणे च महान् दोषः । तथाचात्र महियदण्णन्तः-“कयाद जोषियाहुने वक्खाणिज्जमाणे एणेण आयरियाईण आदिस्समाणेण निष्स्मेण सुयं । जहा-अमुगदव्यसंजोगे महिसां संमुच्छइ; तं सोडं सो उत्थाविओ गतो अम्मि गणे, तत्थ महिसे दव्यसंजोगेण समुच्छावित्ता सागारियइत्थे स चिक्किणइ, तं आयरिया कहमवि जाणित्ता तत्थ आगया, उदं-तो से पुच्छितो, तेण सज्जावो कहिओ । आयरिया भणंति-अखं सुंदरसुवस्सरयणजुत्तादि गेएह । तेण अज्जुवगयं । ततो आयरिएहिं भणियं-अमुगाणि दव्याणि य तिरिक्खसंजोपज्जा-सि ततो पत्तुयाणि सुवस्सरयणाणि भविस्संति । तेण तहा कयं, समुत्थितो दिठ्ठिविसो सण्णो, तेण दिट्ठो मतो” । ततोऽ-भिज्ञशय्याऽभिन्नैपेधिकी वा गन्तव्या । तथा प्रथमपदमस्वा-ध्यायवृत्तकणं, तत्र दोषः पौरुषीभङ्गः । इयमत्र प्रायना-अस्वा-ध्याये वसतावुपजते स्वाध्यायकरणार्थमययमभिज्ञशय्यायाम-भिन्नैपेधिक्यां वा गन्तव्यम्, अन्यथा सूत्रपौरुष्या अर्थपौरुष्या वा भङ्गः । तद्वद्भे च तक्षिपभप्रायश्चित्तापत्तिः । गतं चरमद्वार-मस्वाध्यायद्वारं च ।

सम्प्रति प्राधूर्णकादिद्वारत्रितयमाह-

अभिसंघटे हत्था-दिपट्ठणं जगणे अजिष्ठादी ।

दोसु असंजमदोसा, जगण अट्ठोवहीया वा ॥

कदाचिद्व्यक्त्याविधवसत्यलामे साधवः संकटायां वसतौ स्थिता जवेयुः, प्राधूर्णकाश्च साधवो भूयांसः समागताः, तत्र दिवसे यथा तथा वा तिष्ठन्ति, रात्रौ भूमिषु अपूर्यमाणानु यद्य-भिज्ञशय्यां न व्रजन्ति तदा तस्मिन्नुपाभये अतिशयेन संघट्टः परस्परं संहननाभिसंकटतया सोऽभिसंघट्टः, तस्मिन्नेव स्थिता-नां परस्परं हस्तपादादीनां घट्टनं जवेव, तद्भावे च कलहा-समाध्यादिवोपसंज्ञवः । अथैतद्वोपजयादुपविष्टा एव तिष्ठन्ति, ततो जागरणे रात्रौ जाग्रतामजीर्णादिदोषसंज्ञवः । अजीर्ण-माहारस्याजरणं, तद्भावे च रोगोत्पत्तिः । रोगे च चिकित्साया अकरणे असमाधिः, क्रियमाणायाम् च चिकित्सायां वदकाय-व्यापत्तिः । इति गतं प्राधूर्णकद्वारम् ॥ अधुना संसक्तद्वारं चाह- (दोसु असंजमेत्यादि) द्वयोः-संसक्ते उपाभये वृष्टिकाये च निपतति, असंयमविराधनारूपौ दोषौ । तथाहि-संसक्तवे दु-ष्पत्युपेक्षणीया वसतिरिति, तत्रावस्थाने स्फुटा संयमविरा-धना । तथा वृष्टिकायेऽपि निपतितेषु क्वचित्प्रदेशेषु वसतिर्ग-

ततीति तत्रापि संयमविराधना, अप्कायविराधनासंज्ञवात् । अन्यच्च वृष्टिकाये निपतति उपधिका येन स्तीम्यते, स्तीमितेन चापधिना शरीरव्यग्नेन रात्रौ निद्रा नायाति, निद्राया अज्ञावे च अजीर्णदोषः । तस्मात् संसक्तायां वसतौ वृष्टिकाये च नि-पतति नियमतो गन्तव्या अभिज्ञशय्येति । तदेवमुक्तं गन्तव्यका-रणम् । तथा चाऽऽह-

दिट्ठं कारणगमणं, जइ य गुरु वच्चए तओ गुरुगा ।

ओरालइत्थिपेक्षण, संका पचत्थिया दोसा ॥

दृष्टमुपबन्धं जगवदुपदेशतः पूर्वसूरिभिः, कारणे अस्वाध्या-यादिलक्षणेऽभिज्ञशय्यायां गमनं, तत्र यद्येवं दृष्टे कारणगमने गुरुभिज्ञशय्याभिन्नैपेधिकीं वा व्रजेत् ततस्तस्य प्रायश्चि-त्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । को दोषो गुरुगमने इति चेत् ? अत आह-(ओरालेत्यादि) आचार्यः प्राय उदारशरीरो भवेत्, सहाया अपि च कथमपि तस्य स्तोका अभूवन्- ततः काश्चन स्त्रियः सहायादीन् स्थापयित्वाऽस्य हृदयादिना प्रेरयेयुः । अन्यच्च-शय्यातरादीनां शङ्का समुपजायते, तथाहि-किं वसता-वाचार्यो नोषितः, नूनमगारीं प्रतिक्षेपितुं गत इति । यदि वा प्रत्यर्थिका प्रत्यनीकाः प्रतिवाद्यादयोऽप्यसहायमुपबन्धय विना-शयाऽऽयुः । तत एवमाचार्यगमने दोषाः, तस्मात्तेन न गन्तव्य-मिति, न केवलमाचार्येण न गन्तव्यं किन्त्येतैरपि न गन्तव्यम् ।

के ते एते ? इत्याह-

गुरुकरणे पडियारी, भएण वलवं करेज्ज जे रक्खं ।

कंदप्पविगही वा, अवियत्तो ठाणहुडो वा ॥

गुरोराचार्यादेः करणे करणविषये ये प्रतिचारिणः प्रतिचार-काः कायिकमात्रकादिसमर्पका विधामकाश्च, तेन गन्तव्यं, तेषां गमने गुरोः सीदनात् । तथा भयेन पञ्चाहसतावपान्तराले-ऽभिज्ञशय्यायां वा तस्करादिभयेन समुत्थितेन सर्वैरपि साधुभि-र्न गन्तव्यम्, आत्मसंयमविराधनादोषप्रसङ्गात् । तथा यो वद्वान् गुर्वादीनां तस्करादिच्यो रक्षां करोति, तेनापि न गन्तव्यं, तस्मिन्ने गुर्वादीनामपायसंभवात् । तथा यः कन्दर्पः कन्दर्पशीलः, यश्च विग्रही, तथाचाऽऽराटिकरणशीलः, यो वा यत्र गम्यते तत्र शय्यातरादीनां कौश्रिदपि कारणैः पूर्ववैरादिभिः (अवियत्तो ति) अप्रीतो, यश्च स्थानदुष्टः, पुरादिदुष्टः, एतैरपि सर्वैर्न गन्तव्यम्, प्रवचनोद्वाहात्मविराधनादिदोषप्रसङ्गात् । यदि कथमपि ते गच्छन्ति ततो वलादाचार्यादिभिर्वा रयितव्या इति ।

अथ कारणे समुत्पन्ने तेषां गच्छतां को नायकः

प्रवर्तयितव्यः ? उच्यते-

गंतव्यं गणावच्छे-दयपवत्तिथेरगीयभिक्षू य ।

एएसि असतीए, अगीयए मेरकहणं तु ॥

कारणे अस्वाध्यायादिलक्षणे समुत्पन्ने सति शेषसाधुभिर्ग-न्तव्यमभिज्ञशय्यादि, तेषां च गच्छतां नायकः प्रवर्तनीयो गणाव-च्छेदको वक्ष्यमाणस्वरूपः । तदभावे प्रवर्ती, सोऽपि वक्ष्यमाण-स्वरूपः, तदभावे स्थविरः, तस्याप्यभावे गीतमिद्वर्गीतार्थः सामान्यव्रती । एतेषामसति अभावेऽगीतार्थाऽपि माध्यस्थ्यदि-गुणयुक्तः प्रवर्तनीयः । केवलं तस्मिन्गतीतार्थे (मेरकहणं तु इति) मर्यादायाः सामाचार्याः कथनम्-यथा साधूनामावश्यकं आलोचनायां प्रायश्चित्तं दीयते, नमस्कारपौरुष्यादिकं च

अयमन्नो दिष्टतो, सोहिमर्दिते य दिते य ॥

एते अनन्तरोदिता आद्योचनायां गुणाः, अनाद्योचनायां दोषा वर्णिताः । सम्प्रति यः प्रायश्चित्तं ददाति तस्मिन् शोधिमददाने, ददाने च, अयं वक्ष्यमाणो राजकन्यान्तःपुरपालककूपोऽन्यो दृष्टान्तः ।

तमेवाह—

निज्जूहादिपक्षोयण, अवारण पसंगअगदारादि ।

धुत्तपलायण निवकह—ए दंडणं अचठवणं च ॥

“एगो कञ्जतेउरपादगो, सो गोखलएण कन्नाओ पलोपंनीओ न वारेइ, ततो ताओ अगदारेण निफिडिउमादत्ता, ततो वि न वारेइ, ताहे ततो अनिवारिज्जमाणीओ कयाइ धुत्तेहिं समं पलायाओ, एवं सब्बमवारणादि केणइ रओ कहियं, ततो रक्षा तस्स सब्बस्सहरणं कयं, विणासितो य, अण्णो कयंतेउरपादो ठवितो” । अक्ररगमनिका-निर्युहो गवाक्षः । गोखलक इत्यर्थः । आदिशब्दात्तदन्तथाविधप्रदेशपरिग्रहः । तेन निर्युहादिना प्रबोकेने अवारणं कृतवान्, ततोऽगदारादिष्वपि प्रसङ्गः, अगदारे अन्यत्र वा यथास्वेच्छं तासां कन्यानां प्रसङ्गः । ततोऽन्यदा धूर्तैः सह पलायनम् । एतस्य च सर्वस्यापि वृत्तान्तस्य नृपस्य पुरतः कथनं, ततो राजा तस्य कन्यान्तःपुरपालकस्य दण्डनम्, अन्यस्य कन्यान्तःपुरपालकस्य स्थापनं चाकार्षात् ।

निज्जूहगयं दहुं, वि तिओ कन्नाउ वाहरिचा णं ।

विणयं करेइ तीसे, सेसभयं पूयणा रत्ता ॥

अन्यो द्वितीयः कन्यान्तःपुरपालको निर्युहगतां गवाक्षगतामेकां कन्यां दृष्ट्वा (वाहरिचा णं ति) एनां व्याहृत्य आकार्यं विनयं शिष्टां तस्याः करोति, ततः शेषाणां कन्यानामुदपादि भयं, तेनैव काऽपि गृहद्वारादिषु नावतिष्ठते, न च धूर्तैरपहरणम्, ततः सम्यक्कन्यान्तःपुरपालनं कृतवानिति राज्ञा पूजना कृता । एष दृष्टान्तः ।

अयमर्थोपनयः—

राया इव तित्थयरा, महतरय गुरु उ साहु कक्षाओ ।

ओलोयण अवराहा, अपसत्थपसत्थगोवणओ ॥

राजा इव राजस्थानीयास्तीर्थकराः, महत्तरः कन्यान्तःपुरपालकः, तत्स्थानीया गुरुवः, साधवः कन्यास्थानीयाः, अवलोकनमपराधः । अत्राप्रशस्तेन कन्यान्तःपुरपालकेन, प्रशस्तेन चोपनयः कर्तव्यः । तथा-आचार्यः प्रमादिनः शिष्यान् न वारयति, न च प्रायश्चित्तं ददाति, स विनश्यति, यथा प्रथमः कन्यान्तःपुरपालकः । यस्तु प्रमाद्यतः शिष्यान् वारयति, प्रायश्चित्तं च यथापराधं प्रयच्छति, स इह लोके प्रशंसादिपूजां प्राप्नोति, परलोके च सम्यक्कन्यान्तःपुरपालकत्वेन निर्वाणमचिरादाप्नुयादिति ।

सम्प्रति यदुक्तं प्राघूर्णकसमागमे संसर्के उपाश्रये वृष्टिकाये च निपतति अजिज्ञाया गन्तव्येति तद्विषयमपवादं क्रमेणाजिधित्पुराह—

असम्भाइए असंते, ठाणाऽसति पाहुणागमे चेव ।

अन्नत्थ न गंतव्यं, गमणे गुरुगा उ पुवुत्ता ॥

अस्वाध्यायिके अस्ति अविद्यमाने, प्राघूर्णकानामागमे वाऽ-

सति स्थानस्य-संस्तारकयोग्यभूमिलक्षणस्य अस्ति, अपिशब्दोऽत्र सामर्थ्यादवगम्यते । असत्यपि, भावप्रधानोऽयं निर्देशः । इत्यत्रावेऽपि, अन्यत्राभिज्ञायादौ न गन्तव्यम्, किन्तु यतना कर्तव्या । यदि तथा अन्यत्र गमनं कुर्वन्ति, ततो गमने पूर्वोक्ता गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः प्रायश्चित्तम् ।

का पुनर्यतना ?, तामाह—

वत्थव्वा वारंवा—रण जगंतु मा य वच्चंतु ।

एमेव य पाहुणए, जगण गाढं अण्णव्वाए ॥

वास्तव्या वारंवारेण जाग्रतु । इयमत्र भावना-वास्तव्यानां मध्ये यो यावन्मात्रमर्क्यामादिकं जागरितुं शक्नोति, तावन्मात्रं जागर्ति, तदनन्तरं जागरितुमशक्नुवन् अन्यं साधुमुत्थापयति, सोऽपि स्वजागरणवेत्तातिक्रमेऽन्यम्, एवं वारेण वारं जाग्रतु । यदि पुनर्वास्तव्याः समस्ता अपि रात्रि वारेण जागरितुं न शक्नुवन्ति, ततो यदि गाढं न परिश्रान्ताः प्राघूर्णकाः, ततः प्राघूर्णके (अण्णव्वाए इति) अपरिश्रान्ते, एवमेव-वारेण जागरणं समर्पणीयं, मा पुनः, चशब्दः पुनःशब्दार्थे, अजन्तव्यमिच्छाम्य, यदि पुनर्वास्तव्याः प्राघूर्णकाश्च न वारेण जागरितुं शक्नुवन्ति, तदाऽजिज्ञाया गन्तव्येति ।

एमेव असंसत्ते, देसे अगदंतए य सब्बत्थ ।

अम्हवहा पाहुणगा, उवेंति रिक्खा उ कक्करणा ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण, संसर्के उपाश्रये यो देशः प्रदेशोऽसंसर्कस्तस्मिन्नसंसर्के देशे, तथा वृष्टिकाये निपतति यः प्रदेशो न गलति तस्मिन् प्रदेशे, यतना कर्तव्या । तथा-संसर्कायां वसतौ येष्ववकाशेषु संसर्किस्तान् परिहृत्य शेषेष्ववकाशेषु संसर्किरहितेषु पूर्वप्रकारेण जागरणयतना कर्तव्या । ततो वृष्टिकायेऽपि निपतति येष्ववकाशेषु वसतिः निर्गच्छति तानवकाशान्परिहृत्य शेषेष्ववकाशेषु यतना पूर्ववत्कर्तव्येति । (सब्बत्थ चि) यदि पुनः सर्वत्र संसर्का, सर्वत्र वा गलति, तदाऽभिज्ञाया गन्तव्येति । यदुक्तं “मासो उ कक्करणे” इति, तत्र कक्करणं व्याख्यानयति—एते रिक्काः प्राघूर्णका अस्मद्विधाय उपयन्ति समागच्छन्ति । एवमादिमापणं कक्करणेति ।

सम्प्रति यदवादीत-आचार्येण न गन्तव्यम्, अनापृच्छया वा

(साधुभिः) न गन्तव्यमिति, तद्विषयमपवादमाह—

वितियपयं आयरिए, निहोसे दूरगमणऽणापुच्छा ।

परिसेहियगमणम्मी, तो तं वसजा वलं नेति ॥

द्वितीयमपवादपदमाचार्यविषये, कसति ?, इत्यत आह—निर्दोषे स्त्र्यादिदोषाणामभावे, यदि वा निर्गता दोषा यस्मात्तद् निर्दोषं केचन, तस्मिन्, तथा दूरे अभिज्ञाया, ततस्तत्र दूरगमने अनापृच्छा, तथा प्रतिषेधितस्य गमने द्वितीयपदमिदम्—(तो चि) तस्मादेव संज्ञादिस्थानात्परतो यदा वृत्तान्ता वृत्तान्तयन्ति, तदा प्रतिषेधितः प्रतिपृच्छामन्तरेणापि गच्छतीति । एष गाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतः “आयरिए

निहोसे” इति व्याख्यानयति—

जत्थ गणी न वि नज्जइ, जहेसु य जत्थ नत्थि ते दोसा ।

तत्थ वयंतो मुच्छो, इयरे वि वयंति जयणाए ॥

यत्र गणी आचार्यो न ज्ञायते, अपिशब्दान्न च तथाविधो-दारशरीरो, नापि केनचिदपि सह वादोऽजवत् । यत्र स्वभावत

यश्चिच्छे गुरौ दृष्टान्तो राजकन्या । पदैकदेशेन राजकन्याऽन्तः-
पुरपात्रकः । तथा-“दायाऽसति” इत्यादि । संकटार्थां वसतौ
प्राघूर्णके समागते सति स्थानस्य योग्यभूमिप्रदेशस्य असति-
(भावप्रधानोऽयं निर्देशः) अविद्यमानत्वे, उत्सर्गतो नतु नैव
गमनं, किन्तु यतना वक्ष्यमाणा कार्या, तस्यां च यतनार्थां
कर्तुमशक्यमानायामभिषय्यादिषु प्रेक्ष्यमाणा यदि केचन
कर्करायन्ते-यथा-अस्मद्व्याय प्राघूर्णकाः समागताः, यद् गन्त-
व्यमस्माभिरभिषय्यादिषु, कर्तव्यं वा रात्रौ जागरणमिति,
तदा तेषां कर्करणे प्रायश्चित्तं मासलघु देयमिति द्वारगाया-
संक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विचरीषुः प्रथमतोऽतिवहुकं प्रा-
यश्चित्तमिति व्याख्यानयति-

अतिवहुयं वेदिज्जइ, भंते ! मा तु दुरुवेदओ भवेज्ज ।

पच्छिच्छेहि अयंने, निद्वयदिओहिं जजेज्जा ॥

प्रदन्त ! परकल्याणयोगिन !, गुरोर्यदि प्रवृत्तं गुरुमासादि प्रा-
यश्चित्तं पदे दीयते, ततः स प्रायश्चित्तैः समन्ततोऽतिशयेन
वैपद्यते अतिवेष्टितः सन्, मा निषेधे, ‘हु’ निश्चितं, दुरुवेदको नृ-
यात्-ऊ-त्वेन तस्य प्रायश्चित्तस्य उद्घेष्टनं स्यात्, अतिप्रवृत्तेषु हि
गुरुषु प्रायश्चित्तेषु पदे दीयमानेषु कदाऽऽस्मानमुद्घेष्टयिष्यतीति
भावः । अपि च-अकारणे यत् तत्र चापदे पदे निर्दयैः साद्रि-
यु-ष्माभिर्दत्तैः प्रायश्चित्तैः स ज्ञेयत-भग्नपरिणामो भूयात् ।
तथा च सति महती हानिः ।

तस्मात्-

तं दिज्जउ पच्छिच्चं, जं तरती सा य कीरज्ज मेरा ।

जा तीरइ परिहरिउं, मोसादि अपच्चओ इहरा ॥

तत्प्रायश्चित्तं दीयतां यच्चरति शक्नोति कर्तुं, सा च क्रियतां
‘मेरा’ मर्यादा या परिहर्तुं शक्यते । पात्रान्तरं चा-(परिवहिउमि-
ति) तत्र या परिवोदुं शक्यते इति व्याख्येयम् । उन्नयन्नाप्ययं
भावार्थः-या परिपालयितुं शक्यते इति । मासादि (अपच्च-
ओ इहरा इति) इतरथा प्रवृत्ते प्रायश्चित्तं दत्ते मृषादोष उन्न-
योरपि समुपजायते । तत्र गुरोर्मात्राधिकप्रायश्चित्तदानात्,
इतरस्य तु जग्नपरिणामतया तथा परिपालनायोगात् । अन्य-
च्च-अतिमात्रे प्रायश्चित्तं दत्ते युष्माभिरपि पूर्वमाशातनादोष
उद्भाषितः । अप्रत्ययश्च शिष्यस्योपजायते, यथा-अतिप्रवृत्तमा-
चार्याः प्रायश्चित्तं ददति; नचैवंप्रायश्चित्तं जिनाः प्र-
पितवन्तः; सकलजगज्जन्तुहितैपितया तेषामतिकर्कशप्राय-
श्चित्तोपदेशदानायोगात् । तस्मात् सर्वमिदं स्वमतिपरिकल्पि-
तमसदिति । एवं चोदकेनोक्ते गुरुराह-

जो जत्तिण्ण मुज्जइ, अवराहो तस्स तत्तियं देइ ।

पुव्वमियं परिकरियं, धरुपकेगाइएहिं नाएहि ॥

चोदक आह-त्वया सर्वमिदमयुक्तमुच्यते, यतो देशकालसं-
हननाद्यपेक्षया योऽपराधो यावन्मात्रेण प्रायश्चित्तेन शुद्ध्यति त-
स्यापराधस्य शोधनाय तावन्मात्रमेव सूरिः प्रायश्चित्तं ददाति,
नाधिकं, नापि हीनम्, एतच्च पूर्वमेव घटपटादिभिर्ज्ञातैरुदा-
हरणैः “जलनिक्षेपणकुण्ड” इत्यादिना ग्रन्थेन परिकथितं,
तस्मान्न दोषः ॥

साम्प्रतमदत्ताद्योचने यो व्याघ्रदृष्टान्त

उपन्यस्तस्तं भावयति-

कंटगमादिपविट्टे, नोफरई सयं न भोइए कहइ ।

कमठीचूएँ वणगए, आगलणं खोजिया मरणं ॥

इह किल व्याघ्रा वने संचरन्त उपानहौ पादेषु नोपनहन्ति,
मा हस्तिन उपानहोः शब्दान्ध्रौपुति । तत्रैकस्य व्याघ्रस्या-
न्यदा वने उपानहौ विना परिभ्रमतो द्वयोरपि पादयोः कण्ट-
कादयः प्रविष्टाः, आदिशब्दात् श्लक्ष्णकिलिखादिपरिग्रहः । ता-
न्प्रविष्टान् कण्टकादीन् स्वयं नोद्धरति, नापि भोजिकायै निज-
भार्यायै व्याघ्रैः कथयति । ततः स तैः पादतलप्रविष्टैः कण्टका-
दिभिः पीडितः सन् वनगतो हस्तिना पृष्ठतो धावता प्रयमाणो
धावन् कमठीभूतः-स्थले कमठ इव मन्दगातिरहत्, ततः ‘प्रा-
प्तो हस्ती प्रत्यासन्नं देशम्’ इति जानन् लुब्ध्वा क्लान्तं गत्वा, (आ-
गलणमिति) वैकल्यं प्राप्तः । ततो मरणम् । एष गाथाऽङ्गरार्थः ।
प्राचार्यस्त्वयम्-“एगो वाहो उवाहणाओ विणा वणे गतो, तस्स
पायतत्ता कंटगार्णं भरिया, ते कंटगाइया नो सयमुकरिया,
नो धि य वाहीए उद्धराधिया, अन्नया वणे संचरंतो हत्थिया
दिठो, तो तस्स धावंतस्स कंटगाइया दूरतरं मंसे पविट्टा, ता-
हे अतिदुक्खेण अदितो महापायवो इव विन्नमूलो हत्थिअए-
ण वेयणभूतो पडितो, हत्थिया विणासितो” ।

वितिए सयमुकरती, आण्डिए नोइयाएँ नीहरइ ।

परिमइणदंतपझा-दिपुरणं वणगयपझातो ॥

अन्यो द्वितीयो व्याघ्र उपानहौ विना वने गतः, तस्य वने
संचरतः कण्टकादयः पादतले प्रविष्टास्तान् स्वयमुद्धरति, ये
च स्वयमुद्धर्तुं न शक्यास्तान् अनुद्धतान् भोजिकया निजभार्याया
व्याघ्रा नीहारयति-निष्काशयति, तदनन्तरं तेषां कण्टका-
दिव्यवस्थानानामद्गुष्टादिना परिमर्दनं, तदनन्तरं दन्तमल्लादि-
ना-आदिशब्दात् कर्णमल्लादिपरिग्रहः । पूरणं कण्टकादिव्य-
धानाम् । ततोऽन्यदा वनं गतः सन् हस्तिना दृष्टोऽपि पञ्चा-
यितो जातो जीवितव्यसुखानामाजानी । एष दृष्टान्तः ।

साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकयोजनामाह-

वाहत्थाणी साहु, वाहिरुक् कंटकादि अवराहा ।

सोही य ओसहाई, पसत्थनाएणवणओ ज ॥

व्याघ्रस्थानीयाः साधवः, व्याघ्रस्थानीयो गुरुः, कण्टकादिस्था-
नीया अपराधाः, ओपघानि दन्तमल्लादीनि, तत्स्थानीया शोधिः ।
अत्र द्वौ व्याघ्रदृष्टान्तौ, तत्र प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । आद्योऽप्रशस्तो,
द्वितीयः प्रशस्तः । तत्र प्रशस्तेन ज्ञातेन दृष्टान्तेनोपनयः कर्त-
व्यः । आचार्योऽपि यदि तान् उपेक्षते, ततः कण्टकादीनामुपे-
क्षको व्याघ्र इव सोऽपि दुस्तरामापदमाप्नोति ॥

तथाचाऽऽह-

पडिसेवंत उवेक्खइ, न य णं ओवीइए अकुवंतो ।

संसारहत्थिहत्थं, पावइ विवरीयमियरो वि ॥

इतरोऽपि आचार्योऽपि, तुल्यव्याधौऽपिशब्दार्थः, यः प्रतिसेव-
मानान् उपेक्षते, न तु निषेधति; न वाऽकुर्वतोऽकुर्वाणान् प्राय-
श्चित्तमुत्पीडयति-न भूयः प्रायश्चित्तदानदण्डेन ताडयन् (प्रा-
यश्चित्तं) कारयति, स विपरीतम्, आचार्यपदस्य हि यथोक्त-
नीत्या परिपालनफलमचिरात् मोक्षगमनं, तद्विपरीतं संसार
एव हस्तिहस्तं प्राप्नोति, दुस्तरं संसारमागच्छतीति भावः ।

उपसंहारमाह-

आलोयमणाहोयण, गुणा य दोसा य वखिया एए ।

कस्यां वेलायाम् ? इत्यत आह—

आवस्सयं तु काञ्चं, निव्वाघाएण होइ गंतव्वं ।
वाघाएण उ भयणा, देसं सव्वं अकाऊण ॥

व्याघातस्य स्तेनादिप्रतिबन्धस्याभावो निर्व्याघातः, तेन निर्व्याघातेन भवति गन्तव्यं वसतेराचार्यैः समभावश्यकं कृत्वा । व्याघातेन पुनर्देतुच्यतेन भजना विकल्पना । का भजना ? इत्यत आह—देशं वा आवश्यकस्याकृत्वा, सर्वे वाऽवश्यकमकृत्वा ।

सम्प्रति यैः कारणैः प्रतिबन्धस्तान्युपदर्शयति—

तेखा सावय-वाला, गुम्भियआराक्खिवणपफिणीए ।
इत्थिनपुंसगसंस-त्तवासचिक्खिद्वकंदे य ॥

स्तेनाश्चौरास्ते संख्यासमये अन्धकारकलुपिते संचरन्ति, इवापदानि वा दुष्टानि भूयांसि तदा उद्वृत्तानि हि एरुन्ते; व्याला वा द्रुजङ्गमादयो वातादिपानाय भूयांसः संचरन्ति; तथा गुल्मेन समुदायेन संचरन्तीति गौळिमका आरक्षिकाणामप्युपरि स्थायिनो हि एडकाः, आरक्षकाः पुररक्षकाः, ते अकाले हि एरुमानान् गृह्णन्ति । तथा (उवण च्छि) कचिद्देशे एवंप्रकारं स्थापना क्रियते । यथा—भस्ममिमे सुयं रथ्यादिषु सर्वथा न संचरणीयमिति ; प्रत्यनीको वा कोऽप्यन्तरादिघातकरणार्थं तिष्ठन् वर्तते; स्त्रियो नपुंसका वा कामबहुलास्तदा उपसर्गयेयुः, संसक्तो वा प्राणजातिभिरपान्तराले मार्गः, ततोऽप्यकारणैर्यापथिका न शुद्ध्यति । वर्षे वा पतत् संभाव्यते, (चिक्खिद्व च्छि) कर्दमो वा पथि जूयानास्ति, ततो रात्रौ पादलग्नः कर्दमः कथं क्रियते ? (कंदे च्छि) कण्टका वा मार्गेऽतिवहवः, ते रात्रौ परिहर्तुं न शक्यन्ते । एतैर्व्याघातकारणैः समुपस्थितैः देशतः सर्वतो वाऽवश्यकमकृत्वा गच्छन्ति ।

तत्र देशतः कथमकृत्वेत्यत आह—

शुतिमंगल कितिकम्मे, काउस्सगं य तिविह कियिकम्मे ।
तत्तो य पम्भिमणे, आलोयणयाए कितिकम्मे ॥

स्तुतिमङ्गलमकृत्वा, स्तुतिमङ्गलाकरणे चार्यं विधिः—आवश्यकं समाप्ते चे स्तुती उच्चार्य तृतीयां स्तुतिमकृत्वा अभिशय्यां गच्छन्ति । तत्र च गत्वा ऐर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य तृतीयां स्तुतिं ददति । अथवा आवश्यकं समाप्ते एकां स्तुतिं कृत्वा द्वे स्तुती अभिशय्यां गत्वा पूर्वविधिना चारयन्ति । अथवा समाप्ते आवश्यकं अभिशय्यां गत्वा तत्र तिस्रः स्तुतीर्ददति । अथवा स्तुतिच्यो यद् वक्ति, तत् कृतिकर्म, तस्मिन्नकृते तेऽभिशय्यां गत्वा तत्रैर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य मुखत्रयिकां च प्रत्युपेक्ष्य कृतिकर्म कृत्वा स्तुतीर्ददति । (काउस्सगं य तिविह च्छि) त्रिविधे कायोत्सर्गे क्रमेणाकृते, तद्यथा—चरमकायोत्सर्गमकृत्वा अभिशय्यां गत्वा तत्र चरमकायोत्सर्गादिकं कुर्वन्ति । अथवा द्वौ कायोत्सर्गौ चरमावकृत्वा, यदि वा त्रीनपि कायोत्सर्गान् अकृत्वा, अथवा कायोत्सर्गोभ्योऽर्वाक्तनं यत् कृतिकर्म तस्मिन्नकृते; उपलक्षणमेतत्—ततोऽप्यर्वाक्ते क्षामणे, यदि वा ततोऽप्यर्वाक्ते कृतिकर्मणि अकृते, अथवा ततोऽप्यर्वाक्ते प्रतिक्रमणे अकृते, यदि वा ततोऽप्यर्वाक्ते आलोचने अकृते, अथवा ततोऽप्यारक्षणे कृतिकर्मणि अकृते, अभिशय्यामुपगम्य तत्र तदाद्यावश्यकं कर्तव्यमिति । एवमावश्यकस्य देशतोऽकरणमुक्तम् ।

इदानीं सर्वस्याऽकरणमाह—

काउस्सगमकाञ्चं, कितिकम्मादोयणं जह्ण्णं ।
गमणम्मी एस विही, आगमणम्मी विहिं वोच्छं ॥

यो दैवसिकानि वारानुप्रेक्षार्थं प्रथमः कायोत्सर्गः, तमप्यकृत्वा । किमुक्तं भवति—सर्वमावश्यकमकृत्वा अभिशय्यां गच्छन्ति, किमेवमेव गच्छन्ति, उतास्ति कश्चन विधिः ? उच्यते—अस्तीति श्रुतः । तथा चाऽऽह—(कितिकम्मादोयणं जह्ण्णं ति) जघन्येन जघन्यपदे सर्वमावश्यकमकृत्वा, सर्वे गुरुच्यो वन्दनं कृत्वा, यश्च सर्वोत्तमो ज्येष्ठः स आलोच्य, तदनन्तरमभिशय्यां गत्वा सर्वमावश्यकमहीनं कुर्वन्ति । एषोऽभिशय्यायां गमने । अभिशय्यातः प्रत्यागमने पुनर्यो विधिस्तमिदानीं वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

आवस्सगं अकाञ्चं, निव्वाघाएण होइ आगमणं ।
वाघायम्मि उ जयणा, देसं सव्वं च काऊण ॥

यदि कश्चनापि व्याघातो न भवति ततो निर्व्याघातेन व्याघाताज्जावेनाऽवश्यकमकृत्वा अभिशय्यातो वसतावागमनं भवति । आगत्य च गुरुभिः सहावश्यकं कुर्वन्ति । व्याघाते तु भजना । का पुनर्भजना ? इत्यत आह—देशमावश्यकस्य कृत्वा, सर्वे वा आवश्यकं कृत्वा ।

तत्र देशत आवश्यकस्य करणमाह—

काउस्सगं काञ्चं, कितिकम्मादोयणं पम्भिमणं ।
किङ्कम्मं तिविहं वा, काउस्सगं परिष्सा य ॥

कायोत्सर्गमाद्यं कृत्वा वसतावागत्य शेषं गुरुभिः सह कुर्वन्ति । अथवा द्वौ कायोत्सर्गौ कृत्वा, यदि वा त्रीन् कायोत्सर्गान् कृत्वा, अथवा कायोत्सर्गद्वयानन्तरं यत् कृतिकर्म तत्कृत्वा, अथवा तदनन्तरमालोचनामपि कृत्वा, यदि वा तत्परं यत्प्रतिक्रमणं तदपि कृत्वा, अथवा तदनन्तरं यत्कृतिकर्म किमेवम्, तत् क्षामणादर्वाक्तनं, परं चेत्यर्थः, तदपि कृत्वा । पाठान्तरम्—“ तिविहं ते वि ” मूलकृतिकर्मोपेक्षया त्रिविधं वा कृतिकर्म कृत्वा । अथवा कायोत्सर्गे चरमे पाण्मासिकं कृत्वा, परिज्ञा प्रत्याख्यानं, तामपि वा कृत्वा । अत्रायं विधिः—सर्वे साधवश्चरमकायोत्सर्गे वसतावागत्य गुरुसमीपे वन्दनं कृत्वा, सर्वोत्तमश्च ज्येष्ठ आलोच्य, सर्वे प्रत्याख्यानं गृह्णन्ति । अथवा—सर्वमावश्यकं कृत्वा, एकां च स्तुतिं दत्त्वा, शेषे द्वे स्तुती कृत्वा, शेषं गुरुसकाशे कुर्वन्ति । तदेवमुक्तं देशत आवश्यकस्य करणम् ।

अधुना सर्वतः करणमाह—

शुति मंगलं च काञ्चं, आगमणं होति अभिनिशिज्जातो ।
वितियपदे जयणा ऊ, गिह्वाणमादी उ कायन्वा ॥

अथवा प्रत्याख्यानं, तदनन्तरं स्तुतिं, मङ्गलं च स्तुतित्रयाकर्षणरूपं तत्र कृत्वा अभिशय्यात आगमनं प्रवति । तत्रेयं सामाचारी—गुरुसमीपे ज्येष्ठ एक आलोचयति, आलोच्य प्रत्याख्यानं गृह्णाति, शेषैः ज्येष्ठस्य पुरत आलोचना । प्रत्याख्यानं च कृतं, वन्दनं च सर्वे ददति, क्षामणं च । द्वितीयपदे अपवादपदे ग्लानादिषु प्रयोजनेषु भजना कर्तव्या । किमुक्तं भवति—ग्लानादिकं प्रयोजनमुद्दिश्य वसतौ नागच्छेयुरपीति ।

ग्लानादीन्येव प्रयोजनान्याह—

गेहस्य वास महिआ, पटुड अंतरे निवे अगणी ।

एष भद्रेष्वनुक्तदरागद्वेषेषु लोकेषु प्राशुक्षाः कथादिसमुत्था दोषा न सन्ति, तत्राभिषय्यामपि गच्छन्नाचार्यः शुद्धः, इतरेऽपि ये अनापृच्छया गच्छन्ति, येऽपि च प्रतिषेधितास्तेऽपि च यतनया गच्छन्ति ।

का यतना ?, इति चेदत आह—

वसतीं असज्जाप, सजादिगतो य पाहुणो ददुं ।

सोऽं व असज्जापं, वसहिं उवेंति जणइ अभे ॥

वसतावस्वाध्यायो जातो, गुरवश्च संज्ञाचुम्ब्यादिषु गताः, ततोऽस्वाध्याये, तथा स्वयं (संज्ञादिगतः) संज्ञाभूमिम्, आदिशब्दादन्यद्वा स्थानं प्रयोजनेन गतः सन् प्राधूर्णकान् समागच्छतो दृष्ट्वा नूनमस्माकं वसतिः संकटा प्राधूर्णकाश्च बहवः समागताः, ततो न सर्वेषां संस्तारकयोग्यभूमिरवाप्यते इति विचिन्त्य, तथा पूर्वं वसतावस्वाध्यायो नाभूत् संज्ञादिगतेन च तेन धृतं, यथा-जातो वसतावस्वाध्यायस्ततोऽस्वाध्यायं च श्रुत्वा यावद् गुरुणां प्रभुं वसतावागच्छति तावद् रात्रिः समापतति, दूरे चाग्निशय्या, रात्रौ च गच्छतामारक्तकमयं, ततोऽनापृच्छयैव ततः स्थानादभिषय्यां गच्छति, केवलं येऽप्ये साधवो वसतिमुपयन्ति, ताद् भणति-प्रतिपादयति, संदिशतीत्यर्थः ।

किं तद् ?, इत्याह—

दीवेह गुरुण इमं, दूरे वसही इमो विकालो य ।

संधारकाढकाइय-जूमिपेइह एमेव ॥

दीपयत प्रकाशयत-कथयतेति यावत् । गुरुणां, यथा-दूरे वसतिरभिषय्या । अयं च प्रत्यक्षत उपसृज्यमानो विकालः समापतितः, तत एवमेव अनापृच्छयैव युष्मान्, संस्तारकभूमेः कालभूमिनां कायिकीभूमिनां (कायिकी संज्ञा) उपलक्षणमेतत्-प्रश्रवणभूमिनां च प्रेक्षाऽर्थमभिषय्यां गत इति । एवमनापृच्छायामपवाद उक्तः ।

सम्प्रति प्रतिषिद्धेऽपवादमाह—

एमेव य पनिसिद्धे, सक्षादिगयस्स कंचि पनियुच्छे ।

तं पि य होढा असमि-विखज्जण पनिसिद्धितो जम्हा ॥

कस्यापि साधोरभिषय्यादिगमने गुरुणा प्रतिषिद्धे, संज्ञादिगतस्य कायिक्यादिगतस्य कायिक्यादिभूमिगतस्य सत एवमेव मनन्तरोक्तेन प्रकारेण, गुरुन् प्रति संदेशकथनं ज्ञातव्यम् । कथम् ?, इत्याह—(कंचि पनियुच्छे सि) कमपि वृषमं प्रतिपृच्छेत्-यथा न मम किमपि गमनप्रतिषेधकारणमभूत्, केवलमेवमेव गुरुणा प्रसिद्धः, अयं च मया स्वाध्यायः कर्तव्यः, वसतौ वा स्वाध्यायादिकमुपजातमतः किं करोमि ?, यामि वसतिं, प्रतिपृच्छामि गुरुमिति । एवमुक्ते ते वृषभादयोऽभिषय्यां गन्तुकामाः कालस्य स्तोक्तत्वाद् यावद् वसतौ गत्वा गुरुन् प्रतिपृच्छ्य समागच्छन्ति तावद् रात्रिः पततीति तं प्रत्येषमुदीरयन्ति । (तं पि येत्यादि) तदपि गुरुणां प्रतिपृच्छनं (होढा इति) देशीपदमेतत् । दक्षमेव, कृतमेवेत्यर्थः । यस्मादसमीक्ष्यापर्यालोच्य, अनाभोगत एवेत्यर्थः । त्वं प्रतिषेधितः, ततो यदत्र किमपि गुरवो वक्ष्यन्ते तत्र वयं प्रत्याख्यामः-यथैव न किमपि गमनप्रतिषेधकारणं कृतवान्, प्रतिपृच्छार्थं चागच्छन् अस्मान्निर्वाहः, तावत्कालस्याप्राप्यमाणत्वात् । एवमुक्त्वा वल्लादपि तं वृषभा नयन्ति, सोऽपि च बलाधीयमानश्चिन्तयति-यथा नास्ति मम कश्चिद्दोषः, किं न गच्छामीति । स च तत्र ग-

च्छन्, वृषभाश्च येऽप्ये साधवो वसतिमुपयान्ति, तेषां संदेशं प्रयच्छन्ति ।

अथासमीक्ष्य प्रतिषिद्ध इति वृषभाः कथं जानन्तीत्यत आह—

जाणंति व तं वसज्जा, अह्वा वसज्जाण तेण सज्जावो ।

कहितो न मेऽस्य दोसो, तो णं वसज्जा वल्ला निंति ॥

जानन्ति स्वयमेव तं वृषभाः, यथा-निर्दोष एषोऽकारणे गुरुणा प्रतिषिद्धः, अस्मात्समकमेवास्य प्रायोऽवस्थानात् । अथवा तेन वृषजाणां संज्ञावः कथितः-यथा न मे कश्चन दोष इति । तत एतद् ज्ञात्वा गुरुमनापृच्छयैव यथोक्तप्रकारेण वृषभा वल्लाप्रयन्ति । योऽपि आचार्यस्य प्रतिचार्यस्य प्रतिचारी पूर्वं प्रतिषिद्धः सोऽपि, 'तत्कर्तव्यं यद् वृषभैः सम्पादितं भवति' इति ज्ञात्वा ततो गच्छत्यभिषय्यामिति न कश्चिद्दोषः ।

सम्प्रति अभिषय्याया नैपेधिक्याश्च प्रेक्षानाह—

अभिसेज्जमजिनिसीहिय, एक्केका दुविह होइ नायव्वा ।

एगवगभाएँ अंतो, वहिया संवच्छाऽसंवच्छा ॥

या गन्तव्या अभिषय्या, अभिनैपेधिकी वा, सा एकैका द्विविधा भवति । तद्यथा-साधुवसते (एगवगडाए इति) एकवृत्तिपरिक्रेपायामन्तर्बहिः । इयमत्र जावना-द्विविधा अभिषय्या, एका वसतेरेकवृत्तिपरिक्रेपाया अन्तः, अपरा बहिः । एवं नैपेधिक्यापि द्विविधा भावनीया । नूय एकैकाऽभिषय्या द्विविधा । तद्यथा-संवच्छा, असंवच्छा च । तत्र यस्या अभिषय्याया वसते-श्च एक एव पृष्ठवंशः सा संवच्छा । यस्याः पुनः पृथक् पृष्ठवंशः सा असंवच्छा । अथैकवृत्तिपरिक्रेपस्यान्तरभिषय्या द्विविधाऽपि यथोक्तप्रकारा घटते, या त्वेकवृत्तिपरिक्रेपस्य बहिः सा नूनमसंवच्छा स्यात्, तस्याः सुप्रतीतत्वात् । या पुनः संवच्छा, सा कथमुपपद्यते ?, उच्यते—यस्या अभिषय्याया वृत्तिपरिक्रेपस्य बहिर्भूतायाः, वसतेश्च तल्लगनायाः पृष्ठवंशोऽपान्तराले च भित्तिः, सा बहिर्भूताऽपि संवच्छेति । नैपेधिकी पुनरन्तर्बहिर्वा नियमादसंवच्छैव । हस्तशतस्यान्यन्तरतोऽस्वाध्यायिके समुत्पन्ने स्वाध्यायासंभवात् ।

तथा चाऽऽह—

जा सा उ अभिनिसीहिय, सा नियमा होउ क असंवच्छा ।

संवच्छमसंवच्छा, अभिसेज्जा होति नायव्वा ॥

अत्र येति-अवगते, सेति-यदुक्तं तद्दोषाभावोपक्रमप्रदर्शनार्थमित्यदुष्टम् । याऽस्य अभिनैपेधिकी, सा नियमान्नवत्यसंवच्छा । कारणमनन्तरमेवोक्तम्, या त्वभिषय्या सा संवच्छा असंवच्छा च भवति ज्ञातव्या ।

अथ कस्यां वेद्यायां तत्र गन्तव्यम् ?, तत्र आह—

धरमाणच्चिय सूरै, संधारुच्चारकाढजूमिओ ।

पनिलेहियऽणुषविण, वसहीहँ वयंतिपं वेत्तं ॥

योऽसावभिषय्यायाः शय्यातरस्तं वृषभा अनुज्ञापयन्ति, यथा-स्वाध्यायनिमित्तं वयमत्र वत्स्याम इति । तत एवं वृषभैरनुज्ञापिते शय्यातरे, धरमाण एव अनस्तमिते एव सूर्ये, तत्राभिषय्यायां संस्तारकोच्चारकालभूमौः प्रत्युपेक्ष्य नूयो वसतावागत्य इमां वेद्यामिति " कालाध्वनोर्व्याप्तौ " ॥ ३ । २ । २४ ॥ इति (हैम) सूत्रेण सप्तम्यर्थे द्वितीया । अस्यामनन्तरं वक्ष्यमाणायां वेद्यायां प्रजन्ति ।

साम्प्रतमभिप्रायसिद्धं प्रतिपादयन्नाह—

विपुला विमला सुहुमा, जस्स मई जो चउव्विहाए वा ।
बुद्धीए संपन्नो, स बुद्धिसिद्धो इमा सा य ॥

विपुला विस्तारवती, एकपदेनानेकपदानुसारिणीति भावः ।
विमला संशयविपर्ययानध्यवसायमलरहिता, सुहुमा अतिदुरव-
योधसूक्ष्मव्यवहितार्थपरिच्छेदसमर्था, यस्य मतिः स बु-
द्धिसिद्धः । यदि वा—यश्चतुर्विधया औत्पत्तिक्यादिभेदभिन्नया
बुद्ध्या संपन्नः स बुद्धिसिद्धः । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।
(अस्य कथा 'उत्पत्तिया' शब्दे द्वितीयभागे ८२५ पृष्ठे कथ्यते)

अभिप्येय—अभिप्रेत—त्रि० । मनोविकल्पिते, विज्ञे० । आचा० ।
कामयति, दश० ६ अ० । अभिप्रेतविषये, संयोगे च । उक्त० १
अ० । ('संयोग' शब्देऽस्य विवृतिः)

अभिभव—अभिज्ञव—पुं० । अभियोगे, आच० ५ अ० । पराजये,
आचा० १ भु० २ अ० २ व० । आ० चू० । अभिभवो नामादिभेद-
तश्चतुर्धा । द्रव्याभिज्ञवो रिपुसेनादिपराजयः, आदित्यतेजसा
वा चन्द्रग्रहणकृत्रादितेजोऽभिभवः । भावाभिज्ञवस्तु—परीपहो-
पसर्गानीकजयाद् ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायकर्मनिर्वहणं, प-
रीपहोपसर्गादिसेनाविजयाद्विमलं चरणं, चरणशुद्धेर्ज्ञानावर-
णादिकर्मक्षयः, तत्तत्क्षयाभिरावरणमप्रतिहतमशेषकृत्यग्राहि केव-
लमुपजायते । इदमुक्तं भवति—परीपहोपसर्गज्ञानदर्शनावरणीय-
मोहान्तरायाण्यभिभूय केवलमुत्पाद्य तैरुपलब्धमिति । आचा०
१ भु० १ अ० ४ व० ।

अभिज्ञविय—अभिज्ञय—अव्य० । जित्वेत्यर्थे, भ० ६ श० ३३ उ० ।

अभिज्ञय—अभिज्ञय—अव्य० । आभिमुख्येन पीरयित्वेत्यर्थे,
सूत्र० २ भु० १ अ० । जित्वेत्यर्थे, प्रश्न० २ आ० ६ अ० । परा-
जित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ भु० ६ अ० । दश० । तिरस्कृत्येत्यर्थे च । आ-
चा० १ भु० ५ अ० ६ उ० ।

अभिज्ञत—त्रि० । व्याप्ते, जं० २ व० । तिरोहितश्च भव्यापारे
च । आचा० १ भु० ३ अ० १ उ० ।

अभिज्ञयणाणि (ए)—अभिज्ञयज्ञानिन्—पुं० । अभिज्ञय
पराजित्य मत्यादीनि चत्वार्यपि ज्ञानानि यद्वर्तते ज्ञानं केवला-
ख्यं तेन ज्ञानेन ज्ञानी । केवलानि, सूत्र० १ भु० ६ उ० ।

अभिमतिकाण—(अभिमतिय)—अभिमन्त्र्य—अव्य० । मन्त्र-
पाठेन संस्कृत्येत्यर्थे, "रायणो जे खंभा, अच्छति ते अभिमं-
तिय आगासेण उप्पाइया" आ० म० द्वि० । नि० चू० ।

अभिमत्यु—अभिमन्यु—अव्य० । "न्यएयोर्ज्ञः" ८ । ४ । ३०५ ।
इति पैशाच्यां न्यएयोः स्थाने ज्ञो जातः । अर्जुनस्य सुमद्रायां
जाते पुत्रे, प्रा० ४ पाद ।

अभिमय—अभिमत—त्रि० । इष्टे, सूत्र० २ भु० ४ अ० । विज्ञे० ।

अभिमयङ्—अभिमतार्थ—पुं० । अवधारितार्थे, ज्ञा० १ अ० ।

अभिमाण—अभिमान—पुं० । अभि—मद्—भावे घञ् । आत्मन्यु-
त्कर्षारोपे, मिथ्यागर्वे, अर्थादिद्वये, ज्ञाने, प्रलये, हिंसायां च ।
वाच० । "अभिमाणो माणो जणति" । नि० चू० १ उ० ।
('इदञ्च' शब्दे द्वितीयभागे ५४४ पृष्ठे तदभिमानो कथ्यते)

अभिमाणवच्—अभिमानवच्—त्रि० । अभिमानास्पदे, सूत्र० १
भु० १३ उ० ।

अभिमार—अभिमार—पुं० । विशेषतोऽग्निजनके वृक्षविशेषे,
उक्त० ३ व० ।

अभिमुद्—अभिमुख—त्रि० । अभि भगवन्तं हृदयीकृत्य मुख-
मस्येति अभिमुखः । भगवतः संमुखे, रा० । कृतोद्यमे, पा० ।
चं० प्र० । ज्ञा० । अन्त० । सू० प्र० । औ० ।

अभियंद—अभिचन्द्र—पुं० । महाबलस्य राक्षः स्वनामख्याते
प्रियवयसे, ज्ञा० ५ अ० ।

अभियावण—अभ्यापन्न—त्रि० । आभिमुख्येन प्रांगानुकूल्ये-
नाऽऽपन्नो व्यवस्थितः । सावधानुष्ठानेषु प्रतिपन्ने, सूत्र० १ भु०
४ अ० २ व० ।

अभिरइ—अभिरति—स्त्री० । लोकेऽर्थादिभ्य आभिमुख्येन रतौ,
विज्ञे० ।

अभिरमंत—अभिरममाण—त्रि० । अभिमतो रतिं कुर्वाणे, "अभि-
रममाणा तुष्टा" प्रश्न० १ आ० ६ अ० ।

अभिराम—अभिराम—त्रि० । रम्ये, ज्ञा० १३ अ० । औ० । अभिर-
मणीये, चं० प्र० २० पादु० । विपा० । रा० । आ० म० । स० ।
मनोके, ज्ञा० १७ अ० । मनोहरे, कल्प० १ क० ।

अभिरुइय—अभिरुचित—त्रि० । स्वाहुजावमिबोपगते, भ० ६
श० ३३ उ० ।

अभिरुव—अभिरूप—त्रि० । अभि आभिमुख्येन सदाऽवस्थितानि
रूपाणि राजहंसचक्रवाकसारसादीनि गजमहिषसृगयूयादीनि
वा जलान्तर्गतानि करिमकरादीनि वा यस्मिंस्तदभिरूपमिति ।
सूत्र० २ भु० १ अ० । अभिरूपं प्रति प्रत्येकमभिमुखमतीव
चेतोहारित्वाद् रूपमाकारो यस्य स अभिरूपः । रा० । अभि-
सर्वेषां रूपानां मनःप्रसादानुकूलतया अभिमुखं रूपं यस्य तत्
अभिरूपम् । अत्यन्तकमनीये, तं० । जी० । प्रज्ञा० । स्था० ।
अभिमतरूपे, विपा० १ भु० २ अ० । जं० । रूपारं रूपारं प्र-
त्यभिमुखं न कस्यचिद्विरागहेतुरूपमाकारो यस्य सोऽभिरूपः ।
रा० । अभिमुखमतीवोत्कटं रूपमाकारो यस्य सः । सू० प्र० १
पादु० । मनोकरूपे, ज्ञा० १ अ० । वपा० । औ० । भ० । अभि-
प्रतिक्षणं नवं नवमिव रूपं यस्य तदभिरूपम् । आ० म० प्र० ।
अनुसमयमहीयमानरूपे, स० । "अभिरुवं अभिरुवं पभिरुवं
पभिरुवं पासादीयं पासादीयं" आचा० २ भु० ४ अ० २ व० ।

अभिलप्य—अभिहाप्य—त्रि० । कथनयोग्ये, प्रज्ञापनयोग्ये,
आ० म० प्र० । सूत्र० । "जे पुण अभिलप्पा ते बुविहा भवं-
ति । तं जहा—पणवणिज्जा, अपणवणिज्जा च । तत्थ जे ते
अपणवणिज्जा तेसु वि ए चेव अहिगारो अत्थि ति । जे पुण
पणवणिज्जा भावा ते केवलणाणेण पासिऊण तित्थयरो ति-
त्थकरनामकम्मोदण सव्वसत्ताणं अणुमंहनिमित्तं ज्ञासति" ।
आ० चू० १ अ० ।

अभिलाव—अभिहाप्य—पुं० । अभिलप्यते आभिमुख्येन व्यक्त-
मुच्यते अनेनार्थे इत्यभिहापः । वाचके शब्दे, तद्विषये संयोगे
च । उक्त० १ अ० । आ० म० । विशेष० । प्रज्ञा० ॥

अद्दिगणहृत्त्यसंभम-गेद्वण निवेयणा नवरि ॥

ग्नानत्यमेकस्य बहूनां वा साधूनां तत्रानवत्, ततः सर्वेऽपि साधवस्तत्र व्यापृतीभूता इति न वसतावागमनम् । अथवा वर्ष पतितुमारब्धम् । महिका वा पतितुं लग्ना । यद्वा- (पटुद्रुति) प्रक्षिप्तः कोऽप्यन्तरा विरूपकरणाय तिष्ठति । अन्तःपुरं वा तदानीं निर्गन्तुमारब्धं, तत्र च राज्ञा उद्योगितम्-यथा पुरुषेण न केनापि रथ्यामु संचरितव्यम् । राजा वा तदा निर्गच्छति, तत्र हयगजपुरुषादीनां संमर्दः । अग्निक्वायो वाऽपान्तराले महान् उतियतः । अधिकरणं वा गृहस्थेन समं कथमपि जातं गृहद्, वृषणास्तदुपशमयितुं लग्नाः । इस्ति संभ्रमो वा जातः । किमु कं भवति? हस्ती कथमप्यालानस्मर्भं भङ्क्त्वा शून्यासनः खेच्छया तदा परिभ्रमति । एतेषु कारणेषु नागच्छेयुरपि वसतिम् । नवरमेतेषु कारणेषु मध्ये ग्लानत्ये विशेषः, यदि ग्लानत्वमागादमुपजातमेकस्य बहूनां वा, तदा गुरुणा निवेदना कर्तव्येति । समाता प्राप्तरत्नसूत्रस्य निर्विशेषा व्याख्या । व्य० १ उ० ।

अग्निषिसरु-अग्निस्मृत-त्रि० । अभिविधिना निर्गताः सदास्तद्वयवक्रपाः, केशरिस्कन्धसदा वा यस्य तदभिनिःसटम् । बहिरभिनिर्गतावयवे, म० १५ ज्ञ० १ उ० ।
अग्निषिसिद्ध-अभिनिष्ट-त्रि० । बहिर्भागानिमुखं निष्टे, जी० ३ प्रति० । रा० ।

अग्निषिसेहिया-अभिर्नैपेधिकी-खी० । निपेधः स्वाध्याय-व्यतिरेकेण सकलव्यापारप्रतिषेधः, तेन निवृत्ता नैपेधिकी । अभि अभिमुख्येन संयतप्रायोग्यतया नैपेधिकी अभिर्नैपेधिकी । दिया स्वाध्यायं कृत्वा रात्रौ प्रतिगन्तव्यायां वसतौ, व्य० १ उ० । (तन्मनवचक्यताऽनन्तरमेव 'अभिषिसज्जा' शब्दे ७१५ पृष्ठे दर्शिता)

अग्निषिस्सड-अभिनिस्मृत-त्रि० । बहिष्ठाभिर्गते, "बहिया अभिषिस्सरुभो पभासेति" । म० १४ ज्ञ० ए उ० ।

अग्निषिष्मक-अग्निष्मकृत-त्रि० । आग्निमुप्येन कर्मणा प्राप्या वा कृते, "अभिषिष्मकडेहि" मुच्छिद्य, तिव्वं से कम्मोहि किञ्चती" । सूत्र० १ शु० २ अ० १ उ० ।

अग्निष-अग्नि-त्रि० । अविशीर्णं, उपा० २ अ० । मिधवा-ध्वार्थविरुद्धे, वृ० ३ उ० । नि० चू० ।

अग्निषगंठि-अग्निगन्धि-पुं० । सच्छदप्यनवाससम्यग्दर्शने, पञ्चा० ११ विव० ।

अभिषिपुडो-देशी-रिक्पुटे, शिशुभिः क्रीरया जनप्रदोभार्थं विपणिमार्गे रिक्तां पुटिका या क्षिप्यते सैवमुच्यते । दे० ना० १ वर्ग ।

अग्निषाय- (जाणिय)-अग्निज्ञाय-अव्य० । ज्ञात्वेत्यर्थे, आचा० १ शु० ए अ० १ उ० । बुद्धेत्यर्थे, आचा० १ शु० ६ अ० ६ उ० । आग्निमुख्येन परिच्छिद्य इत्येतेषां शब्दानामर्थेषु, आचा० १ शु० ३ अ० १ उ० ।

अभिषायदंसण-अभिज्ञातदर्शन-त्रि० । सम्यक्त्वभावनया प्राविते, आचा० १ शु० ए अ० १ उ० ।

अग्निषायार-अग्निचाचार-पुं० । न भिक्षो न केनचिदप्यती-चारविशेषेण खरिडित आचारो ज्ञानाचारादिको यस्यासाव- १२२

भिचाचारः । (व्य०) जात्योपजीवनादिपरिहरति, व्य० ३ उ० ।
अजितत-अभितप्त-त्रि० । अग्निना आभिमुख्येन सन्तापिते, सूत्र० १ शु० ४ अ० १ उ० ।

अजितप्पमाण-अभितप्पमान-त्रि० । कदर्थ्यमाने, सूत्र० १ शु० ५ अ० १ उ० ।

अभिताव-अभिताप-अव्य० । तापाग्निमुखे, आचा० १ शु० ६ अ० ४ उ० । ककचपाटनकुम्भीपाकतप्तपुपानशाल्मल्यालि-ङ्गनादिरूपे सन्तापे, सूत्र० २ शु० ६ अ० । दाहे, सूत्र० १ शु० ५ अ० १ उ० ।

अभिष्टुय-अभिष्टुत-त्रि० । विशिष्टगुणोत्कीर्तनेन व्यावर्षिते, संथा० ।

अजित्यवमाण-अजिष्टुवत्-त्रि० । संस्तुवति, स्था० ६ ज्ञ० ।
अजिष्टुमान-त्रि० । अभिनन्द्यमाने संस्तुयमाने, स्था० ६ ज्ञ० । कक्ष० । ग्रा० म० ।

अजिदुगा-अभिदुर्ग-पुं० । कुम्भीशाल्मल्यादौ, (सूत्र०) अति-विषमे, सूत्र० १ शु० ५ अ० २ उ० । अग्निस्थाने, सूत्र० १ शु० ५ अ० १ उ० ।

अभिदुय-अजिद्रुत-त्रि० । अव्यवसायरूपेण व्याप्ते, सूत्र० १ शु० ३ अ० ३ उ० । गर्भाधानादिदुःखैः पीडिते, सूत्र० १ शु० २ अ० ३ उ० ।

अग्निधारण-अग्निधारण-न० । प्रव्रज्यार्यमाचार्यादेर्मनसा संकल्पने, तथा द्विधा-अनिर्दिष्टं, निर्दिष्टं च । अनिर्दिष्टं नाम अभिधारयन् कमप्याचार्यं विशेषतो न निर्दिशति । स च अभिधारको द्विधा-संज्ञी, असंज्ञी च । पुनरेकैको द्विधा-गृहीत-विद्वाः, अगृहीतविद्वाः । (व्य०) मनसि करणे, वृ० ३ उ० । व्य० ।

अग्निधेज्ज-अग्निधेय-त्रि० । अर्थे शब्दवाच्ये, यथा घटशब्देन घटोऽग्निधीयते । विशेषः । नि० चू० ।

अभिपवुट्ट-अग्निप्रवृष्ट-त्रि० । कृतवर्षे, " वासावासे अभि-पवुठे बहवे पाणा " । आचा० २ शु० ३ अ० १ उ० ।

अग्निष्पाइयणाय-आभिप्रायिकनामन्-न० । अभिप्रायतः क्रियमाणे नामनि, अनु० ।

से किं तं अग्निष्पाइयणामे ? । अग्निष्पाइयणामे अंवरं निवुण वकुलए पलासए सिणए पीलुए करीरए । सेत्तं अग्निष्पाइयणामे ॥

इह यदुच्चादिषु प्रसिद्धम् 'अम्यक-निम्बक' इत्यादिनाम देश-रुद्ध्या स्वाग्निप्रायानुरोधतो गुणनिरपेक्षं पुरुषेषु व्यवस्थाप्यते, तदभिप्रायिकं स्थापनानामेति । प्रावार्थः-तदेतत्स्थापनाप्र-माणनिष्पन्नं सप्तविधं नामेति । अनु० ।

अग्निष्पाय-अग्निप्राय-पुं० । मनोविकल्पे, विशेषः । बुद्धिवि-पर्यये, आ० म० द्वि० । बुद्धेरव्यवसाये, आ० म० प्र० । चेतःप्रवृत्तौ, आचा० १ शु० ४ अ० १ उ० । अभिप्रायश्चतुर्विधः-औ-त्पत्तिकी, वैनायिकी, कर्मजा, पारिणामिकीत्यादिना । आ० चू० । संविक्रान्तमवगमो नावोऽभिप्राय इत्यनर्थान्तरम् । आ० म० प्र० । (अस्य च 'बुद्धि' शब्दे व्याख्या ऊरुष्या)

अभिष्पायसिद्ध-अग्निप्रायसिद्ध-पुं० । बुद्धिसिद्धे, आ० म० ।

अभिवायण-अभिवादन-न० । बाह्यनमस्कारे, दश० २ च० ।
उच० । पादयोः प्रणिपतने, तं० । कायेन प्रणिपाते, संथा० ।
आचा० ।

अभिवायमाण-अभिवाद्यत-त्रि० । अभिवादनं कुर्वाणे, आ-
चा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिवाहरण-अभिव्याहरण-स्त्री० । संशब्दनायाम्, पञ्चा०
२ विव० ।

अभिवाहार-अभिव्याहार-पुं० । अभिव्याहरणमभिव्याहारः ।
कालिकादिश्रुतविषये वदेशसमुद्देशादौ, आद्योचनादिषु अष्टमे
नये, विशेष० । आ० म०

अधुना चरमद्वारं व्याचिख्यासुराह-

अभिवाहारो कालिय-स्यस्स मुत्तत्यतदुज्जणं ति ।
द्व्यगुणपञ्जवेहिं य, दिन्नीवायस्मि बोधन्वे ॥

अभिव्याहरणं शिष्याचार्ययोः वचनप्रतिवचने अभिव्याहारः ।
स च कालिकश्रुते आचारादौ, (मुत्तत्यतदुज्जणं ति) सूत्रतो
ऽर्थतः, तदुभयतश्च । इयमत्र भावना-शिष्येण इच्छाकारेणोदम-
ङ्गाद्युद्दिशस्वेत्युक्ते सति इच्छापुरस्सरमाचार्यवचनम्-“अहमस्य
साधोरिदमङ्गमभ्ययनमुद्देशं वा उद्दिशामि” वदामीत्यर्थः । आसो-
पदेशपारस्पर्यव्यापनार्थं कृमाभमणानां हस्तेन सौत्येक्या सूत्र-
तोऽर्थतस्तदुभयतो वागस्मिन् काविकश्रुते । अयोत्काविके दृष्टिवादे
कथम्, इत्यत आह-द्व्यगुणपर्यायैश्च दृष्टिवादे बोद्धव्योऽभि-
व्याहारः । एतदुक्तं भवति-शिष्यवचनानन्तरमाचार्यवचनम्-“इ-
दमुद्दिशामि सूत्रतोऽर्थतस्तदुभयतो द्व्यगुणपर्यायैरनन्तरम-
ङ्गसहितैरिति” । एवं गुरुणा समादिष्टेऽभिव्याहारे शिष्याभिव्या-
हारः । शिष्यो ब्रवीति-“उद्दिशस्वेदं मम, इच्छाम्यनुशासनं क्रि-
यमाणं पूज्यैरिति । एवमभिव्याहारद्वारमष्टमं नीतिविशेषनये ।
आ० म० प्र० ।

अभिवाहि-अभिविधि-पुं० । सामस्त्ये, पञ्चा० १५ विव० ।
आ० म० ।

अभिवृद्धि-अभिवृद्धि-पुं० । अहिर्बुध्नापरनामके उत्तरभास्व-
दनक्षत्रे, जं० ७ वक्त्र० ।

अभिवृद्धि-अभिवृद्धि-अव्य० । अभिवृद्धिं कारयित्वेत्यर्थे,
सु० प्र० १ पाङ्ग० ।

अभिर्वज्रण-अभिव्यञ्जन-न० । स्वरूपतः प्रकाशने, सूत्र० १
श्रु० १ अ० १ उ० ॥

अभिसंका-अभिशाङ्क-स्त्री० । तथ्यानिर्णये, सूत्र० २ श्रु० ६
अ० । स्था० । “भूयाभिसंकाश्च दुर्गुणमाये, ण णिव्वहे मंतप-
देण गोयं” जूतेषु प्राणिषु अभिशङ्का उपमर्दशङ्का, तथाऽऽशा-
र्वादां सावधं, जुगुप्सां वा न ब्रूयात् । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अभिसंकि (ण)-अभिशाङ्किन्-त्रि० । “उज्जु मारामिशं-
की मरणा पमुच्चति” । मरणं मारः, तदभिशाङ्की मरणा-
दुद्विग्नस्तत्करोति येन मरणात् प्रमुच्यते । आचा० १ श्रु० ३
अ० १ उ० ।

अभिसं (स्सं) ग-अभिष्वङ्ग-पुं० । भावरागे, विशेष० । अघ्यु-
पपत्तौ, स्था० ३ ग्रा० ४ उ० ।

अभिसंजाय-अभिसंजात-त्रि० । पेशी यावदुत्पन्ने, आचा०
१ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिसंधारण-अभिसंधारण-न० । पर्याद्योचने, आचा० १
श्रु० १ अ० १ उ० ।

अभिसंधिय-अभिसंधित-त्रि० । गृहीते, आचा० १ श्रु० ४
अ० २ उ० ।

अभिसंचय-अभिसंचूत-त्रि० । यावत्कलवं तावदभिसंभूताः ।
आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । प्रादुर्भूते, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अभिसंवृद्ध-अभिसंवृद्ध-त्रि० । धर्मश्रवणयोग्यावस्थायां वर्तमाने,
आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिसंवृद्ध-अभिसंवृद्ध-त्रि० । धर्मकथादिकं निमित्तमासाद्यो-
पलब्धपुष्पापतया ज्ञाते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिसमन्वागय-अभिसमन्वागत-त्रि० । अभिरात्रिमुख्येन स-
म्यगिष्टानिष्टावधारणतया अन्विति शब्दादिस्वरूपापगमात् प-
श्चादागतो ज्ञातः परिच्छिन्नः । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । प्रज्ञा० ।
आभिमुख्येन व्यवस्थिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० । परिभो
गत उपजोगं प्राप्ते, ज्ञा० २ श्रु० । विशेषतः परिच्छिन्ने, भ० ५ श्रु०
४ उ० । मिहिते, ज० १५ श्रु० १ उ० । अभिविधिना, सर्वाणीत्य-
र्थः । समन्वागतानि संप्राप्तानि जीवेन रसानुभूतिं समाश्रित्य
(ज० १५ श्रु० ४ उ०) उदयावलिकायामागतेषु, ज० १३ श्रु० ७
उ० । भोग्यावस्थां गतेषु, स्था० ४ ग्रा० ३ उ० ॥

अभिसमागम-अभिसमागम-पुं० । अभीत्यर्थाभिमुख्येन न तु
विपर्यासरूपतया समिति सम्यक् न संशयतया तथा आ-म-
न्यादया गमनमभिसमागमः । वस्तुपरिच्छेदे, स्था० ।

तिविहे अभिसमागमे पञ्चते । तं जहा-उहं अहं तिरियं ।
जया एं तहा ख्वस्स समणस्स वा माहणस्स वा अइसेसे
णाणदंसणे समुप्पज्जइ, से एं तप्पदमयाए उह्मजिसमेइ,
तओ तिरियं, तओ पच्चा, अहे अहोलोणेणं डुर-
जिगमे पञ्चते समणाउसो ! ॥

(अइसेसं चि) शेषाणि उच्यन्ते ज्ञानान्यतिक्रान्तमतिशेषं ज्ञान
दर्शनं, तच्च परमावधिरूपमिति सम्भाव्यते, केवलस्य न क्रमे-
णोपयोगः; येन-तत्प्रथमतयेत्यादि सूत्रमनवद्यं स्यादिति । तस्य
ज्ञानादेरुत्पादस्य प्रथमता तत्प्रथमता, तस्याः (उहं ति) ऊर्ध्व-
लोकमभिसमेति-समभिगच्छति जानाति । ततस्तिर्यगिति ति-
र्यग्दोक्तं, ततस्तृतीये स्थाने अध इत्यधोदोक्तमभिसमेति । एवं च
सामर्थ्यात्प्राप्तमधोलोको दुरभिगमः, क्रमेण पर्यन्ताधिगम्यत्वा-
दिति । हे अमणायुष्मन् ! इति गौतमामन्त्रणमिति । स्था० ३
ग्रा० ४ उ० ।

अभिसमागम्य-अभिसमागम्य-अव्य० । अभिरात्रिमुख्ये, स-
मेकीजावे, आह-मयांदाभिविध्योः । गल्ल-सुल्ल-गतौ, सर्वेष्व
गत्यर्थां ज्ञानार्थां ज्ञेयाः । आभिमुख्यं सम्यग्ज्ञात्वेत्यर्थः, “ एवं
अभिसमागम्य-चित्तमादाय आउसो ” दशा० ५ अध्या० ।
आचा० ॥

अभिसमेच्च-अभिसमेत्य-अव्य० । आत्रिमुख्येन सम्यगित्वा-
ज्ञात्वा । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । आत्रिमुख्येन सम्यक्

अभिलाषपावियद्-अभिलाषपावितार्थ-पुं० । शब्दसंख्येष्टं,
कर्म० ६ कर्म० ।

अभिज्ञापपुरिम-अभिज्ञापपुरूप-पुं० । अभिलप्यतेऽनेनेति
अभिलाषः शब्दः, स एव पुरुषः पुंलिङ्गतयाऽभिधानात् । पु-
रुषभेदे, यथा-घटः कुटो वेति । आह च-"अभिलाषो पुंलि-
गाभिधानमन्तं घटो च" । स्था० ३ डा० १ उ० । आ० चू० ।
विज्ञे० । आ० न० ।

अभिलास-अभिलाप-पुं० । इच्छायाम्, स्था० ५ डा० २ उ० ।
ब्रधेऽप्यधिकतरस्य वाञ्छायाम्, स्था० ४ डा० ३ उ० । यदि-
दमहं प्राप्नोमि ततो ब्रधं भवतीत्याद्यन्तरानुविज्ञायां प्रार्थना-
याम्, न० । ममैवंरूपं यस्तु पुष्टिकारि, तद्यदादमवाप्यते ततः
समीचीनं तवनीत्येवं शब्दार्थोन्नेखानुयिके स्वपुष्टिमिचञ्जल-
प्रतिनियतवस्तुप्राप्त्यप्यवसाये, न० । आ० म० । इष्टेषु श-
ब्दादिषु जोगेच्छायाम्, ज्ञा० ए प्र० ।

अभिज्ञाद्वि-अभिवाञ्छित-वि० । मासनेदे, संवत्सरजेदे च । सा० ।
तत्र एकत्रिंशद्दिनानि, एकत्रिंशत्पुच्छरशतं चतुर्विंशत्पुच्छरशत-
जागानामभिवाञ्छितमासः, पर्वधेन मासेन द्वादशप्रमाणोऽ-
नियद्वितसंवत्सरः । स च प्रमाणेन त्रीणि शतान्यह्नां त्र्यशी-
त्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्विपष्टिजागाः-३२३ । ४४ । ६२ ।
स्था० १ डा० ३ उ० । वृ० । कल्प० । स० । च० प्र० । व्य० । यस्मिन्
संवत्सरे अधिकमाससंभवेन त्रयोदश चन्द्रमासा भवन्ति, सो-
ऽनियद्वितसंवत्सरः । उक्तं च-"तेरस्य चंद्रमासा, एषो
अभिवाञ्छितो उ नायव्यो" जं० २ वक्र० ।

ता एषसि णं पंचपदं संवत्तराणं पंचमसस अभिवद्वि-
यमंवच्छरसस अभिवद्विमासे तिसतीमुदुत्तेणं अहोरेत्तेणं
गणिजमाणे केवइयराइंदियगेणं आहिप । ता एकतीसं
राइंदियाइं एगुणतीसं च मुहुत्ता सत्तरसवावडिभागे मुहुत्तस
राइंदियगेणं आहितेति वदेज्जा । ता से णं केवइए मुहुत्तगे-
णं आहिता । ता एव एगुणसट्ठे मुहुत्तसते सत्तरस य वाव-
डिभागे मुहुत्तस मुहुत्तगेण आहिता । ता एतेसि णं अष्टा
उवालसमुत्तकडा अनिवद्वीए संवत्तरे । ता से णं केवइय
राइंदियगेणं आहिता ति वदेज्जा । ता तिषि तेसीए रा-
इंदियसते एकवीसं च मुहुत्ते अट्टारसवावडिभागे मुहुत्त-
स राइंदियगेणं आहिता ति वदेज्जा । ता से णं केव-
तियमुहुत्तगेणं आहिता ति वदेज्जा । ता एकारमुहुत्तस-
हस्सा पंचप एकारे मुहुत्ते सते अट्टारस य वावडिभागे
मुहुत्तस मुहुत्तगेणं आहिता ति वदेज्जा ॥

'ता एषसि णं, इत्यादि पञ्चमाभिवाञ्छितसंवत्सरविषयं
प्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवानाह-(एकतीसमित्यादि) ता
इति पूर्ववत् । एकत्रिंशद् रात्रिदिवानि, एकोनत्रिंशच्च मु-
हूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तदश द्वापष्टिजागा रात्रि-
दिवाप्रमाण्यता इति वदेत् । तथाहि-त्रयोदशभिश्चन्द्रमासै-
रनियद्वितसंवत्सरः । चन्द्रमासस्य च परिमाणमेकोनत्रि-
ंशद् रात्रिदिवानि, एकस्य च रात्रिदिवस्य द्वात्रिंशद् द्वा-
पष्टिजागाः । २६ । ३३ । एतत् त्रयोदशभिर्गुण्यते, ततो यथा-
संज्ञं द्वापष्टिजागाः रात्रिदिवेषु कृतेषु जातमिदं त्रीण्यहो-

रात्रिशतानि त्र्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्वापष्टिजागा
अहोरात्रस्य-३७ । ३ । ४४ । एतदभिवाञ्छितसंवत्सरपरिमाण-
म् । तत्र त्रयाणां अहोरात्रशतानां त्र्यशीत्यधिकानां द्वादशभि-
भागे हते लब्धा एकत्रिंशद् अहोरात्राः, शेपास्तिष्ठन्त्येकादश । ते
मुहूर्तकरणार्थं ६२ त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रिंशदधिका-
नि त्रीणि शतानि ३३० । येऽपि च चतुश्चत्वारिंशद् द्वापष्टिभागा
रात्रिदिवस्य, तेऽपि मुहूर्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि
त्रयोदशशतानि त्रिंशत्यधिकानि १३२० । तेषां द्वापष्ट्या भागो-
ह्रियते, ब्रध्वा एकविंशतिमुहूर्ताः, शेपास्तिष्ठन्त्यष्टादश । तत्रै-
कत्रिंशतिमुहूर्ता मुहूर्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि मुहूर्तानां
त्रीणि शतान्येकपञ्चाशदधिकानि ३५१ । एतेषां द्वादश-
भिर्भागो ह्रियते, लब्धा एकोनत्रिंशन्मुहूर्ताः, शेपास्तिष्ठन्ति
त्रयः । ते द्वापष्टिजागकरणार्थं द्वापष्ट्या गुण्यन्ते, जातं
परुशीत्यधिकं शतम् १२६ । ततः प्रागुक्ताः शपीश्रुता मु-
हूर्तस्याष्टादश द्वापष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते चतु-
रत्तरे २०४ । तयोर्द्वादशभिर्भागो ह्रियते, ब्रध्वा मुहूर्तस्य
सप्तदश द्वापष्टिभागाः । (ता से णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् ।
सोऽनियद्वितसंवत्सरः कियान् मुहूर्ताप्रमाण्यता इति वदेत् ।
भगवानाह-(ता नयेत्यादि) न च मुहूर्तशतानि एकोनपष्ट्याधि-
कानि ९५६ । सप्तदश च मुहूर्तस्य द्वापष्टिभागाः । तथाहि-
एकत्रिंशदप्यहोरात्राः त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि
त्रिंशदधिकानि मुहूर्तानाम् । तत् उपरितना एकोनत्रिंशन्मुह-
ूर्तास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि मुहूर्तानामेकोनपष्ट्याधिकानि नव-
शतानि । (ता एषसि णमित्यादि) प्राग्वद् व्याख्येयम् । (ता से
णमित्यादि) रात्रिदिवप्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवानाह-(ता
तिषीत्यादि) त्रीणि रात्रिदिवशतानि त्र्यशीत्यधिकानि एक-
विंशतिमुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्याष्टादश द्वापष्टिभागा रात्रि-
दिवाप्रमाण्यता इति वदेत् । तथाहि-एकत्रिंशद् अहोरात्रा द्वा-
दशभिर्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि द्विसप्तत्यधिकानि रा-
त्रिदिवानाम् ३७२ । तत् एकोनत्रिंशद् मुहूर्ता द्वादशभिर्गुण्यन्ते,
जातानि त्रीणि शतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि ३४७ । तेषा-
महोरात्रकरणार्थं त्रिंशता भागो ह्रियते, ब्रध्वा एकादश अहोरा-
त्राः, अष्टादश तिष्ठन्ति । येऽपि च सप्तदश द्वापष्टिजागाः मुहूर्त-
स्य, तेऽपि द्वादशभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे शते चतुरत्तरे २०४ ।
ततो द्वापष्ट्या भागो ह्रियते, ब्रध्वाष्टयो मुहूर्ताः, ते प्राक्नेषु
अष्टादशसु मध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाता एकविंशतिमुहूर्ताः । शेपा-
स्तिष्ठन्त्यष्टादश द्वापष्टिभागा मुहूर्तस्य । (ता से णमित्यादि)
प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-(एकारसत्यादि) एकादश
मुहूर्तसहस्राणि पञ्च मुहूर्तशतानि एकादशाधिकानि अष्टा-
दश च द्वापष्टिभागा मुहूर्तस्येति मुहूर्ताप्रमाण्यतिसंवत्सर
आख्यात इति वदेत् । तथाहि-अभिवाञ्छितसंवत्सरस्य परिमाणं
त्रीण्यहोरात्रशतानि त्र्यशीत्यधिकानि एकविंशतिमुहूर्ताः, एक-
स्य च मुहूर्तस्याष्टादश द्वापष्टिभागास्तत्र एकैकस्मिन् रात्रि-
दिवे त्रिंशद् मुहूर्ता इति त्रीण्यहोरात्रशतानि त्र्यशीत्यधिका-
नि त्रिंशता गुण्यन्ते, गुणयित्वा चोपरितना एकविंशतिमुहूर्ता-
स्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, ततो यथोक्ता मुहूर्तसंख्या भवतीति ।
च० प्र० १२ पाहु० । नि० चू० । ज्यो० । जं० । (अवशेषा व-
क्तव्यता " मास " ' संवत्तर ' शब्दयोः करिष्यते)

अभिवद्नेमाण-अभिवाञ्छित-वि० । अभिवद्वि कुर्वाणे, जं० ७ वक्र० ।

तेष्वेव उवागच्छिता सल्लिखोदगं गेहंति, सल्लिखोदगं गे-
 णिहत्ता तं चेव० जेण्वेव विगडावतिगंधावति० वद्वेयवृषव्या
 तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छिता सव्वपुप्फे य तं चेव०
 जेण्वेव णिसद्वणीद्ववंतवासद्वरपव्वता तेष्वेव उवागच्छति,
 तेष्वेव उवागच्छिता सव्वतुवरे य तं चेव० जेण्वेव तिगिच्छि-
 द्दहं केसरिद्वहं तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छिता द-
 होदगं गेहंति, दहोदगं गेहत्ता तं चेव० जेण्वेव पुव्ववि-
 देहश्रवरविदेहवासाणि जेण्वेव सीयासीओयामहानईओ
 जहा नईसु जेण्वेव सव्वचक्कवद्विजया जेण्वेव विदेहावरवि-
 देहवासाइं जेण्वेव सव्वमागद्ववरदामपभासाइं तित्थाइं जेण्वेव
 सव्वंतरणदीओ० सल्लिखोदगं गेहंति, सल्लिखोदगं गेहत्ता
 तं चेव० जेण्वेव सव्ववक्खारपव्वता० सव्वतुवरे य तं चेव०
 जेण्वेव मंदरे पव्वए जेण्वेव नदसासवणे तेष्वेव उवागच्छति,
 तेष्वेव उवागच्छिता सव्वतुवरे य० जाव सव्वोसहिंसिद्धत्यए
 य गेहंति, गेहत्ता जेण्वेव नंदणवणे तेष्वेव उवागच्छति,
 तेष्वेव उवागच्छिता सव्वतुवरे य० जाव सव्वोसहिंसिद्धत्यए
 य सरसं च गोसीसचंदणं गेहंति, गेहत्ता जेण्वेव सोमण०
 सवणे तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छिता सव्वतुवरे
 य० जाव सव्वोसहिंसिद्धत्यए य सरसं च गोसीसचंदणं दिव्वं
 च सुमणदामं गेहंति, सुमणदामं गेहत्ता जेण्वेव पंगुगवणे
 तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छिता सव्वतुवरे य० जाव
 सव्वोसहिंसिद्धत्यए य सरसं च गोसीसचंदणं दिव्वं च
 सुमणदामं दहरमद्वयसुगंधिगंधिए य गंधे गेहंति, गेहत्ता
 एगतो मिलंति, एगतो मिद्वित्ता जंबूदीवस्स पुरच्छिमिद्वेणं
 दारेणं णिगच्छति, पुरच्छिमिद्वेणं दारेणं णिगच्छिता
 ताए उकिट्टाए० जाव दिव्वाए देवगतीए तिरियममंवेज्जाणं
 दीवसमुद्दाणं मज्जं मज्जेणं वीतीवयमाणा जेण्वेव विजया
 रायहाणी तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छिता विजयं रा-
 यहाणि अणुप्पयाहिणं करेमाणे करेमाणे जेण्वेव अजिसेयस-
 ज्जा जेण्वेव विजयदेवे तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छि-
 त्ता करयत्तपरिगहियं सिरंसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जए-
 णं विजएणं वद्धावेंति, वद्धावित्ता विजयस्स देवस्स तं
 महत्तयं महत्तयं महरिहं विपुलं अभिसेयं उवहेति ॥

टीका पाठसिद्धा । जी० ३ प्रति० । रा० । औ० । जं० । आचा-
 र्यपदेऽजिपेकः यः सोऽजिपेकः । नि० चू० १५ उ० । सूत्रार्थ-
 तदुभयोपेतं आचार्ये, व्य० १ उ० । आचार्यपदस्थापनादं, वृ०
 ३ उ० । उपाध्याये, जीत० । गणावच्छेदके, नि० चू० १५ उ० ।

अभिसेगजलपूय्य (ण)—अजिपेकजलपूतात्मन्—पुं० । अ-
 भिपेकतो जलेन पवित्रित आत्मा यैस्तं तथा । तथाविधज-
 लचोक्षेषु चानप्रस्थेषु, औ० ।

अभिसेमपेह—अभिपेकपीठ—पुं० । न० । अजिपेकमण्डपान्तर्गते
 अभिपेकसिंहासनाधिष्ठाने पीठे, जं० ३ वक्र० ।

अजिसेग (य) भंरु—अभिपेकभाण्ड—न० । अभिपेकयोग्ये
 उपस्करे, रा० । जी० ॥

अभिसेग (य) सभा—अजिपेकसज्जा—स्त्री० । अभिपेका-
 र्थसभायाम्, यस्यां राज्याभिपेकेणाभिपिच्यते । स्था० ५
 उ० ३ उ० ।

अजिसेगसिला—अभिपेकशिला—स्त्री० । तीर्थकराणामभिपे-
 कार्थशिलायाम्, स्था० ।

जंबू ! मंदरपव्वयपंगुगवणे चत्तारि अभिसेगसिलाओ
 पणत्ताओ । तं जहा—पंगुकंवलसिद्धा, अतिपंगुकंवलसिद्धा,
 रत्तकंवलसिद्धा, अतिरत्तकंवलसिद्धा ।

अजिपेकशिला चूलिकायाः पूर्वदाक्षिण्यपरोत्तरासु दिक्षु क्रमे-
 णावगम्या इति । स्था० ४ उ० २ उ० ।

अभिसेगा—अजिपेका—स्त्री० । गच्छमहत्तरिकायाम्, नि० चू० ६
 उ० । प्रवर्तिनी आगमपरिभाषयाऽभिपेकेत्युच्यते, ध० ३ अधि० ।
 त्रिभुक्त्यां च । नि० चू० १५ उ० ।

अभिसेज्जा—अभिश्चया—स्त्री० । अजिनिपद्यायाम्, व्य० १
 उ० । यस्यां नैपेधिकायां दिवा निशायां वा स्वाध्यायं कृत्वा
 रात्रिमुषित्वा प्रातर्वसतिमुपयान्ति । व्य० १ उ० ।

अजिस्संग—अजिष्वङ्ग—पुं० । गेहादिष्वभिलाषे, पं० व० ।

जो एत्थ अजिस्संगो, संतासनेसु पावहेतुं चि ।

अट्टज्जाणविअप्पो, ॥

लोकेऽजिष्वङ्गो मूर्च्छालक्षणः सदसत्सु गेहादिषु पापहेतुरि-
 ति पापकारणमार्तध्यानविकल्पः । अद्युभयानभेदोऽभिष्वङ्गः ।
 पं० व० १ उ० । पञ्चा० ।

अजिहट्टु—अजिहृत्य—अध्य० । यत्तात्कृत्वेत्यर्थं, “ सेवं वदंत-
 स्स परो अभिहट्टु अंतो पणिगहंसि बहुअठियं मंसं परिभाए-
 चा णिहट्टु दलएज्जा ” आचा० २ भु० १ अ० १० उ० ॥

अजिहरु—अजिहृत—न० । अभि—साध्वजिमुखं हृतमानीतं स्था-
 नान्तरादजिहृतम् । अज्याहृते, पञ्चा० १३ विव० । साधुदानाय
 स्वग्रामात्परग्रामाद् वा समानीते एकादशोद्गमदोषदुष्टे, पि० ।

अथाभ्याहृतचारमाह—

आइचमणाइचं, निसीहमनिसीहयं अभिहट्टं वा ।

तत्थ निसीहानीयं, उप्पं वोच्चाभि नोनिसीहं तु ॥

अज्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा—आचीर्णम्, अनाचीर्णं च । तत्राना-
 चीर्णं द्विधा । तद्यथा—निशीथाज्याहृतं, नोनिशिथाज्याहृतं च । तत्र
 निशीथमर्द्धरात्रं, तत्रानीतं किल प्रच्छन्नं भवति, यत्र साधूना-
 मपि यदविदितमज्याहृतं तद्विशिष्यज्याहृतम् । तद्विपरीतं नो-
 निशीथाज्याहृतम्—यत्साधूनामज्याहृतमिति विदितं भवति ।
 तत्र निशीथाज्याहृतं स्थाप्यम् । अग्रे वक्ष्यत इति भावः । संप्र-
 ति पुनर्वक्ष्यामि नोनिशिथाज्याहृतमिति ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

सग्गामपरग्गामे, सदेसपरदेसमेव बोधव्वं ।

उविहं तु परग्गामे, जलथल नावोडुजंघाए ॥

परिच्छिद्य पृथक् प्रवेदितं वा । आचा० १ भु० ४ अ० २ उ० ।
अवगम्येत्यर्थः, स्था० ए उ० । आचा० । समधिगम्य अवबु-
ध्येत्यर्थः, अभिसमेत्य धर्म याचत्वेवञ्चित्वमुपादयेत् । “धर्मोपा-
देयतां ज्ञात्वा, संजातेच्छोऽत्र भावतः । इदं स्वशक्तिमाद्योच्य,
ग्रहणे संप्रवर्तते ” ॥१॥ स्था० २ उ० १ उ० ।

अभिसरण-अभिसरण-न० । आपेक्षिकसंमुखाभिगमने, प्रश्न०
१ आश्र० द्वा० ।

अभिमरित-अभिसरित-त्रि० । रत्यर्थे सद्भूतस्थलं प्रापिते,
आचा० १ भु० २ अ० ५ उ० ॥

अभिसव-अभिषव-पुं० । अनेकद्रव्यसन्धाननिष्पन्नसुरासौवी-
रकादौ मांसप्रकारस्त्रणादौ सुरामध्वाद्यभिष्यन्दिद्रव्ये, द्रव्यो-
पयोगे च । अयं च सावचाहारवर्जकस्यानाभोगातिक्रमादि-
नाऽतिचारः । प्रय० ६ द्वार ।

अभिसित्त-अभिपित्त-त्रि० । कृतान्तिपेके जातान्तिपेके, “अ-
णेण अमयकक्षसेण अभिसित्तो अम्भइयं सोज्जितुमादत्तो”
आ० म० प्र० ।

अभिसेग-अभिषेक-पुं० । शुकशोणितानिपेकादिक्रमे, आचा०
१ भु० ६ अ० १ उ० । सर्वोपधिसमुपस्कृततार्थ्योदकैः राज्याधिष्ठा-
तृत्वादिप्राप्त्यर्थं मन्त्रोच्चारणपूर्वकं तद्योग्यशिरसोऽभ्युक्षम् ।
संथा० ।

तत्रेच्छाणामन्तिपेक इत्थम्-

जेणामेव अभिसेयसभा तेणामेव उवागच्छति, उवागच्छि-
त्ता अभिसेयसन्नं अणुपयाहिणं करमाणे पुरच्छिमिच्छेणं
दारणेण अणुपविसति, अणुपविमिता जेणेव सीहासणे तेणे-
व उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता सीहासणवरगते पुर-
च्छाभिमुदे साणिणसण्णे । तए णं तस्स विजयस्स देवस्स
सामाणियपरिसोववण्णगा देवा आभिओगीए देवे सदावे-
ति, सदावेत्ता एवं वयामी-त्तिप्यामेव जो देवाणुपिया । तुब्बे
विजयस्स देवस्स महत्थं महग्घं महरिहं विपुलं इंदानिसेयं
उवट्ठवेह । तए णं ते आजिओगिया देवा सामाणियपरिसो-
ववत्तएहिं देवेहिं एवं उत्ता समाणा इट्ठ० जाव हियया कर-
तल्लपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजालिं कट्टु, ‘एवं देवा तह
त्ति’ आणाए विणएणं वयणं पमिसुत्तेति, पमिसुत्तेत्ता उत्त-
रपुरच्छिमं दिसीजागं अवकमंति, अवकमत्ता वेउब्बियसमु-
ग्गाएणं समोहणंति, समोहणत्ता संखिज्जाइं जोयणाइं रुंरुं
णिसरंति, णिसरित्ता तावइयाइं पोग्गलाइं गेएहइ । तं जहा-
रयणाए० जाव रिट्ठाणं अहा वायरे पोग्गले परिसाकेति, परि-
सादित्ता अहा मुहमे पोग्गले परिचायंति, परिचाइत्ता दोब्बं पि
थिउब्बियसमुग्गाएणं समोहणंति, समोहणत्ता अट्ठसयं सोव-
क्षियाणं कलसाणं, अट्ठसयं रूपमयाणं कलसाणं, अट्ठसयं
मणिमयाणं कलसाणं, अट्ठसयं सुवस्सरूपमयाणं कलसाणं,
अट्ठसहस्सं सुवस्सरूपमयाणं कलसाणं, अट्ठसयं रूपमणिमा-
णं कलसाणं, अट्ठसयं सुवस्सरूपमणिमयाणं कलसाणं, अट्ठ-

सयं नृपियाणं कलसाणं, अट्ठसयं जिगाराणं कलसाणं,
एवं आयंसगाणं थालाणं पातीणं सुपतिट्ठकाणं चि-
त्ताणं रयणकरंदगाणं पुप्फचंगेरीणं० जाव लोमह-
त्यचंगेरीणं पुप्फपरुलगाणं० जाव लोमहत्थपरुलगाणं अ-
ट्ठसयं सीहासणाणं उत्ताणं चामराणं अवपमगाणं वट्ट-
काणं सिर्पीणं खोरकाणं पीणगाणं तेदसमुग्गकाणं अट्ठस-
हस्सं धूवककुत्थकाणं विउब्बंति । तेसा भावियए विउब्बिण
य कलसे य० जाव धूवककुत्थए य गेएहंति, गेएहत्ता विज-
याओ रायहाणीओ पमिनिक्खमंति, पमिनिक्खमत्ता ताए
उक्किट्ठाए० जाव उब्बत्ताए दिव्वाए देवगतीए तिरियमसंखे-
ज्जाणं दीवमसुहाणं मज्झं मज्जेणं वीयीवयमाणा वीयीव-
यमाणा जेणेव खीरोदं समुदे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवा-
गच्छत्ता खीरोदं गेएहंति, खीरोदं गेएहत्ता जाइं तत्थ
उप्पलाइं० जाव सयसहस्सपत्ताइं गेएहंति, ताइं गेएहत्ता
जेणेव पुक्खरोदं समुदे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता
पुक्खरोदं गेएहंति, पुक्खरोदं गेएहत्ता जाइं तत्थ
उप्पलाइं० जाव सतसहस्सपत्ताइं गेएहंति, ताइं गेएहत्ता
जेणेव समयत्ते जेणेव भरहेरवयाइवासाइं जेणेव मा-
गधवरदामप्पभासाइं तित्थाइं तेणेव उवागच्छंति, तेणेव
उवागच्छित्ता तित्थोदं गेएहंति, तित्थोदं गेएहत्ता ति-
त्थमट्ठियं गेएहंति, तित्थमट्ठियं गेएहत्ता जेणेव गंगासिधुर-
त्तवतीओ सल्लिलाओ तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवाग-
च्छित्ता सरितोदं गेएहंति, सरितोदं गेएहत्ता उज्जयो
तट्ठमट्ठियं गेएहंति, तट्ठमट्ठियं गेएहत्ता जेणेव सुल्लहिमवत्त-
सिहरिवासपव्वता तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता
सव्वतुवरं य सव्वपुप्फे य सव्वगंधे य सव्वमट्ठे य सव्वोसहिं
सिच्छत्थए य गेएहंति, गेएहत्ता जेणेव पजमहइं पुंरुरियइहा
तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता दहोदं गेएहंति, दहो-
दं गेएहत्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव सतसहस्सपत्ताइं
गेएहंति, ताइं गेएहत्ता जेणेव हेमवत्तरस्सवयाइं वासाइं जेणेव
रोहिया रोहियातंसा सुवस्सरूपकूलाओ तेणेव उवाग-
च्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सल्लिलोदं गेएहंति, सल्लिलोदं
गेएहत्ता उभयो तट्ठमट्ठियं गेएहंति, उभयो तट्ठमट्ठियं गे-
एहत्ता जेणेव सदावतिवियभावतिमालवत्तपरियागावट्ट-
वयट्ठपव्वता तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतु-
वरं य० जाव सव्वोसहिसिच्छत्थए य गेएहंति, सिच्छत्थए
गेएहत्ता जेणेव महाहिमवत्तरुप्पिवासहरपव्वते तेणेव उवाग-
च्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वपुप्फे तं चेव० जेणेव महापज-
मइहमहापुंरुरीयइहा तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता
जाइं तत्थ उप्पलाइं तं चेव० जेणेव हरिवासरम्मगवासाइं जे-
णेव हरिकांताओ सल्लिलाओ नरगंताओ तेणेव उवागच्छंति,

जायते । अथ च केचित् साधवोऽतिदूरेऽवतिष्ठन्ते, केचित् पुनः प्रत्यासन्नाः, परमन्तराले नदी विद्यते, ततस्तेष्वप्यायेषु विराघ-
नां भावयन्तो नागमिष्यन्ति, आगता अपि च प्रचुरमोदकादिकम-
वबोध्य कथ्यमानमपि शुद्धमाधार्कमशङ्कया न ग्रहीष्यन्ति ।
ततो यत्र ग्रामे साधवो निवसन्ति तत्रैव प्रचुरं गृहीत्वा ब्रजाम
इति । तथैव च कृतम् । ततो भूयोऽपि चिन्तयन्ति-यदि साधु-
नाह्वय दास्यामस्ततोऽगुरुमाशङ्क्य ते न ग्रहीष्यन्ति । तस्मात्
तद् द्विजादिभ्योऽपि किमपि दद्यात्, तच्च तथादीयमानमपि यदि
साधवो न प्रेक्षन्ते ततस्तदवस्थैव तेषामगुरुमाशङ्क्य प्रविष्यति ।
ततो यत्रोच्चारादिकार्यार्थं निर्गताः सन्तः साधवः प्रेक्षन्ते तत्र दद्यात्
इति । एवं च चिन्तयित्वा विवक्षिते कस्मिंश्चित् प्रदेशे कस्यचिद्
देवकुलस्य वदिर्भागे द्विजादिभ्यः स्तोत्रं स्तोत्रं दातुमारब्धम्,
तत उच्चारादिकार्यार्थं विनिर्गताः केचन साधवो दद्यात्, ततस्ते
निमग्नताः । यथा भोः साधवः ! अस्माकमुद्धरितं मोदकादिकं
प्रचुरमवतिष्ठते ततो यदि युष्माकं किमप्युपकरोति तर्हि तत् प्र-
तिगृह्यतामिति । साधवोऽपि शुक्रमित्यवगम्य प्रत्यगृह्यन् । तैश्च
साधुभिः शेषाणामपि साधूनामुपादेशि-यथाऽमुकस्मिन् प्रदेशे
प्रचुरमेष्टीयमशनादि लभ्यते । ततस्तेऽपि तद्गृह्णाय समाज-
गुः । तत्र चैके आवकाः प्रचुरमोदकादिकं प्रयच्छन्ति । अन्ये च
मातृस्थानतो (मायाविशेषात्) निवारयन्ति-यथैवं तावद्दी-
यतां माऽधिकं, शेषमस्माकं भोजनाय भविष्यति । अन्ये पुनस्ता-
नेव निवारयतः प्रतिपेक्षन्ति । यथा-न केऽप्यस्माकं भोदयन्ते,
सर्वेऽपि प्रायो जुक्ताः, ततः स्तोत्रमात्रेण किञ्चिदुद्धरितेन
प्रयोजनं, तस्माद् यथेच्छं साधुभ्यो दीयतामिति । साधवश्च
ये नमस्कारसाहितप्रत्याख्यानास्त जुक्ताः, ये चापौरुषीप्रत्या-
ख्यानास्ते जुञ्जाना वर्तन्ते । ये चाजीर्णवन्तः पूर्वाह्नादिप्रती-
क्ष्यमाणा वर्तन्ते ते नाद्यापि जुञ्जते । आवकाश्च चिन्तयामासुः-
यथेदानीं साधवो जुक्ता प्रविष्यन्ति, ततो वन्दित्वा नि-
जस्थानं ब्रजाम इति । एवं च चिन्तयित्वा समधिकप्र-
हृत्वेलायां साधुभ्यो वसतावागत्य नैपेधिकादिकां सक-
लामपि आवकक्रियां कृतवन्तः । ततो ज्ञातं यथाऽग्नी आव-
काः परमविवेकिनो ज्ञातारश्च परम्परया विवक्षितग्रामवा-
स्तव्याः, ततः सम्याग्विमर्शोद्भाविता-नूनमस्माभिर्मिचितमतत्
स्वग्रामादभ्याहृतमिति, ततो यैर्जुक्तं तैर्जुक्तमेव, ये त्वद्यापि पूर्वा-
ह्नादिप्रतीक्ष्यमाणा न जुञ्जते, तैर्न जुक्तं, येऽपि च जुञ्जाना
अवतिष्ठन्ते, तैरपि यः कवल उत्कृष्टः स माजने मुच्यते, यत्तु
मुखे प्रक्षिप्तं नाद्यापि गिद्धितं, तद् मुखाद् निःसार्य समीपस्था-
पिते मल्लिके प्रतिक्रिपेत् । शेषं तु प्राजनगतं सर्वमपि परिस्था-
पितम् । आवकआविकावर्गश्च सर्वोऽपि क्षमयित्वा स्वस्थानं ज-
गाम । तत्र ये भुक्ता ये वाऽर्द्धजुक्तास्तेऽपि सर्वेऽप्यशुभभावा इति
शुक्ताः । सूत्रं सुगमम् । केवञ्च (अद्दूरं ज्वन्तरिय चि) के-
चित् अतिदूरे, कंचित् नद्यन्तरिताः । उक्तं परग्रामाभ्याहृतं
निशीथम् ।

अथ स्वग्रामाभ्याहृतं तदेव गाथाद्वयेनाह—

लब्धं पहेणं मे, अमुगत्यगयाएँ संखरीए वा ।

वन्दणगडपविद्धा, देइ तयं पाडिय-नियत्ता ॥

नीयं पहेणं मे, नियगाणं नेच्छियं च तं तेहिं ।

सागरियसज्जिया वा, पणिकुट्टा संखने रुद्धा ॥

इह काचिदभ्याहृताशङ्कानिवृत्त्यर्थं किमपि गृहं प्रति प्रसिद्धा, त-

तो निवृत्ता सती साधोः प्रतिष्ठाभनायोपाश्रयं प्रविश्य साधुसंमु-
खमेवमाह-नगधन् ! प्रहेणकमिदममुकस्मिन् गृहे गतया बन्धम् ।
यद्वा-क्वापि संखर्यां संप्रति वन्दनार्थमहं प्रसिद्धा, तत्रान्नं प्रतीष्टं,
ततो यदि युष्माकमिदमुपकरोति तर्हि प्रतिगृह्यतामिति तत् आ-
नीतं ददाति । यद्वा एवमाह-निजकानां स्वजनानामर्थाय प्रहे-
णकं मया स्वगृहाब्जितं, परं तैर्नैच्छितं ततस्तद्गृहात् प्रतिनि-
वृत्ता वन्दनार्थमत्रागतेति, ततस्तद्ददाति । यदि वा मायया का-
चिदभ्याहृतमानीय सागारिकां शय्यातरां, यद्वा-‘सज्जितं’
वसतिप्रतिवेशनीं पूर्वगृहीतसंकेतां, यथा साधवः शृण्व-
न्ति तथा प्रवह्नि-गृहाणेदं प्रहेणकमिति । तथा च मातृस्थानतः
प्रतिपिद्धम् । यथा-त्वयाऽप्यमुकस्मिन् दिने मदीयं प्रहेणकं न
जगृहे, ततोऽहमपि त्वदीयं न गृहीष्यामीत्येवं निपिद्धा । ततः
साऽपि मातृस्थानतः किञ्चित्परुषं प्रत्युपकवती । द्वितीययाऽपि तथै-
व भाषितं, त एवं परस्परं संखने कलहे सति सा प्रहेणकनेत्री
रुद्धा रोपवती वन्दनार्थं वसतौ प्रविशति, ततोऽनन्तरं वृत्तं वृ-
न्तातं कथयित्वा तदानीतं ददाति । उक्तं स्वग्रामाभ्याहृतमपि
निशीथम् ।

संप्रत्यनाचीर्णं निगमयन्नाचीर्णस्य जेदनाह—

एयं तु अणाइन्नं, दुविहं पि य आहइं समक्खायं ।

आइन्नं पि य दुविहं, देसे तह देसदेसे य ॥

एतत् पूर्वोक्तमभ्याहृतं निशीथ-नोनिशीथमेवाद्, यद्वा-स्व-
ग्रामपरग्राममेवाद् द्विविधमभ्याहृतमनाचीर्णमकल्पनीयम् ।
संप्रत्याचीर्णं वक्ष्ये । तदपि द्विविधम्, तद्यथा-देशे, देशदेशे च ।

संप्रति देशस्य देशदेशस्य च स्वरूपमाह—

इत्थसयं खलु देसो, आरेणं होइ देसदेसो य ।

आइन्नं तिभि गिहा, ते वि य उवओगपुव्वग्गा ॥

हस्तशतं हस्तशतप्रमितं क्षेत्रो देशः । हस्तशतादारात् हस्त-
शतमध्ये इत्यर्थः, देशदेशः । अत्र हस्तशतप्रमाणे आचीर्णे यदि
गृहाणि त्रीणि प्रवन्ति, नाधिकानि, ततः कल्पते । तान्यपि चेद्
गृहाणि उपयोगपूर्वकाणि प्रवन्ति । उपयोगस्तत्र दातुं शक्यते
इत्यर्थः । ततः कल्पते, नान्यथेति ।

संप्रति गृहत्रयव्यतिरेकेण हस्तशतादिसंभवं

तद्विषये कल्पविधिं चाऽऽह—

परिसेवणपंतीए, दूरपएसे य धंघसालगिहे ।

इत्थसया आइन्नं, गहणं परओ उ पणिकुट्टं ॥

परिविष्यते ततो भोजनं दीयते येभ्यस्ते परिवेषणा जुञ्जानाः
पुरुषाः, तेषां पङ्क्तिः श्रेणिः, तस्यां तत्र यस्मिन् पर्यन्ते साधुसंघा-
टको वर्तते, द्वितीयं तु देयं तिष्ठति । तत्र च स्पृष्टास्पृष्टभयादिना
गन्तुं शक्यते । एवमुत्तरयोरपि पदयोर्भावनीयम् । ततः परि-
वेषणपङ्क्त्याम् । यद्वा-दूरप्रदेशे प्रलम्बगमनमार्गविरिम्बकादौ,
यदि वा घङ्गशालागृहे, हस्तशतादानीतस्य ग्रहणमाचीर्णं कल्प-
त इत्यर्थः । परतस्थानीतस्य ग्रहणं प्रतिगृह्य-निराकृतं तीर्थक-
रादिभिः ।

संप्रत्यसैवाचीर्णस्य जेदनाह प्रदर्शयति—

उक्कोसमज्जिमजह-न्नगं तु तिविहं तु होइ आइन्नं ।

करपरियत्त जहन्नं, सयमुक्कोस मज्जमं सेसं ॥

नोनिशीथाभ्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-स्वग्रामे स्वग्रामविषयं, परग्रामे परग्रामविषयम् । तत्र यस्मिन् ग्रामे साधुनिवसति स किञ्च स्वग्रामः । शेषस्तु परग्रामः । तत्र परग्रामे परग्रामविषयमभ्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-स्वदेशं परदेशं च । स्वदेशं स्वग्रामाभ्याहृतं, परदेशं परग्रामाभ्याहृतं चेति । तत्र स्वदेशो यत्र देशमण्डले साधुर्यते, शेषस्तु परदेशः । एतद् द्विविधमपि प्रत्येकं द्विधा । तद्यथा-(जलपथं चि) सूचनात्मवृत्तिमिति कृत्वा जलपथेनाभ्याहृतं, स्थलपथेनाभ्याहृतं च । तत्र जलपथेनाभ्याहृतं द्विधा-नावा, उडुपेन च । उपप्लवणमेतत् । तेन स्नोकजलसंभावनायां ज्ञाज्यामपि । तत्र नौस्तारिका, उडुपं तरणकाष्ठम् । तुम्बकादि बोटुपरिग्रहणेन गृहीतं कल्प्यम् । स्थलपथेनाप्यभ्याहृतं द्विधा । तद्यथा-जङ्गला, पदज्याम् । उपलक्षणमेतत् । तेन गन्त्यादिना च ।

तत्राभूनेष जङ्गल्यलाज्याहृतभेदान् सप्रपञ्चं विज्ञावयन्
दोषान् प्रदर्शयति-

जंघावाहतरिण, जले थले लंघनरसुरनिवध्वा ।
संजमत्रापविराडण, तदियं पुण संजमे काया ॥
अत्थाह गाहपंका, मगरोदारा जले अवायाओ ।
कंटाहितेणसावय, यत्तामि एए जवे दोसा ॥

तत्र जङ्गमार्गे स्नोकसंभावनायां ज्ञाज्याम्, अस्तोकसंभावनायां यादुज्याम्, यदि वा तरिक्या । उपप्लवणमेतत् । उडुपेन वाज्याहृतं संभवति । स्थलमार्गे तु स्कन्धेन, यद्वा-(अरबुरनियद्ध चि) अत्र तृतीयाथे प्रथमा । ततोऽयमर्थः-अरफनिवद्धा गन्त्री, तथा । सुरनिवध्वा रासजलवर्णादयः, नैः । अत्र च दोषः संयमविराधना, आत्मविराधना च । तत्र संयमविराधनामध्ये संयमविषया विराधना जङ्गमार्गे स्थलमार्गे च-काया अप्कायादयो विराधमाना कृष्टवाः । जङ्गमार्गे आत्मविराधनामाह-(अत्थाह-इत्यादि) अत्र प्राकृतत्वाद् फ्यचित् विभक्तिशेषः, फ्यचित् विभक्तिविराधनामश्च । ततोऽयमर्थः-अस्ताधे पादादिभिरङ्गभ्यमनेऽधोभूमागे अधोनिमज्जनलक्षणोऽप्यायो भवति । तथा आदेच्यो जङ्गलचरविशेषेभ्यः, यद्वा पदुतः कर्दमरूपादः ; अथवा मकरेभ्यः, यद्वा-(उहारे चि) कच्छपेभ्यः । उपलक्षणमेतत्-अन्येभ्यश्च पादयन्त्रकजन्त्यादिभ्योऽप्याया विनाशादयो दोषाः संभवन्ति । स्थलमार्गे आत्मविराधनामाह-(कंटेत्यादि) कण्टकेभ्यो, यदि वा अहिज्यो, यद्वा स्नेहेभ्यः, अथवा श्वापदेभ्यः । उपप्लवणमेतत्-ज्वराद्युत्पादकपरिधमेभ्यश्च स्थले स्थलमार्गे, पतेऽप्यारूपा दोषाः प्रतिपत्तव्याः । उक्तमनाचीर्णं परग्रामाभ्याहृतं नोनिशीथम् ।

संप्रति तदेव स्वाग्रामाभ्याहृतं नोनिशीथं गाथावयेनाह-

सगामे वि य दुविहं, धरंतरं नोधरंतरं चेव ।
तिधरंतरा परेणं, धरंतरं तत्तु नायव्वं ॥
नोधरतरऽणेगविहं, वाडगसाहीनिवेसणगिहेसु ।
कापोयत्तंभिमम्य-कंसेण व तं तु आणेजा ॥

स्वग्रामविषयमभ्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-गृहान्तरं, नो-गृहान्तरं च । तत्र त्रिगृहान्तरात्परेण-त्रीणि गृहाण्यन्तरं कृत्वा परतो यदानीतं तद् गृहान्तरम् । एवं च सति किमुक्तं भवति ।-यद् गृहत्रयमभ्याहृतानीयते, उपयोगश्च तत्र संभवति, तद् आचीर्णम्-

चसेयम् । नो-गृहान्तरमनेकविधम्, तच्च वाटकादिविषयम् । तत्र वाटका-प्रतिच्छन्नः प्रतिनियतः सन्निवेशः । साही-वर्तनी, सैवै-का अपान्तराले विद्यते, न तु गृहान्तरमित्यर्थः । निवेशनम्-एक-निष्क्रमणप्रवेशानि आदिगृहाणि । गृहं-केवलं मन्दिरम् । एतच्च सकलमपि वाटकादिविषयमनाचीर्णमनुपयोगसंभवे वेदितव्यम् । तदपि च गृहान्तराख्यं च नोनिशीथं स्वग्रामाभ्याहृतं प्रतिज्ञातवितुमीप्सितस्य साधोरुपाधयमानयेत्-कापोत्या, यदि वा स्कन्धेन । उपप्लवणमेतत्-तेन करादिना च, यदि वा मृन्मयेन प्राजनेन, यद्वा कांसेन ।

संप्रत्यस्यैव स्वग्रामविषयिणो नोनिशीथाभ्याहृतस्य संभवमाह-
मुञ्चं च असङ्काहो, पणयं च पहेणं च पासुता ।

इय एइ काय घेत्तुं, दीवेइ य कारणं तं तु ॥

इह साधुभिज्ञामदन् अपि गृहे प्रविष्टः, परं तत्तदानीं शून्यं वहिर्निर्गतमानुषमासीत् । यद्वा-अद्यापि तत्र राध्यते, इत्यस्य अविद्यमानो भिक्षाकालः । यदि वा तत्र प्रकृतं गौरवाद्स्वजनजो-जनादिकं वर्तते, ततो न तदानीं साधवे भिक्षा दातुं प्रचारिता, यदि वा विहृत्य साधोगतस्य पश्चात्प्रदेणकं हरेणकमागतं, त-द्योत्कृष्टत्वात् किल साधवे दातव्यम् । अथवा तदा आदिका प्रसुता-शयिता आसीत्, ततः साधवे भिक्षा न दत्ता । इति एतैः कारणैः, काचित् आदिका तद्गृहाद् गृहीत्वा साधोरुपाधय-मानयेत्, तन्मानयनस्य कारणं 'तदा शून्यं गृहमासीत्' इत्यादिरूपं दीपयति प्रकाशयति । तत् एवं नोनिशीथस्वग्रामाभ्याहृतसं-भवः । तदेवमुक्तं स्वग्रामपरग्रामभेदमिदं नोनिशीथाभ्याहृतम् ।

अथ स्वग्रामपरग्रामभेदजिज्ञासेव निशीथाभ्याहृतमपि देशेनाह-

एमेव कमो नियमा, निसीहमभिहट्टे वि होइ णायव्वो ।

अविश्यदायगज्जव, निसीहअभिहट्टं तु नायव्वं ॥

य एव क्रमः स्वग्रामपरग्रामादिको नोनिशीथाभ्याहृते उक्तः, स एव निशीथाभ्याहृते नियमाद् ज्ञातव्यः । संप्रति निशीथाभ्याहृतस्वरूपं कथयति-"अविश्य" इत्यादितः । यतिना न वि-ज्ञातो दायकस्याभ्याहृतदानपरिणामो यत्र, तेन अविदितदाय-कमायं निशीथाभ्याहृतमवगन्तव्यम् । किमुक्तं भवति ?-सर्वथा साधुना अभ्याहृतत्वेन यद् अपरिज्ञातं तन्निशीथाभ्याहृतमिति परग्रामाभ्याहृत उक्तः ।

स एव निशीथस्याभिहट्टो गाथाचतुष्टयेनोच्यते-

अइदूर जज्ञंतरिया, कम्पासंकाएँ ठान पेच्छंति ।

आणोति संसडीओ, सहा सही व पच्छंति ।

निगम देडल दाणं, दियाएँ सभाइनिगए दाणं ।

सिद्धाम्म सेसगमणं, दित्तंजे वारयंतड्जे ।

जुंजण अजीरपुव्व-हुगाइ अच्छंति जुचसेसं वा ॥

आगम निसीहिगाई, न मुंजई सावगासंका ।

अक्खित्तं निक्खित्तं, आसगयं यद्धगम्म पासगए ।

स्वामिन्नु गया सहा, ते वि य मुद्धा असडभावा ॥

कचित् ग्रामे घनावहप्रमुखा बहवः आचकाः, धनवतीप्रभृत-यश्च आचिकाः, एते चाप्येककटुप्रवर्तिनः । अन्यदा तेषामावसथे विवाहः समजनि, वृत्ते च तस्मिन् प्रचुरमोदकाद्युद्धरितम्, तत-स्तैरचिन्ति-यथैतत् साधुज्यो दीयतां, येन महत्पुण्यमस्माकं

शब्देषु हेतुसाध्यगमकेषु कुशलो दक्षोऽभिधानहेतुकुशलः । शब्द-
मार्गे चातीव क्षुब्धे, व्य० ए ७० । वृ० ॥

अभिहित (य)-अभिहित-त्रि० । वक्त्रे, आचा० १ भु० द
अ० ५ ७० ।

अजीरु-अजीरु-त्रि० । भी-रुक् । न० त० । शतमूल्याम्, अ-
संकुचितपत्रत्वात्तस्या अजीरुत्वम् । वाच० । सप्तप्रकारभयर-
हिते, आचा० २ भु० १५ अ० १ व० ३ च० । सत्वसंपन्ने, ओघ० ।
उत्पन्ने महत्यापि कार्येऽविज्यति, वृ० १ व० । अभीरुर्नाम कु-
तश्चिदपि स्तेनोद्ग्रामकादेर्विविधां विभीषिकां दर्शयतो न वि-
भेति । वृ० १ उ० । मध्यमग्रामस्य मूर्धनाभेदे, स्था० ७ ग० ।

अजुजिजु-अजुक्त्वा-अव्य० । अननुभूयेत्यर्थे, आ० ॥

अभुजंतग-अज्युज्यमान-त्रि० । अव्यापार्यमाणे, वृ० १ उ० ।

अचुत्तनोग-अचुत्तनोग-त्रि० । न भुक्ता जोगा येन स अचुत्त-
भोगः । पं० व० १ द्वा० । स्त्रीजोगानष्टुक्त्वा प्रव्रजिते कौमार-
कभावप्रतिबन्धे, नि० च० १ उ० ॥

अजूज्ञाव-अजूतिज्ञाव-पुं० । अचूतेर्भावोऽभूतिभावः । असंप-
दभावे, दश० ६ अ० १ उ० ।

अभूउभावण-अभूतोज्ञावन-न० । अलीकनेदे, यथाऽऽत्मा श्या-
माकतन्त्रसमात्रः । अथवा सर्वगत आत्मेत्यादि । ध० २ अधि० ।

अजूयान्निसंकण-अभूतान्निशङ्कन-पुं० । न चूतान्यभिशाङ्कन्ते
विज्यति यस्मात्स तथा । प्रशस्तवाग्विनयभेदे, स्था० ७ उ० । ज० ।

अजेज्ज-अजेध-त्रि० । जेधः सूच्यादिना चर्मवत्, तन्निषे-
धादमेधः । म० २ श० ५ उ० । सूच्यादिना जेतुमशक्ये, " त-
ओ अमेज्जा पञ्चत्ता । तं जहा-समप पपसे परमाणु " स्था०
३ ग० २ उ० ॥

अजेज्जकवय-अमेधकवच-पुं० । परप्रहरणभेदावरणे, ज०
७ ग० ए उ० ।

अजेय-अजेद-पुं० । सामान्ये अविशेषे, भा० म० द्वि० ॥

अजोग-अभोग-पुं० । अव्यापारणे संयमोपबृंहणार्थस्वसत्ता-
याः स्थापने, वृ० १ उ० ॥

अभोज्जघर-अजोज्यगृह-न० । अहिऐरुनीयकुत्रेषु रजका-
दिसंबन्धिषु, वृ० १ उ० ॥

अजोयण-अजोजन-न० । अनन्यवहारे, पि० ॥

अमइल-अमलिन-त्रि० । स्वच्छे निर्मले, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अमंगलानिमित्त-अमंगलानिमित्त-त्रि० । अङ्गस्फुरणादिषु अमा-
ङ्गलिकानिमित्तेषु, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ॥

अमग्ग-अमार्ग-पुं० । मिथ्यात्वकपायादौ, ध० ३ अधि० ।

" अमग्गं परियाणामि, मग्गं उवसंपज्जामि " आव० ४ अ० ॥

अमग्गलग्ग-अमार्गलग्ग-पुं० । पार्श्वस्थादिक्रुतीर्थिमार्गप्रवाहप-
निते, सामान्यप्राणिनि च । दर्श० ॥

अमग्घा (माघा) य-अमाघात-पुं० । मा बहमीः, सा च दे-
धा-धनलक्ष्मीः प्राणलक्ष्मीश्च । तस्या घातो हननं, तस्याऽमा-
वोऽमाघातः, ' अमग्घाय चि ' प्राकृतत्वात् । अरुव्यापहारे,

अमारिप्रदाने, प्राणिघातनिवारणे च । पञ्चा० ए विव० । उपा० ।
ध० । प्रश्न० ॥

अमच्च-अमात्य-पुं० । सहजन्मानि मन्त्रिणि, कल्प० ३ क० ।
संथा० । नि० च० । राज्यचिन्तके, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । नि० च० ।
राज्याधिष्ठायके, औ० । ज० । ज्ञा० । अष्टादशानां प्रकृतीनां म-
हत्तरे, वृ० ३ उ० ।

अमात्यलक्षणमाह-

सज्जणवयं पुरवरं, चिंततो अत्यई नरवर्ति च ।

ववहारनीतिकुसलो-ऽमच्चो एयारिसो अहवा ॥

यो व्यवहारकुशलो, नीतिकुशलश्च स नृसजनपदं पुरवरं नरपतिं
च चिन्तयन्नवतिष्ठते, स एतदृशो जवति अमात्यः । अथवा-यो
राज्ञेऽपि शिक्षां प्रयच्छति स अमात्यः ॥

तथा चैतदेव सविस्तरं विभावयिपुराह-

राया पुरोहितो वा, संधिह्वाउ नगरम्मि दो वि जणा ।

अंतेउरे धरिसिया-ऽमच्चेणं खिसिया दो वि ॥

राजा पुरोहितश्च । वाशब्दः समुच्चये । एतौ चावपि जनौ
(संधिह्वाउ चि) संधातवन्तौ, परस्परं मरुकात्रित्यर्थः । नगरे वर्ते-
ते । तौ च तथावर्तमानावन्तः पुराज्यां निजनिजकलत्रेण धरिणौ,
अमात्येन-वद्धावपि खिसितौ, निन्दापुरस्सरं शिक्षितावित्यर्थः ।
एष गाथाकारार्थः । जावार्थः कथानकाद्वसेयः । तच्चेदम्-

" एगो राया, तस्स पुरोहितो, तेसि दोणं वि जज्जाओ परो-
प्परं जगिणीओ । अज्जा तेसि समुह्वाओ जातो । रायमज्जा
भणइ-मम वस्सो राया । पुरोहियमज्जा जणइ-मम वस्सो
वज्जणो । तो पेच्छामो कयराए वस्सो पती । ततो पुरोहियम-
ज्जाए जत्तं उवसाहिस्ता रथो जज्जा जगिणी निमं-
तिया । रत्ति पुरोहितो भणिओ-मए ओवाइयं कयं,
जइ मम वरो अमुगो समिज्जि चि, ततो जगिणीए समं
तव सिरे जायणं काठं जेममि । सो य मे वरो संपणो । सं-
पयं तव मूलातो यसायं मग्गामि । पुरोहितो जणइ-अणुग्गहो
मेय चि । रायमज्जाए राओ भणिओ-अज्ज रत्ति तव पिट्ठीए विल-
गिउं पुरोहियघरं वव्वामि । राया भणइ-अणुग्गहो मे, ताहे
सा रायं पल्लाणिता पिट्ठीए विलगिता पुरोहियघरं गुंतुं पठि-
या । पुरोहितो वाहणो चि काठं खंजे वव्वो । ताओ दो वि जणी-
ओ पुरोहियस्स उवरि मत्थए भायणं काठं पुरोहिणण धरिज्ज-
माणे भायणे भुजंति । राजा खंजे वव्वो हयहेसियं करेइ । मो-
चुं गया रायमज्जा । ततो रथा पुरोहिणण धरिसितोमि चि
तस्स सिरं मुंडावियं । अमच्चेणं तं सव्वं नायं, पमाए राया पुरो-
हिओ य खिसितो । "

अमुमेवार्थमाह-

छंदाणुवचि तुज्जं, मज्झं मीमंसणा निवे खल्लिणं ।

निसि गमण मरुग थालं, धरेति भुजंति तो दो वि ॥

तव वा पतिर्मम वा पतिश्चन्द्रानुवर्तीति न विमर्शव्यतिरेकेण
ज्ञातुं शक्यते । ततो मीमांसापरा सा परीक्षां कर्तुमारब्धा ।
तत्र राज्ञार्थया नृपे खलीनमारोपितं, ततो निशि राज्ञौ पुरो-
हितगृहे गमनं, ततो मरुको ब्राह्मणः पुरोहितः शिरसा स्थालं
धरति । तत्र च द्वे अपि जुजाते । एषा गाथाकारयोजना ।
भाषार्थोऽन्तरमेव कथितः ।

अथ कथममात्यो द्वावपि तौ शिक्षितवान् ?, तत आह-

पमिवेसियरायाणो, सोजमिणं परिजवेण हसिहिं ति ।

त्रिविधमाचीर्णमभ्याहृतम् । तद्यथा-उत्कृष्टं, मध्यमं, जघन्यं च । तत्र यदा ऊर्चा उपरिष्ठात् कथमपि हस्तयोगेन मुष्टिगृहीतेन वा मणिक्रादिना, यदि वा स्वपत्यादिपरिवेषणार्थमोदन्भृतशकरोटिकयोत्पादितया व्यवतिष्ठते । अत्रान्तरे च कथमपि साधुरागच्छति भिक्षार्थं, तस्मै च यदि करस्थं ददाति तदा करप्रवर्तनमात्रं जघन्यमभ्याहृतमाचीर्णम् । इत्तश्चादाभ्याहृतमुत्कृष्टम् । येषं तु हस्तशानमध्यवर्ति मध्यमम् । तदेवमुक्तमभ्याहृतम् । पि० ध० आचा० व्या० । आव० । व्य० । सूत्र० । नि० चू० । “गिहिणो अभिह्नं सेयं, सुजीवो ण उ भिक्खुणो” गृहिणो गृहस्थानां यदभ्याहृतं तद्यतेनोक्तं श्रेयः श्रेयस्करं, न तु भिक्षुणां संवर्धयति (प्रश्नः) । अत्र तनुत्वं चास्या वाच एव द्रष्टव्यम्-यथा गृहस्थाभ्याहृतं जीवोपमर्देन भवति, यतीनां तृणमादिदोषरहितमिति । सूत्र० १ धृ० ३ अ० । “अत्र प्रायः स्वग्रामाभिहडे मासलहृत्, परग्रामाभिहडे निष्पञ्चवाप चउल्लहृत्, सपञ्चवाप चउरुगु” । पं० चू० ।

अभिहृतशब्दव्याख्या-

जे भिक्षू गाहावइकुञ्जं पिंडवायपानियाए अणुपावेडं समाणे परं तिघरंतराओ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पणिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

“जे भिक्षू गाहावतिकुञ्जं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परं तिघरंतराओ ” इत्यादि । तिष्ठि गिहाणि तिघिरं, तिघरमेय अंतरं तिघरंतरं । किमुक्तं प्रयति ?-गृहत्रयात्परत इत्यर्थः । अहया तिष्ठि दो अंतरात्परत इत्यर्थः । आयारा गृहीत्वा किञ्चित् असणादीं अनिहडदोलेण जुचं आहट्टु सा-दुस्स देज्ज, जो अणाइणं तिघरंतरापरंणं, आइणो वा अणुव-उत्तो गेएहति, तस्स मासलहृत् । नि० चू० ३ उ०, (अन्ययुधिकैः सहाभिहृतप्रहणव्याख्या ‘अणुउत्तियय’ शब्दे ४६६ पृष्ठ उक्ता)

जे भिक्षू परं अणुजोयणाओ सपञ्चवार्यासि अभिहडा-माहट्टु दिज्जमाणं पणिगाहेइ, पणिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

अणुजोयणाओ परओ सपञ्चवाएण पदेण अभिहर्न-अजिरा-भिमुख्ये, हज्ज-हरणे, अभिमुखं हनय, आनीतमित्यर्थः । तं पडिगाहेति जो भिक्षू, सो आणादी पावति, चउरुगुं च से पच्छिचं । एसो चेव अथो इमो-

परमणुजोयणाओ, सपञ्चवार्यासि अभिहडाणीयं ।

तं जे भिक्षू पायं, पणिच्छते आणमादीणि ॥ १७ ॥

कंठा । इमेहि वा सावायो पदे-

सावय तेणा उविहा, सन्वालाजंला महाऽनदी पुआ ।

वणहत्थिदुट्टसप्पा, पडिणीया चेव नु अवाया ॥ १८ ॥

सीहादिया सावया । तेणा उविहा-सरीरोवगरणे । जहेगाहम-गराइपहिं सन्वाला महाणदी वा अगाधा पुआ, वणहत्थो वा दुट्टो पदे । कुंमाणसादिसप्पा वा पदे विज्जंति, गिहीण वा वेरिया-दिपणिणीया संति, एवमादिआऽवार्णीह इमे दोसा ॥ १८ ॥

तेणादिसु जं पावति, विराइए अंतरा काया ।

वद्धहियमारिते वा, उट्टाहपदोसवोच्छेदो ॥ १९ ॥

सो गिहत्थो आणत्तो तेणसमीवातो जं घातादि पावति ।

आदिसद्दातो सिंहवग्धादियाण वा समीवातो जं पावति, सो वा गिहत्थो आणत्तो जं कंमाइए तेणादिपहारे पावति, अंतरा वा पुट्टवादीए काए विराहेज्जा, वंदिग्गहे तेणेहि वा वज्जो हिमो वा जु-जंतो वा मारितो वा, ताहे सयणादिज्जणो भासति-संजयाण पा-दे नेतो सावगो मारिओ सि । एयं उट्टाहो । तस्स वा सयणिज्जा पदोसं गच्छेज्जा, तहवणस्स वा वोच्छेदं करेज्जा । सो वा पदो-सं गच्छे वोच्छेदं वा करेज्जा, जम्हा एवमादि, तम्हा आहंण्यो गेएहेज्जा, अप्पणा गवेसेज्ज । वित्थियपदेण गिहत्थाणीतं पि गे-एहेज्जा ॥ १९ ॥

असिंवे ओमोयरिए, रायदुट्टे जए व गेहाण्णे ।

सेहे चरित्तसावय-जए य जयणा इमा तत्थ ॥ २० ॥

सम्भेजे पादाए असतीए दुट्टनेसु वा, असिंवगहितो वा गंतुमस-मर्थो, अहवा पायचुमीए अंतरा वा असिंव ओमं वा, एवं राय-दुट्टयोहिगमयं वा, सयं गिहाणे वावमो वा, सेहस्स वा तत्थ सा-गरियं मा सीदेज्जा । चरित्तदोसा था, तत्थ अणेसणादिया दोसा, सावयमयं वा, तत्थ एवमादिकारणेहि इमं जयणं करेति ।

अप्पाहिंति पुराणा-दि पादसत्थेण आणयह पायं ।

तेहिं च सयमाणीए, गहणं गीतेतरे जयणा ॥ २१ ॥

अप्पाहणं संदेसो, पुराणस्स संदिसंति । आदिग्गहणेण गिही-ताणुव्यसावगस्स वा, सम्मदिठिणो वा संदिसंति । पादसत्थे-ण आणयध, तेहिं वा आणीता जदि सव्ये गीयत्था तो गेएहंति, इतरा अगीयत्था तेसु जयणं करेति, पुण्यं पणिसेहिंसा विजे भावे तेहिं तेहिं य जदा अत्तट्ठिया तदा गेएहंति ।

एसेव कपो गियमा, आहारे सेसए य उवकरणे ।

पुव्व अवरे य एए, सपज्जवा एतरे लुहुगा ॥ २२ ॥

जो पादे विही भणितो एसेव विधी आहारे, सेसोवगयणे य दट्टव्वो । सपज्जवा ते, इतरे पुण निपज्जवा, ते अप्पसत्था च-उल्लहुगा । नि० चू० ११ उ० ।

अभिहणण-अग्निहनन-न० । वेदनोदीरणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । पादाभ्यामभिमुख्येन हनने, प्र० ८ श्र० ७ उ० । अग्नि-मुखमागच्छतो हनने, म० ५ श्र० ६ उ० । आचा० ।

अग्निहणमाण-अभिघ्नत्-त्रि० । पादाभ्यामभिघ्नान्तं कुर्वति, “सु-रचलणचंचूपुरेहि धराणिअलं अभिहणमाणं” जं० ३ वक्क० ।

अग्निहय-अभिहृत-त्रि० । आग्निमुख्येन हतोऽभिहतः । चरणेन घट्टिते, “चउरिदिया अभिहया वत्तिया लहेसिया ” आव० ४ अ० । ध० । आचा० ।

अग्निहाण-अग्निधान-न० । अग्निधीयते येन तदग्निधानम् । नि० चू० १ उ० । संज्ञायाम्, विशेष० । शब्दे, विशेष० । नामनि, वि-शे० । अर्थाभिधानप्रत्ययाश्च लोके सर्वत्र तुल्यनामधेयाः । वि-शे० । भावे ल्युट् । उच्चारणे, सूत्र० १ धृ० १६ अ० । इह त्रिविध-मग्निधानं भवति-सतामसतां च । सतां यथा जीवादीनाम्, असतां यथा शशविषाणादीनाम् । आ० चू० १ अ० ।

अग्निहाणजेय-अग्निधानजेद-पुं० । वाचकत्वनिर्भेदे, विशेष० ।

अग्निहाणहेतुकुसल-अग्निधानहेतुकुशल-पुं० । अभिधानेषु

अमणाम-अमनआप-त्रि० । न जातुचिदापि भोज्यतया जन्तु-
नां मनांसि आप्नोति । जी० १ प्रति० । न मनसा आप्न्यते प्राप्य-
ते चिन्तया यत्तत्तथा । उपा० ८ अ० ।

अमनोऽम-त्रि० । न मनसा अम्यते गम्यते पुनः पुनः स्मरणतो
यत्तदमनोऽमम् । अत्यर्थं मनोऽनिष्टे, भ० १ श० ५ उ० ।

अवनाम-त्रि० । अवनामयतीति अवनामः । पीडाविशेषकारिणि,
“अमणुजाओ अमणामओ दुक्खाओ ” सूत्र० ३. शु० १ अ० ।

अमणुष-अमनोऽम-त्रि० । मनसोऽनुकूलं मनोऽङ्गं, न मनोऽङ्गम-
मनोऽङ्गम् । आच० ४ अ० । न मनसा ज्ञायते सुन्दरतया इत्यम-
नोऽङ्गम् । भ० ६ श० ३३ उ० । स्वरूपतोऽशोभने, (कदम्बादौ)
स्था० ३ डा० १ उ० । मनःप्रतिकूले, सूत्र० १ शु० ६ अ० । असु-
न्दरे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । अनिष्टे, ग० १ अधि० । स्था० ।
अशुभस्वभावे, स्था० ८ डा० । विपा० । अमनःप्रह्लादहेतौ विपा-
कतो दुःखजनके, जी० १ प्रति० । “अमणुषद्रूपमुत्तपूय-
पुरीसपुष्पा ” अमनोऽङ्गाश्च ते दुरुपमूत्रेण पूतिकपुरीषेण च पू-
र्णाश्चेति विग्रहः । इह च दूरुपं विरूपं, पूतिकं च कुथितम् ।
(कामभोगाः) भ० ६ डा० ३३ उ० । “अमणुषसंपन्नोऽगसंप-
त्तस्ते तस्स विप्पन्नोऽगससमस्यणप या वि प्रवति ” अमनोऽङ्गो-
ऽनिष्टो यः शब्दादित्स्य यः संप्रयोगो योगस्तेन संप्रयुक्तो यः
स तथा, स च तथाविधः सन्, तस्यामनोऽङ्गस्य शब्दादेर्विप्रयो-
गस्मृतिसमन्वागतश्चापि प्रवति । विप्रयोगचिन्ताऽनुगतः स्यात् ।
चापीत्युत्तरवाक्यापेक्षया समुच्चयार्थः । असावार्तस्यानं स्यादि-
ति शेषः, धर्मधर्मिणोरभेदादिति । भ० २५ डा० ७ उ० । ग० ।
त्रिभसामाचारीस्थिते संविज्ञे, पं० व० २ द्वा० । असांज्ञो-
गिके, वृ० ३ उ० । नि० चू० ।

अमणुषतर-अमनोऽङ्गतर-त्रि० । अकान्ततरे, अप्रीततरे च ।
विपा० १ शु० १ अ० ।

अमणुषसमुप्याय-अमनोऽङ्गसमुत्पाद-त्रि० । न मनोऽङ्गममनो-
ङ्गसदनुष्ठानम् । तस्मादुत्पादः प्रादुर्भावो यस्य दुःखस्य तद-
मनोऽङ्गसमुत्पादम् । स्वकृतासदनुष्ठानाज्जाते दुःखे, सूत्र० १ शु०
१ अ० ३ उ० ।

अमणुस्स-अमनुष्य-पुं० । देवादौ, न० । रक्षःपिशाचादौ,
(सिद्धान्तकौमुदी) । तपुंसके, नि० चू० १ उ० ।

अमत्त-अमत्र-न० । प्राजने, सूत्र० १ शु० ९ अ० ।

अमम-अमम-त्रि० । ममत्वरहिते, कल्प० ६ क० । उक्त० । पं०
सु० । दश० । निर्दोषत्वात्-(औ०) निरभिष्वङ्गाद् अविद्यमा-
नममेत्यभिलाषे, स्था० ६ डा० । युगलिकमनुष्यजातिजदे, जं०
४ वक्त० । उत्सर्पिण्यां भविष्यति द्वादशे तीर्थकरे, अन्त० ५
वर्ग । प्रव० । ति० । स० । अवसर्पिण्यां जातो नवमो वासुदेवः
कृष्णो भारते वर्षे पुण्ड्रेषु जनपदेषु शतद्वारे नगरे द्वादशस्तीर्थ-
करो भविष्यति । स्था० ८ डा० । ती० । पञ्चविंशतितमे दिवस-
मुद्धर्ते च । चं० प्र० १० पाहु० । ज्यो० ।

अममत्तय-अममत्वक-त्रि० । न विद्यते ममत्वं मूर्गा यस्य स
अममत्वकः । ‘शेपाद्वा’ । ७।३।१।७५। इति (हैम)सूत्रेण कच् प्रत्य-
यः । मूर्ध्नारहिते, वृ० १ उ० । निर्ममताके, “अममत्ता परिकम्मा,
दारविस्सभंगजोगपरिहीणा ” पं० व० ४ द्वा० ।

अममायमाण-अममीकुर्वत्-त्रि० । अस्वीकुर्वति मनसाऽप्यनाद-
दाने, आच० १ शु० २ अ० ५ उ० ।

अममणा-अममना-स्त्री० । अनवरतवञ्चमानायां वाचि, उपा०
२ अ० । रा० ।

अमय-अमृत-न० । सुधायाम्, पञ्चा० ३ विव० । क्षीरोदधि-
मयिते, आ० म० प्र० । “अमयमहियफेणपुंजसन्निगासं ” अ-
मृतस्य क्षीरोदधिलस्य मयितस्य यः फेनपुञ्जो डिण्णिरपूरस्त-
त्सन्निकाशं तत्समग्रजम् । रा० । न-मृ-क। न० त० । मोक्षे, होमाव-
शिष्टद्रव्ये, जले, घृते, अयाचिते वस्तुनि च । परब्रह्मणि, न० ।
मरणशून्ये, त्रि० । विभीतके, स्त्री० । वाच० ।

अमय-त्रि० । अविहृतौ, “अमओ य होइ जीवो, कारणविर-
हा जहेव आगासं । समयं च हो अनिच्चं, मिम्मयघडत्तुमाई-
यं ” अमयश्च भवति जीवः । विशेष० । चन्द्रे, दे० ना० १ वर्ग ।

अमयकलस-अमृतकलश-पुं० । अमृतपूर्णघटे, “अमयकल-
सेण अभिसिच्चो ” आ० म० प्र० ।

अमयधोस-अमृतधोप-पुं० । काकन्द्या नगर्याः स्वनामख्याते
राजनि, स च स्वपुत्रं राज्ये स्थापयित्वा धर्ममनशनं प्रतिपन्न
इति । संथा० ।

अमयणिहि-अमृतानिधि-पुं० । काञ्चनवद्वानके प्रतिष्ठिते भग-
वति, ती० ४५ कल्प ।

अमयतरंगिणी-अमृततरङ्गिणी-स्त्री० । महोपाध्यायश्रीकल्या-
णविजयगणेशिष्य-मुख्यपण्डितश्रीलामविजयगणेशिष्यावतं-
स-पण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यतिष्ठकपणिरुतश्रीनयधि-
जयगणिचरणकमलसेविना पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोद-
रेणोपाध्याय-श्रीयशोविजयगणिना विरचितायां नयोपदेशटी-
कायाम्, नयो० ।

अमयनिगम-देशी-चन्द्रे, दे० ना० १ वर्ग ।

अमयप्प(ण)-अमृतात्मन्-पुं० । धर्ममेघसमाधौ, द्वा० २० द्वा० ।

अमयफल-अमृतफल-न० । अमृतोपमफले, डा० ९ अ० ।

अमयवह्नी-अमृतवह्नी-स्त्री० । बल्लीविशेषे, प्रव० ४ द्वा० ।
ध० । गुरुल्याम्, वाच० ।

अमयजूय-अमृतजूत-त्रि० । माधुर्यादिभिर्गुणैः सुधासहोदरे,
वृ० २ उ० ।

अमयरसासायण-अमृतरसास्वादङ्ग-त्रि० । अमृतरसस्या-
स्वादस्तं जानाति इति अमृतरसास्वादङ्गः । अमृतरसास्वाद-
वेत्तरि, “अमृतरसाऽऽस्वादङ्गः, कुञ्जरसलाक्षितोऽपि बहु-
कालम् ” । पो० ३ विव० ।

अमयवास-अमृतवर्ष-पुं० । तीर्थकृज्जन्मादौ देवैः कृतायाम-
मृतवृष्टौ, आच० २ शु० १५ अ० ।

अमयसाय-अमृतस्वाद-पुं० । अमृतवत् स्वाद्यते इत्यमृतस्वा-
दय । अमृततुल्ये, सम्म० ३ काण्ड ।

अमयसार-अमृतसार-न० । न विद्यते मृतं मरणं यस्मिन्नसा-
वमृतो मोक्षः । तं सारयति प्रापयतीति वा । मोक्षप्रतिपादके,
सम्म० ३ काण्ड ।

अमर-अमर-पुं० । देवे, कर्म० ५ कर्म० । आच० । को० । आ०
म० । त्रयोदशे ऋषभदेवपुत्रे, कल्प० ७ क० । भविष्यतस्त्रयो-
विंशस्थानन्तवीर्यतीर्थकरस्य पूर्वमवजीवे, ती० २१ कल्प । सि-

थीनिजितो पमत्तो, नच्चा रज्जं पि पेलेज्जा ॥

प्रातिवेशिका नाम सामान्तर्वाचिनः प्रत्यर्थिनो राजान इदं मुञ्चा परिभवेन परिभवात्पादनमुष्ट्या हसिष्यन्ति, न केवलं हसिष्यन्ति किंतु क्षीनिर्जितः प्रमत्त एव इति ज्ञात्वा राज्य-मपि प्रेरयिष्यन्ति, गृहीयुरित्यर्थः ।

धिं तेसि गामनगरा-ण जेसि इत्थी पणायिगा ते य ।

धिद्विक्रया य पुरिसा, जे इत्थीणं वसं जाया ॥

धिद्विनिदायाम्, तेषां ग्रामनगराणां, येषां स्त्री प्रणायिका प्रकर्षेण स्वतन्त्रतया नायिका । अत्र धिग्यागे द्वितीया प्राप्ताऽपि पट्टी, प्राकृतत्वात् । तथा तेऽपि पुरुषाः धिक्कृताः धिक्कारं प्राप्तवन्तो ये स्त्रीणां वशमायत्ततां जाताः ।

तथा-

इत्थीओ वलवं जत्थ, गामेमु नगरेमु वा ।

सो गामो नगरं वा त्रि, खिप्पमेव विणस्सइ ॥

यत्र ग्रामेषु नगरेषु वा स्त्रियो वलवत्यः स ग्रामो नगरं वा त्रि-प्रमेव विनदयति । बहुवचनेनोपसंहारो जातौ बहुवचनमेकव-चनं नवतीति प्रापनार्थः ।

पवमुके राजा पुरोधा वा एवं मनसि संप्रधारयेत् । यथा-
'नास्नाकं ग्रामेषु नगरेषु वा स्त्रियो वलवत्यः' इति, तत आह-

सूयग तद्दाऽणुसूयग, पन्निमूयग सव्वसूयगा चेव ।

पुरिसा कयविचीया, वसंति सामंतरज्जेसु ॥

तस्यामात्यस्य पुरुषाः कृतवृत्तयः कृताजीविकाः, चतस्र्यु दि-
शु चरा ज्ञानार्थं सामन्तराज्येषु प्रातिवेशिकराज्येषु वसन्ति । त-
द्यथा-सूचकाः, अनुसूचकाः, प्रतिसूचकाः सर्वसूचकाश्च । सूचकाः-
सामन्तराज्येषु गत्वा अन्तःपुरपातकैः सह मैत्री कृत्वा यच्चन रहस्यं
तत्सर्वं जानन्ति । अनुसूचकाः-नगराभ्यन्तरे चारमुपपन्नन्ते ।
प्रतिसूचकाः-नगरद्वारस्तमोपे अल्पव्यापारा भवतिष्ठन्ते । सर्व-
सूचकाः-स्वनगरं पुनरागच्छन्ति, पुनर्यान्ति । तत्र ये सूच-
कास्ते श्रुतं दृष्टं वा सर्वमनुसूचकैभ्यः कथयन्ति । अनुसूचकाः
सूचककथितं स्वयमुपलब्धं च प्रतिसूचकैभ्यः । प्रतिसूचका
अनुसूचककथितं स्वयमुपलब्धं च सर्वसूचकैभ्यः । सर्वसूचका
अमात्याय कथयन्ति । यथा तस्यामात्यस्य वतुर्विधाः पुरुषाः
सामन्तराज्येषु वसन्ति, तथा महिम्ना अपि ।

तथा चाऽऽह-

सूयग तद्दाऽणुसूयग, पन्निमूयग सव्वसूयगा चेव ।

महिम्ना कयविचीया, वसंति सामंतरज्जेसु ॥

अस्या व्याख्या प्राग्वत् । यथा च पुरुषाः स्त्रियश्च सामन्तराज्येषु
समस्तेषु वसन्ति तथा सामन्तनगरेष्वपि राजधानीरूपेषु ।

तथा चाऽऽह-

सूयग तद्दाऽणुसूयग, पन्निमूयग सव्वसूयगा चेव ।

पुरिसा कयविचीया, वसंति सामंतनगरेसु ।

सूयग तद्दाऽणुसूयग, पन्निमूयग सव्वसूयगा चेव ॥

महिम्ना कयविचीया, वसंति सामंतनगरेसु ॥

इदं गाथाद्वयमपि पूर्ववत् । यथा च परराज्येषु परनगरेषु च
पुरुषाः स्त्रियश्च वसन्ति, तथा निजराज्ये निजनगरे अन्तःपुरे ।

तथा चाऽऽह-

सूयग तद्दाऽणुसूयग, पन्निमूयग सव्वसूयगा चेव ।

पुरिसा कयविचीया, वसंति निययम्मि रज्जम्मि ॥

सूयग तद्दाऽणुसूयग, पन्निमूयग सव्वसूयगा चेव ।

महिम्ना कयविचीया, वसंति निययम्मि रज्जम्मि ॥

सूयग तद्दाऽणुसूयग, पन्निमूयग सव्वसूयगा चेव ।

पुरिसा कयविचीया, वसंति निययम्मि नगरम्मि ॥

सूयग तद्दाऽणुसूयग, पन्निमूयग सव्वसूयगा चेव ॥

महिम्ना कयविचीया, वसंति निययम्मि नगरम्मि ।

सूयग तद्दाऽणुसूयग, पन्निमूयग सव्वसूयगा चेव ॥

पुरिसा कयविचीया, वसंति अंतरे रेणो ॥

सूयग तद्दाऽणुसूयग, पन्निमूयग सव्वसूयगा चेव ।

महिम्ना कयविचीया, वसंति अंतरे रेणो ॥

गाथापट्टस्यापि व्याख्या पूर्ववत् । तत एवं निजचारपुरुषैः
महिलाभ्यो राज्ञः पुरोधसश्च निशि वृत्तममात्यो ज्ञातवात् ।
तदेवं राज्ञोऽपि यः शिक्षाप्रदानेऽधिकारी सोऽमात्य इति । उ-
क्तममात्यस्य स्वरूपम् । व्य० १ उ० ।

अमर्त्य-पुं० । देवे, स्या० ।

अमचपुज्ज-अमर्त्यपूज्य-त्रि० । देवाराधने तीर्थकृदादौ, स्या० ।

अमच्छरि (ण्)-अमत्सरिन्-त्रि० । परसंपदद्वेषिणि, दश० १
चू० । परगुणप्राहिणि, प्रश्न ४ आश्र० द्वा० ।

अमच्छरियया-अमत्सरिकता-स्त्री० । मत्सरिकः परगुणाना-
मसोढा, तद्भावनपेधोऽमत्सरिकता । अ० ए श० ए उ० ।
परगुणप्राहितायात्, श्री० ।

अमज्जमसांसि (ण्)-अमद्यमांसाशिन्-त्रि० । मद्यमांसमन-
श्नति, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अमद्यपे, अमांसाशिनि च ।
दश० २ चू० ।

अमज्जाइह-अमर्यादावत्-पुं० । "मज्जाया सीमावत्था, न मज्जा-
या अमज्जाया, तीप जो वट्ठति सो अमज्जाइहो" नि० चू० १
उ० । मर्यादाया अवेत्तरि प्रवर्तके आचार्ये च । नि० चू० ४ उ० ।
अमज्ज-अमध्य-त्रि० । न० व० । विनागचर्यं कर्तुमशक्ये, "त-
ओ अमज्जा पणत्ता । तं जहा-समए, पणसे, परमाणु" । स्या०
३ ग० ४ उ० । विषमसंख्यावयवाभावात् क्षेत्रपरमाणौ, अ०
२० श० ६ उ० ।

अमण-अमन-न० । अधिगमने, अन्तःपरिच्छेदे च । स्या० ३
ग० ४ उ० ।

अमनस्-न० । मनोविद्वेष्टिण्यर्थे, "तिविहे अमणे पणसे । तं
जहा-णोतम्मणे णोतयअमणे अमणे" । स्या० ३ ग० ३ उ० ।
अविद्यमानान्तःकरणे, दर्श० । "भ्रायइ सुणिप्पकम्पो, भायं
अमणो जिणो होइ" प्रयत्नविशेषाद् मनः अपनीय अमना अ-
विद्यमानान्तःकरणो जिनो भवति । आव० ४ अ० । जं० । अ-
संज्ञिनि च, क० प्र० ।

अमणा-अमनाक्-अव्य० । न मनागमनाक् । नितरां शब्दार्थैः
सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

देवगुरु चि मई मे, भक्ती तह पणमणप्पसुहा ॥ ११० ॥
 नो मह.तेसु पओसो, मणयं पि न भत्तिमिचमवि किंतु ।
 देवगुरुगुणविओगा, तेसु उदासत्तणं अंव ! ॥ १११ ॥
 गयरगदोसमोह-त्तणेण देवस्स होइ देवत्तं ।
 तच्चरियागमपमिमा-ण दंसणा देवत्तं नेयं ॥ ११२ ॥
 सिवसाहगुणगणगज-रवेण सत्थत्थसम्मगिरणेण ।
 इह गुरुणो वि गुरुत्तं, होइ जहत्थं पसत्थं च ॥ ११३ ॥
 ता अंव ! पणमिय जिणं, नमिज्जए तिहुयणे वि कह अओ ? ।
 नहु रोयइ लवणजलं, पीए खीरोहियजलम्मि ॥ ११४ ॥
 इय तेणं पमिभयिया, जणणी मोणं अकासि सविसाया ।
 अह कुविया कुवदेवी, से दंसइ जीसणसयाइ ॥ ११५ ॥
 न य तस्स किं पि पव्वइ, सत्तिक्कणस्स धम्मनिरयस्स ।
 वइइ पओसं अहियं, तो अमरा अमरदत्तम्मि ॥ ११६ ॥
 पच्चक्खीहोउ कया-वि तीपे सो निदुरं इमं भण्णिओ ।
 रे कूडधम्मगव्विय !, न पणामं मज्झ वि करेसि ॥ ११७ ॥
 ता इएइ हणेमि तुमं, ददधम्मो तं प्रणेइ अमरो वि ।
 जइ आउयं पि यलवं-तो मारिज्जइ न को वि तए ॥ ११८ ॥
 अह कह वि तं पि तुहुं, मरियव्वे इहरहा वि ता जाय ।
 को सहंसणममलं, मइलइ जवकोडिसयदुलहं ? ॥ ११९ ॥
 तो अमरा सामरिसा, तस्स सरिरे विउव्वए पावा ।
 सीसच्छिसवणवदरं-तनिस्सिया वेयणा तिव्वा ॥ १२० ॥
 जा इक्का वि हु जीयं, इरेइ नियमेण इयरपुरिसस्स ।
 ददस्सतो तह वि इमो, एयं चित्ते विविचतेइ ॥ १२१ ॥
 रे जीव ! तए पत्तो, सिवपुरपहपत्थिए ण सत्याहो ।
 देवो सिरिअरिहंतो, अपत्तपुव्वो जवअरन्ने ॥ १२२ ॥
 ता इमिण च्चिय हियय-ट्टिएण मरणं पि तुज्झ जहकरं ।
 एयम्मि पुण विमुक्के होसि जियंतो वि तमणाहो ॥ १२३ ॥
 कित्थियमित्तं च इमं, डुक्खं तुह दंसणे अपत्तम्मि ।
 पाविय अणंतपुगल-परियदुहस्स नरप्पसु ॥ १२४ ॥

किञ्च—

पमिकूला हवव सुरा, मायापियरो परंमुहा हुंतु ।
 पीरंतु सरिरं वा-हिणो वि खिसंतु सयणा य ॥ १२५ ॥
 निवडंतु अवायाओ, गच्छव वच्छी वि केवढं इका ।
 मा जाव जिणे भक्ती, तदुत्ततत्तेसु तिच्ची य ॥ १२६ ॥
 इयनिच्छयप्पहाणं, तच्चित्तं नाउ ओहिणा अमरा ।
 तस्सत्त-रंजियमणा, भणेइ संहरिय उवसणे ॥ १२७ ॥
 धओसि तं महासय !, तं चिय सल्लहिज्जसे तिहुयणम्मि ।
 सिरिवीयरायचरणे-सु जस्स तुह इय दढाऽऽसत्ती ॥ १२८ ॥
 अज्जप्पज्जिई मज्झ वि, सुच्चिय देवो गुरु वि सो चेव ।
 तत्तं पि तं पमाणं, अं पमिवत्तं तए धीर ! ॥ १२९ ॥
 इय भणरीए तीप, मुक्का अमरस्स उवरि तुछाए ।
 परिमव्वमिन्निय अविउला, दसरुवन्ना कुसुमवुडो ॥ १३० ॥
 तं ददु महच्छरियं, तप्पियरो पुरजणो ससुरवग्गो ।
 अमराए वयणेण, जाओ जिणदंसणे प्रत्तो ॥ १३१ ॥
 ससुरेण पहिट्ठेण, तो धूया पेसिया पइगिहम्मि ।
 तप्पमिइ अमरदत्तो, सकुडंयो कुणइ जिणधम्मं ॥ १३२ ॥
 सुचिरं निम्मव्वदंसण-सारं पालिय गिहत्थधम्ममिमो ।
 जाओ पाणये अमरो, महाविदेहम्मि सिज्जिहिइ ॥ १३३ ॥

अमरदत्तचरित्रमिदं मुदा,
 गतमलं परिभाव्य विवेकिनः ।

भजत दर्शनशुद्धिमनुत्तरां,

भवत येन महोदयशास्त्रिनः ॥ १३४ ॥ ध० २० ।

अमरपरिग्राहिय-अमरपरिगृहीत-त्रि० । देवैः स्वीकृते, वृ० ३३० ।

अमरप्पभ-अमरप्रभ-पुं० । विक्रमसंवत्सराणां चतुर्दशशतके
 विद्यमाने प्रक्रामरस्तोत्रटीकाकारके कल्याणमन्दिरस्तोत्रटीका-
 कारकगुणसागर-गुरु-सागरचन्द्रस्य गुरौ, जै० ६० ।

अमरवइ-अमरपति-पुं० । देवेन्द्रे, “ अमरवइ माणिज्जे ” भ०
 ३ श० ८ व० । प्रज्ञा० । मल्लिनाथेनार्हता सहानुप्रव्रजिते ज्ञात-
 कुमारे, ज्ञा० ८ अ० ।

अमरवर-अमरवर-पुं० । महामर्हिद्विकदेवे, तं० ।

अमरसागर-अमरसागर-पुं० । अञ्चलगच्छीये कल्याणसाग-
 रसूरिशिष्ये, अयं च उदयपुरनगरे वैक्रमीये १६६४ वर्षे
 जन्म लब्ध्वा १७०५ वर्षे प्रव्रज्य १७१४ वर्षे क्षमातनगरे
 आचार्यपदवीं प्राप्तः । ततः १७१८ वर्षे भुजनगरे गच्छेशपदं ब्रूमे ।
 ततः सं० १७६२ मिते धवलकपुरे स्वर्गं गतः । जै० ६० ।

अमरसुह-अमरसुख-न० । देवसुखे, आव० ४ अ० ।

अमरसेण-अमरसेन-पुं० । मल्लिनाथेनार्हता सहानुप्रव्रजिते
 स्वनामख्याते ज्ञातकुमारे, ज्ञा० ८ अ० । स्वनामख्याते राजा-
 न्तरे च । दर्श० ।

अमरिस-अमरिप-पुं० । न-मृप्-घञ् । “ शंपेतसवज्जे वा ” । ८ ।
 २ । ५ । इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनस्येकारः । प्रा० २ पाद ।
 मत्सरविशेषे, आ० म० द्वि० । महाकदाग्रहे, वत्त० ३४ अ० ।
 कोपे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अमरिमण-अमरिपण-त्रि० । अपराधाऽसहिष्णौ, प्रश्न० ४
 आश्र० द्वा० । अपराधिष्वकृतकृते, सं० ।

अमसृण-पुं० । प्रयोजनेष्वनलसे, सं० ।

अमरिसिय-अमरिपित-त्रि० । अमर्यः संजातोऽस्यामरिपितः ।
 संजातमत्सरविशेषे, आ० म० द्वि० ।

अमल-अमल-पुं० । न विद्यते मल इव मलो निसर्गनिर्मल-
 जीवमाश्विन्यापादनहेतुत्वाद्दृष्टप्रकारकं कर्म येषां ते अमलाः ।
 सिकेपु, प्रव० २१४ द्वार । निर्मलमात्रे, त्रि० । आ० म० प्र० ।
 ऋषभदेवस्य सप्तमे पुत्रे, कल्प० ७ त्वा० ।

अमलचंद-अमलचन्द्र-पुं० । वैक्रमीये ११५८ वर्षे शृगुकच्छे
 विहरति स्वनामख्याते गणिनि, जै० ६० ।

अमलवाहण-अमलवाहन-पुं० । विमलवाहने महापद्मतीर्थ-
 करे, ती० २१ कल्प ।

अमला-अमला-स्त्री० । स्वनामख्यातायां शक्राग्रमहिष्याय,
 प्र० १० श० ५ उ० । ती० । स्था० । (‘ अग्रमहिषी ’ शब्देऽ-
 स्मिन्नेव भागे १७३ पृष्ठे तत्पूर्वापरजवाबुक्तौ)

अमहर्घय-अमहर्घक-त्रि० । महती अर्घा यस्य स महार्घः,
 महार्घ एव महार्घकः, न महार्घकोऽमहार्घकः । अवहुमूढ्ये,
 वत्त० २० अ० ।

केषु च, तेषामायुषोऽभावात् । औ० । " इमस्स खेव पडिवूह-
णट्ठाप अमरायइ महासत्थी " (अमरायइ इत्यादि) अमरा-
यते-न मरः सत् इत्ययौवनप्रच्युत्वरूपाऽवसक्तोऽमर इवा-
चरति अमरायते । आचा० १ ध्रु० २ अ० ५ उ० ।

अमरकेतु-अमरकेतु-पुं० । विजये (क्रेत्रे) तमालवृक्षतानामनगर्या
राशः समरनन्दनस्य मन्दारमञ्जरी उदरसंभवे पुत्रे, दर्श० ।

अमरचन्द-अमरचन्द्र-पुं० । नागेन्द्रगच्छीये महेंद्रसुरिणिष्य-
शान्तिचरिणिष्ये, येन गुर्जरदेशाधिपतिसिद्धराजसकाशाद्
न्याग्रशिष्टक इति पदयो लेभे, सिद्धान्तार्णवनामा ग्रन्थश्च
व्यरचि । इत्येकोऽमरचन्द्रसुरिः । (१)

(२) वायटीयगच्छीये जिनदत्तचरिणिष्ये, येन चतुर्विंशति-
जिनचरित्रं पञ्चानन्दान्युदयापरनामकं महाकाव्यं, वास्तुभारतं,
काव्यकल्पलता, काव्यकल्पलतापरिमलः, चन्दोरत्नावली, क-
लाकलापश्चेत्येवमादयो ग्रन्था विद्वच्चित्तचमत्कृतकृतो नि-
रमायित । एतस्य शीघ्रकवित्वशक्त्युत्पन्नः श्रीशालदेवो नाम
गुर्जरधरिणीयरोऽस्मै बहुमानमदात् । अयं च वैक्रमीयसंव-
त्सराणां त्रयोदशशतकेऽवर्तत । जै० ३० ।

अमरण-अमरण-न० । मृत्योरभावे, ध० १ अधि० ।

अमरणधम्म-अमरणधर्म-वि० । तीर्थकरे, पं० अ० ४ द्वा० ।

अमरदत्त-अमरदत्त-पुं० । जयघोषभेष्टिपुत्रे, ध० २० ।

कथानकं पुनरेवम्—

" विद्वज्जसिद्धिपरिकाश्रियं, अन्नं किंयं बहुसमिद्धलोपहिं ।
रयणायरमज्जं पि व, रयणपुरं प्रतिथ वरनयरं ॥ १ ॥
कपसुगयसमयपोसो, पुरसिद्धी अतिथ तस्य जयघोसो ।
जिणमुणिविहियपभोसो, सुजसा नामेण से भज्जा ॥ २ ॥
अमरानिहायकुलदे-वयापे दिन्नु चि तो अमरदत्तो ।
नामेण ताण पुत्तो, पसन्नाचिचो सदावेण ॥ ३ ॥
आजम्मं तव्वान्नय-मयवासियहिययइममवरकन्नं ।
वियरेहिं पदमज्जुवण-भरम्म परिणाविओ सो व ॥ ४ ॥
अहं बहुसमयम्मि कया-वि अमरदत्तो समिच्चसुत्तो ।
पुण्णकरंजुज्जाणे, कील्लाइकप समणुपत्तो ॥ ५ ॥
सो कीलंतो तहियं, तवस्स हिट्ठा निपइ मुणिमगं ।
तस्स य पासे पगं, इयमाणं पहियपुरिसं च ॥ ६ ॥
तो कौत्तगेण अमरो, आसन्नं तस्स होठ पुच्छेइ ।
किं जइ ! रोयसि तुमं !, सगमयं सो वि इय भणइ ॥ ७ ॥
कंपिणपुरे सिंधुर-सिद्धिस्स वसुंधरापे दइयाप ।
ओवाइयलक्खेहिं, एगो पुत्तो अहं आओ ॥ ८ ॥
सेणु चि विहियनाम-स्स अइगया आव मज्जं वम्मासा ।
ता सयलविहवसइया, अम्मापियरो गया निहणं ॥ ९ ॥
तप्पमिइ पालिओऽहं, जेहिं सयणेहिं गइयकइणेहिं ।
मम पुक्कयज्जमनिहया, पंचत्तं ते वि संपत्ता ॥ १० ॥
बहुलोयाणं संता-वकारणं विसतइ व्व कमसोऽहं ।
देहेण दुज्जरेण य, पणुहिओ इच्चिरं काळं ॥ ११ ॥
संपइ पुण दहोवदि, पिडगसमाणा अमाण्डुक्ककरा ।
महं देहे अरपमुहा, रोगा बइवे समुत्पन्ना ॥ १२ ॥
किंच पिसाओ भूओ, व कोवि महं अंतरेतरा अंगं ।
पीळेइ तह अदिओ, जइ तं वुत्तं पि न तरेमि ॥ १३ ॥
तो जीवियव्वभगो, नग्गोहतवम्मि आव अच्चारणं ।
अच्चारणं ओवधे-मि ताव पासो वि लहु तुट्ठो ॥ १४ ॥
१७५

इहिं धेरग्गामो, पुर मय किं कयं ति पुच्छेउं ।

मुणिणो इमस्स पासे, जो मह ! इहं भहं पत्तो ॥ १५ ॥

जम्माउ वि निययइहं, सुमरिय रोपमि इय भणेकण ।

तेणं पहियनरेणं, निययुत्तं मुणी पुत्तो ॥ १६ ॥

महं विम्वयरसपुत्तो, किं तु कहिस्सइ इमो सुसाहु चि ? !

सो अमरदत्तपुत्तो, एकगमणो जणो जाओ ॥ १७ ॥

अहं वज्जरियं मुणिणा, भो पहिय ! तुमं इमो भवे तइय ।

मगहे सुव्वरगामे, देविहनामाऽऽसि कुलपुत्तो ॥ १८ ॥

अच्छदिणं रायगिहे, तुहं गच्छंतस्स कोवि मग्गम्मि ।

मिलिओ पहिओ कमसो, तप धणइहुत्ति सो नाओ ॥ १९ ॥

तं वीससिउं रयणीपे, इणिय गहिक्कण तक्कणं सच्चं ।

जा आसि तुमं पुरओ, इरिणा वुहियण ताव इओ ॥ २० ॥

पत्तो पदमे नरप, असरिसडुप्फाई सहिय पट्टयाई ।

तो उव्वट्टिय इहयं, सो एसो सेण संजाओ ॥ २१ ॥

जो सेण ! तप तइया, पहिओ पइओ भवम्मि सो एसो ।

अन्नाण तवं काउं, असुरनिक्काप सुरो जाओ ॥ २२ ॥

संभरिय पुव्वचइरे-ण तेण इणिया तुहंमपिउसयणा ।

निधणं धणं च यीयं, जाणिया रोगा तुहं सरीरे ॥ २३ ॥

विओ तहेव पासो, एसो सुच्चिरं वुट्ठो इवेउ चि ।

सो कुणइ अंतरा अ-तरा य वियणं परमघोरं ॥ २४ ॥

तं सोउं भवमीओ, पहिओऽणसणं गहिउ मुणिपासे ।

सुमरंतो नवकारं, जाओ वेमाणिएसु सुरो ॥ २५ ॥

इय सुणिय पहियचरियं, अमरो संवेगपरिगओ अहियं ।

नमिउं विजवइ मुणिं, भयवं ! महं कइसु जिणधम्मं ॥ २६ ॥
ध० २० ।

इच्छामि समणुसिद्धिं, ति भणिय नमिउं च सुगुरुचलणदुगं ।

तत्तो समिच्चसुत्तो, गेहं पत्तो अमरदत्तो ॥ एव ॥

सो पिउणा संलत्तो, किं वच्छ ! चिराइयं तप तस्य ।

तो मिचेहिं वुत्तो, वुत्तंतो तस्स सयवो वि ॥ एए ॥

अहं कुविओ जयघोसो, भणेइ डुप्पुक्क ! किं अरे ! तुमप ।

सुत्तु कुलागय सममं, धम्मं धम्मंतरं गहियं ॥ १०० ॥

ता सुंच इमं धम्मं, सियभिक्कणं करेसु निक्कणं ।

अन्नद तप समं मम, संमासो वि हुं न जुत्तु चि ॥ १०१ ॥

जणइ य कुमरो हे ता-य ! एसं सुपरिक्खिऊय चित्तव्वो ।

धम्मो वरकणं पि व, न कुलागयमित्तो वेव ॥ १०२ ॥

पाणिवहालियचोरि-कविइपरजुवइवज्जणपहाणो ।

पुव्व्यावरमविरुद्धो, धम्मो एसो कइमज्जुत्तो ! ॥ १०३ ॥

जइ गिपहंतो उच्चम-पणियं वणिओ भवे ण वयणिज्जो ।

पडिवन्नुत्तमधम्मो, न हील्लिज्जो तहाइहं पि ॥ १०४ ॥

तं सुखिय अज्जिणिविट्ठो, सिद्धिं जणेइ रे डुरायार ! ।

जं रोयइ कुणसु तयं, न इमो तं भासिउं उच्चिओ ॥ १०५ ॥

एयं निसामिक्कणं, ससुरेण भण्णाविओ इमो एव ।

जइ महं सुयापे कळं, ता जिणधम्मं चयसु सिग्घं ॥ १०६ ॥

मुत्तं जिणधम्ममिमं, सेसं सव्वमविऽणंतसो पत्तं ।

एवं चित्ति अमरो, विसज्जप पिउमिहे भज्जं ॥ १०७ ॥

अच्छदिणे जणणीप, भणिओ एसो जइ तुमं वच्छ ! ।

जो रोयइ तुहं धम्मो, तं कुणसु वयं न विग्घकरा ॥ १०८ ॥

फित्तु अमराऽनिहाणं, कुलदेवि निच्चमेव अच्चेसु ।

एयण्यसायपन्नवो, तुहं जम्मो तो इमो आह ॥ १०९ ॥

अंभ ! न संपइ कप्पइ, जिणमुखिवइरित्तवेवदेविंसु ।

चिन्त्यते, तदा सा युगस्यादित आरभ्य त्रयोदशी । ततः स ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ त्रयोदशभिर्गुण्यते । जातानि मुहूर्ता-
नामष्टौ शतानि अष्टापञ्चाशदधिकानि ८५८ । एकस्य च मुहूर्त-
स्य पञ्चषष्टिजागाः ६५ । एकस्य च द्वापष्टि भागस्य ६९ स-
त्काः त्रयोदश १३ सप्तषष्टि ६७ जागाः । तत्र-“चत्वारि य वा-
याला, अह सोज्जा उत्तरासाढा” इति वचनात् । चतुर्भिर्द्वाच-
त्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तैश्चतैः षट्चत्वारिंशता द्वापष्टिभागैरुत्तरा-
षाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थितानि पश्चात् मुहूर्तानां
चत्वारि शतानि पौरुषोत्तराणि, एकस्य च मुहूर्तस्य
एकोनविंशतिर्द्वाषष्टिजागाः । एकस्य च द्वापष्टिभागस्य स-
त्कास्तयोदश सप्तषष्टिभागाः । ४१६ १३ १३ । ततः पतस्मात्
त्रीणि शतानि नवनवत्यधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च
मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभा-
गस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागा ३६९ १३ १३ इति शोधनी-
यम् । ततः षोडशोत्तरेभ्यः चतुःशतेभ्यः त्रीणि नवन-
वत्यधिकानि शुद्धानि, स्थिताः पश्चात् सप्तदश मुहूर्ताः ।
तेभ्य एकं मुहूर्तं गृहीत्वा द्वापष्टिभागाः क्रियन्ते । कृत्वा च द्वा-
षष्टिभागा राशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाता एकाशीतिः । तस्याश्चतुर्विंश-
तिः शुद्धा, स्थिताः पश्चात् सप्तषष्टाशद । तस्या रूपनेकमा-
दाय सप्तषष्टिभागाः क्रियन्ते, तेभ्यः षट्षष्टिः शुद्धा, पश्चादेको
ऽवतिष्ठते, सप्तषष्टिभागराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाताश्चतुर्दशसप्तष-
ष्टिभागाः । आगतं पुष्यनक्षत्रम् । षोडशसु मुहूर्तेष्वेकस्य च
मुहूर्तस्य षट्षष्टाशानि द्वापष्टिभागेष्वेकस्य च द्वापष्टिभागस्य
चतुर्दशसु सप्तषष्टिजागेष्वतिक्रान्तेषु द्वितीयां आविष्टीममावा-
स्यां परिसमापयति ॥ यदा तु तृतीया आविष्टममावास्या चि-
न्त्यते, तदा सा युगादित आरभ्य पञ्चविंशतितमेति स ध्रुवरा-
शिः ६६ । ५ । १ पञ्चविंशत्या गुण्यते, जातानि पौरुष शतानि
पञ्चाशदधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्च-
विंशदुत्तरशतं द्वापष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य प-
ञ्चविंशति सप्तषष्टिभागाः १६५० १३ १३ । तत्र चतु-
र्भिर्द्वाचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तैश्चतैरेकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिं-
शता द्वापष्टिभागैः प्रथममुत्तराषाढापर्यन्तं शोधनं शुद्धम्,
स्थितानि पश्चान्मुहूर्तानां द्वादशशतान्यष्टोत्तराणि १२०७;
द्वापष्टिभागाश्च मुहूर्तस्य एकोनशीतिः ७९, एकस्य द्वाप-
ष्टिभागस्य पञ्चविंशतिसप्तषष्टिभागाः १३ । ततोऽष्टभिः शतै-
रेकोनविंशत्यधिकैः ७१९ मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य
चतुर्विंशत्या द्वापष्टिजागैः, एकस्य च द्वापष्टिजागस्य षट्षष्ट्या
सप्तषष्टिभागैरेको नक्षत्रपर्यायः शुद्ध्यति । स्थितानि पश्चात् त्री-
णि शतानि नवाशीत्याधिकानि मुहूर्तानाम् ३८९ । एकस्य
च मुहूर्तस्य चतुष्पञ्चाशद् द्वापष्टिभागाः ३३, एकस्य च द्वाप-
ष्टिजागस्य षट्षष्टिसप्तषष्टिजागाः ३३ । ततो मूयास्त्रिभिर्नवो-
त्तरैर्मुहूर्तैश्चतैः, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वापष्टिजा-
गैः, एकस्य च द्वापष्टिजागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभि-
जिदादीनि रोहिणिकापर्यन्तानि शुद्धानि स्थितानि, पश्चाद्
मुहूर्ता अशीतिः, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनत्रिंशद् द्वापष्टिजा-
गानि, एकस्य द्वापष्टिजागस्य सप्तविंशति सप्तषष्टिजागाः ८०
३३ ३३ । ततस्त्रिंशता मुहूर्तैर्मृगशिरः शुद्धं, स्थिताः पञ्चाशद्
मुहूर्ताः ५० । ततः पञ्चदशमिरार्द्धा शुद्धा, स्थिताः पञ्चविं-
शद् ३५ । आगतं पुनर्वसु नक्षत्रम् । पञ्चविंशति मुहूर्तेष्वेक-

स्य च मुहूर्तस्य एकोनत्रिंशति द्वापष्टिजागेष्वेकस्य च द्वाप-
ष्टिभागस्य सप्तविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु तृतीयां आविष्टीममा-
वास्यां परिसमापयति ॥ एवं चतुर्थी आविष्टीममावास्याम-
श्चेवानक्षत्रं प्रथमस्य मुहूर्तस्य सप्तसु द्वापष्टिजागेष्वेकस्य च
द्वापष्टिजागस्य एकचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु गतेषु ७ । ४१ ;
पञ्चमी आविष्टीममावास्यां पुष्यनक्षत्रं त्रिषु मुहूर्तेषु एकस्य
च मुहूर्तस्य द्विचत्वारिंशति द्वापष्टिजागेषु, एकस्य च द्वाप-
ष्टिभागस्य चतुष्पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु गतेषु ३ । ४२ ।
५४ परिणमयति । एवमुक्तेन प्रकारेण पतेनानन्तरोदितेनाभि-
वापेन, शेषमप्यमावास्याजातं नेतव्यम् । विशेषमाह- (षोड-
शं दोषि । तं जहा-पुष्पफल्गुणी, उत्तरा य चि) तत्रैवं सूत्र-
पाठः-“ता षोडशं णं अमावासं कइ नक्षत्रता जोपंति ? ता
दोषि नक्षत्रता जोपंति । तं जहा-पुष्पफल्गुणी, उत्तरफल्गुणी य;”
इदमपि व्यवहारत उच्यते । परमार्थतः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि
प्रौष्ठपदीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-मघा, पूर्वाफल्गु-
नी, उत्तरफल्गुनी च । तत्र प्रथमां प्रौष्ठपदीममावास्यामुत्त-
रफल्गुनीनक्षत्रं चतुर्षु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्षष्टौ
द्वापष्टिभागेषु एकस्य द्वापष्टिभागस्य द्वयोः सप्तषष्टिभागयोः ४ ।
२६ । २ अतिक्रान्तयोः, द्वितीयां प्रौष्ठपदीममावास्यां पूर्वाफल्गु-
नीनक्षत्रं सप्तसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य एकषष्टौ द्वा-
पष्टिजागेषु, एकस्य च द्वापष्टिजागस्य पञ्चदशसु सप्तषष्टिजागेषु
७ । ६१ । १५ गतेषु; तृतीयां प्रौष्ठपदीममावास्यां मघानक्षत्रमे-
कादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशति द्वापष्टिजा-
गेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्याष्टाविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु ११ ।
३४ । २८ गतेषु; चतुर्थीं प्रौष्ठपदीममावास्यां पूर्वाफल्गुनीन-
क्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वादशसु द्वापष्टि-
जागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य द्वाचत्वारिंशति सप्तषष्टि-
भागेषु ३१ । १२ । ४२ गतेषु; पञ्चमीं प्रौष्ठपदीममावास्यां
मघानक्षत्रं चतुर्विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तचत्वा-
रिंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पञ्चषष्टाश-
ति सप्तषष्टिजागेष्वतिक्रान्तेषु २४ । ४७ । ५५ परिसमापयति ।
(आसोई दोषिण । तं जहा-हृत्यो, चित्ता य चि) । अत्राप्येवं
सूत्रपाठः-“ता आसोई णं अमावासं कइ नक्षत्रता जोपंति ?
ता दोषिण नक्षत्रता जोपंति । तं जहा-हृत्यो, चित्ता य” । एत-
दपि व्यवहारतः निश्चयतः पुनराश्वयुजीममावास्यां द्वे नक्षत्रे
परिसमापयतः । तद्यथा-उत्तरफल्गुनी, हस्तश्च । तत्र प्रथमा-
माश्वयुजीममावास्यां हस्तनक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च
मुहूर्तस्य एकविंशति द्वापष्टिजागेषु, एकस्य च द्वापष्टिजागस्य त्रिषु
सप्तषष्टिजागेषु २५ । ३१ । ३; द्वितीयामाश्वयुजीममावास्यामुत्त-
रफल्गुनीनक्षत्रं चतुश्चत्वारिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य
चतुर्षु द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिजागस्य पौरुषसु सप्तष-
ष्टिभागेषु ४४ । ४ । १६ गतेषु; तृतीयामाश्वयुजीममा-
वास्यामुत्तरफल्गुनीनक्षत्रं सप्तदशमुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्त-
स्य एकोनचत्वारिंशति द्वापष्टिजागेष्वेकस्य द्वापष्टिभागस्य ए-
कोनत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु १७ । ३६ । २६; चतुर्थीमाश्वयु-
जीममावास्यां हस्तनक्षत्रं द्वादशमुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य
सप्तदशसु द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य त्रिचत्वा-
रिंशति सप्तषष्टिभागेषु १२ । १७ । ४३ गतेषु; पञ्चमीमाश्वयुजी-
ममावास्यामुत्तरफल्गुनीनक्षत्रं त्रिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्त-
स्य द्विपञ्चाशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य षट्-

अमहङ्गण-अमहाधन-त्रि० । अवहुमूल्ये, पञ्चा० १७ विव० ।

अमाइ (ण्)-अमायिन्-त्रि० । माया अस्यास्तीति मायी । न मायी अमायी । व्य० १ उ० । शाठ्यरहिते, प्रव० ६४ द्वार । कौटिल्यशून्ये, दश० ११ त्र० ३ उ० । सर्वत्र विश्वास्ये, स चालोचनादिरहेः । आचा० १ ध्रु० १ अ० १ उ० । “ नो पालि-उच्चमाई ” स्था० १० डा० । व्य० । “ आवि राया चपे रज्जं, न य दुचरियं कहे तदा माई ” । पञ्चा० १५ विव० ।

अमाइन्व-अमायिरूप-त्रि० । अनायिनो रूपं यस्यासावमायिरूपः । अशेषचक्रप्रदिते, सूत्र० १ ध्रु० १३ अ० ।

अमाइन्व-अमायाविन्-त्रि० । मायाराहिते, आचा० १ ध्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अमाइल्लया-अमायाविता-स्त्री० । मारलो मायाचैस्त्वदभावस्तत्ता । (मायात्यागे), निरस्तुकतायाम्, स्था० १० डा० ।

अमाणिय-अमान्य-त्रि० । अशुत्थानाङ्गाकरणादित्येक, “ जया य माणियो होइ, पच्छा होइ अमाणियो । सिट्ठी व कव्वडे चुडा, सु पच्छा परितप्पई ” । दश० १ चू० ।

अमाव (वा) सा-अमाव (वा) स्या-स्त्री० । अमा-सह वसनश्चन्द्राकीं यथ । वत्-यत्, पयत् या । कृष्णपक्षशेषादिने, तद्दिने चन्द्राकीं एकराशिस्तौ जयतः । वाच० ।

एकस्मिन् वर्षे द्वादश अमावस्याः । तद् यथा-

वारस अमावमाओ पन्नचाओ । तं जहा-साविट्ठी, पोच्च-ती, अस्सोती, कत्तिया, मग्गमिरी, पोसी, माही, फग्गुणी, चेत्ती, विसाही, जेहामूझी, आसाही ।

द्वादश एव अमावस्याः प्रज्ञाः । तद्यथा-आविष्टी, प्रौष्ठपदी इत्यादि । तत्र अविष्टा धनिष्ठा, तस्यां भवा आविष्टी-भावणमासनाविनी । प्रौष्ठपदा उत्तरभाद्रपदा, तस्यां जया प्रौष्ठपदी-भाद्रपदमासनाविनी । अश्वयुजि भवा आश्वयुजी-अश्वयुग्मासनाविनी । एवं मासक्रमेण तत्तन्नामानुरूपनक्षत्रयोगान् शेषा अपि वक्तव्याः । चे० प्र० १० पादु० । सू० प्र० ।

सम्प्रति (नक्षत्रयोगम्) अमावास्यायनकथयतामामह-

कुवाञ्जस अमावासाओ पण्चाओ । तं जहा-सावट्ठी पोच्च-ती० जाव आसाही । ता सावट्ठी णं अमावासा कति णक्खत्ता जोएति ? । ता दोएण णक्खत्ता जोएति । तं जहा-असिलेसा १, महा २ य । एवं एणं अभिलावेण णेयवं । ता पोच्चिती णं दोषि णक्खत्ता जोएति । तं जहा-पुव्वफग्गुणी १, उत्तरा २ य । असोति दोषि । तं जहा-हत्थो १, चित्ता २ य । कत्तियं दोषि । तं जहा-साति १, विसाहा २ य । मग्गसिरं तिण्णि । तं जहा-अणुराहा १, जेहा २, मूञ्जो ३ य । पोसिं च दोषि । तं जहा-पुव्वासाहा १, उत्तरासाहा २ य । माहिं तिण्णि । तं जहा-अभिई १, समणो २, धणिडा ३ य । फग्गुणिं दोषि । तं जहा-सतन्तिसया १, पुव्वपोच्चती २ य । चोत्तिं तिण्णि । तं जहा-उत्तरभद्वदा १, रेवती २, आस्सिणी ३ य । वि-

साहिं दोषि । तं जहा-भरणी १, कत्तिया २ य । जेहामूहिं दोषि । तं जहा-रोहिणी १, मग्गमिरं २ य । ता आसा-दी णं अमानासं कति णक्खत्ता जोएति ? । ता तिण्णि न-क्खत्ता जोएति । तं जहा-अदा १, पुणव्वमू २, पूसो ३ य ।

(कुवाञ्जसेत्यादि) द्वादश अमावास्याः प्रज्ञाः । तद्यथा-आविष्टी, प्रौष्ठपदी इत्यादि । तत्र मासपरिसमापकेन अविष्टा-नक्षत्रेणोपलक्षितो यः आवणो मासः, सोऽप्युपचारात् अविष्टा, तस्यां भवा आविष्टी । किमुक्तं भवति ?-आविष्टी नक्षत्रपरिसमाप्यमानभावणमासभाविनी इति । प्रौष्ठपदी नक्षत्रपरिसमाप्यमानभाद्रपदमासभाविनी । एवं सर्वत्रापि वाक्यार्थो प्रावनी-यः । (ता साविष्टी णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । आविष्टीममावास्यां कति नक्षत्राणि युज्यन्ति, कति नक्षत्राणि यथायोगं चन्द्रेण सह संयुज्य आविष्टीममावास्यां परिसमापयन्ति ? । भगवानामह-(ता दोषिमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । द्वे नक्षत्रे युज्यन्ते तद्यथा-अश्लेषा, मघा च । इह व्यवहारनयमतेन यस्मिन् नक्षत्रे पौर्णमासी जयति तत् आरभ्य अर्धरात्रौ पञ्चदशे नक्षत्रे अमावास्या । तत् आरभ्य पञ्चदशे नक्षत्रे पौर्णमासी । ततः आविष्टी पौर्णमासी किं भवणे धनिष्ठायां चोक्ता । ततोऽमावस्यायामप्यस्यां आविष्टधामश्लेषा मघा चोक्ता । लोके च तिथिगणितानुसारतो गतायामप्यमावास्यायां वर्तमानायामपि च प्रतिपदि यस्मिन्प्रहोरात्रे प्रथमतोऽमावस्याऽश्नुत स सकलौऽप्यहोरात्रोऽमावास्येति व्यवहियते । ततो मघानक्षत्रमप्येव व्यवहारतोऽमावास्यायां प्राप्यते, इति न कश्चिद् विरोधः । परमार्थतः पुनरिमांममावास्यां आविष्टीममानि त्रीणि नक्षत्राणि परिसमापयन्ति । तद्यथा-पुनर्वसु, पुष्योऽश्लेषा च । तथाहि-अमावास्या चन्द्रयोगपरिज्ञानार्थं करणं प्रागेवोक्तम् । तत् तद्भावेना क्रियते । कोऽपि पृच्छति-युगस्यादौ प्रथमा आविष्टधमावास्या केन चन्द्रयुक्तेन नक्षत्रेणोपेता सती समाप्तिमुपयाति ? । तत्र पूर्वोदित-स्वरूपोऽवधार्यराशिः पदपष्टिमुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्च द्वापष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य एकः सप्तपष्टिभाग इति प्रमाणो धियते । तत् एकेन गुरयते, प्रथमाया अमावास्यायाः स्पृष्टत्वात् । एकेन च गुरितं तदेव प्रवर्ततीति राशिस्तायानेय जातः । ततस्तस्माद् द्वाविंशमुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य पदचत्वारिंशतिद्वापष्टिभागाः, इत्येवंपरिमाणं पुनर्वसु-शोधनं शोध्यते । ततः पदपष्टिमुहूर्तभ्यो द्वाविंशतिमुहूर्ताः शुक्लाः, स्थिताः पञ्चात् चतुश्चत्वारिंशत् ४४ । तेन्य एकं मुहूर्तमपकृष्य तस्य द्वापष्टिभागाः क्रियन्ते, कृत्वा च ते द्वापष्टिभागराशिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाताः सप्तपष्टिः । तेन्यः पदचत्वारिंशत् शुद्धाः, शेषास्तिष्ठन्त्येकविंशतिः । त्रिचत्वारिंशतो मुहूर्तभ्यः त्रिंशता मुहूर्तैः पुष्यः शुक्लः, स्थिताः पञ्चात् त्रयोदश मुहूर्ताः । अश्लेषा नक्षत्रं चापार्कक्षेत्रमिति पञ्चदशमुहूर्तप्रमाणं, तत् इदमागतमश्लेषानक्षत्रमेकस्मिन् मुहूर्ते, एकस्य च मुहूर्तस्य चत्वारिंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य सप्तपष्टिधा त्रिंशस्य पदपष्टिसंख्येषु भागेषु शेषेषु प्रथमाऽमावास्या समाप्तिमुपगच्छति । तथा च वक्ष्यति-“ ता एणसि णं पंचवहं संवच्छराणं पढमं अमावासां चंदे केणं नक्खत्तेणं जो-पइ ? । ता असिलेसाहिं असिलेसाणं एको मुहुत्तो चत्तालीसं च वावट्ठिभागा, मुहुत्तसस वावट्ठिभागं च सत्ताट्ठिहा छेत्ता वावट्ठी खुधिया भागा सेसा ” इति ॥ यदा तु द्वितीयाऽमावास्या

षष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य सत्केषु द्वापष्टौ सप्तष-
ष्टिभागेषु ६ । ५२ । ६३ गतेषु परिणमयति । (चेत्ती-
तिपिण । तं जहा—उत्तरमद्वया, रेवई, अस्सिणी य
त्ति) अत्राप्येवं सूत्रालापकः—“ता विस्ती णं अमावासं कइ
नक्खत्ता जोपंति ? । ता तिपिण नक्खत्ता जोपंति । तं जहा-
उत्तरमद्वया, रेवई, अस्सिणी य त्ति” । एतदपि व्यवहारनयम-
तेन । निश्चयनयमतेन पुनरमूनि त्रीणि नक्कत्राणि चैत्रीममावा-
स्यां समापयन्ति । तद्यथा—पूर्वभाद्रपदा, चत्तरमाद्रपदा, रेवती
च । तत्र प्रथमां चैत्रीममावास्यामुत्तरभाद्रपदानक्कत्रं सप्तत्रि-
शन्मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य पदत्रिंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य
च द्वापष्टिभागस्य दशसु सप्तपष्टिभागेषु, ३७ । ३६ । १०;
द्वितीयां चैत्रीममावास्यामुत्तरभाद्रपदानक्कत्रमेकादशसु मुहूर्त-
ेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य नवसु द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टि-
भागस्य त्रयोविंशतौ सप्तपष्टिभागेषु ११ । १६ । २३; तृतीयां चै-
त्रीममावास्यां रेवती नक्कत्रं पञ्चसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य
एकोनपञ्चाशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य सप्तत्रि-
शति सप्तपष्टिभागेषु ५ । ४६ । ३७; चतुर्थीं चैत्रीममावास्यामु-
त्तरभाद्रपदा नक्कत्रं चतुर्विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वा-
विंशतौ द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पञ्चाशति सप्त-
पष्टिभागेषु २४ । २३ । ५०; पञ्चमीं चैत्रीममावास्यां पूर्वभाद्रपदा
नक्कत्रं सप्तविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तपञ्चाशति
द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य त्रिपष्टौ सप्तपष्टिभागेषु
२७ । ५७ । ६३ अतिक्रान्तेषु परिसमापयन्ति । (विसाहिं भरणी
कत्तिया इति) अत्राप्येवं सूत्रपाठः—“ता विसाहिं णं अमावा-
सं कइ नक्खत्ता जोपंति ? । ता दोपिण नक्खत्ता जोपंति ।
तं जहा-भरणी, कत्तिया य ” इति । एतच्च व्यवहारतः । नि-
श्चयतः पुनरमूनि नक्कत्राणि वैशाखीममावास्यां परिसमापय-
न्ति । तानि चामूनि । तद्यथा—रेवती, मङ्गिनी, भरणी च । तत्र
प्रथमां वैशाखीममावास्यामङ्गिनी नक्कत्रमष्टाविंशतौ मुहूर्तेषु, ए-
कस्य च मुहूर्तस्य चत्वारिंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाप-
ष्टिभागस्य एकादशसु सप्तपष्टिभागेषु २७ । ४० । ११; द्वि-
तीयां वैशाखीममावास्यामङ्गिनी नक्कत्रं द्वयोर्मुहूर्तयोरैकस्य च
मुहूर्तस्य एकोनचत्वारिंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टि-
भागस्य त्रयोविंशतौ सप्तपष्टिभागेषु २ । ३६ । २३; तृतीयां
वैशाखीममावास्यां भरणी नक्कत्रमेकादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च
मुहूर्तस्य चतुष्पञ्चाशत् द्वापष्टिभागेष्वेकस्य च द्वापष्टिभागस्य
अष्टत्रिंशति सप्तपष्टिभागेषु ११ । ५४ । ३७ गतेषु; चतुर्थीं वै-
शाखीममावास्यामङ्गिनी नक्कत्रं पञ्चदशमुहूर्तेषु, एकस्य च मुह-
ूर्तस्य सप्तविंशतौ द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य एक-
पञ्चाशति सप्तपष्टिभागेषु १५ । २७ । ५१; पञ्चमीं वैशाखीममा-
वास्यां रेवती नक्कत्रमेकोनविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सं-
यन्धिनो द्वापष्टिभागस्य सत्केषु चतुष्पष्टौ सप्तपष्टिभागेषु १६ । ० ।
६४ परिणमयति । (जेष्ठामूली रोहिणी मिगसिरं चेति) अत्रा-
प्येवं सूत्रालापकः—“ता जेष्ठामूली णं अमावासं कइ नक्ख-
त्ता जोपंति ? । ता दोपिण नक्खत्ता जोपंति । तं जहा-रोहिणी, मि-
गसिरं च ” । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरिमं द्वे न-
क्कत्रे ज्येष्ठामूलीममावास्यां परिसमापयतः । तद्यथा—रोहिणी,
कृत्तिका च । तत्र प्रथमां ज्येष्ठामूलीममावास्यां रोहिणी नक्कत्र-
मेकोनविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशति द्वाप-
ष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य द्वादशसु सप्तपष्टिभागेषु

१६ । ४६ । १२ गतेषु; द्वितीयां ज्येष्ठामूलीममावास्यां कृत्तिका
नक्कत्रं त्रयोविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्यैकोनविंशतौ
द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पञ्चविंशतौ सप्तपष्टिमा-
गेषु २३ । १६ । ३५ अतिक्रान्तेषु; तृतीयां ज्येष्ठामूलीममावास्यां
रोहिणी नक्कत्रं द्वात्रिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्यैकोनपष्टौ
द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य एकोनचत्वारिंशति
सप्तपष्टिभागेषु ३२ । ५९ । ३६; चतुर्थीं ज्येष्ठामूलीममावा-
स्यां रोहिणी नक्कत्रं पदसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वात्रिंशति
द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य द्विपञ्चाशति सप्तपष्टि-
भागेषु ६ । ३२ । ५२; पञ्चमीं ज्येष्ठामूलीममावास्यां कृत्ति-
का नक्कत्रं दशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चसु द्वापष्टि-
भागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पञ्चपष्टौ सप्तपष्टिभागेषु
१० । ५ । ६५ गतेषु परिसमापयति । (ता आसादी णमित्या-
दि) ता इति पूर्ववत् । आषाढी, णमिति वाक्यालङ्कारे । कनि
नक्कत्राणि युञ्जन्ति ? । जगवानाह—(ता इत्यादि) ता इति
पूर्ववत् । त्रीणि युञ्जन्ति । तद्यथा—आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्यश्च ।
एतदपि व्यवहारतः सकम् । परमार्थतः पुनरमूनि त्रीणि नक्कत्राणि
आषाढीममावास्यां परिणमयन्ति । तद्यथा—मृगशिरः, आर्द्रा, पुन-
र्वसुश्च । तत्र प्रथमां आषाढीममावास्यामार्द्रा नक्कत्रं दशसु मुहूर्तेषु,
एकस्य च मुहूर्तस्य एकपञ्चाशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाप-
ष्टिभागस्य त्रयोदशसु सप्तपष्टिभागेषु १० । ५ । १३; द्वितीयां आषाढी-
ममावास्यां मृगशिरो नक्कत्रं सप्तविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुह-
ूर्तस्य चतुर्विंशतौ द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पञ्च-
शतौ सप्तपष्टिभागेषु २७ । २४ । २६; तृतीयां आषाढीममावा-
स्यां पुनर्वसु नक्कत्रं नवसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वयोर्द्विप-
ष्टिभागयोरैकस्य च द्वापष्टिभागस्य चत्वारिंशति सप्तपष्टिभागेषु
६ । २ । ४०; चतुर्थीं आषाढीममावास्यां मृगशिरो नक्कत्रं सप्तविं-
शतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तत्रिंशति द्वापष्टिभागेषु, ए-
कस्य च द्वापष्टिभागस्य त्रिपञ्चाशति सप्तपष्टिभागेषु २७ । ३७ ।
५३ गतेषु; पञ्चमीं आषाढीममावास्यां पुनर्वसु नक्कत्रं द्वाविंशतौ
मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षोडशसु द्वापष्टिभागेषु २३ । १६ । ०
गतेषु परिसमापयन्ति इति । तदेवं द्वादशानामप्यमावास्यानां
चन्द्रयोगोपेतनक्कत्रविधिरुक्तः । चं० ५० १० पादु० । ज्यो० ।

संप्रत्येतासामेव कुलादियोजनामाह—

ता सावित्री णं अमावासं किं कुलं जोएति, उवकुलं
जोएति, कुडोवकुलं वा जोएति पुच्छा ? । ता कुडं वा जो
एति, उवकुलं वा जोएति, णो लज्जं कुलोवकुलं, कुडं
जोएमाणे महाणक्खत्ते जोएति, उवकुलं जोएमाणे असि-
लेसा णक्खत्ते जोएति । ता सावित्री णं अमावासं कुडं
जोएति, उवकुलं वा जोएति, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण
वा जुत्ता सावित्री अमावासं जुत्तं चि वत्तव्वं सिया, एवं
ण्येव्वं । मगसिरीए १ माहीए २ फग्गुणीए ३ आसा-
दीए ४ कुलोवकुलं जाणियव्वं । सेसाणं कुडोवकुला ण-
त्थि० जाव कुलोवकुलेण वा जुत्ता आसादी अमावासं
जुत्तं चि वत्तव्वं सिया ॥

(ता सावित्री णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । आविष्टीं आवण-
मासजाविनीममावास्यां किं कुलं युनक्ति, उपकुलं युनक्ति, कु-
लोपकुलं वा युनक्ति ? । भगवानाह—(ता कुलं वेत्यादि)

पञ्चाशति सप्तपट्टिनागेषु ३० । ५२ । ५६ गतेषु परिसमापयति । (कचिन्नं दोषि । तं जहा-सार्धं, विसादा य चि) अत्राप्येवं सूत्रपाठः-“ता कचिन्नं यं अमावासं कइ नक्खत्ता जोयंति ? ता दोषि नक्खत्ता जोयंति । तं जहा-सार्धं, विसादा य चि” एतदपि व्यवहारनयमेतत् । निश्चयतः पुनरुक्तीणि नक्खत्ताणि कार्त्तिकीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-चित्रा, स्वातिविंशत्ता च । तत्र प्रथमां कार्त्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं षोडशमुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य षट्त्रिंशति द्वापट्टिनागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य चतुर्षु सप्तपट्टिनागेषु १६ । ३६ । ४ गतेषु; द्वितीयां कार्त्तिकीममावास्यां स्वातिनक्षत्रं पञ्चसु मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य नवसु द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य सप्तदशसु पट्टिनागेषु ५ । ९ । १७ गतेषु; तृतीयां कार्त्तिकीममावास्यां चित्रानक्षत्रं मष्टसु मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य चतुश्चत्वारिंशति द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य त्रिंशति सप्तपट्टिनागेषु ८ । ४४ । ३०; चतुर्थी कार्त्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रयोदशमुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य द्वाविंशतौ द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य चतुश्चत्वारिंशति सप्तपट्टिनागेषु १३ । २२ । ४४ गतेषु; पञ्चमी कार्त्तिकीममावास्यां चित्रानक्षत्रमेकविंशतौ मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य सप्तपञ्चाशति द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य सप्तपञ्चाशति सप्तपट्टिनागेषु २१ । ११ । ११ गतेषु समाप्तिमुपनयति । (मग्गसिरी तिथि । तं जहा-अणुराहा, जेठा, मूळो य चि) अत्रापि सूत्रालापक एवम्-“ता मग्गसिरी णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोयंति ? ता तिथि नक्खत्ता जोयंति । तं जहा-अणुराहा, जेठा, मूळो य ” इति । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरिमानि त्रीणि नक्खत्ताणि मार्गशीर्षीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा च । तत्र प्रथमां मार्गशीर्षीममावास्यां ज्येष्ठानक्षत्रं सप्तसु मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्यैकचत्वारिंशति द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य पञ्चसु सप्तपट्टिनागेषु ७ । ४१ । ५; द्वितीयां मार्गशीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रमेकादशसु मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य चतुर्दशसु द्वापट्टिनागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्याष्टादशसु सप्तपट्टिनागेषु ११ । १४ । १८; तृतीयां मार्गशीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रमेकविंशति मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य एकोनपञ्चाशति द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य सप्तपट्टिनागेषु २१ । ४९ । ३१ गतेषु; चतुर्थी मार्गशीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रं चतुर्विंशतौ मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य सप्तविंशति द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य पञ्चचत्वारिंशति सप्तपट्टिनागेषु २५ । २७ । ४५ गतेषु; पञ्चमी मार्गशीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रिचत्वारिंशति मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य संबन्धिनो द्वापट्टिभागस्य अष्टपञ्चाशति सप्तपट्टिनागेषु ४३ । ० । ५८ परिसमापयति । (पोसी च दोषि । तं जहा-पुव्वासादा य, उत्तरासादा य चि) तत्रैवं सूत्रालापकः-“ता पोसी णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोयंति ? ता दोषि नक्खत्ता जोयंति । तं जहा-पुव्वासादा य, उत्तरासादा य चि” एतदपि व्यवहारत उक्तम् । निश्चयतः पुनरुक्तीणि नक्खत्ताणि परिसमापयन्ति । तद्यथा-मूलं, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा च । तथाहि-प्रथमां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रमष्टविंशतौ मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य षट्चत्वारिंशति द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य षट्सु सप्तपट्टिनागेषु २८ । ४६ । ४ गतेषु; द्वितीयां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं द्वयोर्मुद्दत्तयोरे-

कस्य च मुद्दत्तस्य एकोनविंशतौ द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य एकोनविंशतौ सप्तपट्टिनागेषु २ । १६ । १९; तृतीयां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रमेकादशसु मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य एकोनपट्टौ द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तपट्टिनागेषु ११ । ५६ । ३३ गतेषु; चतुर्थी पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं षट्चदशसु मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य षट्पञ्चाशति द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य षट्चत्वारिंशति सप्तपट्टिनागेषु १५ । ५६ । ४६; पञ्चमी पौषीममावास्यां मूलनक्षत्रमेकोनविंशतौ मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य पञ्चाशद् द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य एकोनपट्टौ सप्तपट्टिनागेषु ११ । ५० । ५६ अतिक्रान्तेषु परिसमापयन्ति । (माहि तिथिण । तं जहा-अभिर्ह, सवयो, धनिष्ठा य चि) अत्राप्येवं सूत्रालापकः-“ता माही यं अमावासं कइ नक्खत्ता जोयंति ? ता तिथि नक्खत्ता जोयंति । तं जहा-अभिर्ह, सवयो, धनिष्ठा य ” । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरुक्ती त्रीणि नक्खत्ताणि माघीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-उत्तराषाढा, अश्लेषा, भवणश्च । तथाहि-प्रथमां माघीममावास्यां भवणनक्षत्रं दशसु मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य षट्त्रिंशतौ द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्याष्टसु सप्तपट्टिनागेषु १० । ३६ । ८ गतेषु; द्वितीयां माघीममावास्यामभिजिन्नक्षत्रं त्रिषु मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य षट्त्रिंशतौ द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य विंशतौ सप्तपट्टिनागेषु ३ । २६ । २० गतेषु; तृतीयां माघीममावास्यां भवणनक्षत्रं त्रयोविंशतौ मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्यैकचत्वारिंशति द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य पञ्चत्रिंशति सप्तपट्टिनागेषु ३३ । ३१ । ३५; चतुर्थी माघीममावास्यामभिजिन्नक्षत्रं षट्सु मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य सप्तत्रिंशति द्वापट्टिनागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशति सप्तपट्टिनागेषु ६ । ३७ । ४७ गतेषु; पञ्चमी माघीममावास्यामुत्तराषाढानक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य दशसु द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य षट् सप्तपट्टिनागेषु २५ । १० । ६० अतिक्रान्तेषु परिणमयति । (फग्गुणी दोषि । तं जहा-सयमिसया, पुव्वजइवया य चि) अत्राप्येवं सूत्रालापकः-“ता फग्गुणी णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोयंति ? ता दोषि नक्खत्ता जोयंति । तं जहा-सयमिसया, पुव्वजइवया य चि” । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरुक्ती त्रीणि नक्खत्ताणि फाल्गुनीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-धनिष्ठा, शतभिषक्, पूर्वभाद्रपदा च । तत्र प्रथमां फाल्गुनीममावास्यां पूर्वभाद्रपदा एकस्मिन् मुद्दत्ते, एकस्य च मुद्दत्तस्य एकत्रिंशति द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य नवसु सप्तपट्टिनागेषु १ । ३१ । ६ गतेषु; द्वितीयां फाल्गुनीममावास्यां धनिष्ठानक्षत्रं विंशतौ मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य चतुर्दशपट्टिनागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य द्वाविंशतौ सप्तपट्टिनागेषु २० । ४ । २२; तृतीयां फाल्गुनीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं चतुर्दशसु मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य चतुश्चत्वारिंशति द्वापट्टिभागेषु, एकस्य च द्वापट्टिभागस्य षट्त्रिंशति सप्तपट्टिनागेषु, १४ । ४४ । ३६; चतुर्थी फाल्गुनीममावास्यां शतभिषकनक्षत्रं त्रिषु मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य सप्तदशसु द्वापट्टिनागेषु एकस्य च द्वापट्टिभागस्य एकोनपञ्चाशति सप्तपट्टिनागेषु ३ । १७ । ४९; पञ्चमी फाल्गुनीममावास्यां धनिष्ठानक्षत्रं षट्सु मुद्दत्तेषु, एकस्य च मुद्दत्तस्य द्विपञ्चाशति द्वा-

६६ । ५ । १ प्रथमाऽभावास्या किल संप्रति चिन्त्यमाना वर्तते, इत्येकेन गुणयते, एकेन च गुणितं तदेव भवतीति तावानेव जातः । तत एतस्मात्—“वाचीसं च मुहुत्ता, ग्यालीसं वि स-
चिभागा य । एवं पुणवसुस्स य, सोहयव्वं हवइ पुत्तं” ॥१॥
इति वचनाद् द्वाविंशतिमुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य पदचत्वारिंशद् द्वापष्टिभागा इत्येवं प्रमाणं शोधनकं शोच्यते । तत्र पदप-
ष्टिमुहूर्तस्यो द्वाविंशतिमुहूर्ताः शुक्लाः, स्थिताः पश्चात् चतुश्च-
त्वारिंशत् ४४ । तेभ्य एकं मुहूर्तमापृक्ष्य तस्य द्वापष्टिभागाः
कृताः, ते द्वापष्टिभागराशिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाताः सप्तपष्टिः ।
तैज्यः पदचत्वारिंशत् शुक्लाः, शेयास्तिष्ठन्त्येकविंशतिः । त्रिच-
त्वारिंशतौ मुहूर्तस्योऽविंशता पुन्यः शुक्लः, स्थिताः पश्चात् त्रयो-
दश मुहूर्ताः, अश्लेषानक्षत्रं चार्द्धक्षेत्रमिति पञ्चदशमुहूर्तप्रमाण-
म् । तत इदमागतम्—अश्लेषानक्षत्रस्य एकस्मिन्मुहूर्ते चत्वारिं-
शति मुहूर्तस्य द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य सप्तपष्टि-
धा त्रिंशस्य पदपष्टिभागेषु शेषेषु प्रथमाऽभावास्या परिसमा-
प्तिमुपगच्छति । संप्रत्यस्यामेव प्रथमायामभावास्यायां सूर्यन-
क्षत्रं पृच्छति—(तं समयं च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता उत्त-
रादि इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । उत्तराज्यामेव फाल्गुनीज्यां
युक्तः सूर्यो द्वितीयामभावास्यां परिसमापयति । तदानीं च
द्वितीयामभावास्यापरिसमाप्तिवेद्यायामुत्तरयोः फाल्गुन्योश्चत्वारिं-
शद् मुहूर्ताः । “तं चेव जाव ति” वचनादेकस्य च मुहूर्तस्य
पञ्चविंशद् द्वापष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य (पञ्चद्विं-
श-
पिण्या भागा सेस ति) एतच्चोभयोरपि चन्द्रसूर्ययोर्नक्षत्रयोग-
परिज्ञानहेतोः करणस्य समानत्वादवसेयम् ।

द्वितीयामभावास्याविषयं सूत्रमाह—

ता एतेसि णं पंचएहं संबच्छराणं दोचं अभावासं चं-
दे केणं णक्खत्तेणं जोएति ? । ता उत्तरादिं फग्गुणी-
दिं, उत्तराणं फग्गुणीणं चत्तालीसं मुहुत्ता, पणतीसं च
वावट्टिजागा मुहुत्तस्स, वावट्टिभागं च सत्तट्टिहा ठेत्ता
पण्णट्टि चुण्णिया जागा सेसा । तं समयं च णं सूरै के-
णं णक्खत्तेणं जोएइ पुच्छा ? । ता उत्तरादिं चेव
फग्गुणीदिं, उत्तराणं फग्गुणीणं चत्तालीसं मुहुत्ता तं चेव०
जाव पण्णट्टि चुण्णिया जागा सेसा ॥

(ता एतेसि णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता उत्तरादि-
मित्यादि) उत्तराज्यां फाल्गुनीज्यां युक्तश्चन्द्रो द्वितीयामभावा-
स्यां परिसमापयति । तदानीं च द्वितीयामभावास्यापरिसमाप्तिवे-
द्यायामुत्तरयोः फाल्गुन्योश्चत्वारिंशद् मुहूर्ताः, पञ्चविंशद् द्वाप-
ष्टिभागा मुहूर्तस्य, द्वापष्टिभागं च सप्तपष्टिधा कृत्वा तस्य
सत्काश्च-
तुष्पष्टिचूर्णिका भागाः शेषाः । तथाहि—स एव ध्रुव-
राशिः ६६ । ५ । १ द्वाभ्यां गुणयते, जातं द्वाविंशदधिकं मुहूर्ता-
नां शतम् । एकस्य मुहूर्तस्य द्वापष्टिभागा दश, एकस्य च
द्वापष्टिभागस्य सप्तपष्टिधा त्रिंशस्य द्वौ चूर्णिकाभागौ १३२ ।
१० । २ । तत्र प्रथमतः पुनर्वसुशोधनकं शोध्यते—द्वाविंशदधि-
कमुहूर्तशताद् द्वाविंशतिमुहूर्ताः शुक्लाः, स्थितं पश्चाद्दशोत्तरं
शतम् । तेभ्योऽप्येकां मुहूर्तां गृहीत्वा द्वापष्टिभागीक्रियते,
कृत्वा च ते द्वापष्टिभागा द्वापष्टिभागराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाता
द्विसप्ततिद्वापष्टिभागाः । तेभ्यः पदचत्वारिंशत् शुक्लाः । स्थिताः

पश्चात्पञ्चविंशतिः । नवोत्तराश्च मुहूर्तशतात् त्रिंशता पुन्यः शुद्धः,
स्थिताः पश्चादेकोनाशीतिः । ततोऽपि पञ्चदशभिर्मुहूर्तैरश्लेषा
शुद्धा, स्थिताः पश्चाच्चतुःषष्टिः, ततोऽपि त्रिंशता मघा शुद्धा, स्थि-
ताश्चतुःत्रिंशत् । ततोऽपि त्रिंशता पूर्वाफाल्गुनी शुद्धा, स्थिताः
पश्चाच्चत्वारः, उत्तराफाल्गुनीनक्षत्रं च द्यार्द्धक्षेत्रमिति पञ्चच-
त्वारिंशत् मुहूर्तप्रमाणम् । तत इदमागतमुत्तराफाल्गुनीनक्षत्रस्य
चन्द्रयोगमुपागतस्य चत्वारिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य
पञ्चविंशति द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य सप्तपष्टिधा-
त्रिंशस्य पञ्चपष्टौ चूर्णिकाभागेषु शेषेषु द्वितीयाऽभावास्या
समाप्तिं याति । संप्रत्यस्यामभावास्यायां सूर्यनक्षत्रं पृच्छति—
(तं समयं च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता उत्त-
रादि इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । उत्तराज्यामेव फाल्गुनीज्यां
युक्तः सूर्यो द्वितीयामभावास्यां परिसमापयति । तदानीं च
द्वितीयामभावास्यापरिसमाप्तिवेद्यायामुत्तरयोः फाल्गुन्योश्चत्वारिं-
शद् मुहूर्ताः । “तं चेव जाव ति” वचनादेकस्य च मुहूर्तस्य
पञ्चविंशद् द्वापष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य (पञ्चद्विं-
श-
पिण्या भागा सेस ति) एतच्चोभयोरपि चन्द्रसूर्ययोर्नक्षत्रयोग-
परिज्ञानहेतोः करणस्य समानत्वादवसेयम् ।

तृतीयामभावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता एतेसि णं पंचएहं संबच्छराणं त्वं अभावासं चंदे
पुच्छा ? । ता इत्येणं, इत्थस्स चत्तारि मुहुत्ता, तीसं वाव-
ट्टिभागा मुहुत्तस्स, वावट्टिभागं च सत्तट्टिहा ठेत्ता चउसट्टि-
चुण्णिया जागा सेसा । तं समयं च णं सूरै केणं णक्खत्तेणं
जोएति पुच्छा ? । ता इत्येणं चेव । इत्थस्स णं तं चेव चंदस्स ।
(ता एतेसि णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता इत्येण-
मित्यादि) इस्तेन युक्तश्चन्द्रस्तृतीयामभावास्यां परिसमापयति ।
तदानीं च इस्तेनक्षत्रस्य चत्वारो मुहूर्ताः, त्रिंशच्च द्वापष्टिभागा
मुहूर्तस्य, द्वापष्टिभागं चैकं सप्तपष्टिधा कृत्वा तस्य सत्काश्च-
तुष्पष्टिचूर्णिका भागाः शेषाः । तथाहि—स एव ध्रुवराशिः
६६ । ५ । १ तृतीयस्या अभावास्यायाः संप्रति चिन्तति त्रि-
जिर्गुणयते, जातमष्टनवत्यधिकं मुहूर्तानां शतम् । एकस्य च मु-
हूर्तस्य पञ्चदश द्वापष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य त्रयः
सप्तपष्टिभागाः । १९७ । १५ । ३ । तत एतस्माद्विसप्तत्यधि-
केन मुहूर्तशतेन पदचत्वारिंशता च मुहूर्तस्य द्वापष्टिभागैः पुनर्व-
सादीन्युत्तरफाल्गुनीपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, पश्चादवति-
ष्ठन्ते पञ्चविंशतिमुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य एकविंशद् द्वापष्टि-
भागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य त्रयः सप्तपष्टिभागाः २५ । ३१ ।
३ । तत आगतं इस्तेनक्षत्रस्य चन्द्रेण सह योगमुपागतस्य
चतुर्षु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य त्रिंशति द्वापष्टिभागेषु, एक-
स्य च द्वापष्टिभागस्य चतुष्पष्टौ, सप्तपष्टिभागेषु शेषेषु तृतीया-
मभावास्यां परिसमापयति । अत्रैव सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रमाह—
(तं समयं च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता इत्ये-
णं चेव ति) इस्तेनैव नक्षत्रेण युक्तः सूर्योऽपि तृतीयामभावा-
स्यां परिसमापयति । एतच्चोभयोरपि करणस्य समानत्वादव-
सेयम् । एवमुत्तरसूत्रयोरपि कृष्यम् । शेषविषये अतिदेशमा-
ह—“इत्थस्स णं तं चेव चंदस्स” यथा चन्द्रस्य विषये शेषमुक्तं
तदेव सूर्यस्यापि विषयं वक्तव्यम् । तथैव—“इत्थस्स चत्तारि
मुहुत्ता, तीसं च वावट्टिभागा मुहुत्तस्स, वावट्टिभागं च सत्त-
ट्टिहा ठेत्ता चउसट्टि चुण्णिया भागा सेसा ” इति ।

कुलमपि युनक्ति, 'वाशब्दोऽपिशब्दार्थः' उपकुलं वा युनक्ति । न लभते योगमधिकृत्य कुलोपकुलम् । तत्र कुलं कुलसंज्ञं नञ्च अभिष्टीममावास्यां युञ्जन्मघानक्षत्रं युनक्ति । एतच्च व्यवहारतः वच्यते । व्यवहारतो हि गतायामप्यमावास्यायां वर्तमानायामपि च प्रतिपदि योऽहोरात्रो मूले अमावास्यायां संबन्धः स सकलोऽप्यहोरात्रोऽमावास्यायेति व्यवहियते । तत एव व्यवहारतः आविष्टयाममावास्यायां मघानक्षत्रसंज्ञावृत्तकम्-कुलं युञ्जन् मघानक्षत्रं युनक्षीति । परमार्थतः पुनः कुलं युञ्जन् पुष्पनक्षत्रं युनक्षीति प्रतिपत्त्यम्, तस्यैव कुलप्रसिद्धा प्रसिद्धस्य आविष्टयाममावास्यायां संज्ञयात् । एतच्च प्रागेव भावितम् । एवमुत्तरसूत्रमपि व्यवहारनयनेन यथायोगं परिभाषनीयम् । उपकुलं युञ्जन् अश्वेषानक्षत्रं युनक्ति । संप्रत्युपसंहारमाह- (ता सावित्री णमित्यादि) यत उक्तप्रकारेण द्वाभ्यां कुलोपकुलाभ्यां आविष्टयाममावास्यायां चन्द्रयोगः समस्ति, न कुलोपकुले, न ततः आविष्टीममावास्यां कुत्रमपि 'वाशब्दोऽपिशब्दार्थः' युनक्ति, उपकुलं वा युनक्ति इति वक्तव्यं स्यात् । यदि वा कुलेन वा युका, उपकुलेन वा युका सती आविष्टयामावास्या युकेति वक्तव्यं स्यात् । (एवं नेपथ्यमिति) एवमुक्तेन प्रकारेण शेषमप्यमावास्याजातं नेतव्यम् । नवरं मार्गशीर्ष्या माघ्यां फाल्गुन्यामाघ्यां च कुलोपकुलं णितव्यम्, शेषाणां त्वमावास्यानां कुलोपकुलं नास्ति, ततो न वक्ष्यम् । संप्रति पाठकानुग्रहाय सूत्रालापका दृश्यन्ते- "ता पोद्वर्षे ण अमावासं किं कुलं जोपर, उवकुलं वा जोपर, कुलोवकुलं वा जोपर ? । ता कुलं वा जोपर, उवकुलं वा जोपर, नो लभइ कुलोवकुलं, कुलं जोपरमाणे उत्तरफल्गुणी जोपर, उवकुलं जोपरमाणे पुष्याफल्गुणी जोपर । ता पोद्वर्षे ण अमावासं कुलं वा जोपर, उवकुलं वा जोपर, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता पोद्वर्षा अमावासा जुत्ता चि वत्तव्वं सिया । ता मासोई णं अमावासं किं कुलं जोपर, उवकुलं जोपर, कुलोवकुलं जोपर ? । ता कुलं वा जोपर, उवकुलं वा जोपर, नो लभइ कुलोवकुलं, कुलं जोपरमाणे चित्ता नक्खत्ते जोपर, उवकुलं जोपरमाणे इत्थनक्खत्ते जोपर । ता मासोई णं अमावासं कुलं वा जोपर, उवकुलं वा जोपर, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता मासोई अमावासा जुत्ता चि वत्तव्वं सिया । ता कत्थियं णं अमावासं किं कुलं जोपर, उवकुलं वा जोपर, कुलोवकुलं वा जोपर ? । ता कुलं वा जोपर, उवकुलं वा जोपर, नो लभइ कुलोवकुलं, कुलं जोपरमाणे विसाहा नक्खत्ते जोपर, उवकुलं जोपरमाणे सातिनक्खत्ते जोपर । ता कत्थियं णं अमावासं कुलं वा जोपर, उवकुलं वा जोपर, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता कत्थिई अमावासा जुत्ता चि वत्तव्वं सिया । ता म्मगसिरीं णं अमावासं किं कुलं जोपर, उवकुलं वा जोपर, कुलोवकुलं वा जोपर ? । ता कुलं वा जोपर, उवकुलं वा जोपर, कुलोवकुलं वा जोपर, कुलं जोपरमाणे मूलनक्खत्ते जोपर, उवकुलं जोपरमाणे जेष्ठनक्खत्ते जोपर, कुलोवकुलं जोपरमाणे अश्लेषानक्खत्ते जोपर । ता म्मगसिरीं णं अमावासं कुलं वा जोपर, उवकुलं वा जोपर, कुलोवकुलं वा जोपर, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता कुलोवकुलेण वा जुत्ता जुत्ता चि वत्तव्वं सिया " इत्यादि । निश्चयतः पुनः कुलादियोजना प्राशुकचन्द्रेय योगमधिकृत्य स्वयं परिभाषनीया । चं० प्र० १० पादु० । " पंच संवच्छरिणं जुगे वावडि अमावासाओ " । जुगे पञ्च संवत्सराः, तत्र त्रयस्मान्नाह, तेषु पद्विंशद्

अमावास्या भवन्ति, द्वौ चाभिधर्द्धितौ संवत्सरौ, तत्र पद्विंशतिरमावास्याः । स० ६१ सम० ।

अथैवंप्रकारेण युगे कियन्त्योऽमावास्याः कियन्त्यश्च पौर्णमास्यः ।- इति युगे तद्गतसर्वसंख्यामाह-

तत्थ खलु इमाओ वावडि पुष्णिमाओ, वावडि अमावासाओ पक्खिआओ । एए कसिणा रागा वावडि, एए कसिणा विरागा वावडि, एए चउव्वीसे पव्वसते, एवं चउव्वीसे कसिणारागविरागसए । ता जावइया णं पंचयहं संवच्छराणं समया एएणं चउव्वीसेणं सतेणं ऊणगा एवतिया णं परिमिता असंखेज्जा देसरागविरागसमया जव्वतीति जत्थ चउव्वीसे समयसए तत्थ वावडिसमए कसिणो रागो, वावडिसमए कसिणो विरागो, तव्वज्जियमक्खया ।

(तत्थ खलु इत्यादि) तत्र युगे खल्विमा एवंस्वरूपा द्वापटिः पौर्णमास्यां, द्वापटिश्चामावास्याः प्रकृताः । तथा युगे चन्द्रमस पते अनन्तरोदितस्वरूपाः कृत्स्नाः परिपूर्णा रागा द्वापटिः, अमावास्यानां युगे द्वापटिसंख्याप्रमाणत्वात्, तास्वैव चन्द्रमसः परिपूर्णरागसंभवात् । एते अनन्तरोदितस्वरूपा युगे चन्द्रमसः कृत्स्ना विरागा सर्वोत्तमा रागाभावा द्वापटिः, युगे पौर्णमासीनां द्वापटिसंख्यात्मकत्वात्, तास्वैव चन्द्रमसः परिपूर्णविरागसंभवात् । तथा युगे सर्वसंख्यया एकं चतुर्विंशत्यधिकं पर्वशतम्, अमावास्यापौर्णमासीनामेव पर्वशब्दस्य बाध्यत्वात् । तासां च पृथक् पृथक् द्वापटिसंख्यानामेकत्र भीतने चतुर्विंशत्यधिकशतत्वात् । एवमेव युगमध्ये सर्वसंकलनया चतुर्विंशत्यधिकं कृत्स्नरागविरागशतम् । (ता जावइयाणमित्यादि) यावन्तः पञ्चानां चन्द्राभिधर्द्धितरूपाणां संवत्सराणां समया एकेन चतुर्विंशत्यधिकेन समयशतेन ऊनका यतावन्तः परिमिता असंख्याता देशरागविरागसमया भवन्ति, एतेषु सर्वेष्वपि चन्द्रमसो देशतो रागविरागभावात् । यत्र चतुर्विंशत्यधिकं समयशतं, तत्र द्वापटिसमयेषु कृत्स्नो रागः द्वापटिसमयेषु कृत्स्नो विरागः, तेन तच्छर्जनमित्याख्यातम्, मयेति गम्यते । जगद्वचनमेतत्सम्यक् भक्ष्यम् । चं० प्र० १३ पादु० ।

सम्प्रत्यमावास्याविषये चन्द्रनक्षत्रयोगं सूर्यनक्षत्रयोगं च

प्रतिपिपादयिषुः प्रथमामावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एतेसि णं पंचएहं संवच्छराणां पढमं अमावासं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ? । ता असिलेसाहिं, असिलेसाणं एको मुहुत्तो, चचादीसं च वावडिभागा मुहुत्तस्स, वावडिभागं च सचट्टिहा वेत्ता वावडि चुणिया जागा सेसा । तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ? । ता असिलेसाहिं चैव, असिलेसाणं एको मुहुत्तो, चचादीसं वावडिभागा मुहुत्तस्स, वावडिभागं च सचट्टिहा वेत्ता वावडि चुणिया जागा सेसा ।

" ता एएसि णं " इत्यादि सुगमम् । भगवानाह- (ता असिलेसाहिं इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । अस्तेषामिः सह संयुक्तश्चन्द्रः प्रथमामावास्यां परिसमापयति, अस्तेषानक्षत्रस्य च पद्वारकत्वात् तदपेक्षया बहुवचनम् । तदानीं च प्रथमामावास्यापरिसमाप्तिवेत्तायामश्लेषानक्षत्रस्य एको मुहुर्त्तः, चत्वारिंशच्च द्वापटिभागा मुहुर्त्तस्य, द्वापटिभागं च सप्तपट्टिधा खित्वा पद्विचूर्णिका भागाः शेषाः । तथाहि-स एव भुवराशिः

(ता अमावासाश्चो णमित्यादि) सुगमम् । नवरं अमावा-
स्याया अनन्तरं चन्द्रमासस्याद्धेन पौर्णमासी, पौर्णमास्या अ-
नन्तरमर्द्धमासेन चन्द्रमासस्यामावास्या, अमावास्यायाश्च अ-
मावास्या परिपूर्णेन चन्द्रमासेन, पौर्णमास्या अपि पौर्णमासी
परिपूर्णेन चन्द्रमासेन भवति यथोक्ता मुदूर्त्तसंख्या । उपसं-
हारमाह—(एष णमित्यादि) एष अष्टौ मुदूर्त्तशतानि पञ्चाशी-
त्यधिकानि त्रिंशच्च द्वापष्टिभागा मुदूर्त्तस्येति, एतावान् एता-
वत्प्रमाणश्चन्द्रमासः । तत एतावत्प्रमाणं शकलं स्वरूपं युगं;
चन्द्रमासप्रमितं युगं शकलमेतदित्यर्थः । च० प्र० १३ पाहु० ।

पूर्णमानकत्रात् अमावास्यायाम्, अमावास्यानकत्राच्च
पूर्णमायां नकत्रस्य नियमेन संवन्धमाह—

जया एं भंते ! साविट्ठी पुष्पिमा जवइ तया एं माही
अमावासा भवइ, जया एं भंते ! माही पुष्पिमा जवइ तया
णं साविट्ठी अमावासा जवइ ? । हुंता, गोयमा ! जया
एं साविट्ठी प्तं चैव वत्तवं । जया एं भंते ! पोढवई पुणिण-
मा जवइ तया एं फग्गुणी अमावासा जवइ, जया एं
फग्गुणी पुष्पिमा भवइ तया एं पोढवई अमावासा जवइ ? ।
हुंता, गोयमा ! तं चैव एवं । एतेणं अनिलावेणं इमाओ
पुष्पिमाओ अमावासाओ णेअव्वाओ । अस्तिणी पुष्पिमा
चैची अमावासा, कत्तिगी पुष्पिमा विसाही अमावासा,
ममसिरी पुष्पिमा जेडामूली अमावासा, पोसी पुष्पिमा
आसाढी अमावासा ।

(जया एं भंते ! इत्यादि) यदा भदन्त ! आविष्टी अविष्टानकत्र-
युक्ता पूर्णिमा भवति तदा तस्या अर्वाकतनी अमावास्या माघी
मघानकत्रयुक्ता भवति । यदा तु माघी मघानकत्रयुक्ता पूर्णिमा
भवति तदा पाश्चात्या अमावास्या आविष्टी अविष्टानकत्र-
युक्ता भवतीति काका प्रश्नः ? । भगवानाह—(हुंतेति) जव-
नि । तत्र गौतम ! यदा आविष्टीत्यादि, तदेव वक्तव्यं, प्रश्नेन समा-
नोत्तरत्वात् । अयमर्थः—इह व्यवहारनयमतेन यस्मिन्नकत्रे पौर्ण-
मासी भवति तत आरज्य अर्वाकने पञ्चदशे चतुर्दशे वा नकत्रे
नियमतोऽमावास्या, ततो यदा आविष्टी अविष्टानकत्रयुक्ता
पौर्णमासी भवति तदा अर्वाकनी अमावास्या माघी मघानक-
त्रयुक्ता भवति, अविष्टानकत्रादारज्य मघानकत्रस्य पूर्वं चतुर्द-
शत्वात् । अत्र सूर्यप्रकाशचन्द्रप्रकाशवृत्त्योस्तु मघानकत्रादारज्य
अविष्टानकत्रस्य पञ्चदशत्वादिति पाठः, तेनात्र विचार्यम् ।
एतच्च आवणमासमधिकृत्य भावनीयम् । यदा भदन्त ! मा-
घी मघानकत्रयुक्ता पूर्णिमा भवति तदा आविष्टी अविष्टानक-
त्रयुक्ता पाश्चात्या अमावास्या भवति, मघानकत्रादारज्य पूर्वं
अविष्टानकत्रस्य पञ्चदशत्वात् । इदं च माघमासमधिकृत्य
भावनीयम् । यदा भदन्त ! प्रौष्ठपदी उत्तरमासपदायुक्ता पौर्ण-
मासी भवति तदा पाश्चात्या अमावास्या उत्तरफाल्गुनीनकत्र-
युक्ता भवति, उत्तरमासपदादारज्य पूर्वमुत्तरफाल्गुनीनकत्रस्य
पञ्चदशत्वात् । एतच्च भाद्रपदमासमधिकृत्य अवसेयम् । यदा
चोत्तरफाल्गुनीनकत्रयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा अमावास्या
प्रौष्ठपदी उत्तरमासपदोपेता भवति, उत्तरफाल्गुनीमारज्य पूर्व-
मुत्तरमासपदानकत्रस्य चतुर्दशत्वात् । इदं च फाल्गुनमासमधि-
कृत्योक्तम् । एवमेतेनाजिलापेन इमाः पूर्णिमा अमावास्याश्च ने-

तव्याः । यदा आश्विनीपूर्णिमा अश्विनीनकत्रोपेता भवति तदा
पाश्चात्याऽनन्तरा अमावास्या चैत्री चित्रानकत्रयुक्ता भवति, अ-
श्विन्या आरज्य पूर्वं चित्रानकत्रस्य पञ्चदशत्वात् । एतच्च व्यव-
हारनयमधिकृत्योक्तमवसेयम्; निश्चयत एकस्यामप्याश्वयुग्मा-
समाविन्याममावास्यायां चित्रानकत्रासंभवात् । एतच्च प्रागेव
दर्शितम् । यदा च चैत्री चित्रानकत्रोपेता पौर्णमासी भवति
तदा पाश्चात्या अमावास्या आश्विनी अश्विनीनकत्रयुक्ता
भवति, एतदपि व्यवहारतः । निश्चयत एकस्यामपि चैत्रमास-
माविन्याममावास्यायामश्विनीनकत्रस्यासंभवात् । एतदपि सूत्र-
माश्विनचैत्रमासावधिकृत्य प्रवृत्तम् । यदा च कार्तिकी कृत्ति-
कानकत्रयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा वैशाखी विशाखानकत्र-
युक्ता अमावास्या भवति, कृत्तिकातोऽर्वाक विशाखायाः पञ्च-
दशत्वात् । यदा वैशाखी विशाखानकत्रयुक्ता पौर्णमासी जव-
ति तदा ततोऽनन्तरा पाश्चात्याऽमावास्या कार्तिकी कृत्तिक-
ानकत्रोपेता भवति, विशाखातः पूर्वं कृत्तिकायाः चतुर्दशत्वात् ।
एतच्च कार्तिकवैशाखमासावधिकृत्योक्तम् । यदा च मार्गशीर्षी
शृगशिरोयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा ज्येष्ठा मूली ज्येष्ठमूलन-
कत्रोपेता अमावास्या, यदा ज्येष्ठा मूली पौर्णमासी तदा मार्ग-
शीर्षी अमावास्या । एतच्च मार्गशीर्षज्येष्ठमासावधिकृत्य भाव-
नीयम् । यदा पौषी पुष्यनकत्रयुक्ता पौर्णमासी तदा आपाढी
पूर्वाषाढानकत्रयुक्ता अमावास्या भवति, यदा पूर्वाषाढानकत्रयुक्ता
पौर्णमासी भवति तदा पौषी पुष्यनकत्रयुक्ता अमावास्या भव-
ति । एतच्च पौषाषाढमासावधिकृत्योक्तमिति । उक्तानि मासा-
र्द्धमासपरिसमापकानि नकत्राणि । जं० ९ वक्० ।

अभि (मे) ज्ञ-अमेय-त्रि० । अभिताज्जेकवस्तुयोगात् कय-
विक्रयनिषेधाद् वा (कल्प० ५ क०) अविद्यमानदातव्ये नगरा-
दौ, जं० ३ वक्० । अविद्यमानमाय्ये, जं० ११ श० ११ उ० ।

अभि (मे) ज्ञ-अमेय-न० । न० त० । अशुचिद्रव्ये, स्था०
१० ग० । विद्यायाम्, तं० । “ अभिज्जेण लिच्छोसि न जाणह
केण विलिच्छो ” । आ० म० द्वि० ।

अभि (मे) ज्ञपुष्प-अमेयपूर्ण-त्रि० । विद्यावृत्ते, तं० ।

अभि (मे) ज्ञमय-अमेयमय-त्रि० । अमेयं प्रचुरमस्तिषि-
ति । गृथात्मके, तं० ।

अभि (मे) ज्ञरस-अमेयरस-पुं० । विद्यारसे, तं० ।

अभि (मे) ज्ञसंनय-अमेयसंभूत-त्रि० । विद्यासंभवे, तं० ।

अभि (मे) ज्ञुकर-अमेयोत्कर-पुं० । उच्चारनिकरकल्पे, षो०
१ वि० ।

अभि-अभि-न० । अहितसाधके, स्था० ४ ग० ४ उ० ।
आचा० । (‘ पुरिसजाय ’ शब्देऽस्य चतुर्भङ्गी कृष्टव्या)

अभिय-अमृत-त्रि० । अमरधर्मिणि, विशेष० । मरणाभावे, आ०
म० द्वि० । तत्पथ्ये, आव० ४ अ० । “ वर्षासु लवणममृतं, शरीदि
जलं गोपयश्च हेमन्ते । शिशिरे चामलकरसो, शृतं वसन्ते
गुडश्चान्ते ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ अ० १ अ० १ उ० ।

अभित-त्रि० । परिमाणरहिते, ध० २ अधि० । अपरिक्षेपे, आ०
चू० १ अ० । अनन्ते, असंख्येये वनस्पतिपृथिवीजीववृक्षयादौ च

संप्रति द्वादशमावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एतेमि एं पंचाहं संवच्छराणं दुवालसमं अमावासं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएति पुच्छा ? । ता अद्दाहिं, अद्दाणं चत्तारि मुहुत्ता, दस च वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, वावट्ठिजागं च सत्तट्ठिहा उच्चा चउप्पणं चुण्णिया जागा सेसा । तं समयं च णं सरे केणं नक्खत्तेणं जोएति पुच्छा ? । ता अद्दाए चैव । अद्दाए जं चैव चंदस्म, तं चैव ॥

(ता एपसि णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता अद्दा-दिमित्यादि) भार्गवयुक्तश्चन्द्रो द्वादशीमावास्यां परिसमापयति । तदानीं चाज्ञायाश्चत्वारो मुहूर्ताः, दश च मुहूर्तस्य द्वापष्टिभागाः, द्वापष्टिभागं च सप्तपष्टिधा द्वित्वा चतुष्पञ्चाशत्तृणि-काभागाः शेषाः । तथाहि-स पय ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ द्वादश्यमावास्या चिन्त्यमाना वर्तते इति द्वादशमिगुण्यते, जातानि सप्तशतानि चिन्त्यतयाधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य पष्टिद्वापष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य द्वादश सप्तपष्टिभागाः ७६२ । ६० । १२ । एतस्माच्चतुर्भिः शतैर्द्विचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य पद्वत्वारिंशता द्वापष्टिभागैः पुनर्वस्वादीन्युत्तराषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शु-द्धानि, स्थितानि पश्चात् त्रीणि शतानि पञ्चाशदधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्दश द्वापष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य द्वादश सप्तपष्टिभागाः ३५० । १४ । १२ । ततस्त्रिजिः शतैर्नवोत्तरैर्मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वापष्टिभागैः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पद्वत्पञ्चा सप्तपष्टिभागै-रभिजिदादीनि रोहिणीपर्यन्तानि शुद्धानि, स्थिताः पश्चाच्चत्वारिंशद्मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य एकपञ्चाशद् द्वापष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य त्रयोदश सप्तपष्टिभागाः ४०५१ । १३ । ततस्त्रिंशता मुहूर्तैर्मृगशिरः शुक्लं, स्थिताः पश्चाद्दश मुहूर्ताः, शेषं तथैव १०५१ । १३ । तत आगतमार्द्रानक्षत्रस्य चन्द्रेण सह संयुक्तस्य चतुर्षु मुहूर्तेषु, एकस्य च दशसु द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य चतुष्पञ्चाशति सप्तपष्टिभागेषु ४ । १० । ५४ द्वादशी अमावास्या परिसमाप्तिमियति । संप्रति सूर्यविषयं प्रश्नमाह-(तं समयं च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता अद्दाए चैव) भार्गवैव युक्तः सूर्योऽपि द्वादशीमावास्यां परिसमापयति । शेषपाठाविषये अतिदेशमाह-" अद्दाए जं चैव चंदस्स, तं चैव " चन्द्रस्य विषये आर्द्रायाः शेषमुक्तम्, तदेव सूर्यविषयेऽपि वक्तव्यम् । " अद्दाए चत्तारि मुहुत्ता, दश च वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, वावट्ठिजागं च सत्तट्ठिहा उच्चा चउप्पणं चुण्णिया भागा सेसा " इति ।

चरमद्वापष्टिमावास्याविषयं प्रश्नमाह-

ता एतेसि एं पंचाहं संवच्छराणं चरिमं वावट्ठि अमा-वासं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएति पुच्छा ? । ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स एं वावीसं मुहुत्ता, गायालीसं च वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स सेसा । तं समयं च णं सरे केणं नक्खत्तेणं जोएति पुच्छा ? । ता पुणव्वसुणा चैव, पुणव्वसुस्स एं वावीसं मुहुत्ता, गायालीसं च वावट्ठिजागा मुहुत्तस्स सेसा ।

(ता एपसि णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता पुणव्वसु-

णा इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । पुनर्वसुना युक्तश्चन्द्रश्चरमां द्वापष्टिमावास्यां परिसमापयति । तदानीं च चरमद्वापष्टि-तमावास्यापरिसमाप्तिवेद्यायां पुनर्वसुनक्षत्रस्य द्वाविंशतिमुहूर्ताः, पद्वत्वारिंशच्च द्वापष्टिभागाः मुहूर्तस्य शेषाः । तथाहि-स पय ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ द्वापष्ट्या शुष्यते, जातानि मुहूर्तानां चत्वारिंशच्चतानि चिन्त्यतयाधिकानि, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वापष्टिभागानां त्रीणि शतानि दशोत्तराणि, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य द्वापष्टिसप्तपष्टिभागाः ४०६२ । ३१० । १३ तत एतस्माच्चतुर्भिः शतैर्द्विचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य पद्वत्वारिंशता द्वापष्टिभागैः प्रथमशोधनकं शुद्धम् ; जातानि पद्विंशत्शतानि पञ्चाशदधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वे शते चतुष्पष्ट्यधिकं द्वापष्टिभागानाम्, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य द्वापष्टिसप्तपष्टिभागाः ३६५० । २६४ । ६२ । ततोऽभिजिदाद्युत्तराषाढापर्यन्तसकलनक्षत्रपर्यायविषयं शोधनकम् । अपौ शतानि एकान्विंशत्यधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य चतुर्विंशतिद्वापष्टिभागाः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पद्वत्पष्टि-सप्तपष्टिभागाः ७१९ । २४ । ६६ इत्येवं प्रमाणं चतुर्भिर्गुणयित्वा शोध्यते । स्थितानि पश्चात् त्रीणि शतानि चतुःसप्तत्यधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुष्पष्ट्यधिकं शतं द्वापष्टिभागानाम्, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पद्वत्पष्टिसप्तपष्टिभागाः ३७४ । १६४ । ६६ । ततो भूयस्त्रिभिः शतैर्मुहूर्तानां नवोत्तरैः, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वापष्टिभागैः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पद्वत्पष्ट्या सप्तपष्टिभागैः ३०६ । २४ । ६६ अभिजिदादीनि रोहिणीपर्यन्तानि शुद्धानि, स्थितानि पश्चात्सप्तपष्टिमुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चदश-द्वापष्टिभागाः ६७ । १६ । ततस्त्रिंशता मुहूर्तैर्मृगशिरः, पञ्चदश-भिराठौ शुद्धा, स्थिताः पश्चात् शेषा द्वाविंशतिमुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चदश द्वापष्टिभागाः २२ । १६ । तत आगतं चन्द्रेण सह संयुक्ते पुनर्वसुनक्षत्रं द्वाविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य पद्वत्वारिंशति द्वापष्टिभागेषु, शेषेषु चरमां द्वापष्टितमाममावास्यां परिसमापयति । सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रमाह-(तं समयं च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता पुणव्वसुणा चैव चि) सूर्यः पुनर्वसुना चैव सह योगमुपागतश्चरमां द्वापष्टितमाममावास्यां परिणमति । शेषे अनिदेशमाह-(पुणव्वसुस्स णं वावीसं मुहुत्ता इत्यादि) एतच्च प्राग्ब्रह्मचरीयम् । चन्द्रमसः सूर्यस्य चामावास्याविषये नक्षत्रयोगपरिज्ञानहेतोः करणस्य समानत्वात् । चं० प्र० १० पादु० ।

संप्रति कियत्सु मुहूर्तेषु गतेषु अमावास्यातोऽनन्तरा पौर्णमासी, कियत्सु वा मुहूर्तेषु गतेषु पौर्णमास्या अनन्तरममावास्या ?, इत्यादि निरूपयति-

ता अमावासाओ णं पुष्णिमासिणी चत्तारि वायाले मुहुत्तसते, गायालीसं वावट्ठिजागे मुहुत्तस्स आहिताति व-देज्जा ; ता अमानामाओ णं अमावासा अद्दा पंचासीति मुहुत्तसते, तीसं च वावट्ठिजागे मुहुत्तस्स अहियाति व-देज्जा ; ता पुष्णिमासिणीओ णं अमावासा चत्तारि वायाले मुहुत्तसते तं चैव, ता पुष्णिमासिणीओ णं पुष्णिमासिणी अद्दा पंचासीति मुहुत्तसते, तीसं च वावट्ठिजागे मुहुत्तस्स आहिता० । एत णं एवइए चंदे मासे ; एत णं एवइए सगळे जुगे ॥

मूर्तिः रूपरसगन्धस्पर्शद्विसन्निवेशता, तस्या धारणस्वभावा
मूर्तत्वं, मूर्तस्वभावः, तस्माद्यद्विपरीतं तदमूर्तत्वम्, अमूर्त-
स्वभावः । द्रव्या० १३ अध्या० ।

अमुत्ति-अमुक्ति-स्त्री० । मुक्तिर्मोक्षगतिः, न मुक्तिरमुक्तिः । संसार-
सुखाभिवाये, आतु० । सखोभतायां भक्तिंशे गौणपरिग्रहे, प्रश्न०
५ आश्र० द्वा० ।

अमुत्तिमग्न—अमुक्तिमार्ग—न० । न विद्यते मुक्तेरशेषकर्मप्रच्यु-
तिवृत्तकणाया मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको यस्मिन्स्तदमु-
क्तिमार्गम् । अधर्मपक्षे विभक्तस्थाने, सूत्र० २ शु० २ अ० ।

अमुय—अस्मृत—त्रि० । मनोऽपेक्षया स्मृतिमनागते, प्र० ३
श० ६ उ० ।

अमुयग—अमृतक—त्रि० । अवाह्याभ्यन्तरपुद्गलरचितावयवशरी-
रिणि जीवे, स्था० । “अमुयगो जीवोति” देवानां बाह्याभ्यन्त-
रपुद्गलादानविरहेण वैक्रियवतां दर्शनाद् बाह्याभ्यन्तरपुद्गलर-
चितावयवशरीरो जीव इत्यवयवसायवत् पञ्चमं विभक्तज्ञा-
नम् । स्था० ७ उ० ।

अमुसा—अमृषा—अव्य० । सत्ये, सूत्र० १ शु० १० अ० ।

अमुह—अमुख—त्रि० । निरुचरे, व्य० ९ उ० ।

अमुहरि (ए)—अमुखारिन्—त्रि० । अवाचाले, उक्त० १ अ० ।

अमूढ—अमूढ—त्रि० । अविप्लुते, दश० १० अ० । सम्मार्महे,
सूत्र० १ शु० १४ अ० । तत्त्वज्ञानिनि, अष्ट० २ अष्ट० ।

अमूढणाण—अमूढज्ञान—त्रि० । यथावस्थितज्ञाने, आ० म० द्वि० ।

अमूढदिष्टि—अमूढदृष्टि—स्त्री० । अमूढा तपोविद्यातिशयादिकु-
तीर्थिकदिदर्शनेऽप्यमोहस्यभावादविचलिता, सा च दृष्टिश्च
सम्यग्दर्शनममूढदृष्टिः । प्रव० ६ द्वार । बुद्धिमत्कुतीर्थिकद-
र्शनेऽप्यविगीतमेवासमदर्शनमिति मोहविरहितायां बुद्धौ, उक्त०
२ अ० । अमूढबुद्धिसंपत्ते, सुहृते स अस्मिन्निति मूढः । न
मूढोऽमूढस्तस्य दृष्टिः । याथातथ्यदृष्टौ, नि० चू० १ उ० । बाल-
तपस्वितपोविद्यातिशयदर्शनैर्न मूढा स्वरूपा चलिता दृष्टिः
सम्यग्दर्शनरूपेण यस्याऽसौ अमूढदृष्टिः । ग० १ अधि० । य० ।
पञ्चा० । दश० ।

इदानीं अमूढदिष्टिं चि दारं—

सुहृते स्म अस्मिन्निति मूढः, न मूढोऽमूढः । अमूढदिष्टि,
याथातथ्यदृष्टिरित्यर्थः ॥

जहा सा भवति तदा जगति—

योगविहा इह्नीओ, पूयं परवादिणं च ददृणं ।

जस्स ए मुज्जङ्ग दिट्ठी, अमूढदिष्टिं तगं वैति ॥ २६ ॥

(योगविह चि) शाणप्पगारा, का ता ? (इहि चि) इह्नीओ-इ-
स्सारियं, तं पुण विज्जामंतं तत्रोमंतं वा विववणाऽसासगमण-
विभंगणाणादि पेश्वर्यम् । (पूयं चि) असणपाणखादिमसादिमव-
त्यकवशादी-जस्स वा जं पाउग्गं तेण से पडिलान्नेण पूया ।
केसिं सा ? (परवादिणं ति) जइणसासणवहरत्ता परा, ते य परि-
व्वाययरत्तपनियादी पासंत्त्या, चसदाओ गिहत्था धीवरादि ।
अइवा चसदाओ ससासणे विजेइमे पासत्था, ते पूयासक्कारा-
दी ददुं, ‘च अनुकारिसणे, पायपूरणे वा ददुव्वो’ । (ददुणं ति) ददुवा
जहा तसिं परवादीणं पूया सक्काररिद्धिविसेसा दीसंति, ण तदा
अमूढं । माणुसप चेव मोक्खमग्गो विसिहतरो जयेज्जा अतो

जगति—(जस्स चि) जस्स पुरिसस्स, ‘ण इति पडिसेहे’ मो-
हो विण्णणाविवव्वासो, दिट्ठी दरिसणं, स एवंगुणविसिद्धो
अमूढदिट्ठी दरिसणं भण्णति । जगाददिहस्स तगारेण णिदसो
कीरति—(तगं ति) । (वैति) भुवन्ति आचार्याः, कथयन्तीत्यर्थः ।
अमूढदिष्टिं चि दारं गयं ॥ नि० चू० १ उ० ।

इयानिं दिष्टतो—

सुलसा अमूढदिष्टि, ।

सुलसा साविगा अमूढदिष्टिचे उदाहरणं भण्णति-मगवं चंपाए
णयरौप समोसरिओ । मगवया य भवियथिरीकरणत्थं अंवहो
परिव्वायगो रायगिहं गच्छंतो भणिओ-सुलसं मम वयणा सायं
पुच्छेज्जसि । सो चित्तेति-पुष्पमंतिया सा, जं अरइ पच्छति । तेण
परिव्वण्णणिमिच्चं जत्तं मग्गिता, अलभमाणेण बहूणि कुवाणि
काळण मग्गिता । णं दिष्टं । जगति य-परं अणुक्कपाए देमि, ण ते
पत्तबुद्धीए । तेण भणियं-जदि पत्तबुद्धीए देहि ? सा भणति-ण
देमि । पुणो पउमासणं विववियं । सा भणति-जइ वि सिक्खा
वंमणो तदा वि ते ण देमि पत्तबुद्धीए । तओ तेण उवसंधारियं
सम्भावं च से कहियं । ण दिष्टिमोहो सुलसाए जाओ । एवं अ-
मूढदिष्टिणा होयव्वं” । नि० चू० १ उ० । (अस्मिन्नेव भागे ११२
पृष्ठे ‘अंबड’ शब्देऽपि कथेयम्)

अमूढलक्ख—अमूढलक्ष—त्रि० । अमूढः भुनिर्णयो लक्षो बोध-
विशेषो यस्य सोऽमूढलक्षः । पञ्चा० १४ विव० । अष्ट० । य-
थावस्थितवस्तुवेदिनि, वृ० १ उ० । समस्ततत्त्वाविपरीतवेद-
ने, आ० म० द्वि० ।

अमेत्तणाण—अमात्रज्ञान—न० । मात्रा मानं, तेन रहितममात्रम्,
अमात्रं च तज्ज्ञानं च अमात्रज्ञानम् । अप्रमिते केवलज्ञानिनि,
अष्ट० ११ अष्ट० ।

अमेहा—अमेधा—स्त्री० । मेधोपघाते, नि० चू० १ उ० ।

अमोसलि—अमुशालि—न० । न मुशली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपे-
क्षणे तदमुशालि । सुप्रत्युपेक्षणज्ञेदे, ओघ० ।

अण्णाविय अचलियं, अणाण्वंधी अमोसलिं चैव ।

अपुरिमा ए च खोना, पाणी पाणे पमज्जणया ॥ २५ ॥

(अमोसलिं चि) न मुशली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपेक्षणे त-
दमुशालि प्रत्युपेक्षणम् । यथा मुशलं कुट्टने ऊर्ध्वं गति,
अचलित्येण च । एवं न प्रत्युपेक्षणा कर्तव्या । किंतु यथा
प्रत्युपेक्षमाणस्य ऊर्ध्वं पीठिषु न गति, न च तिर्यक्षु येन
चुमौ, तथा कर्त्तव्यम् । ओघ० । ध० । स्था० । उक्त० । नि० चू० ।

अमोह—अमोघ—त्रि० । अर्थवत्त्वाऽप्यातत्वेनाविफले, अमिथ्या-
रूपे, विशेष० । अवन्ध्ये, दश० ८ अ० । आदित्योदयास्तसमय-
योरादित्यकिरणविकारजनितेषु आताम्रेषु कृष्णेषु श्यामेषु वा
शकटाङ्कसंस्थितेषु (सूर्यबिम्बस्याधःस्थेषु कदाचिदुपलब्ध्य-
मानेषु रेखाकूपेषु) दूरणेषु, म० ३ श० ६ उ० । जी० । अनु० ।

अमोह—त्रि० । मोहनं मोहो वितथग्राहः, न मोहोऽमोहः । अ-
वितथग्राहे, विशेष० । मोहरहिते, अष्ट० ३२ अष्ट० । जम्बूमन्दरस्य
रुक्कवरे पर्वते कूटभेदे, स्था० ८ उ० । द्वी० । शोभाञ्जया
नगर्या उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे चैत्ये पूज्यमाने यत्ने, विशेष० ॥

अमोहनाधारि (ए)—अमोहनाधारिन्—पुं० । अमोहनं मो-
हरहितं समस्तमा समन्ताद् धारयतीत्येवंशीलोऽमोहनाधारी ।
सूत्रादेर्मोहं धारके, व्य० १० उ० ।

“ केवली पुरच्छिमेणं मिथं पि जाणइ, अभियं पि जाणइ ”। अ० ५ श० ४ उ० । केवलज्ञाने च । विशेषः ।

अभियगइ-अमितगति-पुं० । दाक्षिणात्ये दिक्कुमारेन्द्रे, ज० ३ श० ७ उ० । स० । प्रज्ञा० । स्वनामख्याते मायुरसंधीये माधवसेनाचार्यशिष्ये दिगम्बरजैनाचार्ये, म च वैष्णवीये १०५० वर्षे अजयत् । येन धर्मपरीक्षा-सुभाषितरत्नसंदोहना-मानौ च ग्रन्थौ निर्मितौ । ज० ३० ॥

अभियचंद-अमृतचन्द्र-पुं० । कुन्दकुन्दाचार्यकृतसमयसारग्रन्थोपरि ‘आत्मख्याति’ नाम्न्याः टीकायाः, तथा प्रवचनसार टीका-पञ्चास्ति कायदीका-तत्त्वार्थसार-पुरुषार्थसिद्धिपुण्य-तत्त्वदीपिकादिग्रन्थानां च कारके वैष्णवीये द्वापष्टपुत्तरनवमशतके (६६२) विद्यमाने आचार्ये, ज० ३० ॥

अभियणाणि(ण्)-अमितज्ञानिन्-पुं० । अमितं च तद् ज्ञानं चामितज्ञानम्, तच्च स्यास्ति सोऽमितज्ञानी । आ० म० प्र० । सर्वधे, स० । अपरिशेषज्ञानिनि, अनन्तज्ञानिनि च । आ० चू० १ अ० । केवलनि, पं० चू० ।

अभियमणं नाणं, तं तेसिं अभियणाणिणो तो ते ।

तं जेण णेयमाणं, तं चाणं जओ नेयं ॥ १०५० ॥

अनन्तत्वान्मातुमशक्यममितं केयलज्ञानलक्षणं ज्ञानं, तत्तेषां चिद्यते, ततोऽमितज्ञानिनस्ते । कथं पुनः केयलज्ञानस्यानन्त्यम् ? इत्याह-तत्केवलज्ञानं, येन कारणेन हेयमानं वर्तते, ज्ञानस्य हेयानुवासित्यात् । तच्च हेयं सर्वमपि यतोऽनन्तमतः केवलज्ञानस्यानन्त्यमिति ॥ विशेषः ॥

अभियतेयसूरि-अमिततेजःसूरि-पुं० । स्वनामख्याते सूरिनेदे, “ पर्यसि अभियतेयसुरीणं अंतिप सहजायाप पञ्चइउं एयं वि सेसकारणं तेण मणियं ” । दश० ।

अभियचूय-अमृतचूत-न० । जूतशब्द उपमार्थः । परमपद्मेतु-त्वाञ्ज्रामरणादिविघातकत्वेनाऽमृततुल्ये जिनवचने, “जिण-वयणसुभासियं अभियभूयं ।” आतु० ।

अभियमेह-अमृतमेघ-पुं० । दुष्पमदुष्पमान्ते वरिणि चतुर्थे महामेघे, ज० ।

चतुर्थमेघवक्यतामाह-

तंसि च णं घयमेहंसि सचरचं णिवतितांसि समाणं-सि पत्य णं अभियमेहे णामं महामेहे पाउन्नाविस्सइ, भरहण्णमाणमिचे आयामेणं जाव वासं वासिस्सइ, जे णं भरहे वासे रुक्खगुच्छगुम्भलयवञ्चितणपव्वगद्वरितगओ-सहिपवालं कुरुमाइए तणवणण्णइकाइए जणइस्सइ ॥

(तंसि इत्यादि) तस्मिन् घृतमेघे ससरात्रं निपतति सति, अत्र प्रस्तावेऽमृतमेघो नाम यथार्थनामा महामेघः प्रादुर्भवत्यति वरिष्यति इति पर्यन्तं पूर्ववत् । यो मेघो प्ररते वर्षे वृक्षगुच्छ-गुल्मलतावल्लयः, वृक्षानि प्रतीतानि, पर्वगा इवावयवः, हरि-तानि पूर्वादीनि, औषधयः शाल्यादयः, प्रवालाः पल्लवाः, अङ्कुराः शाल्यादिबीजसूचय इत्यादीनि वृक्षवनस्पतिकायिकान् वाद्वनस्पतिकायिकान् जनयिष्यतीति । ज० ३ वक्र० ।

अभियरसरसोवम-अमृतरसरसोपम-त्रि० । अमृतरसेन रसस्यो-पमा यत्र तदमृतरसरसोपमम् । सुधाऽऽस्वादमधुरे, “ सेसाणं (तीर्थकृतम्) अभियरसरसोवमं आसि ” । आ० म० प्र० ।

अभियवाहण-अमितवाहन-पुं० । औत्तराहदिकुमारैन्द्रे, स्था० २ उ० ३ उ० । म० । प्रज्ञा० । स० ।

अभियासणिय-अमितासनिक-पुं० । अवज्ञासने, सुदुर्मुहः स्थानात् स्थानान्तरं गच्छति, अनेकान्यासनानि सेवमाने, कल्प० ६ क० ।

अमिल-अमिल-न० । ऊर्णावस्त्रे, ध० २ अधि० । दश० । नि० चू० । आचा० ।

अमिलकतु-अम्लेच्छ-पुं० । आर्ये म्लेच्छमायाऽनभिदे, सूत्र० १ ध्रु० १ अ० २ उ० ।

अमिला-अमिला-स्त्री० । औनेमिनाथस्य प्रथमशिष्यायाम्, स० । पत्रिकायां द्रुस्वमहिष्याम्, धृ० १ उ० ।

अमिह्वाण-अम्हान-त्रि० । अमहिने, औ० । नि० चू० ।

अमिलाय-अम्लान-त्रि० । न म्लायते शीघ्रं तदिति । चिर-ममलिने, नि० चू० २ उ० ।

अमिज्ञायमद्वदाम-अम्हानमान्यदायन्-न० । अम्हानपुष्प-दामनि, म० ११ श० ११ उ० । विपा० ।

अमिहिय-अमिलित-त्रि० । असंसर्के, विशेषः । अनेकशाल-संघन्धीनि सूत्राण्येकत्र मालयित्वा यत्र पठति तन्मिलितम् । असदृशान्यमेलकवत् । अथवा परावर्तमानस्य यत्र पदादि-विच्छेदां न प्रतीयते तन्मिलितम्, न तथा अमिलितम् । मिलित-वोपविप्रमुक्ते सूत्रगुणे, अनु० । पं० चू० । ग० । अमिलितं यद् ग्रन्थान्तरवर्तिभिः पदैरभिधत्तं, यथा-सामाधिकसूत्रं दशवैकालि-कोत्तराख्यनादिपदानि न क्षिपति । धृ० १ उ० ।

अमुइ-अमोचिन्-त्रि० । अमोचनशीले, धृ० ४ उ० । “ अमुइ समुत्ते वि जो ण मुप ” पं० भा० । पं० चू० ।

अमुकपूणण्य-अमुक्तपूर्णत-त्रि० । अमुका पूर्णता येन तत् अमुक्तपूर्णतम् । पूर्णं, ध० २ अधि० ।

अमुग-अमुक-त्रि० । अदस्-अकच् । उत्वमत्वे कस्य गः । प्रा० १ पाद । अदःशब्दाद्ये अज्ञातनामरूपे विवक्षितेऽर्थे, “ अमुगं हि भोवं ” अमुकस्मिन् भवतु । प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । “ अमुगं गामं वचामो, तथ दो तिन्नि वा विवसो अच्छिस्सामो ” । आ० म० द्वि० । प्रव० ।

अमुग-अमुक-त्रि० । अविद्यमानमुक्ते, अनु० ।

अमुच्छिय-अमूर्तित-त्रि० । न मूर्च्छितोऽमूर्च्छितः । सूत्र० १ ध्रु० १० अ० । दश० । आहारादौ मूर्तमकुर्वति, पं० व० २ द्वार । पिपरे शब्दादिषु वा गृहे, दश० ५ अ० १ उ० । आचा० ।

अमुण-अङ्ग-पुं० । अङ्गे, मूर्त्ते च । धृ० १ उ० ।

अमुणिय-अज्ञात-न० । नास्ति मुणितं ज्ञातं यत्र तदमुणित-म् । ज्ञानविकले, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अमुत्त-अमुक्त-त्रि० । लोकन्यापारप्रवृत्ते सकर्मणि, स्था० १० उ० । अमूर्त्त-त्रि० । अरूपिणि, आव० ४ अ० ।

अमुत्त-अमूर्त्त-न० । मूर्त्तत्वाभावसमानियतत्वे, कल्या० २ अ० । “ मूर्त्तिं दधाति मूर्त्तत्व-अमूर्त्तत्वं विपर्ययात् । ”

मयोः भोक्तृभोग्यत्वेनावस्थितयोरेकता अस्मिता । तदुक्तम्—“इ-
न्दर्शनशक्तयोरेकात्मतैवास्मिता ” द्वा० २५ द्वा० ।

अम्हे-वयम्-अस्मान्—“जशसोरम्हे अम्हं ” ७ । ४ । ३७६।
इत्यपञ्चशे अस्मदो जसि शसि च ‘अम्हे’ इत्यादेशः। प्राकृतेऽप्ये-
वम्—“अम्हे थोवा रिउ बहुअ, कायर एम्ब भण्ति”। प्रा० ४ पाद ॥

अम्हेच्चय-आस्माक-त्रि० । अस्माकमिदम् । “युष्मदस्मदोऽञ्ज
पञ्चयः” ८ । २ । १४ए । इत्यस्मदः परस्मैदमर्थस्याञः ‘पञ्चय’
इत्यादेशः । अस्मदीये, प्रा० ४ पाद ॥

अम्हो-अस्माकम्—“णे णो मज्झ अम्ह अम्हं अम्हे अम्हो ”
८ । ३ । ११४ । इत्यामा सहितस्यास्मद ‘अम्हो’ इत्यादेशः ।
प्रा० ३ पाद ।

अय-अज-पुं० । अजैकपादेवे, स च पूर्वान्नाद्रूपदानकृत्रस्य
देवता । ज्यो० ६ पादु० । ‘दो अया’ स्था० २ ठा० ३ उ० ।
अनु० । सूर्यवंशीये रघुपुत्रे, वाच० ।

अय-पुं० । अयनमयः । इण् गतौ इति धातोः “परच्” ३ । ३ ।
५६ । इति [पाणि०] सूत्रेण अच् प्रत्ययः, आ० म० द्वि० । वेदने,
हामे, प्रासौ च । विशे० । आ० म० । आव० । इष्टफले, न० । स्था०
१ ठा० १ उ० । शुभे, स्था० १० ठा० ।

अयस्-न० । लोहे, नि० चू० ५ उ० । जी० । प्रश्न० । उत्त० ।
अयआगर-अयआकर-पुं० । लोहाऽऽकरे, यत्र लोहमुत्पद्यते ।
नि० चू० ५ उ० । यत्र वा लोहकारो लोहं आपयति । स्था० ७ ठा० ।

अयं-अयम्-पुं० । “पुंस्त्रियोर्नवाऽयमिमिआ सौ” ॥ ८ । ३१७३ ॥
इति इदमशब्दस्य सौ अयादेशे अयं । प्रा० ३ पाद । “अयं परमं
सेसे अणद्वे ” अयमिति प्राकृतत्वादिदम् । औ० ।

अयंत-आयत्-त्रि० । आगच्छति प्रविशति, “जाव अयंतो
निसीदियं कुणह ” आ० म० द्वि० ।

अयंपुल्ल-अयंपुल्ल-पुं० । अजीविकोपासके गोशास्त्रकशिष्ये,
म० ८ शा० ५ उ० ।

अयंसन्धि-अयंसन्धि-त्रि० । “अयं संधीति ” अयमिति प्रत्य-
क्कगोचरापन्नः, अयंक्तेनसुकुलोत्पत्तीन्द्रियनिर्वृत्तिश्चद्वासंवेग-
लक्षणः सन्धिः । आचा० १ शु० ५ अ० २ उ० । ‘अयंस-
न्धीति’ सन्धानं (सन्धिः) सन्धीयते वाऽसाविति सन्धिः ।
अयं सन्धिर्यस्य साधोरसावयंसन्धिः । छान्दसत्वाद् वि-
भक्तेरलुक् । यथाकालमनुष्ठानविधायिनि, यो यस्य वर्त-
मानः कालः कर्तव्यतथोपस्थितस्तत्करणतया तमेव संघत्ते ।
एतदुक्तं भवति—सर्वाः क्रियाः प्रत्युपेक्षणोपयोगस्वाध्याय-
मिक्षाचर्याप्रतिक्रमणादिका असंपन्ना अन्योन्यावाधयाऽऽ-
त्मीयकर्तव्यकावे करोतीत्यर्थ इति । आचा० १ शु० २ अ० ५ उ० ।

अयकंत-अयस्कान्त-पुं० । अयसां मध्ये कान्तः रमणीयः ।
कस्कादित्वात् सत्वम् । कान्तिलोह इति श्याते लोहमेदे,
वाच० । सन्निधिमात्रेण लोहाकर्षके, [चुम्बक] इति श्याते प्रस-
रमेदे च । अयसां प्रियत्वात्तथात्वम् । आ० म० प्र० ।

अयककरजोइ (ण्)-अयककरजोजिन्-त्रि० । अजस्य ग-
गादेः कर्करमतिभ्रष्टं यच्चणकवद् चुज्यमानं कर्करायते तन्मेदो-
दन्तुरं पक्कं शृङ्गाकृतं मांसं, तद् मुक्के इत्येवंशीघ्रोऽजककर्करोजी ।
अजादेः कर्करायितमांसमुजि, “अयककरमोई य, तुन्दिहे

चिय सोणिए । आउयं नरए ऋजे, जहा एसं व एलए” ॥ ७ ॥
उत्त० ७ अ० ।

अयकमिद्व-अयःकमिद्व-न० । अयो लोहं तन्मयं यत्कमिद्वं
तत् । लोहकटाहं, ओष० ।

अयकरय-अजकरक-पुं० । सप्तदशे महाग्रहे, सू० प्र० २० पादु० ।
कल्प० । चं० प्र० । जं० । “दो अयकरगा” स्था० २ ठा० २ उ० ।

अयकोट्टय-अयःकोष्ठक-न० । होहप्रतापनार्थं कुशले, म० १६
श० १ उ० । उपा० । जी० ।

अयकवंत-अयस्कान्त-पुं० । लोहाकर्षके चुम्बके मणौ, आ०
म० प्र० ।

अयगर-अजगर-पुं० । शयुःपर्याये, सरःपरिसर्पविशेषे, प्रश्न०
१ आश्र० द्वा० । महाकायसर्पे, जं० २ वृत्त० । “से किं तं अ-
यगर ? । अयगर एगागारा पञ्चत्ता, सेत्तं अयगरा ” । प्रज्ञा०
१ पद । जी० ।

अयगोत्रय-अयोगोत्रक-पुं० । अयो लोहं, तस्य गोलः पिएनोऽ-
योगोलः । नि० चू० १ उ० । अयःपिएने, दशा० ७ अ० । सूत्र० ।

अयञ्ज-कुप्-धा०-विभेक्षणे, “रूपेः कहु-साअन्नाञ्जाणञ्छा-
यञ्जाञ्जाः” ७ । ४ । १८५ । इति सूत्रेण रूपेः अयञ्जादेशः ।
अयञ्जइ-रूपति । प्रा० ४ पाद ।

अयण-अयन-न० । गमने, आ० म० द्वि० । उत्त० । स्था० । ज्ञा० ।
प्रापणे, अनु० । परिच्छेदे, न० । श्रुतुत्रयमाने, कर्म० ४ कर्म० ।
परमासात्मके काले, तं० । जं० । म० । अनु० । अयनानि वायमा-
सिकानि दक्षिणायनोत्तरायणलक्षणानि । कल्प० ५ कृ० ।

साम्प्रतमयनपरिमाणं वक्तुकाम आह—

उहिं मासोहिं दिणयरो, तेसीयं चरइ मंरुदसयं तु ।

अयणम्मि उत्तरे दा-हिणे य एसो विही होइ ॥

परमिर्मासैर्दिनकरः सूर्यः अश्लीत्याधिकं मण्डलशतं चरति ।
तथाहि—सर्वाभ्यन्तरमन्त्रे द्वितीयमण्डले यदा सूर्य उपसंक्रम्य
चारं चरति तदा स नवस्य सूर्यसंवत्सरस्य प्रथमोऽहोरात्रः ।
द्वितीयेन चाहोरात्रेण सर्वाभ्यन्तरान् तृतीयमण्डलं चरति; एवं
परमिर्मासैरुपश्लेषाधिकं मण्डलशतं चरति । एष दक्षि-
णायनस्य परमासप्रमाणस्य पर्यन्तः । ततः सर्वबाह्याद् मण्ड-
लादन्तर्गतरे द्वितीये मण्डले यदोपसंक्रम्य सूर्यचारं चरति
तदा स उत्तरायणस्य प्रथमो दिवसः । सर्वबाह्याद् मण्डलादन्त-
रान् तृतीयं मण्डलं द्वितीयेनाहोरात्रेण चरति, एवं परमिर्मा-
सैरुपश्लेषाधिकं मण्डलशतं सर्वाभ्यन्तरमण्डलपर्यवसानम् ।
एष दक्षिणस्मिन् उत्तरास्मिन् वा अयने विधिः प्रकारो भवति ।

अत्रार्थं च करणं विचलुः प्रथमतः तदुपदेष्टव्यम्—

तेसीयं दिवससयं, अयणे सूरस्स होइ पडिपुञ्जं ।

मुण तस्स कारगविहिं, पुञ्जायगिओवएसेणं ॥

सूर्यस्यायनं दक्षिणमुत्तरं वा भवति परिपूर्णं अश्लीत्याधिकं
दिवसशतम् । कथमेतदवसीयते इति चेत् ? । उच्यते—इह
युगमध्ये दश सूर्यस्यायनानि भवन्ति, युगे च दिवसानामष्टाद-
शशतानि त्रिंशदधिकानि १७३० । ततश्चैराशिकमवतारयनि-
यदि दशभिरयनैरष्टादशदिवसशतानि त्रिंशदधिकानि हन्यन्ते,

अमोहदांसि (ण)—अमोहदंशिन्—पुं० । अमोहं पश्यति य-
थायत्पश्यति, दश० ६ अ० ।

अमोहवयण—अमोहवचन—न० । धर्मदेशनारूपेऽव्ययवचने,
स्था० ४ अ० ३ उ० ।

अमोहा—अमोघा—स्त्री० । अम्घाः सुदर्शनाया नाम्नि, (मोघं
निष्फला) न मोघा अमोघा । अनिष्फला इत्यर्थः । तथादि-
शाश्वतस्वामिभावेन प्रतिपद्या सती अम्घूहीपाधिपत्यमुपजन-
यति, तदन्तरेण तद्विषयस्य स्वामिप्राचस्येवायोगात्, ततोऽ-
निष्फलेति । जी० ३ प्रति० । ज० । उत्तराञ्जनादेर्दक्षिणदि-
ग्भागवर्तिन्यां पुष्करिण्याम्, द्वी० । स्था० । जी० ।

अम्ब—आम्ब—पुं० । “ताम्बां म्बः” । ८ । २ । ५६ । इति सू-
त्रेण संयुक्तस्य मयुक्तो ‘म्बः’ । सूत—(आँब) वृक्षे, तत्फले च ।
प्रा० २ पाद ।

अम्बकूणगद्गत्थगय—आम्बफलहस्तगत—त्रि० । स्वकीयतप-
स्तेजोजनितबाहोपशमनार्थमात्रास्थिकं रूपति, ज० १५ श० १ उ० ।

अम्बन्—अम्बन्—पुं० । स्वनामक्याते परिमाजके, अ० १४ श०
८ उ० । औ० । स्था० । (तद्वचक्यता अनुस्वारप्रकरणे ‘अं-
व (म) उ’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११० पृष्ठे निरूपिता)

अम्बया—अम्बा—स्त्री० । पुत्रमातरि, हा० १ अ० । प्रअ० ।
अ० । नि० ।

अम्बहे—अम्बहे—अव्य० । हयै, “अम्बहे हयै” ८ । ४ ।
२८४ । इति शौरसेन्यम् “अम्बहे” इति निपातो हयै प्रयोक्त-
व्यः । “अम्बहे एत्राप सुम्निद्याय सुपक्षिगदिदो भवं” ।
प्रा० ४ पाद ।

अम्मापितिसमाण—अम्मापित्समान—पुं० । मातापितृभ्यां स-
माने पुत्रेपु मातापिशोरिव व्यवहारादिव्यविषमदर्शिनि, व्य० ३
उ० । उपचारं विनाऽपि साधुपु पदान्तेनैव वत्सत्वे भ्रमणो-
पासके, स्था० ४ अ० ३ उ० ।

अम्मापियर—अम्मापितृ—पुं० । द्वि० अ० । मातापित्रोः, स्था०
३ अ० १ उ० ।

अम्मापेइय—अम्मापैतृक—न० । मातापितृसम्यन्धिनि, अ० ।

अम्मापेइय णं भेते ! सरीरए केवयं काळं संचिहइ ? ।
गोयमा ! जावइयं काळं से जवधारणिजे सरीरए अ-
व्वावणे जवइ, एवइयं काळं संचिहइ । अहे णं समए
समए ओयसिजमाणे चरिमकालसमयंसि वोच्छिण्णे
जवइ ।

(अम्मापेइय णं ति) अम्मापैतृकं शरीरावयवेषु शरीरोपचा-
रात्, उक्तवृत्तानि मातापित्रङ्गानीत्यर्थः । (जावइयं ति) याव-
न्तं काळं, (स चि) तत्तस्य वा जीवस्य, भवधारणीयं भवधा-
रणप्रयोजनं, मनुष्यादिजन्मोपग्राहकमित्यर्थः । (अव्वावणे
चि) अविनष्टम्, (अहे णं ति) उपचयान्तिप्रसमयादनन्तरमे-
तद् अम्मापैतृकं शरीरम् (वोयसिजमाणे चि) व्यवकुल्यमा-
णं हीयमानमिति । अ० १ श० ७ उ० ।

अम्मि—अहम्—अस्मदः प्रथमैकवचनान्तस्य “अस्मदो मि
अस्मि अम्हि हं अहं अहयं सिना” । ८ । ३ । १०५ । इत्यनेन
‘अम्म’ इत्यादेशः । “अम्म न अस्मि कुविआ” प्रा० ३ पाद ।
१८८

अम्मो—अव्य० । “अम्मो आक्षय्ये” । ८ । २ । १०८ । इति सूत्रेण
अम्मो इत्याक्षय्ये प्रयोक्तव्यम् । “अम्मो कह पारिजइ” ॥
प्रा० २ पाद ।

अम्ह—अस्माकम्—अस्मद आमा सहितस्य “णे णो मज्झ अम्ह
अम्हं” । ८ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेणाम्हादेशः । प्रा० ३ पाद ॥
वयम्—असदो जसा सहितस्य “अम्ह अम्हे अम्हो मो वयं भे
जसा” । ८ । ३ । १०६ । इति सूत्रेण अम्हादेशः । प्रा० ३ पाद ।
“अम्ह चोक्खा चोक्खायारा” औ० ॥

अम्हई—वयम्—अस्मान्—“जशसोरम्हे अम्हई” । ८ । ४ । ३७६ ।
इत्यपञ्चमे अस्मदो जशि शशि च प्रत्येकमम्हे अम्हई इत्या-
देशो । “अवस न सुअहिं सुअच्छिअहिं, जिवं अम्हई तिवं वे
वि” । “अम्हई देक्खइ” प्रा० ४ पाद ।

अम्हं—अस्माकम्—“णे णो मज्झ अम्ह अम्हं” । ८ । ३ । ११४ । इत्या-
दिसूत्रेणामा सहितस्यास्मदोऽम्हमादेशः । प्रा० ३ पाद । “अम्हं
ध्या णो आदाइ” विपा० १ सु० ६ उ० ।

अम्हकेर—अस्मदीय—त्रि० । “इदमर्थस्य केरः” । ८ । २ । १४७ । इ-
तीदमर्थस्य प्रत्ययस्य ‘केर’ इत्यादेशः । “सेवादो वा” ८ । २ ।
६९ । इति कवित्वम् । अस्मात्सत्के, प्रा० २ पाद ।

अम्हत्तो—अस्मज्जम्—“ममाम्हौ म्यसि” ८ । ३ । ११२ । इति
सूत्रेण ज्यसि ‘अम्ह’ इत्यादेशः । प्रा० २ पाद ।

अम्हाण—अस्माकम्—अस्मद आमा सहितस्य “णे णो मज्झ
अम्हं” ८ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेण अम्हाणदेशः । प्रा०
३ पाद ।

अम्हातिस—अस्मादश—त्रि० । “यादयादेर्दुस्तिः” । ८ । ३ । १७३ ।
इति पैशाच्यां ‘ह’ इत्यस्य स्थाने तिरादेशः । प्रा० ४ पाद ।

अम्हार—मम—पैशाच्यां “पठ्ठाः” । ८ । ३ । ३४५ । इति सूत्रेण व-
प्रथा मुक् । “संगर-सपहिं जुवधिअइ, देक्खु अम्हारा कंतु”
प्रा० ४ पाद ॥

अम्हारिस—अस्मादश—त्रि० । “दशः किप्-दक्कसकः” ८ । १ ।
१४२ । इति सूत्रेण क्रियाद्यन्तस्य श्रुतो रिरादेशः । “पदम-शम-
प्प-स्म-हां म्हः” ८ । २ । ७४४ । इति संयुक्तस्य स्मभागस्य मका-
राकान्तो हकारः । प्रा० २ पाद । “अम्हारिसो” अस्मत्सदृशेषु,
प्रा० १ पाद ।

अम्हासुन्तो—अम्हाहिन्तो—अस्मज्जम्—“ममाम्हौ म्यसि”
८ । ३ । ११२ । इत्यस्मदो म्यसि अम्हादेशः । “ज्यसस्स चो दो हु
हि हिन्तो सुन्तो” ८ । ३ । ६ । इति सूत्रेण ज्यसः ‘सुन्तो, हि-
न्तो’ इत्यादेशो । प्रा० ३ पाद ॥

अम्हि—अहम्—“असदो मि अस्मि अम्हि हं अहं अहयं सि-
ना” ८ । ३ । १०५ । इति सूत्रेण सिना सह ‘अम्हि’ इत्यादेशः ।
प्रा० ३ पाद ॥

अभिह्या—अस्मिता—स्त्री० । अहङ्काराऽनुगमे, हा० २६ हा० । य-
जान्तर्मुक्ततया प्रतिलोमतापरिणामेन प्रकृतिलीने चेतसि स-
चामात्रमेव भाति सास्मिता । हा० २० हा० । अस्मिता हृद्-
शैनेकता; दृग्दर्शनयोः पुष्परज्जसमोऽग्निसूतसात्विकपरिणा-

केनापि पृष्ठम्-किं चन्द्रायणमनन्तरमतीतं?, किं वा साम्प्रतमुत्तरं दक्षिणं वा वर्त्तते? । तत्र नवसु मासेषु पक्षाणि अष्टादश, तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे शते सप्तत्यधिके २७०। नवानां च मासानामुपरि पञ्चम्यां पृष्ठमिति पञ्च तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते पञ्चसप्तत्यधिके २७५। नवसु च मासेषु चत्वारोऽवमरात्राः, ते ततोऽपनीयन्ते, जाते द्वे शते एकसप्तत्यधिके २७१। एतस्य राशेर्नक्षत्रे मासार्धेन जागहरणं, तत्र नक्षत्रार्धमासो न परिपूर्णः, किन्तु कतिपयसप्तषष्टिभागाधिकः, तत एव सर्वोऽप्यवमरात्रशुद्धः सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातान्यष्टादशशतानि शतमेकं पञ्चाशदधिकम् २८१। नक्षत्रार्धमासस्य च दिवसपरिमाणं त्रयोदशदिवसाः १३, एकस्य च दिवसस्य चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः ६६। तत्र त्रयोदश दिनानि सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि एकसप्तत्यधिकानि, तत्र उपरितनाश्चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि नवपञ्चदशाधिकानि ६१५। एतैः पूर्वराशेर्भागे हृते लब्धा एकोनविंशतिः १६। शेषमुद्धरन्ति सप्तशतानि सप्तसप्तत्यधिकानि ७७७। तेषां दिवसाऽऽनयनाय सप्तषष्ट्या भागो द्वियते, लब्धा एकादश दिवसाः, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चत्रिंशत् सप्तषष्टिभागाः। आगतमेकोनविंशतिश्चन्द्रायणान्यतिक्रान्तानि, अनन्तरं चन्द्रायणमतिक्रान्तमुत्तरायणम्, दक्षिणस्य चन्द्रायणस्य सम्प्रति प्रवृत्तस्यैकादश दिवसा गताः, द्वादशस्य च दिवसस्य पञ्चत्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः, पञ्चम्यां समाप्तायां जविष्यन्तीति ॥ तथा युगमध्ये पञ्चविंशतिमासातिक्रमे दशम्यां केनापि पृष्ठम्-कियन्ति चन्द्रायणान्यतिक्रान्तानि?, किं च साम्प्रतमनन्तरमतीतं चन्द्रायणं, किं वा संप्रति वर्त्तते चन्द्रायणं, दक्षिणमुत्तरं वेति? । तत्र पञ्चविंशतिमासेषु पक्षाणि पञ्चाशत्, तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातानि सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि ७५०। तत उपरितना दश प्रक्षिप्यन्ते, जातानि सप्तशतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ७६०। पञ्चविंशतिमासेषु चावमरात्रा अभवन् द्वादश, ते पूर्वराशेरपनीयन्ते, जातानि सप्तशतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि ७४८। तानि षष्टिजागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि पञ्चाशत्सहस्राणि षष्ठ्यत्यधिकानि ५००। ए६। तेषां नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैः ६१५ भागो द्वियते, लब्धाश्चतुष्षष्ट्याशत्। शेषमुद्धरत्यष्टौ शतानि षडशीत्यधिकानि ८८६। तेषां दिवसानयनाय सप्तषष्ट्या जागहरणं, लब्धाऋयोदश दिवसाः, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चदश, आगतानि चतुष्षष्ट्याशत् चन्द्रायणानि अतिक्रान्तानि। अनन्तरं चातिक्रान्तं चन्द्रायणं दक्षिणं, सम्प्रति वर्त्तते उत्तरं चन्द्रायणम्, तस्य च त्रयोदश दिवसाश्चतुर्दशस्य च दिवसस्य पञ्चदश सप्तषष्टिभागा दशम्यां समाप्तायां भविष्यन्तीति। एवमन्यदपि भावनीयमिति ॥ ज्यो० ११ पाद०। च० प्र०। सू० प्र०।

अथपाद (य)-अथःपात्र-न०। लोहपात्रे, “अथपादाणि वा तवपादाणि वा” आचा० २ शु० ६ अ० ६ उ०।

अथमग्न-अजमार्ग-पुं०। द्रव्यमार्गभेदे, यत्र वस्येनाजेन गम्यते। तद्यथा-सुवर्णभूम्यां चारुदत्तो गतः ॥ सूत्र० १ शु० ११ अ० ॥

अथवीहि-अजवीधि-स्त्री०। हस्तचित्रास्वातीविशाखाऽनुराधापञ्चकुरुपमहाप्रहचारविशेषमार्गे, स्या० ए० ग०।

अयसी-अतसी-स्त्री०। मातृवकप्रसिद्धे धान्यविशेषे, (तीसी-अतसी) ज्ञा० ५ अ०। प्रच०। प्रज्ञा०। आ० म०। औ०। अन्त०।

जं०। रा०। उ०। को०। मङ्गधाम, त्र० ६ श० ७ उ०।
अयसीकुसुमप्यास-अतसीकुसुमप्रकाश-त्रि०। नीवे, ज्ञा० १ अ०। अन्त०। उपा०। रा०।

अयसीपुष्प-अतसीपुष्प-न०। धान्यविशेषस्य प्रसूने, उ० ३५ अ०।

अयसी (सि) वण-अतसीवर्ण-त्रि०। अतसीकुसुमवर्णे श्यामवर्णे, उ० १६ अ०।

अयहारि (ण)-अयोहारिन्-त्रि०। लोहस्याहर्तरि, सूत्र० १ शु० ३ अ० ४ उ०।

अयाकिवाणिज-अजाकृपाणीय-न०। ममोपरि कृपाणं पतिप्यतीत्यजा न वेत्ति, तथा सति अजागते कृपाणपतनरूपे अतर्कितोपस्थिते, आचा० १ शु० १ अ० १ उ०।

अयाकुच्छि-अजाकुक्षि-त्रि०। अजायाः कुक्षिरिव कुक्षिर्यस्य तदजाकुक्षि। उपा० २ अ०।

अयागर (न०)-अयत्राकर-पुं०। प्राकृतत्वाद्गुप्तकत्वम्। लोहाकरे, येषु निरन्तरं महासूपास्वयोदत्तं प्रक्षिप्याभ्य उत्पाद्यते। जी० ३ प्रति०।

अथाणत-अजानत्-त्रि०। अविदुषि, “पावस्स फलाविवागं अयाणमाणा वट्ठंति”। प्रज्ञा० १ सम्य० छा०।

अथावय-अजाव्रज-पुं०। अजाचाटके, “केइ पुरिसे अयासयस्स एगं महं अयावयं करेज्जा”। अ० १ ए० श० ३ उ०।

अथावयट्ठ-अथावदर्थ-पुं०। न यावदर्थः। अपरिसमाप्ते, दश० ५ अ० २ उ०।

अय्य-आर्य-पुं०। “न वा यो य्यः”। उ०। ४। २६६। इति ‘य्यं’ जागस्य य्यः। [अस्यार्थस्तु ‘अज्ज’ शब्देऽत्रैव भागे २०८ पृष्ठे कृष्यः] “अय्य! पशे खु कुमासे मलयकेदू”। आर्य! एष खलु कुमारो मलयकेतुः। प्रा० ४ पाद०।

अय्यउत्त-आर्यपुत्र-पुं०। “न वा यो य्यः”। ८। ४। २६६। इति शौरसेन्यां य्यस्य स्थाने य्यः। श्रेष्ठपुत्रे, नाटकसंबोधे नायकादौ, “अय्यउत्त! पस्याकुलीकदम्हि” आर्यपुत्र। पस्याकुलीकृताऽस्मि। प्रा० ४ पाद०।

अय्युण-अर्जुन-पुं०। “अय्यां यः”। उ०। ४। २६२। इति मागध्यां जस्य स्थाने यः। (‘अज्जुण’ शब्दे २२४ पृष्ठेऽत्रैवास्यार्थाः) प्रा० ४ पाद०।

अर-अर-पुं०। न०। अ-अर। चक्रनाजिनेम्योर्मध्यस्थे काष्ठे, शीघ्रे च। वाच०। न०। सर्वोत्तमे महासत्त्व-कुष्ठे य उपजायते। तस्याभिर्वृक्ष्ये वृद्धै-रसावर उदाहृतः”॥१॥ इति वचनाद्-अरः। तथा गर्जस्थेऽस्मिन् जनन्या स्वप्ने सर्वैरत्नमयोऽरो दृष्ट इति अरः। ध०२ अधि०। जम्बूद्वीपे नरतक्षेत्रे वर्त्तमानायामवसर्पिण्यां जाते सप्तमे चक्रवर्त्तिनि, स०। अष्टादशे तीर्थकरे, स०। आव०। ति०। स्था०। प्रच०।

सुमिणे अरं महरिहं, पासइ जणणी अरो तम्हा ॥४६॥
तथ सव्वे वि सव्वुत्तमे कुल्ले सुविक्किरा एव जायंति, विसेसो पुणो- (सुमिणे अरं महरिहं ति) गाहापच्छदं। गम्भगते माताए सुमिणे सव्वरयणमयो अइसुंदरो अइपमाणो जम्हा अरो दिट्ठो तहा अरो सि से णामं कंतं ति गाथार्थः ॥४६॥ आव० २ अ०। ज्ञा० चू०।

तत्र एकेनायनेन किं लभ्यम् ? । आह-राशित्रयस्थापना १०+१७
३०+१ । अत्रान्त्येन राशिना एकद्वयत्रयेन मध्यमस्य राशेशुणनेन ए-
केन च शुणितं तदेव भवतीति, जातान्यष्टादशशतानि त्रिशदधि-
कानि, तेषामाद्येन राशिना दशकलक्षणेन भागो द्वियते, त्रयं त्र्य-
शीत्यधिकं दिवसशनम् । एतावदकस्य दक्षिणस्योत्तरस्य परि-
माणम् । सम्प्रति तस्य दक्षिणस्यैवायनस्य परिज्ञानविषये कार-
काविधिं करणरूपं प्रकारं पूर्वाचार्योपदेशेन प्रतिपाद्यमानं गृणु ।

तत्र करणमाह-

मूरस्स अथणकरणं, पव्वं पन्नरससंगुणं नियमा ।

तिहिंसंखितं संतं, वावड्डीजागपरिहीणं ॥

तेसीयसयविभक्त-म्मि तम्मि लब्धं तु रुवमाण्जा ।

जइ लब्धं होइ समं, नायव्वं उत्तरं अथणं ॥

अह हवइ जागद्वधं, विसमं जाणाहि दक्खिणं अथणं ।

जे अंसा ने दिवसा, होति पवत्तस्स अथणस्स ॥

सूर्यस्यायनपरिज्ञानविषये करणमिदं, यद्यमाणमिति शेषः ।
तदेवाह-पर्वं पर्वसंख्यायानं पञ्चदशशुणं नियमात् कर्त्तव्यम् । कि-
मुक्तं भवति?—युगमध्यं विद्यत्तितदिनात् प्राग् यानि पूर्वाणि अ-
तिक्रान्तानि तत्संख्या पञ्चदशगुणा कर्त्तव्येति । ततः पर्वणा-
मुपरि यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्तास्तत्र संक्षिप्यन्ते । ततो (याव-
द्भागपरिमाणमिति) प्रत्यहोरात्रम् एकैकेन द्वापष्टिभागेन परि-
हीयमानेन ये निष्पन्ना अवमरात्रास्तेऽप्युपचाराद् द्वापष्टिभागा
इत्युच्यन्ते, तैः परिहीनं विधेयम् । ततस्तस्मिन् त्र्यशीत्यधिकेन शतेन
न विनके सति यत्त्रयं रूपमेकद्वयाधिकं तद् आदेयात्, गृहीयात्;
पृथक् स्थाने स्थापयेदित्यर्थः । तत्र यदि द्वयं समं तदा उत्तरा-
द्विरूपं प्रवर्तते, तदा उत्तरमयनमनन्तरमतीतं ज्ञातव्यम् । अथ
भवति भागं द्वयं विभक्तं, तदा जानीहि दक्षिणमयनमनन्तरम-
तीतम् । ये तु शेषा मंशाः पञ्चादशतिष्ठन्ते तत्कालं प्रवृत्तस्या-
यनस्य दिवसस्य दिवसा भवन्ति ज्ञातव्याः ॥ तथाहि-युगमध्ये
नवमासातिक्रमे पञ्चम्यां केनापि पृष्टम्-किमयनमनन्तरमतीतम् ?
किं वा साम्प्रतमयनं वर्तते ? इति । तत्र नयसु मासेषु अष्टादश
पक्षाणि, ततोऽष्टादश पञ्चदशीर्जगुण्यन्ते, जाते द्वे शते सप्तत्यधिके
२५० । नवमासानामुपरि पञ्चम्यां पृष्टमिति पञ्च तत्र प्रक्षि-
प्यन्ते, जाते द्वे शते पञ्चसप्तत्यधिके २५५, नयसु मासेषु च-
त्वारोऽवमरात्रा प्रवर्तन्ते, तथा ते चतुर्भिर्हीनाः क्रियन्ते, जाते
द्वे शते एकसप्तत्यधिकं २७१ । अस्य राशेस्त्र्यशीत्यधिकेन श-
तेन भागो द्वियते, त्रयं त्रयं रूपम्, शेषास्तिष्ठन्त्यष्टाशीतिः ।
तत आगतमिदमेकमयनमतीतं, तदपि च दक्षिणायनम् ।
साम्प्रतमुत्तरायणं वर्त्तते, तस्य चाष्टाशीत्यो दिवसो व्रजतीति,
तथा युगमध्ये पञ्चविंशतिमासातिक्रमे दशम्यां केनापि पृष्टम्-
क्रियन्त्ययनानि गतानि ? किं वाऽनन्तरमयनमतीतं ? किं वा सा-
म्प्रतमयनं वर्त्तते ? इति । तत्र पञ्चविंशतिमासेषु पञ्चाशत्पूर्वा-
णि, तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातानि सप्तशतानि पञ्चादश-
धिकानि ७५० । तत उपरितना दश प्रक्षिप्यन्ते, जातानि सप्त-
शतानि षष्ठ्यधिकानि ७६० । पञ्चविंशतिमासेषु वाऽ-
वमरात्रा अवमरं द्वादश, ते ततोऽपनीयन्ते, जातानि
सप्तशतानि अष्टादशतिशदधिकानि ७७८ । एतेषां त्र्य-
शीत्यधिकेन शतेन भागो द्वियते, त्रयं त्रयं रूपम्, शेषास्तिष्ठन्ति षोडश,
आगतानि चत्वार्ययनान्यतिक्रान्तानि,
चतुर्थं वाऽयनमनन्तरमतीतमुत्तरायणम् । सम्प्रति दक्षिणाय-

नस्यायनं मानस्य षोडशो दिवसो वर्त्तते इति । एवमन्य-
दपि भावनीयम् ।

साम्प्रतं चन्द्रगतस्य दक्षिणस्योत्तरस्य वाऽयनस्य परिमाणमाह-

तेरस य मंरुझाई, चउचत्ता सत्तसट्ठिभागा य ।

अथणेण चरइ सोमो, नक्खत्ते अफ्फमासेणं ॥

इह नक्षत्रमासार्धपरिमाणं चन्द्रायणम् । तत आह-नक्षत्र-
विषये योऽर्द्धमासस्ततस्तावत्परिमाणेनायनेन सोमश्चरति
तत्र त्रयोदश मासज्ञानि चतुर्धत्वारिंशत् सप्तपष्टिभागाः । किमुक्तं
भवति?—त्रयोदश अहोरात्राः, एकस्य च अहोरात्रस्य सत्काश्च-
तुर्धत्वारिंशत् सप्तपष्टिभागा दक्षिणस्योत्तरस्य वा चन्द्रायण-
स्य परिमाणमिति । कथमेतद्वचसीयते इति चेत् ? उच्यते-
इह नक्षत्रमासस्य परिमाणं सप्तविंशतिदिनानि, एकस्य च
दिनस्य सत्का एकविंशतिः सप्तविंशतिभागाः । तत एतस्यार्धे
यथोक्तं चन्द्रायणपरिमाणं प्रवर्तते । अथवा—युगे चन्द्रायणानां
चतुर्विंशदधिकं शतं भवति ; अहोरात्राणां च युगे अष्टादश
शतानि त्रिशदधिकानि । ततोऽत्र त्रैराशिककर्मावकाशः । यदि
चतुर्विंशतेन शतेन अहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिशदधिकानि
प्राप्यन्ते, तत एकेन चन्द्रायणेन किं प्राप्नुमः ? । राशित्रयस्थाप-
ना-१३४ + १८३० + १ । अत्र मध्यस्य राशेरन्त्येन राशिना
शुणने, एकेन च शुणितं तदेव भवतीति जातान्यष्टादशशता-
नि त्रिशदधिकानि १७३० । तेषामाद्येन राशिना चतुर्विंशद-
धिकशतरूपेण भागो द्वियते, त्रयं त्रयं रूपम्, शेषास्तिष्ठन्त्य-
ष्टाशीतिः । तत आद्यस्य राशेश्चतुर्धत्वारिंशत् गुणने जातानि अ-
ष्टपञ्चाशत् पणवत्यधिकानि ५८६६ । तेषां चतुर्विंशतेनाधिकेन
शतेन भागो द्वियते त्रयं त्रयं रूपम्, शेषास्तिष्ठन्त्यष्टाशीतिः ।

सम्प्रति चन्द्रायणपरिज्ञानमिदं करणमाह-

चंद्रायणस्स करणं, पव्वं पन्नरससंगुणं नियमा ।

तिहिंसंखितं संतं, वावड्डीभागपरिहीणं ॥

नक्खत्तअफ्फमासे-ण भागलब्धं तु रुवमाण्जा ।

जइ लब्धं हवइ समं, नायव्वं दक्खिणं अथणं ॥

अह हवइ जागद्वधं, विसमं जाणाहि उत्तरं अथणं

सेसाणं अंसाणं, ओसिस्सइ सो भवे करणं ॥

सत्तट्ठोएँ विनत्ते, जं लब्धं तइ हवति दिवसाओ ।

अंसा य दिवसभागा, पवत्तमाणस्स अथणस्स ॥

चन्द्रगतस्य दक्षिणस्योत्तरस्य वा अयनस्य परिज्ञानाय कर-
णमिदम्-यानि युगमध्ये पूर्वाण्यतिक्रान्तानि तत्पर्वसंख्यायानं प-
ञ्चदशभिर्गुण्यते, ततः पर्वणामुपरि यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्ताः
तत्र प्रक्षिप्यन्ते, ततो द्वापष्टिभागपरिहीनमवमरात्रपरिहीनं
क्रियते, ततो नक्षत्रमासार्धमासेन तस्मिन् भक्ते सति यद् लब्ध-
मेकद्वयादिकं तद् आदेयात्, पृथक् स्थाने स्थापयेदित्यर्थः ।
तत्र यदि द्वयं भवति समं तदा दक्षिणं चन्द्रायणमनन्त-
रमतीतमवसेयम् । अथ भवति भागलब्धं विभक्तं तदा उत्तरं
चन्द्रायणमनन्तरमतीतं जानीहि । इह युगस्यादौ प्रथमतः च-
न्द्रायणमुत्तरं, ततो दक्षिणायनमतोऽत्र समं भागे दक्षिणायनमन-
न्तरमतीतमवसेयम्, विषये द्वये उत्तरायणमिति । शेषास्तु अंशा
ये चत्वारिनास्तेषामंशानां सप्तपष्ट्या विभक्ते सति यद् लब्धं
तत् प्रवर्त्तमानस्यायनस्य प्रवर्त्तते दिवसाः, तत्राऽप्युच्यते अंशा
दिवसभागा ज्ञातव्याः । तथाहि-युगमध्ये नवमासातिक्रमे पञ्चम्यां

तत्सहनोपायमेवाऽऽह-

अरइं पिड्डओ किच्चा, विरए आयरक्खिण ।

धम्मारामे निरारंभे, उवसंते मुणी चरे ॥ १५ ॥

अरतिं पृष्ठतः कृत्वा विरतो हिंसादेः, आत्मा रक्षितो दुर्गति-
हेतोरपघ्नानादेरनेनेत्यात्मरक्षितः, आयो वा ज्ञानाद्विज्ञानो र-
क्षितोऽनेनेत्यायरक्षितः, धर्मे आरमते रतिमान् स्यात् इति ध-
र्मारामः । यद्वा-धर्मे एवानन्दहेतुतया पाल्यतया वाऽऽरामो ध-
र्मारामः, तत्र स्थितः, निरारम्भ उपशान्त एवंविधो मुनिश्चरेत्
संयमाच्च नि, न पुनरुत्पन्नारतिरपघ्नानेच्छुः स्यात् ॥ १५ ॥

अत्र पुरोहितराजपुत्रयोः कथा । यथा-अचञ्चपुरे जितशुचुनृपपुत्रः
अपराजितनामा रोहाचार्यपाश्वे दीक्षितः, अन्यदा विहरन् तग-
रां नगरीं गतः, तावता उज्जयिन्या आर्यरोहाचार्यशिष्यास्तद्वा-
गताः । पृष्टं साधुना तेन उज्जयिन्याः स्वरूपम् । तैरुक्तम्-सर्वं तन्न
वरम्, परं नृपपुत्रमात्यपुत्रौ साधुनुद्वेजयतः । ततो गुरुनापृच्छ
स्वप्नादव्यवधार्य शीघ्रमुज्जयिन्यां गतः, तत्र भिक्षावेद्यायां लोकै-
र्धार्यमाणोऽपि वाढस्वरेण 'धर्मलाम्' इति पठन् राजकुले प्र-
विष्टः, राजपुत्राभ्यामुपहासमाकारितः । अत्राग-
च्छत, वन्द्यते । ततः स गतः । ताच्यां उक्तम्-वेत्सि नर्ति-
तुम् ? । तेनोक्तम्-वाढम्, परं युवां वादयतं; तौ तादृशं वाद-
यितुं न जानीतः ततस्तेन तथा तौ कुट्टितौ पृथक्कृत-
हस्तपादादिसन्धिवन्धनौ, यथा अत्यन्तमारुष्टौ कुरुतः । तौ
तादृशवेच मुक्त्वा साधुरुपाश्रये समायातः । ततो राजा सर्वव-
लेन तत्राऽऽयातः, तमुपलब्धय प्रसादनाय तस्य पादयोः पपात ।
उवाच-स्वामिन् ! सापराधावपि इमौ सज्जीकार्यौ, अतः परम-
पराधं न करिष्यतः । साधुनोक्तम्-यदीमौ प्रयजतस्तदा मुञ्चा-
मि । राज्ञोक्तम्-एवमप्यस्तु । ततस्तौ प्रथमं लोचं कृत्वा प्रवा-
जितौ, तत्र राजपुत्रो निःशङ्कितो धर्मं करोति, इतरस्तु अमर्यं
वहति, अहं बलेन प्रवाजित इति चेतस्याद्वेगं वहति । परं पाद-
यित्वा द्वावपि चारित्रं शुद्धं मृत्वा तौ दिवं गतौ । अस्मिन्नवसरे
कौशाम्यां तापसश्रेष्ठ ! मृत्वा स्वगृहे शूकरो जातः, तत्र जातिस्मर-
णं प्राप्तवान्, सर्वं स्वसृतादिकुटुम्बं प्रत्यभिजानाति परं वक्तुं न
किञ्चित् शक्नोति स्म । अन्यदा सुतैरेव शूकरो मारितः, ततः स्व-
गृह एव सपौ जातः । तत्रापि जातिस्मरणवान्, पुनस्तैरेव मारितः,
ततः पुत्रपुत्रो जातः । तत्रापि जातिस्मरणमाप । स एवं चिन्तयति-
कथमेतां पूर्वजवधूं मातरमहमुल्लपामि; कथं चेमं पूर्वभवपुत्रं पि-
तरमहमुल्लपामि? इति विचार्य मौनमाश्रितो मूकव्रतभाग् जातः ।
अन्यदा केनाचित् चतुर्ज्ञानिना तद्दोषं ज्ञात्वा स्वाशेष्ययोर्मुखात्
गाथा प्रेषिता-“तावस ! किमिणा मूअ-व्वएण षड्विज्ज जाणिअं
धम्मं ? । मरिऊण सुअरोरग-जाओ पुत्तस्स पुत्तत्ति” ॥ १ ॥ एतां गाथां
श्रुत्वा प्रतिबुद्धो गुरुणां सुश्रावकोऽभूत् । एतस्मिन्नवसरे सोऽ-
मात्यपुत्रर्जिवदेवो महाविदेहे तीर्थङ्करसमीपे पृच्छति-जगवन् !
किमहं सुलभवोधिर्दुर्लभवोधिर्वा ? , इति प्रश्ने प्रोक्तं तीर्थङ्करे-
ण-“त्वं दुर्लभवोधिः कौशाम्यां मूकप्राता भावी” इति लब्धोत्तरः
स सुरो गतो मूकपाश्वे । तस्य बहु रुच्यं दत्त्वा प्रोक्तवान्-यदाऽहं
त्वन्मातृरुदरे उत्पत्स्ये तदा तस्या आन्नदोहदो भविष्यति, स
दोहदः साम्प्रतं महर्षितैः सदाफडाग्नफडैस्त्वया तदानीं
तस्याः पूर्णकार्यः । पुनस्त्वया तथाविधेयं यथा तदानीं
मम धर्मप्राप्तिः स्यात्, एवमुक्त्वा गतो देवः । अन्यदा
देवलोकात् च्युत्वा स देवस्तस्या गर्भे समुत्पन्नः, तस्या-

आन्नदोहदः समुत्पन्नो मूकेन पूर्वोक्तरीत्या पूरितः । पुत्रो जातः । मू-
कस्तु तं बालं बहुमपि करे कृत्वा देवान् साधून् चन्दापयति,
परं स दुर्लभवोधिः तान् दृष्ट्वा रटति । एवमावाहकात्वादपि
भृशं प्रतिबोधितोऽपि स न बुध्यते । ततो मूकः प्रवाजितो गतः
स्वर्गम् । अथ देवीभूतेन मूकजीवेन स दुर्लभवोधिर्बाहः प्रति-
बोधितो जलोदरव्यथावान् कृतः । वैद्यरूपं कृत्वा देवेन उक्तः-
अहं सर्वरोगोपशमं करोमि । जलोदरी वाक्कि-मम जलोदरोपशा-
न्तिं कुरु । वैद्यनोक्तम्-तवासाध्योऽयं रोगः, तथाऽप्यहं प्रतीकारं
करोमि, यदि मम पृष्ठे औपधकोत्थद्वकं समुत्पाद्य मयैव सहाग-
मिष्यसि । तेनोक्तम्-एवं भवतु । ततो वैद्येन स जलोदरी सज्जी-
कृतः समाधिभाग् जातः । ततस्तस्योत्पाटनाय औपधकोत्थद्वक-
स्तेन दत्तः । स तत्पृष्ठे जमन् तं कोत्थद्वकमुत्पादयति । देवमाय-
या स कोत्थलकोऽतिजारायान् जातः, तमतिप्रारं वहन् स
स्थिति, परं तमुत्सृज्य पश्चाज्जन्तुं न शक्नोति, मा मृत्पश्चाज्ज-
स्य मे पुनर्जलोदरव्यथेति विमर्शं कुर्वन् वैद्यस्यैव पृष्ठे कोत्थ-
द्वकं वहन् जमति । एकदा एकस्मिन् देशे साध्यायं कुर्वन्तः सा-
धवो दृष्टाः । तत्र तौ गतौ । वैद्यनोक्तम्-त्वं दीक्षां यदा गृहीष्यसि,
तदा त्वां मुञ्चामि । स जारज्ज्जो वक्त्रि-गृहीष्याम्येव । ततो वै-
द्येन अस्य दीक्षा दापिता । देवे च स्वस्थानं गते तेन दीक्षा
परित्यक्ता । देवेन पुनरपि तथैव जलोदरं कृत्वा वैद्यरूपधरेण पु-
नरसौ दीक्षां प्राहितः । पुनर्गते च देवे तेन दीक्षा त्यक्ता । तृ-
तीयवारं दीक्षां दापयित्वा वैद्यरूपो देवः सार्द्धं तिष्ठति स्थिरी-
करणाय । एकदा तृणभारं गृहीत्वा स देवः प्रज्ज्वलन्नामे प्रवि-
शति । ततस्तेन साधुनोक्तम्-ज्वलति प्रामे कथं प्रविशसि ? ।
देवेनोक्तम्-त्वमपि क्रोधमानमायालोभैः प्रज्वलिते गृहवा-
से वार्यमाणोऽपि पुनः पुनः कथं प्रविशसि ? । वैद्यरूपेण
देवेनैवमुक्तोऽपि स न बुध्यते । अन्यदा तौ अटव्यां गतौ । देवः
कण्टकाकुले मार्गे चरति । स प्राह-कस्मादुन्मार्गेण यासि ? ।
देवेनोक्तम्-त्वमपि विशुद्धं निर्मलं संयममार्गं परित्यज्य आधि-
व्याधिक्येण कण्टकाकारिणं संसारमार्गं कस्माद् यासि ? । एवं देवे-
नोक्तोऽपि स न बुध्यते । पुनरेकस्मिन् देवकुले तौ गतौ । तत्र यज्ञ
ईप्सितपूजापूज्यमानोऽपि पुनः पुनरधोमुखः पतति । स कथयति-
अहो ! यज्ञस्य अधमत्वं, यत्पूज्यमानोऽप्यधोमुखः पतति । दे-
वेनोक्तम्-त्वमप्येतादृशोऽधमः, यद्वन्द्यमानः पूज्यमानोऽपि त्वं पुनः
पुनः पतसि । ततः स साधुर्वाक्कि-कस्त्वम् ? । देवेन मूकस्वरूपं द-
र्शितं, पूर्वभवसम्बन्धश्च कथितः । स वक्त्रि-अत्र कः प्रत्ययः ? ।
ततो वैताड्ये चैत्यवन्दापनार्थं देवेनाऽसौ प्रापितः । तत्रैकस्मिन्
सिंहायतनकोणे दुर्लभवोधिदेवेन स्ववोधाय मूकविदितं स्व-
कुरल्लयुगलं स्थापितमभूत् । तत्तदानीं दर्शितं, ततस्तस्य
जातिस्मरणं जातं; तेनाऽस्य चारित्रे दृढताऽभूत् । अस्य पूर्व-
मरतिः, पश्चाद् रतिः । उक्तं १ अ० ।

अरइपरि(री)सहविजय-अरतिपरि(री) सहविजय-पुं० । अर-
तिपरित्यजने, पं० सं० । सूत्रोपदेशतो विहरतस्तिष्ठतो वा क-
दाचनापि यद्यरतिरुत्पद्यते तदाऽपि स्वाध्यायध्यानप्रावरणरूप-
धर्मारामरतत्वेन यदरतिपरित्यज्जनं सोऽरतिपरिहविजयः ।
पं० सं० ४ द्वार ।

अरइमोहणिज्ज-अरतिमोहनीय-न० । नोकपायभेदे, यदुदया-
त्सनिमित्तमनिमित्तं वा जीवस्य बाह्यान्त्यन्तेरपु वस्तुष्वप्रीति-
र्भवति । कर्म० १ कर्म० ।

अरजिनचरित्रं त्वित्थम्—
सागरतं चङ्गा णं, जरहं नरवरीसरो ।

अरो य अर्यं पत्तो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४० ॥

च पुनः, अरो अरनामा नरवरोम्बरः सप्तमचक्री सागरान्तं स-
मुद्रान्तं भरतक्षेत्रं पदस्रष्टराज्यं त्यक्त्वा भरजस्त्वं प्राप्तः सन्
अनुत्तरां गतिं सिद्ध्यति प्राप्तः, मोक्षं गत इत्यर्थः। चक्रीभूत्वा नी-
र्यैकरपदं श्रुत्वा मोक्षं गत इत्यर्थः। अत्र अरनाथदृष्टान्तः। अ-
रनाथवृत्तान्तस्तुत्तराध्ययनवृत्तिद्वयेऽपि नास्ति, तथापि ग्रन्था-
न्तरालिख्यते—प्राग्विदेहविजृम्भणे मङ्गलाधतीविजये रत्नसञ्चया
पुरी अस्ति। तत्र मदीपात्रनामा भूपाडोऽस्ति स्म, प्राज्यं
राज्यं हृद्रे स्म। अन्यदा गुरुमुखार्द्धम् भूत्वा स वैराग्यमागतः,
स तुणमिव राज्यं त्यक्त्वा दीक्षां लब्धः। गुर्वन्तिके एकादशाहानि
अध्याय गीतार्थो बभूव। यदुवत्सरफोटीः स संयममाराध्य
विशुद्धविशतिस्थानकैरदंशमकर्म बबन्ध। ततो मृत्वा स-
र्वार्थसिद्धिमानो देवो बभूव। ततश्च्युत्वा इह भरतक्षेत्रे इस्ति-
नागपुरे सुदर्शननामा नृपो बभूव। तस्य राज्ञी देवीनाम्नी ब-
भूव। तस्याः कुक्षौ सोऽवततार। तदानीं रेवतीनक्षत्रं यजुषः।
तया चतुर्दश स्वप्ना दृष्टाः। ततः पूर्णेषु मासेषु रेवतीनक्षत्रे तस्य
जन्म बभूव। जन्मोत्सवस्तदा पट्पञ्चाशद्विक्रमाकारिभिः
चतुष्पादिसुरैर्निर्मितः, ततः सुदर्शनपञ्चापि स्वपुत्रस्य जन्मो-
त्सवं विशेषाचकार। अस्मिन् गर्भगते मात्रा प्रौढो रत्नमयोऽरः
स्वप्ने दृष्टः। ततः पित्राऽस्य 'अर' इति नाम कृतम्। देवपरि-
वृतः स वयसा गुणैश्च वर्कते स्म। एकविंशतिसहस्रवर्षेषु अर-
कुमारस्य पित्रा राज्यं दत्तम्, एकविंशतिवर्षसहस्राणि यावत्तत्त्वं
श्रुत्वा ततः स राज्यादेशे चक्ररत्नं समुत्पद्य, ततो भरतं संसा-
ध्य एकविंशतिसहस्रवर्षाणि यावदाकालं चित्यं वृष्टुजे। ततः स्वा-
मी स्वयं बुकोऽपि लोकाण्तिक्षेत्रेषु भित्तो वार्षिकं दानं दत्त्वा
चतुष्पादिसुरैर्दत्तस्थितो वैजयन्त्याख्यां शिविकामारुढः सहस्रा-
श्रयणे सहस्रराजभिः समं प्रशजितः। ततश्चतुर्दशानां भसौ श्री-
णि वर्षाणि वृष्टस्थो विहृत्य पुनः सहस्राश्रयणे प्राप्तः। तत्र शु-
क्लध्यानेन चत्वारिंशत्कर्माः केवलज्ञानं प्राप। ततः सुरैः
समवसरणे कृते स्वामी योजनगामिना शब्देन देशनां चका-
र। ते देशनां भूत्वा केऽपि सुभावका जाताः, केऽपि च प्रश-
जिताः। तदानीं कुम्भनृपः प्रजय प्रथमो गणधरो जातः।
अरनाथस्य पण्डितहस्ताः साधवा जाताः, साधव्यः स्वामि-
नस्तावत्प्रमाणा एव जाताः। भावकाश्चतुर्दशतिसहस्राधि-
कलकत्रयमाना बभूवुः। समेतशैलशिखरे मासिकाऽनशनेन भ-
गवाच्चिद्वृतः। देवैर्निर्वाणोत्सवो भृशं कृतः ॥ उक्तं ॥ १८ अ०।
“अरे णं अरहा दीसं धणू उहुं उच्चत्तेणं होत्था” ॥ स० ३०
सम०। कल्प०। अग्नौ, जै० गा०। (अस्यान्तरं 'अंतर' शब्दे-
ऽस्मिन्नेव मार्गे ६६ पृष्ठे प्रदर्शितम्)।

अरइ—अरति—स्त्री०। रमणं रतिः—संयमविषया धृतिः, तद्वि-
परीता त्वरतिः। उक्तं २ अ०। संयमविषयेऽर्थैः, उक्तं ३ अ०। सं-
यमेद्विनितायाम्, आचा० १ भु० ६ अ० ३ उ०। उल्लेखलक्ष-
णे मोहनीयोदयजे चित्तविकारे, आ० १ उ० १ उ०। सूत्र०।
दश०। दशा०। वातादिजन्मे चित्तोद्वेगे, उक्तं ११ अ०। अ-
मनोऽपु शब्दादिविषयेषु संयमे वा जीवस्य चित्तोद्वेगे, वृ०
१ उ०। सूत्र०। अग्निष्टसंप्रयोगसंप्रवे मनोदुःखे, प्रव० ४१
द्वार। इष्टप्राप्तिविनाशोत्थे मानसे विकारे, आचा० १ भु० ३
अ० १ उ०। सूत्र०। स०।

अरइ आउटे से मेहावी

रमणं रतिस्तदभावोऽरतिः, तं पञ्चविधाचारविषयां मोहोदया-
त्कयायामिष्वङ्गजनितां मातापितृकलत्राश्रयापितां, (स इति)
अरतिमान्, मेहावी विदितासारसंसारस्वभावः सन्, आवर्तत
निवर्तयेदित्युक्तं भवति। संयमे चारतिर्न विषयान्निष्वङ्गमुते,
कण्डरीकस्थेव, इत्यत इदमुक्तं प्रवर्ति—विषयान्निष्वङ्गे रतिं
निवर्तत। निवर्तनं चैवमुपजायते—यदि दशविधचक्रवाहसा-
माचारीविषया रतिरुत्पद्यते, पौरुषरीकस्थेवोति, ततश्चेदम-
न्युक्तं प्रवर्ति—संयमे रतिं कुर्वीत, तद्विहितरतेस्तु न किञ्चि-
द्वाधायै नापीहापरस्तुलोचरबुद्धिरिति। आह च—

“कितितलशयनं वा प्रातमिक्काऽशने वा,
सहजपरिजवो वा नीचदुर्भाषितं वा।

महति फलविशेषे नित्यमभ्युद्यतानां,
न मनसि न शरीरे दुःखमुत्पादयन्ति” ॥ १ ॥

“तणसंधारणिसस्यो, विमुणिवरो जठरागमयमोहो।

जं पावइ सुत्तिमुहं, कत्तो तं चक्कवट्ठी वि” ॥ १ ॥ आचा० १
भु० १ अ० १ उ०।

“अरइ च वोसिरे” अरतिं चानभिमतकैवादिविषयां व्यु-
त्सृजामि। आनु०।

अरइकम्म—अरतिकर्मन्—न०। नोकपायवेदनीयकर्मभेदे, यदुद-
यात् सच्चिदाचिच्छेषु ग्राह्यव्येषु जीवस्यारतिरुत्पद्यते।
आ० ९ उ०।

अरइकारग—अरतिकारक—त्रि०। अरतिजनके, दश० १ चू०।

अरइपरि (री) सह—अरतिपरि (री) सह—पुं०। रमणं रतिः
संयमविषया धृतिः, तद्विपरीता त्वरतिः, सैव परीषहः, अर-
तिपरीषहः। उक्तं २ अ०। अरतिमोहनीयजो मनोविकारः,
सा च परीषहः, तन्निषेधेन सहनादिति। भ० ८ शृ० ८ उ०।
विहरतस्तिष्ठतो वा यद्यरतिरुत्पद्यते तत्रोत्पन्नारतिनाऽपि स-
म्यग्धर्मारामरतेनैव संसारप्राप्तमालोक्य भवितव्यम्। परी-
षहभेदे, आव० ४ अ०।

“गच्छंस्तिष्ठन्निषयो वा, नारतिप्रवणो भवेत्।

धर्मारामरतो नित्यं, स्वस्थचेता जवेन्मुनिः” ॥ १॥ आ० भ० द्वि०।
न कदाऽप्यरतिं कुर्याद्, धर्मारामरतिर्यतिः।

गच्छंस्तिष्ठंस्तथाऽऽसीनः, स्वास्थमेव समाभयेत्” ॥ १ ॥
अ० ३ अधि०।

अरतिपरीषहमाह—

गामाण्णायं रीयंतं, अणगारं अकिंचणं।

अरइ अणुप्पविसे, तं तितित्त्वे परीसहं ॥ १४ ॥

ग्रामसुखम्—असते बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः। स च जिगमिषि-
तः, अनुग्रामश्च तन्मार्गानुकूलः, अननुकूलगमने प्रयोजनाप्रावा-
त्, ग्रामानुग्रामम्। यद्वा—ग्रामश्च स एव अनुग्रामश्च तम्। अथवा
ग्रामानुग्राममिति रुढिशब्दत्वादेकस्माद् ग्रामाद्व्याप्नुग्रामः।
ततोऽपि ग्रामानुग्राममुच्यते। नगराद्युपलक्षणमेतत्—ततो नग-
रादींश्च। किमित्याह—(रीयंतं ति) व्यत्ययाद्गीयमाणं विहरन्तम्,
अनगारमुक्तस्वरूपम्, अकिञ्चनं नास्य किञ्चन प्रतिबन्धास्पदं
धनकनकाद्यस्तीत्यकिञ्चनो निष्परिग्रहः, तथाचूतम्, अरतिरुक्-
रूपा, अनुप्रविशेन्मनसि लब्धाऽऽस्पदा भवेत्, (तमिति) अरति-
स्वरूपं, तितिकेत्य सहेत, परीषहमिति सूत्रार्थः।

अरहंते सिद्धे आयरिण उवज्जाए साहवो जत्थ । एएसिं
चेव गन्नत्थसवभावो इमो । तं जहा-सनरामासुरस्स एं
सव्वस्सेव जगस्स अट्टमहापाडिहाराए पूयाए समोवद्वाक्खियं
अणनसरिसमार्चितमाहणं केवलाहिडियं पवरुचयत्तं ॥

(अरहंते चि) अरहंता असेसकम्मकल्पणं णिद्वज्जवकु-
चाओ न पुणो हि ज्वंति, जम्मंति, उवज्जंति वा, अरहंता
वा णिम्महियनिहयनिहलियविल्लुयनिहवियअज्जिस्सुदुज्जा-
या ॥ महा० ३ अ० । आ० । प्रव० । दश० । त्रिभुवनपूजा-
योग्येषु तीर्थकरेषु ऋषभादिषु, कल्प० १ त्त० । आजीवि-
ककल्पनया गोशालकोऽप्यहं, अत एव तेऽहं देवताका इत्युच्य-
न्ते । “अरहंतदेवयागा” गोशालकस्य तत्कल्पनयाऽहंत्वात् ।
भ० ८ श० ५ उ० । “जो जाणइ अरहंते, दव्वत्तगुणत्तपज्जव-
त्तेहि । सो जाणइ अप्पाणं, मोहो खलु जाइ तस्स लयं” ॥१॥नं० ।
अरहोऽन्तर-न० । अविद्यमानं रह एकान्तरूपो देशोऽन्त-
र्य मध्यं गिरिगुहादीनां सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्र-
च्छन्नत्वस्याभावेन येषां ते अरहोन्तरः । अहंस्तु जिनेषु,
भ० २ श० १ उ० ।

अरथान्त-पुं० । अविद्यमानो रथः स्यन्दनः सकलपरिग्रहो-
पलक्षणभूतः, अन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां तेऽर-
थान्ताः । न० १ श० १ उ० ।

अरहयत्-पुं० । कचिदप्यासक्तिमगच्छत्सु क्षीणरागत्वात् प्रकृष्ट-
रागादिहेतुचूतमनोहेतरविषयसंपर्कोऽपि वीतरागत्वादिकं स्व-
भावमत्यजत्सु जिनेषु, भ० १ श० १ उ० ।

अरहंतमग्गामि (ए)-अर्हन्मार्गगामिन्-त्रि० । अर्हद्वपदि-
ष्टेन मार्गेण गन्तुं शीलं यस्य । जैने साधौ, “अरहंतमग्गामि-
मी, दिठ्ठो साहुणो वि समाचिन्ता । पागरपसु गिहसिं । पसंते
अवहमाणा उ” ॥ १५१ ॥ दश० १ अ० ।

अरहंतद्वष्टि-अर्हद्वष्टि-स्त्री० । द्वष्टिजेदे, ययाऽहंत्वं स-
मवाप्नोति । प्रव० २७० द्वार ।

अरहद-अरघद-पुं० । घटीयन्त्रे, “जम्मखमरणारदहे,
जिच्छूण भवा विमुचिहिसि” । आतु० । आव० ॥

अरहस्य-अरहन्नत-पुं० । अर्हन्मित्रभ्रातरि, ग० ।

तद्वृत्तं चेत्यम्-

क्षितिप्रतिष्ठितं नाम, पुरं द्वौ तत्र सोदरौ ।

अर्हन्नतोऽर्हन्मित्रश्च, ज्येष्ठभार्या लघौ रता ॥ १ ॥

लघुर्नैच्छति तां चाऽऽह, भ्रातरं मे न पश्यसि ।

पतिं व्यापाद्य सा भूय-स्तमूचे न त्वमंस्त सः ॥ १ ॥

निर्वेदेनाऽथ तेनैव, स बहुव्रतमाददे ।

तद्रक्ता साऽपि मृत्वाऽभूद्, ग्रामे काप्यर्चितः शुनी ॥ ३ ॥

साधवोऽपि ययुस्तत्र, शुन्याऽर्क्षिं मुनिः स च ।

तदैवाऽऽगत्य सा श्लेष्, मुहुर्भर्तुरिवाऽकरोत् ॥ ४ ॥

नष्टः साधुर्मृता साऽथ, जाताऽऽख्यां च मर्कटी ।

तस्या एव च मध्येना-ऽऽख्या यातां कथञ्चन ॥ ५ ॥

अन्तर्मुनीनां तं वीक्ष्य, प्रेम्णा शिश्लेप मर्कटी ।

तां विमोच्याऽथ कष्टेन, स कथञ्चित्पलायितः ॥ ६ ॥

मृत्वा तत्रापि सा जज्ञे, यक्षी तं प्रेक्ष्य साऽवधेः ।

नैच्छन्मामेय वच्छिन्ना-शीकृते न त्वधैक्षत ॥ ७ ॥

समानवयसोऽवोचन्, हसन्तस्तं च साधवः ।

त्वमर्हन्मित्र ! धन्योऽसि, यच्छुनीमर्कटीप्रियः ॥ ८ ॥

अन्यदा क्रमणावह्वयं जववाहं विलाह्नुतुम् ।

प्रमादाकृतिप्रेदेन, पदं प्रासारयन्मुनिः ॥ ९ ॥

तस्य तच्छिन्नासाध, सा चिच्छेदाह्निमूरुतः ।

स मिथ्याहुक्तं जल्प-अपतत्तज्जहाह्विः ॥ १० ॥

सम्यग्दृष्टिः सूरि तां च, निर्धातव्यं तं मुनेः क्रमम् ।

तथैवालगायद् भूयां, देवताऽतिशयेन च ॥११॥ ग० २ अधि० ।

आ० म० । आ० चू० ।

अरहन्नक-पुं० । तारानगर्यामर्हन्मित्राचार्यपाश्वे प्रव्रजितया
दत्तवणिग्मार्याया सह प्रव्रजिते पुत्रे, वत्त० २ भ० । (स चोष्णपरी-
पहमसहमान उत्प्रव्रजित इति ‘उहपरीसह’ शब्दे द्वितीयभागे
७५४ पृष्ठे वक्ष्यते) चम्पानगरीवासिनि देवदत्तकुण्डलपुगलं
मल्लीनाथाय समर्पके स्वनामस्वाते सांयान्निकवणिजि, ज्ञा० ।

अर्हन्नकथा-

तत्थ णं चंपाए णयरीए अरहस्यपामोक्खा वहवे संजत्ता
णावावाणियगा परिवसंति अह्मा जाव अपरिभूया । तए
णं मे अरहएणगे समणोवासगे यावि होत्था अभिगय-
जीवाजीवे । वएणओ-तए णं तेसिं अरहस्यपामोक्खाणं
संजत्तानावावाणियगाणं अएणया कयाइ एगओसहिया-
णं इमेया रुवे मिहो कहासंलावे समुप्पज्जेत्था । सेयं खट्ठ
अम्हं गणिमं च धरिमं च मेज्जं च परिच्छेज्जं च जंरुं
गहाय देवणसमुहं पोयवहणेण उवगाहितए त्ति कट्ठ अस्स-
मएणस्स एयमहं पमिसुणेति, पमिसुणेइत्ता गणिमं च ४
गियहेइ, गियहेइत्ता सगढी-सागरुं सज्जेति, सज्जेतित्ता
गणिमस्स ४ भंरुस्स सगढी-सागरुं जंरुति, भंरुइत्ता
सोहणंसि तिहिकरणक्खत्तमुहुत्तंसि विउहं असणं पाणं
खाइमं साइमं उवक्खनावेइ, उवक्खनावेइत्ता मित्तणाइजो-
अणवेलाए जुंजावेति० जाव आपुच्छेति, आपुच्छेइत्ता ग-
णिमस्स ४ जाव सगढी-सागरुं जंरुति, जंरुतित्ता चं-
पाए णयरीए मज्जं मज्जेणं णिगच्छेति, णिगच्छेइत्ता
जेणेव गंजीरपोयपट्टणए, तेणेव उवागच्छति, उवागच्छ-
इत्ता सगढी-सागरुं जंरुति, जंरुतित्ता जंरुति, जंरुति-
इत्ता गणिमस्स ४ जाव चउव्विहस्स भंरुस्स जंरुति, तं-
दुद्धाण य समियस्स य तेहस्स य धयस्स य गुहस्स य
गोरसस्स य उदगस्स य भायणाण य ओसहाण य भेसजा-
ण य तणस्स य कट्ठस्स य आवरणाण य पहरणाण य
अएणंसि च वहूणं पोयवहणपाउगाणं दव्वाणं पोयवहणं
भरोति, जंरुइत्ता सोहणंसि तिहिकरणक्खत्तमुहुत्तंसि वि-
उहं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खनावेति, मित्तणाइं
आपुच्छंति, जेणेव पोयट्टाणे, तेणेव उवागच्छति, उवाग-
च्छतित्ता तए णं तेसिं अरहस्यपामोक्खाणं वाणियगाणं

अरइरइ-अरतिरति-स्त्री० । मोहनीयोदयाच्चित्तप्रतिः । इति द्वन्द्वः । कटप० ६ क० । रत्यरत्योर्द्वन्द्वे, " एगा अरतिरति । " । अरतिश्च तन्मोहनीयोदयजम्बिचविकार उद्वेगवृत्तयः, रतिश्च तथा-विधानन्दरूपा; अरतिरति इत्येकमेव विचक्षितम्, यतः कचन विषये या रतिस्तामेव विषयान्तरापेक्षया अरतिं व्यपदिशन्ति, एवमरतिमेव रतिश्च, इत्यौपचारिकमकत्वमनयोरस्तीति । (समा० स० न०) रत्यरत्योरेकतायाम्, स्था० १ ग० १ उ० ।

अरइरइसह-अरतिरतिसह-पुं० । अरतिरती सहते इत्यरति-रतिसहः । रत्यरत्योर्हर्षविषादावकुपाणे, कटप० ५ क० ।

अरइसमावणचिन्त-अरतिप्रमापन्नाचिन्त-त्रि० । संयमे उद्वेगगताभिप्राये, दश० १ चू० ।

अरंजर-अरञ्जर-न० । लञ्जरमिति प्रसिद्धे उदककुम्भे, स्था० ६ ग० ।

अरकसरी-(अरक्षापुरी)-स्त्री० । चन्द्रच्यजनृपपञ्चिते स्थनामख्या-ते प्रत्यन्तनगरे, " ततः प्रत्यन्तनगरे, अरकसरीति नामनि । अस्ति माण्डलिकस्तत्र, जिनचन्द्रच्यजाभिधः " ॥ १४ ॥ ग्रा० क० । आ० चू० । आब० ।

अरगाउत्त-अरकायुक्त-त्रि० । अरकैरभिधिधनाऽन्यते, म० ३ श० १ उ० ।

अरगाउत्तासिय-अरकोत्तासित-त्रि० । अरका उत्तासिता आस्फासिता यत्र । आस्फासिनाऽरके, म० ३ श० १ उ० ।

अरञ्जुपपास-अरञ्जुकपाश-पुं० । रञ्जुकं विना कण्ठे, तं० ।

अरजिजय-अरहित-त्रि० । निरन्तरे, " अरजिजयाभिताया तद् वो तर्षित " अरहितो निरन्तरोऽजितायो दाहो येषां तेऽर-हिताभितायाः । सूत्र० १ ध्रु० ५ अ० १ उ० ।

अराणि-अराणी-पुं० । अग्न्यर्थे निर्मेयनीयकाष्ठे, नि० ३ वर्ग । विशेष० । आय० । ज्ञा० । " अराणि महिऊण अग्निं पामेइ " आ० म० द्वि० । " अतिथिं णं घाणसदगया अराणिसदगया " । अराणिरग्न्यर्थे निर्मेयनीयकाष्ठं तेन सह गतो यः स तथा । म० २५ श० ८ उ० ।

अराणिया-अराणिका-स्त्री० । स्कन्धबीजवनस्पतिभेदे, आ-चा० १ ध्रु० १ अ० ५ उ० ।

अरक्ष-अरक्ष-न० । कान्तारे, स्था० १ ग० १ उ० । उत्त० । आब० । निर्वने, अष्ट० ४ अष्ट० । वने, उत्त० १४ अ० ।

अरक्षवर्तिसग-अरण्यावर्तसक-न० । एकादशदेवब्रह्मकवि-मानभेदे, स० १२ सम० ।

अरत्त-अरत्त-त्रि० । रागरहिते, आचा० १ ध्रु० ३ अ० २ उ० ।

अरत्तपुट-अरत्तपुट-न० । रागद्वेपरहिते, दर्श० । ध० २० ।

अरय-अरक-पुं० । अवसर्पिण्युत्सर्पिणीवृक्षस्य काष्ठचकस्य सुषमसुषमाऽऽदिरूपे द्वादशे प्रागे, ति० । अरशब्दार्थे, आ० म० द्वि० । अरकाणां परस्परसादृश्यं यथा- " कुकुडुगि हरिरम्भयदुगि, हेमवपरवडुगि विदेहे ॥ कमसो सयाऽवसपिणि, अरय-चउकाइ समकावो " ॥ १०८ ॥ लघुकेवलसमासप्रकरणे ।

अरजम्-त्रि० । स्वाभाविकरजोरहिते, स० । कल्प० । प्रज्ञा० । रजोशुणकामोधादिशून्ये, धूलीशून्ये च । वाच० । त्रयःसप्त-तितमे महाप्रहे, ' दो अरया " स्था० २ ग० ३ उ० । च० १० । कल्प० । सू० १० । ब्रह्मलोकस्यविमानप्रस्तदभेदे, न० । स्था० ६ ग० । कुमुदविजयस्यराजधान्याम्, " कुमुदे विजये अरजा राजधानी " । जं० ४ वक्र० । रजसोऽभावे (अग्न्य० न०) उत्त० १८ अ० ।

अरत्त-त्रि० । आरम्भनिवृत्ते, निर्ममत्वे च । आचा० १ ध्रु० ५ अ० ३ उ० । सूत्र० ।

अरयंवरवत्थधर-अरजोऽम्बरवत्थधर-त्रि० । अरजांसि रजो-रहितानि च तानि अम्बरवत्थाणि स्वच्छतयाऽऽकाशकल्पव-सनान्यरजोऽम्बरवत्थाणि, तानि धारयतीति यः स तथा । तथाविधवत्थधारके देवादौ, म० ३ श० २ उ० । उत्त० । प्र-ज्ञा० । जं० ।

अरयणि-अरनि-पुं० । वितताङ्गुली करे, स्था० ४ ग० ४ उ० ।

अरविन्द-अरविन्द-न० । पद्मविशेषे [कमले,] आ० म० प्र० । प्रज्ञा० । " पुष्पेस्तु वा अरविन्दं पहाणं " । सूत्र० १ ध्रु० ६ अ० । स्था० ।

अरस-अरस-न० । अविद्यमानाहार्यरसे हिङ्गवादिभिरसं-स्कृते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । अप्राप्तरसे, द० ५ अ० २ उ० । ज्ञा० । म० । औ० ।

अरसजीवि (ण)-अरसजीविन्-पुं० । अरसेन जीवितुं शी-लमाजन्माऽपि यस्य स तथा । अरसाऽऽहारे, स्था० ५ ग० १ उ० ।

अरसाल-अरसाल-त्रि० । विरसे, ' अरसालं पि भोषणं सुजं गंधजुत्तं " । नि० चू० २ उ० ।

अरसाहार-अरसाहार-पुं० । अरसं हिङ्गवादिभिरसंस्कृतमाहा-रयन्तीति; अरसो वाऽऽहारो यस्यासावरसाहारः । तथाविधा-भिग्रहविशेषधारके, स्था० ५ ग० १ उ० । ज० । औ० ।

अरह-अरहस्-पुं० । न विद्यते रह एकान्तो गोप्यमस्य, सकल-सन्निहितव्यवहितस्फूर्तसूक्ष्मपदार्थसार्थसाक्षात्कारित्वात्, इत्य-रहाः । स्था० ४ ग० १ उ० । न विद्यते रहो विजनं यस्य सर्व-ज्ञत्वादसावरहाः । स्था० ६ ग० ।

अर्हत्-पुं० । अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हतीत्य-र्हत् । पा० । कल्प० । स्था० । उत्त० । अशोकादिप्रातिहार्यपूजा-योग्ये. कल्प० ६ ज० । सूत्र० । इन्द्रादिभिः पूज्ये, उत्त० ६ अ० । तीर्थकृति, सूत्र० १ ध्रु० ६ अ० । जिते, स्था० ३ ग० ४ उ० । " तत्रो अरहा पञ्चत्ता । तं जहा-ओहिनाणअरहा, मणपञ्जव-णाणअरहा, केवलणाणअरहा " । स्था० ३ ग० ४ उ० ।

अरहंत-अर् (र) हत्-पुं० । अर्हन्ति देवादिकृतां पूजा-मित्यर्हन्तः । अथवा नास्ति रहः प्रच्छन्नं किञ्चिदपि येषां प्रत्यक्षज्ञानित्वात्तेऽरहन्तः । शेषे प्राग्वत् । एते च सत्तेषा अपि भवन्तीति । स्था० ३ ग० ४ उ० । अमरवरनिर्मिताऽशोकादि-महाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः । अविद्यमानरहस्येषु, अनु० । दशा० १ अ० । पं० सू० ।

ते परियणो जाव ताहिं इडाहिं कंताहिं जाव वग्गुहिं अ-
भिणंदंता य अभिसंधुयमाणा य एवं वयासी-अज्ज ! ताया !
भाय ! माउल ! जाइणेज्ज ! जगवया समुहेणं अभिरक्खि-
ज्जमाणा चिरं जीवहं, भदं च जे; पुणरवि लब्धे कयक-
ज्जे अणहसमगे णियगं घरं हव्वमागए पासामो चि
कट्ट ताहिं सोमाहिं णिष्ठाहिं दीढाहिं सपिवासाहिं
पप्पुयाहिं दिट्ठीहिं णिरिक्खमाणा मुहुत्तमेत्तं संचिहंति,
तओ समाणिप्पसु पुप्फवलिकम्पेसु दिष्सेसु मरसरचचंद-
णदहरपंचंगुदित्तोसु अणुक्खिचंति धुवंति पुइएसु समु-
हवाएसु तंमारियासु वज्जयवाहासु ऊसिप्पसु सिप्पसु ज्ज-
यग्गेसु परुप्पवाइएसु त्रेसु जइएसु सव्वमउण्णसु गहिप्पसु
रायवरसानेणसु माहिया उक्कट्टसीहणायां जाव रवेणं
पक्खुभियमहासमुद्धरवच्चं पि व मेइणिं करेमाणा एगदिसिं
जाव वाणियगा पोयणेसु उरुद्धा तओ पुत्तमाणावो वक्कं समु-
दाहु । इंभो ! सव्वेसामवि भे अत्थासिच्छओ उवट्ठियाइं कट्ठा-
णाइं, पडिइयाइं मव्वपावाइं, जुत्तो पुत्तो विजयमुहुत्तो अयं
देनकाओ, तओ पुत्तमाणाए एं वक्के उदाहरिए इट्ठु-
ट्ठे कणधारकुच्चिधारगम्भिज्जसंजत्ताणावावाणियगा वाव-
रिंसु तं एावं पुणुच्चंणं पुणुमुहिं वंधणाहिंतो मुचंति ।
तए एं सा एावा विमुक्कबंधणा पवणवज्जसमाहया ऊसि-
यसियपक्का विततपक्खा इव गरुडजुवई गंगासलिलति-
क्खतोयवेगेहिं संखुब्भमाणी संखुब्भमाणी उम्मीतरंगमाद्या-
मट्टसाइं समइक्कमाणी समइक्कमाणी कइवएहिं अहोरचेहिं
हवणसमुहं अणेगाइं जोयणसयाइं ओगाढा । तए एं
तेसिं अरहएणपामोक्खणं वाणियगाणं लवणस-
मुहं अणेगाइं जोयणसयाइं ओगाढाणं सभाणाणं बहुइं
उप्पाइयसयाइं पाउव्चूयाइं । तं जहा-अकाळे गज्जिए
अकाळे विज्जुए अकाले थणियमहे अभिक्खणं आजि-
क्खणं आगासे देवतया णच्चंति । एगं च एं महं पिनायरूवं
पासंति-तालजंघं दिवंगयाइं वाहाहिं मसिमूसगमहिमका-
ह्मं भरियमेहवखं हवोहं णिगयगदंतं निद्धाद्वियगजमव-
जुअलगीहं आऊसियवयणंगरुदेसं चीणचिविरुनासिगं वि-
गयज्जुग्गभमुहिं खज्जोयगदिचक्खुरागं उत्तासणं विसा-
लवच्चं विसालकुच्चिं पलंवकुच्चिं पइसियपयलियपव-
नियगत्तं पणच्चमाणं अप्फोरंतं अभिवगंतं अजिगज्जंतं
बहुसो बहुसो अट्टहासो विणिमुयंतं नीलुप्पलगवलगुलि-
यअयसिक्कुसुमप्पगासं सुरधारं असिं गहाय अजि-
मुहमापकंतं पासंति । तए एं ते अरहस्यगवज्जा संजत्ता-
णावावाणियगा एगं च एं महं ताढापिसायं पासंति । ता-
लजंघं दिवंगयाहिं वाहाहिं फुट्टसिरं जमरणिगरवरमास-
रासिगाहिसकालगं भरियमेहवखं सुप्पणहं फाहसरिसजीहं

लंवोहं धवहवट्टासिद्धितक्खथिरपीणकुन्निदादावग्गु-
हवयणं विकोसियधारासिज्जयज्जसमसरिसतणुयचंचलग-
लंतरसओहवच्चपुण्णुरंतनिद्धालियगजीहं अवयत्थियं
महहविगयवीमच्चदालापगहंतरत्तताहुयं हिंशुद्वयसग-
व्भकंदरविहं च अंजणगिरिस्स अग्गिजालुग्गिहंतवयणं
आउसियअक्खचम्भोह्मगंडदेसं चीणचिविरुक्कभग्गणासं
रोसागयधमधमंतमारुयनिघुरखरफरुसकुसिरउज्जुग्गणासियपु-
हं घाडुव्वडरइयभीसणमुहं उट्टमुहकससकुद्वियमहंत-
विगयज्जोमसंखाद्वगहंतवत्तद्वियकमं पिगलदिप्पंतद्वोअणं
भिउक्कित्तिनिमालं एरसिरमाहपरिणद्धचिं विचित्तगो-
णसमुवक्खपरिकरं अवहोलेतफुप्फुयंतसप्पविचुयगोसुं-
दरएउज्जसररुविरइयविचित्तवेयच्चमालियागं जोगकूरक-
समप्पधमधमंतद्वयंतकण्णूरं मज्जारसियाललगियग्वंघं दित्तं
मुग्गुयंतधूयकयकुंमलसिरं घंटावेण जीमज्जयकरं कायरज-
णद्वियफोरणं दित्तमट्टहासं विणिमुयंतं वसाहिरिपूयमं-
समलियपोव्वडतणुं उच्चामणं विसालवच्चं पेच्चंताजि-
सणहमुहणयणकण्णवरवग्गचित्तकितीणिवसणं सरमरु-
हिरगयचम्भविततऊसवियवाहुजुपलं ताहिं य खरफरुसअ-
सिणिद्धदिच्छाणिउअमुभअप्पियअकंतवग्गुहिं य तज्ज-
यंतं पासंति । तं ताढापिसायरूवं एज्जमाणं पासति, पासइत्ता
भीया संजातजया अण्णमएणस्स कायं समतुरंगेमाणा व-
हुणं इंदाण य खंदाण य रुहसिवेसमएणगाणं जूयाण य
जक्ख्वाण य अज्जकोट्टकिरियाण य वट्ठिण उवयाइयसयाइंणि
उवचीयमाणा चिहंति ॥ तए एं ते अरहस्यए समणोवासए
तं दिव्वं पिसायरूवं एज्जमाणं पासइ, पासइत्ता अभीए अतत्थे
अचलिए असंजंते अणाउडे अणुव्विग्गे अभिसमुहरागणय-
णवणे अदीणधिमणमाणसे पोयवाहणस्स एगदेसंति वत्थं
तेणं जूमं पमज्जेति, पमज्जइत्ता ठाणं ठायति, ठायइत्ता करह-
यं जाव चि कट्ट एवं वयासी-एमोत्थु एं अरिहंताणं जाव
ठाणं संपत्ताणं जइ एं अहं एत्तो उवसग्गतो मुंचामि तो मे क-
प्पइ पारेत्तए, अह एं एत्तो उवसग्गतो ण मुंचामि, तो मे तहा प-
क्खत्ताएव्वं ति कट्ट सागारभत्तं पक्खत्ताइ । तए एं ते
पिसायरूवे जेण्वेव अरहस्यए समणोवासए तेण्वेव उवा-
गच्छइ, उवागच्छइत्ता अरहस्यं समणोवासयं एवं व-
यासी-इंभो अरहस्यगा ! अपत्थियपत्थिया० ! जाव
परिवज्जिया नो खडु कप्पइ तवसीलव्वयगुणवेरमणप-
क्खत्ताएपासहोववासाइं चाद्विचए वा एवं खोजिचए
वा खंदिचए वा भंजिचए वा उज्जिक्कचए वा परिच्चए
वा तं जइ एं तुमं सीदव्वयं ण परिच्चयसि, तो मे अहं
पोयवहणं दोहिं अंगुलियाहिं गिएहामि, गेएहत्ता सत्त-
इतलप्पमाणमेत्ताइं उट्ठं वेहासं उव्विहामि । अंतो जलंति

विहते ह्यने भुवौ प्रहसिते प्रचलिते प्रपतिते च यस्य स्फु-
लिङ्गवत् खद्योतकवच्च दासश्चक्षुरागश्च यस्य तत्तथा । “ पण-
चचमाणं ” इत्यादि विशेषणपञ्चकं प्रतीतम् । (नीलपुण्ड्रित्या-
दि) गवलं महिषशृङ्गम् । अतसी माखचकदेशप्रसिद्धो धान्य-
विशेषः । [खुरहारं ति] खुरस्येव धारा यस्य स तथा तम-
सि, खङ्ग, खुरो ह्यतितीक्ष्णधारो भवति, अन्यथा केशानाममु-
रुनादिति कुरेशोपमा खङ्गधरायाः कृतेति । अभिमुखमाप-
तपश्यन्ति । सर्वेऽपि सायात्रिकाः, तत्रार्हन्नकवजां यत्कुर्वन्ति
तद्दर्शयितुमुक्तमवशिष्टाचस्वरूपं सविशेषम् । तेषां तद्दर्शनं चानु-
वदन्निदमाह— [तप णमित्यादि] ततस्ते अर्हन्नकवजाः सां-
यात्रिकाः पिशाचरूपं वक्ष्यमाणविशेषणं पश्यन्ति, दृष्ट्वा च बहु-
नामिकादीनां बह्व्युपयुचितशतान्युपचिन्वन्तस्तिष्ठन्तीति स-
मुदायार्थः । अथवा—“तप णं ते अरहन्नगवजा” इत्यादि गमान्त-
रम् “आगासे देवयात्रो नचन्ति ” इतोऽनन्तरं छप्यम् । अत
एव वाचनान्तरे नेदमुपलभ्यते । उपलभ्यते चैवम्—“ अभिमुहं
आवयमाणं पासन्ति, तप णं ते अरहन्नगवजा नावाघाणियगा
भीया ” इत्यादि । [तत्र तालपिसायं ति] तालपृष्ठाकारोऽति-
दीर्घत्वेन पिशाचस्तालपिशाचः, तम् । विशेषणद्वयं प्रागिव ।
[फुट्टसिरं ति] स्फुटितमवन्धनत्वेन विकीर्णं शिर इति शि-
रोजातत्वात्केशा यस्य स तथा तम् । भ्रमरनिकरवत् वरमाप-
राशिवत् महिषवच्च काष्ठको यः स तथा तम्, भृतमेघवर्णम्,
तथैव शूर्पमिव धान्यशोधकजाजनविशेषवन्नखा यस्य स शू-
र्पनखस्तम् । फालसदृशजिह्वमिति—फालं द्विपञ्चाशत्पलप्रमा-
णबोहमयो ज्वयविशेषः, तच्च वद्विप्रतापितमिह ब्राह्मण, तत्सा-
धर्म्यं चेह जिह्वाया वर्णदीप्तिदीर्घत्वादिभिरिति । लम्बाष्ट्रं प्रती-
तम् । धवन्नाभिर्वृत्ताग्निरन्निष्ठाभिर्विशरत्वेन तीक्ष्णाभिः, स्थि-
रामिर्निश्चलत्वेन, पीनाभिरुपचितत्वेन, कुटिग्नानिश्च वक्रतया,
दंष्ट्राभिरवगूढं व्याप्तं वन्दनं यस्य स तथा, तम् । विकंशितस्या-
पनीतकोशकस्य, निरावरणस्येत्यर्थः । धारास्योर्ध्वाराप्रधानख-
ङ्गयोर्यद् युगलं द्वितयं तेन समसदृशावन्यन्ततुल्ये तनुके प्रत-
ले, चञ्चलं, विमुक्तस्थैर्यं यथाभवत्यविभ्रममित्यर्थः । गलन्यौ
रसातिवैल्याद् बालां विमुञ्चन्त्यौ रसलोहे नक्ष्यरसवम्पटे
चपले चञ्चले फुरफुरायमाणे प्रकम्पे निर्झालिते मुखाग्निकाशिते
अग्रजिह्वे जिह्वामे इत्यर्थः, येन स तथा, तम् । (अवस्थियं
ति) प्रसारितमित्येके । अन्ये तु यकारस्यास्तत्वात् ‘ अवयत्थि-
यं ’ प्रसारितमुखत्वेन दृष्टं दृश्यमानमित्याहुः । (महद्गं ति) महद्
विकृतं वीमत्सं लालामिः प्रगलत् रक्तं च तालु काकुदं यस्य स
तथा तम् । तथा हिङ्गुवकेन वर्णकद्रव्यविशेषेण सगभकन्दरत्न-
क्षणं विषं यस्य स तथा, तमिव । (अञ्जणगिरिस्स ति) विभ-
क्तिविपरिणामादञ्जनगिरिं कृष्णवर्णपर्वतविशेषम् । अथवा
‘ अवस्थियंत्यादि ’ ‘ हिङ्गुलुयेत्यादि ’ च कर्मधारयेणैव वक्ष्यमा-
णवदनपदस्य विशेषणं कार्यम् । यस्य तमित्येवंरूपश्च वाक्यशेषो
छप्यः । तथा अग्निज्वाला उज्जिह्वद्वन्द्वं यस्य स तथा तम् ।
(आलसियं ति) संकुचितं यदक्षचर्म जलापकर्षणकोशस्तद्वत् ।
(उहृत् ति) अपकृष्टावपकर्षवन्तौ संकुचितौ गण्डदेशौ यस्य स
तथा, तम् । अन्ये त्वाहुः—आचूषितानि संकुचितानि अक्षणी-
न्द्रियाणि चर्म च ओष्ठौ च गरुदेशौ च यस्य स तथा तम् ।
च ना ह्रस्वा (चिविरं ति) चिपिटा निम्ना ‘ वंका ’ वका भग्नेव
प्रज्ञा, अयोधनकुडितेवत्यर्थः, नासिका यस्य स तथा, तम् ।
रापादागतः (धमधमं ति) प्रवद्यतया धमधमेति शब्दं कुर्वाणो

मारुतो वायुर्निष्ठुरो निर्भरः, स्वरपरुषोऽन्यन्तकर्कशः, शुपि-
रयोरन्ध्रयोर्यत्र तत्तथा । तदेवविधमवजुग्रं च वक्रं नासिका-
पुटं यस्य स तथा तम् । इह च पदानामन्यथानिपातः प्राकृत-
त्वादिति । घाताय पुरुषादिवधाय, घाटाभ्यां वा मस्तकावयव-
विशेषाभ्याम्, उद्भूतं विकरालं रचितम्, अत एव भीषणं मुखं
यस्य स तथा, तम् । कर्णमुखे कर्णशृङ्खल्यौ कर्णावयवौ ययो-
स्तौ तथा तौ च महान्ति दीर्घाणि विकृतानि होमानि ययोस्तौ
तथा तौ च (संखालगं ति) शृङ्खल्यौ च शृङ्खयोरक्षिप्रत्यास-
न्नावयवविशेषयोरालग्नौ संवद्धावित्येके, लम्बमानौ च प्रलम्बौ,
चञ्चितौ च चञ्चलौ कर्णौ यस्य स तथा, तम् । पिङ्गवे कपिध्वे
दीप्यमाने ज्ञास्वरे बोचने यस्य स तथा तम् । भृकुटिः कोप-
कृतपूत्रिकारः, सैव तमिद्विद्युर्घसिततथा, तथाविधम् । पाग-
न्तरेण-भृकुटितं कृतपूत्रुटिलं ललाटं यस्य स तथा, तम् । नर-
शिरोमात्रेण परिणक्तं वेष्टितं चिह्नं पिशाचकतुर्यस्य स तथा,
तम् । अथवा-नरशिरोमालया यत्परिणक्तं परिणहनं तदेव चिह्नं
यस्य स तथा तम् । विचित्रैर्बहुविधैर्गोनसैः सरीसृपविशेषैः
सुवद्धः परिकरः सन्नाहो येन स तथा तम् । (अवहोहंतं ति)
अवधोहयन्तो डोलायमानाः, [पुष्कुर्यंतं ति] फूत्कुर्वन्तो ये सर्पा
वृश्चिका गोधा वृष्ट्या नकुलाः सरटाश्च तैर्विरचिता विचित्रा वि-
विधरूपवती वैकृतेणोत्तरासङ्गेन मर्कटवन्धेन स्कन्धस्त्वन्मा-
त्रतया वा मालिका माला यस्य स तथा तम् । जोगः फणः
स क्रूरो रौद्रो ययोस्तौ, तथा तौ च कृष्णसर्पौ च तौ च तौ धमध-
मायमानौ च तत्रैव लम्बमानौ कर्णपूरी कर्णाग्ररणाविशेषौ य-
स्य स तथा तम् । मार्जारशृगालौ वृगितौ निर्याजितौ स्कन्ध-
योर्येन स तथा तम् । दीप्तं दीप्तस्वरं यथा भवत्येवं (घुग्घुर्यंतं
ति) घृत्कारशब्दं कुर्वाणो यो घृकः कौशिकः स कृतो विहितः
(कुंजलं ति) शैखरकः शिरसि येन स तथा तम् । घण्टानां र-
वः शब्दस्तेन भीमो यः स तथा स चासौ जयंकरश्चेति, तं, का-
तरजनानां इदं स्फोटयति यः स तथा, तम् । दीप्तमदृष्टहासं
घण्टारवेण भीमादिविशेषणविशिष्टं विमुञ्चन्तं वसराधि-
रपूयमांसमहैर्मलिना (पोचलं ति) विलीना च तनुः शरीरं य-
स्य स तथा तम्; उज्जासनकं विशालवक्रसं च प्रतीते । (पेच्छंतं
ति) प्रेक्ष्यमाणा दृश्यमानाः, अभिघ्ना अखण्डा नखाश्च मुखं च
नयने च कर्णौ च यस्यां सा तथा, सा चासौ वरव्याघ्रस्य चित्रा
कर्दुरा कृत्तिश्च चर्मैति सा तथा, सैव निवसनं परिधानं य-
स्य स तथा तम् । सरसं रुधिरप्रधानं यज्ञचर्मं तद्विततं वि-
स्तारितं यत्र तत्तथा । तदेवविधं (ऊसविं ति) उच्छ्रितमूर्खी-
कृतं बाहुयुगलं येन स तथा तम् । तामिश्च तथाविधाभिः, स्वर-
परुषा अतिकर्कशाः, अस्निग्धा स्नेहविहीनाः, दीप्ता ज्वल-
न्त्यधोपतापहेतुत्वात् । अनिष्टा अनभिघ्नाषाविषयभूताः, अ-
शुजाः स्वरूपेण, अप्रिया अप्रीतिकरत्वेन, अकान्ताश्च विस्वर-
त्वेन या वाचस्ताग्निरुस्तात् कुर्वाणं व्रस्यन्तं तर्जयन्तं वा प-
श्यन्ति स्म । पुनस्तालपिशाचरूपं (एजमाणं ति) नावं प्रत्यागच्छ-
न्तं पश्यन्ति । (समतुरेगमाणं ति) आग्निरुच्यन्तः स्कन्दः कार्तिके-
यः, रुद्रः प्रतीतः, शिवो महादेवः, वैश्रवणो यक्षनायकः, नागो
भवनपतिविशेषः, चूतयक्षा व्यन्तरभेदाः, आर्या प्रशान्तरूपाः,
दुर्गा कोट्टक्रिया, सैव महिषारुद्ररूपा पूजाऽन्युपगमपूर्वकाणि प्रा-
थनानि उपपाचितान्युपचिन्वन्ते । उपचिन्वन्तो विदधतस्तिष्ठ-
न्ति स्मेति । अर्हन्नकवर्जानामियमितिकंचत्योक्ता । अधुनाऽर्ह-
न्नकस्य तामाह—“ तप णमित्यादि ” । (अपत्थियपत्थिय

पिया ! बहूणि गामागरं जाव आहिंरुह लवणसमुद्रं च
आभिकखणं अभिकखणं पोयवणेहिं जगहेह, तं अति-
याहिं भे केइ कहिं वि अच्चेरएदिट्ठपुण्वे । तए णं ते अरहस्य-
गपामोक्खा चंदच्छायं अंगरायं एवं वयासी-एवं खड्डु
सामी ! अम्हे इहेव चंपाए नयरीए अरहस्यगपामोक्खा
वह्वे संजजानावाणियगा परिवसामो, तए णं अम्हे
अस्यया कयाइं गणिमं च ४ तहेव अहीणं अतिरित्तं
जाव कुंजगसम रणो उवणंमो, तए णं से कुंभए राया
मल्लोए विदेहरायवरकषाए तं दिव्वं कुंभजुयत्तं पिण्ण-
इ । पिण्णइत्ता पमिविसज्जेइ । तए णं सामी ! अम्हेहिं
कुंजगसमभवणंसि मल्लोए विदेहरायवरकषाए अच्चेरए
दिडे एत्तो खलु अस्या कावि तारिसिया देवकषगां
जाव तारिसिया णं मल्लो विदेहकएणा, तए णं चंदच्छाए
राया अरहस्यगपामोक्खं सक्करेइ सम्माणेइ । सम्माणेइत्ता
उस्सुक्कं वियरइ पमिविसज्जेइ । तए णं चंदच्छाए राया
वाणियगजणियहासे दूयं सदावेइ । सदावेइत्तां जाव जइ
वि य णं सासयं रजमुका तए णं से दूए ढट्ठुडे पमि-
मुणेइ, जेणेव सए गेहं जेणेव चाउयंटे आसरहे उरुडे
जाव पद्दारेत्यगमणाए ॥

(संजजानावाणियग सि) संगता यात्रा देशान्तरगमनं
संपात्रा, तत्प्रधाना नौवाणिजकाः पोतवणिजः, संयात्रानौवाणि-
जकाः । (अरहस्ये समणोवासंगे यावि होत्थ सि) न केवत्र-
मात्रादिगुणयुक्तः, भ्रमणोपासकश्चाप्यभूत् । (गणिमं चेत्या-
दि) गणिमं-नालिकेरपूगफलादि, यद्रणिमं सद्यवहारे प्रविश-
ति । धरिमं-यन्तुलाधृतं सद्यवहियते । मेयं-यस्सेतिकापलादिना
मीयते । परिच्छेयं-यद्गुणतः परिच्छिद्यते परीक्ष्यते वस्त्र-
मण्यदि । (समियस्स य सि) कणिकायाश्च, (ओसइण य ति)
त्रिकटुकादीनाम् । (जेसजाण य सि) पथ्यानामाहारविशे-
षाणाम् । अथवा औषधानामेकद्रव्यरूपाणां, भेषजानां द्रव्यसंयो-
गरूपाणाम् । आवरणानामङ्गरक्तकादीनां, योधिस्थप्रकराणां च
(अज्जेत्यादि) आर्यं !-हे पितामह !, हे तात !-हे पितः !, हे
आतः !, हे मातुल !, हे भागिनेय ! भगवता समुज्जगाभिरक्षमा-
णाश्चिरं यूयं जीवन, भद्रं च भवतां, भवत्विति गम्यते । पुनरपि
लब्धार्थान् कृतकार्यान्, अनघसमग्रान्, अनघत्वं निर्दूषणतया,
समग्रत्वमहीनधनपरिवारतया, निजकं गृहं, 'हव्वं' शीघ्रमागता-
न् पद्यामि इति ह्रस्वेत्यभिधाय, (सोमाहिं ति) निर्विकार-
त्वात् । (निच्चाहिं ति) सखेइत्वात् । (दीहाहिं ति) दूरं या-
वदवज्ञोकनात् । (सपियासाहिं ति) सपियासामिः पुनर्दर्श-
नाकाङ्क्षावतीभिः, दर्शनात्सामिर्वा । (पणुयाहिं ति) प्रष्टुता-
मिथुजवाद्राजिः, (समाणिपसु सि) समापितेषु दत्तेषु,
नावीति गम्यते । सरसरकचन्दनस्य दर्दरेण चपेटाप्रकारेण प-
श्चाद्भूलेषु तलेषु, हस्तकेन्द्रित्यर्थः । (अणुक्खित्तंसीति) अ-
नुक्खित्तं पश्चादुत्पादिते धूपे, पूजितेषु समुज्जवातेषु, नौसांयात्रि-
कप्रक्रियायां समुद्राधिपदेवपादेषु वा (संसारियासु वल्लयवा-
हासु सि) स्थानान्तरादुचितस्थाननिवेशितेषु दीर्घकायप्रक्ष-
णबाहुषु, आवेष्टकेष्विति संभाव्यते । तथा-उच्छिद्यतेपूर्वकृतेषु

सितेषु ध्वजामेषु पताकामेषु पट्टजिः पुरुषैः, पट्ट वा यथा भव-
तीत्येवं प्रवादितेषु तूयेषु जयिकेषु जयावहेषु, सर्वशकुनेषु वा-
यसादिषु, गृहीतेषु राजवरशासनेषु आङ्गासु पट्टकेषु वा, प्रजु-
जितमहासमुद्ररवभूतमिव तदात्मकमिव, तं प्रदेशमिति गम्यते ।
(तओ पुस्समाणयो वक्कं समुदाहुं ति) ततोऽनन्तरं मागधो म-
ङ्गलवचनं ब्रवीति स्मैत्यर्थः । तदेवाह-सर्वेषामेव जयतामर्थसि-
द्धिर्भवतु, उपस्थितानि कल्याणानि, प्रतिहतानि सर्वपापानि,
सर्वविघ्नाः । (जुत्तो सि) युक्तः पुष्यो नक्षत्रविशेषः चन्द्रमसा, इ-
हावसरे इति गम्यते । पुष्यनक्षत्रं हि यात्रायां सिद्धिकरम् । यदाहुः-
'अपि द्वादशमे चन्द्रे, पुष्यः सर्वार्थसाधनः' इति, मागधेन तदु-
पन्यस्तम् । विजयो मुहूर्त्तक्षिणतो मुहूर्त्तानां भव्यात् मयं देश-
काशः, एष प्रस्तावेः गमनस्येति गम्यते । (वक्के उवाहिप सि)
वाक्ये उदाहृते, दृष्टतुष्टाः, कर्णधारा नियामकाः, कुक्षिधारा नौ-
पार्श्वनियुक्ता आवेष्टकवाहकादयः, गर्भे भवा गभजाः, नौमध्ये उच्चावचकर्मकारिणः, संयात्रानौवाणिजकाः, भाएर-
पतयः, एतेषां द्वन्द्वः । (वावरिसु सि) व्यावृत्तवन्तः स्वस्वव्या-
पारिस्थितिः । ततस्तां नावं पूर्णोत्सङ्गां विविधभाषजनुत्तमभ्यां,
पुण्यमभ्यां वा, मध्यभागनिवेशितमाङ्गल्यवस्तुत्वात् । पूर्णमुखीं,
पुण्यमुखीं वा । तथैव वन्धनेष्यो मुञ्चन्ति विसर्जयन्ति पवनवल-
समाहता वा घातसामर्थ्यात्प्रेरिताः । (उस्सियसिय सि) उच्छि-
तसितपटाः, यानपात्रे हि वायुसंग्रहार्थं महान् पट उच्छिद्यतः
क्रियते । एवं चासाधुपरीयते-विततपक्षेव गरुडयुवतिः । ग-
ङ्गासलिलस्य तीक्ष्णा ये क्षीतोवेगाः प्रवाहवेगास्तैः संक्षुभ्य-
न्ती संक्षुभ्यन्ती प्रेर्यमाणा प्रेर्यमाणा, समुद्रं प्रतीति । कर्मयो
महाकल्लोलाः, तरङ्गा इत्येकल्लोलाः, तेषां मात्साः समूहाः तत्सह-
स्राणि, (समतिक्रमाणि सि) समतिक्रामन्ती (ओगाह सि)
प्रविष्टा । (तालजंघमित्यादि) तालो वृक्षविशेषः, स च दीर्घ-
स्कन्धो जयति । ततस्तालवज्जइय यस्य तत्तथा । (दिव्वं गथाहिं
वाहाहिं ति) आकाशप्राप्ताभ्यामतिदीर्घाभ्यां भुजाम्यां युक्तमि-
त्यर्थः । (मसिमुसगमहिसकासगं ति) मपी कज्जलं, मूषक उ-
न्दुरविशेषः । अथवा मपीप्रधाना मूषा ताम्रादिधातुप्रतापनजाज-
नं मपीमूषा, महिषश्च प्रतीत एव । तद्वत्कालकं यत्तत्तथा (भ-
रियमेहयणं ति) जलभृतमेघवर्णमित्यर्थः । तथा हव्वोपुम्,
[निग्गयग्गदं सि] निर्गतानि मुखाद्ग्राणि येषां ते तथा, निर्-
गताया दन्ता यस्य तत्तथा । [निज्जालियजमलजुयलजीहं ति]
निर्लाञ्छितं विवृतमुखाद्भिस्सारितं यमलं समं युगलं द्वयं जि-
ह्वयोर्येन तत्तथा । [आऊसियवयणगंडदेसं सि] " आऊ-
सिय सि, आपुसिय सि वा " प्रविष्टौ वदने गण्डदेशौ क-
पोज्जमागौ यस्य तत्तथा । [चीणचिचिरुनासियं ति] चीना
ह्रस्वा, चिपिटा च निम्ना, नासिका यस्य तत्तथा । [विगय-
जुगानमुहिं ति] विहृते विकारवस्यौ, जुग्गे, जग्गे इत्यर्थः । पा-
ठान्तरेण-भुम्भजग्गे अतीववक्त्रे भ्रुवौ यस्य तत्तथा । [खउजोय-
गदिसत्तचक्खुरागं ति] खद्योतको ज्योतिरिक्लृणः, तच्छीतस्वच्छ-
रागो लोचनरक्तत्वं यस्य स तथा । उज्जासनकं भयङ्करम् । वि-
शालवक्त्रो विस्तीर्णोः खड्गम्, विशालकुक्षिं विस्तीर्णोदरदेशम् ।
एवं प्रलम्बकुक्षिं [पहसियपयलियपमिचडियगत्तं ति] प्रहसितानि
प्रहसितुमारब्धानि, प्रचक्षितानि च स्वरूपात्, प्रचक्षितानि वा
प्रजातवलीकानि, प्रपतितानि च प्रकर्षेण श्लथीभूतानि, गा-
त्राणि यस्य तत्तथा । वाचनान्तरे-" विगयजुगाममुयपहासि-
यपयलियपडियकुल्लिगखज्जोयदिसत्तचक्खुरागं ति" पाठः । तत्र

च० २ अ० । वृषजासुरे, कङ्कपक्षिणि, कङ्के [रीरा] इति
ख्याते फेनिलफलकवृक्षे च । पुं० । मञ्जुने मरणचिह्ने, तन्के,
चक्षुर्जडे, सुतिकागारे, मधे च । न० । वाच० । ल० प्र० ।

अरिष्टकुमार-अरिष्टकुमार-पुं० । कौमार्ये वर्त्तमानेऽरिष्टनेमौ,
“ भृशमरिष्टकुमार ! विचारय ” कल्प० ७ क० ।

अरिष्टनेमि-अरिष्टनेमि-पुं० । [धर्मचक्रस्य नेमिवन्नेमिः, गर्भ-
स्थे मात्राऽरिष्टरत्नमयनेमेकपतनदर्शनादरिष्टनेमिः] अवसर्पि-
ण्यां भरतकेत्रजे द्वाविंशे तीर्थकरे, अनु० । धर्मचक्रस्य नेमिव-
न्नेमिः । ‘ सव्वे धम्मचक्रस्स णेमीशूय च्चि सामधं; विसेसो ग-
भगते तस्स मायाए अरिष्टरयणमयो [महति] महाद्वयो नेमी
उप्पिज्जमाणो सुमिणे दिट्ठो च्चि तेण सोऽरिष्टनेमि च्चि’ । आव०
२ अ० । आ० च० ॥

अथारिष्टनेमिचरितम्—

तेणं कालेणं तेणं समणं अरहा अरिष्टनेमी पंच चित्ते
होत्था । तं जहा—चित्ताहिं खुए, चइत्ता गव्भं वक्कंते, त-
हेव उक्खेवो० जाव चित्ताहिं परिनिव्वुए ॥ १७० ॥

[तेणं कालेणं इत्यादि] तस्मिन्काले तस्मिन् समये अर्हन्
अरिष्टनेमिः पञ्च-कल्याणकानि चित्रायामभवन् । तद्यथा-चित्रायां
च्युतः, च्युत्वा गर्भे उत्पन्नः, तथैव चित्राभिज्ञापेन पूर्वोक्तपाठो
वक्तव्य इत्यर्थः । यावत् चित्रायां निर्वाणं प्राप्तः ॥ १७० ॥

अथारिष्टनेमेश्चयवनम्—

तेणं कालेणं तेणं समणं अरहा अरिष्टनेमी, जे से वा-
साणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे कत्तिअवहुले, तस्स णं
कत्तियवहुलस्स वारसीदिवसेणं अपराजिआओ महावि-
माणाओ वत्तीसं सागरोवमड्डिआओ अणंतरं चयं चइ-
त्ता इहेव जंवूदीवे दीवे भारहे वासे सोरियपुरे नयरे स-
मुद्विजयस्स रणे भारिआए सिवाए देवीए पुव्वरत्ता-
वरत्तकालसमयंसे जाव चित्ताहिं गव्वचाए वक्कंते स-
व्वं तहेव सुमिणदंणणदविणसंहरणाइअं पत्थ जाणि-
यव्वं ॥ १७१ ॥

(तेणं कालेणं इत्यादि) तस्मिन् काले तस्मिन् समये अर्हन्
अरिष्टनेमिः, योऽसौ वर्षाकालस्य चतुर्थो मासः सप्तमः पक्षः
कार्तिकस्य बहुवपक्षः, तस्य कार्तिकवहुवस्य द्वादशीदिवसे अ-
पराजितनामकाद् महाविमानाद् द्वाविंशत्सागरोपमाणि स्थि-
तिर्यत्र ईदृशात्-अनन्तरं ज्यवनं कृत्वा अस्मिन्नेव जम्बूद्वीपे
द्वीपे भरतकेत्रे सौर्यपुरे नगरे समुद्रविजयस्य राज्ञः भार्यायाः
शिवाया देव्याः कुक्षौ पूर्वापररात्रसमये मध्यरात्रौ यावत्
चित्रायां गर्भतया उत्पन्नः सर्वे तथैव स्वप्नदर्शनव्यसंहरणा-
दिवर्णनमत्र जणितव्यम् ॥ १७१ ॥

अथ भगवतो जन्म, अपरिणयनं च—

तेणं कालेणं तेणं समणं अरहा अरिष्टनेमी, जे से
वासाणं पढमे मासे छुच्चे पक्खे सावणसुक्खे, तस्स णं
सावणसुद्धस्स पंचमीदिवसेणं नवएहं मासाणं बहुपक्खिपुत्ताणं
जाव चित्ताहिं नक्खत्तेणं चंदजोगमुवागएणं आरोग्गाऽऽ-
रोगं दारयं-पयाया, जम्भणं समुद्विजयाजिह्वावेणं नेयव्वं०

जाव तं होऊ णं कुमारे अरिष्टनेमी नामेणं ॥

(तेणं कालेणं इत्यादि) तस्मिन्काले तस्मिन्समये अर्हन्
अरिष्टनेमिः, योऽसौ वर्षाकालस्य प्रथमो मासः, द्वितीयः पक्षः
भाद्रपदः, तस्य भाद्रपदशुक्लस्य पञ्चमीदिवसे नवसु मासेषु
बहुपरिपूर्णेषु सत्सु यावच्चित्रानक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति अ-
रोगा शिवा अरोगं दारकं प्रजाता । जन्मोत्सवः समुद्रविजया-
भिधानेन ज्ञातव्यः, यावत् तस्माद्भवतु कुमारोऽरिष्टनेमिर्नाम्ना
कृत्वा, यस्माद् भगवति गर्भस्थे माताऽरिष्टरत्नमयं नेमि चक्र-
धारां स्वप्नेऽप्सङ्कीकृत, ततोऽरिष्टनेमिः, अकारस्य अमङ्गल-
परिहारार्थत्वाच्च अरिष्टनेमिरिति । रिष्टशब्दो हि अमङ्गलवा-
चीति । कुमारस्तु अपरिणीतत्वात् । कल्प० ७ क० । उक्त० ।

अपरिणयनं तु एवम्-एकदा यौवनाजिमुखं नेमिं निरीक्ष्य
शिवा देवी समवदत्-‘वत्स ! अनुमन्यस्व पाणिग्रहणं, पूरय
चास्मन्मनोरथम् । स्वामी तु योग्यां कन्यां प्राप्य परिणेष्यामीति
प्रत्युत्तरं ददौ । ततः पुनरेकदा कौतुकरहितोऽपि जगवान्
मित्रप्रेरितः संकीर्तमानः कृष्णायुधशास्त्रायामुपागमत् । तत्र कौतु-
कोत्सुकैर्मित्रैर्विह्वलितोऽहल्यमे कुलावचकवच्चक्रं आमितवान्,
शार्ङ्गं धनुर्मृणालवन्नामितवान्, कौमोदकं गदां यष्टिवज्रत्पादि-
तवान्, पाञ्चजन्यं शङ्खं च मुखे धृत्वा आपूरितवान् । तदा च-

“निर्मल्योऽऽलानसूलं प्रजति गजगणः खण्डयन् वेदममालां,
धावन्त्युच्चोत्थ बन्धान् सपदि हरिहया मन्दुरायाः प्रणष्टाः ।
शब्दाद्वैतं समस्तं बधिरितमन्रवत् तत्पुरं व्यग्रमुग्रं,
श्रीनेमेवैकप्रपन्नप्रकाटितपवनैः पूरिते पाञ्चजन्ये ” ॥ १ ॥

तं तादृशं च शब्दं निशम्योत्पन्नः कोऽपि वैरीति व्याकुलाचित्तः
केशवस्त्वरितमायुधशास्त्रायामागतः, दृष्ट्वा च नेमिं चकितो
निजभुजवलतुलनाय “आचार्यां वलपरीक्षा क्रियते” इति
नेमिं वदंस्तेन सह मध्याह्नादके जगाम । श्रीनेमिराद-

“अनुचितं ननु भूवृटनादिकं, सपदि बान्धवयुक्तमिहावयोः ।
वलपरीक्षणकृद् भुजवाहनं, भवतु नान्यरणः क्षुब्धयुज्यते” ॥ १ ॥

द्वान्यां तथैव स्वीकृतम्—

“कृष्णप्रसारितं बाहुं, नेमिर्नैवव्रतमिव ।

मृणालदण्डवच्छीघ्रं, बाह्वयामास लीलया ” ॥ १ ॥

शास्त्रानिमे नेमिजिनस्य बाहौ, ततः स शास्त्रामृगवद्विह्वलः ।
चक्रे निजं नाम हरिर्यथार्थं-मुद्यद्विषादद्विगुणासितास्यः” ॥ २ ॥
ततो महताऽपि पराक्रमेण नेमिभुजेऽवलिते सति विषयचित्तः
कृष्णो मम राज्यमेव सुखेन गृहीष्यतीति चिन्ताऽऽतुरः स्वचित्ते
चिन्तयामास-

“क्लिश्यन्ते केवलं स्यूताः, सुधीस्तु फलमश्नुते ।

ममन्य शङ्करः सिन्धुं, रत्नान्यापुर्दिवौकसः ” ॥ १ ॥

अथवा—

“क्लिश्यन्ते केवलं स्यूताः, सुधीस्तु फलमश्नुते ।

दन्ता दलन्ति कण्ठेन, जिह्वा गिलति बालिया ” ॥ १ ॥

ततो बलभडेण सहाऽऽलोचयति-किं विधास्ये, नेमिस्तु राज्य-
क्षिप्सुर्वलवांश्च ! तत आकाशवाणी प्राङ्मूर्त्-अहो हरे ! पुरा
नेमिनाथेन कथितमासीद्-यद्भुत द्वाविंशस्तीर्थकरो नेमिनामा
कुमार एव प्रवर्जिष्यतीति श्रुत्वा निश्चिन्तो निश्चयार्थं नेमिना
सह जलक्रीडां कर्तुमन्तःपुरीपरिवृतः सरोऽन्तरे प्रविष्टः । तत्र
च-“प्रणयतः परिगृह्य करे जिह्वं, हरिरवेशयदाह्य सरोऽन्तरे ।

चि) अप्रार्थितं यत्केनापि न प्रार्थ्यते तत्प्रार्थयति स्म यः स तथा, तदामन्त्रणम् । पात्रान्तरण-अप्रस्थितः सन् यः प्रस्थित इव मुमुर्षुरित्यर्थः, स तथोच्यते, तदामन्त्रणम्-हे अप्रस्थितप्रस्थित !, यावत्करणात् (दुरंतपंतलपक्षेण चि) दुरन्तानि द्रष्टव्यन्तानि प्रान्तान्यपसदानि वृक्षणानि यस्य स तथा, तस्यामन्त्रणम् । (हीणपुष्पचातुसी इति) हीना असमग्रा पुण्या पवित्रा चतुर्दशी तिरियस्य जन्मनि स तथा । चतुर्दशीजातो हि किल ज्ञान्यवान् भवतीति । आक्रोशे तदभावो दर्शित इति । " सिरिहिरिशीकिचिचिचिचि " प्रतीतम् । (तवसीलव्यपत्यादि) तपः, शीलव्रतान्यणुव्रतानि, गुणाः गुणव्रतानि, विरमणानि रागादिविरतिप्रकाराः, प्रत्याख्यानानि नमस्कारसहितादीनि, पोषधोषवासोऽष्टादि-कादिषु, पर्वदिनेषु पवसनमाहारशरीरसत्काराग्रहव्यापारपरिचर्जनमित्यर्थः । एतेषां द्वन्द्वः । [चाक्षिचप चि] जङ्गकान्तर-गृहीतान् मङ्गकान्तरेण कर्तुं, क्षोभयितुमेतानेवं परिपाठयामि । [क्षोभितचप चि] क्षोभयिष्यान् कर्तुं, खण्डयितुं देशतः, प्रकुं सर्वतः, 'उज्जितुं' सर्वस्यादेशविरतेस्त्यागेन परित्यक्तुं, सम्यक्त्वस्यापि त्यागत इति । [क्षोभि अंगुल्यादि चि] अङ्गुलकतर्जनी-ज्याम्, अथवा-तर्जनीनभ्यमाभ्यामिति । [सचछतलपमापमे-चाइं चि] ततो हस्तसालाभिधानो वाऽतिदीर्घो वृक्षविशेषः, स एव प्रमाणं मानं तत्प्रमाणं, सप्ताष्टौ वा सप्ताष्टानि तत्प्रमाणानि परिमाणं येषां ते सप्ताष्टतत्प्रमाणमात्राः, तान् गगनमागान् यावदिति गम्यते । [उद्धं वेहासं चि] उद्धं विहायसि गगने । [उज्जिहामि चि] नयामि, [जेषां तुमे चि] येन त्वं [अङ्गुदुहड्वचसे चि] आर्तस्य ध्यानविशेषस्य यो [दुहड्व चि] दुर्घटः दुःस्थगो दुर्मिरोधो, वयः पारतन्त्र्यं, तेन हतः पीडितः, आर्तदुर्घटवशातः । किमङ्गं प्रवति ?-असमाधिप्राप्तः [ववरोवि-जसि चि] व्यपरोपयिष्यसे अयेतीभविष्यसीत्यर्थः । [चाक्षि-चप चि] इह चलनमन्यथाप्रावत्वं, कथम् ? , [क्षोभितचप चि] क्षोभयितुं संशयोत्पादनतः, तथा [विपरिणामिचप चि] विपरिणामयितुं विपरितापवसायोत्पादनत इति । ' संते ' इति यावत्करणात् । ' तंते परितंते ' इति द्रष्टव्यम् । तत्र भ्रान्तः शान्तो वा मनसा, तान्तः कायेव खेदवान्, परितान्तः सर्वतः क्षिप्तः, निर्विष्यस्तस्मादुपसर्गकरणादुपरतः । [लखेत्यादि] तत्र खब्धा वपाजनतः, प्राप्ता तत्प्राप्तेः, अभिसमन्वागता सम्यगासेवनतः [आइस्वइ इत्यादि] आख्याति सामान्येन, जायते विशेषतः । एतदेव द्वयं क्रमेण पर्यायशब्दाभ्यामुच्यते-प्रज्ञापयति, प्ररूपयति । " देवेषा वा दाणवेण वा " इत्याद्यादिदं द्रष्टव्यम् । अपरं- " किन्तरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गंधवेण वा चि " तत्र देवो वैमानिको, ज्योतिष्को वा । दानत्रो भवनपतिः, श्रेया अध्वरवेदाः, ' नो सह्यामीत्यादि ' न अहवे प्रत्ययं न करोमि । [नो पत्तियामि चि] तत्र प्रीतिकं प्रीतिं न करोमि, [नो रोचयामि] अस्माकमप्येवंभूता गुणप्राप्तिर्नवत्वेवं न रुचिविषयीकरोमीति [पियधम्मे चि] धर्मप्रियो, दृढधर्मो आपद्यापि धर्मादविचलः, यावत्करणादृष्ट्यादिपदानि दृश्यानि । तत्र [इन्दि-चि] गुणदिः, द्युतिरान्तरं तेजः, यशः क्वातिः, वक्षं शरीरं, वीर्यं जीवप्रभवम्, पुरुषकारोऽजिमानविशेषः, पराक्रमः स एव निष्पादितस्वविषयः, लब्धादिपदानि तथैव । [वस्तुक्तं वियरेइ चि] शुक्लाभावमनुजानातीत्यर्थः । ज्ञा० ८ अ० । स्था० ।

अरहमिच-अर्हन्मित्र-पुं० । अर्हन्तलघुभ्रातरि, यस्मिन्नासक-

या भ्रातृजाययाऽर्हन्तो मारितः । ग० २ अधि० । [अरह क-था ' अरहस्य ' शब्द एवोक्ता] द्वारवतीवास्तव्ये रुग्णत्वे वैद्योपदिष्टं मांसं निर्वन्धेऽप्यस्वादितवत्या अनुकुर्याः पत्न्यौ, आ० चू० ४ म० । आव० । [' असदोसोवसंहार ' शब्देऽस्मिन्नेव जागे ५०३ पृष्ठेऽस्य कथा समुक्ता]

अरहया-अर्हता-स्त्री० । तीर्थकरत्वे, पञ्चा० ८ विव० ।

अरहस्सधारक-अरहस्यधारक-पुं० । नास्ति अपरं (रहस्यं) रहस्यान्तरं यस्मात्सदरहस्यम् । अत एव रहस्यं छेदशास्त्रार्थतत्त्वमित्यर्थः । तद्यो धारयति अपात्रेभ्यो न प्रयच्छति सोऽरहस्यधारकः । योग्यायैव छेदसूत्रदायके, वृ० ६ उ० ।

अरहस्मभागे (ष्)-अरहस्यभागे-पुं० । रहस्यस्य प्रच्छन्नस्याभावोऽरहस्यं, तद् भजते इत्यरहस्यभागी । अर्हति, स्था० ९ ग० । कल्प० ।

अरहस्सर-अरहःस्वर-त्रि० । अप्रकटस्वरे महाशब्दे, सूत्र० १ सु० ५ अ० १ उ० । बृहदाक्रन्दशब्दे, सूत्र० १ सु० ५ अ० २ उ० ।

अराइ-अराति-पुं० । व्याधौ, आ० म० द्वि० । आचा० । विशेषे० । आ० क० । शत्रौ, वाच० ।

अरि-अरि-पुं० । द्विपत्रत्यर्थिरुपपत्तयः । निर्दये रिपौ, तं० । सामान्यतः शत्रौ, जं० २ वक्र० । ज्ञा० । जी० । आ० म० । आव० । जन्मान्तरवैरिणि, सूत्र० १ सु० ५ अ० २ उ० । रथाङ्गे चक्रे, विद्वत्क्षेत्रे, पदसु कामादिषु, वाच० ।

अरिजय-अरिञ्जय-पुं० । श्रीशिवभदेवस्य द्वाशीतितमे पुत्रे, कल्प० ७ क० ।

अरित्वग्ग-अरिपुर्वर्ग-पुं० । पक्षां वर्गः समुदायः पङ्क्तिः । अरीणां पङ्क्तिः । वाच० । कामक्रोधलोभमानमोहमदाख्ये आन्तराशुपङ्क्ते, सूत्र० १ सु० १ अ० ४ उ० । तथा अरयः शत्रुवस्तेषां पङ्क्तिः, अयुक्तिः प्रयुक्ताः कामक्रोधलोभमानमदहर्षाः यतस्ते शिष्टगृहस्थानामन्तरङ्कारिकार्यं कुर्वन्ति । तत्र परपरिगृहीतास्वनूढास्तु वा स्त्रीषु दुराभिसन्धिः कामः, अविचार्यं परस्याऽऽत्मनो वाऽप्यायहेतुरन्तर्बहिर्वा स्फुरत्याऽऽमा क्रोधः, दानार्हेषु स्वधनाप्रदानम्-अकारणपरधनग्रहणं च लोभः, दुराजिनिवेशारोहो युक्तोकाग्रहणं वा मानः, कुलवत्सैर्भ्यर्विद्याकपादिभिरहङ्कारकरणं, परप्रधर्पेनियन्धनं वा मदः, निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्य द्यूतपापद्व्यार्थनर्थसंभयेण वा मनःप्रमोदो हर्षः, ततोऽस्थारिपुर्वर्गस्य त्यजनमनासेवनम्, एतेषां च त्यजनयित्वमपायहेतुत्वात् । यदाह- " राएरुफ्यो नाम प्रोजः कामाद् ब्राह्मणकन्यामजिमन्यमानः सवन्धुराष्टौ विननाश, करालश्च वैदेहः ॥१॥ क्रोधाज्जनमेजयो ब्राह्मणेषु विक्रान्तः, ताक्षजङ्गश्च भृगुषु ॥२॥ क्षोत्रादैश्चातुर्वर्ग्यमभ्याहारायमाणः, सौवीरश्चाजिन्हुः ॥३॥ मानाव्राधणः परदारान् प्रार्थयन्, दुर्योधनो राज्यादंक्षं च ॥४॥ मदादम्भोद्भूतो चूतावमानी, दैह्यश्चाज्जनः ॥५॥ हर्षाद्वातापिरगस्त्यमभ्यासादयन्, वृष्णिषजङ्गश्च द्वैपायनमिति ॥६॥ व० १ अधि० ।

अरिच-अरिष्ट-पुं० । रिष्ट-हिंसायाम्-क । न० त० । लङ्-ने, वाच० । पिशुमन्दे, प्रज्ञा० १ पद । काके, फलविशेषे च । औ० । रुचकक्षीपस्ये रुचकपर्वतस्य पौरस्त्ये पञ्चमे कूटे, द्वी० । पञ्चदशस्य तीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, स० । अप्रशस्ते, आ०

न वरे दूषणं तु दुग्धमध्यात् पूतरकर्पणप्रायमसम्मान्यमेव ।
तदनु ताभ्यां सविनोदं कथितम्-भो राजीमति ! वरः प्रथमं
गौरो विबोध्यते, अपरे गुणास्तु परिचये सति ज्ञायन्ते । तत्रैतत्त्वं
तु कललानुकारमेवास्मिन् दृश्यते । राजीमती सेर्यै सख्यौ प्र-
त्याह-अद्य यावत् युवां चतुरे इति मम भ्रमोऽभवत्, साम्प्रतं तु स
भग्नः । यत् सकलगुणकारणं इयामत्वं नृपणमपि दूषणतया
प्ररूपितम्, शृणुतं तावत् सावधानीभूय भवत्यौ इयामत्वं श्या-
मवस्त्वाश्रयणे च गुणान्, केवलगौरत्वे दोषांश्च । तथाहि-
“नृ१ चित्तवह्नि२ अगुरु ३, कल्पूरी ४ घण ५ कणीणिगा ६ केसा ७,
कसवट्ट ८ मसी ९ रयणी १०, कसिणा ११ अण्गधफला ” ॥ १ ॥
इति कृष्णत्वे गुणाः ।

“कम्पूरे अंगारो १, चंदे विंधं २ कणीणिगा णयणे ३ ।
शुद्धे मरियं ४ चित्ते, रेहा ५ कसिणा वि गुणहेतु ” ॥ २ ॥
इति कृष्णवस्त्वाश्रयणे गुणाः ।

“खारं ब्रवणं १ दहिणं, हिमं च २ अङ्गोरविग्गहो रोगी ३ ।
परवसगुणो अञ्जुषो, केवलगोरत्तणे ऽवगुणा ” ॥ ४ ॥

एवं परस्परं तासां जल्पे जायमाने श्रीनेमिः पशूनामात्तस्वरं
श्रुत्वा साक्षेपम्-हे सारथे ! कोऽयं दारुणः स्वरः ? सारथिः प्राह-
युष्माकं विवाहे भोजनकृते समुदायीकृतपशूनामयं स्वरः, इत्युक्ते
स्वामी चिन्तयति स्म । धिग्विवाहोत्सवं, यत्रानुत्सवोऽमीपांजी-
वानाम् । इतश्च-“हल्ली सहिओ ! किं मे दाहिणं चक्खु
परिप्फुड्डं ? चि” वदन्ती राजीमती प्रति सख्यौ प्रतिहतमम-
ङ्गलम्, इत्युक्त्वा थुथुत्कारं कुरुतः । नेमिस्तु हे सारथे ! रथमितो
निवर्त्तय । अत्रान्तरे नेमिः पश्यन्नेको हरिणः स्वग्रीवया हरिणी-
ग्रीवां पिधाय स्थितः । “अत्र कविघटना ”-स्वामिनं निरीक्ष्य
हरिणो धृते-

“मा पहरसु मा पहरसु, परं मह हिययहारिणिं हरिणिं ।
सामी ! अहं मरणं, वि दुस्सहो पियतमाविरहो ” ॥ १ ॥

हरिणी नेमिमुखं निमात्य हरिणं प्रति धृते-

“पसो पसन्नवयणो, तिहुयणसामी अकारणं बंधू ।
तव्विणवेसु वल्लह !, रक्खत्थं सन्नजीवाणं ” ॥ २ ॥

हरिणोऽपि पत्नीप्रेरितो नेमिं धृते-

“निज्जरुणनीरपाणं, अरणतणमक्खणं च वणवासे ।
अम्हाण निरवराहा-ण जीवियं रक्ख रक्ख पढो ! ” ॥ ३ ॥

एवं सर्वेऽपि पशवः स्वामिनं विज्ञापयन्ति । तावत्स्वामी वमापे-
भोः पशुरक्काः ! मुञ्चत मुञ्चत इमान् पशून्, नाहं विवाहं क-
रिष्ये । पशुरक्काः श्रीनेमिवचसा पशून्मुञ्चन्ति स्म । सारथिरपि
रथं निवर्त्तयति स्म । अत्र कविः-

“हेतुरिन्दोः कलङ्के यो, विरहे रामसीतयोः ।
नेमे राजीमतीत्यागे, कुरङ्गः सत्यमेव सः ” ॥ १ ॥ इति ।

समुद्रविजयशिवाविजयशिवादेवीप्रमुखाजनास्तु शीघ्रमेव
रथं स्खलयन्ति स्म । शिवा च सवाप्यं धृते-

“पत्थेमि जणणिवल्लह-वच्छ ! तुमं पढमपत्थणं किंपि ।
काऊण पाणिगहणं, मह दंसे निअवहुययणं ” ॥ १ ॥

नेमिराह-

“मुञ्चाग्रहमिमं मात !-मानीषीषु न मे मनः ।
मुक्खिस्सोसङ्गमोत्कण्ठ-मकुण्ठमवतिष्ठते ” ॥ १ ॥

यतः-

“या रागिणि विरागिण्य-स्ताः स्त्रियः को निवेवते ? ।

अतोऽहं कामये मुक्तिं, या विरागिणि रागिणी ” ॥ १ ॥
इत्यादि ।

राजीमती-हा दैव ! किमुपस्थितमित्युक्त्वा मूर्छां प्राप्ता, स-
खीभ्यां चन्दनवैराश्वासिता कथमपि लब्धसंज्ञा सवाप्यं
गाढस्वरेण प्राह-

“हा जायवकुलदिणयर !, हा निरुवमनाण ! हा जगसरण ! ।
हा करुणायर ! सामी !, मं मुचूणं कहं चलिओ ? ” ॥ १ ॥

“हा हिअय धिछ ! निट्टुर !, अज्ज वि निल्लज्ज ! जीविअं वहसि ।
अज्जत्थ वरुआओ, जइ नाहो अत्तणो जाओ ” ॥ २ ॥

पुनर्निःश्वस्य सोपाब्रम्भं जगाद-

“जइ सयलसिद्धहुत्ता-इ मुत्तिगणिआइ धुत्त ! रत्तोऽसि ।
ता एवं परिणयणा-रंभेण विमंविआ किमहं ? ” ॥ ३ ॥

सख्यौ सरोपम्-

“लोअपसिद्धी वत्तमी, सहिए इक्क सुणिज्ज ।

सरत्तं विरत्तं सामल्लं, चुक्किअ विहो करिज्ज ” ॥ १ ॥

पिम्मरहिअम्मि पिअसहि ! पअम्मि वि किं करेसि पिअभावं ? ।
पिम्मपरं किं पि वरं, अज्जयरं ते करिस्सामो ” ॥ २ ॥

राजीमती कणौ पिधाय हा ! अश्राव्यं किं आधयथः-

“जइ कह वि पच्छिमाए, उदयं पावेइ दिणयरो तह वि ।
मुचूण नेमिनाहं, करेमि नाहं वरं अक्कं ” ॥ १ ॥

पुनरपि नेमिनं प्रति-

“अतेरुत्तिरिच्छाधिकमेव दत्ते, त्वं याचकेभ्यो गृहमागतेभ्यः ।
मयाऽर्थयन्त्या जगतामधीश !, इस्तोऽपि हस्तोपरि नैव लब्धः ॥ २ ॥

अथ विरक्ता राजीमती प्राह-

“जइ वि हु एअस्स करो, मज्झ करे नो आसि परिणयणे ।
तह वि सिरे मह सुच्चिअ, दिक्खत्तासमए करो होही ” ॥ ३ ॥

अथ नेमिनं सपरिकरः समुद्रविजयो जगौ-

“नाजेवाद्याः कृतोद्वाहाः, मुक्तिं जग्मुर्जिनेश्वराः ।

ततोऽप्युच्चैः पदं ते स्यात्, कुमारग्रहचारिणः ॥ १ ॥

नेमिराह-हे तात ! कीणभोगकर्माऽहमास्मि । किञ्च-

“एकस्त्रीसंग्रहेऽनन्त-जन्तुसंघातघातके ।

जवतां जवतान्तेऽस्मिन्, विवाहे कोऽयमाग्रहः ? ” ॥ १ ॥

अत्र कविः-

“मन्येऽङ्गनाविरक्तः, परिणयनमिषेण नेमिरागत्य ।

राजीमतीं पूर्वभव-प्रेम्णा समकेतयन्मुक्त्यै ” ॥ १ ॥

कुमारावस्थावासः-

अरहा अरिष्टनेमी दक्षेण जाव तिन्नि वाससया-
इं कुमारे अगारवासमज्जे वसित्ता पुणरवि द्वागंतिएहिं
सन्नं तं चेव भाणियव्वं जाव दाणं दाइयाणं परि-
भाइत्ता ॥

अहं अरिष्टनेमिः दक्षः, यावत् त्रीणि वर्षशतानि कुमारः सन्
गृहस्थावस्थामध्ये उषित्वा पुनरपि लोकान्तिकैरित्यादि सर्वं
तदेव पूर्वोक्तं भणितव्यम् । लोकान्तिका देवा यथा-“जय नि-
जितकन्दर्प !, जन्तुजाताभयप्रद ! । नित्योत्सवाचतारार्थं, नाथ !
तीर्थं प्रवर्त्तय ” ॥ १ ॥ इति स्वामिनं प्रोच्य स्वामी वार्षि-
कदानानन्तरं त्रिभुवनमानन्दयिष्यतीति समुद्रविजयादीन् प्रो-
त्साहयन्ति स्म । ततः सर्वेऽपि सन्तुष्टाः । दानविधिस्तु श्रीवी-
रवद् द्वेयः ॥ १७२ ॥ कटप ७ क ० । स ० ।

तदनु शोभमासिञ्चन नेमिनं, फनफगुङ्गजवैर्धुसुष्णाचित्रैः ॥ १ ॥
तथा कस्मिणीप्रमुखगोपिका अपि ज्ञापितवान्, यदयं नेमिनः-
शब्दं कौडया पाणिप्रहामिमुखोच्चार्यः । ततश्च ता अपि-

“काञ्चित् केसरसारनोरनिकररास्त्रोदयन्ति प्रदुः,
काञ्चिद् बन्धुरपुष्पकन्दुकनरैर्निघ्नन्ति वक्रःस्थले ।
काञ्चिच्चाक्षकटाङ्गद्वयविनिर्देशयिद्वान्ति नमोक्तिभिः,
काञ्चित्फानकञ्चाचिञ्चासङ्गुञ्चा चिन्तापयाञ्चाकरे ॥ २ ॥

ततश्च-

“तावत्यः प्रमदाः मुगन्धिपयमा स्वर्णादिशृङ्गाङ्गुलिं,
मृत्वा तज्जनिर्गन्तः पृथुनरैः कर्तुं प्रदुः व्याकुलम् ।
प्रायस्तेनन्ति मिथो इहसन्ति सततं कीर्त्तयन्त्यमानसा-
स्तावद्योमनि देवगीरिणि समुद्रात् भुता चार्त्तलैः ॥ ३ ॥
मुग्धाः स्य प्रमदाः । यतोऽमरगिरौ गीर्वाणनाथैश्चतु-
ष्टयं योजनमानवपञ्चकुदरैः कुम्भैः सहस्राधिकैः ।
पाल्येऽपि स्तपितो य एव भगवान्नाभूमनागाकुञ्जः,
कर्तुं तस्य सुयत्नोऽपि किमहो ! गुप्ताभिरीक्ष्यते ॥” ३ ॥
ततो नेमिरपि हरिं ताञ्च सर्वां जलराज्योदयति स्म, कमल-
पुष्पकन्दुकैस्ताडयति स्म, इत्यादि सचिस्तरं जगदीडां कृत्वा
तदमागत्य नेमि स्वर्णासने निवेश्य सर्वां अपि गोप्यः परिवे-
ष्टुं स्थिताः । तत्र कस्मिणी जगौ-

“निर्वाहकातरतयोद्भवे न यस्त्यं,
कन्यां तदेतद्विचारितमेव नेमे ! ।
ज्जाता तथास्ति विदितः सुतरां समर्थो,
द्राघिनादुन्मिस्तसहस्रवधुर्विबोधा ॥ १ ॥

तथा सत्यभामाऽप्युवाच-

“ऋषयःसुखयजिनाः करपीडनं,
विदधिरं दधिरं च महोदयात् ।
बुधजिरे विषयाश्च बहुन् सुतान्,
सुपुत्रिरे शिष्यमप्यथ जगिरे ॥ २ ॥
त्यमसि किन्तु नवोऽयं शिवंगमी,
मृशमरिष्टकुमार ! विचारय ।
फलं देव ! चारुगृहस्थतां,
रचय बन्धुमनःसु च सुस्थताम् ॥ ३ ॥
अथ जगाद् च जाम्बवती जवात्,
शृणु पुरा हरिश्चंशवित्पणम् ।
स मुनिसुव्रततीर्थपतिर्गुडो,
शिवमगादिह जातमुतोऽपि हि ॥ ४ ॥
पश्चात्ततीति समुवाच विना वधूटीं,
शोभा न फाचन नरस्य भवत्यवश्यम् ।
नो केवलस्य पुरुषस्य करोति कोऽपि,
विश्वासमेव विट एव भवेदभार्यः ॥ ५ ॥

गान्धारी जगौ-

“सज्जन्यायाश्चाशुप्रसङ्गसार्थ-
पर्योत्सवा वेदमविवाहकृत्यम् ॥
सद्यानिकापुङ्गवपर्वदश्च,
शोजन्त पतानि विनाऽङ्गनां नो” ॥ ६ ॥

गौर्युवाच-

“अज्ञानभाजः किल पक्षिणोऽपि,
क्षितौ परिभ्रम्य वसन्ति सायम् ।
नीके स्वकान्तासहिताः सुखेन,

ततोऽपि किं देव ! मूढरक् त्वम्” ॥ ७ ॥

सङ्गमणाऽप्युवाच-

“स्नानादिसर्वाङ्गपरिक्थियायां,
विचक्षणः प्रीतिरसाभिरामः ।
विस्मयनपात्रं विधुरे सहायः,
कोऽप्यो जवेन्नूनमृते प्रियायाः” ॥ ८ ॥

सुसीमाऽप्युवाचीत्-

“विना प्रियां को गृहमागतानां,
प्राधूर्णकानां मुनिसत्तमानाम् ॥
करोति पूजाप्रतिपत्तिमन्यः,
कथं च शोभां लभते मनुष्याः” ॥ ९ ॥

एवमन्यासामपि गोपाङ्गनानां वाचोयुक्त्या यदनामाग्रहाच्च
मौनावगम्यतमपि स्मिताननं जिनं निरीक्ष्य, “अनिपिक्कमुम-
तम्” इति न्यायाद् नेमिना पाणिग्रहणं स्वीकृतमिति तामिर्वाह-
मुद्घोषितम्, तथैव जनोक्तिरिति । ततः कृष्णेनोपसेनपुत्री रा-
जोमती मार्गिता, लग्नं पृष्टं, कोष्टिकनामा ज्योतिर्वित् प्राह-

“वर्यासु गुणकार्याणि, नान्यान्यपि समाचरेत् ।
गृहिणां मुख्यकार्यस्य, विवाहस्य तु का कथा ? ॥ १ ॥
समुत्सवं वभाषेऽथ, कालक्षेपोऽत्र नादिति ।

नेमिः कथञ्चित् कृष्णेन, विवाहाय प्रवर्त्तितः ॥ २ ॥

मा भूद्विवाहप्रत्यहो, नेदीयस्तद्दिनं यद् ॥

धायणे मासि तेनोक्ता, ततः पृष्टी समुज्ज्वला” ॥ ३ ॥

चञ्चित्तश्च श्रीनेमिकुमारः स्फारशृङ्गारः प्रजाप्रमोदकरो रया-
रुदो भूताऽऽतपत्रसारः श्रीसमुद्रविजयादिदशाहं केशवबलमद्वा-
दिविशिष्टपरिवारः शिवादीश्वरीप्रमुखप्रमदाजोगीयमानधवलमङ्गल-
विस्तरः पाणिग्रहणाय अत्रतो गच्छन् वीक्ष्य सारार्थं प्रति-
कस्पेदं कृतमङ्गलभरं धयश्चमन्दिरम्, इति पृष्टवान् । ततः सोऽङ्ग-
ल्यग्रेण दर्शयन् इति जगाद्-“उपसेननृपस्य तव भवशूरस्याय
प्रासाद इति, इमे च तव भार्याया राजोमत्याः सख्यौ चन्द्रान-
ना-मृगलोचनाभिधाने मिथो वार्तयतः । तत्र मृगलोचना वि-
द्योक्त्य चन्द्राननां प्राङ्ग-हे चन्द्रानने ! स्त्रीवर्गे एका राजोमत्ये-
व वर्णनीया, यस्या अयमेतादृशो वरः पार्थिव इदीप्यति । चन्द्र-
वदनाऽपि मृगलोचनामाह-

“राजोमतीमद्भुतरूपरम्यां, निर्माय धाताऽपि यदीदृशेन ॥

घरेण नो योजयति प्रतिष्ठां, लभेत विद्वानविचक्षणः कामः” ॥ १ ॥

इतश्च तृणशब्दमाकर्ष्य मातृगृहाद् राजोमती सखीमन्ये प्राप्ता
हे सख्यौ ! भवतीभ्यामेव साम्प्रतमागच्छन्नापि वरो विद्योक्त्य-
ते, अहमपि विलोकायितुं न लभेयमिति वलात्तदन्तरे स्थित्वा
नेमिमात्रोक्त्य साक्षर्यं चिन्तयति स्म-

“किं पातालकुमारः ? किं वा मकरन्वजः सुरेन्द्रः किम् ? ॥

किं वा मम पुण्यानां, प्रभारो मूर्त्तिमानेयः ? ॥ २ ॥

तस्य विधातुः करयो-रात्मानं न्युञ्जन् करोमि मुदा ।

येनैव वरो विदितः, सौभाग्यप्रभृतिगुणराशिः” ॥ २ ॥

मृगलोचना राजोमत्यभिप्रायं परिक्राय सतीतिहासं-हे
सखि ! चन्द्रानने ! समग्रगुणसम्पूर्णोऽपि अस्मिन् वरे एकं दूषणं
अस्त्येव, परं वरार्थिन्यां राजोमत्यां दूषणवन्त्यां वक्तुं न शक्य-
ते । चन्द्राननाऽपि-हे सखि ! मृगलोचने ! मयाऽपि तद् ज्ञातं,
परं साम्प्रतं मौनमेवाचरणीयम् । राजोमत्यपि त्रपया मध्यस्थ-
तां दर्शयन्ती-हे सख्यौ ! यस्याः कस्या अपि हृदयानुभवा-
भ्यन्तयाः कन्याया अयं वरो जवतु, परं सर्वगुणसुन्दरेऽस्मि-

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स अज्जजक्खिणीपामुक्खाओ चत्तालीसं अज्जियासाहस्सीओ उक्कोसिया अज्जिया संपया हुत्था ॥ १७७ ॥

(अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स) अर्हतोऽरिष्टनेमेः, आर्ययक्षिणीप्रमुखाणि चत्वारिंशत् आर्यासहस्राणि उत्कृष्टा एतावती आर्यासम्पदा अभवत् ॥ १७७ ॥ कल्प० ७ कृ० । स० । आ० घू० ।

अथ आवकसंपत्—

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स नंदपामुक्खाणं समणोवासगाणं एगासयसाहस्सी अऊणत्तारिं च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासगाणं संपया हुत्था ॥ १७८ ॥

(अरहओ णं अरिष्टनेमिस्सेत्यादि) अर्हतोऽरिष्टनेमेः, नन्दप्रमुखाणां आवकाणामेको लक्ष एकोनसप्ततिश्च सहस्राः, उत्कृष्टा एतावती आवकाणां सम्पदा अभवत् ॥ १७८ ॥

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स महासुव्यापामुक्खाणं समणोवासियाणं तिन्नि सयसाहस्सीओ उक्कीसं च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासयाणं संपया हुत्था ॥ १७९ ॥

(अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स) अर्हतोऽरिष्टनेमेः महासुव्यापामुक्खाणां आवकाणां त्रयो वक्ताः पद्मत्रिंशत्सहस्रा उत्कृष्टा एतावती आवकाणां सम्पदा अभवत् ॥ १७९ ॥

अथ चतुर्दशपूर्विणाम्—

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स चत्तारि सया चउदसपुव्वीणं अज्जिणायं जिणसंकासाणं जाव संपया हुत्था ॥

अर्हतोऽरिष्टनेमेश्चत्वारि शतानि चतुर्दशपूर्विणाम्, अकेनखिनामपि केवलितुल्यानां यावत् सम्पदा अभवत् ॥ कल्प० ७ कृ० ।

अथावधिज्ञान्यादि—

पन्नरससया ओहिनाणीणं पन्नरससया केवलनाणीणं पन्नरससया वेउव्वियाणं दससया विउलमईणं ॥

पञ्चदश शतानि अवधिज्ञानिनां सम्पदा अभवत्, पञ्चदश शतानि केवलज्ञानिनां संपदा अभवत्, पञ्चदश शतानि वैक्रियवन्धिमतां संपदा अभवत्, दश शतानि विपुलमतीनां संपदा अभवत् ॥ कल्प० ७ कृ० ।

“ अरहो णं अरिष्टनेमिस्स अऊसया वाईणं सदेवमणुयासुराय परिसाय वाय अपराजियाणं उक्कोसिया वाइसंपया होत्था ” ॥ स्था० ८ ग० । स० ।

अनुत्तरोपपातिकानाम्—

सोलससया अणुचरोववाइयाणं, पन्नरस समणसया मिद्धा, तीसं अज्जियासयाइं सिद्धाई ॥ १८० ॥

षोडशशतानि अनुत्तरोपपातिनां संपदा अभवत्, पञ्चदश अमणानां शतानि सिद्धानि, त्रिंशत् आर्याशतानि सिद्धानि ॥ १८० ॥ कल्प० ७ कृ० ।

अथान्तकृद्भूमिः—

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स दुविहा अंतगन्धूमी हुत्था । तं जहा—जुगंतगडन्धूमी य, परियायंतगडन्धूमी य० जाव अङ्गमाओ पुरिसजुगाओ जुगंतगडन्धूमी, दुवासपरिआए अंतमकासी ॥ १८१ ॥

(अरहओ अरिष्टनेमिस्सेत्यादि) अर्हतोऽरिष्टनेमेः द्विविधा अन्तकृद्भूम्यादा अभवत् । तद्यथा—युगान्तकृद्भूमिः, पर्यायान्तकृद्भूमिश्च । यावत्, इदमत्र योज्यम्—अष्टमं पुरुषयुगं पट्टधरं युगान्तकृद्भूमिरासीत्, द्विवर्षपर्याये जाते कोऽपि अन्तमकार्षीत् ॥ १८१ ॥ कल्प० ७ कृ० । स्था० ।

अथ भगवत आयुः—

तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिष्टनेमी तिन्नि वाससयाइं कुमारवासमज्जे वसित्ता, चउप्पन्नं राई—दियाइं उउमत्थपरिआयं पाउणिच्चा, देसणाइं सत्तवाससयाइं केवलिपरिआयं पाउणिच्चा, पडिपुन्नाइं सत्तवाससयाइं सामन्नपरिआयं पाउणिच्चा, एणं वाससहस्सं सव्वा—उअं पालइच्चा, खीणे वेयणिज्जा उपनामगुत्ते इमीसे ओसप्पिणीए दूसमसुसमाए बहुविइक्कंताए, जे से गिम्हाणं चउत्थे मासे अऊमे पक्खे आसाढमुद्धे, तस्स णं आसाढमुद्धस्स अङ्गमीपक्खेणं उप्पि उज्जितसेलसिहरंसि पंचहिं वक्कीसेहिं अणगारसएहिं सद्धिं मासिएणं जत्तेणं अपाण—एणं चित्तानक्खत्तेणं जोगमुवागएणं पुव्वरत्तावरत्तकादसमयंसि नेसजिए कादगएण जाव सव्वदुक्खपहीणे ॥ १८२ ॥

[तेणं कालेणं इत्यादि] तस्मिन् काले तस्मिन् समये अर्हन् अरिष्टनेमिः त्रीणि वर्षशतानि कुमारवस्थायां स्थित्वा चतुष्पञ्चाशदहोरात्रात् उन्नत्यपर्यायं पाठयित्वा, किञ्चिदूनानि सप्तवर्षशतानि केवलिपर्यायं पाठयित्वा, प्रतिपूर्णानि सप्तवर्षशतानि चारित्रपर्यायं पाठयित्वा, एकं वर्षसहस्रं सर्वायुः पाठयित्वा, क्षीणेषु सत्सु वेदनीयायुर्नामगोत्रेषु कर्मसु अस्यामेव अवसर्पिण्यां दुष्पमसुपमनामके चतुर्थेऽरके बहुव्यतिक्रान्ते सति, योऽसौ उष्णकालस्य चतुर्थो मासः अष्टमः पक्षः—आषाढशुक्लः, तस्य आपादशुक्लस्य अष्टमीदिवसे उपरि उज्जयन्तनामशैलशिखरस्य पञ्चभिः पद्मत्रिंशद्युतैरनगरशतैः सार्द्धं मासिकेन अनशनेन अपानकेन जलरहिनेन, चित्रानक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति पूर्वाष्वरात्रिसमये मध्यरात्रौ निषण्णः सन् कालगतः, यावत् सर्वदुःखप्रक्षीणः ॥ १८२ ॥ इति ॥ कल्प० ७ कृ० । स० ।

अथ नेमिनिर्वाणात् कियता कालेन (प्रकृत)

पुस्तकलिखनादि जातमित्याह—

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स कालगयस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स चउरासीइं वाससहस्साइं विइक्कंताइं पंचासीइमस्स वाससयस्स नववाससयाइं विइक्कंताइं दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ ॥ १८३ ॥

अर्हतोऽरिष्टनेमेः कालगतस्य यावत् सर्वदुःखप्रक्षीणस्य चतुरशीतिवर्षसहस्राणि व्यतिक्रान्तानि, पञ्चाशीतितमस्य वर्षसहस्रस्यापि नव वर्षशतानि व्यतिक्रान्तानि, दशमस्य च वर्षशतस्य अयं अशीतितमः संवत्सरः कालो गच्छति ॥ १८३ ॥ श्रीनेमिनिर्वाणात् चतुरशीत्या वर्षसहस्रैः श्रीविनिर्वाणमभूत्, श्रीपार्श्वनिर्वाणं तु वर्षाणां त्र्यशीत्या सहस्रैः सार्द्धैः सप्तभिश्च शतैरभूदिति सुधिया ज्ञेयम् । कल्प० ७ कृ० । ती० ।

अथ निष्क्रमणम्-

जे से वासाणं पदमे मामे कुचे पक्खे सावणमुच्छे, तस्स एणं सावणमुदस्स उट्ठीपक्खेणं पुव्वएहकाइममयांसि उ-
चरकुराए सीयाए मदेवमणुआमुराए परिसाए समाणुग-
म्ममाणे० जाव वास्वईए मज्झं मज्झेणं निगमच्छइ । निग-
च्छइत्ता जेणेव रेवयए उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ । उ-
वागच्छइत्ता असोगवरपायवस्स अहे सीयं उवेइ । उवेइत्ता
सीयाओ पच्चोरुइइ । पच्चोरुइत्ता सयमेव आभरणमश्चालं-
कारं ओमुयइ । ओमुयइत्ता मयमेव पंचमुट्ठियं द्रोयं करेइ । क-
रेइत्ता छट्ठेणं जत्तेणं अपाणएणं चित्ताहिं नक्खत्तेणं जो-
गमुवागएणं एणं देवदूसमादाय एगेणं पुरिससहस्सेणं स-
दिं मुंडे भविता आगाराओ अणगारियं पव्वइए ॥ १७३ ॥

(जे से वासाणं पदमे इत्यादि) योऽसौ वर्षाकालस्य प्रथमो मासो
द्वितीयः पक्षः-आवणस्य शुक्रः पक्षः तस्य आवणशुक्रस्य पक्षो दि-
वने पूर्वाह्नकालसमये उचरकुरायां शिविकायां स्थितो देवम-
नुष्यामुरसहितया पर्यदा समनुगम्यमानो यावद् आरवत्या
नगर्या मध्यभागे निगच्छति । निगत्य यत्रैव रैवतकमुद्या-
नं उपागच्छति । उपागत्य अशोकनामवृक्षस्य तत्र शिविकां
स्थापयति । संस्थाप्य शिविकातः प्रत्य-
य आभरणमालयालङ्कारान् अयमुञ्चति, अयमुच्य सयमेव पञ्चमो-
ष्टिकं लाञ्छ करोति । कृत्या च पट्टेन भकेन अपानकेन जलरहितेन
चित्रायां नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति एकं देवदूत्यं गृहीत्वा
एकेन पुरुषाणां सहस्रेण सार्धं मुक्तो भूत्वा प्रतुरगाराभिष्म-
न्य साधुतां प्रतिपद्यः ॥ १७३ ॥ कथप० ७ क० । स० ।

अथ केवलोत्पादः-

अरहा अरिष्टनेमी चउप्पन्नं राईदियाइं निच्चं वोसट्ठकाए
तं चेव सव्वं० जाव पणपन्नगस्स राईदियस्स अंतरा वट्टपा-
णस्स जे से वासाणं तच्चं मामे पंचमे पक्खे आसापवहु-
ले, तस्स एणं आसापवहुलस्स पन्नरसीपक्खेणं दिवसस्स
पच्छिमे जाए उज्जितसेल्लमिहरे वेयसस्स पायवस्स अहे
अट्टमेणं जत्तेणं अपाणएणं चित्ताहिं नक्खत्तेणं जोगमु-
वागएणं जाणंतरियाए वट्टमाणस्स अण्ति० जाव जाण-
माणे पासमाणे विहरइ ॥ १७४ ॥

(अरहा अरिष्टनेमी इत्यादि) अर्हन् अरिष्टनेमिः चतु-
ष्पञ्चाशत् अहोरात्रान् यावद् नित्यं व्युत्सृष्टकायः तदेव-पूर्वोक्तं
सर्वं वाच्यं यावद् पञ्चपञ्चाशत्तमस्य अहोरात्रस्य अन्तरा
वर्तमानस्य योऽसौ वर्षाकालस्य तृतीयो मासः, पञ्चमः पक्षः-
आश्विनस्य कृष्णपक्षः, तस्य आश्विनवहलस्य पञ्चदशे दि-
वसे दिवसस्य पश्चिमे भागे उज्जयन्तनामशैलस्य शिख-
रे वेतसनामवृक्षस्य अधस्तात् अष्टमेन भकेन अपानकेन ज-
लरहितेन चित्रायां नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति शुक्र-
ध्यानस्य मध्यभागे वर्तमानस्य प्रजोरनन्तं केवलज्ञानं स-
मुत्पन्नं यावत् सर्वज्ञानं जानन् पश्यंश्च विहरति, तत्र
केवलज्ञानं रैवतकस्थे सहस्राव्रवणे समुपेदे, तत उद्यान-
पालको विष्णोर्व्यज्जिपत् । विष्णुरपि महर्क्षा जगव-

न्तं बन्धितुमाययौ । राजीमत्यपि तत्रागतः । अथ प्रभोर्देवा-
नां निशम्य धरदचतुषः सहस्रद्वयनूपयुतो व्रतमावदे । इ-
रिणा च राजीमत्याः स्नेहकारणे पृष्टे प्रसूधनवतीनवादा-
रम्य तया सह स्वस्य तवभवसम्यग्धमाचष्टे । तथाहि-प्रथ-
मे भवेऽहं धननामा राजपुत्रः, तदेयं धनवती नाम्नी म-
त्पत्नी अत्रूव १ । ततो द्वितीये भवे प्रथमे देवलोके आवां
देवदेव्यौ २ । ततस्तृतीये भवेऽहं विप्रगतिनामा विद्याधरः,
तदेयं रत्नवती मत्पत्नी ३ । ततश्चतुर्थे भवे चतुर्थे कल्पे द्वा-
वापि देवौ ४ । पञ्चमे भवेऽहं अपराजितराजा, एया मिथ-
तमा राज्ञी ५ । षष्ठे एकादशे कल्पे द्वावापि देवौ ६ । स-
प्तमेऽहं शङ्खो नाम राजा, एया तु यशोमती राज्ञी ७ । अ-
ष्टमेऽपराजिते द्वावापि देवौ ८ । नवमेऽहमयम्, एया राजीम-
ती ९ । ततः प्रचुरन्यत्र विद्वत्य क्रमात्पुनरपि रैवतके सम-
यासरत् । अनेकराजकन्यापरिवृता राजीमती तदा रथनेमि-
श्च प्रसूपाभ्यं दीक्षां जगृहत् । अन्यदा च राजीमती प्रसू न-
न्तुं प्रतिव्रजन्ती मार्गे वृष्टया बाधिता । एकां च गुहां प्राविशत् ।
तस्यां च गुहायां पूर्वं प्रविष्टं रथनेमिमज्जानती सा पिलान्नि
चस्त्राणि शोपयितुं परितश्चिष्टे । ततश्च तामपहसितत्रिदश-
तर्षणीरामणीयकां साक्षात् कामरमणीमिव रमणीयां तथा
विवसानां निरीक्ष्य स्नातुर्धरादिव मनेन मर्मणि हतः कुलल-
ज्जामुत्सृज्य धीरतामवधीर्य रथनेमिस्तां जगाद-

“अयि ! सुन्दरि ! किं देहः, शोष्यते तपसा त्वया ? ।

सर्वाङ्गभोगसंयोग-योगः सौभाग्यशेषधिः ॥ १ ॥

आगच्छ स्येच्छया मद्ने ! कुर्वहे सफलं जनुः ॥

आवासुभाधपि प्रान्ते, चरिष्यावस्तपोविधिम् ” ॥ २ ॥

ततश्च महासती तदाकर्ण्य तं दृष्ट्वा च धृताद्भुतधैर्या तं प्रत्युवाच-

‘महानुभाव ! कोऽयं ते-ऽभिलाषो नरकाश्वनि ।

सर्वं साधयमुत्सृज्य, पुनर्याञ्छन्न लज्जसे ॥ १ ॥

अगन्धनकुत्रे जाता-स्तियञ्चो ये नृजङ्गमाः ।

तेऽपि नो यान्तमिच्छन्ति, त्वं नीचः किं ततोऽप्यसि ? ” ॥ २ ॥

इत्यादियाक्यैः प्रतियोधितः श्रीनेमिपार्श्वे तददुःखीर्षमाश्लेष्य

तपस्तप्या मुक्तिं जगाम । राजीमत्यपि बोक्षामाराध्य शिवश-

य्यामारुढा, चिरप्राथितं शाश्वतिकं श्रीनेमिसंयोगमवाप । यदाह-

“छत्रस्था वत्सरं स्थित्वा, गेहे चर्पचतुःशतीम् ।

पञ्चवर्षशतीं राजी, ययौ केवलिनी शिवम् ” ॥ १ ॥ १७४ ॥

(कृष्णाग्रमाहिणीप्रजाजनम् ‘अगमहिनी’ शब्देऽस्मिन्नेव प्रागे
१७४ पृष्ठे उक्तम्)

अथ गणादिसंपत्-

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स अट्टारस गणा

अट्टारस गणहरा इत्था ॥ १७५ ॥

(अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स चि) अर्हतोऽरिष्टनेमेरष्टादश
गणाः, अष्टादश गणधराश्च अभवन् ॥ १७५ ॥ कथप० ७ क० ।

अथ अमणअमणीसंपत्-

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स वरदत्तपामुक्खाओ अट्टारस

समणसाहसीओ उकोसिया समणसंपया इत्था ॥ १७६ ॥

(अरहओ णं अरिष्टनेमिस्सेत्यादि) अर्हतोऽरिष्टनेमेः वरदत्तप्र-
मुखाणि अष्टादश अमणानां सहस्राणि, वत्सृष्टा पतावती अम-
यसम्पदा अभवत् ॥ १७६ ॥

इति पृषोदरादित्वादित्यरूपनिष्पत्तिः । स्यादेतत्, अनन्तरगाथा-
यामेत एवोक्ताः, पुनरप्यमीपामेवेहोपन्यासो न युक्तः । उच्यते-
अनन्तरगाथायां नमस्कारार्हत्वेहेतुत्वेनोक्ताः, इह पुनरभिधा-
निकक्तिप्रतिपादनार्थं उपन्यासः ।

साम्प्रतं प्रकारान्तरतोऽस्य आख्यायन्ते, ते चाद्यौ ज्ञानावर-
णादिसंज्ञाः सर्वसत्त्वानामेव । तथाचाऽऽह-

अद्विहं पि य कम्मं, अरिचूर्यं होऽ सव्वजीवाणं ।
ते-कम्ममरीहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

अष्टविधमष्टप्रकारम्, अपिशब्दादुत्तरप्रकृत्यपेक्षया अनेकप्र-
कारम् । चशब्दो भिन्नक्रमः, स चावधारणे । ज्ञानावरणादि कर्म-
व अरिभूतं शत्रुभूतं भवति सर्वजीवानां सत्त्वानाम्, अनवबोध-
दिदुःखहेतुत्वात् । तत्कर्मारिहन्तारो यतः, तेनार्हन्त उच्य-
न्ते । रूपानिष्पत्तिः प्राग्वत् ।

अथवा-

अरिहंति वंदनमर्म-सणाणि अरिहंति पूयसकारं ।
सिद्धिगमणं च अरिहा, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

अर्ह-पूजायाम् । अर्हन्ति वन्दननमस्करणे, तत्र वन्दनं शिर-
सा, नमस्करणं वाचा । तथा-अर्हन्ति पूजासत्कारं, तत्र वस्त्र-
माल्यादिजन्या पूजा, अन्युत्थानादिसंभ्रमः सत्कारः । तथा-
सिध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्त्यस्यां प्राणिनः सिद्धिः लोकान्तक्षेत्र-
लक्षणा । वक्ष्यति-“इह धौर्दि चइत्ता णं, तत्थ गन्तूणं सिज्जह”
तन्मनं प्रति अर्हन्तीत्यर्हाः योग्याः । “अच्” । ५ । १ । ४९ । इत्यच् ।
तेन कारणेनार्हन्त उच्यन्ते । अर्हन्तीत्यर्हन्तः ।

तथा-

देवासुरमणुपसु य, अरिहा पूया सुरुत्तमा जम्हा ।
अरिणो हंताऽरिहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

देवासुरमनुजैभ्यः-“सूत्रे पञ्चम्यर्थे सप्तमी, प्राकृतत्वात्” पूजाम-
र्हन्ति प्राप्नुवन्ति । कुत इति चेत् ? अत आह-यस्मात्सुरोत्त-
मा उपचितसकलजनासाधारणपुण्यप्राग्भारतया समस्तदेवा-
सुरमनुजोत्तमाः, ततः पूजामष्टमहाप्रातिहार्यलक्षणामर्हन्तीत्य-
र्हन्तः । इत्थमनेकधा त्वर्थमभिधाय पुनः सामान्यविशेषाभ्यामु-
पसंहरन्नाह-(अरिणो हंता इत्यादि) यतोऽरीणां हन्तारः, तथा-
रजो बध्यमानकं कम, तस्य रजसो यतो हन्तारः, तेनार्हन्त उ-
च्यन्ते । “अरिहन्तारः” इति वा स्थितस्य अर्हन्त इति निष्पत्तिः
प्राग्वत् । आ० म० द्वि० । ध० । नं० । ओ० । सू० प्र० । आव० ।
अर्हन् जैनानां परमपूज्यः । यो० वि० ।

“अरुवीर्णं देसियच्चं, तहेव निज्जामया समुदस्मि ।
उक्कायरक्खण्डा, महगोवा तेण वुच्चंति” ॥ विश० ।
रागहोसकसाय, य इंदियाणि य पंचवि परीसहे ।
उवसग्गे नामयंता, नमोऽरिहा तेण वुच्चंति” ॥ विश० ।

आ० चू० । स्या० । (‘णमोक्कार’ शब्देऽस्य व्याख्या यथास्थानं च)
‘णमो अरिहंताणं जगवंताणं’ । अर्हन्तो नामादिजेदाद्यनेकजेटाः,
‘नाम-स्थापना-रूप-भावतस्तन्त्यासः’ इति वचनात् । तत्र
भावोपकारित्वेन आवाहृत्संपरिग्रहार्थमाह-भगवद्भूषः । ४०
प्र० । “अरिहंताणमवशं वदमाणे अरहंतपणुत्तस्स ध-
म्मस्स अवशं वदमाणे” इत्यादि ‘अवक्ष्वाय’ शब्देऽ-
त्रैव जागेऽग्रे वक्ष्यते) (अर्हदाशातना ‘आसायणा’ शब्दे

द्वितीयजागे ४८३ पृष्ठे दृष्टव्या) “अरिहंता लोगुत्तमा अ-
रिहंते सरणं पवज्जामि” । आव० ४ अ० । (अर्हन्तो
लोकोत्तमा इति ‘चउसरणगमण’ शब्दे वक्ष्यते) (उ-
अस्थोऽतीन्द्रियमर्थं न जानाति, तमेवाहर्न जानातीति वक्ष्यते
“छउमत्थ” शब्दे) (अर्हन्त एव सर्वज्ञा इति “सव्वण्णु”
शब्दे निरूपयिष्यते)

जम्बूद्वीवे दीवे जरहरवपसु वासेसु एगसमए एगजुगे दो
अरिहंतवंसा उप्पजिसु वा, उप्पज्जिति, उप्पज्जिस्संति वा ॥

पञ्चादिकः काव्यविशेषो युगं, तत्रैकस्मिन् ऽतस्याप्येकस्मिन्समये;
“एगसमए एगजुगे” इत्येवंपाठेऽपि व्याख्योक्तक्रमेणैव, इत्थमे-
वार्थसम्बन्धात्, अन्यथा वा प्रावनीयेति । द्वावर्हतां वंशौ प्र-
वाहौ-एको भरतप्रभवः, अन्य ऐरवतप्रभव इति । स्था० २
गो ३ व० ।

एकस्मिन् क्षेत्रे एकसमये द्वावर्हन्तौ नोत्पद्येते इति कपिल-
वासुदेवं प्रति मुनिसुवताक्तिः । ज्ञा० १६ अ० । जम्बूद्वीपे मन्द-
रपौरुष्ये शीताया महानद्या उत्तरे दक्षिणे च उत्कर्षेण अष्टौ
अष्टौ; जम्बूद्वीपे मन्दरपश्चिमेन शीतोदाया महानद्या उत्तरे
दक्षिणे च उत्कर्षेण अष्टौवष्टौ । प्रतिकच्छादिविजयक्षेत्रमेकैक-
स्मिन् द्वात्रिंशत्तीर्थकरा इति । स्था० ८ ग० । (अर्हत्युत्पद्यमाने
लोकान्धकारोद्योताविति “अंधयार” शब्देऽस्मिन्नेव जागे १०७
पृष्ठे समुक्तम्, तथा ‘तित्थयर’ शब्दे सर्वा वक्तव्यता दृष्टव्या)
“ससिधवला अरिहंता” इति गायायामर्हदादीनां इवेता-
द्यारोपः किहेतुकः ? इति प्रश्ने, अर्हन्तः पञ्चवर्णाः, सिद्धास्त्व-
वर्णाः शास्त्रेषु व्यक्ततथैवोक्ताः सन्ति, आचार्यादयोऽपि केवल-
पीतादिवर्णा एव भवन्ति, तेनैतेषु पूर्वाचार्यवर्णक्रमेण ध्याय-
मानेषु श्वेताद्येकैकवर्णारोपणपूर्वकमेपां ध्यानं सिद्धिदं नव-
तीति, ते तु सर्वास्वपि क्रियासु द्रव्यक्षेत्रकालजावादिसामग्रीवि-
भिन्नासु प्रवर्तन्ते इति न काऽप्यनुपपत्तिः । १५७। सेन०२ उल्ला० ।

अरिहंतकर्मभोयभव-अर्हत्कमाम्भोजभव-त्रि० । अर्हतां श्री-
तीर्थकराणां क्रमाश्रयणाः त एवाम्भोजानि कमलानि, तेज्यो
भव उत्पत्तिर्यस्य तदर्हत्कमाम्भोजभवम् । जिनेश्वरचरण-
पङ्कजसम्भवे, द्रव्या० ५ अध्या० ।

अरिहंतकर्मजोयसमासिय-अर्हत्कमाम्भोजसमाश्रित-त्रि० ।
अर्हतां वीतरागणां क्रमाश्रयणास्त एवाम्भोजानि कमलानि तत्र
समाश्रितः । अर्हत्चरणाब्जशरणाचूते, द्रव्या० १३ अध्या० ।

अरिहंतचेइय-अर्हचैत्य-न० । अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादि-
रूपां पूजामर्हन्तीति अर्हन्तः तीर्थकराः, तेषां चैत्यानि प्रति-
मालक्षणानि अर्हचैत्यानि । इदमत्र भावना-चिन्तन-करणं,
तस्य भावे कर्मणि वा (“वर्णहृदादिज्येष्ठ्यं च वा ”
७ । १ । ५६ । इति हैमसूत्रेण दृष्टाणि) कृते चैत्यम् ।
तत्रार्हतां प्रतिमाः प्रशस्तसमाधिचिन्तोत्पादकत्वाद् अर्हचै-
त्यानि भिष्यन्ते । अर्हत्प्रतिमासु, “अरिहंतचेइयाणं करोमि
कावस्सगं” आव० ५ अ० । आ० चू० । प्रति० । ध० ।

अरिहंतजासिय-अर्हद्जाषित-त्रि० । अर्हद्भिः सम्यगाख्या-
ते, सूत्र० १ सु० ६ अ० ।

अरिहंतमणुषाय-अर्हदनुज्ञात-त्रि० । अर्हद्भिः कर्तव्यतया-
ऽनुज्ञाते, प्रज्ञा० १२ पद ।

"उज्जतसेलसिद्धरे, दिक्खा नाणं निसोदिया जस्स ।
तं धम्मचक्खवट्ठि, अरिहनेमिं नमस्सामि" ॥२॥ घ० २ अधि० ।
(अरिहनेमिना राज्ञीमतीपरित्यागः, तथा प्रयोजितया कामा-
संरधनेमिप्रतिबोधश्च 'रहनेमि' शब्दे वक्ष्यते)
अणहिलपट्ठेन पूज्यमाने श्रीअरिहनेमिदेवे, ती० ।

तत् कथा चेयम्-

पणमिय अरिहनेमिं, अणहिलपट्ठेणपट्ठणावयंसस्स ।

वञ्जाणगच्छनिसिय-अरिहनेमिस्स कित्तिमो कप्पं ॥१॥

"पुण्यं किर सिरिकन्नउज्जयरे जफलो नाम महद्विसेपयो नेगमो
होत्था । सो अणया वाणिज्जकज्जे महया यद्वसन्त्येण कयाण-
गाणि गणिकण कन्नउज्जयडिक्कं कन्नउज्जाहियमुआप महणि-
गाप कंउविआसंयाधदिणं गुज्जरदेसं पडिआओ, आयासिओ अ ।
कमेण लक्खारामे सरस्सइनइतने पुण्वि अणहिलपट्ठेणपट्ठ-
णनिवेसट्ठाणं कारितं आसी । तत्थ सत्थं निवेसित्ता अत्यंतस्स
तस्स नेगमस्स पत्तां यासारत्ते । धरिसिउं पयत्ता जलहरा ।
अणया भद्वयमासे सो यद्वसत्थो सव्यो वि कत्थ वि गओ, को
धि न जाणइ, सव्यत्थ गवेसाविओ न लदो । तओ सव्यस्स ना-
से इव अत्यंतचित्ताउरस्स तस्स रणीए आगया सुमिणंसि
भगवई अया देवी । ज्ञाणियं च तीए-वच्छ ! जगसि, सुवालिआ !
जफलेण पुत्तं-अम्मो ! कयो मे निहा ? जस्स यद्वसत्थो सव्य-
स्सत्तओ विण्णणो । देवीए साहियं-भइ ! एयम्मि लक्खारामे अ-
विलियाधणस्स दिट्ठे पडिमातिगं वट्ठए । पुरिसतिगं सणावि-
त्ता तं गाहयव्वं । एया पणिमा अरिहनेमिसामिणो, भवरा
सिरिपासनाइस्स, अआ य अंविआदेवीए । जफलेण वायरिअ-
तत्थ य अंविआधण्णाणं वाहुल्ल सो पयसो कइ नायव्वो ! दे-
वीए जंविअ-पोउमयंमंनलं पुक्कप्पयरं जत्थ पाससि, तं चेव ज्ञा-
णं पणिमातिगस्स जाणिआसि । तम्मि पणिमातिगे पयरीक्कए पु-
इज्जंतं भनुज्ज यद्वल्ल सयमेव आगच्छिहिहि । पहाए तेण उट्टुज्ज-
ण थलिधिआणपुण्यं तहाकप पयरीहआओ तिप्पि वि पणिमाओ ।
पूयाओ विहिपुण्यं । सणमिसेण अतक्कियमेव आगया यद्वल्ल ।
संतुओ नेगमो । कमेण कारिओ तत्थ पासाओ । उवियाओ
पणिमाओ ॥ अणया अरिहनेमि वासारत्ते भगवद्दारागामाओ
अट्ठारससयपट्ठसाखियधरअत्तकियाओ वञ्जाणगच्छमंउणसिरि-
जसोमहद्वरिणो संभाइतनयरोवरि विहरंता तत्थ आगया । बो-
गेहिं विअविअं-भगवं ! तिरपं उल्लंघितं गंतुं न कप्पइ । पुरओ
तओ तेहिं सूरिहिं तय ताओ पडिमाओ ममासिरपुण्णिमाए ध-
यारोवो महसवपुण्यं कयो । अज्जवि एइ वरिसं तम्मि चेव
दिट्ठो धयारोवो कीरइ । सो य धयारोवमहसयो विकमाइआओ
पंचसु सपसु दुउत्तरेसु (५०२) वरिसाणं अइकंतेसु संवुत्तो । तओ
अट्ठसपसु दुउत्तरेसु विकमवासेसु (८०२) अणहिल्लगेवालय प-
रिक्खियपपसे लक्खारामाणे पट्ठणं चारुक्कडयंसमुत्ताहलेण
वणरायराइणा निवेसियं । तत्थ वणराया समरायत्तअरुवय-
रसीहरयणाइअसामंतसीइनामाणो सत्त चारुक्कडयंसरायणो
जाआओ । तत्थेव पुरे चालुक्कडसे मुत्तरायचामुत्तरायवज्जरायदु-
ल्लभरायभीमदेवकअजयसिहदेवकुमारपालदेवजयदेववालय-
ल्लभरायभीमदेवविहाणा पणारस्स नरिदा । तओ वांघलागसए
ल्लणप्पसायवीरधवलवीसन्नदेवअज्जुणदेवसारंगदेवकण्ठदेवा न-
रिदा संजाया । ततो अल्लवदीणसुरचाणाणं गुज्जरधरिणीए
आणा पयइ । सो अरिहनेमिसामी कोहंवीयपानिहारो अज्ज-
वि तदेव पूइज्जइ चि" ॥

अरिहनेमिकल्पोऽयं, लिखितः श्रेयसेऽस्तु यः ।

मुखात् पुरा विदां धृत्वा, श्रीजिनप्रज्ञसुरिभिः ॥ १ ॥ ती० २६
कल्प० । "दो तिथगरा नीहुप्पलसमा वज्जेणं पयत्ता । तं जहा-
मुणिसुव्वए चेव, अरिहनेमी चेव" । स्था० २ डा० ४ उ० ।

अरिह्ठा-अरिह्ठा-स्त्री० । कच्छविजयकेत्रवत्तिराजधानीयुगले,
जं० ४ वक्क० । "दो अरिह्ठाओ" । स्था० २ डा० ३ उ० ।

अरिह्ठारि-अरिह्ठारि-पुं० । अरिह्ठारिपुण्यभासुरमर्दके श्री-
कृष्णे, "अधूर्तं देवकी चक्रे, पुष्टारिह्ठारिणा कृष्णात्" । आ० क० ।

अरिह्ठा-अरिह्ठा-स्त्री० । सामान्यतः शत्रुजाये, प्र० १९ श० ।
५ उ० ।

अरिदमण-अरिदमण-पुं० । सप्ततितमे श्रीशृंगपुत्रे, कल्प० ७
स० । वसन्तपुरराजनि, यस्य पत्न्याऽभयं दत्त्वा चौरा मोचितः ।
सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । (अस्य कथा- 'अभयपदाण' शब्देऽ-
स्मिन्नेव भागे ७०८ पृष्ठे दर्शिता) श्रीप्रभनृपोपक्षावके नृपे,
घ० २० ।

अरिहो-अव्य० । पादपूरणे, प्रा० २ पाद ।

अरिस-अर्शस्-न० । 'हरस' इति लोकप्रसिद्धे गुदाङ्कुरे
रोगे, तं० । जी० । जं० । ज्ञा० । विपा० । उपा० । यद्वलेन वायु-
मूर्त्रपुरीषं च प्रवर्तयते तासां गुदप्रविष्टानां शिराणां विधाते-
ऽर्थो रोगो जयति । प्रच० ३५२ द्वार ।

अरिसिद्ध-अर्शस्-वि० । अर्थोक्ते, "अरिसिद्धस्स व अरि-
सा, मा खुमं तेण बंधए कमणी" । नि० चू० १ उ० । अर्थो-
यतः पादतलदैर्बन्ध्यादर्शांसि मा खुम्येरसिति कृत्वा कमणिके
असौ वपनति । वृ० ३ उ० ।

अरिह-अर्ह-धा०-पूजने, लक्क० । योग्यत्वे, अक० फवादि०
पर० सेद । वाच० । "हं-श्री-ह्री-कृत्स्न-क्रिया-दिष्टास्त्वित्" ।
पृ० २ । १०४ । इति सूत्रेण संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्वं इकारः ।
अरिह-अर्हति । प्रा० २ पाद ।

अर्ह-वि० । योग्ये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । स्था० । लक्क-
णोपेततयाऽऽचार्यपदयोग्ये, व्य० १० उ० । पूज्ये, विशेषे । प्रज्ञा-
स्ततया पूज्यं, स० ।

अरिहंत-अर्हत्-पुं० । अर्हन्त्यशोकाद्यष्टप्रकारां परमभक्तिपरसु-
रामुरविसरविरचितं जन्मान्तरमहालवालिक्कडानवधवास-
नाजालामिषिकपुण्यमहातरुकाव्याणफलकक्षां महाप्रातिहार्य-
रूपां निखिलप्रतिपत्तिप्रज्ञायात् सिद्धिसौधशिशिरारोहणं चेत्य-
र्हन्तः । स्था० २ डा० १ उ० । आथ० । जं० । सूत्र० । अजु० ।
आ० म० । जी० । आ० चू० । विशेषे । आवा० । तीर्थकृत्सु,
आ० म० द्वि० ।

सम्प्रति प्राकृतशैल्या अनेकधाऽर्हन्तनिर्भक्तसंज्ञ
इति दर्शयद्वाह-

इंदियविसयकसाए, परीसहवेयणाए उवसगो ।

एए अरिणो इंता, अरिहंता तेण वुचंति ॥

इन्द्रियादयः पूर्ववत् । वेदना त्रिविधा-शारीरी, मानसी, उभ-
यरूपा च । 'एए अरिणो इंता' इत्यत्र प्राकृतशैल्या क्खान्दसत्त्वा-
च्च विभक्तिव्यत्ययः । ततोऽयमर्थः-पतेयामरीणां हन्तारोऽर्हन्त

शोभनं भवति, अपि त्वपराध्यति, तत्कण्ड्वयनं व्रणस्य दोषमा-
वहति । सूत्र० १ शु० ३ अ० ३ अ० ।

अरुज्-त्रि० । आधिब्याधिबेदनारहिते, ध० २ अधि० । शरी-
रमनसोरजावाद् अविद्यमानरोगे सिद्धिस्थाने, स० १ सम० ।
औ० । जी० । कल्प० ।

अरुह-अर्हुत्-पुं० । “उच्चार्यति” । ८ । २ । १११ । इति
सुत्रेण संयुक्तस्यान्यव्यञ्जनात् पूर्वं चद्, अदितौ च भवतः ।
अरुहो, अरुहो, अरिहो । प्रा० २ पाद् । योत्ये, तीर्थ-
करे च । प्रव० १७५ द्वार ।

अरुह-पुं० । न रोहति भूयः संसारे समुत्पद्यते इत्यरुहः, संसा-
रकारणानां कर्मणां निर्मूलकापं कपितत्वात् । अजन्मनि सिद्धे,
प्रव० २७५ द्वार । क्षीणकर्मबीजत्वात् (अरुहः) । आह च-
“दग्धे बीजे यथाऽऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः कमबीजे तथा दग्धे,
न रोहति भवाङ्कुरः” ॥१॥ म० १ श० १ उ० । आव० । दर्श० ।

अरुव-अरूप-त्रि० । न विद्यते रूपं स्वभावो यस्यासावरूपः ।
अतत्त्वभावे, अने० ४ अधि० ।

अरुवकाय-अरूपकाय-पुं० । अमूर्ते धर्मास्तिकायादौ, ज०
७ श० १० उ० ।

अरुवि (ए)-अरूपिन्-त्रि० । रूपं मूर्तिर्वर्णादिमत्त्वं; तदस्या-
स्तीति रूपी, न रूपी अरूपी । अमूर्ते, स्था० ५ डा० ३ उ० ।
धर्मास्तिकायादौ, प्रज्ञा० १ पद् । म० । आव० ।

“धम्मत्थिकायं तद्देसे, तप्पपसे य आहिप ।

अहम्मे तस्स देसे य, तप्पपसे य आहिप ॥ ५ ॥

आगासे तस्स देसे य, तप्पपसे य आहिप ।

अच्चासमयप चेव, अरुवी दसदा भवे” ॥ ६ ॥ उक्त० ३६ अ० ।

(टीकाऽनयोः ‘अजीव’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०३ पृष्ठे दर्शिता)
रूपातीते अमूर्ते आत्मनि, म० १७ श० २ उ० । दर्श० । कर्मरहिते
सिद्धे, आ० म० द्वि० । मुक्ते, स्था० २ डा० १ उ० । “अरुवी
सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि, से णं सद्देण रुवेण गंधेण रसेण
फासे इधेतावंति त्ति वेमि” । (अरुवी सत्त त्ति) तेषां मुक्ता-
त्मनां या सत्ता साऽरूपिणी । अरूपित्वं च दीर्घादिप्रतिषेधेन
प्रतिपादितम् । आचा० १ शु० ५ अ० ६ उ० ।

अरुविअजीवपणवणा-अरूप्यजीवप्रज्ञापना-स्त्री० । रूप-
व्यतिरेकेणारूपिणो धर्मास्तिकायादयः, तं च ते अजीवाश्च अरु-
प्यजीवाः ; तेषां प्रज्ञापना अरूप्यजीवप्रज्ञापना । अजीवप्रज्ञा-
पनाभेदे, प्रज्ञा० १ पद् ।

अरे-अरे-अव्य० । रतिकलहे, “अरे ! मय समं मा करेसु उव-
हासं” । प्रा० २ पाद् । रोषाह्वाने, नीचसंबोधने, अपकृतौ, अ-
सूयायां च । वाच० ।

अरोग-अरोग-त्रि० । निष्पीने, म० १७ श० १ उ० । अशेष-
चन्द्ररहिते सिद्धे, सूत्र० १ शु० १ अ० १ उ० ।

अल-अल-न० । अल-अच । वृद्धिकपुच्छस्ये कण्टकाकारे
पदार्थे, हरिताले च । वाच० । अभीष्टकार्यसमर्थे, आचा० २
शु० ५ अ० १ उ० । अलादेव्याः सिंहासने, ज्ञा० २ शु० ।

अल-अलम्-अव्य० । पर्याप्ते, नि० चू० १ उ० । आचा० । म० ।
ज्ञा० । दश० । समर्थे, सूत्र० १ शु० ६ अ० । अत्यर्थे, औ० ।
प्रतिषेधे, सूत्र० २ शु० ७ अ० । नृण्ये, सामर्थ्ये, निवारणे, नि-
षेधे, निरर्थकत्वे, अस्यर्थे, अवधारणे च । वाच० ।

अलंकरण-अलङ्करण-न० । शोभाकारके, कल्प० ३ ज्ञ० ।

अलंकार-अलङ्कार-पुं० । अलङ्कृत्यते नृण्यतेऽनेनेत्यलङ्कारः ।
कटककेयूरादिके, सूत्र० १ शु० ३ अ० २ उ० । औ० । प्रज्ञा० ।
रा० । दशा० । आभरणविशेषे, रा० । आ० म० । वृ० । अलङ्क-
क-करणे घञ् । नृपायाम्, हारादौ नृपण्ये, साहित्यवि-
षयदोषगुणप्रतिपादके ग्रन्थे, शब्दचूषणे-अनुप्रासादौ, शब्दा-
र्थचूषणे-उपमादौ च । वाच० । “चउव्विहे अलङ्कारे पथ्यते । तं
जहा-केसालङ्कारे वत्थालङ्कारे मल्लालङ्कारे आभरणाङ्कारे” ।
स्था० ४ डा० ४ उ० । आ० चू० ॥

अलङ्कारचूलाभिणि-अलङ्कारचक्राभिणि-पुं० । खनामख्यातेऽ-
लङ्कारग्रन्थे, यस्य वृत्तिः प्रतिमाशतक-नयोपदेशकृता कृता ॥
नयो० । प्रति० ।

अलङ्कारिय-अलङ्कारिक-पुं० नापिते, ज्ञा० १३ अ० ।

अलङ्कारिकम्-अलङ्कारिककर्मन्-न० । नखल [म] एरु-
नादौ, ज्ञा० २ अ० । क्षुरकर्मणि, विपा० १ शु० ६ अ० ।

अलङ्कारियसहा-अलङ्कारिकसज्ञा-स्त्री० । नापितकर्मशाला-
याम्, ज्ञा० १३ अ० । अलङ्कारिकसभा यस्यामलङ्कृत्यते । स्था०
५ डा० ३ उ० ।

अलङ्किय-अलङ्कृत-त्रि० । मुकुटादिभिः [प्रज्ञा० ५ सम्ब०
द्वा०] विभूषिते, दशा० १० अ० । औ० । ज्ञा० । कृतालङ्कारे,
ज० ६ श० ३३ उ० । उत्प्रेक्षादिभिरलङ्कारैर्विभूषिते, विशेष० ।
अनु० । उपमादिभिः काव्यालङ्कारैरुपेतै, आ० म० द्वि० । स्था० ।
उक्त० । अन्यान्यस्फुटगुणस्वरविशेषाणां करणादलङ्कृतम् । स्था०
७ डा० । अनु० । अन्यान्यस्वरविशेषकरणेनालङ्कृतमिध गी-
यमाने गीतगुणभेदे, जी० ३ प्रति० ।

अलङ्चपक्खगाहि (ए)-अलङ्चपक्खग्राहिन्-पुं० । “अलं-
चपक्खगाही, परिसया रूपजक्खगाहो” । न कस्यापि लज्जा-
मुत्कोचं गृह्णन्ति, नाप्यात्मीयोऽयमिति कृत्वा पक्वं गृह्णन्ति, ते
एतादृशा अलङ्चपक्खग्राहिणः रूपेण मूर्त्या यक्ता इव रूपयक्ताः,
मूर्तिमन्तो धर्मेकनिष्ठा देवा इत्यर्थः । रूपं गृहीत्वाऽस्मीयत्वेन
पक्वापरिग्राहकेषु रूपयक्तेषु, व्य० १ उ० ।

अलङ्घूम-अलङ्घूम-पुं० । अत्यन्तमद्विने, अष्ट० ३ अष्ट० ।

अलङ्घुसा-अलङ्घुषा-स्त्री० । उत्तरदिग्भागवर्त्तित्वकवासिन्यां
दिक्कुमार्याम्, जं० ५ वक्त्र० । आ० म० । द्वी० । आ० क० ।
स्था० । आ० चू० ।

अलङ्गोगसमर्थ-अलङ्गोगसमर्थ-त्रि० । अत्यर्थं भोगानुभवनस-
मर्थे, औ० ।

अलङ्क-अलङ्क-पुं० । वाराणसीनगर्यां राजभेदे, अन्त० । तत्कथा-
नकं तु अन्तर्कृद्दशानां षष्ठ्यवर्गस्य षोडशेऽध्ययने प्रतिपादितम् ।
तद्यथा-“तेणं काव्हेणं तेणं समणं वाणारसीयं गयरीयं कामम-
हावणे चेतियं । तत्थं णं वाणारसीयं गयरीयं अलङ्के नामं राया
होत्था । तेणं काव्हेणं तेणं समणं समणे भगवं महावीरं जाव
विहरइ, परिसा निगगया । तएणं अलङ्के राया इमी से कहायं वद्धं
हत्तुत्तं जहा कुणिए जगवओ महावीरस्सं जाव पञ्जुवासति,
धम्मकहातं से अलङ्के राया समणस्स जहा उदायणे राया तहा
निक्खंतो, नवरं जेटुपुत्तं रल्ले अजिसिचत्तिं जाव एकारस अंगाई
बहुहि वासाई परियातो जाव त्रिपुल्ले सिद्धे” । अन्त० ७ वर्ग । स्था०

अरिहंतसंख्य-अर्हत्साङ्गिक-न० । अर्हन्तस्तोर्थकरास्ते साङ्गिकः समकृभाववर्तिनो यत्र तत् । " शेषाद्वा " ७ । ३ । १७५ । इति [हेम] सूत्रेण कप्रत्ययविधानादर्हत्साङ्गिकम् । अर्हद्भिः कृतसाङ्गित्वे, पा० ।

अरिहंतसमणसिञ्जा-अर्हच्छ्रमणशय्या-स्त्री० । अर्हतां धर्मणानां च शय्याऽर्हच्छ्रमणशय्या । चैत्याश्रयोपाध्यरूपासु शय्यासु, जीत० ।

अरिहंतसामण-अर्हच्छासन-न० । जिनागमे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अरिहंतसिञ्जा-अर्हच्छ्रय्या-स्त्री० । चैत्यगृहे, घ० २ अधि० ।

अरिहदत्त-अर्हदत्त-पुं० । आपन्नुत्स्थित-सुप्रतिबुद्धयोः पञ्चमे शिष्ये, कल्प० = क० ।

अरिहदिष्य-अर्हदत्त-पुं० । सिंहगिरेश्चतुर्थे शिष्ये, कल्प० = क० ।

अरुजवसग-अरुगुपसर्ग-पुं० । रोगरहिते उपसर्गे, तं० ।

अरुगोपसर्ग-पुं० । आपत्त्याद् चकारत्तोपः । रोगरहिते उत्पाते, तं० ।

अरुग-अरु-न० । ग्रणे, " अरुगं इहुरा कुत्तपइ " । पु० ३ उ० ।

अरुग-अरुग-पुं० । नन्दीश्वरवरसमुद्रस्य परतोऽरुणोदसमुद्रपरिवेष्टिते द्वीपभेदे, स च वृत्तचक्राकारसंस्थानसंस्थितः । तत्र अशोकवीनशोकौ देवौ । सू० प्र० १६ पादु० । अनु० । द्वी० । जी० । प्रज्ञा० । नं० । स्था० । " रुयगा उ समुद्राश्रो, दीवसमुद्रा भवे असंखिञ्जा । गंतुण होइ अरुणो, अरुणो दीवो तभो उदही " ॥ ६४ ॥ द्वी० । हरिवर्षनामाऽकर्मभूमिबुद्धवता ह्यपर्वतस्याधिपतौ देवे, स्था० ४ ग० ३ उ० । अरुणोपपात-ग्रन्थप्रतिपाद्ये देवे, स्था० १० ग० । उपा० । सू० प्र० । विमानभेदे, अरुणादीनि द्वा विमानानि- " अरुणे १ अरुणाभे २ खलु, अरुणपद् ३ अरुणकं ४ सिद्धेय ५ । अरुणज्जगत्त य छुं ६, जूय ७ वीरिसे = गये ६ फीले १० " ॥ ५ ॥ क्षिप्रादिनामान्यरुणपदपूर्वाणि दृश्यानि । उपा० ६ अ० । ऋ-उन्त् । सूर्ये, सूर्यसारथी, गुडे, सन्ध्यारागे, निःशब्दे, दानवभेदे, कुष्ठभेदे, पुत्रागवृद्धे, अच्यकरागे, कृष्णमिश्रितरक्तयुगे च । तद्वति, त्रि० । कुङ्कुमे, सिन्दूरे च । न० । मञ्जिष्ठायां, श्यामाकायाम्, अतिविपायां, नदीभेदे, कदम्बपुष्पायां च । स्त्री० । धाच० ।

अरुणगंगा-अरुणगङ्गा-स्त्री० । महाराष्ट्रजनपदसूरी वहति नदीभेदे, ती० २८ कल्प ।

अरुणपञ्ज-अरुणपञ्ज-पुं० । चतुर्थेऽनुवेलन्धरनागराजे, तदावासर्यते च । जी० ३ प्रति० । स्था० । विमानभेदे, उपा० ६ अ० । राहोश्चन्द्रं गृह्णतो दशमे कृत्स्नपुत्रले, चं० प्र० २० पादु० ।

अरुणपभा-अरुणपञ्जा-स्त्री० । नवमस्य तीर्थकरस्य निष्कमणशिविकायाम्, स० ।

अरुणवर-अरुणवर-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । तत्र अरुणवरे द्वीपे अरुणवरभद्रारुणवरमहाभद्रौ, अरुणवरे समुद्रे अरुणभक्तारुणमहानद्री देवौ । सू० प्र० १९ पादु० । जी० । अनु० । द० प० ।

अरुणवरोभास-अरुणवरावजास-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपविशेषे, समुद्रविशेषे च । तत्रारुणवरावभासे द्वीपे अरुणवरावभासभद्रारुणवरावभासमहाभद्रौ, अरुणवरावभाससमुद्रे १६३

अरुणवरावजासवरावरावभासमहावरौ देवौ । सू० प्र० १६ पादु० । जी० । चं० प्र० ।

अरुणाभ-अरुणाभ-पुं० । अरुणकान्तौ, चन्द्रं गृह्णतो राहोर्दशमे कृत्स्नपुत्रले, सू० प्र० २० पादु० विमानभेदे, स० प्र० सम० । स्था० ।

अरुणोत्तरवर्तिसग-अरुणोत्तरावतंसक-न० । विमानभेदे, स० ८ सम० ।

अरुणोदग-अरुणोदक-पुं० । अरुणद्वीपस्य परितः प्रसृते समुद्रे, अरुणोदे समुद्रे सुभक्तमनोभद्रौ देवौ । सू० प्र० १६ पादु० । चं० प्र० । द्वी० । प्र० ।

अरुणोववाय-अरुणोपपात-पुं० । अरुणो नाम देवस्तत्समयनियक्ते ग्रन्थस्तदुपपातहेतुररुणोपपातः । संक्षेपिकानां दशानां पष्ठेऽध्ययने, स्था० ।

नचध्ययनटीकायां चूर्णिकारो भावयति-

जाहे तमज्जयणं उवउत्ते समाणे अणगारे परियट्ठइ ताहे से अरुणे देवे ससमयनियच्छत्ताओ चलिपासणे संभमुभंतज्ञोयणा पञ्चावही विष्णाय दृढपहडे चलचवलकुं-रुलधरे दिव्वाए जुईए दिव्वाए विचूईए दिव्वाए गर्ईए जेणामेव से जगवं समणे निगंथे अज्जयणं परियट्ठेमाणे अत्थेइ तेणामेव उवागच्छइ । उवागच्छित्ता भत्तिभरोणयवयणं विमुक्कवरकुसुमगंधवासे उवेइ । उवयइत्ता ताहे से समणस्स पुरतो उित्ता अंतपि कयंजल्लोओ उवउत्ते संवेग-विमुक्कमाणज्जवसाणे तमज्जयणं सुणमाणे चिट्ठइ । सम्मत्ते अज्जयणे भणइ-जयवं ! सुसज्जाइयं सुसज्जाइयं वरं वरेहि त्ति, ताहे से इहलोपनिषिवाते समतण्णमणिमुत्ताहत्तज्ञेद्वुक्कंथे सिक्खवरमणिपन्निवच्चिन्मराणुरागे समणे पक्किणइ-न मे भो ! वरेणं अट्ठो त्ति । ततो से अरुणदेवे अट्ठिगयरजायसंवेगे पयाहिणं करेत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता पक्किणच्छइ ॥ नं० टी० ॥

यदा तदध्ययनमुपयुक्तः सन् भ्रमणः परिवर्तयति, तदाऽसायुरणो देवः स्वसमयनियच्छत्ताच्चलितासनः संभ्रमोद्धातलोचनः प्रयुक्तावधिस्तद्विज्ञाय हृष्टप्रहृष्टलचपलकुण्डलधरो दिव्यया सुत्या दिव्यया विभूत्या दिव्यया गत्या यत्रैवासौ भगवान् भ्रमण अध्ययनं परिवर्तयति तत्रैवोपागच्छति । उपागत्य च भक्तिभराचनतचदनो विमुक्तवरकुसुमवृष्टिरचपवति । अवपत्य च तदा तस्य भ्रमणस्य पुरतः स्थित्वाऽन्तर्हितः कृताञ्जलिक उपयुक्तः संवेगविमुक्तमानाध्यवसानः तमध्ययनं श्रवणैस्तिष्ठति । समासे च भणति-सुस्वाध्यायितं सुस्वाध्यायितमिति वरं वृषिवति । ततोऽसाविहसोकनिष्पिपासः समतण्णमणिमुक्ताशोष्काञ्जनः सिक्खवरचधूनिभरानुगतचित्तः भ्रमणः प्रतिजगत्ति-न मे वरेणार्थे इति । ततोऽसावरुणो देवोऽधिकतरजातसंवेगः प्रदक्षिणां कृत्वा चन्दते, नमस्यति । चन्दित्वा नमंसित्वा प्रतिगच्छति । एवं वरुणोपपातादिव्यपि भणितव्यमिति । स्था० १० ग० । नं० । पा० । द्वादशवर्षपर्यायस्य भ्रमणस्य कल्पतेऽरुणोपपातः । व्य० १ उ० ।

अरुय-अरु-न० । ग्रणे, " नातिकूरयं लेयं, अरुयस्सावरज्ज-ति " । अरुणो ग्रणस्यातिकूरयितं नखैर्विक्षेपनं न श्रेयो न

तृविशेषपरीक्षानिरुक्तस्य 'अलाभो मे परमं तपः' इत्येवमधिकगुणमलानं मन्यमानस्याऽज्ञानपीडासहने, पं० सं० ४ द्वार । स चैवम्-याचितालाभे सति प्रसन्नचेतसैवाविकृतवदनेन प्रवितव्यम् । आ० ४ अ० । तदुक्तम्-

" परात्परार्थं स्वार्थं वा, लभेताऽज्ञादिनाऽपि वा ।

माद्येन्न लाभो नालाभाद्, निन्देत्स्वमथवा परम् " १॥ ३॥ अधि०

" परकीयं परार्थं च, लभ्येताऽज्ञादिनैव वा ।

लब्धे न माद्येद् निन्देद् वा, स्वपरान् नाप्यज्ञातः " ॥ १ ॥ आ० म० द्वि० ।

प्रवृत्तेश्च कदाचित् बाभान्तरायदोषतो न लभेतापीत्य-
लाभपरिपदमाह-

परेषु धासमेसेज्जा, भोयणे परिनिष्ठिष ।

लब्धे पिने अलब्धे वा, णाणुतप्पेज्ज संजए ॥ १ ॥

अजेवाहं न लब्जामि, अवि लाभो सुए सिया ।

जो एवं पमिसंचिकखे, अलाभो तं न तज्जए ॥ २ ॥

आ० चू० ४ अ० ।

(परेषु इत्यादि) परेष्विति गृहस्थेषु प्राप्तं कवलयम, अनेन च मधुकरवृत्तिमाह । पपयेद्भवेपयेत्, सुज्यत इति भोजनमोदनादि, तस्मिन्परिनिष्ठिते सिद्धे मा नूत्प्रथमगमनात्तदर्थं पाकादिप्रवृत्तिः, ततश्च लब्धे गृहिभ्यः प्राप्ते, पियेने आहारेऽलब्धे वाऽप्राप्ते नानुत्तप्येत संयतः । तद्यथा-अहो ! ममाधन्यता, यदहं न किञ्चिदलभे । उपलक्षणत्वात्-लब्धे वा लब्धिमानहमिति न हृष्येत् । यद्वा-लब्धेऽप्यहोऽनिष्टे वा संभवत्येवानुताप इति सूत्रार्थः । किमात्रमनलभ्य नानुत्तप्येत ? इत्याह-(अज्जेवेत्यादि) अथैवास्मिन्नेवाहमहं न लभे न प्राप्नोमि । अपिः संभावने । संभाव्यते-पल्लभाभः प्राप्तिश्च भवः आगामिनि दिने, स्याद् भवेत् । उपलक्षणत्वात् इव इत्यन्येधुरन्यतरेषुर्वा मां स्यादित्यनास्थामाह । य एवमुक्तप्रकारेण (पमिसंचिकखे चि) प्रतिसमीकृते अदीनमनाः स-ल्लानममाश्रित्यालोचयति, अलाभोऽज्ञाभपरीषद्, तं न तर्जयति नाभिजवति, अन्यथा नूतस्त्वभिजुयत इति ज्ञावः ॥ उक्त० ३ अ० ॥

अथ ' नाणुतप्पेज्ज संजये चि ' सूत्रावयवमर्थतः

स्पृशन्नुदाहरणमाह-

जायणपरीसहम्मि, वल्लदेवो इत्थ होइ आहरणं ।

किसिपारासर ढंडो, अलाभए हो उदाहरणं ॥ ५० ॥

उक्त० नि० १ खण्ड ।

याज्ञापरीषदे वल्लदेवोऽत्र भवत्याहरणमुदाहरणम् । कृपिप्रधानः पाराशरः कृपिपाराशरो, जन्मान्तरे (ढंड इति) ढण्डणकुमारोऽलाभकेऽज्ञाभपरीषदे भवत्युदाहरणमिति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु संप्रदायादवसेयः । उक्त० ३ अ० ।

अत्र अलाभपरीषदे कथाद्वयम्-लौकिकं १, लोकोत्तरं च २ । तत्र प्रथमं लौकिकं कथानकं कथ्यते-एकदा कृष्णः १, बलदेवः २, सात्यकिः ३, दारुकः ४, एते चत्वारोऽप्यश्वापहृता अटव्यां वटवृक्षाधो रात्रौ सुप्ताः, आद्ये ग्रहरे दारुको यामिको जातः, अन्ये त्रयः सुप्ताः, तदानीं क्रोधपिशाचः तत्रायातो दारुकं प्रत्याह-अहमेतान् सुप्तान् साम्प्रतं मत्क्रयामि, यदि त्वेषां रक्तेण शक्तिरास्ति तदा युक्तं कुरु । दारुकणोक्तम्-वाढम् । ततो लग्नं युक्तम् । यथा यथा दारुकस्तं पिशाचं हन्तुं न शक्नोति तथा तथा तस्य क्रोधो वर्धते । तथा च दारुकस्य न युद्धलाभो जातः, पराभूत एव दारुकः सुप्तः । द्वितीये ग्रहरे सात्यकिरुत्थितः । क्रोधपिशाचेन

तथैव जितः । तृतीये ग्रहरे बलदेवः । सोऽपि तथैव जितः, तुर्ये ग्रहरे उत्थितं कृष्णं क्रोधपिशाचस्तथैव प्रोक्तवान् । कृष्णः प्राह-मां जित्वा मत्सहायान् मत्क्रय । ततो यथा यथा क्रोधपिशाचो युध्यति तथा तथा कृष्णः-अहो ! बलवान् एव म-बलः इति तुष्यति । यथा यथा कृष्णस्तोषवान् भवति तथा तथा पिशाचः क्षीयते । एवं कृष्णेन पिशाचः सर्वथा क्षीणः स्वबलमभ्येक्षितः । प्रभाते तदङ्गानि दृष्ट्वा कृष्णेनोक्तम्-किमेतद्भवतां जा-तम् ? ते सर्वेऽपि रात्रिवृत्तान्तं प्राहुः । कृष्णेन स्वबलमभ्यादा-कृष्य दर्शितः । एवं कृष्णवद् यस्तोषवान् भवति सोऽज्ञाभपरी-षद् जेतुं शक्नोति ।

अथ द्वितीयं लोकोत्तरं ढण्डणकुमारकथानकं कथ्यते-कस्मिन् अिद् ग्रामे कोऽपि कुशशरीरः कुटुम्बः । (पाराशरो विप्रः) वसति स्म । अन्येऽपि बहुवस्तत्र कुटुम्बिनो वसन्ति स्म । वारकेण ते राज-वेष्टि कुर्वन्ति स्म । राजसत्कपञ्चतहलानि बाहयन्ति स्म । एक-दा तस्य कुशशरीरिणः पञ्चशतहलवाहनवारकः समायतः, तेन च बाहिता वृषजाः भक्षणान्धलायामप्येकोऽधिकश्चाप्यो दापितः । तदाज्ञतरायं कर्म बध्म, ततो मृत्वाऽसौ बहुकालामितस्ततः संसा-रे परिभ्रम्य कस्मिन् अिद् ग्रामे कृतसुकृतवशेन द्वारिकायां कृष्णवा-सुदेवस्य पुत्रत्वेन समुत्पन्नः । ढण्डणेति तस्य नाम प्रतिष्ठितम् । स ढण्डणकुमारः श्रीनेमिपार्श्वे अन्यदा प्रव्रजितः । लाजान्त-रायवशान्महत्यामपि द्वारिकायां हिण्डमानो न किञ्चिदन्नादि लभने, यदि कदाचिन्नभते तदा सर्वथाऽसारमेव । ततस्तेन स्वामी पृष्टः । स्वामिना तु सकलः पूर्वभववृत्तान्तः तस्य कथितः । तेन चाऽयमभिग्रहो गृहीतः-परलाभो मया न ग्राह्यः । अन्यदा वासुदेवेन स्वामिना इति पृष्टम्-भगवन् ! एतावत्सु भ्रमणस-हस्रेषु को दुष्करकारकः ? । स्वामिना ढण्डणपरिरेव दुष्करका-रक इति उक्तम् । कृष्णेनोक्तम्-स इदानीं कास्ति ? । स्वामी प्राह-त्वं नगरं प्रविशन् तं हृदयसि । हृष्टः कृष्णः श्रीनेमिजिनं प्रणम्य उत्थितः । पुरद्वारे प्रविशन् तं साधुं दृष्टवान्, हस्तिस्क-न्धादुत्तीर्य कृष्णस्तं ववन्दे । तेन वन्द्यमानोऽयं साधुरेकेनेत्येन हृष्टः । चिन्तितं च तेन-अहो ! एष महात्मा कृष्णेन वन्द्यते । एवं चिन्तयत एव तस्य गृहे ढण्डणपरिः प्रविष्टः । तेन मोदकैः प्रति-लाभितः । ततः स्वामिसमीपे गत्वा पृच्छति-मम लाभान्तरायः क्षीणः । स्वामिना उक्तम्-एष वासुदेवलाजः । मम परलाभो न कल्पते इत्युक्त्वा नगराद् बहिर्गत्वा उचितस्थगिरले मोदकान् विधिना परिष्ठापयन् शुजध्यानारोहेण केवली जातः । एवमन्यै-रपि अलाभपरीषद् सोढव्यः । अलाभात् अनिष्टाहारलाभात्, अन्याहारप्रान्ताहारभोजनात् शरीरे रोगा उत्पद्यन्ते, अतो रो-गपरीषदोऽपि सोढव्यः ॥ उक्त० २ अ० ।

अलाय-अज्ञात-न० । उक्तुके, वृ० ५ उ० । ज्ञा० । जी० । प्रज्ञा० । दश० । स्या० । अग्रमाणे ज्वलत्काष्ठे, न० ।

अलावर्तिसक-अज्ञावर्तसक-न० । अलादेव्या भवने, ज्ञा० २ भु० । अलावु-अलावु-न० । "वो वः" उ० २ । २३७ । इति सूत्रेण वस्य वः । प्रा० १ पाद । तुभ्ये, जं० ३ वक्त० । "अलावुगा ण जरिज्जति" नि० चू० १ उ० ।

अलाहि-अव्य० । "अलाहि इति निवारणे" ८ । २ । १७६ । अलाहि इति निवारणे प्रयोक्तव्यम् । "अलाहि किं वाउपण वेहेण" प्रा० २ पाद ।

अलम्-अव्य० । पर्याप्तौ, अलमत्यर्थे पर्याप्तः शक्तः । म० १५ श० १ उ० ।

अलक्षणाया-अलक्षणाता-स्त्री० । असमञ्जसज्ञिधायिताया-
म, विशेषः ।

अलगापुरी-अलकापुरी-स्त्री० । वैश्वण्यपक्षपुर्याम, अन्त० १ धर्म० ।

अलचपुर-अलचपुर-न० । "अलचपुरे च-लोः" । ८ । २ । ११ ।
इति सूत्रेण अलचपुरशब्दे चकारककारयोर्भ्यत्ययः । कृष्णावे-
णानद्योः समीपस्थनगरं, प्रा० २ पाद ।

अलच-अलक्त-पुं० । लाङ्कारस्ते, अनु० ।

अलचय-अलक्तक-पुं० । लाङ्कारसेन रक्ते, "जे रक्षते मल्ल-
य" । यो रक्तो लाङ्कारसेन- [श्रुतशैल्यां कन् प्रत्ययः] स एव
रभुतेऽश्रुत्या अलक्तक उच्यते । अनु० ।

अलक्ष-अलक्ष-त्रि० । अनुपाते, स्था० ५ ग० २ उ० । अत्रा-
त्ते च, सू० १ ध्रु० २ अ० ३ उ० ।

अलाक्षिजुच-अलक्षिजुक्त-त्रि० । स्वकीयलाभविहीने, पञ्चा०
१८ धिव० ।

अलक्षिय-अलक्षिक-त्रि० । अलक्षिमति लक्षिरहिते, ओघ० ।

अलभसिरी-अलजन्त्री-स्त्री० । अलादेव्या मातरि, प्रा० २ अ० ।

अलमयु-देशी-पुं० । समयभाषया समर्थे, स्था० ४ ग० २ उ० ।

अलमयु-अलमयु-त्रि० । अलमयु निषेधो भवतु, य एवमा-
ह सोऽलमयुस्त्वय्युच्यते । निषेधके, स्था० ४ ग० २ उ० ।

अलय-अलक-पुं० । वृद्धिकफटके, "अलप अंजावेह" इति

वृद्धिकफटकाद् शरीरे प्रवेशयतीत्यर्थः ॥ विपा० १ ध्रु० ६ अ० ।

अलयमहा-अलकनद्रा-स्त्री० । कैलासस्य पूर्वतः पुर्याम, स्त्री० ।

अलया-अलका-स्त्री० । वैश्वण्यपक्षपुर्याम, प्रा० ४ अ० ।

अलव-अलप-त्रि० । लपतीति लपा वाचाश्रयाः । घोषितानेकनर्क-
विधित्रदाङ्काः, तथा न लपा अलपः । मौनव्यतिकरेण निष्ठितयोगेषु
गुटिकादियुक्तेषु, यद्वशाद् अभिधेयविषया यागेव न निस्सरति ।
सूत्र० २ ध्रु० ६ अ० ।

अलवणसकय-अलवणसंस्कृत-त्रि० । विशिष्टसंस्काररहिते,
व्य० ४ उ० ।

अलस-अलस-त्रि० । निरुद्यमे, सू० १ उ० । मन्दे, जीवा० । असमर्थे
च । सूत्र० २ ध्रु० २ अ० । स्था० । गण्डोलके, पुं० । "अलसो
सि वा गंडूलगो सि वा सुसुणागो सि वा एगट्टं" । नि० चू० १ उ० ।

अलसग-अलसक-पुं० । "नोर्चं प्रजति नाधस्ता-वाहारो न
च पच्यते । आमाशयेऽलसीभृत-स्तेन सोऽलसकः स्मृतः"
॥ १ ॥ इत्युक्तवृत्तौ विशाचिकाविशेषलक्षणे, उपा० ८ अ० ।
हस्तपादादिस्तेनैव श्वययौ, आचा० १ ध्रु० २ अ० १ उ० ।

अलसमाण-अलसायमान-त्रि० । अनलसोऽलसो भवतीति
अलसायने, अलसायत इति अलसायमानः । अत्र "मात्
लोहितादिभ्यः पित्" । ३ । ४ । ३० । इति हैमसूत्रेण लोहिता-
देराकृतिगणत्वाच्च ज्ययै क्यङ्प्रत्ययः, स च पित् । आलस्यं
भजमाने, ग० १ अधि० ।

अलससत्त-अलससत्त-न० । कापुरुषे, सू० १ उ० ।

अलसी-अतसी-स्त्री० । "असती-सातवाहने लः" । ८ । २ । ११ ।
इति सूत्रेण तस्य लः । प्रा० १ पाद । धान्यभेदे, आचा० १ ध्रु०
१ अ० ५ उ० ।

अलक्षुय-अलक्षुक-न० । अत्यन्तसूक्ष्मे, स्था० १० ग० ।

अला-अला-स्त्री० । विद्युत्कुमारीमहचरिकाभेदे, स्था० ६ ग० ।
धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्याभिधायाम्, प्रा० २ ध्रु० । ('अमा
महिषी' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७० पृष्ठेऽस्याः पूर्वोपरमवावृत्तौ)

अलाग-अलागु-न० । तुम्यके, औ० । अनु० । सूत्र० ।

अलाउच्छेय-अलाउच्छेद-न० । अलावुकं क्षिपते येन तदलावु-
च्छेदम् । तुम्यच्छेदके पिप्पलादिशक्ते, सूत्र० १ ध्रु० ४ अ० २ उ० ।

अलाउपाय-अलाउपात्र-न० । तुम्यकभाजने, औ० । आचा० । स्था० ।

अलाधवया-अलाधवता-स्त्री० । अविद्यमानं लाघवं लघुता
यस्य स तथा; तद्भावोऽलाधवता । लाघवाभावे, सू० ।

अथालाधवतां व्याचष्टे-

उवहि-सरीरमलाधव, देहे णिद्धाद्वच्यसरीरो ।

संयसगसासभया, ण विहरइ विहारकामो वि ॥

अलाधवं गौरवम् । तत्र त्रिधा-उपधौ, शरीरे च । तत्र देहे देह-
विषयमलाधवमिव-क्षिणं घृतादि, तेन; आदिशब्दाद् गुडश-
कैरादिमधुराद्यैः प्रतिदिनमस्य च द्विपमाणैर्वृहत्शरीरः सन्
मार्गे गच्छतः शरीरजात्यसमुत्पद्यो यो मात्रसंघर्षो, यच्च भ्वास-
स्तद्व्याद्विहरणकामोऽपि न विहरति ।

अथोपकरणेऽलाधवमाह-

सागारि पुत्तभाउग-एहण दाण अविसण्ण चारजया ।

ण विहरति ओम सावय, नियइअगणि भाण एज्जो सि ॥

सागारिकेण शय्यातरेण, तदाऽऽदौ स्वपुत्रैर्भ्रातृजिनिर्जन्मिभ्य यौनैः
कस्यापि साधोराधवहस्यातीवप्रभूतस्य कस्यचिदाप्युपकरणस्य
दानमकारि । स च साधुस्तन्नागरजयात्र विहरति । अन्यदा तत्रा-
यमं दुर्जितं संजातम् । स च तदापि न विहरति [सावय सि]
आचकेण चिन्तितम्-एष साधुः किमद्यापि न विहरति, नूनं बहुप-
करणप्रतिबन्धोऽयम् । ततस्तेन आचकेण तस्य संयतस्य भिक्षाया-
र्थे विनिर्गतस्य सर्वमप्युपकरणं निष्काश्यान्वत्र संगोप्य निहृ-
त्या मायया तदीय उपभोगः सचोऽपि [अगणि सि] अग्निना
प्रदीपितः । ततः समायातः, दण्डः प्रतिभयो वृग्धः । कृतवान्
हा । कण्ठं, दाहा ! कण्ठं, बहुपकरणं दग्धमिति । परितेदं
पृथग्ध आचकाः-किञ्चिदुपकरणं निष्काशितं न वेति ? ।
स प्राह-न शकं किमपि निष्काशयितुं, परं [भाण सि]
भाजनद्वयं महता कष्टेन निष्काशितम् । ततः साधुना भणितम्-
विहरामि संप्रति दस्यां दिशि सुनिष्ठम् । आचकः प्राह-[एज्ज
सि] सुमहोभूते भूयोऽप्यागच्छे । ततः प्रतिपन्नं साधुना
तद्वचनम् । समागतः कालान्तरेण पुनरापि तत्रैवासौ । निवेदितः
आचकेण यथावस्थितो व्यतिकरः, क्लमयित्वा च दत्तं सर्वमपि त
दीयमुपकरणम् । एवमादयो दोषा उपकरणात्लाघवे भवन्ति ।
सू० २ उ० । पञ्चा० । नि० चू० ।

अलाभ (ह)-अलाभ-पुं० । लभनं लाभः, न लाभोऽला-
भः । अत्रिलपितविषयाप्राप्तौ, उच्य० २ अ० ।

अलाभ (ह) परि (री) सह-अलाभपरिवह-पुं० ।

अलाभः प्रतीतः, तत्परिवहणं च तत्र दैन्याभावः । भ० ८ ग०
८ उ० । प्रव० । सू० । प्रअ० । नानादेशविहारिणो विभव-
मपेक्ष्य बहुपृथगीचैर्गृहेषु भिक्षामनवाप्याऽप्यसंक्रिष्टचेतसो दा-

एतेसि णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए । ६० ।

णाणत्ते विसेसो, आणुपुव्वीए दव्वादिउवव्वासकमेण व-
क्खमाणं ।

इमे दव्वादि उदाहरणा—

दव्वे वत्थपयादिसु, खेत्ते संथारवसहिमादीसु ।

कालेऽतीतमणागा, जावे भेदा इमे होंति ॥ ६१ ॥

पदमपादस्स वक्खमाणं—

मज्झ पुणो एएस तुहं,णयावि सो तस्स दव्वतो अलियं ।

गोरस्सं च जणंते, दव्वंजुते व जं भणति ॥ ६२ ॥

वत्थं पायं च सहसा भणञ्जा-मज्झ एस ण तुज्जं, सहसा
गोरस्सं जूते, द्रव्यजुतो वा अनुपयुक्त इत्यर्थः ।

अहवा दव्वालियं इमं—

वत्थं वा पायं वा, अस्सेणुप्पाइयं तु सो पुट्ठो ।

भणति मए उप्पाइय, दव्वा अलियं जवे अहवा ॥ ६३ ॥

वत्थपात्तादि अस्सेण उग्गमिया, अस्सो जणइ-मए उप्पाइया ।
दव्वओ अलियं गयं ।

जेत्तओ (संथारवसतिमादीसु इत्यादि) अस्य व्याख्या—

णिसिमादीसंमूढो, परसंथारं भणति मज्झे णं ।

सो खेत्तवसही व अस्से-ऽणुगमिया वेति तु मए चि । ६४ ।

(णिसि चि) राईए अंधकारसंमूढो परसंथारज्जुमि अ-
प्पणो भणइ । मासकप्पपाउग्गं वा वासावासपाउग्गं वा खित्तं
वसही रिउक्खमा अस्सेऽणुगमिया भणति-मए चि । खित्तओ
वा मुसावाओ गओ ।

'कालातीतमणागए चि' अस्य व्याख्या—

केणुवसमितो सहो, मए चि उवसामितोऽणयाऽतीए ।

को एणु हु तं उवसामे, अण्णातिसत्तो अहं एस ॥ ६५ ॥

एको अग्निगाहमिच्छो एगेण सामिणा उवसामिओ । अओ साहु
पुच्छिओ-केणोस सहो उवसामिओ ? । अणया विहरंतेण मए
चि । अवंतीए एगो अग्निगाहमिच्छो अरिहंतसाहुपडिणीओ ।
साहुण य समुल्लावो-को एणु तं उवसामेज्ज ? । तत्थ एगो साहु
अण्णातिसत्तो भणति-सो य अवस्सं मया उवसामियव्वो । एवं
एव्यकालं प्रति मृषावादः ।

अथवा कालं पडुच्च इमो मुसावादो—

तीतम्मि य अट्ठम्मी, पच्चुप्पस्से यऽण्णागते चेव ।

विधिसुत्ते जं जणितं, भण्णाति णिस्संकितं जावे ॥ ६६ ॥

तीतमणागतपडुप्पस्सेसु कालेसु जं अपरिभायं तं निस्संकियं
भासंतस्स मुसावाओ भवति । विधिसुत्तं दसवेयालियं, तत्थ वि-
वक्खसुक्की । तत्थ जे कालं पडुच्च मुसावायसुत्ता ते इह दट्ठव्वा ॥
जावे भेओ इमो चि । नि० चु० २ उ० ।

तेषां च वण्णामपि यथाक्रममियं प्ररूपणा, तामेव प्ररूपणां
चिकीर्षुरलीकवचनविषयां द्वारगाथामाह—

वत्ता वयणिज्जो वा, जेसु य ठाणेसु जा विसोही य ।

जे य जणओ अवाया, सपनीपक्खा उ पेयव्वा ॥

यो वक्ता अलीकवचनज्ञापकः, यश्च वचनीयः-अलीकवचनं
यमुद्दिश्य भण्यते, तेषु च स्थानेष्वलीकं संजवति, यादृशी च
तत्र शोधिः प्रायश्चित्तम्, ये चाऽलीकं भणतो अपाया दोषाः, तेः
सप्रतिपत्ताः सापवादा अत्र भणनीयतया ज्ञातव्याः । इति द्वा-
रगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतं तामेव विवृणोति—

आयरिए अजिसेगे, जिक्खुम्मि य थेरए य खुडे य ।

गुरुगा लहुगा गुरुलहु-जिएणे पफिलोम विइएणं ॥

इहाचार्यादिवक्ता, वचनीयोऽपि एकैकतरः । तत इदमुच्यते-
आचार्यमलीकं भणति चतुर्गुरु, अभियेकं भणति चतुर्लघु,
भिजुं भणति मासगुरु, स्थविरं भणति मासलघु, कुल्लकं जणति
जिज्जमासः । (पडिलोम विइएणं ति) द्वितीयेनादेशेनैतदेव
प्रायश्चित्तं प्रतिलोमं वक्तव्यम् । तथा-आचार्यमलीकं भणति
भिज्जमासः, अजियेकं जणति मासलघु, एवं यावत् कुल्लकं
जणतश्चतुर्गुरु, एवमभियेकादीनामप्यलीकं भणतां स्वस्थाने
परस्थाने च प्रायश्चित्तमिदमेव मन्तव्यम् । अभिलापश्चेत्थं
कर्त्तव्यः-अभियेकमाचार्ये अलीकं जणति चतुर्लघु इत्यादि ॥

तत्त्वलीकवचनं येषु स्थानेषु संभवति, तानि सप्रायश्चित्ता-
नि दर्शयितुकामो द्वारगाथाद्वयमाह—

पयला उट्ठे मरुए, पच्चक्खाणा य गमण परियाए ।

समुदेससंखमीओ, खुड्डगपरिहारियमुहीओ ।

आवस्सगमणं दिसा-सु एगकुत्ते चेव एगदव्वे य ॥

पनियासित्तागमणं, पनियासित्तायत्तुंजणयं ॥

प्रचलापदमार्कपदं मरुकपदं प्रत्याख्यानपदं गमनपदं पर्याय-
पदं समुदेशपदं संखडीपदं धुल्लकपदं पारिहारिकपदं [मुही-
ओ चि] पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् घोटकमुखीपदम्, अ-
वश्यं गमनपदं दिग्विषयपदं, एककुलगमनपदं, एकद्रव्यग्रहण-
पदं, प्रत्याख्याय गमनपदं, प्रत्याख्याय भोजनपदं चेति द्वारगा-
थाद्वयसमासार्थः ।

अथैतदेव प्रतिद्वारं विवृणोति—

पयलासि किं दिवा? ए य, पयलामि इहु दुह णिएहवे गुरुगा ।

अन्नदरसितनिहवे, लहुगा गुरुगा बहुतराणं ।

कोऽपि साधुर्दिवा प्रचलायते, स चान्येन साधुना जणितः-
किमेवं दिवा प्रचलायसे? । स प्रत्याह-न प्रचलाय; एवं प्रथम-
वारं निह्वानस्य मासलघु, ततो भूयोऽप्यसौ प्रचलायितुं
प्रवृत्तः । तेन साधुना जणितः-मा प्रचलायिष्ठाः । स प्रत्याह-
न प्रचालये । एवं द्वितीयवारं निह्वे मासगुरु । ततस्तथैव
प्रचलायितुं प्रवृत्तः, तेन च साधुना अन्यस्य साधोर्दक्षितः-
यथैवं प्रचलायते, परं न मन्यते ततस्तेनान्येन साधुना भणितो-
ऽपि यदि निह्वे तदा चतुर्लघु । अथ तेन साधुना बहुतराणां
द्विज्यादीनां साधूनां दर्शितः, तैश्च भणितोऽपि यदि निह्वे तदा
चतुर्गुरु ।

निह्ववणे निह्ववणे, पच्छिन्नं वट्टए उ जा सपयं ।

अलिउल-अलिउल-न० । अमरसमूहे, "ह्रस्वे जश्शोर्" । ७ । ४ । ३५३ । इति जश्शोः "इ" इत्यादेशः । "कमश्च ई मस्यि अलिउलई, करि-गंडाई महंति" । प्रा० ४ पाद ।

अलिङ्ग-अलिङ्ग-न० । प्रधानं, (साङ्ख्यपरिकल्पितप्रकृतौ,) द्वा० २० द्वा० ।

अलिङ्गर-अलिङ्गर-न० । महज्जदकभाजनविशेषे, उपा० ७ अ० । उदककुम्भे, स्था० ४ ग्रा० २ उ० ।

अलिङ्ग-अलिङ्ग-पुं० । गृहाद्विहाराप्रवर्तिताण्डिकायाम्, दृ० २ उ० । नि० चू० ।

अलिङ्ग-अलिङ्ग-न० । उरुत्वे, धनु० ॥

अलिङ्ग-अलिङ्ग-त्रि० । अकृतलेपे, अलिङ्गस्य तत्त्वसमाधिर्न-चति, पूर्णानन्दवृत्तिरपि । अष्ट० ११ अष्ट० ।

अलिङ्ग-न० । नौक्षिपणकाष्टोपकरणभेदे, आचा० २ ध्रु० ३ अ० १ उ० ।

अलिपत्त-अलिपत्त-न० । बुद्धिकपुच्छाकृतौ, विपा० १ ध्रु० ६ अ० ।

अलिय-अलीक-न० । पुं० । "पानीयादिष्वित्" । ॥ १ । १० । १ । इति सूत्रेण ईकारस्य इत्त्वम् । प्रा० १ पाद । कपायवशान्मिथ्याभाषणे, अनृतभाषणे, उत्त० १ अ० । मृपावादे, प्रव० २३७ द्वा० । स्था० । प्रश्न० । दर्श० । द्विधा अलीकम्-अतूतोद्भावनं, नूतनिहवम् । यथा- 'ईश्वरकर्तृकं जगत्' इत्याद्यनूतोद्भावनम् । 'नास्त्यात्मा' इत्यादिस्तु नूतनिहवः । विशेष० । आ० म० । नि० चू० । अनु० । म० । अलीकवाद्जनितकर्मासौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । "अलियनियडिसतिजोययदुलं" अलीकः शुभफलापेक्षया निष्फलो यो निकृतेयन्धनप्रच्छादनाथ-वचनस्य [साइत्ति] अविधर्मस्य च अविध्यासवचनस्य योगो व्यापारस्तेन यदुजं प्रचुरं यत् तत्तथा । प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । "अलियं न भासियम्यं, अतिथिं दु सथं पि जं न वत्तयं । सत्त्वं पि होइ अलियं, जं परपीनाकरं वयणं" ॥१॥ दर्श० ।

अलियणिमित्त-अलीकनिमित्त-न० । मृपावाद्प्रत्यये, व्य० २ उ० ।

अलियनीरु-अलीकनीरु-पुं० । सत्यवादिनि, व्य० ७ उ० ।

अलियवयण-अलीकवचन-न० । वितथभाषणे, प्रव० ४१ द्वार । यथा-किं दिवा प्रचलायसि ? इत्यादिप्रश्ने-न प्रचलायामीत्यादि-भणने, प्रव० १३५ द्वार । उत्त० । स्था० । (पञ्चालीकानि)

अथ द्वितीयमण्डलं दर्शयति-

द्वितीयं कन्यागोचूम्य-लीकानि न्यासनिहवः ।

कूटसाह्यं चेति पञ्चा-सत्येभ्यो विरतिर्मतम् ॥ १६ ॥

अन्धान्ते श्रूयमाणास्त्रीकशब्दस्य प्रत्येकं संयोजनात् कन्या-लीकं, गवालीकं, श्रूम्यलीकं चेति, तानि । तथा-न्यासनिहवः, कूटसाह्यं चेति; पञ्च पञ्चसंख्याकानि, अर्थात् क्रियाशयसमुत्पत्त्यात् स्थूलास्त्यानि, तेष्वो विरतिर्विरमणं, द्वितीयं अधिकारादण्डवत्तं मतं, जिनैरिति शेषः । तत्र कन्याविषयमलीकं कन्यालीकं द्वेषादिभिरविषयकन्यां विषयकन्यां, विषयकन्यामविषयकन्यां वा, सुशीलां वा दुःशीलां, दुःशीलां वा सुशीलाम्, इत्यादि वदते भवति । इदं च सर्वस्य कुमारदिद्विपदविषयस्यास्त्रीकस्योपपन्न-क्षणम् १ । गवालीकम्-अल्पशीरां बहुशीरां, यदुशीरां वाऽल्पशी- १६४

रामित्यादि वदतः । इदमपि सर्वचतुष्पदविषयास्त्रीकस्योपपन्न-क्षणम् २ । श्रूम्यलीकं परसक्तामप्यात्मादिसक्ताम्, आत्मादिस-क्तां वा परसक्ताम्, ऊपरं वा क्षेत्रमनूपरम्, अनूपरं बोपरमित्या-दि वदतः । इदं चाशेषाऽपदद्रव्यविषयास्त्रीकस्योपपन्नक्षणम् । यदाह-"कामागहनं दुपया-यसुअगं चउपयाण गोवयणं । अपयाणं दव्याणं, सव्याणं श्रूमिवयणं तु" ॥ १ ॥ ननु य-द्येवं तर्हि द्विपदचतुष्पदापदग्रहणं सर्वसंप्राहकं कुतो न कृ-तम् ? । सत्यम् । कन्यायस्त्रीकानां लोकेऽतिगर्हितत्वेन रुढ-त्वाद्विशेषेण वर्जनार्थमुपादानम् । कन्याऽस्त्रीकादौ च भोगास्त-रायद्वेषवृद्धादयो दोषाः स्फुटा एव । यत् आवश्यकचूर्णौ-"मुसावाप के दोसा, अकजंते वा के गुणा ? । तथ दोसा कषणं चैव अकषणं भणतो भोगतरायदोसा; पडुछा वा आ-तघातं करेज्ज, कारेवज्ज वा; एवं सेसेसु भाणिअव्या" इत्या-दि । तथाऽन्यस्य ते रक्ताणान्यस्यै समर्थते इति ३ । न्यासः सुचूर्णादिः, तस्य निहवोऽपञ्चापस्तद्वचनं स्थूलमृपावादः । इदं चानेनैव विशेषणं पूर्वालीकेभ्यो नूतनोपात्तम् । अस्य चाद्-चादाने सत्यपि च तस्यैव प्राधान्यविवक्षणां मृपावादत्वम् ४ । कूटसाह्यं श्रूम्यदेयविषये प्रमाणीकृतस्य लज्जामत्सरादिना कूटं वदतः । यथा-"अहमत्र साक्षांति" अस्य च परकीयापसमर्थ-कत्वलक्षणविशेषमाश्रित्य पूर्वज्यो भेदेनोपन्यासः ५ इति । अ-नायं भावार्थः-मृपावादः कौधमानमायालौभत्रिविधरागद्वेष-हास्यभयवीर्याक्रोडादित्यरतिदाक्षिण्यमात्सर्यविषादादिभिः सं-भवति । पीडाहेतुश्च सत्यवादोऽपि मृपावादः । सङ्गो हितं स-त्यमिति व्युत्पत्त्या परपीनाकरमसत्यमेव । यतः-"अलिङ्गं न जा-सिअव्यं, अलिङ्गं इ सथं पि जं न वत्तयं । सथं पि तं न सथं, जं परपीनाकरं वयणं" ॥ १ ॥ स च द्विविधा-स्थूलः, सूक्ष्मश्च । तत्र परिस्थूलवस्तुविषयोऽगिदुष्टविषयसमुद्भवश्च स्थूलः, त-द्विपरीतः सूक्ष्मः । आह हि-"दुविहो अ मुसावाओ, सुहुमो थूहो अ तथ इदं सुहुमो । परिहासादप्यभवो, थूलो पुण तिव्यसंकेसा" ॥१॥ आवश्यकस्य सूक्ष्ममृपावादे यतना, स्थूलस्तु परिहार्य एव । तथाऽऽवश्यकसूत्रम्-"थूलगमुसावादं समणोवासओ पथक्खाद, से अ मुसावाप पंचविहे पणत्ते । तं जहा-कषालिप १, गवालिप २, भोमालिप ३, नासावहारे ४, कूरसफ्थे अ ५ इति । तच्चूर्णावपि-"जेण भासिएण अण्णो परस्स वा अ-तीव वाधाओ अइसंफिलेसो य जायते, तं अट्ठाप वाऽण्णाप वा ण वण्ज्ज सि" । एतच्चासत्यं चतुर्धा-नूतनिहवः १, अभूतोद्भवः २, अर्थान्तरं ३, गर्हा च ४ । तत्र भूतनिहवो यथा नास्त्यात्मा, नास्ति पुण्यं, नास्ति पापमित्यादि १ । अभू-तोद्भवः यथा-आत्मा इयमाकतन्त्रुलमात्रः, अथवा सर्वगत आत्मेत्यादि २ । अर्थान्तरं यथा-गामश्वमभिवदतः ३ । गर्हा तु त्रिधा-एका सावद्यव्यापारप्रवर्तिनी, यथा-क्षेत्रं रुधेत्यादि १ । द्वितीया अग्रिया-कारणं कारणं वदतः २ । तृतीया आक्रो-शरूपा, यथा-अरे ! बान्धकिनेय ! इत्यादि । य० २ अधि० । दर्श० । पञ्चा० । आ० ।

अलीकवचनप्रकरणम्-

जे निक्खं लहुसयं मुसं वयइ, वदंतं वा साइज्जइ ॥१७॥

मुसं अलियं, लहुसयं अल्पं, तं वदन्तो मासलहु ।

तं पुण मुसं चरविहं-

दन्वे सेत्ते काले, जावे लहुसगं मुसं होति ।

शुक्लपरिहारिकाः समागताः । एवं ब्रह्माभिप्रायेण कथयत एव मासलघु । नूयस्ते साधवः परिहारिकसाधुदर्शनात्सुकाः पृच्छन्ति-कुत्र ते दृष्टाः ? । स प्राह-उद्याने, एवं भणतो मासगुरु । ततः साधवः परिहारिकदर्शनार्थं चालिताः, व्रजन्तो यावत् पश्यन्ति तावत्तस्य कथयतश्चतुर्लघु । तत्र गतैर्दृष्टेभ्यस्त्वसन्नेषु कथयतश्चतुर्गुरु । अवसन्ना अमी इति कृत्वा निवृत्तेषु कथयतः परुल्लघवः । ते साधव ईर्यापथिकां प्रतिक्रम्य गुरुणामाद्योचयन्ति-विप्रतारिता वयमनेन साधुनेति, एवं ब्रुवाणेषु तस्य परुगुरु । आचार्यैरुक्तम्-किमेवं विप्रतारयसि ? । स चेष्टोत्तरं दातुमारब्धः-परिहरन्तोऽपि कथमपरिहारिणो भवन्ति ? एवं ब्रुवतश्चेदः । साधवो भणन्ति-किं ते परिहरन्ति येन परिहारिका उच्यन्ते ? । इतरः प्राह-स्थाणुकपटकादिकं तेऽपि परिहरन्ति, एवमुत्तरं ददतो मूलम् । ततस्तैः सर्वैरपि साधुभिरुक्तो दृष्टोऽसि यदेवंगतेऽप्युत्तरं ददासीति । ततः स प्राह-सर्वेऽपि यूयमेकत्रीभूताः, अहं पुनरेकोऽसहायोऽतः पराजीये, न परिफल्गु मदीयं जड्विपतम्, एवं भणतोऽनवस्थाप्यम् । अथ ज्ञानमदावलित एवं ब्रवीति-सर्वेऽपि यूयं प्रवचनस्य बाह्याः, एवं सर्वानधिक्विपतः पाराश्रिकं भवति ।

इदमेवान्त्यपदं व्याख्यातम्-

किं गगलेण जंपह, किं मं कोप्पह एवऽजाणंतं ।

बहुएहिं को विरोहो, सलभेहिं व नागपोयस्स ? ॥

किमेवं गगलेन न्यायेन जल्पथ, शोकज्वलन्मूर्खतया किमेवमेवं प्रलपथेत्यर्थः । किञ्च-मामेवाजानतोऽपि (कोप्पह) गले धृत्वा प्रेरयथ । अथवा-एवमपि बहुभिः सह को विरोधः ? शलभ-रिच नागपोतस्येति ।

अथ घोटकमुखाद्वारमाह-

जणइ य दिट्ठ नियत्ते, आलोए आमंति धोरुगमुहीओ ।

पुरुस सव्वे एगे, सव्वे वाहिं पवयणस्स ॥

मासो बहुओ गुरुओ, चउरो मासो ढवंति बहुगुरुणा ।

ठम्मासा लहुगुरुणा, ठेओ मूलं तह दुगं च ॥ २ ॥

एकः साधुर्विचारभूमौ गतः, उद्यानोद्देशे वरुवाश्चरन्तीरवलोच्य प्रतिअयमागतः, साधून् विस्मितमुखः कथयति-शृणुत, यदद्य मया यादृशमाश्रयं दृष्टम् । साधवः पृच्छन्ति-कीदृशम् ? । स प्राह-घोटकमुख्यः स्त्रियो दृष्टाः, एवं भणतो मासलघु । ते साधव ऋजुस्वभावाश्चिन्तयन्ति-यथा घोटकाकारमुखमनुप्यस्त्रियोऽनेन दृष्टा इति । ततस्ते पृच्छन्ति-कुत्र तास्त्वया दृष्टाः ? । स प्राह-उद्याने, एवं ब्रुवतो मासगुरु । साधवो रुष्टव्यास्ता इत्यभिप्रायेण व्रजन्ति, तदानीं कथयतश्चतुर्लघु । दृष्टासु वरुवासु चतुर्गुरु । प्रतिनिवृत्तेषु साधुषु परुल्लघु । गुरुणामालोचिते परुगुरु । ततो गुरुभिः पृष्ठो यदि जणति-आमं, घोटकमुख्य एवैता यतो दीर्घमधोमुखं प्रमुखं वडवानां भवतीत्येवं ब्रवीति तदा छेदः । ततः साधुभिर्मेणितः-कथं ताः स्त्रिय उच्यन्ते ? । इतरः प्रत्याह-यदि न स्त्रियस्तर्हि किं पुरुषाः ? , एवं ब्रुवाणस्य मूलम् । सर्वे यूयमेकत्र मिलिता अहं पुनरेक एव, एवं जणतोऽनवस्थाप्यम् । सर्वेऽपि प्रवचनस्य बाह्या इति भणतः पाराश्रिकम् ।

तथा अथान्त्यप्रायश्चित्तं प्रकारान्तरेण प्राह-चिकीर्षुरल्लो मूलं, अहं एकद्वयो य अणवडे । वत्ता वयणित्वा पव-यणस्स वयमाण चरिमं तु ॥

यूयं सर्वेऽप्येकत्र मिलिता इति भणतो मूलम् । अहमेकाकी किं करोमीति भणतोऽनवस्थाप्यम् । सर्वेऽपि यूयं प्रवचनस्य बाह्या इति वदति पाराश्रिकम् ।

इदमेवान्त्यपदं व्याख्यानयति-

किं गगलेण जंपह, किं मं कोप्पह एव जाणंता ।

बहुएहिं को विरोहो, सलभेहिं व नागपोयस्स ? ॥

गतार्थो ।

अथावश्यं गमनद्वारमाह-

गच्छसि ए ताव गच्छं, किं खुण जासि त्ति पुच्छितो भणति ।
वेला ए ताव जायति, परल्लोगं वा वि मोक्खं वा ॥

कोऽपि साधुः केनापि साधुना पृष्ठः-आर्य ! गच्छसि जिज्ञाचर्याम् । स प्राह-अवश्यं गमिष्यामि । इतरेण साधुना भणितम्-यथेवं तत उच्छिष्ट, व्रजामः । स प्राह-न तावदद्यापि गच्छामि । इतरेण भणितम्-किं खुरिति वितर्कं । न यासि गच्छसि, त्वया हि जणितम्-अवश्यं गमिष्यामि ? । एवं पृष्ठो भणति-न तावदद्यापि परलोकं गन्तुं वेला जायते, अतो न गच्छामि । यद्वा-मोक्षं गन्तुं नाद्यापि वेला, अतो न गच्छामि । अपिः संभावने । किं संभावयति-अवश्यं परलोकं मोक्षं वा गमिष्यामीति ।

अथ 'दिसासु त्ति' पदं व्याख्यानयति-

कतरि दिसि गमिस्ससि, पुव्वं अवरं गतो जणति पुव्वे ।

किं वा ए होति पुव्वा, इमा दिसा अवरगामस्स ॥

एकः साधुरेकेन साधुना पृष्ठः-आर्य ! कतरां दिशं जिज्ञाचर्यां गमिष्यासि ? । स एवं पृष्ठो ब्रवीति-पूर्वा गमिष्यामि । ततः प्रच्छकः साधुः पात्रकारयुद्धाद्याऽपरां दिशं गतः । इतरोऽपि पूर्वदिग्गमनाप्रतिज्ञातां तामेवापरां दिशं गतः । तेन साधुना पृष्ठम्-पूर्वा गमिष्यामीति भणित्वा कस्मादपरामायातः ? । स प्राह-किं वा अपरस्य ग्रामस्येयं दिक् पूर्वा न भवति, येन मदीयं वचनं निरुध्येत ।

अथैककुलद्वारमाह-

अहमेगकुलं गच्छं, वच्चह बहुकुलपवेसणे पुट्ठो ।

जणति कहं दोम्मि कुट्ठे, एगसरीरेण पविसिस्सं ॥

कश्चित्केनचिज्जिज्ञार्थं समपृच्छा तेनोक्तम्-आर्य ! एहि व्रजावो भिक्षाम् । स प्राह-व्रजत यूयमहमेकमेव कुलं गच्छामि । एवमुक्त्वा बहुषु कुलेषु प्रवेष्टुं लग्नः । ततोऽपरेण साधुना पृष्ठः-कथमेकं कुलं गमिष्यामीति जणित्वा बहूनि कुलानि प्रविशसि ? । स एवं पृष्ठो भणति-हे कुले एकेन शरीरेण युगपत् कथं प्रवेक्ष्यामि ? । एकमेव कुलमेकस्मिन् काले प्रवेष्टुं शक्यम्, न बहुनीति भावः ॥

अथैकद्रव्यग्रहणद्वारमाह-

वच्चह एगं दव्वं, धेत्यं ऐगगहे पुच्छितो जणति ।

गहणं तु दव्वखणं पो-गलाण गेएहेमि तेणऽहं एगं ॥

कोऽपि साधुर्भिक्षार्थं गच्छन् कमपि साधुं भणति-व्रजामो जिज्ञायाम । स प्राह-व्रजत यूयमहमेकं द्रव्यं ग्रहीष्यामि । एवमुक्त्वा जिज्ञां पर्यटनेकानामोदनद्वितीयाङ्गादीनां बहूनां द्रव्याणां ग्रहणं कुर्वन् साधुभिः पृष्ठो जणति-(गहणं तु इत्यादि) गतिवृत्तणो धर्मास्तिकायः, स्थितिलक्षणोऽधर्मास्तिकायः,

लघुगुरुमासो लहुगो, लहुगादी वायरे हुंति ॥

एवं निहुवने निहुवने प्रायश्चित्तं वर्द्धते यावत् स्वपद्मः पारा-
श्रिकं तराश्रिकम् । तद्यथा-पञ्चमं चारं निहुवानस्य परुद्धु, पष्ठं
चारं परुद्धु, सप्तमं मूलम्, नवममनवस्थाप्यं, दशमं चारं
निहुवानस्य पाराश्रिकम् । अत्र च प्रचलादिषु सर्वेष्वपि
द्वारेषु यत्र यत्र लघुमासो वा प्रयति तत्र तत्र सूक्ष्मो मृयावा-
दः, यत्र तु चतुर्लघुकादिकं भवति तत्र चादरो मृयावादो भवति ।
गतं प्रचलाद्वारम् ।

अथाङ्गद्वारमाह—

किं णीमि वासमाणे, ए णीसि णणु वासविंदो एए ।

भुंजति ङीण मरुगा, कहिं ति नणु सस्सगेदेमु ॥

कोऽपि साधुर्ये पतति प्रस्थितः स चापरेण भणितः—किं 'वा
समाणे' वर्णति निर्गच्छामि ? एवं प्राणित्वा तथैव प्रस्थितः । तत
इतरेण साधुना भणितम्—कथं न निर्गच्छामीति प्राणित्वा निर्ग-
च्छामि ? । स प्राह—चास्-शब्दे इति धातुपाठाद् चासति श-
ब्दायमाने यो गच्छति स चासति निर्गच्छतीत्यभिधीयते ।
अत्र तु न कश्चिद् चासति, किन्तु वर्णयिन्द्व एते, तेषु गच्छा-
मि । एवं उल्लावेन प्रत्युत्तरं दानस्य तथैव प्रथमवारादिषु
मासलघुकादिकं प्रायश्चित्तम् ॥ अथ मरुकाद्वारम् । कोऽपि सा-
धुः कारणे विनिर्गत उपाश्रयमागत्य साधून् भणति—साध-
वो यात, ह्युत्ते मरुकाः । एवमुक्ते ते साधव उल्लाहितमा-
जना भणन्ति—(कहिं ति सि) क ते मरुका शुब्जते ? । इतरः
प्राह—ननु सर्वे आत्मीयगृहेषु, एवं छेत्रेनोत्तरं प्रयच्छति ॥

अथ प्रत्याख्यानद्वारमाह—

हुंजमु पच्चक्खानं, मए चि तक्खण पत्तुंजओ पुट्ठो ।

किं व ए मे पंचविद्वा, पच्चक्खाया अविरईओ ॥

कोऽपि साधुना भोजनवेलायां प्राणितः—भुङ्क्त्व समुद्दिश । स
प्राह—प्रत्याख्यातं मयेति । पयमुक्त्वा मपद्वत्पां तत्तत्तणादेव
प्रचुक्तो-नोक्तुं प्रवृत्तः । ततो द्वितीयेन साधुना पृष्टः—आर्यं ! त्व-
मेतत् भणितम्—मया प्रत्याख्यातम् ? । स प्राह—किं वा मया प्रा-
णातिपातादिका पञ्चविधा भवितरितेन प्रत्याख्याता, येन प्रत्या-
ख्यानं न घटते ? ।

अथ गमनद्वारमाह—

वच्चासि नाहं वच्चे, तक्खण वच्चए पुच्छिओ भणइ ।

सिच्छंतं न वि जाणसि, नणु गम्माइ गम्माणां तु ॥

केनापि साधुना चैत्यवन्दनादिप्रयोजने प्रजता कोऽपि साधु-
रुक्तः—किं त्वमपि प्रजसि ? गच्छसीत्यर्थः । स प्राह—नाहं प्रजा-
मि । एवमुक्त्वा तत्तत्तणादेव प्रजितुं प्रवृत्तः । तेन पूर्वप्रस्थितसा-
धुना पृष्टः—कथं न प्रजामीति भणित्वा प्रजसि ? । स भणति—सि-
द्धान्तं न जानीये त्वम् । नन्वित्याक्षेपे । ओ मुख ! गम्यमान-
मेव गम्यते, नागम्यमानम्, यस्मिन् समये त्वयाहं पृष्टस्तस्मिन्नाहं
गच्छामि ? इति ॥

अथ पर्यायद्वारमाह—

दसएयस्स य मज्झं य, पुच्छिय परिआय वेइ उ झलेण ।

मम नवए वंदिअम्मि, भणइ वे पंचगा दसओ ॥

कोऽपि साधुरात्मद्वितीयः केनापि साधुना वन्दितुकामेन पु-

ष्टः—कति वर्षाणि भवतां पर्यायः ? इति । स एवं पृष्ठो भणति—
एतस्य साधोर्मम च दश वर्षाणि पर्याय इति । एवं कुलेन ते-
नोक्ते, स प्रच्छकः साधुः—मम नव वर्षाणि पर्याय इत्युक्त्वा प्रवन्दि-
तो वन्दितुं लग्नः । इतरात्मज्ञवादी भणति—उपविशत, भवन्तः
स्वयमेव वन्दनीया इति । कथं पुनरहं वन्दनीया ? इति तेनोक्ते, उ-
ल्लावादी भणति—मम पञ्च वर्षाणि पर्यायः, एतस्यापि साधोः
पञ्च । एवं द्वे पञ्चके मीक्षिते दश भवन्ति । ततो यूयमावयोरुज-
योरीपि वन्दनीया इति भणति ।

अथ समुद्देशद्वारमाह—

वट्ठइ उ समुद्देशो, किं अत्यह कत्थ एस गगणम्मि ।

वट्ठंति संखन्नीओ, धरेसु नणु आउखंडणया ॥

कोऽपि साधुः कायादिभूमौ निर्गत्य आवित्त्य राहुणा प्रस्थमा-
मानं दृष्ट्वा साधून् स्वस्वान् मौनान् जणति—आर्याः ! समुद्देशो
वर्तते किमेवमुपविष्टास्तिष्ठत ? । ततस्ते साधवो नायमङ्गीकं भूते
इति कृत्वा गृहं तज्जाजनमुपस्थिताः पृच्छन्ति । कुत्रासौ समुद्दे-
शो भवति ? । स प्राह—नन्वेव गगनमार्गं सूर्यस्य राहुणा समुद्देशः
प्रत्यक्षमेव दृश्यते ॥ अथ संखन्नीद्वारम् । कोऽपि साधुः प्रथमाहि-
कापानकादिनिमित्तं विनिर्गतः प्रत्यागतो भणति—प्रचुराः संख-
न्नीओ वर्तन्ते, किमेवं तिष्ठत ? । ततस्ते साधवो गन्तुकामाः पृच्छन्ति—
यून ताः संखन्नी । स कुलवादी भणति—तेषु तेषु गृहेषु संखन्नीयो
वर्तन्त एव । साधवो भणन्ति—कथं ता अप्रसिद्धाः संखन्नी उ-
च्यन्ते ? । कुलवादी भणति—[नणु आउखंडणया सि] नन्वित्या-
क्षेपे । पृथग्याविजीवानामायुषि गृहे गृहे रन्धनादिभिरार-
म्भैः संखन्त्यन्ते, ताः कथं न संखन्नीओ भवन्ति ? ।

अथ कुलकद्वारमाह—

खुड्डग ! जणणी ते मिया, रुइ जीवइ चि अस्स भणितम्मि ।

माइत्ता सव्वजिया, जवेसु तेणेस ते माता ॥

कोऽपि साधुरुपाश्रयसमीपे मृतां शुनीं दृष्ट्वा कुलकमपि भ-
णति—कुलक ! जननी तव मृता । ततः कुलकः प्रवदितो—रो-
वितुं लग्नः । तमेवं रुदन्तं दृष्ट्वा स साधुराह—मा रुदिहि, जीवति
ते जननी । एवमुक्ते कुलकोऽपरे च साधवो जणन्ति—कथं पू-
र्वं मृतेत्युक्त्वा संप्रति जीवतीति जणसि ? । स प्राह—एषा या
शुनी मृता सा तव माता भवति । कुलको भूते—कथमेया मम
माता ? । मृयावादी साधुराह—सर्वेऽपि जीवा भतीते काले तव
मातृत्वेन बभूवुः । तथा च प्रमात्तिसूत्रम्—“एगमेगस्स णं जीवस्स
सव्वजिया माइत्ताए पिइत्ताए भायत्ताए पुत्ताए धूयत्ताए
भूतपुत्ता । हुंता गोयमा । एगमेगस्स जीवस्स जीवा तद्वा
भूतपुत्ता ” । तेनैव कारणेनैषा शुनी त्वदीया मातेति ॥

अथ परिहारिकद्वारमाह—

उज्जाणे दड्ढं, दिछा परिहारग चि झइ करणे ।

कत्थुज्जाणे गुरुपं, वयंति दिडेसु लहुगुरुगा ॥

उज्झगगा उ शिउत्ते, आहोइए तम्मि उगुरु होंति ।

परिहरमाणा वि कहं, अप्परिहारी जवे छेदो ॥ २ ॥

किं परिहरंति एषु धा-शुक्लं मूलं तुज्जं सव्वे य ।

अहमेगो अणवट्ठं, वहिं पवयणस्स पारंची ॥ ३ ॥

कोऽपि साधुरुद्याने स्थितानवसन्नान् दृष्ट्वा प्रतिश्रयमागत्य
भणति—मया परिहारिका दृष्टा इति । साधवो जानते, यथा-

स्तिया य सक्खीचोरा चारभभा खंडरक्खा जियपूइकरा
य गह्तिगहणा कक्कगुरुगकारिका कुलिंगा उवडिया वा-
णियगा य कूटतुला कूटमाणा कूटकाहावणोवजीवी पन-
कारककज्ञायकारुज्जा वंचणारा चारियचडुयारनगर-
गुत्तियपरिचारकदुट्टवाइसूयकअणवडभणिया य पुव्व-
कालियवयणदक्खा सहस्सिका लहुस्सगा असच्चा गार-
विया अमच्चत्थावणाहिचिच्चा उवडंदा अणिग्गहा अणि-
यया ठंदेण मुक्खादी भवंति । अलियाहिं जे अविरया
अवरे एत्थिकवादिणो वामलोकवादी भणंति ॥

(तं चेत्यादि) तत्पुनर्वदन्यद्वीकम् । (केइ चि) के-
चिच्च सर्वेऽपि, सुसाधूनामद्वीकवचननिवृत्तत्वात् । किंचि-
शिष्टाः ? पापाः पापात्मानः, असंयता असंयमवन्तः, अवि-
रता अनिवृत्ताः । तथा- (कवडकुमिलकडुयचमुडभावात्ति)
कपटेन हेतुना कुटिलो वक्रः कटुकाश्च विपाकदारुणत्वात्,
चटुलश्च विविधवस्तुषु कृणे कृणे आकाङ्क्षादिप्रवृत्तेः, भावश्चि-
त्तं येषां ते तथा । 'कुडा, सुडा' इति सुगमम् । (भया-य चि)
परेयां भयोत्पादनाय, अथवा-नयाश्च (हस्सात्थिया-य चि)
हासार्थिकाश्च हासार्थिनः । पाठान्तरेण-हासार्थाय (सफिस्स
चि) साक्किणः चौराः । चारभडाश्च प्रतीनाः । (खंडरक्ख चि)
शुष्कपालाः । (जियपूइकरा य चि) जिताश्च ते पूतिकराश्चेति
समासः । (गहियगहण चि) गृहीतानि ग्रहणकानि यैस्ते
तथा । (कक्कगुरुगकारग चि) कक्कगुरुकं माया, तत्कारकाः ।
(कुलिं ग चि) कुलिङ्गिणः कुतीर्थिकाः । (उवडिया वाणियग
चि) उपधिका मायाचारिणः, वाणिजका वणिजः । किंचु-
ताः ? कूटतुला, कूटमानिनः, कूटकार्यापणोपजीविन इति पदत्रयं
व्यक्तम्; नगरं कार्यापणो छम्भः । (पडकारककलायकारुज्ज
चि) पडकारकास्तन्तुवायाः, कलादाः सुवर्णकाराः, कारु-
केषु वरुट्टिम्पकादिषु भवाः कारुकीयाः । किंचिच्चा एते अ-
लीकं वदन्ति, इत्याह-वञ्चनपराः, तथा-चारिका हेरिकाः, चटु-
काराः सुखमङ्गलकराः, नगरगुप्तिकाः कोट्टपालाः, परिचारका
ये परिचारणां मैथुनाजिष्वङ्गं कुर्वन्ति, कामुका इत्यर्थः । डुट्टवा-
दिनोऽसत्पक्काहिणः, सूत्रकाः पिशुनाः, (अणवलमणियाय
चि) ऋणं गृहीतव्ये बलं यस्यासौ ऋणवद्वो-बलवानुत्तम-
र्थः, तेन जयिता अस्मद् द्रव्यं देहीत्येवमभिहिता ये अधम-
णास्ते तथा । ततश्चारकादीनां द्वन्द्वः । (पुव्वकाक्षियवय-
णदक्ख चि) वकुलामस्य वचनाद् यत्पूर्वतरमभिधीयते परा-
जिप्रायं वक्ष्यित्वा, तत्पूर्वकाक्षिकं वचनं, तत्र वक्तव्ये दक्षास्ते
तथा, अथवा पूर्वकाक्षिकानामर्थानां वचने अदक्षा निरतिशय-
निरागमास्ते तथा । सहसा अवितर्क्यभाषणे ये वर्त्तन्ते ते
साहसिकाः, लघुस्वकाः बहुकात्मानः, असत्याः सद्ब्रह्मोऽहिताः,
गौरविकाः ऋभ्यादिगौरवत्रयेण चरन्ति ये असत्यानामसद्गता-
नामर्थानां स्थापनं प्रतिष्ठामध्विचिन्तं येषां ते असत्यस्थापना-
ध्विचिन्ताः । वच्चो महानात्मोत्कर्षणप्रवणः बन्दोऽजिप्रायो येषां
ते उच्चच्छन्दाः । अनिग्रहाः स्वैराः । अनियता अनियमवन्तोऽ-
नवस्थिता इत्यर्थः । अनिजका वा अविद्यमानस्वजनाः, अलीकं
वदन्तीति प्रकृतम् । तथा बन्देन स्वानिप्रायेण मुक्खाचः प्रयुक्त-
वचनाः, अथवा छन्देन मुक्खादिनः सिद्धवादिनस्ते जवन्ति ।
के ? इत्याह-अलीकाद् ये अविरताः, तथाऽपरे उक्तेभ्योऽन्ये ना-

स्तिकवादिनो द्वौकायतिकाः, यामं प्रतीपं लोकं वदन्ति ये सतां
लोकवस्तूनामसत्त्वस्य प्रतिपादनाच्चे वामद्वौकवादिनः, जणन्ति
प्रकृपयन्ति । प्रश्न० २ आश्र० ६० ।

तथा किमन्यद्वदन्तीत्याह-

तम्हा दाणवयपोसहाणं तवसंयमवंचेचरकद्वानमादि-
याणं नत्थि फलं, न वि य पाणवहअलियवयणं, न चेव
चोरककरणं, परदारासेवणं वा, सपरिगहपावकम्माइकर-
णं पि नत्थि किंचि, न नेरइयतिरिक्खमणुयजोणी, न
देवद्वोको वा अत्थि, न य अत्थि सिद्धिगमणं, अम्मापि-
यरो वि नत्थि, न वि य अत्थि पुरिसकारो, पच्चक्खाण-
मवि नत्थि, न वि यऽत्थि काट्टमच्चू, अरिहंतचकवट्टी वल्ल-
देवा वामुदेवा नत्थि, नेवऽत्थि केइ रिसओ, धम्माधम्मफलं
वि न अत्थि किंचि बहुयं व थोवं व; तम्हा एवं जा-
णिऊणं जहा सुवहुइदियाणुकूलेसु सव्वविसएसु वट्टह;
नत्थि काइ किरिया वा, एवं जणंति नत्थिकवादिणो; इमं
पि वितियं कुदंसणं असब्बावं वादिणो पस्सवेंति मूढा,
संचूओ अंरुकाओ द्वांको, सयंजुणा सयं च निम्मिओ,
एवं एतं अलियं, पयावइणा इस्सरेण य कय चि केइ,
एवं विणहुमयं नूयाण सयं च निम्मिओ कसिणमेव य
जगदिति केइ, एवमेके वदंति मोसं-एको आया, अकारको
वेदको य मुकयस्स य दुक्कयस्स य करणानि कारणाणि य
सव्वहा सव्वहिं च, णिच्चो य, णिक्किओ, निग्गुणो य, अणुवद्वो-
वओ चि अवि य । एवमाहंसु असब्बावं जंपि एहिं किंचि जी-
वद्वोके दीसंति मुकयं वा दुक्कयं वा-एयं जंदिच्छा ए वा, सहावे-
ण वा पि, दायेवयप्पभावओ वा वि भवति, नऽत्थि तत्थ किंचि
कयकं तत्तं, द्वाक्खणाविहाणं नियतिकारिया एवं केइ जंपंति,
इहुरिसमायगारवपरा वहवे करणाद्वसा परूवेंति धम्मवी-
मंसएण मोमं, अवरे अहम्माओ रायदुड्डं अब्जक्खाणं ज-
णंति अलियं, चोरो चि अचोरियं करेंतं । रुमराओ चि
वि य एमेव उदासीणं, दुसीलो चि य परदारं गच्छंति चि
मइल्लिति सीद्वकलियं अयं पि गुरुत्तप्पओ चि अणणे ए-
वमेव जणंति, उवहणंति, मिच्चकलत्ताइं सेवंति अयं पि
लुत्तधम्मो, इमो वि बीसंजघायओ पावकम्मकारी, अकम्म-
कारी अगम्मगामी अयं दुरप्पा बहुएसु य पातगेसु जुच्चो
चि एवं जंपंति मच्चरी जइके वा गुणकित्तिनेहपरलोगनि-
प्पिवासा; एवं एते अलियवयणदक्खा परदोऽप्यायणसंस-
चा वेहेंति, अक्खयियवीएणं अप्पाणं कम्मबंधणेण मुहरि
असमिक्खियप्पलावी निक्खेवे अवहरंति, परस्स अ-
त्थम्मि गहियाणिक्का, अज्जिजुंजंति य परं असंतएहिं
लुद्धा य करेंति कूटसक्खित्थणं, असच्चा अत्थालियं च,
कम्मालियं च, जोमाक्षियं च, तहा गवाक्षियं च, गरुयं भ-

अवगाहलक्षण आकाशास्तिकायः, उपयोगलक्षणो जीवा-
स्तिकायः, ग्रहणलक्षणः पुद्गलास्तिकायः । एषां च पञ्चा-
नां रूपाणां मध्यापुञ्जलानामेव ग्रहणरूपं लक्षणं, नान्येषां
धर्मास्तिकायादीनाम्, तेन ग्रहमेकमेव छज्यं गृह्णामि न बहु-
नीति व्याख्यातं द्वितीयद्वारगाथायाः पूर्वोक्तम् । अथ " प-
न्याइक्षिताय भुञ्जयस्ति " पञ्चाङ्गे व्याख्यायते-प्रत्याख्या-
य 'नाहं गच्छामीति प्रतिपिष्य' गमनं करोति । प्रत्याख्याय
च 'नाहं छुञ्जे इति भणित्वा' भुञ्जे । अपरेण च साधुना पृष्टो
ब्रवीति-गम्यमानं गम्यते नागम्यमानम्, भुज्यमानमेव भुज्यते
नाभुज्यमानम् । अनेन पञ्चाङ्गेन गमनद्वारप्रत्याख्यानद्वारे व्या-
ख्यातं इति प्रतिपत्तव्यम् । इह सर्वत्रापि प्रथमवारं ज्ञेयतो
मासज्ञधु । अथाभिनिवेशेन वदन्निकाचयति तदा पूर्वोक्तनीत्या
पाराश्रिकं यावद्ब्रूयम् । तदेवं येषु स्थानेष्वलीकं संभवति या-
दृशो च यत्र शोभिः तदभिहितम् । संप्रति ये अपायास्ते सापवा-
दा इति द्वारम् । नञानन्तरोक्तान्यलीकानि ज्ञेयतो द्वितीयसाधुना
सहासंखडाव्युत्पत्तिः संयमात्मविराधनारूपा सप्रपञ्चं सुधिया
यकथा । अपवादपदं तु पुरस्ताद् ज्ञापिष्यते । ७०६ उ० जीत० ।

अलीकवचनावयवधर्मद्वारस्य व्याख्या-

जंघु ! वितियं च अक्षियवयणं बहुसगल्लुचवलजणियं
जयकरदुहकरअयसकरवेरकरगं अरतिरतिरागदोसमणसंकि-
लेसवियरणं अक्षियनियदिसाइजोयवहुं एणियजणणिसे-
वियं निसंसं अप्पवियकारगं परमसाहुगरहणिज्जं परपीला-
कारकं परमकण्हसेससहिंयं दुग्गतिविण्णियायवहुणं जवपुण-
वजवकरं चिरपरिचितमणुगयं दुरंतं किंचियं वितियं अह-
म्मदारं ॥

'जम्बूः' इति शिष्यामन्त्रणवचनम् । 'द्वितीयं च'-द्वितीयं पुनरा-
श्रवद्वारम्, अलीकवचनं नृपावादाः । इदमपि पञ्चजिघांशका-
दिद्वारैः प्रकल्पते । तत्र यादृशमिति द्वारमाश्रित्यालीकवचनस्य
स्वरूपमाह-अधुगुणगौरवरहितः, स्व आत्मा येषां ते लघुस्व-
काः, तेभ्योऽपि ये सधवस्ते अधुस्यकसधवः, ते च ते चपञ्चाञ्च,
कायादिभिरिति कर्मधारयः । तैरेव अणितं यत्तत्तथा । तथा-
भयकरं दुःखकरमयशःकरं धैरकरं च यत्तत्तथा । अरतिरति-
रागोद्वपलक्षणं मनःसंक्लेशं वितरति यत्तत्तथा । अलीकः शुभफ-
लापेक्षया निष्फलो यो निहतेर्वन्धनप्रच्छादनार्थवचनस्य, (सा
इति) अविश्रमस्य च अविभवासवचनस्य योगो व्यापारस्तेन
बहुवं प्रचुरं यत्तत्तथा । नां चैर्जात्यादिहानैः प्राय इदं निषेवितं
तत्तथा । नृशंसं सूकावर्जितं, निःशंसं वा श्लाघारहितम्, अ-
प्रत्ययकारकं विवधासविनाशकम् । इतः पदचतुष्टयं कष्टम् ।
तथा-भवे संसारे पुनर्जन् पुनःपुनर्जन्म करोतीति, नच पुनर्भव-
करम्, चिरपरिचितमनाविसंसारोऽप्यस्तम्, अनुगतमव्यवच्छे-
देनानुवृत्तं, दुरन्तं विपाकदारुणं, द्वितीयमधर्मद्वारं कीर्तितम् ।
यतेन यादृश इत्युक्तम् ।

अथ यक्षामेत्यभिधातुकाम आह-

तस्स य एणमाणि गोण्णणि हुंति तीसं । तं जहा-अलि-
यं ? सठं २ अणज्जं ३ मायामोसो ४ असंतगं ५ कू-
कवडमवत्थुं ६ निरत्थयमवत्थगं च ७ विदेसगरहणिज्जं
८ अणुज्जं ९ ककतकारणा य १० वंचणा य ?? मिच्छा-

पच्छाकमं च १२ साती १३ उच्छत्तं १४ उक्कूलं च १५
अट्टं १६ अञ्जक्खाणं च १७ किंविंसं १८ वलयं १९
गहणं च २० मम्मणं च २१ नृमं २२ नियती २३ अ-
पच्चओ २४ असमओ २५ असच्चमंधत्तणं २६ विव-
क्खो २७ अवहीयं २८ उवहिसमुत्थं २९ अवलोवो
त्ति अविद्य ३०; तस्स एणणि एवमाईणि एणमधेज्जाणि
हुंति तीसं सावज्जस्स अलियस्स वड्जोगस्स अणेगाइ ।

"तस्स" इत्यादि सुगमं यावत्तत्तथा । अलीकं १, शठः, शठस्य
मायिनः कर्तृत्वात् २, अनार्यवचनत्वादनार्यः ३, मायालक्षणक-
पायानुगतत्वात्, मृपारूपत्वाच्च मायामृपा ४, (असंतगं ति)
असदर्थान्निधानरूपत्वादसत्यम् ५, (कूकवडमवत्थुं ति) कूटं
परवञ्जनार्थं न्यूनाधिकभाषणं, कपटं भाषाविपर्ययकरणम्, अ-
विद्यमानवस्त्वनिधेयोऽर्थो यत्र तदवस्तु; पदत्रयस्याप्येतस्य
कथञ्चित् समानार्थेत्येकतमस्यैव गणनादिदमेकं नाम ६, (नि-
रत्थयमवत्थयं चेति) निरर्थकं सत्यार्थान्निष्कान्तम्, अपार्थक्यम्-
अपगतसत्यार्थम्, इहापि द्वयोः समानार्थतया एकतरस्यैव ग-
णनादेकत्वम् ७, (विदेसगरहणिज्जं ति) विद्वेषो मत्सरस्त-
स्माद् गहति निन्दति येन, अथवा-तत्रैव विद्वेषाद् गहति साधु-
त्रियं च विद्वेषगर्हणीयमिति ८, अनुज्जकं वक्रमित्यर्थः ९, कत्तं
पापं म.या वा, तत्कारणं कत्तं माया पापं च १०, वंचना च ११,
(मिच्छापच्छाकमं च ति) मिथ्येति कृत्वा पञ्चाङ्कतं निराकृतं न्या-
यवादिर्निर्यत्तत्तथा १२, (साती ति) अविश्रमः १३, (उच्छत्तं
ति) अपसदं विरूपं वृत्रं स्वदोषाणां परशुणानां च १४ परमप-
च्छन्नम्, उच्छन्नं वा न्यूनत्वम् १५, (उक्कूलं च ति) उत्कूलयति
सन्मार्गादप्यन्तयति, कूलाद्वा न्यायसरित्प्रवाहतदाटुर्ध्वं यत्तदु-
त्कूलम् । पाठान्तरेण-उत्कूलम्-ऊर्ध्वं धर्मेकलाया यत्तत्तथा १५,
आर्तम्-अतस्य पीडितस्येदं वचनमिति कृत्वा १६, अन्त्याख्या-
नं चोद्घाटनम्-असतां दोषाणागित्यर्थः १७, किंविपं किंवि-
पस्य पापस्य हेतुत्वात् १८, वलयमिव वलयं, वक्रत्वात् १९,
गहनमिव गहनं, कुलं चान्तस्त्वात् २०, मम्मनमिव मम्मनं
च, अस्फुटत्वात् २१, (नृमं ति) प्रच्छादनम् २२, निष्कृतिर्मा-
यायाः प्रच्छादनार्थं वचनम् २३, अप्रत्ययः प्रत्ययाच्चावः २४,
असमयोऽसम्यगाचारः २५, असत्यमलीकं संदधाति करो-
तीति असत्यसन्धस्तद्भावोऽसत्यसन्धत्वम् २६, विपक्षा-स-
त्यस्य, सुकृतस्य चेति भावः २७, (अवहीयं ति) अपसदा
निष्ठा धीर्यस्मिंस्तदपधीकम् । पाठान्तरेण-'अण्णाण्यं'
आज्ञां जिनादेशमतिगच्छत्यतिक्रामति यत्तदाज्ञाप्रतिगम् २८ ।
(उवहिसमुत्थं ति) उपश्रिता मायया अशुक्लं सावद्यमुपप्यशु-
द्धम् २९, अवज्जोपो वस्तुसद्भावप्रच्छादनम्, इत्येवंप्रकारार्थः ।
अपि चेति समुच्चयार्थः ३० । (तस्स एणणि एवमाईणि
नामधेज्जाणि हुंति तीसं सावज्जस्स अलियस्स वड्जोगस्स
अणेगाइ ति) इह वाक्ये एवमक्षरघटना कार्या-तस्याली-
कस्य सावचस्य वाग्योगस्य एतान्यनन्तरोदितानि त्रिशत् एव-
मादीन्येवंप्रकाराणि चानेकानि नामधेयानि नामानि भवन्ती-
ति ॥ यक्षामेति द्वारं प्रतिपादितम् ।

अथ ये यथा चाह्मीकं वदन्ति तौस्तथा चाऽऽह-

तं च पुण वदन्ति केह अलियं पावा असंजया अविरया
कवनकुमिलकडुयचडलनावा कुप्पा लुप्पा जया-य हस्स-

एवमुक्तकमेण एतदनन्तरोदितं वस्तु अलीकं, भ्रान्तज्ञानिभिः प्ररूपितत्वात् । तथा-प्रजापतिना लोकप्रचुरा ईश्वरेण च महेश्वरेण कृतं विहितमिति केचिद्वादिनो, वदन्तीति प्रकृतम् । भणन्ति चेष्ट्वरवादिनः-“बुद्धिमत्कारणपूर्वकं जगत्, संस्थानविशेषयुक्तत्वाद् घटादिवदिति” । कुदर्शनता चास्य-वल्मीकयुद्बुदादिभिर्हेतोरनैकान्तिकत्वात् । कुलालादितुल्यस्य बुद्धिमत्कारणस्य साधनेन चेष्टविधातकारित्वादिति । तथा-एवं यथेश्वरकृतं तथा विष्णुमयं विष्णवात्मकं कृत्स्नमेव च जगदिति, केचिद्बदन्तीति प्रकृतम् । भणन्ति च एतन्मतावलम्बिनः-

“ जज्ञे विष्णुः स्थज्ञे विष्णुः, विष्णुः पर्वतमस्तके ।
ज्वाहमावाकुत्रे विष्णुः, सर्वं विष्णुमयं जगत् ” ॥ १ ॥
तथा-“ अहं च पृथिवी पार्थ !, वाय्वग्निजलमप्यहम् ।
वनस्पतिगतश्चाहं, सर्वभूतगतोऽप्यहम् ” ॥ १ ॥
“ सो किल जलसमुत्थे-पुदपणेगणवन्मि लोगम्भि ।
वीर्यपरंपरेणं, घोष्ठतो उदयमज्जम्भि ” ॥ १ ॥

स किञ्च मार्कण्डेय ऋषिः-

“ मिच्छइ सो तसयावर-पण्डुसुरनरतिरिक्खजोणीयं ।
एगखवं जगमिणं, महज्जयविवाळियं गहरं ॥ २ ॥
एवंविहं जगम्मी, पिच्छइ नग्गोहपायवं सहसा ।
मंदरगिरिं व तुंगं, महासमुदं वऽविच्छिन्नं ॥ ३ ॥
जंघम्मि तस्स सयणं, अच्छइ तइ बालो भणभिरामो ॥
संचिछो सुद्धिभो, मिउकोमलकुंचियसुकेसो ॥ ४ ॥ विष्णुरित्यर्थः ।
इत्यो पसारिओ से, महरिसिणो पहि वच्छ ! जणिओ य ।
जंघे ममं विलज्जसु, मामरिहिसि उदयवुद्धीए ॥ ५ ॥
तेण य वेसुं हत्थे, मिलिओ सो रिसी तओ तस्स ।
पिच्छइ उदरम्मि जयं, ससेववणकाणणं सव्वं ” ॥ ६ ॥ ति ॥
पुनः सृष्टिकाळे विष्णुना सृष्टम् । कुदर्शनता चास्य प्रतीतिवाधत्वात् । तथा-एवं ब्रह्ममाण्यायेन एव केचन आत्माद्वैतवाद्यादयो वदन्ति-मृषा अलीकं, यदुत एक आत्मा । तदुक्तम्-
“ एक एव हि चूतात्मा, भूते चूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ” ॥ १ ॥ तथा-“ पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ” इत्यादि । कुदर्शनता चास्य सकलब्रह्मकविलोप्यमानजैदनिबन्धनव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । तथा-अकारकः शुद्धहेतूनां पुण्यपापकर्मणामकर्ताऽऽत्मैतन्त्ये वदन्ति, अमूर्तत्वनित्यत्वाभ्यां कर्तृत्वानुपपत्तेरिति । कुदर्शनता चास्य संसार्यात्मनो मूर्तत्वेन परिणामित्वेन च कर्तृत्वोपपत्तेः, अकर्तृत्वे चाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । तथा-वेदकश्च प्रकृतजज्ञितस्य सुकृतदुष्कृतस्य च प्रतिविम्बोदयन्यायेन भोक्ता । अमूर्तत्वे हि कदाचिदपि वेदकता न युक्ता, आकाशस्येवेति कुदर्शनता चास्य । तथा सुकृतदुष्कृतस्य च कर्मणः करणानीन्द्रियाणि कारणाणि हेतवः सर्वथा सर्वप्रकारैः सर्वत्र च देशे काले च, न वस्त्वन्तरं कारणमिति भावः । करणान्येकादश-तत्र वाक्पाणिपादपायूपस्थलक्षणानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, स्पृशनादीनि तु पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, एकादशं च मन इति । एषां चाचेतनावस्थायामकारकत्वात्पुरुषस्यैव कारकत्वेन कुदर्शनत्वमस्य । तथा-नित्यश्चासौ । यदाह-“ नैनं त्रिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः । नचैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥ १ ॥ अच्छेद्योऽयममेघोऽयं-ममूर्तोऽयं सनातनः ” इति । असच्चैतन्, एकान्तनित्यत्वे हि सुखदुःखबन्धमोक्षाद्यभावप्रसङ्गात् । तथा-निष्क्रियः सर्वव्यापित्वेनावकाशाभावाद् गमनागमनादिक्रियावर्जितः । असच्चैतद्-देहमात्रोपलभ्यमानतद्गुणत्वेन तन्नियतत्वात् । तथा-नि-

गुणश्च, सत्त्वरजस्तमोवृक्षगुणत्रयव्यतिरिक्तत्वात् ; प्रकृतेरेव ह्येते गुणा इति । यदाह-“ अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा कपिलदर्शनः ” इति । असिद्धता चास्य सर्वथा निगुणत्वे, चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमित्यनुपगमात् । तथा-(अणुवद्वेवओ त्ति) अनुपद्वेपकः कर्मबन्धनरहितः । आह च-“ यस्मान्न बध्यते नापि, मुच्यते नापि संसरत् ” । “ संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ” इति । असच्चैतद्-मुक्तामुक्तयोरेवमविशेषप्रसङ्गात् । पाठान्तरम्-(अणोवद्वेवओ त्ति) अत्र अन्यश्चापरो द्वेपनः, कर्मबन्धनादिति । एतदप्यसत्-कथञ्चिदिति शब्दानुपादानात् । इत्यपि च-इती रूपप्रदर्शने, अपिचेति-अलीकत्वादान्तरसमुत्थायार्थः । तथा-एवं ब्रह्ममाण्यप्रकारेण (आहंसु त्ति) उच्यते स्म असद्भावमसन्तमर्थं, यदुत यदपि यदेव सामान्यतः, सर्वमित्यर्थः ; इहास्मिन्, किञ्चिदविचक्षितविशेषं, जिवद्योके मर्त्यलोके, दृश्यते सुकृतं वा आस्तिकमतेन सुकृतफलं, सुखमित्यर्थः । दुष्कृतं वा दुष्कृतफलं, दुःखमित्यर्थः । एतत् (जइच्छाए व त्ति) यदच्छया वा, स्वजावेन वाऽपि, दैवकप्रजावतो वाऽपि विधिसामर्थ्यतो वाऽपि प्रवति, न पुरुषकारः कर्म वा हिताहितनिमित्तमिति भावः । तत्र-अनभिसन्धिपूर्विकाऽर्थप्राप्तिः यदच्छा । पठ्यते च-“ अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजातम् । काकस्य तावदेन यथाऽभिधातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र बुधाऽज्जिमानः ” ॥ १ ॥ तथा-“ सत्यं पिशाचस्य बने वसामो, भेरीं करामैरपि न स्पृशामः । यदच्छया सिद्धति ब्रह्मयात्रा, भेरीं पिशाचाः परितारयन्ति ” ॥ १ ॥ निःस्वभावः पुनर्वस्तुनः स्वत एव तथा परिणमति इति भावः । उक्तं च-“ कः कपटकानां प्रकरोति तैच्छणं, विचित्रभावं मृगपाक्षिणां च । स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ? ” ॥ १ ॥ इति । दैवं तु विधिरिति लौकिकी भाषा । तत्रोक्तम्-“ प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः, किं कारणं दैवमश्नुनीयम् । तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे, यदस्मदीयं नहि तत्परेपाम ” ॥ १ ॥ तथा-“ द्वीपादन्यस्मादपि, मध्यादपि जगन्निधेर्दिशोऽप्यन्तात् । आनीय जटिति घटयति, विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ” ॥ १ ॥ इति । असद्भूतता चात्र प्रत्येकमेपां जिनमतप्रतिकूलत्वात् । तथाहि-“ कावो सहाव नियई, पुव्वकयं पुरिसकारणंगता । मिच्छत्तं ने चेव उ, समासओ हुंति सम्मत्तं ” ॥ १ ॥ इति । तथा-नास्ति न विद्यते, तत्र लोके, किञ्चिच्छुभ्रमशुभ्रं वा, कृतकं पुरुषकारानिष्पन्नकृतं च कार्यं, प्रयोजनमित्यर्थः । पाठान्तरेण-“ न रित्थि किंचि कयकं तत्तं ” । तत्र तत्त्वं वस्तुस्वरूपमिति । तथा-लक्षणानि वस्तुस्वरूपाणि विविधाश्च जेदा वृक्षणाविधास्तासां वृक्षणाविधानां, नियतिश्च स्वभावविशेषश्च कारिका कर्त्री, सा च पदार्थानामवश्यतया । तद्यथा-भवने प्रयोजयित्री, प्रवितव्यतेत्यर्थः । अन्ये त्वाहुः-यतः मुक्तादीनां राद्विस्वभावत्वमितरश्चातत्त्वजावत्वम् । यच्च राद्विस्वभावो नियतरत्त्वं, न शब्दादिरसता, सा नियतिरिति । “ नहि प्रवति यन्न भाव्यं, भवति च भाव्यं विनाऽपि यत्नेन । करतव्यगतमपि नश्यति, यस्य तु भवितव्यता नास्ति ” ॥ १ ॥ असत्यता चास्य पूर्ववत् । एवमित्युक्तप्रकारेण, केचिन्नास्तिकादयो जल्पन्ति । ऋक्षिरससातगौरवपराः, ऋक्ष्यादिषु गौरवमादरस्तत्प्रधाना इत्यर्थः । बहवः प्रच्युताः करणालसाभरणालसा धर्म्मं प्रत्यनुद्यमाः, स्वस्य परेषां च चित्ताभ्यासनिमित्तमिति भावः ; तथा प्ररूपयन्ति । धर्म्मविमर्शकेण धर्म्मविचारणेन, (मोसं ति) मृषा पारमार्थिकधर्म्ममपि स्वबुद्धिदुर्विलसितेनाधर्म्मं स्थापयन्ति ।

यंति, अहरगतिगमणं, अणं पि य जाइरुवकुलसीदप-
च्चवमायानिगुणं, चवद्वा पिमुणं परमज्जेदकमसंतकं वि-
हेसमणत्थकारकं पावकम्ममूत्रं छुदिं दुस्सुयं अमुणियं
निलज्जं लोगगरहणिज्जं बहवंपगिक्किसेसवहुलं जराम-
रणुक्खसोगनेमं अनुक्खपरिणामसंकिद्धं भणंति ॥

यस्माच्छरीरं सादिकमित्यादि, तस्माद्दानव्रतपौषधानां वितर-
णनियमपर्वोपवासानां, तथा-तपोऽनशनादि, संयमः वृ-
त्त्यादिरक्षा, ब्रह्मचर्यं प्रतीतम् । एतान्येव कल्याणं कल्याणहेतु-
त्वात्तदादिदेषां ते ज्ञानभ्रक्षादीनां तानि तथा, तेषां, नास्ति फलं
कर्मकृत्यसुगतगमनादिक, नापि च प्राणित्रधात्रीकचनमशु-
भफलसाधननयति गम्यम् । तथैव नैव च चैर्यकरणं, परदार-
सेवनं वाऽस्त्यशुभफलसाधनम्, नथैव सह परिग्रहणे यद्धत्ते
तत्सपरिग्रहं, तच्च तत्पापकर्मकरणं च पातकक्रियासेवनं तदपि
नास्ति किञ्चित्, कौघमानाद्यासेवनरूपा नारकादिका च जगतो
विचित्रता स्वभावादेव न कर्मजनितः । तदुक्तम्—“ कण्टकस्य
च तीक्ष्णत्वं, मयूरस्य च चित्रता । वर्णाश्च तावच्चूकानां, स्व-
भावेन भवन्ति हि ” ॥१॥ इति । मृषावादिता चैवमेतेषाम्-स्वभावो
हि जीवाद्यनर्थान्तरभूतः, तदा प्राणातिपातादिजनितकर्मक-
कत्रकरोऽसावनर्थान्तरभूतः, ततो जीव एवासा, तदव्यतिरेका-
त्तत्स्वरूपम्, ततो निर्हेतुका नारकादिविचित्रता स्यात् । नच
निर्हेतुकं किमपि भवति, अतिप्रसङ्गादिति । तथा-न नैरयिकति-
र्यद्वापुष्यजानां योनिरत्यसिस्थानं पापपुण्यकर्मफलभूताऽस्तीति
प्रकृतम् । न वेषलोको वाऽस्तीति पुण्यकर्मफलभूतः नैवास्ति सि-
द्धिगमनः, सिद्धेः, सिद्धस्य वाऽज्ञावात् । अस्यापितरावपि न तत्,
उत्पत्तिमात्रनिबन्धनत्वाद् मातापितृत्वस्य । नचोत्पत्तिमात्रनिय-
न्धनस्य मातापितृतया विशेषो युक्तः ; यतः कुतोऽपि किञ्चिदु-
त्पद्यत एव । यथा-सचेतनाच्चेतनं यूकामकुणादि, अचेतनं च
मूत्रपुरीषादि । अचेतनाच्च सचेतनं, यथा-काष्ठाद् घुणकी-
टकादि, अचेतनं च चूर्णादि । तस्माज्जन्यजनकजायमात्रमर्था-
नामस्ति नान्यो मातापितृपुत्रादिविशेष इति । तदभावाच्चद्रो-
गविनाशापमानादिषु न दोष इति भावः । मृषावादिता चैषां-
वस्त्वन्तरस्य पित्रोः स्वजनकत्वे समानेऽपि तयोरत्यन्तहिततया
विशेषवत्त्वेन सत्वात् । हितत्वं च तयोः प्रतीतमेव । आह च-
दुष्टप्रतीकारावित्यादि । नाप्यस्ति पुरुषकारः, तं यिनैव नियतितः
सर्वप्रयोजनानां सिद्धेः । उच्यते च—“ प्राप्तव्यो नियन्त्रियद्वाश्रयेण
योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभाऽशुभो वा । भूतानां महति कृते-
ऽपि हि प्रयत्ने, नाभावं जयति न भाविनोऽस्ति नाशः ” ॥ १ ॥
मृषाभाषिता चैवमेषाम्—सकल लोकप्रतीतपुरुषकारापलापेन
प्रमाणातीतनियतिमताभ्युपगमादिति । तथा-प्रत्याख्यानमपि ना-
स्ति, धर्मसाधनतया धर्मस्यैवाभावादिति । अस्य च सर्वज्ञव-
चनप्रामाण्येनास्तित्वात् तद्वादिनामसत्यता । तथा-नैवास्ति
काष्ठमृत्युः, तत्र काष्ठो नास्ति, अनुपलभ्यमात् । यच्च वनस्पति-
कुसुमादिकाललक्षणमाचकृते, तत्तेषामेव स्वरूपमिति मन्तव्यम् ।
असंख्यं तेषामपि-स्वरूपस्य वस्तुनोऽनतिरेकात् कुसुमादिकर-
णमकारणं तरुणां स्यात् । तथा-मृत्युः परलोकप्रयाणलक्षणः,
असाक्षपि नास्ति, जीवाभावेन परलोकगमनानावात् । अथवा
कालक्रमेण विप्रकृतायुष्कर्मणः सामस्त्यनिर्जराऽवसरे मृत्युः
कालमृत्युः, तदभावाच्च, आयुष एवाभावात् । तथा-अर्हदादयोऽपि

[नत्थि सि] न सन्ति, प्रमाणाविषयत्वात् । [नेवऽत्थि केइ रि-
सथो सि] नैव सन्ति केचिदपि ऋषयो गौतमादिमुनयः, प्रमा-
णाविषयत्वादेव, वर्तमानकाले वा ऋषित्वस्य साध्यनुष्ठानस्या-
सत्त्वात्, सतोऽपि वा निष्कृत्वादिति । अत्र च शिक्षाऽऽदिप्र-
वाहानुमेयत्वादर्हदायसत्त्वस्यानन्तरोक्तादिनामसत्यता ; ऋ-
षित्वस्यापि सर्वज्ञवचनप्रामाण्येन सर्वदा भावादित्येवमाज्ञा-
धार्याऽपलापिनां सर्वज्ञासत्त्ववादिता भावनीयेति । तथा-धर्मा-
धर्मफलमपि नास्ति किञ्चिद् बहुकं वा स्तोत्रं वा, धर्माधर्मयो-
रदृष्टत्वेन नास्तित्वात् । “ नत्थि फलं सुकप ” इत्यादि बहुकं
प्राक् तत्सामान्यजीवापेक्षया, यच्च “ धर्माधर्म ” इत्यादि, तद्-
विशेषापेक्षेयति न पुनरुक्तेति । [तम्ह सि] यस्मादेवं तस्मादे-
वमुक्तप्रकारं वस्तु विज्ञाय [जहा सुवहुं दियाणुकुलेसु सि]
यथा यत्प्रकारा सुवहुधा अत्यर्थमिन्द्रियाणुकुला ये ते तथा, तेषु
सर्वेषु विषयेषु वर्तितव्यम् । नास्ति काचित् क्रिया ना-अनि-
त्याक्रिया वा पापक्रिया वा, उभयक्रिययोरास्तिककल्पितत्वेना-
परमार्थिकत्वात् । भणन्ति च—

“ पिय खाद च चारुलोत्तने !, यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।
नहि मीरु ! गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलंबरम् ” ॥१॥

एवमित्यादिनिगमनम् । तथा—इदमपि द्वितीयं नास्तिकद-
र्शनापेक्षया कुदर्शनं कुमतमसद्भावं वादिनः प्रज्ञापयन्ति
मूढाः व्यामोहवन्तः । कुदर्शनता च वक्ष्यमाणस्यार्थस्याप्रा-
माणिकत्वाद् वादिप्रोक्तप्रमाणस्य प्रमाणाभासत्वाद् ज्ञाव-
नीया । किंभूतं कुदर्शनम् ? इत्याह-सम्भूतो जातोऽण्डकाद्
जन्तुर्पोनिविशेषाद् लोकः कितिजलानलानिलनरनारकिनाकि-
तिर्यग्रूपः । तथा स्वयंभुवा ब्रह्मणा स्वयं चात्मना निर्मितो
विहितः । तत्राण्डकप्रज्जुतघुचनवादिनो मतमित्यमाचकृते—

“ पुण्वं आसि जगमिणं, पंचमहभूयवज्जिय गभीरं ।
पगम्भवं जलेणं, महप्पमाणं तदि अंडं ॥ १ ॥
वीईपरंपरेणं, धोलंतं अत्थि उ सुरकाळं ।
फुटं दुभागजायं अज्जे जूमी य संवुत्तं ॥ २ ॥
तत्थ सुरासुरनारग-समण्ण्य सच्चउपयं जगं सव्वं ।
उप्पयं भणियमिणं, वंमंडपुराणसत्थस्मि ” ॥ ३ ॥

तथा स्वयंभूनिर्मितजगद्वादिनो जणन्ति—

“ आसीद्विदं तमोभूत-मप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अचित्कर्ण्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ १ ॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूतं, नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टामरनरे चैव, प्रतण्डोरगाराकसे ॥ २ ॥
केवञ्च गह्वरीज्जने, महाभूतविज्जिने ।
अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र, शयानस्तप्यते तपः ॥ ३ ॥
तत्र तस्य शयानस्य, नाजेः पञ्च विनिर्गनम् ।
तरुणरयिमण्डलनिजं, हृद्यं काञ्चनकर्णिकम् ॥ ४ ॥
तस्मिन् पञ्चे स जगवान्, दण्डी यज्ञोपवीतसंयुक्तः ।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्न-स्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥ ५ ॥
आदितिः सुरसंघानां, दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम् ।
विनता विद्वद्भूतानां, माता सर्वप्रकाराणाम् ” ॥ ६ ॥

नकुलादीनामित्यर्थः ।

“ कद्दः सरीसृपाणां, सुखसा माता च नागजातीनाम् ।
सुराजिभ्यनुष्पदाना-मिला पुनः सर्वबीजानाम् ” ॥ ७ ॥ इति ।

घरद्वयाए, खेत्ता य कसत, कसवेह वा, लहुं गामनगरखे-
रुक्कवमं संनिवेसेह अरुवीदेसेसु विपुलसीमं, पुष्पाणि
कंदमूलाः कालपत्ताइं गिएह, करेह संचयं परिजणस्सट्ठ-
याए, साद्वीवीहीजवा य लुच्चंतु मझिजंतु उप्पु-
यंतु य, लहुं च पविसंतु कोछागारं, अप्पमहको-
सगा य हंणंतु पोतमत्था, सेणा णिज्जाउ, जाउ रुमरं,
घोरा वटंतु, जयंतु य संगामा, पवहंतु य सगरुवाहणाइं,
उवणयणं चोलगं विवाहो जचो अमुगम्मि होउ दिवसे
सुकरणे सुमुहुत्ते सुनक्खत्ते सुतिहिम्मि य अज्ज होउ एह-
वणं, मुदितं बहुखज्जेज्जकलियं कोउकविण्णवणसंतिक-
म्माणि कुणह, ससिरविगहोवरागविसमेसु, सजणस्स
परिजणस्स य निययस्स य जीवियस्स परिरक्खणद्वयाए
परिसीसकाइं च देह, देह य सीसोवहारे विविहांसहिमज्ज-
मंसजक्खअस्सपाणमद्धानुलेवणपदीवजालिज्जहा सुगंध-
धूवावयारपुष्पफलसमिधे, पायच्छित्ते करेह, पाणातिवाय-
करणेन बहुविदेण विवरीउप्पायउसुविणपावसउणअसो-
मगहचरियअमंगलानिमित्तपक्कियायहेउं वित्तिच्छेयं करेह
मा देह किंचिदाणं, सुद्ध हण २, सुद्ध विष्णो भिष्णो त्ति उव-
दिसंता, एवंविहं करेति अलियं मण्णं वायाए कम्मूणा य ।

अलीके योऽजिसंधिरभिप्रायस्तत्र निविष्टा अशीकानिसान्धि-
निविष्टाः, असदगुणोदीरकाश्चेति व्यक्तम् । सदगुणनाशकाश्च,
तदपलापका इत्यर्थः । तथा—हिंसया मृतोपघातो यत्रास्ति
तद् हिंसाभूतोपघातिकं, वचनं म्रणन्तीति योगः । अलीक-
संप्रयुक्ताः संप्रयुक्तालीकाः, कथंभूतं वचनम्?, सावद्यं गहिं-
तं गहितकर्मयुक्तम् । अकुशलं, जीवानामकुशलकारित्वात्,
अकुशलनरप्रयुक्तत्वाद्वा । अतएव साधुगर्हणीयम्, अधर्मजननं,
म्रणन्तीति पदत्रयं प्रतीतम् । कथंभूताः?, इत्याह—अनधिगत-
पुण्यपापाः—अविदितपुण्यपापकर्महेतव इत्यर्थः । तदधिगमे हि
नालीकवादे प्रवृत्तिः संभवति । पुनश्च-अज्ञानोत्तरकालम्, अधि-
करणविषया या क्रिया व्यापारस्तत्प्रवर्त्तकाः । तत्राधिकरणाक्रि-
या द्विविधा—निवर्तनाधिकरणक्रिया, संयोजनाधिकरणक्रिया
च । तत्राद्या-खड्गादीनां तन्मुष्ट्यादीनां निवर्त्तनलक्षणा, चितीया
तु तेषामेव सिद्धानां संयोजनलक्षणेति । अथवा-दुर्गतो यकाभि-
रधिक्रियते प्राणी, ताः सर्वाः अधिकरणक्रिया इति; बहुविधम-
नर्थमनर्थहेतुत्वाद् अपमर्दमुपवर्तनम्, आत्मनः परस्य च कुर्व-
न्ति, एवमेव अनुद्धिपूर्वकं, जल्पन्तो भाषमाणान् । एतदेवाह—महि-
पान् शूकराश्च प्रतीतान्, साधयन्ति प्रतिपादयन्ति, घातकानां
तद्विसृक्तानाम्, शशप्रशयरोहितांश्च साधयन्ति वागुरिणां, श-
शादय आटव्याश्चतुष्पदविशेषाः; वागुरा मृगवन्धनं, सा एषाम-
स्ति ते वागुरिणः । तिस्रिर्वर्त्तकलावकांश्च कपिज्जलकपोतकांश्च
पक्षिविशेषान् साधयन्ति, शकुनेन ज्येनादिना मृगयां कुर्वन्तीति
शाकुनिकास्तेषाम्, 'सउणीणं' इति च प्राकृतत्वात् । मृगमकरान्
कच्छपांश्च जलचराविशेषान् साधयन्ति, मत्स्याः पर्यं येषां ते
मात्सिकास्तेषाम्, (संखं क चि) शङ्खाः प्रतीताः, अश्वाश्च रु-
दिगम्याः, अतस्तान्, जुल्लकांश्च कपर्दकान्, साधयन्ति मकरा इव
मकरा जलविहारित्वादीधराः, तेषाम् । पाठान्तरे—'मगिराणं'

मार्गयतां तज्जवेपिणाम् । अजगरागोनसमण्डविद्वीकरमुकुलिन-
श्च साधयन्ति, तत्र अजगरादयः उरगविशेषाः, द्वीकराः कणा-
मृताः, मुकुलिनस्तदितरे, व्यालान् वृजङ्गान् पान्तीति व्यालपा-
स्ते विद्यन्ते येषां ते व्यालपिनः, तेषाम् । अथवा—व्यालपानामत्र
प्राकृतत्वेन "वालवीति" प्रतिपादितम् । वाचनान्तरे—'वाहियाणं
ति' दृश्यते । तत्र व्यालैश्चरन्तीति; वैयालिकानामिति । तथा-
गोधाः सेहाश्च शल्यकशरटकांश्च साधयन्तीति लुब्धकानां,
गोधादयो वृजपरिसर्पविशेषाः, शरटकाः कृकवासाः । गजकु-
बवानरकुलानि च साधयन्ति पासिकानां कुलं कुटुम्बं, यूयमित्य-
र्थः । पाशेन बन्धनविशेषेण चरन्तीति पाशिकास्तेषाम् । तथा-
शुकाः कीराः, वहिणो मयूराः, मदनशालाः शारिकाः, कोकिलाः
परभृतः, हंसाः प्रतीताः, तेषां यानि कुलानि वृन्दानि तानि, तथा-
सारसांश्च साधयन्ति, पोषकाणां पक्षिपोषकाणामित्यर्थः । तथा-
वधस्त्राग्नं, बन्धः संयमनं, यातनं च कर्दर्थनमिति समाहारद्वन्द्वः ।
तच्च साधयन्ति गौडिमकानां गुप्तिपाशानाम् । तथा—घनधान्यग-
वेष्टकांश्च साधयन्ति, तत्स्कराणामिति प्रतीतम् । किं तु गावो वट्टी-
वर्दसुरभयः, एलकाः उरग्राः । तथा—ग्रामनगरपत्तनानि साधय-
न्ति चौरिकाणां, नकरं करवर्जितम्; पत्तनं द्विविधम्—जलपत्तनं,
स्थलपत्तनं च । यत्र जलपथेन भाषकानामागमस्तदाधम्, यत्र च
स्थलपथेन तदितरम् । चौरिकाणां ग्रणिधिपुरुषाणाम् । तथा—पारे
पर्यन्ते मार्गे घातिका गन्तूणां हननं पारघातिकाः (पंथघादय-
त्ति) पथि मार्गे, अर्द्धपथे इत्यर्थः । घातिका गन्तूणां हननं, प-
थिघातिकाः, अनयोर्द्वन्द्वोऽतस्ते साधयन्ति च ग्रन्थिभेदानां चौर-
विशेषाणां, कृतां च चौरिकां चोरणं, नगरगुप्तिकानां नगरर-
क्षिकाणां, साधयन्तीति वर्त्तते । तथा—लाभनं कर्णादिकर्त्तना-
ङ्गनादिभिः, निशोच्चनं वर्द्धितकरणं, (ग्रमणं ति) भ्रानं
वायुपूरणं, दोहनं प्रतीतं महिष्यादीनाम्, पोषणं यवसादिदानतः
पुष्टीकरणं, वननं वत्सस्यान्यमातरि योजनं, (दुवणं चि) डुव-
नमुपतापनमित्यर्थः । बाहनं शकटाद्याकर्षणम्, एतदादिकानि
अनुष्ठानानि साधयन्ति बहूनि, गौमिकानां गोमताम् । तथा—घातु-
गैरिकं, घातवो द्रोहादयः, मणयश्चक्रकान्ताद्याः, शिला रूपदः,
प्रवालानि विद्रुमाणि, रत्नानि कर्कतनादीनि, तेषामाकराः खन-
यस्ताः साधयन्ति, आकरिणाम् आकरवताम् । पुष्पेत्यादिवाक्यं
प्रतीतम्, नवरं विधिः प्रकारे तत्र । अर्थश्च मूल्यमानं, मधुकोश-
काश्च कौष्ठोत्पत्तिस्थानम्—अर्थमधुकोशकाः, तान् साधयन्ति,
वनचराणां पुलिन्दानाम् । तथा—यन्त्राणि वृच्चाटनाद्यर्थकरलेख-
नप्रकारान्, जलसंप्रामादियन्त्राणि वा, उदाहरन्तीति योगः ।
विषाणि स्थावरजङ्गमभेदानि हालाहलानि, मूलकर्म मूलादि-
प्रयोगतो गर्जपातनादि (आहेवणं चि) आक्षेपणं पुरस्कोभादि-
करणम् । पाठान्तरेण—(आहिच्छणं ति) आहित्यं अहितत्वं शत्रु-
जावम्, पाठान्तरेण (अविधणं ति) अव्याधनं मन्त्रादेशनमित्य-
र्थः । आभियोयं वशीकरणादि, तच्च ह्वयतो ह्वयसंयोगज-
नितं, प्रावतो विद्यामन्त्रादिजनितं, वसात्कारो वा मन्त्रौपधिप्र-
योगान्नाप्रयोजनेषु तद्व्यापारणानीति द्वन्द्वः, तान् । तथा—चौरि-
कायाः परदारगमनस्य बहुपापस्य च कर्मणो व्यापारस्य
यत्करणं तत्तथा; अवस्कन्दनाः छलेन परबलमर्दनानि, ग्राम-
घातिकाः प्रतीताः, वनदहनतडागभेदनानि च । प्रतीतान्येव,
बुद्धेर्दिपयस्य च यानि च तानि । तथा—वशीकरणादिकानि
प्रतीतानि, जयमरणक्लेशोद्वेगजनितानि, कर्तुरिति गम्यते । भा-
वेनाप्यवसायेन बहुसंक्लिष्टेन मस्तिनानि कलुषानि यानि, तथा—भू-
तानां प्राणिनां घातश्च हननम्, उपघातश्च परम्पराघातः, तौ विद्येते

एतद्विपर्ययं चेति भावः । इह च संसारसौचकादयो निदर्शनमिति । तथा-अपरे केचन, अधर्मनोऽधर्ममङ्गलकृत्य राजदुष्टं नृपविरुद्धम्-अभिमारोऽधर्मित्यादिकम् अभाष्यान्त्यानं परस्यानिमुखं दूषणयचनं, भणन्ति श्रूयते, भञ्जीकर्मसत्यम् । अभ्याख्यानमेव दर्शयितुनाह-चौर इति जणन्तीति प्रकृतम् । कं प्रति?, इत्याह-अर्चायै कुर्वन्तं चौरतामकुर्वोपमित्यर्थः । तथा-डानरिक्तो विग्रहकारोति । अपिचेति समुच्चये । जणन्तीति प्रकृतमेव । (एमेव चि) एमेव चौरादिकं प्रयोजनं विनये, कथंभूतं पुरुषं प्रति?, इत्याह-उदासीनं डानरादीनामकारणम् । तथा दुःशौच इति च हेतोः परदागन् गच्छन्नात्येवमभ्याख्यानेन मलिनयन्ति नाशयन्ति, शीघ्रकथितं मुञ्जीकृतं परिहारधिरतम्, तथा-अयमपि न केवलं स एव गुरुनष्टक इति दुर्विनीत शनि; अन्य केचन, मृगावादिनः, एवमेव निष्प्रयोजनं भणन्ति; उपपन्नतः विषयस्यन्तः तदुत्तिकातीर्थादिकमिति गम्यते । तथा-निश्चयकलयाणि सेवने सुहृद्द्वारा न भजने; अयमपि न केवलमसौ, पुनर्लुभधर्मा विगतधर्म इति । (इमेव चि) अयमपि विश्रमजानकः पापकर्मकारोति यक्तव्यम् । अकर्मकारी स्वभूमिकाऽऽवृत्तकर्मकारी, अगम्यगामी भगिन्याद्यनिगन्ता, अयं दुरात्मा (बहुपन्तु य पातयेसु चि) बहुभिन्ना पातकैर्युक्त इत्येवं जल्पन्ति, मत्सरिण इति व्यक्तम् । भद्रके वा निर्दोषे विनयादिगुणयुक्ते पुरुरे वा, शब्दनष्टके वा, एवं जल्पन्तीति प्रकृतः । किमूनास्ते ? इत्याह-गुण उपकारः, कीर्तिः प्रसिद्धा, स्नेहः प्रीतिः, परशोको जन्मान्तरम्, एतेषु निष्पिपासा निराकाङ्क्षा एते । तथा-एवमुक्तप्रमेण, एतेऽलीकचचनद्वारा, परदोषोपादनप्रसक्ताः, धेष्टयन्तीति पदत्रयं व्यक्तम् । अकृतिकर्वाजेन अकृत्येण दुःखहेतुनेत्यर्थः । आत्मानं स्वयं, कर्मवशनेन प्रतीतेन, [मुहुरिचि] मुखमेव अरिः शत्रुरनर्थकारित्वाद्येवं ते मुत्तारयोऽसमीकृतप्रश्रवापिनः अर्थालोचितानर्थकवादिनः, निन्नेपात्मापकानपहरन्ति; परस्य संशयिधनि अर्थं द्रव्यं प्रथितशुद्धाः अत्यन्तगृह्णन्तः । तथा-अभियोजयन्ति च परमसन्निः, दूषणरिति गम्यम् । तथा-सुभ्याश्च कुर्वन्ति कूटसाक्रित्वमिति व्यक्तम् । तथा-जीवानामहितकारिणः; अर्थालोकं च इत्यर्थमसत्यं, भणन्तीति योगः । कन्याश्रीकं च कुमारीविययमसत्यं, सूर्यश्रीकं च प्रतीतम् । तथा-गवालीकं च प्रतीतं, गुरुकं यादरं सस्य जिह्वाच्छेदाद्यनर्थकरं परेषाञ्च गाढोपतापादिहेतुं, भणन्ति भाषन्ते । इह कन्याऽऽदिभिः पदैर्द्विपदापदचतुष्पदजातय उपलक्षणत्वेन संगृहीता द्रष्टव्याः । कथंभूतं तत्?, इत्याह-अधरगतिगमनम्-अधोगतिगमनकारणम्, अन्यदपि चोक्तव्यतिरिक्तं, जातिरूपकुशलाणि प्रत्ययकारणं यस्य तत्तथा; तच्च मायया निगुणं निहतगुणं इति समासः । तत्र जातिकुलं मातापितृपक्षा, तद्धेतुकं च प्रायोऽश्रीकं संजवति, यतो जात्याविरोधात्केचिदक्षी-कवादिनो भवन्ति । रूपमाकृतिः, शीघ्रं स्वभावः, तत्प्रत्ययस्तु प्रवत्येव, प्रयोजनान्दिविषयत्वेन वा जात्यादीनामलीकप्रत्ययना प्रावनीयेति । कथंभूतास्ते?, चण्डाः मनश्चापव्यादिना । किमूतं तत्?, पिबन् परदोषाविष्करणरूपम्, परमार्थभेदकं मोक्षप्रतिघातकम् । [असंततं ति] असत्कमविद्यमानार्थम्, असत्यमित्यर्थः । असत्त्वकं वा सत्त्वहीनं, विद्वेषमप्रियम्, अनर्थकारकं पुरुषार्थोपघातकं, पापकर्ममूलं क्रिष्टशानावरणादिवर्जं, दुष्टमसम्बद्धं दृष्टं वर्णं यत्र तद् दुष्टेष्टम्, दुष्टं भूतं भवणं यत्र तद् दुःशुतं, नास्ति मुणितं ज्ञानं यत्र तदमुणितम्, निर्लज्जं लज्जारहितं, लोकगर्हणीयं प्रतीतम्, वध-

वधपरिक्रेशबहुलं, तत्र-वधो यद्यथादिमिस्ताडनं, वधः संयमनं, परिक्रेशमुपतापः, ते यदुष्ठाः प्रचुरा यत्र तत्तथा । भवन्ति चेति असत्यवादिनामिति । जरामरणदुःखशोकनेमम्-जरादीनां मूलमित्यर्थः । अशुद्धपरिणामेन संक्षिप्तं संक्षेपशब्द-तथा भणन्ति ।

के ते भणन्ति ?-

अद्वियाहिसंधिमनिविद्धा असंतगुणुदीरगा य संतगुणनासका य हिंसाचूतोवधातिथं अलियसंपत्ता वयणं सावज्जमकुसलं साहगरहणिजं अधम्मजणणं जणन्ति अणजिगहियपुणपावा पुणो य अहिकरणकिरियापवत्तका बहुविहं अनत्वं अवमदं अप्पणो परस्स य करेति एवमेव जंपमाणा, माहिसे सूकरे य माहिंति धायकाणं, ससपसयो-हिए य साहिंति बागुरीणं, तिच्चिरवट्टकलावके य कविजलकवायके य साहिंति सजणीणं, ऊसमगरकच्छजे य साहिंति मच्छियाणं, संसंके खुट्टए य साहिंति मकराणं, अयगरगोणसमीकलिद्वीकरमजली य साहिंति बालिपाणं, गोहा सेहा य सज्जगसरक्के य साहिंति लुच्छगाणं, गयकुलवानरकुले य साहिंति पासियाणं, सुकवरहिणमयणसालकोइइहंसकुट्टे सारसे य साहिंति पोसगाणं, वधवंधनायणं च साहिंति गोम्मियाणं, धणधक्कमेलेय य साहिंति तकराणं, गामे नगरपट्टे य साहिंति चोरियाणं, पारयातिथपंधवातिथाओ साहिंति गंधिजेयाणं, कयं च चौरियं एगगरुत्तिपाणं साहिंति, सेक्खणि-ल्लंछणधमणदुहणपोसणवणणदुवणवाहणादियाई साहिंति बहूणि गोभियाणं, धाउमणिमिलप्पवाह्वरयणागरे य साहिंति आगरीणं, पुप्फान्हिं च फळाविहिं च साहिंति माद्वियाणं, अत्थमहुकोसए य साहिंति वणचराणं, जंताई, विसाई, मूत्तकम्मआहेवणआभिओगजणणाणि चोरियाए परदारगमणस्स बहुपावकम्मकरणो अवकंदेणे गामधातिए वणदहणतमागभेयणए बुद्धिबिसए वसीकरणं भयमरणकिंसेमूत्तगजणिआई चाववहुसंकिलिडमाद्वीणाणि चूययाओवघायाई सच्चाणि वि ताई हिंसकाई वयणाई उदाहरंति पुट्टा वा अपुट्टा वा, परतत्तिवावना य असमिक्खियजासिणो उवदिसंति-सहसा उट्टा गोणा गवया दमंतु, परिणयवया अस्सा हत्थीगवेदगकुक्कना य किज्जंतु, किणावेध य, विकेह, पचह, सयणस्स देह, पीयह दासीदासजयकभाइल्लगा य सिस्सा य पेसकणो कम्मकरा किंकरा य एए सयणपरिजणे य कीस अत्थंति मारिया ने करेतु कम्म, गहणाई वणाई खिच्चिल्लमूमिवल्लाराई उच्चणणसंकराई डज्जंतु य मूमिज्जंतु य ख्वत्ता भिज्जंतु जंतं जंढाइयस्स उवहिस्स कारणाए, बहुविहस्स य अट्टाए उच्छु दुज्जंतु, पीलियतु य तिज्जा, पचावेह इडकाओ मम

मंसाहिकलेवपिष्ठणभेयणगुरुबंधवसयणमित्तवक्खवारणाऽऽ
दियाई अम्भक्खारणाई बहुविद्वाई पावंति अमणोरमाई हि-
ययमणदूमगाई जावजीव हुदुधराई अणित्ठखरफरुसवयण-
तज्जणणिब्जत्थणदीणवयणविमणा कुजोयणा कुवास-
सा कुवसहीसु किडिस्संता नेव सुहं नेव निव्वुइं उवद्वजं-
ति, अच्चंतविपुल्लदुक्खसयसंपलित्ता, एसो सो अडियवय-
णस्स फल्लविवाओ इहोओओ परओओओ अप्पसुहो व-
हुदुक्खो महम्भओ बहुप्पगाओ दरुणो ककसो असाओ
वामसहस्सेहिं मुच्चतो ए य अव्वेदयित्ता अत्थि हु मो-
क्खो चि, एवमाहंसु नायकुल्लनंदणो मइप्पा जिणो उ वी-
रवरनामधेज्जो कहेसीमं अलियवयणस्स फल्लविवागं; एयं
तं वित्थियं पि अडियवयणं लहुस्सगलहुचवलभणियं भ-
यकरदुहकरअयमकवेरकरणं अरतिरतिरागदोसमणसंकि-
ल्लेमवियरणं अडियनियमिसातिजोगवहुलं नीयजणनिसे-
वियं निसंसं अप्पच्चयकारकं परमसाहुगरहाभिज्जं परपी-
माकारकं परमकिण्हल्लेससहियं दुग्गतिविणियाववहुणं
जवपुणब्जवकरं चिरपरिचियमणुगयदुरतं ति वेमि ॥

अकुशला वल्लव्यावकव्यविभागानिपुणा अनार्याः पापकर्मणो
दूरमयाताः [अलियवयं चि] अलीका आज्ञा आगमो येषां
ते तथा, त एवालीकधर्मनिरताः, अलीकासु कथास्वमि-
रममाणाः । तथा- [तुछा अडियं करेउ हुंति य बहुप्पगारं ति]
अत्र-तुछा भवन्ति चालीकं बहुप्रकारं कृत्या उक्तेत्येवमक्रूरघटना
कार्येति । तथाऽऽलीकविपाकप्रतिपादनायाह- [तस्स चि] द्वि-
तीयाऽऽभवत्वेनोच्यते-तस्याऽलीकस्य फल्लस्य कर्मणो वि-
पाक उच्यः, साध्यमित्यर्थः । तमजानन्तो वर्कयन्ति महाप्रयम-
विश्रामवेदनां, दीर्घकाव्यबहुदुःखसंकटां, नरकतिर्यग्यानि, तत्रो-
त्पादनमित्यर्थः । तेन चालीकेन, तपोजनितकर्मणेत्यर्थः ।
समनुबद्धा अविरहिताः, आदिष्टा भाद्रिङ्गिताः, पुनर्जवान्बकारे
आस्पन्ति, भीमे दुर्गतवसतिमुपगतास्ते च दृश्यन्ते इह जी-
वन्तोके । किंभूताः, इत्याह-दुर्गता दुःस्थाः, दुरन्ताः दुष्पर्य-
वसानाः, परवशा अस्वतन्त्राः, अर्धभोगपरिवर्जिताः ह्येण
भोगैश्च रहिताः, [असुहिय चि] असुखिताः, अविद्यमान-
सुहृदा वा, स्फुटितच्छवयः विषादिकाविचर्चिकादिभिः विकृत-
त्वचः, बीजत्सा विकृतरूपाः, विवर्णा विरूपवर्णा इति पदत्रय-
स्य कर्मधारयः । तथा-स्तरपरुया अतिकर्कशस्पर्शाः, विरक्ता
रतिं कचिदप्यप्राप्ताः, ध्यामा अनुज्ज्वलच्छायाः, कुपिरा असा-
रकाया इति पदचतुष्कस्य कर्मधारयः । निम्नयाः विशाजाः,
लल्ला अव्यक्ता विफल्वा फलासाधनी वाग्येषां ते तथा । [अस-
क्षयमसक्षय चि] न विद्यते संस्कृतं संस्कारो येषां ते असं-
स्कृता एतादृशा असंस्कृता अविद्यमानसंस्काराः, ततः कर्मधा-
रयः । मकारश्च द्वाक्काणिकः । अत्यन्तं वा असंस्कृताः । अत एवा-
गन्धाः, अचेतनाः, विशिष्टचेतन्याज्जावात् । दुर्जगा अनिष्टाः, अ-
कान्ता अकमनीयाः, काकस्येव स्वरो येषां ते काकस्वराः,
हानो ह्रस्वो भिन्नश्च स्फुटितो घोषो येषां ते तथा । (विहिंस चि)
विहिंसाः, जराश्च मूर्खाः, अधिरान्धका ये ते तथा । पाठान्तरे-
ण-जरुवधिरा मूकाश्च, मन्मना अव्यक्वाचः, अकान्तानि अक-

मनीयानि विकृतानि च करणानीन्द्रियाणि कृत्यानि वा येषां
ते तथा । वाचनान्तरे-अकृतानि न कृतानि विकृतानि च
विरूपतया कृतानि करणानि यैस्ते तथा । नीचा जात्या-
दिभिः, नीचजननिपेविणो, लोकगर्हणीया इति पदद्वयं व्य-
क्तम् । भृत्या भक्त्या एव । तथा-असदृशजनस्य अक्ष-
मानशीललोकस्य द्वेष्या द्वेषस्थानं, प्रेष्या वा आदेश्याः, दुर्मेध-
सो दुर्बुद्धयः । [लोकेत्यादि] भुतशब्दस्य प्रत्येकं संवन्धात्-लो-
कश्रुतिः लोकाभिमतं शास्त्रं ज्ञातादिः; वेदश्रुतिः ऋक्सामादि
वेदशास्त्रम्; अध्यात्मश्रुतिः चित्तजयोपायप्रतिपादनशास्त्रं;
समयश्रुतिः आर्हतबौद्धादिसिद्धान्तशास्त्रं, तामिर्वर्जिता ये ते
तथा । क एते पवंचूताः, इत्याह-नरा मानवाः, धर्मबुद्धिवि-
कल्पाः प्रतीतम् । अलीकेन च अलीकवाद्जनितकर्मणिना, तेन
कालान्तरकृतेन, दृष्टमानाः [असंतपणं ति] अशान्तकेनानु-
पशान्तेन असता वा अशान्तत्वेन रागादिप्रवर्तनयेत्यर्थः । अप-
माननादि प्राप्नुवन्तीति सम्बन्धः । तत्रापमाननं च मानहरणं,
पृथमांसं च परोक्षस्य दूषणाविष्करणम् । अधिक्षेपश्च निन्दा-
विशेषः, अलैर्जेंदनं च-परस्परं प्रेमसम्बद्धयोः प्रेमच्छेदनं, गुरु-
वान्धवस्वजनमित्राणां सत्कर्मपकारणं च अपराधं काराय-
माणं वञ्चनपराजित्तृतस्य वा एषामपक्वकरणं, सानिध्याकरण-
मित्यर्थः । एतानि आदिर्येषां तानि तदादिकानि । तथा-अ-
भ्याख्यानानि असददूषणानिधानानि बहुविधानि, प्राप्नुवन्ति
लभन्ते इति । अनुपमानि । पाठान्तरेण-अमनोरमाणि, हृदयस्य
उरसो, मनसश्च चेतसो, [दूमगा इति] दावकान्युपतापकानि
तानि तथा । यावज्जीवं दुधराणि आजन्माप्यानुदरणीयानि,
अनिष्टेन स्तरपरुषेण चातिकठोरेण वचनेन यत्तर्जनम्-रे ! दा-
सपुरुषेण भवितव्यमित्यादि । निर्भर्त्सनम्-अरे दुष्टकर्मकारिन् !
अपसर इष्टिमार्गादित्यादिरूपं, ताज्यां दीनं वदनं, [विमण चि]
विगतं मनो येषां ते तथा । कुमोजनाः, कुवाससः, कुवसतिपु
क्लिश्यन्तो, नैव सुखं शारीरं, नैव निर्द्वैति मनःस्वास्थ्यम्, उ-
पलभन्ते प्राप्नुवन्ति; अत्यन्तविपुल्लदुःखशतसंप्रदीप्ताः, तदि-
यता अलीकस्य फल्लमुक्तम् । 'एसो' इत्यादिना त्वधिकृतद्वार-
निगमनमिति । व्याख्या त्वस्य प्रथमाध्ययनपञ्चमद्वारनिगम-
नवत् । (एयं तं वित्थियं पि) इत्यादिनाऽध्ययननिगमनम् ।
प्रश्न० ३ आश्न० द्वा० अपवादपदे-"पदमं विगिचणट्ठा" आद्यम्-
अलीकवचनम्, अयोम्यशैकस्य विवेचनार्थं वदेत् । दृ० ६ उ० ।

अलुक्खि (ण)-अरुत्तिन्-त्रि० । अरुक्खस्पर्शसद्भावादरु-
क्कि । स्निग्धस्पर्शवति, प्र० ११ श० ४ उ० ।

अलुक्ख-अलुक्ख-त्रि० । अलम्पटे लोभरहिते, प्रश्न० ५ सख०
द्वा० । " मारादुक्कोसं जो, लद्धणं तयं न अत्ते । एस अलु-
क्खो दारं, " ॥ पं० भा० । पञ्चा० ।

अले-अरे-अव्य० । नीचसंबोधने, " अले किं एशे महेदे क-
ल्लअले " प्रा० ४ पाद ।

अलेव-अलेप-पुं० । अलिप्ततायाम्, प्रव० ४ द्वार । अलेपमध्ये
मोक्षणा नी रोटी खाखरादिकं कल्पते नवेति प्रश्ने-बहुषु ग्रन्थेषु
अलेपशब्देन वल्लचणकादिकं व्याख्यातमास्ति, बृहत्कल्पमाप्यवृ-
त्तिमध्ये तु- ' मोक्षणादिरोटीखाखरासाथुडआडु ' इत्यादि-
कमलेपमध्ये कल्पते इति व्याख्यातमस्ति ४६ । सेन० २ ब्रह्मा० ॥

अलेवकड-अलेपकुत-न० । वल्लचणकादावपिच्छित्ते ह्ये,
पिं० । पञ्चा० ।

येषु तानि भूतघातोपघातकानि, सत्यान्यपि द्रव्यतस्तानीति यानि पृथमुपदर्शितानि हिंसकानि हिंसाणि च चान्युदाहरन्ति। तथा-पृष्टा वा अपृष्टा वा प्रतीताः, परतुष्टिस्थापृष्टाश्च परतुष्ट्यचिन्तनाङ्गणिकाः, असमीकृतभाषिणः अपर्यालोचनधत्तारः, उपदिशन्ति अनुशासति, सहसा अकस्माद्-यदुन उद्ग्राः करजाः, गो-एयो गावो, गवया अट्टयाः पशुविशेषाः, दम्बन्तां पिनीयन्ताम्। तथा-परिणतवयसः संपन्नावस्थाविशेषाः, तरुणा इत्यर्थः। अश्व्याः, हस्तिनः प्रतीताः, गधेलफुरुत्तुदाश्च उरज्जनाप्रचूराश्च काल्यन्तां मूष्येन गृह्यन्तां, क्रापयत च पतान्येव ग्राहयत च, विक्रीणीष्वं चिकेनव्यम्। तथा-पचन पचनीयं, म्यजनाय च दत्त, पिबत च पातय्यं मदिरादि। वाचनान्तरेण-खादत पिबत दत्त च। तथा-दास्यश्चेटिकाः, दासाश्चेटकाः, भूतका भक्तदानादिना पोषिनाः, (भाद्रहण सति) ये लाभस्य भागं चतुर्भागादिकं लभन्ते, एतेषां द्वन्द्वाननस्ते च, शिष्याश्च चिनेयाः, प्रेष्यकजनः प्रयोजनेषु प्रेषणीयश्लोकः, कर्मकरा नियतकार्यमादेशकारिणः, किंकराश्च आदेशसमाप्तावपि पुनः पुनः प्रश्नकारिणः, एते पूर्वोक्ताः, स्वजनपरिजनं च कस्मादासते अवस्थानं कुर्वन्ति? (भारिया जे करिउ कम्मं ति) कृत्वा विधाय, कर्म कृत्यं, तत्समाप्तौ यतो भारिका दुर्निर्याहाः ' भे ' जवनां " करेतु सति " कचित्पाठः। तत्र (भारय सति) भार्या ' जे ' भयतः सम्बन्धिन्यः, कर्म कुर्वन्तु। अन्यान्यपि पाठान्तराणि सन्ति, तानि च स्वयं गमनीयानि। तथा-गहनानि गह्वराणि, वनानि वनसण्डानि, क्लेशाणि च धान्य-घपन नृमयः, शिलभूमयश्च हलैरुत्तृष्टाः, यस्त्रराणि च क्लेशविशेषाः, तनस्तानि उच्यन्ते कर्णगर्तैस्तृणैः, वनमाययं, संकटानि संकीर्णानि यानि तानि तथा, तानि दह्यन्ताम्। पाठान्तरेण-गहनानि वनानि छिद्यन्तां, शिलनृमिच्छ्वराणि उच्यन्ते संकटानि दह्यन्ताम्। (सुद्धिज्जंतु य सति) सूच्यन्तां च वृक्षाः, त्रिन्दन्तां छिन्दन्तां वा यन्त्राणि च तिस्रयन्त्रादिकानि, भाण्डानि च प्राजानानि कुण्डादीनि, भाण्डा वा गन्ध्री, एतान्यादिर्यस्य तत्। तथा-उप-धिरुपकरणं तस्य (कारणाय सति) कारणाय हेतवे। वाचनान्तरे तु-यत्र जाण्डस्योक्त्यस्य कारणाद् हेतोः। तथा-बहुविधस्य च, कार्यसमूहस्येति गम्यम्। अर्थाय इक्ष्वो (उच्यन्तु सति) दूयन्तां लूयन्तामिति, धातूनामनेकार्थत्वात्। तथा-पीडयन्तां च निताः, पाचयत चेष्टकाः गृहार्थम्। तथा-क्लेशाणि कृपतां कर्षयतां वा। तथा-लघु शीघ्रं, ग्रामादीनि निवेशयत, तत्र ग्रामो जनपद-प्रायजनाश्रितः, नगरमविद्यमानकरदानं, कर्षटं कुनगरम्। कः, अट्टवीदेशेषु। किंभूतानि ग्रामादीनि, विपुलसामानि। तथा-पुष्पादीनि प्रतीतानि। [कालपत्ताइं ति] भवसरप्राप्तानि गृहीत, कुरुत संचयं परिजनार्थम्। तथा-शास्यः प्रतीताः, लूयन्तां, मलयन्ताम्, उत्पूयतां च, ब्रधु च प्रविशन्तु कोष्ठगारम्। [अप्पमडुक्को-सगा य सति] अल्पा लघवो, महान्तस्तदपेक्षया, मध्यमा इत्यर्थः। उत्कृष्टा वचमाश्च, हन्यन्तां पोतसार्याः-बोहियसमुदायाः, शावकसमूहा वा। तथा-सेना सैन्यं, निपातु निर्गच्छन्तु। निर्गत्य च यातु गच्छन्तु डमरं विकूरस्थानम्। तथा-घोरा रौक्षा वर्तन्तां च, जयन्तां संग्रामा रणाः। तथा-प्रवहन्तु च प्रवर्तन्तां शकटवाहनानि-गन्धो यानपात्राणि च। तथा-उपनयनं बालानां कक्षाग्रहणं [चोन्नगं ति] चूनापनयनं बालकप्रथममुपवननम्, विवाहः पाणिग्रहणं, यथो यागः, अमुष्मिन् भवतु दिवसे। तथा-सु-करणं बवादिकानामेकादशानामन्यतरादिमते, सुमुहूर्तो रौ-द्रादीनां विशतोऽन्यतरोऽभिमतो यः, एतयोः समाहारद्वन्द्वः, त-

तस्तत्र। तथा-सुनक्रेषु पुष्पादौ, सुतिथौ च पञ्चानां नन्दादीनामन्यतरस्यामनिमतायाम्। ' अज्ज ' अस्मिन्नहनि, भवतु स्नपनं सौनाभ्यपुत्रार्थं च भवादिमज्जनं, मुदितं प्रमोदयत्, बहुसाध्य-पेयकक्षितं प्रभूतमांसमद्याद्युपेतम्। तथा-कौतुकं रक्षादिकं (वि-पहावण सति) विविधैर्मन्त्रसूत्राभिः संस्कृतजडैः स्नापनकं वि-स्नापनकं, शान्तिकर्म चाग्निकारिकादिकमिति द्वन्द्वः। ततस्ते कु-रुत। केपुः, इत्याह-शशिरव्योऽश्चन्द्रसूर्ययोर्ग्रहेण राहुलक्षणं उ-परग उपरज्जनं, ग्रहणमित्यर्थः; शशिरविग्रहोपरागः। स च वि-पमाणि च विधुराणि दुःस्वप्नाशिवादीनि, तेषु। किमर्थम्?, इत्याह-स्वजनस्य च परिजनस्य च निजकस्य वा जीवितस्य प-रिरक्षणार्थमिति व्यक्तम्। प्रतिशीर्षकाणि च दत्त स्वशिरःप्रति-रूपाणि पिष्टादिमयशिरांसि आन्मशिरोरक्षार्थं यच्छत, च-पिडकादिन्य इत्यर्थः। तथा दत्त च शीर्षोपहारात् पद्मादि-शिरोवलीन्, देवतानामिति गम्यते। विविधौपधिमद्यमांसज-दयाघपानमाह्वानुत्तेपनानि च, प्रदीपाश्च ज्वलितोज्ज्वलाः, सुगन्धिधूपस्योपकारश्चोपकरणम्-अङ्गारोपरि क्षेपः, पुष्पकलानि च, तैः समृचाः संपूर्णा ये शीर्षोपहाराः, ते तथा, तान्, दत्त चेति प्रकृतम्। तथा-प्रायश्चित्तानि प्रतिविधानानि कुरुत। केन?, प्राणतिपातकरणेन हिंसया, बहुविधेन नानाविधेन। किमर्थम्?, इत्याह-विपरीनोत्पाता अशुभसूचकाः प्रकृत्यधिकाराः, दुःस्व-प्नाः, पापशकुनाश्च प्रतीताः। असौम्यग्रहचरितं च क्रूरग्रहचा-राः, अमङ्गलानि च यानि निमित्तानि अङ्गस्फुटितादीनि, एतेषां द्वन्द्वः, तत एतेषां प्रतिघातहेतुमुपहननानि निर्मास्यति। तथा बृ-हत्सिद्ध्यं कुरुत, मा दत्त किञ्चिद्दानमिति। तथा-सुष्टु हत हन, इह तु संश्रमे दित्यम्। सुष्टु क्षिप्रो निष्पन्न विवक्षितः कश्चिदिति, एवमुपादिमन्तः। एवंविधं नानाप्रकारम्। पाठान्तरे वा-त्रिविधं त्रिप्रकारं, कुर्वन्त्यक्षीकं, कृत्यतो नालीकमपि सत्त्वापघातहेतुत्वा-द् नावतोऽलीकमेव। त्रैविध्यमेवाह-मनसा, वाचा, [कम्मुणा य सति] कायक्रियया। तदेतावतो यथा क्रियतेऽलीकं, येषां तत् कुर्वन्तीत्येतद् द्वारद्वयं मिश्रं परस्परैणोक्तम्।

अथ ये तान् कुर्वन्ति तान् भेदानाह-

अकुसला अणज्जा अलियऽणा अलियधम्मनिरया अलियामु कट्टामु अभिरमन्ता तुट्ठा अक्षियं करेउ हुंति य बहुपगारं, तस्स य अक्षियस्स फलस्स विवागं अ-याणमाणा बहुंति महज्जयं अविस्सामवेयणं दीहका-ल्लभदुदुक्खसंफणं खरयतिरियजोणिं, तेण य अलि-एण सपणुव्वा आइट्ठा पुण्णव्वंधकारे जमंति, भीमे दुग्गस्वसहिमुवगया ते य दीसंति इह दुग्गया डुरन्ता पर-वसा अत्थभोगपरिवज्जिया असुहिता फुडितच्छवी-वीभ-च्छविवरणा, खरफलसविरत्तज्जामज्जुसिरा निच्छाया द्वा-द्वविफलवाया अमकयमसकया अगंथा अचेयणा दुग्गभागा अकन्ता काकस्सरा दीणभिनघोसा विंदिसा जरुवहिरमूया य मम्मणा अकंतविकंतकरणा खीया णीयजण्णिसेविणो लोगगरहिणिज्जा जिच्चा असरिसजणस्स पेसा दुम्मेहा द्वा-गवेदअज्जप्पसमयसुतिवज्जिया नरा धम्मशुद्धिवियला अ-लिण य तेण य मज्जमाणा असंतएणं अवमाणणपिडि-

ततोऽन्याऽऽनयनेच्छातः, भुत्वा गीतिमिमां स्थिता ।
मन्युचेऽन्यनृपैः सार्कं, घटनातः स्थितोऽधुना ॥ १८ ॥
प्रत्यन्तराजभिर्मिएवः, प्रोक्तो हस्तिनमानय ।
यद्वा मारय तन्मेने, निवृत्तं गीतिकाश्रुतेः ॥ १९ ॥
अस्मत्कृतेऽनया गातं, किञ्चेति प्रतिबोधतः ।
दत्तोऽस्माजिः प्रजो ! त्याग-स्तुष्टः सर्वेषु नृपतिः ॥ २० ॥
सर्वे क्षुब्धकुमारस्य, मार्गलगाः प्रववजुः ।
अद्वोभतैव कर्तव्या, सर्वैरपि महात्मभिः ॥ २१ ॥ आ० क० ।
अद्वोल-अद्वोद-त्रि० । अद्युधे, नि० चू० १० उ० । अग्राप्त-
प्रार्थनाऽनूपरे, दश० १० अ० ।
अलोद्युप-अलोद्युप-पुं० । सरसाहारादिलाम्पट्यरहिते, उच्च०
२ अ० ।
अन्त-आर्क्ष-त्रि० । अलसंपृक्ते, “अन्तं चम्मं डुरुहइ” । आर्क्ष-
चर्माधिरोहति । झा० १२ अ० ।
अल्लङ्घिकुसुम-अल्लङ्घिकुसुम-न० । पीतवर्णे लोकप्रसिद्धे
गुच्छविशेषपुष्पे, प्रज्ञा० १ पद । जं० । रा० ।
अल्लकचूर-आर्द्रकचूर-पुं० । तिकचूरव्यविशेषे, प्रव० ४ द्वार ।
अल्लग-आर्द्रक-न० । शृङ्गवेदे, (आदा इति ख्याते) घ० २
अधि० । प्रव० । जं० ।
अल्लत्य-उत्-क्षिप्-धा० । ऊर्ध्वक्षेपे, “उत्क्षिपेर्गुलगुच्छोत्थङ्गा-
ल्लत्योऽष्टोत्तोरिस्तक-हक्खुवाः” । उ० । ४ । १४३ । अल्लत्य-उत्-
क्षिपति । प्रा० ४ पाद ।
अल्लमुत्था-आर्द्रमुस्ता-स्त्री० । (नागरमोया इति ख्याते)
आर्द्राऽवस्थे गन्धप्रधाने वनस्पतिमूले, प्रव० ४ द्वार । घ० ।
अल्लावपुर-न० । अल्लावुदीननिवासिते म्लेच्छदेशस्थे नगरजेदे,
यत्र गत्वा श्रीजिनप्रभसूरिभिर्म्लेच्छाः प्रतिबोधिताः । “पत्ता
रायभूमिमंडणं सिरिअल्लावपुरदुगं” । ती० ४ए कल्प ।
अल्लावुदीणसुरत्ताण-अल्लावुदीनमुल्लतान-पार० श० । वैक-
मवत्सराणां द्वादशशतकादौ गुर्जरधरिष्युपल्लावके तत्कालिक-
राजजेतरि यवनराजे, ती० २६ कल्प ।
अल्लिअ-उप-सृप्-धा० । समीपगमने, “उपसर्पेरल्लिअः” ।
उ० । ४ । १३६ । उपपूर्वस्य सृपेः कृतशुणस्य ‘अल्लिअ’ इत्यादे-
शः । अल्लिअ-उपसर्पति । प्रा० ४ पाद । “तस्स सरणमल्लि-
यह” । दश० १ उ० ।
अल्लियावणवंध-आलायनवन्ध-पुं० । द्रव्यस्य द्रव्यान्तरेण
श्लेषादिनाऽऽवृत्तिनकरणरूपे बन्धे, “से किं तं अल्लियावणवंधे ? ।
अल्लियावणवंधे चउव्विहे पण्णसे । तं जहा-वेसणावंधे, उच्चय-
वंधे, समुच्चयवंधे, साहणणावंधे” । म० ८ श० ए उ० ।
(चतुर्णामेषां व्याख्या स्वस्वस्थाने प्रदर्शयिष्यते)
अल्लियावणवंधणय-आलायनवन्दनक-न० । आचार्यादीनामा-
भ्युपाय्य प्रतिक्रमणान्ते ज्येष्ठानुक्रमेण वन्दने, आव० ४ अ० ।
अल्लिव-अर्पि-श्रु-णिच्-पुक् । प्रदाने, “अर्पेरल्लिवचच्चुप्प-
पणामाः” । ८ । ४ । ३ए । इत्यर्पेर्ल्यन्तस्य अल्लिवादेशः । अ-
ल्लिव-अर्पयति । प्रा० ४ पाद ।
अल्ली-आ-ली-धा० । आत्म० प० । आभयणे, “आल्लीकोऽ-

ल्ली” । उ० । ४ । ५४ । इत्यालीयतेरल्लीत्यादेशः । अल्लीअ-
आलीयते । प्रा० ४ पाद ।
अल्लीउं-आल्लीतुम्-अव्य० । आभयितुमित्यर्थे, वृ० ६ उ० ।
अल्लीण-आलीन-त्रि० । आ-ईपद् लीनः । जीत० । आधिते,
आतु० । कल्प० । प्रति० । झा० । गुरुसमाधिते संलीने, आ सम-
न्तात्सर्वासु क्रियासु लीनो गुप्तः । अनुत्पणचेष्टाकारिणि, जी० ३
प्रति । तं० । गुरुजनमाधितेऽनुशासनेऽपि न गुरुषु द्वेषमापद्यमा-
ने, जं० २ वक्त्र० । झा० । ज्ञानादिष्वासमन्ताल्लीनि, व्य० १० उ० ।
अल्लीणपलीणगुच-आलीनपलीनगुप्त-त्रि० । अल्लोपाङ्गानि
सम्यक्संयमयति, दश० ८ अ० ।
अव-अव-अव्य० । आधिक्ये, स० १ सम० । अधःशब्दार्थे,
प्रव० २१६ द्वार । विशेष० । आ० म० । प्रज्ञा० । नं० । अवनमवः
“तुदादिभ्यां न कौ” इत्यधिकारे “अकितो वा” (उणा-) इत्य-
नेन औणादिकोऽकारप्रत्ययः । गमने वेदने, आ० म० प्र० ।
विशे० । स्था० ।
अवअक्ख-हम्-धा० । प्रेक्षणे, “दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छा-
वयज्ज-वज्ज-सव्वव-देक्खौअक्खावक्खाऽधअक्ख-पुल्लोअ-पु-
ल्लअ-निआऽवआस-पासाः” । ८ । ४ । १२१ । इतिस्त्रेण दृशः
‘अवअक्ख’ आदेशः । अवअक्ख-इ-पश्यति । प्रा० ४ पाद ।
अवअक्खिअ-देशी-निवापितमुखे, दे० ना० १ वर्ग ।
अवअक्ख-देशी-कक्षावले, दे० ना० १ वर्ग ।
अवअक्ख-हादि-धा० । आह्लादोत्पादने, “ह्लादेरवअक्खः” । ८ ।
४ । १२२ । ह्लादेतेर्ल्यन्तस्याल्यन्तस्य च ‘अवअक्ख’ इत्यादे-
शः । अवअक्ख-इ-ह्लादयति । प्रा० ४ पाद ।
अवअच्छिअ-देशी-निवापितमुखे, दे० ना० १ वर्ग ।
अवअणिअ-देशी-असंघाटिते, दे० ना० १ वर्ग ।
अवआस-हम्-धा० । “दृशो निअच्छ-” । ८ । ४ । १२१ ।
इत्यादिना सूत्रेण दृशः ‘अवआस’ इत्यादेशः । अवआस-इ-
पश्यति । प्रा० ४ पाद ।
अवइ-अव्रतिन्-पुं० । अविरतसम्यग्दृष्टौ, वृ० १ उ० ।
अवउज्जिय-अवकुब्ज-अव्य० । अधोऽवनम्येत्यर्थे, आचा० २
शु० १ अ० उ० ।
अवउज्जिअ-अपोह-अव्य० । परित्यज्येत्यर्थे, “अवउज्जि-
अण इह्मी” । वृ० ३ उ० ।
अवउरुग-अवकोटक-न० । कृकाटिकाया अधोनयने, विपा०
१ शु० २ अ० । प्रअ० ।
अवउडगवंधण-अवकोटकवन्धन-त्रि० । अवकोटकेन कृका-
टिकाया अधोनयनेन बन्धने यस्य स तथा । ग्रीवायाः पश्चाद्भा-
गानयनेन बद्धे, विपा० १ शु० २ अ० । बाहुशिरसां पृष्ठदेशे ब-
न्धने, प्रअ० १ आअ० द्वा० ।
अवउसणग-अपवसनक-अवजोपणक-न० । तपोविशेषसे-
वायाम्, पञ्चा० १६ विव० ।
अवंक-अवक्र-पुं० । वक्रोऽसंयतः, न वक्रोऽवक्रः । संयते विर-
ते, व्य० १ उ० । सर्वोपाधिभुज्जे श्रुजौ, आचा० १ शु० ३ अ० १ उ० ।

तत्रालेपकृतानि तावदाह—

कंजुसिणचाउद्योदे, संसद्वायामकडमूखरसे ।

कंजियकटिपे लोणे, कुट्टा पिज्जा य नितुप्पा ॥

कंजियउदगत्रिलेवी, ओदणकुम्मासमत्तुप पिड्डो ।

मंरुगसमिपोमिन्ने, कंजियपत्ते अलेखकं ॥

काञ्चिकमारनायकम्, उष्णोदकमुद्धृत्य विद्वद्वत्, (चाउद्योदंगं ति) तन्दुग्धधावनम्, संसृष्टं नाम गोरससंसृष्टे भाजने प्रक्षिप्तं सद्युद्ध-
वकं गोरसेन परिणामितम्, आयाममवश्रयणम्, (कडमूखरसे ति) काष्ठमूलं चणकवल्गुकादिद्विद्वत्, तद्विषयेन रसेन यत्परिणामितं
तत्काष्ठमूखरसं नाम पानकम् । तथा-यत्काञ्चिककथितं, [लोणे
चि] सञ्चयणं यावत् । कुट्टा चिञ्चिनिका, पेया च प्रतीता, नितुप्पा-
अचं, पण्डा अवगधारिता वा । तथा-विश्लेषिका द्विविधा-एका
काञ्चिकविश्लेषिका, द्वितीया उदकविश्लेषिका । ओदनस्तन्दुग्धा-
दिभक्तम्, कुलमाया उड्डाः, राजमाया वा । सकवो भूययवकोद-
कपाः, पिष्टं मुञ्जादिचूर्णं, मण्डकाः सकणिकामयाः, समितय-अङ्क-
कः, उस्विषं मुखेरकादि, काञ्चिकपत्रं काञ्चिकेन वाष्पितम्-अराणि-
कादिशाकम्, एतानि काञ्चिकादीन्यश्लेषकृतानि भन्तव्यानि । ३० १
उ० । ३० । अश्लेषकृतपानस्य त्ववश्यं कल्यो दातव्यः । ३० ३ अधि० ।

अश्लेसी-अश्लेशियन्-पुं० । श्लेश्यापदिते अयोगिनि, सिद्धे च ।
स्था० ३ ग० ४ उ० ।

अलोग (य)-अलोक-पुं० । न० त० । धर्मादीनां कल्याणां
वृत्तिर्भवति यत्र तद, तादृशक्षेत्रमिह लोकः, तद्विपरीतं अलो-
काख्यं क्षेत्रम् । आच० ५ अ० । लोकविरुद्धे अनन्ताकाशस्ति-
कायमात्रे, सूत्र० १ ध्रु० १२ अ० । आ० म० । प्रव० । यत्र क्षेत्रे
समवगाढौ धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायौ, तावत्प्रमाणो लोकः,
शेषस्त्वलोकः । जी० १ प्रति० । “पगे अलोय” एकोऽल्लोकोऽनन्त-
प्रदेशोऽपि द्रव्यार्थतया । स० १ सम० । सू० प्र० ।

लोगस्सऽत्थि विवखलो, सुखत्तणओ घरस्स अघडो व्व ।

स घरां चैव मई, न निसेहाओ तदणुरूवो ॥

अस्ति लोकस्य विपक्वः, व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदामिधेयत्वात् । इ-
ह यद् व्युत्पत्तिमता शुद्धपदेनाभिधीयते तस्य विपक्वो दृष्टः, यथा-
घटस्याघटः । यत्र लोकस्य विपक्वः सोऽल्लोकः । अथ स्यान्मतिर्न
ल्लोकोऽल्लोक इति । योऽल्लोकस्य विपक्वः स घटादिपदार्थानामन्यतम
एव भविष्यति, किमिह वस्त्वन्तरपरिकल्पनया । तदेतन्न । पर्यु-
दासनया निषेधाश्रयेष्यस्यैवानुरूपोऽत्र विपक्वोऽन्वेयणीयः । न-
ल्लोकोऽल्लोक इत्यत्र च ल्लोको निषेधः, स चाकाशविशेषः, अतोऽ-
ल्लोकेनापि तदनुकूपेण भवितव्यम् । यद्यहापण्डित इत्युक्ते विशि-
ष्टज्ञानविकलक्षणेन एव पुरुषविशेषो गम्यते, नाचेतनो घटादिः,
एवमिहापि ल्लोकानुरूप एवाऽल्लोको भन्तव्यः । उक्तं च-“नभ्यु-
कमिवयुक्तं वा, यत्किं कार्यं विधीयते । तुल्याधिकरणेऽन्यस्ति-
रल्लोकेऽन्यर्थगतिस्तथा” ॥१॥ “नभिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे
तथा ह्यर्थगतिः” । तल्लोकविपक्वत्वादस्त्यल्लोक इति । विशेष० । प्रे-
रकः प्राह-“स घटाई चैव मती, ” गुरुः प्राह-“न निसेहाओ
तदणुरूवो” । स्था० १ ग० १ उ० । “सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई
कालपुगला चैव । सव्यमलोगागासं, उण्येऽणंतया पेया” प्रव०
२५६ अ० । (अल्लोके कल्याणकालभावाः सन्ति नचेति ‘अणुभोग’
१६७

शब्देऽस्मिन्नेव प्रागे ३४३ पृष्ठे दशमाधिकारे समुक्तम् । कि-
यावन्नोक इति तु ‘लोग’ शब्दे षड्यते)

अलोभया-अलोभता-स्त्री० । लोभत्यागकूपेऽष्टमे योगसंग्रहे,
स० ३२ सम० । प्रश्न० । आच० ।

अलोभतामाह-

साएए पुंवरिए, कंडरिए चैव देवि जसजहा ।

सावत्थि अजिअसेणे, किच्चिर्मां खुड्गकुमारे ॥ १ ॥

जसजहे सिरिकंता, जयसिंघो चैव कभपाहो अ ।

नट्टविहीपरिओसे, दार्ण पुच्छाइ पव्वज्जा ॥ २ ॥

सुहु वाइअं सुहु गाइअं, सुहु नच्चिअं सामसुंदरि ।

अणुपालिअ दीहराइया-ओ सुमिणंत मा पमायए ॥३॥

अर्थः कथातो हेयः-

“साकेतं नाम नगरं, पुणरुरीको नरेश्वरः ।

युवराजः कणरुरीको, यशोभद्रा च तस्मिन् ॥ १ ॥

रक्तस्तां वीह्य द्यूतोचे, सा नैच्छद् मारितोऽनुजः ।

नष्टा सार्धेन तत्पत्नी, आधर्त्ता नगरं ययौ ॥ २ ॥

तत्राऽऽचार्योऽजितसेनः, कीर्तिमती महत्तरा ।

तत्र साऽपि प्रवव्राज, धारिणीवत्तन्तिके ॥ ३ ॥

परं न साऽत्यजत्पुत्रं, किन्तु क्षुल्लमचीकरत् ।

स नयःस्थो व्रतं कर्तुं-मत्तमो जननीं जगौ ॥ ४ ॥

यामीति स्थापितो आचो-परोष्य द्वादशाब्दिकाम् ।

एवं महत्तराऽऽचार्यो-पाष्यायैरपि स व्रजन् ॥ ५ ॥

स्थापिताऽन्यादतैः कुल्लो-ऽष्टावत्परिदशब्दिकाम् ।

तथाऽन्यतिष्ठन् प्रैषि मा-भोचे त्वं माऽन्यतो गमः ॥ ६ ॥

साकेते पुणरुरीकस्ते, पितृव्योऽस्ति नृपस्ततः ॥

मुद्रां कम्बलरत्ने वा-ऽऽदाय तत्र व्रजेः सुतः ॥ ७ ॥

ततोऽस्थाद् यानशालायां, राक्षः श्वो नृपमीकितुम् ।

पर्यधाभ्यन्तरायां स, प्रैकृत प्रेक्षणं निशि ॥ ८ ॥

नर्तकी तत्र नर्तित्वा, रक्षेण सकलां निशाम् ।

विभातायां विभावरी, निनिद्रासुरचूततः ॥ ९ ॥

तन्माताऽचिन्तयत्पर्य-चोषिता तक्रनं बहु ।

चेत्प्रमादोऽस्या मुद्राः स्म-स्ततो गीतिमिमं जगौ ॥ १० ॥

“सुहु वाइअं सुहु गाइअं, सुहु नच्चिअं सामसुंदरि” इत्यादि ।

अत्रान्तरे स च कुल्ल-कुमारो रत्नकम्बलम् ।

युवराजो यशोभद्रो, निर्मलं रत्नकुण्डलम् ॥ ११ ॥

सार्धवाही निजं द्वारं, राजेमाऽऽरोहकोऽङ्कुशम् ।

मन्त्री च कटकं लक्ष-सूत्यानि निखिलान्यपि ॥ १२ ॥

त्यागं यस्तत्र दत्ते स्म, स समस्तोऽन्यलिख्यत ।

ज्ञात्वा त्यागे कृते राक्ष-स्तोषो रोपोऽन्यथा पुनः ॥ १३ ॥

सर्वेऽपि प्रातराहता, क्षुल्लः पृष्ठोऽब्रवीद्विदम् ।

यावत्क्षुल्लमायातो, राज्यलक्ष्मीसमीहया ॥ १४ ॥

गृहाण राज्यं राक्षोचं, स नैच्छद्विदसूचिवात् ।

व्रतं निर्वाहयिष्यामि, बुद्धो गीत्याऽनयाऽस्म्यहम् ॥ १५ ॥

युवराजोऽवदव्राजा, वृको राज्यं ददाति न ।

मारयित्वा तदादासे, इति चिन्ताऽभवन्मम ॥ १६ ॥

कचे राजाऽधुनाऽप्येतद्, गृह्णातां सोऽपि नैह त ।

साधेवाही जगौ प्रत्यु-गंतस्य द्वादशाब्दयुत् ॥ १७ ॥

अवर्कत-अपक्रान्त-त्रि० । सर्वशुभभावेच्योऽपगते ज्ञे, तद-
न्येच्योऽतिनिष्ठे अपक्रमणीये, “ जंबुद्वीपे दीवे मंदरस्स पव-
यस्स दाहिणेण इमीसे रयणप्पजाप पुढवीए ढ अवर्कतमहानि-
रया पणत्ता । तं जहा-अरे, लोखुए, उद्धे, निद्धे, जरए, प-
ज्जरए । चउत्थीए णं पंकप्पमाए पुढवीए ढ अवर्कतमहाधिरया
पणत्ता । तं जहा-आरे, वारे, मारे, रेरे, रोरुए, आडखड्डे ” ।
स्था० ६ ग० ।

अव्युत्क्रान्त-त्रि० । न व्युत्क्रान्तमव्युत्क्रान्तम् । सचेतने, मित्रे
च । नि० चू० १७ उ० ।

अवर्कति-अपक्रान्ति-स्त्री० । गमने, आचा० १ भु० ८ अ० ६
उ० । परित्यागे, झा० ८ अ० ।

अवक्रमण-अपक्रमण-न० । विनिर्गमे, स्था० ७ ग० । आचा० ।
अपसर्पणे, दश० १ अ० । अपसरणे, भ० १५ श० १ उ० । झा० ।
“ निग्गमणमवक्रमणं, निस्सरणं पत्तायणं य पगत्ता ” । व्य०
१० उ० ।

अवक्रमित्ता-अवक्रम्य-अव्य० । गत्वेत्यर्थे, दश० ५ अ० १ उ० ।

अवक्रम्य-अवक्रम्य-अव्य० । विनिर्गत्वेत्यर्थे, व्य० १ उ० । वृ० ।

अवक्रम्य-अवक्रम्य-पुं० । भाटकप्रदाने, वृ० १ उ० ।

अवकास-अप (व) कर्ष-पुं० । अपकर्षणमवकर्षणं वा अप-
[व] कर्षः । अभिमानादात्मनः परस्य वा क्रियारस्मात्कुतोऽ-
पि व्यावर्त्तने, ज० ११ श० ५ उ० ।

अप्रकाश-पुं० । अभिमानादान्धये, भ० ११ श० ५ उ० । त-
दात्मके मोहनीयकर्मणि, स० १२ सम० ।

अवक्खन्द-अवस्कन्द-पुं० । अव-स्कन्द-आधारे घञ् । जिगीप्-
णां सैन्यनिवेशस्थाने शिविरे, आक्रमणे, भावे घञ् । घञ्च० ।
“ अक्खयोनोअस्मि ” । ८ । २ । ४ । इति स्कस्य झः । प्रा० १ पाद ।

अवक्खण-अवप्पस्कण-न० । पश्चाद् गमने, प्रव० १ द्वार ।

अवक्खारण-अपक्खारण-न० । अपशब्दकारणे, प्रश्न० २ आश्न० द्वा० ।
अपक्षरण-न० । सान्निध्याकरणे, प्रश्न० २ आश्न० द्वा० ।

अवक्खेवण-अवप्पेवण-न० । अव-क्विप्-धा०-ल्युट् । अधःस्थान-
संयोगेदौ, क्रियाविशेषे अधःपातने च । आ० भ० छि० ।

अवगंरुमुक्क-अपगंरुमुक्क-त्रि० । अपगतं गण्डमपद्रव्यं यस्य
तदपगतगण्डम्, तद्वच्चुक्कम् । निर्दोषार्जुनसुवर्णवच्चुक्के, यदि
वा गण्डमुदकफेनम्, तद्वच्चुक्कम् । उदकफेनतुल्यशुभ्रे, सूत्र०
१ भु० ६ अ० ॥

अवगसियजवदंरु-अपकर्णितजवदंरु-त्रि० । अवधीरितसं-
सारजये, जीवा० १ अधि० ।

अवगम-अपगम-पुं० । विनाशे, विशेष० ।

अवगम-पुं० । विनिश्चये, विशेष० ।

अवगय-अवगत-त्रि० । “ अवपाते च ” । ८ । १ । १७२ । इत्य-
स्य कचिदप्रवृत्तेर्न आत् । प्रा० १ पाद । अवधारिते, आचा०
१ भु० १ अ० १ उ० । सम्यगवबुद्धे, “ अवगयपत्तसरुवे ”
अवगतं सम्यगवबुद्धं पात्रस्य आवणीयस्य प्राणिनः स्वरूपमात्रं
येन सोऽवगतपात्रस्वरूपः । ध० २० ।

अवगयवेय-अपगतवेद-त्रि० । क्षपितवेदे, प्रव० २६१ द्वार ।

अवगाढ-अवगाढ-त्रि० । आश्रिते, स्था० १ ग० १ उ० ।

अवगाढगाढ-गाढावगाढ-त्रि० । अधोव्याप्ते, “ अवगाढगाढासि-
रीए अतीव उवसोन्नेमाणा उवसोन्नेमाणा चिंछति ” । गाढं
वाढमवगाढास्तैरेव सकलक्रीडास्थानपरिभांगनिहितमनोभि-
रघोऽपि व्याप्ताः, गाढावगाढा इति वाच्ये, प्राकृतत्वाद्दवगाढगा-
ढाः । इह च देवत्वयोग्यस्य जीवस्याभिधानेन तदयोग्यः सामं-
थ्याद्दवसीयत एवेति । ज० १ श० १ उ० ।

अवगार-अपकार-पुं० । विरूपाचरणे, “ अपकारसमेन कर्मणा, न
नरस्तुष्टिमुपैति शक्तिमान् । अधिकां कुरुते हि यातनां, द्विपतां
यातमशेषमुद्धरेत् ” १ ॥ सूत्र० १ भु० ८ अ० ।

अवगास-अवकाश-पुं० । गमनादिवेष्टास्थाने, आव० ६ अ० ।

“ ततो लक्षावगासो सयं बुरो भणइ ” । आ० भ० प्र० । अ-
व्यवस्थाने, स्था० ४ डा० ३ उ० । उत्पत्तिस्थाने, सूत्र० २ भु० ३ अ० ।

अवगाह-अवगाह पुं० अवकाशे, वत्त० २८ अ० ।

अवगाहणा-अवगाहना-स्त्री० । जीवादीमाश्रये, देहे च ।
स्था० ४ ग० ३ उ० । (कस्य कीदृगवगाहनेति ‘ ओगाहणा ’
शब्दे तृतीयभागे ७६ पृष्ठे द्रष्टव्या)

अवगाहणागुण-अवगाहनागुण-पुं० । अवगाहना जीवादीना-
माश्रयो गुणः कार्यं यस्य सः । तस्या वा गुण उपकारो यस्मात्
सोऽवगाहनागुणः । स्था० ५ ग० ३ उ० । जीवादीनामवकाश-
हेतौ वदराणां कुपेरु इवाकाशास्तिकाये, भ० २ ग० १० उ० ।

अवगिञ्जिभ्य-अवगृह्य-अव्य० । उद्दिश्येत्यर्थे, कल्य० ९ क० ।

अवगुण-अवगुण-पुं० । दुर्गुणे, “ अवगुण कवण मुएण । ” प्रा०
४ पाद सू० ३९५ ॥

अवगुणत-अवगुणत्-त्रि । अपावृण्वति, भ० १५ श० १ उ० ।

अवगूढ-अवगूढ-त्रि० । व्याप्ते, झा० ८ अ० ।

अवगवोहि-अपगवोधि-पुं० । समीपगतवोचौ सुलभवोचौ, प्रति० ।

अवगह-अवग्रह-पुं० । अवग्रहणमवग्रहः । इन्द्रियानिन्द्रिय-
निबन्धने सांख्यवहारिकप्रत्यक्षप्रकारचतुष्टयान्यतमे, रत्ना० ।

विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरद-
र्शनाज्जातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमव-
ग्रहः ॥ ७ ॥

विषयः सामान्यविशेषात्मकोऽर्थः, विषयी चक्षुरादिः, तयोः
समीचीनो ज्ञान्याद्यजनकत्वेनानुकूलो निपातो योग्यदेशाद्य-
वस्थानं, तस्मादनन्तरं समुद्भूतमुत्पन्नं यत्सत्तामात्रगोचरं
निःशेषविशेषवैमुख्येन सन्मात्रविषयं दर्शनं निराकारो बोधः,
तस्माज्जातमाद्यं सत्त्वसामान्याद्वान्तरैः सामान्याकारैर्मनु-
ष्यत्वादिभिर्ज्ञातिविशेषैर्विशिष्टस्य वस्तुनो यद् ग्रहणं ज्ञानं त-
द्वग्रह इति नाम्ना गीयते । रत्ना० २ परि० । आव० । प्रज्ञा० ।
स्था० । योनिद्वारे, प्रव० ३० द्वार । अवगृह्णाति इति अवग्रहः ।
उपधौ, ओघ० । (अवग्रहमेदादिः ‘ उग्रह ’ शब्दे द्वितीयजागे
६९८ पृष्ठे वक्ष्यते)

अवंग-अपाङ्ग-पुं० । नयनोपान्ते, जं० १ चक्र० ३० । आचा० ।

अवंगुयडुवार-अपावृतदार-त्रि० । कपाटादिभिरस्थगितगृह-
द्वारे, "अवंगुयडुवारा" तद्दर्शनलाभेन कुतोऽपि पात्राणि कदा-
चिन्त्यति शोभनमार्गपरिग्रहेणोद्गाढशिरसस्तिष्ठन्तीति प्राव-
शति वृद्ध्याख्या । अन्ये त्वाहुः-त्रिभुक्तप्रवेशार्थमोदार्थादस्थ-
गितगृहद्वारा इत्यर्थः । अ० २ श० ५ उ० । दशा० । औ० ।
उद्घाटितद्वारे, न० । वृ० १ उ० । रा० ।

अवंचक-अवञ्चक-त्रि० । पराश्रयसनहेतौ, "अवंचिगा कि-
रिया" । अवञ्चिका पराश्रयसनहेतुः क्रिया मनोवाङ्मायव्यापार-
रूपेति द्वितीयमृजुव्यवहारलक्षणम् । अ० २० । अ० ।

अवंचकयोग-अवञ्चकयोग-पुं० । अवञ्चकत्वविकले योगे,
पो० । अवञ्चकयोगाच्च त्रयः । तद्यथा-सयोगावञ्चकः, क्रिया-
वञ्चकः, फलावञ्चकः । तत्स्वरूपं चेदम्-
"सङ्गः कल्याणसंपन्नैर्दर्शनादपि पावनैः ।
तथादर्शनतो योगः, भागोऽवञ्चक उच्यते ॥ १ ॥
तेषामेव प्रणामादि-क्रिया नियम इत्यलम् ।
क्रियावञ्चकयोगः स्यान्महापापकरोदयः ॥ २ ॥
फलावञ्चकयोगस्तु, सङ्ग एव नियोगतः ।
सातुपन्धफलावाप्ति-धर्मसिद्धौ सतां मता ॥ ३ ॥ चो०
८ वि० ।

अवंचजणजाय-अवञ्जनजात-त्रि० । अवञ्जनान्युपस्थरोमा-
णि जातानि यस्य स तथा । अजातोपस्थरोमणि, व्य०
१० उ० ।

अवंचजिण्जा-अवन्ज-त्रि० । निष्कारणे वन्दनानर्हे, यथा-
"पास्तथो ओसन्नो, होइ कुसीलो तदेव संसत्तो । अहंवेदो वि-
य एव, अवंचजिण्जा जिणमयस्मि" । अ० २ अ० ।

अवंतरसामन्न-अवान्तरसामान्य-न० । उच्यत्वकर्मत्वादौ-स-
त्तावदकापरसत्तायास्, आ० म० द्वि० ।

अवतिवट्टण-अवन्तिवट्टन-पुं० । अवन्तिराजप्रद्योतात्मजपात्र-
कराजस्य पुत्रे, आव० ४ अ० । भा० क० । आ० चू० ।

अवतिसुकुमात्र-अवन्तिसुकुमार-पुं० । जन्माभेष्टनीपुत्रे, दर्श० ।
"उज्जेणीय नयरीय जीवंतसामिपनिमाय अज्जसुहृत्थिणामेण
सूरिवरा पज्जुवासणत्थं उज्जाणे समोसदं । भणिया य
साहुणो-जहा वसहिं भग्गह । ततो साहुणो विहरमाणा गया
भहाय सेट्ठिणीय धरे । तीय वि वंदिकण पुच्छिया-जहा कथो
भयवन्ताणं भागमयं ? तेहि सिट्ठं-देसंतराओ अज्जसुहृत्थिस्-
रिसंतिया वसाहिं जापमो । ताए वि वट्टुट्ठाय जाणसाला दरि-
सिया । अत्रया आयरिया महुवणीण, नांनिगुम्भं नाम अज्ज-
चणं परियत्तंति । तीसे पुत्तोऽवतिसुकुमाओ णाम । सो वि दे-
वकुमारोवमो सत्तत्ते पसायावरणओ वत्तीसाय भज्जाहिं समं
दोगुंनुगो व्व देवो ललह । तेण वि मुत्तविशेणे निस्सुयं । चित्ति-
यं च-न एयं नाइयसरसं ति सत्तभो उपरिभूमीओ भूमी संप-
हारेइ, कथमत्थे गए परिसं सुयमणुभूयपुव्वं । एवं ईहापोह-
मगोयं गवेसणं कुणंतस्स भवियव्वयावसेण तथाऽऽवरणिज्ज-
कम्मक्खओवसमेण जाइसरणं संपत्तो । तन्नो य आयरियाणं
पायमूत्रे वंदिकण भणियं-भयवं ! एवं सव्वं मज्झ चरियं-अहं
तत्थ देवो आसि, ता संपयं देहि वयं, उस्सुगोऽहं तिप्पि वास-

स्स । सूरिहिं भग्गह-वेठ ताव जाव पमाए मायरं ते पुच्छामो ।
ततो तेण सयमेव लोभं कावं पयट्ठो । सूरिहिं चित्ति-मा एसं
सयं गिहीयल्लिगो होइ सि कल्लिं से समप्पिओ वेसो, दिन्ना
दिक्खा । ततो निवमिळण चलणं सु भणितो-असमरथोऽहं दी-
हपव्वजापरियायपरिचालणस्स, ता संपयं चैव अणसणं का-
ऊण इंगिणिं करेमि । ततो एएण अणुजाणविओ नीहरिउ
सत्ताणामो पत्तो कंथारिकुमंगिसमीवे, इंगियं एस काऊण
ठिभो काउस्समेण । अइसुकुमारयाए सरीरस्स धराणितल-
फाससंजायकहिरव्ववाहेण समागया सियादी संहं सत्तहिं
पिल्लणहिं । ततो एणं जंयं सियादीए खाइयं, वीयं पिल्लकपहिं
पढमजामे, एवं ऊरु विइयजामे, तइयजामे पेट्ठं, एवं सो जय-
वं तं वंयणं सममाहियासिऊण तइयजामे समाहीए कालं
काऊण गतो तम्मि चैव विमाणे । ततो समागया पच्चासन्न-
देवा, मुक्कं गंधोदयं कुसुमवरिसं, आहयाओ देवउंडुदीओ,
उण्डुं च हरिसमरणिज्जरोहिं-अहो ! एस महाकालो । धरे य
से भज्जाणं परोप्परं समालोभो जाभां, तेसिं सिट्ठं-उठो कथ
यि गओ । ततो य से जहा पुच्छिया । तीए वि समावल्लमाणए
सूरिहिं सव्वं साहियं । ततो पमायाए रयणीए सन्निट्ठो नीह-
रिया भहा, सह सव्वसुन्नाहिं सुसाणं पत्ता । पिं च कुमंगाओ
नेरइयदिसाए आसवच्चियं कलेवरं । ततो सोयमरविउरिया उ-
म्मुककटं भणेगपलावणेणं तहा रोइयं जहा वसीयं वि य तुज्जं-
ति हिययाइ । ततो कहमवि संठविथा सयणवग्गेणं, गया य
सिप्पाए नईए तने, कयं तत्थ संकुवरणं, पच्चालोइयकिक्खाणि,
आययणाणि य काराविऊण भहाए अइ संवेगाओ सह सुएहाहिं
गहिया पव्वजा । एगा उण गुप्पिणि सि काऊण त्रिया धरे । जातो
पुत्तो । तेण पिउमरणठणे काराविया पिउपनिमा, समुग्गेसि-
यं महाकाओ सि नामेण आययणं । तं च संपयं होइयाहिं प-
रिग्गहियं महाकालो सि विक्खायं । अवन्तिसुकुमारकथानकं
समाप्तमिति ॥ दर्श० । संथा० ॥

अवतिसेण-अवन्तिसेन-पुं० । अपरप्रद्योतपौत्रे पात्रकस्य राज्ञः
पुत्रे, भा० क० । ('अक्षायया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४९४
पृष्ठेऽस्य कथाका)

अवती-अवन्ती-स्त्री० । उज्जयिनीनगरीप्रतिबद्धे जनपद-
विशेषे, आ० म० द्वि० ।

अवतीगंगा-अवन्तीगङ्गा-स्त्री० । गोशालकमतप्रसिद्धे कालवि-
शेषे, "एगा अवतीगंगा सत्त अवतीगंगाओ, सा एगा परमाऽव-
तीगंगा" । अ० २४ श० १ उ० ।

अवंदिम-अवन्दि-त्रि० । वन्दनानर्हे, "पच्चा होइ अव-
दिमो" । दर्श० १ चू० ।

अवकंसमाण-अवकाङ्क्ष-त्रि० । पश्चाद्भागमवलोकयति,
ज्ञा० १ अ० ।

अवकंसा-अवकाङ्क्षा-स्त्री० । अभिलाषे, आचा० १ भु० २ अ०
२ उ० । सूत्र० । औत्सुक्ये, स्या० ४ ग० ३ उ० ।

अवकारि (ण्)-अपकारिन्-त्रि० । अपकारकरणशाले, हा०
२१ अष्ट० ।

अवकिरण-अवकिरण-न० । उत्सर्गे, आव० ५ अ० ।

अवकिरियव्व-अवकिरणीय-न० । विक्षेपणीये त्याजे, प्रश्न०
५ आश्र० द्वा० ।

परं विदेशं नीता सा तस्यैवाजवति, पश्चादपि नान्यस्य । एवमे-
तान्यपत्यान्येषा चाऽस्माकमाजवतीति ।

एवमुक्ते-

इयरे जणंति वीयं, तुभं तं नीयमन्नखेत्तं तु ।

तं होइ खेत्तियस्सा, एवं अम्हं तु एयाइं ॥

इतरे संयतीसत्का भणन्ति-वीजं युष्मदीयं तत्कालक्रेत्रसादृश्य-
विप्रब्रजतः कथमपि वापकैरन्यत्र क्षेत्रं नीतम्-अन्यत्र क्षेत्रे उ-
समित्यर्थः । तद् लोके क्षेत्रिकस्य भवति; एवमेतान्यपत्यान्यस्मा-
कमिति ।

संयतसत्का अत्र प्रत्युत्तरमाह-

रसो धृयाओ खलु, न माउउंदाउ ताउ दिज्जंति ।

न वि पुत्तो अजिसिज्जइ, तासिं छंदेण एवऽम्हं ॥

न खलु, यः राज्ञो दुहितरः, ता मातृच्छन्दतो मातृणामजिप्रायेण,
दीयन्ते; नापि पुत्रोऽभिपिच्यते तासां मातृणां छन्दनाजिप्रायेण ।
किन्तु राज्ञः स्वाजिप्रायेण । ततो यथा-राजा प्रधानमिति सर्वे
राज्ञ आयस्यन्ते, एवमत्रापि पुरुषः प्रधानमिति सर्वे पुरुषस्याय-
त्तमतः सर्वमस्माकमाजवति ।

एवं व्यवहारे वर्तमाने श्रुतधर आचार्यो व्यवहारं
क्षेत्रुकाम इदमाह-

एमादिउत्तरोत्तर-दिडंता बहुविधा न उ पमाणं ।

पुरिसोत्तरिओ धम्मा, होइ पमाणं पवयणं तु ॥

एवमादय उत्तरोत्तरदृष्टान्ता बहुविधा अभिधीयमाना न प्रमा-
णम्, किन्तु प्रवचने पुरुषोत्तरिको धर्म इति पुरुषः प्रमाणम् ।
अतः सर्वे पुरुषा ब्रह्मन्ते, नेतरे इति । व्य० ४ उ० ।

अवचामेलिय-अव्यत्याग्रेडित-न० । एकस्मिन्नेव शास्त्रेऽन्या-
न्यस्थाननिवृत्त्यान्येकार्थानि सूत्राण्येकत्र स्थाने समानीय पठतो
व्यत्याग्रेडितम् । अथवा-आचारादिसूत्रमध्ये मतिचर्चितानि न-
तत्सदृशानि सूत्राणि कृत्वा प्रक्षिपतो व्यत्याग्रेडितम् । अस्थान-
धिरनिकं वा व्यत्याग्रेडितं, न तथाऽन्यत्याग्रेडितम् । व्यत्याग्रेडि-
तदोपरहिते सूत्रगुणे, अनु० । ग० । विशेष० । पं० चू० ।

अवच्छलत्त-अवत्तलत्त-न० अवात्सल्यकरणे, व्य० १ उ० ।

अवच्छेय-अवच्छेद-पुं० । विभागोऽश्वे, स्या० ३ ठा० ३ उ० ।

अवजाणमाण-अवजानान-त्रि० । अपलपति, सूत्र० १ श्रु०
४ अ० ४ उ० ।

अवजाय-अपजात-पुं० । अप इत्यपसदो हीनः पितुः सम्पदो
जातोऽपजातः । पितुः सकाशादीपस्त्रीनगुणे पुत्रजेदे, यथाऽऽदि-
त्ययशाः, भरतापेक्षया तस्य हीनत्वात् । स्था० ४ ठा० १ उ० ॥

अवजुय-अवजुत-त्रि० । पृथग्भूते, व्य० ७ उ० । पृथग्भावे, नि०
चू० १६ उ० ।

अवज्ज-अवद्य-न० "अवद्यपण्य०" । ३ । १ । १०१ । इत्यादिना
(पाणि०) सूत्रेण निपातः । "अवद्ययीज्जः" । १ । २ । २४ । इति यस्य
उज्जः । प्रा० ३ पाद । पापे, आ० म० द्वि० । आव० । आ० चू० ।
सूत्र० । विशेष० । आचा० । निर्दोषे, उक्त० ६ अ० । वृ० । संथा० ।
मिथ्यात्वकृपायलक्षणे, आ० म० प्र० । गह्वे, सूत्र० १ श्रु० १ अ०

२ उ० । विशेष० । "कम्ममवज्जं जं गर-हियं ति कोहाइणो व च-
त्तारि" । कर्मानुष्ठानमवद्यं जणयते । किमविशेषेण ? नेत्याह-यत्
गर्हितं निन्द्यम्, अथवा क्रोधादयश्चत्वारोऽवद्यं, तेषां सर्वाव-
द्यहेतुतया कारणे कार्योपचारात् । आ० म० द्वि० । म० ॥

अवज्जकर-अवद्यकर-पुं० । अवद्यं पापं तत्करणशीलः । पापि-
नि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अवज्जभीरु-अवद्यजीरु-त्रि० । पापजीरौ, ओघ० । पापाच्चकि-
ते, वृ० ३ उ० ।

अवज्जभाण-अपध्यान-न० । अप्रशस्तं ध्यानमपध्यानम् । आ-
र्त्तादिध्याने, औ० । पापकर्मोपदेशे हिंसकार्पणे, ध० २ अधि० । इह
देवदत्तश्रावककाङ्क्षसाधुप्रभृतय उदाहरणानि । आव० ६ अ० ।

अवज्जभाण्या-अपध्यानता-स्त्री० । आर्त्तरौद्रादिध्यायित्वे,
स्था० ३ ठा० ३ उ० ॥

अवज्जभाणायरिय-अपध्यानाचरित-पुं० । अपध्यानमार्त्तरौद्र-
रूपं तेनाचरित आसेवितो योऽनर्थदण्डः स तथा । अनर्थदण्ड-
भेदे, उक्त० ३ अ० । ध० ।

अवज्जाय-अपध्यात-त्रि० । दुर्ध्यानविपर्ययकृते, उक्त० ६ अ० ।
दुष्टचिन्तावति, स्था० १४ अ० ॥

अवटु-अवटु-पुं० । कृकाटिकायाम्, म० १५ श० १ उ० । विपा०

अवट्टम्-अवट्टम्-पुं० । स्तम्भाद्यवलगने, ध० ३ अधि० ।

इदानीमवट्टम्द्वारं प्रतिपादयन्माह-

अव्वोच्छिन्ना तसा पाणा, परिसेहा न मुज्जई ।

तम्हा इहसमत्थस्स, अवट्टम्भो न कप्पइ ॥ १०७ ॥

अवट्टम्भः स्तम्भादौ न कर्त्तव्यः, यस्मात्प्रत्युपेक्षितेऽपि तस्मिन्
पश्चादपि अव्यवच्छिन्ना अनवरतं त्रसाः प्राणा जवन्ति, ततश्च तत्र
प्रत्युपेक्षणा न शुच्यति । [तम्हा इहसमत्थस्सेति] तस्माद् हृष्टो
नीरोगः, समर्थस्तरुणः, तस्य एवंविधस्य, साधोरवट्टम्भो न क-
ल्पते नोक्तः ।

इदानीं के ते त्रसाः प्राणिनः ?, इत्येतत् प्रदर्शनायाह-

संचरकुंयुद्देहिय-लूआ वा होइ दाली य ।

एवं धरकोइलिया, सप्पे वीसंजरे सररे ॥ १०८ ॥

तत्रावट्टम्भे स्तम्भादौ, संचरन्ति प्रसर्पन्ति; के ते ?, कुन्थुसत्वाः
उद्देहिकाश्च लूता कोलियकः, तत्कृतो जेदः भक्षणं भवति,
तथा च दाली राजिर्भवति, तस्यां च वृश्चिकादेराश्रयो भवति,
तथा च-गृहकोलिया घरोलिका, इयमुपरिस्था भूत्रयति,
तन्मूत्रेण चोपघातश्चक्षुषो भवति । सर्पो वा तत्राश्रितो भ-
वति, वीसंजरो जीवविशेषः, उन्दुरो वा भवेत्, सरटः कृ-
कलासः, स वा दशनदि करोति ।

इदानीं भाष्यकारो व्याख्यानयन्माह-

संचारगा चउहिसि, पुव्वं पणिलेहिए वि अण्णंति ।

उद्देही मूल पुणो, विरादणा तनुभए भेओ ॥ १०९ ॥

संचारकाः कुन्धादयः पूर्वोक्ताश्चतसृष्वपि दिक्षु तस्मिन्नावट्टम्भे
परिभ्रमन्ति, पूर्वप्रत्युपेक्षितेऽपि तस्मिन् स्तम्भाद्यवट्टम्भे अन्ये
आगच्छन्ति । [उद्देहिंति] कदाचिदसौ स्तम्भादिरवट्टम्भः मूले

अवचय-अपचय-पुं० । अपचये, अनु० । दश० । सूत्र० । देशतो-
ऽपगमे, भ० ११ श० ११ उ० । कयोपगमे, सूत्र० १ सु० २ अ०
३ उ० ।

अवचय-अपचित-त्रि० । शोपिते, उक्त० २५ अ० । जीवप्रदेशै-
र्विरहिते, अनु० ।

अवचयमंससोऽपि-अपचितमांसशोणित-न० । शोपितमां-
सरुधिरं, उक्त० २५ अ० ।

अवचुक्षी-अवचुक्षी-स्त्री० । चुक्ष्या अव पश्चाद् अवचुक्षी ।
राजदन्तादित्वादवचक्ष्यस्य पूर्वनिपातः । अवचुक्षे, पि० ।

अवच-अपत्य-न० । न पतन्ति यस्मिन्नुत्पन्ने दुर्गतौ अयशः-
पद्मे वा पूर्वजास्तदपत्यम् । पुत्रादौ, कल्प० ८ उ० । पुत्रे, पुत्र्यां
च । अव० १ अ० । संयत्या अपत्ये जनिते आग्रवनव्यवहारो
व्य० ।

सांप्रतमन्यं व्यवहारमुपदर्शयति-

अह्ना अश्वसकुला, पादिभज्जिउकाम समणसमणीओ ।

अणुसङ्गा पर ण त्रिया, करेति वार्यति-ववहारं ॥

अथवेति व्यवहारस्य प्रकारान्तरोपदर्शने । अमणः अमणी
येति द्वावप्यन्यान्कुलौ; अन्यकुलः अमणः, अन्यकुला अमणी,
प्रतिभङ्गुकामौ प्रतिपतितुकामौ, स्वस्वाचार्येण च तौ प्रभूतम-
नुशिष्टौ, परं न स्थितौ स्वस्वकुलममत्वेन वागन्तिकव्यवहारं
वागेत्यान्तः परिसमाप्तिर्वागन्तः, तत्र जवो वागन्तिकः, स वासौ
व्यवहारश्च, तं कुरुतः । तद्यथा-यानि अस्माकमपायानि जनि-
ष्यन्ते तेषां मध्ये ये पुरुषास्ते सर्वे मम, याः स्त्रियस्ताः सर्वा-
स्तव । अथवाअमणीभूते ये पुरुषास्ते सर्वे मम, स्त्रियः सर्वा-
स्तव । यद्वि चेदं भण्यति-सर्वाण्यपत्यानि तव, अथवा-सर्वाण्यप-
त्यानि ममेति, तयोः संसारे स्थित्या पुनः प्रव्रज्यां प्रत्युपस्थितयो-
र्यदेव वागन्तिकेन व्यवहारेण निश्चितं तदेव तयोः संजवति ।

अहं न कतो तो पच्छा, तेसिं अङ्गुठियाण ववहारो ।

गोणीआसुब्जामिग-कुडुवि खरण य खरिया य ॥

अथ न कृतः पूर्वं वागन्तिको व्यवहारः, पश्चात्तयोः प्रव्रज्या-
यामप्युत्थितयोः स्वस्वकुलममत्वेन व्यवहारो जगद्वनमभूत् । तत्र
संयतीकुलसत्काः गोदण्टान्तमुद्भ्रामिकादण्टान्तं खरकखरिकाद-
ण्टान्तं चान्तराऽन्तरोपन्यस्यन्ति । संयतकुलसत्काः-अश्वदण्टान्तं,
कौटुम्बिकदण्टान्तं च ।

अथ चैयमन्या दण्टान्तपरिपाटी-

गोणीणं संगिळं, उब्जामेङ्गला य नीयपरदेसं ।

तत्तो खेचे देवी, रप्पो अभिसेयणे चेव ॥

संयतीसमानकुलकाः गवां संगिळं समुदायं दण्टान्तीकुर्वन्ति ।
तद्नन्तरं संयतसकुलकाः या उब्जामिङ्गला परदेशं नीता, तां दण्टा-
न्तीकुर्वन्ति । ततः पुनरपि संयतीसकुलकाः क्षेत्रे वीजम् । ततः
संयतकुलकाः देवीं राज्ञोऽभिषेचनं चैवेति ।

तत्र भएङ्गे जाते यथा संयतीसकुलका गोदण्टान्तं कुर्वन्ति
तथा प्रतिपादयति-

संजइत्त जणंती, -संजे अशस्स जं तु गोणीए ।

जायति तं गोणिवइ-स्स होति एव-अम्ह एयाइं ॥

(संजइत्ता) संयतीसत्काः समानकुलकाः भुवते-अन्यस्य सत्केन
१९८

पएङ्गेन यद् गोर्जायतेऽपत्यं तद् सर्वं गोपतेर्गोस्वामिनो भवति,
न पएङ्गस्वामिनः । एवमननैव दण्टान्तेनास्माकमप्येतान्यपत्यान्या-
भवन्ति, न युष्माकमिति ।

एवमुक्ते-

वैतियरे अम्हं तु, जइ वडवाए अ अश्वआसेणं ।

जं जायति मोझे नो, दिजे तं अस्सियस्सेव ॥

इतरे संयतसमानकुलका भुवते-अस्माकमेतान्यपत्यानि भव-
न्ति. यथा-मूल्ये अदत्ते यदम्बेनान्यसत्केनाद्वेन वरुवाया जायते-
अपत्यं तद् अभ्विकस्यैव-अश्वस्वामिन एव; व्यावहारिकैरेवमेव
व्यवहारनिश्चयात् । एवमेतान्यप्यस्माकमिति ।

एवमुक्ते-

जस्स माहिङ्गाए जायति, उब्जामेङ्गलाए तस्स तं होइ ।

संजइत्त जणंती, इयरो वंती इमं मुणसु ॥

यस्य महेङ्गाया जार्यायाः, उद्भ्रामिलयाः स्वैरिण्याः, जायते
सुतः परतश्च तस्य तत्सर्वमभवति; एवमस्माकमपि, इति
(संजइत्ता). संयतीसत्काः समानकुलका भण्यन्ति । इतरे
भुवन्ते-इदं वक्ष्यमाणमुद्भ्रामिककौटुम्बिककृतं वृणुत-

तेणं कुडुविणं, उब्जामेङ्गलाए दोएह वी दंनो ।

दिक्को सा वि य तस्सा, जाया एव-अम्ह एयाइं ॥

येन स्वैरिण्या अपत्यानि जनितानि तेन कौटुम्बिकेन उद्भ्रामि-
ङ्गेन राजकुले गत्वा कथितम्-यथाऽहं देव ! तस्याः सर्वं भोगमदं
वहामि स्म, सोऽपि च तत्पतिर्मदीयेन भोगजरेण निर्यूढवान्,
तस्मात्प्रसादं कृत्वा मदीयान्यपत्यानि दापयतेति । तत एवमुक्ते
राजा कुपितः, तथा-भोगजरसंवाददर्शनत एवमिमावपत्याय का-
रणाविति द्वावपि सर्वस्वापहरणतो दृष्टितवाद् । तथा ब्राह्-
म्योरपि दण्डो दत्तो, दापित इत्यर्थः । सा आपत्यापहरणतोऽ-
नन्यगतिका सती तस्य जाता । एवमस्माकमेतान्यपीति ।

पुणरवि य संजइत्ता, वैति खरियाएँ अश्वखरणं ।

जं जायति खरियादिव-तिस्स होति एव-अम्ह एयाइं ॥

पुनरपि संयतीसत्का भुवते-खरिकायां गर्दभ्यामन्यखरकेण
अन्यसत्केन गर्दभेन, यद् जायते तत्सर्वं खरिकाधिपतेर्भवति; एव-
मस्माकमप्येतानीति । तदेवं प्रथमदण्टान्तपरिपाटी ज्ञाविता ॥

संप्रति द्वितीया विभावयिषुः प्रथमतो गोवर्ग-

दण्टान्तं भावयति-

गोणीणं संगिळो, नइ अडवीएँ अश्वगोरेणं ।

जायाइं वच्चागाइं, गोणाद्वितीओ मेणइंति ॥

गवां स्त्रीगवानां संगिष्ठः समुदायो नष्टोऽटव्यां पतितः, तत्र च
तस्यान्यगवेनान्यसत्केन पुङ्गवेन, जातानि वत्सकानि वत्सरूपाणि
तानि, गवेपणतः कथमपि गवां लामे गवाधिपतयः स्त्रीगवी-
स्वामिनो गृह्णन्ति, न पुङ्गवस्वामिनः । एवमेतान्यप्यस्माकमिति ।

एवमुक्ते संयतसत्का उद्भ्रामिकादण्टान्तं पूर्वोक्तमु-
पन्यस्यन्ति, तथा चाऽऽह-

उब्जामिय पुण्णुत्ता, अह्वा नीया ठ जा परविदेसं ।

तस्सेव सा आभवती, एवं अम्हं तु आभवति ॥

उद्भ्रामिका पूर्वमुक्ता । यथा-सापत्या तस्य जाता । अथवा या

अवणयण-अपनयन-न० । निषेधने, विशेषे ।

अवणीयवणीयवयण-अपनीतोपनीतवचन-न० । अरूपवती स्त्री किन्तु सद्वृत्तेतिरूपे पोमशवचनानां द्वाद्दशे, आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० । प्रज्ञा० । प्रव० ।

अवणीयचरय-अपनीतचरक-पुं० । अपनीतं देयद्रव्यमध्याद-पसारितम्, अन्यत्र स्थापितमित्यर्थः । तदर्थमभिग्रहतश्चरति तद्गवेषणाय गच्छतीति अपनीतचरकः । अजिग्रहविशेषधा-रके, औ० ।

अवणीयवयण-अपनीतवचन-न० । कुरुपा स्त्रीतिवचनभेदे, प्रव० १४० द्वार ।

अवण-अवर्ण-त्रि० । न विद्यते वर्णः पञ्चविधः सितादिरस्येत्य-वर्णम् । वर्णरहिते अमूर्तद्रव्ये, यो० १५ विव० । अस्त्राघायाम्, पं० व० ४ द्वार । स्था० । अयशसि अकीर्तौ, नि० चू० १० उ० । वर्ण-ताया अकरणे, औ० । एकदिग्याप्यसाधुवादवादे, ग० २ अधि० ।

अवणवत-अवर्णवत्-त्रि० । अस्त्राघाकारिणि, स० ३० सम० ।

अवणवाङ् (ण्)-अवर्णवादिन्-पुं० । अवर्णं वदितुं शीलम-स्येत्यवर्णवादः । अकीर्तिके, “ नाणस्स केवलीणं, धम्मा-यरियाणं सव्वसाहणं । माई अवणवाई, किन्वासियं भावणं कुणइ ” ॥ १ ॥ ग० २ अधि० । वृ० ।

अवणवाय-अवर्णवाद-पुं० । अस्त्राघायाम्, ध० २ अधि० । अ-स्त्राघावादे, दश० । “ अवणवायं च परंमुहस्स, पञ्चक्खओ ” (न भासिज्ज) अवर्णवादं चास्त्राघावादं पराहमुल्लस्य पृष्ठतः प्रत्य-क्षतश्च, न भाषेत इत्यर्थः । दश० ए अ० ३ उ० ।

अहंदादिपञ्चकावर्णं वदन् दुर्लभबोधिः-

पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुब्बभवोहियत्ताप कम्मं पकरेति । तं जहा-अरहंताणमवन्नं वदमाणे, अरहंतपण्यत्तस्स ध-म्मस्स अवन्नं वदमाणे, आयरियज्जवज्जायाणमवन्नं वदमा-णे, चाउवन्नमंधस्स अवन्नं वयमाणे, विविक्तववंभचेराणं देवाणं अवन्नं वदमाणे ।

“पंचहिं” इत्यादि सुगमम्, नवरं दुर्लभा बोधिर्जिनधर्मो यस्य स तथा, तद्वावस्तत्ता । तथा दुर्लभबोधिकतया, तस्यैव वा कर्म मो-हनीयादि, प्रकुर्वन्ति ध्वन्ति, अहंतामवर्णमस्त्राघां वदन् । यथा-“नत्थी अरहंत सी, जाणंतो कीस मुंजप जोय । पाहुंडिय उवजी-वइ, स समवसरणादिरूपाय । १ । एमाइ जिणाण अवणो ” । न च ते नाजूवन्, तत्प्रणीतप्रवचनोपलब्धेः । नापि भोगानुभवनादेर्दोषः, अवश्यवेद्यत्वात् तस्य । तीर्थकरनामादिकर्मणश्च निर्जरणोपाय-त्वात्तस्य । तथा-वीतरागत्वेन समवसरणादिषु प्रतिबन्धाभावा-दिति ॥ तथा-अहंत्प्रज्ञास्य धर्मस्य श्रुतचारित्र्यरूपस्य । प्राकृत-भाषानिवरुमेतत्, तथा-किं चारित्र्येण, दानमेव श्रेय इत्यादिकमव-र्णं वदन् । श्रुतरं चात्र-प्राकृतभाषात्वं श्रुतस्य न दुष्टं, बालादीनां सुखाभ्येत्येनोपकारित्वात् । तथा-चारित्र्यमेव श्रेयो, निर्वाणस्या-नन्तरहेतुत्वादिति ॥ आचार्योपाध्यायानामवर्णं वदन् । यथा-या-लोऽयमित्यादि । न च धात्वत्वादि बोधः, बुद्ध्यादिभिर्वृद्धत्वादिति । तथा-चत्वारो वर्णाः प्रकाराः श्रमणादयो यस्मिन् स तथा । स एव स्वार्थिकाऽणविधानाच्चातुर्वर्णः, तस्य संघस्यावर्णं वदन् । यथा-

कोऽयं संघः?, यः समवायवलेन पञ्चसंघ इव अमार्गमपि मार्गी-करोतीति । न चैतत्, साधुज्ञानादिगुणसमुदायात्मकत्वात्तस्य; तेन च मार्गस्यैव मार्गीकरणादिति ॥ तथा-विषकं सुपरिनिष्ठितं, प्रक-र्षपर्यन्तमुपगतमित्यर्थः । तपश्च ब्रह्मचर्यं च भवान्तरे येषाम्, वि-षकं वा उद्यागतं तपो ब्रह्मचर्यं तद्धेतुकं देवायुष्कादिकर्म येषां ते तथा; तेषामवर्णं वदन् । न सन्त्येव देवाः, कदाचनान्यनुपलभ्य-मानत्वात् । किञ्च-तैर्विद्वैरिव कामासक्तमनोजिरविरतैस्तथा नि-र्निमेषैरचेष्टैश्च त्रियमाणैरिव प्रवचनकार्यानुपयोगिभिश्चेत्यादि-कम् । इहोत्तरम्-सन्ति देवाः, तत्कृताऽनुग्रहोपघातादिदर्श-नात् । कामसक्तता च मोहसातकर्मोदयात्, इत्यादि । स्था० ५ ग० २ उ० ।

अथ (ज्ञानादीनां) व्यासार्थमाह-

काया वया य ते च्चिय, ते चेव पमायअप्पमाया य ।
मोक्खादिगारियाणं, जोऽसजोणीहिं किंच पुणो ॥

इह केचिद्विदग्धाः प्रवचनाज्ञातनापातकमगणयन्त इत्यं श्रुत-स्यावर्णं श्रुवते । यथा-यमूजीवनिकायामपि यद्वायाः प्ररूप्यन्ते, शा-रूपपरिज्ञायामपि त एव, अन्येष्वध्ययनेषु बहुशस्त एवोपवर्ण्यन्ते । एवं व्रतान्यपि पुनः पुनस्तान्येव प्रतिपाद्यन्ते । तथा-त एव प्रमादाप्रमादाः पुनः पुनर्वर्ण्यन्ते । यथोत्तराध्ययने आचाराङ्गे च । एवं च पुनरुक्तदोषः । किञ्च-यदि केवलस्यैव मोक्षस्य सा-धनार्थमयं प्रयासस्तर्हि मोक्षाधिकारिणां साधूनां सूर्यप्रज्ञप्या-दिना ज्योतिःशास्त्रेण, योनिप्राभृतेन वा किं पुनः कार्यम्?, न किञ्चि-दित्यर्थः । तेषामित्थं श्रुवाणानामिदमुत्तरम्-इह प्रवचने यत् त एव कायाद्यो भूयो जूयः प्ररूप्यन्ते, तन्महता प्रयत्नेनामी परिपा-लनीयाः, इदमेव धर्मरहस्यमित्यादरातिशयव्यापनार्थत्वाच्च पु-नरुक्तम् । “ अनुवादाऽऽद्वर्वाप्ता-नृशार्थविनियोगहेत्वस्यासु । ईपत्संज्ञमविस्मय-गणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम् ” ॥ १ ॥ ज्योतिः शास्त्रादेरेव शिष्यप्रमाजनादिषु शुभकार्योपयोगफलत्वात्परम्प-रया मुक्तिफलमेवेति न कश्चिदोषः । गतो ज्ञानावर्णोवादः ।

अथ केवलस्यवर्णवादमाह-

एगंतरमुप्पाए, अन्नोच्चावरणया दुवेई पि ।

केवलदंसणणाणे, एगे काले व एगत्तं ॥

इह केवलिनमवर्णवादो यथा-किमेषां ज्ञानदर्शनोपयोगौ क्रमेण भवतः, उत युगपत् ? । यथाद्यः पक्षः-ततो यं समयं जानाति तं स-मयं न पश्यति, यं समयं पश्यति तं समयं न जानातीत्येवमेका-न्तरिते उत्पादे द्वयोरपि केवलज्ञानदर्शनयोरन्योन्यावरणता ज्ञेयः, ज्ञानावरणदर्शनावरणयोः समूलकायं कथितत्वात् । अपरस्य चा-वारकस्थाभावात्परस्परवारकतैवानयोः प्राप्नोतीति भावः । अथ युगपदिति द्वितीयः पक्षः कक्षीक्रियते, सोऽपि न क्षोदकम् । कुतः?, इत्याह-एककाले युगपदुपयोगद्वये अक्षीक्रियमाणे; वाशब्दः पक्षा-न्तरद्योतनार्थः । द्वयोरपि साकारानाकारोपयोगयोरेकत्वं प्राप्नोति, तुल्यकालमावित्वादिति । अत्रोत्तरम्-इह यथा जीवस्वाभाव्यादेः सर्वस्यापि केवलिन एकस्मिन् समये एकतर एवोपयोगो प्रव-ति, न द्वौ, “ सव्वस्स केवलस्सि, जुगवं दो नत्थि उवज्जोगा ” इति वर्चनात् । यथा चायमेकैकसमये उपयोग उपपद्यते, तथा विशेषावश्यकादिषु श्रीजिनमरुक्कमाश्रमणादिभिः पूर्वसूरिभिः सप्रपञ्चमुपदर्शित इति नेहोपदर्शितः, ग्रन्थगौरवभयात् । द्वि-तीयपक्षानुपपत्तिनोदना त्वनभ्युपगतोपासमत्वादाकाशरोमन्थ-नमिव केवलं भवतः प्रयासकारिणीति ।

उद्देहिकादिजलिनः, ततश्च अवष्टम्भं कुर्वत उपरि पतति, पुनश्च विराधना तदुज्ज्वलं भवति, आत्मनि संयमे च भवति. भेदश्च पत्रकश्च भवति ॥

लूआइ य मध्ये सं-जमम्मि आयाइ विचुगाईया ।

एवं घरकोइलिया-अहिउंदरसरदमांसु ॥ ५१० ॥

लूनादौ च मद्ने मद्ने संयमविषया विराधना भवति, आत्म-विराधना च वृश्चिकादिभिः क्रियते, एवं गृहकोकिलिकाअहि-उन्दुरसरदादिविषया संयमविराधना, आत्मविराधना च भव-तीत्युक्त उत्सर्गः ॥

इदानीमपवाद उच्यते-

अतरंतस्स च पासा, गाढं पुक्खंति तेणऽवद्वंभो ।

संजयपिठे थंजे, सेलसुद्धाकुडुवैटीए ॥ ५११ ॥

अतरन्तस्य च तिष्ठतां ग्लानादेः पार्श्वानि गाढमत्यर्थं दुःख-न्ति, तेन कारणेन अवष्टम्भं कुर्वति । क १, अत आह-संयत-पृष्ठे स्तम्भे वा [सेल चि] पापाणमयं स्तम्भे, सुधाऽर्जिते कुल्लं वा अवष्टम्भं कुर्वति । अवधिकायां वेण्टिकायां वा कुल्यादौ कृत्वा ततोऽवष्टम्भं करोति । उक्तमवष्टम्भचारम् । ओघ० । ध० । अवद्वग-अपार्थक-त्रि० । अपगतपरमार्थप्रयोजने; द्वा० १६ द्वार ।

अवद्वगा-अवस्थान-न० । व्यवसायाम्, व्यवस्था संस्थितिः स्थितिरवस्थानमवस्था चैतान्येकार्थिकानि पदानि । वृ० ५ उ० । स्थितौ, आव० ४ अ० । (तत्र साधोः किमवस्थानं श्रेयः उतादनमिति ' आवस्सिगा ' शब्दे द्वितीयभागे ४६३ पृष्ठे यद्व्यते; अवधिज्ञानस्याऽवस्थानं द्रव्यादिभेदभिन्नमिति ' अप-डिवाइ (ए) ' शब्दे अत्रैव भागे ५६५ पृष्ठे, ' ओहि ' शब्दे तृतीयभागे १५१ पृष्ठे च रूप्यम्)

अवद्वि-अवस्थिति-स्त्री० । मर्यादायाम्, स्था० ३ उ० ४ उ० । अवस्थाने निष्पकम्पतया वृत्तौ, आव० ४ अ० ।

अवद्विय-अवस्थित-त्रि० । शाश्वते, स्था० ३ उ० ३ उ० । नित्ये, ज्ञा० ५ अ० । " सिज्जायरपिणे य १, चाउज्जामे य २ पुरिसजेद्रे य ३ । किइकम्मस्स य करणे ४, चत्तारि अवद्विया कप्पा " ॥ १ ॥ स्था० ६ उ० । निअले, स्था० ५ उ० ३ उ० । अवधिष्णौ, जी० ३ प्रति० । यत्न होयमानं न वा वर्द्धमानम् । तं० । स० । " अवद्वियसुविमत्तविचित्तमंस्सु " । अवस्थितान्यव-धिष्णुनि सुविमत्तानि विविकानि विचित्राणि अतिरम्यतया-ऽद्भुतानि इमंशूणि कूर्चकंशा येषां तेऽवस्थितसुविमत्तविचि-त्रमश्वः । जी० ३ प्रति० । अनन्तपर्यायामके वस्तुनि, तत्र पर्यायाऽग्रमानन्त्येन अविरहाद् व्यावस्थितत्वम् । ज० २ श० १ उ० । स्वप्रमाणे स्थिते, जी० ३ प्रति० । अनवस्थितविलक्षणं अद्योगदानयोऽप्ये स्वलिङ्गावस्थिते, संविम्विहारावस्थिते च । वृ० १ उ० । [' अणवद्विय ' शब्देऽत्रैव भागे ३०१ पृष्ठे व्या-ख्यात एषः] स्थित्या रक्षिते, " अवद्विप आणाए आराहए यावि ज्वइ " । आचा० २ श्रु० १५ अ० ३ श्रु० ।

अवद्वियबंध-अवस्थितवन्ध-पुं० । यदा तु यावतीः प्रथमसम-ये बन्ध्वा तावतीरेव द्वितीयादिष्वपि समयेषु बध्नाति, तदा स बन्धाऽवस्थितत्वादवस्थितवन्ध इति पं० सं० ५ द्वार । प्रकृ-तिवन्धज्जदे, क० प्र० । यथाऽष्टौ बध्नाति सप्त बध्नाति सप्त वा बध्वा पदं पदं बध्ना एकां बध्नाति तथा स एव बन्धस्कारोऽप्यतरो वा

द्वितीयादिसमयेषु तन्मात्रस्तावन्मात्रतया प्रवर्त्तमानोऽवस्थि-तवन्धो भवति । कर्म० ५ कर्म० ।

अवद्व-अवद्व-पुं० । कूपे, स्था० २ उ० ४ उ० । अनु० । प्रज्ञा० । आ० म० ।

अवद्व-अपार्थ-न० । अपगतमर्थं यस्य तदपार्थम् । अर्द्धमात्रे, सू० प्र० १० पाहु० । चं० प्र० । अर्द्धदिवसे, भ० १६ श० ३ उ० ।

अवद्वलेत्त-अपार्थक्षेत्र-न० । अपगतमर्थं यस्य तदपार्थम्-अर्द्धमात्रम् । अपार्थमर्द्धमात्रं क्षेत्रमहोरात्रप्रमितं येषां चन्द्रयोग-स्यादिमधिकृत्य तान्यपार्थक्षेत्राणि । चं० प्र० १० पाहु० । सू० प्र० । समयक्षेत्रापेक्षया पञ्चदशमुदृतं, स्था० ६ उ० ।

अवद्वगोलगोलच्छाया-अपार्थगोलगोलच्छाया-स्त्री० । गो-लैर्बहुविधैर्मिलित्वा यो निष्पादित एको गोलः स गोलगोलस्तस्य छाया गोलगोलच्छाया, अपार्थमात्रस्य गोलगोलस्य छाया अपार्थगोलगोलच्छाया । अर्द्धमात्रमिलितानंकगोलच्छायाया-म्, चं० प्र० ८ पाहु० ।

अवद्वगोलच्छाया-अपार्थगोलच्छाया-स्त्री० । अपार्थमात्रस्य गोलस्य ग्रायायाम्, सू० प्र० ८ पाहु० । चं० प्र० ।

अवद्वगोलपुञ्जच्छाया-अपार्थगोलपुञ्जच्छाया-स्त्री० । गो-लानां पुञ्जो गोमोत्कर इत्यर्थः । तस्य ग्राया गोलपुञ्जच्छाया; अपार्थस्य गोलपुञ्जस्य छाया अपार्थगोलपुञ्जच्छाया । अपार्थमात्रगोलपुञ्जच्छायायाम्, चं० प्र० ८ पाहु० । सू० प्र० ।

अवद्वगोलावलिच्छाया-अपार्थगोलावलिच्छाया-स्त्री० । गोला-नामावलिगोलावलिस्तस्याभ्यां गोलावलिच्छाया; अपार्थं या गोलावलिच्छाया अपार्थगोलावलिच्छाया । अपार्थमात्रगोला-वलिच्छायायाम्, चं० प्र० ८ पाहु० । स्था० ॥

अवद्वचंदसंताण-अपार्थचन्द्रसंस्थान-न० । अपकृष्टमर्थं चन्द्र-न्तस्थापादचन्द्रः, तस्य यत्संस्थानमाकारः । गजदन्ताकृतौ, स्था० २ उ० ३ उ० ।

अवद्वभाग-अपार्थभाग-पुं० । चतुर्थभागे, आचा० ३ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अवद्वमोयरिया-अपार्थवमौदरिका-स्त्री० । अवमस्योनस्यो-दरस्य करणमवमौदरिका, अपकृष्टं फिअिदूनमर्थं यस्यां साऽपार्थ, द्वित्रिशत्कवलापेक्षया द्वादशानामपार्थरूपत्वात् । अपार्थं च साऽवमौदरिका चेति । अवमौदरिकाज्जदे, " दुधास कुल्लुडिअं-गणपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अवद्वमोयरिया " । द्वा-दशकुक्कुटाएकप्रमाणमात्रान्कवलाहाराहारमाहारयति अपार्थऽ-वमौदरिका उक्तशब्दार्था भवतीत्येवं सप्तम्यन्तव्याख्यानं नेयम् । प्रथमान्तव्याख्यानं तु धर्मधर्मिणोरभेदादपार्थवमौदरिका सा-धुर्भवतीत्येवं नेतव्यम् । ज० ७ श० १ उ० । व्य० ।

अवण-अवन-न० । गमने, वेदने च । नं० ॥

अवणंत-अपनयत्-त्रि० । अशक्नुवति, नि० चू० १ उ० ।

अवणमंत-अवनयत्-त्रि० । नीचीभवति, रा० ॥

अवणय-अपनय-पुं० । पूजास्तकारादेरपनयने, स्था० ८ उ० ।

दोषजापणे, निन्दार्थां च । प्रव० १४३ द्वार । आ० म० ।

अवनत-त्रि० । उन्नतौ नीचकाये, भावतोऽदीने, दश० ५ अ० ।

अणुपणुजो वा अवि कोवितो, सो वा वपञ्ज अवत्तत्वादिसु वि, जो अवत्तत्वादपक्वगङ्गां करोति, सो य जे रायादिवलवन्तो त-
न्मया वदेज्ज, ए दोसा । नि० चू० ११ व० । (अधर्मस्यावर्णवादः
'अहम्म' शब्दे अत्रैव भागेऽप्रे वक्ष्यते । रात्रिजो जनस्यावर्णवादो
'राह भोयण' शब्दे प्रेक्षणीयः)

अवस्था-अवज्ञा-स्त्री० । अनादरे, औ० । पो० ॥

अवहृवण-अपहवन-न० । मृपादपडे, आचा० १ भु० ५
अ० १ व० ।

अवहृण-अपस्नान-न० । तथाविधसंस्कृतजलेन स्नाने, वि-
पा० १ भु० १ अ० । अहृणपनयनहेतुः स्यात्संस्कृतजलेन स्नाने, झा०
१३ अ० ॥

अवतट्ट-अवतट्ट-त्रि० । तनूकृते, सूत्र० १ भु० ५ अ० २ उ० ।

अवत्त-अव्यक्त-पुं० । अद्याप्यपरिणतवयासि, वृ० १ व० । श-
ब्दोऽयं रूपादिर्वा इत्यादिना प्रकारेणानिर्देश्ये, विशेषे० । उगण-
लिम्पनादिना संस्कृते, ध० ३ अधि० । स्था० । अवत्ता नाम
वसतिः-उगणमृत्तिकाभ्यां जलेन चोपलितभूमितला अव्यक्तस्था-
नयुक्ता वा, निवाता वा । ग० १ अधि० । नि० चू० । अगीतार्थे,
नि० चू० २ उ० ।

अवत्तव-अवक्तव्य-त्रि० । अनुचारणीये, दशा० ७ अ० । आ-
नुपूर्व्यानुपूर्वीप्रकारार्थ्यां वक्तुमशक्ये कथ्ये, अनु० । द्विप्रदेशि-
कस्कन्धोऽवक्तव्यमित्याख्यायते । अनु० ॥

अवत्तवगसंचिय-अवक्तव्यकसञ्चित-त्रि० । यः परिणामविशेषो
न कति नाप्यकतीति शक्यते वक्तुं सोऽवक्तव्यकः, स चैक इति;
तत्सञ्चिता अवक्तव्यकसञ्चिताः । समये समये एकतयोत्पत्तेषु
नैरयिकादिषु, उत्पद्यन्ते हि नारक एकसमये एकादयोऽसं-
ख्येयान्ताः । उक्तं च-“एगे व दो व तिभि व, संखमसंखा य
एगसमपणं । उववञ्जते चइया, उव्वट्टता वि एमेवं” ॥ १ ॥
स्था० ३ डा० १ उ० ।

अवत्तववंध-अवक्तव्यवन्ध-पुं० । बन्धभेदे, यत्र तु सर्वथाऽ.
बन्धको नृत्वा पुनः प्रतिपस्य बन्धको भवति स आद्यसमये अव-
क्तव्यवन्धः, अयं पुनरुत्तरप्रकृतीनामेव भवति न मूलप्रकृतीनाम्,
तासां सर्वथाऽवन्धकस्याऽयोगिकेवलिनः सिरुस्य वा प्रतिपाता-
भावेन पुनर्वन्धाज्जावात् । कर्म० ५ कर्म० । पं० सं० ।

अवत्तवा-अवक्तव्या-स्त्री० । अमुत्र स्थिता पल्लीति कौशिक-
भाषावत्, सावद्यत्वेनानुचारणीयार्थां भाषायाम्, दशा० ७ अ० ।

अवत्तसत्यकोटि-अवाप्तस्वास्थ्यकोटि-पुं० । अवाप्ता लब्धा
स्वास्थ्यकोटिरनावाधताप्रकर्षपर्यन्तो यैस्ते तथा । सिकेपु, हा०
३१ अष्ट० ।

अवत्तासण-अवत्रासन-न० । बाहुभ्यां स्त्रिया निष्पीरुने कामा-
ङ्गे, नि० चू० १ उ० ।

अवत्यंतर-अवस्थान्तर-न० । दशाविशेषे, झा० ११ द्वार ।
पर्यायान्तरे, पञ्चा० १८ विव० ।

अवत्यग-अपार्थक्य-न० । पौर्वापर्यायोगादप्रतिसंबन्धार्थे सूत्रदोषे,
यथा-दद्याद्दानिमानि, परुपूपाः, कुरहं वदराणि । आ० म० द्वि० ।
प्रश्न० । विशेषे० । यस्यावयवेवर्थो विद्यते न समुदाये, असंबद्ध-

मित्यर्थः । यथा-शङ्खः कदल्यां, कन्दली मेर्याम् । अथवा-“वंजु-
लपुप्फुम्मीसा, उंवरकमकुसुममालिया सुरभी । वरतुरगस्त
वि रायइ, ओलइया अग्गालिगेसु” ॥ १ ॥ वृ० १ उ० ।

अवत्यव-अवास्तव-त्रि० । वस्तु पदार्थः, तस्येदं वास्तवम् । न
वास्तवमवास्तवम् । परसंयोगोद्भवे, अष्ट० १ अष्ट० ।

अवत्या-अवस्था-स्त्री० । भूमिकायाम्, हा० २६ अष्ट० ।

अवत्यातिग-अवस्थान्त्रिक-न० । दशाविशेषत्रये-छद्मस्थाव-
वस्थाकेवल्यवस्थालिखावस्थास्वभावे जिनानां छद्मस्थकेवल्लि-
सिक्तत्वे, दर्श० ।

अवत्यापरिणाम-अवस्थापरिणाम-पुं० । घटस्य प्रथमद्विती-
ययोः क्षणयोः सदृशयोरन्वयित्वेनेव परिणामे, झा० १५ डा० ।

अवत्याभरण-अवस्थाभरण-न० । अवस्थोचिते आभरणे,
स्था० ८ ग० ।

अवत्यिग-अवस्तुत-त्रि० । प्रसारिते, झा० ८ अ० ।

अवत्यु-अवस्तु-न० । असति, आ० म० द्वि० । अविद्यमानं व-
स्त्वभिधेयोऽर्थो यत्र तदवस्तु । अनर्थके, प्रश्न० २ आश्र० डा० ॥

अवत्योचिय-अवस्थोचित-त्रि० । भूमिकाऽनुरूपे, पञ्चा० १८ विव० ।
अवदग-अवदग्र-न० । पर्यन्ते, सूत्र० २ भु० २ अ० । अवसाने,
सूत्र० २ भु० ५ अ० ॥

अवदल-अपावदल-पुं० । अपदनामपसदं द्रव्यं कारणभूतं सृ-
त्तिकादि यस्याऽसौ अपदलः । अवदलति वा दीर्यते इत्यव-
दलः । आमपकृतया असारे, स्था० ४ डा० ४ डा० ॥

अवदाय-अवदात-पुं० । गौरे, प्रश्न० ४ आश्र० डा० ।

अवदाहिय-अवदारि(द्धि)त-त्रि० । विकाशिते विवृतीकृते, उपा०
२ अ० । “अवदाहियपुंरुरीयवयणा (नयणा) ” अवदारितं रवि-
किरणैर्विकाशितं यत्पुणरुरीकं सितपद्मं तद्वद्वदनं मुखं, नयने
वा येषां ते तथा । जं० २ वक्त० ।

अवदार-अपदार-न० । द्वारिकायासु, झा० २ अ० । “तेण अव-
दारेणं, सो अतिगतो असोगवणियाए” । आ० म० द्वि० ॥

अवदाहण-अपदाहन-न० । तथाविधदग्धने, विपा० १ भु० १ अ० ।

अवधंस-अपध्वंस-पुं० । अपध्वंसनमपध्वंसः । चारित्रस्य तत्क-
स्य चाऽसुरादिभावनाजनिते निवासे, स्था० ।

चञ्चिद्वे अवधंसे पश्चते । तं जहा-आसुरे, आनियोगे,
संमोहे, देवकिंविसे ॥

तत्रासुरजावनाजनित आसारो येषु चानुष्ठानेषु वर्त्तमानोऽसुरत्व-
मर्जयति तैरात्मनो वासनमासुरभावना । एवं भावनान्तरमपि ।
अनियोगभावनाजनितः अजियोगः, संमोहभावनाजनितः
संमोहः, देवकिंविषभावनाजनितो देवकिंविष इति । इह च
कन्दर्पजावनाजनितः कन्दर्पोऽपध्वंसः पञ्चमोऽस्ति, स च सन्नपि
नोकः, चतुःस्थानकानुरोधात् । भावना हि पञ्चाऽऽगमऽजिहिताः ।
आह च-“कंदप्प १ देवाकिंविसे २, अभियोगा ३ आसुरा य ४
संमोहा ५ । एसा च संकिलिछा, पंचविहा भावणा मणिआ”
॥ १ ॥ आसां च मध्ये यो यस्यां भावनायां वर्त्तते, स तद्विष-
येव देवेषु गच्छति, चारित्रलेशप्रभावात् । उक्तं च-“जो संजमो

अथ धर्माचार्याऽवर्णवाद्माह-

जच्चाईहिं अवर्णं, भासइ वटइ न यावि अववाए ।

अहितो विदुपेही, पगासवादी अणुगुल्ले ॥

जात्या, आदिशब्दात् कुलादिभिश्च दोषैरवर्णं भापते । यथा नैते विशुद्धजातिकुलोत्पन्नाः, न वा लोकव्यवहारकुशलाः, नाप्येते औचित्यं विदन्तीत्यादि । नचापि वर्तते उपपाते गुरुणां सेवावृत्तौ, अहितोऽनुचितविधायी । त्रिप्रज्ञी-मत्सरितया गुरोर्दोषस्थाननिरीक्षणशोभः, प्रकाशवादी-सर्वसमकं गुरुदोषभाषी, अननुकूलो-गुरुणामेव प्रत्यानीकः, स्त्रियालकवत् । एष धर्माचार्यावर्णवाद्माह-

अथ सर्वसाधूनामवर्णवाद्माह-

अविसहणाऽतुरियगई, अण्णाणुवत्ती य आवि गुरुणं पि ।

खणमिच्छपीयरोसा, गिहिवच्चलकाऽइसंचइआ ॥

अहो ! अमी साधवोऽविपहणा न कस्यापि परामर्शं सहन्ते, अपि तु स्वपक्षपरपक्षापमाने संजाते सति देशान्तरं गच्छन्ति । (तुरियगई चि) अकारप्रत्येयाद्व्यतिरिक्ततया मायया लोकावर्जनाय मन्वगाभिः । अननुवर्तिनः प्रकृत्यैव निष्ठुराः, गुरुणामपि महतामपि, आस्तां सामान्यलोकस्येत्यपिशब्दार्थः । द्वितीयोऽपिशब्दः संज्ञाधनायाम् । संभाव्यन्त एवंविधा अपि साधव इति । कृष्णमात्रप्रतीतिरोपाः-तदैव कथाः तदैव च तुष्टाः, अनवस्थितचित्ता इत्यर्थः । गृहिवत्सलाः-तैस्तैश्चाद्युच्चैर्नरात्मानं गृहस्थस्य रोचयन्ति । अतिसंचयिनः-सुखदुःखकम्बलादिसंग्रहशोभाः, बोभयहुला इति भावः ॥ अत्र निर्वचनानि-इह साधवः स्वपक्षाद्यपमाने यदेशान्तरं गच्छन्ति तदप्रीतिकपरोपतापादिभिरुक्तया, न पराजनाऽसहिष्णुतया । अतिरिक्ततयाऽपि स्यादवत्रसज्जनु-पीडापरिदाराय, न तु लोकरञ्जनार्थम् । अननुवर्तिनोऽपि संयम-वाधाविधायिन्या अनुवर्तनाया अकरणान्, न प्रकृतिनिष्ठुरत-या । क्षणमात्रप्रतीतिरोपा अपि प्रतनुकपायतया न निर्वचस्थित-चित्ततया । गृहवत्सला अपि कथं नु नामामी धर्मदेशनादिना यथानुरूपोपायेन धर्मं प्रतिपद्येरन्निति बुद्ध्या, न पुनश्चाटुका-रितया । संचयवन्तोऽपि मा भूदुपकरणप्राप्ते संयमाऽऽत्मवि-राधनेतिबुद्ध्या, न तु लोभवद्बलतयेत्युत्तरम् ॥ वृ० १ वृ० ।

(अहंतामवर्णं वदन्, अहंताप्रज्ञस्य धर्मस्यावर्णं वदन्, आचा-र्योपाध्यायानामवर्णं वदन्, चातुर्वर्णस्य सङ्गस्य चाऽवर्णं वदन् उन्मादं प्राप्नुयादिति ' उन्माद ' शब्दे द्वितीयभागे ८६८ पृष्ठे वक्ष्यते) ज्ञान्यवर्णवादेन ज्ञानावरणीयं कर्म वक्ष्यते । कर्म० १ कर्म० ।

अत्र प्रायश्चित्तमाह-

जे भिक्खु धम्मस्स अवर्षं वदइ, अवर्षं वदंतं वा साइ-ज्जइ ॥ ११२ ॥

भूङ् धारणे, धारयतीति धर्मः । य वज्रो अवज्रो याम-अयसो, अक्रांतिरित्यर्थः । वद व्यक्तायां वाचि ।

दुविहो य होइ धम्मो, सुयधम्मो समणधम्मो य ।

सुयधम्मो खलु दुविहो, सुत्ते अत्थे य होति नायव्वा ॥ १३ ॥

दुविहो य चरणधम्मो, अगारमणगारियं चेव ।

दुविहो तस्स अवव्णो, देसे सव्वे य होति नायव्वा ॥ २४ ॥

मूलगुणउत्तरगुणे, देसे सव्वे य चरणधम्मो उ ।

अहं देस एत्थ लहुगा, सुत्ते अत्थम्मि गुरुमादी ॥ १५ ॥

सव्वम्मि तु सुयणाणे, नूया वा ते य जिकखुणो मूलं ।

गणि आयरिए सपदं, उ दाणभावज्जणा चरिमं ॥ १६ ॥

गिहिणं मूलगुणेषु, देसे गुरुगा तु सव्वहिं मूलं ।

उत्तरगुणेषु देसे, लहुगा गुरुगा तु सव्वेसि ॥ १७ ॥

मूलगुणउत्तरगुणे, गुरुगा देसम्मि होति साहूणं ।

सुत्तणिवातो देसे, तं सेवतस्स आणादी ॥ १८ ॥

सामादियमादी उं, सुयधम्मो जाव पुव्वगतं ।

सामादियरोई ए-कारसमा उ जाव अंगा तो ॥ २६ ॥

पंचविहो सज्जाओ सुयधम्मो । सो पुणो दुविहो-सुत्ते, अत्थे य । चरित्तधम्मो दुविहो-अगारधम्मो, अणगारधम्मो य । एकेको दुविहो-मूलउत्तरगुणेषु देसे सव्वे वा सुयधम्मो अवर्षं वदति । एवं चरित्ते दुविहो अवव्णो । सुत्तस्स देसे च-उलहुगा, अत्थस्स देसे चउत्तरगुणाः, सव्वसुयस्स अवव्णे जि-फखुणो मूलं; अभिसेयस्स अवव्णो; गुरुणा चरिमं । एवं दाणपच्छिसं । आवज्जणाए तिपह वि सव्वे सुत्ते अप्पे वा पारं-चियं । गिही मूलगुणेषु जदि देसे अववर्षं वदति तो चउत्तरगुणं, सव्वहिं मूलं, गिही उत्तरगुणेषु जदि देसे अववर्षं वदति तो चउलहुगा । गिहीणं सव्वुत्तरगुणेषु गुरुगा । साहूणं मूलगुणेषु वा जदि देसे अववर्षं वयति तो चउत्तरगुणा । दोसु वि सव्वेसु मूलं । एत्थ अत्थस्स देसे गिहीण य मूलगुणदेसे । साहूण य उत्तरगुणदेसे सुत्तणिवातो भवति । एवं अववर्षवयं सेव-तस्स आणादिया दोसा जवति । पुव्वर्क गतार्थत्वात्कठं, सु-यस्स सामादियादि जाव एकारस अंगा ताव देसो, एवं चेव सह पुव्वगणण सव्वसुयं ॥

कहं पुण वदंतो भासादेंति ?-

जीव विरहिण पेहा, जीवाउल्लसुगदंरता मायं ।

दोसो य परकमेसु, चरणे एमादिया देसे ॥ ३० ॥

काया वया य ते जिय, ते चेव पमायअप्पमाया य ।

जोतिसजोझणिमिच्छे-हिं किं व वेरगपवणाणं ॥ ३१ ॥

(जीवधिरहिण वि) जीवेहिं विरहिते जाव पन्निसेहणा कज्जति, सा निराधिया, जीवाउल्ले वा लोणे चंक्रमणादिकिरियं करंतो कहं निहोसो ?, परिसेमिदियाण य संघट्टणे मासबहु, वाये एवं, अप्पावराहे उगदंरता अज्जुत्ता । जं च वितियपदेण माया यमणं मणियं, तं पि अज्जुत्तं, आहाकम्मादिपसु परकडेसु को दो-सो ? । एवमादि चरणस्स देसे अववर्षो । सर्वं यमनियमात्मकं चा-रित्रं कुशलपरिकल्पितम् । एष सर्वावर्णवाद्माह । इमेरिससुत्ते अववर्षं वदति-(काया वया) अयुत्तं पुणो पुणो कायवयाण ववर्णं, पमा-यापमादाण य, किं वा वेरगपवणाणं जोतिसेण, जोणीपाहुनेण वा, यिमिच्छेण वा सव्वं वा वदेत प्रासाणिवहुं । एवमादिसु यं आसायणा । एवं अववर्षं वदंतो आणादिया य दोसा, सुयदेवयां वा चित्तादिचित्तं करेज्ज; अनेण वा साहुणा सह संखनं भवे-की-उ अववर्षं माससि चि ? । जम्हा एते दोसा तम्हा णो अववर्षं वदे ।

कारणे वदेज्जा वि-

वितियपदमणणज्जे, वएज्ज आवि कोविते व अप्पज्जे ।

जाणंते वा वि पुणो, जयऽवत्तवादिसू चेव ॥ ३२ ॥

अत्र प्रायश्चित्तम्—

एमेव य हीलाए, खिसा फरुसवयणं च वदमाणो ।

गारुथ—वि ओसामिए, इमं च जं तेसि णाणत्तं ॥

एवमेव हीलितवचनं, खिसावचनं, परुपवचनमगारुथवचनं, व्यवशमितोदीरणवचनं च वदतः प्रायश्चित्तं मन्तव्यम् । यच्चैतेषां नानात्वं तदिदं भवति—

आदिद्वेषुं चउसुं, विसोहि गुरुगादि जिभमासंता ।

पणुवीसओ विजाओ, विसेसितो वितिय पणिलोमं ॥

आदिमेषु चतुर्ध्वपि हीलितखिसितपरुपगृहस्थवचनेषु शोधि—
श्चतुर्गुरुकादिका जिभमासान्ता आचार्यादीनां प्राग्बद्धं मन्तव्या ।
तद्यथा—आचार्य आचार्य हीलयति चतुर्गुरु १, उपाध्यायं हीलय-
ति चतुर्बुध २, भिक्षुं हीलयति मासगुरु ३, स्थविरं हीलयति
मासलघु ४, कुलकं हीलयति जिभमासः ५। एतान्याचार्यस्य त-
पःकालाभ्यां गुरुकाणि भवन्ति, एते आचार्यस्य पञ्च संयोगा उ-
क्ताः । उपाध्यायादीनामपि चतुर्णामेवमेव पञ्च पञ्च संयोगा भव-
न्ति । सर्वसङ्ख्यया ते पञ्चविंशतिर्भवन्ति । अत एवाद—पञ्चविंश-
तिकः पञ्चविंशभङ्गपरिमाणो विभागोऽत्र भवति । स च तपः-
कालाभ्यां विशेषितः कर्तव्यः । द्वितीयादेशेन चैतदेव प्रायश्चि-
त्तं प्रतिलोमं विज्ञेयम्, जिभमासाद्यं चतुर्गुरुकान्तमित्यर्थः ।
एवं खिसितपरुपगृहस्थवचनेष्वपि शोधिर्मन्तव्या । ७०६३० ।

अथ द्वितीयपदमाह—

पदमं विगिचण्डा, उवलंजविगिचणा य दोसु जवे ।

अणुसासणा य देसी, छट्टे य विगिचणा जणिता ॥

प्रथममलीकवचनमयोग्यशैक्षस्य विवेचनार्थं वदेत्, द्वयोस्तु
हीक्षितखिसितवचनयोर्यथाक्रममुपाद्वम्भविवेचने कारणे भव-
तः—शिक्षादानम्, अयोग्यशिक्षापरित्यागश्चेत्यर्थः । परुपवचनं
तु परसाध्यस्यानुशासनां कुर्वन्, गृहस्थवचनं पुनर्देशी देशमा-
षामाभित्य भणेत । पष्ठे च व्यवशमितोदीरणवचने, शैक्षस्य
विवेचनं कारणं भणितम् । गाथायां स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् ।
इति द्वारगाथासमासार्थः ।

अथैनां विवरीषुराह—

कारणिए दिक्खंता, तरियम्मि कज्जे जहंति अणलं तु ।

संजमजसरक्खट्टा, होहुं दाऊण य पझाई ॥

कारणे अशिवादावनद्वोऽयोग्यः शैक्षो दीक्षितः, ततस्तस्मिन् स-
मापिते तस्मिन् कार्ये तमनसं जहति । कथम् ? इत्याह—संयमस्य-
शोरकार्यं—संयमस्य, प्रवचनयशःप्रवादस्य च रक्षणार्थं, 'होहुं'
गाढमलीकं दत्त्वा पलायन्ते; शीघ्रमन्यत्र गच्छन्तीत्यर्थः ।

यः पुनराचार्यः समाचार्यो, सारणादिप्रदाने वा सीदति तमु-
द्दिश्येत्थं हीलितवचनं वदेत्—

केण स गणिं चि कतो, अहो! गणी जणति वा गणिं अगणिं ।

एवं तु सीयमाण—स्स कुणति गणिणो उवलंमं ॥

केनासमीक्षितकारिणाऽयं गणीकृतः । यच्चा—अहो ! अयं गणी,
अथवा गणितमप्यणिनं भणति । एवं गणिनः सामाचार्यो शि-
क्षादाने वा विषादने उपालम्भं करोति ।

अगणिं व जणाति गणिं, जदि नाम पठेज्ज गारवेण वि तं ।

एमेव सेसएसु वि, वायगमादीसु जोएज्जा ॥

यदि कोऽपि बहुशोऽपि भण्यमानो न पठति ततस्तमगणिन-

मपि गणिनं भणति, यदि नाम गौरवेणापि पठेत् । एवमेव शेषे-
ष्वपि वाचकादिषु पदेषु द्वितीयपदं योजयेद्-योजनां कुर्यात् ।

खिसावयणविहाणा, जे क्षिय जातीकुझादिया वुत्ता ।

कारणियदिकिखयाणं, ते चैव विगिचणोवाया ॥

खिसावचनविधानानि आन्येव जातिकुझादीनि पूर्वमुक्तानि, त-
एव कारणिकृद्दीक्षितानामयोग्यानां कारणप्रव्रजितानां विवेचने
परिष्ठापने उपाया मन्तव्याः ।

खरसज्जं मज्जयवयं, अगणेमाणं जणंति फरुसं च ।

दव्वओ फरुसवयणं, वयंति देसिं समासज्ज ॥

इह यः कठोरवचनभणनमन्तरेण शिक्षां न प्रतिपद्यते स खर-
साध्य उच्यते । तं खरसाध्यं मृदुवाचमगणयन्तं परुपमपि भण-
न्ति । देशी देशजायां समासाद्य उच्यते : परुपवचनमपि वदन्ति;
उच्यतो नाम न दृष्टभावनया परुपं भणन्ति, किन्तु तत्स्वाभाव्यात्,
यथा—मालवास्वामिभित्ति; अथवा यथा यथा लोको भणति, तथा
तथा देशी देशभाषामाभित्य साधवोऽपि भणन्ति ।

स्वामियदोसवियाई, उप्पाएऊण दव्वतो रुट्ठो ।

कारणदिकिखय अनट्ठं, असंखडीओ ति धारंति ॥

यः कारणे अनलो दीक्षितस्तेन समं समापिते कार्ये पुनः क्षामि-
तव्युत्पृष्टान्यधिकारणान्युत्पाद्य उच्यतो दुष्टभावं विना रुट्ठो कु-
पितो बहिः कृत्रिमान् कोपविकारान् दर्शयन्नित्यर्थः । असंखडि-
कोऽयमिति दोषमुत्पाद्य तमनसं शैक्षं धाटयति-गच्छाक्षिप्कास-
यति । ७०६३० ।

अवयव—अवयव—पुं० । अवयविन एकदेशे, अनु० । अनुमितिवा-
क्यैकदेशेषु, ते च पञ्च—प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनान्यव-
यवाः । दश० १ अ० । सूत्र० । दशावयवा धा—प्रतिज्ञा प्रतिज्ञा-
विशुद्धिः, हेतुहेतुविशुद्धिः, दृष्टान्तो दृष्टान्तविशुद्धिः, उपसंहार
उपसंहारविशुद्धिः, निगमनं निगमनविशुद्धिः । दश० १ अ० ।

से किं तं अवयवेणं ? । अवयवेणं—

सिंगी सिही विसाणी, दादी पक्खी खरी नही वाली ।

उपय चउपय बहुपय, लंगूली केसरी कउही ॥१॥

परिअरवंधणभरु जा—णिज्जा महिलिअं निवसणेणं ।

सित्थेण दोणवायं, कविं च एक्काएँ गाहाए ॥ २ ॥

सेत्तं अवयवेणं ।

(से किं तं अवयवेणमित्यादि) अवयवोऽवयविन एकदेशस्ते-
न नाम यथा—'सिंगी सिहीत्यादि' गाथा । शृङ्गमस्यास्तीति शृङ्गी-
त्यादीन्यवयवप्रधानानि सर्वाण्यपि सुगमानि, नवरं द्विपदं स्या-
दि, चतुष्पदं गवादि, बहुपदं कर्णशृङ्गाख्यादि । अत्रापि पादद्वय-
वयवप्रधानता भावनीया । [कउही चि] ककुदं स्कन्धाऽऽसन्नोन्नत-
देहावयवद्वयप्रधानमस्यास्तीति ककुदी वृषज इति । 'परिअर' गाथा ।
परिकरवन्धने विशिष्टनेपथ्यरचनाद्वयप्रधाने, भटं शूरपुरुषं, जानी-
याल्लक्षणेत्तथा—निवसनेन विशिष्टरचनारचितपरिहितपरिधान-
लक्षणेन महिला स्त्री तां, जानीयादिति सर्वत्र संबध्यते । आन्यानां
कोणस्य पाकः खिन्नतारुण्यं, तं च तन्मध्याद् गृहीत्वा निरीक्षिते-
नैकेन सिक्थेन जानीयात् । एकया च गायया लालित्यादिका-
व्यधर्मोपेतया श्रुतया कविं जानीयात् । पद्यमत्राभिप्रायः—यदा स
नेपथ्यपुरुषाद्यवयवकपरिकरवन्धादिदर्शनद्वारेण भटमहिला-

विषया-सु अप्सस्त्यासु वद्वहं हिं चि । सो तत्त्वहेसु गच्छह,
सुरेसु भद्रो चरुहीणो ॥ १ ॥ इति । स्था० ४ ग० ४ उ० ।
अवधारियन्-अवधारयितव्य-न० । संप्रधारणीये, पञ्चा० ३
विव० ।

अवधीरिय-अवधीरित-त्रि० । अपमानिते, वृ० ४ उ० ।

अवधूय-अवधूत-पुं० । अव-धू-क । अजिज्ञूते, निवर्तिते,
चालिते, अनारते च । “यो विलङ्घ्याऽऽभमान् वर्णान्, आत्मन्येव
स्थितः पुमान् । अतिवर्णाश्रमी योगी, अवधूतः स उच्यते” ॥ १ ॥
इत्युक्त्यक्षणे परमहंस, वाच० । स्वनामस्थाने लौकिके अध्या-
त्मचिन्तके आचार्ये, यदाहावधूताचार्यः-न प्रत्ययानुग्रहमन्त-
रेण तत्त्वशुभ्रपादयः, उक्ते पयाभूतकल्पकानाजनकत्वात् ।
ल० । विक्रिते, आव० ४ अ० ।

अवप्प्रयोग-अवप्रयोग-पुं० । विरुद्धोपधियोगे, वृ० १ उ० ।

अववृष्ट-अववृष्ट-त्रि० । अर्थग्रहणपूर्वकं चिदाऽऽदिग्रहणनि-
मित्तं विवर्धितकालपरायणे, ध० ३ अधि० । ग० ।

अववृद्ध-अववृद्ध-त्रि० । अवगते, अने० २ अधि० ।

अववोह-अववोध-पुं० । निष्कारिहारे, ध० २ अधि० । शानि-
त्वे, विशे० । संज्ञायाम्, स्मृतौ, संज्ञा स्मृतिरववोध इत्यनर्था-
न्तरम् । आचा० १ ध्रु० १ अ० १ उ० ।

अववोहण-अववोधन-न० । प्रतारणे, वञ्चने, शिक्षणे च ।
क्या० ८ अध्या० ।

अववोहि-अववोधि-पुं० । निश्चयार्थप्रतिपत्तौ, आ० चू० १ अ० ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । अपवृत्तयते इत्यपवृत्तः । संस्कृतभाषा-
विकृतौ, “यद्येऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपवृत्तः” तत्परिज्ञान-
मेकोनविंशः कलाभेदः । कल्प० ७ ल० ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । तेजसो ज्ञानस्य च प्रतिभासे, सू० प्र०
३ पाद० ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । प्रकाशिते, विशे० ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । दुष्टभाषिते, व्य० १ उ० ॥

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । परिहरति, “मा परं अववृत्ता,
अप्येणं लुपहा वहु” । सूत्र० १ ध्रु० ३ अ० ४ उ० ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । अपवृत्तते, “अववृत्तं अप्यणो परस्व य
करेति” । प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । अनादरे, उच० १ ए अ० । विनयप्रशो,
प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । हस्तादौ कल्पप्रमाणे, स्था० ४ ग० १ उ० ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । गृहमित्यादिवाच्ये त्वमित्यादिक-
पे अपूजावचने, प्रश्न० ५ सन्ध० द्वार । अनभ्युत्थानादिभिः
अपूजने, औ० । प्रश्न० ॥

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । अपमानं प्राहिते, “अवमा-
यिने नरिदेणे” । व्य० १ उ० । वृ० ॥

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । अपमानितदोहदा-ली० । क्षणमपि ले-
शेनापि च अनापूर्णमनोरथायाम्, न० ११ ग० ११ उ० ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । चित्तविकृतिजे गदे, स च वातपित्त-
स्तेष्वसंनिपातजत्वाच्चतुर्था । तदुक्तम्-“अमाऽऽवेशः ससंर-
म्भो-द्वेषोऽहो हतस्मृतिः । अपस्मार इति द्वेयो, गदो घोरश्च-
तुर्विधः” ॥ १ ॥ आचा० १ ध्रु० ६ अ० १ उ० ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । अपस्मारः संजातोऽस्य । अप-
स्माररोगवति-अपगतसदसद्विवेकममूर्च्छादिकामवस्थामनु-
भवति, आचा० १ ध्रु० ६ अ० १ उ० ॥

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । अग्रिते, वृ० ३ उ० ॥

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । वृत्तादौ, सूत्र० १ ध्रु० ११ अ० । गोक्षीर्षचन्द-
नप्रभृतौ, सूत्र० १ ध्रु० ८ अ० । आ० चू० । पदहीने, वाच० ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । पक्षे, प्रज्ञा० १ पद ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । अनुच्ये, उच० ३ अ० । जघन्ये, सूत्र० १ ध्रु०
१० अ० ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । पृष्ठतोऽभिमुखं निरूपयति, ओघ० ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । अपेक्षमाणे, अवकाङ्क्षति च ।
“मगं क्वाइं अवयव्यमाणस्स” अवकाङ्क्षतोऽपेक्षमाणस्य
वा । भ० १० श० २ उ० ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । पर्यन्ते, स्था० २ ग० १ उ० । “अववृत्तं”
इति देशीवचनोऽन्तवाचकः । भ० १ श० १ उ० ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । “दशो निभञ्ज० ८ । ४ । १८१ । इत्यादिना
दशैवयज्जादेशः । अवयज्ज-पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० । नञः कृत्सार्थत्वात् कुत्सिते वचने,
स्था० ६ ग० ।

अववृत्त-अववृत्त-पुं० ।

नो कल्पइ निर्गम्याण वा निर्गम्याण वा इमाइं उ अववृत्ता-
इं वद्वहं । तं जहा-अलियवयणे, हीलियवयणे, खिसिय-
वयणे, फरुसवयणे, गारत्थियवयणे, विजवसमियं वा पुणो
उदीरित्थं ॥

[नो कल्पइ चि] वचनव्यत्ययाद् नो कल्पन्ते निर्ग्रन्थानां नि-
ग्रन्थानां वा इमानि प्रत्यक्षासन्नानि, पङ्क्ति पदसंख्याकानि,
अववृत्तानि-नञः कृत्सार्थत्वादप्रशस्तानि वचनानि, वदितुं आ-
यितुम् । तद्यथा-अलीकवचनं, हीलितवचनं, खिसितवचनं, प-
रुषवचनम्, अगारस्थिता गृहिणस्तेषां वचनं, व्यवशमितं वा
उपशमितकरणं, पुनः भूयोऽपि, उदीरयितुं न कल्पत इति क्रमः ।
अनेन व्यवशमितस्य पुनरुदीरणवचनं नाम पद्यमवचनमुक्तमिति
सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अथ भाष्यकारो विस्तरार्थमभिधित्सुराह—

उच्चैव अववृत्ता, अक्षिगे हीलीय-खिस-फरुसे य ।

गारत्थ-विओसमिण, तेसिं च परुवणा इणमो ॥

परुषवचनान्यवकल्प्यानि साधूनां वक्तृमयोभ्यानि । तद्यथा-अ-
लीकवचनं, हीलितवचनं खिसितवचनं, परुषवचनं, गृहस्थव-
चनं, व्यवशमितोदीरणवचनम्, तेषां च पञ्चामपि यथाक्रममि-
यं प्रकृपणा ॥ ध्रु० ६ उ० । (अलीकवचनव्याख्याऽस्मिन्नेव भागे
'अलियवयण' शब्दे ७७४ पृष्ठे निरूपिता)

पाककविशब्दप्रयोगं करोति तदा भटादीन्यपि नामान्यवयवप्रधानतया प्रवृत्तत्वादवयवनामान्युच्यन्त इति इह तदुपन्यास इति । इदं चावयवप्रधानतया प्रवृत्तत्वात्सामान्यरूपतया प्रवृत्ता-
कौणानाम्ना निघत इति ॥ अत्रु० ॥

अवयवि (ण)-अवयविन्-त्रि० । प्रदेशिद्रव्ये, स्था० । रत्ना० ।

नव्यवयविद्रव्यमेव नास्ति, विकल्पद्वयेन तस्याऽयुज्यमानत्वा-
त्, चरविषाणवत् । तथाहि-अवयविद्रव्यमवयवेच्यो भिन्न-
म्, भिन्नं वा स्यात् ? । न तावदभिन्नम् । अनेदे हि अवय-
विद्रव्यवदवयवानामेकत्वं स्यात्, अवयववद्वाऽवयविद्रव्य-
स्याप्यनेकत्वं स्यात्, अन्यथा नेद एव स्यात्, विकल्परमार्-
ग्यासस्य भेदनिवन्धनत्वादिति । भिन्नं चेत् तत् तेभ्यः, तदा
किमवयविद्रव्यं प्रत्येकमवयवेषु सर्वात्मना समवैति, देशतो
वेति ? । यदि सर्वात्मना तदाऽवयवसंयमवयवविद्रव्यं स्यात्,
कथमेकत्वं तस्य ? । अथ देशैः समवैति, ततो यैर्देशैरवयवेषु
तच्छतं तेऽपि देशेषु तत्कथं प्रवर्तते-देशतः, सर्वतो वा ? ।
सर्वतश्चेत्, तदेव दूषणम् । देशतश्चेत्तेऽपि देशेषु कथम्?, इत्या-
दिरनवस्था स्यादिति । अत्रोच्यते-यदुक्तं विकल्पद्वयेन तस्या-
युज्यमानत्वादिति । तदयुक्तम् । एकान्तेन भेदाभेदयोरनभ्यु-
पगमात् । अवयवा एव हि तथाविधैकपरिणामतया अवयविद्र-
व्यतया व्यपदिश्यन्ते; त एव च तथाविधविचित्रपरिणामापेक्ष-
या अवयवा इति । अवयविद्रव्याभावे तु पते घटावयवा पते
च घटावयवा इत्येवमसद्वृत्तावयवव्यवस्था न स्यात् । तथा च
प्रतिनियतकार्यार्थिनां प्रतिनियतवस्तुपादानं न स्यात्, तथा
च सर्वमसमञ्जसमापनीयते । सन्निवेशविशेषादघटावयव-
वानां प्रतिनियतता भविष्यतीति चेत् ? । सत्यम्, केवले स
एव सन्निवेशविशेषोऽवयविद्रव्यमिति । यच्चोच्यते-विकल्-
परमार्ग्यासं नेदनिवन्धनमिति । तदपि न सूक्ष्मम् । प्रत्यक्संवे-
दनस्य परमार्थपेक्षया भ्रान्तत्वेन संयमद्वारापेक्षया त्वभ्रा-
न्तत्वेनाज्युपगमादिति । यदि नाम भ्रान्तत्वमभ्रान्तत्वं कथ-
मिति ? , एवमत्रापि वक्तुं शक्यत्वादिति । किञ्च-विद्यते अव-
यविद्रव्यम्, अवयविचारितया तथैव प्रतिभासमानत्वात्, अव-
यववन्नीलवद्वा । नचायमसिद्धो हेतुः, तथाप्रतिभासस्यानुसूय-
मानत्वात् । नाप्यनैकान्तिकत्वविरुद्धत्वे, सर्ववस्तुव्यवस्थायाः
प्रतिभासाधीनत्वात् । अन्यथा न किञ्चनापि वस्तु सिद्धेदि-
ति । स्था० १ डा० १ उ० । रत्ना० । आचा० । सम्म० ।

अवयासण-अवयासन-न० । वृक्षादीनां प्रभावेन चालने, पं०
व० ४ द्वार ।

श्लेषण-न० । वृक्षादीनामालिङ्गपाने, वृ० १ उ० ।

अवयासाविय-आश्लेषित-त्रि० । आलिङ्गिते, विपा० १ भु० ४ अ० ।

अवयासेक्षण-अवकाश्य-अव्य० । प्रकाश्य प्रकटीकृत्येत्यर्थः, तं० ।

अवर-अपर-त्रि० । अन्यस्मिन्, सूत्र० २ भु० २ अ० । प्रअ० नि०

सू० । सू० प्र० । ज्ञा० । “अवरं वोच्छं” अपरमिति उक्तादन्यद् व-
क्ष्यामि । सूत्र० १ भु० ३ अ० २ उ० । द्वितीयस्मिन्, चं० प्र० ३
पाठु० । पश्चात्कालभाविनि, आक्षा० १ भु० ३ अ० ३ उ० ।
आ० म० । पश्चिमे, “अवरेण पत्रासं तादे सिधुदेवि ओवेर” ।
आ० म० प्र० । न परोऽपरः । स्वस्मिन्, वृ० ३ उ० ।

अवरकंका-अपरकंका-स्त्री० । घातकीक्षपडभरतक्षेत्रराजघा-
त्याम्, ज्ञा० १ अ० । (तत्र ह्युताया द्रौपद्या आनयनाय कृष्णस्य
३००

गमनं ‘दुर्वर्ग’ शब्दे वक्ष्यते) एतदर्थप्रतिपादके ज्ञाताधर्मकथा-
याः योक्तृऽध्ययने, स० १८ सम० । प्रअ० । ज्ञा० । आव० ।
स्था० । “कणहस्तऽवरकंका” कृष्णस्य नवमवासुदेवस्य द्रौ-
पदीनिमित्तमपरकंकागमनमाश्रयम् । कल्प० २ स० ॥

अवरच्छ-अपरोक्ष-न० । अविद्यमानानि परेषामक्षीणि द्रष्ट-
व्यतया यत्र तदपरोक्षम् । असमक्षे, त्रिशत्तमे गौणचौथे च ।
प्रअ० ३ आध० द्वार ।

अवरज्झत-अपराध्यत-त्रि० । दोषमाचहति, सूत्र० १ भु० ३
अ० ३ उ० । रजसा त्रिज्यमाणे, सूत्र० १ भु० १ अ० ३ उ० ।
नश्यति, उक्त० ७ अ० ।

अवरणह-अपराह-पुं० । दिनस्य चरमप्रहरे, स्था० ४ डा०
२ उ० । “पुष्पावरणहकालसमयं” । पाश्चात्यापराहका-
लसमयो दिनस्य चतुर्थप्रहरलक्षणः । नि० ३ वर्ग० ॥

अवरणहकाल-अपराहकाल-पुं० । सूर्यस्य गतिपरिणतस्य
पश्चिमेन गमने, आ० चू० १ अ० ।

अवरत्त-अपररात्र-पुं० । रात्रेरपरे प्रागे, स्था० ४ डा० २ उ० ।
“पुष्पापरत्तकाञ्जसमयं” । विपा० १ भु० ६ अ० ।

अवरदारिय-अपरदारिक-न० । पश्चिमद्वारिकेषु नक्षत्रेषु,
स० ७ सम० । “पुस्तसाइया यं सत्त यफसत्ता अवरदारिया पञ्चत्ता ।
तं जहा-पुस्तो, असिसेसा, मघा, पुष्पाफगुणी, चत्तराफगु-
णी, हन्था, चित्ता” । स्था० ४ डा० ४ उ० ।

अवरदाहिण-अपरदाहिण-पुं० । अपरदाहिणदिग्भागे, पश्चा०
२ विव० ।

अवरदाहिणा-अपरदाहिणा-स्त्री० । नैर्ऋत्यां दिशि, व्य० ७ उ० ।

अवरद्ध-अपराद्ध-न० । अपराधनमपराद्धम् । पीडाजनकता-
याम्, पि० । विनाशितं, त्रि० । ज्ञा० १ अ० ।

अवरद्धिय-अपराद्धिक-पुं० । अपराधनमपराद्धम्-पीडाजनकताः
तदस्यास्तीति अपराद्धिकः । लुतास्फोटे, सर्पादिदेशे च । पि० ।
अवरफाण-अपरफाणी-स्त्री० । पार्ष्णिकायाम्, व्य० ८ उ० ।

अवरममवेहित-अपरममवेधित्व-न० । परममानुद्वहदनस्वरु-
पत्वे विंशतितमे सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० ।

अवरराय-अपररात्र-पुं० । रात्रेः पाश्चात्ये यामद्वये, आचा० १
भु० ५ अ० ३ उ० ।

अवरविदेह-अपरविदेह-पुं० । अपरस्यासौ विदेहश्च । स्था० २
डा० ३ उ० । जम्बूद्वीपे पश्चिमतो महाविदेहजागे, स्था० १०
डा० । तत्र सदा दुष्यमसुषमोत्तमर्द्धिः । स्था० २ डा० ३ उ० ।
जं० । “दो अवरविदेहर्द्धि” स्था० २ डा० ३ उ० ।

अवरविदेहक-अपरविदेहक-न० । निषधस्य वर्षधरपर्वतस्य
नीलवर्षधरपर्वतस्य च स्वनामस्याते कूटे, जं० ४ वक्ता० स्था० ॥

अवरसामख-अपरसामान्य-न० । द्रव्यत्वादौ-सामान्यन्या-
प्यसामान्ये, स्था० ।

अवरहा-अपरथा-अव्य० । अन्यथाऽर्थे, पश्चा० ७ विव० ॥

अवराइया-अपराजिता-स्त्री० । महावत्सविजयक्षेत्रस्य रा-

आ० म० । अवलम्ब्यते इत्यवलम्बनम् । चेदिकायाम्, मस्त-
कावलम्ब्ये च । नि० चू० ।

अवलंबणं तु दुविहं, जूमीए संकमे य णायव्वं ।

दुहतो व एगतो वा, विवेदिया सा तु णायव्वं ॥

अवलंबणं दुविहं-भूमिप वा, संकमे वा जयति । भूमिप विस-
मे लग्गणमिच्चं कज्जति । संकमे वि लग्गणमिच्चं कज्जति । सो
पुण दुहओ एगयो य भवति । सा पुण (वेदयत्ति) मतावलंब्यो,
नि० चू० १ उ० । भावे ल्युट्, करेण बाह्यादि गृहीत्वा धारणे,
“सर्व्वमियं तु गह्वरं, करेण अवलंबयन्तं तु देसम्मि” ति । स्था० ५
ठा० २ उ० । (पर्वतादौ पतन्त्या निर्धन्या अवलम्बनं ‘गह-
व’ शब्दे वक्ष्यते)

अवलंबणया-अवलम्बनता-स्त्री० । अवलम्बनस्य भावोऽवल-
म्बनता, अवग्रहे, न० ।

अवलंबणवाहा-अवलम्बनवाहा-स्त्री० । उभयोः पाभ्योरव-
लम्बमानानामभयभूतायां भिक्षा, आ० म० प्र० । जं० जी० ॥

अवलंबित्वाण-अवलम्ब्य-अव्य० । आभित्येत्यर्थे, पं० व० २
द्वार । ग० । विपर्योक्त्येत्यर्थे, आव० ५ अ० ।

अवलंबित्तए-अवलम्बित्तुम्-अव्य० । आकर्षयितुमित्यर्थे, दशा०
७ अ० ।

अवलंबिय-अवलम्बित-त्रि० । अविच्छिन्ने, ज्ञा० १ अ० ।

अवलम्ब्य-अव्य० । लगित्वेत्यर्थे, “गो गाहायतिकुलस्त दुवा-
रसादं भवदंबिय अवलंबिय चिट्ठेजा” । आचा० २ भू० १ अ० ६ उ० ।

अवलम्ब-अपलम्ब-त्रि० । न्यकारपूर्वतया लब्धे, स्था० ए
ठा० । “परस्परपक्षेसे लब्धावलम्बका” । अन्त० ५ वर्ग ।

अवलाव-अपलाप-पुं० । निह्वये, नि० चू० । यथा कस्य
सकाशेऽधीतम् ? इति प्रश्ने अन्यसकाशेऽधीतमन्यसौ कथ-
यति । नि० चू० १ उ० । आव० ।

अवलम्बि-अवलम्ब्य-पुं० । देशविशेषे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

अवलम्बिणीया-अवलम्बनिका-स्त्री० । अवलम्ब्यमानस्य वंश-
शलाकादेर्वा प्रतन्व्यां त्वच्चि, स्था० ४ ठा० २ उ० । वर्णावास-
कर्मस्फोटनिकायां पादलेखनिकायाम्, नि० चू० १ उ० ।

अवलम्बिणीया-अवलम्बिका-स्त्री० । तदुद्वक्तचूर्णकसिद्धे जुषे,
सिद्धे श्लेषविशेषे, प्रव० ४ द्वार ।

अवलम्बिणी-अवलोकन-न० । दर्शने, रक्षाधिकादौ मृते क-
पणमस्वाध्यायश्च कार्यः । ततोऽन्यदिने परिज्ञानावावलोक-
नं कार्यम् । आव० ४ अ० ।

अवलम्बिणीसिद्धरसिद्धा-अवलोकनसिद्धरशिला-स्त्री० । उ-
ज्जयन्तपर्वतशिलाविशेषे, उज्जयन्ते-“अवलम्बिणीसिद्धरसिद्धा, अ-
वरेण तत्थ वररसो सबड् । सुअपक्खसरिसवणो, करेइ सुखंवरं
हेमं” ॥ २७ ॥ ती० ४ कल्प ।

अवलम्बिणी-अवलम्बिणी-पुं० । वस्तुसङ्गावप्रच्छादने त्रिशत्तमे गौ-
णाद्वीके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

अवलम्ब्य-अवलम्बक-न० । नौकाक्षेपणोपकरणभेदे, आचा० ३
भू० ३ अ० १ उ० ।

अवव-अवव-न० । सङ्ख्याविशेषे, चतुरशीतिरववाङ्गशतसह-
स्राणि एकमववम् । जी० ३ प्रति० । म० । कर्म० । जं० ।
अनु० । स्था० ।

अववङ्ग-अववाङ्ग-न० । संख्याविशेषे, चतुरशीतिरववङ्गशतसह-
स्राणि एकमववाङ्गम् । जी० ३ प्रति० । कर्म० । अनु० । स्था० ।

अववङ्गा-अववाङ्गा-स्त्री० । तापिकायाम्, म० ११ था० ११ उ० ।

अववङ्ग-अववङ्ग-पुं० । मोक्षे, आ० म० द्वि० ।

अववट्टण-अपवर्त्तन-न० । कर्मपरमाणुना दीर्घस्थितिकालता-
मपगमय ह्रस्वस्थितिकालतया व्यवस्थापने, पं० सं० ५ द्वार ।

अववट्टणा-अपवर्त्तना-स्त्री० । अपवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते स्थि-
त्यादि यया साऽपवर्तना । स्थित्यनुज्ञागयोर्ह्रस्वीकरणे, क० प्र० ।

तत्र तावत् स्थितिचिपयाऽपवर्तनामाह-

ओवट्ठतो य ठिडं, उदयावलिवाहिरा ठिड्विसेसा ।

निकखवड् से तिजागे, समयाहिणं सेसमवड् य ॥ २१ ॥

वड्ड ततो अतित्या-वणा य जावाडिगा हवड् पुवा ।

तन्निकखेवो समया-हिगाडिगुणकम्मठिडणा ॥ २१ ॥

स्थितिमपवर्तयन् उदयावलिवाह्यान् स्थितिचिपेयान् स्थि-
तिजेदान् अपवर्तयति । के ते स्थितिचिपेयाः ? इति चेत् । उ-
च्यते-उदयावलिवाह्या उपरि समयमात्रा स्थितिः द्विसमयमात्रा
स्थितिः, एवं तावद्वाच्यं यावद् बन्धावलिवाह्याऽवलिवाही-
ना सर्वा कर्मस्थितिः । एते स्थितिचिपेयाः । उदयावलिवाह्या-
ता च स्थितिः सकलकरणयोग्येति कृत्वा तां नापवर्तयति । तत्र
उक्तम्-उदयावलिवाह्याह्यानि । कुत्र निक्षेपतीति चेत् ? उ-
च्यते । अत आह-निक्षेपति-भावलिवाह्याभिभागे नृतीये जागे
समयाधिके शेष समयं न मुञ्चन्त्युपरितनं त्रिभागद्वयमतिक्रम्य ।
इयमत्र भावना-उदयावलिवाह्या उपरितनी या स्थितिस्तस्या
द्विधिमपवर्तयन् उदयावलिवाह्या उपरितनौ द्वौ त्रिभागौ
समयोनोपतिक्रम्याधस्तने समयधिके नृतीये जागे निक्षेपति;
एव जघन्यो निक्षेपो, जघन्या चातिस्थापना । यदा उदयाव-
लिवाह्या उपरितनौ द्वौ त्रिभागौ द्वितीया स्थितिरपवर्तयते
तदा अतिस्थापना प्रागुक्तप्रमाणा द्विसमयाधिका भवति । नि-
क्षेपस्तु तावन्मात्र एव । एवमतिस्थापना प्रतिसमयं तावद्द्वि-
मुपनेतव्या यावदावलिवाह्या परिपूर्णा भवति । ततः परमतिस्था-
पना सर्वत्रापि तावन्मात्रैव भवति; निक्षेपस्तु वर्तते । स च ता-
वद् यावद् बन्धावलिवाह्याऽतिस्थापनाऽवलिवाह्याहिता सर्वाऽपि
कर्मस्थितिः । उक्तं च-“समयादि अस्थित्यवणा, बन्धावलिवाह्या य
मोत्तु निक्षेवो । कम्मठिडं वंधोदय-आवलिवाह्यामुत्तु ओवट्ठे” ॥ ११ ॥
कर्मस्थितिवन्धावलिवाह्यामुदयावलिवाह्या च मुक्त्वा शेषां सर्वाऽपि
अपवर्तयति इत्यर्थः । तदेवमुदयावलिवाह्या उपरितनं समय-
मात्रं स्थितिस्थानं प्रतीत्य वर्त्तमानायामपवर्तनायां समया-
धिके आवलिवाह्याः त्रिभागो निक्षेपः प्राप्यते । स च सर्वजघ-
न्यः । सर्वोपरितनं च स्थितिस्थानं प्रतीत्य प्रवर्त्तमानायामपव-
र्त्तनायां यथोक्तरूप उत्कृष्टो निक्षेपः । उक्तं च-“उदयावलि उप-
रित्थं, ठाणं अहिक्खि होइ अहीणो । निक्षेवो सम्बोपरि, ठि-
डणावसा मवे परमो” ॥ १ ॥ एष निर्व्याघाते अपवर्तनाऽभि-
कारविधिरुक्तः ।

“बालगां अवहाय० अवहने विसुके भवइ” । निःशेषबालाग्रले-
पापहारात् । भ० ६ श० ७ उ० । नि० चू० । आव० । देशान्तरं
नीत, प्रव० १ द्वार ।

अवहरिय-अपहस्तित-त्रि० । निराकृते. न० ॥

अवहृसंजम-अपहृत्यसंयम-पुं० । अयधिनोच्चारादीनां परि-
ष्ठापनतः क्रियमाणे, स० १७ सम० ।

अवहृन्-अवहृन्न-न० । उदूखले, वृ० १ उ० ।

अवहृमाण-अघ्नत्-त्रि० । न घ्नन् अघ्नन् । आरम्भाऽकरणेन पी-
रामकुर्वति, “ एसंते अवहृमाणा उ ” । दश० १ अ० ॥

अवहृ-गम्-धा० । “गमेरईअइच्छा०” ८ । ४ । १६२ । इत्यादिना
गमेरवहरादेशः । अवहरइ-गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

नक्ष-धा०-दिवा० । अदर्शने, “नशेणिरिणास-णिवहावसेह-प-
डिसा-वसेहावहराः” । ८ । ४ । १७८ । इति नक्षेवहरादेशः ।
अवहरइ-नश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अप-हृ-धा० । चोरणे, स्था० ५ ग्रा० १ उ० । स्त्रीकरणे, सूत्र०
१ शु० १ अ० । प्रश्न० । उपा० । भूते तु-‘ अवहरिस्सु ’ अपहृ-
तवाद् । स्था० १० ठा० ।

अवहृय-अपहृय-अव्य० । त्यक्तव्यर्थे, भ० १५ श० १
उ० । सूत्र० ॥

अवहार-अपहार-पुं० । अपहरणमपहारः । आ० भ० द्वि० ॥
गर्जादेर्वहिष्करणे, नि० चू० ।

वमणविरोगादीहिं, अब्जंतरपोगलाण अवहारो ।

तेल्लुव्वट्टणजलपु—प्फुचुण्णमादिहिं वज्झाणं ॥

अब्जंतराणां वृत्तियमंसिपित्तवहिरादियाण वमणविरोगादी-
हिं अवहारो बाहिरो सरीरातो पूयसोणियसिञ्चणगलाग्रवम-
मश्नादि तेल्लुव्वट्टणादिहिं वज्झं अवहरति । नि० चू० ७ उ० ।
चौर्ये, वृत्त० ४ अ० । प्रश्न० । ज्ञञ्चरविशेषे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

अवहारवं-अवधारवत्-पुं० । अवधारणावति, स्था० १० ठा० ।

अवहि-अवधि-पुं० । अवशब्दाऽधःशब्दार्थः । अव अघो वि-
स्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः । यद्वा-अवधिर्म-
यादा रूपिष्वेव वस्तुषु रूप्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपतया,
तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः । प्रत्यक्षज्ञानभेदे, प्रज्ञा० २८ पद ।
(‘ ओहि ’ शब्दे तृतीयभागे १४० पृष्ठे व्याख्यास्यते)

अवहेरु-मुच्-धा० । मोचने, “ मुचेइछुवावहेड-मेहोस्सिक्क-रे
अद-णिलुञ्ज-धंसाडाः” । ८ । ४ । ६१ । इति मुञ्चतेरवहेडादे-
शः । ‘ अवहेडइ ’-मुञ्चति । प्रा० ४ पाद ।

अवहेरिय-अवाधःकृत-अवकोटित-त्रि० । प्राकृतत्वात्तथा-
रूपम् । अधस्तादामोडिते, ‘ अवहेरियपट्टिसउत्तमंगे ’ । उक्त०
१२ अ० ।

अवहोर्लै-अवदोशयत्-त्रि० । दोषायमाने, ज्ञा० ८ अ० ।

अवाइअसंगया-अवाद्यसङ्गता-स्त्री० । जज्ञादिनाऽप्रतिरुद्धता-
याम्, द्वा० ।

“ समानस्य जयाद्धामो-दानस्यावाद्यसङ्गता ” । उदानस्य

कृत्वाटिकादेशाद्वाशिरोवृत्तजयादितरेषां वायूनां निरोधार्ह-
ध्वंगतित्वसिद्धेरवादिना जज्ञादिनाऽसंगताऽप्रतिरुद्धता । जि-
तोदानो हि योगी जले महानद्यादौ महति वा कर्मे तीक्ष्णेषु
वा कण्टकेषु न सजति, किन्तु लघुत्वाच्चलपिण्डवज्जलादाय-
निमज्जन्तुपरि तेन गच्छतीत्यर्थः । तदुक्तं-“ उदानजयाज्जलप-
ङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ” । द्वा० २६ द्वा० ।

अवाइण-अवातीन-त्रि० । वातीनानि वातोपहतानि; न वाती-
नानि अवातीनानि । वातेनापतितेषु, रा० । जी० । ज्ञा० ।

अवाजुह-अप्रावृत्त-त्रि० । प्रावरणरहिते, दश० ३ अ० । प्राच-
रणाभावे, न० । ज० २ श० १ उ० ।

अवागिह-अवाग्मिन्-त्रि० । अवाचास्त्रे, व्य० ७ उ० ।

अवामणिज्ज-अवामनीय-न० । संसर्गजं गुणं दोषं वा संसर्गा-
न्तरेणाऽवमतिं ह्वये, स्था० १० ठा० ।

अवाय-अपा(वा)य-पुं० । अप-इ-अच् । रागप्रदिजनितेषु प्राणिना-
मैहिकामुष्मिकेष्वनर्थेषु, स्था० १ ग्रा० १ उ० । अपायोऽनर्थः; स यत्र
द्रव्यादिषु अभिधीयते, यथा-पतेषु द्रव्यादिविशेषेषु अस्त्यपायः,
विवक्षितद्रव्यादिविशेषेष्वपि, हेयता चास्त्य यत्राभिधीयते तदा-
हरणमपाय इति । उदाहरणभेदे, स्था० ४ ग्रा० ३ उ० । विना-
शे, ध० १ अधि० । विच्छेदे, न० । तत्रापयश्चतुःप्रकारः । तद्य-
था-द्रव्यापायः, क्लेशपायः, कालापायः, भावापायश्चेति ।
तत्र द्रव्यापायो द्रव्यापायः । अपायोऽनिष्टप्राप्तिः । द्रव्य-
मेव वाऽपायो द्रव्यापायः, अपायहेतुत्वादित्यर्थः । एवं क्लेश-
विशेषि भावनीयम् ।

साम्प्रतं द्रव्यपायप्रतिपादनायाऽऽह—

दन्वावाप दोन्ने उ, वाणियगा जायरो धणनिमिच्चं ।

वहपरिणएकमेकं, दहम्मि मच्छेण निव्वेओ ॥ ५१ ॥

द्रव्यापाये उदाहरणम्-द्वौ तु (तुशब्दादन्यानि च) वाणिजौ त्रा-
तरौ धननिमित्तं धनार्थं, वधपरिणेतौ एकैकमन्योन्यं हृदे मत्स्ये-
न निर्वेद इति गाथाऽङ्गरार्थः । ज्ञावार्थस्तु कथानकाद्वसेयः ।
तच्छेदम्-“ एगम्मि संनिव्वेसे दो भायरो दह्दिह्प्याया; तेहिं सोरठं
गंतूण साहस्सिओ णउलओ रुवगाणं विट्ठविओ । ते अ सयं
गामे संपत्थिया, इंता तं णउल्लयं वारएण वहंति । जया एगस्स
हत्थे तदा इयरो चित्तेइ-‘ मारेमि णवरमेण रुवगा ममं होतु ’ ।
एवं वीओ चित्तेइ-‘ जहाऽहं एअं मारेमि ’ । ते परोप्परं वहप-
रिण्या अज्जवस्संति । तओ जाहे सम्भामसमीधं पत्ता, तत्थ नई-
तडे जिठेअरस्स पुणरावत्ती जाया । ‘ धिरत्थु ममं, जेण मएद-
वस्स कए भाउदिप्पासो चित्तिओ ’ । पक्खो य इयरेण पुच्छिओ ।
कहिए जणइ-ममं पि एकारिस्सं चिच्चं होतं । ताहे एयस्स दोसे-
णुं अस्सेहिं एयं चित्तिं ति काउं तेहिं सो नउल्लओ दहे वूढो ।
तेय धरं गया । सो अ णउल्लओ तत्थ परंतो मच्छएण गिलिओ ।
सो अ मच्छो मेएण मारिओ, वीहीए ओयारिओ । तेसिं च
भाउगाणं भगिणी मायाए वीहिं पठाविया, जहा-मच्छे आणेइ ।
जं ज्ञाउगाणं सिज्जं ति । ताए अ समावसीए सो चेव मच्छओ
आणीओ । चेणीए फालिंतीए णउल्लओ दिट्ठो । चेडीए चित्तिं-
एस णउल्लओ मम चेव भविस्सइ चिच्छेणे कओ । ठविज्जतो
यथेरीए दिट्ठो, णओ अ । तीए भणियं-किमेयं तुमे उच्छंगे कयं ?
साअवे लोहं गया ण साहइ । ताओ दो वि परोप्परं पहरंतो । सा

अवशाल-अवसर-पुं० । मागध्याम "रसोर्लशौ" ॥ ८॥ १८७॥
इत्यनेन रूपनिष्पत्तिः । प्रस्तावे, "अं अवशालोपसप्पण्या ला-
आणो" । प्रा० ४ पाद २०३ सूत्र ।

अवस-अवश-पुं० । कर्मपरवशे, उक्त० ६ अ० । परवशे, सूत्र० १
श्रु० ३ अ० १ उ० । उक्त० । प्रश्न० ।

अवश्यम्-अव्य० । "अवश्यमो डै-नौ" । ८ । ४ । ४२७ । इत्य-
पञ्चशे स्वार्ये ऋः निश्चये, अश्वपनिशारेण च । "अवस न सु-
अहि सुअच्छिअहि" । प्रा० ४ पाद ।

अवसज्ज-अपशकुन-न० । अश्वजसूचके निमित्तभेदे, वृ० ।

तानि च—

मलिणकुचले अतं-गियश्च ए मार सुज्जवभं य ।

ए ए तु अपसत्था, इयंति खित्ताउ णितस्स ॥

मञ्चिनः शरीरेण यत्किंवा मलीमसः, कुचलो जीर्णादिवस्त्रपरि-
धानः, अपसत्ताः स्नेहाभ्युपगमः, अथा वामपाश्वेदक्षिणपा-
श्वेयामो, कुञ्जो वरुणरीरः । वरुभो वामनः । एते मलिनाद-
योऽप्रशस्ता नवन्ति तेषामभिगच्छतः ॥

तथा—

रत्तपरुचरगनावस-रोगियविगज्ञा य आउए विज्जा ।

कासायवत्तउड्-झिया य जत्तं न माहंति ॥

रूढपदाः सौगताः, चरकाः काणादाः, घाटीवाहका वा; तापसा
सरजस्काः; रोगिणः कुप्रादिर्गामकान्ताः, बिकलाः पाणिपादाद्य-
वयवव्यङ्गिनाः, आतुरा विधिभद्रः स्वेपद्रुताः, वैष्याः प्रसिकाः,
कापायवस्त्राः कपायवस्त्रपरिधानाः, उद्धूलिता नस्मोद्धूत-
गन्ताः धूलिधूसरा वा । एते केषामभिगच्छन्ति रक्षाः सन्तो यात्रा
गमने, तत्पश्चात्तं कार्यमप्युपचारात् यात्रा, तां न साधयन्ति ।
उक्ता अपशकुनाः । वृ० १ उ० ।

अवसकण-अवप्पकण-न० । साध्वर्थायावसर्पणे, पञ्जा० १३
विष० । आचा० । पञ्चाद्रमने, प्रव० २ द्वार ।

अवसकि (ण्)-अवप्पकिन्-त्रि० । अवसर्पणशीले, सूत्र० २
श्रु० ६ अ० २ उ० । दूरगमनशीले, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ॥

अवसज्ज-गम्-धा० । "गमेरड्-अश्छाणुवज्जावसज्जसोक्कु०
। ८ । ४ । १६२ । इत्यादिना गमेरवसज्जाऽऽदेशः । अवसज्ज-
गच्छति । प्रा० ४ पाद ॥

अवसप्पि [ण्] अवसर्पिन्-त्रि० । परिहारिणि, सूत्र० १ श्रु० २
अ० २ उ० ॥

अवसय-अपसद-त्रि० । तुच्छे, स्था० ४ ग्रा० ४ उ० ॥

अवसर-अवसर-पुं० । प्रस्तावे, विज्ञागे च । दश० १ अ० ।
"अहुणाऽवसरो णिसीहचूलाए" । नि० चू० १ उ० ।

अवसरण-अवसरण-न० । समवसरणे, प्रव० ६२ द्वार । म० ।

अवसवस-अपस्ववश-त्रि० । अपगतात्मतन्त्रत्वे, ग्रा० १६ अ० ।

अवसह-अवसथ-पुं० । युद्धे, उक्त० ३२ अ० ॥

अवसावण-अवश्रावण-न० । काञ्जिके, "अवसावणं लाहणं
कंजिअं भणइ" चि । इह लाट्देशेऽवश्रावणकं काञ्जिकं भ-
णयते । वृ० १ उ० ।

अवमिच्छत-अपसिद्धान्त-पुं० । सिद्धान्तादपकान्ते, "संसार-
कारणाद् घोरा-दपसिद्धान्तदेशनात्" । स्था० १० ग्रा० ॥

अवसे-अवश्यम्-अव्य० । "अवश्यमो डै-नौ" । ८ । ४ । ४२७ ।
इत्यपञ्चशेऽवश्यमः स्वार्ये ऋः प्रत्ययः । "अवसे सुकहि पणइ"
प्रा० ४ पाद ॥

अवसेस-अवशेष-पुं० । अवशिष्टे, स्था० ७ ग्रा० । आतु० । तद-
तिरिक्ते, उपा० १ अ० ॥

अवसेह-गम्-धा० । "गमेरड्-अश्छाणुवज्जा०" । ८ । ४ । १६२
इति सूत्रेण गमेरवसेहादेशः । अवसेहड्-गच्छति । प्रा० ४ पाद ॥

अवसेह-नश्-धा० । अदर्शने, "नशेणिरिणास-णिवहावसे-
ह०" । ८ । ४ । १७८ । इत्यादिसूत्रेणायसेहादेशः । अवसेहड्-
नश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अवसोग-अपशोक-पुं० । वीतशोके, जम्बूद्वीपापेक्षया द्वादश-
होपाधिपतौ देवे, द्वीप० ।

अवसस-अवश्य-त्रि० । अवश्यं यस्यायोऽवश्यशब्दोऽकारा-
न्तोऽप्यस्ति । आ० म० द्वि० । प्रश्न० । नियते, भाव० ४ उ० ।

अवससकम्म-अवश्यकर्मन्-न० । अवश्यक्रियायाम्, आ०
चू० १ अ० ।

अवससकरणिज-अवश्यकरणीय-न० । मुमुक्षुभिरवश्यं
क्रियते इति अवश्यं करणीयम् । विशेष० । आवश्यकं,
मुमुक्षुतिर्नियमानुष्ठयस्थानस्य । अनु० । अवश्यकरणमिति
प्रश्ने प्रदर्शयते—अन्वयान्वाद्यवश्यकरणसंज्ञायाः, भास्करय-
त्, अवश्यकरणीयत्वादवश्यकरणं कुर्वन्तीति । कथमिदमव-
श्यकरणं, कथमियमन्वयर्थेति ? दर्शयते—कथमनुगता या संज्ञा
साऽन्वयार्थः अर्थमङ्गीकृत्य प्रयत्नं इत्यर्थः । कथमिह ? यथा-भा-
स्करसंज्ञा अन्वयार्थः । कथमन्वयार्थः, प्राप्तं करोतीति भास्कर इति
यो भासनार्थः, तमङ्गीकृत्य प्रयत्नं इत्यन्वयार्थः । तथाऽवश्यकरण-
मिति इयं संज्ञा अन्वयार्थः । कथमिति चेत् ? अमहे-अवश्यं क्रियत
इत्यवश्यकरणमिति योऽवश्यकरणार्थोऽवश्यकर्मव्यया तमङ्गी-
कृत्य प्रयत्ने यस्मात्तस्मात्सर्वकवलिभिः सिद्ध्यन्तिरवश्यक-
यमाणत्वादवश्यकरणमित्यन्वयसंज्ञासिद्धिः । आ० चू० २ अ० ।

अवससकिरिया-अवश्यक्रिया-स्त्री० । पापकर्मनिषेधे, "अ-
वससकम्मं ति वा अवससकिरियं ति वा एगछा" । आ० चू०
१ अ० ।

अवह-कृप्-धा० । सामर्थ्ये, "कृपोऽवहो णिः" । ८ । ४ । १५१ ।
इति कुः 'अवह' इत्यादेशो एयन्तो भवति । अवहवेड्-कटपते ।
प्रा० ४ पाद ।

अवह-रच्-धा०-चुरा० । प्रतियक्षे, "रच्चेरुगहावह-वडविड्डः"
। ८ । ४ । १५४ । इति रच्चेर्धातोः 'अवह' आदेशः । अवहड्-रच-
यति । प्रा० ४ पाद ।

अवहड्-अपहति-स्त्री० । विनाशे, विशेष० । आ० म० ।

अवहट्-अपहत्य-अव्य० । परिहृत्य, (औ०) परित्यज्य,
(सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । दर्श० । दश०) निरुप्येत्यर्थे,
आचा० २ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अवहट्-अवहृत-त्रि० । "प्रत्यादौ डः" । ८ । १ । २०६ । इति
तदप ऋः । प्रा० १ पाद । परिहृते, नि० चू० १० उ० । आव० ।

शिक्षकाशिक्षकयोः-अभिनवप्रव्रजितचिरप्रव्रजितयोः, अभिनव-
प्रव्रजितगृहस्थयोर्वा, संवेगस्थैर्यथै द्वयोरपि छव्याद्याः, एवमुक्तेन
प्रकारेण, वक्ष्यमाणेन वा दर्श्यन्ते अपाया इति । तत्र संवेगो
मोक्षसुखाभिहायः, स्थैर्यं पुनरज्युपगतापरित्यागः । ततश्च कथं
तु नाम दुःखनिवन्धनद्रव्याद्यवगमात्तयोः संवेगस्थैर्ये स्यातां,
छव्यादिषु वा प्रतिबन्ध इति गाथार्थः । तथा चाऽऽह-
दवियं कारणगदियं, विगिचिअन्वमसिवाइखेत्तं च ।

वारसाहि एस-काहो, कोहाइविवेगभावमि ॥९८॥

इहोत्सर्गतो मुमुक्षुणा छव्यमेव-अधिकं वस्तुपात्रादि, अन्यद्वा कन-
कादि, न ग्राह्यम् । शिक्षकाहिसंदष्टादिकारणगृहीतमपि तत्परिस-
माप्तौ परित्याज्यम् । अत एवाह-द्रव्यं कारणगृहीतं विकिञ्चित्तथं
परित्याज्यम्, अनेकैहिकामुष्मिकापायहेतुत्वात् । दुरन्ताग्रहाद्य-
पायहेतुत्वात्; दुरन्ताग्रहाद्यपायहेतुता च मध्यस्थैः स्वधिया भाव-
नीयेति । एवमशिवादिक्लेशं च, परित्याज्यमिति वर्तते । अशिवा-
दिप्रधानं क्षेत्रमशिवादिक्षेत्रम् । आदिशब्दात्तु-ऊनोदरता-राजद्वि-
ष्टादिपरिग्रहः । परित्याज्यं चेदम्, अनेकैहिकामुष्मिकापायसंज्ञवा-
दिति । तथा-द्वादशभिर्वैरेष्यत्कालः, परित्याज्य इति वर्तते ।
तत एवापायसंज्ञवादिति भावना । एतदुक्तं भवति-अशिवादि-
दृष्ट एष्यत्कालो द्वादशभिर्वैरेणगत एवाङ्गिततव्य इति । उक्तं
च-"संवत्सरवारसप-ण होहि असिबन्ति ते तत्रो णिति । सु-
त्तत्थं कुब्बन्ता, अतिसयमादीहि नाकणं" ॥१॥ इत्यादि । तथा-क्रो-
धादिविवेकाभाव इति । क्रोधादयोऽप्रशस्ता ज्ञावाः, तेषां वि-
वेकः नरकपातनाद्यपायहेतुत्वात्परित्यागः । भाव इति ज्ञावापाये
कार्यं इत्ययं गाथार्थः । एवं तावद्वस्तुतश्चरणकरणानुयोगमधि-
कृत्यापायः प्रदर्शितः । दश० १ अ० । (छव्यानुयोगसंबन्धपा-
यस्तु 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १८८ पृष्ठे समुक्तः)

अवग्रहीतस्य ईहितस्य चार्थस्य निर्णयरूपे अन्वयसाये-शाङ्क-
एवायं शाङ्क एवायमित्यादिरूपे अवधारणात्मके मतिज्ञेदरूपे
प्रत्यये, आ० म० प्र० । प्रकान्ताथविशेषनिश्चये, स्था० ४ ठा०
४ उ० । व्य० । १० । दशा० । म० । ईहितस्यैव वस्तुनः स्थाणु-
रेवायमित्यादिनिश्चयात्मके बोधविशेषे, प्रव० २१६ द्वार । न० ।
सम्म० । विशेष० ।

ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ॥ ९८ ॥

ईहितस्य ईहया विषयीकृतस्य विशेषस्य कर्षाट्टहाडादेर्नि-
र्णयो याथात्म्येनावधारणमवाय इति । रत्ना० २ परि० ।

अथ मतिज्ञानतृतीयमैदस्यापायस्य स्वरूपमाह-

महुराङ्गुणत्तणओ, संखस्मेवेति जं न संगस्स ।

विष्ठाणं सोऽवाओ, अणुगमवरेगेजावाओ ॥९८०॥

मधुरस्निग्धादिगुणत्वात् शाङ्कस्यैवायं शब्दो न शृङ्गस्येत्यादि
यद् विशेषविज्ञानं सोऽवायो निश्चयज्ञानरूपः । कुतः, इत्याह-पु-
रोवर्त्यर्थधर्माणामनुगमजावात्-अस्तित्वनिश्चयसङ्गावात् । तत्राऽ-
विद्यमानार्थधर्माणं तु व्यतिरेकान्नावान्नास्तित्वनिश्चयसत्त्वात् ।
अयं च व्यवहारार्थवग्रहानन्तरभावी अवाय उक्तः । निश्चया-
दवग्रहानन्तरभावी तु स्वयमपि छल्यः । तद् यथा-भोतुग्राह-
त्वादिगुणतः शब्द एवायं, न रूपादिरिति ईहापायविषयाश्च
विप्रतिपत्तयः प्रागपि निराकृता इति नेहोकाः । इति गाथार्थः
॥२८०॥ विशेष० "व्यवसायमि अवाओ, " न० । विशिष्टोऽवसायो
व्यवसायः निर्णयो निश्चयोऽवगम इत्यनर्थान्तरम् । तं व्यव-
सायम्, अर्थानामिति वर्तते, अवायं ब्रुवत इति संसर्गः । एत-

दुक्तं प्रवृत्ति-शाङ्क एवाऽयं शाङ्क एवायमित्याद्यवधारणात्मकः
प्रत्ययोऽवाय इति । व्यवसायमेवावायं ब्रुवत इति । आ० म० प्र० ।
मैदास्तस्य-

से किं तं अवाए । अवाए णव्विहे पएणत्ते । तं जहा-सो-
ईदियअवाए, चकिंखदियअवाए, घाणिदियअवाए, जि-
म्भदियअवाए, फासिदियअवाए, नाईदियअवाए । तस्स
एणं इमे एगाहिया नाणायोसा नाणावज्जणा पंच नामधिज्जा
जवन्ति । तं जहा-आउट्टणया पच्चाउट्टणया अवाए बुद्धी
विष्ठाणे । सेत्तं अवाए ।

'से किं तमित्यादि' । अत्र श्रोत्रेन्द्रियेणावायः श्रोत्रेन्द्रियावायः श्रोत्रे-
न्द्रियनिमित्तमर्थवग्रहमधिकृत्य यः प्रवृत्तोऽवायः स श्रोत्रेन्द्रिया-
वाय इत्यर्थः । एवं शेषा अपि ज्ञावनीयाः । 'तस्स णमित्यादि' प्राग्वत् ।
अत्रापि सामान्यत एकार्थिकानि, विशेषचिन्तायां पुनर्नानार्थानि ।
तत्र आवर्तते-ईहातो निवृत्त्याऽपायज्ञावप्रतिपत्त्यभिमुखो वर्तते येन
बोधपरिणामेन स आयत्तनः, तद्भाव आयत्तनता १ । तथा-भावचर्त्तनं
प्रति ये गता अर्थविशेषेपूत्तरांतरेषु विवक्षिताऽपायप्रत्यासन्नतरा
बोधविशेषास्ते प्रत्यावर्त्तनाः, तद्भावः प्रत्यावर्त्तनता २ । तथा-अपा-
यो निश्चयः सर्वथा ईहाऽभावाद्भिनिवृत्तस्यावधारणाऽवधारित-
मर्थमवगच्छतो बोधविशेषः सोऽवाय इत्यर्थः ३ । ततस्तमेवावधा-
रितमर्थं क्षयोपशमविशेषात् स्थिरतया पुनः पुनः स्पष्टतरमव-
बुध्यमानस्य या बोधपरिणतिः सा बुद्धिः ४ । तथा-विशिष्टं ज्ञानं
विज्ञानं क्षयोपशमविशेषादेवावधारितार्थविषय एव तीव्रतरधा-
रणाहेतुर्बोधविशेषः । " सेत्तं अवाए " इति निगमनम् । न० ।

अवायना-अव्याकृता-ली० । गम्भीरशब्दार्थायाम्, अविभा-
वितार्थत्वात् अन्वयकाक्षरयुक्त्यां वा ज्ञापयाम्, ध० २ अधि० ।

अवायणिज्ज-अवाचनीय-पुं० । वाचनया अयोधे, स्था० १

ठा० ४ उ० । "चत्तारि अवायणिज्जा पणत्ता । तं जहा-अविणीप, वि-
गइपडिवद्धे, अविउसविषयादुं, माई" । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अवायदसि (ण)-अपायदर्शिन-पुं० । अपायान् दुर्भिक्षदुर्बल-
त्वादिकान् ऐहिकाननर्थान् पश्यति । अयवा-दुर्लभबोधिकत्वा-
दिकान् सातिचाराणां तान् दर्शयतीत्येवंशीलोऽपायदर्शी । ध० २
अधि० । अपायाननर्थान् चित्तप्रज्ञाऽनिर्वाहादीन् दुर्भिक्षदौर्ब-
ल्यादिकृतान् पश्यतीत्येवंशीलः । सम्यगालोचनायां च दुर्लभ-
बोधिकत्वादीनपायान् ज्ञाप्यस्य दर्शयतीति अपायदर्शीति । स्था०
८ ठा० । इहलोकापायदर्शनशीले आद्योचनार्हजदे, व्य० १
उ० । यः सम्यगालोचयति कुञ्चिनं वा आद्योचयति दत्तं वा
प्रायश्चित्तं सम्यगु न करोति, तस्य यदि त्वसम्यगालोचयिष्यसि
प्रतिकुञ्चितं वा करिष्यसि दत्तं वा प्रायश्चित्तं न सम्यक् पूर-
यिष्यसि ततस्ते भूयान् मासिकादिको दण्डो न विष्यतीत्येव-
मिहलोकापायान्, तथा संसारे जन्ममरणादिकं त्वया प्रभूतम-
नुभवितव्यं, दुर्लभबोधिता च तवैवं प्रविश्यतीत्येवं पर-
लोकापायांश्च दर्शयति, सोऽपायदर्शीति भावः । व्य० १
उ० । " दुर्भिक्षदुर्बलार्हं, इहलोप जाणप अवापओ ।
दंसइ य परलोप, दुब्बहवोहिच्च संसारे " ॥ १ ॥ स्था० ८
ठा० । दर्श० । पञ्चा० ।

अवायविजय-अपायविच (ज) य-न० । अपायारागादि-
जनिताः प्राणिनामैहिकामुष्मिका अनर्थाः । (विचीयन्ते निर्णय-

थेरी ताए चेडीए तारिसे मम्मप्पसे आहया, जेण तक्खणमेव
जावियाओ वचरोविया । तेहिं तु दाएपाई सो कइहवइयो
णाओ । स एउल्लओ दिट्ठो । थेरी गाढप्पहारा पाणविमुक्का णि-
स्सहं धरिणिअत्रे पाडिया दिट्ठा । चितियं च णेहि—इमो सो
अवायवहुलो अत्थो अत्थो चि । एवं दव्वं अवायहेव चि ।
लौकिका अप्याहुः—

“अथांनामज्जेन दुःख-मज्जिन्नानां च रत्तणे ।

आये दुःखं व्यये दुःखं, धिग् दुःखं दुःखवर्द्धनम् ॥ १ ॥

अवायवहुलं पापं, ये परित्यज्य संसृताः ।

तपोवनं महासत्त्वा-स्ते धन्यास्ते मनस्विनः ” ॥ २ ॥ इत्यादि ।

एतावत्प्रकृतोपयोगि । “तत्रो तस्मिन् नमवायं पिच्छिऊण णिव्वे-
ओ जाओ । तत्रो तं दारियं कस्सइ दाऊण निविशकाममोआ
पव्वइय चि” गाथार्थः ।

इदानीं क्षेत्राद्यपयप्रतिपादनायाऽऽह—

खेत्तम्मि अवक्कमणं, दमारवग्गस्स ढोइ अवरेणं ।

दीवायणो अ काहे, जावे मंडुक्किपाखवओ ॥५६॥

तत्र खेत्त इति द्वारपरामर्शः । तत्र क्षेत्रादपयः, क्षेत्रमेव वा, त-
त्कारणत्वादिति । तत्रोदाहरणम्-अपक्कमणमपसर्पणं दशारवग-
स्य दशारसमुदायस्य भवति । अपरेणाऽपरम् इत्यर्थः । जावार्थः
कथानकादयसेयः । तच्च वक्ष्यामः । द्वैपायनञ्च काहे । द्वैपायन
अपिः । काल इत्यत्रापि कालादपयः, काल एव वा, तत्कारण-
त्वादिति । अत्रापि जावार्थः कथानकगम्य एव । तच्च वक्ष्यामः ।
भावे मण्डुक्किपाकप इति । अत्रापि भावादपयो भावापयः, स-
एव वा, तत्कारणत्वादिति । अत्रापि च भावार्थः कथानकादयसे-
यः । तच्च वक्ष्याम इति गाथार्थः । जावार्थ उच्यते—“चित्ता-
पामोदाहरणं-दसार इरियंसरायाणो । एत्थ महइ कदा-जहा
हरिवंस उवओगियं चैव जणइ-कस्सम्मि विविवाइए सावायं
खेत्तमेयं ति काऊण जरासंधरायभएण दसारवग्गो महुराओ अ-
वक्कमिऊण वारवइं गओ चि ” । प्रकृतयोर्जनां पुनर्नैयुक्ति-कार
एव करिष्यति किमकारण एव नः प्रयासेन ? “काश्वावाय उदाहर-
णं पुण-कणहपुच्छिऊण भगवयाऽरिदुणेमिणा वागरियं-वारसहिं
संयच्छुरेहिं दीवायणाओ वारवइंनयरीयिणाओ । उज्जात-
रायणगरीए परंपरएण मुणिऊण दीवायणपरिवायओ मा ण-
गरिं विणासेहामि चि कालाथधिमएओ गोमेमि चि उत्तरावहं
गओ । सम्मं कालमायमयाणिऊण य वारसमे चैव संयच्छुरे
आगओ । कुमांरहिं खलीकओ कयणियाओ कोयो उववओ । त-
ओ य गगरीए अवाओ जाओ चि, णऽएहा जिणजसियं ति” ।

“भावावाय उदाहरणं खमओ-एओ खमओ चेत्तएण समं भि-
यत्तायरियं गओ । तेण तत्थ मंडुक्कहिया मरिता । चेत्त-
एण जणियं-मंडुक्कहिया तए मारिया । खमओ जणति-ने दुट्ठ !
सेह विरमइया चैव एसा । ते गओ । पच्छा रत्ति आवस्सए आ-
लाइत्ताण खमगेण सा मंडुक्कहिया नाहोइया । ताहे चेत्तएण
भणियं-खमगा । तं मंडुक्कहियं आहोएहि । खमओ रुओ तस्स
चेत्तयस्स खेत्तमइयं घेत्तण उहाओ ओसियाएण संभे
आवडिओ वेगेण । इतो मओ य जोइसिएसु उववओ । तओ
चइसा दिहीविसाणं कुले दिहीविसो सप्पो जाओ । तत्थ एगे-
ण परिहिंडंतेण नगरे रायपुत्तो सप्पेण खइओ । आहिंहुंड-
एण विज्जाओ सव्वे सप्पा आवाहिया मंडेवे पवेसिआ म-
खिया-ओवे सव्वे गच्छंतु, जेण पुण रायपुत्तो खइओ सो अ-
त्थइ । सव्वे गता । एओ विओ । सो मणिओ-अहवा विसं आ-

वियह, अहवा एत्थ मग्गिमि णिवडाहि । सो अ अगंधणो । स-
प्पाणं किं दो जाइओ-गंधणा, अगंधणा य । ते अगंधणा माणि-
णो । ताहे सो अग्गिमि पविट्ठो, ण य तेण तं वतयं पञ्चाविइयं ।
रायपुत्तो धि मओ । पच्छा एहा रुठेण घोसावियं-रज्जे ओ मम
सप्पसीसं आणेइ तस्साहं दीणारं देमि । पच्छा लोओ दीणार-
लोणेण सप्पे मारेडं आदत्तो । तं च कुष्ठं, अत्थ सो खमओ
वप्पओ, तं जाइसरं रत्ति हिंडइ, दिवसओ न हिंडइ, मा जीवे
दहेहामि चि काउं । अएया आहिंदिगहिं सप्पे मग्गंतेहिं रत्तिच-
रेण परिमलेण तस्स खमगसप्पस्स विडं दिणं ति । दारेसे विओ
ओसहिओ आवाहेइ । सो चितेइ-दिओ मे कोयस्स विवाओ ।
तो जइ अहं मग्गिमुहो णिग्गच्छामि तो दहिहामि, ताहे पुच्छेण
आदत्तो णिप्फिडिं जसियं णिप्फेदेइ तावइयमेव आहिं-
मिओ विदेति, जाव सीसं छिणं । मओ य सो सप्पो देवया-
परिग्गहिओ । देवयाए एओ मुमिणए दरिसणं दिणं । अहा-
मा सप्पे मारेइ, पुत्तो ते नागकुलाओ उव्वट्ठिऊण भविस्सइ;
तस्स दारयस्स नागदत्तनामं करेज्जाहि । सो य खमगसप्पो
मरित्ता तेण पाणपरिच्चाएण तस्सेव एओ पुत्तो जाओ, जाए
दारए णामं कयं णागदत्तो । खुदलओ चैव सो पव्वइओ । सो
अ किर तेण तिरियाणुभावेण अतीव बुढाहुओ दोसीणवेलाए
चैव आदवेइ छेजिउं जाव सुरत्थमणवेइ उवसंतो धम्मसज्जिओ
य । तम्मि भगच्छं चत्तारि खमगा तं चाउम्मासिओ तेमासिओ
दोमासिओ एगमासिओ चि । रत्ति च देवया वंदिडं भागया ।
चाउम्मासिओ पदमच्छिओ । तस्स पुरओ तेमासिओ । तस्स पुर-
ओ दोमासिओ । तस्स पुरओ एगमासिओ । ताण य पुरओ खुद-
ओ । सव्वे खमगे अतिक्रमिच्चा ताए देवयाए खुदओ वंदिओ, प-
च्छा ते खमगा रुढा निग्गच्छंति य गहिया चाउम्मासिअक्क-
मएण पोत्ते भणिया य अएण-कडपूयणि । अम्हे तवस्सिणो ण
वंदंसि, एयं कूरमायणं वंदंसि चि । सा देवया जणइ-महं मा-
यखमयं वंदामि, ण पूयासक्कारपरे माणिणो अ वंदामि । पच्छा ते
चेत्तयं तेण अमरिसं वइति । देवया चितेइ-मा पते चेत्तयं खरि-
टेहिं ति, तो सण्हिया चैव अत्थामि, ताऽहं पडिवाहेहामि । वि-
तियदिवसे अ चेत्तओ सांदिसावेऊण गओ । दोसीणस्स पडि-
आगओ आहोइत्ता चाउम्मासियखमगं णिमंतेइ । तेण पडिगाहं
से खेत्तं णिच्छूदं । चेत्तओ भणइ-मिच्छा मे डुक्कडं, जं तुम्मे मए
खेत्तमल्लओ ण पणामिओ । तं तेण उप्पराओ चैव फेमिच्चा खेत्तम-
ल्लए छूदं । एवं जाव तिमासिएण जाव एगमासिएण चिच्छूदं ।
तं तेण तदा चैव फेमियं अजुयाणिचालवणे णएहामि चि काउं
खमएण चेत्तओ वाहं गहिओ । तं तेण तस्स चेत्तगस्स अदीण-
मणसस्स विसुद्धपरिणामस्स हेस्साहिं विसुज्जमाणीहिं तदाऽऽ-
वरणिज्जाणं कम्मायं खएण केवलनाणं समुप्पन्नं । ताहे सा देव-
ता भणति-किह तुम्हे वंदियज्जा ? जेणं कोहामिभूया अत्थ-
इ । ताहे ते खमगा संवेगमावष्ठा मिच्छा मे डुक्कडं ति, अहो !
वालो उवसंतविच्चो अम्हेहिं पावकम्मंहेहिं आसाइओ । एवं
तेसि पि सुहज्जवसाणेणं केवलनाणं समुप्पन्नं । एवं पसंगओ
कहियं कहाणयं । उवणओ पुण-कोहादिगाओ अप्यसत्थमा-
वाओ डुग्गइए अवाओ चि” ॥

परलोकाश्चिन्तायां प्रकृतोपयोगितां दर्शयन्नाह—

सिक्खगअसिक्खगाणं, संवेगथिरइयाएँ दोएहं पि ।

दव्वाइया एवं, दंसिज्जंते अवायाओ ॥ ५७ ॥

अविकारि (ण)-अविकारिन्-पुं० । अनुदमटवेपे, अकन्दर्प-
शीले च । वृ० ३ उ० ।

अविकांक्षपरमत्थ-अविकोपितपरमार्थ-त्रि० । अविज्ञापित-
समयसद्भावे, पं० व० १ द्वार ।

अविगड्य-अविकृतिक-त्रि० । निर्विकृतिके घृतादिविकृतित्या-
गिनि, सूत्र० २ अ० २ अ० ।

अविगमिय-अविकटित-त्रि० । अनालोचिते, व्य० १ उ० ।

अविगण-अविकल्प-पुं० । निश्चये, आ० म०-द्वि० । निर्भेदे च ।
सम्म० १ काण्ड ।

अविगय-अविगत-त्रि० । अग्नये, पिं० ।

अविगल-अविकल-त्रि० । परिपूर्णं, वो० १ विव० । पञ्चा० ।
अखण्डे, पो० ५ विव० ।

अविगलकुल-अविकलकुल-त्रि० । आदिपरिपूर्णकुले, ज० ८
श० ३३ उ० ।

अविगिह-अविकृष्ट-त्रि० । विकृष्टजिह्वे अविकृष्टतपःकर्मका-
रिणि-पष्ठान्ततपःकारिणि, पञ्चा० १२ विव० ।

अविगियवयण-अविकृतवचन-त्रि० । अनत्यन्तनिर्वादितमुखे,
ओघ० ।

अविगीय-अविगीत-पुं० । विशिष्टगीतार्थरहिते, व्य० ३ उ० ।
निर्धर्मणि, व्य० १ उ० ।

अविगह-अविग्रह-पुं० । वक्त्ररहिते, औ० ।

अविगहगइसमावन्न-अविग्रहगतिसमापन्न-पुं० । उत्पात्तिके-
ओपपन्ने, म० १४ श० ५ उ० । अविग्रहगतिनिषेधाद् अजुग-
तिके अवस्थिते, म० २५ श० ३ उ० ।

अविग्र-अविघ्न-न० । विघ्नाभावे, कल्प० ५ क० । औ० । नि-
धत्सूहे, वृ० १ उ० । दर्श० । कारण एवाहृष्टसामर्थ्यादपाया-
भावे, द्वा० ३३ द्वा० ।

अविघुट्ट-अविघुष्ट-न० । विक्रोशनमिव यद्विस्वरं न भवति
तदविघुष्टम्, अनु० । विक्रोशन इवादिस्वरं, रा० । स्था० जी० ।

अविचित्त-अविचित्र-त्रि० । रोहिते, "अविचित्तो लोहिल्लमि-
त्यर्थः । नि० चू० १६ उ० ।

अविच्छुङ्-अविच्युति-स्त्री० । तदुपयोगादविच्यवनमविच्यु-
तिः । धारणाभेदे, न० । आ० म० ।

अविच्छिन्न-अविच्छिन्न-त्रि० । विच्छेदाननुबन्धे, स्था० ४
ज० १ उ० ।

अविजाणन्न-अजानत्-त्रि० । हुतप्रश्ने, अपगतावधिविवेके,
"जंसी गुहाय जज्ञेतिउट्टे, अविजाणन्नो डज्जइ हुतपणो ।
सूत्र० १ अ० ५ अ० १ उ० । प्रश्न० ।

अविज्जमाणजाव-अविद्यमानजाव-पुं० । नास्तिभावे, "असं-
पज्जयंति वा ष्ठित्तिजावो ति वा अविज्जमाणजावो ति वा पग-
छा " आ० चू० १ अ० ।

अविज्जा-अविद्या-स्त्री० । कर्मणि, "अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽ-
दिद्यामुपासते विद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते " न० ।

अनवमनने, अग्रहणे, अतत्त्वग्रहणे च । सम्म० २ काण्ड । अविद्या
वेदान्तिनां क्लेशः । द्वा० १६ द्वा० । योगशास्त्रप्रसिद्धे क्लेशभेदे, द्वा०
१५ द्वा० । "नित्यशुच्यात्मताख्याति-रनित्याशुच्यनात्मसु । अ-
विद्या " । अष्ट० १४ अष्ट० । अविद्योपप्लवादविद्यमानमपि दृ-
श्यते । यतः उक्तम्- "कामस्त्रेण भयोन्मादै-रविद्योपप्लवात्तथा ।
पश्यत्यसन्तमम्यर्थ-जनः केशेन्दुकादिवत् " इति । विशे० ।

अविणय-अविनय-पुं० । कुशास्त्रे, उक्त० ३४ अ० । विशिष्टो न-
यो विनयः प्रतिपत्तिविशेषः, तत्प्रतिपेधोऽविनयः । अप्रतिपत्तिवि-
शेषे, स्था० ।

अविणयं तिविहे पन्नत्ते । तं जहा-देसचाई, णिरा-
लंणया, णाणपेम्मदोसे ॥

(अन्येषां सर्वेषां शब्दानां स्वस्वस्थाने व्याख्या) नवरमियमत्र
भावना-आराध्यविषयमाराध्यसम्मतविषयं वा प्रेम, तथाऽऽ-
राध्यसम्मतविषयो द्वेप इत्येवं नियतावेतौ विनयः स्यात् । उक्तं
च- "सखिपि नतिस्तुतिवचनं, तदभिमतं प्रेम तद्द्विपि द्वेपः ।
दानमुपकारकीर्तन-ममन्त्रमूलं वशीकरणम् " ॥ १ ॥ इति
नानाप्रकारौ च तावाराध्य तत्सम्मततरत्नकणविशेषानपेक्षत्वे-
नानियतविषयावविनय इति । स्था० ३ ज्ञा० ३ उ० ।

अविणाभि (ण)-अविनाशिन्-त्रि० । कणापेक्षयाऽपि अनि-
रन्वयनाशधर्मिणि, दश० ४ अ० । पा० ।

अविणिच्छय-अविनिश्चय-पुं० । प्रमाणाभावे, पं० व० ४ द्वार ।
प्रति० ।

अविणीय-अविनीत-त्रि० । अविनयवति, उक्त० १ अ० । विनय-
विरहिते, उक्त० ११ अ० । अविनीतलक्षणमाह-

अह चउदसगणेहिं, वट्टमाणे उ संजए ।

अविणीए बुच्चई सो उ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥

अहेत्यादि सूत्राष्टकम् । अथेति प्राग्वच्चतुर्गिरधिका दश चतु-
र्दश; तेषु चतुर्दशसंख्येषु स्थानेषु; सूत्रे तु सुख्यत्ययेन सप्तम्यर्थे
तृतीया । वर्तमानस्तिष्ठन् । तुः पूरणे । संयतस्तपस्वी अविनीत उ-
च्यते । स तु इति । अविनीतः । पुनः किम्? इत्याह-निर्वाणं च मोक्षं,
चशब्दादिहेव ज्ञानमर्दोक्षं न गच्छति न प्राप्नोति । उक्त० ११ अ० ।

कानि पुनश्चतुर्दश स्थानानि ?, इत्याह-

अजिक्खणं कोही हवइ, पवंधं च पकुवइ ।

मिच्छिज्जमाणो वमई, सुयं लप्फूणं मज्जइ ॥ ७ ॥

अवि पावपरिक्खेवी, अवि मिन्नेसु कुप्पइ ।

मुपियस्सावि मिच्छं, रहे जासइ पावणं ॥ ८ ॥

पइषवाई डुहिं, थप्पे डुप्पे अण्णिगहे ।

असंविज्जागि अविनयत्ते, अविणीए ति बुच्चई ॥ ९ ॥

अजीक्ष्यं पुनः पुनः, यद्वा-कणं कणमभि अभिक्कणमनवरतं, क्रो-
धी क्रोधनो भवति-सनिमित्तमनिमित्तं वा कुप्यन्नेवास्ते; प्रबन्धं
च प्राकृतत्वात् कोपस्यैवाविच्छेदात्मकं (पकुवइ ति) प्रकर्षेण
कुरुते, कुपितः सन् सान्त्वनेनैरनेकैरपि नोपशम्यति; विकथादिषु
वा अविच्छेदेन प्रवर्तनं प्रबन्धः, तं च प्रकुरुते । तथा-(मिच्छिज्जमा-
णो ति) मित्रीयमाणोऽपि मित्रं ममायमस्त्विति दृश्यमानोऽपि,
अपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात्, धमति त्यजति, प्रस्तावाद् मित्रीयि-

न्ते पर्याप्तोच्यन्ते वा यस्मिंस्तदपायविजयम्) प्राकृतत्वेन विजयमिति । अपाया वा विजयन्ते अधिगमद्वारेण पश्चिती-
क्रियन्ते यस्मिंस्तदपायविजयम् ॥ स्था० ४ डा० २ उ० ।
ग० । सम्म० । रागद्वेषकपायाधवादिक्रियासु प्रवर्त्तमानानामि-
दपरशोकयोरपायानां ध्यानं, ध० २ अधि० । दुष्टमनोवा-
क्कायव्यापारविशेषाणामपायः कथं तु मे न स्यादित्येवंभूते संक-
ल्पप्रबन्धे, दोषपरिवर्जनस्य कुशलप्रवृत्तित्वात् । सम्म० १ काण्ड ।
धर्मध्यानस्य प्रथमे भेदे, आव० ४ अ० । आ० चू० । (विस्तर-
तोऽस्य स्वरूपं ' धम्ममग्गाण ' शब्दे वक्ष्यते)

अत्रायसत्तिमालिण-अपायशक्तिमाक्षिप्य-न० । नरकाधपाय-
शक्तिमलिनत्वे, द्वा० २२ द्वा० ।

अत्रायहेउत्तदेमणा-अपायहेतुत्वदेशना-ली० । असदाचार-
नयमवृत्तादेशनायाम्, ध० । अपायहेतुत्वदेशनेति । अपायाना-
मनर्थानाम् इहलोकपरशोकगोचराणां हेतुत्वं प्रस्तावादसदा-
चारस्य यो हेतुनावस्नस्य देशना विधेया । यथा-" यथा
प्रयान्ति पुरुषाः, स्वर्गं यथा प्रयान्ति विनिपातम् । तत्र निमित्त-
मनर्थः, प्रमाद इति निश्चितमिदं मे " ॥१॥ प्रमादश्चासदाचार
इति । ध० १ अधि० ।

अत्रायण-अपादान-न० । अपादीयते वियुज्यते यस्मात्तद्वि-
युज्यमानावधिचूतम्-अपादानम् । अनु० । दोऽयस्मिन्ने । दानं
क्षयजनम् । अपसृत्य आ मर्यादया दानं क्षयजनं वियोजनं
यस्मात्तदपादानम् । विशेष० । आ० चू० । अपादीयते अपा-
यतो विस्तेपतः आ मर्यादया दीयते दोऽयस्मिन्ने इति वच-
नात् क्षयव्यते मिद्यते, आदीयते वा गृह्यते यस्मात्तदपा-
दानम् । अवधिमात्रे तत्र पञ्चमी भवति । यथा-अपनय गृ-
हाद् धान्यम्, इतो वा कुशलाद् गृहाणेति ॥ स्था० ७ डा० ।

अत्रायानुपे (वे) हा-अपायानुपेक्षा-ली० । अपायानां प्रा-
णातिपाताद्याभ्रवचारजन्यानर्थानामनुपेक्षाऽनुचिन्तनमपायानु-
पेक्षा । ग० १ अधि० । म० । शुफलध्यानाऽनुपेक्षाभेदे,
यथा-" कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोमो य
पवहुमाणा । चचारि एते कसिणा कसाया, सिंचिति मूलाई
पुणम्मवस्स " ॥१॥ इह गाथा-" आसवदाराचाय, तह संसारो
सुहाणुमावं च । भवसंताणमनंतं, वट्ठूणं विपरिणामं च " ॥१॥
इति । स्था० ४ डा० १ उ० ।

अत्रारिय-अवारित-त्रि० । अनिवारिते, अकृत्यं कुर्वन्ति तत्प्र-
वर्तकनानिषिद्धे, निरङ्कुशे, " अस्मा अवारियाओ, इथीरल्लं न तं
गच्छं " । ग० २ अधि० ।

अवतार्य-अव्य० । अथ उच्यतेत्यर्थे, दश० ५ अ० २ उ० ।

अवावकहा-अवापकथा-ली० । शाकघृतादीन्येतावन्ति तस्यां
रसवत्त्वामुपयुज्यन्त इत्येवंरूपायां कथायाम्, स्था० ४ डा० २ उ० ।

अवि-अपि-अव्य० । सम्भावने, उच्य० ३ अ० । स्था० ।
आचा० । सूत्र० । व्य० । नि० चू० । दश० । आ० म० द्वि० ।
पदार्थसंज्ञावने, नि० चू० ४ उ० । समुच्चये, भ० १ श० ३
उ० । अष्ट० । दर्श० । अवधारणायाम्, नि० चू० १ उ० ।
आचा० । वाक्योपन्यासे, आचा० १ भु० ६ अ० १ उ० । प्रेरणा-
याम्, निर्णयभवनहेतौ च । दर्श० । अल्वर्थे, व्य० १ उ० ।

अविअ-अपिच-अव्य० । समुच्चये, जं० ४ वक्ष० ।

अविअकलंत-अवीक्षमाण-त्रि० । पृष्ठतो निरूपयति, ध० ३ अधि० ।
अविश्य-अद्वितीय-त्रि० । द्वितीयरहिते, द्वितीयनिषे च । भ०
३ श० २ उ० ।

अविउट्टमाण-अविनुद्यमान-त्रि० । पीड्यमाने, सूत्र० २ भु० २ अ० ।

अविउप्पगमा-अव्युत्पकटा-ली० । न विशेषतः सत्प्राचल्य-
तश्च प्रकटा अव्युत्पकटा । विशेषतोऽप्रकटायाम्, भ० ७ श०
१ उ० ।

अविउत्पकटा-ली० । अविद्वद्भिरजानद्भिः प्रकृता प्रस्तुता वा
अविद्वत्प्रकृता । भ० १ ए श० ७ उ० । अविद्वत्प्रकृतायाम्, ज० १
श० १ उ० । " अहं इमा कदा अविउप्पकटा " । ज० १ ए श० ७ उ० ।
" अविउप्पकटो हि " अपिशब्दः सम्भावनार्थः । सत्प्राचल्येन
प्रस्तुता प्रकटा बोध्यकृतोत्पकटा वा, अथवा अविद्वद्भिरजान-
द्भिः प्रकृता प्रस्तुता वा अविद्वत्प्रकृता । ज० १ ए श० ७ उ० ।

अविउसरणया-अव्युत्सर्जनता-ली० । अत्यागे, भ० १ श०
५ उ० ।

अविउत्सर्ग-अव्युत्सर्ग-पुं० । अमुत्कटने, व्य० १ उ० ।

अविओग-अवियोग-पुं० । पुत्रमित्राद्यविरहे, तं० ।

अविओसिय-अव्यवसित-त्रि० । अनुपशान्ते, ध० ४ उ० । अ-
नुपशान्ते ब्रह्मे, " अविओसिप चासति पावकस्मी " सूत्र० १
भु० १ उ० ।

अविओसियपाहु-अव्यवसितप्राभृत-त्रि० । अव्यवसितमनु-
पशान्तं प्राभृतमिव प्राभृतं (नरकपालकौशक्षिकं) तीव्रकोषल-
क्षणं यस्यासावव्यवसितप्राभृतः । ध० ४ उ० । अनुपशान्तको-
पे, स्था० ४ डा० ३ उ० । " अण्ये वि पारमाणि, भवराहे वयह आ-
मियंतं च । बहुसो उदीरयंतो, अविओसियपाहुडो स सहुं " ॥१॥
पारमाणि परमकोषसमुद्भातं व्रजतीति भावः । स्था०
३ डा० ४ उ० । (' वायणा ' शब्देऽस्याऽवाचनीयत्वम्)

अविंदमाण-अविन्दमान-त्रि० । मत्तममाने, विपा० १ भु० २ अ० ।

अविकंप-अविकम्प-त्रि० । मनःशरीराभ्यामचलौ, पञ्चा०
१८ विव० । निःस्पन्दे, पञ्चा० १२ विव० ॥

अविकंपमाण-अविकम्पमान-त्रि० । क्रोधकार्थस्य कम्पनस्या-
ऽकंतरि, " विगिच कोहं अविकंपमाणे " । क्रूरव्यवसायः क्रो-
धस्तं त्यज, तस्य च कार्यं कम्पनं तत्प्रतिषेधं दर्शयत्यविकम्पनः ।
आचा० १ भु० ४ अ० ३ उ० ।

अविकत्यण-अविकत्यन-पुं० । नातिबहुभाषिणि, स्वल्पेऽपि
केनचिदपराजे पुनः पुनस्तद्वक्तृतीनेन रहिते गुणवत्सुरौ, प्रव०
६४ द्वार । ग० । हितमितभाषिणि, आचा० १ भु० १, अ० १ उ० ।

अविकरण-अविकरण-न० । पूर्वगृहीतवस्तूनां यथास्थानम-
प्रक्षेपे, " संथारय आयाप, अविकरणं कहुय संपब्बइत्ताय " । अवि-
करणं कृत्वा, अविकरणं नाम यत्साधुना करणं कृतं तुषानां प्र-
स्तरणं, कम्पिकानां बन्धनं, फलकस्य स्थापनं तदपनीय संप्र-
मित्तं विद्वत्तुम् । ध० ३ उ० ।

अविकार-अविकार-त्रि० । गीतादिधिकाररहिते, ध० १ उ० ।

अविज्ञाद्वय-अविज्ञाद्वय-वि० । विभक्तुमशक्ये, " तन्नो अवि-
भाद्वया पणत्ता । तं जहा-समप, पपसे, परमाणु " । स्था० ३
ठा० २ उ० ।

अविभाग-अविभाग-पुं० । संबन्धो विभागो नैरन्तर्याभावः,
तदजावोऽविभागः । नैरन्तर्ये, पि० ॥

अविभागपल्लिख्ये-अविभागपरिच्छेद-पुं० । परिच्छिद्यन्त
इति परिच्छेदांशः, ते च सविभागा भवन्त्यतो विशेष्यन्ते । अ-
विभागास्तत्र परिच्छेदाश्चेत्यविभागपरिच्छेदाः । निरंशेषु अंशे-
षु, प्र० ८ श० १० उ० । केवलिप्रज्ञया द्विद्यमानो यः परम-
निरुद्धोऽनुभागांशोऽभिसूक्ष्मतयाऽर्कं न ददाति सोऽविभागप-
रिच्छेद उच्यते । उक्तं च- " बुद्धीह चिज्जमानो, अणुजागं सो
न देव जो अर्कं । अविभागपल्लिख्यो, सो इह अणुभागबंध-
स्मि " ॥ १ ॥ कर्म० ५ कर्म० । वृ० ।

अविभागुत्तरिय-अविभागोत्तर-त्रि० । एकैकस्नेहाविभागेषु,
क० प्र० ।

अविभाव-अविभाव्य-त्रि० । अविभावनीयस्वरूपे, प्रश्न० १
आश्र० द्वार ।

अविचूषिय-अविभूषित-त्रि० । विचूषारहिते, वृ० १ उ० ।

अविचूषियप्प (ण)-अविचूषितात्मन्-त्रि० । विचूषाविर-
हितदेहे, प्रब० ७२ द्वार । भाव० ।

अविमण-अविमनस्-त्रि० । अविगतचेतसि, अनु० । अशून्यचि-
त्ते, अन्त० ७ वर्ग । प्रश्न० । अज्ञाभादिदोषात् अविगतमानसे,
प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अविमुक्त्या-अविमुक्तता-स्त्री० । सपरिप्रदतायाम्, स्था० ४
ठा० ४ उ० ।

अविमुक्ति-अविमुक्ति-स्त्री० । सलोपतायाम्, पञ्चा० १७ विव० ।
गृह्ये, नि० चू० २ उ० ।

अविमुक्तिद्वारमाह-

दब्बे भावेऽविमुक्ती, दब्बे वीरद्वेहाउवंधणता ।

सउण्णगहणे करुणे, पड्च मुक्खो वि आणेइ ॥

अविमुक्तिर्द्विधा-रूप्यतो, भावतश्च । रूपाविमुक्तौ- 'वीरद्वेहा'
वाक्यः पक्षी दृष्टान्तः । स च स्नायुसन्तानबन्धनेन पादे बद्धो यत्र
तिष्ठिरिप्रभृतिकः पक्षी दृश्यते तत्र मुख्यते, ततस्तंन यदा तस्य
शकुनस्य ग्रहणं कृतं स्यात्तदा भूयोऽपि तथैव तं शय्यातरस्य
कर्षणं क्रियते, तत आगतस्य हस्तेनालमांसं दीयते ततो मांसं
प्रगृह्य आसक्तः सन् मुक्तोऽपि स्नायुबन्धनमन्तरेणापि शकुनिमा-
नयति, आनीय च तत्रैवावतिष्ठते । एषा रूपाविमुक्तिः ।

अथ जावाविमुक्तिमाह-

जावे उक्कोमपणी-यगिच्छितो तं कुलं नं गहेति ।

गहाणादीकज्जेसु व, गते वि दूरं पुणो एंति ॥

भावो भावाविमुक्तिः पुनरयम्-रुक्तेष्वन्यं शाल्योदनादि, प्रणीतं
घृतादि, तयोर्था गृह्णीतव्यं ततस्तत्कुत्र शय्यातरसंबन्धि, न परि-
त्यजति । अथवा-स्नानरथमात्रादौ पर्वणि कार्येषु च गणसङ्ग-
प्रयोजनेषु, दूरमपि गता भूयस्तत्रैव समागच्छति । वृ० २ उ० ।

अविमोयण्या-अविमोचनता-स्त्री० । वस्त्रादीनामत्यागे, म०
१ श० ३३ उ० ।

अविय-अपिच-अव्य० । अच्युच्ये, तं० । म० ।

अविक-पुं० । मेघे, आचा० १ शु० १ अ० ६ उ० ।

अवियत्त-अव्यक्त-त्रि० । अपरिस्फुटे, सूत्र० १ शु० ४ अ० २
उ० । मुग्धे, सङ्गजविवेकविकले च । सूत्र० १ शु० १ अ० २ उ० ।

अवियत्त-देशी-न० । अप्रीतिकं, आ० म० प्र० । स्था० । ग० ।

अप्रीतिकारणिं, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । उत्त० । प्रति० ।
दश० । स्था० ।

अवियत्तजंनग-अव्यक्तजृम्भक-त्रि० । अज्ञाद्यविभागेन जृम्भ-
के, म० १४ श० ८ उ० ।

अवियत्तविसोहि-अवियत्तविशोधि-पुं० । अवियत्तस्याप्रीति-
कस्याविशोधिः, तत्रिवर्त्तनादवियत्तविशोधिः । विशोधिभेदे,
स्था० १० उ० ।

अवियत्तोवधाय-अवियत्तोपघात-पुं० । अप्रीतिकेन विनयादे-
रुपघाते, स्था० १० उ० ।

अवियाउरी-अविजनित्री-स्त्री० । अपत्यानामविजननशीला-
यां स्त्रियाम्, ज्ञा० २ अ० । " तस्स वंधुमई जज्जा, अविया-
उरी " । आ० म० प्र० ।

अवियाणय-अविज्ञायक-त्रि० । विशिष्टावबोधराहिते, आचा०
१ शु० १ अ० २ उ० ।

अवियार-अविचार-न० । न विद्यते विचारोऽर्थव्यञ्जनयोरित-
रस्मादितरत्र, तथा-मनःप्रभृतीनामन्यतरस्मादन्यत्र, यस्य तद-
विचार इति । ग० १ अ० १ । अर्थव्यञ्जनयोगान्तरतोऽसंक्रमणे,
आच० ४ अ० । म० घ० । " एगत्तवित्ते अवियारे " बुद्धध्यान-
भेदे, स्था० ४ उ० १ उ० ।

अवियारमणवयणकायवक्क-अविचारमनोवचनकायवाक्य-
त्रि० । अविचाराण्यविचारितरमणीयानि परमार्थविचारगुणनया
युक्त्या वा विघटमानानि मनोवाक्यायवाक्यानि यस्य स तथा ।
अविचाराण्यविचारणीयानि अशोभनतया निरूपणीयानि अप-
र्यालोचनीयानि मनोवाक्यायवाक्यानि यस्य स तथा । अविचा-
रयुगन्तःकरणधाम्देहवाक्ये, सूत्र० २ शु० ४ अ० ।

अवियारसोहणट्ट-अविचारशोधनार्थ-पुं० । संयमस्खलित-
विशुद्धिनिमित्ते, पं० व० २ द्वार ।

अविरड्-अविरति-स्त्री० । सावद्ययोगेभ्यो निवृत्त्यजावे, कर्म० । द्वा-
दशप्रकाराऽविरतिः । कथम् ? इत्याह-मनः स्वान्तःकरणानीन्द्रि-
याणि पञ्च, तेषां स्वस्वविषये प्रवर्त्तमानानामनियमोऽनियन्त्र-
णः, तथा पण्णां पृथिव्यस्तेजोवायुवनस्पतित्रसरूपाणां जीवानां
वधो हिंसेति । कर्म० ४ कर्म० । प्राणातिपातादीनामनिषेधे, जी-
त० । अन्नहृष्टिः । स्था ६ उ० । " अविरडं पकुच्च बाले आदिज्जइ "।
येयमविरतिरसंयमरूपा सम्यक्त्वाज्जावाद् मिथ्यादृष्टेर्न्यतोऽ-
विरतिरप्यविरतिरेव, तां प्रतीत्याश्रित्य बालवद् बालोऽहः ।
" तत्थ णं जा सा सब्वतो अविरडं एसट्ठाणे आरं-
ज्जाणे " तत्र पूर्वोक्तेषु येयं सर्वात्मना सर्वस्माद् अविर-
तिर्विरतिपरिणामाभावः । सूत्र० २ शु० २ अ० । " अखेदो
विषयावेशाद्, भवेदविरतिः । किल " विषयावेशाद् बाह्येन्द्रि-
यार्थव्याक्रेषलक्षणदखेदोऽनुपरमलक्षणः किंवाविरतिर्भवेत् ।

तारं मैत्री वा । किमुक्तं भवति? यदि कश्चिद्व्याप्तिकृतया चकि, यथा-
त्यं न वेत्सीत्यहं तव पात्रं क्षेपयामि । ततोऽसौ प्रत्युपकारमीकृतया
प्रतिवक्ति-ममाहमेतेन । कृतमपि वा कृतमनया न मन्यत इति यम-
तीत्युच्यते । तथा (सुयं ति) अर्पणं मानत्वात्, धुनमपि आगममपि,
ब्रह्मा प्राप्य मासति दूयं याति । किमुक्तं भवति? धृतं हि मदाप-
हारहेतुः, स तु तेनापि दृष्यति । तथा-अपिः संभावनायाम् । संभा-
व्यत एतत्-यथा-असौ पापैः कथञ्चित्समित्यादिषु स्वास्तिवृत्त-
सैः परिक्रिपति तिरस्कुल इत्येवंश्रीः पापपरिक्रिपौ, आचार्यादी-
नामिति गम्यते । तथा-अपि निष्क्रमः, ततो मित्रेभ्योऽपि सुहृद्भ्यो-
ऽपि, आस्तामन्येभ्यः कुप्यति कुप्यति । सुत्रे चतुर्थ्यर्थे सप्तमी ।
"कुपद्रुहेर्प्यासूयाथानां यं प्रतिफोपः । १॥ १४३॥ इत्यनेन (पाणि०)
सूत्रेण चतुर्थीविधानात् । तथा-सुप्रियस्याप्यतिवल्लनस्यापि
मित्रस्य, रहस्येकान्ते, भायते चकि, पापमेव पापकम् । किमुक्तं
भवति?-अप्रतः प्रियं चकि, पृष्ठतस्तु प्रतिसचकाऽयमित्यादि-
कमनाचारमेवाधिष्करोति । तथा-प्रकीर्णमितस्ततो विकिसम्,
असंयच्छमित्यर्थः । वदति जलपनीत्येवंश्रीः प्रकीर्णवादी । य-
स्तुतस्वविचारेऽपि यदकिञ्चनवादीत्यर्थः । अथवा-यः पात्र-
मिदमपामिति चाऽपरीक्ष्यैव कथञ्चिदधिगतं धुतरहस्यं वद-
तीत्येवंश्रीः प्रकीर्णवादीति । प्रतिक्रिया चेदमित्थमेवेत्येकान्ताभ्यु-
पगमरूपया वदन्शीलः प्रातिज्ञावादी । तथा-(दुहितं चि) द्रोहण-
शीलो द्रोहधा, न मित्रमप्यनभिद्वष्टास्ते । तथा-स्तब्धाः तपस्य-
हमित्याद्यहं कृतिमान् । तथा-लुब्धोऽप्रादिष्वभिकाङ्क्षावान् । तथा-
अनिग्रहः प्राग्वत् । तथा-असंविभजनश्रीः असंविभागी, नाह-
रादिकमवाप्नातिगर्जनोऽन्यस्मै स्पर्धामपि यच्छति, किन्वात्मान-
नमेव पोषयति । तथा-(प्रविष्यंति ति) अमीतिकरो, दृश्यमानः सं-
ज्ञाप्यमाणो वा सर्वस्यामीतिमेवोपादयति । एवंविधद्रोषान्वितो-
ऽविनीत इत्युच्यते इति निगमनम् ॥ उक्तं ११ अ० । ('विणय' शब्दे
सर्वमधिकारं व्याख्यास्यामि) सूत्रार्थदानुयन्दनादिविनयरहिते,
वृ० ४ उ० । अविनीता नाम ये बहुशोऽपि प्रतिनोद्यमानाः प्रमा-
द्यन्ति । वृ० १ उ० ॥ सूत्रार्थदानुयन्दनादिविनयरहिते, स्था० १
वा० ४ उ० । (अस्यायाचनीयत्वं 'यायणा' शब्दे वक्ष्यते)
अविणीयप् (ण)-अविनीतात्मन्-पुं० । विनयरहिते अना-
त्मके, प्रज्ञा० ३ पद । दश० ।
अविज्ञा-अविज्ञा-स्त्री० । अविज्ञानमविद्या । अनामोक्तते, सूत्र०
श्रु० १ अ० १ उ० ।
अविज्ञाय-अविज्ञात-त्रि० । अविदिते, आचा० १ श्रु० १ अ०
१ उ० ॥
अविज्ञायकम् (ण)-अविज्ञातकर्मन्-न० । अविज्ञातमविदि-
तं कर्म क्रिया व्यापारो मनोवाक्कायलक्षणो यस्य । अज्ञातमन
आदिव्यापारे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।
अविज्ञायधम्म-अविज्ञातधर्मन्-त्रि० । पापादगिबृत्ते अज्ञातध-
र्मणि, अविरत्तसम्पदष्टौ च । प्र० ८ श० १० उ० ।
अविज्ञावदय-अविज्ञोपचित-न० । अविज्ञानमविज्ञा, तयोपचि-
तम् । अनामोक्तते कर्मणि, सूत्र० । तन्न वध्यते शाक्यसमये ।
यथा-मातुः स्तनाद्याक्रमणेन पुत्रव्यापत्तावप्यनामोनाश्रमां-
पचीयते । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । केवलकायक्रियोच्छेदं क-
र्मणि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।
अवितक-अवितर्क-पुं० । न विद्यते वितर्कोऽभ्रधानक्रियाफलं

देहरूपो यस्य (मित्रोः) सोऽवितर्कः । कुतर्करहिते, "सुसमाहि-
तलेसस्स अवितकस्स जिप्पल्लुणो " । दशा० ५ अध्या० ।
अवितह-अवितथ-त्रि० । न वितथमवितथम्-सत्यम् । आवा० ४ अ० ।
अव्यभिचारिणि, पञ्चा० १५ विव० । "णिगमं पावयणं अवितह-
मेयं " । पूर्वमजितमप्रकारयुक्तमपि सदन्यदा विगताभि-
तप्रकारमपि किञ्चित्स्यात् । अत उच्यते-अवितथमेतत्, न
काञ्चान्तरेऽपि विगताभिमतप्रकारमिति । म० १० श० ५ उ० ।
प्रश्न० । आचा० । तथ्ये, आ० चू० ४ अ० । यथास्थिते, कल्प०
१ क० । याथास्थयेन व्यथस्थिते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । य-
थावदननुष्ठिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । यथाऽवस्थितपि-
विदितार्थवचने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । सद्सूतार्थे, श्री० ।
अवितिष्ठ-अवितीर्थ-त्रि० । तितीर्षी पारमगते, सूत्र० १ श्रु० २
अ० १ उ० ।
अविदिष्ठ-अवितीर्थ-त्रि० । अदत्ते, वृ० ३ उ० । आ० म० नि० चू० ।
अविदिष्ट-अविदित-त्रि० । न विदितमविदितम् । वस्तुतोऽप-
रिज्ञाते, "संवेदनमात्रमविवितं त्वन्यत् ।" संवेदनमात्रं वस्तु-
स्वरूपपरामर्शशून्यमविदितं त्वन्यत्, कथञ्चिद्वस्तुग्राहित्वेऽपि
न विदितं वस्तु तदित्यविदितमुच्यते । पो० १२ विव० ।
अविदुय-अविदुत-त्रि० । उपद्रवराहिते अनुपमवे, पो० १२ विव० ।
अविदुत-अविदुत-त्रि० । अप्रयुक्तान्ते, अपरिणते, आचा०
२ श्रु० १ अ० ८ उ० । अप्रासुक्ते, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० ।
प्रोहसमर्थे श्रीजादी, दशा० ४ अ० ।
अविधि-अविधि-पुं० । असमाचार्याम, वृ० ३ उ० ॥
अविधिपरिहारि (ण)-अविधिपरिहारिन्-पुं० । संयमार्ये आ-
युक्ते, "संजमट्टापत्ति वा आउत्ते सि वा अविधिपरिहारि सि वा
पगट्टा" । आ० चू० १ अ० ।
अविष्प्राग-अविप्रयोग-पुं० । रक्षायाम्, "सुफलाणं अविष्प-
प्रागेणं " स्था० ४ वा० ४ उ० ।
अविष्पकट-अविप्रकट-त्रि० । न विप्रकटं दूरम् । आसन्नं,
द्वा० १ अ० ।
अविष्पणास-अविप्रणाश-पुं० । शाश्वतत्वे, विशेषे ।
अविवुद्ध-अविवुद्ध-त्रि० । भावसुप्ते, व्य० ३ उ० ।
अविभज्ज-अविज्ञाज्य-त्रि० । विजक्तुमशक्ये, स्था० ३ वा०
२ उ० । ज्यो० ।
अविभक्त-अविभक्त-त्रि० । अंकुतविभागे, वृ० । तत्र यावान्
सागारिकादीनां साधारणचोक्षक उपस्कृतस्तत्तावानद्याप्यखरुः
पुञ्ज एव अथस्तनागादिविचक्षा कृता सा आंशिका अवि-
प्रक्षेयुच्यते ॥ वृ० २ उ० ।
अविभाचि-अविभाचित-स्त्री० । विभागाभावे, व्य० ३ उ० ।
अविजव-अविजव-पुं० । अदारिद्र्ये, व्य० ६ उ० ।
अविज्ञाऽम्-अविज्ञागिम्-त्रि० । अविभागेन निर्वृत्तोऽविभागि-
मः । एकरूपे, म० २० श० ५ उ० । विभागेन निर्वृत्तो वि-
जगिमः, तन्निषेधादविभागिमः । जगशून्ये, स्था० ३ वा० ३ उ० ।

अविवज्जय-अविपर्यय-पुं० । अतस्मिन्स्तद्विपर्ययः, न विपर्ययोऽविपर्ययः । तत्त्वाव्यवसाये सम्यक्त्वे, विशेषे० ।
 अविवेग-अविवेक-पुं० । असदुपयोगे, अष्ट० १५ अष्ट० ।
 अविवेगपरिच्छाग-अविवेकपरित्याग-पुं० । ज्ञातव्योऽज्ञानपरित्यागे, पं० व० १ द्वार ।
 अविसंधि-अविसन्धि-पुं० । अव्यवच्छिन्ने, आव० ४ अ० । आव० चू० । ध० ।
 अविसंवाह (ए)-अविसंवादिन्-त्रि० । दृष्टेष्टाऽविरोधिनि, पा० ।
 अविसंवाह्य-अविसंवादित-त्रि० । सद्वृत्तप्रमाणावाधिते, पा० ।
 अविसंवाद-अविसंवाद-पुं० । संवादे, स च प्राप्तिनिमित्तं प्रवृत्तिहेतुभूतार्थक्रियाप्रसाधकार्यप्रदर्शनम् । सम्म १ काणम् ।
 अविसंवायण (ए)-जोग-अविसंवादन (ना) योग-पुं० । विसंवादनमन्यथाप्रतिपक्षस्यान्यथाकरणं, तद्गो यो गो व्यापारः, तेन वा योगः संबन्धो विसंवादनयोगः, तन्निषेधोऽविसंवादनयोगः । म० ७ श० १७० । अनाभोगादिना गवादिकमश्वदिकं यच्छदति, कस्मैचित् किञ्चिदप्युपगम्य वा यन्न करोति सा विसंवादना, तद्विपक्षेण योगः सम्बन्धोऽविसंवादनायोगः । संवादनासंबन्धे, स्या० ४ ठा० १ उ० ।
 अविसम-अविषम-त्रि० । समतले, तं० ।
 अविसय-अविषय-न० । बाह्यार्थाभावेन निर्गोचरे, पञ्चा० ५ विव० ।
 अविसहण-अविसहन-त्रि० । कस्यापि पराजवाऽलोढरि, वृ० १ उ० ।
 अविसाह (ए)-अविपादिन्-त्रि० । विपादवर्जिते, अष्ट० ३ वर्ग । ध० । अर्धने, प्रश्न० १ सम्य० द्वार । खेदरहिते, ध० ३ अधि० । किं मे जीवितेनेत्यादिविन्तादिरहिते, अन्त० ७ वर्ग । परीपहाद्यभिद्रुतत्वेन कायसंरक्षणार्थं दैन्यमनुपयाते, पं० व० १ द्वार ।
 आविसारय-अविशारद-त्रि० । अचतुरे, उक्त० ३८ अ० ।
 अविसुद्ध-अविशुद्ध-त्रि० । विशुद्धवर्णादिरहिते, स्या० ३ ठा० ४ उ० ।
 अविसुद्धलेस्स-अविशुद्धलेश्य-त्रि० । कृष्णाविलेशये, जी० ३ प्रति० । विजङ्गानिनि, म० ६ श० १७० । (तत्र अविशुद्धलेश्यो देवो विशुद्धलेश्यं देवं पश्यतीति ' विजंग ' शब्दे बह्यते)
 अविसेस-अविशेष-त्रि० । निर्विशेषे, पञ्चा० १३ विव० । नग-नगरनद्यादिकृतविशेषरहिते अविशेषलक्षणे चूमागादौ, स्या० २ ठा० ३ उ० ।
 अविसेसिय-अविशेषित-त्रि० । विभागरहिते, वृ० २ उ० । अनर्पिते, स्या० १० ठा० ।
 अविसेसियरसपगङ्-अविशेषितरसप्रकृति-स्त्री० । रसः स्नेहोऽनुभाग इत्येकार्थः, तस्य प्रकृतिः स्वभावः । अविशेषिता अविवक्षिता रसप्रकृतिः, उपलक्षणत्वात् स्थित्यादयो यस्मिन्नसावविशेषितरसप्रकृतिः । अविवक्षितानुभावे, क० प्र० ।
 अविसोहि-अविशोधि-पुं० । उपधाते, शबलीकरणे च । अध० । आतिचारे, आ० चू० १ अ० ।

अविसोहिकोहि-अविशोधिकोहि-स्त्री० । आधाकर्मादिगुणोऽविशुद्धवर्गे, ताश्च पञ्जिमाः-स्वतो हन्ति घातयति ज्वन्तमनुजानीते । तथा-पचति, पाचयति, पचन्तमनुजानीते इति । आचा० १ शु० १ अ० १ उ० ।
 अविस्स-अविश्र-न० । मांसरुधिरं, प्रव० ४० द्वार ।
 अविस्ससणिज्ज-अविश्वसनीय-त्रि० । विश्वासकर्तुमयोग्ये, तं० ।
 अविस्सामवेयणा-अविश्रामवेदना-स्त्री० । विश्रान्तिरहितायामसातवेदनायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।
 अविहृहा-देशी-पुं० । बालके, " सीहं पालेह शुहा, अविहृहं तेण सा महहं य " । वृ० १ उ० ।
 अविहृषमाण-अविहन्यमान-त्रि० । न विहन्यमानोऽविहन्यमानः । विविधपरिपदोपसर्गैरहन्यमाने, " अविहृषमाणो फलगावतघी " । विधातमक्रियमाणे, आचा० १ शु० ६ अ० ५ उ० ।
 अविहृववहू-अविधववधू-स्त्री० । जीवत्पतिकनाय्याम्, म० १२ श० २ उ० ।
 अविहान-अविघाट-स्त्री० । अत्रिकटावर्ते, व्य० ७ उ० ।
 अविहिंस-अविहिंस-त्रि० । न विघते विहिंसा येपां तेऽविहिंसाः । विविधैरुपायैरहिंसकेषु, आचा० १ शु० ६ अ० ४ उ० ।
 अविहसा-अविहिंसा-स्त्री० । विविधा हिंसा विहिंसा, न विहिंसा अविहिंसा । विविधप्राणातिपातवर्जने, " अविहिंसामेव पव्व-ए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो " । सूत्र० १ शु० २ अ० १ उ० ।
 अविहिकय-अविधिकृत-त्रि० । अविधिना कृतमविधिकृतम् । अशक्त्यादिना न्यूनाधिककरणे, दर्श० ।
 अविहिण्ण-अविधिङ्ग-त्रि० । न्यायमार्गाऽप्रवेदिनि, दर्श० १ अ० ।
 अविहिजोयण-अविधिजोजन-न० । " कागसियालयसुत्तं दवि-यरसं सव्वओ परामुहं । एसो उ हवे अविही " । इत्युक्तलक्षणे काकडुष्टादिमोजने, अध० ।
 अविहिसेवा-अविधिसेवा-स्त्री० । अविधेर्विधिविपर्ययस्य सेवा सेवनम्-अविधिसेवा । निषिद्धाचरणे, धो० ५ विव० ।
 अविहेहय-अविहेउक-पुं० । न कचिदप्युचिते आदरशून्ये, " अविहेहए जो स भिक्खू " । दर्श० १० अ० ।
 अवीइदव्व-अवीचिद्वय-न० । न वीचिद्वयमवीचिद्वयम् । सम्पूर्णं आहारद्रव्यं, सर्वोत्कृष्टायामाहारवर्गणायां च । ज० १३ श० ६ उ० । (' वीइदव्व ' शब्देऽस्य व्याख्या)
 अवीइमंत-अवीचिमत्-त्रि० । अकपायसंबन्धवति, ज० १० श० २ उ० ।
 अवीइय-अविचिच्य-अव्य० । अपृथग्भूयेत्यर्थे, म० १० श० २ उ० ।
 अविचिन्त्य-अव्य० । अविकल्प्येत्यर्थे, ज० १० श० २ उ० ।
 अवीय-अद्वितीय-त्रि० । न० व० । एकाकिनि, कल्प० ६ क० । असहाये, विपा० १ शु० २ अ० ।
 अवीरिय-अवीर्य-पुं० । मानसशक्तिवर्जिते, म० ७ श० १७० ।

झ० १६ झा० । अविरमणेपु, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । अग्रत्याख्यानं, स्था० १० गण० "अद्वि अ न जाइ सव्य-तथ कोइ देहेण माणवां पन्थ । अविरट् अव्ययबंधो, तदा वि निशो भवे तस्स" ॥ १॥ थ० २ अधि० ।

अविरट् (य) वाय-अविरति (क) वाद-पुं० । अविरतिरग्रह, त-
द्वादो वार्त्ता । मैथुनचर्चायाम्, स्था० ६ डा० ।

अविरट्या-अविरतिका-स्त्री० । न विद्यते विरतिर्यस्याः सा
अविरतिका । खियाय, स्था० ६ डा० । वृ० ।

अविरत्त-अविरक्त-त्रि० । अनुरक्ते, औ० ।

अविरय-अविरत-त्रि० । अविरमति स्म सावद्ययोगेभ्यो निवर्तते
स्मेति । पं० सं० १ द्वार । सावद्यादविरते, स्था० २ डा० १ उ० ।
उत्त० । चं० प्र० । पापस्थानेभ्योऽनिवृत्ते, दश० १० अ० प्रश्न० ।
थ० । प्राणातिपातादिविरतिरहिते विशेषेण तपस्यस्ते, भ०
२ श० १ व० । गृहस्थे, सूत्र० १ भु० १ अ० १ व० । मिथ्यादृष्टि-
च । आव ४ अ० ।

अविरयवाङ् (ए)-अविरतवादिन्-पुं० । वदनशीलो वादी; अवि-
रतस्य वाद्यविरतवादी । परिग्रहयति, आचा० १ भु० ४ म० १ उ० ।
अविरयसम्पत्त-अविरतसम्पत्त्य-पुं० । अविरतसम्पद्दष्टै,
कर्म० ५ कर्म० ॥

अविरयसम्पद्दिति-अविरतसम्पद्दष्टि-पुं० । विरतिर्विरतम्;
क्लृप्ते कप्रत्ययः । तत्पुनः सावद्ययोगे प्रत्याख्यानं, तत्र जानातीति
नान्युपगच्छति, न तत्पालनाय च यतत इति त्रयाणां पदाना-
मष्टौ भङ्गाः । स्थापना-

५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५

तत्र प्रथमेषु चतुर्षु भङ्गेषु मिथ्यादृष्टिः, भङ्गानि-
त्वात् । शेषेषु सत्यगृष्टिः, ज्ञानित्वात् । सप्तसु
भङ्गेषु नास्य विरतमस्तीत्यविरतः । "अन्नादि-
भ्यः" । ७ । २ । ४६ । इति अग्रप्रत्ययः । चरमभङ्गे-
षु विरतिरस्तीति । यद्वा-विरमति स्म सावद्ययो-
गेभ्यो निवर्तते स्मेति विरतः । "गत्यर्थाकर्मक-
पिबसुजेः" । ५ । १ । ११ । इति कर्तरि कप्रत्यये
विरतः । न विरतोऽविरतः, स चासौ सम्प-
द्गृष्टिश्चाविरतसम्पद्गृष्टिः । इदमुक्तं भवति-यः पूर्ववर्णि-
तोपशमिकसम्पद्गृष्टिः शुद्धदर्शनमोदपुञ्जोदयवर्ती क्रायोपश-
मिकसम्पद्गृष्टिर्यां क्लृप्त्यदशनसप्तको वा क्षायिकसम्पद्गृष्टि-
र्वा परममुनिप्रणीता सावद्ययोगविरतिं सिद्धिसौधाध्यारो-
हणनिश्रेष्ठिकत्वां जानन्नप्रत्याख्यानकपायोदयविघ्नितत्वाभा-
व्युपगच्छति, न च तत्पालनाय यतत इत्यसावविरतसम्पद्गृ-
ष्टिरुच्यते ॥ कर्म० २ कर्म० । देशविरते आवचे, स० १४ सम० ।
आव० । प्रव० । पं० सं० । दर्श० ।

अविरयसम्पद्द्विगुणद्वान-अविरतसम्पद्गृष्टिगुणस्थान-
न० । अविरतसम्पद्गृष्टेः गुणस्थानमाविरतसम्पद्गृष्टिगुणस्था-
नम् । चतुर्थे गुणस्थाने, कर्म० ।

उक्तं च-

"बंधं अविरट्हेतुं, जायते रागदोसद्वक्त्रं च ।
विरट्सुहृद् इच्छतो, विरट् काउं च असमर्थो ॥ १ ॥
यस असंजय सम्भो, निर्दतो पावकम्मकरणं च ।
आर्हियजीवाजीवो, अवलियदिछी वलियमोहो ॥ २ ॥
कर्म० २ कर्म० । पं० सं० ।

अविरल-अविरल-त्रि० । घने, औ० । "अविरलसमसद्विध-
चंदमंडलसमप्यमेहि" । अविरलानि घनशब्दाकावचेन समानि
तुल्यशलाकातया सहितानि संहितानि अनिम्नाऽनुजतशला-
कायोगात् चन्द्रमण्डलसमप्रमाणे च शक्तिधरविम्ववत् प्रमा-
न्ति वृत्ततया शोभन्ते यानि तानि तथा तैः (जुंजैः) ॥ प्रश्न० ४
आश्र० द्वार ।

अविरलदंत-अविरलदन्त-त्रि० । अविरलादन्ता यस्य । घन-
रदने, औ० । यस्य हि यथा अनेकदन्ता अपि सन्त एका-
कारदन्तपङ्क्तय इव लक्ष्यन्ते । तं० ।

अविरलपत्त-अविरलपत्र-त्रि० । घनपत्रे, "अविरलपत्ता
भट्टिपत्ता" । अत्र हेतौ प्रथमा । ततोऽयमर्थः-यतोऽविरलपत्रा
अतोऽच्छिन्नपत्राः । जी० ३ प्रति० । रा० ।

अविरह-अविरह-पुं० । विरहाभावे, व्य० १ उ० । सातत्ये-
नावस्थाने, आचा० १ भु० १ अ० ६ उ० ।

अविरहिय-अविरहित-त्रि० । सन्तते, पञ्चा० १० विव० ।

अविराहिकण-अविराध्य-अव्य० । अस्मिन्मनुपाल्येत्यर्थे,
पा० । सम्यक्पालयित्वेत्यर्थे, थ० ३ अधि० ।

अविराहिय-अविराधित-त्रि० । न विराधितोऽविराधितः ।
देशभक्ते, व० । अपराद्धे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

अविराहियसंजय-अविराधितसंजय-पुं० । प्रवर्ज्याकालादा-
रभ्याऽभग्नचारित्र्यपरिणामे संज्वलनकपायसामर्थ्यात् प्रमत्त-
गुणस्थानकसामर्थ्याद्वा स्वल्पमायाऽऽदिदोषसम्भवेऽप्यनाच-
रितचरणोपघाते, भ० १ श० २ उ० ।

अविराहियसामण-अविराधितसामण-त्रि० । आराधि-
तचरणे, भ० १५ श० १ उ० । अस्मिन्मनुपाल्येत्यर्थे, पञ्चा०
२, दर्श० । (अस्योपपातः 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे ए० १
पृष्ठे छट्ठ्यः) ।

अविरिक-अविरिक्त-त्रि० । अधिमक्तीकृते, व्य० ९ उ० ।

अविरिक्त-त्रि० । अधिमक्तीकृते, व्य० १ उ० ।

अविरिय-अवीर्य-त्रि० । वीर्यरहिते, विपा० १ भु० ३ अ० ।

अविरुद्ध-अविरुद्ध-त्रि० । सङ्गते, पञ्चा० ६ विव० । युक्ते, पञ्चा०
१७ विव० । पूर्वपुरुषमर्थ्यादाऽनतिक्रमेणाऽविरोधभाजि, व्य० १
उ० । वैतयिके, उक्तं च-"अविरुद्धो विणयकारी, देवीर्दणं प-
रायं भक्तीय ॥ जह वेसियायणसुभो, एवं अन्नं वि नायन्वा ॥
॥ १ ॥ झा० १४ म० । औ० । धर्माद्यप्रतिपत्त्यनि, "अविरुद्धकु-
लाचार-पालने मितभाषिता" । (अविरुद्धेत्येति) धर्माद्यप्रतिप-
त्त्यनिः कुलाचारस्य पालनमनुवर्त्तनम् । झा० १५ झा० । विरु-
द्धराज्यविरहिते ग्रामादौ, वृ० १ उ० ।

अविरुद्धवैण्य-अविरुद्धवैनयिक-पुं० । त्रितीशमातापितृ-
गुरूणामविरोधेन विनयकारिणि, अनु० ।

अविर्लविय-अविद्वम्बित-त्रि० । नातिमन्थरे, म० १ श० ७
उ० । कल्प० ।

अविल्ला-अवी-स्त्री० । ऊरुपयाम, पि० ।

अविलुत्त-अविलुत्त-त्रि० । संसृतराज्ये, व्य० ७ उ० ।

तित्थकरकावे वि तिविहं चारिचं-खाइयं, उवसामियं, खाइओव-
सामियं च । तस्मि वि तित्थकरकावे भिस्साओ चैव चारिचाओ
खाइयं उवसामियं वा चारिचं पावति, नान्यस्मात् । बहुतरा य
चरित्तविसेसां खओवसमभावे भवति ।

किंच तीर्थकरकावे वि—

अइयारो वि हु चरणे, उतस्स भिस्सेण दोस इतरेसु ।

वच्छातुरदिङ्गता, पच्छित्तेणं स तु विसुज्झो ॥ ३३६ ॥

(इयरेसु चि) खाइए उवसमिए वा । जहा-वच्छं खारादीहिं
सुज्जति, आतुरस्स वा रोगो वमणविरेयणओसहपओगेहिं सो-
दिज्जति, तथा साधुस्स चरणादिअइयारो पच्छित्तेणं सुज्जति ।

जं च भणियं-अतिसयरदिएहिं सुखासुचरणं ण सुज्जति-

सुविहं चैव पमाणं, पच्चक्खं चैव तद्द परोक्खं च ।

चउ वा तिविहा पढमं, अणुमाणोपम्मसुत्तरं ॥ ३३७ ॥

ओहि-मणपज्जव-केवलं च-एयं तिविधं पच्चक्खं, धूमादग्निज्ञान-
मनुमानम्, यथा गौः तथा गवय औपम्यं, सुत्तमिति आगमः,
इयरे ति एयं तिविधं परोक्खं ।

सुप्पमसुद्धं चरणं, जहा उ जाणंति ओहिणाणीओ ।

आगारेहि मणं पि व, जाणंति तहेतराभावं ॥ ३३८ ॥

पुव्वद्धं कंठं । जहा परस्स सुइये चि बाहिरागारेहिं अंतर-
गतो मणो णज्जति, तथा इयरे चि परोक्खणाणी आलोयणाविहाणं
सोडं पुव्वावरवाहियाहि गिराहि आचरणेहिं य जाणंति चरिचं
भावं च सुद्धं, सुद्धेतरं च ।

बोदग आह-जइ आगारेण भावो णज्जति तो उदाइमार-

गादीणं किं ण णाओ ? । आचार्य आह-

कामं जिणपच्चक्खा, गूढाचाराण दुम्मणो जावो ।

तद्द वि य परोक्खसुद्धो, जुत्तस्स व पणवीसाए ॥ ३३९ ॥

काममिति अनुमतार्थे । जइ वि जे उदाइमारगादिगूढायाया,
तेसि छउमत्थेणं पुक्खं उवल्लभति, भावो सो जिणाणं पुण
पच्चक्खो, तथा वि परोक्खणाणी आगमाणुसारेण चरित्तसुद्धिं
करंति चैव । कहं ? उच्यते- (जुत्तस्स वसि) जहा सुत्तोव-
उत्तो मीसजायज्जोयरो रागो चि पंवरस उगमदोसा, दस पस-
णा दोसा, एतं पणवीसं जहा सुत्ताणुसारेण सोहंतो चरणं सोहं-
ति, तथा सुत्ताणुसारेण पच्छिंसं दंतो करंतो य चरिचं साधंति ।

अणुज्जतचरणो इमेहिं कजेहिं होजा-

होज्ज हु वसणप्पत्तो, सरीरदोव्वल्लताएँ असमत्थो ।

चरणकरणे अमुप्पे, सुद्धं मगं परुवेज्जा ॥ ३४० ॥

व्यसनं आवती, मज्जगीतादियं वा, तस्मि वज्जमति, अहवा-
सरीरदुव्वलत्तणओ असमत्थो सज्जायपडिलेहणादि किरियं
कारं, अकप्पियादिपमिसेहणं च । अथवा-सरीरदोव्वलो, अस-
मत्थो य, अददधम्मा, एवमादिकारणेहिं चरणकरणं से अवि-
सुद्धं । तथा वि अप्पाणं गरिहंतो सुद्धं साहुमगं परुवेतो आ-
राधगो चैव भवति ।

इमे चैव अत्थो मणति-

ओसएणादिविहारे, कम्मं सिढिलेति मुलजबोहीए ।

चरणकरणं णिगूहति, न य वाहिं दुव्वजं जाणे ॥ ३४१ ॥

कएत्था । जो पुण ओसओ होडं ओसखं मगं उववूहइ, सुद्धं

चरणमगं गूहति, इमेहिं कारणोहिं इमं च से उव्वमवोही (अर्थं)
फलं । अहवा-

गुणसयसहस्सकलियं, गुणंतरं वा अभिलसंताणं ।

चरणकरणाजिलासी, गुणुत्तरतरं तु सो लहइ ॥ ३४२ ॥

गुणाणं सयं गुणसयं, गुणसयाणं साहस्सी, उदोअगमया सकारं-
स्स हस्सता कता, ते य अट्टारस सीखंगसहस्सा, तेहिं कलियं जु-
त्तं संखियं वा । किं तं ? चारिचं, तं जो य पसंसति । किंच-गुणआ-
सौ उत्तरं च गुणोत्तरम् । अथवा-अन्येअपि गुणाः सन्ति क्षमाद-
यः, तेणामुत्तरं, तं च गुणुत्तरं सारागचारिचं । गुणुत्तरतरं पुण अह-
क्खायचारिचं भणति, तं च जे अभिलसंति ते च उज्जतचरणा
इत्यर्थः । ते य उववूहते जो ओसएणो अप्पणा य उज्जयचरणो
होहिं ति चरणकरणाभिलासी भणति, स एवंवादी गुणुत्तरतरं
लभति, अहक्खायचारित्रमित्यर्थः । अथवा-गुणुत्तरतरं पुण
मोक्खसुद्धं भणति, तं लभति ।

जो पुण ओसएणो-

जिणवयणजावितेण तु, गुणुत्तरं सो वि जाणेत्ता ।

चरणकरणाजिलामी, गुणुत्तरतरं तु मो हणति ॥ ३४३ ॥

गुणुत्तरतरं चारिचं, साधू वा, अप्पणा य चरणकरणोवघाते वट्ट-
ति, अहवा-चरणकरणस्स जुत्ताण या निद्रा परोवघातं करंद, स
एवंवादी गुणुत्तरं-चारिचं, मोक्खसुद्धं वा, इणाति ण लभति, जेण
सो दीहसंसारिचणं णिव्वत्तेति ।

जो ओसखं ओसएणमगं वा उववूहति-

सो होती पणिणीतो, पंचएहं अप्पणो अद्वितिओ य ।

सुयसीलावियत्ताणं, नाणे चरणे य मोक्खे य ॥ ३४४ ॥

पंचपासत्थादिसुयसीलो विहारलिगाओ घाओ कामा, अ-
वियत्ता अगीयत्ता णाणचरणमोक्खस्स य एतेसि सव्वोसं पणि-
णीतो जवति ।

इमेहिं पुण कारणेहिं ओसखं ओसएणमगं वा उववूहेज्जा-

वितियपदमणप्पज्झो, वएज्ज अविक्कोविते व अप्पज्झो ।

जाणंते वा वि पुणो, जयसातव्वादिगच्छट्ठा ॥ ३४५ ॥

रायांसि य ओसएणाणुवत्तिओ भया भणजेज्जा तच्चादं चि ।
कअिद्धादी ब्रूयात्-तपस्विनमतपस्विनं ब्रूवतः पापं भवतीति नः
प्रतिज्ञा । तत्प्रतिघातकरणे वुसिराइयं अबुसराइयं भणजेज्ज,
दुग्भिक्खादिस्तु वा ओसएणभाविएसु खेत्तसु अत्थंतो ओस-
एणाणुवत्तीओ गच्छपरिपालणट्ठा भणजेज्ज ॥

जे जिकखु अबुसराइयं वुसराइयं वदइ, वदंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ १४ ॥

एमेव वितियसुत्ते, वुसराइयं अबुसराइं व ।

जो पुण वएज्ज भिक्खु, अबुसराइं तु वुसराइं ॥ ३४६ ॥

कएत्था ।

एंगचारियं जणंता, सयं व तेसु य पदेसु वट्टंते ॥

सगदोसछायणट्ठा, केइ पसंसति णिप्पम्मे ॥ ३४७ ॥

कोइ पासत्थादीणं एगचारियं भणति-‘एस सुंदरो, एयस्स ए-
गाणिणो ण केणंइ सह रागदोसा उप्पज्जति’ । सो वि अप्पणां
गच्छपंजरमगो तस्मि चैव णाणं वट्टति । सो य अप्पणज्जदोसे
अदिउकामो तं पासत्थादियं एगचारिं णिप्पम्मं पसंसति ।

अवीसंभ-अविश्रम्भ-पुं० । अविश्रम्भे, गौणे तृतीये प्राणातिपाते च । प्रश्न० । प्राणवधप्रवृत्तौ हि जीवानामविश्रम्भणीयो नवती-
ति प्राणवधस्याविश्रम्भकारणत्वादविश्रम्भव्यपदेशः । प्रश्न० १
आश्र० द्वार ॥

अवीसत्य-अविश्रस्त-त्रि० । विश्वासरहिते, ग० २ अधि० ।

अवुगहट्टाण-अविग्रहस्थान-न० । कलहाडनाशये, स्था० । "आय-
रियउवज्जायस्स यं गणंसि पंच अवुगहट्टाणा पणत्ता । तं जहा-
आयरियउवज्जायणं गणंसि आणं वा धारणं वा सम्मं पणजित्ता
भवइ १, एवं महाराइणियाय सम्मं २, आयरियउवज्जायणं ग-
णंसि जेसु य पज्जवजाय धारेइ ते काले सम्मं ३, एवं गिला-
णसेहवेयावच्च सम्मं ४, आयरियउवज्जायणं गणंसि आपु-
च्छियचारी यावि भवइ, यो अणापुच्छियचारी ।" स्था० ५
ता० १ व० ।

अवुत्त-अनुक्त-त्रि० । केनाप्यप्रेरिते, स्था० ८ ठा० ।

अवुसराइय-अवसुराज-पुं० । रत्नभेदे, तद्वद्दीप्तिमति पदार्थमा-
त्रे, नि० चू० ।

वसुराजमवसुराजं भणति-

जे भिक्खु वुसराइयं अवुसराइयं वदइ, वदंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ १३ ॥

वसूणि रयणाणि, तेसु रामो वसुराजो । अथवा-राई वीसिमान्,
राजते शोभत इत्यर्थः । तं धिवरीयं जो जणति, तस्स ववड्डु ।

इमा णिज्जुत्ती-

वसुमं ति वा वि वसिमं, वसतिरातिणिओ पज्जया चरणे ।

तेसु रतो वुसराई, अवुसिमि ततो अवुसराई ॥ ३५८ ॥

ते दुविधा-द्वये, जाये य । द्वये मणिरयणादिया, भावे थाणा-
दिया । इह भाववसुहिं अभिचारो । ताणि जस्स अत्थि सो वसु-
मंति जणति । अहवा-इंदियाणि जस्स वसे वट्ठंति, सो वसिमं भव-
ति । अहवा-णाणवंसणचरित्तिसु जो वसति णिचकालं सो वस-
तिरातिणिओ जणति । अहवा-भ्युत्पज्जति पापम-अन्यपदार्थाक्या-
नं, चारित्रं वा वसुमं ति वुचति । वसति या चारित्रे वसुराती-
भणति । अहवा-(पज्जयाचरणे चि) एते चारित्तच्छियस्स पज्जाया,
एगट्ठिया इत्यर्थः । एस वुसराई जणति । पणिपफ्फे अवुसराई ।

अहवा-

वुसि संविगो भणितो, अवुसि असंविग ते तु वोच्चत्थं ।

जे भिक्खु उ वएजा, सो पावति आणमादीणि ॥ ३५९ ॥

कंठा । 'वोच्चत्थं ति' वुसिराइयं अवुसिराइयं, अवुसिराइयं
वुसिराइयं भणति ।

एत्थ पढमं वुसिराइयं अवुसिराइयं जणति इमेहिं
कारणेहिं-

रोसेण पणिणिवेसे-ण वा वि अकयंत मिच्छभावेणं ।

संतग पोच्छाएत्ता, भासति अण्णोसण्णे ते उ ॥ ३६० ॥

कोइ कस्स वि कारणे अकारणे वा उठो पणिणिवेसेण 'सो पू-
इज्जाति, अहं ण पूइज्जामि' । एवमादिविभासा अकयपूयाय । 'एतेण
तस्स उवयारो कओ, ताहे मा एयस्स पडिउवयारो कायव्वो
होहि' चि मिच्छभावेणं मिच्छचेणं उदिषेणं । सेसं कंठं ।

असंविग्गा संविग्गजणं इमेण आलंघणेण दीलंति-

धीरपुरिसपरिहाणी, नाऊणं गंदधम्मिया केइ ।

दीलंति विहरमाणं, संविग्गजणं असंविग्गो ॥ ३६१ ॥

कंठा । के पुण धीरपुरिसा १, इमे-

केवलमादि हि चोइस, एवपुव्वीहिं विराहि एहिं ।

मुद्धममुद्धं चरणं, को जाणति कस्स भावं च ? ॥ ३६२ ॥

बाहिरकरणेण समं, अग्निंतरयं करेति अमुणंत्ता ।

एगंतैणं च जवे, विवज्जिओ दिस्सते जेण ॥ ३६३ ॥

एते संपदं णत्थि, जदि एते हांता तो जाणता, असीदंताणं
चरणं सुद्धं, इयरोसि असुद्धं । केवलमादि णो णातं पमिचोयंता
पच्छित्तं च जहावहं दंतो चिंतंति, अग्निंतरगो वि परिसो
चेव भावो । ण य एगंतरेण बाहिरकरणजुत्तो अग्निंतरकरण-
युको जवति । कहं ? । उच्यते-जेण विवज्जितो दीसति-जहा-
उदाइमारगस्स पसण्णचंदस्स य बाहिरे अविसुक्को, जरहो
विसुक्को चेव ।

जइ दाणि णिरतिचारा, हवेज्ज तव्वज्जिआ व सुज्जिज्जा ।

न य हुंति निरतिचारा, संघयणधित्तीण दोब्बद्धा ॥ ३६४ ॥

संघयकाहं जदि णिरतिचारा हवेज्ज, भइवा-तव्वज्जिया णाम
ओहिणाणाविज्जिआ जइ चरित्तिसुक्की हवेज्ज, तो जुत्तं वसु-इमे
नविसुक्कचरणा संघयणधित्तीण दुप्पन्नसणमो य पच्छित्तं करेति ।

संघयणधित्तुप्पन्नसओ चेव इमं च ओसणा भणंति-

को हा ! तद्वा समत्थो, जं तेहिं कयं तु धीरपुरिसेहिं ।

जइसत्ती पुण कीराति, ददा पइएणा इवइ एवं ॥ ३६५ ॥

धीरपुरिसा तित्तयकरादी जहासत्तिप कीरति एवं भणमाणे
ददा पइएणा भवति जो एवं भणति, जो पुण अएणहा वदति,
अण्णहा य करेति, तस्स सत्था पइएणा भवति ।

आयरिओ जणति-

सव्वेसिं एव चरणं, पुणो य मोयावगं दुइसयाणं ।

मा रागदोसवसगा, अप्पण सरणं पलीवेह ॥ ३६६ ॥

सव्वेसिं भवसिद्धियाणं, चरणं-सरीरमाणसाणं दुप्पळाण वि-
मोक्खणकरं, तं तुज्जे सयं सीयमाणो अप्पणो चरित्तेण रागा-
युगता उज्झयचरणेण दोसमावस्था मा भणइ-चरणं णत्थि,
मा तत्थेव वसइ, तं चेव सरणं पलीवेह, यो सहेत्यर्थः ।

किंच-

संतगुणणासणा खट्ठु, परपरिवाओ व होति अलियं वा ।

धम्मे य अवहुमाणा, साहुपदोसे य संसारो ॥ ३६७ ॥

चरणं णत्थि चि एवं भणंतेहिं साधूणं संतगुणणासो कतो
भवति; पवयणस्स य परिजवो कतो भवति; अलियवयणं च
भवति । चरणधम्मे पळोविज्जेते, चरणधम्मे य अवहुमाणो
कतो जवति, साधूण य पदोसो कतो भवति, साधुपदोसेण
य संसारो वट्ठितो जवति ॥

किंच-

खय-उवसम-मीसं पि अ, जिणकाहे वि तिविद्धं भवे चरणं ।

मिस्सतो चिय पावति, खयउवसमं च णाणत्ता ॥ ३६८ ॥

अवोच्छिन्न-अव्युच्छिन्न-त्रि० । उत्तरोत्तरानुवृत्त्या व्यवच्छेद-
शून्ये, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

अवोच्छिन्निण्य-अव्यवच्छिन्नितनय-पुं० । श्रुतस्य कालान्तरप्रा-
पणे, स्था० ५ डा० ३ उ० । अव्यवच्छिन्निप्रतिपादनपरो नयो-
ऽव्यवच्छिन्नितनयः । द्रव्यास्तिकनये, न० ।

अवोच्छिन्निण्यद्व-अव्यवच्छिन्नितनयार्थ-पुं० । ६ त० । द्रव्ये, न० ।

अवोच्छिन्निण्यद्वया-अव्यवच्छिन्नितनयार्थता-स्त्री० । अव्यवच्छि-
न्नितनयार्थस्य भावोऽव्यवच्छिन्नितनयार्थता । द्रव्यापेक्षायाम्, न० ।

अवोसिरण-अव्युत्सर्जन-न० । अपरित्यागे, दशा० १० अध्या० ।

अवोह-अपोह-पुं० । अपोहनमपोहः । निश्चये, न० । आ० म० ।
प्राप्तार्थं “ ततो अवोह ए वा ” ततः पर्यालोचनानन्तरम-
पोहते । आ० म० प्र० । अपोह्यते स्वाकारादिपरीत आकारो-
ऽनेनेत्यपोहः । स्वाकारविपरीताकारामूलके, रत्ना० ४ परि० ।
अव्यापोहपदार्थाधिगतिफलत्वाद्पोह इत्युच्यते । सम्म० १ का-
ण्ड । (अपोहः शब्दार्थः प्रसिद्ध इति ‘अगम’ शब्दे द्वितीयभागे
६५ पृष्ठे द्रष्टव्यः) अपगत ऊहो वादिसमुद्भावितस्तर्कौ य-
स्मात् ५ बह्व० । वादिसमुद्भाविततर्कनिरासार्थकं प्रतिवादिस्तमु-
द्भाविते तद्विरुद्धे तर्कभेदे, वाच० । (‘अपोह’ शब्देऽस्मिन्नेव
भागे ६१५ पृष्ठे संक्षेपतोऽयं निरूपितः, विस्तरतस्तु ‘सहस्य’
शब्दे वक्ष्यते)

अवोहरणिज-अव्यवहरणीय-त्रि० । जीर्णे, नि० चू० १ उ० ।

अवर्जजाव-अव्ययीजाव-पुं० । अनव्ययमव्ययं भवत्यनेन ।
अव्यय-क्वि-भू-करणे यञ् । व्याकरणप्रासिद्धे समासभेदे,
वाच० । अनु० ।

से किं तं अवर्जजावे ? । अवर्जभावे अणुगामा, अणुण-
इया, अणुफरिहा, अणुचरिआ । सेत्तं अवर्जजावे समासे ॥

पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, तत्र ग्रामस्य अनु समीपेन मध्येन
वाऽऽनिर्निर्गता अनुग्रामम् । एवं नद्याः समीपेन मध्येन वा नि-
र्गता अनुनदि, इत्याद्यपि ज्ञावनीयम् । अनु० ।

अव्यंग-अव्यंग-न० । अकृते, यस्य कृतं कृतं न विद्यते । व्य०-
७ उ० ।

अव्यक्त्वत्त-अव्याक्षिप्त-त्रि० । स्थिते, ‘अव्यक्त्वत्तण चेतसा’ ।
अव्याक्षितेन स्थिरेण चेतसा । उक्त० २० अ० । अन्यत्रोपभोग-
मगच्छनेत्यर्थः । दश० ५ अ० १ उ० । पं० व० । व्याक्षेपमकुर्वति,
प्रतीच्छनायोग्ये, “ वक्ष्येवणा दुसह्या, दिवसपु लीहाञ्जे ।
दुगमादी जो य पढं-तो न करेति विक्लवं ॥ १ ॥ अव्यक्त्वत्तो
पसो, आउत्तो अणएहमणसो उ ॥ ” पं० भा० ।

अव्यगमण-अव्यग्रमनस्-त्रि० । अव्यग्रमनाकुञ्चितमसम्भ्रज-
चित्तोपरमतो मनश्चित्तमस्येत्यव्यग्रमनाः । अनुकूलचित्ते, उक्त०
१५ अ० ।

अव्यक्त-अव्यक्त-न० । न व्यक्तमव्यक्तम् । अनिर्देश्ये स्वस्व-
रूपनामजात्यादिकल्पनारहिते, न० । सर्वप्रकृतौ साहचर्यपरि-
क्षिते प्रधाने, आ० म० प्र० । स्या० । अव्यक्तादयः प्रभवति,
ततः पाट्टेन ज्ञातम् । आ० म० प्र० । श्रुतवयोऽप्यो लघौ,
आचा० २ श्रु० ५ अ० ३ उ० । वयसा लघौ श्रुतेनात्यल्पश्रुते, जीत० ।
व्य० । यावत्कदादिषु रोमसंभवो न भवति तावदव्यक्तो भव-

ति । नि० चू० १८ उ० । व्य० । अव्यक्तोऽप्राणां वर्पाणां मध्ये
वालः । ओघ० । अगीतार्थे, नि० चू० २ उ० । अनवगतव्ये-
दग्रन्थरहस्ये, य० २ अधि० । अव्यक्तोऽप्रांतायस्तस्याऽव्यक्तस्य
गुरोः पुरतो यदपराधालोचनं तदव्यक्तम् । आलोचनादौपे, व्य० १
उ० । स्था० । “ जो य अगीयस्थस्ता, आद्योप तं तु होइ
अव्यक्तं ” सत्या सत्यजमेतियदव्यक्तवादी । संयताऽभ्युपगमे
संदिग्धवृत्तौ निहये, आ० म० द्वि० ।

अव्यक्तगम-अव्यक्तगम-त्रि० । गमनाभावे, नष्टमसमर्थे च । सूत्र०
१ श्रु० १४ अ० ।

अव्य(व)त्तव्यगम-अव्यक्तव्यक्तसंचित-पुं० । व्यादिः संख्या-
व्यवहारतः शीर्षप्रहेलिकायाः परतोऽसंख्यायाश्च संख्यात्वेनासं-
ख्यात्वेन च वक्तुं न शक्यते असाव्यक्तव्यक्तः । स च एककस्तेनाऽव्यक्त-
व्येन एककेन एकत्वोत्पादेन संचिता अव्यक्तव्यक्तसंचिताः ।
कतित्वेनाऽकतित्वेन चानिवृत्तनीयोत्पादेषु, ज० २० श० १० उ० ।
(अत्र दण्डक ‘उववाय’ शब्दे द्वितीयभागे ए२१ पृष्ठे वक्ष्यते)

अव्यक्तदंमाण-अव्यक्तदर्शन-पुं० । अव्यक्तमस्पष्टं दर्शनमनुभ-
वः स्वप्रार्थस्य यत्रासावव्यक्तदर्शनः । स्वप्रदर्शनभेदे, म० १६
श० ६ उ० ।

अव्यक्तमय-अव्यक्तमत-पुं० । न ज्ञायतेऽत्र कोऽपि संयतः को-
ऽप्यसंयत इत्यव्यक्तस्यैव सर्वस्याभ्युपगमाच्च व्यक्तमस्फुटमव्यक्तं
मतं येषां तेऽव्यक्तमताः । संयताद्यवगमे संदिग्धवृत्तिषु निह-
वेपु, विश० । आ० म० । आ० चू० ।

अव्यक्तरूप-अव्यक्तरूप-त्रि० । अमूर्तत्वादव्यक्तं रूपमस्याऽ-
साव्यक्तरूपः । तथा-करचरणशिरोप्रीवाद्यनवयवतया स्वतोऽ-
वस्थानाज्जीवे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अव्यक्तिय-अव्यक्तिक-पुं० । अव्यक्तमस्फुटं वस्तु अभ्युप-
गमतो विद्यते येषां ते अव्यक्तिकाः । संयताद्यवगमे संदिग्धवृत्ति-
षु, स्था० ७ डा० । उक्त० । औ० ।

तदुत्पत्तिमतं चेत्थम्-तृतीयनिहवचकव्यतामाह-

चोदा दो वाससया, तस्या सिद्धि गयस्स वीरस्स ।

तो अव्यक्तियदिद्धी, सेयवियाए समुप्पन्ना ॥

चतुर्दशाधिकं वर्षशतद्वयं तदा श्रीमन्महावीरस्य सिद्धि नः ।
स्याऽऽसीत्, ततोऽव्यक्ताभिधाननिहवानां दृष्टिर्दर्शनरूपा श्वेताव-
कायां नगर्यां समुत्पन्नेति ।

कथम्?, इत्याह-

सेयवियपोलसाहे, जोगे तद्विषसहिययसूक्ष्मे य ।

सोहम्मिनलिणिगुम्मे, रायागिहे मुरियवज्जने ॥

इह श्वेतविकायां नगर्यां पौलापादचैत्ये आर्यापादनामान आचा-
र्याः स्थिताः तेषां च वदवः शिष्या आगादयोगं प्रपन्नाः । अपरवा-
चनाचार्यासत्त्वे च त एवाऽऽचार्यापादसुरयस्तेषां वाचनाचा-
र्यत्वं प्रतिपन्नाः । तथाविधकर्मविपाकतश्च ते तत्रैव दिवसे रज-
न्यां हृदयशूलेन काष्ठं कृत्वा सौधर्मे देवशोके नक्षिणीगुल्मविमाने
देवत्वेनोत्पन्नाः । नच विज्ञाताः केनापि गच्छमध्ये । ततोऽवधिना
प्राक्तनव्यतिकरं विज्ञाय साधननुकम्पया समागत्य तदेव शरीरम-
धिष्ठायोत्थाप्य च प्रोक्तास्तेन साधवः । यथा-चैरात्रिककालं गृ-
हीत । ततः कृतं साधुभिस्तथैव, श्रुतस्योद्देशसमुद्देशानुज्ञाश्च तद-

अवोगमा-अव्याकृता-स्त्री० । अतिगम्भीरशब्दार्थायाम्-अव्य-
क्ताक्षरप्रयुक्तायां वा अविभाविनार्गत्वाद्वा प्रापायाम्, प्रश्न० १
सम्य० द्वार । “अवोच्छिन्नप अवोगडाप” । स० ६ सम० । अव्या-
कृता, यथा-वालकादीनां थपनिका । दश० ७ अ० ।

कया?, जिनबुद्ध्या, कथंभूतस्य?, विशुद्धाध्ययसायस्य । यद्येवं ततो यतिबुद्ध्या यतिरूपं विशुद्धस्य नमस्यतः को दोषो येन भवन्तः परस्परं न वन्दन्ते? अत्रापरः कश्चिदाह-यद्येवं, विष्णुमात्रधारिणं पार्श्वस्थादिकमपि यतिबुद्ध्याऽविशुद्धस्य नमस्यतो न दोषः । तदयुक्तम्; पार्श्वस्थादीनां सम्यग्यतिरूपस्याप्यज्ञात् । तदज्ञावश्च 'आलपणं विहारेण' इत्यादियतिलिङ्गस्यानुपलम्भात् । ततः प्रत्यक्कदोषवतः पार्श्वस्थादीन्वन्दमानस्य तत्सावधानुज्ञानलक्षणो दोष एव । उक्तं च-"जह चैवंगलिगं, जाणंतस्स नमिउ हवइ दोसो । निव्वंधसं पि नाउं, ए वंदमाणे धुवो दोसो" ॥१॥ इत्यादि । प्रतिमायास्तु दोषाभावात्तद्वन्दने सावधानुज्ञाभावतो न दोष इति ।

अत्र पुनरपि पराजिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह-
अहं परिमं पि न वंदइ, देवासंकाएँ तो न घेत्तवा ।
आहारोवाहिसेज्जा-ओ देवकया भवे जं तु ॥
अथ प्रतिमामपि न वन्दध्वे यूयम् । हन्त ! यद्येवं शङ्काचारी जवान्, तर्हि-मा देवकृता भवेयुरित्याहारोपधिश्चयादयोऽपि न ग्राह्या इति ।

किञ्चेत्यमतिशङ्कालुतायां समस्तव्यवहारोच्चेदप्रसङ्गः,
कुतः?, इत्याह-

को जाणइ किं भत्तं, किमओ किं पाणयं जइं मज्जं ।
किमत्तावुं माणिकं, किं सणो चीवरं हारो ? ॥
को जाणइ किं सुद्धं, किमसुद्धं किं सजीवनिजीवं ।
किं जक्खं किमजक्खं, पत्तमभक्खं तओ सव्वं ? ॥
को जानाति किमिदं भक्तं, कूमयो वेत्त्याद्याशङ्कायां जक्कादाव-
पि कृत्यादिभ्रान्त्यनिवृत्तेः सर्वमभक्कमेव प्राप्तं भवतः । तथा-
अल्लाबुचीवरादौ मणिमाणिक्यसर्पादिज्ज्ञान्यनिवृत्तेः सर्वमज्ञो-
ग्यं च प्राप्तमिति ।

तथा-

जइणा वि न संवासो, सेओ पमया-कुमीद्वसंका वा ।
होज्ज गिही व जइ चि य, तस्साऽऽमीसा न दायव्वा ॥
न य सो दिक्खेयव्वो, भव्वोऽभव्वो चि जेण को मुणइ ? ।
चोरो चि चारिओ चि य, होज्ज य परदारगामि चि ॥
को जाणइ को सीसो, को वा गुरुओ न तव्विसेमो वि ।
गज्जा न वोवएसा, को जाणइ सव्वमलियं पि ॥
किं बहुणा सव्वं चिय, संदिद्धं जिणमयं जिणिंदा य ।
परद्वोयसगमोक्खा, दिच्छाण किमत्थ आरंभो ? ॥
अहं संति जिणवरिंदा, तव्वयणाओ य सव्वपक्खिचि ।
तव्वयणाओ चिय जइ-वंदणयं वि ते कहं न मतं ? ॥
सर्वा अपि प्रकटार्थाः । नवरं " जइणा वि न संवासो " इ-
त्यादिनाऽच्युपगमविरोधो दर्शितः । (अहं संतीत्यादि) अथ
सन्ति जिनवरेन्द्राः, तद्वचनासिद्धत्वात् तेषाम् । तद्वचनादेव
च सर्वस्यापि परद्वोक्स्वर्गमोक्षादेः प्रक्षिपक्षिर्भवति । एवं
तर्हि तद्वचनादेव यतिवन्दनमपि कस्मान्न सम्मतमिति ? ।

अपि च-

जइ जिणमयं पमाणं, मुणि चि तो वज्झकरणपरिसुद्धं ।
देवं पि वंदमाणो, विमुद्धजावो विमुद्धो चि ॥

यदि जिनमतं जवतां प्रमाणं तर्हि मुनिरित्यनया बुद्ध्या आल-
यविहारादिवाह्यकरणपरिसुद्धं देवमप्यमरमपि वन्दमानो वि-
शुद्धभावो भवेदोपरहितो विशुद्ध एव । उक्तं चागमे-" परग-
रहस्समिसीणं, संमत्तगणिपिरुगव्वसाराणं । परिणामियं प-
माणं, निच्छयमवलंबमाणं " ॥ १ ॥ इत्यादि ।

जइ वा सो जइरुवो, दिट्ठो तह केत्तिया सुरा अन्ने ।

तुव्वेहिं, दिट्ठपुव्वा, सव्वत्थापच्चओ जं जे ॥

वा इति अथवा, यथा आर्यापाददेवो यतिरूपधरोऽत्र दृष्टः,
तथा कियन्तः सुरास्ततोऽन्ये भवद्भिर्दृष्टपूर्वाः, यद्येतावन्मात्रेणा-
पि सर्वत्राप्रत्ययो (भे) भवतां नहि कदाचित्कथञ्चित् कचिदाश्च-
र्यकल्पे कस्मिंश्चित्तथाभावाशङ्का युज्यत इति भावः । तस्माद्भव-
हारनयमाश्रित्य युक्तं भवतामन्योऽन्यवन्दनादिकम् । उक्तं च-
" निच्छयउ दुन्नियंको, भावे कम्मि वट्ठए समणो । ववहारओ
य जुज्झइ, जो पुव्वविओ चरितम्मि " ॥१॥ इत्यादि ।

एतदेव समर्थयन्नाह-

उउमत्थसमयवज्जा, ववहारनयाणुसारिणी सव्वा ।
तं तह समायरंतो, सुउभइ सव्वो विमुद्धमणो ॥
संववहारो वि वज्जी, जमसुद्धं पि गहिंयं सुयविहीए ।
कोवेइ न सव्वएणू, वंदइयस्स जाइ छउमत्थं ॥
निच्छयववहारनओ-वणीयमिह सासणं जिणिंदाणं ।
एगयरपरिच्चाओ, मिच्छुं संकादओ जे य ॥
जइ जिणमयं पवज्जह, तो मा ववहारनयमयं सुयह ।
ववहारपरिच्चाए, तित्थुच्चेओ जवेऽयस्सं ॥
चत्तसोऽपि सुगमाः । नवरं (कोवेइ इत्यादि) न कोपयति-नाप्र-
माणीकरोति न परिहरति, सुद्धे इत्यर्थः । (संकादओ इत्यादि)
येऽपि शङ्काकाङ्क्षादयस्ते हि मिथ्यात्वमिति संबन्धः ।

एतावत्युक्ते तत् किं तत्र संजातम् ?, इत्याह-

इय ते नासग्गाहं, मुयंति जाहे वहुं पि जछंता ।
ता संघपरिच्चत्ता, रायगिहे निवइणा नाउं ॥
वलज्जहेण पयाया, भणंति सावयं तवस्सि चि ।
मा कुरु संकमसंका-रुहेसु जणिए भणइ राया ॥
को जाणइ के तुव्वे, किं चोरा चारिया अभिमरे व चि ? ।
संजयरूवच्चन्ना, अज्जमहं भे वि वाएमि ॥
नाणचरियाहिं नज्जइ, समणोऽसमणो व कीस जाणंतो ।
तं सावयसंदेहं, करेमि भणिए निवो जणइ ॥
तुव्वं चिय न परोप्पर-वीसंभो साहवो चि किह मज्जं ।
नाणचरियाहिं ता जइ, चोराण व किं न ता संति ॥
उवउत्तिओ भयाउ य, पक्खिन्ना उ ते समयसग्गाहं ।
निवस्वाभियाऽज्जिगंतुं, गुरुमूद्धं ते पक्खिन्ता ॥

सर्वेऽप्युक्तार्थाः सुगमाश्च, नवरं नृपतिना बलभेदेण 'ते आग-
ताः' इति ज्ञात्वा आग्राताः आहूताः, 'के यूयम्?', इति पृष्टाश्च भ-
णन्ति-'हे आवक्' इत्यादि । (नाणचरियाहिं ति) ज्ञानक्रियाभ्यां यो
जवतामपि साधव इति विश्रम्भः परस्परं नास्ति, स ताभ्यां कथं

अतः कृताः । एवं दिव्यप्रभावतस्तेन देवेन तेषां साधूनां कालमङ्गादिविष्णुं रक्षता शीघ्रमेव विस्तारिता यांगाः । ततोऽनेन तच्छरीरं मुक्त्वा दिवं गच्छता प्रोक्ताः साधवः । यथा— 'कर्मणीयं भवन्तैर्यदसंयतेन सता मया आत्मनो वन्दनादौ न वारिताः ; चारित्रिणो यूयम् । अहं ह्यमुकादिने कालं कृत्वा दिवं गतो युष्मदनुकम्पयाऽत्रगतः, निस्तारिताश्च भवतामागादयो-गाः । इत्याद्युक्त्वा कर्मयित्वा च स्वस्थानं गतः । ततस्ते साधवस्तच्छरीरकं परिस्थाप्य चिन्तयन्ति—अहो ! असंयतो बहुकालं वन्दितः । तदित्थमन्यत्रापि शङ्का—को जानाति कोऽपि संयतः, कोऽप्यसंयतो देव इति ? ततः सर्वस्याप्यवन्दनमेव श्रेयः, अन्यथा ह्यसंयतवन्दनं, भृयावादश्च स्यात् । इत्थं तथाविधगुरुकर्मोद-यात्तेऽपरिणतमतयः साधवोऽव्यक्तवाद् प्रतिपन्नाः परस्परं न वन्दन्ते । ततः स्थविरैस्तेऽजिह्विताः—यदि परस्मिन् सर्वत्र ज्वतां संदहस्ताई यज्जकं देवोऽहमिति' तत्रापि भवतां कथं न संदेहः, किं स देवो वाऽदेवो वा?, इति । अथ तेन स्वयमेव कथितम्—'अहं देवः, नया देवरूपं च प्रत्यक्ष एव दृष्टमिति न तत्र संदेहः । हन्त ! यद्येवं तर्हि य एवं कथयन्ति वयं साधवः, तथा साधुरूपं प्रत्यक्षत एव दृश्यते, तेषु कः साधुत्वसंदेहः, येन परस्परं यूयं न वन्दन्ते ? नच देवयचनादेव वचनं सत्यमिति शक्यते वक्तुम्, देववचनं हि क्रीडा-व्यर्थमन्यथाऽपि संभाव्यते । नच तथा साधुवचनं, तद्विरतत्वाच्चे-पामिति । एवं च युक्तिनिर्यावध प्रज्ञाप्यन्ते तावदुद्धाट्य बाह्याः कृताः पर्यटन्तश्च राजगृहं नगरं गताः । तत्र च मौर्व्यंशसंभूतो वज्रन-द्रो नाम राजा, स च आसन्नः । ततः तेन विज्ञाताः । यथा—अव्यक्तवादि-नो निह्वा इह समायाता गुणशिश्रुकवैत्ये तिष्ठन्ति, ततः स्वपु-र्यान् प्रप्य राजकुले भानापिताः । तेन ते कटकमर्देन मारणार्थं चाक्षताः । ततो इस्तिनिकटेपु च तन्मर्दनार्थमानीतेषु तैः प्रा-कम्—राजन् ! वयं जानातः—आवकस्त्वं, तत्कथं भ्रमणानस्मान-नित्यं मारयसि ? ततो राजा प्रोक्तम्—युष्मत्सिद्धान्तेनैव को जानाति किं भावकोऽहं, न वा ? । भवन्तोऽपि किं चौराश्चारिका भूमिरा वेत्यपि को वेत्ति ? तैः प्रोक्तम्—साधवो वयम् । यद्येव-मव्यक्तवादितया किमिति परस्परमपि यथाग्रेष्ठं वन्दनादिकं न कुरुषु ? इत्यादिनिष्ठुरैर्मृदुभिश्च वचनैः प्राक्कास्ते नरप-तिना । ततः संबुद्धा लज्जिताश्च निःशङ्किताः सन्मार्गं प्रतिपन्नाः । ततो राजा प्रोक्तम्—भवतां संबोधनार्थमिदं मया सर्वमपि विहितमिति कर्मणीयमिति ।

अमुमेवार्थं भाष्यकारः ग्राह—

गुरुणा देवीचूष, समणरूपेण वाङ्मया सीसा ।

सव्जात्रपरो कहिओ, अव्यक्तियदिष्टिणो जाया ॥

गतार्था ।

कथमव्यक्तव्ययो जाताः ?, इत्याह—

को जाणइ किं साहु, देवो वा तं न वंदणिज्जो चि ।

होज्जा-उंसजयनमणं, होज्ज मुसावायममुगो चि ॥

को जानाति किमयं साधुवेषधारी साधुर्देवो वा ?, नास्त्येवात्र निश्चय इति । अत्र नच वक्तव्यं साधुरेवायं तद्वेषसमाचारदर्श-नान्नवानिव; आर्यापाददेवोऽपि साधुवेषसमाचारदर्शनैर्नानैका-न्तिकत्वात् । तस्मात्र कोपि वन्दनीयः, संशयविषयत्वात् । यदि पुनर्वन्द्येत, तदा आर्यापाददेववन्दन इवासंयतवन्दनं स्यात्, अमुको ब्रवीतीति भाषणे च भृयावादः स्यादिति ।

अथ प्रतिविधानमाह—

थेरवणं जइ परं, संदहो किं सुरो चि साहु चि ? ।

देवे कहं न संका, किं सो देवो न देवो चि ? ॥

तेण कहियं ति च मई, देवोऽहं खवदरिसणाओ य ।

साहु चि अहं कहिए, समाणरूपमि किं संका ? ॥

देवस्स च किं वणं, सच्चं ति न साहुरूवधारिस्स ।

न परोप्परं पि वंदह, जं जाणता वि साहु चि ॥

तिष्ठोऽप्युक्तार्थाः ।

किञ्च—यदि प्रत्यक्षेणैव यतिषु भवतां शङ्का, तर्हि परोक्षेण जीवादिषु सुनरामसौ प्राप्नोति, ततः सम्यक्त्वस्याप्यभाव इति दर्शयन्माह—

जोवाइपयत्येमुं सुहु—मन्ववद्वियविगिट्ठरूवेमुं ।

अवतपरोक्खेमु य, किह न जिणइमु जे संका ? ॥

गतार्था ।

अथ जिनवचनाजीवादिषु न शङ्का, तदेतदिहापि मानमित्याह—

नव्वयणाओ व मई, नणु तव्वयणे मुसाहुचित्तो चि ।

आलयविहारसमिओ, समणोऽयं वंदणिज्जो चि ॥

अथ तद्वचनाजिनवचनाजीवाद्यर्थेषु न शङ्का । ननु यद्येवं, तद्वचने इदमप्यस्ति—यदुत शोभनं साधुवृत्तं भ्रमणशीलं यस्या-सौ सुसाधुवृत्त इति हेतोः भ्रमणोऽयमिति निश्चयावन्दनीयः । सुसाधुवृत्तोऽपि स कथं ज्ञायते ?, इत्याह—आश्रयविहारसमित इति कृत्या । उक्तं च—“ आश्रयणं विहारणं, उणा चंक्रमणा ण य । सक्का सुविहिंयं नावं, नासा वेणइए णये ” ॥ १ ॥

उपपर्यन्तरमाह—

जह वा जिणिदपमिमं, जिणुणरहिय चि जाणमाणा वि ।

परिणामविमुच्छत्यं, वंदह तह किं न साहुं पि ? ।

होज्ज न वा साहुत्तं, जइरूवे नत्थि चेव पमिमाए ।

सा कीस वंदणिज्जा, जइरूवे कीस पमिमेहो ? ॥

सुगमे । नवरं प्रथमगाथायां प्रतिमायाः साधुरूपेण सह व-न्दनीयत्वे साम्यमुक्तम् । द्वितीयागाथायां तु साधुरूपे विज्ञेयं दर्शयति—यतिरूपे प्राणिनि साधुत्वं ज्ञेयं न वेति संदिग्धमेव, प्रतिमायां तु जिनत्वं नास्त्येवेति निश्चयः । ततः किमिति सा वन्दनीया, यतिरूपे च किमिति वन्दनप्रतिषेधः ? ।

अत्रोत्तरमाह—

अस्सजंजइरूवे, पावाणुमई मई न पमिमाए ।

नणु देवाणुगयाए, पमिमाए वि होज्ज सो दोसो ॥

अथैवंभूता प्रतिः परस्य ज्ञेयत्-असंयतेऽधिष्ठितयतिरूपे वन्द-माने तद्वतासंयमरूपपापाऽनुमतिर्भवति, न त्वसौ प्रतिमाया-म । अत्रोच्यते—ननु देवताऽधिष्ठितप्रतिमायामन्ययमनुमति-लक्षणो दोषो भवेदिति ।

अथैवं प्रयात्परः, किमित्याह—

अह पमिमाए न दोसो, जिणुवुद्धीए नमिउ विसुच्छस्स ।

तो जइरूवं नमिउं, जइवुद्धीए कहं दोसो ? ॥

अथ प्रतिमायां नानुमतिलक्षणो दोषः, किं कुर्वतः ?, नमस्यतः,

पवाहं वा वावाहं वा उप्पाएः, ऋविच्छेदं वा करेः, ए सुहुमं च णं उवदंसेज्जा; से तेणट्ठेणं जाव अव्यावाहा ॥२॥

(अच्छिपत्तंमि चि) अक्षिपत्ते अक्षिपत्तमाणि (आवाहं च चि) ईयद्वाधां (पवाहं च चि) प्रकृष्टवाधां (वावाहं ति) क्वचित्, तत्र तु व्यावाधां विविष्टावाधां (छविच्छेयं ति) शरीरच्छेदं (ए सुहुमं च णं ति) । सूक्ष्ममेवं सूक्ष्मं यथा भवत्येवमुपदर्शयेत्; नाट्यविधिमिति प्रकृतम् । प्र० १४ श० ८ उ० ।

अव्यावह-अव्यापृत-त्रि० । व्यापारवर्जिते, “सडियपडियं न कीरइ, जडियं अव्यागनं तयं वत्थु” । यत् शटितपतिते यत्र व्यापारः कोऽपि न क्रियते तद्वास्तु अव्यापृतमुच्यते । इति वक्षितस्वरूपे वास्तुभेदे, वृ० ३ उ० ।

अव्यावन्न-अव्यापन्न-त्रि० । अविभिन्ने, व्य० १ उ० । अविनष्टे, म० १ श० ७ उ० ।

अव्यावारपोसह-अव्यापारपौषध-पुं० । व्यापारप्रत्याख्यानपूर्वकं क्रियमाणे पोषधोपवासव्रते, “अव्यापारपोसहो दुविहो-देसे, सव्वे य । देसे अमुगं वावारं करोमि, सव्वे वचहारे से वल-सगडवरपरिकम्मादयो न कीरइ ” । आवा० ६ अ० ।

अव्यावारसुद्धिय-अव्यापारसुखित-त्रि० । तथाविधव्यापाररहिततया सुखिनि, वृ० ३ उ० ।

अव्याहय-अव्याहृत-त्रि० । अनुपहृते, पो० १४ विव० । स्वराविरोधिनि, व्य० १ उ० । अव्याधिते, न० ।

अव्याहयपुव्वावरत्त-अव्याहृतपूर्वापरत्व-न० । पूर्वापरवाक्याऽविरोधरूपे सत्यवचनातिशये, रा० । स० ॥

अव्याहिय-अव्याहृ(कु)त-त्रि० । अनाहृते, जी० ३ प्रति० । अकथिते, “अव्याहिते कसाइया” आचा० १ श्रु० ए अ० २ उ० । अव्युक्त-अव्युत्क्रान्त-त्रि० । अपारिणतविव्वस्तप्रासुके, ग० । २ अधि० ।

अव्वो-अव्वो-अव्य० । सर्वोधनादौ, व्य० ७ उ० ।

अव्वो सूचना-दुःख-संभाषणापराध-विस्मयानन्दादर-जय-खेद-विषाद-पश्चात्तापे ऽ । २ । २०४ ॥

‘अव्वो’ इति सूचनादिषु प्रयोक्तव्यम् । सूचनायाम्-“अव्वो हुक्करयारम्” । दुःखे-“अव्वो दलंति हिअम्” । संभाषणे-“अव्वो किमिणं किमिणं ?” । अपराधविस्मययोः-

“अव्वो हरंति हिअम्, तह वि न वेसा हवन्ति जुवईण ।

अव्वो किं पि रहस्सं, मुणंति धुत्ता जणम्महिआ” ॥ १ ॥

आनन्दादरजयेषु-

“अव्वो सुपहायमिणं, अव्वो अज्जम्ह सप्पलं जीअं ।

अव्वो अइअम्मि तुमे, नवरं जइ सा न जूरिहिइ” ॥

खेदे-“अव्वो न जामि छेत्तं” । विषादे-

“अव्वो नासेति दिहिं, पुत्रयं वड्ढेति दैति रणरणयं ।

परिह तस्सेव गुणा, ते च्चिअ अव्वो कह णु एअं ?” ॥ १ ॥

पश्चात्तापे-“अव्वो तह तेण कमा, अहअं जइ कस्स साहेमि” ॥

प्रा० २ पाद ।

अव्वोगड-अव्याकृत-त्रि० । अधिशेषिते, वृ० २ उ० । “अव्वो-गडमविन्नत्तं” । अव्याकृतं नाम यद्वायादैरविन्नकमिति । वास्तुजे-

दे; वृ० ३ उ० । (अत्र दृष्टान्तः ‘उमाह’ शब्दे द्वितीय-भागे ७०७ पृष्ठे छप्रव्यः) अविसंसृते, दशा० ३ अ० ।

अव्वोच्छिन्न-अव्यवच्छिन्न-त्रि० । स्ववंशस्य परम्परया समागते; व्य० ७ उ० ।

अव्वोच्छित्ति-अव्यवच्छित्ति-त्रि० । “अमानोनाः प्रतिपेधे” न व्युच्छित्तिरव्युच्छित्तिः । प्रतिपत्तौ, यः स्वयं कृतार्थोऽप्युत्तममवाप्य धर्मं परेभ्य उपदिशति । पं० चू० । अव्यवच्छित्त्या श्रुतं वाचयेत्, श्रुतस्य शिष्यप्रशिष्यपरम्परागतनयाऽव्यवच्छित्तिर्नूयादिति पञ्चममव्यवच्छित्तिः कारणम् । आ० म० प्र० ॥

अव्वोच्छित्तिण्यद्व-अव्यवच्छित्तिनयार्थ-पुं० । अव्यवच्छित्तिप्रधानो नयोऽव्यवच्छित्तिनयः, तस्यार्थः । छव्ये, म० ७ श० ३ उ० ।

अव्वोयना-अव्याकृता-स्त्री० । गम्भीरशब्दार्थायां मन्मनाक्षरप्रयुक्त्यां वा अभावितायां वा ज्ञापायाम्, म० १० श० ४ उ० ।

असइ-असृति-स्त्री० । अश्रुते तत्प्रभवेन समस्तधान्यमानानि व्याप्नोति इत्यसृतिः । अवाह्मुखहस्ततलरूपे, तत्परिच्छिन्ने धान्ये च । अनु० । प्रसृतेरकं, ज्ञा० ७ अ० । “दो असईओ पसई” । ओघ० ।

असृति-स्त्री० । अस्तरणे, घ० २ अधि० ।

असई-असकृत्-अव्य० । अनेकश इत्यर्थे, पञ्चा० १० विव० । आचा० । म० । “असई तु मणुस्सेहिं, मिच्छादंनो पज्जजइ” असकृद् वारंवारम् । उत्त० ९ अ० । पं० व० । जी० । पो० । “असई वोसड्ढचत्तेहे” । न सकृदसकृत्, सर्वदेत्यर्थः । दश० १० अ० ।

असई-असती-स्त्री० । दुःशीलायाम्, अ० २ अधि० । दास्याम्, म० ७ श० ६ उ० । प्रव० ।

असईजणपोसणया-(स्त्री०) असतीजनपोषण-न० । असतीजनस्य दासीजनस्य पोषणं तद्भाटिकोपजीवनार्थं यत् तत्तथा । एवमन्यदपि क्रूरकर्मकारिणः प्राणिनः पोषणमसतीजनपोषणमेवेति । दासीजनस्य क्रूरकर्मकारिणो वा पोषणं, उपा० १ अ० ।

असईपोस-असतीपोष-पुं० । असत्यो दुःशीलास्तासां दासीसारिकादीनां पोषणं पोषोऽसतीपोषः । तत्र लिङ्गमतन्त्रम्, नेन शुकश्वादीनामपि पुंसां पोषणमसतीपोषः । यद्वाचि-“मज्जारमोरमकड-कुक्कुरसारीयकुक्कुराईणं । छुट्ठित्थिनपुंसाई-ण पोसणं असईपोसणयं” ॥ १ ॥ प्रव० ६ द्वार । दुःशीलानां शुकसारिकामयूरमार्जारमर्कटकुक्कुटकुक्कुरशुकरादिति-रञ्जां पोषणे, माटीग्रहणार्थं दास्याश्च पोषे, गोहृददेशे प्रसिक्तोऽयं व्यवहारः । एषां च दुःशीलानां पोषणं पापहेतुरेवेति दोषः । पञ्चदशं कर्मादानमेतत् । घ० २ अधि० । आ० । म० । घ० २० । (असतीपोषणं तु छुज्जानेन साधुना क्रमकेन्यो न देयमिति ‘जोयण’ शब्दे वक्ष्यते)

असज्जण-अशकुन-पुं० । न० त० । आक्रन्दध्वनिप्रतिषेधवचनप्रवृत्तौ शकुनविपरीते अनिष्टार्थसंज्ञके, पञ्चा० ७ विव० । पं० व० । घ० ।

असंक-अशङ्क-न० । न विद्यते शङ्का यस्य मनसस्तदशङ्कम् । निःशङ्के, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

मे जायते । अपि च किं ते कृत्रिमे ज्ञानक्रिये चोराणामपि न स्तः,
न भवतः इति त्रयस्त्रिंशत्त्रयाऽर्थः ॥३५॥ इति तृतीयोऽव्यवसा-
यिधाननिवृत्तः समाप्तः । विशेषः । आ० म० । आ० च० ॥

अव्यवसिय-अव्यवसित-पु० । न० त० । अव्यवसने, कथमप्यात्मनोऽव्य-
यात् । आ० ७ आ० । कियतामप्यव्यवसानां व्ययाऽभावात् । आ०
५ अ० । सदाऽवस्थापिनि, विशेषः । स्था० । सूत्र० । " ध्रुवं णियप
सासम अव्यवस्य अव्यवस्य" अव्यवस्यः, तत्प्रदेशानामव्यवस्यत्वात् । अ०
२ श० १ उ० । द्वादशाङ्गं प्रवचनमव्यवस्यं, मानुषोत्तराद् बहिः-
समुद्रवदव्यवस्यत्वादेव । न० । ननु 'यत्कोकिलः किल मधौ' इ-
त्यत्र यच्चन्द्राग्रे का विभक्तिः? 'तयारुचूतकलिका' इत्यत्र तच्च-
न्द्राग्रे च का विभक्तिः? अत्र यच्चन्द्रावव्यवस्यौ धा, अनव्यवस्यौ
वेति प्रश्ने-यच्चन्द्राग्रे क्रियाविशेषणत्वे द्वितीया विभक्तिर्वाक्या-
र्यमादाय, अव्यवस्यत्वे तु प्रथमाऽपि संभवति । तच्चन्द्राग्रे तु तस्य
पूर्वपरामर्शित्वेन प्रथमा विभक्तिः; व्याख्यानान्तरेण सप्तम्यपी-
ति यच्चन्द्रावव्यवस्ययावनव्यवस्यौ च धर्तेते इति सर्वं सुस्थमिति ।
सेन० २ उल्ला० १५३ प्रश्न० ।

अव्यवसिय-अव्यवसित-वि० । अनिव्यवसति, पराक्रमवति च ।
स्था० ।

तत्रा ग्राणा अव्यवसिअस्स अहियाए अमृहाए अक्ख-
माए अणित्तेसाए अणायुगामियत्ताए जवन्ति । तं जहा-से
एवं मुंने भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए णिगंथे
पावयणे संकिए कंखिए वित्तिगिच्छिए भेदसमावने कयुस-
समावने णिगंथं पावयणं णो सदहइ, णो पत्तियइ, णो रो-
एइ; तं परीसहा अजिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवन्ति ।
नां से परीसहे अभिजुंजिय अभिजुंजिय अभिजवइ ।
से एवं मुंने जवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए पंच-
हिं महव्वपाहिं संकिए० जाव कयुससमावणे; पंच महव्वपायं
णो सदहइ० जाव नां से परीसहे अजिजुंजिय अभिजुंजिय
अजिजवइ । से एवं मुंने भवित्ता अगाराओ अणगारियं
पव्वइए णिं जीवनिक्काएहिं० जाव अजिजवइ ॥

त्रीणि स्थानानि प्रवचनमहाव्रतजीवनिकायलक्षणानि अव्यव-
सितस्थानिश्चयवतोऽपराक्रमवतो वाऽहितायाऽपस्याय, असुखा-
य दुःखाय, अन्नमाय असंगतत्वाय, अनिःश्रेयसाय अमोक्षाय,
अनानुगामिकत्वाय-अनुमानुबन्धाय भवन्ति । (से णं ति) यस्य
त्रीणि स्थानानि अहितादित्वाय भवन्ति, स शङ्कितो-देशतः स-
र्वतो वा संशयवान्, काङ्क्षितः तथैव भवान्तरस्यापि साधुत्वेन
मतो, विचिकित्सितः फलमप्रति शङ्कोपेतः, अतएव भेदसमाप-
न्नो द्वैधीभावमापन्नः-एवमिदं न चैवमिति मतिकः, कलुपसमा-
यन्नो नैतदेवमिति प्रतिपत्तिकः । ततश्च निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थिकं
प्रशस्तं प्रगटं प्रथमं वा वचनमिति प्रवचनम्-आगमः । दीर्घत्वं
प्राकृतत्वात् । न अद्भुते सामान्यतः, न प्रत्येति न प्रीति-
विपरीकरोति; न रोचयति न चिकीर्षाविपरीकरोति । तमि-
ति, य एवम्भूतस्त्वं प्रवजिताभासं, परिपह्यन्ते इति परीपहाः
बुधादयः, अजिबुज्य अजिबुज्य सम्बन्धमुपागत्य प्रतिस्प-
र्द्धां वा अजिभवन्ति न्यक् कुर्वन्ति इति । शेषं सुगमम् । स्था०
३ उ० ४ उ० ।

अव्यवसण-अव्यवसन-पु० । लोकोत्तररीत्या द्वादशे दिवसे,
जं० ७ वक्त्र० ।

अव्यवह-अव्यवह-न० । देवाद्युपसर्गजनितं जयं चहने वा व्यथा,
तदजावाऽव्यथा । व्यथाऽभावे शुक्लध्यानाद्यव्यवहने, जं० २५ श०
७ उ० । स्था० । ग० । औ० ॥

अव्यवहिय-अव्यवहित-त्रि० । परेणानापादितदुःखे, जी० ३ प्रति० ।
पं० सू० । अताकितं, जं० ३ श० २ उ० । अदीनमनसि, दश० ७
अ० । अपीडिते, पञ्चा० ५ वि० । निष्कम्पमानं धीरे, वृ० १ उ० ।

अव्यादृक्-अव्याविद्ध-न० । सूत्रगुणभेदे, अव्याविद्धं यत्तस्य सू-
त्रस्याधस्तनपदमुपरितनम्, उपरितनमधो न क्रियते । वृ० १ उ० ।

अव्यादृक्खर-अव्याविद्धाक्षर-न० । विपर्यस्तरत्नमाला-
गतरत्नानि इव व्याविद्धानि विपर्यस्तानि भक्तराणि यत्र तद्
व्याविद्धाक्षरं, न तथाऽव्याविद्धाक्षरम् । व्याविद्धाक्षरस्वदोपरहि-
ते सूत्रगुणे, ग० २ अधि० । आ० म० । अत्रु० ॥

अव्यागम-अव्याकुत-त्रि० । अव्यक्तेऽपरिस्फुटे, आचा १ भु० १
अ० १ उ० ।

अव्यावाह-अव्यावाध-न० । न विद्यते व्यावाधा यत्र तदव्या-
वाधम् । द्रव्यतः अङ्गाद्यभिघातकृतया, जावतो मिथ्यात्वादिकृ-
तया, द्विरूपयाऽपि व्यावाधया रहिते वन्दने, प्रव० २ द्वार । "अ-
व्यावाहं दुविहं-द्वये, भावे य" छव्यतः अङ्गाद्यभिधानव्यावाधा-
कारणविक्रमे, भावतः सम्पृष्टदृष्टाद्विच्यतो वन्दने, आच० ३
अ० । शरीरव्याधानामभावे, " किं ते जंत ! अव्यावाहं ? । सां-
मिता ! जं मे वातियपित्तियसंमियसंमियविहोरागायंका
सरीरगया दोसा उयसेता णा उदीरेति । सत्तं अव्यावाहं " ।
अ० १८ श० १० उ० । विविधा भावाधा व्यावाधा; तन्निषेधात् ।
औ० । व्यावाधावर्जितसुखं, औ० । "अव्यावाहमुचयगयाणं" । आ०
म० छि० । "अव्यावाहमव्यावाहेणं" । अव्यावाधमव्यावाधेन, सुखं
सुखेनेत्यर्थः । जं० ५ श० ४ उ० । कल्प० । अमूर्तत्वात् (रा०)
अकर्मकत्वात् (ध० २ अधि०) परेपामपीडाकारित्वात् (जं०
१ श० १ उ०) केनापि व्यावाधयितुमशक्यत्वात् (जी० ३ प्रति०)
व्यावाधारहिते सिद्धिस्थाने, रागादयो हि न तद् बाधितुं
प्रमविष्णवः । प्रज्ञा० ३६ पद । कल्प० । राणं बुधादिव्यावाधारहि-
तत्वात् (ब्रह्मचर्यम्) प्रश्न० ४ सम्य० द्वार । गन्धर्वादिलक्षण-
भावव्यावाधाविक्रमो (ध्यानदेशः) अव्यावाधशब्देन विशिष्यते ।
आच० ५ अ० । व्य.वाधन्ते परं पीडयन्तीति व्यावाधाः; त-
न्निषेधादव्यावाधाः । त्रि० । म० १४ श० ८ उ० । उत्तरयोः कृष्णरा-
ज्योरन्तर्गतसुप्रतिष्ठाभविमानवासिभ्योऽकान्तिकदेवेषु, स्था० ८
ठा० म० । "अव्यावाहारं देवाणं नव देवा नव देवसया पण-
चा; एवं अगिच्छा वि, एवं रिद्धा वि । " स्था० ८ उ० ।

अत्थि एं जंते ! अव्यावाहा देवा ? । इता अत्थि । से
केण्ड्रेण जंते ! एवं बुचइ अव्यावाहा देवा ? । अव्यावाहा
देवा गोयमा ! पत्तूणं एगमेगे अव्यावाहे देवे एगमेग-
स्स पुरिसस्स एगमेगंसि अच्चिपत्तंसि दिव्वं देवहिं दिव्वं
देवजुत्तिं दिव्वं देवाणुजावं दिव्वं वत्तीसइविहं नइविहिं उ.
वदंसेचए णो चेव एवं तस्स पुरिसस्स किंचि आवाहं वा

असंखेज्ज-असंखेय-त्रि० संख्यासीते, भ० १ श० ५ उ० । गणनामतिक्रान्ते, आ० चू० १ अ० ।

असंखेज्जकालसमयट्टि-अमङ्गुथेयकालसमयस्थिति-पुं० । पल्लोपमाससङ्ख्येयभागादिस्थितिषु नैरविकादिषु एकेन्द्रियविकलेन्द्रियवर्जं वैमानिकपर्यन्तेषु, स्था० । “ छुविहा णेरइया पणत्ता । तं जहा-संखेज्जकालसमयट्टिया चेव, असंखेज्जकालसमयट्टिया चेव । एवं परिगदियविगहैदियवज्जा० जाव वाणमंतरा ” । स्था० २ ग० २ उ० ॥

असंखेज्जगुणपरिहीण-असंख्यातगुणपरिहीण-त्रि० । असंख्यातगुणेन परिहीणो यः स तथा । असंखेयभागमात्रे, औ० । असंखेज्जजीविय-असंख्यातजीवित-पुं० । असंख्यजीवात्मकेषु वृक्षेषु, भ० । “ से किं तं असंखेज्जजीविया ? असंखेज्जजीविया छुविहा पणत्ता । तं जहा-पगट्टिया, बहुट्टिया य ” । भ० ५ श० ३ उ० ।

असंखेज्जय-असंखेयक-न० । गणनासंख्याभेदे, अनु० ।

से किं तं असंखेज्ज ? । असंखेज्ज एतिविहे पस्यत्ते । तं जहा-परित्तासंखेज्जए, जुत्तासंखेज्जए, असंखेज्जासंखेज्जए । से किं तं परित्तासंखेज्जए ? । परित्तासंखेज्जएतिविहे पस्यत्ते । तं जहा-जहसए, उक्कोसए, अजहमणुक्कोसए । से किं तं जुत्तासंखेज्जए ? । जुत्तासंखेज्जएतिविहे पस्यत्ते । तं जहा-जहसए, उक्कोसए, अजहसमणुक्कोसए । से किं तं असंखेज्जासंखेज्जए ? । असंखेज्जासंखेज्जएतिविहे पस्यत्ते । तं जहा-जहसए, उक्कोसए, अजहसमणुक्कोसए ॥

असंखेयकं तु-परीतासंखेयकं, युक्तासंखेयकं, असंखेयासंखेयकम् । पुनरेकैकं जघन्यादिभेदात् त्रिविधमिति सर्वमपि नवविधम् ॥

अथ नवविधमसंखेयकं प्रागुद्दिष्टं निरूपयितुमाह-

एवमेव उक्कोसए संखेज्जए रूपे पविस्सत्ते जहसयं परित्तासंखेज्जयं भवइ । तेण परं अजहसमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं परित्तासंखेज्जयं न पावइ । उक्कोसयं परित्तासंखेज्जयं केवइअं होइ ? । जहसयं परित्तासंखेज्जयं, जहसयं परित्तासंखेज्जमेत्ताणं रासीणं अजहमणुक्कोसो रूपूणो उक्कोसं परित्तासंखेज्जयं होइ ।

(एवमेव चित्ति) असंखेयकेऽपि निरूप्यमाणे एवमेवानवस्थितपल्यादिनिरूपणा क्रियत इत्यर्थः । तावद्यावदुत्कृष्टसंखेयकमानीतं, तस्मिँश्च यावदेकं रूपं पूर्वमधिकं दर्शितं तद्यथा तत्रैव राशौ प्रक्रियते तदा जघन्यं परीतासंखेयकं भवति । (तेण परमित्यादि) ततः परं परीतासंखेयकस्यैवाजघन्योत्कृष्टानि स्थानानि भवन्ति यावदुत्कृष्टं परीतासंखेयकं न प्राप्नोति । शिष्यः पृच्छति-कियत्पुनरुत्कृष्टं परीतासंखेयकं भवति ? । अत्रोत्तरम्-(जहसयं परित्तासंखेज्जयं ति) जघन्यपरीतासंखेयकं यावत्प्रमाणं भवतीति शेषः, तावत्प्रमाणानां जघन्यपरीतासंखेयकमात्राणां, जघन्यपरीतासंखेयकगतरूप-

संख्यानामित्यर्थः । राशीनामन्योन्यमन्यासः परस्परं गुणनास्वरूप एकेन रूपेणोक्तं उत्कृष्टं परीतासंखेयकं भवतीति । इदमत्र हृदयम्-प्रत्येकं जघन्यपरीतासंखेयस्वरूपा जघन्यपरीतासंखेयका एव यावन्ति रूपाणि भवन्ति तावन्तः पुञ्जा व्यवस्थाप्यन्ते । तैश्च परस्परं गुणितैर्यो राशिर्भवति स एकेन रूपेण हीनमुत्कृष्टं परीतासंखेयकं भवन्त्यम् । अत्र सुखप्रतिपत्त्यर्थमुदाहरणं दर्शयते-जघन्यपरीतासंखेयके किलासत्कल्पनया पञ्च रूपाणि संप्रधार्यन्ते । ततः पञ्चैव वाराः पञ्च पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते । तथाहि-५ । ५ । ५ । ५ । ५ । अत्र पञ्चजिः पञ्च गुणिताः पञ्चविंशतिः । सा च पञ्चमिरादता जातं पञ्चविंशतमित्यादिक्रमेषामापां राशीनां परस्परान्यासे जातानि पञ्चविंशत्यधिकान्येकात्रिशच्छतानि । पतत्यकल्पनया एतावन्मानः । सद्भावतस्त्वसंखेयरूपो राशिरेकेन रूपेण गुणहीन उत्कृष्टं परीतासंखेयमित्याद्यन्तरोक्ताद्वियुक्तासंखेयकादेकरिमन् रूपे समाकर्षिते उत्कृष्टं परीतासंखेयकं निष्पद्यते इति प्रतीयत एव । इत्युक्तं जघन्यादिभेदमित्रं त्रिविधं परीतासंखेयकम् ॥

अथ तावद्भेदमित्रस्यैव युक्तासंखेयकस्य निरूपणार्थमाह-

जहसयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअं होइ ? । जहसयं जुत्तासंखेज्जयं जहसयं परित्तासंखेज्जयमेत्ताणं रासीणं अजहमणुक्कोसो पडिपुसो जहसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ । अहवा-उक्कोसए परित्तासंखेज्जए रूपं पविस्सत्तं जहसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ । आवडिआ तित्तिआ चेव । तेण परं अजहसमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं न पावइ । उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअं होइ ? । जहसएणं जुत्तासंखेज्जएणं आवडिआ गुणिआ अजहमणुक्कोसो रूपूणो उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ । अहवा जहसयं असंखेज्जासंखेज्जयं रूपूणं उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ ॥

(जहसयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअमित्यादि) । अत्रोत्तरम्-(जहसयं परित्तासंखेज्जमित्यादि) व्याख्या पूर्ववदेव । नवरं-(अजहमणुक्कोसो पडिपुसो चित्ति) अन्योन्याभ्यस्तः स परिपूर्ण एव राशिरिदं गृह्यते, नतु रूपं पात्यत इति ज्ञावः । (अहवा उक्कोसए परित्तासंखेज्जए इत्यादि) ज्ञावितार्थमेव । (आवडित्या तत्तिआ चेव चित्ति) यावन्ति जघन्ययुक्तासंखेयके सर्वपरूपाणि प्राप्यन्ते आवडिकायामपि तावन्तः समया प्रवर्तन्त्यर्थः । ततः सूत्रे यत्रावलिका गृह्यते तत्र जघन्ययुक्तासंखेयकतुल्यसमयराशिमाना सा द्रष्टव्या । (तेण परमित्यादि) ततो जघन्ययुक्तासंखेयकात्परत एकोत्तरया वृद्ध्या असंखेयान्यजघन्योत्कृष्टानि युक्तासंखेयस्थानानि भवन्ति, यावदुत्कृष्टं युक्तासंखेयकं न प्राप्नोति । अत्र शिष्यः पृच्छति-(उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयमित्यादि) अत्र प्रतिवचनम्-(जहसपणमित्यादि) जघन्येन युक्तासंखेयकेनावलिका समयराशिर्गुणयते । किमुक्तं भवति ?-अन्योन्यमन्यासः क्रियते, जघन्ययुक्तासंखेयराशिस्तैव राशिना गुणयत इति तात्पर्यम् । एवं च कृते यो राशिर्भवति स एव एकेन रूपेणोक्तं उत्कृष्टयुक्तासंखेयकं भवति । यदि पुनस्तदेव तद्वत्पं गुणयते तदा जघन्यमसंखेयासंखेयकं जायते । अत एवाह-(अहवा जहसयं असंखेज्जासंखेज्जयं रूपूणमित्यादि) गतायम् । उक्तं युक्तासंखेयकं त्रिविधम् ॥

असंकाणिज्ज--अशङ्कनीय-वि० । कूटपाशादिरहिते अशङ्कहै
स्थाने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

असंकाप्य-असङ्कल्पित-वि० । स्वार्थे संस्कुर्वता साध्वर्थतया
मनसाऽप्यकल्पिते, भ० ७ श्र० १ उ० ।

असंकम-असङ्कम-पुं० । परस्परममीलने, अष्ट० १४ अष्ट० ।

असंकमण-अशङ्कमनस्-वि० । अशङ्कं मनो यस्यासौ अशङ्क-
मनाः । नपोदमनियमफलत्वाऽऽशङ्कारहिते आस्तिष्यमत्युप-
पेते, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

असंकि (ण)-अशङ्किन्-वि० । शङ्कामकुर्वाणे, सूत्र० १ श्रु०
१ अ० २ उ० ।

असंक्रिय-अशङ्कित-वि० । अशङ्कनीये, " असंक्रियाई संकं-
ति, संक्रियाई असंक्रियो । " सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

असंक्रिलिङ्ग-असंक्रिष्ट-वि० । विशुद्धाध्यवसाये, आतु० ।
निर्दूषणे, " असंक्रिलिङ्गाई चत्थाई " । औ० । विशुध्यमान-
परिणामवति, प्रश्न० १ सम्य० द्वार ।

असंक्रिलिङ्गाचार-असंक्रिष्टाचार-पुं० । असंक्रिष्ट इहपर-
लोकार्थसारूपसंक्लेशविप्रमुक्त आचारो यस्य सोऽसंक्रिष्टाचा-
रः । व्य० ३ उ० । सकलदोषपरिहारिणि, व्य० ३ उ० ।

असंक्रिलेस-असंक्लेश-पुं० । विशुध्यमानपरिणामहेतुके सं-
क्लेशभावे, " तिविहे असंक्रिलेसे- गाणसंक्रिलेसे, दंसणसं-
क्रिलेसे, चरित्तसंक्रिलेसे " । स्था० २ गा० ४ उ० । " दसविहे असं-
क्रिलेसे पणणते । तं जहा-उवहिअसंक्रिलेसे० जाय चरित्तअसं-
क्रिलेसे " स्था० १० टा० । (अस्य 'संक्रिलेस' शब्दे व्याख्या)

असंख-असङ्ख्य-वि० । अविद्यमानसङ्ख्ये, उक्त० ५ अ० । अवि-
द्यमानपरिमाणे च । हा० २६ अष्ट० ।

असंखगुणवीरिय-असंख्यगुणवीर्य-वि० । असंख्यातगुणयो-
गे, कर्म० ५ कर्म० । अष्ट० ।

असंखरु-असंखरु-न० । वाचिके कलहे, नि० चू० १ उ० ।
ग० । वृ० ॥

असंखनिय-असंखनिक-पुं० । कलहशीले, वृ० १ उ० ।

असंखय-असंस्कृत-वि० । उत्तरकरणेनावुदिते पटादिवत्सं-
धातुमशफ्ये, उक्त० ।

असंस्कृतं जीवितमित्युक्तमतस्तद्व्याचिख्यासुराह निर्युक्तिरुत्त-
उत्तरकरणेण कयं, जं किं वी संखयं तु णायव्वं ।

सेसं असंखयं खहु, असंखयस्सेस णिज्जुत्ती ॥

उक्त० नि० १ खएन ।

भूलतः स्वहेतुत उत्पन्नस्य पुनरुत्तरकालं विशेषाधानात्मकं
करणमुत्तरकरणं तेन कृतं निर्वर्तितं यत् किञ्चिदित्यविवक्षितघ-
टादि, (यत्तदोर्नित्यमभिसंयन्धत्वात्) तत् संस्कृतम् । तुरवधा-
रणे । सचैवं योज्यते-यदुत्तरकरणकृतं तदेव संस्कृतं ज्ञातव्यम् ।
शेषमतोऽन्यत् संस्कारानुचितं विदीर्णमुक्ताफलपममसंस्कृत-
मेव, खलुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । असंस्कृतमित्यस्य सूत्राव-
यवस्यैवा घट्यमाणलक्षणा निर्युक्तिरिति निक्षेपनिर्युक्तिः । बहुव-
चन्यतया च प्रतिज्ञातम् । अथवा-यथाऽऽचारपञ्चमाध्ययनस्य

'भावन्ती' इत्यादिना पदेन नाम, तथाऽस्याप्यसंस्कृतमिति नाम ।
ततश्चासंस्कृतनाम्नोऽस्यैवाध्ययनस्यैवा नामनिष्पन्ननिक्षेपनिर्यु-
क्तिः, तत्प्रस्ताव एव व्याख्यातव्येति गाथाऽर्थः । उक्त० ४ अ० ।

येन करणेनात्र प्रकृतं तदाह-

कम्मगसरीरकरणं, आणयकरणं असंखयं तं तु ।

तेणऽहिगारो तम्हा, उ अप्पमादो इह चरित्तम् ॥

कर्मकशरीरकरणं कर्मणो देहनिर्वर्तनं, तदपि कानावरणादि-
जेटोऽनेकविधमित्याह-आयुष्करणमिति । आयुषः पञ्चमक-
र्मप्रकृत्यात्मकस्य करणं निर्वर्तनमायुष्करणम् । तत्किम् ? इत्याह-
(असंखयं तं तु चि) तत्पुनरायुष्करणमसंस्कृतमुत्तरकरणेन शु-
दितमपि पटादिवत्संधातुं न शक्यम् । यतः-"फट्टा तुट्टा च इह,
पडमादी संवयंति नयनिउणा । सा का वि नत्थि नीती, संघिज्जइ
जीवियं जीए " ॥१॥ एवं च स्वरूपतो हेतुतो विषयतश्च व्याख्ये-
ति । स्वरूपतो हेतुतश्च 'उत्तरकरणेन कयं' इत्यादिना ग्रन्थेन
व्याख्यातम् । अनेन त्वायुष्करणस्यासंस्कृतत्वोपदर्शनेन विष-
यतः । इदानीं तूपसंहारमाह-(तेण अहिगारो चि) तेनेत्यायु-
ष्कर्मणा संस्कृतेनाधिकारः । (तम्हा उ चि) तस्मात् । तुशब्दोऽ-
वधारणार्थः, तस्य च व्यवहितः संवन्धः । ततोऽयमर्थः-यस्मा-
दसंस्कृतमायुष्कर्म तस्मादप्रमाद एव-प्रमादाभाव एव, चरित्रे
इति चरित्रविषयः कर्त्तव्य इति गाथार्थः । उक्त० ४ अ० ॥

संप्रति सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः, स च सूत्रे सति
भवति । तथेदम्-

असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ।

एवं विद्याणाहि जणे पमत्ते, कणुं विट्ठिसा अजया मिट्ठिति ॥

संस्क्रियत इति संस्कृतं, न तथा असंस्कृतम् । शक्रशतैर-
पि सतो चर्कयितुं शुदितस्य वा कर्णेनाशब्दस्य संधातुमश-
क्यत्वात् । किं तत् ? जीवितं प्राणधारणरूपम् । ततः किमि-
त्याह-मा प्रमादीः । किमुक्तं भवति ?-यदीदं कथञ्चित् संस्क-
तुं शक्यं स्यात्तुरङ्गघाते धर्मेऽपि प्रमादो दोषायेव स्यात्;
यदा त्विदमसंस्कृतं तदेतत्परिक्लेशे प्रमादिनस्तदतिष्ठल्लभमिति
प्रमादं मा कृथाः । कुतः पुनरसंस्कृतम् ? जरया बयोहानिरु-
पया, उपनीतस्य प्रक्रमान्मृत्युसमीपे प्रापितस्य, प्रायो जरऽन-
न्तरमेव मृत्युरित्येवमुपदिश्यते । नुहंतौ, यस्माच्चास्ति न विद्यते
आणं शरणं, येन मृत्युरक्ता स्यात् । उक्तं च वाचकैः-"मङ्गलैः
कौतुकेकैर्योगैर्विद्यामन्त्रैस्तथैवपिधैः न शक्ता मरणात् आतुं, सेन्द्रा
देवगणा अपि " ॥ १ ॥ यद्वा-स्यादेतत् । धार्धक्ये धर्मे विद्या-
स्यामीत्याशङ्क्याह-जरा मुपनीतः प्रापितो गम्यमानत्वात्स्व-
कर्मनिर्जरोपनीतः, तस्य नास्ति आणं, पुत्रादयोऽपि हि न तदा
पालयन्ति, तथा चात्यन्तमवधीरणा स्यात्-अस्य न धर्मे प्रति-
शक्तिः, अद्वा वा भावना । यद्वा-त्राणं येनासावपनीयते पुनर्यौ-
घनमानीयते न तादृक्करणमस्ति, ततो यावदसौ नासादर्यात् ता-
वद्धर्मे मा प्रमादीः । उक्तं हि-"तद्यावद्विन्दियवत्तं, जरया रोगेन
वाध्यते प्रसमम् । तावच्छरीरमूर्च्छां विहाय धर्मे कुश्ल मति-
म् ॥१॥ उक्त० ४ अ० । (जरोपनीतस्य च त्राणं नास्तीत्यत्र दृष्टा-
न्तोऽद्वनमङ्गः, तत्कथा च 'अट्टण' शब्दे अत्रैव भागे ३३= पृष्ठ
उक्ता) उत्तराऽध्ययनेषु चतुर्थेऽध्ययने, तच्च प्रमादाप्रमादाऽभि-
धायकमप्यादानपदेनासंखयमित्युच्यते । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।
असंखलोगसम-असङ्ख्यलोकसम-वि० । असंख्यलोकोऽऽ-
काशप्रदेशप्रमाणे, कर्म० ५ कर्म० ।

तानन्तकस्य, संवन्धिनां राशीनामन्योन्यमन्यासे सति, बहु ज-
घन्यं युक्तानन्तकमभ्यजीवमानं भवति । इयमत्र भाषणा-जघ-
न्यपरीतानन्तके ये राशयः सर्वपरूपाः, ते पृथक् पृथक् व्यव-
स्थाप्यन्ते, तेषां तथाव्यवस्थापितानां जघन्यपरीतानन्तकमा-
नानां राशीनामन्योन्याच्यासे सति युक्तानन्तकं जघन्यं ज-
घति । तथा जघन्ययुक्तानन्तके यावन्ति रूपाणि वर्तन्ते, अभ-
व्यासद्विका अपि जीवाः केवलिना तावन्त एव दृष्टा इति ॥८३॥

अथ प्रसङ्गतो जघन्यानन्तानन्तकप्ररूपणमन्याह-

तव्वगगे पुण जायइ, णंताणंतं हद्दु तं च तिव्वुत्तो ।

वग्गसु तद् वि न तं हा-इ णंतखेवे खिवसु ङ इमं ॥८४॥

तस्य जघन्ययुक्तानन्तकराशेर्वर्गे सकृदन्यासे-तद्वर्गे कृते स-
ति, पुनर्भूयोऽपि, जायते संपद्यतेऽनन्तानन्तं बहु जघन्यं, जघ-
न्यानन्तकं जघतीत्यर्थः । उत्कृष्टानन्तानन्तकप्ररूपणान्याह-(तं-
च तिव्वुत्तो इत्यादि) तच्च तत्पुनर्जघन्यमनन्तानन्तं त्रिकृत्वा
त्रीन् वारान् वर्गयस्व-तावतैव राशिना गुणय । अयमत्रार्थः-
जघन्यानन्तानन्तकराशेस्तावतैव राशिना गुणनस्वरूपो वर्गः
क्रियते, ततस्तस्य वर्गितराशेः पुनर्वर्गः, तस्यापि वर्गितराशेर्भू-
योऽपि वर्ग इति । तथाऽपि-एवमपि, वारत्रयं वर्गे कृतेऽपि, त-
दुत्कृष्टमनन्तानन्तकं, न भवति न जायते । ततः किं कार्यम् ?, इ-
त्याह-अनन्तकपानिमाद् वक्ष्यमाणस्वरूपान् पद् पद् संख्यान्
क्षिपस्व निधेहीति ॥ ८४ ॥

तानेव धरुनन्तकपानाह-

सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई काल पुग्गझा चैव ।

सव्वमन्नोगनहं पुण, तिवाग्गिउं केव्वल्लुग्गम्मि ॥ ८५ ॥

सर्व एव सिद्धा निष्ठितनिःशेषकर्माणः, निगोदजीवाः सम-
स्ता अपि सूक्ष्मवावरमेदमिक्षा अनन्तकायिकसत्त्वाः, वनस्पतयः
प्रत्येकानन्ताः सर्वेऽपि वनस्पतिजीवाः । काल इति-सर्वोऽप्य-
तीतानागतवर्तमानकालसमयराशिः, पुद्गलाः समस्तपुद्गलरा-
शेः परमाणवः । सर्वे समस्तम्, अलोकनमोऽलोककाशामिति;
उपलक्षणत्वात् सर्वोऽपि लोकालोकप्रदेशराशिः, इत्येतन्नाशि-
षद्रूपक्षेपानन्तरं यस्मिन् कृते यद्भवति तदाह-पुनः पुनरपि त्रिर्व-
र्गयित्वा त्रीन् वारस्तावतैव राशिना गुणयित्वा, केवलद्विके के-
वलज्ञानकेवलदर्शनयुगत्रे कृते सति ॥ ८५ ॥

खित्तेऽणंताणंतं, हवई जिडं तु ववहरइ मज्झं ।

इय मुहमत्यविचारो, लिहिआ देविंदसूरीहिं ॥ ८६ ॥

किमे न्यस्ते सति, अनन्तानन्तकं भवति जायते, ज्येष्ठमुत्कृष्टम् ।
तुः पुनरर्थे, व्यवहितसम्बन्धश्च । व्यवहरति व्यवहारकारि मध्यं
तु मध्यं पुनः । इयमत्र भाषणा-इह केवलज्ञानकेवलदर्शनश-
ब्देन तत्पर्याया उच्यन्ते, ततः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः पर्या-
येष्वनन्तेषु कृतेषु सतिस्त्विति द्रष्टव्यम् । नवरं ज्ञेयपर्यायाणा-
मानन्त्याज्ज्ञानपर्यायाणामप्यानन्त्यं वेदितव्यम् । एवमनन्तानन्तं
ज्येष्ठं भवति, सर्वस्यैव वस्तुजातस्यात्र संगृहीतत्वात् । अतः प-
रं वस्तुसत्त्वस्यैव संख्यानिषयस्याज्ञावादित्यभिप्रायः । सूत्राभि-
प्रायतस्त्वित्यमप्यनन्तानन्तकमुत्कृष्टं न प्राप्यते, अनन्तकस्याष्ट-
विधस्यैव तत्र प्रतिपादितत्वात् । तथाचोक्तमनुयोगद्वारेण-
“ एवमुक्तासयं अणताणंतं न त्थि ” । तदत्र तत्त्वं केवलिनो
विदन्ति । सूत्रे तु यत्र क्वचिदनन्तानन्तकं गृह्यते तत्र सर्वत्रापि-

जघन्योत्कृष्टशब्दवाच्यमनन्तानन्तकं द्रष्टव्यम् । कर्म०४ कर्म० ।
(यद्यपीदं पूर्वं ‘अणंतं’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६१ पृष्ठे जावि-
तं, तथापि मनान्तरेणेहोपन्यस्तम्)

असंख्येज्जयित्थम्-असंख्येयविस्तृत-त्रि० । असंख्येयानि यो-
जनसहस्राणि आयामविष्कम्भेण, असंख्येयानि, योजनसहस्राणि,
परिक्षेपेण च विस्तृते, जी० ३ प्रति० ।

असंग-असङ्ग-त्रि० । बाह्याभ्यन्तरसङ्गरहिते, प्रज्ञा० १ पद ।
आव० । प्रव० । न विद्यते सङ्गोऽमूर्तत्वाद् यस्य स तथा ।
आचा० १ श्रु० ५ अ० ७ उ० । आत्मनि सङ्गविकले, षो० ८
विव० । अभिषङ्गाभाववति, षो० १४ विव० । मोक्षे, पं० व०
३ द्वार । सकलकलेशाऽज्ञावात् (औ०) सिद्धे, तत्तुल्यावश्ये,
च । “ भये च हर्षे च मंतरविक्रिया, सुखेऽपि दुःखेऽपि च नि-
र्विकारता । स्तुतौ च निन्दासु च तुल्यशीलता, वदन्ति तां त-
त्त्वविदोऽहसङ्गताम् ” ॥ १ ॥ पो० १५ विव० ।

असंगह-असंग्रह-पुं० । असंग्रहशीले, व्य० ४ उ० ।

असंगहसू-असंग्रहसूचि-पुं० । न विद्यते संग्रहे सूचिर्नस्य सः
गच्छेत्प्राग्रहकरस्य पीठादिकस्योपकरणस्यैवणादोषविमुक्तस्य
लज्ज्यमानस्यात्मभरित्वेन संग्रहे सूचिमनादधाने, प्रश्न० ३
सम्ब० द्वार ।

असंगहिय-असंग्रहिक-पुं० । व्यवहारनयमतानुसारिणि वि-
शेषवादिनि नैगमे, विशेष० ।

अमंगृहीत-त्रि० । अनाभिते, स्था० ८ उ० ।

असंगाणुष्ठाण-असङ्गानुष्ठान-न० । निर्विकल्पस्वरसचग्रहि-
प्रवृत्तौ, ध० १ अधि० । अष्ट० ।

ध्यानं च विमले बोधे, सदैव हि महात्मनाम् ।

सदा प्रसूमरोऽनन्ते, प्रकाशो गगने विधोः ॥ १० ॥

(ध्यानं चेति) विमले बोधे च सति महात्मनां सदैव हि
ध्यानं भवति, तस्य तन्नियतत्वात् । दृष्टान्तमाह-अनन्तेऽभ्ररहिते
गगने विधोरुदितस्य प्रकाशः सदा प्रसूमरो जवाति, तथाऽ-
वस्थास्वाभाव्यात् ॥ १० ॥

सत्प्रवृत्तिपदं चेह-सङ्गानुष्ठानसंज्ञितम् ।

संस्कारतः स्वरसतः, प्रवृत्त्या मोक्षकारणम् ॥ ११ ॥

(सदिति) सत्प्रवृत्तिपदं चेह प्रमायामसङ्गानुष्ठानसंज्ञितं
भवति, संस्कारतः प्राच्यप्रयत्नजात्, स्वरसत इच्छानैरपेक्ष्येण,
प्रवृत्त्या प्रकृष्टवृत्त्या, मोक्षकारणम् । यथा-इहदरुनोदनादन-
न्तरमुत्तरअक्षत्रमिसंतानस्तत्संस्कारानुवेधादेव भवति, तथा
प्रथमाभ्यासाद् ध्यानानन्तरं तत्संस्कारानुवेधादेव तदसद-
शपरिणामप्रवाहोऽसङ्गानुष्ठानसंज्ञां लभत इति प्राचार्यः ॥ ११ ॥

प्रशान्तवाहितासंज्ञं, विसजागपरिहृत्यः ।

ज्ञाववर्त्म भ्रुवाध्वेति, योगिजिगीयते शब्दः ॥ १२ ॥

(प्रशान्तेति) प्रशान्तवाहितासंज्ञं सांख्यस्थानां, विसभागपरिहृ-
यो वौकानाम्, शिववर्त्म शैवानां, भ्रुवाध्वा महाव्रतिकानाम्, इत्ये-
वं हि योगिभिरुचोऽसङ्गानुष्ठानं गीयते ॥ १२ ॥ द्र० १५४ द्र० १ पो०
असंघयण-असंहनन-न० । आद्यैस्त्रिभिः संहननैर्वर्जिते, नि०
चू० २० उ० ।

इदानीमसंख्येयासंख्येयकं त्रिविधं विभजिपुराह-

जहण्यं असंखेज्जासंखेज्जयं केवइयं होइ ? । जहण्यं
ठाणाइं जुत्तामंखेज्जपणं आवलिआ गुणिआ अणमण-
वभासो पमिपुणो जहण्यं असंखेज्जासंखेज्जयं होइ ।
अहवा उक्कोसए जुत्तासंखेज्जए रूपं पक्खित्तं जहण्यं अ-
संखेज्जासंखेज्जयं होइ । तेण परं अजहणमणुक्कोसयाइं
जाव उक्कोसयं असंखेज्जासंखेज्जयं ए पावइ । उक्कोसयं
असंखेज्जासंखेज्जयं केवइयं होइ ? । जहण्यं असंखेज्जासं-
खेज्जयमेचाणं रासोणं अणमणवभासो रूपो उक्कोसयं
असंखेज्जासंखेज्जयं होइ ॥

(जहण्यं असंखेज्जासंखेज्जयमित्यादि) इदं तु सूत्रं भा-
वितार्थमेव । नवरं (पमिपुणो ति) परिपूर्णं रूपं न पा-
त्यत इत्यर्थः । 'अहवा' इत्याद्यपि गतार्थम् । (तेण परमित्यादि)
ततः परं (असंखेज्जासंखेज्जकं केत्तिर्यामित्यादि) अत्रो-
त्तरम्- (जहण्यं असंखेज्जासंखेज्जयमित्यादि) जघन्यमसंख्ये-
यकं यावद्भवतीति शेषः । तावत्प्रमाणानां जघन्यासंख्येयक-
रूपं संख्यानामित्यर्थः । राज्ञानामन्योन्यमन्यासः परस्परं गु-
णनास्वरूपः, एकेन रूपेणोत्तकृष्टमसंख्येयासंख्येयकं भवति ।
अयमत्र जावार्थः-प्रत्येकं जघन्यासंख्येयासंख्येयकरूपा जघन्या-
संख्येयासंख्येयका एव यावान्त रूपाणि भवन्ति तावन्ते रा-
शयो व्यवस्थाप्यन्ते । तैश्च परस्परगुणितैर्यो राशिर्भवति स
एकेन रूपेण हीन उत्कृष्टमसंख्येयासंख्येयकं प्रतिपत्तव्यम् ।
उदाहरणं चात्राप्युत्कृष्टपरीतासंख्येयकोक्तानुसारेण वाच्यम् ।
अनु० ॥

साधनमसंख्यातानन्तकस्वरूपमाह-

इयं सुत्तुत्तं अन्ने, वगियमेकंति चउत्त्ययमसंखं ।

होइ असंखसंखं, लहु रुवजुयं तु तं मज्झं ॥ ८० ॥

(अन्ने वगियमित्यादि) रूपे भाचार्या एके सूरय एवमाहुः-यथा-
चतुर्थकमसंख्यं जघन्ययुक्तासंख्यातकरूपं, वर्गितं तार्थतय राशिना
गुणितं सत्, (एकमिति) एकवारं, भवति जायते संपद्यतेऽसं-
ख्यासंख्यं, अथु जघन्यं, जघन्यासंख्यातासंख्यातकं भवतीत्यर्थः ।
अत्रापि नतेऽसंख्यातकमुद्दिश्य मध्यमोत्कृष्टमेव प्रकृष्य पृथक्कै-
वेति दर्शयन्नाह- (रुवजुयं तु तं मज्झं ति) रूपेण सर्गपल-
क्षणेन युतं रूपयुतम् । तुरवधारणे, व्यवहितसम्बन्धश्च । त-
दिति-तदेवानन्तराभिहितं जघन्यासंख्येयासंख्येयादिकम् । किं
भवतीत्याह-मध्यं मध्यमासंख्येयासंख्येयादिकं भवति ॥ ८० ॥

रूपूणमाइमं गुरु, तिवगिगं तं इमं दसक्खे ।

होगागासपएसा, धम्माधम्मंगनीवदेसा य ॥ ८१ ॥

तदेव जघन्यासंख्येयासंख्येयादिकं रूपोनमेकेन रूपेण रहितं
सत्, आदिमं तदपेक्षयाऽऽद्यस्य राशेः संवन्धि गुरु उत्कृष्टं जघ-
तीति । अयमत्राशयः-जघन्यासंख्येयासंख्येयकरूपानां सद् युक्ता-
संख्यातकमुत्कृष्टं भवति, जघन्यपरीतानन्तकं रूपोनमसंख्येया-
संख्येयकमुत्कृष्टं भवति, जघन्ययुक्तानन्तकं तु रूपोनमुत्कृष्टं प-
रीतानन्तकं भवति, जघन्यानन्तानन्तकं तु रूपोनमुत्कृष्टं युक्ता-
नन्तकं भवतीति । अधुना जघन्यपरीतानन्तकं मतान्तरेण
प्रकृष्यन्नाह- (तिवगिगं तं इत्यादि) तदिति प्रागाभिहितं ज-

घन्यामसंख्येयासंख्येयकं त्रिवर्गयित्वा सद्यश्चिराशी, परस्परं
त्रीन् वारानन्यस्येत्यर्थः । अयमत्राशयः-जघन्यासंख्येयासं-
ख्येयकराशेः सद्यश्चिराशिगुणनलक्षणां वर्गो विधीयते, तस्या-
पि वर्गराशेः पुनर्वर्गः क्रियते, तस्यापि वर्गराशेः पुनरपि वर्गो
निष्पाद्यते इति । ततः किमित्याह-इमान् घट्टयमाणस्वरूपान्,
(दसेति) दशसंख्यान् क्षिप्यन्ते इति । "कर्मणि घञि" केषाः-प्र-
क्षेपणीयराशयस्तान् क्षिपस्व निधेहीत्युत्तरगाथायां सम्बन्धः ।
तथाहि-श्लोकाकाशस्य प्रदेशाः, धर्मश्चाधर्मश्चैकजीवश्च धर्माध-
र्मैकजीवाः, तेषां देशाः प्रदेशाः । अयमत्रार्थः-धर्मस्तिक्काय-
प्रदेशाः, अधर्मास्तिक्कायप्रदेशाः, एकजीवप्रदेशाश्च ॥ ८१ ॥

तथा-

ठिउंवेधऽज्जवसाया, अणुभागा जोग्गेयपड्डिजागा ।

हुएह य समाणसमया, पत्तेयनिगोयए खिवसु ॥ ८२ ॥

स्थितिवन्धस्य कारणभूतान्यध्यवसायस्थानानि कषायेत्य-
रूपाण्यध्यवसायशब्देनोच्यन्ते, तान्यसंख्येयान्येव । तथाहि-
ज्ञानावरणस्य जघन्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणः स्थितिवन्धः, उत्कृष्टन-
स्तु त्रिशतागरोपमकोट्यकोटिप्रमाणः, मध्यमपदे त्वेकद्वित्रि-
चतुरादिसमयाधिकात्तर्मुहूर्तादिकोऽसंख्येयजेदः । एषां स्थि-
तिवन्धानां निर्वर्तकान्यध्यवसायस्थानानि प्रत्येकमसंख्येयश्लो-
काकाशप्रदेशप्रमाणानि भिन्नान्येव । एवं च सत्येकस्मिन्नपि
ज्ञानावरणेऽसंख्येयानि स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानानि लक्ष्य-
न्ते । एवं दर्शनावरणादिव्यापि वाच्यम् । (अणुभागा ति)
अनुभागा ज्ञानावरणादिकर्मणां जघन्यमध्यमादिभेदमिश्ररस-
विशेषाः, एतेषां चानुभागाविशेषाणां निर्वर्तकान्यसंख्येयश्लोका-
काशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्त्यतोऽनुभागाधि-
शेषा अध्येतावन्त एव द्रष्टव्याः, कारणजेदाधितत्वात्कार्यभेदा-
नाम् । (जोग्गेयपड्डिजागा ति) योगो मनोवाक्यादिविषयं वा-
च्यं, तस्य केवलप्रशास्तेन प्रतिविशिष्टा निर्विजागा भागा यो-
गच्छेदपरिभगाः । ते च निगोदादानां संक्षिपञ्चैन्द्रियपर्यन्तानां
जीवानामाधिना जघन्यादिभेदमिश्रा असंख्येया मन्तव्याः ।
(हुएह य समाणसमया ति) द्वयोश्च समयोदत्तसर्पिण्यवस-
र्पिणीकावस्वरूपयोः समया असंख्येयस्वरूपाः । (पत्तेयनि-
गोयए ति) अनन्तकार्यिकान् वर्जयित्वा शेषाः पृथिव्यप्तेजो-
वायुवनस्पतिव्रजाः प्रत्येकशरीरिणः, सर्वेऽपि जीवा इत्यर्थः, ते
चासंख्येया भवन्ति । निगोदाः सूक्ष्माणां वादराणां चानन्तका-
यिकवनस्पतिजीवानां शरीराणीत्यर्थः, ते चासंख्याताः । एव-
मन्ते प्रत्येकमसंख्येयस्वरूपा दश केषास्तान् क्षिपस्व ॥ ८२ ॥

अयं राशिदशकप्रक्षेपानन्तरं तस्यैव राशेश्चिन् विहिते
यद्भवति तदाह-

पुणरपि तस्मि तिवगिगए, परिचऽणंत लहु तस्स रासीणं ।

अज्जाणं लहु जुत्ता-णंतं अन्नमवजिअमाणं ॥ ८३ ॥

पुनरपि (तस्मि ति) तस्मिन्नन्तरोदिते प्रक्षिप्तप्रक्षेप-
दशके, त्रिवर्गिते त्रीन् वारान् वर्गितं सति, परीतानन्तं लघु
जघन्यं प्रथति । इदमुक्तं भवति-जघन्यासंख्येयासंख्येयक-
स्वरूपं वारत्रयं वर्गितं राशौ ते केषाः क्षिप्यन्ते । तत इत्थं
पिपिडितो यो राशिः संपद्यते स पुनरपि वारत्रयं वर्धते ।
ततो जघन्यं परीतानन्तकं भवतीति । इदमिदानीं जघन्ययुक्तान-
न्तकनिरूपणायाह- (तस्स रासीणेत्यादि) तस्य जघन्यपरी-

अ० । स्था० । मिथ्यादृष्ट्यादौ, म० ६ श० ३ उ० । अविरत-
सम्यग्दृष्टिपर्यन्ते, आतु० । न० । कुतश्चिदप्यनिवृत्ते, सूत्र० १
शु० १० अ० । दश० । गृहस्थे, आचा० २ शु० २ अ० १ उ० ।
नि० चू० । स च आवकः, प्रकृतिभूको वा स्यात् । आचा० २
शु० १ अ० २ उ० । गृहस्थकर्मकारिण प्रव्रजिते, सूत्र० १ शु० ३
अ० । असाधौ संयमरहिते, म० १ श० १ उ० । औ० । प्रअ० ।
ज्ञा० । असंयमवति आरम्भपरिग्रहप्रमत्ते अग्रहचारिणि, स्था०
१० ग० । पार्श्वस्थादौ, ध० २ अधि० । (असंयतानां कृतिकर्म
न कर्तव्यमिति 'किङ्कर्म' शब्दे वक्ष्यते) (असंयतानां
पञ्च जागराः 'जागर' शब्दे वक्ष्यन्ते)

असंजयपूया-असंयतपूजा-स्त्री० । असंयमवतामारम्भपरिग्रह-
प्रसक्तानां ब्राह्मणादीनां पूजायाम्, कल्प० १ स० । स्था० ।
(सा च नवमदशमजिनयोरन्तरे प्रवृत्तेति 'अच्छेर' शब्दे-
ऽस्मिन्नेव भागे २०० पृष्ठे उक्ता) जिनानामन्तरेषु साधुषु वि-
च्छेदे सति प्रत्येकबुद्धादिः केवली प्रवति, न वा ? । यदि भ-
वति, तर्हि अन्येषां धर्मे कथयति, न वेति ? प्रश्ने, उत्तरस्-ती-
र्थोच्छेदे प्रत्येकबुद्धादिः केवलित्वजनने साक्षादक्षराणि प्रवच-
नसारोकारवृत्त्यादौ दृश्यन्ते, परं परेषां धर्मकथने च निषेधा-
क्षराणि ग्रन्थे दृष्टानि न स्मर्यन्ते । सेन० १ सङ्गा० २९ प्र० ॥

असंजज्ञ-असंज्वल-पुं० । अनन्तजिनसमकालीने परवतजिने,
“ भरहे अयंतर्दे जिणो, परवर्दे असंजले जिणवरिदो ” ।
ति० । स० ।

असंजोपत्ता-असंयोगायितृ-त्रि० । संयोगमकारयति, “ सो-
यामपयं कुक्खणेण असंजोपत्ता भवइ ” । स्था० १० ग० ।

असंजोगि (ण)-असंयोगिन्-पुं० । संयोगरहिते, सिक्के च ।
स्था० २ ग० १ उ० ॥

असंजविय-असंस्थापित-त्रि० । असंस्कृते, न० ।

असांणि (संनि) हिसंचय-असन्निधिसंचय-पुं० । न विद्येन
संनिधेमोदकोदकजर्जरहरीतक्यादेः पर्युपितस्य संचयो धारणं
यत्रासावसन्निधिसंचयः । सन्निधिविकले, “ इमस्स धम्मस्सो
पंचमहव्वयजुत्तस्स असन्निहिसंचयस्स ” । पा० ।

असंत-असत्-त्रि० । अविद्यमाने, नि० चू० १ उ० । अशोभने,
सूत्र० १ शु० ५ अ० । प्रअ० ।

अशान्त-त्रि० । अनुपशान्ते, प्रअ० २ आअ० द्वार ।

असंतइ-असन्तति-स्त्री० । शिष्यप्रशिष्यादिसन्तानानुपजने,
वृ० १ उ० ।

असंतग-असत्क-न० । असदृशान्निधानरूपत्वात् पञ्चमे गौणादी-
के, प्रअ० २ आअ० द्वार । अविद्यमानार्थके असत्ये, प्रअ० २
आअ० द्वार । असदृभूते वचने अशोभने, प्रअ० २ सम्ब० द्वार ।

अशान्तक-न० । अनुपशमप्रधाने, प्रअ० २ सम्ब० द्वार ।

असंतय-असान्तत-न० । रागादिप्रवर्त्तने, प्रअ० १ आअ० द्वार ।
असंताचेल-असदचेल-पुं० । अविद्यमानेषु चेत्रेषु, अवाससि
तीर्थकरे, देवदृष्ट्यापगमानन्तरं नयाभावात् । पञ्चा० १७ विव० ।

असंति-अशान्ति-स्त्री० । शान्त्यभावे, अनिर्वाणे, संसृतौ च ।
सूत्र० १ शु० १ अ० ।

असंथरु-असंस्तुत-त्रि० । शकट इव विशरास्तया संचरितुम-
शक्नुवति, व्य० ७ उ० । वृ० । असमर्थे, आचा० २ शु० १ अ० ।
तवगेद्वन्नद्याणा, तिविहो तु असंथडो तिहे तिविहो ।

नवसंथरुपीसस्ता, मासादारोवणा इणमो ॥

असंस्तुतो नाम पद्यादिना तपसा क्लान्तो ग्लानत्वेन असम-
र्थो दीर्घाध्वनि वा गच्छन् पर्याप्तं न लभते, एष त्रिविधोऽसंस्तु-
तः । (तिहे तिविहो) त्रिविधे अध्वनि योऽसंस्तुतः स त्रिविधः ।
तद्यथा-अध्वप्रवेशे, अध्वमध्ये, अध्वोत्तरे च । तत्र तपोऽसंस्तु-
तस्य निर्विचिकित्सस्य मासादिका इह समाहिरारोपणा प्रव-
ति । वृ० ५ उ० ।

असंथरण-असंस्तरण-न० । अनिर्वाहे, वृ० १ उ० । दुर्निकृष्टा-
नाद्यवस्थायाम्, ध० ३ अधि० । अपर्याप्ततामे, पं० व० ३ द्वार ।
“ संथरणम्मि असुद्धं, दुण्हं पि गिहंतदितयाण हियं । आउर-
दिहंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ” । नि० चू० १ उ० ।

असंथरमाण-(असंथरंत)-असंस्तरत्-त्रि० । गवेपणामप्यकुर्व-
ति, व्य० ४ उ० ।

असंयुय-असंस्तुत-त्रि० । असंयक्ते, सूत्र० १ शु० १२ अ० ।

असंदिद्ध-असंदिग्ध-त्रि० । संदेहवर्जिते, दशा० ४ अ० । कल्प० ।
निश्चिते सकलसंशयादिदोषरहिते, स्था० ६ ग० ।

असंदिक्षत्-असंदिग्धत्-न० । असंशयकारितायाम्, एकादशे
सत्यवचनातिशये च । स० ३५ सम० । औ० । रा० । सैन्धवशब्द-
ब्रुवणवसनतुरगपुरुषाद्यनेकार्थसंशयकारित्वदोषमुक्ते सूत्रगुणे,
विशे० । अनु० । आ० म० ।

असंदिद्धवयणया-असंदिग्धवचनता-स्त्री० । परिस्फुटवचन-
तारूपे वचनसम्पन्ने, उक्त० १ अ० । स्था० ।

असंदिग्धवचनमाह-

अव्वत्तं अफुत्तं, अत्यवहुत्ता व होति संदिद्धं ।

विवरीयमसंदिद्धं, वयणे सा संपया चउहा ॥

अव्वत्तं-वाचो व्यक्तताया अज्ञावत्तः, अस्फुटार्थमक्षराणां स-
न्निवेशविशेषतः, विवक्तितार्थवहुत्वाद्वा भवति संदिग्धम् । त-
द्विपरीतमसंदिग्धम्, तद्वचनं यस्यासावसंदिग्धवचनः । एषा
वचने संपच्चतुर्धा चतुर्धकारा ॥ व्य० १० उ० ।

असंदीण-असंदीन-त्रि० । पत्तमासाबुदकेनाऽप्लाव्यमाने सिं-
हलह्मीपादौ, आचा० १ शु० ६ अ० ३ उ० ।

असंधिम-असन्धिम-त्रि० । अपान्तराले सन्धिरहिते, वृ०
५ उ० ।

असंपवत्त-असंपयुक्त-त्रि० । अयुक्ते, नि० चू० १ उ० ।

असंपयोग-असंपयोग-पुं० । विप्रयोगे, ध० ३ अधि० । अयोगे,
म० २५ श० ७ उ० ॥

असंपगहियप्प (ण)-असंप्रगृहीतात्मन्-त्रि० । असंप्रगृही-
तोऽनुत्सुकवानात्मा यस्य सोऽसंप्रगृहीतात्मा । निरभिमाने, अ-
हमाचार्यो बहुश्रुतः तपस्वी सामाचार्यीकुशलो ज्ञात्यादिमान्
वा इत्यादिमदरहिते, दशा० ३ अ० ॥

असंसृष्टचरय-असंसृष्टचरक-पुं० । असंसृष्टेन हस्तादिना दी-
यमानस्य ग्राहके, औ० ॥

असंसृष्टा-असंसृष्टा-स्त्री० । असंसृष्टेन हस्तेनाऽसंसृष्टेन च
पात्रकेण[सावशेषं चर्यं] निष्ठां गृह्यतः साधोः प्रथमायां पिण्ड-
धन्यायाम्, प्रथ० ६६ द्वार । स्था० । आ० चू० । नि० चू० ॥ आव० ।
आवा० सूत्र० । ध० पञ्चा० ('लिच' शब्देऽसंसृष्टायाः प्रकृपणम्)

असंसृष्ट-असंसृष्ट-त्रि० । असंसृष्टिते, उक्त० २ अ० । विशेष० ।
अप्रतिबद्धे, दश० ८ अ० । असंसृष्टे, उक्त० ३ अ० ।

असंसृष्ट-असंसृष्ट-न० । निश्चिते, द्वा० १० द्वा० । निःसंदेहे,
वृ० १ उ० ।

असंसृष्ट-असंसृष्ट-पुं० । न संसारोऽसंसृष्टः । संसारप्रति-
पक्षचूते मोक्षे, जी० १ प्रति० । संसारनावे, द्वा० ११ द्वा० ।

असंसृष्टसमावृष्ट-असंसृष्टसमापन्न-पुं० । न संसारोऽसंसृष्टो
मोक्षस्तं समापन्नः असंसृष्टसमापन्नः । मुक्ते, प्रश्ना० १ पद ।
सिक्ते, स्था० २ डा० १ वृ० । जी० ॥

असंसृष्ट-असंसृष्ट-त्रि० । कर्तुमपार्यमाणे, ध० । असंसृष्टे भाव-
प्रतिपक्षिरिति । असंसृष्टे ज्ञानाचारादिविशेष एव कर्तुमपार्यमाणे
कुतोऽपि धृतिसहनकालवलादिवैकल्याद्भावप्रतिपक्षिः-भावे-
नान्तःकरणेन प्रतिपक्षिरनुबन्धः ; न पुनस्तत्र प्रवृत्तिरपि, अ-
कालौत्सुक्यस्य तत्त्वत आर्तज्यानत्वादिति । ध० १ अधि० ।

असंसृष्ट-असंसृष्ट-त्रि० । न विद्यते संस्कृतं संस्कारो यस्य
सोऽसंसृष्टः । अविद्यमानसंस्कारे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असंसृष्टममक्य-असंसृष्टतामंसृष्ट-त्रि० । कर्मधारयः । मका-
रोऽत्रालाङ्गणिकः । अत्यन्तमसंसृष्टते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

असंसृष्टा-असंसृष्टा-स्त्री० । अशोभनकथायाम्, नृश० ।

असंसृष्टारिया-असंसृष्टारिया-स्त्री० । अशोभनायां चेष्टायाम्, प-
ञ्चा० १ विव० ।

असंसृष्टारिहारि-असंसृष्टारिहारि-त्रि० । अक्षितपिदितादि-
द्वारेण जीवोपमर्दरूपाप्रशस्तव्यापाररहिते, पञ्चा० १३ विव० ।

असंसृष्टा-असंसृष्टा-स्त्री० । शकटैरुपथं नीतत्वात्स्वनामख्या-
ने आजीरकन्यारत्ने, दश० ३ अ० । (तद्वृत्तं 'उवहाण' शब्दे
द्वितीयभागे १०४६ पृष्ठ उदाहरिष्यते)

असंसृष्ट-असंसृष्ट-पुं० । अशोभनाभिनिवेशे भासवचनबाधि-
तार्थपक्षपाते, पञ्चा० १ विव० । चारित्र्यवतोऽपि असंसृष्टः संभव-
ति, मतिमोहमाहात्म्यादिति । ध० २० ।

असंसृष्ट-असंसृष्ट-न० । सत्यविपरीते, नास्ति जीव एकान्तसद्रूपो
वेत्यादिकुविकल्पनपरे, पं० सं० १ द्वार । उक्त० । अलीके, प्रश्न० २
आश्र० द्वार । असत्यं च महत्तमं पातकं यतो योगशास्त्रान्तर-
स्थोके-" एकत्राऽसत्यजं पापं, पापं निःशेषमन्यतः । द्वयोस्तु-
लाविधृतयो-राद्यमेवातिरिच्यते" ॥१॥ इति । ध० २ अधि० ।
प्रश्न० । आ० चू० ।

असंसृष्टजोग-असत्यमनोयोग-पुं० । कर्म० स० । नास्ति जी-
व एकान्तसद्रूपो विश्वव्यापीत्यादिकुविकल्पचिन्तनपरे म-
नोयोगः, कर्म० ४ कर्म० ॥

असंसृष्टजोग-असत्यामृपमनोयोग-पुं० । न विद्यते
सत्यं यत्र सोऽसत्यः, न विद्यते मृपा यत्र सोऽमृपः । अस-
त्यश्चासौ अमृपश्च, " कं नजादिभिर्भैः " । ३ । १ । १०५ । इति
कर्मधारयः । असत्यामृपश्चासौ मनोयोगश्चासत्यामृपमनोयो-
गः । मनोयोगभेदे, कर्म० ४ कर्म० ।

असंसृष्ट-असत्यरुचि-पुं० । असत्ये मृपाभापणे असत्यमे वा
रुचिर्यस्याऽसावसत्यरुचिः । असत्यं रोच्यमाने, व्य० ३ उ० ।

असंसृष्टजोग-असत्यवाग्योग-पुं० । वाग्योगभेदे, कर्म० ४ कर्म० ॥

असंसृष्टसंघत्त-असत्यसंघत्त-न० । असत्यमलंकिं संघत्ता-
ति करोतीति असत्यसंघः, तद्वभावोऽसत्यसंघत्वम् । पदार्थ-
शे गौणालीके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

असंसृष्टमोमा-असत्यामृपा-स्त्री० । यत्र सत्यं नापि मृपा, तत्र
असत्यामृपा । वस्तुप्रतिपक्षमन्तरेण स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरे-
'अहो देवदत्त ! घटमानय, गां देहि मह्यम्' इत्यादिविन्तनपरे भा-
षाभेदे, इदं हि स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरत्वाच्च यथोक्तलक्षणं सत्यं,
नापि मृपा । पं० सं० १ द्वार । " जं णेव सच्चं, णेव मोसं, णेव
सच्चमोसं-असच्चमोसं णाम, तं चरुत्थं भासज्जातं " चतु-
र्थी ज्ञाया-योच्यमाना न सत्या, नापि मृपा, नापि असत्यामृपा
आमन्त्रणाऽऽज्ञापनादिका साऽत्रासत्यामृपेति । आचा० २ सु०
४ अ० १ उ० ।

सांप्रतमसत्यामृपामाह-

आमन्त्रणि आणवणी, जायाणि तह पुच्छणी अ पचवणी ।
पचवणी जासा, जासा इच्छाणुओमा य ॥ ४२ ॥

आमन्त्रणी, यथा-हे देवदत्त ! इत्यादि । एषा किलाप्रवर्तकत्वात्
सत्यादिभाषात्रयलक्षणावियोगतस्तथाविधद्वोत्पत्तेरसत्यामृपे-
ति । एषमाज्ञापनी, यथा-इदं कुरु । इयमपि तस्य करणाकरण-
भावतः परमार्थेनैकब्राह्मणनियमास्तथाप्रतीतेः अदुष्टविषकाप्रसू-
तत्वादसत्यामृपेति एवं खदुस्त्राज्यत्रापि ज्ञावना कार्येति । याच-
वनी, यथा-मित्रां प्रयच्छेति । तथा प्रच्छनी, यथा-कथमेतदि-
ति । प्रश्नापनी, यथा-हिसादिप्रवृत्तो दुःखितादिर्भवति । प्रत्य-
ख्यानी भाषा, यथा-अदित्सेति । भाषा इच्छानुओमा च, यथा-
फेनचित् कश्चिदुक्तः-साधुसकाशं गच्छाम इति । स आह-शो-
चनमिदमिति गाथाऽर्थः ॥ ४२ ॥

अणजिगहिआ जासा, भासा अ अजिगहमि बोधव्वा ।
संसयकरणी जासा, वायन अब्बायन चैव ॥ ४३ ॥

अनभिगृहीता भाषा-अर्थमनभिगृह्य योच्यते, इत्यादिवत् ।
भाषा चाभिग्रहे योच्यता-अर्थमभिगृह्य योच्यते, घटादिवत् ।
तथा संशयकरणी च भाषा-अनेकार्थसाधारणा योच्यते, सैन्धव-
मित्यादिवत् । व्याकृता-रूपप्रकटार्था-देवदत्तस्यैव भ्रातेत्यादि-
वत् । अव्याकृता चैव अरूपप्रकटार्था-बालकादीनां थपनि-
केत्यादिवदिति गाथार्थः । उक्ताऽसत्यामृपा । दश० ७ अ० ।

असञ्चोवाहिसञ्च-असत्योपाधिसत्य-न० । सशब्दार्थत्वेनास-
त्या उपाधयो विशेषा बलयाहुलीयकादयो यस्य सत्यस्य सर्व-
भेदानुयायिनः सुवर्णादिसामान्यात्मनस्तत् सत्यमसत्योपाधि-
शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमभिधेयम् । सविशेषे सामान्ये, अन्ये त्वाहु-
यदसत्योपाधिसत्यं स शब्दार्थः इति । सम्म० १ काण्ड ।

असंपगहियया-असंपगृहीतता-स्त्री० । संप्रग्रहरहिततारूपे आचार्यसम्पद्भेदे, व्य० । असंपगृहीतता नाम आत्यादिभेदेन तु-स्तिकता । तथाह-

आयरिओ बहुस्तुओ, तवसि अहं जाइएहि मयएहि ।

जो होइ अणुस्सित्तो, असंपगहिओ वि सो भवइ ॥

आचार्योऽहं बहुभूतोऽहं तपरूपहमिति मदैः, जाल्यादिजिर्वा म-दैर्यो जवत्यनुत्सिकः स भवत्यसंपगृहीतः, मदसंप्रग्रहरहित-त्वात् । व्य० १० उ० ।

असंपगह-असंपग्रह-पुं० । समन्तात् प्रकर्षेण आत्यादिप्रकृत-लक्षणेन प्रदणमात्मनोऽवधारणं संप्रग्रहः । तद्भावोऽसंप्रग्रहः । उक्त० १ म० । आत्मनो आत्याद्युत्सेकरूपप्रदवर्जने, याचनासंप-द्वने, स्था० ८ उ० ।

असंपत्त-असंप्राप्त-त्रि० । असंघने, रा० ।

असंपत्ति-असंपत्ति-स्त्री० । प्रायश्चित्तनारवहनासामर्थ्ये, "असंपत्तीय मासलहु, संपत्तीय मासगुरु" नि० चू० १ उ० । "असंपत्तिपचाणं रयहरणं पचुयेहिज्जा" । महा० ७ अ० ।

असंपदिष्ट-असंप्रद-त्रि० । अहर्षिते, उक्त० १५ अ० । "अव-गमणे असंपदिष्टा जे से भिक्खु" । उक्त० १५ अ० ।

असंपुन-असंपुट-त्रि० । अव्यावृत्ते, "मुहं वा असंपुडं वा-ताऽऽरभदोसेण अच्चेज्ज" नि० चू० २० उ० ।

असंपुर-असंस्फुर-त्रि० । असंभूते, वृ० ३ उ० ।

असंवद्ध-असंवद्ध-त्रि० । असंश्लिष्टे, "असंवद्धो हविज्जा ज-गणिसिप" । पक्खिनीपत्रोदकवद् गृहस्थैः । दश० ८ अ० ।

संप्रत्यसंवद्ध इति पञ्चदशं जेवं निरूपयितुमाह-

जावतो अणवरयं, खणमंगुरयं समत्थवत्थुणं ।

संवंधो वि धणाइसु, वज्जइ पन्निबंधसंवंध ॥ ७४ ॥

जावयन् पर्यालोचयन्, अनवरतं प्रतिक्रियं, कृणजङ्घुरतां सततं विनश्वरतां, समस्तवस्तूनां तनुधनस्वजनयौवनजी-वितप्रभृतिसर्वमाधानां, संयद्धोऽपि बाह्यावृत्त्या प्रतिपालनवर्द्ध-नादिरूपया युक्तोऽपि, धनादिषु धनस्वजनकरिहरिप्रभृतिषु, वर्जयति न करोति वन्धो मूर्च्छां तद्वयं संवन्धं संयोगं, नरसु-न्दरनरेश्वर इव, यतो जावतो भावयत्येवं जावभावकः-"चि-त्ता दुपायं च चउपयं च, चित्तं गिहं धणधनं च सव्वं । क-म्मप्पवीओ अवसां ययाइ, परं भवं सुंदरपावगं व" ॥ १ ॥ इ-त्यादि । ध० २० । (नरसुन्दरनरेश्वरकथा 'णरसुंदर' शब्दे वक्ष्यते)

असंबुद्ध-असंबुद्ध-त्रि० । अनवगततत्त्वे, उक्त० १ अ० ।

असंभंत-असंभ्रान्त-त्रि० । अनन्यचित्ते, पं० व० १ द्वार । यथा-यदुपयोगादि कृत्वाऽनाकुले, दश० १ अ० । भ्रमरहिते, विपा० १ थु० १ अ० । रा० । अनुत्सुके, म० ११ श० ११ उ० ।

असंजम-असंभ्रम-पुं० । भयाऽकरणे, ओघ० ।

असंभाविद-असंज्ञावित-त्रि० । "वो दोऽनादौ शौरसेन्यामयु-क्तस्य" । ना१५६० । इति तस्य दृग् संभवमकारिते, प्रा० ४ पाद । १०७

असंमोह-असंमोह-पुं० । देवादिकृतमायाजनितस्य, सूक्ष्मपदा-र्थविषयस्य च संमोहस्य मूढताया निषेधे, औ० । ग० । स्था० । असंलप्य-असंलप्य-त्रि० । संलपितुमशक्येषु अतिवहुषु, अनु० ।

असंलोय-असंलोक-पुं० । अपकाशे, आचा० । असंलोकवति, त्रि० । अनापातेऽसंलोके स्थगिष्ठे व्युत्सृजत् । असंलोकं गत्वो-ष्पारं प्रक्षवणं वा कुर्यात् । आचा० २ थु० १० अ० । ध० ।

असंवर-असंवर-पुं० । संवरणं संवरः, न संवरोऽसंवरः । पा० । आधवे, स्था० । "पंचविहे असंवरे पण्णत्ते । तं जहा-सोइंदियअसंवरे० जाव फासिंदियअसंवरे" । स्था० ५ उ० २ उ० । "उत्तिहे असंवरे पण्णत्ते । तं जहा-सोइंदियअस-वरे० जाव फासिंदियअसंवरे योइंदियअसंवरे" । स्था० ६ उ० । "अट्टविहे असंवरे पण्णत्ते-तं जहा-सोइंदियअसंवरे० जाव कायअसंवरे" स्था० । "दसविहे असंवरे पण्णत्ते । तं जहा-सोइंदियअसंवरे० जाव सुइंदियअसंवरे" । स्था० ८ उ० ।

असंवशिय-असंवलित-त्रि० । अवर्धिते, तं० ।

असंविग्ग-असंविग्ग-त्रि० । न संविग्गोऽसंविग्गः । पा० ३ स्थादौ, नि० चू० १ उ० । शीतलविहारिणि, पं० व० २२ द्वार । व्य० । असंविग्गा अपि द्विविधाः-संविग्गपाक्षिकाः, असंविग्गपाक्षिका-श्च । संविग्गपाक्षिका निजानुष्ठाननिर्दिनो यथोक्तसुसाधुसमा-चार्यरूपकाः, असंविग्गपाक्षिका निर्धर्मायः सुसाधुजुगुप्सकाः ।

उक्तञ्च-

"तथावायं दुविहं, सपक्खपरपक्खओ य नायव्वं ।

दुविहे हाइ सपक्खो, संजय तइ संजईणं च ॥ १ ॥

संविग्गामसंविग्गा, संविग्गामणुत्त एयरा खेव ।

असंविग्गा वि य दुविहा, तण्णप्पिक्ख एयरा खेव " ॥ २ ॥ प्रव० ११ द्वार ।

असंविग्गपक्खिय-असंविग्गपाक्षिक-पुं० । निर्धर्मणि सुसाधुजु-गुप्सके, प्रव० ११ द्वार ।

असंविजाग-असंविजाग-पुं० । संविभागाभावे, दश० ९ म० ।

असंविभागि (ए)-असंविजागिन्-पुं० । संविभजति भानी-ताहारमन्येज्यः साधुभ्यः प्रापयतीत्येवंशीलः संविभागी, न सं-विभागी असंविभागी । आहारेण स्वकीयमेव उदरं विभर्ति इत्य-र्थः । अन्यस्मै न ददाति । उक्त० ३३ अ० । आचार्यगहानादीनामेप-णागुणविद्युद्धिलब्धमविज्जमानं, प्रश्न० ३ संव० द्वार । यत्र क-चन लामेऽसंविभागवति, "असंविभागी न दु तस्त मोक्खो" । दश० ९ अ० ।

असंभुन-असंभुत-त्रि० । इन्द्रियनोऽन्धियैरसंयते, सूत्र० १ थु० १ अ० ३ उ० । हिंसादिस्थानेभ्यो निवृत्ते असंयतेन्द्रिये, सूत्र० १ थु० २ अ० १ उ० । अनिरुद्धाश्रवद्वारे, म० १ श० १ उ० । प्र-मत्ते, म० ७ श० १ उ० । (असंभुतस्यानगारस्य वक्ष्यता 'अणगार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २७३ पृष्ठे समुक्ता) (स्वप्नश्च 'सुविण' शब्दे वक्ष्यते)

असंसइय-असंशयित-त्रि० । निःसंशयिते, सूत्र० २ थु० २ अ० ।

असंसद्व-असंसृष्ट-त्रि० । अन्यदीयपिण्डैः साहाऽमीलिते, वृ० २ उ० । अक्षररहिते, औ० ।

तेनैकेन जितानां चतुर्णां राजा परितुष्टः सन् नगरे रथ्यादिषु गृहचर्यादिषु प्रचारमाप्सितं ददाति । यथा-यत्किमपि रथ्यायामापण्यदिषु, त्रिकचतुष्कचत्तरादिषु वा यदेव वस्त्राहारादिकं प्राप्नुयात् युष्माकमेव । एवं प्रसादे कृते वस्त्राहारादौ नगरादितः स्वेच्छया गृहीते, राजा यस्य सत्कं यद् गृहीतं, तस्य मूल्यं ददाति । येन चैकेन पुरुषेण भूयस्तरसांहाविकं कुर्वता राजा तापिततर, तस्य राजा गृहेऽगृहे वा सर्वत्र नगरमध्ये प्रचारमाप्सितं विरतिमन्तरऽनुजानाति । तत्रापि यस्य सत्कं तेन गृह्यते वस्त्राऽहारादि, तस्य मूल्यं राजा दीयते । इतरेषां चतुर्णां रथ्याऽऽदिष्वेव प्रचारमनुज्ञातवान्, न गृहेषु । एवमुक्तेन प्रकारेण इह प्रस्तुते ऽस्वाध्यायिके उपमादधान्तः । तदेवमुक्तो दधान्तः ।

सम्प्रति दार्ष्टान्तिकयोजनामाह—

पदमस्मि सव्वचेडा, सज्जाओ वा वि वारितो नियमा ।

सेमेसु य सज्जाओ, चेष्टा न निवारिआ अण्णा ॥

प्रथमेऽस्वाध्यायिके संयमोपघातिलक्षणे, सर्वा कायिकी वाचिकी चेष्टा, स्वाध्यायश्च नियमाद्वारितः, तोषकतरपुरुषस्वानीयतया तस्य सर्वत्र साधुव्यापारेषु प्रवृत्तेः । शेषेषु पुनः चतुर्थस्वाध्यायिकेषु, स्वाध्यायः, स्वाध्याय एव केवलो निवारितो, नान्या कायिकी वाचिकी वा प्रतिक्षेपनादिका चेष्टा वारिता, तेषां शेषपुरुषचतुष्टयस्थानीयानां बहिः रथ्यादाविव स्वाध्यायमात्र एव व्यापारजावात् । तदेवं पञ्चस्यऽस्वाध्यायिकेषु सामान्यतो विशेषतश्चोदाहरणमुक्तम् ।

इदानीं प्रथममस्वाध्यायिकं संयमोपघाति प्ररूपयति—

माहिया य भिन्नवासो, सच्चित्तरणं य संजमे तिबिहे ।

दव्वे खेत्ते कास्से, जहियं वा जच्चिरं सव्वं ॥

महिका गर्भमासे पतन्ती प्रसिद्धा, तस्याः तथा-गृहादौ यत्पतति वर्षे नन्निशवर्षे, तस्मिन्, तथा सच्चित्तरजसि च, एवंविधे त्रिप्रकारे संयमे-पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् संयमोपघातिनि अस्वाध्यायिके निपतति, द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च वर्जनं नवति । तत्र द्रव्यतः-एतदेव त्रिविधमस्वाध्यायिकं रूपम् । क्षेत्रतो-(जहियं ति) यावति क्षेत्रे तत्पतति तावत् क्षेत्रम् । कालतो-(यच्चिरं ति) यावन्तं कालं पतति तावन्तं कालम् । भावतः-सर्वं कायिक्यादिवेशादिकं वर्ज्यते ।

एनामेव गाथां व्याख्यानयति—

माहिया उ गज्जमाने, वाप्पे पुण होंति तिभि उ पगारा ।

बुव्वुएँ तच्च फुसीए, सच्चित्तरजो य आयंवा ॥

महिका गर्भमासे प्रतीता । गर्भमासो नाम कार्तिकादिर्वाचक माघमासः । वर्षे पुनरुक्तयः प्रकारा भवन्ति । तानेवाह-(बुव्वुएँ ति) यत्र वर्षे निपतति पानीयमध्ये बुद्धदास्तोयशलाकारूपाः उत्तिष्ठन्ति, ततो वर्षमप्युपचाराद् बुद्धदमित्युच्यते । तद्वज्जं बुद्धवर्जं द्वितीयं वर्षम्, तृतीयं (फुसीए ति) जलस्पर्शिकनिपतन्त्यः, तत्र बुद्धे वार्यनिपतति यामाष्टकाध्वम् । अन्ये तु व्याचकृते-त्रयाणां दिनानां परतः, तद्वज्जं पञ्चानां दिनानां जलस्पर्शिकारूपे सप्तानां परतः सर्वमपकायस्पृष्टं प्रवति । ततस्तत्र रूप्यतः क्षेत्रतः काष्ठतो भावतश्च वर्जनं प्राग्बन्नायनीयम्, यावन्नायनीयमयं न भवति, यात्रपुत्राभयो निर्गन्तस्तत्र सर्वं स्वाध्यायप्रतिषेधनादि क्रियते, बहिस्तु निर्गम्यते इति । 'सच्चित्तरजो' नाम-व्यवहारसमान्विता वातोद्धता श्लक्ष्णधूलिः, तच्च सच्चित्तरजो

वर्ज्यते, ततोऽस्यां गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । तच्च दिगन्तरेषु दृश्यते, तदपि निरन्तरपाते त्रयाणां दिनानां परतः सर्वपृथिवीकायामावितं करोति, तत्रापि पतितद्रव्यादितो वर्जनं प्राग्वत् ।

तदेव व्याख्यातुमाह—

दव्वे तं चिय दव्वं, खेत्ते जहियं तु जच्चिरं कास्से ।

ठाणादि जास जावे, मात्तुं ऊत्तासज्जम्पेसं ॥

रूप्ये द्रव्यतः-तदेवास्वाध्यायिकं माहिकं भिन्नवर्षं सच्चित्तरजो वा वर्ज्यते । क्षेत्रतो-यत्र क्षेत्रे निपतति, कालतो-यावच्चिरं कास्से पतति, भावतो-मुक्त्वा उच्छ्वासमुन्मेषं च, तद्वर्जने जीवितव्याघातसंभवात् । शेषां स्थानादिकाम्, आदिशब्दाद् गमनागमनप्रतिलेखनादिपरिग्रहः । कायिकां चेष्टां भाषां च वर्जयति ॥

वासत्ताणाऽऽवरिया, निक्कारण उव्वंति कज्ज जयणाए ।

इत्थगुलिसन्नाए, पोत्तावरिया व जासंति ॥

निष्कारणे कारणाभावे वर्षत्रयाणां कम्बलमयः कल्पः, तेन सौत्रिककल्पान्तरितेन सर्वात्मना आवृतास्तिष्ठन्ति, न कामपि श्लेशतोऽपि चेष्टां कुर्वन्ति । कार्ये तु समापतिते यतनया इस्तसंज्ञया प्रवृत्तिसंज्ञया च व्याहरन्ति । पोत्ताऽऽवरिता वा ज्ञापन्ते ग्लानादिप्रयोजने वर्षाकल्पाऽऽवृता गच्छन्ति । गतं संयमोपघात्यऽस्वाध्यायिकम् ।

इदानीमौत्पातिकमाह—

पंसुपमंसयदहिरं-केससिद्धावुद्धिं तह रओपाए ।

मंसरुहिरं-हरत्तं, अवसंसे जच्चिरं सुत्तं ॥

अत्र वृष्टिशब्दः प्रत्येकमभिसंष्यते । पांशुवृष्टौ, रुधिरवृष्टौ केशवृष्टौ, शिलावृष्टौ च । तत्र पांशुवृष्टिर्नाम यदि रजो निपतति, मांसवृष्टिर्मांसस्य एव निपतति, रुधिरवृष्टिः-रुधिरादिवृष्टिः पतन्ति । केशवृष्टिर्यद्द्वारा केशाः पतन्ति, शिलावृष्टिः-पाषाण-निपतनं, करकादिशिलावर्षमित्यर्थः । तथा-रजउद्धाते रजस्वलासु दिक्षु सूत्रं न पठ्यते; शेषाः सर्वा अपि चेष्टाः क्रियन्ते । नत्र मांसं रुधिरं च पतति अहोरात्रं वर्ज्यते, अव-क्षेपे पांशुवृष्ट्यादौ यावच्चिरं पांशुवादिपतनकालं, तावत् सूत्रं नन्वादिर्न पठ्यते, शेषकालं तु पठ्यते ।

सम्प्रति पांशुरजउद्धातव्याख्यानमाह—

पंसू अ अच्चित्तरजो, रयोसलाओ दिसा रज्ज्याते ।

तत्थ सवाते निव्वा-यए य सुत्तं परिहरंति ॥

पांशवो नाम धूमाकारमापाहुरमचित्तं रजः । रजउद्धातो रजस्वला दिशः, यासु सतीषु समन्ततोऽन्धकार इव दृश्यते, तत्र पांशुवृष्टौ, रजउद्धाते वा सवाते निर्वाते च पतति यावत्पतनं तावत्सूत्रं परिहरन्ति ॥

अत्रैवापवादमाह—

साभाविपेँ तिप्पि दिणा, सुगिम्हए निक्खिवंति जइ जोगं ।

तो तम्मि पण्तम्मी, कुणंति संवच्चरऽज्जायं ॥

यदि सूर्याभ्युदयप्रारम्भ उष्णप्रारम्भे, चैत्रशुक्लपक्षे इत्यर्थः । दशम्याः परतो यावत् पौर्णमासी, अत्रान्तरे निरन्तरं त्रीणि दिनानि यावत् यदि योगं निक्षिपन्ति एकादश्यादिषु त्रयोदशीपर्यन्तेषु, यदि वा त्रयोदश्यादिषु पौर्णमासीपर्यन्तेषु अच्चित्तरजोऽवहेद्-

असज्जं-असज्जत्-त्रि० । सङ्गमकुर्वति, " असज्जमित्थीसु
धपञ्च पूयणं " आत्मा० १ भू० ५ अ० ४ उ० ।

असज्जमाण-असज्जत्-त्रि० । सङ्गमकुर्वति, उच० १४ अ० । " ते
कामजोगेसु असज्जमाणा, माणुस्सपसुं जे यावि दिव्वा " ॥ १४ ॥
उच० १४ अ० । " असज्जमाणो य परिव्वपज्जा " असज्जमानः स-
ङ्गमकुर्वन् गृहपुत्रकन्यादिषु परिव्रजेदुद्युक्तविहारी । सूत्र० १
भू० १० अ० ।

असज्ज-असाध्य-त्रि० । अशक्ये, पि० । अनिवर्तनीयस्वभावे,
आ० म० द्वि० ।

असज्जाइय-अस्वाध्यायिक-न० । आ मर्यादया सिद्धान्तोक्त-
न्यायेन पठनम्-आध्यायः; सुष्ठु शोभन आध्यायः स्वाध्यायः; स
एव स्वाध्यायिकम् । नास्ति स्वाध्यायो यत्र तदस्वाध्यायिकम् ।
रुधिरादौ स्वाध्यायाकरणहेतौ, प्रव० २६८ द्वार । न स्वा-
ध्यायिकमस्वाध्यायिकम् । कारणे कार्योपचाराद् रुधिरादौ,
ध० ३ अधि० ।

अस्वाध्याये स्वाध्यायो न कर्तव्यः—

णो कप्पइ निगंथाणं वा निगंथीणं वा असज्जाइय स-
ज्जायं करित्तणं; कप्पइ निगंथाणं वा निगंथीणं वा स-
ज्जाइय सज्जायं करित्तणं ॥

अस्य व्याख्या-न कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा अस्वाध्या-
यिके स्वाध्यायं कर्तुम्; कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा
स्वाध्यायिके स्वाध्यायं कर्तुमिति सूत्राक्षरसंस्कारः ॥

अधुना भाष्यप्रपञ्चः—

असज्जाइयं च दुविहं, आयसमुत्थं परसमुत्थं च ।

जं तत्थ परसमुत्थं, तं पंचविहं तु नायव्वं ॥

द्विविधं खल्वस्वाध्यायिकम् । तद् यथा-आत्मसमुत्थं, परसमु-
त्थम् । चशब्दश्चास्वाध्यायिकतया तुल्यकक्षतासंसूचकः । तत्र
यत् परसमुत्थं तत् पञ्चविधं ज्ञातव्यम् ।

तानेव पञ्च प्रकारानाह—

संजमघाउप्पाए, सदेवए तुग्गहे य सारीरे ।

एएसु करेमाणे, आणाइय मो उ दिट्ठतो ॥

संयमघाति संयमोपघातिकम्, औत्पातिकमुत्पातनिमित्तं, सदैवं
देवताप्रयुक्तं, व्युद्ग्रहः, शरीर च । एतेषु पञ्चष्वप्यस्वाध्यायिकेषु
स्वाध्यायं कुर्वत्याज्ञादयः आज्ञामज्ञादयो दोषाः, तथाऽऽज्ञां तीर्थ-
काराणां यो भजति, तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुणं । अनवस्थयाऽन्येऽपि
तथा करिष्यन्तीति, तत्रापि प्रायश्चित्तं चतुर्गुणं, यथा वादी तथा
कारी न भवतीति मिथ्यात्वं, तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तं चतुर्गुणं ।
विराधना द्विधा—संयमविराधना, आत्मविराधना च । तत्र
संयमविराधना ज्ञानाचाराविराधना । आत्मविराधनायामेवमु-
दाहरणम् ।

तदेवाह—

मेच्छजय घोसण निवे, दुग्गाणि अतीह मा विणस्सहिहा ।

फिडिया जे उ अतिगया, इयरा ह्य सेस निवदंनो ॥

" कस्स चि रक्षो मेच्छसंघाचारो विसयं आगंतुं इण्णिकामो,
तं मयं जाणिस्सा रक्षा सविस्सप सकवे वि घोसावियमित्तं-मे-
च्छसंघाचारो आगंतुं विसयं इण्णिकामो वट्ठति, तुब्बे दुग्गाणि
अतीह । तत्थ जेहि रक्षो आणा कया, ते मेच्छमयातो फि-

डिआ, जेहि न कया आणा, ते मेच्छेहि कूसिमा मारिया य,
जे वि तत्थ केइ परिमुक्का ते वि रक्षा दंडिया " ।

अक्षरयोजना त्वेवम्-मेच्छजयमाकर्ण्य नृपेण (गाथायां
सप्तमी तृतीयायै) घोषणा कारिता । यथा-दुर्गाण्यतिगच्छथ,
मा विनङ्गथ, तत्र ये अतिगतास्ते मेच्छमयात् स्फिटिताः;
इतरे इताः, कृतसर्वस्वपहाराश्च कृताः । येऽपि शेषाः कथमपि
मेच्छमयविप्रमुक्तास्तेषामाज्ञामङ्गकरणतो नृपेण दण्डः कृतः ।
व्य० ७ उ० ।

" कितिप्रतिष्ठितपुरे, जितशत्रुनराधिपः ।

स्वदेशे घोषितं तेना-गच्छति मेच्छभूपतौ ॥ १ ॥

त्यक्त्वा ग्रामपुरादीनि, दुर्गेषु स्थीयतां जनैः ।

ये राजवचसा दुर्ग-मारुदास्ते सुखं स्थिताः ॥ २ ॥

मारुदा ये पुनर्दुर्गं, मेच्छाद्यैस्ते विलुपिताः ।

आज्ञाप्रज्ञानृपेणापि, गतशेषं च दण्डिताः ॥ ३ ॥

अस्वाध्यायेऽपि स्वाध्यायाद् दण्डः स्यादुभयादपि ।

देवताच्छन्नेत्येकः, प्रायश्चित्तागमोऽपरः ॥ ४ ॥

इहलोकं परस्मिन्, ज्ञानाद्यफलता भवेत् " । आ० क० ।

एव दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः—

राया इव तित्थयरो, जाणवया साहु घोसणं सुत्तं ।

मेच्छा य असज्जाओ, रणधण्णो व नाणादी ॥

अत्र राजा इव तीर्थकरः, जानपदा इव साधवः, घोषणमिव सूत्रं,
मेच्छा इव अस्वाध्यायः, रक्षधनानीव ज्ञानादीनि । तत्र ये सा-
धवो जानपदस्थानीया राजस्थानीयस्य तीर्थकरस्याज्ञां नातुषा-
स्यन्ति, ते प्राग्देवतया उच्यन्ते, प्रायश्चित्तदण्डेन च दण्ड्यन्ते ।
व्य० ७ उ० । आ० क० ।

केन पुनः कारणेनाऽस्वाध्यायिके स्वाध्यायं करोति?,

तत्र आह—

धोवावसेसपोरिसि, अज्जयणं वा वि जो कुणइ सोढं ।

णाणाइसारहीण-स्स तस्स ठ्वाना उ संसारे ॥

स्तोकावशेषायामपि पौरुष्यामध्ययनं पाठ उद्देशोवाऽद्यापि स-
माप्तिं न नीत इति कृत्वा उद्घाटायामपि पौरुष्यामस्तमिते वा सुखे,
अथवा अस्वाध्यायिकमिति धृत्वाऽपि योऽध्ययनं पाठम्, अपि-
शब्दादुद्देशनं च करोति, तस्य ज्ञानादित्रिकं तत्त्वतोऽपगतं, तीर्थ-
कराऽज्ञामङ्गकरणादिति । ज्ञानादित्रिकसारहीनस्य संसारे न-
रकादिजवन्नमलक्षणे ठ्वाना भवति; अपारघोरसंसारे निपतनं
भवतीति ज्ञावः ।

अत्रैव दृष्टान्तान्तरं समभिधित्सुराह—

अहवा दिट्ठतियरो, जह रक्षो पंच केइ पुरिसा उ ।

दुग्गादी परितोसिउ, तेहि अ राया अह कयाइ ॥

तो देति तस्स राया, नगरम्मी इच्छियं पयारं तु ।

गहिणं य देइ मोल्लं, जणस्स आहारवत्थादी ॥

एगेण तोसियतरो, गिहे-जगिहे तस्स सव्वाहिं विघरे ।

रत्थाइसुं चण्णहं, एविह सज्जाइय ठवमा ॥

अथवेति दृष्टान्तस्य प्रकारान्तरसूचने । इतरो दृष्टान्तः । यथा-
राजः केचित्पञ्च पुरुषाः सेवकास्तेरथ कदाचिद् राजा दुर्गादिषु
पतितो निस्तारितः, तत्रापि तेषां पञ्चानां मध्ये एकेन केनचि-
त्परमसाध्वसमवलम्ब्य नृपस्तरं साहायिकमकारि, ततस्तेषां

उक्तं च-निर्घातो गुड्जितं च लोकप्रतीतो, “ एष अहोरत्तं च-
बहयंति चि ” ।

तथा-

चउसंजासु न कीरइ, पामिचएसुं तहेव चउसुं पि ।
जो जत्थ पूजती तं, सव्वेहि सुगिम्हतो नियमा ॥

चतस्रः सन्ध्याः, तिस्रो रात्रौ । तद्यथा-प्रस्थिते सूर्ये, अर्धरात्रे,
प्रभाते च; चतुर्थी दिवसस्य मध्यभागे । एतासु चतसृष्वपि स्वा-
ध्यायो न क्रियते । शेषक्रियाणां तु प्रतिद्वेक्षनाऽऽदीनां न प्रति-
वेधः । स्वाध्यायकरणे चाज्ञाभङ्गादयो दोषाः । तथा-चतस्रः प्रति-
पदः । तद्यथा-आषाढपौर्णमासीप्रतिपत्, अश्वयुजपौर्णमासीप्र-
तिपत्, कार्तिकपौर्णमासीप्रतिपत्, सुग्रीष्मप्रतिपत्, चैत्रमासपौ-
र्णमासीप्रतिपदित्यर्थः । एतासु चतसृष्वपि प्रतिपत्सु तथै-
व-स्वाध्याय एव न क्रियते, न शेषक्रियाणां प्रतिवेधः । इह प्रति-
पद्ग्रहणेन प्रतिपत्पर्यन्ताश्चत्वारो महाः सूचिता इति; एषां चतुर्णां
महानां मध्ये यो महो यस्मिन् देशे यतो दिवसादारभ्य
यावन्तं काष्ठं पूर्यते तस्मिन् देशे ततो दिवसादारभ्य तावन्तं
काष्ठं स्वाध्यायं न कुर्वन्ति । यत्पुनः सर्वेषां पर्यन्तः “ सव्वेहि जाव
पामिचतो ” इति वचनात् सुग्रीष्मकक्षेत्रमासज्ञायां पुनर्महा-
महः सर्वेषु देशेषु शुक्लपक्षप्रतिपद् आरभ्य चैत्रपूणमासीप्र-
तिपत्पर्यन्तो नियमात् प्रसिद्धः, ततो यद्यच्चानं प्रतिपक्षस्तथापि
चैत्रमासस्य शुक्लपक्षप्रतिपद् आरभ्य सर्वे पक्षे पौर्णमासीप्रति-
पत्पर्यन्तं यावद्वश्यमनागादो योगो निक्षिप्यते, शेषेषु आगादा-
दिकेषु योगो न निक्षिप्यते, केवलं स्वाध्यायं न कुर्वन्ति । गतं
सदेवमस्वाध्यायिकम् । व्य० ७ उ० । ग० ।

“ जो कप्पइ णिगंथाण वा णिगंथीण वा चउहिं महापामि-
चएहिं सज्जायं करेत्तए । तं जइ-आसाढपाडिबए, इंदपाडिबए,
कत्तिअपामिचए, सुगिम्हपामिचए । जो कप्पइ णिगंथाण वा
णिगंथीण वा चउहिं संजाहिं सज्जायं करेत्तए । तं जइ-पढ-
माए पच्छिमाए मज्झएहे अवरत्ते । कप्पइ णिगंथाण वा णि-
गंथीण वा चउक्कालं सज्जायं करेत्तए । पुव्वएहे अवरएहे
पओसे पच्छूसे । ” इत्या० ४ उ० २ उ० ।

इदानीं व्युद्ग्रहजमाह-

बुगढ दंभियमादी, संखोभे दंडिण य कालगते ।

अणरायण य सज्जए, जच्चिरमनिदोच्चहोरत्तं ॥

व्युद्ग्रहे परस्परविग्रहे दण्डिकादीनाम्, आदिशब्दात्सेनापत्या-
दीनां च परस्परं विग्रहे अस्वाध्यायः । इयमत्र भावना-द्वौ दण्डिकौ
सस्कन्धाचारौ परस्परं संग्रामं कर्तुकामौ यावन्नोपशम्यत-
स्तावत्स्वाध्यायः कर्तुं न कल्पते । किं कारणमिति चेत् ? , उ-
च्यते-तत्र बाणमन्तराः कौतुकेन स्वस्वपक्षेण समागच्छन्ति, ते
जलययुः, भूयसां च लोकानामप्रीतिः-ययमेवं भीता वर्तमाने,
कामप्यापदं प्राप्स्यामः, एते च अमणका निर्दुःखं पठन्ति ।

अत्राऽऽदिशब्दव्याख्यानार्थमिमां गाथामाह-

सेणाहिवभोइयमह-यरपुंसिस्थीण मद्दुजुप्पे वा ।

ढोड्ढादिजंरुणे वा, गुज्जगउड्ढाह अवियत्तं ॥

द्वयोः सेनाधिपत्योर्द्वयोर्वा तथाविधप्रसिद्धिपात्रयोः, तयोः
परस्परं व्युद्ग्रहे वर्तमाने, अथवा मल्लयुद्धे, तथा-द्वयोः ग्रामयोः

परस्परं सकलपक्षावे बहवस्तरुणाः परस्परं लोष्टैर्युध्यन्त, ततो
यष्टिभिर्वा लोष्टादिभिर्वा परस्परं भयम्ने कवहे यावन्नोपशमो
भवति सेनाधिपादिव्युद्ग्रहस्य तावदस्वाध्यायः । अत्र कार-
णमाह-(गुज्जगउड्ढाह अवियत्तं) गुह्यकाः कौतुकेन प्रेक्षमाणाः-
जलययुः, तथा बहुजनो ‘निर्दुःखा एते’ इति मन्यमानोऽप्रीत्यो-
ड्ढाहं कुर्यात्-‘लोकोपचारवाह्या एते’ इति । तथा-दण्डिके काष्ठ-
गते (अणरायण) यावदन्यो राजा नाभिपिको भवति तावत्प्र-
जानां महान् संज्ञाभो भवति, तस्मिन्संज्ञाभे सति स्वाध्यायो न
कल्पते । किमुक्तं भवति? यावत्संज्ञोभस्तावदस्वाध्यायः । अत्रापि
पूर्वोक्ता दोषाः । सभयं म्लेच्छादिभयाकुलं, तस्मिन्नपि स्वाध्यायो
न कर्तव्यः । एतेषु व्युद्ग्रहादिष्वस्वाध्यायविधिमाह-(जच्चि-
रमनिदोच्चहोरत्तं) व्युद्ग्रहादिषु यच्चिरं यावन्तं काष्ठम्, (अनिदोच्च-
ति) अनिर्जयमस्वस्यमित्यर्थः । तावन्तं काष्ठमस्वाध्यायः । स्वसभ-
वनानन्तरमप्येकमहोरात्रं परिहृत्य स्वाध्यायः कर्तव्यः ।

उक्तं च-

“ निहोसीभूते चि अ-होरत्तमो परिहरिच्छा उ ।

सज्जाअं कीरइ इह, संखोभे दंडिण य कालगए ” ॥

अनेनैतदपि सूचितमस्ति ततस्तदभिधित्सुः “ संखोभे
दंडिण ” इत्येतदपि व्याख्यानयति-

दंभिए कालगयम्मी, जा संखोभो न कीरते ताव ।

तद्विवस भोइमहतर-वामगपतिमेज्जयरमादी ॥

दण्डिके कालगते सति यावत्संज्ञोभस्तावत्स्वाध्यायो न क्रियते,
अन्यस्मिन्सु सुराक्षि स्थापितेऽहोरात्रातिक्रमेण क्रियते, स्वस्थ-
भवनात् । तथा-जोजिके ग्रामस्वामिनि, मन्दचरिके ग्रामप्रधाने, वा-
टकपतौ वसत्यनुरते वाटकैकस्वामिनि, तथा-शय्यातरे, आदि-
शब्दादन्यस्मिन्वा शय्यातरसंखन्धिनि मानुषे कालगते, तद्विष-
यमस्वाध्यायः, एकमहोरात्रं यावत्स्वाध्यायपरिहार इत्यर्थः ।

तथा-

पगए वहुपक्खिण वा, सुत्तघरंतर मते च तद्विवसं ।

निहुक्ख चि य गरिहं, न पढंति सणीयगं वा वि ॥

अन्योऽपि यो नाम ग्रामे प्रकृतोऽधिकृतो महामनुष्यः, तस्मिन्;
यदि वा-बहुपाक्षिके बहुस्वजने कालगते, अन्यस्मिन्वा प्राकृते
स्ववसत्यपेक्षया सप्तगृहाभ्यन्तरे कालगते तद्विवसमेकमहोरा-
त्रमस्वाध्यायः । किं कारणमत आह-‘निर्दुःखा अमी’ इत्यप्रीत्या
गईणसंभवात्, ततो न पठन्ति । अथवा-तथा पठन्ति यथा न
कोऽपि गृणोतीति । महिषाकृतितशब्दोऽपि यावत् श्रूयते ता-
वन्न पठन्ति ॥

इत्थसयमणाहम्मी, जइ सगरियमादितो विणिचिज्जा ।

तो सुच्छं अविवित्ते, अन्नं वसहिं वि पगंति ॥

कोऽन्यनाथो हस्तशताभ्यन्तरे मृतः, तस्मिन्ननाथे हस्तशताभ्य-
न्तरे कालगते स्वाध्यायो न क्रियते । तत्रैवं यतना-शय्यातरस्य
वा, तथाविधस्य आवकस्य वा भद्रकस्य वाक्तां कथ्यते-यथा
स्वाध्यायान्तरायमस्माकमनाथमृतकेन कृतमस्ति, ततः सुन्दरं
भवति यदीदं उच्यते । एवमभ्यर्थितो यदि शय्यातरादिविगिञ्च-
येत् परिष्ठापयेत्, ततः शुद्धं भवतीति स्वाध्यायः कार्यः । अथ च
शय्यातरादिकं कोऽपि परिष्ठापयितुमिच्छति तदा तस्मिन्ननाथे
मृतके आविवित्ते अपारिष्ठापिते अन्यां वसतिं मागयन्ति ।

नार्ये कायोत्सर्गे कुर्वन्ति, तदा तस्मिन् पांशुवर्षे रजोदघाते वा स्वाभाविके पतति, संवत्सरं यावत्स्वाध्यायं कुर्वन्ति, इतरथा नेति । व्य० ७ उ० । “दसविहे भोरालिप असज्जाइय पण्चे । तं जहा-अट्टी मंसे सोणिण असुइसामंतं मसाणसामंतं चंदोवराण सुरो-चराण परणे रायवुगहं उवस्सयस्स अंतो भोरालिप सरीरे” । (स्था०) “दसविहे अंतश्चिक्खिणं असज्जाइय पण्चे । तं जहा-उक्कावाण दिसिदाहे गज्जिण वीज्जुण निग्घाण जूयण जफलानिचप धूमिण महिया रज्जुग्घाण” । स्था० १० ठा० । आ० सू० । व्य० ।

इदानीं सदेवमाह-

गंधर्वदिमाविज्जुक-गजितप जूवजस्सदिचे य ।

एकेकपोरिसिं ग-जियं तु दो पोरिसिं हणति ॥

गन्धर्वनगरं नाम यश्चक्रवर्त्यादिनगरस्योत्पातसूचनाय संध्या-समये तस्य नगरस्योपरि द्वितीयं नगरं प्राकारादृष्टलकादिसं-स्थितं दृश्यते (दिसं चि) दिग्दाहः, विद्युत्प्रतीता, उल्का सरेखा, प्रकाशयुक्तं वा, गजितं प्रतीतं, यूपको वक्ष्यमाणलक्षणः, यत्-दीप्तं नाम एकस्यां दिशि अन्तराऽन्तरा यद् दृश्यते विद्युत्सदृशः प्रकाशः । एतेषु मध्ये गन्धर्वनगरादिकमैकैकामेककां पौरुषीं च हन्ति, गजितं पुनर्द्वे पौरुषी हन्ति ।

गंधर्वनगर नियमा, सदेवयं सेसगाणि भजिणीओ ।

जेण न नज्जति फुदं, तेण य तेसिं तु परिहारो ॥

अत्र गन्धर्वनगरादिषु मध्ये गन्धर्वनगरं नियमात्सदेवकम, अ-न्यथा तस्याप्रावात् । शेषकाणि तु दिग्दाहादीनि भूकानि विकल्पि-तानि, कदाचित् स्वाभाविकानि भवन्ति, कदाचित् देवकृतानि । तत्र स्वाभाविकेषु स्वाध्यायो न परिह्रियते किन्तु देवकृतेषु परम् । येन कारणेन स्फुटं वैधित्येन तानि न ज्ञायन्ते, तेन तेषामविशेष-परिहारः ।

सम्प्रति दिग्दाहादिव्याख्यानमाह-

दिसि दाहं भिन्नमूलो, उक्क सरेहा पगासज्जुचा वा ।

संज्जच्छेयाऽऽनरणो, उ जूवओ मुक्कदिण तिप्पि ॥

दिशि पूर्वादिकायां भिन्नमूलो दाहः प्रज्वलनं दिग्दाहः । किमुक्तं जत्रनि !—अन्यतमस्यां दिशि महानगरप्रदीप्तमि-थोपरि प्रकाशोऽथस्तादन्धकार इति दिग्दाहः । उल्का पृष्ठतः सरेखा, प्रकाशयुक्तं वा । यूपो नाम शुक्ले शुक्लपक्वे त्रीणि दिनानि यावत् द्वितीयस्यां तृतीयस्यां चतुर्थ्यां चेत्यर्थः । संध्याच्छेदः संध्याविभागः, स आव्रियते येन स संध्याच्छे-दावरणश्चन्द्रः । इयमत्र भावना-शुक्लपक्वद्वितीयातृतीयाचतुर्थी-रूपेषु त्रिषु दिनेषु संध्यागतश्चन्द्र इति कृत्वा संध्या न विभाव्य-ते, ततस्तानि शुक्लपक्वे त्रीणि दिनानि यावत् चन्द्रः संध्या-च्छेदावरणः स यूपक इति । एतेषु च त्रिषु दिवसेषु प्रादोपि-की पौरुषी नास्ति, संध्याच्छेदादिभवनादिति ।

अत्रैव मतान्तरमाह-

केसिंचि होंति मोहा, उ जूवओ ते तु होंति आइष्ठा ।

जेसिं च अणाइष्ठा, तेसिं खलु पोरिसी दोष्णि ॥

केषाञ्चिदाचार्याणां मतेन ये भवन्ति शुक्लपक्वे प्रतिपदा-दिषु दिवसेषु मोहाः शुभाशुभसूचननिमित्ता वितथोत्पादा आदित्यकिरणविकारजनिता आदित्यस्योदयसमये अस्तमय-समये वा आताम्राः, कृष्णइयामा वा ‘यूपक इति’ ते भवन्ति

वर्तन्ते आचीर्णाः, नैतेषु स्वाध्यायः परिह्रियते इत्यर्थः । येषां स्वाचार्याणामनाचीर्णास्तेषां मतेन यूपको द्वे पौरुषी हन्ति ।

न केवलममूनि सदेवानि, किन्त्वमून्यपि, तान्येवाह-

चंदिमसूरुपरागा, निग्घाण गुंजिते अहोरत्तं ।

चंदं जहृषेणऽड्ड उ, उक्कोसा पोरिसिं विक्कं ॥

सुरो जहृष वारसं, उक्कोसं पोरिसीउ सोइसओ ।

सगह निव्वुन एवं, सूरुादी जेणऽहोरत्ता ॥

चन्द्रोपरागं सूर्योपरागं च, तद्दिनापगते इति धाक्यशेषः । तथा-साम्नं निरग्ने वा नजसि व्यन्तरकृतो महागजितसमो ध्वनिनिर्घा-तः । गजितस्यैव विकारो गुञ्जावत् गुञ्जमानो महाध्वनिगु-ञ्जितं, तस्मिन् निर्घाते गुञ्जितं च, प्रत्येकमहोरात्रं यावत् स्वा-ध्यायपरिहारः । तत्र जघ-यत उत्कर्षतश्च चन्द्रोपरागं सूर्यो-परागं वाऽधिकृत्य स्वाध्यायांचितकालमानमाह-चन्द्रो जघन्ये-नाष्टौ पौरुषीर्हन्ति, उत्कर्षतः पौरुषीद्विपदकमः द्वादश पौरुषी-रित्यर्थः । कथमिति चेत् ? उच्यते-उक्कश्च चन्द्रमा राहुणा गृ-हीतस्ततश्चतस्रः पौरुषी रात्रेर्हन्ति, चतस्र आगामिनो दिवसस्य, एवमष्टौ । द्वादश पुनरेवम्-प्रभातकाले चन्द्रमाः सग्रह एवास्त-मुपगमः-ततश्चतस्रः पौरुषीर्दिवसस्य हन्ति, चतस्र आगामिन्या रात्रेः, चतस्रो द्वितीयस्य दिवसस्य । अथवा-औत्पातिकग्रहणेन सर्वरात्रिकं ग्रहणं जातम्, सग्रह एव निमग्नः, ततः संदूषितरात्रे-श्चतस्रः पौरुषीः, अन्यथाहोरात्रम् । अथवा-अग्रजघनतया विशेष-परिज्ञानाभावाच्च न ज्ञान-कस्यां वेलायां ग्रहणं, प्रभाते च ग्रहो-निमज्जन् दृष्टः, ततः समग्ररात्रिः परिहृता, अन्यथाहोरात्रमिति द्वा-दश । सूर्यो जघन्येन द्वादश पौरुषीर्हन्ति, उत्कर्षतः पौण्डश । कथ-मिति चेत् ? उच्यते-सूर्यः सग्रह एवास्तमुपगतश्चतस्रः पौ-रुषी रात्रेर्हन्ति, चतस्र आगामिनो दिवसस्य, चतस्रस्ततः पर-स्या रात्रेः, एवं द्वादश । योरुश पुनरेवम्-सूर्य उक्कश्च राहुणा गृही-तः सक्कञ्च च दिने समुत्पातयशात्सग्रहः स्थित्वा सग्रह एवास्त-मुपागतः । ततश्चतस्रः पौरुषीर्दिवसस्य हन्ति, चतस्र आगामिन्या रात्रेः, ततश्चतस्रः परदिवसस्य, ततोऽपि चतस्रः परतराया रात्रेः, एवं पौण्डश पौरुषीर्हन्ति, सग्रहनिमग्नः, सग्रह एवास्तमितः । तथा चोक्तम्-“एयं उभाग्रज्जुञ्जं गहिण सगहनिव्वुने द्दुब्बव-मिति” । (सूरादी जेणऽहोरत्तं चि) सूर्यादयो येनाहोरात्राः ।

ततः किमित्याह-

आइच्चं दिणमुक्के, मो चिय दिवसो य राती य ।

निग्घायगुंजएसुं, सो चिय वेला उ जा पत्ता ॥

यतः सूर्यादिरहोरात्रः, ततो दिनमुक्ते सूर्ये-स एव दिवसः, सैव च रात्रिः स्वाध्यायिकतया परिह्रियते । चन्द्रे तु तस्यामेव रात्रौ मुक्ते यावदपरश्चन्द्रो नोदेति, तावदस्वाध्यायः, इति सैव रात्रिः, अपरं च दिनमिति, एवमहोरात्रमस्वाध्यायः । अन्ये पुनराहुराचीर्णमिवम्-चन्द्रो रात्रौ गृहीतो रात्रावेव मुक्तः, तस्या एव रात्रेः शेषं वर्जनीयं यस्मादागामिसूर्योदये समाप्ति-रहोरात्रस्य जाता । सूर्योऽपि यदि दिवा गृहीतो दिवैव मुक्त-स्तस्यैव दिवसस्य शेषं, रात्रिश्च वर्जनीया इति । तथा-निर्घा-तगुञ्जितयोः प्रत्येकम्; यस्यां वेलायां निर्घातो गुञ्जितं वाऽधि-कृते दिने भवेत्, द्वितीयेऽपि दिने यावत्सैव वेला प्राप्ता भवति तावदस्वाध्याय एव । तयोदप्यस्वाध्यायस्याहोरात्रप्रमाणात्वात् ।

अधुना 'वियाताय' इति व्याख्यानार्थमाह—

अजराज तिष्ठि पोरिसि, जराजयाणं जरे पारिणं तिष्ठि ।
निज्जंतुवस्सपुरतो, गलियज्जति निगलं होज्जा ॥

अजरायुप्रसूतास्तिष्ठः पौरुषीः स्वाध्यायं हन्ति अहोरात्र-
च्छेदं मुक्त्वा, महोरात्रे तु द्विने आसन्नायामपि प्रसूतायां
कल्पते स्वाध्यायः, जरायुजानां यावज्जरायुर्भवेन तावदस्वा-
ध्यायः, जरायौ पतितेऽपि सति तदनन्तरं तिष्ठः पौरुषीयाव-
दस्वाध्यायः । तथा-उपाश्रयस्य पुरतो नीयमानं तदस्वाध्यायिकं
गन्धितं भवति, तदा पौरुषीयवदस्वाध्यायः । यदि पुनर्निर्गन्धं
भवेत्तदा तस्मिन्नीते स्वाध्यायः ।

“रायपह वूढे” इति व्याख्यानार्थमाह—

रायपहे न गणिज्जति, अह पुण अमृत्य पोरिसी तिष्ठि ।
अह पुण वूढं हुस्मा, वासोदेणं ततो मुक्कं ॥

राजपये यद्यस्वाध्यायिकचिन्दवो गलितास्तदा तदस्वाध्यायि-
कं न गणयते । किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते—यतस्ततः स्वयो-
ग्यत आगच्छतां गच्छतां च मनुष्यनिरश्चां पदनिपातैरेवोक्तिस्तं
भवति । जिनाश्चात्र प्रमाणमतो न दोषः । अतः पुनस्तदस्वा-
ध्यायिकं तैरश्च राजपथादन्यत्र पण्डिताभ्यन्तरे पतति तदा
तिष्ठः पौरुषीयावदस्वाध्यायः । अथ तदपि वर्षोदकेन व्यूढं भ-
वेत्, उपलक्षणमेतत्—प्रदोषनकेन च दग्धं, तदा शुक्रं तत्स्थान-
मिति कल्पते स्वाध्यायः । ।

संप्रति “परवयेण साणमादीण” इति व्याख्यानयति—
चोदेति समुद्दिंसिउं, सा जो जइ पोगलं तु पज्जाहि ।
उदरगतेणं चिट्ठइ, जा ताव उ हो असज्जाओ ॥

अत्र परच्छोदयति—आ यदि पौद्गलं तैरश्च मांसं वहिः समुद्दि-
श्य (निगल्य) तत्रागच्छेत्, तर्हि यावन्स तत्र निष्ठति तावत्त-
नोदरगतेन पौद्गलेन अस्वाध्यायः कस्मान्न भवति ? ।

सुरिराह—

भस्सति जइ ते एवं, सज्जाओ एव तो उ नत्ति तुहं ।

असज्जाइयस्म जेणं, पुणोसि तुमं मयाकालं ॥

अण्येन—अत्रोत्तरं दीयते—यदि ते एवं पूर्वोक्तप्रकारेण मतिः,
ततस्तत्र स्वाध्यायः कदाचनानपि नास्त्येव । एवकारो जिन्नकमः,
स च यथास्थानं योजितः । कस्मान्न स्वाध्यायः कदाचनानपि ? ,
अत आह—येन कारणेन सदाकालं सर्वकालं त्वमस्वाध्यायि-
कस्य पूर्णः, शरीरस्य रुधिरादिचतुष्टयात्मकत्वात् ।

जइ फुसती तर्हि तुमं, जइ वा लेदारिएण संचिट्ठे ।

इहरा न होति चोयग, वंतं तं परिणयं जम्हा ॥

यदि इवा खरपटेन मुक्तेन तत्रागत्याऽऽत्मीयं तुण्डं भवापि स्पृ-
शति । यदि वा खरपटतेनैव मुक्तेन संतिष्ठेत, तदा भवत्यस्वा-
ध्यायः, इतरथा यदि पुनर्वहिरिव सुखं लब्ध्वा समागच्छति तदा
न भवति । तथा—यद्यप्यागत्वा वसति, तथापि चोदक ! ना-
स्वाध्यायिकम, यस्मात्तद् वान्तं परिणतम् । एवं मार्जारदिकम-
प्यधिकृत्य भावनीयम् । गतं तैरश्चम् ।

अधुना मानुषमाह—

माणुस्सगं चउच्छा, अट्ठि मुत्तूण सयमहोरत्तं ।
परियावणविवक्षा, सेसे तिग सच्च वड्ढे वा ॥

मानुष्यकं मानुषमस्वाध्यायिकं चतुर्धा । तद् यथा—चर्म, रुधिरं,
मांसमस्थि च । एतेष्वपि मुक्त्वा शेषेषु सन्तु क्षेत्रतो हस्तशता-
भ्यन्तरे न कल्पते स्वाध्यायः । कालतोऽहोरात्रम् । (परियावण-
विवक्षितं) मानुषं तैरश्च वा यद् रुधिरं तद् यदि पर्यापन्नं तेन
स्वभाववर्णाद्विवर्णीयं भवति खादिरसारसमाससारादिभ-
क्ष्यं, तदा स्वाध्यायिकं भवतीति क्रियते, तस्मिन् पतितेऽपि स्वा-
ध्यायः । (सेसं चि) पर्यापन्नं विवर्णं मुक्त्वा शेषे स्वाध्यायिकं
भवति । (तिगं चि) यत् अविरताया मासे मासे आर्तवमस्वा-
ध्यायिकमागच्छति तत्स्वभावतस्त्रीणि दिनानि यावदस्वा-
ध्यायः । त्रयाणां दिवसानां परतोऽपि कस्याश्चित् गलति, परं
तदार्तवं न भवति, किं तु तन्महारक्तं नियमात्पर्यापन्नं विवर्णं
भवतीति नाऽस्वाध्यायिकं गणयते । तथा—यदि प्रसूताया दारकां
जातस्तदा सप्त दिनान्यस्वाध्यायिकम्, अष्टमे च दिवसे स्वा-
ध्यायः कर्तव्यः । अथ दारिका जाता तर्हि सा रक्तोत्कटति,
तस्यां जातायामष्टौ दिनान्यस्वाध्यायः, नवमे दिने स्वा-
ध्यायः कल्पते ।

एतमेव गाथाऽवयवं व्याचिख्यासुराह—

रत्तुक्कमए इत्थी, अट्ठ दिणा तेण सत्त मुक्कऽइए ।

तिहह दिणाण परेणं, अणाउयंतं महारत्तं ॥

नियेककाले यदि रक्तोत्कटता, तदा स्त्री इति, तस्यां जातायां
दिनान्यष्टावस्वाध्यायः । दारकः शुक्राधिकः, तेन तस्मिन् जाते
सप्त दिनान्यस्वाध्यायः । तथा—स्त्रीणां त्रयाणां दिनानां परतस्त-
न्महात्कमनार्तवं भवति, ततो न गणनीयम् ।

दंतं दिट्ठे विगिंचण, सेमऽट्ठिग वारसे न वासाइ ।

जामित वूढे सीया—ण पाणमादीण रुद्धरे ॥

यत्र हस्तशताभ्यन्तरे दारकादीनां दन्तः पतितो भवति तत्र नि-
मालनीयं, यदि दृश्यते तदा परिष्ठाप्यः । अथ सस्यगृहगयमारौरपि
न दृष्टस्तदा शुक्रमिति कल्पते स्वाध्यायः । अन्ये तु युवते—तस्य
अवहेदनार्थं कायोत्सर्गः करणीयः । दन्तं मुक्त्वा शेषाङ्गोपाङ्गा-
दिसंवाधिन्यस्थितिं हस्तशताभ्यन्तरे पतिते द्वादश वर्षाणि न
कल्पते स्वाध्यायः । अथ तत्स्थानमग्निकायेन ध्यामितं, पानीयेन
वा व्यूढं, तदा शुक्रमिति, ध्यामिते व्यूढे वा स्वाध्यायः कल्पते ।
तथा—(सीयाणं चि) श्मशाने यानि कलेवराणि दग्धानि तान्य-
स्वाध्यायिकानि न भवन्ति, यानि पुनस्तत्र अनाथकलेवराणि न
दग्धानि, निष्कार्ताकृतानि वा तानि द्वादश वर्षाणि स्वाध्याय-
धन्ति । यद्यपि च नाम श्मशानं वर्षोदकेन प्रव्यूढं, तथापि तत्र
न कल्पते स्वाध्यायः, मानुषास्थिबद्धत्वात् । (पाणमादीणं चि)
पाणनामाऽऽम्बरो नाम यज्ञो हिरमिक्कापरनामा दैवतं, तस्या-
ऽऽयतनस्याधस्ताद् मानुषान्यस्थीनि निक्षिप्यन्ते—ततस्तत्र,
तथा—मातृगृहे चासुगृहायतने, रुद्रगृहे वाऽधस्ताद् मानुषं क-
पां निक्षिप्यते । ततस्तथोरपि द्वादश वर्षाण्यस्वाध्यायः ।

अमुमेव गाथाऽवयवं व्याचिख्यासुराह—

सीयाणे जं दहं, न तं तु मुत्तूणऽणाहनिहयाइ ।

आहंवर रुदमादी—धरेसु हेड्डऽट्ठिया वारा ॥

श्मशाने यत् दग्धमस्थिजातं तदस्वाध्यायिकं न भवति । तन्मु-
क्त्वा, शेषाणि यानि न दग्धानि, निष्कार्ताणि वा, तानि द्वादश व-
र्षाणि स्वाध्यायं धन्ति । तथा—आहंवरे आम्बरोरयत्तायतने, रुद्र-

अभयसहीर्षं असती, ताहे रचि वसभा विवेचति ।

विकिन्ने व समता, जं दिड अरादए मुष्ठा ॥

अन्यस्या वसतेरभावो यदि, ततो राजौ सागरिकासंज्ञोके वृष-
ज्रास्वदनाथमृतकं विविचन्ति, अन्यत्र प्रक्षिपन्ति । अथ तत्कलो-
चरं च शुगाद्यादिभिः समन्ततो विकीर्णैः, ततो विकीर्णैः तस्मिन्स-
मन्ततो निभालयन्ति, तत्र यद् दृष्टं तत्सर्वमपि विविचन्ति । इतर-
स्मिन्स्तु प्रयत्ने कृतेऽप्यदृष्टे 'अरादा' इति कृत्वा शुष्काः स्वाध्यायं
कुर्वन्तोऽपि न प्रायश्चित्तभागिन इति भावः । गते व्युद्ग्रहजम् ।

इदानीं शारीरिकमाह—

सारीरं पि य द्रुविहं, माणुसतेरिच्छियं समासेण ।

तेरिच्छं तथ तिहा, जलथलखहजं पुणो चउहा ॥

शरीरे जवं शारीरं, तदपि समासेन संक्षेपतो द्विविधं द्विप्रका-
रम् । तद्यथा-मात्रुपं तैरञ्चं च । तत्र तैरञ्चं त्रिधा-जलजं जलम-
स्यादितिर्यग्जवम्, एवं गवादीनां स्थलजं, खजं मयूरादी-
नाम् । पुनरैकैकं चतुर्धा-चतुःप्रकाराः ।

तानेव प्रकारानाह—

चम्म रुहिरं च मंसं, अट्ठि पि य होइ चउविगपं तु ।

अहवा दन्वाईयं, चउव्विहं होइ नायव्वं ॥

चर्म शोणितं रुधिरं मांसमस्थि इत्येतानि प्रतीतानि । एवमे-
कैकं जलजादौ चतुर्विकल्पं ज्ञाति । अथवा-जलजादिकं प्रत्ये-
कं चर्मादिभेदतश्चतुर्विकल्पं सत्पुनरुच्युत्पन्नं चर्मादिभेदत-
श्चतुर्विधं भवति ज्ञातव्यम् ।

तानेव प्रत्येकं चर्मादीन् चतुरो भेदानाह—

पंचिदियाण दब्बे, त्विने सठिदुत्थ पोगलाकिण्णे ।

तिकुरत्थंतरिए वा, नगरे वाहिं तु गामस्स ॥

चर्मे-चर्मतः पञ्चेन्द्रियाणां जलजादीनां चतुष्टयमस्वाध्या-
यिकं, न विकलेन्द्रियाणाम् । क्षेत्रे-क्षेत्रतः पण्डितस्तान्तरं परिह-
रणीयं, न परतः । अथ तत्स्थानं तैरञ्चन पौल्लेन मांसेन समन्ततः
काककुर्कुराऽऽदिनिर्व्याप्तिरेनाऽऽर्कोणं व्याप्तं, तदा यदि संग्रा-
मस्तर्हि तस्मिन् तिसृज्जिः कुरथ्याभिरन्तरिते विकीर्णं पुन्रले
स्वाध्यायः क्रियते । अथवा-नगरे, तदा तत्र यस्यां राजा सवल-
वाहनो गच्छति, देवयानं, रथो वा, विविधानि वा संवाहनानि ग-
च्छन्ति, तथा महत्याऽप्येकया रथया अन्तरिते स्वाध्यायः कार्यः ।
अथ स ग्रामः समस्तोऽपि विकीर्णं पौल्लेनाकीर्णं विद्यते, न
तिसृज्जिः कुरथ्याभिरन्तरितं तद् पौल्लमवाप्यते, तदा ग्रामस्य
बहिः स्वाध्यायो विधेयः । गता क्षेत्रतो मार्गणा ।

संग्रति कावतो मांवतश्च तामाह—

कावें तिपोरिसि अट्ट व, जावें सुचं तु नंदिमादीयं ।

वहिधोरप्पक्के, वूढे वा होति मुद्धं तु ॥

तत एकैकं जलजादि गतं चर्मादि कालतस्तिष्ठः पौरुषीर्हन्ति ।
(अष्ट वेति) यत्र महाकायपञ्चेन्द्रियस्य भूमिकादेरादनं तत्रा-
ष्टौ पौरुषीर्यावत्स्वाध्यायविधातः । गता कावतोऽपि मार्गणा ।
भावत आह-भावतो नद्यादिकं सूत्रं न पठति (बहिधोपत्यादि)
यदि पण्डितस्तेभ्यः परतो बहिः प्रकालय मांसमानीतं, यदि वा
राक्षा खादो पाकेन, तदा तस्मिन् बहिर्गते बही राखे बहिः पके
वा तत्रानीते शुक्रम, अस्वाध्यायिकं न भवतीति भावः । अथवा-

यत्र पण्डितस्तान्तरं पतितमस्वाध्यायिकं रुधिरं, तेनावकाशेन
पानीयप्रवाह आगतः, तेन व्यूढं, तदा पौरुषीत्रयमध्येऽपि
शुक्रमस्वाध्यायिकमिति स्वाध्यायः कार्यः ।

अतो पुण सट्ठीणं, धोयम्मी अवयवा तर्हि होंति ।

तो तिस्सि पोरिसीओ, परिहरियन्वा तर्हि हुंति ॥

यदि पुनः पण्डितस्तानामभ्यन्तरे मांसं प्रकालयति तदा तस्मिन्
धौते यतस्तत्र नियमादवयवाः पतिता भवन्ति, ततस्तिष्ठः पौरु-
ष्यः स्वाध्यायमधिकृत्य तत्र परिहर्तव्या भवन्ति ।

'अष्ट वा' इति यदुक्तं तदिदानीं भावयति—

महाकाये ऽहोरत्तं, मंजारादीण भूसगादि हते ।

अविभिस्से गिस्से वा, पठंति एगे जइ पत्ताति ॥

महाकाये भूमिकादौ मार्जारादिना हते मारिते अहोरात्रमष्टौ
पौरुषीर्यावद्ऽस्वाध्यायः । अत्रैव मतान्तरमाह—(अविभिस्से इ-
त्यादि) एके प्राहुः—यदि मार्जारादिना भूमिकादिरविभिन्न एव
सन् मारितो मारयित्वा च गृहीत्वा, अथवा गलित्वा ततः स्था-
नात्पलायते, तदा पठन्ति साधवः सूत्रं, न कश्चिद्दोषः । अन्ये ने-
च्छन्ति—यतः कस्तं जानाति अविभिन्नो भिन्नो वा मारित इति ।
अपरे एवमाहुः—यत्र मार्जारादिः स्वयं मृतोऽन्येन वा केनाप्यवि-
भिन्न एव सन् मारितस्तत्र यावत्कलेवरं न भिद्यते तावन्नाऽ-
स्वाध्यायिकम्, विभिन्ने अस्वाध्यायिकमिति । तदेतद्समीचीन-
म् । यतश्च कर्मादिभेदतश्चतुर्विधमस्वाध्यायिकं, तस्मादविभि-
न्नाऽप्यस्वाध्यायिकम्—तस्मादविभिन्नेऽप्यस्वाध्याय एव ।

अतो वहिं च भिन्ने, अंरुयविंदू तहा वियाताए ।

रायपहवूढमुद्धं, परवयणे साणमादीणि ॥

अन्तरुपाश्रयमध्ये, यदि बोधाश्रयाद् बहिः पण्डितस्तान्तरं
अण्डके पतितं यदि तदण्डकमभिन्नमद्याप्यस्ति, तदा तस्मिन्नु-
ज्झिते स्वाध्यायः कल्पते । अथवा—पतितं सत् तदण्डकं जि-
ज्ञं—तस्य वाऽण्डकस्य कललविन्दुर्मसौ पतितः, तदा जिज्ञे अ-
ण्डके, विन्दौ च भूमौ पतिते न कल्पते स्वाध्यायः । अथ कललं
पतितं सद्ऽण्डकं जिज्ञं कलिलविन्दुर्वै तत्र लग्नं, तदा तस्मि-
न् पण्डितस्तेभ्यः परतो बहिर्गता धौते कल्पते । तथा—विजाता-
यां प्रसूतायां तैरञ्चमस्वाध्यायः पौरुषीत्रितयं यावत् । तथा-
ये राजपथे अस्वाध्यायिकविन्दुो गतितास्ते न गणयन्ते । तथा-
ऽन्यत्र प्रतिपतित एवास्वाध्यायिकम्, ततो वर्षोदकप्रवाहेण त-
स्मिन् व्यूढं कल्पते । अत्र भादिकमाश्रित्य परस्य वचनं, तदग्रे
भावयिष्यते । इति गाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुरिदमाह—

अंदयमुज्जियकप्पे, न य चूमि खणंति इहरहा तिस्सि ।

असज्जाइयपरिमाणं, मच्छियपाया जर्हि खुप्पे ॥

यद्यण्डकमभिन्नमेव पतितं, तदा तस्मिन्नुज्झिते स्वाध्या-
यः कल्पते, अथ जिज्ञं तदा न कल्पते । न च भूमिं खन-
न्ति, इतरथा भूमिखननेन यदि तदस्वाध्यायिकमपनयन्ति त-
थाऽपि तिष्ठः पौरुषीर्यावद्स्वाध्यायः । अण्डकविन्दुरस्वाध्या-
यिकस्य प्रमाणं, यत्र मक्षिकापादा निमज्जन्ति । किमुक्तं भव-
ति?—यावन्मात्रे मक्षिकापादा भ्रुन्ति तावन्मात्रेऽप्यण्डकवि-
न्दौ भूमौ पतति सति अस्वाध्यायः ।

परि चीवरेण बध्वा पुनरपि वाचयति, अन्यत्र वा गन्तुं पठन्ति ।

एमेव य समणीणं, वणम्मि इयरम्मि सत्त वंधा उ ।

तह विं य अट्ठयमाणे, धोळणं अहव अन्नत्थ ॥

एवमेव अमणीनामपि वणविषये यतना कर्त्तव्या भवति । इतरस्मिन्नार्त्तवे सप्त बन्धाः पूर्वप्रकारेण जयन्ति । तथापि वणं इतरस्मिन् वाऽतिष्ठति इस्तथात्वाद् बहिः प्रकाल्य तथैव बन्धान् दत्त्वा वाचयति, अन्यत्र वा गत्वा पठति ।

एतेसामन्नयरे, असजाए अप्पणो उ सज्जायं ।

जो कुणइ अजयणाए, सो पावइ आणमादीणि ॥

एतेषामनन्तरोदितानामन्यतरस्मिन्नात्मनोऽस्वाध्यायिके सति यः स्वाध्यायं करोति, तत्राप्ययतनया, स प्राप्नोत्याज्ञादीनि तीर्थकराऽऽज्ञाज्ञादीनि दूषणानि, आदिशब्दादनवस्थाऽऽदिपरिग्रहः ।

न केवलमिमे दोषाः, किं त्विमे-

सुयणाणम्मि अभची, लोगविरुद्धं पमत्तन्नणा य ।

विज्जा साहणवेगु-सुधम्मया एव मा कुणसु ॥

अस्वाध्यायिके पठने भुतज्ञानस्याऽभक्तिर्विराधना कृता भवति, तद्विराधनायां दर्शनेविराधना, चारित्र्यविराधना च, तद्भावे मोक्षाभावः । तथा-लोकविरुद्धमिदम्-यदात्मनोऽस्वाध्यायिके पठनम् । तथाहि-लौकिका अपि व्रणे आर्तवे च परिगलति परिवेषणं, देवताऽर्चनदिक् वा न कुर्वन्ति । तथा-प्रमत्तोऽनृतस्य भ्रान्तदेवतया उल्लाना स्यात् । तथा-यथा विद्या उपचारमन्तरेण साध्यसाधनवैगुण्यधर्मेतया न सिध्यति, तथा भुतज्ञानमपि, तस्माद् मैवं कार्याः ।

अत्र परावकाशमाह-

चोयइ जइ एवं सो-णियमादीहि होइऽसज्जाओ ।

तो जरितो चियदेहो, एएसिं किएहु कायव्वं ? ॥

परश्चोदयति-यद्येवमुक्तप्रकारेणास्वाध्यायो भवति, तत एतेषां शोणितादीनां देहो भृत इति तत्र कथं स्वाध्यायः ? ।

अत्र सूरिराह-

कामं भरितो तेसिं, दंतादी अवजुया तह वि वज्जा ।

अणवजुया उ अवज्जा, लोए तह उत्तरे चेव ॥

कामं मन्यामहे पतत्-तेषां शोणितादीनां भृतो देहः, तथापि ये दन्तादयोऽवजुताः पृथग्भूताः, ते वज्या वर्जनायाः, ये त्वनवजुता अपृथग्भूता लोके उत्तरे च अवज्या अपरिहर्त्तव्याः ।

एतदेव भावयति-

अब्भंतरमल्लिच्चो, कुणती देवाणमच्चणं लोए ।

बाहिरमल्लिच्चो उण, ण कुणइ अवणेइ व ततो णं ॥

आभ्यन्तरमल्लिच्छोऽपि देवानामर्चनं लोके करोति, बाह्यमल्लिच्छः पुनर्न करोति; अपनयति वा महं ततः शरीरात्; एवमत्रापि भावनीयम् ।

आउच्छियावराहं, सन्निहिया न कखमेइ जहं पन्निमा ।

इय परलोए दंमो, पमत्तन्नणा इह सिया उ ॥

उपेत्य कृतमपराधं सन्निहिता सन्निहितप्रातिहार्यप्रतिमा यथा न क्षाम्यति, इति एवमुना प्रकारेण भुतज्ञानमपि कृतमपराधं न क्षमते । तत्र परलोकेषु गतिप्रपातो द्रष्टव्यः, इह लोके भ्रान्तदेवताउल्लाना स्यात् ।

रागो दोसो मोहो, असजाए जो करेइ सज्जायं ।

आसायणा व का सा, को वा जणितो अणायारो ? ॥

रागाद् दोषाद् मोहाद्वा योऽस्वाध्याये स्वाध्यायं करोति तस्य का कीदृशी फलत आशातना ?, को वा कीदृशः फलद्वारेण भणितोऽनाचारः ? ।

तत्र रागद्वेषमोहान् व्याख्यानयति-

गणिसइमाइमहितो, रागे दोसम्मि न सहते सइ ।

सव्वमसज्जायमयं, एमादी होइ मोहे उ ॥

गणी आचार्यः, आदिशब्दादुपाध्यायो गणावच्छेदक इत्यादिपरिग्रहः । एवमादिभिः शब्दैर्महित उक्त्यर्थतो योऽस्वाध्याये स्वाध्यायं करोति, स रागे छद्मः । यस्त्वन्यस्य गणिशब्दमुपाध्यायशब्दं वा न सहते-अहमपि पठित्वा गणी उपाध्यायो वा ज्ञविष्यामि इति विचिन्त्य यत्राऽऽदरपरोऽस्वाध्यायेऽपि स्वाध्यायं विदधाति, स द्वेषेऽनसातव्यः । यस्तु सर्वमस्वाध्यायमयमित्येवमादि विचिन्त्यास्वाध्यायं करोति, एष भवति मोह इति ।

संप्रत्याचार्यः फलद्वारेणाऽऽशातनामाह-

उम्मायं व लजेज्जा, रोगायकं व पाउणे दीहं ।

तित्ययरजासिआओ, जस्सइ सो संजमाओ वा ॥

इहलोए फलमेयं, परलोए फलं न देंति विज्जाओ ।

आसायणा सुयस्त य, कुव्वइ दीहं तु संसारं ॥

उन्मादं वा ज्वरेत, रोगाऽऽतङ्कं वा दीर्घं प्राप्नुयात्, तीर्थकरजापिताद्या संयमाद् भ्रश्यति, इहलोके विद्या अङ्गभुतस्कन्धादिद्वक्काणां, फलं, परलोके च मोक्षलक्षणं, न ददति न प्रयच्छन्ति । न केदलं फलदानाभावः, किं तु भुतस्याऽऽशातना दीर्घं संसारं करोति । तदेवं फलत आशातनाऽभिहिता ।

सात्प्रतमनाचारं फलत आह-

नाणाऽऽथारविराहिणं, दंसणयारो वि तह चरित्तं च ।

चरणविराहणयाए, मुक्खाभावो मुणेयव्वो ॥

अस्वाध्याये स्वाध्यायं कुर्वता ज्ञानाऽऽचारो विराधितः, तद्विराधनायां दर्शनाचारश्चारित्र्यं च विराधितम् । चरणविराधनतायां मोक्षाभावः ।

अत्रैवापवादमाह-

वितियागादे सागा-रियादि कालगएँ असति वुच्छेए ।

एएहि कारणेहिं, जयणाए कप्पए काठं ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् । व्य० ७ उ० । ध० ।

जे भिक्खू अप्पणो असज्जाइए सज्जायं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

अप्पणो सरीरे समुत्थे असज्जाइए ति सज्जाओ अप्पणो ण कायव्वो; परस्स पुण ण वायणा दायव्वा महंतेसु गच्छेसु ।

अन्वावद्वाण शिन्वो-दयाण व होज्जं ति सज्जाओ ।

अरिसाज्जगंदझात्तुं, इति वायणसुत्तसंबंधो ॥ १३६ ॥

कदाऽऽयतने, मातृगृहेषु आरम्भरादीनामधस्तादर्थानि सन्ति,
तेन कारणेन तत्र द्वादश वर्षाण्यस्वाध्यायः ।

असिबोमधायणेषु, चारस अविशोदियम्मि न करेति ।

भामिय वूढे कीरइ, आवासियसोहिण् चव ॥

यत्र ग्रामे समुत्पन्नेनाशिवेन भूयान् जनः कालगतः, न च निष्काशितः, यदि वा-अवमौदयेण प्रभूतो जनो मृतो, न च निष्काशितः, अथवा-आघातस्थानेषु भूयान् जनो मारयित्वा निक्षिप्तो भवति । एतेष्वशिववाचमौदयायतनस्थानेषु पूर्वं विशोधनं क्रियते, विशोधने च क्रियमाणे यद् दृष्टं तत्परित्यज्यते । अदृष्टविषये च देवतायाः कायोत्सर्गं कृत्वा पठन्ति । अथ न क्रियतं विशोधनं, ततस्तस्मिन्निशोधिते द्वादश वर्षाणि यावत् स्वाध्यायं न कुर्वन्ति । अथ तत् अशिवादिस्थानमग्निकायेन ध्यामितं, वर्षोदकेन वा प्लावितं, तदा क्रियते तत्र स्वाध्यायः (आवासियसोहिण् चव चि) श्मशानं यदि द्यूयोजनेरावासितं, ततस्तस्मिन्निशोधिते शोधनं क्रियते, यद् दृश्यते तद् विविच्यते । एवं शोधिते तस्मिन् अदृष्टाद्युपघाताय देवतायाः कायोत्सर्गं कृत्वा स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति ।

दहरगाममयम्मी, न करेती जा न नीसियं होति ।

पुरगामे च महंते, वारुअसाहिं परिहरंति ॥

दहरके जुल्लके ग्रामे कौऽपि मृतः, तस्मिन् मृते तावत्स्वाध्यायो न क्रियते यावत् कलेवरं न निष्काशितं भवति । पुरे पत्तने महति वा ग्रामे घाटके साही वा यदि मृतो भवति तदा तं घाटकं साहिं वा परिहरन्ति । किमुक्तं भवति?, तत्र न कुर्वन्ति स्वाध्यायं यावत्तद्घाटकात् साहीतो वा निष्काशितं भवति, घाटकात् साहीतोऽन्यत्र मृते नास्वाध्यायः ।

जइ य उवस्सयपुरतो, नीइजइ तं महद्वयं ताहे ।

इत्थसयंतो जावउ, तावउ न करेति सज्जायं ॥

यदि च तत् कलेवरं मृतकं नीयमानं संयनानामुपाश्रयस्य पुरतो हस्तशताभ्यन्तरेण नीयते, ततो यावद् हस्तशतान्तो हस्तशतं व्यतिक्रम्यते, तावच्च कुर्वन्ति स्वाध्यायम्, हस्तशतं व्युत्क्रान्ते पठन्ति ।

अत्र पर आह-

को बी तत्थ भणेज्जा, पुप्फादी जाव तत्थ परिसाफी ।

जा दीसंतो तावउ, न कीरए तत्थ सज्जाओ ॥

कौऽपि तत्र मृताव-या तत्र मृतके नीयमाने पुष्पादीनाम, आदि-शब्दाद् जीर्णचीवरस्वरूपरादीनामुपाश्रयस्य पुरतो हस्तशताभ्यन्तरे परिशादिः, सा यावत् दृश्यते तावत्तत्र न क्रियते स्वाध्यायः ।

अत्र सुरिराह-

भयइ न य तं तु तहि; निजंतो मोचु हो असज्जायं ।

जम्हा चउप्पयारं, सारीरमतो न वज्जंति ॥

जयते-अत्रोत्तरं दीयते-तत्र नीयमानं मृतकं मुक्त्वा अन्यत्कनकपुष्पादिकं पणितमस्वाध्यायिकं न प्रवति, यस्मात् शरीरमस्वाध्यायिकं चतुष्पकारं अधिरादिनेद्वत्तुर्निधम् । पुष्पादिकं च तद्भयतिरिक्तम्, अतो नास्वाध्यायिकतया तत्र वज्जन्ति । आत्मसमुत्थं त्वग्नेतनसूत्रे व्याख्यास्यते । अ० ७ उ० । 'ईदं' दिनेऽस्वाध्यायः । यथा-महाहिंसावत्वेनाऽऽग्निं चैत्रदिनानि सिद्धान्तवाचना-

विषु अस्वाध्यायदिनानीति कृत्वा त्यज्यन्ते, तद्वत् 'ईदं' दिनमपि, तेन हेतुना कथं न त्यज्यते?, केचित्तु मतिनस्तद्दिनं त्यजन्ति, आत्मनां का मर्यादा?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-'ईदं' दिनास्वाध्यायविषये बुद्धाऽनाचरणमेव निमित्तमवसीयते । ही० ३ प्रका० ११ प्र० ।

जे भिक्खू असज्जाइए सज्जायं करेइ, करंतं वा साइ-ज्जइ ॥ १५ ॥

जमि जमि कारणे सज्जाओ च कीरति तं सर्वं असज्जायं, तं च बहुविधं वफसमाणं, तत्थ जो करेइ तस्स चउ लहुं, आणा-जंगो, अणवत्था, मिच्छुत्तं, आयसंजमविहाणा य । नि० चू० १६ उ० । (स्वाध्यायं एव स्वाध्यायः कर्तव्य इति 'सज्जाय' शब्दे वक्ष्यते)

णो कप्पइ णिगंथाणं वा णिगंथीणं वा अप्पणो अ-सज्जाइए सज्जायं करित्थए, कप्पति णं अणममस्स वा-यणं दिक्षिच्चए ॥

न कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वाऽऽत्मनः समुत्थेऽस्वाध्यायिके स्वाध्यायं कर्तुं, किन्तु कल्पते परस्परस्य वाचनां दापयितुमन्यत्र । यदि वा प्रक्षालनाऽनन्तरं गाढबन्धे प्रदत्ते सति तत्रापि स्वयमपि वाचनां दातुं कल्पते इति वाक्यशेषः ।

एतदेव भाष्यकारः सप्रपञ्चमाह-

आयसमुत्थमसज्जा-इयं तु एगविहं होइ दुविहं वा ।

एगविहं समणार्णं, दुविहं पुण होइ समणीणं ॥

आत्मनः शरीरात्समुत्थं संभूतमात्मसमुत्थमस्वाध्यायिकमेकविधमाभवति, द्विविधं वा । तत्र यत् एकविधम्-अर्शोभगन्दरादिविषयम्, तत् अग्रणानां प्रवति । अग्रणीनां पुनर्भवति द्विविधम्-अर्शोभगन्दरादिसमुत्थम्, अतुल्यं च ।

तत्र यतनामाह-

धोयम्मि य निप्पगले, वंधा तिसेव होंति उक्कोसा ।

परिगलमाणे जयणा, दुविहम्मो होइ कायच्चा ॥

प्रणादौ निप्रगले धौते उपरि क्लारप्रक्षेपपुरस्सरं त्रयो बन्धा उत्कर्षतो भवन्ति, तथाऽपि परिगलति द्विविधे प्रणादावार्त्तवे च यतना वक्ष्यमाणा कर्त्तव्या ।

एतदेव सप्रपञ्चं प्राचयति-

ममणो उ वणे व जगं-दरे व वण्णओ व वाएति ।

तह गालंते ठारं, ठोहं दो तिणिण वंधाओ ॥

अग्रणो वणे वा भगन्दरे वा परिगलति हस्तशताद् बहिर्गत्वा निप्रगलं प्रक्षाल्य चीवरे क्लारं क्षिप्त्वा उपरि अन्यत् चीवरं कृत्वा वणं, भगन्दरे वा बध्नाति, तत एवमेकं बन्धं कृत्वा प्राचयति । यदि तथापि परिगलत्यस्वाध्यायिकं, तत उपरि क्लारं निक्षिप्य चितीयं बन्धं ददाति, ततो प्राचयति । तथाऽप्यतिष्ठति तृतीयमपि बन्धप्रत्यवतारं कृत्वा प्राचयति ।

जाहे तिणिण विजिन्ना, ताहे इत्थसयवाहिरा थोउं ।

बंधिउ पुणो वि वाए, गंतुं अणयत्थ व पढंति ॥

यदा त्रयोऽपि बन्धास्तेनास्वाध्यायिकेन विमिक्षा भवन्ति, तदा हस्तशताद् बहिर्गत्वा निप्रगलं प्रक्षाल्य, पुनः क्लारं निक्षिप्यो-

न हु से कहियव्वोऽहं, गओ अयमसो कहियव्वो ॥ १९ ॥
तो कीर ! खीरमहमदुर-वयण ! मह एवमुक्कयं तुमए ।
तुज्ज वि अहं अवस्सं, करिस्समणुक्कयमुक्कयारं ॥ २० ॥
मह आगओ स खयरो, अदद्दु लीलारइं पडिनियत्तो ।
कहियं सुपण पयं, इमस्स सो हरिसिओ दियए ॥ २१ ॥
इत्थंनरम्मि तत्था-गयं गयं तं जहिक्खिया जमिरं ।
पासिचु चिनइ सुओ, अहइ अहो ! सुंदरोऽवसरो ॥ २२ ॥
तो निवडिनियमिनिडिओ, ठाउं करिंसांनिहिम्मि जणइ पियं ।
भणियं वसिट्ठिरिणिणा, कामियतित्थं इमं खित्तं ॥ २३ ॥
जो इत्थ भिगुनिवायं, करेइ सो लहइ कामियं खु फलं ।
इय जणिय पियाए सभं, ताहिं वि पत्तो निखुक्को य ॥ २४ ॥
तव्वयणपेरिओ पुण, वीलारइखेयरो पियासहिओ ।
वज्जवचलकुंरुवधरो, उप्पइओ गयणमग्गम्मि ॥ २५ ॥
तं दद्दु चितइ करी, कामियतित्थं इमं खु जं इहयं ।
खेयरोमिहुणं जायं, पभियं फिर कीरमिहुणं पि ॥ २६ ॥
तो किं इमिणा तिरिय-त्तेण मज्जं ति चित्तिय नगाओ ।
जंपावइ सो तहियं, अहुडियं कीरमिहुणं तं ॥ २७ ॥
संचोअयंगुवंगो, हत्थी गलहत्थिओ वि वियणाए ।
फुरियसुहउभवासओ, जाओ वंतरसुरो पबरो ॥ २८ ॥
अइसयकिलिडुचित्तो, विसयपसत्तो सुओ वि संपत्तो ।
रयणाइलाहियक्कं नरए मइतिकज्जहुलक्कं ॥ २९ ॥
इतथ-

अत्थि विंदेहिरिच-क्खालनयरम्मि सत्थवाइवरो ।
अप्पमिहयचक्कक्खो, सुमंगला पणइणी तस्स ॥ ३० ॥
अह मो करिंदजीवो, चविऊणं ताण नंदणो जाओ ।
नामेण चक्कदेवो, सया वि गुरुजणविहियसेवो ॥ ३१ ॥
उव्वीट्ठिय इयरो वि हु, जाओ तत्थेव अज्जेवु त्ति ।
सोमपुरोहियपुत्तो, दुवे वि तरुणत्तमणुपत्ता ॥ ३२ ॥
सम्भावकइयवेहिं, जाया मित्ती इ तेसिमओअं ।
पुव्वकयकम्मदोसा, कया वि चितइ पुरोहियसुओ ॥ ३३ ॥
कह एस चक्कदेवो, इमाउ अत्तुज्जवच्चिवित्थरओ ।
पाविहिइ फुनं भंसं, हुं नायं अत्थि इह उवाओ ॥ ३४ ॥
चंदणसत्थाहगिहं, मुसिउं दविणं खिविचु पयगिहे ।
काहउं निवस्स पुरओ, जंसिस्सं संपयाउ इमं ॥ ३५ ॥
काउं तहेव स जणइ, वयंस ! गोवेषु मज्ज दविणमिणं ।
नियगेहे सो वि तओ, एवं चिय कुणइ सरलमणो ॥ ३६ ॥
वत्ता पुरे पवत्ता, मुट्ठं चंदणगिहं ति तो पुठो ।
सत्थाइसुपणेसो, दविणमिणं कस्स ज्ञो मित्त ! ॥ ३७ ॥
सो आह मज्ज दब्धं, तायमया गोविय तुह गिहम्मि ।
आसंका ण मणागवि, कायव्वा चक्कदेव ! तए ॥ ३८ ॥
इत्तो य चंदणेणं, अमुगं अमुगं च मह गयं दब्धं ।
कहियं निवस्स तेणं, नयरे घोसावियं एवं ॥ ३९ ॥
चंदणगिहं पमुट्ठं, जेणं केण वि कहेउ सो मज्झ ।
इयिहं न तस्स दंभो, पच्चा सारीरिओ दंभो ॥ ४० ॥
अह विणपणगम्मि गए, पुरोडिपुत्तो निवं भणइ देव ! ।
सइ वि न जुज्जइ नियमि-त्तदोसफुडवियरुणं काउं ॥ ४१ ॥
परमइविरुद्धमेयं, ति धारिउं पारिमो न हिययम्मि ।
चंदणधणं अवस्सं, अत्थि गिहे जक्कदेवस्स ॥ ४२ ॥
(राजा) नणु सो गरिइपुरिसो, रायविरुद्धं इमं कइ करिज ! ।
(यक्कदेवः) गइया वि बोहमोहिय-मइणो चिट्ठिं वाळ न्नु ॥ ४३ ॥

(राजा) सो संतोससुहारस-पाणप्पवणो सुणिज्जए सययं ।
(यक्कदेवः) आव तरुणो दविणमिणं, पाविय पाएहि पसरंति ४४
(राजा) नणु सो महाकुलीणां,
(यक्कदेवः) को दोसो इह कुलस्स विमलस्स ! ।
अइवहलपरिमलसु वि,
कुसुमेसु न हुंति किं किमओ ? ॥ ४५ ॥
(राजा) जइ एवं ता किज्जउ, समंतओ गेहसोहणं तस्स ।
(यक्कदेवः) एवं किं देवस्स वि, पुरओ जंपिज्जए अए ! अत्थियं ४६
तो निवइणा तलारो, चंदणजंडारिण सह भणिओ ।
भो ! चक्कदेवगेहे, नहुं दब्धं गवेसेहि ॥ ४७ ॥
सो चिनइ नरवइणा, अहइ ! असंभावणिज्जमाइठं ।
किं कइया पाविज्जइ, रविविवे तिमिरपम्मारो ? ॥ ४८ ॥
मइवा पदुणो आणं, करेमि पत्तो तओ गिहे तस्स ।
पमणइ चंदणदब्धं, नउं जाणेसि ज्ञो मइ ! ॥ ४९ ॥
(चक्कदेवः) नहु नहु मुणोमि किंचि वि,
(तलवरः) तो भो ! तुमए न कुप्पियव्वं मे ।
जं रायसासणेणं, तुह गइं किं पि ओइस्सं ॥ ५० ॥
(चक्कदेवः) कोवस्स को णु समओ,
सया पयापालणत्थमेव जओ ।
नयकुनइरस्स देव-स्स एस सयलो वि सरंभो ॥ ५१ ॥
तो तलवरो गिहंतो, पविसिय जा निउणयं निहावेइ ।
ता कंचणवासणयं, चंदणनामंकिंयं वज्जं ॥ ५२ ॥
तो भणइ सदुक्कमिमो, कुओ तए चक्कदेव ! पत्तमिणं ।
किह मिच्छत्थवणीयं, पयडेमि नियं ति सो भणइ ॥ ५३ ॥

तलवरः-

कह चंदणनामंकं, (चक्र०) नामविचज्जासओ कह वि जायं ।

तलवरः-

जइ एवं ता किंचिय-मिच्छं इह वासणे कणगं ॥ ५४ ॥

चक्रदेवः-

चिर गोवियं ति न तद्वा, सुमरेमि अहं सयंचिय निपइ ।

तलवरः-

मंडारिय ! किंसंखं, धणमिह सो आइ अज्जयमियं ॥ ५५ ॥

तो ठोमाविय नउलं, नियं ति सव्वं तहेव तं मिळियं ।

भणइ पुणो रक्खिपट्ठ, भो मइ ! फुरुक्करं कहसु ॥ ५६ ॥

अइ वोसत्थं सहयं, सुकीलियं कीळियं च पत्तितम्मी ।

मिच्छं दुसेमि कहं, ति चक्कदेवो पुणाह नियं ॥ ५७ ॥

तलवरः-

किंचियमिच्छं परस्सं-तियं धणं तुह गिहम्मि चिट्ठेइ ।

चक्रदेवः-

निययं पि अत्थि बहुयं, पज्जत्तं मम परधणेणं ॥ ५८ ॥

तो तलवरेण सव्वं, गिहं नियतेण तं धणं पत्तं ।

कुविपण चक्कदेवो, हडेण नीभो निवसमीवे ॥ ५९ ॥

रया जणियं नणु जइ, अप्पडिहयचक्कसत्थवाइसुए ।

नहु संभवइ इमं तो, कहसु को इत्थ परमत्थो ? ॥ ६० ॥

परदोसकइणविमुहो, न किंचि जा जंपइ एमो ताहे ।

बहुयं विडंविऊणं, निव्विसओ कारिओ रत्ता ॥ ६१ ॥

अह सो विसायविहुरो, गुरुपरिमवदवज्जलक्कियसरीरो ।

चितइ किं मम संपइ, पणहुमाणस्स जीएण ? ॥ ६२ ॥

“ वरं प्राणपरित्यागो, मा मानपरिस्त्रयइना ।

प्राणत्यागे क्कणं दु-खं, मानमज्जे दिने दिने ” ॥ ६३ ॥

अवाउल्लसणओ समणीण यणिवोदुयसंभवो नाम सज्जाओ
ण भविस्सति, तेण वायणसुत्तं विही भवति ॥ नि० चु० १४
उ० । अस्वाध्यायदिवत्रयान्तःकृत उपवास आलोचनातपसि पति,
न वा १, इति परिमनरविसागरगणिकुप्रशस्य हीरविजयसुरि-
कृतमुत्तरम-अस्वाध्यायदिनत्रयान्तःकृत उपवास आलोचना-
तपसि नायाति । ही० २ प्रका० । चैत्राश्विनमासचतुर्मासक-
द्विकसत्का अस्वाध्यायाः पञ्चमीचतुर्दशीयामद्वयाऽनन्तरं यल्लु-
गन्ति तथामध्यं तिथिजोगापेक्षया १, किं वा औदयिकापेक्षयेति
प्रश्ने, चैत्राश्विनमासयोः पञ्चमीतिथेरर्कादस्वाध्याया द्यगन्ति,
न तु सूर्योदयात्; एवं चतुर्मासकस्याऽस्वाध्यायोऽपि चतु-
र्दशीतिथेरर्काद्वृत्तगतीति वृत्तसंप्रदाय इति (१५६) । तथा-
तिरश्चोऽस्थि सरसं भवति, तस्यास्वाध्यायिकं कियतः प्रह-
रान् यावद्भवतीति प्रश्ने, तिर्यगस्थि त्रिप्रहराणामुपरि याव-
त्सरसं तावदस्वाध्यायिकं भवतीति ज्ञायते (२१३) । तथा-
ऽऽश्विनमासास्वाध्यायदिनेषु सिद्धान्तगाथापञ्चकं पठन्ति,
तस्य तत्पठनं कल्पते, न वेति प्रश्ने, अस्वाध्यायदिनेषु सिद्धान्त-
संबन्धेकगाथापाठोऽपि न शुद्ध्यतीति (२३७) । तथा-स्यप्रह-
णं यद्भवति तदस्वाध्यायिकं कृत आरज्य कियथायद्भवति १,
तथा-योगिकानां कियन्ति प्रवेदनानि न शुद्ध्यन्तीति प्रश्ने, यत्सूर्य-
प्रहणं भवति तत आरज्याहोरात्रं यावदस्वाध्यायिकं, तदनु-
सारेणैकं प्रवेदनमशुद्धं ध्यायत इति (२१०) । (सेन० ३ उल्ला०)
तथाऽऽश्विनमासास्वाध्यायिकदिनत्रयमुपदेशमालादि गण्यते, तथा
चतुर्मासकत्रयास्वाध्यायिके तद्रण्यते १, न वेति प्रश्ने, तद-
स्वाध्यायिके दिनत्रयमुपधानमध्ये, न तथा चतुर्मासकत्रये,
तस्माच्चतुर्मासकत्रयास्वाध्यायिके उपदेशमालादि गण्यते (५४)
सेन० ४ उल्ला० ।

असज्जाइयणित्तुत्ति-अस्वाध्यायिकनिर्धुक्ति-की० । अस्वा-
ध्यायिकप्रतिपादकाऽऽवश्यं कान्तर्गतप्रतिक्रमणाप्ययनमध्यगते
भक्ष्यादुत्सामिहते निर्धुक्तिग्रन्थे, आव० ।

“असक्काइमनिज्जुत्ति, बुच्छामी धीरपुरिसपञ्चत्तं ।

अं नाकण सुविद्दिआ, पवयणसारं उयलदंति ॥ १ ॥

“असक्काइमनिज्जुत्ती, कदिआ ने धीरपुरिसपञ्चत्ता ।

संजमतवठ्ठाणं, निगंथायं महरीसीणं ॥ १० ॥

असक्काइमनिज्जुत्ति, जुत्तं अं ताव चरणकरणमाउत्ता ।

साहू खयंति कम्मं, अणेगभवसंविअमणंत्तं ॥ ११ ॥

गाथाद्वयं निगदसिद्धम् । आव० ४ अ० ।

असद-अशुठ-पुं० । शठनावरहिते, ओघ० । रागद्वेषरहिते
कालिकाचार्यादिवत्प्रमाणस्थे, वृ० ३ उ० । अत्रान्ते, द्वा० २
द्वा० । अमायाविनि, जीत० । सरलान्मनि, जीत० । आ० म० ।
पराऽवञ्चके, ध० १ अधि० । ध० २० । अनुष्ठानं प्रति अनाल-
स्यवति, दर्श० । इन्द्रियविषयनिग्रहकारिणि, नि० चु० १० उ० ।
सप्तमशुणवत्साधौ, शठो हि वञ्चनप्रपञ्चचतुरतया सर्वस्याप्य-
विश्वसनीयो भवति । प्रब० २३६ द्वार ।

साम्प्रतमशुठ इति सप्तमं स्पष्टयन्नाह-

असदो परं न वंचइ, वीससण्णज्जो पंसंसाण्णज्जो य ।

उज्जमइ भावसारं, उचिआओ धम्मस्स तेणेसो ॥ १४ ॥

शठो मायावी, तच्छिपरीनोऽज्ञातः परमन्थं न वञ्चति नाजिसं-
धत्ते, अत एव विश्वसनीयः, प्रत्ययस्थानं भवति । इतरः पुनर-
वञ्चयन्नपि न विश्वासकारणम् । यदुक्तम्-“मायाशक्तिः पुण्यो,

यद्यपि न करोति किञ्चिदपराधम् । सपं इवाविश्वास्यो,
‘भवति तथाऽप्यात्मदोषहनः’ ॥ १ ॥ तथा-प्रशंसनीयः
श्लाघनीयश्च स्यात्, अशुठ इति प्रकृतः । यदवाचि-“यथा
चित्तं तथा वाचो, यथा वाचस्तथा क्रियाः । धन्यास्ते त्रितये
येषां, विसंवादो न विद्यते” ॥ १ ॥ तथोच्छृङ्खति प्रवर्तते,
धर्मानुष्ठाने इति शेषः । भावसारं सद्भावसुन्दरं स्वचिन्तरञ्ज-
नानुगतं, न पुनः पररञ्जनायेति, दुष्प्रापं च स्वचिन्तरञ्जनम् ।
तथा चोक्तम्-“भूयांसो नूरिलोकस्य, चमत्कारकरा नराः ।
रञ्जयन्ति स्वचित्तं ये, भूतले तेऽथ पञ्चपाः” ॥ १ ॥ तथा-
“कुत्रिमैर्दम्भैरिभ्रैः, शफ्यस्तोपयितुं परः । आत्मा तु वास्त-
वैरेव, इतकः परित्यज्यति” ॥ १ ॥ इति । उचितो योग्या
धर्मस्य पूर्वव्यावर्णितस्वरूपस्य, तेन कारणेनैवोऽज्ञातः, सार्थ-
वाहपुत्रचक्रदेववत् । ध० २० ।

चक्रदेवचरितं त्वेवम्-

अतिथि विदेहे चंपा-ऽऽवासपुरं पडरपन्नपरिकथितं ।

तथाऽऽसि सत्थवाहो, अइरुहो रुददेवु ति ॥ १ ॥

तस्स य मज्जा सोमा, सहावसोमा कयाइ गिहिधम्मं ।

सा पडिवज्जइ गणणी-ए वालचंदार्ये पासम्मि ॥ २ ॥

तं किंच विसयविमुहं, बहु पउछो भणेइ से भत्ता ।

मुच पिप ! धम्ममिमं, भोगि पिव भोगविगच्छरं ॥ ३ ॥

सा साहइ भोगोहि, रोगोहि व मह कयं, इमो आइ ।

किं चइउं दिट्ठमदि-उकण्णं कुणसि तं मूढ ! ॥ ४ ॥

सा भणइ इमे विसया, पसुगणसाधारणा वि पक्कस्सा ।

आणिस्सरियाइफलो, विकिअधम्मो समफ्फो ते ॥ ५ ॥

उच्चदाणुअसत्तो, विलक्खचिचो अइव स विरत्तो ।

आलवणइविरत्तो, तीए सभं वयइ सम्मणं ॥ ६ ॥

अयं मणइ कलं, सोमा अतिथि सि लहइ न य तांलो ।

तम्मरणइउमहि, उवइ गिहंनो धने सिविउं ॥ ७ ॥

भणइ पिप ! अमृगधमा-उ दाममाणेसु सा वि सरत्तमणा ।

जा सिवइ करं कुंमे, ता मक्का कसिणजुयणेण ॥ ८ ॥

मक्का अहं ति पणो, सा साहइ सो वि गादसदयाप ।

गाकमिया गाकडिया, इचाइ करेइ डलवोलं ॥ ९ ॥

सिग्घं से उल्लभियं, चिउरेहि निवभियं च दसखोहि ।

विसज्जापहि य पाण-हि दूरदरेण ओसरियं ॥ १० ॥

अचइय सोमा सोह-म्मकण्णोलीलावयंससुविमाणे ।

पाविभोवमडिइया, सोमा सुरसुंदरी जाया ॥ ११ ॥

रुहो स रुदयो, नागसिरी नागदत्तसिच्छियं ।

परिणीय नीइयाहा-इ सुंजिउं पंचविहविसय ॥ १२ ॥

रुहज्झाणोवगओ, नरयावासम्मि पढमपुढवीप ।

आरुफक्खडामिहाणे, पडियात्त नारओ जाओ ॥ १३ ॥

अह सो सोमाजीवो, चविउं सोहम्मओ विदेहम्मि ।

सेलम्मि सुंसुमारो, जाओ वंती धवत्तकंती ॥ १४ ॥

इयरो वि तमोव्वट्ठिय, जाओ कीरो तहिं चिय गिरिम्मि ।

कीरोए सह रमतो, नरमासासासिरो मंमइ ॥ १५ ॥

कइया वितं गद्वं, करेसुयानयरपरिगयं वट्ठुं ।

पुव्वजवज्जासाओ, बहुलीबहुलो विचिनेइ ॥ १६ ॥

विसयसुहाउ इमाओ, कह णु मए वंचियव्वओ पस ।

एवं उवायचित्तण-पवणो पत्तो सप नीहे ॥ १७ ॥

ता तथ चंदहेहाऽ-भिहाणखयि-हरिण संपत्तो ।

कीलारइ इति खयरो, जयमीओ जणइ तं कीर ॥ १८ ॥

भो ! इत्थ गिरिनिउंजे, चिट्ठामेणो इहागमी खयरो ।